

श्री३

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग-के मान्य सचिव द्वारा-प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षतानुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत हो रहा है ।



भारत के राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनाने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

निम्नलिखी सेक्रेटरी ऑफिस

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

→ राजेन्द्र प्रसाद

(पदस्थ लिख) सेजर जनरल

निम्नलिखी सेक्रेटरी ऑफिस में प्रेषित

- २८-भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय १॥)
- २९-वैद का स्वरूप-विचार २)
- ३०-क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-अमन्त्रण) २॥)
- ३१-दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा २५)
- ३२-शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य प्रथमकाण्डानुगत-प्रथमखण्ड २५)
- ३३- " द्वितीयखण्ड ३०)
- ३४-#राष्ट्रपतिभवनानुगत व्याख्यानपञ्चक ६)

- (१)-सस्वत्सरमूला-अग्नीषोमविद्या (प्रथम-व्याख्यान)
- (२)-पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या (द्वितीय-')
- (३)-मानव का स्वरूप परिचय (तृतीय-')
- (४)-'अश्वत्थविद्या का स्वरूप परिचय (चतुर्थ-')
- (५)-वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम-')

प्राप्तिस्थान—

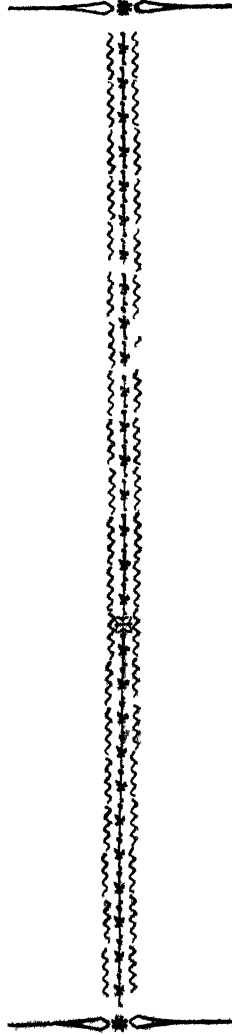
व्यवस्थापक—'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधमस्थान जयपुर'

दुर्गापुरा (जयपुर-राजस्थान)

*-राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।



शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-
द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में
युगधर्मनिबन्धन-किञ्चदिव-आवेदन
(शतपथभाष्य-द्वितीयखण्ड की प्रस्तावना)



मोतीलालशर्मापाहोः-य किञ्चदिव मुक्तेश्वरशर्मा
आङ्गिरसो भास्करान , वेदवीथी-पत्रिकः
मानवोक्त्यवैराजिकब्रह्मवेदान्त-संस्थान

श्री

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत

द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में

किंचिद्विष-आवेदन

विक्रम सं० २०१५ की आश्विनशुक्ल-दशमी (विजयदशमी) बुधवार (तदनुसार ता० अगस्त) की पावनतिथि में 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्यान्तर्गत प्रथमकाण्डानुगत प्रथमखण्ड' स्थान की ओर से प्रकाशित हुआ था, जिसमें 'प्रथमकाण्ड' के आरम्भ के केवल एक ही (प्रथम १) अध्याय का 'विज्ञानभाष्य' समाविष्ट था। प्रथमकाण्डानुगत प्रथम-अध्यायात्मक-तत् प्रथमखण्ड में जिन प्रमुख-याज्ञिक कर्मों का पद्धति पुरस्सर सोपपत्तिक समावेश हुआ है, सन्दर्भसङ्घति की दृष्टि से सिंहावलोकनन्यायेन 'द्वितीय-खण्ड' की प्रस्तुत प्रस्तावना में भी उनका सम्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

प्रथमकाण्डानुगत-प्रथमाध्यायात्मक-प्रथमखण्ड में प्रतिपादित

प्रमुख-कर्मों की, तथा स्मारक-विषयों की

सिंहावलोकनन्यायानुगता स्मृति

प्रधान कर्माणि	क्रमानुगता पृष्ठसंख्या	स्मारकविषयसंख्या
१ प्रतीपायनकर्म	११७	२१३
२ प्रतीपायनकर्म	१५५	१३७
३ अपाप्रणयनकर्म	१७०	२५५
४ परिस्तरक, तथा पत्रासादनकर्म	२०१	२६३
५ वाक्सयमनकर्म	२४३	४०
६ पात्रप्रतपनकर्म	२४६	११२३
७ शकट से हविर्ग्रहण, एवं तस्सादनकर्म	३५४	५२३
८ श्राद्धकर्म		३१५
९ रोषासम्पादनकर्म		
प्रधानकर्मसंख्या ८-६-(नव)	संख्या ६१०	संख्या ३१५

निर्दिष्टा-तालिका के अनुपात से 'प्रथमखण्ड-प्रथमखण्ड' में नव (९) प्रमुख-कर्मों की इति-
 यता के साथ साथ पारिभाषिक-दृष्टिकोण से अनुमानत पाँचसहस्र-पारिभाषिक तथ्यों का स्पष्टीकरण प्रयास
 पा है। 'विज्ञानभाष्य' से पूर्व उनी प्रथमखण्ड में—'पारिभाषिकसूचनाएँ' नाम का एक स्वतंत्र
 रेखांक प्रकरण भी समाविष्ट हुआ है, जिसमें 'शतपथब्राह्मण' से सम्बन्ध रखने वाली सभी शास्त्र-दृष्टियों,
 पा अन्तरदृष्टियों का यथासम्भव सन्निवेश कर देने का प्रयास हुआ है। ११६ (एकसौ सोलह) पृष्ठात्मक
 'पारिभाषिकसूचनाप्रकरण' में ३२३ (एकसौ तेइस) तथ्यों की ओर ही वेदप्रेमियों का ध्यान आकर्षित
 पाया गया है।

उक्त 'पारिभाषिक सूचना प्रकरण' के अतिरिक्त १६४ (एकसौ चौसठ) पृष्ठात्मक 'विग्देशा-
 लानुबन्धी किञ्चिदिव-आत्मनिवेदन (प्रस्तावना) भी प्रथमखण्ड का एक महत्वपूर्ण ही अङ्ग
 मण्डित हो रहा है। वर्तमानयुग का प्रमुख-उद्घोष है 'समय के अनुसार काम करो, समय का अनु-
 पार चलो' जिस इस सामयिक-उद्घोष का फलितार्थ निकलता है 'विग्देशकालानुबन्धिनी-तात-कालिकी
 पर्योगिता'। इत्यन्तु सामयिक-उद्घोष से एकहेलया प्रभावित भारतीय-आस्तिक प्रजा भी युगधर्माक्रमया-
 नितानिरतिशया भावुकता से भावितान्त करणा प्रमाणित होती हुई अपनी प्राच्य वैदिक-मूल निधि की ओर
 'सर्वात्मना तटस्थप्राया ही बनी हुई है। सामयिक उपयो गतावाद के इत्यन्तु महान् अम्ब, भयावह यज्ञ के
 आस्तिक-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए ही प्रथमखण्डानुगता-प्रस्तावना में 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो
 वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' रूप प्रसिद्ध आदेश वाक्य को आधार बना कर ही प्राच्य वैदिक साहित्य की
 'उपयोगिता' के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन करने की वृत्तता होपड़ी है, जिसे दृष्टिपथानुगामी बनाने के
 अनन्तर हमारे उन भावुक-बन्धुओं की उपयोगितावाद-व्यामोहनात्मिका दुर्गधर्म निबन्धना उस भयावहा
 सर्वनाशकारिणी-कलिवात्याहिता-कात्वालीकृता भावुकता का सर्वथैव निराकरण होनाता है, जिस मलीमसा
 भावुकता के कारणतमक पाष्टबन्धन से आबद्ध भारतीय-न धु अपने सबस्वभूत, ज्ञानविज्ञानपरिभाषाओं के
 महान् कोश प्राच्य वैदिक-साहित्य से आज सर्वात्मना ही तटस्थ बने हुए हैं। हम साक्ष्यबधु उन आत्मबन्धुओं
 से आवेदन करेंगे कि, अपनी उपयोगिता वादात्मिका भ्रान्ति के समन्वय के लिए एकबार अवश्यमेव वे
 'तत्प्रस्ताविक पर दृक्पात का अनुग्रह करलें। हमारी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि—दोषदृष्टि से भी आबलोकिता
 तत्-प्रस्तावना आत्मबन्धुओं की कारणतामूला जिज्ञासा का यथावत्-समाधान कर देगी।

'मन्त्रब्राह्मणोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि सनातन-आर्ष-सिद्धान्तानुसार वेदरात्म ज्ञातव्यवेद,
 कर्त्तव्यवेद, वेद से दो प्रमुख शोधों में विभक्त हो रहा है। ज्ञातव्यवेदनाम ही 'ज्ञातव्यवेद' कहलाया है, एक
 कर्त्तव्यवेदनाम ही 'ब्राह्मणवेद' कहलाया है। 'विज्ञान-स्तुति-इतिहास, के तीन प्रमुख 'ज्ञातव्य-विषय
 हैं, जिनका समन्वय की आचारपरिकल्पना से सम्बन्ध न होकर सम्बन्ध 'ज्ञातव्य-विषय-विचारपरिकल्पना से ही
 प्रधान सम्बन्ध माना गया है। अतएव इस 'ज्ञातव्य-शोध' को हम 'तत्त्वमीमांसा' के ही समन्वित मान
 रहे हैं। जिनमें 'कर्म-उपास्ति', ये तीन प्रमुख 'कर्त्तव्य-विषय' हैं, जिनका सनातनसनातन से विशेष
 सम्बन्ध न होकर आचारपरिकल्पना-कर्मनिष्ठा से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। अतएव इस 'कर्त्तव्य-शोध'
 को हम 'आचारमीमांसा' से ही अनुग्रह मान रहे हैं। तत्त्वमीमांसा की पूरिका वहाँ आचारमीमांसा है, वहाँ
 आचारमीमांसा की मूलप्रतिष्ठा तत्त्वमीमांसा बनी हुई है। वह 'अनुशीलन' व्यर्थ है, जितका तत्त्वपरिकल्पना

आचरण से सम्पर्क न हो। एवमेव वह 'आचरण' भी कालांतर में सर्वथा यातयाम ही प्रमाणित होजाता है, जिसकी आधारभूमि अनुशीलनात्मक नैष्ठिक विचार नहीं होता। निष्कर्षत ज्ञातव्यवेद, और कर्त यवेद, दोनों की परिपूर्णता, साथकता उभय समन्वय पर ही निर्भर है, जैसाकि ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत * इत्यादि सुप्रसिद्धा सूक्ति से प्रसिद्ध है।

लोकप्रसिद्ध—'जानना ही 'ज्ञातव्यभाज है, एव 'करना ही 'कर्त्त' भाव है। 'जानना' 'ज्ञान' शब्द से अनुप्राणित है, तो 'करना' 'कर्म' शब्द से समन्वित है। 'ज्ञात्वा रूप 'जानने से अनुप्राणित 'ज्ञान' निरपेक्षज्ञान, मापेक्षज्ञान, भेद से दो महिमा—विवर्त्तो में विभक्त माना गया है। आचारात्मक भूत भौतिक विश्वानुबन्धी—कर्मविजृम्भणों से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क न—रखने वाला, विशुद्ध—अनुशीलनात्मक, समान—प्रत्ययप्रवाह—निबन्धन, सर्वनिरपेक्ष, अतएव प्रत्यस्ताशेषभेदात्मक—सत्तामात्र—अगोचर, अतएव च वाङ्मनस पथातीत, आत्मसर्वेद्य, सविद्भावापन्न लोकातीत—ज्ञान ही 'निरपेक्षज्ञान' × है, जिसे 'निरपेक्षब्रह्म' की उपाधि से समलङ्कृत किया है तज्ज्ञानानुशीलन—पथानुवर्त्ता लोकातीत आप्तपुरुषोंने। अद्वयभावापन्न—निरपेक्ष, अतएव निरपेक्ष—एकत्त्व से समन्वित इत्यभूत लोकातीत ज्ञान से अनुप्राणिता निरपेक्षज्ञानात्मिका सुसूक्ष्मा विद्या ही उपनिषदों में—'पराविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिस का आचारात्मक—कर्त्त' यरूप—भूतानुबन्धी—अनुष्ठानों से क्योंकि कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव तथाविध लोकातीत 'निरपेक्षज्ञान' के परा—विद्यानिबन्धन इतिवृत्त के सम्बन्ध में—'नेति नेतीत्युपनिषत्' सिद्धांत ही एकमात्र शरणीकरणीयता के क्षेत्र में शेष रह जाता है ÷।

शेषभूत 'सापेक्षज्ञान' नामक द्वितीय—महिमा—विवर्त्त' ही शब्दशास्त्र का प्रतिपाद्य विवर्त्त' माना गया है, जिस शब्द—प्रतिपाद्य—सापेक्ष ज्ञान को ही उपनिषदोंने 'अपराविद्या' कहा है, जिस के कर्मसापेक्ष अनेक—विवर्त्त' शास्त्रों में श्रुतौपश्रुत हैं। अमृत भावनिबन्धन रसतत्त्व अपने सहजसिद्ध दिक्कालाद्यन—बन्धिन—अद्वय भाव से जहाँ तथाविध अद्वयभावापन्न निरपेक्षज्ञान का स्वरूप प्रमाणित हो रहा है, वहाँ

* ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म आचरेत् ।

अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्वलन स्यात् पदे पदे ॥

×—प्रत्यस्ताशेषभेद यत्, सत्तामात्रमगोचरम् ।

बचसामात्मसर्वेद्य तत्ज्ञान 'ब्रह्म' सञ्चितम् ॥

—पञ्चदशी

—संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्नेद न वा विधि ।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

यस्यामर्त—तस्य मत, यस्य—न वेद सः ।

अविज्ञातं विज्ञानज्ञां, विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—उपनिषदि

मृत्युभावनिव धन 'बलतत्त्व अपने सहजसिद्ध दिक्कालाद्यवच्छिन्न नानाभाव से तथाविध-नानाभावापन्न सापेक्ष-ज्ञान का स्वरूप सम्राहक बन रहा है। उस बल निव धना इस सहज स्वरूप स्थितिके आधार पर यह कह दिया जासकता, एव मान लिया जासकता है निर्भ्रातरूपेणैव कि, अद्वयभावापन्न एकत्वानुगत निरपेक्षज्ञान अपने 'एक ज्ञानम्, निरपेक्ष ज्ञानम् निवचन से जहा निष्कैवल्य एकत्वनिव धन ज्ञान' शब्द से समवित है, वहा नानाभावापन्न-अनेकत्वानुगत-सापेक्षज्ञान-प्रिप्रिथ ज्ञान सापेक्ष ज्ञानम् निवचन से-विज्ञान' अभिधा का अधिकारी बना हुआ है। और यो एक ही ज्ञानत मूलभूत रम, तथा बल नामक 'आभू-श्रौर 'अभ्य' नामक विभिन्न दो अनुव गों से क्रमश अमृत मर्य-भागो मे विभक्त गीता हुआ 'ज्ञान, और 'विज्ञान इन दो महिमामय स्वरूपो में परिणत हो रहा है जिन इन दोनों विभिन्न विवर्तों के आधार-पर ही उपनिषदुपवर्णिता मुप्रसिद्धा 'परा अपरा नाम की अक्षर क्षर निव धना रम प्रिया बलापद्या -द्वयी समवित हुई है। यही निरपेक्षज्ञानात्मक ज्ञान, एव सापेक्षज्ञानात्मक विज्ञान, इन दो पारिभाषिक शब्दो का मौलिक, एव सत्सिप्ततम चिरतन-इतिवृत्त है जिस का विशद यथावगणन पूर्वप्रकाशित-शतपथभाष्य-प्रथमखण्ड के 'पारिभाषिक-प्रकरण मे किया जा चुका है। 'विज्ञान' शब्द के प्रति विशेषरूप से आकर्षित-मना बने रहने वाले वर्त्तमानयुग के भूतविज्ञानवादी भारतीय-ब धुओं को "भारतीय-पारिभाषिक- विज्ञान' के तार्त्विक-यशोवगणनात्मक सम वय के लिए प्रथमखण्डानुगत तत्पारिभाषिक प्रकरण पर ही दृक्पात का अनुग्रह करना चाहिए।

प्रकृत मं इस प्रासङ्गिकी-चर्चा से केवल यही निवेदनीय है कि, निरपेक्ष-ज्ञानात्मक एकत्व धर्मावच्छिन्न-ज्ञान से अपना सवथा विभिन्न स्वरूप-रखन वाली लोकात्मिका विश्व-विद्या ही नानाभावापन्ना- 'विज्ञानविद्या' है, और इसी का नाम है-उपनिषत् के श-दों मे-अपराविद्या, एव यही लोक में प्रसिद्ध है-वेदविद्या नाम से, जिस की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है ज्ञानात्मिका-पराविद्या। निरपेक्षज्ञानानुबन्धिनी-एकत्वानुयोगिनी अनेकत्वप्रतियोगिनी-विश्वातीत--ब्रह्म विद्यात्मिका-पराविद्या ही 'अक्षरविद्या' है। एव सापेक्षज्ञानानुबन्धिनी अनेकत्वानुयोगिनी एकत्वप्रतियोगिनी -विश्वात्मक-स्तोक -विद्यात्मिका -अपराविद्या ही 'क्षरविद्या' है। उभयविद्या के परिज्ञान के अनंतर मानव के बुद्धयनुगत प्रज्ञाकोश के लिए अन्य कुछ भी तो 'ज्ञातव्य' रूपेण शेष नहीं रह जाता*। निम्नलिखिता उपनिषच्छ्रुति निरपेक्ष-सापेक्ष ज्ञान विज्ञान निव धना इहो दोनों विद्याओं का सक्षेप से नामस्मरण करा रही है—

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरस विधिगदुपसन्न पप्रच्छ-कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति? इति। तस्मै स होवाच-“द्वे विद्ये वेदितव्ये”-इति हस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति 'परा' -चैव 'अपरा च'। तत्र-अपरा-ऋग्वेदः, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरण-निरुक्त छन्दो-ज्योतिषम्” इति।

* ज्ञान तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।

यद्ब्रह्मात्मा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

—गीतायाम्

अथा परा- यथा तदन्नरमधिगम्यते, यत्-यत् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम्
अचक्षु श्रोत्रम् तत् अगणिपादम् नित्यम् विद्युम्-सर्वगतम्-मुखत्तमम् तदव्ययम् तेद्भूत
योनिम्-परिपश्यन्ति-धीरा ।

—मुण्डकोपनिषत् १।१।३ ४ ५ ६ क०।

एक प्रासङ्गिक विशेष-तथ्य की ओर प्रज्ञाशील पाठको का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमने उक्त मुण्डक-उचन-अत्र उद्धृत करना आवश्यक माना है। विदितवेदित द-काम-तप-भ्रम-मूर्ति प्राप्त महर्षियान 'मानव के अभ्युत्थ, तथा नि श्रेयस्-ससाधन के लिए ही पराविद्या अपराविद्या नाम की उन दो महत्त्वपूर्णा विद्याया का अन्वेषण किया है, जिन के द्वारा 'मानव अपने चतुष्पत्नी मानवस्वरूप' को अभ्युत्थ, तथा नि श्रेयस्-रूपा सिद्धि, और ससिद्धि, से सर्वात्मना समन्वित कर लेने में समर्थ-सफल-प्रमाणित होता आरहा था सुख, एव शान्ति पूर्वक आज से तीन सहस्र-वष पूर्ण की आषनिष्ठानुगता कालसीमा के पावन-प्राङ्गण में।

'मानव सुखी रहे', और 'मानव शांत रहे' इन दो विभिन्नाथक वाक्यों के गर्भ में ही मानव के सम्बन्ध, तथा शान्ति का सम्पूर्ण चिरन्तर इतिवृत्त सुगुण-रूपेण सख्य दसक प्रमाणित होगया है। मानव का अर्द्ध-अर्द्ध केवल सुख की ही 'इच्छा' करता रहता है प्रतिक्षण, तो मानव का अर्द्ध-अर्द्ध केवल शान्ति की ही 'कामना' किया करता है अजस्ररूपेण। यद्यपि इन अर्द्ध-अर्द्ध-अर्द्ध-भावों से सहसा दाम्पत्यमूला स्त्री-पुम्भावना की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होजाता है, जो कि आकषण प्रकृतिसिद्ध ही माना जायगा। तथापि वस्तुतत्त्व के स्वरूप-सम वय के लिए हमें यहाँ दाम्पत्यपथानुबन्धी-विभिन्न दो अर्द्ध-अर्द्ध-अर्द्धों को यत्किञ्चित्-समय के लिए निरपेक्ष मानकर केवल एतद् ही मानव, और ही मानवी के अनुबन्ध से अर्द्धाङ्गद्वयी की मीमांसा में प्रवृत्त होना पड़ेगा।

मानव हो, अथवा मानवी अर्थात् पुरुष हो, अथवा स्त्री दोनों के प्रकृतिसिद्ध स्वरूप में (प्रत्येक में) दो दो विभिन्न अर्द्ध-अर्द्ध अर्द्ध-भाव-समन्वित हैं। अर्थात् दो विभिन्न अर्द्ध-अर्द्ध-अर्द्धों के सम्बन्धितरूप का ही नाम तो 'मानव' है, एवं तथाविध उभयात्मकरूप का ही नाम 'मानवी' है। प्रथम-अर्द्ध-अर्द्ध का पारिभाषिक-साङ्केतिक-नाम है-'पुरुष', एव द्वितीय-अर्द्ध अर्द्ध का साङ्केतिक नाम है 'प्रकृति'। पुरुष, और प्रकृति के द्वाद्वात्मक मौक्तिकरूप का ही नाम है 'पुरुष', अर्थात् 'मानव'। एव प्रकृति, तथा पुरुषात्मक-द्वद्भाव का ही नाम है-'स्त्री', अर्थात्-'मानवी'। और इस समानधर्मानुबन्धी समतुलित साम्य के आधार पर ही मानव, तथा मानवी के सम्बन्ध में 'सह धर्मं चरताम्' लक्षण सुप्रसिद्ध साप्त-पदीन-सम्यग्भाव (मैत्री-भाव) का समन्वय हुआ है, जिस-मैत्री-धर्म का स्वरूप समानशीलव्यसननिबन्ध ही माना गया है *। इस समतुलित साम्य के आधार पर ही हमें यह भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि,

*-समानशीलव्यसनेषु मैत्री

—सुप्रसिद्धा सूक्ति

प्राजापत्य सग की मानव तथा मानव-रूपा दोनों विभूतिया का स्थान सर्वात्मना समधरातल पर ही व्यवस्थित है। और इसी साम्य के आधार पर यदि यह भी कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी कि, प्रकृति-पुरुष-समव्यात्मक साम्य की दृष्टि से सर्ग की ये दोनों ही विभूतियाँ समानाधिकार उदावि से समन्वित भी मानी जासकती हैं, किंवा मानी जानी चाहिएँ।

समानाधिकार के तथाभूत-व्यामोहन से व्यामुग्ध भावुक मानव इस दिशा में आज कुछ ऐसी ही कल्पनाओं में मनोविभोर बनते हुए 'स्त्रीसमानाधिकार के उद्घोष में पार्थिव आकाश को त्रिभूत करने लग पड़े हैं, और व्यक्त होने लगी है उन की भावुक-भाषा के द्वारा इत्थभूता गेखरीवाक कि, "यदि मानवी को भी शिक्षा-वातावरण-आदि के सम्बन्ध में मानव के अनुरूप ही सुनिपाएँ तो जामकेगी, तो निश्चयेन मानवी किसी भी क्षेत्र के उत्तरदायित्व में मानव से पराङ्मुख, किंवा ही पराम्न प्रमाणित रही होगी। अपितु उभय-स्पर्द्धा में मानवी ही मात्र की योग्यता के क्षेत्र का अतिक्रमण कर लेगी, अतएव इत्यादि इत्यादि।"

बलप्रयोग-पूर्वक नारी-सुलभ सौम्य-मावों का अभिभव कर मानवी के शरीर, और-बुद्धि-क्षेत्रों को भी कर्कश बनाया जासकता है, जैसे कि अमुक प्रयोगों के कारण मानवसुलभ आग्नेय भाव भी मानव के अभिभूत होजाते हैं उस का सुहृद-पौरुष-धर्म भी क्रोमलता में परिणत होजाया करता है। और यों प्रकृतिसिद्ध-चिर तन-अभ्यास से मानव को मानवी-कोट पर, एव मानवी को मानव-कोटि पर ला खड़ा किया जासकता है। किन्तु इत्थभूत बलप्रयोग मानव, और मानवी, दोनों के ही प्रकृतिसिद्ध स्वरूपों के विपरीत जाता हुआ अन्ततोगत्वा उस भावी 'प्रजननधर्म' को ही दोषाक्रान्त प्रमाणित कर देता है, जिस प्रकृति सिद्ध-अग्नि-सोम-निबधन-यज्ञात्मक-वैज्ञानिक-प्रजनन के आधार पर राष्ट्रीय ही मानव, और मानवी-वग प्रकृत्या पुषित-पल्लवित होते रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, बलपूर्विका दुराग्रहारिका समानाधिकार-व्यामोहनमूला-युगधर्मानुगत-भावुकता से आत्मपरित्राण करते हुए ही, भारतीय-आर्षदृष्टि के माध्यम से ही 'सह धर्म चरताम्' मूला समानाधिकार-व्यवस्था का अनुगमन करें, और इसी दृष्टि के माध्यम से आज के काल्पनिक-समाधिकाररूप उस विघातक व्यामोहन के प्रति राष्ट्रीय-प्रजा को जागरूक करें, जिस व्यामोहन के कारण हमारा राष्ट्रीय-प्रजनन विगत तीन सहस्र-वर्षों से उत्तरोत्तर पतनोमुख ही प्रमाणित होता आरहा है।

अवश्य ही अर्द्ध-अज्ञात्मक पुरुष-भाव, और अर्द्ध-अज्ञात्मक-ही प्रकृति-भाव के सहसमन्वय से कृतरूप मानव, और मानवी के स्वरूप में सर्वथैव साम्य है। जो पर्वचतुष्टयीरूपा अज्ञाद्वयी मानव में है, वही पर्वचतुष्टयी-रूपा अज्ञाद्वयी मानवी में भी है। और इसी साम्य के आधार पर दोनों की आधिकारिकी समता-भ्रान्ति भी सम्भावित है। किन्तु जत्र सूक्ष्मदृष्टि से वस्तुतत्त्व का अन्वेषण किया जाता है, तो इस साम्य की सीमा में ही हमें उस 'वैषम्य' का भी साक्षात्कार होजाता है, जिसने इन दोनों सम-भावों को भी विषमभाव में परिणत कर रक्का है। एवं निश्चयेन समत्वानुगत, किंवा साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित यह वैषम्य ही उस 'प्रजान्तुवितान की मूल-प्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस तन्तुवितान-परम्परा के द्वारा ही (मानव-मानवी के दाम्पत्य से) सम्पूर्णा द्वन्द्वात्मक-भौतिक-त्रिश्व का स्वरूप 'धाता यथापूर्वमकल्पयन्' का स्वरूप-रक्षक बना हुआ है।

तथाविध वैषम्य का मूलाधार है—'न्यूनत्व । मानव, और मानवी, दोनों में ही यद्यपि साम्यमूलक पुरुष-प्रकृति-भाव समानरूपेण समन्वित है । किन्तु ये दोनों ही साम्य दोनों ही सस्थाओं में एकाशत 'न्यून' ही बने हुए हैं । मानव का पुरुषभाव पूर्ण है, तो प्रकृतिभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है । एवमेव मानवी का प्रकृतिभाव पूर्ण है, तो पुरुषभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है । पूणता जहा समत्वानुयोगिनी-विषमत्वप्रतियोगिनी है, वहा अपूर्णता विषमत्वानुयोगिनी-समत्वप्रतियोगिनी है । पुरुषतत्त्व रसानुबन्ध से पूण बनता हुआ जहा 'समभावापन्न' है वहा प्रकृतितत्त्व बलानुबन्ध से अपूर्ण बनता हुआ 'विषमभावापन्न' है । समत्वानुयोगिक पुरुष यदि आधार, और प्रकृति-यदि आधेया है, तो विषमता प्रकृति के साम्राज्यस्थान विश्व में, एव-तत्-प्रजा में भी समत्वमूला शांति प्रवाहित रहती है । ठीक इस के विपरीत यदि विषमत्वानुयोगिनी प्रकृति आधार, और पुरुष आधेय बन जाता है, तो समत्वमूला शांति का सर्वथैव उच्छेद होजाता है । और सम्भवत क्यो निश्चयेन इसी आधार पर महाभाग यज्ञ के अमुक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान में समुपस्थित 'स्त्रीपु वच्च' तद्वि गोह विनष्टम् इस प्रकृतिसिद्ध समाधान को पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने अपने ऐतिह्यप्रथम में प्रश्रय प्रदान किया है ।

पुरुष, और प्रकृति से अनुप्राणित रम-बल-निबन्धन साम्य-वैषम्य का यह चिरन्तन इतिवृत्त तो स्वतन्त्र-निबन्ध-सापेक्ष हो माना जायगा * । प्रकृत में लक्ष्मीभूत वक्तव्य से अनुप्राणित सदर्भ की सङ्गति के लिए यही स्पष्टीकरण पर्याप्त मान लिया जायगा कि, मानव का पुरुषभाग जहाँ पूण है, वहाँ प्रकृतिभाग अपूर्ण है । अतएव मानव प्रकृतित-अपूर्ण-अकृत्स्न, किन्तु पुरुषत पूर्ण कृत्स्न है । ठीक इस के विपरीत मानवी का प्रकृतिभाग जहाँ पूर्ण है, वहा पुरुषभाग अपूर्ण है । अतएव मानवी पुरुषत अपूर्ण-अकृत्स्ना, किन्तु प्रकृतितः पूर्ण-कृत्स्ना है । मानव अपनी प्रकृतिनिबन्धना अपूर्णता की पूर्ति के लिए ही उस 'मानवी' के साथ भातपदीन की सहज इच्छा रखता है, जो अपनी पूर्ण प्रकृति के समर्पण से प्रकृत्या अपूर्ण बने हुए इस मानव के विस्तृत-प्राकृत-भाव को परिपूर्ण कर दे । एवमेव मानवी भी अपनी पुरुष-निबन्धना अपूर्णता की पूर्ति के लिए ही उस 'मानव' के प्रति समर्पित होजाना चाहती है, जो अपने पूर्ण पुरुषभाव के प्रत्यर्पण से पुरुषत्वेन अपूर्ण बनी हुई इस मानवी के विस्तृत-पौरुष-भाव को परिपूर्ण करदे । और यो दोनों दोनों की न्यूनता के क्षति-पूरकात्मक सम्बन्ध प्रमाणित होते हुए उस एकत्वनिबन्धना परिपूर्णता को अथवा बनाते हुए इत्यभूत दाम्पत्य से प्रजातन्तुवितानात्मिका विश्वस्वरूप-पर्यादा की महती थाती को ही अनुकरण बनाए रहें । 'न्यूनाद्धै प्रजा प्रजायन्ते'-'सोऽयमाकाश पत्न्यापूर्यते' इत्यादि श्रुति-वचन इसी तथा-कथिता रहस्यपूर्ण याज्ञिकी स्थिति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिस याज्ञिकी स्थिति के स्वरूप-प्रसङ्ग से ही तत्त्वम्भरूप-प्रकृति-पुरुष-समवयात्मक-अध्यात्मयज्ञ (मानव-मानवी के दाम्पत्यरूप यज्ञ) के अर्द्ध-अर्द्ध अङ्गभाषो का संस्मरण होपड़ा है ।

मानव का पुरुषभाव 'आत्मा' है, तो प्रकृतिभाव इस का 'शरीर' है, जिस का निष्कर्ष यही है कि, आत्मा, और शरीर, इन दोनों की समन्वितवस्था का ही नाम तो मानव है, एव तदात्मक ही मानवी का

* -खण्डचतुष्टयात्मक-सामयिक-उद्बोधनात्मक-निबन्धागत क्रमप्राप्त तृतीयखण्डरूप 'प्रकृतिपुरुष-स्वरूपमीमासा' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस तत्त्व का विशदरूपेण स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है ।

मौलिक स्वरूप है। आत्मा 'लोकातीत' किंतु 'लोकी तत्त्व' है, एव शरीर 'लोक' है। पार्थिव जगत् की प्रकृति माता धरित्री ही मानी गई है। अतएव प्रकृति रूप लोकात्मक शरीर को हम 'पार्थिव' ही कहेंगे, जिसमें आलोकमय आनन्दमय अपार्थिव अलौकिक आत्मा प्रतिष्ठित माना गया है। आत्मा ही वह 'पुरुष भाव' है, जो प्रकृतिरूप लोकात्मक शरीर का सर्वत्र माना गया है। आत्मा, और पार्थिव शरीर, इन दोनों के मध्य में दोनों के क्रमिक सहयोगी माने गए हैं। विज्ञानभाव, और प्रज्ञानभाव जो दोनों भाव दर्शन-जगत् में क्रमशः बुद्धि, और मन नाम से प्रसिद्ध हैं। वैदिक विज्ञान की सामान्य परिभाषाओं से भी परिचित बद्ध-प्रेमी जानते ही हैं कि, मानवीय मन का उपादान सोममय वह चंद्रमा है, जिसे पृथिवी का उपग्रह माना गया है। अतएव चांद्र मन का पार्थिव शरीर के प्रति सहज आकर्षण प्रकृत्यैव समिद्ध हो रहा है। एवमेव चिदात्मा की गर्भभूमिरूप पारमेष्ठ्य महद् ब्रह्म का उपग्रह माना गया है वह सूर्य, जो बुद्धि का प्रभव है। अतएव महद्ब्रह्मावच्छिन्न आत्मा के प्रति सौरी बुद्धि का सहज आकर्षण स्वतः ही प्रमाणित हो रहा है। और यो सूर्यात्मिका बुद्धि मानव के आत्मरूप पुरुषपर्व की, किंवा अर्द्ध-अर्द्ध की सहचारिणी बनी हुई है, तो चन्द्ररूप मन पार्थिवशरीररूप प्रकृतिपर्व का, किंवा अर्द्ध अर्द्ध का सहचारी बना हुआ है। इस साहचर्य का निष्कर्षार्थ यही निकलता है कि-मानवीय पुरुषभागरूप अर्द्धाङ्ग की यागति आत्मा, और बुद्धि नामक दो अत्र तर पर्वों से अनुप्राणित है एव मानवीय प्रकृतिभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्यागति मन, और शरीर नामक दो अत्र तर पर्वों से समन्वित है। फलतः अर्द्ध अर्द्ध द्वयात्मक किंवा पुरुष-प्रकृति समवयात्मक द्विपर्व मानव का आत्मा, बुद्धि मन, शरीर भेदों से पर्वचतुष्टयात्मकत्व प्रमाणित होता है, एव ठीक यही पर्वचतुष्टयात्मिका स्थिति मानवा की है। दोनों के समन्वितरूप दाम्पत्य * से निदानभावानुवन्धेन अष्टाक्षर-गायत्री छन्द की मन्त्रा-सम्पत् की सहजरूपेणैव गतार्थता प्रमाणित हो रही है, एव इस दृष्टिकोण से भी-गायत्री वा इदं सर्वम् इस अनुगम वचन की अर्थता समिद्ध हो रही है।

मानव और मानवी सुखी, और शांत रहें, इसी प्रसङ्ग से अत्र मानव, और मानवी की तथाकथिता स्वरूप मीमांसा प्रकृत हो पड़ी है, जिसके माध्यम से अत्र हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पुरुष और प्रकृति-भाव-समवयात्मक मानव का पुरुषरूप अर्द्धाङ्ग भी आत्म-बुद्धि भेदेन द्विपर्व है, एव मानव का प्रकृतिरूप अर्द्धाङ्ग भी मन-शरीर भेदेन द्विपर्व है। तथैव मानवी के दोनों अर्द्ध-अर्द्ध-अर्द्ध भी इसी पर्वव्यवस्था से समतुलित है। या दोनों के आठों पर्वों के समन्वय से अनुगता दाम्पत्य व्यवस्था अष्टाक्षर गायत्री छन्द से समतुलित प्रमाणित हो रही है। और यों अष्टदृष्ट्या, तथा पर्वदृष्ट्या यद्यपि मानव, और मानवी के स्वरूपों में पारस्परिकी कोई विभिन्नता प्रतीत नहीं होती। तदपि मानवसंस्थानुगत पुरुषाङ्ग के प्राधान्य से, एव मानवी संस्थानुगत प्रकृत्यङ्ग के प्राधान्य से अनुप्राणित सुसूक्ष्म भेद दोनों के समस्वरूपों का आत्यंतिकरूपेण विभाजक बना हुआ है, जिस विभाजन का निष्कर्षार्थ यही है कि, मानव के चारों पर्वों में आत्म बुद्धि रूप 'पुरुष भाग अभिव्यक्त है पूरणरूपेण, एव मन शरीर रूप-प्रकृति भाग 'अपूर्णा' है। एवमेव मानवी के चारों पर्वों में मन-शरीर-रूप-प्रकृतिभाग अभिव्यक्त है पूरणरूपेण, एवं आत्म-

*-देखिए-प्रस्तुत द्वितीयखण्ड का 'पत्नीसन्नहनकर्मोपपत्ति' नामक प्रकरण (पृष्ठ सं० ६७६ से पृष्ठ सं० १०२६ पर्यन्त)।

बुद्धि रूप 'पुरुष' भाग अपूर्ण है। और यो दोनी ही अ योऽ याश्रय यायानुबधेन एक दूसरे के सम्बल की अनिर्वाच्यरूपेण अपेक्षा रख रहे हैं। बिना इस उभयात्मक आश्रय आश्रयी भाव के न तो मानव ही सुख शांति का अनुगाही बन सकता, एव न मानवी ही सुख शांति की अनुगामिनी बन सकती।

मानव से मानवी चाहती है शान्ति, और मानव मानवी से चाहता है सुख। शान्ति अविकम्पित स्थिर-आनन्द से सम्बद्धा मानी गई है एव सुख विकम्पित-अस्थिर-आनन्द से सम्बद्ध माना गया है। शांति का क्षेत्र है आत्मानुगता बुद्धि, एव सुख का क्षेत्र है मनोऽनुगत शरीर। मानव प्रधानरूपेण आत्मबुद्धि-समष्टिरूप पुरुषभाव का प्रातिस्विकरूपेण दायद-भोक्ता है, तो मानवी प्रधानरूपेण मन शरीर-समष्टिरूप प्रकृतिभाव की प्रातिस्विकरूपेण दायदभोक्त्री है। मानव की आत्मबुद्धयनुगता शांति से उपकृत होती है मानवी, एव मानवी के मन शरीरानुगत सुख से उपकृत होता है मानव। बिना शान्ति के सुख का कोई मूल्य नहीं, तो बिना सुख के शांति का मार्ग सगथा अग्ररुद्ध। अतएव समिद्ध है कि-मानव, और मानवी की सुख-शांति दोनों के दाम्पत्यमूलक—गृहस्थधम्म पर ही अवलम्बित है, और इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर भारतीय-यज्ञकाण्ड के सम्बन्ध में हमें दो शब्द अपने वेदप्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित करने हैं।

समृद्धानन्द, शान्तानन्द-भेद से आनन्द के महिमामय दो विवर्त्त सुप्रसिद्ध है। जिस आनन्द में सहज-स्थिति का विकम्पन है, वही समृद्धानन्द है, एव यह इत्यभूत पराश्रय से ही सम्बद्ध माना गया है। एक शान्त-सरोवर में बलपूर्वक-प्रक्षिप्त लोष्ट पाषाण कुछ समय के लिए जैसे वीची तरङ्ग रूप विकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, तथैव लोक वैभवरूप लोष्ट पाषाणादि के आगमन से मानस प्रज्ञा का अमुक अवधि के लिए विकम्पन होपड़ता है एव इसी विकम्पनावस्था का नाम है-समृद्धानन्द, जिसका भौतिक विश्वानुबन्धी-बाह्य परिग्रहों के सस्कारात्मक आगमन से ही सम्बन्ध माना गया है। यही है—विश्वसुख, लोकसुख, जिसका प्रधान सम्बन्ध माना गया है मानव मानवी के प्रकृतिपर्वों के साथ अर्थात् मन शरीर पर्वों के साथ। अर्थात् मानसिक शारीरिक-लोकानन्द का ही नाम है-समृद्धानन्द, एव इसी की पारिभाषिकी अभिवा है-‘सुख’। क्योंकि मानवी में सहजरूपेणैव मन शरीररूप प्राकृतपर्व ही अभियुक्त रहते हैं, अतएव मानवी स्वभावतः समृद्धानन्दात्मक मन शरीर निबन्ध-लोकसुख की ही सतत इच्छा किया करती है।

दूसरा विवर्त्त है शान्तानन्द का। यह स्वाश्रित आनन्द माना गया है। एव सहजरूपेण स्व की स्वरूपस्थिति ही इस शान्तानन्द की परिभाषा है, जिसे बुद्धयनुगत आत्मानन्द, किंवा आत्मनिबन्धन-बौद्धिक आनन्द भी कहा जासकता है। मनोऽनुगत-शारीरिक सुख को कहा जायगा पुष्टि, शरीरानुगत मानसिक सुख को कहा जायगा तुष्टि। एव दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा समृद्धानन्दात्मक-सुख। एवमेव आत्मानुगत बौद्धिक आनन्द को कहा जायगा तृप्ति, एव बुद्धयनुगत आत्मानन्द को कहा जायगा शांति, तथा दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा ‘शान्तानन्दात्मिका’ ‘शांति’। यो दो आनन्द विवर्त्तों के पर्व चतुष्टयी के अनुबन्ध से शान्ति-तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि रूपेण चार अवातर महिमा विवर्त्त सम्पन्न होजायेंगे, जिन इन चारों में से शान्ति-तृप्ति रूप शान्तानन्द की पारिभाषिकी सज्ञा है—‘निःश्रेयस’, एव तुष्टि-पुष्टि रूप समृद्धानन्द की सज्ञा है ‘अभ्युदय’। निःश्रेयस के क्षेत्र है आत्मबुद्धिपर्व, एव अभ्युदय के क्षेत्र है मन शरीर

पर्व । नि श्रेयस्-रूप शा तान द ही 'पारलौकिक शान्तानन्द' है, एव अभ्युदयरूप-समृद्धानन्द ही-ऐह लौकिक-समृद्धानन्द है । और यो दोनो दोनो के पूरक ही प्रमायित हो रहे हैं ।

इसी आधार पर उस वर्णाश्रमधर्म की अभिव्यक्ति हुई है, जिसे भारतीय दाशिकोंने—'यतोऽभ्युदय नि श्रेयस-सिद्धि-स धर्म' इत्यादिरूपेण उभयससाधक माना है । इत्थभूत उभयससाधक महान मानवधर्म (वर्णाश्रमधर्म) का आधारस्तम्भ माना गया है वह—'गृहस्थाश्रम', जिसकी आधारभित्त है चतुष्पर्वा मानव, और तथाविधैव-मा।वी का दाम्पत्ययज्ञ । इसी यज्ञ के आधार पर मानव का वह गृहस्थाश्रम प्रतिष्ठित है, जिसके माध्यम से ही अभ्युदय का अजन करते हुए मानव-मानवी अग्रभावी वानप्रस्थादि इतर आश्रमो से नि श्रेयस साधन में भी सर्वात्मना सफल होजाते हैं । इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर अब हम अपने पाठको का ध्यान उन दोनो विद्याओं की ओर पुन आकर्षित कर रहे हैं जिनका पराविद्या-अपराविद्या रूपेण मुण्डकश्रुति के द्वारा पूर्व में सस्मरण किया जा चुका है ।

शब्दशास्त्रने ब्रह्म के दो प्रमुख महिमा विवर्त माने हैं, जिनका भी प्रसङ्ग धिया अत्र सस्मरण कर लेना यातयाम नहीं माना जायगा । वे दोनो विवर्त क्रमश लोकातीतब्रह्म, एव लोकब्रह्म नामों से अनुगत माने जासकते हैं, जो दर्शनभाषा में जहाँ क्रमश निगुणब्रह्म सगुणब्रह्म नामों से, एव विज्ञानभाषा में परात्पर, पुरुष नामों से व्यवहृत हुए हैं । दिक् देश, और काल की परिधियों से अतीत, विश्वातीत निर्दुर्भ्रमक ब्रह्मविवर्त ही लोकातीत परात्पर ब्रह्म है । एव दिक् देश कालात्मक सर्वात्मक सर्वधर्मोपपन्न-ब्रह्मविवर्त ही पुरुषब्रह्म है । दिक्कालाद्यनवच्छिन्न लामातीत त्रय ही * शातानन्द ही प्रतिष्ठाभूमि है, एव दिक्कालाद्य-वच्छिन्न लोकात्मक ब्रह्म ही समृद्धानन्द की प्रतिष्ठाभूमि है । इसका तात्पर्य यही हुआ कि शान्तानन्दात्मक निश्रेयस् का आधार है लोकातीतब्रह्मविवर्त, एव समृद्धानन्दात्मक अभ्युदय का आधार है लोकात्मक ब्रह्म-विवर्त ।

लोकातीत ब्रह्मविवर्त की लोकनिबधना उपनिषत् मानी गई है—'अहं ब्रह्मास्मि' यह, जिसका अर्थ होता है—'विशुद्ध-निष्कैवल्य-आत्मा', एव जिसे माना गया है-दिक्-देश-काल-त्रयी से अतीत । सैषा स्थिति । स्थितस्य गतिश्चिन्तीया । निवेदन किया गया है कि-मानव, और मानवी, दोनों में प्रत्येक में आत्मादि-शरीरान्त चार चार पर्व हैं । इनमें प्रथम-सर्वाधारमत अपर्वात्मक-आत्मपर्व के साथ बुद्धिपर्व को भी अनुगत मान लिया है एक कारणविशेष के आधार पर, जिसका नवलखण्डात्मिका-गीताभूमिका के 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक अष्टमखण्ड में विस्तारसे स्वरूपोपबृ हण किया गया है । प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, 'बुद्धि' नामक पर्व वस्तुत दिग्देश-कालानुगत लोकब्रह्म की सीमासे ही प्रधानरूपेण सम्बन्ध रखता है । और इस दृष्टि से आत्मा-बुद्धि, तथा मन शरीर-रूपेण चारों पर्वों का विभाजन न कर आत्मा को स्वतन्त्र विभागानुगामी माना जायगा, एव शेष तीनों बुद्धि मन शरीर नामक पर्वों का एक लोकात्मक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा ।

❖ - दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।

स्वानुभूत्येक-भानाय नमः 'शान्ताय' तेजसे ।

—भर्तृ हरि

इस नवीन दृष्टिकोणानुबन्धन से अब आत्मपथ के साथ तो लोकातीत ब्रह्म से अनुप्राणित निश्रेयस का, और तदरूप शांति का सम्बन्ध माना जायगा, एवं शेषभूता बुद्धि-मन शरीर-पञ्चयणी के साथ लोकब्रह्म से अनुप्राणित अभ्युदय का, और तदरूप समृद्धानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं तदाधारणैव अब रात्रा तत यह मान लिया जायगा कि, मानव-मानवी का आत्मपथ दिग्देशकालातीत बनता हुआ निश्रेयस-पथानुगामी है, तो शेषभूता बुद्धि-मन शरीर-पञ्चयणी दिग्देशकालात्मिका प्रमाणित होती हुई अभ्युदय पथानुगामिनी है।

तथाकथित नवीन दृष्टिकोण का आधार है प्राकृतिकी-लोकस्थिति जिसका भी दो शब्दों में सम्मरण कर ही लेना चाहिए। लोकब्रह्मात्मक-समृद्धानन्दन विश्वात्मा से अभिन्न भूत-भौतिक-विश्व की अभिव्यक्ति के तीन ही प्रमुख पर्व माने गए हैं, जो क्रमशः 'सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी' रूपेण सर्वसाधारण के लिए भी अद्भुततम हैं। कालसाक्षी सूर्य काल से अभिन्न है और यही अवलोकन साधन-भूत लोक है। अतएव यह 'लोकसाक्षी' नाम से भी उपश्रुत है। दूसरा चन्द्रपर्व ही दिक् का साक्षी बनता हुआ दिग्भाव से अभिन्न है। एवं तीसरा पृथिवीपथ ही देश का साक्षी बनता हुआ देशभाज से अभिन्न है। तदित्य सौरमण्डलावच्छिन्न लोकब्रह्म की सीमा में सूर्यात्मक-कालभाज, चन्द्रमात्मक दिग्भाव, एवं पृथिव्यात्मक देशभाव, रूपेण तीन अवातर-विवर्त प्रतिष्ठित हैं। इस त्रयी से ही तदभिन्न लोकब्रह्म को हमने 'दिग्देश-कालावच्छिन्नब्रह्म' कहा है, जिसका फलितार्थ निकलता है—'चन्द्रमा पृथिवी-सूर्यावच्छिन्न-व्यक्त-त्रिरब्रह्म'।

शेष रह जाता है लोकातीत, अतएव दिग्देशकालातीत अर्थात् पृथिवी चन्द्रमा सूर्यात्मक यत्न विश्व से अतीत परात्परब्रह्म, जिसे दिग्देशकालातीतत्वेनैव 'अविज्ञेयब्रह्म' भी कहा गया है।

मानव-मानवी में समानरूपेण अभिव्यक्त लोकातीत ब्रह्मभाव ही 'आत्मा' है, जो दिग्देशकालातीत है। कालात्मक सूर्य का प्रवर्ग्यरूप ही मानव-मानवी में कालात्मक-बुद्धिपर्व है। दिगात्मक चन्द्रमा का प्रवर्ग्यरूप ही दिगात्मक-मन पर्व है। एवं देशात्मिका पृथिवी का प्रवर्ग्यरूप ही देशात्मक शरीरपर्व है। इन तीनों पर्वों की समवितारस्था ही मानव मानवी का दिग्देशकालात्मक-लोकानुबन्धी-परिच्छिन्न-स्वरूप है। और यही है उस 'अपराप्रियात्मिका वेदप्रिया का स्वरूप-निष्कर्ष, जिसकी काण्डत्रयी के प्रथम-पर्वरूप-ब्राह्मणभाग' की व्याख्या ही 'शतपथब्राह्मणभाष्य' के रूप से क्रमशः (खण्डश) प्रस्तुत हो रही है गतवर्ष स।

आर्ष * भारतराष्ट्र में किस मन्दभाग्यपूर्ण क्षण से हृत्थभता भयावहा सर्वनाशकारिणी भ्रान्ति उपक्रान्त होपड़ी कि,—'मानव का एकमात्र लक्ष्य आत्मानुबन्धी निश्रेयस-साधन ही है। दिग्देशकालानुबन्धी-व्यक्त विश्व सर्वथैव मिथ्या है। इस का परित्याग कर मानव को केवल निश्रेयस-पथानुबन्धी ही बना रहना चाहिए', के-कालानुबन्धी काल्वालीकृत इतिष्ठित के स्वरूप-विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है। यहाँ तो इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से भारतराष्ट्र शात-अशात-अनेक काल-पार्श्वों की दृढतमा-बन्धन-परम्पराओं से आलोक्य —

* ऋषिप्रदिष्ट ज्ञान विज्ञानात्मक-पथ का अनुगामी।

आनरात्रेभ्य आबद्ध बना रहता हुआ प्रकृतिसिद्ध शरीर मनो बुद्धि मम्मत देश-दिक् कालानुबन्धी लोक समृद्धिभावों की ओर से न केवल तटस्थ निरपेक्ष ही, अपितु काल्पनिक आत्माभिनिवेश से आविष्ट होता हुआ विद्रोही ही बनता चला आरहा है इन लोक-समृद्धिपरम्पराओं के प्रति ।

विश्वातीत-निर्द्धर्मक-लोकातीत-परात्परब्रह्मरूप निर्विशेष 'आत्मभाव' का तो वस्तुगत्या मानव के नि श्रेयस से भी सम्पक नहीं है । अपितु चतुष्पर्वा मानव-मानवी का प्रथम-पर्वरूप आत्मभाव ही इन दोनों के लिए नि श्रेयस् का प्रवर्त्तक माना गया है, जो आत्मभाव विश्वसीमानुगत बनता हुआ 'विश्वात्मा' नाम से ही प्रसिद्ध है । अतएव जगन्मिथ्यात्ववादी-निर्विशेषवादिया का तो नि श्रेयस से भी कोई सम्पक नहीं रह जाता । अपितु निर्विशेष की उपलब्धि के मिथ्यादम्भ से इनकी स्थिति तो 'द्वतो भ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्ट' 'याय को ही चरितार्थ करने वाली प्रमाणित होरही है, और वैसा सा ही क्या, निश्चयेन वैसा ही घात होरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों की अवधि से निर्विशेषाभिनिवेशा जगन्मिथ्यात्वादिनी भारतीय प्रजा के सम्बन्ध में ।

जगन्मिथ्यात्ववादाभ्रान्तिमूला निर्विशेषात्माभिनिवेशाविष्टा तथाकथिता आत्मधारणाने ही इस ओर की लोकसमृद्धि-परम्पराओं स जहाँ भारतीय-मानव को पराङ्मुख प्रमाणित किया वहाँ काल्पनिक आत्माभिनिवेश ने इसे नि श्रेयस पथ से भी सर्वात्मना वञ्चित ही प्रमाणित कर दिया तथोक्ता सुक्ता प्रकाशता अवधि में । यों नि श्रेयससाधक आ मोपयिक ज्ञानपथ के साथ साथ अभ्युदयससाधक (बुद्धि मन शरीरोपयिक) विज्ञानपथ से भी भारतीय मानव सर्वात्मना परा परावत ही प्रमाणित होगया । पारिशेष्यात् रह गया इसके प्रजाकोश में काल्पनिक शून्यवादात्मक-क्षणवादात्मक-स्वलक्षणनिबन्धन-दु ख-दु ख-मात्र, जिस इत्यभूता सर्वनाशकारी मतवादात्मिका भावुकता को ही आज पुन बड़े अभिनिवेश के साथ हमारा आज का सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारत काल्पनिक-मानवता के व्यामोहन से व्यासुग्ध होता हुआ अपना रहा है, जिससे बड़ा सांस्कृतिक अथ - खल इसका और कुछ भी तो नहीं हो सकता ।

विश्वस्यनुगता-दिग्देशकालानुबन्धिनी-अभ्युदयपथससाधिका विज्ञानधारा की विलुप्ति ही तथोक्त सांस्कृतिक अथःपतन का एकमात्र प्रमुख कारण है, जिस पतनगर्त को नि शेष प्रमाणित करने के लिए अपराविद्या के तत्त्वावेक्षण के आधार पर भारतीय मनीषि वर्ग का उस आर्षविज्ञानपरम्परा की अपविष्टा करनी ही पड़ेगी, जिस अभ्युदयसाधक विज्ञानकाण्ड की आधारभूमि नि श्रेयस-संसाधक-समकालिक बना हुआ है । और इस पावन-उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्र के मनीषिवर्ग को सर्वप्रथम-अपराविद्या के प्रचान, एव प्रथम-अङ्गभूत 'विधि' नामक 'ब्राह्मण' भाग की वैज्ञानिकी-परिभाषाओं के अपविष्ट-सम्बन्धेष्य में ही प्रवृत्त होना पड़ेगा, जिन परिभाषाओं के स्वरूप-समन्वय के बिना केवल अविधि-प्रत्यय-धातु-उपसर्ग निपातादि के बल पर कदापि विलुप्तप्राया विस्मृतप्राया विज्ञानधारा की पुनर्प्राप्ति सम्भव नहीं है ।

अपराविद्या ने पराविद्या, अपराविद्या नाम की जिन दो विद्याओं का सङ्घट किया है, उनमें साक्षात् पराविद्या का न तो मानव के अभ्युदय से ही सम्बन्ध है, एव न नि श्रेयस से ही । क्योंकि पराविद्या कालातीता पराविद्या का न तो ज्ञान से ही सम्बन्ध है, न कर्म से ही सम्बन्ध है । शब्दातीता उस विद्या का मानव के लोकातीत जीवन की सापेक्षा ज्ञानधारा, तथा सापेक्षा कर्मधारा से किसी भी प्रकार का व्यक्त

सम्बन्ध नहीं है, जबकि दुर्भा यवश उमी लोकातीता पराविद्या को, एव तन्निबन्धन लोकातीत निरपेक्ष-निर्दिशेष ब्रह्म को विश्वसमृद्धि के अथमतमशत्रु साम्प्रदायिकोने मानव के लिए एकमात्र परमपुरुषाथ घोषित करते हुए उसे ही निश्रेयस्-ससाधक मान रक्खा है। एव इसी भावुकतापूर्णा मयता से आवेशाविष्णु बनी हुई भारतीय प्रजा विगत तीन सहस्र वर्षों से विश्वातीत-निर्दिशेषब्रह्म की घोषणामात्र से आत्मविस्मृता बनती हुई वस्तुस्थिति से अनुप्राणित निश्रेयस् (आत्मानुगता शांति, और बुद्ध्यनुगता तृप्ति), तथा अम्युदय (मनोऽनुगता तुष्टि और शरीरानुगता पुष्टि), दोनों ही पुरुषार्थों से सबथा ही वञ्चित ही होती चली आरही है।

तथाविधा आत्मवञ्चना का ही यह घोरघोरतम दुष्परिणाम हुआ है कि, सगुण विश्वेश्वरब्रह्म के ज्ञान विज्ञानात्मक रहस्यों का प्रतिपादक उपनिच्छास्त्र तदयारयाभूत व्याससूत्र, एव तत्पारिभाषिकी सूची रूप गीताशास्त्र, इन तीनों शास्त्रों की समष्टिरूपा सुप्रसिद्धा-प्रस्थानत्रयी' भी तदावेशाविष्टों की महती कृपा से अपनी पारिभाषिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका समन्वय-पद्धति से पराङ्मुख ही प्रमाणित होगई है विगत अवधि से। फलतः प्रस्थानत्रयी आज केवल साम्प्रदायिक प्रथमात्ररूपेणैव अवशिष्टा रह गई है। तभी तो तथोक्ता अग्रधि में अपने अपने वैयक्तिक-मनोऽनुगता-मायतानुबन्धी-मतवादो-सम्प्रदायवादों के समथन प्रमाणन के लिए सभी मतवाद-प्रवर्तकोंने 'प्रस्थानत्रयी' का आश्रय ग्रहण करते हुए इसे उसप्रकार स्व-स्व-मतवादो की पोषाणित्मिका ही प्रमाणित करने का जघन्यतम-प्रयत्न किया है, मानो ज्ञानविज्ञानात्मिका यह प्रस्थानत्रयी केवल काल्पनिक-मतवादों के पोषण के लिए ही ष्टुत्त हुआ हो।

उक्त निदर्शन से वक्त याश केवल यही है कि, 'उपनिषत्' जैसा वैज्ञानिक-शास्त्र सर्गधर्मोपपन्न ब्रह्म के वैज्ञानिक-स्वरूप का विश्लेषक 'वेदान्तसूत्र' जैसा सूत्रग्रन्थ, एव समस्त उपनिषदो की रहस्यपूर्णा ज्ञानविज्ञानात्मिका विद्याओं की, परिभाषाओं की महत्त्वपूर्ण 'सूची' रूप श्रीमद्भगवद्गीता जैसा लोकोत्तरशास्त्र, ये सभी ज्ञान-विज्ञान-निधिया भी आज तथाविधा मतवादाभिनिवेशपरम्पराओं की प्रतिच्छाया से अपनी मौलिकता से सर्वथा ही अतन्मुख प्रमाणित हो चुकी है। यही कारण है कि उपनिषत्, और गीता जैसे तत्त्वप्रधान, एव आचारप्रधान शास्त्रों के विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्रवर्षों की अवधि से उत्तरोत्तर निश्रेयस्, तथा अम्युदय-पथों से वञ्चित रहता हुआ आततायी गं के द्वारा पराभूत ही होता आरहा है, जिस इत्थभूता पराभूति से अद्यावधि भी भारतराष्ट्र का परित्राण नहीं हो सका है। सचमुच ही जिज्ञासात्मक इत्थभूत महान् प्रश्न प्रत्येक आस्तिक भारतीय मानव के लिए अनतिप्रश्नात्मक एक 'असमाधेय-प्रश्न' ही प्रमाणित हो रहा है कि, जिस नौष्टक-राष्ट्र (भारतराष्ट्र) के प्रज्ञाकोश में मन्त्रब्राह्मण-आत्मक वेदशास्त्र जैसा रहस्यपूर्ण शास्त्र विद्यमान हो, जिस राष्ट्र के मानस प्राङ्गण में औपनिषद् ज्ञानप्रवाह प्रवाहित हो, एव सर्वोपरि जिस राष्ट्र की आस्था-श्रद्धा-समविता बुद्धि में गीताशास्त्र जैसा आचारशास्त्र प्रतिष्ठित हो, वह राष्ट्र कैसे, और क्यों परतन्त्र बन गया ?, इन लोकोत्तर ज्ञान-विज्ञान-विभूतियों की विद्यमानता में भी कैसे और क्यों यह राष्ट्र आत्मदृष्ट्या अशांत, बुद्धिदृष्ट्या अतृप्त, मनोदृष्ट्या असन्तुष्ट, तथा शरीरदृष्ट्या अपुष्ट बना रह गया ?, और कैसे, तथा क्यों यह भारतराष्ट्र अपने दायदसिद्ध निश्रेयस्-तथा अम्युदय नामक दोनों ही पुरुषार्थों से वञ्चित होता आरहा है ?।

हम समझते हैं, पूर्व निर्दिष्ट मतवादात्मक-सम्प्रदायवाद से अनुप्राणिता ज्ञानविज्ञानात्मिका-परिभाषाओं की विलुप्ति, ज्ञानविज्ञानात्मक आचारधर्म का परित्याग, एव तत्स्थाने च काल्पनिकी मतवादा-

भिनिविष्टा-मा यताओ का अधानुकरण ही तथोक्त अनतिप्ररनात्मक-प्ररन का प्रमुख कारण मान लिया जायगा, जिस इस एक प्रमुख कारण के सहयोगी अ या य कारणों का अत्र स्पष्टीकरणावसर नहीं है। इसी सम्बन्ध में एक विशेष तथ्यात्मक कारण का स्मरण कर लेना भी अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा।

‘ज्ञान’ श दानुप्राणिता परिभाषा से असस्पष्ट साम्प्रदायिक मन्त्रिक ने उपनिषदों के ‘ज्ञान’ शब्द का इत्थभूत सम वय कर डाला कि,—“उपनिषद्ग्रन्थ उस निरपेक्ष-निर्निशेष-निधर्मक-लाकातीत-दिग्देश कालातीत ब्रह्मज्ञान की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे है, जा निरपेक्ष-निर्निशेष-ब्रह्मज्ञानात्मक-‘ज्ञान ही अमृतस्वरूप-निश्रेयस् की प्राप्ति का अथतम साधन है। ज्ञानशब्द-निबन्धना इसी महती भाति ने लोकातीत ब्रह्मज्ञान का वह महान् व्यामोहन उत्पन्न कर डाला, जिसमें व्यासुग्धा भारतीय-आस्तिक प्रजा आचारात्मक-कर्मव्यवस्था से सवय पराङ्मुख बन ग, जिमें पराङ्मुखता के आधार पर ही-कलौ वेदान्तिन सर्वे यह आभाणक प्रकाश होपडा है।

ज्ञानाभिनिवेश का इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा कि, निविशेष-ब्रह्मात्मवादी-ब्रह्मनिश्चयात्वा-भिमानि व्याख्याताओं की दृष्ट में मन्त्रब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेदशास्त्र का सर्वात का केवल ‘उपनिषद्’ भाग ही प्रधान बना रहा, और उसी पर उन व्याख्याताओं की व्याख्या-टीका-टिप्पणी-आदि परम्पराएँ उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित होती रही। शेषभूत ऋक्-यजु-साम-अथर्व-मेदभिन्ना सहिताचतुष्टयी, कर्म-प्रधान विधिभाग तो प्रायः असस्पष्ट ही प्रमाणित होत रहे, जब कि बिना इन पूर्व-वेदभागों के पारिभाषिक-ज्ञान-विज्ञानात्मक-सम वय के उपनिषद् के एकाक्षर का भी वास्तविक (ज्ञानविज्ञानात्मक) समर्थ असम्भव है, जैसा कि खण्डत्रयानुगता उपनिषद् विज्ञानभाष्यभूमिका, एवं ईशोपनिषद्विज्ञानादि-भाष्यों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। तथ्यात्मक कारण के स्मरण प्रसङ्ग से ही हमें प्रकृत में इत्थभूत अप्रिय सत्य की शरणानुगति करनी पड़ रही है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र का ‘विधि’ भागरूप ‘ब्राह्मणभाग’ ही तथ्यात्मक उस स्मरणीय कारण का मूलाधार है, जिसकी ओर विशेषरूप से हमें अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। मन्त्रात्मक सहितावेद ज्ञातव्यवेद है, जिसकी विश्रामभूमि तत्त्वमीमासा से ही अनुप्राणिता है। दूसरा ब्राह्मणात्मक भाग कर्तव्यवेद है, जिसका प्रमुखरूपेण आचारनिष्ठा से ही सम्बन्ध है। कर्म, उपासना, ज्ञान, तीनों ही कर्तव्याथ हैं मानव के अभ्युदय निश्रेयस् ससाधन के लिए, जिनका क्रमशः गृहस्थानुबन्धी-कर्तव्य, बान-प्रस्थानुबन्धी-कर्तव्य-एवं सयासानुबन्धी-कर्तव्य, रूपेण त्रिधा वर्गीकरण हुआ है। ज्ञान-विज्ञानात्मक-शिष्यकाल से अनुप्राणिता प्रथमा पञ्चविंशति से अनुप्राणित प्रथम-ब्रह्मचर्याश्रम के अनंतर प्रकृतिसिद्धा द्वितीया पञ्चविंशति में मानव का गृहस्थानुबन्धी-‘कर्म’ नामक प्रथम कर्तव्य प्रधानरूपेण अनुष्ठित होता है, और नगधारभूत-दाम्पत्यमूलक-गृही वह ‘कर्मश्रम’ है, जिसका प्रधानरूपेण ब्राह्मण के ‘विधि’ भाग से ही सम्बन्ध माना गया है। बिना इस प्रथम कर्तव्य की सांख्य के मानव के उत्तराङ्गभूत दोनों कर्तव्य (उपासना, और ज्ञान) कथमपि समन्वित नहीं होसकते। अतएव गृहस्थधर्म की उपेक्षा कर युवावस्था में, किंवा बाल्यावस्था में ही काल्पनिक वैराग्य की घोषणा कर कपड़े रँग लेना, और अपने आपको ‘वीतराग-ब्रह्मनिष्ठ-परहस-परिव्राजकाचार्य-सन्यासी’-घोषित कर देना कुछ भी तो अथ नहीं रहता। सकमुच्च इत्थभूत सन्यास से बड़ी आत्मप्रतारणा मानव के लिए और कुछ भी तो नहीं है। ऐसे

स यास ने, एव ऐसे स यास के कर्णधार सयामियोने ही तथ्यात्मक उस महान् कारण को ज म दिया है, जिन सस्मरणीय कारणानुबन्ध से ही भारतराष्ट्र का गृहस्थाश्रमानुबन्धी-विधिभागात्मक ब्राह्मणग्रन्थनिबन्धन समस्त कर्मसौ दय्य, एव तद्रूपा आचारनिष्ठा सर्वथैव अभिभूत होगई है, जिस आचाराभिभूति से ही भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक गौरव स्मृतिगम में विलीन हुआ है।

आचारात्मक-जीवनीय रसानुबन्धी-सृष्टिसौ दय्य का वैज्ञानिक-स्वरूप विश्लेषक विधिरूप ब्राह्मण भाग, एव ब्राह्मणभागोक्त वैज्ञानिक-पारिभाषिक-तथ्यो का इतिहास-पुरस्सर उपबृहण करने वाला आद्य्य सवस्वरूप-‘पुराणशास्त्र’, ये दो ही विभाग भारतीय विज्ञानकाण्ड के तत्त्वात्मक, एव आचारानुगत ऐतिहासिक प्रक्रमो के प्रमुख आधारस्तम्भ थे, जिनका तथोक्त कल्पित स यास ने, तदनुप्राणिता केवला उपनिषद्भक्ति ने, एव तन्निबन्धना ज्ञानैककल्पना ने विगत तीन सहस्रवर्षों से सर्वात्मना अभिभव ही कर लिया, जिस अभिभव क कारण ही सामा य प्रजा की कौन बहे भारतीय विद्वान् भी ब्राह्मणग्रन्थों, एव पुराणो के प्रति सर्वथा उदासीन ही बन गए।

और नि सदेह यही वह घोरघोरतमा भयाह्रा भ्राति है, जिस ने वेद के ज्ञानविज्ञान-सम्मत पारिभाषिक-अ तत्तल का सस्पश होन ही नहीं दिया। सचमुच ब्राह्मणग्रन्थो की ज्ञानविज्ञानात्मिका-परिभाषाओ के विस्पष्टतम स्वरूप पर दृक्पात-मात्र-करने से ही सहमा हमें वेदाथ के सम्बन्ध में सहजरूपेणैव वैसी दृष्टि उपलब्ध होजाती है, जो क्रमसिद्ध-आनुर्गामी से अनुप्राणित अध्ययन से सभी प्रकार की भ्रातियो का आमूल चूड़ उत्पाटन ही कर डालती है। इस में तो कोई सदेह नहीं कि, ब्राह्मणग्रन्थो की रहस्यात्मिका परिभाषाएँ स्प्य में ही एक जटिल-समस्या है। और कोइ भी बुद्धिवादी प्रकृति-प्रत्यय-वातूपसर्ग-निपातादि मात्र के बल पर स्वप्न में भी इन परिभाषाओ के सन्निकट नहीं पहुँच सकता। यही नहीं, पारिभाषिक-तथ्यो से श्रूय रह जाने वाले व्यक्ति के लिए तो ‘ब्राह्मणसाहित्य’ उसी प्रकार केवल असदारयान (कल्पित-कथानक) मात्र ही बने रह जाते हैं, जैसा कि ‘पुराणशास्त्र’ के अष्टविध आरयानो में एक विभाग-‘निदानभावा-नुबन्धी-असदारयान’ का माना गया है। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी ही कुछ है।

“यज्ञ देवताओ से रूठ कर प्रथिवी पर आगया। देवताओ के डर से वह काला हरिण बन गया। देवताओने उस का चर्म उखाड़ लिया, जो कि चर्म तीनों वेद थे”-“इन्द्र ने वृत्रा सुर पर वज्र का प्रहार किया-वह पानी में लुप गया-उस से दर्भ उत्पन्न हुए”-“देवता और असुरों में युद्ध होपड़ा भूपिण्ड पर स्वत्त्वाधिकार स्थापित करने के लिए। दोनों लडते हुएों के मध्य में गायत्री खड़ी होगई। गायत्री पृथिवी ही तो थी। इय हैव तदन्तरा तस्थौ” इत्यादि रूपेण उप वर्णित वेदशास्त्र के इर्थभूत आरयान एकबार तो मानवप्रजा का सवात्मग विजाडित ही बना देते हैं। जबतक इन्द्र वृत्र-मृग-यज्ञ-त्रयीवेद-दर्भ गायत्री प्रथिवी आदि शब्दो के पारिभाषिक वैज्ञानिक-अर्थों के साथ हमारी-प्रज्ञा समन्वित नहीं होजाती, तबतक हम ब्राह्मणों की इस आरयान भाषामात्र के माध्यम से एकाक्षर का भी समन्वय नहीं कर सकते, नहीं ही कर सकते। अपितु बिना पारिभाषिक बोध के तो हम स्वल्पकाल में ही थक कर ब्राह्मणग्रन्थों के स्वाध्याय से विरत ही होपड़ते हैं। पुराणशास्त्र के स्वाध्याय की उपरति का भी यही कारण है, जिस से कि विद्वानोंने ब्राह्मणग्रन्थों के स्वाध्याय से निराम ग्रहण कर लिया है। और यो पारिभाषिक तथ्यो से पराड मुख बने रह जाने के कारण ही विगत अनेक शताब्दियों से सर्वसामान्य की कौन

कहे, भारतीय मेधावी विद्वान् भी 'ब्राह्मण, और 'पुराण' साहित्य के अध्ययनाध्यापन से पराङ्मुख ही बनते चले आरहे हैं ।

ब्राह्मण, और पुराण दोनों की निरूपणीया-शैली में अद्भुत साम्य का अनुगमन प्रतीत हो रहा है । दोनों की निरूपणीया शैली 'आर्यानोपाख्यानान्विता इतिवृत्तशैली'—(इतिहासशैली)' से समन्विता है, जैसा कि 'एतद्ध मौर्यमार्याणामार्याणविद आचक्षते (गतपथब्राह्मणे) इत्यादि से स्पष्ट तमरूपेण प्रमाणित है । एव पुराणशास्त्र की आख्यानशैली से अनुगतता तो सुप्रसिद्धा ही है, जैसा कि निम्न लिखित सुप्रसिद्ध पुराणवचन से ही स्पष्ट है—

आख्यानेश्चाप्युपाख्यानेर्गाथाभि कल्पशुद्धिभि ।

पुराणसहिता चक्रे भगवान् बादरायणः ॥

—पुराणेषु

'पुराणसहिता चक्रे वाक्य से अनुगत 'सहिता' शब्द एक विशेष तथ्य की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है सुप्रसिद्ध है कि, भगवान् वेदव्यासनने सुप्रसिद्ध बदरिकाश्रम में सत्वपूर्वक समाधिस्थ बनते हुए ऋक् यजु साम-अथर्व-नाम की चार तो 'वेदसंहिताओं' का सकलन किया, एव पाँचवीं-पुराणसहिता का सकलन किया, जिस के आधार पर तच्छिष्य महाभाग सूत-के द्वारा अष्टादश-पुराणों, एव अष्टादश उपपुराणों का सकलन हुआ, जो पुराणसाहित्य बादरायण की मूलदृष्टि से अनुप्राणित होते हुए 'व्यासकृति' रूपेणैव प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार जैसे कि भगवान् बादरायण की शब्दरचना से अनुप्राणित भी महाभारतान्तर्गत 'गीताशास्त्र' भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण की मूलदृष्टि से अनुगत होता हुआ 'भगवद्-गीता' नाम से ही प्रसिद्ध हो रहा है ।

'वेदसंहिताओं' के सकलन से जहाँ सत्यवती सूनु-'वेदव्यास' नाम से प्रसिद्ध हुए, वहाँ 'पुराणसहिता' के सकलन से ये ही भगवान् बादरायण 'पुराणपुरुष' नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हुए ।

'सकलन' क्या अर्थ ? प्रश्न का समाधान भी सर्वथा ऋजुभावापन्न है । तत्वात्मक-अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मणायामक वेद के दृष्टा महर्षियों के द्वारा बुद्धिपूर्विका वाक्य रचना-पूर्वक-सम्पन्न शब्दात्मक मन्त्र-ब्राह्मणभाग शाखामेद से तत् तत्-ऋषिविश परम्पराओं में प्रकीर्णकरूपेण विभक्त हो रहा था । एवमेव पुराणगाथाएँ भी भिन्न भिन्न ऋषिविशों में विभक्त हो रही थीं । भगवान् बादरायणने अपनी लोकोत्तरा प्रतिभा के जल पर प्रचण्ड तपश्चर्या के द्वारा उम शब्दात्मिका वेदराशि का, एवं पुराणगाथाराशि का सकलन किया । एव इस 'सकलन' से ही शाखाशुक्-वेदमन्त्रों का सकलितरूप 'वेदसंहिता' नाम से, एव पौराणिक-तथ्यों का शब्दगाथात्मक सकलन 'पुराणसहिता' नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ । और यों-आज से पाँच सहस्र वर्षपूर्व भगवान् बादरायण ने भारतीय सस्कृति की अखण्डा शानज्योति की इस संकलनरूप तैला-दृष्टि से पुनः प्रज्वलित किया, जिस के लिए भारतीय प्रजा यावन्च-द्रदिवाकरौ इस महापुरुष के प्रति अदा-जलियाँ ही अर्पित करतीं रोगी ।

एक प्रासङ्गिक, किन्तु महत्व पूर्ण प्रश्न । भगवान् बादरायण ने पहिले-पुराणसंहिता का संकलन किया, अथवा तो पहिले वेदसंहिताओं का ? इस महत्व पूर्ण प्रश्न का जो उत्तर पुराणग्रन्थ-

वित्, पुराणकथाप्रतिपादक महाभाग सूत ने दिया है वह भी एक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिस उत्तर का अविकलरूप है—

पुराण सर्वशास्त्राणां प्रथम ब्रह्मणा स्मृतम्
अनन्तर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता ॥

—पुराणेषु

वचनाक्षरार्थ—यही है कि भगवान् चतुर्मुख ब्रह्माने सम्पूर्ण शास्त्रों से पहिले 'पुराण-शास्त्र का ही स्मरण किया है। अर्थात् उनके मुखपङ्कज से सर्वप्रथम पुराणशास्त्र ही अभिव्यक्त हुआ है। पुराणशास्त्र की प्राथमिकी अभिव्यक्ति के अनन्तर ही ब्रह्मा की मुखचतुष्टयी से वेदशास्त्र का विनिर्गमन हुआ है।”

वेद, और पुराण के स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्मा माने गए हैं,—पुराणशास्त्र की मायता के अनुसार, जो कि मायता वैदिक-तत्त्ववाद से सर्वथा अभिन्ना बनी हुई है। “ब्रह्माने पहिले पुराण बनाए, अनन्तर वेद” यही उक्त पुराणवचन का फलितार्थ है, जिस पर सम्भवतः कोई भी वेदभक्त विद्वान् सहसा इस लिए आस्था नहीं करेगा कि उस वेदभक्त की मायता में 'वेद ही ब्रह्मा की प्रथमा कृति है, एव वेदशास्त्र पुराणों से कहीं प्राचीनतम शास्त्र है। वेदभक्तों की इत्यभूता मायता का भी समादर ही किया जायगा महाभाग सूत के द्वारा उपनिषद् अष्टादश-पुराणों, तथा अष्टादश-उपपुराणों की दृष्टि से भी, एव पुराणपुरुष भगवान् यासदेव के द्वारा सकलिता 'पुराणसहिता' की अपेक्षा से भी, जो कि व्यासदेव के द्वारा सकलिता 'पुराणसहिता' अन्याय वेदशाखा-सहिताओं की भाँति भारतीय-आषप्रजा के दुर्भाग्य से आज अनुपलब्धा है। क्योंकि सकलिता-पुराणसहिता, एव तदाधारेण उपनिषद् अष्टादशपुराणोपपुराणों का सकलन, तथा निर्माण अवश्य ही शब्दात्मक वेदशास्त्र के अनन्तर ही हुआ है। और इसी स्थूलदृष्टि से वेदों का पूर्वभावित्व, तथा पुराणों का उत्तर भावित्व भी मान्य मान लिया जासकता है। किन्तु ?

'किन्तु' का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, पुराणशास्त्र ने जिस 'पुराण' का भगवन् ब्रह्मा के मुख से वेदों से भी पहिले उद्गम बतलाया है, उस 'पुराण' का सृष्टिरहस्य के प्रतिपादक, सङ्केतभाषामय-परम्परासिद्ध-ज्ञानविज्ञानात्मक उन चिरन्त-आख्यानोपाख्यानो के साथ ही सम्बन्ध है, जिन का स्वयं वेद-शास्त्र 'एतद्ध सौपर्यमाख्यानमाख्यानविद् आचक्षते इत्यादिरूप से बड़े गौरव से स्मरण कहता आरहा है। आख्यानविदों की परम्परा में अनादिकाल से चले आने वाले इन सृष्टीतिवृत्तौ-आख्यानोपाख्यानो-को मूलसूत्र मानकर ही शब्दात्मक-वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। इसी वस्तुतथ्य के आधार पर असदिग्धरूपेण यह मान लिया जासकता है कि—'पुरा नव भवति-इति-पुराणम्' (जो आरम्भ में नवीन था, वही 'पुरा-नव' रूपेण-'पुराणम्' कहलाया) इत्यादि निश्चिन से अनुप्राणित परम्परया आख्यानोपाख्यानरूपेण श्रुतोपश्रुतित, वेदशास्त्र, एव पुराणसहिता, तथा अष्टादशपुराणों का मूलधार-स्तम्बरूप "पुराण" सचमुच ही तो वेदशास्त्र से भी पूर्व ही विनिर्गत है भगवान् ब्रह्मा के मुखपङ्कज से।

इदमत्रावधेय विशेषरूपेण। लोकप्रवृत्तियों में हम देखते हैं कि, जो भी लोकविद्वान् अपने चिरन्तन-अध्यवसाय-श्रम-परिश्रम से जिस विषय में जो भी नवीन अन्वेषण, किंवा नवीन आविष्कार करता है, उस के

उस अ वेषण किंवा आविष्कार की लोकसाधारण में स्वत ही एक 'कहानी' बन जाया करती है, जिस का सुसंस्कृतरूप है—कथा । लोकसंस्कृत में जो 'कथा' कहलाइ है, छु दोऽभ्यस्ता नाम की वेदभाषा में वही 'गाथा' नाम से प्रसिद्ध है । वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा, एव सामा यजनानुर्वाधनी 'कहानी' तीनों आभन्नार्थक मान लिए जासकते हैं, क्योंकि तीनों का आविर्भावात्मक मूलधरातल अधिकांश में समतुलित ही है । राजस्थान का अमुक ऋगविशेष अमुक-विशेष तारो से समवित- सारङ्गी समतुलित-वाद्ययन्त्र के आधार पर राजस्थान के लोकेतिवृत्तो के द्वारा ग्रामीण जनता का मनोऽनुरजन किया करता है, जो आज के स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र-सत्ताधीशो की दृष्टि में भारत की 'लोकसंस्कृति' का आसन ग्रहण किए हुए हैं । तथाकथित वादकवृन्द-प्रव-प्रल्हाद-मीरा-आदि के ऐतिहासिक चरित्रो का-सत्यवचनसरञ्ज-महाभाग तेजाजी के पावनचरित्र का, अपने उदारदान से असमर्था के प्रति-आत्मनमर्पण में सुप्रसिद्ध सर्वांगी-हूँगजी-जर्वाहरजी, एवमेव अ यान भी लोकप्रसिद्ध चरित्रो का तद्वाद्ययंत्र के द्वारा श्रोतृवर्ग का अनुरजन करते रहते हैं । गा गा कर सुनाए जाने वाले इत्थभूत ऐतिहासिक चरित्र भी एरूपकार की-'लौकिकी गाथाएँ' ही मानी जायेंगी । स्वयं-वैदिकयुग में भी सुप्रसिद्ध-शास्त्रीय वाद्ययन्त्र-त्रीणा' के माध्यम से अमुक यज्ञ-कम्म-विशेषों में इसप्रकार की सृष्टिचरित्रात्मिका इतिवृत्तरूपा यशोगाथाओं के गान का समावेश था, जैसाकि- त्रीणागाथिनो गायन्ति इत्यादि से स्पष्ट है । सुप्रसिद्ध 'राजसूय' यज्ञ में तो राजसूयज्ञानुष्ठानकर्ता के राजमार्ग में प्रतिष्ठित दो श्रेष्ठतम वीणावादक ब्राह्मणों के द्वारा एकवर्ष पथ्य त तथावधा यशोगाथाओं का विधान हुआ है । निवेदन-निष्कर्ष यही है कि, गाथारूप-कथा-कहानी की परम्परा अनादि है, और इन गाथा कथा कहानीरूप अनादि उन चरित्रों आख्यानोपाख्यानो का नाम ही है 'पुराण', जिनके आधार पर ही शास्त्रीय, एव लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय समय पर आविर्भूत तिरोभूत होते रहते हैं । अतएव इत्थभूत चिरन्तन पुराण' को अवश्यमेव 'प्रथमशास्त्र' माना जासकता है । और एकमात्र इसी सहज तथ्य के आधार पर 'पुराण सर्वाशास्त्राणा प्रथम ब्रह्मणा स्मृतम्' इत्यादि पूर्वोक्त वचन समवित हुआ है । जिसप्रकार भगवन् बादरायण ने तत्तद् ऋषिवर्षों में प्रतिष्ठित प्रकीर्णभावापन्न बर्दों के सकलन से 'वेदसंहिता' का स्वरूप-समवित किया था, तथैव लोकप्रसिद्ध-वेदशास्त्रमूलक-परम्परया श्रुतोपश्रुत 'गाथा'-'कथा' रूप सृष्टीतिवृत्तात्मक मूलसूत्रो का भी सकलन किया, और वही सकलन 'पुराणसंहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिस के आधार पर महाभाग सूतने अष्टादश-पुराणोपपुराणों का विस्तार किया ।

'पुराण प्रसङ्गत वेद, और पुराण से अनुप्राणित पीर्वापर्य्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा, जिसे प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, आख्यानोपाख्यानरूपा गाथा कथाओं के रूप में परम्परया व्यवस्थित सृष्टिविशानेति वृत्तात्मक-वेदतोऽपि पूर्वभावी जिस पुराण के आधार पर ऋषिप्रज्ञा के द्वारा वेदमन्त्र उपनिबद्ध हुए हैं, उन वेदमन्त्रों के व्याख्याभूत 'विधि' नामक वेद के ब्राह्मणभाग में (शतपथ पेटरय-तैत्तिरीय-गोपथ जैमिनी शाङ्खायन आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थों में) वेदपूर्वभावी गाथाकथात्मक पुराण की आख्यानोपाख्यानप्रधाना पारिभाषिकी शैली का ही अनुगमन हुआ है । अर्थात् म ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के ब्राह्मण नगल 'किञ्चि' भाग में प्रमुखरूपेण ऋषियोंने वेदाधारभूत पुराण की आख्यानोपाख्यानशैली को ही प्रधानता दी है । और आगे चलकर व्यासकृता वेदोत्तरभाविनी व्यासकृता पुराणसंहिता में, तथा तदनुगत पुराणोप पुराणों में भी इसी आख्यानोपाख्यानशैली का विस्तार से उपबृंह्य हुआ है । इस समय का यही

निष्कर्ष है कि, ब्राह्मणग्रन्थों के पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानो, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानो का तत्त्वात्मक-पारिभाषिक-सम सम्यग्बोध जबतक नहीं प्राप्त कर लिया जाता, तबतक न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनप्राणित विज्ञान-स्तुति-इतिहास रूपा ज्ञात यत्रयी का ही सम वय सम्भव, एव न त्रिधि-आरण्यक-उपनिषत्-द्वारा प्रतिपादिता कर्म-उपास्ति-ज्ञान-त्रयी-रूपा कर्त यत्रयी का ही स्वरूप-सम वय सम्भव। तात्पर्य-ब्राह्मणग्रन्थों के, और पुराणशास्त्र के पारिभाषिक रहस्यात्मक नैगमिक सम-वय के बिना शेषभूत ज्ञात य कर्त्तय भावापन्न वेदशास्त्र का, एव तदनु स्वय ब्राह्मणग्रन्थों, एव पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गताथ नहीं बन सकता, कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के स्वरूप विश्लेषक गाथा 'निगद कुम्ब्या निवित् आदि नामक अवश्य ही स्वतंत्र पारिभाषिक ग्रन्थ रहे होंगे, जिनके कि मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव भगवान् यासदेव के द्वाग सकलित-पुराणसंहिता' में पुराणशास्त्र के सृष्टि-प्रतिसृष्टि-वश-वशानुचरित-गाथा-कल्पशुद्धि-सिद्धात-महिता-डामर जामल तन्त्र ज्योतिषचक्र (खगोल) भुवनकोश (भूगोल) द्गार्गल आख्यान उपाख्यान आयती आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की पारिभाषाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी परिभाषाओं के विश्लेषक गाथा कुम्ब्या निगद-आदि-ग्रन्थों की भांति पुराणपरिभाषाओं का विश्लेषक 'पुराणसंहिता' नामक ग्रन्थ भी आज अनपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसाहित्य, और पुराणसाहित्य, दोनों ही महत्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक वैज्ञानिक परम्परासिद्ध तात्त्विक अर्थसम-वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आ रहे हैं, जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीषण परिणाम है कि—भारतीय-विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एव पुराणों के तात्त्विक-अध्ययनायापन से अधिकांश में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक मनोऽनुगता काल्पनिक व्याख्याग्रन्थों को ही 'प्रमुख शास्त्र' मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद पुराण सिद्ध गरिमामहिमामय सांस्कृतिक महान् कोश की तत्त्वमीमाणा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से बञ्चित ही होता आ रहा है और यही भारतराष्ट्र के आत्मिक बौद्धिक मानांसक तथा शारीरिक पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो भवावह घोरघोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो काल्पनिकी 'धर्मनिरपेक्षता' के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

सैषा स्थिति। साम्प्रत स्थितस्थ गतिश्चितनीया। प्रत्यक्ष में पारिभाषिक-तत्त्वबोध का कोई ऋजुसूत्र हमें उपलब्ध नहीं हो रहा। ऐसी विषमा-अवस्था में ब्राह्मणों, और पुराणों के आख्यानोपाख्यानो से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्ण-ज्ञाननिष्ठानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय?, जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, तो वेदग्रन्थविमथनपटु-परिभाषातत्त्वाविष्कारक आचार्य्यचरण श्रद्धेय पूज्य ओझाजी महामहाराज का यही 'उद्बोधनसूत्र' दृष्टि के सम्मुख अभियुक्त होपड़ता है कि, "वेद की पारिभाषिकी गहनाटवी में प्रवेश करने के लिए हमें—'आर्य्यसर्वस्व' रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा" *। आर्य्यजाति का सांस्कृतिक महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गुहानिहित अजस्र-तपोव्रत महान् सत्त्व से विद्वन्तप्राया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आविष्कारक वेदसमुद्र पूज्यचरण आचार्य्यप्रवर (पू० श्रद्धेय श्रीमधुसूदनजी महाराज मैथिल) ने पुराणों को—'आर्य्यसर्वस्व' अभिधा से ही समन्वित किया है।

प्राञ्जलभाषा में सकलित हुआ है, वह पुराणशास्त्र पूज्य आचार्यचरण की दृष्टि में “आचार्य का सर्वस्व” ही बना हुआ है। एव अध्यापनकाल में पुन पुन आप पुराणशास्त्राध्याय पर ही विशेष बल देते रहते थे।

‘उद्बोधनसूत्र कोई नवीनतम सूत्र नहीं है। स्वयं माय विद्वान् भी शास्त्रचर्चा-प्रसङ्गात्मक पर साभिमान अनुदिन-“इतिहासपुराणभ्यां वेद समुपबृहयेत्” की तुमुल घोषणा करते सुने गए हैं। किंतु जहातक ‘पुराणशास्त्र के अध्ययनाध्यापन का सम्बन्ध है, जहातक तो विद्वानों की यह तुमल-वापणा सर्वथा-यातयामा ही बनी हुई है। विगत शताब्दियों में तत् तत् सत्तात त विशेषों के अनुरक्षण के लिए निर्मित काय नाटक चम्पु प्रशस्त कविता आदि से काव्यालीकृत मनोऽनुगत काल्पनिक साम्राज्य में चरण करते रहने को ही विद्वत्ता की चरम सीमा मान बैठने वाले हमारे देश के तथाकथित मूर्ख विद्वानों की दृष्टि में ‘पुराणशास्त्र’ तो एक सवथा उपेक्षणीय शास्त्र ही बना हुआ है। यही नहीं, पुराणकथानुगति से अनुप्राणित—पुराणपाठक तो इनके लिए सवथा आलस्यालम्। अलमति पल्लवितेन-आपातरमणीय कणकद-प्रसङ्गेन।

हमारी तो अपनी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि, पुराणशास्त्र के पारिभाषिक शास्त्राध्याय के बिना ब्राह्मणशास्त्र का पारिभाषिक-तत्त्वाध्याय सर्वथा ही असम्भव है, एव ब्राह्मणभाग की परिभाषाओं के बिना उस और की मन्त्रादि ताओं का तथा इस और के आरण्यकोपनिषद् भाग का तत्त्वात्मक पारिभाषिक-सम वय भी असम्भव ही है। यों परम्परा वेदार्थसम वय में प्रथम पुराणशास्त्र, तदनन्तर वेद का ही ब्राह्मणभाग, ये दो ही प्रमुख आधारस्तम्भ बने हुए हैं, जिन दोनों को ही अपनी स्वाध्याय परम्परा से पराङ्मुख कर देने वाले देश के मूर्ख विद्वान् भी राष्ट्र के मौलिक साहित्य-वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञातात्मक-अभ्युदय-निश्चय-संसाधक-महतीमहीयान उदक से एकातत वञ्चित ही बने रह गए हैं।

क्या पुराणोक्त आख्यान उपाख्यानों से सम्बन्ध रखने वाले विचित्रतम प्रत्यक्षदृष्टया असम्भवतम प्रतीत होने वाले कथोपकथनों से अनुप्राणित परिभाषाओं का पुराणवाचनमात्र से सम वय होनायगा?, यही वट जटिलतम प्रश्न है, जिसे हमने उपयोगितापादानुषंगी बुद्धिवादात्मक महान् बुद्धिव्यामोहन से आज उस सीमापर्यन्त भयानक प्रश्न बना लिया है, जिसका ढूँढे से भी कोई समाधान हमें उपलब्ध नहीं हो रहा।

इसी तथाकथिक प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाली एक रहस्यपूर्ण समाधान परम्परा का भगवान् वेदपुरुष के स्वयं के मुख से ही निम्नलिखित सस्मरण कर लेना प्रासङ्गिक मान रहे हैं कि—

उत च्वः पश्यन्न ददर्श वाच, उतत्रः शखन्न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्व विमल्ले जायेव पन्ये—उशती सुवामा ॥

—ऋक्संहिता १०।७।४।

मन्त्रार्थ स्पष्टतम है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, कुछ एक अध्ययनशील महाभाग तो इस अर्थ को समलङ्कृत कर रहे हैं कि, मन्त्रार्थ पर दृष्टि रखते हुए भी जो इस दृष्टि से वञ्चित ही बने रह जाते हैं।

—शास्त्रैर्विहीनाश्च—पुराणपाठका

कितने एक महानुभाव सुनते हुए भी वाग्देवी के स्वरूप-श्रवण से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते रहते हैं। और कुछ एक जैसे भी आत्मनिष्ठ सहज आर्षमानव श्रेष्ठ हैं, जिनके लिए स्वयं वाग्देवी अपने बाह्य-आभ्यतर-सम्पूर्ण-स्वरूप को स्वतः ही उसी प्रकार अभि यक्त कर देती है, जैसे कि पतिपरायणा सहस्रम्-चारिणी गृहिणी अपने पति के लिए सवथा अभि यक्ता बनी रहती है।

परिभाषाओं का स्वरूपबोध क्या देखने-सुनने-मात्र से सम्भव है? प्रश्न का तथाकथित श्रौत समाधान से अतिरिक्त और क्या समाधान होगा? अहर्निश वेद-पुराण-के अक्षरों पर दृष्टिपात किए रहने मात्र से, किंवा अहर्निश पुरणपाठ-श्रवणमात्र से कदापि तबतक इस शब्दब्रह्म के पारिभाषिक-तथ्यों की अभि यक्ति सम्भव ही नहीं है जबतक कि हम अपने वैयक्तिक-बुद्धिवाद के माध्यम से, सहजभाषा में बुद्धि प्रतिभा-मेधा लगन के बलातिमान से इस ओर प्रवृत्त रहते हैं। अवश्य ही बुद्धिवादात्मिका मेधा हमें वाचाल बना देगी, तकपट्ट प्रमाणित कर देगी, लोकसमाज में हमें धुर धर विद्वान् भी प्रमाणित करा देगी। किंतु इन सब आडम्बरो के सफल होजाने पर भी बुद्धिवादात्मक दावानल से सर्जना भुलस जाने वाला श्रद्धारस सर्वथैव अभिभूत होजायगा, जिसके बिना स्वयं की परितृप्ति-तुष्टि कदापि सम्भव नहीं है। श्रद्धाविहीन ऐसे शुष्कतम-बुद्धिवादात्मक-पाण्डित्य-का ही नाम है—'व्यक्तित्वविमोहन' जिसका प्रमुख आधारस्तम्भ मानी गई है—'दिग्देशकालनिबन्धना लौकैषणा, लोकरयाति', जिसका सीधासा अर्थ यही है कि, "हम अपने आप में भले ही करुण चीत्कार ही करते रहे अपनी रिक्तता के कारण, किन्तु लोक समाज में हमारा अमुक स्थान प्रतिष्ठित होजाय"।

वित्तौषणागर्भिता इत्यभूता सर्वनाशकारिणी लौकैषणा से ही हमारे बौद्धिक क्षेत्र में अतिमानात्मक वह बुद्धिवाद अभि यक्त होपडता है, जिसके कारण हमारी बुद्धि दिग्देशकालातीत-अनत-आत्मा से अनुप्राणित स्वात्मबोध से पृथक् रहती हुई दिग्देशकालनिबन्धन-सामयिक-तात्कालिक-उन्नतिमूलक-उपयोगितावाद की शोरधोरतमा मात्रणा से पीडित होजाती है जिस उपयोगितावादात्मक-कारणतावाद से ही हमारी बुद्धि स्वस्वरूप से विमुग्धा बनती हुई 'उतो त्वस्मै तत्र तिस्रस्ते जायेव पत्ये उशती सुवासा रूप महान् अनुग्रह से सर्वथैव वञ्चित रह जाती है।

और हम अब पूव के अमुक तथ्यों को गौण-मानते हुए इसी तथ्य पर आते हैं कि, अमुक सीमा-पर्यन्त पुराणसाहित्य, तथा ब्राह्मणसाहित्य की परिभाषाओं से अपरिचित रह जाने का प्रमुख कारण दिग्देश-कालानुबन्धी-कारणतावाद के आकषण से अनुप्राणित बुद्धिवादात्मक स्वस्वरूप का व्यामोहनात्मक वह अतिमान ही है, जिसके कारण राष्ट्र की प्रचण्ड-मेधाएँ भी वेदशास्त्र की ज्ञान-विज्ञानात्मिका परिभाषाओं के सम्पर्क से पराङ्मुख बनी रह गईं। 'वयं वेदज्ञाः'-'वयं पुराणाचार्या'-'वयं शास्त्रमर्मज्ञा' रूप व्यक्तित्वविमोहन ने ही राष्ट्र की मूर्द्धन्या भी प्रज्ञाओं को तत्वाथ के सम्पर्क में नहीं आने दिया। क्योंकि सभी की अपनी अपनी स्वतन्त्र-व्यक्तित्वमूला मायताएँ हैं। अपनी मायता बना कर उसके आधार पर माय विद्वान् वेदार्थ समन्वय में प्रवृत्त होते हैं। सहजभाषानुसार हमने वेदाक्षरों के ऋजुभावापन्न समन्वय की उपेक्षा कर उसके द्वारा अपनी मायताओं का समर्थावेषण आरम्भ कर दिया। और यों सहज ऋषि की ऋजुप्रज्ञा से सहजरूपेणैव स्वतः एव विनिर्गता वेदवाणी को हमने बुद्धिवादात्मक दिग्देशकाल के उस पल्लवे पर तौल बाला, जिस लौकिकी तराजू में बुद्धिवाद के द्वारा लोकानुबन्धी-भूत-भौतिक-दिग्देशकालात्मक-पदार्थों

का ही तुलन हुआ करता है। इसी महती भ्रांति से वेद का ऋजुभावापन्न पारिभाषिक-अथ हम से उत्तरोत्तर विदूर ही होता गया। और इसी भ्रांतिपरम्परा के कारण उम दूरत्व ने कालांतर में इस महान् शास्त्र को 'दिग्देशकालानुबन्धिनी उपयोगिता कारणाता के माध्यम-से सवथा उपेक्षणीय ही प्रमाणत कर दिया, जैसाकि कुत्र ही समय पूर्व रात्रस्थान के ही एक उच्चपद पर समासीन (स्वयं किसी युग के प्राय-संस्कृतिभक्त) एक महानुभाव ने प्रस्तुत वैदिक-साहित्य के-परोरजा-स्वयम्भू-इन्द्र-वरुण-आदि पारिभाषिक-तथ्यो को कर्गाकर्णिपरम्परया सुन कर अपने इत्यभूत महान् उदगार प्रकट किए थे, कि "आन के युग मे इन तथ्यो का क्या उपयोग, वर्त्तमान के जनजावन मे इनकी क्या उपयोगिता'।

बुद्धिवादात्मक तथाकथित व्यक्तित्वविमोहन ही एकमात्र वह महान् प्रतिबन्धक है, जिसके अनुबन्ध मे हम वेदाक्षरो को देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। अपितु सबकछ्छ दाय सुन कर भी हम तद्वस्तुतथ्य से पराङ्मुख ही बने रह जाते है जब कि बुद्धिवादात्मक अतिमात्र मरु-विमोहन मे अमस्पष्ट रहने वाले ऋजुप्रज्ञ महज मानवो के लिए वे ही वेदाक्षर स्वयं ही अपना परिभाषिक-तथ्य ग्रामव्यक्त कर दिया करते है, एव 'उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचम्' इत्यादि पूर्वमन्त्र के द्वारा इसी तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है।

लौकैषणानुगत-यशोनामख्याति लालसा से समाप्लुत-दिग्देशकालानुबन्धी-उन्नतिमूलक-कारणातावाद के प्रति प्रतिक्षेप आकर्षित-बुद्धिवादात्मक व्यक्तित्व विमोहन का परित्याग ही वेद पुराणादि आर्षशास्त्रों के गुहानिहित रहस्यात्मक पारिभाषिक ज्ञानविज्ञानभावा के बोव का एकमात्र कारण है, जिसका निष्कर्षार्थ यही है- 'निष्कारणबुद्ध्या शास्त्र-स्वाध्यायानुगति'। क्या तथ्य, किंवा क्या तात्पर्य्य है इस निष्कारणता का, जिसे हम अत्र स्वाध्यायनिष्ठा में अयतम कारण मान रहे हैं?, प्रश्न का शतमथब्राह्मण के पूर्व प्रकाशित प्रथम-खण्ड-की भूमिका में- 'ब्राह्मणेन निष्कारण षडङ्गो वदो ध्येयो ज्ञेयश्च' रूप महान् सूत्र की प्रीमांसा करते हुए विशद समाधान किया जाचुका है। अतएव अत्र तत्पिष्टपेपण अनावश्यक है। स दभसङ्गतिमात्र के लिए अत्र इस सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्याप्त होगा कि-

मानव का बुद्धिसहकृत प्रज्ञान मन जब दिग्देशकालानुबन्धी किसी व्यक्त कारण की चर्चणा में तल्लीन होजाता है, तो बुद्धि, और मन की चिन्तन-मनन-शक्तियाँ विकीर्ण होजाती हैं। सहजभाषा में बुद्धि का चिन्तनधर्म, एव मन का मननधर्म, दोनों स्वाध्याय में अनयन रह कर कारणरूप फल के प्रति विभक्त होजाते हैं। एकतानता का उच्छेद होजाता है, एव लक्ष्मीभूत स्वाध्याय से अनुगत वह पारिभाषिक तथ्य परोक्ष ही बना रह जाता है चिन्तन-मनन की एकातानता के अभाव में। निष्कारणबुद्धि से ही मानव में ऐकान्तिकी गुहानिहितवृत्ति का उदय होता है। और इत्यभूता गुहानिहितवृत्ति क्योंकि समाज-लोक-बाह्य भावों में सहजरूपेणैव उदासीनवत् बने रहने वाले आत्मयाजा नैष्ठिक-ब्राह्मण से ही समन्वित मानी गई है। अतएव सर्वथैव निष्कारणभावानुगत ब्राह्मण, एव सर्वश्री राजन्यबन्धु (क्षत्रिय), तथा भलन्वनर्षराज वैश्यमहाभाग, वेदस्वाध्यायाधिकारी इन तीनों त्रैवर्णिकों में से तथाभूता निष्कारणता में सर्वात्मना सफल 'गुहानिहित ब्राह्मण ही बन सकता है। क्योंकि क्षत्रिय अपने 'सौर्य्यमारुतिकधर्म' से, तथा वैश्य धु अपने 'जातातपिकधर्म' से दिग्देशकालानुबन्धी-कारणाता समन्वित-लोकबाह्यजीवन से सर्वथैव निष्कारण

प्रमाणित नहीं होसकता । अतएव ऋषिप्रज्ञाने एकमात्र गुहानिहित ब्राह्मण के लिए ही निष्कारणतानुबन्धी प्रचण्डतम आदेश प्रिहित माना है, जैसाकि ब्राह्मणेन निष्कारण पडङ्ग ० इत्यादि पूर्वोक्त आदेशान्वचन से स्पष्ट है ।

क्योंकि 'ब्राह्मणमानव ही मनोऽनुग 'काम एव शरीरानुगत 'अर्थ इन दोनों प्राकृत-दिग्देश-कालानुबन्धी-बाह्य-पर्यो से सम्बन्ध रखने वाली लोक-समाजानुगता कारणताओं के प्रति (अपने आत्मबुद्धि-निबन्धन आभ्यतरधम्म से) तटस्थ-निरपेक्ष बना रहता हुआ मानसिक तथा शारीरिक-उत्पीडनरूपा-ऐहलौकिकी क्लेशपरम्परा का साभिन दन समादर करता हुआ गुहानिहितवृत्त्या स्वाध्यायनिष्ठा में निष्कारण-बुद्ध्या सत्प्ररूपेण प्रतिष्ठित बना रह सकता है, और यही ब्राह्मण की स्वरूप-परिभाषा मानी है पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने * । जो ब्राह्मण मन शरीरानुबन्धी लोकानुगत समाज-सापेक्ष-लौकैषणाप्रवृत्त-अपने 'बाह्य व्यक्तिव' को विस्मृत कर दिग्देशकालातीत अन तब्रह्म की अन तनिष्ठा के माध्यम से गुहनिहितवृत्त्या जरामर्यसत्त्रयत् स्वाध्यायनिष्ठ नहीं बना रहसकता, कदापि वह 'ब्राह्मणत्व' को अव्यथ नहीं बना सकता । एव ऐसे ब्राह्मणब्रुवरूप ब्राह्मणबन्धु से कदापि निष्कारणबुद्ध्या स्वाध्याय-प्रकृति सुरक्षित नहीं रह सकती । अपितु ऐसा लोक समाज लिप्त ब्राह्मण तो राज यत्र धु वैश्यत्र धु महानुभावो की श्रेणि में आता हुआ बुद्धिवादात्मक उस व्यक्तिवविमोहन का ही मत्पात्र ? बना रह जाता है, जिस बुद्धिवादात्मक-विमोहन की प्रत्येक मायता 'कारणता' की गभ में प्रतिष्ठित करके ही प्रवृत्त हुआ करती है, और जो कारणता लक्ष्य से परावता प्रमाणित होती हुई 'कारणता' पर ही परिसमाप्त होती रहती है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी मन शरीरानुगत-कामाथप्रधान-प्राकृत-जीवन की क्षणिक-मृत्यु के साथ साथ ही ।

निरतिशय परिताप के साथ हमें इस नग्न सत्य का आज स्पष्टीकरण करना ही पड रहा है कि, विगत भुक्त प्रकृत-अनेक शताब्दियों से भारतराष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा भी इतर वर्णों की भाति दिग्देशकालानुगता-कारणता की, तन्निबन्धना 'उपयोगिता' की, एव तदनुप्राणिता सामयिकी 'उन्नति' की चर्चणा से चर्चिता त करण-बनी रहती हुई बुद्धिवादात्मक-मन शरीरानुगत कामाथमय-उस व्यक्तिवविमोहन की अनुगामिनी ही प्रमाणित होती आरही है, जिस विमोहन ने ही उन शताब्दियों में इस 'भूसुरश्रेष्ठ' को वेद पुराणादि आष शानविशानात्मक-गुहानिहित पारिभाषिक तथ्य के साथ अन्तर्यामि सम्बन्ध नहीं स्थापित करने दिया । अपितु ठीक इस के विरिती विगत शताब्दियों में इस विद्वान् भी, मेधावी भी, शब्दशास्त्रपारङ्गत भी ब्राह्मण ने-दिग् देशकालानुबन्धी-सत्ता समाज-लोक सापेक्ष तात्कालिक-लाभों के आकर्षणों से आकर्षितमना बनते हुए उसी प्रकार उन परमावों के तात्कालिक समथन अनुरक्षण-प्रचार-प्रसार-आदि बाह्यभावों में ही अपने को समर्पित कर दिया, जैसे कि आज भी राष्ट्र के तथाकथित कतिपय सांस्कृतिक-विद्वान् वर्तमान सत्तातन्त्र-समाजतन्त्र के तात्कालिक अनुरक्षण के लिए शब्दानुकरण सादृश्यमात्र से अपने प्रचण्ड तर्क से समन्वित बुद्धि वाद के बल पर आज की यातयामा तात्कालिकी मान्यताओं को भी वेदा द शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित करते

*-ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते ।

इह क्लेशाय, तपसे, त्रेत्यन्वनुपन सुखम् ॥

—महाभारते शान्तिपर्वणि ३३१ अध्याये

हुए अपनी लोकख्याति मला 'उन्नति के पथ में सोल्लास समारुह है, इति नु अब्रह्मययम् । अब्रह्मययम् ॥ महती विडम्बना ॥

उक्त अप्रासङ्गिक, नहि नहि सर्वथैव न केवल प्रासङ्गिक ही, अपितु वेदसाध्याय धरातले अनिवार्य रूपेण आवश्यकतम ही तथोक्त स दभ के आधार पर राष्ट्र के श्रेय भूसुरइ द से प्रणतिपुरस्सर हमें दो शब्दां मे यही नम्र आवेदन कर देना है कि वही वेदशास्त्र है, वही पुराणशास्त्र है, और ऋषिप्रज्ञानुप्राणिता वही है आप की प्रज्ञा । केवल व्यक्तिविमोहनरूप महान् प्रतिबन्धक के कारण ही ब्राह्मणप्रज्ञा वेद पुराण के ज्ञान विज्ञानात्मक पारिभाषिक सम वय से परा परावता प्रमाणित हो रही है । जबतक विद्वान् ब्राह्मणों का कारणता नुब धी उपयोगितावादात्मक मन शरीरनिब धन तथाभूत बुद्धिवादात्मक व्यक्तिविमोहन स्मृतिगर्भ में प्रलीन नहीं होजाता, जबतक लोक समाजानुब धी ब्राह्मण भावों से सर्वात्मना अपने आप को उदात्तीनबदान बत् बनाते हुए ऐकात्मिकी गुहानिहितवृत्त्या से अपनी जीवनपद्धति को समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक अन्याय प्रयत्न सहस्रो से भी वेदपुराणशास्त्र की ज्ञानविज्ञानात्मक परिभाषाओं की अभिव्यक्ति का तो अनुग्रह कदापि प्राप्त नहीं होसकता । और वैसी अवस्था, किवा दुरवस्था मे न तो ब्राह्मणप्रज्ञा तत्त्वानुगता ही बन सकती, न आपनिष्ठानुगत आचार से ही समन्वित । रही बात लोकख्याति की सो तो लोकप्रवृत्तियां का वैसा सहज उत्कष है, जो मानवेतर पशु पक्षी आदि प्राकृत प्राणी भी असुक कौशलों से उपलब्ध कर ही लिया करते है ।

हम समझ रहे हैं कि, तथात्रि स्पष्टीकरण विद्वान्-ब्राह्मणों के लिए न केवल कर्णकटु ही बन रहा होगा, अपितु वे अपने मनोराज्य में हम पर अग्निश्च वायुश्च ही बन रहे होंगे । किन्तु व्यक्तिविमोहनरूप अतिमान के स्वरूप-अश्लेषण का समन्वय त्रिना तथाविध स्पष्टीकरण के सम्भव ही नहीं है । बुद्धिवादात्मक व्यक्तिविमोहनरूप काव्यनिक व्यक्तिचव को जबतक निष्ठापूर्वक जलाञ्जलि समर्पित नहीं कर दी जाती, तबतक ब्राह्मणप्रज्ञा में समब्रह्ममला उस ऋजुना की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है, जिस ऋजुता के बिना मानस धरातल पर वेद का तत्त्वार्थ सहजरूपेणैव स्वत ही अभिव्यक्त नहीं होसकता । स्वय वेदमहर्षि ने वेदार्थ-समन्वय की योग्यता के स्वरूप विश्लेषण के लिए एक ऐसे ही 'उद्बोधनसूत्र' का स्पष्टीकरण किया है, जिसे म 'अत्र समुद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा ।

विज्ञान-परम्पराओं की रहस्यभेदिका, निरतिशयरूपेण दुरभिगम्या सुप्रसिद्धतमा ऋग्वेदसंहिता का 'अस्यवामीय' नामक 'सूक्त विद्वत्जगत् में सुप्रसिद्धतम है । जिस केवल ५२ (बावन) मन्त्रात्मक स्वरूपकाय सूक्त में ब्रह्माग्निरूपा वामपलितप्रिया साप्ताहोरात्ररूपा सम्बत्सचक्रविद्या, सप्ततन्तु वितानात्मिका प्रजातन्तुवितानविद्या, रसगर्भासुगता गीतचक्रविद्या, रोदसी-क्रन्दसी-सयती-रूपा त्रैलोक्य-त्रैलोक्यविद्या, सप्तप्रणालिका सप्तर्षिविद्या, सुपणविद्या, यज्ञविद्या, वाग्विद्या, वृष्टिविद्या, आदि आदि भेदेन अनेक रहस्यपूर्ण उन सृष्टिविद्याओं का सूत्ररूपेण सकलन हुआ है, जिन में से एक एक ही विद्या में बड़े से बड़े प्रज्ञाशील मेधावी विद्वान् के भी शिरोविकम्पन की क्षमता विद्यमान है । अत्यन्त रहस्यपूर्ण एवंविधा जटिलतमा अनेक सृष्टिविद्याओं को अपनी सूत्रमयी सच्चिदतमा आर्षवाणी में केवल ५२ मन्त्रों के माध्यम से स्पष्टीकरण कर देने वाले, मन्त्रसमष्टिरूप अस्यवामीयसूक्त के ऋषि महामहर्षि दीर्घतमा महामाग का व्यक्तित्व कैसा, और कितना महतोमहीयान् रहा होगा ? प्रश्न के संस्मरण का भी मादश अकिञ्चन को अवि

कार नहीं है । सवरहस्यवित् तथाविध दीघतमा नामक वैसे महामहर्षि अपने यत्किन्त्व की स्वरूप मीमासा के लिए जब प्रवृत्त होते हैं, तो हमारी स्वरूपप्रज्ञा सर्वथैव विमूढा बनी रह जाती है । उ ही के मुखपङ्कज से विनि सृता परमोद्बोधनप्रदात्री निम्नलिखिता आषवाणी को सुन कर सचमुच ही हम तो अपना सभी कुछ भूल जाते हैं कि—

अचिकित्वाच्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्यन, न विद्वान् ।

वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजासि, अजस्य रूपे किमपि स्विकेकम् ॥

—ऋक्संहिता १।१६३।६। (अस्यगामीयसूक्ते)

मत्र यारयान का अत्र अवसर नहीं है । केवल मत्र के पूर्वाङ्क की ओर ही हमें अपना ध्यान आकर्षित कर लेना है, जिसका ऋजुभावापन्न यही अन्वयार्थ है कि—“मै स्य इस् तथ्य के सम्बन्ध मे मीमासा करने मे क्योकि असमर्थ हूँ—अज्ञ हूँ, अतएव समर्थ सुप्रिज्ञेय का तीदर्शी विद्वानों से ही इस सम्बन्ध मे केवल अपने बोध के लिए मै यह पूँछ रहा हूँ, क्योकि मै स्य नहीं जानता उस तथ्य को कि—फिसने उन ६ रजोरूप लोको को अपने ऊपर स्थापित कर रक्खा है, समतुलित कर रक्खा है” ।

जो महर्षि दीघतमा आगे चलकर स्वय इसी अपने अस्यगामीयसूक्त में—‘तिस्रो मातृ स्त्रीन् पितृन् विभ्रेदक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति’ (ऋक्स० १।१६४।१०।) इत्यादि मत्र के द्वारा ‘रोदसी - क्रन्दसी सयती—रूपा त्रैलोक्यत्रिलोकीप्रिया’ का स्वरूपोद्घाटन करते हुए ‘उर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति’ रूपेण ‘अजस्य रूपे किमपि स्विकेकम्’ इस असमाधेय प्रश्न का स्वय ही समाधान कर रहे हैं, उ होने क्यो, और किस लिए—‘अचिकित्वान् न विद्वान्’ कह दिया ? यह महान् प्रश्न है, जिसके गभ में ही महर्षि का वह उद्बोधनसूत्र पिनद्ध है, जिसका पूव मे यशोगान किया जाचुका है ।

प्रधान—लक्ष्य—रूप महान् सृष्टिविज्ञान के स्वरूप—विश्लेषण—प्रसङ्ग से उसी के द्वारा सङ्केतविधि से ऋषिवाणी अयाय प्रासङ्गिक उद्बोधन भी प्रदान करती रहती है, और यही गभीरार्थगर्भिता अनेकलक्ष्य—सवाहिका ऋषिवाणी की गरिमा—महिमामयी—महती विशेषता मानी गई है लोक—सामान्या वाणी के समतुलन में । महर्षि दीघतमा इसी सहजशैली के आधार पर सतलोकविज्ञान प्रसङ्ग के साथ ही ‘अचिकित्वाच्चिकितुषश्चिदत्र’ इत्यादि रूप से वेदानुगत—सृष्टिविज्ञान से अनुगता सफलता के महान् आधारस्तम्भ, यत्किन्त्वविमोहनापहरणात्मक—महतोमहीयान् उद्बोधन तथ्य का भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसका सहजरूपेण यही निष्कर्षार्थ है कि, वेदपुराणादि आषशास्त्र के स्वाध्याय में प्रविष्ट व्यक्ति को अपने मन शरीरनिबन्धन प्रकृत्य नुगत लोक—समाजानुबन्धी बाह्य—यत्किन्त्व को एकांतत विस्मृत ही कर देना चाहिए । दूसरे शब्दों में इस सनातनसाहित्य के पारिभाषिक तथ्यों के साथ आत्मसाक्षात् करने के लिए अपने यत्किन्त्व-दम्भ को सर्वथैव विस्मृत कर देना चाहिए ।

व्यक्तिवविमोहनात्मक यत्किन्त्व की विस्मृति को क्यो आवश्यक समझा ऋषि ने ? प्रश्न का उत्तर पूव के सद्भ से ही यद्यपि गतार्थ है । तथापि स्पष्टीकरणदृष्ट्या लोकभाषा में भी तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है । वास्तविक-व्यक्तिव एव व्यक्तिवविमोहनात्मक-व्यक्तिव-भेद से व्यक्तिव

को हम समझने के लिए दो भागों में विभक्त मान सकते हैं। मानवीय आत्मा उस परमात्मा से अभिन्न माना गया है जिसे दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म कहा गया है। वही मानवीय आत्मा का आत्माविषय या स्वस्वरूप है, और आत्मानन्द वन दिग्देशकालातीत सनातन-शाश्वत-ऐसा अलौकिक व्यक्ति ही मानव का वास्तविक व्याक्तत्त्व है, जिसका लोकसमाजानुबन्धी-पारिडित्य-वीरता, क्रिया सत्तानिष्ठा-उच्चपद आदि आदि के साथ यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है। अपितु समदर्शनाधारभूत, आत्मसाम्यमूलक ऐसा महान व्यक्ति ही मानव का वह व्यापक व्यक्तित्व है, जिस व्यक्तित्व पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव व्यक्ति-समाज-राष्ट्र आदि आदि परिच्छिन्नभागों से निकल कर सर्वभूतहितरत का ही अनुगामी बन जाता है, और ऐसा मानव श्रेष्ठ ही 'अलौकिक-मानव' माना गया है, एव इसी को 'ऋषिमानव' कहा गया है, जिसका वास्तविक महान व्यक्तित्व महतोमयान् दिग्देशकालातीत अतद्वह से समतुलित होता हुआ एक प्रकार से 'व्यक्तित्व' की परिधि से सतथैव असस्पृष्ट है।

दूसरा व्यक्तित्व है-दिग्देशकालानुबन्धी-सोपाधिक-पराश्रित-व्यक्तित्व। जबतक मानव आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ विषमवर्तनात्मक सोपाधिक-लोक-समाज-सत्ता आदि से अनप्राणित पराश्रित व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व की दृष्टि से तटस्थरूपेण निर्वाहमात्र करता रहता है तबतक तो यह आगन्तुक व्यक्तित्व भी मानव के लिए इष्टजनक लौकिक समादरणीय व्यक्तित्व ही बनता रहता है। किन्तु आत्मसाम्यरूप समदर्शनात्मक-निरुपाधिक-वास्तविक-व्यक्तित्व की उपेक्षा कर यही मानव जब केवल दिग्देशकाल का ही आस बन जाता है, तो यही आगन्तुक व्यक्तित्व इष्ट नामक समादरणीय लौकिक व्यक्तित्व के स्थान में- 'अनिष्टपरम्परारज्जक-समाज-राष्ट्र स्वरूपविभवसक' ही बन जाता है, और इसी दूसरे दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक व्यक्तित्व का नाम है 'व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व'

कालसाक्षी सूर्य मानव के बुद्धितन्त्र का प्रवर्तक है, दिक्साक्षी चन्द्रमा मानव के मनस्तन्त्र का प्रभु है, एव देशसाक्षी भूपिण्ड मानव के पार्श्वभौतिक शरीर का आरम्भ (उपादानकारण) है। यों कालात्मक सूर्य, दिगात्मक चन्द्रमा, एव देशात्मक भूपिण्ड, इन तीनों प्राकृतिक पर्वों से ही मानव के बुद्धि-मन-शरीर-रूप तीनों प्राकृत-पर्वों का स्वरूप निर्माण हुआ है। और यही है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी-लौकिक-प्रकृतिसिद्ध-व्यक्तित्व के चिरन्तन इतिवृत्त का सच्चिदानन्द इतिवृत्त।

यदि दिग्देशकालानुबन्धी बुद्धिमन शरीरात्मक लौकिक व्यक्तित्व दिग्देशकालातीत आत्मनिबन्धन वास्तविक-व्यक्तित्व को आधार बनाए रहता है, तो पूर्वकथनानुसार इत्यभूत आत्मनिष्ठ मानव को दिग्देशकालानुबन्धी-तात्कालिक-लोकैष्यानुगत-सामयिक-प्रलोभन प्रभावित नहीं कर पाते। और ऐसी अवस्था में आत्मनिष्ठ मानव का यह लौकिक व्यक्तित्व भी कदापि इसके स्वरूपविमोहन का कारण नहीं बन सकता। अतएव ऐसा अलौकिक मानव लोकव्यक्तित्व का भी सर्वात्मना सत्यनिष्ठा से ही निर्वाह कर लेता है दिग्देशकालानुबन्धी-उत्पीड़नों की उपेक्षा ही करता हुआ।

ठीक इसके विपरीत वही मानव दुर्भाग्यवश यदि अपने दिग्देशकालातीत आत्मनिबन्धन-समग्रह से अभिन्न-वास्तविक-व्यक्तित्व को विस्मृत कर अपने मानवीय-स्वरूप को दिग्देशकालिक-आत्माभिव्यक्तित्वशून्य-

मानवेतर पशु-पक्षी-आदि की भांति केवल बुद्धि-मन-शरीर-तत्रतययी पर ही परिसमाप्त मान बैठने की भयावह भूल कर बैठता है ज्ञानिकवादयो की भांति, तो निश्चयेन थोड़े ही समय में इस का समत्व उच्छिन्न होजाता है। और केवल बुद्धिवादात्मक-मनोराज्य के बल पर काल्पनिक शारीरिक-भूतताम्य की अहर्निश घोषणा करता हुआ भी यह प्राकृत मानव उत्तरोत्तर-प्रकृत्यनुबन्धिनी उस भयावहा विषमता का ही पथिक बनता जाता है जिस की पर्यवसानभूमि-समुलस्तु विनश्यति' ही मानी गई है। बौद्धिक दम्भ से अहोरात्र अतिमानाक्रांत मानसिक मन से सतत काल्वालीकृत, एव शारीरिक मद से निरन्तर अशु-चिभावाभन्न ऐसा दिग्देशकालविमूढ मानव ही कालांतर में अपने दिग्देशकालानुबन्धी-लौकिक-व्यक्तित्व से भी पराङ्मुख बन जाया करता है। ऐसी अवस्था, किंवा मानवस्वरूपविधातिनी ऐसी घोरघोरतमा दुर्दशा-वस्था से समलङ्कृत ये मानवमहाभाग ही 'यत्कित्त्वविमोहनात्मक' उस काल्पनिक-व्यक्तित्व के महापात्र माने गए हैं, जिस का यह पदप्रतिप्रतिष्ठात्मक काल्पनिक व्यक्तित्व किसी भी ज्ञान गधवनगरलेखावत् देखते ही देखते सदा के लिए सम्मृति के गर्भ में विलीन होजाया करता है, और तब इन के बुद्धिवादात्मक दम्भ के क्षेत्र में ज्ञानिक-दुःख शून्य-भावनिबधन-अनात्मवादात्मक जडवाद के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं रह जाता।

प्रसङ्गत निर्दिष्ट वास्तविक-व्यक्तित्व, एव व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व भेदेन द्विधा-विभक्त व्यक्तित्व में से भारतीय-ऋषिदृष्टि में आत्मसाम्यमूलक-वास्तविक-व्यक्तित्व ही मानव का वह व्यक्तित्व है, जिस के गर्भ में उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व गर्भाभूत है, जैसे कि दिग्देशकालातीत समब्रह्म के महिमामण्डल में सम्पूर्ण चराचर विश्वप्रपञ्च गर्भाभूत है। ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व के मुख से ही तो- 'मा कश्चित्-दुःखभागभवेत्-सर्वं सन्तु निरामया - कुणन्तो विश्वमार्यम् जैसे आत्मसाम्यसूत्र विनिगत होसकते हैं। और यही है भारतीय व्यक्तित्वमूलक वह आत्मसाम्य, जिस के स्वरूपबोध से वञ्चित आज के समाजवादी भारतीय-समाज-यवस्था पर यत्कित्वातिमान का घृणित आरोप लगाते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनत नहीं होजाते।

जिस सम-भावापन्न-समानाधिकारमूलक साम्य का, किंवा समाजवाद का आज के बुद्धिवादी यशोगान करते नहीं अघाते, वह तो वास्तव में 'यत्कित्त्वविमोहनात्मक-काल्पनिक-व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृतिनिबधन वैसा घोरघोरतम विषमवाद, किंवा वैषम्य है, जिस के क्षेत्र में विश्व-राष्ट्र-समाज की कथा तो दूर रही, अपने परिवार के कुलवृद्धो का भी समादार सम्भव नहीं है—केवल स्वकामार्थ-भोगवृत्ति से अनुप्राणित तत्सहायक-स्वार्थमसाधक कतिपय तथाविध ही व्यक्तिविशेषों के अतिरिक्त। स्वयं, स्वापत्य, और तत्कामार्थभोगससाधक-चाटुकार-गतानुगतिक-परिगणित-यक्तिविशेष, अलमतिपल्लवितेन। यही उन समाजनिष्ठों का सम्पूर्ण समाज, किंवा राष्ट्र, किंवा सम्पूर्ण विश्व है, जिस के दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक-स्वार्थ-ससाधन के लिए ही ये पुरुषपुङ्गव परिवारकुलवृद्ध-समाज-राष्ट्र-आदि आदि सभी के साथ क्षणमात्र में प्रचण्डतम विश्वासघात करते हुए भी विलम्ब नहीं करते।

और अत्यन्त की कारुणिक हृदय से आज हमें इस नग्न सत्य का अनुगमन करना पड रहा है कि, आज का स्वतन्त्र भारत अक्षमसाम्यमूला ब्रह्मसविद्रूपा धर्म्मनिष्ठा से अपने आपको पराङ्मुख प्रमाणित करता हुआ दिग्देशकालानुबन्धी-व्यक्तित्वविमोहनात्मक-उस व्यक्तित्व की ओर ही अन्धरूपेण अनुधावन

करता जा रहा है, जिम अनुधावन से आज भारतराष्ट्र का आत्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तित्वनिबन्धन-अभ्युदय-निश्चय-सवथैव पराङ्मुख बन गए हैं। व्यक्तिवाद की इत्थभूता अनर्थकारिणी प्रवृत्ति तो उन प्रतीव्यदेशों में भी नहीं है, जिन में कभी भी दिग्देशकालातीत-आत्मब्रह्म के व्यवस्थित समवय का प्रयास नहीं हुआ। उन का यत्न भी 'स्वराष्ट्र' के प्रति तो अधिकांश में मनोबुद्धिशरीरार्पण की भावना से ही समलङ्कृत सुना गया है, जबकि आत्मामय के जन मदाता इस पावन भारतराष्ट्र की मानवप्रजा आज अधिकांश में जघयतम व्यक्तिवविमोहनात्मक-यत्न से अनुप्राणित वैयक्तिक-कामायभोग के समनुला में राष्ट्र की कामार्थसमस्था के साथ विश्वासघात कर डालने में भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रही, इसमें अधिक भारतराष्ट्र का नैतिक, तथा सांस्कृतिक अधपतन और क्या होगा ?।

दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमा में प्रतिष्ठित मानव का व्यक्तित्व ही विमुग्धभावापन्न बना करता है, और ऐसा विमुग्ध व्यक्तित्व ही दिग्देशकालानुबन्धिनी उस सामयिकी कारणता के प्रति तल्लीन बना रहना है, जिसके माध्यम से ही युगधर्मनिबन्धन स्वार्थों की पूर्ति सम्भव मानी गई है। यही वैयक्तिक-स्वार्थ भारतीय उस वेदपुराणशास्त्र की सीमा में भी गत अनेक शताब्दियों से प्रविष्ट होता आ रहा है, जिसके आकर्षण से ही शास्त्रीय सिद्धांत भी दिग्देशकालानुबन्धि सत्ता त्रों की परिवर्तनशीलता तात्कालिकी मान्यताओं के अनुपात से तद्युग के कारणवादी-दिग्देशकालविमूढ-बुद्धिवादी विद्वानों के द्वारा यथेच्छ परिवर्तित होते आ रहे हैं, जिस युगधर्मनिबन्धन परिवर्तनपरम्परा से ही सम्प्रदायवाद-परम्पराओं से एकान्तत असस्पृष्ट भी, विशुद्ध-ज्ञान विज्ञानात्मक की वेदशास्त्र आज इतर साम्प्रदायिक-मतवादात्मक-मानसिक-शब्दजाल की भाँति केवल 'साम्प्रदायिकग्रन्थ' ही प्रमाणित होगया है। और यों दिग्देशकालानुबन्धि-व्यक्ति-वविमोहनात्मक-काल्पनिक-व्यक्तित्व के कारणतानुबन्धि आकर्षण के दुष्परिणाम-स्वरूप ही भारतीय विद्वत्प्रज्ञा लिंगत अनेक शताब्दियों से वेदपुराण-शास्त्र ही, तथापि-ब्राह्मण, तथा पुराण के आख्यानों की ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं की तत्त्वमूला सवित से वञ्चित ही बनती चली आ रही है।

महर्षि दीघतमा के उद्बोधक-सूत्रानुसार आज भी भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञा यदि अपने आपको-व्यक्तित्व विमोहनात्मक काल्पनिक-व्यक्तित्व का परित्याकर दिग्देशकालातीत अनन्त-समब्रह्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तित्व के माध्यम से गुहानिहितवृत्त्या एका तनिष्ठा से वेदपुराणस्वाध्याय में अपने आपको प्रवृत्त कर देती है, तो निश्चयेन स्वत ही इस के ऋजुभावापन्न निष्कारणात्मक वीध्र धरातल पर वेदार्थ का पारिभाषिक बोध स्वत ही आविर्भूत होसकता है, और इस पथ के अतिरिक्त वेदपुराणशास्त्र के पारिभाषिक-तद्य-समवय के लिए-"नान्धाः-पन्था विद्यते अयनाय"। यही उस प्रक्रान्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न का प्रासङ्गिक-समन्वय निष्कर्ष है, जिस प्रश्न के द्वारा वेद-पुराणानुगत आख्यानोंपाख्यानों की परिभाषाएँ आज विद्वानों के लिए भी कटिलतमा समस्या प्रमाणित होरहीं हैं इत्यलमतिविस्तरेण-वेदपुराणनिबन्धन-पारिभाषिक-बोधानुगत प्रासङ्गिक-महत्त्वपूर्ण-प्रश्न-समाधान-प्रसङ्गेन।

उक्त मन्दर्म के माध्यम से अत्र निवेदनीय प्रमुख लक्ष्य यही है कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के-"विधि" नामक ब्राह्मणभाग की आख्यानोंपाख्यानानुगता पारिभाषिकी शब्दावली के तत्त्वार्थ-समन्वय के बिना, एवं पुराणशास्त्र की तथापि परिभाषाओं के समन्वय के बिना वेदशास्त्र का ज्ञानविज्ञानात्मक तात्त्विक समन्वय भी असम्भव है, एवं आचारात्मिका क्रमव्यवस्था का भी समन्वय असम्भव है। अतएव ब्राह्मण,

और पुराण, दोनों का पारिभाषिक-प्राध्याय उस प्रत्येक द्विजाति के लिए अनिवार्य ही माना जायगा, जो निगमागमपुराणसम्भता भारतीय-प्राच्यसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक अभ्युदय नि श्रेयस् ससाधक उदक से अपने राष्ट्र को समन्वित करने की कामना रखता है। इन दोनों महान् स्तम्भों के पारिभाषिक-सम वय के बिना भारतीय-आर्ष-संस्कृति का मौलिक स्वरूप कदापि समन्वित नहीं होसकता।

जैसाकि प्रथमखण्डानुगता प्रस्तावना में निवेदन किया जाचुका है, ब्राह्मणग्रन्थों में 'शतपथब्राह्मण' नामक ब्राह्मणग्रन्थ का अनेक कारणों से प्रमुख स्थान है। अथवा य ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा इस ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा भी 'भारती' नाम से प्रसिद्धा प्रचलिता संस्कृतभाषा से अधिकांश में समतुल्यता है, अतएव विशेष-रूपेण बोधगम्या है। एतदतिरिक्त अपने युग के दुर्द्धर्ष वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के महान् मेधावी शिष्य मधुश्रवा के द्वारा सकलित किंवा स्वयं याज्ञवल्क्य के द्वारा ही दृष्ट यह शतपथब्राह्मण वैज्ञानिकी-सव-परिभाषाओं का सम वयात्मक-वैसा अपूर्व, एवं पूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है, जिसमें शतपथेतर ब्राह्मणों से अनुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं का भी भगवान् याज्ञवल्क्य ने स्वरूप से संग्रह कर लिया है। इ ही सब कारणों से यह ब्राह्मणग्रन्थ सौ (१००) अध्यायों के विस्तारपथ का अनुवर्त्मानता हुआ 'शतपथ' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। स्वयं भगवान् बादरायण ने भगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से 'शतपथब्राह्मण' की तथोक्ता अपूर्वता का अनन्त लिखित शब्दों में यशोगान किया है—

याज्ञवल्क्य-उवाच-अव्यक्तस्थ पर यत्तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ! ॥

पर गुह्यमिमं प्रश्नं शणुष्वानहितो नृप ! ॥१॥

यथार्थेणेह विधिना चरताऽनतेनह ॥

मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिल्लाधिप ! ॥२॥

महता तमसा द्रेवस्तपिष्णुं सेवितो मया ॥

प्रीतेन चाहं विशुना सूर्येणोक्तस्तदानघ ! ॥३॥

वरं वृणीष्व विप्रर्षे ! यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ॥

तत्त्वे दास्यामि प्रीतात्मा भद्रप्रसादो हि दुर्लभः ॥४॥

ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ॥

यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥५॥

ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज ! ॥

सरस्वती' ह 'वाग्' भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥६॥

ततो मामाह भगवानास्य स्व विवृतं कुरु ! ॥

निवृतं च ततो मेरुष्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥७॥

ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ ! ॥

अविज्ञातादमर्षाच्च भास्करस्य महारमनः ॥८॥

ततो विदह्यमान माणुवाच भगवान् रविः ॥
 मुहूर्त्तं सद्यता दाहस्ततः शीती भविष्यति ॥६॥
 शीतीभूत च मा दृष्ट्वा भगवानोह भास्कर ॥
 प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिल सोत्तरो द्विज ! ॥१०॥
 “कृत्स्न शतपथ चैव प्रणेश्यसि द्विजर्षभ ! ॥
 तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥११॥
 प्राप्स्यसे च यदिष्ट तत्सांख्ययोगेप्सित पदम् ॥”
 एतापदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्त्तत ॥१२॥
 ततोऽनुव्याहृत श्रुत्वा गते देवे विभाससौ ॥
 गृहयागत्य सहृष्टोऽचिन्तयन्—वै सरस्वतीम् ॥१३॥
 तत प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता ॥
 श्रोङ्कारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥१४॥
 ततोऽहमर्थ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदय— ॥
 तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायण ॥१५॥
 “ततः शतपथ कृत्स्नं सरहस्य ससग्रहम् ॥
 चक्रे सपरिशेष च हर्षेण परमेण ह ॥१६॥”
 बीजमेतत्पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ॥
 सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽह नराधिप ! ॥१७॥
 कर्त्तुं शतपथ चेदमपूर्वं च कृत मया ॥
 यथामिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥१८॥

—महाभारत, शा० मो० ३१८ अ० ।

अपनी तथाविधा कृत्स्ना-विशेषताओं के अनुबन्ध से ही हमने शतपथब्राह्मण के ही पारिभाषिक-समन्वय को प्रमुखता प्रदान की है इतर ब्राह्मणग्रन्थों के समतुलन में । मौलिक-पारिभाषिकों के चिरन्तनेतिवृत्त समन्वय के बिना ब्राह्मणग्रन्थोक्त क्रत्वर्थ, तथा पुरुषार्थ-रूप किसी भी गौण-प्रधान-कर्म की सृष्टिरहस्य-समवयव्यात्मिका व्यवस्था व्यर्थवर्धित नहीं हो सकती । और तत्समन्वयव्यवस्थात्मिका ज्ञानविज्ञानात्मिका के पारिभाषिकों का प्रयोगतावत् के वाक्पण्यशास्त्रिक निग्रह से शताब्दियों से अभिभूत प्राया ही बनती चली आ रही है । यही वह महती चञ्चलता है, जिसके अन्तर्गत के लिए हमें प्रत्येक पारिभाषिक-शब्द के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञान सम्मत चिरन्तन-इतिवृत्त का अनिवार्यरूपेण उपबृंहण करना ही पड़ता है, एवं उससे सम्बन्ध रखने वाली पारिभाषिकी पुररुक्ति, तथा इतिवृत्त-विश्लेषणात्मक विस्तार, दोनों जैसे माध्यमों का भी अनुगमन करना

ही पडता है जिनके अनुबन्ध से ही 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य का पृष्ठात्मक-लिपिरूप-कलेवर अनुमानत बीससहस्रपृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। परिभाषाओं के प्राथमिक-स्पष्टीकरणानुबन्ध से चतुर्दशकाण्डात्मक-शतपथ के केवल प्रथमकाण्ड का ही भाष्य अनुमानत तीन सहस्रपृष्ठों में लिपिबद्ध हुआ है, जबकि-आगे के काण्ड यथासम्भव सहस्र-सहस्र-पृष्ठानुगति के ही अनुगामी बने हुए हैं। आज से बीस वर्ष पूर्व लिपिबद्ध किया हुआ यह विस्तृत शतपथभाष्य प्रकाशनावसरो पर पुनः सशोधन-की तो अनिवार्यरूपेण अपेक्षा रख ही रहा है। और इसी दृष्टि से प्रकाशनवेला से पूर्व पुनः प्रकाशन-लक्ष्मीभूत भाग का आद्यतः पुनः प्रतिलिपिकरण अनिवार्य बन जाता है। इत्थभूत महत्त्वपूर्ण-पारिभाषिक आषम्रथ को दिग्देशकाला नुबन्धिनी तात्कालिकी कण्डूपशान्तिमात्र के लिए भटिति एकहेलया यथेच्छरूपेण प्रकाशित कर देना तो आत्महनन ही माना जायगा। बहुत सम्भव है, हम अपनी शारीरिक-ज्वरितावस्था के अनुबन्ध से इस भौतिक जीवन में सम्पूर्ण शतपथ का प्रकाशन यथाविधि न कर सके। किंतु जितना अशः प्रकाशित होगा उसकी परिभाषाओं के माध्यम से यह तो आस्थापूर्वक उद्घोष किया ही जासकेगा कि, भविष्य में इस साहित्य के पारिभाषिक-मथन के लिए सज्जीभूत महानुभावों के लिए यह प्रकाशितभाग अवश्यमेव अशत तो सहयोगी ही प्रमाणित होगा। एकमात्र इसी दृष्टि के आधार पर यथाशक्ति शतपथब्राह्मणभाष्य का प्रकाशन खण्डशः प्रकृत हुआ है गतवर्ष से-'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर के द्वारा। गतवर्ष प्रथमकाण्डानुगत जो प्रथमखण्ड प्रकाशित हुआ था, उसके प्रमुख विषयों का प्रास्ताविक के उपक्रम से ही सिंहावलोकनन्यायेन सस्मरण किया जा चुका है (देखिए पृ० स ७)। ठीक एक वर्ष के अनंतर प्रकाशित होने वाले प्रथम काण्डानुगत-द्वितीयखण्ड के प्रस्तुत प्रकाशन से अनुप्राणित प्रमुख विषयों का भी अत्र सन्दर्भसङ्गति के लिए नामस्मरण कर लिया जाता है।

प्रथमकाण्डानुगत-प्रस्तुत-द्वितीय-खण्ड में (प्रथमकाण्डानुगत-पूर्वप्रकाशित-प्रथमखण्ड के विषयों से आगे क्रमप्राप्त) जिन-प्रमुख याज्ञिक-विषयों का पारिभाषिक-समवय हुआ है, उनका निम्नलिखितरूपेण क्रमविभाजन हुआ है।

**प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमाध्यायात्मक-
द्वितीयखण्ड मे प्रतिपादित प्रमुख-कर्म्मों की
तथा-स्मारकविषयो की तालिका**

* * *

	प्रधानकर्म्मणि	क्रमानुगता पृष्ठसंख्या	स्मारकविषयसंख्या
१०	उपवेशसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हवि परिपाकञ्च	६११	६२२
११	पिष्टेनोदकमिश्रितेन-पुरोडाशसम्पादनम्	६६१	५१६
१२	पात्रीनिर्गोजनम्-पुरोडाशमीमांसया-समवितम्	७०४	६३१
१३	वेदिकाकरणम् स्तम्भयजुर्हरणा, भूविशोधनञ्च	७६८	६६६
१४	वेदिपरिग्रह	८४४	१०८३
१५	द्रव्यसंस्कारा	८५६	७७६
१६	आज्यग्रहणम्	१०३७	२८६
१७	इध्मानुगत कर्म्मसग्रह	१०७७	३३६
१८	सामिधेन्यनुवचनम्	११३५	१७६६
१९	पूर्वाधारेतिकर्त्तव्यता	१२१७	} ४१३
२०	उत्तराधारेतिकर्त्तव्यता	१२५७	
२१	प्रवरयाकर्म्मैतिकर्त्तव्यता	१२६७	२६२
२२	स्रुगादापनम्-आभावया-प्रत्याश्रावणञ्च	१४०५	८००
२३	प्रयाजब्राह्मणम्	१४७५	३
	प्रधानकर्म्मसंख्या-१४	भाष्यपृष्ठसंख्या-११३२	स्मारकविषयसंख्यासंकलन-८५६१

प्रथमकाण्डानुगत पूर्वप्रकाशित प्रथमखण्ड, तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड के सकलनात्मक अठारहवौ पृष्ठात्मक भिज्ञानभाष्य में आरम्भ के 'प्रतोपायनकर्म' से आरम्भ कर प्रस्तुत खण्ड के अन्तिम २३ वें प्रयाजब्राह्मण' पर्यन्त जिन स्मारक-विषयों का परिभाषारूपेण समावेश हुआ है, उन के आधार पर ही स्थालीपुलाकन्यायेन शतपथविज्ञानभाष्य की पारिभाषिकी उपयोगिकता का मूल्याङ्कन सम्भव बन सकता है। प्रथमखण्ड में अनुमानतः ४६०० परिभाषाओं का तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में अनुमानत ८५०० परिभाषाओं का, सम्भूय १३००० (तेरहसहस्र) पारिभाषिक तथ्यों का सस्मरण कराने वाले प्रथमकाण्डानुगत प्रकाशित दोनों खण्डों की तथाकथित परिभाषाओं के सस्मरणआधार पर निश्चयेन उन अनेक ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविद्यानिबन्धन तथ्यों का सर्वात्मना नहीं, तो अशत तो दिग्दर्शन हो ही जाता है, जिस पारिभाषिक दिग्दर्शन के बिना रहस्यपूर्ण ब्राह्मणग्रन्थों के रहस्यात्मक-पारिभाषिक-सृष्टीतिवृत्त सर्वथा परोक्ष ही बने रहते हैं।

जैसाकि-प्रास्ताविक के उपक्रम में ही निवेदन किया जा चुका है वत्तमानयुग के मानवों की प्रज्ञा दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी उपयोगिता, एव तन्निबन्धना कारणता के आधार पर ही किसी लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हुआ करती है, जिस कारणता का 'ब्राह्मणेन निष्कारण पडङ्गो वेदेऽध्येयो ज्ञेयश्च' रूपेण यद्यपि मवथा निराकरण किया जा चुका है। तथापि तथाविधा सामयिकी उपयोगिता के पक्षपाती श्रमुक भोगिविशेष के अनुगामी पाठकों की तृष्टि के लिए 'युगानुगता उस उपयोगिता' का भी दिग्दर्शन आवश्यक होजाता है, जिस के बिना इत्थभूत शास्त्रावलोकन स्वाध्याय-चितन-मनन-आचरणादि में तथाविध विशेष वग की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही 'प्रथमकाण्ड के प्रास्ताविक' में स्वयं-वेदाङ्गों के आधार पर ही वेदशास्त्र की दृष्टफलजनकतानुबन्धिनी सामयिकी उपयोगिता का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। यह सब कुछ होने पर भी आज के युग का महान् तक-समय नहीं है' रूपेण दिग्देशकालाक्रान्त मानव-विशेषों को सतत उत्पीड़ित ही करता रहता है। और 'आज के अर्थप्रधानयुग में किसे इतना समय है, जो ऐसे बड़े बड़े ग्रन्थों को पढ सके आदि आदि' इत्थभूत काल्पनिक-नितान्त भावुकतापूर्ण तर्क के माध्यम से जो महानुभाव इस दिशा में 'बहुविस्तृत' की घोषणा कर क्रमिक-स्वाध्याय से तटस्थ बन जाते हैं, उन के परितोष के लिए प्रतिपादित प्रमुख कर्मों से अनुप्राणित कुछ एक पारिभाषाओं का स्थालीपुलाक वाच्य-समतुलनदृष्ट्या अत्र प्रास्ताविक में भी दिग्दर्शन करा देना प्रासङ्गिक ही बन जाता है।

प्रस्तुत 'द्वितीयखण्ड' में क्रमप्राप्त 'उपवेशसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हवि -परिपाकम्' नामक ११ वें कर्म से आरम्भ कर 'प्रयाजब्राह्मण' नामक २३ वें कर्म-पर्यन्त कुल १४ विषयों का स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास हुआ है, जिन में से अत्र उदाहरणविधि से कुछ एक पारिभाषिक-तथ्यों का ही दिग्दर्शन पर्याप्त मान लिया जायगा। वही विषय-क्रमानुगति के अनुबन्ध से क्रमशः अत्यन्त सक्षेप से पाठकों के अत्र समक्ष उपस्थित हो रहा है।

शतपथभाष्य-द्वितीयखण्डानुगत-१४ प्रमुख-कर्मों के प्रसङ्ग से
अनुप्राणित-कतिपय

“पारिभाषिक-उदाहरण”

—*—

(१०)-उपवेषसम्पादन-द्विःपारापाकात्मक-कर्म-प्रसङ्गतः-
समन्विता-प्रासङ्गिकी

‘तपः’-शब्द-निबन्धना-परिभाषा

१

—*—

त्याग, तपस्या, बलिदान, रूपेण तीनों शब्द कुछ समय से लोकसामान्य में प्रसिद्धि-पथ के अनु-
गामी बने हुए हैं, जिन इन तीनों लोकप्रसिद्ध शब्दों में से मध्य के-‘तपस्या’ शब्द में अनुप्राणित-‘तपः’
शब्द का ही-भृगूणात्मङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्’ इस श्रुतिवचन के पारिभाषिक-समन्वय के आधार पर
स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास हुआ है पृष्ठसंख्या ६४५ से ६५८ पर्यन्त। ‘त्याग-तपस्या-बलिदानवधी’ से अनु-
प्राणित ‘तप’ का अर्थ माना जा रहा है-‘शारीरिक-अभ्यास’, और इसी भौतिक-अभ्यास पर ‘तप’ शब्द का
उपराम कर दिया जाता है। उधर दार्शनिक दृष्टि के अनुसार ‘तप’ उस अलौकिक लोकोत्तर औपासनिक-
ध्यानादि से अनुगत गुह्यतम प्राणव्यापार मात्र है, जिस के अनुगामी को ‘तपस्वी’ कहा जाता है, एवं जिस की
तपश्चर्या में मानसिक क्लेश के साथ साथ पञ्चाग्नि-तपनमूलक शारीरिक-उत्पीड़नादि भी समन्वित हैं।
यों उस ओर की दार्शनिकी तपश्चर्या ने, तथा इस ओर की देशातिमानानुगता तपस्या ने तपः शब्द
के उस पारिभाषिक तथ्य को सबैव अभिभूत कर लिया है, जिस अभिभूति से न तो उस तपश्चर्या का ही
कोई वास्तविक तथ्य-समन्वय सम्भव, एवं नैव आज की ‘तपस्या का ही कोई अर्थ। प्रथमकर्म (१०)-प्रसङ्गत
तप शब्द के उसी पारिभाषिक तथ्य का दिग्दर्शन कराते हुए प्रकृतिसिद्ध उन तीन महान् तपोभाषों की ओर
ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है, जो तपस्त्रयी क्रमशः ब्राह्मतप-वैष्णवतप-रौद्रतप, नाम से
प्रसिद्ध है।

पञ्चमहाभूतात्मक महतोमहीयान् ब्रह्मायड की स्वरूपस्थिति जिन प्राकृतिक-नित्याच्चरदेवदेवताओं
के आधार पर अवलम्बित है, वे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र (महादेव) नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों
देवताओं की त्याग-बलिदानानुगता तपश्चर्या के सह समन्वय से ही पञ्चपुराणीय-प्राजापत्या-ब्रह्मा से कृतरूप

पञ्चावयव त्रिष्व की, एव नद्गर्भीभूता प्रजा की स्वरूप यवस्थिति आनुपूर्वी से यवस्थित है। तीनों ही तपस्वी है, कि तु तीना के तपोभावो का स्वरूप सवथा पृथक् पृथक् है। ब्रह्मा का तप 'स-तापात्मक है, त्रिष्णु का तप 'तेश्वर्यात्मक' है, एव रुद्र का तप दाहा मरु है। स-तापात्मक ब्राह्मतप ज्ञानप्रधान है, तेश्वर्यात्मक तप श्रेष्ठतम-कम्मरूप * यज्ञप्रधान है, एव रुद्र का तप भूतप्रधान, किना अर्थ प्रधान है। ज्ञान क्रिया-अर्थ-नाम से सुप्रसिद्धा शक्तित्रयी की अधिष्ठात्री ब्रह्मा-त्रिष्णु-रुद्र-नाम की सुप्रसिद्धा देवतात्रयी से अनुगता तपस्त्रयी का नाम ही 'तपश्चर्या' है, और तन्निवचन तपोभाव ही 'तप' शब्द का वह चिर तन- इतिवृत्त है, जिस के गर्भ में ही इन तीनों तपोभावो का 'वसुधानकोश' रूपेण सम वय होरहा है।

बड़े डिब्बे में छोटा डिब्बा, छोटे डिब्बे में इस से भी छोटा डिब्बा इमी दहरोत्तर-सम्बन्ध का पारिभाषिक नाम है 'वसुधानकोशसम्बन्ध'। ज्ञानशक्ति-प्रधान ब्रह्म-तप सर्वाधार-सर्वप्रतिष्ठारूप वह महतो-महीयान् तप है, जिस के आधार पर ही आगे के वैष्णव, तथा रौद्रतप स्वस्वरूपेण प्रतिष्ठित रहा करते हैं। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा - 'यस्य ज्ञानमय तप इत्यादि श्रुतिवचन इसी ज्ञानमय-ब्राह्मतप का यशोगान कर रहे हैं, जिस के तपन-स तपन-रूप स ताप-धर्म से ही सृष्टिस्वरूप की अभि यक्ति मानी है गोपथब्राह्मण ने अपने उपक्रम में ही- 'तस्य तपस्य-सन्तपस्य ललाटे स्वेदोऽजायत' इत्यादि रूपेण। लोक में आज रुढिवाददृष्ट्या 'स ताप' शब्द का अर्थ 'शोक परिताप आदि होपडा है। कि तु तत्त्वपरिभाषादृष्ट्या 'स ताप' शब्द का अर्थ है-वैसा आत्यांतक प्रचण्ड सघष जिस का उत्तर परिणाम अवश्य ही शांति है। इसी स तपनात्मक प्रचण्ड सघष का- 'सक्तिश्च आसु प्राग्भ्यत्' इत्यादिरूपेण अभिनय किया जाता है। सुसूक्ष्म-प्रचण्डतम ज्ञानात्मक आभ्य तर सघष का ही ज्ञानात्मक, अतएव सुसूक्ष्मतम आभ्य तर प्रचण्ड सघष का ही नाम 'स-ताप' है, जिम इस स्वायम्भुव ज्ञानात्मक स तापधर्मा प्रथम-तपोभाव का उत्तर-परिणाम है शांतिरूप आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल का आविर्भाव, जिस इस स्वेदरूपा शांतिजलधारा-अम्भोधारा-से स्वयम्भू ब्रह्मा पुलकित आनन्दित होपड़ते हैं, और आन दमयी यही स-तापात्मिका तपोमयी वारिवारा आगे चलकर सम्पूर्ण सृष्टिरूपा-सृष्टि की जननी बनती है। यही ज्ञानात्मक स तापधर्मा सर्वप्रतिष्ठारूप वह 'तप' है, जिस को आधार बनाए बिना आगे के दोनों तप सर्वथा यातयाम ही बन जाया करते हैं।

स्वयम्भू ब्रह्मा के ज्ञान सन्तपनात्मक परिपक्वज्ञानात्मक आदितप से जो वारिवारा मर्बत ऋतरूपेण व्याप्त आप्त परिव्याप्त होगई, वही इस आप्तिरूप व्याप्तिधर्म से 'आपोलोक' कहलाया जो 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध है, एव जिस का अधिष्ठाता-देव त्रिष्णु कहलाया है। स-तापधर्मा ज्ञानीय तप से समुद्भूत वैष्णव-परमेष्ठी-लोक का ऋतधर्मा वारि' रूप 'आप' तत्त्व अपने स्नेह, तथा तेजोगुण से उभयधर्मात्मक बन रहा है। स्नेहगुणक वही अप्तत्त्व 'भृगु', कहलाया है, एव तेजोगुणक वही अप्तत्त्व 'अङ्गिरा' कहलाया है। यों स-तापात्मक स्वायम्भुव ज्ञानीय तप से आविर्भूत वैष्णव आप-तत्त्व का भृग्वङ्गिरोमयत्त्व प्रमाणित हो-जाता है +। स्नेहगुणक भार्गवतत्त्व ही दाह्यगुणक-सोमतत्त्व है, एव तेजोगुणक आङ्गिरसतत्त्व ही दाहकगुणक अग्नि तत्त्व है।

*-यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कम्म (शतपथे)।

+आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।

अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः॥

—गोपथब्राह्मणे

भाग्य सोम, तथा आङ्गिरस अग्नि, इन दोनों दाह्य-दाहक-तर्जों के रामायनिक-मग्निश्रग से आविर्भूत उभयात्मक-अपूर्वभावात्मक तथ्य का नाम ही सिद्धकर्मात्मक 'यज्ञ', है, जहाँ 'अग्ना सामाहृति र्यज्ञ' लक्षण से स्पष्ट है।

पारमेष्ठ्य-विष्णु-अक्षर से अनुगत, स्वायम्भुव ब्राह्म-तप के आधार पर प्रतिष्ठित-भाग्यङ्गिरस अग्नीषोमात्मक प्रकृतिभिन्न इत्थभूत प्रथमयज्ञ से ही उस ऐश्वर्य की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, जिसका सौर-ब्रह्माण्ड मन्वन्त्य विस्वरूप से आज हम साक्षात्कार कर रहे हैं। विश्वात्मक-व्यक्त-ऐश्वर्य पारमेष्ठ्य उस विष्णुदेवता के तप का ही महत्त्व है, जो वैष्णव-आपोमय-तप भृगु, और अङ्गिरा के सग्नितपात्मक-अग्नीषोमात्मक-भाव से अनुप्राणित है। इसी मध्यस्थ-वैष्णव-याज्ञिक तप का ब्राह्मणश्रुति-भृगुणा-मङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम् रूपेण समर्पण किया है। यही यज्ञकर्मात्मक-'कर्मशक्तिप्रधान' वह पारमेष्ठ्य तप है, जिसके द्वारा ही समस्त ब्रह्माण्ड वी अभिव्यक्तिरूप व्यक्त-'ऐश्वर्य का भित्तन हुआ है। आत्मा इस 'कर्मशक्ति' धन-भाग्यङ्गिरस-पारमेष्ठ्य-वैष्णवतप को अवश्य ही-'ऐश्वर्यार्थतप मान लिया जा सकता है, माना ही गया है।

स्वायम्भुव-ज्ञानमय स तापात्मक ब्राह्मतप के आधार पर आत्मय पारमेष्ठ्य ऐश्वर्यात्मक वैष्णव-तप की अभिव्यक्ति हुई। तदनंतर क्या हुआ?, प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। आपोमय परमेष्ठी-विष्णु के ऐश्वर्यात्मक तप से तद्गर्भ में बीजरूप से जिम हिरण्यमाण्ड का स्वरूप निर्माण हुआ अग्नि की चिति सञ्चिति के द्वारा, वही हिरण्यमाण्ड सौरसम्बत्सरब्रह्माण्ड की वेला फुलाई, एव तत् केन्द्रवर्ती ताप प्रकाश युक्त (अग्नि इन्द्र समन्वित) उस प्रचण्डतम भास्वत् पिण्ड की अभिव्यक्ति होपडी, जोकि ज्योतिर्मय पिण्डाण्ड आज अस्मदादि सर्व साधारण की भाषा में 'त्रयीमय त्रिगुणमूर्ति भगवान् सूर्यनारायण' नाम से प्रसिद्ध है, जिस इस ज्ञानतेजोमय (प्रचण्डतेजोमय) सूर्य का ही व्यक्त विश्व में एकाकी असपत्न साम्राज्य है। यही महर्षि श्वेताश्वतर की भाषा में ज्ञानमूर्ति एकाकी वे रुद्र भगवान् हैं, जिन्हें उपासकवर्ग उभयतो नमस्कार से तुष्ट-शांत करते रहते हैं। 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु' से उपवर्णित यह सौर ज्ञानरुद्र अपन प्रचण्डतम आदानभंग से आदित्य नाम से, रुद्रभावों को द्रुत करने के कारण 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध होते हुए रोदसीब्रह्माण्ड के भाग्यविधाता ही बने हुए हैं। ऐसे प्रचण्डाग्निमूर्ति इस सौररुद्र को पारमेष्ठ्यदेवता अजस्र-सोमाहृति से उपशांत करते हुए हृद्वं-'शिव' स्वरूप में परिणत करते रहते हैं-त्रिवैश्वर्यसरक्षणकामायैव। विशुद्ध अग्नात्मक, अतएव-दाहक-वही रूप-घोरघोरतम 'रुद्र' है, एव सोमात्मक वही शांततमरूप अघोररूप 'शिव' है। यों रुद्र ही रुद्र, और शिव, नामक द्विविध-महिमा भावों में परिणत हो रहे हैं, एव यही बात कुछ समझन जैसी है।

सौर-क्षत्र-रुद्र-का स्वरूप-निवचन-करते हुए श्रुति ने कहा है-'सोऽरोदीत्, तद्रुद्रस्य रुद्र-स्वम्', जिस निवचन का निष्कर्षार्थ यही है कि, रुद्र का प्रातिस्विकधर्मा-वह प्रचण्ड 'दाह' ही है, जिसका उदक-रोदनकर्म ही माना गया है। रोदनधर्मात्मक-रुद्र की दाहकता ही विश्वैश्वर्य की अन्यतमा विधातिनी मानी गई है। अर्थात् जहाँ, जिस क्षेत्र में विशुद्ध-निष्कैवल्य-दाहकधर्मा-रुद्र का ही प्राधान्य होता है, वहाँ रोदन-शोक-परिताप-ऐश्वर्य-विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं बचता। रुद्र किस अवस्था में रोदनरूप नाशभ्रम के प्रवर्तक बनते हैं?, प्रश्न का उत्तर है-वैष्णव-भाग्यङ्गिरस-ऐश्वर्यार्थक-पारमेष्ठ्य तपोभाव से पृथक् रहने वाले निष्कैवल्य-रुद्र। यदि रुद्र के साथ पारमेष्ठ्य-ऐश्वर्यप्रवर्तक-यज्ञात्मक-कर्म समन्वित होजाता है, तो वे ही रुद्र अपनी दाहकता का परित्याग करते हुए 'शिवस्वरूप' में परिणत होजाते

हैं, और वैष्णवतपोयुक्त सौर रुद्र यो रुद्रत्व से शिवत्व में परिणत होते हुए ऐश्वर्यविनाश-विरोध-के स्थान में ऐश्वर्य-सम्राह-सरक्षण-में ही प्रवृत्त होजाते हैं। और यही सौररुद्रानुगत-तपोभान का दाहाथक वह चिर-तन इतिवृत्त है, जिसके प्रसङ्ग से ही यहा शिवस्वरूप का प्रसङ्ग भी समुपस्थित होपडा है।

उक्त स दम के आधार पर हमें अब इस निष्कर्ष पर पहुँचना पडा कि, सयती नाम की ब्राह्मी-त्रिलोकी के अधिष्ठाता अ यक्तमूर्ति-ज्ञानप्रधान-स्वयम्भू ब्रह्मा, ऋदसी नामकी वैष्णवी-त्रिलोकी के अधिष्ठाता यक्ता यक्तमूर्ति कम्मप्रधान-परमेष्ठी-विष्णु, एव रोदसी नाम की सौरी-(ऐ द्री)-त्रिलोकी के अधिष्ठाता यक्तमूर्ति-अथप्रधान-भूतप्रधान-रुद्र, इन तीनों अक्षरदेवताओं की क्रमानुगता ज्ञान-क्रिया-अर्थ-नाम की तीनों शक्तियों से अनुगत, स ताप-ऐश्वर्य-दाह-भावनिबन्धन-त्रिविध-तपोभाव ही- तप शब्द का सकलनात्मक-वह-चिर-तर-इतिवृत्त है, जिस का अथवसहिता मे क्रमश विस्तार से स्वरूप-स्पष्टीकरण हुआ है *। सतापार्थक तप ब्राह्मतप है एव यह ज्ञानप्रधान तप है। ऐश्वर्यार्थक तप वैष्णवतप है एव यह कम्मप्रधान तप है। तथा दाहाथक तप सौर-रौद्र-तप है, एव यह अथप्रधान तप है। इस प्रकार तपोभाव सवथा विभिन्न तीन सृष्टिधाराओं मे विभक्तरूपेण यवस्थित होरहा है।

ज्ञानात्मक-ब्राह्म तप को आधार बनाए बिना कर्मात्मक वैष्णवतप सवथा निरथक है, एव वैष्णवतप को आधार बनाए बिना अर्थात्मक रौद्रतप सर्वथा व्यर्थ है। इसी तथ्य के आधार पर पर हमें इस निष्कर्ष पर भी स्वत ही पहुँच जाना पडता है कि ज्ञानात्मक तप के आधार पर प्रतिष्ठित कर्मात्मक तप ही अर्थात्मक तप की स्वरूप-प्रतिष्ठा है। ज्ञानशक्ति से समवित स तापाथक स्वायम्भुव-ब्राह्मतप का सम्राहक 'तप' शब्द क्रियाशक्ति से समवित ऐश्वर्यार्थक पारमेष्ठ्य वैष्णवतप का सम्राहक 'तप' शब्द, एव अथशक्ति से समवित-दाहथक-सौर-रौद्रतप का सम्राहक 'तप' शब्द, तीनों स्वरूपत-आकारत-अभिन्न-प्रतीत-होते हुए भी अपने धातु-प्रकृति-प्रत्ययानुबन्ध से सवथा विभिन्न है और इस विभिन्नता का श्रेय है शदशास्त्र के द्रष्टा शब्दविज्ञानसाक्षात्कर्त्ता भगवान्-पाणिनि की एतदनुबन्धिनी सुप्रसिद्धा उन धातुत्रयी को, जिस में- 'सन्ताप-ऐश्वर्य'- 'दाह' अर्थों के सम्राहक विभिन्न तीन धातुओं का ही सम्राह हुआ है 'तप सन्तापे'- 'तप ऐश्वर्ये' - 'तप दाहे' रूपेण। सतापाथक तप से अनुगत तप श द स्वायम्भुव-ज्ञानप्रधान ब्राह्म तप का ही सम्राहक है, तो ऐश्वर्यार्थक तप धातु से समन्वित 'तप' शब्द पारमेष्ठ्य-क्रियाप्रधान-वैष्णावतप का ही सम्राहक है एव दाहाथक तपधातु से निष्पन्न 'तप' शब्द सौर-अर्थप्रधान-रौद्रतप का ही अनुग्राहक है, और यही 'तप' शब्द की वह सक्षिप्ततमा पारिभाषिकी विभक्ता रूपरेखा है, जिस के समन्वय के बिना केवलभावेन गृहीत 'तप' 'तपस्या' 'तपश्चर्या', आदि लोकानुबन्धो से अर्थ के स्थान में उसीप्रकार अनर्थ ही सम्भावित बन जाता है, जैसेकि ब्राह्मतप, एव-वैष्णवतप से आत्यतिकरूपेण पराबमुख, निरपेक्ष आजका 'तपस्यानुगत' तप शब्द अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही जनक बनता आरहा है।

कथमिति चेत् ?, अश्रुताम् ! अस्वा चाप्यवधार्यताम् !। तथोक्त त्रिविध देवानुगत-त्रिविध-तपोभाव 'त्रि सत्या वै देवा' इत्यादि पारिभाषिक-अनुगम सिद्धात के अनुसार आधिदैविक-अध्यात्म-अधिभूत

*-देखिए 'दिग्देशकालस्वरूपसमासा नामक निबन्धान्तर्गत आथर्वण कालसूत्र का समन्वय प्रकरण।

भेदेन तीन सस्थाओं के साथ समन्वित हो रहे हैं, जिन में से प्रकृत में मानवमस्थानुपायिता अध्यात्ममस्था की दृष्टि से ही तत्प्रासङ्गिक प्रश्न का समाधान-प्रयास-समीचीन होगा। मानव के अध्यात्म में आत्मसमावृता, अतएव समभावापन्ना-समत्व-योगाविता-‘सत्त्वबुद्धि’ स्वायम्भु-ब्राह्मतप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है। इत्थभूता बुद्धि से समन्वित, बुद्धि से निश्चित, अतएव-सहजरूपेभौव सत्वगुणावित ‘सर्वेन्द्रिय’ नामक ‘प्रज्ञानमन ही पारमेष्ठ्य-वैष्णव-तप का अभिव्यक्ति-क्षेत्र माना गया है। और एस प्रज्ञानमन से अनुगता ‘सुरुचि से समावृता ‘शरीर’ ही सौर-रौद्र-तप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है, जो रौद्र-दाहात्मक शारीरिक तप पूर्व कथनानुसार पारमेष्ठ्य-ऐश्वर्य्यत्मक तपोभाव से समन्वित होता हुआ ‘गिरूप’ में ही परिणत रहता है।

तदित्य बुद्धित त्रानुवर्ती स तापात्मक ज्ञानशक्ति से समन्वित ब्राह्मतप, मनस्तत्रानुवर्ती-ऐश्वर्य्यत्मक-क्रियाशक्ति से समन्वित-वैष्णवतप, एव शरीरतत्रानुवर्ती शिवभावात्मक अथशक्ति से समावृता शैवतप, इन तीनों तपों की ‘एकत्र’ समन्वयमूर्ति मानवश्रेष्ठ के इस समन्वयात्मक तपोऽनुष्ठान से निश्चयः प्रहिक, तथा आमुष्मिक सभी पुरुषार्थ अन्वय प्रमाणित होते रहते हैं क्या होते रहते थे उन पुरातन-आभ्युगों में, जिनमें ज्ञानात्मक ब्राह्मतप ही सबप्रधान था, तदाधार पर कर्मात्मक वैष्णवतप प्रतिष्ठित था, और तदाधार पर प्रतिष्ठित दाहात्मक तप को भी शिवभाव में ही परिणत होजाना पड़ता था। और आज ?

और आज ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए। ब्राह्मतपोरूपा ज्ञानचर्या आज सबधैव अभिभूता प्रमाणित हो चुकी है किवा बलपूर्वक ज्ञानोपासना का ‘उपेक्षा’ की कोटि में ला खड़ा किया है। मनोऽनुगता यज्ञात्मिका-कर्मपद्धति का स्थान भी दिग्देशकालानुगत-सामयिक-यथेच्छ-काल्पनिक-कर्मोन्ने आत्यन्तिकरूपेण अपहृत कर लिया है, और शेष रह गया है शरीरानुबन्धी वह दाहात्मक तप, जिसे आज की भाषा में—‘श्रम’ कहा जा सकता है। अवश्य ही उस ‘श्रम’ का ‘पाणि’ रूपेण भगवान् वेदव्यास ने युक्तकण्ठ से यशोगान ही किया है, जिस श्रमरूप-पाणिसमन्वित-शारीरिक-तप को मनोबुद्धि-निबन्धन परिश्रमाश्रमभाव शिवभाव में परिणत किए रहते हैं। किंतु ज्ञानरूप आश्रम, एव यज्ञरूप मानसिक परिश्रम से बन्धित केवल शरीरतपोरूप श्रम तो विशुद्धा वैसी रुद्रविभूति ही मानी गई है, जिसका परिणाम-‘सोऽरोदीत’ के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। भगवान् करे। भारतीय मानव अपनी इस केवल अमारिका-तपोवृत्ति के तथाविध भीषण-परिणाम को लक्ष्य बनावे, एवं तत्परित्राण के लिए श्रुति-स्मृति-पुराणादि आर्षशास्त्रसिद्ध यज्ञात्मक-ऐश्वर्य्यससाधक माणसिक-परिश्रमानुबन्धी पारमेष्ठ्य तप को, एवं तत्प्रतिष्ठा-रूप-बुद्धयनुगत-आश्रमानुबन्धी-स्वायम्भुव तप को अपने शारिरिक-श्रमरूप तप की प्रतिष्ठा बनाता हुआ अभ्युदय निश्चय का भोक्ता प्रमाणित हो, इसी मङ्गलकामना के साथ ‘दसवे-कर्म’ (१०) से सम्बद्ध ‘तप’ शब्द का संक्षिप्त-विरतन-इतिवृत्त-उपरत हीरहा है।

श्री

(११)—पिष्टेनोदकमिश्रो तन पुरोडाशसम्पादनात्मक-कर्मप्रसङ्गतः-
समन्विता-प्रासङ्गिकी
'वषट्कार'-शब्द-निबन्धना-परिभाषा
२

वैदिक सृष्टिविज्ञान के गरिमा-महिमामय-प्राङ्गण में 'त्रौक्-षट्-वौषट्-वाक षट् आदि विभिन्न-भावो से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध-'वषट्कार' शब्द का भी एक विशेष ही महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि- वषट्कारात्मिका वाक्साहस्री विद्या के आधार पर ही वैदिक विज्ञान का गणित सिद्धा तात्मक-ज्योतिषचक्र निबधन (खगोलीय) सम वय सुयवस्थित, ए। प्रतिष्ठित है। बिमप्रकार वर्तमान भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में गणितानुगत-भावो का मील नामक परिमाण-विशेष के आधार पर सम वय किया जाता है तथैव भारतीय-वैदिक-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले सापेक्ष-दूरत्व-आदि का व्यवस्थापनसूत्र वषट्कारात्मक वह साहस्री-भाव ही है, जिसके पारिभाषिक सहस्र-प्राणात्मक-गौतत्व-के माध्यम से ही तद्व्यवस्थाओं का नियमन हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। अतएव मानना पडेगा कि, वषट्कारा नुगता, किंवा वषट्कारात्मिका वाक्-साहस्री-विद्या के पारिभाषिक-सम वय के बिना वेदानुगत किसी भी सृष्टि-विज्ञान का यत्किञ्चित् भी समन्वय सम्भव नहीं है। प्रस्तुत ११ वे कर्म में प्रसङ्गत वाकसाहस्री विद्या से अनुगत उस महत्त्वपूर्ण 'वषट्कार' शब्द के ही पारिभाषिक-तथ्य का स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है, जिसका अत्र दो शब्दों में सस्मरणमात्र कर लिया जाता है उदाहरणधियैव।

स्पृश्य-पिण्डात्मक प्रत्येक भौतिक-वस्तुपिण्ड पञ्चमहाभूतात्मक है। अर्थात् गुण अणु रेणु भूत नामक पूर्वस्थ इन चार वर्गों के क्रमिक-पञ्चीकरण से अतत स्थूलरूप में परिणत, अतएव महाभूत' इस पारिभाषिक नाम से समन्वित आकाश-वायु तेज जल मृत् इन पञ्च पञ्चीकृत भावो के अन्तर्गतात्मक एकत्र सम वय से ही प्रत्येक वस्तुपिण्ड का स्वरूप निर्माण हुआ है। पाचो ही पञ्चीकृत हैं। अतएव पञ्चीकृत पाचो के क्रमशः पाँच जातियों के ही वस्तुपिण्डों की अभियक्ति हुई है इस पञ्चभौतिक-महा-विश्व में, जिसकी प्रकृति इस पञ्चभावानुबन्ध से ही 'पञ्चपर्वा' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जैसाकि-'पञ्चपर्वामधीम' इत्यस्मिन् श्वेताश्वतरवचन से प्रमाणित है।

पञ्चमहाभूतात्मक पञ्चीकृत पाचों भौतिक-पिण्डों में एक एक महाभूत तो प्रधान है एव शेष चार चार महाभूत गौण हैं। अतएव-'वैशेष्यान्तु तद्वादस्तद्वाद' के अनुसार पञ्चात्मक भी प्रत्येक भूतपिण्ड प्रसिद्ध होता है उस प्रधानभूत-विशेष भूत के नाम से ही, जो तत्स्थिति की पञ्चीकरणप्रक्रिया की आधारभूमि बना रहता है। एव इस दृष्टि से आकाशपिण्ड वायुपिण्ड तेज पिण्ड-जलपिण्ड मृत्पिण्ड प्रधानत्वेन

पाँच महाभूतात्मक वस्तुपिण्ड अभि-युक्त हो रहे हैं इन पाण्डु (पञ्चायव) विश्व मं, जा पाँचों पिण्ड क्रमग स्वयम्भूपिण्ड (आकाशात्मा), परमेष्ठीपिण्ड (वाय्वात्मा), सूर्यपिण्ड (तेजोमय), चन्द्रपिण्ड (जलीयपिण्ड(१)), एव भूपिण्ड (मृत्पिण्ड), इन नामों से वैदिक-सृष्टिविज्ञान में प्रसिद्ध है। पाँचों ही पिण्ड (प्रत्येक) पञ्चीकरण के सम्बन्ध से यद्यपि पञ्चात्मक हैं। तथापि प्रधानत्वेन पाँचों आकाशादि प्रधान अभिधाओं से ही समाप्त हो रहे हैं।

उक्त पाँचों महाभूतों में सर्वादिभूत आकाशाभूत ही वह मौलिक भूत है, जिसके बलानुगत धातु धन से ही शेष वायुादि चारों महाभूत अभि-युक्त हुए हैं। आकाशाभूत का उत्तर परिणाम वायुभूत है, तदुत्तर परिणाम तेजोभूत है, तदुत्तर उदक जलभूत है, और सर्वात् का परिणाम मृद्भूत है। अतएव मानना पड़ेगा कि-पाँचों ही भूत आकाशाभूत से अभिन्न बनते हुए आकाशात्मा ही हैं, अवकाशमय ही हैं। और यह आकाशात्मक अत्यंत ही रहस्यपूर्ण है वैदिक-सृष्टिविज्ञान का, जिसके स्वरूप-समय के आधार पर ही वैदिक-भूतभौतिक-विज्ञान सुसमाप्त है (२)।

तत्त्वात्मक नित्यकूटस्थ-जिस अपौरुषेयवेद का पूर्वप्रकाशित शतपथ-प्रथमखण्ड के कृष्णमृगचर्मप्रकरण में विस्तार से स्वरूप विश्लेषण-किथा गया है (देखिए प्रथमकाण्डानुगत प्रथमखण्ड-पृष्ठ सं० ४६५ स ५३६ पर्यंत), उस सृष्टिमूलभूता तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या का सुप्रसिद्ध 'यजु' वेदात्मक-'यजुर्वेद' ही आकाश का स्वरूप-परिचायक है। गतिप्रकृतिक प्राणभाव ही 'यत्' है, एव स्थितिप्रकृतिक वाग्भाव ही 'जू' है, और इत्थभूत-गति-स्थिति-रूप प्राण-वाग्-भावों की समावृत्तावस्था ही 'यजु' है, जिसे परोक्षप्रिय महर्षि-'यजु' कहा करते हैं, जो कि वयोरूप यजु अक्षुक्षाररूप वयोनाथ से छुन्दित रहता हुआ 'छन्दोवेद' नाम से प्रसिद्ध है

स्पष्ट है कि, प्राणानुगत वाग्भाव ही 'जू' है, और इसीका लोकव्यावहारिक नाम है-'आकाश'। (३) वाग्-रूप आकाश में कम्पन उत्पन्न कर देने वाला प्राणरूप यद् भाग ही 'श्वा' नामक मधवेन्द्र है। अतएव जूरूपा आकाशात्मिका 'वाक्' को श्रुति ने इन्द्रपत्नी माना है (४)। इन्द्रात्मक-यत्-प्राण से अनु-

(१)-तरणिकिरणसङ्घात-एष पानीय-पिण्डः।

दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते ॥

—सिद्धा ततस्त्वविवेक

(२) यह सस्मरणीय है कि, वर्तमान भूतविज्ञान की दृष्टि में आकाश नामक कोई तत्त्व नहीं है। प्रकाशित निबन्धों में यत्र तत्र इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया गया है।

(३) जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम् (कोशवचन)

—वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वाः पशवो मनुष्या।

वाचीमा विश्वा भुषनान्यर्पिता सा नो हव जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण

ग्रहीता इन्द्र पत्नीरूपा 'जू' रूपा वाक् ही वह आकाशतत्त्व है, जिसकी मत्स्यबलानुगता चित्ति-सचित्ति से ही उत्तर की भूतचतुष्टयी अभिव्यक्त हुई है, जैसाकि तैत्तिरीयोनिषत् की सृष्टिविद्या में विस्तार से निरूपित है। वहा बतलाया गया है कि, आत्मा से आकाश सम्भूत है, इससे वायु वायु से तेज तेज से जल, एव जल से मृत् नामक अतिम महाभूत अभिव्यक्त हुआ है *। प्रश्न यही है कि, तैत्तिरीयश्रुति का आत्मा कौन है ?। प्रश्न का समाधान है—सृष्टिसाक्षी वह मन प्राण प्रधान सृष्ट्यु सुख विश्वात्मा, जिसकी अधिष्ठानभूमि मुक्ति-साक्षी आनन्द विज्ञान प्रधान मुक्त्युन्मुख वह विश्वातीतात्मा ही बना हुआ है, जिसका उपनिषदोने-नेति नेति रूपेण यशोगान किया है। आनन्द विज्ञानमनोरूप मुक्तिसाक्षी अथवात्मा की साक्षी में प्रतिष्ठित मनोऽनुगत प्राण तत्त्व ही वह विश्वात्मा है, जिसका तैत्तिरीय उपनिषत् में—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत इत्यादिरूपेण स्मरण हुआ है। आनन्द-विज्ञान-गर्भित-मन से अनुगत यत्-रूप गतिप्रकृतिक-‘एकर्षि’ नामक अप्राणात्मक ‘अव्ययप्राण’ ही तैत्तिरीय का वह पारिभाषिक आत्मा है, जिससे जूरूप आकाश नामक ‘वाक्’ भाव ही सवप्रथम अभिव्यक्त होता है। और यो अब ‘वाक्’ रूप आकाश के सम वय से आनन्दविज्ञानगर्भित मनोऽनुगत प्राणरूप आत्मा की स्वरूप याति वागाकाश पथ्यत होजाती है। अतएव बृहदारण्यकश्रुतिने सृष्टिसाक्षी आत्मा का अतनोगत्वा-‘स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणामयो मनामय यही लक्षण मान लिया है, जिसका अर्थ है-‘आनन्द विज्ञानगर्भित मन प्राण वाङ्मय सृष्टिसाक्षी तत्त्वप्रतिशेष’, जिसका स्वयं तैत्तिरीयने भी ‘पञ्चकोशत्रिद्या’ के माध्यम से विस्तार से यशोगान किया है।

तथोक्ता प्रासङ्गिकी पञ्चभूतसृष्टि के माध्यम से अब हमें स्वतः एव इस तथ्य पर पहुँच जाना पडा कि, पञ्चमहाभूतात्मक विश्व का मूलभूत-‘आकाश’ नामक वर महाभूत ही है, जो-‘जू’ रूप-स्थितिप्रकृतिक, ‘वाक्’ तत्त्व ही है। वाक् रूप यह आकाश ही क्योंकि बलग्रथि के उत्तरोत्तरभावी क्रमिक सघात से शेष चारो भूतों में परिणत हुआ है, अतएव पाचो ही भूतों को, किंवा पूर्वोक्त स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूय-चन्द्र-भू-नामक पाचो ही भूतभौतिक-स्पृश्यपिण्डो को ‘वाङ्मयपिण्ड’ मान लिया जासकता है। यही आकाशात्मिका मन-प्राणगर्भिता-वाक् की सवभूत याति का सन्नि ततम निदर्शन है, जिस के आवार पर ही ‘वाचीमा विश्वा भुवनान्यपिता - अथो वागेवेद सर्वम इत्यादि निगम यवस्थित हुए हैं। यही आकात्मिका विश्वव्याप्ता सर्वरूपिणी सर्वात्मिका वाग्देवी उस प्रस्तुत ‘वषट्कार’ शब्द के चिरतन-इतिवृत्त की आधारभूमि बनी हुई है जिस के माध्यम से ही हमें अब तन्निबधना वाक्सहस्री का दो शब्दों में स्मरणमात्र कर लेना है।

‘वाक्’ शब्द का रहस्यात्मक अर्थ है ‘मन प्राण गर्भित तत्त्वप्रतिशेष’। अर्थात् उस तत्त्व का ही नाम ‘वाक्’ है, जिस के गर्भ में मन, और प्राण प्रतिष्ठित हैं। तभी तो बृहदारण्यकोक्त मन प्राणवाङ्मय-लक्षण अन्वर्थ प्रमाणित होता है। किस आधार पर कैसे ‘वाक्’ का अर्थ ‘मन प्राणगर्भिततत्त्व’ होगया ? प्रश्न का समाधान वैदिक विज्ञानानुगता अक्षरवर्णनिबधना अत्यन्त रहस्यपूर्णा उस ‘सकेतविद्या

*-तस्माद्वा-एतस्मादात्मन आकाश, सम्भूत, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी (मृत्)।

—तैत्तिरीयोपनिषदि

CR

पर ही अवलम्बित है, जिस के सम वयाधार पर ही वैदिक-पारिभाषिक-शब्दों का तत्त्वार्थ समन्वित होता है। तद्विधानुसार मन का सङ्केतात्मक नाम है- अ कार, और प्राण का साङ्केतिक नाम है 'उ कार। वास्तविक सहज स्थिति है-मन प्राण वाक् यह। कि तु सृष्टिधारा में मध्यस्थ गतिशील प्राण ही प्रथम स्थान ग्रहण कर लेता है। प्राण के गमन से ही तदाधारभूत मन को भी सृष्टिकर्म में समन्वित होना पडता है, जैसाकि दैनिक अनुभवों से स्पष्ट है। हमारा सालस मन कम्म की ओर प्रवृत्त नही होना चाहता। कि-तु सवितृप्राण की प्रबल प्रेरणा से जब हमारा 'प्राण बलपूर्वक अनिच्छन्नपि कम्म में प्रवृत्त होपडता है, तो हमारा अनिच्छा भावानुबन्धी मन भी न न करता हुआ भी अ ततोगत्वा तत्कर्म में प्रवृत्त हो ही पडता है। इसी आधार ऋषि प्रज्ञाने- 'चरैवेति-चरैवेति' रूपेण प्राण यापार के प्राथम्य को ही कम्मसिद्धि का प्रमुख द्वार माना है।

अतएव स्पष्ट है कि- 'मन-प्राण-वाक्' रूप सहज भी क्रम सृष्टिकर्मानुगति में प्राण को प्रथम स्थान देता हुआ- 'प्राण-मन-वाक्' इस रूप में परिणत होजाता है, जिसका सङ्केताक्षरनिबन्धन यही निष्कर्ष निकलता है कि- अ (मन)-उ-(प्राण)-वाक् के स्थान में 'उ-(प्राण)' अ (मन) वाक् यह क्रम सम्पन्न होजाता है। उकार को 'व्' कार यणादेश होजाता है। 'उ-अ-अच्' के स्थान में व्-अ-अच् स्थिति होजाती है और दीघत्वेन वाच् रूपेण- वाक् शब्द निष्पन्न होजाता है, जिस का स्पष्टतम यही रहस्यार्थ निकलता है कि जो तत्त्वविशेष स्वस्वरूपाभि-यागित-प्रसार-के लिए उ, और अ-रूप प्राण, तथा मन की सतत याञ्छा करता है, अपेक्षा करता है, प्राणमनोगर्भित वैसा तत्त्वविशेष ही 'उ-अ-अच्' इस सङ्केताक्षरविधा से 'वाक्' रूप में परिणत हो रहा है। ऐसा है यह- 'वाकतत्त्व, और इत्यभूत मन प्राणगर्भित पाञ्चभौतिक-वाक्त्व से कृतरूप पाञ्चभौतिक-पञ्च-स्पृश्यपिण्डों का ही है यह वाङ्मय-चिर तन-इतिवृत्त-निष्कर्ष, जिसै आधार बना कर ही अब 'वाक्' निबन्धन 'वषट्कार' शब्द का समन्वय श्रन्वेष्टव्य है।

पञ्चमहाभूतात्मक-पञ्चपर्वा-महाविश्व के पाचो ही विश्वपर्व वाङ्मय हैं, यह पूर्व-निवेदन से स्पष्ट होजाता है। वस्तुपिण्ड का साङ्केतिक नाम है- 'स्पृश्यपिण्ड', जिस वाङ्मय-धामच्छद-भूतभौतिक पिण्ड का केवल स्पर्श ही सम्भव है। अतएव भूतपिण्ड का हम स्पर्शमात्र ही कर सकते हैं, देख नहीं सकते उसे। तो फिर किसे देखते हैं?, इस रहस्यपूर्ण प्रश्न का उत्तरप्रदान करने वाली दुरधिगम्या विद्या का ही नाम है- 'वाक्साहस्रीविद्या', जिस का श्रत्यन्त पारिभाषिकी भाषा में ही ऋषिने निम्नलिखित मात्र से स्मरण किया है—

महस्रधा पञ्चदशान्युक्त्वा यावद्यावापृथिवी तावदित्तत् ।

सहस्रधा महिमान सहस्र यावद्ब्रह्माविष्ठित तावती वाक् ॥

—ऋक्स०

वाक् को हमने प्राण, तथा मन से समन्वित बतलाया है। मनस्तत्त्व वाङ्मय पिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, एव तदनुगत गतिशील-अधामच्छद प्राणतत्त्व वस्तुकेन्द्र में उक्थरूप से अपनी मूलप्रतिष्ठा सुरक्षित रखता हुआ अकरूप से पहिले तो वाङ्मय-स्पृश्यभावनिबन्धन वस्तुपिण्ड में व्याप्त होता है। अनन्तर इस वस्तुपिण्ड (स्पृश्यपिण्ड) को केन्द्र बनाता हुआ यहीं अर्कात्मक प्राण बड़ी दूर पर्यन्त अपना एक स्वतन्त्र-मण्डल-बनता है, जो मण्डल सरयानुगति से एकसहस्र सख्यात्मक मान लिए गए हैं।

यही बर्हिः-मण्डल प्राणप्रधान मनोवाग्गर्भित वह साहस्री मण्डल है, जिस का हम मण्डलों के तारतम्य से साक्षात् कार तो कर सकते हैं, किंतु जिस का अधामच्छ्रद्धत्वेन हस्तादि से स्पर्श कदापि सम्भव नहीं है। यही स्पृश्य, और दृश्य का वह आध्यात्मिक-पाथक्य है, जिसका स्वरूपबोध वाङ्मय-वषट्कारविज्ञान के स्वरूप समन्वय पर ही अवलम्बित है।

स्पृश्यपिण्ड भी मन प्राणवाङ्मय है, एव दृश्यमण्डल भी मन प्राण-वाङ्मय ही है। अंतर दोनों में केवल यही है कि स्पृश्यपिण्ड जहा प्राण-मनो-गर्भिता वाक् को प्रधान बना रहा है वहा दृश्यमण्डल मनो वाक्-गर्भित प्राण को प्रमुखता प्रदान कर रहा है। वाक्प्रधान वस्तुपिण्ड पिण्ड है, एव प्राणप्रधान वस्तुमण्डल 'मण्डल' है। स्पृश्य पिण्ड का ही सम्भव है, तो दशन मण्डल का ही होता है।

मण्डलानुगत-अर्कात्मक प्राण की अवयवात्मिका 'याप्ति की पारिभाषिकी सज्ञा है- 'स्तोम' (राशि-स्तूप-ढेर-समूह)। मनोवाग्गर्भित-प्राणतत्त्व ही स्वाभाविक-गतिधम्म से 'गौ' है, जो अर्करूप मनोवाक्प्राणमय-गौतत्व अभिप्लव-पृष्ठ्य-रूपेण दो स्तोमभागों में परिणत रहता है। रश्मिभावात्मिका प्राणसमष्टि ही अभिप्लवस्तोम है, एव मण्डलभावात्मिका प्राणसमष्टि ही पृष्ठ्यस्तोम है, जिन दोनों रहस्यपूर्ण-प्राणविध-स्तोमों का तत्प्रकरण-भाष्य में विस्तार से स्पष्टीकरण कर दिया गया है। केन्द्र से बहि परिधि पथ्यत वस्तुपिण्डाकारत्वेन उत्तरोत्तर बृह-मण्डलों में परिणत होने वाले प्राणमण्डल ही 'पृष्ठ्यस्तोम' कहलाए हैं, एव केन्द्र से बहि परिधि पथ्यत रश्मिरूपेण-सूत्रप्रमुख-पितायमान प्राणसमूह ही अभिप्लवस्तोम नाम से व्यवहृत हुए हैं, जिन इन दोनों के स्वरूप समन्वय के बिना वैदिकी-सृष्टिविद्या का समन्वय स्वप्न में भी सम्भव नहीं है।

हाँ, तो मनोवाक् गर्भित-प्राण रूप गौतत्व मण्डलसाहस्री के अनुबन्ध से सहस्र सरया में विभक्त रहता है, जिन इन सहस्र-वाङ्मय-प्राणों की त्रिंशत्-त्रिंशत् (३०-३) प्राणराशि से जो एक स्वरूप अभिव्यक्त होता है—उसीका पारिभाषिक नाम है—'अहर्गण'। फलत १०० प्राणात्मक गौतत्वों के ३०-३०-के अनुपात से (६०६० गौतत्वों के) ३३ (तैतीस) अहर्गण होजाते हैं, शेष रह जाते हैं—दस गौप्राण, यही चतुस्त्रिंश प्रजापति रूप चौतीसवा-सर्पप्रजापति नामक पारिभाषिक वाङ्मय प्रजापतिदेवता है। ३३ अहर्गणों में से आरम्भ के तीन अहर्गण वस्तुपिण्ड में भुक्त हैं। अतएव वस्तुमण्डल में ३० ही अहर्गण शेष रह जाते हैं जिनका अयुग्मरूपेण जो तत्त्वात्मक समन्वय होता है, उसीका नाम है—'वषट्कार'। वस्तुपिण्डभुक्त तीन अहर्गणों में वस्तुमण्डलयुक्त ३० अहर्गणों में से ६ अहर्गणों के समावेश से जो वाक् प्राणमय एक स्वतन्त्र स्तोम का स्वरूप सम्पन्न होता है, उसी का नाम है—'त्रिवृत्स्तोम' (अर्थात् ६ अहर्गणों की समष्टिरूप स्तोम)। इसमें अयुग्मरूपेणैव आगे के ६ अहर्गणों के समावेश से—'पञ्चदशस्तोम' का, और ६ के समावेश से—'त्रिणावस्तोम' का, एव और शेषभूत अत के ६ अहर्गणों के समावेश से—'त्रयस्त्रिंशस्तोम' का स्वरूप-सम्पन्न होता है। इन ३३ सौ अहर्गणों का केन्द्रभूत एक सप्तदशम-अहर्गण-पृथक और मान लिया गया है, जो 'उद्गीथप्रजापति' का स्वरूप समर्पक बनता है। इसप्रकार त्रिवृत्-(६)-पञ्चदश (१५)-सप्तदश (१७)-एकविंश (२१)-त्रिणाव-(२७)-त्रयस्त्रिंश (३३)-रूपेण वाङ्मय प्राण के किंवा प्राणमयी-महिमा-रूपा सुसुद्धमा वाक् के ६ (छह) विभिन्न स्तोम होजाते हैं। एक ही मूलवाक्त्व का स्तोमानुबन्धी यह षड्धा-विभाजन है। यही वाक् का षट्कार है, और यही वाक्षट्काररूप 'वषट्कार' शब्द का सद्भिन्ततम-चिरतनेतिवृत्त है।

वाक् के षट्काररूप वषट्कार का ही नाम है वाकसाहस्री मण्डल जिसके गर्भ में वेदसाहस्री लोकसाहस्री-वाक्साहस्री-नाम की तीन यष्टिरूपा अत्रा तर-साहस्रिया प्रतिष्ठित मानी गई है, जिस इस साहस्री-त्रयी की आधारभूमि है हृद्याक्षरत्रयी । वस्तुपिण्ड के केन्द्र में मनोगर्भित जिस प्राण' तत्त्व की उक्त्य रूपेण पूर्व में प्रतिष्ठा बतलाइ गइ है, वह हृदयस्थ प्राण हृदय में प्रतिष्ठित रहता हुआ स्वय भी 'हृ-द-यम्' रूपेण त्र्यक्षरात्मक-अक्षरप्राण ही है जिसका हृ नामक एकाक्षर आहरणधर्मा विष्णु है, यही आगति धर्मा प्राण है । द् नामक एकाक्षर खण्डनधर्मा-इन्द्र' है यही गतिधर्मा प्राण है । एव 'यम्' नामक एकाक्षर नियमनधर्मा ब्रह्मा है, और यही गतिसमुच्चयधर्मा स्थितिरूप प्रतिष्ठाप्राण है । इनप्रकार तीन अक्षरो की समवितावस्थारूप त्र्यक्षरमूर्ति-हृदयस्थ प्राण के आधार पर ही मनोवाग्गर्भिता वाक्साहस्री के तीन महिमा पिवर्त्त निष्पन्न होजाते है मन-प्राण-वाक् की गौण प्रधानवृत्ति के कारण, जिसका निष्कर्ष यही है कि—

मनोवाग्गर्भिता प्राणप्रधाना साहस्री का ही नाम वैष्णवीसाहस्री है, यही लोकसाहस्री है, जिसका 'हृ' अक्षरात्मक विष्णु नामक अक्षर से ही प्रधान सम्बन्ध है । मन प्राणगर्भिता वाक्प्रधाना साहस्री का ही नाम 'ऐन्द्रीसाहस्री है यही वाक्साहस्री है, जिसका 'द' क्षरात्मक 'इन्द्र' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है । एव 'प्राण-वाग्-गर्भिता-मन-प्रधाना साहस्री का नाम ही ब्राह्मी साहस्री है, यही 'वेदसाहस्री है, जिसका 'यम्' अक्षरात्मक ब्रह्मा' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है । इसप्रकार ब्रह्माक्षररूप प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित इन्द्र-विष्णु-की गत्यागति-धर्मावच्छिन्न अब्मूला पारस्परिकी प्रतिस्पर्द्धा से होने वाले ब्राह्म-वैष्णव-ऐन्द्र-प्राणों के वीरणरूप-अर्कात्मक ऊर्ध्ववितान से एक ही वाक्साहस्री के उक्त गौण प्रधान क्रम से तीन साहस्रियाँ अभिव्यक्त होजाती हैं, जिन इन तीन साहस्रियों के अवारपारीण-ऊर्ध्व-अध-तिर्यक्-सर्वतोभावी वितान से एकविधापि साहस्री आरम्भ में त्रिसाहस्रीरूप में परिणत होती हुई 'सहस्रधा महिमान सहस्रम् रूपेण असख्य अगणित साहस्री विनानभावों में विभक्त होजाती है, जिनकी प्रधानभूता साहस्री त्रयी का ऋषि ने निम्नलिखितरूपेणैव सस्मरण किया है—

उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे, न पराजिज्ञे कतरश्च नैनो ।

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथा त्रेधा सहस्र वि तदैरयेथाम् ॥ (ऋकसहितायाम्)

किं तत् सहस्रमिति ?

इमे लोका (लोकसाहस्री वैष्णवी)

इमे-वेदा (वेदसाहस्री-ब्राह्मी)

अथो-वाक्-इति ब्रूयात् (वाक्साहस्री ऐन्द्री)

—ऐतरेय-आरण्यके

पर ही मण्डलात्मक 'वैश्वरूप्य' का वितान हुआ है, जिस वैश्वरूप्य के माध्यम से ही पाचो विश्वपुरों में परस्पर वसुधानकोशात्मक--वह सुप्रसिद्ध दहरोत्तरमन्त्र ध प्रतिष्ठित है, जिसके आधार पर ही पाचो पुरों में पञ्चपुर-स्वरूप सग्निका वह यज्ञप्रक्रिया प्रकाशता है, जिसका 'प्रहिता सयोग' 'प्रयुता सयोग' इस परिभाषाद्वयी के माध्यम से ही ऋषि ने स्वरूप-विश्लेषण किया है।

विश्वस्वरूपसंस्थान के माध्यम से वस्तुस्थिति का समग्र कीजिए। आकाशभूत-प्रधान-स्वयम्भू नामक प्रथमपिण्ड पहिला स्पृश्यपिण्डात्मक पहिला वाङ्मय पिण्ड है। इसीके अनुरूप स्वरूप रखने वाले क्रमशः वायु तेज जल, मृत् नामक भूतप्रधान चारो स्पृश्यपिण्डात्मक वाङ्मयपिण्ड क्रमशः परमेष्ठी सूर्य चंद्रमा भूपिण्ड, नामक चार वाङ्मय पिण्ड है। यह अविस्मरणीय है कि यह क्रम दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या से ही सम्बन्ध रखता है। यदि सृष्टिमूला सृष्टिविद्या के क्रम से विचार किया जायगा, तो--'चन्द्रमा सर्वा त में प्रतिष्ठित माना जायगा। क्योंकि ग्रहोपग्रहभावनिबन्धना दशपूणमासयज्ञानुबन्धिनी सुप्रसिद्धा 'प्रतिपदनु चरविद्या' से अनुगता क्रमसिद्धा यवस्था के अनुसार स्वयम्भू का उपग्रह सूर्य है, सूर्य का उपग्रह भूपिण्ड है, एवं भूपिण्ड का उपग्रह अग्निप्राणनिबन्धन चंद्रमा है। सर्वा तभावात्मिका इस अवसानात्मिका स्थिति के कारण ही चाद्रसाम निबन्धनसाम नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

उक्त क्रमसिद्ध आकाशात्मा-स्वयम्भू-पिण्ड, वाय्वात्मा परमेष्ठी-पिण्ड, तेजोमयात्मा सूर्य-पिण्ड, मृत्मय भूपिण्ड, एवं जलीय चंद्रपिण्ड, इन पाचो-वाङ्मय-महाभूतात्मक-विश्वपिण्डो के साथ (प्रत्येक के साथ) उस वाङ्मय-वषट्कारमण्डल का सम्बन्ध है, जो 'वैश्वरूप्य' नाम से प्रसिद्ध है। पाचो के अपने अपने महिमामण्डलात्मक-पाच-वैश्वरूप्य हैं, एवं प्रत्येक में तथाकथिता साहस्री त्रयी का स्व-स्व-पिण्डपुर-अवस्थानानुपात से ही उपभोग हो रहा है। इन वाङ्मय-महिमामण्डलो के अनुपात से ही पाचो विश्वपुरों का वसुधानकोशात्मक-दहरोत्तरसम्बन्ध माना गया है जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, स्वयम्भू नामक आकाशात्मा-प्रथम-वाङ्मय पिण्ड के महिमामण्डलात्मक-वाक्साहस्रीमण्डलरूप वैश्वरूप्य के गर्भ में समहिममण्डल शेष चारों विश्वपर्व बुद्बुदवत् प्रतिष्ठित हैं। एवमेव परमेष्ठी के महिमा-मण्डल में शेष तीनों, सूर्य के महिमा-मण्डल में शेष दोनो, एवं भूपिण्ड के महिमा-मण्डल में समहिम-चंद्रमा गभाभूत है। और यही वषट्कारशब्द-निबन्धना उस पारिभाषिकी वाक्साहस्री-विद्या-का सस्मरण-निष्कर्ष है, जिस से अनुप्राणित त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-आदि स्तोत्रों के परिमाण-माध्यम से ही विश्वपर्वों के गणितसिद्ध-सामीप्य-और विदूरत्व का वैज्ञानिक यवस्थापन हुआ है।

उदाहरणार्थ--'सूर्य पृथिवी से कितनी दूर है?', प्रश्न का उत्तर जहाँ आज का भूतविज्ञान असुक्त करोड़ मीलों में देता है वहाँ वैदिक-सृष्टिविज्ञान में इस प्रश्न का उत्तर होगा--'एकपिण्डो वा इत-आदित्यः'। अर्थात् 'भूपिण्ड से सूर्य पार्थिव-वषट्कारमण्डल के २१वे अहर्गण पर बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है', इत्यलमति-विस्तरेण 'वषट्कारशब्द' निबन्धन-पारिभाषिक-प्रासङ्गिक-निदर्शनेन।

११ (२)

* * * *

श्री

१२-पुरोडाशमीमांसानुगत-पात्रीनिर्णय-जन-कर्म प्रसङ्गतः “प्रासङ्गिकी-विविध-वैज्ञानिकी-चर्चाएँ”

एव

‘तन्निबन्धना-विविध-परिभाषाएँ’

३

—*—

पात्रीनिर्णयनात्मक-क्रमप्राप्त १२ वें कर्म की इतिकर्तव्यता के प्रसङ्ग में भगवान्-याज्ञवल्क्य के द्वारा जिन प्रासङ्गिक-पारिभाषिक-वैज्ञानिक-तथ्यों का स्पष्टीकरण हुआ है, उन में से चतुर्विध-अग्निस्वरूप-विज्ञान, आप्त्यात्रयी-स्वरूप-विज्ञान, पश्वालम्भनविज्ञान, पञ्चप्राणात्मक-पशुस्वरूपविज्ञान, अहिंसा-हिंसा स्वरूपविज्ञान, आति कतिपय विषय विशेष महत्त्व रख रहे हैं, जिनमें पश्वालम्भन, पञ्चपशु, हिंसा-अहिंसा-नुगता विषयत्रयी तो आज के दिग्देशकालानुबन्ध से निश्चयेन विशेषतम ही स्थान रखने वाली मानी जायगी । अत्र उदाहरणरूपेण अत्यन्त सक्षेप से ही इन प्रमुख विषयों का उदाहरण-स्मरण कर लेना पर्याप्त होगा ।

(क)-अग्निविज्ञान निबन्धन-पारिभाषिक स्वरूप दिग्दर्शन—

अपने पारिभाषिक अनुगम अर्थ से अनुप्राणित-‘चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास’ इत्यादि श्रुतिवचन से अनुप्राणित चतुर्द्धा विभक्त ‘अग्नि के चतुर्विध महिमामय-विवर्तों का वेदशास्त्र में अनेकधा स्पष्टीकरण हुआ है । वस्तुस्थिति तो इस दशा में कुछ ऐसी है कि ‘अग्निविद्या का विस्तारालम्भक उपबृंहण ही सम्पूर्ण वेदशास्त्र का निष्कर्षार्थ है । जिस अपौरुषेय तत्त्वात्मक-स्वायम्भुव-ब्रह्मनि श्वसित वेद को विश्व का कारण माना जाता है वह वेदतत्त्व भी ‘ब्रह्माग्नि नामक अग्निविशेष ही है, जोकि ऋक्संहितान्तर्गत सुप्रसिद्ध अस्यधामीय-सूक्त में ‘वामपलित नामसे उपवर्णित है । ब्रह्माग्निरूप स्वायम्भुव-वामपलित-नामक ब्रह्माग्नि के आधार पर ही, इसी के आरम्भणधर्म से (उपादानधर्म से) जो ऋताग्नि - अभिव्यक्त होता है, उसी का नाम सुप्रसिद्ध वह-‘आप्त्याग्नि’ है जिस का महाभारत में एक आख्यानविशेष के द्वारा ‘अग्निभ्रातर’ रूप से सम्भव्य हुआ है । ‘अग्निभ्रातर’ रूप इस द्वितीय ‘आप्त्याग्नि’ नामक ‘ऋताग्नि’ का नाम ही आप्त्याग्नि परमेष्ठी लोक है, जोकि विश्व का क्रमप्राप्त द्वितीय पर्व माना गया है ।

आगे चलकर इस ऋताग्निरूप आप्त्याग्नि के गम में पुनः एक अपूर्व सत्याग्नि का के द्ररूपेण चयन होता है, जिसके लिए कस्विद्गार्भं दध्न आप’ कहा गया है, एव जिसका ‘तासु बीजमवास्तुजत् रूपेण मनु भगवान्ते स्मरण किया है । इस तृतीय-सत्याग्नि की चिति के अन्तिम परिणामरूप सञ्चितधर्म से जिस

अग्निमय नवीन ब्रह्माण्ड की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, उसी का नाम है—‘सौरब्रह्माण्ड’, जिसे हम—‘रोदसी-त्रिलोकी’ कहा करते हैं। यही क्रमप्राप्त तृतीय विश्वसंस्थान है, जिसका अग्निमयत्व भी स्पष्ट है ही।

और आगे चलिए। सौरब्रह्माण्डाग्नि ही कालांतर में अपने सवत्सरधम्म से सम्बत्सररूप में परिणत होजाता है। और यही सम्बत्सरप्रजापति अपने ब्रह्मोदनात्मक प्रातिस्विक वित्त से जहा स्वस्वरूप का सरक्षण करता है, वहा विश्व मनधर्मा प्रवग्यभाग से अपने स्वरूप से पृथक् होता हुआ स्वानुगत पृथि यदि उपग्रहो का स्वरूप निर्माणा बनता है। यही प्रजापति का सहज विश्व मनधर्म है। सौर-देवमण्डल से प्रवग्यरूपेण अपक्रात इसी चतुथ अग्नि से भूपिण्ड का स्वरूप निर्माण होता है। यही पारिभाषिक पाथिव वह मृग्याग्नि है, ज्योतिर्भावाभिभूति से ही जो ‘कृष्णमृग’ नामक पारिभाषिक नाम से यवहृत हुआ है। और यो विश्व के क्रमप्राप्त चतुथ भूपिण्ड का भी अग्निमयत्व ही प्रमाणित होजाता है। शेष रह जाता है पञ्चम पर्वात्मक आपोमय सौम्य चन्द्रमा, जिसका आपोमय परमेष्ठीवत् ऋताग्न में ही अतर्भाव है।

इसप्रकार द्विविध-भावापन्न पारमेष्ठ्य चाद्ररूप ऋतधर्मा सुब्रह्मण्याग्नि, स्यायम्भुज ब्रह्माग्नि, सौर सावित्राग्नि, पाथिव गायत्राग्नि (मृगाग्नि) रूपेणापि अग्नि के चातुर्विध्य का सम वय किया जासकता है, एव यही चातुर्विध्य की एकविधा है। ऐसे अगणित चातुर्विध्य है अग्निमहिमा के, जिनमें से तत्कम्म में कतिपय परिगणित अग्निमहिमा विवर्तों का ही स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है, जिन अनेको विवर्तों में से यज्ञानुबन्ध से प्रमुखरूपेण जिन चार अग्नि भावो का तदग्निविज्ञान-प्रसङ्गत दिग्दशन कराया गया है, वे चारो पारिभाषिक अग्नि क्रमशः १-रसाग्नि, २ आर्त्ताग्नि ३-छन्दस्याग्नि, ४-सावित्राग्नि इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

दधि घृत मधु रस त्रयात्मक-स्तौम्य त्रैलोक्य में ‘याप्त रसतम्’ नामक अग्निविशेष ही ‘रसाग्नि’ है, जिन के माध्यम से ही पार्थिव गायत्र सम्पत्ति का समग्र हुआ करता है। उत्तरदिक्स्थ-वायव्य ऋताग्नि-निशेष ही दूसरा आर्त्ताग्नि है, जिससे ऋतुओं का स्वरूप निर्माण हुआ करता है। वस्तुस्वरूप को आकारभाव प्रदान करने वाला वयोनाधात्मक आयतनरूप अग्निविशेष ही क्रमप्राप्त तीसरा-छन्दस्याग्नि है। एव सृष्टि का तृतीय पर्वात्मक सौर ब्रह्माण्ड-स्वरूप सरक्षक ब्रह्मोदनात्मक-अग्निविशेष ही क्रमप्राप्त चतुथ ‘सावित्राग्नि’ है। यज्ञकम्म निबधन (सृष्टिस्वरूप सम्पादक-कर्मनिबधन) इन चारो अग्नियो के पारिभाषिक सम वय के द्वारा ही यज्ञसग का तात्त्विक-सम वय सम्भव है और यही अग्निविज्ञान निबन्धना प्रासङ्गिकी उदाहरणविधि का साक्ष्य स्वरूप दिग्दशन है।

— * —

ख) — आप्त्यात्रयी-स्वरूप-विज्ञान —

आप्त्या-त्रयी से सम्बन्ध रखने वाले रहस्यपूर्ण विज्ञान का उस सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक-आरथान से ही सम्बन्ध है, जिस में त्वष्टा के पुत्र अतएव ‘त्वाष्ट्र’ इस उपनाम से प्रसिद्ध तीन मस्तक वाले, एव ६ आखी वाले ‘विश्वरूप’ नामक प्रचण्ड असुर के वध का स्वरूपोपबृहण हुआ है। आप्त्या के सहयोग से ही देवद्र इस अद्भुत असुर को मारने में समर्थ होते हैं। पुराणशास्त्र में तो ऐसे ऐसे अद्भुत अद्भुत चरित्र पदे पदे समाविष्ट है ही, जिन का पारिभाषिक समन्वय न करने के कारण ही हम पुराण जैसे ‘आय्यसवस्वशास्त्र’ को

निरी गम्य मानते हुए—अशक्तास्तत्पद गन्तु ततो-निन्दा प्रकृर्षते को अक्षरशः चरितार्थ करते ही रहते हैं। कि तु उस समय सहसा हमारी प्रज्ञा स्तब्ध होजाती है, जब कि स्वयं वेदशास्त्र में भी हम यत्रतत्र ऐसे ही विलक्षण आख्यानों को समागत देखते हैं।

“एकता-द्विता त्रिता नामके आप्त्या ब्राह्मणों के साथ क्षत्रियश्रेष्ठ इन्द्र इतस्तत् उसी प्रकार विचरने लगे जैसेकि ब्राह्मणपुरोधा मूर्धाभिषिक्त राजा के साथ उसे सामयिक परामर्श देते हुए विचरते रहते हैं। आगे चल कर आप्त्या ब्राह्मणों के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीष षडक्ष विश्वरूप असुर को मारडाला। इस आरयान का आप्त्याग्नि कौन है ? षडक्ष त्रिशीष विश्वरूप असुर कौन है ? ‘आप्त्याग्निज्ञान के द्वारा इह्नी प्रश्नों का विस्तार से वैज्ञानिक समन्वय हुआ है चतुर्विद्ध अग्नावज्ञान के अनंतर।

पार्थिव समन्वय यज्ञ से अनुगत, पार्थिव-स्तौम्यत्रैलोक्यानुषधी सुप्रसिद्ध त्रिवृत्-पञ्चदश एकत्रिंश नामक (६ १५ २१ नामक) तीन स्तोमों के भेद से तीन पार्थिव लोक व्यवस्थित माने गए हैं, जिन की समष्टि ही ‘पार्थिवी स्तौम्या त्रिलोकी’ कहलाई है। इस पार्थिवी त्रिलोकी के पृथिवीरूप त्रिवृत्स्तोम में ‘भूपति’ नामक पार्थिव ध्रुवाग्निरूप (घनाग्निरूप) अग्नि प्रतिष्ठित है, यही प्रातःसवनाधिष्ठाता अष्टविध वसुगणोपेत शवसोनपात् ‘एकता नामक आप्त्याग्नि है। पार्थिवी त्रिलोकी के अन्तरिक्षरूप पञ्चदशस्तोम में ‘भुवनपति’ नामक आ तरिक्ष्य ध्रुवाग्निरूप (तरलाग्निरूप) वायु प्रतिष्ठित है यही माध्यमिनसवनाधिष्ठाता-एकादशविध-रुद्रगणोपेत शवसोनपात्-‘द्विता नामक आप्त्याग्नि है। पार्थिवी त्रिलोकी के ही द्युलोक रूप एकविंशस्तोम में ‘भूतानापति नामक दिव्य-धरुणाग्निरूप (विरलाग्निरूप) आदित्य प्रतिष्ठित है। यही सायसवनाधिष्ठाता द्वादश-आदित्यगणोपेत-शवसोपानत्-‘त्रिता नामक-आप्त्याग्नि है। इसप्रकार भूकेन्द्र से पृथिवी के २१ वे अहगण पर्यंत अपनी-ध्रुव-ध्रुव-धरुण- (घन-तरल-विरल, किंवा वाष्प) नामकी सुप्रसिद्धा तीन अवस्थाओं से उत्तरोत्तर सूक्ष्मभाव में परिणत होकर त्रिवृत् पञ्चदश-एकविंश रूपेण अपने तीन स्वतन्त्र-लोकसंस्थान बनाने वाला पार्थिव-त्रिविध अग्नि ही पार्थिव-आपोमय-अर्णवसमुद्र से सर्वतः परिव्याप्त रहता हुआ* ‘एकता-द्विता-त्रिता नामक ‘आप्त्याग्नि’ नाम से प्रसिद्ध होरहा है, और यही ‘अग्निभ्रातर’ रूपा आप्त्याग्नि त्रयी का सत्त्विन्-स्वरूप-दिग्दर्शन है, जिन इन तीनों आप्त्या-अग्निओं का ही अन्यत्र एक अन्य दृष्टिकोण के भेद से-‘त्रय केशिन रूप से उपवर्णन हुआ है।

उक्त तीनों आप्त्याग्निओं के सहयोग से ही रोदमी त्रैलोक्यानुगत द्यलोक के अधिष्ठाता-‘मघवा’ नामक देवेन्द्र के द्वारा त्रिशीष-षडक्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप-का दमन होता है। ‘अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्’-‘अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि, सर्वं जनयिष्यामि, सर्वमाप्स्यामि-यदिदं किञ्च इत्यादि वचनों के अनुसार अप्तत्त्व ही याज्ञिकी-शेषावृषात्मिका-रथिप्राणमूला-दाग्पत्यसृष्टि का मूलाधार माना गया है, जैसाकि-‘इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति इत्यादिमूला छान्दोग्योपनिषदुपवर्णिता सुप्रसिद्धा पञ्चाग्निविद्या से भी प्रमाणित है। सृष्टि के उपादानकारणात्मक पारमेष्ठ्य इस आप्त्यत्त्व का ही नाम है वह-‘सुब्रह्म’, जिस के गम में ‘ब्रह्म (तत्त्वात्मक त्रयीवेद) प्रतिष्ठित माना गया है। ब्रह्म, और सुब्रह्म के समन्वय से ही विश्व, एव विश्वप्रजा की स्वरूपाभि यक्ति हुई है। इस एक भी, एकाकार भी-ब्रह्मगर्भित-सुब्रह्मरूप अप्तत्त्व से विनिधाकारित पदार्थ कैसे उत्पन्न होजाते हैं ? प्रश्न की समाधानभूमि है वह-‘त्वष्टा’ नामक प्राणविशेष, जिस के समन्वय से ब्रह्म-गर्भित-सुब्रह्मरूप-आपोमय शुक्र हस्तपाद-चक्षु-उरु-कण्ठ-अङ्गुलि-आदि

*- ‘समुद्रमभित पिन्वमानम्’-(यजु संहितायाम्) ।

आदि रूपेण विभिन्न आकारभावो में परिणत होजाता है, जैसाकि- त्वष्टा वै रेत सिक्त विकिरोति श्रुति से स्पष्ट है ।

जिसप्रकार हरित-नील-पीत-रक्त-धूम्र-नीललोहित-आदि सत्विध-वर्णात्मक रूपो के प्रवर्त्तक-सौर-मघवा-नामक-देवेद्र है +, एवमेव-त्रिकोण षट्कोण-अष्टकोण-सम-विषम-तित्यक् आदि आदि भेदभिन्न आकारात्मक रूपो का प्रवर्त्तक त्वष्टाप्राण ही माना गया है - । शुक्र सहचारी-आप्यभावानुगत इस त्वष्टाप्राण को ही 'त्वष्टा' नामक असुर माना गया है । क्योंकि आग्नेय-ज्योतिर्मय प्राण जैसे 'देवदेवता' नाम से प्रसिद्ध है एवमेव आप्यप्राण ही 'असुर' नाम से व्यवहृत हुआ है । आकाररूपाधिष्ठता आपोमय-आप्यप्राणधान-आपोमय शुक्ररूप-सुब्रह्म-तत्त्वसे साश्रुष्ट-यह 'त्वष्टा' नामक असुरप्राण ही सुब्रह्मरूपेण-आप्यतत्त्व-से अभिन्न बनता हुआ तद्रूप ही बन रहा है और यही 'वाङ्-विश्वरूप' नामक वह असुर है जिसके कारण ही तमोगुणप्रधाना-धामच्छुद्ध-भावनिबन्धना भूतभौतिकी-मर्त्या-भूतसृष्टि का उद्गम हुआ है, जिस मूर्त्तिसृष्टि से ही मूत् यत्न-विश्व का स्वरूप अभि यत्न हुआ है । और यही आप्य त्वाङ्-असुर की- 'त्रिश्वरूपता' का सक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है ।

विश्वरूप आपोमय प्राणात्मक त्वाङ्-असुर-मूर्त्त-विश्व का प्रभव बनता हुआ-'त्रिश्वरूप' है तभी तो-'सर्वमापोमय जगत् सिद्धा त अथ बनता है । इस विश्वरूप आप्यप्राणात्मक त्वाङ्-असुर का जो 'मूल' होगा, वही इसका 'मस्तक' माना जायगा । क्योंकि-'शिरोमूला सृष्टिविद्या की अपेक्षा उत्पत्ति में शिरो भाग को ही मूल माना गया है । आपोमय सुब्रह्म का मूलप्रवर्त्तक है वह 'वाक्' तत्त्व, जिसे हमने 'यत्' नामक 'प्राण' से समन्वित 'जू' रूप आकाश कहा है पूर्व के निदर्शनों में (देखिए प्रस्तावना पृष्ठसं० ४६) । ऋक्सामावच्छिन्ना-यजुर्वाक् ही आपोरूप में परिणत हुई है, जैसाकि 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेऽसाऽसृजन् इत्यादि शतपथी श्रुति से स्पष्ट प्रमाणित है । वह-अनादिनिधना स्वायम्भुवी-'जू' रूपा तत्त्वात्मिका वाक् ही, (जिस की कि मौलिक-उपनिषत्-स्वरूप यारया 'अग्नि-ब्रह्मिनि ही मानी गई है *) आपोमय उस पारमेष्ठ्य-मण्डलरूप में परिणत हुई है, जिस सुब्रह्ममूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी के त्वाङ् विश्वरूप प्राण से ही मैथुनीसाष्ट का आकार विभाजन हुआ है ।

विश्वरूप-त्वाङ्-(आपोमय शुक्ररूप-सुब्रह्म) की मूलभूता वाक् ही तो इसका शीष भाग माना जायगा । यह शीष निश्चयेन त्रिपर्वा है, किंवा तीन-शीष-भावो को मिलाकर एक शीष भाव है, जैसाकि वाक् शब्द के निर्वचन प्रसङ्ग में पूव के निदर्शन में स्पष्ट किया जाचुका है (देखिए पृ० स० ४८) । मन प्राण-से अविनाभूता वाक् सचमुच ही तो त्रिवृद्भावापन्ना है । और ये ही उस त्वाङ्-विश्वरूप के तीन मस्तक हैं । विश्वप्रजा षड्भावविकारो से समन्वित होकर ही स्वस्वरूप से अभियत्न होती है । ये ही

+ रूप रूप मघवा बोभवीति ।

- त्वष्टा रूपाणि पिंशति ।

* "तस्य वा एतस्याग्नेवर्गिवोपनिषत्"

—शतपथब्राह्मणे

षड्भावत्रिकार अस्ति जायते त्रिपरिणामते वर्द्धते अपचीयते नश्यति नामो से सप्रसिद्ध है। त्रिशीर्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप-ही भूतभौतिकी-वैकारिकी-धामच्छ्रुता मत्यभाव निबन्धना विश्वसृष्टि को विश्वस्वरूप निर्माता त्वाष्ट्र इन ६ दृष्टियों से ही देगता है, किंवा ६ त्रिभागा मे त्रिभक्त होकर ही भूतभौतिक-सग-देखा जाता है। इसी नैदानिक-भाव के आधार पर त्वाष्ट्र को-‘षडक्ष (६ आखों वाला) मान लिया गया है।

एकता-आप्त्याग्नि से मानव के भूतात्मा के त्रैश्वानर भाग का निर्माण होता है, द्विता आप्त्याग्नि के सहयोग से मानव के भूतात्मा के तैजस भाग की स्वरूपाभि यक्ति होती है, एव त्रिता-आप्त्याग्नि से मानवीय भूतात्मा के-‘प्राज्ञ भाग की अभि यक्ति होती है। निष्कषत पार्थिवी भौतिकी स्तौम्या त्रिलोकी के अतिष्ठावा शब्दसोनपात्-त्रिषवणीय-ध्रुव धर्त्र धरुणा भावापन्न अर्थ क्रिया-ज्ञान प्रधान अग्नि वायु आदित्य-नामक भूपति भुवनपति भूतानापति नाम्ना उपवर्णित एकता द्विता त्रिता-नामक आप्त्याग्नियों से ही मानवीय-ज्यात्मक-भूतात्मा के अर्थ क्रिया ज्ञान प्रधान वैश्वानर तैजस प्राज्ञ नामक तीन पवों का स्वरूप-सम्पादन होता है। ज्यात्मक इत्यभूत-भूतात्मा के ऊपर-प्रज्ञानमन का स्थान है, जो कि ‘विज्ञानात्मा (बुद्धि) नामक सौर-इन्द्र-मपवेन्द्र से नित्य-सम्परिष्वक्त माना गया है, जैसाकि-‘स या एष प्रज्ञानात्मा (मन) विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्त इत्यादि वचन से स्पष्ट है। मानव का कामाथभागसाधनरूप शरीर आपोमय त्वाष्ट्र-असुरमात्र है, जिस कामाथमोगासक्ति में समाप्तुत मानवीय भूतात्मा वारुणपाश से आबद्ध बना रहता है। आसक्तिरूप-इस पाशबन्धन का विमोक्त ही त्रिशीर्ष-षडक्ष-विश्वरूप-असुर का परामय है, जो कि प्रज्ञानसम्परिष्वक्त-विज्ञानेन्द्र क द्वारा ही सम्भव है। कब सम्भव है ? प्रश्न का उत्तर स्वयं भूतात्मा का ज्ञान-क्रिया-अथ-मय-पौरुष ही माना जायगा। बिना इस पौरुषरूप-अध्यवसाय के केवल-प्रज्ञानविज्ञानेन्द्र (मनबुद्धि) बल कदापि इस आसुरबल को अभिभूत नहीं कर सकते। अलमतिपल्लवितेन। प्रस्तुत आरयान के द्वारा इसी तथ्य का अय त-पारिभाषिक-शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए ही श्रुति ने कहा है कि-‘एकता द्विता त्रिता नामके आप्त्याग्नियों के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशाष षडक्ष-त्वाष्ट्र विश्वरूप का दमन कर दिया। अथात्मवत्-इस आख्यान का अर्धवैत-तथा अधिभूत-के साथ भी यथानुरूप-समन्वय द्रष्टव्य है, और यही प्रासङ्गिक- आप्त्याग्निज्ञान-अनुबन्धी सच्चिाततम-स्वरूप दिग्दर्शन है।

—*—

(ग)-पश्वालम्बनविज्ञान-निबन्धन-पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध-अग्नीषोमीय-आधिदैविक-नित्ययज्ञ की स्वरूपसिद्धि का अन्यतम-साधनद्रव्य माना गया है-पशु। त्रिमा पशु के प्रकृतिजगत् का कोई भी यज्ञ सुसम्पन्न-ससि -नहीं होसकता। यज्ञकर्म की इत्यभूता स्वरूपसिद्धि के लिए ही सौरसम्बत्सर-प्रजापति से अभिन्न-पार्थिव स्तौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त-द्यावापृथिव्य-यज्ञिय प्रजापति के द्वारा द्यावापृथिव्य पञ्चविध-पशुओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है, जैसाकि ‘यज्ञार्थं पशवः सृष्टा इत्यादि मनुवचन से भी स्पष्ट है। प्रकृत में दर्शपूर्णमासेष्टि नामक यज्ञकर्म की इतिकर्तव्यता प्रकान्ता है, जिसमें आहृतिद्रव्य माना गया है तण्डुलो का-पिष्टद्रव्य, जिसकी पारिभाषिकी सज्ञा है-‘पुरोडाश’। इसी सम्बन्ध में श्रुति ने यह प्रश्न उठाया है कि, जबकि त्रिमा पशु के कोई सा मी यज्ञकर्म सम्भव नहीं, और दर्शपूर्णमास में केवल पुरोडाशद्रव्य ही आहुति के लिए नियत है, तो फिर इस इष्टि को यज्ञ कैसे मान

लिया गया ? । इस प्रश्न के समाधान के लिए ही श्रुति ने प्रासङ्गिक उस—‘पश्वालम्भन-विज्ञान का स्वरूप-विश्लेषण किया है, जिसका तत्त्वदृष्ट्या निरतिशय ही महत्त्व माना जायगा इसलिए कि—

वत्त मानयुग के कतिपय-षेदभक्तो की युगवर्धननिबन्धना दिग्दशकालानुबन्धिनी परानुरञ्जनानुगता निरतिशया ‘उदारदृष्टि ? मे पश्वालम्भन का अर्थ भी केवल ‘पशुस्पर्श ही है, एव पशुवपात्मक पशुमेघ का अर्थ भी ग्रन्थात्मावादमात्र-विमोहनात्मक-काल्पनिक प्राणविगेषमात्र ही है । प्रकृत श्रौत पश्वालम्भन विज्ञान से अनुगत निम्नलिखित श्रौतसदभ से सर्वात्मना यह प्रमाणित होजाता है कि पश्वालम्भन का किसी काल्पनिक स्पश-काल्पनिक प्राण-आदि से सम्बन्ध न होकर विशुद्ध ‘पशुपपा से ही सम्बन्ध है एव तत्-प्राप्त्यथ वैधयज्ञ की स्वरूप-सिद्धि के लिए पशु का अमुक-प्राप्त्या-विशेष से प्राणवियोग ही किया जाता है—

“यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयति त्यग्भरति । यदा सयौति अथ मास भरति । मन्तत इम हि म तर्हि भरति । सन्ततमिव हि मांसम् । यदा शृत -अथ अस्थि भवति । दारुण इम हि स तर्हि भवति । दारुणमित्यस्थि । अथ यदुद्रासयिष्यन् अभिधारयति, त मज्जान-दधाति । एषा उसा सम्पत् - (पुरो-डाशानुगता पशुसम्पत्), यदाहु -याड्क्त.-पशु -इति” ।

—शतपथे १।२।३।८।

सुप्रसिद्ध चयनयज्ञ मे जिन इष्टकाओं (इटो) का निर्माण होता है, उनमें एकवर्ष पूर्व ही (उषासम्भरणात्मक यज्ञकर्म विशेष के साथ ही) पञ्चपशुओं का आलम्बन कर उन्हें भूमिसात् कर दिया जाता है । एक सम्प्रत्सर के अनन्तर उस मिट्टी से इटे बनाइ जाती है—ऋत्विजो के द्वारा । तदनुबन्धी पश्वालम्भन के सम्बन्ध में वत्तमान-युगानुबन्धिनी काल्पनिकी-करुणा के प्रतिनिधि किसी ने काल्पनिक तर्क के माध्यम से अपना यह पक्ष उठाया कि “हिरण्य (सुवर्ण) भी तो अमृतप्राणात्मक (सौर-प्राणात्मक) है । यदि पञ्चपशुओं के आलम्बन से वह अमृतप्राण ही यज्ञ में अभीष्ट है तो फिर निरपराध पशुओं को छोड़ते हुए हिरण्य-पशु (रोने के पशु) ही क्यों नहीं यज्ञ में ले लिए जाते । इम सुगरवाद का आमूलचूड़ उत्पाटन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य को आक्रोश की भाषा में यही उत्तर देना पड़ा कि—‘जो व्यक्ति (अपने दिग्देशकालविमोहन से) यज्ञकर्मों की तथ्यपूर्णा विज्ञानसम्मता चिरन्तन-पद्धतियों से एकान्तत अपरिचित है, साथ ही जो प्रकृतिसिद्ध नित्ययज्ञकर्मों के ब्राह्मण (मौलिक विज्ञान) से असस्पृष्ट है उस पद्धतिज्ञानशून्य विज्ञानवञ्चित-प्राकृत मान्य की दृष्टि से ही हिरण्ययी-इष्टकाएँ अमृतमयी अमृतप्राणात्मिका होसकती हैं । किंतु जो पद्धतिरहस्य के परिज्ञाता है, यज्ञविज्ञान के वेत्ता है, उनसे तो यही आशा की जायगी कि, वे चयनयज्ञ में पँचों पशुओं का ही आलम्बन करेगे ’ * ।

*—हिरण्ययानि-उ-इ-एके कुर्वन्ति ‘अमृतेष्टका’ इति वदन्त । ता ह ता ‘अमृतेष्टका’ । न हि तानि पशुशीर्षाणि । मृगमयानि-उ-हैके कुर्वन्ति-‘उत्सवा

आगे चलकर ऐतिहासिक-तथ्य का स्मरण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि “भौम मानवप्रजा पति से आरम्भ कर सायकायन श्यापर्णा-नामक सुप्रसिद्ध याज्ञिक पर्यन्त तो पाचो पशुओं का ही नियमित आलम्भन होता रहा चयनयज्ञ में । आगे चलकर हमारे समय में (आज से पाँच सहस्र-वर्ष पूर्व कलियुगारम्भत किञ्चिदिव प्रय याज्ञवल्क्य के समय में) केवल प्राजापत्य तथा वाय य, नामक दो अज-पशुओं का ही आलम्भन शेष रह गया जिसकी अगले ब्राह्मणों में वैज्ञानिकी उपपत्ति बतलाई जा रही है- ‘प्राजापत्य चरका आलभन्ते-इत्यादिरूपेण’ । स्वय-प्रक्रान्त कर्मानुगत ब्राह्मणसदर्भ की समाप्ति से अनुगत यह स्पष्टीकरण भी ‘पश्वालम्भन के उक्त तथ्याथ का ही समथन कर रहा है कि “पुरुष अश्व गौ अत्रि अज नामक-पाचो के मेध्यरूप पवित्र भाग की उत्क्रान्ति से ही क्यों कि किपुरुष गौ-गौर गवय-उष्ट्र नामक पाच उत्क्रान्तमेधा मेधशूय-पशुओं की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है । अतएव कदापि इनको अशनपथानुगामी नहीं बनाना चाहिए-“तस्मादेतेषा पशूना नाशितव्यम् । अपक्रा तमेधा हैते पशव ।

पश्वालम्भन प्रयुक्त हिंसादोष से क्या यज्ञकर्म हिंसामय नहीं बन जाता ? , जबकि इस यज्ञकर्म का पारिभाषिक एक नाम माना गया है-‘अध्वर , जिसका अर्थ है-अहिंसक कर्म ? । और फिर पशु भी तो विश्व के वैसे प्राणी हैं जिनको स्वस्वायसिद्धि के लिए मारना क्या मानवधम्म कहा जासकता है ? , इसप्रकार के आपातरमणीय-निता त भावुकतापूर्ण प्रश्नों के समाधान के लिए ही हमें प्रक्रा त कर्म में-पश्वालम्भनविज्ञान’ का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास करना पडा है, जिसके द्वारा आस्थापूर्वक यह कहा जासकता है कि, तद्विज्ञान-समन्वय के अन्तर काल्पनिक-करुणावरुणालय-अध्यात्मवादियों की आपातरमणीया सभी कल्पनाएँ समाहित होजायँगी, इसी निवेदन के साथ यह कणकटु निदर्शन अत्रैव उपरत किया जा रहा है ।

(घ)-पञ्चप्राणात्मक-पशुस्वरूपविज्ञान-निबन्धन-परिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन-

बुद्धिवादाभिनिविष्ट-विशुद्ध-अध्यात्मवादी-कारणिक-मानव अपनी आध्यात्मिकी प्राणकल्पना के आवेश में यह भूल जाता है कि, ‘प्राण’ की स्वरूपाभि यक्तिरत्व के क्षेत्र का ही नाम ‘प्राणी’ है । और यो प्राण, तथा प्राणी में कोई अन्तर नहीं है । वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि, बिना प्राणी को

वाऽएते पशव ; यद्वे किञ्च-उत्सन्नमिय तस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा । तदत्रैते पशवो गतास्तत सम्भराम ’ इति । न तथा कुर्यात् । यो वाऽएतेषामाबुत (पद्वति), ब्राह्मण (विज्ञान) च न विद्यात्, तस्यैतऽउत्सन्नाः स्युः । स एतानेव पञ्चपशूना-लभेत-यावदस्य वश स्यात् । तान् हैतान् प्रजापतिः प्रथम आलेमे, श्यापर्णाः सायकानोऽन्तिम । अथ ह स्मैतानैवान्तरेण आलभन्ते । अथैतर्हीमौ द्रावेवालभ्येते प्राजापत्यश्च, वायव्यश्च । तयोरतो ब्राह्मण (विज्ञान) उद्यते ।

— शतपथब्राह्मणे ६।२।४।३८ ३८-३६ ।

मध्यस्थ बनाए केवल प्राण की स्वरूप व्याख्या ही सम्भव नहीं है। क्योंकि प्राणी रूपा मूलाभिव्यक्ति से असस्पृष्ट विशुद्ध प्राण तो रूप रस-गंध-स्पर्श शब्द तन्मात्राओं से अतीत बनता हुआ अपने अधामच्छुद्ध धम्म से भौतिक विश्व की सीमा से सर्वथा ही बहिर्भूत तत्त्व है, जिसका कि-‘असदेवेदमग्र आसीत्-कितदसदासीत् ? ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत् । के ते ऋषयः ? प्राण या ऋषयः (शतपथे ६।१।११) इत्यादिरूपेण यशोगान हुआ है। निष्कषत-भूतानुगति के बिना केवल प्राण-प्राण का उद्घोष न केवल निरर्थक ही है, अपितु भूतशूया (यज्ञकम्मशूया) केवल प्राणकल्पना से तो मानव का आध्यात्मिक प्राण कालांतर में सवथा रिक्त ही बन जाता है, और उस अवस्था में तो सत्तामिद्ध भी भौतिक-यज्ञकम्म इस कल्पनावादी के लिए असत् ही (अभावात्मक ही) बना रह जाता है *। तभी तो ऋषिने-‘प्राणो-यज्ञेन कल्पताम् इस तारिख आदेश के द्वारा अध्यात्मिक प्राण के साथ आधिभौतिक यज्ञकम्म का अनुगमन आनवाच्य माना है।

मानते है-मेघ-किंवा मेद्-प्राण की भी सजा है। किंवा प्रमुखरूपेण प्राण की ही सजा है। तत् किम् ?। प्राण किस का नाम नहीं ?। जितने भी नाम सुने जाते ह, सभी पहिले ‘प्राण ही तो है। अग्नि वायु-विद्युत् वृष्टि-स्तनयिनु-आदि-आदि सब शब्द प्राणो के ही स्वरूप सम्राहक है तो क्या एतदरूप भूत भौतिक तथ्यो का अभाव प्रमाणित होगया एतावता ही ?। पुरुष-अश्व-गो-अवि-अज-नामक सुप्रसिद्ध नामपञ्चक भा प्राणपञ्चक से ही अनुमानित है। द्यावापृथिव्य वैश्वानरप्राण का ही नाम-‘पुरुषप्राण है, मनोवाग्भित्त-ज्योतिर्मय-प्राण का ही नाम ‘गौप्राण है, प्रतिफलित-सौरप्राण का ही नाम अश्वप्राण है, हरितवर्ण-प्रवक्तक-आ तरिद्ध-प्राण का ही नाम ‘अवि प्राण है एव पार्थिवकपालानुगत गायत्रप्राण ही अजप्राण है। तो क्या एतन्नामक-प्राणियो का अभाव मान लिया जायगा ?। नेति होवाच ।

जिस प्राण की जिस प्राणी में प्रधानरूपेण अभिव्यक्ति रहती है, वह प्राणी तत्-प्राण के नाम से ही व्यवहृत होने लगा है। और यो पञ्चविध द्यावापृथिव्य-पुरुष-अश्वदि पाँचो प्राणो से प्रमुखरूपेण कृतात्मा प्राणी भी पुरुष अश्वदि नामों से ही व्यवहृत होपडे हैं। ‘कूर्म्म शब्द को ही लीजिए। आदित्यप्राण विशेष का ही नाम ‘कूर्म्म’ (कछुआ) है। क्योंकि अमुक जलीय प्राणी-विशेष में इस कूर्म्मप्राण की ही प्रधानरूपेण अभिव्यक्ति रहती है। अतएव यह प्राणी भी ‘कूर्म्म’ नाम से न केवल प्रसिद्ध ही होगया है, अपितु चयनयज्ञानुगता प्राणचितियो के क्रम में अपेक्षित प्राणात्मक कूर्म्म की चिति के लिए ‘अथ कूर्म्ममुप दधाति रूपेण कूर्म्मप्राणी (कछुए) का ही ग्रहण किया जाता है। केवल नीरूप-अग्राह्य-कूर्म्म-प्राण मात्र के नामोद्घोष से तत्रतक यज्ञकम्म की ससिद्धि कदापि सम्भव नहीं है, जबतक कि भूतशरीरी कूर्म्म का समग्र नहीं कर लिया जाता।

*-असन्नेव स भवति-अमद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।

अस्ति ब्रह्मेति षेद्रेद सन्तमेन ततो विद् ॥

—उपनिषदि

क्योंकि प्राणी ही प्राण का स्वरूप समग्र बनाने करता है किवा भूत ही प्राण के अन्त-र्यामात्मक सम्बन्धानुग्रह का कारण बनता है जिस इस तथ्य को विस्मृत कर विगत शताब्दों से हमारे विद्वत्समाज ने काल्पनिक-अध्यात्मवाद के यामोहनरूप महान् ग्रह से प्रस्त होते हुए भूतानुगत यज्ञ-कम्मनिबन्धन उस सम्पूर्ण लौकिक-अभ्युदय से अपने आपको, और अपन साथ साथ ही सम्पूर्ण राष्ट्र को उस सीमापर्यन्त पराङ्मुख ही प्रमाणित कर लिया है जिससे भूतानुवर्गी ममस्त आचारात्मक कम्ममौ दर्य तो होगया है विलुप्त, एव तत्सम्बन्ध में शेष रह गइ है आचारशून्या-कल्पनाप्रसूता वैनी शून्य-शून्य कल्पनाएँ मात्र, जिनसे कालांतर में मानवीय मन स्वथारिक्त ही बन जाया करता है, और दुर्भाग्यवश कम्मशून्या इत्थभूता रिक्तता ही इन काल्पनिकों की दृष्टि में उसी प्रकार शांति बन बैठती है जैसेकि एक मेधावी-प्रज्ञाशील-प्रत्युत्पन्नमति-भी बालक अयोग्य-अभिभावकों के निःसीम ताडन से अपने स्नायवीय-तत्त्वों से सर्वथा शिथिल बनता हुआ जब तूष्णीरूप जडभाव में आजाता है, तो तदभिभावक ऐसे विजडित-बालक को 'योग्य-सत्याना' कहने, मान बैठने की भयावहा भाति करने लग पडते हैं।

अलमतिपल्लवितेन । प्रस्तुत विज्ञान प्रसङ्ग में-प्राण, और प्राणी के रहस्यात्मक उस वैज्ञानिक स्वरूप का ही स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास हुआ है, जिस विश्लेषण की प्रमुख-आधारभूमि पाङ्क्त (पञ्चावयव) यज्ञ से अनुगत द्वावापृथिय पाच प्राणपशुओं का स्वरूप समवय ही माना गया है, एव इही पञ्चविव प्राणपशुओं के माध्यम से पञ्चविध प्राणी पशुओं का स्वरूप समवय प्रयास हुआ है, और यही प्रकृत परिच्छेद का पारिभाषिक-सन्धित निदर्शन है।

—*—

(ड)-अहिंसा-हिंसा स्वरूप-विज्ञान-निबन्धन-पारिभाषिक-स्वरूप दिग्दर्शन-

जिसप्रकार आज के प्रावाहिक युगने शब्दार्थनिर्वचनानुगता पारिभाषिकी नियतार्थ मर्यादा का उल्लघन करते हुए त्याग-तपस्या-बलिदान-नैतिकता-समानता-मानवता-मानवधर्म-आदि आदि शब्दों का दिग्देशकालधर्माकर्षण से आकर्षितमना बनते हुए यथेच्छ काल्पनिक अर्थ मान लिया है, तथैव उसी काल्पनिकता से आज 'हिंसा-अहिंसा' शब्द भी समन्वित हो रहे हैं। यही कारण है कि, जिन्हें शास्त्रपरिभाषा में 'धर्मलक्षण' (धर्म के परिचयात्मक बाह्य चिन्ह) कहा गया है वे आज स्वय ही 'धर्म' का स्थान ग्रहण कर बैठे हैं जिसके आधार पर ही 'अहिंसा परमो धर्म' आदि वाक्यों पर ही आज धर्मस्वरूप का पर्यवसान समझा जाने लगा है, जबकि तत्त्वतः वस्तुस्थिति कुछ और ही है।

धर्म की जब प्राकृत प्रकृतिसिद्ध-मान लिया जाता है, तभी इसप्रकार की भ्रान्तियों को प्रवेशावसर मिला करता है। आज के प्रकृतिवादी मानव का ऐसा ही कुछ महान् व्यामोहन है कि, 'मानव को प्रकृति के अनुसार ही चलना चाहिए। बात सुनने में भी प्रिय है, और बुद्धिवाददृष्ट्या माय भी। किन्तु मानव का स्वरूप केवल 'प्रकृति ही होता, तबतो उक्त 'बात' का सर्वाङ्गीण समादर सम्भव था-मानवेतर उन पशु-पक्षी आदि इतर प्राकृतिक प्राणियों की भांति जिनका अर्थ से इति पश्यत का (जन्म मृत्युपर्यन्त का) समस्त जीवनवृत्त सर्वात्मना प्रकृतिपरवश ही बना रहता है। अतएव च जिन्हें प्रकृत्या परिपूर्ण माना गया है जबकि मानव केवल प्रकृति की दृष्टि से अपूर्ण ही माना गया है। अतएव प्रकृत्यनुगता पूर्यता के सम्पादन के लिए तो मानव के लिए स्वतः स्वरूप से 'शिक्षाव्यवस्था' ही करनी पडती है, जबकि मानवेतर

प्राकृत प्राणी स्वत ही स्व स्व प्राकृतिक क्षेत्रों में शिक्षापटु बन जाते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त मानव में 'और भी कुछ' अभियक्त है, जो मानवेतरो में अभियक्त नहीं है। वह 'और कुछ' ही 'पुरुष कहलाया है। इसी पुरुष का नाम है 'अव्ययात्मरूप-प्रकृत्यतीत-अतएव दिग्देशकालातीत-उह शाश्वत-सनातन धर्म' *, जिसने मानव को इतर प्राणिसग से पृथक् कर रहा है, और इसी आधार पर मानव को इतर प्राणियों के समतुलन में 'विशेष माना गया है X।

विशेषभावापन्न-शाश्वतधर्मरूप-दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुष और सामान्य-भावापन्ना-परिवर्त्तन शीला दिग्देशकालानुगता 'शरीरप्रकृति इन दोनों के समावितरूप का ही नाम मानव है। और ऐसा मानव अपने दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुषरूप-शाश्वतधर्म से ही दिग्देशकालात्मिका प्रकृति को नियन्त्रित रखता है। इस नियंत्रण से नियंत्रिता विश्वप्रकृति कदापि उच्छङ्खला नहीं बन पाती। यदि मानव अपने पुरुषार्थरूप आत्मपुरुषात्मक-शाश्वतधर्म के प्रति निरपेक्ष बनता हुआ केवल प्रकृतिवादी, किंवा दूसरे शब्दों में दिग्देशकालानुगत-केवल-वच मानवादी-प्राकृत-मानव ही बना रहा जाता है, तो उस अवस्था, किंवा आत्यंतिक-पतन-रूपा दुरवस्था में धर्म के परिचायक-लक्षण ही शाश्वतधर्म का स्थान अपहृत कर बैठते हैं, जैसेकि धर्म का परिचायक प्रतीकरूप बाह्य-अहिंसा भाव भी आज आतवश धर्म ही नहीं, अपितु परमधर्म बन बैठा है। और दुर्भाग्य तो यह है कि, बड़े बड़े सांस्कृतिक-विद्वान् भी इसी 'परमधर्म' के यशोगान में आत्मलीन बनते हुए 'गतानुगतिक याय' को ही अक्षरशः चरितार्थ करते जा रहे हैं। आज का सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इसी प्रतीकधर्म के प्रवाह में सर्वात्मनैव स्वरूप-विस्मृत होता जा रहा है, किंवा होगया है, जिससे बड़ा सांस्कृतिक पतन इसका और क्या होगा ?।

प्रतीकात्मक धर्म के स्वरूप-व्याख्याता धर्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने +) प्रतीकधर्म को लक्षणात्मक धर्म ही माना है, जैसाकि आगे के-वचनों से स्पष्ट है—

*- ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाममृतस्याव्ययस्य च ।

“शाश्वतस्य च धर्मस्य”-सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

—गीतायाम्

X-आहार-निद्रा-भय-मैथुनाभि-सामान्यमेतत्-पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तषामधिको विशेष, धर्मोऽह्नीना पशुभिः समाना ॥

—नीतिसूक्ति

+—अतिस्तु वेदो विज्ञेय, धर्मशास्त्र तु वै स्मृति ।

ते सर्वार्थोर्ध्वमीमांस्ये, ताम्या धर्मो हि निर्बभौ ।

—मनु २।१०।

धृति-क्षमा-दमो-ऽस्तेय-शौच-मिन्द्रियनिग्रह ।
धी विद्या-सत्य-मक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥

—मनु ६।६२।

अहिंसा-सत्यमस्तेय-शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
एत सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥

—मनु १०।६ ।

धृति क्षमा दम अस्तेय-शौच इन्द्रियनिग्रह धी विद्या-सत्य-अक्रोध, इस दशक को राजर्षि ने धर्म का लक्षण, अर्थात् 'प्रतीक' माना है जिसका तात्पर्य यही निकलता है कि, जो मानवश्रेष्ठ अव्ययपुरुषनिबध्न धन शाश्वतधम्म पर निष्ठा-पूवक आरूढ रहता है, ऐसे धम्मशील मानवश्रेष्ठ के धम्मरूप आत्मपुरुष के अनुग्रह से अनुगत प्रकृतिरूप बुद्धि मन इन्द्रिय शरीर आदि वग धृति-क्षमा आदि लक्षणों से स्वत ही समन्वित रहते हैं। बड़े से बड़े सासारिक कष्ट को सह जाना ही धृतिगुण है। शक्ति की विद्यमानता में भी अपराधी को दण्ड न देना ही क्षमागुण है। प्राणात्मक-वीच्य की अभिव्यक्ति में भी मनस्तत्र का सयम कर लेना दमोगुण है। परद्रव्य के प्रति सदैव तटस्थता रखना 'अस्तेयगुण' है। स्नान-शुद्धि-आदि का अनुगमन ही शौचगुण है। ऐन्द्रियरू निषयों के पुरोऽवस्थित रहने पर भी उनके प्रति तटस्थ बने रहना 'इन्द्रियनिग्रहगुण' है। तात्कालिक सवित्-भाव ही धीगुण है। सच्छास्त्रानुशीलन जनित-सत्कार ही 'विद्यागुण' है। चक्षु पूत विषयो का स्पष्टीकरण ही स यगुण है। एव क्रोधनिमित्तोपस्थिति पर भी क्रोध न करना 'अक्रोधगुण' है। आगे चल कर राजर्षिने सामासिकधम्मरूपेण 'अहिंसा का भी धर्म-लक्षणों में समावेश कर लिया है। एवमेव-दया-करुणा-आदि आदि अया य भी कांतपय वेसे मानवीय-सद्गुण है, जिनका धर्मलक्षण-गणना में संग्रह कर लिया जासकता है।

'दशक धर्मलक्षणम् वाक्य ही स्पष्टरूपेण यह प्रमाणित कर रहा है कि-धृति-क्षमा-दम-दया-करुणा-अहिंसा-शौच-आदि स्वय धर्म नहीं हैं, अपितु ये तो धर्म के लक्षण है अर्थात् धर्म के प्रतीकमात्र है जिन के पूरक इहो के विरुद्ध भाव बने रहते हैं। और देशकाल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-आदि परिस्थिति जनित-साधन-परिग्रहों के तारतम्य से अनुप्राणिना अपेक्षा के अनुबन्ध से धर्मलक्षण तो परिणत होजाते हैं-अधर्मरूप में, एव धम्मलक्षणों के प्रतिद्वन्दी भाव परिणत होजाते हैं धर्मरूप में, जिन का सोदा हरण शास्त्रों में विस्तार से उपबृहण हुआ है। अमुक परिस्थिति में जो अहिंसा धर्म (धर्मलक्षण) है, वही अमुक परिस्थिति में सवथा अधम्म बन जाती है। दया का धम्मत्व परिस्थिति विशेष में सर्वथैव अधम्मरूप में परिणत होजाता है। अतएव परमवैज्ञानिक भगवान् पाञ्चवल्क्य को प्रतीकात्मक लक्षणात्मक परिवर्तन शील-प्राकृतधम्म का यही स्वरूप-लक्षण करना पड़ा कि—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धा-समन्वितम् ।
प्राप्ते प्रदीयते यत् तत्सकल धर्मलक्षणम् ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति १।६।

दूसरी दृष्टि से इन तथाकथित प्रतीक-धर्मों का समन्वय की कीजिए। "दया धर्म का अङ्ग अग्रथ बन सकती है, किन्तु दया स्वय कभी अङ्गीरूपेण धर्म का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती"।

एवमेव 'अहिंसा' को धर्म का अङ्ग माना जा सकता है, किंतु कदापि 'अहिंसा' को 'अङ्गी-रूप' परमधर्म नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में धर्म अवश्य ही सत्य दया अहिंसा-नामों से अभिनीत हो सकता है, किंतु कदापि सत्य दया अहिंसा आदि को ही 'धर्म' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विशेष परिस्थितियों में मिथ्याभाषण दण्डप्रहार-हिंसा-आदि भी धर्म के प्रतीक बनते देखे गए हैं। सत्य, और अनृत का, दया और दण्ड का, अहिंसा-और हिंसा का स्वरूप-विषय ही धर्माधर्म का निर्णायक बना करता है। अतएव लक्षणात्मक-धर्म को शास्त्र ने 'सापेक्षधर्म' ही माना है, जिस में देश काल पात्र द्रव्यादि के तारतम्य से परिवर्तन होता रहता है। धर्मलक्षणात्मक इत्यभूत-प्राकृत धर्म का नियत है धर्मरूप-अप्राकृत वह शाश्वतधर्म, जिस की सनातनता अनुसंधान मानी गई है, और जो दुर्भाग्यवश प्रकृतियामोहनानव धन अनात्मवादात्मक प्रकृतिवादरूप बुद्धिवाद से आज मानवीय प्रज्ञातन्त्र से सर्वथैव निरपेक्ष बन गया है। अतएव प्राकृतधर्मने, किंवा धर्म के लक्षणोंने ही आज अतिवश 'धर्म' का स्वर्णसिंहासन अपहृत कर लिया है। एव आत्मधर्मरूप अथयपुरुषधर्म से पराङ्मुख, प्रकृतिधर्मवादी-ऐसे ही मानवता प्रेमी इत्यभूत लाक्षणिक तात्कालिक धर्म को ही 'नैतिकता मानवता 'मानवधर्म' आदि विविध उपाधियों से समलङ्कृत करते हुए इतस्ततः द्रम्यप्राण है। इत्यभूत काल्पनिक धर्म में अर्थात् मतवाद म आसक्त व्यासक्त बने रहने वालों की भावुकता पूर्ण दृष्टि में ही 'अहिंसा' का काल्पनिक घोष प्रधान बना हुआ है, जिम अहिंसा का शास्त्रीया पारिभाषिकी उस-'अहिंसा' से यत्किञ्चित् भी तो सम्पक नहीं है, जिस शास्त्रीया 'अहिंसा' की पूरिका हिंसा * ही मानी गई है। कथमिति चेत् १, प्रश्न के वैज्ञानिक समाधान के लिए ही तो प्रक्रान्त-कर्मों नुगत हिंसा अहिंसा का वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण प्रयत्न हुआ है, और यही प्रक्रान्त कर्म के अन्तिम विज्ञानोदाहरण का सक्षिप्त-स्वरूप-दिग्दर्शन है।

१२—(३)

* * * * *

*-या वेदमिहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।

'अहिंसा'-मेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥

—मनु ५।४४

श्री

(१३)—वेदिकाकरणानुगत—समन्वयजुर्हरणकर्म—प्रसङ्गतः

‘निदान’-शब्द-निबन्धना--परिभाषा

४

क्रमप्राप्त तथानामावित तेरहवे कर्मप्रकरण में अनेक पारिभाषिक तथ्यों के अतिरिक्त ‘निदान’ शब्दानुव घी—जिस तथ्य का स्वरूप विश्लेषण हुआ है, उसका भी ब्राह्मणोक्त तथा पुराणोक्त पारिभाषिक आख्यानोपर्यायों के तत्त्वार्थ समन्वय में अद्यतम ही स्थान माना जायगा। यही नहीं, निदानानुगत विज्ञान के सम्बन्ध में यह कह देना भी अतिशयोक्ति नहीं मानी जायगी कि, निदानविद्यानुगत प्रतीकात्मक सङ्केतों के समन्वय के बिना न तो वेदशास्त्र की आख्यानभाषा का ही समन्वय सम्भव, एव न आगम, तथा पुराण—शास्त्र के रहस्य का ही समन्वय सम्भव। उसी महत्त्वपूर्ण निदानविद्या के सम्बन्ध में अत्र प्रस्तावनाया उदाहरणरूपेण किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है।

‘अतत् को तत् समझ लेना’ ही निदानशब्द का निष्कर्षार्थ है, जिसे संस्कृतभाषा में—‘आरोप’ कहा गया है। जो अमुक वस्तु नहीं है, किन्तु उसमें अमुक वस्तु का आरोप कर दिया जाता है, इस आरोप-विधि का नाम ही निदानविधि है, एव लोकव्यवहार में प्रायः सर्वथैव लौकिक-निदानभावों के द्वारा व्यवहार की व्यवस्था देखी सुनी जा रही है। उदाहरण के लिए—सहोदर भ्राता में दक्षिणभुजा का आरोप लोकप्रसिद्ध है। दक्षिणहस्तानुगत-कर्मकौशलरूप सादृश्य ही इस निदानारोप का आधार है। शोक का नैदानिक आरोप कृष्णवस्त्र में इसलिए कर लिया जाता है कि, शोक सविग्न मानव का मन शानज्योति से अभिभूत ही हो-जाता है, जिस अभिभूति का स्वरूप अनिरुक्त कृष्ण-भाव से अनुगत माना गया है *। कीर्ति का नैदानिकरूप श्वेतच्छत्र माना गया है। शान्ति-समृद्धि का निदान हरित दूर्वा माना गया है। क्रान्तिरूपा अशांति का निदान—‘रक्तवस्त्र’ माना गया है। स्टेजनों की हरि भ्रूण्टी का शान्ति सूचकत्व, एव लालभ्रूण्टी का विघ्न-सूचकत्व प्रसिद्ध ही है।

निगम (वेद), आगम, तथा पुराणशास्त्र-त्रयी के यच्चयावत् “असदाख्यान” (कल्पित कथानक) उसी निदानभाव के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, जिसका साङ्केतिक-रहस्यात्मक पारिभाषिक समन्वय न कर सकने के कारण ही आज भारतीय संस्कृति का गौरवपूर्ण आख्यानप्रकरण सर्वसाधारण की भौन कहे, बड़े बड़े

* विश्वातीत-अज्ञात तत्त्व अनुपारयतम है, रात्रिगत, एव आँख मीचने से प्रतीयमान-अधकार अनिरुक्ततम है, एव कृष्णवर्ण (काला रँग) निरुक्ततम है। इसप्रकार तमोभाव तीन विवर्तभावों में परिणत माना गया है।

विद्वानो के लिए भी मतिविभ्रम का ही कारण बना हुआ है। एवमेव भारतीय वह समस्त उपासनाकाण्ड भी इसी निदानविद्या के अभिभव से आज भावुक मानवों की दृष्टि में आपातरमणीया आ त आलोचना का ही क्षेत्र बना हुआ है, जिसके परिणाम-स्वरूप ही कर्म उपासना ज्ञान त्रयी से अनुगता मध्यस्था उपासना आज सर्वथैव अपने पारिभाषिक तत्त्व से स्मृतिगम में विलीन होगइ है —। यो एकप्रकार से सम्पूर्ण आर्षशास्त्र निदानविद्यात्मिका सङ्केतविद्या की विस्मृति से आज के युग के लिए विशेषतः प्रतीन्य भवविज्ञान सम्पक-जनिता भारतीया नवशिक्षिता प्रज्ञा के लिए 'उपहास की ही क्रीडास्थली बना रह गया है।

जैसाकि, पूव के बारहवे सस्मरण प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है, प्राण और प्राणी, दोनों शब्द भारतीय-विज्ञानकाण्ड में अभिन्नाथ के ही सम्राहक बने हुए हैं—(देखिए पृष्ठ स० ५८ से ६० पर्यन्त), जिस अभिन्नाथकता का निष्कर्ष यही निकलता है कि वस्तुस्वरूप की स्थिति-परिस्थिति-के अनुपात-तारतम्य से कहीं अमुक शब्द 'प्राण का सम्राहक बन जाता है, तो वही शब्द प्राणी' का अनुस्राहक बन जाता है। इस विपर्यय का आधारभूत तथ्य ही 'आरोप लक्षण वह निदानभाव है जिसका एक लौकिक उदाहरण 'दक्षिणभुजा से अनुगत सहोदरभ्राता भी बना हुआ है। जिस आरोपात्मक-सम्बन्ध-विशेष से लोक-व्यवहार में दो सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे की दक्षिणभुजा कहलाते हैं, वह सम्बन्ध-विशेष ही- 'निदानभाव' है। पञ्चाङ्गुलि से युक्त पाणि भाव से समवित दक्षिणहस्तानुगत अध्यवसायात्मक कम्मकौशल रूप महान् श्रम ही मानव के लोकजीवन की सफलता का प्रमुख आधारस्तम्भ माना गया है। सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे के उसी प्रकार कम्मसहयोगी बने रहते हैं, जैसेकि उनकी दक्षिणभुजा एव दक्षिणहस्त। इसी मादृश्य से सहोदर भ्राताओं में आहार्यारोपविधा से दाक्षिणभुजा, किंवा दक्षिणहस्त का आरोप होगया है, और यही 'निदान का एक लौकिक उदाहरण बना हुआ है।

"कही प्राणी से तदभिन्न, तदाधारभूत प्राण का ग्रहण होजाता है इसी निदान के माध्यम से, जिसके उदाहरण भगवान् गणपति के वाहन मूषकराज बने हुए हैं। मूषक' पार्थिव-ध्रुव-प्रतिष्ठा-प्राण का नाम है, जिसकी पारिभाषिकी सज्ञा ब्राह्मणग्रन्थोने 'रस मानी है। पार्थिव-घनतम-रसात्मक-प्रतिष्ठाप्राण ही वह 'मूषकप्राण' है, जो भूपियड से अनुगत एकोनपञ्चाशत् (४९) मरुदगणो के मूलप्रवर्तक, अतएव- 'गणपति' नाम से प्रसिद्ध पार्थिव-प्राण की भी प्रतिष्ठा बना हुआ है। इसप्रकार समस्ता पार्थिवी विभूति ही प्रतिष्ठारूप-पार्थिव-गणपतिप्राण की भी प्रतिष्ठा क्योंकि भूकेद्राभिमुख-अतर्गमित-घनतम-रसात्मक-मूषकप्राण ही बना हुआ है। अतएव इस रसात्मक-मूषकप्राण को अवश्य ही पार्थिव-गणपतिप्राण का 'वाहन मान लिया जासकता है। सुप्रसिद्ध मूषक नामक प्राणी (चूहे) में क्योंकि पार्थिव-रसात्मक-मूषकप्राण विशेषरूप से प्रधानरूप से अभियक्त रहता है, अतएव यह प्राणी भी तत्प्राण के नाम से (मूषक नाम से) ही प्रसिद्ध होगया है, जैसे कि कूर्मप्राणप्रधान अमुक प्राणी (कछुवा) भी 'कूर्म' नाम से लोक में प्रसिद्ध है, जिससे अनुप्राणिता याज्ञिकी चिति का पूव में सस्मरण किया ही जाचुगा है (देखिए पृ० स० ५६)। दृष्टि मूषकप्राणी पर है, एव मनोयोग तत्प्रतिष्ठात्मक-मूषकप्राण पर है। यही औपासनिक-निदानभाव है जिसे सर्वथा तत्त्वानुगत ही माना जायगा।

— उपासना निबन्धन निदानभाव का खण्डद्वयात्मक भक्तियोगपरीक्षा' नामक बृहन्निबन्ध में ही सविस्तर प्रतिपादन देखना चाहिए।

प्राण, और प्राणी से अनुगता आरोपमूला तत्त्वात्मिका तथाभूता निवानविधा के आधार ही यज्ञकर्म में प्राकृतिक-प्राणों से कृतरूप भूत-भौतिक-प्राणवान्-पार्थिव-सम्भारो-पदार्थों-परिग्रहों का सम्भार करते हुए 'आखुकरीष (चूहे के बिल की मिट्टी) का सग्रह भी अनिवाच्य माना गया है, जिसका सुविशद वैज्ञानिक-सम वय तत्प्रकरण में ही द्रष्टव्य है । श्रुति * के अनुसार मूषक ही पार्थिवरस के परिजाता हैं । तो क्या मानव पार्थिवरस का परिजाता नहीं है ? इस प्रश्न का समाधान रसात्मक वह मूषक प्राण ही है जिसका सजातीयकर्षण-सिद्धा तानुसार मूषकप्राण के साथ ही प्रवान सम्बन्ध अभि यक्त हो रहा है । वह रसात्मक मूषकप्राण तत्प्राणकृतात्मा मूषकप्राणी के द्वारा सकलित मृद्भाग में ही क्योंकि उपलब्ध होता है । अतएव ऋषि ने यज्ञकर्म में उसका सग्रह अनिवाच्य माना है ।

पार्थिव गणपतिप्राण के विचलन से ही पार्थिवप्रजा विकम्पित होती है । यो विघ्नहर्ता गणपतिदेव विघ्नकर्त्ता भी बन जाया करते हैं । इनके इस विकम्पनात्मक विचलनधर्म का सर्वप्रथम तद्वाहनरूप पार्थिव रसात्मक मूषकप्राण पर ही प्रभाव होता है । अतएव सर्वप्रथम तत्प्राणकृतात्मा मूषक (चूहे) ही मरने लगते हैं और यही 'महामारी' 'जनपदविध्वंसिनी (प्लेग आदि साङ्क्रामिकी व्याधियों) की उपक्रमभूमि मानी गई है । इसप्रकार मूषकप्राणी अनेक दृष्टिकोणों से गणपति के वाहनरूप मूषकप्राण का नैदानिक माध्यम बना हुआ है जिस इस अत्यन्त रहस्यपूर्ण-सृष्टिविज्ञाननिबन्धन प्राणात्मक तथ्य के सम वयन करने के कारण ही हमारी बालप्रज्ञा भारतीय-उपासनाकारण के महत्त्वपूर्ण अङ्गों का आज उपहास करने लग पड़ती है, और कहने लग पड़ती है कि, 'गणेशजी इतने मोटे और उनका वाहन छोटासा चूहा -इति नु अब्रह्मण्यम् । अब्रह्मण्यमेव ॥

यह सवथा अविस्मरणीय है कि, 'निदान' के माध्यम से अनुप्राणित आर्यानोपाख्यानों का केवल एक ही विभाग है, जबकि तदतिरिक्त सात प्रकार के आर्यानोपाख्यान सर्वात्मना तत् के तद्भाव से ही समन्वित हुए हैं । आठ प्रकार के आख्यानों में से आठवाँ 'असदार्यान' नामक एक विभाग ही आरोपात्मक निदानभाव से समावृत है, जिसके अमुक महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही ऋषिप्रज्ञा की ओर से नक्षत्रमण्डल-पवतश्रेणियाँ-नदनदी-रूपेण त्रिधा वर्गीकरण हुआ है । अर्थात् कुछ एक आख्यान तो निदानविधि से नक्षत्रों के आधार पर उपकल्पित है कुछ एक पत्रों के माध्यम से, एव कुछ एक नद-नदियों के माध्यम से समावृत हुए हैं, जिन इन सभी नैदानिक-रहस्यों का यत्र तत्र प्रसङ्गदृष्ट्या समन्वय प्रयास-हुआ है ।

'असदार्यान का लौकिक अर्थ-निष्कर्ष है—'मिथ्या कथाएँ, अर्थात्—'गढी हुई कहानियाँ', जिन इन कथा-गाथा-रूपा 'कहानियाँ' के माध्यम से ही ऋषिप्रज्ञा ने सर्वथैव अञ्जना अनेक तात्त्विक-रहस्या से भारतीय-प्रजा को सुपरिचित करा दिया है । आज की सभ्या-भाषा (इंगलिश) में सम्भवतः जिसे—

*-आखु करीष सम्भरति । आखुवो ह वा अस्यै पृथिव्यै रस विदुः । तस्मात्तोऽधोऽध इमा पृथिवी चरन्त पीविष्ठा । अस्यै हि रस विदुः ॥ तत-अस्याऽएवैवैनमेतत् रसेन समर्द्धयति । तस्मादाखुकरीष सम्भरति ।

— शतपथब्रा० २।१।७।

माइथालॉजी कहा जाता है, वही तात्पर्य 'असदाख्यान' का है। यदि 'माइथा को अनुकरण—सादृश्य से—मिथ्या मान लिया जाता है, तो—ज्ञानाथक 'लॉजी के सम्बन्ध से 'माइथालॉजी का निष्कर्षार्थ भी 'मिथ्याज्ञान—'भूँठी कहानिया ही प्रमाणित होजाना है जिसका बालोपलालनात्मक शिक्षणक्रम की दृष्टि से अत्यंत ही उपयोग माना गया है, जिस इत्थभूता उपयोगिता का क्षेत्र केवल एक प्रकार का ही आख्यान विभाग है, जबकि एतदरिक्त सात—विभाग तो सवथा तद्भावापन्न—वास्तविकी—ही आख्यान माने गए हैं। अतएव जो महानुभाव वैदिक पौराणिक समस्त आख्यानोपाख्यानों को एकहेलया 'माइथालॉजी मान बैठते हैं उनकी तथाभूता मायता प्रौढिवादमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखती, इत्यलमति—पल्लभितेन प्रासङ्गिक—नैदानिक भावानुबन्धेन।

अमूर्त्त के साथ मूर्त्त के द्वारा अमूर्त्त का सम्बन्ध स्थापन ही औपासनिक निदानभाव का निष्कर्षार्थ है *। गणपति का अमुक विचित्र आकार क्यों ? गणपति ऐसे विशाल, और उनका वाहन मूषक नामक एक स्वल्पकाय प्राणी कैसे?, भगवान् विष्णु के हाथ में शङ्ख चक्र—गदा पद्म क्यों ?, महाकाली के हाथ में सुरापात्र—कर्त्री खड्ग आदि क्यों ?, इत्यादि अगणित कुतूहलपूर्ण इस क्यों ? और कैसे ?, की परम्परा को उपशान्त करने वाली निदानविद्या के तास्विक—स्वरूप का ही उदाहरण विधि से उपबृ हण हुआ है, और यह निदानानुगत प्रासङ्गिक तथ्य का सच्चिप्ततम स्वरूप दिग्दर्शन है, जिस इस निदानभावानुबन्धी शिक्षण—कौशलालम्बक तथ्य का ही भगवान् भर्तृहरि के द्वारा निम्न लिखित शब्दा में सस्मरण हुआ है —

उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते ॥

(१३)—४

* * * *

*—अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।

उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

(१४)-वेदपरिग्रहकर्म—प्रसङ्गत— आख्यानोपाख्यानादि—निबन्धना विविधा-वैज्ञानिकी-पारभाषाएँ

५

—*—

(क)-देवासुरदायिभागानुबन्धी-आख्यान का सम्मरण —

वेदसाहयानुगता अत्यन्त रहस्यपूर्ण विज्ञानभाषा स्तुतिभाषा एव इतिहासभाषा रूपेण त्रिधा विभक्ता पारिभाषिकी भाषाओं से अनुप्राणित विज्ञान-स्तुति-इतिहास-नामक सुप्रसिद्ध त्रिविध ज्ञानय विषयो मे से सर्वा त के इतिहासभाषानुगत ऐतिहासिक तथ्य के सम्बन्ध में भारतवर्ष की सभी श्रेणियों के पुरातन-नूतन-वेदभक्त (सनातनधर्मावलम्बी विद्वान्, एव आव्यसमाजी महाशय) सवथैव गजनिमीलिका पथानु वर्त्मा ही देखे सुने जा रहे हे, जिस इस गजनिमीलिका का एकमात्र हेतु है-वेदो का अपौरुषेयत्व-निबन्धन एश्वरकृत्त्व । एश्वरकृत अपौरुषेय वेदशास्त्र के सम्बन्ध में मानवचरित्रात्मक ऐतिहासिक तथ्यो का सम-वय केसे सम्भव है , इस तर्जभास को अग्रणी बनाकर, 'बबरप्रानाहणरकामयत इत्यादि कतिपय स्थलों के बबरप्रावाहाण शब्दो को वायु के अनुकरण से अनुगत मानते हुए सनातनधर्मावलम्बी विद्वान् भी अपनी काल्पनिकी अपौरुषेयता का भ्रान्ते में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ज्ञानय विषयों में से उस अन्त के- इतिहास नामक ज्ञानय विषय की ओर से एका तत उदासीन ही बनत आ रहे हे िगत तीन सहस्र-वर्षों से, जिस उदासीनता के दुष्परिणाम स्वरूप ही भारतवर्ष की सनातन सस्कृति के आधार पर सुप्रसिध्ठिता-दिग्देशकालनुवा धनी सबभूद्ध या भारतीय सभ्यता की मौलिकता का चिर तन वह इतिवृत्त सवथा ही स्मृतिगर्भ मे विलीन होगया है, जिस के विस्मरण से सभ्यतानुबन्धी गौरव के साथ साथ ही भा तराष्ट्र सास्क्रातक गौरव के यथाथ सम वय से सवथैव पराड मुख बन गया है ।

अवश्य ही वर्त्तमान युग के मनीषी प्रतीच्य-विद्वानोंने वेदशास्त्र मे उपवर्णित इतिवृत्त-सम्बन्धी अन्वेषण की ओर दृक्पात करते हुए वेद-युगानुगता सभ्यता के सम्बन्ध में अपनी अमुक ऐतिहासिकी धारणाएँ अभिव्यक्त की है । त्रिसहस्रवर्षावधि से सुता भारतीय-प्रज्ञा के उद्बोधन की दृष्टि से पश्चिमी-जगत् का तथाभूत प्रयत्न अभिन दनीय भी माना जासकता है । किन्तु प्रतीच्य विद्वानों के इत्थभूत प्रयास से एक आर जहाँ भारतीय-अर्वाचीन-विद्वत्-प्रज्ञा को अशत उद्बोधन मिला है, वहाँ साथ साथ ही वैसी-प्रातिपरम्पराएँ भी इसी उद्बोधन के साथ मिल गई है, जिन के कारण मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र

के ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविज्ञान निबन्धन वह महत्वपूर्ण गौरव सवयैव अभिभूत होगया है जिस अभिभूति के कारण ही आज की नवशिक्षिता भारतीय-प्रज्ञा के लिए वेदशास्त्र उस पुरातन सम्यता का सूचक एक वैसा ग्रामीणभाषामय शास्त्र ही बना रह गया है, जिस युग के सभ्य मानव को इन नवीन भारतीय-वेदज्ञ-बधुओं के दीक्षागुरु किंवा सवस्वगुरु पश्चिमी-विद्वानों के द्वारा ठोक-पीद कर यही मित्रला दिया गया है। क --

‘ उस युग में क्यो क लिखने पढने के साधन नहीं थे, अतएव केवल सुन सुना कर ही मानव अपने वाक्यों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे । अग्निताप से जब उहे शान्ति मिलो, तो वे अग्नि की स्तुति करने लग पडे । इसी प्रकार-ज्यो ज्यो उहो प्रकृति के अग्नि-वायु-प्रकाश-जल आदि की उपयोगिता का आभास होने लगा, त्यो त्यो ही वे अपनी उस युग की भाषा में उन उन उपयोगी-पदार्थों का स्तुत्यात्मक-चाटुकारिता पूरा उर्णन-करने लग पडे और वह उरणसग्रह ही उनका वेद कहलाया जो सचमुच उस युग की सभ्यता का ही परिचायक ग्रन्थ है ।

आज के सतत स्वतन्त्र भारत में प्रकाशित होने वाली असुक पत्र पत्रिकाओं में भी वेदशास्त्र के सम्बन्ध में पश्चिमी-विद्वानों की ओर से दायारूपेण मिलने वाली तथाविधा भ्रात धारणाओं को हा उपनास के रूप में निकलते जब हम सुनते हैं, तो क्षणमात्र के लिए के लिए हमें स्तब्ध अवाक् ही बने रह जाना पडता है * । कि तु इस में न तो पत्र-पत्रिकाओं को ही दोष दिया जासकता, नैव तदनुगामिनी आज की उन नवीन प्रज्ञाओं को ही कुछ कहा सुना जासकता जिहो अपने समस्त जीवन में भारतीय-मूलसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक-परिचयसूत्र कभी किसी की ओर से भी उपलब्ध हुए ही नहीं । ठीक इसके विपरीत जि हे अपने शिक्षणकाल में प्रतीच्य विद्वानों की तथाकथिता धरणाएँ ही दायारूपेण (विरासत में) उपलब्ध हु जिन का नग्नचित्रण पूर्व में किया ही जासकता है । इधर प्राच्यविचारानुगामी-भारतीय विद्वान् अपनी अशेष्यता की भ्राति से ऐतिहासिक-तथ्यो से शून्य रहते हुए जहा इस दिशा में तटस्थ बने रहे विगत तीन सहस्र-वर्षों से वहा पारिभाषिक शब्दों की परम्परा से असस्पृष्ट रहजाने के कारण इन भारतीय विद्वानों की ओर से वेदशास्त्रानुबन्धी ज्ञानविज्ञानात्मक उन-सृष्टिरहस्यो के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव प्रकाश नहीं डाला गया तदवधि में, जिन वैदिक-वैज्ञानिक-तथ्यो के सम्मुख सभी युगों की प्रज्ञाओं का हठात्-प्रणतभावेन अवनतशिरस्क बन ही जाना पडता है ।

यों एकमात्र भारतीय-विद्वानों की साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति से अनुगता मतवादाभिनिवेशवृत्ति के कारण आविर्भूत होपडने वाले वेदापौरुषेयत्व की भ्राति से ही वेदशास्त्र के विज्ञान-स्तुति इतिहास-नामक तीनों ज्ञातव्य स्तम्भ, एव कर्म-उपासना-ज्ञान-नामक तीनों कर्तव्यस्तम्भ, दोनों ही विभूति स्तम्भ अपने ज्ञानविज्ञानात्मक-पारिभाषिक-तथ्यो से सवयैव उस सीमा पथ्यन्त-परा परावत ही (अत्यन्त ही तदूर) बन गए,

*-स्वतन्त्र भारत की राजधानी देहली से प्रकाशित होने वाली, सुधारक-जगत् के लिए महान् आकर्षण का विषय ‘सरिता’ में वेदशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणाएँ प्रकाशित होती रहती हैं ।

जिम त्रिदूरत से ही आज प्रतीच्य-जगत भी अपनी-कल्पना के आगार पर वैदिक-इतिवृत्तों के साथ यथेच्छ कीडाकौतुक करता हुआ तही अघा रहा, तो तच्चरणरज पथ के अ वानुत्तर्मा, प्रत्यक्ष-प्रभासमूला स्वस्वरूप-प्रिमोहिनी-मवनाशकारिणी भावुकता के अग्रणीदूत आज के नगशिक्षित-भारतीय वेदभक्त भी प्रतीच्या विचारधारा का ही अर्नश यशोगान करते हुए 'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्तको यत्र भक्तक' को ही अक्षरश चरितार्थ करते हुए इतन्त द द्रम्यमाग हैं-सर्वत त्र स्वत त्ररूपेणैवेति महद्, खास्पदम् ।

इधर कुछ समय से अमुक परिगणित वेदभक्त अवश्य ही वेदशास्त्र की तथाकथिता प्रवञ्चना से दु खी हुए हैं, जिस दु ख की नित्रात्त के लिए ही कुछने तो श-दानुकरण के माध्यम से वर्त्तमान-प्रतीच्य भौतिक विज्ञानो, तथा आग्निष्कारो के साथ वैदिक सिद्धा तो का अस्तव्यस्त सम वय करना आरम्भ कर दिया है वेदशास्त्र के गौरव स्थापन के यामोहन से । तो एक दूसरा गग वैसा भी है, जो वैदिक तथ्यो की विशुद्धा 'अध्यात्मपरक व्याख्या में ही तल्लीन रहता हुआ किसी वैसे अज्ञात अध्यात्म प्राण की कल्पना में ही प्रिभोर बना हुआ है, जिस का लोक-समाज-नित्र घना-भूतभौतिकी बाह्य-जगदनुबधनी-अभ्युदय-प्रवृत्ति से कुछ भी तो सम्ब ध नही माना जासकता । इसप्रकार एक गग वेदशास्त्र को विशुद्ध भौतिक-विज्ञानशास्त्र प्रमाणित करने के लिए आतुर है शब्दानुकरण माध्यम से जोड तोड बैठता हुआ, तो दूसरा वर्ग 'प्राण' यामोहन नित्र घन काल्पनिक अध्यात्मजगत् में विचरण करता हुआ वेदशास्त्र के सम्पूर्ण विज्ञान-स्तुति-इतिहास-कर्म-उपास्ति-ज्ञान वैभवो को एकमात्र लोकातीत अध्यात्म पर ही परिश्रा त कर देने के लिए आकुल-व्याकुल बनता हुआ आर्षनिष्ठा-सम्भत उस समस्त आचारसौ द्य्य को एका तत निष्प्राण ही प्रमाणित कर देना चाहता है जिस आचारसौ द्य्य को भारतवर्ष आज तीन सहस्रवर्षों से उत्तरोत्तर विस्मृत ही करता आरहा है ।

कहना न होगा कि-वर्त्तमान-भूतविज्ञान के साथ वेदशास्त्र का समतुलनात्मक व्यामोहन प्रयास जैसे वेदशास्त्र के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-प्रातिस्विक-समन्वय साम्राज्य के गौरव को अभिभूत ही कर रहा है, तथैव 'अध्यात्मप्राण'-विमोहनानुगत केवल आध्यात्मिक-समन्वय भी वेदशास्त्र के वास्तविक-समन्वय-से असपृष्ट ही प्रमाणित होरहा है । और यों दोनों उन तथाकथित-वेदभक्तों के तथाभूत दोनों ही वेदाय-समन्वयात्मक-प्रकार वेदशास्त्र के नि श्रेयसानुगत- अभ्युदय साधक महान् उद्देश्य से सर्वथैव विपरीत पथों का ही अनुसरण करते हुए वेद के महतो महीयान् वास्तविक-गौरव के विरोधी ही प्रमाणित होरहे हैं ।

तथाविधा भ्राति परम्पराओ का एकमात्र प्रमुख कारण है-आधिदैविक-ईश्वरीय-विश्व की आत्य तिक-विस्मृति, जिस आधिदैविक-ईश्वरीय विवर्त्त के आधार पर ही ज्ञानविज्ञानात्मिका-सृष्टिविद्या का प्रमुख सम्ब ध माना गया है । एक गग अधिभूत में आसक्त होता हुआ आधिदैविक से विमुख होरहा है, तो दूसरा वर्ग अध्यात्म में आसक्त होता हुआ अधिदैवत से पराङ्मुख बना हुआ है, जबकि वस्तुस्थिति की पूर्णता अधि-दैवत अध्यात्म अधिभूत, इन तीनों के समन्वय पर ही अवलम्बित है ।

भूतवादी का सबसे बड़ा व्यामोहन है-"प्रत्यक्षदृष्ट भूत-भौतिक-पार्थिव-पदार्थों को ही मानव के लिए सर्वस्व मान बैठना" । इस की दृष्टि में अधिदैवत (ईश्वरीय-प्राकृतिक-जगत्), एव जीवात्मा-सुबधी-अध्यात्मजगत्, सबकुछ भौतिक ही भौतिक हैं । अर्थात् सब कुछ इन भूत-भौतिक-पिण्डों में ही हैं । इन से अतिरिक्त न कोई अधिदैवत है, एव न कोई अध्यात्म । इसी भूतदृष्टि के आधार पर भूतो-त्रतिरक भूतविज्ञान उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित होता जा रहा है, जिस की प्रवृद्धतमा जड़ता के आवरणपुटों-सम्पुटों से

सम्पुटित मानव अपने स्वरूपानुगत-आत्मचैतय से उत्तरोत्तर मिजडित होता हुआ स्वयमपि एक जड भूतपिण्ड रूप में परिणत होजाने के लिए ही मानो कटिबद्ध बनता जा रहा है ।

अध्यात्मवादी का सबसे बड़ा व्यामोहन है-“स्वशरीर के किसी केन्द्रात्मक-शून्य प्रदेश विशेष में ही उपकल्पित इन्द्रयातीत-अलौकिक-काल्पनिक-मनोराज्य में ही इश्वरीय-आधिदैविक-जगत् के तत्त्वों-पदाथा को अपनी कल्पना से ही आध्यात्मिक-प्राण का रूप दे दे कर सबकुछ अपने इस काल्पनिक अध्यात्मप्राण में ही परिसमाप्त मानने रहना । ऐसे अध्यात्मवादी हा अपने शून्यजगत् में ही सूर्य-चंद्रमा-अग्नि-पवन-गङ्गा-यमुना-आदि की कल्पना में आत्मविभोर नहीं, अपितु मनोविभोर बने रहते हैं-‘मन लड्डू तो फीके क्यों’ को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए । इही की भाषा है-‘मन चङ्गा तो खटोटी में गङ्गा । इन की दृष्टि में न तो आधिभौतिक-प्रत्यक्षदृष्ट-अभ्युदयसाधक-वश्वसौन्दर्य का ही कोई महत्त्व, एव न इस भौतिक जगत् के प्रवक्त क नित्यमिद्ध-आधिदैविक इश्वरीय जगत् का ही कोई महत्त्व । अपितु सबकुछ ये अपने काल्पनिक-अध्यात्म में ही, कल्पना के ही द्वारा काल्पनिक-भागों को ही ढूँढ ढूँढ कर अपनी कल्पना में ही लुप्त होते रहते हैं ।

इत्थभूत-काल्पनिक-अद्वैतवादात्मक-अध्यात्मवादने ही विशेषरूपेण मानव का सवप्रथम अधिदैवत से विच्छेद कराया है, तत्सहैव अधिभूत निबन्धना आचारनिष्ठा से भी । काल्पनिकी अध्यात्मभावना के रसिक मानव उस महतोमहीयान्-इश्वरीय-आधिदैवत-विश्व का अपने अणोरणीयान्-अध्यात्म में निमज्जन मानते हुए-‘न त्वह तेषु ते मयि इस तथ्य को सवथा ही तो भूल जाते हैं । ७२ (आधिदैविक) अशी बनता हुआ जहाँ व्यापक है, निरवच्छिन्न है वहा यह (अध्यात्म, और अधिभूत) अशो नानात्त्वात् * (व्याससूत्र) के अनुसार तदश बनता हुआ व्यापक है सावच्छिन्न है । उस-व्यापक-अधिदैवित-इश्वरीय-जगत् के यत्किञ्चिदशरूप एकाश में ही जो व्याप्यधर्मा अध्यात्म-और अधिभूत-प्रतिष्ठित-है, भला उह्नी के गम में वह व्यापक कैसे सर्वात्मना प्रविष्ट होजायगा ? । “वे मुझ में है-किन्तु मैं उन में नहीं हूँ का यही तो स्वारस्य है । सचमुच इस से बड़ी आत्मवञ्चना इत्थभूत अध्यात्मविमूढ इस मानव की और क्या होगी कि, वह आधिदैवकी-पारमेष्ठ्य-गाङ्गेयावातरभूता पुण्य-सलिला-माता भगवती भागीरथी की सवव्याप्ता सलिलधारा में व्याप्यभावावित-अपने स्वल्पतम-भौतिक शरीर को निमज्जित कर देने जैसे महत्-पुण्यकर्म से बञ्चित रहता हुआ उस व्यापक तत्त्व को अपने शरीररूप काल्पनिक अध्यात्म में मान बैठने की महती भ्रांति करने लग पड़ता है । और यों इस प्रत्यक्ष देवानुग्रह से यह आत्मविमूढ उक्षीप्रकार वञ्चित ही तो बना रह जाता है, जैसे कि विशुद्ध भूतवादी-ऑक्सिजन-हाइड्रोजन की मान्यतामात्र से अनुप्राणित कीटाणुओं की चक्कण से ही चञ्चिता त करण बना रहता हुआ गङ्गा के उस आधिदैविक-अभिमानी-दिय-स्वरूप के अनुग्रह से विहीन ही रह जाता है, जो अनुग्रह एक श्रद्धालु मादृश-ग्रामीण भी श्रद्धामात्र के अनुग्रह से अनायासेनैव प्राप्त कर अपना जीवन धन्य-कृतकृत्य प्रमाणित कर लिया करता है ।

निवेदन-निष्कर्ष यही है कि केवल अध्यात्मवाद के व्यामोहनने, तथा केवल भूतासक्तिने ही भारतीय-मानव को दैवत-आत्मिक-भौतिक-समव्यात्मक-‘तत्त्वं समं बयात्-सिद्धान्तमूलक-ज्ञान विश्वात्मक-पारिभाषिक उस तथ्य से वञ्चित ही कर दिया है, जिसके दुष्परिणाम स्वरूप ही वेदाथ के सम्बन्ध में तथावधिनरूपेण नाना वैसे प्रवाद उपक्रान्त होपडे हैं, जिन से वेदपुरुष का गौरव उत्तरोत्तर अभिभूत ही

बनता जा रहा है जिसे इस मवनाशकारिणी अभिभूति के निरोध का एकमात्र उपाय है अग्निदेवता को इस अध्यात्म, और अधिभूत के साथ समन्वित कर देना ।

तात्पर्य तदुपाय का यही है कि, वैदिक अमुक-आर्यानोपाख्यानों का ज्ञानविज्ञानात्मक-सर्वाङ्गीण-सम वय न तो केवल अधिदेवता से ही सम्बन्ध रखता, न केवल अध्यात्म से ही, एव न केवल अधिभूत से ही । उदाहरण के लिए प्रस्तुत कर्म से अनुप्राणित 'स्तम्बयजुर्हरणकर्म' निबन्धन उस 'देवासुरदायविभाग' व्याख्यान को ही लीजिए, जिसके द्वारा देवता, और असुरों का प्रजापति के द्वारा दायविभाग (बँटवारा) बतलाया गया है ।

आर्यानाङ्ग देवता, और असुर कौन है ? किस वस्तु का किसने दायविभाग किया ? इसका नैदानिकरूप स्तम्बयजु (कुशसृष्टि) कैसे, एव किस आधार पर मान लिया गया ? इस सब प्रश्नों का समाधान केवल दैवत-अध्यात्म-भूत की दृष्टि से कदापि सम्भव नहीं है । अपितु तीनों ही प्रक्रमों के साथ इस ऐतिहासिक व्याख्यान का सम वय हो रहा है । इन्द्र-अग्नि वायु आदि देवदेवता तथा वृत्र-वसुन्धि-किलात आकुली आदि असुर प्रकृति में भी हैं । अर्थात् अधिदैवतजगत् में भी है, अध्यात्म में (मानवीय-संस्था में) भी हैं, एव अधिभूतात्मक मानवेतिहास में भी मानवरूप देवता और असुरों की जातियाँ पूर्वयुगों में विद्यमान थी । प्रकृतिवत् यहाँ भी त्रैलोक्य-यवस्था थी, एव देव यवस्था थी । महाभारत युगपर्यन्त वह देवव्यवस्था प्रकृत रही । अजुन के साथ मानव-भौम-इन्द्र का ही संघर्ष था । युधिष्ठिर सदेह जिस स्वर्ग की ओर अभिसुख हुए थे, वह भौमस्वर्ग ही था । इन्हीं सब तथ्यों के स्वरूप-सम वय के आधार पर प्रस्तुत 'देवासुर दायविभागार्याण' प्रतिष्ठित हुआ है, जिसके क्रमसिद्ध-अधिदैवत-अध्यात्म अधिभूत-नामक तीनों संस्थानों के दायविभागों का रहस्यात्मक-स्वरूप-विश्लेषण ही प्रकृत-प्रकरण का निष्कार्षार्थ है, जिसके द्वारा इतिहास निबन्धना उन अनेक काल्पनिक भ्रातियों का सर्वात्मना निराकरण होजाता है, जिस निराकरण के बिना भारतीय-परिभाषिकी परम्परा से असस्पष्ट पश्चिमी विद्वान् केवल कल्पना के बल पर वैदिक-इतिहास के सम्बन्ध में वैसी धारणाएँ यत्न कर बैठे हैं, जिनके अनुकरण को ही- 'स्वधर्म' मान बैठने वाले तत्पयानुवर्तों हमारे भापुक भारतीय-ब्रह्म भी अपने सवस्वभूत वेदशास्त्र के व्याख्यानोपख्यानों के प्रति उपहास-व्यक्त करते हुए अपने आप को प्रायश्चित्त का ही भागी बनाते जा रहे हैं ।

चागाञ्चतुर, लोकनिष्ठ, राजनितिकुशल-प्रतीच्य जगत् की कामाथमयी महती-बुभुक्षा ने हीं उनका 'भारत जैसे मवसमृद्ध देश की ओर ध्यान आकर्षित कराया । अत्रागमन पर तन्नेष्टिकोंनें अपने अतर्जगत् में ही यह निश्चय कर लिया कि, "जबतक भारतराष्ट्र के प्रज्ञाकोश में सांस्कृतिक-बलमात्रा शेष रहेगा, तबतक प्रयत्न सहस्रो से भी भारत पर एकच्छत्र प्रभुत्व स्थापित नहीं किया जासकेगा" । निःसन्देह उम युग का भारत तत्पूर्व की अनेक शताब्दियों से बाह्य आक्रमण परम्पराओं के कारण अधिकांश में शक्तिहीन ही प्रमाणित हो चुका था । उधर साम्प्रदायिक मतवाद बलहा से इसका ज्ञानविज्ञानात्मक-नैतिक-सांस्कृतिक-बल भी अधिकांश में क्षीण ही हो चुका था । तभी तो प्रताप अतिथिवग ने ? यहाँ एकाधिपत्य के सम्बन्धों का दर्शन आरम्भ कर दिया । यह सब कुछ होने पर भी प्रतीच्य-अतिथियों के आगमन से पहले पहले तर्क भारतीय-प्रजापग में अपनी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, उपामना, ज्ञान, आदि आदि विस्मृतप्राया भी विमल-विभूतियों के प्रति पूर्ण श्रद्धा अवश्य प्रतिष्ठित थी, जिस श्रद्धा की विद्यमानता भी आगत अति-

थियों के मूलोत्पादन में उसी समय पर्याप्त बन सकती थी-यदि उसी युग में किसी महापुरुष के द्वारा ज्ञान-विज्ञानात्मिका-परिभाषाओं के स्वरूप विश्लेषण के द्वारा तत्-श्रद्धा को अभिव्यक्त कर दिया जाता, तो। किंतु दुर्भाग्यवश स्थिति उस समय ठीक विपरीत दिशा का ही अनुगमन करती गई तत्कालीन वगभेदों से अनुप्राणित पारस्परिकी उस अहमहमिका के द्वारा जिसके द्वारा सभी वग उन तथाकथित सुसभ्य ? उदार ? अतिथियो ? के सहयोग से अपना अधिक से अधिक स्वाधसाधन करने का ही इच्छुक बन चले थे।

तथाविध उपयुक्त वातावरण में ही उस प्रतीच्य-शिक्षा का सूत्रपात हुआ, जिस के पाठ्यग्रन्थों के द्वारा भारतीय पुरातनशास्त्रों की, मा यताओं की, सभ्यता की तथा आदर्शों की वैसी आलोचना ही की गई, जिसका निष्कर्ष पूर्व की पद्धतियों में यत्न किया जा चुका है। उन सब अनर्गल आलोचनाओं में से प्रकृत में हम एक आलोचना की आग ही पाठको का ध्यान आकर्षित करेंगे एक विशेष तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए, और उस आलोचना का सम्बन्ध माना जायगा—‘भारतदेश के मौलिक स्वरूप के सम्बन्ध में।

प्रतीच्यशिक्षा के अशत भी सम्पर्क में आजाने वाले भारतराष्ट्र के बड़े से भी बड़े राष्ट्रभक्त-देशभक्त-अद्यतन-भारतीय-मानव से जब भी यह प्रश्न किया जायगा कि, “क्या भारतार्थ आर्यों का आदिदेश है ?”, तो तत्काल क्षणमात्र विलम्ब किए वह यही उत्तर देगा कि,—‘नहीं भारत तो अनार्यों का आदिदेश है। वे ही यहाँ के आदिवासी, किवा मूलनिवासी हैं। आर्य तो मध्यएशिया से शनैः शनैः बढ़ने बढ़ते इस देश में आपहुँचे, और अनार्यों को युद्ध में परास्त कर वे यहाँ के अधिपति बन बैठे*’। दूसरों की कौन कहै, सुप्रसिद्ध देशभक्त और भारतीय घम्म के अनन्यसेवी स्वर्गाय

*-प्रतीच्य-विद्वानों की अभिनिवेशमूला इत्थभूता धारणा उनके द्वारा निर्धारित भारतीय-पाठ्य-ग्रन्थों में इस रूप से अभिव्यक्त हुई है कि—‘आर्यों का मूलनिवास, किवा आदिनिवास मध्यएशिया ही था। मध्यएशिया से ही आर्यनोग भारत में आए थे। अतएव उन्हे समुद्र का भी स्वरूप बाध नहीं था उस युग में। क्योंकि मध्यएशिया में कोई समुद्र नहीं है। हाँ, नदियाँ बहुत सी हैं। एत नदिया के लिए आर्यों के उस पुरातन ऋग्वेदग्रन्थ में ‘सिन्धु शब्द प्रयुक्त हुआ है जो वैदिक ऋग्वेद मय अधिक से अधिक २५००-३००० सहस्र वर्षों से अधिक (पुराना नहीं माना जा सकता इत्यादि।

×-सर्वथैव प्रौ टगादात्मिका उक्ता धारणा के विपरीत भारतराष्ट्र की स्वतन्त्रता के महान् द्रष्टा स्वर्गीय श्री बालगङ्गाधर तिलक महाभाग ने अपने सुप्रसिद्ध ‘ओरियन, तथा ‘द आर्कटिक होम इन् द वेदाज’ नामक लोकप्रसिद्ध निबन्धों के माध्यम से एक अर्थ ही तथ्य उपस्थित किया, जिस तथ्य का श्रीतिलक के मतानुसार उत्तरध्रुवानुगत अमुक-भूप्रदेश से ही सम्बन्ध था, जिसे ‘पामीर’ कहा जा सकता है। श्रीतिलक की धारणा के अनुसार आर्यों का आदिदेश वही उत्तर प्रदेश था, न कि प्रतीच्य-विद्वानों की मान्यता से अनुप्राणित-मध्य-एशियाप्रात। ‘उत्तरप्रदेशात्मक पामीर से ही आर्य भारत में आए’-सर्वश्री तिलक महाभाग के इस मान्य तथ्य का हम ‘मा यता’ के अनुबन्ध से ही समादार करेंगे। क्योंकि आस्था पूर्ण निष्ठा की दृष्टि से तो श्रीतिलक की मान्यता भी प्रतीच्या भावना से सर्वथैव विमुक्त नहीं मानी जा सकती, जबकि तिलक भी आर्यों का बाहिर से भारत में आगमन तो मान ही बैठे। वस्तुस्थिति वास्तव में कुछ और ही है, जिसके मम वय से असस्पृष्ट रह जाने के कारण ही इसप्रकार की मान्यताएँ मानवीय-मन की अभिभूत कर लिया करती हैं, जैसाकि पाठक तदभाष्य-सन्दर्भ में देखेंगे।

अद्वैत श्री बालगङ्गाधर तिलक जैसे महापुरुष ने भी वेदनिर्माण-कालगणना-प्रसङ्गत-एक अ या मा यता के अनुबन्ध से उक्त तथ्य को ही प्रश्रय देडाला, जबकि उक्त 'तथ्य' भी 'तथ्य' न होकर उन प्रतीच्य चाणा-क्षत्रो की कुटिला नीति की प्रतिच्छाया-मात्र पर ही विश्रान्त है ।

‘यदि हम आर्य्य अपनी सभ्यता के बलपर यहाँ के मूलनिवासी अनार्य्यों का दमन कर यहाँ के शासक बन सकते हैं, बन गए हैं, तो उन प्रतीच्य सुसभ्य अतिथियों को भी सहज-रूपेणैव यह अधिकार प्राप्त है कि, वे हमें सुसभ्य बनाने के लिए, हमारी अवैज्ञानिकता हटाने के लिए हम पर एकाधिपत्य स्थापित करले । क्योंकि हमारा इस देश पर कोई पैत्रिक-स्वत्वाधिकार नहीं है’ ।

उक्त काल्पनिक जो तथ्य, दूसरे श-दों में अनार्य्य-आर्य्य विद्रोहात्मक जो सस्कार तच्छिद्धा-पथानुवर्त्मा भाषुक भारतीयों की कोमलप्रज्ञा में दृढसस्कार के रूप में उनके द्वारा शिक्षणकाल में ही खचित कर दिए गए थे, उन कुसस्कारों से आजतक भी तो हमारा परित्राण नहीं होसका है । और हमारे वे सभी मान्य शिक्षित भारतीय उसी काल्पनिक मायता को मानो अपनी शिक्षा धुरीणता के रूप में ही अभियक्त करते रहते हैं, जबकि वस्तु स्थिति स्वयं वेद पुराण शास्त्र के इतिवृत्तात्मक-भुवनकोशानुगत (भूगोलानुगत) निर्भ्रात-सिद्धान्तों के अनुसार प्रतीच्य तथ्याविद्या मा यता के सर्वथैव विपरीत है । किन्तु अपनी काल्पनिकी अपौरुषेयता की भ्रान्ति में न तो प्राच्य-भारतीय-विद्वानोंने वेदशास्त्र के भुवनकोशानुगत-इतिवृत्त का स्वाध्याय किया, एव नैव पुराण-शास्त्रोपवर्णित-ऐतिहासिक-सीमाप्रसङ्गों से सम्बन्ध रखने वाले आर्यानोंपार्यानों का ही विद्वानों के द्वारा सफल समाधान होसका । अतएव भारतीयों कोमलप्रज्ञा सहजरूपेणैव प्रतीच्य-काल्पनिक-सिद्धांतों पर ही उत्तरोत्तर आस्था करती ही गई, और साथ ही स्वराष्ट्रीय-वेदपुराणशास्त्रों के प्रति उपेक्षा ।

तभी तो भारतवर्ष की प्राच्यसंस्कृति-शिक्षा के महान् केन्द्ररूपेण सुप्रसिद्ध वाराणसीक्षेत्र (काशी) के पावन वक्षस्थल पर स्थापित होने वाले प्रतीच्यशिक्षणकेन्द्र (कॉलेज) में जब किसी प्राच्यभक्त की ओर से पौराणिक-भूगोल-के भी शिक्षा के पाठ्यक्रम में समावेश का आग्रहात्मक-प्रस्ताव उपस्थित हुआ, तो प्रतीच्य-शिक्षाकेन्द्र के प्रतीच्यशिक्षाभक्त अमुक को इसप्रकार के अनर्गल उद्गार अभिव्यक्त कर देने का साहस, किंवा दुस्साहस होना था कि ‘जो भारतीय पुराणशास्त्र पृथिवी का काच के समान चपटा मानता है *, जिस पुराण का द्वीपोपद्वीपों का परिमाण कोटि-कोटि-लक्ष लक्ष-कोश-मित सुना जाता है जो पुराण पृथिवी पर दुग्ध-मधु-आदि के सात सात समुद्र मानता है, ऐसे विशुद्ध काल्पनिक-मन प्ररोचनात्मक-पुराण के भूगोल से भारतीय-नवीन प्रज्ञा में क्या उत्कष होगा ?’, तो प्रस्तावक-पुराणपक्षपाती महोदय तृष्णी ही बने रह गए थे ।

यदि उहें अ शत भी ‘पृथिवी’ शब्द के पारिभाषिक अर्थ के साथ आत्मसाक्षात्कार होता, तो तत्काल ही वे पुराण के भौगोलिक तथ्यों के प्रति अनर्गलरूपेण गलशोषण करने वाले असुक प्रतीच्य महानुभाव को यह बतला सकते थे कि, श्रीमन् ! आप स्वयं अभी भ्रान्ति में हैं । आपका पुराण की परिभाषाओं के साथ यत्किञ्चित्

*-आदर्शादिरसन्निभा भगवती

भी तो सम्पक नहीं है। भूमि, और पृथिवी, दोनो शब्द विभिन्न ही अर्थों के वाचक हैं। जिस मृगमय-धातुमय-ओषधि-वनस्पातमय पिण्ड पर आप विराजमान हैं, वह पृथिवी नहीं, अपितु भूमि है, जिसे केन्द्र बना कर ही उस भौमप्राण का बड़ी दूर तक प्रथन-कैलाव होता है, जिस प्राणमण्डल का ही 'यद्प्रथयन् रूपेण 'पृथिवी नाम रक्खा जाता है जिसका अर्द्धाण्डकटाह सचमुच ही आदर्शवत् सम ही है, और जिस पार्थिवप्राण के महिमा मण्डल की व्याप्त सूर्य से भी कुछ ऊपर पथ्यत मानी गइ है वैदिक-विज्ञान के अनुसार। इसी पार्थिवक्षेत्र में सप्तद्वीप-सप्तवायुस्तर-सूक्ष्मरसात्मक सप्तसमुद्र-आदि अनेक तत्त्वात्मक सप्तक-प्रतिष्ठित हैं, जिनका पौराणिक-अतिशय-रहस्यपूर्ण-पाद्मभुवनकोश में विस्तार से स्वरूपोपबृहण हुआ है, जिसके स्वरूप सस्पश से भी आज का भारतीय मानव अपरिचित ही बना हुआ है। प्रक्रान्त "देवासुरदायविभाष्यान् प्रसङ्गत" तत्कर्म में हमने सत्तेप से इस पाद्मभुवनकोश का भी दिग्दर्शन-प्रयाम किया है।

देवासुरदायविभाग प्रसङ्ग से ही तत्प्रकरण में भारतवर्ष के उस मौलिक प्रकृतिसिद्ध भौगोलिक स्वरूप का सम वय प्रयास हुआ है, जिसका-**'अस्मिन् ह वै लोके-उभये देव मनुष्या आसु** (शाङ्खायन ब्राह्मण १।१) यह श्रुतिवचन सर्वात्मना समथक बना हुआ है। भारतराष्ट्र आरम्भ से ही इसी आर्यजाति की प्रातिस्विक ज मभूमि रहा है, जिसका विस्तार पाद्यभुवनकोशानुसंध से ६० अशात्मक ही माना गया है। एव जिस भारतीय भुवनकोश के आधार पर निरञ्जितानुगत लङ्काद्वीप इसकी दक्षिणसीमा है, जो लङ्काद्वीप आज समुद्रगर्भ में विलीन होचुका है, और भारतीय उपद्वीप गणना के प्रसङ्ग में लङ्काद्वीप से सवयैव पृथग् रूपेण निर्दिष्ट सुप्रसिद्ध सिंहलद्वीप (सीलोन) को ही आज भ्रान्तिवश लङ्काद्वीप माना, और मनवाया जारहा है।

जहा से सुप्रसिद्ध 'रावी' नदी का त्रिनिगम है, तदनुगत सुप्रसिद्ध शिवालक ही भारत की उत्तर-सीमा है। 'महीसागर' नाम से प्रसिद्ध पश्चिमसमुद्र (जहा भारतीयों के सुप्रसिद्ध शर्वतीर्थ का उपवर्णन उपबन्ध होता है) भारत की पश्चिमसीमा है और पूर्वाणुगत चीनदेशानुसंध पीतसमुद्र ही भारत की पूर्वसीमा मानी गइ है। यही ६० अशात्मक प्रकृतिसिद्ध भारतवर्ष है जिसके आधार पर ही कुरुवर्ष, केतुमालवर्ष, किंपुरुषवर्ष हरिवर्ष, इलावृतवर्ष, भद्राश्ववर्ष आदि मेदेन नववर्षात्मक वर्षभुवनकोश की यवस्था हुई है। देवस्वर्ग भारत से भिन्न है जिसका उत्तरप्राङ्मेरु से सम्बन्ध है, जिस प्राङ्मेरु का अपभ्रंशात्मकरूप ही 'पामीर' है।

जिस देवयुगात्मक वैदिकयुग में इसी भूपिण्ड पर भौमदेवानुबन्धिनी त्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित थी, उस युग में प्राङ्मेरुस्थ भौमस्वर्गाय-इन्द्र-अग्नि-आदि मानुषदेवता स्वशासित भारत में अवसर विशेषों पर आया करते थे, तो भारतीय माघाता-हरिचन्द्र-दशरथ दिलीप-रघु-आदि आदि प्रमुख मानव भी देवस्वर्ग में गमन किया करते थे। यों देवत्रिलोकी के देव-मानव-तिर्ग्यक् नामभेदभिन्न मानव परस्पर गमनागमन से समवित थे, जिस इस पारिभाषिक-तथ्य का यथावत् समवय न करने के कारण ही आर्यों का अत्र प्राङ्मेरु (पामीर) से अप्रव आगमन मान लिया गया है, जबकि **'अस्मिन् ह वै लोके उभये देव-मनुष्या'** से विस्पष्टरूपेण दोनों ही मानववर्गों का अत्रापि समानरूपेणैव आवास निवास अभिव्यक्त है।

भौमस्वर्ग निवासी मानवदेवताओं में सुप्रसिद्ध भारत नामक ब्राह्मणवर्णात्मक अग्निदेव इस मानवलोकात्मक पृथिवी-लौक के शत्रुसोनपान् देवदेवता थे। अतएव कम्मभूमिरूपा यह मानवभूमि भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुई, जिसकी महती सीमा का अनेक पारिभाषिक इष्टिकोणों के माध्यम से तत्

प्रकरण में सम वय-प्रयास हुआ है। भारत अग्नि ही इस राष्ट्र की भारत अभिधा के मूलकारण हैं जिस इस मूलकारण का ही आगे चलकर यश रचापन-मात्र से दो यति भारत के साथ भी सम्बन्ध मान लिया है पुराण-शास्त्रने। आगे जाकर अमुक अर्वाचीन मतवादाने सन्त्री ऋषभदेव को भी स उपाधि से समावत करने का प्रयास किया है जिम प्रयास का युगवर्मानुगत से समादर करते हुए भी तद्दृष्ट्या तो भारत नामका प्रमुखरूपेण भारताग्नि पर ही विश्राम मानना पडेगा जिस इस तथ्य के स्पष्टीकरण के साथ साथ प्रकृत आर्यायन में भारत की प्रकृतिसिद्धा ६६ अशा मका वास्तावक-उस अखण्डता का ही स्वरूप-सम वय हुआ है जो तबमूला प्रकृतिसिद्धा अखण्डता त्रिगत अमुक शतादियों से प्रकृता भ्रात भारतीयो की निरतिशया भावुकता के कारण आततायीवग के द्वारा-उम-सीमापत्य त एण्ड खण्ड रूप में ही परिणत कर दी गई है जिस खण्ड-खण्डामिका देशसीमा के द्वारा आज भारत अपने प्राकृतिक गौरव को सवथव विस्मृत कर बैठा है।

इसी प्रसङ्ग में पुराणानुगत अत्यन्त-पारिभाषिक उस पाद्यभुवनकोश के स्वरूप-सम वय की भी चेष्टा हुई है जिस के साथ मेरूमूला देवत्रिलोका तथा असुरत्रिलोकी तन दोनों का सम्बन्ध माना गया है। सौचिभाव का स्वरूप सम्राहक-मेरु ही वह मेरुदण्ड है जिस के आधार पर ही भगवान् आदि मानव-प्रजापति ने भूपिण्ड को निदानविधि से पद्य मानकर तन के पत्रामक ६ विभाग किए थे एवं इस भूपद्म के कारण ही यह भुवनकोश (भूगोल) पाद्यभुवनकोश नाम से प्रसिद्ध हुआ था जिसकी रहस्या-मिका द्वीपादि-परिमाण-गणना के पारिभाषिक तथ्यों से विदूर होजाने के कारण ही इन पौराणिक तथ्यों पर उसी प्रकार बुद्धिवादियों के निरथक ऊहापोह प्रकृता होपडे हैं जैसेकि वैदिक-आख्यानोपार्यायानो के रहस्याथ का समावय करने में असमथ बन जाने के कारण भारतीय विद्वत्प्रजा अपने सर्वस्वभूत भी वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानामक-पारम्परिक अययाना यापन को जलाञ्जलि समर्पित करती हुई क्वाचित्करूपेण केवल पारायणपाठ को ही सर्वोत्तमान बठी है अमुक शतादियों स जत्रकित वार्थसम वय से शूय पारायण पाठ को तो स्वयं शास्त्र ने ही आ यन्तिकरूपेण निरथक ही मागा है * सौरभ त व ज्ञानवञ्चित केवल चन्दन भारवाही रासभवत् ही - ।

तद्विथ-वदिक आर्यायानोपाख्यानो की सहज शैली से अनुप्राणित प्रस्तुत देवासुर त्रयविभागान्या का भी तत्प्रकरण में आधितैवक-प्रकृतिमिद्ध-नि यदायत्रिभाग आ या मक-प्रकृतिमिद्ध-मानवीय दायविभाग एवं देवयुग में विघटित मानवत्वेव तथा मानव असुरों की प्रतिस्पर्द्धा से समवित आधिभौतिक त्रयत्रिभाग रूपेण तीनों ही स्थानों से समवित आर्यायन का पारिभाषिक सम वय करता हुआ ही तत्प्रकरण विशेष उपरत हुआ है एवं-प्रस्तुत सस्मरणा मक-पारिभाषिक दिग्दर्शन का यही सक्षिप्ततम स्वरूप दिग्दर्शन है।

* * * * *

* स्थापुराण भारहार किलाभूत-अधीत्य-वेद न विजानाति योऽर्थम् ।

योऽर्थज्ञ -स इत् मकल भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

— यथा खरो चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु सौरभस्य

ख-प्रतिमा-जनकम्मनुगत-चन्द्रचिह्न स्वरूप मस्मरण—

वेदिपरिग्रामक-वादस पादनक मङ्गलभूत सूपसिद्ध प्रतिमा-जनकम्म नामक क्रवथ कम्म के वज्ञानिक स्वरूप-समवय-प्रसङ्गत सप्रसिद्ध उस चन्द्रचिह्न की अद्यत ही रह यपूर्णा निरुक्ति हुई है जो चिह्नविशेष लोक-समान-यहार में चन्द्रकचङ्क नाम से प्रसिद्ध है एव जिस के प्रसङ्ग से ही पुराणशास्त्र का सुप्रसिद्ध ताराहरणापारगान नामक एक स्तत्र आर्यायान ही उपनिषद् होगया है। स्पय नामक काष्ठनिर्मित यज्ञायुध-विशेष स वदि-निर्माण-उपाटित मृद्भाग के बहि प्रक्षेप स सत्र ध रखने वाला क म ही प्रतिमा-जनकम्म क लाया है और तदुपात्तप्रसङ्ग में ही व भगवान् ने चन्द्रस्थ कृणभाव के वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण किया है जिसके आधार पर भासुक भारत य कविगण विचित्र प्रकार की कल्पनाएँ करते रहते हैं * ।

पुराणशास्त्र की आर्यायानानुगता कल्पना तो प्रसिद्ध ही है कि दवगुरु की धम्मपनी तारा के अपहरण से ही सोमरत्नक ग वव चन्द्रमा को कलङ्क का अनुगामी बनता पडा था जिस इस पौराणिक-रहस्य का तो तत्रव स्वतंत्र नित्र धन में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। अत्र तु देवयजन-प्रसङ्ग से ही इस कलङ्क के ताविक स्वरूप का तववेचन हुआ है। त्रस इस देवयजना मक-पारिभाषिक त व की आधारभूमि है पुरा क्रूरस्य त्रिसृप इ यदि पारिभाषिक वह यज्ञमत्र त्रसका अथराथ हुआ है यही है कि—

हे विष्णो ! त्रिग्रि योद्धाओं की इधर-उधर-की भागलौड के कारण त्रिसृप नाम से प्रसिद्ध क्रूरकर्म अनएय क्रूर अभिवा से लोक मे रयातिप्राप्त भयानक देवासुरसग्राम से पहिले देवदेवतात्रान प्रथिमी के यज्ञानुब धी जीवनीय रसामक जिस देवयजन भाग को धरोहर के रूप मे चन्द्रमा मे प्रनिष्ठित कर दिया था उसी जीवदानु भाग को लक्ष्य बनाकर धीर याज्ञिक यज्ञकम्म का अनुगमन कर रहे है ।

देवासुरसग्राम से पूव ही पार्थिव देवदेवताओंन यज्ञकर्म के ससाधक जिस देवयजना मक-त व को चन्द्रमा में धरोहर के रूप में सुरक्षित कर दिया है उसी का उक्त मन्त्राक्षराथ के द्वारा पारिभाषिक-स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। प्रामाञ्जिक ग्रहोपग्रहविज्ञान के ताविक सम वय के द्वारा उक्त यज्ञमत्र के रहस्याथ का पारिभाषिक स्पष्टीकरण ही तद्विज्ञान का नि कषाथ है जो कि म त्रानुगत रहस्यपूर्ण विज्ञान का अद्यत ही चमकारपूर्ण उदा रण ही माना जायगा वैदिक विज्ञान के क्षेत्र में। प्रतिमा-जनकम्मनुब धी वैज्ञानिक इस त य के माध्यम से वैदिक-तिवृत्ती से अनुप्राणिता उस महती भ्रान्ति का-स्थालीपुलाकन्यायेन निश्चय ही

* अङ्क केऽपि शशङ्किरे जलनिधे, पङ्क परे मेनिरे ।

सारङ्ग कतिचिच्च सङ्गदिरे, भूञ्जायमैञ्छन् परे ॥

इन्दौ यद्दलिते द्रनीलशकल श्याम दरीदृश्यते ।

तत्-सान्द्र निशि पीतम धतस कुचिस्थमाचक्ष्महे ॥

निराकरण सम्भव है जिस भ्रांति के कारण पुरा क्रूरस्य इयादि विशुद्ध-विज्ञानेतिवृत्ता मक मन्त्रों के तवाथ समवय प्रसङ्ग में मानवप्रज्ञा सशयशीला बन जाया करती है इसी निवेदन के साथ उदाहरणा मक यह द्वितीय सस्मरण उपरत होरहा है ।

* * * * *

(ग)-व्यवहारजगत् और शास्त्रीय-जगत् मे अनुप्राणिता पारिभाषिकी-प्रणामविधि का सस्मरण, और आज के लोक-यापक नमस्ते' के सम्बन्ध मे किञ्चिदिव आवेदन—

वज्ञविद्या प्रकृतिसिद्धा वह प्राणविद्या है जिसका मानवीय कपना सामयिकी मायता आदि से सस्पश भी नही माना जासकता । मानवकृत वैध यज्ञों के बडे छोटे यन्त्रयावत् यशिय कर्मों का स्वरूप प्रकृति-सिद्ध इश्वरीय आधिदैविक-नित्ययज्ञ के नियमित-पारिभाषिक-ईश्वरीय-नियमोपनियमों पर ही प्रतिष्ठित-व्यवस्थित हुए हैं । देवानुपिधा वै मनुष्या -यद्वै देवा अकुपस्तत्करवाणि प्रकृति-बद्धविकृति कृत्त्या इयादि श्रौत आदेश नसी तय का समथन कर रहे हैं । नसाकि अयाय-धार्मिक क्षेत्रों में आज मानवप्रज्ञा दिगदेशकालानुगता युगयम्-निबन्धना अपनी भावुकता से यथेच्छ परिवतन कर रही और बलपूर्वक करा रही है एवमेव विज्ञानभित्ति पर प्रतिष्ठित यज्ञकर्म जैसे वैज्ञानिक कर्म के सम्बन्ध में भी तन्निबन्धन यज्ञानुगत बदैक शर्तों के यज्ञार के सम्बन्ध में भी श्रवाचीन वेदभक्तविशेषों के द्वारा आपातरमणीया वैसी अनगला कपनाए उपक्रान्त होपडी हैं जिनका प्रकृतिसिद्ध-यज्ञानुगत पारम्परिक-श्रौत-पद्धतियों से अशत भी तो सम्पर्क नही है । अतिपद्धति के विरुद्ध केवल-कल्पना से प्रसूत इयभूत-काल्पनिक-यज्ञकर्मों के जो भीषण परिणाम हुए हैं अतिने-अनवश के मायम से उसी का स्वरूप-विश्लेषण किया है जोकि आज के नवीन उन बदभक्तों के उद्बोधन के लिए पर्याप्त मान लिया जायगा जो अपने कपना के साम्राज्य में ही यज्ञ जसे प्राणप्रधान-दियकर्म को हवाफिल्टर के युगानुगत महान् लौकिक ब्यामोहन से समन्वित करते हुए उसमें अपनी कपना से ही केशर-कपूर चन्दनादि यथेच्छ सुगन्धि-द्रव्यों का समावेश कर रहे हैं जिनका पारम्परिकी किसी भी श्रौत-स्मात्त-पद्धति में सस्मरण भी नही हुआ है ।

महद्दुर्भाग्य तो आज यह माना जायगा कि जो सनातनधर्मावलम्बी-जगत् अबतक यज्ञकर्म के सम्बन्ध में अमुक सीमापयन्त अमुक-श्रौती स्मार्त्ती-परम्परा का ही सर्वाभना नही तो भी श्रौतश-अनुगमन करता आरहा था उसके अमुक नेला महानुभावों के भी मानस-सरोसरवर में यज्ञ के नाम से आज विचित्र-विचित्र-वैसे यज्ञकर्मों की बाढ सी आरही है जिनका प्रकृतिसिद्ध-आधिदैविक-यज्ञ के साथ यत्-किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नही माना जासकता । विश्वशान्ति के व्याज से आज भारत में सर्वत्र धार्मिक-नेताओं के द्वारा जपयन्-नामसकीर्तनयज्ञ चण्डीयज्ञ आदि आदि रूपेण यज्ञप्रवाह प्रक्रान्त है बिस इस प्रवाह का अन्तिम उदक क्या होगा ? इसका उत्तर भी श्रुति के तथोक्त-प्रासङ्गिक-अनबमर्शात्मक-उस कर्मविशेष से अवश्य ही उपलब्ध होजाना चाहिए उन प्रवाहवादियों को जौ यज्ञव्याज से आज इन भारतीय-विभूतियों (यज्ञादि कर्मों) के प्रति शेषभूता भी श्रद्धा को सदा सदा के लिए स्मृतिगर्भ में विसीन

करने के लिए ही मानो आतुर बने हुए हैं। कथानक आज से अनेक सहस्रो वर्ष पूर्व का होता हुआ भी वच मानयुगानुर्बाधनी अमुक-मनोवृत्ति स सर्वात्मना समतुलित है। तदेव श्रयताम्। श्रुत्वा चाप्यव-
भाष्यताम् ॥

पुरा देवयुगे भारतीय द्विजाति मानवो की श्रुतिसिद्ध यज्ञकर्मों के प्रति सवथा अश्रद्धा होगइ। फलत इहोन यज्ञकर्म का पारयाग कर दिया। इस घटना का समाचार जब देवेन्द्र के समीप पहुँचा तो उन्होंने देवगुरु आङ्गिरस-बृहस्पति को स्वर्ग से पृथिवीलोक (प्राचीसरस्वती क सन्निकट विद्यमान भौम-
देवस्वर्ग प्रदेश से-पृथिवी नामक-भारतवर्ष) में भेजा तत्कारण-परिज्ञान के लिए। बृहस्पति यहा आए और प्रश्न किया कि- कथा न यजध्वम् (हे मनु यो ! तुम वज्ञानु ठान क्यों नहीं करते ?)। (मानवोंने उस समय जो उत्तर दिया था वह आन के धम्मभीरु मानव के सम्बन्ध में भी अक्षरशः चरिताथ होरहा है)। मानव कहने लगे कि बृहस्पते ! हम देख सुन रहे हैं कि जो यज्ञ कर रहे है व दिन दिन दुखी होते जा रहे हैं और जो यजन नहीं करते वे लोकसमृद्धि से समावित होते जा रहे हैं य उ यन्ते त उ पापी-
यासो भवति य उ न यज ते-ते श्रयास किकाम्या यजेमहि भिरभला हम क्यों किस कामना के लिए यज्ञ करें। आज भी तो धम्म के सम्बन्ध में अमुक भावुक-वग की यही धारणा सुनी जा रही है कि- धर्मिष्ठ यक्ति आज के युग मे दुखी है एव धम्मनिरपन्न मानव और धम्मद्वेषी मानव लोकसमृद्धि से समावित देखे-सुने जा रहे हैं। कहना न होगा कि देवयुगानुगत तत्पूर्वधारणा की ही भाँति आज धर्म-क्षेत्र के सम्बन्ध में भी भावुकवग इसी हेवाभास के द्वारा अश्रद्धालु बनता जा रहा है।

बृहस्पति समझ गएकि अवश्य ही मनु योन यज्ञकर्म में किसी मानवीया कल्पना का समावेश कर दिया है एव उसी से इष्टसाधक भी यज्ञ अनिष्टजनक बनाया है। यही निरूप्य कर बृहस्पति ने आदेश दिया कि हे मनु यो ! तुम एक बार हमारे सम्मुख यज्ञ का अनुगमन करो। मनुष्योंने वैसा ही किया कम्म-आस्तरण से पूर्व ही जब वे वेद का स्पश करने लगे तो त काल बृहस्पति ने उनका नियन्त्रण करते हुए यही उद्बोधन प्रदान दिया कि इस पद्धति विरुद्ध स्पशदोष से ही इष्टजनक भी यज्ञने तुझारा अनिष्ट कर डाला। अतएव तुझ भविष्य में वेदिका पश किए बिना ही यजन करना चाहिए। आकियत इति? अर्थात् कत्रतक वेदिका स्पशन न करें। प्रश्न करने पर उत्तर मिला कि- आर्हिपस्तरणात् अर्थात् जबतक वदिपर कुशाएँ न विछादी जायँ। दम में नैमा क्या अतिशय है जिसके आस्तरण के अनंतर वदिस्पश से अनिष्ट नहीं होता ? इत्यादि प्रश्नों की वज्ञानिकी मीमासा करने वाले इस अनवमश कर्म से निवदनीय यही है कि यज्ञकर्मों में अपनी मानुष-कल्पनाओं के यत्किञ्चित् भी समावेश से तमूलभूत आधिदैनिक यज्ञ की अविच्छिन्ना छन्दोबद्धा प्राणधारा का सम्बन्ध नहीं होपाता। उस अवस्था में यज्ञकर्म यातयाम (व्यथ) बन जाता है और कभी कभी तो प्राणधारा का यदि विपरीत भी सम्बन्ध होजाता है तो वही यज्ञ इष्ट के स्थान में उसी प्रकार अनिष्ट का ही कारण बन जाता है जैसे कि इन्द्रनाशाय कृत यज्ञ से इन्द्रशत्रुर्वद्ध स्व से अनुगत स्वरदोष के कारण वृत्रासुर ने अपना ही सर्वनाश करा लिया था *।

* दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्बद्धो यजमान हिनस्ति यथेद्रशत्रु स्वरतोऽपराधात् ॥

उक्त ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर ही तो हमें यह निवेदन करना पड़ा कि आधिदैविक प्राणजगत् से अनुप्राणिता यज्ञविद्या और तदनुन्न वी पारिभाषिक याज्ञिक शब्द लोकधरातल से लोकसमाजानुगत सामान्य लौकिक व्यावहारिक क्षेत्र से सवथा असस्पृष्ट ही है जिनकी इतिकत्त व्यता में एव जिन शब्दों के उच्चारण में मानवीया लोक पनाओं का प्रवेश सवथा ही निषिद्ध माना गया है। अर्वाचीन वदभक्तों की यज्ञकर्मानु-बधिनी केशर कपूर-ज्वदननादि प्रवश की कल्पना की ऐसी दशा में क्या स्वरूप-स्थिति है ? एव सनातन धर्मावलम्बी-पर पराभक्त-उन महानुभावों के तथोक्त आडम्बरपूर्ण क पनाप्रगान आज के नामयज्ञ-भूदानयज्ञ अमुकतमुक यज्ञ आदि आदि यज्ञविज्ञ भूगो के कारण अदृष्ट में कितने और कसे भीषण परिणाम घटित विघटित होते होंगे उनकी का पनीकी विश्वशांति के समतुलन में ? इन अवध प्रश्नों का उत्तर तो उद्धी से प्राप्त करना चाहिए।

ठीक यही स्थिति-शब्द व्यवहार के सम्बन्ध में घटित होरही है। प्राणप्रधान वैदिक-शब्दों को लोकधरातल पर ला खडा करना भी वैसा ही अपराध है जसाकि प्राणप्रधान यज्ञकर्मानु में लौकिक मायताओं का समावेश अपराध माना गया है। अधिक विस्तार में न जाकर आज हम अर्वाचीन उन वे भक्तों का यान अभिवादन-पद्धति से अनुगत उनके सवप्रिय उस नमस्ते नामक वैदिक शब्द के पारिभाषिक-तथ्य की ओर ही आकर्षित कर देना चाहते हैं उदा रणरूपेण जिसका वे खाते-पीते उठते-सोते जागते अपने समस्त वयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक व्यवहारों में उद्धोषपूर्वक-नमस्ते महाशय ! नमस्ते देवीजी ? आदि रूपेण यशोगान ही करते रहते हैं।

मानते हैं नमस्ते वैदिक शब्द है और सीलिए लौकिक जगत् के अभिवादनीय शब्दों की अपेक्षा अभिवादन के लिए सवश्रेष्ठ शब्द भी। किन्तु तत किम् ! स्नाह - स्नाधा षाषट्-आदि सभी वैदिक शब्दों का फलिताथ है-अन्नरूप आहुतिद्रव्य से प्राणदेवताओं को तृप्त करना। क्या प्राणामक देवजगत् में सभी प्राणदेवों के लिए स्वाहादि शब्द काम में ले लिए जायेंगे ? कदापि नहीं। ऐसा करना तो वह महान् जामि दोष माना गया है जिससे कम्म का स्वरूप ही विकृत होजाता है। फलत स्वाहा शब्द अग्नि प्रमुख देवताओं के लिए ही नियत है। स्नाधा शब्द का पितृदेवताओं से ही सम्बन्ध है तो केवल इन्द्र के लिए ही इन्द्राय वौ ३ षट रूपेण वौषट शब्द नियत है। और यों स्वयं प्राणजगत् में भी प्राणामक वैदिक-शब्द जब प्राणवगभेद से विभिन्न स्थानों में विभाजित हैं तो उन प्राणव्यवहार प्रधान वैदिक शब्दों का लोकधरातल में तो उपयोग अभिमत ही कैसे होसकता है वेदशास्त्र को जो भक्त प्रधान लोकव्यवहार से अपना क्षेत्र सवथव एक विशेष अतिशय से समन्वित रखता है। इसी आधार पर हम अर्वाचीन वेदभक्तों के नमस्ते नामक प्राणप्रधान-वैदिक शब्द के उस आज के लौकिक व्यवहार को इष्ट के स्थान में सर्वथा अनिष्ट का ही जनक मानेंगे जो नमस्ते शब्द एक साङ्क्रामिक रोग की भाँति आज भारत के प्राय सभी क्षेत्रों में व्याप्त होता जा रहा है अपनी लोकानुगता परम्परा से अनुप्राणित जय माता जी की जय गोविन्दजी की जय रघुनाथजी की जयराम जी की जय श्रीकृष्ण की जय विश्वनाथ जय गङ्गे आदि इष्ट जनक परम माङ्गलिक सनातन शब्द व्यवहारों की आधुनिक अपेक्षा ही करता हुआ जिससे अधिक पर प्रत्ययनेयता आज के भावुक माहश भारतीय मानव की और क्या होगी ?

अपने बचपन में अमुक दो वेदभक्तों में ही प्रचलित प्रचण्ड शास्त्रार्थों की चर्चा में हम जब नमस्ते शब्दमलक कलाह सुनते थे तो हमें स्वत ही यह कुतूहल होता था कि जो नमस्ते शब्द नमस्ते रुद्र

मयवे इ यदि रूपेण भगवान् शङ्कर के सम्मुख होने वाले रुद्रपाठों में लोकप्रसिद्ध है सनातनधर्मावलम्बी जगत् क्यों यथ में ही अर्वाचीन वदभक्तों से इस दिशा में वाककलह कर रहा है ?। इस कुत्हल के उपशमन के लिए जब हमने उस युग के प्रचण्ड-शास्त्रार्थियों की नमस्ते मीमासा देखी तो सहसा मन ग्लानि से ही भर गया उसके कापनिक तर्कों को देख कर। क्या इसी का नाम सनातनधम्मनि ठा ? प्रश्न दृढ मूल बन गया वसे मीमासा-निब धो को देख कर। आगे चल कर वदपुरुषानुग्रह से शतपथ ब्राह्मण का क्रमबद्ध स्वा याय-युग उपस्थित हुआ और उसी के परिणाम-स्वरूप शतपथ के नवमकाण्डीय-अमुक-स दभ के स्वा याय से नमस्ते शदानुबन्धिनी उस विप्रतिपत्ति का यथाथ समाधान उपलब्ध हुआ जिसका अनवशक मप्रसङ्गत हमने प्रकृत क्रमप्राप्त १४ व कम्म में दिग्दर्शन करा दिया है तत् श्रौत सन्दभ के पारिभाषिक अथ-समवय के साथ। समवय का पारिभाषिक त य अवश्य ही अर्वाचीन वदभक्तों को भी उनके नमस्ते यवहार के प्रति उह जागरूक करेगा और तदनुवर्मा गतानुगतिक अय वग भी इस दिशा में अवश्यमेव तथ्य का ही अनुगमन करगे इसी मङ्गलकामना के साथ प्रकृत में केवल वह श्रौतसन्दभ ही हम उद्ध त कर रहे हैं सस्मरण के रूप में जिसका पारिभाषिक-समवय तत्प्रकरण में ही द्रष्टव्य है इसी निवेदन के साथ यह सस्मरणत्रयी-विश्रामपथानुगामिनी बन रही है जिसका वदिपरिग्रहामक-१४ व कम्म से ही स व घ है—

चतुर्दशैतानि यजू षि भर्गि त । त्रयोदश मासा सम्त्सर प्रजापतिश्चतुर्दश ।
प्रजापतिरग्नि । यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा, तावतैवैनमतदन्नेन प्रीणाति-नमो नम
इति । यज्ञो वै नम । यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति । तस्माद् इ नायज्ञिय ब्रूयात्
'नमस्ते इति । यथा हैन ब्रूयात् यज्ञस्ते इति, तादृक तत्' ।

—शतपथब्राह्मण ६ का १।१।१६ क ।

(१४)—५

* * * * *

श्री

(१५)—द्रव्यमस्कारकर्म—प्रसङ्गत
स्त्री—स्वातन्त्र्यादि—कतिपय—

‘तथ्यपूर्णा—प्रसङ्गो का पारिभाषिक—सस्मरणा’

५

—*—

क) पत्नी—सन्नहनात्मक—कम्मानुगत—सस्मरणा—

यज्ञकर्म उस प्रकृतिसिद्ध आधिदैविक सौर पार्थिव (द्यावापृथिव्य) सम्व सरयज्ञ की प्रतिकृति है जिसका स्वरूप योतिष्चक्रा मक (खगो ना मक) पूरा सौर—मण्डल माना गया है। स पूर्ण सम्व सर मण्डल सूर्या—चन्द्रमसौ रूपेण दृश्य—अदृश्य—रूपेण—दो अण्डकट हो में विभक्त माने गए है जो क्रमश—सौर—अर्द्धा—काश चाद्र—अर्द्ध—आकाश—कहलाए हैं। अह कालानुगत—दृश्य—अग्निप्रधान—सौर—अर्द्ध अण्डकटाह के द्वारा पुरुषसृष्टि हुई है एव रात्रिकालानुगत—अदृश्य—सोमप्रधान—चाद्र—अर्द्ध—अण्डकटाह के द्वारा—स्त्रीसृष्टि हु है। यों एक ही आधिदैविक—सम्व सर—यज्ञेश्वर विभागा मक—अपने दोनों आकाशों से क्रमश पुरुष और स्त्री के स्वरूप प्रवक्तक बने हुए हैं। यों दोनों अपने अपने रूपों से अर्द्ध—अर्द्ध—ही यज्ञ हैं। पूर्णवज्ञ श्वर के साथ पुरुष तभी अन्तर्ध्याम—सम्बन्ध—स्थापित कर सकता है जब कि वह अपने अर्द्ध—रिक्त—चाद्र आकाश को परिपूर्ण करते। वह आकाश पूर्ण बनता है पनी के द्वारा ही जैसाकि सोऽयमाकाश पत्न्यापूयते से स्पष्ट है। पत्युर्नो यज्ञसयोगे रूपेण भगवान् पाणिनि भी पनी शब्द के द्वारा दाम्प—त्यमूलक—इसी यज्ञसम्बन्ध का समर्थन कर रहे हैं। सिद्ध है कि बिना पनी के पतिदेव कदापि यज्ञकर्म में अधिकृत नहीं होसकते। यों अनिवा यरूपेण यज्ञकर्म में यजमान के साथ यजमानपनी का भी समन्वय प्रमायित होजाता है। यज्ञकर्म में समाविष्ट यजमानपनी के अधोवस्त्र पर कटिप्रदेश में मूँब का योक्त्र नामक रज्जुबन्धनसूत्र बाँधना अनिवार्य माना है यज्ञकर्मरहस्यवेत्ताओं। यही योक्त्रबन्धनकर्म कहलाया है और तन्निबन्धन पारिभाषिक कर्म ही—पनीसन्नहनकर्म है जिसका स्पष्ट अर्थ है—पनी का सूत्रबन्धन से पारतन्त्र्य जिस इस तथ्य के आधार पर ही स्मृतिशास्त्र का—न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति यह वैज्ञानिक सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

विकृतिभावनिबन्धन प्र यज्ञदृष्ट—केवल पार्थिव—शरीरों के आधार पर ही मानवस्वरूप का पर्यवसान मान बैठने की भयावहता भ्रांति करने वाले आज के भूतसाम्यवादियों की दृष्टि में समानाधिकाररूप वह महान् व्यामोहन जागरूक होपड़ा है भूतसाम्यानुगामी प्रतीच्य जगत् के ससगजनित दोष के कारण जिस महान् व्यामोहन से व्यामुग्ध तदनुगामी मानव स्त्री के साथ परतत्र शब्द का स्वाप्लिक सम्बन्ध भी मानने के लिए

सन्नद्ध नहीं है। अतएव यज्ञकर्मानुबन्धी परतत्रताप्रवर्तक पनीसन्नहनकम्म आज के युग के लिए एक अमानवीय विधान ही बन सकता है किवा मान लिया जा सकता है। इसी प्रसङ्ग से तत्क मानुवधेन स्त्री स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य से सम्बन्ध रखने वाली उस समस्या का निराकरण प्रयास हुआ है जिसके द्वारा ही आज के समानाधिकार पक्षपातियों का मतोष कराया जा सकता है।

मानव के मन शरीर का मानवी के साथ आकस्मिक-साजिय ही मानव को सहकामचारी और मानवी को सहकामचारिणी बना देता है जिम इथभूत अमर्यादित-स्वैराचार को ही आज की भाषा में स्त्रीस्वातन्त्र्य और पुरुष-स्वातन्त्र्य-अभिव्यक्ति प्राप्त हो रही है जिसका मानव-मानवी के वास्तविक तत्र रूप-स्वरूप आमबुद्धिद्वेष के दाम्पत्य का यत्किञ्चिन् भी तो सम्भव नहीं है। मन शरीर मायमेन मानव के साथ होने वाला मानवी का आमबुद्धिनिबन्धन-श्रद्धादमूनक-सहज दाम्पत्य ही वास्तविक सम्बन्ध है जिस सम्बन्ध से अनुपायिता पनी ही-सहधम्मचारिणी कहलाई हैं जिसका-सहधम्मचरताम् से सम्मरण किया गया है। धर्माचरणानुगत प्रकृतिसिद्ध इस सहज दाम्पत्य में स्त्री और पुरुष दोनों ही अमुक्त मर्यादासूत्रों से आबद्ध रहते हैं जिस मर्यादासूत्र-बन्धन से ही दोनों के-स्व-स्व तन्त्र स्वस्वरूपत सुरक्षित रहते हैं। यही परतत्रतामक मर्यादासूत्र का निष्कर्ष है जिसके तत्पर्यय से अपरिचित प्रयत्न-प्रभावमूला भावुकता से उच्चजित मानव आज एकमात्र मन शरीरभावों पर ही मानव और मानवी का स्वरूप-पर्यवसान-मानता हुआ उस उच्छ्वन्न-अमर्यादित पशुसमतुलित-स्वराचार को ही स्त्रीस्वातन्त्र्य-और पुरुषस्वातन्त्र्य की सजा दे बैठा है जिस अथकाममूला इथभूता कापनिकी स्वतन्त्रता से ही मानव-मानवी-का सहजसिद्ध निःश्रेयसानुगत अभ्युदय संवत्सा ही पलायित होगया है। शेष क्या रह गया है? प्रश्न के दुःखपूर्ण इतिवृत्त का सम्मरण भी कथापि स्वच्छु पापानामलमश्रेयसे यत वाक्य का सम्मरण कर रहा है।

पुरुष और स्त्री के प्रकृतिसिद्ध स्वानुगत स्वतन्त्र तन्त्र के स्वरूप समवय के बिना स्वतन्त्र-परतन्त्र-शांति का पारिभाषिक समन्वय क्योकि-सम्भव नहीं है। अतएव तत्प्रकरण में सर्वप्रथम वैदिक-पारिभाषिक-निगमों के आधार पर इन दोनों के स्वरूप का ही स्पष्टीकरण हुआ है। तदाधार पर ही स्त्री-स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य के सृष्टिविद्यासमत श्रौत-तत्पर्ययों का अग्नि सोम विद्या के मायमे से समन्वय प्रयास करते हुए ही ऋतधर्मप्रधाना स्त्री के बाह्य-ऋतस्वरूप के सरत्क-मर्यादासूत्रानुगत पारतन्त्र्य-का स्पष्टीकरण हुआ है जो पारतन्त्र्य वस्तुगया स्त्री के बाह्य ऋतधर्म का स्वरूपरत्क बनता हुआ स्त्रीस्वातन्त्र्य का ही सरत्क है। और प्रस्तुत-पनीसन्नहनकम्मनुगत योक्त्रबन्धन से सम्बन्ध रखने वाले प्रासङ्गिक-तथ्य का यही सक्षिप्ततम-सम्मरण है।

* * * * *

(ख)-'नीरक्षीरविवेकयाय' अनुगत सम्मरण—

संस्कृतसाहित्य में नीरक्षीरविवेकयाय नामक एक न्याय सुप्रसिद्ध है जिसका उपयोग सदसक्षि-वेकशालिनी-प्रज्ञा के अतिशय के सम्बन्ध में ही देखा सुना जाता है। इस लोकप्रसिद्ध याय की आधारभूमि वैदिक-वह आन्यदर्शन कम्म ही माना गया है जिसका पनीसन्नहनकम्म से ही सम्बन्ध है। यज्ञ में

समाविष्टा यजमानपत्नी आज्यदर्शन करती है जिस के स्थितिबोधन-वैज्ञानिक-पारिभाषिक-तथ्य के आधार पर ही-नीरक्षीरयाय अमि यक्त हुआ है। तत्प्रकरण में इस न्याय के वैज्ञानिक रहस्य का ही स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है।

सस्मरणा मक-तत्-न्याय का नि कष यही है कि यद्यपि मानव और मानवी दोनों के ही पाञ्चभौतिक शरीरस्थानों की स्वरूपाभिव्यक्ति का मौलिक आरम्भणद्रव्य (उपादानद्रव्य) पारमेष्ठ्य नीर (सलिल-रूप अतृप्तभावपन्न-अपतव) ही है जैसाकि-आप पुरुषवचसो भवन्ति - सप्रमापोमय जगत् इ यदि अति स्मृति वचनों से प्रमाणित है। तथापि यह आश्चर्य है कि मानव का उपादानभूत नीर जहाँ क्षीर के आधान से वञ्चित रहता है हा एकमात्र मानवी के उपादानभूत-नीरभूत आपोद्रव्य में ही प्रकृति की ओर से सहजरूपेण उस क्षीर का आधान होजाता है जिस का उत्तररूप-आयद्रव्य (घृत) माना गया है। नीर में आहित क्षीर ही मानवी को मातृपद जननी पद-आरूढ करता है जो कि सृष्टिकर्म का अयमत महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है। इसी क्षीराधान के अतिशय से माता का स्थान पिता की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठतम मान लिया गया है।

क्षीरमय दुग्ध-सोमत्व है और इसी पारमेष्ठ्य-सोमत्व का नाम है वह वीध्र-मह ब्रह्म जिस के आधार पर ही चिदा मा अशरूपेण गर्भीभूत बना करता है। यों चिदा मा की गर्भाभिका अभिव्यक्ति का आधार भी सोममय महद्ब्रह्माभिव-क्षीरतव ही प्रमाणित होरहा है। सोमामक-क्षीर का वह पारमेष्ठ्य समुद्र ही क्षीरशायी पारमेष्ठ्य विष्णु की आवासभूमि माना गया है पुराणशास्त्र में। तदप्सु पयो हितम् रूप तत्प्रकरण का श्रुतवचन ही मातृभावानुगत-अप-रूप नीर में पयोरूप क्षीर के आधान का समर्थक बनता हुआ नीरक्षीरविवेकयाय का पर परया समर्थक प्रमाणित होरहा है और यही इन अत्यन्त रहस्यपूर्ण-तत्त्वा मक न्याय के वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण का सक्षिप्ततम-सस्मरणा है।

(१५) — ६

* * * * *

श्री

(१६)-आज्यगृहणकर्म-प्रसङ्गत

‘त्रिविध-यज्ञविज्ञान का स्वरूप-सस्मरणा’

७

क्रमप्राप्त-आज्यग्रहण नामक १६ व क्रम में तक मैतिकत यता के समवय के अतिरिक्त उस त्रिविध-यज्ञविज्ञान के पारिभाषिक-स्वरूप का ही स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है जिस के बिना विधि भाग नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मणग्रंथों में प्रतिपादित याज्ञिक-कर्मकाण्ड नवशिक्षित मानव की दृष्टि में सबथा ही अकिञ्चि कर प्रमाणित होगए हैं। आज का युग अहर्निश जिस सायस का उद्बोध कर रहा है उस का अर्थ याद विज्ञान मान लिया जाता है तो * इस भारतीय-पारिभाषिक-विज्ञान शब्द के मायम से सहसा उस आज की मौलिक-विज्ञान निबन्धना भाति की अभियक्ति समभव बन जाती है जिस का अधिदैवतानुगता ईश्वरीय-सस्था से एव अयासस्था से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। भारतीय-विज्ञान शब्द भारतीय शब्द है जिस के गभ में ही तत्त्वार्थ का पारिभाषिक-समवय निरूढ है एव यही भारतीय संस्कृत-वदिक शब्दों की वह रहस्यपूर्णा वज्ञानिकता है जिन का साम्य इतर भाषानुबन्धी यदृच्छामक-लौकिक-शब्दों से कदापि सम्भव नहीं है। प्रत्येक शब्द का वैज्ञानिक-चिन्तन पारिभाषिक-इतिवृत्त तत्त्व-शब्द के निर्वचनार्थक समवय से ही अनुप्राणित है। उदाहरण के लिए हृदयम् शब्द को ही लीजिए जिस का स्वरूप निर्माण-हृ-द्-यम् रूप तीन अक्षरों से हुआ है जिन का क्रमशः आगति-गति-स्थिति नामक तीन धर्मों से क्रमिक सम्बन्ध है। यों धर्मत्रयाच्छिन्न-यक्षरामक हृदयम् शब्द के द्वा-नुगत उस शक्तित्रयी की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है जिन के द्वाभिका आगति गति स्थिति लक्षणा शक्तित्रयी के सहसमवयमक केन्द्रबल पर ही वस्तुपिण्ड एव वस्तुमण्डल की स्वरूप स्थिति सुरक्षित रहा करती है।

ठीक यही स्थिति विज्ञान शब्द के साथ सम्बन्धित माननी पड़ेगी और इस दृष्टि से कदापि भूत विज्ञाननिबन्धन आज के प्रयत्नदृष्ट केवल सायस पर ही इस पारिभाषिक विज्ञान शब्द का विश्राम नहीं माना जासकेगा। भारतीय-विज्ञान शब्द के तथाभूत पारिभाषिक तथका शतपथ-प्रथमखण्ड की

* जिसप्रकार पारिभाषिक संस्कृति-सभ्यता-आदि भारतीय मौलिक-शब्द अन्वयानुकर यायेन कल्चर - सिविलाइजेशन आदि प्रतीक्य-शब्दों के आज पर्याय मान लिए गए हैं एवमेव विज्ञान शब्द जैसे पारिभाषिक शब्द को भी आज सायस शब्द का पर्याय माना जा रहा है जो कि पर्यायता सबथा आपातरमणीया ही माना जायगी।

प्रस्तावना में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है * । प्रकृत में तत्परिभाषा से उपनिषद्-त्रिविध-ज्ञान विज्ञानम् रूप विज्ञान शब्द से अनुप्राणित-वि उपसर्ग के विविधम् का-त्रि सन्ध्या वै देवा इस अनुगमवचन के अनुसार त्रिविधम् अथ मानते हुए प्रस्तुत आच्यग्रहणब्राह्मण में दैवत-आत्मिक-भौतिक-नामक त्रिविध-विज्ञानभावों का ही स्वरूप-समन्वय हुआ है जिसके समन्वय मक-पारिभाषिक-तत्वाथबोध के अनन्तर यज्ञकर्मनिबन्धता उन सभी आपातरमणीया भ्रातियों का आच्यतिकरूपेण निराकरण हो जाता है जिस निराकरण के बिना आज हमारी मानसी श्रद्धा ब्राह्मणग्रंथों में प्रतिपादित अभ्युदयससाधक यज्ञकर्मों की ओर से सवयव तटस्था बनती चली जा रही है ।

विज्ञान शब्द के उक्त समन्वयाथ का कदापि यह ताप्य नहीं है कि भारत के वैज्ञानिक-महर्षि भौतिक विज्ञाना मक-पदार्थविज्ञान के एव तन्निबन्धन भौतिक-आवि कारों के शत्रु थे किंवा आविष्कारों को निरर्थक मानते थे । यदि ऐसा होता तो कदापि सुप्रसिद्ध भौतिक विज्ञानाविष्कारक-ऋभु विभ्या राज आदि वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत विभिन्न भौतिक आवि कारों का स्वयं ऋक्सहिता में यशोप्रदान उपलब्ध ही नहीं होता । एतदतिरिक्त-दिशि च भुत्रिचाप्याहृतगति रूप विमानविशेष आकाश में सञ्चरण करते हुए ही एकत्र स्थितिभाव में परिणत हो जाने वाले अद्भुत विमान ह र्यश्व-सौम-आदि अ यान्य आविष्कार भी इसके प्रयत्नतम दृढतम-प्रमाण हैं कि भारतीय-ऋषिप्रज्ञा केवल अधिदैवत तथा अ याम के सुसूक्ष्म-क्षेत्रों पर ही विश्रान्त नहीं थी । अपितु इसका आधिभौतिक-अभ्युदय पर भी समानाधिकार था । ज्ञानकाण्ड प्रधान-अध्या मपरीक्षाप्रधान स्वयं उपनिषा-छास्त्र ने भी अ यामविद्या के साथ ही अरिभूत की भी महती उपयोगिता स्वीकार की है और अरिभूत को ही मानव के अभ्युदयानुगत-नि श्रयस-का अयतम माध्यम उद्घोषित किया है जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्टतरूपेण प्रमाणित है—

इह चेदवेदीत् अथ सत्यमास्त, न चेदिहावेदीत्-महती विनष्टि ।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्मान्लोकादमृता भवति ॥

—केनोपनिषदि—

यह सब कुछ मानते हुए भी हम भारतीय विज्ञानकाण्ड को निराधाररूपेण केवल इस भूतजगत् पर ही परिसमाप्त इसलिए नहीं कर देते कि केवल भूत ही मानव के लिए सवस्व नहीं है । यही नहीं दैवता नुगत-अ याम की मूलप्रतिष्ठा से वञ्चित विशुद्ध भूतवाद तो मानव को ता कालिकरूपेण दुष्ट-पुष्ट-करता हुआ भी अन्ततोग वा इसके सवनाश का कारण ही बन जाया करता है । केवल भूतानुगता-लोक-वितैषणा सक्रिनिबन्धना इथभूता परिणामवृत्ति के कारण ही ऋषिप्रज्ञा ने इस भूतविज्ञान को अधिदैवतानुगत-अध्या म विज्ञान से नियन्त्रित कर देना अनिवाच्य समझा है और दैवत तथा आत्म-विज्ञानद्वयी से नियन्त्रित मर्यादित सञ्छन्दस्क उस भूतविज्ञान का ही पारिभाषिक नाम है-यज्ञविज्ञान जिसे ऋषिने-श्रेष्ठतमाय

* इस विषय का स्वतंत्र-विवेचन- भारतीय-दृष्टिकोण से विज्ञान शब्द का समन्वय नामक एक स्वतन्त्र लघुपुस्तिका के रूप में भी सस्थान के द्वारा प्रकाशित हो चुका है ।

— विशद वैज्ञानिक-समन्वय के लिए देखिए केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य ।

कर्मणो (यजु स०) मन्त्रभाग का अर्थ करते हुए— यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म (शतपथब्राह्मण) रूपेण श्रेष्ठतमकर्म सज्ञा से समवित किया है ।

प्रवर्तित भूताग्नि में आ य (घृत) तिल—यव—तण्डुल पुरोडाश पशुवपा—आदि—आदि द्रव्य विशेषों की आहुति—प्रदान से अनुप्राणित लोकप्रसिद्ध यज्ञकर्म पर ही यज्ञ का वैज्ञानिक—पारिभाषिक—स्वरूप उपरत नहीं है जसाकि केवल भूतदृष्टि—परायण अमुक प्रतीय वद-याख्याताओं तथा तद धानुकरणकर्ता अर्वाचीन नवशिक्षित भा तीर्थोंने मान रक्खा है । अपितु यज्ञविज्ञानानुगत यज्ञकर्म तो इस पञ्चमहाभौतिक विश्व का प्रकृतिसिद्ध वह अटल—विधान ^३ जिस प्राकृतिक यज्ञरूप आधिदैविक ईश्वरीय यज्ञ से ही अ याम यज्ञ की अभिव्यक्ति हुई है एव उसी के आधार पर ठीक उसी के नियमोपनियमों के अनुरूप भारतीय—द्विजातिवर्ग के द्वारा अनुष्ठीयमान आ धमौतिकयज्ञ का स्वरूप—वितान हुआ है जैसाकि चौहव सस्तरण—प्रसङ्ग में भी स्पष्ट किया जा चुका है ।

मौलिकतव की पारिभाषिकी—सज्ञा है— ब्रह्म एव योगिकतव की पारिभाषिकी—सज्ञा है— यज्ञ । तस्मात्सवगत ब्रह्म नि य यज्ञे प्रतिष्ठितम् (गीता) इत्यादि भगवद्बचन के द्वा । अ य त रहस्यपूण इहो ब्रह्म और यज्ञ भावों की ओर सङ्कत हुआ है । अनेक मौलिक तवों के अत्यर्थात्मा मक—(रासायनिक—) सम्मिश्रण से अभि यक्त अप्रवभाव ही यज्ञ का सन्निहिततम स्वरूप—परिचय है । स पूण विश्व विश्व क चर अचर यन्त्रयावत् पदार्थ जिस प्रकृतिसिद्धा बलअस्थितिबधना प्रक्रिया क आधार पर अभि यक्त हुए हैं उस प्रक्रियाविशेष का नाम ही यज्ञ है जिसके वज्ञानकोने दृष्टिकाणभेद से अनेक लक्षण किए हैं * ।

प्र यज्ञदृष्ट—आध्यात्मिक—प्राणिशरीरों में अमुक प्रकार के अवयवसंस्थान क्यो—और कैसे बन जाते हैं ? अमुक बीजों के वपन से वृक्षामक स्वरूप की अभि यक्ति कसे होजाती है ? तरलद्रव्याहुति से घनभावा पन्ना प्रजा कसे उ पन्न होती है ? इ यादि सृष्टिविषयक—य चयावत् प्रश्नों का प्रकृतिसिद्ध—जिस रहस्यपूण विज्ञान से सम्बन्ध है उसी सृष्टिविज्ञान का नाम है यज्ञविज्ञान जिसे अपनी कापनिकी अथ्या मभावना में आसक्त होने वाले भारतवर्ष ने अमुक शताब्दियों से कार्त्तिक ही जगमिथ्याव के व्यामोहन से व्यासुग्ध होते हुए सवधैव विस्मृत कर अपना सवनाश ही करा लिया है । और आज अपने लोकप्रशानामक लोकानुरञ्जक मात्र प्रदर्शनविशेषों को ही अमुक मामयिक प्रदर्शनों की भाँति यज्ञ कहते हुए ही भारतवर्ष अपनी रहस्यपूर्ण यज्ञविद्या का मानो स्वय ही उपहास कर रहा है ।

यज्ञविद्या कैसी रहस्यपूर्ण है ? प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में उदाहरणमात्र के लिए सुप्रसिद्ध यज्ञविज्ञानवेत्ता महर्षि स्वैदायन के उस पावन प्रसङ्ग की ओर ही हम अपने वेदप्रमी पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चा ते हैं जिनके प्रसङ्ग में तद्युग के सुप्रसिद्ध महर्षि गोतम के सम्मुख महर्षि स्वैदायन के द्वारा आ यामिक यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक जैसे प्रश्न उपस्थित होपडे हैं सम्भवत आज के प्रबुद्धतम भी भूतविज्ञान के लिए भी व प्रश्न असमाधेय ही बने रह सकते हैं ।

*—(१) अग्नौ सोमाहुतिर्गज्ञ

(२)—वाचश्चिन्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञ

(३)—अन्नोक्तप्राणानामयो न्यपरिग्रहो यज्ञ

—इत्यादि

उदाहरणोपस्थिति इसलिए आवश्यक समझी गई है कि आज हमारे स्वतंत्र-भारत के स्कूल-कॉलेजों में भी प्रतीय शिक्षाप्रदति के अ धानुकरणानुग्रह से भूगोल-इतिहास-आदि के जो भी पाठ्यग्रन्थ नियत हैं उनमें वेद यज्ञ आर्य्य अनाय्य आदि श दो के माध्यम से उन्ही धारणाओं का यशोगान होरहा है तन्त्रणरजोऽनुवर्ती भारतीय अर्वाचीन विद्वानों के द्वारा जिनका ि विशुद्ध राजनैतिक स्वार्थ-साधन के लिए ही उन चाणाच्चतुर प्रतीय-विद्वानों के द्वारा शिक्षाय त्र में बलपूर्वक समावेश हुआ था ।

आर्य्य लोग वेद को पवित्र ग्रन्थ मानने हैं अग्नि-वायु मेघ-आदि प्रकृति के पदार्थों से प्रभावित होकर इनकी स्तुति करते हैं आग म अमुक पदार्थ डाल कर इन देवताओं को प्रसन्न करते हैं । इन्हीं प्राकृत पदार्थों की स्तुति पूजन के द्वारा आगे जाकर बहुत पीछे उपनिषत्काल में आर्यों को एकेश्वरवाद का बोध हुआ इत्यादि रूपेण स्वयैव आतिपूर्ण वैसे कुसस्कार भारतीय-भावुक प्रज्ञा में ज मत ही उस सीमाप यत् दृढमूल कर दिए जाते हैं जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप वह सदा-सदा के लिए स्वसंस्कृति-साहिय स यता-आदि को शून्यत् मानता हुआ उस ओर से न केवल तटस्थ ही बनकर विश्राम ग्रहण कर लेता अपितु प्रतीय जगत् की तत्कालाक्षणमूला चाकचिक्ययुक्ता प्रदर्शनप्रदति से निरतिशयरूपेण प्रभावित होता हुआ अपने पुरातन सनातन-अतएव शाश्वतीभ्य-समाभ्य-नवीन-नवीन-तम मी ज्ञानविधाना मक-गौरव के प्रति प्रतिक्रियावादी ही बन जाता है । इसी प्रतिक्रियावाद का यह भीषण परिणाम है कि आज के स्वतंत्र-स्वतंत्र भारत की प्रभुसत्तासमर्था भी प्रजा अपनी तथोक्ता प्राया ज्ञान विज्ञाननिधि की पुनरभिव्यक्ति के प्रयास के स्थान में-पुराना सब मडा गला है हमें सब कुछ नवीन ही निर्ममाण करना है इसप्रकार के अनगल-मत्त प्रलापो की ही अनुगामिनी बननी हुई है जिससे बड़ा सांस्कृतिक अध पतन इसका ओर क्या होगा ? ।

हा तो उस पुराने-सड़ गले ? यज्ञविज्ञानानुबन्धी-एक यज्ञिय-उदाहरण की ओर ही आज के तरोताजा-वादियों की युगधम्म निबधना उस महती ? प्रज्ञा का ध्यान हम आकर्षित करना चाहेंगे जिन नवीनतावादियों की स्वतन्त्रा विशाला अच्छन्दस्का दृष्टि में भारत के प्रज्ञाकोश में केवल रुढिवाद के अति रिक्त तात्विक ? विज्ञान ? से अनुप्राणित कुछ भी तो दायद शेष नही है आज के स्वसमृद्ध ? भूतविज्ञान के समतुलन में ।

सुप्रसिद्ध पश्चिमोत्तरदेश पञ्चनद (पंजाब) में एकवार उस युग के सुप्रसिद्ध यज्ञकर्म्मनिष्ठ अरुणपुत्र अतएव आरुणि इस उपनाम से लोक में प्रसिद्ध भगवान् उदालकि (जो कि अपनी प्रचण्डा दुष्टर्षा विद्वत्ता के कारण स्वतन्त्र परिषत् का सञ्चालन करने के कारण ब्रह्मा उपाधि से समलङ्कृत थे) यज्ञ के ब्रह्मा पद के लिए सकपित होकर पधारे । वहाँ उस प्रान्त में महर्षि स्वैदायन नामक अध्यामयज्ञरहस्यवेत्ता विद्वान् से उनकी प्राथमिक भेट हुई और स्वैदायन प्रश्न करने लग पडे त काल ही इस रूप से कि- श्रीमान् ! उसै विदेश में ब्रह्मा रूप से वृत होकर आने का साहस करना चाहिए जो निम्नलिखित प्रश्नों का वैज्ञानिक समाधान करने की क्षमता रखता हो कि-

(१)-त्रतलाहए ! दशपूर्णासास में आठ पुरस्ताद् आर्य्यभाग पाँच मध्यत षट्-प्राजापत्यभाग उपरिष्ठात्-आठ आ यभाग इस क्रमसख्या-विषय्य का क्या तात्विक रहस्य है ? ।

(२) उपन्न शिशु के दाँत क्यों नहीं उपन्न होते ? उपन्न होने के अनन्तर अमुक अवधि में दाँत क्यों उपन्न होजाते हैं ? पुन बालावस्था में क्या टूट जाते हैं ? पुन क्यों उपन्न होजाते हैं ? और वाद्द क्य में टूट कर पुन क्यो नहीं उपन्न होते ? ।

(३)—उपन्न शिशु के बाल भूर पुन काले और पुन सफेद क्यों होजाते हैं ? ।

(४)—उपन्न बालक में रेतोद्रव्य क्यों उपन्न नहीं होता ? पुन कैसे उत्पन्न होजाता है ? और वाद्द क्य में यह उपादन क्यो अवरुद्द होजाता है ? ।

(५) क्या आप योतिर्मयी उस गायत्री का स्वरूप जानते हैं जो यज्ञकर्त्ता यजमान की स्वगति का कारण बन जाती है ? ।

तथोक्ता प्रश्नपर परा का उत्तर देने में आपने आपको असमर्थ अनुभूत करने वाले ऋजुप्रश्न महाभाग आरुणि त काल समिध लेकर शिष्यबुद्धि से प्रणतिपुरस्सर महर्षि स्वदायन के स मुख उपस्थित होजाते हैं और ब्रह्मा पद के लिए उपलब्धा अमुक सुवर्णराशि को प्रदान करते हुए यही आवदन करने लग पड़ते हैं कि—

‘अनूचान स्वैदायनासि ! सुवर्णं वाव सुवर्णावदे ददतीति । तस्मै ह निष्क प्रददौ’ ।

—शतपथब्राह्मण ११।४।१।

महर्षि स्वैदायन प्रकृतिसिद्ध निःय-यज्ञ के तवानुगत-सम्मिश्रणों के तारतम्य से अनुप्राणित यज्ञ-रहस्य के आधार पर ही उक्त प्रश्नों का जो पारिभाषिक स्वरूप अभिव्यक्त करते हैं वह भी आज हमारी भावुक प्रज्ञा के लिए एक समस्या ही प्रमाणित हो रहा है इसलिए कि दुर्भाग्यवश आज हम उन याज्ञिकी पारिभाषाओं के ज्ञानविज्ञाना मक-अथबोध से सवथा ही विदूर चले गए हैं । यही कारण है कि महर्षि-स्वदायन के त समाधानवचनों से भी हम अमुक वास्तविक त य पर नहीं पहुच पाते । और परिभाषाज्ञान से वञ्चित होजाने के कारण वेदशास्त्र के इ थभूत उत्तरा मक सन्दर्भ भी हमारे लिए समस्या ही बने रह जाते हैं । क्योंकि इन वैध मनुष्यकृत - यज्ञा मक-कर्मों के भौतिक-पदार्थों के आधारभूत अधि दैवत के प्राणा मक सूक्ष्म-तत्वों से अनेक शतादियों से अस्मदादि सामान्य जनों की कौन कहे विद्वत्प्रज्ञा भी वञ्चित ही होती आरही है जिस प्रवञ्चना का एक अय प्रामाञ्जिक उदाहरण से स्पष्टीकरण किया जा सकता है ।

मनुष्यकृत वैध-यज्ञ में अग्नि में अमुक देवता के लिए दी जाने वाली आ-याहुति (धृताहुति) के स बंध में तत्र सप्रवेत याज्ञिकों में प्रसङ्गवश वैज्ञानिकी चर्चा उपक्रान्त होपड़ती है और एक याज्ञिक से अमुक अन्य याज्ञिक प्रश्न कर बैठता है कि आहुति तो दी जाती है अनस्थिमत्-तरलद्रव्य की और उपन्न होता है अस्थिमन्

प्राणी । ऐसा क्यों और कैसे सम्भव हुआ ? । उत्तर मिलता है यज्ञविज्ञान-रहस्यवेत्ता याज्ञिक के द्वारा यही कि आ यद्रव्य यद्यपि तरलवेन अवश्य ही अनस्थिमद्द्रव्य (बिना हड्डी वाला घनताशून्य) है । तथापि कर्माणि इस आज्य में— हिरण्यशकल निधाय जुहोति अर्थात् घनभावापन्न-अस्थिमद्द्रव्यरूप सुवर्णखण्ड रण कर तत्सहित आय की आहुति दी जाती है अतएव आज्य जैसे तरलपदार्थ से भी उपजा प्रजा में अस्थि-रूपा घनता की भी स्वरूप निपत्ति होजाती है ।

क्या समझे उक्त उत्तर से हमारी पारिभाषिक-बोधशून्या भावुकप्रज्ञा ? । याज्ञिकों का प्रश्नोत्तरस दम्भ अधिभूतदृष्ट्या भी समन्वित है एव अधिदैवतदृष्ट्या भी । यज्ञिय द्रव्याहुति से अपूर्व दैवामप्रजा की अभियक्ति होती है यह एक रहस्य पूरा याज्ञिक-विषय है जिसका प्रस्तुत शतपथभा य में पाठक यत्र तत्र सत्त्वेप और विस्तार से स्वरूप विश्लेषण देखगे । दृष्टि आय पर है लक्ष्मीभूत है—तरलधर्मा-आपोमय-वह रेतो द्रव्य (शुक्रद्रव्य) जो रजोभाग के साथ रासायनिक-सम्मिश्रणावस्था में आता हुआ प्रजोपत्ति का कारण बनता है । शुक्र-पार्थिव तरलद्रव्य अवश्य है किंतु इसमें घनतासम्पादक-सौर सार्वत्रानिरूप वह तेज भी समाविष्ट रहता है जिसके समावेश से ही तरल भी शुक्र स्वगर्भाभूत सौर हिरण्यतेज से घनता (अस्थि) का प्रवर्तक बन जाता है । मनुष्यकृत वधयज्ञ में तरल शुक्रद्रव्य का प्रतिनिधि तरलभावापन्न आयद्रव्य है तो तत्रस्थ हिरण्यशकल (सुवर्णखण्ड) घनभावापन्न द्रव्य का प्रतिनिधि है । या प्रश्नोत्तर प्रसङ्ग का सवथा समन्वय होजाता है ।

यदि हम आय का केवल भौतिक आय पर ही तथा हिरण्यशकल का केवल भौतिक-सुवर्ण खण्ड पर ही विश्राम मानते रहें तो शतजर्मों में भी इस समस्या का निराकरण सम्भव न हो । क्या इ यभूता मान्यता का मानवीया कपना से संबध है ? नहीं कदापि नहीं । स्वयं वेदशास्त्रने ही प्रकीर्णरूपेण रेतो वै आयम्— हिरण्यमेन सविता रथेनादेव इ यदि अनुगम निगम-वचनों के द्वारा पारिभाषक उन तथ्यों का स्पष्टीकरण कर दिया है ।जसके बोध से हम आज वञ्चित इसलिए होगए हैं कि हमारा वेदशास्त्रानुगत अध्ययनपथ वैकिक शर्दों के माध्यम से अयनपथ न रह कर साम्प्रदायिक पथ ही बन गया है । पहिले हम असुक सम्प्रदायविशेष के आवेश में आविष्ट होकर तदनुरूप अपनी मान्यताएँ स्थिर कर लेते हैं । तदनन्तर इस मान्यता के रङ्ग से रञ्जित चक्षु से ही हम वेदशास्त्रावलोकन में प्रवृत्त होने का मानो निःसीम अनुग्रह ही करते हैं सो भी चञ्चुप्रवेश यायेनैव । क्रमबद्ध-पारम्परिक एकतानतारूप अतिमानवर्जित स्वाध्याय का गुहानिहितवृथा आत्यंतिक अभाव एव साम्प्रदायिक-आवेशपूर्णा मायता में पूर्ण अभिनिवेश और तन्निबधन बुद्धिवाद आदि आदि कारण ही हमें विद्यमान भी पारिभाषिक तव-सन्दम्भ से आज पराभरावत ही बनाए हुए हैं जसकि उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् इत्यादि मन्त्रमाध्यम से आवेदन के सन्दर्भ में भी निवेदन किया जासुका है इ यलमतिपल्लवितेन-याज्ञिक उदाहरण-निदर्शनेन ।

प्रकृत में निवेदनीय यही है कि वैव-यज्ञकम्म भारतीय-विज्ञानकाण्ड का आचारनिष्ठात्मक-वह महान् स्तम्भ है जिसे केवल पूजन हवन-पाठ-पारायणादि-ब्राह्म-प्रतीकों पर ही परिसमाप्त नहीं कर दिया जा सकता। जो ऐसा करते हैं वे यज्ञकम्म के अथवा म-अभिदवत-निबन्धन प्रतिष्ठास्त्रों से सर्वथैव अपरिचित माने जायेंगे और वैसे केवल भूतवादी-बहिरङ्गलक्षणवादी-याज्ञिकों की कृपा से ही यज्ञकम्म जैसा वैज्ञानिक कम्म भी आज इतर-लौकिक-प्रदर्शनों की भाँति प्रदर्शनमात्र ही बना रह गया है। इसी का-वालीकृता भ्रान्तिपूर्णा धारणा के निराकरण के लिए आज्यग्रहणकम्म प्रसङ्गत भगवान् याज्ञवल्क्य ने यज्ञविज्ञाननिबन्धन आधिदैविक-आध्यात्मिक आधिभौतिक भेदेन त्रिधा विभक्त यज्ञविज्ञानों का स्वरूप-विश्लेषण किया है जिसके माध्यम से यज्ञकर्मानुगतता उन सभी का पानिकी भ्रातियों का सर्वथा ही विलयन होजाता है जिन का पानिकी भ्रान्तियों से ही यज्ञकम्म जैसा प्रजासग का मूलभूत-इष्टकामधुक-(सवलौकिक-कामनापूरक (न तु इच्छापूरक) * महतोमहीयान् भी कम्म आज उपहास का ही मायम प्रमाणित किया जा रहा है इत्यल-त्रिविध यज्ञानुगत सस्मरण प्रसङ्गन।

१६—(७)

* * * *

*—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्वध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक ॥

—गीता

श्री

(१७)-इध्म-परिध्यनुगत-कर्म-प्रसङ्गत
'प्रस्तरग्रहणाकर्मनुगत शिखाधारणात्मक-
स्मरण'।

८

क्रमप्राप्त तथोक्त नामक १७ व कर्म में अनेक अवान्तर कर्मों का स्वरूप-समन्वय हुआ है जिनमें एक कर्मविशेष का नाम है प्रस्तरग्रहणाकर्म । इसी कर्म के प्रसङ्ग से भगवान् याज्ञवल्क्य ने भारतीय आर्षमानव की यज्ञकर्मनिबन्धना-सनातनसंस्कृतिमूला उस शिखा के प्रतीकात्मक आधिदैविक-विज्ञान का भी स्पष्टीकरणानुग्रह किया है महतोमहीयान् जो शिखा मक सांस्कृतिक प्रतीक आज अ या य सांस्कृतिक परिचय चिह्नों के विस्मरण की भाँति भारतीय प्रजा के लिए विशेषतः प्रती यशिक्षाग्रहप्रस्त नवशिनितो के लिए तो सर्वथव उपेक्षणीय ही प्रमाणित होचुका है—केशसनिवेश गुच्छरूप कवरी भाव * के स्त्रैणभावानुबन्धी महतो महीयान् वारुणपाशब धन के अनुग्रह से ही ।

सचमुच यह अ यत् ही आश्चर्य का विषय है कि आज का भारतीय-मानव विशेषतः नवशिक्षाया दीक्षित मानवश्रेष्ठ जहाँ पश्चिम की सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य-प्रतीकात्मक य चयावत् सभ्यता-सूचक परिचयचिह्नों के साथ अ यन्त श्रद्धापूर्वक (तमोबहुला अ धश्रद्धा से ही समन्वित) समालिङ्गन करते रहने में अपना भौतिक-तन-मन-धन्य-कृतकृत्य ही अनुभूत करता रहता है प्रतिक्षण उसी मानवश्रेष्ठ की दृष्टि में भारतराष्ट्र की संस्कृति तथा सभ्यता से अनुप्राणित वे सभी-प्रतीकात्मक-परिचायक-चिह्न केवल उपहास के ही क्षेत्र बने हुए हैं जिन भारतीय प्रतीकात्मक चिह्नों के साथ प्रतीय-जगत् के सभ्यता परिचायक प्रतीक चिह्नों की भाँति केवल बाह्यदृष्टि का ही सम्बन्ध नहीं है अपितु निदानविद्यानुगत जिन भारतीय-बाह्य-प्रतीकों के साथ विज्ञानसिद्ध आभ्यन्तर-प्राणभावों का भी निकटतम सम्बन्ध बना हुआ है धम्मलक्षणवत् ।

अपनी ग्रीवा में अमुक प्रकार के मृयुपाशबन्धनात्मक-बाह्य-प्रतीक को (टाई को) अहर्निश अपना गलग्रह बनाए रखने वाले आज के सुसभ्य भारतीय मानव ने स्वप्न में भी यह तर्क नहीं उठाया होगा कि

इस गलपाशबन्धन में ऐसा कौनसा परम वैज्ञानिक लाभ है जिसके कारण यह हमारा आराध्य बन बैठा है ? ।

उसी सुसभ्य भारतीय की वैज्ञानिकी ! दृष्टि में आज उन भारतीय सभी प्रतीकात्मक-नैदानिक-परिचय चिह्नों के सम्बन्ध में इत्थंभूत तर्कप्रवाह प्रचण्डरूपेण जागरूक होपडा है कि - मस्तक कर्मों नहीं उधाका

* कवरी भाव अर्थात् लोकभाषानुसार- कवरीबाल ।

ही रक्खें ? शिखा रखने का क्या अर्थ ? तिलक लगाने का क्या प्रयोजन ? । उदाहरणमात्र है । भारतीय सस्कृति-सभ्यता से अनुप्राणित सभी विधि-विधानों के प्रतीकात्मक नैदानिक-लक्षणो-परिचायक चिह्नों के सम्बन्ध में आज वह स्वयं भारतीय ही वैसा महान् तकवादी बन गया है जिसे पश्चिम के प्राणाधार शून्य-केवल बाह्य भूतप्रधान-परिचायक चिह्नों के सम्बन्ध में कदापि क्यों ? कैसे ? आदिरूप तर्कों का स्मरण भी तो नहीं होपाता । इससे बड़ी आत्मप्रतारणा अपनी वञ्चना से भवत भारतीय मानव के अतिरिक्त अन्य किसी भी राष्ट्र का स्वराष्ट्राभिमान नै ठक मानव नहीं ही करता होगा ।

तथाविध भारतीय-सास्कृति-परिचय-चिह्नों शिखाधारण का कैसा और क्या अर्थ (प्राणात्मक) बाह्य (भूतात्मक)-नैदानिक-महत्त्व है ? प्रस्तरग्रहणात्मक कुशमुष्टिग्रहणरूप कम्मविशेष के प्रसङ्ग में स्वयं वदपुरुषने-यज्ञो वै विष्णु । तस्य-इयमेव-शिखा -इत्यादि रूपेण-भारतीय सभ्यता के समृद्धन्य उस-शिखा (चोटी) रूप महतोमहीयान् प्रतीक का ही स्वरूप-समन्वय किया है जिस परम सास्कृतिक इस शिखा रूप अचह के नामस्मरण को भी आज का नवीन-प्रज्ञ भारतीय-मानव व्यथित-निम्मूल-तर्काभासों को अग्रणी बनाता हुआ उद्वेगकर ही मान रहा है । तदुद्बोधनायैव तत्प्रकरण में हमने प्रस्तर रूप नैदानिक शिखाभाव के पारिभाषिक-उस प्राणनिबन्धन कारण के स्वरूप स्पष्टीकरण का प्रयास किया है जिस के मायम से अवश्यमेव हम भारतीय अपने प्रतीकचिह्नों की निन्दा करने से तो उपरत हो ही सकते हैं इसी उदाहरण-स्मरण के साथ प्रक्रान्त निदर्शन उपरत हो रहा है ।

[१७]—८

* * * * *

श्री

[१८]- सामिधेयनुवचनकर्म-प्रसङ्गत
'सङ्गीतानुगत-विशेष-उदाहरण'
का-सस्मरण

६

—*—

सामिधेयनुवचनकर्म नामक महतोमहीयान् याज्ञिक कर्म की इतिक्त यता का स्वरूप विश्लेषण शतपथ के चार-ब्राह्मणों में हुआ है जिस में प्रधानकर्मप्रसङ्गत अनेक-रहस्यपूर्ण-वैज्ञानिक-विषयों का स्वरूप सम-वय प्रयास हुआ है। प्रस्तावनानुगत अस किञ्चिद्विषय आग्नेय का कलेवर क्योंकि विस्तार पथानुगामी बनता जा रहा है। अतएव ब्राह्मण-चतुष्टया मक सामिधेयनुवचनकर्म से अनुप्राणित अनेक-पारिभाषिक-तयों में से सङ्गीतानुगत-एक विशेष उदाहरण का स्वरूप-सस्मरण ही इस क्रम-यवस्था में पर्याप्त मान लिया गया है।

सङ्गीतोदाहरण के साथ विशेष शब्द का सम-वय हमने अपनी ओर से ही किया है युगधर्मा-नुवचन से जबकि श्रुति के तो सभी प्रासङ्गिक तथ्य अपने अपने विभिन्न-दृष्टिकोणों से विशेष ही प्रमाणित हो रहे हैं। युगधर्म-निबधना वह ऐसी कौनसी विशेषता है जिसके अनुवचन से हमने सङ्गीतो-दाहरण को अपनी ओर से विशेष-उपाधि दे डाली? प्रश्न का समाधान-सांस्कृतिक? आयोजन नाम्ना सुविरचिता युगधर्मनिबधना आज की उस सांस्कृतिकी? प्रवृत्ति से ही सम्बद्ध है जिसमें नृत्य गीत-गद्य-मक सङ्गीत ही प्रमुख बना हुआ है और आज के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारत की प्रशुसत्ता समर्था स्वतन्त्रतमा प्रज्ञा की दृष्टि में इ-थभूत सङ्गीत ही प्रमुखरूपेण भारतीय-संस्कृति का विशेष मापदण्ड बना हुआ है। इसी वक्त मानाभिनन्दन की दृष्टि से हमने श्रुति के सङ्गीत मक उदाहरण को विशेष उपाधि से समलङ्कित कर दिया है इस सस्मरण प्रसङ्ग में।

नृत्य गीत वाद्य-समन्वया मक सङ्गीत से अनुप्राणिता वक्त मानयुगानुवचिनी महती सांस्कृतिक? प्रवृत्ति का समस्त उत्तरदायित्व केवल वक्त माना स्वतन्त्र-स्वतन्त्रा-प्रज्ञा से ही अनुप्राणित मान बैठना तो अ-याय ही होगा। क्योंकि विगत अमुक-कतिपय-शताब्दियों से भारतराष्ट्र के प्राच्य-संस्कृतिनिष्ठ? अमुक श्रेणि के विद्वान् भी परानुरञ्जन को ही अपने चरम पाण्डित्य की निरतिशया-सफलता मानते हुए सङ्गीत को एव तत्सहयोगी क पनाप्रधान शङ्काररसादि-समाप्लुत साहित्य को एव मनोविनीद-परिशिष्ट-स्थानीय-कला को इन तीनों को ही मानव की मानवता का महतोमहीयान् वैसा मापदण्ड मानते आ रहे हैं बड़े ही गौरव के साथ जिस तथाकथित साहित्य सङ्गीत-कला त्रयी के बिना उन विद्वानों

की दृष्टि में मानव मानव न होकर पुच्छ-विषाण-हीन (बिना पूँछ सींग) का एकप्रकार का पशुविशेष ही है * । इन परम सांस्कृतिक ? विद्वानों की मानवता ? पूर्णा-विशाला ? दृष्टि में तो साहित्य सङ्गीत-कला-त्रयी से शून्य मानवों का बिना घास फूस के जीवित रहता पशुओं की भाग्यशालिता का ही परिचायक है ।

अर्थात् इस त्रयी से शून्य मानव और पशु में विद्वानों की दृष्टि में यही एकमात्र भेद शेष रह जाता है कि पशु घास चारा खाकर जीवित रहते हैं । और ऐसे त्रयी शून्य (साहित्य-सङ्गीत-कला-शून्य) मानव बिना घास-फूस के ही जीवित रह जाते हैं जिस में भी पशुओं के भाग्यवाद का ही महत्व माना जायगा । जो भारतीय प्रायः विद्वानों की दृष्टि में भी सङ्गीत एक विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त करता हुआ प्रतीत हो रहा है अपने महान् सम्बन्धी साहित्य तथा-कला परिग्रहों को स्व क्रीड में प्रतिष्ठित रखता हुआ । वही विद्वत्प्रवृत्ति आज के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारत में स्वतन्त्र सत्ताधीशों के महतो महीयान् अनुग्रह से ही सङ्गीत-कला और अशत साहित्य-रूपेण-सर्वाङ्गीण-रूपेण अभिव्यक्ति होपड़ी है जिसे आगर बनाकर ही उदाहरणरूपेण हमें तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देना है एक विशेष ही तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए जिस विशेष-तथ्य का साहित्य सङ्गीत कला रूपा त्रयी से सर्वात्मना-ऐकान्तिकी-प्रतिद्विद्विता रखने वाली उस त्रयीप्रिया स ही सम्बन्ध है जिस के नैष्ठिक उपासक भारतीय ब्राह्मण के लिए तो साहित्य-सङ्गीत-कला-मिका-त्रयी सर्वथा न केवल निरपेक्षा ही अपितु आगला एव मालिन्य नामक घोरघोरतम मानसिक-शारीरिक भयानक दोषों की प्रवृत्ति की दृष्टि से उपेक्षणीया अतएव निषिद्धा ही उद्घोषित हुई है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा ।

क्या ऋषिप्रज्ञा साहित्य-सङ्गीत कला-रूपा लोकप्रसिद्धा त्रयी स शत्रुता रखती है ? इस महत्वपूर्ण प्रश्न के समाधान का अत्र अवसर नहीं है । इसी प्रश्न की स्वरूप-मीमांसा के लिए हमें एक स्वतन्त्र-निबन्ध उपनिबद्ध करना पड़ा है । अतः तद्द्वारा ही तत्प्रश्न के नीरक्षीरविवेक से सांनिध्य प्राप्त करना चाहिए—साहित्य-सङ्गीत-कला-पर ही भारतीय सस्कृति की इतिश्री मान बैठने वाले महानुभावों को — । प्रकृत उदाहरणामक-सस्मरण-प्रकरण में तो केवल-सङ्गीत के सम्बन्ध में ही हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं ।

सामिधेनीकर्म में जिन सामिधेनी ऋचाओं का अनुगमन होता है होता नामक ऋषिक के द्वारा उन ऋचमन्त्रों के साथ हिङ्कार का सम्बन्ध अनिवाच्य माना गया है जो कि हिङ्कार सामगान का मूलाधार ही माना गया है जैसाकि नासामा हिङ्क्रियते इत्यादि वचन से स्पष्ट है । सामिधेयनुवचन कर्मानुगत सामगानाधारभूत इस हिङ्कार के पारिभाषिक-स्वरूप-समय के लिए ही हमें तत्सदम में नाद-श्रुति-

✓ * साहित्य-सङ्गीत कला विहीन साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन ।

तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेय परम पशूनाम् ॥

— सस्कृति और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त एव भारतीय-सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा नामक सहस्र-पृष्ठा मक स्वतन्त्र निबन्ध जो सस्था के द्वारा प्रकाशित हो-सुका है ।

स्वर भावानुब धी उस शास्त्रीय-सङ्गीत का स्वरूप-दिग्दर्शन कराना पडा है जिस दिग्दर्शन के बिना दिङ्कार का समन्वय सर्वथा असम्भव था ।

नाद-श्रुति स्वर-जसे अलौकिक भावों से सम्पन्न भी सङ्गीत प्रकृति के अमुक महान्-श्रेष्ठभावों के कारण मानवीय मन और शरीर को मालव्य और आग्ला नामक वैसे मयानक दोषों से अभिभूत कर लेता है जिन दोषों के आगमन के अनन्तर मानवीय आमा और बुद्धि के सवभाव सवधय अभिभूत होजाते हैं जिस आमानुगता सवभावनिबधना बुद्धिनिष्ठा के बल पर ही वेदशास्त्रानुगता त्रयीविद्या का स्वरूप-समन्वय अवलम्बित है । इसी प्रकृतिसिद्धा स्थिति को लक्ष्य में रख कर ऋषिने वेदत व चि तक नैष्ठिक ब्राह्मण के सवध में— तस्माद् ब्राह्मणो न नृयेत न गायेत यह आदेश अनिवा य माना है ।

उक्त आदेश का ता पर्यर्थ स्पष्टतम है । मानव का स्वरूप आमा बुद्धि मन शरीर न चार पर्वों के सहसमन्वय से ही अनुप्राणित है । इनमें आमा और बुद्धि नामक दोनों पर्वों का एक स्वतंत्र विभाग है एव मन और शरीर का एक स्वतंत्र विभाग है । बुद्धि से समवित आमा ही मानव का पुरुषभाव है एव शरीरसे समवित मन ही मानव का-प्रकृतिभाव है । इस दृष्टि से आमना बुद्ध्या च वही मानव जहाँ पुरुषभाव में प्रतिष्ठित माना गया है वहा वही मानव मनसा शरीरेण च स्त्रीभाव में प्रतिष्ठित माना गया है । आमबुद्धिप्रधान वही मानव नैष्ठिकमानव कहलाया है एव मनशरीरप्रधान वही मानव भातुकमानव कहलाया है । आम-बुद्धि-समवित वही मानव—स्वतन्त्र-पुरुषार्थी-मानव कहलाया है एव मन-शरीर-समन्वित-वही मानव—परतन्त्र पराश्रित मानव माना गया है । इसप्रकार अनेक दृष्टियों से मानव के इन तथाकथित-चार-पर्वों के समन्वय-तारतम्य से अनेक स्वरूप-विभाजन होरहे हैं ।

आमबुद्धिनिष्ठ नैष्ठिक मानव ही अन्तर्मुख मानव माना गया है एव मन शरीर-भातुक-मानव ही बहिर्मुख मानव माना गया है । इसी पुरुष-प्रकृति सिद्ध-तथ्य के आधार पर ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-भेदभिन्न चतुर्विध-वर्णमानवों की स्वरूप व्यवस्था हुई है जिसका फलितार्थ निम्नलिखिता सङ्क्षिप्ता तालिका से सर्वा मना गताथ मान लिया जासकता है—

- (१)-शरीर मनो-बुद्धि गर्भित आ मप्रधानो मानव एव-“ब्राह्मणः” ।
- (२)-शरीर मन -आत्म गर्भित बुद्धिप्रधानो मानव एव-“क्षत्रिय” ।
- (३)-शरीर बुद्धि-आत्म गर्भित मन प्रधानो मानव एव-“वैश्य” ।
- (४)-आत्म बुद्धि मनो गर्भित -शरीरप्रधानो मानव एव- शूद्र ’ ।

प्रकृतिविशिष्ट एव सस्कारों से सुसस्कृत तथोक्त चातुर्वर्ण्य से अनुप्राणित चतुर्विध-मानववर्ग के चारों अवान्तर वर्गभेदों के माध्यम से ही वर्णनिबधना-क्षमता-यो यता-आदि की व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हुई हैं यवस्थापनों के द्वारा जिस सुप्रसिद्धा-आमवाम्यमला (ननु कापनिक-भूतसाम्यमला) भारतीय-समाजव्य

वस्था का ही नाम है वह वैज्ञानिकी-उत्पाद्यवस्था जिसकी धवस्था के सजक जहाँ भारतीय ऋषि हैं वहा यवस्था के आधीरभत चारो वर्ण प्रकृतिसिद्ध ही हैं इश्वरीय ही हैं * ।

उक्त चतुर्विध वर्णमानवों में आ मनि ठ ब्राह्मणमानव को ऋषिने-गुहानिहित माना है बुद्धिनि ठ क्षत्रिय मानव को सौय्यमारुतिक माना है एव मन-शरीर-भाडुक वैश्य-शद्र मानव को-जातातपिक माना है । गुहानिहित-आ मनिष्ठ ब्राह्मणमानव अरतिजनससदि रूपेण-लोक-समाज-सम्पक से तटस्थप्राय ही बना रहता है । तभी इसकी आ मचि-तनमला-ज्ञानविज्ञानत वा वषणामिका दुरधिगम्या-अ यनपर परा सुरक्षित बनी रह सकती है । ऐसा गुहानिहित ब्राह्मण मन शरीरनिब-धन यामद्धो स निष्ठा-पूर्वक आ मपरित्राण करता हुआ ही त वचिन्तन अवषणादि कर्मों में सफलता प्राप्त कर सकता है । अतएव ऋषिने वदत्रयी के अन योपासक आ मनिष्ठ ब्राह्मण के लिए मन शरीर निब धन साहिय सङ्गीत-कला त्रयी को निरपेक्ष ही मान लिया है ।

अमुक विगत-शतादियों में भारतीय-सत्तातन्त्र के सञ्चालक-क्षत्रिय राजाओंन ब्राह्मणपुरोधा के सास्कृतिक-अनुशासन की उपेक्षा कर अपने प्रति ठा मक बुद्धितत्र को जलाञ्जलि समर्पित कर केवल मन-शरीर-निब धना कामाथभोग-पर पराओं को ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बना लिया था । राजसत्ता की तथाभता परम्परा का ही दुर्भा यवश अमुक आ मनिष्ठ-वगविशेष भी स्वाथलि सावश समथक बन गया और उसी ने सत्ता के की चाटुकारिता के लिए त मन शरीरानुरञ्जक प्रधान-उद्गारादि-समवित माह-यादि का सजन कर डाला । और यों स्व नौष्ठक-लक्ष्य-म युत राष्ट्र की ब्राह्मणप्रजा ने ही सवप्रथम अपनी गुहानिहिता त वचि-तनवृत्ति को जलाञ्जलि समर्पित करदी जिस शिरोभाग के प्राथमिक सास्कृतिक पतन से ही भारत की आ मब्रह्ममला ज्ञानविज्ञानप्रधाना मौलिक-संस्कृति आगे जाकर-साहिय-सङ्गीत-कला आाद मन शरीर निब धन उपलालनों पर ही विश्रांत होगइ जिसका सविस्तर यशोवर्णन ? (ऐतिहासिक स्वरूप विश्लेषण) हमने— श्वेतक्रांति का महान् सदेश नामक स्वतत्र निब ध में ही किया है । यो लौकैषणा-वित्तेषणा के युगधर्मानुबधी पङ्क में निम ना ब्राह्मण-विद्वानो की कावालीकृता प्रज्ञा के कारण ही भारतराष्ट्र की ज्ञानविज्ञानामिका त्रयीमूला निगम आगम पुराण-शास्त्रसम्पता-वास्तविक-संस्कृति और तदनुगता वास्तविक सभ्यता तो होती गइ उत्तरोत्तर स्मृतिगर्म में विलीन एव तस्थाने च कामाथभोगपरायण रायतन्त्रो के मनोऽनुरञ्जन से अनुप्राणित सामयिक प्ररोचनामक साहिय सङ्गीत-कला मक मन शरीरप्रधान यासङ्ग ही बनते गए प्रधान और ये ही बन गए काला तर में महान्-सास्कृतिक आयोजन । आमबुद्धिसम्मत ना ठक तत्त्वचितन की मूलप्रति ठा से वञ्चित इ थभूत जिन इन आयोजनों का भारतीय पारिभाषिक संस्कृति सभ्यता शब्दों के चिर तत्र वैज्ञानिक इतिवृत्त से स्वाप्नक सम्पर्क भी तो नहीं है ।

तदित्य आ मबुद्धिप्रधाना अपनी ज्ञानविज्ञानामिका-निगमागमपुराणस मता मौलिक संस्कृति तथा सभ्यता को अनेक-शतादियों से पूव ही सत्तातत्रानुरञ्जनाकषणधिया जलाञ्जलि समर्पित कर बैठने वाले परानुरञ्जनपूर्वक-स्वाथससाधन में अपने स्वरूप को विस्मृत किए रहने वाले एतद् शीय विद्वान् ब्राह्मणों की

❁-प्रकृतिविशिष्ट चातुर्दण्य सस्कारविशेषाच्च ।

—वसिष्ठ

महती प्रज्ञा से विनिगत—साहित्य—सङ्गीत कलाद यासङ्गों नें ही सस्कृति का आसन अपहृत कर लिया जिस उम विगता—भुक्ता—प्रकाता—दायादभित्ति के आधार पर ही आज का स्वतंत्र—स्वतंत्र—भारत औ उसके प्रभुसत्तासमथ—सत्तावीश नाच—गान वाद्य—हास परिहास—नाटक अकादमी—आदि आदि वालो—पलालनामक—नितात—भाषुकतापूण एव आला तथा माल्य नामक भयानक दोषों से का गलीकृत—ताक—धिनाधिन—तनर—रीम्—सामयिक—कवितामाधुय्य—प्ररोचनामक विविध—कलामक विधास आदि पर ही भारतीय सस्कृति का पयवसान मानते हुए तत्प्रचाराथ अपने देश के कुशल गायक अभिनेता अभिनेत्री आदि कलाकारों के समूहामक महतोमहीमान् सास्कृतिक शिष्टमण्डल ? के मायम से भारतीय—सस्कृति के गौरव ? को पुन स्थापित करने के लिए प्रतिलक्षण ही आकुल याकुल ही बन रहे हो तो इसमें उनका यत्किञ्चित् भी अपराध इसलिए नहीं माना जासकता कि आज के स्वतंत्र सत्तातंत्र को भारतराष्ट्र के वत्तमान तथा अतीत के तथाकथित सास्कृतिक विद्वानों के द्वारा अशुभ शब्दादिना से परम्परया सास्कृतिक के नाम पर यही तो सब कुछ उपलब्ध हुआ है । माल्य तथा आला—दोष से समवित नाद—स्वर श्रुति विश्लेषण के प्रसङ्ग से ही तकम्म में विस्तार से हिङ्गारमूलक सङ्गीत के नाद श्रुति—स्वर—भावों की स्वरूप मीमासा हुई है जिसकी पूर्वोक्ता—युगवम्भ—निबधना विशेषता के कारण ही हमने इस उदाहरण को विशेष उपाधि से सुविभूषित कर देना अवर्थ मान लिया है इयलमति—पल्लवितेन—सङ्गीतानुगत—विशेष—उदाहरण सस्मरण ।

[१८]—६

* * * * *

श्री

(१६-२०)-पूर्वोत्तराधारकर्म-प्रसङ्गत “कतिपय--वैज्ञानिक-तथ्यो का सस्मरण”

१०--११

—*—

द्विब्राह्मणामक-आधारब्राह्मण नामक ब्राह्मणसदम में पूर्वोत्तराधारकर्म उत्तराधारकर्म नामक १६ २ व इन दो कर्मों का सोपपत्तिक स्वरूप-विश्लेषण हुआ है जिसके प्रसङ्ग से अनेक प्रासङ्गिक परिभाषिक-तथ्यों का भी श्रुति ने सारवय किया है। द्वी में से एक दो तथ्यों का उदाहरणरूपेण दो शब्दों में अत्र सस्मरण कर लिया जाता है।

(क)-मनोवाग्भावों के पारिभाषिक स्वरूप का सस्मरण—

पूर्वोत्तराधारकर्म का श्रुतिने मन से सम्बन्ध माना है और वह तूष्णी किया जाता है। एव उत्तरा-धा कर्म का वाक् से सम्बन्ध माना गया है और वह मन्त्रोच्चारणपूर्वक किया जाता है *। मनु यजुत अग्नीषोमामक इस वैध-यज्ञ के द्वारा उसीप्रकार यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए स्वर्गप्राप्त एक अप्व-यज्ञातिशयरूप-प्राणप्रधान अतएव परोक्षभावापन्न-सुसूक्ष्म दैवात्मा अभिव्यक्त किंवा सम्पन्न किया जाता है जो उ पन्न अभिव्यक्त होकर त्रिणाचिकेत नामक सप्तदशस्थ स्वर्गस्थान में प्रतिष्ठित होजाता है यजमान के भूतामा के साथ प्राणसूत्रमाध्यम से ग्रथि बन्धन-करता हुआ। जब यजमान मानवीय आयुर्भोगकाल पयन्त इस लोक में यथाकर्म भोग भोग लेता है तो आयु सूत्रोपराम के अनन्तर उसी दवा माकषण से यज्ञकर्त्ता यजमान का भूतामा स्वर्गस्थान में प्रतिष्ठित होजाता है अमुक अवधि के लिए जैसाकि दशपूर्णा मासाभ्या स्वर्गकामो यजेत इत्यादि फलश्रुतियों से स्पष्ट है।

आमा का स्वरूप ज्ञान क्रिया अथ-शक्तिमय इसलिए माना गया है कि ज्ञानशक्तिमय मन क्रियाशक्तिमय प्राण और अथशक्तिमयी वाक् इन तीनों के सहसम्बन्ध से ही मानवीय आमा के स्वरूप

* ‘स यदुवाशु क्रियते तमनो देवेभ्यो यज्ञ वहति । अथ यद्वाचा निरुक्त क्रियते तदा देवेभ्यो यज्ञ वहति । तूष्णी तमाधरयति य मनसे आधारयति । मन्त्रेण तमाधारयति य वाचे आधारयति’

—इत्यादि सदम

की अभिव्यक्ति होती है फिर वह पार्थिव-यथाजात-भूतामा हो अथवा तो अपार्थिव प्राणप्रदान तैत्रिमा हो। यज्ञक म से प्राणप्रधान देवभाव का स पादन होता है जो कि प्राणत गतिध म से क्रियाप्रधान बना हुआ है। यों प्रधानदेवता से अनुगत आवापक्रम नामक यज्ञक म से प्राणतैत्रानुबधेन यज्ञिय सस्का मक दैवामा के प्राणभाग की तो स्वरूप नि पत्ति होजाती है। कि तु अभी मन और वागभाग शेष ही रह जाते हैं जिनके बिना या मक त्रिपर्णा आ मा का स्वरूप सर्वा मना स पन्न नहीं होसकता *। इसीलिए पूर्वाधार और उत्तरधार नामक दो गौणक म किए जाते हैं जिनसे क्रमश प्राणामक दैवा मा में इस और मन का तथा उस और वाक का आवान भी होजाता है। और यो दैवा मा मन प्राण वाक् रूपेण सर्वा मना सुस पन्न बन जाता है। उनके म व ध में ही श्रुतिने यह व्यवस्था की है कि मनका स्वरूप सम्पादक पूर्वाधार तो उपाशु अर्थात् चुपचाप होता है एव वाक का स्वरूप सम्पादक उत्तराधार उच्चारणपूवक होता है। ऐसा क्यों? इसी प्रश्न का आर्यानभाषा में समाधान क ते हुए भगवान् याज्ञव क्य कह रहे हैं कि—

एक बार मन और वाक (वाणी) में परस्पर अहंभद्रत्व के लिए घोर संघर्ष उपक्रा त ह पड़ा। दोनों ही परस्पर एक दूसरे के समतुलन में अपने अपने ही अहभद्र व (श्रष्ट व) की घोषणा में निमग्न थे स्व-स्व तक परम्परा के माध्यम से। वाक् की अपेक्षा अपनी श्रष्टता स्थापित करते हुए मनोदेव ने यह तक उपस्थित किया कि मेरे ज्ञानीय सकल्प को आधार बनाए बिना तुम कदापि किसी भी तथ्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। ठीक इसके विपरीत मन की अपेक्षा अपना श्रष्टव स्थापित करते हुए वाग वी ने यह तक उपस्थित किया कि— तुम अपने सकल्पामक मानस-सूक्ष्म आभ्यन्तर जगत् मे जो भी ज्ञानीय कल्पना करते रहते हो मैं ही उसे बहिर्जगत् मे अभिव्यक्त कर सकती हू करती रहती हू। यदि मेरा सहयोग तुम्हें न मिले तो तुम्हारे सकल्प केवल सकल्परूप में ही निरर्थक ही प्रमाणित होते रहें। दोनों के द्वारा दोनों का समाधान जब संभव न बन सका तो दोनों सर्वाधारभूत प्रजापति की शरण में पहुंचे इस समस्या के निरायामक समाधान के लिए। प्रजापति ने मन के पक्ष में ही अहभद्रव का निराय व्यक्त करते हुए वाक् के सम्मुख यही स्पष्टीकरण रप दिया कि वाग्देवी! तुम मन की कृतानुकरा हो अनुवर्तिनी हो। बिना मन के तुम्हारा कुछ भी तो मूल्य नहीं है। प्रजापति के इस निर्णय से वाक का अतिमाना मक गव चूर चूर होगया। इस अपमान से अपमानिता वा देवी प्रजापति के प्रति सवथा अग्निश्च-वायुश्च (क्रुद्ध) ही बन गई और तत्परिणाम-स्वरूप वाक् के मुख से ये ही उद्गार अभिव्यक्त होपडे प्रजापति के प्रति कि— हे प्रजापते! आपने क्योंकि मुझे मन की अपेक्षा अवरश्रेणि की तथा मन को श्रष्ट प्रमाणित किया है अतएव मैं कदापि आपके लिए हविद्रव्य का वहन नहीं करूंगी।

*—स वा एष आत्मा वाह मय, प्राणमय, मनोमय (ऋ० आ उप०)

त्रय सदेकमयमात्मा, आत्मा उ एक सन्न तत्-त्रयम् (शत० ब्रा)

उक्त आरयान के द्वारा प्रस्तुत-प्रकृत यज्ञकर्म के सम्बन्ध में एक विशेष प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर शतपथी श्रुति कहती है कि— क्योंकि वाक्ने-प्रजापति से तटस्थता ग्रहण करली थी। अतएव ज्ञानुष्ठानों में साक्षात्-प्रजापति के लिए आहुतिद्वय प्रदानादि जो भी कर्म किए जाते हैं वे उपाशु अर्थात्-तूष्णी-भाव से ही अनुप्राणित रहते हैं। क्योंकि अहययादृढि वाक् प्रजापतये आसीत् ।

उक्त आरयान के मायमस ऋषि मानवीय उन कर्मों के सम्बन्ध में एक विशेष-शिक्षा प्रदान कर रहे हैं जिन कर्मविशेषों का आयतन मानसी-आमनिष्ठा से सम्बन्ध-माना गया है। लोक-सामान्य स अनुप्राणित लौकिक सामायकर्म प्राकृतिककर्म कहलाए है जिनसे ताकालिक-लोक व्यवहारों का स्वरूप समव्य होता रहता है एवं ऐसे सामायकर्मों में ही वाणी का समव्य र। कर। है जिस वाक्-समव्य का अर्थ है—वाग्यवहार घोषणा और आज के शब्दों में-प्रदर्शन (जिसका रूप माना जा रहा है पबलिसीटी) जो कि आज के सत्तात्र की प्राणप्रतिष्ठा ही बना हुआ है। वाणी के द्वारा प्रदर्शन वसे बाह्य कर्मों का ही हुआ करता है जिनके आधार में प्राजापय आमप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित नहीं रहती नैव जिनका आमनुगत-दृढतम-मानस-सङ्कपो से ही कोई साक्षात् सम्बन्ध रहता। अपितु प्रावाहकी जलधारा की भांति प्रतिक्षण-बदलते रहने वाले तात्कालिक-बाह्य-स्वार्थों बाह्य-कर्मों के स्वरूपानुपात से बाह्य तथाभूत प्रदर्शन भी क्षण क्षण में ही बदलते रहते हैं।

ठीक इसके विपरीत आमप्रतिष्ठात्मक अतएव प्राजापय नाम से प्रसिद्ध-आम्यतर-मानसक पामक कर्म सदैव तूष्णी-भाव के ही अनुगामी बने रहते हैं। अर्थात् आमबलोपेत-नैष्ठिक मानस सङ्कपो एवं तन्निबन्धन-तथ्यपूर्ण कर्म दोनों ही वाणी के उद्घोष एवं प्रदर्शन से स्वथा असस्पृष्ट ही बने रहते हैं। इत्यभूत कर्मों के तथा कर्मों के कर्त्ता नैष्ठिक आर्ष-मानवश्रेष्ठों की रहस्यानुगता तपोमयी सकपनिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा को बाह्यजगत् कदापि नहीं जान सकता। बाह्यजगत् तथाविध कर्मों के महान् फलों से ही समवित होता है। इसी आधार पर पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने कहा है कि— महापुरुषों के आत्मानुगत सत्यसङ्कल्प को एवं तन्नुगत आमनिष्ठा-समवित कर्ममाध्यवसाय को कोई भी नहीं जानता जान सकता। अपितु उनके कर्म के महान् सुपरिमाणों से ही स्वसाधारण-तद्भोगानुगति से परिचित हुआ करते हैं (महाभारत)।

उक्त तथ्य के आधार पर ही परोक्षप्रिया इव हि देवा-प्रयक्षद्विष-इस सुप्रसिद्ध निगमवचन का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। अयत्तप्राणप्रधान-मनोवाग्गर्भित आधिदेविक देवताओं के प्राणनिबन्धन कर्मकलाप जैसे सूक्ष्मजगत् में सूक्ष्मरूपेणैव प्रकृत रहते हैं वे प्राणदेवता जैसे अव्यक्तभावा पन्न प्राणधम्म के अनुबन्ध से यत्त भौतिक मय जगत् से परोक्ष बने रहते हुए प्रत्यक्ष के लिए शत्रुवत् ही प्रमाणित होते रहते हैं ठीक वही स्थिति-देवोपम उन भूदेव-विद्वान् ब्राह्मणों की है जो लोक-जन-समाज के कलकलनिनाद से यथासम्भव आमपरित्राण करते हुए युगधम्म निबन्धन लोकसामाय की दिग्देशकालानुबन्धिनी प्रयत्नप्रभावमूला-भाषुकतापूर्णा-प्रदर्शनप्रवृत्ति से तन्निबन्धन लोकख्याति से अपने आपको स्वयैव असस्पृष्ट बनाए रखत हुए गुहानिहितव्य अनुबन्धिनी ऐकांतिकी निष्ठा से परोक्षरूपेणैव अपने तवचिन्तनाचार में प्रवृत्त रहते हैं एवं प्रयत्न से शत्रुता ही रखते हैं। ऐस प्रणम्य एकांतान् ठ आष-भूदेवों की इत्यभूता नैष्ठिकी

प्रज्ञा ॐ विनि सृता कृतियो से ही बाह्य-समाज अशत परिचित हुआ करता है। देवता परोक्षप्रिय होते हैं एव प्रयत्न के शत्रु एतदक्षरार्थामक पूर्ववचन का यो आभिदैविक देवनेताओं के साथ एव आधि भौतिक भूदेवों के साथ दोनों के साथ सम्बन्ध हो रहा है।

प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही मानवके द्रव्या आत्मनिष्ठा के सहज आत्मनल की शत्रु है यही उक्त स दम का नि कर्षार्थ है जिस का भगवान याज्ञवल्क्यने- मन और वाक क अहम्भद्रमूलक पूर्णायान के मा यम से ही स्पष्टीकरण किया है। वै यत्कि-पारिवारिक सामाजिक अथवा तो राष्ट्रीय भेदभिन्न य चयावत् कम्मकलापो की पूण-सफलता का यही प्रा गमिक-मौलिक-रहस्य है कि रुदापि तत्तत्कर्मानुबन्धी न ता मानव-सकपों की घोषणा की जाय एव न तत्तत् सकपानुगत-तत्तत् कर्मोंके अनुष्ठानकाल में उन की वाणी के द्वारा ही घोषणा (प्रदर्शन-पब्लिसीटी) की जाय। अतितु सयसकल्प और तदनुगत अथ्यवसाया मक नैष्ठिककम्म दोनों ही प्रक्रम सबथा तूष्णी ही स्वस्वरूपानुगतिपूर्वक स्वरूपसम्पादनाभिमुख बनते रहें। यही सफलता का प्रमुख द्वार है। जो यत्कि जो परिवार जो समाज अथवा तो जो राष्ट्र दिग्देशकालानुबन्धी-प्रत्यक्षभावों से भावुकतावश प्रभावित होता हुआ अपने मानस-सकपों की वाणी के द्वारा उच्चघोषणा आरम्भ कर देता है ऐसे निबल सकप से अनुगत निबल ही कर्माभास की भी सिद्धि से पूव ही घोषणाएँ आरंभ कर देता है ऐसे यत्कि-परिवार-समाज एव राष्ट्र के सयसकल्प भी मिथ्या होजाया करते हैं एव कम्म भी सिद्धि सफलता से वञ्चित ही बने रह जाते हैं।

और दुर्भाग्यवश हमारे आज के भारतीय यत्किव परिवारव समाजव और राष्ट्रव नामक चारों ही व भाव (स्वरूपधम्म) अपने प्रयेक सकप तथा सकपानुगत प्रयेक कर्म की अभियक्ति-स्वरूप-सिद्धि से पूव ही सर्वत्र-दिग्दिग त में- हमारे ऐसे सकल्प हैं हमने अबतक यह कर लिया है आगामी अमुक वर्षों की अवधि में हम अमुक समस्या का समाधान कर लगे अमुक योजना के द्वारा हमारे अमुक स्वप्न पूण होजायगे इसप्रकार की तुमुल घोषणाएँ एव स्वापिनिक-सकपों के कापिनिक प्रदर्शन परि याप्त कर देते हैं जबकि अय नैष्ठिक राष्ट्रों के प्रचार-सकल्प तथा कर्मा यवसाय तत्सिद्धि के अनतर ही बोधगम्य बना करते हैं सो भी क्वाचित्करूपेणैव। सहजभावानुसार-सकल्प और कम्म से भी पूव उच्चघोषणाओं की आतुरता प्रदर्शनपरम्पराओं के प्रचार-प्रसार की यग्रता के दुष्परिणाम स्वरूप ही तो आज भारतराष्ट्र का वह अनिरुक्त-आमप्रजापति पराङ्मुल बन गया है इस के सकल्पों तथा कर्मों से जो अनिरुक्त प्रजापति अपने आमानुबन्धी प्राजापयबल का योगदान तभी करता है संकल्प तथा तदनुगत कम्म के प्रति जबकि मानव अपने सकप तथा कर्म को अनिरुक्तभावानुगत ही बनाए रहता है। क्योंकि प्राजापयकम्म की स्वरूप सपति का एकमात्र प्रमुख द्वार वाक से असस्पृष्टा अनिरुक्तता ही उपाशुरूपता ही तूष्णीभाव ही माना गया है जसाकि आर्यानोपमहार में स्पष्ट किया जाचुका है। यही प्रस्तुत मनो वागभावों के पारिभाषिक स्वरूप का सच्चिप्ततम सस्मरण विराम है।

* * * * *

(ख) प्रजापति मे पराभूता आत्रयी वाक की अस्पृश्यता का सस्मरण—

मनोवाक की अहम्भद्रमूला प्रतिद्विद्धता में प्रजापति के द्वारा अवमानिता वाग्देवी के गर्भ का पतन होगया यह पूव सस्मरण में निबेदन किया जाचुका है। इसी प्रसङ्ग के माध्यम से आगे चल

कर अति वाक के उस आत्रेय स्वरूप का भी स मरण करा रनी है जिसके सम्बन्ध से आमप्रजापति से वञ्चिता परि यक्ता वाक अत्रिरूप में परिणत होजाती है। परिणाम इस अत्रि का यही होता है कि आम धम्म से (अनिरक्त-प्राजापय धम्म से) बहि कृता आत्रेयी वाक् आमधर्मानुगत अभियक्त-क्षेत्रों के लिए अस्पृश्या ही बन जाती है।

अतिने ऋतुमती स्त्री के उदाहरण के मायम में ही त वमूला उस अस्पृश्यता के वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण किया है जिस त वमूला अस्पृश्यता को भावुकतावश आज के मानव ने घृणामूला मान लिया है। एवम्स आतिपूर्णा मायता के कारण ही स्पृश्यता और अस्पृश्यता को लेकर आज राष्ट्र की उच्च-प्रज्ञाओं में भी वैसा आपातरमणीय सघष प्रकात होपडा है जिसके परिणामस्वरूप त वमूला अस्पृश्यता के स्थान में घृणामूला अस्पृश्यता ही परोक्षरूपेण अनुनि प्रवृद्धा होती जा रही है। मानवप्रजा ताविकी प्रकृतिसिद्धा स्थितियों के साथ युगधर्मानुबन्धी प्रवाह में प्रवाहित होती हुई प्रतिद्वन्द्विता कर बैठती है तो प्रकृतिमिद्ध तथ प्रतिक्रिया के रूप में प्रचण्डवेग से प्रतिद्वन्दी को लक्ष्य युत ही बना दिया करते हैं। अवश्य ही कुछ समय में त वमूला अस्पृश्यता ने घृणामूला अस्पृश्यता का स्थान ग्रहण कर लिया है जो कि घृणामूला अस्पृश्यता भारतीय-मानवधर्म के क्षेत्र से तदनुबन्धिनो मानवता के आमानुबन्धी विशाल प्राङ्गण में सञ्चलन बि कृता ही मानी गइ है। एतावता ही त वमूला अस्पृश्यता को कदापि उपेक्षणीय नहीं माना जासकता। आज का भूतविज्ञानवादी भी अमुक-अशुचि भावापन्न भावो पदार्थों मानवों के सस्पर्श को त वदृष्ट्या न सनी कीटाणुदृष्ट्य तो अवश्य ही साक्रामिक मान रहा है और घृणामि श्रिता अस्पृश्यता से अनुगत भी। जबकि भारतीय मानवधर्म के क्षेत्र में— यस्मान्नोद्विजते लोक लोकान्नोद्विजते च य (गीता) के अनुसार तो घृणा—उद्वेग आदि शर्दों का पवश भी निषिद्ध ही माना गया है।

ऋतुमती के उदाहरण से अतिने हमें त वमूला प्रकृतिसिद्धा उस अस्पृश्यता के मौलिक रहस्य से ही परिचित कराया है जिस का देवसमीकरणभाव के मायम से ही त गथ सम वय हुआ है। आमरूप ज्ञानीय-सवगुण की प्रधानता सृष्टिमूला-तमोगुणप्रधाना भूतभौतिकी धामच्छुदा-सृष्टि की प्रतिबन्धिका ही मानी गई है वदिक-विज्ञान के क्षेत्र में। आमानुगत सवगुण की अभिभूति का अर्थ है आमसव के साक्षात्-अनुग्रह से वञ्चित वाक तथ। आमभाव ही तो वाक का गम (केद्र महव) है। जब वह पूर्वारयान के अनुसार गिर जाता है अर्थात् आमसव के साक्षात्-अनुग्रह से आकाशभूतामिका वाक वञ्चित होजाती है तमी स में तमोगुणावित सृष्टिलक्षण-सृष्टिधर्मानुगत प्रजननधम्म अभिव्यक्त होगता है। वाङ्मय धाम छ प्राण अपने ही तमोगुण से पारदशकता का प्रतिबन्धक बनता हुआ वाक को आत्रेयी बनाता हुआ इसे सृष्टिकम्म में प्रवृत्त करता है। ऋतुमती स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित तमो-गुण बहुल वागत्रिरूप मलीमस भाव ही अभि क्त रहता है और यही काल प्रजननकर्ममानुगत गर्भाधान की पूर्वभूमिका माना गया है। क्योंकि वाङ्मय वामच्छ मलीमस अत्रिप्राण आमविरोधी है अतएव एकनृप्राणमि यत्किंकालरूपा दिनचतुष्टयी पथ्य त आत्रेयी योषित् अस्पृश्या मानी गई है जिस के स्पर्श से अतिने पापवाचना की अभिशक्ति मानी है। त वमूला अस्पृश्यता का यही वह ज्वलन्त उदाहरण है जिसके

वैज्ञानिक समन्वय के अन्तर किसी भी चिकित्सीय प्रज्ञाशील को तो कोढ़ भी सदेह नहीं रह जाता एव जिस इस वैज्ञानिक उदाहरण का तस्मादपि आत्रेय्या घोषिता एनरनी इत्यादि श्रुतिसदम से स्पष्टीकरण नयास हुआ है।

* * * * *

(ग) उच्छ्रितभावानुबन्धी तथ्य का प्रासङ्गिक सस्मरण—

वेदशास्त्रानुगता अमुक-शब्दावली की बहिरङ्गा अनुशीलनवृत्ति के आवार पर अपनी कल्पना-मात्र के माध्यम से वैदिकयुगानुगता वैदिकी सभ्यता का उद्ग्रयङ्ग (उदपटांग) चित्रण करते रहने में परमकुशल प्रतीच्य विद्वानों की मायता को ही वेदवाक्य मान बैठने वाले गतानुगतिक भारतीय भी वेद के सम्बन्ध में विचित्र विचित्र-प्रकार की कल्पनाओं को प्रश्रय देते देखे एव सुने गए हैं जिस का निष्कर्ष यही है कि वैदिकयुग तो एक वैसा ग्रामीणयुग था जिसमें सभ्यतायुगानुगत आज के वैज्ञानिक नियमोयनियमों का तो सस्मरण भी नहीं था। अग्नि में घृत पिष्टतण्डुल आदि डालकर अग्नि को प्रसन्न करना ही उन का यज्ञक म था तन्निमित्त-पशुबलि-जसे नृशसकम्म ही उन के उदरपोषण का प्रधान साधन था - इत्यादिरूपेण ऐसी ऐसी विचित्र विचित्र कल्पनाएँ वेदशास्त्र के सम्बन्ध में एव तत्संसिद्ध सृष्टिविज्ञान स्वरूप-विश्लेषणक यज्ञक म के सम्बन्ध सुनी जा रही हैं जिन के आधार पर यही मान लेना पड़ता है कि सचमुच ही हम भारतीय आतापी-वर्गों की आक्रमणपरम्परा से अपना स्वरूप-बोध एकांतत ही विस्तृत कर बैठे हैं। स्वयं अपने घर की मौलिकता देखने की दृष्टि ही हम से छिन्न गई है। अतएव अ ध्वधिरूपेण सुदीर्घ समय से हमारी आर्य और हमारे कान प्रतीच्य-जगत् के वे राजनीतिकुशल विद्वान् ही बनते आरहे हैं जो बल पूर्वक यहाँ के सवस्व को ही अर्थज्ञानिक अमभ्यता परिपूय्य एव वहा के सवस्व को ही सवयैव वैज्ञानिक एव सभ्यता पूण घोषित करते रहते हैं।

पूर्वाधारोत्तराधारकम्म नामक यज्ञिक म प्रधानभूत यज्ञकम्म का एक सामान्य सा अङ्गकम्म है। इसके प्रसङ्ग से भी यज्ञकम्म स्वरूप विश्लेषक ऋषि ने बैठने उठने जसे सामान्य से कम्म के अनुबन्ध सं भी जो ताविकी शिक्षा हमें प्रदान की है उसे देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि सचमुच हमने अपनी दृष्टि और श्रुति को परायत्त बना कर अपनी मौलिकता को सर्वथा ही विस्तृत कर लिया है।

पूर्वाधार जहा बठे बैठे किया जाता है वहाँ उत्तराधार रखे होकर किया जाता है। ऐसा क्यों? शरीरयष्टि निबन्धन प्राण की स्वरूप स्थिति के माध्यम से ऋषि ने इस प्रश्न की जो स्वरूप मीमासा की है उसे देख-सुन कर क्षणमात्र के लिए हमारी दासानुदाम प्रज्ञा सहसा स्तब्ध ही होजाती है। क्या यज्ञकम्म ऐसा महत्त्वपूर्ण क म है? क्या वेदशास्त्र के महार भ वैज्ञानिक तथ्यों के द्वारा हमारे व्यक्तिक पारिवारिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय उर्ध्वों के इत्यभूत प्रासङ्गिक सूत्रों का भी स्वरूपबोध हमें प्राप्त होता रहता है? आश्चर्य्य! महान् आश्चर्य्य !!

आज के सुसभ्ययुग में जब किसी सैनिक के शरीर को हम सीधा-तना हुआ खड़ा देखते हैं तो अन्त जगत् में प्रश्न खड़ा होजाता है कि क्या उस वैदिकयुग में भी हमारे भारतराष्ट्र के कर्मठ सैनिक आदि इसी प्रकार सीधे तन कर-सशक्ता-मुद्रा में सदैव सजीभूत रहते थे? प्रस्तुत उत्तराधारकम्म इसी प्रश्न का अस्तित्व रूप में हमारे सामने समाधान प्रस्तुत कर रहा है जिसका प्रमुख सूत्र है— उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम् ।

उदाहरण भी सेना के अनुबन्ध से ही सब धरण रहा है। दक्षिण की ओर से असुर और राक्षस जब आक्रमण करते थे तो अपनी सुप्रसिद्धा मारुति सेना के साथ देवेन्द्र हरिवाहन ही सजीभूत होकर उनको पराभूत करते रहते थे। दक्षिणदिगनुगत उत्तराधारक म उसी का नैदानिक स्वरूप है। सेना से युक्त इन्द्र सवथा तन कर सजीभूत होकर प्राणवती मुद्रा से ही दुष्टदुद्धि असुरों का सा मुरय करते रहते थे अतएव इस यज्ञकर्म में भी उस प्राणवती मुद्रा में तन कर खड़े होते हुए ही उत्तराधारक म स पन्न होता है।

सीधे तन कर खड़े होने से मानव के शरीर में वीर्य की अभिव्यक्ति कसे और क्यों होजाती है? इस प्रश्न का विशद समन्वय तो तद्भाष्य में ही देखना चाहिए। प्रकृत म स दम्भ-सङ्घातमात्र के लिए यही जान लेना पर्याप्त होगा कि मानव के चियाग्निरूप पाञ्चभौतिक शरीर का स्वरूप निर्माण जिस मौलिक प्राण के छद्मोमय धरातल पर होता है वह मौलिक प्राण—सप्तर्षिप्राण नाम से प्रसिद्ध है जिसके ४२१ ये तीन सस्था विभाग माने गए हैं जो क्रमशः चत्वार आमा द्वौ पक्षौ पुच्छ प्रतिष्ठा नाम से प्रसिद्ध हैं। न केवल मानव ही अपितु प्राणिमात्र किंवा चर अचर-यच्चयावत् भूतभौतिक चिय पदाथा का मूलाधार भूत सतप्राणमूर्ति यही वह छद्मोमय सूक्ष्म आकार है जिसमें भूतचित्ति होजाने से ही तत्स्वरूप की भूतरूप में अभिव्यक्ति होजाती है।

च वार आमा रूपा प्राणचतुष्टयी से मानव का मयाङ्ग बनता है जिसे धड कहा जाता है। वाम हस्त वाम चरण दोनों का युग्म एक पक्षप्राण से एव दक्षिणहस्त चरणरूप युग्म एक पक्षप्राण से स पन्न होता है। शेषभूत पुच्छप्रति ठाप्राण से त्रिकास्थिमूल की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है। त्रिकास्थिग पुच्छप्रति ठाप्राण ही मानव के किंवा प्राणिमात्र के उस मेरुदण्ड की मूलप्रति ठा है जिम मेरुदण्ड का स्वरूप खगोलीय विद्वृत्त से ही स पन्न हुआ करता है। वस्तुस्थिति तो वास्तव में यह है कि द्यानापृथिव्यसौर पाथिव सम्बन्धर इयी की समाष्टरूप महान् सवसर ही वह मान् सुपर्या है जिसके च वार आमा आदि सतावयव हैं। महासुपर्यारूप उस आधिदावक सौर सवसर से ही पार्थिव प्रजा का स्वरूप निर्माण हुआ है। उसका विद्वृत्त ही प्राणियों का मयस्थ मेरुदण्ड बनता है जिसे लोकभाषा में—रीढ की हड्डी कहा गया है। यह अस्थि त्रिकास्थि से उपक्रान्त होकर अर्वाग्विल ऊर्ध्वचमस नामक पारिभाषिक शिरकपाल-पयत अभियाप्त है। इस मेरुदण्ड का सतनन ही शरीर को सीधा तना हुआ रखता है जोकि सतनन मेरुदण्डोपसहारात्मक त्रिकास्थिप्राण से ही अनुप्राणित है। प्रकृतिसिद्ध वादक्य ही त्रिकास्थिगत पुच्छप्रति ठाप्राण को मूर्च्छित कर दिया करता है जिसके कारण ही वादक्य में मेरुदण्ड वक्रित होजाता है। तदतिरिक्त पक्षाघाताद् रोगविशेषों के कारण एव प्रचण्डतम शारीरिक-मानसिक त्रैदिक श्रम परिश्रमानुगत सत्त्व के कारण भी तत्प्राण असमय में भी मूर्च्छित होजाता है फलतः शरीरयष्टि अवनता होजाती है। इसी प्रतिष्ठाप्राण के कारण क्योंकि शरीर यष्टि ऋजुभावेन सन्तता रहती है अतएव प्राणात्मक इस सतननधर्म को अतिने उच्छ्रितमिव हि वीर्यम् भवति रूपेण—वीर्यम् उपाधि से समन्वित माना है।

श्रुति का वीर्य शब्द भी अपना एक विशेष महत्त्व रख रहा है। वैज्ञानिकी परिभाषाओं से अनुप्राणित शब्दों के पारिभाषिक चिरन्तन इच्छित्तो की बोधपरम्परा के विलुप्तप्राय होजाने से आज सभी शब्द सभी धान पसेरी याव को चरिताथ कर रहे हैं। और इसीलिए आज उत्साह पराक्रम बल-वीर्य साहस आदि शब्द समानार्थक ही मान लिए जा रहे हैं जबकि विज्ञानदृष्ट्या ये सभी शब्द विभिन्न विभिन्न अर्थों के ही स्वरूप सम्राहक बने हुए हैं। उदाहरण के लिए बल वीर्य पराक्रम इन तीन शब्दों को ही लक्ष्य बनाइए। अवश्य ही मानवीय भूतामा की दृष्टि से इन तीनों ही शब्दों को आमानुबन्धी माना जासकता है एवन्स

आत्मसाम्यदृष्ट्या तीनों को परस्पर पर्याय भी मान लिया जासकता है एक दूसरे का । किन्तु आ मानुष कलाभेद की दृष्टि से तो तीनों को सवथा विभिन्नाथक ही माना जायगा । स वा ण्प आमा वात्म्य प्राणमय मनोमय इयादि बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार मानव का भूतामा मन प्राण वात्म्य बना रहता हुआ ज्ञान क्रिया अथ शक्तित्रयी की समष्टिरूप है । ज्ञानशक्ति युक्त मन के साथ ही पराक्रम का सम्बन्ध है क्रियाशक्ति-युक्त प्राण के साथ ही वीर्य का सम्बन्ध है एव अर्थशक्ति युक्त वाक् के साथ ही बल का सम्बन्ध है ।

क्या तापर्य्य ? । तापर्य्यार्थ सम वय के लिए हमें तीन विभिन्न उदाहरणों का ही अनुगमन करना पड़ेगा । तभी स्थिति का पारिभाषिक सम वय सम्भव बन सकेगा । मानव सिंह और गज इन तीनों को लक्ष्य बनाइए । तीनों में ही यद्यपि मन प्राणवाहक मय भूतामा प्रतिष्ठित है । किन्तु तीनों में क्रमशः मन प्राण वाक् रूपा ज्ञान क्रिया अर्थ शक्तियों की क्रमशः प्रधानता है । अर्थात् 'यात्मक भी मानव मन प्रधान बनता हुआ ज्ञानशक्ति प्रधान है । 'यात्मक भी सिंह प्राण प्रधान बनता हुआ क्रियाशक्ति प्रधान है । एव 'यात्मक भी मत्स्यगजराज वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थशक्ति प्रधान है । मन प्रधान मानव आत्म प्रधान है प्राणप्रधान सिंह प्राणप्रधान है एव वाक्प्रधान गजराज शरीरप्रधान है । पर के आक्रमण से सम्बन्ध रखने वाला आत्मनिबधन ज्ञानबल ही पराक्रम है जो कि मानव में विशेषरूपेण अभियुक्त है । प्राणनिबधन क्रियाबल ही वीर्य है जो कि सिंह में विशेषरूपेण प्रस्फुटित है । एव वाग्निबधन अथबल ही बल है जो कि गजराज में विशेषरूपेण चीयमान है यां मानव सिंह गज तीनों में क्रमशः पराक्रम वीर्य बल तीन बल विभक्त देखे जासकते हैं ।

शारीरिक बल ही बल है जिसका उदाहरण शरीरधर्मा वह गजराज ही बना हुआ है जो यदि सिंह पर अपना भार रखदे तो सिंह सवथैव पि दावस्था में परिणत होजाय । किन्तु शारीरिकबलरूप बल की अपेक्षा क्योंकि प्राणबलरूप वीर्य विशेषरूपेण अतिशय रखता है । अतएव शरीरत बलवान् भी गजराज को वीर्यशाली सिंह परास्त कर दिया करता है । और मानव ? । वह तो सिंह के गजानश्रवण मात्र से ही विकम्पित होपड़ता है । किन्तु परानुगत आक्रमण धर्मात्मक पराक्रमरूप मनोबल के द्वारा ऐसा विकम्पित भी मानव कौशलपूर्वक वीर्यशाली सिंह को भी पञ्जरबद्ध कर देता है एव बलशाली गजराज को भी अपना वाहन बना लेता है । और यही आत्मबलाभि यक्तिव निबधना वह अ ठता है जिसके आधार पर अ य प्राणियों के समतुलन में भगवान् यास को कहना पडा कि— न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित् ।

निवेदन निष्कर्ष यही है कि त्रिकास्थिगत पुच्छप्रतिष्ठात्मक धर्म क्योंकि— प्राणप्रधान है प्राण के साथ ही क्योंकि वीर्य नामक बलविशेष का सम्बन्ध है यह प्राणनिबधन वीर्य ही मानव की शरीरयष्टि को श्रुज्जभावेन क्योंकि उच्छ्रितभाव में परिणत रखता है और यह सतननधर्म ही अ यवसायनिष्ठ मानव की कर्मसफलता का क्योंकि अन्यतम आधार है इहो स पूण त यों को अपने पारिभाषिक गभीरतम अथ से अभिव्यक्त करता हुआ श्रुतिका उच्छ्रितमिव हि वीर्यम् यह वचन वैदिकसाहित्य के अ य त उपादेय स्वयुगानुबन्धी-महव की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है इसी सस्मरण के साथ १६२ कर्मानुबन्धी यह प्रकाशित निदर्शनात्मक सस्मरण उपरत होरहा है ।

(१६-२०)-१०-११-

* * * * *

श्री

[२१]—‘प्रवरणकर्म’-प्रसङ्गत
युगधर्मनिबन्धन ‘अधिकार’ शब्दानुगत
किञ्चिदिव-सस्मरण

१२

*

पूर्वोत्तराधारकर्मद्वयी के अनन्तर क्रमप्राप्त उस प्रवरणकर्म का स्थान आता है जिसमें आर्षेयप्रवरण दिव्याग्निप्रण आषयवरण अग्नि-ब्राह्मणानुग्रहप्राप्ति मानुषहोतृवरण स्वययनजप भेदेन अनेक आना तर क्र वथ कर्मों की वैज्ञानिकी उपपत्ति का पारिभाषिक समवय-प्रयास हुआ है। उनमें से विस्तारभिया अत्र सस्मरणरूपेण अधिकार शब्द मा यमेन किञ्चिदिव निबन्धन कर दिया जाता है।

प्रवरणकर्म का फलितार्थ है वह यज्ञाधिकार-समपण जिस अधिकार शब्द को लेकर आज के समाजवादी मानवश्रष्ट ने भारतीय विभक्त-अधिकारभाव के विरुद्ध सर्वथैव प्रतिद्वन्द्विता स्थापित कर रखी है। प्रवरणकर्मानुबन्ध से उस अधिकार शब्द के माध्यम से ही हमें सर्वप्रथम दो शब्द निवेदन कर देने हैं। अधिकार शब्द जब मानव के कामाथभोगप्रधान मन शरीररूप प्राकृतभाग से ही अनुगत बना रहता है तब तो यही अधिकार यक्तिस्वविमोहन का कारण बनता हुआ लोक वित्तादि एषणाओं की सिप्सा लालसा के माध्यम से मानव के सर्वानाश का ही कारण बन जाता है। एव ठीक इसके विपरीत यही अधिकार शब्द जब मानव के मोक्षधर्मप्रधान आत्मबुद्धिरूप पौरुषभाग से अनुगत बन जाता है तो उस दशा में यह अधिकार अधिकार न रह कर महान् उत्तरदायित्व के रूप में ही परिणत होजाता है। और उत्तरदायित्वपूर्ण आत्मबुद्धिनिबन्धन पुरुषभावानुबन्धी ऐसा अधिकार यक्तिस्वविमोहन से अस पृष्ठ रहता हुआ अतएव तदनुगत मानवश्रष्ट को लौकैषणा वित्तैषणादि वञ्चनाओं से परा परावत रखता हुआ मानव के आत्मस्वरूपाभियक्तिस्वरूप उस महान् नष्टिक यक्ति का ही पोषक बन जाता है आत्मबुद्धि-निबन्धन जो मानवीय महान् यक्ति व आत्मसाम्य से अनुगत रहता हुआ विश्वमानवीय-व्यापक यक्तिस्व से सर्वथैव अभिन्न प्रमाणित होजाता है।

आत्मबुद्धि के नियम से नियन्त्रित मन शरीरामक प्राकृतभाव से समन्वित भारतीय मानव की प्रकृतिसिद्धा प्रकृतिभेदभिन्ना अधिकारयवस्था का मूलाधार लौकैषणा विषयानुगत मन-शरीरनिबन्धन-यक्तिस्वविमोहरूप अधिकार न हो कर सर्वैषणाविनिम्मुक्त आत्मबुद्धिनिबन्धन आत्मस्वरूपाभियक्तिस्वरूप वह महान् उत्तरदायित्व ही है जिस उत्तरदायित्वपूर्ण इत्यभूत आत्मबुद्धिनिबन्धन-अधिकारभेद के आधार पर ही अद्विप्रज्ञा के द्वारा प्रकृतिसिद्ध-विभक्त-वर्णभेद के मायम से तत्तत् विभक्त ज्ञान-कर्म-अर्थ-भावों का विभाजन हुआ है जिस इसप्रकार के उत्तरदायित्वपूर्ण प्रकृतिसिद्ध विभक्त अधिकारभेद को सर्वथैव सदा ही विज्ञानसम्मतस्वेन शाश्वतीभ्य सामाम्य अर्थात् सदा सदा के लिए ही उपयोगी ही माना जायगा।

अवश्य ही अज्ञानतावश अमुक समय से भारतीय वर्णमानवोंने अधिकार शब्द की उत्तरदायि-
स्वपूर्णा तथाविधा विज्ञानसिद्धा यस्या की उपेक्षा कर लोक विषगासक्ति के द्वारा मन शरीरानुगत यक्ति
विमोहनरूप प्राकृतिक उस अधिकार को ही अपना लक्ष्य बना लिया है जिस उत्तरदायि श्च य
अतएव सवविनाशक ऐसे अधिकार के कारण ही अमुक समय से अधिकार शब्द को लेकर सभी भारता में
में परस्पर आक्रोशात्मिका अनथकारिणी अहमहमिका ही उपक्रान्त होपडी है । कि विमोहनात्मक ऐसी
अधिकारलिप्सा से सवप्रथम पतन हुआ ब्राह्मण का तदनंतर क्षत्रिय का आगे चलकर वैश्य का एव
आज शूद्र महाभाग ही विशेषरूपेण इसी विमोहनात्मिका कामाग्राना मन शरीर निबधना अधिकारिणा के
उस भीषण दुस्तर पङ्क में निमन होते जा रहे हैं जिस पङ्क में उनकी वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण नाम की पूर्वपर परा
त्रयी सवथैव निमज्जित होती हुई एक प्रकार से अपना बाह्य परिचयाक वर्णस्वरूप ही विस्मृत कर बठी है ;

यही अवस्था किंवा दुरवस्था भाबुकतानुगत उस नारीसमाज की है जो आज अधिकारलिप्त
तथाविध यक्ति विमोहनानुगत मानवमहाभागों की सवनाशकारिणी प्ररणा से का पनिकी अधिकारविषया
में निमन रहता हुआ अपने सहज सौय वा सयपूर्णा मातृव जैसे महतोमहीयान् सर्वाथ्य पद को ही
विकम्पित करता जा रहा है । भारतीय वर्णप्रजा में ही यह सघष हो यह बात नहीं है । अपितु साह क्रामिकी
बनपदविध्वसिनी महामारी (लेग) की भाति यह अधिकारलिप्सा यक्ति विमोहनात्मक अधिकारलिप्त छुट्टे बड़े
आनाल वृद्ध-वनिता आदि सभी वर्गों में उसप्रकार वैसा सड क्रमण कर बैठी है जिसके कारण ही सभी अहर्निश
हमारा अधिकार हमारा अधिकार का चीकार करते हुए स्वोत्तरदायिस्वपूर्णा क्त यष्टि से सवथैव परा
ह मुख प्रमाणित होते हुए अधिकारलिप्सानुगत कामार्थभोगों की ओर ही अ ध्वधिर रूपेण अनुधावन करते
जा रहे हैं ।

धोषणाए प्रतिक्षण हो रही है मानवता मानवधम्म समानता विश्वव्युत्त्व आदि अदि लोकोत्तर
आकषक शब्दों की । किन्तु प्रयेक धोषणा के मूल में दृढतरूपेण पुष्पित पञ्जवित होती जा रही है यक्ति
व विमोहनमूला वैय्यक्तिकी-अधिकारवासना । कैसा है यह आज का भारतीय-जनजीवनप्रवाह जिससे
प्रयेक व्यक्ति अपनी अपनी ज्ञान कम्म नि ठा से एकातत पराह मुख बना रहता हुआ केवल अधिकार
अधिकार का ही चीकार करता जा रहा है जिस इस अकम्मयय भावानुवधी ज्ञानसम्पत्ति-वञ्चित आधि
कारिक चीकार का कहा अवसान होगा ? प्रश्न सचमुच ही उत्तरोत्तर असमाधेय ही प्रमाणित होता
जा रहा है ।

उक्त- अधिकारचीत्कार को लेकर ही आज वेदशास्त्र के अध्ययनायापन तथा यशकर्मनुगति के
सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के त्रिसवाद अभि यक्ति होपडे हैं तथाविध अधिकारलिप्त वर्ग की ओर से ही
जिस तथाभूत आक्रोश का आधारसूत्र है स्त्री शूद्रो नाधीयाताम् यह सुप्रसिद्ध शास्त्रीय पूर्ण-परीक्षित-
वैज्ञानिक-सिद्धात । ईश्वरीय सृष्टि में जब सभी समान हैं तो यह पक्षपात क्यों ? एकमात्र इसी तर्क के आधार
पर अधिकारवादियों का तथाभूत आक्रोश उपजीवित है जिस इस तर्काभासरूप तक का हसतिए इस प्राकृत
जगत् में यत्किञ्चित् भी तो मह व नहीं हैं कि विषमवर्णानुगत। प्रकृति से सञ्चालित ब्रह्मात्मक भौतिक-विश्व
की जीवनधारा त्रिगुणभावपक्षा बन्नी रहती हुई सवथा विभिन्न वतन परम्पराओं से ही सञ्चालित रहती है जिस
इस महान् वैज्ञानिक प्राकृतिक-तत्त्व के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है ।

अधिकार किसी को न तो दिया ही जासकता न किसी का अधिकार अपहृत ही किया जासकता। हा जो जिसमें प्रकृत यव अनधिकृत है वह यदि बलपूर्वक उस ओर प्रवृत्त होना चाहत है तो उसके सहजसिद्ध प्राकृत-स्वरूप के सरक्षण की माङ्गलिक कामना से ही उसे अनधिकृत तथ्यों से रोक दिया जाता है। यदि वह नहीं सकता तो अनधिकृत में तो उसे सफलता नहीं ही मिलती। प्रवृत्त यनुगत अधिकृत स्वरूप वह ओर एो बैठता है। एव एकमात्र इसी आधार पर भारतीय अधिकारमर्यादा किंत्ता उत्तरदायि व यवत्मा यवस्थित हुई है जिसकी प्राकृतिक-का पानक-साम्य के आवश में आकर आज हम सवथव उपेक्षा करते जा रहे हैं। स्त्री और शूद्रवत् वसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बधु भी तो शास्त्र के द्वारा वेदस्वा याय में सवथा अनधिकृत ही घोषित हुए हैं जो कभी वदशास्त्र के अ ययन सम्पक में आए ही नहीं अपितु जो जम से ही अया-न्य लौकिक अनुब धों में ही आसक्त यासक्त बने रहते हैं। सस्कारशून्य ऐसे द्विजाति को ही शास्त्रने द्विज न कह कर निदा के रूप से द्विजब धु उपाधि से समलङ्कृत किया है। एव सस्कारशून्य ऐसा त्रवर्णिक भी त्व वदस्वा याय एव यज्ञादि कम्म में अयोग्यतावश अनाधिकृत है * तो स्त्री शूद्र से अनुगता अनधिकृतता के सम्ब ध में तो इसलिए प्रश्न ही नहीं उठता कि इनका प्रकृतिसिद्ध मूलप्राण अत्रि और पूषा नामक उस पार्थिव प्राणद्वयी से ही अनुप्राणित है जिसके तमोगुणबहुल सृष्टयनुब वी स्वरूप के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है एव जिसके लिए तो स्वत त्र-अ ययन ही अपेक्षित माना जायगा।

स्त्री शूद्र द्विजब धु नामक वग भी वेदसिद्ध महान् फल से वञ्चित न रह जायें इसीलिए तो परम कारुणिक भगवान् बादराय के द्वारा पुराणशास्त्र का आविर्भाव हत्र है जिसके रहस्यपूर्ण आर्यानों पार्यानों की गभीराथता का किञ्चिदिव सस्मरण आवदन के अर भ में ही किया जाचुका है। वेद और वेदसिद्ध जटिलतम विज्ञान-स्तुति इतिवृत्त ज्ञान-कम्म उपास्ति जसे अ य त दुरधिग य-ज्ञातव्य कत्त या मक विषय षट्क से सुविभूषित वेदशास्त्र जैसे ग भीर शा त्र के अधिकार की बात तो जाने दीजिए। हम तो समझते हैं आज तो पुराणशास्त्र के त वसम वय की भी क्षमता स्त्री शूद्र द्विजब-धुवग में तो क्या विद्या का गव रखने वाले विद्वानों को भी एक बार तो शङ्कातङ्कितनानस ही प्रमाणित कर देगी। ऐसा है ज्ञान शैथिय का आज का युग और उस युग का वसा है वह अधिकारघोषणापत्र जिसकी यातयामता में कुल्ल भी तो स देह नहीं किया जासकता। जिसप्रकार केवल आ दोननों के लिए प्रतिक्षण विलक्षण विलक्षणा साजस जाओं प्रदर्शनो घोषणाओं से समलङ्कृत सुविभूषित आविभूत होते रहने वाले आज के भावु कतापूर्णा आन्दोलन आन्दोलन मात्र पर ही अपनी जीवनलीला समाप्त करते रहते हैं। ठीक वही अवस्था उत्तरदायि वशून्य अतएव नितान्त भावुकतापूर्ण उस अधिकारघोषणा की होरही है जो अधिकारघोषणा कालान्तर में अधिकारघोषणा मात्र पर ही विश्राम ग्रहण करती जाती है साड कामिकी यात्रि की भाति आगे की घोषणा मात्र को ज म देती हुई ही। और यों अधिकारलिगु मानव का एव मानवी का समस्त जीवन केवल इस घोषणाओं के आविर्भाव तिरोभाव में ही परिसमाप्त होजाता * उत्तरदायि वपूर्णा अधिकारभेदभिन्ना नियता ज्ञान-कर्मनिगति से परा परावत ही बना रहता हुआ।

*-स्त्री शूद्र-द्विजब धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

प्रस्तुत प्रवरणब्राह्मण आद्यप्र रग के मा यम से ऋषिवश परम्परा का स्पष्टीकरण करता हुआ यज्ञाधिकार निबन्धन उस महान् उत्तरदायि व का ही वैज्ञानिक स्पष्टीकरण कर रहा है जिस का गोत्रभाव से ही सम्बन्ध माना गया है एव जिस गोत्रभाव का परिचायक नैदानिक चिह्न ही प्रजर नाम से प्रसिद्ध हुआ है । त सम्बन्ध से ही तद्ब्राह्मण प्रजरब्राह्मण कहलाया है ।

मन्त्रब्राह्मणा मक वेदशास्त्र के अध्ययाना यापन में तथा विधिसिद्ध-दि यभात्रापन्न यज्ञकर्मों में उत्तरदायि वपूर्ण अधिकार की दृष्टि से अधिकृत द्विजाति यजमान ही तो यज्ञकर्म के लिए दीक्षा ग्रहण कर सकता है एव तथाविध अधिकारी द्विजाति ही दक्षिणा द्रयमा यमेन-यज्ञकर्म का होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा-आदि भेदभिन्न आर्वि यक र्म में अधिकार ग्रहण कर सकता है । असुक यजमान के असुक यज्ञकर्म के लिए असुक ब्राह्मण अपनी ऋषिगोत्र-मर्यादानुबन्धिनी-वशमर्यादा से अधिकृत है इस त य के समवय से सम्बन्ध रखने वाला कर्मविशेष ही आश्रावण कर्म है ।

मानव की अध्यात्मसंस्था में हमने आत्मा बुद्धि मन शरीर ये चार पर्व बतलाए हैं । इन में तुरीय-आत्मा तो दिग्देशकालातीत तत्त्व है । अतएव वह गोत्र वण-जाति आदि भावों से अतीत है जैसाकि - अगोत्रमवर्णम् इत्यादि औपनिषद सद्म से स्पष्ट है । शेष रह जाते हैं बुद्धि मन शरीर नामक तीन पर्व जिनका क्रमशः प्रकृति के सूर्य चन्द्रमा प्रथित्री नामक उन सुप्रसिद्ध तीन पर्वों के साथ ही क्रमिक-सम्बन्ध है जो तीनों प्राकृत पव क्रमशः काल दिक्-देश भावों से अनुप्राणित है जैसाकि पूर्व में भी यत्र तत्र स्पष्ट किया जा चुका है ।

काला मक कालसाक्षी सूर्य ही बुद्धि का प्रवक्तक है दिग्मक-दिक्साक्षी चन्द्रमा ही मन का आरम्भक है एव देशा मक-देशसाक्षी भूपिण्ड (पृथिवी) ही शरीर का उपादान है । यों मानव के बुद्धि मन शरीर रूप तीनों विभिन्न धर्मा प्राकृतपव काल दिक् देश धर्मानुगत सूर्य चन्द्र-भूपिण्ड से ही अनुप्राणित हैं । अतएव आत्मदृष्ट्या जहा मानव अप्राकृत दिग्देशकालानुगामी-लोकमानव है वहाँ बुद्धि मन-शरीर दृष्टि से वही लोकानुगत प्राकृत मानव दिग्देशकालानुगामी-लोकमानव है । प्राकृतक मानव के प्रकृतिसिद्ध ये तीनों बुद्ध्यादि पव जिस महती प्रकृति से अनुग्रहीत हैं उसे ही-महत्प्रकृति कहा गया है जिस के कि सुप्रसिद्ध षड्विचत्तों की ओर ही एक विशेष दृष्टिकोण के समवय के लिए उदाहरण-प्रमियों का यान आकर्षित किया जा रहा है ।

महत्प्रकृति के आधार पर ही क्योंकि आत्मपुरुष नामक चिदा मा गर्भ धारण करते हैं अतएव इस महत्प्रकृतिरूप इस महान् को चिदा मा की योनि (गमभूमि) कहा गया है जिसके माध्यम से ही आप्य-वायु-सौम्य-रूपा-त्रिविधा-जीवसृष्टि की अभियक्ति हुई है । महत्प्रकृतिरूप महान् वह पारमेष्ठ्य आपोमय-तव है जो आप तव घन तरल विरल भेद से आप वायु सोम इन तीन रूपों में विभक्त रहता है । क्योंकि पारमेष्ठ्य महान् का भागव आयरूप त्रिर्भावापन्न है अतएव जीवसग आप्यजीव, वायुयजीव सौम्यजीव भेद से तीन ही प्रमुख श्रियाँ में विभक्त रहता है ।

जीवत्रयी का अभियोजक चिदा मा को स्वगर्भम प्रतिष्ठित रखनेवाला महान् महत्प्रकृतितत्त्व वह महतोमहीयान् ग्रह है जिसके चारों ओर सूर्य-चन्द्रमा भूपिण्ड स्व स्व अयन दक्ष-क्रान्ति-नामक वृत्तों पर परिक्रमा लगाया करते हैं । जिसप्रकार चन्द्रमा अपने दक्षवृत्त के आधार पर भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रममाण है स्वाक्ष पर परिभ्रमणीय भूपिण्ड अपने क्रान्तिवृत्त के आधारपर सूर्य के चारों ओर परिक्रममाण

है एवमेव सूर्य अपने अयनवृत्त के आधापर आपोमय पारमेष्ठ्य महान् के चारों ओर परिक्रममा लगा रहा है । चाद्री परिक्रमा जसे मासात्मिका है पार्थिवी परिक्रमा जसे वर्षात्मिका है एवमव सौरी परिक्रमा पञ्चविंशति-सहस्रवर्षात्मिका मानी गई है । इस परिक्रमात्रयी का नाम ही है दशपूर्णमास नामकी सुप्रसिद्धा नियसिद्धा वह यज्ञप्रक्रिया जिसके आधारपर ही मानवकृत वध उस दशपूर्णपासयज्ञ की इतिक न्व्यता का शतपथ के प्रथमकाण्ड में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है जिस के प्रवराश्रावणक्रम के प्रसङ्ग से ही यह परिभ्रमण चर्चा उपक्रान्त होपड़ी है एक विशेष तय के समय के लिए ही ।

सूर्य-चन्द्र भू के परिभ्रमणरूप दशपूर्णमास से ही पारमेष्ठ्य महान् में किंवा तदरूपा महत्-प्रकृति में क्रमश अहकृति प्रकृति आकृति नाम की प्रथमा प्रकृतित्रयी एव सत्त्व-रज-स्तमो नाम की द्वितीया गुणत्रयी रूपेण षट् विवर्णा अभियक्त होजाते हैं । ज्ञानशक्तियुक्त कालामक सूर्य के परिभ्रमण से महान् में अहङ्कृति नामक प्रकृतिभाव एव सत्त्वगुण नामक गुणभाव अभियक्त होता है । क्रियाशक्तियुक्त दिगामक चन्द्रमा के परिभ्रमण से महान् में प्रकृति नामक प्रकृतिभाव एव रजोगुण नामक गुणभाव प्रस्कटित होता है । एव अथशक्तियुक्त दशामक भूपिण्ड के भ्रमण से आकृति नामक प्रकृतिभाव एव तमोगुण नामक गुणभाव प्रकट होता है । यो परिक्रमा-त्रयीरूपा दशपूर्णमासात्मिका यज्ञप्रक्रिया से महत्प्रकृति-षड्भावपन्ना बन जाती है । और यही मानव के मह प्रकृतिमूलक समस्त स्वरूप का सर्व्विप्ततम वह चिरन्तन इतिवृत्त है जिसे आ यतिकरूपेण विस्मृत कर देने के दु परिणामस्वरूप ही आज के दिग्देश-कालविमुग्ध मानव के लिए भारतीया त वमूला गोत्र बण-जाति-यवस्था सवथव भीमास्या ही प्रमाणित होरही है ।

भारतीय प्राकृतक विज्ञान मानव को जन्मत ही जिन तीन ऋणो से अधमण (ऋणी-कजदार) मानता आरहा है व ही तीनों ऋण क्रमश ऋषिप्राण पितृप्राण देवप्राण इन नामो से सुप्रसिद्ध हैं जिन का सुविशद वैज्ञानिक-विवचन स्वयं शतपथभाष्य में ही द्वितीयकाण्ड में त्रिभिर्वा ऋणप्राणायते इत्यादि रूपेण स्वतंत्ररूप से होने वाला है । प्रकृत में यही वक्तय है कि तीनों ऋण क्रमश ज्ञान-क्रिया अथ-प्रधान ऋषिप्राण देवप्राण पितृप्राण इन त्रिविध प्राणो से ही अनुप्राणित हैं जिस अनुप्राणन के वैज्ञानिक स्वरूप विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है । ज्ञानात्मिका सौरी बुद्धि का ज्ञानप्रधान ऋषिप्राण से प्रधान सम्बन्ध है क्रियात्मक चाद्र मन का क्रियाप्रधान देवप्राण से प्रधान सम्बन्ध है एव अर्थात्मक-भूपिण्ड का अथप्रधान पितृप्राण से प्रसुल सम्बन्ध है ।

निष्कर्ष यही है कि ऋषिप्राण अहङ्कृतिभाव सत्त्वगुण ज्ञानशक्ति कालात्मक सूर्य सौरीबुद्धि ये सब विवक्त एक (प्रथम) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं । देवप्राण प्रकृतिभाव रजोगुण क्रियाशक्ति दिगामक चन्द्रमा और चाद्र मन ये सब विवर्णा एक (द्वितीय) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं । एवमेव पितृप्राण आकृतिभाव तमोगुण अथशक्ति देशात्मक भूपिण्ड और भौम-पार्थिव-शरीर ये सब विवक्त एक (तृतीय) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं ।

सौरी-बुद्धि से अनुप्राणित प्रथम धरातल का ज्ञानानुगत ऋषिप्राण ही मानव के बुद्धि निबन्धन गोत्रभाव की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है । चाद्र-मन से अनुप्राणित द्वितीय-धरातल का क्रियानुगत देवप्राण ही मानव के मनो-निबन्धन-वर्णभाव का आलम्बन माना गया है । एव पार्थिव-भौम शरीर से अनुगत तृतीय धरातल का अर्थानुगत पितृप्राण ही मानव के शरीर निबन्धन-जातिभाव का अनुग्राहक माना गया

है। यो मानव की पारमेष्ठ्या मह प्रकृति से अनुगत अहकृति प्रकृति आकृति भाव ही क्रमशः ऋषि देव पितृ-प्राणत्रयी से अनुगत होते हुए गोत्र-वर्ण-जाति त्रयी की मूलप्रति ठाभूमि प्रमाणित हो रहे हैं। यहाँ हम एक सप्रहामिका तालिका उद्धृत कर रहे हैं जिसके माध्यम से त्रिगुणात्मिका त्रिप्रकृतिभावसन्निवृत्ता अतएव षडभावनिबन्धना-पारमेष्ठ्या-महत्-प्रकृति से अनुगत ऋषि देव पितृ प्राण-निबन्धन प्राकृतिक-विस्तार का सर्वात्मना नहीं तो अशत तो अवश्य ही अनुमान लगाया जा सकता है जिस के यथावत् पारिभाषिक-सम-वय बोध से परा परावत बने रह जाने के कारण ही आज बड़े बड़े प्रज्ञाशील-राष्ट्रीय मानस ठ भी भारतीय गोत्र-वर्ण जाति भेद-निबन्धना प्रकृतिसिद्धा वास्तविक-स्थिति से विसुप्त ही बनते जा रहे हैं जिस वस्तुस्थिति के कारण ही भारतीय मानव का उत्तरदायि वपूरा पूर्वनिर्दिष्ट आ मनुस्मृतिस्वरूपाम्ब्यक्ति वमूलक वास्तविक व्यक्ति व स्मृतिगम में ही विलीन होगया है।

दिगदेशकालातीत - सर्वातीत - सर्व यापक चिदात्मा 'आत्मा' (मानवीय)		
१	२	३
१-कालात्मक सूत्र्य	१-दिगात्मक च द्रमा	१ देशात्मक भूपरिद
२-अहङ्कृतिभाव	२-प्रकृतिभाव	आकृतिभाव
३-सर्वगुण	३-रजोगुण	३ तमोगुण
४-ऋषिप्राण	४-देवप्राण	४ पितृप्राण
५-ज्ञानशक्ति	५ क्रियाशक्ति	५-अर्थशक्ति
६-गोत्रसृष्टि	६-वर्णसृष्टि	६ जातिसृष्टि
मानवीया-बुद्धि ७- कालानुगतता १	मानवीय-मन दिगनुगतम् २	मानवीय शरीरम् ७- देशानुगतम् ३

वण यवस्थामूलक चातुर्वर्ण्य तथा जाति-यवस्था दोनों के सम्बन्ध में ही आज का नवीन भारत निरतिशयरूपेण आक्रुष्ट ही बना हुआ है पूर्वोक्त उत्तरदायि व शूय-मन शरीरनिबन्धन-व्यक्ति-व-विमोहना मक उस अधिकार शब्द मूलक सन्धि के कारण ही जो सषष विगत अनेक शतादियों से प्रक्रान्त है। अधिकारव्यामोहन के कारण ही भारतीय-वणव्यवस्था के प्रति आज का मानव प्रचण्ड-विद्रोही बन गया है जिस विद्रोह का प्रायश्चित्तरूपेण समादर ही किया जायगा। किंतु एतावता ही वर्णों को कान्पनिक तो कदापि नहीं माना जासकता नैव जातियों को ही मानवीय-कपनामात्र पर विश्रांत किया जासकता जैसाकि आजकल माना और बलपूर्वक मनवाया बारहा है।

एक सब से बड़ी आ त तो यही है कि आज वण और जाति दोनों श दो को पर्याय मान लिया गया है। एव यही भ्रान्ति प्रमुखरूपेण वण और जाति के प्रति आक्रोशोपत्ति का कारण बनी हुई है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-ये जातिया नहीं हैं अपितु ये तो वण हैं जोकि प्रकृत्या ज मना चार ही भागों में विभक्त हैं एव जिन इन प्रकृतिसिद्ध ईश्वरकृत चारों वर्णों का केवल मानवसग में ही समावेश नहीं है। अपितु विश्व के चर-अचर-जड-चेतन यन्त्रयावत् प्राणियो-पदार्थों-ओषधि-वनस्पतियों-लता-गुल्मों-धातूपधातुओं आद आदि में सवत्र चातुर्वर्ण्य विद्यमान है जिसका सुविशद-वैज्ञानिक समन्वय-गीताभूमिका क मयोग-परीक्षानुगत वर्णाश्रम-यवस्थाविज्ञान नामक स्वतन्त्र निबन्ध में किया जा चुका है।

वण जहाँ चार ही हैं वहा जातिया चतुरशीतिच (८४ लाख) मानी गई है-प्रकृत के पितृ-प्राणनिबन्धन महिमामय विस्तार के कारण जोकि भारतीय आबालब्रह्मप्रज्ञा में चौरासीलाख योनिया नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चौरासीलाख में मानवयोनिरूपा मानवजाति एक ही जाती है जिस योनिमूला-जाति का पूर्वोक्ता महत्प्रकृत के सर्गांत के पार्थिव-निबन्धन-स्थूलशरीर-से ही प्रमुख-सम्बन्ध माना गया है जैसाकि- आकृतिग्रहणा जाति -यादिरूपेण सुप्रसिद्ध है। सचमुच ही तो शरीराकृतिमूला मानव-योनिनिबन्धना मानवजाति तो स पूण विश्व में एक ही तो है। कौन इसमें भेद मान रहा है ?। शरीरानुबन्धन आहारनिद्रादि-शारीरिक धर्मों से सभी मानव एक धरातल पर ही तो प्रतिष्ठित हैं। इस तथ्य से पराड मुख होकर जो महानुभाव-चातुर्वर्ण्य के सम्बन्ध में यह तर्कामास उठाते हैं- ब्राह्मण और क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि की आकृति जब समान है तो फिर जाति भेद कैसा उनके इस तर्कामास का सवथा ही तो मूलोच्छेद हो जाता है उस समय जब कि पदाथमात्र में याप्त प्रकृतिसिद्ध ब्राह्मण-क्षत्रिय-आदि भेदनिबन्धन चातुर्वर्ण्य का एव आकृतिमूलक-मानवसामाय में एक रूपेण-याप्त-जातिजाति च सामायम् निबन्धन-जातिभाव का मानवजाति रूपेण पार्थक्य समझ लिया जाता है।

भारतीय-श्रुतिने कदापि जाति को कोई प्रमुख प्रश्न नहीं दिया है। अपितु असुक-सीमापय्यन्त प्रकृतिनिबन्धन चातुर्वर्ण्य का ही समादर किया है जिसका अततो गवा विश्राम हुआ है श्रुति के द्वारा श्रुतिप्राणनिबन्धन-अहङ्कृतिमूलक-उस गोत्रभाव पर ही जिसके सम्बन्ध में गोत्र नोऽभिवद्धन्ताम् यह मङ्गलाशी प्रसिद्धा है। वशानुगतिनिबन्धना गोत्रमूला परम्परा का उत्कृष्टव ही वह वास्तविकी अधिकार-मर्यादा है जिस का प्रमुखरूपेण भारतीय-शास्त्रीय व्यवहार तथा लौकिक व्यवहार में समादर हुआ है। एव प्रस्तुत प्रवरणब्राह्मण के द्वारा इसी तथ्य का अनेक-दृष्टियों से स्वरूप-समन्वय हुआ है इत्यल-प्रासङ्गिकेन प्रवरानुगत-अधिकार-शब्द-निबन्धन-सस्मरणेन।

(२१)-१२

* * * * *

[२२]-स्रुगादापनानुगत आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म प्रसङ्गत
कतिपय आमुष्मिक, ऐहिक फलानुबन्धी
“वैज्ञानिक-सन्दर्भों का सस्मरण”

१३



स्रुगादापनानुगत-आश्रावण प्रत्याश्रावण—नामक क्रमप्राप्त बाईसव (२२) प्रमुख कर्म की इतिक्त व्यता के प्रसङ्ग से भी अनेक वैज्ञानिक तयों का प्रासङ्गिक स्वरूप समन्वय प्रयास हुआ है जिनमें से अत्र उदाहरणरूपेण एक दो वैज्ञानिक-तयों का सस्मरण ही पर्याप्त होगा। आमुष्मिक परोक्षफल के अनुगामी अदृष्ट-प्रमियों के अनुरक्षण के लिए एव ऐहिक प्रयत्नफल के अनुवर्मा भूतवादियों की तृष्टि के लिए वे ही उदाहरण अत्र क्रमशः उपस्थित हो रहे हैं।

(क)—स्रुगादापनकर्म निबन्धन-प्राणानुगत अदृष्ट-भाव का सस्मरण-

स्वस्त्ययनजपकर्म के अनन्तर होता नामक ऋषि के द्वारा होने वाला अमुक-निगद मात्रामक पाठ ही स्रुगादापनकर्म कहलाया है जिसकी अन्यान्या उपपत्तियों में से प्रधान उपपत्ति है—मानुषभावनिबन्धन प्रज्ञापराध का उपशम। प्राणप्रधान देवदेवताओं के यजनामक सङ्गमन से सम्बन्ध रखने वाला दिव्यप्राणामक यज्ञकर्म अपने आधारभूत अदृष्ट प्राण के अनुबन्ध से प्रधानरूपेण अदृष्टभाव प्रधान ही कर्म है। आकाश-वायु तेज जल मृत् नामक पञ्चपञ्चीकृत अतएव महाभूत नाम से प्रसिद्ध अतएव च प्रयत्नदृष्ट भूतों से अनुगता शब्द स्पर्श रूप-रस-गन्ध-नाम की पञ्चतन्मात्राओं से सर्वथैव असस्पृष्ट अतएव अघामच्छुट-सुसूक्ष्मतम पञ्चमहाभूताधारत विशेष ही प्राण है। प्रज्ञानमन से समन्वित पञ्चेन्द्रियवग उद्दी भूतभौतिक विषयों का प्रयत्नानभव कर सकता है जिनका शब्द स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राओं से सम्बन्ध रहता है। प्राण तत्त्व क्योंकि पञ्चतन्मात्राओं से असस्पृष्ट अतीत है। अतएव प्रज्ञानमन सम्पिब्वक्त कोई भी इन्द्रिय उसका साक्षात्कार नहीं कर सकती। इस इन्द्रियातीतत्त्व धर्म के कारण ही प्राण को अदृष्ट परोक्ष इन्द्रियातीत आदि अभिधाओं से समन्वित माना गया है। क्योंकि 'यज्ञ' शब्द प्राणरूप देवदेवताओं के यजन—सङ्गतिकरण—दानात्मक—भावों से ही अनुप्राणित है * अतएव प्राणदेवप्रधान यज्ञकर्म को अवश्यमेव प्रमुखरूपेण अदृष्टफलजनक ही माना जायगा।

*—'यज'—देवपूजा—सङ्गतिकरण—दानेषु (पाणिनीय-धातुपाठे)।

प्राणनिबन्धना अदृष्टता ही वह परोक्षता है जिसके आधार पर ही—परोक्षप्रिया इष हि देवा प्रयत्नद्विष (अर्थात् प्राणदेवता परोक्ष से ही अनुगत रहते हैं एव प्रत्यक्ष से शत्रुता ही रखते हैं) यह श्रौत निगमवचन व्यवस्थित हुआ है। आमानुगत प्राण जहाँ शाश्वतत्व है अमृतत्व है अजरभाव है वहा विश्वानुगत वाङ्मय भूत परिवर्तनशील है मयभाव है जीणभावानुगत है। प्राण ही भूत की प्रतिष्ठा है। प्राण ही वह अक्षरा मक कूटस्थ अविच्छिन्न सूत्र है जिसके आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले क्षरकूटस्थ भूतभौतिक परमाणु सघातभाव में परिगत होते हुए अमुक अवधि पथ्यन्त स्वस्वरूप से अभियक्त होते रहते हैं। जबतक कूटस्थ अक्षरप्राण क्षरकूट की प्रतिष्ठा बना रहता है तभीतक भूतभौतिक पदार्थों की स्वरूपाभि यक्ति है। प्राणसम्बन्ध के विच्छिन्न होते ही तदाधार पर प्रतिष्ठित भूतपिण्ड विशकलित होजाते हैं बिखर जाते हैं। यही इनका अव्यक्तभाव है जिसे स्थूलभाषा में विनाश कहा गया है। स्वस्वरूपेण अपने क्षरण धम्म से भूतभाव अयक्तभावानुगत ही बना रहता है जो प्राणाधारदशा में जहा व्यक्तभावापन है वहाँ प्राणवियोगदशा में वही पुन अयक्तभावापन है। यो आरम्भक्षणे अयक्त मध्यक्षणे-व्यक्त पुन तृतीयक्षणे अयक्त यही मय ५तों का सम्पूर्ण जीवनेतिवृत्त स्वारस्य-बना हुआ है।

भूतभौतिक पदार्थों में सापेक्षभाव निबन्धना जो बलवत्ता प्रतीत होरही है वह वस्तुतः प्राणशक्ति की ही महिमा है। प्राणबल ही भूत का वास्तविक बल है। जिस दिन धारावाहिकबलावित प्राणबन्धन शिथिल होजाता है उसी दिन भूतबल विलीन होजाता है। प्राण क्योंकि पूव कथनानुसार परोक्षधर्मा है। इसलिए भी भारतीय आदर्शपद्धति में प्रयत्नापेक्षया परोक्षभावों को ही प्रधानता दी गई है। इसी दृष्टि से भारतीय समस्त विधि विधान वाङ्मयी घोषणा से तदनुप्राणिता प्रदर्शन प्रचार परम्पराओं से तत्स्थवत् बने रह कर ही प्रवृत्त हुए हैं होने चाहिए जैसाकि पूर्व के संस्मरण में भी आत्रेयी वाक के अनुबन्ध से स्पष्ट किया जाचुका है (दखिए पृ स ११)। भारतीय आष मानव प्रयत्न दृष्ट-की अपेक्षा परोक्ष अदृष्ट को ही श्रयो प्रसूखता प्रदान करता है। प्रश्न का भी प्राणनिबन्धन यही प्रासङ्गिक समाधान है जिस इत्थभूता प्राणा नुगता परोक्षता से अनुगत यज्ञक म भी परोक्ष अदृष्ट भावों से ही समवित होरहा है। इत्थभूत अदृष्टभावापन यज्ञकर्म में दृष्टभावप्रधान लोकाभिमुख सेन्द्रिय मानव के द्वारा अज्ञातरूपेणैव नृति होजाना स्वाभाविक ही है। और अचूतसहित मानव के द्वारा होने वाली नृति से दिव्यप्राणातिशयरूप-यज्ञकर्म का दोषपूर्ण बन जाना भी स्वतः सिद्ध ही है जोकि दोषपूर्ण यज्ञ यज्ञकर्ता यजमान के लिए इष्टसाधकता के स्थान में अनिष्ट का ही जनक बन जाता है। इसप्रकार के प्रचण्ड दोष की निवृत्ति के लिए दूसरे शर्दों में यजमान-ऋषिविगुण आदि मानवों के द्वारा अज्ञातरूपेणैव होपड़ने वाले अदृष्टदोषा मक प्रतिबन्धक के उपशम के लिए जो वैज्ञानिक कर्म व्यवस्थित हुआ है उसीका नाम है—सुगादापनकर्म जिसके इत्थभूत प्राणामक परोक्ष अतिशय का ही तत्-कर्म प्रसङ्गत विस्तार से स्वरूप विश्लेषण हुआ है।

प्रज्ञापराधजनित दोष के परिमाजन से अनुप्राणित सुगादापननिगदपाठा मक-सुगादापन कर्म के द्वारा एक अय यज्ञानुबन्धी आवश्यक तथ्य का भी समग्र होरहा है और वही इस कर्म का दूसरा वैज्ञानिक

✱—अ यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ।

अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥

—गीतायाम्

समन्वय है जिसका यज्ञातिशयरूप अदृष्टभावापन्न दैवात्मा से ही सम्बन्ध माना गया है। जिमप्रकार प्रकृति सिद्ध सौर सम्बन्धरूप अग्नीषोमात्मक निययज्ञ से अनुप्राणित दाम्पय भावानुबन्धी आनेय-रजोभाव तथा सौम्य शुक्रभाव के-रासायनिक-सम्मिश्रण से गर्भानुगत अपूर्व भूतामा (देहाभिमानी जीवात्मा) की अभिव्यक्ति हाती है ठीक उसी प्रकार इस मनुय यजमान के अग्नीषोमात्मक-वैध-यज्ञ से यजमान के भूतामा के साथ ग्रथित धन सम्बन्ध करता हुआ एक अपूर्व नवीन यज्ञातिशयरूप यज्ञात्मा अभिव्यक्त होपड़ता है एव इसी का पारिभाषिक नाम रक्खा गया है—दैवामा जो अद्वैत के द्वारा यजमान के भूतामा से अकामा यमेन सम्बन्ध रखता हुआ सप्तदशस्थानीय त्रिणाचिकेत नामक स्वर्ग में प्रतिष्ठित होजाता है। जब यज्ञकर्त्ता यजमान का भूतामानुगत ऐहिक आयु काल समाप्त होता है तो तदनन्तर दैवामाकषण से यह भूतामा तत्स्वर्गप्रदेश में ही चला जाता है। अवश्य ही अदृष्टभावापन्न प्राणामक यज्ञ से अभिव्यक्त दैवामा भी हमारी भूतदृष्टि से अदृष्ट है एव सप्तदशस्थानरूप स्वर्ग भी प्राणप्रधान बनता हुआ अदृष्ट ही है। किन्तु विज्ञानदृष्ट्या यह सभी कुछ दृष्ट ही बना हुआ है।

मानवीय-वैध-यज्ञ उस प्रकृतिसिद्ध इश्वरीय यज्ञ की ही प्रतिकृति किन्वा प्रतिरूप अथवा तो प्रतिमान है। अतएव ईश्वरीय प्रजासग में जो जो भाव अङ्ग प्रयङ्ग-समाविष्ट रहते हैं इस मानवीय-वैध यज्ञ में भी उन उन सभी भाव-अङ्गादि का समावेश अनिवार्य बन जाता है। सृगादापनकर्म के द्वारा यज्ञातिशयरूप दैवामा के दिव्यशरीर में अवातर नवविध आध्यात्मिक प्राणों का ही आधान किया जाता है सख्यासम्पदनुगत निदानभाव के माध्यम से ही जिस इस नवप्राणधानकर्म का भी अदृष्ट-प्राणनिबन्धन वेन परोक्षभाव से ही सम्बन्ध माना जायगा।

सरयासम्पदनुगत निदानभाव के स्वरूप विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। सन्दर्भ-सङ्गति के लिए इस सम्बन्ध में यही निवेदन पर्याप्त मान लिया जायगा कि—वैदिक विज्ञान के प्रायः—सभी अनुबन्ध संख्यानुगत-निदानभावों के माध्यम से ही व्यवस्थित हुए हैं छन्दोभावानुबन्धेन। वस्तुओं का बहिःसीमात्मक-बाह्य मण्डल ही तद्वस्तु का छन्द माना गया है जिसका अक्षरानुगता संख्याओं से ही प्रधान-सम्बन्ध रहता है। अमुक-अक्षरान्वित अमुक छन्द से अनुगता अमुक वस्तुसत्ति के सग्रह के लिए तद्वन्दोऽनुगत संख्याभाव को भी ऋषि ने प्रसुखता प्रदान की है। सृगादापनकर्मनुगत निगदमन्त्र में क्योंकि १ (नव) व्याहृतियाँ हैं * अतएव इस निगदपाठ को नवभावात्मक ही माना गया है।

* सृगादापनकर्मनिबन्धना ९-व्याहृतियाँ निम्नलिखितरूपेण सुप्रसिद्ध हैं—

- | | |
|-------------------------|--------------------------------|
| १-अग्निर्होता | ५-धृतवतीमध्वर्यो ! सृचमास्यम्ब |
| २-वेत्त्वग्नेर्होत्रम् | ६- वयुव विश्ववारासु |
| ३-वेत्सु प्रावित्रम् | ७-ईडामहै देवाँ३॥ ईडेयान् |
| ४-साधु ते यजमान ! देवता | ८-नमस्याम नमस्यान् |

९-यजाम यज्ञियान्

इति-सृगादापननिगदपाठ-मन्त्र (९) व्याहृत्यात्मकः)

एक से आरंभ कर सहस्र-लक्ष अयुत-परमपरार्थ्यादि सख्या विस्तार क्रम पथ्यत ऋषि ने सख्या सम्पदनुगता यज्ञसम्पत्तियों का पदे पदे स्वरूप विश्लेषण-किया है जोकि सख्यासम्पदनुबन्धी नैदानिक रहस्य स्वतंत्र अथवा यजन का ही विषय माना जायगा। कहीं एक-दो चार छ आठ-आदि अयुतसख्याओं के माध्यम से * यज्ञसंपत्ति परम्पराओं का समतुलन हुआ है तो कहीं एक-तीन-पांच सात नव आदि अयुत सख्याओं से सख्यासम्पत् का समग्र किया गया है -। प्रकृत में निवदनीय यही है कि स्रुगादापन-निगदमत्र में क्योंकि ६-याहृतिया है। अतएव इनसे सख्यासम्पत् के माध्यम से नवविध-उन अङ्गप्राणों का भी निदानभावेन ग्रहण होजाता है जोकि नवविध अङ्गप्राण सप्त शीषण्यप्राण द्विविध अन्वाञ्चप्राणरूप से नौ सख्याओं से सम वित्त माने गए हैं। इसप्रकार स्रुगादापनकर्म के द्वारा अष्टाङ्गप्राणसमग्र तथा नवविध अङ्गप्राणाधान रूप दो महान् लक्ष्य सम्पन्न होजाते हैं एव प्रस्तुत प्रथम वैज्ञानिक-प्रसङ्ग का यही सन्निहिततम स्वरूप स्मरण है।

* * * * *

(ख)-आश्रावण-प्रत्याश्रावण-निबन्धन-परोक्ष-दिव्यभाव का स्मरण-

स्रुगादापनकर्म के अनन्तर तद्ब्राह्मण (स्रुगादापनब्राह्मण) में ही आगे चलकर- आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्म की इतिकर्ता यथा का स्वरूप समन्वय हुआ है जिससे अनुप्राणित दिव्यप्राणनिबन्धन अतएव परोक्षभावात्मक ही वैज्ञानिक तथ्य के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव स्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा। इस सम्बन्ध में एक आधिदैविक वैज्ञानिक आख्यान का अनुगमन करती हुई अति कहती है कि-

एकबार यज्ञ देवमण्डल से अपक्रान्त होगया विदूर होगया। बिना यज्ञ के क्योंकि देव देवताओं की स्वरूप रक्षा असम्भव थी अतएव देवदेवताओं ने अपक्रान्त यज्ञ का उपलालन-भाषा में इसप्रकार आमन्त्रण किया कि- हे यत्! आप हमारी सुनिए! एव हमारी ओर पुन अनुगत होजाए। यज्ञदेवता देवदेवताओं के तथाभूत आमन्त्रण पर देवदेवताओं की ओर परावृत्त होगए। पुनरागत इस यज्ञ से देवदेवताओं ने अपना यजनकर्म सम्पन्न किया। इसी यज्ञात्मक यजन के प्रभाव से वे देवदेवता रूपेण सुरक्षित बने रह गए।

*-एक वा इदं वि वभूव सर्वम्
द्वन्द्व पात्राययुदाहरति
चतुष्टयं वा इदं सर्वम्
षड् वा श्रुतवः सम्बत्सरस्य
अष्टाक्षरा वै गायत्री

—इत्यादि-अयुतसख्यादाहरण

— एका च मे, तिस्रश्च मे, पञ्च च मे,
सप्त च मे नव च मे,
—इत्यादि अयुतसख्यादाहरण

उक्त आधिदैविक-आख्यान का नि कर्थाय यही है कि सौरसम्ब सर यज्ञमण्डल से यज्ञानि प्रवृत्त होकर कृष्णमृगरूप में परिणत होकर भूपिण्ड की वस्तु बन जाया करता है जिस इस रहस्य-पूजा यथाप क्रमण का पूर्वप्रकाशित प्रथमखण्ड में—हविषेणकर्म प्रसङ्गत कृष्णमृगकर्म के वैज्ञानिक-तय का समन्वय करते हुए विस्तार से निरूपण किया जा चुका है—(देखिए प्रथमकाण्डानुगत प्रथमखण्ड की पृष्ठ स ६५ से ५२२पृष्ठ पर्यन्त)। सौरसम्ब सरमण्डलामक दिव्ययज्ञ में अग्नि होता है वायु अ वय्यु हैं आदिय उद्गाता हैं चन्द्रमा ब्रह्मा हैं एव स्य स व सरप्रजापति यत्कर्ता यजमान है। इन चारों ऋत्विजों के शस्त्र स्तोत्र-ग्रह ब्राह्म-नामक चारों कर्मों के सविदानामक ऐकमत्य से एकीभाव से एकतानतानुगता अविच्छिन्ना कर्मधारा से ही पार्थिव कृष्णमृगरूप-यज्ञ पुन-स्व लोका मक-सौर-नेवमण्डल में चित-सचित होजाता है। यो प्राकृतिक-प्राणदेवताओं के आमत्रणरूप सविदानकर्म से ही अपक्रान्त यज्ञ पुन दवमण्डलानुगत बन जाता है। और इसी सविदानामक आमत्रणकर्म की याज्ञिकी अभिधा है—
आश्रावण-प्रयाश्रावणकर्म।

यज्ञकर्ता मनुष्य-यजमान का वह आधिदैविक सौरस व सरानुगत-सप्तदश स्तोमस्थ-दि ययज्ञ इसके पार्थिव-भौतिक-ज मानुषवध से ही मानी पलायित है जिस दिव्यभाव पलायन से ही इसके भूतामा को यहाँ बन्ध लेना पड़ा है। आज यज्ञ के द्वारा यह उसी दिव्यभाव का अपने भूतामा में पुन-संधान करना चाहता है। अतएव इसे भी अपने ऋत्विजों के सहयोग से सविदानरूपा उसी एकतानता का अनुगमन करना पडेगा जसी कि एकतानता दिव्यदेवताओं से अनुगत रहती है। एव आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म का यही प्रमुख लक्ष्य है। अपक्रान्ता-वह यज्ञस पत्ति जिसका प्रधान क्षेत्र त्रिणाचिकेत रूप-सप्तदशस्तोम-माना गया है-यज्ञकर्ता की ओर अनुगत होजाय यही इस कर्म का फलिताय है।

प्रस्तुत कर्म में-ओ श्रावय अस्तु श्रौषट् यज ये यजामहे यज वौषट् ये पांच व्याहृतियाँ हैं एव अक्षर हैं सत्रह। पाँच (५) और सत्रह (१७) न द्विधा विभक्ता-सरयाओं का भी इस कर्म के मायम से एक विशेष अतिशय माना गया है। सवप्रथम अ वय्यु होता के प्रति-ओ श्रावय इस याहृति का उच्चारण करता है जिसका यही स्वारस्य है कि हे होत। आप इस यज्ञकर्ता यजमान को एव इसके इस भूतयज्ञ को दिव्यदेवताओं के लिए सुनावे। इस प्रथमा व्याहृति के अनन्तर होता अस्तु श्रौषट् इस द्वितीया व्याहृति का उच्चारण करता है जिसका तापर्यार्थ यही है कि—देवदेवताओं ने यज्ञ को सुन लिया है—अर्थात् देवदेवता यज्ञ के अभिसुख होगए हैं। इसीप्रकार सविदानभाव से ही यज (आगत देवताओं का यजन करो) ये यजामहे (समागत देवदेवताओं का यजन किया चारहा है)—इन तृतीया-चतुर्थी-व्याहृतियों के अनतर वौषट् रूपा पञ्चमी व्याहृति के साथ ही आहृति दे दी जाती है एव पञ्च याहृ यामक-इसी कर्मविशेष का नाम है—आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म जिसके द्वारा वध-यज्ञ में अदृष्ट-दिव्य पाठ कृतयज्ञ की पाठ क्ता सम्पत्ति (पञ्चावयवसम्पत्ति) का आधान होजाता है पाँच याहृतियों के द्वारा एव अदृष्टा परोक्षभावापना-स्वर्गसम्पत्तिरूपा-सप्तदश-स्तोमसम्पत्ति का आधान होजाता है पञ्चव्याहृतियों के सत्रह अक्षरों के द्वारा। यो आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म भी सृगादापनकर्मवत् इस वैध यज्ञ में परोक्ष-दिव्यभावों का ही आधानकर्ता प्रमाणित हो रहा है।

विश्वस्वरूप-सम्पादक प्राकृतिक यज्ञ पाठ क्त (पञ्चावयव) ही कहलाया है जिस पाठ क्ता का विशद वैज्ञानिक स्वरूप प्रथम-खण्ड में किया जा चुका है। अनुगमभावनिबधना इस पाठ क्ता का उस सर्वभूत

यज्ञ से भी सम्बन्ध माना गया है जिसका पञ्चपर्वा प्रकृति के साथ तादाम्य प्रसिद्ध है। एव प्रकृति के पञ्चविध-प्राकृत-प्राणो के पञ्चीकरणामक सर्वाहृतिरूप-समन्वय से ही जिस-सर्वहृतयज्ञ की स्वरूपाभि-व्यक्ति हुई है। स्वायम्भुव पारमेष्ठ्य सौर चाद्र-पार्थिव-भेदभिन्न पञ्चविध-पञ्चावयव-विश्वामक महान् यज्ञ ही वह सर्वहृतयज्ञ है जिसके आधार पर ही अन्यान्य यष्टियज्ञ आविभूत हैं। ओ श्रावयादि पाचो व्याहृतियो से सर्वहृतयज्ञनिबधना-इस पाङ्क्ता-यज्ञसम्पत्ति का अवश्यमेव सग्रह गताथ बन जाता है।

पार्थिव सप्तदशस्तोम ही वह आहवनीयकुण्ड है जिसमें स्वर्ग्याग्नि प्रतिष्ठित माना गया है एव जिसके सम्बन्ध में महाभाग नचिकेता ने महान्देव यमराज से प्रश्न किया है। पञ्चयाहृति के अक्षर सत्रह होजाते हैं। अतएव इस सख्यासम्पत्ति से स्वर्गसम्पत्ति का भी इस वैधयज्ञ में आधान गताथ बन जाता है। इसी आधार पर यज्ञा मरूप प्रजापति-सप्तदशो वै प्रजापति रूपेण उपस्तुत है। इसी तथ्य के माध्यम से याज्ञिक-सम्प्रदाय में यह सूक्ति प्रचलित है कि—

चतुर्भिश्च-चतुर्भिश्च-द्वाभ्या पञ्चभिरेव च ।

हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नम ॥

(१) "ओ—श्रा—व—य" —चतुर्भिश्च
१ २ ३ ४

(२) "अ—स्तु—श्रौ—षट्" —चतुर्भिश्च
१ २ ३ ४

(३) "य—ज" —द्वाभ्याम्
१ २

(४) "ये—य—जा—म—हे" —पञ्चभिरेव च
१ २ ३ ४ ५

(५) "श्रौ—षट्" —हूयते च पुनर्द्वाभ्याम्
१ २

तस्मै-यज्ञात्मने-सप्तदशप्रजापतये-नम ॥

— * — * — *

(ग)-आश्रावण-प्रशावण-कर्मानुगत-प्रत्यक्षभावापन्न-दृष्टफल का सस्मरण—

मन्त्रब्राह्मणामक-वेदशास्त्र के यज्ञकर्म-प्रधान विधि रूप ब्राह्मण भाग से अनुप्राणित ज्ञान-विज्ञानामिका-सृष्टिविद्यानिबधना-जिन अमुक परिभाषाओं का पूर्व के सन्दर्भों-के माध्यम से अबतक सस्मरण किया गया है वे सभी सस्मरण प्राण-प्रधान बनते हुए प्राणनिबधना परोक्षभावात्मिका उक्त

बृहदा स्थिति के किंवा उस परोक्ष अदृष्ट-फल के ही समथक प्रमारित हो रहे हैं जिन इथभूत-अदृष्ट परोक्ष-सस्मरणों के द्वारा उस भूतवाणी-प्रयत्नफलवादी-दिग्देशकालोपयोगितावादी-वस्तुमानवाणी का कदापि अनुरञ्जन संभव नहीं है जिसने अपने मानवीय-स्वरूप का सम्पूर्ण दृतिवृत्त प्रकृतिनिबधन अन्तःमान पर ही परिसमाप्त मान रक्खा है ।

इसी स्थिति का और भी अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित हो तो आज के प्रावाहिक-युग में विशेषरूप से प्रचलित यथाथ शब्द को लक्ष्यरूढ बना लेना ही पर्याप्त होगा । भासुक मानवों की दृष्टि में आदर्श और यथाथ दोनों जहा विभिन्नवर्मा हैं वहा नैष्ठिक-आर्ष-मानवश्रष्टों की निष्ठादृष्टि में जो आदेश है वही यथाथ है । एव आदेश की सीमा से बहिष्कृता-मनोऽनुगता-मायता से उपकल्पित काल्पनिक यथाथ तो सवथव अयथार्थ ही बना रह जाता है । भूतभौतिक प्रपञ्च को यदि यथाथ मान लिया जाता है तो तदाधारभूत मौलिक-प्राणपञ्चक को ही आदर्श का स्थान दिया जासकेगा । प्राणपञ्चकरूप आदेश की मनोऽनुगता कल्पना के आधार पर ही क्योंकि बलचिति के द्वारा भूतामक व्यक्त-यज्ञ-भावा का चयन होता है । अतएव कहा जासकता है कि— अयक्तावस्थापन्न-प्राणामक-आदर्श का यक्तावस्थापन्न भौतिकरूप ही यथाथ की स्वरूप परिभाषा है । यों आदर्श ही यथाथ रूप में परिणत हो रहा है ।

स्वय उपनिषदों में भी यथाथ रूप यथातथ्य की यही स्वरूप-परिभाषा की है । स्वायम्भुव-अग्नी-रूप-ब्रह्मप्राण तथा पारमेष्ठ्य-अथर्वरूप सुब्रह्मप्राण इन दोनों मौलिक प्राणों की प्ररूपोपनिषत् ने क्रमश प्राण और रयि यह सज्ञा रक्खी है एव दोनों के रासायनिक-सम्मिश्रणात्मक-दाम्पय से ही तदुपनिषदने सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च की यथार्थ स्वरूपाभियक्ति मानी है । ब्रह्मप्राणरूप ब्रह्माग्नि में सुब्रह्मरयिरूप सुब्रह्ममोम की आहुति होने से प्राणमूला-भूततूला-सृष्टि अभिव्यक्त हुई है और यही आदेश मूला यथाथभावनिबधना ब्रह्म-सुब्रह्मात्मिका-शुकभावानुगता सृष्टि का यथाथ स्वरूप दिग्दर्शन है जिसका निम्नलिखित ईशोपनिषद्वचन से स्पष्टीकरण हुआ है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमब्रह्मसनाविर शुद्धमपापविद्धम् ।

कविस्मनीषी परिभू स्वयम्भू—याथातथ्यतोऽर्थान्—व्यदधात्

शाश्वतीभ्य समाभ्य ।

—ईशोपनिषद्वि

स्वयम्भू—याथातथ्यत अर्थान् शाश्वतीभ्य समाभ्य वाक्यसन्दर्भ का ऋजुतम यही अन्वयार्थ है कि—अव्यक्त-प्राणमूर्ति अतएव मूलप्रतिष्ठात्मक-मूल आदर्श रूप स्वयम्भू प्रजापति ही यथार्थरूप से अर्थामक-भूत भौतिक-प्रपञ्चामक विश्व का सदा के लिए निर्माता बना हुआ है । यों आदर्श ही यथार्थ बना हुआ है जिस इस ईशोपनिषद-अर्थ को सर्वस्मना समर्थन प्राप्त है अथर्ववेदा के अन्त के उस सुप्रसिद्ध मूलभागात्तगत असुक वाक्य-विशेष को जिस असुक वाक्य के—घाता यथापूर्वमकल्पयन् स्वरूप से सभी वेदवित् सुप्रसिद्ध हैं । घाता स्वयम्भू-ब्रह्म हैं जो आदर्शमूर्ति हैं एवं यथापूर्व-व्यवस्थित-विश्व ही यथार्थ है जिसकी आधारभूमि आदर्शरूप-स्वयम्भू ही बने हुए हैं । प्राणो यज्ञेन कल्पताम्

वचन भी आदर्शात्मक प्राण की अभि यक्ति को ही यज्ञरूप-यथाथ का आसन प्रदान कर रहा है। और यों भारतीय आषट्टि से तो आदश एव यथाथ में कुछ भी तो अ तर नहीं है। इसी आधार पर तो ब्रह्मैवेद सवम् - सत्र ख्विवन् ब्रह्म - यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदग्रह इह चेदवेदीत् अथ सयमस्ति - इह चेन्नावेदीत् महती विनाश इयादि श्रौत सिद्धांत अभि यक्त हुए हैं। अतएव आदर्शात्मक-अव्यक्त प्राण से अनुप्राणित अदृष्टभावनिब धन-इन्द्रियातीत-परोक्ष फलमात्र से ही अपने अज्ञानजगत् में सर्वा मना लुप्त बन जाने वाले शास्त्रकशरण-भारतीय-मानव की दृष्ट में तो अत्र किसी भी दृष्टफल की कोई भी आकाक्षा शेष नहीं रह जाती।

तो क्या शास्त्रैकशरण अद्वालु मानव दृष्टफल को उपेक्षणीय मानता है? कदापि नहीं सवथा नहीं। कि तु इसे यह विदित है और आस्थापूर्वक विदित है कि-प्राणप्रधान जो यज्ञकम्म परोक्ष-अदृष्ट जसे इन्द्रियातीत फलों का सम्राहक है उसी के द्वारा यज्ञकर्त्ता के ऐहिक-दृष्ट प्रयत्नफल तो स्वत ही सिद्ध है ही। तभी तो यज्ञकम्म की यज्ञरहस्यवेत्ता यज्ञेश्वर भगवान्ने इष्टकामधुक उपाधि से समलङ्क त किया है। यथेच्छफलप्रदाता यज्ञक म स्वत ही अदृष्ट के साथ साथ ही दृष्टफलों का भी सम्राहक-बन जाता है। और यो वेदशास्त्र सिद्ध ज्ञान क म-उपासना-नाम की क्त य-त्रयी दृष्ट-अदृष्ट उभयविध-फल-ससाधिका बनती हुई अस्म्युदय-नि अ यस्-ससाधिका ही प्रमाणित होरही है।

मानव के दिग्देशकालानुगत बुद्धि-मन-शरीर-निब धन-यथ थमावानुबन्धी दृष्टफलों का क्या स्वरूप है? भारतीय-शास्त्र ने इन दृष्ट-फलों का कैसा और क्या वर्गीकरण किया है? वत्त मान-युग से अनुप्राणित यथाथ-का समादर करने वाले दृष्टफल कौन कौन से हैं? एव स्वय शास्त्र ने उनका कैसा चम कारपूर्ण सम-वय किया है? दृष्टलानुगत-इन सभी-उपयोगी-भावो का विस्तार से शतपथ प्रथम खण्डानुगत आ-मनिवेदन में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। अत इस दृष्टफल-स्वरूप-जिज्ञासुवर्ग को तत् आवेदन पर ही विशेषत उसके १६ से १९ व पृष्ठ प य त के सन्दर्भ पर ही दृष्टपा-ानुग्रह करना चाहिए। प्रकृत में तो एक अ य-प्रसङ्ग के मा यम से स्वय ब्राह्मणश्रुति के मुखपङ्कज से ही यथाथवादियों की दिग्देशकालानुबन्धिनी वत्त मान-जीवनानुबन्धिनी-ता-कालिकी-उपयोगिता से अनुप्राणित- दृष्टफल का सत्त्वेप से सस्मरण-मात्र ही कर लिया जाता है।

सुगादापन-कम्म के अन तर होने वाले पञ्च-याह-या मक तथा स तदश अक्षरनिब-धन- आश्रावण प्र याश्रावण-कम्म से सम्बन्ध रखने वाले प्राणसम्पत्ति के सम्राह मक तथा-पाङ्कजसम्पत्ति और सप्तदश सख्यानुगता-प्राजापत्या सम्पत्ति रूप-अदृष्ट फलों का पूव में सस्मरण किया जाचुका है। इसी आश्रावणप्र कम्म का श्रुति के द्वारा एक दृष्टफल भी हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है जिसका श्रुति के श-दो में ही इस रूप से यशोगान हुआ है कि-

वर्षति हैव तत्र-यत्रैवमृत्विज -सविदाना-यज्ञेन चरति”

—शत० १।५।२।१६।

दृष्टफलों में महतोमहीद्विभक् दृष्टफल माना जायगा वह-वर्षा जिसके आधार पर ही सम्ब सर की स्वरूप प्रतिष्ठा मानी गई है। षडश्रुतुविज्ञानवेत्ताओं को यह सुविदित ही है कि जब पार्थिव-आन्तरिद्वय-अग्नि विकास की चरम-सीमा पर पहुच जाता है तो-अग्नेराप इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वही

अग्नि द्र तावस्था में परिणत होजाता है और इसी का नाम है ग्रीष्मत्तु रूपा—आ नेयी—ऋतु से उत्तरभाविनी वर्षाऋतु । वष यह सम्पूर्ण—स व सर का एक नामविशेष है । सम्पूर्ण स व सर का सम्राहक वष शब्द वर्षा रूपेण एक ऋतुविशेष में ही क्यों और कैसे समवित होगया ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुतिने कहा है कि वर्षा वेव सवऋतव । अर्थात् उस त—ग्रीष्म वर्षा—शरत्—हेम त शिशिर इन ६ ओं साम्बसरिक-ऋतुओं का एक वर्षाऋतु में भी क्योंकि भोग होजाता है अतएव वर्षा को सव ऋतु कहा जाता है । और इसीलिए सवऋतु क समष्टिरूप सम्ब सर का सम्राहक- वष श द सवत्तु रूपा पावसऋतु से भी समवित होगया है ।

दूसरा कारण आतने बतलाया है— वर्षा ऋतु के आधार पर ही । वर्षाजल के आधार पर ही ओषधि वनस्पतियों का उ पादन सम्भव है । एव तदाधार पर ही सपूर्ण वष का स्वरूप सुरक्षित रह सकता है । वर्षा ऋतु ही इसप्रकार परम्परया क्योंकि वष की स्वरूप प्रतिष्ठा का कारण प्रमाणित होरही है इस लिए भी सम्ब सर वाचक भी वष श द का इस एक वर्षाऋतु के साथ सम्बन्ध होगया है । निम्नलिखित श्रुतिवचन इसी कारणद्वयी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

‘ स वै वर्षास्वादधीत । वर्षा वै सर्वऽऋतव । वषा हि वै सर्वऽऋतव । अथ—अदो वर्षमकुर्म अदो वर्षमकुर्म, इति सम्बत्सरान् सम्पश्यति । वर्षा ह त्वेव सर्वेषां—ऋतूना—रूपम् । उत हि तद्वर्षासु भवति—यदाहु — ग्रीष्म—इव वा अद्य इति । उत—उ—तद्वर्षासु भवति यदाह—‘शिशिर इव वाऽअद्य’ इति । वर्षादिद् वर्षा । अथैतदेव—परोक्ष रूप—यदेव पुरस्ताद्वाति—तद्वस तस्य रूपम् । यत्—स्तनयति—तद्ग्रीष्मस्य, यद्वर्षति तद्वर्षा—णाम्, यदिद्योतते—तत्—शरद् यत्—वृष्ट वा—उद्गृह्णाति—तद्द म—तस्य, वर्षा सव—ऽऋतव ” ।

—शतप्रथ २।२।३।७—८ क *

निकामे—निकामे—न पञ्ज—थो वर्षतु—फलप्रयो न ओषधय प—यत्ताम् इत्यादिरूपेण स्वय म त्रवेद भी पर्जन्या मक वृष्टित्व की महती उस उपयोगिता का राष्ट्रीय-कामना का ही स्वरूप-संस्मरण करा रहा है जिससे बड़ी दृष्ट प्रयत्न फल कामना और कोई भी तो नहीं हो सकती । और पञ्चव्याहृत्या मक-आश्रावण प्र याश्रावण क र्म से सर्गाधिक मह-वशालिनी यह वृष्टिकामना भी सफल बनाई जासकती है एक प्रक्रिया विशेष के द्वारा जिस प्रक्रियाविशेष का ही आत ने सविदाना रूप से संस्मरण किया है । सविदाना रूपा इसी प्रक्रिया विशेष का प्राणदेवानुव धी परोक्ष तथ्य का आख्यानभाषा में संस्मरण करते हुए श्रुति ने कहा है कि—

ओ श्रावय इस प्रथमा व्याहृति से देवदेवताओंन पुरोवात उपन्न किया । अस्तु औषट' इस द्वितीया व्याहृति से आकाश को अश्रखण्डों से समाप्लुत कर दिया । षज इस तृतीया व्याहृति से

*—इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवचन नद्भाष्य-सदम में ही देखना चाहिए ।

विद्यत् को अभियक्त कर दिया। ये यजामहे इस चतुर्थी याहृति से स्तनयिनु (गज्जन तर्ज्जन) उपन्न किया एव सर्वान्त की वौषट् स पञ्चमी याहृति से ही आकाशस्थ जल को वर्षण के द्वारा भूमिसत् कर दिया। और यो पञ्च-याहृया मक आश्रावण प्र याश्रावण क मानुगता सविदानवृत्ति से ही देवदेवताओंन वृष्टकम्म स पन्न कर लिया— वषट्कारेणैव—प्रावषयन् ।

आश्रावण—इस प्रथमा— याहृता से आरंभ कर वौषट् इस अतिम पाचवी-व्याहृति पय्यन्त जिन पाँचों याहृतियों का अ वय्यु होता—आ नीम्र—आदि ऋत्विक्—अनुगमन करते हैं उन ऋत्विक्नों का वागनुगत—अविच्छिन्न—प्राणनिब धन—स तानधाराक्रमसिद्ध—ऐक्य ही वह पारिभाषिक सविदानभाव है जिस एकतानतारूप—इ थभूत सविदानध र्म से ऋत्विक्नों के वागनुगत मोमय—प्राण अविच्छिन्नरूपेण परस्पर—अथिन्न-धन से एक ही के द्रविदु में सह समवित होजाते है और इस सहसम-वय से प्रबल—वीर्या मक बने हुए मनोभाव के स यसकप के द्वारा ही इस आश्रावण प्र याश्रावण कम्म के मा यम से कामनानुगत वृष्टिफल उपलब्ध होजाता है जिस इस महतोमहीयान् दृष्टफल का ही नि नलिखितरूपेण यशोगान हुआ है कि—

‘यत्र हैमृत्विज सविदाना यज्ञेन चरन्ति सवमेव तत्र कल्पते न मुह्यति ।
तस्मादेवमत्र यज्ञो भर्ग्य ।’

—शत १।५।२ १५।

तदिति—ब्राह्मणग्रथानुबधी—यज्ञकम्म न केवल प्राणप्रधान अ यक्तभावापन्न—परोक्ष—अदृष्ट फलों के ही स्वरूपानुग्राहक हैं अपितु इन के द्वारा तो मानव के लोकानुबधी वे स पूर्ण—प्रत्यक्ष—दृष्टफल भी ससिद्ध होजाते हैं जिन लोकफलों के लिए आज का मानव इतस्तत द्र द्रम्यमाण है। अतएव भारतीय—यज्ञकम्म को जो महानुभाव केवल परोक्षभावानुगत ही मान बैठते हैं अतएव जिनकी आस्था इ थभूत यज्ञकम्मों से अनुदिन विसुख होती जा रही है उह् अपनी एतादृशी भाति का आश्रावणकम्मनिब-धन विशुद्ध ऐहलौकिक वृष्टिफल के मा यम से ही निराकरण कर लेना चाहिए।

दृष्टफलानुगता जिस वृष्टि का यत्न विशेषा मक आश्रावणकम्म के माध्यम से श्रुति ने स्पष्टीकरण किया है उस वृष्टि से सब ध रखने वाले वृष्टिविज्ञान के पारिभाषिक—स्वरूप—सम-वय—के बिना क्या कि उस दृष्ट फल के प्रति आलोचकवगका सहसा श्रद्धान—सम्भव नहीं है। एकमात्र इसी दृष्टि से हमने आश्रावण—प्र याश्रावण क मानुगता काम्यवृष्टिफल के प्रसङ्ग से तत्प्रकरण में ही सौदामिनी भावानुबधिनी कादम्बिनी नामकी सुप्रसिद्धा उस ऋग्वेदीया—वृष्टिविद्या के वैज्ञानिक—सम-वय का ही प्रयास किया है जिसके मूल—सूत्र—निम्न—लिखित ऋड मत्र ही बने हुए हैं—

(१)—सप्ताधगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठति प्रदिशा विधर्मणि ।

ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चित परिभ्रुव परि भवति विश्वत ॥

(२)—कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतति ।

त आवधुत्र त्सदनादतस्यादित्—घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

(३) —समानमेतदुदकमु चैत्यव चाहभि ।

भूमि पर्ज यः जिवति, दिव जि वत्यग्नय ॥

—ऋक्संहिता—अस्यवामीयसूक्त १ १६४।३ ४७ ५१व मत्र

जैसाकि पूर्वोदाहरण प्रसङ्गों में यत्र तत्र अनेकधा निवेदन किया जा चुका है—ज्ञानविज्ञानात्मिका रहस्यमयी शब्द—पारिभाषिक के सम वय के बिना वेदार्थ का सम वय कठिन ही नहीं अपितु सवथा असम्भव ही है। वही पारिभाषिकी समस्या उक्त मन्त्रत्रयी के उन अयत ही पारिभाषिक—शब्दों के सम्बन्ध में विर्णित है जिन—भुवनस्य—विष्णो—विद्यम्भणि—धीतिभि—मनसा—विपश्चित—हरय—सुपर्णा—वृत्रसदनात्—घृतेन—अह्मि इन शब्दों के रहस्यात्मक—पारिभाषिक—विश्लेषण से ही तत्कर्मानुगत—प्रासङ्गिक—वृष्टिविज्ञान विस्तारपथानुगामी—बन गया है।

वृष्टिविद्या—प्रतिपादिका उक्ता मन्त्रत्रयी के तथोक्त पारिभाषिक—शब्दों के मायम से अस्यवामीयसूक्त के द्रष्टा महामहर्षि दीघतमा ने जिन वैज्ञानिक—तथ्यों का सूत्ररूप से स्वरूप—विश्लेषण किया है उसके अनुमानमात्र से ही मादृश भावुक की प्रज्ञा तो सहसा विकम्पित ही होपड़ती है। क्या सचमुच ही उस वेदशास्त्र में लोकाभ्युदयजननी इन लोकविद्याओं का भी ऐसा अद्भुत और अश्रुतपूर्व—वैज्ञानिक—समन्वय विद्यमान है? जिस वेदशास्त्र के सम्बन्ध में आज की युगध मनिबधना लोकप्रज्ञाएँ अनुादन—ऐसा आक्षेप करती सुनाई दे रही हैं कि वेद तो पुराने युग का कवल अभ्यासग्रन्थ है। अतएव आज क भौतिक विज्ञानयुग में आमचर्चा प्रधान उन पुराने पौथों का क्या उपयोग।

वेदशास्त्र की सवयुगानुबधनी—सावकालिकी—त्रैकालिकी महती उपयोगिता, के स्वरूप दिग्दर्शन के लिए ही हमने वृष्टिविज्ञान—निबधन—अमुक—तथ्यों का तत्प्रकरण में समावेश—कर लिया है जिनके आधार पर असदिग्धरूपेण यह मान ही लेना पड़ेगा कि वेदशास्त्र के सम्बन्ध में भगवान् मनु का—सर्व वेदात्—प्रसिद्धयति कथन प्ररोचनात्मक उपलालन नहीं है अपितु अक्षरश यथार्थ ही है। आभावणकर्म—निबधन—प्रयत्न—फलाविता उदाहरणात्मिका तथाभूता पारिभाषिकी वृष्टिविद्या के सम्बन्ध में ही दो शब्द—निवेदन कर इस प्रकार उदाहरण—प्रसङ्ग को उपरत किया जा रहा है।

* * * *

(घ)—आश्रावण—प्रत्याश्रावण—कर्मनिबधन—वृष्टिविज्ञान का प्रासङ्गिक—सम्भरण—

परोक्षफलाकर्षणापेक्षया प्रयत्न—फलकामुक माननीय—भौतिक शरीरानुगत सेन्द्रिय मनस्तन्त्र की तथाविधा फलकामुक। से अनुप्राणित दृष्टफलात्मक वृष्टिकर्म से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक—वृष्टिविज्ञान के सम्बन्ध में उदाहरणरूपेण अत्र तीन वृष्ट्यनुबधों का संभरण ही पर्याप्त मान लिया जायगा जो कि वृष्ट्यनुबधत्रयी क्रमश गर्भाधान दोहद—प्रसव न नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्थिव—प्रजात्वा न कर्म में सृष्टिधारानुबधी जो गर्भाधानादि नियमोपनियम प्रसिद्ध हैं वे ही नियम वृष्टिजलोत्पत्ति रूप उत्पत्तिकर्म के साथ समन्वित माने गए हैं। मन्त्र से पहिले गर्भाधान का ही समन्वय कीजिए।

जिसप्रकार आकाशप्रदेश से भूप्रदेश पर वृष्टि होती है ठीक इसी प्रकार भूप्रदेश से आकाशप्रदेश में भी वृष्टि होती रहती है। यों दोनों ही स्थानों—प्रदेशों में समानरूपेण जलवर्षण होता रहता है जिस तथ्य के लिए ही पूर्वोक्ता मन्त्रत्रयी का अन्तिम ^१समानमतेदुदकम्० इत्यादि तृतीय—मन्त्र उद्धृत हुआ है। जिसका ता पर्यार्थ यही है कि— पार्थिवसम्भसर से अनुगत अह्मणों के द्वारा जलकोपलक्षित आकाशप्रदेश में तो पार्थिव—अग्नि के माध्यम से जलवर्षण होता रहता है। एव सौरसम्भसरानुगत अह्मणों के द्वारा पृथिवी—लोकोपलक्षित—भूप्रदेश में आन्तरिक्ष पञ्च वायु के द्वारा जलवर्षण होता रहता है जैसाकि भूमि परजन्त्या जिन्वन्ति दिव जिन्वन्त्यग्नय इत्यादि मन्त्रोपसहारवचन से स्पष्ट है।

अभी विचार हमें उस जलमात्रा के गर्भाधान का ही करलेना है जो पृथिवी पर वर्षाश्रुत में बरसा करती है। पार्थिव-अग्नि अपनी घन तरल-अवस्थाओं के अनंतर-होने वाली क्रमप्राप्ता वा पावस्था-धूमामस्था-सुप्तमात्रस्था में परिणत होकर भूलोक से निरंतर द्यलोकामक आकाशप्रदेश की ओर गमन करती रहता है। वा पावस्थापन्न पार्थिव इस आङ्गिरस अग्नि के तथाभूत ऊर्ध्वगमन से अनुप्राणित-अग्निगतिविज्ञान का ही निरलिखित पारिभाषिक मन्त्र से स्पष्टीकर हुआ है—

इत एत उदारुहन्, दिवस्पृष्ठा यारुहन् ।

प्रभूर्जयो यथापथा धामङ्गिरसो ययु ॥

—श्रुति

अपने रथ तरसामामक सुनिश्चित-यथाथ-नियत पथ से निरंतर द्यलोक की ओर गमन करने वाले पार्थिव-अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा ही पार्थिवी जलमात्राएँ भी वा पररूप में परिणत हो आकाशप्रदेश की ओर गमन करती रहती हैं। सहजभाषा के अनुसार-पृथिवी की जलमात्राएँ पार्थिव-अग्नि के द्वारा अतरिक्त-रूप-आकाशप्रदेश में जाती रहती हैं। आकाशप्रदेश में यात मरुत् नामक वायुविशेष के धरातल में ही इन जलमात्राओं का सञ्चय होता रहता है और इसी सञ्चय का नाम है गर्भाधान जो कालांतर में पुनर्भूप्रदेश पर बरस पड़ता है। पार्थिव अग्नि के द्वारा प्रक्षिप्ता वह जलमात्रा कबतक मरुद्धरातल में गर्भीभूत बनी रहती है? प्रश्न का अर्थत रहस्य पूरा समाधान करता हुआ ही सप्ताद्ध गर्भाभुवनस्थ रेत इत्यादि वह मन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित होपड़ता है जिसका गङ्गापरिच्छेद में स्मरण किया जाचुका है।

सम्बन्ध के बारह मासों में से ४-४-४-के अनुपात से ही जलमात्रा-निबन्धन गर्भाधानादि-तीनों क्रम व्यवस्थित हुए हैं जिसका निःकर्षार्थ यही है कि मासचतुष्टया मक शीतकाल तो जलमात्रा का गर्भाधान काल है मासचतुष्टया मक-ग्रीष्मकाल-दोहृदकाल है एव मासचतुष्टया मक वर्षाकाल ही-प्रसवकाल है। अर्थात् मागशीष से आरम्भ कर फाल्गुन-पयत तो पार्थिवी-जलमात्रा का द्यलोक में गर्भाधान होता है। चैत्र से आरम्भ कर आषाढ-पयस्त गर्भीभूता जलमात्रा का पोषण होता है जिसे कि दोहृद कहा गया है। एव आश्विन से आरम्भ कर कार्तिक पयत जलमात्रा की प्रसूति होती है। नक्षत्रानुपात से ये ठ-नक्षत्रानुगता मागशीष की अमावस्या ही गर्भकाल का उपक्रम मानी गई है।

एक अथ दृष्टिकोण के अनुसार सूयदक्षिणानुगत पात गभ का एव सूयोरुत्तरानुगत पात प्रसव का उपक्रम माना गया है। मूल-पूर्वाषाढ उत्तराषाढ-अभिजित् श्रवण-घनिष्ठा शतभिषक् पूर्वभाद्रपद उत्तरभाद्रपद रेवती अश्लेषा-भरणी-थे सुप्रसिद्ध द्वादश (१२) नक्षत्र चाद्रसोम के सहयोगी प्रमाणित होते हुए जहाँ गर्भ के उत्तजक हैं वहाँ—आर्द्रा पुनर्वसु पुष्य अश्लेषा-मघा-पूर्वफल्गुनी-उत्तर-फल्गुनी हस्त चित्रा स्वाती विशाखा नामक एकादश (११) नक्षत्र सौर अग्नि के समुत्तजक बनते हुए प्रसव के निमित्त मान लिए गए हैं। स्नेहगुणक सकोचधर्मा चाद्र-सोम जहाँ पार्थिवी-जलमात्रा का संवरण कर उसे स्थितिभाव प्रदान करता है वहाँ तेजोगुणक-विकासधर्मा सौर अग्नि जलमात्रा को अपने सहस्रसिद्ध रुद्रद्रवणामक रुद्रधम्म से जलमात्रा की द्रुतभाव में ही परिणत कर देता है। चाद्रसोमानुगत-गर्भाधान का जहाँ चान्द्रचार से सम्बन्ध है वहाँ सौर अग्यनुगत प्रसव का सूर्यचार से ही सम्बन्ध माना गया है, जैसाकि वृष्टिविद्या के रहस्यवित् आचार्य्यों ने कहा है—

पौषे मूल भरण्यात् चद्रचारेण गर्भति ।

आर्द्रादितो विशाखा त सूय्यचारण वर्षति ॥

नियत नाक्षत्रिक काल में भूप्रदेश से जिस दिन पार्थिवी जलमात्रा सूर्य्य रश्मि प्रायु तथा अग्नि इन तीनों के संयोग से वा परूपेण द्युलोक की ओर उत्क्रांत होती है उस दिन से आरंभ कर ठीक ६ मास १५ दिवस पर्यंत (अर्थात् १६५ एकसौ पयानवे दिन पर्यंत) वह जलमात्रा द्युलोकानुगत वायु धरातल में प्रतिष्ठित गर्भीभूत रहती है। ठीक १६६ व दिन उसका प्रसव होपड़ता है अर्थात् वह गर्भीभूता जलमात्रा भूप्रदेश पर बरस पड़ती है। सातव मास का आधा अर्थात् १५ दिन ओर पूरे ६ मास कुल १६६ दिन ही सप्ताह गर्भा का पारिभाषिक समवय है।

मनसा शब्द चद्रचारेण का ही सूचक है क्योंकि मन चद्रमा से अभिन्न माना गया है मनश्च द्रेण लीयते चद्रमा मनसो जातं यदि अति सिद्धा तो के अनुसार धीतिभिः शब्द—सूर्य्यचारेण का ही समथक बना हुआ है। क्योंकि धी रूपा-बुद्धि सूर्य्य से ही अभिन्ना मानी गई है जैसा कि—विद्यो यो न प्रचोदयात् इ यदि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। विधम्मणि शब्द के द्वारा वही पारिभाषिकी-रहस्यात्मिका स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है कि—जिस दिन गर्भाधान होता है उस दिन यदि पूर्वदिशा में गर्भाधान है तो १६६ वे दिन पश्चिमदिशा से ही मेघ वृष्टि करते हैं। यदि पश्चिम में गर्भाधान होगा तो उत्तर से वृष्टि होगी उत्तर में गर्भाधान है—तो दक्षिण से वृष्टि होगी। यदि दिन में गर्भाधान है तो रात्रि में वृष्टि होगी। और यदि रात्रि में गर्भाधान है तो दिन में वृष्टि होगी। यही विधम्मणि का रहस्यात्मक समन्वय माना जायगा। तत्तिरीयश्रुतिने निम्नलिखित एक ही पारिभाषिक-सूत्र के मायम से तथोक्ता वृष्टि विद्या का निष्कर्षार्थ अभिव्यक्त कर दिया है कि—

अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत सृष्टां नयति ।

यदा खलु-वा-असावादित्यो यद् रश्मिभिः पर्यावृत्तं ते-अथ वर्षति ॥

—तै स ४।१।१।

उक्त सस्मरण के द्वारा वृष्टिविज्ञान की उस रूपरेखा का उदाहरण मक दिग्दर्शन अवश्यमेव वेद मक्तों की प्रज्ञा को तो वेदस्वाध्याय की ओर आकर्षित करेगा ही। साथ ही उन तटस्थ महानुभावों से भी इत्थंभूत दिग्दर्शनात्मक-सस्मरणों के माध्यम से यह आशा तो की ही जासकती है कि वैदिक पारिभाषिक ज्ञानविज्ञानात्मक समन्वय से अपने प्रज्ञा को पुनः करपलाशवन्निर्लिता रखने की लोककला में अग्रणी तथाभूत महानुभाव भी अवश्यमेव भारत की इस सवयुगानुबन्धिनी वेदविभूति की वैसी आपातरमणीया आलोचना से तो अपने आप को तटस्थ कर ही लगे जो आए दिन अपने राष्ट्र की इस मूल विभूति के प्रति निरपेक्षता ही अभिव्यक्त करते रहते हैं इसी मङ्गलाशासा के साथ प्रस्तुत सस्मरणात्मक सदर्भ उपरत हो रहा है।

(२२)—१३

इति—द्वितीयग्वण्डानुगत—कर्मप्रसङ्गत —
सस्मरणात्मक-सन्दर्भ-उपरत

* * * *

द्वितीय खण्डानुगत- किञ्चिदिव आवेदन' का उपराम—

किञ्चिदिव आवेदन से अनुगत उदाहरणामक सस्मरण स दम्भ के अनतर यही निवेदन शेष रह जाता है कि सवथैव एकाकीरूपेण बहु भ्रम सा या प्रकाशन व्यवस्था आदि में अहोरात्र यस्त रहने के कारण हीं गत शीतत्तु से हमारा शरीर साघातिक रक्तचाप रोग स आक्र त होगया है जिसका कि युग धम्म निब धना साहि यसेवा के महान् पुरस्काररूप से हमने सुस्वागत ही कर लिया है । हमारी कामना थी और आज भी है कि सस्थान के द्वारा एक वसा विद्यापीठ स्थापित हो जिसमें सम्प्रदावादनिरपेक्ष दृष्टिकोण से प्राय साहि य की ज्ञानविज्ञानात्मिका उन परिभाषाओं के अ ययनाध्यापन त वावेषण की ही प्रमुखरूपेण व्यवस्था हो जो परिभाषाएँ सहस्रा दयो से विस्मृतिपथानुगामिनी हीं बनती चली आरही हैं । एव जिस इ थभूत सांस्कृतिक पारिभाषिक तथ्य के विस्मृत होजाने से ही भारत की मूलसंस्कृति के सम्ब ध में युगध र्म निब धन वैसे अनेक प्रवाद चल पडे है तिनसे भारत का सांस्कृतिक गौरव तवदृष्टया तथा आचारदृ टया उभयौव का वालीकृत ही प्रमाणित होता चला आरहा है विगत तीन सहस्रवर्षों से ।

हमें अपने इस गुरुतम अपराध की स्वीकृति में भी यत्किञ्चित् भी सकोच नहीं होरहा है कि जिस प्रचार की सफलता से वक्तमानयुग में लक्ष्यों को सफलता मिला करता है उस प्रचार की दृष्टि से सस्थान अपने विगत त्रैवार्षिक कार्यकाल में सवथा शून्य ही प्रमाणित होता चला आरहा है । और युगध म निब धन इस प्रचारानुब धी शैथि य से ही सस्थान के सक्तिपत का यों को जनत त्र का अद्यावधि भी कोइ सहयोग नहीं मिल सका है ।

जसाकि इस साहिय के अनुग्राहकों को विदित ही होगा कि अपनी निरतिशया-अस्वस्थता के कारण जब हम एकाकीरूपेण ग्रथनिर्माण-काव्य के साथ साथ ही तत्प्रकाशन-प्रचार-अथव्यवस्थापन-आदि आदि बहिरङ्ग-लोकधर्मों में एकातत असमथ बन गए तो इस स पूर्ण-स्थिति से अपने अमुक परिगणित मित्रो को अवगत करा देना आवश्यक समझा गया जिस के फलस्वरूप ही सुप्रसिद्ध पुरात-ववेता सुहृद्वर मा डॉ श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल महोदय की प्ररणा से एव बम्बई के कतिपय-साविक-मित्रो के प्राथमिक आर्थिक-सहयोग से सन् ५५ (पचपन) में राजस्थान वादिक-तत्त्वशोध सस्थान-जयपुर नामक सस्थान ने जम लिया जिस के त वावधान में ही विगत तीन वर्षों से ग्रथप्रकाशन मात्र ही प्रमुखरूपेण प्रकात रहा है जिसके सुपरिणाम स्वरूप ही ३४ वर्षों की अवधि में सस्थान के द्वारा प द्रह सहस्र-पृष्ठा मक साहि य प्रकाशित हुआ है ।

सस्थान-स्थापन से पूव प्रचार की दृष्टि स वर्ष में एक दो बार यथासुविधा जहाँ प्रवास मानाएँ स भव बनती रहती थी सस्थान-स्थापन के अनतर तो वह सामा या-प्रचारप्रवृत्ति-परम्परम्परा भी इस लिए एकातत ही अवरुद्ध ही बन गई कि—सस्थान को मिलने वाले सत्तात-त्रीय-सहयोग की तत् वर्षावधि में प्रकाशन-के द्वारा पूर्ति अनिवार्य बनती रही एव वह सम्पूर्ण-उत्तरदायि व अनिच्छुलपि हमें स्वय ही वहन करना पड़ा और आजतक करना ही ही पड रहा है अ य सुविधाओं की अप्राप्ति में । सस्थान को जा सीमित-तम-आर्थिक सहयोग अबतक उपल ध होता रहा है उस से तो अभीप्सित प्रकाशन काव्य का ही सुचारुरूपेण व्यवस्थापन सम्भव नहीं है । ऐसी स्थिति में वक्तमान युग जैसे महर्घता के युग में पर्याप्त-अथ के ना यम स ही प्राप्तव्य सहयोगियो का सहयोग भी प्रा न करना असम्भवप्राय ही बनता रहा ।

हाँ सस्थान के मान्य मंत्री श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल महोदय अवश्यमेव आरम्भ सह अद्यावधि प्रचार दृष्ट्या प्रयत्नशील बने हुए हैं। और आप के भागीरथ-प्रयत्नों से ही प्राचीन-सत्ता-त्रा का यान इस ओर अश्वत् आकर्षित भी हुआ है। किंतु जहाँतक जनतन्त्रीय प्रचार का प्रश्न है वह तो सभी ओर से आजतक असस्पृष्ट ही बनता चला आ रहा है। जहाँतक हमारा अनुमान है आजतक न तो भारत के किसी भी दैनिक-साप्ताहिक मासिक-अथवा तो त्रैमासिक में ही सस्थान की प्रकाशनप्रवृत्ति को कोई चर्चा हुई है नव विद्वानों तक इस काव्य की सूचना का ही का प्रयत्न हुआ है।

सस्थान ने अपने विगत त्रैवार्षिक-काल में जो पारिभाषिक-पञ्च शसहस्रपृष्ठा मक-माहि 1-प्रकाशित किया है यदि उस के किसी एक भी पारिभाषिक निबन्ध की रूपरेखा-मात्र से भी भारतीय जनतन्त्र को प्रचार-मायम से सस्थान परिचित करा देने में सफलता प्राप्त कर लेता तो निश्चयेन प्रज्ञाशील जनतन्त्र सस्थान की सभी प्रवृत्तियों को अव्यथ बनाने के लिए सोत्साह प्रवृत्त होजाता। किंतु सस्थान की ओर से एकमात्र हमारी-असमर्थता के ही कारण तथा सस्थान के मन्त्री महोदय को बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय-मूला विविध राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण प्रचार दृष्ट्या कुछ भी तो सम्भव नहीं होसका है। प्रचार सम्बन्धिनी इसी शिथिलता के निराकरण के लिए श्रीवासुदेव-शरणजी के तत्वावधान में वाराणसी से ही इंग्लिश हिन्दी मायम से अब एक समाचार-पत्र की व्यवस्था होरही है जिस से निश्चयेन निकट-भविष्य में ही प्रचार दृष्ट्या भी सस्थान अवश्यमेव सफलता प्राप्त कर लेगा। और तद्द्वारा अवश्यमेव जनतन्त्र का भी सस्थान को वैसा पूरा सहयोग मिलेगा ही जिसके द्वारा सस्थान के सभी सांस्कृतिक-स्वयं कभी न कभी ता साकाररूप में परिणत हो ही जायेंगे।

स्वयं हम रक्तचापानुबन्धिनी अपनी अस्वस्थता के अनुबन्ध से अब इस दिशा में इस से अधिक प्रचार दृष्ट्या कुछ भी तो करने की क्षमता नहीं रख रहे हैं कि यथासम्भव प्रकाशनकार्य का अनुगमन करते रहें और गच्छत-स्खलन रूपेण प्रकाशित साहित्य की रूपरेखा से समय समय पर जनतन्त्र को परिचित कराते रहें। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत शतपथब्राह्मण द्वितीय खण्ड की विषयसूची तथा प्रकान्त किञ्चिदिव-आवेदन नाम की प्रस्तावना जनतन्त्र की सेवा में स्वतन्त्ररूपेण प्रेषित होरही है यथासम्भव अन्य भी कतिपय सूचना पत्रों के साथ। शतपथ के प्रेषित-किञ्चिदिव-आवेदन में संस्मृत-उदाहरण सन्दर्भों पर यदि दोषदृष्टि से भी जनतन्त्र ने यान देने का अनुग्रह किया तो निश्चयेन उस का संस्थान की ज्ञानविज्ञानपरिभाषामिका-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की ओर उदारता पूर्वक ही ध्यान आकर्षित होगा इसी मङ्गल-कामना के साथ द्वितीय खण्डानुगत-यह किञ्चिदिव आवेदन उपरत होरहा है।

विषय —

<p>आश्विनशुक्ला-विजयदशमी वि स २ १६ मानवाश्रम-दुर्गापुरा (जयपुर-राजस्थान)</p>	}	<p>य कश्चिदपि मुक्तरक्तशर्म्मा मोतीलालशर्म्मापाहो य कश्चिदपि मुक्तरक्तशर्म्मा आक्षिरसो भारद्वाज वैदवीथी-पथिक मानवोक्त्यवैराजिकब्रह्मोदन-मोक्षा जयपत्तनाभिजनः</p>
--	---	--

श्री

इति-शतपथब्राह्मणप्रथमकाण्डानुगत-
—द्वितीय-खण्डस्य—
“किञ्चिदिव-आवेदनम्”
उपरतम्



श्री

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत

(२)-'द्वितीयखण्ड'

की

सक्षिप्ता-विषयस्मारकसूची

शतपथब्राह्मण—हिन्दी—विज्ञानभाष्यान्तर्गत—प्रथमकाण्डानुगत
प्रस्तुत—‘द्वितीयखण्ड’ (२)—में समाविष्ट
प्रमुख—याज्ञिक—कर्मों की सूची

१ -उपवेशसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हवि परिपाकश्च पृ स ६११ से ६६ पर्यन्त	
११-पिष्टेनोदकमिश्रितेन पुरोडाशसम्पादनम् ६६१ से ७ ३ पर्यन्त	
१२-पात्रीनिर्घोजनम्-पुरोडाशमीमांसया-समवितम् ७ ४ से ७६७ पर्यन्त	
१३-वेदिकाकरणम्-वेदिस्वरूपसम्पादनम्-तत्र स्तम्बयजुर्हरणम्-भूविशोधनश्च	७६८ से ८४३ पर्यन्त
१४-वेदिपरिग्रह	८४४ से ९५८ पर्यन्त
१५-द्रव्यसंस्कारा	९५९ से १०३६ पर्यन्त
१६-आ यग्रहणम्	१ ३७ से १ ७६ पर्यन्त
१७-इध्मानुगत -कर्मसंग्रह	१०७७ से ११३४ पर्यन्त
१८-सामिधे यनुवचनम्	११३५ से १३१६ पर्यन्त
१९-पूर्वाधारकर्मैतिकर्षव्यता	१३१७ से १३५६ पर्यन्त
२० उाराधारकर्मैतिकर्ष यता	१३५७ से १३६६ पर्यन्त
२१-प्रवरणकर्मैतिकर्षव्यता	१३६७ से १४०४ पर्यन्त
२२-स्रुगादापन आश्रावण प्रत्याश्रावणश्च	१४ ५ से १४७४ पर्यन्त
२३-प्रयाजब्राह्मणम्	१४७५ से १५४२ पर्यन्त

इति—द्वितीयखण्डानुगता—प्रधानकर्मविषयसूची
हविर्यज्ञानुगता—उपरता



श्री

अथ-शतपथब्राह्मण हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
द्वितीयोऽध्याय

२

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे
द्वितीयाध्याये-प्रथम ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

१०-“उपवेषसम्पादन, अग्नौ कपालोपधानेन
हवि परिपाकञ्च”

नामक

क्रमप्राप्त १० वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
‘विषयस्मारकसूची’
(पृष्ठस-६१० से ६६० पर्यन्त)

१-प्रथमकाण्डा तर्गत द्वितीय-अध्यायानुगत प्रथमब्राह्मण तथा प्रथम प्रपाठकानुगत पञ्चम ब्राह्मण (मूल)	६१३	४-आध्यात्मिकयज्ञ का सस्मरण	६२५
२-मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमवयामक अनुवाद (मूलानुवाद)	६१६	५-यज्ञकर्मों का अ यामयज्ञ के साथ समद्वलन	
३-विज्ञानभाष्योपक्रम	६२५	६-सनातनशास्त्र के मौलिक और यौगिक विवर्त	
		७-ब्रह्मा मक मभैतिकभाव एव यज्ञामक यौगिक भाव	

- ८ ब्रह्मामक आधारतव एव यज्ञामक
आवेयतव ६२५
- ९-व मान भौतिकविज्ञान के सुप्रसिद्ध
फिजिक्स तथा केमिस्ट्री विभाग और
ब्रह्म तथा यज्ञ
- १ तवानुगत रामायनिक-समिभ्रण एव
तद्द्वारा अप्रवभावोदय
- ११-योग और याग सम्बन्ध की विभिन्नता
का दिग्दर्शन
- १२-अन्तर्ध्यामामक-अथिबधन सम्बन्ध
- १३-अप्रवस्वरूपानुगत लौकिक उदाहरण का
समन्वय
- १४-योग और यज्ञानुगत पाथक्य
- १५-यज्ञसम्बन्ध के द्वारा ही ज्ञानमाध्यमसे
विश्वस्वरूप की अभि यक्ति
- १६-विश्वानुगता द्विनियति और दुनिया
दुरङ्गी लोकसृष्टि का समन्वय
- १७-यागसे उ पन्न विश्व के सम्बन्ध में एक
महत्त्वपूर्ण प्रश्न
- १८-सस्मरणीया तेज और स्नेह-द्वयी
- १९-अङ्गिरा और भृगु
- २ -अग्नि और सोम
- २१-विकास और सकोच ६२६
- २२-गति और स्थिति
- २३-विनाश और सञ्जन
- २४-यज्ञ और विश्वजीवन
- २५-यज्ञ के द्वारा ही विश्वस्वरूप की अभि
यक्ति का ताविक समन्वय
- २६-यज्ञ के मौलिक स्वरूप लक्षण का
सस्मरण
- २७-प्राणलक्षण आधिदैविक-यज्ञ
- २८-प्राणलक्षण आ यामिक यज्ञ
- २९-भूतलक्षण आधिभौतिक यज्ञ
- ३ -मनुष्ययज्ञामक वैधयज्ञ

- ३१-प्राणलक्षण आधिदैविक यज्ञ के वैज्ञानिक
स्वरूप का उपक्रम ६२६
- ३२-पाठ क्तो वै यज्ञ श्रुति का सस्मरण
- ३३-अनुगमश्रुति से अनुप्राणित यज्ञ की पञ्चा
वयवत्तता
- ३४ सबहुतयज्ञामक-महायज्ञ ६२७
- ३५-महायज्ञ के विश्वपर्वा मक पाच अवयव
और यज्ञ की पाठ क्तता का समन्वय
- ३६ सम्बन्धसरयज्ञ के अग्निहोत्रादि पाच
अवयवों का सस्मरण
- ३७-सुप्रसिद्ध पाकयज्ञ-हवियज्ञादि भेदनिबधना
यज्ञ की पाठ क्तता
- ३८-यज्ञमूलक अग्नि का पञ्चचितिक व
समन्वय
- ३९-अ या मयज्ञ के पाच अवयवों का
दिग्दर्शन
- ४ -याचयावत् यज्ञों की पाठ क्तता
- ४१-स व सरयज्ञानुगता पाठ क्तता
- ४२-सम्बन्धसरयज्ञ के स्वरूपनिर्माता बृहतीछन्दो
ऽनुगत क्रातिवृत्त का स्वरूप दिग्दर्शन
- ४३-सम्बन्धसरयज्ञापति का सस्मरण
- ४४-प्राजाप या अन्न अन्नाद स पत्ति
- ४५-यज्ञानुगत-दाह्य दाहकभाव
- ४६-अग्नि त व के सुप्रसिद्ध पाच महिमा
विवत्त
- ४७-सम्बन्धसरयज्ञ की सोमयज्ञरूपता का
स्वरूप समन्वय
- ४८-प्राकृतिक सम्बन्धसरयज्ञ के हवियज्ञ सोम
यज्ञ नामक दो महिमा विवत्त
- ४९-प्रतिष्ठालक्षण पार्थिवयज्ञ
- ५ -वितानयज्ञामक सम्बन्धसरयज्ञ
- ५१-सौर प्राणाग्नि और आहवनीय
- ५२-पार्थिव आपानाग्नि और गार्हपत्य
- ५३-आन्तरिक्ष्य ऋताग्नि और दक्षिणाग्नि

- ५४ ओषधि वनस्पति रूप हविद्र व्य ६२७
- ५५-हवियज्ञ की सन्धि ततमा रूपरेखा
- ५६ भूपिण्डामक गाहपय
- ५७-त्रिवृत्सोम और गाहपय
- ५८-गाहपत्य और पृथिवीलोक
- ५९-पञ्चदशस्तोम और नक्षत्राग्नि ६२८
- ६ आतरिन्द्य धिष्ययाग्नि और दक्षिणाग्नि
- ६१-सोमाहुति और स व सरयज्ञ
- ६२-अग्नि सोमामक यज्ञ से विश्व का सञ्चालन
- ६३-लोक प्रजा धम्म भेद प्रवक्त क सम्ब सरयज्ञ
- ६४-यज्ञ और प्रजापति
- ६५ यज्ञ के द्वारा प्रजापति की इष्टसाधनता एव आप्तकामता
- ६६-प्राणीलक्षण अ या मयज्ञ का स्वरूपोपक्रम
- ६ -शुक -शोणितानुगता- विभिन्नभावमयी आश्चर्यमयी प्रजासृष्टि
- ६८ आ यामिकयज्ञ से अनुप्राणित विभिन्न आश्चर्यों का सस्मरण
- ६९-यज्ञ की विभिन्ना विधाओं का नाम समवय
- ७ - योतिष्टोमापरपर्यायक सम्ब सरयज्ञ का सस्मरण
- ७१ यज्ञस्वरूपलक्षणसमवय ६२९
- ७२-योतिष्टोमा मक सम्ब सर यज्ञ की सात अवान्तर सस्थाएँ
- ७३-अन्नादाग्नि के सप्तमहिमा विवक्त (सप्त चितियाँ) एव तन्निबन्धन सप्तविध सोमान्न
- ७४-प्राण अपान यान भेदभिन्न आध्यात्मिक त्रेताग्नि
- ७ - प्राण त व की स्वरूप लक्षणामिका परिभाषा
- ७६ तीन विश्व और उनके तीन नर
- ७७ विश्वनर और वैश्वानर
- ७८-वैश्वानरो यतते सूर्येण ६२९
- ७९-वैश्वानरयज्ञ की सम्ब सरा मकता
- ८ सम्ब सरयज्ञ और गवामयन
- ८१-पुरुषपशु का उपादानभूत स व सर
- ८२-यज्ञाधारभूता महावदि
- ८३ प्राणीलक्षण पुरुषयज्ञ का प्राणलक्षण स व सरयज्ञ से समतुलन
- ८४ गवामयन-यज्ञानुबन्धी स व सरयज्ञ के स्वरूप से अनुप्राणित-गवामयन-स्वरूपोपक्रम
- ८५-स व सरचक्र का केंद्र और बृहतीछद्म
- ८ -बृहतीछद्म और वि वदवृत्त
- ८ -बृहतीछन्दोऽनुगत उभयगोलाद्ध
- ८८-दक्षिणगोल और उत्तरगोल
- ८९-अष्टाच वारिंशत् अशा मक मण्डल की सम्ब सररूपता ६३
- ९ -प्रदेशशुक्त सोमसमवित प्राणानि की सम्ब सररूपता
- ९१-पार्थिवाग्नि का सरणरूप छुन्नगमन और सम्ब सर श द का ताविक स्वरूप निवचन
- ९२-सूर्यानुगत भूपिण्ड का परिभ्रमण
- ९३-भूपरिभ्रमणानुबन्ध से सम्ब सर श द के रह या मक द्वितीय निवचनार्थ का समवय
- ९४-सम्ब सराग्नि का भोगा मक काल
- ९५-तस्वा मक सम्ब सर के साथ काला मक सम्ब सर का समतुलन प्रयास
- ९६-सौरमण्डलानुगत सम्बत्सरयज्ञ और तदनुबन्धिनी मनोताश्रयी
- ९७-मनोताप्रसङ्गानुगत अग्नि के विभिन्न महिमाविवर्तों का सस्मरण एव देव मनोता अग्नि का मनोता-व-समन्वय

- ६८ विश्वपदार्थानुगत योति भूत आम
तवत्रयी और योति गौ आयु
नाम की मनोतात्रयी ६३१
- ६९-रूप पर स्व भेदभिन्ना योतिस्त्रयी
१ योऽसावादित्ये पुरुष सोऽहम्
१ १-स्वय्योति मय सूर्यपिण्ड
१ २ पानीय पिण्डामक चद्रमा
१ ३-सूर्य योति से प्रकाशित चद्रमा
१ ४-रूप योति का अविष्ठाता ब्रह्मप्राण
१ ५ चाद्र योति और रूप योति
१ ६-पार्थिवपदार्थ और पर योति
१ ७-पृथिवी और रूप योति
१ ८-चद्रमा और पर योति
१ ९ सूर्य और स्व योति
११-सूर्यानुगता मनोतात्रयी का नामसस्मरण
१ ११- योति मय मनोता और योतिर्भाव
१ १२-गौ मय मनोता और भूतभाग
१ १३-आयुम्मय मनोता और आमभाग
१ १४-ज्योतिष्टोम गोष्टोम आयुष्टोम की स्वरूप
नि पत्ति का दिग्दर्शन
१ १५-सम्ब सर की त्र्यामकता
१ १६-सत्तात्रयामक सम्बत्सरयज्ञ
१ १७-शरीररचनावैचित्र्य का प्रवचक गवाम
यनसत्र ६३२
- १ १८-गवामयननानुगता आहुति परम्परा का
तारतम्य और शरीरवैचित्र्य
१ १९-गोरूपधरा पृथिवी तदयन और गवामयन
१ २-अनस्थिमती आज्याहुति से उ पन्न अस्थि
मती प्रजा से अनुप्राणित अनतिप्रश्ना
मक एक प्रश्न
१ २१-हिरण्यशकल और आढ्य
१ २२-आज्य और शुक्र
१ २३-हिरण्यशकल और अस्थिभाव
१ २४-पार्थिवरसगभ में प्रविष्ट सौरतेज
- १ २५-सौरतेज और सुवर्ण ६३२
१ २६-पवित्रतम सौरतेज
१ २७ मरुदण्डनिर्मापक वि वद्वृत्त
२-पूर्णद्ररूप ईश्वर
१ २८ अर्द्धद्ररूप जीव (मानव)
१ ३-अर्द्ध खगोलानुगत मानवीय पशु भाग
(फंसलियाँ)
१ ३-खगोलीय २४ अश और त समतुलित
२४ पशु विभाग
१ ३२-विश्वरूप मेरु का केन्द्रामक मनस्तव ३२
१ ३३-मनोधरातल पर प्रतिष्ठित विज्ञानघन
सूर्य
१ ३४-३६-अहोरात्रामक गवामयनसत्र
१ ३५ गवामयनसत्रानुगत प्रायणीय आरम्भ-
णीय अभिप्लव पृष्ठय हात्रत उदय
नीय आदि अहगणो का नामसस्मरण
१ ३६-अहगणानुगत अभिप्लव में मुक्त ज्योति-
ष्टोमादि षट्स्तोम ६३३
१ ३७-प्रति पृ ठथाह से समवित षड्विध
त्रिवृदादि अयुग्यस्तोम
१ ३८-अभिप्लव और पृष्ठय-भावों का सख्या
मक परिगणन
१ ३९-अभिजिदह और त्रय स्वर सामान
१ ४ पृष्ठयामिप्लव का परिवत्तन
१ ४१-गवामयन और विश्वजिदह
१ ४२-गवामयन और दशरात्र पृष्ठयषडह
१ ४३-गवामयन और छन्दोमा यह
१ ४४-गवामयन और महात्रतमह
१ ४५-गवामयन और उदनीयातिरात्र
१ ४६-गवामयनसत्र से अनुप्राणित सम्ब सरयज्ञ
के प्रायणीयादि ३६ अहगणों का
तालिकारूपेण सकलन ६३४
१ ४७-क्षुद्रसुपर्णामक नीवामा
१ ४८-सम्ब सरामक महासुपर्ण

- १४६ सम्ब सरसुपर्णा से अनुगता आमा पक्ष
पुच्छ सम विता सप्तचित्ति ६३५
- १५ -वि वद्वृत्तानुगत सम्ब सरीय आ मभाव
- १५१-तत्सम्ब ध में एक महान् प्रश्न और
छन्दोविज्ञान के मायम से त समाधान
प्रयास
- १५२ विष्वद्वृत्ता मक बृहतीछन्द
- १५३-वि वदनुगता छन्द स पत्ति और नवान्तर
बृहतीछन्द
- १५४-विष्वत् का दक्षिणपक्ष और गायत्री
उष्णिक अनुष्टुप्छन्दस्त्री
- १५५-विष्वत् का उत्तरपक्ष और पङ्क्ति
त्रिष्टुप् जगती छन्दस्त्री
- १५६-चतुष्पदा गायत्री षडक्षरा
- १५ -बृहतीछन्द की सव्यापकता
- १५८ बृहतीछन्द की खगोलानुगता सर्व याति
से अनुपाणिता अक्षरसंख्या समतुलना
मिका तालिका ६३६
- १५९-सम्ब सर प्रतिष्ठा मक बृहतीछन्द
- १ -बृहद्भावापन्न बृहतीछन्द के विभिन्न
नैगमिक अर्थों का संस्मरण
- १६१-आधिदैविक साम्ब सरिक-यज्ञपुरुष का
मेरुदण्डा मक बृहतीछन्द
- ६२ विष्वत्केन्द्र दस्थ भगवान् स्यनारायण
- १६३-वि वद्वृत्तानुगत भूपिण्ड
- १६४-क्रान्ति शब्दाथ समवय
- १६५-क्रान्ति पतन और क्रान्तिसम्पात
- १६६-विषुवद्-विषुवच्च तत्
- १६७ शरत्सम्पात और वसन्तसम्पात
- १८ सम्ब सरानुगत सूर्य-पृथिवी अंतरिक्ष
नामक लोकत्रयी
- १६९ पार्थिवाग्नि आन्तरिक्षवायु दियदित्य
त्रयी के भोग से अनुगत सम्ब सर
प्रजापति
- १७ -भूतप्रधान पार्थिव अग्नि ६३७
- १७१-अन्नाद्युति के द्वारा पार्थिवभूताग्नि से
पाञ्चभौतिक वाड मय शरीर का स्वरूप
निर्माण
- १७२-आन्तरिक्ष वायु की प्राणानुगति का
समवय
- १७३ दिय आदिय की मनोऽनुगति का
समवय
- १७४-वाड मयी पृथिवी और शरीर
- १७५-प्राणमय आन्तरिक्ष और प्राण
- १७६-मनोमय द्युलोक और मन
- १७७-मन प्राणवाड मयी - पृथि यन्तिरक्ष
द्युलोकानुगता अग्नि वायु आदि या
विता अयामसस्था का स्वरूप
समवय
- १७८-वि वद्वृत्तानुगत सौर चांद्र पार्थिव
सम्ब सर स्वरूप का गताथव
- १७९-सम्ब सरत्रिलोकी से अनुप्राणित लोक
और लोकी ६३९
- ८ भूतामिका पृथिवी अपानाग्निरूपदेवता
- १८१-भूतामक अन्तरिक्ष यानाग्निरूपदेवता
- १८२ भूतामक दिव्यलोक प्राणाग्निरूपदेवता
- १८३-मूलग्रथि और पार्थिव अपान
- १८४-हृदयग्रथि और आन्तरिक्ष व्यान
- १८५-ब्रह्मग्रथि और दिय प्राण
- १८६-प्राणाग्नि और स्पृत्प्राण
- १८७-स्पृत्प्राण की महाजनरूपता
- १८८-स्पृत्प्राण के द्वारा ही पुरुष के पुरुषार्थ
की प्रवृत्ति
- १८९-पार्थिव अपानप्राण की हृदयस्थ विज्ञानरूप
सूर्य की परिक्रमा ६३९
- १९ -पार्थिवाग्नि की वाङ्मूर्तता
- १९१-वाकत व का आरम्भ और आरम्भ-
णीयेष्टि

१६२-भौतिकप्रपञ्च का उपक्रमस्थान	६३८	२१५ दि यक र्म में त जनी का असस्पश	६३९
१६३-स्पृत्प्राण का अयन और प्रायणीयेष्टि		२१६ पक्ति और त प्रसूत अङ्गु ठ	
१६४-भूतानुगत आर म भाव		२७ अभिलव और पृष्ठथ भेद निब धन	
१६५-प्राणानुगत प्रयाण भाव		शरीर रचना वचि य	
१६६-प्राणय या मक प्रयाणभाव		२१८-शिरोभागानुगत चार कपाल	
१६७-अपानग या मक आरम्भभाव		२१९-पूवकपालद्वयी	
१६८-प्रायणीय और आर मणीय के अन तर		२२० -पश्चिमकपालद्वयी	
भावी आभप्लवस्तोम तथा पृष्ठ्य-		२२१-अवातरकपालखण्ड और तत्प्रयत्नो	
स्तोम		पाय प्रदर्शन	
१६९-वधिरगति और अभिलव		२२ -शिरोभागानुगत आठ कपाल	६४
२ -रक्तसञ्चारसीमा एव पृष्ठ्य		२२३-अष्टकपालानुगत मस्ति क और पुरो	
२ १-हृदय से आरम्भ कर अङ्गु लिप र्यं त		डाश	
विभक्तरूपेण चार शरीरखण्ड		२ ४-अर्वागबिल ऊ वबुचन भावा मक आश्च	
२ २-प्र येक खण्डानुगता प्रात मा यन्दिन		र्मय आध्यामिक चमस	
सायसवनामिका सननत्रयी		२२५-पुरोडाश की आहुति से देवप्राणो की	
२ ३-पारम्पारकी सननग्रथि से अनुप्राणित		जीवन रक्षा	
ब धन		२२६-आधिदैविक यज्ञ के सुगुप्त रहस्यों के	
२ ४-खण्डचतुष्टयी के समवय से एक पृष्ठ्य		परिज्ञाता महर्षि	
की स्वरूप नि पत्ति	६३९	२२ -अधिदवत और अध्या म यज्ञ के समतु	
२ ५-गायत्री-त्रिष्टुप जगती विराट-पङ्क्ति-		न्न मा यम से आधिभौतिक वध-यज्ञ के	
नामक पाँच छुदों की समष्टि से पञ्चा		श्रष्टाकपाल पुरोडाश का वैज्ञानिक	
ङ्गु लिका स्वरूप निर्माण		स्वरूप समवय एव प्रकृत ब्राह्मण की	
२ ६-गायत्र्यादि पङ्क यन्त छन्दों के अक्षर		१ २ कण्डिका द्वयी का उपराम	
परिमाण माध्यम से कनिष्ठिकादि अङ्गु		२२८-अन्नपरिपाककर्त्ता आमात् नामक अग्नि	
ष्ठान्त पञ्चाङ्गु लियों का पारिमाण मक		२२९ शवपरिपाककर्त्ता क्रव्यात् नामक अग्नि	
समतुलन		२३ -हविर्वहनकर्त्ता हयवाट अग्नि	
✓ २०७ त्रिष्टुप् छन्दोऽनुगत इन्द्रदेवता		२३१-एक ही अग्नि के तीन महिमा विवत्त	
✓ ८ इन्द्रानुगत अमृतप्रधान भूता मा		२३२-छन्दोभेद के द्वारा अग्निभेद	
२ ९-त्रिष्टुप् और अमृतभावामिका अनामिका		२३३-नि कैवय सम्राह्य दिव्य भावापन्न हयवाट	
२१ -अनामिका के द्वारा दिव्यकर्मों का सम्पादन		अग्नि	
१११-अनया वै भेषज क्रियते		२३४-अग्निप्रधान भूपिण्ड	
२१२ विराट और तत्प्रसूता म यमा		२३५-वारुणाग्नि प्रव याग्नि ब्रह्मैदनाग्नि भेदेन	
२१३-जगती और तत्प्रसूता तज नी		पार्थिवानि की अवस्थात्रयी	
२१४-असुरप्राणप्रधाना कलहप्रवर्तिका तज नी			

- २३६-भूपिण्डनिर्माता आ या नामक जलीय
अग्नि और वारुणाग्नि ६४
- २३७-असुरभावापन्न वारुणाग्नि
- २३८-आमाशयानुबन्धी वारुणाग्नि की
आमात् रूपता
- २३९-प्रव यरूप भूताग्नि का पिण्डस्थ प्राणाग्नि
के द्वारा मलरूपेण प्रक्षेप ६४१
- २४-भूत भौतिक मला मक पदार्थों का मन्त्रक
क्रव्यादाग्नि
- २४१-शवान्नभन्त्रक प्रव यमन्त्रक क्र यादाग्नि
- २४२-विशुद्ध प्राणा मक माङ्गलिक दि-याग्नि
- २४३-अमृतसोमरसानुबन्धी देवानुगत हयवाट
नामक पार्थिव अग्नि
- २४४-ब्रह्मोदनाग्निरूप दि-यप्राणाग्नि
- २४५-यज्ञानुगत सम्राट् दि-य- आग्नि तथा
सन्दर्भ नि कष
- २४६- सहरक्षा नामक असुर अग्नि
- २४७-शुद्ध अग्नि की दि-या मकता
- २४८-असुरदूत सहरक्षा नामक मत्नानुगत भौम
अग्नि
- २४९-भस्मलिप्त अङ्गाराग्नि की असुर रूपता
- २५-शुद्ध अग्नि और देवयाट
- २५१-पुरोडाशसङ्गमनकर्त्ता दि-याग्नि
- २५२-भूपिण्डेन सह सक्रान्त सावित्रतेज
- २५३-सूचीमुख पृि व्यनुगत सावित्रतेज
- २५४-प्रतिफलनभावान्वित सावित्र सौर तेज
- २५५ आदतिमण्डलगर्भित देवदूताग्नि
- २५६-मन्त्रश्रुति के द्वारा तद्यशोगान
- २५७-ज्योतिष्मय प्राणाग्निमण्डलाकार से सम
तुलित तमोमय अग्निमण्डल
- २५८-तमोमय अग्निमण्डल की दिति रूपता
- ५९-भूभामय पार्थिव तमोभाव
- २-ग्रहणाविद्यानुगत सत्तिकेय राहु
- २६१- योति मय दि यप्राण का अवरोधक दिति
मण्डलस्थ सहरक्षा नामक आसुर अग्नि ६४१
- २६२ असुरदूत पार्थिव वारुणाग्नि
- २६३-पृथि यनुगत अदिति दिति भाव
- २६४ यज्ञरूपसम्पादक-योतिष्मय दिव्याग्नि
- २६५-यज्ञस्वरूपविघातक तमोमय भूताग्नि
- २६६ भस्मनिराकारण पूर्वक अङ्गारो का विशुद्धी
करण एव तद्वैज्ञानिक तथ्य का सम वय
- २६७-भूपृष्ठसल न अङ्गार की असुरभावानुगति
- २६८-वातशू य प्रदेश की असुररूपता
- २६९-अधोभागानुगत अग्नि का वालाराहिय
२८ वरुणदेव यम्
- २७१-आसुरप्राणाधि ठाता वरुणदेवता
- २७२-निवासस्थान और वरुणदेवता
- २३-अधोभागानुगत भस्मसम्बन्ध के निरा
करण में काठिन्य ६४२
- २४-यजुष्म त्रिविद्युत् से पूत म यम कपाल के
द्वारा अधोऽवस्थित अङ्गारानुगत असुर
का निराकरण
- २७५-यजु की साक्षात् दि याग्निरूपता
- २७६-ब्रह्म देव भूत पशु भेदनिबन्धना अग्नि
विवत्त चतुष्टयी
- २७ वेदाग्निरूप ब्रह्माग्नि
- २८ यजुरनुगत सार्वयाजुष्माग्नि
- २७९-स्वायम्भुव यजुरग्नि
- २८-सौर त्रैवाग्नि
- २८१-पार्थिव भूताग्नि
- २८२ प्रवग्यरूप पाशुकाग्नि
- २८३-श-दमय यजुष्मन्त्र
- २८४ अथमय-यजुरा न
- २८५-श-दाय का अग्नेदसम्बन्ध
- २८-यजुरग्निमय यजुष्मन्त्र के द्वारा आसुरा
सङ्गजनित मय की निवृत्ति

- २८७-अवश्वपदार्थों की घन तरल विरलरूपा
अवस्थात्रयी ६४२
- २८८-घनावस्थामिका निबिडावस्था
- २८९-सुप्रसिद्धा तरलावस्था
- २९-विरलावस्थामिका वा पावस्था
- २९१-वा पावस्थामिका धूमावस्था
- २९२-उदाहरणमा यम से अवस्थात्रयी का
स्वरूप समन्वय
- २९३-सोमगमित अग्नि ऋषी वस्तुरूपता
- २९४-घनाग्निमय पृथिवी लोक
- २९५-तरलाग्निमय अन्तरिक्षलोक
- २९६-विरलाग्निमय द्युलोक
- २९७-घनावस्थापन्न यच्चयावद् पियडा मक
भूतभौतिक पदार्थों की पारिभाषिक
पृथिवी रूपता
- २९८-तरलावस्थापन्न यच्चयावत् पदार्थों की
पारिभाषिकी वायुरूपता
- २९९-विरलावस्थापन्न यच्चयावत् पदार्थों की
पारिभाषिकी आदियरूपता
- ३-तत्तत् पदार्थों की प्राणावस्था का समन्वय
- ३ १-घनावस्थानुगता ध्रुवावस्था
- ३ २-तरलावस्थानुगता धर्त्रावस्था
- ३ ३-विरलावस्थानुगता धरुणावस्था
- ३ ४-सवप्रतिष्ठारूप ध्रुव तव
- ३ ५-ध्रुव और पृथिवी की आधिक
पर्यायता
- ३ ६-दिव्ययज्ञानुगत आसुरप्राणाक्रमण
- ३ ७-असुराक्रमण निरोध के लिए अपेक्षिता
ध्रुवामिका प्रतिष्ठा
- ३ ८-ध्रुवमसि मन्त्रानुगत प्रतिष्ठाबल के
मा यम से कपालोपधान
- ३ ९-पशु अनुचर प्रजा-स्त्री-द्रव्य भूमि मेद
निवधन अतर्हिर्वित्त
- ३१-श्रेष्ठतम ब्रह्मवीच्य और क्षत्रवीच्य

- ३११-ज्ञानशक्तियुत ब्रह्मवीच्य ६४२
- ३१२-क्रियाशक्तियुत क्षत्रवीच्य
- ३१३-क्रियाशक्तिसम्पन्न कम्मठ तथा ज्ञान
शक्तिसम्पन्न ज्ञाननिष्ठ मानव के लिए
असम्भव शब्द का असम्भवत्व ६४३
- ३१४-ज्ञान-कम्म शून्य पुरुष का पुरुषाभासत्व
- ३१५-विडवीच्यानुगता अथशक्ति
- ३१६-पूषाप्राणानुगता पशुशक्ति
- ३१७-ज्ञान कर्माश्रित विट् शूद्र की सायकता
- ३१८-ज्ञान कर्माश्रय से वञ्चित अथ पशु भावों
की आयातिक निरथकता
- ३१९-सवतोऽधिक महतोमहीयान् भूमा त व
३२-ज्ञान कर्मानुगत ऐच्छिक अनुयायियों की
उपलब्धि एव भूमाभाव
- ३२१-भूमाभाव और सजाता
- ३२२-ब्रह्म-क्षत्र वीच्यसम्पत्ति की सफलता की
प्रसिद्धि सजातसत्पत्ति और भूमाभाव
- ३२३-ब्रह्मवनि वा क्षत्रवनि वा सजातवनि वा
इत्यादि यजुम्मन्त्र का रहस्याथ-समन्वयो
पराम
- ३२४-द्यावापृथिवी का साक्षात्कार
- ३२५-मध्यस्थ अन्तरिक्ष का प्रयत्न
- ३२६-अद्धा भावानुगत त्रैलोक्य
- ३२७-चतुर्थलोक की इन्द्रियातीतता किन्तु
शब्दप्रमाणगम्यता
- ३२८-अस्ति न वा का स्वारस्य
- ३२९-विश्वाम्यस्त्वा आशाम्य इ यादि यजु
म्मन्त्राथ समन्वय
- ३३-विश्व आशाओं की अनद्धा रूपता
- ३३१-आषसाहिय के प्रत्येक शब्द से अनु-
प्राणित पिनद्ध-सुगुप्त रहस्याथ
- ३३२-भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्य वम् श्रुत्य
नुगत भृगु अङ्गिरा तपो नामक रहस्यमय
शब्द

- ३३३ प्रासङ्गिकरूपेण तप शब्द के रहस्या मक निगूढार्थ का सम्मरणोपक्रम ६४३
- ३३४ जगमिथ्यावादाभिनिविष्ट विद्वानों की दृष्टि में तप शब्द का निःशून्य मायतामक अर्थ
- ३३५ प्रचलित मायता का लोकसमग्रह दृष्ट्या समादर किन्तु ?
- ३३६—व्यापकाथ को स्वगम में भुक्त रखने वाले तप शब्द का सीमान्धनामक अनौचित्य
- ३३७—कायकलेशानुवर्ती आलोमभ्य—आनखाग्र यदुखात् तपोऽनुरक्त विद्वानो से तप शब्द के सम्बन्ध में श्रुति सम्मत कतिपय प्रश्न
- ३३८—महर्षि तित्तिरि के द्वारा तप शब्द का अर्थात् अनिव्याप्ति—दोषरहित अविरोधी लक्षण का सम्मरण ६४४
- ३३९—ब्रह्मोदनामक स्वा मभाग का दान और तप
- ३४ आधिदविक आधिभौतिक—आध्यात्मिक तपसग्राहक व्यापार की तपोरूपता
- ३४१—आमसमपणामक व्यापार की तपोरूपता का दिग्दर्शन
- ३४२—प्राणविसर्जन के द्वारा रिक्तस्थानानुगति और तपोभाव
- ३४३—रिक्तस्थान का पूरक तपोरूप यापार
- ३४४—प्राणपातानुगता लोकसम्पत्ति और तपश्चर्या
- ३४५—आमसमपणरूप तप से वञ्चित लाभ की तपत अलाभरूपता
- ३४६ छलछिद्रादि आसुरी मायाओं के मायम से प्राप्ता सम्पत् का अशांति प्रवृत्तकत्व
- ३४७—प्राणदानामक तप के द्वारा ही वस्तु-प्राप्ति का समन्वय

- ३४८ बलि रूप दान और बलिदान तथा तदनुगता प्राप्ति ६४३
- ३४९ प्रजापति की सहज—सृष्टिकामना
- ३५—सृष्टिकामनानुगत आ मापणरूप सहज तप
- ३५१ तपोऽनुगता प्राणाहुति
- ३५२ तप की वास्तविकी स्वरूप परिभाषा
- ३५३—वाक श्रोत्र हस्त पाद आदि का यापार और तप का सामान्य स्वरूप ६४४
- ३५४—भृगु और अङ्गिरा का सवश्रुत तप
- ३५५—सौ य भृगु और आनेय अङ्गिरा
- ३५६—अग्निचयन के द्वारा शरीरनिर्माण
- ३५७ शारीरिक तप और अङ्गिरा
- ३५८—मानसिक तप और भृगु
- ३५९ भृग्वङ्गिरा के पाथक्य से अनुप्राणित तप की अपूर्णता
- ३६—समवयामक भृवङ्गिरोमय तप की पूरता
- ३६१ तपि ठतप की स्वरूप परिभाषा
- ३६२ मनोयोगपूर्वक शरीरद्वारा क्रियमाण तप की अर्थार्थ तपोरूपता
- ३६३ भृगूयामङ्गिरसा तपसा तप्यवम् का सम्मरण
- तप—स्वरूपदिग्दर्शनम्**
(पृ स ६४५ से ६५८ पर्यन्त)
- ३६४—वत्तमानयुग के प्रत्यक्षप्रभाव से समाकर्षिता भासुक प्रजा और उसकी लोकघोषणा से अनुगत याग तपस्या बलिदान आदि शब्द ६४५
- ३६५—कानिक भासुकतापूर्णा—त्याग—तपस्या बलिदानादि शब्दनिबन्धन महार्चक्या—मोहन
- ३६ यामोहन परित्राणोपाय—चित्तनोकम
- ३६७—पाणिनीय धानुपाठ से अनुप्राणित तप धातु के सन्ताप ऐश्वर्य तथा दाह रूप त्रिविध समन्वय प्रकार

- ३६८-एक तप और विभिन्न तीन अर्थों के सम्बन्ध में समस्या मक महान् प्रश्न ६४५
- ३६९ पुरुषभावानुबन्धेन तीन अर्थों की स्वीकृति
- ३ -प्रकृतिभावानुबन्धेन तीन अर्थों का निषेध
- ३७१- एक वा इद वि बभूव सवम् मूलक एतद्वै तत् रूप पुरुषामानुगत अद्वै तवाद
- ३७२-ब्रह्म के महिमामय विवर्तों की अभिज्ञा र्थकता
- ३७३- सर्वे सर्वाथवाचका का सस्मरण
- ३७४-प्रकृत्यनुबन्धेन सवथा विभिन्न सतापाथक तप शब्द
- ३७५-ऐश्वर्याथक तप शब्द
- ३७६-दाहाथक तप शब्द
- ३७७-तप शब्द के चिर तन शब्दार्थेतिहास का उपक्रम
- ३७८ तप शब्देतिहासानुबन्ध से प्रकृत के सवथा विभिन्न तीन सस्थानों का स्वरूपान्वेषण प्रयास
- ३७९-विश्वेश्वर पुरुषामप्रजापति का महिमा-मय प्राकृत विश्व
- ३८ -गुणभूतों के पञ्चीकरण से समन्वित पञ्च पर्वा विश्व
- ३८१-पञ्चपर्वा -पाङ्क्त पञ्चामक-विश्व का सस्मरण
- ३८२-श्वेतारवर महर्षि के द्वारा पञ्चपर्वा प्राकृत विश्व का स्वरूप समन्वय
- ३८३-परौरजामक ऋषिप्राण ६४६
- ३८४-रज प्रवक्त क पितृप्राण
- ३८५-रजोभावामक देवप्राण
- ३८६ रजस्तमोऽनुगत पशुप्राण
- ३८७-तम प्रधान भूतप्राण
- ३८८-ऋषिप्राणमूर्ति स्वयम्भ
- ३८९-पितृप्राणमूर्ति परमेष्ठी

- ३९ -देवप्राणमूर्ति सूर्य ६४६
- ३९१ पशुप्राणमूर्ति चन्द्रमा
- ३९२-भूतप्राणमयी पृथिवी
- ३९३-पञ्चभावामिका पञ्चप्राणोर्मिलक्षण विश्वोपादानभूता क्षर प्रकृति के पञ्चधा विभक्त महिमामय विवक्त
- ३९४- विश्व की सन्निप्ततमा रूपरेखा
- ३९५-तपस्त्रयी के मौलिक स्वरूप का आवषणामक प्रयासोपक्रम
- ३९ -ब्रह्माक्षरानुगता ऋषिप्राणमयी प्रकृति
- ३९७-विष्णवक्षरानुगता पितृप्राणमयी प्रकृति
- ३९८-इन्द्राक्षरानुगता देवप्राणमयी प्रकृति
- ३९९-सोमाक्षरानुगता पशुप्राणमयी प्रकृति
- ४ अग्न्यक्षरानुगता भूतप्राणमयी प्रकृति
- ४ १-परौरजामूर्ति स्वयम्भू
- ४ २-रजोऽधिष्ठाता परमेष्ठी
- ४ ३ रजोऽभिगत सूर्य
- ४ ४-रजोमूर्ति चन्द्रमा
- ४ ५-मूर्च्छितरजोमूर्ति भूपिण्ड
- ४ ६-प्रहिता सयोग एव प्रयुता सयाग रूप आदान विसर्ग यापार के पारिभाषिक स्वरूप का सस्मरण ६४७
- ४ ७-विश्वपर्वों की प्राणमात्राओं तथा भूत मात्राओं का पारम्परिक-आदान विसर्ग
- ४ ८-प्राण तथा भूत निबन्धन आदानविसर्ग के तारतम्य से ही विश्वपदार्थों के स्वरूप में विभिन्नता का उदय
- ४ ९-प्राकृत पदार्थों की स्वरूपस्थिति से अनुप्राणित आदान विसर्गामक-चक्रमण तथा षडभावविकारों का समन्वय
- ४१ -विश्वपदार्थों का समष्टि-व्यष्टि रूपेण विश्वसनामक-त्यागतपत्यारूप उदय एव तन्निबन्धन स्व भाग का दान

- ४१-समष्टि ध्यष्टि रूपेण यागधर्मानुगत यच्च यावत् पदार्थो की तपोधर्मा-तपस्वी अभिधा का समन्वय ६४७
- ४१२-आदान सापेक्षा विसर्गाभिका तपश्च र्या से ही विश्व के तपस्विद्यो की स्वरूप-स्थिति
- ४१३-स्व ददाति रूप विसर्ग उ सग याग एव बन्निवधन नि यसापेक्ष आदान ग्रहण सग्रह भाव
- ४१४-पारस्परिक अपेक्षानुबन्धी प्रकृतिसिद्ध अन्नान्नादसम्बन्ध
- ४१५-अन्नानुगत भोग त व का पारिभाषिक समन्वय
- ४१६-अन्न सोम और भोग्य
- ४१७-अन्नाद अग्नि और भोक्ता
- ४१८-सवमिदमन्नम्-सवमिदमन्नाद
- ४१९-अन्ता चैव आद्यञ्च
- ४२-अहमस्मि प्रथमजा का संस्मरण
- ४२१-अहमन्नम् अन्नमद तमसि का पारिभाषिक-समन्वय
- ४२२-प्रत्येक प्राकृत पदार्थ की अन्नरूपता तथा अन्नादता का समन्वय
- ४२३-विसर्गानुबन्धी आङ्गिरस-अग्नि
- ४२४-आदानानुबन्धी भागव सोम
- ४२५-सकोचधर्मा भागवसोम और स्नेहत व
- ४२६-विकासधर्मा आङ्गिरस अग्नि और तेज स्तत्त्व ६४८
- ४२७-स्नेहगुणक भागव सोम तथा तेजोगुणक आङ्गिरस अग्नि की पारस्परिकी सापेक्षता
- ४२८-त्याग की सग्रहमलकता
- ४२९-सग्रह की यागमूलकता
- ४३-याग को उद्देश्य बनाने वाले सग्रह की ही सग्राहकता
- ४३१-त्यागशान्य सग्रह के द्वारा उत्तरोत्तर जड़ता की प्रवृत्ति
- ४३२-आदानगर्भित विसर्ग की तपोरूपता का समन्वय ६४७
- ४३३-भृगुगर्भित आङ्गिरस त व की ही तपोरूपता का समन्वय ६४८
- ४३४-भगवान् याज्ञवल्क्य के वैज्ञानिक तपोलक्षण का संस्मरण
- ४३५-तप शब्द की लोकानुबन्धिनी स्वरूप स्थिति के किञ्चिदिव निदर्शन का उपराम
- ४३६-तप शब्द के सत्तासिद्ध वैज्ञानिक-स्वरूप का उपक्रम
- ४३७-पञ्चपर्वा प्राकृति विश्व के गर्भ में प्रविष्ट आमप्रति ठामक षोडशी प्रजापति का संस्मरण
- ४३८-षोडशी प्रजापति की विश्वचर विश्वामा विश्वेश्वर नाम की अभिधाओं का समन्वय
- ४३९-पञ्चपर्वामक विश्व की समष्टि से अत्रु प्राणित एक विश्वेश्वर
- ४४-व्यष्ट्या मक पञ्चधा विभक्त विश्वावयवोंके विभिन्न पाँच उपेश्वर
- ४४१-पञ्चधा और त्रीणि त्रीणि का रहस्यामक पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय
- ४४२-तदेव शुक्र -तद्ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते-मूलक त्रीणि योतीषि सचते स षोडशी रूप मन्त्रमाग ६४८
- ४४३-पञ्चकलाव्ययरूप प्रजापति और अमृतम्
- ४४४-पञ्चकलान्तररूप प्रजापति और ब्रह्म ६४९
- ४४५-पञ्चकल-आमन्त्ररूप प्रजापति और शुक्रम
- ४४६-अमृताव्ययानुगता मनोषना-ज्ञानज्योति
- ४४-ब्रह्माक्षरानुगता प्राणधना कर्म-ज्योति
- ४४८-शुक्रक्षरानुगता वागधना भूतज्योति
- ४४९-त्रिज्योतियों के कृतरूप विश्वामा के पाँच तथा तीन विवर्तों का संस्मरण

- ४५ -विश्वा मा के पाच अर्थात् तीन ही प्रमुख व ६४६
- ४५१-विश्वानुबन्धिनी पञ्च त्रिपर्व भावानुगता महती समस्या का निराकरण प्रयास
- ४५२-भारतीय सांस्कृतिक जगत् से अनुप्राणित त्रिमूर्ति और ब्रह्मा विष्णु महेश
- ४५३-आयसवस्वामक पुराणशास्त्र और तन्निबधन सांस्कृतिक आयोजन
- ४५४-स्मृतिशास्त्र और तन्निबधन सांस्कृतिक आचार
- ४५५-श्रुतिशास्त्र और तन्निबधना भारतीय मूलसंस्कृति
- ४५६-आयसवस्वानुगत सांस्कृतिकपव
- ४५७-बुद्धिपर्वानुगत सांस्कृतिक उ सव
- ४५८-मन पर्वानुगत सांस्कृतिक सम्मेलन
- ४५९-शरीरपर्वानुगत सांस्कृतिक समारोह
- ४६ -त्रिमूर्ति भावानुबन्धी पौराणिक त्रिदेवतावाद एव श्रुतिशास्त्रानुबन्धी पञ्च-देवतावाद
- ४६१-प्रासङ्गिकी विरोधभावना का उपात एव तन्निराकरण
- ४६२-वैदिक पञ्चदेवतावाद के साथ पौराणिक त्रिदेवतावाद का निर्विरोध सहसमन्वय
- ४६३-अवलोकनामक आलोक और योतिर्भाव
- ४६४ अवलोकन के माध्यम नेत्र एव योति स्तव की नेत्रसंज्ञा का समन्वय
- ४६५-सय-श्रुत-नेत्र (सय-श्रुत-योति से समन्वित सत्यस्य-सय-मूर्ति सयामक स्वायम्भुव ब्रह्मा
- ४६६-पारमेष्ठ्य विष्णु की द्विनेत्रता का पारिभाषिक स्वरूप दिग्दर्शन ६५
- ४६७-सूय चन्द्र पार्थिवानिमूर्ति त्रिज्योतिर्मय भगवान् महेश्वर की त्रिनेत्र अभिधा का स्वरूप दिग्दर्शन

- ४६८-मनोमय श्रुतायया मक ज्ञान-योतिर्भाव से अनुग्रहीत स्वायम्भुव-ब्रह्मा एव इनकी त्रिपति (ज्ञान पति) अभिधा का समन्वय ६५
- ४६९-प्राणमय ब्रह्माक्षरा मक कम्म-योतिर्भाव से अनुग्रहीत पारमेष्ठ्य विष्णु एव इनकी कम्मपति (प्राणपति) अभिधा का समन्वय
- ४७ -वाङ्मय शुक्रक्षरा मक भूतज्योतिर्भाव से अनुग्रहीत त्रिमूर्ति भूतपति-महेश्वर एव इनकी भूतपति (पशुपात वाकपति) अभिधा का स्वरूप समन्वय
- ४७१-पुराणशास्त्र के रहस्यपूर्ण त्रिवता का स्वरूप समन्वय
- ४७२-सूय्य और स्वज्योतिर्भाव
- ४७३-चन्द्रमा और पर-योतिर्भाव
- ४७४-पृथिवी और रूपज्योतिर्भाव
- ४७५ पञ्चपर्वामक विश्व का तीन प्रमुख पर्वों पर विश्राम एव परिलेख के द्वारा तत् स्वरूप समन्वय
- ४७६ त्रिमूर्ति के आधार पर प्रतिष्ठित तप शब्द के प्रतिज्ञात सन्ताप ऐश्वर्य्य-दाक रूप त्रिविध महिमाविवर्त्तों का समन्वय प्रयास
- ४७७-परोरजामूर्ति त्रिपति स्वायम्भुव ब्रह्मा और उसका ज्ञानमय तप
- ४७८ ज्ञानमय तप की सन्तापरूपता
- ४७९-सन्ताप शब्द का लोकप्रचलित शोकसन्तापामक अर्थ ६५१
- ४८ तत्त्वदृष्ट्या शोक से एकांत अस्स्पृष्ट सन्ताप शब्द
- ४८१-क्रियाप्रधान तप से अभिन्न प्राणामक तप के आधारभूत ज्ञान शक्तिप्रधान स्वायम्भुव तप की परिभाषिकी सन्तापरूपता का दिग्दर्शन

- ४८२- आतस्य तातस्य स तप्तस्य इत्यादि श्रुति से अनुप्राणित स ताप रूप ज्ञानीय तप ६५१
- ४८३-श्रुति के प्रमुख तार्किक ग्रन्थ का सम वय ४८ -रूप से अनुगत ताप
- ४८५-एकीभावामक सम् उपसर्ग से समवित्त ताप की स ताप रूप में परिणति
- ४८६-अथयामक चिदा मा की सम् भावा पन्ना समब्रह्मता
- ४८७-आत्ममायसूचक सम् शब्द एव तदनुप्राणित सस्कृति सस्कृत सस्कार आदि पारिभाषिक शब्दों का सम्मरण
- ४८८-समब्रह्माभिन्न स्वायम्भुव तप की सम् भावाविता सन्तारूपता का समन्वय
- ४८९-ऋषिप्राण और स तापामक तप की मौलिक उपनिषत्
- ४९-सद्घन अतएव असत् नाम से प्रसिद्ध विश्वमूलभूत ऋषिप्राण और स तापामक तप
- ४९१ (क) ऋक साम-रूप वयोनाधारक छन्द से छन्दित स्वायम्भुव ब्रह्म निश्चित वेदामक यजु प्राण का स्वरूप समवय
- ४९१ (ख) ब्रह्मा का ज्ञानीय तप और ऋषितप से तदभिन्नता
- ४९१ (ग) स्वायम्भुव परमाकाशामक महिमाकाश
- ४९२-परमेयोमस्वरूप महिमाकाश में परि याप्त ऋषिप्राणप्रधान ज्ञानीय तप की अभियाप्ति और तद्रूप तपोलोक का सम्मरण
- ४९३-सय ऋत सूत्रानुगत सर्वत्र याप्त-सन्ता पाथक तप शब्द के सक्षिप्त चिरन्तर तिवृत्त का उपराम ६५२
- ४९४-लोकाधि ठाता षोडशीप्रजापति का पञ्च भौतिक सप्तवितस्ति काय और उस की सात वितस्तिया ६५२
- ४९५-गायत्रप्राणसमतुलित चतुरशीति श्रद्धु लिमित मानव एव त परिमाणयुक्त ही ईश्वर
- ४९६-सुप्रसिद्ध पञ्चधा विक्त विश्वपर्वों से अनुगत भूलोक भुवर्लोक स्वर्लोक महर्लोक जनल्लोक तपोलोक सयलोक-नामक सात लोक और सप्त लोक याह्वतिया
- ४९७-षष्ठ तपोलोक और तदभिन्न ब्राह्मतप
- ४९८-सर्वप्रतिष्ठारूप ज्ञानीयतपोरूप ब्राह्मतप से वञ्चित अथान्य यच्चयावत् तपोभावों की यथता ६५२
- ४९९-क्रमप्राप्त ऐश्वर्यार्थक द्वितीय तप शब्द का माङ्गलिक सम्मरण
- ५-सन्तापामक स्वायम्भुव ऋषितप की कर्तृ वशक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न
- ५ १-स तापामक ऋषितप से सबप्रथम समुद्भूत अपत व
- ५ २-प्राणामिका ऋतधर्मानुगता आप
- ५ ३-स्वायम्भुव तप का द्रवण और आप ६५३
- ५ ४ स्वेदवेदामक सुवेद
- ५ ५ सुवेदामक अथर्ववेद
- ५ ६-स्वायम्भू ब्रह्मा के ललाटप्रदेश पर स्वैदो पत्ति और तत्सम्बन्ध में गोपयश्रुति का सम्मरण
- ५ ७-सोऽपौऽसृजत वाच एव लोकात् का पारिभाषिक समन्वय
- ५ ८ (क) आप वा-वारि आदि शब्दों का निर्वचनानामक समन्वय
- ५ ८ (ख) आपोमय द्वितीय विश्वविवस की परमेष्ठी अभिधा का सम्मरण

५. ६-आपतिधर्मा मैथुनीसृष्टिप्रवक्त क पितर-
प्राण और तमूलभूत ऋषिप्राण ६५३
- ५.१ - ऋषिभ्य पितरो जाता इयादि मनु
वचन का सस्मरण
- ५.११-विश्वसमृद्धि के महान् प्रभव ऐश्वर्य-
मूर्ति आपोमय परमेष्ठी
- ५.१२-ऐश्वर्यभाव निबन्धना सम्पत्ति की
स्वरूप पारिभाषा
- ५.१३-लोकसम्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न
- ५.१४-लोकैश्वर्य की वरूप दशा से परिचिति
का उपक्रम
- ५.१५-श दसम्पत्ति एव तद्वाया अर्थसम्पत्ति
- ५.१६-उभयसम्पत्तिसमन्वया मक पद (श द)
अथ (वस्तु) रूप पदाथ
- ५.१७- पदाथ के द्वारा श द्वाथस पत्ति का सग्रह
- ५.१८ प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय पदार्थों का नाम
सस्मरण
- ५.१९-समष्टि-न्यष्टि रूपेण श द्वाथस पत्ति की
अभिव्याप्ति
- ५.२ -श द्वामिका सम्पत्ति की अविष्ठातृ देवता
श्री
- ५.२१-अर्थात्मिका सम्पत्ति की अविष्ठातृ-
देवता लक्ष्मी
- ५.२३-आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल और श्री
तथा लक्ष्मी ६५४
- ५.२४-श दैश्वर्य और श्री
- ५.२५ अर्थैश्वर्य और लक्ष्मी
- ५.२६-सरस्वतीरूपिणी श्री
- ५.२७-आम्भृणीरूपिणी लक्ष्मी
- ५.२८-ऐश्वर्य का वास्तविक स्वरूप और श्री
रूपिणी सरस्वती
- ५.२९-सारस्व क्षेत्र और ऐश्वर्य
- ५.३ -मौलिक तात्विक ऐश्वर्य एव भूतसम्प
त्तिरूपिणी लक्ष्मी
- ५.३१-लक्ष्मी और लोकलक्ष्मी ६५४
- ५.३२-श्रीविहीना लक्ष्मी के द्वारा जडता की
अभिव्यक्ति
- ५.३३-ऐश्वर्यरूपिणी सम्पत्ति के स्वरूप दिग्
दशन का उपराम
- ५.३४-पारमेष्ठ्यमण्डलानुगता श द्धारामिका
सरस्वती धारा और तदभिन्ना अङ्गि-
राधारा
- ५.३५-अथधारामिका आम्भृणी धारा और
तदभिन्ना भृगुधारा
- ५.३६-तेजोभाव और आङ्गरा
- ५.३७-अङ्गिरा और सरस्वती
- ५.३८-सकोचभाव और भृगु ६५५
- ५.३९-भृगु और आम्भृणी
- ५.४ -उभयसम्पत्तियों का गोपथश्रुति के द्वारा
सस्मरण
- ५.४१ भागवसोम आङ्गिरस अग्नि
- ५.४२-उभयतप के सम्मिश्रण से अभिव्यक्त
यज्ञतव
- ५.४३-भागवाङ्गिरस तपोरूप यज्ञ एव उसका
क्रियाशक्तिप्रधान-ब्रह्माक्षरामा से अवि
नाभाव
- ५.४४- यज्ञ और कर्म श द् की अभिनाथ
कता का समन्वय
- ५.४५- अष्टतमाय कम्मणो और यज्ञो वै
अष्टतम कम्म
- ५.४६-भृग्वङ्गिरोमूर्ति आपोमय परमेष्ठी की
विष्णुरूपता
- ५.४७-विष्णु के द्वारा ही भागवाङ्गिरस यज्ञ की
प्रवृत्ति
- ५.४८- यज्ञो वै विष्णु और विष्णुवै यज्ञ
का समन्वय
- ५.४९-श्री और लक्ष्मी नाम की विष्णुपत्नियौ
- ५.५ -आङ्गिरसतव और श्री

- ५५१-भागवतत्र और लक्ष्मी
 ५५२-लोकैश्वर्यससाधक यज्ञामक कम्म
 ५५३ पारमेष्ठ्य भागवाङ्गिरस तप और तद्
 द्वारा लोकवभव प्राप्ति
 ५५४ तजिष्ठ तप की स्वरूप परिभाषा
 ५५५-भू एव च द्र गर्भित सौर मण्डल
 ५५६-दाहक गुण से समावत माहेश्वर प
 की स्वरूप परिभाषा
 ५५७-अग्निरूप रुद्र की दाहकता
 ५५८-रुद्रा मक सौर तप
 ५५९ दाहाथक तृतीय तप का स्वरूपेतिवृत्त
 ५६ -स तापाथक तप और ब्राह्मणतप
 ५६१-तपोलोकानुगत ब्राह्मण तप
 ५६२-ऐश्वर्यार्थक तप और एवतप
 ५६३ भागवाङ्गिरस तप और ऐश्वर्य
 ५६४-दाहार्थक तप और रौद्रतप
 ५६५-अग्निप्रधान तप
 ५६६-विश्व के तीन प्रमुख स्थान
 ५६७-त्रिसंस्थानों के प्रमुख अधिपति ब्रह्मा
 विष्णु महेश
 ५६८ आ मब्रह्म के अमृत ब्रह्म शुक्र-नामक
 तीन प्रमुख महिमा विवत्त
 ५६९-महिमाविवत्त त्रयी से सम्बद्धा देवतात्रयी
 ५७ -आ मशक्तित्रयी और देवतात्रयी
 ५७१-ज्ञाना मक तप और ब्राह्मणतप
 ५७२-कर्मात्मक तप और वष्णवतप
 ५७३-अर्थात्मक तप और रौद्रतप
 ५७४-मन्त्रद्रष्टा महर्षि की दृष्टि में विभक्त तीन
 तपोभाव
 ५७५-अथवमत्रो के मा यम से तपस्त्रयी के
 तीन विभिन्न विवत्तों का स्वरूप समन्वय
 ५७६ समाहितम् और तपोभाव
 ५७७-समभवत् और तपोभाव
 ५७८-आजायत और तपोभाव
- ५७९- तप कालादजायत इ यदि अथवश्र ति
 का पारिभाषिक समन्वय ६५६
 ५८ -श्र या मसस्था का विश्व
 ५८१-श्र या मिक विश्व के कारण-सूक्ष्म-स्थूल
 विवत्त
 ५८२-कारणशरीर और विज्ञानबुद्धि
 ५८३ सूक्ष्मशरीर और प्रज्ञानमन
 ५८४-स्थूलशरीर और भौतिकशरीर
 ५८५ ब्राह्मणकारणशरीर
 ५८६-वैष्णव सूक्ष्मशरीर
 ५८७ रौद्र-स्थूलशरीर
 ५८८-पञ्चचितिक भातिकशरीर
 ५८९-शांतरुद्रिय और शतरुद्रियान्न
 ५९ बुद्धित त्र और स तापाथक ब्राह्मणतप
 ५९१-मनस्तन्त्र और ऐश्वर्यार्थक वैष्णवतप
 ५९२-शरीरत त्र और दाहाथक रौद्रतप
 ५९३ प्राकृतिक आ या मिक विश्व
 ५९४ आ या मिक विश्व में प्रतिष्ठित विवि
 प्राणानिविवत्त
 ५९५-अग्निजनित सवष और तद्द्वारा
 अबुपत्ति
 ५९ -ब्रह्माग्निजनित ब्राह्मणतप से उपन्न आप
 और स्वेदत व
 ५९७-शीघ्रस्थानीय स्वावम्भुव ललाट-प्रदेश
 और ब्राह्मणतप
 ५९८ वि सवग्निजनित वैष्णवतप से उपन्न
 आप और श्रद्धात व
 ५९९-आपोमयी श्रद्धा और अम्भ
 ६ -गाङ्ग यतोयामिका भगवती- ब्रह्मद्रवी
 (भागीरथी) और वैष्णव अम्भः
 ६१-रुद्राग्निजनित रौद्रतप से समुपन्न आप
 और मरीचितत्त्व ६५७
 ६२ मरीचि और यामुनेय (यमुनाजल)

- ६३ शीतप्रकृतिक ग्राह्य पारमेष्ठ्य अ भो
रूप सलिल ६५७
- ६४-अग्निप्रकृतिक यामुनेय सौर मरीचिरूप-
आप
- ६५ बौद्धिक-ब्राह्मतप
- ६६-मानसिक वै णवतप
- ६७-शारीरिक रौद्रतप
- ६८-तप से उ पन्न आप और अश्रु त व
- ६९-अश्रु सन्नरितमासीत्
- ६१-बौद्धिक तप से उ पन्न अश्रु और परि
श्रमाश्रु
- ६११-ललाटानुगत स्वेदकण और परिश्रमाश्रु
- ६१२-मानसिक तप से उ पन्न अश्रु और
श्रमाश्रु
- ६१३-प्रमाश्रु का पारिभाषिक समन्वय
- ६१४-शोकाश्रु का स्वरूप परिचय
- ६१५ उभयाश्रुओं की स्थिति का स्वरूप
विश्लेषण
- ६१६-शारीरिक तप से उ पन्न अश्रु और
सेवा
- ६१७-सेवामात्र आप और स्वेदधारा
- ६१८-तप शब्द की त्रिधा व्याप्ति के चिरतनेति
वृत्त का उपराम
- ६१९-सांस्कृतिक भारतीय मानव की दृष्टि से
तपः का तात्विक स्वरूप
- ६२-वत्त मानयुगानुबन्धी कापनिक श्रममात्रा
नुबन्धी तपोभावों की आर्यान्तिक निर-
थकता
- ६२१-परिश्रमवञ्चित केवल श्रम से अनुगत
भाव और शोकस ताप
- ६२२-श्रीविहीना लक्ष्मी और विशुद्ध श्रमरूप
दाहाथक तप
- ६२३-ऐश्वर्य-विरोधी शोकप्रवक्त क आज की
श्रमामिका दाहाथसमन्विता तप परम्परा

- ६२४ भारतराष्ट्र की ऐश्वर्य-वहीनता का न न
चित्रण ६५७
- ६२५-रौद्रतप की मूलप्रतिष्ठा ऐश्वर्यससाधक
भागवाङ्गिरस वैष्णवतप
- ६२६-सर्वप्रतिष्ठारूप ज्ञानाग्निमय-स्वायम्भुव
ब्राह्मतप और ब्रह्मवचस्वी ब्राह्मण
- ६२७-आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो-ब्रह्मवचसी जायताम्
माङ्गलिक सस्मरण ६५८
- ६२८-परिलोख मा यम से त्रिविध तप स्वरूप
का समन्वय प्रयास

इति 'तप' स्वरूप दिग्दर्शनम्



- ६२९-ब्रह्मामिका ईश सत्ता से समाक्रान्त पदाथ ६५९
- ६३-निय विज्ञानमानद ब्रह्म रूप ब्रह्मत व
- ६३१-अचेतनदृष्टि का मूलो छेद और ब्रह्म की
सव्यापकता
- ६३२-व्यवहारदृष्टि-मूलक चेतन और अचेतन
रूप भेद व्यवहार
- ६३३-परमाथदृष्टि और चेतन व्यवहार की
यापकता
- ६३४-ज्ञान क्रिया-अथ त्रयी की सव्यापकता
एव तदनुबन्धी व्यापक चिदात्मा
- ६३५-चेतनत्व की सव्यापकता
- ६३६-नियसिद्ध चतयवाद और दृष्टत् तथा
उपल का चेतनत्व-समन्वय
- ६३७-दृष्टत् और उपल का सशामक-चेतनत्व-
सम्बन्ध
- ६३८ पाषाणमय दृष्टदुपलयुग्म और ध्रुवभावा
नुगता पृथिवी
- ६३९-कृष्णमृगचर्म और पृथिवी की वचा
- ६४-अदित्यास्त्वक वेत्तु का समन्वय
- ६४१-प्राक्प्रवणावेदि और यज्ञ-सम्पत्ति
- ६४२-द्युलोकरूपा स्कम्भनी

६४३- दिवस्क भनीरसि का सम-वय	६५८	६५४-पदार्थों की स्वरूपप्रतिष्ठा का पारिभाषिक सम-वय	६६
६४४-द्यावापृथिवी रूपा वट्टिका (चक्की) और और पेषण यापार		६५५-पार्थिवप्राण और अपानतत्व	
६४५-वायु सञ्चार और पेषणकम्म		६५६-आंतरिन्द्रियप्राण और यानतत्व	
६४६-वध यज्ञ की पुरुषरूपता		६५७-दियप्राण और प्राणतत्व	
६४७-दृषदुपलद्वयी और यज्ञपुरुष के हनू		६५८-अपान और समान	
६४८-शम्या और यज्ञपुरुष की जिह्वा		६५९ प्राण और उदान	
६४९-जिह्वया हि वदति का समन्वय		६६-स्थिरभावापन्न यानप्राण	
६५-हिंसाकम्म और यज्ञति क्त यता		६१-यान का पारिभाषिक स्वरूप और औपनिषदवचन	
६५१-प्राणवियोगा मक हिंसाकम्म की ताविकी स्वरूप परिभाषा	६५९	६६२-प्राणाय वा इ यादि मन्त्र से अनुप्राणित पञ्च प्राणात्मिका स्थिति का ताविक स्वरूप सम-वय एव प्रकृत ब्राह्मणोपराम	
६५२-प्राणतत्त्व की समष्टि-व्यष्टिरूपा व्यापकता			
६५३-पृथिवी अन्तरिक्ष द्यु रसत्रयी से समुपन्न पदाथ	६६		

इति-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
 इति-प्रथमप्रपाठके-पञ्चम ब्राह्मणम्
 इति- उपवेशम्पादन, अग्नौ कपालोपधानेन
 हवि परिपाकच

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकारण्डे
द्वितीयाध्याये-द्वितीय ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

११-“पिष्टेनोदकमिश्रितेन-पुरोडाशसम्पादनम्”

नामक

क्रमप्राप्त ११ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
“विषयस्मारकसूची”
(पृष्ठस० ६६१ से ७०३ पर्यन्त)

१-प्रथमकारण्डा तर्गत-द्वितीया यायानुगत- द्वितीय ब्राह्मण तथा प्रथमप्रपाठकानुगत षष्ठ ब्राह्मण (मूल)	६६१	१ - देवस्य वा सवितु मूला सयान्विता देवभावना और सवापकम्म	६६६
२-मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमन्वया मक अनुवाद	६६३	११-सजातीय और बहुभाव	६
३ विज्ञानभाष्योपक्रम	६६६	१२-सगोज और सजातीय	
४ आहुतिप्रदानार्थ पुरोडाश का सम्पादन		१३-शुक्रस्थ चाद्रसोम	
५-हविद्र व्य का पेषण		१४-रेत अद्वा-यश रूप त्रिविध-चान्द्रत व	
६-पिष्टद्रव्य में आज्यनिर्वाप		१५-गोषसूत्रप्रवाक-चान्द्र अद्धानसूत्र	
७-आहुतियोग्य पुरोडाश		१६-आशोचप्रतिष्ठा मक अद्धानसूत्र	
८-याज्याकर्माधिष्ठाता अध्वर्यु के द्वारा सवापकम्म का सम्पादन		१७-अद्वाव धनानुगत बहुभाव	
९-सयसहितदेवता से विभिन्नधर्मा अर्चत सहित मानव		१८-बहु और सम्बधी	
		१९- देवस्य वा इ यादि मन्त्राथसमन्वय	
		२ -विप्रकृष्टाथसूचक अशौ शब्द	

- २१ (क) समाप श्रोषधीभि मन्त्रद्वारा पिष्टद्रव्य
में उपसजनी (एतन्नामक अप) का
समावश ६८
- २१-यज्ञानुगत कर्मभेद से अनुपाणित
विभिन्न बल
- २२-प्रोक्षणी आप
- २३-मदयती आप
- २४-स्ववन्ती आप
- २५-उपसजनी आप
- ६-रसामक अपतव का समावेश एव
श्रोषधियोंका ऊर्ध्व प्ररोहण
- २७ यव के धान (जौ की धानी) और
अप का सङ्गमन
- २८-अग्नि की अतर्क्यामसम्बन्ध से प्रतिष्ठा
का कारण सलिलतत्त्व
- २९-अग्नि की अन्नरूपता
- ३ -अङ्गिरा और अपत व
- ३१-भृगु और अपतत्त्व
- ३२- आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्
- ३३-अङ्गिरा की प्रतिष्ठा भृगुत्व
- ३४ भृगु की प्रतिष्ठा अङ्गिरात्व
- ३५-अग्नि की प्रतिष्ठा के लिए अनिवाय्यरूपेण
अकेदित अप्त व
- ३६-उदाहरण के द्वारा वस्तुस्थितिका समावय
- ३७-अप के द्वारा जाठराग्नि की स्वरूपरक्षा
- ३८-भूपिण्डस्थ पानी का अङ्गिरा के द्वारा
अन्तरिक्ष में (ऊर्ध्व) प्ररोहण ६७१
- ३९ (क) अतिरक्षे गत पानी की वायुधरातल
पर प्रतिष्ठा
- ३९ (ख) श्रीष्मत्तु और बलमात्रा का ऊर्ध्व
प्ररोहण
- ४ -श्रीष्मन्मृत्तु और प्रखरतमा सौररश्मियाँ
- ४१-हृदिद्रयोत्तजक अप् स्पर्श
- ४२-प्राणाग्नि का अप के द्वारा प्रज्वलन

- श्रौर आचमन ६ १
- ४३-भौतिक जगत् के आधार पर वस्तुस्थिति
का स्वरूप समावय
- ४४-सौर तेज और भृगुमन्थ अग्नि के स्वरूप
की आधारभूमि अपत व
- ४५-बलवान् की अन्नरूपता का समावय
- ४६-पुरोडाशानुगत अणकर्म
- ४७ अणकर्मनुगत अग्नि की स्वरूप
प्रतिष्ठा के लिए अपेक्षित उपसजनी
आप का संगमन
- ४८- उपसजनी कर्मानुगत यजुर्मन्त्र ता प
र्थाथ सम उय
- ४९-अपत वानुबन्धी रस-रेवती मधुमती शर्दों
का सस्मरण
- ५ वस्तु की स्वरूपस्थिति के लिए अनिवाय्य
रूपेण अपेक्षित रस और शुक्र-नाम की
तवद्वयी
- ५१ (क)-तरलावस्थामक रसत व
- ५१ (ख)-घ्रनावस्थामक शुक्रत व
- ५२-सोमप्रधान रसत व
- ५३-अग्निप्रधान शुक्रत व
- ५४-योषाप्राणामक रसत व
- ५५-वृषाप्राणामक शुक्रत व
- ५६-योषावृषामक रस शुक्र-का मिथुनभाव
और मैथुनीसृष्टि
- ५७-प्रतिवस्तु अनुगत आमभाव और
पियडभाव
- ५८-पियडसञ्चालक आमभाव ६७२
- ५९-आमायतनरूप पियडभाव
- ६ -रसानुबन्धी आमभाव
- ६१-शुक्रानुबन्धी पियडभाव
- ६२-रसतत्त्व और अन्नस्थातव
- ६३-शुक्रतव और अस्थिमान्तव

६४-अस्थन्वन्त यदनस्था विभर्ति मन्त्राय
का समवय ६७२

६५-यावानुव रसस्तावाना मा

६६-रस और पारिभाषिक आज्य

६७-शुक्र और पारिभाषिक पृष्ठ

६८-रसशुक्रामक आयपृष्ठ के द्वारा वस्तु
स्वरूप का उदय

६९-ओषधिभुक्ता तवद्वयी

७ ओषधिशुक्ररूप अग्नि

७१-ओषधिरसरूप आय

७२ आयो ह्य तासारस का ताविक समवय

७३-आपो ह्य तासामामा श्रुति का अथ
समवय

७४-ईश्वरशरीरसस्था के सुप्रसिद्ध पाँच पर्वों
का सस्मरण

७५-पञ्चपर्वा मक विश्व और पञ्चपुरण्डरीरा
प्रजापत्या वशा

७६ पञ्चविध स्वतन्त्र प्रजापति विवर्णा

७७ आदिप्रजापति और आभूप्रजापति का
अभेद

७८ प्रजापति की आत्मा पद पुन पदम् रूप
तीन स्थाएँ

८ वस्तुकेन्द्र और आत्मा

८१-वस्तुपिण्ड और पदम्

८२-वस्तुमण्डल और पुन पदम्

८३-मण्डलानुगत महिमा और विभूति शब्द

८४-पुन पद की आधारभूमि का सस्मरण

८५-अनिरुक्तप्रजापति की सर्वव्याप्ति और
तन्निबन्धन संप्रजापति ६७३

८६-हृदयावच्छिन्न अणोरणीयान् प्रजापति

८७-पुन पदावच्छिन्न महतोमहीयान् प्रजापति

८८-पुन पद और वषट्कार्

८९-ज्ञान क्रिया अर्थ-शक्तिघन-मन प्राण
वाग् घन चिदा मा

९-प्रयत्नपृष्ठ भूतभाव और अथ ६७३

९१-अथ और पदाथ का पारिभाषिक-समवय

९२-निरिन्द्रियभावापन्न जडपदाथ

९३-सेन्द्रियभावापन्न चेतनपदाथ

९४ क्रिया तव की सब याप्ति

९५ नास्ति अस्ति नास्ति भ्रवापन्न क्रियातव

९६-क्रियातव का आधार निष्क्रियतव

९७-अययामक ज्ञानशक्तिघन मन

९८-अक्षरामक क्रियशक्तिघन प्राण

९९-क्षरामिका अथशक्तिघना-वाक

१ मन प्राणवाह मय प्रजापति की अभिव्यक्ति

१ १-अभिव्यक्ति और पदाथ का यत्कीभाव

१ २ प्रात व्यक्ति की प्रजापतिरूपता

१ ३ प्रजापति की साक्षीरूपता

१ ४ अक्षरप्रधान देवता और सृष्टिकम्म

१ ५-देो यश्च जग सवम्

१ ६-सृष्ट्यधिष्ठात्री देवत्रयी

१ ७ ज्ञानप्रधान ब्रह्मतत्त्व

१ ८-क्रियाप्रधान इन्द्रतव

१ ९-अथप्रधान विष्णुतव

१ १ १-क्रिया तथा भूतसङ्घ एव ज्ञानामिका
प्रतिष्ठा

१ १ १-ज्ञानाधारेण प्रतिष्ठित क्रिया और अथतन्त्र ६७४

१ १ २ ब्रह्म नै सवस्य प्रतिष्ठा का समन्वय

१ १ ३-गतितव की इन्द्ररूपता

१ १ ४-बलकृति और ऐन्द्रधर्म

१ १ ५-सदागतधर्मा वायु और इन्द्र

१ १ ६-इन्द्र और वायु की अभिन्नता

१ १ ७-वाह मय कोशामक पाञ्चभौतिक शरीर

१ १ ८-वाकचिति के द्वारा पञ्चमहाभूतों की
स्वरूप निष्पत्ति

१ १ ९-अन्नब्रह्म और वाग्ब्रह्म की अभि ता

१ २-अन और अप्तत्त्व के द्वारा पाञ्च
भौतिक-शरीर का सन्तपण

१२१ अथर्व चिन्तित का समन्वय	६४	१५१-उकारामिका ससङ्गा श दसृष्टि	६७५
१२२-सूय-वद्र अग्नि-वाक्-सस्कार-भेदेन पञ्चवा विभक्त पञ्चज्योतिर्विवत्त का सस्मरण		१५२-मकारामिका ससङ्गा श दसृष्टि	
१२३ पञ्चविध भूतान और आहुतिरूप हविद्र य		१५३-कादयो मावसाना स्पर्शा और मकार की आत्यन्तिकी स्पर्शरूपता	
१२४-हवि और हविर्द्वानरूप अनकोश		१५४-नासिकास्थान का सग्रह और मकार	
१२५ विष्णुदेवता और हविर्द्वान		१५५-आमसृष्टि के त्रिविध महिमामय विवर्ण	६७६
१२६ अनामिका अथशक्ति और विष्णु		१५६-ज्ञानमय मन और तद्रूपा असङ्गा अथसृष्टि	
१२७-एका मूर्ति और त्रयो देवा	६७५	१५७-क्रियामय प्राण और तद्रूपा ससङ्गा सङ्गा अथसृष्टि	
१२८-इद्र और विष्णु की प्रतिस्पर्द्धा		१५८-अर्थमयी वाक और तद्रूपा ससङ्गा अथसृष्टि	
१२९ प्रतिस्पर्द्धा से समुपन वषट्कार		१६ अकार उकार मकार अक्षरत्रयी का साङ्केतिक पारिभाषिक समन्वय	
१३-रहस्यार्थिका मन्त्रश्रुति		१६-ओम् और आमप्रजापति	
१३१-मन्त्रश्रुत्यनुगामिनी ब्राह्मणश्रुति		१६१-अथ और ज्ञान की पङ्क रूपता	
१३२-ब्रह्मा विष्णु द्र की उक्ताति और त्रिविध साहस्रियों का ज म		१६२-सृष्टिकर्तृ व धम्म से अनुगत सक्रिय प्राणतव	
१३३-प्राणमय ब्रह्मा और वेदसाहस्री		१६३ प्राण और उकार	
१३४-आपोमय विष्णु और लोकसाहस्री		१६४-प्राण का प्राधाय और उ अ-अचरूपा वस्तुस्थिति	
१३५ वाड मय इद्र और वाक्साहस्री		१६५-उ अ अच और वाक्	
१३६ वेदसृष्ट्यधिष्ठाता प्राणमय ब्रह्मा		१६६-माहेश्वरी सृष्टि का सस्मरण	
१३७-लोकसृष्ट्यधिष्ठाता आपोमय विष्णु		१६७-उ अ-म् और वम्	
१३८-प्रजासृष्ट्यधिष्ठाता वाड मय इन्द्र		१६८-वम् शङ्कर और वशङ्कर	
१३९ प्राकृतिक त वत्रयी		१६९-वाक्त्व की महिमामण्डल के रूप में परिणति	
१४-पञ्चकलोपेता क्षरप्रकृति		१७-प्राण आप-वाक-नाम की तस्वत्रयी का वीरण	
१४१-साहस्रीत्रयी और वाक की सर्वाव्याप्ति		१७१-वीरणधम्म के माध्यम से वेद-लोक-वाक् साहस्री-त्रयी का महिमामय विस्तार	
१४२ पुरुषवाक का वितान और साहस्री		१७२-ऐन्द्रीवाक की वषट्काररूप में परिणति	६७७
१४३ साहस्री और महिमा		१७३-इद्र और वौषट	
१४४ महिमा, और वषट्कार		१४-अ-उ अ अच् और वौक	
१४५-वाग्वा ऐषो निदानेन यत् साहस्री			
१४६-तस्या एतत् सहेलं वाच प्रजातम्			
१४७ वाग्वा अस्य स्वी महिमा			
१४८-शब्द और अर्थ की अभिन्नता का सस्मरण			
१४९ असङ्ग ससङ्गासङ्ग ससङ्ग रूपेण शब्द सृष्टि के त्रिविध महिमा विवर्ण			
१५ अकारामिका असङ्गा श दसृष्टि			

- १ ५-मन प्राणगर्भिता वाक वीक्
 १७६-वौषटकार वौषट और वषट
 १७७-उक्थरूप मनस्तत्र
 १७८-अकरूप प्राणतन्त्र
 १७९-अशीतिरूप-त्राकत त्र
 १८-प्राण की गतिरूपता
 १८१ एकविधा और द्वितीया विधा
 १८२ प्राण मक गतिरूप और गौ
 १८३ गौत वनित्र धन अभिप्लवस्तोम
 १८४-पृष्ठथस्तोम का सस्मरण

❀ अभिप्लव स्वरूप दिग्दर्शन ❀

- १८५-अभिप्लवन और स मुख प्रवहण ६ ७
 १८६-अभिर्लव श द का निवचना मक
 समवय
 १८-प्राणा मक द्रुत रस और अभिप्लव
 १८८-सप्तावयवा मर्या चिति और स तपुरुष
 पुरुषा मक पुरुष
 १८९-सप्तम य भाग का ऊ वप्रतिष्ठित श्री भाग
 १९ श्री और अमृत
 १९१-च चार आमा का पारिभाषिक सम वय
 १९२ त्रिकास्थिगत स्थिरप्राण और पुच्छ
 प्रतिष्ठा
 १९३-पि पल पत्र और तन्नित्र धना स तचिति
 १९-ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा
 १ ५-शरीरानुगत प्रति ठाप्राण और शरीर
 यष्टि का सतनन
 १९६-दशमी अवस्था और प्रति ठाप्राण का
 शैथिल्य
 १९७-अमृतप्राणानुबधी शिरोभाग ६ ७
 १९८-श्री रस शिर-
 १९९-श्री और अभिप्लव
 २ चयनश्रुति का सस्मरण
 २ १-हमे नै लोका अभिप्लवा
 २-आतिवाहकरूप प्लव

- २ ३-लव और आभप्लव ६ ७
 २ ४-सौर प्राणानुबधी ३६ अभि लव
 २ ५-योतिर्गौरायुपन सूटयनारायण
 २ ६-बृहती म यूदस्तपति
 २ ७-सप्त देवच्छ्रुद और अक्षरपरिगणन
 २ ८ इन्द्रामक सौर बृहतीप्राण
 २ ९-षट्त्रिंशत् बृहतीसहस्र
 २१-आयु सूत्रों का परिगणन
 २११-शतायु पुरुष और बृहतीप्राण
 २१२-महर्षि ताण्ड्य और ऐतरय
 २१३-स सर और श्री रूप अभिप्लव
 २१-बृहती हि सम्बसर
 २१५ श्री वै यशच्छ्रु सा बृहती
 २१६-श्रिया प्रतिष्ठाया तपति
 २१७-भगवान् याज्ञवल्क्य के शब्दों में बृहती
 का स्वरूप समवय
 २१-सौर बाह्य त प्राण का पार्थिवमण्डल के
 साथ सम्बन्ध
 २१९-षट्त्रिंशदक्षरा बृहती ६ ७
 २२ जीवाहा जीवाक्षरम्
 २२१-श्रीरूप अभिप्लव का अधि ठाटा
 २२२-बृहतीविज्ञान का सस्मरण
 २२३ बाह्यतप्राण का सम्बन्ध
 २२४ सौर मनोतात्रयी
 २२५-पार्थिव आभिप्लविकस्तोम और षडह

❀ पृष्ठपस्वरूप-दिग्दर्शन ❀

- २२६-प्राणा मक रस का रश्मिवत् प्रसार और
 अभिप्लवस्तोम
 २२७-प्राणा मक रस का मण्डलवत् प्रसार और
 पृष्ठ्यस्तोम
 २२८ साममण्डलानुगता साहस्री और पृष्ठ्य
 स्तोम
 २२९-एतानि खलु वै सामानि यत् पृष्ठानि

२२ श्रीवै पृ ठानि	६७६	२६ पञ्चपर्वात्मक विश्व की प्राकृतता	६८१
२३१ पृष्ठ्यस्तोम के आधार पर पार्थिव देव ताओ का स्वर्णोक्रमन		२६ -बोडशीप्रजापतिरूप पुरुष	
२३२ वाङ् मय प्राण की गौरूपता	६८	२६ प्रकृतिपञ्चक का आलम्बन पुरुष	
२३३-३ अशामिका राशि		२६३-अमृत-मृत यु निव धन षड्विध शुक्रविवत्	
२३४-राशिरूप अहगण		२६४-पुरुष और प्रकृति का सम वय एव त मूलक प्रजासग	
२३५ एकसहस्र गौत व और ३३ अहगण		२६५ अमृत ब्रह्म शुक्र त्रयी	
२३६ १ गौसमष्टि और प्रजापति		२६६ पुरुष प्रकृति विकृति त्रयी	
२३ -चतुर्विंश प्रजापति		२६७-शुक्रदृष्टि और प्रजापति की विश्वरूपता	
२३८ पिण्डहृदयस्था अहगणत्रयी		२६८-ब्रह्मदृष्टि ओर प्रजापति का विश्वकतु व	
२३९ हृद्याक्षरत्रयी और अहगणत्रयी		२६९-अमृतदृष्टि ओर प्रजापति का विश्वा लम्बन व	
२४ -त्रिवृत् पञ्चदशादि स्तोमो की स्वरूप नि पत्ति		२७ मन प्राण वाङ्मय पुरुष की विश्वा लम्बनता	
२४१-महिमामण्डल की प्रतिष्ठा और सप्तदश अहगण	६८	२७१-सृष्टिसाक्षी पुरुष	
२४२ सप्तदशो वै प्रजापति		२७२-वाङ् मय आपोमय प्राणवाङ् मय मन प्राण वाङ् मय-व्यवहारों की विभिन्नता का ताविक-स्वरूप सम वय	
२४३ अनिरुक्तप्रजापति		२७३-अमृता मा की पूर्णविकासमि चित्तिधर्मा विच्छन्न सूय्य	
२४४-सुप्रजापति		२७४-सौरचित्तमलक चिदा मव्यवहार	
२४५-उद्गीथप्रजापति		२७५-सूर्य आ मा जगतस्तस्थुषश्च	
२४६-उच्च गीश्च थच और उद्गीथ		२७६ नन जना सू र्येण प्रसूता	
२४ पृष्ठ्यस्तोम की षड्हरूपता		२७७-वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता	
२४८ स्तोमसमष्टिरूप वषटकार		२७८ अथो वोगवेद सव म्	
२४९ वषटकारस्वरूपेतिवृत्तविराम		२७९ षड्विध शुक्रों का विश्ववर्षों में क्रमिक विभाजन	
२५ -वषटकारानुगत स्तोमों का युग्म और अयुग्म-स्वरूप		२८ -वाकतव की वेदाग्निरूपता	
२५१-पार्थिवपिण्ड स विनितग शुक्रत व		२८१-सत्याग्निरूप सावयाजुषाग्नि	६८२
२५२ वाक आप अग्नि रूपा शुक्रत्रयी		२८२-प्राणाग्निरूप-ब्रह्माग्नि	
२५३-व दामक वाकशुक्र	६८१	२८३ अपतत्त्व और ऋताग्नि	
२५४-सोमात्मक आप शुक्र		२८ -ऋताग्नि की मुब्रह्माग्निरूपता	
२५५ भूपिण्डानुगत अग्निपृष्ठ		२८५-देवाग्नि का सस्मरण	
२५६ भूपिण्डानुगत सोमपृष्ठ		२-६ म य वाकतव और भतानि	
२५७-भूपिण्डानुगत वेदपृष्ठ			
२५८-सुप्रसिद्ध पाँच पुर और विश्व			
२५९ पाचो पुरों का दहरोत्तरसम्बन्ध			

- २८ अमृत-मय शुक्रषणक के विभाजक सूय्य-
नारायण ६८३
- २८८- निवशय नमृत म यञ्च
- २८९ आमा पियड देवता प्रकृति विकृति
भूत भेदनिबन्धन विश्वपर्वों के नाम
भेद
- २९ अभिलव पृष्ठ णाक शुक्र ब्रह्म आदि
श दों के विभि नाथों से अनुप्राणित
विरोधाभास
- २९१ तालिका के मा यम से विभिन्न नाम
यवहार समन्वय
- २९२-दहरोत्तरानुगत विश्वपव
- २९३-स्वयं म का प्राणमय व
- २९४ परमेष्ठी का प्राणमय व और आपोमय व
- २९५ सूय्य का प्राण आप वाड मय व
- २९६ चन्द्रमा का प्राण आप वाक अ नमय व
- २९७-भूपियड का प्राण आप वाक अ न
अनादमय व ६८४
- २९८-शुक्रापेक्षया स्वयम्भू का वाड मय व
- २९९-परमेष्ठी का वाक् आपोमय व
- ३ -सूय्य का वाक अग्निमय व
- ३ १-अग्नि अप वाक् पृष्ठ त्रयी का स्वरूप
समन्वय
- ३ २-यज्ञपृष्ठ ब्रह्मपृष्ठ पारावतपृष्ठ त्रयी
- ३ ३-अमृतानि शुक्राणि त्रीणि
- ३ ४-म यानि शुक्राणि त्रीणि
- ३ ५-सर्वा तभूता पृथिवी
- ३ ६-द्यावापृथिव्य इयैत नौघस
- ३ ७-अग्निरहत्यानुगता विज्ञ या त वत्रयी
- ३ ८-आवपन अनाद अन्न त्रयी
- ३ ९-एकत आधारभूमि और आयतन
- ३ १ -सर्वत आधारभूमि और आवपन
- ३ ११-तद्ब्रह्मायतन महत्
- ३ १२-मनो वा आयतनम् ६८५

- ३१३-आधार और आयतन ६८५
- ३१४-वसुधानकोश और आवपन
- ३१५-उरयापृथिवी और आवपन
- ३१६-अय वै लोक आवपन महत्
- ३१७-आवपना मक ल ब्रह्म
- ३१८ अनादब्रह्म की स्वरूपमीमासा
- ३१९-सुरय आमा और अनाद
२ -अ नादाग्नि के तीन विवत्त
- ३२१ ल ब्रह्म और आवपन ब्रह्म
- ३२२ क ब्रह्म और अ नादब्रह्म
- ३२३-२ ब्रह्म और अ नब्रह्म
- ३२४-समष्टि और शब्रह्म
- ३२५-समष्टि और सवम्
- ३२६ आकाश और शुन द्र ६८६
- ३२७ द्रप्राण और आकाश
- ३२८ शुन हुवम ग्धवानमि द्रम्
- ३२९ सारयानुगता भ्राति
- ३३ -तत्त्वचतुष्टयी का दिग्दर्शन
- ३३१ आकाशत वानुगता महती भ्राति
- ३३२-भारतीय पञ्चतत्त्ववाद
- ३३३-भारूप आकाशा मा
- ३३४-वाकत्व की आकाशरूपता ६८६
- ३३४-अवूर्प अ न से उभयत परिग्रहीत
अग्नि त व
- ३३५-अग्नित्रयी और पारमेष्ठ्याय
- ३३६-परिलेख के द्वारा परमाकाश अ नब्रह्म
अ नादब्रह्म अ नब्रह्म पुराणाकाश पञ्चक
का समन्वय
- ३३७-हृदय और चाद्र मन
- ३३८-वाक् प्राण चक्षु रूपा अग्नित्रयी
- ३३९-अध्याम और अधिदैवत का सम
समतुलन
- ३४ परिलेख के द्वारा अध्याम का समन्वय ६८७
- ३४१-मानवानुगता द्यावापृथिवी

३४२-भू और पृथिवी	६८
३४३-मय भूपिण्ड एव अमृता पृथिवी	
३४-पार्थिव स्तौ यत्रलोक्य और महिमा प्रथिवी	
३४५ तिष्ठो वा इमा पृथिवी का ताविक समवय	
३४६-यज्ञस्वरूप सम वय	
३४ पारमैष्ठ्य सोम की आहुति और यज्ञ	
३४८-अग्निपृष्ठा मक यज्ञपृष्ठ	
३६-यन्मण्डल में प्रतिष्ठित यज्ञियत्वता	
३५-मनोर्देवा यज्ञियास	
३५१-२२ पयन्त व्या त यज्ञानि	
३५२-अग्निवितानामक रथ तरसाम	
३५३ एकविंशो व स्तर्गो लोका	
३५४-स्वरहर्देवा सृष्य	
३५५-असौ वा आदि यो एष रथ	
३५६-असौ वा आद यो देवमनु	
३५७-रस सत रथ याचक्षे	
३५८ अनिरसत्रयी और रथ तरसाम	
३५९-अग्नि की रसावस्थ और श्रुति	
३६-अग्नि की रसरूपता	
३६१ वायु की रसतरूपता	
३६२-आदि य की रसतरूपता और रथ तर साम	
३६३-लोहितपृष्ठा मक अग्निपृष्ठ	
३६४-सप्तवर्णामक पृष्ठाभाव	
३६५-द्वितीय अपपृष्ठ और अणवसमुद्र	६८८
३६६-सागराम्बरा पृथिवी	
३६७-अपत वानुगत गौत व	
३६८-स ह्येष सोमोऽजस्रो यद्गौ	
३६९ वि सुदेवतामय गौतव और मन्त्र श्रुति	
३७ विराजो वा एतद्गुण यद्गौ	
३७१-विराट और आगेमय पार्थिव साम का वैरूप व	

३७२-यद्ग रथ तर तद्ग रूपम्	६८९
३७३-तृतीय वाकपृष्ठा मक षोडश	
३७४-समाप्ति भाव और शकवरी	
३७५-त छकवरीणा शकवरी वम्	
३७६-लोहित रथ तरसाम	
३७७-कृष्णारूपसाम	
३७८-शुक्ल शाकवरसाम	
३९-मय शुक्रत्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन	
३८-अग्निस्तर का स्वरूप परिचय	
३९-कृष्णस्तरा मक आप स्तर	
३९२-भस्मा मक वाक्स्तर	
३८३ वाक्स्तरामक विभूतिस्तर	
३८४-प्रतिवस्तु में शुक्ला स्तरत्रयी	
३८५-भूपिण्ड और भूमहिमा	
३८६-भूमिमा और मही	
३८७ पार्थिवसस्था-स्वरूप दिग्दर्शन	
३८८ सौरमण्डलानुगत सावित्राग्नि	
३८९ सौर आप पृष्ठ	
३९-सौर वाक पृष्ठ	
३९१-स्व योतिर्मय पदार्थों की स्वरूपपरिभाषा	
३९२-स्वाती नीलकण्ठ पशुपति चित्रा आदि की सूर्यरूपता	६९
३९३ पर योतिर्मय पदार्थों की स्वरूपपरिभाषा	
३९४-चन्द्रमा और परज्योति	
३९५ रूप योतिर्मयी पृथिवी	
३९६-स्व योतिर्मय सूर्य और तन्निबन्धन बृहत्साम	
३९७ चांद्र राजनसाम	
३९८-यद्भ्रस्व तद्दरथन्तर यद्दीर्घ-तद्बृहत्	
३९९ विष्वद्बृहत् और बृहत्साम	
४ बृहतीछन्द और बृहत्साम	
४१ पृथिवी का परिभ्रमण और सूर्य का उदयास्तमन	

४२ सूच्यानुगत स्थिरधम्म एव तन्निबधन श्रौत स्मात्त-वचन	६६१
४३ बृहतीछ दोऽनुगत सूय्य	
४४ सौर बृहत्साम और बृहद्भाव	
४५-सौर-बृहत्साम की महती य प्ति	६६२
४ सौराग्निसामा मक-बृहत्साम	
४७ सौर आप सामा मक रौराजसाम	
४८ सौर वाक् सामा मक रैवत्साम	
४९ <u>दृष्टि स्थिति-सृष्टि मूला सृष्टिविद्या</u>	
४१ सौरसंस्था और तन्निबधन शुक्रषटक	
४११ सौर सामत्रयी	
४१२ पार्थिवसामत्रयी और सौर सामत्रयी का पारस्परिक अतिमानसम्बध	६६३
४१३ ध्रुव इत्थतर तद्रौरूपम्	
४१४ यद्बृहत् तद्वैराजम्	
४१५ यद्दरथतर तच्छाक्वरम्	
४१६ यद्बृहत् तद्रवतम्	
४१७ रौरूप और बृहत् का अतिमान	
४१८ रौराज और रौरूप का अतिमान	
४१९ शाक्वर और रैवत का अतिमान	
४२ अतिमान सम्बध और ऐतेरयश्रुति	
४२१ परिलेख के मा यम से सामातिमान का स्वरूप स्पष्टीकरण ६६४ ६५ ६६	
४२२-स्तोमानुगत युग्म और अयुग्मभाव	६६७
४२३ युग्मस्तोम और अयुग्मस्तोमों का पार भाषिक अन्तरसंयानिबधन स्वरूप सम वय	
४२४-छन्दोमास्तोम का सस्मरण	
४२५-अस्तोमा वा एते यच्छन्दोमा	
४२६-रैवत्साम और परमेष्ठी	
४२७ परमेष्ठी और रेवती आप	
४२८ आप और रेवती	
४२९-रेवती आप और जागत् ओपधियाँ	
४३ पारमेष्ठ्यलोक की पितृलोकता	

४३१-दवताओं का प्रथम ओषधिसोम	६६७
४३२ पारमेष्ठ्यलो की पितृलोकता	
४३३-ओषधिलोको रै पितर	
४३४ पारावतपृष्ठ और जगतीछ द	
४३५-ओषधि और जगती	
४३६-सरेवतीजगतीभि	
४३७-यज्ञोदक सस्मरण	
४३८ दैवामा और स्वर्गावाप्ति	
४३९ ऋक यजु साम त वत्रयी से मम्पन्न यज्ञियदैवामा का स्तोमानुबधी पारिभा षिक-स्वरूप	६६८
४४ मानुषामा में प्रतिष्ठित दैवामा	
४४१-त्रिणाचिकेतस्वर्गप्रापक दैवामा	
४४२-क्षीणे पुण्ये मयलोके वसति	
४४३ यजा मा का मूलोपादान द्रय पुरोडाश	
४४४ पिष्टद्रय का दैवामप्रजनन ध	
४४५-अपूत वानुबधी जाया धारा आप त व त्रयी	
<u>४४६ वैकारिकी सृष्टि और अपूत व</u>	
४४७-अपू एव ससर्जादी	
४४८ अपूतस्व के द्वारा स्वयम्भू की अण्डरूप में परिणति	
४४९-अपूत व के जायाधम्म का दिग्दशन	
४५ - आप धम्म का	
४५१- धारा धम्म का	
४५२ अपूत व की स्वरूपता का समवय	
४५३-अपूत व के स्वरूपधर्मों का विश्लेषक गोपथब्राह्मण	
४५४ प्रजनन भावप्रार्थ्य पुरोडाश में आप का सम्मिश्रण	
४५५ एव रै तत् सयौति	
४५६-वस्तुस्वरूपससाधक आज्य और पृष्ठ	
४५७ आमामा और पुर	
४५८ प्रथमज अनस्थाभाव	

- ४५६-द्वितीयज अस्थिमद्भाव
 ४६ अनस्थाभाव और आ य
 ४६ -अस्थिमद्भाव और पृ ठ
 ४६२-अद्र भावात्मक आव्यद्रय
 ४६४ एवमु हेष आ मा यज्ञस्य स चीयते
 ४६५ पृथिवीलोक और दधिस्थान
 ४६६-अतरिक्षलोक और घृतस्थान
 ४६७-द्यु लोक और मनुस्थान
 ४६८-तेजो व घृतम्
 ४६९-वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि की घृतरूपता
 ४७ -वरुण से प्रतिमूर्च्छित इद्र की तैलरूपता
 ४७१-आ यप्राणा मरु वरुणदेवता
 ४७२-अग्निस्वरूप का दमन और घृत की अभिव्यक्ति
 ४ ३-घृतात्मक-वृष्टिजल और त सम्बन्ध में म वश्रु ति
 ४७४-वृष्टिजल की घृतरूपता
 ४७५-घृतरूपा आपोमयी वृष्टि और लोककिंव दती
 ४७६-वर्षा और तज्जनित ऊर्कूरस
 ४७७-यावद्विा तावदा मा
 ४७८ वृष्टि ऊर्कूरस और तत्सम्बन्ध में ब्राह्मण श्र ति
 ४७९-आ तरिन्द्र्य घृतानुगता ऊष्मा और वृष्टि
 ४८ -पुनरुद्भासयति ऊर्जे वा
 ४८१ राजा वाज-ग्रह हवि रूपा सोमचतुष्टयी
 ४८२-राजासोम और राजसूय
 ४८३-वाजसोम और वाजपेय
 ४८४-ग्रहसोम और ग्रहयाम
 ४८५ हवि सोम और हवियार्ग
 ४७६-ब्रह्मौदन एव प्रवाम्यं भेदमिन्न यज्ञ
 ४८ -धम्मोऽसीति यज्ञमेवैतत् करोति

- ६६६ ४८८ हविद्र य का कुटन पेषण और प्राण वियोगार्गमका हिंसा
 ४८९-पुरोडाश की निर्जावता
 ४९ -जीव व देवाना हिरिमृतममृतानाम्
 ४९१ पुरोडाश में जीवनसत्ता का आधान
 ४९२-भूमाभाव से अनुप्राणित अन्नरस
 ४९३-ओषधि अन्न का सीमाभाव
 ४९४-पुरोडाशद्रय का आयन्तिक सीमाभाव
 ४९५ अ नरस की अपता में परिणति
 ४९६ पुरोडाश में प्रथम के द्वारा भूमाभाव का सस्थापन
 ४९७-उरु ते यज्ञपति प्रथताम्
 ४९ -भूमाभावानुगत सीमाव धन
 ४९९ नि सीम भूमाभाव और मृत्यु
 ५ -विश्ववातीत भूमाभाव
 ५ १-विश्वानुगता अपेक्षिता भूमा
 ५ २-अनृतसाह्य मनुष्य के अनृतभावापन्न सकप
 ५ ३-मानुषी-बुद्धि का दम्भ और शास्त्रा देशों की उपेक्षा
 ५ ४-मानव की अस्मिता और तद्द्वारा तद्धिनाश
 ५ ५-स यसहित आप्तपुरुष और तद्वचनेषु प्रामाण्यबुद्धि
 ५ ६ शास्त्रीय आदेश और गीतावचन
 ५ ७ प्रकृतस्थल और शास्त्रीय आदेश
 ५०८-स्तौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त विराटपुरुष
 ५ ९-अदितिपृथिवी का सम्मरण
 ५१ -सौर-पार्थिव प्राण-समष्टि और अश्वपशु
 ५११-अश्वमूर्त्ति विराटपुरुष
 ५१२-त्रैलोक्यकामपूरक विराटपुरुष
 ५१३-त्रिपादूर्ध्व उदै पुरुष -रूप विराट्

७ १

७ २

५१४-मानवीय कामनाओं की इयत्ता और
अश्वशफामक परिमाण ७ २
५१५-अश्वशफमात्रा और पुरोडाश का प्रथन
५१६-अश्वशफमात्रा के स ब्रध में भगवान्
याज्ञवल्क्य के द्वारा नीरक्षीरविवेक

५१७-आमानुकूल प्रथनकम्म ७ ३
५१८-प्रथनकम्म और भूमाभाव की प्राप्ति
५१९-यावन्तमेव स्वय मनसा न सत्रा पृथु
मन्येत एव कुर्यात्

इदि-प्रथमकारण्डे-द्वितीयाध्याये-द्वितीय ब्राह्मणम्
इति-प्रथमप्रपाठके-षष्ठ-ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठकश्चात्रोपरत
इति--पिष्टेनोदकमिश्रितेन--पुरोडाशसम्पादनम्

११



श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हि दी-प्रथमकाराडे
द्वितीयाध्याये-तृतीय ब्राह्मणम्
(द्वितीय-प्रपाठकश्चोपक्रान्त)

२

द्वितीय-प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

“पात्रीनिर्णोजनम्-पुरोडाशमीमासया-समन्वितम्”

नामक

क्रमप्राप्त १२ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
विषयस्मारकसूची
(पृष्ठ सं० ७०४ से ७६७)

१-प्रथमकाराडान्तर्गत-द्वितीया यायानुगत तृतीयब्राह्मण तथा द्वितीय प्रपाठकानुगत प्रथमब्राह्मण मूल)	७ ४	११-मेघार्थ पशु का आलम्बन	७ ६
२ मूलब्राह्मण का अन्तरार्थसमन्वया मक अनुवाद	७ ५	१२ आल भनविज्ञान की स्वरूपदिशा	
३ विज्ञानभाष्योपक्रम	७ ८	१३-आप्त्या-दक्षिणा-आलम्बन-भेद भिन्ना विज्ञानत्रयी और प्रकृतब्राह्मण	
४-पात्रीनिर्णोजनक म और पुरोडाश		१४-चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्र अग्निरास इ यादि अनुगमश्च ति का सस्मरण	
५-पात्रीनिर्णोजनक मूर्तिकत्त व्यता		१५-नियताथप्रतिपादक निगमवचन	
६-अ वय्यु कृत निनयनकर्म		१६-अन्वर्थार्थप्रतिपादक-अनुगमवचन	
७ यजमानकृत प्रतिनिनयनक र्म		१७-चतुर्विध अग्निदेव का सस्मरण	
८-ओदनपरिपाकानुगत अपणाग्नि (दक्षि णाग्नि)		१८-पुरुषाग्नि प्रकृत्याग्नि विराडग्नि सम्ब सराग्नि भेदेन चतुर्द्धा विभक्त अग्नि	७१
९-यज्ञससाधिका पशुसम्पत्ति		१९-ब्रह्माग्नि सुब्रह्माग्नि शुक्राग्नि भूताग्नि भेदेन चतुर्द्धा विभक्त अग्नि	
१ पशु के मेघभाग की यज्ञियता			

- २ आहूतानि उद्ध ताग्नि प्रहृताग्नि
विहृताग्नि भेदेन चतुर्धा विभक्त अग्नि ७१
२१-अधिलोक-अधिदैव अधियज्ञ अधियाशिक
दृग् भेद से चतुमस्थानानुगत अग्नि ७११
२२-अग्निचतुष्टयी से सम्पन्न पूविवी अन्तरिक्ष
द्यौ आप -नामकी लोकचतुष्टयी
२३-अधिलोकानुगता अग्नि स पत्ति ७१२
२४-अधिदैवानुगता अग्नि सम्पत्ति
२५-अधियज्ञानुगता आग्नि सम्पत्ति
६-अधियाशिकदैवानुगता अग्नि सम्पत्ति
२७-शुक्राग्नि का प्राकृत सस्मरण ७१३
२८-रसाग्नि का सस्मरण
२९ आत्त वाग्नि का
२९-छन्दस्याग्नि का
३ -सावित्राग्नि का

रसाग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

१

- ३१-दधि घृत-मधु रसत्रया मक-स्तौम्यत्रलोक्ये
व्यापक प्रथमाग्निरूप रसतम रसाग्नि ७१३
३२-रसाग्नि निबधना गायत्रसम्पत्ति
३३-गायत्री के द्वारा सोमापहरण
३४-रसाग्निरूप हव्यवाडग्नि
३५-मानवीय वचन का समवय
३६ शेषे वनेषु मातृषु इत्यादि मन्त्र का
स मरण
३७ प्राणदेवताओं का सत्रध विधाता
रसाग्नि
२९-अग्नि दूत वृणीमहे
६-उभयऽपत्तदग्निर्देवाता होता च दूतश्च
४ -स य का वैज्ञानिक लक्षण
४ -स यलक्षणानुगत स याग्नि
४२- अग्ने नय सुपथा राये का सस्मरण
* * *

आर्त्तवाग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

२

- ४३-उत्तरदिगनुगत अग्नि का आर्त्तव ७१४
४४-ओषधि वनस्पति परिपाक-कार्त्त आर्त्त
वाग्नि
४५-आर्त्तवाग्नि और अरण्याग्नि
४६-ऋतधर्मा आत्त वाग्नि
४७-ऋत का स्वरूपलक्षण
४८ ऋताग्नि और ऋतसोम
४९-अग्नि सोम का उद्ग्राभ निग्राम
५ -ऋतुमती और प्रजोपत्ति
५१ ऋताग्नि सोम के द्वारा षडऋतु का स्वरूप
विर्भाव
५२-ऋतुदेवताओं का सस्मरण
५३-ऋतु की अवस्थात्रयी और सवनत्रयी
५४-पञ्चत और पञ्चप्रयाज
५ आत्त वाग्नि का स्वरूपेतिवृत्त

* * *

छन्दस्याग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

३

- ५६ वस्तुस्वरूपसमपक-आयतन ७१४
५७-आयतनरूप वयोनाध
५८-अन्ना मक वय और वयोनाध
५९-वयोनाध और छन्द
६ -छन्दोऽग्निरूप वाग्नि
६१-वाग्परिमाण छन्द
६२-अग्नेर्वागिवोपनिषत्
६३-मा प्रमा-प्रतिमा अस्तीवि नामकी छन्द
श्चतुष्टयी
६४-पार्थिव गायत्रीछन्द
६५ आन्तरिक्ष्य त्रिष्टुप् छन्द
६६-दिय जगतीछन्द
६७-गायत्रीछन्दस्क आदिय

- ६८ त्रि टुपल्लु दस्क वायु
 ६ जगतील्लु दस्क आदिय
 ७ -आपोमय आ त्यादेवता
 ७१-देवप्रतिष्ठा रूपा ल्लु दश्चतुष्टयी
 ७२-अश्वो न देववाहन और ल्लु दस्याग्नि का स्वरूप विराम

७१

* * *

सावित्राग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

४

- ७३-सौर प्राणाग्निरूप सावित्राग्नि
 ७४ सूयके द्रावद्ध सयतव
 ७५-सौरदेवताओं के द्वारा सावित्राग्नि की आराधना
 ७६ अग्निरूप रसानि
 ७७-वायुरूप आत वाग्नि
 ७८-आयतनरूप ल्लु दस्याग्नि
 ७९-रसानिरूप भूपति अग्नि
 ८ -आ वाग्नि प भुवनपति अग्नि
 ८१ ल्लु दस्यार् नरूप भूतनापति अग्नि
 ८२-सुप्रसिद्ध अग्निभ्रातर
 ८३-शुक्राग्नि चतुष्टयी
 ८४-एह ति रूप प्रथम अग्नि
 ८५-प्रयाजरूप द्वितीय अग्नि
 ८६-अनुयाजरूप तृतीय अग्नि
 ८७ सावित्राग्निरूप चतुर्थ अग्नि
 ८ - चतुर्धा विहितो ह वा अग्न अग्निरास का समवय
 ८८ पार्थिव अग्नि का अथ की ओर गमन एव मन्त्रश्रुति
 ९ -सावित्राग्नि का भूपथ की ओर आगमन
 ९१-सौर सावित्राग्नि का स यथ र्म
 ९२-भूपेण से प्र याहत सावित्राग्नि
 ९३-सावित्राग्नि का अङ्गिरोऽग्नि से सम्परिवृत्त

७५

७१६

- ९४-सहचरभावानुगत अङ्गिरोऽग्नि का ह य वाहन व
 ९५-सौर प्रतिफलित सावित्राग्नि की आदियाग्निरूपता
 ९६ अङ्गिरा और आदिय का स्वगगमन
 ९७ अङ्गिरा और आदिय की स्पर्द्धा
 ९८ सावित्राग्निरूप आदियाग्नि का स्पर्द्धा में प्रिजय
 ९९ स्पर्द्धारिहस्य प्रतिपादक कतिपय श्रुति वचनो का सम्मरण
 १ आदियाग्निरूप सम्भ सराग्नि का एक विशरूप स्वगमें गमन
 १ १-आदियाग्नि में अङ्गिरा का सम वय
 १ २ अङ्गिराके द्वारा आदियाग्नि में हविद्रव्य का समपण
 १ ३ तान् अङ्गिरसो याजयाञ्चक्रु
 ४ दवमण्डल में हवि प्रापक एकमात्र दि य आदियाग्नि
 १ ५ अश्याग्निरूप सावित्राग्नि
 १ ६-अश्व और त स्वरूपस पादिका त वत्रयी
 १ ७ ह यवाट रूप सावित्राग्नि
 १ ८ सम्भ सराग्नि में आहुति
 १ ९ अङ्गिरोऽग्नि और सम्भ सराग्नि का सम्परिवृत्त
 ११ पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि की ह यबाद्धरूपता
 १११-आहुति सम्भ धी कतिपय प्रश्न और त समाधाता आ याविज्ञान
 ११२-आहु तग्राहक दिव्याग्नि
 ११३-आहुतिप्रापक की दिव्यभावापन्नता
 ११४-देवता का देवता के साथ ही सम्भ ध
 ११५ दि याग्निमधाता अग्नाधानकम्म
 ११६ अधिकारसमर्पक अग्नाधानक र्म
 ११७-दु णोक्ताभिमुख अङ्गिरोऽग्नि की आदि व्यता और विजातीयता

७१६

७१७

७१८

११८ होतृप्रवरणक म में अनुपयुक्त पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि	७१८	१४४ प्रतिष्ठारक्षण और कम्पन	२
११९ ऋतभावापन्न आतरिद्व्य अग्नि		१४५-सावित्राग्नि के विभिन्न दो स्वरूप	
१२-ऋतानि की होतृपद से वियुक्ति		१४६-गमनानुगत सावित्राग्नि की अग्नि- प्रधानता	
१२१-सीमाभावनिबन्धन तृतीय छन्दस्याग्नि और होतृकम्म में तदनधिकार		१४७-आगमनानुगत सावित्राग्नि की इन्द्र- प्रधानता	
१२२-चतुर्विध अग्नियों का द्युलोक की ओर गमन		१८-अग्निगर्भा पृथिवी	
१२३ सम्बसराग्नि के सम्बन्ध से वञ्चिता अग्नित्रयी		१४९ इन्द्रगर्भिणी द्यौ	
१२४ प्रतिफलित सौर सावित्राग्नि		१५ सावित्राग्नि से अनुप्राणित में य अश्व	
१२५ उभयाग्नि का स्वर्ग की ओर गमन		१५१-अतियज्ञा मक अश्वमेध	
१२६ वय पूजम् वय पूवम् रूपा प्रतिस्पद्धा	१९	१५२-अग्नि और इन्द्र का आतरिद्व्य अणव समुद्र में सहस्रम जय	
१२७ आ नत्रयी का आ मसमपणा मक मरण		१५-अग्निप्रधान पार्थिवदेवता	
१२८ आपोमय सगुद्र में अग्नित्रयी का विलयन		१५४- इन्द्रप्रधान द्यु देवता	
१२९ स यभूपिण्ड का ऋतधर्मा आप से परिरोधन		१५५-अग्नि सर्वादेवता	
१३ उक्तात अङ्गिरोऽग्नि वाय य ऋताग्नि एव छन्दस्याग्नि का पार्थिव अणव समुद्र में विलयन		१५६ इन्द्र सर्वादेवता	
१३१-सावित्राग्नि और पारमे ठय समुद्र	७१९	१५७-अग्नित्रयी का आययरूप मरण	
१३२-चतुर्विध अग्नियों का ऊ वगमन		१५८ सौरदेवताओं के द्वारा अग्नि का अन्वेषण	
१३३ म यभावापन्ना अग्नित्रयी		१५९-बलकृतिधर्मा इन्द्र	
१३४ अमृतभावापन्न दियग्नि		१६ सहोरूप ऐन्द्रबल	
१३५-दियग्नि और अमृतभाव		१६१ ऐन्द्रबलानुगत पलायित अग्नि का पुनरा गमन	
१३६-स भीषा निलिन्धे		१६२ वियुक्त का पुन सग्रह और सामाजिक अनुबन्ध	७२
१३७ सोऽप प्रावशात्		१३३ अनुविद्य का पारिभाषिक सम्बन्ध	
१३८-प्रतिफलित आदियाग्नि का प्राणदपानत् यापार के द्वारा द्युलोक की ओर गमन	७२	१६४ आहुतिकम्म के द्वारा देवसम्बन्ध	
१३९-आदियाग्नि की वीचिरूप में परिणति		१६५ होतृप्रवरणकम्म का रहस्याथ	
१४ आदियाग्नि की आत्त वसमुद्र में यागित		१६६ प्रकृतियज्ञ में अग्नि का होतृवेन वरण	
१४१-वीचि-औ कम्पन		१६७-मानवयज्ञ और अग्निमूर्ति मानवहोता	
१४२ स भीषा निलिन्धे		१६८ दियग्निमय दियग्नेवताओं का सम्बन्ध	
१४३ किञ्चिच्चलना मक भय		१६९ अन्नपरिपाककर्ता पार्थिव अग्नि	
		१७ वरणकम्म में अनुपयुक्त अग्नि	
		१७१-आन्तरिद्व्य वायव्याग्नि और विद्युत्	
		१७२-ओजबल का सञ्चार और वायु यागिन	

१७३-नक्षत्रमङ्ग का वास्तविकस्वरूप	७२१	२ ३-अग्नि स ब्रह्म से वञ्चित शेष पानियों की दोषपूर्णाता	७२३
१७४-नक्षरति और नक्षत्रभाव		२ ४-अग्नि का निष्ठीवन और दूषित पानी	
१७५-मरुत् और रुद्रत व		२ ५-अप्सु भवा आ या	
१७६-समीरण और वात		२ ६-देवैरा-ता ति आ या	
१७७-स्पशधर्मा भौतिक वायु		७-ऐका यभाव और आप्त्या	
१७८-क्षतिपूरक मषज्ययज्ञ		२ ८-त्रिम य सोरदिव्यप्राण	
१७९-वात आवात भेषजम्		२ ९-त्रि वानुगत देवका र्यं	
१८०-वातवायु का जनक मरुद्वायु		७२२	
१८१-मरुद्वायु की सात अवस्थाएँ		२१-आ मसृष्टि, और मनोमय अ यय	
१८२-एकोनपञ्चाशत् [४९] मरुद्गण		२११-देवसृष्टि और प्राणमय अक्षर	
१८३-मरुतो रुद्रपुत्रास		२१२-भूतसृष्टि और ऋमय क्षर	
१८४-आकाशसञ्चरणशील विविध दिगनुगत वायव्यप्रवाह		२१३-आम देवता भूत त्रयी	
१८५-वाय-यसघष और नक्षत्रमङ्ग		२१४-अ यय अक्षर क्षर त्रयी	
१८६-तारा मङ्ग का स्वरूप दिग्दर्शन		२१५-पञ्चपर्वा विरव	
१८७-धिष्ण्या सञ्चरण का		२१६-प्रजापान की आ-मक्षि	
१८८-उल्मुकपात का		२१७-यक्षरस्वरूप सम वय	
१८९-वज्रप्रहार का		२१८-अ तर्थाामी का सस्मरण	
१९०-वाय-यभूकम्प की स्वरूपदिशा		२१९-त्रि स यदेवता	
१९१-मघानक्षत्रानुगत आकाशमण्डल और तारामङ्ग		२२-त्रि स या वै देवा	
१९२-वाय याग्नि के विभिन्न का र्यों का सस्मरण		२२१-परिलेख के द्वारा त्रिस य का सम वय	७२४
१९३-वयोनाथमात्रानुगत ह्युदस्याग्नि		२२२-देवप्राण के त्रिविध महिमा विवत्	
१९४-छन्द की आकारमात्रता		२२३-त्रित व की सयवितानस्था और देवता	
१९५-छन्दस्याग्नि का होतृवरणक म से पलायन		२२४-त्रि स याग्नि ओर आप्त्याग्नि	
१९६-शेषभूत सौर अग्नि और हौत्रकर्म		२२५-आप्त्याग्नि के तीन रूप	
१९७-सहोवल के द्वारा तद वेषण एव तद्द्वारा यज्ञस्वरूप की ससिद्धि	७ ३	२२६-अग्नि से अनुगत एकता आ या	
१९८-प्रतिफलित सौर अग्नि का अरुप में प्रवेश		२२७-वायु से अनुगत द्विता आ-या	
१९९-सौम्य अक्षरस की प्रति ठा		२२८-आदि य से अनुगत त्रिता आप्त्या	
२-अक्षरस के द्वारा अग्नि का प्रज्वलन अ-न का अभाव और तृण का आक्रमण		२२९-देवतात्रयी का एकत्व	
२ २-अ या मोदाहरण के द्वारा स्थिति का पष्टीकरण		२३-एक आप्त्या के तीन महिमा-विवत्	
		२३१-सम्ब सरानुगता सवनत्रयी	
		२३२-अग्निप्रसुखवसूनां एकता आप्त्या	
		२३३-वायुप्रसुखरुद्राणा द्विता आ या	
		२३४-ह द्रप्रसुखादि यनां त्रिता आप्त्या	
		२३५-ह द्रदेवता का ज्येष्ठ व और अष्टत्त्व	
		२३६-त्रिता आ या देवता का प्रधान व	

✓ २३ इन्द्रसहचारी त्रिता आप्त्या	७२४	✓ २६३-क्षत्रबलोपेत इन्द्र एतद् ब्रह्मबलोपेत	
२३८ त्रिता आप्त्या की बलवत्ता	७२५	आप्त्याग्नि	७२६
२३९ त्रिता आप्त्या के द्वारा विश्वरूप वाङ्मय		२६४ इत् प्रदानाह्य ते उपजीवति	
२४ आप्त्याग्न्यनुगता अवस्थाद्वयी		२६५ ज्ञानशक्तियुक्त ब्रह्म (ब्राह्मण) और	२७
✓ २४१ इन्द्रसहचारी शुद्ध आप्त्या		आप्त्याग्नि	
२४२-वरुणमहचारी मलिन आप्त्या		✓ २६६ क्रियाशाक्तियुक्त क्षत्र (क्षत्रिय) और	
२३-अनभुक्ता रस-मला द्वयी		दियेन्द्र	
२४४ वारुणअपतव का मलप्रतिष्ठाव		२६७ ज्ञान और क्रिया का सम्बन्ध	
२५ आपानप्राण का आघात और स्वेदविनिगमन		२६८-ज्ञानजन्या भवेदिच्छा	
२४६ हवि युक्त आप्त्याग्नि से परियुक्त कफ लाला मूत्रादि मलीमस पदार्थ और तत्समवित वारुण मलीमस आप्त्या		२६९-इच्छाजन्य क्रतुभवत् (इच्छाजन या कृतिभवत्)	
२४७-सौर आपोमय अग्नि की आप्त्या रूपता		२७ -क्रतुजन्य भवे कर्म (कृतिजन्य भवे कर्म)	
२५८ दिव्य आप्त्या का स्वर्गगमन		२१-तदेत क्रतुमुच्यते	
२४९-आप्त्या का बलपूर्वक आकषण		२७२ क्रतु और कर्म की स्वरूप परिभाषा	
२५ -वो मामकाम नयति का समवय		२७४-स एव क्रतु	
✓ २५१ ऐन्द्रबलप्रयोगानुगत आप्त्या		२७५-हृत्सु ह्यय क्रतुमनोजव प्रविष्ट	
२५२-रसयुक्त देवानुगामी आप्त्या		✓ २७६-क्षत्रेन्द्र और ब्रह्म आप्त्या का सहसमवय और तद्द्वारा वृत्रवध	
२५३ मलयुक्त वरुणानुगामी आप्त्या		२७ -ब्राह्मणपुरोहित और क्षत्रियराज्य	
२५४-अवस्थात्रयी से अनुप्राणिता आप्त्या त्रयी		२७८-ब्रह्म-क्षत्र-स्वरूप विश्लेषिका शातपथी श्रुति	
२५५-प्राकृतिक नित्य प्राणदेवताओं में ब्राह्मण वर्ण	७२६	✓ २७९ आप्त्या का इन्द्र के साथ विचरण	७२८
२५६-अग्नि की ब्राह्मणवर्णता एतत् समथक और वचन		२८ -अपाप्रणयनकर्म का सम्पन्न	
२५७-ब्राह्मणवर्ण का वास्तविक स्वरूप		२८१-मानवीय वचन और अप का प्राथम्य	
२५८ एष हि देवभ्यो ह्य भरति		२८२ अद्भिर्वा इदं सवमाप्तम्	
२५९-ब्राह्मणमूर्ति भारत नामक अग्निदेवता और भारत अभिधा		२८३ अपा अपवम् और गोपथश्रुति	
२६ -भरतनामक आप्त्याग्नि का इन्द्रसहचारिव		२८४-ब्रह्मगर्भित सुब्रह्म और तत्समवय के द्वारा सगप्रवृत्ति	
✓ २६१ प्राकृतिक प्राणदेवताओं में क्षत्रियवर्ण		२८५-आकारभाव और वष्टादेवता	
मक इन्द्रदेवता		२८६-त्वष्टाप्राण के द्वारा शुक्र की विविधाकार में परिणति	
✓ २६२-इन्द्रप्राणकृततामा मानव का क्षत्रियव		२८७-त्वष्टा वै रेत सित्त विकिरोति	
		२८८-त्वष्टा रूपाणि पिंशतु	

- २८६-त्वष्ट्र प्राण की विश्वरूप में परिणति
 २९ आ यप्राणरूपा असुरता और वाष्प विश्वरूप
 २९१ आ तरिद्य मलयुक्त आयाप्राण का असुरत्व
 २९२-उभयविध आप्त्या का स्मरण
 २९३ अवमूर्ति वाष्प विश्वरूप का आसुर ब्राह्मणत्व
 २९४ देवदेवताओं का द्वेषी आसुरब्राह्मण
 २९५ प्रकाशाधिष्ठाता सौरदेवता
 २९६-प्रकाशविरोधी अपत ३
 २९७ वाष्पअसर का देवदेवताओं पर अजस्र आक्रमण
 २९८ सोमरूप हविद्रय की आहुति और तद्बलोपेन देवताओं के द्वारा असुर पामव
 २९९- व ज्योतिषा वि तमो ववथ
 ३ शश्वद्ध त्रित एव नवान
 ३ १ वधकारणभूत हवित्रल
 ३ २- वाष्पवध का मुख्य प्रव कि
 ३ ३-वदिकदृष्टि और जडदृष्टि का अपलाप
 ३ ४ सर्वव्यापक अव्ययरूप चिदश
 ३ ५ व्यापक चैत यवाद का समवय
 ३ ६-हिंसा मक यज्ञकम्म
 ३ ७ हिंसादोष से इद्र की अतिमुक्ति
 ३ ८-आप्त्या का आपोमय ससङ्गभाव
 ३ ९-सङ्गभावामक आया का हिंसादोष से सम्परिष्वङ्ग
 ३१ श्रद्धारसामक आ यादेवता
 ३११-श्रद्धा वा आप और आपोमय आ या
 ३१२ मे या वा आप और आप्त्या
 ३१३-विश्वरूप वाष्पवध के निमित्त आप्त्या देवता
 ३१४-हिंसाकम्मनिर्गत धम्मशास्त्रीय निर्णय
 ३१५-मन्तकत्रया मक वाष्प विश्वरूप

७२८

७२९

७३

- ३१६-अपत व की सवजगदव्यापकता ७३
 ३१७ विश्व के उपादानकारणों का पारिभाषिक स्मरण
 ३१८-विश्वोपादानमत वाष्प और तन्निवचना वाक आप अग्निमयी शुक्रत्रयी
 ३१९ वाचीमा विश्वा भुवना र्पिता
 ३२ -वाटकौशिकी विश्वप्रजा
 ३२१-मन प्राणवाह मयी सम्भति और असम्भति
 ३२२-वाष्प की त्रिशीषता का दिग्दर्शन
 ३२३-आपोमय पारमे ठथ शुक्रत व
 ३ ४-शुक्रामक महान् और उसकी त्रय स्थानत्रयी
 ३२५ चिदा मयोनिरूप महान्
 ३२६-आ य वाय य सौम्य जीवाधिष्ठाता त्रिशीष भावापन्न महान्
 ३२७ पाथिव आकृतिभाव और महान्
 ३२८ चाद्र प्रकृतिभाव और महान्
 ३२९-सौर अहम् कृतिभाव और महान्
 ३३ -त्रिशीषता का अनुगमा मक समवय
 ३३१-सत्र-रज-स्तमोगुणावित महान्, और त्रिशीष व ७३१
 ३३२-त्रिशीषाण वाष्प का पारिभाषिक समवय
 ३३३-वाष्प विश्वरूप नवान का समन्वय
 ३३४-वरुणप्रधान आप्त्यात व
 ३३५ हिंसादोष की अवर्थता और आप्त्या
 ३३६-दूषित भाग का आप्त्या में अर्पण
 ३३७ आ या और हिंसाजनित दोष
 ३३८-मलभाग और आ तरिद्य आप्त्या
 ३३९-आ यादेवताओं के लिए निनयनकम्म
 ३४ हविद्रय के द्वारा दोषनिराकरण
 ३४१-असुरमध में समथ देवदेवता और हविद्रय
 ३४२-अपतवनों के आ मा का यज्ञ में समावेश
 ३४३-यज्ञफलस्वाधिकाराथ दक्षिणा का विधान

३४४ दक्षिणाद्रय की यज्ञानुव धनी उपयोगिता	३१	३६८ अग्नि त वानुगत वागिन्द्रिय	७३३
३४५-हवि स पादानुगत हिंसाकम्म एव तन्निवत्त क दक्षिणाद्रय		३६९-वायुत वानुगत प्राणो द्रय	
३४६- दक्षिणादान के १२ यज्ञदोषनिवृत्ति	३२	३७०-आदि यत वानुगत चक्षुरिन्द्रिय	
३४७-आ योपारयान की अ यामाधिभताधि दत्त भावत्रयी का समवय		३७१ भृगु की विरलावस्थारूप सोमत व	
३४८-अधिदैवतमण्डलानुगत आप्त्याविज्ञान का स्वरूप विराम		३७२-सोमत व की अवस्थाद्वयी	
* आध्यात्मिक-आप्त्याविज्ञान *		३७३-मास्वरसोमा मक इ द्रसोम	
३४९-तेज अप अन्न का त्रिवृत्करण		३७४-दिकमोमा मक ब्रह्मणस्पतिसोम	
३५०-आमप्रपञ्च एव भूतप्रपञ्च का त्रित बो में अतर्भाव		३७५-दिकसोमानुगत ओत्रेन्द्रिय	
३५१-षोडशकल चिदा मा का सस्मरण		३७६-मास्वरसोमानुगत इन्द्रियमन	
३५२-पारमेष्ठ्य महानामा रूप योनिर्भाव		३७७-षोडशी आ मा-ऋषि पितर-गर्घा असुर पञ्च द्रिय शरीरानुगत तरल द्रय आदि का अपत व में अन्तर्भाव	
३५३ त्रिविधा जीवसृष्टि और महान		३७८-यामक वात्तु भयस् वात्	
३५४-नवतीनवविध (९९) असुर		३७९-सूत्रानुगत शारीरिक भा य का निदशन	
३५५-सप्तविंशति (२७) ग र्घा		३८०-ौरत य की तेजोरूपता	
३५६-अष्टविध (८) पितर		३८१-विज्ञानामा तत्सहकृत त्रयस्त्रिंशद्देव दवताओं का तेजस्त व में अतर्भाव	
३५७-त्रयीविद्या के साथ अप में प्राण		३८२-विज्ञानबुद्धि का अधिष्ठाता तेज पदाथ	
३५८-यजुम्म र्ति त्रयीब्रह्म		३८३-तृतीया अन्नकला का दिग्दशन	
३५९-द्वादशसख्या में विभक्त ऋषिप्राणो का अप्त व में अतर्भाव		३८४-शरीरानुगत स्थूलधातु प्रज्ञानमन आदि का अन्नकला में अतर्भाव	
३६०-तेज कला और अन्नकला का अप्त व में अतर्भाव		३८५-वाह्म्य तेजस्त व	
३६१-अद्भ्य पृथिवी		३८६-मनोमय अन्नत व	
३६२-त स मिप्सु प्रतिष्ठितम्		३८७-प्राणमय अप्त व	
३६३-महानामा की महत्ता का पारिभाषिक समवय		३८८-मन प्राणवाह मय आमा का सस्मरण	
३६४-विश्वप्रजापति की गभरूपता और तद् योनिरूप महान् की महत्ता		३८९-आपोमय शरीर	
३६५-शारीरिक द्र त धातुओं का अपत व में अतर्भाव		३९०-प्राणाग्नि का शरीरपुर में सतत जागरण	
३६६-शरीरा यत्न प्राण का अप्त व में अतर्भाव		३९१-आ यामिकी गुहात्रयी	
३६७-अङ्गिरा की अवस्थान्वयी	७३३	३९२-अग्निमयी त्रिवृता पृथिवी और बस्तिगुहा	
		३९३-पार्थिवाग्नि और अपान	
		३९४-वायुमय पञ्चदश अतरिक्ष और उदरगुहा	
		३९५-आतरिक्ष्याग्नि और यान	
		३९६-एकविंश आदि य और उरोगुहा	
		३९७-द्रप्राण का अधि ठात् व	

- ३६८-अपान और एकता आ या
 ३६९-व्यान और द्विता-आप्या
 ४ प्राण और त्रिता आप्या
 ४ १ विश्वरूप राष्ट्र की आपोमयता का सम्मरण
 ४ २-मैथुनीसृष्टि और आपोमय व
 ४ ३ विश्व धनविमोक्त और त्रिता आप्या
 ४ ४ आ यास्मिन्मय प्रज्ञानमन और आ या
 मिक आप्यादेवता का सम वय
 ४ ५ मानव की यज्ञिया और अयज्ञिया प्रवृत्ति
 ४ ६-विज्ञानानुगति व और यज्ञिया प्रवृत्ति
 ४ ७-श्रे ठतम यज्ञकर्म
 ४ ८-यज्ञाथकर्म की अन्न धनता
 ४ ९ सौरइन्द्रमय विज्ञान (बुद्धि)
 ४ १०-पार्थिवद्र मय प्रज्ञान (मन)
 ४ ११ प्रज्ञामक सोम प्राणा मक इद्र
 ४ २ इद्रप्राण की असङ्गता
 ४ १३-सोम की ससङ्गता
 ४ १४-पृथिवी और प्रज्ञान का साक्षिध
 ४ १५ सूर्य और विज्ञान का विदूर व
 ४ १६-मनोमूलक अयज्ञियकर्म
 ४ १७-प्रज्ञामूला आसक्ति और प्रज्ञापराध
 ४ १८ प्रज्ञापराधमूलक अयज्ञियक म
 ४ १९ यज्ञकर्म के द्वारा ज्ञानाग्नि का प्रज्वलन
 ४ २ -ज्ञानाग्नि के द्वारा असुर परभाव
 ४ २१-प्रज्ञानके द्वारा ही आसुरभाव का विनाश
 ४ २२-मन एव मनु याणा कारण व धमोक्षयो
 ४ २३-अधनमूलक प्रज्ञाभाग
 ४ २४ मोक्षमलक प्राणभाग
 ४ २५-प्रज्ञानरूप आ या देवता के द्वारा
 असुर परभाव
 ४ २६-माषासिक काम विज्ञेप, और आबरण
 ४ २७ आध्यात्मिक-आप्याचरित्र का उपराम

* * *

- ३४ * -अधिभूतसम्बन्धी आप्याविज्ञान
 एतिसासिक आप्यादेवता—
 ४ २८ भौमस्वगनिवासी भौमदेवता ७३६
 ४ २९-भोम ब्रह्मा के द्वारा अत्रैव अधिदैवतवत्
 यवस्था
 ४ ३० इद्र के प्रतिनिधि शवसोनपात्
 ४ ३१-भूलोका मक भारत के अधिष्ठाता अग्नि
 ४ ३२-मनुष्यविध अग्निदेव और पार्थिवप्रजा
 का तद्द्वारा भरण पोषण
 ४ ३३- वष्टा के पुत्र त्रिशूष षडक्ष विश्वरूप का
 भारत पर आक्रमण
 ४ ३४-भारताग्निरूप आ या के सहयोग से
 भौमदेवेद्र के द्वारा राष्ट्र का परामव
 ४ ३५-आप्याविज्ञान का उपराम
 इति-आप्याविज्ञानमुपरतम्
 * * * *
 * अथ पश्वालम्भनविज्ञानम् *
 (पृष्ठस० ७३६ से ७४७)
 ४ ३६-पशुसम्पत्ति से समवित यज्ञकर्म ७३६
 ४ ३७-दर्शपूर्णमासेष्टि में अपेक्षित पशु
 ४ ३८-विज्ञानदृष्टि की विलुप्ति एव विद्वानों का
 शुष्कवाक्कलह
 ४ ३९-सनातन उम्माविलम्बी आर्यसमाजी-सथा
 सम्प्रदायवादी विद्वान् और इनका
 अभिलक्षणा ७३७
 ४ ४ -आरा य वैदिकसाहित्य एव तदुपस्था से
 राष्ट्रीयसंघठनो ह्येदक कलह
 ४ ४१-वैदिकत-वस्वाध्याय का अभाव और
 विविध विसवाद्
 ४ ४२-शास्त्रसिद्ध भी विषयों में अभिनिवेश
 कलक-कुर्तकैवाद
 ४ ४३-पश्वालम्भन और तत्सम्बन्धी विज्ञानो
 पक्रम

- ४४४-मानवसग और पशुसग का समतुलन ७३
- ४४५-चेतनभावानुगत मानव और पशु
- ४४६-पशुवध की अमानवता
- ४४७ मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि मूला अहिंसाबुद्धि
- ४४८ अभ्युपगमवादा मक पशुवध ७३८
- ४४९-पशुहिंसा की प्रवृत्ति के विरोध का अनधिकार
- ४५०-श्राद्ध यज्ञाद और पशुवध
- ४५१ पशुवध का अभिनिवश और तद्द्वारा अहिंसाधर्म का विरोध
- ४५२-हे वाभासों के द्वारा पशुवध का समर्थन एव तत्रिस्सारव
- ४५३-मानवता एव शास्त्रदृष्ट्या उभय ॥ पशुवध का विरोध
- ४५४-पशुवधसमर्थक वचनों की प्रक्षिप्तता
- ४५५-पशुवधसमर्थन के सम्बन्ध में श्राज के निर्णायकों का आपातरमणीय नियम
- ४५६-चार वाक और चार्वाक
- ४५७-शास्त्र का उदात्त सिद्धान्त
- ४५८-उदात्त सिद्धांत का अपवाद
- ४५९-मा हिंस्यात् रूप अहिंसावाद के अपवादक्षेत्र
- ४६०-हेतुता अवसर प्रसङ्ग उपोद्घात का क्य निर्वाहकैक्य-मूला मीमासा शास्त्रस मता षोडा सङ्गति
- ४६१-हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में ७३९
- ४६२-हिंसा अहिंसा की लौकिक स्वरूप मीमासा
- ४६३-हिंसाजनित प्रयवाय एय अहिंसानुगत अभ्युदय
- ४६४ पापकारणमूला हिंसा
- ४६५-पुण्यकारणमूला अहिंसा
- ४६६ हिंसा के द्वारा आमपतून
- ४६७-अहिंसा के द्वारा आमोथान
- ४६८-सवसामान्य की मान्यता का विषय
- ४६९-हिंसा के द्वारा पुण्यप्राप्ति ७३९
- ४७०-अहिंसा के द्वारा पापावाप्ति
- ४७१-विचित्र विसवाद और हिंसा अहिंसा
- ४७२-शब्दप्रमाण के द्वारा ही पाप पुण्य का सम्भावित नियम
- ४७३-हिंसा और अहिंसा से अनुगत पाप पुण्य-कर्मों का एकमात्र निर्णायक शब्दात्मक शास्त्र
- ४७४-कत्तव्य और अकत्तव्य का एकमात्र निर्णायक शास्त्रादेश
- ४७५-हरिवशपुराणोक्त भीष्म का श्रद्धामक आख्यान एव भी म की शास्त्रनिष्ठा ७४
- ४७६-शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन एव श्रीकुमारिल भट्ट का गिरिशिखा से पतन
- ४७७-शास्त्रैकशरणा की अनुगति
- ४७८ वृद्धव्यवहारमूलक लौकिक शब्दप्रमाण और तत्रिबधन लौकिक व्यवहार
- ४७९-नान्य पथा विद्यते-अयनाय
- ४८०-भगवान् यास के द्वारा शास्त्रीय हिंसा अहिंसा भाव के सम्बन्ध में शब्दात्मक निर्णय
- ४८१-अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्
- ४८२-यज्ञकर्मानुगता पशुहिंसा
- ४८३-हिंसाभावापन्न अध्वरक म
- ४८४-विधिवचन का अपवाद
- ४८५-अग्निषोमीय पशुमालोमत
- ४८६-याज्ञवल्क्यस्मृति और धर्म का स्वरूप लक्षण
- ४८७-स्मात्त धर्मलक्षण का सस्मरण ७४१
- ४८८-धम्ममूलमिद स्मृतम्
- ४८९-स्वस्य च प्रियमामन से अनुगता वत्तमानयुगानुगता महती आर्ति का निराकरण
- ४९०-अन्तरामा की कृत्रिमैच्छा तथा वास्तविकैच्छा का पाथक्य

- ४९१-अनृतसहित पशुधर्मा मानवों की सह
जेच्छा और मानवीय बचन का सम्मरण ४४१
- ४९२ मास मद्यादि की सहज प्रवृत्ति
- ४९३- निवृत्तिस्तु महाफला का सम वय
- ४९४-प्रज्ञानमन और विज्ञानबुद्धि की स्पष्टता
- ४९५ ऋतधर्मानुगत सौ यमन सयधर्मा
नुगत आग्नेयीबुद्धि
- ४९६-विचाली ऋतभाव
- ४९७-अविचाली सभाव
- ४९८-ऋत और सामान्ये सामायाभाव
- ४९९-ऋत की अमृतरूपता का सम वय
- ५ -प्राणमनोमूर्ति अतएव अप्राण अमन
अव्ययामा
- ५ १-मन का उदानभूत चान्द्रसोम
- ५ २-अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य
- ५ -अनृतसहिता व मनुष्या
- ५ ४-ऋता मक अनृत असय मन और तत्र
सौरस य विज्ञान का समागेश ७४२
- ५ ५-सौरतव की सयरूपता
- ५ ६-सौरतव का विज्ञानमय व
- ५ ७-चित्र देवानामुदगात्
- ५ ८-स याग्निमय सूर्यनाराण
- ५ ९-स यसहिता १ देवा
- ५१ -मनोमूर्ति प्रज्ञाना मा और बाह्या मा
- ५११-बुद्धिमय विज्ञाना मा और अतरा मा
- ५१२-क्षेत्रज्ञात्मा का सम्मरण
- ५१३-शास्त्रस्वाध्यायादि से अनुगत विज्ञानबल
- ५१४ सिद्धावस्थापन्न प्रज्ञानमन
- ५१५-साध्यभावानुगता विज्ञानबुद्धि
- ५१६-ऋतप्रधान मन का निम्नगामिव
- ५१७-विज्ञानशासन से पृथग्भृत ऋत मन
का अस यपथानुवर्ति व
- ५१८-ऋतमूलक अनृतभाव और आमपतन
- ५ ९ विज्ञानसारथि और प्रग्रहमन

- ५२ -शरीररज का उ पथगमन ७४२
- ५२१-मनोऽनुगता दया कारुण्य आदि अनृत
मन के सहज अनृतधर्म
- ५२२-विज्ञान की निबलता और प्रज्ञान का
प्राबय
- ५२३-मनोविजय और मानव की अस कर्मों
म प्रवृत्ति
- ५२४-स्वस्थदशा की बुभुक्षा और विज्ञान
सहृता मानसेच्छा
- ५२५-मन की कृत्रिमे छा का निदर्शन
- ५२६ कत्त याकत्त यविवेकशालिनी बुद्धि
- ५२७-हृतात् निर्णय और मन का स्वातन्त्र्य
- ५२८-अजुन का क्षात्रधर्म और युद्धप्रवृत्ति
- ५२९- न योस्ये का सम्मरण
- ५३ -बुद्धियोगाश्रय और युद्धारम्भ
- ५३१-विजय भूति श्री श्री अवाप्ति और हिंसा मक
युद्धकर्म
- ५३२ दया का दयनीय स्वरूप
- ५३३-सम्यक-सकल्प का स्वरूप-निदर्शन
- ५३४-सम्यकसकल्पज काम और बुद्धियोग
- ५३५-(क) स्वस्य च प्रियमामन का
वशानिकस्वरूप सम वय
- ५३५(ख)-मानसिक स्वातन्त्र्य की अनथपरम्परा ७४३
- ५३६ स्वस्य का वास्तविक अभिप्राय
- ५३७-मनभाया और स्वस्य च
- ५३८-शास्त्रीयवचन और मन का स्वातन्त्र्य
- ५३९-ऐहलोकिक-दृष्टिकोण
- ५४ -जीवधारीवग और मनुष्य
- ५४१-मानवसमाज की स्वस्थता और विश्वशान्ति
- ५४२-शरीरचिक सा और प्राणी बध
- ५४३-वर्मान चिकित्सापद्धति और
पशुप्राणोत्पीडनानुगत इच्छेक्षन
- ५४४-वैज्ञानिकी हिंसा की अहिंसारूपता

५४५-मानवमजाज की रक्षा और तत्सम्मता आजकी प्रचण्डा हिंसा ७४३	५७२ मासाशन का प्राकृतिक व ७४५
५४६-यज्ञियपशुहिंसानुगत आक्षेप की आ यतिकी निरथकता	५७३- न मासमशनीयात्
५४७-मांस और अप्राकृतिक भोजनाभिनिवश	५७४- पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या
५४८-उदरपूर्तिससाधिका ओषधि वनस्पतिया	५७५ तैत्तिरीयवचन का सस्मरण
५४९-माष और मास की मात्रा	५७६-विश्ववचनानुगति से अनथ का उद्भव
५५०-शरीरानुगत असृक मांसादि धातुओं के लिए अपेक्षित असृक मासादि	५७७ विशेषविधि का अनुगमन
५५१-ओषधि-वनस्पतियों में शुक्त असृक मासादि मात्राएँ ७४४	५७८-प्रकृतिचिद्धा मासाशनप्रवृत्ति का निरोध किन्तु यज्ञकर्म्मणि पशुप्राशन का विधान
५५२-सुवण ताम्र रजत लोहादि धातुद्रव्यों का मानवीय अन्न व	५७९ - न मासमशनीयात् का सस्मरण
५५३-मासान्न की प्राकृतिकता का समथन	५८०-कलिवय पशुप्राशसनादि
५५४ पशुशरीर और रक्तमय विदमान पिण्ड की मासात्मिका प्राप्ति का निराकरण	५८१ - कलिवय का रहस्य
५५५-विशेषप्राणामक मासत व	५८२-जनमेजयात्-जनमेजयान्तम्-यज्ञ की प्रक्रान्ति
५५६ - पुरीष और मांस	५८३-पञ्चपश्वामक चितियज्ञ और पश्वालम्भन के सम्बन्ध में भगवान् याज्ञवल्क्य
५५७-मस्य और पुरीषप्राण	५८४ यज्ञविद्या की विलुप्ति
५५८ मास मस्य भेद का कारण	५८५-वत्त मानयुगानुगता उपासना
५५९-मास मच्छी व्यवहार	५८६-वत्त मान युग और यज्ञकर्म्म का उपहास
५६०-पुरीषामक मासप्राण और माष (उद)	५८७-यज्ञकर्म्म के प्रति महती विडम्बना
५६१-मांसभक्षण की प्राकृतिकता	५८८-युगमाहात्म्यवित् ऋषि ७४६
५६२-मासाशी का मास निषिद्ध	५८९-कलियुग और पशुवपावञ्चित स्मात्त यज्ञ
५६३-एतद्दु परमन्नाद्य य मासम्	५९०-श्रौत वितानयज्ञ में अनिवाध्यरूपेण अपेक्षिता पशुवपा और पश्वाल मन
५६४-अन्नसु पशोर्मासम्	५९१-यज्ञिय पशुवध और हिंसादोष
५६५-मासाशन की यावहारिकता	५९२-सम्पूर्ण कर्म्मों का दोष सस्पृष्टत्व
५६६-मासाशन करने वाले प्रात और मास की परमन्नाद्यता का सम वय	५९३-धूमेनाग्निरिवावृता
५६७- प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् और मासाशन	५९४-धर्माधम्म हिंसा अहिंसा आदि का अतीन्द्रिय व
५६८ पशुमासभक्षण के निरोधस्थल	५९५-पुराणपुरुषवचनसस्मरण
५६९-पुरीषामक मससि बुद्धि का व्याघात	५९६-श्रीशङ्करभगव पाद और सूत्रभा य
५७० मास पारि याग की श्रय करता	५९७-यज्ञानुगत पश्वाल मन ७४७
५७१-मासग्रहण का अनौचित्य ७४५	

५६७-पश्वालात्मनस व धी प्राकृतिक नि यज्ञ
का सस्मरण और पश्वालात्मन
विज्ञानोपराम ७४७

* * * *

५६८-रासायनिक सम्मिश्रण से अनुगता विशेष
प्रक्रिया और यज्ञ

५६९-प्रकृति पुरुष सम वया मक प्रथम यज्ञ

६ -तत्तु सम वयात्

६ १-समन्वया मक यज्ञेश्वरप्रजापति

६ २-अग्निप्रधान षोडशकल पुरुषप्रजापति

६ ३-सोमप्रधाना पञ्चकलोपेता प्रकृति

६ ४-प्रजो पति और समचितरूप

६ ५-योषावृषा मक दाम्पय और प्रजासग

६ ६-रयिप्राणा मक मिथुनभाव और दाम्पय

६ ७-विश्वसृष्टि का अविष्टाता पाड क्तयज्ञ

६ ८-द्यावापृथिव्य पाड क्तयज्ञ का सस्मरण

६ ९-पृथिवी का अतिष्ठावा देवता

६ १ -द्य लोक का अतिष्ठावा देवता

६ १ १-अति ठावा मक अधि ठाता प्रजापति

६ १ २-उभयलोक के प्रजापति

६ १ ३-रौद्रीविश्व के स्रष्टा प्रजापति

६ १ ४-यज्ञ के द्वारा प्रजापति का विश्व सन

६ १ ५-प्रवर्ण्यमक विश्वस्त भाग से पदार्थों का
स्वरूप नि र्माण

६ १ ६-विश्व सनप्रक्रिया का नैरन्तय्य

६ १ ७-विश्व सनमलक पारस्परिक आदानविसग

६ १ ८-आदान विसर्गा मक अज्ञानादभाव

६ १ ९ नि यज्ञनिरूपिका श्रुकश्रुति

६ २ -विश्वस्त भाग की अ स्वरूपता

६ २ १ विश्वस्त के पूरक भाग नी सोमरूपता

६ २ २-अ नौ सोमाहुति और यज्ञ

६ २ ३-आहुत सोम की ऊक रूप में परिणति

६ २ ४-अन्नत ऊक की श्रमि यज्ञे

६ २ ५-उक्त प्राणामिव्यक्ति

६ २ ६-प्राणत अज्ञाकषण

७ ४ ८

६ २ ७ अन्नोक् प्राणत्रयी का अ योऽन्यपरिग्रह
और यज्ञस्वरूपसंसिद्धि

६ २ ८-प्राणाग्नि की वागरूपता

६ २ ९ वाक के द्वारा प्राण का पोषण

६ ३ प्राण के द्वारा मन का पोषण

६ ३ १ भुक्तान की प्राणाग्नि में आहुति

६ ३ २ व गग्नि पर अन्न की चिति

६ ३ ३-रस-मल के क्रमिक विशकलन से वाक्
चिति के द्वारा मन का पोषण

६ ३ ४-अन्नचिति और मन

६ ३ ५ सोमचिति और चित्त

६ ३ ६ अन्नमय हि सौम्य मन

६ ३ ७-वाक् और चित्त का चित्क्रम

६ ३ ८ वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञ

६ ३ ९ पदार्थों का अग्नि सोम मयव

४ यज्ञस्वरूप संसिद्धि के द्वारभूत अग्नि
और सोम

६ १ आहुत सोम की विविध जातियाँ

६ ४ २-सोमभेदेन अग्नि यज्ञ के विभिन्न प्रकार

६ ४ ३ त्रीहि-यवादि-रूप ओषधिसोम और
हवियज्ञ

६ ४ ४-अग्निहोत्र दशपूर्णमास-चातुर्मास्य
इष्टियों का हवियज्ञव

६ ४ -पशुवयासोमा मक पशुबन्धयज्ञ

६ ४ ६ पशुवपा और पश्वालात्मन

६ ४ ७-राजासोम और राजसूययज्ञ

६ ४ ८ वाजसोम और वाजपेययज्ञ

६ ४ ९ पञ्चपशु और अहसोमा मक चयनयज्ञ

६ ५ ०-चयनयज्ञ का सर्वोत्कृष्टत्व

७ ४ ९

६ ५ १ नामृतस्य द्य आशान्ति श्रुते

चयनात्

६ ५ २-द्यावापृथिव्य-पञ्चविधपशु

७ ४ ९

६५३-आवापुत्रिय रसो से पशुओं के स्वरूप की अभिव्यक्ति ७४८

५४-सवश्र ठ एव सवप्रधान पुरुषपशु

❀ [१] पुरुषपशु ❀

✓६५५-अग्नि वायु इन्द्र रूपा प्राणाग्नित्रयी ७४९

६५६-प्राणाग्नित्रयी और वैश्वानर

६५७-वैश्वानरत व और पुरुषपशु

६५८-पुरि शेते-त्स्मात् पुरुष

६५९-वैश्वानरपुरुष के त्रैलोक्य व्यापक स्वरूप के सम्बन्ध में श्रौत सन्दर्भ

६६-वैश्वानरपशु का अग्निप्रदान व अतएव वृषामूर्त्ति व

६६१-वैश्वानर मक प्राणपुरुष से समवित प्राणी मानवपुरुष

६६२-प्राकृतिक पुरुषपशु की प्रतिकृति और पुरुषपशु (मानव)

६६३-विराट की सन्निहित प्रतिकृति मानव नामक पुरुषपशु

६६४-अग्निमय पुरुष और अथशक्ति

६६५-(क) वायुमय पुरुष और क्रियाशक्ति

६६५-(ख) आदि यमय पुरुष और ज्ञानशक्ति

६६५-(ग) पुरुषो नै प्रजोपतेर्नेदिष्ठम्

६६५-(घ) पुरुषसुक्तानुगत पुरुषपशु

६६५-(ङ) त्रिवृत्स्थानीय अग्नि और प्रथमा साहस्री ७५

६६५-(च) पञ्चदशस्थानीय वायु और द्वितीय साहस्री

६६५-(छ) एकविंशस्थानीय आदिय और तृतीया साहस्री

६६६-अग्नेयी साहस्री और वैश्वानरपुरुष

६६७-वायव्या साहस्री और हिरण्यगर्भपुरुष

६६८-आदित्या साहस्री और सवजपुरुष

६६९-दशकला विराटपुरुष

६७-ईश्वरप्रजापतिरूप विराटपुरुष

६७१-वैश्वानर तैजस प्राज्ञमूर्त्ति पुरुष पशु ७५

६७२-पुरुषपशुसमथक श्रौतवचन

इति पुरुषपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

१

*

❀ [२] अश्वपशु ❀

६७३-आपोमय सौर तेज और अश्वपशु ७५

६७४-भूपिण्डानुगत सौर सावित्रतेज

६७५-अणवसमुद्र में सक्लिष्ट प्रतिफलित सौर तेज और अश्वपशु

६६ अप्त-वाभिमानी वरुणदेवता

६७ अश्व का वारुणपशुत्व

६७८-वारुण वे सति अश्व का सौम्यपशुत्व

६७९-शुद्धवारुणपशु और महिष

✓६८ इन्द्र और वरुण का परस्पर विरोध

६८१-अश्वमाह्वय-न्याय

६८२-आ तरिच्यअप्त वरुण अश्वामा

६८३-प्रतिष्ठया वञ्चित अश्वपशु

६८४-अश्वपशु का विकम्पन

६८५-सूर्यरश्मिमण्डल और केन्द्र

६८६-केन्द्रबिंदुरूप अक्ष (धुरा)

६८७-पार्थिव अक्ष का दिग्दर्शन

६८८-पार्थिव अक्ष और भूपिण्ड का स्वाक्षपरिभ्रमण

६८९-स्वाक्षपरिभ्रमणमूला दैनन्दिनगति

६९-सूर्यबिम्बस्थ माठर-कपिलादि का परि वत्तन और सूर्य का अक्षपरिभ्रमण

६९१-सौरक्षत्ररुद्र का एकाकी भाव

६९२-सौर अनन्त विट् रुद्र

६९३-क्षत्ररुद्र और विट् रुद्र-सम्पत्ति एतं यज्ञं श्रुति

६९४-सूर्याक्ष के विद्य सनं से उत्पन्न अपत व

६९५-सौर अपत व का मरीचिस्व

- ६६६-रुद्राग्नि के अश्रु रूप मरीचिपानी ७५
 ६६७-सौर तेजोगर्भित अश्रु भाग से अश्वपशु
 की स्वरूप निष्पत्ति
 ६६८-वषा हेड ईमडे
 ६६९-सौर तेज की रुद्रनिबन्धना प्रखरता
 ७ -सौर अश्वपशु का वीर्यवत्तम व
 ७ १ अगगर्भित रौद्र और विद्युत् ७५१
 ७ २-आपोमयी विद्युत्
 ७ ३-यदेतदा विद्योतते विद्युत्
 ७ ४ विद्युत् और इन्द्र
 ७ ५-सौरी इन्द्रविद्युत् का प्रतिमान अश्वपशु
 ७ ६-आपोमय अश्वपशु की भूपिण्ड से सूय्य
 पय्यत व्याप्त
 ७ ७ उषाकाल और अश्वोपक्रमि दु
 ७ ८ वृषाकपायी और उपसहारत्रिन्दु
 ७ ९ उषारूप अश्व का मस्तकस्थान
 ७ १ -अश्वपरिज्ञाना मक वेदज्ञान
 ७ १ १-वाजरूप सूय्य का वेदघनत्वं
 ७ १ २-प्राणामक पशु से नि पन्न प्राणी अश्व
 पशु
 ७ १ ३ अश्वपशुसमथक औतवचन

इति अश्वपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

२

—*—

❀ [३] गोपशु ❀

- ७१४-गोत व का प्रभवस्थान आपोमय परमेष्ठी ७५१
 ७१५ विकासस्थान सूय्य
 ७१६-याप्तिस्थान त्रैलोक्य
 ७१७-भूतप्रतिष्ठा मक गोत व
 ७१८-सोममयी गौ और सोमलोक
 ७१९ सोमवशी पारमेष्ठ्य विष्णु
 ७२ -गौपशु का तृतीय व ७५२

- ७२१ आपोमय परमेष्ठी और गोपशु ७५२
 ७२२ विकासस्थाना मक सूय्य
 ७२३-सोमलोकामक परमेष्ठी
 ७२४-विष्णु और सोम
 २५-प्रजापति के प्राणभाग से गोत व की प्रसूति ७५३
 ७२६-गोत वा मभूत सौ यपाण
 ७२ गोत वशरीरभूत अग्नि
 ७२८-अमृत की नाभि आ नेयी गो
 ७२९-सहस्रधा विभक्त गौत व
 ३ -वासवी रौद्री आदि या गौ
 ३१ कामगवीरूपा कामधेनु गौ
 ३२-त्रिधा विभक्त गोत व
 ३३ कामगवी की सवव्याप्ति
 ३४-स यानुगता कामगवी
 ७३५ शुभ ब्रूयात् आदेश
 ७३६-अशुक समय और कामगवी का उपभोग
 ७३७-तथा हैव स्यात्
 ७३८ लोकालोकपय्य त याप्त गोत व
 ७३९-विष्णुदेवताओं की गारो और उनके
 लम्बलम्बायमान सींग
 ७४ -गावो भूरिशृङ्गा अयास
 ७४१ स्रग्माता वसुक या आदि य भगिनी गौका
 पारिभाषिकसमवय
 ७४२-स्वसादि यानाम् का रहस्या मक समवय
 ७४३-मातारुद्राणाम् का समन्वय
 ७४४-दुहितावसूनाम् का समन्वय ७५४
 ७४५-गौत व के द्वारा वेदत व की अभिव्यक्ति
 का रहस्या मक दिग्दर्शन
 ७४६ गोप्राण और गोपशु की अभिन्नता
 ७४७-गोसेवा से वेदत व-परिज्ञान
 ७४८-सयकाम की गोसेवा और तद्द्वारा ब्रह्म
 दर्शन
 ७४९-गोधन की उपेक्षा और भारतवैभवं की
 सुषुप्ति

७५ -प्राणगौ और प्राणीगौ की अभिन्नता का सूचक ऋद्धमन्त्र ७५४

७५१-सोमरस और गोमाता के स्तन ५२ तत्र गय तु जीवनीय रसायनम्

७५३-गौपशुसमथक श्रौतवचन ५५

इति गौपशुस्वरूपनिदर्शनम्

३

—*—

❀ (४)-अविपशु

७५४-आन्तरिक्ष्य ऋतप्रधान अपतव और पविपशु (मेढ) ७५५

७५५-वृष्टि का मूलप्रभव दिक्सोम

७५६-पञ्चान्निविद्या का नामसस्मरण और सौम्या वृष्टि

७५७ ऋत स या मक उभयविध सोम

७५८-चन्द्रमा और सौर प्रकाश

७५९ इथा चन्द्रमसो वृहे

७६ -दिक परिस्तुत सोम और पजन्य

७६१ पजन्य और वृष्टि

७६२-तस्या आहुतेषां स भवति

७६३-दिग यापक ऋतामक दिक्सोम

७६४-निरायतन दिक्सोम का ऋतव

७६५ दिक्सोम और श्रोत्रेन्द्रिय

७६६-दिक्सोमा मक अवि प्राण

७६७-हरितवर्णाभिव्यञ्जक-अवि प्राण

७६८-हरियाली और अवि प्राण

७६९-तस्या रूपेणोमे वृक्षा हरिता हरितस्वजन

७७०-उपाशुग्रहानुगत अजपशु

७७१-अन्तर्यामिग्रहानुगत अविपशु

७७२-उपाश्वन्तर्यामि का सहचरण

७७३-अज अवि का सहचरण ७५६

७७४-अविपशु के समथक श्रौत वचन

इति अविपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

४

—*—

❀ (५) अजपशु

७७५- पृथिव अजपशु ७५७

७७६ अग्निप्रधान अजपशु

७७७-पार्थिवाद्धि का विस्त सन

७७७-उच्छिष्ट पार्थिवाद्धि भाग के द्वारा अजपशु की अभियक्ति

७७८-प्राणामक अजपशु और प्राणी विध अजपशु

७७९-पार्थिवी ओषधि वनस्पतियों से समतुलित पार्थिव अजपशु

७८० अक्षीण ओषाध वनस्पति रूप अज

७८१-अजपशु की अक्षीणान्नता

७८२-अधिकरूपेण यवहाय्य अजपशु

७८३-अजपशु का अजधम्म

८४ नि यब्रह्म से अनुगत अविकृत कारण का महामहिमत्त्व

७८५- न कम्मणा वद्ध ते नोकनीयान्

७८६-सम्बत्सरप्रजापति से अनुगत त्रि वानुगत प्रसवकर्म

७८७-प्रजापति के वाग्भाब से अजपशु की स्वरूपाभिव्यक्ति

७८८-श्रु वामिका पृथिवी और कपाल

७८९-कपालसुक्त आग्नेयरस

७९०-ब्रह्मोदनामिका आग्नेयी रसत्रयी और देवसृष्टि

७६१-भक्षपाल में सरिलष्ट प्रवग्य रूप वाढ
मय अग्निरस और तद्द्वारा अज की
स्वरूपाभिव्यक्ति ७५७

७६२-अजपशुसमर्थक औतवचन

इति-अजपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

५

—*—

७६३-पञ्चपशुओं में इतर यच्चावावत् पशुओं
का अन्तर्भाव ७५८

७६४-सवपशु रूप पञ्चपशु

७६५-एताव तो व सर्वे पशव

७६६-प्राणपशु और प्राणीपशु

७६७-द्यावापृथिव्य पञ्चपशु

७६८-स्तौम्यत्रिलोकी की देवतात्रयी

७६९-त्रलोक्यानुगत सधिद्वयी

८-सम्ब सराग्निमूला पाँच चित्तियाँ

८१-पञ्चचित्तिक अग्नि का विश्वसन

८२-पार्थिवी उषारूप योमि

८३-सम्ब सराग्निरूप रेतस

८४-अग्निरेतस से कुमारो पत्ति

८५-कुमारानि का स्वरूप निवचन

८६-कुमारानि के अष्टविध महिमामव विवत्त

८७-अष्टमूर्ति शिव का सस्मरण

८८-नवमसख्यानुगत कुमारानि

८९-कुमारानि की रुद्ररूपता

८१-रुद्र का पशुपतिव

८११-कुमारानि और चित्राग्नि

८१२-सम्बत्सराग्नि का अन्तिम उदक पाशुकारिण

८१३-पाशुकारिण में स्वस्वरूपावलोकन

८१४-अपश्यत्-तस्मात् पशव

८१५-पशुद्वारा सम्ब सरप्रजापति का सङ्कार

८१६-पशुनिर्माण और प्रजापति का विद्वसन

८१७-प्रजापति का शैथिल्य ७५८

८१८-क्षितिपूयर्थ प्रजापति के द्वारा पञ्चपशुओं
का आलम्भन ७६९

८१९-पशवाल भनमूलक मेषययज्ञ

८२-पारिस्परिक आलम्भन

८२१-अग्निमूर्ति सम्ब सरप्रजापति

८२२-प्रजापति के अमृत मय रूप

८२-भूताग्नि की भूतरूपता

८२४-प्राणाग्नि का देव उ

८२५-पञ्चपशुओं का भूत प्राणमयत्व

८२६-ऋतुरूपा भूतचित्ति

८२७-मजा-अस्थि-स्नाव मेद मास रूपा मर्त्या
चित्तियाँ

८२८-पञ्च प्राणचित्तियाँ

८२९-भूत और प्राण चित्तियों का पार्थक्य

८३-प्राणविश्व सन और पशुमरण

८३१-भौतिक-शेषभूत शवभाग

८३२-भूतभाग का चयन

८३३-पशवालम्भन के द्वारा देवदेवताओं की
जीवनसत्ता

८३४-प्राकृतिक पशवालम्भन का रहस्यात्मक
समन्वय

८३५-पिता पुत्र-आदि शब्दों का सापेक्षत्व

८३६-प्रजापति शब्द का प्रजासापेक्षत्व

८३७-आ मा प्राण-पशु समष्टि प्रजापति ७६

८३८-भोक्ता भोग्यसाधन भोग्य-समष्टि और
प्रजापति

८३९-प्रजापतिस्वेवेद सर्वं यदिदं किञ्च

८४-आमनिर्भरता से वक्षित पशुभाव

८४१-भोग्यदृष्टि का अवलम्ब पशुभाव

८४२-चित्राग्नि की पञ्चपशुरूप में परिणति

८४३-पञ्चपशुओं का भौग्यत्व

८४४-पशुपतिरूप आत्मभाव

८४५-पाशरूप प्राणभाव

८६-पशुरूप वाग्भाव	७६	८७६-क्षरामक पशुभाव	७६२
८४७-प्रतिपदाथ में त यत्रयी का समवय		८७७-पदाथमात्र का पशुत्व	
८४८-विश्वा जातानि परिता बभूव		८७८-पशुसामाय के स्वरूप समर्थक कतिपय	
८४९-अज्ञाद और अज्ञ शब्दों का निर्वचन		आषवचन	७६३
मक स्वरूप समवय		८७९-यज्ञससाधक पशु	
८५१-प्राणो थानस्थान की उक्थरूपता		८८०-यज्ञाथ पशु का आलभन और स्वा	
८५२ उक्थ और अज्ञदाग्नि	७६१	दिष्ट भाव	
८५३ अर्क और अनिरश्मयौ		८८१-मनस्तुष्टयथ अपहत पशु और मदिष्टभाव	
८५३-अशीति और पशुरूप अज्ञ		८८२-हृदियलोलुपता और मदिष्टता	
८५४-अशीति से अनुप्राणित उक्थ		८८३-महर्षितायुड्य के सूत्र	
८५५-अशीति और महदुक्थ		८८४-स्वादिष्टा वै देवेषु पशव आसन् मदिष्टा	
८५६-अशीतिभिर्हि महदुक्थमारयायते		असुरेषु	
८५७ आमा महदुक्थम्		८८५-अपेक्षित सोम और विभिन्न यज्ञों का	
८५८ उक और आमा		सस्मरण	
८५९ म् और अज्ञ		८८६-पश्वालम्भन की शास्त्रीयता का तव	
८६० अकार उकार मकार अनुबधी आ मा का		पूरा समवय-प्रयास	
स्वरूप समवय		८८७-पशुवपा की सापेक्षता	
८६१ उक्थभावों के विभिन्न निदर्शन		८८८-वपा स्थित प्राणदेवता	
८६२-आमा की वाककला और पशुभाग		८८९-मुष्ट्याघात और आलम्भन	
✓८६३ श्व इ द्र		८९०-हृयमैदस्तु वपा-वसा	
✓८६४-नेन्द्राद्भृते पवते धाम किञ्चन		८९१ सोममय स्निग्धतन्तु और वपा	
✓८६५ शुनहन्द्रा मक अमृताकाश		८९२-मेद और मेघ	
८६६-एतस्मादा मन आकाश सम्भूत		८९३-मेदो वै मेघ	
✓८६७-इन्द्र और इन्द्रपनी		८९४-पशुवै मेघ	
८६८ वाक की पञ्चभूतरूप में परिणति		८९५-मेघो वा आयम्	
८६९-वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता		८९६-यज्ञस्वरूपानुगता मेघग्रहण व्यवस्था	
८७० विश्व और विश्व योति	७६२	८९७-ब्रीहि यव में अतसृक्त पञ्चपशुओं का	
८७१-पशुरूप अज्ञ और विश्व योति		मेघद्रव्य	
८७२-पशुसोम की आहुति और अनादाग्नि		८९८ पुरुषमेघ से अश्व की प्रसूति	
का प्रज्ज्वलन		८९९-अश्व के मेघ से गौ की प्रसूति	७६५
८७३ गभस्थ प्रजापति का सस्मरण		९००-गौ के मेघ से अवि की प्रसूति	
८७४ क्षरकूट का सघाता कूटस्थ अक्षर		९०१-अवि के मेघ से अज की प्रसूति	
८७५ (क) विपरिणामी क्षरभाव		९०२-पञ्चपशुरूप अजपशु	
८७६ (ख)-क्षर सर्वाणि भूतानि		९०३-अजपशु की सर्वपशुरूपता	

६ ४-यज्ञकर्म की प्रारम्भिक अवस्था और मेघतत्त्व का परीक्षण	७६५	६१६-त्रिपुरुष और पुरुषपशु	७६६
६ ५-परीक्षापरलरूप पुरोडाशत्रय का अ व षण एव पुरोडाशरूप पशु का हवि यज्ञ में विधान		६१७-गौरपशु और अश्वपशु	
६ ६ पुरुष का प्राणवियोग और पूतिभाव		६१८ गवयपशु और गौपशु	
६ ७-पुरुषमेघ की सवर उ क्रान्ति	७६६	६१९ उग्रपशु और अविपशु	
६ ८-मेघ के द्वारा दोष परिमाज्जन		६२ -शरभपशु और अजपशु	
६ ९-पशुओं की मेघोत्क्रान्ति और पशुमास का पूतिभाव		६२१-पञ्चविध-उपपशु	
६१ -अजमेघ का स्थिरत्व		६२२-आसुरभाववद्भ क आमिपत व	
६११-अजपशु की प्रयुक्तमता		६२३-अवैध और वध मास	
६१२-पशुनां प्रयुक्ततम -यदज		६२४-तस्मादेतेषा पशूना नाशित यम्	
६१३-प्रकृतियज्ञामक दशपूर्वमास		६२५-अपक्रा तमेघा हैते पशव	
६१४-मौलिक प्रतिष्ठा मक हवियज्ञ		६२६-पशु और पुरोडाश	
६१५-उ क्रान्तिमेघा पञ्चपशु		६२७-यज्ञ की पाठ कृता	
		६२८ यज्ञसम्मत पशु की गताथता	
		६२९-पुरोडाशानुगता पञ्चपशु -समविता पशु सम्पत्ति का समवय	
		६३ यदा पिष्टायथ लोमानि	
		६३१-ब्रतोपायन कर्मानुगत विकल्प	७६७

इति-प्रथमकारण्डे-द्वितीयाध्याये-तृतीय ब्राह्मणम्

द्वितीय-प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

इति-पात्रीनिर्गोजनम्-पुरोडाशमीमासया-समन्वित्तम

१२

इति-हविर्ब्राह्मणव्यायः प्रथमः

१

* * * * *

श्री

अथ-वेदिकाकरणव्यायम्

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे

द्वितीयाध्याये-चतुर्थं ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्

* १३-वेदिकाकरणम्- वेदिस्वरूपसम्पादनञ्च

तत्रादौ स्तम्बयजुर्हरणा,

'भू'-विशोधनञ्च

नामक

क्रमप्राप्त १३ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की

'विषयस्मारकसूची'

(पृष्ठ सं० ७६८ से ८४२)

१ प्रथमकाण्डान्तर्गत -- द्वितीयध्यायानुगत- चतुर्थ ब्राह्मण एव द्वितीय प्रपाठकानुगत द्वितीय ब्राह्मण (मूल)	७६८	५-ब्राह्मणग्रन्थोक्त विशेषप्रकरण एव सामान्य विज्ञानभावों का अनुगमन	७८६
२ मूलब्राह्मण का अक्षराथसमावया मक अनुवाद	७७१	६-पुनरक्तिमूला आषशैली का समादर	
३-सूत्रानुगत-पद्धति-संग्रह	७७७	७-वेदिनि मार्ग का मूलाधार प्राकृतिक यज्ञ	
४-विज्ञानभाष्योपक्रम	७८६	८-हवियज्ञ की प्रतिष्ठाभूमि और भूपिण्ड	
		९-ज्योतिष्टोमयज्ञ की प्रतिष्ठाभूमि और महिमा-पृथिवी	

* भूल से ग्रंथ में १३ वी क्रमसंख्या के स्थान में १२ वी संख्या लग गई है । पाठक सशोभन कर लगे ।

- १ भूपिण्डस्था ओषधि-वनस्पति ।। और हवियज्ञ का आहुतिद्रय ७८६
- ११ मानव ऋत्विजों के द्वारा वध हवियज्ञ का वितान
- १२ भूपिण्ड की चर अचर विभूतियों का भोक्ता यजमान का भोक्तामा
- १३ यागती वेदिस्तावती पृथिवी और भूपिण्ड का देव
- १४ भूपिण्ड के लिए सतत स्पृहाशील देवता और असुर
- १५-गमस्थ आग्नेय प्रजापति और अक्षभाव
- १६-भूपिण्डानुगत अग्निकीलक और भूपिण्ड का स्वस्थाने परिभ्रमण तथा तद्द्वारा अहोरात्र का आविर्भाव ७९
- १७ प्रजापति की धुररूपता
- १८-देवमय सौरमण्डल
- १९-असुरमय-पार्थिवभाग
- २-देवदूत अग्नि
- २१ असुरदूत सहरक्षा
- २२-सव वृवा शिष्ये और वृत्र
- २३ वृत्रासुर का भूपिण्ड पर साम्राज्य
- २४-यज्ञविरोधी असुरभाव
- २५ असुरविरोध की स्वरूप परिभाषा
- २६-देवदेवताओं की विकासभूमि
- २७-वारुण-वृत्रासुर का स्थान
- २८-बुद्धिवद्ध क सौर इन्द्रप्राण
- २९ बलतद्ध क आप्य वरुणप्राण
- ३ असुर शब्दार्थ निवचन
- ३१ आपोमय प्राण और बल की स्वरूप परिभाषा
- ३२ पारमेष्ठीमण्डल और आप्यप्राण
- ३३-देवापेक्षया त्रिगुणित असुर
- ३४-शरीरसंस्थानुगत आसुर और दैवभाव
- ३५-चिन्तन और देवता

- ३६-बल और असुर ७९
- ३७ विज्ञानोपासक आ मनिष्ठ ब्राह्मण ७९
- ३८ आसुरधर्मों का स्वरूप चित्रण
- ३९-इन्द्र और विरोचन का सम्मरण
- ४ आज का भारतवर्ष और आसुरभागानुगति
- ४१ सुख औ आनन्द का पार्थक्य
- ४२ प्राय आदर्शों का आ यत्तिक परि राग
- ४३-ऋषिवचनों की उपेक्षा
- ४४-रङ्गरक्षित शगालों का प्राचुर्य
- ४५-विज्ञान और भूतबल की प्रतिद्वन्द्विता
- ४६ देवबल की अभिभूति
- ४७ स यविज्ञान का अभिभव ७९२
- ४८ असुरबुद्धि-मानवों का अतिमान
- ४९ श्रीशूया जडलक्ष्मी और तदुपासक
- ५ आगमशास्त्रोक्त लक्ष्मी का वाहन
- ५१ लक्ष्मी का ताण्डवनृत्य और मानव की पशुरूप में परिणति
- ५२-कुलपुरोहितों का आ यन्तिक पतन
- ५३-दैवीविभूति और आसुरविभूति का प्रन्त एव सवध
- ५४ देवासुरसंग्राम की परम्परा
- ५५-देवस्वरूप का सम्मरण
- ५६ सौरमण्डलानुगत श्वेतद्वीप
- ५७ पुराणानुगत श्वेतद्वीप
- ५८ श्वेतद्वीपनिवासी सत्यनारायण
- ५९-इन्द्र का महान् विजय और उन का असपरनभाव
- ६ -न व युयु से का संस्मरण
- ६१-देवासुराख्यान का संस्मरण
- ६२-मघवा इन्द्र और सचातन विजय ७९३
- ६३ मरु वाच इन्द्र और आसुर के साथ स्पृहा
- ६४-वासव इन्द्र और

- ६५-आर्यानानुगत इन्द्र-वृत्र स्फ्य यूप रथ शर नामक-षड्विध भावों का स्मरण ७६४
- ६६-भूपिण्डपरिभ्रमण और तदनुगत दिव्य तथा आसुर अर्द्धाद्द मण्डल
- ६७-परिभ्रमणामिका देवासुरप्रतिस्पर्द्धा तथा स्थान परिवर्तन
- ६८-सग प्रथमावस्था और असुरों का प्रभुत्व
- ६९-सौरह द्रानुगत भूपिण्ड और असुरों का पराम्भव
- ७०-मानवीय मानुषामा में दैवामा का समावेश और यज्ञोद्देश्य
- ७१-प्रजासृष्टि का प्रवक्त कथन और भगवद्गीता के द्वारा त समथन
- ७२-अलौकिकशक्ति और प्रजापति
- ७३ सौररश्मियों की वज्ररूपता
- ७४ सौर बृहत्साम का आतान
- ५ असुरविनाशक वज्रास्त्र ७६५
- ७६ ओषधिसोम और हवियज्ञ
- ७७-नोदनावला मक इन्द्रतव
- ७८-प्रवक्त निवक्त-स्तम्भक भेदभिन्ना नोदनावलत्रयी
- ७९-इन्द्र की विज्ञेयशक्ति
- ८०-इन्द्रवृषभ के शङ्ख और तदाघात
- ८१ शङ्खाघात और भूपरिभ्रमण
- ८२-चक्राण ओपश दिवि
- ८३-प्रवक्त क बल की महिमा
- ७४ स्फ्य आयुध की कषणशक्ति
- ८५-बलत्रयी के माध्यम से इन्द्र का भूपिण्ड पर आधिपत्य
- ८६-स्तम्भक नामक पेटेद्रवत्व
- ८७-कषक
- ८८-प्रतिष्ठा
- ८९-सहार
- ९०-इन्द्रशक्तिमय यूप और स्तम्भनशक्ति

- ९१-कषणशक्ति और स्फ्य ७६५
- ९२ प्रतिष्ठाशक्ति और रथ
- ९३-सहारशक्ति और शर
- ९४ इन्द्र की ब्रह्मक्षत्र रूपता
- ९५-ऐन्द्रवज्र का चतुर्द्धा विभाजन
- ९६ शक्तिचतुष्टयी के विभाजन में तारतम्य ७६६
- ९७ ब्राह्मणोपयोगी स्तम्भनलक्षण यूप एव कषणलक्षण स्फ्य
- ९८ क्षत्रियोपयोगी प्रतिष्ठालक्षण रथ एव सहारलक्षण शर
- ९९-आधिभौतिक असुरों का विनाश और रथ शर
- १ आधिधार्मिक असुरों का विनाश और यूप-स्फ्य
- १ १-ब्रह्मणी यप्रधान शान्त पून और स्फ्य
- १ २-क्षत्रवीर्यप्रधान उग्र-रथ और शर
- १ ३ शर श द का निवचनाथ-समन्वय
- १ ४-रथ शर वत् यूप और स्फ्य का भी क्षात्रतेजोयुक्तत्व
- १ ५-द्वाभ्या ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति
- १ ६-द्वाभ्या राज यवधव-सव्याधे
- १ ७ युद्धभूमि में अवतीर्ण योद्धा और उसके वजा रथ खड्ग शर विध चतुर्विध युद्ध प्रतीक
- १ ८ राष्ट्रभेदभिन्न वज्रभेद
- १ ९ ध्वजा और आदर्शा
- ११-आदश और आज का मोनोग्राम
- १११-वरुणप्रतीकामिका ध्वजा
- ११२ गरुडध्वज भगवान् कृष्ण
- ११३-सुपर्णात्मक गरुड का स्मरण
- ११४-भगवान् राम का वनगमन और काञ्च नारवृक्षतले विश्राम
- ११५-काञ्चनारध्वजो राजा ७६७
- ११६-जयनगर और भ्नाडशाही रूपव्या

- ११७ सूत्र्यत्रय का गौरवमय स्मारक प्रतीक
भाङ (कचनार) ७६८
- ११८ उदयपुर का वज्रचिह्न चिह्न (चील)
- ११९ आगमशास्त्र और चिह्न का शक्तिमय व
- १२ प्रतीकात्मक रावण के दस मस्तक
- १२१-गदभमस्तक की प्रतीकता
- १२२ अश्व सिंह-वृषभ आदि विभिन्न प्रतीकों की
वज्ररूपता का दिग्दर्शन
- १२३-चन्द्रहासा मक-स्फ्य आयुध
- १२४-खड्ग के द्वारा आततायी का वध और
क्षत्रधम्म
- १२५ शस्त्रप्रहारकर्म की प्रतिष्ठाभूमि और
रथ
- १२६-प्रतिद्विधितामक युद्धरूप स याध
- १२७ सव्याधानुगता विजयश्री
- १२८ यज्ञामिमुख असुर
- १२९-यज्ञविघातक वायु य आसुरप्राण
- १३ भूविशोधन और असुरनिरमन
- १३१-आधिदैविक चरित्र का सम-वय
- १३२-शरीररूप वेदिसंस्थान
- १३३-गाहप यकुण्ड और मलप्रथि
- १३४-हृदयानुगत पार्वस्थान और दक्षिणा
गिणकुण्ड
- १३५-शिरोभाग और आहवनीयकुण्ड
- १३६-कुण्डत्रयी से अनुगता अग्नित्रयी
- १३७-अ यामयज्ञ का सञ्चालन
- १३८ अन्न आप वायु-का अन्न व
- १३९-वायुसञ्चारा मक इन्द्रसञ्चार
- १४ -इन्द्रतुरीया प्रहा गृह्यते
- १४१ इन्द्र के द्वारा घृत्र का विनाश
- १४२-भौमत्रिलोकी और इन्द्र-वृत्रासुर-युद्ध
- १४३-इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्र प्रजहार
भृति का त्रिसंस्थाना मक-अर्थसम-वय
- १४४-कृत्रिमशत्रु और द्विषत्

७६९

५४

- १४५-सहजशत्रु और भ्रातृव्य ७६९
- १४६ भ्रातृव्य का पारिभाषिक-सम-वय
- १४७ देवो भू वा देव भावयेत् से समुत्पलित
यज्ञकर्म
- १४८- देवस्य वा मूलाश्रद्धामिका देवभावना
- १४९-देवप्राणमा यम से ही यज्ञायुधों का
परिग्रहण
- १५ -स्फ्य का प्रयोग और यज्ञोपयोगी भूप्रदेश
का सम्पदान
- १५१-स्फ्यानुगत हिंसाकर्म
- १५२ हिंसाकर्म का आसुरभाव व
- १५३ अहिंसाभावोपेत अ वरकर्म
- १५४ अध्वरस्वरूप सम्पादन
- १५५-शस्त्र और शान्तिसाधन
- १५६ शस्त्रमय और दुष्टों का दमन
- १५७ अहिंसा का साधक रक्षक शस्त्र
- १५८ अहिंसाभावप्रधान देवदेवता
- १५९ देवमय यज्ञ का अध्वर व ८
- १६ अध्वरकृत देोम्य का पारिभाषिक
सम वय
- १६१ शस्त्र का सशान
- १६२ अदृष्टशत्रु और यज्ञिय आयुध
- १६३-आसुरप्राणविनाशक सौरवज्र
- १६४-इन्द्र उत्तरेषां प्रथम
- १६५-इन्द्र उत्तरतः
- १६६-रश्मिभावानुगत सहस्र महिमाभाषी का
सहस्रधा विसान एवं इन्द्र के अनन्त बाहु
- १६७ विद्यु दिद्र और हेति नामक वज्र
- १६८-सहस्राणि सहस्रशो बाहोस्तव हेतय
- १६९-सहस्रधा महिमान सहस्रम्
- १७-बाहुरूप रश्मियों की वज्ररूपता
- १७१-भृष्टियाँ और शत्रुविनाशिका वज्र की कोरें
- १७२-सहस्रभृष्टि व्रज ८ १
- १७३-शुक्लमण्डिरूप रश्मिभाव

८ १

१७४-रश्मिरूपा ऋक	८ १	१६८ प्रतिमा म य थता की अनिवाय्यता और	
१७५ ऋक शतपदी		उपासना	८ २
१७६-रश्मिभुक्त सान्तपनाग्निमय विन्तोभक प्राणरुद्र		१६९ मूत रूप-मूर्तिभाव	
१७६-ये चैन रुद्रा दिक्षु अभिश्रिता		२ -मूत द्वारा अमूत की आराधना	८ ३
१७७-अहोरात्रे शतरुद्रियम्		२ १ सगुणमन का गुणा मक भौतिक आलम्बन	
१७८-मानसिक क्रतुरूप सकप		२ २-अमूत भावों के परिज्ञान के लिए मूत द्रव्यो का अपेक्षित माध्यम	
१७९ शतभावोपेता क्रतुरूपा रश्मि		२ ३-भौगोलिक चित्र के द्वारा वस्तु स्थिति का सम-वय	
✓१८० -इ-द्र आसीत् सीरपति शतक्रतु		२ ४ उपायों का मिथ्या-व किन्तु उपेय का स-य व	
१८१-शततेजा -विशेषण का सम-वय		२ ५ अस-ये व मनि स्थि वा तत स-य समी हते का सस्मरण	
१८२-विद्यु मय तेजिष्ठ तेज		२ ६ अमूत और मूत का सम्बन्ध सूत्र एवं तन्निबन्धन निदानभाव	८ ४
१८३-वायुरसि तिग्मतेजा		२ ७ कपितसम्बन्ध का परिचायक-निदानभाव	
✓१८४-वृत्रवध में समथ वज्र का स्वरूपवर्णन		२ ८-पीतमृत्तिका और गणपति	
१८५ प्राकृतिकी वज्रशक्ति का मन्त्र के द्वारा यज्ञ में समावेश		२ ९-पू गीफल और गणपति	
१८६ मन्त्रशक्ति से समन्वित स्वय की प्रचण्ड शक्तिमत्ता एवं त सम्बन्ध में अवधाना नतःक्रमक आदेश		२१ -मूर्ति और इन्द्र	
१८७-भूविशोधनार्थ अश्वय्यु के द्वारा स्वय का सुतीक्ष्णीकरण		२११-सुप्रसिद्धा निदानविद्या	
१८८-सान्तपनाग्निरूप असुरघ्नमूर्ति अश्वय्यु का सज्जीभाव		२१२-भूगोलानुगत विवध प्रदेश और प्रचलित निदानभाव	
१८९-असुरनिरसना मक भूप्रदेश का साम्मुख्य		२१३ निदानभावों के माध्यम से ही वक्त मान शिक्षापद्धति का निर्वाह	
१९ -मन्त्र का कण्ठानुगत-व		२१४-शोक का नदानिकरूप कृष्णवस्त्र	
१९१ प्रक्षेपस्थान का दृष्टिपथानुगत-व		२१५ रक्तपात का निदान रक्तवस्त्र	
१९२ प्र यज्ञ असुर का अभाव और महती विप्रतिपत्ति		२१६ शांति का निदाम हरितवस्त्र	
१९३-अन्तरिक्ष में व्याप्त असुरप्राण की अमूत ता		२१७-ऋषि-मान्यता के सम्बन्ध में आज के युग से प्रतिप्रश्न	
१९४-विषयानुगत मानवीय मन	८ २	२१८ भूपिण्ड का नैदानिकभाव और पद्म (कमल)	८ ५
१९५-मनोव्यापार की सफलता का मा यम		२१९-अद्भ्य पृथिवी और भूपद्म	
१९६-उपासनानुगत मा यम का सस्मरण		२२ -आपोमय पु पकरपर्ण और भूपिण्ड	
१९७- उपासकाना सिद्धयथ ब्रह्मगो रूप क पना और उपासना		२२१ पुरकर वात् पु कर	

२२२-पार्थिव पद्मभू ब्रह्मा	८ ५	२५१-असुरावासभूमि आप्या	८०६
२२३-पद्म और भूपिण्ड का सामानाधिकरण		२५२-देवावासभूमि निरावरणा	
२२४-योगमाया के द्वारा जगद्विमोहन		२५३-वरुणदैवय-प्रदेश	२ ७
२२५ मोहमयी मदिरा		२५४-इन्द्रपुरोगामी मरुद्गण	
२२६ मदिरात्मक निदानभाव		२५५-मरुतो यन्त्रप्रम्	
२२७-मोहशक्तिमयी मदिरा		२५६-मरुद्गणों का मूलाधार पार्थिव-मरुत्	
२२८-भूप्रतिष्ठारूप रुद्रप्राण		गणपति	
२२९-मरुतो रुद्रपुत्राव		२५७-गणनापति और गणपति	
२३ -मरुद्वायु के सप्त महिमा विवक्त		२५८-इन्द्रप्राण से अभिन्न गणपति की मधवा	
२३१ स्तोमत्रयावच्छिन्ना अदिति	८ ६	रूपता	
२३२ अदितिगर्भस्थ सप्तविधमरुत्		२५९-प्रथमारम्भक मधवारूप गणपति	
२३३ विविधाकारकरण मक याकरण		२६ -प्रति ठो छेदक गणपति	
२३४-आदितिगर्भ का छेदन और एकोन		२६१-प्रतिष्ठासंस्थापक गणपति	
पञ्चाशत् मरुद्गण		२६२- निष्कमीद गणपते	
२३५-प्रथम मरुत्, और गणपति		२ मरुवा नामक गणपतिप्राण का सौर	
२३६ अन्तिम मरुत् और महावीर		त्रैलोक्य प्रतिष्ठा व	८ ८
२३ धरा धरित्री धरिणी		२६४-सर्वप्रतिष्ठा मक भूपिण्ड	
२३८-मूल प्रतिष्ठा मक गणपतिप्राण		२६५-घनतम भौमप्राण	
२३९-विघ्नकर्त्ता गणपतिप्राण		२६६-पार्थिवाग्नि की अवस्थान्त्रयी	
२४ -विघ्नहर्त्ता गणपतिप्राण		२६७-आपो वा अर्क	
२४१-अध्या मसस्थानुगता गुहा चतुष्टयी		२६७-अर्पा शर आसीत्-तत्पृथिव्यभवत्	
२४२-मूलग्रथि और तत्र प्रतिष्ठित-गण		२६८-तेजोरसो निरवत्त ताग्नि	
पतिप्राण		२६९-स एष प्राण त्रेधा विहित	
२४३ मलग्रथिविमोक और गणपति प्राण		२७ घनाग्नि पर आरूढ गणपतिप्राण	
की उक्ताति		२७१-गणपतिप्राण का वाहन	
२४४-मूलाधार-स्थित जीवनोपयिक गणपति-		२७२-वाहनप्राण और मधकप्राणी	
देवता		२७३-मूषक का स्वरूप परिचय	
२४५-गणपतिप्राण के स्वरूपधम्म का संस्मरण		२७४-भृगुभस्थ ब्रह्मा मक-घनप्राण	
२४६-अदितिगर्भ और मरुद्गण		२७५-घनप्राणकृतात्मा मूषकप्राणी	
२४७-इन्द्र क्षर और मारुतीसेना		२७६-जीवनीय घनरसप्रोमी मूषक	
२४८-आप्यप्राणामक पूतिभाव			
२५ -पूतिभाव और वारुण असुर			

२ ७-मूषक के बिल की मिट्टी का यज्ञ में सप्त	८ ६	३ -आय्यसमाज का अभिनिवेश और तद् भयानक परिणाम	८११
२ ८-आखुकरीष का स भरण		३ १ सांस्कृतिक अथ पतन के विभिन्न दृष्टिकोण	
२ ७ ६ अथोऽथ इमा पृथिवी चरत पीविष्ठा		३ २ सांस्कृतिक जागरण की पुन सम्भाषना	
२ ८ -अस्य हि रस विदु		३ ३-आ-तरिद्वय आप्यप्राणमूर्ति असुर	८१२
२ ८ १-गणपति की वि-युति और मूषकमण		३ ४-मृद्गत प्राणरूप असुर	
२ ८ २-मूषकमरण और महामारी का आक्रमण		३ ५-कुशासुष्टिरूप स्तम्बयजु	
२ ८ ३ महामारी के उपशम के लिए अपेक्षित गणपतियाग		३ ६-स्तम्ब और उसका हरण	
२ ८ ४-गणपति प्रतिष्ठा मक अग्निरम		३ ७- तम्बयजुहरण के नैदानिक स्वरूप का सम वय	
२ ८ ५-दक्षिणादिक और गणपति		३ ८-तदेतन्निदानेन-यत्-स्त वयजु	
२ ८ ६-दक्षिणदिशा और गणपत्युपासना का प्राञ्चुर्य		३ ९-असुरप्राणकृता मा असुरमानव	
२ ८ ७-पीली मिट्टी और गणपतिप्राण		३ १०-देवप्राणकृता मा देवमानव	
२ ८ ८-गणपति का नैदानिक स्वरूप		३ ११-बुद्धिमान् किन्तु निर्बल देवता	
२ ८ ९-मनो व देवा मनु यस्यान्वानति		३ १२-बलवान्, किन्तु बुद्धिशय असुर	
२ ९ -मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राण की प्रतिष्ठा		३ १३-एशियामाहनरनिवासी स्वयम्भू प्रजापति के द्वारा दोनों का नियन्त्रण	
२ ९ १- गणपतिमावाहयामि का पारिभाषिक सम वय		३ १४ दायविभाग यवस्था और असुरों को देवापेक्षया प्रभूत भूभाग का समपण	
२ ९ २-गणपति के नैदानिक ध्यानभावों का स्वरूप सम वय	८ १	३ १५-तृष्णानुगत असुरमानवों के द्वारा देव-सम्पत्ति के अपहरण का प्रयास	८१३
२ ९ ३- गणानां वा गणपतिं हवामहे का सस्मरण		३ १६-अफ्रीका के दरों के द्वारा सतत आक्रमण और द्वादश-देवासुरसंग्राम	
२ ९ ४-प्राणदेवता की प्रसन्नता		३ १ -एशियाखण्ड का यज्ञभूमि व	
२ ९ ५ नीरूप गणपतिप्राण		३ १ ८ यज्ञभूमि नाम से विख्याता भूमिभिलोकी	
२ ९ ६-नीरूप प्राणों की आराधना के लिए विहित विभिन्न मूत माध्यम एवं उनकी नैदानिकता		३ १ ९-असुरमानवों का तस्करामक आक्रमण और अग्निदेव के द्वारा तन्निरोध	
२ ९ ७ भारतीय निदानविद्या के कतिपय रहस्या मक आगमीय-निदर्शन		३ २ -देवताओं का सम्मिलित आक्रमण और असुरपराभव	
२ ९ ८-वेदविज्ञानरहस्य से वञ्चित भारतीय ब्राह्मण और भारतीय-संस्कृति का उपहास	८ १ १	३ २ १ अरु नामक असुर का पलायन प्रयास	
२ ९ ९-सनातनधर्म की अतन्मु खता के विभिन्न कारणों का दु खपूर्ण इतिवृत्त		३ २ २-अरु का दयावश गो ठान में प्रक्षेप	
		३ २ ३-आसुरत्रैलोक्य का वारुणलोकस्व	
		३ २ ४-वारुणलोक की गोठानरूपता	
		३ २ ५ अरु असुर का स्वलोक में पलायन	

- ३२६-लोकाशरूप ब्रह्मणस्य विष्टप
 ३२७ भौमदेवताओं के द्वारा असुर निरसन
 ३२८-स्तम्बयजुहरणकर्म के द्वारा असुर निर-
 सनामिका घटना का सस्मरण
 ३२९-यज्ञकर्म की निर्विघ्न समाप्ति का सूचक
 स्तम्बयजुहरणकर्म
 ३३-स्त ब्रयजुहरणकर्मानुगत आधिभौतिक
 (ऐतिहासिक) दृष्टिकोण का उपराम
 ३३१ अयामसस्था और आख्यानोपक्रम
 ३३२-चाद्रवृत्रासुरा मक प्रज्ञानतत्र
 ३३३-सौर देवेद्रामक विज्ञानतत्र
 ३३४-शरीर और मन का असुरभूमि व
 ३३५-बुद्धि का देवभूमि व
 ३३६-भौमशरीर के द्वारा चाद्रमन का सतत
 आकषण
 ३३७-देवताओं की न्यूनता
 ३३८ असुरों की अधिकता
 ३३९ प्रज्ञानमनोरूप असुर का विजयदम्भ
 ३४-विषयानुगामी मन और दिव्यस्वरूप का
 आवरण
 ३४१-मन प्रधान भता मा की शरीरवि ता
 ३४२-असुरों का प्रभुत्व और मनस्तत्र
 ३४३-आमप्रकाश की अभिभात
 ३४४-बुद्धिप्रधान देवताओं का पराभव
 ३४५-असुरपराभव और आमयाजी मानव
 ४६ बुद्धिबलाभिवृद्धि और असुरपराभव
 ३४७ आमयज्ञ का अनुगमन और असुरप-
 राभव
 ३४८-आध्यात्मिक दृष्टिकोण का उपराम
 ३४९-स्तम्बयजुहरणानुगत आधिदैविक-रहस्य
 का उपक्रम
 ३५-चतुर्लोकामिका स्तौम्या पृथिवी
 ३५-विश्वोपादानभत शुक्र का सस्मरण
 ३५२ शुक्र-महिमात्रयी का सस्मरण

८१४

८१५

- ३५३-अमृत म यभावापन्न शुक्रव क
 ३५४-अमृतशुक्र और अमृतदृष्टि
 ३५५ मर्यशुक्र और मयदृष्टि
 ३५६-भपिएड का आपोमय समुद्र मे वेष्टन
 ३५७-समुद्रमभित पिवमानम्
 ३५८ वाकस्तर और पुराणाकाश
 ३५९-आपोमय अर्णवसमुद्र
 ३६ अनिमर्त्ति भपिएड
 ३६१-आपोमय मण्डल
 ३६२-अग्निप्रजापात के अमृत म य विभा १
 ३६३-प्राणरूप अमृताग्नि
 ६४-भतरूप मर्याग्नि
 ३६५ चि याग्निरूप भतार्नि के अग्नि आप
 नामक दो विवस्त
 ३६-अद् य प्राथवी और अपत व
 ३६७-अग्निभस्थान और अग्निनत व
 ६८ चिते निधीयते और चितेनिधेरूप
 अमृताग्नि
 ३६९-अमृताग्नि की रसावस्था
 ३७-तेजोरसा मक अङ्गिरोऽग्नि
 ३७१-भपिएड और तत्र प्रतिष्ठित अङ्गिरो-
 ऽग्नि
 ३७२-सौर अग्नि की प्राणरूपता
 ३७३-विधरणाधर्मा प्राणतत्व और प्राणमूर्ति
 अङ्गिरोऽग्नि
 ३७४-अङ्गिरा का ताविक निर्वचनाथ
 समन्वय
 ३७५-आदि य और अङ्गिरा की स्पर्द्धा
 ३७६-वय पूर्वमेघ्याम
 ३७७ आगतिगति भावापन्न अङ्गिरोऽग्नि
 ३७८-धामङ्गिरसो ययु
 ३७९-सौरभावापन्न अङ्गिरोऽग्नि
 ३८-पृथिवीलोक का स्वरूप समर्पक अङ्गिरा
 प्राण

८१५

८१

८१७

३८१-अप्रथयत् और पृथिवी	८१७	४ ८-प्राणाग्निस्तर की अभिव्याप्ति	८१६
३८२-भूपिण्ड की पिण्डरूपता		४ ९-छ्दोमास्तोम और पारावतपृष्ठ	
३८३-पृथिवी की मण्डलरूपता		४१ सागराम्बराणुगता लोकचतुष्टयी	
३८४-भूतप्रधान भूपिण्ड		४११-लोकानुगता देवचतुष्टयी	
३८५-प्राणप्रधान पृथिवीमण्डल		४१२-त्रयस्त्रिंशद्विध देवदेवताओं का समवय	
३८६ प्राणाग्नि की अवस्थात्रयी		४१३-सम्पूर्ण देवदेवताओं का अग्निमयस्व	
३-त्रिवृत् और घनावस्थापन्न प्राणाग्नि		४१४-अग्नि सर्वादेवता	
३८८-पञ्चदश और तरलावस्थापन्न प्राणाग्नि		४१५-अग्निमुखा वै सर्वे देवा	
३८९-एकविंशस्तोम और विरलावस्थापन्न प्राणाग्नि		४१६ अग्निपुरोगा सर्वे देवा प्रीयताम्	
३९-पृथिवीमण्डल के तीन स्वतन्त्र प्रदेश		४१७ ऋकश्रुति के द्वारा यज्ञिय ३३ देवदेवताओं का सकलन	
३९१-एक सत् त्रेधा मान याकुरुत		४१८-उक्थरूप प्राणाग्नि	
३९२-घनाग्निलोका मक पृथिवीलोक		४१९-अथर्वसहितानुगत अग्निस्क भ	
३९३-तरलाग्निलोका मक अतरिन्लोक		४२ सुमेरु कुमेरु भावव्यवस्थापक अग्नि	
३९४-विरलाग्निलोका मक द्य लोक		४२१-अश्वपशुप्रवत्त क अक्षाग्नि	
३९५-उत्तरोत्तर सूक्ष्मभावापन्न प्राणाग्नि		४२२-प्राजापत्याग्नि और प्राणदेवताओं का प्रजनन	
३९६ भू भुव स्व का सस्मरण		४२३-प्राजापत्य हिमा विवाँ	८२
३९७-रुद्राग्नि और रोदसीत्रिलोकी		४२४-चतुर्थ आपोलोक और वरुणदेवता	
३९८ रोदसीत्रिलोकी का भूपिण्डामक भूलोक	८१८	४२५-ग्रथिविमोचक प्राणाग्नि	
३९९-रोदसी से पृथक् सत्ता रखने वाली स्तौम्य त्रिलोकी और प्रकृत आख्यान		२६-ग्रथिप्रवत्त क वारुणाग्नि	
४-महापृथिवीरूपा स्तौम्यत्रिलोकी		४२७-भृद्गु और भृगु	
४ रोदसी और स्तौम्या का विभेद		४२८ भृगुवै वारुणि	
४ २-भू भुव स्व और रोदसी त्रैलोक्य		४२९-अङ्गिरात्रयी और विकासधर्म	
४ ३-पृ अत द्यौ और स्तौम्य त्रैलोक्य		४३-भृगुत्रयी और सक्चधर्म	
४ ४ आमवाङ्मण्डल की वषट्काररूपता का सस्मरण		४३१ भागव आपोभाग और असुरप्राण	
४ ५ वषट्कारानुगत षड्विध स्तोमों का सस्मरण		४३२-भार्गव-वायुभाग और गधर्वप्राण	
४ ५ पृथिवी के पुष्करद्वीप में अवस्थित सूय्य नारायण		४३३-भागव सोमभाग और पितरप्राण	
४ ६ सूर्यामक रथ का तरण और रथान्तरसाम		४३४-असुरों का वरूप लक्षण समवय	
४ ७-रथतर और सागराम्बरा पृथिवी		४३५-आपोमण्डलस्थ वृत्रासुर	
	८१९	४३६-असुर की विभागत्रयी	
		४३७-नवतीर्नव (९९) असुर	
		४३८-(क) अ धकारप्रवत्त क असुर	
		४३९-(ख) वारुणि रात्रि	

४३६-असुरावासभूमि रात्रि	८२
४४-ज्योतिष्मय देवदेवताओं का रात्रि में पराभव	
४४१ द यङ् अथर्वा की अस्थ का उज्र	
४४२-आप और सोम	
४४३-सोमजातियों का नष्टमरण	
४४४-वृत्रसोम की अवस्था-वृत्रहृयी	
४४५-ध्रुवसोमा मक अश्मासोम	८२१
४४६ ध्रुवसोमा मक तरलसोम	
४४-धरुणसोमा मक विरलसोम	
४४८-गुणा मक धम्मसोम	
४४९-घनावस्थोपलक्षित दधिभाव	
४५-तरलावस्थोपलक्षित घतभाव	
४५१ त्रलावस्थोपलक्षित मधुभाव	
४५२-धर्मावस्थोपलक्षित अमृतभाव	
४५३-अश्मासोम और दधि	
४५४-दधि और द यङ् अथर्वाप्राण	
४५५-द यङ् का निर्वचनाथ सम वय	
४५६-दयङ् और दधीचि नामक ऋषिप्राण	
४५७ गोत्रसृष्टिप्रवक्त क दधीचि ऋषि	
४५८-अश्मासोमा मक दधीचित व	
४५९ मृदुता से असस्पृष्ट दधीचि प्राण	
४६-आघात से असस्पृष्ट दधीचिप्राण	
४६१ वनिष्ठादि प्राणां का सहज ऋजुधम्म	
४६२ मृदुभाव सौहार्दादि से परा परावत दधीचि ऋषि	
✓४६३ दध्यङ् सोमा मक अस्थिरूप प्रचण्ड वज्र	८२२
✓४६४-वज्र के द्वारा नवतीर्नव असुरों का इन्द्र के द्वारा पराभव	
४६५ पञ्चविंशति अहर्गण और सौ य विद्युत्	
४६६ व ज्योतिषा वि तमो ववर्थ	
४६७-जघान-नवतीर्नव मत्र का सस्मरण	
४६८-असुरप्रतिष्ठा मक नभ्यप्रजापति	
४६९-भागवाङ्गिरस-तप का सस्मरण	

४-अपत व का स्नेहधम्म	८२२
४७१ अग्निताव का तेजोधम्म	
४७२ शरीतोष्ण भावद्वयी की मन्त्रा एव अनुशासित भण्ड का स्वरूपनिर्णय	
४७३-आग्नेयप्राणविकास मक-देवता	
४४-आ य भागव प्राणा मक असुर	
४७५ देवता और असुरों का प्राजापय व	
४६-असुरों का त्रैलोक्य प आक्रमण	
४७७-सृष्टिसर्गानुबन्धिनी चार भावस्था और देवासुरप्रतिस्पर्धा	
४७८ उभये प्राजापय पस्पृधरे	
४७९-आरम्भ शा का नष्टमरण	८२
४८ आक्रमण की धारावाहिकता	
४८१ वक्तु लक्ष्मणानुगत के द्र और परिधि	
४८२-के द्रवि का उत्तर न	
४८३ सर्गो नत स्थान का हृदय व	
४८४-हृदय और ऊ व	
४८५-ऊर्ध्व और उत्तर	
४८६ निम्न और दक्षिण	
४८७ दक्षिणादिक और परिधि	
४८८-उत्तरादिक और भूके द्र	
४८९ के द्रस्थ आ नप्रजापति	
४९ अनपजय्य असुर	
४९१ के द्रस्थ प्राजापयानि का परिभ्रमण	
४९२-सम्ब सरानुगत भमण्डल	
४९३ सम्ब सरभो या महापृथिवी और असुरों का पराभव	
४९४-आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डलरूप गोसवा मक गोलोक	
४९५-गोलोक और गोष्ठान	
४९६-गोस्थान की गोष्ठानता	
४९७ वैष्णवधामा मक गोलोक	
४९८-विश्व के पाँच पर्व और तत्र प्रतिष्ठित पाँच देवता	

४६६-आपोमय परमेष्ठी और विष्णु का साम्राय	८२३	५२८ प्राणविधा गौ और प्राणीविधा गौ का अमेद	८२६
५ - परमेष्ठय इट् ऊक-गौ भाव	८२४	५ ६ गोदुग्ध का यशोवर्णन	
५ १ गौ की ज मभमि ब्रह्मधाम		५ ३ -गोदुग्ध की सर्वोत्कृष्टता और आयुर्वेद	
५ २ आय गौ पृश्निरक्रमीत्		५ ३१ भारतराष्ट्र का अथबल और गोपशु	८२७
५ ३-गौ का निवास ठान में और विचरण सबन्ध		५ ३२ गोपशु का महतो महीयान् प्राणा मक स्वरूप	
५ ४-ताण्ड्यश्रुति और गोतत्त्व		५ ३३-सवदेवमयी गोमाता	
५ ५-गौत व के विभूतिभावों का सस्मरण		५ ३४-अमृतरसामिका गोमाता	
५ ६-सत्यभावापन्न गौत व		५ ३५-मत्रश्रुति के द्वारा गोमाता का यशोवर्णन	
५ स्वस्वययना मक उद्बोधन		५ ३६-ब्रह्मज्ञानानुगति और गौसेवा	
५ ८ कामगवी का भोगकाल और सयानु रूपता	८२५	५ ३७-पञ्चगव्य का माहात्म्य	
५ ९-कामधेनु की पुत्री नदिनी का सस्मरण		५ ३८-गोमय-गोमूत्र का माहा म्य	
५ १ -गोमाता की प्रसन्नता और दिलीपवश का सरक्षण		५ ३९-उभयलोकमसाधिका गोमाता	
५ ११-सूय्य की ज मभूमि		५ ४ जहवादानुगत बुद्धिवादी और गोपशु की लौकिक उपयोगिता	
५ १२-तासु बीजमवास्तुजत्		५ ४१-आसुरमानवों की पशुबुद्धि और गोपशु	
५ १३ बीजाग्नि और सूय्यनारायण		५ ४२-प्राणपराक्षा और गौमाहात्म्य	८२८
५ १४-प्राणाग्निरूप आदित्य और तद्भगिनी गौ		५ ३-ऋषि के द्वारा उद्बोधन प्रदान	
५ १५-रुद्रविभूति और गोत व		५ ४४-गोत व की मूलविकासभूमि	
५ १६-वस्वग्नि और गोत व		५ ४५-गोमाता के शङ्खों का ताविक स्वरूपोप वर्णन	
५ १७-श्रद्धामक सोम और गोतत्व		५ ४६-भूपिण्ड का सरक्षण और गौशङ्ख	
५ १८-सवदेवमयी प्राणमयी गोमाता	८२६	५ ४७-बैल के सींग और घरती कम्प का सम वय	
५ १९-विश्वप्रज्ञोत्पादक सोमरस		५ ४८-चतुर्विध भूकम्पों का सस्मरण	
५ २ -वस्वग्निमयी पृथिवी और लौहधातु		५ ४८-ऐन्द्रभूकम्प का स्वरूप-सम वय	
५ २१ रुद्राग्निमय अतरिक्ष और रजतधातु		५ ४९-गोवश का सत्रास और भारतराष्ट्र का अमङ्गल	८२९
५ २२-आदि याग्निमय अ लोक और स्वर्णधातु		५ ५ -गोवश की आराधना और भारतराष्ट्र की श्रीसमृद्धि	
५ २३ कृष्ण श्वेत फीत भावनिब धना गोत वत्रयी		५ ५१-बृहच्छु ज्ञोपेत गोत व और यजुर्मन्त्र	
५ २४-गोत वत्रयी से कृत्तरूपा गोपशुत्रयी		५ ५२-ब्रह्मधामा मक गोलोकधामरूप नित्य लीलाधाम	
५ २५ दुग्धानुगता कृष्णा गौ			
५ २६ दानानुगता श्वेता गौ			
५ २७-दशानुगता पीता गौ			

५५३	ब्रज शब्द का निबन्धनार्थसमन्वय	८२६
५५४	हृदयाक्षरत्रयी और तद्घर्मों का सम्मरण	
५५५	वैश्वधाम की अक्षरधामरूपता	
५५६	स वेद तत् परम ब्रह्मधाम	
५५७	तद्विष्णो परम पदम्	
५५८	सर्वगतिरूप अव्ययपुरुष	
५५९	अप्ययस्थाना मक-अ ययपुरुष	
५६०	परेऽव्यये सव एकीभवति	
६१	उपासकों का ब्रजधाम	
५६२	अपुनर्मार नामक ब्रजधाम	८३
५६३	तद्धाम परम मम	
५६४	भगवान् वासुदेव कृष्ण और पारमेष्ठ्य विष्णु	
५६५	पूर्णाक्षर वासुदेवकृष्ण	
५६६	भगवान् कृष्ण की गोचारणव्रति	
५६७	दुग्ध घृतादि का सेवन	
५६८	असुरविनाशक भगवान् कृष्ण	
५६९	आपोमय ब्रजधाम का स्वरूप सम वय	
५७०	ब्रजधाम की अपप्रधाना वरुणलोकता और असुरनिवास	
५७१	इन्द्र और वरुण का अश्वमाहि य	
५७२	ब्रह्मण देव सवित परमस्या पुथिव्याम्	
५७३	अथे तमसि ब्रह्मण	
५७४	शतन पाशै	
५७५	आख्यान के आधितैविकेतिवृत्त का उपराम	
५७६	नि ययज्ञ और वैवथज्ञ का सा य	८३१
५७७	देवाननुविधा व मनुष्या	
५७८	विज्ञानसिद्धा यज्ञविद्या का अपूर्व मह व	
५७९	कपना के समावेश से यज्ञविद्या की मौलिकता की अतर्लानता	
५८०	भारतीय वैज्ञानिक-विद्याओं का अभिभव	
५८१	हविर्यज्ञ का वितान	
५८२	कुशमुष्टिरूप स्तम्बयज्ञ	

५८३	कुशमुष्टि का नैदानिक असुरव	८३१
५८४	कुशमुष्टि का उकर में प्रक्षेप	
५८४	स्त ब्रजजुह्वरणोपाख्यानारहस्य का विराम इति स्तम्बयज्ञुह्वरणोपाख्यान रहस्यम्	
	* * *	
५८५	सोपपत्तिक समाधान का उपराम	८३१
५८६	निदानविद्या और असुर	
५८७	तृण अन्तर्दान पूर्वक कुशमुष्टि पर स्फ्य से प्रहार	८३२
५८८	स्फ्य प्रहार के रहस्या मक कारण का सम वय	
५८९	ओषधिमूलों का मरक्षण	
५९०	उत्तरमूला ओषधियों का अहिसन और प्रहार	
५९१	पृथिवी की उत्तरमूलता	
५९२	ओष यास्ते मूल मा हिंसिषम् वचन का वैज्ञानिक-सम वय	
५९३	गर्भस्थ अग्निरस की अभीष्टा रक्षा	८३३
५९४	देवयजनभूमि का सरक्षण	
५९५	प्रथम प्रहार का रहस्या मक समन्वय	
५९६	चान्द्र ओषध्यज्ञ	८३४
५९७	सौर वनस्प यज्ञ	
५९८	कृषिकर्मानुगता गुरवाह	
५९९	उत्तरमूलसम्पत्ति का स्पष्टीकरण	
६००	आमविद्यामिका श्रौतविद्या	
६०१	वाग यापार और श्रुति	
६०२	प्राणव्यापार और मति	
६०३	मनोव्यापार और निदिध्यासन	
६०४	श्रौतव्यो म तव्यो निदिध्यासितव्यः	८३५
६०५	शब्दभक्तिमात्रमूल अशला	
६०६	स्थागुरय भारहार	

६ ७- ब्रज गच्छ गोष्ठानम् का ताविकस्वरूप सम-वय	८३५	६३ -परमेष्ठी के वारुणमण्डल और सोम मण्डल रूप दो मे	८३६
६ ८- वषट्ते ते द्यौ का सम वय		६३६-उभयलोक के मा यम से त य का सम-वय	
६ ९-भू प्रदेश पर प्रोक्षणक म		६४ -ऐ द्रवायुमय आपोलोक तथा वरुण मय आपोलोक का सम वय	
६१ -प्रोक्षणकम्म का रहस्या मक मम वय	८३६	६४१-ऐ प्रलोक मक देवलोक	
६११-जलावरोधक नमुचि असुर		६४२-वारुणलोक मक असुरलोक	
६१२ पुरोवात मेघ विद्युत् स्तनयिनु का सम-वय और वृष्टि		६४३ भास्वरसोम का दिव्यलोक-व	
६१३ सोम की श्रद्धारूप में परिणति		६४४-दिकसोम का असुरलोक-व	
६ ४ श्रद्धा की पञ्च यरूप में परिणति		६४५-पञ्चविंशति अहण के विभिन्न ताविक नामों का सस्मरण	
६१५-पञ्चय की वृष्टिरूप में परिणति		६४६-श्रपा गम्भन्सीद का सम-वय	
६१६ द्य लोकानुगता वर्षा और प्रोक्षणकम्म		६४७ योतिम्मय वेन से अनुगत दम्भ का सस्मरण	
६१७-क्षत विक्षत स घाता प्रोक्षणकम्म		६४८ दिकसोम का स्वरूप सम-वय	
६१८- तस्मादाह वषट्ते ते द्यौ का वैज्ञानिक सम वय		६ ९ गोरूपा मक व णवयञ्ज	८४
६१८ दूषितभाग का निदाना मक असुर व	८३	६५ भास्वरसोम मक आपोमय दिय-नोक	
६१९-उ-कर का निदाना मक गोष्ठान व		६५१ पृथिव्य-तारक्ष्यौर्दिश का तात्विक स्वरूप सम वय	
६२ -लोकालोकस्थान का स्वरूप-दिगदर्शन		६५२-स्तोमानुगत-लोकसस्मरण का परिलेख के द्वारा सम वय	
६२१ आ महननरूप महापाप		६५३-वज्रप्रहार के द्वारा असुरों का पञ्चम लोक में प्रक्षेप	
६२२-ये के चामहनो बना		६५४-द्वितीय प्रहारकम्म का ताविक स्वरूप समन्वय	८४१
६२३-अभिचारकम्म और तदपवाद		६५५ अररु नामक सुप्रसिद्ध असुरप्राण के वैज्ञानिक-स्वरूप-का सम-वय	
६२४ असुर का लोकचतुष्टयी से पराभव		६५६ अररु और मन्त्रश्रुति	
६२५- तमतो मा मौक		६५७-द्रप्सरूप असुर	
६२६ श्रुतिविरोधाशङ्का		६५८-वृष्टिविदु की असुररूपसा (अतएव तदहसहनीयता)	
६२७-श्रुतिविरोध का निराकरण	८३८	६५९-प्रकाश और ताप का देव व अतएव तत्सहनीय-व	
६२८-वात-याधि का प्रवत्त क वारुणवायु		६६ -वृष्टिजल की असह्यता	
६२९- याधिनिक्त क शिववायु			
६३ वारुणवायु और रोगप्रवृत्ति			
६३१-ऐ-द्रवायु और रोगनिवृत्ति			
६३२-पुरोवात और ऐन्द्रवायु			
६३३-नमुचिप्राण का स्वरूप दिगदर्शन			
६३४-वृष्टिविद्या का सस्मरण			
६३५-पारमेष्ठ्य तत्त्वत्रयी			
६३६-तत्त्वत्रयी के चार विवत्त	८३९		
६३७-साम्बसदाशिववायु			

६६१-द्रप्त शब्द का रहस्यात्मक पारिभाषिक समन्वय	८४२	६ --अभ्युदयसाधक यज्ञकर्म-का वितान	८४३
६६२-हृदयविदु और पृषद्विदु		६७१-महर्षि तित्तिरि का एक प्रश्न	
६६३-स्तोकविदु और द्रासविदु		६७२-महर्षि तित्तिरि के पूर्वपक्षात्मक विचार और आज का बुद्धिवादी सुधारक	
६६४-विदुचतुष्टयी का त्रास्विक स्वरूप समन्वय		६७३-भूविशोधन के सम्बन्ध में अवधानता मक प्रचण्ड आदेश	
६६५-यज्ञकर्म में अपेक्षिता अवधानता		६७४-कुतकवादी की आपत्ति	
६६६-दैवा मस्वरूप सम्पादक यज्ञकर्म		६७५-आपत्ति का निराकरण	
६६७-मानुषामा के साथ देवामा का अत र्याम सम्बन्ध और दिव्यभावापन्न यज्ञकर्म		६७६-मानवप्रज्ञा की महत्व-हीनता	
६६८-यत्किञ्चित् असावधानी से इष्टसाधक भी यज्ञ के द्वारा महान् अनिष्ट की सम्भावना	८४३	६७७-प्राणव्यापारात्मक दिव्य अदृष्ट कर्मात्मक यज्ञ	
६६९ ब्राह्मणग्रन्थ श्रौतसूत्र एव गृह्यसूत्रानुगता चिरतना पद्धतियों के समाश्रय से ही यज्ञ की इष्टसाधकता		६७८-शब्दैकप्रामाणिकता और यज्ञकर्म	
		६७९ अच्यु के द्वारा भूविशोधन	
		६८० वेदितानप्रकारोपक्रांति	

इति-शतपथब्राह्मण हिन्दी विज्ञानभाष्ये प्रथमकारण्डे

द्वितीयाध्याये चतुर्थ ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्

इति-वेदिकाकरणम्-वेदिस्वरूपसम्पादनच

तत्रादौ स्तम्बयजुर्हरणा,

भू-विशोधनच

१३

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे-
द्वितीयाध्याये-पञ्चम ब्राह्मणम्
द्वितीय-प्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्

१४-वेदिपरिग्रहात्मक-वेदिसम्पादनम्

नामक

क्रमप्राप्त १४ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
'विषयस्मारकसूची'
(पृष्ठ सं० ८४४ से ६५८ पर्यन्त)

- १-प्रथमकाण्डान्तगत-द्वितीया यायानुगत-
पञ्चमब्राह्मण एव द्वितीयप्रपाठकानुगत
तृतीय ब्राह्मण (मूल) ८४४
२-मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमवयामक
अनुवाद ८४८
३-विज्ञानभाष्योपक्रम ८६१

❀ देवासुरदायविभागारयानरहस्य ❀

- ४-वेदिपरिग्रहाणामक पद्धतिप्रकरण का
उपसाम ८६१
५-वैदिक इतिहास मर्यादानुगत किञ्चिदिव
निवदनीय
६-त्रिसहस्रवर्षावधि और ज्ञान विज्ञाना
मिका वैदिक परिभाषाओं की विद्युत्ति
७-तत्त्वामक वेद की अपौरुषेयता एव-
शास्त्रामक वेदशास्त्र की पौरुषेयता

- ८-रहस्यपूर्णा विज्ञानभाषा स्तुतिभाषा इति
हासभाषा और वेदाथसमवय ८६२
९-विज्ञान-स्तुति इतिहास रूपा ज्ञातव्यत्रयी
और वेदशास्त्र
१-ज्ञान कर्म-उपासनारूप क्त यत्रयी और
वेदशास्त्र
११-त वमीमासामक विज्ञानप्रधान मूलवेद
शास्त्र का ज्ञातव्य व समवय
१२-तूलवेदशास्त्रामक क्त व्य वेदशास्त्र की
मूलप्रतिष्ठा और ज्ञातव्यवेदशास्त्र
१३-मूलवेदकाण्ड और तूलवेदकाण्ड का
स्वरूप-समवय
१४-आचारनिष्ठात्मिका क्त यनिष्ठा और
तत्प्रतिपादक क्त व्यवेद

- १५-मन्त्र और ब्राह्मणों का ज्ञान तथा कृत्य भावापन्न कृष्ण वेदशास्त्र का तात्विक स्वरूप समन्वय ८६२
- १६-वैदिक इतिहास के सम्बन्ध में आपात रमणीय प्रश्न
- १७-सर्व वेदात् प्रसिद्धयति का सम्मरण
- १८-देवासुरदायविभागारयान के माध्यम से एक ऐतिहासिक तथ्य का दिग्दर्शन प्रयास
- १९-श्रुतयताम् ! श्रुत्वा चान्यवधाव्यताम् ! !
- २-वैदिक इतिहास के लेखन की अद्भुत शैली और साधारण मानवों की भाँति
- २१-वैदिक शब्दों के रहस्यात्मक समन्वय
- २२-वचमान बुद्धिवादी वेदप्रमी और उन का निष्कर्ष अथवा मवादाभिनिवेश
- २३-निर्कैवल्य आधिदैविक चरित्रों के अभिनिवेश से अभिनिविष्ट आज के कतिपय वेद-आख्याता
- २४-मानवचरित्रात्मक इतिहास के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों की महती भाँति
- २५-सवथा ऋजुभावापन्न भी वे का असमाधेय प्रश्नावलम्बित
- २६-प्रोक्षणाब्राह्मणानुगत आरयान के माध्यम से निश्चित सिद्धांत का स्पष्टीकरण
- २७-अष्टविध आरयानों में से विशेषतया मक आख्यान का सम्मरण ८६३
- २८-इति नु अधिदैवतम्
- २९-इति नु अध्यात्मम्
- ३-इति नु-अधिभूतम्
- ३१-चयनयज्ञानुगत इष्टकाचित्प्रकर और इतिहास का समन्वय
- ३२-चरित्रत्रयानुगता आरयानभाषा
- ३३-भाषाशैली की आयन्तिक दुरुहता
- ३४-चरित्रत्रयात्मक वैदिक आख्यान
- ३५-विरुद्धभाषानुगत भ्रम ८६४

- ३६-पौराणिक आरयानों के सम्बन्ध में अज्ञानों की महती भाँति ८६४
- ३७-विज्ञानप्रधान वेदशास्त्र
- ३८-इतिहासप्रधान पुराणशास्त्र
- ३९-पुराणारयानानुगत गुहानिहित विज्ञानतत्त्व
- ४-पौराणिक अगस्त्यारयान का सम्मरण
- ४१-अगस्त्यारयान का वैज्ञानिक स्वरूप दिग्दर्शन
- ४२-पुराण के द्वारा मानवचरित्र की मयस्थता और विज्ञान का प्रतिपादन
- ४२-पुराणशास्त्र के प्रति अज्ञानों के आक्षेप और कथावाचकों की कृपा का दुष्परिणाम
- ४४-पौराणिक महत्वपूर्ण तथ्यवाद का साङ्गतिक दिग्दर्शन ८६५
- ४५-कथापाठ से यासगद्दी से को कलङ्कित करने वाले आज के ये कथावाचक
- ४६-पुराणस्पश में भी अनधिकृत आज के ये लोकवाचक कथावाचक
- ४७-कथावाचकों के पुराणकथाओं के सम्बन्ध में अनगल प्रलाप
- √ भौमस्वर्ग और देवयवस्था का सम्मरण
- ४९-आर्षप्रजा की श्रद्धा का उत्तरोत्तर अभिभव और अनभिज्ञ कथावाचकों की कृपा के कुफल
- ५-प्रासङ्गिक पुराणालोचनोपराम
- ५१-वैदिक आख्यानों से अनुगत आनुषङ्गिक मानवचरित्र
- ५२-विशेष शब्द और इतिहासाभिव्यक्ति
- ५३-औदयैश्चर्मभि और इतिहास
- ५४-तत्र्यङ्गुलोऽवधिन्दत् और इतिहास
- ५५-के वयतत स्याम और इतिहास
- ५६-आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र का समन्वय

५७-आ यामिक चरित्र के समथक ऋषिपय ८६५
वाक्यों का समथक

* * *

**आरयानानुगत आधिदैविक रहस्य
(एतिहासिक-रहस्य)**

- ५८-दायविभाग और ऐतिहासिक दृष्टिकोण ८६६
५९ भौमत्रिलोकी और इतिहास
६-मनु यदेवताओं के द्वारा वधयज्ञों का सम्पादन
६१-भौम असुरात्रिलोकी और असुरों के आक्रमण
६-भौम मानव-चंद्रमा के द्वारा असुरबल को प्रो साहन एव देवबल का अभिभव ८६७
६३-सूर्यसदना मक विज्ञानभवन और देवबल
✓६४-द्राजुन मन्त्रीप्रसङ्ग और इतिहास
✓६८-तच्चक द्र मन्त्री
✓६६-युधि ठर का स्वगगमन
✓६७-भौमस्वग और दव यस्था का सस्मरण
✓६८-मय-वृत्र नमुचि बल तार-तूर विद्यु माली किलात आकुली आदि असुरजातियाँ और ऐतिहासिक दृष्टिकोण
६९-सुसभ्या मय नाम की असुरजाति -शिप तथा योतिष में पारङ्गत मयासर जाति
७१-वत्त मान योतिष और वराहमिहिर
७-वराहमिहिर और मयासुर
७३-मय के द्वारा नवीन चंद्रमा का निर्माण
७४-इजिप्त प्रात का प्रचण्ड अग्नि विस्फोटन और भूगर्भ में तद्विलयन
७५-ईश्वरीय-सृष्टि के साथ ऋषिस्पर्द्धा के भीषण परिणाम
७६-ईश्वरनि ठाशूय ज्ञानवञ्चित विशुद्ध भूता मक विज्ञान के द्वारा अ ततोग वा सवनाश

७७-वत्त मान भूतविज्ञान और सवनाशो पक्रम ८६८

- ७८-आसुरशास्त्र और वत्त मान योतिष
७९-ब्रह्म बालव आदि आसुरीभाषा के शब्द
८-अवकहड चक्रामिका मयासुरभाषा और होडाचक्र
८१-वत्त मान जमकुण्डलियों का विपरीत भाव और आसुरधम्म
८२-सूर्यपरिभ्रमण और भूपिण्ड स्थिर वा नुगता आसुरीदृष्टि तथा वत्त मान योति शास्त्र
८३-वेदाङ्ग योतिष का सस्मरण
८४-इष्टकाचितिस धान और वदाङ्गज्योतिष
८५-वदाङ्ग योतिष से अनुगता ग्रहसस्था का प्रकृतिसिद्धक्रम
८६-भूपिण्ड और सूर्य की स्थिति का समतुलन
८-परमेष्ठी के चारों ओर सूर्य का परिभ्रमण
८८-सूर्य के चारों ओर भूपिण्ड का परिभ्रमण
८९-सूर्य का आपेक्षिक स्थिरत्व एव तत्संबन्ध में अतिवचन ८९
९-भचक्र का विचालित्व और आसुरी दृष्टि
९१-फलितज्योतिष का समन्वय और स्थिर चर विमर्श
९२-वैदिक विज्ञानदृष्टि और भू तथा सूर्य दोनों का चरत्व
९३-मयासुरजाति की विद्वत्ता का सस्मरण
९४-मयासुर के द्वारा पाण्डवसभाभवन का निर्माण और त मूलक महाभारतसमर
९५-पृथिवीलोकानुगता मानवविधा देवासुर यवस्था का सस्मरण ८७
✓९६-अष्टविध देवताओं का सिंहावलोकना मक सस्मरण
९७-भूपिण्डानुगत उत्तरीगोलाद्ध और देवता

- ✓६८ दक्षिणीगोलाद्र और अक्षर
 ✓६९-शाक्तिप्रिय देवता
 ✓१ -दुष्टबुद्धि असुर
 १ २-भौगोलिक व्यवस्था का उपक्रम
 १ २-आर्यावत्त और पूर्व पश्चिम समुद्र
 १ ३ आर्य्य और दस्यु
 १ ४-पश्चिमसमुद्र और महीसागर
 १ ५ महीसागर और मोडट्ट नियेन्सी
 १ ६ रक्तसमुद्र और रेडसी
 १ ७-पीतसमुद्र और यलोसी
 १ ८-निरक्षुत्तानुगत लङ्काद्वीप
 १ ९-सिंहल और सीलोन
 ११ सीलोन से अनुगता लङ्का भ्रात
 १११-देशांतर के मायम से शङ्कानिवृत्ति
 ११२-दक्षिणसमुद्र और भारत की दक्षिणसीमा
 ११३ पूर्वसमुद्रानुगता पूर्वसीमा
 ११४ पश्चिमसमुद्रानुगता पश्चिमसीमा
 ११५-पश्चिमसमुद्र और शवतीथ
 ११६ भारताग्नि की सत्ता और भारतवष
 ११७ भारतीय सीमा की विस्मृति
 ११८ भारतीय विद्वानों की सुषुत्त और यथ का वाक्कलह
 ११९ विद्वानों का वाक्कलहरूप पौरुषेय अपौरुषेय विवाद ८७१
 १२ -सीमास्वरूप का बोधाभाव
 १२१ पाश्चात्यविद्वानों की स्वाथदृष्टि
 १२२-भारतीय विद्वानों की सुषुत्ति
 १२३-स्वतन्त्रविचारधरण में भी असमथ भारतीय विद्वद्गण
 १२४-दक्षिणा प्रलोभनानुगत समन्वय और यथ का वादविवाद
 १२५-वेद की अपौरुषेयता की मान्यता और वदार्थ जिज्ञासा
 १२६-राजनैतिक-स्वाथलिप्सु प्रतीय विद्वानों से किञ्चिदिव निवेदन

- १२७-भारतीय सीमाप्रसङ्ग के सम्बन्ध में भारतीय न्छिकोण का स्पर्शीकरण ८७२
 १२८ पाक्षभुवनकोश का स्वरूप-सस्मरण
 १२९-पुराणशास्त्र के प्रति कृतज्ञापण
 १३ पराण के १८ विषयों में से भुवनकोश (भूगोल) का सस्मरण
 १३१ ब्राह्मपुराणानुगत पाक्षभुवनकोश की स्मृति
 १३२ भूगोलविद्यानुगत प्रथम सत्तक
 १३३ द्वितीय सत्तक
 १३४- तृतीय सत्तक
 १३५ सप्तद्वीपा वसुमती से अनुप्राणित सात द्वीपो का नाम स्मरण ८७३
 १३६ सप्तसमुद्रों से युक्त सप्त महाद्वीप
 १३७ काञ्चनीभूमि और लोकालाक
 १३८-तम और अण्डकटाह
 १३९-महापृथिवी और द्वीप समुन्दि
 १४ मण्डलरूपा महापृथिवी के सात समुद्रों से अपरिचित लाडमेकाले महोदय की महती भ्राति और तन्निराकरण
 १४१ सोरज्जहाण्ड की सीमा और भूपक्ष
 १४२-पार्थिवपुष्करद्वीप में प्रतिष्ठित नौर हिरयगर्भ ब्रह्मा
 १४३-पुराणोक्त सप्तद्वीप-स्वरूप दिग्दशन
 १४४ सप्त समुद्रों का नाम सस्मरण ८७४
 १४५ सप्त वायुस्तरों का नाम सस्मरण
 १४६-सप्त-लोकों का नाम सस्मरण
 १४७ सप्त पातालों का नाम सस्मरण
 १४८- पाताललोका पृथिवी पुटानि
 १४९-आपोमय तीन पुट
 १५ -अग्निमय तीन पुट
 १५१-के द्रीय ब्राह्मपुट
 १५१-मेरुरूप स्फम्भ
 १५३-भूर्गर्मस्थ प्रजापति
 १५४ हृदयरूप भौमप्रजापति

१५५-शेषनाग का फण और भूपिण्ड	८७५	१ ७-वाह्वीक कालतोयद आदि उदीयदेश	८८
१५६-क्रांतिमण्डलपृष्ठीय के द्रभूत कदम्ब		१७८-अध्व वामकुङ्क आदि प्रायदेश	
१५७-सुमेरु और कुमेरु का सम्मरण		१ ९-पूण केरल गोलागूल आदि दक्षिणाय	
१५८-सप्त आवरण नामक नरकों का नाम दिग्दशन	८७६	जनपद	
१५९-नरकलोकामक सात आवरणलोकों के नक्षत्रमेदानुबधी २८ अवातर नामो का दिग्दशन		१८ लोल तालकर आदि अपरान्तजनपद	
१६-पुराणप्रसिद्ध ८४ नरक और नक्षत्र कक्षात्रयी		१८-मलज-ककश आदि वि यवासीजनपद	
१६१-अपि च सात से अनुगत सप्त नरक		१८२-कुरु-तुङ्गण आदि पवश्रयी जनपद	
१६२-असुव्यलोकामक नरक		पाद्मभुवनकोशस्वरूपदिग्दर्शनम्	
१६३-सप्त आकाश-नामक स्वर्गों का नाम		(पृ म ८८१ से ९९ पृ पय्यन्त)	
१६४-सप्तदेवानुगत सप्त-स्वर्ग		*—*—*	
१६५-अनाष्टतभावामक स्वर्ग की आकाश की अभिधा का समन्वय	८७	१८३ भूगोलविद्या और पौराणिक भुवनकोश	८८१
१६६-कुलगिरि शाखागिरि आदि अष्टविध प्रमुख पर्वत विभाग		१८४-पुरातन स्थिति का सम्मरण	
✓१६७-महेन्द्र मलयदि सप्तविध कुलपर्वत		१८५-अभिजित् नक्षत्ररूप ध्रुवामक पुरातन काल	
१६८-पाद्मभुवनकोशानुगता नदियों का सम्मरण		१८६ भूपञ्च की कर्णिका और सुमेरु	
१६९-भारतवर्ष की विविध नदियों का नाम सम्मरण	८८	१८७-सुमेरुकक्षानुगता चन्द्र सूर्य कक्षाओं का सम्मरण	
१७-त्रिसहस्रवार्षिकी दासता और स्वराष्ट्रीय-गौरव की विस्मृति	८७९	१८८-पुराणदृष्ट्या चन्द्रमा का सूर्य से ऊर्ध्व-स्थित व	
१७१-समुद्र सागर उपसागर सरपल्लव-आदि का सम्मरण		१८९-पुराणानुगत ज्योतिष्चक्रामक खगोल और तमलाधारभूत मेरु	
१७२-अरण्य उपवन आराम वाटिका निष्कुट आदि का सम्मरण		१९-पुराण की रहस्यपूण पारभाषार्थ	
१७३-गवविध आकरों (खानों) का सम्मरण		१९१-उत्तरध्वजप्रदेशामक-सुमेरुप्रदेश	
१७४-पुरी पत्तन-महानगर-नगर ग्राम-खरवट उपनिवेश देश पुर आदि का सम्मरण		१९२-वत्सुलभूपिण्ड का खस्वस्तिकविन्दु	
१७५-पुर और पुरी आदि नामों का पारिभाषिक समन्वय	८८	१९३-खस्वस्तिक और उत्तरध्रुव	
१७६-मस्य-कुमुद्माय आदि मध्यदेश		१९४-अध्व स्वस्तिक और दक्षिणध्रुव	
		१९५-खस्वस्तिक और सुमेरु	
		१९६-अध्व स्वस्तिक और कुमेरु	
		१९७-सुमेरु-कुमेरु रूप भूपिण्ड	८८२
		१९८-विष्वदूरेखाधार पर भाषण्ड के दृश्य अदृश्य रूपेण दो विभाग	
		१९९-उत्तर-गोलाद्ध और विष्वदूरेखा	
		२-दक्षिण गोलाद्ध और विष्वदूरेखा	

- २१ पौराणिक-भूगोल की अ ययाना यापन परम्परा की विलुप्ति और हमारी कठिनाता तथा अज्ञता
- २२ पाश्चात्यों की मध्यरेखा ग्री-वीच
- २३ भारतीयों की म यरेखा उज्जैन
- २४-भूगोलशिक्षणानुगत-पारिभाषिक अस्सी पूर्वी देशान्तर
- २५ भूमध्यरेखानुगत ३६ ध्रुवप्रोतवृत्त
- २६ मेरुप्रोतवृत्तात्मक ध्रुवप्रोतवृत्त
- २७-प्रथममध्याह्नरेखा एव भूमध्यरेखा
- २८-भूमध्यरेखा एव विद्वृत्त
- २९-उत्तरीगोलाद्ध का (दृश्यक्षितिज का) मभाग ८८३
- २१ दक्षिणी गोलाद्ध का (अदृश्यक्षितिज का) मभाग (पाश्चात्यभूगोलानुगत)
- २११ क्षेत्रफलानुगत गोलाद्धान्तर
- २१२ अक्षतानादि पूर्वार्कसात मभाग और एशिया प्रदेश
- २१३ उपद्वीपमक एशियायी-खण्ड
- २१४-भारतीय-उपद्वीपसभ की प्रतीक-अभिधा
- २१५-पाश्चात्यों की भूगोल-व्यवस्था की आधार भूमि-राज्यशासनपद्धति
- २१६ राज्यसीमा की वृद्धि तथा इस के अनुपात से प्रतीय भूगोल-व्यवस्थाओं में सामयिक परिवर्तन
- २१७ प्रतीय यदेशाभिमतता अस्थिरा भूगोल व्यवस्था
- २१८-भारतीय भूगोलव्यवस्था की प्राकृतिकता एव आकृतिगत स्थिरता
- २१९ प्रजापतिप्रदत्त भारतीय दायभाग एव तत्सम्बन्धक भारतीय प्राच्यसाहित्य
- २२ भारतवर्ष की वचमानस्वरूप इयत्ता और महान् आश्चर्य
- २२१ प्रतीय राजनैतिकों की तर्कभास पर परा एव तन्मूलोच्छेद ८८४
- २२२-वज्रकी की प्रतारण का सम्यक निराकरण
- २२३-रा यशासनानुगता दशविभाग-व्यवस्था
- २२४-शासनकृत विभागमक एक प्रकार
- २२५ परिवर्तनशीला भौगोलिक व्यवस्था और राज्यशासन
- २२६-वर्मा और भारत का पार्थक्य
- २२७-गंधार और भारत का पार्थक्य
- २२८-पश्चिमभारतवर्ष और अफगानिस्तान
- २२९ भारतवर्ष की अल्पता और हिन्दुस्तान नाममात्र में सकोच
- २३-गणितानुगता भूगोलव्यवस्था ८८५
- २३१-गणितानुगता माया व्यवस्था
- २३२ प्रकृतिसिद्ध गणितानुगत भारतवर्ष
- २३३-नदगदशकाल का महान् यामोहन
- २३४ प्रगतिशीला के सामयिक उद्गार
- २३५ अनवस्त्र की विता के वीकार से सत्रस्त प्रगतिशील भारतीय मानव
- २३६ उदरचिन्ता की महामारी से सत्रस्त भारतराष्ट्र
- २३७-रोग का वास्तविक निदान
- २३८ ज्ञानशक्तिबल से वञ्चित भारतराष्ट्र की पशुरूपता
- २३९-उच्छिष्टज्ञानरूप प्रवर्धभाग और पशुसृष्टि का सन्तोष ८८६
- २४-स्वशिक्षा-संस्कृति शन्या पशुवृत्ति और भारतीय प्रज्ञा का निरतिशय पारतन्त्र्य
- २४१-भोक्तृभाव की स्वरूपनिपत्ति एव आमन्त्रणाराधन
- २४२ आम्बलानुगता स्वसंस्कृति स्वसाहित्य एव स्वसभ्यता
- २४३-स्वविभक्तियों के तिरस्कार से भारतराष्ट्र का सुनिश्चित सवनाश

२४४-राष्ट्र का मौलिक प्राणरूप मौलिक साहित्य ८८६	२६५-चतुर्दल कमल की अष्टदलकमलरूप में परिणति ८८८
२४५-स्वतन्त्रता और परतंत्रता की स्वरूप परिभाषा	२६६-ब्राह्मभुवनकोशानुगत अष्टदलकमल
२४६-भारतीयव की अक्षुरणता और तदनुबन्धिनी प्रगति का समादर	२६७-विष्वद्धरातल और मेरुदण्ड का परिमाण
२४७-राष्ट्र के जीयनीय स्रोत	६८-भारतवष किंपुरुषवष और हरिवष ८८९
२४८-भारतीय साहित्य की स्वरूपता	२६९-रम्यकवष हिरण्यमयवष और कुरुवष
२४९-वामान भासुक् प्रगतिशीलो का प्रश्ना भास और एत ही तत्समाधान	२७०-पूर्वस्थित भद्राश्ववष
२५०-आजके भारतवष का स्वरूप दिग्दश नोपक्रम ८८७	२७१-पश्चिस्थित-केतुमालवष
२५१-सभ्यता वणश्रम लोकविभाग आदि के प्रथम प्रवक्तक भगवान् प्रजापति	२७२-मेरुप्रदशानुगत लाश्रुतवष
२५२-भूपिण्ड की कमल रूप में मान्यता	२७३-नववर्षा मक भवनकोश
२५३-भरूप पक्ष के चार पत्र	२७४-सर्वेषामेव वर्षाणा मेरुत्तरत स्थित
२५४-प्रत्येक पत्र ६ अशा मक	२७५-उत्तरत स्थित का पारिभाषिक सम वय
२५५-आपो वै पुष्करपण्डम् और अपक्व	२७६-पृथ्व-उत्तर-ऊचा केन्द्र
२५६-पद्ममलक भूगोल और पाद्मभुवन कोश	२७७-अध दक्षिण नीचा परिधि
२५७-मेरुस्थित हिरण्यशङ्खपवत पर प्रतिष्ठित प्रजापति	२७८-नवसहस्रोजनामक इलाश्रतवष
२५८-स्वर्गीय श्रीबालगङ्गाधर तिलक की मान्यता के सम्बन्ध में नीरक्षीरविवेक	२७९-पूर्वानुगत चैत्ररज नामक महावन
२५९-आय्यप्रतिष्ठाभूमिरूप सुमेरु	२८०-अरुणोदय नामक महासर
२६०-सुमेरु स्थान से आय्यो का आगमन इस अशा का प्रतिवाद	२८१-दक्षिणानुगत-ग धमादनपति
२६१-सुमेरु के आधार पर उपकल्पित-उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम में ६ ६ अशा मक चार भूखण्ड	२८२-मानससर नामक महासर
२६२-पञ्चपुराण के कतिपय वचन और पाञ्च भुवनकोश	२८३-ग धमादन और नदनवन
२६३-सूयसिद्धातानुगत भूगोला याय और तन्निबन्धना भूगोल यवस्था का सस्मरण ८८८	२८४-पश्चिमानुगत तैश्वाजवन नामक महावन
२६४-पत्रा मक चार खण्ड और चार वष	२८५-असितोद नामक महासर
	२८६-असितोद और शीतोद
	२८७-उत्तरानुगत-सवित्रवन नामक महावन ८९
	२८८-महाभद्र नामक महान सर
	२८९-पार्थिवस्वग का स्वरूप दिग्दर्शन
	२९०-मेरु की दक्षिण सीमा से अनुगता हिम वान् हेमकूट निषध नामकी पवतत्रयी
	२९१-उत्तरसीमानुगत नील-श्वेत शृङ्खवान्-नाम की पर्वतत्रयी
	२९२-पादपर्वतों से अनुगत कुलपति
	२९३-शाखाशैलों का सस्मरण

- २६४ नवावध वषर्पातों का नाम सस्मरण
एतत्स ब्रध में अक्षयचन ८६
- २६५ अष्टदलकमलामक-पाञ्चसुवनकोश परि
लेख (८८६ ८६ के म य में)
- २६६-मेरुस्वग की सीमा के सम्पादक चार
विष्क मर्पात ८६१
- २६७-कम्बु जम्बु वि पल वट नामक सुप्रसिद्ध
चार भौमस्वगाय-वृत्त एव केतुवृत्त
का सस्मरण
- २६८-स्वगपरिचायिका केतुवृत्तचतुष्टयी
- २६९-दक्षिणस्थ गधमादनपव पर प्रतिष्ठित
केतुरूप जम्बुवृत्त और जम्बुद्वीप
- ३ -भारतवष और जम्बुद्वीपानुगत भरत
खण्ड
- ३ १-जम्बु और जम्बुनद
- ३ २-जम्बुनद और जाम्बुनदसुग्ण
- ३ ३-सुमेरु की पारिभाषकी सुवर्णरूपता
- ३ ४-अचला मेरुवि दु
- ३ ५ जाम्बुनदसुवर्ण का यशोवर्णन
- ३ ६-केसरपर्वतों का सस्मरण
- ३ ७-अष्टविध मर्यादापवत
- ३ ८ प्रशान्तमहासागरा मक-पूर्वसमुद्र
- ३ ९-पश्चिमसमुद्र (मेडिन नियेन्सी)
- ३१ -पञ्चचतुष्टयी रूप २ केसरपवतो से
अनुप्राणित परिलेख ८६
- ✓३११-देवयुग और नीतितन्त्र की प्रमुखता ८६३
- ✓३१२ देवयुग और राजतन्त्र का गौणव
- ३१३-नीतितन्त्र के सञ्चालक लोकपाल
- ३१४ राजतन्त्र के सञ्चालक स्वयम्भू मनु
- ३१५ आपोविभागाध्यक्ष भौम वरुण
- ३१६-श्रोषधिविभागाध्यक्ष भौम चन्द्रमा
- ३१७-सभितिरूपा विचारसभा
- ३१८-सम्राट और स्वाराट् उपाधियाँ
- ✓३१९-सुधर्मा नाम की इन्द्रसभा
- ३२ -सौवीररूप इन्द्रराष्ट्र और यूसाइवीरिया ८६३
- ३२१-इन्द्रप्रदेश और अपराजितादिक्
- ३२२ ब्रह्मप्रजापति की कातिमतीसभा
- ३२३-ब्रह्मराष्ट्र प्राग-यौतिष
- ३२४ भद्रगिरि-चद्रगिरि के म य में निवास
करने वाले भौम विष्णु
- ३२५-सुमेरु म यस्था ब्रह्मपुरी
- ३२६ ब्रह्मा और विष्णु की विराट् उपाधि
- ३२७-राजा और सम्राट् उपाधि
- ३२८-असुरद्वीप भौम विष्णु
- ३२९-अज्ञापहरणकर्ता बराहासुर
- ३३ असुरों के असुरव का पारिभाषिक
स्वरूप सम्बन्ध
- ३३१ असुरत्रिलोकी तथा दवत्रिलोकी का
सस्मरण
- (१)-मरुत्रिलोकी का स्वरूप-दिग्दर्शन
- ३३२-मेरुवि दु का सस्मरण ८६४
- ३३३-मेरुप्रदेश का परिवर्तन
- ३३४ पार्थिवपरिभ्रमणमाग
- ३३५ कातिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र की कदम्ब रूपता
- ३३६-नाक नाम से प्रसिद्ध विष्णुपद
- ३३७-विष्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र की ध्रुवरूपता
- ३३८-उत्तराग्नस्थान की सुमेरुरूपता
- ३३९-दक्षिणाग्नस्थान की कुमेरुरूपता
- ३४ -मेरुप्रदेश की स्थिरता अस्थिरता का
आधारभूत स्थिर चर ध्रुव ६४
- ३४१ देश यागानुगता मेरुवि दु
- ३४२ हसनक्षत्र और अधःस्थित
- ३४३-अभिजिन्नक्षत्र और खस्वस्थिक
- ३४४-अभिजित् की ध्रुवरूपता
- ३४५ विश्वकम्म नक्षत्र और आज का ध्रुव
- ३४६-अभय और ध्रुव
- ३४७-निष्कारप्राणविदु और ध्रुव
- ३४८-ध्रुवपरिचायक नक्षत्र की ध्रुव रूपता

- ३४६-ध्रुव की ध्रुवता एव ध्रुवशब्द यवहार ८६५
का पारिभ्रमिक समन्वय
- ३५ -कदम्ब के चारों और परिभ्रममाण ध्रुव
५१ सप्तर्षिक्रम के सन्निवेश का सस्मरण
- ३५२-लघुसप्तक और ऋत्नपनी
- ३५३-लघु-नक्षत्र सप्तक और मन्त्रश्रुति का
सस्मरण
- ३५४-लघुसप्तवि (ऋत्नपनी) परिचायक
परिलेख
- ३५५-ध्रुवपारभ्रमणात्मक-बृहत् सप्तर्षि
परिलेख
- ३५६ ध्रुवपरिभ्रमण निबन्धन-मेरुपरिवत्तन
- ३५७ ब्रह्मनिवासस्थानानुगता मेरुबिन्दु
- ३५८ मेरूमूला त्रिलोकी का सस्मरण ८६६
- ३५९ निरक्षवृत्तानुगता लङ्का
- ३६ -प्रथममध्याह्नरेखा का उपक्रमस्थान
- ३६१-लङ्का और सीलोन के अमेद-यवहार
की महती भ्रान्ति
- ३६२ सीलोन और सिंहलद्वीप ८६७
- ३६३-लङ्काद्वीप का सिंहलद्वीपामक सीलोन
से सवथा पाथक्य
- ३६४-लङ्का-कोलम्बो-मद्रास उजैन सिद्धपुर
कुरुक्षेत्र आदि देशों का स्पर्श करने वाली
प्रथम मध्याह्नरेखाभिका भूम यरेखा
- ३६५-निरक्षदेशत उजैन का परिमाण
- ३६६ ७६ अशातरानुगता भारतीय मध्यरेखा
- ३६ --निरक्षत उपक्रान्त मेरुपथ्यन्त-व्याप्त
प्रदेश और ६ अश
- ३६८ २४ ४२ २४ भेद से ६० अशामक
प्रदेश का ब्रह्मा के द्वारा त्रिधा विभाजन
- ३६९-२४ अश और मेरूमूला त्रिलोकी का
पृथिवीलोक
- ३७ -४२ अश और मेरूमूला त्रिलोकी का
अन्तरिक्षलोक

- ३७१-२४ अश और मेरूमूला त्रिलोकी का द्युलोक ८६७
- ३ २ आधिदैविक त्रिलोकी
- ३७३-आमगतित्रिलोकी
- ३७४-आधिभौतिकी मेरुत्रिलोकी
- ३७४-मेरूमूला देवत्रिलोकी परिलेख ८६८
- * २ प्राङ्मेरु (पामीर) मूला देवत्रिलोकी ***
- ३७५-प्राङ्मेरु का सस्मरण ८६९
- ३७६-प्राङ्मेरूमूला त्रिलोकी का सस्मरण
- ३७७-एशियायी त्रिलोकी
- ३७८-प्राङ्मेरु प्रागमेरु और पामीर
- ३ ६-विशद उच पठार और पामीर
- ३८ महाभूप्रदेशों का केन्द्रभूत पामीर
- ३८१-पामीरत दक्षिण भारतवर्ष
- ३८२-पामीरत उत्तर चीन
- ३८३-पामीरत उत्तर रूस
- ३८४-पामीरत पश्चिम-तातार
- ३८५-पामीरत दक्षिण पश्चिम अफगानिस्थान
- ३८६-भौगोलिक-एशियाखण्ड और पामीर
- ३८७-पौराणिक त्रैलोक्य का मूलाधार
भूतप्राङ्मेरु
- ३८८-मेरु और प्राक तथा प्राङ्मेरु
- ३८९-मेरु और उपमेरु
- ३९ -इलाहूतवर्षावच्छिन्न मेरु
- ३९१-तुरुष्कराय समीपवर्ती प्राग्मेरु
- ३९२-सर्वोच्चभाव का सम्राहक मेरु शब्द
- ३९३-अयुचतर और तारतर
- ३९४-तारतर-तातार और टारटरी
- ३९५-पामीरवाचक तारतर शब्द और तुरुष्क
(तुर्किस्तान) राज्य
- ३९६-तारतर-तातार और तातारी ९
- ३९७-सीमाप्रकरण का सस्मरण
- ३९८-सुमेरुत्वाशककुरु
- ३९९-निरक्षदेशत ६ अशानुगत पामीर

- ४ प्राग्मेरु से पूववाहिनी सीतानदी ६
- ४ -सीता और चीनीभाषा की ढाडहू
- ४ २-ढाडहू याडमी मेकाङ्क रूपेण त्रिधा रागिका सीतानदी
- ४ ३-प्राग्मेरुसे उत्तरवाहिनी भद्रानदी
- ४ ४-भद्रा सोमा और भद्रसोमानदी
- ४ ५-ओवी लीता इलीसा रूपेण त्रिधारागिका भद्रसोमानदी
- ४ ६-प्राग्मेरुत पश्चिमवाहिनी यत्तुनदी
- ४ ७-यत्तु चत्तु और एकसस
- ४ ८-प्राग्मेरु से दक्षिणवाहिनी भारत भाग्य विधात्री अलकनदा
- ४ ९-पुराणानुगत चतुगङ्गम्
- ४ १-दाक्षणावाहिनी-अलकनन्दा की सात शाखाए एव तमूलक सप्तगङ्गम् का सस्मरणम्
- ४ ११-बसोर्घास सरस्वती विष्णुपाताली गरुडगङ्गाएँ और अलकनन्दा ६ १
- ४ १२-भगवती भागीरथी त्रिपथगा
- ४ १३-हरिद्वार का ब्रह्मकुण्ड और त्रिपथगा का भूतल से सस्पर्श
- √ ४ १४-स्वगश्री का उपहास
- ४ १५-भौम भुवनकोश का पृथिवीलोक
- ४ १६-भारताग्नि और भारतवष
- ४ १७-मयलोक-मानुषलोक भूलोक
- ४ १८-इरावती और शिवालक
- ४ १९-इरावती और रावी
- ४ २-अग्निलोक और भारतवष
- ४ २१-शय्यणावत और अन्तरिक्षलोक
- ४ २२-विद्याधर सिद्ध-गधर्मादि त्रिय्यग जातियाँ और अन्तरिक्ष
- ४ २३-वैभ्राजवन चैत्ररथ वन आदि विहार भूमियाँ
- ४ २४-वायुलौकात्मक अन्तरिक्षलोक
- ४ २५-स्वगप्रदेश और स्वर्गा यक्षेद्र का सस्मरण ६ १
- ४ २६-अग्निलोका मक भारतवर्ष
- √ ४ २७-इद्रलोका मक स्वगदेश
- √ ४ २८-ऐरावतवष और इद्रलोक
- √ ४ २९-मनुष्य मरुत् देव भेदभिन्न तीनों लोकों की त्रिविधा प्रजा
- ४ ३-अक्षाशानुपात से भौमत्रैलोक्य का स्वरूप समवय
- ४ ३१-उच्छिन्नप्राया त्रैलोक्य यवस्था
- ४ ३२-दायविभागानुगत अखण्ड प्राजापय भारत की खण्ड-खण्डरूप में परिगति और हमारा भाङ्कतापूर्ण नि सीम दुर्भाग्य
- ४ ३३-सुलेमान हिदूकुश किरथरकर नाम की पवतत्रयी और तदनुबन्धिनी हिन्दुस्ताना नुगता सीमा ६ २
- ४ ३४-भारत और हिदुस्थान शर्दों की यापकता और व्याप्यता
- ४ ३५-भारतीय सीमानुगता महती भ्राति और सिधुनद
- ४ ३६-भ्रान्तिनिराकरण प्रयास
- ४ ३७-९ अशामक वष और भारतवर्ष का वास्तविक स्वरूप
- ४ ३८-९ अशामक भारतवर्ष
- ४ ३९-९ अशामक केतुमालवर्ष
- ४ --९ अशामक भद्राश्ववर्ष
- ४ ४१-९ अशामक-कुरुवष
- ४ ४२-स्वपरिभाषानुगता भारतसीमा
- ४ ४३-रत्नसमुद्र (रेडसी) का सस्मरण
- ४ ४४-महीसागर का भारिभाषिक मही श द और मही-लोकात्मक भारतवष
- ४ ४५-लोकत्रयी का सस्मरण
- ४ ४६-स्वस्वाधिकार की उपेक्षा
- ४ ४७-लक्ष्मीभूत भारतवष
- ४ ४८-महीसागर और मेडिड्र नियेसी ६ ३

- ४४६-स्वज नहर से अनुगत भूप्रदेश ६ ३
 ४५ -वणिकतन्त्रों की सषषस्थली-स्वेजकनाल
 ४५१-नीलनदी का सङ्गम और महीसागर
 ४५२ अवीसीनया और हस नामक पवत
 और हतभा य अवीसीनिया
 ४५३ भारतवष की पश्चिमसीमा का दिग्दशन
 ४५४-४५ अशत पूव पीतसमुद्र (यलोसी)
 ४५५ फारमूसाद्वीपोपलक्षित-प्रशान्तमहासागर
 और भारतवर्ष की पूर्वीसीमा का दिग्
 दशन
 ४५६-दक्षिणसीमानुगत दक्षिणसमुद्र
 ४५ -उत्तरसीमानुगत-तुरुष्कदेश
 ४५८-चतु सीम भारतवष के देश और देशा
 वयो का संस्मरण
 ४५९ दृश्यगोलाद्ध का परिक्रमण
 ४६ -अवस्तानोपलक्षित रेड्सी से एशियाखण्ड
 का उपक्रम ६ ४
 ४६१-अलास्का नामक (अमेरिका के उत्तर)
 भूभाग पर एशियाखण्ड का विराम
 ४६२ एशिया का द्वार भस्थान अर्बस्थान
 ४६३-वर्मा चीन श्याम अनाम कम्बोडिया-आदि
 पूर्वाणुगत प्रान्त और अत्रण्ड भारत
 ४६४-तिवत तुर्किस्तान रूस -मॅंगोलिया आदि
 उत्तरानुगत प्रान्त
 ४६५ भारतवष की पश्चिमसीमा का रिभा
 षिक-समवव
 ४६६-दृश्य उत्तरी-गोलाद्ध का स्वरूप समवव
 ४६७ अदृश्य-गोलाद्ध तथा दृश्यगोलाद्धों के
 क्षेत्रफलों का विस्तार
 ४६८-वि वद्रेखानुपात से उभयगोलाद्धों का
 सा ।
 ४६९-भूप्रदेशापेक्षया उभयगोलाद्धों की
 प्रदेशानुगता विषमता

- ७ -भारतवष और भद्राश्ववष से अनुगत
 द्विवर्षामक दृश्य गोलाद्ध ६ ४
 ४७१ कुरुवष और केतुमालवर्ष से अनुगत
 द्विवर्षामक अदृश्य गोलाद्ध ६ ५
 ४७२-देवप्रजा का दायाद और उत्तरी दृश्य
 गोलाद्ध
 ४७३-असुरप्रजा का दायाद और दक्षिणी
 गोलाद्ध
 ४७४-भारतीय भुवनकोशानुगत ६ अशामक
 भारतवर्ष
 ४७५-अरब मयसोपोटेमिया-जूडिया-
 एशियामाइनर ईरान अफगानिस्तान
 तिब्बत तुर्किस्तान चीन -मॅंगोलिया
 श्याम-वर्मा अनाम-कम्बोडिया
 आदि को समष्टिरूप ६ अशात्मक
 वास्तविक अखण्ड भारतवष और
 तत्सम्बन्ध मे मनुवचन का
 संस्मरण
 ४७६-आ हिमवत आ च कुम्मार्या -
 सिधुवैतरिणी नदी । सूर्य्य-
 स्योदयन पुर यावद्वा कृष्णमृगो
 चरति तावद्ब्रह्मवर्चसम्
 ४७७-आर्यावत्त की सीमा सिधुनद
 ४७८-ऐन्द्रब्राह्मण और आर्यावत्त
 ४७९-वारुणब्राह्मण और आर्यायण
 ४८ -श्रृङ्गाश्वशृषि और सर्वश्री महाभाग
 जरथुस्त्र
 ४८१-विवाहानुगत कलह और आर्यावत्त
 तथा आर्यायणरूपेण भारत का द्विधा
 विभाजन
 ४८२-पूर्वाभारतवष और आर्यावत्त
 ४८३-पश्चिमीभारतवष और आर्यायण
 ४८४-इन्द्रसत्ता से अधिकृत आर्यावत्त

४८५-वरुणसत्ता से अधिकृत आर्यायण	६ ६	५ ५-देवत्रिलोकी से अनुगत पाञ्चभुवनकोश	६ ६
४८६-आर्यायण और ईरान		५ ६-भूपियडनिवासी मानुषदेवता और मानुष असुर	
४८७-पुवस्थान और आर्यावत्त		५०७-देवत्रिलोकी पर अधिकार कामुक आसु मानव और देवप्रजा की भावुकतापूर्णा उदासीनता	
४८८-पारस्थान और आर्यायण		५ ८-चर्मरज्जु से असुरों के द्वारा भू का परिमाणामक नियम त्रण	
४८९-पारस्थान और पारसी		५ ९-देवप्रजा का सहसा उद्बोधन एव भू विभाग में विप्रतिपत्ति	६१
४९ पारस्थान की पारिभाषिकी सीमा और विसवाद-समन्वय		५१-देवत्रैलोक्यरूपा यज्ञभूमि और देवयजन भूमि का समग्र	
४९१-वैदिकी पश्चिमवाहिनी सरयू नदी		५११ पाञ्चभुवनकोश की यज्ञभुवनकोशामकता	
४९-सरयूनदी का पारिभाषिक प्रवाह		५१२-शुम्भ निशुम्भ का दिग्दर्शन	
४९३-इण्डिया-नाम-समन्वय		५१३-यूय प्रयात पातालम्	
४९४-पूर्व पश्चिम भारत की आर्य्य अभिधा का पारिभाषिक समन्वय और तस्मिन् ध में श्रुक्श्रुति		५१४-शेषा पातालमाययौ	
४९५-पुराणानुगत सीमाप्रसङ्गों का पारिभाषिक सस्मरण		५१५-वज्राङ्गद के वेश्यापुत्र तारक के द्वारा देवप्रजा का उपीडन	
४९६-भारतवष के द्वीपो तथा उपद्वीपो का सस्मरण	६ ७	५१६ पावतीनन्दन स्क द के द्वारा असुरबल का विनाश	
४९७-भारतीय-नाम और वत्त मान नामों का नैगमिक-साम्य प्रदर्शन		५१७-सुप्रसिद्ध त्रिपुरासुर और भयानक देवा सुरसम्राट	६११
४९८-भारतीयोपद्वीपसष की वत्त माना प्रतीच्या अभिधा		५१८-त्रिपुराख्यान का सस्मरण	
४९९-भारतीयोपद्वीपपरिलेख	४९८	५१९-स्वगस्थ देवताओं तथा पातालस्थ असुरों की पुरनिर्माणासक्ति	
५-भारतीय भुवनकोश का परिचयामक समन्वय एव दायविभागमूलक प्रकृत आख्यान		५२-उपसद्धोम और देवपुर	
५ १-पुराणसाहित्य का विज्ञानदृष्टि से अवलोकन	६ ६	५२१-मयासुरवशजों के द्वारा त्रिपुर निर्माण पद्धति का आविष्कार	
५ २-पुराणसाहित्य का सवमूढ न्यव		५२२-मयसोपोत्तम और मयसोपोटेमिया तथा मयासुर	
५ ३-पुराणों के प्रति उपेक्षा से भारतीय सांस्कृतिक निधि का अपलाप और हमारी अज्ञता		५२३-मयराष्ट्र और मेरठ	
५ ४-पाञ्चभुवनकोशोपराम		५२४-तारकासुर का महान् शौर्य्य	
इति-पाञ्चभुवनकोश -		५२५-विद्यु माली तारकासुर अम्बुजाक्ष नाम के तारकपुत्र	
ब्राह्म			
* * *			

- ५२६-सुवण-रजत-लौहमय-तीन पुरों का
रहस्यामक निर्माण ६१२
- ५२७ त्रिपुरी और त्रिपुरासुर
- ५२८ त्रिपुरी और आज की टिपुली
- ५२९-त्रिपुरवध और त्रिपुरारि महादेव
- ✓ ५३ -देवपुरियों का सस्मरण और ब्राह्मण-
श्रुति
- ✓ ५३१-महाबलवान् वराहासुर का सस्मरण ६१३
- ✓ ५३२ देवेद्र के द्वारा भारतीय प्रजा की भरण
पोषण-व्यवस्था का स्वर्गीय चित्रण
- ✓ ५३३ भारतराष्ट्रपति देवेद्र
- ५३४-भूतचिन्ताश्रो से उन्मुक्ता भारतीय प्रजा
- ५३५-भारतीय अन्नकोश और तद्विभागाध्यक्ष
- ५३६-बसोर्द्वारा और सञ्चित अन्नकोश
- ५३७-ओङ्कार और अन्न का सरक्षण
- ५३८-वराहासुर के द्वारा अन्नापहरण
- ✓ ५३९-विष्णु और इन्द्र के द्वारा वराहासुर का
विनाश और अन्न का पुनरावत्तन
- ✓ ५४ -वराहासुर की भोजनसामग्री और
ऋक मन्त्र ६१४
- ✓ ५४१-पणियों की गाएँ और बलासुर
- ✓ ५४२-बलाराति इन्द्र के द्वारा बलासुरवध
- ✓ ५४३-विजयाभिनन्दन-महोत्सव एवं अभिगर
प्रतिगर
- ✓ ५४४-ऋग्वेदकालीन द्वादशविध देवासुर
सम्राजों का नाम-सस्मरण
- ५४५-ताराहरणोपाख्यान और भारत पर
भीषण आक्रमण
- ✓ ५४६-देवासुर-दायाँविभागानुगत- आधिदैविक
चरित्र का उपराम ६१५

❀ देवासुरदायविभागारयाना- नुगत-आध्यात्मिक-समन्वय ❀

- ५४७-यथा अण्डे तथा पियडे और आधि
दैविक ब्रह्माण्ड ६१५
- ५४८-आध्यात्मिकपियडे
- ५४९-अयामानुगता देवत्रिलोकी और
असुरत्रिलोकी
- ५५ पञ्चाग्निविद्यानुगत अप्तव और
अयामसस्था
- ५५१-अप्तव का प्राधान्य और प्रज्ञोत्पत्ति
- ५५२-भृगु और अङ्गिरामय अप्तत्व का
पारिभाषिक-समवय
- ५५३-आयप्राण प्रधान असुर
- ५५४-आसुरभावप्रधान शुक्र शोणित
- ५५५-अयामसस्था पर असुरों का अधिकार
- ५५६-अद्भ्य पृथिवी सिद्धात का सस्मरण
- ५५७-आसुरप्राणमयी पृथिवी
- ५५८-दवायकासभूमिरूप सूर्य
- ५५९-बुद्धि के द्वारा देवदेवताओं की अध्यात्म
सस्था में प्रतिठा
- ५६ -बुद्धि की प्रातष्ठाभूमि मन
- ५६१ षोडशवर्षाभिका आयु और मन की
अपरिपक्वता ६१६
- ५६२-परिपक्वमन और सौरी बुद्धि
- ५६३ मानव और बालक
- ५६४-बालक और मन
- ५६५-बालस्वभाव का स्वरूप विश्लेषण
- ५६६-ताड़न और लालन
- ५६७-मधुरशासनानुगत बालक
- ५६८-बालावस्था और बौद्धिक-यापार की
शिथिलता
- ✓ ५६९-वृत्रासुर और मनोमय चन्द्रमा
- ✓ ५७ -अज्ञानाघकाररूप वृत्रासुर

✓ ५७१ असुरों का प्रभुत्व	६१६	५८८-भूपिण्ड के स्वरूपनिर्माण का ताविक-स्वरूप दिग्दर्शन	६१६
५७२ विष्णुदेवता के द्वारा आ यामिक यज्ञ की प्रवृत्ति और असुरपराभव		५८९-आप्यप्राणा मक असुर और भूपिण्ड	
५७३ सर्वे देवा उपासते का सस्मरण	६१७	५९ -वायु के सयोग से अपतत्त्व की आठ-अवस्थाओं में परिणति और भूपिण्ड का स्वरूप निर्माण	
५७४- अन्नमय हि सौम्य । मन		५९१-बलाधायक-बलप्रवत्त क आप्य प्राण का असुरत्व	
५७५-अशनायासूत्र और अन्नागमन		५९२-सयामक अग्नि	
५७६-यज्ञा मक विष्णुदेव		५९३-भूपिण्ड और सयामक हृदयभाव	
५७७-वै णवयज्ञ का उदक		५९४-सयामिनी की प्रतिष्ठा	
५७८-मानवबुद्धि में विबक का जागरण और असुरपराभव		५९५ का वालीकृता पृथिवी	
५७९-आ यामिक देवासुर-दाय विभागानुबन्धी तथ्य का उपराम		५९६ असुराधिपययुक्ता पृथिवी	
* * *		५९ -अस्माकमेवेद खलु भुवनम् इत्यादि वचन का पारिभाषिक समन्वय	
५८ -देवत्रिलोकी तथा असुरत्रिलोकी स्वरूप परिलेख —		६८ गुणदोषा मक विश्वसग	
❀ देवासुरदायविभागारयानुगत आधिदैविकचरित्र का समन्वय ❀		५९६-तमोमूला सृष्टि	
५८१ सूचोक्त्याहन्यायानुगत आधिभौतिक तथा आ यामिक-चरित्र का उपराम एव आधिदैविक चरित्र का उपक्रम	६१६	६ -महादोषामक तमोभाव	
५८२-सृष्टि का आरम्भकाल और देवासुर अधिकार-मीमासा		६ १ दैवीसम्पत्ति और गुणविभूति	
५८३ सृष्टि का आरम्भकाल और भूपिण्ड पर केवल असुरप्राण का साम्राज्य		६ २-आसुरीसम्पत्ति और दोषविभूति	
५८४-असुराधिकार से अधिकृत अयशिय भूखण्ड		६ ३-गुण-दोष की प्रतिस्पर्द्धा	६२
५८५-वि णु के द्वारा भूपिण्ड के अमुक प्रदेश का यशिय व और तत्प्रदेश का वेदिव		६ ४-गुणभाव का क्वाचित्क विनय	
५८६-देवताओं के द्वारा निर्विघ्न यज्ञवितान और सम्ब सररूपेण त सनातनता		६ ५-दोषभाव का सर्वत्र साम्राय	
५८७-आधिदैविक-चरित्र के भूपिण्ड, गायत्री त्रिष्टुप् जगती विष्णु और देवता नामक ज्ञातव्य-तत्त्व		✓ ६ -देवासुरसंग्राम का स्वरूप	
		६ ७-स्वयम्भू की गुणविभूति और ऋषि	
		६ ८-परमेष्ठी की और पितर	
		६ ९-सूय की और देवदेवता	
		६ १ -चन्द्रमा की और गधर्व	
		६ ११ भूपिण्ड की और मानव	
		६ १२-स्वयम्भू की आसुरी विभूति और बल	
		६ १३-परमेष्ठी की और अनिरुक्ततम	
		✓ ६ १४-सूर्य की और नम्रुचि	
		✓ ६ १५-च द्रमा की और वृत्र	
		६ १६-भूपिण्ड की और सैहिकेय	

६१७-ज्योतिर्मय देवदेवता	६२	६४६-अग्निर् वै यज्ञ	६२२
६१८-तमोमय असुर		६४७-एष हि यज्ञस्य सुकृत्यदग्नि	
६१९-ज्योतिस्तव के पाँच महिमा विवत्त		६४८-अग्निर्वै योनियज्ञस्य	
६२० परमेष्ठी और सवगुणक महान्		६४९-आहुतिर्हि यज्ञ	
६२१ परमेष्ठी और रजोगुणक महान्		६५० अग्नौ सोमाहुतियज्ञ	
६२२-परमेष्ठी और तमोगुणक महान्		६५१ यज्ञ के पारिभाषिक अर्थों का समवय	
५२३-अनिरुक्त तमोरूप असुरप्राण		६५२-दाहक तव और आग्ने	
६२४ त्रिगुणामिका प्रकृति का वरूप समवय		६५३-दाह्यतव और सोम	
६२५ गुणामक महानामा		६५४-स्यते इति सोम	
६२६-महानात्मविवत्त त्रयी-स्वरूप परिलेख (पृ स ६२ ६२१ के मध्य में)		६५५ सोम शान्त का यापकाथ	
६२७-स्व-ज्योतिर्मय सूर्यनारायण	६२१	६५६ इ मन्वृत्त तैलाद की सोमरूपता	
६२८-सौरमण्डल में असुरप्रवेश निषद्ध		५७ यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवता	
६२९-मेघानुगत नमुचि नामक असुरप्राण		६५८-सोमो व एवो राजा	
✓ ६३० सौर इंद्र के द्वारा नमुचि का शिरश्छेद और जलवषण		६५९-या वै विष्णु सोम स	
६३१ असुरविनाश और सुख शान्ति		६६०-अग्नि सोम मय-यज्ञमूर्त्ति विष्णु	
६३२-परमेष्ठी से समतुलिता चाद्री स्थिति		६६१-हिरण्यगभ नामक धामनिधि का आविर्भाव	
६३३-भूतप्रधान भूपिण्ड		६६२ हिरण्यगभ समन्तताग्र	
६३४-आवरण की पराकाष्ठा और भूपिण्ड		६३-सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्	
६३५ प्रकाश का आयन्तिक पराभव और भूपिण्ड		६६४-भूत यो म्मय सौरयज्ञ	
६३६-असुरसाम्राज्यकाल का सस्मरण और ब्राह्मणश्रुति का समवय		६६५-श्वतद्वीपनिवासी सयनारायण भगवान्	
६३७-असुरों के अधिकार से युक्त भुवन		६६६-सौर अग्नि की सयरूपता	
६३८-देवासुरभाव समवय परिलेख		६६७-आपोमय परमेष्ठी के गभ में प्रतिष्ठित सत्यनारायण विष्णु	६२३
६३९ वामानविष्णु का साहाय्य	६२२	६६८-याश्चावस्तादुपतिष्ठत आप	
६४०-सौरदेवताओं का भूपिण्ड में आगमन		६६९-नारदप्राण का स्वरूप समन्वय	
६४१-देवप्राणामक-भूपदेश की यज्ञरूपता		६७०-नार अयन और नारायण	
६४२-छन्दोऽवच्छिन्न विष्णु की यापति और देवाधिकृत भूपिण्ड		६७१-स य स विष्णुयज्ञ स	
६४३-यज्ञो वै विष्णु		६७२-स य स यज्ञ असौ स आदित्य	
६४४-विष्णुर्वै यज्ञ		६७३-चित्र देवानामुदगात्	
६४५-अग्निर्वै यज्ञमुखम्		६७४-सयसहिता वै देवा	
		६७५-देवदिक् प्राची	
		६७६-ते प्राञ्च विष्णु निपाद्य का पारिभाषिक समवय	

६७७--गतिशून्य यज्ञतत्त्व	६२३	७ ७ चतुर्धा विहितो ह वा अग्न आग्निरास इत्यादि श्रुति का समन्वय	६२५
६७८--यज्ञमूर्ति सूत्र्य का स्थिरत्व		७ ८--चतुर्धा--विभक्त अग्निपरिलेख	
६७९--देवगति से अनुगत यज्ञविष्णु		७ ९--प्रकृत देवासुराख्यान् और तृतीय अन्न दाग्नि	
६८०--यज्ञविष्णु का छुदों से वेष्टन		७ १०--सौर यज्ञमूर्ति अन्नदाग्नि की विष्णुरूपता	
६८१--अग्नीषोमामक यज्ञमूर्ति विष्णु		७ ११--तृतीय अन्नादाग्नि की अवातर-चार अवस्थाओं का सम्मरण	
६८२--दिक चतुष्टयी से अनुप्राणित यज्ञाग्नि की चार अवस्थाएँ		७ १२--आहवनीयाग्नि गाहपत्याग्नि दक्षिणाग्नि पाशुकाग्नि भेदेन अन्नादाग्नि के चार महिमामय विवक्त	
६८३--ब्रह्माग्नि अङ्गिरोऽग्नि अन्नादाग्नि पाशुकाग्नि भेदेन मौलिक अग्नि के चार महिमा विवक्त	६२४	७ १३ अनुष्टुप छन्दस्क सौर सावित्राग्नि	
६८४--अग्नि की यज्ञ पुरुषरूपता		७ १४--अन्नदाग्नि का प्रजापतित्व	
६८५--यजुरग्नि की वागरूपता		७ १५ अङ्गीभक्त प्रजापत्याग्नि	
६८६--अग्नेर्वागोवोपनिषत् का सम्मरण		१६ अङ्गामिका अग्नित्रयी	
६८७--सावयाजुषाग्नि का सम्मरण		७ १७--पृथिव्यनुगत गाहपत्याग्नि	
६८८--यजुरग्नि से परमेष्ठी का ज म		७ १८--अ तरिज्ञानुगत--दक्षिणाग्नि	
६८९--ऋक्समुद्र और महोक्थ		७ १९--दुर्वाद्यनुगत-पाशुकाग्नि	
६९०--सामसमुद्र और महाव्रत		७ २०--त्रैलोक्यव्यापक आहवनीयाग्नि	
६९१--यजु और पुरुष		७ २१--प्राजापत्य अनुष्टुप छन्द का इतर छन्दों की प्रतिष्ठाभूमि-व	
६९२--अनादिनिधना निया वाक		७ २२ अनुष्टुप छन्द का पारिभाषिक समन्वय	
६९३ द्वितीय अङ्गिरोऽग्नि		७ २३--देवप्रतिष्ठारूप अनुष्टुप छन्द	६२६
६९४ सुब्रह्माग्निरूप श्रुताग्नि		७ २४--अनुष्टुप हि छु दसा योनि	
६९५--सौराग्निरूप अन्नादाग्नि		७ २५--प्रजापतिर्वा अनुष्टुप	
६९६--अथर्ववेदमूर्ति पारमेष्ठिय अङ्गिरोऽग्नि		७ २६--ज्येष्ठ वा अनुष्टुप	
६९७--तृतीय अन्नादाग्नि		७ २७--परम वा एतच्छन्दो यदनुष्टुप	
६९८--अन्नादानभाव और अन्नादाग्नि		७ २८ अन्तो वा अनुष्टुप छन्दसाम्	
६९९--यज्ञाग्नि छन्दस्याग्नि सयाग्नि		७ २९--विश्वेदेवा अनुष्टुप समभरन्	
७ ०--अन्नादाग्नि की अभिव्यक्ति का समन्वय		७ ३०--अनुष्टुपो वै प्रजापति	
७ १--अन्नादाग्नि और अङ्गिरोऽग्नि का रहस्यामक-पारिभाषिक तारतम्य		७ ३१--प्रजापत्याग्निरूप आहवनीयाग्नि	
७ २--चतुर्थ-पाशुकाग्नि		७ ३२ अग्निं पुरस्तत् समाधाय तेनार्चन्त आम्यन्तश्चेद इत्यादि ब्राह्मणसन्दर्भ का समन्वय	
७ ३--प्रवग्यरूप पाशुकाग्नि			
७ ४--स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित पाशुकाग्नि			
७ ५--पञ्चविध पाशुकाग्नि			
७ ६--भौम-अग्नि का पाशुकाग्निमयत्व			

७३३-गाहपत्याग्नि का स्वरूप-सस्मरण	६२६	६२-जागत पाशुक अग्नि	६२८
७३४-सु योपग्रहरूप भूपिण्ड		७६३-पशवो वै जगती	
७३५-सौर अज्ञादाग्नि का प्रवर्ग्यरूप भूपिण्ड		७६४-जागता वै पशव	
७३६-गृहपति पार्थिवाग्नि		६५-पशुभाव की अन्नरूपता	
७३७-गृहा वै गाहपत्या और गार्हपत्याग्नि		७६६-भोग्यामक निरायतनभाव	
७३८-पश्चिमादिक और अद्भ्य रात्रि		७६७-यज्ञाग्निरूप त्रेताग्नि का सस्मरण	
७३९-अद्भ्य रात्रि और गाहपत्याग्नि		७६८-आय इध्म-वर्हि हवि-आदि का पाशुका ग्निमयव	
७४-त्रिष्टुपुच्छ-दा-गाहपत्याग्नि		७६९-पृथिवी की पूषविदु और सौराग्नि	
४१-पश्चिमानुगत-त्रिष्टुपुच्छदस्क पार्थिवाग्नि का स्वरूप समन्वय		७७-पश्चिमविन्दु और गार्हपय	
७४२-पार्थिव वागग्नि का अङ्गिरास्त्व	६२७	७१-दक्षिणविदु और अपत्याग्नि	
७४३ आदि-यानि और अङ्गिरोऽग्नि का आगमन-गमन और मन्त्रश्रुति		७७२-उत्तरविदु और पाशुकाग्नि	
७४४-तृतीय दक्षिणाग्नि का सस्मरण		७७३-भूपिण्ड और वेदि	
७४५-अपत्याग्निरूप दक्षिणाग्नि		७७४-परिलेख के द्वारा वेदि का स्वरूप- समन्वय	
७४६-तिव्यग्भावापन्न-दक्षिणादिक में याप्त अग्नि और दक्षिणाग्नि		७७५-वैधयज्ञवेदिपरिलेख	६२६
७४७-दक्षिणस्था आग्नेयी ओषधियाँ		७७६-अग्निहोत्रशालापरिलेख	६३०
७४८-दक्षिणस्थ अग्नि का गायत्रीछन्द से वेष्टन		७-दर्शपूर्णमासविहारपट्टपरिलेख	६३१
७४९-हवि परिपाककर्ता अग्नि		७७८-विष्णुयज्ञ का अग्रणीत्व और यज्ञस्वरूप का वितान	
७५-मकरवृत्तामक-गायत्रीछन्द और दक्षि- णाग्नि		७७९ एनेन (विष्णुना) इमा सर्वा समविन्दत का समन्वय	
७५१-चतुर्थ-पाशुकाग्नि का सस्मरण		७८-वेदि शब्द का निर्चचनामक समन्वय	
७५२-भूपृष्ठ से सलग्न पाशुकाग्नि		७८१-देवाधिकार-स्थापन-समन्वय	
७५३-सकरभावापन्न पाशुकाग्नि		७८२-यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी का पारिभाषिक समन्वय	६३२
७५४-द्यावापृथिव्य पाशुकाग्नि		७८३-असुरनिवासजिज्ञासा और तसमाधान समन्वय	
७५५-विशुद्ध अग्नि से पृथगभूत पाशुकाग्नि	६२८	७८४-अदितिरूपा दिव्या पृथिवी	
७५६-पूर्वानुगत सावित्राग्नि		७८५-दितिरूपा आसुरी पृथिवी	
७५७-पश्चिमानुगत-गाहपत्याग्नि		७८६-अदितिभाग पर देवप्रजा का अधिकार	
७५८-दक्षिणानुगत अपत्याग्नि		७८७ दितिभाग पर असुर प्रजा का अधिकार	
७५९-उत्तरानुगत-पाशुकाग्नि		७८८-चतुर्धा विहित अग्नि से अनुप्राणित आख्यान के रहस्यामक समन्वय का उपराम	
७६-जगतीछन्द से छुदित उत्तरानुगत पाशु काग्नि			
७६१-ककवृत्तामक जगतीछन्द			

७८६ अग्नि दिति प्रथिवी परिलेख	६३३	८१५ सकोचभावामक म्लानभाव	६३५
७८७-अनुष्टुप छन्द के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति और तन्निराकरण प्रयास	६३४	८१६-हृद्ग्रन्थि प्रवृत्ति एवं आमविकास का तिरोभाव	
७८१-अनुष्टुप छन्दोमूला छन्दस्त्रयी		८१७-सोमामक विष्णु का म्लानभाव	
७८२-प्रादेशमितो वै प्राण		८१८ सूयकेन्द्रस्थ विष्णुदेवता	
७८३-वामन और प्रदेशभाव		८१९-मूलविष्णु का रहस्यामक स्वरूप	
६४-वामनो ह वा अग्रे विष्णुरास		८२-तूलविष्णु का	
७८५-अग्र आस का समवय		८२१-प्राप्तुमशक्य विष्णु की म्लानरूपता	
७८६ अग्निपुरोगा सर्वे देवा प्रीयताम्		८२२ दिकत्रयी तथा छन्दस्त्रयी से परिवेष्टित विष्णु	
७८७-प्राणोदानरूप अकव्यापार		८२३ म्लानविष्णु का ओषधिमूलों में गमन	
७८८ वाग्यापाररूप श्रम		८२४-यज्ञामक सोरस के पान से पुष्पिता पल्लवित्ता ओषधियाँ	
७८९ तेनाचत श्राम्यतश्चेरु का पारिभाषिक समवय		८२५ सौम्या (वष्णवी) ओषधियाँ	
८ याज्ञिकबल का स्वरूप दिग्दर्शन		८२६-ओषधिपति सौम्य-वद्रमा	
८१-फलश्रुति का अक्षराथ-समवय		८२७-ओषधियों का आमदृष्ट्या पोषक अग्नि ६३६	
८२-विष्णुदेवता की म्लान अवस्था का रहस्यामक समवय		८२८-सौरी ऊष्मा और ओषधियों का परिपाक	
८३-ओषधिमूलों में प्रविष्ट विष्णुदेवता		८२९-ओषधत्त रूपा ओषधियाँ	
८४-त्र्यङ्गलमिता भूमिका निखनन और विष्णुप्राण की उपलब्धि		८३-म्लानभाव और साक्षाद्रूप से प्राप्तुमक्य	
८५-लक्ष्मीभूत विष्णुप्राण		८३१-ओषधिमूल से सलग्न भूपृष्ठभाग	
८६-पाञ्चमी आदि याज्ञिकों के त्र्यङ्गुलाभिनवेश का निराकरण		८३२ (क) ओषधिनिर्माण प्रक्रिया में विष्णु देवता के दर्शन	
८७-त्र्यङ्गुला वेदि स्यात् का वैज्ञानिक समवय		८३२ (ख)-विष्णु की स्वरूप परिभाषा	
८८-विष्णुदेवता के म्लानव का विचार-प्रसङ्ग	६३५	८३३-दैनदिनयज्ञामक अहरहयज्ञ	
८९-आर्गातधर्मा विष्णु नामक अक्षरत व का संस्मरण		८३४-बीजवपन और ओषधि-निर्माणोपक्रम	
✓ ९०-गतिधर्मा इन्द्राक्षर का संस्मरण		८३५-यमराजु और ओषधियों के जीवनीयरम पर आक्रमण	
८११-स्थितिधर्मा ब्रह्माक्षर का		८३६-यमवायु के आघात के निरोधक पारवद्वय और बीज का रक्षा मक स्वरूप	
८१२-स्थितिधर्मित गतिरूप अग्न्यक्षर का		८३७-बीज का भूगर्भ में प्रवेश और अङ्कुरोद्गम	
८१३-स्थितिधर्मित आर्गातिरूप-सोमाक्षर का		८३८-गर्भानुगत वृन्त और तदनुगता बीजा मिका हृदयशक्ति	
८१४-सकोचधर्मात्रच्छिन्न सोम		✓ ८३९-हृदयशक्ति की ब्रह्म त्रिविष्णुरूपता	

- ८४ - हृदयम और अक्षरत्रयी ६३६
 ८४१-शक्तित्रयी का रहस्या मक काथ्य समन्वय
 ८४२- म ये वामनमासीन सर्वे देवा-उपासते
 का रहस्या मक समन्वय
 ८४३-अप्रानाधि ठाता ब्रह्मा
 ८४४-प्राणाधिष्ठाता इन्द्र
 ८४५- यानमूर्ति वामनविष्णु
 ८४६-वि णुदेवता और सृष्टिपालन
 ८७ ओषधि वनस्पति से समविता शक्तित्रयी
 ८४८-अश्व थाय नमो मन
 ८४९-पानी मिट्टी का समिश्रण और अङ्कुर
 का ऊष्ण प्ररोहरण ६३७
 ८५ -नाड्यो वायुसयोगादारोहणम्
 ८५१- अङ्कुर की स्वरूप परिभाषा
 ८५२ महद्ब्रह्मानुगत-बीजायतन
 ८५३-आकृति प्रकृति अहङ्क ति-त्रयी का अधि
 ष्ठाता महद्ब्रह्म
 ८५४-मूलस्थ विष्णुप्राण का वदि में समावेश
 ८५५ सोऽय विष्णुस्नान का समन्वय
 ८५६ आरयान के आधिदैविक रहस्य का उपराम

इत्याधिदैविकरहस्यम्



❀ पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय ❀

- ८७ भौमदेवताओं (मनुष्यदेवताओं) का
 परत्न और यज्ञविद्या का आविष्कार ६३८
 ८५८ त खन त इवा वीषु
 ८५९-वदिपरिग्रह का सम्मरण
 ८६ -सुद्धमा चासि शिवा चासि का सम्मरण
 ८६१-दक्षिणपरिग्रहेतिकत्त्वता का समन्वय
 ८६२ पश्चिमपरिग्रहेतिकत्त्वता का समन्वय
 ८६३-उत्तरपरिग्रहेतिकत्त्वता का समन्वय

- ८६४ अन्न-वस्त्र की महती चिन्ता से आपाद
 मस्तक सत्रस्त्र राष्ट्रीय किन्तु भावुक भार
 तीय मानव के भारतीय प्राच्य संहिय के
 प्रति भ्रान्तिपूर्ण उद्गार ६३८
 ८६५-उपयोगितावाद का महान् व्यामोहन और
 तत्समाधान प्रयास
 ८६६-यशियभू प्रदेश का स्वरूप-समन्वय
 ८६७ सत्यश्यामला जीवनीयरसप्रदान्नी उपयुक्ता
 भूमि का सम्मरण ६३९
 ८६८-अधिक अन्न उपजाओ का उदात्त
 उद्घोष और तसम्बन्ध में किञ्चिदिव
 आवदन
 ८६९ भूपदेश की उवराशक्ति
 ८७ उवराशक्ति का उत्पीडन
 ८७१ भूपदेशो पीडनानुगता अन्नबहुलता का
 नग्नचित्रण तसम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण
 ८२ मधुप्राण से वञ्चित आज की ओषधि
 वनस्पतिया
 ८७३-ओषधियों का रहस्या मक उत्तरमूल और
 मधुप्रवत्त क विष्णुप्राण
 ८७४-आज की कृषिपद्धति और विष्णुरूप
 यशियप्राण का तद्द्वारा अभिभव
 ८७५ शरीरात् शरीरम् रूना आमप्रतिष्ठाशूया
 आज की उत्पादनशक्ति
 ८७६-आमानसम्पत्ति का अय तामाव
 ८७७-यातयमभावामिका ओषधि- वन
 स्पतियाँ
 ८७८-भूतभार का महान् व्यामोहन
 ८७९ अयशिय भूतान्न
 ८८ यज्ञशिष्टाशिन सन्तु की आर्यतिक
 उपेक्षा
 ८८१-अयशियाज का अनुराग
 ८८२-अयशिया वै माषा
 ८८३-लशुन पलायडु-गुडनादि की अयशियता

८८४-धम्मशास्त्रानुबोध	६४	६२-अयशिय प्रकारो का अध्यानुप्रकरण	६४३
८८५-यज्ञप्राणानुबोधो मधुमय ऊक रस		६२१-इमामेवैतत् पृथिवी सविथ रसवती उपजी वनीयामकुर्वत इत्यादि ब्राह्मणश्रुति का समन्वय	
८८७ वैदिक शब्दो की पारिभाषिकी रहस्यपूर्णता		६२२-दक्षिणाग्नि के द्वारा परिपाक	
८८ -ज्या वरा धरित्री भू भूमि आदि पारिभाषिक शब्दो का सस्मरण		६२३-परिपाकानुगत मखणधम्म	
८८८ यशियप्रक्रिया और ऋषिवचन		६२४-मृत्तिका में रस और बल का अध्यान	
८८९-यशियप्रक्रिया और दैवा मा		६२५-प्राणरूप विष्णु का छन्दो से परिग्रहण और षट्परिग्रह	
९ - हिरण्यशकल निधाय का वैज्ञानिक समन्वय		६२६-यज्ञसम्पत् का सग्रह	
९ १-अनतिप्रश्न का सस्मरण और तत्समाधान प्रयास	६४१	६२७ लोकी परिग्रहत्रयी	
९ २ अस्थि और अनस्थि भावों का अध्यात्मिक यज्ञानुबोधो पारिभाषिक समन्वय		६२८-भूतप्रधाना लोकत्रयी	
९ ३-भूपिण्ड की स्वरूप निर्माण प्रक्रिया	६४२	६२९-प्राणप्रधाना लोकी त्रयी	
९ ४-ऋतधर्मा प्रतिष्ठाशून्य-अप् में ऋतधर्मा प्रतिष्ठाशून्य ही वायु का प्रवेश		६२९-व्याहृतिषट्क और लोकपरिग्रहत्रयी	
९ ५-वायुप्रवशात् अप की बुद्बुदरूप में परिणति		६३ -व्याहृतिषट्क और लोकी परिग्रहत्रयी	
९ ६-भूपिण्ड की जमदात्री मूलप्रक्रिया		६३१-द्वादश (१२)-व्याहृतियाँ	
९ ७ तेज सयोग से बुद्बुदावच्छिन्न पानी की फेन रूप में परिणति		६३२ द्वादशव्याहृतिपरिलेख	६४४
९ ८-फेन की क्रमशः मृत् सिकता शकरा अय हिरण्य रूप में परिणति		६३३-वेदि का पश्चिम भाग और तैत्तिरीयमत	
९ ९-धतिलक्षण प्रतिष्ठागुण और भूमि		६३४-याज्ञवल्क्य के द्वारा व्यामपरिमाण का विरोध और विशानस मत परिमाण का स्थापन	
९१ -अतुलितभारसह्य और सुद्धमा		६३५-परिमाणगला की अनाश्यकता	
९११-द्धमा और सव क्षमते		६३६-आधिदैविकयज्ञ से समतुलित पिण्डब्रह्म	
९१२-हल के द्वारा ओषधिमूल का सस्पर्श		६३७-यज्ञो वै पुरुष	
९१३ विष्णुतेजोमय प्रतिष्ठाप्राणामक क्षमा भाव		६३८ पुरुषो वै यज्ञ	
९१४-भूपिण्ड का सुषदा भाव		६३९-प्राकृतिक-यज्ञानुगत आधिभौतिक यज्ञ	
९१५-भूपिण्ड का शिवा भाव		६४ पुरुषस्थानीय-यज्ञ	
९१६-भूपिण्ड का स्वोना भाव		६४१-स्त्री-स्थानीया वेदि	
९१७-उजस्वती-पृथिवी	६४३	६४२ स्त्री के प्राकृतिक सौन्दर्य की स्वरूप मीमासा	
९१८-पयस्वती-पृथिवी		६४३-वेदिसौन्दर्य का सग्रह	
९१९-ऋद्धि-वृद्धि-वृष्टि प्रद प्रकारों की उपेक्षा		६४४-आभिरूप्य सौन्दर्य	
		६४५-आभिरूप-सौन्दर्य से समन्वित नारी और चतुर्विध रागभावों से समन्वित रतिप्रेम	

- ✓ ६४६-रूपसौन्दर्य के अधि ठाता इद्र ६४५
- ✓ ६४७-अभिरूपसौन्दर्य के अधिष्ठाता वष्टा
- ✓ ६४८-वर्णरूपाधिष्ठाता इद्र
- ✓ ६४९-आकाररूपाधिष्ठाता वष्टा
- ६५ -वर्णरूपा मक रूपसौन्दर्य का पारिभाषिक समन्वय ६४६
- ६५१-आकाररूपामिका अभिरूपता
- ६५२-वयोनाथा मक छद्र और आकार
- ६५३-आकार का आधारत्व
- ६५४-आकारित का आवेय व
- ६५५-अभिरूपसौन्दर्य की प्रमुखता
- ६५६-वर्णसौन्दर्य का सौन्दर्य के मापदण्ड में अनधिकार ६४६
- ६५७ आकाररूपामिका अभिरूपता
- ६५८-पदाथ के आकार का सम्बन्ध
- ६५९-श्रौपासनिक वचन का सस्मरण
- ६६ प्रबन्धन का मूलाधारत व
- ✓ ६१-वर्णरूपामक ऐन्द्र रूपसौन्दर्य का गौणत्व
- ६६२-आकाररूपा मक त्वाङ्ग-अभिरूपसौन्दर्य का प्रधान व
- ६६३-प्रतिमाओं के उभयामक सौन्दर्य में तारतम्य
- ६६४-चित्रा मक शिप का सौन्दर्य
- ६६५ यज्ञपुरुषरूप वृषा की पत्नीरूपा योषा और वेदि
- ६६६-पश्चाद्द्वरीयसी योषा
- ६६७ मध्ये संहारिता योषा
- ६६८ पुरस्तादुर्वी योषा
- ६६९-अभिरूपसुदरी योषा
- ६७ -एवमेव हि योषा प्रशसन्ति
- ६७१-पृथुओणि
- ६७२-मध्ये सम्राह्या
- ६७३-विमृष्टान्तरासा

- ६७४ अभिरूपसौन्दर्य और विशिष्ट-प्रबन्धन धम्म ६४६
- ६७५-अभिरूपसौन्दर्यगुणान्विता यज्ञिया वेदि ६४७
- ६६-प्राक्प्रवणा वेदि
- ६७७-उदक्प्रवणा वेदि
- ६७८-रेतोमयी भूतसृष्टि
- ६७९-प्राणमयी देवसृष्टि
- ६८ -चन्द्रमसादरेतो श्रुतव श्राश्रुतम्
- ६८१-चन्द्रमा और शुक्रामकरस
- ६८२-प्राचीदिक और देवदेवता
- ६८३-उत्तरादिक और मानव
- ६८४-दक्षिणप्रवणता का निरोध
- ६८५-याम्या दक्षिणदिक
- ६८६-ददाद्यमोऽवसान पृथिव्या
- ६८७ यमो व अवसानस्येष्टे
- ६८८-नोदीचीनशिरा शयीत
- ६८९-वास्तुशास्त्र और दक्षिणदिशानुगत द्वारादि का निरोध
- ६९ युगधम्म का प्रभाव और प्रकृतिसिद्धा शास्त्रीय-मर्यादाओं की उपेक्षा
- ६९१-वेदिप्रदेश की उन्नतता
- ६९२-पुरीषभाग और पशुसम्पत्ति
- ६९३-पशु और पशुपत्ति
- ६९४-आधिभौतिकयज्ञ की प्रकृति-जगत् से अनुरूपता
- ६९५-प्रतिमाज्जन कर्मोपक्रम ६४८
- प्रतिमाज्जनकर्मोपपत्ति**
- ६९६-स्वय नामक यज्ञायुध से उत्पाटित मृद्भाग का बहि प्रक्षेप और प्रतिमाज्जन कर्म ६४८
- ६९७-कर्मसाधक वैज्ञानिक-मन्त्र का सस्मरण
- ६९८-मन्त्र का अक्षराथ-समन्वय
- ६९९-मन्त्राक्षरार्थ के सम्बन्ध में शातपथी-श्रुति ६४८

- १ -केवल विज्ञानतत्त्व के निरूपक मन्त्रों का भाषादृष्ट्या तथा अथदृष्ट्या उभयथा पारिभाषिक-काठिन्य ६४८
- १ १-पुरा क्रस्य विष्टप इयादि वैज्ञानिक मंत्र के द्वारा एक अपूर्व आधिविक-विज्ञान का स्पष्टीकरण
- १ २ कपनारसिको की उच्चालतरङ्गों की कपनाभूमि चन्द्रकलङ्क
- १ ३-चन्द्रविम्बस्थ कृष्णवर्णामक चिह्न
- १ ४ भासुक कवियों की भासुकतापूर्णा-दृष्टि में चन्द्रकलङ्क का उपकरण ६४९
- १ ५-सुप्रसिद्ध अङ्क केऽपि शशङ्किरे इयादि पद्य और तत् अक्षराथ सम-वय
- १ ६ भूच्छायमैच्छन् परे की आशिक-सयता और चन्द्रकलङ्क
- १ ७-चन्द्रोपत्तिप्रकरणोपक्रम
- १ ८ शनि-बृहस्पति मङ्गल नामकी बहिर्ग्रहत्रयी
- १ ९-शुक्र-बुध पृथिवी नाम की अतग्रहत्रयी
- १ १ -सूर्य के उपग्रह
- १ ११-पृथिवी का उपग्रह चन्द्रमा
- १ १२-पृथिवी का पुत्र चन्द्रमा
- १ १३-भूतप्रतिष्ठामय -धाम छद्म वागरूप अत्रिप्राण
- १०१४ अन्नादाग्नि का सस्मरण
- १ १५-चिद्य चित्तेनिधेयरूप अन्नादाग्नि ६५
- १ १६-वापरूप अन्नादमूर्ति अत्रिप्राण
- १ १ -वर्गवैशेषिक
- १ १८-इय वै वाक्
- १ १९-वागिति पृथिवी
- १०२ -या सा वागग्नि स
- १ २१-सा या सा वागासीत् सोऽग्निस्नाद समभवत्
- १ २२-आर्षीमय परमेष्ठी की मनोतात्रयी
- १ २३-भृगु अङ्गिरा और आत्र प्राणत्रयी ६५
- १ २४-अवस्थात्रयी से समवित भृगुप्राण
- १ २५- अङ्गिराप्राण
- १ २६ न त्रि भावापन्न अत्रिप्राण
- १ २७ पारदशकता का महान् प्रतिबन्धक धाम छद्म अत्रिप्राण
- १ २८-तमोमयी पाप्मा भतच्छृष्टि का मूलप्रवक्त क अत्रिप्राण
- १ २९-अत्रिप्राण से समविता श्रुतुमती नारी और आत्रेयी
- १ ३ पा मानोऽत्रिण
- १ ३१-रक्षासि वै पाप्मा अत्रिण
- १ ३२-श्रुतुमती आत्रेयी का स्पर्श निषिद्ध
- १ ३३ पृथ्वी का मूल उपादान अपस्तव
- १ ३४-अत्रिप्राण से समवित पारमेष्ठ्य आपः और भूपण्ड
- १ ३५-अप वायु-तेज और अत्रिप्राण से समन्वित भूपण्ड ६५१
- १ ३६-चि याग्निमूर्ति-अन्नादाग्निरूप अत्रिप्राणमय भूपण्ड
- १ ३७-सम्ब सरगति का अधिष्ठाता भूपण्ड
- १ ३८-भूपण्ड का साश्व सरिक परिभ्रमण और दिक्सोम की आहुति
- १ ३९-खण्ड-खण्ड भावप्रवक्त क पार्थिव अग्नि
- १ ४ -सकोचधर्मा भ्रुत्वसोम
- १ ४१-वरुणसोम का पारिभाषिक-स्वरूप
- १ ४२-अत्रिप्राणमय पार्थिव वागग्नि और अङ्गिष्ठा
- १ ४३-अङ्गिरोऽग्नि की अवस्थात्रयी
- १ ४४ सोम की अवस्थात्रयी
- १ ४५-अत्रिप्राण का प्रसङ्गण और चन्द्रोपत्ति
- १ ४६-अत्रिपुत्र चन्द्रमा और पौराणिक-ज्वचन सन्दभ
- १०४७-नेत्राभ्यामस्रवत् सोम

- १ ४८-सावदव य अग्नि ६५३
- १ ४९-देवयजनामक चाद्रसोम
- १ ५-देवयजनभूमि और सोम
- १ ५१-पितृप्राणमय देवयजनामक सोम
- १ ५२-स्वधा और पितर
- १ ५३-स्वधा शब्द का निववचनामक समन्वय
- १ ५४-स्वधाभिश्चन्द्रमसि ऐरयन् इत्यादि मात्रभाग का पारिभाषिक समन्वय
- १ ५५-पार्थिव देवयजनभाग और चद्रमा
- १ ५६-देवयजनभागामक चान्द्र-कृष्णभाग
- १ ५७-देवयजनामक सोम से चद्रमा का निर्माण और सृष्ट्यारम्भकाल
- १ ५८-पार्थिव देवयजन और भूपिण्ड
- १ ५९-चाद्र देवयजन और चद्रमा
- १ ६-प्रतिमाज्जनकम्म-स्वरूप रहस्य
- १ ६१-चान्द्री देवयजनस पत्ति का समग्र
- १ ६२-सोमवह्नी और वैधयज्ञ
- १ ६३-वैधयज्ञ और मानवदेवता
- १ ६४-सोमरक्षक भौम चद्रमा
- १ ६५-भौम ब्रह्मा और लोकपाल चद्रमा
- १ ६६-सोमवह्नी का असुरों के द्वारा आमूल चूड़ उपादन और देववल्ग का पराभव
- इति प्रतिमाज्जनकम्मोपपत्ति**
- * * *
- १ ६७-शेषभूत अनवमशप्रकरण ६५३
- १ ६८-कुशास्तरणत पूव अनवमर्श का निषेध
- १ ६९-यज्ञकर्म का प्राणविद्यु मयव एव तन्निव-घन इष्टानिष्ठजनक व
- १ ७-वेदिविद्युत् का सहारकधम्म
- १ ७२-(क)-दर्भविद्युत् और वेदिविद्युत् का समतुलन ६५४
- १ ७२-(ख) प्राणामिका यज्ञविद्युत् का प्राण ६५४ से ही अनुरूप सम्बन्ध
- १ ७३-ऋषिप्रोक्त पद्धतिक्रम का ही अनुगमन और इष्टसंसिद्धि
- १ ७४-बुद्धिवादा मक यामोहन का प्रवेश
- १ ५-सनातनधम्नानष्ठों की पतनपरम्परा का मूलकारणा वेषण और तन्निरोधोपाय प्रदर्शन
- १ ६-वदभक्तो के सम्मिलित हवन का भावुकतापूर्ण इतिवृत्त और विज्ञान सिद्धा यज्ञविद्या का तद्भक्तों के द्वारा ही उपहास
- १ ७७-आय्यजगत् का नमस्ते यवहारात्मक अभिनिवेश
- १ ७८-नमस्ते की यावहारिकता के सम्बन्ध में श्रुति का प्रचण्ड निरोध नमस्ते खण्डनपरक श्रुतिवचन का सस्मरण तथा तद्वैज्ञानिक समन्वय
- १ ७९-यज्ञ में दीक्षित यजमान के लिए अनुगमनीय कतिपय नियम ६५५
- १ ८-द्वमस्थामिका यज्ञसस्था और तत्र नमस्ते यवहार का समादर ६५६
- १ १-यवहारजगत् और नमस्ते यवहार का प्रचण्ड निरोध
- १ ८२-नमस्ते यवहारनिरोधक श्रुति वचन
- १ ८३-यज्ञकर्मनुगता अश्रद्धा और यज्ञपद्धतियों की उपेक्षा
- १ ८४-यज्ञानुगता श्रद्धा का सस्मरण
- १ ८५-बृहस्पति से अनुगत आख्यान का सस्मरण
- १ ८६-यथाविधि यज्ञ का सम्पादन और तद्द्वारा अभ्युदय की संसिद्धि

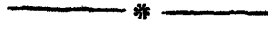
इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
इति द्वितीयप्रपाठके-तृतीय ब्राह्मणम्
इति-द्वितीयोऽध्यायः

२



इति-वेदिपरिग्रहात्मक-वेदि सम्पादनम्

१४



* श्री *

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये प्रथमकारण्डे
संस्कारब्राह्मणाध्याय

३

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकारण्डे-
तृतीयाध्याये-प्रथम ब्राह्मणम्
द्वितीय-प्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्

१५-द्रव्यसंस्कारा

क्रमप्राप्त १५ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
'विषयस्मारकसूची'
(पृष्ठ सं० ६५६ से १०३६ पर्यन्त)

१ प्रथमकारण्डान्तर्गत—तृतीयाध्यायानुगत प्रथमब्राह्मण एव द्वितीयप्रपाठकानुगत चतुर्थब्राह्मण (मूल)	६५६
२ मूलब्राह्मण का अक्षराथसमवयामक अनुवाद	६६५
३ सूत्रप्रदर्शित पद्धतिप्रकरण	६७१

उपपत्तिप्रकरण (विज्ञानभाष्य)

(१) द्रव्यसंस्कारोपत्तिविज्ञान वा

४-सुव-जुहू-उपसृत्-भ्रुवा-पुरोडाशपात्री इडापात्री आदि यज्ञिय पात्र और देव भोजन साधन	६७५
--	-----

५ लोकव्यवहारानुगत भोजनपात्रों के साथ ६७५ दैव-यवहारानुगत पात्रों का समतुलन
६-भोजनपात्रों का विशुद्धीकरणामक संस्कार
७-सम्माननीय पानी और विशोधन
८-कुशारूप विशोधन साधन
९-वेदामक पारमेष्ठ्य अम्भ पानी
१ आपो वै कुशा और कुशोपत्ति का सस्मरण
११-अनिशितोऽसि और सम्मार्जन
१२-कुशारूप दिव्यपानी और दिव्यमन्त्राल तथा सम्मानन

१३-वारुणायतु और असुरप्राण	६७६	३६-स्त्रीभ्रूणामिका योषा-स्त्री	६७७
१४-अ तरिद्ध में विचरण करने वाले असुर		४ -वृषारूप पुरुष का अग्नियमव	
१५-अग्नि और मन्त्रबल के द्वारा असुर पराभव		४१-योषारूपा स्त्री का सोममय व	
१६-पात्रप्रतपनकम्म का समवय		४२-वृषारूप अग्नि का प्राथ य	
१७-अलौकिक दिव्यभावापन्न स माजन		४३-योषारूप सोम का पश्चाद्भावि व	
१८-यज्ञ से अलौकिक दैवामा की अभियक्ति		४४-अग्रव और अग्नि	
१९ सम्माज्जन की विशेष पद्धति		४५-अन्नाद भोक्ता रूप अग्नि	
-आगमन और गमन भावानुगत सम्मा		४६-अन्न भोग्य रूप सोम	
जर्जन		४७-भोक्ता का प्राधा य	
२१-प्राणोदाननामक सम्माजनकम्म		४८-भोग्य का गौणव	
२२-देवयजनामक सूव		४९ पुरुषा मभाव और भोक्ता अग्नि	६७८
२३-प्राणोदानावववतद्घाति		५ -स्त्रीभाव और भोग्य सोम	
२४-प्राणोदान से युक्ता रोमावलियाँ		५१-बालक (पुरुष) का अग्रगामि व	
२५-पुरुषो वै यज्ञ		५२-एकपुरुषामक सूव	
२६-तस्मादितीमानि लोमानि इतीवमानि		५३ अनेक सूक रूपा स्त्रियाँ	
का समवय		५ पुरुष और स्त्री का उत्तरदायि वपूर्याँ	
२७-प्राणोदानरूपा सौररश्मियाँ		अग्निविभाजन	
२८ स्रव की स्वाभाविक शक्ति	६७	५५-गाहपय का पश्चिमभाग और पात्र	
२९-आहुतिद्रव्यामक चतुर्विध सोम		स मा जन	
३ -अन्नसोमामक बाज और तद्रूप यज्ञ		५६-दभतृणा मक पात्रीनिर्णोजन	
३१-बाजिन वा बाजेध्यायै समार्मि		५७-सम्माजनकम्म में अपेक्षिता सावधानी	
३२-प्राशित्रहरणपात्री और इडापात्री का		५८-कुशराशिरूप वद (कुशमुष्टि)	
तृष्णी सम्माजन		५९-यज्ञप्रवत्त क सूय्य का त्रयीवेदमय व	
३३-तपन और सम्माजन		६ -गायत्रीमानिकवेदामक सूय्य	
३४-सम्माजनानन्तर पुन प्रतपन और		६१-वेदमय सौर-अपत व	
तकारण समवय		६२-वेदावा छन्न सौरप्राण और दभ	
३५-यथावमश निर्णिय अनवशमुत्तम परि		६ -दभ की वदरूपता	
क्षालयेत्		६४ यज्ञसीमा और यज्ञिय वेद	
३ -स्रव का सम्माजन में प्राथम्य		६५-तत्तिरीय मत और दर्मा मक यज्ञिय द्रव्य	
३७ वृषा का प्राथम्य और त प्रथम स मा		का यज्ञमण्डल में ही समावेश	
जन		६६-सूत्रकाराभिमत और एके	६७९
३८-पु अणामक वृषा पुरुष		६७ आहवनीयाग्नि और दि यप्राण	
		६८ प्रासनानुगत दोष	

६६-दमनृणादि के बहिर्निरसन के सम्बन्ध में
त यपूष्ण निर्याय ६७६

इति-द्रव्यसस्कारोपपत्ति

१

❀ २ पत्नीसन्नहनोपपत्ति ❀

- ७ -पनीसन्नहनक मं का स्वरूप ६७६
७ -पन्थुर्नो यज्ञसयोगे और यजमानप नी
२ यज्ञसम्बन्धानुगत पनी शब्द
७३-पति और पनी का दाम्प्य
७४ दाम्प्यमूला विराट्प्रजा
७५ स विराजमसृजत् प्रभु
७६-वेदत व विभक्तित्रयी
७७ वागग्निरूप मावयाजुषाग्नि
७८-वागग्नि का सयाग्निमयत्व
७९-यजू रूप यजु का स्वरूपविभाजन
८ -ऋक-सामरूप वयोनाथों से यज्जू रूप
वयोभाग का वेष्टन
८१-स्वयम्भू का यजुर्मय शरीर ६८
८२-शरीरामिका वाक का द्रवण और
अग्नेराप
८३-सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्
८४-वागेव साऽसृज्यत
८५-प्रकृतिसिद्ध प्रथम दाम्पत्य और उन का
प्रथम अप य
८६-दाम्प्य के तीन महिमा विवक्त
८७ स्वायम्भुवयज्ञामक प्रथम-दा पत्य
८८-स वत्सरयज्ञा मक द्वितीय दाम्प्य
८९-अ या मयज्ञामक तृतीयदा पत्य
९ -त्रिविध दाम्पत्यभाव-परिलेख
९१-अग्नीषोमामक प्राकृति यज्ञ
९२-सम्ब सरमण्डल के सूर्याचन्द्रमसौ
नामक ग्रहोपग्रह
९३-अग्नेय सूर्यग्रह

६४-सौम्य चन्द्रमोपग्रह ६८

६५ सम्ब सररूप महासुपर्ण

६६-सुपर्ण के दक्षिणोत्तरपक्ष

६७-पूर्ववर्गोल और पुरुषभाव

६८-पश्चिमवर्गोल और स्त्रीभाव

६९-स व सररूप यज्ञप्रजापति

१ -दृश्य खगोला मक सूर्य और पुरुष
सृष्टि

१ १-अदृश्य खगोला मक चंद्रमा और स्त्री
सृष्टि

१ २-वर्णवद्वृत्त और मेरुदण्ड (रीड की हड्डी)

१ ३-अद्भ भागामक पुरुष ६८१

१ ४-अद्भ भागपूर्वका स्त्री

१ ५-अर्द्धाङ्गिनी स्त्री

१ ६-पुरुष का शू-यार्द्धाकाश और त पूरिका
स्त्री

१ ७-देवो भू वा देव भावयेत्

१ ८-सम्ब सरयज्ञानुरूपा सम्पत्ति और दाम्प
त्यभाव

१ ९-यज्ञानुगता पनी और पूर्णता ”

१ १ -अर्द्धों वा एष आमन यत्पत्नी

१ १ १-सोऽयमकाश पत्न्यापूर्यते

१ १ २-अयज्ञो वा एष योऽपनीक

१ १ ३-बहुविवाह की मौलिकता

१ १ ४-यज्ञ का पश्चिमाद्भ और पनी

१ १ ५-यजमान के यज्ञ का ऊ व वितान

१ १ ६-जगनार्द्धों वा एष इयादि अतिवचन
का रहस्यामक समन्वय

१ १ ७-यज्ञ में योक्त्र के द्वारा यजमान-पनी का
योग

१ १ ८-यज्ञबन्धन और पलायन का अभाव

१ १ ९-यज्ञामक बन्धन का रहस्योपक्रम ६८२

१ २ -स्त्री का स्वरूपधम्म और स्त्रीस्वातन्त्र्य
का विरोध

- १२१-परतत्रतामिका अगला और स्त्री ६८२
 १२२-स्वातंत्र्य पारतन्त्र्य स्वरूप विश्लेषण
 १२३-ऋतप्रधाना अतएव अचूतभावापन्ना योषा
 १२४-स्त्री का पारतन्त्र्य और पनीसन्नहन कर्म
 १२५-योक्त्रबन्धनामक निबिडबन्धन
 १२६-सन्नहनकर्म का मौलिक रहस्य
 १२७-हमारी युगधर्मानुगता अनुभूति
 १२८-(क) स्त्री स्वातंत्र्य के पक्षपातियों के हृदयोद्गार
 १२८-(ख) ईश्वराज्ञापनरूप वेद और अभिशापरूप पस्त्री पारतंत्र्य ?
 १२९-समस्या की महती जटिलता
 १३ -श दप्रमाणका वयम्
 १३१-(क) मानवीय ऋत मन और उसका सहज प्रमाद
 १३१-(ख) () धम्म का रूढिवाद व और आजका आ त सनातनधर्मावलम्बी जगत् ६८३
 १३२-(२) पश्चिमाडम्बरगत आज का सुधारकवग
 १३३ (३) धर्मोपदेशको की निरीहता
 १३४-(४) धार्मिक जनता का अस तोष
 १३५ धम्मप्रमी सनातनधर्मी (१)
 १३६-सुधारप्रमी सुधारक (२)
 १३७-धर्मोपदेष्टा धार्मिकनेता (३)
 १३८ मागप्रदशक समाजनेता (४)
 १३९-पञ्चम-राष्ट्रीय-समाज का संस्मरण
 १४ उद्देश्य की मान्यता में स्वीकृति
 १४१-आदशभक्त कि तु कम्मशून्य धार्मिक जगत्
 १४२-कम्मपरायण कि तु आदशशून्य सामाजिक जगत्
 १४३-राष्ट्र की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का विभाजन और महान् क्लेश

- १४ -धम्मत व का विलयन एव रूढिवाद का प्राधाय और धार्मिक जगत् ६८४
 १४५-शाश्वतधम्म के स्थान में मतवाद परम्परा का सस्थापन एव तद्द्वारा धम्मव्याज (छल) से विशुद्ध स्वाथ का पोषण
 १४६-सुधारकवग की रूढिवाद के प्रति क्रांति
 १४७-आवेशमूला क्रांति का घातक परिणाम
 १४८-रोग के साथ साथ रोगी का भी निकृ-तन और सुधार व्यामोहन
 १४९-अप्रासङ्गिक भावानुगता प्रासङ्गिकता
 १५ स्त्रीस्वातन्त्र्यानुगत महान् प्रश्न ?
 १५१ स्वतन्त्र परतन्त्र शब्दों का अन्वय-समन्वय
 १५२-आमा और स्व भाव
 १५३-स्वानुगत स्वधम्म और परानुगत परधम्म-से आक्रान्त आमा ६८५
 १५४-शब्दोपादक आमा
 १५५ ता पर्याय समन्वय
 १५६-शिखास्त्र और आमा के द्वारा शब्दा विभाव
 १५७-वायु खात् शब्दस्तत् का संस्मरण
 १५८ श दोपत्ति में समथ आमा और स्व भाव
 १५९-शब्दोपत्ति की सनातनता और स्वा-नुगता विप्रतिपत्ति
 १६ तत्समन्वयहृष्ट्या विप्रतिपत्ति का निराकरण
 १६१-स्वतन्त्रा यत्न स्वतन्त्र आमा
 १६२ परतन्त्रावद्ध परतन्त्र आमा
 १६३ तन्त्रवाचक स्वतन्त्र और परतन्त्र शब्द
 १६४-स्वतन्त्रता परतत्रता के द्वन्द्व से अतीत स्वरूप आमा
 १६५-तद्वादन्थाय के द्वारा आमस्वातन्त्र्य और आमपारतंत्र्य का समन्वय ६८६

१६६-स्व और पर रूप तत्रो के पारिभाषिक तवाथ	६८६	१६१-क्षर-पर (२)	६८७
१६७-स्वतत्र परतत्र भावानुगत आमभाव और अनामभाव का पारिभाषिक समवय		१६२-अक्षर तत्रम् (३)	
१६८-आमानुगता स्वतन्त्रता और श्रयोभाव का समवय		१६३-स्वय भू परमेष्ठी च स्व (१)	
१६९-अनामानुगता परतत्रता और प्रयोभाव का समवय		१६४-चन्द्रमा पृथिवी च पर (२)	
१७०-तत्रशब्दाथ पर दृष्टिनिक्षेप		१६५-सूय्य तत्रम् ()	
१७१-तन्त्रशब्द के लोकप्रचलित विविध भावों का सस्मरण		१६६-स्वतन्त्र तथा परतत्र शब्दों का पारिभाषिक आविर्भाव	६८८
१७२-प्रकृतिरूप प्रधानत्व		१६७-आमा का वाचक स्वतन्त्र शब्द	
१७३-अतरङ्गा और बहिरङ्गा प्रकृति		१६८-आमा स्वतन्त्र आमा परतत्र-वाक्यों का पारिभाषिक समवय	
१७४-विश्वामिका भूतप्रधाना बहिर्ङ्गप्रकृति		१६९-स्वतत्रशब्द का परवाचकत्व	
१७५-विश्वसञ्चालिका प्राणामिका अतरङ्गप्रकृति	६८७	२-स्वानुगामी तत्र और स्वतन्त्र	
१७६-प्रधानरूपा प्रकृति की क्षेत्रज्ञरूप में परिणति		२१-परानुगामी तन्त्र और परतत्र	
१७७-क्षेत्रज्ञ और विज्ञानामा		२२-स्वतत्र की परतत्रता	
१७८-विश्ववितान कर्त्री प्रधाना प्रकृति		२३-परतन्त्र की स्वतत्रता	
१७९-प्रकृत का तननामक विस्तार		२४-संस्थात्रयी म अनुगत स्वतन्त्र परतन्त्र शब्द	
१-तननामक तन्त्रभाव		२५-आमस्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य का विचार समवय	
१८१-आधिद्विक विश्व का स्वरूपदर्शन		२६-तन्त्रानुगत स्व स्वतन्त्र और आम वाचक स्वतन्त्र शब्द का निवचन	
१८२-पुरुष प्रकृति विकृति भावत्रयी के माध्यम से स्वतन्त्र परतन्त्र शब्दों का रहस्यामक पारिभाषिक समवय		२७-आमा की परभावासक्ति और परतन्त्रानुगतिरूप परतत्र का पारिभाषिक स्वरूप समवय	६८९
१८३-आमविवक्त का दिग्दर्शन और स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य निष्कर्ष		२८-पर की आसाक्त की विश्रामभूमि	
१८४-आमा-स्व (१)	६८७	२९-स्व की पररूप में परिणति एवं तन्त्रता का अपहरण और पारतन्त्र्य का पारिभाषिक स्वरूप समवय	
१८५-अनामा पर (२)		२१-तन्त्रानुगति से अनुप्राणित स्वतन्त्र और परतन्त्र शब्दों का आमवाचकता नुबन्ध से पारिभाषिक समन्वय	
१८६-प्रधानम् तन्त्रम् (३)		२११-अनुकूल तन्त्रामक आमा की मित्ररूपता	
१८७-पुरुष-स्व (१)		२१२-प्रतिकूल तन्त्रामक आमा की शत्रुरूपता	
१८८-विकृति पर (२)		२१३-विभिन्न दृष्टि और निवचन	
१८९-प्रकृति-तत्रम् (३)		२१४-आमबधु और आमरिपु	
१९०-अयय-स्व (१)		२१५-आमा का स्वजन और स्वतन्त्रता	

२१६ आ मा का परजन और परतत्रता	६८६	४ -पृथिवी से समवित चद्रमा का यजमान	
२१७-आमहितैवी तन्त्र और स्वातन्त्र्य	६९	प नीव	६९२
२१८ आ मप्रतिद्वि तत्र और पारतन्त्र्य		२४१-अग्निमय सूर्य और सोममय चन्द्रमा	
२१९-स्वतन्त्र परतन्त्र शब्दों की विचारोपरति		२४२ सौर अग्नि का प्रवग्यभाग ऋताग्नि	
२२ अपना और पराया का पारिभाषिक		२४३-चाद्रसोम का प्रवग्यभाग ऋतसोम	
समवय		२४४-ऋतसोमस्थानामिका उत्तरादिक	
२२१ अविनाशी अव्यय और विनाशी क्षर		२४५-ऋताग्निस्थानामिका दक्षिणादिक	
२२२ स्व भाव की पर भाव में परिणति		२४६-ऋताग्नि ऋतसोम का समवय और षड्	
२२३ अयथा मानुगत स्व भाव से अनुप्राणित		ऋतु का आविर्भाव	६९३
तन्त्रानुगत अक्षरभाव निबन्धन-स्वतन्त्र		२४७ षड्ऋतुसमष्टिरूप सम्ब सरप्रजापति	
परतत्र शब्दों का पारिभाषिक समवय		२४८-पार्थिवप्रजो पति का प्रवत्तक सम्ब सर	
२२४-विभिध दृष्टियों से स्व पर तथा तन्त्रभावों		प्रजापति	
का पारिभाषिक दि दशन	६९१	२४९-वृषासृष्टि और अग्नि का प्राधाय	
२२५-अनुगमभावापर एत त्र परतन्त्र शब्द		२५ योषासृष्टि और सोम का प्राधाय	
२२६-स्वतत्रता और परतन्त्रता की यापकता		२५१-पुरुषस्वरूपनिर्मापक अग्नि	
२२७-प्रकृतिसहयोगी पुरुष का स्वातन्त्र्य		२५२-स्त्रीस्वरूपनिर्मापक सोम	
२२८-विकृतिपरवश पुरुष का पारतन्त्र्य		२५३-मित्ररूप भोग्यभाव और सोम	
२२९ मौलिक परिभाषा और स्वतत्रता परन्त्रता		२५४-अग्नि और सोम का सहज सरयभाव	
२३ आध्यामिक-जगत् की स्वतत्रता परतन्त्रता		और सोम का योक्सखाव	
का अन्वेषण एव तन्मूलाधारेण स्त्री		२५५-अग्निर्जागार इत्यादि श्रुति का सरस्मरण	
स्वातन्त्र्य की मीमासा का उपक्रम		२५६-अग्नि की सोमानुगता बलवत्ता	
२३१-आधिदैविक प्राकृतिक विश्व का स्वरूप		२५७-हृदयभावानुगत बलविकास	
दिग्दशन	६९२	२५८-हृदयस्थ उक्त्यबल की सत्यरूपता	
२३२ पुरुष प्रकृति विकृति-त्रयी		२५९-सत्य के आधार पर बल का प्रयोग	
२३३-आमा प्राण पशु त्रयी		२६ -सय और बल की प्रतिद्वन्द्विता	
२३४ चतुर्विध स्थूलभावों का सरस्मरण		२६१-बल सयादोजीय	
२३५-आधिदैविक और अध्यामिक-विवर्ति-		२६२-बल वाव विज्ञानाद्भय	
का स्थूल परिचय एव त साम्य प्रदशन		२६३-बलवान् अग्नि निबलसोम	
२३६-प्रजापति का सरस्मरण		२६४-आग्नेय-अतएव बलवान् पुरुष	
२३७-आधिदैविकयज्ञ से आध्यामिकयज्ञ का		२६५-सोम्या-अतएव अबला-स्त्री	
आविर्भाव		२६६ बलवान् वृषा अबला योषा	
२३८-यज्ञधरातलरूप आमभाव		२६७-सत्यभावोपेत पुरुष	
२३९-यज्ञ के यजमान सूर्यनारायण		२६८-अचूतभावोपेता (ऋतसोमभावोपेता) स्त्री	
		२६९-आग्नेय पुरुष सौम्या स्त्री	

२७ -भोक्ता पुरुष भोग्या स्त्री	६६३	२६६-अन्नप्रदान और रुद्रोत्तजना की उपशान्ति	६६५
२७१-स्वप्रति ठामक पुरुष		२६७-ब्राह्मणश्रयथ का सस्मरण	
२७२-परप्रतिष्ठात्मिका स्त्री		२६८-रुद्रदेवता की शान्ति-तुष्टि	
२७३-पुरुष का प्राधान्य और स्त्री का गौण व		२६९-आधिदविकरुद्र का सस्मरण	
२७४-अबलास्त्री और तत् उपास्यपद प्राप्ति का समवय	६६४	३-रुद्राग्नि की रुद्रनामिका द्रुतावस्था	
२७५-सबल और निबल भावों का पारिभाषिक स्वरूप दिग्दर्शन		३१-रजत और रुदन	
२७६-अबला व्यवहार का आश्चर्यमयत्व		३२-(क) रजतदक्षिणा का निषेध	
२७७-बल की स्वरूप परिभाषा		३२-(ख) रुद्र के लिए सोमाहुति प्रदान	
२८-निबल की स्वरूप परिभाषा		३३-घोररुद्र की शिवातनूरूप में परिणति	
२७९-सकोचभाव और बलप्रतिमा		३४-सोमाहुति का अभाव और तत्परिणाम	
२८-विकासभाव और अनबलता की प्रतिमा		३५-अग्नि का चरम विकास और सोम का आविर्भाव	
२८१-बद्धमुष्टिता और बलवत्ता		३६-सोम का चरमविकास और अग्नि का आविर्भाव	
२८२-मुक्तहस्तता और निबलता		३७-मानव का रुद्र और आपोभाव	
२८३-सकोचभावापन्ना बलपरिभाषा		३८-अग्नि की निशेषता और शैथिल्य	
२८४-विकासभावापन्ना निर्बलपरिभाषा		३९-बुभुक्षित मनुष्य की अन्नरूप में परिणति	
२८५-विकासधर्मा अग्नि और उसका पारिभाषिक निबलत्व		३१-मानव की शवान्नरूप में परिणति	६६६
२८६-सकोचधर्मा सोम और उसका पारिभाषिक सबलत्व		३११-श्मशानाग्निरूप क्रियादग्नि	
२८७-अग्निप्रधान पुरुष का निबलत्व		३१२-भोक्ता की भोग्यरूप में परिणति	
२८८-सोमप्रधाना स्त्री का सबलत्व		३१३-रुद्राग्निविवेचन का निष्कर्षार्थ	
२८९-स्त्रीस्वातन्त्र्य और तत्प्रासङ्गिक शिव रुद्र भाव का सस्मरण		३१४-सोमसम्बन्धानुगता अग्निबलवत्ता	
२९-अग्निर्वा रुद्र		३१५-अग्निमूर्ति रुद्र को सोम सम्बन्धेन साम्ब सदाशिव रूप में परिणति	
२९१-विश्वसंहारक रुद्रदेवता		३१६-शिव और शक्ति का सस्मरण	
२९२-शक्तिसमागम से पराङ्मुख रुद्र का रोदनकर्म		३१७-रुद्र और शिव भाव का प्रासङ्गिक सस्मरण	
२९३-रुद्र का पारिभाषिक निबचनार्थ	६६५	३१८-अतदृष्टि और शिव-शक्ति-युग्म	
२९४-रुद्ररुदनकारण जिज्ञासा और तत्समाधान		३१९-पुरुष का अन्तरामा और सौम्यशुक्र	
२९५-अन्नादरुद्र की उत्तजना		३२-बलघन सौम्यशुक्र और ब्रह्मचर्य	
		३२१-बलघन का अबलत्व किंवा निर्बलत्व	
		३२२-शुक्त्युपासना के रहस्यात्मक सस्मरण	
		३२३-रहस्यभेद की परम्परा	

३२४-सौम्यजगत् की चमकारपरम्परा	६६६	३४७-बहिभयानक भगवान् रुद्र का आभ्य तर सौम्यरूप	६६६
३२५-सर्वानुभूत स्पष्टतम विश्लेषण			
३२६-पुरुष की प्रतिष्ठास्वरूप स्त्री	६६७	३४८-खरे और खोटे की कसौटी	
३२७-स पूरा पुरुषों का स्त्रीरूप व		३४९-प्राकृतिक कसौटी	
३२८-सम्पूर्ण स्त्रियों का पुरुषरूप व		४५-शुक्र और शोणित के बाह्य तथा आभ्य तर रूपों का पारिभाषिक-रहस्यामक समवय	
३२९-ऋकश्रुति का रहस्यामक संस्मरण		३५१-पुरुष व्यवहार का संस्मरण	
३३-पश्यदक्षयवान् न विचेतदध		३५२-पुरुषसंस्था का स्पष्टीकरण और स्वत- न्त्रता परतन्त्रता का समवय	१
३३१-पुरुष की महती चिंता और तन्निवृत्त्यु- पायप्रदर्शनोपक्रम		३५३-पुरुष और स्त्री का स्वरूप निम्नर्पाक दक्षिणोत्तर भावानुबन्धी अग्नि सोमामक सम्बन्ध प्रजापति	
३३२-शरीरानुगत भूत और प्राण एव तन्निवृत्त दृश्य अदृश्य-जगत्		३५४-दक्षिणभाग और पुरुषव	
३३३-शरीरविनष्टि का मुरयकारण		३५५-उत्तरभाग और स्त्री व	
३३४-आप्यसोम और ब्रह्मणस्पति		३५६-दक्षिणभाग का अपेक्षाकृत सभारव	
३३५-दम गङ्गा सुवर्ण मृगचर्म आदि की पवि- त्रता का मूलाधार अथवा तव		३५७-उत्तरभाग का अपेक्षाकृत निर्भारव	
३३६-अम्म तव और शारीरिक भूतों की प्रतिष्ठा का संस्मरण	६६८	३५८-आग्नेय दक्षिणभाग की बलवत्ता का पारिभाषिक समवय	१ १
३३७-अम्मोरूप ब्रह्मणस्पति और मन्त्रश्रुति		३५९-सौम्य-उत्तरभाग की निर्बलता का पारि- भाषिक समवय	
३३८-असदाचरण और आ यथाण पर आगत		३-सूक्ष्मा शक्तिदृष्टि और दक्षिणोत्तर-भागों का संबन्ध निबलत्व	
३३९-सौम्यशुक्रानुगत भूत और प्राण		३६१-चाक्षुषपुरुषामक दक्षिणाक्षिपुरुष	
३४-बाह्यधरातल का अग्निमयत्व एव आभ्य तर धरातल का सोममयत्व		३६२-योऽय दक्षिणोऽक्षन् पुरुष	
३४१-आभ्य तर धरातल का अग्निमयत्व एव बाह्यधरातल का सोममयत्व		३६३-शारीरिक दैनिक चेष्टाओं के मायम से स्थिति का समन्वय	
३४२-लौकिक उदाहरणों के द्वारा वस्तुस्वरूप का समवय		३६४-वामभाग और सौम्या इन्द्रपत्नी	
३४३-धरावस्था के द्वारा स्थिति का स्पष्टी- करण	६६९	३६५-वामनी और भामिनी	
३४४-सर्दों गर्मों और गर्मों सर्दों का विषय		३६६-सोम का गौणत्व	
३४५-प्रकृतिमण्डल का शीतत्व और शरीर का अग्निमयत्व		३६७-चरणगति के मायम से दक्षिणोत्तरभागों का समवय	
३४६-प्रकृतिमण्डल का उष्णत्व और शरीर का शीतत्व		३६८-उत्तरा नौ या दिक	
		३६९-दक्षिणा आग्नेयी दिक	

- ३ -दक्षिणोत्तर-चरणों का ऊ व अधोभाव १ २
 ३७१-पुरुष के पुरुषत्व का सरक्षण
 ३ २-शक्तिघन सोम का पारिभाषिक रहत्या मक अशक्तित्व
 ३७३-हृदय और परिधि की अपेक्षा से अग्नि और सोम की स्थिति का स्वरूप दिग्दशन
 ३७४-सोम का अतिम परिणाम अग्नि
 ३७५-अग्नि का अतिम परिणाम सोम
 ३ ६-अग्नि और सोम का समन्वय तथा शिवत्व का आभिर्भाव
 ३७७-अग्नीषोमामक यज्ञ का उच्छेद और विश्व का प्रलय
 ३७८-शक्तिपुञ्जरूपिणी स्त्री १ ३
 ३ ६ प्रदी त शोणिताग्नि और स्त्री
 ३८-अबला सौम्या स्त्री की बलवत्ता
 ३८१ बुद्धिस्तासा चतुर्गुणा का वैज्ञानिक समन्वय
 ३८२ सबभूतेषु बुद्धिरूपेण सस्थिता
 ३८६ पुरुषाभिवेश से जागरूक स्त्री के शोणितानि में पुरुष का सबविनाश
 ३८४-ऐतिहासिक सय और स्त्री के दलन मे विश्वसहार
 ३८५-रोगवद्धक स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद १ ४
 ३८६-स्त्रीभाव के प्राकृतिक स्वरूप का समन्वय
 ३८७-एक पक्षपात की बात
 ३८८-अपमान सहने में समथ पुरुष
 ३८९-अपमान सहने में असमर्था स्त्री
 ३९-पुरुषजाति का स्त्री उपाधि से सन्नोभ और तन्निराकरण
 ३९१-पुरुष शरीरत पुरुष किन्तु शुक्रतत् स्त्री
 ३९२-स्त्री शरीरत स्त्री किन्तु शोणित पुरुष
 ३९३-स्त्रिय सतीस्त इमे पु स आहु का पारिभाषिक समन्वय १ ४
 ३९४-रजो वीर्य के स्वरूप-माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूप विश्लेषण
 ३९५-दाम्प्यभाव का मौलिक रहस्य
 ३९६-अद्ध नारीश्वर का सस्मरण
 ३९७-विश्वशान्ति की मूलप्रतिष्ठा
 ३९८ पुम्भ्रण और स्त्रीभ्रण का मिथुनभाव
 ३९९-भ्रणों का अन्न अनादामक सघर्ष
 ४ -पुत्रसन्तान और रेत का प्राधान्य
 ४ १-कयासन्तति और शोणित का प्राधाय
 ४ २ नपु सकसन्तति और रजोवीर्य का साम्य
 ४ ३-भावप्रकाश और मनुस्मृति १ ५
 ४ ४-स्त्री का सौम्य शरीर और आग्नेयामा
 ४ ५-प्रत्येक के सौम्य-आग्नेय भेद से दो दो विभाग
 ४ ६ स्त्री का पारिभाषिक प्रकृतिसिद्ध पारतन्त्र्य १ ६
 ४ ७ स्त्रीसस्था का स्वरूप समन्वय
 ४ ८ पुरुष का अपना तत्र
 ४ १ स्त्री का अपना तन्त्र
 ४ १ १-पुरुषत्वातन्त्र्य की स्वरूपपरिभाषा
 १ २-स्त्रीत्वातन्त्र्य की स्वरूपपरिभाषा
 ४ १ ३-स्त्री और पुरुष का सहज मैत्रीसम्बन्ध
 ४ १ ४-सहधम्म चरताम् आदेश का सस्मरण
 ४ १ ५-समानध माचरणमूला मैत्री १ ७
 ४ १ ६-महवशूय प्रश्न
 ४ १ ७-स्त्रीसमाना गधिकाररूप महात् अभ्व और पुरुष का व्यामोहन
 ४ १ ८-स्त्री और पुरुष के प्रकृतिसिद्ध-स्वरूप से अपरिचित आज का भावुक मानवग
 ४ १ ९-नियत अधिकारों का समन्वय
 ४ २ पुरुष और स्त्री की आधिकारिकी विभक्ता व्यवस्था का सस्मरण

४२१ स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद का निरर्थक प्रलाप	१	७	४२७-न स्त्री पुरुषमनुधावति	१	८
४२२-स्व स्व सस्थानुगत प्रकृतिसिद्ध स्वातन्त्र्य का समवय	१	८	४२८-रेतोवषणामक वृषाप्राण		
४२३ अनिवाच्यरूपेण अपेक्षित दाम्प्यभाव			४२९ वृषा और वृषाकर्पि		
४२४ कर्म का स्वतन्त्र कर्ता और स्वातन्त्र्य की परिभाषा			४३०-योषा का स्वत सिद्ध पारतन्त्र्य		
४२५-द पती और तदनुगत पति तथा पत्नी			४३१-दो प्रतिद्वन्द्वी		
४२६ पुरुष एव स्त्रियमनुधावति			४३२-चार युग्मों के स्थान में शेषभूता युग्म त्रयी	१	९
४३३-आग्नेय-शरीर (१)-पुरुष (१)		}	-प्रथमद्वन्द्व		
४३४-सौम्य-शरीर (१)-स्त्री (२)					
४३५-आप्यप्राण (२)-स्त्री (१)		}	-द्वितीयद्वन्द्व		
४३६-आग्नेयप्राण (२)-पुरुष (२)					
४३७-सौम्यशुक्र (३)-स्त्री (१)		}	-तृतीयद्वन्द्व		
४३८-आग्नेयशोणित (३)-पुरुष (२)					
४३९-आग्नेयप्राण (४)-पुरुष		}	-चतुर्थद्वन्द्व		
४४-सौम्यप्राण (४)-स्त्री					
४४१-प्रकारान्तर से चारों प्रतिद्वन्द्वी-द्वन्द्वों का स्वरूप-दिग्दर्शन					
४४२ आप्यप्राणगर्भित आग्नेय शरीर (पुरुष)	१	१	४५२-स्वतन्त्र कर्ता प्रधान भावापन्न पुरुषामक वृषा	१	१
४४३-आग्नेयप्राण गर्भित सौम्यशरीर (स्त्री,			४५३ परतन्त्रा-कर्तानुगामिनी-गौणभावापन्ना स्त्र्याभिका योषा		
४४४ सौम्य शुक्र (स्त्री)			४५४ सोमसस्था और स्त्री का स्वातन्त्र्य		
४४५-आग्नेय शोणित (पुरुष)			४५५ स्त्री के स्वातन्त्र्य का सरक्ष्योपाय		
४४६ आग्नेयो वृषा (पुरुष)			४५६-न स्त्री स्वातन्त्र्यमहति का पारिभाषिक समवय		
४४७-सौम्या योषा (स्त्री)			४५७ स्त्री की स्वतन्त्रता पर मर्यादासूत्र का नियंत्रण		
४४८-अग्रगामी द्वन्द्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा और त समाधान			४५८-स्त्रीस्वातन्त्र्य और गृहस्थसस्था का उल्लेख		
४४९-द्वन्द्वों के पारस्परिक प्रथम द्वितीयादि आक्रमण					
४५ अन्तिम आक्रमण और पुरुष की प्रधानता					
४५१-पुरुषभाव का स्त्रीभाव पर आक्रमण					

४५६- स्त्री पु वच्च ताद्द गेह्वावनष्टम् का सम्भरण १ १

४६ सम्ब सरमण्डलानुब्रध से दम्पती का स्वरूप विचार

४ १-पुरुषसृष्टि और स्त्रीसृष्टि का पारिभाषिक स्वरूप

४६२-सम्ब सरो वै सोमो राजा

६३-सम्ब सरो व सोम पितृमान्

४६४ अर्द्धेन पुरुषोऽभवत् अर्द्धेन नारा ११

४६५ अग्नि सोमा मक स व सर की अग्नि प्रधानता और पुरुष का प्राधान्य

४६६-अनायका विनश्यति

४६७ नश्यति बहुनायका

४६८-स्त्रीनायका विनश्यति

४६९-नश्यन्ति बालनायका

४७ सब वै सम्बत्सर १ १२

४७१-सम्ब सर एवाग्नि

४७२ सम्बत्सरो वै पिता वैश्वानर

४७३-वाक-सम्बत्सर

४७४ अग्नि सम्बत्सर

४७५-वागग्निमूर्ति सम्बत्सर और आग्नेय पुरुष

४७ -गौणभागामिका सौम्या स्त्री और सम्ब सर

४७७-अग्नि की सयरूपता

४७८-सोम की ऋतामिका अच्युतरूपता

४ ६-दक्षिणपार्श्वस्थ बलवान् अग्नि

४८ -उत्तरपार्श्वस्थ निर्बल सोम

४८१-परत त्रता मक मर्यादासूत्र की अगह्ला का मौलिक-रहस्य समन्वय

पुरुषस्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

४८२-अ तिसम्पत वजानि-अतएव प्रामाणिक विधि विधान

४८३-पुरुषोऽग्नि (१) १ १३

४८४-एतावान् पुरुष -यदा मा प्रजा जाया (२)

४८५ यद्वै पुरुषवान् कम्म चिकीषति शक्नोति

वै तत्कत्तुम् (३) १ १३

४८६ पुरुष शतवीर्य्य (४)

४८७-द्वि प्रतिष्ठ पुरुष (५)

* * *

स्त्री-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

४८८-उत्तरन आयतना स्त्री (१)

४८९-अच्युत-स्त्री (२)

४९ -कर्म वा इन्द्रिय वीर्य्य तदेतदुत्सन्न स्त्रीषु (३)

४९१-अवीर्य्या वै स्त्री (४)

४९२ पतयो ह्य व स्त्रियै प्रतिष्ठा (५)

* * *

वृषा-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

४९३-इन्दो वै वृषा (१)

४९४-वृषा हिङ्गार (२)

४९५-वृषा रेत सिञ्चति (३)

४९ -दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशो (४)

४९७-समनिरिष्यते वृषा (५)

* * *

योषा-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

४९८-योषा वै सिनीवाली [१]

४९९-पुरधियोषा [२]

५ -योषा वै रेतो धो [३]

५ १-योषा वै पनी [४]

५०१-न वै योषा कञ्चन हिनस्ति [५]

* * *

अग्नि-स्वरूपानुगत श्रुतिवचन

५ २-यो वै रुद्र सोऽग्नि [१]

५ ४-वीर्य्य वा अग्नि [२]

५ ४ पुरुषो वा अग्नि [३] १ १४

५ ५ वृषाग्नि [४]

५ ६ अग्निवै रेतोधा [५]

* * *

सोम स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५ ७-श्रीवै सोम [१]

५ ८-पशवो हि सोम [२]

५ ९ भद्रा तत् सोम [३]

५ १०-योषा वा आप [सोम] [४]

५ ११ तिरो अहया हि सोम [५]

* * *

अन्नाद-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५ १२ अन्नादोऽग्नि [१]

५ १३ अग्निवै देवानामन्नाद [२]

५ १४ अग्निरन्नादोऽन्नपति []

५ १५ अग्निमन्नाद वद अन्नादो हव भवति [४]

५ १६ अन्नाद तदग्नि [५]

* * *

अन-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५ १७-अन्न पशव [१]

५ १८-अन्नमु श्री [२]

५ १९-श्रिया स्त्रिय समदधात् [३]

५ २०-अन्न वै सोम [४]

५ २१-परममन्नाद्य य सोम [५]

* * *

दक्षिणादिक-स्वरूपानुगत श्रुतिवचन

५ २२-दक्षिणामारोह ग्रीष्म-श्रुतु (१) १ १५

५ २३-दक्षिणैव सबम् (२)

५ २४-अग्निना दक्षिणाम् (३)

✓ ५ २५-दक्षिणादिक् इन्द्रोदेवता (४)

५ २६-दक्षिणा दिशि रुद्रादेवा (५)

* * *

१ १४

उत्तरादिक स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५ २७-उत्तरा ह व सोमोराजा (१)

५ २८-एषा व वरुणस्य दिक् (२)

५ २९ यदत्तरतो वासि सोमो राजा भूतो वासि (३)

५ ३०-एषा उ वै शाता दिक् (४)

५ ३१-एषा हि टिक स्विष्टकृत (५)

* * *

५ ३२-स्त्री और पुरुष के मौलिक-स्वरूप-निर्माण में महान् मौलिक अंतर और श्रुतिवचन

५ ३३-स्त्री और पुरुष का वैयक्तिक-स्वरूपतर और विभिन्ना धारा

५ ३४-विकासधर्मा पुरुष का स्वरूप समवय

५ ३५ सकोचधर्मिणी स्त्री का स्वरूप समवय

५ ३६-लज्जा शील आदि मर्यादा-सूत्रा मक गुण और तद्द्वारा स्त्री का स्वरूप सरक्षण

५ ३७-समीकरणमला शांति का आधारभूत दो विरोधी भावों का एकत्र समन्वय

५ ३८-अनिरूपा उग्रता और पुरुष

५ ३९ सोमरूपा शान्ति और स्त्री

५ ४० अग्नि सोम का सह समवय और दा पयजीवन की शांति तुष्टि पुष्टि

५ ४१-पर रूप तन्त्र का सरक्ष व और स्त्री का पारतन्त्र्य

५ ४२-स्त्री के स्वतन्त्र सौम्यतन्त्र का सरक्षणोपाय प्रदर्शन

५ ४३-स्त्री-स्वातन्त्र्य और स्त्री-पारतन्त्र्य की स्वरूप जिज्ञासा और त समाधान प्रयास

५ ४४-शास्त्रदृष्टि और स्त्री के पारतन्त्र्य से अनुप्राणित विशेष दृष्टिकोण

५ ४५ लौकिकी परतन्त्रता का स्त्रीस्वातन्त्र्य से असस्पश

१ १६

- ५१६-का पनिकी स्त्री स्वरूपविधातिनी आज की स्वतन्त्रता का प्रचण्ड विरोध और शास्त्रदृष्टि १ १६
- ४ स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की विभिन्न व्यवहारशैली
- ५४८-स्वतन्त्रतामूलक आ मभाव
- ५४९-परतन्त्रतामूलक पशुभाव
- ५ -अचिकित्म्य वर्तमान स्त्रीस्वातन्त्र्य वाद
- ५५१-रुढिवादनिबन्धन कतिपय कुप्रथाएँ और तसशोधन
- ५५२-सुधारको की मनोवृत्ति का समादर
- ५५३-स्त्रीसमाज की सुशिक्षा का प्रश्न १ १७
- ५५४-वर्तमान आन्दोलन और स्त्रीशिक्षा
- ५५५-आन्दोलन का हृदयाभिनन्दन
- ५५६-गीता की सृष्टिद्वयी का सम्मरण
- ५५७-वर्तमान भारत की आशादा
- ५५८-सुधार का स्वरूप
- ५५९-विषकुम्भ पयोमुख रूप आज का काप निक सुधार
- ५६ -एक विशेष आवेदन
- ५६१-सुधारों और दोषों का समतुलन
- ५६२-(१) स्त्री शिक्षा का समादर किन्तु पश्चिमी सहशिक्षा की भयङ्करता
- ५६३-(२) पदों की अशास्त्रीयता किन्तु लज्जा शीलादि के परित्याग की भयङ्करता १ १८
- ५६४-(३) सर्वथा निन्द्य बालविवाह किन्तु युवति परिणय ततोऽपि अधिक भयङ्कर
- ५६५-(४) नुकता ओसर भोजनादि असामायिक किन्तु गॉर्डनपार्टी-टीपार्टी आदि ततोऽपि भयङ्कर
- ५६६-(५) अर्थवर्षों के साथ अमानवीय व्यवहार अक्षम्य किन्तु खाद्याखाद्य के विवेक का अभाव ततोऽपि भयङ्कर

- ५६७-(६) पतियों का असदाचरण स था निद्य किन्तु पतिपत्नी का परस्पर याग (तलाक ततोऽपि भयङ्कर १ १८
- ५६८-(७) रुढिवाद सवथव याज्य किन्तु रुढवाद के विसर्जन यामोहन में मूल आदर्शों का भी परित्याग ततोऽपि भयङ्कर
- ५६९-(८) सभी सुधार अपेक्षित किन्तु पश्चिम का अधानुकरण सवथैव भयङ्कर
- ५७ -(९) सुधार का अभिनन्दन किन्तु बुद्धि भेद की भयङ्करता
- ५७१ (१) श दप्रमाणैकसार शास्त्रीय-सुधार उपादेय किन्तु मानसक पनैकसार सुधार सन्तथा ही हेय
- ५७२ स्त्रियों की पूर्णशिक्षा आर त समादर
- ५ ३-स्त्री के अ युथान अभ्युदय निश्चयस से पुरुष का अ युथान अभ्युदय निश्चयस् सम्भव
- ५७४-भारतीय विधि विधानों का अदर्शन और सुधारक बंधुओं का निरर्थक आक्रमण
- ५७५-स्त्री के यश स्वरूप का महिमामय उप वर्णन १ १९
- ५७६-परतन्त्रतामिका स्वतन्त्रता का पारि भाषिक समन्वय
- ५७७ स्वतन्त्रता की स्वरूपरक्षिणी परतन्त्रता
- ४७८-परतन्त्रता लक्षण रक्षाकम्म
- ५७९ पदे पदे पूजनभाव पूणसकार और स्वतन्त्रता सरक्षक मधुर निय वण १ २
- ५८ -एक चाम कारिकी दृष्टि
- ५८१ पूजनभावयुक्त रक्षभाव
- ५८२-स पत्तिसग्रहनियुक्ति
- ५८३-द्रव्यादि परिशोधन
- ५८४ धर्मकार्याभिगमन

- ५८५-बलपूर्वक रक्षा का शास्त्र के द्वारा प्रचण्ड विरोध १ २
- ५८६-आ मनिय त्रणानुगत-स्वतन्त्रतानुगत-रक्षाकर्म और स्त्री का पारतन्त्र्य
- ५८७-परतत्र शब्द का आ यतिक अभाव और भारतीय शास्त्र
- ५८८-स्वतन्त्रता की उपयोगिता का अशत नियन्त्रण और स्त्री पारतन्त्र्य
- ५८९-रक्षक और शासक शर्तों में महान् विभेद
- ५९ -पिता रक्षति कौमारै
- ५९१-भर्ता रक्षति यौवने
- ५९२-रक्षन्ति-स्थाविरे पुत्रा
- ५९३-स्त्रियो रक्ष्या विशेषत
- ५९३-जाया रक्षन् हि रक्षति १ २१
- ५९५-रक्षेयुस्ता
- ५९६-यतन्ते रक्षितु भार्याम्
- ५९७-भगवान् मनु के सम्बन्ध में-सुधारको का अनगल प्रलाप
- ५९८-स्त्रीजाति का पतन पुरुषापराधमूलक और मानवधम्मशास्त्र के महत्वपूर्ण उद्गार
- ५९९-पुरुषरक्षा के सम्बन्ध में एक महान् प्रश्न और तत्समाधान प्रयास १ १२
- ६ -कुतूहल वद्धक प्रश्न
- ६ १ कुतूहल वृद्धि का कारण मानव का बुद्धि वैभव
- ६ २-शक्तिघन का रहस्यपूर्ण अशक्तिव
- ६ ३-मनोघन का अमनोभाव
- ६ ४-प्राणघन का अप्राणभाव
- ६ ५-शक्तिघना नारी की शक्तिप्रयोग में दुबलता और अपेक्षिता रक्षा
- ६ ६-लौकिक उदाहरणों के द्वारा तथ्य का पारिभाषिक समन्वय
- ६ ७-शक्तिमान् के द्वारा ही शक्तिवत्त्व का सम्भावित विकास
- ६ ८ मानस-वृत्तियों का समीकरणोपाय प्रदर्शन १ २२
- ६ ९-ज्ञानकोशामक ब्राह्मण १ २३
- ६१ -पराक्रमकोशा मक क्षत्रिय
- ६११-सम्पत्तिकोशा मक वश्य
- ६१२-शिपकलानुगत सेवा मककोश शूद्र
- ६१३-ज्ञानशक्ति और समाजशक्ति
- ६१४-पराक्रमशक्ति और समाजवृष्टि
- ६१५-सम्पत्तिशक्ति और समाजवृष्टि
- ६१६-सेवा-शक्त और समाजवृष्टि
- ६१७-सबहुतयज्ञात्मिका सामाजिकी शान्ति वृष्टि वृष्टि वृष्टि चतुष्टयी
- ६१८-समाजस्वातन्त्र्य की मूलप्रतिष्ठा का सरक्षण
- ६१९ कोशा यज्ञों की हय-कन्य वृष्टि से सर्व नाश और तन्निव धन कतिपय लौकिक उदाहरण
- ६२ -विषमता के निरोध का वैज्ञानिकोपाय प्रश्न
- ६२१-भाङ्कतापूर्ण उद्गार और पश्चिमोन्नति का प्रचण्ड उद्घोष
- ६२२ कर्मभूमि-आव्यावृत्त-रूप भारतवर्ष
- ६२४-पूर्व का पश्चिमीकरणामक आज का महान् व्यामोहन
- ६२५-प्रकृति से तत्सम्बन्ध में प्रश्न और प्रकृति के द्वारा तटस्थ समाधान
- ६२६ पूर्वदेश और इन्द्रदेवता
- ६२७ पश्चिमदेश और आप्यवरुण
- ६२८-इन्द्र और वरुण के विभिन्न स्वरूपों के वाचक श्रुतिवचनों का सरमरण
- ६२९ इन्द्र और अग्नि के द्वारा पुरुष-वृष्टि की प्रवृत्ति १ २५
- ६३ -वरुण और सोम के द्वारा स्त्रीवृष्टि की प्रवृत्ति
- ६३१-स्त्री और पुरुष-सर्गों का प्रकृतिसिद्ध मेद और मेदानुगता व्यवस्था
- ६३२-सूक्ष्मप्राणप्रधाना दाम्पत्यव्यवस्था

- ६३३-स्थूलभूतप्रधान दाम्प यजीवन १ २४
 ६३४-प्राकृतिक कारण के साथ गजनिमीलिका
 और लौकिक कारण निदर्शन
 ६३५ उभय सद्भावना और अ युदय
 ६३६-सुधारवादी का अभिनिवेश
 ६३७-वास्तविक सुधार का अभान
 ६३८ विद्वानो तथा सुधारको से नम्र आवदन
 ६३९ धर्मानुयायी धार्मिक नेता तथा समाज
 नेता एव उभयनेतृवग के द्वारा आम
 प्रतारणा
 ६४-दयानिधि से प्राथना
 ६४१ सतारणीयास्त्वया का स्मरण १ २५
 ६४२ ऋतमयी-सत्यशून्या सौम्या वृत्ति और
 स्त्रीसग
 ६४३-स्त्रीसग के सम्बन्ध में एक महत्व पूर्ण
 आदेश
 ६४४ पुरातन विज्ञानसिद्ध सिद्धांत का समादर
 ६४५-रक्षात्मक मर्यादासूत्रात्मक योक्त्र
 बन्धन
 ६४६-योक्त्रेण हि युञ्जति इत्यादि ब्राह्मण
 वचन का समन्वय
 ६४ पानी का अधोभाव १ २६
 ६४८ अत्रिप्राण और अत्रेयी का स्मरण
 ६४९-अत्रेयी-योषित् और अमे यभाव
 ६५ यज्ञ की मेध्यरूपता
 ६५१-आज्य पृष्ठ के पारिभाषिक-स्वरूप का
 स्मरण
 ६५२ मेध्यभावापन्न आज्य
 ६५३ अमेध्यभाव का अवरोध और योक्त्र
 बन्धनकर्म्म
 ६५४-श्रद्धा और चान्द्रपानी
 ६५५ श्रद्धा की आहुति और वृष्टि
 ६५६-वृष्टि और ओषधियो का आविर्भाव
 ६५७-सवरणधर्मा वरुणप्राण

- ६५८ सुप्रसिद्ध वरुणप्राण १ २६
 ६५९ ओषधिरूप वस्त्र का वरुणदेवतामयत्व
 ६६-बन्धनसाधिका रज्जु और वरुणदेवता
 ६६१ योक्त्रबन्धन के विभिन्न कारणों का वैज्ञानिक
 समन्वय
 ६६२-अदिय रास्नासि और पनीसन्नहन
 कम्म
 ६६३ अदिति के पारिभाषिक स्वरूप का स्मरण
 ६६४-अदिति का देवमातृत्व
 ६६५-पदाथविद्यानुगत पति पुत्र पिता माता
 भ्राता आदि यवहारो का साङ्ख्य १ २७
 ६६ यवहार-साङ्ख्य प्रतिपादक श्रुतिवचन
 का स्मरण
 ६६७ प्राणदेवताओ की समष्टिरूप यज्ञ
 ६६८-चाद्रगर्भित समष्टिरूप यज्ञ
 ६६९ अदिति की रास्ना (काञ्ची)
 ६७ पनी का आभूषण और तद्द्वारा
 सौदय की अभिवृद्धि
 ६७१-आत्यन्तिक ग्रथि का निरोध और योक्त्र
 बन्धन
 ६७२-ग्रथि के अभाव में नीवी-स्खलन का
 भय एव ऊवभाग में पाशाग्र-समावेश
 से भय का निराकरण
 ६७३-योक्त्रबन्धन का उद्गूहन
 ६७४-विष्णोर्वैष्योऽसि इत्यादि मात्रमागाथ
 समन्वय
 ६७५-सम्बत्सरयज्ञ की स्वरूपसम्पत्ति
 ६७६ यज्ञामक विष्णु का स्मरण
 ६७७-यज्ञामक बध्न और यज्ञ का स्वरूप
 सम्पादन १ २८
 ६७८ पनी के नियतस्थान के सम्बन्ध में
 प्रश्न और तत्समाधान
 ६७९ पनीशाला का पारिभाषिक स्वरूप
 ६८-स्वस्थानभूत गाहपत्यमण्डल

६८१-गाहपय के नैऋतकोण में पानीस्थान की व्यवस्था १ २८

इति-पत्नासन्नहनकर्म्मोपपत्ति

२

अथ पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति

३

६८२-योषाप्राणमयी-पत्नी १ २८

६८३-रेतोरूप आज्य का वृषाप्राणमय व

६८४-दुग्धकाय्यभूत आ य

६८५ सोमामक रेत और आय

६८६ योषा-वृषा प्राणों का मिथुनभाव और प्रजासग की प्रवृत्ति

६८७ दृष्टिसूत्रानुगत प्राणसम्बन्ध एव तद्द्वारा सगप्रवृत्ति १ २९

६८८-आयदर्शन की उपपत्ति

६८९-चक्षुरनुगत भावदोष और आयदर्शन की सदोषता

६९०-अदधेन वा चक्षुषा पश्यामि का सस्मरण

६९१-प्राणदेवताओं की प्रदीप्ति और आहुति की साथकता

६९२-आज्याहुति के द्वारा अग्नि का प्रज्वलन

६९३-अग्नि का जिह्वा स्थानीय आ यद्रव्य

६९४-अग्नेर्जिह्वासि और आयदर्शन

इति-पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति

३

अथ-४-५-६-सरयानुगता परिशिष्टकर्मानुगता उपपत्ति

६९५-यज्ञियद्रव्यों के परिपाक के सम्बन्ध में मतद्वयी का सस्मरण १ २९

६९६-आय की हविद्रव्यरूपता एव तपरिपाकानुगत निष्ठा

६९७-आवश्यक आयदर्शन १ ३

६९८ आज्यावेक्षणान्तर आहवनीयाग्नि में आज्याधिभ्रयण और पद्धयानुगत त समन्वय

६९९-आपोमया सवरसा

७ सवमापोमय जगत्

१ अपतव कौ सवयाप्ति का सस्मरण

७ २-अप और आप एव मनुवचन का सस्मरण

३-वा वारि

७ ४-तत आण्ड समवत्त

७ ५-आपोमय विश्व की ब्रह्माण्डरूपता का सस्मरण

‘प्रासङ्गिक ‘नीरक्षीरविवेक’

७ ६-हंसानुगत नीरक्षीरविवेकयाय १ ३१

७ ७-तदप्सु-पयो हितम् और नीर में क्षीर (दुग्ध) का आधान

७ ८-आप और आय का सम्मिश्रण १

७ ९-पानी और दूध के सम्मिश्रण से विश्व स्वरूप की अभिव्यक्ति

७ १०-आस्थामयी सौम्या-पावनश्रद्धा और पुराणशाम्भ का स्वाध्याय

७ ११-क्षीरसमुद्र और विष्णुभगवाच्च

७ १२-नीरक्षीरविवेकशालिनी बुद्धि

- ७१३ नीर क्षी विवेक रहस्योपक्रम १ ३१
- ७१४ अप्त व और आपोमय परमेष्ठी
- ७१५ भागवत् वरुपा महालक्ष्मी
- ७१६ आङ्गिरसतत्त्वरूपा महासरस्वती
- ७१७ सषा प्राकृत स्थिति
- ७१८-पारमेष्ठ्यप्राणा मक सर्गों की अभिव्यक्ति
१६ असुर-गन्धव और पितर
- ७२ -पितर सोम्यास
- ७२१ (क) अन-तशेषनाग और पारमेष्ठ्य भागव
वायु १ ३२
- ७ १-(ख) पारमेष्ठ्य यज्ञवराहभगवान्
- ७२२ पारमेष्ठ्य सरस्वान्समुद्र
- ७२३-नीर-क्षीर-वायु और सरस्वान्समुद्र
- ७२४-दुग्धरूप क्षीरभाव
- ७२५ सोममय-क्षीरभाव
- ७२६ चिदा मा कौ गमभूमि महद्ब्रह्म
- ७२७ महान् की विभूतित्रयी
- ७२८-आप्य वाय-य-सौम्यरूपा महिमा विव त्रयी
- ७२९-आप्य वायव्य एव सौम्यजीवों का
सस्मरण
- ७३ -चिदा मा विष्णु की अभिव्यक्ति और
क्षीरतत्त्व का आविर्भाव
- ७३१- नीरक्षीरविवेक रूप लौकिक न्याय का
मूलाधार
- ७३२-अङ्गिरा और भृगु
३३ योषा और वृषासृष्टि
- ७३४-शरीरानुबन्धेन यच्चयावत् सर्गों का आपो
मयत्व १ ३३
- ७३५-आग्नेय वृषा पुरुष की मूलप्रतिष्ठारूप
अग्निताव
- ७३६-सौम्या योषा-स्त्री की मूलप्रतिष्ठारूप
सोमतस्व
- ३७-स्त्री का सौम्य आपोमय-शरीर और तत्र
क्षीर मक दुग्ध की अभिव्यक्ति
- ७३८-पुरुष और क्षीर की अनभिव्यक्ति
- ७३९-स्त्री और क्षीर की अभिव्यक्ति १ ३
- ४ -क्षीर का अभिव्यक्तिस्थान और तत्रैव
चिदा मा का गमधारण
- ७४१-सौम्या-क्षीरिणी मातृजाति के द्वारा
महद्ब्रह्म की अभिव्यक्ति और प्रजासग
प्रवृत्ति का रहस्यामक सम वय
- ७४२-प्रजापति के द्वारा योषा के आपोमय
भाग में ही क्षीर का आधान
- ७४३-तदप्सु पयो हितम् का रहस्यामक
समन्वय
- ७४४-मातृस्थान की (पितुरपेक्षया) उच्चता
- ७४५-क्षीराभिव्यक्तित्वानुगता चिदा मनोऽभि
व्यक्ति
- ७४६-जीव का स्वरूपबोध और नीर में क्षीर
का आधान
- ७४७-नीरक्षीरविवेक-न्याय की प्रकृति १ ३४
- ७४८-नग-माता हैमवती उमा भगवती का
सस्मरण
- ७४९-प्रासङ्गिक नीरक्षीर विवेक-न्याय का उपराम
- ७५ -प्रकृति के द्वारा सौम्या योषासृष्टि के
अनुबन्ध से ही नीर में क्षीर का आधान
- ७५१-क्षीरानुगत आय और उसका प्रजनन
धर्मानुगता प्रजा का मूलाधारत्व
- ७५२ योषाप्राणामिका यजमानपत्नी के द्वारा
आयदर्शन और तदुपपत्तिसमन्वय
- ७५३ पवित्र [दर्भ] के द्वारा आय का
प्रोक्षण
- ७५४-आपोमय जीवनीय रस और तदनुबन्धी
प्रोक्षणकर्म
- ७५५- यो व शिवतमो रस
- ७५६-उ पवनकर्म का सम वय
- ७५७ दक्षिणाक्रीत श्रुतिवक्
- ७५८-दक्षिणा के द्वारा यज्ञप्रविष्ट यजमान के
दिया मा का पाथक्य

७५६-अध्वय्यु के द्वारा आज्यदशन	१ ३४	७६८-द्रादुर्वाक्य श्रुति	१ ३४
७६-यजमान के द्वारा आज्यदशन का निरोध		७६९-श्रोतुर्वाक्य स्मृति	
६१-सयनारायण सौरविष्णु		७७-श्रुति और स्मृति शब्दों का रहस्यात्मक समन्वय	
७६२-सयसूर्यानुगत चन्द्र		७७१-द्रष्टा की सयभावापन्ना चक्षुरिन्द्रिय	१ ३५
७६३-सवै सयमेव वदेत् का सस्मरण		७७२-स्वत प्रमाण श्रुतिशास्त्र	
७६४-सयभाषणादश के सम्बन्ध में अनृत भावापन्न मानव और आदेश का विरोध		७७३-श्रुयनुगामिनी स्मृति	
७६५-विरोध का निराकरण और सयभाषणा नुगता मानवीया मर्यादा		७७४-योषावृषा मक-यज्ञ की समृद्धि के विभिन्न कारण	
७६६-श्रुति और स्मृति शब्दों से अनुप्राणित रहस्य		७७५-तेजोरूप आज्य	
७६७-श्रुति शब्द यवहार के सम्बन्ध में कापनिकों की महती भ्रान्ति और सन्निराकरण		७७६-वाङ्मय शुक्रतव	
		७७७-आज्य से शुक्रवृद्धि	
		७७८-भूतामा की समृद्धि और तेजोरूप आज्य	
		७७९-आज्यगुण का समन्वय और तेजोऽसि शुक्रमसि अमृतमसि का सस्मरण	

इति प्रथमकाण्डे-तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्

इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थ ब्राह्मणम्

इति-द्रव्यसंस्कारा

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे
तृतीयाध्याये-द्वितीय ब्राह्मणम्
(आज्यब्राह्मणम्)
द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

* १६ आज्यग्रहराकर्म
क्रमप्राप्त १६ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
'विषयस्मारकसूची'
(पृष्ठ सं० १०३७ से १०७६ पृ० पर्यन्त)

१-प्रथमकाण्डात्गत-तृतीया यायानुगत द्वितीयब्राह्मण एव द्वितीय प्रपाठकानु गत-चतुर्थब्राह्मण (मल)	१ ३७	१ वैदिकविज्ञान के अनुबन्ध से वर्तमान युगीय-भौतिक आविष्कारों से अनुप्रा प्राणिता प्रश्नात्मिका विप्रतिपत्ति	१ ५६
२-मलब्राह्मण का अक्षराथ समन्वयामक अनुवाद	१ ४	११-वेदाक्षरोच्चारण और विज्ञान शब्द का पुनरावचन एव तन्मूला विप्रतिपत्ति	
३-सूत्रानुगत-पद्धतिसंग्रह	१ ५६	१२-देवयुगात्मक-सर्वो कृष्टयुग और तदनु गत भौतिक विमानादि आविष्कारो का संस्मरण	
४-वैज्ञानिकविश्लेषनोपक्रम	१ ५६	१३-वैदिक विज्ञानपरम्परा के पुनरुज्जीवन से यन्त्रयावत् विप्रतिपत्तियों का सम्भावित निराकरण	
५-यशितिकत्त व्यता की उपनिषत् (मौलिक- उपपत्ति) के सम्बन्ध में प्रश्न		१४-महर्षियों का यश सौरभ और भौतिक विज्ञान का समादर	
६-आध्यात्मिक यज्ञ के द्वारा प्रश्नसमाधा नोपक्रम		१५-भारतीय वैज्ञानिक जगत् के विज्ञान शब्द की सवथा स्वतन्त्रा-परिभाषा का संस्मरण	
७-अध्यामानुगत प्रासङ्गिक आधिदैविकयज्ञ का संस्मरण			
८-एक महती विप्रतिपत्ति का उद्धान			
९-विज्ञानभाष्यद्वारा रूप वेदशास्त्र का संस्मरण			

- १६-भौतिकीवि कारों की नगण्यता और भारतीय विज्ञानदृष्टि १ ५६
- १७-दवयुगानुगत भौतिक आविष्कारों की यवहारानुगता मर्यादा और नियन्त्रण
- १८-भौतिकीवि कारों के द्वारा मानवीय बुद्धि में उत्तरोत्तर जडता की अभिव्यक्ति
- १९-जन्ताप्रयुक्त प्रतिहिंसा मक प्रतिद्विद्विता मलक आसुरभाव और भौतिक-आवि कार
- २ -आवि कारों के निरातशय उपयोग से मानव की प्राकृतिक शक्तियों का एव पौरुष का उत्तरोत्तर हास
- २१-जीवनीय रसा मक आ मस्वातन्त्र्य के अन्य तम शत्रु ये भौतिक आविष्कार
- २२-वदिकविज्ञान की की महत्ता से असस्पृष्ट भौतिक आवि कार और आक्षेपों का नि सार व
- २३-ऋषिदृष्टा वैदिक विज्ञान की धारात्रयी और दैविक आधिमिक भौतिक विवत्त १ ६
- २४ यज्ञविज्ञाना मक आधिभौतिकविज्ञान
- २५-एहस्थाश्रमानुगत कम्मकाण्ड और यज्ञ विज्ञान
- २६-आधिदैविक विज्ञाना मक श्वरावज्ञान
- २७-आ याधिमिक विज्ञाना मक जीवविज्ञान
- २८-वानप्रस्थानुगत-उ ासनाकाण्ड और ईश्वरावज्ञान
- २९-स यासानुगत ज्ञानकाण्ड और जीव विज्ञान
- ३ -क म उपासना ज्ञान-रूपा पुरुषाथत्रयी और मानव
- ३१ मानव की युवावस्था और यज्ञविज्ञाना नामक कम्मकाण्ड
- ३२-मानव की प्रौढावस्था और ईश्वरविज्ञाना मक उपासनाकाण्ड

- ३३-मानव की वृद्धावस्था और जीवविज्ञाना मक ज्ञानकाण्ड १ ६
- ✓३४ यज्ञ और भतजगत्
- ✓३५-उपासना और देवजगत्
- ३६-ज्ञान और जीवजगत्
- ३७ यज्ञ श द की महती याप्ति
- ३८-यज्ञ न-यज्ञमयज त देवा
- ३९-यज्ञविज्ञाना मक भौतिकविज्ञान में आधि दैविक-ईश्वरविज्ञान तथा अध्यामिक जीवविज्ञान का आविर्भाव
- ४ विज्ञानत्रयी की समष्टि ओर विश्व-विज्ञान
- ४१-त्रिपर्वा मक विश्वविज्ञाना मक समष्टियज्ञ रूप सवमेध नामक सवहुतयज्ञ का नाम सस्मरण
- ४२-स्वय म रूप विश्वपव और आधिदैविक विज्ञान १ ६१
- ४३-सुथ्य रूप विश्वपव और आध्यामिक विज्ञान
- ४४-भूपिण्डरूप विश्वपव और आधिभौतिक विज्ञान
- ४५-सहस्रव-शा मक महामायावच्छिन्न अश्व थ वृक्ष का तथा महिमा भावों का सस्मरण
- ४६-विश्व के पाँच पर्वों का प्रमुख तीन पर्वों में ही विश्राम
- ४७-यज्ञस्वरूप सम्पादक प्राणदेवताओं का पारस्परिक-यजन
- ✓४८-ब्रह्म द्रवि एवग्निसोम नामक विश्वेदेवों का सस्मरण
- ४९-ब्रह्मा और सवप्रतिष्ठा मक तव
- ✓-विष्णु और इन्द्रा मक एक युग्म
- ✓५१- इन्द्रस्य युज्य सखा
- ✓५२-इन्द्र सोम अग्न्या मक एक युग्म १ ६२

- ५३-१ २ ३-सख्यानुगत क्रम और सस्था त्रयी की स्वरूपनिष्पत्ति १ ६२
- ५४-वदिकपञ्चदेवतावाद का पुराणशास्त्र के द्वारा त्रिदेवतावाद पर विश्राम
- ५५ पुरुषविज्ञानानुबन्धेन पार्थिवी का समथन
- ५६-आनन्द ब्रह्मा प्राण त्रयी और स्वयं भू
- ५७-विज्ञान विष्णु आप त्रयी और परमेष्ठी
- ५८-मन इन्द्र-वाक त्रयी और सूर्य
- ५९-प्राण सोम अन्न त्रयी और चद्रमा
- ६०-वाक अग्नि अन्नाद त्रयी और पृथिवी
- ६१ संहृतयज्ञ का स्वरूप निष्कर्ष
- ६२-स्वयम्भू अ या मम् १ ६३
- ६३-सूर्य अधिदैवतम्
- ६४-पृथिवी अधिभूतम्
- ६५-अ यामयज्ञ प्रतिष्ठा ज्ञानकारणम्
- ६६-अधिदैवतयज्ञप्रतिष्ठा उपासनाकारणम्
- ६७-अधिभूतयज्ञप्रतिष्ठा-कर्मकारणम्
- ६८-प्राकृतिक-यज्ञ विज्ञानामक वश्वविज्ञान
- ६९-यज्ञत्रयी रूपा विज्ञानत्रयी का भारतीय महर्षियों के द्वारा आविष्कार
- ७० यज्ञविज्ञानत्रयी के द्वारा मानव की अभ्युदय निश्चय सिद्धि
- ७१ भारतीय विज्ञानशास्त्र की प्रवृत्ति का एक मात्र महान् उद्देश्य
- ७२-भारतीय विज्ञान शब्द की पारिभाषिकी मर्यादा का रहस्यात्मक-समन्वय
- ७३ भारतीय विज्ञान शब्द का सीमाभाव
- ४-प्रक्रात आज्यब्राह्मण का संस्मरण
- ७५ प्रकृत-प्रकरण और तदनुबन्धेन लक्ष्मीभूत पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ
- ७६-ब्राह्मणग्रन्थ और आधिभौतिक यज्ञ विज्ञान
- ७७-आरण्यकग्रन्थ और आधिदैविक-यज्ञ विज्ञान

- ८-उपनिषद्ग्रन्थ और आ यामिक यज्ञ-विज्ञान १ ६३
- ७९ पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ के भाूपण्ड पार्थिवशरीर भूमहिमारूप तीन अन्तर भौतिकयज्ञ
- ८०-वश्वानर तैजस प्राज्ञामक ससज्ञ पार्थिव शरीर और पार्थिव आध्यात्मिक यज्ञ
- ८१-पार्थिव दिव्यदेवदेवता और भूमहिमा १ ६४
- ८२-भूविर्वा पार्थिवचेतनवग-दिव्यदववग और पार्थिवसस्था
- ८३ वद का ब्राह्मणभाग और उसके विधि आरण्यक उपनिषत् रूप तीन महिमा विर्वा
- ८४-इति नु अधिभनम्
- ८५- इति नु अ य मम्
- ८६ इति नु अ धदयतम्
- ८७-आधिभौतिक-पृथिवी यनुगत-आयामिक यज्ञपव की महती-याप्त का समन्वय
- ८८-स्वायं भुवम् अध्यात्मविज्ञानम् और विधिभाग कत्त व्यात्मक कम्म)
- ८९ सौरम् अधिदैवतविज्ञानम् और आरण्यक भाग (कत्त व्यात्मिका उपासना)
- ९०-पार्थिवम् अधिभूतविज्ञानम् और उपनिषद्भाग (कत्त व्यात्मिक ज्ञानम्)
- ९१ यज्ञत्रयी का अत्यन्त रहस्य पूरा महिमा मय-समन्वय
- ९२-एकविंशस्तोमावच्छिन्नो भूमहिमा अधिदैवतयज्ञ (पार्थिव एव)
- ९३-पार्थिवशरीराणि अध्यात्मयज्ञ (पार्थिव एव)
- ९४-पुरुषप्रयत्नसा या वैधयज्ञा अधिभूतयज्ञ [पार्थिव एव]
- ९५ सैषा आधिभौतिक-यज्ञत्रयी-पृथिव्यनुगता एव विधि भागानुगता द्रष्टव्या

- ६६-प्रतिरूपरहस्य का सम वयोपक्रम १ ६४
- ६७-यज्ञोद् श्येन पुरुष का विधान
- ६८-वैधयज्ञ का प्रतिकृतिव
- ६९-यज्ञस्वरूप का सूचक पुरुष शब्द
- १ -पुरुषो पत्ति के साधक यज्ञिक अग्नि और सोम रूप शोणित शुक्र
- १ १-वैधयज्ञ के द्वारा उपन्न अतिशयरूप अपूर्व दैवामा
- १ २-दैवामा की यज्ञरूपता
- १ ३-उभय यज्ञो की पुरुषरूपता का पारिभाषिक समन्वय
- १ ४-पुरुषयज्ञ का कौशान्ता मक वितान
- १ ५-पाञ्चभौतिक शरीर और यज्ञकर्त्ता यज्ञमस्थान
- १ ६-भूतामा और यज्ञकर्त्ता यज्ञमान
- १ ७-वैश्वानराग्नि और होता
- १ ८-श्वासप्रश्वासा मक वायु और अ वय्यु
- १ ९-हृदयस्थ प्रज्ञानमन और ब्रथा
- १ १०-उदानप्राण और उद्गाता १ ६५
- १ ११-मूलाधारमण्डल और गाहपयकुण्ड
- १ १२-अपानानि और गाहपयाग्नि
- १ १३-जाठरानि और दक्षिणाग्निकुण्ड
- १ १४-जाठराग्नि और दक्षिणानि
- १ १५-शिरोमण्डल और आहवनीयकुण्ड
- १ १६-प्राणाग्नि और आहवनीयानि
- १ १७-केश लोम और बर्हि (दभ)
- १ १८-अस्थिसमूह और समिध का ठ
- १ १९-द्रवद्रव्य और प्रणीता
- १ २०-अन्न और आहुतिद्रव्य
- १ २१-दक्षिणभुजा-चरण और जुहु
- १ २२-वामभुजा चरण और उपभृत्
- १ २३-मध्याङ्क (धक्क) और भ्रुवा
- १ २४-सर्वाङ्गशरीरसञ्चारीप्राण और सुव
- २५-शरीरप्रदेश और वेदि
- १ २६-पुरुषसंस्था की यज्ञानुगता प्रतिरूपता का सर्वामना समन्वय
- १ २७-वैधयज्ञ की पुरुष के साथ प्रतिरूपता १ ६६
- १ २८-पुरुषयज्ञवत् ही वैधयज्ञ के विभिन्न-कर्म कलापों का समतुलनात्मक समन्वय
- १ २९-प्रकृतिवद्विकृति कत्तव्या इत्यादि श्रौत आदेश का पारिभाषिक-समन्वय
- १ ३०-आधिभौतिक वैधयज्ञ की पुरुषरूपता का दिग्दर्शन
- १ ३१-आध्यात्मिकयज्ञ की आधिभौतिकयज्ञ के प्रति उपनिषत्ता
- १ ३२-महिमामय पार्थिवमण्डल और यज्ञसंस्था
- १ ३३-पार्थिव अग्निरूप सवप्रजापति और यज्ञ कर्त्ता यज्ञमान
- १ ३४-त्रिवृत्स्तोमानुगत पार्थिव अग्नि और होता
- १ ३५-पञ्च शस्तोमानुगत आ तरिद्य वायु और अ वय्यु
- १ ३६-एकविंशस्तोमानुगत आटिय और उद्गाता
- १ ३७-भूपिण्ड और पुराणगाहपय
- १ ३८-त्रियाग्नि और पुराणगाहपत्याग्नि
- १ ३९-त्रिवृत्स्तोमात् पार्थिव महिमा प्रदेश और नूतनगाहपयकुण्ड
- १ ४०-त्रिवृत्स्तोमपरिच्छिन्न पार्थिव धनाग्नि और नूतनगाहपयाग्नि
- १ ४१-पञ्चदशस्तोमान्त पार्थिव महिमाप्रदेश और धिष्ण्याग्निकुण्ड
- १ ४२-पञ्चदशस्तोमपरिच्छिन्न अष्टविध नाक्षत्रिकाग्नि और धिष्ण्याग्नि
- १ ४३-एकविंशस्तोमात् पार्थिव महिमाप्रदेश और आहवनीयकुण्ड
- १ ४४-एकविंशस्तोमपरिच्छिन्न सौर दिव्याग्नि और आहवनीयानि
- १ ४५-लोकालोकसीमातानुगत वेन नामक अपत व और बर्हि
- १ ४६-पार्थिव उरु अन्तरिक्ष में व्याप्त अश्मा सोम और समिधकाष्ठ

- १४७ आतरिन्द्य मरीचि आप और प्रणीता
तथा प्रोक्षणी १ ६६
- १४८ पाथिव ओषधि सोम पृथि युपग्रह भूत
चाद्रसोम और आहुतिद्रय
- १४९-भूतिण्ड और हविर्वेदि
- १५ भूमहिमा और महावदि
- १५१-एकविंशस्तोमावच्छिन्न य लोक और जुहु
- १५२-पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक
और उपभूत
- १५३-त्रिष्टदनुगत भूपिण्ड और ध्रुवा
- १५४-त्रैलोक्य सञ्चारी वायु-यप्राण और
सुव १ ६७
- १५५ पाथिव आधिदैविकयज्ञ का स्वरूपेतिवृत्त
एव त-प्रतिरूप आध्यामिक यज्ञ
- १५६-आ यामिकयज्ञ का प्रतिरूप अधिभूत
यज्ञ (मनुष्यकृत वैधयज्ञ)
- १५७-पार्थिव त्रलोक्य और विप्रतिपत्ति
- १५८-पृथिवी में पृथिवी और महती विप्रतिपत्ति
- १५९-अस्या एवेमे सर्वे लोका प्रभवन्ति
इयादि पारिभाषिक-सूत्र के मा यम से
विप्रतिपत्तियों का निराकरण
- १६ अष्टविध त्रिलोकी विवत्त नुगता सौम्य
त्रिलोकी का सस्मरण १ ६७
- १६१-अग्निगर्भित भूपिण्ड
- १६२ भौमाग्नि और प्रजापति
- १६३-अमृत-मृ-यु-मय प्रजापति
- १६४-रसाग्नि प्राणाग्नि-देवाग्नि
- १६५-रसाग्नि-लक्षण प्रजापति
- १६६ रसाग्नि का त्रिधा रसन और पार्थिव
त्रैलोक्यरूप स्तौम्य त्रलोक्य का वितान
- १६७-अग्निरस की अवस्थात्रयी और स्तौम्य
त्रिलोकी के तीन अतिष्ठवा देवता
- १६८-स एष प्राणाग्निस्त्रेधा विहित
- १६९-ध्रुवास्थानीय भूपिण्ड और हृदयस्थ
रसाग्नि १ ६८

- १७ -त्रिविध-यज्ञों की क्रमसिद्धा मौलिक
उपपत्तिलक्षण-स्वरूपोपनिषदों का उपराम १ ६८
- १७१-पुरुषप्रय नसा य वधयज्ञ-की आध्यामिक
यज्ञानुगता प्रतिरूपता का ताविक-सम-वय
- १७२-पृष्ठ एव आय नाम की त-वद्वयी का
सस्मरण
- १७३ पृष्ठस्वरूप दिग्दशन
- १ ४-आज्यस्वरूप दिग्दशन
- १७५-तेजो वै आयम्
- १७६-अ नेर्वा एतद्रूप यदाज्यम्
- १७७-प्राणो वा आज्यम्
- १७८-धृत की प्राणामिका शक्ति
- १७९-जीवनीयशक्तिप्रदाता घत
- १८-जुहु-स्र क सुवादि की पृष्ठरूपता
- १८१ आयपरिपूण जुह्वाद
- १८२-पुरुषप्रतिरूपता की ससािद्ध
- १८३ आज्यग्रहण और दैवा मा का स्वरूप
- १८४ शरीरामक पुर और पुरुषामा
- १८५-आकार और वस्तुत-व
- १८६-आयतनरूप बाह्य आकार और वयो
नाध १ ६९
- १८७-वयोनाध और छन्द
- १८८-छन्दोरूप वयोनाध से नद्ध वयोरूप
वस्तुत-व
- १८९-वयुनका स्वरूप दिग्दशन
- १९ सर्वमिद वयुनम्
- १९१-वयुन और आध्यामिक-सस्था का
प्रथम पव
- १९२-ऋतुस्नाता स्त्री और अत्रिप्राण
- १९३-ऋतुमती और आत्रेयी
- १९४-अग्नि और सोम की ऋत सत्य मेदेन
अवस्थाद्वयी
- १९५-ऋताग्नि-सोमद्वयी का उद्ग्राम और
निग्राम

- १६६ ऋता न के दाम्प्य से ऋतु का ज म १ ६६
- १६७ ऋतु और छन्द का समन्वय
- १६८ ऋतु और छन्द से शरीर का निर्माण
- १६९-कम्मभोक्ता औपपातिक जीवामा का ऋतु छन्दोमय शरीर में प्रवेश
- २ आमा वस्तुतः वरूप वय बाह्याकाररूप ववोनाथ रूपा पर्वत्रयी
- २ १-वस्तुतः व और ऋतुदेवता
- २ २ बाह्याकार और छन्दोदेवता
- २ ३-ऋतुरूप प्रयाजदेवता
- २०४ बाह्याकारामक छन्द और अनुयाजदेवता
- २ ५ प्रयाजानुयाज से पुररूप शरीर का निर्माण १ ७
- २ ६-आवापादेवता रूप प्रधानदेवता और आमा
- २ ७ -गुष्ठस्वरूपनिर्मापक ऋतुत व एवं छन्द स्तत्त्व
- २ ८-देवता छन्द-ऋतु त्रयी
- २ ९-दृष्टि पशु सोम-त्रयी का हविद्र व्यव
- २१ प्रयाजानुयाजदेवताओं का आहुतिद्रव्य और आज्य
- २११-देवदत्त की उभयामकता
- २१२-भूतामा और देह का समन्वय
- २१३ भूतामा और देह का परिवर्तन
- २१४ नामग्रहण का अभाव और आयग्रहण
- २१५ एवमु हैतेषाम् का समन्वय
- २१६-जामि रूप महात्र दोष
- २१७-समदर्शन और विषमवर्तन की वशा निकता
- २१८-समवतनरूपा आमदृष्टि और आम साम्य
- २१९-विषमवर्तनरूपा विश्वदृष्टि और प्रकृतिभेद
- २२ -समदर्शनक्षेत्रामक आमा
- २२१-विषमवर्तनक्षेत्रामक शरीर १ ७
- २२२-व्यवहारजगत् और जामिदोष
- २२३-आमापेक्षया देवताओं का अवरव १०७१
- २२४-अन्तरिक्षभाजना वै पशव
- २२५-ऋतवश्छ दासि पशव
- २२६-धृतमन्तरिक्षस्य
- २२७ आज्यग्रहण की अवयवता
- २२८ चतुर्गृहीत आय की उपपत्ति
- २२९ नामग्रहण का अभाव और अजामिता
- २३ -आज्यग्रहणप्रक्रियानुगता-अमुक विशेषता
- २३१-विशेषता का सोपपत्तिक समाधान
- २३२-निदान शब्द का पारिभाषिक अर्थ समन्वय
- २३३-दक्षिणहस्ता मक निदानभाव
- २३४ दक्षिणहस्त-तात्पर्य समन्वय
- २३५ कमल और भूपिण्ड के निदानभाव का तात्त्विक समन्वय
- २३६ आपो वै पुष्करपर्णम्
- २३७-कमलपत्रामक भूपिण्ड
- २३८ का वालीकृता-पृथिवी १ ७२
- २३९-घनभावा मक अपतस्व और पुष्करपर्ण
- २४ -पुष्करपर्ण और भूपिण्ड
- २४१-प्रजापति का पचासन
- २४२-निदानभावानुगत जुहू और उपभृत् का स्वरूप विचार
- २४३-दक्षिणहस्त और जुहू
- २४४-वामहस्त और उपभृत्
- २४५-पुरुष का दक्षिणाङ्ग और शुभशकुन
- २४६-पुरुष का वामाङ्ग और अशुभशकुन
- २४७-स्त्री का वामाङ्ग और शुभशकुन
- २४८-स्त्री का दक्षिणाङ्ग और अशुभशकुन
- २४९-दक्षिणहस्तानुगत यजमान और जुहू
- २५ -वामहस्तानुगत यजमानशत्रु और उपभृत्
- २५१-जुहू की नैदानिकी अन्नादरूपता

२५२-उपभृत् की नैदानिकी अन्नरूपता	१ ७२	२६८-अथस्थानीय विडबल	१ ७३
२५३-भूयास-कनीयास करोति		२६९-प्रवयस्थानीय शूद्रबल	
२५४-समृद्धि का स्वरूप-लक्षण		२७०-समृद्धिरक्षा और वनचतुष्टयी	
२५५-जुहु और उपभृत् से अनुगता आय मात्रा के तारतम्य की उपपत्ति		२७१-राष्ट्रकम्मसमृद्धिपूर्वक स्वसमृद्धि का समन्वय	
२५६-शारीरिक बला मक बल	१ ७३	२७२-सुपणकाद्रवयारयान का सस्मरण	
२५७-अ मबला मक वीथ्य		२७३-छन्द और तदक्षर-रहस्य	
२५८-भूतबलामक बल		२७४ द्वादशाक्षर-जगतीछन्द	
२५९ प्राणबला मक वीथ्य		२७५-एकादशाक्षर त्रिष्टुपछन्द	
२६०-बल बीर्यानुगता आयमात्रा का तारतम्य		२७६-अष्टाक्षर गायत्रीछन्द	
२६१-अन्न अन्नाद की स्वरूपरक्षा और आज्यमात्रा का तारतम्य		२७७ सर्वाणि ह वा छन्दासि चतुरक्षराणि	१ ७४
२६२ प्रजावित्त पर सत्ताधिकार का प्रश्न और त समाधान		२७८-गायत्रीछन्द दक्ष जुहु का आज्य	
२६३ प्रजास्वातन्त्र्य और राष्ट्रसंरक्षण		२७९-त्रिष्टुपछन्द दक्ष आज्य	
२६४-(क) क्षत्र और विट् का समन्वयामक सहयोग एव तमूला राष्ट्रसमृद्धि		२८०-जगतीछन्द दक्ष आय	
२६४-(ख) राष्ट्रसमृद्धि का अन्यतमसूत्र		२८१-अनुष्टुप गायत्री त्रिष्टुप जगती नामक चार छन्दो का सस्मरण और आज्य ग्रहण	
२६४-(ग) ब्रह्मबलामक ध्रुवापात्र		२८२-ध्रुवा के द्वारा यज्ञक म सम्पादन	
२६४ (घ) क्षत्रबलामक-जुहुपात्र		२८३-भूपिण्डस्था आज्यशक्ति	
२६४-(ङ) विडबलामक उपभृत्पात्र		२८४-यज्ञस्वरूप-संसिद्धि के द्वारा	
२६५-वशुसम्पत्ति और शूद्रभाग		२८५-त्रि सत्या वै देवा	
२६६-ज्ञानस्थानीय ब्रह्मबल		२८६-मन्त्रप्रयोगानुगता आज्यग्रहण-व्यवस्था का समन्वय	
२६७-क्रियास्थानीय-क्षत्रबल		२८७-त्रिष्टुत्-सम्पत्ति और यज्ञ	
		२८८ त्रिवृद्भाव और आय	
		२८९ आयब्राह्मणोपराम	१ ७५

इति प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये-द्वितीय ब्राह्मणम्

इति द्वितीयप्रपाठके पञ्चम ब्राह्मणम्

आज्यब्राह्मणात्मकम्

इति-आज्यग्रहणाकर्म

१६

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे
तृतीयाध्याये

द्विब्राह्मणानुगत-इध्मब्राह्मण-तृतीयम्
द्विब्राह्मणानुगत परिधिब्राह्मण चतुर्थम्
[द्विब्राह्मणात्मक ब्राह्मणम्]

१७-इध्म-पारिधि-अनुगत-कर्मसंग्रह
क्रमप्राप्त १७ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
“विषयस्मारकसूची”
(पृष्ठस० १०७८ से ११३४ पृ० पर्यन्त)

१-प्रथमकाण्डान्तगत तृतीया यायानुगत	तृतीय
चतुर्थ-ब्राह्मण (मूल)	१ ७८
२-मूलब्राह्मणो का अक्षराथसमवयामक	
अनुवाद	१ ८६
३-सूत्रप्रदर्शित पद्धतिसंग्रह	११

वैज्ञानिकविवेचनोपक्रम
[११०८]

अथ-प्रोक्षणकर्मोपपत्ति

४-पवित्र वा आप मे या वा आप श्रुति	
वचनों का सस्मरण	११ ८
५-बर्हि बेदि तथा इध्म का पवित्रीकरण	
६-मेध्यमेवैतदग्नेये करोति	
७ यज्ञियकाण्ड और इध्म शब्द का अर्थ	
समन्वय	

८-कृष्णाग्नि का प्रतिरूप इध्मकाण्ड	११ ८
९-काण्ड में प्रसुप्त मृग नामक अग्नि	
१ -सौरानिमण्डला मक आहवनीयमण्डल	
११ सौर सावित्राग्नि की यज्ञरूपता	
१२-ब्रह्माग्नि और प्रवर्ग्याग्नि के भेद से सौर	
यज्ञाग्नि के दो महिमा विवर्ण	
१३-अ तर्ग्यामसम्ब धामक ब्रह्माग्नि	
१४-बहिर्व्यामसम्ब धामक प्रवर्ग्याग्नि	
१५-पार्थिव अग्नि का प्रवर्ग्याग्नि और गायत्र	
अग्नि	
१६ सावित्राग्नि की कृष्णरूपता और पार	
मेष्ठ्य सोम ही आहुति से तत् शुक्ल	
रूपव	११ ६
१७ अग्नि का जागरूप रूप और शुक्लभाव	
१८-अग्नि का सुतरूप और कृ णभाव	

- १६-पार्थिव भौतिक-पदार्थों में प्रविष्ट-सुप्त कृष्ण अग्नि ११६
- २ अग्नि की शुक्ल कृष्णाग्नि का जाग्रत् सुषुप्त्यवस्थाद्वयी और मन्त्रश्रुति
- २१-मृग्यमाणधर्मावच्छिन्न अग्नि की मृग्य रूपता
- २२-कृष्णमृग्य नामक अग्नि और यज्ञ
- २३ यज्ञभूमि भारतवर्ष और कृष्णमृग्य का स्वच्छन्द विचरण
- २४-कृष्णाग्निब्राह्मण-का सस्मरण
- २५-दवमण्डल से यज्ञ की अपक्रान्ति एवं कृष्णमृग्य रूप में तदुपलक्षि
- २६-इय वै पृथिवी कृष्णाग्निम्
- २७-यज्ञो वै कृष्णाग्निम्
- २८-मृग्य रूप मृग्याग्नि और खर १११२
- २९-आहवनीय-खर में प्रतिष्ठित अग्नि और आखरेष्ठ का समवय
- ३०-कठिनकाष्ठ के गम में सुप्तरूप से प्रतिष्ठित आखरेष्ठ भाव
- ३१-कृष्णोऽस्याखरेष्ठ और प्रोक्षण
- ३२-प्रोक्षणकर्म के द्वारा इध्म-काष्ठ की यज्ञ रूप में परिणति
- ३३-यज्ञेन पार्थिवयज्ञ न-यज्ञ दिव्याग्नि अयं ज्ञात देवा का सस्मरण
- ३४-पार्थिवाग्नि दिव्याग्नि और यजमानाग्नि का समन्वयामक यज्ञ
- ३५-इध्मकाष्ठाग्नि की मेयरूपता
- ३६-देवताओं के लिए जुष्ट इध्म काष्ठ
- ३७-अग्नेये त्वा जुष्ट प्रोक्षामि
- ३८-वेदि पर बर्हि का आस्तरण
- ३९-ज्योतिष्मय वेन रूप अपतव और-बर्हि
- ४०-मतिभीरिहन्ति और वेन
- ४१-सर्वत इव ह्ययं समुद्र और दम
- ४२-ता इवा अनापूयिता आप और बर्हि
- ४३-पवित्रे करोति का सस्मरण

- ४४-पृथिवी की प्रतिकृतिरूपा वेदि और उस के अमेध्यधम्म का निराकरण ११११
- ४५-वेदिप्रोक्षण का पारिभाषिक समन्वय
- ४६-वेदिरग्नि बर्हि वा जुष्ट प्रोक्षण का समन्वय
- ४७-प्रोक्षणक मोक्ष श्य का स्पष्टीकरण
- ४८-बर्हि का प्रोक्षण और तपारिभाषिक समन्वय
- ४९-वनप्रतिरूप-स्थानीय दम का बर्हिरूपव
- ५०-यज्ञिय भौतिक पदार्थों से अनुगत भूत और प्राण
- ५१-अग्ने यभावापन्न भूतभाग
- ५२-भूतसंसर्ग से मे य भी प्राण का अग्नेयव
- ५३-प्रोक्षणकर्म के द्वारा भूत और प्राणात्मक यज्ञिय पदार्थों के अग्नेयभाव का निराकरण
- ५४-वृष्टिकर्माधष्ठाता पर्जन्यदेवता
- ५५-आकाशस्थ मरुद्गर्भ से भूतल की और आगत-वृष्टिजल
- ५६-वृष्टिजल का विलयन
- ५७-ओषधि वनस्पति
- ५८-मूलाद्र ता और ओषधि-वनस्पतियों का जीवन
- ५९-मृद्भागसहित ओषधि वनस्पतिमूलों का उपाटन और अन्यत्र प्ररोहरण
- ६०-प्राकृतिक-यज्ञकर्म और जलवर्षण
- ६१-यद्वा देवा अकुवस्तत् करवाणि
- ६२-प्रोक्षणी आप का प्रकृतिवत् बर्हि के मूल में सिञ्चन
- ६३-यज्ञातिशायों का फलभोक्ता यजमान
- ६४-जलसेकात्मक-सिञ्चनकर्म १११२
- ६५-यजमान के लिए समृद्धियुक्ता ओषधि वनस्पतियाँ
- ६६-ओषधिमूलों की आद्रता का समन्वय
- ६७-सिञ्चनकर्म का प्रधान लक्ष्य भूप्रदेश

- ६७ परम्परया आद्र मूलता की प्राप्ति १११२
 ६८- अदि यै व्युन्दनमसि का रहस्या मक समवय
 ६९ जीवनरसप्रदात्री भूगभ की आद्र ता
 ७ -भूगभ में ही कृषक के द्वारा बीजवपन और प्रोक्षणकर्मोपपत्ति

इति-प्रोक्षणकर्मोपपत्ति

अथ-प्रस्तरगृहणोपपत्ति

- ७१-कुशमुल्लिलक्षण प्रस्तर का ग्रहण १११२
 ७२ यज्ञपुरुष के द्विविध महिमामय-स्वरूप
 ७३-ऋताग्नि-ऋतमोमा मक सम्ब सरमण्डल और आधिदैविकपुरुष
 ७४-सम्ब सरयज्ञ के उत्तरायण दक्षिणायन विष्वत् रूप तीन प्रमुख पव
 ७५-यज्ञपुरुष के दक्षिणोत्तर पार्श्व और मध्याङ्ग
 ७६-एकविंशस्थान और यज्ञपुरुष का मस्तक
 ७७-अग्नि वायु आदि-य-नाम की प्राणत्रयी और सम्ब सरत्रिलोकी
 ७८-एकविंशस्थानीय आदि शोषलक्षित सूर्या मक-यूप और यज्ञपुरुष
 ७९-सूर्या मक यूप का सोमाहुति से सरक्षण
 ८-यूप का यूपत्व और सोमाहुति
 ८१-आधिदैविक-सम्ब सरयज्ञपुरुष और त प्रक्षिमादक अ सिवचन
 ८२-अक्ष वा एष महा सुषण एव यत् सम्ब सर
 ८३ आ मा नै सम्बत्सरस्र विषुवान्, अङ्गानि मासा १११३
 ८४ सम्ब सरो वै यज्ञप्रजापति
 ८५-पुरुषो वा सम्बत्सरः

- ८६ सम्ब सरयज्ञपुरुष का मस्तको बस्थान और यूप १११३
 ८७-पूपा मक सूर्य और यज्ञपुरुष की शिखा
 ८८-केशगुच्छामिका शिखा
 ८९-केश-लोम और ओषधि वनस्पति
 ९ - ओषधिलोमानि वनस्पतीन् केशा
 ९१-पारमेष्ठ्य सोम और ओषधि
 ९२-वमिमा ओषधी सोम । विश्वा
 ९३-अग्निगर्भित सोम और ओषधिया
 ९४-सोमगर्भित अग्नि और वनस्पतियाँ
 ९५-अग्नि १ वनस्पति
 ९६-असौ वा आदियो यूप
 ९७-आदित्या यूप
 ९८-सोमाग्नि की परम्परया केश-लोम रूपता का रहस्या मक-सम वय
 ९९-यूपा मक सूर्य का यज्ञपुरुष का शिखात्त्व
 १ शिखा का स्वरूप-लक्षण और सौरस्था की स्वरूपस्थिति १११४
 १ १ शिखायुक्त सम्ब सरयज्ञपुरुष से प्रति-रूपा मक अत्र यात्मिकयत्न (मानव) के स्वरूप की अभि यक्ति
 १ २ सम्ब सर का दक्षिणायनभाग और मानव का दक्षिणपार्श्व
 १ ३-उत्तरायणभाग और मानव का वामपार्श्व
 १ ४-सम्बत्सर का मध्यस्थ विष्वद्बृत्त और मानव का मध्यस्थ-मेरुदण्ड [सीड की हड्डी]
 १ ५ स सर का त्रिवृद्भाग और मानव का पादभाग
 १ ६-स त्वर का पञ्चदशभाग और मानव मध्याङ्ग
 १ ७ सम्ब सर का एकविंशभाग और मानव का शिरोभाग
 १ ८-शिरो भागानुगत सौर इ द्रप्राय

- ✓ ६ शिखातस्थान से विनिगत सौरद्विप्राण [इद्रविद्युत्] का सूयकेद्रपयत एक निमेष में तीन बार गमनागमन १११४
- ११-प्राण का सूयकेद्रानुगत गमनागमन एव मानव की शतायु प्रवृत्ति
- १११-सूयस्थित मन प्राणवाङ्मय ३६ [छत्तीसहजार] सख्यामक आयु नामक मनोता का आगमन और आयुर्बल का सरक्षण
- ११२-बृहतीप्राणामक वैश्वामित्र आयु प्राण का सञ्चालन और आयु सूत्रसरक्षण १११५
- ✓ ३-आध्यात्मिक ऐन्द्रप्राण तथा आधिद विक ऐन्द्रप्राण के मध्य में अवसानधर्मा याम्यप्राण का आगमन और आयु सूत्रसतान का विच्छेद
- ११४-निधन का अवरोधक प्राण गमनागमन लक्षण दैनदिनयज्ञामक अहरहयज्ञ
- ११५-अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते अहरहरेनेन स्वग लोक गच्छति
- ११६-शिखान्तस्थान से सूयकेन्द्र पय्यन्त व्याप्त महापथ १११५
- ११७-शिखान्तस्थानान्मक ब्रह्मरध्र
- ११८-ब्रह्मरध्रात्मक विद्विद्धा (द्वार) और नानन्दनद्धा (द्वार)
- ✓ ११९-केशान्तस्थानानुगत ब्रह्मरध्र और इद्रविद्युत्
- १२-सौरद्विप्राण का प्रवर्ग्यभूत आध्यात्मिक शिखातस्थानीय दिव्यप्राण
- १२१-द्विप्राण के साथ तमोमय असुर प्राण का सहज विरोध
- १२२-लौहबालु का असुरप्रणप्रधानत्व
- १२३-क्षोरकर्मससाधिका लौहक्षुरिका

- १२४-द्विप्राणसरक्षणायैव शिखाधारण का शास्त्रीय आदेश १११५
- १२५-शिखाधारण की अनिवाच्यता का पारिभाषिक समग्रय
- १२६-शिखाधारण के एक अन्य प्रासङ्गिक कारण का स्वरूप दिग्दर्शन
- १२७-प्रातरूपमर्यादानुगता वेदमर्यादा का अनुगमन और शिखाधारण
- १२८-यज्ञपुरुष के साथ आकृतिसमतुलन और शिखाधारण
- १२९-देवो भूत्वा देव भावयेत् लक्षणा द्विप्राणभावना और शिखाधारण
- १३-याज्ञिकी यूपमर्यादा और शिखाधारण
- १३१-शिखाधारण और आषधम्मर्मानुबन्धिनी यज्ञिय-मर्यादा का सरक्षण १११६
- १३२-द्विप्राणरक्षानुगत विज्ञान का सरक्षण और शिखाधारण
- १३३-स्वस्त्ययनकम्मामिका यज्ञिया-मङ्गल भावना और शिखाधारण
- १३४-शिखाधारण और शस्त्रोदश
- १३५-भारतीय-स्वस्त्ययनचिह्न और-तद् द्वारा सुखसाधक-जातीयता धम्म-दिव्य विज्ञानवृद्धि आदि मङ्गलभावों की अभिवृद्धि
- १३६-शिखाधारण से लजा अनुभव करने वाले आज के नवशिक्षित से लज्जिता भारतीय द्विप्राण सस्कृति
- १३७-शास्त्रनिष्ठा और शिखाधारण
- १३८-तस्य इयमेव शिखा स्तुप और शिखाधारण
- ३९-नवशिक्षितों की परिष्कृता बुद्धि और तद्द्वारा शिखा-सूत्र का साभिनिवेश परित्याग

- १४ -अथ पतन की पूर्वसूचना १११६
- १४१-सभ्रान्त महानुभावों से नम्र आवेदन
- १४२-स्र सास्कृतिक-गौरव का आवेक्षण
और सरक्षण प्रयास
- १४३-आधिदविक यज्ञपुरुष से आध्यामिकयज्ञ
पुरुष की स्वरूपनि पत्ति १११७
- १४४-आ धामिक से वैध आधिभौतिकयज्ञ
का स्वरूप स पादन
- १४५-शिखारूप प्रस्तर और यज्ञ में दिव्य
प्राण का आधान
- १४६-दर्भमुष्टिरूप प्रस्तरग्रहणामक शिखा
धारण
- १४७-शिखा के नैदानिकरूप का सम वय
- १४८-पुरस्तात् प्रस्तरग्रहण और प्रस्तर
ग्रहणोपपत्ति विराम
- इति-प्रस्तरग्रहणोपपत्ति**
- *—
- अथ-सन्नहन विस्त्र सन**
- स्थापनोपपत्ति**
- *—
- १४९- सन्नहन नामक बर्हि की रज्जु १११७
- १५०-ब धनर-जुरूप सन्नहन का बर्हि के
सघात से पार्थक्य
- १५१-नीवीब धना मक सन्नहनन और तद
विस्त्र सन
- १५२-नीवी विस्त्र सन और प्रजननकम्म की
ससिद्धि
- १५३-बन्धनसूत्र का वेदिकी दक्षिणाश्रोणि पर
सस्थापन
- १५४-नीवीब धन की स्थिति और लोक
व्यवहार
- १५५-वदिका दक्षिणभाग और अग्निप्राधान्य
- १५६-अग्निप्राधान्य और पुत्रसन्तति

- १५७ दक्षिणा श्रोणि के अनुगमन की उपपत्ति
और सन्नहन विस्त्र सन-स्थापनोपपत्ति
विराम १११७
- इति-सन्नहन-विस्त्र सन**
- स्थापनोपपत्ति**
- *—
- अथ-बर्हिस्तरणोपपत्ति**
- *—
- १५८-प्रस्तर की शिखारूपता का सस्मरण १११७
- १५९-केश-लोम की प्रतिरूपता का प्रश्न ?
- १६०-शिखा का अधोभाग और केशलोम १११८
- १६१-केश लोम सम्पत्ति का सग्रह और
बर्हिका आस्तरण
- १६२ वदिरूपा योषा (स्त्री)
- १६३ स्त्री का भद्रमण्डली में प्रवेश और
शिष्टाचारानुगता-ल-जामिका सावरणता
- १६४ सावरणभाव और बर्हिस्तरण
- १६५ लज्जाभाव का सरक्षण और बर्हिस्तरण
- १६६-पृथिवी के ऊसर और उर्वरभाग
- १६७-उवरा-भूमि और लक्ष्मी
- १६८ उसर भूमि और अलक्ष्मी
- १६९-श्रोषधियुक्त भूप्रदेश का भोग्यतम-व
- १७०-श्रोषधि वनस्पति से आच्छादित उर्वर
भूप्रदेश का जीवनीयतम-व
- १७१-जीवनसम्पत्ति का सग्रह और बर्हिस्तरण
- १७२-उपजीवनीयतम भूप्रदेश का पारिभाषिक
स्वरूप दिग्दर्शन १११८
- १७३-बर्हि की प्रभूतमात्रा का अनुगमन
- १७४ बर्हि के मूलभागों का परोक्षभाव और
तत्कारण निदर्शन
- १७५-त्रिवृद्भावोपपन्न यज्ञ और तीन बार
स्तरणकम्म

१७-स्तरणकम्मसाधक-यजुम्मन्त्र का सस्मरण १११८

१७७-दभतृण का भावना मक मसृणव
(कोमलस्पशव) और निदानभाव

१७८-भावना मक निदानभाव और कम्म
श्र ठता का मूलाधारव तथा बहिस्त
रणोपपत्ति का विराम

इति-बहिस्तरणोपपत्ति

—*—

अथ-अग्निकल्पोपपत्ति

—*—

१७९-सम्ब सरामक यज्ञपुरुष के एकविंश
स्तोमा मक शिरोभाग का सस्मरण १११९

१८-वैधयज्ञ का शिर प्रदेश और आहव
नीय कुण्ड

१८१-मुखभागस्थ आहुतिग्राहक अन्नादाग्नि
१८२-अन्नादाग्नि का प्राबल्य और अन्ना
कषण दहन पचनादि क्रियाओं का
यथावत् सञ्चालन

१८३-अग्निमान्द्य और पाचनक्रियादि का
शथिल्य

१८४-इध्मकाष्ठ से अन्नादाग्नि में बलाधान

१८५-शिवापच्यन्त व्याप्त यज्ञपुरुष

१८६-प्रस्तररूपा शिल्पा का आहवनीय से
सम्बन्ध एव अग्निकल्पोपपत्ति का
उपराम

इति-अग्निकल्पोपपत्ति

—*—

अथ-परिधि-परिधानोपपत्ति

—*—

१८७-आप्त्याविज्ञानानुगता परिधित्री का
सिद्धावलोकनामक सस्मरण १११९

१८८-पुरुषाग्नि प्राकृताग्नि विराडग्नि

सम्ब सराग्नि नामक चतुर्धा विहित
अग्निदेव का सस्मरण ११९

१८९-चतुथस व सराग्नि रूप भूतानापति

१९-चतुथ सम्ब सराग्नि रूप भूतानापति
नामक अग्नि के अवान्तर चार विधा

१९१-पार्थिव सम्ब सरचक्र और गायत्राग्नि

१९२-सौर सम्ब सरचक्र और सावित्राग्नि

१९३-पार्थिवसम्ब सराग्नि रूप पार्थिव-गायत्राग्नि
की अवस्था चतुष्टयी

१९४-भूपिण्डगमस्थ प्राणाग्नि

१९५-प्राणाग्नि रूप अन्नादाग्नि और रुद्र

१९६-रुद्राग्नि की अवस्था चतुष्टयी

१९७-एक होता और तीन आप्त्या तथा
रुद्राग्नि चतुष्टयी पार्थिवसम्ब सराग्नि का
गायत्ररूपा

१९८-अथ य स भूताना पति सम्ब सर स

१९९-गृहपति और स व सरूपा अवस्था
द्वयी और पार्थिव-गायत्राग्नि ११२

२-गृहपति रूप अन्नादाग्नि

२१-भूपिण्डस्थ पार्थिव अग्नि की उक्थ
और अर्कावस्था

२२-सवप्रभव-द्वय अग्निरुक्तप्रजापति रूप
उक्थाग्नि

२३-पार्थिवयज्ञ का यजमान रूप उक्थाग्नि

२४-पार्थिव-उषारूपा यजमानपती

२५-दाम्पत्यभाव और पार्थिवप्रजो पत्ति

२६-उक्थाग्नि की प्राणाग्नि रश्मियाँ
और अर्काग्नि

२७-पार्थिव अर्काग्नि की सीमा और रथन्तरसाम

२८-अकरूप प्राणाग्नि की पार्थिवाग्नि और
सम्बत्सराग्नि-रूपेण अवस्थाद्वयी

२९-भूपिण्डावच्छिन्न अकरूप प्राणाग्नि
और भूपति

२६-भूमहिमावच्छिन्न अकरूप प्राणाग्नि और भूतानापति	११२
२१-सम्बसरचक्रका स्वरूप समवय	
२११-भूतानापति रूप सम्ब सरप्रजापति की त्रिवृत् पञ्चदश-एकविंशस्तोम-भेद से अवस्थात्रयी	
२१२-भूतानापति और एकविंशस्तोमस्थ आदि य	
२१३-भुवनपति और पञ्चदशस्तोमस्थ वायु	
२१४-भुवपति और त्रिवृत्स्तोमस्थ अग्नि	
२१५-भूपति और भूपिण्डाग्नि	
२१६-भूपति-भूपिण्डावच्छिन्न ज्येष्ठभ्राता	
२१७-भुवनपति-पृथिव्यवच्छिन्न अग्निभ्राता	
२१८-भुवनपति अंतरिक्षलोकावच्छिन्न	
२१९-भूतानापति दिव्यलोकावच्छिन्न	
२२-पिता प्रजापतिहृद्य	
२२१-गृहपति उक्थ	
२२२-अकविधा अग्निचतुष्टयी से अनुप्राणित एक प्रश्न	११२१
२२३-आप्त्या विज्ञान के द्वारा प्रश्नसमाधन	
२२४-भूपिण्डानुगत अणवसमुद्र और समुद्र ममित पितृमानम्	
२२५-एति च प्रति च रूप गायत्राग्नि और तद्द्वारा मोमापहरण का सस्मरण	
२२६-देवताओं के हौत्रकर्म का सञ्चालन	
२२७-सम्बसरिक अग्नित्रयी के द्वारा हौत्र कर्म के प्रति तटस्थता और वषट्कार	
२२८-वाक् सीमारूप-वषट्कार	
२२९ अग्नित्रयी का समुद्र में पलायन	
२३-हौत्रकर्म में नियुक्त गायत्राग्नि	
२३१-समुद्रानुगत आसुरप्राणाक्रमण से यज्ञ का सरक्षण	
२२-सीमारूपेण स्वरूपरक्षा और उच्छिष्ट- द्रव्य का ग्रहण तथा आप्त्याग्नि	

२३३-पलायित आप्त्याग्नि की शुद्धावस्था और मलिनावस्था	११२१
२३४-ब्रह्मौदनभागानुगति और शुद्धापत्या	
२३५-प्रवग्यमागानुगति और मलिनापत्या	
२३६-मलिन आप्त्याग्नि से समन्वित अप्रतव और तद्द्वारा भूपिण्ड की स्वरूप निष्पत्ति	
२३७ प्रवर्ग्या मक हविद्रव्य का सम्राहक भूपि- ण्डस्थ मलिन आप्त्या	११२२
२३८-शुद्ध आप्त्याग्नि का सतपक सम्बस- रिक हविद्रय	
२३९-प्राकृतिक नियम हवियज्ञ के प्रतिरूपभूत वध हवियज्ञ का समवय	
२४-देवाननुविधा ने मनु या	
२४१-यद्वै देवा अकुवस्तत् करवाणि	
२४२-परिधिपरिधान कर्म का पारिभाषिक समवय एत परिधान-कर्मोपपत्ति का विराम	

अथ-परिधि-काण्ड-विशार

२४३-यज्ञियवृक्ष और परिधियों का स्वरूप निर्माणा	
२४४-पलाशा विककृत-काष्मय्य विल्व-खदिर उदुम्बर-नामक यज्ञातिशय से समन्वित यज्ञियवृक्षों का सस्मरण	
२४५-पलाशवृक्ष का सप्रमाण-स्वरूपोप- वर्णन (१)	११
२४६-विककृतवृक्ष का स्वरूपवर्णन (२)	११२३
२४७-काष्मय्यवृक्ष का स्वरूपोपवर्णन (३)	११२४
२४८-विल्ववृक्ष का स्वरूपोपवर्णन (४)	११२५
२४९ खदिरवृक्ष का स्वरूपोपवर्णन (५)	११२६
२५-उदुम्बरवृक्ष का स्वरूपोपवर्णन (६)	११२७
* * * *	
२५१-आद्र भाव से समन्वित परिधियाँ	११२८
२५२-जीवनीयरसात्मक आद्र भाव का संग्रह	

- २१३-आप्त्यानि की परिधिरूपता और
अनुरूपभावामिका आद्र ता ११२८
- २५४-असुराक्रमण निरोध-कुशला परिधित्री
और बाहुपरिमाण
- २५५-विशवावसुप्रमुख गर्घा और पश्चिम
भागानुगता परिधि
- २५६-श्रतजगद्विज्ञानानुगत स्वानुगत विश्व
२५ -यजमान के विश्व की सुलशान्ति
- २५८ विश्वस्यारष्ट्र्यै का समन्वय
- २५९-दक्षिणदिशा और इन्द्र
- २६०- इन्द्रस्य बाहुरसि और दक्षिण परिधि
- २६१- उदीचीदिक मित्रावरुणौ और उार
परिधि
- २६२- मित्रावरुणौ-त्वोत्तरत ११२९

इति-परिधि-परिधानकर्मोपपत्ति

— * —

अथ-समिधाभ्याधानोपपत्ति

- २६३-अग्निक्ल्पाथ एहीत समिध ११२९
- २६४-समिधाभ्याधानकर्म का सस्मरण
- २६५-ऋतुदेवता तथा छन्दोदेवता का समि
धन और समिधाधान
- २६६ छन्द और ऋतु के समिधन से ही
हव्यवाट् अग्नि का समिधन
- २६७-परिधित्री से समतुलिता सम्भसरा
ग्नित्री
- २६८-गायत्राग्नि का प्रतिरूप वैद्यज्ञ का
आहवनीयाग्नि
- २६९ परोक्ष एव प्रयत्नरूपेण उभयथा
अग्निःसमिध्न
- २७० - वीतिहोत्र वा इयादि गायत्रीमन्त्र
और समिध-का अभ्याधान

- २७१-गायत्रीछन्द के द्वारा सम्पूर्ण छन्दों का
परिग्रहण ११२९
- २७२-समिध छन्दों के द्वारा देवताओं के
लिए हव्यवहन
- २७३-पार्थिव अग्नि में दिव्यतेजोयुक्त अग्नि
का आधान और समिधन का एक
मात्र तापय्य
- २७४-हविर्हिनकम्म में समथ पार्थिव अग्नि
का दिव्यतेजोमय व
- २७५-खगोलीय उत्तरस्थ ककवृत्त से आरम्भ
कर दक्षिणस्थ मकरवृत्त स्थित परि-
व्याप्त जगती त्रिष्टुप पडिक्त-बृहती
अनुष्टुप उणिक गायत्री नामक सप्त
विध देवच्छन्द
- २७६-उदीचीदिक और उद्गाता आदित्य
- २७७ सम्पूर्ण छन्दों का समिधन
- २७८-अग्नि का प्रातिस्विक छन्द गायत्री
- २७९-अग्नि सर्वा देवता
- २८० सर्वाछन्दोरूप गायत्रीछन्द
- २८१-माध्यम अग्नि ११३
- २८२-समिधनकम्म के द्वारा ही हौत्रकम्म की
सफलता
- २८३-द्वितीया समिध और वसन्त का समि
धन
- २८४ सम्भसराद् ऋतव रेतो आभूतम्
- २८५-प्रजननकर्माधिष्ठात्री ऋतुर्ष
- २८६ स ऋतुप्रतिष्ठारूप वसन्त
- २८७ वसन्त के समिधन से षड्ऋतु का
समिधन
- २८८-समिध ऋतुओं के द्वारा अग्नि में
ऋतुधम्म का समावेश
- २८९ ऋतुधर्मात्मक प्रजननधम्म
- २९०-ऋतव समिधाः प्रजाश्च जनयन्ति

इति-समिधाभ्याधानोपपत्ति

* * *

अथ-मन्त्रजपोपपत्ति

- २६१-परिविस्थापन के द्वारा नाष्टा-राक्षसों
का आक्रमण निरोध ११३
२६२-सौरतेज और नाष्टा राक्षसों का सनाश
२६३-सूर्यस्वा पुरस्तात् पातु इत्यादि मन्त्र
और मन्त्रजपोपपत्ति

* * * *

अथ विधृती स्थापनोपपत्ति

- २६४- विधृती शब्द का द्विवचन ११३
२६५-विश्वयज्ञानुगतता विधृतिद्वयी
२६६-धृतिशक्ति से समविता विधृति
२६७-प्राणाग्नि और भताग्नि ११३१
२६८-प्राणसोम और भतसोम
२६९-शुष्कगुणक अग्नि
३ आद्र गुणक सोम
३ १-आरम्भणात्मक उपादानकारण
३ २-स्वकार्याधारामिका घृतिलक्षणा प्रति
ष्ठाभूमि और विधृति
३ ३-अग्निसोम का सहज द्रव्य और तन्नि
बन्धन द्विवचनानुगत विधृती शब्द
३ ४-तापव्याथ समन्वय
३ ५-श्रुताग्निसोमयुग्म का पारिभाषिक
स्वरूप
३ ६-सत्याग्निसोमयुग्म का पारिभाषिक स्वरूप
३ ७ सृष्टिधाराओं की प्रकान्ति
३ ८-वाय्वामिका श्रुताग्निसोमद्वयी
३ ९-चन्द्रामिका सत्याग्निसोमद्वयी
३१-यज्ञात्मक सम्बत्सर
३११ कालात्मक सम्बत्सर

- ३१२- कालो यज्ञ समरयत् का सम्मरण ११३
३१३-सम्बत्सर का छन्दोरूप आवपन ११३२
३१४-सब्रह्म और आकाशायतन
३१५-अचिर्मागामिक ज्योतिर्भाव
३१६-धूममार्गामिक तमोभाव
३१७-सूर्यानुगत घेद्र-मित्रकपाल
३१८-चन्द्रमानुगत वारुण वरुणकपाल
३१९-मित्रकपालात्मक पूर्वकपाल
३२ वरुणकपालात्मक पश्चिमकपाल
३२१-सम्बत्सरप्रजापति के कालात्मक तथा
यज्ञात्मक विवर्त्तों का सक्षिप्त इतिवृत्त
३२२-कुटिलकाल का पारिभाषिक स्वरूप
३२३-आधिदैविक विश्वप्रजापति के दो चक्षु
३२४ अग्नि सोमात्मक दो भ्रू भाव
३२५ प्रलयकाल का स्वरूपेतिवृत्त
३२६-द्याक्वपृथिवीरूप सौर चान्द्र आग्नेय
सौम्य-कालचक्र के दो भ्र और प्रति
ष्ठाभाव ११३३
३२७-भ्रूरूप दो विधृतियाँ एव अथर्ववेदीय
वितृतीश्च पुरया मन्त्र का सम्मरण
३२८ कुर्यामिका विधृति
३२९-दर्भतृणविशेषों की याज्ञिक-सज्ञा और
विधृती
३३-विधृति-स्थापन-कर्म का स्वरूपेतिवृत्त
३३१-विधृती का तिम्यगाधान और तदुपपत्ति
३३२ ब्रह्म क्षत्र और तिर्यगाधान
३३३-स्वरूपरक्षात्मक उभयनियन्त्रण
३३४-क्षत्र और विट का विधरणकर्म एव
विधृती स्थापनकर्मोपपत्ति का विराम

इति विधृती स्थापनोपपत्ति

—*—

अथ-सु क्स्थापनकर्मोपपत्ति

३३५-विष्टुती के ऊपर प्रस्तर का स्थापन	११३३	३३८ भ्रुवा असदन् और स्पशकम्म	११३४
३३६ सु कपात्रो का वेदि पर सस्थापन		३३९-सु क्स्थापनकम्म का उपराम	
३३७- सेद प्रियेण घाम्ना इत्यादि मन्त्र का सस्मरण			

इति-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये

इध्म परिधि-लक्षण

द्विब्राह्मणात्मक (३-४ रूप) ब्राह्मणम्

इति-इध्म-परिध्यनुगत-कर्मसग्रह

१७

* श्री *

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे-
तृतीयाध्याये, चतुर्थाध्याये च
ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेन्यनुवचनब्राह्मणम्

— * —

१८-सामिधेन्यनुवचनकर्म

— ० —

क्रमप्राप्त १८ वें कर्म के विज्ञानभाष्य की
'विषयस्मारकसूची'
(पृष्ठ स० ११३५ से १३३५ पर्यन्त)

— * —

तृतीय अध्याय में पञ्चम, तथा तृतीय-प्रपाठक में
द्वितीय ब्राह्मण

— * —

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम-ब्राह्मण

१

— * —

१-प्रथमकाण्डान्तगत तृतीय-चतुर्थ-अध्यायानुगत-ब्राह्मणचतुष्टयात्मक सामिधेन्यनुवचनब्राह्मण (मूल)

११३५

२-मूलब्राह्मणों का अक्षराथसम वया मक अनुवाद

१ ५२

३ सूत्रानुगत पद्धति-संग्रह

११६१

१३६१

वैज्ञानिक-विवेचना सामिधेनी ब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण

१

—*—

- ४-यज्ञेतिक्त व्यतानुगत अग्नि समिधन ११६७
 ५-अग्निरु वै यज्ञ
 ६-यज्ञकम्म की मूलप्रतिष्ठा और अग्नि
 ७-दैविक भौतिक आत्मिक मेदभिन्न जेता
 गिन्यों का समन्वय और दैवा मा
 ८-खगोलीय पार्थिव-त्रिणाचिकेत नामक
 सप्तदशस्वगस्थान में प्रतिष्ठित दवा मा
 ९-दैवा मा के रश्मिरूप प्राणों का यजमान
 के साथ ग्रथिबन्धन सम्बन्ध
 १-दैवा मा का प्राणदेवताओं के साथ बन्धन
 ११-आयुर्भोगान्तर दैवा माकषणाकर्षित यज
 मान के भूता मा का स्वगगमन
 १२-यज्ञातिशय की समाप्ति के अनन्तर
 भूता मा का पुन मृत्युलोकगमन
 १३-क्षीणे पुरये मर्यलौके वसन्ति
 १४-यज्ञफलसिद्धयर्थं अग्नित्रयी का अपेक्षित
 ग्रथिबन्धन
 १५-आधिभौतिक-पार्थिव-गायत्र अग्नि
 १६ आध्यात्मिक शारीराग्नि
 १७-आधिदैविक सौर-सावित्र अग्नि
 १८-पार्थिव-अग्नि की प्रवच्यरूपता
 १९-सावित्राग्नि की कृष्णरूप में परिणति
 २०-शर्वे वनेषु मांश्री का संस्मरण
 २१-सन्ध्या घर्त्स इन्वते और अग्नि का
 बागरण

- २२-अतन्द्रो हव बहसि ११६८
 २३-आदिह वेषु राजसि
 २४-भूताग्नि का द्यु लोक में गमन
 २५-स्वाभाविकी अग्निगति और यज्ञसम्बन्ध
 से तत् असस्पश
 २६-यज्ञकम्मणि उपयुक्त विशेष-अग्नि का
 संस्मरण
 २७-यज्ञातिशयरूप दैवा मा के मौलिक स्वरूप
 का समन्वय
 २८-आकषणानुगत स्वगकल और दैवा मा
 २९-भूताग्नि का सामान्यरूपेण प्रज्वलन
 ३-सामान्य प्रज्वलनकर्म और इध्म नामक
 काष्ठ का प्रक्षेप
 ३१ इध्म रूप सामान्य प्रज्वलन
 ३२-दिव्याग्नि का प्रतिरूप आहवनीयाग्नि
 ३३ दिव्याग्नि सम्बन्धरूप सामान्यकम्म
 ३४-दिव्यातिशय के सम्बन्धरूप समिधन से
 वञ्चित भूताग्नि की अयश्रियता एवं
 आध्यात्मिक निरथकता
 ३५-निरर्थक-स्वाहा-स्वाहा और यज्ञविद्या
 पर कलङ्क प्रक्षेप
 ३६-ऋषिप्रदिष्ट सुप्रसिद्ध सामिधेन्यनुवचन
 कम्म का महत्त्व
 ३७-द्यु लोकस्थ प्राणदेवताओं की प्राणामकता
 ३८ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द शून्यवे सति
 अध्यात्म छन्द वमेव प्राणस्वम्
 ३९-महती-विप्रतिपत्ति और तत्समाधानोप
 क्रम
 ४-स्वरसमन्वय और विप्रतिपत्ति का
 निराकरण
 ४१-पृथिवी और सूर्य-कक्षाओं की अभिन्नता

४२-सूर्योपग्रहभूता पृथिवी	११६८	६६-स्वत सिद्धा अपौरुषेया मन्त्रात्मिका	
४३-सूर्य और पृथिवी का पारस्परिक		विज्ञानवाक्	११६९
आधाराधेय-सम्बन्ध		६७-ऋषियों के अतःकरण में वेदत वा	
४ गौरूप-सूर्य और रश्मिरूप शङ्ख		मक मन्त्रों का स्वत आविर्भाव	१२
४५-गोशङ्ख के आधार पर पृथिवी का बहन		६८-मङ्गलमूर्ति विधि का सम्पराण और	
४६-सौरप्राणामक स्वर-तव		सामिधेयनुवचन कम्म का उपक्रम	
४७ पार्थिवभूता मक यज्ञन		६९-आहवनीयाग्नि में अपेक्षित दिव्यप्राण	
४८-स्वरा मक सूर्य की स्वर्गीकता	११६९	का सम्बन्ध	
४९-स्वरहर्देवा सूर्य		७ -उभयाग्नि का एकीभाव और यज्ञस्व	
५ -व्यञ्जनवाक् और अनुष्टुप		रूप की ससिद्धि	
५१-स्वरवाक् और बहती		७१-एकीभावा मक समिधनकम्म	
५२ स्वरधार के बिना यज्ञनोच्चारण अस		७२ कम्म की अभिधा का समन्वय	
म्भव		७३-होता के द्वारा मन्त्रों का उच्चारण	
५३-सूर्यधार के बिना पृथिवी की स्थिति		७४ गायत्रीछन्द और अग्निदेवतानुगता	
असम्भव		स्वरलाहरी	
५४-पार्थिवी यज्ञनवाक् से अनुस्यूत सौर		७५-स यसहित प्राणदेवताओं का स्वरवाक्	
स्वरत व का आवेष ।		के द्वारा आकषण एव अग्नि में तत्	
५५-अनुष्टुबलक्षणा पार्थिवी वाक्		प्रवेश	
५६-दिव्यतस्वा मक स्वरूप इ द्र		७६-देवप्रवेश से अग्नि का एकीभावा मक	
५६-नियमित-स्वरसन्धान और दिव्यप्राण		समिधन	
का आर्षण		७७ सामिधेनी-ऋचाएँ	
५८-स्वरविज्ञानुगता-रहस्यपूर्णा परीक्षा		७८- समिधे एताभिन्नु ग्भिः	
५९-दियलोकस्थ अग्नि इन्द्र-वरुण आदि		७९-अध्वयु के द्वारा अग्नि की इधम से	
त्यादि प्राणदेवताओं की छन्द सम्पत्ति		इधमभाव में परिणति	
का आवेषण और स्वरमायम से		८ होता के द्वारा मन्त्रों से अग्नि की	
तत्समहोपाय प्रदर्शन		समिद्ध भाव में परिणति	
६ -अनुरूप स्वर बण मात्रा युक्त मन्त्र		८१-प्राणाग्नि के स्थिर-सम्बन्ध के लिए	
प्रयोग और तन्निबन्धना इष्टसिद्धि		अपेक्षित भूत का माध्यम	
६१-प्रतिकूल-स्वर वर्णादि युक्त मन्त्रप्रयोग		८२-भूतद्वारेणैव प्राणाकर्षण	
और तन्निबन्धना महती विनष्टिः		८३-प्राणस्वरूपसम्पादक असुकसख्यामित	
६२-स बाग्वज्रो यजमान हिनस्ति		सामिधेनीमन्त्र और प्राणसम्पत्ति	
६३ विप्रतिपत्ति का समाधान		८४-भूतस्वरूपसम्पादक असुकसख्यामित	
६४-वेदमन्त्र का मन्त्रव		इधम काष्ठ	
६५-मन्त्र का अपौरुषेयत्व		८५-याव सामिधेनी मन्त्र समद्वलित इधम	
		काष्ठ	

- ८६-इधन और समिधन-कर्म से अप्रवृ
भाव में परिणत अग्निदेव १२
- ८७-समिद्धाग्नि के प्रति अग्न्युपासक भूसुर
का नमन
- ८८-अध्वय्यु कृत इधनकर्म एव होता
के द्वारा कृत समिधनकर्म के सम्बन्ध
में प्रश्न
- ८९-(क) पार्थिव अग्नि का वायु से ही
प्रज्वलन १२ १
- ९०-(ख) वायुरूप प्राकृतिक अध्वय्यु और
इधनरूप प्रज्वलन
- ९१-पार्थिव मूलाग्नि का घ लोकस्थ दिव्या
ग्नि के समन्वय से समिधन
- ९२-पार्थिव अग्नि होता और तद्द्वारा
समिधनकर्म
- ९३ यद्वै देवा अकुवस्तत् करवाणि
- ९४-सामिधेन्यनुवचनकर्म की सक्षिप्त उप
वृत्ति का उपराम
- ९५-प्रतिरूपानुगता सजातीय मर्यादा और
समिधनकर्मधिकार
- ९६-अग्निदेव समिधमानायानुब्रूहि का
सस्मरण
- ९७-अग्नि का गायत्री-छन्दोऽनुगतत्व
- ✓ ९८-ब्रह्मवीर्यप्रवक्त क-अग्निदेव
- ✓ ९९-क्षत्रवीर्यप्रवक्त क इन्द्रदेव
- ✓ १००-विह्वीर्यप्रवक्त क विश्वदेव
- ✓ १०१-पूषाप्राण और शूद्रभाव
- ✓ १०२-सामिधेनी-ऋचाओं का पारिभाषिक
अग्निमय व
- १०३-छन्दोमर्यादानुगत गायत्री छन्दस्त्व
- १०४ ब्रह्मात्मिका गायत्री और शक्तिविशेष
- १०५ गायत्री की ब्रह्मरूपता तथा धीर्यरूपता
की विशेषता का समन्वय
- १०६-गायत्रीछन्द का ब्रह्मवीर्यात्मकत्व १२ २

- १०७ गायत्री का प्रातिस्विक वीर्य १ २
- १०८ मन प्राण वाह मय आमा की धातुत्रयी
- १०९ कारण-सूक्ष्म स्थूल शरीरत्रयी
- ११० मनोऽनुगत कारणशरीर और पराक्रम
- १११ प्राणानुगत सूक्ष्मशरीर और वीर्य
- ११२-जागनुगत स्थूलशरीर और बल
- ११३ मनस्वी मानव और पराक्रम
- ११४-प्राणवान् सिंह और वीर्य
- ११५ बलवान् हाथी और बल
- ११६-प्राणशक्ति और वीर्य भाव
- ११७-वी य व गायत्री का समन्वय
- ११८-ब्रह्मवीर्यात्मिका सामिधेनी-ऋचाओं में
क्षत्रवीर्य का आधान
- ११९-अभिगन्ता ब्रह्म और कर्ता क्षत्रिय
- १२०-ब्रह्मसम्पत्ति और क्षत्रसम्पत्ति का समग्र
- १२१-ब्रह्मवीर्यात्मक आग्नेय-गायत्रीछन्द
- ✓ १२२-क्षत्रवीर्यात्मक ऐन्द्र त्रिष्टुबछन्द
- १२३-११सामिधेनी ऋचाएँ और एका
दशाक्षर त्रिष्टुबछन्द
- १२४-यज्ञ की पारिभाषिकी स्वानुरूपा सम्पत्ति
- १२५-अनुरूपता और रूपसमृद्धि
- १२६-विश्वयज्ञानुगता दृष्टि
- १२७-महाविश्वयज्ञ की आरम्भभूमि
- १२८-वेदाः सूत्र नियति सयम् रूप
त्रिवृद्भाव और यज्ञसम्पत्ति १२ ३
- १२९-विश्व का प्रथम यज्ञियपव स्वयम्भू,
और तदनुप्राणिता त्रिवृत्सम्पत्ति
- १३०-द्वितीय-यज्ञियपव-रमेष्ठी और इट्
ऊक भोग-रूपा त्रिवृत्सम्पत्ति
- १३१-तृतीय-यज्ञियपव सूय्य और योति-गौ
आयु रूपा त्रिवृत्सम्पत्ति
- १३२-चतुर्थपर्व चन्द्रमा और रेत श्रद्धा
यश रूपा त्रिवृत्सम्पत्ति

- १३४ पञ्चमपव भूपिराड और वाक्-गौ-यौ
रूपा त्रिवृत्सम्पत्ति १२ ३
- १३५-पाळ क्त (पञ्चावयव) विश्वयज्ञ की
त्रिवृद्भावापन्ना महती सम्पत्ति
- १३६-शुक्रविज्ञाननिब धना वाक् आप् अग्नि
रूपा अमृता शुक्रत्रयी और विश्व
यज्ञ का उपक्रम
- १३७-अग्नि-आप वाक् रूपा मर्या शुक्रत्रयी
और विश्वयज्ञ का उपसंहार
- १३८-यज्ञप्रवक्त क यज्ञियदेवताओं की अग्नि
वायु आदिय रूपा त्रिवृत् स पत्ति
- १३९-वैध-यज्ञानुगता दीक्षा सु या उपसत्
त्रयी और त्रिवृद्भाव
- १४-तीन पर उपक्रा ता तीन पर उपसहृता
और यज्ञस पत्ति
- १४-सामिधेनीकर्मानुगता उपक्रमोपसंहारा
नुगता त्रिवृत्सम्पत्ति
- १४२-प्रथम मन्त्र का त्रिवृद्भाव और प्राय
णीय अनुवचनानामिका त्रिवृत् सम्पत्ति
- १४३-अन्तिम-मन्त्र का त्रिवृद्भाव और
उदयनीय अनुवचनानामिका त्रिवृत् सम्पत्ति
- १४४-त्रि त्रि अनुवचन की सन्निप्ता-उप
पत्ति का विराम
- १४५-संख्यानुगता प्रतिरूपता और यज्ञ
सम्पत् का समग्र
- ✓ १४६-११ मन्त्रों का १५ मन्त्रों पर विश्राम
और क्षत्र इन्द्र का सम्मरण
- ✓ १४७-इन्द्र की प्रहारशक्ति और विद्युत्
- ✓ १४८-विशुद्धरूप वज्र और तदनुप्राणिता
पञ्चदशसंख्या सम्पत्ति
- १४९-प्रजापति का उर और बाहु एव
तदनुगत पञ्चदशस्तोम
- १५ पञ्चदशस्तोमानुगत त्रिष्टुप्छन्द
- ✓ १५१-त्रिष्टुवनुगत-क्षत्र इन्द्र

- १५२-अग्निब्रह्म का ब्राह्मणव १२ ३
- ✓ १५३-शस्त्रप्रहार से विदूर ब्राह्मण
- १५४-न वा अय कञ्चन हिनस्ति
- ✓ १५५-शत्रुविनाश और यज्ञ पर आक्रमण
करने वाले असुर
- ✓ १५६ असुराक्रमण निरोध के लिए अपेक्षित
ऐ द क्षात्रतेज
- ✓ १५७ पञ्चदशसंख्यानुगत क्षात्रतेजोयुक्त-
आयुध १२ ४
- १५८ वज्ररूपा सामिधेनियों का अनुवचन
- १५९ पञ्चदशसंख्यानुगता प्रथमा उपपत्ति
का विराम
- १६ --पञ्चानुगता १५ रात्रियाँ
- १६१-अन् मास (पक्ष) का परिप्लव
और सम्ब सरयज्ञ की स्वरूप सम्पत्ति
- १६२-पञ्चदशसंख्यानुगता द्वितीया उपपत्ति
का विराम
- १६३-अवयवी के बिना अवयवों की अपूर्णता
- १६४-प्राकृतिक पक्षाग्नि-सोमद्वयी और
त-प्रतिरूपा दश-पूर्णा-मासद्वयी
- १६५-पञ्चदशसंख्यानुगता -- अवयवीरूपा
पूर्णाता और तृतीया उपपत्ति
- १६६ अहोरात्रयज्ञ का प्रतिरूप अग्निहोत्र
- १६७ पक्षयज्ञ का प्रतिरूप दर्शपूर्णमास
- १६८ ऋतुयज्ञ का प्रतिरूप चातुर्मास्य
- १६९-अयनयज्ञ का प्रतिरूप पशुवध
- १७ --सम्ब सरयज्ञ का प्रतिरूप योतिष्ठोम
- १७१-सम्ब सरयज्ञ की अनुरूपता और पञ्च
दशसंख्यानुगता चतुर्थी उपपत्ति
- १७२-गायत्रीछन्द के तीन चरण
- १७३ प्रतिचरण की अष्टाक्षरता
- १७४-एका त्रिपदागायत्री और २४ अक्षर
- १७५-गायत्री छन्दस्का १५ सामिधेनी
श्रुचाएँ और समष्ट्यात्मक ३६०
अक्षर

- १७६ पञ्चदशशरयानुगता सम्बत्सरसम्पत्ति
और पञ्चमी-उपपत्ति १२ ४
- १७७ (क) दशपूरणमास में अपेक्षिता काम्येष्टि
१७७ (ख) काम्येष्टि और १७ सामिधेनी
ऋचाए
- १७८-समि यमान-समि वती म यस्था-ऋचा
१७९-अभीष्टकामानुगता काम्येष्टि
१८०-सर्वकाममूर्ति का मूलाधार सवप्रजापति
१८१ भूगमस्थ-दृष्ट अनिरुक्तप्रजापति १२ ५
१८२-अनिरुक्तप्रजापति का महिमामय
मण्डलामक वषट्कार
१८३ प्रजापात का स्वरूप और सवप्रजापति
१८४-सवप्रजापति और स
१८५-सत्रह की समष्टि और सम्बत्सर-
प्रजापति
१८६-सप्तदशशरयानुगत सप्तदशप्रजापति
१८७-कामपूरक सप्तदशप्रजापति
१८८-सप्तदशशरयानुगता सामिधेनी ऋचाओं
की उपपत्ति का विराम
१८९ काम्येष्टि के देवता का उपाशुरूप से
यजन
१९०-अनिरुक्तभाव का सग्राहक उपाशुभाव
१९१ स्वरूप का सग्राहक अनिरुक्तभाव
१९२ शदशक्ति की अवच्छिन्नता
१९३-समष्टि और सर्व शद
१९४-सर्वकामसमृद्धि और उपाशुयजन
१९५-लौकिकी शिक्षा और उपाशुभाव
१९६-कम्म की अनिरुक्तता और तत्र वीर्या
धान
१९७-कम्म की निरुक्तता और वीर्यपात
१९८-कामप्रजापति की शक्ति का पात और
निरुक्तभाव
१९९ यत्किञ्च प्राजाप य यज्ञ क्रियते-उपा-
श्वेव तत्क्रियते
- २ -काव्यसिद्धि का अन्यतम शत्रु बाह्य
प्रदशन १२ ५
२ १-मतान्तरानुबन्धिनी २१ सामिधिनी
ऋचाए एव तदुपपत्ति का निष्प
२ २-परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के
द्वारा मता तर का सधेतुक निराकरण
२ ३-पद्धतिविरुद्ध-अनुवचन १२ ६
२ ४-प्रायणीय-उदयनीय भाव
२ ५-त्रिवृद्भावानुगता स पत्ति का सम्मरण
२ ६-लोकत्रयस तानसम्पत्ति का सग्राहक-
त्रिवृद्भाव
२ ७-प्राणत्रयस तानसमृद्धि का सग्राहक
त्रिवृद्भाव
२ ८-लोकत्रय वितान का कारण
२ ९-एक के तीन परस्पर बद्ध वितान
२१ -निदानभावानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति
२११-आदिदविक आ यामिक लोकत्रय का
अविच्छिन्न वितान
२१२-सामिधेनी-ऋचाओं के उच्चारण से
अनुगत धारावाहिक प्रवाह और अवि-
च्छिन्नरूपेण लोकवितान
२१३ अनवानन्-ऋद्धमत्रोच्चारण के सम्ब-
ध में श्वास प्रश्वासादि का विज्ञान
सम्मत निष्णय
२१४-विश्रामानुगता-स तानधारा १२ ७
२१५ एकैकानुवचनपद्ध का समवय
२१६-लोकसम्पत्ति प्राप्ति का समवय
२१७- एकैकामेवाननवानन् का पारिभाषिक
समवय
२१८-अहोरात्रों की सग्राहिका सामिधेनी
ऋचाएँ
२१९-अहोरात्रों का (परिप्लवना मक) सतत
चक्र क्रमण एव ऋद्धमत्रों का
परस्पर बन्धन

२२ विच्छेद रति अहोरात्र व और तन्निव धना सामिधेनी ऋचाए १२ ७	२२३ अहोरात्रसम्पत्तिरूप यजमान का भो य परिग्रह १२ ७
२२१-स ततभावानुगत-उच्चारण	२२४-स ततानुवचननानुगता — सामिधेनी ऋचाए
२२२ विच्छेदरूप छिद्र और तत्र सम्भावित शत्रु का प्रवश	

तृतीयाध्याय मे पञ्चम, एव तृतीयप्रपाठक मे
द्वितीय ब्राह्मण-अत्र उपरत
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण अत्र उपरत

१

तीसरे अध्याय समाप्त

३

अथ-चतुर्थ-अध्याय उपक्रान्त

४

चौथे अध्याय मे प्रथम, एव तीसरे प्रपाठक मे
तृतीय-ब्राह्मण
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय-ब्राह्मण

२

२२५-आग्नेयी सामिधेनी	१२ ८	२३१-अनिस्वरूप प्रातिपूर्वक ब्रह्मवीर्याधान १२ ८
२२६-गायत्री छन्द		२३२-प्रातिस्विक गायत्री र्याधान
२२७-एकादश (११) मूलसख्या		२३३-क्ष वीर्याधान
२२८-आद्यत के मन्त्रों की त्रिराष्ट्रि		२३४-प्रायणीयोदयनीयानुगता-यज्ञिया त्रिष्ट-
२२९-पञ्चदश [१५] सख्यासम्पत्		त्सम्पत्ति का सग्रह
२३ -त्रिचद्वय का अनवानन्-उच्चारण		

२३५-वज्रसम्पत्ति- (त्रिस पत्ति अह सम्पत्ति सग्रह	१२ ८	२६ -प्र येक वस्तुपिण्ड की यज्ञरूपता	१२ ९
२३६-आनरुक्तभावानुगता सवसम्पत्ति का सग्रह		२६८-प्रत्येक यज्ञसंस्था के पदम् और पुन पदम् भाव	
२३ -लोक प्राण सम्पत्ति का सग्रह		२६९-वस्तुपिण्डरूप पदम् और वस्तुमण्ड लरूप पुन पदम्	
२३८-अहोरात्र की अनन्यभोग्यता		२७ -वस्तुपिण्ड वस्तुमहिमामण्डल वस्तुत्व भेदेन त्रिपर्वा पदाथ	
२३९ प्रथमब्राह्मण के परिगणित विषयो का सिंहावलोकना मक सस्मरणोपराम		२७१-पिण्डामिका अत्र सीमा	
२४ [क] प्राकृतक-यज्ञ का प्रतिष्ठाधरा-तला मक स य व		२ २-मण्डलामिका बहि सीमा	
२४ -[ख] प्रजापति की सतान और प्राजापय		२७ -मूर्ति और ऋग्वेद	
✓२४१-प्रजापति के दायद [सम्पत्ति] भोक्ता देवदेवता और असुर		२७४-मण्डल और साम	
२४२ प्रजापति की सञ्चितस पत्तिरूप स य-अनृत-युग्म		२ ५-वस्तुत्व और यजु	
२४३ अद्द -अद्द -रूपेण सत्य और अनृत का विभाजन		२७६-त्रयीविद्या के गम में भूतोपलधि	
✓२४४-अद्द अनृत से असन्तुष्ट देवदेवता		२७७- त्रय्या वाव विद्यायां सर्वाणि भतानि	
✓२४५ अद्द स य से असन्तुष्ट-असुरवर्ग		२७८-ऋग्वेदामक छन्दोवेद	
✓२४६-पूर्ण अनृत के इच्छुक असुर		२७९ सामवेदामक-वितानवेद	
✓२४७ पूर्ण सत्य के इच्छुक देवता		२८ यजुर्वेदामक रसवेद	
२४८-इच्छासाफल्य		२८१ छन्दोलक्षण ऋग्वेद के द्वारा वस्तुम र्तियों का निर्माण	
२४९-कृत्स्नसय की त्रैलोक्य वितान-कामना		२८२-वितानलक्षण सामवेद के द्वारा वस्तु मण्डलों का निर्माण	
२५ -यज्ञ के आधार पर वाकसत्य का त्रलो क्य में वितान	१२ ९	२८३-रसलक्षण-यजुर्वेद के द्वारा मूर्तिमण्ड लन्तवर्ती रसात्मक गतिभाव की अभि व्यक्ति	१२१
२५१-(यज्ञं कृ वा सत्यं तनत्राज्ञै)		२८४-सामरूप आदित्य	
२५२-सय और यज्ञ का सम्बन्ध		२८५-स्वरविज्ञान का स्मरण और साम	
२५३-त्रयीविद्या का स्मरण		२८६-स्वरात्मक सामरूप आदित्य	
२५४ त्रयीवेदामिका यज्ञप्रतिष्ठा		२८७-स्वरा मक प्राणदेवताओं का यजन और यज्ञ	
२५५ त्रयीवेद के आधार पर प्रजापति के यज्ञवितान का साफल्य		२८८-पिण्डामिका ऋक् और पद्यभाव	
✓२५६-त्रयीवेदो पन्न अग्निवाय्वादि देवताओं का परस्परस्पर सङ्गम और तद्गुणयज्ञ		२८९-गतिरूप यजु और गद्यभाव	
		२९ -वितानामक साम और गेयभाव	
		२९१-अवसानभूमि और साम	
		२९२-वत्त लघुत्तामक सहस्रमण्डल और साम	

* २५ से २५९ पर्यन्त की संख्या का क्रम भ्रान्तिवश रह गया है ।

- २६३-सहस्रवर्मा सामतः
 २६४ सम्ब-सरयज्ञ के वितान की इयत्ता
 २६५-रथ तरसाम का सस्मरण
 २६६-त्रयस्त्रिंशद्विध (३३) यज्ञिय प्राणदेवता
 २६७ ये स्थ त्रयश्च त्रिशच्च
 २६८-मनोर्देवा यज्ञियास
 २६९-वितानामक साम से उभयत परिगृहीत
 यज्ञमण्डल
 ३ सामव्याप्ति का विचार
 ३ १-सामभाव और तदनुगत सात अवान्तर
 पृष्ठ
 ३ २-द्व्यपृष्ठ और हिङ्कार (१)
 ३ ३-स्युरयपृष्ठ और प्रस्ताव (२)
 ३ ४-त्रिवृत्पृष्ठ और आदि (३)
 ३ ५-पञ्चदशपृष्ठ और उद्गीथ (४)
 ३ ६-सप्तदशपृष्ठ और प्रतीहार (५)
 ३ ७-एकविंशपृष्ठ और उपद्रव (६)
 ३ ८-पारावतपृष्ठ और निधन (७)
 ३ ९-द्व्यपृष्ठ (१)
 ३ १ -त्रिवृदन्तभ पृष्ठ (६) (२)
 ३ ११-पञ्चदशपृष्ठ (१५) (३)
 ३ १२-सप्तदशपृष्ठ (१७) (४)
 ३ १३-एकविंशपृष्ठ (२१) (५)
 ३ १४-त्रयस्त्रिंशपृष्ठ (३३) (६)
 ३ १५-अष्टाच्च वारिंशत्पृष्ठ (४८) (७)
 ३ १६-प्रकारान्तरेण वा सप्तविध सामोपासीत १२१२
 ३ १७-विभिन्न प्रकारेण वा सप्तविध सामो
 पासीत
 ३ ८-सामतव और उसका प्रकृतियज्ञ
 प्रतिष्ठास्व
 ३ १९-सामानुगत द्व्यभाव और हिङ्कार
 ३ २ -उपक्रमानुद् और प्रणवोङ्कार
 ३ २१ हिङ्कारामक प्रणवसाम
 ३ २२ सप्तदशस्थान और उद्गीथोङ्कार

- १२१ ३२३-पारावतस्थान और सर्वोङ्कार १२१२
 ३२४-हिङ्कारामक प्रणवसाम के ग्रहण से
 स पूर्ण सामो का परिग्रहण
 ३२५-सङ्गीतदृष्टि से अनुप्राणित हिङ्कार १२१३
 ३२६ नाद-स्वर श्रुति त्रयी का सस्मरण और
 तन्निबन्धन सङ्गीत
 ३२७-सङ्गीत की मूलभित्तिरूप नादब्रह्म
 ३२८-नादब्रह्म के आधार पर श्रुति का
 समुत्थान
 ३२९-श्रुति के द्वारा स्वर की अभिव्यक्ति

— * —
सङ्गीतानुगत-नाद श्रुति-स्वर
स्वरूप—दिग्दर्शनम्

(पृ०स० १२१३ से १२५३ पर्यन्त)

- * —
 ३३ -सामानुगत हिङ्कार का सस्मरण १२१३
 ३३१- ग्रामक सङ्गीत और तत् स्वरूप
 मीमासा
 ३३२-(क) आत्मबुद्धि-समन्विता सवि
 मूलानिष्ठा से असस्पृष्ट सङ्गीत
 ३३२-(ख) नैष्ठिक अतएव सस्कृतिनिष्ठ
 ब्राह्मण के लिए नियत्रित सङ्गीत
 ३३३-तस्माद् ब्राह्मणो न नृयेत न
 गायेत श्रुति का सस्मरण
 ३३४-मानवीय मन का महान्दोष आग्ला
 ३३५-मानवीय शरीर का महान् दोष
 माल्य
 ३३६ मनोऽनुगत आग्ला दोष का उत्त जक
 प्रवक्त क गायत्र वादन
 ३३७-शरीरानुगत मा यदोष का उत्त जक
 प्रवक्त कन्त न-गायन-वादन
 ३३८ आ ला के द्वारा आ मानुगता सवित्
 की अभिव्यक्ति

- ३३६-माव्य के द्वारा बुद्धयनुगत घृतिगुण का अभिभव १२१३
- ३४ सङ्गीत का शरीरप्रधान नृयाङ्ग और मात्व्यदोष
- ३४१ सङ्गीत का मन प्रधान गायनाङ्ग और आग्लादोष
- ३४२-प्रकृतिसिद्ध पञ्चपर्वा विश्व के चतुथ चन्द्रमा नामक पर्वसे मन की स्वरूप निष्पत्ति
- ३४३-भूपिण्डामक अन्तिम पव से शरीर का स्वरूप निर्माण
- ३४४-सौम्य गधव प्राण की आवासभूमि चन्द्रमा
- ३४५ आप्यप्राणामक अ-सराप्राण की आवास भूमि भूपिण्ड
- ३४६-मनोऽनुगत चाद्रगधव प्राण के द्वारा गायनामक संगीत की प्रवृत्ति
- ३४७-शरीरानुगत अप्सराप्राण के द्वारा ना नामक सङ्गीत की प्रवृत्ति
- ३४८-हास परिहास-आमोद प्रमोद क्रीडा रति मन -शरीर निबन्धन ग धर्वाप्सरा प्राण समन्वय
- * मनोविभूतयः (१)**
- ३४९-असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमा (१)
- ३५ -चन्द्रमा गधर्व (२)
- ३५१-रूपमिति गधर्वा उपासते (३)
- ३५२-योषित्कामा वै गधर्वा (४) १२१४
- ३५३-स्त्री-कामा वै गधर्वा (५)
- ३५४-मनो मे रेतो मे पुन सम्भूतिर्मे चन्द्रमसि (६)
- ३५५-गधो मे मोदो मे प्रमोदो मे तन्मे युष्मासु-गधर्वेषु (७)
- * * | * *

***-शरीरविभूतय (२)**

- ३५६-इय नै पृथिवी भतस्य प्रजा (१) १२१४
- ३५७-अद्भ्य पृथिवी (२)
- ३५८-ग ध इ य सरस उपानते (३)
- ३५९-किनु मेऽस्मासु ? इति हासो मे क्रीडा मे मिथुनम्मे (४)
- ३६ -गधेनैव च रूपेण गधर्वाप्सरसश्चरन्ति
- ३६१-चा द्रमनोऽनुगत ग धवप्राण
- ३६२-पार्थिवशरीरानुगत अप्सराप्राण
- ३६३-गध प्राणानुगत तुम्बुरुप्राण
- ३६४-अप्सराप्राणानुगत नारदप्राण
- ३६५-(क)-प्राणामक ऋषिप्राण और तुम्बुरु नारदरूप-ऋषिप्राण
- ३६५-(ख)तुम्बुरु और माङ्गलिक तकार
- ३६६-नारद और माङ्गलिक नकार
- ३६७-ऋषिप्राण और माङ्गलिक रकार
- ३६८- तन ररीम् और सङ्गीताधार भूत तुम्बुरु नादर ऋषिप्राणों का आद्यक्षरा मक माङ्गलिक-सस्मरण
- ३६९-ग धवप्राणा मक मन और तुम्बुरुप्राण
- ३७ -अप्सराप्राणा मक शरीर और नारदप्राण
- ३७१ शरीरानुगत चिय चितेनिधेयरूप मर्यभूत और अमृतप्राण
- ३७२-अमृत-मृत्यु-मय प्रजापति
- ३७३-केद्रस्थ प्रजापति और प्राणमहिमा मक मण्डल १२१५
- ३७४-प्राणमण्डल की नादरूपता
- २७५ नादमण्डल के गम में प्रतिष्ठित भ्रुति स्वरा मक सङ्गीत
- ३७६-प्राजापय अग्नि (कायाग्नि) और सङ्गीत
- ३७७ वायव्यप्राण और सङ्गीत
- ३७८-उदात्तादि स्वर, और सङ्गीत
- ३७९-मन्द्र-मध्य-तार-स्वरत्रयी और सङ्गीत

- ३८ -व्यञ्जनभावामिका वनिर्भावोपेता
वैखरीवाक और सङ्गीत १२१५
- ३८१-सङ्गीताधारभूत नादब्रह्म का सम्मरण
- ३८२- नादब्रह्म-तदान दमद्वितीयमुपास्महे
- ३८३-ज्ञानजनित भावना मक सस्कारपुञ्ज
- ३८४-कर्मजनित वासना मक सस्कारपुञ्ज
- ३८५ सस्कारपुञ्जद्वयी से स पुटित कर्मभोक्ता
कर्मामक देही
- ३८६ सौरी बुद्धि का सहयोग और कर्मात्मा
की जीवनयात्रा का सञ्चालन
- ३८७ शुभाशुभसस्कारानुगत शुभाशुभ भोग
- ३८८ भौतिक विषयानुगता अर्थकामना और
आ मे छ्वा
- ३८९-आमा बुद्धि मन की समवितावस्था और
मानव की छ्वा का ताविक स्वरूप १२१६
- ३९ -आमेच्छा का बुद्धि में सहकर्मण
- ३९१-बुद्धि के द्वारा तदिच्छा का मनोराय
में आगमन
- ३९२-मनोद्वार से ताद छ्वा का न्द्रियानुषानन
- ३९३-मानसे छ्वा का महान् परिणाम श तोपत्ति
- ३९४-सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त वैश्वानराग्नि
- ३९५-आ-यो द्या भायापृथिवीम्
- ३९६-श्वानरो यतते सूर्येण
- ३९७-भूपति भुवस्पति भुवनपति-रूप वश्वानराग्नि
- ३९८-वैश्वानराग्नि का शरीर में प्रचण्डरूपेण
ध्वनिपूर्वक प्रज्ज्वलन
- ३९९-श्वानर की श्रुति और दृष्टि
- ४ -वैश्वानर का शब्द और नादा मकभाव
- ४ १-अनाहतभाव निब धन नाद
- ४ २-आधिदैविक घोरघोरतम -प्रचण्डनाद
और योगमाया के अनुग्रह से तत्परो-
क्षता एा दृष्टि की स्वरूप-रक्षा
- ४ ३-नादानुगत वैश्वानराग्नि और छान्दोग्य
श्रुति १२१७
- ४ ४-आ मबुद्धिसमविता मानसे छ्वा का
प्रथमाघात और वैश्वानराग्नि १२१७
- ४ ५-आघात से प्र याहित वश्वानर अग्नि
का तत्रैव यात वायय प्राण पर आघात
- ४ ६ वायव्याघात से श दो पत्ति
- ४ ७-वायु लात् श दस्तत्
- ४ ८ अग्नि मरुत् का सयोग और वया
मिका वाक्
- ४ ९-श दमयी वैखरी की अभिव्यक्ति का
रहस्या मक सम वय
- ४१ -अग्निर्वाग्भूवा मुख प्राविशत् का
सम वय और वाड मयाग्नि
- ४ १ श दो पत्ति का मूलप्रवक्त क वाड्मय अग्नि
- ४ २-ब्रह्मग्रथि और अपानप्राण
- ४१३-ब्रह्महृदय और व्यानप्राण
- ४१४-ब्रह्मकण्ठ और उदानप्राण
- ४१५-ब्रह्मर ध्र और ऐद्रविज्ञानप्राण
- ४१६-ग्रथि-हृदय-कण्ठ र ध्र भेद से वैश्व
नराग्नि के चार प्रतिष्ठान विन्दु
- ४१७ पञ्चमस्थाना मक आस्यभाव
- ४१८ ब्रह्मग्रथ्यनुगत अतिसूक्ष्मनाद
- ४१९ ब्रह्महृदयानुगत सूक्ष्मनाद
- ४२ -कण्ठानुगत पुष्टनाद
- ४२१ ब्रह्मर ध्रानुगत अपुष्टनाद
- ४२२ आस्यानुगत कृत्रिमनाद
- ४२३-नाद शब्द के निवचनात्मक समन्वय
का सम्मरण १२१८
- ४२४-अनल और अनिल-सहयोगानुगता
शब्दोपत्ति
- ४२५-महर्षि शाकायनि और वायु का अग्नि
मय व-ससाधन
- ४२६ शब्द के प्रति अग्नि को ही उपादान
कारण व
- ४२७-शब्द के प्रति वायु को निमित्तकारणता

- ४२८-श दोपादानभूत अनन्त का मौक्तिक
एव प्राणा मक रूप १२१८
- ४२९-प्राणानल का भूतानलप्रतिष्ठाव
- ४३ -अमृताग्निरूप प्राण
- ४३१-नकार-दकार का साङ्ग तिक सम वय
- ४३२ अव्यक्त प्राणाग्नि और न कार
- ४३३-व्यक्त भूताग्नि और द कार
- ४३४-नाद शब्द का पारिभाषिक सम वय
- ४३५-नकार-दकार की समवित्वावस्थारूप
वैश्वानराग्नि का ताविक सम वय
- ४३६ नाद के पञ्चभावानुगत पञ्चस्थानानुगत
पञ्चविध महिमा विवत्
- ४३७-नादा मक वैश्वानराग्नि
- ४३८-हृ प्रक्रम कण्ठप्रक्रम गिर प्रक्रम भेद
से नादा मक वश्वानर के तीन सामान्य
प्रक्रम
- ४३९-नादप्रक्रमों की तारादि-व्यवस्था
- ४४ -नाद श्रुति-स्वरा मक सङ्गीत के मम्मज्ञ
शाङ्ग देव महाभाग १२१९
- ४४१-स्वर-राग प्रकीर्ण प्रबन्ध ताल वाद्य नृत्यादि
अध्याय समवित्त-सङ्गीतशास्त्र
- ४४२-सङ्गीतवचनों के साथ पाणिनीय
शिखावचनों का अद्भुत साम्य
- ४४३-नादा मक वैश्वानर अग्नि की त्रिविध
स्वरों के रूप में अभिव्यक्ति
- ४४४-वायु का सहयोग और वैश्वानर की
स्वररूप में परिणति
- ४४५-आधिदैविक वैश्वानर का ताविक
स्वरूप-सम वय
- ४४६-पार्थिवयज्ञ का त्रिवृद्भावपन्न प्रात
सवन और अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द
- ४४७-प्रात सवनीय पार्थिव-गायत्राग्नि और
मन्द्रस्वर १२२
- ४४८-पञ्चदशभावापन्न माध्यन्दिनसवन और
एकादशाक्षर त्रिष्टुपछन्द

- ४४९-मा यन्दिनसवनीय आ त्रिच्य त्रै डुम
वायु और मध्यस्वर १२२
- ४५ एकविंशभावापन्न सायसवन और द्वाद
शाक्षर जगतीछन्द
- ४५१-सायसवनीय दिव्य नागत आदिव्य और
तारस्वर
- ४५२-अधिदैवत का यथानुरूप प्रतिरूप मान
वीय अध्याम
- ४५३-पृथिवीलोक और आ नेय प्राण
- ४५४-अ-तारक्षलोक और वायव्यप्राण
- ४५५-दिव्यलोक और ऐन्द्रप्राण
- ४५६-अधिदैवतरूप अण्ड से अनुगत वश्वानर
- ४५७-अ या मरूप पिण्ड से अनुगत वैश्वानर
- ४५८ इति नु अधिदैवतम् और वैश्वानर
- ४५९ इति नु अ या मम् और वश्वानर १२२१
- ४६ छन्दोमे अनुगता सनत्रयी और नादभेद
- ४६१-त्रिप्रक्रमामक नाद के नाडी भेद निब
धन २२ अत्र तर विवत्
- ४६२-नाद के अत्र तर विवत् और श्रुति
भाव
- ४६३-सुषुम्णा नाडी का सस्मरण
- ४६४-हृदयानुगत मन्द्रनाद से अनुप्राणिता २२
मन्द्रश्रुतिया
- ४६५-कण्ठानुगत-म यनाद से अनुप्राणित
२२ म यश्रुतिया
- ४६६-शिरोऽनुगत तारनाद से अनुप्राणिता २२
तारश्रुतियाँ १२२२
- ४६७-श्रुतियों का तालिका के द्वारा सकलन
- ४६८-वैश्वानराग्नि का धोध्यमान वाया
मक शब्द और नाद १२२३
- ४६९-नादध्वनि की श्रवणगोचरा अभिव्यक्तियाँ
- ४७ -क्रमप्राप्त-स्वरभाव का सस्मरण
- ४७१ सङ्गीतानुगत सहज माधुष्य और स्वरत व
- ४७२ मधुरसामक सुष्य

४७३-(आदियो नै देवमधु)	१२२३	५ १-शब्दतन्मात्रा मक आकाशभूत की बलग्रथि के द्वारा वायुरूप में परिणति	१२२४
४७४-पृथिवीलोक का दधिलोक व		५०२-स्पशतमात्रानुगत वायु	
४७५-अतरिक्षलोक का घृतरूप व	१२२४	५ ३-वायु से रूपतमात्रामक तेज की अभिव्यक्ति	१२२५
४७६-द्युलोक का मधुरूप व		५ ४-तेज से रसत मात्रामक जल की अभिव्यक्ति	
४७७-पार्थिव अग्नि और दधिभाग		५ ५-जल से गघतमात्रामक मृद्भाग की अभिव्यक्ति	
४७८-आ तरिक्ष वायु और घृतभाग		५ ६-तमात्रामक शब्दादि गघातसूक्ष्म तव एव तत्पञ्चीकरण से अणुभूतों की अभिव्यक्ति	
४७९-दिय आदि य और मधुभाग		५ ७ अणुभूतों के पञ्चीकरण से रेणुभूतों की अभिव्यक्ति	
४८०-दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्		५ ८-रेणुभूतों के पञ्चीकरण से महाभूतों की अभिव्यक्ति	
४८१-घृतम तरिक्षस्य (रूपम्)		५ ९-महाभूता मक-आकाशा मा-स्वयम्भू पुर	
४८२-मध्वमुख्य (रूपम्)		५१० वा वा मा परमैष्ठी पुर	
४८३-आग्नेय दधिरसामक पार्थिव नादब्रह्म		५११- तेजोमय-सूर्यपुर	
४८४-वायव-घृतरसामक आतरिक्ष-श्रुति व		५१२- आपोमय चद्रपुर	
४८५-देव-मधुरसामक दिय स्वरत व		५१३- मृण्मय भूपुर	
४८६-परब्रह्म से अभिन्न शब्दब्रह्म के स्फोट स्वर-व्यञ्जन नामक तीन महिमा विवर्तों का सम्मरण		५१४-पञ्च-पञ्चामिका पञ्चपर्वा विश्वप्रकृतिः	
४८७-परब्रह्मानुगत अ यय		५१५ पञ्चपर्वामधीम	
४८८-शब्दब्रह्मानुगत स्फाट		५१६-विश्वमूलकारणभूता-सर्वादिलक्षणा आकाशामिका-(शणभूतानुगता) शब्द तन्मात्रा	
४८९-परब्रह्मानुगत अक्षर		५१७-प्रथमा शब्दतमात्रा के पञ्चीकरण से ही अन्तत विश्वरूपोद्भव	
४९०-शब्दब्रह्मानुगत क्षर		५१८-विश्व की शब्दब्रह्मरूपता का समन्वय	
४९१ परब्रह्मानुगत क्षर		५१९-न ह्यशब्दमिवास्ति	
४९२-शब्दब्रह्मानुगत यञ्जन		५२०-शब्द और अर्थ का औपत्तिक सम्बन्ध	
४९३-षोडशीप्रजापात का पूर्वरूप और विश्वातीत विवत्त		५२१- जपात्सिद्धि का रहस्यामक समन्वय	
४९४-प्रजापति का उत्तररूप और विश्वविवत्त		५२२-स भूरिति व्यहरत् वृथिव्यमवत् इत्यादि बचन का तात्विक समन्वय	
४९५-विश्ववातीतावस्था और परब्रह्मविवत्त			
४९६-विश्ववाम्या और शब्दब्रह्मविवत्त			
४९७-वस्तु व का तापर्याय समन्वय			
४९८-आकाश वायु तेज जल-मृद् भावा मिका पञ्चमहाभूतान्विता सृष्टि और विश्वावस्था			
४९९-सर्वादिमूलभूतामक आकाशभूत			
५ -आकाशभूताधिष्ठात्री सबभूताधिष्ठात्री शब्दत मात्रा और भौतिक विश्व			

५२३-शब्दब्रह्मरूपा ईश्वराभि यक्ति	२२५	५४४-अन्तरिक्ष-वायु-धृत-तरलभाव और श्रुतित्व	१२२६
५२४-विश्वातीत परब्रह्म के सस्थानक्रम से सर्वात्मना समतुलित विश्वात्मक शब्द ब्रह्म का सस्मरण		५४५-द्युलोक सूय्य मधु विरलभाव और स्वत्व	
५२५ परापर अयय अक्ष क्षर रूप विश्वा तीत परब्रह्मविवत्		५४६-सूर्यानुगत मधु त्व और तद-भिन्न स्वर का माधुय्य	
५२-अद्ध मात्रा स्फोट स्वर यञ्जन रूप विश्वात्मक शब्दब्रह्म		५४७-अ आ इ-इ-उ ऊ आदि सुप्रसिद्ध स्वर एव क-ख-ग घ-आदि सुपरि सिद्ध यञ्जन	
५२७ शब्द ब्रह्मणि निष्णात परब्रह्माधि गच्छति	१२२६	५४८-अकारादि स पूणा स्वरो की सूय्य से अभियक्ति	
५२८-दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या का सस्मरण		५४९-अकारादि स पूणा यञ्जनों की भूपियङ्ग से उपत्ति	
५२९-भूपियङ्ग और यञ्जनात्मक शब्द ब्रह्म		५५-सौ स्वर विवत्	
५३ सूय्य और स्वरात्मक शब्दब्रह्म		५५१-पार्थिव व्यञ्जन विवत्	
५३१ परमेष्ठी और स्फोटात्मक शब्दब्रह्म		५५२-यञ्जनवाक की अनुष्टुप् रूपता	
५३२-स्वयम्भू और अद्ध मात्रात्मक शब्दब्रह्म		५५३-स्वरवाक की बृहती रूपता	
५३३ शब्दब्रह्मात्मक विश्वम्		५५४-आग्निगर्भा भूपियङ्गामिका पृथिवी	
५३४-नादानुबन्ध से शब्दब्रह्म की स्वरूपो पासना का उपराम		५५५-इन्द्रगर्भिणी सूय्यमिका द्यौ	
५३५-श्रुति से अभिव्यक्त-स्वर का सङ्गीता नुगत मौलिक माधुर्य		५५६-उभयानुगत ग्रहोपग्रहभाव	
५३६-भू अन्तरिक्ष-सूय्य-त्रयी के अनुबन्ध से स्वर के माधुर्य का समन्वय प्रयास		५५७-भूपियङ्ग का साम्बत्सरिक क्रान्तिवृत्त पर परिभ्रमण और वार्षिकगति	
५३७-केन्द्रस्थ प्राजापत्य वैश्वानराग्नि की नादब्रह्मरूपता		५५८-पृथिवी का आभारभूत सूय्य	
५३८-नादब्रह्म की अन्तरिक्षानुगता वायव्या वस्था और श्रुति		५५९-सप्त-पूर्वापरवृत्तात्मक अहोरात्रवृत्त	१२२७
५३९-श्रुति की द्युलोकानुगता आदियावस्था और स्वर		५६-अहोरात्रवृत्तात्मक सप्तदेव छन्द	
५४ घनावस्थापन्न-नादत्व		५६१-मध्यस्थछन्द की सर्वाधिका बृहत्ता और तद्रूप बृहतीछन्द	
५४१-तरलावस्थापन्न-स्वरतत्त्व		५६२-बृहती विष्वद् विषुव और आज का इक्वटर	
५४२-विरलवस्थापन्न-स्वरतत्त्व		५६३-बृहती से अनुप्राणित बृहत्साम	१२२८
५४३-भूपियङ्ग-अग्नि-दधि-घनभाव और नादत्व		५६४-बृहत्सामात्मक-बृहतीछन्द के केन्द्र में स्थिररूप से प्रतिष्ठित सूय्य	"
		५६५-बृहत् और बृहद् भाव	
		५६६-बृहद् तस्यै भुवनेष्वन्त	

५	-सत व दवच्छ दासि	१२२८	५६१	यञ्जनाधारभत स्वर के माधुय्य से (स्वर सधानामक अनुग्रहकाल में) मय व्यञ्जनो का भी माधुय्य	१२३
५	८-दव छुदों का अक्षरसरयानुगत परिमाण		५६२	-अक्षरभिन्न अमृतस्वर की सतनन शक्ति	
५६६	-दिद्य मधुरसमय बाहृतप्राण		५६३	-स्वर का सतनना मक स्थायी सस्कार और त प्रका तरुपा च वणा	
५७	-बाहृत स्वरतत्त्व		५६४	कुक्कुटप्राणी की का वालीकृता चञ्चु से कृमि कीटादि का भक्षण	
५७१	-नवाक्षर-बृहती छुद और स्वरत व		५६५	भक्षणरूप चवण और च वणा	
५७२	-नवविदुओं में वितायमान स्वरत व		५६६	-इन्द्राणा मक स्वर की सन्तनन रूपा चञ्च और उसका चवण यापार	
५७३	-उक्था मक-स्वरबिम्ब		५६	-महवपूण चचू यमाण श द	
५७४	-अर्कामिका स्वरशिमया		५६८	अनुष्ट भमनुचचूय्यमा णामद्र निचि क्यु कययो मनीषा	
५७५	-ब्रह्मौदना मक केन्द्रस्थ स्वर		५६९	-मय क्षरामक यञ्जन और तद्रूपा आग्नेयी अनुष्टुप् वाक	
५७६	-प्रवर्ग्या मक परिधिस्थ स्वर		५७	-अमृत अक्षरामक-स्वर और तद्रूपा ऐद्री बृहतीवाक	
५७७	-नवविदुओं के केन्द्र का विदुद्वय और स्वरप्रति ठान		५७१	-बृहतीवाक पति इद्र के द्वारा अनुष्टुप रूपा यञ्जनवाक का चवण और अष्टमत्राक्ष-समवय	
५७८	सप्तविदु समूह और सप्त यञ्जन		५७२	-मयभूतो के मायम से अमृत सम्पत्ति का सग्रह	
५७९	-सप्त यञ्च और तत्प्रति ठारूप एक स्वर		५७३	-लौकिक उदाहरण के मायम से य ञ्जनाधारभत स्वर की मधुरसानुगता मधुरमा का समवय प्रयास	
५८	-भू भुव स्व मह जनत् त सयम् रूप यञ्जनस्थानीय सातलोक एव सात य ञ्जना मक विश्व की मूलप्रतिष्ठारूप अक्षरामक एक स्वरब्रह्म		५७४	-छपनभोग छुचीम यञ्जन नामक आभाणक का प्रासङ्गिक सस्मरण	२३१
५८१	-प्रातिशाख्य का स्यकट उदाहरण और एक स्वरानुगत सात व्यञ्जन	१२२९	५७५	-भाय चर्व चो य लोह्य भेद भिन्न सुस्वाहु पदाथ	
५८२	-सैषा स्वरस्य सन्तनानुगता सहजस्थिति		५७६	स्वाहु और अस्वाहु भावों का तुलना मक समवय	
५८३	-वितानामक सतननधम्म और स्वर		५७७	समीकरण और स्वाहु भाव	
५८४	-एक विद्वामक यञ्जनो में विताना मक सम्प्रसारण का अयन्ताभाव				
५८५	-जायस्व म्रियस्व घ मा व्यञ्जन				
५८६	क्षरामक भत किंवा भतामक क्षर				
५८७	क्षर सर्वाणि भ नि				
५८८	स्वर का अक्षर व				
५८९	-न क्षीयते रूप अमृत धम्म और स्वर				
५९	अक्षयभावापन्न-स्वर				

- ६ ८-विषमता और अस्वादि भाव १२३१
- ६ ९-मो-यादि यज्ञनों का अमृता मक स्वर भाग एव तन्निब्र घन स्वादुरम
- ६ १ मधुशाय यज्ञनो का यातयामत्त्व
- ६ १ गतरस अस्वादि यज्ञन
- ६ १२-यो वै शिवतमो रस और स्वर
- १३ सौर-बार्हत इन्द्रप्राणामक मधु की षट् त्रिंशत् बृहती (३६) सरयाओं में परिणति
- ६ १४-अहोरात्र परि लवनामक बाहत-मधु प्राण और मानव का शतायुर्जीवन
- ६ १५-बृहतीछन्द के ३६ अक्षर
- ६ १६-प्रत्येक अक्षर की सहस्रभाव में परिणति और छत्तीसहजार अहोरात्रा मक शता युर्भोगकाल
- ६ १ -साय प्रात का अन्नयज्ञामक भोजनयज्ञ और सौर मधु रसकी तत्र यापति
- ६ १८-श्रवण-दशन-गमन-हसन शयन आदि यन्त्रयावत् भावों में मधुरूप स्वरतत्त्व का साक्षात्कार
- ६ १९-जीवन में मधु रसानुभूति का अभाव और आयु प्रवत्तक-विश्वामित्रप्राण का शैथिल्य
- ६ २ स यत्करणीय मन्येत स कुर्व्यात्
- ६ २१-रुदन का सुप्रसिद्ध अप्रीति करत्त्व एव कणकटुव
- ६ २१-रुदनकम्म का भी मधु रसामक स्वर से समन्वय
- ६ २२-कलावत् का तो रोना भी गाना है इत्यादि किंवदंती का समन्वय
- ६ २३-सम् भावा मक (एकीभावा मक) समीकरण से सम्पन्न सङ्गीत तत्त्व १२३२
- ६ २४-मधुर-स्वर-रसामक रोदन
- ६ २५-स्वरानुगत रोदनकर्म का सहज माधुर्य

- ६ ६-रुदु-सुस्वरम् (भागवत) १२३२
- ६ २७-त्रैलोक्यानुगत य चयावत् पदार्थों में कम्मकलापों में शारीरिक ऐन्द्रियक चेष्टाओं में सवत्र स्वरसामामक सौर मधु रस की प्रतिष्ठारूपेण यापति का मम वय
- ६ २८-स्वरानुग्र से ही व्यञ्जनों की स्वरूप सत्ता का सरक्षण
- ६ २९-स्वरा मक सौर सङ्गीत का व्यञ्जनामक विश्व की जीवनसत्ता के लिए अनि वाय्यव
- ६ ३ -प्रकृतिसिद्ध-स्वरा मक महामङ्गीत का पावन सस्मरण
- ६ ३१-सङ्गीतप्रवत्तक प्राणामक तुम्बुरु नार दादि ऋषिवो के स्वरूप के द्रष्टा एत ज्ञामक मानव महर्षियों के द्वारा दिव्य भावापन्न नाद श्रुति स्वरा मक लोक-सङ्गीत का वितान
- ६ ३२-मधुरिमा का प्रमुख प्रवत्तक आनन्द प्रद आलापामक स्वरतत्त्व का यशो वणनोपराम
- ६ ३३-बड्ज ऋषभ-गाधारादि लोकसङ्गीता नुगत स्वरों का सस्मरण
- ६ ३४-अक्षरामक स्वरसामों से अनुप्राणित स्वरतत्त्व
- ६ ३५-स्वर स्व और स्वगसुख
- ६ ३६-आलापधम्म की अनुगति और स्वर सधान
- ३७-अनुरणन और पारिभाषिक-आलाप
- ६ ३८-सङ्गीत-श्रवणानन्दानुगत-मनोनिमजन रूप कम्पन और अनुरणनामक-आलाप
- ६ ३९-अनुरणन का वत्तमान लौकिकरूप समा बंध जाना
- ६ ४ -एकीभावा मक सङ्गीत का सम् भाव

- ६४१-स्वरामक स्वर की परब्रह्माक्षर से अभिन्नता १२३३
- ६४२-सङ्गीतज्ञ के हृदयानुगत नादब्रह्म से समुचित २२ श्रुतियाँ
- ६४३-श्रुति के द्वारा कण्ठद्वार से सप्तधा विभक्त एव विनिगत स्वर भाव
- ६४४-सङ्गीताचार्य के यञ्जनामक वण (बोल)
- ६४५-आलाप सलाप मूर्च्छा अदि धर्मों से सम वित स्वरस धान की सङ्गीतज्ञ के लिए एव श्रोतृवग के लिए आनन्दरूपता
- ६४६-आज का भूतप्रधान यञ्जनप्रधान जड जीवन
- ६४७-जडभूत मनस्तन्त्र के अञ्जसा सुखावह का साधनभूत लोकसङ्गीत
- ६४८-स्वरसंधाना मक-वास्तविक सङ्गीत के आनन्द से असस्पृष्ट आज के विजडित मन
- ६४९ जडताप्रवृत्तक भौतिक अनुबन्धो को तदनुप्राणित का वालीकृत-नचन गाय नादिरूप-उद्दामवासनामक-हैनतम उद्ग गकर विजम्भणों को सङ्गीतोपाधि-प्रदान और भारतीय मूल त वों का उपहास
- ६५ -प्रक्रान्त स्वरप्रसङ्ग से अनुप्राणित नि कष
- ६५१-स्वत एव रञ्जयति श्रोतृवगचित्तम् रूप स्वरतव
- ६५२ स्वय हि राक्तो यस्मात् तस्मात् स्वर इति स्मृत
- ६५३-गीत को सङ्गीत मान
- ६५४-सङ्गीत को स्वर मान
- ६५५-स्वर को अक्षर मान
- ६५६(क)-दिनमान सूरज रैन मान चन्दा
- ६५६(ख)-प्रथममान ओङ्कार १ ३३
- ६५६(ग)-सङ्गीतशास्त्रानुगता स्वरमहिमा का यशोवण १२३४
- ६५७-उर स्थान और मद्रनाद
- ६५८ कण्ठ-स्थान और म यनाद
- ६५९-शिर स्थान और तारनाद
- ६६ -मद्रनाद और मद्रश्रुति
- ६६१-म यनाद और म यश्च ति
- ६६२-तारनाद और तारश्रुति
- ६६३-त्रिवृत्त पृथिवी अग्नि-गायत्री प्रात सवन और मद्रस्वरमहिमा १२३५
- ६६४-पञ्चदश अ तरिङ्ग वायु त्रिष्टुप माध्य दिनसवन और म यस्वरमहिमा
- ६६५ एकविंश द्युलोक आदि य जगती सायसवन और तारस्वरमहिमा
- ६६६ त्रि स्थानभेद से तीन प्रमुख भागो में विभक्त सप्तस्वरों की शुद्धस्वररूपता का समवय
- ६६७-श्रुतियों का तारतम्य और स्वरों के सायौगिक अवान्तर द्वादशविध महिमा विवक्त
- ६६८-यौगिकस्वरामक विकृतस्वरों का सस्मरण
- ६६९-द्वादशविध विकृतस्वरों की तालिका १२३६
- * अन्यदमि किञ्चित् प्रासङ्गिक स्वरसम्बन्धे एव**
- ६७ -परब्रह्मानुगत अर्थों का आम्भृणीकुल
- ✓ ६७ -आम्भृणीकुलानुगत वर्ण जाति छद्म ऋषि-देवता आदि की व्यवस्थाए १२३७
- ६७२-शब्दानुगत सारस्वतकुल एव तदनु गता व्यवस्थाए
- ६७३ स्वरों के वण जातिया छद्म ऋषि देवता आदि का नाम सस्मरण

६७४-शृङ्गार वीर-करुणा आदि रसो से अनु प्राणित मन्त स्वर	१२३७	६६६-चिय और चितेनिधेय पुरुषो का सम वय	१२४१
६७५-काकल्यन्तर स्वर का सस्मरण		६६७ स ताना पुरुषाणा श्री	
६७६-स्वर वर्णादि भावो के सप्राहक श्लोक	१२३८	६६-स-तप्राणा मरुप प्रजापति और छुद	
६७७-तालिका के माध्यम से वर के ऋषि देव-छन्द कुल वण जाति वण रसभाव अभियक्तिभूमि आदि महिमा भावो का स्पष्टीकरण	१२३९	६६६-छन्द के अनुपात से छदित वस्तु का सन्निवश	
६७८ व्यञ्जन के आधारभूत स्वरत्व के सप्तविध महिमा भावो के ताविक कारण का अवेषण प्रयास	१२४	- विश्व नाम का उदय	१२४२
६७९-स्वर और अक्षर की अभिन्नता		७ १-लोकप्रसिद्ध सञ्चा किवा साचा (दाचा) और छन्द पुरुष	
६८-अयय और त साङ्क तिक नाम मन		७ २ अक्षरा मक स्वर का मलाधारव	
६८१-अक्षर और तत्साङ्क तिक नाम प्राण		७ ३-मानवोदाहरण से वस्तुत्व का सम वय	
६८२-क्षर और तत्साङ्क तिक नाम वाक		७ ४-मानव का घड और म याङ्ग	
६८३ षोडशीपुरुषा मक पुरुषरूप परब्रह्म		७ ५ म याङ्ग में चार प्राणों का प्रतिष्ठापन	
६८४-आलम्बना मक-अधिष्ठानकारण		७ ६ विभागचतुष्टयी और च वार आमा	
६८५ निमित्तकारणा मक असमवायिकारण		७ ७-मानव के दक्षिण वाम हस्त पादरूप दक्षिणोत्तर पक्ष	
६८६-उपादानकारणासक समवायिकारण		७ ८ शिरोभाग से उपक्रात ब्रह्मप्रथि पर उपसहृत लम्ब यष्टिवत् वितत सुप्रसिद्ध मेरुदण्ड (रीड की हड्डी) के अन्त में प्रतिष्ठित त्रिकास्थिगत प्रतिष्ठाप्राण रूपा पुच्छप्रतिष्ठा	
६८७-शा-दामक पञ्चभौतिक पञ्चपर्वा विश्व की तथा पञ्चामिका विश्वप्रजा की अभियक्ति		७ ९ मेरु का तनन और शरीरयष्टि की ऋजुता	
६८८-सैषा स्थिति		७१ (क)-अधिक अमानुगता किवा वाद क्यानुगता शरीरयष्टि और पुच्छ प्रतिष्ठाप्राण का शैथिल्य	
६८९-अक्षर का सवप्रवत्त कव-समवय		७१ (ख) पुच्छप्राण के शैथिल्य से शरीर यष्टि की वक्रभाव में परिणति	
६९ ऋषिशिद का ताविक निवचन		७११-सप्त चित्त्व भागो का सार भागा मक श्री-तव और उसका शिरस्त्व	
६९१-सृष्टिमूलभूत अक्षररूप स्वर प्राणा मक निमित्तकारण की सप्तर्षि रूपता का पारिभाषिक-समवय		७१२-मानव प्रसङ्गत पशुशरीरानुगत सप्त पुरुष पुरुषामक चियभाव का सस्मरण	
६९२-सप्तर्षि रूप स्वरा मक प्राण के सात संस्थान			
६९३ सप्तावयव चित्यपुरुष	१२४१		
६९४-सप्तमूर्ति श्रीरूप चितेनिधेय पुरुष			
६९५ सप्तपुरुष का तालिका के मा यम से दिग्दशन			

७१३-सप्त वित्यक्रम की चर अचर चड चेतन भावनिबन्धन यच्चयावत् पदार्थों में समष्टि यष्ट्यामिका यागति	१२४२	७३६-	देश	(२३)	१२४४
७१४-चर अचर पार्थिव भूतसर्ग के सजक सम्बन्ध प्रजापति के महासुपर्णा मक सप्तावयव-स्वरूप का स्मरण		७४-	प्रसिद्ध पवत	(२४)	
७१५-त्रिपुरुष पुरुषा मक शोडशी प्रजापति विश्वा मा के त्रि वभाव कौ सब यागति का स्मरण	१२४३	२४१-	घा य	(२५)	१२४५
७१६-सप्त पुरुष पुरुषा मक विश्वप्रजापति के समष्टि यष्टि भावनिबन्धन-सप्तक की सब यागति का स्मरण		२४२-	र याङ्ग	(२६)	
७१७-सप्त आ यामिक इन्द्रियप्राण (१)		२४३-	वार	(२७)	
७१८-	अर्चिर्भाव	(२)	२४४-	सर	(२८)
७१९-	होम	(३)	७४५-	देवछु द	(२९)
७२-	लोक	(४)	७४६-	योति टोम	(३)
७२१-	अग्निजिह्वा	(५)	७४७-	ऊ वप्रजात तु	(३१)
७२२-	अग्नि	(६)	७४८-	अथ प्रजात तु	(३३)
७२३-	अ सरा	()	७४९	सप्त सङ्गीत-स्वर	(३३)
७२४-	आवरण	(८)	७५-	सप्त स्वरोच्चारण	(३४)
७२५-	ऊर्ध्वलोक	(९)	७५१	सप्त महिमाभावों का विस्तार मक समन्वय	
७२६	अधोलोक	(१)	७५२-	सप्तपुरुष सप्त ऋषि सप्त अहोयत्रवृत्त सप्तकपाल सप्तकण सप्तचक्र सप्त होना सप्तत तु सप्त अदितिपुत्र-सप्त मरुद्गण सप्त ऋतु आदि सप्तकों का संस्करण	
७२७-	ऋषि	(११)	७५३	सप्तगण और सप्ततथ्य	
७२८-	क प	(१२)	७५४	सप्तनामा और सप्त निधन	
७२९-	पितर	(१३)	५५	सप्तपद और सप्तपुत्र	
७३-	देवपुरी	(१४)	७५६-	सप्तचितिक प्रजापति	
७३१-	सप्तद्वीप	(१५)	७५७-	महिमामय विस्तार	
७३२-	सप्तमुद्र	(१६)	५८	सप्तक-स्मरण	
७३३-	सप्त-बायु	(१७)	७५९-	अगाणित सप्तकभाव	
७३४-	पाताल	(१८)	७६	-वेदस्वा यायानुगति	
७३५-	नरक	(१९)	७६१-	स तमुख्य और स तरश्मि	१ ४६
७३६-	स्वर्ग	(२)	७६२-	स तरात्र और सप्तच	
७३७-	पवत	(२१)	७६३-	सप्तवर्षा और स तक्षसा	
७३८-	नदी	(२२)	७६४-	सप्तहृत और सप्ताह	
			७६५-	स्वर की सप्तभाव परिणति का तास्विक समन्वय	
			७६६-	सप्त घात और सप्त उपघात	

७६७-स तरस और स त उपरस	१२६	७६३ देवाननुगता वै मनुष्या	१२४७
७६८-सप्तविष और सप्त उपविष		६४-रात्र का सु-त अतएव विश्रांत अनि	१२४८
७६९ सप्तक भाव -पारणति के सम्बन्ध में प्रमाणभूत श्रुति सन्दर्भ		६४-प्रात तारस्वरोच्चारण से सम्भावित उर क्षत	
७ -मानव का सप्तचितिक प्राणाग्नि	१२४७	७६६-त्रि सत्रनानुगता स्वरमर्थ्यादा	
७ १-मरुद्वायु का संयोग और प्राणाग्नि की स्वरामिका वनि के रूप में परिणति		७६७-मर्थ्यादानुगत यथासमय यथास्थान स्वरोच्चारण और स्वरमाधु य	
७७२-बहिर्मण्डल में याप्त सुसूक्ष्म वाक तव का समुद्र		७६८-श-दोच्चारण से ममत्तुलिता कम्म प्रवृत्ति और नियमानुगमना मक अ य पथा	१२४९
७७३-कणशष्कुलियो पर प्रतिष्ठित मन पर तरङ्गभावापन्ना वनि का आघात और स्वरो की अभि यक्ति		७६९ अपार म का क्षेमकर व	
७४-नादा मक श्रुति समावित स्वरभागापन्न चितो न धेयाग्नि युक्त चि याग्नि की सुप्ता वस्था और जाग्रदवस्था		८ -उपक्रमानुगत मद्रस्वर	
७७५-सप्तावस्थापन्न चित्याग्नि और रात्रिकाल		८ १-नैष्ठिक मानव का स्वपारम्भ और काव्यसमाप्त	
७७६-जाग्रदवस्थापन्न चि याग्नि और अह काल		८ २ भावुक मानव का महारम्भ और काव्य की अपूर्णता	
७७७-अह काला मक-सूयसत्तानुगत काल		८ ३-उपक्रमस्थान और नादा मक स्वर	
७७८-सूयसत्ताकाल और गायत्री त्रिष्टुप जगती		८ ४-मध्यस्थान और श्रु या मक स्वर	
७७९-गायत्री और होराचतुष्टया मक प्रात काल		८ ५-अत स्थान और स्वरा मक-स्वर	
७८ -त्रिष्टुप और मध्याह्न		८ ६-उर स्थानानानुगता नादप्रधाना ध्वनि और हिङ्कार	
७८१ जगती और सायङ्काल		८ ७-कण्ठस्थानानुगता श्रुतिप्रधाना वनि और प्रस्ताव	
७८२-प्रात और मद्रस्वर		८ ८-शिर स्थानुगता स्वरप्रधाना ध्वनि और उद्गीथ	
८८३-म याह्न और म यस्वर		८ ९-उद्गीथा मक-स्वरभाव और लोक-भाषानुगत-सङ्गीतानुगत टीप	
८८४-साय और तारस्वर		८१ -पाणिनीयशिक्षा का सम्मरण और स्वरो चरणादि निबन्धना मर्थ्यादाश्रों का समवया मकोपराम	
८८५-प्रात मद्र और उर स्थानानुगति		८११-नाद श्रुति-स्वर भावों की सङ्गीतानुगता उच्चारणादि यवस्थाओं का समवयो पराम	
८८६-म याह्न मध्य और कण्ठस्थानानुगति		८१२-विश्वो पत्ति और श दत मात्रा	
८८७ साय तार और शिर स्थानानुगति		८१३-श दत मात्रा मूला पञ्चत मात्रा का नाम स्मरण	
८८८ स्वरो चरण के कालानुबन्धी वैज्ञानिक-नियमों का सम्मरण			
८८९-सिंह-शादू लादि का उच्चारण और मन्द्रस्वर			
८९ -चक्रवाकादि का उच्चारण और मध्यस्वर			
८९१-हस-मयूरादि का उच्चारण और तारस्वर			
८९२-प्रकृतिवद् विकृति क्त या			

- ८१४—शब्दत मात्रामक रहस्यपूर्ण त व और
तद्रूप ऋक-यजु साम नामक अपौरु
षेय त-वा मक वेद १२४६
- ८१५—पियडभावानुगत ऋग्वेद
- ८१६—गतिभावानुगत यजुर्वेद
- ८१७—मण्डलभावानुगत-सामवेद
- ८१८—पियडका धाम-छन्द व सम वय
- ८१९—पियडानुगत सुप्रसिद्ध षडभावविकार
- ८२—परिवक्त नामक विकारभाव और तन्नि
बन्धन गतित व
- ८२१—रश्मिमण्डलामक-मण्डल भाग
- ८२२—मण्डला मक-दृश्यजगत्
- ८२३—पियडा मक-स्पृश्यजगत्
- ८२४—ऋक् यजु साम-का मौनिक-स्वरूप
और भगवान् तित्कार
- ८२५—केन्द्रा मक-ऋड मय धाम-छन्द दृश्य
वस्तुपियड और तदनुप्राणित नादत व १२५
- ८२६—पियड-मण्डलान्तर्वर्ती यजुर्मय-गतिभाव
और तदनुप्राणित अतित व
- ८२७—पियड केन्द्र से उपक्रान्त प्राणरश्मि मण्डल
रूपेण सहस्रभावापन्न साममय मण्डल
और तदनुप्राणित स्वरव व
- ८२८—नाद और ऋकपियड
- ८२९—श्रुति और यजुग त
- ८३—स्वर और साममण्डल
- ८३१—स्वर साम और पारिभाषिक स्वरसा
(त्रय स्वरसामान)
- ८३२—गीतिषु सामाख्या का सम्मरण
- ८३३—सामामक स्वर, किंवा स्वरा मक साम
और सङ्गीत का मूलप्रतिष्ठात्व

- ८३४—ग्राम मन्त्रना जाति क्रम-तान आरोह
अवरोह प्रादी-सवादी—नाद अति-स्वर
आदि विभिन्न विभूतियों से सुसमन्वित
ए प्रणीत वाद्य मे से तीन प्रक्रमों में
विभक्त शास्त्रीय सङ्गीत के नाद श्रुति
स्वर नामक प्रति ठास्तम्भों का मूला
धार हिङ्कार त व और प्रकृत-याज्ञिक
कर्म १२५
- ८३५—स्वरा मक साम के मा यम से हिङ्कार
की अभि याक्त
- ८३६—नासामा हिङ्कारने इ यदि श्रुति
का सम वय
- ८३७—श्रुति का पारिभाषिक रहस्या मक
हिङ्कार शब्द
- ८८—हिङ्कार ग मम मय प्रसङ्ग से अनु
प्राणिता सङ्गीतानुगता नाद श्रुति-स्वर
त्रयी का सम्मरण
- ८३९—श्रुति-स्वर-ग्राम स्वरूप-चक्रात्मक
परिलेख
- ८४०—सङ्गीतानुगता-पारिभाषिकी जाति
तालिका
- इति—सङ्गीतानुगत
नाद श्रुति-स्वर स्वरूप दिग्दर्शनम्**
- * * * * *
- ८४१—प्रकृतानुसरण और नाद श्रुति-स्वर
त्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित-दृश्य-णीत
वाद्या मक-सङ्गीत
- ८४२—सङ्गीत का आत्मसंघिद् विरोधी
व्याख्यादोष प्रदर्शकत्व
- ८४३—सङ्गीत का बुद्धिमिष्टा विरोधी
मातृक्यदोष प्रदर्शकत्व
- ८४४—प्रतिज्ञात समयदोषों के स्वरूपानुक्रम से
किञ्चिदिव निबन्ध

- ८४५-आग्ना और मा यदोष एव त प्रसङ्ग
से तमसो मा ज्योतिगमय अति का
पावन सस्मरण १२५३
- ८४६-सृष्टि के मूलभूत आभू और अश्व का
सस्मरण
- ८४७-आ १ से अनुप्राणित रस का सस्मरण
- ८४८-अश्व से अनुप्राणित बल का सस्मरण
- ८४९-यत् और जू मा सस्मरण
- ८५०-तेज और स्नेह का सस्मरण
- ८५१-ज्योति और तम का सस्मरण
- ८५२-आभू अश्व की प्रथमा द्वितीया
तृतीया एव चतुर्थी अभिव्यक्ति
- ८५३-विश्वातीत परा परब्रह्म का सस्मरण
- ८५४-अनेजत्, और एजत्
- ८५५-स्थिति और गति
- ८५६-अ यनपिनद्ध विश्वातीतव
- ८५७ (क) आभू-अश्वामक-त व
- ८५८ (ख) उपनिषत् वचन का सस्मरण १२५४
- ८५९-विश्वातीत विभिन्नभाव
- ८६०-विश्वामक विभिन्नभाव
- ८६१-अमृत चैव मृत्युश्च सदस चोह
मजु न ! का सस्मरण
- ✓ ८६२-तेजोलक्षण ज्योतिर्माव और तदभिन्न
इ द्रतव
- ८६३-स्नेहलक्षण तमोभात्र और तदभिन्न
वरुणत व
- ✓ ८६४-इन्द्रा मक मित्रभाव
- ८६५-मित्रावरुणौ और क्रतूदक्षौ
- ८६६-समष्ट्या मक त्रयीब्रह्म का सस्मरण
- ८६७-स्वयमेवोद्बभौ और स्वयम्भू
- ✓ ८६८ (क) इन्द्र मित्र की अभिव्यक्ति
- ✓ ८६९ (ख) वृत्र वरुण की अभिव्यक्ति
- ✓ ८७० (ग) ज्योतिष्मथ इन्द्रमित्र
- ✓ ८७१-तमोमय-वृत्र वरुण
- ✓ ८६२-परमेष्ठी सस्थान और वृत्रवरुण १२५५
- ✓ ८६३-सूय-सस्थान और इन्द्र मित्र
- ✓ ८६४-वृत्रापोमय स्नेहमय वरुणरूप परमेष्ठी
- ८७२-परमेष्ठ्य वरुण की अपरिपक्वा एव
परिपक्वावस्था
- ✓ ८७३-परिपक्वावस्थापन्न वरुण और तदनु
प्राणित ग धव तथा पितर
- ८७४-अपरिपक्वावस्थापन्न वरुण और तदनु
प्राणित वृत्रप्रमुख असुर
- ८७५-दियभावपन्न परिपक्व अपतव और
ग धव तथा पितर
- ✓ ८७६-आसुरभावापन्न अपरिपक्व अपतव
और वृत्रादि असुर
- ८७७-वरुण की परिपक्वावस्था और भृगुतव
- ८७८-वरुण की अपरिपक्वावस्था और वरुणतत्त्व
- ८७९-(भृगुवै वाराण का सस्मरण)
- ८८०-पितृ-स्थानीय वरुणभाव
- ८८१-पुत्र स्वानीय भृगुभाव
- ८८२-गोपथब्राह्मणवचन के द्वारा वस्तु
स्वरूप का स्पष्टीकरण १२५६
- ८८३-तस्मात् स भृगुवारीणि
- ८८४-भृगुतव की भौतिक-स्वरूप-व्याख्या
का समय
- ✓ ८८५-आग्नेय वायव्य ऐन्द्रप्राण से समन्वित
परिपक्व भजनशील पारमेष्ठ्य आप्यतत्त्व
की भृगुरूपता
- ८८६-वरुणस्य भग त्रेधा अपतत्
- ८८७-आप वायु सोम और भृगुत्रयी
- ८८८-वायुरापश्च द्रमा इ येते भृगव
- ८८९-श्या मक भार्गव आप्यप्राण और
तदनुप्राणित असुर
- ८९०-श्या मक भागव वायुप्राण और
तदनुप्राणित-ग धव

८६१- या मक-भागव सौ यप्राण और तदनुप्राणित पितर	१२५६	६१६-वृषा और योषा	१२५८
८६२-आसुर प्राणामक वारुण भागव आ-य प्राण से अनुगत अप्सराप्राण		६१७-आत्रेयी अस्पृश्या-योषित्	
८६३-आय अप्सराप्राण का साङ्गतिक नाम सुरा	१२५७	६१८-अस्पृश्यता के सब ध में त वदृष्टि का सम-वय	
८६४-पितृप्राणामक-भागवप्राण और सोम		६१९-ध्रुवलोक सावित्राग्नि श्रद्धा सोम और तदनुप्राणिता प्रथमाहुति	१२५९
८६५-वारुण सोम और सुराभावो का पारिभाषिक सम वय		६२-अतरिक्षलोक पञ्च याग्नि सोम और द्वितीयाहुति	
८६६-पारमेष्ठ्य भागव वारुण सुरा भाव और तान्नब-धन आग्ला और मा-य नामक प्रचण्डदोष		६२१-भूलोक गायत्राग्नि-वृष्टि सोम और तृतीयाहुति	
८६७ आग्ला और माल्व्यदोषो से समन्वित नाद श्रुति स्वर भावापन्न भी सङ्गीत का का वालीकृत व		६२२ अथ्यामलोक वश्वानराग्नि अन्न सोम और चतुर्थी आहुति	
८६८-इदमन्नावधेयम्		६२३ योषिल्लोक आवाग्नि शुक्र मोम और पञ्चमी आहुति	
८६९-तम और ज्योति		६२४-पञ्चाग्निविद्या स-दभ	१२६
✓ १ वरुणामक तमोभाव		६२५-रासायनिक सम्मिश्रण और अन्नोपत्ति	
✓ १-इन्द्रामक योतिभाव		६२६-अपत-वानुगत वरुण और आसुरभाव	
१-तमोमय वरुण और सुरा		६२७-दिव्यभावानुब-ध से समन्वित रसामक अन्न	
✓ ३-ज्योति मय इन्द्र और सोम		६२८-आसुरभावानुब-ध से समन्वित मलामक अन्न	
१-४-सुरा और सोम से अनुगता भौतिकी दृष्टि		६२९ वरुणानुगत सुराभाव	
१-५-पञ्चाग्निमूला अन्नोपत्ति		✓ ६३-इन्द्रानुगत सोमभाव	
१-६-स्नेहमयी श्रद्धा की सोमरूप में परिणति		६३१-वरुणानुब-धी मलामक आसुर दोषभाव	
१-७ अन्नका प्रथम मौलिक स्वरूप और सोम		✓ ६३२-इन्द्रानुब-धी रसामक दि-य-गुणभाव	
१-८-वर्षा का स्वरूप दिग्दर्शन	१२५८	६३३ आसुरी और दवी-स-पत्	
१-९-गायत्राग्नि और वर्षाजल		६३४-गुण और दोष का पारिभाषिक अथ सम-वय	
६१-अन्न की स्वरूप परिभाषा		६३५-वारुण आसुर मलामक सुराभाव और और तम	
६११ वैश्वानर अग्नि में अन्नामक सोम की आहुति		✓ ६३६ ऐन्द्र दि-य-रसामक सोमभाव और योति	
६१२-पुरुषाग्नि में हुत अन्न का विशकलन		६३७-तमसो मा ज्योतिर्गमय का सिंहाव लोकनामक सस्मरण	
६१३-अन्नानुगत रस और मलभाव			
६१४ अन्नरसानुप्राणित रेतोभाव			
६१५-शुक्र और शोणित			

- ६३८-सङ्गीत की निरतिशया दोषाक्रान्ताता और तदनुप्राणित काव्यालीकृत-इतिहास का सम-वयोपक्रम १२६
- ✓ ६३८-सोम और सुरा के नि कर्षामक स्वरूप का संस्मरण
- ६ -मलामिका-मात्कता और असुर भावाप-ना सुरा
- ६४१-रसामिका मादकता और दिव्यभावापन सोम
- ६४२-प्रत्येक अन्न में रसमलामक सोम सुरा भावो की सस्थिति
- ६४३-भूतदृष्टि से अनुप्राणिता-सुरा सोम द्वयी
- ६४४-प्राणदृष्टि से अनुप्राणिता सुरासोम द्वयी
- ६४५-अन्नगता मादकता से अनुगता तद्रा और निद्रा
- ६४६-अन्न की मादकता का सम-वय
- ६४७-वारुण मलयव की विष-रूपता और तद्द्वारा जीवनीय शक्ति का हास किंवा अभिभव
- ✓ ६४८-ऐन्द्र-रसभाव की अमृत-रूपता और तद्द्वारा जीवनीय शक्ति की अभिवृद्धि किंवा अभिव्यक्ति
- ६४९-प्रजापति का अपूर्व शिप और कण्ठ स्थित विषय त्र
- ६५ -विषयन्त्र के द्वारा मुक्तान्न के विष एव अमृत भाग का विभाजन
- ६५१-विषय त्रानुग्रह और मानव की अन्न गत विष से रक्षा
- ६५२-पतन ज भा-तन्द्रा आलस्य आदि विष प्रभावों का समन्वय
- ६५३-मलामक-सुरारूप विष
- ६५४-रसामक-सोमरूप-अमृत
- ६५५-जीवनविधातक सुरारूप विष
- ६५६-जीवनसरजक सोमरूप अमृत १२६१
- ६५७ अन्न की सुरा सोमाविता-उभयरूपता का दिग्दर्शन
- ६५८-अनृत पाप्मा तम-सुरा (१)
- ६५९-अभिमाद्यन्निव हि सुरा पीत्वा वदति (२)
- ६६ -तस्मात् सुरा पीत्वा-रौद्रमना (३)
- ६१-यदस्य शमलमासीत् सा-सुरा अभवत् (४) १२६२
- ६६२-स्फिगीभ्यामेवास्य भामोऽस्रवत् सा सुरा अभवत् अन्नस्य रस (५)
- ६६३ अपा वाऽएव ओषधीना रस य सुरा (६)
- ६६४-अन्न सुरा (७)
- ६६५-प्रजापतेर्वा एते अ धसी-य-सोम-श्च सुरा च (८)
- ६६६-सय वै श्री-र्योति सोम (९)
- ६६७-एष वै सामो राजा-अन्नाद्यम् (१०)
- ✓ ६६८-एतद्वै देवाना परम अन्न यत् सोम (११)
- ६६९-एतद्वै परम अन्नाद्य-य-सोम (१२)
- ६७ -अन्न वै सोम (१३)
- ६७१-प्राण सोम (१४)
- ६७२-आप सोम-सुत (१५)
- ६७३-सौम्या ओषधय (१६)
- ६४ सुरा और सोम-नामक विरुद्ध प्रायों से कृतमूर्ति अन्न
- ६७५-उभयप्राणामक अन्न की आहुति से वश्वानराग्नि का प्रज्वलन
- ६७६ जातिभ्र शकर-दोष और तत्प्रवर्तिका सुरा (टि पणी)
- ६७७-मलिनीकरण-दोष और तत्प्रवर्तक सीधु (टि)
- ६७८-सङ्करीकरण-दोष और तत्प्रवर्तक आसव (टि)

६७६-ब्राह्मणो मदिरा पीवा ब्राह्मण्यादेव हीयत टि)	१२६२
६८-गौडी पृथी मा वी रूपा सुरात्रयी (टि)	
६८१-सुरा व मन्मन्नानाम् (टि)	
६२ पाप्मा च मलमुच्यते (टि)	
६८३-तस्मात् न सुरा पिबेत् (टि)	
६८४-अन्नामक वैश्वानराना न का ही नाद श्रुति स्वराभिका सङ्गीतप्रतिष्ठाभामिका प्रवक्त क व	१२६३
६८५ विशेष दृष्टिबिन्दु	
६८६-सङ्गीत का यज्ञनामक मयभाग	
६८७-मयभाग का अन्नमलामक सुराप्राण से सम्बन्ध	
६८८-सङ्गीत का स्वराभिक अमृतभाग	
६८९-अमृतभाग का अन्नरसामक सोमप्राण से सम्बन्ध	
६९-सुराभाव और सङ्गीतानुगत पार्थिव- क्षरा मक व्यञ्जन	
६९१-सोमभाव और सङ्गीतानुगत सौर- अक्षरा मक-स्वर	
६९२-अन्नपरम्परानुगत वक्तव्यनि कष	
६९३-सोमरसामक-स्वरत व	
६९४ स यदाह स्वरोऽसीति सोम वा एतदाह । एष वै सोम-सूर्यो भूत्वा असुष्मिल्लोके स्वरति । तत् यत्- स्वरति-तस्मात्-स्वर । तत् स्वरस्य स्वरत्वम्	
६९५ गोपथवचन का अक्षराथ समन्वय	
६९६-पारमेष्ठ्य सोम की दाह्यरूपता	
६९७-सौरसावित्राभिन की दाह्यरूपता	
६९८-कृ णाभावा मक पारमेष्ठ्य सोम	
६९९-ज्योतिर्विहीन सावित्राभिन	
१ -सोमाहुतिरूप अग्निहोत्र	

१	१-सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्	१२६३
	२-व योतिषा वि तमो ववर्थ	
	३-सौरप्रकाशा मक रश्मिमय साममण्डल	
	४-स्वरसाम का सस्मरण	
	५-विश्वाचकार का निवक्त क सोम	
	६-दृथभता सुरा और इथभत सोम	१२६४
	७-मलामिका दोषपूर्णा मादकता की प्रवर्तिका सुरा	
	८-रसामिका गुणाविता मादकता का प्रवक्त क सोम	
	९-मृतप्राणी का शव-शरीर और उसका सोमशान्य व	
	१-पवमान सोम और शुचिता	
	११-सोम का अभाव और दौर्ग य	
	१२-क यादग्निप्रिय सुरा मक शव-ग घ	
	१३-सुराजनित मलीमस भौतिक दुर्गघि मल किटादि-दोषों का निवक्त क पवित्र गाङ्ग य-सोम	
	१४-तप्ततनु और गाङ्ग य सोम	
	१५-अतप्ततनु और मलामिका सुरा	
	१-सोम और सुरा के आधिदैविक चिरतनेतिवृत्त का पारिभाषिक सम वय	
	१७-सोम और सुरा-त वों के आधिदै विक-स्वरूपानुपात्त से आध्यामिक स्वरूप-का सङ्घिततम-समन्वयोपक्रम	
	१८-अध्या मसस्था और उसके सुप्रसिद्ध आमा बुद्धि मन शरीर नामक चार पव	
	१९-बुद्धिपव और त प्रभव-सूत्य	
	२-मन पव और त प्रभव च द्रमा	
	२१-शरीरपव और त प्रभव भूपिण्ड	
	२२-सौरी-बुद्धि	
१	२३-चाद्र-मन	

- १ २४ पार्थिव (भौम) शरीर १२६४
 २५-दिग्देशकालातीत तुरीय आ मतव
 २६ आ मा और बुद्धि का एक स्वतंत्र युग्म
 २७-मन और शरीर का एक स्वतंत्र युग्म १२६५
 २८-सोममय मन और आधिदैविक सोम तव
 २९-सुरामय शरीर और आधिदैविक सुरातत्व
 ३ -मन का प्रभव सोमामक चन्द्रमा
 ३१-शरीर का प्रभव आपोमय पार्थिवप्राण (आप पुरुषवचसो भवन्ति)
 ३२ वारुण अप्तव और आप्य वारुण सुराप्राण (वारुणी)
 ३३-सुरा और सोम के साक्षात् प्रतीक आध्यात्मिक सुरा और सोम
 ३४-सोमामक मन की विभिन्ना अवस्था द्वयी
 ३५ इन्द्रियभोगामक-फलकामुक मन
 ३६-मनोज्योति का अभिभव
 ३७ भूतामा के बधन कारण का समन्वय
 ३८ बुद्धियुक्त बुद्धियोगनिष्ठ मन का अनासक्तत्व
 ३९-भूतामा के बधन विमोक-का समन्वय
 ४ -सौरी बुद्धि से युक्त नियन्त्रित सत्त्वमन
 ४१-सौरी बुद्धि से विद्युक्त अनियन्त्रित तमोमन १२६६
 ४२ माल्यदोष का सिंहावलोकन
 ४४-बुद्धि का सहजगुणामक घृति तत्व
 ४५-धिय और बुद्धि
 ४६-स्थिरता और घृति
 ४७-नितरा स्थिति और निष्ठा
 ४८-निष्ठा और नै ठक
 १ ४९-निष्ठया हि प्रतिष्ठा स्यात्

- १ ५ म ये एकल एव स्थाता १२६६
 ५१-निष्ठा मक सूय
 ५२ नष्टिक सूय से प्रसूता बुद्धि की स्वत सिद्धा नैष्ठिकता
 ५३ दक्षवृत्तानुगत चन्द्रमा का परिभ्रमणामक चाञ्चल्य
 ५४ बुद्धि के निष्ठा मक स्थिरधम्म का समन्वय १२६७
 ५५-नक्षत्राधिपति चन्द्रमा का प्रतिक्षण विलक्षण परिवर्तन
 ५६-प्रकृत्यैव स्थिरधम्म से वञ्चित चन्द्रमा
 ५८-चान्द्रमन की चञ्चलतानुगता भावुकता
 ५९-क्षणे तुष्टा क्षणे रुष्टा रूपा चान्द्री मनोवृत्ति
 ५९ बुद्धिनियंत्रण से पराह मुख स्वच्छन्द मन
 ६ मनोवशवर्ती मानव की अस्तव्यस्ता भावभङ्गिमा
 ६१ मनोराज्ये विचरणशील भावुक मानवों की अस्थिरवृत्तियों का स्वरूप दिग्दर्शन
 ६२-घृतिगुणविरोधी निष्ठाविरोधी गाम्भीर्य विरोधी भयानकतम मानसदोष
 ६३-मानसदोषरूप माव्यदोष
 ६४-सोमानुबधी मानस माल्यदोष
 ६५-गुण और दोष की सापेक्षता से अनुप्राणित आश्चर्यमय रहस्यामक विषय एव तसमन्वय प्रयास
 ६६-रसामक निवृत्तिप्रधानमन
 ६७-बलामक-प्रवृत्तिप्रधान मन
 ६८-सात्त्विक मन और तमोरूप मन
 ६९ शुक्ल चन्द्रमा और कृष्णचन्द्रमा
 ७ -ममनाभाव और उमनाभाव
 १ ७१-गुण-दोष-विभूति का यथास्थान पारिभाषिक-समन्वय और सर्व सुस्थम्

- १ ७२-बुद्धिनिबन्धना स्थिरता लक्षणानि ठा
से अनुप्राणित ध्येय १२६७
- ७३-पुरुषाथकम्पनिबन्धन पौरुष
- ७४ गणध्वं अप्सरा प्राणनिबन्धन-सौम्य
मन से अनुप्राणित सङ्गीत
- ७५-सङ्गीत के द्वारा पौरुषानुगत धैर्य का
विकम्पन १२६८
- ७६-सङ्गीतानुगता घृतिवियुक्ति और तद
नुप्राणित माल्यदोष
- ७७-सुरा से समस्तुलित माल्यदोष
- ७८-आचारनिष्ठा मक-कृत यथानुगमन
- ७९-त वचि तनानुगत मनन
- ८०-धैर्य निबन्धन निष्ठापथ
- ८१-नि ठापथोपासक भारतीय ब्राह्मण
- ८२ नि ठापथविरोधी सङ्गीत
- ८३-तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्यत न
गायेत का सस्मरण
- ८४ मैत्रायणीश्रुति क द्वारा सुरा
माल्य धै य सोम आदि गुण
दोष विभूतिर्या का पारिभाषिक
स्पष्टीकरण
- ८५-पाप्मना आत्मान नेत् सृजा इति
- ८६ माव्यदोषापेक्षया भी भयानकतम
आग्लादोष
- ८७-भागव सोम और मन
- ८८-भागव वरुण अपतव और शरीर
- ८९ क्षारभावापन्न वारुण प्रपेय अणवसमुद्र १२६९
- ९०-प्रमूषवराह और पार्थिव परमाणु सघठन
- ९१-परमाणु का सघठन और भूपियड
- ९२ वरुहभगवान् के द्वारा पृथिवी का उद्धार
- ९३-भूपियड के स्वरूप निर्माण का
तार्किक सिंहावसोकन
- ९४-मोक्ता-सौम्य-मन और पुरुषभाव
- १ ९५-सौम्य आप्य शरीर, और स्त्रीभाव
- १ ९६-पुमान् वै सोम (तै) १२६९
- ९७-स्त्री सुरा (तै)
- ९८-ऋतव का पारिभाषिक सस्मरण
- ९९-स यतव का पारिभाषिक सस्मरण
- १००-स य ऋतेऽधायि
- १ ऋत सत्येऽधायि
- २-मन और शरीर का ऋत प्रधान व
- ३ ऋत का ऋतधनव और तद्रूप
पारिभाषिक अर्द्धतव
- ४-सद्धनप्राण की पारिभाषिकी असद्
रूपता
- ५ स य वै श्री योति सोम
- ६-अर्द्धत पा मा तम सुरा
- ७-ऋतसोमामक च द्रमारूप गधव १२७
- ८ ऋत आपोमयी पृथिवीरूपा अप्सरा
- ९-च द्रमा और पृथिवी का युग्म
- १० मन और शरीर का युग्म
- ११-सोम और सुरा का युग्म
- १२ ग धव और अप्सरा का युग्म
- १३-मानसिक-शारीरिक कामभोग-हास
परिहात आमोद प्रमोद गध-सुगध
मिथुनभाव क्रीडा आदि निष्ठाविरोधी
विवक्त और त समथक-शास्त्रीय वचन
- १४-गधेनैव च रूपेण च गधर्वाप्सर
सश्चरन्ति (१)
- १५-योषित्कामा वै गधर्वा (२)
- १६ स्त्रीकामा वै गधर्वा (३)
- १७-सोमो गधाय (४)
- १८-गघो मे मोदो मे प्रमोदो मे
तन्मे युष्मासु (५)
- १९ अपद्रव गधर्वाप्सरोभ्यः प्राय
च्छत् (६)
- ११२ गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य
प्रजाया वा प्रजास्वावेशते (७)

- १२१- गव इत्यप्सरस उपासते (८) १२७
 २२-किं नु तेऽस्मासु अप्सरस्तु इत ?
 हासो मे क्रीडा मे मिथुनम्मे (९)
 २३-सुरा और सोम का शरीर-मनो
 निबन्धन आ यामिक-स्वरूप और
 तसम वय
 २४-पार्थिव पारिभाषिक इरारस का स्मरण
 २५-वारुणा विमोहन आसुरधम्म
 ६-पार्थिव इरारस की मादकता
 २७ पार्थिव इरारस से अनुप्राणिता सुरा
 २६-पार्थिव अन्न का सुरा सोमा मन्व
 २८-मदप्रवर्तिका रा यस्या सा मदिरा
 ३ आवरणात्मिका तमोमयी निद्रा तद्रा
 आलस्य दीघसूत्रता भय क्रोध-आदि
 आसुरभावों की प्रवर्तिका सुरामिका
 मोहमदिरामिका-योगमाया और तद्
 द्वारा जगद्धिमोहन १२७१
 ३१-आप्य-वारुण-उमादभावों की पारि
 भाषिकी सज्ञा और आ ला नामक
 महान् दोष
 ३२ आ ला शब्द का धातु प्रकृति प्रय
 यादि निबन्धन समन्वय
 ३३-लोक-भवहारानुगता-स्वस्थता और
 प्रकृतिस्था शब्दद्वयी
 ३४-मानव की अध्या मसस्था और पुरुषभाव
 ३५- और प्रकृतिभाव
 ३६-मानवीय पारिभाषिक पुरुष
 ३७-मानवीया पारिभाषिकी प्रकृति
 ३८-पुरुषनिबन्धना पारिभाषिक की स्वस्थता
 ३९-प्रकृतिनिबन्धना पारिभाषिकी प्रकृति
 स्थता
 ४ पुरुषरूप आमभाव और स्व
 ४१- स्व स्वरूपानुगता स्थिति और वस्थता
 ११४२-स्वस्थ मानव की स्वरूप-परिचय

- ११४३ प्रकृतिस्थ मानव की स्वरूप परिभाषा १२७१
 ४४-आमप्रसाद और बौद्धिकी निष्ठा
 ४५ आ मानुगता शान्ति
 ४६-बुद्धयनुगता तृप्ति
 ४ मनोऽनुगता तृप्ति
 ४८ शरीरानुगता पुष्टि
 ४९-तृप्ति से समाविता पुष्ट का पारिभाषिक
 समन्वय
 ५ -आ मानुगता शान्ति और स्वस्थिति
 ५१-बुद्धयनुगता तृप्ति और स्वस्थता
 ५२-मनोऽनुगता तृप्ति और परस्थिति
 ५३-शरीरानुगता पुष्टि और प्रकृतिस्थिति
 ५४-प्रसादगुणावित-सविदभाव
 ५५ प्रसादगुणात्मिका आनन्दस्वरूपानि यक्ति
 का स्मरण
 ५६-लोकजीवन निबन्धन मङ्गलपर्व और
 हर्षोक्तासपर परा
 ५७-प्रसादगुण का अभिभव और तत्प्रयुक्ता
 हानि १२७२
 ५८-आमशक्त की क्षीमरूप में परिणति
 ५९-(क) मानसिक सवप्रम की भोगासक्ति
 रूप में परिणत
 ५९-(ख) शारीरिक पुष्टि की क्षयरूप में परिणति
 ६ -सामुद्र-वारुण-महान्-दोष का आग्ला
 रूपत्व
 ६१-सुरापी आग्लामानव
 ६२-सुरानुगत आ लादोष
 ६३ आ ग्लादोषानुगत पारिभाषिक-समन्वय
 ६४-सर्वविनाश का सूचक आड उपसग
 और आग्लादोष
 ६५ आसमतात् ग्लानरूप आग्लादोष
 ६६-शास्त्रात्मिका आचारनिष्ठा के द्वारा
 उभयदोष निवृत्ति का पथप्रदर्शन
 ११६७-आचारात्मिका निष्ठा के कर्म भक्ति
 ज्ञान रूप तीन सुप्रसिद्ध प्रक्रम

- ११६८-आचारधर्म के शैथिल्य के असुकर
कारणों का स्वरूप दि दर्शन १२७२
- ६६-आचारधर्म की अभिभूति और
शेषभूत अनाचार
- ७ सङ्गीत के प्रति हमारा आत्यन्तिक
आन्तर भाव कि-तु ?
- ७१-मानसिक सोमभाव तथा शारी
रिक सुराभाव से अनुप्राणित
माल्ख्य और आग्लादोषों से
हृत्कम्प और तत्प्रवर्तक सङ्गीत
- ७२-अकिञ्चि कर हमारी मायता और
सङ्गीत
- ७३ महर्षियों की नैष्ठिकी दृष्टि का
सस्मरणमात्र
- ७४-सङ्गीत का निष्ठा क क्षेत्र म
प्रवेश निषिद्ध आन्तर वेदाज्ञा
- ७५-आग्लादोष के पारिमाषिक स्वरूप के
सम्बन्ध में गोपथश्रुतिवचन का
सस्मरण १२ ३
- ७६-आ मञ्जुसिद्धि सम्मत सांस्कृतिक कोश
का अग्र्यतम चिन्तक नैष्ठिक ब्राह्मण
- ७ -मन शरीर सम्मत माल्ख्य तथा
आग्लादोषाकात अतएव कास्वाली-
कृत इ थभूत-नत्त न-गायन वाद्यात्मक
सङ्गीत और तन्निर्घना लोक
भावुकता
- ७८-तत्पररीम् ताक-धिनाधिन डिड डा
डिड-डा-डा आदि भावसमन्विता
सङ्गीत परम्परा और नि ठा की
स्वरूप विस्मृति
- ७९ ज्ञानात्मिका आचारनिष्ठा और
साज्जन का आत्मपव
- ११८-कर्मोपमा आचारनिष्ठा और
मानव का बुद्धिपव
- ११८१-आ मानुगत मननामक अनुशील
नामक ज्ञानप्रधान सूक्ष्मतम आचार १२७३
- ८२ आचारनिष्ठा में सङ्गीत का प्रवेश
आत्यन्तिकरूपेण निषिद्ध
- ८३ बुद्धयनुगत आचारणामक कम्म
प्रधान आचार और तत्रापि मनो
व्यासङ्ग के प्रवेश का निरोध
- ८४-मनोनिबन्धन भक्तिमार्ग का सस्मरण १२७४
- ८५ मानसिक भक्तिफण्ड के अनुबन्ध से
प्रचण्ड मर्यादा सूत्र के नियम
द्वारा ईश्वरभक्ति समन्वित शास्त्रीय
सङ्गीत का समादार एव असुकर पर्वों
सर्वो यज्ञादि कम्मविशेषों के लिए
ही तदनुमोदन
- ८ -भारतीय प्राय शास्त्रीय-सङ्गीत की
प्रमुख आधारभित्त इश सस्मरण
- ८७-इ थभूत शास्त्रीय सङ्गीत का समादार
- ८८-चीणावादनत द्वारा भगवती शारद
- ८९ डमरु वादक भगवान् शङ्कर
- ९ -विश्वसहारक-ताण्डवचर्य के प्रवक्त क
महाकालेश्वर
- ९१-वेणुवादक भगवान् नन्दनन्दन
- ९२-तुम्बुरु तान निम न ग-धर्वर्षि-तुम्बुरु
- ९३-ब्रह्मनादसमाप्तुत-ना-धर्वर्षि-नारद
- ९४-धम्मविरपेत्त ईश्वरभावना से अल
सृष्ट आन के नत्त न-भाषन वादन
रूप मन शरीर निबन्धन व्यासङ्गीतों
का भारतीय-संस्कृति के नैष्ठिक-
प्राक्षण में आत्यन्तिकरूपेण प्रवेश
निषिद्ध
- ११९५-गोपथश्रुति के द्वारा तथाविध
सङ्गीतानुगमन का ब्राह्मणप्रज्ञ के
लिए प्रचण्ड विरोध

- ११६-स्वरभावानुब धी मण्डलामक साम के प्रसङ्ग से उपात्ता सङ्गीत चर्चा १२७४
- ६७-वक्त मानयुगानुब धी मन शरीरानुगत आमहुद्विशून्य अतएव माल्क्य तथा आग्ना-दोष समाक्रान्त दोषों से समाप्तुत सास्कृतिक आयोजनों के अकाण्ड ताण्डवों का न नचित्रण
- ६८-प्रकृतिमिद्ध प्रकृत सामामक हिङ्कार का सस्मरण
- ६९-मण्डलामिका सामसम्पत्ति और तदनुबन्धिनी यज्ञपरिपूरणा
- १२ -नादामक स्वर के द्वारा शब्दाभिव्यक्ति १२७५
- १२ १-हिङ्कार समवयोपक्रम
२-स्वरसंधानामक हिङ्कार
३-हिं हि हु हु और हिङ्कार
४-हिङ्कार-नाम सम वय
५-प्राकृतिक-यज्ञ और तदावश्यक संपत्ति रूप साम
६ सप्रणव हिङ्कार का समवय
७-प्राकृतिक सामतव का सप्राहक हिङ्कार
८-हृद्यभाव का स्वरूप समपक हिङ्कार
९-अनिरुक्तभावा मक हृद्य हिङ्कार
१ -श्रुड मंत्र का आदि और तदनुप्राणित हिं हिं ओम् रूप सप्रणव हिङ्कार
११ हृद्यभाव का सप्राहक हिङ्कार
१२-मण्डलभाव का सप्राहक ओङ्कार
१३ सप्रणव हिङ्कारोच्चारण का सोपपत्तिक समवय
१४-नादामक प्राण सम्ब धी हिङ्कार
१५-नादप्राण की उत्तरा स्था और हिङ्कार
१२१६-नासास्थानस्थित हिङ्कारप्राण और जीवनलक्षण श्वास प्रश्वास

- १२१ -नासाच्छिद्र का अवरोध और सानु नासिक हिङ्कार १२७५
- १८-श्रुड मन्त्र और वाकतव
- १९ सामिधेयों का अनुवचन और दि-याग्नि का आगम
- २ -योषा वृषा का दा पयभाव और प्रजनन कम्म
- २ -दैवा मप्रजनन की कामना और हिङ्कार पूर्वक सामिधेयी श्रुचाओं का अनुवचन १२७६
- २२ हिङ्कारपूर्वक अनुवचन की द्वितीया उपपत्ति का सम वय
- २३-हिङ्कार रूप वृषाप्राण
- २४-श्रुक रूप योषाप्राण
- २५-अनिरुक्त प्राणत व
- २६-निरुक्ता वाग्दवी
- २ -प्राण का प्रातास्वकरूप और अनिरुक्ता
- २८ उपाशुरूप से हिङ्कारानुगमन और प्राण की अनिरुक्ता का सस्मरण
- २९-उपाशु उच्चारणोपपत्ति समवय रूपा तृतीया उपपत्ति
- ३ -मत्रोगत प्र आ सम् अनु इत्यादि उपसर्गों से अनुप्राणित तास्विक-प्रयो जनों का दिग्दर्शनोपक्रम
- ३१-आगमनभाव और आङ् उपसर्ग
- ३२ गमन (प्रयाण) भाव और प्र उपसर्ग
- ३३-उभयलोक वस्तुसङ्गमन और सम् उपसर्ग
- ३४-वस्तुपृष्ठानुगत सम्ब ध की अभि-व्यक्ति और अनु उपसर्ग
- १२३५-महारम्भ-उपसर्गभाव

- १२३६—सामिधेनी ऋचाओं के उपसर्ग—निबन्धन
प्रवृत्ती-श्रावती समन्ती अनुवृत्ती आदि
नामों का सस्मरण १२७६
- ३७ प्रकृत दशपूर्णमासयज्ञ (इष्टि)
और पार्थिवग्नि में सावित्ररूप दिया
ग्नि का आधान
- ३८—सावित्राग्नि की गायत्राग्निरूप में
परिणति का रहस्या मक सम वय
- ३९—प्राणामक सौरतेजोमय सावित्र
तव का स्वरूप दि दशन १२७
- ४ भूपिण्डरूपा गौ
- ४१—गौ के गभ में प्रतिष्ठित सौर तेज की
गायत्रीरूप में परिणति
- ४२—गायत्री शब्द का औपासनिक निवचन
- ४३—गायत्री तव के विभिन्न दो विवर्त्तों
का सस्मरण
- ४४—पार्थिव-गायत्रीरूपा भूतगायत्री
- ४५—सौर सावित्र तेज का प्रतिफलन और
योतिम्मयी प्राणगायत्री
- ४६—सौर-तेजोमयी गायत्री और सामि
धेन्यनुवचनकम्म
- ४७—तेजोमयी सौर-गायत्री के श्रावतर
दो महिमामय विवर्त्त
- ४८—छायामयी गायत्री (१)
- ४९—प्रकाशमयी गायत्री (२)
- ५०—पार्थिवी भूतगायत्री (१)
- ५१—दिव्या ज्योतिम्मयी देवगायत्री (२)
- ५२—दिया छायामयी पितृगायत्री (३)
- ५३ गायत्री से अनुप्राणित रहस्यामक
एति भाव और प्रति भाव
- ५४—एक प्रासङ्गिक प्रश्न और त समा
धान प्रयाम
- १२५—आगमना मक आ भाव और
सावित्री

- १२५६—गमना मक प्र भाव और गायत्री १२७८
- ५७—महवपूर्णा विप्रतिपत्तिका स्वरूप
विश्लेषण
- ५८—आगमनभाव और सौर सावित्रतेज
- ५९—गमनभाव और सौर गायत्रतेज
- ६०—सूर्यानुगत सहजसम्बन्ध और
सावित्री
- ६१—पृथिव्यनुगत सहज सम्बन्ध और
गायत्री
- ६२—गायत्री प्रयोगानुगता विप्रतिप्रति का
निराकरण
- ६३ छन्द देवता स्वर युक्ता मन्त्रवाक का
आकर्षण और एति भाव
- ६४—यज्ञनिबन्धन पारिभाषिक एतिप्रति
भाव और विप्रतिपत्ति का समवय
- ६५ एति प्रति भाव और आधिदैविक
गायत्रभाव का समावेश
- ६६—श्वास प्रश्वासा मक उदान और प्राण
- ६७ एत प्रेति भावनिबन्धना द्वितीया
उपपत्ति का समवय
- ६८—रेत सेकानुगत एति प्रति भाव और
गायत्री
- ६९—तृतीया उपपत्ति का ताविक समवय
- ७०—यज्ञपुरुषानुबन्धी आमभाव और
शारीरभाव का सस्मरण १२७९
- ७१—मोग्यशरीर और भोगायतन
- २—आ मा का अ तर्वित्त
- ३—आ मा का बर्हिर्वित्त
- ७४ वित्तामक पशुभाव
- ७५—पशुसर्गानुबन्धी एति और प्रतिभाव
- ६ बहिवित्तलक्षण पशुसपत्ति का समग्रह
- ७७—अ तर्वित्तलक्षणा शरीरसम्पत्ति का समग्रह
- १२७८—दवामा में पशुसम्पत्ति का आधान
और एति प्रति की चतुर्था उपपत्ति
का समवय

- १२७६ बहिर्विचलक्षणा ब्राह्मा पशु न पत्ति
का स्वरूप दिग्दशन ७६
- ८ भूत भौतिक पदार्थों से अनुप्राणित
स भूति और विनाशधम्म
- ८१-विश्व और ससार
- ८२-दर्शनविशेष का क्षणिक वाद
- ८३-गतिभाव के गम में समाविष्ट
आगतिभाव
- ८४-गतिभावानुबन्धी विनाशधर्म
- ८५-आगतिभावानुबन्धी सम्भूतिधम्म
- ८६-सम्भूति और विनाश का सह
समवय
- ८७-चल और विनाशभाव
- ८८ अचल और स भूतिभाव
- ८९-चलाचलमिदं समम्
- ९ -चलभाव और प्र ति
- ९१ अचलभाव और एति
- ९२-आदान विसर्गामक एति प्र ति भाव १२८
- ९३ विश्व सना मक क्षरणधर्म से प्रजापति
का विश्व सन
- ९४-क्षतिपूरक भैषज्ययज्ञ
- ९५-अचश्चरति और सौररश्मियों का
प्राणन-अपानन-यापार
- ९५-प्राणन अपानन-गति का उदाहरण
के द्वारा स्वरूप समन्वय
- ९७-एति प्र ति भावापन्न-गायत्र प्राण की
विश्वव्यापकता का समवय
- ९८- गायत्री वा इदं सर्वम्
- ९९-एति प्र ति भावामक अनुवचन की
पाचवी-उपपत्ति
- १३ -आधिदैविक आ याभिक आधि
भौतिक यज्ञके समवय से अधियज्ञ
(मानवकृत वैधयज्ञ) का स्वरूप
निर्माण

- १३ १-एति प्र ति रूपा लोकसमृद्धि का
पारिभाषिक-सम वय १२-१
- २-सामिधेनी कर्मानुगत अवातर प्रश्नों
की वज्ञानिकी उपपत्ति का समवयोपराम
- ३-सामिधेयनुवचन कर्मानुबन्धिनी
प्रथमा ऋचा का पावन-सस्मरण (१)
- ४-ऋतुपरक प्रथममन्त्रार्थ-समवय
- ५-अग्निपरक प्रथममन्त्राथ समन्वय
- ६-अग्निपक्ष की रादान्तता और
प्रथममन्त्र
- ७ वाज अभिद्यय हविम्मन्त घृताची
रूप यज्ञाग्नि के स्वरूप सरक्षक भाव
- ८-वाज और अन्न
- ९-वाज का पारिभाषिक विशेष अथ
- १ -पारमे ऋचा त वत्रयी
- ११-वाजा मक पारमेष्ठ्यमोम
- १२-सौमापहरण करनेवाली गायत्री
- १३- वीय्य व वाजा
- १४-चाद्रसोम और हवियज्ञ
- १५-ज्योतिष्मय सोम और ज्योतिष्ठोम यज्ञ
- १ -वाजसौमानुगत-वाजपेययज्ञ
- १७-ब्रह्मणस्पतिरूप वाजा मक सोम
- १८-वाजपेय यज्ञामक बृहस्पतिसवका
सस्मरण
- १९-बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति
- २ -इन्द्र उत्तरेषा प्रथम
- २१ बृहस्पतिग्रह और क्षुधकबधु
- २२-ब्रह्मामक ब्राह्मण और पारमेष्ठ्य
बृहस्पति
- २३-सौर क्षत्रामक इन्द्र
- २४-ब्रह्म व वाजपेय
- २५-वाज और वाजी प्राण
- २६-अश्वजातिविशेष और वाजी
- १३२७-वाजरस की सवयापत्ति का पारिभाषि
समवय

१३२८ वाजो व पशव (१)	१२८२	१३५५-बर्हि आप और वेनत वका सस्मरण १२८४
२९-ओषय खलु व वाजा (२)		५६ दि याग्निगत पितर और अग्नि वात्ता
३ ऋतमो व वाजिन (३)		५-सोमगत पितर और सोमसत्
३१-अग्नि समद्ध क वाजरस		५८-भलोकगत पितर और बर्हिषत्
३२ पारमेष्ठ्य वाज के द्वारा ब्रह्माग्नि का समद्ध न		५९-पार्थिव अपत व तथा दि य अग्नि त व के समवय से पार्थिवप्रजा का समुद्भव
३३-तौरवाज के द्वारा सम्व सराग्नि का प्रज्ज्वलन		६ बर्हि शर्दों की अनेकधा यागि
३४ चा द्रवाज के द्वारा ओषयग्नि का पोषण		६१-अग्नि सर्वा देवता का सस्मरण
३५-ओषधिवाज के द्वारा शरीराग्नि का स तपण		६२-अग्नि क म का वैधयज्ञ की दृष्टि से सम वय और म त्राथ स्पष्टीकरण
३६ अग्निस्वरूपरत्नक वाजत व	१२८३	६३-आड उपसग और आवती ऋचा १२८३
३७-पक्षानिरूप अभिद्यव		६४ ब्राह्मण की तम कण्डिका का नि कष
३८ अवयवरक्षानुगता अवयवी की रक्षा		६५-प्र लौर परागभाव
३९-अभिद्यु नामक पर्वान्गियों के द्वारा अवयवी अग्नि का स्वरूप रत्नक व		६६-आ और अर्वांगभाव
४-हवि से अनुगत ओषधिरूप अन्न और भौतिक शरीर		६७-प्रवो वाजा अभिद्यवे
४१-अन्न और भत का मर्त्यपशुव		६८-अन्न आयाहि वीतये
४२-हविष्मत् और पशु		६९-एक प्रासङ्गिक मत और उस का अवज्ञानिकत्व
४३-अन्तरिक्षस्था आज्यमात्रा		७ श्रुति के शर्दों में मन्त्र के वैज्ञानिक अर्थ का स्पष्टीकरण
४४ आज्याहुति और अग्नि की समिद्धता		७१ अन्नस पत्ति पशुस पत्ति वीय्य सम्पत्ति एव भोग्यशक्ति चतु टयी का सस्मरण
४५ जुहू-स्थानीय घृताची		७२ अन्नस पत्ति और वाज ३ पशुसम्पत्ति और हवि मत्
४६ स्वगसुखार्था (सुम्नुद्यु) यजमान		७४ अभिद्यना मक पक्षभाव
४७-प्रथम सामिधेनी मन्त्राथ समन्वय		७५ घृताची पद और अग्निवी र्या मक अन्नादवी य
४८-द्वितीय सामिधेनी मन्त्र का पावन-सस्मरण		७६ मन्त्रोपात्त अयत्त-रहस्यपूर्ण घृताची पद
४९-याशिकी परिभाषा और भलोकरूप बर्हि	१२८२	७७ पुरातन मानुषेतिवृत्त के द्वारा घृताची पद का सम वयोपक्रम
५-आग्नेय सौम्य समशीतो णापतर		१३ ८ वेदशास्त्र सम्मत मानवतिवृत्ता का सर्वा मना समथन
५१-अन्नपितरों का सस्मरण		
५२ सूयलोकोपलक्षित उ णभाव		
५३-च द्रलोकोपलक्षित शीतभाव		
१३५४ भूलोकोपलक्षित समशीतोष्णभाव		

१३७६-सूय भू ब्रह्मा के मानसपुत्र विवस्वान् १२८५

८-सूयवश के आदिप्रवर्क विवस्वान्

८१-विवस्वान् के श्रद्धादेव और यम नामक औरसपुत्र

८२-वैवस्वतमनु का सस्मरण

८३-मनुवैवस्वतो राजे याह तस्य मनु या विश (प्रजा)

८४-भारतवष के प्रथम सम्राट् श्रद्धादेवमनु

८५-उत्तरकुरुक्षेत्र और प्रथमसम्राट् की आवासभूमि

८६-प्रथमसम्राट् का भारत से साक्षात् सम्बन्धभाव १२८६

८७-प्रथमसम्राट् के इक्ष्वाकुप्रमुख-दस पुत्र एव इला नाम की कन्या

८८-सूयवशवर्क भारतीय सम्राट् इक्ष्वाकु

८९ चद्रवशप्रवर्तिका इला

९-सूयवशो पन्न महाराज निमि

९१-विदेहराय और अयो याराय का अभेद

९२-अयो याधिपति के कुलपुरोहित वसिष्ठ-महर्षि

९३ निमि के यज्ञिय पुरोहित महर्षि गोतम

९४-पारस्परिक अभिशाप और निमिकी भस्मावशेषता

९५-मथन के द्वारा निमिका पुनरुज्जीवन

९६-मथनानुगत मिथिभाव

९७-मिथिभावानुबन्धी माथव शब्द

९८- विदेव माथव

९९-विदेह माथव की भीषण प्रतिज्ञा और स्वतन्त्र-राय संस्थापन सकप

१४ -अग्निदेव का मुखरूप आहवनीय में स्तभन और अयो या का परियाग

१-पुरोहित-गोतम की सम्बोधन परम्परा और विदेह माथव का मौनवत १२८७

१४ २- तन्त्रा घृतस्नवीमहे का उच्चारण और माथन के मुख में अग्निका प्रवलन १२८७

३-अग्निप्रज्वलनस्थान और विदेह का स्वतन्त्र-रायनिर्माण

४ सदानीरा पथ्य त विदहरायकी याप्ति

५-सरस्वती क्षेत्र और सदानीरा

६ करतोया सदानीरा बाहदा नदी

७ शङ्ख और लिपित के धर्मानुबन्धी पावनचरित्र का सस्मरण १२८८

८-कुरही और गण्डकी

९ करतोया विलघनात् रूपा प्रायश्चित्सीमा

१ कोसलविदेहों की मयसीमा

११ पुरोहित गोत्रानुबन्धी क्षत्रियों के वनाहिक सम्बन्ध

१२ विदेह देश और ग्राज का तिरहुत

१३ मिथि मथु माथन और मैथिल

१४-आरयान के सक्षिप्त स्वरूप का विराम

१५- घृताया पद और अग्नि में प्रचण्ड वीथ्य का आधान

१६ वीथ्यमेवास्मिन् दधाति और महत्त्वपूर्ण घृताची पद का समवयो पराम १२८९

१७- देवाङ्गिगाति सुन्तुयु मात्रभाग का पारिभाषिक समवय

१८-अग्नि का महव प्रतिपादन

१९ अनिरुक्तभावोपपत्ता आग्नेयी ऋचा

२-अनिरुक्तभावोपपत्ति

२१- वीतये पदानुगत रहस्याथ का उपक्रम

२२-लोकसम्पत्ति के मूलाधिष्ठाता परमेष्ठी

२३-अपाप्रणयनकर्मोपपत्ति का सस्मरण

१४२४- प्राणा वा आप और आपो वै प्राण १२९

- १४२५- आपोमय प्राण
 २६- वागेव साऽऽयत
 २७ अम्म मरीची मर-आप का सस्मरण
 २८-अपतत्त्व की सबव्याप्ति के सम्बन्ध में श्रुतिवचन
 २९ आपोमय परमेष्ठी के सुप्रसिद्ध मनोता भृगु और अङ्गिरा
 ३-पारमेष्ठ्य समुद्र में अभियाप्त अग्निपुञ्जरूप धूमकेतु
 ३१-सहस्र धूमकेतु (टि)
 ३२ (क) सहस्रमपरे वदन्ति केतूनाम् (टि)
 ३२ (ख) किरण वक्रशिख विशिख ब्रह्मदण्ड विकच तस्कर आदि धूमकेतु
 ३३-एक धूमकेतु के द्वारा एक रोदसी त्रिलोकी (सौरब्रह्माण्ड) की अभियक्ति
 ३४ धूमकेतुरूप अग्निपुञ्ज का प्रथम प्रवग्य और तद्द्वारा सूर्यस्वरूप की अभियक्ति
 ३५-सत्य अग्निपिण्ड की अभिव्यक्ति
 ३६-गतिशील धूमकेतु
 ३७ धूमकेतु से उपन्न सूर्य का स्वस्थाने गतिशीलत्व एव परमेष्ठी के परितः सूर्य का परिभ्रमण
 ३८-सौरब्रह्माण्ड से पूर्वा स्थिति का सस्मरण
 ३९-श्रुत पारमेष्ठ्य समुद्र में प्रचण्डवेग से परिभ्रममाण गतिशील धूमकेतुरूप अग्निपुञ्ज
 ४-गतिविभेदानुगत धूमकेतु
 ४१-प्रतिबिद्गति का पारिभाषिक वैषम्य और गतिशील धूमकेतु
 ४२-केद्रानुगत-गतिवैषम्य से अनुप्राणिता समानगति
 १४४१ घटिकायन्त्रोदाहरण के माध्यम से वस्तुस्थिति का अशत स्वरूप समन्वय

१२९१

- १४४४-सयभावशून्य (केद्ररहित) श्रुताग्नि पुञ्जरूप धूमकेतु की सहज स्थिति का सस्मरण १२९२
 ४५-सूर्य के उपग्रहों का सममण्डला मक परिभ्रमण
 ४६-अग्निपुञ्जरूप धूमकेतुओं का विषम मण्डला मक परिभ्रमण
 ४७ त्रिंशत् सहस्रवर्षावधि से अनुप्राणित धूमकेतु परिभ्रमणकाल
 ४८-केद्रविरहित धूमकेतु का परिभ्रमणार म
 ४९-पारमेष्ठ्य वराहवायु के द्वारा सवरण और याति धम्म से केद्रनिर्माण का उपक्रम
 ५-अग्निपुञ्जखण्डों की प्रवग्यरूप में परिणति
 ५-प्रव यखण्डों से क्रमशः शनश्च बृहस्पति देवसेनाग्रह (१ ८) मङ्गल भूपिण्ड-बुध आदि ग्रहोपग्रहों की स्वरूपाभिव्यक्ति
 ५२ केद्रस्थित-अग्निपुञ्ज के आधारपर गतिवैषम्य से ग्रहोपग्रहों की स्वरूपाभिव्यक्ति
 ५३-सूर्यपुत्र शनश्चर
 ५४-विधि के अलातचक्र की परिभ्रमणलीला
 ५५-सूर्य से आयान्य ग्रहों की उपति परम्परा की उपक्रान्ति
 ५६-पारिपाश्वक-नामक सौरग्रहों का सस्मरण
 ५७-यज्ञप्रक्रिया और विश्वाभि यक्ति
 ५८-यज्ञप्रक्रियोपराम और विश्वविलयन
 ५९-अहरागम और विश्वाविर्भाव
 ६-रायागम और विश्वतिगोभाव
 ६१-धाता यथापूर्वपल्पयत् निव धन धारावाहिक-सनातनचक्र
 १४६२-न विश्वमूर्त्तौ रवषाम्यते वपु

- १४६३-दृष्टिपथानुगामी योतिम्मय उपग्रहो
का सूर्योपग्रहव १२६२
- ६४ अनुष्णाशीत भूपिण्ड की सूर्योपग्रह
स्व के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति
एव तन्निराकरण प्रयास
- ६५-स्व-योति परज्योति-रूप-योति
अज्योति-भेदेन योतिर्विवर्त्तो का
सस्मरण
- ६६ स्वत प्रकाशित योतिम्मण्डल और
तद्रूप स्व-योति भाव
- ६७-पारिभाषिक-सूर्य और स्व योति १२६३
- ६८-स्वाती चित्रा लुघक अभिजित्-आदि
स्वज्योतिधन नक्षत्रो का सूर्य व
- ६९-स्वातीरूप सविता
- ७ -अयप्रकाश से प्रकाशित वीध्र पिण्ड
और तद्रूप पर-योति भाव
- १-पारिभाषिक चन्द्रमा और पर
ज्योति
- ७२-शनश्चर के आठ बृहस्पति के चार
मङ्गल के दो भूपिण्ड का एक पर
योतिर्मय उपग्रह और तत्सख्या-
नुगत पारिभाषिक चन्द्रमा
- ७३-वीध्रधम्म की अभियक्ति और चाक
चिक्य
- ४ मृद्भाव की अधिकता और प्रकाश
रश्मियों के प्रसार का निरोध
- ५-रूप और योति भाव
- ७ -रूपामक योतिर्भाव और रूप
ज्योति
- ७७-चतुथ अज्योतिर्विभाग का स्वरूप
समवय
- १४७८-वायु चद्रलोकस्थ ग धवप्राण
अष्टविध चाद्र सौम्यजीव आदि का
अज्योतिम्मयव

- १४७९-पारदशकता के प्रतिबन्धक अत्रिप्राण
का सस्मरण १२६३
- ८-पृथिवी का पारम्पारक योतिर्भाव
और विप्रतिपत्ति का निराकरण
- ८१-ग्रहोपग्रहभाव के माध्यम से सस्मर
णीय सूर्य और पृथिवी १२६४
- ८२-सूर्य का प्रारम्भिक महतोमहीयान्
अलातचक्रत्व
- ८३-आज के त्रलोक्य विभाजन का आर
भ में अभाव और द्यावापृथिवी
का अभिन्नव
- ८४-हस्तस्पश समतुलित द्युलोका मक
सूर्य और आरम्भास्थिति का सस्मरण
- ८५- उमृश्या हैव द्युरास
- ८६ प्रवय भागानुब धी-ग्रहोपग्रहभावो का
दृष्टिभेद से स्वरूप सम वय
- ८७-प्राजापय मन का ज्ञानप्रधानत्व
- ८८-प्राजापया वाक का अथप्रधानत्व
- ८९-प्राजापय प्राण का क्रियाप्रधान व
- ९ -प्राजापया गति का अकरूप से
बाह्यावतान
- ९१-देवगति (प्राणगति) के माध्यम से
लोकविभाजन
- ९२-त्रिसंस्थप्रजापति का सस्मरण
- ९३-सृष्टिनिमित्तभूत अक्षरप्रजापति
- ९४-ब्रह्मलक्षणा स्थिति और इन्द्रलक्षणा
गति
- ९५-विष्णुलक्षणा आगति और गतित्रयी
से अभिन्न दृष्ट्याक्षर प्रजापति
- ९६-यक्षरामक एकाक्षरमूर्ति प्रजापति
- ९७-तानेतरेव त्रिभिरक्षरव्यनयत् और
गतित्रयी का समवय
- १४८८-श्रुति का वीतये पद और उसके
वी त ये रूप तीन अक्षर १२६५

- १४६६ लोकवितानविज्ञान—निब धन अज्ञा
ज्ञादविज्ञान का सस्मरण १२६५
- १५ -दवताओं के द्वारा त्रैलोक्य का
निर्माण और त सम्बन्ध में प्रश्न
- १५ १-प्रश्नसमाधानामिका इत प्रदाना
ह्य ते उपजीवति श्रुति का सस्मरण
- २-लोकानुगता अन्नस पत्ति और तत्
प्रदान द्वारा देवस तपण
- ३-पृथिवी अतरिक्ष्यौ रूप यज्ञरा
मक तीनों लोको की अज्ञानुगता
जीवनसत्ता और वीतये रूपा अक्ष
रत्रयी
- ४ यज्ञसम्पत्तिरूपा लोऽसम्पत्ति का वरी
यस्व
- ५-भारत नामक ब्राह्मण अग्नि से
प्राथना
- ६-अग्नि आयाहि वीतये का पारिभा
षिक समवय
- ७ गृणानो ह्यथादातये का पारिभाषिक
समवय
- ८-यजमान शब्द का पारिभाषिक अथ
समवय
- ९-यज्ञसम्पत्ति के भोक्ता वास्तविक-
यजमान
- १ -नि होता ससि बर्हिषि मन्त्रभाग
का पारिभाषिक समवय १२६६
- ११-क्रमप्राप्ता तृतीया सामिधेनी श्रुचा
का पावन सस्मरण
- १२ मन्त्रोपात्त वाजा पाद और तदुपल
क्षित त्रिवृत्त्वोमा मक भूलोक
- १५१३-मन्त्रोपात्त घताया पद और तदु
पलक्षित पञ्चदशस्तोमामक अत-
रिक्षलोक

- १५१४-मन्त्रोपात्त अभिद्यव पद और
तदुपलक्षित एकविंशस्तोमामक
द्युलोक १२६६
- १५-अग्नि आयाहि वीतये इ यदि प्रथ
ममन्त्र और पृथिवी का सग्रह
- १६-त वा समिद्भि हत्यादि द्वितीय
मन्त्र और अतरिक्ष का सग्रह
- १७-स न पृथुश्रवाय्यम् इ यदि तृतीय
मन्त्र और द्युलोक का सग्रह
- १८-मन्त्रोपात्त बर्हि पद और पार्थिवा
ग्निपव
- १९-मन्त्रोपात्त घतेन पद और अत
रिक्षानिपव
- २ मन्त्रोपात्त पृथु पद और दिया
ग्निपव
- २१-भलोकापलक्षित यज्ञाग्नि का आह्वान
और अ न आयाहि
- २२-इत एत उदारुहन् मूलक अङ्गिरा
अग्नि का सस्मरण
- २३ अर्चिषि भृगु सम्बभूव
- २४ अङ्गारेष्वङ्गिरा सम्बभूव
- २५ अथ यदङ्गारा श्रवशाता पुनरुददी
प्यत-अथ बृहस्पतिरभवत्
- २६-तेज स्नेह तवों का अतर्थांमामक
सम्मिश्रण और वस्तुस्वरूपनि पत्ति
- २७-अङ्गिरा के त्रिविध महिमा विवत्त
- २८ भृगु के त्रिविध महिमा विवत्त १२६७
- २९ स्नेदलक्षणा भृगुत्रयी का सकोचभाव
- ३ -तेजोलक्षणा-अङ्गिरात्रयी का विकास
भाव
- ३१-भृगुत्रयी और हृदयानुगति व
- ३२-अङ्गिरात्रयी और परिध्यनुगति व
- ३३-अङ्गरसामक अङ्गिरा
- १५ ३४-तरुमादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वरित्तृति

१५३५-अङ्गिरोऽग्नि-निबन्धन भूत और प्राण	१२६७
३६-प्रयत्नदृष्ट अङ्गार और भतामक अङ्गिरोऽग्नि	
३-भतप्रतिष्ठारूप तवभाव और प्राणामक अङ्गिरोऽग्नि	
३८-प्राणामक अङ्गिरा ऋषि	
३९-तप्राणपरीक्षक- तद्यशोनामावित अङ्गिरा नामक मानव महर्षि का सस्मरण	
४-अन्नागमन से प्राणोद्दीप्ति और परम्परया ससिद्ध- भूतरक्षाकर्म	
४१-समिद्धमिद्धतमङ्गिरस ऐघत का समन्वय	
४२-सामिधेनी पद का समन्वय	
४३-समिद्ध अग्नि में वीर्याधान और सामिधेनीपद	
४५-यविष्ठ्य रूप अग्नि का प्रातिस्विक नाम	
४६-अजर अमर अतएव नित्ययुवा यविष्ठ्य अग्निदेव	
४७-समिधन प्रक्रिया के इतिहास का सस्मरण और मन्त्रार्थ-समन्वय	
४८-अन्तरिक्षलोक-सम्पत्ति का समग्र	१२६८
४९-क्रमप्राप्त चतुर्थी सामिधेनी ऋचा का पावन-सस्मरण	
५-न्य अय इद और पृथिवीलोक	
५१-एष और अन्तरिक्षलोक	
५४-असौ अद और द्युलोक	
५३-पृथु और द्युलोक	
५४-श्रवणीय द्युलोक	
५५-सवसुलैकसाधक द्युलोक	
५६-अवाय्य द्युलोक	
१५५७ सुवीर्य-द्युलोक	

१५५८-क्रमप्रा त पञ्चमी-सामिधेनी ऋचा का पावन सस्मरण	१२६९
५९-ताप और अग्नि का प्रातिस्विक धम्म	
६-प्रकश और इद्र का प्रातिस्विक धम्म	
६१-द्रसम्बधानुगामी चद्रमा	
६२-तापविरहिता चन्द्रिका	
६३-ताप आर प्रकाश का पृथगधम्मव	
६४ यज्ञाधिपति वृषा इद्र	
६५-वृषा इद्र से मन्विता यज्ञाग्नि की वृषारूपता का समन्वय	
६६-क्रमप्राता ६ ठी सामिधेनी ऋचा का पावन सस्मरण	
६७-अग्नि के अश्वस्वरूप का सस्मरण	
६८-द्रयुक्त दियग्नि का अश्वरूपव	
६९-तरणिकिरणसङ्ग से पानीय पिण्डामक चद्रमा के अद्र भाग की प्रकाशरूप में पारणति	
१५७-सूर्यदिगनुगत-दृश्याद्र भूभाग का प्रकाशमयव	
७१-अप्रकाशित शेषाद्र भाग	१३
७२-दिति अदिति की स्वरूप स्थिति	
७३-अध्वरवन्त त्रिचोपपत्ति का स्मरण	
७४-भूच्छाया का पारिभाषिक-स्वरूप	
५-अदितिभाग के अप्रयत्न का समन्वय	
७६-अग्नि के अश्वस्वरूप का इतिवृत्त	
७७-अश्वो न देववाहन का सस्मरण	
७८-मन्त्रादि में पठित नकार का पारिभाषिक अर्थ	
७९-मन्त्रम २ में पठित इवाथक नकार	
८-त हविष्मत ईडते का सस्मरण	
८१-भावशुद्धि का प्रवक्त क स्तुतिकर्म	
८२-नम उक्ति विधेम	
८३-वाचिकोपासना और अग्नि	
१५८४-कर्मोपासना और अग्नि	१३ १

- १५८५-क्रमप्राप्ता सातवीं सामिधेनी ऋचा का पावन सस्मरण १३ १
- ८६ मन्त्राथसमवय
- ८७ क्रमप्राप्ता आठवीं सामिधेनी ऋचा का पावन सस्मरण
- ८८ पार्थिव अग्नि के होतृत्व का वैज्ञानिक समन्वय और मन्त्रश्रुति
- ८९-अत शक्तिरूप प्राणतत्व
- ९ -विविधरूप युक्त ऋषिप्राण
- ९१-सौर और पार्थिव प्राणद्वयी का सस्मरण
- ९२-स्वज्योतिर्वन सूर्य और रूपज्योतिर्वना पृथिवी
- ९३-देवदेवता और असुर १३ २
- ९४-अस्माकमेवद खलु भुवनम् का सस्मरण
- ९५-तनेमा सर्वा पृथिवीमविदत्त और पृथिवी रूपा यदि
- ९६ देवता और असुरों की सनातन स्पर्धा से अनुप्राणित क्रांतिवृत्तीय परिभ्रमण विज्ञान
- ९७ अश्वो न देववाहन मन्त्रभाग का पारिभाषिक समवय
- ९८-दिति रहस्यामक-स्वरूप समन्वय
- ९९-अदिति का रहस्यामक-स्वरूप समन्वय
- १६ -प्राजापत्या पस्पृधिरे का सस्मरण १३ ३
- १ आज के युग का दुराग्रहामक आतक और तन्निराकरण
- २-भूपिण्ड के ताविक स्वरूप का सस्मरण
- ३-गायत्री और पृथिवी
- ४-यावसा गायत्री आसीत् इयवैसा पृथिवी का रहस्यामक समवय
- ५-अप्रथयत् और पृथिवी
- ६ अदिति और पृथिवी
- १६ ७-दिति और पृथिवी
- १६ ८-देवता और असुरों के मध्य में प्रतिष्ठित परिभ्रममाण भूपिण्ड का ताविक समवय १३ ३
- ९ देवता और असुरों के द्वारा गायत्री का आह्वान
- १-देवताओं के दूत (प्रतिनिधि) अग्निदेव
- ११ असुरों के अप्रदूत सहरक्षा
- १२-अग्नि और सहरक्षा का स्वरूप समन्वय
- १३ दि यप्राणापेक्षया आसुरप्राण की बलवत्ता
- १४-ज्वालाग्नि की अपेक्षा भस्मानि की बलवत्ता
- १५-दैनदिनगति और भूपिण्ड का स्वात्परिश्रमण
- १६-उभयप्राणों का समानाकषण १३ ४
- १७-उभय प्राणगतियों में एक की बलवत्ता
- १८ आकर्षणबल की प्रचण्डता प्रातद्विद्विता
- १८ देवबलाकषण की बलवत्ता और भूपिण्ड का देवप्राण की ओर आभिमुख्य
- २-असुरों के प्रति भूपिण्ड की उपेक्षा
- २१-देवानुगत भूपिण्ड की साम्बसरिक गति में परिणति
- २२-इन्द्र और भूपिण्ड की साम्ब सरिक-गति
- २२ पार्थिवपरिभ्रमण विज्ञानानुगत ऋचमन्त्र का सस्मरण १३ ५
- २३-पश्चिमदिगनुगता आसुरप्राणगति के अनुग्रह से भूपिण्ड का सूर्य-गह्वर प्रवेश अवरोध
- २४ पूर्वाकषण की प्रबलता के परिणाम
- २५-इन्द्रप्राणाकषण का महत्त्व और भूपिण्ड की विदु विदु का पूव की और आकर्षण
- २६ सब सर मावापन्न सत्तर शब्द के रहस्यामक पारिभाषिक अथ का समवय
- १६२७ सम्पूर्ण भूपिण्ड का दवमण्डलोपलक्षित दिव्य आग्नेय सब सरानुगत व

१६२८-अग्नि का रहस्य पूरा दैत्यकर्म १३ ५	१६३५ धाय्या नामकी सामिधेनी-ऋचाओं से अनुप्राणिता विशेषता का स्पष्टीकरण १३ ६
२९- होसार विश्ववदसम् का सम-बय	३६ दशपूणमासानुगता अपेक्षिता काम्येष्टि और सामिधेनी ऋचाएँ
३ - होता यो विश्ववदसम् रूप का काल्पनिक स्वरूपोपबृ हण	३७ त्रिरावृत्ति पूर्वक सामिधेनी अमुक ऋचाओं का अनुवचन
३१-यज्ञकर्म में मानुष कल्पनाओं का प्रचण्ड विरोध एव सशोधन का बहिष्कार	३८-दर्शपूणमास और १५-सामिधेनी ऋचाएँ
३२ अ यत् मह वपूण यज्ञकर्म के प्रति वायुविशोधन परा भ्रातकपना १३ ६	३९-अ वरवत्त्रिच का स्वरूप सम बय
३३ मानुषकपना से अनुप्राणित द्रव्यों का योग और आज के ये कापनिक यज्ञ	४ -अ वरसम्पत्ति प्राप्ति का सस्मरण
१६३४-पर परानुगता पद्धतियों के अनुसरण के लिए प्रचण्ड आदेश और फलोपसहार	४१-अ वयु के द्वारा इन्द्र यज्ञाग्नि
	४२-होता के द्वारा समिद्ध यज्ञाग्नि
	१६४३-दिव्यतेजोयुक्त यज्ञाग्नि और सामिधेयनुवचनकर्म का निष्कर्षार्थ सम-बय

चतुर्थ अध्याय मे प्रथम, एव तृतीयप्रपाठक म तृतीय-

ब्राह्मण-उपरत

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय-ब्राह्मण

अत्र-उपरत

२

चतुर्थ अध्याय मे द्वितीय, एव तृतीय प्रपाठक में चतुर्थ

ब्राह्मण-उपक्रान्त

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय-ब्राह्मण

अत्र-उपक्रान्त

३

१६४४-मन्त्रशक्ति के द्वारा आहनीयाग्नि में प्रतिष्ठित दि याग्नि के प्रमुख कर्त्तव्य का सस्मरण १३ ७

१६४५-मानुषामा के साथ दिव्यप्राण का सम्बन्ध विधाता आहवनीयस्थ दिव्याग्नि १३ ७

- १६४६ आहवनीयाग्नि में प्रतिष्ठित दियग्नि का अर्थ तदुरुहकम्म १३ ७
- ४७-निगदानुवचन के द्वारा दियग्नि में प्रणालिका आधान और निगदानुवचन की प्रमुख उपपत्ति
- ४८-वाङ्मय वीर्य का लौकिक चमकार
- ४९-अग्निर्वाग्भूवा मुख प्राविशत् और आग्नेय वाग्वीर्य
- ५ - नामानमवसादयेत् रूप महान् आदेश
- ५१-धम्मशास्त्र का सदा शुभभागी के अनुगमन के लिए प्रचण्ड आदेश
- ५२-स्वशक्ति का स्वरूप बोधाभाव और शक्तिमान् का भी तत्प्रयुक्त असा मय
- ५३-भगवान् मारुति के उदाहरण के द्वारा वस्तुस्वरूप का समन्वय
- ५४-वाक् के द्वारा यशोकीर्तन
- ५५-स्ववीर्यजागरूकता से अनुप्राणित निगदानुवचनकम्म
- ५६-प्राणदेवताओं का चातुर्वर्ग्य १३ ८
- ५७-अग्निदेव और ब्राह्मणवर्ण
- ५८-इन्द्रदेव और क्षत्रियवर्ण
- ५९-विश्वदेव और वैश्यवर्ण
- ६ - पूषन् देव और शूद्रवर्ण
- ६१-ब्रह्मवीर्यप्रवक्तृ ब्राह्मण
- ६२-वर्णत्रयी की प्रतिष्ठा और प्रथमवर्ण
- ६३-ब्रह्मवीर्यात्मक ब्राह्मण-अग्नि का होतृत्व
- ६४-कम्मपिच्छ्या ब्राह्मणाग्नि का भारतव
- ६५-पार्थिव हव्य के वहनकम्म से आधिदैविक प्राणदेवताओं का भरण और अग्नि का भारतव
- १६६६-वैश्वानराग्निप्राणरूपेण पार्थिव प्रजा का भरण और अग्नि का भारतव

- १६६७-भरणकर्म मन्त्र भारत नाम का समन्वय १३ ८
- ६८-भूपिण्डानुगता त्रैलोक्य व्यवस्था का सस्मरण
- ६९-त्रैलोक्य के शवसोनपात् देवता
- ७ - भौमत्रिलोकी के मानवदेवता
- ७१-भूपिण्डानुगत पृथिवीलोक के शास्ता शवसोनपात् भारत अग्नि और भारतवर्ष
- ७२-वामदेव एव श्रौद्धार के मायम से भारतीय प्रजा के लिए भरण पोषण दि व्यवस्थाए
- ७३-दौ यति भरतानुगत भारत नाम का यशोनामपरकव
- ७४- भारत अभिधा का एकमात्र प्रमुख कारण भारत नामक शवसनोपात् अग्निदेव
- ७५ निगदानुवचोपपत्ति समन्वय

इति-निगदानुवचनकर्मोपपत्ति

* * * *

अथ-आपेयानुवचनोपपत्ति

- ७६-होता के द्वारा आर्षेय मन्त्र का उह १३ ९
- ७७-आर्षेयचनोपपत्ति से अनुगर्त-अग्नि पूर्वधार-ब्राह्मण

अथ-निवित्पाठ

- ७८ होता के द्वारा निवित्पाठ
- ७९-अग्निदेव क्री अनुग्रह प्राप्ति से अनुप्राणित निवि पाठ
- ८ - प्राकृतिक निययज्ञ का सस्मरण
- १६८१-भौम मनु यविष देवताओं के द्वारा अरणिमथन से सर्वप्रथम स्वर्ग में यज्ञाग्नि का आवि कार और देवेन्द्र का समन्वय

- १६८२ अद्वादेव मनु के द्वारा भारतवर्ष में यज्ञाग्नि का अनुमगन और मन्विद्ध का समन्वय १३ ६
- ८३ ऋषियों से उपस्तुत यज्ञाग्निदेव और ऋषिषुत का समन्वय
- ८४-विद्वान् ब्राह्मणों से अनुमत यज्ञाग्नि देव और विप्रानुमदित का समन्वय
- ८५- कविशस्त —का स्वरूप-समन्वय
- ८६-यज्ञकर्म्मनुगता शस्त्र-स्तोत्रग्रह कर्म त्रयी का सम्मरण १३१
- ८७-ऋगनुगत शस्त्रकर्म १३१
- ८८-सामानुगत स्तोत्रकर्म
- ८९-यजुनुगत ग्रहकर्म
- ९ ग्रहकर्म का पारिभाषिक समन्वय और गभ की स्वरूपस्थिति
- ९१-गभ के अवयवों का स्वरूप विन्यास और शस्त्रकर्म
- ९२-गभप्रसूति और स्तोत्रकर्म
- ९३-यज्ञानुबन्धिनी प्रजननक मन्त्रयी
- ९४-आहुतिरूप ग्रह और उपादानद्रव्य
- ९५-ऋग्वेदी होता के द्वारा शसनरूप शस्त्रकर्म
- ९६-यजुर्वेदी अध्वय्यु के द्वारा ग्रहकर्म
- ९७-सामवेदी उद्गाता के द्वारा स्तोत्रकर्म
- ९८-अग्नि और कविशस्त
- ९९-पार्थिवमण्डला यज्ञ
- ९९-पार्थिव महिलामण्डल में व्याप्त होतृ कर्माध्यक्ष प्राणाग्नि की उत्तरोत्तर सुतीक्ष्णभाव में परिणति और तन्नुबन्धी ब्रह्मसंशित का समन्वय
- १७ -उदकरूप घृत किंवा घृतरूप उदक
- १७ १-अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति
- २-आयब्राह्मणानुगत नीरक्षीरविवेक

- न्याय का सम्मरण १३१
- १७ ३ अग्नि का घृतवाहन व
- ४-घृतवाहन का समन्वय
- ५-सवयज्ञसञ्चालक अग्निदेव
- ६-अग्निर्वा वै यज्ञ अग्नि के द्वारा यज्ञो का प्रणयन
- ८-रसाग्नि रूप अमृताग्नि और चिते निधेय भाव ३११
- ९-भूताग्नि रूप मर्याग्नि और चि य भाव
- १ -रसाग्नि की अवसानभूमि और रसतम साम
- ११ रसतमसामा मक रथतरसाम
- १२- रसतम ह वै तद्रथतरित्याचक्षते परोक्षम्
- १३ त वा एत रस सन्त रथ इया चक्षते
- १४- रस की रथ रूपता
- १४-अग्नि की रथावस्था और रथी का समन्वय
- १६-यज्ञविनाशक असुरप्राणविशेषो का राक्षस व
- १७ होता अग्नि का पारिभाषिक अतूर्त्त भाव
- १८-अग्नि के द्वारा असुर राक्षस निरसन
- १९-देवपात्रा मक वषटकार और अग्निदेव
- २ -वषट्काररूप आधारपात्र का वाङ्मय व
- २१-आसपात्ररूप आस्य पात्र
- २२ आस्यपात्रा मक अग्निदेव
- २३ सौररश्मिगत प्राणदेवताओ के द्वारा पार्थिवरसों का पान
- २४ चमसानुगत सोमपान का सम्मरण
- १७२५-अग्नि का पानपात्रत्त्व समन्वय

- १७२६ सम्ब सरचक्रा मक रथ के नेमि
और आरा १३११
२७-नेमिरूप अग्निदेव का सस्मरण
२८ सम्ब सर यागित का यशोवर्णन

इति विनित्पाठ

* * * *

अथ देवतावाहनोपपत्ति

- १७२९ सामिधेनियों से प्राणाग्नि का समिधन १३१५
३ - यष्टि समष्टि रूप उभया मक गुणो
का यशोवर्णन एव यशोवीर्य्य का
अग्नि में आधान
३१-आह्वानकम्म की सत्ता उपपत्ति का
समन्वय
३२-महिमानमावह पद की मह वपूर्णा
व्याख्या
३३-वषट्कारमण्डलरूप-महिमामण्डल
१७३४ वाङ्मय भौतिक-पियडों के गम में

- अग्नि की प्रतिष्ठा का सस्मरण १३१२
१ ३५-आ यागिक अग्नि महिमा
३६ शाद्विन्यास के मा यम से शरीराग्नि
के बलाबल का अनुमान
३७-अग्नि और जातवेद
३८-परिचयभावामकजात वेद व
३९-वाक् प्राण चक्षु रूप अग्नि वायु
आदिय और अग्नित्रयी
४ -वाक् प्राण चक्षु रूप से अग्नि का
जातवेद व
४१-(क) आध्यामिक अग्नि के जातवेद व
का समवय
४१-(ख) अनुवचनकम्मनुगत-उत्थानभाव
४२-या याकम्मनुगत भूप्रतिष्ठाभाव
१७ या या का पृथिवी के साथ निदानभाव
और देवतावाहनोपपत्ति का उपशम

इति-देवतावाहनोपपत्ति

* * * *

चतुर्थ-अध्याय मे द्वितीय, एव तृतीय-प्रपाठक मे चतुर्थ-ब्राह्मण-उपरत्न

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय-ब्राह्मण अत्र-उपरत

३

चतुर्थ-अध्याय मे तृतीय, एव तृतीय-प्रपाठक मे
पञ्चम-ब्राह्मण-अत्र-उपक्रान्त

सामिधेनी ब्राह्मणानुगत-चतुर्थ-ब्राह्मण
अत्र-उपक्रान्त

४

अथ--शान्तिकर्मोपपत्ति

- | | |
|---|--|
| <p>१७४४-साधिधेयनुवचन-आर्षेय-प्रवरण
निगदानुवचन निवि पाठ तथा देवा
वाहन के द्वारा वैध आहवनीय अग्नि
की निरतिशयरूपेण-समिद्धता अलौ
किकता एव अनाक्रमणीयता का
सस्मरण १३१३</p> <p>४५-अनववृष्य अनवमृष्य दिव्याग्नि
४६-सामिधेनी ऋचाओं से अनुप्राणित
आध्यात्मिक पत्र समिधन का क्रमिक
समावय</p> <p>४७-प्र वो वाजा और प्राण का समिधन
४८-अग्नि आयाहि और अपान का
समिधन</p> <p>४९-बृहच्छोचा यविष्ठ्य और उदान
का समिधन</p> <p>५०-स न पृथुश्रवाय्यम् और श्रोत्रे
न्द्रिय का समिधन</p> <p>५१-इडेन्यो नमस्य और वागिन्द्रिय
का समिधन १३१४</p> <p>१७५२-अश्वो न देव वाहन और प्रज्ञान
नामक सर्वेन्द्रियमन का समिधन</p> | <p>१ ५३-अग्ने दीद्यत और चक्षुरद्रय
का समिधन १३१४</p> <p>५४-अग्नि दूत वृणीमहे और व्यानामक
मध्यप्राण का समिधन</p> <p>५५-व्यानप्राणा मक मध्यप्राण का श्रुति
वचनों के द्वारा यशोवर्णन</p> <p>५६-व्यानोष्व स्थित प्राण के प्राण और
उदान रूप दो महिमा विवक्त</p> <p>५७-व्यानाध स्थित अपान के समान और
अपान-नामक दो महिमा विवक्त</p> <p>५८-शोचिष्केशस्तमीमहे इत्यादि सामि
धेनी-ऋचा के द्वारा परोक्षेन्द्रिय का
समिधन</p> <p>५९-शिशोदर परायण कामभोगासक्त-मानव १३१५</p> <p>६०-कामप्रतिबन्धनदशानुगत सन्ताप</p> <p>६१-शोचि केश शब्द का समन्वय</p> <p>६२-समिद्धो अग्नि आहुत इत्यादि मन्त्र
के द्वारा अवाह्यमय (मूल-ग्रन्थिस्थ
प्राण) का समिधन</p> <p>१७६३-आञ्जुहोता दुवस्यत इत्यादि मन्त्र से
सर्वाङ्गशरीर का समिधन</p> |
|---|--|

१७६४-समिधनभावना के द्वारा होता के सर्वाङ्ग शरीर का व्यष्टि-समष्टिरूप से समिधन	१३१५	का स्वरूप-सम वय	१३१५
६५-अग्निवत् प्रज्वलित होता		१७६८-होता के तिरस्कार का निषेध	
६६-अपमानकर्त्ता के प्रति अभिचार-प्रयोग		१७६९-इ यमृत-महान् स्तुय नमस्य-अग्नि देवता के लिए एव अग्निरहस्यवित् ऐसे ब्राह्मणश्रुष्ठ के लिए हमारी अनेक नम उक्तिर्या	
१७६७-समिधनकर्म्मार्नुगत अभिचारकर्म्म			

चतुर्थ-प्रध्याय मे तृतीय, एव तृतीय-प्रपाठक मे
पाँचवाँ-ब्राह्मण-उपरत

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-चतुर्थ-ब्राह्मण
अत्र उपरत

४

इति-प्रथमकाण्डे-तृतीय-चतुर्थाध्याये
ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी-ब्राह्मणमुपरतम्

इति-सामिधेन्यनुवचनकर्म्म-उपरतम्

१८

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे
चतुर्थाध्याये

द्विब्राह्मणात्मक-आधारब्राह्मणम्

१६-२० पूर्वात्तराधारकर्म

क्रमप्राप्त १६ २० वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
“विषयस्मारकसूची”
(पृष्ठसं० १३१७ से १३६६ पृ० पर्यन्त)

-----*-----

१-प्रथमकाण्डान्तगत चतुर्थाध्यायानुगत

द्विब्राह्मणात्मक-आधारब्राह्मण (मूल) १३१७

२-मूलब्राह्मणों का अक्षराथ-समवया

मक अनुवाद

१३२५

३ सूत्रानुगत पद्धतिसंग्रह

१३३६

चतुर्थ अध्याय मे चतुथ, एव तृतीयप्रपाठक मे
षष्ठ ब्राह्मण अत्र-उपक्रान्त

-----*-----

द्विब्राह्मणानुगत-प्रथम-आधारब्राह्मण
अत्र-उपक्रान्त

१

-----*-----

वैज्ञानिकविवेचना
१--पूर्वाधारकर्मोपत्ति

१६६

- ४-सामिधेयनुबचनकर्म का सस्मरण १३४२
- ५-होता के द्वारा आहनीय द्व आग्नि का समिधन
- ६-समिद्धाग्नि की अलौकिकता
- ७-आहुतिलक्षण यज्ञकर्म और देव प्राणानुबन्धी ग्रथिबन्धन सम्बन्ध
- ८-आहुतिद्रव्य में प्रविष्ट यज्ञमान का मन प्राणवाङ्मय आत्मा
- ९-यावद्विक्त तावदामा का सस्मरण
- १-यज्ञमाना मा का आहुति मायम से दि-याग्नि के साथ ग्रथिबन्धन सम्बन्ध
- २-आहुतिकर्मनिबन्धना दि-यलोकावाप्ति का समन्वय
- १२-अलौकिक दि-याग्नि का आधान
- १३-देवप्राण से समवित आहवनीयाग्नि और सामिधेयनुबचनकर्म
- १४-द्युलोकस्थ देवदेवताओं की भोग्या यज्ञमानप्रदत्ता आहुति
- १५-सिंहावलोकनात्मक पूर्वकर्म का सस्मरण और ब्राह्मणश्रुति
- १६-देवाहुति ग्रहणयोग्य (दिव्यभावापन्न) आहवनीयाग्नि
- १७-आवापदेवता नामक प्रधानदेवता का इष्टिदेवतात्व
- १८-प्रधानदेवतायाग से पूर्वभावी पूर्वाधार और उत्तराधार-कर्म
- १९-मन स्वरूप-समपक पूर्वाधारकर्म
- २-वाकस्वरूप समपक उत्तराधारकर्म
- २१-चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री-सम्पत् से युक्त चतुर्विंशस्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक
- २२-चतुश्च वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् सम्पत् से युक्त चतुश्च वारिंशत्-स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक
- २३-अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती सम्पत् से युक्त अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्नद्युलोक १४४२
- २४-भृष्टानुगत पारावातपृष्ठा त महिमा विवक्त १३४३
- २५-शांकरसामानुता त्रैलोक्यरूपा अमृत लक्षण वाक शुक्रानुगता द्युलोकात्मिका वाङ्मयी (भूकेद्रत उपक्राता पारावतपृष्ठाता) पृथिवी और पार्थिव जगत् का तृतीयविवक्त (३)
- २६-त्रयस्त्रिंशत् अहगणामक द्युलोक द्वाविंश अहगणामक अन्तरिक्षलोक एव एकादश अहगणामक पृथिवी लोक समष्टिरूपा भूकेद्रत आप्यपृष्ठाता त्रयोस्त्रिंशदर्गणावधिपर्यन्त याप्ता त्रैलोक्यरूपा अमृतलक्षणा आप्यशुक्रानुगता अन्तरिक्षलोकात्मिका आपोमयी-पृथिवी और पार्थिवजगत् का द्वितीय विवक्त (२)
- २७-एकविंश अहगणामक-द्युलोक पञ्चदश अहगणामक अन्तरिक्षलोक एव त्रिवृत् अहगणामक पृथिवीलोक समष्टिरूपा भूकेद्रत आग्नेयपृष्ठाता एकविंश अहगणावधिपर्यन्त-याप्ता त्रैलोक्यरूपा अमृतलक्षणा अग्निशुक्रानुगता द्युलोकात्मिका पृथिवी लोकात्मिका अग्निमयी (अग्नि सोममयी) पृथिवी और पार्थिवजगत् का प्रथम विवक्त (१)
- २८-अष्टाचत्वारिंशत् स्तोमावच्छिन्ना-वाङ्मयी विश्वम्भरा पृथिवी
- २९-त्रयस्त्रिंशत् स्तोमावच्छिन्ना आपोमयी सांगराम्भरा पृथिवी
- ३-एकविंशस्तोमावच्छिन्ना अग्निमयी अदिति-पृथिवी

- ११-त्रैलोक्यामिका अदिति-पृथिवी और पृथिवलोक १३४३
- १२-त्रैलोक्यामिका सागराम्बरा पृथिवी और अतरिक्षलोक
- १३-त्रैलोक्यामिका विश्वम्बरा पृथिवी और द्युलोक
- १४-त्रैलोक्य त्रिलोकीरूपा --नवलोकामिका पृथिवी और तद्वितानाधारभूत भूपिण्ड का केन्द्र
- १५-भूके द्राविच्छन्न भूपिण्डरूप पारिभाषिक भू शब्द
- १६-त्रैलोक्य त्रिलोकीरूप- महिमा मण्डल और पारिभाषिक पृथिवी शब्द
- १७-महिमा-पृथिवी का नवलोकामक विस्तार
- १८-पार्थिव नवलोकामक विवत्त परिलेख १३४४
- १९-वाङ्मयी पृथिवी और शाक्तरसाम
- २०-आपोमयी-पृथिवी और वैरूपसाम
- २१-अग्निमयी पृथिवी और रथतरसाम
- २२-रथन्तरसामानुगत अदितिलक्षण प्रथम पार्थिव विवत्त का सस्मरण
- २३-अग्निशुक्र निबन्धन त्रिविध अयुग्मस्तोम
- २४-अयुग्मस्तोमत्रयी से अनुप्राणिता देवत्रयी
- २५-देवत्रयी के अवान्तर विभूतिभाव
- २६-आहवनीयाग्निस्मिधन-कर्मन्तुप्राणत देवदेवता
- २७-यज्ञिय देवताओं की प्राणा मकता
- २८-मत्त और प्राण तत्वात्मिका-मूलप्रतिष्ठा का सस्मरण
- २९-मनोमय वाक् रूप पात्र (वषट्कारपात्र) और तत्र प्राण की आपूर्यमाणता
- ३०-मनोवाङ्मय पात्र का वयोनाध्व
- ३१-वयोनाध्वरूप छन्दस्त्व
- ३२-प्राणरूप देवत्व की वयोरूपता

- ३३-वय-वयोनाध्वामक वयुनम् १३४४
- ३४-यजमान का यज्ञसम्बन्धानुगामी मन - प्राणवाङ्मय आ मा
- ३५-भूके द्रस्य हृद्य अत्यर्थामी अनिरुक्त प्रजापति
- ३६-पार्थिवजगत् की मन्त्रप्रतिष्ठारूप प्रजापति
- ३७-प्राण वाग्गर्भित मनोमय--अनिरुक्त प्रजापति
- ३८-मनोवाग्गर्भित प्राणमय उद्गीथप्रजापति
- ३९-मन प्राणगर्भित वाङ्मय सबप्रजापति
- ४०-प्रजापति के त्रिविध महिमा विवत्त
- ४१-भूके द्रानुगत प्रजापति की प्राण-वाक कलाओं का उन्मुग्धव एव मन कला का उद्बुद्धव १३४५
- ४२-हृ प्रतिष्ठ मन
- ४३-तमे मन शिवसकपमस्तु
- ४४-हृ पृष्ठत स तदशस्तोम पथ्यत-आग्नेयप्राण का प्राधान्य
- ४५-सप्तदश अहगण की प्रमुखता
- ४६-त्रयस्त्रिंशदहगणामक-सागराम्बरालक्षण पार्थिवविवत्त के १६ १६-अहगणामक दो अवान्तर विवत्त
- ४७-हृपृष्ठत १६ पथ्यन्त आग्नि का साम्राज्य
- ४८-१८ से २७ पथ्यन्त भास्वरसोम का प्रभुत्व
- ४९-२७ से ३३ पथ्यन्त दिक्सोम का प्रभुत्व
- ५०-सप्तदशस्थान और अग्नि-सोम का समन्वय
- ५१-सप्तदशस्थान का पारिभाषिक आहवनीयत्व

- ७२-दाह्या सोमाहुति से प्र जलित दाहक
अग्नि की २१ स्तोमप यत याति १३४५
- ७३-एकविंशानुगता अग्नि सोम याप्ति का
पारिभाषिक सम वय
- ७४ सप्तदशपथ्य त प्राजाप या प्राणकला
का प्राधान्य
- ७५-प्राणप्रधान-उद्गीथप्रजापति का पारि
भाषिक सम वय
- ७६ हृपृष्ठत २१ पथ्यन्त याप्त रथतर
साम सीमाबिच्छन्न मण्डल में वाग्नि
का प्राधान्य
- ७७-मन और प्राण की उन्मुग्धता तथा
वाककला का उद्बुद्ध व
- ७८-मन प्राण-गर्भित वाङ्मय सबप्रजापति
के पारिभाषिक स्वरूप का सम वय
- ७९ यज्ञपरिधि और रथतरसामसीमा
८-यज्ञोपक्रमस्थान और भूके द्र
- ८१ भूके द्रावबिच्छन्न प्राण वाग गर्भित मनो
मय अनिरुक्तप्रजापति
- ८२-रथतरलक्षण-परि यवबिच्छन्न-मन
प्राणगर्भित-वाङ्मय सबप्रजापति
- ८३-उभयमध्यस्थ आग्नेय सौम्य प्राणोभय-
मूर्ति मनोवाग गर्भित-यज्ञामक उद्-
गीथ प्रजापति
- ८४ पार्थिवी आहुति से मनोवाक के द्वारा
प्राणा मक देवो का सत्तपण
- ८५ भूके द्र और अनिरुक्तभाव
- ८६-यज्ञमण्डलके द्र और उद्गीथभाव
- ८७-(क) यज्ञपरिधि और सबभाव
- ८७-(ख) भूके द्र और मनोमय प्रजापति
- ८८-यज्ञमण्डल और प्राणमय प्रजापति
- ८९-यज्ञपरिधि और वाङ्मय प्रजापति
- ९-एकविंशस्तोमावबिच्छन्न रथतर-साम (१)
- ९१-स तदशस्तोमावबिच्छन्न -मण्डल -
हृदयम् (२)

- ९२-भूके द्र (३) १३४५
- ९३-मन प्राणगर्भित वाङ्मय - सर्वप्रजा
पति (१)
- ९४-मनोवागगर्भित प्राणमय - उद्गीथ-
प्रजापति (२)
- ९५-प्राणवागगर्भित मनोमय -अनिरुक्त
प्रजापति (३)
- ९६ सबप्रजापतिवाङ्मय वाक (१) १३४६
- ९७ उद्गीथप्रजापति प्राणमय प्राण (२)
- ९८-अनिरुक्तप्रजापति मनोमय मन (३)
- ९९-हृदयावबिच्छन्न मन अनिरुक्तम् (१)
- १ म यावबिच्छन्न प्राण निरुक्तानिरुक्त (२)
- १ १-परि यवबिच्छन्ना वाक निरुक्ता (३)
- १ २-मन प्राणवाङ्मय यज्ञिया देवा
- १ ३-पार्थिवयज्ञ प्राकृतिक नि य
- १ ४-नि य देवयज्ञ की विधा पर वितत
मानुष वैधयज्ञ
- १ ५-प्राजापया स पत् से अनुप्राणिता यज्ञ
सम्पत्
- १ ६-देवयज्ञनत पूव अपेक्षिता मन प्राण
वाङ्मयी सम्पत्ति
- १ ७-यज्ञ का रहस्यपूण स्वरूप नि कष
- १ ८-अधिदैवत एव अध्यामयज्ञ का मन
प्राणवाङ्मय व
- १ ९-अधिभूत वैध मानुषयज्ञ की मन प्राण
वाक सम्पत्ति सम्पादन का प्रश्न और
त समाधाना वेक्षण प्रयास
- ११-विशेष-वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा
अधिभूत में मन प्राण वाग भावों का
समावेश
- १११-यजमाना मा का भूतयज्ञातिशय के
मा यम से दि यज्ञानुगत अतर्थात्म
सम्ब ध
- ११२ कत्त यद्वयी और यज्ञस्वरूप की
ससिद्धि १३४७

- ११३-आहवनीयाग्नि में मन प्राणवाकसम्पत्ति के अधिष्ठाता होता तथा अ वय्यु और प्रथमकत्त य की स्वरूप नि पत्ति १३४७
- ११४-आधिभौतिक यज्ञतिशय के साथ यज्ञ मान के अ याम का समवयरूप द्वितीय कत्त व्य एव अ वय्यु नेता उद्गाता ब्रह्मा-नाम की ऋत्विक् चतुष्टयी से तस्वरूप निष्पत्ति
- ११५-पद्यामिका ऋक् वाक् के स पादक होता और उनका शसनामक शस्त्रकम्म एव हौत्रकम्म
- ११६-शस्त्रकर्म्मामक हौत्रकम्म
- ११७-गद्यामिका यजुर्वाक् के सम्पादक अ वय्यु और उनका थायामक प्रहकम्म एव आ वय्यवकम्म
- ११८ गेयामिका सामवाक के स पादक उद्गाता और उनका तोत्रकम्म एव औद्गात्रकम्म
- ११९-शस्त्र-ग्रह स्तोत्र रूप हौत्र आ वय्यव-औद्गात्र-कर्म्मों का सम वय एव तद्द्वारा आधिभौतिक-यज्ञ में वाक् पर्व का संस्थापन
- १२-त्रैविद्य ब्रह्मा का ब्राह्म-यापार और तद्द्वारा अधिभूतयज्ञ में मन सम्पत्ति का संस्थापन
- १२१-अ वय्यु कृत या-याकम्म से अधिभूत यज्ञ में प्राणपव का संस्थापन
- १२२-ब्राह्मकम्मणा-ब्रह्मा-मनस्त वसम्पादक
- १२३-या-याकम्मणा-अध्वय्यु प्राणत व-सम्पादक
- १२४-स्तोत्रकम्मणा उद्गाता सामवाकत्व-सम्पादक
- १२५ प्रहकम्मणा -अ वय्यु यजुर्वाक्त्व-स पादक

- १ ६ शस्त्रकम्मणा-होता--ऋगवाकत्व-सम्पादक १३४७
- १२७-पूर्वोत्तराधारकम्म से पूर्वभावी होता के द्वारा सामिधेयनुवचन कम्म
- १२८-आधारब्राह्मणोपक्रमश्रुति का सम्भरण
- १२९-समिद्ध देव यो-जुहवाम
- १३ -सिंहावलोकनानुगत रहस्यामक सङ्कत
- १३१-होतृकृत् क-सामिधेनीकर्म्मनुगत प्राणा - धानकम्म
- १३२-अ वय्यु के द्वारा सुवपात्र से पूर्वाधार कर्म्म का सम्पादन और यज्ञ में मन स पत्ति का आधान
- १३३ स क्पात्रद्वयी से उत्तराधारकम्म का सम्पादन और यज्ञ में वाक्सम्पत्ति का आधान
- १३४-मन पव का सम्राहक पूर्वाधारकम्म
- १३५-वाकपव का सम्राहक उत्तराधारकम्म
- १३६-केन्द्रावच्छिन्न मन पव का पूर्वभावि व और तदनुब धी पूर्वाधारकर्म्म
- १ ७ पार यवच्छिन्न वाकपव का उत्तरभावि व और तदनुब धी उत्तराधारकर्म्म
- १३८- अग्नि समैधिषत इति प्राणसग्रह सामिधेयनुवचनकम्मणा
- १३९-मनसे चैव इति मन सग्रह पूर्वाधार कम्मणा
- १४ -वाचे च इति वाकसग्रह उत्तराधार कम्मणा
- १४१-उपाशुभावानुगत पूर्वाधारकम्म १३४८
- १४२-उच्चारणानुगत उत्तराधारकम्म
- १४३-हृदयावच्छिन्न मनस्तन्त्र की अनिरुक्तता एव अव्यक्तता
- १४४-मन के उपाशुभाव का समवय
- १४५-मनोऽनुगत पूर्वाधारकर्म्म की उपाशु रूपता का समन्वय

- १४६-रथ-तरसामामिका परिधिस्था उत्तरभा
विनी वाक् की निरुक्तता एव व्यक्त
रूपता १३४८
- १४ -पञ्चमहाभूतरूपेण वाक् की अभि यक्ति
और प्रयत्न भाव
- १४८-निरुक्ता वाग्देवी
- १४९-वागनुगत उत्तराधारक्रम की निरुक्तता
का समवय १३४९
- १५ -उभयाधार और तद्द्वारा आधिभौतिक
यज्ञ के मनोवाक् पूर्वों का सतपण
- १५१-तृप्तिका साधन आहुति-प्राप्ति
- १५२-आहुतिप्राप्ति का साधन मनोवाक् पूर्वों
का सन्तपण
- १५३ स तपक आधारद्वयानु ठानकम्म
- १५४ काममय विश्व और तत्र समवत स्त्री
पुरुष का युग्म
- १५५ काममयी स्त्री और तमय पुरुष
- १५६-पुरुषतत्र और स्त्रीतत्र का समवय
- १५ -कामनामय पुरुषरूप मनस्तत्र
- १५८-स्त्रीरूप-वाक्तत्र
- १५९-मनोरूप पुरुष और वृषाभाव
- १६ वाक् रूपा स्त्री और योषाभाव
- १६ -मन का सक-परूप से वाक् के प्रति
अनुधावन
- १६२-वृषा का योषा के प्रति अनुधावन
- १६३-पु ष का स्त्री के प्रति अनुधावन
- १६४ कामनामय वेन वाक्तन्त्रसञ्चालक-वेन
अनुधावकस्त्वेन च हृदयावच्छिन्न मन
का वृषाप्राणा मक पुरुषत्व-समन्वय
- १५-कामनानुगत वेन-परिध्यन्नच्छिन्ना वाक्
का योषाप्राणा मक-स्त्रीत्व-सम वय
- १६६-सु वपन्न का पुरुष व-सम वय
- १६७-सु क्त्वात्तद्वयी का स्त्रीत्व-समन्वय
- १६८ स गनुगत-वाक् मय-स्त्रीरूप-उत्तराधार
- १६९-प्राणगर्भित मनोमय अनिरुक्तभावापन्न
हृद्य प्रजापति १३४९
- १७ - पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू
- १७१-वाक्पथातीत अनिरुक्तभाव
- १७२-वाग्विवक्ष का प्र यत्न अभिनय और
तन्निव-धन स्वाहाकार
- १७३ प्रयत्नदृष्ट पाञ्चभौतिक अथ-जगत्
और उस की वाङ्मयता
- १७४-मन प्राणगर्भित वाङ् मय सबलक्ष्य
निरुक्तप्रजापति और निरुक्ता वाक्
- १७५-सर्वालम्बन-सुसूक्ष्म काममय मन
- १७६-तूष्णीभाव और उत्तराधारक्रम का
सम वय
- १७-म त्रौ चारण और उत्तराधारक्रम का
सम वय
- १७८- अयतिष्ठदशाङ्ग लम् और प्रादेश
मित प्राण की हृदय में प्रतिष्ठा
- १७९-स्थिरभावामक अनिरुक्तप्रजापति के
आधार पर अनुमता इन्द्राविष्णु की
आपोमयी प्रतिस्पर्द्धा
- १८ -प्रतिस्पर्द्धा से वाक्साहस्री का ऊर् व वितान
- १८१ आसीनरूपेण-कृत पूर्वावा का सम वय १३५
- १८२ इतिष्ठन्रूपेण कृत उज्जसवार का सम वय
- १८३ सञ्चारिका वाक्साहस्री की याज्ञिक और
तदनु रथ-तरसाम
- १८४-रसाग्नि का त्रेधा वितान
- १८५ रसा मक वाङ् मय-श्वाग्नि का उ ववितान
- १८६-रथन्तरसाम का पारिभाषिक स्वरूप
सम वय १३५१
- १८७ यशरथ में नियुक्त मनोवाग् रूप दो अश्व
- १८८-अपरिमितभावापन्न काममय समुद्र
- १८९- मनो वै बृहत्
- १९ - मनो वै समुद्र
- १९१-अनन्त वै मन

- १६२-मन के आनन्त्य का गारिभाषिक समन्वय १३५१
 १६३-दिगदेशकालानवच्छिन्न अपरिमित मन स्तन्त्र
 १६४-दिगदेशकालपरिच्छिन्न परिमित वाकतन्त्र
 १६५-अर्थामिका सीमिता वाक
 १६६-श-दामिका-सीमिता वाक
 १६७-मनोमय अश्व का बृहद्भाव
 १६८-वाह मय अश्व का लघुत्व
 १६९-बृहत्-लघु भावानुगत पूर्वोत्तराधारों का समन्वय
 २ -विषमाकार अश्वों से रथ का वहन और भयप्रवृत्ति
 २ १-मनोरूप वाग्रूप अश्वों के परिमाण समतुलन का प्रयास
 २ २-पूर्वाधार और उत्तराधार से अनुगत आहुतिद्वयी के तारतम्य से उभयाश्व के आकारों का समतुलन और विप्रतिपत्ति का निराकरण
 २ ३-आहवनीयाग्नि का उत्तरभूपदेश और पूर्वाधार का स पादन
 २ ४-आहवनीयाग्नि का दक्षिण भूपदेश और उत्तराधार का सम्पादन
 २ ५-भावनामय मन का देवप्राणप्रतिष्ठाव
 २ ६-वासनामिका वाक् का पितृप्राणप्रतिष्ठाव
 १ ७-पितरो वाक्यमिच्छन्ति
 २ ८-भावमिच्छति देवता
 २ ९-मनोऽनुगत देवप्राण का अग्निमयत्व
 २१ -वागनुगत पितृप्राण का सोममयत्व
 २११-यज्ञमण्डल के पूर्वाद्ध में अग्नि का प्राधान्य
 २१२-यज्ञमण्डल के उत्तराद्ध में सोम का समन्वय
 २१३-पूर्वाधार के पूर्वभावित्व का समन्वय
 २१४-उत्तराधार के उत्तरभावित्व का समन्वय
 ११५-उत्तरादिक और आग्नेय देवदेवता १३५१
 २१६ दक्षिणादिक और सौम्य पितृदेवता
 २१७-उभयविध आघारकम्म से अग्नीषोमा मक पूर्ण-यज्ञमण्डल का सग्रह
 २१८-भौम मानुष देवताओं के पुरातन इतिवृत्त से अनुप्राणित पूर्वोत्तराधार-कर्मों की ऐतिहासिकी कारणता का समन्वय १३५२
 २१९-प्राकृतिक नित्य-यज्ञ के सरत्तक दक्षिणदिशि प्रतिष्ठित प्राणा मक इन्द्रदेवता
 २२ दक्षिणायन उत्तरायण का स्वरूप सस्मरण
 २२१-इन्द्र का सरत्तक और यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति
 २२२-प्राकप्रवणा वेदि और देवभाव तथा असुर निराकरण
 २२३-उदकप्रवणा वेदि और मानुषभाव
 २२४-उच्छ्रितमिव हि वीर्यम्
 २२५-लोकदृष्टि और उच्छ्रितभाव
 २२६ सैनिक (सिपाही) की तनुरूपा-शरीरयष्टि और प्राकृतिकस्थिति का सस्मरण
 २२७ आलस्यनिमन शयालु मानवों के प्राणा मक वीर्य की मूर्च्छा
 २२८-निरालस-उत्तिष्ठन् पुरुषार्थी-मानवों की प्राणामिका वीर्य सम्पत्ति से अन्तर्ध्यामि सम्बन्ध
 २२९-हृदयावच्छिन्न-ऊर्ध्व-अथ वितत-नाडियों और शृङ्गुभाव
 २३ -शृङ्गुभावानुवधी-रक्तसञ्चार और नाडियों की वीर्यवत्ता
 २३१-मेरुदण्ड का लस्वस्तिक की श्रोरशृङ्गुभाव से लम्बन एव शरीरयष्टि का सन्तनन १३५३
 २३२-शरीरयष्टि का वीर्यप्रवक्तक सन्तनन
 २३३-सैनिकानुगत रक्षाकर्म और सैनिक की शरीरयष्टि का ऋजुभाव से सन्तनन

- २३४-वी यसापेक्ष रक्षाकम्म
 २३५ उच्छ्रितभावानुबन्धिनी वी र्यरक्षा
 २३६-तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाधारयति
 इयादि म दम का रहस्या म f प्रकृति
 असद्ध सम वय
 २३७-एकविध आहवनीयाग्नि
 २३८-तदनुगता आधारहुति का द्वित्व
 २३९-आहुतिद्वयी का समान प्रदेशत्व
 २४ आहवनीयाग्नि वन उभय आहृतिकम्म
 का समान व समजय
 २४१-आहुत स्थान भेदनिब धन नानाभाव
 का समवय
 २४२ समानानुगतत्व एव नानावानुगति का
 पारिभाषिक सम वय एव आधारकम्म
 द्वयी
 २४३-मन और वाक् के समान व की
 मीमासा
 २४४-मन की प्राणरूप में परिणति और
 बलमात्रा का यत्किञ्चित् उद्रक
 २४५-बलमात्रा का पूर्णोद्रक और मनोमय
 प्राण की वागरूप में परिणत
 २४६-हृदयावच्छिन्न या मक अनिरुक्त प्रजा
 पति का सस्मरण
 २४७-मानसप्रयय और परावानुगता उपा
 शुवाक
 २४८ शब्दविध प्रयय का सस्मरण
 २४९-मानस यापारानुगता उपाशुवाक
 २५ -वाग यापार की आधारभूमि मानस
 ज्ञान
 २५१-ज्ञानीय प्रज्ञेद्र के द्वारा वणविभागा
 नुगता अथनि पत्ति
 २५२-मन से वञ्चिता आग्लावाक्
 २५३-स्खलितवागरूपा निरथक वाक
 २५४-शिशुद्र मानस यापार और उपा
 शुवाक्

१३५३

- २५५-समानक्षेत्राश्रयवरूप समानस्व का
 समवय और मनोवाक का सस्मरण १३५४
 २५६-मन की अनद्वारूपता
 २५७ वाक की अद्वारूपता
 २५८-मनो वागनुगता विभिन्नता का ताविक
 समवय
 २५९ तस्मादिद् मनश्च-वाक्च समान
 मेव सन्नानेव इ यादि अ ति सदम
 का पारिभाषिक वैज्ञानिक सम वय
 २६ -आधारद्वयी से अनुगता उपपत्तियो का
 समवया मक सस्मरण
 २६१-प्रति वस्तु से अनुगत मूल और
 तूलभाव
 २६२ मूलभावनिब धन हृदय
 २६३ तूलभावनिब धन शिर
 २६४-पूर्वाधारा मक मनोमय हृदया मक मूल
 भाव का सम वय
 २६५-उत्तराधारा मक बाह्यमय शिरोऽनुगत
 तूलभाव का समवय
 ६६-यज्ञपुरुष के मूलभाव का स्वरूप स पा
 दन और मनोऽनुगत पूर्वाधारकम्म
 २६७-यज्ञपुरुष के तूलभाव का वरूप सम्पा
 दन और वागनुगत उत्तराधारकम्म
 २६८-तूष्णीभाव का समवय
 २६९-उच्चारणभावानुगता उपपत्ति
 २७ -पूर्वोत्तराधारकम्मद्वयी की विशेषताओं
 का पारिभाषिक रहस्य सस्मरण और
 आधारकम्मोपपत्ति का विराम

१३५४

इति-आधारकम्मोपपत्ति

१

* * * *

अथ—अग्निसम्माज्जनकर्मोपपत्ति

- २७१—पूर्वाधारकर्मानन्तर आग्नीध्र नामक ऋषिष्वक् के द्वारा अग्निसम्माजन कर्म और तदुपपत्त्युपक्रम १३५५
- २७२—समानमेव सन्नानेव सिद्धान्त का सस्मरण
- २७३—वागार्भिता मन सम्पत्ति की उभया मकता
- २७४ लोकांनुगत अश्वयुग्म किवा वृषभ युग्म से अनुप्राणिता स्थिति का सस्मरण
- २७५ रथधुर के साथ बन्धनपूर्वक अश्वयुग्म का बन्धन
- २७६—रथधुर का योग और पूर्वाधारकर्म
- २७ —चम्मपाश से ग्रीवाबन्धन और अग्नि सम्माज्जन
- २७८—मनोवागरूप उभयाश्व का समग्र और रथधुर के साथ तद्योग
- २७९—परिभ्रमणानुगत अग्निसम्माज्जन
- २८ —इध्मसन्नहन नामक तृणसमूह के द्वारा अग्निप्रज्ज्वलनामक अग्नि-सम्माजन कर्म
- २८१—बन्धनानुगता-अनुरूपसम्पत्ति का समग्र और तदनुगत परिभ्रमण
- २८२—त्रिस्त्रिवार (नववार) विहित अग्नि सम्माज्जन कर्म

- २८३ यज्ञस्वरूपा मक अग्निदेव की अवस्था त्रयी का पारिभाषिक समन्वय १३५५
- २८४ अग्निदेव का सवदेवतामयत्व
- २८५—सर्वात्मक अग्नि और ताण्ड्यश्रुति
- २८६ अग्निनिबन्धन त्रिवृद्भाव और नव सरया का सस्मरण
- २८७—त्रिवृदग्नि से अनुप्राणित सम्माज्जन कर्म का त्रिवृद्भावापन्नत्व
- २८८—तूष्णी आहवनीय अग्नि का त्रिवार स माजन और तदुपपत्ति
- २८९—उभयकर्मानुगत रथ का सजीभूतत्व १३५६
- २९ —कशाघातात्मिका प्ररणा और रथ का ग यारूढत्व
- २९१—पुन सम्माजनामक कशाघात
- २९२—पूव और उत्तराधार के मध्य में विहित अग्निसम्मा जन
- २९३—दुरयोग और पूर्वाधार
- २९४—चम्मपाशबन्धन और अग्निसम्माजन
- २९५—कशाघात और आहवनीयसम्माजन
- २९६—मन और वाक की विभन्नता का सम्पादक अग्निसम्माजनकर्म
- २९७—मनोऽनुगत-विभिन्न पूर्वाधार
- २९८ वागनुगत विभिन्न उत्तराधार
- २९९—म यस्थ अग्निसम्माज्जनकर्म और सम्माजनकर्मोपपत्ति का विराम

पूर्वाधारकर्म अत्र उपरत
चतुर्थ—अध्याय में चतुर्थ, एव तृतीय—प्रपाठक मे
षष्ठ—ब्राह्मण—अत्र उपरत
तृतीयप्रपाठकश्चात्रोपरत

३

**द्विब्राह्मणानुगत-प्रथम-आधारब्राह्मण
अत्र- उपरत**

१

चतुर्थ-प्रपाठक अत्र-उपक्रान्त

४

—*—

चतुर्थ अध्याय मे पञ्चम, एव चतुर्थ प्रपाठक मे
प्रथमब्राह्मण-अत्र-उपक्रान्त

**द्विब्राह्मणानुगत-द्वितीय-आधारब्राह्मण
अत्र-उपक्रा त**

१

३-उत्तराधारकर्म्मैतिकर्तव्यतोपपत्ति

—*—

- | | |
|--|--|
| ३ दक्षिणत उत्तरदिश्यनुगत ऋताग्ने १३५७ | ३ ८-ऋत त वों का समवनामक आर्त्विज्यकर्म १३५७ |
| ३ १-उत्तरत दक्षिणदिश्यनुगत ऋतसोम | ३ ९-वायुरूप ऋत्विक् और उनका आर्त्विज्यधर्म |
| ३ २-ऋतुद्वयी का समवय एव ऋतु का ज म | ३ १०-वायु नामक प्राकृत अ वयु और उनका यजुरनुगत याज्याकर्म |
| ३ ३-ऋतुसमष्टि और सम्बसर की अभिव्यक्ति | ३ ११-उत्तराधारक म का आर्त्विज्यकर्म व |
| ३ ४-गतिशून्य अग्नि और सोम | ३ १२-यजुर्वेदी अ वयु नामक ऋत्विक् और उनका आर्त्विज्यकर्म |
| ३ ५ सदागतिधर्मा प्राणवायु का सरमरण | ३ १३-देववगपिच्छया मानव का अवरश्रणि व |
| ३ ६-गयामक प्राणवायु और अजुवद | |
| ३ ७-यजु मूर्ति वायु के द्वारा अग्नि सोम समन्वय पूर्वक सम्बसर का प्राकट्य | |

- ३१४-दिव्य-ऋताग्नि का संयोजक दिव्यभाव १३५७
 २१५-मानुष ऋत्विक् की धृष्टता
 ३१६ धृष्टता क्षमापनोपाय प्रदर्शन
 ३१७-आर्चि-यकम्भ से पूव अच्यु के द्वारा देवताओं के लिए नम और पितरों के लिए स्वधा का समपण एव तद् द्वारा अपराध का उपशमन
 ३१८-धृष्टतानिष्ठ यनुगत उद् श्य की पूर्ति और तत्साधक अञ्जलानधान १३५८
 ३१९-आग्नेयप्राणामिका देवता
 ३२-सौम्यप्राणा मक पितर
 ३२१-नमोभावामक आग्नेयदेवता और नमो दवे य
 ३२२-स्वधाभावामक सौम्य पितर और स्वधा पितृभ्य
 ३२३-ऋताग्नेये नम रूप किष्कष
 ३२४-ऋत सोमाय नम रूप निष्कष
 ३२५-तद् वेभ्यश्चैव तत्पितृभ्यश्चार्वि-य करिष्यत् निहुते श्रुति का समवय
 ३२६-मत्रशक्ति से समवित दिव्यभावापन्न आज्य और तत्र अस्कन्न रूपा भावना
 ३२७ यज्ञानुगता अविच्छिन्ना धारा का संरक्षणेपाय
 ३२८-भूमिष्ठ आज्य से शत्रुपक्ष की समृद्धि और तन्निरोधक अस्कन्नभाव
 ३२९-‘यद् यज्ञस्यातिरिक्त-तद्भ्रातृव्यम्’ रूप महत्त्वपूर्ण निगम-वचन
 ३३ अविक्स्मित आय और अस्कन्न-आज्य एव तदनुगता आयरक्षा
 ३३१-अशिय नियत-सञ्चरमाग और तद्द्वारा ऋत्विजों का गमनागमन
 ३३२-दक्षिणभाग का अशियव १३५९
 ३३३-यज्ञातिक्रमण और तदुपशमन प्रकार प्रदर्शन १३५८
 ३३४-उत्तरभाग का सौर-योतिम्मयव
 ३३५ दक्षिणभाग का आसुरप्राण निव धन छायामयव
 ३३६-छायामय आसुरभाव की निवृत्ति का समवय
 ३३७-यज्ञसाधक छायामय प्रदेश
 ३३८-वसुभाव का संस्थापन
 ३३९-छायामय आसुरभाव की आयन्तिक निवृत्ति और विणो स्थानमसि का संस्मरण १३५९
 ३४-यज्ञसन्नि य में समुपस्थिति
 ३४१ इन्द्र के रक्षणकम्भ से सुरक्षित दक्षिण स्थान
 ३४२-इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत् का समवय
 ३-आहुति प्रदानवेला
 ३४४ आहवनीयाग्नि की स्तुति
 ३४५ अतद्रो ह्य वहसि
 ३४६-आदिह वेषु राजसि
 ३४७ अवता द्यावापृथिवी और रक्षणकम्भ
 ३४८-स्विष्टकृद् वता का संतपण
 ३४९-इन्द्र के साम्राज्य का विस्तार
 ३५-वज्रपति इन्द्र की तुष्टि और यज्ञसिद्धि
 ३५१-कायानियुक्त आध्यात्मिक वायु
 ३५२ वायु खात् शदस्तत् इ यादि प्रातिशाख्य सिद्धान्त का संस्मरण
 ३५३-वाकूतव और तन्निव धन वायु
 ३५४-केवल वाय-यावाक् और अविच्छिन्न धारात्मिका पशुवाणी
 ३५५-मानुषीवाक से अनुप्राणिता वाणी में वण श द पद वाक्यादि रूपा विभक्तियों का समन्वय
 ३५६-विभक्तिभावामक विभक्तिकरण लक्षण व्याकरण और तत्प्रवक्त क ज्ञानमूर्ति प्राज्ञेन्द्र १३६०

- ३५७-(क) व्याकरणत व के प्रवक्त क इन्द्रदेवता १३६
 ३५७-(ख) वाङ्मय इन्द्र
 ३५७ (ग) अधिदेवतानुगत वाङ्मय आकाश
 और इन्द्र
 ३५८-इन्द्रकृता बलग्रन्थि और वाङ्मय
 पञ्चमहाभूत की सृष्टि
 ३५९-इन्द्रो वागियाहु श्रुति का समन्वय
 ३६ यज्ञपुरुष का मूलस्थानीय हृदयभाव
 और पूर्वाधार
 ३६१-तूलस्थानीय शिरोभाग और उत्तराधार
 ३६२-साङ्केतिक चतुष्पत्ती आमा
 ३६३-यज्ञपुरुष की पूणता का स्वरूप सम्पादन
 शिर स्थानीय-उत्तराधार
 ३६४-चार मय प्राणो से म याङ्ग का स्वरूप
 निर्माण
 ३६५-दक्षिमतनोथ-आयस्थानीय सार-
 भागामक श्री तव
 ३६६-श्रीभागामक शिरोभाग और समञ्जन
 कर्म की द्वितीया उपपत्ति का सम वय
 ३६७-ब्रह्म उपभृत् आदि के समञ्जनक म के
 सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न और
 तत्समाधान
 ३६८-अवापात्र का नैदानिकरूप यजमान
 ३६९-उपभृत् का नैदानिकरूप शत्रु
 ३७-समञ्जनकर्म का पारिभाषिक-समन्वय १३६१
 ३७१-(क) आमस्थानीय अवापात्र
 ३७१-(ख) ब्रह्म स्थित आज्यशेषाश और
 शिरोभाग
 ३७२-प्राकृतिक आधिदैविक-ब्रह्म उपभृत् श्रुवा
 आदि यज्ञपात्रों का सस्मरण एव
 तत्समवृत्तित वैधयज्ञ के पात्र
 ३७३-अन्तरिक्ष की आय से परिपूर्णता
 ३७४-आज्यरस से देवज्योतियों का समिन्धन
 ३७५-ते ह्येतदुभे योतिषी सङ्गच्छेते का
 समन्वय १३६१
 ३७६-तस्मादेव समनक्ति और समञ्जनकर्म
 ३७८ पूर्वाधार, तथा उत्तराधार के
 सम्बन्ध में (आरयानभाषा में)
 एक महत्त्वपूर्ण-वैज्ञानिकी-
 उपपत्ति का सम वयोपक्रम ,,
 ३७९-अहमद्रात्मिका श्रुता के लिए मन
 और वाक में विवाद
 ३८ वाक की तकपरम्परा और मन का
 पराभव
 ३८१-मन की तकपरम्परा और वाक का पराभव
 ३८२-प्रजापति का मन के प्रति पक्षपात
 ३८३-वाक् का प्रजापति के प्रति आक्रोश
 ३८४-वाक का प्रजापति के लिए हविद्र य
 वहन निषेध
 ३८५-मन के स्वाभाविक स्वरूप का विश्ले
 षण और आख्यान १३६२
 ३८६ नाद-श्रुति-स्वरात्मक सन्दर्भ का
 सस्मरण
 ३८७ प्रजापति के निष्णय का वैज्ञानिक
 समन्वय
 ३८८-शब्दजाल से आमवृष्टि का अभाव
 और वाक का पराभव
 ३८९-नेति-नेति रूपा शब्दातीता मौलिक-
 उपनिषत्
 ३९-सबल एवं साथक कर्म की स्वरूप-
 परिभाषा
 ३९१-उपाशुभावानुगत कर्म की वीथ्यवत्ता
 ३९२-श दामक उद्घोष और कर्म का
 निर्वीथ्य व
 ३९३-कम्मसिद्धि का अन्यतम द्वार उपाशु-
 भाव

३६४-मनोऽनुगत पूर्वाधार में वाक का प्रवेश निषिद्ध	१३६३	४ ५-तम और अत्रि	१३६३
३६५-प्रजापत्य-(आमनि ठा से समवित) क मों की उपाशुरूपता का रहस्यात्मक सम वय		४ ६-अत्रिलक्षण तमोभाग का समावेश और भूतसर्ग की प्रवृत्ति	
३६६-प्रजापति के लिए वाक का अहव्य- वाट् व		४ ७ ऋतुमती स्त्री की विज्ञानसिद्धा अत्रिप्राणनिबन्धना अस्पृ- श्यता	
३६७-प्रजापति के नियय से वाक का गमपात (ऋभिमानपतन)		४ ८-चेतनभूत और अचेतनभूत	
३६८-अपमानिता-आवेशाविष्टा-वाक के अतिमानात्मक उद्गार		४ ९-अथमात्रानिबन्धन-तमोभाव से आमा के सहज विकास की अभिभूति किंवा अवरोध	
३६९-वाक के अपमान का परिणाम		४१-वाक् के अपमान का पारिभाषिक स्वरूप सम वय	१३६४
४ धामच्छद अत्रिप्राण और तमोमलक भूत भौतिक धामच्छदसग		४११-अपमानलक्षणा अथगरिमा	
४ १-आत्रेयी-वाक और आत्रेय धामच्छद सग		४१२ अथगरिमात्मिका-तमोवृत्ति से सम- न्विता वाक का प्रजापति-सम्बन्ध से पाथक्य	
४ २-वाक के अत्रिरूप गर्भ की बाह्मण्डला नुगता गति		४१३-आर्यानरहस्य का उपराम और उत्तराधारकर्म की परिसमाप्ति	
४ ३-अधामच्छद प्रजापति रूप आमदेवता			
४ ४-अर्थामिका धामच्छदा वाक			

इति-उत्तराधारकर्मोपपत्ति

३

* * * * *
चतुर्थ-अध्याय मे पञ्चम, तथा चतुर्थ प्रपाठक में
प्रथम-ब्राह्मण-उपरत

चतुर्थोऽध्यायश्चात्र-उपरतः

४

द्विब्राह्मणानुगत-द्वितीय-आधारब्राह्मण

अत्र-उपरत

२

—*—

इति-द्विब्राह्मणात्मक-आधारब्राह्मणमुपरतम्

इति-पूर्वोत्तराधारकर्म

१६—२०

—*—

श्री

अथ-पञ्चमोऽध्यायः

५

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी विज्ञानभाष्ये प्रथमकारण्डे
पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण, चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय

“प्रवरब्राह्मणम्”

उपक्रान्तम्

११--प्रवरणकर्म

क्रमप्राप्त २१ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
विषयस्मारकसूची

(पृष्ठ-सरया १३६७ से १४०४ पृ० पर्यन्त)

१-प्रथमकारण्डान्तगत-पञ्चमाध्यायानुगत- प्रवरब्राह्मण (मूल)	१३६७	५-क्षु कृपात्रद्वयी का यथास्थान-स्थापन	१३८५
२-मलब्राह्मण का अन्तराथ-समन्वयामक अनुवाद	१३७३	६-अ तरभावी-वरणकर्म का सस्मरण	
३-सूत्रानुगत पद्धतिसग्रह	१३८२	७-ह मसन्नहनरूपा दभतृणसमष्टि	
वैज्ञानिकविवेचना		८-दभमुष्टिग्रहणपूर्वक अ वय्यु कृत आश्रा वणकम्म और ओ श्रावय	
१-आश्रावणकर्मोपपत्ति		९-आग्नीध्रऋत्विक् और अस्तुश्रौषट्	
४-आज्य समञ्जनकर्म का सिंहावलोकना मक सस्मरण	१३८५	१-वरणकम्मत प्रथम विहित आश्रावण- कम्म के सम्बन्ध में प्रश्न	
		११-आश्रावणकम्म की यज्ञरूपता	
		१२-यज्ञाधिकार प्रदानामक वरणकम्म	

- १३-ओश्रावय इत्यादि निगदमन्त्र का अथ समन्वय
- १४-आङ्गिरस पार्थिवदेवता एव सावित्र सौर देवताओं का सङ्गमनामक यजन और यज्ञ १३८५
- १५-आश्रावणकर्म के द्वारा दिव्यदेवताओं का यज्ञ के प्रति आकषण
- १६-दि यप्राणामक यज्ञकर्म का अनुगमन और तन्निव धन आश्रावणकर्म
- १७-इ मकाष्ठ बध्नरज्जु का सस्मरण
- १८-दभरज्जु ग्रहणपूर्वक आश्रावणकर्म
- १९-दभरज्जु ग्रहण की उपपत्ति का समन्वय
- २-यु लोकेस्थ प्राणदेवताओं का आकर्षण और आश्रावणकर्म
- २१-यज्ञामक आश्रावणकर्म की यज्ञरूपा आलम्बनता का समन्वय
- २२-इध्मसन्नहन (दभरज्जु) की यज्ञरूपता १३८६
- २३ सौरसम्बसरावच्छिन्न सावित्राग्नि तथा पारमेष्ठ्यसोमामक द्य लोकोपलक्षित आधिदविकयज्ञ
- २३-पार्थिवसम्बसरावच्छिन्न अङ्गिरोऽग्नि तथा चान्द्रसोमामक भलोकोपलक्षित आधिभौतिकयज्ञ
- २४-वश्वानराग्नि तथा अन्नसोमामक शरीरोपलक्षित आध्यात्मिकयज्ञ
- २५ दिव्यदेवता के आकषक आश्रावणकर्म का आधिदविकयज्ञरूपता
- २६ कर्मकर्ता अध्वर्यु की आध्यात्मिक यज्ञरूपता
- २७-इध्मसन्नहनरूपा दभरज्जु की आधिभौतिकयज्ञरूपता
- २८-व्यामक यज्ञ और आश्रावणकर्म
- २९ अध्यात्मयज्ञ की दैविक भौतिक-यज्ञात्मिका प्रतिष्ठाद्वयी
- ३-प्रतिष्ठा का निगमन और अयाम सस्था का अन्तर्विनियम १३८६
- ३१ यावदायुर्भोगपथ्यता उभयलोकानुग्रहप्राप्ति और अपउपस्पश का सस्मरण
- ३२-अपउपस्पशानुगता उपपत्ति से समतुल्यता आश्रावणकर्म की उपपत्ति का समन्वय
- ३३-आधिभौतिकयज्ञ की प्रतिष्ठारूपा वेदि
- ३४-पृथिवी रूपा यज्ञियावेदि
- ३५-वेदिरूपा पृथिवी के केश-लोम और दम तृण
- ३६-इध्ममार की नैदानिकी अग्निरूपता का समन्वय
- ३७ काष्ठ में प्रसुप्त यज्ञाग्नि का सस्मरण
- ३८-मृग्यमाण अग्निदेव की मृगरूपता का सस्मरण
- ३९-पार्थिवप्रतिष्ठानुगत आश्रावणकर्म
- ४-वेदि तृणानुगत आश्रावणकर्म १३८७
- ४१-इध्मसन्नहनानुगत आश्रावणकर्म
- ४२-वेदितृण का साक्षाद्रूपेण प्रतिष्ठाव
- ४३ इध्मसन्नहन का पर परया प्रतिष्ठाव
- ४४-भगवान् याशवक्य की वैशानिकी दृष्टि और वेदितृण किंवा इध्मसन्नहन-ग्रहण का अवैशानिकी
- ४५-अय कर्मों में नियुक्त दमतृणादि १३८७
- ४६-वेदितृण का ग्रहण और पृथिवी का ओषधि वनस्पति से पुथककरण
- ४७-याज्ञवल्क्य के द्वारा साम्प्रदायिकों से प्रश्न
- ४८-यज्ञरूपता का समर्थन और आश्रावणकर्मोपपत्ति का विराम
- ४९-होतृत्वेन प्राणाग्नि के विशेष धर्मों के सम्बन्ध में जिशावा और तसमाधानोपक्रम

- ५ -अ वय्यु कृत -आश्रावणकर्मन्तर
आग्नीध्र के द्वारा अस्तु औषट् पूवक
प्रयाश्रावणकम्म का अनुगमन १३८
- ५१-अध्वय्यु के द्वारा अग्निद्वो द यो
होता इयादि निगदमन्त्र-का उच्चा
रण और अध्वय्यु कृत क होतृप्रवरण
कम्म का सम्मरण
- ५२-होता नामक ऋत्वावक् का स्वरूप
परिचय
- ५३-अधिकारप्रदानलक्षण होतृप्रवरणक म
- ५४-पारमेष्ठ्यसोमापहरण का सम्मरण
- ५५-गायत्राग्नि के ताविरु कम्म का समवय
- ५६-देवाह्वानलक्षण दवयजनक म और
त स्वरूप सम्पादक गायत्राग्नि १३८
- ५७-देवसङ्गमनकम्ममवत्त क प्राणाग्नि का
होतृ व
- ५८ यजमान का यज्ञ और प्रतिकृतिभाव
- ५९-प्रकृतिवत् विकृति की अनुरूपता
- ६ वैध मानुषयज्ञ और मानुषहोता का वरण
- ६१-दिव्यकम्म के लिए प्रवृत्त मनुष्यहोता
- ६२-अनृतसहित मनुष्य
- ६३-पाप्मयुक्त मनु य
- ६४-मरणधर्मा मनुष्य
- ६५-सत्यसहित-देवता
- ६६-विधूतपाप्मा देवता
- ६७-अजर अमृत धर्मा देवता
- ६८ हा और ना का समवय
- ६९-लौकिकभाव और निषेधा मक न
- ७ -मन्त्रशक्ति से समवित दिव्यभावानुगत
अस्तिभाव और हा
- ७१-होतृ वेन दि यभावना का प्राधान्य
और तन्निबन्धन होतृप्रवरणकम्म
- ७२-अयथाकरणे अनिष्ट
- ७३-प्रकृतवद्विकृति कृत या सिद्धा त का
सम्मरण और यज्ञानुगता मूलप्रतिष्ठा
का समग्रह १३८
- ७४-शेष प्रश्न और तत्समाधान प्रयास १३८
- ७५-प्राणाग्नि और यज्ञियदेववग
- ७६-प्राणाग्नि का वरण और देवानुग्रहप्राप्ति
- ७७-उभयानुग्रहप्राप्ति का समवय
- ७८ देवताओं के दि-यहोता अग्नि के वरण
से उभयानुग्रह ससिद्धि
- ९ मन्त्रभाग का समवय
- ८ -दव और सवदेवमय
- ८ दै यो होता और प्राणाग्नि का यजनकम्म
- ८१ देवस्वरूप से परिचित प्राणाग्निरूप होता
- ८२-प्राणदेवताओं के सङ्गमना मक यजन
के आघष्ठाता प्राणाग्निदेव
- ८३-विद्वान् अग्नि और विद्वान् शब्द
का त वाथ-सम वय
- ८४-चिकि वान् अग्नि और तत् शब्द का
त वाथसमवय
- ८५-ऋकसहितानुगत-मन्त्र का सम्मरण
- ८६-वयुनानि विद्वान् और चिकि वान्
प्राणाग्नि का होतृत्व
- ८७-भताधार पर प्राणा मक देवों का यजन
- ८८-यज्ञफलसिद्धि और देवान् यज्ञत्
मन्त्राथ-सम वय
- ८९ सुध्यके द्राविक्षुन्न - इन्द्रप्राणा मक-
बृहती सम्पत्ति से युक्त शाश्वत धर्मा
अव्यय के श्वोवसीयस नामक मनोदेव
से अनुग्रहीत सृष्टि तथा लय-कालप्र
वत्त क प्राणरूप आधिदविक मनु १३९
- ९ -सम्ब सरिक प्राणाग्नि का सहयोग
और मनु के द्वारा सम्ब सरयज्ञ की
स्वरूप सिद्धि

- ६१-आ याभिक मनु के ताविक स्वरूप का सस्मरण १३६
- ६२ आधिभौतिक (ऐतिहासिक)-राजर्षि मनु का सस्मरण
- ६३-आधिदैविक मनु और आधिदैविक यज्ञ
- ६४ आध्याभिक मनु और आ याभिक यज्ञ
- ६५-आधिभौतिक मनु आधिभौतिकयज्ञ
- ६६-मनु की प्रातिस्विक सम्पत्तिरूप यज्ञ और मनोयज्ञऽइयाहु का समन्वय
- ६७-उभयलिङ्गामक धनु शब्द से समतुलित मनु शब्द
- ६८ मनु शब्द का पुलिङ्ग व
- ६९-सात मनु शब्द का नपु सलिङ्ग व
- १ -मनुष्य और सकारा त मनु
- १ १-मानव और उकारा त मनु
- १ २-मनुष्वत् और मनुरिव
- १ ३-मनुरिव और मनोरिव
- १ ४-उक्त्यामक मनुस्त व
- १ ५-अर्कामक-मनुस्त व
- १ ६-एतमेके वदन्त्यग्निम्
- १ ७-अन्ये प्रजापतिम्
- १ ८-इन्द्रमेके
- १ ९-परे प्राणम्
- १ १ -अपरे ब्रह्म शाश्वतम्
- १११-मन्त्रोपात्त मनुष्वत् का पारिभाषिक समन्वयोपराम
- ११२-ऐतरेयश्रुति और यहा से वहा का सन्तपण
- ११३-देवभाग का विस्त्र सन और पार्थिव-सग का स्वरूप निम्माण
- ११४-देवक्षतिपूरक अङ्गिरोऽग्नि १३६१
- ११५- अश्रुत -पदानाद्धीद सर्वश्रुतिष्ठति इत्यादि वचन का समन्वय

- ११६ विशेषप्रक्रिया मक यज्ञ १३६
- ११७ एष हि देवभ्यो हय भरति का सस्मरण
- ११८- प्राणा नय एवतस्मिन् पुरे इत्यादि पिपलादश्रुति का सस्मरण
- ११९-अज्ञानादलक्षण अहरहयज्ञ नामक भेष ययज्ञ और पदार्थों की जीवन सत्ता
- १२ -अ याम का वश्वानराग्निरूप भारत नामक प्राणाग्नि
- १२१-भौमसग के मानुष भारत नामक अग्निदेव
- १२२-आधिदैविक नि य भारताग्नि
- १२३-भारताग्नि और भारतवष
- १२४-वैद्ययज्ञ का भारताग्नि से स्वरूप स पादन
- १२५-भरतवत् मात्रभाग का समन्वय और दिवाग्निवरणकर्मोपपत्ति का विराम

इति दिव्याग्निवरणकर्मोपपत्ति

२

३-अथ आर्षेय-वरणकर्मोपपत्ति

- १२६-होतृवेन -अग्निदेव के वरण का सस्मरण १३६२
- १२७-यशकर्त्ता यजमान और उसका (कुलीनतानुबन्धी) वशगौरव
- १२८-वशगौरव का कीर्त्तन और आर्षेय-वरणकर्म
- १२९-लौकिक (पार्थिव भूतभौतिक) कर्मों में समानरूपेण अधिकृत मानवमात्र

- १३ -अलौकिक (सौर प्राणामक) दि य
कर्मों के सम्बन्ध में वर्णानुगता दृढ-
तमा -उत्तरदायि-वपूर्णा-अधिकार-
-व्यवस्था १३६२
- १३१-जन्मत ऋषिप्राण तथा देवप्राण से
समावत मानव और यज्ञाधिकार
- १३२-अदितिमण्डलानुगत सम्बन्ध सरयज्ञ का
संस्मरण
- १३३-अदितिमण्डल और पृथिवी
- १३४- और अ तरिक्ष
- १३५- और द्यौ
- १३६-अदितिगर्भानुगत ८ वसुदेवता
- १३७- ११ रुद्रदेवता
- १३८- १२ आदि यदेवता
- १३९-साध्य २ अश्विनौ
- १४ वसुदेवतानुगत प्रातः सवन
- १४१-रुद्रदेवतानुगत माध्यदिनसवन
- १४२-आदि यदेवतानुगत सायसवन
- १४३-रात्रिगत पूषाप्राण का सम्बन्ध सर-
यज्ञमण्डल की सीमा से पार्थक्य
- १४४-प्रातः सवनीय देवता और ब्राह्मणवर्ण
- १४५-माध्यन्दिनसवनीय देवता और क्षत्रिय
वर्ण
- १४६-सायसवनीय देवता और वैश्यवर्ण
- १४७-सवनबहिर्द्धा पूषादेवता और शूद्रवर्ण
- १४८-प्रकृतिसिद्धा यज्ञसीमात्रयी
- १४९-प्रकृतिसिद्धा वर्णत्रयी
- १५ - स्त्री शूद्र द्विजबधूना त्रयी न श्रुति
गोचरा का तथसमन्वय
- १५१-द्विजातिप्रजानुबन्धिनी यज्ञविद्या और
तदधिकारानुगता प्रश्नावली का समा-
धान
- १५२-कम्मस्था वर्णाभिमान की यातयामता
एव अनधिकारचेष्टा

- १५३-अनधिकारचेष्टानुगत सवनाश १३६३
- ५४-गोत्रसृष्टिप्रवक्तक-ऋषिप्राण और
वशानुगता अधिकारमर्यादा
- १५५-आर्षेयप्रवरणकम्म के द्वारा वशमर्यादा
का स्वरूप विश्लेषण
- १५६-ऋषिम्यश्चैवैनमेतत् -देवेभ्यश्च
निहृते का पारिभाषिक समन्वय
- १५७-जन्मानुगत वीच्यभाव और ऋषिप्राण
१५८- देवप्राण
- १५९ अय महावीच्य यो यज्ञ प्रापत् का
समन्वय
- १६ - तस्मादार्षेय प्रवृत्तीते रूपा आर्षेय
प्रवरणकम्मोपपत्ति का विराम
- १६१-सृष्टिक्रमानुबन्धी अनुरोध और तन्नि-
बन्धना-पितामह पिता -पुत्र त्रयी का
संस्मरण
- १६२-परस्तात् अर्वाक्-मर्यादानुगत-वरण-
कम्म
- १३- तस्मात् परस्तात् -अर्वाक् प्रवृत्तीते -
और कम्म विश्राम

इति आर्षेयप्रवरणकम्मोपपत्ति

३

४-अथ अग्नि ब्राह्मणानुगूह- प्राप्तिकम्मोपपत्ति

- १६४-ऋषिवशाप्रसूत-जन्मना द्विजाति-यज्ञ-
मान की यज्ञाधिकार-व्यवस्था १३६४
- १६५-यज्ञमान के यज्ञाधिकार की सफलता
की आधारभूमि और देवप्राणसङ्गमन
- १६६-अनन्तान-ब्राह्मणो का सहयोग और
तदनुगत देवाह्वानकम्म

- १६७-अनूचान ब्राह्मणों की मात्रशक्तियुक्ता
महती शक्ति का सस्मरण १३६४
- १६८-सर्वथा अपेक्षित अग्निदेवानुग्रह
- १६९-सर्वा मना अपेक्षित अनूचानब्राह्मणा
नुग्रह
- १७-ब्रह्मणवदाचवक्षत् का रहस्याथ
सम वय और कर्मोपपत्तिराम

इति-अग्नि-ब्राह्मणानुग्रहप्राप्ति कर्मोपपत्ति

५ अथ मानुषहोतृवरणोपपत्ति

- १७१-प्राणविध स व सरयज्ञ और उसके
प्राणविध-ऋषिक् १३६४
- १७२-प्राणीविध मानुषयज्ञ और उसके
प्राणीविध ऋषिक्
- १७३-प्राणीविध मानुष होता का होतृवेन-
वरण
- १७४-देवाह्वानकर्मोधिकारसमपणरूप मानुष-
होतृवरणकर्म
- ७५-आश्रावण दिव्याग्निवरण अग्निब्राह्मणा
नुग्रह सम्पादनरूप कर्मों के अनंतर
अनु ठेय असौ मानुष इत्यादि
निगदमन्त्रपूर्वक अ वय्यु नामक
ऋषिक् के द्वारा मानुष होता का
वरण और कर्मोपपत्ति विराम १३६५

इति-मानुषहोतृवरणोपपत्ति

५

६ अथ स्वस्ति अयन रूप स्वस्त्ययन-जपोपपत्ति

- १७६ होतृपद पर समासीन ऋषिक् १३६६
- १ -होतृकर्म रूप महान् उत्तरदायि व से
अनुगत होता
- १८-उत्तरदायि व का पूरक स्वस्त्ययन
जपा मक क म
- १७९ सफलताप्रवक्त क प्राकृतिक प्राणदेव
ताओ का सस्मरण
- १८ मत्रशक्ति के मायम से प्राणदेव
ताओ का आकषण
- १८१ स्वस्त्ययनजप की पारिभाषिकी
मौलिक उपपत्ति का सम वय
- १८२-प्र रक सवितादेवता की अनुग्रहप्राप्ति
- १८३-आह्वानकर्म की मलप्रति ठारूप-
सवितादेवता
- १८४-आपोमय परमेष्ठी के चारों ओर
परिभ्रममाण बृहस्पति ब्रह्मणस्पति वरुण-
सविता आदि कतिपय उपग्रहों का
नाम सस्मरण
- १८५ प्र रणाबलप्रवक्त क सविताग्रह
- १८६ देवताओं के प्रसविता सवितादेवता
- १८७-सूय्य का सवितृ यवहार-सम वय १३६६
- १८८-सविताप्राण की प्र रणाबल का
आगमनक्षेत्र बुद्धितत्त्व
- १८९-बृहस्पति का उत्तम व
- १९ -इन्द्र का प्रथमव
- १९१-इन्द्रोपरि अवस्थित बृहस्पति
- १९२-बृहस्प युपरि अवस्थित ब्रह्मणस्पति
- १९३-ब्रह्मणस्प युपरि अवस्थित सविता
देवता
- १९४-वागधिपति बृहस्पति का वाजपेययज्ञ

१६५-सविता और धी भाव	१३६६	२२ वाक -गौ -द्यौ रूपा पार्थिवी मनोता	
१६६ धियो यो न प्रचोदयात्		त्रयी	१३८
१६७ त सवितुवरैयम्		२२१-गौर्वा अग्निहोत्रम्	
१६८ प्रमुख प्ररयिता सविताप्राण		२२२-(क) पार्थिव यज्ञ के याज्या एव अनुवाक्या	
१६९-मानुष होता के याज से सवितादेवता का ही वरण		कम्म की स्वरूप सम्पत्ति	
२ अग्नि होत्राय और अग्नि की अनुग्रह प्राप्ति		२२२ (ख) वसूना रातौ स्याम और स्वस्त्ययन	
२ १ चतुर्दशविध भूतसग का प्रजनयिता सम्ब सरप्रजापति		२२२ (ग) रुद्राणा उर्वर्याया	
२ २ स व सर की पिता अभिधा का पारिभाषिक समवय		२२२-(घ) स्वदिया अदितये	
२ ३ सवनत्रयों से वैश्वानररूप में परिणत स व सर		२२२ (ङ) पाकयज्ञ वितानयज्ञ भेदाभन्ना पार्थिव यज्ञद्वयी	
२ ४ या मक त्रिलोक याप्त रहस्यपूरा वैश्वानर का स्वरूप समवय	१३८७	२२२-(च) स्मात्त एह्ययज्ञ का पाकयज्ञत्व	
२ ५-विराट हिरण्यगभ सवज्ञरूपा वश्वानर विपत्त त्रयी		२२२ (छ) त्रेताग्नियज्ञा मक वितानयज्ञ	
२ ६ विराट् का त वा मक स्वरूप समवय		२२२ (ज) वसुदेवतानुगत पार्थिव गाहप यानि	
२ ७-हिरण्यगभ का समन्वय		२२२-(झ) रुद्रदेवतानुगत आ तरिद्धय-धिष्ययाग्नि (नाक्षत्रिकाग्नि)	१३६६
२ ८-सवज्ञ का समवय		२२२-(ञ) आदि यदेवतानुगत -दिव्य आहवनीयाग्नि	
२ ९- अग्नि होत्राय सह पिता वैश्वानरेण इ यादि मन्त्राथसम वय		२२२-(ट) गणदवतात्रयी और तदनुगत प्राकृतिक वितानयज्ञ	
२१ -अग्निप्रधानस्त्रिमूर्तिर्विराट् वैश्वानर	१३६८	२२३ अन्न पशु द्रव्य-स पत्तित्रयी और राति	
२११-वायु प्रधानस्त्रिमूर्तिर्हिरण्यगभ वश्वानर		२२४-सम्पत्ति और वसु	
२१२-आदि यप्रधानस्त्रिमूर्ति -सवज्ञ वैश्वानर		२२५-पार्थिवसम्पत्तिरूप वसुभाव	
२१३-यजनकर्म्मनिब धन पार्थिवअग्नि		२२६-बस्वग्नि और ऋडमन्त्र का सस्मरण	
२१४-		२२७-रुद्रानुगता उरुभावनिबधना पारिभाषिकी सम्पत्ति का स्वरूप समन्वय	
२१५-		२२८-अमलमुभयत परिच्छिन्नम्	
२१६-पूषाप्राण का स्वरूप-समवय		२२९- आदि यप्रतिष्ठा का पारिभाषिक समवय	
२१७-शूद्रसृष्टिप्रवत्त क -अदन्तक -पूषाप्राण (१)		२३ रातिप्रवत्त क-वसुदेवता	
२१८-रेवतीनक्षत्रा मक पूषाप्राण (२)		२३१-भमाप्रवत्त क रुद्रदेवता	
२१९-आदि यलक्ष्ण पूषाप्राण (३)		२३२-प्रतिष्ठाप्रवत्त क आदि यदेवता	
		२३३- अदितये स्यामनेहस का समवय	
		२३४-अदिति की अनुग्रहप्राप्ति	
		२३५- जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम् और स्वस्त्ययन	१४

२३६-उच्चारणानुगत सौ ठवमाधुय्य और जुष्टावाक	१४
२३७-स्वरमर्यादानुगता वाक	
२३८-छन्दोमर्यादानुगता वाक्	
२३९ स्वर खरता और वागदोष	
२४ -उच्चारणदोष	
२४१-स्खलनदोष	
२४२-मन्त्रवाक की निदृष्टता और देवानु ग्रहावितता	
२४३- तद्धि समृद्ध-यो जु ट देवेभ्योऽनुब्रु- वत् का समवय	
२४४-मन्त्राधीन देवदेवता	
२४५-अपेक्षित मात्रवाक का सौ ठव	
२४६-ब्राह्मणाधीन-मन्त्र	
२४७-सर्वामना अपेक्षित ब्राह्मणानुग्रह	
२४८-तवाभिका वैज्ञानिकी वाक् के रहस्य वित्-मन्त्रवित् ब्राह्मण का भूदेवत्व	
२४९-ब्राह्मण के लिए निषिद्धा उद्ध गकरी वाक्	
२५ -आज के यज्ञकर्म और उनका अवैध इतिवृत्त	
२५१-ब्राह्मणबल की सुषुप्ति	
२५२-ब्राह्मणवर्ण का अपमान	
२५३- जुष्टा ब्रह्मभ्य का समवय	
२५४- तद्धि समृद्ध-यो जुष्ट ब्राह्मणेभ्योऽनु ब्रुवत्	
२५५- जुष्ट नराशासाय का पारिभाषिक स्पष्टीकरण	
२५६ वर्णों का मूलाधार ब्राह्मणवर्ण	
२५७ शातपथी श्रुति का सस्मरण	१४ १
२५८-सृष्टिमर्यादा से असृष्ट-ब्रह्मत्व	
२५९-सामान्य प्रजावर्ग और नर शब्द	
२६ -सवसायान्य प्रजावर्ग से अनुमत यज्ञ का समृद्धि	

२६१-जातवेदा विचषणि अग्निदेव से विशेष आवेदन	१४ १
२६२-जातवेदा विशेषण का तवाभिक समवय	
२६३-विचषणि विशेषण का समवय	
२६४-प्राण यापार के सम्राहक अ वय्यु	
२६५-वागयापार के सम्राहक उद्गाता तथा होता	
२६६ मनोयापार के प्रवचक ब्रह्मा	
२६७-अध्वय्य का नैदानिक मनोमय व	
२६८-होता का नैदानिक वाङ्मय व	
२६९-मन और वाक का परस्पर-अधिब धन और स्पर्शकर्म का समवय	१४ २
२७ -स्पर्शकर्म के अनन्तर होता के द्वारा विशेष मन्त्रजप की अनुगति	
२७१-अहोरात्रवाद का सस्मरण	
२७२-अह और तन्निव धन अग्नि	
२ ३-रात्रि और तन्निव धना पृथिवी	
२ ४-वाजा मक प्राण	
२ ५-एष उ विभ्रदवाज	
२७६-अग्नि पृथिवी आप वाज अह रात्रि रूप विभूतिषटक का सस्मरण	
२ -स्वस् ययनक्षपकर्मन्तर होता का होतृ- षदन की और पुनरावत्त न	
२७८- निरस्त परावसु का सस्मरण	
२७९-परावसु नामक असुरवर्ग का होता और तन्निरसन	
२८ असुरब्राह्मणा मक परावसु	
२८१-सहरत्वा का दिग्दर्शन	
२८२-हिङ्गारब्राह्मण का सस्मरण	
२८३ होतार विश्ववेदसम् का सस्मरण	
२८४-अर्वावसु नामक देवदेवताओं के दिव्य होता का सस्मरण	
२८५-यज्ञस्वरूप विधातक परावसु	
२८६-यज्ञस्वरूप सरत्नक अर्वावसु	

२८७—इदमहमर्वावसो सद्ने सीदामि का सम वय	१४ २	२९—होतृषदन-स्थान का सस्मरण	१४ ३
२८८—विश्वकम्मन् ! तनूपा आसि	१४ ३	२९१—आहवनीय की प्रचण्डतमा समिद्धता	
२८९—उत्तर की ओर होता का किञ्चिच्चलन		२९२—स्तुति के द्वारा देवानुग्रह प्राप्ति और स्वस्त्ययनजपोपपत्ति का विराम	

इति-पञ्चमाध्याये प्रथम, चतुर्थप्रपाठके च-द्वितीय ब्राह्मण
'प्रवरब्राह्मणम्'
अत्र-उपरतम्

इति-प्रवरणा कर्मोपरतम्

२१

श्री

अथ—शतपथब्राह्मण हि दी विज्ञानभाष्ये प्रथमकारण्डे
पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
चतुर्थप्रपाठके—च—तृतीय—ब्राह्मणम्
उपक्रान्तम्
'सुग्व्राह्मणम्'
(वृष्टिविज्ञानात्मकम्)

—*—

क्रमप्राप्त २२ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
विषयस्मारक-सूची
(पृष्ठ स० १४०५ से १४७४ पृ० पर्यन्त)

—*—

१ प्रथमकारण्डात्तर्गत पञ्चमा यायानुगत सुग्व्राह्मण (मूल) १४५	७—इष्टजनक यज्ञ का स भावित अनिष्टजन नकत्व १४६
२—मूलब्राह्मण का अक्षरार्थ समवयामक अनुवाद १४१	८—मानुषभावनिबन्धन प्रज्ञापराध के निह्व के लिए विहित विशेष प्रकार का समन्वय
३—सूत्रानुगत पद्धति सग्रह १४१८	९—प्राकृतिक प्राणदेवताओं से अनुगत प्र र णावला और तन्निबन्धन लौकिक तथा शास्त्रीय-कर्म
वैज्ञानिकविवेचना	
४—स्वययनजपकर्मान्तर होता के द्वारा सुगादापननिगद मन्त्रों का पाठ १४१९	१०—योगमायानुबन्धी अहताभिमान
५—वरणकर्म से वृत्त होता का सहजसिद्ध मानुषभावनिबन्धन प्रज्ञापराध	११—मानव की स्वतन्त्र सत्ता का अकिञ्चि कर व
६ प्रज्ञापराधानुगता असावधानी और यज्ञ स्वरूप का विकृति व	१२—तृणस्य कुञ्जीकरसोऽप्यशक्त

- १३ केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथानिशुक्तो
ऽस्मि तथा करोमि १४१६
- १४-आमसपणामक भक्तियोग का पावन
सस्मरण
- १५-श्रुत र्यामी की उपेक्षा से समचित
स्वबलातिमाना मढमानव १४२
- १६-श्रुतिमानानुगत अवश्यभावी प्रज्ञापराध
- १७-लौकिककर्मानुगता आशिक सफलता
से महान् यामोहन
- १८-प्राकृतक दिव्यकर्मों के सम्बन्ध में
सफलता का अभाव और मिथ्याभिमान
- १९-भावना के द्वारा स्वाभिमान (श्रुति
मान) का निराकरण एवं दवानुग्रह
प्राप्ति
- २ - अग्निरिदं होता वेत्तु का रहस्या
मक समन्वय
- २१- वत्तु प्रावित्रम् मन्त्रभाग का सस्मरण
- २२-अनुष्ठेय कर्म की अभीष्टा सफलता
- २३-होत्रकर्म मानं तर अपेक्षित द्वितीय लक्ष्य
- २४-यज्ञरूप पावनकर्म के उत्तरदायित्व से
समचित प्राणाग्निदेव
- २५ निन्द्य असत्प्राणो का दिव्यप्राणसीमा
से बहिष्कार
- २६-पुरयातिशयजनक-यज्ञ तपोदान रूपा
अष्टतमा-कर्मत्रयी
- २७ पुरयप्रवर्तिका इष्ट आपूत वत्तरूपा
अष्ट कर्मत्रयी
- २८-सजातीय पवित्रकर्मों के अनुग्राहक
द्विप्राणदेवता
- २९ ऋकामधुक् (यथा ह्यफलप्रदाता)
अठतम यज्ञकर्म और की निरति
शया पवित्रता
- ३ -अग्नि और सोम के रासायनिक
सम्मिश्रण से अभिव्यक्त पावन यज्ञकर्म

- ३१-अग्निदेव की लोकप्रासद्धा पवित्रता १४०
- ३२-दूषित मलिन अशुचि भावों के विना
शक अग्निदेव
- ३३ (क) अथामसस्था और प्रज्ज्वलित तत्र-
स्थ अग्निदेव
- ३३ (ख) परमया जु या बल्बलीति
- ३४-अग्निप्रज्ज्वलनानुगत शारीरिक पावित्र्य
- ३५-अग्नि का उद्गमण और वरुण का
प्रभुत्व स्थापन
- ६-गारुण शवशरीर का पूतिगन्धव
- ३७-दाहक अग्नि के साथ दाह्य सोम का
अतय्याम सम्बन्ध और तन्निबन्धन
अग्निप्रज्ज्वलन
- ३८-पवित्रधर्म का मूलप्रवक्तृक पारमेष्ठ्य
अथ म रूप दाह्य सोम
- ३९-पवित्र ते वितत ब्रह्मणस्पते ! का
सस्मरण
- ४ -पवित्र अग्नि और पवित्रतम सोम १४२१
- ४१-उभयविध पवित्रत्व—समन्वयात्मक
यज्ञपुरुष
- ४२-यज्ञ की सर्वाधिक पवित्रता एवं
तन्निबन्धन अठतम व
- ४३-प्रकर्षेण श्रवति और पवित्र
- ४४-रक्षाकर्मानुगत प्रावित्र शब्द
- ४५-पवित्रतमत्त्व और प्रावित्र शब्द
- ४६-अग्नीषोमात्मिका पवित्रता
- ४७-रक्षा मक धर्म का समन्वय
- ४८-आध्यात्मिक सस्था का रक्षक आदान
विसर्गक्रिया मक-यज्ञ
- ५ -आधिदैविक सस्था का अनुग्राहक-पार
मेष्ठ्यसोमाहुयात्मक यज्ञ
- ५१-सर्वरक्षकव निबन्धना अष्टतमा रक्षा
और तत्प्रवक्तृक अष्टतम यज्ञकर्म
- ५२-यज्ञो वै अष्टतम कर्म का सस्मरण

- ५३-प्रकृष्टरक्षाधम्म और प्रावित्र शब्द
समवय १४२१
- ५४ प्राणाग्निदेव का साक्षि व और तन्नि
व धन हौत्रकम्म तथा यज्ञक म
- ५५-साधु ते यजमान ! देवता मन्त्रभाग
का सस्मरण
- ५६-यज्ञक म की निर्वि नतानुगति
- ५-यज्ञकम्म की सफलता के प्रवक्त क
अग्निदेव
- ५८-अष्टतम अग्निदेव का अनुग्रहामक
सहयोग और तन्निव धना अभीष्ट
फलसिद्धि
- ५९-समथ-योग्य मानवश्र ठो का सहयोग
और लौकिक-कर्मों की सफलता
- ६-लोकसूक्ति का सस्मरण
- ६१-कम्मनिष्ठा को प्रणवलप्रधान और
मन्त्रप्रयोग १४२२
- ६२-आमविश्वास और कम्मसफलता का
अत्यतमद्वार
- ६३-धृतवतीम व यो सुचमास्यस्व मन्त्र
भाग का सस्मरण
- ६४-अग्निदेव का यज्ञसीमा में प्रवशामक
अनुग्रह
- ६५-भावानानुगत निगदमन्त्र
- ६६-समागत-अग्निदेव की परिचर्या
- ६७-अग्निदेव की परितृप्ति से अनुप्राणित
आज्याहुति
- ६८ अ वय्यु कृत आहुतिकम्म
- ६९-होता के द्वारा अध्वर्यु को प्रणवल
प्रदान और अग्निदेव का आतिथ्य
- ७-यजमानस्थानीया-जुहू
- ७१-यजमानशत्रुस्थानीय उपभृत्
- ७२ अत्तारूप जुहूपान
- ७३-आद्यरूप-उपभृत्पान
- ४-जुहूपभृतावास्यस्व का निषेध और
त कारण सम वय १४२२
- ५-भावाना मक्का यज्ञप्रक्रियाओं में
भावना का प्राधा य
- ७६-भावनाओं के अभियञ्जक नैदानिक
भौतिक यज्ञिय द्र य
- ७७-आहार्यारोपविधा से अनुप्राणिता
उपास क पना का सम य
- ८-आहार्यारोपविधा से अनुगत जु
और उपभृत् की क्रमश अत्ता आद्य
रूपता का नैदानिक सम वय
- ७९ भावना के माध्यम से वस्तुत्व का
समवय
- ८-एकवचानात् प्रयोग का स्वारस्व
- ८१-अस ये वमनि स्थिवा तत सय
समीहते का सस्मरण १४२३
- ८२-तस्मादकामिव वाह का ताविक
सम वय
- ८३ देवयुजा त्रिश्ववाराम् मन्त्र का सस्मरण
- ८४-यज्ञ के रहस्या मक पारिभाषिक फलि
ताथ का सम वय
- ८५-होतृकृत क निगदपाठ के द्वारा प्राणा
नि का यज्ञमण्डल में समावेश
- ८६-वित्तानुगता आमसत्ता का सम वय
- ८७-प्राणाग्नि के साथ प्राणदेवताओं का
प्रथिव धनरूप अर्थात्सम्ब ध
और आयाहुति
- ८८-देवयुग रूप पारिभाषिक धर्म
और प्राणाग्नि
- ८९-सर्वत्र चिदा मयागित और श्रुधिदृष्टि
- ९ ज्योतिर्मय देवताओं का पावन सस्मरण
- ९१-योतिर्विवक्त की महिमा विवक्त त्रयी
- ९२-त्रिविध ज्योतिर्भावों से अनुप्राणित
तीन लोक

६३-पार्थिव प्राणाग्निरूप वैश्वानर	१४२३	१ २ (क) पितरोवाक्यमिच्छन्ति और नमस्कार	
६४-वश्वानररूप विरा पुरुष	१४२४	से तुष्ट पितर दवता	४२४
६५-वश्वानरानुगत सुप्रसिद्ध पाच पशुओ		११२-(ख) नमस्य पतर	
का नाम दिग्दशन		११३-वाग्विकृतिरूप नूतमय मनुष्य और	
६६-पार्थिव आग्न की कृष्णरूपता और		तत्प्रसन्नता का अयतम साधन तत्	
कृ गोऽस्याखरे ठ का सस्मरण		स्तुतिकम्म	
६७-कृ णमृगाग्नि की सहयोगिनी रूप योति		१ ४ यश रयापनामिका लोकैषणा से स्व	
६८-आ तरिद्ध्य देवताओं का सस्मरण		लितमना माव	
६९-सौर योतिम्म दिग्देवता		११५- डय मानव	
-दिय सौर देवता और तन्निबधना		११६- इडामहै इडन्याच् नमस्याम् नमस्यान्	
विद्यासमुच्चिता यज्ञ-तपो दान-लक्षणा		यजाम यज्ञियान् इयादि निगदमन्त्राथ	
श्र ष्ट कम्मत्रयी		समवय	
१ १-आ तरिद्ध्य चाद्रदवता और तन्नि		११ -तालिका के माध्यम से प्रस्तुति का	
ब धना विद्यानिरपेक्षा इष्ट आपूर्ण-दत्त		स्पष्टीकरण	१४२५
लक्षणा सक मत्रयी		११८-दृष्टय तरनिबधना देवत्रयी	
१ २-पार्थिव भूतदवता और तन्निबधन		११९-आधिदविक सगुण इष्टदेवता	
गृह्य सामयान्चारिक लौकिक (स्मात्त)		१२ -आधिभौतिक-सगुण मनु यदवता	
सत्कम्म		२१-स्तुतिभावा मक आ मसमपण और	
१ ३-पार्थिव योतिर्भाग और तन्निबधन		उपास्यदेवता की सन्तुष्टि	
मानवसग		१२२-नमस्कारमात्र से सन्तुष्ट होजाने वाले	
१ ४ आ तरिद्ध्य ज्योतिर्भाग और तन्नि		पूज्य श्र ष्ट मानव	
बधन पितृसर्ग		१२३-यज्ञ से तुष्ट होने वाले यज्ञिय दिव्य	
१ ५-दिव्य-ज्योतिर्भाग और तन्निबधन		देवता	
देवसग		१२४-त्रिविध सस्थानों का सस्मरण और	
१ ६-प्रजासगत्रयी और अनिदेव		तत्स्वरूप-समवय	
१ ७-ज्योति सगत्रयी		१२५-यज्ञनीय प्राणदेवताओं से अनुप्रापित	
१ ८-लोक सगत्रयी		महवपूण-यज्ञामक साधन	१४२५
१ ९ द्युलोकावच्छिन्न सौर देव देवता और		१२६-त्रैलोक्यविभूति का ससाधक यज्ञकम्म	
उनका यज्ञियत्व		१२ -यज्ञिय और अयज्ञिय भावों का सम	
११ -अन्तरिक्षलोकावच्छिन्न चान्द्र पितर		तुलना मक-सस्मरण	
दवता और उनका नमस्यत्त्व		१२८-यज्ञिय मानव और अयज्ञिय किंपुरुष	
१११-पार्थिवलोकावच्छिन्न आग्नेय ब्राह्मण		१२९ अश्व-गौ अवि अज-नामक यज्ञिय	
देवता और उनका इडेन्यव	१२२४	पशुवर्ग	

- १३ -गौर गवय उष्ट शरभ नामक अयशिय पशुवर्ग १४२५
- १३१ बङ्गा बगधा चरपादा नाम की अयशिया प्रजा त्रयी
- १३२- प्रजा ह तिष्ठो अ यायमीयु का सस्मरण
- १३३ अयशिया माषादि (उव आदि) ओषधिया
- १३ जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवता य इ यादि निगमवचन का सस्मरण मक सम वय
- १३५-यज्ञ का टफलजनक-व-सम वय
- १३६ यज्ञ का महतोमहीयान् अ ष्ठतम-कम्म-व १४२६
- १३७-यज्ञ का समादर और सवसिद्धि
- १३८-यज्ञ का तिरस्कार और सवविनष्टि
- १३९-यज्ञपद्धति से अनुगत आधिभौतिककम्म और तद्द्वारा यज्ञातिशय की अभि व्यक्ति
- १४ -यज्ञकम्मसमष्टि और यज्ञातिशय की सर्वाङ्गीणता
- १४१-यज्ञातिशयरूप दवा मा का सस्मरण
- १४२-नव (९)-व्याहृ-या मक छ गादापनकम्म के तात्विक समन्वय का सिंहावलोकन
- १४३-पाञ्चभौतिक शरीर और उसके ऊँध्व सौर अवाञ्च पार्थिव प्राण का सस्मरण
- १४४ अकरूप अवा तर साक्षप्राण
- १४५-सप्त शीषण्य प्राणों का नाम सस्मरण
- १४६ ब्रह्मप्रथ्यनुगत प्रतिष्ठाप्राण
- १४७-उपस्थानुगत प्राण
- १४८-अवातर नव (९) प्राणों का स्वरूप सम-वय
- १४९-नवप्राणसम्पत्ति का सग्राहक स्रु गादापनकम्म

इति-स्रु गादापनकर्मोपपत्ति

१



२-अथ-आश्रावण प्रत्याश्रावण कम्मोपपत्ति

- १५ -स्रु गादापनक र्मान तर भावी क म का सस्मरण १४२७
- १५१-अ वय्यु के द्वारा आश्रावण प्रया श्रावण क म मा अनुगमन
- ५२ सुप्रसिद्धा यज्ञानुबन्धिनी पाच ऋतुण
- १५३-हेम त और शिशिर का अभिन्न व एव पञ्चर्तु स्वरूप सम-वय
- १५४-पञ्चर्तु समष्टिरूप स व सर
- १५५ स व सररूप-यज्ञ
- १५६-यज्ञ के द्वारा प्रजापति से चराचर सग का निर्माण
- १५७ प्रजास्वरूप निर्माण में अग्नि सोममयी साम्ब सरिकी यज्ञमात्रा का प्रतिक्षण विद्य सन
- १५८- यज्ञ की सौरमण्डलस्थ दि-यदेवताओं से अपक्रांति का रहस्यामक समन्वय
- १५९-नियतभावानुबन्धिनी यज्ञापक्रांति
- १६ अनियाभावानुबन्धिनी—यज्ञापक्रांति
- १६१-यज्ञ की स्वरूप स पत्ति का सस्मरण
- १६२ भूपिण्ड की परिधि का विच्छेद और सौरयज्ञ का अग्रगमन
- १६३-सौरप्रकाशवि छेदानुगत-सैहिकेय छाया मय राहु
- १६४ यज्ञ की नियतापक्रान्ति का तात्विक स्वरूप सम वय
- १६५ यज्ञानुगता नियतापक्रांति और शि ब धन ब्रह्मौदन
- १६६-पार्थिव पदार्थों के उत्पादनकर्म से असस्पृष्ट ब्रह्मौदना मक यज्ञ

- १६७-नियतापक्रात यज्ञ से सम्बन्ध की स्वरूप निष्पत्ति १४२७
- १६८-अश्वस्वरूपामक सम्बन्ध सरयज्ञ
- १६९-अश्वामक यज्ञ से असस्पृष्ट प्रकृत आश्रवण प्रयाश्रवण कर्म निबन्धन आख्यान
- १७०-अनियतापक्रातिरूप यज्ञ और तन्निबन्धन आख्यान
- १७१-नियतापक्रात पुनगत स्थिर ब्रह्मोदन लक्षण (सूय-स्वभोग्यलक्षण) सम्बन्ध सरयज्ञ से यज्ञमात्रा का निबन्धन १४२८
- १७२-तापो सग के द्वारा विस्मयन का साक्षात्कार
- १७३-विस्मयता यज्ञमात्रा रूप प्रवर्ग्यभाग
- १७४-उच्छिष्टात् जज्ञिरे सवम् इ यदि आश्रवण वचन का सम्मरण
- १७५-तत्तद्विशेषभावोपत्ति में तत्तत् समय विशेषों से अनुप्राणित प्रवर्ग्यमक सौरयज्ञ और तद्रूपा यज्ञानुगता अनियता प्रक्राति
- १७६-प्रकृताख्यानानुगत प्रवर्ग्यभाव
- १७७-विस्मय भाग के पूरक अन्न-अन्नादामक आदान विसर्ग-निबन्धन सहज यज्ञक्रम के पारिभाषिक तथ्य का स्वरूप समन्वय
- १७८-सौरदेवताओं के स्वरूप रज्जक यज्ञ की प्रवर्ग्य के द्वारा अपक्राति
- १७९-अपक्रान्त यज्ञ का पुनरावचन
- १८०-प्रदाता का ही भोक्तृत्व
- १८१-(रज्जक का ही भक्षकत्व)
- १८२-यो मा ददाति स इ देवमावत् का सम्मरण
- १८३-प्राणाग्निरूप होता
- १८४-आदित्यप्राणरूप-उद्गाता
- १८५-चाद्रसोमरूप ब्रह्मा १४२८
- १८६-निय-ऋत्विजों के प्रयास से (यज्ञकर्म से) दिव्ययज्ञ का पृथिवी से सूय के प्रति पुनरावचन
- १८७-अपक्रात यज्ञ का पुनरावचन और प्रकृत आख्यान
- १८८-प्राकृतिक निय यज्ञानुबन्धी गमनागमनभाव और प्रकृत आख्यान
- १८९-वैधयज्ञ की आधारभूमि निय यज्ञ
- १९०-देवाननुविधा वै मनुष्या
- १९१-यज्ञ दवा अकुवस्तत् करवाणि
- १९२-ओश्रावय रूप आश्रवणकर्म और अपक्रात दिय यज्ञ का वैधयज्ञ में तद्वारा समावेश
- १९३-ओश्रावय का तापर्याय समावेश १४२९
- १९४-अस्तु श्रौषट् रूप प्रयाश्रवणकर्म का तापर्याय समावेश
- १९५-अपक्राता यज्ञसम्पत्ति का सम्राहक प्रक्रान्त आ प्र कर्म
- १९६-दिव्ययज्ञलानुगति के माध्यम-से ही वैधयज्ञ का साफल्य
- १९७-ऋत्विजों की भावना से अनुगत दिय यज्ञ
- १९८-यज्ञमान के समावेश से अनुप्राणित आ प्र कर्म
- १९९-सम्बन्धप्रजापत्यवयव भूत तद्रस से परिपुष्ट अग्न्यादि देवताओं के द्वारा ही कर्मोक्ति कर्तव्यता का स्वरूप-सम्पादन
- २००-तेनोपावृत्तेन रेतसाभूतेन ऋत्विजसम्प्रदाय चरिन्ति इत्यादि श्रुति वचन समन्वय और आ प्र कर्म
- २०१-ऋत्विजों का भावनामक मानस-जगत् और तत्र अपक्रान्ता दिव्या यज्ञसम्पत्ति का समावेश

- २२ भवनात्मक यज्ञावतान की ससिद्धि के लिए ऋषिजों का पारम्परिक सन्निधानभाव १४२६
- २३-मनोवाक रूपा यज्ञवत्तनी का पारिभाषिक स्पष्टीकरण
- २४-ऋषिविग् भवनानुगता मन्त्रवाक्
- २५-मध्यस्थ-गर्भीभूत प्राण
- २६ यज्ञ का मौलिक स्वरूपात्मक प्राणतव
- २७-वाकतन्त्र की पारिभाषिकी मौलिकता का संस्मरण
- ८- वाक शब्द के रहस्यात्मक प्राण मनो गर्भित पारिभाषिक निवचन का समन्वय और तन्निबधना मौलिकता
- २९-मन प्राण वाक त्रयी का मग्राहक वाक् शब्द
- २१ मनोर्गर्भित प्राणात्मक यज्ञ
- २११-प्राण यापार का आलम्बन भूतभाव
- २२ भूताधारणैव प्राण की बलप्रयोग में सफलता
- २१-भूलोक से द्यपृष्ठपर्यन्त अभिवाप्त वाङ्मय भूतयज्ञ
- २१४-लौकिकी मर्यावाक्
- २१५-मर्यावाक् के द्वारा लोभव्यवहार का सञ्चालन
- २१६-अलौकिकी वाक्
- २१७-शास्त्रीय कर्म की सञ्चालिका दिये वाक
- २१८-मर्यादालौकिकी-वाक से समतुल्यता व्यञ्जनात्मिका अनुष्टुप् वाक
- २१९-अमृता अलौकिकी वाक से समतुल्यता उदात्त-अनुदात्तादि स्वरात्मिका बृहती वाक
- २२-यज्ञस्वरूप प्रतिष्ठात्मक वाग्भाव १४३
- २२१-वाक हि-यज्ञ
- २२२ वाक् उ-रेत

- २२३-देवाह्वानलक्षणा ओश्रावये-यादिरूपा दि यावाक से अपक्रा तयज्ञ का पुनरावर्तन १४३
- २२४-प्राकृतिक नियम यज्ञ के १ अवयव
- २२५-अग्निरूपै यज्ञ का संस्मरण
- २२६-यज्ञाग्नि के सुप्रसिद्ध त्रिषत् पञ्चदश एकविंश (६१५२१) रूप तीन विक्रम
- २२-त्रिषत्स्तोमात्मक पार्थिव प्रथम विक्रम
- २२८ पञ्चदशस्तोमात्मक आतरिद्य द्वितीय विक्रम
- २२९-एकविंश स्तोमात्मक द्वितीय तृतीय विक्रम
- २३ एकविंशस्थ आदि-य
- २३१-स तदशस्तोमानुगत मौलिक स्वरूप
- २३२ सप्तदशावयवो का अविच्छेदात्मक एकरूपात्मक समन्वय १४३१
- २३३ सप्तदशावयवानुगत अविच्छिन्न सत्तनन भाव निबधन यज्ञाग्नि का अपेक्षित संग्रह
- ३४ इतस्तत दृष्टिपातनिरोधपूर्वक अप्रस्तुत वाक्स्यमानुगत-मन्त्रवाङ्मय आश्रावण प्रयाश्रावण कर्म की अविच्छिन्ना सप्त दशावयव सम्पत्ति
- २३५-ऋषिजों की अविच्छिन्ना सम्प्रदान प्रवृत्ति और सप्तदशावयव द्विव्ययज्ञ की परिपूर्णता
- २३६-भगवान् साम्बसदाशिव के लिए अपेक्षिता अविच्छिन्ना जलधारा
- २३७-अभिषेकात्मक पूर्णपात्र का संस्मरण
- २३८ यज्ञकोश परिपूरिका सप्तदशमात्राओं का अविच्छिन्नरूपेण अनुगमन और फलिताथ का समन्वय

- २६-ब्राह्मणानुगता ऽ (अष्टमी) काण्डका से १५ (पद्महवी) कण्डिका पथ्यत सद्भ से अनुगत वाक्स्यमानुगत सम्प्रदानकर्म्म वाक्स्यम का प्रासङ्गिक निरूपण तथा अप्रस्तुत वाग्निबन्धन दोष-स्वरूपोद्घाटन नामक तीन विषयो का स्पष्टीकरण १४३१
- २४ अपेक्षिता श्रवधानता की याप्ति का दिग्दशन
- २४१-लौकिक कर्मानुगता अविच्छिन्नता और तन्निबधना सफलता का समन्वय
- २४२-प्रज्ञापराध तथा मनोऽनुगत चाञ्चल्य के माध्यम से सर्कापता क मप्रवृत्ति में अन्यान्य सर्कापो का अनुधावन और तद्रूप श्रवधानदोष १ ३२
- २४३-व्यवच्छेदमूला असफलता और निराशा में निमग्न मानव
- २४४-लक्ष्य की अन यानुगति और सफल मानव
- २४५-श्रव्यवच्छेदमूला-पारस्परिक सम्प्रदाना-मक ऐक्यमय श्रवनिबधना (सविदाना) अनन्यमनस्कता का कर्मासङ्घि में श्रान्यतमद्वारव
- २४६- एवमेव यज्ञो भक्त य आदेश का समन्वय
- २४७-आश्रावण प्रयाश्रावण कर्मानुबन्धी निगदमन्त्र की पाच याहृतिया
- २४८-श्रदात्मिका वाक् के चार विवक्त और ऐतरेयश्रुति
- २४९-तुरीय-वाचो मनुष्या वदति का समन्वय
- २५ निगदमन्त्र और याहृतभाव
- २५१-दिव्ययज्ञ का श्रग्निमय व
- २५२-दिव्याग्नि का वाढ मयत्त्व

- २५३-पञ्चयाहृता मक निगदमन्त्र के सम्बन्ध म महवपूर्ण प्रश्न और उसका त्रिधा स्वरूप विश्लेषण १४३२
- २५४-आयामिक-यज्ञानुगता ऽ षि और प्रश्नसमन्वय (१)
- २५५-अधिदवत-लक्षण-सवहुत-यज्ञ
- २५६ विश्वजनक-यज्ञ का पञ्चावयवत्व-समन्वय
- २५७-आधिदैविक विश्वयज्ञ के सुप्रासङ्ग पाच पर्वों का नाम सस्मरण
- २५८-पञ्चावयव आधिभौतिक यज्ञ
- २५९-अध्यामसस्था के आमा शरीर-इन्द्रियवग रूप तोन प्रमुखपव १४३३
- २६-मलाधाररूप आमभाव और तद्रूप ब्रह्ममय तव
- २६१-ब्रह्मसत्यामा के अव्यक्तादि भूताम-पथ्यत पाच पव
- २६२-शरीरामक भतसय तव
- २६३-भूतसय के आकाशादि मृदन्त पाच पव
- २६४-हाद्रयवर्गामक दवसत्य तत्व
- २६५-वाक् प्राण चक्षु श्रोत्र मनोरूप (देवसय के) पाँच श्रवयवय
- २६६-दैवत भौतिक-आयामिक-यज्ञत्रयी की (प्रत्येक की) पञ्चावयवयता का पारिभाषिक-समन्वय
- २६७-आश्रावण प्रयाश्रावणानुगता अपेक्षिता पञ्चावयवता
- २६८-द्वितीया दृष्टि से प्रश्नसमन्वयोपक्रम (२)
- २६९-पार्थिवी-स्तौम्या त्रिलोकी के त्रिवृदादि त्रयस्त्रिंशन्त पाँच विवक्त
- २७-पञ्चस्तोमानुगत पञ्चविध प्राणदेवता
- २७१-पञ्चयाहृत्यामक प्रश्न

२७२ तृतीय ऋिकोण निब धन (३)
समन्वय

२४३३

२७—मूकेद्रत ममहिमा प यत् वार्ते के
अनातर ३३ माहमा ववत्त

२७४—त्रयस्त्रिंशत्तवो य वितनिरं का
सस्मरण

२७५—अहर्गणा मक तन्तुदवताओ का सस्मरण

२७६—वाकतन्त्र का षटकार लक्षण षटकार
और तदनुबधी सहस्र गौत व

२७७ वाक षटकाररूप षटकार

२८—वौषट् रूप षटकार

६—वषटकारगर्भिता पाङ्क्तभावनिब धना
यज्ञसम्पत् और पाच याद्दातयो के
ग्रहण की अ वथना

२८—ओश्रावय और त्रिवृ स्ताम (६)
का सग्रह

१४४

२८१ अस्तुश्रीषट और पञ्चदशस्तोम
(१५) का सग्रह

२८२ यज और सप्तदशस्तोम (१६) का
सग्रह

२८३—ये यजामहे और एकविंशस्तोम
(२१) का स्वरूप-सग्रह

२८४ वौषट और सप्तविंशस्तोम (२७)
का स्वरूप-सग्रह

२८५—समष्टि और त्रयस्त्रिंश (३३)—
स्तोम का स्वरूप-सग्रह

२८६—पाङ्क्त यज्ञ से उ पन्न पशुसग की
पाङ्कता

२८—पाङ्क्तसोमयाग से अनुप्राणिता ऋतु
रूपा पाङ्कता

२८—वैध-मानुषयज्ञ की पाङ्कता

२८९ सबसाधक-यज्ञप्रजापति का सस्मरण

२९—प्रजापतिरववेद—सर्व—यदिद किञ्च
निगम का सस्मरण

२९१—प्रजापति के त्रिविध-महिमा विवर्त्तो
का सिंसावलोकना मक सम्मरण

१४३४

२९२—सुर्यभावानुबधी पिएड

६३—इश्यभावानुबधी मण्डल

२९—पिएडकेन्द्राविक्रम अनिरुक्तप्रजापति

२९५—महिमाके द्रावच्छिन्न उद्गीथप्रजापति

२९६—उद्वचभावानुगत सवप्रजापति

२९ चतुस्त्रिंश प्रजापति

२९८—सप्तदशसत्यानुगति और तद्द्वारा

निदानमा यम से—उद्गीथप्रजापति

नामक सप्तदशप्रजापति की अग्नियज्ञ

स पत् का परिग्रहण

२९९—सत्रहवा पारभाषिक अहगण

३—नवाहयज की उपक्रमममि औ १७
अहगण

३१—श्वतद्वीपनिजासी सयनारायण विष्णु
भगवान् का सस्मरण

३२—नवाहयज का अहगणा मक स्वरूप
सम वय

३३—यज्ञामक विष्णु का सयधम्म

३४—तत् यत् सयम् असौ स आदि य का
सस्मरण

३५—उपासकों की व्रतच यां

३६—१७ २१ २५ अहर्गणत्रयी और ब्रह्म
विष्णु इन्द्र विष्टप-का सस्मरण

१४३५

३७—अग्नियज्ञमण्डलसीमानुगत-सप्तदश—
अहर्गण और सप्तदशो वै प्रजापति
(यज्ञप्रजापति)

३८—(क) ओश्रावये यदि पञ्च व्याहृतियों के
सत्रह अक्षर और तद्द्वारा सप्तदश—
यज्ञ प्रजापति का सग्रह

३८—(ख) ओ—आ व—य—इति चतुर्भि

३९—अ—स्तु—औ—षट् इति चतुर्भि

३९—य—ब—इति—द्वाभ्याम्

- ३११-ये-य-जा-म-हे इति पञ्चाम १४३५
 ३१२ वी-षट-ज्ञति द्वाभ्याम्
 ३१ तस्मै ज्ञा मने नम

अत्र प्रक्रान्त-ब्राह्मणस्य १७ करिडका-उपरता

अथ आश्रावण प्रत्याश्रावण- कर्मनिबन्धन-रहस्यपूर्ण “वृष्टिविज्ञानम्”

- ३१४-सप्तदशस्तोमा मक आहवनीय प्रदेश
 रूप ब्रह्मावष्टप ४३५
 ३१५-नाचिकेत आग्नेय-स्वग
 १६-नचिकेता के यमानुगत प्रश्न का समा
 धानरूप सप्तदशस्थ स्वर्ग्याग्नि
 ३१७ स्वगप्रापक सोमयाग से स्वगगामी
 दैवा मा का स्वगगमन और स्वगस्व
 रूप-परिचय
 ३१८-पञ्चावयवा-सप्तदशकलात्मिका-स्वर्ग्याग्नि
 लक्षणा प्राजापत्या सम्पत्ति का सस्मरण
 ३१९-परोक्षफलाकर्षणापेक्षया प्रयत्न फल-
 कामुक मानवीय मन १४३६
 ३२ प्रयत्नफलानुगता मानवीया अपे-
 क्षाबुद्धि
 ३२१-आधिभौतिक सा य एव साधनो से
 समन्वित कम्मकाण्ड
 ३२२-परोक्षफलानुगत ज्ञानयोग और
 भक्तियोग
 ३२३-परोक्षफलसाधक-यज्ञ की प्रयत्न-
 फलसाधकता का प्रामाणिक-सस्मरण

- ३२४-वादक यज्ञकर्मों की पारलौकिक-
 फलसाधकता पूर्विका योग-क्षेम निब-
 धना ऐहलौकिक फलसाधकता का
 सम-वय १४३६
 ३२५-प्रयत्नफलानुगत-ज्योतिष्चक्र एव
 भुवनकोशामक द्विविध विवत्त
 ३२६-यच्चयावत् भौगोलिक कामनाएँ और
 अनुकूलभावनिब धना वर्षा
 ३२७ निकामे निकामे न पञ्चयो वषटु
 का सस्मरण
 ३२८ ओषधि वनस्पति रूपा पार्थिवी-सम्पत्ति
 की अधिष्ठात्री-वर्षा
 ३२९ समस्ता ऐहलौकिक कामनाओ का
 तथा पार्थिवी भौगोलिक कामनाओ का
 क द्रीकरण मक अन्नबल
 ३३-अन्नबल की मूलप्रतिष्ठात्मिका खगो-
 लीया वर्षा
 ३३१-प्रकृति का प्रत्यक्षा मक प्रथम अनुग्रह
 वर्षा
 ३३२-पार्थिव ओषधि वनस्पति-जल पशु
 द्रव्य स पत्तिरूप द्वितीयानुग्रह
 ३३३ प्रथमानुग्रह (वर्षामक) के आघार
 पर ही द्वितीयानुग्रह की प्रतिष्ठा
 ३३४-शास्त्रीय-वैदिक-यज्ञादि कर्मों के
 सम्बन्ध में फलदृष्ट्या अज्ञानों की
 महती भ्रान्ति एव उसका आमूलचूड़
 निराकरण प्रयास
 ३३५-प्राणा मक परोक्षातिशय-ससाधनपूर्वक-
 प्राकृतिक रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक शि-
 षण-
 पूर्वक आधिभौतिकी- समस्ता प्रत्यक्ष-
 कामनाओ का भी पूरक भारतीय यज्ञ-
 काण्ड और तदुपेक्षा से भारतवभव
 का सवनाश
 ३३६-यज्ञकम्म के सुप्रसिद्ध ऋकामुक
 (अभीष्ट फलप्रद) विशेषण की
 अ वर्थता

- ३३७-पुरोवात अत्र विद्युत्-स्तनयि नु चतु-
ष्टयी का एकत्र सम वय और वर्षा-
कम्म की प्रवृत्ति १४३६
- ३३८-पुरोवात और पुरवाई हवा
- ३३९-प्र यत्नदृष्ट धूम ज्योति-सलिल मरुत्-
(बा प आग्नि अप वातवायु) की
समष्टिरूप-अत्र और वहल १४३७
- ३४-विद्युत् और प्र यत्नदृष्ट चाकचिक्य
- ३४१-स्तनयि नु और गज्जन-तज्जन
- ३४२-प्रथम सञ्चारी पुरोवात
- ३३-ऋतभावापन्न अत्र खण्डों का एकत्र
सघात
- ३४४-अत्रघनता से समुपन्न-वाय्वग्नि -
जलीयघषणानुगत विद्युत्-प्रवाह
- ३४५ तदनु-गज्जनभावाभि-यक्ति
- ३४६-तड तड रूपा प्रति वनि और वर्षा
का आरम्भ
- ३४७-ओश्रावय रूपा प्रथमा-व्याहृति और
पुरोवात का आविर्भाव
- ३४८-अस्तु श्रौषट रूपा द्वितीया-व्याहृति
और अत्रसघात
- ३४९ यज रूपा तृतीया व्याहृति और
विद्युत्प्रवाह
- ३५-ये यजामहे रूपा चतुर्थी व्याहृति
और स्तनयि नु की अभिव्यक्ति
- ३५१-वौषट रूपा पञ्चमी-व्याहृति और
वर्षा का आरम्भ
- ३५२-भारतीय वैदिक विज्ञानानुबन्धिनी एक
महती विप्रतिपत्ति
- ३५३-रहस्यपूर्णा दुराधिगम्या विलुप्तप्राया
वैज्ञानिकी वदिकी-परिभाषाएँ और
विज्ञान की दुरूहता
- ३५४-परिभाषाज्ञान से असस्पष्ट वैदिक-
त ववाद की समस्यामिका जटिलता

- ३५५-परोक्षप्रिय ऋषियो की साङ्क तिकी
परोक्षा भाषा और तद् रधिग यता १४३७
- ३५६ एकत्र विषयप्रतिपादानाभावरूपा-
द्वितीया महती समस्या और तन्नि-
ब धना दुरूहता
- ३५७-समस्ता वेदराशि के म थन से अनु-
प्राणिता समस्या निराकृति
- ३५८ प्रक्राता प्रतिज्ञाता-वृष्टिविद्या और
तदनुबन्धिनी पारभाषिकी जाटलता
- ३५९-प्रक्रान्त ब्राह्मण की परिमित श दाभिका
१८ वी कण्डिकारूपा एक कण्डिका
और तदनुप्राणिता वृष्टिविद्या की दुरू
हता
- ३६ वृष्टिविद्यानुगत वैदिक स्थल विशेषो
का समाश्रय
- ३६१ वृष्टिविज्ञाननिब धन प्रस्तुत प्रकरण के
मा यम से तत्स्वरूपविश्लेषण के
सम्ब ध में किञ्चिदिव निवेदन का
दुस्साहस
- ३६२-वृष्टिविद्यानिब धन एक ही तत्ववाद
और उसका अनेक दृष्टियों से
समन्वय
- ३६३-छा नोग्योपनिषत्-से सम्ब ध रखने
वाला पञ्चाग्निविद्यानुगत दृष्टिकोण
और तन्निब धना-वृष्टिविद्या
- ३६४ वृष्टिविद्यानिब धन द्वितीय दृष्टिकोण का
संस्मरण
- ३६५-आकाशात् वायुम् १४३८
- ३६६ वायुभू वा धूमो भवति
- ३६७-धूमो भू वा अत्र भवति
- ३६८-अत्र भू वा मेघो भवति
- ३६९-मेघो भू वा प्रवषति
- ३७-द्यु लोकस्थ श्रद्धात व की सोम के द्वारा
वृष्टिरूप में परिणति

- ३७१-द्युलोकस्थ खगोलीय तत्वविशेष का वृष्टिजनकत्व १४३८
- ३७२-दोनों दृष्टिकोणों से विभिन्न एक तीसरे दृष्टिकोण का दिग्दर्शन
- ३३-सावित्राग्नि का अजस्ररूपेण द्यल्लोकात् भूलोक की ओर आगमन
- ३७४ पार्थिवा न का अजस्ररूपेण भूलोकात् द्युलोक की ओर गमन १४३९
- ३७५-आदित्यानामयनम् नामक यज्ञ का सस्मरण
- ३७६-अङ्गिरसामयनम् नामक यज्ञ का सस्मरण
- ३७७-प्रतिफलित आदियाग्नि की अश्वरूप में परिणति
- ३७८-आदिय और अङ्गि की प्रतिस्पर्द्धा
- ३७९-अङ्गिरोऽग्नि के द्युलोकगमन का सस्मरण और तन्निवधना अथवा श्रुति
- ३८-भूपृष्ठ पर व्याप्ता जलमात्रा की वा प रूप में परिणति
- ३८१-बाष्पावस्थापन्ना पार्थिवी जलमात्रा का द्यल्लोकानुगामी अङ्गिरोऽग्नि में समावेश
- ३८२-अङ्गिरोऽग्नि से अन्तरिक्ष में परियक्ता बाष्परूपा पार्थिवी जल मात्रा का आन्तरिक्ष मरुद्वायु धरातल में गर्भाधान
- ३८३ पार्थिवी जलमात्रा का गर्भधारण
- ३८४-सौर रश्मियों की तीव्रता और निदाघ काल
- ३८५ ग्रीष्मावसानरूप निदाघकालावसान और सौर रश्मियों की निम्नभावानुगति
- ३८६-रश्मियों का निम्नानुगतित्व और मरुद्धरातल गभस्था जलमात्रा का भूपिण्ड पर पतन १४३९
- ३८७-वर्षाजलोपति का क्रमिक स्वरूप-समवय
- ३८८-द्युलोक में पार्थिव अग्नि के द्वारा प्रचण्ड जलवषण
- ३८९ भूलोक में आन्तरिक्ष पञ्चन्य के द्वारा प्रचण्ड जलवषण
- ३९ उभयलोकानुगता द्यावापृथिव्या समाना वृष्टि
- ३९१-अग्निर्वा न्तो वृष्टिमुनीरयति १४४
- ३९२-मरुत सृष्टा नयति
- ३९३-यदा -खवसावादि यो-न्यड रश्मिभि पर्यावत्त ते अथ वर्षति
- ३९४-भूमि पञ्चन्या जिन्वन्ति
- ३९५-दिव जि वन्त्यग्नय
- ३९६-एक विभिन्न दृष्टिकोण का सस्मरण और तत्समवय प्रयास
- ३९७-आहवनीयाग्नि में प्रदत्ता आहुति
- ३९८ आहुति का आदियाग्नि में गमन
- ३९९-आहुतिग्राहक आदित्यदेवता के द्वारा प्रतिदान में जलवषण
- ४ -अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यक् आदित्य-मुपति ठते
- ४ १-आदि याञ्जायते-वृष्टि
- ४ २ वृष्टेरन्नम्
- ४ ३ तत प्रजा
- ४ ४-पञ्चम प्रासङ्गिक-दृष्टिकोण का सस्मरण और तत्समवय प्रयास
- ४ ५-अन्नाद्भवति भूतानि
- ४ ६-पञ्चन्यादन्नसम्भव
- ४ ७-यज्ञाद्भवति-पञ्चय

- ४८-यज्ञ क मसमुद्भव १४४
- ४९-कम्म ब्रह्मोद्भव विद्धि
- ४१ ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्
- ४११-तस्मात् सवगत ब्रह्म नि य यज्ञ प्रति
ठितम्
- ४१२-दृष्टिकोणभेदाभज्ञा विवेचनशली
- ४१३ वस्तु । या सभी दृष्टिकोणा का स भा
वित समन्वय
- ४१४ प्रथम दृष्टिकोण और प्रकृत ब्राह्मण
श्रुति प्रकरण
- ४१५-प्रथमदृष्टिकोण के मा यम से ही
वृष्टिविद्या का स्वरूप सम वय प्रयास १४४१
- ४१६ छादोग्यश्रुति का वज्ञानिक समन्वयो-
पक्रम
- ४१७ महाभाग श्वेतकेतु की मह वपूर्णा
जिज्ञासाएँ एव तसमाधान के लिए
उनका कुरुपाञ्चालों की विद्वत् परिषत्
से प्रश्न
- ४१८ जैविलि के द्वारा श्वेतकेतु से क्रमप्राप्त
व य यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुष
वचसो भवति इत्यादिरूप पञ्चम
प्रश्न
- ४१९-समाधान में असमथ श्वेतकेतु और
जैविलि के द्वारा ही प्रश्न का समाधान
- ४२ तद तरप्रतिपत्तौ रहति-स परि वक्त
प्रश्नानरूपणाम्याम् रूप वय्यासकि-
सूत्र का सस्मरण और पञ्चाग्निविद्या
स्वरूपोपक्रम
- ४२१ अवारोहक्रम और अप्तत्त्व स पुरुषो
पत्ति
- ४२२ आरोहक्रम और अप्त व का पुनग
मन
- ४२३-(क) जीवावरोहणवत् जीवारोहण में भी
अप्तव का गमन और श्रु यथ
समन्वय
- ४२३-(ख) ता एव ह्युपपत्त का सस्मरण १४ ५
- ४२४ जीवामा भूतसूक्तै स परि वक्त एव
लोका तरे गच्छति इति नि कष
- ४२५ पञ्चाग्निविद्या मक अग्निक्म से अनुप्रा
णित पुरुषसग
- ४२६-वैध अग्निहोत्रानुगत अग्नि समिध
अङ्गार-विस्फुलिङ्ग हविद्र व्य- यादि
भौतिक साधन
- ४२७-अज्ञानाद लक्षणा सोमानिद्वयी
- ४२८-प्राकृतिक नि य अग्निहोत्र की ससाधिका
त वदयी
- ४२९ बृहतीमध्यस्थ सावित्रानामय बृहद्भानु
(सूय)
- ४३ -सावित्राग्नि की अजसा अज्ञानानेच्छा
- ४३१ विभ्राट सूय की बृहती बुभुक्षा का
शमन करने वाला विभ्राडभागापन्न
महदन्न और तदाहुति
- ४३२-महदानाहुतिका महतोमहीयान् प्रभाव
और सृष्टिनि माँण प्रक्रियाओं में सतत
स्वमात्राओं का अपण करते रहने वाले
भी सूय की स्वशरीर निबधना अक्षुण्णता
- ४३३-महामहिम पारमे थ्य मण्डल का
भागव स्नहगुणक महान् अन्न
- ४३४-पारमे थ्य अन्नसोम और ब्रह्मणस्पति
- ४३५-पारमे थ्य सोम का मौलिक स्वरूपा मक
अबलक्षण श्रद्धात व
- ४३६-श्रद्धामिका सोमाहुति से सावित्राग्नि
मूर्ति सूय का प्रचण्डरूपेण प्रज्वलन
- ४३७-सौरप्राणानिरूप अनित व
- ४३८ सूर्यपिण्डा मक भूतपिण्ड और अङ्गार
- ४३९ सूयत प्रम्यरूपेण सवत प्रसारि
धूम लोहित-हरित-आदि अग्निपुञ्ज
और विस्फलिङ्ग
- ४४ -अस्मदादि चराचर प्राणिवर्गामक समिध

- ४४१-पारमेष्ठ्यसोमामक हविद्र य १४४२
- ४४२- तस्माद्द्वै सूर्योऽग्निहोत्रम्
- ४४३-सूर्याग्निहोत्र के स्वरूपससाधक-परि
ग्रह-साधनों की अग्नि सोमामिका
त-वद्वयी पर विभ्रान्त
- ४४४ आधिदैविकी सौरसस्था
- ४४५ आधिभौतिकी पार्थिवसस्था
- ४४६-आध्यामिकी पुरुषसस्था
- ४४७ (क)-दवत आमिकरूपा सस्थानुगता दो
विधाएँ
- ४४७-(ख) भौतिकसस्थानुगता एकविधा
- ४४८-(क)-दाम्प यभावनिबधन पुन प्रजनन-
धम्म से अनुप्राणित दैवत आमिक-सस्थाद्वयी
- ४४८-(ख) -पुन प्रजननधम्म से वञ्चिता आधिभौ
तिकी सस्था और तन्निबधना एकैव
विधा
- ४४९-दवत आमिक भौतिक नामकी-सस्था
त्रयी के पञ्चविध अवयवयज्ञो का
पञ्चाग्निविद्या के माध्यम से समवय १४४३
- ४५० -पञ्चावयव-द्यावापृथिव्ययज्ञ के प्राण
लक्षणयज्ञ एव प्राणीलक्षणयज्ञ भेद से
दो महिमा विवत्त
- ४५१-प्राणलक्षणयज्ञ की पृथिवी अतरिच
द्यौ नामकी पवत्रयी
- ४५२-प्राणीलक्षणयज्ञ की वृषा (पुरुष) योषा
(स्त्री) नामकी पवद्वयी
- ४५३-द्युल्लोकाधिष्ठाता अह-कालीन दृश्य अर्द्धा
काशानुगत सौर आग्नेय प्राण निबधना
वृषामिका पुरुषसृष्ट
- ४५४-भूलोकाधिष्ठाता रात्रिकालीन -अदृश्य-
अर्द्धाकाशानुगत चा द्र सो य प्राण
निबधना योषामिका स्त्री-सृष्टि
- ४५५-द्युलक्षण पिता पृथिवीरूपणी-माता
और प्राणयज्ञ की अभियक्ति
- ४५६-द्युरसानुगत पुरुष तथा पार्थिवरसानु
गता स्त्री और प्राणीयज्ञ की अभिव्यक्ति १४४३
- ४५७ पृथिवी की प्रतिकृतिभूता योषा स्त्री
- ४५८-द्यु का प्रतिकृतिरूप-वृषा पुरुष
- ४५९-प्राणीविध-यज्ञ की भी द्यावापृथिवी
रूपता का समन्वय
- ४६० -द्यावापृथिव्यनुगत आ यामिकयज्ञ तथा
आधिदैविक-यज्ञ की अवान्तर पाच-
सस्थाए एव पञ्चाग्निवद्या के द्वारा
तत्स्पष्टीकरणोपक्रम
- ४६१- द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी पुरुष-योषा
(स्त्री) नाम की पाच पृथक पृथक
विधाएँ एव तदनुप्राणिता पञ्चाग्नि
विद्या
- ६२-प्रथमा द्य विद्या का समवय प्रयास १४४४
- ४६३-द्युलाकामक-अग्नि
- ४४ आदित्यरूप समित्
- ४६४-रश्मिरूप धूम
- ४६६-अह कालरूप अर्चि
- ४६७-चन्द्रमारूप अङ्गार
- ४६८-नक्षत्ररूप विस्फुलिङ्ग
- ४६९-द्युलोकनि में अर्द्धा रूप हविद्र व्य
की आहुति
- ४७० -अर्द्धा की आहुति से सोम नामक
अवातर तव की अभिव्यक्ति
- ४७१ सोमोपादक-द्युयज्ञ
- ४७२ द्यलोकामक-लोक
- ४७३-सौरप्राणाग्निरूप लोकी
- ४७४-सूर्यपिण्डामक भूताग्नि
- ४७५ महिमामय देवाग्नि
- ४७६-लोक और लोकी का अभेद
- ४७७- असौ वाव लोको गोतम । अग्नि
- ४७८ पारिभाषिक-अग्नि का स्वरूप समन्वय
- ६७९- धूम का पारिभाषिक अर्थसमवय

- ४८-अर्चि की त वामिका स्वरूप परिभाषा १४४५
- ४८१-चंद्रमा की आदियावयवता का रहस्या
मक-स्पष्टीकरण
- ४८२-चांद्रमस आप्य प्राण
- ४८३-अग्नि और तद्गण मक उमु
- ४८४-वायु रुद्र
- ४८५-आदिय आदिय
- ४८६ (क)-चंद्रमा नक्षत्र
- ४८६-(ख)-नक्षत्रों की पारिभाषिकी विस्फु
लिंगता का समवय
- ४८७-दिव्य आग्नि में श्रद्धा की आडुति देने
वाली देवता का पारिभाषिक पष्टीकरण
- ४८-चांद्रमनोतानुगत श्रद्धात न और
श्रद्धालु मानव
- ४८९-मनोमयी श्रद्धा का त्रि प्राणप्रातष्ठा व
- ४९ शुक्रमय-रैत का मानवप्राणप्रतिष्ठा व
- ४९१-वाङ्मय वषटकार का देवप्राणप्रातष्ठा व
- ४९२-श्रद्धा अपतर और तन्नव धन श्रद्धा
मक आदकम्म
- ४९३-श्रद्धा का पूवरूपा मक अपत व
- ४९५-श्रद्धा का उत्तररूपा मक सोमत व
- ४९६-तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति का
सस्मरण
- ४९७-भृगुलक्षणा स्नेहतव एव अङ्गिरा
लक्षणा-तेजोभाव की अवरूपता
- ४९७-तेजोभावावित श्रद्धात व
- ४९८-तेज एव श्रद्धा
- ४९९-परमेष्ठी से युक्ता आपोमयी श्रद्धा की
श्रद्धा रूपता
- ५ सूर्याग्नि में हुता श्रद्धा की (आदिया
ग्नि तथा श्रद्धारस के समन्वय से
पूर्वस्वरूपोमहन के द्वारा) सोमरूप में
परिच्यति
- ५ १ आप्यप्राण की सीमा से अनुगत श्रद्धा
तव १४४६
- ५ २-आप्यप्राण की सीमा से बहिष्कृत-सोम
- ५ ३-द्युर्पर्वामक प्रथमपत्र और पञ्चाग्निवि
द्यानुगत प्रथम दिव्ययज्ञ की स्वरूप
विश्लेषिका-छान्दोग्य श्रुति का (१)-
सस्मरण
- ५ ५-आध्यात्मिक द्वितीय (२) यज्ञपत्र से
अनुप्राणित-अ-रिद्धलोक
- ५ ६-अतरिद्ध के अधिष्ठाता वायुदेवता
- ५ ७-सोमत-बानुयोगी एव वृत्रतव प्रति
योगी-आप्यप्राणानुगत वायुविशेष और
उम का वृष्टिकर्मानुगत व
- ५ ८-आतिरिच्य सोमसहयोगी विशेष वायु
रूप पञ्जय
- ५ ९ आ य अग्नि का सह सम्बन्धी पर्जन्य
नामक आ तरिच्य वायु और पञ्जथी
वा अग्नि वचन का समवय
- ५ १ -वर्षा के आगमन से पूर्वत सञ्चारी
साम्बसदाशिवा मक वायु की पर्जन्य
रूपता
- ५ १ १-क्रन्दनधर्मा पर्जन्यवायु
- ५ १ २-अष्टमूर्ति शिवत-वानुगता परिभाषा से
अनुप्राणित भव तत्त्व और बदरूप
पर्जन्य
- ५ १ ३-सर्वप्रपञ्च का प्रभव और भव नाम
समवय
- १ ४-पर्जन्याद्धीद सव भवति का सस्मरण
- ५ १ ५-वैज्ञानिक भाव से असस्पृष्ट पर्जन्य
शब्दार्थ के सम्बन्ध में किञ्चिदिव
सामयिक आवेदन और वेदव्याख्याता
- ५ १ ६-पर्जन्य-के भौतिक-स्वरूप का दिग्दर्शन

- ५१७-पञ्ज याग्नि भूतवायु आतरिद्ध्य-अप
त व अग्निस्वभवेनोपन्न बाष्प [धूम]
आदि की समावतावस्थारूप अन्न १४४६
- ५१८-अभ्रोपकरणो में बा प उपकरण की
प्रधानता
- ५१९-तद्वादन्याय और अन्न की धूमा मकता १४४७
- ५२ ऋतरूपेण अन्तरिद्ध में याप्त बा प
- ५२१-पञ्जन्यानुगत-समिध-स्थानीय-
भौतिकवायु (मानसून) के व्यापार से
ऋतामक बा प का घनीभाव
- ५२२-घनीभूत बाष्पपुञ्जा मक अन्न
- ५२३-अन्न की उत्तरावस्था और मेघ
- ५२४ अन्तरिद्ध्य ज्योतिर्भाव और विद्युत्
- ५२५-पञ्जन्याग्नि का अर्चिर्भाव और
विद्युत्
- ५२६-वज्ररूप अङ्गार
- ५२७-गजन तज्जन रूप विस्कुलिंग
- ५२८-पञ्जन्याग्नि में सोमाहुति
- ५२९-पञ्जन्याग्नि तथा सोम के रासायनिक
समिश्रण से वृष्टि का प्रादुर्भाव
- ५३ -आधिदैविक यज्ञ की द्वितीया विधा का
पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय
- ५३१-अन्तरिद्ध्ययज्ञ (२) और तत्स्वरूप
विश्लेषक श्रुतिवचन का सस्मरण
- ५३२-पिण्डामिका पृथिवी का भूमिव
- ५३३-मण्डलामिका पृथिवी का पृथिवीत्व
- ५३४- अग्निर्वै योनियज्ञस्य
- ५३५-प्राणाग्निरूप देवाग्नि
- ५३६ प्राणाग्नियज्ञ और सम्बत्सर-मण्डल
रूप समित्
- ५३७-वाग्निरूप सम्बत्सर और तदभिन्न
भूताग्नि
- ५३८-परमाकाश पुराणाकाश शरीराकाश
दहराकाश मैदभिन्ना आकाशचतुष्टयी

- ५३९-स्वायम्भुव परमे-योमन् और परमाकाश १४४७
- ५४ -सौर-बृह मण्डल और पुराणाकाश
- ५४१-पार्थिव अणवसमुद्रावच्छिन्न आकाश
और पुराणाकाश
- ५४२-आध्यामिकी आकाशद्वयी
- ५४३-पुराणाकाशस्थ-सम्बत्सरमण्डल
- ५४४-अग्नि-काल-वयोनाध भेदेन सम्बत्सर
के तीन महिमा विवर्णा १४४८
- ५४५- योमा हि सम्बत्सर का पारिभाषिक
समन्वय
- ५४६-पार्थिवाकाश और भूतयज्ञ का धूम
त व
- ५४७-पार्थिव यज्ञाग्नि और अर्चि
- ५४८ अवान्तरदिशाए और त्रस्कुलिंग
- ५४९-पार्थिव अग्नि में वृष्टि की आहुति
- ५५ -उभय-समन्वय से अन्न का आविर्भाव
- ५५१-आधिभौतिक आर्थिक यज्ञ की एक
विधा का स्वरूप समन्वय
- ५५२-ध्वान्दोग्यश्रुति के द्वारा प्रक्रान्त तृतीय
यज्ञ (पार्थिवयज्ञ) का स्वरूप-स्पष्टी
करण (३)
- ५५३-द्विविध आधिभौतिक यज्ञ और एक
विध आधिभौतिकयज्ञ
- ५५४-क्रमप्राप्त आध्यामिकयज्ञ का सस्मरण
- ५५५-वृषालक्षण पुरुषयज्ञविवत्त
- ५५६-आध्यामिकयज्ञ का पुरुषभाव और
अग्नि १४४९
- ५५७-आध्यामिक-षडङ्ग-वैश्वानर-अग्नि
की पुरुषरूपता
- ५५८-प्राणापान से समन्वित आध्यामिक
वैश्वानराग्नि
- ५५९-प्राण अपान व्यान त्रयी के पारि
भाषिक-स्वरूप का समन्वय

- ५६ -विश्वत्रयी की अग्नि ठात्री नरत्रयी और वश्वानर शब्द का तात्विक स्वरूप सम वय १४४६
- ५६१ वश्वानर शब्द के निवचन का श्रुति वचन मायम से समवय
- ५६२-वश्वानरान की पुरुष अभिधा का श्रुतिवचन के द्वारा समथन
- ५६३ वाङ्मय भूतानिरूप चि या न १ ५
- ५६४-पुरुषानि और समित्
- ५६५-उया मक ग द और अचि
- ५६६-चक्षुर्भावि और अङ्गार
- ५६७-श्रोत्रभाव और विस्फुलिंग
- ५६८-पुरुषाग्नि में वर्षा विकारभूत अनलक्षण हविद्रव्य की आहुति
- ५६९-भुक्तान की तोरूप में परिणत
- ५७ वृषायज्ञ और तममथक छान्दोग्य वचन (४]
- ५ १-आयामिकयज्ञ की द्वितीया विधा और तदनुप्राणित योषायज्ञ
- ५ २-वृषाप्राण का पुरुषमग प्रति ठा व
- ५ ३ योषाप्राण का स्त्रीसग प्रतिष्ठास्व
- ५७४-अग्नि धान वृषाप्राण और तन्निबधन पुरुष
- ५७५-सोमप्रधान योषाप्राण और तन्निबधना-स्त्री
- ५७६ आग्नेय-वृषा मक-पुरुष और दृश्य अद्द अण्डकटाह (अर्द्धाकाश)
- ५७७-सौम्या-योषामिका स्त्री और अदृश्य अद्द अण्डकटाह
- ५७८ योषाप्राणामिका स्त्री का रक्तवण आनेय शोणित और उसका योषायज्ञ प्रतिष्ठाव
- ५७९-रेसोरूप आहुति का ग्राहक शोणितरूप योषाग्नि और अग्नि
- ५८ योषा अग्नि का उत्तजक उपस्थ और समित् १४५
- ५८१-उपस्थ समित् के सयोग से उ पन्न योषा निजनिजित सक्षोम और धूम
- ५८२ रक्तवर्णा मक क दलयोनिर्भाव और अर्चि
- ५८३ इत्थभूत योषाग्नि में रेतोद्रव्या मक हविद्रव्य की आहुति और गर्भ का स्वरूप स पादन
- ५८४-योषा मक पञ्चम आ यामिक यज्ञ का स्वरूप विश्लेषक पञ्चम छान्दो य वचन (५)
- ५८५ पञ्चाग्निविद्यानिबधन-स्वरूप नि कष और इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषयचसो भवन्ति का तात्विक समवय प्रयास १४५१
- ५-६ पञ्चाग्नियज्ञ का तालिका के मायम से स्वरूप विश्लेषण
- ५८ -द्यौ आदिय और श्रद्धा
- ५८ अतरिक्षम् वायु और सोम
- ५८८ पु वी अग्नि और वृष्टि
- ५८९ वृषा वैश्वानर और अन्नम्
- ५९ -योषा-माङ्गलिक और रेत
- ५९१-पञ्चाग्निविद्यानिबधन पञ्चन्याग्नि से युत द्वितीय-यज्ञपर्व और तन्निबधन वर्षण कम्म
- ५९२-अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति श्रुति से विरुद्धा पञ्चाग्निश्रुति
- ५९३-श्रौतसिद्धा तों के पारस्परिक विरोध में मीमासाशास्त्र की समति और सभी वचनों की प्रामाणिकता
- ५९४-तबदृष्टि सम्मता विशानदृष्टि के माय से श्रौतवचनों के विरोधाभासों का निराकरण

- ५६५-सृष्टिक्रमरम्भानुगता विज्ञानदृष्टि और पञ्चयज्ञानुगत वृष्टिसिद्धान्त की प्रामाणिकता का समन्वय १४५१
- ५६६ स्थितिक्रमानुगता विज्ञानदृष्टि और अग्निर्वा इत्यादि तृतीय दृष्टिकोण का निर्विरोध समन्वय
- ५६७ ऐतरेय आरण्यकानुगता रेतस सृष्टि रूपा-सृष्टि का स्वरूप और तन्निबधन-वृष्टिक्रम १५२
- ५६८-प्रजापते रेतो देवा
- ५६९ देवाना रेतो वर्षम्
- ६ -वषस्य रेत ओषधय
- ६ १ ओषधीना रेत अ नम्
- ६ २-अन्नस्थ रेतो रेत
- ६ ३-रेतसो रेत प्रजा
- ६ ४-प्रजाना रेतो-हृदयम्
- ६ ५ हृदयस्य रेतो मन
- ६ ६-मनसो रेतो वाक्
- ६ ७-वाचो रेत कर्म
- ६ ८-तदिद कम्म-कृतमय पुरुषो ब्रह्मणो लोक
- ६ ९-विभिन्न निमित्त उपदानादि-कारणो का सह-सम्बन्ध और तन्निबधन वर्षण कम्म
- वृष्टिविद्यानुगत-मूलसूत्र**
- ६१ -'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' इति अग्नि-सत्यम् ऋषिर्वाग्नि (१) १४५२
- ६११-'वायुर्ब्रह्मणा ईशो' इति-वायुः सत्यम् वाय-याग्निः (२)

- ६१२-आदित्याज्जायते वृष्टि इति आदित्य सत्यम्-सावित्राग्नि (३) १४५२
- ६१३-'पर्ज्य वर्षासु यजते' इति पर्ज्य ऋतम् आप्याग्नि (४)
- ६१४ मोमाहुतेर्ष्व सम्भवति' इति-मोम ऋतम् चान्द्र सोम (५)
- ६१५-'रश्मिभिर्वर्ष समदधात्' इति रश्मय सत्यम् प्राणाग्नि (६)
- ६१६-'पुरोवात् ससृजिरे' इति पुरोवात् ऋतम् वातवायु (भूतवायु)-(७)
- ६१७-'अभ्राद्बृष्टि इति अभ्रम् ऋतसत्यम्-ज्योतिरग्नि (८)
- ६१८-'वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव इति विद्युत्-ऋतसत्यम् ज्योतिरग्नि (९)
- ६१९-स्तनयित्नुर्घोषोऽन्वसृज्यत इति स्तनयित्नु सत्यम् शब्दाग्नि (१०)
- ६२ -अस्यवामीयसूक्तानुगता मन्त्रत्रयी से अनुप्रापिता वृष्टिविद्या
- ६२१-कृष्णयजुःसहिता की कावीरीदृष्टि और तन्निबन्धना वृष्टिविद्या

- ६२२ प्रकीर्णभावेन यत्र तत्र स्थल विशेषों से अनुप्राणिता वृष्टि विद्या का सस्मरण १४५३
- ६२३ वैदिक विद्याओं की महती जटिलता
- ६२४-रहस्य निगद् गाथा-कुम्भ्या आदि पारिभाषिक ग्रंथों की वलुप्ति, आर वैदिक तत्त्वसम ग्रंथ की दुरुहता
- ६२५-विद्वानों का चिरन्तन सामूहिक प्रयास और जटिलता का आशिक निराकरण
- ६२६ हमारे ये अव्यवस्थित प्रकरण
- ६२७ विस्मृतप्राया विद्याओं के प्रति ध्याना कषण-मात्र प्रयोजन और हमारे ये अस्त-यस्त प्रयासाभास
- ६२८-वृष्टिविद्यानुगता मन्त्रत्रयी की समुपस्थिति
- ६२९-सप्ताह गर्भा ऋषिदि प्रथममन्त्र १ ५४
- ६३० - कृष्ण नियान इयादि द्वितीयमन्त्र
- ६३१-समानमेतत् इयादि तृतीयमन्त्र (मन्त्रार्थ समन्वयोपक्रम)
- ६३२-पार्थिव जलामात्राएँ १४५४
- ६३३-अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा पार्थिवी जल मात्राओं की वाष्परूप में परिणति और तद् वगमन
- ६३४ वृष्टि का प्रथमनिमित्त पार्थिवाग्नि
- ६३५-द्वितीय निमित्त-वायु
- ६३६-ऊर्ध्व प्रक्षिप्त पार्थिवी-जलमात्रा की गुरु-वाकषण से मुक्ति एव तद् बाष्पावस्था
- ६३७-जलमात्रा के ऊर्ध्वगमन का अन्यतम प्रेरक-वाष्पवायु
- ६३८-सप्तविध सूर्यनाडियों से समन्वित आन्तरिक-महापथ
- ६३९-नाडीमाग के द्वारा ही सौर पार्थिव पदार्थों का गमनागमन १४५५
- ६४ गमनागमन का प्रधान निमित्त वाष्प वायु
- ६४१-तृतीय निमित्त-सूर्यरश्मियाँ
- ६४२ सूर्यसस्थानुगत आददानध र्मा विभिन्न १२ प्राण और द्वादशादि य समष्टि रूप सूर्य
- ६४३-सवरसादान व धर्म और आदि य
- ६४४-स प्राणमेव अ नेरादत्त
- ६४५-रूपमेव-वायोगदत्त
- ६४६ चित्तमेव पुरुषस्यादत्त
- ६४७ चक्षुरेव-पशूनामादत्त
- ६४८-भामेव च द्रमसमादत्त
- ६४९-तत्-यत् आदत्त तस्मादादि य
- ६५ -गाडीरूप रश्मियों का भूतसङ्गत्त्व
- ६५१ आगमनधर्मा सौरतेज और सावित्री
- ६५२-प्रतिफलनधर्मेण गमनधर्मा सौरतेज और गायत्री
- ६५३-रश्म्यनुगता-अपेक्षा और आदि या जायते वृष्टि का समन्वय
- ६५४-पार्थिवाग्-यनुगता अपेक्षा और अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति श्रुति का समन्वय
- ६५५ अन्तरानुगत वायु की अपेक्षा और वायुवै वृष्ट्या ईशे श्रुति का समन्वय
- ६५६-नाडी सूर्यरश्मि) एव आग्नेय प्राण समन्वित वायु से सम्बद्ध-वृष्टिविज्ञान और तन्निबन्धन नाड्यो वायुसयो गादारोह्यम् । नोदनापीडनात्-सयुक्त सयोगाच्च इत्यादि दाश निक-दृष्टिकोण का समन्वय
- ६५७-नाड्यो-वायुसयोगात् आरोहित-पार्थिव जल का सस्मरण

६५८-वृष्टिविद्यानिबन्धना-गमन स्थिति
वर्षण-रूपा अनुबन्धनी

१४५५

- ६५९-गमानाधिकरणात्मिका वृष्टिविद्या
६६-गर्भाधानकालात्मक-गमनाधिकरण
६६१-स्थित्याधिकरणात्मिका वृष्टिविद्या
६६२-दोहदकालात्मक-स्थित्याधिकरण
६६३-वर्षणाधिकारात्मिका-वृष्टिविद्या
६६४-(क) प्रसवकालात्मक वर्षाधिकरण
६६४-(ख) पार्थिवाग्निराश्रमयो का ऊर्ध्वगमन
६६५-रश्मि सम्बन्धेन पार्थिव जलमात्रा का
अजलरूपेण ऊर्ध्वगमन
६६६-द्य लोक से अजलरूपेण रसवषण
६६७-अत्रह्यज्ञात्मक उभयक्षतिपूरक भव-
ययज्ञ
६६८-चतुर्मुक्ति-सम्बन्ध-सर्वनापति की विशेष
भावापन्ना वर्षाश्नुत का सम्मरण
६६९-वर्षाश्नुत से अनुगता गम दोहद प्रसव
भावनी
६७-चतुर्मासात्मक-ग्रीष्मकाल और तन्नि
बन्धन-गमकाल
६७१-चतुर्मासात्मक-ग्रीष्मकाल और तन्नि
बन्धन-दोहदकाल
६७२-चतुर्मासात्मक-वर्षाकाल और तन्नि
बन्धन प्रसवकाल
६७३-मागशीषत फाल्गुन पथ्यन्त पार्थिवी
जलमात्रा का द्युलोक में गर्भाधान
६७४-चैत्रत आषाढ-पथ्यन्त गमस्था जल-
मात्रा का दोहदरूप पोषण
६७५-श्रावणत-कार्तिक पथ्यन्त पुष्टा जलमात्रा
की प्रसूति
६७६-वृश्चिकराशि में भुक्त ज्येष्ठानक्षत्र
और मागशीर्षानुगता श्रमावास्या
६७७-मूलनक्षत्र के उत्तराह्न में सूर्य का
भोग और गमकाल का उपक्रम

६७८-आर्द्रानक्षत्र भुक्त सूर्य और प्रसव-
काल का उपक्रम

१४५६

- ६७९-मूलादि भरण्यान्त १२ नक्षत्रों का
चान्द्रसोम सहयोगिव और गर्भोत्त
जकव
६८-आर्द्रादि विशालात् ११ नक्षत्रों का
सौर अग्नि सहयोगिव और प्रसवप्र-
वत्त कत्व
६८१-गम कौ मूलप्रतिष्ठारूप चान्द्रचार
६८२-प्रसव की मूलप्रतिष्ठारूप सूर्यचार
६८३-जलमात्रा की ६ मास पञ्चदशदिवस
पथ्यन्ता गमस्थिति का ताविक-स्वरूप
सम्बन्ध
६८४-सप्तागर्भा का सम्मरण
६८५-अह में गर्भाधान तो रात्रि में वृष्टि
६८६-रात्रि में गर्भाधान तो अह में वृष्टि
६८-वृष्टिविद्यानिबन्धना कतिपय विशेष-
ताओं का सम्मरण
६८८-शीतवायु श्वेतश्रम विद्युत्-गज न
आदि गर्भाधान के परिचयात्मक चिह्न
६८९-गमपातक-निरोधक-शनैश्चर तथा
मङ्गल-अह
६९-करकापात का कारण सम्बन्ध
६९१-गर्भाधानभाव-गमपात गमनिरोध आदि
निमित्त समन्विता चामत्कारिकी वृष्टि
विद्या और विधि के अटल विधान
६९२-शुक्रमन्त्र का पारिभाषिक-त-वार्थ
समन्वय प्रयास
६९३-वेदस्रष्टा चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा के
त-वामक चार मुख एव चारों से वेद
लोक देव धम्मरूपा सगचतुष्टयी की
प्रवृत्ति
६९४-विष्णु के परमपद का सम्मरण और
और तन्निबन्धना मन्त्रभूति

१४५७

६६५-ध्रुवप्रदेश और नाकस्थ विष्णुमण्डल १४५७	१६-कृष्ण नियानम् वाक्य का पारिभाषिक-अथसमवय १४५६
६६६-अयनवृत्तिनिबन्धना-ध्रुवपरिक्रमा १४५८	७१७-हरय-सुपर्णा से अनुप्राणिता सुपर्णचिति
६६७ विष्वद्वृत्तीय-पृष्ठीकेन्द्रा मक ध्रुव का सस्मरण	७१८-सुपर्णा-के ताविकैतिवृत्ता का सस्मरण
६६८ क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्रा मक कदम्ब का सस्मरण	७१९-अपो वसाना दिवसु पतति इ यादि मत्रभागाथ-समन्वय १४६
६६९-विश्वद्वृत्त और क्रान्तिवृत्तानुगत २४ अशामक अन्तर	७२ भागवी-ऋतत वत्रथी का सस्मरण
७ ध्रुव और कदम्बानुगत २४ अशामक अन्तर	७२१ ऋतमेव परमेष्ठी
७ १-कदम्बमूर्ति नाकस्थ विष्णु	७२२-घनावस्थापन्न अप्त व और आसुर-वरुणप्राण
७ २-विष्णुप्रदेशा मक-उत्तराकाशा की अशामिका पारिभाषिक व्याप्ति	७२३-तरलावस्थापन्न वायुत व और सोम रक्षक ग धवप्राण
७ ३-चन्द्रमा के सहयोग से जलमात्रा का गर्भाधान	७२४ विरलावस्थापन्न सोमत व और सौम्य पितर प्राण
७ ४-सूर्य के सहयोग से जलमात्रा का वषण	७२५-उत्तरस्थान का विष्णुपदव
७ ५ चन्द्रमानुगता एक अहोरात्रामिका गर्भाधानावधि का सस्मरण	७२६-वारुण व
७ ६-सूर्यानुगता प्रसवावधि से अनुगत त्रयोदश अहोरात्र	७२७-की ऋतसदनता
७ ७-मन्त्रोपात्त मनसा शब्द और चन्द्र चारानुगत गर्भाधान	७२८-वरुण स्यो । मनमसि इ यादि यजु श्रुति का सस्मरण
७ ८-मन्त्रोपात्त धीतिभि शब्द और सूर्यचारानुगत प्रसव	७२९ वर्षाजल से कावालीकृत भतल
७ ९-विपश्चित का रहस्या मक पारिभाषिक-अर्थसमवय १४५९	७३ मन्त्रत्रयी के तवाथ का उपराम
७१-कृष्ण नियान हरय सुपर्णा इत्यादि क्रमप्राप्त-ऋद्ध मन्त्र का सस्मरण	७३१-श्र यथानुगामी पुराणशास्त्र और तन्निबन्धना वृद्धिविद्या का पुराण वचन-माध्यम से सस्मरण १४६१
७११-शुक्लभावापन्न-उत्तरायण	७३२ बुद्धिगम्या रहस्यपूर्ण परिभाषानुगता-गमीरतमा श्र तिभाषा से अनुप्राणिता तैत्तिरीय-सम्भता वृद्धिविद्या का मूलतमक प्रासङ्गिक सस्मरण १४६२
७१२-कृष्णभावापन्न-दक्षिणायन	७३३-उक्त तैत्तिरीय-श्र ति-सदभानुगता कारीरीष्टि और वृद्धि १४६३
७१३ कृष्णमाग निबन्धन पार्थिव-मृग्याग्नि	७३४-प्रा यज्ञम त्रव्याख्यानश्रुति का वृद्धि-निबन्धन मूलसूत्र
७१४-शुक्लमाग निबन्धन सौर सावित्राग्नि	
७१५ उत्तरानुगत-इन्द्रदेवता	

- ७३५-वायुनैवोद्धृत तोय वायुरेव प्रवर्षति
और कादम्बिनी १४६४
- ७३६-कृष्णवस्त्र-धामच्छ्रुदमेघ-कृष्ण जल-
कृष्णमरुत्-आदि से अनुप्राणित प्राति
निध्यभावो का समन्वय
- ७३७-प्रकृतिविरुद्ध-गमन और अनावृष्टि
अतिवृष्टि जनित दुष्काल
- ७३८-जनपदविद्ध सिनी-करकापात उल्कापात
आग्नेय-वारुण ऐन्द्र-वायव्यादि भक्तियों
का प्रहार और मानव का उपीडन
- ७३९ श्रुषिप्रदिष्ट चिकि-सामार्ग्यमक-यज्ञकम्म
की शरणीकरणीयता का स्मरण
- ७४-अभक्ष्य-भक्ष्य अस्मद्गमन अस्तु
श्य स्पश देव द्विज आचाय्य शुश्रूषा
परियाग सञ्जास्त्रनिन्दा मूलिनीकरण
सकरीकरण-जालिभ्र शकर आदि पातक
अतिपातक-महापातक-रूप निन्द्य अस-
क्तर्मों में प्रच्छन्नि, मर्यादोक्लघन
कपित-साम्यवादघोषणा सर्वोपरि
दुसग्रह-आदि आदि अधर्मपथों के
अनुगमन से सञ्जु ध-सत्रस्त आज का
मानव-समाज १४६५
- ७४१-बुद्धिगम्या-भाषा से अनुप्राणिता-श्रुति
सिद्धा वृष्टिविद्या का परिचयोपराम
- ७४२-सम्बत्सर की ऋतुत्रयी
- ७४३-त्रयो वा ऋतव सम्बत्सरस्य का स्मरण
- ७४४-सर्दी-गर्मी और बरसात
- ७४५-ऋतुत्रयी का ऋतुद्वयी में अन्तर्भाव
- ७४६-शीतकाल और-रहालू
- ७४७ उष्णकाल और-उह्णालू
- ७४८-ऋतुद्वयी का एक में अन्तर्भाव
- ७४९-लोकप्रसिद्ध शीत और सीम
- ७५-सोम के दो महिमा-विवर्त
- ७५१-ऋतसोम के पारिभाषिक-स्वरूप का
उदाहरण माध्यम से समन्वय १ ६६
- ७५२-आतरिद्व्य प्राणामक दिकसोम और
उसका भौतिकरूप
- ७५३ ऋताग्नि का स्वरूप-समन्वय
- ७५४-सयाग्नि और सय-सोम का स्वरूप
समन्वय
- ७५५-ऋताग्नि और ऋतसोम के अन्तर्या
मामक-समन्वय से ऋतु नामक
अपूर्वभाव की स्वरूपाभियक्ति १४६७
- ७५६-ऋत नायेति किञ्चन का रहस्यामक
समन्वय
- ७५७-वसन्तादि षड्ऋतुओं का निवचना
त्मकर-इत्याथ समन्वय
- ७५८-ऋतलक्षण पार्थिव अग्नि और ऊष्मा
- ७५९-ऊष्मा की चरम सीमा और जलवषण
- ७६ विभिन्न तवों का एकत्र समन्वय, और
वृष्टि का उद्गम
- ७६-जलवषक पारिभाषिक मेघ १ ६८
- ७६२-मेहनधर्मात्मक मेघ का पारिभाषिकाथ
समन्वय
- ७६३-अश्मासोमामक-जलावरोधक वृत्रप्राण
- ७६४-गन्धर्वरोधक-नमुचिप्रस्रासुर
- ७६५-इन्द्र के द्वारा नमुचि का शिरश्छेद
और जलवषण
- ७६६-रुद्रामक-रुद्रद्रवणधर्म का स्मरण
- ७६७-अग्नेराप सिद्धान्त का पारिभाषिक
समन्वय
- ७६८-वृष्टिघर्षाविष्ठाता पञ्जन्यवायु के
वैज्ञानिक-स्वरूप का समन्वय एव
तन्निवचना मन्त्रश्रुति का स्मरण १४६९
- ७६९-इन्द्रधनुष की उपसि का निमित्तभूत
पञ्जन्य-वायु

- ७७ -सप्तवर्णीमक इन्द्रधनुष का स्वरूप समन्वय १४६६
- ७७१-सौररश्मियों का तिव्यगभाव और इन्द्रधनुष
- ७७२-इन्द्रधनुष के दशन का निषेध और तत्कारण समन्वय १४७
- ७७३-पर्जन्या द्रप्सा मधुमत-ईरते इ यदि रहस्यामक मन्त्र का सस्मरण
- ७७४-मेघत्रयी से अनुगत जलवषण
- ७७५-यज्ञाद्भवति पर्जन्य का तात्विक स्वरूप समन्वय
- ७७६-तपोजा इति का सस्मरण
- ७७७ अग्निर्वै धूमो जायते
- ७७८-धूमाद् अन्नम्
- ७७९-अन्नाद्-वृष्टि
- ७८ -अग्नेर्वा एता जायते
- ७८१-तस्मादाह-तपोजा इति
- ७८२-वृष्टिविज्ञाननिबन्धन पञ्चम विज्ञान का स्वरूप विराम
- ७८३-ऊष्मा ऊमस और जलवषण १४७१
- ७८४-ओश्रावण और पुरोवात (पञ्चम) का आविर्भाव
- ७८५-अस्तु औषट् और अन्न की अभि न्याक्त १४७२
- ७८६-विद्युत्-और स्तनयित्नु (चमक और गर्जन) के रहस्यपूर्ण-पौर्वाप्य का तात्विक-स्वरूप-समन्वय
- ७८७-दृश्यस्थिति और वस्तुस्थिति का पार्थक्य प्रतिपादन
- ७८८-विद्युत्पात का स्वरूप-स्पष्टीकरण
- ७८९-वायु-स्वात्-शब्दस्तत् इ यदि प्रातिशाख्य सिद्धान्त का सस्मरण
- ७९ -सर्वांश्च स्थित मेघस्तर और त सर्वांश्च अनित-विद्युत् प्रवाह
- ७९१-उल्कापात का समन्वय १४७३
- ७९२-तारापात का स्वरूप दिग्दर्शन
- ७९३-धिष्ण्यापात का समन्वय
- ७९४ वज्रपात की स्वरूप महिमा
- ७९५-चतुर्विध भूकम्पों का प्रासङ्गिक-स्वरूप सस्मरण
- ७९६-कृष्ण-वरण-मधुर मेघ-गगन भरथो समन्तात् इ यदि सङ्गीतपद्य का सस्मरण और वर्षा का लौकिक वणन (टि)
- ७९७-अन्नसमाप्लावन के अनन्तर उच्च रित यज और विद्युत्सञ्चार १४७३
- ७९८-ये यजामहे और स्तनयित्नु रूप गजन तजन
- ७९९ वीषट् और जलवर्षण
- ८ -आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्मानुगता रहस्यपूर्णा वृष्टिविद्या का उपराम
- इति-वृष्टिविज्ञानमुपरतम्**
- * * *
- ८ १ मह वपुण आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्म का सस्मरण १४७३
- ८ २-सम्बत्सरप्रजापति की पाच यष्टियाँ और सप्तदशप्रजापति
- ८ ३-अङ्गभूत-नव माह्यामक-स्र गादापन कर्म का सस्मरणामक समन्वय और आधिदैविक परोक्ष फल का स्वरूप दिग्दर्शन
- ८ ४-आधिभौतिक प्रत्यक्ष-फल का स्वरूपेतिवृत्त विराम और विराहगोरूपधरा माता पृथिवी का दोहन
- ८ ५ दोहनकर्मानुगत गोवस १४७४
- ८ ६-पार्थिव अग्नि और विराह गौ
- ८ ७-अग्निहोत्रविज्ञानब्राह्मण का सस्मरण

८८-दशकल विराडग्नि और तन्निबन्धन
गोतत्व

१४७४

८९-विराडगौ का रहस्यात्मक दोहन और
सवकामपूरक-प्रक्रान्त स्रुग्ब्राह्मणोपराम १४७४

८९-दशाक्षरविराट-छन्द और विराडगौ

पञ्चम-अध्याय मे द्वितीय, एव चतुर्थ प्रपाठक मे तृतीय-
'स्रुग्ब्राह्मण' नामक ब्राह्मण-अत्र-उपरत
(वृष्टिविज्ञानात्मक)

इति-स्रुगादापन--आश्रावणा-प्रत्याश्रावणाच्च

२२

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे
त्रिब्राह्मणात्मक-प्रयाजब्राह्मणम्
उपक्रान्तिम्

१३--ऋतुयजनात्मक-प्रयाजकर्म

क्रमप्राप्त २३ वे कर्म के विज्ञानभाष्य की
“विषयस्मारकसूची”

(पृष्ठस० १४५७ से १५४२ पृ० पर्यन्त)

१-प्रथमकाण्डा तगत पञ्चम ष ठ अ याया
नुगत त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण मूल) १४७५
२-मूलब्राह्मण का अक्षराथसमावया मक
अनुवाद ४८५

३-सत्रानुगत पद्धति सत्र १५२५ वें पृष्ठ
से १५४२ वें पृष्ठ प यत (अत्रैव द्वितीय
खण्डोपराम)

इति-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-
द्वितीयखण्ड

की

सक्षिप्ता-विषयस्मारकसूची उपरता

*-त्रिब्राह्मणात्मक-प्रस्तुत-प्रयाजब्राह्मण की वैज्ञानिकविवेचना क्रमप्राप्ता अग्रिम-तृतीय-खण्ड की
ही प्रतीक्षा कर रही है ।

श्री

शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत द्वितीयग्वण्डान्तगत
कतिपय-परिलेखो की सूचा

—*—

- (१)-सर्वत्सरात्मक-सम्प्रत्सरमण्डलपरिलेख
(चक्रसम्प्रत्सरप्रतिकृतिरियम्)
—पृष्ठ स ६३७
- (२)-अग्न्यात्मक-कालात्मक सम्प्रत्सर चक्र-त्रयी-स्वरूप-परिलेख
(क)-मत्तामिद्ध-सम्प्रत्सर-कालात्मक
(ख)-भातिसिद्ध-सम्प्रत्सर-कालात्मक
—पृष्ठस ६३८
- (३)-(१) वागापोऽग्नि शुक्रत्रयवितान-परिलेख
—पृष्ठस ६६४
- (४) (२)-पार्थिव-सम्प्रत्सर-चक्रानुगत-मामत्रयी-परिलेख
—पृष्ठस ६६५
- (५)-सौर-पार्थिव-सामातिमानपरिलेख
—पृष्ठस ६६६
- (६)-अष्टदलकमलात्मक पाद्यभुवनकोशपरिलेख
पृ स ८८६, तथा ८८६ के मध्य म
- (७)-कसरपर्वत-परिलेख
—पृष्ठस ८६५
- (८) लघुसप्तर्षि-परिचायक परिलेख
—पृष्ठस ८६५
- (९)-ध्रुवपरिभ्रमणात्मक-बृहत् सप्तर्षि-परिलेख
—पृष्ठस ८६६

- (१) -मरुमूला-देवत्रिलोकी-परिलेख
—पृष्ठ० स ८६८
- (११) भारतोयद्वीपपरिलेख
—पृष्ठस ६ ८
- (१२)-दत्रिलोकी तथा असुरत्रिलोकी-स्वरूप परिलेख
—पृष्ठम ६१८
- (१३)-महानात्मविवर्त्तनी-स्वरूपपरिलेख
—पृष्ठस ६२ -६२१ के मध्य में
- (१४)-देवासुरभाव समवय-परिलेख
—पृष्ठस ६२१
- (१५)-चतुर्द्धा-विभक्त-अग्नि-परिलेख
—पृष्ठस ६२५
- (१६) वैधयज्ञवेदपरिलेख
—पृष्ठस० ३
- (१७)-अग्निहोत्रशालापरिलेख
—पृष्ठस ३१
- (१८)-दशपूर्णमासविहारपट्टपरिलेख
—पृष्ठस० ६३
- (१९)-अदिति-दिति-पृथिवी-परिलेख
—पृष्ठस
- (२०)-द्वादशयाहतिपरिलेख
—पृष्ठस ६४४
- (२१)-त्रिविध-दाम्पयभावपरिलेख
—पृष्ठस० ६८
- (२२) पार्थिव-नवलोकात्मक विवर्त्त-परिलेख
—पृष्ठस० १३४४

उपरता-चेय-परिलेखसूची

—————*—————

श्री
शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत
द्वितीयखण्ड

२

की

संक्षिप्ता-विषयस्मारक सूची
उपरतः





अथ
शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
द्वितीयोऽध्याये

२

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
द्वितीयोऽध्याय

२

अथ प्रथमकारण्डे द्वितीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

१०-उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालापधानेन हवि परिपाकम्

(मूल) स वै कपालायेवान्यतर उपपदधाति दृषदुपले अन्यतर । तद्वा एतदुभय सह क्रियते । तद्यदेतदुभय सह क्रियते ॥१॥

शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य-यत्पुरोडाश । स यायेवेमानि शीर्ष्ण कपालानि, एतान्येवास्य कपालानि, मस्तिष्क एव पिष्टानि । तद्वा एतदेकमङ्गम् । एक सह करवाव, समान करवावेति । तस्माद्वा एतदुभय सह क्रियते ॥२॥

स यदेनेनाग्निं दृष्ट्विववोपचरति तेन दृष्टि । अथ यदेनेन यज्ञ उपात्मते, उपेव वा एनेनैतद्वेष्टि । तस्मादुपवेषो नाम ॥३॥

तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहात्-‘अपाग्ने अग्निमामाद् जहि निष्क्रव्याद् सेथ’ (१ अ० १७ म) इति । अथ वा आमात्-येनेद् मनुष्या पक्त्वा अश्नन्ति । अथ येन पुरुष दहन्ति स क्रयात् । एतावेवैतदुभावतोऽपहन्ति ॥४॥

अथाङ्गारमास्कौति-‘आ दवयज वह’-(१ अ १७ म) इति । यो दवयाट, तस्मिन् हवीषि श्रपयाम, तस्मिन् यज्ञ तनवामहा-इति । तस्माद्वा आस्कौति ॥५॥

त मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति । दवा ह वै यज्ञ तत्रानास्ते असुर-रक्षसेभ्य आस ज्ञाद् विभयाञ्चक्रु नेत्रोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षास्युपोत्तिष्ठानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता ।

तस्मादेवमुपदधाति । तद्यदेष एव भवति ना य । एष हि यजुष्कृतो मेध्य । तस्मा-म-
ध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति ॥६॥

स उपदधाति 'ध्रुवमसि पृथिवी दृह' (१ अ १७ म) इति । पृथि-या
एव रूपेणैतदेव दृहति । एतेनैव द्विषत आतृव्यमववाधते- ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
सजातव युपदधामि आतृ यस्य वधाय" (१ अ १७ म) इति । बह्वी र्ण यजु ष्वाशी
तद् ब्रह्म च क्षत्र चाशास्ते । उभे वीर्ये । भूमा र्ण सजाता , तद् भूमानमाशास्ते ।
उपदधामि आतृ-यस्य वधायेति-यदि नाभिचरेत् । यद्युअभिचरेद्-अमुष्य वधायेति
ब्रूयात् । अभिनिहितमव सव्यस्य पाणेरड गुल्या भवति ॥७॥

अथाङ्गारमास्कौति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षास्याविशानिति । ब्राह्मणो हि रक्षसाम
पहता । तस्मादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरड गुल्या भवति ॥८॥

अथाङ्गारमध्यूहति- 'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व"- (१ अ० १८ म) इति । नेदिह
पुरा नाष्ट्रा रक्षास्याविशानिति । अग्निर्हि रक्षसामपह ता । तस्मादेवमध्यूहति ॥६॥

अथ यत्पश्चात्तदुपदधाति- 'घरुणमस्य तरिक्ष दृह'-(१ अ १८ म)
इति । अ तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव दृहति । एतेनैव द्विषन्त आतृव्यमववाधते- 'ब्रह्मवनि
त्वा क्षत्रवनि सजातव युपदधामि आतृ-यस्य वधाय" (१ अ १८ म)
इति । ॥१०॥

अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति- "घर्त्रममि दिव दृह'-(१ अ १८ म)
इति । दिव एव रूपेणैतदेव दृहति । एतेनैव द्विष त आतृव्यमववाधते- 'ब्रह्मवनि त्वा
क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि आतृ-यस्य वधाय"- (१ अ १८ म०) इति ।
॥११॥

अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति- 'विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि"- (१ अ १८
म) इति । स यदिमाल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा । तेनैवैतद् द्विषन्त आतृव्यम-
ववाधते । अनद्धा वै तद्-यदिमाल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा । अनद्धो तद्-यद्
विश्वा आशा । तस्मादाह- विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि'-इति । तूष्णी वैवेतराणि
कपाला-युपदधाति । 'चितस्थोर्द्धचित'-(१ अ० १८ म०) इति वा ॥१२॥

अथाङ्गारैरभ्यूहति—“भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्”—(१ अ० १८ म०)
इति । एतद्वै तेजिष्ठ तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाम् । सुतप्तायसन्निति—तस्मादेवमभ्यूहति
॥१३॥

अथ यो दृषदुपले उपदधाति—स कृणाजिनमादत्ते ‘शम्भोसि’—(१ अ १६
म०) इति । तदवधूनोति—“अवधूतस् रक्षोऽवधूता अरातयः”—(१ अ १६ म)
इति । सोऽसावेव बधु । तत् प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति—“अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वा
दितिर्वेत्तु” (१ अ १६ म) इति । सोऽसावेव बधु ॥१४॥

अथ दृषदमुपदधाति धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्तु—(१ अ०
१६ म) इति । धिषणा हि, पर्वती हि प्रति त्वादित्यास्त्वग वेत्ति । तत्सज्ञा
मरैतत् कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्यो य हिनमात इति । इयमवैषा पृथिवी रूपेण
॥१५॥

अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति—‘दिवस्क्रम्भनीरसि’—(१ अ १६ म०)
इति । अन्तरिक्षमव रूपेण । अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टधे । तस्मादाह—दिव-
स्क्रम्भनीरसीति ॥१६॥

अथोपलामुपदधाति—“धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु”—(१ अ०
१६ म०) इति । कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति । तस्मादाह पावतेयीति । प्रति त्वा
पर्वती वेत्ति । प्रति हि स्व सजानीते । तत् सज्ञामेवैतदृषदुपलाभ्या वदति—नेदन्यो य
हिनसात इति । द्यारेवैषा रूपेण । हनू एव दृषदुपले । जिह्वैव शम्या । तस्माच्छम्यया
ममाहति । जिह्वया हि वदति ॥१७॥

अथ हविरधिवपति—“घान्यमसि धिनृदि देवान्”—(१ अ० २ म) इति ।
घान्य हि । देवान् धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥१८॥

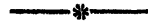
अथ पिनष्टि—“प्राणाय त्वोदानाय त्वा ध्यानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे
घाम्”—(१ अ २ म) इति । प्रोहति ‘देवो च सविता हिरण्यपाणि प्रतिगृ
भ्यात्त्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा’—(१ अ २ म) इति ॥१९॥

तद्यदेव पिनष्टि । जीव वै देवाना हपिरमृतममृतानाम् । अथैतदुलूखलमुसलाभ्या
दृषदुपलाभ्या हविर्यज्ञं धनति ॥२०॥

स यदाह प्राणाय त्वोदानाय त्वेति, तत्प्राणोदानो दधाति । व्यानाय त्वेति, तद्
यान दधाति । दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति तदायुदधाति । देवो व सवित्तरिण्य-
पाणि प्रतिगृभ्यात्त्विच्छ्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीता यसन्निति । चक्षुषे त्वेति तच्चक्षु-
र्दधाति । एतानि वै जीवतो भवति । एवमु हैत जीवमेव देवाना हपिभवत्यमृतममृतानाम् ।
तस्मादेव पिनष्टि । पिषन्ति पिष्टानि, अभी धते कपालानि ॥२१॥

अथैक आज्यानवर्षति । यद्वा आदिष्ट देवतायै हविर्गृह्यते—यावद् वत्य तद् भवति ।
तदितरेण यजुषा गृह्णाति । न वा एतत्कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णादिशनि यदा यम् ।
तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति—“महीना पयोऽसि”—(१ अ २ म) इति ।
मह्य इति ह वा एतासामेक नाम यद् गवाम् । तासा वा एतत् पयो भवति । तस्मादाह—
महीना पयोऽसीति । एवमु हास्यैतत् खलु यजुषैव गृहीत भवति । तस्माद्देवाह महीना
पयोऽसीति ॥२२॥

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् प्रथमप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्



७—उपवेश का सम्पादन, अग्नि पर कपालो का स्थापन, एव तद् द्वारा (पुरोडाशसम्पत्ति के लिए) हविर्द्रव्य का परिपाक

(अनुवाद) १—हविर् य का परिपाक कपालों में होता है । एतद्य कपाल का
उपधान होता है । यह उपधान 'गार्हपत्यस्वर' के अपराद्ध में होता है । इसमें पिष्ट हविर्द्रव्य
रक्खा जाता है । एव अङ्गारा से रसका यथाविधि परिपाक किया जाता है । असम्पन्न (अपरिपक्व)
यज्ञिय अन्न 'हवि' कहनाता है । एव वही सम्पन्न परिपक्व) होकर 'पुरोडाश' नाम से य-
वहत होने लगता है । इस इष्टि में 'आग्नेयपुरोडाश', 'अग्निषोमीय-पुरोडाश' भेद से
पुरोडाशद्रव्य दो भागों में विभक्त है । इसी भाग-क्रम क अनुसार कपाल भी दो भागों में विभक्त

है। आग्नेय कपाल आठ है अग्नीषोमीय कपाल एकादश है। आग्नीध्र नाम से प्रसिद्ध अध्व-
य्यु का सहकारी ऋत्विक् जल से प्रक्षालित कपालों को लेकर गाहपयखर के पश्चिम भाग में
पूर्वपश्चिम क्रम से क्रमशः आग्नेयपुरोडाश-सम्बन्धी आठ आग्नेय कपालों को रखता है एवं
गाहपय के उत्तर भाग में पूर्व पश्चिम-क्रम से क्रमशः अग्निषोमीय पुरोडाश-सम्बन्धी ग्यारह
अग्नीषोमीय-कपालों का उपधान करता है। इन कपालों का उपधान निम्नलिखित क्रम में
होता है। मध्य में मुख्य प्रथम कपाल रहता है। इसक पश्चिम में दूसरा पूर्व में तीसरा दक्षिण
में चौथा चतुर्थ के पूर्व-एक कपाल का व्यवधान छोड़कर पाचवा चतुर्थ पश्चिम के मध्य में छठा
चतुर्थ के पश्चिम में सातवा सातव के पश्चिम में आठवाँ। सब के उत्तर में-नवम दशम
एकादश कपालों का पूर्वक्रम से उपधान करना चाहिए। अग्नीषोमीय एकादश कपालों का यही
उपधानक्रम है।

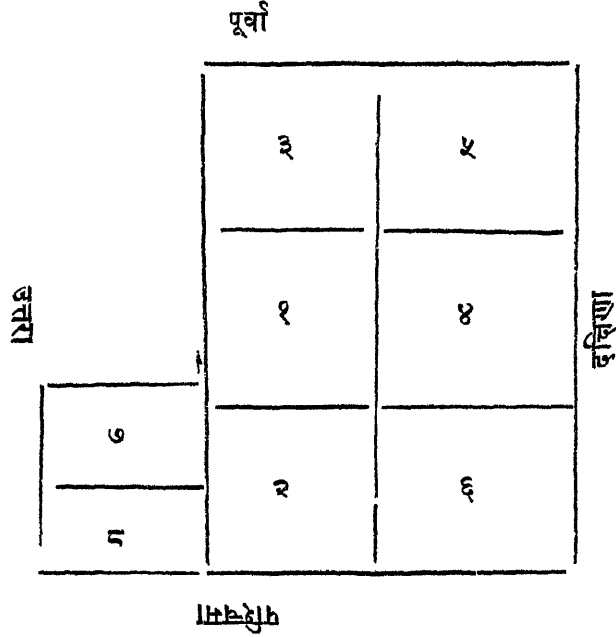
अग्नीषोमीय-एकादश-कपालोपधान क्रम-परिलेख
पूर्वा

	११	२	५	
			६	
उत्तर	१	१	४	दक्षिण
			७	
	६	३	५	

॥३३३॥

एक आगे लिखित क्रम आग्नेय अष्ट कपालों का समझना चाहिए। श्रपणस्थान में स्थित
मध्य अङ्गार में मध्यकपाल (मुख्यकपाल-प्रथमकपाल) रखा जाता है। मध्यम कपाल के
पश्चिमभाग में द्वितीय कपाल मध्यमकपाल के पूर्वा भाग में तृतीय कपाल के दक्षिण भाग में
चतुर्थकपाल चतुर्थकपाल के पूर्वा भाग में पञ्चम कपाल चतुर्थकपाल के पश्चिम भाग में षष्ठकपाल
मध्यम कपाल के पश्चिम भाग में स्थापित द्वितीय कपाल के उत्तर में सप्तम कपाल सप्तम कपाल
के पूर्व में अष्टम कपाल का उपधान होता है जैसाकि अनुपद में ही पद्धति क्रमनिरूपण में
स्पष्ट होनायगा।

आग्नेय-अष्टाकपालोपधान-सम्पन्नी क्रम-परिलेख —



प्रकृत में इस से हमें केवल यही बतलाना है कि कपालोपधान करना आग्नीध्र का कर्म है दृषदुपल से हविद्रय का पेषण करना अध्वर्यु का कर्म है। तात्पर्य यही है कि हवि पेषण और कपालोपधान दोनों सहकारी कर्म हैं। दोनों एकसाथ होते हैं। ऐसी अवस्था में एक ही ऋत्विक् तो एक साथ दोनों कर्म कर नहीं सकता। अतः अध्वर्यु पेषणाथ उसी काल में दृषदुपल का (हवि पेषणाथ) उपधान करता है एव आग्नीध्र उसी काल में कपालों का उपधान करता है। कपालोपधान बहिरङ्गकर्म है। अतः अध्वर्यु की अपेक्षा बहिरङ्ग आग्नीध्र ही यह कर्म करता है। एव पेषणकर्म आहुतिस्वरूप-सम्पादक बनता हुआ अन्तरङ्गकर्म है। अतः आग्नीध्र की अपेक्षा अन्तरङ्ग अध्वर्यु ही पेषणकर्म करता है। द्वितीय अध्याय के इस प्रथम ब्राह्मण में प्रधानरूप से इन्हीं दोनों कर्मों की आवृत्ति (पद्धति) बतलाई गई है।

ऋत्विजां के मध्य में आग्नीध्र नाम का एक ऋत्विक् कपालों का उपधान करता है एव अन्तर (अध्वर्यु) ऋत्विक् (हवि पेषणार्थ) दृषदुपल का उपधान करता है। इसप्रकार 'पेषणोपधाने युगपत्' (का श्रौ सू २।४।२४) के अनुसार ये दोनों कर्म एकसाथ किए जाते हैं। सो जोकि ये दोनों कर्म एकसाथ किए जाते हैं (उसकी उपपत्ति बतलाते हैं) ॥१॥

यह यज्ञ का मस्तक है चोकि पुरोडाश है। इस मस्तक सम्बन्धी चो कपाल (खोपडी) ह वे ही म यज्ञ क कपाल है। मस्तिष्क ही पिष्णय (पिसा हुआ पुरोडाश) है। इसप्रकार (मनुष्य में) कपाल-स्थानीय कपाल एग पुरोडाश-स्थानीय मस्तिक दोनो मिलकर 'शिर 'मस्तक' आदि नामा से यज्ञहत एक अङ्ग है। (हम भी अपने यज्ञ म) दोनों को एकसाथ बनाने समान बनाने इसलिए उपयुक्त दोनो क्रम एकसाथ किए जाते हैं ॥ ॥

जिन अङ्गारों से हविर् य का परिपाक किया जाता है उन्हें हस्ताकृतियुक्त चिस काष्ठ-दण्ड से इस्तत किया जाता है- 'अङ्गारविभजनार्थं काष्ठमुपवेश' (सा भा) के अनुसार यही काष्ठ 'उपवेश नाम से प्रसिद्ध है। सो चो ऋत्विक् (आग्नीध्र) कपाला का उपवान करता है यही 'धृष्टिरसी-युपवेशमादाय' (का श्रो । १४।२५) क अनुसार धृष्टिरसि' (१) (यजु १।१७) यह मन्त्र बोलता हुआ उपवेश उठाता है। वह आग्नीध्र इस हस्ताकृतियुक्त काष्ठ से अङ्गाराग्नि का वषण करता है। अर्थात् चिस प्रगभता के साथ साकर्य के साथ काष्ठ से अग्नि को इधर उबर किया जासकता है उमप्रकार हाथों से (नलने क भय से) जैसा नहीं किया जासकता। अत प्रगभथक जिधृषा' (स्या प ३) धातु से धृष्योति अनेन' इस करण-व्युपत्ति से इस काष्ठखण्ड को 'धृष्टि' कहा जाता है। इस काष्ठखण्ड से अङ्गारादि को यथावत् प्राप्त करने में समथ होता है। इस उपवेश से अङ्गारों क द्वारा यज्ञ का परिवेषण करता है। उसका स्वरूप सम्पादन करता है। अत याप्यथक प्रिष्ल' धातु से (जु उ १३) ववेषीय अनेन' इस व्युपत्ति से इस काष्ठ को उपवेश' नाम से यज्ञत किया जाता है ॥३॥

इस उपवेश से (वह आग्नीध्र) 'अपाग्न इत्यङ्गारान् प्राच करोति (का श्रो २।२।४। ५) के अनुसार 'अपाग्ने अग्निमामद जहि निष्क्रयाद सेध (२) (यजु १।१७) यह मन्त्र बोलता हुआ गाहपयखरस्थ अपरभागीय अङ्गारों को पूजभाग में लेनाता है। कारण इसका यही है कि खर' क अपराद्ध भाग में कपालोपधान का विधान है। अत इस स्थान को रिक्त करने क लिए यहा से अङ्गारोदहन आवश्यक है। वह अग्नि आमात् है जिससे कि

(१) प्रख्यलित अतएव तीव्र अङ्गारों को यह उपवेश इतस्तत करने में समथ है इसलिए कहते हैं-हे उपवेश। आप धष्टि ह। अर्थात् प्रगभ है। एकवात और यान में रखनी चाहिए। यदि यज्ञकत्ता ब्राह्मण है तो उसका उपवेश पलाशशाखा का होता है। क्योंकि पालाशो वै ब्रह्म के अनुसार पलाश ब्रह्मवीथ्य युक्त है। वसी आधार पर-इतत शाखा परिवार्य-उपवेश करोति (सा भा १।१७) यह कहा जाता है।

२-हे अग्ने! आप अपने आमात्-त्रयात् स्वरूप का परिव्याग कीजिए। शेष भा य में स्पष्ट होगा।

मनु य अन्न का परिपाक किया करते हैं । एत जिससे पुरुष को चलाते हैं वह अग्नि क्र यात् है ।
ही दोनों भागों का रस (दवप्राणमय) यज्ञ से (उक्त मन्त्र के द्वारा) प्रथक् करते हैं ॥४॥

अङ्गारादूहनानन्तर— आ देवयजनमित्यङ्गारमाह्वय (का श्रौ २।१४।१६) क अनुसार
'आ देवयज वह (१।१७) यह मन्त्र बोलता हुआ ऋत्विक् (पुराडाश क ऋपणाथ) अङ्गारा
का ऋभाग करता है । जो अग्नि देवयाट् (देवताओं का यजन करने वाला) है उसी में हम
हृदि य का परिपाक करै उसी में यज्ञ को वितत कर इसी (देवभागप्राप्ति के) लिए अङ्गारा
को विभक्त करता है ॥५॥

आ देवयजन वह रस मन्त्र से पूवदिशा में लेगए हुए अङ्गारों में से म य के एक अङ्गार
का उपवेश क द्वारा पुरोडाश—श्रपणस्थान म लाकर वहा उसे प्रतिष्ठित कर आग्नीध्र उस प्रतिष्ठित
अङ्गार क ऊपर एक कपाल रखता है । अङ्गार क ऊपर कपाल क्यों रक्खा जाता है ? इस का
उपपत्ति बतलाते हैं । यज्ञ का वितान करते हुए देवता असुरा के आक्रमण से भयत्रस्त होपड ।
'असुर राक्षस हमारे इस हवि के नीचे से न निकल पडे' देवताओं क भय का यही कारण
था । अग्नि राक्षसा का नाशक है । इसलिए इसप्रकार (अङ्गार क ऊपर) कपालोपधान करते हैं ।
अथ कपालों में से यही एक मध्यकाल असुरा को नष्ट करने में समथ है । अथ कपाल नहीं ।
क्याकि यही यजुष्कृत (मन्त्रबल से युक्त) होगा हुआ मेध्य है । इसलिए म यम कपाल से ही प्रथम
उपधान करते हैं ॥६॥

कम्म का ब्राह्मण (उपपत्ति—विज्ञान) बतला दिया गया । अब पद्धति बतलाते हैं । वह
आग्नीध्र— ध्रुवमसि पृथिवी इह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातव उपदधामि भ्रातृयस्य
वधाय' (१।१७) यह मन्त्र बोलता हुआ कपाल को अङ्गार पर रखता है । ध्रुवमसि पृथिवी इह
यह बोलता हुआ आग्नीध्र पृथिवी के स्थिररूप क द्वारा कपाल को स्थिर बनाता है । इसी स्थिर
एव ऋभाग से यह आग्नीध्र द्वेष करने वाले भ्रातृय को नष्ट करता है । यजुर्मन्त्रों में
पुत्र प्रजा धन आदि अनेकप्रकार की आशी है । अर्थात् भिन्न भिन्न मन्त्रों से भिन्न भिन्न फल प्राप्त
किए जाते हैं । उन सब में से प्रकृत में 'ब्रह्मवनि वा क्षत्रिवनि त्वा' इस मन्त्र भाग से ब्रह्म, और
क्षत्र की कामना की जाती है । सम्पूर्ण विश्व में ये ही दोनों वीर्य्य हैं । भाई बन्धु (जातिबन्धु)
सजात हैं समानवशज है । सजातवग ही मनुष्य की भूमा (समृद्धि) है । 'सजातवनि' से इसी
भूमाभाव की यात्रा की जाती है । इन सम्पूर्ण भावनाओं को रखता हुआ आग्नीध्र अन्त में
उपदधामि भ्रातृयस्य वधाय' यह बोलता हुआ कपाल रखता है । ऐसा यह तभी बोलता है

जय कि किसी पर अभिचार की आपश्यकता न हो। यदि सचमुच म यजमान का काह प्रत्यक्ष में कपाल शत्रु है एव उसे नष्ट करना है तो आग्नीध्र को चाहिए कि अमुष्येति द्विष छ दे-
अभिचरन्' क अनुसार उक्त वाक्य में उस शत्रु का नाम आर समाविष्ट करदे। उपदधामि-
मात्कृतिक-पारतत्र्यस्य वधाय' इत्यादिरूप से नामालेख करदे यही ता पश्य है। कपालो
पधानानंतर वह आग्नीध्र वाम हस्त से कपाल का स्पर्श किए रहता है। स्पर्श किए हुए ही ॥७॥

दक्षिण हाथ से अथ अङ्गार का आहरण करता है। अन्य अङ्गारोपवान एव कपाल क
यत्च्छद से मध्य में असुर राक्षस प्रविष्ट न होनाय' इसीलिए ऐसा किया जाता है। ब्राह्मण
राक्षसों का अपहृता है। इसलिए आग्नीध्र वामहाथ की अङ्गुलि में कपाल का स्पर्श किए
रहता है ॥८॥

अनंतर-'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व यह मन्त्र बोलता हुआ जामहस्त की अनामिका अङ्गुलि
से स्पष्ट कपाल म अङ्गार रखता है। पुरोडाशश्रपण क पूर्व ही कपाल म असुर राक्षस प्रविष्ट न
हो पड इसीलिए कपाल में अङ्गार रक्खा जाता है। अग्नि राक्षसा का नाशक है। इसलिए इसी
से कपाल को युक्त करते है ॥९॥

म यम कपाल के उपधानानंतर 'धरुणमिति पश्चात् (का आ २।४।३) क अनुसार
म यम कपाल के पश्चिम भाग में प्रथमोपहित कपाल से सलग्न कर-धरुणमस्य तरिक्ष दृ ह
ब्रह्मवर्नात् ३० इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र द्वितीय कपाल रखता है। अन्तरिक्ष म
जो ऋता है उसीसे इस दूसरे कपाल का युक्त करते है। शेष पत्र से गताथ है ॥१०॥

द्वितीय कपालोपधानानंतर 'पुरस्ताद्धर्ममिति' (का आ २।४।३१) क अनुसार-
'धर्ममसि दिव दृ ह' यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र मध्यम कपाल के पूरुभाग में प्रथमोपहित
कपाल से सलग्न कर उसके पूर्वभाग में तृतीय कपाल का उपधान करता है। द्युलोक में जो
ऋता है उसीसे इस तीसरे कपाल को युक्त करते है। शेष भाग पूर्व से गताथ है ॥११॥

तृतीय कपालोपधानानंतर 'विश्वाभ्य इति दक्षिणत' (का औ २।४।६०) के अनु-
सार 'विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्य उपदधामि' यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र प्रथम कपाल क
दक्षिण भाग म प्रथमोपहित कपाल से सलग्न कर चतुर्थ कपाल का उपधान करता है।
पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यां इन तीनों लोकों से अतिरिक्त चौथा लोक है अथवा नहीं-यह सादृश
विषय है। उसी मु षभावापन्न चौथे लोक से यह अपने (यजमान के) शत्रुओं को निकालता है।

तीना लोको का अतिक्रमण करने वाला चोथा लोक अनद्धा (अप्रकट) है । यह है अथवा नहीं यह स्वरूप से नहीं कहा जा सकता । इधर ये विश्वा आशा (सम्पूर्ण दिशा एव आशाए) अनद्धा है । इसी सनानीय भाग का लक्ष्य म रखकर 'प्रिश्वाग्नास्त्वा आशाग्ना यह कहा गया है । इसप्रकार प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ—(मध्यम पूर्व पश्चिम दक्षिण) इन चारों कपालों का उपधान तो समन्वय होता है एत इतर (शेष बचे हुए) कपालों को वह आ नीध तूष्णी ही रख देता है । अथवा शेष चार आग्नेय कपालों को 'मम प्रिम य द्व दक्षिणत एवमुत्तरत श्वत-स्थिति' (का श्रा० सू २।४।३३) क अनुसार चितस्थोर्धाचित ' यह मन्त्र बोलता हुआ दो म यम कपाल के उत्तर में एव दो मध्यम कपाल क दक्षिण म इस क्रम से रखदे ॥१ ॥

इसप्रकार आग्नेय अष्णकपालोपधानान तर— 'भृगूणामत्यङ्गारैरभ्यूहति (का श्रो २।४।३७)क अनुसार 'भृगूणामङ्गिरमा तपसा तप्यध्वम्' यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र अङ्गारों से कपालों को आच्छान्ति करता है । यह अतिप्रखर तेज है जोकि भृगु-अङ्गिरा का तेज है । हमारे कपाल श्रष्ट प्रखर तेज से सुतप्त होजाय इसीलिए उक्त मन्त्र क द्वारा अङ्गारों से कपालों को आच्छान्ति किया जाता है ॥१३॥

इति-कपोलापधानम्

ब्राह्मण क प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि कपालोपधान और दृषदुपलोपधान साथ साथ होता है । कपालोपधान आग्नीध्र करता है एत हवि पेषणाय दृषदुपलोपधान अध्वर्यु का कम्म है । जो ऋत्विक् (अ ऋय्यु) कपालोपधान के साथ दृषदुपलोपधान करता है वह शर्मामीति यह बालता 'कृष्णाजिनमादो पूर्वत् प्रतिकृष्णाजिनम्' (१।५।२) के अनुसार कृष्णमृग चम्म उठाता है । अनन्तर- अवधूत रक्षोऽवधूता अरातय यह बोलता हुआ मृगचम्म को भाडता है । इसका वही पूर्वोक्त तापय्य है । अनन्तर- अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वा दितिरेत्तु यह मन्त्र बोलता हुआ अ ऋय्यु से प्रतीचीनग्रीव विछाता है । इस की भी वही पूर्वोक्ता उपपत्ति है ॥१४॥

कृष्णमृगचर्मास्तरणानन्तर तस्मिन् दृषद धिषणासीति (का श्रो २।५।३) के अनुसार अध्वर्यु कृष्णमृगचम्म पर- धिषणामि पती प्रतित्वादित्यास्त्वग वेत्तु (१।६) यह मन्त्र बोलता हुआ विछ हुए कृष्णमृगचम्म पर दृषत् (सित्त) रखता है । पेषणीय तण्डुलों को अपने ऊपर धारण करने के कारण यह दृषत् धिषणा (धारणाशीला) है । पवत की अवयव

भूता हाने से पाती है। मृगचम्मरूप अन्तिप्रथिवी क चम्म क साथ इसका सम्बन्ध प्रकट कराने क लि स सनातीय सम्बन्ध क द्वारा नाना ऋ हिन्नकभाज को दूर करने क लिए ही प्रतिष्ठा इयादि कहा ह। प्रथिवी अतरिक्ष-द्यो-तीना मे निदान क अनुसार यह दृषत् प्रथिवी रूप से मृगचम्म पर प्रतिष्ठित समझनी चाहिए ॥१५॥

दृषदुपधानानतर 'पश्चाच्छम्यामपोद्वत्युदीची- 'दिव' इति (का श्रो २।५।४) के अनुसार दिग्गम्भनीरास यह मत्र बोलता हुआ अग्र्यु ण्यत् क पश्चिम भाग मे शम्या को उत्तराग्र प्रतिष्ठित करता है। तीनों लोका मे से यह शम्या अतरिक्ष का रूप है। मध्यस्थ अन्तरिक्ष क आधार पर ही उपक्रमोपसहार स्थानीय प्रथिवी एव द्युलोक स्वस्थान मे स्थित है। इसी आधार पर शम्या क लिए दिव स्कम्भनीरास' यह रुहा है ॥१६॥

शम्या को प्रतिष्ठित करने क अनतर-'दृषद्युपला धषणासीति' (का श्रो २।५।५) के अनुसार धषणास्य पातयी प्रतिष्ठा पवती वेत् (१।१६) यह मत्र बोलता हुआ अग्र्यु ण्यत् के उपर उपल (लाटी) को प्रातष्ठित करता है। यह उपल दृषत् की अपक्षा छोटी सी होती है। अत निदान क द्वारा यह उस ण्यत् की कया है। दृषत् पवती है। उसकी कया होने से उपल पार्वतीय है। अपना अपने को पाहचान लेता है यह एक साधारण नियम है। इसी स्वाभाविक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने क लिए 'प्रतिष्ठा पती' इयादि कहा है। स्व का स्व से परिचय होनाने से एक दूसरे पर हि सावृत्ति न रक्ख यही ताप्य है। निदान क अनुसार यह उपल द्युरूपा है। चम्म दृषत् उपल-शम्या आदि से ही यज्ञपुरुष का स्वरूप निर्माण किया जाता है। नमे दृषत्-उपल यज्ञपुरुष के 'हनू (दृषत् पूरुहनु उपल पश्चिम हनु) है। दोना क मध्यस्थ शम्या जिह्वा है। हनूमध्यस्था जिह्वा ही शब्द प्रयोग करने मे समथ है। अतएव यहा इस वैधयज्ञ म भी ऋत्विग्गण जिह्वा-स्थानीया शम्या से ही दृषत् क आधार पर समाहनन करते है ॥१७॥

अनतर-'धान्यमसीति तण्डुलानोप्य (का श्रो २।५।६) क अनुसार-धान्यमसि धिनुहि देवान् (१२) यह मत्र बोलता हुआ अर्ध्वग्र्यु (पेषणाथ) दृषत् पर हवि का आव-पन करता है। यह हविद्रव्य तृप्ति का साधक होने से धिनोति (प्रीणयति) आत्मगतान् देवान् इस युत्पत्ति के अनुसार ध्याय है। यह यज्ञिय देवताओं को तृप्त करै इसीलिए तो यहा इसका ग्रहण किया जाता है। ऐसी अवस्था म इसके लिए 'धान्यमसि इयादि कहना उचित ही है ॥१८॥

हरिराजपनानंतर 'पिनष्टि प्राणाय वात प्रतिमन्त्रम् (का श्रौ २।५।६) के अनुसार— 'प्राणाय वा पिनष्टि, उदानाय वा पिनष्टि, यानाय वा पिनाष्टि (१२) यह मंत्र बोलता हुआ अध्वर्यु हवि पेषण करता है। अनंतर—दीर्घामिति कृष्णानिने प्रोहति (२।५।७) के अनुसार दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धा दधो व सविता हिरण्यपाणि प्रात-गृभणा विल्लिद्र ण पायना (१।२) यह मंत्र बोलता हुआ पिष्ट हवि को तप्त के नीचे चिद्र हुए मृगचर्म पर स्थापित कर देता है ॥१६॥

अध्वर्यु 'प्राणाय च्वा इयादि रूप से जिस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर हवि पेषण करता है वह वतलाते हैं। अमृतभानापन्न देवताओं का हवि जीवलक्षण ही होता है। अमृतामात्रा के लिए अमृत अन्न ही उपयुक्त होता है। इतर लूखल-मुसल से एव ऋषद्-उपल से ऋत्नक यज्ञमूर्ति हवि का कूट पीसकर निर्जीव बना देते हैं। कुटा पिसा अन्न मत्य हे जीव नहीं। अतः जबतक जीवस्वरूपसम्पात्क प्राण उदान (अपान) यान का पिष्ट हवि के साथ सम्बन्ध नहीं करा दिया जाता तबतक यह हवि अजीव है। मय है। अतएव देवान्न-मर्यादा से रहित हे। इस आपत्ति को दूर करने के लिए ही प्राणाय च्वा इयादि बोल कर हवि पेषण किया जाता है ॥२॥

सो चो कि अध्वर्यु प्राणाय त्वा उदानाय त्वा' बोलता है इससे इस पिष्ट अतएव निर्जीव हवि में प्राणोदान का समावेश करता है। 'यानाय वा' से यान का समावेश करता है। 'दीर्घामनु' इयादि से बीघ आयु का सन्निवेश करता है। हमारा यह हवि देवता के हाथ से गृहीत होता हुआ सुगृहीत बन इसलिए—'देवो व इयादि बोला जाता है। चक्षुषे त्वा से चक्षुरित्य का समावेश किया जाता है। जीवित व्यक्ति के ही लक्षण हैं। इन सबसे इस-प्रकार युक्त होता हुआ पिष्टहवि देवताओं के लिए 'जीव' बन जाता है। अमृतात्माओं के लिए अमृतान्न बन जाता है। इही कारणों को लक्ष्य में रखकर उक्त प्रकार से हवि पेषण करते हैं। ऋत्विक् हवि पीसते हैं। उवर कपालों को तप्त करने के लिए अथ ऋत्विक् अङ्गारों को प्रवर्धित करते हैं ॥ १॥

जिस समय अध्वर्यु हवि पेषण करता है उसी समय ब्रह्मा 'पिष्यमाणेषु निर्वपत्य— यो महीनामित्या यम् (का श्रौ २।५।६) के अनुसार सम्पूर्ण पिष्ट हवि में आज्य (घृता) डालते हैं। तात्पर्य यही है कि सूत्रकार के मतानुसार पेषण और आज्य-निर्वाप दोनों कर्म एक साथ होने चाहिए। इस यज्ञ में देवताओं के लिए चितना हविद्रव्य अपेक्षित होता है तत्त

त्रेनाओ क लिए नाम बोल जालर उतना हा हाउ न लिया जाता है। उस समय आय के लिए किसी देवता का नामो लेख नही हाता। अत आयग्रहण-‘महीना पयोसि’ इस अनि रक्त मन्त्र से हा हाता है। मही गोजाति का एक नाम है। उह्नी का यह पय है। इसी मन्त्र क द्वारा यह आय यजुग्र हात होना है। सी आधार पर-‘महीना पयोऽसि’ यह कहा है ॥२२॥

प्रथमऋण्डा तगत-द्वितीयाध्याय का प्रथम ब्राह्मण उपरत ।

प्रथमऋण्डा तगत-प्रथमप्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण उपरत ॥

१।२।१।—१।१।५।

—*—

अध्यात्मयज्ञरहस्य—

(भा य) हवि श्रपणाथ कपालोपवान एव हवि पेषणाथ दृषदुपलोपधान दानो कम्म एक साथ क्यो किए जाते है? इस प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान करत हुए महर्षि याज्ञवल्क्य अध्यामावज्ञान का ही स्पष्टी करण कर रहे है। उनका कहना है कि अ या मयज्ञ में कपालस्थानीय शिरोभाग एव पिष्ट पुरोडाश स्था-नीय मस्तिष्क (भोज) का दोनो का नि माण एक साथ होता है अत तत्प्रतिकृतिभूत हमारे इस वैध मनुष्य यज्ञ मे भी वैसा ही करना उचित है। पूर्वप्रतिपादित यज्ञसम्बन्धी तत्त् कम्मों की अ यामविज्ञान के साथ तुलना करते हुए हमने ऐसा सकप यक्त किया था कि पुरोडाशब्राह्मण में इस विषय का विषद विवचन किया जायगा। अब वह अवसर आगया है। अत सत्तेप से अ यामयज्ञविज्ञान का स्वरूप वदप्रमी पाठको के समक्ष उप स्थत किया जा रहा है। आशा है-विषय की दुरुहता को लक्ष्य मे रखते हुए पुनर्वाक्त-भावो की उपेक्षा न की जायगी।

सनातनशास्त्र मौलिक एव यागिक भेद से दो भागों में विभक्त है। मौलिकतव विज्ञानशास्त्र में ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है एव यौगिक तव यज्ञ नाम से व्यवहृत हुआ ह। यज्ञ आधेय है एव ब्रह्म आधार है। ब्रह्म के आधार पर ३२ तन्तु युक्त यज्ञ का वितान होता है। आज की विज्ञानभाषा में सम-भूने मात्र के लिए-यदि ब्रह्मतव को हम आधुनिक विज्ञानपरिभाषा के अनुसार फिजिक्स एव यज्ञतव को केमेस्ट्री कहें तो कोई क्षति न होगी। विज्ञानवत्ता यह भलीभाति जानते है कि दो पदार्थों का रासायनिक सयोग (सम्मिश्रण) होने से दोनो पदार्थों का पूर्वस्वरूप उपमार्हित हाजाता है। एव दोनो के इस रासाय-निक सयोग से एक अपूर्व नवीन पदाथ उपन्न होजाता है। जिनके सयोग से यह अपूर्व पदाथ उत्पन्न होता है व दोनो मौलिक हैं। इन मौलिक ब्रह्मों का सामान्य सम्बन्ध अपूर्वता का कारण नही बनता। ऐसा सामा-य सम्बन्ध तो योग सम्बन्ध ही कहलाता है। दूध और पानी का सम्बन्ध ऐसा ही है। परन्तु अतय्यर्याम नाम से प्रसिद्ध ग्रथिबन्धन सम्बन्ध से दोनो का स्व स्वरूप उपमार्हित अभिभूत होजाता है। सोरा एव कोयला दोनो में जब ऐसा सम्बन्ध होजाता है तो तीसरा अपूर्व स्वरूप उपन्न होजाता है। वही

वारुद है। इसी सम्बन्ध को यज्ञ कहा जाता है। यही यज्ञ याग नाम से प्रसिद्ध है। योग व याग (यज्ञ) में यही मन्त्र अंतर है।

सबथा सुसूक्ष्म आमत-व अपने क्षरभाग के द्वारा एकमात्र तृती यज्ञसम्बन्ध के कारण प्रिश्न एव विश्व में रहने वाली प्रजा के स्वरूप में परिणत हो रहा है। स पूरा प्रपञ्च दो मौलिक तत्वों का संयोगमात्र है। दो तत्वों के मिलने से ही यह विश्व विनिर्मित है। प्रिश्न में दो नियतियों का ही साम्राज्य है। दूसरे शब्दों में—विश्व द्विनियति है। सी द्विनियति का रूपांतर—दुनिया है। दुनिया दुरङ्गी है। अर्थात् सद व यागामिका द्विनियति स आक्रान्ता है।

प्रश्न होता है कि जिन दो तत्वों के संयोग से दूसरे शब्दों में याग से यह प्रिश्न उत्पन्न हुआ है उन दोनों का क्या स्वरूप है? एव विज्ञानजगत् में व किन नामों से प्रसिद्ध है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सुपरिचित तेज एव स्नेह दो तत्व ही हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। तेज तत्र अङ्गिरा हे एत नेहत व भृगु है। अङ्गिरा अग्नि है एत भृगु सोम है। आमत व तेजोरूप होने से प्रिशकलन धर्म्मा है एत सोमत व स्नेहरूप होने से सकोचधर्म्मा है। जब अनित व म सोमत व प्रविष्ट होजाता है याज्ञिक परिभाषा के अनुसार—जब अग्नि में सोम ग्राह्यत होजाता है तो पदार्थ का स्वरूप अनित होजाता है। अग्नि ततिधर्म्मा है एत सोम स्थितिधर्म्मा है। गति और स्थिति का समुच्चय ही पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ बनता हुआ विगड रहा है। विशकालत परमाणुओं का संगठन ही तत्त्व पदार्थ की उत्पत्ति है एत यही उसका बनना है। यह क्रिया स्नेहधर्म्मा सोम पर निर्भर है। जब स्नेहसूत्र विच्छन्न होजाता है तो पदार्थ के परमाणु श्लथ होते हुए अवकीर्ण होजाते हैं विखर जाते हैं। यही उस पदार्थ की विनष्टि है। सम्भूति सोमाहुति पर निर्भर है एत विनाश शुद्ध अग्नि की कृपा है। जबतक स भूति—मूलक सोम आमत में ग्राह्यत होता रहता है तभीतक यज्ञ है। जबतक यज्ञ है तभीतक पदार्थ का जीवन है। जिस दिन सोमाहुति अवरुद्ध होजाती है पदार्थस्वरूप नष्ट होजाता है। यज्ञ ही विश्व का जीवन है। यज्ञ के द्वारा ही इश्वरप्रजापति ने सञ्जा निर्माण किया।

अग्नि में साम का ग्राह्यत होना ही यज्ञ है यह सिद्धांत प्रवास्थत हुआ। यह यज्ञ प्राण—प्राणी—भूत में से तीन भागों में विभक्त है। प्राणलक्षण यज्ञ आधिदिवक यज्ञ है प्राणिलक्षण यज्ञ आयात्मिक यज्ञ है एत भूतलक्षण यज्ञ आविभातिक यज्ञ है। ये तीनों ही प्राकृतिक यज्ञ हैं। इन तीनों का प्रवक्तक इश्वरप्रजापति है। उसका यह यज्ञ कभी अवरुद्ध नहीं होता। म त्रिधा विभक्त निययज्ञ के आधार पर ही ऋषियोग मनुष्ययज्ञ किंवा वैधयज्ञ का वितान किया है जसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। तीनों यज्ञों में से भूतयज्ञ को अभी छोड़ते हैं एव शेष प्राणयज्ञ तथा प्राणीयज्ञ की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। प्राणीयज्ञ का मूलाधार प्राणयज्ञ है अतः प्रधान होने से सर्वप्रथम उसी का सन्निप्त स्वरूप उपक्रान्त हो रहा है।

(१)—“प्राणलक्षण आधिदिवक यज्ञ”—

जिस अग्नीषोमा मन्त्र यज्ञ का पूर्व के सन्धम में दिग्दशन काया गया है वह यज्ञ पांडक्तो वै यज्ञ इस अनुगमश्रुति के अनुसार पांच भागों में विभक्त है। अनुगमश्रुतिया अनेक श्रुतियों का प्रतिपादन करती

है। यज्ञ की पान्कता (पञ्चावयवता) अनेक भावों से सम्बन्ध रखती है। अतएव पाङ्क्तो वै यन् इस रूप से इसका उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ—निश्वयापक महायज्ञ को (जोक महायज्ञ सप्त हतयज्ञ नाम से प्रसिद्ध है) ही लीजिए। इस महायज्ञ के—सूर्यम्भ परमेष्ठी सूर्य चन्मा प्रथित्री ये पाच अवयव हैं। सम्बसरयज्ञ के—अग्निहोत्र दशपूणमास चातुर्मास्य पशुबध (अयन) साम भेद से पाच अवयव हैं। प्रकारान्तर से पाङ्कयज्ञ (गृह्ययज्ञ—स्मात्तायज्ञ) हवियज्ञ महायज्ञ अतियज्ञ शिरोयज्ञ—भे से भी यज्ञ पाङ्क्त है। तीन लोक दो सधिया इस प्रकार से भी यज्ञमूलक आग्न पञ्च चित्तिक है।

प्राण अपान उदान समान आन भेद से अध्यामयज्ञ भी पान्क्त है। गुहा आप योति रस अमृत भेद से अधिभूतयज्ञ भी पान्क्त ही है। निदशनमा है। यज्ञ जितने भी ह सब पान्क्त हैं। इन सब में से प्रकृत में स वसरयज्ञ की पाङ्क्तता ही अत्र अभिप्रत है। बृहतीछन्द के मय में (विष्वद्वृत्त के मय में) सूर्य स्थिररूप से तप रहा है। इसको केन्द्र मान कर भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ सूर्य के चारों ओर नियत माग पर परिभ्रमण किया करता है। जिस स्थिर वृत्त पर भूपिण्ड परिक्रमा करता है वह वृत्त क्रातिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रातिवृत्त में पार्थिव गायत्राग्नि एव सौर सावित्राग्नि भरा हुआ है। इस स्थिर माण्डलिक प्राणाग्नि का नाम ही सम्बसरप्रनापति है। अग्नि अन्नाद् (अन्न खाने वाला) है। जबतक इसमें अन्न की आहुति होती रहती है तभीतक यह अन्नाद् स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। जिस अन्न की इस सम्बसरग्नि में आहुति होती है वह सोम नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि दाहक तव है एव सोम दाह्य है। दाह्य सोम की आहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित होजाता है। सोम की आहुति से ही अहोरात्र पक्ष ऋतु अयन वर्ष भेद से यापक अग्नि तव पाच भागों में विभक्त होजाता है। इसीलिए अग्नीषोमा मक सम्बसर यज्ञ भी पाच भागों में विभक्त होजाता है। अहो रात्रयज्ञ ही अग्निहोत्रयज्ञ है। पक्षिकयज्ञ ही दशपूणमासयज्ञ है। ऋतुयज्ञ ही चातुर्मास्ययज्ञ है। अयनयज्ञ ही पशुबधयज्ञ है। एव सम्बसरयज्ञ ही सोमयज्ञ है।

इसप्रकार एतद् ही यज्ञ कालपर्वभेद से पाँच स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्राकृतक सम्बसरयज्ञ के हवियज्ञ सोमयज्ञ भेद से दो विभाग समझने चाहिए। प्रतिष्ठालेख पृथिवी (पिण्डपृथिवी)—यज्ञ ही हवियज्ञ है। एव स्तोम्यत्रिलोकी में व्याप्त महायज्ञ किंवा वितानयज्ञ ही सम्बसरयज्ञ है। भूपिण्ड का जो भाग सूर्य की ओर रहता है उसमें सौर दिव्य प्राण की प्रधानता रहती है। सौर अग्नि आहवनीय कहलाता है। ऐसी अवस्था में सूर्यानुगत पार्थिव दिव्याग्नि को हम अन्श्य ही भूपिण्डरूप हवियज्ञ का आहवनीय मान सकते हैं। एव सूर्य के प्रतिष्ठिक में रहने वाला पार्थिवाग्नि पृथिवी का प्राप्तिस्वक भाग है। यह पार्थिवाग्नि पृथिवीरूप एह का पति बनता हुआ गाहप याग्नि है। एव दक्षिणभागस्थ वायुरूप ऋताग्नि दक्षिणाग्नि किंवा श्रपणाग्नि है। तथा ओषधि वनस्पतियों हविद्र य है। उसी ऋताग्निरूप दक्षिणाग्नि से इस हवि का परिपाक होता है। परिपक्व हवि की उस दिव्याग्नि किंवा आहवनीयाग्नि में आहुति होती है। यह है प्रतिष्ठालक्षण भूपिण्डस्वरूप हवियज्ञ का सङ्क्षिप्त स्वरूप।

अत्र सम्पूरा भूपिण्ड को गाहपत्य समझिए। न केवल भूपिण्ड को ही अपितु त्रिवृत्स्तोमपन्थन गाहपत्य की सत्ता मानिए। क्योंकि भूपिण्ड से ऊपर त्रिवृत्स्तोम पन्थन पृथिवीलोक (स्तोम्यत्रिलोकी के पृथिवी

लोक) की ही सत्ता रहती है। पञ्चदशस्तोमपर्य्यंत नक्षत्राग्नि के सम्बन्ध से धिष्ण्य नाम से प्रसिद्ध त्क्षिणाग्नि है। एकविंशस्तोम पर्य्यंत दिव्य आहवनीयाग्नि है। आहवनीय की सत्ता यद्यपि सप्तदश स्तोम पर ही है। किंतु सोमाहुति से वह अग्नि २१ स्तोम पर्य्यंत यात होजाता है। अतः वहातक आहवनीय की सत्ता मानली जाती है। इसी आहवनीय में सोम की आहुति होती है। इसी आहुति से सवसरयज्ञ का स्वरूप निपन्न होता है।

इस अग्नीषोमामक यज्ञ से ही सम्पूर्ण पार्थिव-विश्व का सञ्चालन होरहा है। पार्थिव-लोक-प्रजा धम्म-वेद आदि सपूर्ण सृष्टियों का प्रवक्तक यही अग्नीषोमामक सम्बसरयज्ञ है। उपन्न होने वाली प्रजा का प्रभन प्रतिठा परायण यही सम्बसरयज्ञ है। अतएव ब्राह्मणग्रथो में इसे प्रजापति शब्द से यथहृत किया गया है। प्रजापतिने यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण प्रजा (पार्थिव विश्वातगत स्थावर जङ्गमरूप यन्त्रयावत् पदाथ) उपन्न की है। सी यज्ञ से प्रजापति अपना इष्ट साधन कर आप्तकाम बन रहे है। ऐसी अवस्था में इश्वरप्रजापति के प्रतिरूपामक सवसरप्रजापति के अशभूत पुरुषप्रजापति (मनुष्य) के इष्ट साधन के लिए आप्तकाम बनने के लिए याद कोई सर्वोत्तम साधन है तो यही यज्ञ। यज्ञ के द्वारा यह सन्नकुछ प्राप्त करने में ममथ है। इसी प्राजापत्ययज्ञ-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर यज्ञश्वर भगवान् मधुसूदन कहते हैं—

मह यज्ञा प्रजा सृष्ट्या पुरोमाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्त्विष्टकामधुक ॥
—गीता

यह है अधिदविक प्राणलक्षण प्राकृतिक यज्ञ का सक्षिप्त निदर्शन। अब प्राणीलक्ष्य अध्यात्म-यज्ञ की ओर ही आपका यान नाकर्षित किया जा रहा है।

(२) प्राणीलक्षण-अध्यात्मयज्ञ-

शुक्र की बिन्दुमात्र से विचित्राकाराकारित मनुष्य का स्वरूप सपन्न होजाता है यह महा आश्चर्य्य है। स्त्री के शोणित में रेतोधा पुरुष के द्वारा आहुत होने वाली यत्किञ्चित् सी शुक्रबिन्दु का परस्पर सर्वथा विभिन्न आँख-कान-नाक-भीजा-पाद हस्त-उर-उदर-मस्तक-आदि विविध भावों में परिणत होजाता सच्चमुच्च कम आश्चर्य्य नहीं है। इस आश्चर्य्य की निवृत्ति का उपाय है यज्ञस्वरूप रहस्य को यथावत् समवित कर लेना। पुरुष के उपन्न होने में आश्चर्य्य। उपन्न होने के अनन्तर उस में केश-दन्त-आदि का जो विविध परिवत्तन होता है वह आश्चर्य्यमय। इसप्रकार पुरुष की स्वरूपस्थिति अथ से अति पर्य्यन्त मादृश प्राकृत मनुष्यों के लिए तो सर्वामना आश्चर्य्यमयी ही प्रमाणित होरही है। इन सम्पूर्ण आश्चर्य्यों का मूल-कारण यज्ञ ही है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं। विविधभावापन्न उन सब यज्ञों का अध्यात्मस्था के साथ सम्बन्ध होता है। प्राकृतिक अग्निहोत्र दशपूर्णमास्य-चातुर्मास्य-अयन-सोम-गवामयन-अङ्गिर-सामयन-आदि-यानामयन-चयन आदि आदि सभी निय यज्ञों का यहाँ भोग होता है। यज्ञभेद ही सृष्टि भेद का कारण है। उन सब यज्ञों में से प्रकृत में प्रधानरूप से योतिषोमापरपर्यायक सम्बसरयज्ञ का ही अन्न प्रमुखरूपेण ग्रहण समझना चाहिए।

अग्नि में सोम का आहुत होना ही यज्ञ है यह पूर्व में कहा जा चुका है। अग्नि सात प्रकार का है। अतएव अग्नि यज्ञ सात भागों में विभक्त होजाता है। इसी आरधा पर यातिष्णम नाम से प्रसिद्ध ऋषि अग्नि यज्ञ के लिए सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्मोम -यह कहा जाता है। व सातों संस्थाएँ यज्ञसम्प्रदाय म-अग्निष्णम अत्यग्निष्मोम उक्थ्यस्तोम पोडशीस्तोम अतिरात्रस्तोम वापयस्तोम आप्ताय्यामि-स्ताम इन नामों से प्रसिद्ध है।

अग्नि अन्नदा है। अग्नि सात प्रकार का है। अतएव उसमें आहुत होने वाला अन्न (सोम) भी सात भागों में विभक्त रहता है। इसी अन्नविज्ञान को लक्ष्य में रखकर यत्सन्नान्नानि तपसाज्जनयन् पिता (उपनिषत्) यह अनुगम प्रातष्ठित है। सम्बत्सराग्नि त्रैलोक्याग्नि है। त्रिवृत्स्तोम-स्थानीय घनाग्नि पाथव अग्नि है। यह प्राणाग्नि अपान है। आतरिद्व्य तरलाग्नि प्राणु है। यह आन है। दिय एकविंशस्तोमस्थ विरलाग्नि आदिय है। यह प्राण है। तीनों ही अग्निया प्राणरूप है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शान्त् शून्य अधामच्छुद तत्र ही प्राण है। अतएव प्राणलक्षण इन उपयुक्त तीनों ही अग्नियों में तत्र ही न उष्मा है। इन तीनों के समन्वय से नवीन तापधर्मा अग्नि उपन्न होता है। वही प्रथिवी-अन्तारक्ष-द्यौ इन तीनों देवों के अग्नि-प्राण-आदित्य इन तीनों नरों के नायक-अधिपतियों के) संयोग से उपन्न होने के कारण वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। आ यो द्या भायाप्रथिवीम्-उशानरो यतते सूर्येण के अनुसार यह वैश्वानर त्रलोक्य में यात है। इसी वैश्वानर में सोमाहुति होती है। ऋषि से पशुत्याघ (पुरुष-अश्व-गो-अवि-अन भेद से पशु पांच प्रकार के हैं) होती है। यही वैश्वानरयज्ञ साक्षात् सम्ब सरयज्ञ है।

हमारा प्रवर्णक यही यज्ञ है। यही सम्ब सरयज्ञ-गवामयन नाम से प्रसिद्ध है। गवामयन नाम से प्रसिद्ध वैश्वानराग्निमय सम्ब सरयज्ञ ही पुरुषपशु का उपादान है। इसी आधार पर-पुरुषो वै सम्बत्सर यह कहा जाता है। सम्ब सरयज्ञ में भूपिण्ड हावेदि है। इसी पर पूर्वकथनानुसार हवियज्ञ निष्पन्न होता है। भूपिण्ड से ऊपर का त्रलोक्य महावेदि है। इसमें सोमरूप सम्ब सरयज्ञ निष्पन्न होता है। पुरुष का अपानाग्नि गाहपयाग्नि है। दाक्षिण्य पार्श्वस्थ जाठराग्नि अपणाग्नि है। मुखाग्नि आहवनीय है। आ यागिक प्राणदेवताओं को तृप्त करने के लिए इसी में अन्नरूप हवि की आहुति दी जाती है। सोमयज्ञ-संस्था में पुरुष का शिरोऽग्नि गाहपय है। इससे प्रारम्भ कर २१ विंशस्तोम पथ्य त महावेदि है। इसमें वही व्यवस्था है जोकि प्राणलक्षण सोमयज्ञ में बतला दी गई है।

ऊपर बतलाया गया है कि सम्ब सरयज्ञपरपर्यायक गवामयनयज्ञ का ही प्रकृत में सम्बन्ध है। यद्यपि इस विषय का विशद विवचन उसी प्रकरण में (शत १२ काण्ड में) किया जायगा। तथापि प्रकरण सङ्गति के लिए उस विषय का सन्क्षिप्त निदर्शन यहाँ भी करा दिया जाता है। गवामयनयज्ञ सम्ब सरयज्ञ है। स व सरयज्ञ के अधिष्ठाता भगवान् सविता (सविताप्राणामक सूर्य) है। सूर्यो बृहती मध्युस्तपति ऋषि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य सम्ब सरचक्र के मयस्थ विष्वदवृत्त नाम से प्रसिद्ध बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है। इस बृहतीछन्द से दक्षिण की ओर का २४ अशामक सम्पूर्ण दाक्षिण्यभाग दक्षिणगोल कहलाता है। एव विष्वदवृत्त से उत्तर की ओर का २४ अशामक सम्पूर्ण उत्तरभाग उत्तरगोल नाम से प्रसिद्ध है।

४८ अशा मक उत्तर दक्षिण—गोला मक इसी प्रदेश का नाम है सम्ब सर । प्रदेश का नाम सम्ब सर नहीं है अपितु इस प्रदेश में रहने वाले पार्थिवाग्निमिश्रित सौर अग्नि का नाम स व सर है । पृथिवी के परिभ्रमण के कारण ही यह अग्नि सम्ब सर नाम से प्रसिद्ध हुआ है । पृथिवी सूर्य के चारो ओर घूमती है यह वदामिमत सिद्धांत है । परिभ्रमणशीला स पृथिवी का परिभ्रमणमाग सवथा निश्चित है । क्रांति-वृत्त को यह कभी नहीं छोड़ती । इसप्रकार एकमात्र क्रांतिवृत्त को अचलभाव से पकड़े हुए पृथिवी सूर्य के चारो ओर घूमती है । अतएव परिभ्रमणशील यह पार्थिवाग्नि एकत्र बिंदो—एकीभावेन असन् सन् पार्थिवाग्नि सरात गच्छति इस युपत्ति स यह वष यापक दूसरे शब्दों में क्रांतिवृत्तावलुन्न पार्थिवाग्नि मण्डल सम्ब सर नाम से प्रसिद्ध हो गया है ।

अपिच सूर्य के चारो ओर घूमने वाली पृथिवी बिंदु बिंदु से वक्रित होती हुई ही आगे चलती है । सौरप्राण के आकषण से सीधे माग मे न जाकर पृथिवी सूर्य की ओर मुड़ जाती है । प्रतिबिंदु में होने वाली इस वक्रता के कारण ही पृथिवी—परिभ्रमणमण्डल गोलाकार होनाता है । आप जितन भी वतु लवृत्त देखते हे सबमें यही उपयुक्त यवस्था है । गोल वस्तु की प्रतिबिंदु वक्रित रहती है । वक्रभाव से ही वस्तु लता उ पन्न होती है । पार्थिवाग्नि का स्वरूप भी ऐसा ही है अतएव सवत सरति इस युपत्ति से भी इस पार्थिवाग्निमण्डल को सर्व सर कहा जाता है । स व सर ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में सम्ब सर नाम से प्रसिद्ध होगया है । स व सर श द के इसी निवचन का स्वरूप बतलाती हुई वाजिश्रुति कहती है—

“स एक्षत प्रजापति—सर्व वा अत्सारिष य इमा देवता असृक्षीति । स सर्त्सरो
ऽभयत् । सर्त्सरा ह त नामैतद्यत्सम्पत्सर इति”—

—शतपथ ११ का १ प्र ६ ब्रा ११ क

इस स व सराग्नि का भोग वर्ष भर म होता ह । अतएव आगे चलकर वार्षिक अग्नि का वाचक शब्द काल मे भी नियुक्त होगया है । आज दिन सम्ब सर काल का वाचक माना जाता ह । परन्तु विश्वास रखिए सम्ब सर को काल समझना गौणभाव है । वस्तुत ब्रह्मण्डल में व्याप्त चर—अचर सृष्टि का प्रभव सोमर्गभित अग्नि तव ही स व सर है । यही यवस्था अह पन्न अयन आदि के सम्बन्ध में समझनी चाहिए ।

पूर्वोक्त सम्ब सरयज्ञ में सौरमण्डल के तीन मनोताओं का भोग होता है । जिस तव के आधार पर जो वस्तु प्रतिष्ठास्वरूप अपने हृदयस्थ मनोभाव को स्वस्वरूप में सुरक्षित रखने में समथ होती है दूसरे शब्दों में जीवनसत्ता का कारणभूत हृदयस्थ मन जिस त व में श्रोतप्रोत रहता ह वही तव विज्ञानभाषा में मनोता नाम से प्रासद्ध है । उदाहरणार्थ—अग्नि को ही लीजिए । अग्नि के आधार पर ही वसु—रुद्र आदि—य—इन्द्र—प्रजापति अश्विनी आदि देवता प्रतिष्ठित है । एक ही अग्नि के विर्वा सम्पूर्ण (३३) देवता है । इसीलिए अग्नि सर्वा देवता (शत) इ यादि रूप से अग्नि को सर्वा देवता माना जाता है । किसी भी देवता के लिए आहुति दी जाय सबकी आधारभूमि अग्नि ही है । यह तव सब देवताओं का मुख है । सम्पूर्ण देवता अग्निमुख है यही सबमे अग्रणी होने से अग्नि कहलाता है । परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में यही अग्नि अग्नि नाम से प्रसिद्ध होरहा ह । यह अग्नि त व सब देवताओं का अधिष्ठाता है दूसरे शब्दों में इसी में सम्पूर्ण देवताओं के मन श्रोतप्रोत हैं अत अग्नौ सवषा देवाना मनासि—

आतानि एष यु पात्त के अनुसार हम अग्नि के देवताओं का मनोता कह सकते हैं। (देखिए शत ६ का)। यही व्यवस्था यात गौ आयु के सम्बन्ध में समझिए। विश्व के प्रत्येक पदार्थ में हम ज्योति भूत आत्मा इन तीनों भावों को प्राप्त करते हैं।

साथ ही मैं अतना अवश्य यान रखना चाहा कि कही रूपज्योति मिलेगी कही परज्योति ता कही रूप योति। उदाहरणार्थ पहिले सूर्य को ही लीजिए। सूर्य का गोला सवित्राग्निमय है। यह सूर्यपिण्ड भूतभाग है। सूर्य के केन्द्र में होने वाला तब आत्मा है। इसी आत्मा तब को लक्ष्य में रखकर योऽसावा दिये पुरुष सोऽहम् ऐ उ) अर्थात् कहा जाता है। साथ ही मैं सूर्य स्वज्योतिष्मय है यह तो स्पष्ट ही है। सूर्य स्वतः प्रकाशी है। इसका प्रकाश अपना प्रकाश है। चन्द्रमादि की भाँति यह अन्य किसी के प्रकाश से प्रकाशित नहीं हो रहा। अब चलिए चन्द्रमा की ओर। चन्द्रमा पानीयपिण्ड (जलका गोला) है। यह पिण्ड भूत भाग है। हृदयस्थ भाग आत्मा है। चन्द्रिका योति है। यह चन्द्रिका सूर्यज्योति से सम्बन्ध रखती है। चन्द्रमा का प्रकाश अपना प्रकाश नहीं है। अपितु सौर प्रकाश से ही यह चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है। इसी रहस्य का निरूपण करती हुई ऋक्सूक्त कहती है—

अत्राह गोरम वत नाम त्वष्टुरपीयम् । इत्था चद्रमसो गृहे ॥

—ऋक्संहिता

वैज्ञानिक महर्षि रूप-योति के आघष्ठाता वज्र नाम से प्रसिद्ध आदित्य के परम मनोहर गोतत्व का (रश्मियो का) इसप्रकार (जसा देखा जाता है) चन्द्रमा के घर में नमन मानते हैं। इसीलिए इस चान्द्र-योति को हम पर योति मान सकते हैं। भूपिण्ड भूतभाग है। केन्द्रस्थ प्राणाग्नि इस भूतपिण्ड का आत्मा है। एव रूपज्योति ही अत्र प्रधान है। पृथिवी का स्वरूपमात्र ही हमारे लिए दृश्य बनता है। पृथिवी अपने स्वरूपमात्र को दिखलाने में समर्थ है। चन्द्रमा एव सूर्यवत् इसमें अत्र पदार्थों को अपने प्रकाश से दिखलाने का सामर्थ्य नहीं है। पार्थिव पदार्थमात्र में इसी रूपज्योति की प्रधानता है।

साथ ही यह भी यान रखना चाहिए कि रूप-योतिष्मय जितने पदार्थ हैं सब पृथिवी नाम से व्यवन्त होते हैं। पर-योतिष्मय यच्चयावत् पदार्थ चन्द्रमा हैं एव स्व-योतिष्मय सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य हैं। स्वातीनक्षत्र स्व-योतिष्मय होने से ही सविता नाम से व्यवहृत होता है। इस निदर्शन से प्रकृत में हमें बतलाना यही है कि त्रलोक्य के पदार्थमात्र में प्रत्येक में ज्योति आत्मा भूत इन तीनों भावों का साम्राज्य है। त्रैलोक्य का प्रभव प्रतिष्ठा परायण सूर्य है। उस सूर्य के उक्त योति गौ आयु ये तीन मनोता हैं। सूर्य का सूर्यव इही तीनों मनोताओं के आधार पर प्रतिष्ठित है।

ये ही तीनों मनोता क्रमशः योति भूत आत्मा के आधार हैं। ज्योतिर्भाग से देवतापरपर्यायिक प्रत्येक पदार्थ का योतिर्भाग निष्पन्न होता है। गौ भाग से भूत का निर्माण होता है एव आयुभाग से आत्म-स्वरूप सम्पन्न होता है। योति से योतिष्टोम यज्ञ का स्वरूप स पन्न होता है। गौ से गोष्टोम एव आयु से आयुष्टोम की स्वरूप निष्पत्ति होती है। तीनों ही सम्बन्धयज्ञ हैं। सम्बन्ध में तीनों की सत्ता है।

प्रकृत में हमें भूतप्रधान शरीर की रचना—चैय का दिग्दर्शन कराना है एव इसका सम्बन्ध गोष्ठोमापर-पर्याक गवामयन के साथ है। अतः गवामयन नाम के सम्बन्ध की ओर ही पूर्वमें आपका यान आकषित किया गया है। गवामयनयज्ञ में होने वाली आहुतियों के तारतम्य से ही शरीर में वचिच्य होगया है। निवद्वृत्त के केन्द्र में स्थित है। इसके चारों ओर २४ २४-अंश के अंतर पर प्रथिनी घूमती है। यह है आधिदैविक गवामयन सम्बन्ध का स्वरूप परिचय। प्रथिनी गो है। इसका अयन (गमन) ही गवामयन है।

ब्राह्मणग्रन्थों में एक प्रश्न किया है कि जबकि अनस्थिमत् (घन-भाव-शून्य) तरल आय की आहुति होती है तो उससे अस्थियुक्त प्रजा कैसे उपन्न होजाती है? इस प्रश्न का समाधान करती ऋषि ब्राह्मणश्रुति कहती है कि वास्तव में आयभाग तरल होने से अनस्थिमत् ही है। परन्तु उस में हिरण्यशकल (सोने का टुकड़ा) डाल कर क्योंकि तदयुक्त आय की आहुति दी जाती है अतएव प्रजा अस्थिमती होती है। इस प्रश्नोत्तर का वैधयज्ञ के द्वारा प्रकृतियज्ञ सम्बन्ध है। प्रकृति के नित्य यज्ञ की प्रतिक्रिया (नकल) मनुष्यकृत वैधयज्ञ है। इससे आहुति के द्वारा नवीन देवा मा उपन्न किया जाता है जेसा कि प्रथमऋषड में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अहवनीयानि में आय की आहुति दी जाती है। आय तरल पदार्थ है। उपन्न होने वाली प्रजामें अस्थि भी अपेक्षित है। एतदथ आय में हिरण्यशकल डाला जाता है। उधर मनुषी सृष्टि में शुक्र तरल पदार्थ है। यह ओषधि (अन्न) के रस से निपन्न हुआ है। भुक्त ओषधि ही रसाऋषड मासादि वरूपों में परिणत होती हुई शुक्र स्वरूप धारण करती है। ओषधिया पार्थिनी है। अतएव तद्वरसभूत शुक्र को हम पार्थिव कह सकते हैं। इस शुक्र में सौर आग्नेय तेज प्रविष्ट रहता है। सौर तेज हिरण्यमय ह। यह घन है। शुक्ररूप आयाहुति में यह हिरण्यशकलरूप सौर आग्नेय तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी से अस्थिभाव उपन्न होता है। शुक्र की प्रतिक्रिया वैधयज्ञ में आय है। सौर तेज की प्रतिक्रिया वैधयज्ञ में हिरण्यशकल ह। क्योंकि सौर अग्नि ही विशेष प्रकार की मिट्टी में अतर्क्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर सुवर्ण कहलान लगता है। सुवर्ण साक्षात् सौर तेज ह। सौर तेज पावत्र ह। अतएव इतर वाहुत्या की अपेक्षा सुवर्ण को अधिक पवित्र माना जाता ह।

शुक्र की आहुति हुई। अब क्रमशः वही सम्बन्धयज्ञ इसमें प्रविष्ट होने लगता है। विषयवृत्त मेरुदण्ड बनता है। पुरुष में आधे दृश्य विषुव का ही रस आने पाता है अतएव इसका मेरुदण्ड आया ही बनता है। इस कमी की पूर्ति पानी से होती है। ईश्वर पूर्ण है। आधी मात्रा के कारण जीव अर्द्ध है। पृथिवी विषुव की दोनों ओर की परमक्रांतियों पर पहुच कर मुड जाती है। विषुवरूप मेरुदण्ड से सलग्न पशु (पँसलियाँ) सीधी न जाकर दोनों ओर से मुड जाती हैं। विषुव और क्रांति का अंतर २४ अंशका है। अतः पशु २४ ही बनते हैं। विषुवरूप मेरु का केन्द्र हृदय है। यही मन है। इसी मन पर विज्ञानसूत्र्य प्रतिष्ठित ह।

यह तो हुआ स्थूल निर्माण। अब सक्षेप से सूक्ष्म निर्माण पर भी यान दीजए। गवामयनयज्ञ ३६ दिन में समाप्त होता है। पूरे सवसर में गवामयन की स्वरूप-निपत्ति होती है। इस गवामयन में प्रतिष्ठित अहर्भाग प्रायणीय आरम्भणीय अभिप्लव प्रष्टय महाव्रत उदयनीय आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

प्रथम अभिप्लव में योतिषोम गोष्ठोम आयुषोम गोष्ठोम आयुषोम योतिषोम इसप्रकार ६-६ स्ताम होते हैं । एवं प्रथमक पृष्ठ्याहम त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंश त्रिण्य त्रयस्त्रिंश इस प्रकार ६ ६ स्तोम समवित ह । वर्ष के आरम्भ में प्रायणीय अतिरात्र होता है । अनन्तर पाच मास पय्यत १५ अभिप्लव और प्रष्टथ होते ह । अनन्तर २४ दिन पय्यत तीन अभिप्लव और एक प्रष्टथ होत ह । शेष चार दिन में एक दिन अभिजिदह एव तीन दिन स्वरसाम किए जाते ह । ६ मास समाप्त हो जाते हैं । परमक्रांति से चला हुआ यजमान ६ मास समाप्त कर विष्वत् पर पहुच जाता ह । यहा से प्रष्टयाभिप्लव का क्रम परिवर्तित होजाता ह । पहिले के तीन दिन तीन स्वरसाम होते हैं । चौथ दिन विश्व चित् होता है । अनन्तर २४ दिन में एक पृष्ठथ ३ अभिप्लव होते हैं । अनन्तर १२ दिन पय्यन्त चार प्रष्टथ १६ अभिप्लव होत ह । अनन्तर १८ दिन पय्यत एक प्रष्टथ दा अभिप्लव होते हैं । अनन्तर एक दिन गोष्ठोम एक दिन आयुषोम होता है । अनन्तर १ दिन पय्यत दशरात्र प्रष्टथ षडह (६ दिन पय्यन्त) छद्दोमा यह (३ दिन पय्यत) महाव्रतमह (एक दिन का) होता ह अन्तिम दिन उदयनीया त्ररात्र होता ह वर्ष समाप्त होजाता ह । आगे की तालिका से वर्षगणना स्पष्ट होजाती ह—

गवामयनसत्रे सम्बत्सरस्य अहानि (३६०)

१ प्रायणीय		१ उदयनीय
३ आरम्भणीय		१ दशरात्र
२३ { अभिप्लवा -४-२४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }	७	२८ { अभिप्लवौ -२-१२ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }
२३ { अभिप्लवा -४-२४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }	८	३ { अभिप्लवा -४-२४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }
२३ { अभिप्लवा ४-२४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }	९	३ { अभिप्लवा -४-२४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }
२३ { अभिप्लवा -४-२४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }	१०	३ { अभिप्लवा -४-२४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }
२३ { अभिप्लवा -४-२४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }	११	३ { अभिप्लवा ४ ४ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }
२३ { अभिप्लवा -३-१८ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }	१२	२४ { अभिप्लवा ३-१८ दिन पृष्ठ्य -१-६ दिन }
१ अभिजित्		१ विश्वजित्
३ त्रय स्वरसामान	१३	३ त्रय स्वरसामान
१८ अहानि	विषुवान् १	१७९ अहानि

तथाविध पूर्वोक्त गवामयनयज्ञ ही हमारे शरीर का निर्माता है। विद्वत्त ही इस गवामयन सम्बत्सर की प्रातश्चा है। जीवात्मा जुद्ध सुपण है एक सम्बत्सर महासुपर्ण है। सम्बत्सर का उत्तर भाग (उत्तर

गोल) मय सम्बसरसुपण का उत्तरपक्ष है । दक्षिण भाग (दक्षिण गोल) दक्षिणपक्ष है । मयस्व विषुवान् आमा (घड) है । इमी महासुपण का निरूपण करती हुई वाजिश्रुत कहती है—

अथ ह वा एष महासुपण एव यत् सम्बत्सर । तस्य यान् पुरस्ताद् विषुगत -
षण्मासानुपयति—सोऽन्यतर पक्ष । अथ यान् षडुपरिष्टान्—सोऽन्यतर । आत्मा
विषुवान्' ।

शत-१०।२।३।७।

श्रुति ने अब वदवृत्त को आमा बतलाया है । सवाङ्गशरीर में याप्त रहने वाला तब ही आमा कहलाता है । इधर विष्वदवृत्त केवल सम्बसरयज्ञामक एगोल के मय भाग में ही प्रतिष्ठित है । सम्पूर्ण सम्बत्सरचक्र में अब वद की नव व्याप्ति ही नहीं है तो ऐसी अवस्था में विष्वत् को सम्बत्सररूप सुपण का आमा कैसे बतलाया गया ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें छद्दोविज्ञान का ही आश्रय लेना पड़ेगा । पूर्व में छद्द स्वरूप का विशद निरूपण करते समय हमने कहा है कि शब्द एव अथ दोना में छद्दोययथा समान है । नियत अक्षर एव नियत अथ सम्मिलित होकर ही छद्द का स्वरूप बना डालते हैं । उपयुक्त विष्वदवृत्त बृहतीछद्द है ६ अक्षर की समष्टि बृहतीछन्द है । ६ की सरया आने से बृहती का स्वरूप सम्पन्न होजाता है । इसी का नाम छद्द सम्पत्ति है ।

विष्वद नाम से प्रसिद्ध बृहतीछद्द के दक्षिण भाग में क्रमशः—गायत्री उष्णिक अनुष्टुप् इन तीन छद्दों की सत्ता है । एवपक्ति त्रिष्टुप् जगती ये तीन छद्द उत्तर भाग में प्रतिष्ठित हैं । गायत्री—उष्णिक अनुष्टुप्—ये तीनों क्रमशः ६ ७ ८ अक्षर के छन्द हैं । पङ्क्ति त्रिष्टुप् जगती तीनों क्रमशः १—११—१२—अक्षरों के छन्द हैं । मध्यस्थ बृहती नवाक्षर छन्द है । कहने को उसके दोनो ओर के मिलकर ६ छन्द हैं । वस्तुतः जो गायत्री है वही जगती है । जो उष्णिक है वही त्रिष्टुप् है । एव जो अनुष्टुप् है वही पङ्क्ति है । तापय्य इस समानता का यही है कि विष्वद से दक्षिणोत्तर १२—८—४—इन अशा के क्रम से ६ ओ छन्द समान ह । चतुष्पदा गायत्री षडक्षर है । उसकी समरक्षा वाला जगतीछन्द द्वादशाक्षर है । दोनों मिलकर १८ अक्षर हैं । अठारह अक्षर के ६—६ अक्षर के अनुपात से दो बृहती छन्द होजाते हैं । उष्णिक के सम्मुख समकक्षास्थ त्रिष्टुप् के ११—दोनों के सम्मिलित १८ हैं । यहा भी दो बृहती—छद्दों का भोग है । अनुष्टुप् के आठ त् समकक्षास्थ पङ्क्ति के १ दोनों के सम्मिलित १८ हैं । यहाँ भी दो बृहतीछन्द हैं । मय का बृहती तो बृहतीछन्द है ही । तदित्य समी छद्दों का बृहतीछन्द में अतभाव है जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

द्वादशाक्षरा	जगती - १२
एकादशाक्षरा	त्रि टुप् - ११
दशाक्षरा	पङ्क्ति - १
नवाक्षरा	बृहती ६-१ +८+१८ । ११+७+१८ । १२+६+ । १८
अष्टाक्षरा	अनुष्टुप् - ८
साप्ताक्षरा	उपानक - ७
षडक्षरा	गायत्री - ६

सम्पूर्ण सम्बन्ध में नवाक्षर बृहतीछन्द का ही साम्राज्य है। गणितशास्त्र में ६ सख्या को ही सब-सख्या मानने का भी यही रहस्य है। सचमुच नवसख्या (नौ) में सब सख्याओं का समावेश होजाता है। प्रातः ठा स्व प इसी बृहतीविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

‘स वा एष सम्बन्धो बृहतीमभिसम्पन्न’ ।

—शतपथे

बृहतीछन्द सम्पूर्ण छन्दों का स्वराट है। बृहती बद्ध नशील है। बृहती प्रतिष्ठा है। बृहती के इन्हीं स्वरूपों का लक्ष्य भे रख कर निम्न लिखित श्रुतिवचन हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—‘बृहती-बृहतेर्बद्धिकर्मण’ (दे ३।११।)।

२—‘बृहती मय्या ययमान् लोकान् थापामेति तद्बृहत्या बृहच्चम्’ (ता ब्रा ७।४।३।)।

३—‘बृहती वाव छ दसा स्वराट’ (ता ब्रा १०।३।८।)।

४—‘बृहती हि सम्बन्धो ’ (शत० ६।४।२।१।)।

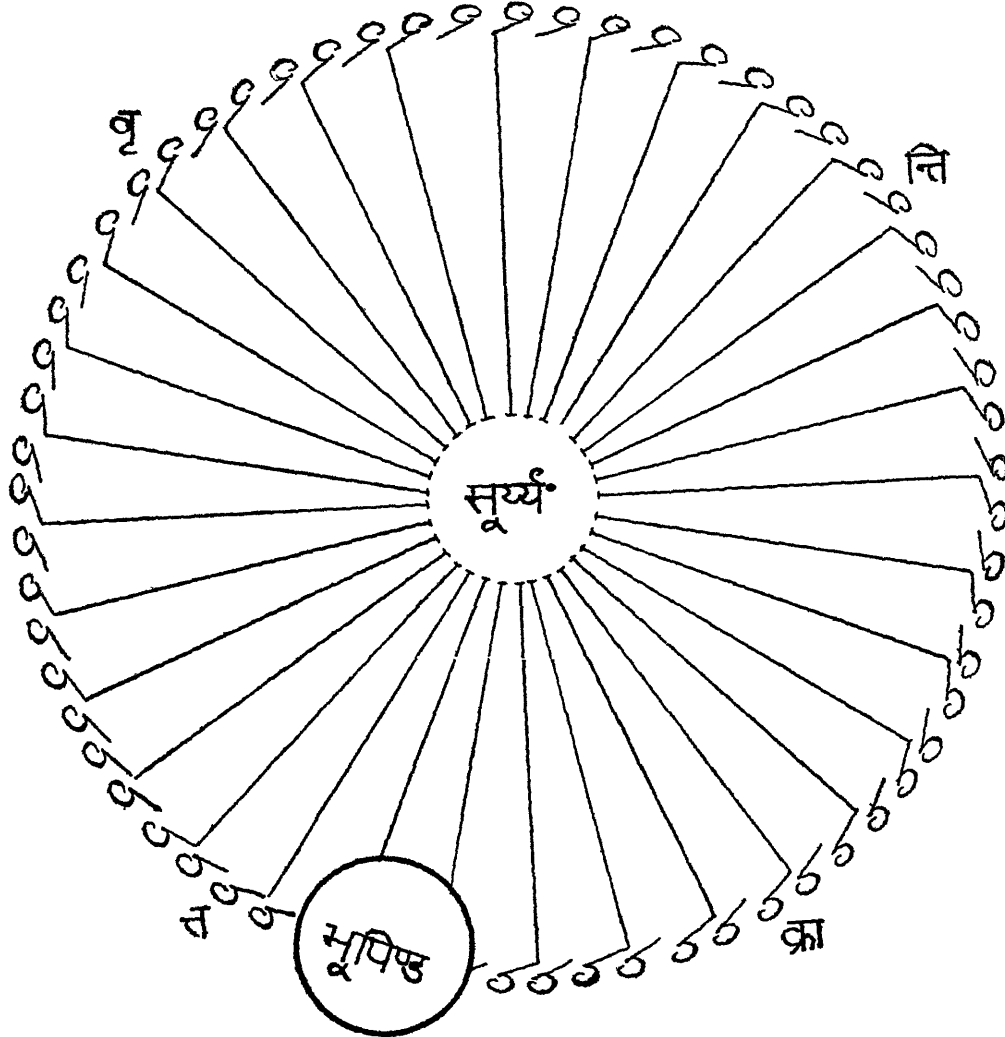
५—‘बृहत्यां भूयिष्ठानि सामानि भवति’ (ता० ७।३।१६।)।

यह है खगोल के दूसरे शब्दों में आधिदैविक यज्ञपुरुष के मेरुदण्ड-स्वरूप बृहतीछन्द का सक्षिप्त निदर्शन। यही बृहतीछन्द आ यामिक विश्व का (जीवशरीर का) मेरुदण्ड बनता है जसाकि पूर्व में बत लाया जा चुका है। विष्वद्वृत्त के केन्द्र में हमने सूर्य की सत्ता बतलाई है। इस सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती हुई पृथिवी वर्ष में दो बार विष्वद पर आती है। क्रान्ति शब्द का अर्थ है दूरी। पृथिवी और विष्वत् की दूरी का पतन जिस बिन्दु पर होता है वही क्रान्तिसम्पात नाम से प्रसिद्ध है। वासन्त शारद भेद से दो सम्पातबिन्दु हैं। २२ मार्च को वासन्तसम्पात होता है २१ सितम्बर को शारदसम्पात होता है। समरान्ति दिवसे काले विषुवद् विषुव च तत् (अमरकोश) के अनुसार दोनों सम्पातकालों में पृथिवी विष्वद पर रहती है। उत्तरगोल से दक्षिणगोल में प्रविष्ट होती हुई पृथिवी जब विष्वद पर आती है तब वासन्त-सम्पात होता है। एव दक्षिणगोल से उत्तरगोल में प्रविष्ट होती हुई पृथिवी जब विष्वत् पर आती है तब शारद सम्पात होता है। इस सम्बन्ध में सूर्य-पृथिवी-अन्तरिक्ष-इन तीनों लोकों की सत्ता है। पार्थिवानि आन्तरिक्ष्य वायु दिव्यादित्य तीनों का भोग एक ही सम्बन्ध में है। इसीसे

हमारा निर्माण होता है। पार्थिववाग्नि भूतप्रधान है। इससे अन्न के द्वारा पाञ्चभौतिक अतएव वाङ्मय शरीर का निर्माण होता है। आन्तरिद्य वायु से प्राणतत्त्व का सम्बन्ध है एतद्वादित्य से चानपन मन का सम्बन्ध है। इसप्रकार वाङ्मयी प्रथिजी प्राणमय अन्तरिद्य एव मनोमयवादित्य से मन प्राणवाङ्मयी अध्यात्मसंस्था का निर्माण होता है। आगे के दोनो रेखाचित्रो से विष्वदवृत्त-सुगत सौर-पार्थिव-चातुर्दश तीनों सम्बन्धों का स्वरूप-समन्वय गताथ हैं।

(१)-सौरात्मक सम्बन्धसमन्वयपरलेख —
(चक्रसम्बन्धसमन्वयपरलेख)

विष्वदवृत्त



उपयुक्त त्रिलोक्य म लोक-लाकी दा भेद ह । लोक भूत ह लाकी भूतप्रतिष्ठ देवता है । प्रथिवी भूत है अपानाग्नि देवता है । अतारक्षरूप गायु भूत है । तत्रस्थ यानाग्नि देवता है । आन्विय भूत है । प्राणाग्नि देवता है । मूलद्वार म अपानाग्नि प्रतिष्ठित है । अन्य मे यानाग्नि की सत्ता है । ब्रह्मरथ मे प्राणाग्नि का साम्रज्य है । यही प्राणाग्नि स्पृत्प्राण-महानन आदि त्रिविध नामो से प्रासद्ध है । यह इन्द्रप्राण ह । या च का च बलकृतिरिन्कम्मय तन् [या निरुक्त] के अनुसार यही बलरूप स्पृत्प्राण का अध्वयज्ञ है । स्पृत्प्राण जिस म प्रजल रहता है वही कुछ पुरुषाथ कर सकता है ।

अपानप्राण पार्थिव है । यह मूलद्वार से चलकर हृदयस्थ विज्ञानसूय के च रो ओर परिक्रमा लगाता है । पार्थिवानि- तस्य वा एतस्याग्नेर्वागोपनिषत् इस सिद्धान्त के अनुसार वाक् है । इधर मूला धारस्थ अपानाग्नि पार्थिव ह । यही अध्याम की पृथिवी ह । यही वाक है । प्राणोदान- यापार की मूलभूता गति यही वाक्-गात ह । वाक् का आरम्भ हा आध्यात्मिक सम्बन्धरयज्ञ की आरम्भणीयाष्ट है । भौतिक प्रपञ्च का आरम्भ यही से होता ह । जबतक मूलाधारस्थ वाकतव प्रतिष्ठित ह तभीतक सम्पूर्ण भूत स्वस्वरूप म प्रतिष्ठित है । सौर स्पृत्प्राण का अयन प्रायणीयेष्टि है । आरम्भ भूत सं हाता है प्राण प्राण से होता है । दूसरे शब्दो म प्राणगति प्रायण है अपानगति आरम्भ है । प्रायणीय और आरम्भणीय के अनंतर अभिप्लव और पृच्छ्य होते है । खिर की गात अभिप्लव है । रक्त का सञ्चरण [दौड] ही अभिप्लव है । उस सञ्चरण की सीमा पृच्छ्य ह । उदाहरणार्थ हाथ को लीजिए ।

हृदय से प्रारम्भ कर अश (स्क व) बाहु त्ने हस्त ये चार खण्ड अङ्ग लि-पय्यन्त है । हृदय से स्कंधपय्यन्त एक युगम है । स्कंध से बाहुपय्यन्त दूसरा युगम है । चौथा पाण है । ये ही चार खण्ड चार अभिप्लव है । प्रयेक मे प्रात सवन माध्याह्नसवन साय-सवन ये तीन तान सवन हैं । पूर्व-खण्ड का सायसवन उत्तरखण्ड का प्रात सवन है । इस पारम्परिक सवनग्रथिबन्धन से चारो खण्ड पृथक् पृथक् होते हुए भी परस्पर बद्ध ह । सब को मिला कर एक पृच्छ्य है । आगे जाकर-गायत्री त्रिष्टुप जगती विराट पङ्क्ति इन छन्दो से पाच अगुलिया बनती हैं । कनिष्ठिका गायत्री से सम्बन्ध रखती है । गायत्रीछन्द सब मे छोटा है । अतएव तत्सम्बन्धिनी कनिष्ठिका सब अगुलियो म छोटी है । अनामिका का निर्माण त्रिष्टुप् से हुआ है । त्रिष्टुपछन्द इन्द्रदेवता का है । इन्द्र आत्मा है । अमृतप्रधान है । अतएव दिव्यकाय्य इसी अङ्ग लि से किए जाते है । अनया वै भेषज क्रियते (शतपथ ब्राह्मण) इस श्रौत आदश के अनुसार बच्चे को इसो अनामिका से औषधि देनी चाहिए । मध्यमा की जननी विराट है । तजनी जगती से सम्बन्ध रखती है । इस में असुर प्राण है । अतएव जप आदि दिव्य-काय्यों में इस का बहिष्कार है । अगुप् की जननी पङ्क्ति है । इसप्रकार अभिप्लव-पृच्छ्य-भेद से शरीर रचना में वैचित्र्य होजाता है । यद्यपि इस विषय में ज्ञातय बहुत कुछ है । परन्तु विस्तार अधिक होजाने से यहा केवल दिग्दर्शनमात्र ही करा दिया गया है ।

शिरोभाग में ४ कपाल प्रयत्न हे । दो पूर्ण कपाल हैं दो पश्चिम कपाल हैं । प्रयेक में पुन दो दो खण्ड है । कपाल में चणक भरकर पानी डाल दीजिए । १२ घटे में आठो कपाल पृथक् पृथक् होजा-

येगे । इन आठों कपालों में मास्त क (भेजा) सुरक्षित रहता है । यही आ यामिक पुरोडाश है । ऐसा है यह शिर कपाल मानो एक नैसा चमस (कटोरा) हो जिस का बुध्न (पेदा) तो ऊपर है एव बिलभाग नीचे है । वसी में स पूरा आ यामिक प्राणदे ताओं का यशोरूप मस्ति क [भेजा] भरा हुआ है जिस इस चमस [शिर] के तीर पर दो श्रोत्रप्राण दो चक्षु प्राण दो नासाप्राण एक वात् मय आ नेय प्राण प्राणामक ये मात आ यामिक ऋषि विराजमान है । देखिए !

**अर्गाविलश्चमस ऊध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहित विश्वरूपम् ।
तस्यासत् ऋषय सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा सविदाना ॥**

सम्पूर्ण देवता सी की आहुत से जीवित हैं । आधिदविक स व सरयज्ञ से निर्मित पुरुषयज्ञ के गुप्त रहस्यो को ऋषियोन समझा । तदनुसार वैधयज्ञ का विधान किया । वहा आठ कपाल थे यहा भी आठ मुरमय कपाल बनाए गए । मस्तिष्क के स्थान में पुरोडाश का विधान किया गया । वैधयज्ञ में आठ ही कपाल क्यो बनाए जाते है ? उन में पुरोडाश साथ साथ ही क्यो रक्खा जाता है ? इयादि प्रश्नों की यही साक्ष त उपपत्ति है । इसी कपालविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

‘शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाश । स यान्यवेमान शीर्ष्ण कपालान-ता ये वास्य (वैधयज्ञस्य) कपालानि । मस्तिष्क एव पिष्टानि । तद्वा एतदेकमङ्गम् । एक सह करवाव, समान कर्वावेति । तस्माद्वा एतदुभय सह क्रियते ’ ॥१,२॥

अन्न का परिपाक करने वाला अग्नि आमात् है शव को भस्मसात् करने वाला अग्नि क्र यात् है एव दवताओं के हवि का वहन करने वाला अग्नि ह्ययात् है । अग्नि एक ही है वही स्थानभेद से तीन गुणों से युक्त होजाता है । इस भेद का मूलकारण छन्दोभेद ही है । साधारण लौकिक अन्न का छु द दूसरा है शव अय छुद से छा दत है एभ पुरोडाश का छु द पृथक् है । प्रकृत में हयवाहन अग्नि अपे-क्षित है । अग्नि में तीनों धर्म हे । इन में आमात् क्रयात् धर्म अनपेक्षित हैं । मात्रशक्ति के द्वारा उद्धी को दूर कर इस वध अग्नि को निष्कैवल्यरूप से ह्ययात् ही बनाया जाता है ।

प्रकृतज्ञगत् में— यथानिगर्भा प्रथिती के अनुसार भूपिण्ड अग्निप्रधान है । पार्थिव अग्नि की वारुणाग्नि प्रप्रर्ग्याग्नि ब्रह्मौदनग्नि भेद से तीन अवस्थाएँ रहती है । भूपिण्ड का निर्माता आ या नामक जलीय-आग्नि ही वारुणाग्नि है । अणवसमुद्र के सलिलरूप श्रुत अपत व के गर्भ में प्रविष्ट वही अग्नि अपने तेजोभाव से उस आपोद्रय को परिपक्व करता हुआ कमण आप-फेन-मृत् सिकता शर्करा-अश्मा-अय हिरण्य रूपो में परिणत कर भूपिण्ड का स्वरूप निर्माता बन रहा है । आय वारुण-प्राण ही आसुर है । अतएव तमय पार्थिव अग्नि को असुरभावापन्न ही माना जायगा । ओषधि-वनस्पतिरूप-पार्थिव अर्णों का परिपाक भी इसी आ-य-आसर-वारुणाग्नि से होता है जो कि भूतप्रधान है अतएव इस रूप से देव-प्राण के लिए असमवित है । शरीरसस्था में चतुर्विध अन्न का परिपाक करने वाला यही आय्य वारुणाग्नि आमाशयानुबध से आमात् नाम से प्रसिद्ध होगया है ।

दूसरा वह भूताग्नि है जिसे भूपण्डथ आग्नि अपना मूल बना कर एक दत्ता है पैकता रहता है। जीवनीय प्राणरस से शून्य भूत-भोक्तक पृथा का मन्त्र यही प्रमर्ग्यानि करता हता है जिसके आचार पर ही अनन्ततदवता प्रतिष्ठित ह। यही शवान्नभक्तक-प्रवर्ग्यभक्तक—क्रयात् अग्नि है।

एव अपने विशुद्ध-प्राणरूप से वही पार्थिव अग्नि अदितिमण्डल के द्वारा स्तौम्य-यज्ञिय देवताओं के लिए पापेय अन्नगत विशुद्ध अमृतसोम-रस मा वहन करता हुआ देवभगवानुबधी ह्यवाट् अग्नि है यनी ब्रह्मोदनाग्नि है जिसे अयाम म हम प्राणान कहा करते ह। या एक ही आग्नि के तीन महिमा-विनक्त होजाते ह जो मात्रातारतम्य से आग्निमात्र म विद्यमान ह। तीनों में से यज्ञकम्म म तीसरा दिव्यभावा पन्न ह्यवाट् स्वरूप ही सम्राट्ट है यही स भ-नि ऋष है ॥३४॥

सहरत्ता आ न आसुर ह शुद्ध अग्नि िय है। ऐसा अङ्गार जिस के चारो ओर रत्ता [भस्म] लगी हु हो वालाशून्य वही अग्नि सहरत्ता है। सहरत्ता असुराणा दूत आस [शतपथ १। ३] के अनुमार भस्मलित अङ्गार अवश्य ही आसुर होता हुआ दिव्ययज्ञ का विरोधी है। स भस्मरूप आसुर-भाग के निराकरण के लिए ही अङ्गारो के भस्म को हटाया जाता है। इस से आग्नि का शुद्ध रूप यत्त होजाता है। यही शुद्ध अग्नि देवयाट है। देवताओं के साथ पुरोडाश का सङ्गमन कराने में यही अग्नि समथ है।

भूपण्ड के साथ सौर सायित्र-तेज सक्रात होता है और व भूपृष्ठ से सलग्न हो सूचीमुख बनता हुआ साथ ही पार्थिव प्राणाग्नि से साश्लष्ट होता हुआ पुन सूय की ओर प्रतिफलित होजाता है। यही अदितिमण्डलगर्भित देवदूताग्नि है जिसका-अग्नि दूत वृणीमहे होतार रानधातमम् इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। जिस आकार का यह ज्योतिर्मय प्राणाग्निमण्डल है ठीक उसी आकार का भूपण्ड के दक्षिणोत्तर पार्श्वों को उपक्रम बनाता हुआ सूय-विसद्ध दिक् में भी पृथ्विफलन के आधार पर एक प्राणाग्निमण्डल बन जाता है जिसका-दितिमण्डल कहा गया है। यह भाग तमोमय है भूमाग्य है यनी ग्रहणविद्या मे-सैहिकेयराहु है जिसकी प्रतिच्छाया से चन्द्रग्रहण हुआ करता है। तमोमय भूमाप्राण ही वह-रत्ता प्राण है जो योतिर्मयप्राण का अवरोधक बनता हुआ सहरत्ता नामक आसुराग्नि कह-लाया है। यान रहे यह पूर्वोक्त वारुणाग्नि से पृथक्-वस्तुतत्त्व है यह सहरत्ता ही असुराणा दूत आस के अनुसार असुरदू अग्नि कहलाया है। इसप्रकार अदिति-दिति भेद से पार्थिवप्राणाग्नि के दैव-आसुर ये दा प्राणाग्नि विनक्त होजाते हैं जो क्रमश यज्ञसम्पादक तथा यज्ञविरोधी हे। प्रत्यक्ष भूताग्नि में निधूम भूताग्नि यज्ञसम्पादक देवाग्नि का प्रतीक है एव सधूम सहरत्त-(राख सहित) मलिन भूताग्नि यज्ञविरोधी आसुराग्नि का प्रतीक है। दोनों में से इस पुरोडाशसम्पादनामक यज्ञिय-दवकम्म में शुद्ध दैवाग्नि ही अभि-प्रेत है। तत्प्रा यथ ही भस्मनिराकरणपूर्वक अङ्गारो को विशुद्ध बनाया जाता है ॥५॥

अङ्गार का जो भाग भूमि पर प्रतिष्ठित रहता है वह आसुरभाव से आक्रान्त रहता है। कारण उस अधोभाग में वायु प्रविष्ट नहीं होसकता। यद्वै वानो नाभिर्जाति तत् सव वरुणदैवत्यम् [कौ वा] के अनुसार निवातस्थान मे आसुरप्राणाविष्टाता वरुणदेवता का साम्राय रहता है। सचमुच अधोभाग में अग्नि प्र वलित नहीं रहता। सब ओर से भस्म को हटा देने पर भी नीचे की ओर से भस्मसम्बन्ध को हटाना

कठिन है। उम आ स अमुरो के * आसङ्ग का भय नहीं हटाया जा सकता। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए यजु पूत म यम कपाल के साथ नम अङ्गार का सम्बन्ध किया जाता है। यजु साक्षात् अग्नि है। ब्रह्म-देव-भूत-पशु भेद से अग्नि चार प्रकार का है। इसी आधार पर-चतुर्धा विहितो ह वा अग्ने अनिरास [शतपथ १।१।१५] यह कहा जाता है। ब्रह्मानि वेदाग्नि है। इसी को यजु सम्बन्ध से सात्रयाजुषाग्नि भी कहा जाता है। यही प्राणाग्नि नाम से भी प्रसिद्ध है। यह अग्नि स्यायम्भुज है। साराग्नि देवाग्नि है। पार्थिवाग्नि भताग्नि है। प्रजग्याग्नि पशुग्नि है। यजु मत्र श द-मय है यजुरग्नि अथरूप है। श दा म का अभेद है। यजुम्मत्र साक्षात् यजुराग्न है। यह अग्नि राजसो का अपह ता है। तद्युक्त कपाल से अङ्गार का सत्र म करने पर अवश्य ही असुरो के आसङ्ग का भय विलुप्त होजाता है ॥६॥

विश्व के सम्पूर्ण पदाथ घन-तरल-विरल इन तीन अवस्थाओं से आक्रांत है घनावस्था ही निविडावस्था है। तरलावस्था प्रसिद्ध है। त्रिरलावस्था वा पावस्था है। मी बाष्पावस्था के लिए धूम शब्द प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ एक कपूर की डली सामने राखिए। कपूरखण्ड घन है ठोस है। उसके प्रत्येक अवयव नाबद्ध हैं। नम खण्ड को अग्नि पर चढा दीजिए। कपूर पिघल जायगा। यही तरलावस्था है। अधिक अग्नि के सयोग से कपूर धूमरूप में परिणत होकर उड जायगा। यही तीसरी विरलावस्था है। प्रत्येक पदाथ अग्नि-सोमामक है। सोमगर्भित अग्नि ही वस्तु है। इस अग्नि की ही उपयुक्त तीन अवस्थाएँ होती हैं। घनाग्नि पृथिवी है। तरलाग्नि अन्तरिक्ष है। विरलाग्नि अलोक है। जिस पर हम सब चराचर प्राणी प्रातःष्ठित हैं उसी का नाम पृथिवी नहीं है। अपितु घनावस्थापन्न य च-यावत् पदाथ पृथिवी है। तरलावस्थापन्न सम्पूर्ण पदार्थ वायु हैं। एव त्रिरलावस्थापन्न सभी पदाथ आदय हैं। अग्निमयी पृथिवी तत्तत् पदार्थों की घनावस्था है वायु तरलावस्था है एव आदिय विरलावस्था है। यही तत्तत् पदार्थों की प्राणावस्था है। तद्युक्त इन्हीं तीनों अवस्थाओं के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में क्रमशः ध्रुव-धरुण-धत्र शब्द प्रयुक्त हुए हैं। घन पन्था मत्र है। तरल पन्था धरुण है। विरल पदाथ धत्र है। धत्र और धरुण की प्रतिष्ठा ध्रुव है। क्योंकि ध्रुवावस्था ही धत्र और धरुणावस्था की जननी है। ध्रुव पृथिवी का प याय है। हमारी प्रतिष्ठा है।

विद्यज्ञ में आसुर प्राण विघ्न साधारूप से निरंतर यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रतिष्ठा उच्छिन्न करने का प्रयास करते रहते हैं। उनके इस प्रयत्न को विफल करने के लिए प्रतिष्ठातव प्राप्त करना आवश्यक है। उसी प्रतिष्ठातव को प्राप्त करने के लिए एव प्राप्त प्रतिष्ठा से भ्रातृयों के प्रयास को विफल करने के लिए-ध्रुव-मसि इत्यादि मत्र बोलत हुए कपालापधान किया जाता है। पशु-अनुचर-प्रजा-स्त्री-द्रव्य-भूमि-आदि अनेक प्रकार के वित्त हैं। इन सब वित्तों में श्रेष्ठ वित्त ब्रह्मवीर्य और क्षत्रवीर्य हैं। ज्ञानशक्ति ही ब्रह्मवीर्य है एव क्रियाशक्ति ही क्षत्रवीर्य है। जिस मनुष्य में ज्ञान और क्रिया दोनों सम्पत्तियाँ विद्य

*-आसङ्ग एक प्रकार का निफल आक्रमण है। राजसुद्धि वाले मनुष्यशरीरधारी असुरों की यह स्वाभाविक वृत्ति है। इसी आसङ्ग के लिए छेच्छाड शब्द प्रयुक्त होता है। यही लोकभाषा में आसङ्गा दारी नाम से प्रसिद्ध है।

मान हैं यह सब कुछ प्राप्त करने में समर्थ है। कम्मठ एव ज्ञानी पुरुष के कोश में अस भव शब्द का अभाव है। उन दोनों के बिना पुरुषपुरुषाभास है। वीडवी य से सम्बन्ध रखने वाला अथ एव पूषाप्राण प्रधान शूट स सम्बन्ध रखने वाला पशु भाग दोनों ही तबतक सवथा निरर्थक हैं जबतक कि इन्हें ज्ञान और कर्म के आश्रित नहीं बना दिया जाय।

ब्रह्म और क्षत्र के अतिरिक्त एक तीसरा व और है। वह है भूमा। आप में ज्ञान की मात्रा भा पा पूरा है। आप कम्मठ भी हैं। किन्तु आपकी इच्छानुसार कर्म करने वाले अनुयायी यदि आपको नहीं मिलते हैं तो आप उस काय्य को कभी सम्पन्न नहीं कर सकते। किसी भी काय्य को याद भूमाभावापन्न (वृद्धिगत) करना हा तो इसके लक्षण सजातों की आवश्यकता है। समानकक्ष समानधर्मा सहयोगी अपेक्षित हैं। जिसके प्रजा कोश में ब्रह्मवीर्य-क्षत्रवीर्य एव सजातसपत्ति विद्यमान है उसके लिए कोई भी काय्य असम्भव नहीं है। इन्हीं तीनों सपत्तियों को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मवनित्रा क्षत्रवनित्रा सजातवनित्वा इत्यादि मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। यजमान स्वयं ज्ञान और कर्म से युक्त है। इधर इसके सहकारी ऋत्विक् भी ऐसे ही हैं। ऐसी अवस्था में इसका यज्ञकर्म अवश्य ही सफल है। ७।८।६। ११।

पृथिवीलोक को आप प्रयत्न देख रहे हैं। सूर्यप्रतिष्ठारूप दुलोक का भी आप साक्षात् कर रहे हैं। दोनों के मध्य अंतरिक्ष का भी प्रयत्न हो ही रहा है। इसप्रकार तीनों लोक आपके लिए अर्द्धा (प्रत्यक्ष) हैं। परन्तु चौथा पारमेष्ठ्य लोक अनुमानगम्य है। अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप (कौश्रवा) के अनुसार चौथा लोक केवल शब्दप्रमाणगम्य है। हम प्राधारण कोटि के मनुष्य विदित नहीं चौथा लोक है अथवा नहीं इसी विचिकित्सा में लगे रहते हैं। हमारी यह विचिकित्सा तबतक सत्य है जबतक कि हम आषटष्टि प्राप्त कर उसके द्वारा चौथे लोक को दग्ध न ल। क्योंकि अस्ति नत्रा यही हमारा सत्यभाव है। एव यज्ञ में सत्यानुपालन का आदेश है एव जसा मन में हो वैसा कहना यही सत्य है। अतः इसी सत्यरूप अनर्द्धाभाव को लक्ष्य में रखकर-प्रिश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्य यह बोल कर दक्षिण भाग की ओर कपालोपधान किया जाता है। अनर्द्धा चतुर्थलोकवत् विश्व आशाए भी अनर्द्धा ही है ॥१२॥

आर्षसाहित्य के प्रत्येक शब्द में कुछ न कुछ निगूढ रहस्य पिनद्ध (सुगुप्त) रहता है। भृगु और अङ्गिरा के तप से इत्यादि वाक्यसन्दर्भ के भृगु अङ्गिरा और तप ये तीनों ही शब्द अत्यन्त रहस्यपूर्ण हैं जिनमें से सवप्रथम तप शब्द की ओर ही आपका यान आकर्षित किया जाता है। सासारिक स पूरा कर्मों को छोड़ छोड़ कर एकांत में शून्य आरण्य में जाकर इश्वरचिन्तन करना ही तप किंवा तप श्चर्या कहलाती है आजदिन सर्वसाधारण में एव वदिक-विज्ञान की गहना वी स अपरिचित कुछ एक विद्वानों में तप का उक्त लक्षण ही प्रचलित एव मान्य है। हम इस लक्षण का विरोध नहीं करते। तप का उपयुक्त लक्षण भी होसकता है। परन्तु यापकाथ को अपने उदर में रखने वाले तप का उपयुक्त अथ कर बैठना अनुचित है। इश्वरप्राप्त्युपायभूत कायकृश अनशन एव योगमाग की कठिन साधनाओं को ही तप मानने वाले विद्वानों से हम पूछते हैं कि यदि ऐसा है तो—

१ ' प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवासीत् । सोऽकामयत् सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत् ।
तस्य तप्यमानस्य तेजारसो निरवत्ताग्नि (शतपथ)

- २ असौ वा आदित्यस्तप (शत ११५।)
 ३-तप स्विष्टकृत् (शत ११२।७।१८)
 ४-तपो वा अग्नि (शत ३।४।३।२।)
 ५-तप आसीद् गृहपति (तै ब्रा ३।१२।६।६)
 ६-एतद्वै तपा यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत् (श ५।१।-)
 ७-भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम् (शतपथ)

— यदि श्रौतवचनो का आपकी मा यता म कसा ? और क्या सम वय होगा ? । क्या इश्वर—प्रजापति किसी अ य इश्वर की प्राप्ति के लिए योगसाधनरूप तप में अनुरक्त हैं ? । इन सब विप्रतिपात्तयो के नि ।करण के लिए एकमात्र नि न लिखित लक्षण को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । तप का यथाथ एव अ-यापति अतिव्यापित दोष—रहित यापक लक्षण करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

‘एतद्वै तप इत्याहुयत् स्य ददाति’

—तै ब्राह्मण

आप्त महर्षि उसे ही तप कहते हैं जो एक अपने आप को द दता है । तप-य तस का यही है कि आ-यापिक आधिदैविक आधिभौतिक तीनों म से किसी भी त व को प्राप्त करने के लिए जो यापार किया जाय वही तप है । पर तु वह व्यापार तप तभी कहलाएगा जबकि उसमें अपने आ-मा का समपण होगा । आप अ-य वस्तु को अपने म लाना चाहते हैं । इसके लिए पहले आपको अपने आप में स्थान बनाना पड़ेगा । जिस स्थान पर आप प्राप्त वस्तु रखना चाहते हैं उस स्थान के प्राण को विसर्जित करना पड़ेगा । यदि बिना प्राणदान के दूसरे श दो म बिना आ-मवालदान किए कि आप किसी कि सम्पत्ति को लालगे तो आप उससे उचित लाभ स उठासकग । प्राणपातमूलक परिश्रम के द्वारा ो सम्पत्ति—लाभ होता है एव ससे आ-मा में जसी शांति प्राप्त होती है ैसी शांति यथ की आइ हुइ सम्पत्ति से कथमपि सम्भव नहीं है । प्रथम तो बिना आ-मसमपण के लाभ हो ही नहीं सकता । यदि छलछिद्रादि आसुरी माया के द्वारा एव अ-या य कुचक्रों से लाभ हो भी जाता है तब भी उससे वास्तविक शांति नहीं मिल सकती ।

प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति के पहले आप अपना प्राणदान करें । पहले बलिदान फिर प्राप्ति । यही व्यापक सिद्धांत है । यदि आप कुछ लाना चाहते हैं तो पहिले कुछ अपना समपण कीजि यही तप है । प्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं । इसके लिए वे अपने प्राण की आहुति देते हे । यही है तप की वास्तविक स्वरूप परिभाषा । वाक श्रोत्र हस्त पाद् आदि सभी का व्यापार तप है । परन्तु सवश ठ तप भृगु और अङ्गिरा का ही है । भृगु सोमत-व है एव आङ्गिरा अग्नि-त-व है । अग्नि के क्रमिक चयन से शरीर बना है एव सोम से औषधि (अन्न) के द्वारा मन बना है । केवल शरीर से कर्म करना अङ्गिरा का तप है एव केवल मनोराज्य में विचरण करना भागव तप है । दोनों ही तप अधूरे हैं । दोनों के सम वय से जो तप का स्वरूप नि पन्न होता है वही तेजिष्ठ तप है । मनीयोग पूर्वक शरीर से जो व्यापार किया जाता है वही अ-यर्थ तप है । उसी तप स पति की प्राप्ति के लिए भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम् कहा गया है ।

तप - स्वरूप - दिग्दर्शनम्

प्रसिद्ध उक्त—तप शब्द का उपास्थित हापडा है जिसके साथ वत्तमान युग की प्रयत्नप्रभाव-समाकर्षिता भावुक-प्रज्ञाओं के द्वारा त्याग-तपस्या जलितान नाम की सुप्रसिद्धा लाकघोषणा समावत होरनी है। अतएव प्रसङ्गविधा आनवाग्यरूपेण यह आशयक होजाता है कि भृगुणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम् इत्यादि श्रुतिमूलक तप शब्द का प्रकृतासिद्ध ता वक् चिर तन तातवृत्त सक्षेप स स्पष्ट कर दिया जाय जिसके बिना हमारी प्रज्ञा आज का कापनिक त्याग तपस्या बलिदान-पर पराश्रो के महान् व्यामोहन से कदापि आम परित्राण नहीं कर सकती।

सुप्रसिद्ध-पाणिनीय धातुपाठ से अनुप्राणित-तप धातु सताप एश्वर्य तथा दाह तन तीन अर्थों से अनुप्राणित है (१)। क्या एक ही-तप तव के ये तीन विभिन्न अर्थ हैं प्रश्न का उत्तर पुरुषभावानुबन्ध से जहा स्वीकृता मे दिया जायगा वहा प्रकृतिभाजानुबन्ध से प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक ही होगा। सभी त व सभी पदाथ सभी विवक्त-एक ता त्व पि बभूव सवम्-एतद्वै तन् इत्यादिरूप से जहा आमपुरुषद्वय्या एक ही ब्रह्म के महिमामय विवक्त वनत हुए आभिन्नायक ह इसी वसी अभिन्नार्थता के आधार पर जहा सर्वे सवाथवाचका सिद्धात यनास्थित हुआ है वहा अपन त्रिगुणभाव से विषम विभिन्न पृथक भावों की सर्जिका प्रकृति के अनुबन्ध से सतापायक तप ऐश्वर्यार्थक तप तथा दाहायक तप तीनों का स्वरूप प्रकृतिभेदमिन्न प्राकृत-सस्थान-विभागों के अनुपात से सवथा पृथक पृथक् ही माना जायगा। तप शब्द के चिरतन-इतिहास मे प्रवृत्त होते हुए हमें सवप्रथम प्रकृति के उन प्रिमक्त तीन सस्थानों का ही अवर्षण कर लेना पडगा जिनमें ब्रह्मविवक्त रूप एक ही तप के प्रकृति भेदमिन्न सताप-ऐश्वर्य दाह लक्षण विभिन्न तीन तपोभाव पृथक-पृथक रूपेण यवास्त एव प्रतिष्ठित हैं।

शतपथभाष्य के अन्तक के पूर्वसर्गों का अवधानपूर्वक अवलोकन मनन करने वाले पाठकों को यह सिद्ध होजायगा कि विश्वेश्वर पुरुषात्मप्रजापात का महिमामय प्राकृत विश्व प्राणादि गुणभूतों के पञ्चीकरण से पञ्चपर्वानुबन्ध रहा है। अतएव प्रकृति के किन्ना प्राकृत-यज्ञात्मक-विश्व के समष्ट्यात्मक यज्ञ्यात्मक सभी विवक्त पञ्चपर्वानुबन्ध-पाठक ही प्रमाणित होरह है जैसाकि पूर्वसर्गानुगत पाठका वै यज्ञ इत्यादि के सम वय-प्रसङ्ग में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। अतएव विश्वाधि ठात्री प्रकृतदेवी उपनिषदों में भी पञ्चपर्वानुबन्ध नाम से ही प्रसिद्ध हुई है जसाकि तन्म लिखित श्वताश्वतर वचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

(१) - 'तप' - सतापे - (भवादिगणे) - सतापार्थक तप

तप' - ऐश्वर्ये - (दिवादिगणे) - ऐश्वर्यार्थक तप

तप' - दाहे - (चुरादिगणे) - दाहार्थक-तप

पञ्चस्रोतोऽम्बु, पञ्चयो युग्रवक्रा पञ्चप्राणोर्मि, पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चापत्ता, पञ्चदु खौषवेगा, पञ्चाषडभेदा पञ्चपर्वामधीम ॥

—श्वे उप १।५।

परोरजा मक ऋषिप्राण रज प्रवत्त क पितृप्राण रजोभावा मक देवप्राण रजस्तमोऽनुगत पशुप्राण तथा तम प्रधान भूतप्राण इन पञ्च प्राणो से कृतरूपा प चपर्वा प्रकृति ही त्रिपर्वा पुरुष * के आचार पर प चपर्वा विश्व का आताना मक वितान करने में समथ बनी हुई है जोकि तत्तत्प्राणप्रदान पाचा विश्वपर्व पूर्वस दर्भों में क्रमश (१) ऋषिप्राणमूर्ति स्वयम्भू (२) पितृप्राणमूर्ति-परमेष्ठी (३) देवप्राणमूर्ति सूय्य (४) पशुप्राणमूर्ति चन्द्रमा एव भूतप्राणमूर्ति भूपण्ड (किंवा प्रथिवी) इन नामो से यत्र-तत्र उपवर्णित हुए हैं । पञ्चभावामिका-पञ्चप्राणोर्मिलक्षणा-विश्वोपादानभूता क्षरप्रकृति के व ही तथा-कथित पाचो प्राण क्रमश प्राण आप वाक् अन्नम् अन्नाद् अन्न पारिभाषिक नामो से भी यवहृत हुए हैं । और यही पञ्चपर्वा-प्राकृत-उस विश्व का सन्नि-त-तम स्वरूप-परिचय है जिसके अमुक-सस्थान-विशेषो में से ही हमें सकपित-तीनो तपस्त्वो का अपनी तीक्ष्णा आश्रयो से दू ट निकाल लेना है । अ य त अवधानपूर्वक-तालिकाया यमेन विश्व की तथोक्ता स्वरूपस्थिति को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए एव तदाधारेण तपस्त्रयी का अ वषणा मक अ यवसाय उपक्रान्त काजिए ।

१ ब्रह्माक्षरानुगता—क्षरप्रकृतिरेव प्राण —(सोऽय परोरजा ऋषिप्राण)

२-विष्वक्क्षरानुगता क्षरप्रकृतिरेव आप —(सोऽय रज प्रवत्त क पितृप्राण)

३-इन्द्राक्षरानुगता—क्षरप्रकृतिरेव-वाक्—(सोऽय रजोभावा मक देवप्राण)

४-सोमाक्षरानुगता-क्षरप्रकृतिरेव-अन्नम्—(सोऽय रजोऽनुगत पशुप्राण)

५-अग्न्यक्षरानुगता-क्षरप्रकृतिरेव अन्नाद् —(सोऽय तमोऽनुगत-भूतप्राण)

—*—

१—ऋषिप्राणमूर्ति —स्वयम्भू —परोरजा

२—पितृप्राणमूर्ति —परमेष्ठी—रजोऽधिष्ठाता

३—देवप्राणमूर्ति —सूय्य — रजोऽभिगत

४—पशुप्राणमूर्ति —चन्द्रमा—रजोमूर्ति

५—भूतप्राणमूर्ति —भूपण्ड —मूर्च्छितरज

—*—

* ' त्रीणि यातीषि सचते स षोडशी ' (यजु सहितायाम्)

प्रहिता सयोग एव प्रयुता मयोग मूलक सुप्रसिद्ध आदान-विसर्गामक प्रकृतिसिद्ध व्यापार से विश्व के पाचो पर्वों की प्राणमात्रा तथा भूतमात्रा का परस्पर आदान प्रदान हुआ करता है। इस पारस्परिक प्राण-भूतनिबधन आदान-प्रदान के तारतम्य स ही पाञ्चभौतिक पदार्थ के नाम-रूप-गुणामक प्राकृत स्वरूपो मे परस्पर विभेद उ पन्न होता है। और यो इन मात्राभावा के आदान विसर्गामक चङ्कमण से ही विश्व की तथा विश्वगमस्थ चर अचर-प्राकृत-पदार्थों की स्वरूपस्थात षड्भाव विकारो से समन्वित होती रहती है। क्योंकि पाचो णीवश्वपव एव विश्वपर्वों में प्रतिष्ठित यच्चवावत् चर-अचर प्राणी स्व-स्व भूतमात्राओ के मायम से स्व स्व प्राणमात्राओ का विश्वसनामक उत्सग-त्याग करते रहत है सभी प्राण भूतामक स्व भागोका दान करते रहते है। अतएव सभी को समष्ट्या यष्ट्या उभयथा तपाधर्म्मा तपस्वी इसलिये कहा और माना जासकता है। एक पूव में हमने-तप का- एतद्ध तप इयाहुयत् स्व ददाति एक यह भी लक्ष्ण कया है जा कि श्रौत होने से सर्वामना माय है। और यो वमात्रादानरूपा सहज विसगप्रणाली से विश्व और त्रिश के य चवावत् पदार्थो को अवश्य ही तपस्वी कहा जासकता है। आदान-सापेक्षा विसर्गामिका इसी तपश्चर्या से इन तपास्ववा की स्वरूप व्यवस्थिति व्यवस्थित है।

स्व ददाति रूप विसग उ सग किंवा याग अवश्य ही आदान ग्रहण कवा सग्रह से नि य सापेक्ष बन रहा है। इम पारस्परिक सापेक्षता का ही अन्नान्नादसम्बन्ध कहा गया है जिस का स्पष्ट अर्थ यही है कि प्रत्येक पदार्थ-न्व प्राण-भूत-वृष्टि के लिए जहाँ उ सग-परियाग करता हुआ उन का अन्न बना रहता है वहा यही स्व-क्षतिपूर्ति के लिए दूसरों स यक्त भूत-प्राणो का सग्रह करता हुआ उप-निषद्भाषानुसार उन का भोग करता हुआ * उन का अन्नाद भी बना रहता है। याग की दशा में प्रत्येक प्रत्येक का अन्न है भोग्य है सोम है तो ग्रहणदशा मे प्रत्येक प्रत्येक का अन्नाद है भोक्त है अग्नि है। और यो-इस सापेक्षता से सभी अन्न हैं सभी अन्नाद हैं। सवमिदमन्न सवमिदमन्नाद (शतपथ) द्वय वा इत् अन्ता चैव-आद्यञ्च (शतपथ) इयादि ब्राह्मणश्रुतियो का यही ताविक समन्वय है जिस का निम्न लिखत मन्त्रश्रुति से अक्षरश समथन होरहा है। देखिए।

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्व देवेभ्यो अमतस्य नाम ।

यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्न, मन्नमदतमग्नि ॥

—सामसहिता पू ६।१।१।६।

म अन्न हू और अन्न खाते हुए को मै खा भी रहा हू इत्यथक - अहमन्नमन्नमदन्त-मन्नि इस अतिम वाक्य के द्वारा स्पष्ट ही प्रत्येक पदार्थ की अन्न अन्नादता प्रमाणित है। अब इन अन्न-अन्नाद भावो के सम्बन्ध में थोडा सूक्ष्मावलोकन अपेक्षित है। विसग होता है अग्नि का एव आदान होता है- सोम का। आता हुआ भाग अन्नामक सोम है एव जाता हुआ भाग अन्नादामक अग्नि है। अग्नि आङ्गिरस तत्त्व हैं तो सोम भागव-तत्त्व है। भागव सोम सकोचधर्म्मा स्नेहृत्त्व

* 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य सिद्धनम्' ।

—विस्तार के लिए देखिए ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य

है तो आङ्गिरस आ न विकासधर्मा तजस्त न है । स्नेहगुणक सोम याद तेजोगुणक अग्नि सापेक्ष है तो तजो गुणक अग्नि स्नेहगुणक सोम सापेक्ष है । यो तेजो परस्पर निय सापेक्ष है । अतएव याग को सग्रहमूलक ही माना जायगा एव सग्रह का त्यागमूलक ही माना जायगा । सहज-भाषा में- याग वही याग क लाएगा जिसका उद्देश्य सग्रह होगा । एव सग्रह वही सग्रह कहल एगा जिसका उद्देश्य त्याग होगा । सग्रहश्च य याग-तपस्या-बलिदान जहा सवथा निरथक प्रमाणित होते हुए स्वस्वरूप के मूलो छेदक ही माने जायेंगे वहा यागशूय सग्रह-जडता का प्रवक्तक बनता हुआ स्वस्वरूप का आग्रह की बन जायगा । अतएव दोनों का समवयस सापेक्ष याग तथा सग्रह की मौलिक स्वरूप पारभाषा स ही समवित हो सकेगा । अतएव सनातन मक तपोरूप आङ्गिरस अग्निभाव के साथ अग्निवाच्यरूपेण परादाना मक सग्रहरूप भागव सोमभाज का भी सवध स्त ही ससिद्ध होजायगा । अतएव आदानगर्भित विसग को ही भृगु गर्भित आङ्गिरस या पार को ही वास्तविक तप माना जायगा । इसी रहस्य को लक्ष्य बना कर भगवान् याज्ञवल्क्यने कहा है कि भृगूणामङ्गिरसा तपसा त यधुम् जिस इमवचन का स्मरण पूर्वप्रकरणो में भी होलुका है । (दक्षिण पृष्ठ ४४१ ४२)

यह तो हुई तप शब्द की लोकानुचिनी स्वरूप-स्थिति का किञ्चिदिव निदर्शन । अब तप के उभय सत्तासिद्ध वजानक स्वरूप की और तपस्वी विद्वानो का यान आकर्षित किया जा रहा है जिन के तीन विभिन्न प्राकृत विवक्तो का पूर्व में स्मरण किया गया है । जिस पञ्चपर्वामक विश्व का पूर्व में तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया गया है उस पञ्चपर्वामक अक्षरप्रकृतिविशिष्ट-क्षरप्रकृतिरूप विश्व में तत्सृष्ट्या तन्ने वानुप्राप्तिशब्द के अनुसार त्रिमूर्ति षोडशीप्रजापति आ मप्रतिष्ठा रूप से प्रविष्ट हो रहे हैं जैसा कि य आग्निवेश भुवनानि त्रिशा तस्मिँ लोका अत्रिा सर्वे इयानि म त्रौपनिषत् श्रुतियो से प्रमाणित है । विश्वानुप्रावृत्ता स ही वह त्रिमूर्ति षोडशीप्रजापति त्रिश्चर विश्वामा त्रिश्चेश्वर आदि अभिधात्रो से समवित हो रहा है । पञ्चपर्वामक समष्टिरूप एक विश्व की दृष्टि से वह एक विश्वेश्वर है तो प्रथक प्रथक पांच यथा मक पाँच विश्वपर्वो के पाथक्य से वह एक ही पञ्च विवक्त भावा में परिणित होता हुआ पांच ईश्वर है जिन का साङ्कतिक नाम है उपेश्वर । विश्व का सम यथा मक ईश्वर एक है एव यथ्या मक उपेश्वर पांच है जिन का पूर्व के मनुष्यप्रकरणो में रेखाचित्रा के मायम से दिग्दर्शन कराया जा चुका है । यो वह एक ही त्रिमूर्ति तन पाँच विश्वपर्वो में पञ्चवा अपने त्रीणि त्रीणि रूपों से त्रिभक्त होता हुआ स्वयमपि पञ्चपर्वो प्रकृतिवत् पञ्चपर्वो एव त्रि त्रि मूर्ति बन रहा है । इसी तप को लक्ष्य बना कर छा दो यश्रुति ने कहा है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्याय परम यदभित ।

यस्तद्वद स वेद सव सर्वा दिशो बलिमस्मै हरति ॥

—छादोग्य उपनिषत्

विश्व के पाँच पर्वो में अपने तान-तीन-महिमारूपो से विभिन्न उन तीनों का क्या स्वरूप है ? प्रश्न का उत्तर है—तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते मूलक त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी यह मन्त्रभाग । क्या ता प य ? ता प य स्पष्ट है । वह प्रजापति पञ्चकल अव्ययरूप अमृतम् पञ्च

कल अक्षररूप ब्रह्म तथा पञ्चकल आमन्तररूप-शुक्रम् मन तीन यातिर्भागे स ही त्रिमूर्ति बन रहा है । अमृता यय मसी की मनायना ज्ञान योति है ब्रह्माक्षर इसी की प्राणघना-कम्मल्याजि है एव शुक्रक्षर इसी का वागघना-भूत-योति है । मन प्राण-वाग् रूपा अमृत-ब्रह्म-शुक्रामिका ज्ञान-त्रिया-अथ शाक्तघना इह्नी तीनों यातियो स कृत रूप विश्वामा विश्व क पाचो अर्थात् तीनों विवत्ता में प्रति षट है । प्रकृत पाच के स्थान में सहसा यह-तीनों ओर क्या समुपस्थित होपडा ? दो शब्दों में इस समस्या का भी निराकरण कर लीजए । जमके आधार पर प्रकृत-तप शब्द का सत्ता-सद्द तवाथ सम्भावित है ।

भारतीय यात्रहारक-सांस्कृतिक-जगत् म त्रिमूर्ति शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है-ब्रह्मा त्रिष्णु महेश । आ यमर्वस्वामक पुराणशास्त्र ही भारतीय-सांस्कृतिक-आयानना की मसीप्रकार मूलप्रति ठा है जैसेकि स्मृतिशास्त्र भारतीय सांस्कृतिक आचारा की एव श्रुतिशास्त्र भारतीय-सांस्कृति की मूलप्रति ठा माना गया है । भारतीय-सांस्कृतिक लोकसामायप्रजा स अनुप्राणत आमानुगत पत्र बुद्धय-नुगत उ सव मनाऽनुगत सम्मलन तथा शरीरानुगत समारोह नामक चतुद्ध विभक्त यचयावत् भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों का केन्द्र क्योंकि पुराणशास्त्र है एव यह क्योंकि त्रिदेयमूर्ति के आधार पर ही सांस्कृतिक आयोजनों की याख्या करता है अतएव लाकसामाय म त्रिमूर्ति से त्रिदेयता ही परिगृहीत होपड ह । तो क्या पुराणशास्त्र वैदिक पञ्चदेयतावाद का विरोधी है ? अब्रह्मण्यम् ? अब्रह्मण्यम् ॥

जा पुराणशास्त्र-वदशास्त्र के ज्ञान-विज्ञानामक रहस्य-पूणत गो की स्वरूप-याख्यामात्र हो तस वष में तो विरोध की कपना करना भी अपने आपको प्रायश्चित्त का ही भागी बनाना है । इयमत्र सद्धति । विश्व के पाचो पवा से अनुप्राणित ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम सुप्रासद् इन पाचो देव ताओ के विश्वाधारभूत पूर्वोक्त त्रिमूर्ति विश्वामा के मन प्राण-वाक्-प्रधान अमृत ब्रह्म-शुक्र-नामक तीन विवत्तों के अनुबन्ध स अन्ततागवा तीन ही प्रमुख-विवत्त शेष रह जाते हैं । ब्रह्मा का एक स्वतंत्र विभाग है त्रिष्णु का स्वतंत्र विभाग है एव इन्द्र अग्नि सोम इन तीनों की समाष्ट का एक स्वतंत्र विभाग है ।

जसा एक स्पष्ट किया गया है विश्वामा का अमृतायय-स्वरूप मनोभाग ज्ञान-योतिर्मय है ब्रह्माक्षररूप प्राणभाग कम्म-योतिर्मय है एव शुक्रक्षररूप वाग्भाग भूत-योतिर्मय है । योति क्योंकि अवलोकनामक आलाक का मायम बनती है प्राणीसृष्ट में क्योंकि नेत्र ही अवलाकन के मायम बनते है । एकमात्र इसी अनुबन्ध से योति का एक साङ्कतिक-नाम नेत्र भी रख दिया है । स्वायम्भुव ब्रह्मा सयनेत्र ऋत नेत्र के सम्बन्ध से जहा द्विनत्र है * यारमेच्छ्य त्रिष्णु जहा भागवसौम्य आङ्गिरस आग्नय तेज सम्ब

*-सत्यवृत्, सत्यपर त्रिसत्य, सत्यस्य योनि निहित च सत्ये ।

सत्यस्य सत्य ऋत-सत्य-नेत्र सत्यात्मक त्वा शरण प्रपन्ना ॥

—श्रीमद्भगवते

ध से- द्विनेत्र हैं वहा सूर्य-चंद्र-पार्थिवाग्निमूर्ति अतएव त्रिज्योतिर्मूर्ति भगवान् महेश्वर त्रिनेत्र नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं। तापय्य यही है कि मनोमय-अमृताव्ययामक-ज्ञान-योतिर्भाव का स्वाय भुव ब्रह्मा स सम्बन्ध है अतएव इह चित्पति (ज्ञानपति) कहा गया है। प्राणमय ब्रह्माक्षरामक कम्मज्योतिर्भाव का पारमेष्ठ्य विष्णु स सम्बन्ध है अतएव इह कम्मपति (प्राणपति) कहा गया है। एव वाडमय शुक्रक्षरामक-भूत योतिर्भाव का सार चांद्र पार्थिव-इन्द्र-सोम अग्नि-से सम्बन्ध है अतएव त्रिमूर्ति-त्रिनेत्र इन महेश को भूतपति (पशुपति वाकपति) कहा गया है। तदिथ विश्वामा के मन प्राण वाङ्मयि ध अमृत-ब्रह्म शुक्रामक ज्ञान-कम्म भूत-ज्योतिर्भावों के अनुबन्ध से पाच विश्वदेवताया के तीन भी विवक्त स पत्र होजाने हैं जिनके आधार पर ही पुराण का त्रिदेवतावाद सुप्रतिष्ठित है। भूत-योति विवक्त सूर्य-चंद्र-अग्नि (पार्थिव) भेद से तीन भागों में विभक्त है जिनके कि साङ्गतिक नाम क्रमशः स्वज्योति-पर-योति रूप-योति है। अतएव त्रिभूत योति मय सूर्य चंद्र-पार्थिवा मक इन्द्र-सोम अग्नि-रूप त्रिमूर्ति का एक विवक्त मान लिया जाता है और यों-पाच विश्वपव विश्वामा के त्रिचानुबन्ध से तीन भावों में भी परिणत हो रहे हैं जसकि परिलेख से स्पष्ट है।

पञ्चवर्णित विश्वम्	१ योतिषा-ज्योति — ब्रह्मा—स्वयम्भू	}	—अमृताययानुगतो द्विनेत्र —ब्रह्मा (१)	त्रिपर्वानुगत-विश्वम्
	२ अयक्त योति — विष्णु — परमष्ठी			
	३- व-योति — — — — — चंद्र — सूर्य	}	—इन्द्रसोमायनुगतस्त्रिनेत्र शिव (३)	
	४ पर-योति — — — — — सोम चंद्रमा			
	५ रूप-योति — — — — — अग्नि — पृथिवी			

*

पाठको से श्रावदन किया जायगा कि तप शब्द के मूलाधारभूत उक्त परिलेखके ब्रह्मा-विष्णु महेशात्मक तीनों विश्वपवों को व श्रावधानपूर्वक लक्ष्यात्क करल। क्योंकि इसी त्रिमूर्ति के आधार पर हमें तप शब्द के प्रतिज्ञात सत्ताप ऐश्वर्य्य दाह नामक तीनों तपोभावों का समन्वय-प्रयास करना है। स्वाय भुव ब्रह्मा षोडशी विश्वामा के मनोमय ज्ञानशक्तिघन अमृताव्यय-रूप ज्ञान योतिर्मयरूप से प्रदान रूपेण समन्वित होते हुए क्योंकि चित्पति हैं ज्ञानपति हैं अतएव स्वायम्भुव ब्रह्मा का तप कहलाएगा ज्ञान मय यस्य ज्ञानमयय तप *। ब्रह्मा के इसी ज्ञानमय तप को कहा जायगा सन्ताप। यद्यपि लोक

* य सवज्ञ सववित् यस्य ज्ञानमगं तप ।

तस्मादतद् ब्रह्म, नामरूप मन्त्रञ्च जागत ॥

—उपनिषद्दि

भाषा में अमुक ऋद्धभावों के कारण सन्ताप शब्द-शोकसन्तापरूप से दुःखवग से ही अनुप्राणित दग्ना सुना जाता है। तथापि ताविकी परिभाषा के अनुसार तो सन्ताप शब्द का दुःखव से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। अपितु क्रियाप्रधान तप नामक प्राणायामक तप के आधारभूत मनोमय ज्ञानशक्ति प्रधान ज्ञानीय वापार को ही श्रुतिने सन्ताप किंवा सतपन कहा है जसाक तस्य श्रान्तस्य (वाग्वापारमयस्य) तप्तस्य (प्राणवापारमयस्य) सतप्तस्य (मनोवापारमयस्य) तेजो-रसो निरजत त इत्यादि श्रुति से स्पष्ट प्रमाणित है। और यही अर्थ प्रमुख-तावक-अर्थ है।

तप से ही-ताप बना है। एव तप ही सम् उपसग से-सताप क्रिया सन्ताप रूप में परिणत हागया है। अव्ययामस्वरूपवत्ता आ मानष्ट द्वानो को विदत्त ही होगा कि षाडशीप्रजापति का अमृतम् नामक अयय विवत्त ही अपने आममूलक साम्य से - समब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। अभिन्नभावात्मक-एकीभावात्मक इसी समब्रह्म का स्वरूप सम्राहक माना गया है सम् नामक उपसग जैसाकि समिय-कीभावे इत्यादि से प्रसिद्ध है जिस इस समब्रह्मात्मक अद्वय अविभक्त अययामा के सम्राहक सम् के सम्बन्ध से ही तत्कृति सस्कृति तद्भावप्रधाना भाषा सस्कृत एव तदनुब वी आचारविशेष सस्कार आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। स्वायम्भुव ब्रह्मा का ज्ञानमय तप क्योंकि अययब्रह्मात्मक समब्रह्म की मूल-प्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव अवश्य ही इस तप को-सम् से समन्वित होने से सताप कहा जासकता है जिसके अनुगमन से ज्ञानसम्पत्त की ही अभियक्ति मानी है तत्तपोयुक्त महर्षियेन।

ऋषिप्राण ही इस सतापामक तप की मौलिक उपनिषत् है। स्वायम्भुव उस यजु प्राण का ही नाम ऋषि है जो कि सद्बन्-सदरूप होने से असत् नाम से प्रसिद्ध है (*) जिस कि पञ्चपर्वा किंवा त्रिपर्वा विश्व का मूलप्रवत्तक माना गया है। ऋक्-साम रूप वयोनाधामक छन्द से छन्दित स्वायम्भुव ब्रह्मनि श्वसित अपौरुषेय यजुर्वेदामक मौलिक प्राण का ही नाम स्वयम्भु ब्रह्मा का तथोक्त ज्ञानीय-तप है जिस इस मौलिक ज्ञानीय ऋषितप से ही सम्पूर्ण विश्व अभियुक्त हुआ है। स्वायम्भुव सय ब्रह्मा रूप महदुक्थ से विनिगत परमाकाशामक स्वायम्भुव महिमाकाश (परमयोम) में आसमतात् व्याप्त ऋषिप्राणप्रधान इसी ज्ञानीय तप की व्याप्ति का स्थान-तपोलोक नाम से प्रसिद्ध है जहा मात्रारूपेण स्वायम्भुव सय-ऋत सूत्रों (नेत्रों) के द्वारा वह विनिगत होकर सब में ज्ञानमात्रा का प्रसार किया करता है। सय ऋत-नेत्रों से सबत्र यात स्वायम्भुव ऋषिप्राणमूर्ति स्वायम्भुव परमाकाश में व्याप्त सदभावापन्न अतएव असत् नाम से प्रसिद्ध अययामा के सम् भावात्मक ज्ञान की प्रतिष्ठा पर प्रातष्ठित अत

—इहैव तर्जित सर्गो येषा साम्ये मन स्थितम् ।

निर्दोष हि सम ब्रथ तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता ॥

—गीता

*-असद्वा-इदमथ आसीत् । तदाहु -कितदसदासीदिति, ऋषयो वाच तदग्रऽमदासीत् । तदाहु -के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषय ।

—शत ६।१।१।१।

एव ज्ञानमय अतएव च सप्तम् भाव से समवित ज्ञानीय तपोरूप प्रथम स्वाय भुव सतापाथक तप का यही सङ्घित चिर तन इतिवृत्त है ।

त्र लाक्य विद्यावित् विद्वान् जानते है कि लोकाधिष्ठाता विश्वाधि ठाता षोडशीप्रजापति का पाञ्चभौतिक शरीर सप्तवितस्ति रूप है जैसाकि- सप्तवितस्तिकाय — से प्रसिद्ध है । भू भुव स्व-मह-जनत् तप सत्यम् सुप्रसिद्ध ये सात ताक ही उस लोकी प्रजापति का (आमा) सत याह्या मक सत वितस्ति-रूप वैसा ही चतुरशीति अङ्गुलामत शरीर है जसाकि गायत्र प्राणसम्बन्ध से मानव का शरीर अष्ट प्रादेशमित बनता हुआ चतुरशीति अङ्गुल ह । यदि मानव अपनी प्रयेक अवस्था (वय) मे स्वाङ्गुलि-परिमाण से अष्टप्रादेशा मक बनता हुआ चतुरशीतिरङ्गुलिमित शरीरी है तो तदभिन्न तत्प्रात ठारूप वह विश्वेश्वरप्रजापति भी स्वाङ्गुलिपरिमाण च उक्त सात वितस्तियो के मापदण्ड से चतुरशीतिरङ्गुलिमित शरीरी ही प्रमाणित होरहा है ।

सुप्रसिद्ध तथाकथित पाचो विश्वपर्वों में प्रथम भूपिण्ड ही भूलोक है तृतीय-सूर्य ही-स्वर्लोक है दोनो के म यम का च द्रोपलक्षित द्वितीय अ तरिच्च ही-भुवर्लोक है । परमेष्ठी जनल्लोक है । सूर्य-तथा परमेष्ठी का म यतरिच्च-महलाक है । स्वयम्भू सत्यलोक है । एव परमेष्ठी तथा सूर्य का ज्ञानीय ऋषिप्राणामक लोक ही- तपोलोक है । यो पाच पर्वों मे सात लोक अ तभूत है । ये ही सुप्रसिद्ध भू-भुव स्व-मह-जनत्-तप स यम ताम की सात लोक-याहृतिया हैं जिन में ६ ठा लोक ही स्वाय भुव-ज्ञानीय-तपोमय लोक है और इसी का नाम है सतापामक अर्थात् समब्रह्माङ्गुल तप और यही है तीनों तपो मं से ब्रह्मानुगत प्रमुख सव-धान सवप्रतिष्ठारूप मोलिक तप जिस इस जाना मक आमनिव धन ब्राह्मतप के बिना अन्या य सभा तप अप्रतिष्ठित आएव यातयाम (निरथक) ही प्रमाणित होजाया करते है ।

अब क्रमप्रात दो शब्दों में उस दूसरे तप धातु के चिर तन इतिवृत्त का भी अ वेषण कर लीजिए जिस का अर्थ माना गया है ऐश्वर्य्य । सतापरूप ऋषितप (ज्ञानीय तप) ने क्या किया ? सव-प्रथम इस ऋषितप से क्या उ पन्न हुआ ? प्रश्न का समाधान है- अप एव ससर्जादौ * । सवप्रथम अप् तव (प्राणा मक ऋतधर्मा आप) ही उ पन्न हुआ । यजुम्भू ति स्वाय भुव ऋषि प्राण का ज्ञानीय व्यापार ही स तापा मक तप था । इस स तपनरूप तप से यजू का-जू रूप प्राग भाग उसी प्रकार चू

—ब्राह्म तमोमहदह खचराग्निर्वाभू सवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिका ।

क्वेद्विधाविगणितान्दपराणुचर्या वाताभ्ररोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥

श्रीमद्भागवते

* सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसञ्चुर्विधा प्रजा ।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

—मनुः १।८।

पडा जैसे कि ज्ञानीय तप स मानव का जूरूप वागभाग द्रुत होण्डता है । वह द्र तभाग ही स्वयम्भू ऋषि ब्रह्म (ब्रह्म) का वह स्वेद (पसीना) कहलाया जिसे—सुवेदामक—अथगवत् कहा जाता है। ब्रह्म स्वयम्भू के तप स अभिव्यक्ता यह स्वदधारा ललाट से चारो ओर उसी प्रकार बह निकली जसे एक ज्ञानीय तप से ज्ञानान ठ के वागाकाश (शरीरकाश) से स्वदधारा ललाट को उपक्रम बना कर चारो ओर प्रवाहित हुआ है। ज्ञानीय तप स सवप्रथम ललाट प्रदश में ही स्वदकण अभिव्यक्त होत ह। ठीक यही स्थिति वहा घटित हु। निम्न लिखित गोपथश्रुति इसी तप का स्पष्टीकरण कर रही है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयत्वेकमेव । तदभ्यश्राम्यत् समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नह, यदाद्रथ—आजायत तेनान दत् । सुवेदोऽभवत् । त वा एत सुवद' स त 'साद' इत्याचक्षते । स भूय समतपत् । तस्मा सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्य पथग स्वदधारा प्रास्यदत् ।

—गोपथब्राह्मणो १।१।२

निवन्नीय यही है कि ऋषिप्राणामक यत् के यापार से—जू रूपा स्वायम्भुवी वाक ही एकाश से (यत्किञ्चिदश से) द्रुत होपडी । सोऽपोऽसृजत वाच एत लोकात् । वागेव साऽसृज्यत । सेद सप्रमाप्नोत् तस्मान्नाप यदवृणोत्—तस्माद्—वा (वारि शत ६।१।२।७।) के अनुसार यों स्वायम्भुव स ताप स जूरूपा वाग्भाग से सवप्रथम आप्तिधर्मा अपतव ही उपन्न होगया जिस इस आपो मय तिनोय त्रिश्वविवत्त को ही—परमेष्ठी कहा जाता है जिस का आप्तिधर्मा मैथु िसृष्टिप्रवत्तक प्राण ही पितरप्राण नाम से प्रसिद्ध है । ऋषिभ्य पितरो जाता इस मनुवचन का भी यही रहस्याथ—समवय है ।

स्वायम्भुव ब्रह्मा के स ताप रूप ज्ञानीय आषतप (ऋषितप) से तद ज रूप वागभाग से सवप्रथम उपन्न आपोमय परमेष्ठी सचमुच ही तो सम्पूर्ण विश्व का समृद्धिजनक महान्—ऐश्वर्य्य है । लोकसामाय में ऐश्वर्य्य सम्पत्ति नाम से प्रसिद्ध है । क्या स्वरूप है इस लोकसम्पत्ति का ? क्या भातिसिद्ध पत्रग्रण्डों (नोटों) का नाम लोकसम्पत्ति किवा लोकैश्वर्य्य है ? नेति हावाच । तो आ ए ! ऋषिदृष्टि के मायम से आज हम आप को लोकैश्वर्य्य की स्वरूप—दिशा से परिचत करादे जिस अपनी इस ऐश्वर्य्य—सपत्ति से साम्प्रदायिक वारुणपाश में आबद्ध होता हुआ भारतीय मानव अनामवादमूलक विगत तीन सन्स्रवर्षों से उत्तरोत्तर वञ्चित ही होता आरहा है ।

शान्तसम्पत्ति और अथसम्पत्ति इन दोनो सपत्तियों की समन्वितावस्था का नाम ही है—पदाथ जो असरय—सख्या में विभक्त हैं । पदाथ शब्द में पद और अथ दो भाव सन्निविष्ट हैं । पद का नाम है शब्द एव अथ का नाम है—शब्द के द्वारा गृहीत वस्तुतत्त्व । या पदार्थ शब्द के द्वारा शब्द और अथ दोना का समग्र होरहा है । कसे पदाथ ? जो प्रकृतिसिद्ध हैं ईश्वरीय हैं । सुवरा रजत ताम्र—लोह—सीसक अन्नक पारद ओषधि—वनस्पति—प्रथिवी—वायु—चन्द्रमा सूर्य्य—जन्म अग्नि—पशु—पक्षी

मानव ऋषि पितर ग ध्व यत्त-आद आदि नामो से प्रसिद्ध ईश्वरीय सृष्टि के सत्तासिद्ध पदाथ ही वा तव में पदाथ हैं जो समष्ट्या-य त्वा उभयथा शब्द और अथ दोनो स पत्तियों से समा वत माने गए हैं । श श्मिका सम्पत्ति तथा अर्थात्मिका सम्पत्ति इन दोनो सम्पत्तियों की मूलाधिष्ठात्री देवता ही भारतोय देवताप्रिज्ञान में क्रमशः श्री लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध हुई हैं । शश्वय का नाम है श्री एव अर्थेश्वय का नाम है लक्ष्मी । एव इनका पारिभाषिक ताविक नाम है-सरस्वती और अम्भृणी । सरस्वतीरूपा श्री तथा अम्भृणीरूपा लक्ष्मी इन दोनो की समवितावस्था का नाम ही ऐश्वय है जिसका मूल उद्गमस्थान है-आपोमय परमेष्ठी । कथमिति चत् ? अथताम् ! शु वा या यव धान्यताम् ॥

जिस स्वाय भुव तप (सतपनरूप ज्ञानीय तप) से अप्त व की उ पत्ति बतलाइ गई है वह स्वाय भुव तप अपनी वाग (जू) के एकाश से इम आपोमय परमेष्ठी को उ पन्न कर शेषाश से सोऽनया त्रग्या पिद्यया सहाप प्राविशत् । तत आण्ड निरयत्त त (शत ६।१।१।५।) के अनुसार उस आपोमय परमेष्ठी के गम मे आ मप्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित होजाता है । यों अत्र परमेष्ठी के आपोरूप तथा तत्गर्भी भूत ऋषिप्राणरूप भेद स दो विवत्त होजाते हैं । स्वयम्भू का यजुर्भाग यत् जू रूप प्राण वाक् भेद से स्वय इद्धा विभक्त था । यत् गतिप्रकृतिक ऋषिप्राण था तो जू स्थितिप्रकृतिक वाकतव था । व दोनो गति स्थिति भाव परमेष्ठी मे समवित होगए । ऋषिप्राणमक गतिभाव तो परमेष्ठी मे शश्वय का आधार बना एव पितरप्राणमक-स्थितिभावामक आपोभाव परमेष्ठी मे-अथसृष्टि का प्रवत्तक बना । वहा की गति (प्राण) यहा- सरस्वती कहताइ एव वहा की स्थिति (वाक) यहा अम्भृणी कहलाइ । अतएव दोनो पारमेष्ठ्य विवत्तों में प्रधान ऐश्वय सरस्वती ही मान लिया गया जिसकी प्रति ठा पर प्रतिष्ठित होकर ही अम्भृणीदेवी अथसृष्टि में समथ बना करती है । अतएव आगे चलकर ऐश्वय का प्रधान स्थान सारस्वतक्षेत्र ही मान लिया गया ।

शश्वय का ज्ञानसम्पत्ति का ही नाम है सरस्वती इसी का नाम है-श्री और यही है मौलिक-ऐश्वय । एव अर्थात्मिका भूतस पत्ति का नाम ही है अम्भृणी इसी का नाम है लक्ष्मी और यही है लोकलक्ष्मी । श्री ही लक्ष्मी की प्रति ठा है । श्रीविहीना लक्ष्मी तो कालान्तर में आयन्निक जड़ता की प्रवर्तिका बनती हुई मानव को अलक्ष्मीभाव में ही परिणत कर दिया करती है । ज्ञानसम्पत्ति ही अर्थात्मिका भूतसम्पत्ति की मूलाधिष्ठात्री बना करती है । अ यथा मूर्खों की लोकलक्ष्मी का उपभोग तो बुद्धिमान ही कर लिया करते हैं । अतएव मानना पडगा कि वास्तविक-ऐश्वय सारस्वतक्षेत्र से ही अनुप्राणित है । और यही ऐश्वयरूपा सम्पत्ति का सक्षिप्ततम स्वरूप-दिग्दर्शन है * ।

पारमेष्ठ्य-मण्डलानुगता शश्वयारामिका सरस्वतीधारा का ही वज्ञानिक नाम है-अङ्गिराधारा एव अथ पारामिका अम्भृणीधारा का ही नाम है-भृगुधारा । स्वायम्भुव-गति तव का (प्राणामक यत् तव का) पारमे ठयरूप ही है-विकासधर्मा-तेजोभाय । इसी का नाम है-अङ्गिरा यही है-सरस्वती

* विस्तार के लिए देखिए सांस्कृतिक-निबन्ध का दीपावलीपर्व नामक स्वतंत्र प्रकरण

और यही है शान्तसृष्टि की मूलाधिष्ठात्री। तथैव स्वायम्भुव-स्थिता तव का (वागा मन्-जू तव का) पारमष्ठ्यरूप ही है-सकोचधर्मा-स्नेहभाज त्वसी का नाम है-भृगु यही है आम्भृणी आर यहीं है-अथसृष्टि की अधिष्ठात्री। तद्विथ उभयसम्पत्तियो स समवित तेज स्नेह-प्राणा मक-अङ्गिरा-भृगुमय-इसी पारमे ठथ-अपू तव का नाम है ऐश्वर्य्य जिसके त्वना त्वश्व का ऐश्वर्य्य क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नही रह सकता। अपतव की इसी उभयधम्मता का त्वस्पष्ट श दो मे दिग शन करात हुए ऋषि ने कहा है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूप, मापो भृगुङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रया वेदा भृगूनाङ्गिरस श्रिता ॥
—गोपथब्राह्मणे

स्वायम्भुव ब्रह्म का तप मनस्त्वन ज्ञानमय था तो पारमे त्व्य विष्णु का तप प्राण वन क्रियामय है कम्ममय है। भागव साम आङ्गिरस अग्नि दोनों के तपोमूलक समिश्रण का नाम ही यज्ञ की मोलिक-स्वरूप परिभाषा है। यह भागवाङ्गिरस तपोरूप यज्ञ क्रियाशाक्तप्रधान ब्रह्माक्षरामा से अनुप्राणित है। अतएव यज्ञ और कम्म अभिन्नाथक मान लिए गए हैं जैसाक श्रष्टतमाय कम्मणे (यजु ११) के याच्या भूत-यज्ञो वै श्रष्टतम कम्म शत) त्वयादि ब्राह्मणवचन स स्पष्ट है। भृग्वङ्गिरोक्ति आपामय परमेष्ठी ही-विष्णु हैं। य ही भागवाङ्गिरस यज्ञ के प्रवक्तक है। अतएव-यज्ञो वै विष्णु - विष्णुवै यज्ञ इ यादि निगम भी निर्विराध समवित है। श्री और लक्ष्मी दोनों यज्ञमूर्ति इसी विष्णु की पानया मानी गई है पु णशास्त्र में। श्री को बत्स्थलस्थिता बतलाया गया है एव लक्ष्मी को अर्द्धाङ्गिनी माना गया है जसाकि अमुक महाभारतीय प्रसङ्ग से स्पष्ट कर दिया है पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने (देखिए महाभारत अनु ५) सरस्वतीवाङ्मय (श दवाङ्मय) आङ्गिरस तव ही श्री है एव आम्भृणीवाङ्मय (अथवा ङ्मय) भागव तव ही-लक्ष्मी है जसाकि पूव में स्पष्ट कया जाचुका है। लोकैश्वर्य्यससाधक यज्ञा मक कम्म में क्योकि प्राकृत विश्व म पारमेष्ठ्य-भागवाङ्गिरस तप ही प्रमुख है। यही कारण ह क प्रकृति के हविष्ययज्ञ में-अथाङ्गारैरभ्यूहति भृगूणाङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम् इयदिरूपेण यज्ञैश्वर्य्या मक लोकैश्वर्य्य के ससाधक इस दूसरे वै णव-भागवाङ्गिरस तेजिष्ठ तप का ही समवय हुआ है जसाकि उसी सन्ध के एतद्वै तेजिष्ठ तेज यद्भू उङ्गिरसाम् इयादि उत्तर वाक्य से स्पष्ट है।

अब शेष रह जाता है भू चन्द्र गर्भित सौरमण्डल। तदनुबधी तप ही माहेश्वरतप कहलाया है जिसका प्रधानरूप से-दाहकता से ही सम्बन्ध माना गया है। भूतपति त्रिनेत्र महेश ही रोदसीत्रिलोकी के अधिष्ठाता हैं। रुद्र ही इनका मूलस्वरूप है जो कि-अग्निर्वा रुद्र के अनुसार आग्नप्रधान है। अतएव रोदसी को-रुद्रपनी माना है शास्त्र ने। सोऽरोदीत्-तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् ही रुद्र का स्वरूप परिचय है। अपनी प्रचण्डतमा दाहकशक्ति से ये ही विश्व के सहारक हैं। अतएव रुद्रामक इस सौरतप को अवश्य ही हम-दाहार्थक-तप कह सकते हैं। और यही क्रमप्राप्त तीसरा तपोविवक्त है।

नि कर्षत स्वायम्भुव ब्राह्मणतप सतापाथक तप है जिसका सुप्रसिद्ध ६ ठ तपोलोक से सम्बन्ध है। पारमष्ठ्य वैष्णवतप ही ऐश्वर्य्यार्थक तप है जो भागवाङ्गिरस तप है। एव सौर-रौद्रतप ही-

दाहायक तपः ह वा अग्निप्रदान तपः है । इसप्रकार तीन विश्वसंस्थानों के अनुबन्ध से तपोभाव क्रमशः त्रिसंस्थ बन जाता है जिसके ब्रह्मा विष्णु-महेश तीन विश्वदवता मूलप्रवक्तृक बने हुए हैं । तीनों विश्व-दवता आ मन्त्र के-अमृत-ब्रह्म-शुक्र-नामक तीन विवर्तों से क्रमशः अनुप्राणित है जो कि तीनों आ मन्त्र-विवक्त मन-प्राण-वाक् प्राणायाम से ज्ञान क्रिया अथ-शक्तिमय बने हुए हैं । अतएव स तापामक ब्राह्मतप को ज्ञानामक तप कहा जायगा ऐश्वर्यामक व णवतप को कर्म्मामक तप माना जायगा एवं दाहायक तप को रौद्रतप माना जायगा । तीनों ही तपो का अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध कालसूक्त में सवथा पृथक्-वनव स्वरूप िग शन हुआ है * । कालसूक्त में काल से तीन स्थानों पर तप का आभिर्भाव बतलाया गया है कालाववर्तों से । अथर्ववेद ही तीनों का स्वरूप पृथक् पृथक् ही होना चाहिए । अथर्ववेद मन्त्रद्रष्टा ऋषि णक ही कालसूक्त में अविन्नरूपेण क्वापि तीन बार तप का उल्लेख करते हैं । काले तप काले ज्येष्ठ काले ब्रह्म समाहितम् मन्त्र का तप शब्द स तापामक स्वायम्भुव ब्राह्मतप का ही समग्रह बन रहा है । उसी सूक्त के कश्यप कालात् तप कालाद्जायत मन्त्र का तप शब्द दाहायक सौर-रो ताप का ही समग्रह कर रहा है । एवं-कालादाप समभवत् कालात् तपो दिश मन्त्र का तप शब्द ऐश्वर्यायक पारमेष्ठ्य-व णव तप का ही समग्रह बन रहा है । तीनों तपो से अनुप्राणित समाहितम् समभवत् आज्ञायत तीन निम्न क्रियापद भी तीनों के पाथक्य की ओर ही सङ्कत कर रहे हैं । ब्राह्मतप ज्ञानमय बनता हुआ शाश्वत सनातन-तप है । अतएव उसके लिए-काले समाहितम् कहना ही अथर्ववेद है । वै णव तप ऐश्वर्यायक स भूत का प्रवक्तृक है । अतएव तस्य बन्ध में कालात्-तप समभवत् कहना ही अथर्ववेद है । तीसरा रौद्रतप अपनी उपलब्धि-विनाश-शालिनी भौतिकता से क्योंकि परिवर्तनशील है । अतएव इसके लिए तप कालाद्जायत कहना ही समीचीन है ।

मानवीय अथवा मनुष्य का शरीर ही इसका विश्व है जिसके कारण-सूक्ष्म-स्थूल-भेद से अधि-दैवतत्वं तीन ही प्रमुख अवक्तृक हैं । कारणशरीर का ही नाम विज्ञानबुद्धि है सूक्ष्मशरीर का ही नाम प्रज्ञानमन है एवं स्थूलशरीर का ही नाम भौतिकशरीर है । तीनों क्रमशः ब्रह्म-वैष्णव-रौद्र है । रुद्राग्नि का चित्तमूला सञ्चिति स ही पञ्चविक्रमिक भौतिक शरीर का स्वरूप-निर्माण हुआ है । (देखिए शत ७। १। १-५ पद्यत) । शांतिरुद्रिय नामक सुप्रसिद्ध शांतिरुद्रियान्न से ही भूतशरीरानुगत रुद्रताप को उपशान्त माना * श्रुतिने तत्रव । फलतः भौतिक-स्थूलशरीर का रुद्रतपोभाव सर्वमाना सिद्ध होजाता है । दूसरा साय मनस्तत्र प्रयत्न में ही अपने सोमामक पारमेष्ठ्य-धर्मानुबन्ध से पारमेष्ठ्य वै णवतप का प्रतिरूप प्रमाणित होरहा है । तीसरा विज्ञानबुद्धिरूप कारणशरीर अपने ज्ञानभाव से ब्राह्मतप का प्रतिरूप बना हुआ है । और यो मानव के शरीरत्रयामक बुद्धि-मन शरीर नामक तीनों विश्वतन्त्र अधिदैवत-संस्था के तीनों तपोभावों से क्रमशः समावृत होरह हैं ।

प्राकृतिक-आधिदैविक-सघर्षामक तीनों तपो का प्राथमिक परिणाम अप्तृत्व ही माना गया है । ब्राह्मतप स उपलब्धि आप ही-स्वेत् नामक पारमष्ठ्य-ऋत अथर्वारूप सुवेद है जिसका शीर्ष-

*-विस्तार के लिए देखिए- दिग्देशकालस्वरूपमौमासा नामक सहस्रपृष्ठीयक स्वतन्त्र-निबन्ध

स्थानीय स्वायम्भुव ललाट से ही सर्वप्रथम उपन्न होता है। बष्णवतप से उपन्न आप ही श्रद्धात्मक वह अम्भ तत्त्व है जिस परमभाग्यशाली भारतराष्ट्र गाङ्गेय तोयात्मका ब्रह्मद्रुमी के रूप में उपलब्ध कर रहा है। एव तीसरे सौर-रौद्रतप से उपन्न आप ही मरीचि नाम से सुप्रसिद्ध है। इसका मूल रूप भारत राष्ट्र को यामुनेय (यमुनाजल) के रूप में उपलब्ध हो रहा है। गाङ्गेयतोय (गङ्गाजल) पारमेष्ठ्य पवित्र सोम के सम्बन्ध से जहाँ शीतप्रकृतक है वहाँ यामुनेयतोय (यमुनाजल) सौर मरीचि के सम्बन्ध से अग्निप्रकृतक ही माना गया है।

अधिदवत-स्थिति के अनुसार ही मानव की अयामसस्था में भी-बौद्धिक मानसिक शारीरिक तापरूप ब्राह्म वैष्णव-राद्र तार्पा से त्रिविध अपतव अभियुक्त होता है जिस अपतव का अश्रु सञ्चरितमासीत् श्रुति के अनुसार एक साङ्कतक नाम है-अश्रु। ब्राह्म तपोरूप-ज्ञानप्रधान-बौद्धिक तप ही-पारश्रमक लाया है। इससे हाने वाले सघष से उपन्न अश्रु ही परिश्रमाश्रु कहलाएँ है जो प्रकृतिवत् सर्वप्रथम मानव के लगाट प्रदेश में ही स्वेदकण रूप से अभियुक्त होते हैं। परिणाम है इन अश्रुओं का शांति प्राप्ति (दग्नि गोपथ-पू १।१।)। वैष्णव तपोरूप कर्मप्रधान श्रद्धा वास यस्नेहादि-वृत्तसमावृत मानसिक तप ही-श्रम कहलाया है। इससे उपन्न सघष से सर्वप्रथम मानव के चक्षुर्द्वार से ही अपतव विनिर्गत होता है। जिनका नाम है-प्रमाश्रु जो तब सुखकर तथा ऐश्वर्य के प्रवृत्तक माने गए हैं। तीसरे सौर-राद्र-तपोरूप भूतप्रधान-शारीरिक-तप सघष से उपन्न दाहक अपतव का नाम है-सेना जिसके सामान्यवग-सत्ता सर्वाङ्गशरीर से ही रवद निकलते हैं। अतः यही यदि प्रचण्डरूप में परिणत होजाता है तो यही शाकाश्रु रूप में परिणत होता हुआ-चक्षुर्द्वार से निकल-पतता है। स पूरा शरीर को दग्ध ही करता हुआ। प्रमाश्रु का सवरण जहाँ स्वास्यप्रद माना गया है वहाँ शाकाश्रु का सवरण-स्तम्भन-अयत ही हानिकर माना गया है। इस वेग का तो बहिर्विनिर्गत होजाना ही श्रय-पथा है।

यह है तप शब्द की त्रिधा व्याप्ति के चिरतन त्रिवृत्त का सक्षिप्त स्वरूप निदर्शन जिसे आधार बना कर ही मानव को विशेषतः भारतीय मानव का तत्रापि श्रुति-स्मृत पुराणनिष्ठ सांस्कृतिक मानव का तीनों तपोभावों के समन्वय से ही अपना तप कर्म यवस्थित करना चाहिए जो कि समवर्ध्यात्मिका यह श्राव तपो यवस्था साम्प्रदायिकों के कार्पनिक तपोभाव से साधुसत्तों के कायक्लेशामक प्रदर्शनात्मक तपोमय आण्डम्बरो से और प्रकृत युग के कार्पनिक-त्याग तपस्या बलिदानों के भावकतापूर्ण तपजम्भणों में आपादमस्तक निमज्जित भावुक देशाभिमानीयों (अतिमानियों) के सेवामक-तपोभावों से एवमेव अयान्य भी ज्ञात अज्ञात अनेक कारणों से सवथव अतम्मुखा बन गई है। जिसे आज तपस्या याग और बलिदान कहा जा रहा है उसका तो दाहामक भौतिक तप-मात्र से ही सम्बन्ध है जिसका एकमात्र फल माना गया है शोकाश्रु। रुद्र भावापन्न इस केवल भौतिक तप से तो सोऽरोदीत के अतिरिक्त अन्य कोई भी परिणाम नहीं निकला करता तबतक जबतक कि इस भौतिक तप के मूल में हम भृग्वङ्गिरोमूलक पारमेष्ठ्य तप प्रतिष्ठित नहीं कर लेते। क्योंकि यही पारमेष्ठ्य तप ऐश्वर्य का तमूला श्री और लक्ष्मी का ससाधक माना गया है जिसे विस्मृत कर किंवा उपेक्षित कर और आज की भाषा में निरपेक्ष मान कर हमने भारतराष्ट्र के ऐश्वर्य को सवथा ही पराड मुल कर लिया है। इस भार्गवाङ्गिरस ऐश्वर्यससाधक पारमेष्ठ्य-तप का अनु

ग्रह तभी स भाषित है जत्र कि अस वै एवतप के मूल में हम ज्ञानमय ब्राह्मणतप प्रतिष्ठित करते । वही वास्तविक तप है । अतएव भारतराष्ट्र की राष्ट्रीय कामनाओं का स्वरूप दिग्दर्शन करते हुए ऋषि ने—
आ ब्रह्मन् । ब्राह्मणो ब्रह्मवचसी जायताम् इ यदि रूप से सवप्रथम प्रजापति से इस राष्ट्र के ज्ञानगोता ब्राह्मण के लिए ब्रह्मवचोरूप ज्ञानमय ब्राह्मणतप ही याज्ञा अभिव्यक्त की है यत्नमतिपल्लविलेन तप शब्द-स्वरूपदिग्दर्शनेन । तालिकारूपेण हमें तप शब्द के तथोक्त चिरन्तन इतिवृत्त का मनन निदि यासन करना चाहिए । एव त मा यम स ब्राह्मणतप के आधार पर माहेश्वरतप के द्वारा भागवाङ्गिरस तप को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए जैसाकि श्रुति के इस उदात्त उद्घोष से स्पष्ट है कि—

‘भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्’ ॥१३॥

- १ स्वायु भव ब्राह्मणतप—अमृता ययानुगत—मनोऽनुगत ज्ञानमय—तप
- २ पारमेष्ठ्य वै णवतप—ब्रह्माक्षरानुगत—प्राणानुगत क्रियामय तप
- ३ सोर—रौद्रतप—शुक्रक्षरानुगत—वागनुगत—अर्थमय—तप

✽

- १ त्रौट्टक तप—परिश्रमा मक (परिश्रमाश्रु से समन्वित)—स तापा मक तप
- २—मानसिक तप—श्रमा मक—(प्र माश्रु से समन्वित)—ऐश्वर्या मक तप
- ३ शारीरिक तप—सेवा मक—(शोकाश्रु से समन्वित)—दाहा मक तप

इति तप स्वरूपदिग्दर्शनम्

— — — — — ✽ — — — — —

ईशावास्यमिदं सवम्—ब्रह्मैवेदं सवम् इ यदि श्रौत वाक्यों के अनुसार विश्व के यद्यथावत् पदार्थ ब्रह्मसत्ता से आक्रान्त हैं । ब्रह्मणो नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म के अनुसार नियमि ज्ञानघन है आनन्दमय है । ऐसी अवस्था में नियमि-विज्ञान-आनन्दमूर्ति ब्रह्ममय पदार्थों को परमार्थ दृष्टि स कभी अचेतन नहीं बतलाया जा सकता । साधारणदृष्टि से व्यवहार-मर्थ्या के निर्वाह के लिए यद्यपि जड-चेतन व्यवहार ठीक है । पर तु परमार्थदृष्टि-से विज्ञानकोटि में यह भेद निरर्थक ही सिद्ध होजाता है । वैज्ञानिक महर्षि प्रत्येक पदार्थ को अयय के शोचसीयस्मन से ज्ञानयुक्त अयय के प्राणतत्त्व से क्रियायुक्त एव अयय के वाक्त्व से अययुक्त देखते हैं । प्रत्येक पदार्थ अर्थ है । उस में अर्थाधार भूता क्रिया है । क्रिया में अतस्युत क्रियाधार ज्ञान है । प्रत्येक पदार्थ क्रियामय है यह सिद्धात निर्विवाद है । उधर क्रिया बिना ज्ञान के सम्भव नहीं यह सिद्धात भी स्वतः सिद्ध है । सुतरा पदार्थमात्र का चेतनत्व सिद्ध होजाता है । इसी नियमि चैतन्यवाद को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने दृष्टत् ओर

कृष्णमृगचर्म को चतन मानते हुए तत् सज्जामरैतद वदति—नेद योऽयं हिनसात् ये अक्षरं कहे हैं। दृषत् पाषाणमयी है। पाषाण उपयुक्त—घन—तरल—विरलावस्था—विज्ञान के अनुसार ध्रुवकोटि में प्रविष्ट होता हुआ निदान के द्वारा पृथिवी है। उपर कृष्णमृगचर्म पृथिवी की त्वचा है जसाक कृष्णमृगच मा स्तरण प्रकरण में विस्तार स त्रतलाया जाचुका है। दृषत् पर उपल के द्वारा पेषणक्रिया के होने से कृष्णमृगच म पर आघात होना स्वाभाविक है। क्योंकि दृषत् चर्म पर ही प्रातष्ठित रहती है। स आघात म चर्म में क्षोभभाव उपन्न होता है। क्षोभ हिंसामलक है। हिंसामलक क्षोभ यज्ञ का विघातक है। इस अनिष्ट को दूर करने के लिए ही अग्नि-यज्ञ म वेत्त कहा है। सजातीय वस्तुओं के सघष से उपन्न होने वाला क्षोभ हिंसा का कारण नहीं बनता। एक ही प्रासाद में सजातीय बंधु कष्ट पाकर भी रहजाते हैं। असुविधा रहने पर भी खटपट नहीं होती। परन्तु अजातीय अथ एक व्यक्ति के प्रविष्ट होने से असुविधा का अनुभव होने लगता है। कृष्णमृगचर्म और दृषत् सजातीय है इस मनोभाव को दृढ करने के लिए ही पूर्वोक्त वाक्य कहा गया है ॥१४१५॥

दृषत् के पश्चिमभाग में शम्या रक्खी जाती है। पूर्वोक्त देवताओं का स्थान है। नसीलिए वी प्राक्प्रणया (एव की ओर झुकी हुई) बनाइ जाती है। इसी दिव्यभाव की प्राप्ति के लिए शम्या को पश्चिमभाग में दृषत् के नीचे रक्खा जाता है। शम्या निदान के द्वारा अतरिक्त है। अतरिक्ते ही द्यावा—पृथिवी के स्वरूप को विभक्त कर प्रतिष्ठित कर रक्खा है। आगे उपल को द्युलाक की प्रतिकृति बतलाने वाले हैं। द्युलाकरूप उपल की शया सचमुच स्कम्भनी है। यदि शम्या स्वस्थान से स्वलित हो जाय तो उपल कभी प्रत ठत नहीं हसकती। सी अभिप्राय से दिवस्कम्भनीरसि यह कहा है ॥१६॥

द्यावापृथिवी एक प्रकार की चक्की है। वायु सञ्चार चक्की में होने वाला पेषण-यापार है। पृथिवी के ऊपर द्य के द्वारा वायु के समावश स अन्नपेषण होता रहता है। पिष्ट अन्नरस प्राणीवग का पालन किया करता है। इसी आधिदैविक स्थिति को लक्ष्य में रखकर इस के साथ तुलना करते हुए याज्ञवल्क्यने दृषत् को पृथिवी माता कहा है। शम्या को वायुस्थानीय होने से अतरिक्त कहा है। एव उपल को द्युरूप बतलाया है। इस समानता से त्रलोक्यामरु भम्बसरयज्ञ की सम्पत्ति आजाती है। पुरुषो वै यज्ञ के अनुसार हमारा य वैधयज्ञ पुरुषलक्षण है। अत आधिदैविक यज्ञवत् इस में पुरुषयज्ञ के (आयामिक यज्ञ के) भावो का भी समाविष्ट होना आवश्यक है। पुरुषयज्ञानुसार दृषदुपल इस यज्ञपुरुष के दोनों हन् हैं। शम्या जिह्वा है। पुरुषयज्ञ में जिह्वा शदकर्म करती है अतएव तत्प्रतिकृतिभूता शम्या म यहा समाहननकर्म किया जाता है। इसी पुरुषस पत्ति का निरूपण करते हुए गवान् याज्ञव क्य कहते ह—हन्ऽएव दृषदुपले। जिह्वैव शम्या। तस्माच्छम्यया समाहृति। जिह्वया हि वदति ॥१७॥१८॥

बिना हिंसा के यज्ञ तिक्रत यता कथमपि पूरी नहीं की जासकती। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है जिस में हिंसा न होती हो। प्राणवियोग ही हिंसा है। सबसाधारण की दृष्टि में जड चेतन में भेद है। परन्तु वैज्ञानिक महर्षि सब को चेतना से युक्त मानते हैं जैसा कि पूव में बतलाया जाचुका है। पुरोडाश स पन्न करने के लिए जिस धाय का ग्रहण किया जाता है वह एक प्राणयुक्त द्रव्य है। मनुष्य की सत्ता के लिए जो प्राण निय अपेक्षित हैं व सब प्राण यहा प्रतिष्ठित हैं। उपन्न होने वाले पदार्थमात्र में त्रैलोक्य के प्राण विद्यमान

रहते हैं। पृथिवी-आतरिद्ध-द्यु-तीनों के रस के सम्मिश्रण से प्रत्येक पदाथ उ पन्न हुआ है। एव ज्वतक तत्तत्पदार्थों के साथ उपयुक्त तीनों प्राणों का आदान-विसर्गामक सम्बन्ध होता रहता है तभीतक तत्तत्-पदाथ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। पार्थिवप्राण अपान है। आतरिद्ध्य प्राण यान है। दिव्य प्राण प्राण शब्द से ही प्रसिद्ध है। द्युलोक से आता हुआ प्राण प्राण है यही निगच्छत् अवस्था में उदान नाम से यवहृत होने लगता है। पार्थिव प्राण आगमनावस्था में समान कहलाता है वही निगमनावस्था में अपान कहलाने लगता है। इसप्रकार अपान और प्राण के अपान समान प्राण उदान ये विवक्त निष्पन्न होजाते हैं। मध्यस्थ प्रादशमित यानप्राण सवथा स्थिर है। पार्थिव प्राणदेवता एव सौर प्राणदेवता इसी यानसत्ता पर अवलम्बित हैं। यानरूप उपाशुसवन (शिला) पर उपाशुरूप प्राण-तथा अन्तर्यामिरूप अपान दोनों में जीवनोपयुक्त उपाश्वन्तर्यामि यापार हुआ करता है। प्राणापान जीवनसत्ता के कारण नहीं हैं अपितु-जिस स्थिर व्यान के आधार पर प्राणापान गमनागमन करते हैं वह व्यान ही जीवन सत्ता का कारण है। इसी व्यान विज्ञान को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥

इतरेण तु जीवति यस्मिन्नेताबुपाश्रितौ ॥१॥

ऊर्ध्वं प्राणमु नयति अपान प्रत्यगस्यति ।

मध्ये वामनमासीन सर्गे देवा उपासते ॥२॥

—उपनिषद्दि

उक्त कथन से सिद्ध हुआ कि पञ्चप्राण ही जीवनसत्ता के आधार हैं। पेशणव्यापार से पाचो प्राण निकल जाते हैं। हवि निर्जीव होजाता है। उधर देवता प्राण-प है। प्राणरूप अन्नाददेवता नि प्राण अन्न कभी नहीं लेसकते। सजातीय अन्न ही उन के लिए ग्राह्य है। निर्जीव हवि में उमी पञ्चप्राणा मक प्राणत व के समावेश के लिए प्राणाय त्वा ऋयादि मन्त्र-प्रयोग किया जाता है जैसा कि मूल में स्पष्ट होगया है ॥१६॥
२ । २१। २२॥

इति द्वितीयाध्याये-प्रथम ब्राह्मणम्
इति प्रथमप्रथमपाठके पञ्चम ब्राह्मणम्
इति-उपवेषसपादनम्
अग्नौ कपालोपधानेन हवि परिपाकञ्च

१०

अथ प्रथमकारण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

—*—

११ पिष्टेनोदकमिश्रितेन पुरोडासम्पादनम्

—*—

(मूल)—पयिप्रगति मवपति, पाया पवित्र ऽवधाय—‘देवस्य त्वा सवितु
प्रसवेऽश्विनार्बाहुभ्या पृष्णो हस्ताभ्याः सञ्चवामि’—[१ अ० २१ म] इति ।
सोऽसावेवैतस्य यजुषो बधु ॥१॥

अथा तर्वेद्यु पविशति । अथेक उपसजनीभिरति । ता आनयति । ता पवित्राभ्या
प्रतिगृह्णाति—‘समाप ओषधीभिः’—(१ अ २१ म०) इति । स ह्येतदाप ओष
धिभिरेताभि पिष्टाभि सङ्गच्छते । ‘समोषधयो रसेन’—(१ अ १६ म)
इति । स ह्येतदोषधयो रसेनैता पिष्टा अद्भि सगच्छन्ते । आपो ह्येतासा रस । ‘स
रेवनीजगतीभि पृच्यताम्’—(१ अ २१ म) इति । रेवत्य आप, जगत्य
ओषधय ता उ ह्येतदुभय सम्पृच्यते । ‘स मधुमतीम्मधुमतीभि पृच्यताम्’—
(१ अ २१ म) इति । स रसवत्यो रसवतीभि पृच्यन्तामियेवैतदाह ॥२॥

अथ सयौति—‘जनयत्यै त्वा सयौमि’—(१ अ २१ म०) इति । यथा—
श्रियऽन्नाद्यायमा प्रजा यजमानाय यच्छेत्—एव तत् सयौति । अधिवर्च्यन्नु वै सयौति ।
यथा वा अधिवृक्तोऽग्नेरधिजायत एव वै तत् सयौति ॥३॥

अथ द्वैधा करोति—यदि द्व हविषी भवत । पोर्णमास्या वै द्व हविषी भवत । स
यत्र पुनर्न महरिष्य ल्यात् । तदभिमृशति—‘इदमग्नेरिदमग्नीषोमयो’—(१ अ -
२१ म) इति । नाना वा एतदग्र हविर्गृह्णन्ति । तत् सहावध्नन्ति । तत् सह पिषति ।
तत् पुनर्नाना करोति । तस्मादेवमभिमृशति—अधिवृणक्त्येवैष पुरोडाशम् अधिश्रयत्य—
सावाज्यम् ॥४॥

तद्वा एतदुभय सह क्रियते । तद्यदेतदुभय सह क्रियते । अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्ञस्य यदा यम् । अर्द्धो यदिह हविर्भवति । म यश्चासावर्द्धो य उ चायमर्द्धं , ता उभावग्निं गमयावेति । तस्माद्वा एतदुभय सह क्रियते । एवमु ह्येष आत्मा यज्ञस्य स धीयते ॥५॥

सोऽसावाज्यमधिश्रयति-‘इषे त्वा’ (१ अ २२ म०) इति । वृष्ट्यै तदाह यदाह ‘इषे त्वात’ । तत्-पुनरुद्वासयति । ऊर्जे त्वेति’ । यो वृष्टाद्गु रसो जायते, तस्मै तदाह ॥६॥

अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति-‘घर्मोऽस्ति’-(१ अ २२ म) इति । यज्ञमेवैतत् करोति । यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यात् एव प्रवृणक्ति । ‘विश्वायु’-[१ अ २२ म] इति । तदायुदधाति ॥७॥

त प्रथयति ‘उरुप्रथा उरुप्रथस्व’-[१ अ २२ म०] इति । प्रथयत्येवैन-मेतत् । “उरु ते यज्ञपति प्रथताम्”-[१ अ २२ म] इति । यजमानो वै यज्ञ पति । तद्यजमानायैवेतदाशिषमाशास्ते ॥८॥

त न सत्रा पृथु कुर्यात् । मानुष ह कुर्यात् -यत् पृथु कुर्यात् । व्यद्ध वै तद् यज्ञस्य य मानुषम् । नेद् व्यद्ध यज्ञे करवाणीति तस्मान्न सत्रा पृथु कुर्यात् ॥९॥

अश्वशफमात्र कुर्यादित्यु हैक आहु । कस्तद्वद यावानश्वशफ । यावन्तमेव स्वय मनसा न सत्रा पृथु म येत, एव कुर्यात् ॥१०॥

तमद्भिरभिमृशति-सकृद्वा त्रिर्वा । तद्यदेवास्यात्राचन्तो वा पिष तो वा क्षण्वन्ति वा, वि वा वृहति शान्तिराप तदद्भि शान्त्या शमयति । तदद्भि सन्दधाति । तस्मादद्भिरभिमृशति ॥११॥

सोऽभिमृशति-‘अग्निष्टे त्वच मा हिंसीत्’-[१ अ २२ म०] इति । अग्निना वा एनमेतदभितप्स्यन् भवति । एष ते त्वच मा हिंसीदित्येवैतदाह ॥१२॥

त पर्याग्निं करोति । अञ्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति-नेदेन नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृ-शानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता-तस्मात् पर्याग्निं करोति ॥१३॥

त श्रपयति—‘देवस्त्वा सविता श्रपयतु —[१ अ० २२ म०] इति । न वा एतस्य मनुष्य श्रपयिता । देवो ह्य ष, तदेन दत्त एव सविता श्रपयति । वषिष्ठेऽधिनाके’ [१ अ २२ म] इति । दवत्रो एतदाह यदाह वषिष्ठेऽधिनाक इति । तमभिमृशति श्रुत वेदानीति । तस्माद्वा अभिमृशति ॥१४॥

सोऽभिमृशति मा भेर्मा सविक्था (१ अ २३ म) इति । मा त्व भैषी मासविक्था यच्चाहममानुष सन्त मानुषोऽभिमृशामीत्येवैतदाह ॥१५॥

यदा श्रुत अथाभिवासयति—नेदेनमुपरिष्टानाष्टा रक्षान्यवपश्यानिति । नद्वेव नग्न इव मुषित इव शयाता इत्यु चैव तस्माद्वा अभिवासयति ॥१६॥

सोऽभिवासयति—अतमेरुर्ह्यज्ञाऽतमेरुयजमानस्य प्रजा भूयात्—(१ अ २३ म०) इति । नेदत्तदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताम्याद् यदिदमभिवासयामीति । तस्मादेवमभिवासयति ॥१७॥

अथ पात्रीनिर्घोजनमङ्गुलिप्रणोजनमाप्त्येभ्यो निनयति । तद्गदाप्त्येभ्यो निनयति ॥१८॥

इति—प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् प्रथमप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम् समाप्तश्चात्र प्रथम प्रपाठक

—*—

(अनुवाद)—आयनिर्वाप क अनतर अ वय्यु - ‘पात्र्या सपवित्रायां पिष्टान्यावपति ‘देवस्य त्वे’ ति (का श्रौ सू २।५।१) क अनुसार प्रोक्षणीपात्र मे से पवित्र (दर्भ) लेकर उसे इडापात्री मे उदगाप्र रखकर उसके ऊपर देवस्य त्वा सवितु प्रसवऽश्विनोर्बा हुभ्यां पूष्णो हस्तभ्या सवपामि’ यह मन्त्र बोलता हुआ कृष्णमृगचम्म पर स्थित पिष्ट पुरोडाश को कृष्णमृगचम्म से ही डालता है । (उपय्यु क्त) मन्त्र का वही बन्धु (तात्पर्य) है जो कि पूव मे आए हुए ‘देवस्य त्वा’ इत्यादि मन्त्रव्याख्यान मे बतलाया जाचुका है ॥१॥

पुरोडाश-सजापान-तर अध्वर्यु — 'श्रपणस्य पश्चादुपविश्य तर्दि वा' (का श्रौ सू २।५।११) क अनुसार पात्रयुक्त (दमयुक्त) पात्री का लेकर * श्रपणाग्नि क पश्चिमभाग में बैठता है । अथवा वेदि क पश्चिमभाग से सलग्न होकर-सपत्रपात्री को वेदि के मय मे प्रतिष्ठित कर नहीं अत्रयु बैठ जाता है ।

अनतर— उपसर्जनीरानयत्यय' (का श्रौ सू २।५।१२) के अनुसार अत्रयु का सहायक आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् × उपसर्जनी नाम से प्रसिद्ध तप्त पानी को ठंडा कर इडापात्री मे स्थित पिष्ट पुरोडाश के उपर डाल देता है । 'आनयति' पद को प्रकृत मे 'तत्ते पयसि ढध्यानयति' इस प्रकरणान्तर की भाति निनयाधक ही समझना चाहिए । इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने— अथ तामा तूष्णीमासेचन विधत्त (सा मा) यह कहा है ।

इसप्रकार—आग्नीध्र क द्वारा आनीयमाना उपसर्जनी को अध्वर्यु दक्षिण हाथ मे रक्त्त हुए पवित्र से— पवित्राभ्या प्रतिगृह्णाति 'समाप इति' (का श्रौ २।५।१३) क अनुसार— 'ओ समापऽओषधीभि समोषधयो रसेन सरेवतीर्जगताभि पृच्यन्ता सम्मधुमतीमधु-मतोभि पृच्यन्ताम्' (१। १। य) यह मन्त्र बोलता हुआ पवित्र से उपसर्जनी आप का ग्रहण करता है ।

ता पत्र्य यही है कि—आग्नीध्र 'स्फ्य' को सयहस्त मे ग्रहण कर अधिश्रित उपसर्जनी को ठंडा कर अध्वर्यु क दक्षिणभाग से लेकर पिष्टपुरोडाश के उपर पवित्र युक्त अध्वर्यु के हाथ पर डालता है । इस निनयनकाल मे अध्वर्यु का हाथ पुरोडाशपात्री के उपर रहता है । आग्नीध्र को चाहिए कि वह इसप्रकार निनयन करे जिससे कि मन्त्रान्त मे उपसर्जनीका प्रतिग्रहण सम्पन्न हाजाय ।

(उपत्रयुक्त मात्र का रिभागश अर्था करती हइ श्रुति कहती है) ओषधिरूप इन पिष्टों के साथ ये उपसर्जनी आप सङ्गत होरही है । एव ओषधिरूप ये पिष्ट पुरोडाश इस रस के साथ सङ्गत होरहे है । पानी ही इन ओषधिया का रस है । पानी रेवत्य है ओषधिया जागत्य

* कितने ही आचार्यों के मतानुसार ग्राह्यय में श्रपण होता है ए । कितने ही आहवनीय को श्रपणाग्नि समझते हैं । उभयथा वेदिमय में ही अत्रयु को ठेठना चाहिए । पर तु कायायन इनमें विक्षल्प मानते हैं ।

× उपसर्जनीयाभि वस व्युपति से पिष्ट पुरोडाश को मिलाने के लिए जो पानी लिया जाता है वह उपसर्जनी नाम से प्रसिद्ध है ।

है। ये ही दोनों (आप ओषधि) परस्पर मिल जाते हैं। 'सम्मधुमती' इत्यादि से रसवती आप - रसवती ओषधियों से मिले' यही कहा गया है ॥२॥

अनन्त—'सयोति 'जनयत्यै त्वे ति' (का श्रौ सू २।१।१४) क अनुसार अग्न्यु—'जनयत्य त्वा सयामि' (य १।२) यह मन्त्र बोलता हुआ पिष्टपुरोडाश को सिकत उपसजनी आप से मिलाता है।

जिसप्रकार यह प्रजा यजमान की श्री' के लिए एव 'अन्नादि' के लिए अनुगत हा इसीप्रकार से अग्न्यु उपसजनी आप को पुरोडाश क साथ मिलाता है इस पिष्ट पुरोडाश क श्रपणाग्नि में अधिश्रयण करता हुआ ही अध्वय्यु उपसजनी आप मिलता है जिस अधिश्रत पुरोडाश अग्नि क साथ युक्त होकर नवीन (आहुतद्रय) रूप से उपन्न हो तदनु रूप ही यहा सयवन (सम्मिश्रण) कम्म किया जाता है। ताप्य यही है कि नवीन प्रजनन के लिए यहा उपसजनी का पुरोडाश क साथ मेल कराया जाता है। इसी प्रजननभाव को दृढ करने क लिए 'जनयत्यै त्वा सयामि' इस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है ॥३॥

मिश्रणानन्तर-अध्वय्यु यदि प्रकृतेष्टि में दो भाग होते हैं तो 'सम विभज्यासहरि प्यन्नालभत इदमग्ने' 'रिदमग्निषोमयो' रिति' (का श्रौ सू २।१।१५) क अनुसार उदकयुक्त पिष्टपुरोडाश को दो भागों में विभक्त करता है। पौर्णमासेष्टि में दो ही हवि होते हैं। (यह पौर्णमासेष्टि है इसमें अग्नि-अग्निषोम भेद से नो देवता प्रधान है)। अत आहुति द्रयरूप हवि को दो भागों में ही विभक्त करना उचित है यही तात्पर्य है। इसप्रकार सयुत पिष्ट द्रय को समान पिष्ट बनाने के अनन्तर आगे जाकर जिस समय इन विभक्त दोना हवियों को परस्पर न मिलानेवाला ही उस समय (अर्थात् एक बार विभक्त किए बाद पुन इस विभक्त द्रय को न मिलाने का निश्चय होजाने के अनन्तर) अध्वय्यु—इदमग्ने इदमग्नीषोमयो' ये दोनों मन्त्र क्रमश बोलता हुआ उसी क्रम से दोनों दाक्षिणस्थ-उत्तरस्थ पिष्टों का स्पर्श करता है। हविग्रहणकाल में ऋविग्वगण हविर्दानशकट से देवताभेद के अनुसार प्रथक् प्रथक् करके ही हविग्रहण करते हैं प्रथक् प्रथक् गृहीत हविद्रय को एकसाथ कूटते हैं। पुन एकसाथ ही उसे पीसते हैं। आज (सपन्न होने क अनन्तर) पुन उसे दो पिष्टों में विभक्त कर प्रथक भावापन्न बनात हैं। इसी प्रथग्भाव को दृढमूल बनाने के लिए पूर्वोक्त भिन्न भिन्न मन्त्रों से प्रथक् प्रथक् दोनों पिष्टों का स्पर्श करता है।

अभिमर्शनानन्तर (एक ही समय में) यह (अध्वय्यु) पुरोडाश को श्रपणाग्नि पर रखता है एव वह (ब्रह्मा) आज्यनिर्वाप करता है। अर्थात् अधिश्रयण-आज्यनिर्वाप, दोनों कम्म

एकसाथ होत हैं। वस्तुस्तु यहा 'एष' से अध्वय्यु का ही ग्रहण करना चाहिए न 'असा' से आग्नीध्र का ही ग्रहण करना चाहिए। ब्रह्मा तो यज्ञ का निरीक्षकमात्र है। अध्वय्यु का सह-चारी आग्नीध्र ही है। यही अथ सायणभाष्य-सम्मत है ॥४॥

इसप्रकार पूजाकृतानुसार अधिश्रयण और आज्यनिर्वाप एकसाथ कर देते हैं। सो जिस लिए कि य दोनों कर्म्म एक साथ करते हैं उसकी उपपत्ति (विज्ञान) बतलाता हैं।

यज्ञरूप आत्मा (यज्ञा मरु शरीर) का यह आधा भाग है जोकि आज्य है। आधा भाग इस यज्ञ में 'हविर्द्रव्य' होता है। सो जो वह (आज्य) आधा भाग है एतद् वह (पुरोडाश) आधा भाग है उन दोनों को (एक साथ) अग्नि से सम्बद्ध कर इसी ऋषि से पूर्वोक्त दोनों कर्म्म एकसाथ किए जाते हैं। ऐसा करने से इस यज्ञ का शरीर परस्पर समन्वित हो-जाता है ॥५॥

इसके अनंतर—'इषे वे त्याज्यमधिश्रयत्यय' (का ओ २।५।१७) के अनुसार आग्नीध्र 'इषे वा अधिश्रयामि' (अजु स १।२२) यह मन्त्र बोलता हुआ गाहपयस्वर ऋ मध्य में ऋषि की ओर स्थित अग्नि पर आज्यस्थाली (घृतपात्री) रखता है। वृषि के लिए ही आग्नीध्र ने कहा है जो कि उसने इषे वा कहा है। (आज्यस्थाली-स्थित घृत जब उष्ण हो जाता है तो) आग्नीध्र 'ऊर्जे वा उद्यासयामि' यह मन्त्र बोलता हुआ घृत को ठंडा करता है। बरसने के अनंतर बरसे हुए पानी से जो 'उर्क' नाम का रस उपन्न होता है उसी को लक्ष्य में रखकर—'ऊर्जे वा' यह कहा गया है ॥६॥

'इतिकृत्तयता' के सम वय के लिए प्रकृत में यह और समझ लेना चाहिए कि रजो-रूप प्रसजपीडा एतद्व्य किसी विशेष कारणवश यज्ञ में यदि यजमान पत्नी उपस्थित नहीं होती है तो एमी अवस्था में आहवनीय में श्रयण करने वाले यजमान को आहवनीयाग्नि में ही आज्या-श्रयण-कर्म करना चाहिए। यदि पत्नी साथ है तो आहवनीय में श्रयण होने पर भी गार्हपत्य में ही आयाधिश्रयण करना चाहिए। इसी व्यवस्था का निरूपण करते हुए महर्षि कायायन कहते हैं—

‘अपत्नीकस्य-आहवनीये तच्छ्रापिण’ (२।५।१८)।

ध्यान रहे—‘अपत्नीकस्य’ का अर्थ पत्नी की यज्ञ में अनुपस्थिति मात्र ही है। कारण कर्माचोर्त्ता के मतानुसार अविद्यमानपत्नीक यजमान का तो यज्ञ में सर्वथा अनधिकार ही है।

आयाधिश्रयणानन्तर- वम्माऽसाति पुराडाशो युगपत्' का आ २।५।१६) के अनुसार 'ध माऽभि विश्वायु' (१) यह मन्त्र बालता हुआ आग्नीध्र एवं अध्वर्यु एकसाथ आग्नेय एव अग्निपामाय पुरोडाश का अग्नि पर रखते हैं। अर्थात् पश्युक्त मन्त्र जोलता हुआ अध्वर्यु तो आग्नेय पुराडाश रखता है एव आ नीध्र (सायसाय ही) अग्नाग्नेमाय पुराडाश रखता है। जिस प्रकार सोमयज्ञ में धम्म' का प्रवृत्त करें उसे ही इस ऋषि म धम्मतुल्य पुरोडाश का विभक्त करते हैं। एवशायु कहता हुआ अध्वर्यु पुराडाश म आयु हा प्राप्त करता है ॥७॥

अनन्तर 'उरुप्रथा इति प्रथयति यावत् कपालमनतिपृथुम् (आ आ सू १५।१) के अनुसार पूर्वोक्त क्रम से विभक्त आग्नेय अ नीध्रमीय पुरोडाशा का अध्वर्यु आग्नीध्र 'उरुप्रथा उरु प्रथस्य उरु ते यज्ञपति प्रथताम् (१) यह मन्त्र बालत हुए एव एव पुराडाश का कपाल म फैलाते हैं। कायायनने— अनतिपृथुम् कहा है। तापस्य इसका यही है कि— 'तन्न सत्रा पृथु कुर्यात् अश्वशफमात्र कुर्यादित्युक्त आहु (श १।२।१६।१) इस श्रौत-सिद्धांत के अनुसार अश्वशफ के परिणाम से ही पुरोडाश के प्रथन का आदेश दे। यथमान यज्ञपति है। उसी के लिए उरु प्रथताम् यह आशा मागते हैं ॥ ॥

पूर्वोक्त— अन तप्रथुम् भाग को लक्ष्य म रखकर ही श्रुति कहना है—उस पुराडाश को एकसाथ ही प्रथुन करने। यदि ऋत्विक् पुरोडाश का सवथा प्रथन करेगा तो वह (द्वि-ययज्ञ म) मानुष (कर्म) करेगा। वह यज्ञ की यात्रा (सम्पत्तिनाश) है ताकि मानुषभाय है। हम (अपने द्वि-ययज्ञ में) यद्धिन कर बैठ इसलिए एकसाथ विना अधानता म मनमान परिणाम से पुरोडाश को नहीं फलाना चाहिए ॥६॥

फिर कितना फलाना चाहिए? इस विषय में कितनी ही (तत्तिराय) आचार्या का मत है कि घोड़े के खुर के परिणाम से उसे फलाना चाहिए। इस पूर्व मत का निराकरण करती हुई शतपथश्रुति कहती है कि—'घोड़े का खुर इतना बड़ा है' यह कोन जान सकता है। अर्थात् अश्वशफ की इयत्ता का यथायत् ज्ञान हो। कठिन है। इसलिए ऋत्विक् को चाहिए कि वह अपने विचार से पुरोडाश को मर्यादा से अधिक फैलाने समझ नहीं तक फैलाने ॥१॥

अनन्तर— 'अग्निष्ट इत्यदभिरभिमृशात् सकृत् त्रिर्वा (का १।५।१) के अनुसार विभक्त स्व स्व पुराडाश का अध्वर्यु आग्नीध्र सोदक हस्त से पुराडाश म चारों ओर से एकबार अथवा तीन बार स्पश करते हैं। सा ताकि ऋत्विगण इसे दूटने हुए पासते हुए नो

इसका भाग क्षीण कर देते हैं विशीण कर देते है (पानी शान्ति है) अत शांतिरूप इन पानियों से ऋस (क्षीणभाग) का पुन सवान ही करते है । इसी प्रयोजन क लिए 'अभिमर्शन' करते है ॥११॥

अभिमर्शन क्यों किया जाता है ? इसकी उपपत्ति बतलादी गई । अब आवृत्त (पद्धति) बतलाते हैं—

वह अ वय्यु ओर ऋत्तिक्—अग्निष्ट त्वच माहिंसीत' (१।२२) यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश क चारों ओर जल का सम्बन्ध करते है । आगे जाकर यह ऋत्तिक् म पुरोडाश का चारों ओर से अग्नि मे तपावेगा । उसी अवस्था को लक्ष्य मे रखकर कहते है— हे पुरोडाश ! आपकी त्वचा को अग्नि न जलाडाले ॥१२॥

अभिमर्शनानंतर—'प र्गिनि करोत्यन्तरिक्ष रक्षोऽ तरिता अरातय इति सहाज्यम्' (का श्रौ २।१।१२) क अनुसार (गाहपत्याग्नि मे से प्रज्वलित अङ्गार लाकर) अध्वय्यु — 'अ तरिक्ष रक्षोऽतरिता अरातय यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश क चारों ओर उसे फिराता हुआ पुरोडाश को अग्नि से छिद्रित करता है । ऐसा करता हुआ अ वय्यु अग्नि से अछिद्रित ही पुरोडाशका ग्रहण करता है । नाष्टा औ राक्षस इसका स्पर्श न करल अग्नि राक्षसों का अपहृता है । इसलिए इसे पय्यग्नि करते है ॥१३॥

पय्यग्निकरणानंतर दग्धाङ्गार को गाहपत्य मे प्रक्षिप्त कर अप-उपस्पर्श कर—'देवस्य त्वेत् श्रपणम् (का श्रौ २।१।२३) के अनुसार—'देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्टेऽधिनाके' (१।२२) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वय्यु क्रमश प्रथम-द्वितीय पुरोडाश का परिपाक करना है । इस (दिव्यान्नस्वरूप) पुरोडाश का श्रपयिता मनुष्य नहीं है । वह श्रपयिता तो देव है । सविता देव ही इसका परिपाक करते है । वृद्धतम स्वर्ग मे सवितादेवता तुम्हारा परिपाक करै इससे पुरोडाश को देवत्रा (देवाधीन दिव्यसम्पत्) बनाते हैं । श्रपणानंतर— 'माभेरित्यालभते' (का श्रौ ० सू १।१।२४।) क अनुसार यह परिपाक हुआ कि नहीं यह जानने के लिए पुरोडाश का स्पर्श करता है । श्रपणानंतर स्पर्श क्यों किया जाता है ? इसकी उपपत्ति बतलादा गई । अब पद्धति बतलाते ॥१४॥

वह अध्वय्यु — 'माभेर्भा सविक्था' (१।२३) यह मन्त्र बोलता हुआ एक पुरोडाश का स्पर्श करता है । अमानुषरूप आप को (पुरोडाश को) म मनुष्य छूता हूँ इस से आप मत डरिए मत कम्पित हो यही मन्त्राथ है ॥१५॥

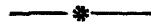
अभिमशानान १२— अतमरुरिति श्रुतावभिवासयति भस्मना वेदेनोपवेशण वा (का श्रा १५ ५) क अनुसार अ वय्यु श्रुत पुरोडाश को साङ्गार भस्म से आच्छादित कर देता है। ऊपर से राक्षस असुर इमे न देखल नग्न की भाँति चोरादि से मुषित की भाँति यह न रक्खा रहे इसलिए आ छादित करते हैं ॥१६॥

पुरोडाश को आच्छादित क्या किया जाता है? उसकी उपपत्ति बतलानी गई। अब पत्ति बतलाते हैं—

वह अ व-यु- 'अतमेरुर्गज्ञोऽतमेरुर्गजमानस्य प्रजा भूयात् (१२३) यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश को साङ्गार भस्म से आच्छादित करता है। पुरोडाश क साथ साथ ही यज्ञ और यजमान भी आच्छान्ति न होनाय इसलिए 'अतमेरु' न्यायि रूप से आच्छादित करना है ॥१७॥

अभिवामनान तर— पा यगुलिप्रक्षालनपात्रभ्यो निनयत्यभितप्य प्रत्यगसस्यन्दमान त्रिताग त्वे' ति प्रतिमत्रम्' (का श्रा मू १५ ६) क अनुसार पात्रीनिर्घोजनकम्म करते हैं। अगुलिप्रक्षालित तल को आप्त्यादेवता क लिए डालते हैं। सा जिसलिए कि आप्त्यों क निनयन करते हैं उसकी उपपत्ति (आग के ब्राह्मण मे) बतलाने हैं ॥१८॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का द्वितीय ब्राह्मण एव प्रथमप्रपाठक का छठा ब्राह्मण यहाँ उपरत प्रथम-प्रपाठक समाप्त



(भाष्य)—आहुति के लिए पुरोडाश सम्पादन करता है। तत्र कृष्णमृगचम्म पर प्रतिष्ठित पाषाणमयी दृषत् (सिला) पर उपल (लोदी) से हविद्रव्य का पेषण हाचुका है। साथ ही पिष्ट हवि में महीना पयोऽस इस अनिरुक्त यजुमन्त्र से आयनिर्वाप क लिया गया ह। अत्र आययुक्त म पिष्टद्रव्य का पारपाक कर इसे पिण्डरूप में परिणत कर आहुत के आय बनाना है। प्रकृत ब्राह्मण म इमी विषय का निरूपण है। पिष्टद्रव्य को पिण्डरूप में परिणत करने के लिए आज्या क म का अधिष्ठाता अ वय्यु दमयुक्ता पात्री में पिष्टद्रव्य को प्रतिष्ठित कर देवस्य त्वा न्याद मत्र बालता हुआ सवापकम्म करता है। १।१।१ ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य असत्यसहित हाता हुआ सत्यसहित (सत्यानुयायी) देवताओं से विभिन्नधर्मा है। देवप्राण ही देवप्राण के साथ सम्बन्ध कर सकता है। नसी दव्यभाव का प्राप्ति के लिए अ वय्यु को देवस्य वा सवितु यह कह कर ही सवापकम्म करना पडता है।

लोकमर्थ्यादानुसार सजातीय को बधु कहा जाता है। सजाती से प्रकृत म सगात्री ही अभिप्रत समझना चाहिए। शुक्र में चाद्रसोम प्रतिष्ठित रहता है। चद्रमा मे रेत म। यश ये तीन त म प्रतिष्ठित रहते हैं। शुक्रगत चाद्र श्रद्धारस ही सगोत्री को अपने सूत्र (श्रद्धासूत्र) से बन् रखता है। आशौच की प्रतिष्ठा स्वरूप इसी श्रद्धासूत्र से सगोत्री परस्पर बद्ध रहत है। अत सी श्रद्धात्र धन के कारण इह बधु (बधनात्-बधु) कहा जाता है। बधु श्रद्धा के द्वारा म यरु रूप से ब अनयुक्त रहता है अतएव इस स ब धी भी कहा जाता है। हविग्रहण करते समय त्रेयस्य मा सप्रितु इयादि मत्र का प्रयोग किया जाता है। उहा विस्ता से समत्र का वज्ञानिक म बतला दिया गया है। प्रकृत मे उसी मत्र स आज श्र मयु सवापक म करता है। वह श्रार प्रकृतमत्र दाना एक दूसरे के बनु है। सम्बधी है। जो तापय्य उस का था वही तापय्य समत्र का है। अमा श द विप्रकृष्टाथ का सूचक है। इस प्रकृत यजु मत्र का बनु वही हविग्रहण का मत्र है—यही नि कष है ॥१॥

पिष्टद्रव्य का पात्री म समाप करक (पात्री में पि ट य डालकर) श्र वय्यु वदि के म यभाग म बठ जाता है। उधर आशीध्र नाम का ऋत्विक् समाप ओपधीभि इयदि मत्र बालता ह्मा पिष्टद्रव्य मे—उपसजनी डालता है।

भिन्न भिन्न कर्मों के लिए यज में भिन्न भिन्न पानी नियत रहते हैं। व प्राक्षणी—मत्यन्ती—स्रती—उपसजनी म यदि भिन्न भिन्न नामा से प्राप्त है। वह पानी जा श्राषधिया मे प्रविष्ट हाकर उह रसयुक्त बनाता है—उपसजनी नाम स प्रमित है। बिना रसरूप पानी के समवय के ओपधियों का परिपाक नहा होसकता। आपको यान रखना चाहिए कि जब जौ की धानी बनाई जाती है ता पिले जा को पानी में भिगे दिया जाता है। यदि मकान बनाते समय पानी का अधिक प्रयोग किया जाता है तो मकान अधिक दृढ होजाता है। पानी के स म ध से अग्नि ओज ठ बाल ठ उनता हुआ उस वस्तु में अतिक दता से प्रातष्ठित होजाता है। रोटी के परिपाक के लिए पहिले चूण (चून) को पानी से समवित करना पडता है। अग्नि को श्र तथ्यामसम्बन्ध से पकडने की शक्त एकमात्र पानी म ही है। स्वय अग्नि भी ता पानी ही है। पृथिवी से सूर्य की ओर जाने वाला पानी ही अग्नि किंवा अङ्गिरा कहलाता है एव सूर्य से पृथिवी की ओर आने वाला पानी ही पानी कहलाता है। अङ्गिरा भी पानी है शृगु भी पानी है।

आपो श्र अङ्गिरारूपमापो श्र अङ्गिरोमयम यह निम्न त सबप्रित्त है। अङ्गिरा की प्रतिष्ठा शृगु है तो शृगु की आश्रयभूमि अङ्गिरा है। यदि किसी पदाथ में आप अग्नि त व प्रतिष्ठित करना चाहते ह तो पहिले वहा आपको पानी का ही स व व कराना पडगा। अयस्कार (गुहार) लोहखण्ड (छीणी वगरह) मे अग्नि प्रतिष्ठित कर उसे दृढ करना चाहता है। परन्तु इस दृढता के लिए उसे बार बार उस लोहखण्ड को पानी म डुबोना पन्ता है। उसे अग्नि का प्रवश कराकर लोह को तरल बनाना है। इस अग्निप्रवश के लिए पानी का सम्बन्ध करागा नितात अपेक्षित होजाता है। यही अवस्था श्र या म—यज्ञ की है। वैश्वानर (जाठराग्नि—अपणाग्नि) मुक्तान्न का परिपाक करने के लिये तन्नतक सर्वथा असमथ है जन्नतक की पानी का उसके साथ सम्बन्ध न करा दिया जाय। अन्नाहुति के साथ ही पानी की आहुति देना भी परम आवश्यक है। बिना इस के जाठराग्नि अन्न में प्रतिष्ठित नहीं होसकता। दूसर श दों में—बिना पानी के जाठराग्नि अन्न के परिपाक में कभी समथ नहीं होसकता।

अग्निना इता वृषमुत्तरयति मरुत सद्यत्रयति तस आत सन्तान्त क अनुसार अङ्गिरा-
अग्नि के द्वारा भूपिण्डस्य पानी अतरिन् म चला जाता है। वृष नाकर वायु म प्रतिष्ठत होजाता है।
यही ग्रीष्ममाल है। अ म-अतु म भूमाल पर पानी का अभाव रहता है। कारण यहा पाथिव पानी
उपयुक्त सद्वात के अनुसार अतरिन् वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहता है। आग्नत व पानी के सम्बन्ध
स तीव्र होजाता है। यहां कारण है कि अता क्षस्थ युगत पानी के म प्रव से ग्रीष्म में सोर रश्मिया
आतप्रखर बनती हुं ग्रीष्म-अतु की जननी बन जाता है। स्नानोत्तर शारीराग्न अविक प्रज्जगित हाजाता
है यह सर्वाभूत लषय है। इसीलिए अनियज (दैनिक भाजन) के सम्बन्ध म—हाथ पर इन्द्रियों
आग्नि के साथ नल के सम्बन्ध कराने का आदा है। प्राणाग्नि का आत करने के लिए ही भोजन
क आत्यत म आचमन का विधान है।

भातिक जगत् मे भी आप म स्थिति का साक्षात्कार कर सन ह। एज्जन मे ज्वतक पानी
न ाला जाता त्वतक तत्र आग्न कभी वा परूप म पाणत न ाहामता। अमीम-भार का वहन
करना आग्न का सामय अवश्य है परतु आन म यह सामय पानी म ही आता है। ओषधि-वनस्प-
तियो का सारतेन स एव भूगभ म अग्नि स पारपाक त्वतक स था अस भव है ज्वतक कि उनके साथ
पानी का सम्बन्ध न करा दया जाय। सप्रकार उक्त कुछ एक उरण सय भलीभाति सिद्ध होजाता है कि
पानी हा अग्नि की प्राण-ठा है। शरीरजल अग्निसत्ता पर ही प्रतिष्ठित है यह ठीक है। परन्तु अग्नि की सत्ता
पानी पर ही प्रतिष्ठित है अतएव बलयान को अनिमान्न कहकर पानादार ही कहा जाता है। आज
अ वयु को पिष्ट्रय म परिपाक-क्रिया क द्वारा अग्नि प्रातष्ठित क न है। बिना पानी के अग्नि प्रतिष्ठित
हा नही सकता। अतएव श्रपणकम्म से पहिले उपसचनी नाम क पाी का पिष्ट्रय के साथ स बन्ध कराया
जाता है। न नालासत म त स प क्त क म क्रिया जाता है—

‘समाप ओषधीभ ममोषवयो रसन । स रेभता गतीभि पृथय ताम् ।
सम्मधुमतार्मधुमतीभि पृथय ताम् ।’

—यजुस १।२१।

उपसर्ना नामके पानी (पिष्ट्ररूप ओषधिया क साथ भलीभाति मिल एव साथ ही (पिष्ट्र)
ओषधिया रसरूप उपसर्नी पानियाके साथ भलीभाति सगत हों। रजती नामसे प्रसिद्ध पानी
जगती नामसे प्रसिद्ध ओषधिया के साथ सम्बन्ध प्रकारसे एकाभूत हा मधुमती पानी मधुमती
(मधुररसजती) ओषधियों के साथ मिों मत्रका यही अक्षराथ है। पानीका मिलाने की आवश्यकता
क्यों हुं ? इसकी उपपत्ति पूव में बतलादी ग। अब केवल रस रजती मधुमती न शब्दों के अर्थोंका
विचार करना है। पानी को ओषधियों का रस बतलाया जाता है। प्रत्येक वस्तु की स्वरूपास्थिति के लिए
रस और शुक्र नाम के दा तन अपेक्षित होत हैं। रस और शुक्र के समन्वयसे ही पदार्थ का स्वरूप
बनता है। रस तरल न्य है शुक्र घन न्य है। रसत व सोमप्रधान है शुक्रत व अग्निप्रधान है।
सौम्य रस योषाप्राणमय है आग्नेय शुक्र वृषाप्राणमय है। योषावृषा मक रम-शुक्र के मिथुन से ही विश्व के
सम्पूर्ण पदार्थों का स्वरूप बना हुआ है। प्रत्येक वस्तु म आमा पिण्ड के दा भाग उपलब्ध होते हैं। आमा

पिण्ड का सञ्चालक है एतत्पिण्ड आत्मा का आयतन है। आत्मा भाग रम है पिण्डभाग शुक्र है। रम भाग तरल होने से अनस्ता नाम से यवहृत होता है पिण्डभाग अस्थिमत् क जाता है। अनस्थिमत् (बिना हड्डीवाले) रसरूप आत्माने अस्थिमत् (हड्डीवाले शुक्रभाज से सम्पन्न) पिण्ड को अपन उपर प्रतिष्ठित कर रक्खा है त्सी आधार पर वदपुरुष कहते हैं—

को ददर्श प्रथम जायमानमस्थव त यदनस्था विभर्ति ।

भूम्या असुरसृगात्मा कस्मिन्को विद्वासमुपगात्प्रष्टुमेतत ॥

ऋक्स १।१६४।४।

रस ही सत्त्व पदार्थ का आत्मा है। इसी आधार पर— रसो ज स — यायानु त्रै रसस्तायानात्मा (शतपथ का) यह कहा जाता है। इसी रस शुक्र को याज्ञिक पारभाषा में आज्य प्रष्टु कहा जाता है। आत्मा य आत्मा है पृष्ठ पिण्ड है। रसरूप आत्मा एव शुक्ररूप प्रष्टु से ही वस्तु का स्वरूप निष्पन्न होता है।

ओषधियों में भी ये ही दो तत्व प्रतिष्ठित हैं। अग्नि इन ओषधियों का शुक्र है पानी (तद्गत सोम) रम है। यही रस इनका जीवन है। सोमरूप रस जीवनप्रद रसभाग के कारण ही पानी को अम करने जीवन शब्द से यजहृत किया है। रस ओषधियों का आत्मा बनता है अग्नि से पिण्ड बनता है। दूसरे शब्दों में रस इनका आत्मा भाग है शुक्राग्नि प्रष्टुभाग है। रस के बिना इनका जीवन असम्भव है। इसी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर प्रकृत में पानी को ओषधियों का रस (आत्मा) कहा है। आपा ह्येतासा रस का तापस्य आपो ह्येतासामात्मा यी है।

अवतरक के भाग—सदमों में यत्रतत्र प्रासङ्गिक—रूपे निर्दिष्टा ब्रह्मविज्ञानसन्धिनी गुहनिहिता परिभाषाओं से परिचय प्राप्त करने वाले विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विवाद होगया होगा कि ईश्वरशरीर सस्था के स्वयम्भू परमेष्ठी मन्थ्य प्रथिणी चन्द्रमा—ये पाच पर्व हैं। इन्हीं पाच पर्वों के कारण षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अथेश्वर अश्वमूर्ति की एक शाखामूर्ति पूर्वोक्त पञ्चपर्वा विश्व पञ्चपुण्डरीका प्रजापत्य बल्शा नाम से प्रसिद्ध है। साथ ही य भी सुनिश्चित ही होगा कि स्वयम्भू प्राणमय है परमेष्ठी आपोमय है सूर्य षोडशमय है प्रथिवा अन्नान्मयी है एतच्चन्द्रमा अन्नमय है। ये पाँचों ही स्वतन्त्र प्रजापति हैं। इन पाँचों में परमेष्ठी सूर्य प्रथिणी चन्द्रमा—इन चारों समहिम पिण्डों को अपने महिमामण्डल में प्रतिष्ठित करने वाले आप्तप्रजापति स्वयम्भू—आभूप्रजापात नाम से प्रसिद्ध हैं। एव शेष चारों इन्हीं के प्रतिमान बनते हुए प्रातमाप्रजापति नाम से (ब्राह्मणग्रन्थों में) प्रसिद्ध हो रहे हैं।

प्रत्येक प्रजापति आत्मा—पद पुन पद भेद से विसृष्ट है। अस्तुक्रमात्मा है वस्तुपिण्ड (जो कि विज्ञानगत में स्पर्शपिण्ड नाम से प्रसिद्ध है) पद है। यही क्योंकि आत्मा प्रपन्न होता है अतएव प्रपन्नो भवति आत्मा यत्र इम युपत्ति से तसे पद कहा जाता है। पिण्ड से बाहिर निकल कर बड़ी दूर पयन्त अपना मण्डल बनाने वाला महिमामण्डल ही पुन पद कहलाता है। आत्मा मर्मित पिण्ड अग्नीषोमा मक है। तसे यह भी सिद्ध होजाता है कि महिमा किंवा विभूति—स्वरूप पुन पद में भी ये ही दो तत्व (प्राणा मक) प्रतिष्ठित है। पुन पद की आधारभूमि केन्द्रस्थ बही मन —

प्राणगर्भित वाडमय आत्मा है। हृदयस्य अतएव अनिरुक्त नाम से प्रसिद्ध मन प्राणवाडमय प्रजापति ही पुनः पदमव्याप्त होता हुआ सर्वप्रजापति नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

हृदय की अपेक्षा से वही अणारणायान् है एव पुनः पद का अपञ्च स वही महतो महीयान् है। सर्वप्रजापति के वाग भाग से ही पुनः पद ऋषट्कार नाम से प्रसिद्ध है। प्रसङ्गागत ऋषट्कार का स्वरूप भी जान लेना सामयिक ही होगा।

मन ज्ञानशक्तिधन है प्राण क्रियाशक्तिधन है एव वाक्तत्त्व अथशक्तिधन है यह पूर्वप्रकरणों में अनेक बार बतलाया जा चुका है। मन प्राणवाग रूप ज्ञान-क्रिया-अथ की समष्टि ही आत्मप्रजापति है। विश्व के समष्ट्यात्मक यष्ट्यात्मक दोनों प्रकार के पदार्थ ज्ञान क्रिया अथ मय हैं। प्रयत्नदृष्ट चरप्रधान भूतभाग अथ है। तदवाचक पद के साथ नियम सम्बद्ध होने के कारण यह अथ-अथ शब्द से व्यवहृत न होकर पदार्थ शब्द से व्यवहृत होता है। प्रत्येक पदार्थ अचरप्रधान प्राणभाग से नियम आक्रान्त रहता हुआ क्रियामय है। अवस्था परिवर्तन की आधारभूमिस्वरूप क्रिया ऋषट् (निरिन्द्रिय पदार्थ) एव चेतन (सिद्धिय पदार्थ) अन्भिन्न सभी पदार्थों में देखी जाती है। ससार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो किसी न किसी क्रिया से नियम आक्रान्त न हो। नहि कश्चित् क्षणमाप जातु तिष्ठत्यकम्भृत् यह अप्रतिहत सिद्धांत है।

साथ ही यह भी एक अनिर्वृत सिद्धांत है कि बिना ज्ञान के कोई क्रिया नहीं हो सकती। क्रियातत्त्व नास्ति-अस्ति नास्ति (अयक्त-यक्त-अयक्त) मद से निष्पन्न होता हुआ क्षणिक है नास्तिसार है ऐसी अवस्था में क्षणिक क्रिया की प्रतिष्ठा तब तक संभव है जब तक कि उसका आधार को अक्षय निष्क्रिय धरातल न मान लिया जाय। वही निष्क्रिय धरातल अयय प्रधान मनोमूर्ति [श्वोवसीयसमनोमूर्ति] ज्ञानतत्त्व है इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में ज्ञान (श्वोवसीयस नाम से प्रसिद्ध अययमन) क्रिया (अक्षरप्राण) एव अथ (चरप्रधाना वाक्) की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एक एक व्यक्ति मन प्राणवाडमय प्रजापति की अभिप्रकृति है। आत्मप्रजापति की अभिप्रकृति ही तत्त्व पदार्थ का अययकीभाव है। ययकीभाव ही अययक्ति (पदार्थ) की प्रतिष्ठा है। एक एक अययक्ति (उपाधिदृष्ट्या) एक एक प्रजापति है। इसी प्राजापत्य विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“प्रजापते न त्वदता यन्यो विश्वा जातानि परितामभूव ।

यत् कामास्ते जुहुमस्तनो वयस्याम पतयो रयीणाम् ।

प्रजापतिस्त्वेवेद सर्व यदिद किञ्च इत्यादि ॥”

प्रजापतिरूप आत्मा केवल साक्षी है। सृष्टि करना अक्षरप्रधान देवताओं का ही कार्य है। इसी आधार पर देवेभ्यश्च जगत् सर्व चर स्थाण्वनुपूर्वशः (मनु स्मृत) यह कहा जाता है। सृष्टि के अधिष्ठाता देवताओं में से ब्रह्मा विष्णु इन्द्र (पुराणपरिभाषानुसार-शिव) ही सृष्टि के सञ्चालक हैं।

ब्रह्मतत्त्व ज्ञानप्रधान है विष्णुतत्त्व अथप्रधान है एव इन्द्रतत्त्व क्रियाप्रधान है। क्रिया एव अथ (भूतसङ्घ) की प्रतिष्ठा ज्ञान है। जब तक हमारे क्रियायमय शरीर में ज्ञान-(चेतना) सत्ता

प्रतिष्ठित हती ॐ तमीतक क्रिया (कम) एव अत्र (भूतसङ्घ) स्ववरूपमसुराज्ञा रहते ह। ज्ञान [ज्ञानघन चतय कि। आमा] के उक्तात् होजाने पर शरीरकम और सम्पूर्ण भूत भिन्नात् होजाने है। त्मी आधार पर ज्ञानघन ब्रह्म के लिए—ब्रह्म व अस्य प्रतिष्ठा यह का जाता है। स ताका पर आमा के ज्ञानघन मनोभाग का अनुग्रह २। क्रिया गति ३। गतत य सान्नात् द्र है। तलवति एकमात्र द्र ना ही वम है। इसी आधार पर—या च का च बलवृत्तिरिन्कम्भैव तन् [या निम्क] य का जाता है। सदागातध मा वायु इद्रत व से अविनाभूत है। यो व प्रायु स त य त्त स प्रायु [शत ४।१।३।१६] के अनुसार दोनो आभन । इसी आधार पर हम इद्र का क्रिया का अधिष्ठाता मान सकते है।

पञ्चकाग्नियों के अनुसार पाञ्चभौतिक शरीर वाक्मयकोश है। वाकत व ही उत्तरोत्तर होन वाणि बलप्रक्रियों के कारण क्रमश आकाश प्रायु तेज जल मृत् तन पाच भूतो मे परिणत होा है। पञ्चभूतसमाष्ट ही वागब्रह्म है। महर्षि तात्परिने त्से ही अनब्रह्म माना है। पाञ्चभौतिक शरीर इही पाचा भूतो का जोकर जावत है स्वस्वरूपम प्राता टत । जो गहू आद ओषधि वनस्पतिया मिट्टी ह। पानो हमार अ न । पानी हा तो ओषधयो ना रम है जनाकि पूव म बतलाया जाचुका है। न केपव आ। [अ न] हमें वृत्त न सकती न पानी। आपतु दाना के सम वय स ही हमारी पूण वृत्ति हाती है। च। विज्ञान जो तदय मे स्पकर प्रात क ती है—

‘तस्मादोषप्रय केवल्या खादिता न धिन्वान्त, ओषणा उ हापां रस । तस्मा-
दाप पीता केवल्या न धि वा त यदवोभ । ससृष्टा भवति अथेव धि वर्ति’ ।

—शत ३।६।१। ।

ज्ञानप्रशाम का प्रतिष्ठा वायु हमार अ न है। त्मीप्रमा तज [प्रकाश] भी हमार अ न है। याजव मय के कथनानुमार परुष पञ्च याति है। आमसत्ता के लिए स्य्य चत अग्नि (दीपक आदि) जाक् (शान्) आ मा इन भाग यातया में से किमी एक न एक याति का मिलना परम आवश्यक है। दुना प्रश या पा मा का ती अ म न जाता है तो आमा तम से आवृत होता हुआ शरीर से उक्ता न गेजाता है आकाशगुणक श ती हमार अ न ह। निस्त ध शू य प्रदेश में भी सनम्नाहट रहती ह। ऐमा को प्रने न नी ज। आमा श दामा आकाशा न से रहित होजाय। त्सप्रकार पाँचो अ न हमार हृदि (आधुति) य ह। जबतक हृदय म वि शात्वता प्रति टत रहत है तमीतक अ नब्रह्म (अर्थप्रदान शरीर) सुरक्षित रहता है। अनादान क द्वारा ही आगातवम्मा मूर श दो में आदान के अधिष्ठाता विष्णु पता पालक रहलात ह। अतएव विष्णु को हार्गान अनकाश) का देवता माना जाता है। त्रैलोक्य हिं हृदिर्धानम् (श ३।५।३।१६) यानगम प्रसिद्ध ही है। त्मी आधार पर हम विष्णु को अनरूप अशाक्त का अधिष्ठाता मान सकते ह।

ब्रह्मा विष्णु इ त्तीना देवता क्रमश मनोमय अथमय त्रियामय है। तीनों का मसु चय ही एक एक मूर्ति (मूत्तद्रय पदात्र) है। एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा यह प्रसिद्ध है।

मनोमयी ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित इन्द्र और विष्णु म स्पर्द्धा होती रहती ह । एक अनानान के द्वारा शरारसस्था को प्राता त बनाता रहता ह तो दूसरा स्वविद्येपणशक्ति से आगत अ न को निबाल कर प्रतिष्ठा को उच्छिन करता रहता ह । ऋषी इन्द्राविष्णु की स्पर्द्धा स प्रतिज्ञात वषट्कार का ब म होता ह । सी रहस्य का निरूपण करत हुए वदपुरुष कहते ह—

उभा जिग्यथुर्न पराजयथ न पराजिग्ये कतरश्च नना ।

इ द्रश्च विष्णो गदपस्पृधथा त्रधा महस्र त्रितदैरयथाम् ॥

—ऋक् स ६।६६।८

व तीन साहस्रिया कौनसी है ।जनका उत्गम त्द्राविष्णु की स्पर्द्धा से हुआ ? मका समाधान करते हुए ऋषक ते ह—

किं तत सहस्रमिति—२म लोका इमे वेदा अथो वागिति त्रयात्

—ते ब्रा ६३५ -नि

द्राविष्णु की स्पर्द्धासे ह यस्थ त् यम् रूप त्रिष्णु त् ब्रह्मा तानो पद (पिरन्) सस्थासे उक्रा न होकर उपयुक्त तीना साहस्रियाक त्मदाता बनत ह । प्राणमूर्ति ब्रह्मा वदसाहस्री क अधिष्ठाता ह आपोमय त्रिष्णु लाकसाहस्रा के त्मदाता है एय वाडमय इत् त्रकसाहस्री क प्रतिष्ठापक है । पञ्च पुण्डी । प्राजाप यत्रशा के स्वरूपसे परिचित विज पाठको को यह वदत है कि स्वयम्भू ब्रह्मा प्राणमय हैं ये ही वदसाष्ट के आधिष्ठाता है । आपामय विष्णु लोकसाष्ट के जनक हैं ए वाक्यमय इद्र प्रजासृष्टि के उदभावक हैं । प्राण आप त्रक तीना ही प्राकृतिक तत्व ह । प्राण आप वाक् अन्न अन्नाद की समष्टि ही पञ्चविधा त्तरप्रकृति है । त्तरप्रकृति की अपेक्षा से यत्राप पूर्वोक्त तीनों साहस्रिया वेत् लोकवाक् भेत्से पृथक है । परन्तु आमप्रजापति की अपेक्षा से तीनों वाक्मयी ह । मन प्राणवाक्मय प्रजापति का मन प्राणग भित वाग भाग ही वेत् लोक वाक् साहस्री का अधि ठाता है । साहस्री एकमात्र पुरुषवाक का ही वितान है । साहस्रा महिमा है पुन पत् है । यही वषट्कार है । वाक्मय वषट्कार पर ही वद लोक वाक्मयी साहस्रिया प्रतिष्ठित हैं । वा वा ष्वा निन्तानन यत् साहस्री तस्या एतत् सहस्र वाच प्रजातम् (शत ६।५।८ ४) वाग्ना अस्य स्या महिमा (श १।४।२।१८) इयादि त्रोट वचन त्रक को ही साहस्री की अधिष्ठात्री बतला रहे है ।

शद एव अथका त्रमे है । जो क्रम शान्तसृष्टि का है वही क्रम अर्थसृष्टि का है । शदसृष्टि के असङ्ग ससङ्गासङ्ग ससङ्ग तीन रूप हैं । अकार असङ्गरूपा सृष्टि है । अकाराच्चारण में कण्ठतावादि अम स्पृष्ट रहते है । उकार ससङ्गासङ्गसाष्ट है । उकारका उच्चारण करते समय ओष्ठ मसुचित होजाते हैं इसलिए तो यह ससङ्ग सृष्टि है परन्तु सवथा स्पृष्ट नहीं होते इसलिए यह सृष्टि असङ्ग है । परन्तु मकार सवथा ससृष्ट है । मकारोच्चारण करत समय दोनों ओष्ठ सलग्न होजाते हैं । मकार आ तम स्पश है जैमाकि- काढयो मावसाना स्पर्शा इत्यादिरूप स प्रसिद्ध है । यच्चाप प फ त्र भ-ये चारों भी स्पृष्ट हैं । परन्तु इनसे नासिका स्थान का ग्रहण नहीं होसकता । ऋषि को सवस्थान अपेक्षित ह । इसलिए पकार-फकारादि का ग्रहण न कर

मकार का ही ग्रहण किया है। मकार से नामिकास्थान भी ग्रहीत होजाता है। निष्कष यही हुआ कि अकार उकार मकार भेद स शब्दसृष्टि तीन भागों में विभक्त है। ये ही तीनों आत्मसृष्टियाँ हैं। स प्राण आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय के अनुसार आत्मा मन प्राण वाङ्मय है। ज्ञानधन मन उसकी असङ्गसृष्टि है। ज्ञानमय मन स्व स्वरूप स असङ्ग है। उसका कोई रूप नहीं। जसा प्रतिबिम्ब जडता है वह तदाकाराकारित ही बन जाता है। मयस्थ प्राण ससङ्गासङ्ग है। प्राण भाग उपयुक्त पञ्चभूत का आगत्य बनता हुआ ससङ्ग है। वाकतव क्रमशः आकाश-वायु-तेज-जल-मृत् रूप म परिणत होता हुआ सवथा ससङ्ग है। इसी असङ्ग-ससङ्गासङ्ग ससङ्ग सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर ऋषिने मन-प्राण-वाक की क्रमशः अकार-उकार मकार सजाए की हैं। तीनों की समष्टि ओङ्कार है। यही आत्मा का स्वरूप परिचय है इसी आधार पर ओमित्येय यायथ आत्मानम् यह कहा जाता है। मन-प्राण-वाक इन तीनों में ज्ञानमय मन सवथा निष्क्रिय है अथमयी वाक जड है। अतः दोनों ही पद्मगु हैं।

सृष्टिकर्तृ व एकमात्र सक्रिय प्राणतव पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव ऋषि ने प्राण को ही प्रथम स्थान दिया है। इस क्रम में उ अ अच् यह स्थिति रहती है। उकार का वकार होजाने से व-अ अच् यह अवस्था होजाती है। सधि से वाक् शब्द निपन्न होजाता है। जो तव उकार (प्राण) ए अकार (मन) की याञ्चा करता है वही वाकृतत्व है। वाक शब्द का अर्थ है मन प्राणगर्भित तत्त्व। सम्पूर्ण सृष्टि माहेश्वरी है *। ब्रह्मा विष्णु इन्द्र तीनों देवता सृष्टि के प्रतिष्ठा प्रभव परायण हैं। ब्रह्मा अकार है। प्राणप्रधान इन्द्र उकार है। अत्रयज्ञाधिष्ठाता वाङ्मय विष्णु मकार है। उ (महेश क्वा इन्द्र) अ (ब्रह्मा) म् (विष्णु) यह स्थिति है। माहेश्वरी सृष्टि का यही क्रम है। जबतक यह क्रम है तभी तक सृष्टिसत्ता है शांति है। शम कर भाग (शङ्करभाग) उ अ-म् सत्ता पर ही अवलम्बित है। उकार को वकार होजाने से उ अ-म् से यह स्थिति व-म् रूप में परिणत होजाती है। इसी आधार पर महेश्वर के सम्बन्ध में- वमशङ्कर (व-म् शङ्कर) यह व्यवहार प्रचलित है।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि साहस्री का सम्बन्ध एकमात्र मन प्राणगर्भित आत्मा के वाक्-तव से ही है। वही महिमामण्डल के स्वरूप में परिणत होरही है। इस वाकसाहस्री का वितान करने वाले हृदयस्थ ब्रह्मा विष्णु इन्द्र ये ही तीन देवता हैं। ब्रह्मा प्राणमय हैं विष्णु आपोमय हैं इन्द्र वाङ्मय (यह वाक्त्व व प्राकृत है-साहस्री वाला वाकतव आत्मसम्बन्धी है-दोनों सवथा पृथक् तव है) हैं। इन्द्राविष्णु की स्पर्द्धास प्राण आप वाक तीनों का गीरण (विदूर गमन) होता है। प्राण के गीरण से उसी वाग्धरातल पर वेदसाहस्री का वितान होता है आप के वीरणसे लोकसाहस्री का वितान होता है

*- न पद्माङ्गा, न चक्राङ्गा न वज्राङ्गा यत प्रजा ॥

लिङ्गाङ्गा च भगाङ्गा च तस्मात्माहेश्वरी प्रजा ॥१॥

पुल्लिङ्ग सर्गमीशान स्त्रीलिङ्ग विद्धि चाप्युमाम् ॥

द्राभ्या तनुभ्या यान्त हि चराचरमिदं जगत् ॥

—महाभारत अनु पा १४ अ

एव वाक् के वीरण स वाक्साह्वी प्रितत होती ह । यह ऐद्री वाक् ही ऋषट्कार स्वरूप में परिणत होती है । अतएव इन्द्र के लिए वौषट् बोलत हुए ही आहुत दी जाती है । मन अकार है प्राण उकार ह यह पूव में बतलाया जातुका है । अ उ अ अच् यह परिस्थिति होजाती है गुण वृद्धिभाव से वौक् बन जाता है । वौक् शब्द का अर्थ है—मन प्राण-गर्भिता वाक् । इसी रहस्य को लक्ष्य में कर ऋषि ने वौषट्कार कहा है । यही वौषट् है । और यही वषट है ।

मन उक्थ है प्राण अकार है वाक् अशीति है । अकार ही उस आ मा की राशमया है । ये प्राणरूप अकार मनो-वाक् रूपा वर्नी में प्रतिष्ठित होकर आगे चलते है । अतएव मनो वाग गर्भित गतिशील स प्राणतव को गच्छति अभिप्राय से गा कहा जाता है । पियड से निकल कर माहमारूप में यात होन वाले रस मनोवाङ्मय गतत्त्व (प्राणतत्त्व) का दो प्रकार से वितान होता है । केन्द्र से चारो ओर सीधी गति रस की एकविधा है एव पियड से चारो ओर मण्डल बनात हुए प्रतिष्ठित होना दूसरी विधा है । पहिली विधा को याज्ञिक परिभाषानुसार अभिप्लवस्तोम कहत है एव दूसरी विधा को प्रष्ठयस्तोम कहते हैं ।

अभिप्लव-स्वरूप-दिग्दर्शन—

अभि (सम्मुख प्रधिभागमनु) प्लवनम् (प्रवहणम्)—प्राणारयस्तुन अग्रे प्रवहणम् इस यु तात् के अनुसार केन्द्र से प्रधि (परिधि) भाग की ओर वितत हाने वाला मनोगर्भित प्राणारय गोतव ही अभि प्लव है । पियड शरीरभाग है । अभिप्लव इन पियडीभूत मयशरीर से निकल कर महिमा-मण्डल में प्रतिष्ठित अमृत स्वरूप प्राणामक द्रुत रस है । यह उस पियड के ऊ व भाग की ओर याप्त रस भाग है । अग्निचित्या विज्ञान से परिचित (१) साग्नि-विद्वान् यह मलीभाति जानते हैं कि चार आत्मा ने पद्म पुच्छप्रतिष्ठा न सात मय चि य पुरुषो की चिति से ही प्रत्येक स्पृश्यपियड का स्वरूप निष्पन्न होता है । प्रत्येक वस्तुपियड सातपुरुषपुरुषामक है । सातपुरुषपुरुषामक प्रतुपियड मयशरीर है । वस्तुपियड से निकल कर चारो ओर समुद्रवत् यात रहने वाला प्राणरस ही इस का श्रीभाग है । उदाहरण के लिए अयाम पर दृष्टि डालिए । कण्ठरज्र से नीचे का सम्पूर्ण भाग सातपुरुषपुरुष की समष्टि है । सम्पूर्ण धड चार आमा है । चार प्राणों की समष्टि एक धड है । इतर शरीर का आलम्बन यही धड है । अत चतु प्राण-समष्टि रूप इसे इतर शरीरावयों की अपेक्षा स आत्मा क दिया जाता है । दक्षिण हस्त दक्षिण पाद दक्षिण पद्म है वामहस्त वाम पाद उत्तर पद्म है त्रिकास्त्रिगत स्थि प्राण पुच्छप्रतिष्ठा है ।

एक पीपल के पत्त का देखिए । नीच का वृत्त चत्वार आमा है । वृत्त का दक्षिणोत्तर पार्श्व दक्षिणो र पद्म है एव जिस प्राण से पत्ता तना हुआ रहता है वही ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा है । जबतक पत्त में यह प्रतिष्ठाप्राण रहता है तभी तक पत्ता तना रहता है । इस प्राण के मूर्च्छित होजाने से पत्ता मुर्झा जाता है । जबतक शरीर में प्रतिष्ठाप्राण रहता है शरीर तना रहता है । अस्थि-परिवत्तन स यो यो यह प्राण शिथिल होता जाता है यों यो शरीरयष्टि भ्रुकती जाती है । चरमावस्था म दशमी नाम से प्राप्त

[१] अग्निग्रन्थपन्थतमधीत साग्नि ।

अतिम अवस्था में) शरीर सवथा भुक्त जाता है। यही प्रतिष्ठाप्राण की उच्छ्रिति है। इसी के लिए ब्रह्म ण सवस्य प्रतिष्ठा (शत ११।१८) यह कहा जाता है। उपथ्युक्त सातो में से अमृतप्राण निकल कर मस्तक बनता है। मस्तक श्री (रस) भाग है। शीत व को ही परोक्ष भाषा में शिर कहा जाता है। मस्तक ही स पूरा शरीर की श्री है। अतएव आगमस प्रदाय में मस्तक को श्री ग ढ स ही यग्रहत किया जाता है। इसी श्री का नाम अभिप्लव है। इन्द्रियरूप सम्पूर्ण यश ासी अभिन्नवसमुद्र में प्रतिष्ठित है। ासी चि य (म य) चित्तेनिधेय [अमृत] पुरुषविज्ञान को लक्ष्य मे रणकर चयनश्रुति कहती है—

तेऽब्र वन्—न वा इत्थ स त शच्याम प्रजनयितुम् । इमान् मप्तपुरुषानेक पुरुष करवाम—इति । त एतान्—मप्तपुरुषानेक पुरुषकुर्वन् । यदूर्ध्व नाभेस्ता द्वौ ममा जन् । यदवाड नाभेस्ता द्वौ । पक्ष पुरुष पक्ष पुरुष । प्रातष्ठैक आसीत् । अथ गेतेषां सप्ताना पुरुषाणा श्री यो रस आसीत्तमूर्ध्व समुदाहस्तदस्य शिरोऽभवत् । यच्छ्रिय समुदाहस्तस्मा च्छिर । । स ा सप्तपुरुषो भवति । सप्तपुरुषो ह्यग पुरुषो—य चत्वार आत्मा त्रय पक्षपुच्छानि' (शत २१।५) इति ।

आगे बतलाए जाने वाले स्तोत्र लोका की प्रतिष्ठा यही महिमा मण्डलस्थ प्राणामक अभिलव है। अपएव—इमे वै लोका अभिलवा (शत १२।२।१) इयदि रूप से लोकों को अभिप्लव कहा जाता है। उत्क्रांत प्रतामा को परलोक म लेजागे वाले आतिवाहिक ये ही लोकरूप लव (नौका) है ासलिए मी ाह अभिप्लव कहा जाता है। अभिलव सम्य सररूप नौका है। इसी विज्ञान के आगर पर तद्यदभिप्लवमुपयात सम्य सरमेव तद्यजमाना समारोहति (बौ वा १।१२) यह कहा जाता है। सोरप्राण के सम्बन्ध स ये अभिलव ३६ (छत्तीस हजार ष त्रिशत्बृहतीसहस्र) भागा में विभक्त हाकर आयु के आधार बनते है।

सूर्य—ज्योति गौ आयु—घन है। ज्योति गौ—आयुर्घन सूर्य—बृहतीमध्यूदस्तपति इस श्रात सिद्धांत के अनुसार विष्वदवृत्त (इक् टर लाइन) नाम से प्रसिद्ध बृहतीछद पर प्रतिष्ठित है। छन्दोविज्ञान वित् यह जानते हैं कि चतु पदा गायत्री के ६ अक्षर है (प्रयंक पाद षडक्षर स भूय २४ अक्षर यही क्रम आगे है) ाष्णिक सप्तान्तरा है। अनुष्टुप् षण्णान्तरा है। एव सूर्यप्रति ठारूपा बृहती नवान्तरा है। इसप्रकार चतु पाद् बृहतीछद के ३६ अक्षर होजाते हैं। एक ही इन्द्रामक बृहतीप्राण ३६ भागा में विभक्त होजाता है। प्रवप्रतिपादिता वाक्साहस्री के सम्बन्ध से मन प्राणवाड्मय प्रत्येक बृहतीप्राण (ाद्रप्राण) सहस्रवा सहस्रधा विभक्त होजाते है। इसप्रकार ३६ बृहती के षड्त्रिशत्बृहतीसहस्र (३६) प्राण होजाते है। प्रयंक प्राण पूर्वकथनानुसार मन प्राणवाड्मय है। ३६ ही मन है ३६ ही प्राण है ३६ ही वाक है। एक एक मन एक एक प्राण एव एक एक वाक की समष्टि एक एक आयु सूत्र है। तीनों के सम वय से प्रकृ या हमारे आमा में ३६ (छत्तीस हजार) आयु सूत्र प्रतिष्ठित रहते हैं। एक दिन में हम एक आयु सूत्र का उपभोग कर लते है। ३ दिन (१ वर्ष) में बृहतीसहस्रा मक आयु सूत्र उपभुक्त होजाते हैं। इसी बृह या मक आयु सूत्र का निरूपण करते हुए ऋषि कहते है—

‘ता मा एता ब० यो यत् षट्त्रिंशदन्तरा । (ताण्यत्रा १६।११।१)

अ इति ब्रह्म तत्राऽऽगतमहमिति । तद्वा २६ ब०तीमहस्र सपन्नम् । तस्य वा एतस्य बहतीसहस्रस्य सपन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि भवति । तावति पुरुषायुषोऽह्ना महस्राणि भवति । जीवाक्षरशैव जीवाहराप्नोति जावाह्ना जीवाक्षरम्’ ।

—ए आ ।२ अ —ख

सम्प्रसर एव श्रीरूप अभिप्लव का अधिष्ठाता यही बृहतीसहस्र है वही आधार पर— बृहती हि सम्प्रसर (गत ६।४।२।१) श्रीव यशच्छत्सा बृहती (ए वा ।५ बृहया वा असावा दिय श्रया प्रनिष्ठाया प्रतिष्ठितस्तपति (गो वा उ) न्यायि निगमवचन सिद्ध है । उपयुक्त अभिप्लव मन प्राणवात् मय है । हमारा आ मा मन प्राणवाड मय है । वह वही षट्त्रिंशत्बृहतीसहस्र के कारण १ वर्ष पच्यत शरीर म प्रति टट रहता । वही बन्तिविज्ञान को ऽद्य में रणकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

तदिदं मन सृष्टमावरबुभूषत—निरुक्ततर मृत्तरम् । तदात्मानम नैच्छत । तत् पोस्तप्यत । तत् यामूर्च्छत । म षट्त्रिंश शत सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान् स षट्त्रिंश शत महस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् वाड मयान् स षट्त्रिंश शत सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् प्राण मयान् ।

—शत १ ४।१।१। ४-५ इति ।

सौरप्राण के सम्बन्ध में बाह्यप्राण का (पार्थिवमण्डल के साथ) सम्बन्ध होता है सूर्य म याति—गौ आयु ये तीन मनोता इ । इन तीनों का पृथिवी के अभिप्लव के साथ सम्बन्ध होता है । यही योति—गौ आयु गा—आयु योति इस क्रम से पार्थिव अभिलविक स्तोम षडह नाम से प्रसिद्ध होजाता है । दूसरा है पृथ्व्यस्तोम । प्रकृत में इसी का सम्बन्ध है । अत विशेषरूप से इसी की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है ।

पृष्ठयस्वरूप—निदर्शन—

पिण्ड से बाहिर निकलने वाल मनोवाग्गर्भित आमप्राण को हमन श्री (रस यश) कहा है । उसी की अभिप्लव एव पृष्ठय भेद से दो अवस्थाएँ होजाती है । वस्तुपिण्ड के केन्द्र से सौरश्मिवत् चारों ओर व्याप्त होता हुआ वह रसभाग जैसे अभिप्लव स्वरूप म पारणत होता है एवमव पिण्ड के चारों ओर वस्तु ल वृत्त बनता बनाता हुआ वही प्राणत व पृष्ठय रूप म परिणत होजाता है ।

ये मण्डल कुल हजार है । यही सहस्रवर्मा सामवद है । यही पृष्ठयस्ताम है । इसी आधार पर पृथ्व्यके—एतानि खलु व सामानि यत् पृष्ठानि (तै वा १।८।८।३) श्रीर्वै पृष्ठानि (ए वा ६।५)

ये लक्षण विद्ये जाते हैं। इन पृष्ठों के आधार पर ही पारिवर्तवता स्वर्गलोक (सूर्यलोक) जाने में समग्र होते हैं—(देखिए तारख म ब्रा ७।७)। पिरड से निकलने वाला यह वातमय प्राण ही गौ है। ये एक सहस्र हैं। ग्रहण सौकर्या के लिए जसे ३ अहोरात्र का एक मास माना जाता है २ अश की एक राशि मानी जाती है ३६ अहोरात्र का एक वर्ष माना जाता है प्रत्येक वच लघुत के ३६ अश माने जाते हैं उसी प्रकार विज्ञानन व को सुयवस्थितरूप स समझने के लिए ऋषयोन ३ ३ गोत व की एक एक राशि मान करी है। एव इस राश को अहगण नाम से व्यवहृत कर रक्खा है। स क्रम के अनुसार १ गोत व के ३३ अहगण गोजात है। य त्रिभा। ६६ गोत गो में समा त होजाता ह। शेष १ गो तव वच जाते हैं। यही (१ की समष्टि) ३४ वा अहगण कहलाता है। इसीके लिए चतुस्त्रिंश प्रजापति यह कहा जाता है।

उपयुक्त ३३ अहगणों में तीन अहगणों का तो पिरडहृदयस्थ ब्रह्मा विष्णु-इन्द्र इन तीन त्र्य अक्षरों में अर्थात् होजाता है। दूसरे शब्दों में तीन अहगण केन्द्र में प्रतिष्ठित होते हुए शेष त्रिंशत् अहगणों का वषटकार मण्डल की प्रतिष्ठा बन जाते हैं। प्रारम्भ के मूलभूत हृद्य तीन अहगणों के साथ ६ अहगणों का सम्बन्ध होने से त्रिवृत्स्तोम (६ अहगणों की राशि) का स्वरूप निपन्न होता है। और ६ अहगणों के समवय से अद्वादशस्तोम का स्वरूप निपन्न होता है। और ६ के समवय से त्रिंशत्स्तोम की और के समवय से त्र्यस्त्रिंशत्स्तोम की निपत्ति होजाती है। ३३ अहगणों का महिमामण्डल की प्रतिष्ठा हृदयस्थानीय सत्रहवा अहगण है। इसीके लिए सप्तदशो वै प्रजापति कह कहा जाता है। पिरडहृदयस्थ प्रजापति हृदयरूप होने से जस अनिरुक्तप्रजापति नाम से प्रसिद्ध है ३४ वा प्रजापति पिरडगमित महिमामण्डल को स्नादर में प्रतिष्ठित कर सप्तप्रपञ्च का अधिष्ठाता बनता हुआ जैसे सप्तप्रजापति नाम से प्रसिद्ध है एव सप्त महिमामण्डल का अधिष्ठाता सप्त शस्तेमामक यह प्रजापति उच्च गीश्वरश्च इस युपत्ति से द्वागीश्वरप्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। उग्रभाज उग्र है। वितानभाव गी है। गान ही वितान है। स्थितिभाज का द्योतक शब्द है। केन्द्रस्थ अनिरुक्त प्रजापति ही उपर की ओर वितत होकर १७ वे अहगण पर प्रतिष्ठित होकर उग्रगीश्वर नाम से प्रसिद्ध होजाता है। प्रकृत में बतलाना यही है कि त्रिवृत् (६) पञ्चदश (१५) एकरिंश (१) त्रिंशत् (७) त्र्यस्त्रिंश (३३) सप्तदश (१७) भेद से प्राणगर्भिता महस्रधा प्रिमक्ता बहवाक उपयुक्त स्तोमों में विभक्त होजाती है। योतिर्गौरायु के भेद से जैसे अभिलव पडह कहला। सै सीप्रका उपयुक्त ६ स्तोमों से यह पृष्ठयस्तोम भी षडह * नामसे ही व्यवहृत हुआ है। ६ अत्रिंशत् उसी वाक के है। अतएव यह स्तोमसमाष्टे वषट्कार नाम से प्रसिद्ध है। यह है वषट्कार का सद्भिन्न स्वरूप निश्चय। अत्र पुनः प्रकृत का अनुसरण किया जाता है।

म वषट्कारस्तोम में युग्म अयुग्म भेद से दो विभाग हाजाते हैं। वही दो विभाग युग्मस्तोम अयुग्मस्तोम किंवा युग्मा तस्तामानि अयुग्मा तस्तोमानि इन नामों से प्रसिद्ध है। पृथिवीपिरड से निकलने वाला तत्र शुक्र नाम से प्रसिद्ध है। यह शुक्रतत्र वाक् आप अग्नि इन तीन भागों में विभक्त है। वाक

* इन सब विषयों का विषय विवचन शतपथभाष्योत्तरगत गवामयनसत्त्र (१२ का) में द्रष्टव्य है।

वेदतत्त्व है आप सोमतत्त्व है एव अग्नि प्रासद्ध है। पृथिवीपिण्ड के चारो ओर कुछ दूर पय्यत अग्नि त व व्याप्त है। यही पहिला अग्निप्रष्ट ह। अग्निपृष्ट के अनंतर कुछ दूर पय्यत आपामण्डल किवा सोम मण्डल ह। यही वसरा अप प्रष्ट है। एव सर्वात म वाक्प्रष्ट किंवा वदप्रष्ट ह। पञ्चपुण्डरीरा प्राजापय चशा-विज्ञानसे परिचित तद्वानो को यह मलीभाति विन्त ह। स्वयम्भू-परमेष्ठी सूर्य-प्राथवी-चद्रमा इन पाचोम परस्पर दहरोत्तरसम्बध है। स म बध के कारण उत्तर उत्तर मण्डल में पूव पूव मण्डल का प्राण समावष्ट रहता ह। स्वय भू-परमष्ठी-सू पृथिवा-चद्रमा पाचो प्राकृत तत्त्व हैं। पञ्चकल अव्यय पञ्चकल अक्षर पञ्चकल-आ मक्षर एव परापर की समाष्ट ही षाडशी प्रजापति है। यही पुरुषतत्त्व है। यही उपय्यक्त पाचो प्रकृतियों का आलम्बन है। वाक् आप अग्नि ये तीन शुक्र हे। अमृत मत्व भेद स इस शुक्र के कल ६ विवत होजाते ह। पुरुष का प्रकृति के साथ सम वय (मिथुन) होनेसे वाक् आप अग्नि रूप शुक्र स स पूरा प्रजा उ पन्न हाती है। पुरुष अमृतामा है प्रकृति ब्रह्म है। तीसरा विवत्त शुक्र है। तदेव शुक्र तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुयते (कठोपनिषत्*) के अनुसा वह एक ही आमतव पुरुष प्रकृति प्रकृति के भेद स अमृत-ब्रह्म-शुक्र-स्वरूप में परिणत होरहा है। शुक्राणा वही सबकुछ बन रहा है ब्रह्मणा वही सब का कर्ता है एव अमृतदृष्टा वही सबका आलम्बन है।

साथही में यह भी यान रखना चाहिए कि पुरुषका मन-प्राण-वाक् भाग ही सृष्टि का आलम्बन बनता है। अत सृष्टावत्या म मन प्राणवात् मय अयय ही आल बन माना जाता है। दूसरे शब्दों में-सृष्टि के सम्बध में पुरुष किंवा अमृत शब्द से मन-प्राण वात् मय सृष्टिसाक्षी पुरुष का ही ग्रहण किया जाता है। स्वय भू पहिला प्राकृत ब्रह्म है। यह स्वस्वरूप स (प्रकृया) प्राणमय है। किन्तु इसम क्याकि पुरुष की वाक्कला का उपभोग होता ह। अत पुरुषापेक्षया स वाङ्मय कहा जाता ह। परमेष्ठी स्वस्वरूप से आपोमय है पुरुषापेक्षया प्राणवाङ्मय ह। कारण परम ठी म आमा कौ प्राण-वाक् इन दो कलाओं का भोग होता ह। सूर्य प्रकृयपेक्षया वाङ्मय है। पुरुषापेक्षया मन प्राणवाङ्मय है। अग्निचिति के कारण अमृतामा का पूरा प्रकास इसी आत्तधर्मावच्छिन्न सूर्य म होता है।

सौरचिति के कारण ही यह आमा चिदात्मा नाम स यवद्वत होता है। यही कारण है कि स्वय भ परमेष्ठी-सूर्य आदि पाचो प्रकृतियों में से- सूर्य आमा जगतरतस्थुषश्च (यजु) इत्यादि रूप स सूर्य को ही आमतत्त्व (जीवामतव) का अविष्ठाता बतलाया जाता है। नून जना सूर्येण प्रसूता अय-अर्धा कृण्वन्नपासि का भी यही रहस्य है। सूर्य से नीचे चद्रमा (स्थितिक्रमापेक्षया) ह। यह प्रकृत्य-पेक्षया अन्नमय है एव पुरुषापेक्षया वाक्प्राणमय है। पृथिवी प्रकृत्यपेक्षया अन्नादमयी है। एव पुरुषापेक्षया वाङ्मयी है। उपक्रम में वाक् है उपसहार मे वाक् है। स पूरा विश्व वाक्तत्व से अनुगृहीत है। इसी आधार पर- प्राचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता - अथो वागवद सबम् इ यादि निगम प्रचलित हैं।

* पूव में जिन तीन शुक्रों का निरूपण किया गया है व क्रमश वाक्-आप अग्नि-अग्नि-आप वाक् इस क्रम से उपय्यक्त पाचो मण्डलो म विभक्त हैं। वाक्तत्त्व वदाग्नि है। यही सत्याग्नि साव

* इस विषयका अवध विवचन कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य की अश्वत्थविद्या में देखना चाहिए।

याजुषाग्नि प्राणाग्नि ब्रह्माग्नि आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। अप्तव ऋताग्नि है। यही सब्रह्माग्नि नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि व देवाग्नि नाम से प्रसिद्ध है। मयशुक्ररूप आन मृयु कहलाता है। इसी आधार पर सूर्य को मृयु कहा जाता है—(दाए शत का ३।५६)। चाद्र अप्त व ऋताग्नि है। मय वाक्त्व भूताग्नि है। वदाग्निरूप वाक्शुक्र स्वयं म में प्रतिष्ठित है। ऋताग्निरूप अप्त व परमेष्ठी में प्रतिष्ठित है। देवाग्निरूप अमृता नशुक्र एव मृयुरूप मय आ नशुक्र दोनों सूर्य में प्रतिष्ठित है। सूर्य से ऊपर अमृतशुक्र ही है एव— तस्माद्यत्किञ्चार्वाचीनमादत्यात् सब तन्म युनाप्तम् (१ का ३।५) के अनुसार सूर्य से नीचे मय शुक्र ही है। किंतु मयस्थ सूर्य— निवेशयन्नमृत मयश्च (यजु) के अनुसार अमृतमयमेदमिन्न उभय शुक्रामक। सप्रकार आमा पिण्ड देवता प्रकृति प्रकृति भूत भेद से स्वयं मू आदि पाचों पृथक पृथक नामों से व्यवहृत होने लगते हैं। परिभाषा—ज्ञान के अनंतर वे तत्र मात्र लिए जितना सरल एव सुगम है बिना परिभाषाज्ञान के ब्राह्मणग्रन्थात् अनुगम निगम वचनों का यथावत् सम वय कर लेना हमारे लिए उतना ही कठिन एव दुर्गम है। उदाहरण के लिए पूर्वप्रतिपादित अभिलग्न प्रष्टा गक शुक्र ब्रह्मादि शब्दों को ही लीजिए। दग्नि ब्राह्मणग्रन्था में उपयुक्त तबों के मत्र व में कैसे कैसे विरुद्ध वचन नदृष्ट प्रतीत हो रहे हैं—

अभिप्लव

- १ चतुर्भिस्तोमै पृष्ठे, लघुभ सामभि स्वर्ग लोकमभ्यप्लवत । यदभ्यप्लवत-
तस्मादभिप्लवा । (श १०।१।१ ।
- २ यद्व वैष षडह पुन पुनराभ लगे नाम (कौ जा १।६) ।
- ३— इम वै लोका आभ लवा (श १२।१।१) ।
- ४— 'श्रीर्वा अभिप्लवा' (का १।५) ।
- ५— पशवो वा अभि लवा (२१५) ।

पृष्ठम्

- १ 'स्वर्गो लोक पृष्ठानि (ता ब्रा १६।१।५) ।
- २— 'एतानि खलु । सामानि, यत् पृष्ठानि (त १।१।२) ।
- ३— 'आत्मा वै पृष्ठानि (तां २२।६।४) ।
- ४— 'अन्न पशव पृष्ठानि (ता १६।१।५।८) ।
- ५— 'वीर्यं वै पृष्ठानि (ता ४।८।७) ।
- ६— 'श्रीर्वा पृष्ठानि (ए ब्रा ६।५) ।

वाक्

- १- वाग्व ब्रह्म (ए ब्रा ६।३) ।
 २ 'वाग् वा इन्द्र (का २।७।१३।५) ।
 ३- 'वाग्वा चन्द्रमा (तै उ ३।१३।१२) ।
 ४- ' मा या सा वागग्नि स (तै उ १।२८।३) ।
 ५- ' वाग वै यज्ञ -यज्ञो वै विष्णु —


निर्देशनमात्र है। सभी पदार्थों में आपको यही परिस्थिति उपलब्ध होगी। प्रकृत में हमें वाक् का विचार करना है। स्वयम्भू की वाक् ब्रह्म है। सौरी वाक् इन्द्र है। पार्थिवी वाक् अग्नि है। पारमेष्ठिनी वाक् विष्णु है। चान्मसी वाक् सोम है। इसप्रकार स्थानभेद से सब बच्चों का समवय हो जाता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विषय निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है।

	आ मापेक्षया	पिण्डापेक्षया	दवापेक्षया	प्रकृत्यपेक्षया	निकृत्यपेक्षया	भूतापेक्षया
१—	वाङ्मय	स्वयम्भू	ब्रह्मा	प्राणमय	वाङ्मय	आकाश
२—	वाक्प्राणमय	परमष्ठी	विष्णु	आपोमय	आपोमय	वायु
३—	वाक्प्राणमयोमय	सूर्य	इन्द्र	वाङ्मय	अग्निमय	तेज
४—	प्राणवाङ्मय	चन्द्रमा	सोम	अन्नमय	आपोमय	जलम्
५—	वाङ्मयी	पृथिवी	अग्नि	अनादमयी	वाङ्मयी	पृथिवी

उक्त पाचो पिण्डो म मरुत्तल—सम्बन्ध स दहरोत्तरभाव है। उत्तर उत्तर का मण्डलोपहित पिण्ड पूव पूव के मण्डल में प्रतिष्ठित है। साथ ही पूव पूव मण्डलस्थ प्राण उत्तरोत्तर के मण्डल में प्रतिष्ठित है यह पूव में कहा जाचुका है। तस्य यह भी मलीमात असद् होजाता है कि स्वयम्भू कवल प्राणमय है। पारमेष्ठा प्राणमय आपोमय है। सूर्य प्राण—आप वाङ्मय है। चन्द्रमा प्राण आप वाक्—अन्न

मय है। एव पृथिवी प्राण-आप-वाक्-अन्न अनादमयी है। शुक्रापेक्षया स्वयम्भु वाङ्मय है। परमेष्ठी वाङ्मय एव आपोमय है। सूर्य वाक्-अग्निमय है। सूर्यमहिमा म प्रतिष्ठिता पृथिवी मे भी वे ही तीन प्रष्ट है। पहिला सौरा न से प्रवृत्त अग्निप्रष्ट है। दूसरा अप प्रष्ट है। तीसरा वाक्प्रष्ट है। दूसरे श दो में पृथिवीपिण्ड के चारों और प्रथम वह अग्नि अपना एक स्वतंत्र मण्डल बनाता है जोकि सूर्य से प्रवृत्त होकर अतर्क्याम-सम्बन्ध से पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बनता है। इसीका ब्रह्मादन बन जाता है। इसीप्रकार पारमष्ठय प्रवृत्त भाग इस पृथिवी का अपप्रष्ट है। एव य भू का प्रवृत्तभाग वाक्प्रष्ट है। ये तीनों पृष्ठ क्रमशः यज्ञप्रष्ट ब्रह्मप्रष्ट पाराजतप्रष्ट नाम से प्रसिद्ध ह।

स्वयम्भु वाक् है परमेष्ठी आप है सूर्यगत प्राणाग्नि (अमृताग्नि) अग्नि है। ये तीनों अमृतशुक्र है। सूर्यगत मृत्यु मय अग्निशुक्र है चत्स आप नाम का मयशुक्र है एव पृथिवी मत्यवाक् शुक्र है। इसप्रकार वागादि ६ ओं शुक्र निम्नलिखित क्रम से प्राजापयव शा में वभक्त है—

१—१—स्वय भू	वाक् शुक्रम्	} अमृतानि शुक्राणि
२—२—परमेष्ठी	आप शुक्रम्	
३— { ३—अमृतसूर्य  ४—मयसूर्य } }	अग्नि शुक्रम्	
४—५—चद्रमा	अग्नि शुक्रम्	} मयीनि शुक्राणि
५—६—पृथिवी	आप शुक्रम्	
	वाक् शुक्रम्	

इस क्रम में पृथिवी सब के अत मे आती है। अत इस पृथिवी मे एव य चयावत् पार्थिव षडार्थों म उपर्युक्त ६ ओं शुक्रों का भाग हाजाता है। सूर्य द्यौ है। पृथिवी पृथिवी है। वावापृथिवी का श्यैत-नाथस के आदान विसर्ग के कारण परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव जो स्थिति पृथिवी की है वही स्थिति द्युरूप सौरजगत् की है। दूसरे श दो में-पृथिवी में जैसे वागादि ६ शुक्रों का भोग हाता है एवमेव सूर्य में भी ६ ओं शुक्रों का भाग हा रहा है। विषय अतिदुरूह ह अत पुनरुक्ति की उपेक्षा क प्रकारान्तर से शुक्रतव का स्वरूप आप के समुच्च उपस्थित किया जा रहा है।

अग्निहस्यविद्या के अनुसार तीन ही तव विशेष है। व तीनों तव-आवपन अनाद अन्न न नामो से व्यवहृत किए जाते हैं। एकत आधारभूमि को आयतन कहा जाता है एव सबत आगरभूमि को आवपन कहा जाता है। शय्या हमारा आयतन है। आदर्श (काच) हमारा प्रतिबिम्ब का आयतन है। आदर्शवत् प्रज्ञानमन इन्द्रिय के द्वारा आगत घट-पटादि विषयों का आयतन है। महानामा चिदात्मा का आयतन है इसी के लिए तद् ब्रह्मायतन महत् यह कहा जाता है। मसीपात्र [दावात] श्याही का आयतन

है। घट पानी की आयतन ^१। ये सब अपने आपेवो के एकत आधार है। मन के उपरि भाग में विषयो का प्राताम्ब पडता है। अतएव मन के लिए मनो वा आयतनम् (विषयाणाम् (शत १४।१।२।५) यह कहा जाता है। जिसे लोकभाषा में आगर कहा जाता है वदभाषा में वही आधार आयतन नाम से व्यवहृत किया जाता है।

वसुधानकाश (डिब्बी) तदगत वस्तु का आवपन है। स्तोम्यत्रिलोकी नाम से प्रा-त्रलोक्यामिका महावदिरूपा उख्या प्रथिवी (महिमा प्रथिवी) चतुदशविध भूतसर्गों का आवपन है। इसी आधार पर— अय वै लोक आवपन महत् [तै ब्रा ३।६।५५] यह कहा जाता है। वसुधानकोश तदगत वस्तु का चारो ओर से आधार है। अतएव हम इसे अवश्य ही आवपन कह सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ को अने उदर में रख कर उसे सुरक्षित रखने वाला उस वस्तु का आकाश है। अतएव सबत आधारभूत तत्त्ववस्तु के तत्त्वाकाश को भी हम तत्त्ववस्तु का आवपन मान सकते हैं। आकाशो वै नाम-रूपयोनि बहिता [उपनिषत्] के अनुसार बहिमण्डलस्वरूप आकाश ही तत्त्व वस्तु के नामरूप एव कर्म की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर आवपनतव को ख ब्रह्म (आकाशब्रह्म) कहा जाता है।

दूसरा है अनादब्रह्म। अनितव का ही नाम अनाद ^२ जैसाकि पूव में बतलाया जा चुका है। यह अनादतव ही मुख्य आमा है। यही आवपन पर प्रातिष्ठित रहता है। आवपन पर प्रतिष्ठित यह अनादाग्नि भू-भुव स्व भे स त्रिधा विभक्त रहता है। त्रिधा विभक्त य अनितव सुखसाधक बनता हुआ क ब्रह्म नाम से व्यवहृत होता है। तीसरा है अन्नब्रह्म। आपस्तव का ही नाम अन्नब्रह्म है। इसीसे सममाण होता हुआ अग्नि क रूप में परिणत होता है अतएव इस अन्नब्रह्म को र ब्रह्म कहा जाता है। खब्रह्म पर प्रतिष्ठित क ब्रह्म वाद र ब्रह्म से अनुग्रहीत रहता है तो शान्ति है। इसी आधार पर ख क रम् तीनों की समष्टि शब्रह्म नाम से व्यवहृत की जाती है। आवपनब्रह्म आकाश है। यही वाकशुक्र है। अनादब्रह्म अग्निशुक्र है। अन्नब्रह्म आप शुक्र है। वाक-आप अग्नि ही आवपन-अन्न अनाद है। तीनों की समष्टि ही — सवम् है।

ध्यान रहे आकाश से प्रकृत के शुन इन्द्र ही अभिप्रत है न कि सारयोक्त कल्पत शून्यप्रदेश। शून्यप्रदेश आकाश नहीं है अपितु इन्द्रप्राण आकाश है। इसीके लिए शुन हुवेम मधजानमिन्द्रम् यह कहा जाता है। उसी सारयुग की भ्रान्ति में पड कर इतर सम्प्रदायवा वालों भी आकाश को तव मर्यादा से बहिष्कृत कर दिया है। व भी आतश (तेज) वाद (वायु) आव (जल) खाक (प्रथिवी) ये चार ही तव मुख्य मानते हैं। फलक (आसमा-आकाश) उनकी दृष्टि में तव नहीं है। यही भ्रान्ति तवविज्ञान का गव रखने वाले ब्रिजगी सदी के वैज्ञानिकों की है। कुछ भी हो। भारतीय वैज्ञानिकों की दृष्टि में तो आवपनरूप आकाश अवश्य ही तव है। हमारा पञ्चतत्त्ववाद सुप्रसिद्ध है। आकाश ही आमरूप अनादब्रह्म का आमा है। इसी आधार पर आमा का — मनोमय प्राणशरीरो भारूप — आकाशात् यह लक्षण किया जाता है।

बतलाना प्रकृत में यही है कि इस वाक्य का नाम ही आकाश है। यही आवपन है। यह तत्त्व स्वयम्भू में प्रतिष्ठित है। परमेष्ठी आपोमय है। इश्वरीय-लीला बड़ी विचित्र। यह पुत्रोपत्ति से पहिले अनादब्रह्मरूप पुत्र के लिए अनरूप दुग्ध [माता के स्तनो में] उपन कर देता है। पहिले अनरूप फिर अनाद है। सौराग्नि पीछे उपन्न होता है। किंतु तदनभूत अनरूप पारमष्ठय सोम उससे पहिले ही उपन होजाता है। अनित्य उभयत अवरूप अन से पारगृहीत है।

मध्यस्थ अग्नि अग्नि-वायु आदित्य भेद से त्रिधा विभक्त। तीनों अग्नियो के उस आर पार मेष्ठय आप है इस ओर चाद्र आप है। चन्द्रमा के इस ओर आवपनरूप वाग्मय पृथिवीपिण्ड है जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

अधिदैवतम्—

१-वाक्	स्वयं भू	परमाकाश	
२-आप	परमष्ठी	अनब्रह्म	
स्व	} सूय्य	} अननादब्रह्म	
३-भुव			} वायु
भू			
४-आप	चन्द्रमा	अन्नब्रह्म	
५-वाक्	पृथिवी	पुराणाकाश	

दोनों ओर अवरूप सोम है। चाद्रसोम भास्वरसोम है। यही ईश्वरप्रजापति का मन है। तत्प्रतिष्ठ अग्नि उसकी वागिन्द्रिय है। वायु प्राणोन्द्रिय है। सूय्य चक्षु है। पारमष्ठाप [दिक्सोम] श्रोत्र है। यही अवस्था अथामम समझनी चाहिए।

हृदय में चन्द्रमारूप मन है। मुख-नासिका-चक्षु तीनों क्रमशः वाक् प्राण चक्षु-रूप अग्नि वायु सूय्य है। श्रोत्रोन्द्रिय पारमष्ठाप सोम है। शिरोगुहा स्वायम्भुव परमाकाश है। बस्तिगुहा पार्थिव पुराणाकाश है। जैसी स्थिति वहा है ठीक वही स्थिति यहा है। पूणमद् पूर्णमिदम् यदेवेह तत्र-मुत्र सिद्धात सर्वा मना अन्वथ प्रमाणित होरहा है।

अ यात्मम्—

शिरोगुहा—	परमाकाश	स्वयम्भ	वाक्—
श्रोत्रे—	अन्न ब्रह्म	परमेष्ठा	आप २
चक्षुषी—सूर्य	अन्ना ब्रह्म	सूर्य	आग्नि
प्राण—वायु			
वाक् अग्नि			
मन —	अन्न ब्रह्म	चन्द्रमा	आप— ४
वास्तुगुहा—	पुराणाकाश	पृथिवी	वाक्— ५

हमने कहा था कि प्रकृत में हमारा सब ध प्रथित्री और सूर्य से है। अत इही दोनों की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। इन दोनों म भी प्रथम पृथिवी को ही लक्ष्य बनाया जाता है। पृथिवी सर्वांत में है। इसके भू प्रथिवी ये दो भेद है। जिस प्राथवीपिण्ड पर हम सब प्रतिष्ठित हैं वही भू है एवं वषट्कारमण्डलावच्छिन्ना महिमा प्रथिवी प्रथिवा है। भूमत्यरूपिणा है प्रथिवी अमृतरूपिणी है। वाक् आप अग्निरूप अमृतशुक्र से महिमारय पृथिवी का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। भूपण्ड पर पहिला स्तर अग्नि का है। यह अग्नि घन तरल-विरल भेद से त्रधा अवतत होता हुआ पूर्वोक्त त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश स्तोमो म क्रमश प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्स्ताम इस प्राथवीलोक का प्रथिवीलोक है इसके अतिष्ठावा (अधि ठाटा) अग्निदेवता है। पञ्चदशस्ताम स पृथिवी का अन्तरिक्षलोक है इसके अतिष्ठावा वायुदेवता है। एक विंशस्तोम इस पृथिवी का द्युलोक है। सके अतिष्ठावा इन्द्रापरम्यथक आदियदेवता हैं। नसप्रकार स्तोमामिका इस महिमा-पृथिवी मे स्तोमभेद से तीन लोक होजाते हैं। स्तोमसम्बन्ध स ही यह त्रलोक्य स्तोम्यत्रिलोकी नाम से प्रसिद्ध है। महिमामयी होने से यह मही नाम से भी प्रसिद्ध है (देखिए तै ब्रा २।४।६।८)। नसी त्रलोक्यामिका पृथिवी को लक्ष्य में रखकर- तिस्रो वा इमा प्रथिय इयमहैका द्वे अस्या परे (शत ५।१।५।२१) यह कहा जाता है।

अग्नि में सोमाहुति का होना ही यज्ञ है। पृथिवीपृष्ठ से २१ एकविंशस्तोम पय्यंत यात इस अग्नि में पारमेष्ठ्य सोम निरंतर आहुत होता रहता है। अतएव इस अग्निपृष्ठ को हम अवश्य ही यज्ञपृष्ठ कह सकते हैं। अग्नि-येष्ट आठ वसु वायु-येष्ट ११ रुद्र इन्द्र-येष्ट १२ आदिय सा यगत दो अश्विनीप्राण (नासय-एा द्य) इस प्रकार ३३ आग्नेय सोमपा देवता (१ प्रयाज ११ अनुयाज ११ अनुयाज भेद से ३३ असोमपा किन्तु आज्यपा देवताओं से युक्त) इसयज्ञमण्डल म प्रतिष्ठित होते हुए यज्ञिय नाम से प्रसिद्ध हैं। इही याज्ञिय देवताओं को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

‘इति स्तुतासो असथा रिषादशो ये स्थ त्रयश्च त्रिशच्च ।
मनार्देवा यज्ञियाम्’ ॥

—यजु सहिता

एकविंश स्तोम प य त ही यह अग्नि नहीं जाता अपितु २१ से ऊपर पथ्यत (२२ पर्यन्त) जाता है । २१ का तरण कर जाता है । अतएव अस यज्ञा मक आग्नेयस्तोम को रथ-तरसाम कहा जाता है एव रथ-तर के स बंध से ही यह अग्नि रथ-तर नाम से भी प्रसिद्ध है ।

एकविंशो वै स्वर्गो लोक (शत १ १५।४।६) एकविंशो वा इत स्वर्गोलोक (त ब्रा ३।१२ ५।७) एकविंशो वा एष य एष (सूय्य) तपति (कौ २५।१) इत्यादि निगमवचनों के अनुसार सूय्य पृथिवी के २१ व अहगण पर प्रतिष्ठित है । एव स्वरहर्देवा सूय्य (श १।१।१।५) के अनुसार स य ही स्तूलोक है । यह सूय्य असा वा आन्विय एष रथ (श ६।४।१।२५) के अनुसार रथ नाम से प्रसिद्ध है । रथ का अर्थ है रस । असो वा आदियो देवमधु (छा उ) के अनुसार रस मधुरस है । त जा एत (सूर्य) रस सन्त रथ इ याचक्षते गो ब्रा पू २।२१) के अनुसार रस के सम्बन्ध से ही सूय्य परोक्षप्रिय देवताश्री की पराक्षर्भाषानुसार रथ नाम से यवहृत हुआ है । पाथवाग्नि इस सूर्यरूप रथ का भी क्योंकि तरण कर जाता है । अतएव इस आग्नेय स्तोम को रथ-तरसाम कहा जाता है । अपिच पृथिवी पिण्ड स निकलने वागा यह अग्नि भी रस है । यही आग्नेय रस दाव घृत मधु रूप में परिणत होता हुआ अग्नि वायु आन्विय नाम से यवहृत होता है । दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् घृतमन्तरिदस्य मध्यमुष्य (श कां कृष्मचित्ब्राह्मण) के अनुसार वही अग्नि रसरूप में परिणत हो रहा है । अग्नि की इसी रसावस्था का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कर्ती है—

‘आपो वा अक । तद्यदा शर आसीत्—तत् समह यत । मा पृथियमवत् ।
तस्यामश्राम्यत । तस्य आ तस्य तप्तस्य तेजो रमो निरपत्तताग्नि । स वेधा मान व्या
कुरुत्—आदिग तृतीयम् । स एष प्राणस्त्रधा विहित’

—शत १ १६।५ २ ३

आग्नेय रस त्रै त्रयु रसतर है एव प्रथम आदियाग्नि रसतम है । सरे श दो में अग्नि में रसमात्रा साधारण है । वायु में उससे अधिक है एव आदि यभाग रसप्रन होता हुआ रसतम है । इसीलिए आदियरूप आग्नेयस्तोम मक आत्तम साम— रसतम ह त्रै तद्रथ-तरमि-याचक्षते परोक्षम् (शत ६।१।२।६६) के अनुसार रथ-तर नामसे यवहृत हुआ है । यह है अमृताग्निस्वरूप प्रथम पृष्ठका पहिला स्वरूप । यह प्रथम लोहित है । सी में सप्तवर्ण का अतर्भाव है । अतएव इसे प्रथिण भी कहा जाता है ।

दूसरा अपपृष्ठ है । २ से ३ प यत अपपृष्ठ है । यही अणवसमुत्त कहलाता है । यह भी पृथिवी की ही व तु है । कारण—वाकपृष्ठ पथ्यत पृथिवी की संज्ञा मानी जाती है । इसी अपपृष्ठ के सम्बन्ध से

पृथिवी का सप्तगराम्बरा कहा जाता है। यह अपत व सवथा कृष्ण है। इसी अपतव म गोत व प्रतिष्ठित रहता है। सामत व की (*) प्रतिष्ठा यनी आपोमयी गो है। नसी आधार पर स हैष सोमोऽजस्रो यद् गो (यजु स १३-३३) (श १५।२।२६) यह कहा जाता है। सा आपोमय अतएव विष्णु-दवतामय गात्त्वका निरूपण करती हुई यजु श्रुति कहती है।

या ते धामा-युष्मसि गमध्ग गत्र गावो भूरिशृङ्गा आयाम ।

अत्राह तदुरु गायस्व जिष्णो परम पदमय भारि भूरि ॥

—यजुसहिता ६।३।

यह गोतव विशाजा वा एतदरूप यदगो (ता ब्रा ४६।३) के अनुसार विराट् है। विरा के सम्बन्ध से ही यह अपपृष्ठा मक आपोमय पार्थिवसाम वरूप नाम स प्राप्त है। रथतराग्नि की दूसरी अवस्था यही वैरूपसाम है इसी आभवाय से— यद्वा रथ तर तद्वरूपम् (ऐ ब्रा २।१३) यह कहा जाता है। अपपृष्ठ घोर कृष्ण है।

तीसरा है वाकपृष्ठ। यही सर्वान्त का वेदपृष्ठ है। यही ब्रह्मपृष्ठ है। यहा पार्थिव प्रजापति की सृष्टि विश्रांत है। प्रजापत नसी वाकपृष्ठ पर पार्थिव-सृष्टि को सर्वात्मना सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इसी ममागत सूचक भाव का प्रधान मानते हुए ऋषियोन इस आत्म सामको— शकरी नाम स व्यवहृत किया है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर— यदिमाल्लोकान् प्रजापति सष्टवेत् सवमशक्नोद्यदिद किञ्च । त-छकरोऽभयस्त-छकरीणा शकरीत्वम् (ऐ ५।) यह कहा है। यह वेत्पृष्ठ ज्ञान-यातिमय बनता हुआ सवथा शुक्ल है। इसप्रकार लक्षित-कृष्ण-शुक्ल-वर्णात्मक रथन्तर वैरूप शाकर-सामा-मक-अग्नि आप-वाक्-रूप अमृतशुक्रा मक यह महामण्डल प्रथिमी नाम से प्रसिद्ध हो-रहा है।

यह तो हुआ अमृतशुक्रो का अदग्दशन। अब मय शुक्रा मक भूषिण्ड पर भी दृष्टिनिक्षेप कर लीजिए। हमने कहा है कि भूषिण्ड के उपादान मय वाक आप-अग्नि हैं अग्नि पहिला स्तर है। य-च-किञ्चिद्वाग्निविषयकमग्निक्ममैव तन् सवम् (या नि) के अनुसार दृश्यभाग अग्नि है। इस हमने प्रश्न कहा है प्रयेक वस्तुपिण्ड मे सातो रूपो म स कोइ न कोइ रूप अवश्य रहता है। यही पहिला अग्निस्तर है। किसी भी पिण्ड को आप जला दीजिए। जलने के अनन्तर सबका परिणाम कृष्ण ही होगा। पाहले अग्निस्तर के उष्क्रान्त होने पर दूसरा यही कृष्णस्तर निकलता है। यही कृष्णवर्णा मक दूसरा अपपृष्ठ है। यदि फिर उस वस्तु के साथ अधिक अग्निस्योग कराया जाता है तो य कृष्णवर्णा मक अप्तर भी उष्क्रान्त होजाता है एव तीसरा शुक्लस्तर निकल आता है। यही भस्मायस्था है। यही उस पदाथ की भूति (विभूत) है। यही वेदपृष्ठ है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु के पिण्डभाग मे उपयुक्त (तीन)

(*) गोलोकवासी आपोमय विष्णु ही गोसंचारण करते हैं। तदशभूत कृष्णने गोचारणवृत्ति को क्यों अङ्गीकार किया ? इस प्रश्न का भी यही समाधान है। इस विषय का विषद विवचन गीताविज्ञान-भायातगत आचाव्यरहस्य के परीमेष्टोकृष्णरहस्य नामक प्रकरण म दर्शना चाहिए।

मयपृष्ठ ह महिमामण्डल में उपयुक्त तीना अमृतपृष्ठ हैं। यो स पूरा प्रपञ्च षाट्कौशिक ही प्रमाणित हो-
रहा है।

—वाक्—शांकरसाम—४८ पयत—पारावतपृष्ठम्	} मही माहमा
२—आप—वैरूपसाम—३३ पयन्त—अपपृष्ठम्	
३—अग्नि—रथतरसाम २ पयन्त—यज्ञपृष्ठम्	
—अग्नि—इयभाग	
२—आप—अन्त स्तर	} भू-पिण्ड
३—वाक्—सवातरतम स्तर	

पार्थिव सस्था—

शांकरसाम—वाक् ४८—पारावतपृष्ठम्	} मही
वैरूपसाम—आप ३३—अपपृष्ठम्	
रथतरसाम—अग्नि २१—यज्ञपृष्ठम्	
अग्नि	} भू
आप २	
वाक् ३	

यही स्थिति सौरमण्डल की समझिए। सूर्यापण्ड के ऊपर पहिला पृष्ठ सावित्राग्नि का है। दूसरा अपपृष्ठ है। तीसरा वाक्पृष्ठ है। विश्व में योतमान् पदार्थ स्व-पर रूप भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। जिह्वा अय से प्रकाश लाने की आवश्यकता नहीं है अपितु जो अपनी ज्योति से अपने आप प्रकाशित हैं व सब स्व योतिभूय पदार्थ हैं। इनका साकेतिक नाम सृग्य है। आप जिसे सृग्य कहते हैं वही सृग्य नहीं है अपितु स्व योति मय स्वासीनक्षत्र पशुगति नीलकण्ठ आदि नामों से प्रसिद्ध तुल्यक नामक नक्षत्र चित्रा आदि सब सृग्य है। अतएव स्वाती को सजिता कहा जाता है। जो पिण्ड सौरज्योति से प्रकाशित हैं व सब चन्द्रमा नाम से प्रसिद्ध है। मङ्गलग्रह के उपग्रह दो चन्द्रमा हैं। बृहस्पति के चा है। शनि में आठ हैं। पृथिवी में एक है। एव जा दूसरों को प्रकाशित करने में असमर्थ होते हुए केवल अपने स्वरूप का अभिव्यक्त करने में समर्थ है व सब रूप योतिभूय पदार्थ है। उह सङ्गत-भाषानुमा पृथिवी कहा जाता है। अनन्त सृग्य है अनन्त चन्द्रमा हैं एवं अनन्त ही पृथिवियों हैं। रूप योति मयी पृथिवी के नाम की अवेक्षा पर योतिभूय चन्द्रमा का साम अधिक बढ़ा होता है एव

चन्द्रमा की अपेक्षा स्वय्योतिम्मय सूर्य का साम और भी अधिक बृहत् होता है। इसी विज्ञान के आधार पर सौर साम को बृहत्साम कहा जाता है। जैसे पृथिवी के साम को सुय्यरथ के सम्बन्ध से एव रसके सम्बन्ध से रथतर कहा जाता है चान्द्रसाम राजा सोम के सम्बन्ध से राजन् नाम से व्यवहृत होता है एवमेव स्वय्योतिम्मय सौरसाम बृहत् (बडा) होने से बृहत्साम नाम से प्रसिद्ध है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर बृहत्साम का यद्भ्रस्व तन्थन्तर-यद्दीघ तद् बृहत् यह लक्षण किया जाता है (देखिए कौ भा ३।५)।

अपि च—सूर्य बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है। खगोल गाल है। पिण्ड के मय का पूर्वापरवृत्त दक्षिणोत्तर पार्श्वस्थ इतर वृत्तो की अपेक्षा बृहत् (बडा) होता है। अतएव विष्वद्वृत्त नाम से प्रसिद्ध इस मध्य के पूर्वापरवृत्त को बृहतीछन्द कहा जाता है। सूर्य सदा नसी पर प्रतिष्ठित है। पृथिवी इसके चारो ओर घती है। पृथिवी के परिभ्रमण से सूर्य का उन्त्यास्तभाव प्रतीत होता है। वस्तुतः वैदिक विज्ञान के अनुसार सूर्य रोदसीत्रिलोकी की अपेक्षा सवथा स्थिर है। सूर्य क नसी स्थिरभात्र को लक्ष्य में रखकर निम्न निखित श्रौत स्मात्त वचन हमारे मम्मख उपस्थित होते हैं—

‘स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति । त यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह एव तदतमित्वाऽथा माग विपर्यस्ताते । रात्रिमेवावस्तात् कुरुते-अह परस्तात् । अथ गदेन प्रातरुदेतीति मन्ग ते-रात्रिरेव तद तमित्वाऽथात्मान विपर्गस्यते । अहरेवावस्तात् , रात्रि परस्तात् । स वा एष न कदाचन निम्लोचति ।

—ए भा ३।४४ इति

स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति । तद्यदेन पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते-अह एव तदन्त गत्वाथात्मान विपर्गस्यते । अहरेवावस्तात् कुरुते, रात्रि परस्तात् ।

—गो भा ३०।४।१ ।

नैवोदेता, नास्तमेता, एकल एव मध्ये स्थाता (छा ३०) ।

बृहया वा असावाादत्य सूर्य्य श्रिया प्रतिष्ठाया प्रतिष्ठितस्तपति ।

—गो भा ३।५।७।

‘सूर्यो बहती मध्ययूढस्तपति’ ।

नैवास्तमनमर्कस्य नोदय सर्वदा सत ।

उदयास्तम । चैव दर्शनादर्शा रवे ॥

—विष्णुपुराणे

पूर्वोक्त बृहतीछन्द पर ही सूर्य प्रतिष्ठित है। यही इतर छन्दो का मूलाधार है जैसाकि पूर्वप्रकरणों में विस्तार के साथ बतलाया जानुका है। इस बृहतीछन्द के सम्बन्ध से भी सौरसाम का बृहतीसाम कहा जाता है। पाठको को यह यान में रखना चाहिए कि जब रूपय्योतिम्मयी पृथिवी का रथ तरसाम ही सूर्य से

ऊपर २२ व अहगण प य त चला जाता है तो स्वज्योति मय सौर बृहत्साम कहातक जायगा । सूर्य का २ वा अ गण बड़ी दूर पय्यत जायगा । यदवधि-पर्यंत सूर्य का २१ वा अ गण है तदवधि प य त ही सो अग्नि याप्त है । त पय्यत ही बृहत्साम है । अग्निपृष्ठ के अनंतर दूसरा अप् पृष्ठ है । यहाँ गीत ५ उ पन्न होता है जेसाकि पार्थिवसामानरूपण में बतलाया जाचुका है । इसी के सम्बन्ध से यह वैराजसाम कहलाता है । तीसरा वाक्पृष्ठ है । यही रैवतसाम नाम स प्रसि है । ये तीनों अमृतपृष्ठ है । एव स्वयं सूर्यपिण्ड मयपृष्ठत्रया मक है । वाग्वै रेवती (शत ३८। १२२) के अनुमा सौर वाक्पृष्ठ रवती है । इसीके सम्बन्ध स यह अतिम पृष्ठ रैवतसाम नाम स प्रसिद्ध होता है । असप्रकार प्राथवीवत् स य म भी वाग-आप-अग्नि आदि ६ ओ शुक्रों का भाग सद्ध होजाता है ।

सृष्टिविद्या के दृष्टिमूलक स्थितिमूलक सृष्टिमूलक नामक तीन विवक्षा के भेद स ही विश्वपगों के स्थिर चर-भावो का समवय हआ है वदशास्त्र में । दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार प्राथवी स्थिर है सूर्य चर है जैसाकि—रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् (यजु) से स्पष्ट है । कि तु स्थितिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार पृथिवी चला है और सूर्य स्थिर है जसाकि—नैवोदेता इत्याद स स्पष्ट है । एव सृष्टि-मूला सृष्टिविद्या के अनुसार केवल सय स्वयं भू को छोडकर सभी चल है परिभ्रममाण हैं जसाकि अ य तन्त्र धो में विस्तार स प्रतिपादित है ।

भौरमस्था—

रैवतसाम—वाक् ४८—पारावतपृष्ठम्	}	—महिमा
वैराजसाम—आप ३३—अपपृष्ठम्		
बृहत्साम—अग्नि २१—यज्ञपृष्ठम्		
अग्नि	}	—पिण्ड
आप -		
वाक्-		

१-वाक्—रैवतसाम—४८—पय्यत पारावतपृष्ठम्	}	—महिमा
२-आप-वैराजसाम—३३—पय्यत-अपपृष्ठम्		
३-अग्नि बृहत्साम—२१—पय्यत-यज्ञपृष्ठम्		

१-अग्नि-दृश्यभाग	}	—पिण्ड
२-आप-अतस्तर		
३ वाक्—सर्वान्तरतम स्तर		

प्रसङ्गागत यह और समझलेना चाहिए कि पूव में जिन पार्थिव एव सौर सामो का दिग्दर्शन कराया गया है उनका परस्पर अतिमान होता है। दूसरे शब्दों में ६ ओ सामो का (रथ तर-वैरूप-शाक्व बृह -वैराज-रथत सामों का) परस्पर अतिमानसम्बन्ध है। रथ तर वरूप शाक्व तीनों एक ही रथतर के रूप हैं। एवमेव बृहद-वराज-रैवत तीनों एक ही बृहत् के विवर्तन हैं जैसाकि श्रुति करती है—

यद्वै रथन्तर तद् वरूपम् यद् बृहत् तद्वैराजम् । यद्वरथन्तर-तच्छाक्वम् यद्-
बृहत् तद्वैवतम् ।

—ए ब्रा७७ अ

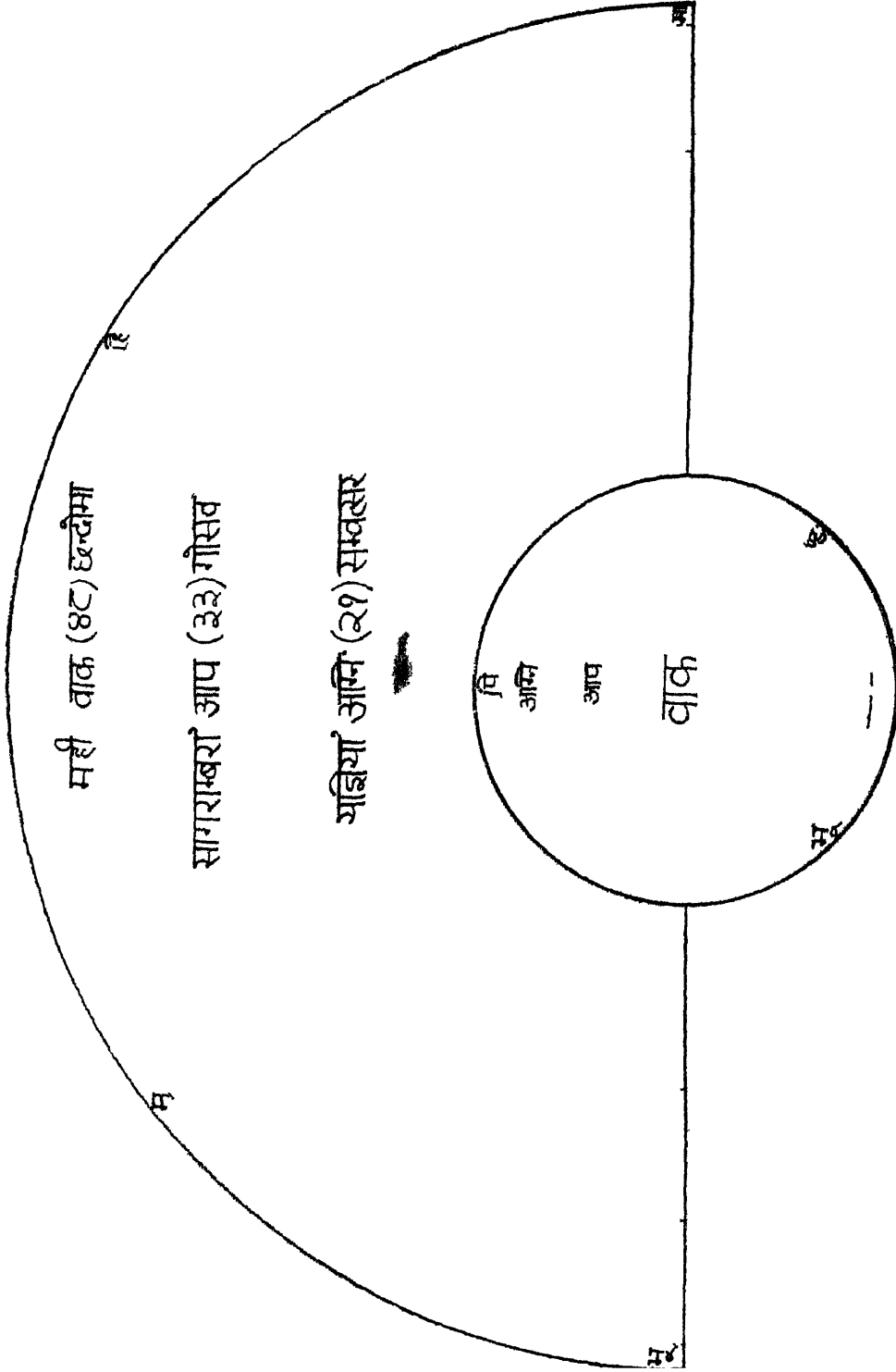
इनमें बृहद्द्वैरथन्तर का अतिमान है। रथ तर बृहत् के गभ में निविष्ट है। वैरूप और बृहत् का अतिमान है। वैरूपसाम के गभ में बृहत्साम निविष्ट है। वैराज और वैरूप का अतिमान है। वराज के गभ में वैरूप है। एव शाक्व और रैवत का अतिमान है। अर्थात् रवत के गभ में शाक्वसाम अवस्थित है। इसी अतिमानसम्बन्ध का निरूपण करती हुई ऐतरेयश्रुति कहती है—

हच्चा वा इदमग्रे रथन्तर चास्ताम् । वाक् च वै त मनश्चास्ताम् । वाग्वै रथ तर
म्-मनो बृहत् । तद्बृहत्पूव मसृजान रथन्तरमत्यम यत । तद् रथन्तर गर्भमधत्त ।
तद्वैरूपमसृजत । ते द्व भूत्वा रथ तर च वैरूप च बृहदत्यमयेताम् । तद् बृहद्गर्भ-
मधत्त । तच्छाक्वरमसृजत । तानि त्रीणि भूत्वा रथ तर च वैरूप च शाक्वर च
बृहच्च, वैराज चात्यम येताम् । तद्बृहद्गर्भमधत्त । तद्वैवतमसृजत । तानि षट् पृष्ठा-
यामय ” ।

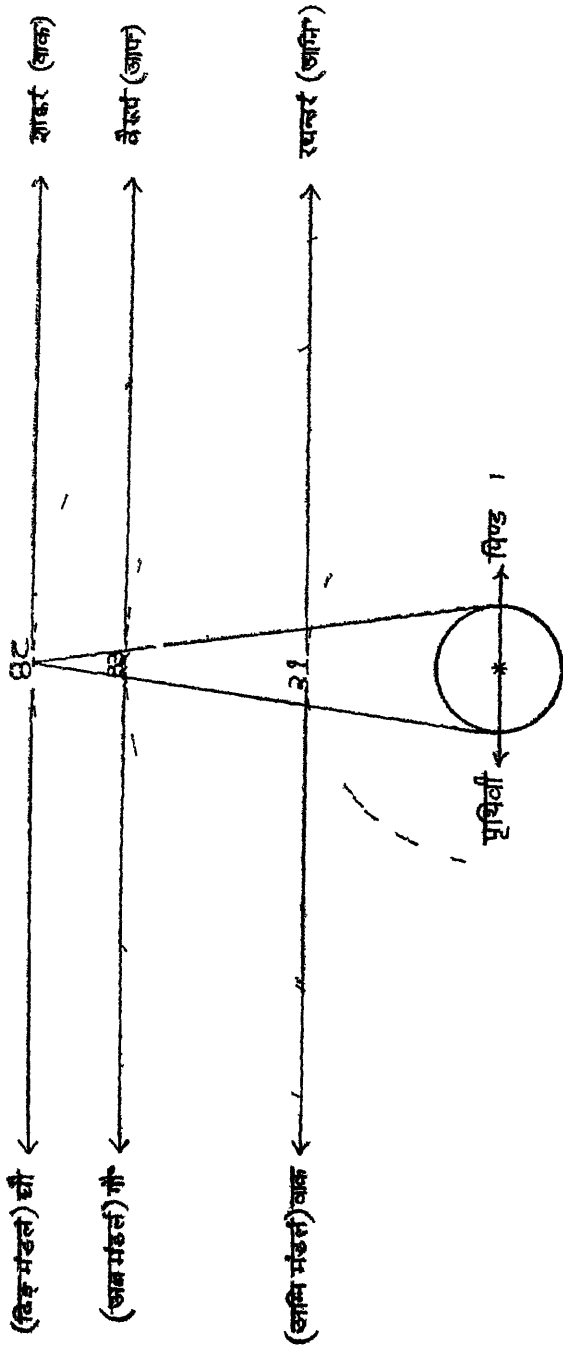
—ए ब्रा १६ अ

इसी आतमानसम्बन्ध से द्यावापृथिवीरूप सूर्य एवं पृथिवी का मिथुन हो रहा है। इसी मिथुन से रोदसीत्रैलोक्य के स पूण पदाथ उ पन्न होत हैं। आगे के रेखाचित्रों से षड्विध शुक्रों का एव षड्विध ही सौर पार्थिव सामो का अतिमानसम्बन्ध सर्वामना स्पष्ट हा जाता है।

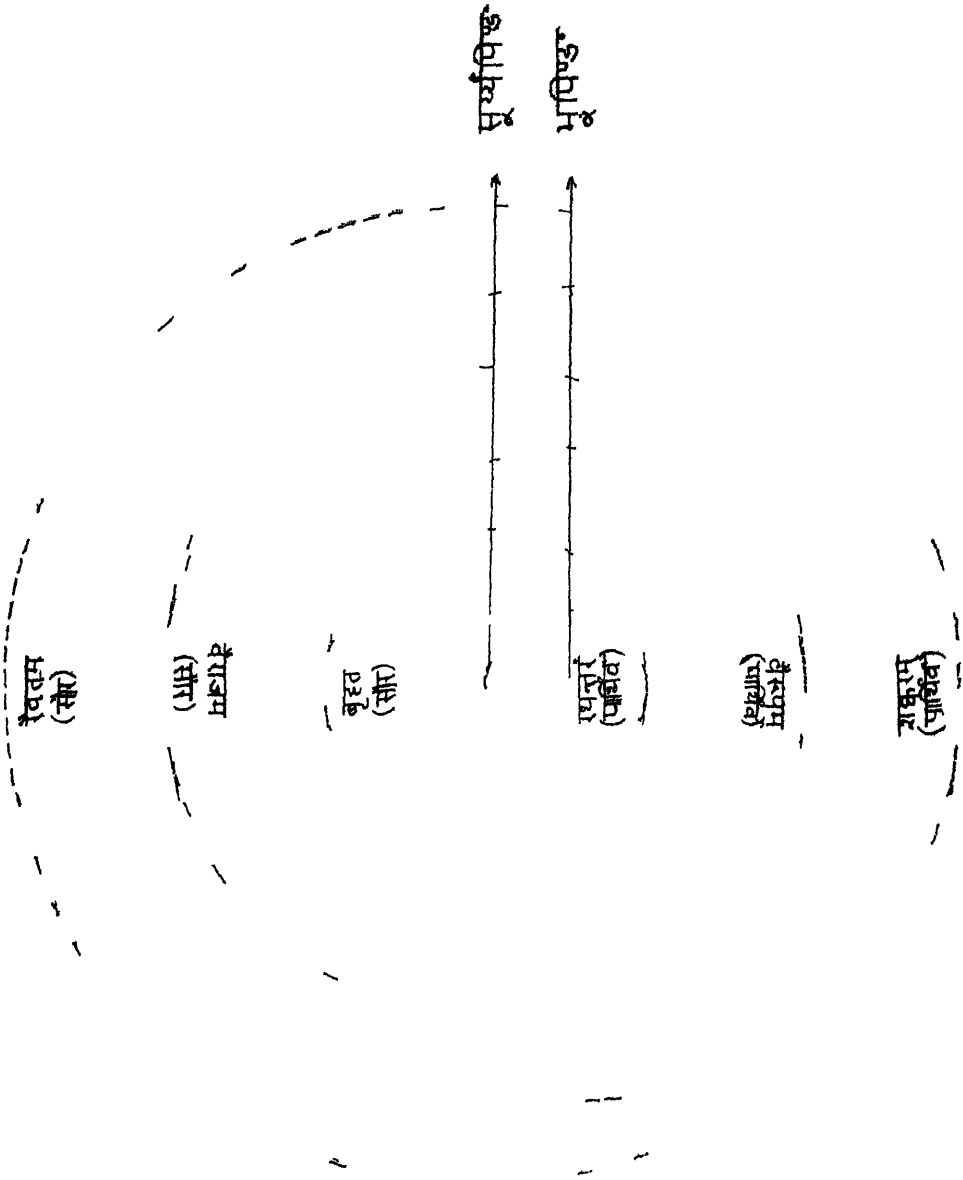
(१)-वागापोऽग्नि -शुक्रत्रयवितानपरिलेख —



(२) पार्थिवसम्बत्सरचक्रानुगत-सामत्रयी-परिलेख —



(३) -भोरपार्थिव सामातिमानपरिलेख -



स्तोम का स्वरूप बतलान हुए पूर्व में हमने युग्म-अयुग्म में स स्तोमों को दो भागों में विभक्त बतलाया है । नम त्रिवृदादि पूवाक्त षट्स्ताम अयुग्मस्ताम ह । एव ४८ प यन्त व्याप्त स्तोम युग्मस्ताम हैं । अयुग्मस्तामा का स्वरूप जस ३३ अहग गो स सम्पन्न हाता है एवमव युग्मस्तोमो का स्वरूप छन्द से सम्पन्न होता है । पृथिवी के वाक् गो-यो तीन मनोता है । याक अग्नि है । गा इन् (मरुत्वानिद्र) है । या आदि य है । तीनों क्रमश गायत्री त्रिष्टुप् जगती छन्दो स छन्दित है । अष्टाक्षरा गायत्री त्रिपात् सम्बन्ध से चतुर्विंशत्यक्षरा है । एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् चतुश्चवारिशदक्षरा (४४) है । एष द्वादशाक्षरा जगती अष्टचत्वारिशदक्षरा (४८) है । इसप्रकार ४४४४८ भेद से पृथिवीपृष्ठ स प्रारम्भ कर वन्प्रष्ठ पथ्यन्त चीन युग्मस्तोम व्याप्त है । छन्द सम्बन्ध से ही यह छन्दोमास्तोम कहा जाता है । इन का अहगहणा मक स्तोमो स सम्बन्ध नहीं है अपितु छन्दोऽक्षरो स सम्बन्ध ह । अतएव छन्दोमास्तोम के नि नलिगित लक्षण कए जात हैं—

‘अस्तोमा वा एते य छन्दोमा तां ब्रा ३।६।३)

‘तद्यच्छन्दोभिर्मितास्तस्माच्छन्दोमा । (कौ ब्रा ६७)

किं छन्दसश्चन्दोमा इत्यत छन्दसो यदेता अक्षरपङ्क्तय इति ब्रूयात् (ता ब्रा १४।११।५) यादि

सूयमयडल क ऊपर आपोमय परमेष्ठीमयडल है । यह सौर रवतसाम के सम्बन्ध से रवती नाम स प्रसिद्ध है । पानी म रहने वाला जा रस मा है वही रवती ह । रसरूप रवती के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठ्य आप रवती नाम से प्रसिद्ध होजाता है । यह रवती आप जागत ओषधियो से सक्लिष्ट रहता ह । ओषधि नाम स प्रसिद्ध सोम यहा (परमे ठी में) प्रतिष्ठत ह । दस प्रकार के सामो मे से अयतम साम ही ओषधि नाम से प्रसिद्ध है । चित्र देवानामुदगात् (यजु] के अनुसार दवप्राण का विकास सूय मे होता है । पारमेष्ठ्य आपधिसोम सौर दवताआ का अपेक्षा प्रथमज ह । अतएव इस के लिए श्रुति कहती है—

या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यास्त्रयुग पुरा ।

—अथवस

पारमेष्ठ्यलोक इसी सौम्यप्राण के सम्बन्ध से पितृलोक कहलाता है । यही ओषधितव है । इसी अभिप्राय से— ओषधिलाको वै पितर (शत १३।८।१।२) यह कहा जाता ह । जिस भौतिकभाग में यह ओषाधिसोम प्रतिष्ठित होजाता ह वह भी ओषधि नाम से ही यवहृत होता है । ४८ स्तोमावच्छिन्न पारावत पृष्ठ जगतीछन्द से छन्दित है यह अनुपद में ही बतलाया जाचुका है । उसी स्थान पर पारमेष्ठ्य ओषाधिसोम प्रतिष्ठित ह । जगती के सम्बन्ध से ही इस ओषधितव को जगय कहा है । प्रकृति में दोनो का नियम सम्बन्ध है । उसी सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए—स रवतीजगतीभि इयादि कहा गया है ॥ ॥

यज्ञ का एकमात्र फल है—एहलौकिक अभ्युदयभोगपूर्वक स्वर्गप्राप्ति । इस स्वर्गप्राप्ति का एकमात्र साधन है देवा मा । यज्ञ के द्वारा नवीन टवा मा उपन्न किया जाता है । ऋक् यजु साम से निष्पन्न

होने वाले हौत्र-आध्वयव-श्रौद्गात्र-कर्म से कृतरूप त्रयीमूर्ति यज्ञकर्ता यजमान के मानुषात्मा (कर्मात्मा भोक्तामा) से नि य सम्बद्ध रहता हुआ वह यज्ञिय दैवात्मा सतदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है । स्थूलशरीर-विमोक्तान्तर इसी आकषण से नि य आकर्षित यजमान का मानुषात्मा सतदश स्वगस्थान में (जोकि स्वगस्थान त्रिणाचिकेत नामसे प्रसिद्ध है) प्रतिष्ठित होता है । जबतक यज्ञातिशय रहता है तबतक यजमान का कर्मात्मा स्वग में प्रतिष्ठित रहता है । यज्ञातिशय के भुक्त होजाने पर पुन वह आमा क्षीणे पुण्ये मत्यलोक वसन्ति इस आगत सिद्धान्त के अनुसार म यभाव को प्राप्त होता है । आज यह यजमान उसी दि यलोक की प्राप्ति के लिए यज्ञ कर रहा है । तदथ इसे यज्ञामा उपन्न करना है । तदथ पुरोडाश सम्पन्न किया जाता है । पुरोडाश ही यज्ञात्मा का उपादान है । परन्तु जबतक उसके साथ पानी का सम्बन्ध नहीं करा दिया जाता तबतक यह पिष्टद्रव यथमपि दवामा का जनक नहीं बन सकता । प्रजननधम एकमात्र पानी में ही है । अपतव के जाया-धारा-आप ये तीन प्रधान गुण हैं । वस्तु उपन्न करना इसी पानी का काम है । भाव गुण नामसे प्रसिद्ध मानसीसृष्टि के साथ यद्यपि केवल प्राणतव का ही सम्बन्ध है । परन्तु पैकारिकीसृष्टि नामसे प्रसिद्ध मैथुनीसृष्टि का तो प्रथम उपक्रम अपतव ही है ।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिस्तृन्निर्विप्रिधा प्रजा ।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

—मनु १।८

उक्त मानवसिद्धान्त के अनुसार प्राणमय स्वयंभू प्रजापति को प्रजोपति के लिए मैथुनीसृष्टि के मूलस्तम्भभूत अपतव को ही सबप्रथम उपन्न करना पड़ता है । पानी के समवय मे ही त्रयीमूर्ति स्वयंभू प्रजापति अण्डरूप में परिणत होते हैं । इसी अण्ड से सम्पूर्ण प्रजा उपन्न होती है । इसी अण्डोपति-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है—

“सोऽपोऽसृजत पाच एव लोकात् । वागेवास्य सासृज्यत । सेद सर्वमाप्नोद्यदिद किञ्च । यदाप्नोत्तस्मादाप । सोऽकामयत—आभ्योऽदभ्योऽधि प्रजायेय इति-सोऽनया त्रग्णा विद्यया महाप प्राविशत् । तत आण्ड समवोत्” ।

—शत ६।१। १६।१० इति

पानी तरल है । तबना इसके समवय के सचमुक्त मैथुनीसृष्टि की उपत्ति असम्भव है । शुक्र-शोणित के समवय से प्रजोपति होती है । परतु दोनों में ही अपतव प्रतिष्ठित है । दोनों ही तरल हैं । अपतव के तन्सी प्रजननधम को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणग्रन्थों में इस अपतव को—जाया नामसे यथद्वत किया है । जिसप्रकार उपन्न करना पानी का काम है तथैव उपन्न प्रजा को प्रतिष्ठित रखना भी इसी अपतव का काम है । तन्सीलिए तसे धारा भी कहा जाता है । सबत्र यागत होने से आप तत्त्व सबका जनक होने से जाया एव सबकी प्रतिष्ठा होने से धारा नामसे प्रसिद्ध यह अपतव ही सर्वम् है । अपतव के इही धर्मों का निरूपण करती हुई गोपथश्रुति करती है—

“स भूयोऽश्राम्यत्-भूयोतप्यत भूय आत्मान समतपन् । तस्य श्रा-तस्य तप्तस्य स तप्तस्य मर्वेभ्यो रोमगर्भेभ्य पृथक् स्वद्वारा प्रास्यदत्त । तदब्रवीत् आभिर्वा अहमिदं सः धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सः जनयिष्यामि यदिदं किञ्च आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि चाददं किञ्च । तद्यद्ब्रवीत् आभि वारा० इति तस्मात् धारा अभवस्तद्द्वाराणां धारा य यच्चामु प्रियते । तद्यद्ब्रवीत् आभिर्वा इदं सः सः जनयिष्यामि इति तस्मात् जागा अभवस्तद्द्वाराणां नायात् य चासु पुरुषो जायते । यच्च पुत्र पुत्राम नरकमनकशततारं तस्मात् त्रात पुत्रस्तत्पुत्रस्य पुत्र वम् । तद्यद्ब्रवीत् आभिर्वा अहमिदं मर्षं आप्स्यामि इति तस्मादापो अभवस्तदपामप्लवम् । आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते” ।

—गात्रा पू १ प्र २ ब्रा इति ।

उपस्थुक्त इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए पुरोडाश में पानी मिलाया जाता है । अपत्त्व के इसी प्रजननधम्म को लक्ष्य में रखकर— जनयत्यै त्वा सयाम यह कहा जाता है । परंतु पानी मिलान समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि इसमें बस मात्रा से ही पानी मिलाया जाय जिससे परिपाक ठाक होजाय न तो पानी की कमी से पुरोडाश जले एव न पानी की अधिकता से परिपाक में कमी रहे । इसी मात्राभाव को लक्ष्य में रखकर यथा वाऽधिवृक्तोऽग्नेरविनायेत—एव वै तत् सयाति यह कहा गया है ॥३॥४॥

प्रत्येक वस्तु की स्वरूपसद्धि के लिए आय और प्रष्ट नामस दो तत्व अपेक्षित हैं । दोनों के समन्वय से ही पदार्थ निष्पन्न होता है । पुरुषसृष्टि का ही लीजिए । पुरुष में आमा-पुर दो भाग हैं । पुर आमा का शरीर है । आमा तभी पुर में प्रतिष्ठित रहता हुआ पुरुष शब्द से व्यवहृत होता है । दोनों के (आमा-पुर) के समन्वय से अध्यात्मस्थान का स्वरूप निष्पन्न होता है । इन दोनों में आमा अनस्था है शरीर अस्थिमत् है । सूक्ष्मभाव अनस्था है स्थूलभाव अनस्था है । प्राणरूप सूक्ष्मतत्त्व ही भूतमय स्थूलभाग की प्रतिष्ठा है । अनस्था प्रथमतः है अस्थिमत् अनन्तर उपन्न होता है । शुक्रशोणित के समन्वित रूप में पहिले अनस्था आपातिक आमा प्रविष्ट होता है । अनन्तर हस्त पाद—उर—आदि अङ्गोपहिता शरीरसृष्टि का निर्माण होता है । इसी विज्ञान का लक्ष्य में रखकर श्रुत कहती है—

‘को ददश प्रथम जायमानमस्थन्वन्त यदनस्था विभात्त’ इति ।

इस अनस्थातत्व का ही नाम याज्ञिक परिभाषाम आय है ए अस्थिमत् तव ही प्रष्ट नामस प्राप्त है । दोनों के सहसंबन्ध से ही प्रजोपत्ति होती है । प्रकृत में पुरोडाश प्रष्टतत्त्व है आयज्य (घृत) आयतत्त्व है । प्रकृतियज्ञ में दोनों का साथ ही समन्वय होता है । यत् नवीन यज्ञामा उपन्न करना है । यहा भी आमा शरीर दोनों अपोक्षित हैं । यज्ञपुरुष का आधा भाग यहा हरि है आधा आय है । दोनों के समन्वय के लिए ही दोनों साथ मिलाए जाते हैं । सा विज्ञानको लक्ष्य में रखकर भगवान् यज्ञवल्कथ ने कहा है—

‘स गश्वासावर्द्धो य उ चायमर्द्धस्ता उभावग्नि गमयाव-इति । तस्माद्वा एत दुभय मह क्रिगते । एतमु हैष आत्मा गज्ञस्य स धीयते” ॥५॥

पृथिवी दधिस्थान है अतरिद्ध घृतस्थान है एव द्युलोक मधुस्थान है (देखिए शत का क्रमचिन्त्राङ्गण) । तेजो व घृतम् के अनुसार यह घृत साक्षात् अग्नि है । वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि घृत है एव वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र तैल है । आग्रयण का ही नाम वरुण है । उसके आक्रमण से जब अग्नि का स्वरूप दात होजाता है तो इस अवस्था में ही अग्नि घृत रूप में परिणत होजाता है । अतरिद्धस्थ वायु में यह घृतमात्रा सवत्र व्याप्त है । भूमण्डल से निकलने वाले अग्नि का वग जिस समय बढता है तो इस सजातीय अग्निमात्रा के सम्बन्ध से आतरिद्ध अग्निमूर्ति घृत बलवान् बनता हुआ वरुणा-क्रमण से पृथक् होता हुआ पिधल पढता है । ऐसी अवस्था में यह भूमण्डल पर गिर पढता है । यही वृष्टि है । वृष्टिजल घृत है । अतएव यास्कने उदक को घृत माना है । श्रुतिने तो—

कृष्ण नियान हरय सुपणा अपो तसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रत्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी युद्यते’

—ऋक् स १।१६५ सू ४७ स

इ यदि रूप स स्पष्ट ही वृष्टिजल को घृत कहा है । और और समयों में यद्यपि इस घृत में वरुण की भी प्रधानता रहती है परन्तु आश्विनमास में तो केवल घृत का ही पौर्णमास होता है । आश्विन के वृष्टि-जल में घृत की प्रधानता रहती है । अतएव लोकभाषा में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि— पानी क्या बरस रहा है घी बरस रहा है । निष्कर्ष यही हुआ कि घृत ही अग्निपरिताप से पिधलता हुआ वृष्टि का कारण बनता है । यह वृष्टिजल किवा घृत जब ओषधि बमस्पतियों में प्रविष्ट होता है तो उनमें एक प्रकार की प्रफुल्लता आजाती है । सब में एकप्रकार की सरसता आजाती है । यही सरस रप उज है । यही वृष्टि का फल है । आपको यह विश्वास करना चाहिए कि यह यज्ञकर्ता यजमान जिस घृत की पुरोडाश के साथ अग्नि में आहुति देता है वह घृत वृष्टिरूप में परिणत होकर इसी यजमान का अन्नाद्य बनता है । क्योंकि यावद् वित्त तावदा मा इस श्रौत सिद्धांत के अनुसार यह घृत यजमान का आ माश है । स्वभाग है । तसे उत्पन्न होने वाला अन्नाद्य इसी यजमान का स्वभागधेय है । इसी वृष्टि एव ऊक रसविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

‘इषेत्वेति वृष्ट्यै तदाह, यदाह इषेत्वेति पुनरुद्वासयति-ऊर्जेत्वेति । यो वृष्टाद्गर्सो जायते तस्मै तदाह ।

जबतक आतरिद्ध घृत के साथ ऊष्मा का सम्बन्ध रहता है तबतक तो वृष्टि होती है एव जब ऊष्मा शांत होजाती है तो वही वृष्टिरूप में परिणत घृत ऊक् रूप में परिणत होजाता है । ऊक् रस वृष्टि की उद्वासित अवस्था है । इसलए— पुनरुद्वासयति-ऊर्जेत्त्वा यह कहा है ॥६॥

अग्नि म सोम की आहुति देना ही यज्ञ है । यह सोम-राजा वाज ग्रह हवि भेद से चार भागों में विभक्त है । राजा सोम से राजसूययज्ञ होता है वाज से वाजपेययज्ञ होता है ग्रहपात्रस्थ बल्ली—

सोम ही ग्रहसोम है। इससे योतष्टोमापरपर्यापिक ग्रहयज्ञ होता है। एव अन्नगत सोम हृषि सोम है। इससे निष्पन्न होने वाले दशपूर्णमासादि-हृषिर्गञ्ज ह। यह यज्ञ ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य भेद से दो भागों में विभक्त है। जो अन्न आत्मा म अतर्प्याम-सम्बन्ध से प्रविष्ट रहता है वह ब्रह्मौदन है। इसकी आहुति कथमपि नहीं हासकती। एव आत्मसत्ता से विरहित अन्न प्रवर्ग्य है। यही आहुतिद्रव्य बनता है। बिना प्रवर्ग्य बनाए वह अन्न अन्य की आहुति नहीं बन सकता। इसी प्रवर्ग्यभाव को सूचित करने के लिए प्रकृत में—घर्मोऽसीति यज्ञमवेतत्करोति (यज्ञान्मेवैतत् करोति) यह कहा है। देवता अमृत हैं। अमृतप्राणदेवता मय अन्न की आहुति कभी नहीं लेते। यह पुरोडाश सवथा मयभावापन्न है। कारण—इस कूटा जाता है पीसा जाता है अग्नि से परिपक्व किया जाता है। इन दुर्दान्त ऋषियों से अन्न का प्राण निकल जाता है। पुरोडाश निजाव गेजाता है। अतः जीमन् देवाना हविरमृतममृतानाम् इस निगम सिद्धान्त के अनुसार तबतक यह पुरोडाश देवताओं के लिए सवथा अयोग्य रहता है जबतक कि इसके साथ आयु समपक प्राणत व का सम्बन्ध न करा दिया जाय। इसी जीवनस पत्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए विश्वायु कहा गया है ॥ ॥

जबतक अन्नरस वृष्टि के रूप में परिणत रहता है तबतक वह भूमाभाव से युक्त रहता है। ओषाध बनस्पति-रूप में परिणत होकर वही अन्नरस विशाल अन्तरिक्ष के भूमाभाव से युत होता हुआ सीमित बन जाता है। पुरोडाश के लिए लाया हुआ वही हवि यज्ञशाला की सीमा से ओर भी आघक सीमित होजाता है। कूट-पीस कर जब इस अन्न को पुरोडाश-स्वरूप म परिणत कर दिया जाता है तो य ओर भी अघिक सीमित होजाता है। यो नै भूमा-तद्वै-सुखम् यदल्प तद्दु खम् इस लक्षण के अनुसार उत्तरोत्तर भूमाभाव से युत होता हुआ अन्नरस अल्पसम्पत्ति से आक्रात होकर दु खभाव से युक्त होजाता है। यजमान र-गरूप भूमासुख की प्राप्ति के लिए ही यज्ञ करना चाहता है। उस भूमासुख की प्राप्ति का अत्यन्त साधन यही पुरोडाश है। आज यह सीमित होरहा है। यह ठीक है कि अग्नि में आहुत होने के अनन्तर यह अग्नि के विशकलन से विशकलित होता हुआ द्य लाकस्थ सप्तदशस्तोम पय्यन्त वितत होता हुआ भूमा-भाव से युक्त होजायगा। परन्तु वक्त मान में तो यह अपता से ही युक्त है। इसी दु खमूला अल्पता को हटा कर इस पुरोडाश में भूमाभाव प्रतिष्ठित करने के लिए ही पुरोडाश को फलाया जाना है। यजमान का वित्तरूप अतएव स्वात्मरूप पुरोडाश यदि भूमाभाव से युक्त है तो यजमान का मानुषात्मा एव तद्बद्ध यज्ञाना मी अवश्य ही भूमाभाव स युक्त है। यजमान इस भूमाभाव स युक्त हो एकमात्र इसी आशी प्राप्ति के लिए पुरोडाश का प्रथन किया जाता है। सी भूमाविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुतिने कहा है—

‘त प्रथयति-उरुप्रथा उरुप्रथस्व । उरु ते यज्ञपति प्रथताम् ॥८॥

भूमाभाव की भी सीमा होती है। विश्व में प्रतिष्ठित मनुष्य का अभ्युदय सीमित भूमाभाव पर ही अवलम्बित है। यदि किसी मनुष्य को आत्मा के (प्रज्ञानात्मा के) आयतन स अघिक भूमाभाव प्राप्त होजाता है तो विश्वास रखिए वह कभी जीवित नहीं रह सकता। निस्सीम भूमा विश्व के बाहिर की व बु है। वह विश्वाभ्युदय को अभिभूत करने वाली है। यजमान को ऐसी भूमा अपेक्षित नहीं है जिससे उसका

स्वरूप ही उल्लिखन नैजाय । विश्व मे रहते हुए उसे विश । क किसी पदार्थ की कमी न रह यही भूमा प्रकृत में अपेक्षित है । जो यथाजात अतएव मनुष्य श दमाक यक्ति अज्ञानयश अपनी छन्द सीमा स (शक्ति—यो यताद के मापदण्ड से) अतिक्रमण प्राप्त करने का साहस कर बैठते हैं व अपने यज्ञा मा के स्वरूप को ही उल्लिखन कर बैठते हैं । मनुष्य अमृतसहित है । उसका सोचा हुआ काय यथ है । निकर है । अतः ऐसे अवसरो पर शास्त्रीय आदेश से ही काम लेना चाहिए । हम भी मनुष्य हैं— ईश्वर ने हमें भी बुद्धिबल दिया है हम स्वर्ग अपनी भलाई बुराई सोच सकते हैं शास्त्र भी तो मनुष्यों व ही बनाए हुए हैं फिर हम क्यों अधभक्त बने रहें ? प्रकृत की अस्मिता में पडकर जा मूढधी मानुषभाव को प्रधान मानते हुए उन आष आज्ञाओं का तिरस्कार कर देते हैं व सचमुच स्वयं अतस्कृत होत हुए अयुदयपथ से एकांतत विमुख ही होजाते हैं । इसलिए अमृतसहित मनुष्य का यह आवश्यक कर्तव्य होजाता है कि वह सयसहित आतपुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट मागरूप शास्त्र के आधार पर ही अपने कर्तव्य का निश्चय कर । इसीम उनका अयुदय तथा निश्चय है । इसी आदेश को उद्धृत करत हुए भगवान् कहत हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वृत्तं ते कामकारत ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परा गतिम् ॥
तास्माद्वास्त्रप्रमाणं ते कार्याकार्यज्ञानस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुं मिहार्हसि ॥

—गीता

यही आदेश प्रकृत से सन्न है । पुरोडाश का प्रथम मनमाना नहीं करदेना चाहिए । कितने ही आचार्यों का यह विचार है कि त्रैलोक्य में विराट्पुरुष याप्त है । सुप्रसिद्ध पूर्व परिचित स्तोत्रमन्त्रलोक्य के त्रिवृत् पञ्चदश एकत्रिंशत् स्तमो में याप्त वैश्वानर—हिरण्यगर्भ सवज्ञ—की समष्टि ही विराट्पुरुष है । इस विराट्पुरुष की याप्ति पार्थिव त्रैलोक्य में है । प्राणमयी पृथिवी का वह भाग—जो कि सूक्ष्म की ओर रह । है अदिति नाम से प्रसिद्ध है । यही अदितिमण्डल स्तोत्रलोक्य की विराट्पुरुष की प्रतिष्ठा है । इस अदिति मण्डल में प्रतिष्ठित सौर षड् पार्थिव प्राण की समष्टि ही अश्वपशु है । जो सौर प्राण पृथिवी से स्पृष्ट होकर पृथिवी से टकराता हुआ २१ व अहगण पर्यन्त सूक्ष्ममुख होता हुआ त्रैलोक्य में याप्त रहता है इसी का नाम अश्वपशु है । इसी में विराट्पुरुष का अंतर्भाव है । त्रैलोक्य की स पूर्ण कामनाएँ यही प्रतिष्ठित हैं । अश्वमूर्ति विराट्पुरुष का एकचतुर्थांश ही हमारे भूपिण्ड में याप्त रहता है । त्रिपादूर्ध्व लक्ष्मण पुरुष पादोत्थेहाभवपुन (यजु म) के अनुसार इस विराट्मूर्ति अश्वपशु के तीन पाद ऊपर रहते हैं एक पाद भूपिण्ड पर रहता है । हमारी कामनाओं के लिए एक ही अश्वशफ पर्याप्त है । इसी विशान को लक्ष्य में रखकर तित्तिरि आचार्यों का कहना है कि अश्वशफमात्रा से ही पुरोडाश का प्रथम करना चाहिए । वात यद्यपि ठीक है । परन्तु शाश्वत्क्य का कहना है कि अश्वशफमात्रा की पूरी इयत्ता हो तब तो ठीक है । पर तु ऐसा होना कठिन है । अश्वशफ की ठीक ठीक सीमा प्राप्त करने में भूल होसकती है । ऐसी अवस्था में यज्ञ में अमृतभाव का प्रवेश दुर्निवार है । इसलिए उचित यही है कि किसी नियत सीमाभाव के बचन

म न पढकर आ मानुकूल ही प्रथन करना चाहिए । ऐसा करने से भूमाभाव की भी प्राप्ति होजाती है
 एव अच्युतभाव का प्रवश भी नहीं होता । इसी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर—यावत्तमे राय
 मनसान सत्रा प्रथु मयत्त—एग कुयात् यह कहा गया ह । १६।१ । ११।१२।१३।१४।
 १५।१६।१ । १८ ।

इति प्रथमकाण्डात्तगत—द्वितीयभाग के द्वितीय ब्राह्मण का,

एव

प्रथमप्रपाठक के छठे ब्राह्मण का भाग अत्र उपरत

प्रथम प्रपाठक समाप्त

—*—

अथ—प्रथमकारण्डे द्वितीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

—*—

१२ पात्रीनिर्णयनम्—पुरोडाशमीमासा—समन्वितम्

—*—

(मूल) —चतुर्धा विहितो ह वा अग्रऽग्निराम । स यमग्रोऽग्नि होत्राय प्रावृणत—म
प्राथ वत् । य द्वितीय प्रावृणत—स प्रैवाव प्रत् । ग तृतीय प्रावृणत—स प्रैवाधन्वत् ।
अथ योऽयमेतह्यग्नि—स भीषा निलिल्य । सोऽप्य प्रविवेश । त देवा अनुविद्य सहसैवा—
द्भ्य आनि यु । मोऽपोऽभितिष्ठेय—अवष्टयूता स्थ या अप्रपदन स्थ, याभ्यो वो
मामकाम नयतीति । तत आप्त्या सम्बभूवु—त्रितो द्वित, एकत ॥१॥

त इन्द्रोऽस्य सह चेरु यथद ब्राह्मणो राजानमनुचरति । स यत्र त्रिशीर्षाण त्वाष्ट्र
विश्वरूप जघान—तस्य हैतेऽपि वध्यस्य पिदाश्वकु । शश्वद्धैन त्रित एव जघान । अत्यह
त्तदिन्द्रोऽभ्युच्यत । दवो हि म ॥२॥

त उ हैत ऊचु उपेवेम एनो ग छ तु यऽस्य वध्यस्यावेदिषुरिति । किमिति । यन्न
एतेषु मृष्टामिति । तदष्वतघज्ञा मृष्ट—यदभ्य पात्रीनिर्णयनमङ्गुलिप्रणयन निन—
यन्ति ॥ ३ ॥

त उ आप्त्या ऊचु अत्येव वयमिदमस्मत्परो नयामति । कमभीति । य एवादक्षि—
णेन हविषा यजाता इति । तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजत् । आप्त्येषु ह यज्ञो मृष्टे ।
आप्त्या उ ह तस्मिन् मृजते—योऽदक्षिणेन हविषा यजते ४॥

ततो देवा एतां दर्शपूर्णमासयार्दान्नामकल्पगन्—यद चाहार्गम् । नेददक्षिण हवि
रसदिति । त नाना निनगति । तथैभ्याऽसमद करोति । तदभितपति—तथैषां शत भवति ।

स निनयति 'त्रिनाय त्वा द्विनाय त्वैकनाय त्वा' (१ अ २३ म) इति ।
पशुर्ह वा एष आलभ्यते यात्पुरोडाश ॥५॥

पुरुष ह वै देवा अग्र पशुमालेभिरे । तस्माल्धस्य मेधोऽपचक्राम । सोऽश्व
प्राववेश । तेऽश्वमालभन्त । तस्माल्धस्य मेधोऽपचक्राम । म गां प्रविवेश । ते गामाल
भन्त । तस्यालधस्य मेधोऽपचक्राम । सोऽवि प्रविवेश । तेऽविमालभन्त । तस्याल
धस्य मेधोऽपचक्राम । सोऽज प्रविवेश । तेऽजमालभन्त । तस्यालधस्य मेधोऽपच
क्राम ॥ ६ ॥

स इमा पृथग्गीं प्रविवेश । त खन त इवान्वीषु । तमवविन्दन् । ताविमौ ब्रीहि-
यवो । तस्मादप्यतावेतर्हि खन त इवैवानुविन्दन्ति । स यावद्वीर्गवद्भु वा अस्यैते सर्वे पशव
आलधा स्यु तावद्वाग्वद्धास्य हविरेव भवति य एवमेतद् वेद । अत्रो सा
सम्पद् यदाहु पाड क्त पशुरति ॥७॥

यदा पिष्टानि, अथ लोमानि भवन्ति । गदाप आनगति, अथ त्वग भवति । गदा
सयौति अथ मास भवति । सतत इव इह स तर्हि भवति सन्ततमिव हि मासम् । गदा
शत, अथास्थि भवति । दारुण इव हि स तर्हि भवति दारुणमिव ह्यस्थि । अथ गदु
द्वासयिष्यनाभधारयति -त मज्जान दधाति । एषो सा सम्पद् गदाहु पाडक्त
पशुरिति ॥८॥

स य पुरुषमालभ त-स किम्पुरुषोऽभवत् । गावश्च च गाञ्च तो गौरश्च गवगश्चा-
भवताम् । यमविमालभन्त-स उष्ट्रोऽभवत् । यमजमालभन्त स शरभोऽभवत् । तस्मा
देतेषा पशूना नाशितव्यम् । अपक्रान्मेधा हैते पशव ॥९॥

इति पुरोडाशप्रकरणम्

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

(अनुवाद)—पहिले अग्नि चार भागों में विभक्त था। सो (अथ य न) जिस अग्नि का होत्र के लिये वरण किया वह पलायित होगया। दूसर अग्नि का वरण किया। वह भी पलायित होगया। जिस तृतीय अग्नि का वरण किया वह भी पलायित ही होगया। पर आज ना अग्नि (यज्ञ में) विद्यमान है भयानुबन्ध से वह तिरोहित होगया। वह जल में प्राण होगया। उसका देव ताओं न अवेक्षण कर अरुस्मात् पानी में से निकाल लिया। (बलादानीयमान) उस अग्नि ने पानी की ओर हे आप तुमने मुझे अपने में छुपने का आश्रय नहीं दिया, तुम्हारे आश्रय न देने से ही देवता बलात्कार से बिना मेरी इच्छा से मुझे लेजा रहे है इसलिये तुम दूषित होजाओ' यह कहते हुए पूँक दिया। इसी से (अग्नि के निष्पीडन से) एकता, द्विता, त्रिता, आप्त्या' उपन्न हुए ॥१॥

वे तीनों आया इन्द्र के साथ उसी प्रकार विचरने लगे जैसेकि आज एक पुरोहित ब्राह्मण राजा के साथ अनुगमन करता है। उस इन्द्र ने जिस समय तीन मस्तक वाले त्वष्ठा के पुत्र अतप्व त्वाष्ट्र नाम से प्रसिद्ध विश्वरूप को मारा था उस समय (इनके साथ रहने वाले) इन आया देवताओं ने भी इस विश्वरूप को बध के योग्य समझा अर्थात् इसे मारने में कोई दोष नहा है, इस दुष्ट को मार ही दना चाहिए इसप्रकार आप्त्याओं ने त्वाष्ट्र के मारने में अपनी सम्मति ही प्रकट की थी। यही नहीं जब इन्द्र त्वाष्ट्र को मारने लगे तो आयाओं ही इस कृत्य में विशेष सहायता प्रदान की थी। त्वहान विश्वरूप का पर्याप्त (जी मर कर) हनन किया था। अतः त्रिता नाम के आया ने ही उसे मारा था। अर्थात् त्वाष्ट्र असुर त्रित के हथ से मारा गया था। परिणाम सका यह हुआ कि इन्द्र इस हत्या के दोष से स्वयं विमुक्त होगये। कारण कि वे देवता थे ॥२॥

इस घटना से उहा उपस्थित हुए देवताओं ने कहा कि इस हत्या का पाप इन्हीं आप्त्यों को लगे जिन्होंने कि त्वाष्ट्र के वध का समर्थन किया। उस हत्या के दुष्ट का क्या स्वरूप होगा ? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर अतः मे यही निणय हुआ कि 'यज्ञ में जो कुछ दूषित भाग हो उसको इनके साथ ही सप्लिष्ट कर दिया जाय'। इसप्रकार यज्ञ में जो पात्रिनीर्णजन अङ्गुलि प्रणोजन का आया के लिए डालते है उससे स आप्त्यों का उसी दोषभाग से संश्लिष्ट करते है ॥३॥

(स पातक को तथोक्त प्रकार से अपने उपर आया देख कर) आप्त्या देवताओं ने परस्पर निश्चय किया कि अपन भी इस पाप का अपने से अथ ही किसी में डाल दें। किस में

डाल ? इस प्रश्न क उपस्थित होने पर निराण्य हुआ कि जो यजमान दक्षिणाशूय हविसे यजन करे उसी में गह पाप सक्रात हो । इसालय दक्षिणाशूय हवि से यजमान को भूलकर भी यज्ञ नहीं करना चाहिये । यज्ञसम्बन्धी पाप्मा भाग आप्त्यों में सशिलष होरहा है । आप्त्या देवता स्त्रपाप्मा उसमे डाल दते है । बिना दक्षिणा की हवि से यजन करता है ॥४॥

(आप्त्या देवता यजमान में अपन पाप का सशिलष न करने इस आपत्ति से बचने के लिए ही) देवताओंने दशपूर्णमासयज्ञ में इस दक्षिणा का विधान किया तो कि अवाहाग्य है । यह हवि अदक्षिण न होजाय यही इस दक्षिणा विधान का तापग्य था । उन आप्त्यों के लिए प्रथक् प्रथक् निनयन करता है । निनयनाथ उपस्थित जल को तापाङ्गार से तपाता है । ऐसा करने से आप्त्या की अन्नरूपा यह जलसम्पत्ति परिपक्व होजाती है । आप्त्या के लिए निनयन क्यों किया जाता है ? इस की उपपत्ति बतलानी गई । अब पद्धति बतलाते है) यह अग्यु 'पा य गुलिप्रक्षालनमाप्त्येभ्यो निनयति अभितप्य प्रत्यगमस्य दमान त्रिताय त्वेति प्रति मन्त्रम् (का श्रौ सू २।६।२६।) इस के अनुसार त्रिताय वा निनयामि द्वितीय त्वा निनयामि, एकताय त्वा निनयाम (यजु स १। ३) इन मंत्रों को बोलता हुआ क्रमशः निनयन करता है । यहा जा यह पुरोडाश है वह पशु का ही आलम्भन किया जाता है । अथान यह पुरोडाश पशुस्थानीय है । इसे पशु की ही प्रतिकृति समझना चाहिए यही तात्पर्य है ॥५॥

देवताओंने सब से पहिले पुरुषपशु का आलम्भन किया । उस आलम्भ पशु का मेघ भाग अपक्रात होगया । वह अश्वपशु में प्रविष्ट होगया । देवताओंने (मेघभाग की प्राप्ति के लिए) अश्वपशु का आलम्भन किया । आलम्भ अश्वपशु का मेघ अपक्रात होगया । यह गोपशु में प्रविष्ट होगया । देवताओंने गोपशु का आलम्भन किया । आलम्भ इस गोपशु का मेघ अपक्रात होगया । अपक्रात होकर यह अज (भेड़) पशु में प्रविष्ट होगया । देवताओंने अविपशु का आलम्भन किया । आलम्भ अविपशु का मेघ अपक्रात होगया । अपक्रात होकर यह अज (बकरा) पशु में प्रविष्ट होगया । देवताओंने अजपशु का आलम्भन किया । आलम्भ अजपशु का मेघ अपक्रात होगया ॥६॥

यह मघभाग प्रथिणी में प्रविष्ट होगया । स्थान स्थान पर भूमि निखनन करते हुए देवताओंने उस मेघ का अन्वेषण आरम्भ किया । अन्त में उदने अपक्रात मेघ को उपलब्ध कर लिया । वही अपक्रात मेघ यह चोबल, और यव है । (आरम्भ में मेघरूप ब्रीहि और यव को देवताओंने भूमिनिखनन के द्वारा दूना था) यही कारण है कि आज भी कृषक भूमि के निखनन के माध्यम से ही मेघसम्पत्ति प्राप्त करते हैं ।

पुरुष—अश्व-गो-अवि अज-य पाचा पशु आलम्ब होकर इस यजमान के लिए जिस मात्रा से पर्याप्त होते हैं वह सम्पूर्णा मात्रा एरुमात्र इस पुरोडाश से ही प्राप्त होजाती है जो कि यजमान इस रहस्य को जानता है। इस हवि से यह यज्ञसम्पत्ति प्राप्त होजाती है जिस के लिए कि सम्पद रहस्यवेत्ता 'पाड क्त पशु' यह कहा करते हैं ॥७॥

कैसे पुरोडाश से पशुसम्पत्ति प्राप्त होजाती है ? इस का उल्लेख करती हुई श्रुति कहती है

जब यह हविद्रव्य पिष्ट अवस्था से युक्त रहत हैं तब इन में लोम है। जब पानी डालत है तब त्वग्भावसम्पन्न होजाता है। जब पानी को इस में मिलात है तब मास सम्पत्ति आजाती है। उस समय यह फैलता जाता है। मास फैला हुआ सा ही है। जब पक होजाता है तो अस्थि भाग का उदय है। उस समय (पक्कावस्था में) यह कठिन सा होजाता है। हड्डी भी दारुण सी ही है। जब इसे ठंडा करते हुए इस में घृत डालत है तो मज्जाभाव का समावेश करत है। यही वह सम्पत् है जिस के लिए कि-पाड क्त पशु यह कहा करत है ॥८॥

सो जो कि (मेधप्राप्ति की कामना से) देवताओं में पुरुष का आलम्बन किया वह किपुरुष बना। अश्व-गो के आलम्बन से क्रमशः गौर ए। गवय पशु उत्पन्न हुए। अविपशु के आलम्बन से उष्टपशु उत्पन्न हुए। अजपशु के आलम्बन से शरभपशु उत्पन्न हुआ। इमलिये इन पशुओं का (किपुरुष-गौर ग। य-उष्ट-शरभ पशुओं का मास नहीं खाना चाहिए। कारण ये पाँच ही पशु अपक्रा तमेध है। ये अमे य पशु हैं ॥९॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का तीसरा, एव दूसरे प्रपाठक का पहिला ब्राह्मण-उपरत

—*—

(भा य)—पुरोडाश स पन्न होचुका है। पुरोडाश के सम्बन्ध में अब- पात्र निर्णेजन नामक क म अवशिष्ट रहा है। पुरोडाश के स पन्न होने के अनन्तर पात्री में अ वय्यु हाथ धोता है। उसकी अङ्ग लियो स किंवा हाथों में जो पिष्टभाग लगा रहता है यह सब धोकर उस पुरोडाशपात्री में डाल दिया जाता है। पात्रीस्थित मलयुक्त पुरोडाश के अशसे युक्त इस पानी का क्या उपयोग ? प्रकृत में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। मानुष-यवहारवत् इस पानी को यथेच्छ नहीं डाला जाता। अपितु-विहार के उत्तर भाग में स्फ्य से तीन खड्डु प्राक्सस्थ बनाए जाते हैं। व तीनों खड्डु परस्पर में सबथा असङ्ग (बिना मिले हुए) रहत है पात्री एव अङ्ग लिहस्तप्रक्षालित जलको प्रथम उस पात्री में ही रक्खा जाता है। गार्हप याग्नि में से उल्मुक् (जलती हुई तृणमुष्टि) लाकर पहिले इस प्रक्षालित जलको (जिस में कि कुछ पुरोडाश का भी

अश रहता है)तपाते हैं । साथ ही जिन आग्यों के लिये यह जल डाला जाता है व दवताश्लेष हैं अन एव देवतोद् शन यजमान के द्वारा याग भी किया जाता है । नाप्य्य यही है कि अध्वर्यु क्रमश —

‘ओं त्रिताय त्वा निनयामि ‘ओं द्विताय त्वा निनयामि’— ‘ओं एकताय त्वा निनयामि’ *

उक्त मन्त्र बोलता हुआ प्रतिम त्रोच्चारण—क्रमसे उपर्युक्त गर्तों में जब प्रक्षालित जल डालता है तो यजमान ओ इद् त्रितायाप्त्याय न मम ओ द्वितायाप्त्याय न मम ओ एकतायाप्त्याय न मम इस क्रम से त्याग करता है । अ वय्यु का यह क्रम नियन नाम से प्रसिद्ध है एव यजमान का यह कर्म प्रतिनियन नाम से व्यवहृत होता है । यही कर्म पात्रीनिर्णोजन नाम से प्रसिद्ध है । इस क्रम के अनन्तर—अन्वाहाय्य दक्षिणाग्नावधिश्रयति (का औ सू २।६।२८) के अनुसार अ वय्यु अन्वाहाय्य— नाम से प्रसिद्ध ओदन को परिपाक के लिए अपरणाग्नि नाम से प्रसिद्ध दक्षिणाग्नि पर रखता है ।

बिना पशुसम्पत्ति के यज्ञ नहीं होसकता । प्रत्येक यज्ञ में पशु का मधभाग अपेक्षित है । इस के लिए पशु का आलम्भन करना भी आवश्यक होजाता है । परंतु हम देखने हैं कि इस हवियज्ञामक दश—पूरणमास यज्ञ में पशु का अभाव है । आहुति के स्थान में प्रकृत में पुरोडाश का ही ग्रहण किया गया है । ऐसी अवस्था में पशु के बिना कभी स पन्न न होने वाली यज्ञस पति का अभाव होजाता है । इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रकृत ब्राह्मण में प्रसङ्गागत आलम्भन विज्ञान का भी निरूपण किया गया है । इसप्रकार इस ब्राह्मण में प्रधानरूप से १—आप्त्याविज्ञान २—दक्षिणाविज्ञान ३—अलम्भनविज्ञान इन तीन विषयों का निरूपण किया गया है । तीनों में क्रमप्राप्त प्रथम आप्त्यावज्ञान की ओर ही विश पाठको का यान आकर्षित किया जाता है ।

आप्त्याविज्ञानम्

आप्त्याविज्ञान का मूलाधार चतुर्द्धा विहितो ह वा अत्र ऽग्निरास यही अनुगमश्च ति है । निगम अनुगम शब्दों का अर्थ पूष के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है । अतः प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि नियताथ का प्रतिपादन करने वाले श्रौतवचन निगम एव अन्वय का निरूपण करने वाले श्रौतवचन अनगम कहलाते हैं । उपर्युक्त अनुगम की यही स्थिति है । पहिले अग्नि चतुर्द्धा विभक्त था इस अनुगम का यही शब्दाथ है । अग्नि का यह चातुर्विध्य अनेक प्रकार का है । अनेक प्रकार

* यद्यपि मूलसंहिता में निनयामि पद नहीं है परन्तु मीमांसानुसार आनाज्ञा से निनयामि का अर्थ याहार करना आवश्यक होजाता है ।

—दर्शपूर्णमास में दक्षिणास्थान में नियत ओदन ही अन्वाहाय्य कहलाता है । अ वय्यु होता—उद्गाता—ब्रह्मा ये चारों ऋषिक्त्तृत होजाय इतना ओदन परिपाक हाता है । इसका परिपाक प्रणीतापात्रस्थ जल से अथवा लौकिक जल से ही होजाता है । यह अन्वाहा यद्रव्य दक्षिणा थानीय है । इस का परिपाक अपरणाग्नि में होता है इसलिए भी अपरणाग्नि को— दक्षिणाग्नि कहा जाता है ।

से अग्नि चतुर्धा विभक्त है। सब का सत्त्वेपसे सग्रह करने के लिए ही ऋषिने सामा यत -चतुर्धा त्रिहित य का है। प्रसङ्गात् दो तीन विभागों का प्रकृत में भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

पुरुष प्रकृति विराट सम्ब सर भेद से अग्नि चतुर्धा विभक्त है। अ यय-अक्षर-क्षर परा पर की समष्टि षोडशीपुरुष है जैसा कि पूव के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस पुरुष त्रयी में म यस्थ म यम-पुरुष अक्षर है। इसकी ब्रह्मा-विष्णु- इंद्र-अग्नि सोम ये पांच ऋणाँ हैं। यह अक्षरानि ही पौरुषाग्नि है। यही विश्व का सञ्चालक है। यह प्रथमाग्नि है। वस्तुस्वरूपस मर्षक अग्नि प्राकृताग्नि है। हिरण्यगर्भ नाम से प्राप्त दशधिव ऋषिप्राण की समष्टिरूप आर्षे याग्नि विराडग्नि है एव चयनयज्ञ का अधिष्ठाता सौर अग्नि ही सम्ब सराग्नि है। इसप्रकार एक ही अग्नि तव अवस्थाभेद से चार भागों में विभक्त हो रहा है।

१—पौरुषाग्नि (“पुरुषाग्नि ” शत १।४।१।६)।

२—प्राकृताग्नि ।

३—विराडग्नि (विराडग्नि ' शत ६।२।२।३४)।

४—सम्बत्सराग्नि (‘अग्निर्वाव सम्बत्सर’ तै ब्रा २।१।५२)।

—*—

प्रकारांतर से ब्रह्म-सुब्रह्म शुक्र भूत भेद से अग्नि तव चतुर्धा विभक्त है। प्राणमय स्यायम्भुव अग्नि ब्रह्माग्नि है। यही अग्नि— वाग्नि सावयोजुषाग्नि वेदाग्नि—प्राणाग्नि—स-याग्नि आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। पारमेष्ठ्य ऋताग्नि सुब्रह्माग्नि कहलाता है। ब्रह्माग्नि एव सुब्रह्माग्नि के संयोग से उ पन्न होने वाला स पर्यगाच्छुक्रमकायमन्नणम् (इशोपनिषत्) आदि रूप से उपवर्णित ससार का बीजरूप अग्नि शुक्राग्नि नाम से प्रसिद्ध है। एव तेजोऽग्नि चोथा भूताग्नि है। यह वसु नाम से व्यवहृत किया जाता है। जिस साधारण मनुष्य अग्नि (तापयुक्त वालायुक्त अन्नादि का परिपाक करने वाला प्रयत्नदृष्ट स्थूल अग्नि) समझते हैं वही भूताग्नि है। इसी भूताग्नि को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—

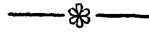
अग्नि त मये यो वसुरस्त य यति धेनव ।

अस्तमव त आशवोऽस्तां नित्यासो वाजिन इष स्तोतृभ्य आ भर ॥

—ऋक् स ५म। ६सू। १ म

ऋषि कहते हैं कि हम अग्नि (भूताग्नि) उसे समझते हैं लोक में जो वसु नाम से प्रसिद्ध है एव सूर्यास्त पर जिस से किरण निकला करती हैं। इसप्रकार प्रकृत तर से भी अग्नि की चार अवस्थाएँ हो जाती है।

- १—ब्रह्माग्नि—मौलिकोऽग्नि सत्याग्नि, यजुरूप । तृतीयरूपो वा ।
- २—सुब्रह्माग्नि—आपोऽग्निर्मुताग्नि अथवरूप ।
- ३—शुक्राग्नि—ब्रह्मसुब्रह्मयोगादुत्पन्नो विश्ववीज
- ४—भूताग्नि—प्रत्यक्षद्रष्टापधर्मा वसुरग्नि



यज्ञमन्त्रादा के अनुसार भी अग्नि-व चतुर्धा विभक्त है । अग्नि की ये चारो अवस्थाएँ—क्रमशः १ आहित २ उदधृत ३ प्रहृत ४ विहृत इन नामों से प्रसिद्ध हैं । [देखिए शत ब्रा ११ का । ८ । २ । १ ।] ।

ये चारो ही अग्नि-ववत् चि यागन के अवातर भेद हैं । यह अधिलोक अधिद्व अधियज्ञ अधियाज्ञिकदेव भेद से चार स्थानों में विभक्त है । पृथिवी-अतरिक्ष-द्यौ आप ये चारो स्तोम्यलोक भी इही चारो अग्नि-व से नि पन्न हुए हैं एव इन चारो लोकों को मे अत ठावरूप से प्रतिष्ठित भी ये ही चारो हैं । इसीप्रकार कुण्ड एव कुण्डो म देवरूप से प्रतिष्ठित भी ये ही चारो हैं । सौरप्रजापति अपने अग्नि का प्रवग्यरूप से भूलोक में आधान करते हैं । दूसरे शब्दों में सौर अग्नि ही पृथक् हाकर भूसस्था का स्वरूप समपक बनता है । अत एव इसे—आहिताग्नि कहा जाता है । त्रिवृत्तरूप पृथिवी-स्थान में यही अग्नि प्राणदेवताओं के द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है अतएव उसे उद्वताग्नि कहा जाता है । यही अग्नि सप्तदश(१७)स्तोमरूप आहवनीयारय उत्तरावादस्थ व लोक में जाकर प्रतिष्ठित होता है । दूसरे शब्दों में यही अग्नि प्राणदेवताओं के द्वारा आहवनीयरूप स्वगप्रदेश में लेजाया जाता है । अतएव उसे प्रन्ताग्नि कहा जाता है । अन्नादि का परिपाक करने वाला शामिताग्नि नाम से प्रसिद्ध अग्नि ही चाथा विहृताग्नि है ।

शतपथब्राह्मण के ११ व काण्ड में—पाशुकवेदिनिरूपण में इन चारो का विशद निरूपण किया गया है । यहा नाममात्र ही उद्धृत कर दिए गए हैं ।

१—पृथिवी	आहिताचत्याग्नि	} — अधिलोकम्
२—अतरिक्षम्	उद्धतचित्याग्नि	
३—द्यौ	प्रहृतचित्याग्नि	
४—आप	विहृतचित्याग्नि	

*—

१—अग्नि	आहितचित्याग्नि	} — अधिदैवम्
२—वायु	उद्धृतचित्याग्नि	
३—आदित्य	प्रहृतचित्याग्नि	
४—चन्द्रमा	विहृतचित्याग्नि	

*—

१—गार्हपत्यकुण्डम्	आहिताग्नि	} — अधियज्ञम्
२—दाक्षणाग्निकुण्डम्	उद्धताग्नि	
३—आहवनीयाग्निकुण्डम्	प्रहृताग्नि	
४—शामित्रशाला	विहृताग्नि	

*—

१—गार्हपत्याग्नि	आहित	} — अधियाज्ञिकदैवम्
२—हवि श्रपणाग्नि	उद्धृत	
३—आहवनीयाग्नि	प्रहृत	
४—पशुश्रपणाग्नि	विहृत	

*—

तथाक्वा अग्निविधाओ म स त्तिथ्या विवा के शुक्राग्नि का ही प्रकृत से सम्बन्ध है। शुक्राग्नि की चार अवस्थाओं को लक्ष्य म रखकर श्रुत ने—चतुर्धा विहिता ह वा अम अग्निरास यह कहा है। यहा अग्ने शब्द का—हवियज्ञ स पहिल यही अर्थ समझना चाहिए। प्रकृतिसिद्ध निय हवियज्ञ का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। सुप्रसिद्ध आ या—आग्नियों का इसी भूपिण्डावाच्छन्न हवियज्ञ से सम्बन्ध समझना चाहिए। आज यद्यपि यह आ याग्नि सम्मिलित नैकर एकरूप से प्रतीत हो रहे हैं परतु हवियज्ञ—स्वरूपान पत्ति स पाहले यह आग्नत व—१ रसाग्नि आत्त वाग्नि ३ छ दस्याग्नि ४ सावित्राग्नि इन नामों से ही प्रामाद्व था। यही अग्निचतुष्टयी स्तोत्रलाक्य एव तत्प्रातश्च प्रजा का बीज है उपादान—कारण है अतएव इसे—शुक्राग्नि नाम से यवहृत किया जाता ह। इस की प्रथमावस्था का नाम ही रसाग्नि ह।

१—रसाग्नि —

भूपिण्ड के केन्द्र में अपनी प्रतिष्ठा रखने वाला भूपिण्ड में निकल कर २१ व अहगण पथ्यन्त अपनी यागि रग्ने वाला त्रिवृत पञ्चदश एकविंश—स्तोमरूप प्रथिवी अतरिक्त—यौ वन तीनों लोकों म क्रमशः त्वि (घनरस) घृत (तरलरस) मधु (पिरलरस) रसरूप में परिणत रहने वाला प्राणामक पार्थिव अग्नि ही जोक याज्ञिक परिभाषा के अनुसार चित्तेनिधेय नाम से प्रसिद्ध है] रसाग्नि नामक प्रथमाग्नि है। इसी रसतम अग्नि से पार्थिव सामपिण्डल नि पन्न होता है अतएव पार्थिव साम रथ—तर नाम स यवहृत किया जाता है। आप फेन मृत् सिकता शकरा अश्मा अथ हिरण्य मे स भूपिण्ड अष्टाक्षर होता हुआ गायत्रस पत्ति से सयुक्त है। अतएव यह अनगच्छत् रसारय पार्थिव प्राणाग्नि भी गायत्री नाम से प्रसिद्ध है। यही गायत्री सुपणरूप में परिणत होकर २१ विंशस्तोम के ऊपरि भाग में प्रतिष्ठित वायव्य गधन प्राण से सुरक्षित पारमेष्ठ्य सामापहरण करने में समथ होती है। जैसे सावित्राग्नि आदि—य कहलाता है एवमेव इस पार्थिव प्राणाग्नि को अङ्गिरोऽग्नि कहा जाता है। अङ्गि—राऽग्नि भूपिण्ड से निकल कर निरंतर द्युलोक की ओर जाया करता है एव आदित्याग्नि स्य्यपिण्ड से निकलकर निरंतर भूपिण्ड की ओर आता रहता है। इसप्रकार आदिय और अङ्गिरा में निरन्तर स्पर्षा चलती रहती है। प्रकृत म केव न यही बतलाना है एक घनादि तीन अवस्थाओं म पारणत रहने वाला पार्थिव प्राणाग्नि ही रसाग्नि है। यही रसाग्नि दि—य सौरदेवताओं के लिए पार्थिवान्नरूप हवि का वहन करता है। अतएव उसे ह—यवाट् कहा जाता है। सम्पूर्ण पार्थिवरस निगच्छत् इसी पार्थिव प्राणाग्नि में आहुत होकर आदि—य नाम स प्रसिद्ध सौराग्नि में आहुत होते रहत हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

अग्नौ (रसाग्नौ) प्रास्ताहुति सम्यगादित्ययुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वष्ट रन्न तत प्रजा ॥

—मनु

इसी ह यवाट् अग्नि का स्वरूप—निरूपण करती हुई शुक्लश्रुति कहती है—

शेष वनेषु मातषु मन्वा मर्त्तम इन्दत ।

अतन्द्रो हव्य वहमि हन्निष्कृदादिद् वेषु राजसि ॥

—यजु सहितायाम्

दिय मोर प्राणतताया का यनमाना मा म सत्रय त्सा रसाग्नि के द्वारा होता है । यही आह्वाता है अतएव इमे हाता भी कहा जाता है । यही वनाया का त्त है । अग्नि दूत वृषीमहे होतार रनधातमम् के अनुसार यह मानि देवताया का त्त है एव होता है * । इसी विज्ञान को लक्ष्य म रगकर ब्राह्मणश्रुति क ती ।

उभग दाऽएतदग्निर्देवाना होता च त्तश्च ।

—श १।४।५।४।

यह साग्नि सप्तत्य एव सशरीरा है अत व मन्द्य सशरार सयम् स लक्ष्य मे स साग्नि को मत्याग्नि कहा जासकता है । अग्नि क त्मी स यधम को लक्ष्य म रखकर अग्ने नय सुप मा राय इयाणि कहा जाता है । नियतमाग ही सुपथ है । सत्यभाय ही नियतमाग है । अध्यामदृष्या यही अपानाग्नि है । ओर यही प्र माग्नि का सक्षि त्तरूप-निदर्शन है ।

२-आत्तवाग्नि —

दक्षिणादक से उत्तर की ओ जाने वाला अग्नि ही आत्तवाग्नि है । इसी आन से ओषधि वनस्पातया का परिपाक होता है । अतएव वज्ञानिकों स अग्नि को अप्रणाग्नि नाम से यवहृत किया है । यह आग्नि प्राय य है प्रायुरूप है । अर्थात् ऋतधर्मा अतएव केद्रशय होता हुआ ऋत है । उत्तर दिक्स्थ ऋतसाम निरंतर दक्षिण की ओर जाया करता है । इसी ऋताग्नि-ऋतसोम के उद्ग्राभ निग्राभ (चढाव-उतार) से ऋतु का वरूप सम्पन्न होता है । ऋताग्नि एव ऋतसोम से उपन्न होने से ही वसन्तादि काल-अवयव ऋतु नाम स प्रसिद्ध है । त्स ऋतु में प्रतिष्ठित वायव्याग्नि का ही नाम आत्त-वाग्नि है । स्त्री के शोणित म नत्र स आत्तव अग्नि का प्रवेश होता है तभी उसमें प्रबोपति सामध्य आता है । आनवा न के प्रवेश म हा स्त्री ऋतुमती कहलाती है । प्रकृति के यच्चयावत् पदाथ अपनी अपनी ऋतु म ही उपन हात है । यह आत्तवाग्नि पात क्तयज्ञ की पाड क्तता [पञ्चावयवता] के अनुसार- १ वसन्त २-ग्राष्म ३ वषा ४ हेमन्तशिशिर त्तन पाच भागो म विभक्त है । ये विभाग ७२-७२ अहोरात्रों के होत हैं । १६ ४ १६ क्रम स क्रमश प्रत्येक ऋतु में प्रात सवन माध्यदिनसवन सायसवन इन तीन तीन सपना का भोग होता है । प्रार म के १६ दिन प्रात सवन है यी ऋतु की बालागस्था है । ४ त्तन युजागस्था है । अत क १६ वृद्धागस्था है । यज्ञकर्त्ता यज्ञमान के नवीन देवामा के साथ न पाचो ऋतुदेवताया का भी सम्भव रत्ता है । त्ह तृत् करने के लिए ही पञ्चप्रयाज करने पडते हैं । अ या मद्र न्या यी वाय याग्नि- यानानि नाम से प्रसिद्ध है । ओर यही है आत्त वाग्नि का सक्षि त्त-स्वरूप-निदर्शन ।

* त्स विषय का वैज्ञानिक विवचन आगे आने वाले होतुप्रवरण ब्राह्मण में किया जायगा ।

३-छन्दस्याग्नि —

प्रत्येक वस्तु का अपना एक आयतन अवश्य होता है। यह आयतन ही तद्वस्तु का स्वरूप-समपक है। वही आयतन को ज्ञानपरिभाषानुसार वयोनाथ कहा जाता है। वस्तुतः वय है। यह वय (वस्तु) उम आयतन से युक्त रहता है। दूसरे शब्दों में वय अपने आयतन के उदर में प्रतिष्ठित रहता है अतएव वय को अन्न शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है (शत ८।५।२६)। इस वयोरूप अन्न को उसका आयतन सवत बद्ध रखता है अतएव इस आयतन को वयोनाथ कहा जाता है। यही तथा नाथ याज्ञिक परिभाषानुसार छन्द नाम से व्यवहृत होता है। छन्द एक प्रकार का अग्नि तत्व ही है।

यही छन्दोऽग्नि-वाक् नाम से प्रसिद्ध है। इस वाक् के तत्त्व परिमाण ही तत्तच्छन्द-स्वरूप में परिणत होते हैं। अतएव आप्तपुरुष छन्द का—वाक्परिमाण छन्द यह लक्षण प्रक्या करन ह। यह वाक्त्व तस्य वा एतस्याग्नेऽग्निवोपनिपत् (श १ का) के अनुसार अग्नि ही है। इस आग्नि का एवमात्र काय्य वस्तुस्वरूप की तदायतनरूप से रक्षा करना ही है। त्रिलोक्य के पदाथ प्राथमी अन्तरिक्ष द्यौ आप मे से चार स्वरूपों में विभक्त ह। इन चारों प्रकार के पदार्थों को सीमित बनाने वाले चार वाकछन्द ही ह। व ही चारों छन्द वज्ञानिक परिभाषा म—मा प्रमा प्रतिमा अक्षीवि नाम से व्यवहृत होते हैं। पृथिवीलोक का एव तद्गत पार्थिव पदार्थों का सामान्य छन्द मा है। अन्तरिक्षलोक एव तद्गत आतरिद्य पदार्थों का सामान्य छन्द प्रमा नाम से प्रसिद्ध है। द्युलोक एव तद्गत दिव्यपदार्थों का छन्द प्रतिमा है। एव आपोऽगत टिकस्वरूप सम्पादक छन्द अक्षीवि नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञिक परिभाषानुसार मा प्रमा प्रतिमा अक्षीवि ही क्रमश गायत्री त्रिष्टुप जगती अनुष्टुप् नाम से व्यवहृत होते हैं। गायत्री पार्थिव छन्द है। त्रिष्टुप आतरिद्य छन्द है। जगती दिव्य छन्द है। एव अनुष्टुप् आप्यछन्द है। पृथिवीलोक अग्निभू स्थान के अनुसार आग्नेय है। अतएव अग्नि गायत्रीछन्दा कहा जाता है। वायुर्वेदो ज्ञानरिक्तरान (या नि) के अनुसार अन्तरिक्ष में मरुत्वान् इन्द्र की सत्ता मानी जाती है। अतएव इन्द्र को त्रिष्टुपछन्दा माना जाता है। सूर्यो द्युस्थान के अनुसार सूर्य सावदैवय होता हुआ विश्वेदेव है। अतएव विश्वत्व को जगतीछन्दा माना जाता है। एव प्राजा पयविवत्त को अक्षीविछन्दा माना जाता है। गायत्री त्रिष्टुप जगती अनुष्टुप चारों ही छन्द-स्याग्नि हैं। इन्हीं चारों आयतनों में क्रमश अग्निमय वसु वायुमय रुद्र आदित्यमय विश्वेदेव तथा आपोमय आप्त्यादेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। सम्पूर्ण देवता इन्हीं चारों छन्दों पर प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव वाङ्मय इन छन्दों को अश्व नाम से व्यवहृत किया गया है। अग्नि के भी छन्दोमय अश्वस्वरूप को लक्ष्य में रखकर-अश्वो न देववाहन (यजु) कहा जाता है। यह छन्द याग्नि आयतन-स्वरूप है। अतएव हम इसे सत्याग्नि भी मान सकते ह। यही तीसरा आग्नेय है।

४-सावित्राग्नि —

चौथा है सावित्राग्नि। सौरप्राणाग्नि ही सावित्राग्नि नाम से प्रसिद्ध है। यही प्रकृत का मुख्य स्तम्भ है। यह भी सूर्यकेन्द्र से बद्ध होने के कारण सत्य ही है। सम्पूर्ण सौरप्रेवत्ता निरन्तर इसी सत्य सावित्राग्नि की आराधना करते रहते हैं।

प्रकारान्तर से पूर्वोक्त चारों अग्निनामों का स्पष्टीकरण इसप्रकार समझना चाहिए कि—पृथिवी अन्तः
रक्ष्य च तीन लोक हैं। तीनों लोकों के अधिष्ठाता क्रमशः अग्नि वायु आन्तरिक है। अग्नि रसाग्नि
है वायु आन्तरिक वाग्नि है आन्तरिक सम्बत्सराग्नि है। इन तीनों लोकों की सीमा म पन्न करने वाला आय-
तनरूप अग्नि छन्दस्याग्नि है। पार्थिव रसाग्नि भूपति कहलाता है आन्तरिक वायु आन्तरिक भुवनपति
कहलाता है एवं सीमासम्पादक छन्दस्याग्नि भूतानापति नाम से प्रसिद्ध है। ये ही तीनों अग्निनामों
नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में चतुर्द्धा विहिता इति नाम स शुक्राग्नि के विवक्त भूत य ही पूर्वोक्त चार अग्नि
नामों से हैं—

- | | | | | | | | | |
|------------------|---|----------------|---|-----------|---|-----------|---|---|
| १—रसाग्नि | — | पार्थिववाग्नि | — | सयाग्नि | — | भूपति | } | |
| २—आन्तरिक वाग्नि | — | आन्तरिक वाग्नि | — | भूतानापति | — | भुवनपति | | } |
| —सावित्राग्नि | — | दिव्याग्नि | — | सयाग्नि | — | सवपति | | |
| ४—छन्दस्याग्नि | — | आयतनाग्नि | — | सयाग्नि | — | भूतानापति | } | |

—*—

- १—प्रथमाग्नि — गायत्राग्नि — अपानाग्नि — अङ्गिराऽग्नि गृहपति
- २—द्वितीयाग्नि — वायुवाग्नि — व्यानाग्नि — पञ्चप्रयाजा
- ३—तृतीयाग्नि — आयतनाग्नि — छन्दस्याग्नि — त्रयोऽनुयाजा
- ४—चतुर्थीग्नि — सम्बत्सराग्नि — प्राणाग्नि — सावित्राग्नि

प्रकरण के आरम्भ में हमने पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि को हव्यगान् कहा है। परन्तु वस्तुतः अङ्गिरो-
ऽग्नि नामक रसाग्नि हव्यवाट नहीं है अपितु सौर सावित्राग्नि ही हव्यवाट है। पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि पृथिवी
की प्रातिस्विक वस्तु है।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्धारुहन् ।

प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययु ॥

—यजुस

उक्त श्रौत सिद्धांत के अनुसार यह पार्थिव अग्नि निरन्तर द्युपथ की ओर जाया करता है। उधर
से सौर सावित्राग्नि निरन्तर भूपिण्ड की ओर आया करता है। द्युलोक से आगत सावित्राग्नि सय है।
अतएव यह नियत पथ का अनुगामी है। सूर्यरश्मि के सम्मुख आप एक तिल रख दीजिए रश्मि उसे छेद
नहीं सकेगी अपितु तिल से टकराकर पुन उसी आगमनमाग से परावर्तित होजायगी। यही इसका सयभाव

है। यही अवस्था भूपिण्ड के अवरोध से इस मातृगर्भाग्नि की होती है। भूपिण्ड से टकराकर सावत्राग्नि पुनः परावर्तित होजाता है। जाता हुआ यह सावित्राग्नि द्युपथ की ओर जात हुआ अङ्गिरोऽग्नि से सरिलक्ष रहता है। केवल इमी सहचरभाव को लक्ष्य में रखकर हमने पूर्व में अङ्गिरोऽग्नि को ह्यवाट् कह दिया है। वस्तुतः ह्यवाट् अग्नि प्रतिफलित सौरसावित्राग्नि ही है। प्रतिफलित सावित्राग्नि ही आदित्याग्नि है। अङ्गिरा और आदित्य दोनों स्वर्ग (सौरलोक) लोक की ओर जा रहे हैं। अङ्गिरा और आदित्य की तस स्वर्ग में आदि य ही प्रथम स्वर्गलोक में जाने में समर्थ होते हैं। कारण पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि की अपेक्षा प्राणफलित आदित्याग्नि ही आधिक्य बलवान् है। इसी स्पष्टाभाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

१— आदित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च उभये प्राजापत्या अस्पृद्धं त-वग पूर्वे स्वर्ग लोकमेष्यामा वग पूर्वऽइति। त आदित्याश्चतुर्भिस्तोमैश्चतुर्भि पृष्ठैलघुभि मामभि स्वर्ग लोकमभ्यप्लवन्त । यदभ्यप्लवन्त—तस्मादभिप्लवा । अन्वश्च इवाङ्गिरस सर्वे स्तोमै सौ पृष्ठैगुरुभि सामभि स्वर्ग लोकम-स्पृशस्तस्मात् पृष्ठय ।

—शत १२ का १०६-१-११ इति।

२— द्वयो ह वा इदमग्र प्रजा आसु -आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च ।

—शत ३१/११३।

३— आदित्याश्चाङ्गिरसश्च तत् सत्त्वं ममदधत । आदित्यानामेकविंशतिरङ्गिरसां द्वादशाह ।

—ता ब्रा २४।१२

४— आदित्या वा इत उत्तमा सुवर्ग लोकमायन् । ते वा इतो यन्त प्रतिमुदन्ते ।

—तै ब्रा १।१।६।८

५— (आदित्या) स्वर्ग लोकमायन्नहीयन्ताङ्गिरस ।

—ता ब्रा २४।१

६— ते हादित्या पूर्वे स्वर्ग लोक जग्धु पश्चेवाङ्गिरस षष्ट्या वा वर्षेषु ।

—ते ब्रा ४१

७— 'तान् हादित्यानङ्गिरसो गाजयाश्चक्रु'।

—गो ३ ६।१४

उपप्युक्त प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि आदित्याग्नि ही पहिले २१ विश्वस्थाना-मक स्वर्गस्थान में पहुँचता है। यही सम्बत्सराग्नि है। यहा अङ्गिरा का भी सम्बन्ध होता है। अङ्गिरा

स्वगत हविर्व्य का पहिले आदि य म समर्पित कर दता है । ऋषी अभिप्राय स— तान-अङ्गिरसा यान याञ्चक्रु य कहा है । अङ्गिरा क तारा समर्पित पार्थिव सोमरूप वि को दवता म पहुचाना एकमात्र आदि यामक सावित्राग्नि का ही काव्य है । ता अग्नि प्रतिफलित होकर सूर्य की ओर जाता है वही अश्म नाम से यवहृत होना है । इस अश्वाग्नि म (सावित्राग्नि म) पार्थिव आङ्गिरा का भाग भी प्रविष्ट है आन्तरिद्य आप ऋषका आमा है । ऋषप्रकार पार्थिव अग्नि सौर अग्नि आन्तारिद्य आप तीनों के समन्वय से ऋष अश्म का स्वरूप नि पन्न होता है । पृथगीपृष्ठ स सम्प्रान्त उषा सका मुख है । यहा से २१ विशपय्यत यह अश्वपशु खडा हुआ है । ऋषी के आधार पर पार्थिव सोमात्र सौर आह-वनाय अग्नि म आहुत हुआ करता है । अत हम स प्रतिफलित सौर सावित्राग्नि को ही प्रधानरूप से ह यवाट् मान सकते ह ।

सौर सम्बत्सराग्नि में ही आहुति हाती है एव सौर सम्बत्सररूप अग्नि के द्वारा ही आहुति होती है । पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि एव सौर सम्बत्सराग्नि का क्योंकि एक ही स्थान पर समन्वय होता है इस दृष्टि से पार्थिव आङ्गिरोऽग्नि भी ह यवाट् मान लिया जाता है । यज्ञकता यजमान सौर सम्बत्सरिक दिव्यतव को स्वमानुषामा म प्रतिष्ठित कर के लिए ही यज्ञ करता ऋ । यज्ञमस्वरूपसिद्धि के लिए इसे इस दिव्य प्राण को स्वा मा में प्रातष्ठित करना आवश्यक है । एतदथ ही इसे आहुति देनी पडती है । यह आहुति कौन दता है ? किस अग्नि के द्वारा यजमानदत्ता पार्थिवी आहुति सौर दिव्य प्राणआग्नि मे प्रतिष्ठित होती है ? आप्त्याविज्ञान एकमात्र ऋषी प्रश्न का समाधान कर रहा है ।

जिस अग्नि म आहुति दी जाने वाली है वह दिव्य है । अत उसके सान्निध्य से वही अग्नि आहति पन्चा सकता है जो कि स्वय भी दिव्यभावापन्न ऋ । आहुति की तो कथा ही दूर है यज्ञ करने का अधिकार ही यजमान को तत्र प्राप्त होता ह जबकि वह दिव्याग्नि को अग्न्याधान कम्म के द्वारा पहिले अपने शरीरस्थ मानुषाग्नि में प्रतिष्ठित कर लेता ह । देवता का देवता के साथ ही सम्बन्ध होसकता है । अनाहिताग्नि यजमान साधारण यथाजात मनुष्य है । इस मानुष भाव को दूर करने के लिए ही सबसे पाहले उसे उस दिव्य-सौर-तव को आहित करना पडता है । बिना अग्न्याधान के इस अग्निहोत्र का भी अधिकार नहीं मिल सकता । जब केवल यज्ञ करने के सम्बन्ध मे ही यह स्थिति है तो सुतरा यह सिद्ध होजाता ऋ कि दिव्याग्नि के साथ आहुति का सम्बन्ध करने का सामर्थ्य भी एकमात्र दिव्याग्नि में हा ह । पार्थिव-रसाग्नि [अङ्गिरोऽग्नि] द्युलोक में जा रहा है किन्तु पार्थिव होने से यह विजातीय ह । अत प्राकृतिक नियम में यह होत्प्रवरणकम्म में अनुपयुक्त है दूसरा आन्तरिद्य ऋताग्नि ह । दिव्याग्नि सय है यह ऋत ह ।

इसी विजातीय-भाव के कारण यह भी होता बनने में असमथ है । तीसरा छन्दस्थाग्नि है । यह भी आयतनमात्र है । वस्तु की सीमा बनाना ही इसका एकमात्र मुख्य कम्म है । अत यह भी होता बनने में असमथ ही है । पार्थिवाग्नि एव प्रतिफलित सौरसावित्राग्नि इन दोनों के सम्बन्ध से म यस्थ आन्तरिद्य ऋताग्नि एव तीनों अग्निओं का स्वरूप-समर्पक अतएव तीनों से नियबद्ध छ दास्यग्नि चारो ही द्युलोक की आहुति जा रहे हैं । इन चारो में विजातीयता के कारण पार्थिव आन्तरिद्य एव छन्दस्याग्नि इन तीनों

अग्निबा का दिव्य सन्वत्सराग्नि के साथ स च व नही होने पाता । नि य आहवनीय अग्नि म पार्थिव ओषधि-
रसरूप आहुत का वहन करने वाला एकमात्र ढातफलित सौर आग्नि ही है । इभाकी हमने आन्तित्याग्नि
ए । सावित्राग्नि नाम से व्यवहृत किया है ।

पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि मी ऊपर स्वर्ग का आर नारहा ँ एव प्रातर्कनित ँ य आा याग्नि मी स्वर्ग की
आर नारहा है । दोनों में- वय पूजम् नय पूजम् यह प्रि पद्धा हारही ह । स प्रतिस्पद्धा म पूवकथनानुसार
आदित्य ही विजयलाभ करने में समथ ाते ह । सम्पूर्ण आप्त्याब्राह्मण म दि य आहवनीयारय सन्व-
मराग्नि के साथ चतुर्द्धा प्रिभक्त अग्निबा मे से कानसा आग्नि पाथय हृदि का सन्वध कराता है
एकमात्र ँमी प्रश्न का समाधान किया गया है । पार्थिव अग्नि म य है । अमृतदवनाओ की दृष्टि म यह आग्नि
मरा हुआ ै । म य भावापन्न है । अन्तरिद्य ऋताग्नि ऋत है । यह भा स याग्नि के लिए म य ही है । ँन
अग्निबा का सीमत बनाने वाला छन्दस्याग्नि भी अमृताग्नि की ँष्टि म म य ही है । ँमा विज्ञान का लक्ष्य
म रक्वकर श्रुति कहती है—प्रथम (अङ्गिरसाऽग्नि) द्वितीय (छ दस्याग्नि) ऋताग्नि (वाय-
याग्नि) तीना ह मर गय । यज्ञकम्म स त्रिमुग्ध हाते हुए अपन आपका पानी क समर्पित कर
दिया ।

भूपिण्ड सय है । यह ऋत सं वष्टित है । ऋतमय परमेष्ठा के अनुसार ऋत पारमेष्ठ्य अपतत्त्व
है । उ ऋत अङ्गिरसाऽग्नि यायय ऋताग्नि छन्दस्याग्नि तीना ही ँस पारमेष्ठ्य पार्थिव अर्णव-
समुद्र * में लीन रहत हैं ।

यद्यपि सावित्राग्नि भी पारमेष्ठ्य समुद्र मे हा लीन रहता है । कारण—पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि आन्तरि-
द्य ऋताग्नि एव प्रतिफलित ि य आादयाग्नि ताना का स्वरूपसमपक गायत्र त्रैपुडुभ-जागत मेद
भिन्न छन्दस्याग्नि चारो ही अग्नि द्य लोक की ओर नारह है । द्यु-भूपिण्ड के बीच में पारमेष्ठ्य अणव
मसुद्र है । द्युलोक की ओर जाने वाले चारो ही अग्नि समुद्र में याप्त हैं । परन्तु इन चारो में मलाभाव
के कारण अमृतभावापन्न सौर दवताओ की दृष्ट म अङ्गिरा ऋत-छन्दस्याग्नि ये तीना तो सवथा मर
ही हुए हैं । परन्तु चौथा सावित्राग्नि अमृताग्नि है । यह केवल पानी में व्याप्त है । मरा नहा है । अर्थात्
मय नही अपितु अमृत है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रक्वकर श्रुति कहती है—

चतुर्द्धा विहितो । स यम् (अङ्गिरसाऽग्नि) स प्राधन्वत । य (ऋताग्नि)
स प्रैवाधन्वत । य (छन्दस्याग्नि) स प्रैवाधन्वत । योऽयमेतद्यग्नि (प्रतिकलित
सौरसावित्राग्नि) स भीषा निलिल्ये । सोऽय प्रविवेश । इति ।

* रोदसी कन्दूसी सयती इन तीना त्रलोक्यो के क्रमश अणव सरस्वान नभस्वान् नामक
तीन समुद्र हैं । प्रकृत स्तौम्यत्रिलोकी का रोदसीत्रलोक्य में अन्तर्भाव है । अतएव ँस पार्थिवसमुद्र
को हमने—अर्णव नाम से व्यवहृत किया है । यही समुद्र पार्थिव-सन्वत्सर का जनक माना
गया है ।

प्रातःकालत आग्निं याग्नं प्राणान्पान् व्याप्य करता हवा ही द्यलोक की ओर जाता है। यही गति प्राणान्पानव्यापार है। तम शान्ता म-वीचरूप म परगत होता हुआ ही यह अग्नि ऊपर जाता है। वीचि में कम्पन है। इसी कम्पन-भाव म परिणत होता हुआ आदायाग्नि आर्विमसुद्र में व्याप्त होता है। इस कम्पनविज्ञान का लक्षण म रखकर ही-स भाषा निलिप्य कहा है। जिसकी प्रातः उच्छ्वन्न न हो और वह गतिमत बन जाय पनी भय किञ्चिच्चलने के अनुसार भय किंवा भीषा है। आप सङ्क पर जा रहे ह। यदि मावगानी से आप आवगन्न तालू भूमि पर पर रखदे ग तो भी आमा आवचाली रहेगा भय न होगा परन्तु असावधानी से प्रमादावस्था म एक पितस्तिमात्र ढालू प्रदेश में भी आपका पैर स्वनित हो जायगा तो आमा किञ्चिच्चालत होजायगा। आमा में धक्कासा लगेगा। किञ्चिच्चलना-वस्थारूप भय का यही प्रयत्न निशान है। प्रतिफलत सौर अग्नि चलता है परन्तु प्रतिष्ठा नहीं छोडता। यही भीषा निलिप्ये ह।

प्रकरण के आ म म हम बलता आए ह कि सौर साग्नित्राग्नि दो स्वरूपों में परिणत होकर भूपिण्ड से सम्बन्ध रखता है। साक्षात् रूप से सौर तेज भूपिण्ड की ओर निरतर आता रहता है। साथ ही भूपिण्ड स टकराकर प्रतिफलत होता हुआ वही सौरतन किंवा भावित्राग्नि द्यलोक की ओर जाया करता है। जाता हवा मां तेज अग्निप्रधान है प्व आता हुआ सारनेन इन्द्रप्रधान है। यथाग्निगर्भा प्रथिवी तथा द्यारिण्य गर्भिण्या तस आप्त मिद्वान्त के अनुसार भूपिण्ड में अग्नि की प्रधानता है। इसी अग्नि का प्रधानता मे भूपिण्ड म सम्भ्र कर द्यलोक की ओर जाने वाला एव आन्तरिद्य-समुद्र में लीन होने वाला सौरत व अग्निप्रधान बन जाता है एव द्यलोक से साक्षाद्रूप से आनेवाला सौरत न इन्द्रमय रहता है। अंधर से सौर अग्नि जा रहा है। यही मेध्यअश्व है जिसका कि विशद निरूपण अश्व-मेध नामक अतियज्ञ करणप्र म क्रिया जान वाला है।

उधर मे सौर इन्द्र आरहा है। अग्नि और इन्द्र दोनों का आन्तरिद्य अणवसमुद्र में सम्बन्ध होजाता है। अग्नि और इन्द्र दोनों यहा मिल जात ह। इन्द्र सब दवताओं के (सौर देवताओं के) उपलक्षण ह। पार्थिवत्व। अग्निप्रधान ह अत पार्थिव दवताओं के सम्बन्ध में जैसे अग्नि सर्वा देवता यह आगम प्रचलित है एवम इन्द्रप्रधान द्युदत्ता (सौरदेवताओं) के सम्बन्ध में- इन्द्र सर्वा देवता यह प्रामाण्य है। इन्द्रप्रधान सौरदवता अमृत है। तमकी दृष्टि में प्रम-द्वितीय-तृतीय अग्नि मरं हुए है। उनके साथ इन सौर दवताओं का सम्बन्ध नहीं होने पाता। सम्बन्ध होता है एकमात्र सजातीय प्रतिफलित सौर अमृताग्नि के साथ ही। तमसे सम्बन्ध कर इन्द्र असुरों को मारने में समर्थ होते हैं। प्रतिफलित सौर अग्नि का ही आते हुए इन्द्रप्रधान सौरदवताओं के साथ (आन्तरिद्य समुद्र में) सम्बन्ध होता है अन्या का नहीं। सौर दवताओं ने उम अग्नि का पहिचान कर बलात् पानी में से उसे पृथक कर अपने में मिला लिया। या च का च बलकृतातरिण्यकम्भैव तत् (या नि) इस नगमिक सिद्धांत के अनुसार बलप्रयाग एकमात्र इन्द्र का ही धम्म है। यही एन्द्रबल सह नाम से प्रसिद्ध है-सहने की दूसरों पर प्रभाव डालने की शक्ति तसी सहोबल का कर्म्य है। दवताओं में तसी ऐन्द्रबल के प्रभाव से उस आगच्छत् सौर अग्नि के साथ सम्बन्ध व स्थापित कया इसी ऐन्द्रबल को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

सोऽप प्रविवेश। ते देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्यु ।

किसी समाज का को- व्यक्ति या अन्य समाज म चला जाता है एव वही समाज यदि उम लखुडे हुए को कही दर लेता है तो उसे पहिचानता हुआ वह समाज बलात उस अपने म मिला लेता है । वही स्थित यहा है । जो सौर आग्न विछुड कर भूलोक की आर चला गया म । वह आज पहिचाना जाकर बलात उसी ऐद्रदल मे मिला लिया गया । नसी अभिप्राय से अनुग्रिय क्त है । पार्थिव (प्रतिफलित सौर) अग्नि के चारा ही भूलोकस्थ हवि य लोकस्थ सौर स व मर नामक आ वनीय अग्नि में आहुति होता है । अग्ना प्रास्ताहुति सम्यगादियमुत्तिष्ठते के अनुसार पार्थिव प्रतिफलित सौर अग्नि अपने विशकलन-धम्म से हुत पार्थिव ओषाधरसरूप हाव का विशकलन कर डालता है वह रस प्राणरूप में परिणत होता हुआ प्राणरूप अमृतभावापन्न सौर दवताआ म प्रतिष्ठत हाजाता है । इस आहुतिक म से दिय सौर नेवताआ का प्रतिफलित सौर अग्नि के साथ जो सम्बन्ध होता ह वही कम्म होतुप्रवरण कहलाता है ।

प्रकृतियज्ञ मे निय प्राणत्वता स्यज्ञ की सिद्धि के लिए आग्न का होतुवन वरण किया करते है । त नुसार ही निय प्राकृतिक यज्ञ की विधा के अनुसार वितत हाने वाले इस मनुष्ययज्ञ मे भी आहुति क लिए अग्निमूर्त्ति होता का वरण किया जाता है । चारो ही अग्नि भूपिण्ड से द्युलोक की ओर जाते हैं । परन्तु चारो म स सजातीय स व ध के कारण केवल प्रातफलित सौर अग्नि के साथ ही दिय सौर देवताओ का सम्बन्ध होता है यही ता प्य है । चारा आग्नयो मे से पार्थिव अग्नि केवल पार्थिव अन्न का परिपाक करता है । अन्न को विशकलित कर द्युलोक में पहुँचा देना इस पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि की शक्ति से बाहिर है । अत इसे ऋषिने वरणकम्म के अयोग्य ठहराया है । आतरिद्य वाय याग्नि मनुत् है । प्राणियो म ओजबल का सञ्चार करना एकमात्र इसी का मुरय काथ्य है । आकाश में जो विद्युत् का सञ्चार देखा जाता है वह भी इसी वाययाग्नि की महिमा है ।

समय समय पर विविधरूप से देख जाने लो आकाश के क्षणस्थायी प्रकाशपुञ्जो को देवकर साधारण मनुष्य नक्षत्र दृष्टने का अनुमान लगाया करते है । परन्तु यह सवथा भ्रान्ति है । नक्षत्र सवथा स्थिर पदाथ हैं । उन की स्थानयुति से तो प्रलय होजाता है । * न क्षरति इस व्युत्पत्ति स नक्षत्र क्षरण-भाव से [विद्युति से] सवथा रहित है । नक्षत्र सवथा अविचाली हैं । व कभी नही दृष्ट करते । उपय्युक्त वाय याग्नि आकाश में बडे वग से इतस्तत प्रवाहित है । इस वायव्याग्नि को मरुत् नाम से व्यवहृत किया जाता ह । रोदसी-त्रलोक्य में स्थिररूप से व्याप्त रुद्रतत्त्व से इस मरुद्वायु का ज म होता ह । मरुत् से समीरण नाम के वात का प्रादुर्भाव होता है । जिमे साधारण मनुष्य वायु कहते हैं जिसके स्पश का अनुभव होता है जो वायुतव वाहकशक्ति के द्वारा एक दूसरे पदार्थों के रस को लेकर एक दूसरे पदार्थों की कमी पूरा करता हुआ भैषज्ययज्ञ किया करता ह वही समीरण नामक वायु वात आवात भेषजम् के अनुसार वात नाम से प्रसिद्ध ह । वात शब्द एकमात्र बहन वाले स्पशधर्मा वायु म ही निरूढ ह । इसका जनक मरुत् है ।

* सूय्य सवथा स्थिर है । भूपिण्ड सूय्य के चारो ओर क्रान्तिवृत्त पर घूमता है । सूय्य के इस स्थिरभाव को लक्ष्य में रखकर वैज्ञानिकोन—एतद्वै-अनपराद्ध नक्षत्र यत् सूय्य (श २।२।२६) के अनुसार सूय्य को नक्षत्र नाम से व्यवहृत किया है ।

मरुद्वायु की सात अणु थाण्ड हैं। चन्द्रप्राण क प्रश से प्रत्येक मरुत् सप्तधा २ त्वभक्त होजाता ह। इसप्रकार सात सप्तको के ४ मरुत् नोजात ह। इनका चनक पूर्वोक्त रुग्नि किंवा रुग्न्वायु है। इसी विज्ञान के आधार पर—मरुता रुग्न्पुत्रास यह क्त जाता ह। इन ४८ सा मरुत् की गति भिन्न भिन्न है। कोड पूव से पश्चिम कोड पाश्चिम से पूव दिक्क में उत्तर उत्तर से दक्षिण चमप्रकार बड वग से प्रवाहित रहता है। जसे भूपण्ड पर नदनी धाराए भिन्न भिन पर स प्रवाहित रहती हैं ठीक इसीप्रकार आकाश म वायुधाराए इत तत प्रवाप्ति ह। नके पारस्परिक आघात-प्रयाघात से अग्नि उपन्न होजाता ह। इसी की तारा धिष्ण्या उमुक उअ य चार अवस्थाए प्रत्यक्ष है। मानलीजिए—एक वायु पूव से पश्चिम की ओर जा हा एक पश्चिम से पूव की ओर आरह है। दोनो के प्रान्तभाग का यदि स्पश होजाता ह तो नणमात्र के लिए प्रषण से अग्नि उपन्न होजाता ह यही तारा दून्ना है। यदि अधिक वग से प्रषण होता ह तो अधिक ज्वाला नम्ल पनी ह। यही धिष्ण्या किंवा पिद्युत् है। यदि ओर भी अधिक वग होता है तो वग चकाश निकलता। मूल में यह थोडा होता ह। किंतु इसका अवमान मिशाल हाता। यदि एक वायु दूसरे वायु पर आरू होजाता ह तो महान् शब्द के साथ यह ज्वालापुञ्ज निकलता। वह तना घन होता ह। उमे आकाश में ही विशकलित होने का अवसर नहीं मिलता अपि तु वह भापण्ड म गिर पडता ह। य वह लोह में गिर पडता है तो लौहा फौलात् बन जाता है। जिस थान पर गिरता है वहा का परातला छ्त्राभन्न होजाता है। त समीपवर्ती वृक्षाणि जल जाते हैं। यही उअ है। वअ का उ य नमी जाता है जवकि दोनो वायु समान बल वाले होते हैं। यदि एक वायु नम्ल हाता है तो सबल वायु निबल मो स्प्रक्रमण से अभिभूत करेता है। ऐसे समय में विस्फान्न नहीं होता आपतु निर्बल वायु चकाश म्वा म्भूपण्ड की ओर आता हुआ किसी पवतकन्दरा में भूगर्त्तों में अथवा आर कनी जहा भी गिक्तमान मलता है व। प्रावष्ट होजाता है। इससे वहा का प्रदेश विकम्पित हो पडता है। यही * वायुय भूम्प कहलाता है।

नोक्त तारा-धिष्ण्या-उमुक-उअ इन चारो म तारा उपात सदा ही हुआ करता है। विशेषत जव मूय मघानक्षत्र पर आता है तव तो यह चारत्र सबथा द्रष्टय बन जाता है। शेष तीनों का अग्नि प्रकोप उषा में होता है। प्रकृत में चतनाना केवन यही है कि इस वायुव्याग्नि के उक्त काय्य है। श्रुतभाव के काण यह भी हविग्रहन करने म असमथ ही है। नसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर इस द्वितीय आग्नि को भी श्रुति न प्रव गम क आग्य ही रहस्य ह।

तीमरा छ्दस्याग्नि ययोनावमात्र ह। वस्तु का वन्न करना ही वयोनाथ का काय्य है। छ्द तो आकारमात्र है। उमका काम वस्तुस्वरूप- पादन करना है न कि हविग्रहन करना। अत इसे मी प्राधन्वत् कोटि में ही अनभूत माना गया ह। अब शेष रह जाता ह—प्रतिफलित सौर आग्नि। वही एकमात्र ह्यवाहक बनता है। यह उत्तर की ओर जाता हुआ आपोमय समुद्र में प्रविष्ट हो-

* आप्य वायुय आग्नेय एन् मेद से भूम्प चार प्रकार के होते हैं। इनका विशद विवेचन ग्रहणविज्ञान म करना चाहिए।

पडता ह । सहाबल के द्वारा सौरप्राणवत्ता इसे निकाल कर अपना यज्ञ सिद्ध कर लेते हैं । यही निष्कष ह ।

प्रातफालत सौर अग्नि पानी में प्रविष्ट है । इसमें सोम्य अन्नरस प्रतिष्ठित है । इसके सम्बन्ध से यह अग्नि प्रज्वलित रहता है । अन्नाद अग्नि तभीतक प्रज्वलित रहसा है जबतक कि उसके साथ अन्न (सोम) का सम्बन्ध रहता ह । अन्नाद अन्न के आग्नेय प्राण पर आप्य वारुण प्राण का आक्रमण होजाता ह । उदाहरणार्थ अथ्यामयज्ञ को ही लीजिए । जबतक शारीराग्नि म अन्नसोम की आहुत होती रहती ह तबतक शारीराग्नि प्रदीप्त रहता ह । आहुति के अवरोध करने पर अथवा अवरोध होजाने पर अग्नि मूर्च्छित होजाता है । चिरकाल पथ्यत यदि अन्नाहुत अवरोध होजाती ह तो अन्नसत्ता पर प्रतिष्ठित रहने वाला शारीर अन्नादाग्नि उक्रान्त होजाता ह । उसी समय शरीरस्थ आपोमय वरुण का साम्राय हो जाता है । शरीर सडने लगता है ।

प्रकृतियज्ञ में जब इन्द्रप्रमुख देवताओं का हवि के कारण आपोमय म डलसू सौर अग्नि के साथ सम्बन्ध हुआ तो शेष पानी दूषित होगया । दूसरे शब्दों में अन्नमय अग्नि का देवताओं के साथ सम्बन्ध होगया और वारुणाग्नि वही रह गया । यही अन्न का निष्ठीवन (थूकना) ह । यह सौर अग्नि अन्तरिन्ध्य आप से निकला है आतारुद्य आप में यह प्रतिष्ठित रहता है इसलिए अप्सु भवा इस व्युत्पत्ति के अनुसार अस अग्नि को आप्त्या कहा जाता ह । आपच देवताओं के द्वारा यह अग्नि आप्त (प्राप्त) हुआ है इसलिए—देवैराप्ता के अनुसार भी उसे आप्त्या कहा गया है । अपिच यह आपोमय अग्नि है इसलिए भी उसे आप्त्या कहा जासकता ह अपिच यह देवताओं के साथ ऐकात्म्यभाव को प्राप्त रहता है इसलिए भी इसे आप्त्या कहना उचित ह ।

सौर अग्निप्राण त्रिसय ह बिना त्रित्वभाव के देवता का कोई काव्य नहीं होता । कारण स्पष्ट है । अव्ययपुरुष मनोमय हान स ज्ञानप्रधान है अक्षरपुरुष वाङ्मय होने से अथप्रधान ह । एव मध्यस्थ अक्षर पुरुष प्राणमय होने से क्रियाप्रधान है । मनोमय अव्यय आत्मसृष्टि का अधिष्ठाता है प्राणमय अक्षर देवसृष्टि का अधिष्ठाता है एव वाङ्मय अक्षरपुरुष भूतसृष्टि का सञ्चालक ह । आत्मा—देवता—भूत तीनों की प्रतिष्ठा क्रमशः अयय—अक्षर—क्षर—पुरुष हैं । इन तीनों का विकास क्रमशः स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य चन्द्रमा पृथिवी इन पांचा विश्व—अवयवों में होता है । स्वयम्भू परमेष्ठी दोनों ज्ञानप्रधान हैं यहा अयय का विकास है । यही प्रजापति की आत्मसृष्टि है । चिदामा की यानि अयय नाम स प्रसिद्ध स्वयम्भू—गर्भित महानामा नाम से प्रसिद्ध परमेष्ठी ह । पृथिवी चन्द्रमा दोनों म अयय की प्रधानता है । चन्द्रगर्भिता पृथिवी ही भूतसृष्टि की अधिष्ठात्री ह । विश्व के हृदय—स्थानीय सूर्य में अक्षर का विकास है । य सौर अक्षर—अक्षरमिति अक्षरम् के अनुसार हृदय—भेद स अक्षर है । ब्रह्मा विष्णु—इन्द्र की समष्टि ही अन्तर्यामी अक्षर है । यही प्राणमय देवताओं का विकासभूमि है । देवप्राण अक्षर से उद्वहने के कारण ही त्रिसय है । बिना त्रित्वभाव के देवता की स्वरूपनिपत्ति नहीं होता । इसी विज्ञान के आधार पर—त्रिसय वै देवा यह अनुगमन वचन प्रचलित है ।

१-अययपुरुष आत्मसृष्टि स्वयम्भू परमेष्ठो

-अक्षरपुरुष-देवसृष्टि-सूर्य

३-क्षरपुरुष-भूतसृष्टि-चन्द्रमा पृथिवी

ह-इत्येकमक्षरम्

द-इत्येकमक्षरम्

यम्-इत्येकमक्षरम्

अक्षरमिति पक्षरम्'-त्रि सत्या वै देवा'

अपिच—दवप्राण अग्नि-वायु-आदिय-भेद से त्रिधा विभक्त है। एक ही तत्व की घन-तरल-परलावस्था अग्नि-वायु आदि य ह। तीनों एक वस्तु है। तीनों का समन्वितरूप ही देवता है। इसलिए भी देवता का त्रिसय माना जाता है। इस त्रिसयभाव के कारण ही वह आप्त्याग्नि त्रिधा विभक्त हाजाता है। सोरप्राणाग्नि देवता है। उसके भी अग्नि-वायु-आदिय य तीन ही रूप है। तीनों देवता क्रमश प्रात सवन माध्यदिनसवन सायसवन वन तीन सवन के आघष्ठाता है इसी त्रिसत्य स वह आदियाग्नि त्रिधा विभक्त हाजाता है। अग्निदेवता स सम्बध रखन वाला आप्त्या एकता है वायु से सम्बध रखने वाला आप्त्या द्विता है एव आदिय से सम्बध रखने वाला आप्त्या त्रिता है। अग्नि के साथ एकता आ या का सम्बध है। वायु में द्विगुण-मात्रा है। आदिय में त्रिगुण-मात्रा है। एक आ या ग्नि की ही प्रथम द्वितीय-तृतीय भेद से तीन अव थाए समक्षिण। तीनों का क्रमश अग्नि वायु इन्द्र क साथ सम्बध हाता है। तीनों आप्त्या एक वस्तु ह तीनों देवता एक वस्तु है। अवस्थाभेद स ही आप्त्या भेद है एव अवस्थाभेद से ही देवता का भेद है।

सम्बत्सरयज्ञे त्रीणि सवनानि

१- प्रात सवनम् -अग्निप्रमुखवसुनाम्-एकता,

२-माध्यन्दिन सवनम्-वायुप्रमुख-रुद्राणाम-द्विता,

३-माय सवनम्-इन्द्रप्रमुख-आदित्यानाम्-त्रिता,

देवताओं में सबसे प्रधान येष्ट एव अष्ट देवता इन्द्र है। इधर आप्त्यों में सबसे प्रधान त्रिता नामक आप्त्या है। इसी का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बध है। सम्बत्सर-त्रिलोक म ध्रुलोक का अधिष्ठाता मघवाइन्द्र है। त्रिता नामक आप्त्या इसीके साथ रहते हैं। इन्द्र के ग्रहण से जैसे सब देवताओं का ग्रहण हो जाता है एवमव त्रिता से एकता द्विता नामक दोनों आप्त्यों का भी ग्रहण हाजाता ह। ता पश्य यही ह कि देवताओं की त्रिसत्यता के कारण एक ही आप्त्याग्नि की तीन अवस्थाए हाजाती है। ये तीनों ही आप्त्यादेवता देवताओं के उत्तरोत्तर प्राबल्य के कारण उत्तरोत्तर प्रबल हैं। कारण इसका यही है कि

आ याग्नि प्रतिपालत सार आ न है । अत त्रिवृत् स्थानीय एकता और अग्नि पृथिवी के सम्बन्ध से स्वस्वरूप से पूरा विकासत नहीं है । यही अवस्था पञ्चमश स्थानाय आतारक्ष्य द्विता अग्नि की है । एकत्रिंश-स्थानीय द्युलोक में रहने वाला त्रिता अग्नि स्वस्थान म जाता हुआ प्रण विकसित होजाता है । वही अभिप्राय से आगे जाकर अतिने त्रिता अग्नि को ही त्रिवरूप त्वाष्ट्र असुर क वध म प्रधान माना है जन्मार्थ अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है ।

इन आयाग्नियों की दो अवस्था है । आयाग्न का जो भाग (हावयुक्त भाग) प्रमुख दवताओं के साथ रहता है वह तो शुद्ध है । किन्तु जो भाग पानी म ही रहता है वह आया दोषाकात है । उकात होने वाले पार्थिव अन्नरस म मल भी रहता है । प्रत्येक अन्न म रस मल दोनों रहते हैं । ऊपर की ओर जाते हुए आया मलरस से युक्त अन्न को लेजा रहे है । पानी वारुण है । वारुण पानी ही मन्त्र की प्रतिष्ठा है । मलभाग वरुण में ही रह जाता है रसभाग को आप्त्याओं क सहयोग से दवता ले लेते हैं । निदर्शन आया मयज्ञ है । हम जो अन्न खाते है वह शारीरिक आपोमय आयाग्नि म ही प्रतिष्ठित होता है । रसभाग प्राणान्द्रया-दवताओं के साथ युक्त होजाता है । एव मलभाग उसी शारीर आपोभाग में रह जाता है । वह अपानप्राण के धक्क से स्वेद (पसीना) बन कर निम्नलता रहता है स्थूलभाग मूलद्वारो स बाहिर फक दिया जाता है । अध्यामयज्ञ का मलभाग शरीर के आपोमय आप्त्या म ही प्रतिष्ठित रहता है । पसीना-रुफ-लाला-मूत्र-मल-ये सब हवियुक्त आयाग्नि से परियुक्त पदार्थ है । सब आपोमय वारुण भाग में प्रतिष्ठित हैं । यही अवस्था अधिदवत यज्ञ की है । शुद्ध आयाओं से प्रक्षिप्त (फका हुआ) मल-भाग आतारक्ष्य आपोमय आयाओं म ही प्रतिष्ठित रहता है । वही विज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

सोऽपोऽभितिष्ठेवावष्टयूतास्थ या अप्रपदन स्थ गाभ्यो वो मामकाम नगन्ति इति ।

सौर आपोमय अग्नि ही आप्त्या है । यद्यपि यह है सौर सम्बन्ध की वस्तु । क्योंकि वही तो भ्रष्ट पर आके प्रतिफलित होता हुआ सौर सम्बन्ध की ओर जा रहा है । परन्तु पृथिवी के साथ सम्बन्ध होने के कारण यह पृथिवी के आकर्षण से आकर्षित रहता है । पृथिवी से आकर्षित रहने पर भी द्युलोकस्थ इन्द्र के सहोबल से इसे द्युलोकस्थ दवताओं के साथ समन्वित होना पता है । इसी आकर्षण-विज्ञान को लक्ष्य में रखक — याभ्यो वो मामकाम नयन्ति कहा है । स्वतएव यह अग्नि या सौरदेवताओं के आकर्षण से आकर्षित रहता तब तो— अकामम् कहने की आवश्यकता नहीं । परन्तु स्वत तो यह पार्थिव आकर्षण से ही आकर्षित है ऐन्द्र-बलप्रयोग क द्वारा ही यह आया दवताओं में सम्मिलित होता है । सम्पूर्ण कण्डिका का निष्कर्ष यही हुआ कि चतुर्धा विहित अग्नियो म से सावित्राग्न ही इन्द्रदवताओं के समीप हवि पहुँचता है । यह आपोमय होने से आप्त्या है । वसक मलयुक्त-रसयुक्त दो रूप हैं । रसयुक्त भाग का देवताओं स सम्बन्ध है एव मलयुक्त भाग का वरुणमण्डल से सम्बन्ध है । शुद्ध आप्त्याग्नि प्रमुख देवताओं के साथ रहता है । दवत्रयी के कारण सबनभेद स इसकी तीन अवस्थाएँ होजाती हैं । ये ही तीनों अवस्थाएँ क्रमश एकता द्विता त्रिता नाम स प्रसिद्ध हैं ॥१॥

- १—‘आदित्यो वै ब्रह्म’ (ज उ ब्रा २।४।९)
 — ब्रह्म वा अग्नि’ (का ब्रा ९।१।५)
 ३—‘ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति (शत १।४।२।२)
 ४—‘अग्ने महौ असि ब्राह्मण भारतेति’ (श १।४।२।२)

इत्यादि उक्त निगम-वचनो के अनुसार अग्निताव ही प्राकृतिक नियदवताआ में ब्राह्मण ह । वणों म भी जिसके आमा में यह आप्त्याग्नि प्रधान रहता है वह भी ब्राह्मण कहलाता है । ब्रह्म वह अग्नि है जो सवथा शान्त हो । पानी में रहने वाला अग्नि प्रान्वलित रहने वाल तापधर्मा अग्नि की अपेक्षा अधिक बलवान् हाता हुआ भी ऊपर से शान्त रहता है । इसी अग्नि क सम्बध से पानी को लोक में ठढी आग कहा जाता है । यही ब्राह्मणवर्ण का वास्तविक स्वरूप है । ब्राह्मण ऊपर से सवथा शात रहता है परन्तु उसका अतरामा प्रदीप्त रहता है । ब्राह्मणवर्ण-स्वरूप सम्पादक आयाग्नि ही दवताओं के लिए हवि का भरण करता है अतएव एष हि देवेभ्यो हव्य भरति (शत १।४।२।२) के अनुसार “से भारत * कहा जाता है ।

यह ब्राह्मणमूर्ति-भारत क्वा एष हि देवेभ्यो हव्य भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहु (शत १।४।२।२) क अनुसार भरत नाम से प्रसिद्ध आप्त्याग्नि द्युलोकस्थ इन्द्र के साथ सयुक्त रहता है ।

- १—‘क्षत्र वा इन्द्र’ (तै ब्रा २।६।६।३)
 २—‘क्षत्र राजय’ (ए ब्रा० ८।६)
 ३—‘एन्द्रो वै राजय’ (तै ब्रा ३।८।२।३।२)

इत्यादि उक्त नैगमिक-सिद्धान्तो के अनुसार इन्द्र देवताओं में क्षत्रिय हैं । जिस वर्ण के आमा में यह-इन्द्रप्राण प्रधान रहता है वह भी वर्णों में राजन्य (क्षत्रिय) कहलाता है । यह क्षत्र इन्द्र और वह ब्रह्म आप्त्याग्नि दोनो परस्पर सङ्गत रहत हैं । अग्नि इन्द्र का पुरोहित है । अग्नि अभिगता है इन्द्र कर्ता है । बिना अग्निब्रह्म के क्षत्र इन्द्र एक क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । कारण इन्द्र के यज्ञरूप राष्ट्र का स्वरूप-सम्पादन एकमात्र इस अग्निब्रह्म का ही काय्य है । इत प्रदाना ह्येते (उपजीवन्ति) इस श्रौत सिद्धात के अनुसार भक्तो से जाने वाली श्यैत नाम की आहुति से ही द्युलोकस्थ इन्द्रप्रमुख देवता

* आर्यावत्त भारतवर्ष क्यों कहलाया ? इस प्रश्न का यद्यपि पौराणिको न दौष्यन्ति भरत के सम्बध से समाधान किया है और अद्यतन इतिहासवेत्ता ऋषभदेव भरत को तन्नामकरण म प्रधानता दे रहे हैं । परन्तु वैदिकमतानुसार अग्नि के सम्बध से ही यह देश भारतवर्ष कहलाया है । अग्निभूस्थान के अनुसार पार्श्व अग्नि ही भरत है । इसीके सम्बध से भारतवर्ष विख्यात है । इस विषय का विशद विवेचन शत-पथ के तत्पकरण में ही किया जायगा ।

जीवित रहने में समथ हात हैं। ब्रह्म ज्ञानशक्ति है क्षत्र क्रियाशक्ति है। ज्ञान का विकास क्रिया (कर्म) से ही होता है क्रिया की प्रतिष्ठा ज्ञान ही है। ज्ञान बिना क्रिया के यद्यपि विकसित नहीं होसकता परन्तु वह सप्रतिष्ठा म प्रातष्ठित रह सकता है। उसका स्वरूप उच्छन्न नहीं होसकता। परन्तु क्रिया में यह बात नहीं है। क्रिया की उत्पत्ति ही बिना ज्ञान के असंभव है। ज्ञान से इच्छा का विकास होता है इच्छा से क्रतु—(यन चेष्टा—अतर्थापार) होता है। क्रतु से क्रिया (कर्म—बहिर्वापार) होता है जसाकि अभियुक्त कहते हैं—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्ता क्रतुर्भवेत् ।
क्रतुजन्ता भवेत् कर्म तदेतत् क्रतुमुच्यते ॥ *

ज्ञानमय मन से इच्छा का विकास होता है। वह इच्छा इदमे स्यात्—इदं कुर्वीय इस क्रतुभाव से सशिलष्ट रहती है। क्रतु आरंभ म अन्तर है। प्राण-वापार क्रतु है। एव वाग्-वापार (स्थूल शरीर का वापार) कर्म है। अद्वाङ्ग का रोगी उठने की इच्छा करता है। तदनुकूल प्राणवापार भा करता है च। करता है परन्तु स्थूलशरीर उठने म समथ नहीं है। अतएव उसकी यह चेष्टा यथ जाती है। इस-प्रकार क्रतु और कर्म का मे स्पष्ट प्रतीत हाता है। जिसे दार्शनिक यन्त्र किंवा चेष्टा कहते हैं वही क्रतु है। क्रतु शब्द नै नगामक परिवर्तन से कृत रूप में परिणित होगया है। वस्तुतः—

स यदव मनसा कामयते—इदं म स्यात्, इदं कुर्वीय—इति स एव क्रतु'

—शत ४।१।४।१

हस्तु ह्यग क्रतुर्मनोजव प्रविष्ट'

—शत ३।३।४।७

इ यदि के अनुसार चेष्टा क्रतु शब्द से ही व्यवहृत होती है। प्रकृत में हमें इस प्रपञ्च से केवल यही बतलाना है कि क्रिया की प्रतिष्ठा ज्ञान ही है। ज्ञान ही—ब्रह्म किंवा ब्राह्मण है यही आप्त्याग्नि है। क्रिया क्षत्र किंवा क्षत्रिय है यही सौर इन्द्र है। दोनों अतरिक्ष में सम्मिलित रहकर ही त्वाष्ट्र असुर के वध म समथ होते हैं। इन्द्र असुरों का मारते हैं परन्तु आप्त्याग्नि की सहायता से। यही अवस्था मनुष्यों में समझनी चाहिए। यदि राजा के समीप योग्य पुरोहित होता है तो वह राजा अपने शत्रुओं को परास्त करने म समथ होता है। बिना ब्राह्मणपुरोहित के निम्नूल होता हुआ राजा शत्रुओं से परास्त होजाता है। इसी ब्रह्मक्षत्रविज्ञान को लक्ष्य में रखकर शानपथीया—श्रुति कहती है—

ब्रह्मैव मित्र क्षत्र वरुण । अभिगतैव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रिय । ते हैतेऽअग्ने नाने-
वासतु —ब्रह्म च क्षत्र च । तत शशाकेव ब्रह्ममित्र ऋते क्षत्राद् वरुणात् स्थातुम् ।

* इच्छाज-या कृतिर्भवेत् कृतिजन्या भवेत्कर्म (लौकिक-पाठान्तर) ।

न चत्र वरुण ऋते ब्रह्मणो मित्रात । यद्द किंच वरुण कम्म चक्रऽप्रसूत ब्रह्मणा । मत्रण ।
 न हेवास्मे तन् ममानृधे । सोऽएव पुरोवा । तस्मादु
 चत्रियेण कम्मकरिष्यमाणोपसत्त य एव ब्राह्मण । स हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूत कम्म-
 ऽर्घात'

—शत ४१।३।१- —३-४ ५-६ ।

न्सी रहस्य को लक्ष्य में रखकर याज्ञन क्या कहते हैं कि जैसे लोक में ब्राह्मण पुराहित राजा का अनु-
 सरण किया करता है वही प्रजापति या या नन्द के साथ विचरन लगे ।

मपिण्ड और सूय के मयम आपोमय प्राण प्रतिष्ठत रहता है यह पूर्व में बतलाया जा चुका
 है चोक्साष्ट का अधिष्ठाता यही आपोमय असुर तब है जमाक पूर्व के अप्राणायन कम्म में विस्तार
 से बतलाया जा चुका है ।

सो मिध्याय शरीरात् स्वात् मिसृन्नुर्विविधा प्रजा ।
 अप एव मसजादा तासु बीजमयासृजत् ॥ (मनुस्मृतौ)
 अप्सु न मुञ्च भद्र ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिता ।
 आपोमया मवरमा म मापोमय जगत् ॥ (महाभारते)
 अद्भिर्वा इदं सवमाप्तम्' (श ६।१।१।८)

'तद्भवती—आभि (स्वदधाराभि तत्पूर्वाभरद्भि) अहमिद सर्व धार-
 मिष्यामि, मां जनमिष्यामि मा मापस्यामि यदिद किञ्च । तद् धाराणा धाराचम
 तज्जायाना जायाचम तदपामपचम' ।

—गो ब्रा प १ ।

उक्त श्रौत माय-प्रमाणों के अनुसार अपतत्व ही से मुनीसृष्टि का मूलधार है । सृष्टि का उपादान-
 द्रव्य ब्रह्मगर्भित यही सुब्रह्म है । ब्रह्म एव सुब्रह्म क सम वय स ही विश्व एव तद्गता प्रजा का निर्माण
 हुआ है । यह अपतत्व विश्व का उपादान अग्र्य है परन्तु इस एक ही तत्व में विविध आकार वाले
 भू-भुव-व-आकाश-लाक उपन्न होत हैं इस का मुख्य कारण त्वण प्राण है । अपतत्व शुक्र है ।
 इस शुक्र के भिन्न भिन्न आकार में परिणत करने वाला त्वणप्राण ही है त्वण वै रेत सिक्त त्रिकिरोत
 त्वण रूपाणि (आकारात्मकानि रूपाणि) पिशतु के अनुसार जैसे हरित-नील पीतादि वर्णों का
 आगता मघवा एवमेव आकाररूप का अधिष्ठाता त्वणप्राण है । अतएव सृष्टिप्रवर्क इस अप-
 तत्व को हम अग्र्य ही त्वाष्ट्र कह सकते हैं । यही विश्व का उपादान है । सप्रमापोमय जगत् के अनु-
 सार यही विश्वरूप में पारणत हो रहा है अतः इसे विश्वरूप नामसे व्यवहृत किया गया है । असत्प्राण
 जैसे ऋषि है सौर प्राण जस देवता नामसे व्यवहृत हात है एवमेव आष्यप्राण असुर कहलाता है । इसी
 आधार पर त्वाष्ट्र विश्वरूप इस आंतरिक्ष मलयुक्त आयाप्राण को असुर कहा जा सकता है ।

पूव म हमने आग्याग्न के विशुद्ध एव मलयुक्त ये नो स्वरु वतलाए ह । पुन उनकी ओर आपका यान आकषित किया जाता है । हयि युक्त विशुन् आग्याग्न का एकता द्विना त्रिता मेगाभन्न आप्त्या समभिए । एव इनका द्रप्रसुर दवताआ के साथ सहयोग मानए । शष वच हुण मयुक्त आग्या की त्वाष्ट्रविश्वरूप असुर समभिए । यही विशुन् वारुण भाग है । सम मा अ न है अवश्य । क्योकि पानी की तरलता— अपा मयातो जिलयन च तेच मयागान् (कणा शन) म सिद्धान्त के अनुसार विना अग्नि के सम्बन्ध के मवथा अनुपपन्न है । अग्नि ब्राह्मण है इसलिए इस वाष्प विश्वरूप अवमृत्ति असुर को हम आसुरब्राह्मण मान सकते ह । जिसप्रकार किलात और आकुला ब्रह्मासुर ह इसीप्रकार यह वाष्प विश्वरूप भी अग्नि के सम्बन्ध से आसुरब्राह्मण है । यह दवताआ का वन् भी है ।

सौरदवता (इन्द्र के सम्बन्ध में) प्रकाश के आधष्ठाता ह । अपत व प्रकाश का वरोवी है । आन्तरिच्य आपोमूर्त्ति यह वाष्प अमर निरन्तर सौर दवताआ पर आक्रमण किया करता है । परन्तु पार्थिव विशुद्ध आग्याग्निक द्वारा लाए हुए सोममय हविष्य से बलवान् बनते हुए दवता असुर को मारा करते है । य यातिषा पितमा प्रथ (ऋक्स) के अनुसार सौर प्राण म अनन्तर आहुत होने वाला सोम ही प्रकाश का अधिष्ठाता । पूर्वोक्त आग्याग्न में स ध्रुलोकस्थ अन्त के साथ ताचाय सवना-धिष्ठाता त्रिता आग्या का सम्बन्ध हाता है नसाकि पूव मे वतलाया जानुका है । इसी वज्जान को लक्ष्य म रणकर— शशुद्ध त्रित प्रथान यह कहा गया ह । वय विश्वरूप वाष्प के साथ अन्त का परिचय आग्या के द्वारा ही हाता है । सजातीय सम्बन्ध के कारण आप्त्या हा आपोमूर्त्ति वाष्प का परिचायक है । आग्या का हविष्य ही वच का कारण है । आग्याग्न यदि इन्द्र के साथ हवि का सम्बन्ध न कराता तो विश्वरूप का पता लगना तो दूर था व स्वय ही अपना स्वरुप म्बो वैठता । आग्या के द्वारा आहुति का जाना ही यह सिद्ध करना है कि आप्त्या ही विश्वरूप का मारने के लिए इन्द्र को प्रेरित करता है । प्रेरित क्या करता है दूसरे शब्दा में हयवाहक होने से वही वाष्प वच का मुख्य कारण है ।

यह हम अनेक बार निवेदन कर चुके है कि वैदिक विज्ञान के अनुसार कोई भी पदार्थ जड नहीं है । सबमें अणुयुग्म का चिदश प्रतिष्ठित है । स यापक चतन्यवा के अनुसार विश्वरूप त्वा को भी केवल जड पदार्थ नहीं माना जासकता । इसी आधार पर तो आषधि वनस्पति के एक पत्र (पत्र) को छिन्न भिन्न करने पर भी आष्यसन्तान हिंसा ममभूती है । ऐसे अवस्था में आग्याग्न के सहयोग से याद सौर इन्द्रदेवता वाष्प विश्वरूप पर आक्रमण कर उस निर्वीच्य बना देता है तो यह व्यापार कस हिसाभाव से पृथक किया जासकता है । प्राकृतिक-रहस्य वत्ताओ की दृष्टि में अवश्य ही यह काव्य हिसामय है । त्वाष्ट्र विश्वरूप असुर पूर्वकथनानुसार ब्राह्मण है । इस हिसादोष से इन्द्र अतिभूक्त होजाता है । कारण इन्द्र (सौर-देवता) दोषों से असङ्ग है । इधर आग्या पानी के सम्बन्ध स आसक्तिधर्मा ह । श्रद्धा या आप के अनुसार आप्त्या श्रद्धारस से युक्त है । श्रद्धारस वह तव है जो आगत भावों को तत्पदार्थ के साथ सश्लिष्ट कर देता है । मेध्या वा आप प्रसिद्ध ही है । इसी मेध्यभाव के कारण उस हिसादोष का भागी आप्त्या दवता ही होता है । अपिच ऐसा होना यायप्राप्त मी है । कारण आग्या ही तो पूर्वकथनानुसार प्रधानारूप से विश्वरूप के वच का कारण है । एव— हता की अपेक्षा से तत्परिचायक तत्समथक तत्प्रेरक एव प्रधानारूप से तत्सहयोगी के साथ ही विशेषरूप से हयाका सम्बन्ध होता है यह धम्मशास्त्र का भी सिद्धान्त है ।

श्रुतने वाङ्मयस्वरूप को तीन म तक वाला बतलाया है। पाठकों को स्मरण होगा कि आपाप्र-
णयनकर्म की प्रविध उपपत्तिया बतलाते हुए हमने अपत व का सबजगत् का उपादान बतलाया था जसाकि
इस प्रकरण में पृथ भी निवृत्त किया जा चुका है। विश्व का उपादान विश्वरूप वाङ्मय अपत व है। अप-
त व ही केवल उपादान नहीं है अपितु ब्रह्मगर्भित उपादान अपत व बनता है। ऋक्-साम यजु की समष्टि
ही ब्रह्म है। इनमें ऋक्साम केवल आयतनमात्र है। वयोनाथ है। इससे छन्दित यत् तू (वाक्-प्राण) मूर्ति
यजु ही विश्व का उपादान है। यजु म भी जू रूप वाग्भाग ही विश्व का उपादान है। सोऽपोऽसृजत
वाच एव लोकान् (श ६।१।५) के अनुमात्र त्स वाग् भागसे सबप्रथम मथुनीसृष्टि की कामना से पूर्वोक्त
अपत व उ पन्न होता है। यह अ तत्त्व चन्द्राद्यमय है। यही पूर्वोक्त ब्रह्मगर्भितब्रह्म नाम का विश्वोपादानभूत
सृजत एव है। वाक् मूर्ति यही अपत व विश्वरूप म परिणत हो हा है। इसी आधार पर अथो वाग्वेद
सवम (ऐ आ) वाचीमा विश्वा भुवना च्यपिता च्या गीत मिद्वान्त प्रतिष्ठित है।

अब रूप म पारणत होकर ही य वदमयी इन या अनादिनिधना स यावाक् विश्वरूप म परिणत होरही
है। अ-एव अबमूर्ति वाग् का विश्वरूप मान लिया गया। वाक् प्राण के बिना अनुपपन्न है तो प्राण बिना
मन क अनुपपन्न है तीनों अविनाभूत है। ये तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध है। कोई भी कार्य कोई
भी सृष्टि बिना न ज्ञान क्रिया अथ-शक्तिमय मन प्राण-वाक् के समन्वय क स भव नहीं है। ये ही
तीनों त व विश्वरूप वाग् क तीनों मस्तक है। वाङ्मय म यह ब्रह्मगर्भित शुक्लस्वरूप विश्वरूप वाङ्मय विश्व
का उपादानकारण बनता है प्राणमुद्य से उपादानानुकूल क्रिया करता है एव मनोमुख स तदनुकूल काम का
उ य होता है। सृष्टिप्रक्रिया में ओ ओ भी साग्न अपन्नित रहते हैं। परन्तु मन-प्राण-वाक् तानों मुख्य
हैं। मुखस्थानीय हैं। अतएव उसे त्रिषाष बतलाया गया है। अन्य थान पर इसे षडक्ष (छह आँख-
वाला) भी क ा गया है।

य अपने आपम उ पन्न होन वाली विश्वप्रजा को षाटकौशिक ही उपलब्ध करता है। अपिच-
मन प्राण वाक् तीनों म हा सम्भूत अम भूति भेद स ने ने वृत्तियों का विकास रहता है। सिद्धा
स भूति एव मुमन्ता से विनाश होता है। न वृत्तियों से यह सबद्रष्टा बना हुआ है। इसलिए भी उसे
षडक्ष मानना थायप्रान नोजाता है। आपन्न विश्वरूप वा त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित होरहा है। भूलोक में
भी पानी है एव त्रूलोक भी पाना म रक्त नहीं है। तीन स्थानों में यह अपनी व्याप्ति रखता है इसलिए
भी इस त्रिशीप कहा जासकता है।

अपिच—यही अपत व शुक्ल है पारमेष्ठय है। अयाम परिभाषानुसार इसे ही महान् कहा
जाता है। यह महत्तत्त्वरूप अपतत्त्वरुक्वा शुक्लतत्त्वरुक्वा घन तरल विरल भेद से अप् वायु सोम नममें
परिणत होकर ही चिन्तामा की योनि बनता है। त्रिविध अवस्थापन्न महत् स्वरूप यह अपतत्त्व ही चिन्तामा
के सम्बन्ध से आप्य-वाय-य-सोम्य जीवों का उपादान बनता है। इस की इन तीन अवस्थाओं को लक्ष्य
में रत्नकर भी उसे त्रिशाप कहा जासकता है।

अपिच—महत्स्वरूप म पारमेष्ठय अपत व में ही-प्रथिवी-चन्द्रमा सूर्य के दशपूणमास
से आकृति-प्रकृति अहङ्कृतभाज का ज म होता है इस भावत्रया से भी उसे त्रिशीर्ष माना जास-
कता है।

अपिच—केवल सूर्य के दर्शपूर्णमास से इस तब में सत्त्व रज तम इन तीन गुणों का उदय होता है इसलिए भी इस त्रिशीष मानने में कोई अपत्ति नहीं है। इसप्रकार मन—प्राण—वाक् पृथिवी—अन्तारक्ष—द्यौ—धन—तरल विरल—आकृति—प्रकृति अडकृति सव—रज—तम आदि अनेक प्रकारों से वाष्ट विश्वरूप का त्रिशीष भाव सिद्ध होजाता है। ऋषको सक्का ग्रहण श्रपेक्षित या। अत नियत शीषभाव को आगे न रखते हुए उद्धाने सामान्यरूप से—त्रिशीर्षाण त्वाष्ट्रम् यही कहा है। इसी नित्यासिद्ध विज्ञान का निरूपण करती हइ श्रति कहती है—

‘तऽइन्द्र ण सह चेरु—यथेद ब्राह्मणो रानानमनुचरिति । म यत्र त्रिशीर्षाण त्वाष्ट्र
मिश्वरूप जघान ॥२॥ इति॥

मोरप्राण इन्द्र है आयातव वरुण—प्रधान है। अत उसी के साथ हिमदोष का सम्बन्ध होना यायप्राप्त है यह पच में बतलाया जाचुका है। सौ प्राणरूप देवताओं की सम्मत्ता से निश्चित हुआ कि हिंसाजनित यह दोष उन्हीं आयातवों के साथ सक्रात हा जिहोंने त्रिशीष वाष्ट के वधका समथन किया। उस हिंसाजनित पा मा का आयातव से सम्बन्ध कग्ने का क्या प्रकार है? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर यह अनगय हुआ कि यज म ो षित भाग है उस त्हु ष दिया जय।

ता पथ्य यही है कि हिंसाजनित दोष से आयातव का स्वरूप तृषयुक्त होजाता है। शुद्ध आप्त्या के द्वारा लाए गए हवि से देवता बलवान् बन ग। वारुण वाष्ट आपोमय असुर मारा गया। मलभाग वारुण आप्त्या के साथ मत्क्रात होगया। नित्यसिद्ध प्राकृतिक यज्ञ म रहन वाला पार्थिव मलभाग आ तरिद्य इन्हीं आयो में प्रतिष्ठित रहता है। शुद्ध हवि सोरप्राणत्वताओं में आहुत होजाता है। तमी नित्यसिद्ध प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार इस मनुष्ययज्ञ का वितान किया जाना है। तदनुसार ही दवना—थानीय ऋत्तिक यज्ञससृष्ट दूषित पानी को आयो के लिए ही डालत ह ॥३॥

उपयुक्त दोष का निराकरण करने वाला एकमात्र हविद्रव्य है। हवि की आहुति से ही अग्नि प्रज्वलित होता है। इसी से देवता बलवान् होते हुए असुरवध में समथ होते ह। जिन यजमान का हवि पर पूण स्वत्व रहता है वही इस दोष को आप्त्या के ऊपर डालने में समथ होता है। इस हवि को स्वाधिकार में रखने के लिए दक्षिणादान आवश्यक है। क्योंकि हवि में यज्ञकारयिता—होता अध्वर्यु उदगाता ब्रह्मा इन चारों ऋत्विजों का मन प्राणवात् मय आमा भी सम्मिलित रहता है। उनके आम—प्रवेश से हवि पर यजमान का पूण अधिकार नहीं होता। ऐसी अवस्था में हवि निवृत्त बनता हुआ दोष—माज्जन में असमथ रहता है। इसलिए प्रत्येक यज्ञ में दक्षिणा * प्रदान नितान्त अपनित है। अपिच हवि को कूटन पीसने पकाने में जो हिंसा होती है उसे दूर करने का उपाय भी यही दक्षिणात्त्य है। बिना

* प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होगया है अत प्रकृत में दक्षिणा विज्ञान का निरूपण नहीं किया जासकता। आगे आने वाले दक्षिणाब्राह्मण में ही इस विषय का ताविक—विक्षुषण किया जायगा।

द्विणा के यज्ञ नष्ट है। अनक्षय यही हुआ कि जो यजमान स्वयज्ञ में दक्षिणा नहीं दता उसका हवि सर्वा-मना उसके अधिकार में न रहता हुआ निवृत्त बन जाता है। ऐसी अवस्था में आ यो में रहने वाला दोष यज्ञकर्त्ता यजमान के साथ सक्रान्त होता है। इस दोष से बचने के लिए अवश्य ही दक्षिणादान करना चाहिए। इसी रहस्य का लक्ष्य म रखकर—त उ हेतेऽऽचु । उ । मऽऽग्नो गच्छतु इ यदि कहा है ॥४५॥

अध्यात्म-अधिभूत अधिदवत-अध्यामाधिभूत अध्यात्माधिदवताद-भदभिन्न आठ भागों में विभक्त आख्यानोपारयानों में से प्रकृत का आप्तोपारयान अध्यामाधिभूतादिनैत्रत नाम के आरयान से सम्बन्ध रखता है। अधिदवतमण्डल के साथ भी इस आख्यान का सम्बन्ध है। अवतक के प्रकरण से केवल उसी का स्वरूप विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित किया गया है। अध्यामसस्था के साथ भी इस आरयान का घानष्ठ सम्बन्ध है एव आधिभौतिक (ऐतिहासिक) प्रपञ्च से भी इसका सम्बन्ध है। इनमें क्रमप्राप्त आ यामिक सम्बन्धी आर्याविज्ञान की आर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

आध्यात्मिक-आप्त्याविज्ञान —

तासा त्रिवृत त्रिवृतमेकैका करवाणि (छा उ ६३) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार-तेज अप् अन्न इन तीन तत्त्वों के त्रिवृतकरण से ही आ यामसस्था का निर्माण हुआ है। शेष भूतप्रपञ्च एव आमप्रपञ्च का इही तीनों में अन्तर्भाव होता है। अक्षराममक्षरपरापरविशिष्ट षोडशकल अमृतामा चिदा मा है। इसकी योनि पारमेष्ठ्य महानामा है। यह महान् आपोमय है। अपतत्त्व की अप् प्रायु सोम तीन अवस्थाएँ हैं। इही तीन तत्वों के साथ उपयुक्त चिदा मा का सम्बन्ध होता है। अतः विश्व में केवल-आप्य वायव्य सौम्य मेदाभन्न तीन ही चतनजीव उपलब्ध होते हैं। इसप्रकार अमृतात्मा (चिदात्मा) का अपतत्व में भृगुभाग में अन्तर्भाव होता है। ६६ सख्या में विभक्त आप्यप्राण असुर हैं २७ सख्या में विभक्त वायव्य प्राण गन्धर्व हैं ८ सख्या में विभक्त सौम्यप्राण पितर हैं। इन तीनों का अन्तर्भाव भी इसी अपतत्व में है। त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशात् (शा ६।१।५।) के अनुसार ऋक्सामावाच्छन्न ऋषि नामारय यजुमूर्ति त्रयीब्रह्म भी इसी अपतत्व में प्रविष्ट रहता है। अतः १२ सख्या में विभक्त ऋषिप्राणों का भी अपतत्व में ही अन्तर्भाव होता है।

आगे बतलाए जाने वाली तेज कला एव अन्नकला का भी इसी अपतत्व में अन्तर्भाव होता है। क्योंकि तेजोमूर्ति सृष्ट्य अपतत्त्वान्तगत अङ्गिराभाग की विरलावस्था का ही विकासमात्र है एव अन्नमयी पृथिवी 'अद्भ्य प्रथिवी' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आपोमयी ही है। यत् किञ्च जगत्या जगत्तत् सवमप्सु प्रतिष्ठितम् यह आप्त सिद्धान्त चरिताथ होता है। सबका इस आपोमय तत्व में बीजरूप से अन्तर्भाव है। अतएव ऋषियोंने इस तत्व को प्रज्ञान विज्ञान भूतात्मा कर्मर्मा आदि सब की अपेक्षा महानात्मा (बहुत बड़ा आत्मा) माना है। यही इस महान् की महत्ता है। जिस महान् के उदर में-विश्व-यापक षोडशी प्रजापति भी गर्भी बन रहा हो उसकी महत्ता का क्या ठिकाना है।

इसीप्रकार रस-असृक् कफ-लाला-स्वेद आदि अवभागों का भी इसी अपतत्व में अन्तर्भाव है। शरीरसस्था के अथ्यद् प्राणतत्त्व का भी इसी अपतत्व में अन्तर्भाव है। आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्व

ङ्गिरोमयम् अस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अङ्गिरा भी आपोमय है। अङ्गिरा की अग्नि-वायु-आदित्य तीन अवस्थाएँ हैं। अग्नि-तत्त्व से प्राणिन्द्रिय का विकास होता है वायु-तत्त्व से प्राणोन्द्रिय का विकास होता है आदित्य-तत्त्व से अक्षुरिन्द्रिय का विकास होता है। भृशु का प्रिरलापस्थारूप सोम दिक्-भास्वर भद्र से दो भागों में विभक्त है। भास्वरसोम इदु नाम से ग्रहणित होता है एवं दिक्-सोम ब्रह्मणस्पति नाम से प्रसिद्ध है। इनमें से दिक्-सोम से प्राणोन्द्रिय का निर्माण होता है एवं भास्वरसोम से इन्द्रियमन की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। इस प्रकार षाडशी आत्मा ऋषि पितर गवव असुर पञ्चेन्द्रिय शरीरगत तरलतन्त्र इन सबका उपयुक्त अपत व में अन्तर्भाव होजाता है। तेज-अन्न-आप तीनों में प्रधानता अपत व की ही है। इसी भूयस्त्वविज्ञान को लय में रखकर आत्मकत्वात् भूयस्त्वात् (शां ६.३.२) इस भिन्नसूत्र के सम्भव में यह कहा जासकता है कि—

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति । (छा० ५.३.३० आ उ ६.२) इति प्रश्ने ध्रुपर्जायपृथ्वीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासामवृष्ट्यन्नरेतो रूपा पञ्चाहुतीदर्शयित्वा × × इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति (छा० उ ५.६) इति अनुरूप्यते । नत्रपा पुरुषाकारपरिणामप्रतीते- गच्छता जावेन तामामव परिष्वङ्ग प्राप्नाति न सर्वेषा भूतस्रत्माणांमिति चेन्न-पुरुष दहारम्भकाणामपा यात्मत्वात् तामा त्रिवृत त्रिवृतमेकका करवाणि (छां उ ६.३) न्यपा त्रिवृतकरणश्रुते । दृश्यते च देह सार्वभौतिक । त्रयाणामपि तेजोऽव आना दहे कार्योपलभ्य । देहारम्भकद्रवस्य मावभौतिकत्वेऽपि तस्यापछदेन यपदेशस्त्वपा भूयस्त्वादुपपद्यते । शुक्रशोणितलक्षणे दहबीजे द्रवद्रव्याहुल्यदशनात् । उत्पन्ने च शरीरे इतरभूतापेक्षयाऽस्त्यपामेव ग्राहुल्यम् । बाहुल्याच्चापशदेन सर्वेषा भूतस्रत्माणां मुपादानम् ।

दूसरा है तेजस्तत्त्व । विज्ञानात्मा ३ देवता आदि का इसी में अन्तर्भाव है । सौरतत्त्व तेज है । यह इन्द्रप्राणमय है । यही विज्ञान (बुद्धि) का अधिष्ठाता है जैसाकि धियो यो न प्रचोदयान इत्यादि से स्पष्ट है । एवं इन्द्रप्राण ही देवप्राण का अधिष्ठाता है । इसी आधार पर—इन्द्र सर्वा देवता — चित्र देवानामुदगात् इत्यादि कहा जाता है । तीसरी है अन्नकला । शरीरगत स्थूलघातु मन (प्रज्ञानात्मा) आदि का इसी में अन्तर्भाव है । १ तेजस्तत्त्व वाङ्मय था २ अन्नतत्त्व मनोमय है । एवं ३ आप तत्त्व प्राणमय है ।

१—तेजोमयी वाक् (छा उ)

२—अन्नमय हि सौम्य मन (छा उ)

३—आपोमय प्राण (छा उ)

१ आप —प्राण

२ अन्नम् —मन

३-तेज —वाक

—“स वा एष आत्मा ऋड मय प्राणमयो मनोमय
(प्र आ उ) ।

शरीर आपोमय है । प्राणाग्नेय एतस्मिन् पुरे जागति (प्र उ) स श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इस आपोमय शरीर में प्राणाग्नि सदा जाग्रत रहता है । अपत व में व्याप्त प्राणाग्नि ही आध्यात्मिक आप्त्या देवता है । यह प्राणाग्नि बस्तिगुहा—उदरगुहा—उरोगुहा में से तीन स्थानों में व्याप्त हो रहा है । आधिदिविक—स्तोम्यत्रिलोकी के अग्निमय त्रिवृत्—पृथिवी—भाग से बस्तिगुहा का निर्माण होता है । यहां प्रतिष्ठित रहने वाला पार्थिवाग्नि अपान नाम से व्यवहृत होता है । वायुमय पञ्चदश अंतरिक्ष से उदरगुहा का निर्माण होता है । यहां प्रतिष्ठित रहने वाला आतरिद्य प्राणाग्नि यान नाम से प्रसिद्ध है । एव आदियमय एकविंशत्यलोक से उरोगुहा का निर्माण होता है । यहां प्रतिष्ठित रहने वाला प्राणाग्नि प्राण नाम से व्यवहृत होता है । एक ही पार्थिव प्राणाग्नि की अपान—व्यान—प्राण ये तीन अवस्थाएँ हैं । ये ही तीनों आध्यात्मिक—एकता द्विता—त्रिता नाम के आप्त्या देवता हैं ।

आध्यात्मिक विज्ञान का निरूपण करते हुए हम बतलाए हैं कि विश्वरूप वाङ्मय आपोमय ही है । अपतव ही मैथुनीसृष्टि का मूलप्रभव है । इस विश्वबन्धमूलक अपतत्व के बन्धन से निकलने का एकमात्र उपाय है—पूर्वोक्त त्रिता नाम के आप्त्या से युक्त प्रज्ञान को विज्ञानात्मा के अनुगत कर देना । प्रज्ञानमय प्राणाग्निमय है । त्रिताग्नि की क्रिया से ही मनकी स्वरूप निष्पत्ति होती है । कारण यह है । शारीरिक प्राणाग्नि ही अशानाया रूप में परिणत होकर अज्ञान की इच्छा करता है । अन्न प्राणाग्नि में आहुत होता है । प्राणाग्नि में हुत अन्न ऊर्जा रूप में परिणत होता हुआ रस-मल के क्रमिक विशकलन से शुद्ध सोमरूप में आता हुआ वही अन्नरस मन बनता है । ऐसी अवस्था में हम मन को अवश्य ही प्राणाग्नि पर प्रतिष्ठित मान सकते हैं । दूसरे शब्दों में त्रिताग्नि ही मन का निर्माता है । अतएव मन को अग्नि भी कहा जाता है । (देखिए शत १ १।२।३) । आ याग्निमय होने से ही मन में आप्तधम्म का समावेश होता है । इसी आप्त्यादेवतामूलक मन के आप्तधम्म को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“मनसा वा इदं सवमाप्तम् (शत १।७।१०) इति ।

इससे प्रकृत में हम यही बतलाना है कि इस आध्यात्मिक विश्व में आप्त्यादेवता—आप्त्याग्नि—मय प्रज्ञानमय ही है । यह मन मध्यस्थ है । इसकी दृष्टि—विश्वरूप वाङ्मय की ओर भी है एव बंधनावमोक करने वाले सौर इन्द्रमय विज्ञानात्मा की ओर भी है । आपको यह यान रहना चाहिए कि मनुष्य की वृत्ति यज्ञ अयज्ञ भेद से दो भागों में विभक्त रहती है । प्रकृति के अनुकूल विज्ञानबुद्धि के आधार पर जो कर्म किए जाते हैं यज्ञो वै श्रेष्ठतम कम्म इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वह कर्म श्रेष्ठतम कम्म है । वही कम्म यज्ञकम्म है । ऐसा कम्म सवथा आसक्तिशून्य होता है । क्योंकि प्रकृति के अनुसार व्यवस्थित होता हुआ यह कम्म नियतकम्म बनता हुआ आमाय बन जाता है । इसी यज्ञकम्म का निरूपण करते हुए यज्ञार्थात् कम्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कम्मबन्धन (गीता) यह कहा जाता है ।

परन्तु उक्त यज्ञकर्म की सिद्धता ही प्रतीत होती है। तब वाक आप्त्यरूप प्रज्ञानमन वज्ञान से अनुगत रत्ता है। विज्ञान सार इन्मय है प्रज्ञान पाथिवन्मय है। प्रज्ञान म प्रज्ञा-प्राण दो भाग ह। मनम प्रज्ञाभाग सोम म प्राणभाग इन् है। प्रज्ञासोम स्नहत्व है। उवर विश्व स्नहमनक है। मन स्नहवृत्ति के कारण ही तो मन आसक्तिमूलक विश्व की ओर भुक्ता रहता है। उवर तद्राण अमङ्ग है। तसका सौर तद्र के साथ सम्बन्ध बना है। अतएव प्राणपेतया प्रज्ञान वज्ञान क ओर भुक्ता हुआ बधन मे प्रक होने की भी इच्छा किया करता है। परन्तु हम पार्थिव ह। सूर्य हमसे पन्ना । अतएव प्रकृया प्रज्ञान का प्रज्ञाभाग हमारे म प्रबल रहता है। अतएव तमूलक आसक्तिभाव मा म प्रवान रहता है एव तद्राण निबल रहता है। मप्रकार विज्ञान से विराहत प्रज्ञान उत्तगत कामनाआ के कुचक्रम आवृत् होकर विश्व की आसुरी विभूतियों की ओर अग्रसर हाता रहता है। यहा प्रज्ञापराध कहलाता है। प्रकृति विरुत्त क म करणा अयज्ञियकर्म है। तसे जासना-सस्कार दृष्ट होजाता है। विश्वरूप त्वाष्ट का बल ब्रू जाता है। यि यज्ञकर्म को अपना लिया जाता है तो-प्रज्ञान वज्ञान मे अनुगत हुआ विश्ववधन का ल्घ्वभिन्न करने म समथ हो जाता है।

इसप्रकार यज्ञकर्म (निवृत्तिकर्म-निष्कामकर्म) के द्वारा सबल बनता हुआ प्रज्ञान विज्ञानेन्द्र क साथ विचरता हुआ आसुरभाव क वध का कारण बन जाता है। यद्यपि-ज्ञानानि मयकर्मणि भस्मसात कुरुते तस स्मात्त तद्धा त के अनुमार विज्ञाना मा (बुद्धि) को मलभाग का नाशक माना जाता है। परन्तु विज्ञान आसुर भाव का नाश नहा करता। प्रज्ञान ही आसुर भाव को नष्ट करने में समर्थ होता है। मनोानरोध ही दूषित वृत्तिया का नष्ट कर सकता है। आप बहुत बुद्धिमान् । परन्तु मन पर यि आधकार नहीं है तो एकाकी विज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता। तसी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर-मन एव मनुष्याणा कारण बधमोक्षयो त्वादि रूप से मन को ही बधन आर मुक्ति लेना का कारण माना जाता है। हाँ बधनविमाक कालए विज्ञान का साथ रहना नितान्त अपेक्षित है। विज्ञानबल से प्रज्ञान का बधनमूलक प्रज्ञाभाग श्लथ होजाता है एव मुक्तिमूलक प्राणभाग सत्रा बन जाता है। तसी सम्पूर्ण आध्यात्मिक चरित्र को लक्ष्य में रख कर ऋषिने प्रज्ञानरूप आया को विश्वरूप असुर के वध का कारण माना है एव सौरविज्ञानेत् का इस हिसादोष से अतिमुक्त माना है। इसी आचार पर वज्ञाना मा के लिए-असङ्गो ह्यय पुरुषो न सज्जते न यथते न रिष्यात् (बृ आ) इत्याद कहा जाता है। प्रज्ञानमन से कामना का उदय होता है तदगत प्राण से विक्षेप का जम होजाता है एव तत्प्रतिष्ठ वाकतत्त्व आवरण का जनक है। काम विक्षेप-आवरण ही विश्वरूप त्वाष्ट के विश्व का सञ्चालन करने वाले मुख्य साधन है। सुवस्थानीया ये ही तीनों वृत्तिया इसके तीन मस्तक हैं। बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्य है कि वह निष्कामकर्म क द्वारा प्रज्ञानमन को विज्ञान से अनुगत करता हुआ काम-विक्षेप-आवरण-मूलक त्वाष्ट आसुरभाव को नष्ट करता रहै अथामसम्बन्धा आयाचरित्र का यही सन्निप्ततम निष्कष है।

अधिभूतसम्बन्धी-आप्त्याविज्ञान -

विज्ञानभाष्य के पूर्वसदर्थों में अष्टविध देवताओं का स्वरूप बतलाते हुए हमन भौमस्वग का दिग्दर्शन कराया था। वहा बतलाया गया था कि यज्ञ ऋषि-देव-गाधव असुर आदि भेदभिन्ना जो

यवस्था आधिदैविकनगत् में है ठीक वही यत्र या भगवान् भाम ब्रह्मा के द्वारा इस भूलोक में भी विद्यमान थी। उस युग—यद्वह तन्मुत्र यह मिद्वान्त सर्वा मना चरिताथ होरहा था। वग के अ यत् इन्द्र थ अन्तरिक्ष के प्रायु य। भूलोक के अग्नि थ। यहा के सम्राट तो मनु थे एव शत्रुसोनपात (इन्द्र क प्रतिनिधि) अग्नि थ। स्वर्गाधिष्ठाता इन्द्रासम्राट का ओर स भारतवष की देपररेट के लिए अग्नि ही नियत थ। किसे भारतवष का शत्रुसोनपात बनाया जाय ? वमण्डली म जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो सबसे मात से निराय हुआ कि आग्निजातीय दवता ही इस काय्य के लिए उपयुक्त हैं। उन का यह निराय प्रकृति के अनुकूल भा था। कथाक—आग्निभूस्थान तस आ ताम्द्वान्त के अनुसार तस भूलोक के अधिष्ठाता अग्नि ही ह।

पार्थिव प्रजा का भरण पोषण करना पार्थिव हय को सोर त्थिय दवताआ म पढ चाना [जिसका कि स्वरूप पूव के आग्यावज्ञान म बतलाया ज चुका है] ये सब त्थी अग्नि के मा य हैं। अतएव वधयज्ञ के द्वारा तदामभूत मनुष्यआग्नि को ही उपयुक्त काय्य के लिए नियुक्त करना उचित था। अग्निजातीय दवताओ म से जब एक को कहा गया तो उसने अस्वीकृत कर लिया। यही सरे ने किया। तसरे स कहा गया तो वह छुप गया। त्थ ने उसे ढूँ कर तस काय्य के लिए त्रा य किया। उस समय भारतवष पर वष्टा के पुत्र त्रि षष—षडक्ष विश्वरूप क आक्रमण हुआ करते थ। इन्द्र दूर रहते थ। अतएव व इसके गुप्त आक्रमण से अपरिचित थ। पर तु भारताग्नि तस स्य से परिचित थ। अत इनकी सहायता से ही इन्द्र विश्वरूप को मारने म समथ हुए थ। आ या दवता सम्बन्धी आधिभौतक [ऐतहासिक] चारत्र का यही सक्षिप्त निदर्शन है। त्रिशीष-षट्क्ष वाष्ट्र कहा रहता था ? उसका आक्रमण भारतवष पर क्यों होता था ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान आगे आने वाले त्थेश्विद्विज्ञान में किया जायगा। अभी विस्तार मय से इस आप्त्याविज्ञान प्रकरण को अत्रैव उपरत किया जा रहा है।

इति—आप्त्या—विज्ञानम्

—*—

पश्वालम्भनविज्ञानम्

—*—

बिना पशु के कोई भी यज्ञ निष्पन्न नहीं होसकता। इस दशपूर्णमासयज्ञ में भी पशु की आवश्यकता है। पञ्चम-कण्डिका से आगे का ब्राह्मणभाग उसी पशुत्व का निरूपण करता है। वैदिक विज्ञान से पूरा परिचय प्राप्त न करने के कारण आज विद्वत्-समाज में कितने ही विषयो पर व्यथ का कलह देखा

[*] यह एक पदविशेष का वाचक है। सम्राट की ओर से तदधीन राष्ट्रों में जो प्रतिनिधि रहता है उसीके लिए शत्रुसोनपात् शब्द प्रयुक्त होता है। आज की भाषा में स भवत यही—प्रतिनिधि—राजदूत कहलाया है। अग्नि इन्द्र की ओर से भारत में त्थी पदविशेष पर प्रतिष्ठित थ जैसाकि—अग्नि दूत वृणीमहे इत्यादि से सङ्गत है।

सुना जाता है। क्या सनाननधर्मों का क्या आग्रह यममानी एवं क्या अन्य सम्प्रदायवादी सभी अभि-
निवेश से आक्रान्त होकर व्यथ के जवानों से कालसमुन्नतिमूलक कलह का प्रचारण कर रहे हैं। पलत
देश की सघटनशक्ति प्रतिदिन उत्तरोत्तर क्षीण ही होती जा रही है। क्या ही उत्तम हो यदि सभी बग अज्ञान
मूलक इन लुप्त विस्वावदों को छोड़ कर एकमात्र चोकर राष्ट्र का समुन्नत करने का श्रेय प्राप्त कर। सभी
सम्प्रदायों के लिए वनिकसाहित्य आरायद्व है। सभी स्वमतपाष। क लिए वद को ही आग रग्वत है।
पर क्या कारण है कि एक ही प्रमाणभित्ति के आधार पर प्रातश्चित्त विद्वत्-समान म परस्पर मतभेद हो-
र। है ?। हमारी साधारण बुद्धि जहातक विचार करती है उसके आधार पर हम कह सकते कि - के
क्रमिक स्वाध्याय का अभाव ही इस विमवाद का मुख्य कारण है।

हम आज की प्रवृत्ति देखते हुए इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि विद्वदगण ने स्व विषय को समझ
करने के लिए कहां का इंट-कहीं का राडा भानुमती ने कुनबा जाडा उस किवदंती को ही चरिताथ
कर रहे हैं। प्रकरण पर कोई यान नहीं शब्दों के तापर्याथ का कोई विचार नहीं जहा एक शब्द भी
अपनी ओर झुकता हुआ मिला नन्काल वह प्रमाणरूप से आगे कर लिया जाता है। श्राद्ध मूर्तिपूजन
वद ईश्वर प्रणीत है ब्राह्मणभाग वेद नहीं है बवल सहितामात्र ही वद है वद में पशुलम्बन
से पशुस्पर्शमात्र विहात है। वद म विधवा के साथ देवर क नियोग का विधान है ऐसे ऐसे
विषयों को लेकर सब प्रमाणधारी अपनी अपनी महत्ता प्रकट कर रहे हैं। इन सब विप्रतिपत्तियां स एक तटस्थ
जिज्ञासु का किस निश्चित निणय पर पहुँचना कठिन हो रहा है। यही कठिनता हमारे सुप्रसिद्ध पशुलम्बन
के सम्बन्ध में भी विद्यमान है। यह विषय सभी की दृष्टि में आज महाभयावह बन रहा है। जिज्ञासा करने
पर भी विद्वान् इस ओर से अपना निश्चित निणय अभिव्यक्त करने में कश्चित्त म तैजाते हैं। इसलिये
हम यह आवश्यक समझते हैं कि इस विषय पर विशेषरूप से प्रकाश डाला जाय। तदथ ही नि नलिखित
पशुलम्बनसम्बन्धी मन्दम उपक्रान्त हो रहा है।

ईश्वरीय सृष्टि में जो स्थान हमारा (मानवजाति का) है वही स्थान पशुवर्ग का है।
हम में जैसे चेतना का विकास है वैसे ही पशु भी चेतन (ससज्ञ) जीव ही है। ऐसी अग्रस्था
में मनुष्य अपने स्वाथ के लिए चेतनदृष्ट्या सजातीय पशु का वध करै यह मनुष्यता का विरुद्ध
है। किमी प्राणी को दुःख मत दो (मा हिंस्यात्-सर्वा भूतानि) यह हमारे शास्त्रों की ही
आज्ञा है। यद्यपि कितने ही महानुभाव पशुवध को (यज्ञसिद्धि के लिए) शास्त्रसम्मत बतलाते
हैं। परन्तु उन्हें यह यान रखना चाहिए कि एक ही शास्त्र दो विरुद्ध आज्ञाएँ नहीं देसकता। जो
शास्त्र एक स्थान पर—‘मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि’—‘मा गामनागादिति वधिष्ट’ इत्यादिरूप
से स्पष्ट शब्दों में सवत्र ‘अहिंसाबुद्धि’ रखने का आदेश देता है वही दूसरे स्थान पर पशुवध
की आज्ञा दे यह असङ्गत अतएव असम्भव है। एक विषय में एक ही न्यायाध्यक्ष दो विभिन्न
निणय नहीं कर सकता यह सवसम्मत सिद्धान्त है।

यान् गान् तेषु ते लिंगे अभ्युपगमवादे से हम यज्ञ म पशुपध' आवश्यक मानलेते हैं ता एसा अरस्था म उन का हिंसा स राकने का हमारे प्रज्ञाकोश मे क्या समाधान गष रह जाता है। द्वारा आए न्तिन असरय मूक पशु तनपार क घान उतार दिए जाते ह। हम चीकार करते ही रह जाते ह। पशुपध सिद्धात का मानते हुए याद हम ह इस यज्ञ की हिंसा का रोकने की प्ररणा देने है तो हमारा यह प्रयास यथ जाता है। जब हमारा शास्त्र स्वय श्राद्ध-यज्ञादि म पशुपध को आवश्यक ममभता है ता फिर अय सम्प्रदायवाला क शरत्र (शास्त्र) क विरुद्ध हम कस आमान उठा सकत है। जसे हमारा शास्त्र पशुबलि की आज्ञा देता म एमत्र वे भी शरत्र का आज्ञानुसार करने क पूण अधिकारी ह। असप्रकार कपित पशुपध म अभिनिवेश म पडकर हम एकप्रकार स अय सम्प्रदाय क द्वारा हान गाली पशु हिंसा क समग्र ही बन जात ह। कहना न हागा क अस दुराग्रह से राष्ट्र का पशुबल क्षण ही हारहा है। स विप्रातपत्ति स वचन का कमात्र उपाय है—पशुपध-सम्बन्धी प्रक्षिप्त वचनों का परित्याग ए म मा ि स्यात् सर्वा भूतान' इत्यादि वास्तविक सिद्धा ता का ग्रहण। स्वाथियान स्वाथवश हा पशुपधसमथक वचना से शास्त्र को कलङ्कित कर रक्खा है। जिस पशु का यज्ञ म वध किगा जाता है, वह मरता नहा आपतु सीधा भवग जाता ह इत्यादि ह-वाभासो क द्वारा पशुपधसमग्र सम्भरत पशु का ही हित सिद्ध करत है। परन्तु एसे उत्तरा का शिक्षित समान का णि मे काइ मूय नहीं। हम यह मान लेन मे कोई भी आपत्ति नहीं है कि पशुपध-मानवता शास्त्र आदि सभी णियों से विरुद्ध है। यदि एतत्समथक वचन कहीं उपलब्ध हात ह तो उह प्रक्षिप्त ही समभना चाहिये।

यह है परवालम्बन के सम्बन्ध म अनर्णताओं का निर्णय। उक्त पङ्क्तिया वास्तव में चारु-वाक है। एस सुन्दरभाव किसे प्रय न लगग। किसी प्राणी का कण मत पहुँचाओ यह शास्त्र का बड़ा उदात्त सिद्धात है। परन्तु अवधानपूर्वक सूक्ष्मदृष्टि से दृष्टि क्य आपको इस सामान्य सिद्धात का कही अपवाद नहीं मिलता ?। जिम यक्ति ने चोरी से समाज म अशांति उतार कर रक्खी है जो समाज का घोर शत्रु है उसके वध का क्या आप उयप्रद न्ती समभगे ?। यदि सिंह ने ग्राम में उत्पात मचा रक्खा है तो उसे मारना क्या अधम्म होगा ?। आपके मतानुसार शास्त्र तो अहिंसा के विरुद्ध आज्ञा दे नहीं सकता। सवत्र 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि ही रहगा। क्यो ? ठीक है न ?।

इमी आधार हम कह सकते है कि शास्त्रीय वचनों का जबतक मीमासा शास्त्र के द्वारा नियत-हतुता-अवसर-प्रसङ्ग-उपोद्घात-कार्यक्य-निग्राहकैक्य आदि मूला सङ्गतियों के द्वारा यथावत् सम-वय नहीं कर लिखा जाता तबतक तत्स वध म बिना सोचे समभ अपना मनमाना निणय प्रकट करना व्यथ का साहसमात्र ही है। मन्ता—धम्मस्य सूक्ष्मा गति इस सिद्धात को सम्मुख रखते हुए ही शास्त्रीय

प्राङ्गण म प्रवेश करना चाहिए । उाहरणार्थ पाहले हम हिंसा-अहिंसा के पदार्थ व नी ओर ही आपका यान आकर्षित करत है ।

किसा नीर का किसा भी प्रकार से पीडा पहु चाना हिंसा है एव सर्गमना उसे सतुष्ट रखना अहिंसा भाव ह । शास्त्र का सिद्धान्त है ाक हिंसा से प्रयत्नाय होता है एव अहिंसा म्म परिपालन से आमा का अयुत्न्य होता ह । हिंसा पाप का कारण है एव अहिंसा पुण्य का कारण है । अब हम आपसे शास्त्रीय मर्वादा को थोडी दर के लए दूर रखते हुण प्रश्न करते ह कि — हिंसा स पाप होता है एा अहिंसा से पुण्य होता है ठमरे श दी म— हिंसा स हिंसक का आमा पनित हानाता है एा अहिंसा से आमा उन्नत होजाता है इसके लए आपक प्रजाकाश में क्या प्रमाण है । किी मनु य के आपने चाकू से वृण (घात्र) कर िया । यही हिंसा ह । इसमे उसे दुःख भी वन्त हुआ । यन्तक तो आपका अनुभय भी काम करेगा । परन्तु म दुःख से पाप हागा यह आप कथ— मपि सिद्ध नशी कर सकगे । एवमेव किसी भूखे ने आपने अन्न से वृत कर दिया । जना अन्न के उसका प्रज्ञाना मा व्याकुल था । अन्न की प्राप्ति स वह सुती होगया । इस सुख स आपका पुण्य हुआ इसक लए भी आप प्रयत्न अनुमान-मे भन्न को भी प्रमाण उपस्थित नही कर सकग ।

आप कहत हैं— दुःख-सुख पाप-पुण्य-क कारण ह । ठीक इसके विपरीत हम कहते हैं— यदि ाकसी का दुःखी कया जाता है तो पुण्य होता है । एव सुरा किया जाता है तो पाप लगता

हमा ावचार ही नही अपित यह दृढ अनश्चय है कि शब्दप्रमाण के अनिरिक्त अन्यान्य उत्तर सहस्रो स भी आप यह सिद्ध नही क सकगे कि हिंसा से पाप हाता है एा अहिंसा स पुण्य होता है । कारण स्पष्ट है । पाप आर पुण्य का सम्बन्ध सुसूद्ध अतीन्द्रिय आमा के म्म है । अतएव यह इन्द्रियातीत तव है । अतीन्द्रियाथद्रष्टा आ मपुरुषोन न्स सम्ब व मे जा यवस्था करती है वही हमार लिए मान्य है । मनुष्य अनृतसहित है । परन्तु दवतुल्य आतपुरुष सत्यसहिता वै देवा के अनुसार सयसहित हैं । उनका वचन ही हमार लिए प्रमाण है । किस कम्म मे हिंसा है ? किस मे अहिंसा है ? कान धम्म है ? इन सब अतीन्द्रिय भावों का निर्णय हम साधारण मनुष्य नही करसकते । अपन बुद्धिबल के आधार पर प्रत्येक विषय का निणय कर बैठना अनुचित है । भगवान् कृष्ण आप्तपुरुष थ । साक्षात् सच्चिदानन्दब्रह्म थ । उनकी वाणी पर न उस समय सत् ह था न आय्य-सन्तान आज उनक आदेश के विरुद्ध बोलती । व स्वय सच्चिदानन्द भी शास्त्रमथ्यादा को ही धर्माधम्मनिणय में प्रधान मानते हैं । हमार लिए क्या कत्त— व्य है ? क्या अकत्त—य है ? न्सका निर्णय कैसे किया जाय ? न्सका समाधान करते हुण भगवान् मधु सूदन कहते हैं—

‘य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वीते कामकारत ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम् ॥

तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कम्मकत्तु ‘मिहाहसि’ ॥

—गीता

शास्त्रनिष्ठा के सम्बन्ध में हरिश्चन्द्रपुराण में एव महाभारत में एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान आया । भीम श्राद्ध करत है । शास्त्र की आज्ञा है कि पितरों की तृप्ति के लिए मात्रवाक के द्वारा कुशमुष्ट पर ही यथानिधि पिण्डदान करना चाहिए । जिस समय उस श्राद्धकर्म में पिण्डदान का अवसर आता है उस समय पिण्ड ग्रहण करने वाले प्रताप का हाथ (पिण्ड लेने के लिए) निकल पड़ता है । उपस्थित मण्डली को बड़ा आश्चर्य होता है । परन्तु—शास्त्र की आज्ञा हाथ में पिण्डदान की नहीं है इसलिए हम इस हाथ पर पिण्ड नहीं रख सकते यह कहते हुए भीम हाथ पर पिण्ड नहीं रखत आपतु पिण्डदान की इतिक्रिया शास्त्रज्ञानुसार ही पूरी करत है । उसी समय आकाशवाणी होती है कि भीम तुम्हारी शास्त्र-निष्ठा पर अत्यन्त प्रसन्न है । हम प्रसन्न होकर तुम्हें वर दत है कि तुम्हारा यह कर्म सर्वोत्तम सफल हो ।

इसी शास्त्रनिष्ठा के आधार पर प्रातःस्मरणीय श्रीकुमारलिभट्ट—यदि वेदा प्रमाणं स्यु कहते हुए गणेशिखर से वृद्ध पन्त है । फिर भी उनका कुछ नहीं बिगड़ता । उन निदर्शनों से आपको यह मान लेने में कोई भी आपत्ति नहीं होगी कि पाप-पुण्य धर्म-अधर्म कर्म अकर्म आदि के सम्बन्ध में एकमात्र शास्त्र ही शरण है । यदि आप शास्त्र की अवहेलना कर स्वबुद्धिबल से ही काम करेंगे तो आप कोई व्यवस्था न कर सकेंगे । पारलौकिक विषयों को छोड़ दीजिए । बिना शब्दप्रमाण के तो आपका लौकिक-कार्यों का निर्वाह भी कठिन होजायगा । संपूर्ण ओषधि-वनस्पति-विज्ञान लौकिक सम्पूर्ण व्यवहार—वृद्धयन्त्रहारमूलक शब्दप्रमाण पर ही निर्भर है । आप बाजार में बठने वाले अपने से भी अज्ञ पसारी के शब्दों पर विश्वास कर के ही तो वस्तुएं ले आते हैं । इन्द्रियगोचर विषयों में भी आपको जब शब्दप्रमाण की ही शरण लेनी पड़ती है तो फिर जो अतीन्द्रिय-विषय हैं उनके सम्बन्ध में शब्दप्रमाण के अतिरिक्त आप कौनसा अन्य माग निकाल सकते हैं ?

भगवान् आसने हिंसा अहिंसा भाव की मीमांसा करते हुए—अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् (३ अ १ पा ६ अ २५ सू) यह सूत्र हमारे सम्मुख रक्खा है । यज्ञकर्म में पशुहिंसा होती है । एव यह हिंसा मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि इस श्रौत सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती हुई प्रयवाय का कारण बनती है । ऐसी अत्रस्था में हम कह सकते हैं कि हिंसामावापन्न आ वरिककर्म अशुद्ध है । उसी आपत्ति का निराकरण करत हुए पुराणपुरुष कहते हैं कि धर्माधर्म की मीमांसा का हेतु शब्दशास्त्र ही है । वह यदि यज्ञ में पशु-ग्रह की आज्ञा देता है तो वह निदुष्ट कर्म है । जो शास्त्र सामान्यरूप से न हिंस्यात् सर्वा भूतानि यह आज्ञा देता है वही अपवादरूप से—अग्नीषोमीय पशुमालभेत यह वचन भी हमारे सम्मुख रक्खा है । नेश-काल-पात्र के आधार पर ही धर्माधर्म का निणय होता है । जो एक स्थान पर धर्म है वही अन्य स्थान पर अधर्म बन जाता है । इसी आधार पर धर्म का निम्न लिखित लक्षण किया जाता है—

‘देशे काल उपायेन द्रव्य श्रद्धासमन्वितम् ।
प्राप्ते प्रदीयते यत्तत् सकल धर्मलक्षणम् ॥’

—या स्मृ आ ६

धम्माधमकविवकालएश्रुतिस्मृतिस्नाचारआत्मपतलक्ष्यप्यसकल्पनकामइहसुख्यमानगयाहै।इसप्रकार—

श्रुतिस्मृत्तसदाचारस्वस्यचप्रियमात्मनः।
सम्यक्सकल्पजकामोधम्ममूलामदस्मृतम्॥

उक्तस्मात्सिद्धान्तकेयथाथतात्पर्यकोनसमझतेहुकितनेहीभ्रातपुरुषस्वस्यचप्रियमात्मनकोआगेरखतेहुएकहतेहैंकिजबशास्त्रनेहमें—तुझारआमाकाचाअच्छालगवहीधम्महैयहआजादेरक्लीहैतोफिरहमेंजोकायअपनेअन्तरामाकेपरन्तुप्रतीतहोतेहउहक्योकरीहमाराआमास्वप्नममीपशुहिसाकाममथननहाकरता।अतउमेनकरनाहीहमारेलिएधम्महै।हतुबडासुन्दरहै।परन्तुआइएअसमकितनातथ्यहै।एकमात्रपातकारोगीअन्नमागताहै।उसकीहारिकप्रणालीहैकिवहअन्नप्राप्तकर।परन्तुवद्यअन्ननहींपता।आपकेधम्म—लक्षणकेअनुसारतोवैद्यअन्ननदेकरअवम्महीकररहाहै।इसीप्रकारआपकाअन्तरामाचाहताहैकिहममद्यपानकरै।क्याआमाकीयहविषयषणाधम्ममूलिकाह?।भगवान्मनुनेअनृतसाहसमनुष्याकीस्वामाविकइच्छाओकाउल्लंघनकरतेहुएकहाहैकि—

नमामभनणदोषो न मद्य न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृत्तिस्तु महाफला ॥

मास—मद्य—मथुनकीओषप्रवृत्तहोनास्वभावहै।इनकीआरसेआमाकोदानाउचितहै।धम्मकेलिएआमबलअपोक्षतहै।जानयहहैकिहमारेअध्यामजगत्मेंप्रज्ञान(मन)आरविज्ञान(बुद्धि)मेंपरस्परस्पर्द्धाचलतीरहतीहै।प्रज्ञानपार्थिवहैविज्ञानसौरहै।चान्द्रसोमओषधियोंमेंप्रविष्टहोकरहमारेमनकाउपादानबनताहै।एवसौरतत्वबुद्धिकाअधिष्ठाताहै।पूवकेप्रकरणोंमेंऋत—सत्यकीमीमासाकरतेहुएबतलाआएहैं।कसोमऋततत्त्वहैअग्निस्त्यतत्त्वहै।विचालीभावऋतहैअविचालीभावसत्यहै।ऋतसोमात्मकमनविचालीहै।सूर्यहमसे(पार्थिवप्रजासे)दूरपडताहै।अतएवस्वभावतहममेंऋतसोमात्मकमनकीप्रधानतारहतीहै।जिसवस्तुमेंप्राणहोताहैवहवस्तु‘सत्’कहलातीहै।सामान्यसामान्याभावइससिद्धांतकेअनुसारप्राणमेंप्राणनहींरहता।अतएवप्राणकोअसत्नामसेव्यवहृतकियाजाताहै।यहीअवस्थाऋतशब्दकीहै।ऋतमेंऋतनहींरहताअतएवऋतकोअनृतकहाजाताहै।

अव्ययपुरुषमनप्राण—वाळमूर्तिहै।मनमेंमनएवप्राणमप्राणनहींरहता।इसीआधारपरसुखडकश्रुतिनेप्राणमनोमूर्तिअव्ययकेलिए—अप्राणोह्यमनाशुओह्यक्षरात्परतपररहकहाहै।कहनायहीहैकिऋतकिन्तुअनृतशब्दसेव्यवहृतचान्द्रसोमहीमनकाउपादानहै।बीवसृष्टिमयहऋतसोमहीप्रधानहै।इसीविज्ञानकेआधारपर—अहमस्मिप्रथमजाऋतस्य(ऋकस)यहकहाजाताहै।ऋतक्योंकिअनृतहै।इसीआधारपर—अनृतसहितावैमनुष्यायहनिगमप्रतिष्ठित

। हममें प्रकृत्या मन की ही प्रधानता है यह उक्त कथन से भलिभाति सिद्ध होजाता है। मन ऋत होने से कन्द्रमयानुग्रह से वञ्चित है। अतएव यह कभी एक विषय पर स्थित नहीं रहता। यदि इसमें थरता आसकती है तो उमी सारसय जिज्ञान के प्रवश से।

सौरत व अग्निप्रधान हाता हआ सय है। चित्र दानामुत्गात स श्रौत सिद्धात के अनुसार सौरप्राण ही त्वता ह। व सत्याग्निमय ह। इसी आगर पर- सत्यमहिता त्रै देवा यह निगम प्रातिठत है। मनोमूर्ति प्रज्ञानामा बाह्यामा है एव विज्ञानामा अन्तरात्मा है। वश्वानर तैजस एव प्राज्ञ से समान्वत प्रज्ञानात्मा कृता है प्रिज्ञानामा कारायता हे। इसे ही गीता में क्षत्रज्ञ नामस व्यवहृत किया गया है। प्रज्ञान स्वत प्रबल रहता है। प्रिज्ञानबल के लिए शास्त्रान्ययन तपात् अपेक्षित है। दूसरे शब्दा म प्रज्ञान सिद्ध है ए प्रिज्ञान साय है। अतप्रधान मन निम्नगामी है। क्योंकि ऋततव पार मेष्ठ्य है ए परमेष्ठा आपोमय है। अपतव का निम्नगामिव प्रयत्न है। आपको यह मान लेने में काइ आपत्ति नहीं होगी। क यदि मन को विज्ञान के शासन से पृथक पर दिया जाता है तो मन स्वतत्र जाता हुआ अपने ऋतमूलक अनुत्तभाय से आमपतन का ही कारण बन जाता है। विज्ञानसारथि के धृक् होते ही मनोमय प्रग्रह (लगाम) लीला पड जाता है। लगाम के डीली पडते ही इन्द्रियाश्व शरीर रथ म प्रतिष्ठित रथी आमा को उ पथ लेजान हैं। विपरोत मन की दया अकारण कारुण्य दुःय सना मे प्रवृत्ति आदि मन के स्वाभाविक धम्म हैं। विज्ञान म स्वत सिद्ध जितना बल रहता है तदनुसार वह मनका निरोध करता रहता है। मनुष्य मन की प्ररणा से ही असत्कर्म में प्रवृत्त होना चाहता है परन्तु उसी क्षण भीतर से अनि आती है कि अरे! यह कार्य्य बुरा है। इसे मत करो। यह अनि उसी अत रामा (बुद्धि) की है। साथ ही विचार उठता है कि आज आज करले कन नहीं करगे यह विचार मन का है। यदि विज्ञान निबल होता है ता मन का विजय होजाता है। फलत मनुष्य असत्-कार्य्यों में प्रवृत्त होजाता है।

स्वस्थदशा में भ्रम लगना विज्ञानसहकृत मन की इच्छा है। यही आसक्तिमूला इच्छा है। आपने पेन्भर भोजन कर लिया है। बाजार जात हे। वहा चाट खाने की इच्छा होती है। यह विशुद्ध मन की इच्छा है। यही आसक्तिमूला हाती हुइ बंधन का कारण बन जाती है। सदसत् का कत्त याकत्त य का विवक करना बुद्धि का काम है। हठात् निणय कर बैठना मन का काम है। मन के साथ बिना बुद्धि का योग किए मन इसी प्रकार अन्डबण्ड निर्णय कर डालता है। स्वय वीर अजु नने भी तसी मन की कृपा से बोका खाय था। निरपरागों को मारना बुरा काम है यह कौन नहीं मानता। परन्तु परिस्थिति दखना आवश्यक है। अजु नने क्षात्रधम्म का महव न समझते हुए न यात्स्ये कह डाला। भगवान्ने उस सावधान किया। बुद्धियोगमुपाश्रय मञ्चित सतत भव का आदेश दिया। अजु न सँभल गया। पारणाम म विजय-भूति श्री-की प्राप्ति हुइ। यही अवस्था हमारी है। हम मन की कृपा से यह समझ बैठते हैं कि अरे निरपराध पशु को मारना अनुचित है। हम उस महाफल को भूल जाते हैं जोकि यज्ञ से मिलता है जिसका कि विवचन हम अनुपद में ही करने वाले हैं। ऐसी दया आमा का सकप नहीं है अपितु म का सकप है। जबतक विवेकशीला बुद्धि को मन के साथ युक्त नहीं कर दिया जाता तबतक यह सकल्प सम्यक सकल्प नहीं कहला सकता। सम्यक् सकपज काम बुद्धियोग पर ही निर्भर है। यही- स्वस्य

च प्रियमा मन है । मन भाया सो ाया यत्ति उक्त वाक्य का यही अय है तब तो यह अथ नहीं आपतु अनथ है शा तवृत्ति स ावचार काानए-स्वस्य का क्या आभप्राय होन चाहिए ? । वामान ाशाक्षाप्रणाली स रगे हुए खाना पाना मान उडाना (L t d r k and be mony) इस जपन्य सिनात की आराधना करने ाल महानुभाव ही स्वस्य च क मनभाया अथ करत ह । शास्त्रीय वचना के अय म भी व आज अपनी इमी मनावृत्त क प्रधानता दन लग पडे ह ।

छोडए गास्त्राय मयाना का । ऐहलाकिक विषयो पर ही दृष्टि डालए । समानशा स्वयो की एमी उक्त मा यता है (जिमम भारतीय शास्त्र म मत नहा है) कि निस काय्य स अनक यक्तियो का उपकार हा ाय अप यक्तियो की हान हा वह का य अछा है । जीधारिया म मनुष्य का मूल्य आधक है । कारण पठ है । सा म इन्द्रियो का पण विकास है । अतएव सभाव नङ्गम ावश्व के अयुदय का उत ायि व भी पर प्रतिष्ठि न है । निम रा का मनुष्यममाज वस्थ-सुशाक्षत होता है उस राश का यपसाय सम्प होता है । आपत्ति-वनस्पति-नन् नन्ती-आत्ति थावर सपत्त पशु-पत्ती-आत्ति जङ्गमसपत्त भी उमी राश म सम्पद्ध रहती है । इसलिए यह आवश्यक होजाता है ाक मनुष्यसमाज की पृणारूप स सुशाक्षत एय स्वस्थ बनान क लिए जो भी काय्य किए जाय व निदुष्ट माने जाय । कहना न होगा कि भारतीय गास्त्र के मम्म स अपगिचत भारतीय यातिक पशुवध पर आपेक्ष करते हुए पाश्चाय विद्वान (डाक र) केवल शरीरचिक सा के लिए नी लेबोगेटयो (Lapotrasy) में प्रातप्तिन अमरय ानरपराध प्राणयो का वव कर डालते ह ।

वामान चिकित्सापद्धति (डाक्टरी) में इञ्जक्षन (Injunction) मवसवा व ा है । ानरपराध अश्वानि पशुओ का शृङ्खलाओ स नियत्रण कर सूचिका के प्रयोग से उनके शरा स्थ कीटाणुओ के ारा इञ्जक्षन के टथव (Tude) मम्पन्न करना क्या हिंसाभाय से रहित काय्य है ? । मनुष्य के शरी र थ अस्थियो की जैसी रचना है प्राय वैसी ही रचना ददुर (मेढक) शरी की है । न जावित प्राणिया के शरीर का चीर कर वैज्ञानिक अपना अनुभव बढाने में हिंसा नहीं ममभते । दुबलता को दूर करने के लिए जलजन्तु (मस्यादि) के नैल का (कार्लिवर आयल का) आज कितना अधिक प्रचार है यह मी तिरोहित नहीं है । अशिद्धित शिद्धत सभी उक्त काय्यो का हृदय से अनुमोदन कर रहे है । उह इनमें हिंसा प्रतीत नहीं ारही । इन काय्यो को ये ईश्वरीय काय्य समभते हैं । क्यों ? वही मनुष्यममाज की रक्षा । अनेक व्यक्तियो का उपकार । ऐमी अवस्था में यदि हम यज्ञ के द्वारा अधिक लाभ सिन करद तो काई कारण नहीं रहा जाता जिसम यज्ञिय पशु की हिंसा पर आक्षेप किया जाय ।

कितने ही महानुभाव यह भी कहा करते हैं कि मास अप्राकृतिक भोजन है । मनुष्य की उदर-पृत्ति के लिये ईश्वरने ओषधि वनस्पति का ही निर्माण किया है । बात ठीक है । हम भी मास को मनुष्य का आवश्यक अन्न नहीं समभत । कारण-मास की मात्रा जीवनसत्ता के लिए जितना मात्रा में अपेक्षित है उतनी मात्रा ओषधि-वनस्पतियो में भी रहती है । गहू माष आत्ति म मास की मात्रा विद्यमान है । माष (उद्) तो माम की साक्षात् ही प्रतिकृति है । अतएव माष को अयज्ञिय माना है । आपको यह यान रखना चाहिए कि शरीरगत रस असृक् मासादि धातु तभीतक शरीर म सुरक्षित रह सकते है

जन्तु एक न वातुआ का तत्त द्रव्य मिलते रहते । मानरक्षा के लिए मास अपेक्षित है रुधिररक्षा के लिए रुधिर अपेक्षित है । यन्त्रिंशत्तर धातुआ के सम्बन्ध में समझनी चाहिए । व सब मात्राएँ तारतम्य स ओषाव वन पातया म भी नियमान ह । आप मास के लिए प्रश्न उठाते ह । हम कहते हैं— सोना ताम्र—चानी—लोहा आा वात—उपधातु वष उपविषादि भी प्राकृतिक अन्न है । पालक की परीक्षा कीजिए । उसमें आपका ताम्र आधकमात्रा से उपलब्ध होगा । इसीप्रकार सब अन्नो म मात्रातार—तम्य स वातु—वषाद विद्यमान हैं । आशयस्तानु नका स्वतन्त्ररूप से भी प्रयोग करना आयुर्वेदज्ञ लाभप्रद मानते ह । ऐसी अत्रा म मास का अप्राकृतिक अन्न मानना साहम है । पशु के शरीर में रक्तयुक्त जो पित्रमान पित्रन्त्रे सम्भवत आपने उस ही मास समझ रक्का ह । परन्तु मास तो एक विशेष प्राण है । यह प्राण ब्राह्मणग्रन्थाम परीष श म से व्यवहृत आ है (विष्णु—श ८। ४। १६) । यह जिस भोक्तक द्रव्य म रहता वह भा तान्स् यात्ता-छ्द्यम् इन याय के अनुसार मास श द स ही व्यवहृत न लगता है ।

मस्य म न्म पुराषप्राण का अभाव ह । अतएव मास मत्स्य पृथक् माना जाता ह । मस—मच्छा यह मेदमूलक यवहा ग्रामन्त्र है । वही पुर प माप (उद) में विद्यमान ह । अतएव उसे मास की प्रतिष्ठात माना जाता ह । जो हानि नाम मास भक्षण म ह वही माष (उद) के भक्षण में है । यदि मास अप्राकृतिक अन्न होता तो मनुष्य उस पचा नहीं सकता था । हम देखते ह कि मनुष्य मास मुख में डालता है । उसके दात अन्नवत् उस पर यापार करत ह और वह भक्षित मांस को पचा जाता ह । हा जो प्राणी (सिंहादि) मासाशी ह उनका मास अवश्य ही अप्राकृतिक ह । इनका मास अवश्य ही याय है । आप कहते हैं—माम अप्राकृतिक अन्न ह किन्तु श्रुत कहती है—

१—‘एतद्दु ह त्र परमन्नाद्य य मासम् (श ११।१।७६)

२— अन्नमु पशोर्मासम् (श ६।५। ४)

मास को अप्राकृतिक अन्न मानने वाले महानुभावा का यान हम मासाशी मनुष्यों की सरया की ओर आकर्षित करत ह । केवल भारतवर्ष को छोड़ लीजिए । आपको यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि भारत को छोड़कर समस्त एशिया युरोप अमेरिका आदि में निवास करने वाले मनुष्य ६६ प्रातशत मासमन्त्री ह । भागतमष म भी—कश्मीर सिव पजाब बंगाल मिथिला आदि प्रातो को छोड़ दीजिए । केवल यूपी गुजरात राजपूताना को लीजिए । यहा भी मुलतान—ईसाई—राजपूत—अन्त्यज जातियो को छोड़ दीजिए । माम न खाने पालो में से बच जाते हैं यूपी—गुजरात—राजपूताने के उच्चवर्गी ब्राह्मण—वैश्य । क्या विश्व की जनसरया के समतुलन में मास न खाने वालों की सरख्या का कोई मूल्य है ? नमीलिए तो अतिने माम के लिए परममन्नाद्यम् कहा है । मास यापक अन्न है । हम इस वृत्ति का स्वागत नहीं करत । नमरे हम बतलाना केवल यही है कि मास अवश्य ही प्राकृतिक अन्न है । तभी तो—न माम्भक्षणे दोषो प्रवृत्तिरेपा भूतानाम् यह मनुवचन चरितार्थ होता है । ऋषियो की दृष्टि में यह प्रवृत्ति बुगी है । जबतक न्तर अन्नो से जीवनयात्रा का सचाररूप से निर्वाह होजाय एव सुलभता स जन्तक अन्नसामग्री मिलती रहै तन्तक पशुम स को न खाना ही उत्तम पद्ध है । पशुमास अन्न

हाता हुआ भा पुरीष क सम्बन्ध स बुद्धि का आघातक है। अतः न स न खाना भी अयस्कृत है। जब आर वस्तु (स्थावर) हम मिल जाती तो फिर निह्वा वाद के पणाभत होकर मास खाना— मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि का अवरोध कर प्रयवाय का हा भागी बनना है।

सात्त्विकभागा की रक्षा काल मास ग्रहण अनुचित है परन्तु अप्राकृतिक नहीं। याद अप्राकृतिक ही होता तो पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या—न मासमश्नीयान्—या वचनो का कोई मूल्य ही नहीं रहता। प्र त वस्तु का हा निषेध चा ताथ हाता है। न मासमश्नीयान् य सामा यायवि नहीं है। आप्तु अपवाद है। ब्रह्मादन के रक्षक व्रता (नियम) का विधान करती हुं अ त कहती है—

‘न मासमश्नीयात् न स्त्रियमुपेयात्। यन्मासमश्नीयात्, यतस्त्रियमुपेयात् निर्नीर्गं स्यात्। ननम ग्नरुपनमेत्’

(तै ब्रा १।१।१७ -) इति।

यदि न स उक्त श्रात को प्रिधि परक मान लिया जायगा तो ब्रा के सम्बन्ध का भी निषेध प्राप्त होगा जो कि— प्रजात नु मा यत्र—द्रसा के अरुद्ध पन्गा। अतः न से विशेष विधि मानना ही उचित होगा।

प्रकृतिसिद्ध मांसाशन की प्रवृत्ति का ऋषियान् निराधक्या एव परम आवश्यक समझ कर पशुप्राशन का विधान किया। इतना हान पर भी न प्रिषयों का कलियुग माना गया। नियोगविधि शास्त्रीय है। परन्तु कलह प्रधान इस कलियुग म स्वभावतः मनुष्यों का आ मा निबल रहता है। याद उनको नियोग की आज्ञा शास्त्रकार दे दत तो बडा अनथ हानाता। नियोग के बहाने व्यभिचार का माग नि कष्टक बन जाता। अतएव दूरदशा ऋषियोन नियोग को कालवज्य माना। यही अवस्था यज्ञ की है। जनमेजयात्—जनमेजयान्तम इस पुराणसिद्धान्त के अनुसार विशेषतः * त्रेतायुग पय्यन्त एव साधारणतः द्वापरयुगान्त के जनमेजय के सपयज्ञ पय्यन्त ही यज्ञों की प्रधानता रहा। इसके अनन्तर यज्ञकाण्ड से क्रमशः श्रद्धा उठती ही गई। यहातक कि आगे जाकर पञ्चपर्यामक चित्तियज्ञ म केवल प्राजापय अत्र पशु का आलम्भन ही शेष रह गया। पुरुकर (आजकल बुखारा नाम से प्रसिद्ध) निवासी प्रजापति (ब्रह्मा) से आरम्भ कर स यका—यन नाम से प्रसिद्ध श्याण पय्यन्त पुरुष—अश्व—गो—अवि—अत्र—इन पांचो पशुओं का ही आलम्भन होता रहा। परन्तु याज्ञवल्क्य के समय में केवल प्राजापयाज वाययाज इन अजपशुओं का ही आल भन शेष रह गया। (दखिए शत १ प्र ४ ब्राह्म ३८ क ६ का)। आज तो यज्ञविद्या सवथा विलुप्तप्राय ही होगई है। आज का युग उपासनायुग है। यज्ञ का तो एकमात्र प्रयोजन ह्वाफिटर करना ही रह गया है। मनमानी पद्धतिया बन गई हैं। यथच्छ—अधिकार मिल गए ह। कलि की कृपा स सबकुछ विडम्बना

* गाहृ पत्य दक्षिणाग्नि आहवनीय भेद से वितानयज्ञ त्रेताग्नियज्ञ कहलाता है। इसी त्रेताग्नि के सम्बन्ध से यह युग त्रेतायुग कहलाया है। न स विषय का विशद विवचन मन्वन्तर-स्वरूप परिचय नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

हारणी है। अतातानागतज्ञ मृप नम युगमाहा य को समझते य। उह यह विदित था कि इस युग में स्वत एव मनुष्य इन्द्रयत्नालुप हात ह। ऐसी अवस्था म याद यज्ञ में पशुवध की आज्ञा द दी ग तो अनथ होजायगा। अतएव नयागयत् इस भी उहोन कलियन्थ-प्रकरण म। यान द दिया। नसप्रकार कलियुग मे केवल स्मान यज्ञा की ही प्रधानता र गइ। यह सप्रकुछ होने पर भी यदि काइ ध मपरायण वत्त मान म वितानयन करना चा तो नम यान बना पन्गा कि बिना पशु की आहुति क उसका यज्ञ सवथा निरक है। प्रथम तो व यज्ञ करे ही नही याद क तो उस अवश्य ही पशु का आल मन करना पडगा।

यन म पशु को माता जाता है। समे हिसान्पा भी होना एव उस के परिहार के लिए दक्षिणा का विधान भक्या गया। क ता। मा की विभीषिका मे यज्ञ जसा अ त्तमकम्म छोड बठना बुद्धमानी नहा। यदि ऐसी वप्र नपातया -। जायेगी तत्र तो आप कोइ भी कर्म न करसकग। का ग—

‘सगोरम्भा न दाषण धूमेनाग्नग्नित्रता —गीता

उक्त आत सत्तात क अनुसार कोइ भी न म मयगा षेरहित नहा है। भाचन-शयन-वदन-चलन-आ सभी न मों म-अमन्थ गायय जीता का र्मा जानत प्रयवाय मश्रित मानना क्या युक्तसङ्गत होगा? नमालए अन्तता ग वा आपको नसी भद्धात का आश्रय लेना पडगा कि धम्मार्धम्म-हिसा-अहिसा आ भाव अतीन्थ पदाथ ह। इनके सम्बध म शास्त्र हमार लिए जो नखय करे वही ठीक है। वही मान्य है। जो शास्त्र हमे मा हिस्यात् सर्वा भूतानि यह आदश करता है वही अपवादरूप से विशेष स्थल के लिए अग्नीषामीय पशुमालभेत यह आज्ञा भी दता है। दोनो के लिए शब्दप्रमाण सामान्य है। इसी निखय को लक्ष्य म ख कर अशुद्धिमात चेन्न शात्तात् यह कहा गया है। स सूत्र का व्याख्यान करत हुए सवश्री शङ्कराचार्य कहत ह।

‘यत् पुनरुक्त पशुहिमादियोगादशुद्धमाध्वरिक कम्म, तस्यानिष्टमपि फल-मवकल्पते, इत्यतो मुरयमेवानुशायिना ब्रीह्यादिजमास्तु गाणीकल्पनानथिकेति तत परि हियते। न शास्त्रहेतुत्वाद्धरमाधर्माभिज्ञानस्य। अय धर्मोऽयमधर्म-इति शास्त्रमेव विज्ञान कारणम् अतीन्द्रिय वाचयो। आनयतदेशकालनिमित्तत्वाच्च। यस्मिन् देशे काल निमित्ते च या धम्माऽनुष्ठायते, स एव देशकालनिमित्तातरेष्वधर्मो भवति। तेन शास्त्रादृते धम्माधर्मविषय विज्ञान न कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धम्म इत्याप्रधारित। म कथमशुद्ध-इति शक्यते वक्तुम्। ननु-‘न हिंस्यात् सर्वा भूतानि इति शास्त्रमव भूतविषया हिंसाधम्म इत्यवगमयति बाढम। उत्सर्गस्तु स। अपवाद-‘अग्निषोमाग पशुमालभेत’ इति। उत्सर्गापवादयोश्च यास्थित-विषयत्वम्। तस्माद्धि शुद्ध कम्म वैदिकम्। शिष्टेऽनुष्ठीयमानत्वात् अनिष्टमानत्वाच्च।

— ३ अ १ पा ५ सू इति

तत्रासायत प्रकरणे स पाठका को यह आभास हा गया कि यन्म अत्रश्य हा पशु का आलम्भन हाता ह । यजावद्या प्रकान की प्रतकृतिमात्र है । नसा प्रकृत म । हा । क वहा कम्म म वैवयज में प्रा जाता ह । अतः सवप्रथम पशुाल भन मन्वा प्राकृतम । य यज्ञका स्वरूप ही पाठका क सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है ।

तो प्रस्तुत का रासायनिक साम्भक्षण स समन्वित कर उन अपूर्ण स्वरूप प्रान करन वाचा प्रक्रियाप्रशेष का ही नाम यज्ञ ह । यह यज्ञ शब्द का सामान्य अर्थ ह । प्रकृति-पुरुष का समन्वितरूप पहिला यज्ञ है । बिना इस याज्ञिक मम वय क मृष्टि नहीं नामकी । सा याज्ञिक समन्वय का लक्ष्य म स्वरूप — तन्ममप्रयान् (व्या सू) य का ना । है । प्रकृति-पुरुष का समन्वितरूप ही यज्ञेश्वरप्रनापति है । षोडशा नामसे प्रनम पुरुषप्रनापात ह तने । य उक्त कर ही यज्ञरूप में परिणत होते है । एतये ही प्रज्ञोपात्त के कारण बनते ह । षोडशम प्रनापात अनप्रवान है एव प्राण-आप प्राणात्ति मे मन्ना पञ्चमला प्रकृत सामप्रवाना ह । त्ति तत्र प्रया है । नोमत याषा है । प्रश्नापनिषत्विज्ञान के अनुसार वृत्तान प्र प्राण ह याषा-प्र राय ह । प्र प्रार प्राण क समन्वय स हा प्रश्नोपनिषत्तने सम्पूर्ण विश्व का त्त्वात्त माना ह ।

प्रि वसुष्ट का आधेष्टाता अग्नापोमामक (वृषा-योषामक -रायप्राणात्मक) यज्ञ पाठक (पञ्चावप्र) है पाठका ने पञ्च अनुगम वचन ह । अतएव सकी पाठकता अनक प्रकार स है जिसका प्रि वशद निरूप । प्रव-प्र गाम यत्रतत्र । वस्तर से िया जानुका है । प्रकृत म हम केवल द्यावा-पृथिवी से मन्वथ रवने वाते पाठक यज्ञ का ओर ही पञ्च पाठका का यान प्रादर्शित करत है ।

द्यावापृथिवी में क्रमशः यगर्गिनगभा प्रथिना तथा द्यारिद्र एण गभिणी स श्रोत सिद्धान्त क अनुसार प्रथिनी का अतिष्ठाता देवता अग्नि ह एव द्यलोक का अविष्ठाता देवता मन् है । तत्-ल्लोक का अधिष्ठाता देवता ही तत्तल्लोक का प्रजापति कहलाता है । इस परिभाषा क अनुसार अग्नि भूलोक का प्रजापति है एव इन्द्र द्युलोक का प्रजापति है । ये दोनों ही प्रजापति आदानविसर्गामक यज्ञ के द्वारा रोदसी विश्व के प्रभव बने हुए ह । प्रजापति इस यज्ञ के द्वारा निरन्तर विस्तृत होता रहता है । सूर्य (इन्द्रप्राणमय) का भाग प्रवग्यरूप म सूर्य से प्रथक होकर ओषधि- नम्पात आदि का निर्माण किया करता है । इससे सौरभाग खच होता है । यही प्रजापति की विस्तृति है । सूर्य उगाहरणमात्र है । विश्व के यच्चयावत् पदाथ [चेतन एव अचेतन] निरन्तर विस्तृत होत रहते ह । प्रतिक्षण उनक क्षर परमाणु विस्तृत [खच] होते रहते हैं । परन्तु साथ ही तत्तत्पदार्थों के केन्द्रस्थ विद्युत् प्री अशनाया स आकर्षित अन्नाहुति के द्वारा यह विस्तृत भाग सहित मी होता रहता है । सम्पूर्ण पदाथ अपने भाग को प्रवग्यरूप से अन्न बना रहे हैं एव दूसरों के प्रवग्यान्न को लेकर अन्नाद [भोक्ता] बन रहे हैं । मन्मन्मन्-सामिन्नाद यह सहज नियम है । अन्न-अन्नादामक सा नित्ययत्न का निरूपण करती हुई ऋक्श्रुति कहती है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्व दवेभ्योऽसतस्य नाम ।

ये मा ददाति स इ देवभावत अहमन्नमन्नमदन्तमग्नि ॥

—सामसहिता

पदाया से प्रिन्नत होने वाला तत्त्व अग्नि है एव अशनाया के द्वारा जो तब वस्तुगत अग्नि में आहुत होकर विस्तृतभाग की पूर्ति किया करता है वह सोम नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी अवस्था में यज्ञ शक्त का अग्नि में साम का आहत होना यह निष्पन्न निकल आता है। आहुत होने वाला साम अन्न है। यह आहुत होकर ऊर्क रूप में परिणत होता है ऊर्क अतताग वा प्राणाग्नि रूप में परिणत हो जाता है। प्राणाग्नि विस्तृत जाता रहता है। अशनाया के द्वारा प्राणान के आकर्षण से पुन अन्नाहुति होती है। इसप्रकार अन्न से ऊर्क ऊर्क स प्राण प्राण से अन्न अन्न स ऊर्क यह धारावाहिक क्रम निरंतर चलता रहता है। इसी आधार पर यज्ञ का— अन्नोक् प्राणनाम योऽन्यपारग्रहो यज्ञ यह लक्षण किया जाता है।

तस्य वा एतस्याग्नेर्जागोपनिषत् इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्राणाग्नि वाक् तत्त्व है। इस वाक से प्राण की पुष्टि होती है। प्राण स चित्त (मन) की पुष्टि होती है। हम जा अन्न खाते हैं वह प्रथम वाक् रूप प्राणाग्नि में आहुत होता है। दूसरे शब्दों में पहले उसकी वाग्नि पर चित्ति होती है। अनंतर रस-मल के क्रमिक विशकलन से व मन का पोषक बनता है। सत धातुओं की क्रमिक चित्ति के अनंतर वह अन्न शुद्ध चाद्रसोम में परिणत होता हुआ मन का स्वरूप-समपन्न बनता है। दूसरे शब्दों में वृत्त अन्न स्थूल पार्थिव भूतभाग के द्वारा वातुचित्ता रूप में परिणत होता हुआ अत में मन पर चित्त होता है। सोमाचित्ति के कारण ही मन चित्त कहलाता है। मन का स्वरूप अन्नचित्ति पर ही निर्भर है इसी आधार पर— अन्नमय हि साम्य मन यह कहा जाता है। यह मन इन्द्रियों के द्वारा खंच होता रहता है। इस कमी को पूरी करने के लिए मन अशनाया के द्वारा प्राणाग्नि के मायम से पुन अन्न का आकर्षण करता है। इसप्रकार वाक और चित्त का जो उत्तरात्तर चित्तिक्रम है वही यज्ञ का साधक बन जाता है। इसी आधार पर यज्ञ का वाचश्चित्तस्योत्तरात्तरिक्रमा यज्ञ यह लक्षण भी किया जाता है। तथा यज्ञ का अग्नौ सामाहुतयज्ञ यही फलिताय निकलता है। समष्टिरूप से एव यष्टिरूप से उभयथा सम्पूर्ण पदाय अग्नीषोममय हा है। इसी आधार पर— अग्नीषोमात्मक जगत् यह निगमश्रुति प्रतिष्ठित है।

उक्त सन्देह से यह श्लोभाति सिद्ध हाजाता है कि यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए अग्नि में सोम का आहुत होना नितान्त आवश्यक है। आहुत होने वाला यह सोम हवि पशु राजा वाज ग्रह-आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त है। आहुतिद्रव्यस्वरूप सोम की विजातीयता से एक ही अग्नि यज्ञ अनेक प्रकार का हाजाता है। ग्रीहि यवादि ओषधियों में भी सोम है। इस सोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ हवियज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्र-दशपूर्णमास चातुर्मास्य आदि इष्टियों में इस अन्नसोम की ही आहुति दी जाती है। अतएव ये सब हवियज्ञ नाम से प्रसिद्ध हैं। एव पशुवध में पशुवपागत सोम की आहुति होती है। वना पशुवपा की आहुति के पशुवध यज्ञ का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होसकता। पशु अपेक्षित नहीं है। वपागत सोम अपेक्षित है। वह वना पशुवध के अप्राप्त है। अत अगत्या इस यज्ञ की सिद्धि के लिए पशु का आलम्भन करना पडता है। राजा सोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ राजसूय है। वाजसोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ वाजपेय है। ग्रह (बल्लीसोम) से निष्पन्न होने वाला यज्ञ योतिष्टोम है एव पञ्चपशु-ग्रहसोम दोनों से निष्पन्न होने वाला यज्ञ चित्ति किंवा चयनयज्ञ है। इसमें पाचों पशुओं का

और ग्रहसोम का दोनो का सम्बन्ध रहता है। अतः अन्तर यज्ञो से इसे ऋत्विष्ट माना जाता है। यहातक कि कम्मकाण्डप्रधान यज्ञों में एक चयनयज्ञ ही ऐसा यज्ञ माना गया है जो कम्म होता हुआ भी ज्ञानैकसाध्या अमृतत्वप्राप्ति का कारण बन जाता है। चयनयज्ञ के लिए ही नामृतत्वस्य --आशास्त ऋते चयनात् यह सिद्धा त प्रसिद्ध है।

पुरुष-अश्व-भो-अवि-अन ये पाचा पशु द्यावापृथिव्य हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष द्यो तीनों के रसो के तारतम्य से इन पाचा प्राकृतिक पशुआ का स्वरूप नि पन्न होता है। इन पाचों में पुरुषपशु ही सर्वश्रेष्ठ अतएव सर्वप्रधान है अतः प्रथम ऋसी का स्वरूप उपास्थित किया जाता है।

१-पुरुषपशु —

पार्थिव अग्नि आन्तरिक्ष अग्नि [वायु] ए । द्य अग्नि [इन्द्र] अन् तीनों प्राणाग्नियों का सम्बन्ध से वैश्वानर का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्राणाग्नित्रयमूर्त्ति यह वैश्वानरतत्त्व ही पुरुषपशु कहलाता है। ऋसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर अति कहती हैं—

इमे वै लोका पू । अयमेव पुरुषो योऽय पवते । सोऽस्या पुरि शेते तस्मात् पुरुष ।

—श १३ ६२ १

वश्वानरपुरुष के इसी व्यापक स्वरूप का निरूपण करती हुई ऋति कहती हैं—

स य स वैश्वानर -इम स लोका । इयमेव पृथिवी विश्वम् अग्निनर । अन्तरिक्षमेव विश्वम् वायुनर । धारव विश्वम् आदित्यो नर । ते ये तऽडमे लोका इदं तच्छिर इदमेव पृथिवीषधय श्मश्रूणि, तदेतद् विश्व वागेऽ । अग्नि स नर । सो परिष्टादस्य भवति । उपरिष्टादस्य अग्नि । इदमेवान्तरिक्षम् । तस्मादेतदलोकम् । अलो कमिव ह्यन्तरिक्षम् । तदेतद् विश्व प्राण एव । वायु स नर स मध्येनास्य भवति । मध्येन ह्यन्तरिक्षस्य वायु । शिर एव द्यौ । नक्षत्राणि केशा -तदेतद् विश्व चक्षुरव । आदित्यः स नर । अवस्तच्छीर्ष्णा भवति । अवभ्ताद्धि दिव आदित्य । तदस्यैतच्छिरो वैश्वानर । आत्मायर्भाग्नश्चित । आत्मानमवात्ये तत् सस्कृत्य शिर प्रतिदधाति” ।

—शत ब्रा ६। प्र ३ ब्रा ३-४-५-६ क ।

उक्त वैश्वानरपशु अग्निप्रधान बनता हुआ वृषामूर्त्ति है। जिस प्राणी में ऋसी प्रधानता होती है वह पशुसृष्टि में पुरुष (मनुष्य) कहलाता है। पुरुष उस प्राकृतिक पुरुषपशु की प्रतिकृति है। अन्तर पशुओं की अपेक्षा यह उस विराट् की सन्निहित प्रातकति है। कारण वश्वानर त्रलोक्य में व्याप्त है। उधर प्रजापति भी त्रैलोक्य में व्याप्त है। अन्यत्र छेदेन वह अर्थशक्तिमय है वायु अवच्छेदेन वह क्रियाशक्ति मय है एव इन्द्राव छेदेन वह ज्ञानशक्तिमय है। अन्तर पशुआ की अपेक्षा इसमें ज्ञान-क्रिया-अर्थ का पूर्ण विकास है। ऋसी आधार पर इस पुरुषपशु के लिए-पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् यह कहा जाता है। यज्ञ संहिता का सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त इसी विराट्मूर्त्ति पुरुषपशु का निरूपण करता है।

त्रिवृतस्त्रिगुण्य अग्नि पहिली साक्षा है पञ्च शस्त्रानीय गायु दूमरी साहस्री है एव एकावगस्थानीय आग्नेय तीमरी साहस्री है । अग्निप्रधान महस्त्रमण्डल वश्रानररूप है गायुप्रधान सप्तमण्डल हिरण्यगममय है एत आग्नेयप्रधान सहस्त्रमण्डल सप्तज्ञरूप है । पाथव वैश्वानर ऋक्मल है आ तरिद्वय त्रिश्यगम अत्रिय विष्णुयाग्न के स व मे अष्टमल है एत यिय सवज एकमल है । सम्भूय कचाए होजाता ह । यी दशमल त्रिरट् पुरुष है । यही इश्ररप्रनापति है । व वानर-तजस-प्राज्ञमूर्त्ति पुरुषपशु ह । यह पाथव प्राण की प्रधानता स वश्रानर कलाता है । महस्त्रमि श्रर का याद काड साक्षात् प्रातमा है तो वह यह पुरुषपशु ही ह । मनी आवार पर नि नलासत निगम वचन प्र नाष्ठत हैं—

- १—‘पुरुषा वै सहस्रस्य प्रतिमा (यजु म १३।४१)-(शत ७।५।२।१७) ।
- २— प्राजापत्यां वै पुरुष ” (त ब्रा० २।२।५।३) ।
- ३— पुरुष प्रनापति ’ (शत० ६।२।१।२।३) ।
- ४— पुरुषा हि प्रथम पशूनाम ’ (शत० ६।२।१।२।८) ।
- ५— पुरुष पशूनाम ’ (अधिपति) । ता० ब्रा ६।२।७) ।
- ६—‘षोडशकलो वै पुरुष ’ (तै ब्रा १।७।५।५) ।
- ७— ‘म वाऽय पुरुष सवासु पूषु (पृ अ दिमि च) पुरि शय ’ (शत १४।५।५।१८) ।

२ अश्वपशु —

दूसरा है अश्वपशु । अश्वपशु का स्वरूप आपोमय सौरतेज से नि पन्न होता है । सूर्य का सावित्र तेज (जोकि सावित्रतज सावित्री नाम स प्रसिद्ध है) आपण की ओर आता है । भूपिंड स टकरा कर य सौरतेज आतरिद्वय अणवसमुद्रगत अपतत्र स सश्लिष्ट होता हुआ भूपिण्ड से टकरा कर पुन अपने मौरलोक की ओर जाता है । पार्थिवप्राण स सालष्ट होकर लाकालोक पर्यंत वितत हाता हुआ यही सौरत व अश्व नाम से यवहृत होता है । अप्तव का अभिमानी देवता वरुण है । अतएव अश्व का वारुणपशु माना जाता है । परन्तु यह शुद्ध वारुण ही नहीं है । अपितु जो आतरिद्वय अप्तव सौरतेज से सश्लिष्ट हाजाता ह वही अपतव अश्व की योनि बनता है । अतएव यह वारुण होता हुआ भी साग्यपशु माना जाता है । शुद्ध वारुण पशु तो महिष (भस भसा) है । वरुण और इन्द्र म परस्पर वारध है । अश्व में चन्द्र (सौरप्राण) की प्रधानता है एव महिष में वरुण की प्रधानता ह । अतएव इन दोनों पशुओं में सहज वर ह । इसी आधार पर— अश्वमाहिष्य न्याय प्रतिष्ठित है ।

आन्तरिद्वय आपोभाग इसका आ मा (शरीर) है । अप्तव ऋतप्रधान होता हुआ प्रतिष्ठाशूय है । अतएव तत्प्रधान अश्वपशु सर्वांमना अपने शरीर को प्रतिष्ठित रखने में असमथ है । अश्वपशु जब भी स्पर्शा होगा एक पैर भूपिण्ड से असन्पृष्टवत् ही रखेगा । सूर्यरश्मियों की प्रतिष्ठा सौरकेद्र है । सूर्य के केन्द्र से चारों ओर से रश्मियों का प्रसार होता है । केन्द्रबिन्दु तद् वस्तु का अक्ष (धुरा) कहलाता है । पृथिवी

ना प्राणापयान्मय के उमका अक्ष है। इसके आग पर भूपण्ड अहो म अपने स्थान पर घूम जाता है। मी स दैनन्दिनात् का स्वरूप इन पत्र जाता है। अन्त के मन्त्र घ स । य पार्थिव्यात् स्वाक्षपार-
त्रमण नाम स प्राप्त है। सूर्य भी भूपण्डात् अप अक्ष के आधार पर मरुतान पर घूमता रहता है जिसका कि प्रयत्न प्रमाण सूच्यगत वाभन्न था-स्थित माठर कापल-मन्त्राणि चना का स्थान पर जान है। यह अक्षस्थान ही आक्ष है। इसी स राशमयो का नाम म हुआ है। आक्ष यान स निनिगत सोर-
रशिमया भी मराच नाम स व्यवहन हाता है। सय अग्निमय है। इस अन्त (सन्त्र) राशमया इनकलती हैं। अनन्त रशिमगत अन्त संप्राण अन्त र ह। न म पर म एक मूय्य का शासन है। यही क्षरुत् कह जाता है। राशमय म चिमय प्राण वि ह। एका रुता न द्वितीयाय यह वहां सूय है। इसी क्ष एव पिटृवद्र-स पत्नि का निरूपण क ती हुइ यतु म तक ती है—

असा यस्ताम्रो अरुण उत वभ्रु सुमङ्गल ।

य चैन रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिता म स्रगो वेषा दृड ईमहे ॥

—यजु साहता

सूर्यप्रजापति के अक्षिभाग स विनिगत राशमयो के घषास ना पानी उ पत्र होता है वही अरणव समुद्र की प्रतिष्ठा बनता है। चतुर्वेव पानयाम स यनी रपानी मरीचि नाम स प्राप्त है। य ही रुग्नि क अश्र है। सौरत गर्भित य अत्र भाग प्रजापति म अग्नि (हृदय) है। हृदय ही मृकाम क वितान स बहिष्मण्डल का कारण बनता है। यही अक्षिभाग पूव कथनानुसार अक्षरूप म परिणत होता है। यही अश्र पृथिवी स सक्रान्त हामर अश्र रूप म पा णा हाता है। म्रतेज अतिप्रवर है। वही इम पशु का जनक है। अतएव इतर पशुओं की अपेक्षा अश्रपशु को प्राय्यत्तम माना जाता है। आतरित्य अन्नगर्भित सौरत व ही विद्युत् है। यह प्रितु आपोमयी है। आ तारक्ष्य आप ही मस्की प्रति ठा है। यदेतन्ना विद्योतते विद्य त् (केनोपनिषत्) म श्रोत मन्त्रान्त क अनुमार यह विद्यत् म् है। आपो मय इन्द्र देवताओं में प्रीय्यवत्तम है। अतएव तत्प्राणप्रधान अश्रव भी प्रीय्यवत्तम है। इसीलिए तो अश्रव को सौम्य (ऐन्)-पशु मानना युक्तिसङ्गत हाता है। अश्रवपशु वास्तव म सौरा म् विद्युत् का ही प्रतिमान है।

आपोमय यह अश्रवपशु भूपण्ड से सूर्य पय्यत्त व्याप्त है। प्रात काल से साय पय्यन्त म अश्रव की याप्ति है। उषाकाल उपक्रमविन्दु है वृषाकपायी उपसहारविन्दु है। उषा मस्तक स्थान है। वृषाकपायी प्रष्ट स्थान है। सारत्रलोक्य में अन्नमूर्ति इन्द्रप्राणप्रधान यह अश्रवपशु खडा है मका सम्यक परिज्ञान ही वद का सम्यक पारज्ञान है। सूर्य त्रयीमूर्ति है। यही वाजिरूप में परिणत होकर जिज्ञासुआ का वत् का स्वरूप बतला रहा है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसी वाजरूप सूर्य से वदत्तव प्राप्त किया था। इस त्यावाप्रथिय अप प्रधान प्राणात्मक अश्रवपशु की जिस प्राणी में प्रधानता रहती है प्राणियों में वही पशु अश्रव नाम से प्रसिद्ध है। पूव म अश्रवपशु के सम्बन्ध में जो जो स्वरूप बतलाए ह निम्नलिखित श्रौत वचनो से उन सब की पुष्टि होजाती है—

- १— प्रजापतवो अक्षयश्वयत् । तत्परापतत् । तदश्वोऽभयत् । तदश्वस्याश्ववम । तद्दवा अश्वमघन प्रत्यदधु ' (ता ब्रा० २१।४।२) ।
- २— अथ यदश्वु मक्षरितमासात् सोऽश्वुरभयत् । अश्रुह वै तमश्व इ याचक्षत परोक्षम' (शत ६।१।१।१) ।
- ३— अद्भ्यो ह वा अग्रश्व सम्बभूय । मोद्भ्य ममभयन्मर्मा समभवत् । असर्वा हि नै समभवत् । तस्मान्न मनो पद्भिः प्रतितिष्ठति । एकक्रमव पादमुदय तिष्ठति' (शत ५।१।४।५)
- ४— 'अत्याऽसीत्याह । तस्मादश्व सर्वान् पशून् यात । (तै ब्रा ३।८।१।६)
- ५— 'अप्सुयोनिर्वा अश्व' (तै ब्रा ३।८।४।३) ।
- ६— 'अश्व पशूनामोजिष्ठो बलिष्ठ' (त ब्रा ३।८।७।२) ।
- ७— अश्व पशूनामन्नादो वीर्यवत्तम' (तै ३।८।७।१) ।
- ८— क्षत्र वा अश्वो विद्धतरे पशव' (शत १३।२।२।१५) ।
- ९— 'इद्रो वा अश्व (कौ ब्रा १।५।४) ।
- १०— 'असौ वा आदियोऽश्व' (त ब्रा ३।६।२।३।२)
- ११— सौर्यो वा अश्व' (गो ब्रा ३०।३।१६) ।
- १२— वारुणो हि दवतयाऽश्व (तै ब्रा १।१२।६) ।
- १३— रश्मिना वा अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वोऽयतऽधृतोऽप्रतिष्ठित परा परावत् गन्तां' (शत १३।३।३।५) ।
- १४— समुद्र एवास्य बहु समुद्रो योनि (शत १।६।४।१) ।
- १५— उषा वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिर (शत १।६।४।१) ।
- १६— 'प्रतूत वाजिन्नाद्रव गरिष्ठामनु सवतम् । दिवि ते जम परमम त्रिद्व तव नाभि पृथिव्यामधि योनिरित्' (यजु स १।१।२) ।

३-गौपशु —

तीमरा गं पशु है । नस गौतत्त्व का प्रभयस्थान आपोमय परमेष्ठी है विकासस्थान सूर्य्य है एवं व्याप्तिस्थान त्रैलोक्य है । सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्च सम्पूर्ण यज्ञ इसी गौतत्त्व पर प्रतिष्ठित हैं । भूत की जननी यही सोममयी गौ है । परमेष्ठी सोमलोक है । देवता-क्रमानुसार परमेष्ठी के देवता विष्णु हैं । पारमेष्ठ्य सोम के सम्बन्ध से ही विष्णु सोमवशी माने जात है । नसी मन प्राणवाङ्मय प्रजापति के

प्राण भाग से गौतव उपन्न हाता है। साम्यप्राण गौ का आमा है। सार अग्नि गौ का शरार है। अतएव उसे अमृत की नाभि कहा जाता है आनया माना जाता है। सत्य सत्सरश्मि है। उसका सत्त्व से यह गौतव सहस्रधा विभक्त होजाता है। स स्रधा विभक्त गोक ३३ रूप पार्थिव वसुदवता के साथ संलक्ष्य रहत ह ३३३ विभाग आन्तरिद्य रुद्रदवता क साथ युक्त रहत है एव ३३३ रूप दिव्य आदित्य के साथ सम्बन्ध रखते हैं। एक बची ह गौ कामगवी (पुराणभाषा क अनुसार कामधेनु) नाम से प्रसिद्ध ह।

त्रिधा विभक्त उक्त गौतव स्व स्व स्थान म हा अपना अपना प्रभुत्व खते ह परन्तु वह कामगवी अग्नि-रुद्र-आदित्य तीनों के साथ युक्त रहती है। ग्रहोरात्र म एकत्र प्रत्येक प्राणी के साथ किसी न किसी समय अवश्य ही इस कामगवी का सम्बन्ध होता है। जिस समय मनुष्य के माय उस कामगवी का सम्बन्ध होता है उस समय उसके मुख से जो कुछ निकलता है वह स्वथा मय होजाता है। वह समय अज्ञात है। अतएव शास्त्र का—शुभ त्रयान्-शुभ त्रयान् यह आदेश। लोक म भी—सत् शुभ ही बोला। किसी का बुरा मत कहो विन्ति नहीं किस समय तुम्हार मुख से क्या निकल जाय यह प्रसिद्ध है। वह समय इसी कामगवी का भागकाल है। पारमेष्ठ्य-साम्यप्राणमयी गौ सत्य के साथ युक्त होकर रश्मिरूप म परिणत होजाती है। सौर रश्मिया लोकालोक पर्यन्त याप्त ह। गौप्राणमयी ये राश्मय-उस विष्णुदवता के गौतव के शङ्ग (सींग) ह। ३मी विज्ञान का लक्ष्य म रखकर श्रुत-कहती है—

‘या ते धामान्युश्मसि गमध्या यः गावो भृग्निङ्गा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्व विष्णो परम पदमभारि भूरि ॥

इस गौतव का रुद्रों का माना वसुओं का क्या एव आदित्या की पहिन बनलाया जाता है। त्रिश आदियों की समष्टि सूय है। अपाप्रणयनावज्ञान का निरूपण करत हुए हमने भृगु-अङ्गिरा-अत्रि भेदभिन्न परमेष्ठी के तीन मनोता बतलाए ह। अङ्गिरा की-अग्नि यम आदित्य ये तीन अवस्थाएँ हैं एव भृगु की अप्-वायु सोम ये तीन प्रवस्थाएँ हैं। हमने सौ प्रमाण को ही गौतव बतलाया है। इसका ज क त्रयीगर्भित अबमूर्त्ति मन प्राणवाङ्मय परमेष्ठी प्रजापात ही ह। अधर परमेष्ठी ही आङ्गिरस आदित्य का जनक है। गौ-आदित्य दोनों एक ही परमेष्ठी की सन्तान ह। ऐसी अवस्था में हम अवश्य ही स गौतव के लिए-स्वसादित्यानाम् यह कह सकते हैं।

रुद्र आन्तरिद्य देवता है। ये प्राणप्रधान ह। इस प्राण से (रुद्र से) मरुत उपन्न हाता है मरुत से मारुत (स्पशधर्मा वायु) उत्पन्न होता है। मारुत का पितामह रुद्रप्राण उसी सौम्य गौप्राण से उत्पन्न होता है। गौतव को हमने प्रजापति के प्राण से उत्पन्न बतलाया है। प्राण ऋतत व है। अधर आन्तरिद्य रुद्र भी प्राणामक होता हुआ ऋत ही है। ऋत का प्रथमरूप पारमेष्ठ्य गौरूप प्राण ही है। स्वयम्भु सय है पारमेष्ठ्य भागवत व ऋत है। यही आगे होने वाली ऋतसृष्टियों का जनक है। ऐसी अवस्था में उस प्राण-प्रधान मौलिक गौरूप ऋतत्व को हम अवश्य ही उस आन्तरिद्य ऋतरूप रुद्रत्व का जनक मान सकते हैं। इसी आधार पर माता रुद्रणाम् यह कहना उचित होता है।

मनं अमृतमामना गातयन्नात्रा मावतलाया ह एव गरार आग्नय तलाया ह । सोररश्मिया स्वयं अग्निप्रधान है । यदा तो मर्गा यका गरार य मा मोमत्त परानभर है । आप जो गोकुली प्रकाशमूर्ति त्वर ह प्रह यथातिपा प्रितमा यत्र के अनु र मामाहुत मा ही प्रभाव है । अग्नि तत्र अग्निभूस्थान तम नरुक्त मिश्रान्त के अनुमा भलक की वस्तु मानी जाती है । भूतोकस्थ अग्नि घनता तारतम्य स एव गापत्री-छन्द के सत्रय स अष्टवा विभक्त है । पाथत्र अग्नि की ये आठ अवस्थाएँ अष्टवसु कर्ता तव के स्थलभाग का (दृश्यामक शरीर भाग का) निम्नण स पाथत्र वागनि पाने । नी आगण प मके लिए— ऋहिता प्रसुनाम् यह ऋहा जा- स्मता ।

यसु-रुत-आग्नि-याम प्रग वता है । सत्र मा गा य के साथ घानष्ट सम्बन्ध है । प्रथिना अन्तरित्ना आप मे म लोम माचा मा म विभक्त है । न चारा में क्रमशः— उड उड उड च व म क्रम म म अवा प्रमक गौतय प्रति गत है तमाक प्रव म बतला दिया गया है । यदि सोम मय गात य नोता तो यज्ञ अमम्भय था । यन न ता ता यश्वसृष्टि अस भव थी । अतएव हम गौत य का वश्य एव वश्यगत सम्पण प्राणिया मा जनन मान मन्त ह । गौतव लारूप है । चारा लोको म मा त ह । यताआ का त्रामा । अमृतमोम का केत है । ऐसे इस प्राकृतिक गौपशु (प्राणा-त्मक पशु) से हा पार्थिव गोपशु मा निर्माण हाता त तस प्राणी में वही प्राण विद्यमान ह । यह तसका साक्षात् प्रतिकृति है । तोना अभिन्न ह । यह गौतय अग्रयणच्छदेन ऋग्वेद का वासु अव छेत्तन यजुर्वेद का आन्त्याय छेदेन सामवेद का तव अवयच्छदेन अथर्ववेद का अग्निष्ठाता है । यहा अय था तत्प्रतिमाभूत इस गापशु की । सीलिण वदतवम मज्ञ महर्षियोन आमा में वदविद्या को प्रकमित करने का एकमात्र उपाय तासया नी माना है । सत्यकाम जाबालि गौसेवा के प्रभाव से ही ब्रह्मविन् प्रन थ ।

क ना न होगा कि आग्नेयवत्त गोवन के इस मह व को समझत हुए भी इस ओर से आज उदासीन हाता त्रया तगति म नाश की ओर नी अग्र सर होरहा है । गोपशु सबकी प्रात ठा है । इसी उभयविध (प्राणामक एव प्राणीरूप) गातव का अभिन्न दृष्टि स निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

माता रुद्राणा ऋहिता वसूना अश्विदि यानाममृतस्य नाभि ।

प्रनुयोच चिक्रितुष चनाय मागामनागादिति वधिष्ट ॥

—ऋकम

यहा मोमरस जगामाता गा क स्तना में प्रतिष्ठित रहता है । जो गुण अमृतसोम के बतलाए जात ह आद्युय जान भा वे नी रामायनिक गुण गोदु ध क माने हैं जसाकि यगभट्ट कहते हैं—

स्वाद पाकरम स्निग्धमोनस्य धातुवर्द्धनम् ।

प्राय पय ।

तत्र गय तु जीवनीय रसायनम् ।

क्षतक्षीणहित मेध्य बल्य स्तन्यकर परम् ॥

—अष्टाङ्गहृदय

अत्रतक गौपशु के सम्बन्ध म हमने जा कुछ बतनाया है वह अनन्तालाखत प्रमाण पर प्रति-
ष्ठित है—

- १— इमे वै लोका गौ' (शत ६।५। १७)।
- २— 'यद्वि किचान्न-गोरेव तत्' (शत १।४।१३)।
- ३— यज्ञो ऽ गौ' (त ब्रा ३।६।३)।
- ४— 'साहस्रो वाऽएष शतधार उत्म (यजु १३।४६) यत् गा
(शत ७।५। १४)
- ५— स हैष सोमोऽजस्रो (यजु ३।४३) यत् गौ'
(शत ७।५। १६)
- ६— 'वैश्वदेवी वै गा (गो ब्रा - ३।१६)
- ७— 'आग्नेयी वै गो' (शत ७।५। १६)।
- ८— गोर्वा इद सव विभक्ति' (शत ३।२। १५)।
- ९— नेते सर्वे पशवो यदजापयश्चारण्याश्च। एते वै मर्षो पशवो यदगव्या
(त ब्रा ३।६।६)।
- १० प्राणो ऽ सोम (शत ६।३।६।४५)।
- ११— (प्रजापति) प्राणान्गाम् (निरमिमीत) (शत ७।५।)

४—अविपशु —

चौथा पशु अवि (भेड) है। सका प्रधान सम्बन्ध आन्तरिद्य आपोभाग से है। यह पशु सदा ऋततत्त्व से (अपतव से) वृष्टित रहता है। पञ्चाग्निविद्या के अनुसार वृष्ट का मूलतव दिक्सोम है। आदित्याग्नि में श्रद्धा (सोम की मौलिक अवस्था) की आहुति से सोम उपन्न होता है। इस सोम की ऋत सय भेद से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। कुछ सोम तो पिण्डरूप में परिणत होजाता है यही चन्द्रमा है। इसी को सायतन-सशरीर होने से सत्य सोम कहा जाता है। क्योंकि सय का 'सहृदय सशरीर सत्यम्' यही लक्षण है। सायतनभाव के कारण ही इस चन्द्रपिण्ड के साथ रूपाधिष्ठाता सौर इन्द्रप्राण का (रश्मियो का) सम्बन्ध होजाता है। अतः ही यह चन्द्र सोम प्रकाशयुक्त होजाता है। चन्द्र-साय-तन सोमगत-प्रकाश वास्तव में सूर्य का ही प्रकाश है। इसी अज्ञान को लक्ष्य में गवकर श्रुति कहती है—

अत्रह गोरमपत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे'

—ऋक्स

कुछ सोम अतस्तत दिशाओ में व्याप्त होजाता है। यही सोम वायु के द्वारा पजन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टि का कारण बनता है। इसी आभप्राय से छान्दोग्यश्रुति कहती है—

पञ्चयो वाव गातमाग्नि । तस्य वायुरेव समित् । अभ्र रूम । विद्युदर्चि ।
अशनिरङ्गारा । हादुनयो विस्फुलिङ्गा । तस्मिन् तास्मनग्ना दवा सोम राजान जुहति ।
तस्या आहुतेवर्ष सम्भवति'

—छा ३ ५ प्र ५ ख ४-५ ख

दिशाआ मे यात रहने के कारण ही यह सोम निक्साम कहलाता है । यह निरायतन है अतएव
अशरीर अन्त्य ऋतम् इस लक्षण के अनुसार हम इसे ऋत मान सकते हैं । यही दिक्सोम—दिश
आत्र (यजु) के अनुसार इश्वरप्रजापति का श्रोत्रेन्द्रिय—स्थानीय है । सी दिक्सोम स हमारी श्रोत्रेन्द्रिय का
निम्माण होता है । इसी दिक्सोम से जिसे हमने वृष्टि का अधिष्ठाता बतलाया है) अविप्राण का विकास
होता है । वृष्टि होने पर सर्वत्र हरियाली होजाती है । यह हरितभाव सोमगत इसी अग्नि प्राण की
महिमा है । यह विशेषत आन्तरिद्य पशु है । इसका विशेष संबंध पृथिवी में है शुलोक से नहीं । अत
एव उसे पार्थिवपशु भी माना जाता है । यही कारण है कि पार्थिव अजपशु एव आन्तरिद्य अविपशु
का भेडबकरी इयाद रूप से महयाग बतलाया जाता है । ग्रहविज्ञान के अनुसार उपापशुग्रह से
अजपशु उत्पन्न होता है एव अन्तर्यामिग्रह से अविपशु उत्पन्न होता है । उपाशु—अन्तर्यामि
दोना ग्रह स चारी हैं । नमलिए ये दोना पशु भी साथ रहते हैं । साथ रहने वाले इन दोनों ग्रहों में उपाशु
की आहुति पहिले हाती है अन्तर्यामि की आहुति पीछे होती है । यनी कारण है कि भेडबकरियों के मण्ड
में पहिले (आगे—आगे) अजपशु चलना है पीछे—पीछे अविपशु चलता है । उपाशु की आहुति के अन-
तर ऊवभाग की ओर उसका उमाजन होता है एव अन्तर्यामि का रुख नीचे की ओर रहता है । अतएव
अजपशु उछलता कूदता ऊपर की ओर ग्रीवा रखता है आ चलता है एव अविपशु नीचे की ओर जमीन
सँघता सा चलता है । (देखिए शत ४।५।५) । निष्कष यनी है कि अविपशु अजपशु से मिलता जुलता
है । अविपशु के उपयुक्त धर्मों का निरूपण करते हुए निम्नाल्लिखित श्रुतिवचन हमारे सम्मुख आते हैं—

१ - इय वा (पृथिवी) अवि । इग हीमा सर्वा प्रजा अवति

—शत ६।१।२३।

२—'वारुणी (आपोमयी अत एव ऋतरूपा) त्वाष्ट्री चावि '

—शत १।२। १ ।

३—अन्तर्यामिपात्रमेवानववय प्रजायन्ते'

—शत ४।५।३।

४—'अविर्नै नाम देवता ऋते नास्ते परिवृता ।

तस्या रूपशोम वृक्षा हरिता हरितस्रज ॥

—अथवस १ का०।५ अ । नसू । ३१ म

५—'(प्रजापति) श्रोत्रात्—अविम् (निरमिमीत)'

—शत ७।५।६ ।

५ अजपशु —

पाचवा पशु अन्न है। यह प्रधानरूप से पार्थिवपशु है। अतएव हम इस अग्निप्रधान मान सकते हैं पार्थिव प्रजापति भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। प्रजापतिश्चरति गर्भे यह निगम प्रसिद्ध है। केन्द्रस्थ अग्निमूर्ति प्रजापति के आधार पर ही भाषण्ड प्रतिष्ठित है। अतएव उस प्राजापयतव को पृथिवी का अन्न (धुरा) माना जाता है। यन् अक्षाग्नि पूर्वकथनानुसार निरन्तर विस्फुट होता रहता है। विस्फुट भाग प्रवग्य उच्छ्रि आग्नि नामो से व्यवहृत होता है। यही उच्छ्रि पार्थिवभाग अजपशु का उपादान बनता है। जो स्थान प्रवग्याग्नि से निष्पन्न होने वाली आषधि-वनस्पतियाँ हैं वही स्थान इस अजपशु का है। आषधि वनस्पतियाँ हमारे अन्न में उपयुक्त होती हुई भाक्षणी नहीं होती। क्योंकि यह प्राजापय अन्न है। यही अवस्था उस अजपशु की है।

अन्न पशुओं की अपेक्षा यद्यपि उसका व्यवहार अधिक होता है। परन्तु यह क्षीण नहीं होता। पार्थिव प्रजा के लिए प्रधान अन्न अन्न कर्मा जाता है। यह निरन्तर अद्यमान होता हुआ भाक्षणी नहीं होता। अतएव इसे अन्न कहा जाता है। सम्बत्सरप्रजापति इश्वरप्रजापति है। सम्पूर्ण विश्व का उपादान बनता हुआ भी यह मूलरूप में उच्छ्रि नहीं होता। हम यदि लौकिक कार्यकारण भावों को देखते हैं तो हम विदित होता है कि कार्योत्पत्ति के अन्न तर कारण उच्छ्रि नहीं होता है। दूध से मलाई उपन्न हुई अन्न दूध नहीं। लौह से नङ्ग उपन्न हुआ। कालान्तर में सम्पूर्ण लोहा जङ्ग बन गया। अन्न लोहे की कड़ी सत्ता नहीं। परन्तु इश्वरीय-संस्था में यह बात नहीं है। प्रजापति के प्रवग्यभाग से निरन्तर पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं परन्तु वहाँ कभी कमी नहीं होती। उसी आधार पर ता प्रजापति के लिए— एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कम्मणा वद्ध ने नो कनीयान् यह कहा जाता है।

सम्बत्सरप्रजापति सम्बत्सर में तीन बार प्रभवकर्म करता है। बार अजपशु भी एक वर्ष में तीन सततियों का अधिष्ठाता बनता है। प्रजापति मन प्राणवाग्मय है। प्राणभाग से जस गौ पशु उत्पन्न होता है एवमेव वागभाग से अजपशु उत्पन्न होता है। वाक्तरव-तस्य वा एतस्याग्निर्वाग्वोपनिषत् इस श्रोत सिद्धान्त के अनुसार अग्नि ही है। यह स्थूल गतु है। इसी से ध्रुव भूलोक बना है। अन्तरिक्षादि धत्र (तरल) सृष्टियाँ हैं। परन्तु पृथिवी ध्रुव है। अतएव उसे कपाल कहा जाता है। इस कपालरूप (प्रवभावयुक्त) भूपिण्ड में अग्नि प्रतिष्ठित है। इस अग्नि का ही नाम रस है (दखिए शत ६ का)। इस रस की ब्रह्मौदन-प्रवग्य दो अवस्थाएँ हैं। ब्रह्मौदन की तीन अवस्थाओं से अग्नि-अयु-आदित्य भेदभिन्ना देवसृष्टि होती है एव जो उच्छ्रिभाग भूकपाल से साश्लष्ट रहता है वही उस अजपशु का उपादान बनता है। इस प्राणात्मक अजपशु की जिस प्राणी पशु में प्रधानता होती है वह भी अन्न नाम से व्यवहृत होता है। अजपशु की उपयुक्त स्वरूपसिद्धि के लिए निम्नलिखित श्रौत प्रमाण हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—‘अथ य कपाले रसो लप्त आसीत्-सोऽजोऽभवत्’ । (शत ५।१।१।१२)

२—‘तस्याक्षिभ्यामव तेजोऽस्रवन् । सोऽज पशुरभवत्’ । (शत १।७।१।१)

३—‘(प्रजापति) वाचोऽनम् (निरमिमात्)’ । (श ७।५।६।)

४—‘ वाग्वाऽज ’ (गा वा उ ३।१६।) ।

पुरुष अश्व गो आन अज—इन पाच पशुओं में ही अंतर सब पशुओं का अतर्भाव है । अतएव सप्तपशु माना जाता है नैसाक वाज्रिति कहती है—

‘पुरुषोऽश्वागारावरजो भवन्ति । एतावतो ऽसौ पशव । (शत ६।२।१)

तथाकथित पाचा प्राणपशुओं से ही प्राणी पशुआ ना निर्माण होता है । प्रकरण के आरंभ में हमने पाचा पशुओं को व्याप्राप्रथिय तलाया है । चावाप्राथवी त्रलोक्य है । अष्टविध—त्रिलोकियो में से प्रकृत में सम्बन्ध—स्तोम्य—त्रलायी ही अभिप्रत है । स्तौ य—त्रिलीकी में अग्नि वायु आदित्य इन तीन आग्नेय देवताओं का साम्राज्य है । तीनों में दो सधिया पढती हैं । इसप्रकार सम्बन्धराग्नि पञ्चायव हाजाता है । यही अग्नि की पाच आचतया है । षी आधार पर पञ्चचितिकाऽग्नि यह कहा जाता है । पञ्चाग्नि के कारण ही सम्बन्धराग्नि पाङ्कत कहा जाता है । इस सम्बन्धराग्नि पञ्चाचतक अग्नि विस्तृत होकर सबप्रथम पार्थिव उषा में आहुत होता है । पार्थिव उषा यानि है सम्बन्धराग्नि रेत है । इस की आहुति से जो नवीन अग्नि उत्पन्न होता है वह कुमार नामसे व्यवहृत होता है । पृथिवी में आकर सम्बन्धराग्नि अपनी स्वतन्त्र सत्ता खोता हुआ मूर्च्छित होता है अतएव कौन्त्रियते इस व्युत्पत्ति में इसे कुमारग्नि कहा जाता है । पृथिवी का एक साम्बन्धराग्नि परिक्रमा से तथोक्त कुमारग्नि का स्वरूप निष्पन्न होता है ।

यही कुमारग्नि आगे जाकर १—रुद्र (अग्नि) २—शव (आप) ३—पशुपात (शोषधि) ४—उग्र (वायु) ५—अशनि (विद्युत्) ६—भव (पञ्चय) ७—महादेव (चन्द्रमा) ८—अशान (आदित्य) इन आठ स्वरूपों में परिणत होजाता है । ये आठ विधाएँ एक ही अग्निदेव की आठ अवस्थाएँ हैं । अग्निदेव रुद्र इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यही अष्टमूर्ति शिव है । यहिरूप से यही चित्राग्नि नाम से प्रसिद्ध है एव समष्टिरूप से यही कुमार है । कुमार नवम है । इसी के तथोक्त आठ भेद हैं । यह चित्राग्नि ही आगे जाकर पुरुष अश्वदि—पाच पशुओं के रूपमें परिणत होता है । कुमारग्नि रुद्र है । वही इन पांचो पशुओं का अधिष्ठाता है अतएव रुद्र को पशुपति माना जाता है । इसप्रकार वह विस्तृत सम्बन्धराग्नि ही कुमार—चित्र रूपमें परिणत होता हुआ अन्ततः पञ्चपशुरूप में परिणत होजाता है । पञ्चग्नि सम्बन्धराग्नि का अन्तम परिणाम है । सब साग्नि विस्तृत हुआ था । उसे प्रजापतिने अन्ततः इन पशुआ में ही प्राप्त किया । वहा उसने अपने रूपको प्राप्त किया । यही प्रजापतिने अपने विस्तृत रूपको देखा अतएव अपश्यत् तस्मात् पशव इस व्युत्पत्ति से यह अग्नि पशु नामसे प्रसिद्ध हुआ । इही पशुआ से प्रजापति ने अपने विस्तृत भाग का स्कार कर अपनी कमी पूरी की (देखिए शत ६ का १ प्र ३-४ ग) ।

सात्म्य यही है कि सम्बन्धराग्नि का अग्निभाग पशुनिर्माण में विस्तृत (खच) होता रहता है । हम (पशु) उसके अग्निभाग को लेकर ही उपन्न हुए हैं । सब प्रजापति में कमी हाजाती है । इस

कमी का प्री क ने ऋत्वि प्रजापति हमारा आलम्भन करते हैं। आलम्भन से हमारे (पशुओं के) शरीर का अग्नि उक्रान्त होकर प्रजापति के सम्बन्धित भाग में चित्त १४ उसका स्वस्वभागीय भाग का पुत्र सहित-परिपूर्ण कर देता है। इस प्रकार हम उस खाकर (उसके अग्निभाग का लेकर) चिन्तित हैं एवं अतः वह हमें स्वान्तर अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है। आग्नि-विसर्गामय यह भव्ययज्ञ निरत होता रहता है। उसका अग्नि हमारे चित्त होता रहता है तो हमारा अग्नि हममें चित्त होता रहता है। अनाचिति के सन्निध्य से ही यज्ञ अग्निचिन्तित अग्निचयन चित्त आग्निनामों से प्राप्त है।

सम्बन्धित प्रजापति को हमने अग्निमूर्त्ति बतलाया है। यह अग्निचयन अग्नि है प्रजापतिरात्मनो मयमासीद्धममृतम इति श्रुतिः। इस श्रुति के अनुसार अमृत-मय मेघदाभागीय विभक्त है। अमृतानि याज्ञिक पारभाषानुसार चित्तेन्द्रियेय कहलाता है एवं मयाग्नि चिन्तित अग्निसे प्रसिद्ध है। स्थूलभूतानि चिन्तित अग्नि है सूक्ष्म प्राणाग्नि चित्तनिधेयानि है। भूतानि भूत प्राणाग्नि चित्तित है। चित्तित एव भूत रूपसे ही प्रजापति अग्नि का विकास होता है। भूतप्राणमय सम्बन्धित अग्नि से उद्भूत होने वाले उपयुक्त पाच पशु भी भूतप्राणमय ही हैं। वही भूतचित्ति ऋतुरूप है। १ वसन्त २-वर्षा ३-शरत् ४-हमन्ताशिशिरस पाच ऋतु पाच भूतानि है। इनसे शरीर का निर्माण होता है। पशुओं का शरीर मय है। सम भी-मात्रा अग्नि स्नाय मास भेद ये पाच मर्यादित चित्तित है। वही अग्नि वायु आदियः साध्यप्राण भेद से पाच प्राणचित्तित है। तन्नुसार ही ही-प्राण अपान समान उदान ये पाच प्राणाचातया है। दोनों का स्वल्प अभिन्न

प्रजापति पशुओं के भूत-प्राण दोनों भागों का एकसाथ ही अपन म चयन नहीं करत। अपितु चयन से पहले प्राण भूत दोनों चित्तितों का विशकलन कर देता है। पहले पशु का प्राण निकल जाता है। यह प्राणचित्ति स्वतन्त्ररूप से होती है। भौतिक शवभाग शेष जाता है। अग्निहोम से यह भी क्रमशः स्वतन्त्ररूप से प्रजापति के भूतभाग में चित्त हो जाता है। इस प्रकार सम्बन्धित प्रजापति स्वयज्ञसिद्धि के लिए पाचों पशुओं का आलम्भन किया करत है। पशुओं के आलम्भन से ही वह अमृतभावापन्न बनता है। यदि पार्थिव पाचों पशुओं का आलम्भन न होता एवं केवल नियत नवीन पशु उद्भूत ही होते रहते तो कुछ ही समय में सम्बन्धित प्रजापति अपनी प्रतिष्ठा खो बैठते। परन्तु ऐसा नहीं होता। उसे आलम्भन करना पड़ता है। आलम्भन के अनन्तर जो उभयविध अग्निभाग उसमें जाता है उसी से वह एकप्रकार से जावित है। इसी आधार पर अग्नि प्रदाना ह्येते (उपजीवन्ति) यह निगमवचन प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि सम्बन्धित प्रजापति स्वस्वरूपसिद्धि के लिए तन्नुद्धार्य एवं अमृतवप्राप्त के लिए निरन्तर पाचों पशुओं का आलम्भन किया करत है। और प्राकृतिक पञ्चालम्भन का यही सन्निहित स्वरूप निदर्शन है।

जिस प्रकार पिता पुत्र अपनी स्वामी इत्यादि शब्द सापेक्ष है उसी प्रकार प्रजापति शब्द भी स्वामी-सेवक-भावानुबन्धिनी सापेक्षता से नियत समन्वित है। जैसे पुत्र पिता की पत्नी पति की एवं स्वामी सेवक की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार प्रजापति प्रजा का अपेक्षा रखता है। बिना प्रजा के जिस प्रकार

राजा शानिरयज्ञ है उभी प्रकार । प्रजा के प्रजापति शब्द का भी को मूल्य नहीं है । इसी सापेक्ष भाव के लक्ष्य में स्वप्न आन्तपुरुष प्रजापति का—आमप्राणपशुसमष्टि प्रजापति यह लक्षण किया करत है । आमा भोक्ता है प्राण भासावन है एव पशु भाग्य है । भोक्ता भोगसान एव भाग्य की समष्टि ही प्रजापति है । समा न व्याष्टरूप से सब पतीनो भाव विद्यमान हैं । इसी आधार पर प्रजापतिस्त्वेवेत् सप्त यन्ति किञ्च (शान ब्रा) यह निगम प्रतिष्ठत है ।

वह तत्त्व जो स्वयं आमानभवा रचने में समर्थ न हो पशु है । जिस तत्त्व पर आमप्रजापति भयरूप में नष्टि रचता हो वह पशु है । मन्वत्तर-प्रजापति का वह प्रवर्ग्यभाग जिस से प्रजापति अपने विस्तृतभाव की पूर्ति करता है वही पशु है । मन्वत्तरप्रजापति का विस्तृतभाग प्रवर्ग्य बन कर सबसे पहिले पार्थिव उषानि म आहुत होता है । उषा यानि है सब स आग्न का प्रवर्ग्यभाग रत है । अतस्त्वि में व्याप्त मातरिश्या वायु रताधा है । प्राणी की एक साम्प्रसारक पारक्रमा से पार्थिव उषा में सिकत सम्ब स राग्नि प्रथिमी की रस्तु बन जाता है । दूसरे शब्द म अपनी उत्तर सत्ता से आभभूत होता हुआ पृथिमी में मूर्च्छित होजाता है प्राथिमी वस्तु बन जाता है । अतएव का अग्निने तस युपान्त स यह प्रवर्ग्याग्नि एक स वन्तर के अन्तर कुमार नाम से व्यन्त होने लगता है । आग जाकर यह कुमारग्नि अष्टविध चियाग्नि के रूप में परिणत होता है । चित्रानि की आगे जाकर पञ्चपशुरूप में परिणत हुआ है जसाकि पूव में बतलाया नाचुमा है ।

प्रकृत म उक्त मिहावलाकन से यही बतलाना है कि प्रजापति के भोग्य केवल पञ्चपशु ही बनते हैं । यह लोक में प्रसिद्ध है कि जब किसी याक्त की किमी पर दृष्टि पन्ती है तो कहा जाता है—अमुक यक्ति की अमुक बात पर दृष्टि पड गई । भोगेच्छा में दृष्टिसूत्र को ही प्रधानता दी जाती है । इसी दृष्टिमात्र को लक्ष्य में रखकर पशु शब्द का य पर्ययत-तस्मान् पशु यह निवचन किया जाता है । आमा पशुपति है प्राण पाण है एव वागभाग पशु ह तीनो की समष्टि ही पशुपति है । प्रत्येक वस्तु के साथ तानो भाग निय सम्बद्ध हैं । चीटियों के दल को देखिए । वहा एक अतिस्थूल चीटी सब पर शासन करती हुइ हा चलती मिलेगी । गृहस्थसस्था में एक प्रजापति अवश्य होगा । बालक्रीडा में एक बालक सम्पूर्ण बालमण्डली का अवश्य ही अधि ठाता बन जायगा । अन्य पशुओं का मृगेन्द्र स्वाभाविक शासक मिलेगा । निदर्शनमात्र है । सवत्र प्रजापात की सत्ता मिलेगी । इसी आधार पर तो—प्रजापते न त्वदेता ययो निश्च जातान परितान्भू इ या मन्त्रश्रुति चरिताथोती ।

पशु भोग्य है पशुपति भोक्ता है यह पूव के निदर्शन से भलीभाँति सिद्ध होजाता है । भोक्ता—तत्त्व को विज्ञानभाषा म अन्नमात्त तस युपत्ति से अन्नान्न नाम से व्यवहृत किया जाता है एव भोग्य को अन्नत्त इस युपत्ति से अन्न कहा जाता है । अन्नान्न अग्नि है एव अन्न सोम है । ऐसी अवस्था में हम पशु को सोम एव पशुपति को आग्नि नाम से व्यवहृत कर सकत हैं । पशु अन्न है । इसे हमने वाक् कहा है । जिन रश्मियो स केन्द्रस्थ पशुपति पशु को अपना अन्न बनाता है हृदय से चारों ओर अशनाया—रूप से वितत होने वाला वह रश्मिभाग ही प्राण नाम से प्रसिद्ध है । एव जहा से प्राण उठता है वह मूलतत्त्व [आमा] उक्थ नाम से व्यवहृत हाता है । पूर्वोक्त आमा प्राण पशु ही क्रमश उक्थ—

अक-अशीति है। उक्थ अज्ञानाग्न है अक अग्निराशमया हैं एव अशीति पशु अन है। इसी अशीतिरूप पशु की आहुत से उक्थाग्नि स्वस्वरूप म प्र तात् त रहता है। उक्थ नाम अशाति के स व व पर नी प्रति-
ष्ठित है। ज्ञान यथाथ है। जबतक शारी आग्न म अन्नसोम का आहुत होती रहता है तभीतक वह आग्न अभियक्त रहता है। उक्थाग्नि का आग्नयान नाम प्रासद्धि अशीति पर ही निम है। अशीति ही महदुक्थ के विन्मन्त भाग को पूरा कर आप्यायित करती रहता है। इसी स ज-प्राकृत विज्ञान को लक्ष्य म रवकर श्रुति कहती है—

अशीतिभिर्हि महदुक्थमारयायते (शत १ ।१।२।१६)

आत्मा महदुक्थम (शत १ ।१।२।५।)

आमा उक् है। अन्न थम् है। थम् प्रतिष्ठाभाव का द्योतक है। उ प्राण का एव क कार वाक का द्योतक है। आमा स्वय मन प्रधान है। मन बिना प्राण वाक के अनुपपन्न है। वाक म उ-अ-क् इतने अन्तर हैं। उकार प्राण का वाचक है अकार मन का वाचक है एव ककार वाक का वाचक है। आमा म अकारकला का अन्तर्भाव है। शेष उकार (प्राण) ककार (वाक) वचते हैं। न दोना का अकारामक (मनामय) आमा के साथ नित्य सम्बन्ध है। अतएव आमा के लिए—स वा एष आत्मा—
गार्हपत्य प्राणमयो मनोमय यह लक्षण किया जाता है। इसी निपुटि भाव को लक्ष्य म रखकर ऋषि ने आत्मा को उक् शब्द स व्यवहृत किया है। इस अनादरूप उक् (आमा) की प्रतिष्ठा अन है। वही आमा ठहरता है। अतएव अन को—थम् शब्द स व्यवहृत किया गया है। उक्-थम् दानो की समष्टि ही उक्थम् है। अन्नान्नाद की समष्टि ही उक्थ है। अग्निसोम उक्थ है। आग्निय चन्मा उक्थ है। समुदाये ह्ये शात्ता अवयवेष्वपि वतते इस सिद्धान्त के अनुसार आमा भी उक्थ कहलाता है एव अन भी उक्थ कहलाता है।

पशुभाग आमा की वाक कला है। यह वाक अमृता-मर्त्या मे म दो भागो में विभक्त है। अमृतावाक इन्द्र नाम से प्रासद्ध है। यह इन्द्र (जो कि श्वा नाम से प्रसिद्ध है)—नेनान्ते पवते गाम किञ्चन के अनुसार सवत्र व्याप्त है। कोइ स्थान इस इन्द्रतत्त्व से शून्य नहीं है। जिसे आप शून्यस्थान समझते हैं वहा भी उक्त श्वा इन्द्र व्याप्त है। श्वा इन्द्र के अवस्थान स ही शून्य हितम् इस व्युपत्ति से वह स्थल शून्य कहलाता है। यही सृष्टि का आलम्बन है। यही अमृताकाश है। इसे ही परमेव्योमन् कहा जाता है। यही सक्ता अ यज्ञ है। मर्यावाक इन्द्रपत्नी है। यही मर्याकाश है। जिसके लिए तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत यह कहा जाता है। वह आकाश इन्द्रपत्नी म से प्रसिद्ध है। यही मर्या काश है। यही विश्व का उपादान है।

यही वाक्त्व उत्तरोत्तर होने वाली बलचितियों के कारण क्रमशः वायु तेज जल मृत् रूप में परिणत होता हुआ पञ्चभूतस्वरूप में परिणत होजाता है। दृश्य प्रपञ्च पञ्चभूत का समुच्चय है। पञ्चभूत का मूल उपादान वाक् (मर्यावाक) है। इसी विज्ञान के आधार पर—अथो वागोवेद सवम्—वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित है। विश्व की भाँति ही विश्वज्योति है। मान ज्ञान

ह। ता प्रकाश ह। आग्य त्वाने के साथ ही वश्वप्रपञ्च हमारे सम्मुख आजाता ह। यह एक प्रकार की प्रकाशिता ह। यदि वह मय पञ्चभूत न होत तो विश्वनाति का अभाव था। ऐसी अवस्था में हम वागरूप पशु को अवश्य ही विश्वजोत मान सकते। आपच पञ्च ही हमारे अन्न ह। बिना अन्न के सब अकार ह। तमीलण भी अन्नपशु को कया पशुअन्न को विश्वज्योति (सर्वज्योति-सबका प्रकाश) कह सकते ह।

पशुभोग की आहुति स। अनापान प्रदीत होता ह। अन्नममममम आहुति होना ही यज्ञ ह। पशु अन्नममम ताम्भ्यात्ता छान्यम् स यात्र के अनुमार यज्ञरूप-समपक होन से इस पशु को यज्ञ भी कहा जासकता ह।

प्रत्येक वस्तु जो हमने प्रपात का साथ ही मम आमा-प्राण-पशु-अन्न तीन कलाओं की सत्ता बतला है। आमतः प्रनापतिश्चरति गर्भेऽनरनाथमान इस श्रोत सिद्धांत के अनुसार वस्तु के कद्रम हृदयाकाशममम (आमा) म प्रतापन रहना है। प्राणतः (नोक रूप-रस-गंध-स्पर्श-तम असस्पृष्टतम) वस्तुमसत्रमान रहता है। पाञ्चभौतिक क्षरपरमाणुओं को एकसूत्र में बन्धनकर नियत काल पयतवतुपुदगल को ववरूपम प्रतिष्ठित रखने वाला शक्ति ही प्राण है। यही ताशानिक भाषाम कूटस्थ अक्षर नाम से प्रसिद्ध है। यी प्राणतः ब्राह्मणग्रन्थो मे विद्यताम से व्यग्रहृत हुआ है। जिसमें यह प्राण वस्तुस निकल जाता है उस दिन वस्तुगत परमाणु श्लथ होजाते हैं। फलत वस्तुस्वरूप हा उच्छिन्न होजाता है। तीमरा है वाकतव। यही क्षर सर्वाणि भूतानि के अनुसार विपरिणामा नेने मे क्षर नाम से प्रसिद्ध है। जिसे आपच मचक्षुओं स देखते हैं जो वस्तु का शरीर है वही वागभाग है। यही प्रवपरिभाषानुसा पशु है। इसी आधार पर वाकपिण्ड (प्रत्येक वस्तु के अन्तर्गत पाञ्चभौतिक तम) का पशु माना जाता है।

उपनहाने वाले पदार्थमात्र पशु है। इनम-माता पिता पुत्र तीन भाग सम्मिलित रहत हैं। माता का शोणित पिता का शुक्र एव तीसरा औपपातिक आमा तीनों के समवय से प्राणी पशु का स्वरूप निपन्न होता है। अपच प्रकारांतर स-गभ उल्व नरायु भेद स भी प्राणी पशु तीन भावो से निय आक्रांत है। तसी ग्राधा पर पशु को त्रिष्टुत् माना जाता है। पूव में पशु के सम्बन्ध में जो कुछ विशेषताए बतलाइ गई ह वानमन लम्बित श्रोत वचना स स्पष्ट होजाती हैं-

- १- एष (अग्नि) उऽएवोक् तस्मोतदन्न थम तदुक्थम् । (शत १।४।१।४)
- २- 'आदत्यो वा उक् । तस्य चन्द्रमा (सोम) एव थम् । (शत १।६।२।६)
- ३ पशुर्वै प्रत्यक्ष सोम (शत ५।१।२।७)
- ४- मोम एषै प्रयत्न यत् पशु' (कौ ब्रा १।)
- ५- पशवो वा उक्थानि पशवो विश्व ज्योति । (ता ब्र १६।१।२)
- ६- पशवो वै यज्ञ' (शत ३।१।४।६)

७— वपुहि पशव ऐ ब्र १।६)

८— त्रिवृद्धै पशव—पिता माता पुत्र । अथो गर्भ उल्व जरायु

(शत ८६।५)

पू-प्रकरण से यह निर्विवाद सिद्ध होजाता है कि बिना पशु के यज्ञ क पि सम्पन्न नहीं होमकता । यज्ञाय पशुहिंसा अनिवाप्य है * । पशु की उपत्ति एकमात्र यज्ञ के लिये ही हुड है । यज्ञ आत्माका स्वरूप ह । इसके लिए यदि पशु का आल भन किया जाता है तो पशु स्वादिष्ट (आमोपयोगा) है । र्या मन-स्तुष्ट के लिए पशुका मारण किया जाता ह तो यह मदिष्ट ह । द्रिय-लोलुपता से मास खाना मन वा प्रमन्न करना ह । यही मदिष्ट भाव है । यह प्रयवाय का कारण ह आमपतन का हतु ह । आसुरी बुद्धि चाल नरराक्षस ही इस वृत्ति को प्रधान मानते हैं । परन्तु जो दैवीसत्-युक्त द्वापत् भाक वशानिक मनु-य है व केवल यज्ञसिद्धि के लिए ही पशु का आलम्भन करत ह । उनके लिए पशु त्रित्युत्पत्ति का साधन नहीं अपितु आ माभ्युदय का कारण ह । इह्नीं दोनों उत्तमाधम वृत्तियों का उल्लेख करते हुए मर्त्या तागड्य कहते हैं—

*—पशुवपानुगत मध क सम्बन्ध म आजकल के कपना क्त विज्ञान पानुरञ्जनरूपा भावुकतामात्र के सरक्षण-व्यामोहन से व्यामृग्ध बनते हुए पश्वालम्भन तथा पशुमेघ आदि शब्दों के कापानक-अर्थों का म जन करत हुए अपनी दिग्दशाकानानुबन्धिनी लोक्षणों को मफल करते हने के लिए आकुल याकुल बन गए हैं जसाकि उनके समाचारपत्रानुबन्धी व्यामोहक-सामयिक-लेखा मे पष्ट है । प्रस्तुत पश्वालम्भनमीमासा मे उन का पानिक-अथामवाया का उद्बोधन होगा ऐनी आशा की जासकती है । निरूपित इस श्रोतसन्दभ के साथ साथ ही नान्नलिखित स्मात्त सद्भ की ओर भी हम नन कपनाभक्तों का यान आकर्षित करगे जिस सन्दभ क ारा विस्पष्ट शब्दों में पश्वालम्भन समथित है—

१—नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यत् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।

धात्रैव मृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥

२—यज्ञाय जग्धिर्मासस्येत्येष दैवो विधि स्मृत ।

अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥

३—क्रीवा स्वय वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।

देवान् पितृश्चाचयित्वा खाद् मास न दुष्यति ॥

४—नाद्यादविधिना मास विधिज्ञोऽनापदि द्विज ।

जग्ध्वा ह्यविधिना माम प्रत्य तैरद्यतेऽवश ॥

५ न तादृश भवत्यनो मृगह तुर्धनार्थिन ।

यादृश भवति प्रत्य वृथा मासानि खादत ॥

स्नादिष्टा नै देवेषु पशव आसन्, मदिष्टा असुरेषु ।

—ता महात्रा १४।

सभी यज्ञा म पशु अपेक्षित हो यह बात नहीं है। सोमत्व सब यज्ञों में अपेक्षित है परन्तु अवस्था-
नर से। कही हवि साम प यान्त है कही वानसोम पय्यात है कभी ग्रहसोम (रलीसोम) अपेक्षित
ता कही पशुवपागत सोम ही काम म लाया जाता है। प्रजात के निययज्ञ भिन्न भिन्न सोमो से नि पन्न
हाते हैं। उद्धी के आधार प वव यज्ञों का आविष्कार हुआ है। अतः उन प्राकृतिक यज्ञों में आहुतिद्रव्य की
जो यज्ञ या ऋषियान उपलब्ध की है उसी का वध्ययज्ञों में विधान किया है। किसी यज्ञ में हवि का विधान
दत्तकर सबत्र हवि का विधान मान लेना एवं पशुविधान दत्तकर सबत्र पशुवपा की कल्पना करना नितान्त
असङ्गत है। ऋषियों सूत्रग्रथों म तत्तत् यज्ञों की जो तत्तत् पद्धतया बतलाइ है वही हमारे लिए माय
है। तदनुगमन म ही हमारा अयुद्ध है। अपनी मनोवृत्ति के अनुसार कल्पित पद्धति का बना डालना शब्दों
के मनमाने अर्थ क ब्रूना अपने कल्पित सिद्धांत सारुद्ध शास्त्रीय वचनों को प्रक्षिप्त मानलेना विक्षिप्तता
के अतिरिक्त और क्या माना जासकता है ?

प्रकरण क आरंभ म हम बतला चुके हैं कि यज्ञ में पशु अपेक्षित नहीं है—अपितु प्रधानरूप से
(प्रधान देवता के लिए) वपा अपाक्षत है। क्योंकि वपा में ही वह प्राणदेवता प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञ
के द्वारा हम अपने मानुषात्मा का आधुनिक प्राणदेवता के साथ (पार्थिव धन-सम्बन्ध के द्वारा) सलग्न
कर देते हैं। हमारा मानुषात्मा पार्थिव प्राणप्रधान है। उधर दिव्य देवप्राण सौरप्राण-प्रधान है। इस विजा-
तायभाव के कारण दिव्यप्राण का मानुषात्मागत पार्थिव प्राण के साथ योग नहीं होसकता। इस विप्रातपत्ति को
दूर करने क लिए ही पशुवपा को मयस्थ बनाना पडता है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों अन तकाल की
परीक्षा के अनंतर यह निश्चय किया कि तत्तत् प्राणदेवता तत्तत् पशुवपा में प्रतिष्ठित हैं। अतः तत्तद्यज्ञ-
विषयों में उन्होंने तत्तत् पशुवपा का विधान किया। दिव्यप्राण सौरप्राण है। यह असुरों का विरोधी है। अतः
वपा अनकालने के वही उपाय ऋषियों निर्यात किए जिनसे कि असुरप्राण का वपाप्राण पर आक्रमण न
हो। लो धातु आसुर धातु है। अतएव शस्त्र से आलम्बन न कर मुष्ठी के आघात से ही आलम्बन का
विधान किया गया। आलम्बन करत समय जो पशु का शब्द निकलता है वह दन्वमय होता हुआ आसुर
है। अतः उसका भी बलात् निरोध किया गया।

६-नियुक्तस्तु यथान्याय यो मास नात्ति मानव ।

स प्रत्य पशुता याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥

७-असकृतान् पशून् मन्त्रैर्नाद्याद्विप्र कदाचन ।

मन्त्रैस्तु सस्कृतानद्याच्छाश्वत विधिमास्थित ॥

८-ब्रह्माथ पशव सष्टा स्वयमेव स्वयम्भुवा ।

यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञ वधोऽवध ॥

—मनु ५।३ से ३६ पर्यन्त

हृण्मेदस्तु वपा वसा के अनुसार हृदयस्थान में एक श्वेत भिन्ना के आकार का सवशरीर प्रति-
ष्टारूप जो सोममय स्निग्ध धातु है वी वपा नाम से प्रसिद्ध है। यही मेघ कहलाता है। इसीके द्वारा
य वर्त्ता यनमान स्व-आ मप्राण को पितृ देवता के साथ मिलाने में समर्थ होता है। अतएव मेघु सङ्ग-
गमन के अनुसार इस मय कहा जाता है। मय एक प्रकार की चर्बी (घृत) है। यही तत्तनपशु
का प्रथम अयतन है। त्सी अभिप्राय स श्रुति कहती है—

१ भदो नै मेघ (श ३८।४।६)

२-‘पशुो मेघ (ए ब्रा० २।६)

३-मेघो वा आ यम् (त ब्रा ३।६।१२।१)

सर्व पशुमेघ ही अपेक्षित हो यह बात नही है। मेघ-ग्रहण-यव था यज्ञस्वरूप पर ही निर्भर है।
जसा यज्ञ होगा तदनु रूप ही मय अपेक्षित होगा। उदाहरणार्थ चयनयज्ञ यावाप्राथम्य यज्ञ है। अत यहाँ
य वाप्राथम्य पूर्वप्रतिपादित पांचा पशु अपेक्षित रहते हैं। सोमयज्ञ सम्बन्धित है। उस की प्रातिकृति अत्रपशु
है। अत वहा इसी की प्रमानता रहती है। प्रकृत शष्पगमामयज्ञ का केवल अपिण्ड के साथ सम्बन्ध है।
अत यहा पार्थिव मेघरूप ब्रीहियज्ञ से ही काम चल जाता है। भूपिण्ड सब यज्ञों की प्रतिष्ठा है।
इसपर उत्पन्न होने वाले ब्राह्मियज्ञ में आग्निकिरूप से उक्त पांचा पशुआ का मधभाग विद्यमान है।
पुरुषपशु का मध भाग अश्व का उपानान बनता है अश्व का मध भाग गौ मे आता है। गौ का
मेघ भाग आन्तरिक्ष अत्रिपशु में मन्त्रात होता है अत्रि का मेघभाग पार्थिव अज पशु में
आता है। अत्र में पाँचों रस हैं। अतएव अत्र को सप्तपशु माना जाता है। और प्राणात्मक इसी
अजपशु के मेघ भाग से ब्रीहियज्ञ की पण्डि हाती है।

यज्ञविज्ञान के प्रारम्भिक समय में त्वतापदभाक् महर्षि यज्ञ के सम्बन्ध में अध्यवसायपूर्वक अपना
तत्त्वावधारणामक परीक्षणकर्म (शुष्केष्टियों के द्वारा) सतत प्रक्रान्त रखते थे। जब व दशपूषमास यज्ञ करने
लगे तो मेघसम्पत्ति की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई। तदर्थ सवप्रथम उन्होंने (परीक्षा के लिए) पुरुष
पशु का आलम्बन किया। परन्तु उन्होंने आगे जाकर यह निश्चय किया कि पुरुष का मेघ तो गौ में सम्क्रान्त
रहता है। अत यदि सीसे काम चल जाय तो पशुश्रेष्ठ पुरुष का (दशपूषमास की स्वरूप सिद्धि के लिए)
क्यों आलम्बन किया जाय। यह सोचकर उन्होंने गौ का आलम्बन किया। गौत्व में भी वह पार्थिव अश्व
न मिला जो पार्थिवप्रधान दशपूषमास में अपेक्षित था। अतिका आलम्बन किया गया। वहाँ भी वे कृत-
कार्य न होसके। अज का आलम्बन किया गया। वहा भी पूषतया अभाष्ट फलसिद्धि न हुई। अन्ततोगवा व
इस निश्चय पर पहुँच कि-ब्रीहियव में वही मेघभाग विद्यमान है। एव इत्स दशपूषमास यथावत् सम्पन्न
होसकता है। इस चरम परीक्षा के अनन्तर दशपूषमास में पुरोडाशरूप इसी पशु का विधान कर
दिया गया।

प्रकारान्त से विचार कीजिये। पुरुष को प्राणावयोग होने के अनन्तर यदि शीघ्र ही नही जला दिया
जाता है तो वह सडने लगता है। थोड़ी देर में ही तप्त वायु दुग्ध-युक्त होजाता है। कारण इसका यही

है कि पुरुष का मेघ अत्यन्त शीघ्र उत्क्रान्त होजाता है। एव मेघ ही शरीर में ऐसा तब है जो तद्गत दौषयुक्त वारुण भाव को नष्ट कर शरीर को पवित्र बनाए रखता है। पुरुष की अपेक्षा अश्व का मेघ (प्राण-वियाग होने पर भी) कुछ देर में उत्क्रान्त होता है अतः यह पुरुषशव की अपेक्षा देर में सबटा है। अश्व की अपेक्षा गो और भी अधिक विलम्बसे सन्ती है। गो की अपेक्षा अवि एव सर्वापेक्षया अज का मेघ अधिक काल में उत्क्रान्त होता है। यही कारण है कि अन्तर पशुओं का मास शीघ्र ही दुग्ध देने लगता है दूषित होजाता है। जबकि अजमास बहुत समय पर्यन्त दूषित नहीं होता। अतएव अजमास को खाद्य पशु मान लिया गया है। प्रचार भी अधिक अजमास का ही सुना जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

एष एतेषा पशूना प्रयुक्ततमो यदज (श-ब्रा २।८)

अज की अपेक्षा भी ब्रीहि यव का मेघ चिरस्थायी है यह पक्ष ही है। दशपूर्णा मास प्रकृतियज्ञ है। मौलिक यज्ञ है। प्रतिष्ठायज्ञ है। अतः यहाँ वही मेघ उपयुक्त होसकता है जो कि चिरस्थायी हो प्रतिष्ठाभाव से युक्त है। इसी विधान को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंने इस यज्ञ में पुरोडाशपशु को ही प्रधान माना है।

पाचों पशुओं का जब प्राण उत्क्रान्त होजाता है यदि पाचों को नहीं जलाया जाता है तो उत्क्रान्त मेघा ये पाचों पशु मिट्टी में मिल जाते हैं। उस मिट्टी से जो प्रवर्ष्य पशु उपन होते हैं उद्ध अमेय पशु माना जाता है। उनमें मेघभाग यत्किञ्चित् भी नहीं रहता। मेघभाग बुद्धिवर्धक है। अमेध्य मासभाग बल-वधक बनता हुआ आसुर है। दिव्यबुद्धि को नष्ट करता है। दिव्यविज्ञानशक्ति का विवेकभाव का समूल विनाशक है। ऐसे अमेध्य पशु पाच हैं। पुरुष से किपुरुष उपन्न हुआ है। अश्व से गौरपशु उपन हुआ है। गौ से गवयपशु उत्पन्न हुआ है। अविपशु से उरूपशु उपन्न हुआ है। एव अज से शरभपशु उपन्न हुआ है। उत्क्रान्तमेघा पञ्च पशुओं के आलम्ब भाग से ही इन अमेध्य पञ्च पशुओं का विकास हुआ है। ये पाचों उपपशु नाम से भी प्रसिद्ध हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ये पाचों उपपशु उपक्रान्तमेघा हैं। इनमें आसुरभाव-वद्धक शुद्ध आमिष भाग ही है। अतः इनका मास नहीं खाना चाहिए। ऐसा मास अवध है। वैधमास पर आक्षेप करने वालों को मुकुलितनयन बनकर ही तस्मादेतेषा पशूना नाशितव्यम्। अपक्रान्तमेघा हैते पशव इति निषेधवाक्य के मम्मस्थल का अवधारण तथा समन्वय प्रयास करना चाहिए।

पञ्चालम्भनमीमासा-प्रकरण के आरम्भ में ही हमने कहा था कि बिना पशु के कोई भी यज्ञ सम्पन्न नहीं होसकता। इस यज्ञ में पशु के स्थान में पुरोडाश किया जाता है। पाङ्क्त पशु के समन्वय से तो पाङ्क्त यज्ञ का स्वरूप निपन्न होजाता है। यज्ञसम्पत् सर्वा मना गताथ होजाती है। परन्तु पुरोडाश में वह यज्ञसम्पत् कैसे प्राप्त होगी? इसी प्रश्न का निराकरण करते हुए निदान के आधार पर पुरोडाश में पाङ्क्त-पशुसम्पत्ति का समन्वय अभिव्यक्त करते हुए—यदा पिष्टान्यथ लोमानि इत्यादि कहा गया है जो कि अनुवाद से ही गताथ है ॥ ६७८६ ॥

ब्रह्मोपायन के सम्बन्ध में तीन विकल्प हैं। इनमें इस पुरोडाशसम्पादन के अनन्तर मयम-स्थानीय ब्रह्मोपायन की शक्तिक्षयता सम्पादन करने का विधान है।

इति पुरोडाशसम्पादनम्
इति हविर्ब्राह्मणाध्यायः प्रथमः ।
इति-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मण
उपरतम्

—*—

श्री

अथ-वेदिब्राह्मणाध्याय

अथ-प्रथमकाण्ड द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणम्

—*—

१२-वेदिकाकरणम्—वदिस्वरूपसम्पादनम्
तत्रादौ-स्तम्बयजुर्हरणम्, भू-विशोधनञ्च

—*—

(मूल) इन्द्रो ह वृत्राय वज्रं प्रजहार । स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत् । तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा, यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वा । अथ यत्र प्राहरत्तच्छकलो-ऽशीर्यत । स पतित्वा शरोऽभवत् । तस्माच्छरो नाम यदशीर्यत । एवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत् ॥१॥

ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति । द्वाभ्यां राजन्यवधव सयाधे । यूपे च स्फ्ये च ब्राह्मणा रथे च शरेण च राजन्यवधव ॥२॥

स यत् स्फ्यमादत्त-यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्, एवमेवैष एत पाप्मनं द्विषते भ्रातॄणां वज्रमुदयच्छति । तस्माद्द्वौ स्फ्यमादत्ते ॥३॥

तमादत्ते-देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे-
ऽध्वरकृत देवेभ्य- [१ अ २४ म] इति । सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवि-
त्प्रसूत एवेनमेतदादत्त-अश्विनोर्बाहुभ्यामिति । अश्विनावध्वर्यु, तत्तयोरेव बाहुभ्या-
मादत्ते न स्वाभ्याम् । पूष्णो हस्ताभ्यामिति । पूषा भागदुधं तत्तस्यैव हस्ताभ्यामा-
दत्तं न स्वाभ्याम् । वज्रो वा एष । तस्य न मनुष्यो भर्ता । तमेताभिर्देवताभि-
रादत्त ॥ ४ ॥

आददेऽध्वरकृत देवेभ्य इति । अध्वरो वै यज्ञं यज्ञकृत देवेभ्य इत्येवेतदाह । त
मय पाणा कृत्वा दक्षिणनाभिमृश्य जपात् । मशयत्ययै नमेतद्-य जपति ॥५॥

स जपति - द्रस्य बाहुरसि दक्षिणे - [१ अ २४ म०] इति । एष वै वीर्य
उत्तमो य इन्द्रस्य बाहुदक्षिणे । तस्मादाह - इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणे इति । सहस्रभृष्टि
शन्तेजा [१ अ २४ म] इति । महस्रभृष्टिो स उज्ज आमी छततेजा । य
त वृत्राय प्राहरत्, तमेवतत् करोति ॥६॥

‘वायुरसि तिग्मतेजा’ (१ अ २४ म) इति । एतद्वै तोजष्ठ तेज
यदथ योऽऽ पवते । एष हीमाल्लोकास्तिर्गडनुपपते । मशयत्ययै नमेतद्-द्विषता वध
(१ अ २२ म) इति । याद नाभिचरेद् । यद्यु अभिचरेत् अमुष्य उध इति ब्रूयात् ।
तेन सशितन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्, नदनेन वज्रेण सशितेनात्मानं वा
पृथिवी वा हिनसानीति । तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम् ॥७॥

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ते ह स्म यद्देवा असुरान्
जयन्ति-ततो ह स्मैवै नान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति ॥८॥

ते ह देवा ऊचुः-जयामो वा असुरास्ततस्त्वेव न पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं वेनान-
नपज्या जयेमति ॥९॥

स हाशिरुवाच-उदञ्चो न न पलाय्य मुच्यन्त इति । उदञ्चो ह स्मैवैषा पलाय्य
मुच्यन्ते ॥१०॥

स हाशिरुवाच अहमुत्तरत पश्यामि, अथ यूयमित उपसरोत्स्यथ । तान् मरु-
ध्वाभिश्च लोकैरभिनिधास्याम-यदुचेमाल्लोकानति चतुर्थम् । तत पुनर्न सहास्यन्त
इति ॥ ११ ॥

सोऽशिरुवाच पर्येत् । अथ मे इत उपसमरुधन् । तान् सरुध्यैभिश्च लोकैरभि-
-यदधु-यदु चेमाल्लोकानति चतुर्थम् । तत पुनर्न समजिहत । तदेतन्निदानेन यत्
स्तम्बयजु ॥१२॥

स-योऽसावग्नीद् उवाच पर्येति । अग्निरेष निदानेन । तानध्वयुरैवेत उपस-
रुध्वादि । तान् सरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिधाति-यदु चेमाल्लोकानति चतुर्थम् । तत पुनर्न

मञ्जिहते । तस्मादप्येतद्द्विसुरा न मञ्जिहते । यन ह्येवैनान् ढवा^३ अगवाध त तेनवैनान-
प्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽववाधन्ते ॥१३॥

य उ एव यजमानायारातीयति यश्चैन द्वाष्ट तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिद-
धाति यदु चेमाल्लोकानति चतुथम । स वा एभिश्च लोकैरभिदधद्- यदु चेमाल्लोका
नति चतुर्थम अस्या एव मव हरति । अस्या हीमे सर्वे लोका प्रतिष्ठिता ।
कि हि हरेद्-यद्य नरिक्त्वा हरामि दिव हरामीति हरेत्, तस्मादस्या एव सप्त
हरति ॥ १४ ॥

अथ तृणमन्तद्वाय प्रहरति-नदनेन वज्र ण सशिनेन पृथिवा हिनसानीति । तस्मा
त्तृणमन्तद्वाय प्रहरति ॥१५॥

म प्रहरति- पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मल मा हि × सिषम्”-(१ अ -
२५ म) इति । उत्तरमूलाभिव वा एनामेतत्करोत्याददान । तामेतदाह-ओषधीना
ते मूलानि मा हिंसिषमिति । ‘व्रज गच्छ गोष्ठानम्’--(१ अ० २५ म) इति ।
अभिनिधास्यन्नवैतदनपक्रमि कुरुते । तद्वयनपक्रमि यद् व्रजेऽन्त । तस्मादाह व्रज गच्छ
गोष्ठानमिति । वषतु ते द्यौ’--(१ अ २५ म) इति । यत्र वा अस्यै खन त
क्रूरीकुवन्ति-अपघ्नन्ति । शान्तिराप तदद्भि शान्त्या शमयति तदद्भि सन्दधाति ।
तस्मादाह-वषतु ते द्यौरिति । वधान देव सवित परमस्या पृथिव्याम्’-(१ अ -
२५ म०) इति । देवमेवैतत्सवितारमाह । अथे तमसि वधानेति-यदाह-परमस्या
पृथिव्यामिति । शतेन पाशै -(१ अ २५ म) इति । अमुचे तदाह ‘योऽस्मान्
द्वेष्टि यश्च वय द्विष्मस्तमतो मा मौक् -(१ अ २५ म) इति । यदि नाभि-
चरेद् । यद् अमिचरेद् अमुमतो मा मौगिति ब्र यात् ॥१६॥

अथ द्वितीय प्रहरति “अपाररु पृथिव्यै देवयजनाद् वध्यासम् -(१ अ -
२६ म) इति । अररुर्ह वै नामासुररक्षसमास । त देवा अस्या अपाघ्नत । तथो
एनैतदेवोऽस्या अपहते । ‘व्रज गच्छ गोष्ठान वषतु ते द्यौरिधान देव सवित
परमस्या पृथिव्या शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यश्च वय द्विष्मस्तमतो मा मौक्
-(१ अ० २६ म०) इति ॥१७॥

तमशीदभिनिदधाति ‘अररो ! दिव मा पप्त इति । यत्र वै देवा अररुमसुररक्ष
समपाघ्नत, स दिवमपिपतिषत् । तमग्निरभिपदधात् अररो ! दिव मा पप्त इति । स

न दिवमपतत् । तथा ए । नमत्तद्ध्यु रगास्माल्लोकादन्तरेति । दिवोऽध्ययान्-तस्मादेव करोति ॥१८॥

अथ तृतीय प्रहरति द्रुष्मस्ते द्या मा स्फुन्निति । अथ वा अस्य द्रुष्म-यमस्या इम रस प्रजा उपजीवति । एष ते दिव मा पतदित्यतदाह ब्रज गच्छ गाष्ठान वर्षतु ते नावधान देव सवित परमस्या पृथिव्या च शतेन पाशैयाऽस्मान् दृष्टि यच्च वय द्विष्मस्तमता मा माक्'-[१ अ २५ म] इति ॥१९॥

स च त्रियर्जुषा हरति । त्रयो वा इम लोका । एभिरानमेतल्लोकैरभिनि दधाति । अद्वा च तत् यदिमे लोका अद्दो तत् यद्यजु, तमात् त्रियर्जुषा हरति ॥ ॥

तूष्णीं चतुर्थम् । स यदिमाल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा, तेनातद् द्विष त भ्रातृयमग्वाधते । अनद्वा च तद्-यदिमाल्लोकानात् चतुर्थमस्ति वा न वा, अनद्दो तद् यत् तूष्णीम् तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम् ॥ १ ॥

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् द्वितीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्

— * —

(अनुमान) जिस समय तब वृत्रासुर के पथ के लिये (अपने हाथ से) वज्र छोड़ा (उस समय) वह फटा हुआ वज्र (वृत्रासुर के शरीर से टकरा कर) चार भागों से विभक्त होगया । उसका एक तृतीयांश अथवा अनुमानत इतना ही भाग तो स्फुट बन गया । तृतीयांश अथवा अनुमानत इतना ही भाग रथ बन गया । एवं जो भाग (खण्ड) सबथा छिन्न भिन्न होगया था वह उस वज्र के शरीर से टकरा कर भूमि पर गिरकर 'शर' बन गया । यह शीघ्र होकर गिरा अतएव वज्रका यह भाग शर नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । इस तथाकथिक प्रकार से (इन्द्र के द्वारा प्रक्षिप्त वज्र) चतुर्धा विभक्त होगया ॥१॥

तभी से (तथाकथित चार वज्र खण्डों में से) दो खण्डों से तो ऋत्विग् ब्राह्मण यज्ञ में प्रचार करते हैं । (काम लेते हैं) । शेष दो खण्डों से योद्धा राजन्य क्षत्रिय युद्ध में काम लेते हैं । यूप, और स्फुट, से ब्राह्मण काम लेते हैं एवं रथ, और शर से राज-यवधु काम लेते हैं ॥ ॥

सो चाकि यन्मान (ऋत्विणाक्रीत यजमान का प्रतिनिधि अ ऋयु यज्ञ मे) स्फ्य ग्रहण करता है—(इसकी उपपत्ति यही है कि) आरम्भ मे जैसे इ ऋने वृत्रासुर क लिये वजू उठाया था ठाक उसो प्रकार यह यन्मान पाप्मारूप द्रुष करने गाने शत्रुओं क लिये वजू ही उठाता है । एसी (प्रयोजन के) लिय 'स्फ्य' का ग्रहण करते ह ॥३॥

इस इष्टि मे स्फ्य-ग्रहण क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की उपपत्ति बाला दी गई । अब पद्धति बतलाते ह—

वह अध्वर्यु — द्रुष्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्वाहुभ्या पूषणो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृत दवेभ्य

यह मन्त्र बोलता हुआ स्फ्य उठाता है । सविता देवता देवताओं क प्रेरयिता है । सो (उक्त मन्त्र से ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु) सविता देवता से प्रेरित होकर ही स्फ्य का ग्रहण करता है । अश्विनी ही (प्राकृतिक नित्य यज्ञ क) अध्वर्यु है । एसी अवस्था मे— अश्विनोर्वाहुभ्याम यह कहना हुआ अध्वर्यु अश्विनीकुमारा क हाथ से ही स्फ्य उठाता है अपने बाहू से नहा । पूषा (देवताओं मे) भागधुक है । उहीं क हाथ से अध्वर्यु स्फ्य उठाता है— अपने हाथा से नहीं । यह स्फ्य वज्र है । मनुष्य इसको कभी नहीं उठा सकता । अतएव यह अध्वर्यु — (देवस्य त्वा सवित) इत्यादि रूप से देवताओं क द्वारा ही उठाता है ॥४॥

अध्वर यज्ञ को ही कहते हैं । (एसी अवस्था मे— आददेऽध्वरकृत०—इत्यादि से) भावाथ यही है कि देवताओं क द्वारा अध्वरकर्म क सम्पानन करने वाले ऐसे स्फ्य का ग्रहण करते हैं । उस स्फ्य को वाम हाथ मे लेकर दाहिने हाथ से उसका स्पर्श करते हुए मन्त्र का उपाशु उच्चारण करता है । सो जोकि यह जपाक्रिया होती है उससे अ ऋयु इस स्फ्यशस्त्र को तीक्ष्ण ही करता है ॥५॥

उप करने का ब्राह्मण (विज्ञान-उपपत्ति) बतला दिया गया अब पद्धति बतलाते ह । ३ अध्वर्यु — स्पर्श करते हुए इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण ससस्रभृष्टि शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतोवध । यह मन्त्र बोलता है । (वीर्ययुक्त पदार्थों मे) वही वीर्ययुक्त है जाकि इन्द्र का बाहु है । इसी अभिप्राय से इन्द्रस्य बाहुरसि इत्यादि कहा है । वह (प्रक्षिप्त) वज्र सहस्रकोणों से युक्त था अपरिमित दीप्तियुक्त था जिस (ऐसे गुणवाले) इस वज्र को वृत्रवध क लिये इन्द्रन फेंका था । (जैसा वह था) उस को उसी भाव से युक्त करते हैं ॥ ६ ॥

अतारक्त मे जो यह प्रवाहित है यही तेजिष्ठ तेज है । यही तीनों लोकों में तिग्यक् रूपसे सवत्र याप्त होरहा है । इस कथन से अश्वय्यु वज्र को तीक्ष्ण ही करता है । यदि किसी पर अभिचार (मारण) प्रयोग न करना हो तब तो द्विषतो वध यही बोलना चाहिए । यदि अभिचार करना हो तो अमुकस्य वध इत्यादि रूप से नामोल्लेख पवक-मन्त्र बोलना चाहिए । (मन्त्रशक्ति से अतिताक्ष्ण होने वाले) इस सशित स्फ्य से न तो अपन शरीर के किसी भाग का स्फश ही करना चाहिए एन न इसे प्रथिमी पर ही रखना चाहिए । इस सशित स्फ्यशस्त्र से हम अपने आपको एन प्रथिमी को नष्ट न करल स्फश न करने का यही प्रयोजन है ॥ ७ ॥

इस पूर्वोक्त विषय का संग्रह करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘देवस्यत्वेति’ स्फ्यमादाय सतण सव्य कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपति ‘२-द्रस्य बाहुरिति
(२।६।६।)

एक समय (प्रजापति की सन्तान अतण्व) प्राजापय देवता ओर असुर दोना (पर-स्पर) स्पर्धा करने लगे । जब (जब) देवता असुरों को जीतते तब (तत्र) हा असुर पुन (पुन) उठ खड होते ॥ ८ ॥

(देवताओं को इससे बड़ी चिन्ता हुई) व साचने लग कि अपन असुरों पर विजय तो प्राप्त करते हैं परन्तु (आश्चर्य है कि) य पुन प्रतिद्विदिता म आखड होते हैं । गेस्य कौनसा उपाय है निससे अपन इम असुरा को एसा जीत निससे य पुन सम्मुख खड न हों ॥६॥

(देवताओं में अनि भी विद्यमान थे । तथापि विपमा समस्या के निरा-करण का उपाय बतलाते हुए) सुप्रसिद्ध अग्निदेवता बोले कि य असुर उत्तरदिशा की ओर भाग कर हमसे प्रथक् (अतएव परोक्ष अतएव च सुरक्षित) होनाते हैं (अर्थात्—यदि इनको उत्तर की ओर खदेड दिया जायगा तो सदा क लिये इनसे पीछा छूट जायगा । इसी भाव का स्पष्टीकरण करती हुई आगे जाकर अनि कहती है कि) सचमुच अग्नि का कहना सत्य हुआ । उत्तर दिशा की ओर भाग कर ही असुर लोग इन देवताओं से सन् के लिय मुक्त होनाते हैं ॥ ९ ॥

(एक उपाय बतला क) वे अग्निदेवता बोले कि (देखो) मैं तो उत्तरभाग से (इन असुरों को) आवृत करता हू (घेरता हू) (रास्ता रोकता हूँ) ओर आप सब इस (प्रथिमी लक्षणा वेदि) स्थान से इन सब को (नन क आक्रमण को) अवरुद्ध करदो । इसप्रकार

एतन् समको चारुं आर से घेरकर अपन इनको तीनों लोका से ही गतिहीन बना दे गे । अर्थात् सब आर व द्वार (नाक) आरुद्रक (रोक कर) इनको सदा क लिय परास्त कर दगे । (यही नहीं) आपनु एन तीना लोका स अतिक्रान्त नो चाथा (आपो) लोक है (इस प भी) बाहिर इनकाल फक्कग । एमा करन पर पुन य कभी अपना साम्पुरय न कर सक गे ॥११॥

(अग्नि की इस मन्त्रणा का सभी देवताओं आन अनुमोदन किया और तदनुसार ही) अग्निन उत्तरभाग का घर लिया । इधर देवताओंन इस वेन्स्थान स उनको घेरते हुए तीनों लाका स असुरा का घर लिया एन तीना लोका से अतिक्रान्त चाथे लाक स भी इनको बाहिर इनकाल निया । इसमा फल यह हुआ कि पुन कभी असुरोंन वजय की इच्छा न की । यहाँ आकर व सदा क लिय सदा परास्त होगण ।

स द्वासुर-आख्यान मा इस वधयज्ञ के साथ 'उपनय' करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यहा जो स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) का प्रहण किया जाता है वह निदान न द्वारा असुर-निरसन'-उपाय हा है । अर्थात् -से देवताओंन असुरों क सब मार्गों का रोक कर जिस शस्त्र से असुरा का सदा क लिय परास्त कर दिया था तथैव शस्त्रस्थानीय स्तम्बयजु से यह यज मान अपने दिव्ययज्ञ स सदा क लिय असुरा को बाहिर निकाल देता है ॥१॥

सो जोकि (इस वधयज्ञ म-मसुष्ययज्ञ म) आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् वेदि क उत्तरभाग म घूम कर आता है यह निदान से अग्नि ही है । अर्थात् आग्नीध्र का उत्तर की ओर जाना अग्नि का हा उत्तरभाग से असुरों का निराव करन है । एव अन्य देवताओं का प्रतिनिधि आब्रव्यु इस वेन्स्थान से असुरों का माग राकता है । इसप्रकार चारा ओर से घेर कर इन लाकों से एव तीनों लाका से अतिक्रान्त चाथे लोक से इनको घर लेता है । इसक अनन्तर असुरों का पुन आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता । यही कारण है कि आज भी (यज्ञ करते समय) असुरों को पुन आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता । यही कारण है कि आज भी (यज करते समय) असुर पुन आक्रमण का विचार नहीं करते । जिस (पूर्वोक्त उपाय से) देवताओंन इनका वनाश किया था उसी (स्तम्बयजु'हरणरूप) उपाय से आज भी ब्राह्मण स्वयज्ञ मे इह अवरोद्ध कर देते है ॥१३॥

(न कवल असुरा का ही निरसन होता है अपितु) जो भी (इस यज्ञकर्ता) यजमान क लिय अरातिभाव उत्पन्न करता है अर्थात् आगत-सम्पत्ति का प्रतिरोध करता है एव जो इसक साथ अकारण द्वेष करता है उन्हें भी तीनों लोकों स एन तीनों से अतिक्रान्त चाथे लोक

स ग्राह्य निराल दत्ता है। (अग्नाश्ना का भात अ अग्नु अतारक्षान्ति लाका म जाने म अस मय है। फिर असन प्रथिनी क अतारिक्त-अतरिक्ष द्या एय चाथ अपालाक स कस असुरा का दूर अस्था) इम प्रश्न का समाधान करने हुए यानत्रय्य कहते हैं कि) इम प्रथिनी से ही अ य यु असुरा का निराल दत्ता है। असा क अत्रलम्भ स अ य पु मय लाकों से (निम्न क द्वारा) असुरा का निराल दत्ता है। असी लाक म सय लाक प्रतिष्ठित ह। यन्ति अध्वय्यु अ त रिन् हरामि अत्र हरामि यह जालेगा ता (असका जेलना असय हागा क्याकि साक्षात् रूप से न यह अ तरिक्ष म नामन्ता न य लोक म नासकता फिर चाथ लाक की ता का ही दर है। ऐसी अत्रम म अ तरिक्ष हरामि' अयाद कहता हुआ यह) कामका हरण करगा ? असलिए (स्फ्यरूप से अन्तरिक्ष हरामि' अयाद न कहता हुआ) अम प्रथिनी से ही सब असुरा को निराल देता है। (परिणाम यह होता है कि ऐसा करने से इसे अस यभाषण भा नहीं करना पन्ता एय असा प्रथिनी मे सय लाक प्रतिष्ठित ह इसलिए कयल प्रथियामान से ही चारा लोका स असुर निराल जात ह) ॥१८॥

इसअ अनन्तर अश तृण का मध्य मे रख कर (स्फ्य से भूमि पर) प्रहार करता है। (मत्रशक्ति म) अतितीण अम (स्फ्यरूप) अत्र से हम प्रथिवा का नाश न करत समीलिए तृण म य म रखकर प्रहार करता है ॥१९॥

ब्राह्मण गतला णिया अय पद्वति बतलाते हैं—

वह अध्वय्यु — पृथिवि देवियजन्योषध्यास्ते मूल मा हिसिषम्' यह मन्त्र बोलता हुआ प्रहार करता है। (स्फ्य का प्रहण करते समय) अध्वय्यु-स्तम्बयजुरूप कुशमुषि को वन्ति पर उत्तरमूल (उत्तरदिशा की आर कुग की चड) रखना है। अस प्रथिनी का उत्तरमूला बनाना है। उही उत्तरमूल आषधिया का लक्ष्य मे रखकर—'य स्फ्य अत्र तर [पृथिवी के] मना को नष्ट न कर' यह कहता है। उसके अनतर- ब्रज गच्छ गाष्ठानम्' यह मन्त्र बोलता हुआ प्रहार करने के साथ साथ ही-असुरा को इधर उधर बचकर भाग निकलने म असमथ बनाता है। यहा अनपक्रमि' भाग है कि ब्रजस्थान क मध्य म इह भजना है। अस प्रथिनी क निम्न भाग मे निखनन करते (खोदते) हुए क्रूरकम्म करते हैं। (अस कम्म स वे खननकर्त्ता प्राथी क उस भाग की) हिंसा ही करते हैं। पानी (क्रूरकम्म की) शांति है। सो यह अध्वय्यु (वर्षतु ते द्यौ -इयान्ति बोलता हुआ) पानी की शांति से (स्फ्य क द्वारा खोदे हुए पार्थिय भाग को) शांत ही करता है। पानी से (उस विदीण भाग को पुन) जोडता है। असी अभिप्राय से वर्षतु ते द्यौ यह कहा है। 'वधान देवमवित इत्यादि से सरिता देवता की ओर ही लक्ष्य

है। 'परमस्या प्रथि-याम्' यह वा कहा है (इसका तात्पर्य यही है कि)-प्रथिवी का यह अंतिम भाग जहाँ धार आकार है-उमा में असुर को भेजते हैं। 'शतेन पाशै' इस अश का यही अर्थ है कि वहाँ जाकर वह सदा के लिए सकड़ों पाशा से बद्ध होजाय। इसप्रकार यह मन्त्राश अमुक्ति (वचनभाव) का ही द्योतक है। यदि अभिचार न करना हो तब तो-नाम-ग्रहण न करते हुए कवल-योऽस्मान् द्वष्टि यश्च वय द्विष्मस्तमतो मा मौक यही बोले। यदि अभिचार-प्रयोग करना हो तो अमुकाऽस्मान् द्वष्टि, अमुकश्च वय द्विष्म । तमतो मा मौक यह मन्त्र बोले ॥१६॥

(प्रथम प्रहार के अनन्तर अध्वर्यु अपारुर' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ स्फ्य से दूसरा प्रहार करता है। अररु' नाम का असुर देवताओं का विरोधी था राक्षस था। देवताओं से इस (यज्ञिय) प्रथिवी से मार भगाया था। तथैव यह अध्वर्यु भी इन्मे (मन्त्रशक्ति के द्वारा) मार भगाता है। शषभाग का अर्थ ? वीं करिडका से गताथ है ॥१७॥

इसके अनन्तर आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् कुशभाग को उपर के हाथ से आच्छन्न करता (दकता) हुआ—'अररो दिव मा पप्त' यह बोलता हुआ उत्कर मे प्रक्षिप्त कर देता है। जिस स्थान मे देवताओं न राक्षसबुद्धि अररु असुर को मार भगाया था वहा से भग कर द्युलोक की ओर फुका। वहा जाते हुए त्म असुर को- अररो सावधान ! द्युलोक मे न घुसना' यह कहते हुए उसे रोका था। फलत वह द्युलाक म नहीं जासका था। उसी प्रकार यह अध्वर्यु ता त्म त्म प्रथिवीलाक से निकालता है, एव आग्नीध्र द्युलाक से निकलता है। इसलिए अररा इत्यान्विरूप से द्वितीय-प्रहारकर्म करते है ॥१८॥

अनन्तर—द्रुष्मस्ते द्या मा स्कन् इत्यान्विरूप मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु तीसरा प्रहार करता है। जिस इस न्युरम का लेकर मन्मर्णं पार्थिवप्रजा जीवित है वह रस ही प्रथिवी का द्रुष्म है। हे पृथिवि ! आपका यह रमरूप द्रुष्म द्युलोक मे न स्वलित होजाय' यही कहा है। शेष मन्त्राथ पूज मे गताथ है ॥१९॥

इसप्रकार वह अध्वर्यु तान यजुमन्त्रा से 'स्तम्बयजु'हरण' करता है। यह (प्रसिद्ध प्रथिवी अन्तरिक्ष द्या) तान लाक है। नही से वह उसे निकालता है। य चो तीनों लोक हैं वे हमारी ओ'वा क म मुख हैं। त्सी प्रकार पूर्वोक्त तीनों यजुमन्त्र भी प्रत्यक्ष हैं। अतएव तीनों अद्ध म त्रों से स्तम्बयजु हरण किया जाता है ॥ ॥

चाथा प्रहार चुपचाप किया जाता है। इन ताना लाका से आतारक्त चाथा लोक (अप्रत्यक्ष का विषय होन क कारण) है अया नहा है नस भाग से युक्त न। चाय प्रहार से इसी लाक से शयुआ को नकालता ह। अति न या भाव से युक्त चाथा लाक 'अनद्धा है। इधर तुष्णी भाग भा अनद्धा ह। इसलिए चाथा प्रहार तूष्णोम् ही किया जाता ह ॥ १॥

प्रथमकारणानुगत द्वितीयाध्याय का चोथा ब्राह्मण,

एव

द्वितीय-प्रपाठक का दूमरा ब्राह्मण उपरत

—*—

सूत्रानुगत-पद्धति-मगह -

जिम द्र य की ळवताआ के लए आहात दी नायगी वह पुराडाश नाम का य सम्पन्न होचुका है। अत्र प्रकृत प्रकरण वदिान र्माण का क्रम बनलाता है।

‘अपरेणाहवनीय वेदि खनति ऽव्यड गुलखाता याममात्री पश्चात् यरत्नि प्राची मपरिमिता वा प्राकप्रवणामुदवाग्वा मध्य सडगृहीता, मग्निमभितोऽमा’

—का सू अ। क। १ सूत्र

उक्त श्रौत सूत्र सिद्धांत के अनुसार आ वनीयकुण्ड के पश्चिम भाग म (एव गाहपयकुण्ड के पूव भाग में) वदिखनन करना चाहिए। उस भूप्रदेश का किस परिमाण से खोदा जाय (जहाँ पर कि वदि बनने वाली है ?) इसका उत्तर देत हुए सूत्रकार कहत हैं कि तीन अङ्गुल की गहराई से वदिनिर्माणोपयुक्त भूमि को खोदना चाहिए। इससे प्रथम आहवनीय का निर्माण कर लेना चाहिए जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

इस वेदिनिर्माण ब्राह्मण में तत्तत् भिन्न भिन्न परिमाणों के लिए अरत्नि रत्नि व्यास वितस्ति आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वत्तमान यवहारजगत् में इनका यवहार प्राय अवरुद्ध होगया है अत कर्मों तिकत्त व्यता-की समन्वयदृष्टि से इन शब्दों के अर्थों का भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

प्रादेश - ताल - गोकर्ण -

अङ्गुष्ठ (अगूठे) के साथ क्रमश तजनी मध्यमा अनामिका इन तीनों अङ्गुलियों के सम्बन्ध से प्रादेश ताल गोकर्ण नाम के तीन परिमाणों का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्रादेशो देशमात्रे स्यात्तज्जयद्गुष्ठसमिते (मेदिनी) के अनुसार अगूठे के साथ तजनी को चौड़ा दीजिए। इतना प्रादेश १ अङ्गुल (अपनी अगुल) परिमाणयुक्त होगा। यही प्रादेश है। प्राणविज्ञान के सम्बन्ध म प्राय ळस?

परमाण (नाप) को प्रवान माता जाता है। कारण प्रादेशमिता प्र प्राणा इत्या के अनुसार प्राण तथा इगुलमान म हाअपी व्यात रवता ।

वसीप्रकार अगठे के साथ मध्य की अङ्गलि को चोडा दीजिए। यही पारमाण ताल करतलेऽइ गुष्ठमध्यमाया च समिते । गीतकाने क्रियामान करस्फाने तुमान्तरे (मोन्नी) के अनुसार ताल नाम से प्राप्त है। ताल गद वृद्धिशेष का भी वाचक है। जुटका करस्फाल (अङ्गुष्ठाङ्गलिस्फाला मक करस्फाल) भी इसी ताल से बजती है। सगीतक्रिया में तिताल चोनाल भूपताल-आदि जो ताल-सम्बन्ध हैं। इन ताल के सन्बन्ध से तत्तद् गान का स्वरूप यथावत् सीमित होता हुआ रस का अभिव्यञ्जक बनता है वह भी इस ताल से ही सम्भव रवता है।

इमा अगठे को यदि अनामका के साथ चोडया जाता है तो उस परिमाण का आकार गाय के काना जैसा होनाता है। तमी को गोकर्ण परिमाण कहते हैं जसाकि— अङ्गुष्ठाङ्गलिस्फाला (विश्व) तयाति स प्राप्त है। तसप्रकार— प्रादेश ताल गार्कर्णस्तनयान्युत तते के अनुसार अगठे के साथ क्रमश तननी मध्यमा अनामिका न तीनों अङ्गुलियों को ळवत करने से (फलाने से) क्रमश प्रादेश ताल गोकर्ण का स्वरूप तन पन्न होता है। इन तीनों पारमाणों में ब्राह्मण-ग्रथों में प्रधानरूप स प्रादेश पा माण का ही ग्रहण हुआ है। इससे अगुल परिमाण अभि-प्रत है *।

—*—

वितस्ति —

अङ्गुष्ठे सकानष्टे स्याद्वितस्तिर्द्वादशाङ्गुल तस अमर सिद्धान्त के अनुसार यदि कनिष्ठिका (चि ी) अङ्गुलि को अगुल के साथ चोवा दिया जाता है तो वितस्ति का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही वितस्ति परिमाण लोकभाषा में त्रिलात त्रिलान् आत् नामा से प्रसिद्ध है। यह १२ अङ्गुल का परिमाण है। पुरुषशरी का पारमाण प्रादेश से किया जाता है। भू भुव स्व महत् जनत्, तप मत्यम् तन साता लोका की ममष्टिरूप इश्वर के शरीररूप विश्व का परिमाण वितस्ति से किया जाता है।

जसाकि हम पूर्व म त्रतला चुके —प्राण प्रादेशमित होता है। विविध भेदभिन्न प्राणों में से गायत्र नाम का प्राण ही पुरुषसृष्टि का प्रवान कारण है। अष्टाक्षरा ी गायत्री के अनुसार गायत्रप्राण आठ भागों में ळवक्त है। प्रत्येक अक्षर एक एक स्वतन्त्र प्राण है। इसप्रकार गायत्री के आठ अक्षरों के आठ प्राण होजाते हैं। आठ प्राणों के आठ प्रादेश होते हैं। यद्यपि साधारण मान के अनुसार प्रादेश १ अङ्गुल का ही होता है। तपि यति सू म मान किया जाता है तो— स भूमि सवत स्पृत्वाऽ यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् क अनुसार स अङ्गुल स कळ् अत्रिन् अर्थात् साढ स अङ्गुल ठहरता है। तस अनुपात से

*— श-अङ्गुल से कुछ अधिक। अनुमानत सात दशाङ्गुल (॥ अङ्गुल) का ही एक प्रादेश माना गया है जसाकि— अयतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (यजु) से स्पष्ट है।

पूर्वोक्त गायत्री के आठ प्राणशा के (प्रत्येक के १ ॥ के अनुपात से) पुरुषमान ८४ अङ्गुल का होता है । प्राकृतक मान के अनुसार प्रत्येक पुरुष वह युवा हो अथवा बालक हो) अपने अङ्गुल-परिमाण से ८४ अङ्गुल का होता है । ऋषीप्रकार ईश्वर-सप्तत्रिंशत्तस्त्राय है । सात वितस्त के भी (प्रत्येक के २ अङ्गुल के अनुपात से ८४) अङ्गुल होजाते ह । अपने आयतन से पुरुष भा ८४ अङ्गुल का है एव ईश्वर भी ८४ अङ्गुल का ही है । ऋषी आचार पर—पुरुषो ऽ प्रजापतेर्नेष्टिष्ठम् यह निगम " - ष्ठित है ।

—*—

* चपेट प्रतल -प्रहस्त —

अपने गथ की अङ्गुलियों को मक्का ऋजुभाय म परिणत कर लीजिए । साथ ही अङ्गुलियों को परपर न भिडा कर स्वभावन त्रिम अन्तर पर अङ्गुलिया विस्फारित (चाडी) रहती ह उह उतन ही अन्तर से रहने दीजिए । एमी अवस्था में यह हाथ-चपेट प्रतल प्रहस्त इन तीन नामों से यहृत होता है । यमशास्त्र में इस पा माण को विशेष प्रधानता ली जाती है ।

—*—

सिहतल -प्रतल —

दोनों हाथों की अङ्गुलियों को सीधी कर लीजिए । साथ ही अङ्गुलियों को परस्पर मलग्न क दीजिए । अर्थात् प्रकृति से होने वाला अङ्गुलियों के मध्य म जो एक व्यवधान है उसे हटा दीजिए । एम्य मान—सिहतल एव प्रतल इन दोनों नामों से प्रसिद्ध ।

—*—

प्रसृति —

दोनों हाथों को सिहतलानुसार मलग्न क त हुए दोनों हाथों के दोनों अंतिम पार्श्वों को दोनों हाथों के मध्य की ओर झुका लीजिए ऋषी मान को प्रसृति कहते हैं । ऋषी प्रसृति को लोकभाषा में—बोवा - (अर्द्धला) अर्द्धश । से यहृत कहा जाता है ।

—*—

अञ्जलि —

प्रसृति-दशा ही समाष्टरूप से एव व्याष्टरूप से पुरभाव में आर अञ्जलि नाम से व्यवहृत होने लगती है । अङ्गुलियों के आगे क भाग को ओर सकुचित करते हुए अपनी ओर अवनत कर लीजिए । यही अञ्जलि बन जायगी । यही अञ्जलि लोकभाषा में—चुल्लू चिल्लू चल् आदि नामों से प्रसिद्ध है ।

—*—

हस्त —

यह मान निरतिशयरूप से (बहुत ही) उपयोग में आता है । अङ्गुलि से युक्त अंस भाग में अवस्थित भाग पाणि कहलाता है । हाथ के जोड़ से (गट्टे से) आर म कर कफोणी (कोहनी) पय्यत

* चपेट ही लोक यज्ञहार में स मवत - चोटा (थापड) रूप में परिणत होगया होगा ।

का भाग बाहु कहलता है। यही प्रकोष्ठ है। कफोणी से आरम्भ कर जन्तु पथ्यत का भाग दो कह-
लाता है। इसप्रकार स्क व (कवा) से सलग्न भाग से आरम्भ कर अङ्गल पथ्यत भाग में—पाणि बाहु
तौ—ये तीन भाग हैं। तीनों का जोन्ने वाली तीनों सधिया क्रमश—मणिबन्ध (गटटा) कफोणी
(काहणी—कूणी) तन् नामो स प्रसिद्ध है। इनमदा भाग तो छोड़ दीजिए। शेष पाणि—और बाहुको
लीजिए। पाणि भाग की पाचो अङ्गलियो का सीधी कर लीजिए। यही मान (कफाणी स आरम्भ कर अङ्गु-
लिया पथ्यन्त का का भाग) हस्त नाम स प्रसिद्ध है।

—*—

रत्नि —

मुष्टयातु बद्धया स रत्नि स्यात् इस अमर सिद्धान्त के अनुसार वही हस्तप्रमाण मुष्टिका-
व वन (मुष्टी बाधने) से रत्नि नाम से व्यवहृत होने लगता है। त्सी अभिप्राय स सम्पीडिताङ्गुलि-
मुष्टि (हलायुध) यह कर्ण जाता है। यह परिमाण दो प्रादशमित (२१ अङ्गुलमित) है।

—*—

अरत्नि —

अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' (अमर)

अरत्निर्वा सप्रकोष्ठताड गुलिकरऽपिच' (मेदिनी)

'तारत्नि कफाणा हस्ते सप्रकाष्ठे चाङ्गुलौ' (रुद्र)

यदि के अनुसार बद्धमुष्टि म स कनिष्ठिका अङ्गुलि को सीधी कर दीजिए। यही मान अरत्नि
(२४ अङ्गुलमित) होगा।

—*—

व्याम —

'व्यामो बाह्वो सकरयोस्ततयोस्तिर्गगन्तरम्' (अमर)

के अनुसार दोनो हाथों का जो तिथ्यगन्तर मान है वही व्याम कहलाया है। यह नवतीनव (९६)
अङ्गुल का मान है

—*—

पुरुष —

'उर्ध्वविस्तृत—दो पाणिन्माने पौरुष त्रिषु (अमर)

के अनुसार दोनो हाथों को (अङ्गुलियो के साथ) सवथा सीधे खडे होकर ऊपर की ओर कर दीजिए।
यही मान पुरुष नाम से व्यवहृत होता है। यह १२ अङ्गुल का मान है।

—*—

इसके अतिरिक्त वदिनिर्माण के सम्बन्ध में एव अन्यान्य भी वैज्ञानिक भावों के सम्बन्ध-सम्बन्ध
में ब्रह्महस्त विष्णुहस्त शिवहस्त ब्रह्मतीर्थ चतुर्दण्ड नाली किष्कु गव्यूति आदि मानों का भी
उपयोग होता है।

उन मन्त्र का स्पष्टीकरण निम्नलिखित तालिकाओं से होजाता है ।

- ८-परमाण्व -त्रसरेणु १
 ८-त्रसरेणव -रथरणु १
 ८-रथरेणव बालाग्रम् १
 ८-बालाग्राणि लिङ्गा १
 ८-लिङ्गा -यूका १
 ८-यूका -यव १
 ८-यवा -अङ्गुलम् १

—*—

- ६-यवा ——अधम मानाङ्गुलम् १
 ७-यवा ——मध्यम ,,
 ८-यवा ——उत्तमम् ,
 २१-अङ्गुलानि -रत्निहस्त १
 २२॥ अङ्गुलानि—अरात्निहस्त १
 २४ अङ्गुलानि -महाहस्त २

—*—

- २४-अधमाङ्गुलानि—१ ब्रह्महस्त
 २४-मध्यमाङ्गुलानि—१ विष्णुहस्त
 ४-उत्तमाङ्गुलानि—१ शिवहस्त
 ४-महाहस्त १ याम (६६ अङ्गुलानि)
 ५-महाहस्त १ पुरुष (१२० अङ्गुलानि)

—*—

- १०॥-अङ्गुलानि १ प्रादेश (१ ॥अङ्गुलानि)
 २—प्रादेशौ १ रत्नि (२१ अङ्गुलानि)
 २—रत्नी १ निष्क (४२ अङ्गुलानि)

—*—

६-अङ्गुलानि-प्रपदम् (६ अङ्गुलानि)
 २-पद-वितस्ति —(१२ अङ्गुलानि)
 २-वितस्ति-हस्त —(२४ अङ्गुलानि)

२-हस्ता—१ ब्रह्मताथम् (४८ अङ्गुलानि)
 २-ब्रह्मतीर्थे १ धनुदण्ड (६६ अङ्गुलानि)
 ३-धनुदण्डा-१ नाली (१६२ अङ्गुलानि)

—*—

३०-धनूषि-नल्व
 २ -धनूषि १ क्रोश (२ ० धनूषि)
 २-क्रोशा-१ गव्यूत (४ धनूषि)
 २-गव्यूती -१ योजनम् (८ धनूषि)

—*—

हम क रहे थ कि वदि के पूर्वभाग मे चतुरस्र (चौकोर) आहवनीय-कुण्ड का निर्माण किया जाता है। इस आहवनीयकुण्ड का घेरा चतुरस्र भाग को मिलाकर अरनिमात्र (२४ अङ्गुल) है। इस कुण्ड की ऊँचाई एक वितस्ति (१२ अङ्गुल) है। चारा ओर के घेरे की चौड़ाई चार अङ्गुल है। सब-प्रथम ऐसे (अरानिमात्र-चतुरस्र-आहवनीयस्वर द्वादशाङ्ग लोच्च चतुरस्रुल-विस्तीर्ण मेखल) आहवनीय-कुण्ड का वदि से पूर्वदिशा में निर्माण करने के अनन्तर वदिनिर्माण किया जाता है। जिस स्थान पर वेदि बनाई जायगी पहिले उस स्थान की तीन तीन अङ्गुल गहरी मिट्टी खोदी जाती है। इसके अनन्तर सूत्र स परिमाण (नाप) कर-तीन अरनिमान से (७२ अङ्गुल की नाप स) वदि के पूर्व-पश्चिम भाग की सीमा बनाई जाती है। अर्थात् वेदि की लम्बाई ७२ अङ्गुल की होती है।

वदि के पश्चिमभाग में दक्षिणोत्तर ४ अरनि (६६ अङ्गुल) मान से रेखा अङ्कित की (खैची) जाती है। एव वदि के पूर्वभाग में दक्षिणोत्तर ३ अरनि (७२ अङ्गुल) मान से रेखा खैची जाती है। वाद चौकोर होती है। परन्तु ७२-६६ इस दक्षिणोत्तर के विषम मान से विषमचतुरस्र (टेढी-चौकोर) हाजाती है। यह तो हुआ शास्वीय नियत प्रमाण। इसके अतिरिक्त यज्ञमान इसी अनुपात स पूर्वभाग में कम चौड़ी पश्चिमभाग में अधिक चौड़ी इस विषमचतुरस्र भाव को प्रधान रखता हुआ अपनी इच्छानुसार वदि का आयतन बड़ा भी करसकता है। इसी आधार पर—अपरेणाहवनीय वेदिं खनति यङ्गुलखाता -याममात्री पश्चात् -यरत्नि प्राचीं अपरिमिता वा यह कहा जाता है। यह वदिभूमि प्रथम तो पूर्व की ओर झुकती हुई रहनी चाहिए अथवा उत्तर की ओर प्रवणा होनी चाहिए। दक्षिणप्रवणा वदि यज्ञमान का नाश कर देती है। अस्वातौ सप्रह्वौ मतौ इस परिशिष्ट वचन के अनुसार वेदि के मध्य-स्थान में वेदि का आस्वात-सप्रह्वती करना चाहिए।

आवनीयकुण्ड के समापन वा की प्रवर्धनीयता में प्राग्नेयकोण इतानकोण में अक्ष [कन्वे] कल्पना करनी चाहिये । अर्थात् वेदि के दक्षिण भाग का समापन अक्ष मन्त्र चालाए ।

दोना समग्र था—यजात जुगति नाम संप्राप्त है । तापययी एक वेदि के पश्चिम भाग का अक्ष दक्षिणोत्तर भाग में दश नक्षत्रकोण और वायव्यकोण में एक अक्ष लक्ष्मी छोड़ कर २१ अक्षुल के अक्ष वृत्त से यजति नृहोति धान और बनाए जाते हैं । यथा दोना स्थान आम्वात नाम से प्रसिद्ध है । वहीं नाना दिशाओं की दशाक्षुलामता भूमि प्राणी नाम से प्रसिद्ध है ।

आमूला-छत्तनादापवानाम [का श्रोत २ अक्ष-६ सू] के अनुसार जिस भूपदश पर उपयुक्त वा का नाम प्राणिका जाता है उस स्थान पर लगी हुई आपधिया को तबतक काटते रहना चाहिए जबतक कि उनकी जड़ न गूँस जाय । अर्थात् उस प्रदेश से आपधिया का मवथा निमूल कर उस भूभाग को विशुद्ध बना देना चाहिये । यान् २३—यह सूत्रकार का पक्षीतर है । कारण—पूष म वेदिभूमि को तीन अक्षुल गोटा की आदश किया गया है । और समलोपाटन पक्ष में आक्ष भी गराइ होमकती है । दोनों पक्ष से मव नहीं । अर्थात् यद्यपि सूत्रकार ने पक्षीतर का स्पष्ट शास्त्र में उल्लेख नहीं किया है तथापि आमूला-छत्तनादापवानाम यथापर्व मन्त्र पंचन ही पक्षीतर का भी साधक बन जाता है ।

ओषधीना मूलान्यु-छत्तनै ब्रयान् [का श्रोत ६३] के अनुसार याद यज्ञ लाखात वादपक्ष नहीं है एव आमूल आपधिया का उत्पादन निराक्षत है तो अक्षुल को आग्नीध्र के प्रति ओषधीयों के मूलों को उत्पादन की आज्ञा देनी चाहिये । तापय यथा है एक ओषधीयों का उत्पादनकर्म आग्नीध्र नामक ऋषिक का ही कर्म है ।

आहाय्यपुरीषा पशुकामस्य [का श्रो २६४] के अनुसार यदि यजमान इस यज्ञ से पशुमपत्ति प्राप्त करना चाहता है तो उस वेदि का आहाय्यपुरीषा बनाना चाहिए । पुरीष ही पशु है । वेदि के स्थान से जो मिट्टी निकाली जाती है वह तो वेदिपुरीष है । उस नो निकाल कर अन्य स्थान में डाल दिया जाता है । एव अथ स्थान का खोदी हुई मिट्टी लाकर यथापक्षी जाती है यथा तापय्य है ।

वेदि परिसमुह्य वितृतीयऽग्नीदुत्तरत उत्कर करोति [का श्रो २६५] के अनुसार पूर्वोक्त क्रमानुसार वादनिर्माण कर—उस कुशो से आस्तीण कर आहवनीय के उत्तरभाग में वितृतीय भाग में तीन अक्षुल चौड़ा एव छह अक्षुल लम्बा तथा एक अक्षुल गहरा—एक गन्दा [आग्नीध्र नाम का ऋषिक] बनाता है । उच्छिष्ट वृण पासु आदि का उत्तरिण इमी में हाता है । अतएव यह स्थान 'उत्कर नाम से प्रसिद्ध है । सूत्रगत वितृतीय का क्या अर्थ ? इस प्रश्न के समाधान के लिए निम्न लिखित वेदि-निर्माण-प्रकार पर ही ध्यान देना आवश्यक होगा ।

वेदि के पश्चिमभाग में वत्त ल गाहपत्यकुण्ड रहता है एव तपूष में चतुरस्र आहवनीयकुण्ड रहता है । इन दोनों कुण्डों का एक एक केन्द्र है । वही केन्द्र मध्यमस्थान मध्यमबिन्दु गर्भ—हृदय आदि नामों से प्रसिद्ध है । गाहपत्यकुण्ड के गर्भ से आरम्भ कर आहवनीयकुण्ड के गर्भपर्यन्त दोनों कुण्डों

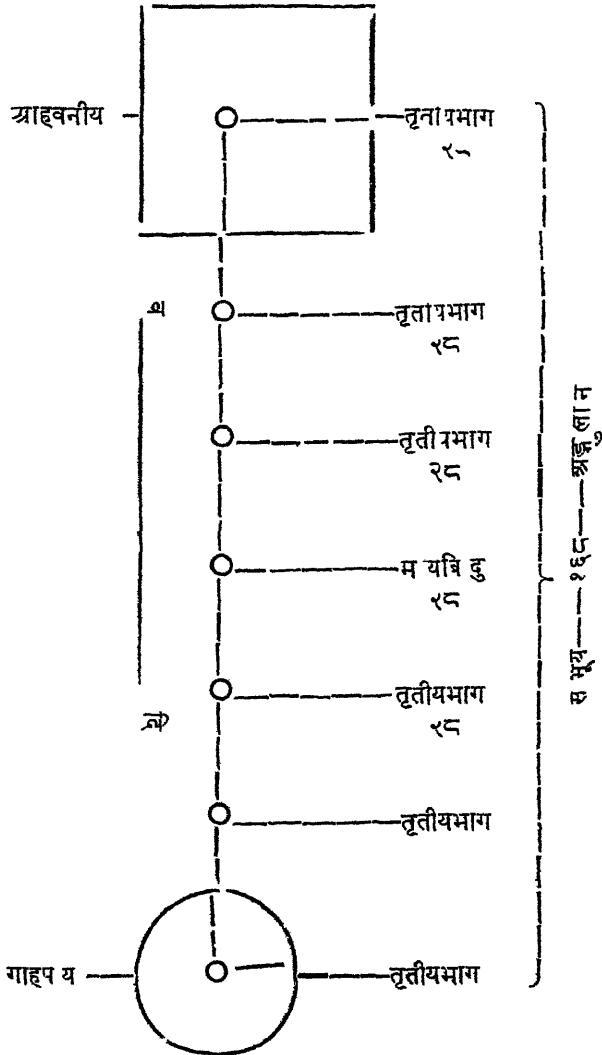
के मध्य में एक पत्ता की अपेक्षा क्रमशः ८ १ १२ पदों का विधान है। एक पद [पाण्डा] १ अङ्गुल का मान है। इस प्रकार क्रमशः तीन पदों में ६६ अङ्गुल १३२ अङ्गुल १४४ अङ्गुल—यह मान होजाता है। इन तीनों में से २ पदों के [१४४ अङ्गुल के] मान को [अपरिमिताम्] पद में प्रधानता दी है। उसी को लक्ष्य में रखते हुए यहाँ विचार करना है।

गाहपयकुण्ड के निर्माण के लिए एक थान पर केन्द्र की कल्पना की जाती है। इस कल्पित केन्द्रस्थान में [लोक कल्पित केन्द्र आग जाकर गाहपयकुण्ड का वास्तव में केन्द्र बनने वाला है] शङ्कु [काष्ठकील] गाड़ दीजिए। इस शङ्कु से १२॥ [साठ तेरह] अङ्गुल रज्जु के यासाढ़ से गाल ब्रत बनाएँ। केन्द्र में चागे ओर की वृत्तसीमा १३॥ अङ्गुल रहनी चाहिए यही तापय्य है। ऐसी अवस्था में व्यास ६॥ [पोने सात] अङ्गुल का होगा। यही गाहपयकुण्ड का मान है। इसी में गाहपयग्नि प्रतिष्ठित रहता है। आहवनीयकुण्ड में भी इसीप्रकार केन्द्रकल्पना कर शङ्कु गाड़ दीजिए। इस शङ्कु से ठीक हस्तमात्र [२४ अङ्गुल] रज्जु से चौकोर ब्रत बना डालिए। लम्बाई भी २४ अङ्गुल की होगी चौड़ाई भी ४ अङ्गुल की ही होगी। यह यासाढ़ १२ अङ्गुल का होगा। पूरा व्यास २४ अङ्गुल का होगा। भी हस्तपरिमित किंवा अग्निपरिमित आहवनीयकुण्ड में आहवनीय अग्नि प्रतिष्ठित होता है। पूर्वोक्त १ पदों के मान की यगस्था के अनुसार दोनों कुण्डों के केन्द्र से यह मान है। १२ अङ्गुल का एक पद है। इस प्रकार कुल १४४ अङ्गुल प्रदेश होजाता है। इधर २४ अङ्गुल का एक हाथ [अरान] होता है।

इस अनुपात से गाहपय और आहवनीय—कुण्ड के केन्द्रों से सम्बद्ध दोनों का मयप्रदश ६ हाथ का होजाता है। इस मान के अनुसार एक ६ हाथ लंबी [अर्थात् १४४ अङ्गुल लम्बी] रज्जु लीजिए। इसमें इसी के ठे माग जितना [४ अङ्गुल लंबा] एक रस्सी का टुकड़ा ओर जोड़ दीजिए। इस प्रकार यह रस्सी कुल [सात] हाथ लंबी [अर्थात् १६८ अङ्गुल लम्बी] होजायगी। इसी रज्जु से आपका आग का मान मापन करना है।

इस सात हाथ लम्बी रज्जु के दोनों अन्तिम प्रांतों का [छोरो का] पाश [पासा] बना लीजिए। रज्जु के ठीक केन्द्र में पहिले एक चिह्न [निशान] कर लीजिए। इस प्रकार मय में चिह्न कर शेष बचे हुए रज्जु के दोनों पार्श्वभागों में तृतीयांश—तृतीयांश भाग में एक एक चिह्न और बना दीजिए। चिह्न बना कर पूर्वोक्त दोनों पाशा में मय एक पाश तो गाहपयकेन्द्र में गड़ हुए शङ्कु के साथ बाध दीजिए और एक पाश आहवनीयकेन्द्र में गड़ हुए शङ्कु के साथ बाध दीजिए।

अब आगे चलिए—पूरी रज्जु के केन्द्र में एक चिह्न है। उसके पूर्व—पश्चिमभाग में क्रमशः तृतीयांश पर प्रायः ८ ८ अङ्गुल के अंतर पर दो दो चिह्न और हैं। पूरी रज्जु का परिमाण हमन सात हाथ [१६८ अङ्गुल] बतलाया है और इसमें मध्य तृतीयभाग रूप से चिह्नों का उल्लेख किया है। इस अनुपात से ८४ वा अङ्गुल मय थान पड़ता है। इससे ऊपर भी प्रायः ८४ अङ्गुल रहते हैं नीचे भी ८४ अङ्गुल रहते हैं। इस तीन तीन भाग करने से २८—२८ की तो दो बिंदु गाहपय की ओर होती है एवं ये ही दो बिंदु आहवनीय की ओर होती है। तीसरी बिंदु का स्थान दोनों ओर के प्रांतभाग में लेते हैं।



मध्यबिन्दु के पश्चिमभागस्थ चिह्न को लक्ष्य बनाइए। गाहपयकेन्द्र में बद्ध रज्जु को निकाल कर उस चिह्न के ठीक सामने जाकर रज्जु को रख दीजिए। वहां एक चिह्न कर दीजिए। उस स्थान से ६॥ अङ्गुल के प्रदेश पर उत्तर की ओर छोड़ कर एक शङ्कु गाड़ दीजिए। शङ्कुस्थान को केन्द्र मानते हुए एक यवपरिमाण से अधिक १६ अङ्गुलयुत रज्जु से वृत्त बना डालिए। उस वृत्त का व्यासार्ध प्रायः ६॥ अङ्गुल का होगा। उस वृत्त में केन्द्र से स्पश करती हुई एक मीची रेखा पूर्वापर बना दीजिए। ऐसा करने से वृत्त के दो विभाग होजायगे। इन दोनों में से उत्तरभाग को नास्तिरूप में पारणत कर दीजिए। शेष बचा हुआ अर्धचन्द्राकार यही दक्षिणाद्ध [दक्षिण की ओर का आधा भाग] दक्षिणाग्निकुण्ड बन जाता है। इसी में श्रपणाग्नि प्रतिष्ठित रहता है। वदिका यही दक्षिणप्रदेश त्रितृतीय प्रदश कहलाता है।

यह तो ऋग्वेद में यामन्दु के पश्चिमभाग य त्रिभु की कथा। अब चलिए पूर्वविन्दु की ओर। रज्जु को उठाए पूर्वविन्दु के सम्मुख उत्तर की ओर चिह्न कर दीजिए। इसी त्रिभुतीय प्रदेश में उत्कर बनाया जाता है। ऋषी अभिप्राय से— 'वितृतीय उत्कर करोति यह कहा गया है। इसके अनंतर आहवनीयकुण्ड के मध्य में प्रातःप्रित गङ्ग से पश्चिम की ओर तीन अरनि (७२ अङ्गुल) स्थान छोड़कर एक शङ्कु गाड़ लीजिए। उमी आहवनीय म यशङ्क से दक्षिण ओर उत्तर क्रमशः १॥ (६६) अरनि (३६ अङ्गुल) के प्रवेग पर एक एक शङ्कु और गाड़ दीजिए। ऋषी मान से यदि विषमचतुरस्र बन जाती है।

उत्करकरणानन्तर— दवस्यत्वेति स्फ्यमादाय सतणम्'

[का श्रा० २।६।५] के अनुसार—

दवस्य त्वा सावतु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्याम् आददेऽध्वरकृत
दवेभ्य [१।२४]

सविता देवता के प्रसव में (अनुज्ञा में) अश्वनीकुमारों के बाहु से एवं पूषादेवता के हाथों से देवताओं के लिए यज्ञकर्म सम्पन्न करने के कारण अध्वरकृत नाम से प्रसिद्ध सतृण स्फ्य को उठाता है। अनन्तर यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु दक्षिण हाथ से स्फ्य को उठाता है।

'मत्तण सय कृत्वा दक्षिणानालभ्य जपति इन्द्रस्य बाहु रिति'

[का श्रा० २।६।५] के अनुसार—

'इन्द्रस्य बाहुरमि दक्षिण महस्रभाष्ट शततेजा गायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो
वध' [१।२४]

हे स्फ्य आप ऋग्वेद के दाहन हाथ है। महस्रो शत्रुओं को नाश करने वाली आपकी कोर हैं अतएव महस्रभृष्टि नाम से प्रसिद्ध है। आप (अपनी दिव्य आभा से) चारों ओर से प्रदीप्त हो रहे हैं। आप वायु (गायु के समान तत्त्वन शत्रु के शरीर में प्रविष्ट होने वाले) हैं। आपका तेज अत्यन्त सूक्ष्म है। अथात् आप पैनी धार वाले हैं। ऐसे आप शत्रुओं के नाशक हैं। अध्वर्यु तृणयुक्त दक्षिण हस्तस्थ स्फ्य को वाम हाथ में रखकर दान्ण हाथ से स्पर्श करता ऋग्वेद उपयुक्त मन्त्र बोलता है। यहाँ प्रसङ्गप्राप्त इतना और समझ लेना चाहिए कि पितृकर्म म मन्त्रोपात्त अध्वरकृत देवेभ्य के स्थान में देव पितृभ्य यह ऊह कर लेना चाहिए। अतः तसम्बन्धी स्फ्यादान मन्त्रजपादि उस कर्म में नहीं होते। साथ ही स्तम्बयजुहरण का भी पिएडपितृयज में अभाव है। आगे जाकर इस स्फ्य से भूमि पर प्रहार होने वाला है। ऋग्वेद प्रहरणकर्म से आरम्भ कर पुरीपनिग्रपनकर्म पत्यन्त सम्पूर्ण कर्म स्तम्बयजुहरण नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी अब गाम—

नोपस्पृशेत् पृथियात्माना तेन स्तम्बयजुर्हरिष्यन्

[का० श्रा० २।६।७] के अनुसार—

आगे जाकर स्तम्बयजुहरण करता हुआ अ वय्यु तम्बयजुहरण-पथ्यत उम वज्ररूप स्य से नन क भी अपन शरीर से एव पृथिवी स स्पर्श न करे। अत्र क्रमप्राप्त स्त वयनुडरण प्रकार तला है—

वेद्या तृण निदधात्युदक पृथिव्यै वर्मामी' ति

[का श्रौ २।६।८] के अनुसार—

पृथिव्य वर्मामास (आप पृथिवी के लिए वर्म हैं) यह निग * मात्र बोलता हुआ वणि पर उ गत्र विज्ञाता है। अभी वाद बनी नही है। अभितु— तान्स् यात्ता छत्रम् इस याव के अनुसार वा के लिए नियत स्थान भी प्रकृत म वणि शब्द से व्यवहृत कर र्गया गया है।

दमस्तरणान तर- पृथिवि देयजनि' इति तृणऽन्तर्हित प्रहरति'

[का श्रौ २।६।९] के अनुसार—

'पृथिव देयजनि—ओषध्यास्तं मूल मा हिमिपम्' [१।२५]

(दवताओं के यजन करने योग्य (जहा पचता यज करत है) अतएव देवयजनी नाम से प्रसिद्ध पृथिवी। हम (इस प्रहार से) आपके तृणरूप ओषधिया के मूल को नष्ट नहीं करत हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ तृण से आच्छाति वनिरूप मय ग प वज्ररूप स्य स प्रार करता है। यह प्रहार तृण पर ही होता है। वही प्रथम प्रहार है। उसके अनन्तर— वन गच्छति पुराषमादत्ते (का श्रौ २।६।१) के अनुसार वज्र गच्छ गोष्ठानम (१।२५) (व अस्त्र ! तुम गोष्ठानरूप वन में चले जाओ) यह मन्त्र बोलता हुआ स्वरूप वज्रप्रार से जो मिटती उरत। उसे उठा लेता है। उसके अनन्तर— वषतु ते इति वेति प्रेक्षते (का श्रौ १।६।) के अनुसार वषतु ते द्यौ (१।२५) (तुम्हारे लिए द्युलोक वषा करे) यह मन्त्र बोलता हुआ वदि को दग्ग है। उसके अनन्तर— वधाने त्युक्त्वर करोति (का श्रौ २।६।१२) के अनुसार—

वधान देव सवित परमस्या पृथिव्या शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्रष्टि यच वय द्विष्म स्तमतो मा मोक् [१।२५]

वे सविता देवता। उस पृथिवी का जो अतिम घोर अधकार स्थान है वर्म (उस प्रक्षिप्त अस्त्र को प्ररित करते हुए उस) मकड़ो पाशों से बाध ले। जो म से द्रव्य करता है अत्रा जिससे हम द्र करते हैं (उस व वनस्थान स उस शत्रु को कभी मत छोडो य मन्त्र बोलता हुआ स्य में उत्खात मिट्टी को उकर में फक दता है।

ममि प चार चार स्य से प्रहार किया जाता है। उनमें तीन प्रहार तो समन्त्रक हात हैं एव एक प्रहार (चौथा प्रहार) तृष्णीनी होता है। इनम से प्रथम प्रहार का स्वरूप तलाया है। पृथिवी देव

* म त्रमहिता में जो मात्र नहीं है—कतु सूत्रकार ने पद्धति में उसे मन्त्र मान रक्सा है वही निगम मात्र कहलाता है।

यचनि इत्यादि मन्त्र के चार विभाग किए जाते हैं। प्रथम भाग से प्रहार होता है दूसरे से पुरीषान्तान होता है तीसरे से वेदप्रक्षरण होता है एव चौथे मन्त्रभाग से उक्तर में पुरीषा नग होता है। इस पक्ष का विष्णु वतलात हुए सूत्रकार कहते हैं—

प्रहरणशेषो वा विशषात् [का श्रौ २।६।१३]

सूत्रकार का ता पथ्य यन्ती है कि प्रथिवि देवयजनि इत्यादि मन्त्र से अतिरिक्त जो मन्त्र के तीन भाग हैं व इसी मन्त्र के शेष है। अर्थात् व्रत गच्छ गोष्ठानम इत्यादि मन्त्र प्रथिवि देवयजनि न्यादि प्रहरण-मन्त्र का ही अङ्ग है। कारण स्वयं संहिता में एव शतपथब्राह्मण में अविशेष (सामान्य) रूप से प्रहरण के सम्बन्ध में ही पूरा मन्त्र प्रयुक्त हुआ है। प्रथिवि देवयजनि से आरम्भ कर तमतो ना मोक् यहा तक का सम्पूर्ण मन्त्र केवल प्रहारकर्म में ही विनियुक्त है। ऐसी अव था में-पुरीषप्रहरण वेदिप्रक्षरण पुरीष का उत्कर में उत्सग ये तीनों कर्म तूष्णी ही करने चाहिए।

यद्यपि इस जानसनेय-शाखा की यजुर्वेद संहिता में एव तत्शाखा के प्रस्तुत शतपथब्राह्मण में पूर्वकथनानुसार पूरा मन्त्र केवल प्रहरणकर्म में ही विनियुक्त हुआ है। तथापि तैत्तिरियाद् शाखा तर में (तै ब्रा ३।२।६) विशेष ही विधान किया गया है। वहा सम्पूर्ण मन्त्र को प्रहरणकर्म में विनियुक्त न मान कर मन्त्र के चार विभाग कर समन्त्रक ही चारो कर्मों का विधान है। साथ ही सामान्यविधिर स्पष्ट संहियते विशेषत (तत्रवा ३।४।४७) के अनुसार विशेष वधि प्रधान बन जाती है। अत मन्त्र के चार विभाग कर चारो कर्म समन्त्रक ही करना न्यायप्रात है।

प्रथम प्रहरणानन्तर अपाररु मिति द्वितीय प्रहरणादि (का श्रौ २।६।१४) के अनुसार अपाररु प्रथिवि देवयजनाद् वध्यासम् (१।२६) (प्रथिवि के इस वेदिरूप देवयजनस्थान से अररु नाम क असुर को मृत्युसम बनाता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ द्वितीय प्रहार करता है। अनन्तर मन्त्रशेष के पूर्वानुसार तीन विभाग कर क्रमशः पुरीषादान वेदिप्रक्षरण पुरीष का उत्कर म उत्सग ये तानों कर्म करता है। इसप्रकार यथापूर्व द्वितीय प्रहरणादि कर्मों के अनन्तर—अभियस्य यग्नीदुत्कर मररोदिव मिति (का श्रौ २।६।१५) के अनुसार अररो दिव मा पत्त (हे अररो असुर। द्य लोक क्री और मत जा) यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र नामका ऋक् दोनो हाथों से उकर का (तद्गत प्रक्षिप्त पुरीष का भी) स्पश करता है।

द्वितीय प्रहरणानन्तर—द्रप्सस्ते इति तृतीयम् (का श्रौ २।६।१६) के अनुसार द्रप्सस्ते मा स्कन्दन् [हे वेदिदेवते! आपका जो उपजीव्य रस है वह च्युत न हो] यह मन्त्र बोलता हुआ अ वय्यु तीसरा प्रहार करता है। मन्त्र के-वषतु ते द्यो इत्यादि तीना भागो से क्रमशः पुरीषादान वेदि-प्रक्षरण पुरीषोसग-तीनों कर्म करता है। तृतीय प्रहरण के अनन्तर—तूष्णीं चतुथ सत्रणम् [का श्रौ २।६।१७] के अनुसार चौथा प्रहार पुरीषादान वेदिप्रक्षरण पुरीषोसग चारो कर्म तूष्णी ही करता है। पूर्व के तीनों प्रहारो में स्वयं के साथ युक्त तृण को पुरीष के साथ उकर में नही डाला जाता। परन्तु इस चौथ प्रहार के अनन्तर पुरीष के साथ साथ ही तृण भी उत्कर में डाल दिया जाता है। इस

प्रकार त्स चोथे प्रहरणकम्म म तूष्णी प्रहार करना और पुरीष का सतृण उमग करना ये दो विशेष धम्म हैं ।

प्रकृत ब्राह्मण म केवल इन चारो प्रणारो की ही इतिहास-वृत्त इतिवृत्त यथा [पद्धति] बतलाइ गइ है । काताय-श्रात-सूत्र सिद्धान्त के अनुसार पद्धति का दिग् शान करा दिया गया । अत्र तत्त्वज्ञान की ओर ही विज्ञानप्रमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है ।

इति-सूत्रानुगतपद्धतिसग्रह

—*—

[भाष्य]-वदिक साहित्य के निगूढतम रहस्यो का आशिकरूप से म परिचय प्राप्त करने वाले विद्वान् महाभुभाव यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं करग कि ब्राह्मणग्रन्थोक्त तत्त्व प्रकरणावशेषा के यथा-वत् समन्वय के लिए तत्त सामान्य विज्ञान सिद्धान्तो का आश्रय लेना परम आवश्यक है । स्वयं मूलग्रन्थ म भी विषय समन्वय के लिए शली-भे से ध्यान स्थान पर उन मौलिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला है । प्रकृत विज्ञानभाष्य में भी विषय समन्वय के लिए हम उसी पुनरुक्तिमूला आपशाली का अनुसरण करना पड रहा है ।

हविर्ब्राह्मण उपरत हुआ अत्र वेत्तब्राह्मण ग्रार म होता है । बतानम्माण का मूलाधार प्राकृतिक नित्य यज्ञ है । प्रकृति में [आधिपत्य-सौरमण्डल म] निरन्तर अग्नीषोमामक यज्ञ हो रहा है । इस अग्नीषोमामक यज्ञ की हविर् योनिषोम भेद से दो अस्तगए हैं । हवियज्ञ का प्रतिष्ठारूप भूपिण्ड स सम्बन्ध है व योतिष्ठोम का आदिति नाम से प्राप्त महिमारूपा ३ अहगणामका स्तान्या प्रथिवी स सम्बन्ध है । भूपिण्ड पर रहने की ओषधि वनस्पतिया हविरूप है । भूपिण्ड के केन्द्र से निकलने वाले सौरभागावच्छिन्न आ वनीध्र म यह सोम [हवि सोम-ग्रन्नसोम] निरन्तर आहुत होता रहता है । पार्थिव अग्नि के हवि सोमामक समन्वयरूप हवियज्ञ म ही भूपिण्ड पर रहने वाली थावर बज्जम प्रजा का निर्माण होता है । त्सी प्राकृतिक भूपिण्ड-सम्बन्धी नित्य हवियज्ञ की प्रातवृत्ति से हमारे इस वध हवियज्ञ का ऋचिर्बो के द्वारा अवतान किया जाता है । इस हवियज्ञ से यज्ञकर्ता यजमान का आत्मा भूपिण्ड की चर अचर विभूतियों का भोक्ता बन जाता है ।

यावती वेदिस्तापनी प्रथिवी त्त्य वै वेदि इत्यादि श्रौत सिद्धांतो के अनुसार प्राकृतिक नित्य हवियज्ञ की वृत्ति सम्पूर्ण भूपिण्ड है । इस भूपिण्ड का सम्पूर्ण ही भाग वेदि नहीं है । काण- देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजाप या पस्पधिर के अनुसार प्रजापति से उत्पन्न देवता आ असुर निरन्तर पर-स्पर स्पर्द्धा करते रहते हैं । भूपिण्ड में देवता का भी भाग है एवं असुर का भी भाग है । भूपिण्ड के केन्द्र में रहने वाला भूपिण्ड का प्रभव प्रतिष्ठारूप प्राणामक अग्निताव प्रजापति है । इम पिण्डस्थ दूसरे शब्दों में गभस्थ आग्नेय प्रजापति को अक्षर कहा जाता है । तात्पर्य यही है कि भूपिण्डकेन्द्र में यह प्राजा-पत्याग्नि २४ अश के व्यासाध स [४८ अश के परिसर से] अपनी एक सस्था बनाता है । त्सी स्थिर प्रापतिरूप अग्नि-कीलक के आवार पर भूपिण्ड चारो आर घमता हुआ अहोरात्र का कारण बनता है ।

यह प्रजापति धुर स्थानीय है अतएव इसे-अक्ष कहा जाता है। इस स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाला दानानगात के प्रभाव से ही भूपिण्ड देवता असुर-भे से दो भागों में परिणत होजाता है। चित्र देवानामुदगात के अनुसार मोरमय त दग्मय है। यह देवतामय सौरप्राण भूपिण्ड से सञ्चित होता है। भूपिण्ड का ना भाग सूक्ष्म की आर र ता है व अस सौरप्राण के स बंध से देवतामय बन जाता है। एव भूपिण्ड का व भाग जा सौरप्राण से सञ्चित न होने से तमामय रहता है असुरमय है। असुरभाग में अवस्थित पाथिव अग्नि को सहरक्षा क ा जाता है। यह सहरक्षा पाथिव अग्नि असुरों का दूत माना जाता है। सौरभागवाँछुव अह प्रकाशयुत भूभागस्थ अग्नि अग्नि कहलाता । सी दि यदूत क लिए अग्नि नूत वृष्णीमह होतार रनधातमम् यह कहा जाता है। भूपिण्ड स्वस्वरूप स सवथा कृ ण है। माला है। इसम स्वस्वरूप स भूत योति ना अभाव है। भूपिण्ड को आवृत्त करने वाला यह तमोमय प्राण ही सब वृत्त्वा शिष्ये अस यु पत्ति स वृत्र नाम का असुर है। जबतक सौर ज्योतिम्मय प्राण का भापण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक भूपिण्ड पर एकमात्र तमोमय वृत्रप्रधान असुरो का ही साम्राज्य होता है। असुरभाव यज्ञ का विरोधी है। कारण स्पष्ट है। आग्न मे सोमाहुत का होना ही यज्ञ है। साम यज्ञ है। आग्न दाहक है। दा क अग्नि मे आहुत होकर दाह्य सोम जल पडता है। प्रकाश हो पडता है। प्रकाश प्रवक्त क आग्न सोमाय यज्ञ के साथ तमोमूलक असुरो का निरोध करना स्वाभाविक हो- जाता है।

देव-देवताओं का विकासभूमि सूक्ष्म है एव असुरो का साम्राज्य पानी में रहता है। सूक्ष्म में रहने वाला चञ्चलकर्मय रूपाधिष्ठाता अमृत प्राण इन्द्र है। पारमेष्ठ्य वाक्प्राणमण्डल में रहने वाला आवरक तमोमय प्रकाश का विरोधी प्राण ही वृत्रासुर है। सौर इन्द्रप्राण बुद्धिवदक है एव पारमेष्ठ्य प्राण प्राण दूसर शान्त में आप्यप्राण बलवदक है। बल की कुवदरूपावस्था (जाग्रदावस्था) का नाम हा प्राण है। इस शरीरबलरूप प्राण का प्रदाता यही आप्यप्राण है। अतएव असु [प्राण-बल] राति न्दाति] इस यु पत्ति स से असुर कहा जाता है। बात यथाथ है। बिना पानी के शरीर में बल का सञ्चार कथमपि नहीं होसकता। इसलिए बलवान् को पानीदार कहा जाता है। जिस मनुष्य के शरीर का बल नष्ट होजाता है उसके लिए असका तो पानी मर गया पानी उतर गया यह कहा जाता है। यदि आप अपने शरीर में शिथिलता का अनुभव करते है तो पानी से स्नान कर डालिए। उसी समय स्फूर्ति आजायगी शरीर निर्भर [हलका] होजायगा शरीराग्नि जाग्रत होपडगा। सुखालस्य [चेहरी की सुस्ती] तो ठंड पाना से मुख का मांजन कर लीजिए आलस्य पलायित होजायगा। अपत व की वसी प्राणप्रदा- शक्ति को लक्ष्य में रखकर आपोमय प्राण [छा उ] यह कहा जाता है।

यह आप्यप्राण परमस्त्रीमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है। सौर दिव्यप्राण की अपेक्षा यह त्रिगुणित है। अतएव इसे ज्याथान् कहा जाता है। इधर सौर देव-देवता सख्या में ३३ ही हैं। बुद्धित व का विकास करना इसी सौरत्व का काम है। इसीलिए सौर सविताप्राणमय दिव्यतेज के लिए धिया यो न प्रचोदयात् यह कहा जाता है। द्युतिभाव (प्रकाशभाव) के कारण ही इस सौर ज्योतिम्मय तव को देवता कहा जाता है। हमारे आध्यात्मिक ागत् में देवता और असुर दोनों का आगमन होता है। आसुरभाव से हमारी शरीरसस्था की रक्षा होती है एव दिव्यभाव स विज्ञानतत्त्व सुरक्षित रहता है। विज्ञान और बल दोनों की समष्टि अहम् है।

यदि दुभाग्य से न शरीरबल के अनुगामी बन जाते हैं। एव विज्ञानबल का जितना स्पर्श लगते ता माग गतिम्भय आमा मलन होता है। मणिपुत्रिका कालग विशेषत ब्राह्मण के लिए त यन् आशुशुक् क्त प्र होताता है कि य शरीरबल की अपेक्षा विज्ञान का ही उपासक बने। अहागत्र शरीर की सोन्दर्य्य वृत्ति मी निमग्न ना अतश शरीर का ही यन प्र। अथप्रति नवीन नवीन प्रशभूषा म मल। अतय मय आसुरवम्भ ह। जिम मय अत शरीर विरोचन प्रतापात के समीप आ मस्वरूप ता। तजाभा लेकर सनिन्पा ही हो जाते उम समय दवन्तो तो आमा का वास्तावक स्वरूप ममभ लेत है। कि तु शरीरस्थता मा आराधना करने वाले य विरोचन असर मयशरीर को ही आमा मान कर उसी की सजा शुभ्रुषा म निमन र त हुए अमृतभाप से सर्वा मना पग परागत (त्रय त विदर) गेनाते । (देवगए न्ना येयपनिषत्)।

आज भारतप्रथ तमात्रध भाग का ही अनुगमन करता जा रहा है। खाना पाना मान उडाना नमी सिद्धान्त के सबसेसर्वा मानने वाले उलप्रधान पाश्चायदराक मात्रामय रग स अन्त पाश्चा-याशक्षा से दीक्षित हमारे भारतीय नवयुवाका आज इसी प्रगाला स सपनाशो है। आज प्र सचमुच माज उडा रहे ह। मोज आनन्द है। भारतीय आदश आन को आता नी आपतु मग्रह करता । य म अनुमाय अपने सञ्चन आनन्द को आज उडा रह ह। हमारा शरीर आगुमाय मी कष्ट न पाव अध बधिर कु न गामन पण्ड मूक आदि भावा से युक्त सवथा अममय मनुष्य जैसे खाने-पीने मान चलन आदि अपनी शरीर-क्रियाओं के लिए परमुवापेक्षा बनार ता ह वही शा आज नम दश की है। इमप्रकार केवल कल्पित तत्त्व की आराधना करने वाला आन का भारतीय समाज अतवग से विनाश के गत म जा रहा है। आज नका अपन आदम पर सुरान्तन रखने वाला मा प्रतात नही हो रहा ।

द्वितीयबल को ही प्रधानता दन वाले उन आप्त महर्षियों के शास्त्रीय वचना पर आज इनको अशु-मात्र भी विश्वास नही है। यदि माभाग्य से कहिए अथवा दुभाग्य स को याक्त ह सागवान करन आता है तो बलसत्ता के गव से म तव बन हुए प्रदशनमात्र के लिए बन्मरक्तक भक्तराज-ममाज सेयक बने हुए कुल्ल एक रंगराञ्जित शृगाल प्रच्छन्नाप्रण में (परद की आटम) उस यक्ति को दात कर मी अपन आपको कृतकृत्य ममभत है। इसका कारण है केवल बल की आराधना। बल आ विज्ञान का पारस्परिक शक्तियों की तुलना करते हुए एक स्थान पर उपनिषत् न कहा है कि बल मात्र विज्ञानान्भूय । ससा-रिक दृष्टि स बल विज्ञान से अग्रगामी बन जाता है। यान बल आर विज्ञान (सत्ताबल आर बुद्धबल) दोनों प्रतिस्पर्द्धा मे खडे होते हैं ता बल का विजय हाजाता है एव विज्ञान पास्त गजाता है। सच-मुच आरम्भ म ऐसा ही हाता है। सत्यनिष्ठा पर प्रतिष्ठित विज्ञानतत्त्व दयप्राणमय है। उधर अनृतभाव पर आरुढ सत्ताबल (धनबल शरीरबल आदि भौतिक बल) आसुर प्राण-मय है ।

दवता सरया में भी यून (३) है एव आवरणमूला (तमामूला) सृष्टि म योत मय ये विज्ञान-प्रधान देवता प्रकृति से भी अभिभूत रहत ह। उधर असुर मर्या म भा आधक (६६) हैं एव सृष्टि में भी

ह्री का प्रगणना ती है। अतएव देवासुररूप विज्ञान एव बल की प्रतिद्वन्द्विता म मसारक दृष्टि स
 छ काल के लिए सत्यविज्ञान ही आमभूत होजाता है। असुरबुद्धि मानवसमाज इस दिव्यतव को पस्त
 हुआ समझ कर गव स मटमत्त बन जाता है। परन्तु आगे क्या होता है? सुनिए। आग जाकर परिमाण म
 वह असुरसमाज एसा दृष्ट होता है कि उस पुन भविष्य म घोर अधकार के अतिरिक्त अत्रय कहीं स्थान
 नहीं मिलता चसकि आगे के मात्रभाग से स्पष्ट होने वाला है। दिव्यकार्यानुयायी यक्ति का सर्वप्रथम
 विज्ञानशून्य बन के उपासका के द्वारा तिरस्कार होता है। कारण—आगमशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार
 लक्ष्मी का वाहन उल्लू माना जाता है। यह पक्षी रात्रि का राजा है। अधकार का अधिपति है। अह—
 काल और है रात्रि वाक्यगी है आपामयी है। रात्रि का अधिष्ठाता यही आपोमय रोदसी समुद्र अरण्य नाम
 से प्रसिद्ध है। आप्यप्राणमय होने से यह समुद्र असुरों की आवासभूमि है। विष्णुपत्नी लक्ष्मी का विानगम
 इसी असुरभूमि स हुआ है। उल्लू वाहन असुरभूमि म स्थान फिर क्या कमी रही। जहा श्रीविहीना
 (शारदाविहीना) केवल लक्ष्मी का विकास रहता है वं अयाचार—अन्याय—छल—धोका—आभमान—आदि के
 अतिरिक्त और क्या होसकता है? भारतीय महर्षि स अवक को समझते थ। उह विदित था कि
 लक्ष्मी का ताण्डवनृत्य मनुष्य को पशु बना डालता ह। स आपत्ति स बचने के लिए स कारुणिक
 ऋषियान प्रत्येक सद्ग्रहस्थ के साथ सरस्वती के उपासक एक एक कुनपुरोहित का सम्बन्ध रखना आवश्यक
 बतलाया है।

जब जब भी ये मदा व यनिक तमी के प्रभाव स अनाचार करने के लिए उद्यत होते हैं तब तब
 यही निस्वाधा पुरोहित विद्यात्रल से नका नियन्त्रण करता है। कहना न होगा कि दुर्भाग्य से आज यह
 प्रणाली सवथा दूषित होगइ है। ससार म या आज को मूल्यनात है तो यह कुल पुरोहितजाति ही। भग
 चरस गाजा पीना लक्ष्मी के लाडलो की दया पर जीवन विताना धनिकों की हा में हा मिलाना हाथ
 जोड स मदा वो की स्तुति करते रहना ही न पुरोहिता का एकमात्र प्रवान कत य रह गया है। जहा कहीं
 इन लक्ष्मीवरा पर सय की फटमार पडती ह वही ये चापतूस आशाक्षत पुरोहित महानुभाव काप उठते
 हैं। इह डर होता ह कि कहीं हमारी आजीविका न छिन जाय। इस भय से बचने के लिए ये नरपि—
 शाच अपनी राजसी लीला का ता डव नृत्य आरम्भ कर देते हैं। नाममात्र को ये अपने इस जत्र
 न्य काय में सफ न भी होत हैं। परन्तु व सय आक्रमण आग जाकर इनको सर्वथा ही अभिभूत कर
 देता ह।

समस्त विज्ञानत म उपासको से स यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि इस विश्व
 प्राङ्गण में देवी एव आसुरी दोनों ही विभूतिया नृत्य कर रही है। नैवीविभूति में आरम्भ में कष्ट है
 किन्तु पाणाम म आनन्द है। आसुरी विभूति के अनुगमन स आरम्भ म सुगभास है किन्तु पारणाम में
 सननाश है। यत्राप यह सन्तुष्य है कि त्रीस पत् के उपास को पत् पद पर अवमानित होना पडता है
 स्वार्थियों के कुचक्र का लक्ष्य बनना पडता है। परन्तु कभी स आपत्तियों से डर कर अपने सयसङ्कप से
 आपको विभुग्य नहीं होना चाहए। वीरतापूर्वक सब विघ्न बाधाओं का सामना करते हुए अपने सास्कृतिक—
 लक्ष्य में अनन्यनिष्ठा स आरूढ रहना चाहिए। यदि आपका सङ्कप सय है यदि आप अन्तरामा से दि य
 विभूति का इस विश्व में विकास चाहते हैं तो किसी आपत्ति से न डरिए। आपके सत्यसङ्कप के सम्मुख बडे

स उडा मत्ताबल भी छिन्न भिन्न हाजायगा । जा वाथल लुप अजजन आपका शक्ति का विरोध करते ह व एक । न आपके चरण में मस्तक झुका दगे । अस प्रकार य आपन दन्तावृक् कालपुर का प्रतीना करते हुए आपन सयमङ्कप का अनुगमन किया तो न मदह आप नम अमरक आ टपन के अ वकारी बन चायँग जिसके नामस्मरण का भी उन असु वदिया को अतिकार नहा । देवासुरसग्राम नवीन नहा । सृष्टि के आर म स आज पयत का इतिहाम दन्व जा ए । सबन आपका देवासुरसग्राम क अन्वत दश्य उपल व होग । साथ ह आप यह भी रगक आर म म असुर जातत हुए िगाड दते ह परन्तु परि णाम में असुर नष्ट ही होग है । प्रकृत ब्राह्मणश्रुत आन एक एस ही प्राकृतक निय देवासुरसग्राम का रूप आपक सम्मुख ए रही है ।

पृव—प्रतिपादित देवासुरस्वरूप परिचय स विज पाठको को यह मलीभाति अवन्ति होगया गेगा क वता मर्यात मय न्द्रप्राण है । एव वारुण आप्य तमोमय प्राण असर है । स्वय स्यमण्डल म कभी देवासुर सग्राम नही होता । सारमण्डल याज्ञिक पारभाषा के अनुसार नवाहयज क लाता है । स्ताम्या प्रथिवी क व अहगण से आरम्भ कर सूर्यावम्ब के उपारभागस्थ अविद्यामह — अनुमरि — अगाकमहिम कामप्रलाक — महात्रन सौम्यत्रिद्युत् — अजुन आठ विविध नामो से प्रसिद्ध २५ व अहगण पय्य त ने वाला अग्नीषोमा मक यज्ञ ही नवाहयज कहलाया है । अस यज्ञ म क — क — क — क — क — क — ये नो अहगण ह । अतएव मे नवाहयज कहना न्यायप्राप्त होता है । अस नवाहयज क केन्द्र में २ व अहगण पर सूर्यप्रिभ्र अपनी सहस्र किरणों से तप हा है । अस नवा यज्ञमण्डल म कभी अवकार का प्रवश नही होता । अतएव अस स्थान को पुराणपरिभाषानुमा श्वेतद्वीप कहा जाता है । सूर्य सयत व है । साथ ही सौर—नवाहयज के चारो ओर अणवसमुद्र का वष्टन रहता ह । अतएव स श्वेतद्वीपनिवासी नवाहयजरूप विष्णु को सत्यनारायण कहा जाता । यहा केवल सय का ही साम्रा य है । म यामावो पेत असुरा का प्रवश यहा निषि है । इस प्रकार इस नवाहयज की सामा म रहने वाले सार न्द्र के साथ दूसर शब्दों म सौर दवताओ के साथ कभी असुरसड ग्राम स भव ही नही है । इन्द्र के मी विजयभाव का लक्ष्य म रखकर मन्त्रश्रुत कहती है—

न त्व युयुत्से कतमच्चनाहनतेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति ।

मायत्सा त यानि युद्धान्याहुनाद्य शत्रु न तु पुरा युयुत्से ॥

—शत ११।१।६।१२।

हे इद्र आर किसी से युद्ध नहीं करते । आप से कोई युद्ध नहीं कर सकता । ह मघवन् । ससार में आपका कोई शत्रु नहीं है । आरयानवेत्ता जो आपक साथ असुरा का सग्राम बतलाते हैं वह कल्पनामात्र है न पहिले आपका कोई शत्रु था न आज है । सका तापय्ययही है कि सौर न्द्र मघवा कहलाता है । इस दय इन्द्र के साथ सचमुच असुरो का कोइ सम्बन्ध नही होता । सम्बन्ध होता है केथल पार्थिव वासव न्द्र एव आतारदय चन्द्रबिम्ब—प्रतिबिम्बित मरुत्त्वान् इन्द्र के साथ । प्रकृत यज्ञ हा यज्ञ है । हावयज का सम्बन्ध भूपिण्ड स है । यहा का इन्द्र वासव है । ऐसी अवस्था म यह मान लेना पडता है कि प्रकृत देवासुर—आख्यान का भूपिण्ड—स वी देवासुरसडग्राम के साथ ही सम्बन्ध

इस आराधना में प्रधानरूप से सूर्य वृत्र स्फ्य यूप रथ शर इन पदार्थों का स्वरूप समझ जाना ही पर्याप्त होगा ।

भूपिण्ड क्रातिवृत्त के चारों ओर घूमता रहता है यह प्रकरण के आरंभ में ही बतलाया जा चुका है । अपने अन्त पर घूमता हुआ नदिनगति-समपक अहोरात्र-स्वरूप-सम्पाक स्वाक्षपरिभ्रमण सम्पाक भूपिण्ड का आधा भाग सूर्य के सम्मुख सौरप्रकाश-(मण्डल) से युक्त रहता है एव आधा भाग सूर्यविरुद्ध दिक् में तमोमय आसुरमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है । भूपिण्ड का आधा भाग सौरमण्डल में युक्त होता हुआ अह काल का स्वरूप समपक बनता है । स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण कभी देवस्थान को असुर अपने अधिकार में कर लेते हैं तो कभी असुरस्थान पर अवता आक्रमण कर लेते हैं । सम्प्रकार यह देवासुर सब ग्राम निरन्तर होता रहता है ।

तस्माद्वा एतस्मान्मान आकाश सम्भूत आकाशाद्वायु वायोरग्नि अग्नेराप अद्भ्य प्रथिवी इस श्रोत सिद्धांत के अनुसार भूपिण्ड का उपादान पानी है । इधर आप्यप्राण को हमने असुर बतलाया है । असुरप्रधान यह भूपिण्ड किसी समय केवल वृत्र असुर के ही अधिकार में था । ता पर्य्य यही है कि जबतक भूपिण्ड के साथ सौर मण्डल का सम्बन्ध नहीं होता तबतक भूपिण्ड तमोरूप वृत्रासुर के ही अधिकार में रहता है । साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जबतक सौरप्राण का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक यज्ञकर्म भी सम्भव नहीं हो सकता । मरण मर्यादा यही है कि मानुषात्मा में वैधयज्ञ के द्वारा दिव्य सौरप्राण को प्रतिष्ठित करना मरण नहीं मानी है । उपादान उपन्न कर इसका मानुषात्मा के साथ प्रथिवीबन्धन करना ही यज्ञ का मफल है । आहुत आ वनीय म ही दी जाती है । आहवनीय अग्नि सौर है । अतः बिना इसके सम्बन्ध के यज्ञ का स्वरूप कथमपि संभव नहीं हो सकता । जबतक सम्पूर्ण भूपिण्ड पर तमोमय वृत्रासुर का अधिकार है तबतक सौर आहवनीय प्रतिष्ठित नहीं हो सकता । बिना यज्ञ के पार्थिव-संस्क्रान्तुगण अत्रोरात्रानुगामी मन्त्र का स्वरूप निष्पन्न नहीं हो सकता । बिना सम्बन्ध के प्रजासृष्टि नहीं हो सकती । प्रतीपात का प्रदान काण अग्नीषामा मक यज्ञ ही है जैसा कि यज्ञश्वर भगवान् कहते हैं—

मह यज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोगाच प्रजापति ।

अनन प्रमण्डिय वमष वोऽस्त्वष्टकामधुक ॥

—गा ३१

इस यज्ञमन्त्र के लिए मन्त्रमन्त्र प्रणवान् मय प्रजापति की कामना से सौर मण्डल का भूपिण्ड पर आगमन होता है । वि । इच्छा के काण्डक म नहीं होता एक माना हुआ मन्त्रान्त है । सौरप्राण भूपिण्ड पर आता है । सम्पक मक प्ररक अस्म । ति न्नी हैं । ऐसी अर्थ में मानना पड़ता है कि किसी अलौकिक शक्ति की प्ररणा मन्त्री यह क मन्त्रा है । उहा अलौकिक शक्ति प्रजापति नाम म प्रसिद्ध है । प्रजापति की प्ररणा से उस अन्तर्ध्यायी अन्तरग्रह की कामना से मन्त्र अपने वज्र का वृत्रासुर पर प्रहार करते हैं । स्वयं मन्त्र भूपिण्ड पर रहने वाले वृत्र के साथ मन्त्र नहीं होते । अपितु इन्में अपने वज्र का प्रयोग करते हैं । मन्त्रप्राणामक सूर्य के केन्द्र में निकल कर चारों ओर वृहत्साम का स्वरूप संपादन करती हुई सौर-रश्मिया ही उज्ज्वल है । नियन्त्रण के लिए जो सौर रश्मिया उपादेव हैं उपकारक हैं ग्राह्य हैं व ही रश्मिया

भूपण्ड एव अथकारणं ब्रह्मण के लिए विनाशक शत्रु है। शम्भु भी कमा महाकामे अथथ विद्युत्-रूप। मीलिते एन रश्मयो ना वृत्रासुर की मन्त्रापन वज्र कहा ह। वज्र प्राता है असुर नष्ट हो-जात ह। भूपण्ड के आधे भाग म प्रकाश होजाता है दूसरे श। में आधे भाग म सौर विद्युत् सायनगति प्रतिष्ठित मानता है। उस आ वनाय म आपविमोम आन्त नेता है आर था पार्थिव विद्युत् सम्पन्न हो जाता है।

याच काच बलकृतिरन्तिकम्पतत् स यास्कासन्तात के अनुसार बल का अधिष्ठाता है। अस वज्र के अवातर अनेक भे है। उनम से प्रकृत में नाटनाबल की ओर ही आप का यान आर-र्षित किया जाता है। प्ररणाबल का ही नाम नाटनाबल ह। यह नो नाबल प्रपत्त क-निपत्त क-स्तम्भक भे से तीन भागो में विभक्त ह। भूपण्ड में सौर के तना प्रकार के नोनाबला का उपभोग होता है। इन्द्र की विद्येपणशक्ति से ही भूपण्ड सूर्य के विरुद्ध भाग म जाता है। इन्द्र यज्ञबल से पुष्ट हो। है। यज्ञ से प्राप्तशक्ति इन्द्रवृषभ रश्मिरूप शृङ्ग से भूपण्ड के टोकर मारता है भूपण्ड चल पडता है। भूपण्ड के इसी परिभ्रमणविज्ञान को लक्ष्य म रखकर ऋषि कहत ह—

यज्ञ इन्द्रमवद्धयत्—यद्भूमि यवत्तयत।

चक्राण ओपश दिवि ॥

—ऋक्स ८।१४।५

यह इन्द्र के प्रवत्तक बल की ही महिमा है। साथ ही निवर्त्तकबल का भी प्रयोग होता है। स निवत्तकबल मे भूपण्ड सूर्य से विरुद्धगति में जाता हुआ भी अपने नियतभाग को नहीं छोडता। प्रवत्तक-बल धक्का मर भूपण्ड म विरुद्धगति उपन्न करता ह तो निवत्तकबल उमें अपनी ओर आकर्षित करता है। इधर से स्तम्भकबल भूपण्ड को क्रान्तिवृत्त में युत नहीं होने दता। मप्रकार इन्द्र का यह नोदना-बल (विद्येपणशक्ति) भूपण्ड पर तीन स्वरूपा से अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है।

यज्ञ के सम्बन्ध से यही इन्द्रबल स्तम्भक-कषक-प्रतिष्ठा-संहार-भेद से चार भागों में विभक्त है। वृत्रासुर पर प्रक्षिप्ता ऐन्द्री वज्रशक्ति चार भागों में विभक्त होनी जासकती है। बलि के लिए आगत पशुओ को यूप में बाँधा जाता है। उनका स्तम्भन किया जाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यूप इन्द्रशक्तिमय है। यूप में जो स्तम्भनशक्ति का विकास है वह इसी इन्द्र का काम है। स्तम्भन शक्ति है। भूमि-विलेखनाथ दोनों ओर धार वाला तीक्ष्णाय (आगे स नुकीला) जो काष्ठ का सीधा खड्ग होता है वही स्तम्भन है। वदिकरणाथ इस स्तम्भन से मिटनी को शुद्ध किया जाता है। यह कषण-यापार इसी इन्द्र का यापार है। रथ में प्रतिष्ठित होकर महारथी क्षत्रिय शत्रु का दमन करते है। प्रतिष्ठाभाव गतिसमष्टि है। गति हा इन्द्र है। शर तो साक्षात् इन्द्र का स्वरूप है ही। अपनी विद्येपणशक्ति से इन्द्रस्वरूप को उच्छिन्न कर देना तो इन्द्र का प्रथम एव मुख्य ही काम ह।

एक ही इन्द्र ब्रह्म क्षत्र वीर्य भे से उपयुक्त चार भागों में विभक्त होरहा है। इन्द्र क्या विभक्त होरहा है इन्द्र का वज्र (इन्द्र की शक्ति) चार भागों में विभक्त है। एक ही इन्द्रशक्ति चार भागो

में विभक्त अवश्य है परन्तु इन चारों भागों को समान नहीं माना जा सकता। कषण-स्तम्भन प्रतिष्ठा संहार-चारों शक्तियों के बल में तारनम्य है। वही विषमता को लक्ष्य में रखकर यावद्वा कहा है।

इन चारों वीथ्या में स स्तम्भनलक्षण यूप एवं कषणलक्षण स्फ्य का उपयोग ब्राह्मण करते हैं। रथ एवं शर का उपयोग क्षत्रिय करते हैं। क्षत्रिय इन पाँच शस्त्रों से आग्निभातिक असुरों को एवं ब्राह्मण यूप तथा स्फ्य से आध्यात्मिक असुरों को नष्ट करते हैं।

तथोक्त चारों शस्त्रों में यूप-स्फ्य ब्रह्मवीथ्यप्रधान होने से शांत हैं रथ और शर क्षत्रवीथ्यप्रधान होने से उग्र हैं। इन चारों में भी शर महाउग्र है। इसकी शक्तियाँ विशीण रहती हैं। शर का अग्रभाग ऐसा तीक्ष्ण होता है कि तब यह प्रावृष्ट होता है क्षिप्र भिन्न कर देता है। अजुन के गाण्डीव से निकले हुए इही शरों से कुण्डलवृद्धपितामह भी मर का शरीर विशीण हो गया था। अङ्ग अङ्ग को विशीण करने वाला शर सचमुच विशीणशक्ति से युक्त है। इस विशीणभाव के कारण ही तो इसे शर कहना अर्थात् होता है। शर की शरता का निरूपण करते हुए ऋषिने— तस्माच्छरो नाम—यदशीय्यत यह कहा है।

यद्यपि इन चारों में स स्फ्य और यूप को हमने ब्रह्मवीथ्यप्रधान बतलाया है। परन्तु यह ब्रह्मभाव केवल कम्मसापेक्ष ही समझना चाहिए। अर्थात् ब्राह्मण है। वह यज्ञ में इनका प्रयोग करता है इसीलिये इन दोनों शस्त्रों को ब्रह्मसत्त्व ही कहा जा सकता है। वस्तुतस्तु शस्त्र शस्त्र है। मारण का साधन है। मारना क्षात्रधर्म है। अतः रथ-शरवत् हम यूप और स्फ्य को भी क्षात्रतेजायुक्त ही मानेंगे। इन्द्र स्वयं क्षत्र-देवता हैं। इन्द्रविष्णु हो वज्र है। य वज्ररूपा असुरपतिनी इन्द्रशक्त ही तो पूरकथनानुसार चार भागों में विभक्त होती है। यज्ञमर्यादा को प्रधानता देते हुए ऋषिने— द्वाभ्या ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्या राजयवधय सत्याव यह कह दिया है। वस्तुतः ये चारों ही क्षत्रिय के आयुध हैं।

जब क्षत्रिय युद्धभूमि में श्रवणी होता है तो उसे वजा रथ खड्ग शर-धनुष (तीरकमान) इन चार प्रधान साधनों को साथ रखना पड़ता है। वजा युद्ध का प्रधान चिह्न है। वजा ही क्षत्रिय का प्रधान बल है। वजा ही क्षत्रिय की त्रिपदा का प्रधान सूचक है। यह वजा वैदिक भाषा में यूप नाम से प्रसिद्ध है। जब वजा गिर जाती है (भूडा नीचे झुक जाता है) तो क्षत्रिय पराभूत मान लिया जाता है। प्राचीनकाल में (वत्तमानकाल में भी) वजाभेद से ही तत्तद्राष्ट्रों के नरपतियों का भेद सूचित होता था। जिसे वत्तमान जगत् मोनोग्राम कहता है वही हमारी ध्वजा है। अपने अपने राष्ट्र का राजा भिन्न भिन्न शक्तियों की आराधना करता हुआ उन उन शक्तचिह्नों को वजा में अङ्कित रखता है। भगवान् कृष्ण की वजा में गरुड का चिह्न था। कारण उनका प्रसार गरुड के द्वारा ही होता है। इधर गरुड नाम है सुपण का। सुपण साक्षी ईश्वर है। अतः तदशभूत कृष्ण ने अपनी वजा में गरुड को ही स्थान दिया। अतएव भगवान् कृष्ण गरुडध्वज नाम से प्रसिद्ध हुए।

जिस समय भगवान् रामचन्द्र ने वनगमन किया था उस समय मागगमनपरिश्रमजनित खेद को शांत करने के लिए व प्रथम प्रथम जिस वृक्ष की छाया में अनुज लक्ष्मण एवं पतिव्रता जगमाता सीता

के साथ विश्राम के लिए लिए बैठे थे वह कचनार का वृक्ष था। जब भगवान् ब्रह्मण्य समाप्त कर पुनः श्रयो या पधारं तो उन्होंने विश्रामवृक्ष को अपने लक्ष्य में रखते हुए अपनी वजा में वृक्ष कचनार के वृक्ष को अङ्कित किया। इसी आधार पर महर्षि वासीष्ठी ने— काञ्चनार उजा राजा यह कहा है। सूर्यवश के मूलप्रवक्तक सूर्यभूमनु की ६३ वीं पीढ़ी में भगवान् रामचन्द्र का आविर्भाव हुआ था। यहाँ आकर सूर्यवश धरती होगया। भगवान् रामचन्द्र से आगे होने वाले राजाओं ने इस वज्रचिह्न का अनुगमन किया। वक्तमान भारत में भी जयपुरराजधानी ही एकमात्र ऐसी राजधानी थी जहाँ उजा में तो नहीं किंतु रूप में उसी वृक्ष का चिह्न अङ्कित था। जयपुर का रूपय्या इसी वृक्ष के कारण भ्राडशाही नाम से प्रसिद्ध है। यह भ्राड सूर्यवश का गौरवभक्त स्मारक चिह्न ही है।

इसीप्रकार उत्तरपुर की वजा में चील का चिह्न है। आगमशास्त्र के अनुसार चील को शक्ति व की विकासभूमि माना गया है। इसीलिए शाकनशास्त्रवत्ताओं ने किसी काय्यवश घर से बाहर निकलने वाले व्यक्ति को यदि सवप्रथम चील के दशन हो जाते हैं तो शुभलक्षण माना है। रावण की वजा में गदभ का चिह्न था। गदभ पाण्डित्य कपाल में लिप्त आसुर-रस से उपन होता है। अतएव रावण ने इसे अपने वज्र में स्थान दिया। वैदिक गूढतम रहस्यों से सवथा अपरिचित केवल वज्र के नाम का पारायण करने वाले कुछ एक महाशय लोग बिना भावे समझे अज्ञतावश भारतीय आख्यानोपाख्यानो पर यज्ञ का वा विधान किया करते हैं। रावण के मस्तक के सवध में भी उनकी ऐसी ही आति है। कलिकमषर्षा। जगदुद्धारिणी परमपावना वामीकि राम यज्ञ में रावण के १ मस्तक बतलाए हैं। ११ वा मस्तक गधे का बतलाया है। इसका कारण यही है कि राजसेश्वर लङ्काश रावण का साम्राज्य १ प्रधान अमायों के आधार पर चलता था। इन दसों में रावण के मातुल शालकटङ्कट सवप्रधान बलशाली थे। इन दस प्रमुखों के बल पर रावण शिवावजयी बन गया था। भगवान् रुद्र की आराधना से इसने अपने इन प्रमुखों का बल बढ़ाया था। प्रमुख स्थान सुर्य है। सुर्यभाग शरीर में मस्तक है। अतएव ये १ सो अमाय रावण के मस्तक कहलाते थे। आज भी प्रमुख को मण्डली का मस्तक शिरमोर माना जाता है। वजा-चिह्न सव से ऊँचा है। यी सर्वोपरि रहने वाला रावण का ११ वा गदभ का मस्तक है।

इसीप्रकार किसी का चिह्न नादिया है किसी का अश्व है तो किसी का सिंह है। किसी का खड्ग है। इन निदर्शनों से प्रकृत में हमें यथी बतलाना है कि वजा क्षत्रियवीरो का एक सुर्य चिह्न है। दूसरा रूप्य है। एकत धारयुक्त वक्रित शस्त्र चन्द्रहास (तलवार) कहलाता है दो ओर से दुधारा आगे से नोकदार सीधा शस्त्र रूप्य कहलाता है। यही खड्ग क्षत्रिय के कमरबन्द में सदा खचिन रहता है। यह क्षत्रिय का सहचारी शस्त्र है। जब भी क्षत्रिय बाहर निकलेगा तो खड्ग साथ लेगा। कारण वह क्षत्र से त्राण करने वाला क्षत्रिय है। क्षत्रिय के सम्मुख कोई अनाचारी यदि निरपराध को क्षत्र कर देता है अथवा क्षत्र करने को उद्यत होता है तो क्षत्रिय तत्काल खड्ग से उस आततायी की भलीभाति चिकित्सा कर देता है।

बिना प्रतिष्ठा के शस्त्र प्रहार नहीं होसकता। यह प्रतिष्ठामूमि ही रथ नाम से प्रसिद्ध है। सम्मुख उपस्थित शत्रु का वध तो खड्ग से किया जा सकता है। परन्तु जो शत्रु अन्तर पर है उसके शरीर

को पिशीग कमे किया जाय ? मके लिए क्षत्रिय को धनुष और तरपूरित निषङ्ग [तरकस] रखना पडता है । यहा सन्धाध [अतिद्विद्विता मन्-युद्ध] का चौथा साधन है । इन्द्र क्षत्रवत्स का प्रवक्त क देवता है । वही क्षत्रिय का आमा जनता है । आमेन् स्वय क्षत्रिय है । विभतिरूप विद्युदिन्द्र के चतुर्द्धा विभक्त उपयुक्त चार साधन ह । याद क्षत्रिय उभयवत्स से युक्त है तो सन्धाध [मुठभेड-रण] में विजयश्री निश्चित है ।

यज्ञ में भी असुरो का प्रवश होता है । यह वायव्य आसुर प्राण यज्ञविघातक होता हुआ यज्ञ का शत्रु है । यहा रथ और शर की आवश्यकता नही । मारण शत्रु यज्ञमण्डल में ही है दूर नही है । भूपिण्ड में प्राप्त मृगमय आसुरप्राण को ही तो नष्ट करना है । अत लौहमय शस्त्र की भी आवश्यकता नही है । अतएव यह यज्ञिय वजा (यूप एव यज्ञिय त्व ग (स्वय) काष्ठ के ही बनाये जाते हैं । भूपृष्ठ से प्राणरूप दवाग्नि निकल रहा है । आगन्तुक वृण दूषित मन्टी आदि इस प्राणाग्नि के स्वरूप को आवृत करने वाले वृत्र-असुर हैं । इनको स्वय से प्रथम कर पहिले भूमिशोधन करना आवश्यक होजाता है । जब वृण-पुरीष करीष आदि मलरूप असुर हटाकर भागण्ड का वास्तविक स्वरूप प्रकट कर लिया जाता है ता उस स्थान का प्राणाग्नि विकसित होजाता है । भूपिण्ड का ऐसा स्वच्छ प्रदश ही यज्ञिय-वदनि माण के लिए उपयुक्त है । यह तो हुआ आविदिक चित्र अत्र सन्धेप से आया मन् एव आधभौतिक (ऐतिहासिक) चित्र का भी समन्वय कर लीजए ।

हमारा शरीर एक आयामस्मान् । शरीर भूपिण्डस्थानीया यज्ञिया वदि है । इस शरीरवद के तीन स्थान प्रधान ह—मूलावात मन्थ मस्तक । इन तीनों स्थानों मे क्रमश पार्थिव अपानाग्नि आ तरिद्धयानाग्नि (यानाग्नि से उपलक्षित नाटराग्नि जैश्वानराग्नि) एव* सौर प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है । मूलमार्थि गाहप यकुण्ड है मध्यपाश्वरान (अद्र चन्कार) दाक्षणाग्निकुण्ड है । एव शिर (प्रधानत मुख) आहवनीयकुण्ड है । तीनों में क्रमश अपान-जैश्वानर एव प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है । अन्नरूप भोजन की आहुत मुखस्थानीय आहवनीय में होती है । आहवनीय में आहुत अन्न वशानररूप अपानाग्नि में परिपक्व करके रसरूप से तत्तच्छारीर-देवताओ में विभक्त होजाता है । इसप्रकार इस अग्नीषोमात्मक यज्ञ स अध्यात्मयज्ञ का सञ्चालन होरहा है । अन्न पानी वायु ये सब हमारे अन्न बनते हैं । सब में तमोमय असुर भी हमारे आयामयज्ञ में प्रतिष्ठित होजात ह । अथवा प्रविष्ट होने की चेष्टा करते हैं । इनको नष्ट करने वाला प्रधान ऋत्विक् वायुरूप अव्यु है । वायु का सञ्चार इन्द्र का सञ्चार है । कारण—इन्द्रतुराया गृहा गृह्यते अस श्रोत भिद्वान्त के अनुसार वायु में एक चौथाई भाग इन्द्र का रहता है । दूषित अन्न से आमा मलीमस होजाता है । शरीर याधिग्रस्त होजाता है । इन्द्रमय विज्ञाना मा बुद्धिरूप बज्रमहोर-यापार से अस आगरक अतएव वृत्र नाम से प्रसिद्ध असुर को नष्ट कर देता है ।

भोमत्रिलोकी—व्यवस्था के अनुसार इन्द्र और वृत्रासुर में युद्ध हुआ करता था । वृत्रासुर बार बार वदन्द्र के यज्ञ म विन उपस्थित किया करता था । अन्तत इन्द्र ने अपने वज्ररूप वत्स को ध्वजा रथ खड्ग शर इन चार भागों मे विभक्त कर उस को सबथा नष्ट कर लिया । इसी आधिभौतिक आयात्मिक आधिभौतिक भेदभिन्न त्रिावध आरयानो के रहस्याथ को अपने गम म रखती हुई— इन्द्रो ह यत्र वृत्राय नृ प्रजहार — तता द्वाभ्या ब्राह्मणा यज्ञ चरन्ति ये प्रथम द्वितीय कण्डिकाए उद्धत हुई हैं । १२॥

आज यह अ वयु यजमान के अस वययज्ञ म म् रूप ग्वत्ग मो अपन हाथ म उगता हुआ यजमान के द्विपत् ओर भ्रातय नाम के जोना प्रकार के शत्रुओ को छ क ता है । कृत्रिमशत्रु को षिप् कडा-जाता है एा सहजशत्रु के लिए पदिक परिभाषा में भ्रातय शत्रु का प्रयोग जाता है । भ्राता का पुत्र भ्रातय (भतीजा) कहलाता है । यह सहज शत्रु होता । कारण म का यही ऋ शत्रुता का मुख्य कारण सासारिक सम्पत्त है । भतीजा य समझा करता है कि यदि य शत्रुय न जाता तो पतामह क सारी सम्पत्ति एकमात्र मेर पता को ही मिलता । ऐसी अवस्था म वश की सम्पत्त स पान का एकमात्र मे नी भोक्ता बनता । सी भावना स यह भ्रातय (भता) अपन पितय (काका) का जमानह शत्रु बन जाता है । असा हस्य को लक्ष्य म रख कर श्रुतिने सहजशत्रु का नाम सामान्यभाव स भ्रातय रख दिया है । ॥ ३ ॥

यज्ञ के ऋषि आदि ऋक मण्डलस्थ दन्ताआ को ग्रथ्या म म प्रविष्ट किया जाता है । उपासना-सिद्धांत के अनुसार देवा भूजा देव भाजयत् इस निगम का अनुगमन करना आवश्यक होजाता है । यज्ञ का प्रत्येक कर्म दवप्राण की भावना स ही समन्वित होना चाहिए । यह ढवीभाजना हां श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो य-ञ्चद्र स एय म अस मिद्वान्त के अनुसा सचमुच यज्ञ एव यज्ञजनित अदृष्ट अतिशय को दवप्राण से युक्त क दता है । सी दि य प्राण की प्रात के लिए देवस्य त्वा इ याद म त्र बोलता हुआ ही स्फ्य उठाता है । स्फ्य द्र का वज है । अस दन्ता है । दन्ता का शस्त्र दवता उठा सकता है साधारण मनुष्य नहीं । अथात् जमके आ मा में द्र यष्ट दवताआ का बन रहता है वनी ति यास्त्रा के प्रयोग करने में समथ होता है । यथाजात मनु य मनुष्य है । उस म दिव्यशक्ति का अभाव है । एमी अवस्था में यदि बिना सोचे समझे वह न नियास्त्रा का प्रयोग कर बैठगा तो अपना नाश करा बैठेगा । अत अ वयु के लिए भी यह आवश्यक होजाता है कि ज मसिन् अपन मनु यभाव को हटाता हुआ दिव्यप्राण की भावना करता हुआ—आमा में दि य न के सञ्चार का अनुभव करता हुआ ही स्फ्य का ग्रहण करै

इस स्फ्य से भूपिण्डगत आसुरभावा मक षोषयुक्त मृदभाग को हटाया जाता है । जब कषण के ऋषि भूपिण्ड का अग्निप्राणमय वास्तविक प्रदश निकल आता है तभी वह प्रदश यज्ञोपयोगी बनता है । स्फ्य नि निनेन द्र का वज है । हिंसक शस्त्र है । असका यज्ञ में प्रयोग करना पडता है । अस से कहा यह नहीं समझ बठना चाहिए कि इस हिंसक शस्त्र का उपयोग कतल हिंसा ही है । हिंसा तो स्वय आसुरध म है । उसके लिए स्फ्यरूप हिंसक शस्त्र का प्रयोग ही होता अपितु अहिंसाभावापेत अतएव च अ ऋर नाम से प्रसिद्ध यज्ञ पर जो आक्रमण करने वाले शत्रु हैं दूसरे शत्रुओं में अहिंसाभावमय अ वर के अहिंसा मक शातभाव को स्वाहसावृत्ति स जो दुष्ट इसे हिंसाभाव स युक्त करना चाहते हैं इन दुष्टों क दलन कर अ वर की अ वरता (आहसाभाव) का सुरक्षित रखना ही अ वर का स्वरूप सम्पन्न करना ही इसका काम है ।

लोक में भी तो ऐसा ही देखा जाता है । शस्त्र ही शांति का साधन है । यदि शस्त्र का भय न हो तो दुष्टलोग शांति भङ्ग करद । सत्र हिंसा मारकाट का साम्राय होजाय । अत इस गण को अहिंसा का ही साधक कहेंगे । प्रकृत में यह बतलाने का तापय्य यही है कि यज्ञ देवतामय है । देवता अहिंसाभाव

प्रधान हैं। अतएव नवप्राणमय यज्ञ को अन्न वर कहा जाता है। ऐसे अहिंसाभाव-प्रधान यज्ञ में हिंसा के साधनभूत स्फ्य के प्रयोग से यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जब स्फ्य शस्त्र है हिंसा का साधन है तो इसका प्रवश से यज्ञ अवश्य ही हिंसाभावोपेत होता हुआ अतएव आसुरभावप्रधान बनता हुआ दैवीसत् से विरहित हाजायगा? इस कुगङ्गा का निवारण करने के लिए ही—अध्वरकृत देवेभ्यः यह कहना पडा है।

प्रयोगकाल से पाहले शस्त्र को शाण पर चढा कर उसे सुतीक्ष्ण किया जाता है। इसी प्रक्रिया का नाम मशन है। इस स्फ्य नाम के शस्त्र से असुर जैसे प्रबल शत्रु का वध करना नितात अपेक्षित है। यह यज्ञिय स्फ्यरूप शस्त्र न तो लौह का है न सचमुच इससे किसी का ग्रीवा कृतन ही करना है। अपितु जो अदृष्ट शत्रु है अथवा जो असुरप्राण है अथवा भूपिण्डस्थ जो दूषित मिट्टी है मात्र उसे ही हटाना है। भिन्न उठाना तो सामान्य निमित्त है। प्रस्तुत मिट्टी में जो आया प्राणप्रधान असुरान आक्रमण कर लिया है उह नष्ट करना है। आसुरप्राण का विनाशक शौर वज्र है यह प्रकरण के आरम्भ में ही बतलाया जा चुका है। इन्द्र उत्तरेषा प्रथम - इन्द्र उत्तरत के अनुसार इन्द्रप्राणामक सूर्य ऊर्ध्वादिक में रहता है। ऊर्ध्वादिक को उत्तर कहा जाता है। अवाचीदिक को दक्षिण कहा जाता है। जिस स्थिति के लिए लोकभाषामें ऊँचा-नीचा य शब्द प्रयुक्त है उसी स्थिति के लिए वैदिक साहित्य में उत्तरा दक्षिणा ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

सूर्य से निकलने वाली चारो ओर सन्ध्रभाव से याप्त होने वाली इन्द्रप्राणामिका सौररश्मिया वज्ररूपा है। सूर्यकेन्द्र से बद्ध होकर चारो ओर सहस्ररश्मिया निकलती हैं। प्रत्येक रश्मि की विद्युत् विद्युत् से वायुक्षेत्रियाम से पुन सहस्र सन्ध्र रश्मिया निकलती है। वहा से पुन रश्मिया निकलती हैं। इस वितानभाव का परिणाम यह होता है कि इन अनन्त साहस्रियों के प्रसार से सम्पूर्ण सौरमण्डल रश्मियों से वसप्रकार परिपूरण होजाता है कि उसका कोड भी प्रवेश आपको ऐसा नहीं मिल सकता जहा आप सूची के अग्रभाग को भी प्रविष्ट करसक। सब प्रकाश परिपूरण होजाता है। इन अनन्त साहस्रीभावों से युक्त सौररश्मिया इन्द्र के अनन्त बाहु है।

इनमें प्रातष्ठित विद्युत् इन्द्र हेति नामक वज्र है। इसी के प्रहार से तमोमय वज्रप्रमुख असुरो का नाश होता है। रश्मिगत इमी साहस्री ज्ञान को लक्ष्य में रखकर—सहस्रणि सहस्रशो बाह्वोस्तत्र हेतय सहस्रधा महिमान सहस्रम् इयाद सिद्धात हमारे सम्मुख आते हैं। वज्ररूप सौररश्मिया जो हमारी ओर आती हैं व इन्द्र के हिने हाथ हैं। कारण व हम उत्तर हैं एवं हम उनसे दक्षिण हैं। पृथिवी सूर्य की अपेक्षा दक्षिणात्किर्म प्रातष्ठित मानी जाती है। सुतरा इस ओर इन्द्र के दक्षिण बाहु का ही आगमन सिद्ध होजाता है। यद्यपि इन्द्र के ओर बाहु भी असुरविनाश में समथ हैं। परन्तु पृथिवी की अपेक्षा से तो वीर्यवत्तम (अतिशययुक्त) बाहु दक्षिण ही माना जायगा। रश्मिरूप बाहु विद्युत् रूप वज्र से युक्त है। इन्द्रविद्युत् और तत्प्रतिरूप बाहु स्वरूप रश्मि अभिन्न है। अत इम बाहुरूप रश्मि को ही वज्र कह सकते हैं।

इस वज्ररूपा रश्मि से चारो ओर रश्मियों का प्रतिफलन होता है। वय रश्मिया भी सहस्र हैं। प्रत्येक रश्मि भी प्रतिफलनभाव से सहस्र किरणों से युक्त है। यही सहस्र-किरण रश्मिरूप वज्र की भृष्टियाँ (शत्रु-

भाङ्गका कोर) ह। अतएव हम म वज्र को क्रिया वज्ररूप दक्षिणबाहु को महसभृष्ट कह सकत ह। दाह्य सोम के मन्त्रध से यह सहस्रभृष्ट व-तजाय बन रहा है। धरसे उधर स नीच से ऊपर से सब ओर से * यातिम्मयी रश्मिया निकल रही ह। योति से पूण है। रश्मि क्या है? सूर्यवि नामिका ऋड मूर्तियों का वितान। सूर्यवि व ही वितानारय सामवद के मन्त्रध से उत्तरोत्तर हृमीयमभाव म कन् से प्रथि पथ्यत प्रतिष्ठित होकर रश्मिरूप म पा णत गेहा है। रश्मि ऋक (सूर्यविम्ब) की मष्टि त्र है। यह शतभाज से युक्त है। अतएव रश्मिरूपा ऋक क लए— ऋक शतपत्नी (श ब्रा १।५) यह कहा जाता है। इह रश्मयो के पथ्यावत्तन स अहोरात्र का स्वरूप नि पन्न होता है। रश्मिगत सान्तपनाग्निमय विक्षोभक प्राण रू है। प्रत्येक रात्रि रुद्रप्राणमयी है जसा कि य चन रूना त्तिष्ठ आभिश्रिता यादि मन्त्रवणन से स्पष्ट है।

अहोरात्रस्वरूपस पा का रूद्रप्राणमयी रश्मि शतभावोपेता है। अतएव इसके लए— अहोरात्रे-शतरुन्धियम् (त ब्रा ३। ११ ।३) यह कहा जाता है। मन के सक्रम का नाम क्रतु है। यह क्रतु प्राण पर प्रतिष्ठित होकर वागद्वारा काय्यरूप म परिणत होता हुआ आगे जाकर दक्ष नाम से व्यवहृत होता है। रश्मि प्राणमयी है। ऋद्र का क्रतु यही प्रतिष्ठित है। यह क्रतुरूपा रश्मि शतभावोपेता है। अतएव इन्द्र के लिए— इन्द्र आसीत् सीरपात शतक्रतु (त ब्रा २।४८) यह कहा जाता है। इसी शतरूप पूणभाव को लक्ष्य म रवकर रश्मिरूप म वज्र के लए— शततेजा यह विशेषण दिया है। वायु म दिकसोम रहता है। साथ ही इन्दुरीया ग्रहा गृह्यते इस ग्रहापनिषत्-सिद्धान्त क अनुसार आन्तारक्ष्य वायु में रश्मिरूप ऋद्र भी रहता है। वायुगत साम के स बन्ध से सावित्राग्निमूर्ति यह वायुभुक्त रश्मिरूप वज्र प्रदीप्त होपडता है। महाप्रबल होजाता है। ति यक बहने वाला वायु सचमुच सोमशक्ति से इन्द्रशक्ति को आकर्षित करता हुआ विद्यु मूर्ति बनता हुआ तेजिष्ठ बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने ऋसके लिए वायुरसि तिग्मतेजा कना है।

इसप्रकार दक्षिण-बाहुरूप वृत्रवध में पूण समथ यह वज्र सहस्रभृष्टि है शततेजा है वायुरूप तिग्मतेजा है। आज अ वय्यु इसी प्राकृतिक वज्रशाक्त का भावनामयी मन्त्रशक्ति के द्वारा अपने इस साधा रण काष्ठनिर्मित स्फ्य में प्रवेश कराता है। वाम हाथ सोमप्रधान होने से बलशून्य है। एव दक्षिण हस्त अग्निप्रधान होने से बलयुक्त है। आध्यात्मिक इन्द्र का बाहु दक्षिण हाथ ही है। मन्त्र के द्वारा पाहले उस प्राकृतिक पूर्वोक्त दक्षिण बाहु का बल अ वय्यु अपने दक्षिण हाथ में डालता है। एव दक्षिण हस्त के स्पश से वामहस्तस्थ स्फ्य म उस बलको ऋसमें डालता है। सस्मरणीय है कि इस सशनप्रयोग से पहिले स्फ्य एक साधारण काष्ठ खण्ड था परन्तु अब यह मन्त्रशक्तियुत महाप्रबल शस्त्र बन गया है। सावधान! यदि इस स्फ्य का शरीर के किसी अवयव से स्पश हागया अथव भूपदश से स्पश होगया तो वह अवयव एव प्रदेश बल जायगा। जबतक असुरवध में वज्र की यह शक्ति उपयुक्त-उपभुक्त न होजाय तबतक न तो स्फ्य का शरीर से स्पश ही करना चाहिए एव न भूपदश पर ही इसे रखना ही चाहिए। ३४

५ ।

*—“अधस्विदासीदुपरिस्विदासीत्-रेतोधा आसन्, महिमान आसन्”

—ऋकस

मन्त्रयजुहरणोपारयानरहस्य—

भ्राम-प्रशोचनाथ ग्रध्वयु ने पूर्वग्रथनानुसार स्प्य रूप वज्र को मन्त्रबल से महा उग्र कर लिया । इस शस्त्र का प्रधान कार्य है यज्ञ में प्रविष्ट असुरों को निकालना । जिसप्रकार प्राकृतिक नियम इश्वरीय नीषोमामक भूपिण्ड-मन्त्रधी हवियज्ञ में प्रविष्ट आपोमय असुरों को स्वयज्ञमण्डल से वज्र प्रहार के द्वारा पौर इन्द्र बाहिर निकाला करते हैं एवमेव उसी नियमयज्ञ की प्रतिकृति (नकल) पर वितत होने वाले मनु य-यज्ञमान के इस वध हवियज्ञमण्डल में प्रविष्ट होने वाले आन्तरिद्य आप्यप्राणामक असुरों को यज्ञमण्डल से बाहिर निकालने के लिए मन्त्रपूत मन्त्रशक्ति से सशित (तेज पने किए हुए) स्परूप वज्र की हाथ में लेकर अज्ञ सातपनाग्निरूप असुरमूर्ति अव्यु बड़ी सावधानी से खड़ा हुआ है । सब सामग्री सम्पन्न है ।

—हास असुरों को निकालना है वह भूप्रदेश अव्यु के सम्मुख है । जिस शस्त्र की सहायता से निकालना है वह तीक्ष्ण स्प्य (वज्र) शस्त्र इसके हाथ में है । जिस मन्त्रशक्ति से निकालना है वह मन्त्र इसके मूल में है । य मण्डल से निकाल कर जिस स्थान में असुरों को खदेड़ना है वह स्थान इसके लक्ष्य में है । मन्त्रप्रकार असुरनाशाय जो उपकरण होने चाहिए व सब प्रस्तुत हैं । मन्त्रना सब कुछ होने पर भी इस समय एक बात की बहत् बड़ी कमी इसके सम्मुख आरही है । दवासुरयज्ञ में तो इन्द्र के सम्मुख वृत्रासुर खड़ा था । शत्रु सामन था । इसलिए इन्द्र ने शस्त्र का प्रयोग कर उस लोकान्तर में मार भगाया जैसाकि अनुपदम । आख्यान के द्वारा स्पष्ट होने वाला है । परन्तु अव्यु के सम्मुख तो कोई प्रयत्न में असुर नहीं है जिस पर यह प्रहार करे । वहा तो मारने वाला इन्द्र भी प्राणामक था एव पलायित होने वाला असुर भी आप्यप्राणरूप ही था । इस सजातीय-सम्बन्ध से प्रबल प्राण का निबल प्राण के साथ युद्ध होना अनुरूप था ।

परन्तु य । तो अव्यु भौतिक शरीर से युक्त है । मूर्ति है । उवर आतरिद्य में याप्त आप्यप्राणमय अमर अमूर्ति है । मूर्ति अव्यु अदृष्ट अमूर्ति असुर पर प्रहार करे तो कैसे करे ? । मैं इस शत्रु को मार रहा हूँ इसप्रकार की भावना जबतक नहीं रहती तबतक मारना चरिताथ ही नहीं होता । हमारा ससीम मन-मूर्त्तमन विषयावारमन जबतक ससाम-मूर्त्त विषय को नहीं पकड़ लेता तबतक वह कोई व्यापार नहीं कर सकता । केवत हवा में तलवार घुमान से हमारे मन को यह सतोष कमी नहीं होसकता कि हम शत्रु को मार रहे हैं । मन के आत्मन के लिए उपासनाकाण्ड की भाति यहा भी कोई मूर्त्त आधार चाहिए । तभी मनो व्यापार सफल होसकता है । ऋषि जानते हैं कि गुणात्मा निगुण ब्रह्मतत्त्व मूर्त्त नहीं है । साकार नहीं है । परन्तु साथ ही व यह भी जानते हैं कि सगुण ससीम मूर्त्तमन कभी उस निगुण अमूर्त्त तत्त्व पर नहीं पहुच सकना । अ एव उपासना-सिद्धि के लिए—

अचित्यस्याप्रमयः निगुणस्य गुणात्मन ।

उपासकाना सिद्धयथ ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

स मित्ता त के अनुसार प्रतिमा का आश्रय-ग्रहण आवश्यक होजाता है । दृष्टि रहती है प्रतिमा पर एव मन्त्र मूर्त्त आधार के द्वारा मन पहुच जाता है उस अमूर्त्त तत्व पर । पुष्प धूप दीप-नैवेद्य

सम्पूर्ण कर्मों में प्रारम्भ होता है यह जगत्प्रापक अमूर्त सात्त्विक शक्ति आराधना। यह मूर्तिपूजन* का मौलिक रहस्य है।

प्रकृत में स निदर्शन में हमें यन्त्र बतलाना है कि सगुण मन क (मनोमय कर्मा मा के) में अग्रयण यह कर्म कर रहा है तब ही विश्राम के लिए उस अमूर्त तत्त्व के साथ उसका सम्बन्ध करने के लिए किमी मूर्ति भौतिक द्रव्य को मध्यस्थ बनाना आवश्यक हो जाता है। अक्षरज्ञान के लिए पाटा आ स्वर्ग या को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। आश्रय क वृत्ता क परिज्ञान के लिए भौतिक वृत्ता को नामने रूप में पड़ता है। जाने दीजिए अदृश्य भावों को। भौतिक पदार्थों के परिज्ञान के लिए भी भौतिक साधना को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। भौगोलिक चित्रों के (एटलस के) आधार पर (भूप्रदश के किसी भा प्रवेश में कभी न जाने जाने भी) आप अपने प्रामाणिक कर्मों के भीतर बैठ बैठ ही सम्पूर्ण भूप्रदशा का ऐसा गणन कर डालते हैं ऐसी ठीक नाप-तोला से बात करने लगते हैं मानो आपका जन्म एव निवास यन्त्र आ हो। जन्म निदर्शक भौतिक पदार्थों के परिज्ञान में भी आपको कल्पित तत्त्वप्रकृत- (नकल)—रूप भौतिक दार्था को मध्यस्थ बनाना पड़ता है तो जो तब प्राणरूप होने से अमूर्त ह चम्मच से तैराहित ह उन पर प्रयोग करने के लिए भौतिक द्रव्यों को मध्यस्थ बनाए बिना कैसे निवाह हो सकता है ?।

एक भौगोलिक यह भलीभांति जानता है कि पुरोऽवस्थित यह भूगोलचित्र कल्पित है। उस वास्तविक मण्डप की नकल है। उसे कापतभाव समझता हुआ भी वह चित्रस्थ तत्त्व प्रदशा पर यह बम्बड़ है यह फलकृत्ता है यह निरक्षरवृत्त से ६ अक्ष ५५ बला २७ विकला प्रिकला के शतांश (सावा भाग) में से ४५ वा भाग—स स्थान पर उत्तर की ओर चयपुर है अक्ष लि—रखता हुआ प्रदशा का निदर्शक मक जान प्रकृत किया करता है। अक्षि मिथ्या धर है यान सत्य पर है। इससे हमें यद्यत् बतलाना है कि आज जो महानुभाव भारतीय मूर्तिपूजन के सम्बन्ध में यह आक्षेप किया करते हैं कि प्रतिमा तो मिथ्या है इस मिथ्या से उस अमूर्त ब्रह्म की उपासना कैसे बन सकती है यह कुतर्क उठाया करते हैं उपर्युक्त निदर्शन से विश्व पाठक यह मान लगे कि उनके इन कुतर्कों का कोई मूल्य नहीं है। विज्ञानशास्त्र का तो यह निश्चित सिद्धान्त है कि बिना मिथ्या उपाय के सत्यत्व कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता ×। उपाय सब मिथ्या है उपेय तत्त्व सत्य है। वही मौलिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् भक्त हार कहते हैं—

उपाया शिद्धमाणां बालानामुपलालना ।

असत्ये वर्तमानि स्थित्वा तत सत्य समीहते ॥

—गान्धर्वपत्न्या

मौलिक अमूर्त तत्त्व के परिज्ञान के लिए जिस भौतिक द्रव्य का आश्रय लिया जाता है इस मध्यस्थ कापत पदार्थ के साथ उस अलौकिक अमूर्त तत्त्व के साथ जो एक अपूर्व सम्बन्ध होता है—से ही वैदिक पवि

* इस विषय का विशद विवचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के भाक्त्यागपराक्षा नामक सातव खण्ड में देखना चाहिए।

× स विषय का विषद विवचन सायानुविधेक नाम के स्वतंत्र निबन्ध में देखना चाहिए।

मगधानुसार निदान कहा जाता है। कपित-सम्बन्धों का परिचायक पदाथ ही निदान शब्द से व्यवहृत होता है। आज नवशिक्षित वर्ग इस भारतीय-नन्दान को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। पीली की मिट्टी को गणपति मानना सुपारी का गणपति मानना मूर्त्ति को ईश्वर मानना आदि आप व्यवहार इन अद्भुतों की दृष्टि में ब्राह्मणों की स्वायत्तिलामात्र है। परन्तु उह सम्भवत यह विदित नहीं है कि आज के इस भावुकतापूर्ण युग में भी स पूण सत्तर स भारतीय निदानविद्या का ही उच्छ्रितभोगी प्रमाणित हो रहा है। भारतय वास्मिक व्यवहारों पर टीका टिप्पणी करने वाले इन महानुभावों से हम पूछते हैं कि आपके कालेनाम भशास्त्रवत्ता लोग कपित मिथ्या मिट्टी के अथवा कागज के अथवा तो धातु के गाले को पथम लेकर सके तत्तत् प्रदेशों पर हाथ रखते हुए यह देखो उन्नरध्रुव है यद् दान्तराध्रुव है यह ज्ञानपू है यह नादन है यह भूमयसागर है यह मेडिट्रनियन्सी (महीसागर) है यह रेड्मा (रक्तसमुद्र) है यह यलासी (पातसमुद्र) है यह बालकशाभील है यह ट्रिपुली है यह रामरुद्र है आदि रूप से आप को भूप्रदशा का परिचय कराते हैं। हम कहते हैं—प्रोफेसर महोदय का तथोक्त कथन आपके की कथनानुसार सर्वात्मना मिया है। उनके हाथ में तो एक मिट्टी का गोला है।

स प्रण भूमण्डल को हाथ में लेकर उसके प्रदशों को बतलाना तो रूर रहा प्रा मोदय एक समय में एक स्थान पर बठे हुए भूपिण्ड का त्ख भी नहीं सकते। तो छोड़िए आज से इन कालेजों में पढना। कर नीजिए उन गोला को नष्टभ्रष्ट जला दीजिए टोंग का न पुस्तकों को। कोसिए ऐसे गथनिर्माताओं का जह्मोन आपका मिथ्याभ्रम म डाला। और आगे बढ़िए। विज्ञानगव स गर्विष्ठ जिन पाश्चाय-जातियों के आप भक्त ह व महानुभाव अपने प्रमीजन की मृत्यु पर अपने हाथ पर एक काली पट्टी बातत हैं। इस पट्टी से व अपना शोक सूचित करत ह। हम पूछते हैं—यह कसा ढोंग ? काली पट्टा एक भौतिक मूत्त पदाथ है। शोक मन की एक अशांति है अर्त्तदना है। इसका कोई रूप नहीं है। उस अमूर्त्त से इस मूर्त्त का क्या सम्बन्ध ? शोक का काली पट्टी से क्या सम्बन्ध ? और आगे चलिए—सिग्नल की लाल रोशनी दखकर टन माग में ही खडी हाजाती है ही रोशनी देखकर चल पडती है। लाल रोशनी से यह माना जाता है कि माग बढ़ है कोई विघ्न है गाडी वही रोको। हरी रोशनी से य माना जाता है कि माग निर्विघ्न है लाइन ड्नीयर है निर्विघ्नता है गाडी को आने दो। इसप्रकार रक्तप्रकाश भय का सूचक है हरित प्रकाश शान्ति का द्योतक है। हम पूछते हैं—रक्त हरित का अशान्ति शान्ति से क्या सम्बन्ध ? नष्ट कर दीजिए आज ही इन कपित सिनलों को। गाडों के हाथ से लाल हरी भडिया छीन कर आज ही जला डालिए। कारण ये मिया ढोंग इत्खाकर ससार को धोखे में डाल रहे हैं।

जसा पीला मिट्टी को गणपति मानना मूर्त्ति को ईश्वर मानना हरे शाक को शुभसूचक मानना मिथ्या वैसे ही मिट्टी के गोले को भूपिण्ड मानना काली पट्टी को शोकसूचक रक्त को अशान्ति सूचक हरित को शान्ति सूचक मनना भी मिथ्या है। यदि आप इन का कोई उपयोग सम-भक्ते हैं आप की दृष्टि में स्वथा मिथ्या-कपित होते हुए भी ये साधन उपादे हैं तो फिर ऋषियों ने ही क्या अपराध किया है ? हम तो यह भी बिना सकोच कहने के लिए सन्नद्ध हैं कि आपकी कपना तो फिर भी निरी कपना ही ह। परन्तु भारतीय ऋषियों की कपना में तो अधिकाश में तथ्याश ही विद्यमान रहता है।

ऋषिगण निदान उसी वस्तु को बनात है जिसमें निदान के द्वारा विदित होने वाली वस्तु के धर्म आशंकरूप से माविष्ट रहते हैं। उदाहरण के लिए पद्म को ही लीजिए। आगमाचार्या न पद्म को भूपिण्ड का निदान माना है। भगवान् विष्णु की प्रात्मा के हाथ में आप कमल का पुष्प दत्त है। ऋषिगण कमल से आपको यही बतलाना चाहते हैं कि सम्पूर्ण भूपिण्ड पर यज्ञमूर्ति त्रिषणु का प्रभुत्व है। कमल को भूपिण्ड समझा इस पद्म-निदान से यही बतलाना है। अब पद्म और भूपिण्ड के स्वरूप-निर्माण का अनुरूपता देखिए। अदभ्य प्रिणी इस श्रात सिन्धु के अनुसार भूपिण्ड का निर्माण पानी से ही होता है। पानी में वायु का प्रवेश होता है। पानी वायु को तेज-मयोग से मूर्च्छित होकर फेन (झाग) रूप में पारणत होजाते हैं। इसी प्रकार वायु तथा तेज के आक्रमण से उत्तरोत्तर घनता बन्ती जाती है। इस क्रम से वही पानी क्रमशः आप फेन मृत् (चार) सिकता शकरा अश्मा अथ हिरण्य इन आठ अवस्थाओं में परिणत होता हुआ भूपिण्डस्वरूप में परिणत होजाता है। इसीप्रकार कमल की उपलब्धि देखिए। कमल पानी में ही पानी से ही उपन्न होता है यह सब जानते हैं। पानी के पौ का ही नाम पुष्करपर्ण है। आपो वै पुष्करपर्णम् (श ६ का) यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। आपको यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि पहिले पानी इसी पुष्कर (कमल) रूप में परिणत होता है। अनन्तर इही पुष्करों के सघात से पूर्वक्रमानुसार भूरूप पुर बन जाता है। इस पुरानुसार-हेतु से ही पुरकरत्वात् इसे पुष्कर कहा जाता है। भूपिण्ड क्या है ? पुष्कर है। इसी आगर पर भुवनकोश-[भूगोल] -वेत्ताञ्जान भूपिण्ड को पद्म मानकर भुवनकोशविद्या का निरूपण किया है। अतएव पार्थिवकेन्द्र अक्षस्थानीय प्राणाग्निमूर्ति ब्रह्मा पद्मभू नाम से प्रसिद्ध है। आपोमय ही पद्म है। यही आपोमय भूपिण्ड का उपादान है। इसी सामानाधिकरण्य को प्रधान मान कर ऋषि ने पद्म को भूपिण्ड का निदान माना है।

मामाया के हाथ में सुरापात्र [मन्त्रि का याला] है। यह मोहनिन्दन का निदान है। योगमाया हरेऽश्रैतत् तथा समोहान्ते जगत् इस रहस्य-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार उस महामाया की शक्ति से सम्पूर्ण विश्व मोहमदिरा में निमग्न है। मदिरा पीने से मनुष्य की जो स्थिति होजाती है वही स्थिति इस मोह से होजाती है। मोह एक प्रकार की मदिरा है। पीत्वा मोहमयीं प्रमान्मान्त्रामुसुत्तभूत जगत् यह इमी आधार पर कहा जाता है। मन्त्रि और मोहनिन्दन के इसी साजाय का लक्ष्य में रखकर ऋषियान मन्त्रिपात्र को मोह का निदान माना है। भगवती के हाथ में मदिरा का पात्र है इसमें ऋषि आपको यही सिखलाना चाहते हैं कि विश्वास कीजिए। इस महामाया के अधिकार में मोहशक्ति प्रतिष्ठित है।

भूपिण्ड में रहने वाला मूलप्रति ठारूप रुद्रप्राण गणपति नाम से प्रसिद्ध है। प्राणाग्निरूप रुद्र की ११ अवस्थाएँ हैं। मरुतो रुद्रपुत्रास इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इस रुद्रानेय प्राण के रासायनिक संयोग से सात प्रकार का यौगिक मरुदवायु उपन्न होता है। यह मरुद्-वायु मात भागों में विभक्त होकर अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है। अदितभाग पृथिवी का वह भाग है जो सूर्यानुगत रहता है जसाकि पूर्व के अनेक स्थानों पर विस्तार से बतलाया जाचुका है। भूपृष्ठ से आगम कर एकविंशत्य २१ सूर्य-पिण्ड पृथ्वी त व्याप्त रहने वाला त्रिवृत्तोमावा छन पृथ्वीलोक पञ्चदशस्तामावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक

एव एकाग्रशस्तामावाच्छ न तु लोका मक सम्पूर्ण भाग अति है। इसी अतिमण्डल में पूर्वोक्त सप्तविध मरुत्—वायु प्रातश्छत रहता है। वायु में रहता है। याकरण—(प्रविध आकार ही याकरण है) व मोपेतान्द्रशक्ति के प्रवश से अतिगम में प्रविष्ट इन स तथा विभक्त मरुतो के प्रयेक क सात सात खण्ड होते हैं। अतः सात सप्तको के एकोनपञ्चागन् [४६] मरुत् हाजाते हैं। नमें आरम्भ का मरुत् स तथा अत्र एव नर्नान्त का मरुत् स तथा विरत है। मय क मरुतो की घनता—विरलता म तारतम्य है।

यही प्रथम मरुत् न ४६ मरुद्गणो की मूलप्रतिष्ठा होता हुआ गणपात नाम से प्रसिद्ध है। सवात का मरुत् [४८ वा मरुत्] महाजीर नाम से व्यवहृत होता है। भण्ड में प्रथम मरुद्रूप गणपात प्रातश्छिन है। सूयसस्था म अत म महाजीर प्रतिष्ठित है। भण्ड और सय्य के मय में अवा न्तर स पूरा ८ मरुत् घनतातारतम्य से प्रतिष्ठित हैं। आप पृथिवी में जो एक प्रतिष्ठातन्त्र देखते हैं वृत्ति देखते हैं जिस वतिवम्भ से भाण्ड धरा धरिणी धरिणी आदि नामो स प्रसिद्ध है वही भण्डगत वृत्ति—प्राण—मूलप्रतिष्ठाप्राण गणपति है। स्तौम्यलोक्य के स पूरा पदाथ इसी मूलप्राण पर प्रातश्छित है। स मूलप्राण के विचलित नो जाने पर सम्पूर्ण त्रलोक्य विशेषत पार्थिवप्रजा विचलित होजाती है सत्र अशांति का साम्राय होजाता है। एव स प्राण के स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहने से सत्र शांति का साम्राय रहता है।

उत्तरग के लिए अध्यामसस्था को ही लीजिए। हमारे शरीर में क्रमश शिरागुहा उरागु । दरगुहा वस्तिगुहा ये चार गुहाए ह। चारो म क्रमश आप्यप्राण आदियप्राण—वायुप्राण अपानप्राण ये चार प्राण प्रतिष्ठित हैं। वस्तिगुहा मूलागरस्थान है। इसी को मूलप्रथि भी कहा जाता है। इस मूलप्रथि म प्रतिष्ठारूप वही प्रथम पार्थिव गणपतिप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इसी को दाशनिक परिभाषा म अपान कहा जाता है। प्राण बिना भत के नहीं रह सकता। यह गणपतिप्राण प्रधान रूप से वास्तुगुहान्तगत मलभाग में ही प्रतिष्ठित रहता है। जिस मल [विठा] को आप याज्य वस्तु समझते हैं विश्वास रखिए। वही मल उस प्रातश्छाप्राण की आधारभूमि बनता हुआ जीवन का आधार है। जीवनसत्ता के लिए मूलप्रथि अत्यंत आवश्यक है। यदि मल एकांत निकल जाता है लोभाषा के अनुसार यदि मल टूट जाता है तो तत्क्षण मनुष्य का निधन हो जाता है। कारण मल के निशेष होजाने से तदावार से प्रातश्छित शरीरसस्था का प्रति ठारूप वही मौलिक गणपतिप्राण शरीर से उत्क्रान्त होजाता है। उसके उत्क्रान्त होने पर जीवनयात्रा कठिन है कठिन क्या है असंभव है। गणपतिप्राण की इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर आगमशास्त्र ने मूलाधार में ही गणपतिदेवता की सत्ता मानी है। जबतक यह प्राण शांत है तभीतक शरीरसस्था शांत है निर्दिष्ट है। इस प्राण के विचलित होजाने पर शरीरसस्था विघ्नमयी बन जाती है। गणपतिप्राण के इसी स्वरूपधर्म को लक्ष्य में रख कर उसे विघ्नकर भी कहा जाता है एव विघ्नहर्त्ता भी माना जाता है।

उपर्युक्त ४६ मरुतो की सत्ता हमने अदिति के गम में बतलाई है। साथ ही यह भी कहा है कि वायुगत अन्द्रशक्ति से ही सप्तषा विभक्त मरुत् ४६ नागों में विभक्त होजाता है। इससे यह भी सिद्ध होजाता कि

मरुद्गणों के साथ सौर मघवा ऋषि का ध्यान सम्बन्ध है। मरुत्प्राण स। मरुत्प्राण से अनुग्रहीत रहता है। इन्द्र चक्र है। राणा ह। मरुद्गण ऋषि का सेना ह। सनारुय सी मरुत्प्राण को आग कर प्रकाशित इन्द्रप्राण तमोमय वृत्रप्रधान वारुण आय अमुरा पर आक्रमण करता है। वारुण आयप्राण के प्रवश से पदाथ सडने लगता है। ऋषि हाने लगता है। यह सडान अमुरा क आक्रमण का ही फल है। परन्तु तब भी मरुद्वायु का आगमन हाता है। ता तत्गत इन्द्र के एव। आयुप्राणामक मरुत्सेना के आक्रमण से स पूण असुर नष्ट होजाते ह। मका प्रपञ्च प्रमाण य है कि सची वस्तु का खुची हवा म प्र म र्व दीजए। थोडे समय म नी दषित परमाणु नष्ट होजायेंगे। वस्तु शुद्ध बन जायगा। हा जहा म मरुद्वायु का प्रवश नही होता वहा अवश्य हा आय वरण स्वपाश से बद्ध कर उस वस्तु क स्वरूप का ऋषि बना डालता है। वस्तु हवा असुरा का घर है। ऋषि खुली हवा देवताआ का आवासभूमि है। सी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर ब्राह्मणश्रुति कर्ती है—

‘यद्वै वातो नाभिजाति तत् सर्वं वरुणदैवत्यम्’ ।

मरुद्गण सदा ऋषि के आग आग चलते ह। दूसरे शब्दों म—ये मरुद्गण (किंवा मास्तीसेना) इन्द्र के अन्तर्लोक हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य म रखकर मात्रश्रुति कहती है—

इन्द्र आमा नता बहस्पतिदक्षिणा यज्ञ पुर एतु मोम ।
देवसेनानामभिभजतीना नय तीना मरुतो यत्वग्रम् ॥

—यजु स १ ।४

मरुद्गणों का मूलाधार प्रथम पाथिवमरुत् गणपति है। क्योंकि शेष ऋषि मरुता की प्रातष्ठा उक्त (मूलप्रभव) यही है। अतएव ऋषिसे गणाना पति इस रूप से गणपति नाम से व्यवहृत किया जाता है। यह प्राण जबतक प्रातष्ठित है ऋषि है। तभीतक शांति है। इसके उखडने पर सवनाश है। ऋषि को इन्द्रप्राण की आभन्नता से मघवा भी कहा जाता है। ससार का कोई भी काय्य हो सब का प्रथमारम्भक यही प्राण है। मूलप्राण से व्यापार का आरम्भ होता है। मूलप्राण यही है। ऋषिसे लिए आष-ऋषि आपको आदेश करते ह कि यां आप अपने काय्य को निर्विघ्न सम्पन्न करना चाहते हैं ता सवप्रथम आप गणपति का ही स्मरण कीजिए। उपासना के द्वारा नित्य-आधिदविक-गणपति-प्राण के बल को आमसात् कर आ यामिक गणपतिप्राण को प्रबल बनात रहिए। उसे आमा म प्रतिष्ठित कीजिए। यदि आपका मूलाधारप्राण प्रतिष्ठित है बलवान् है तो नि सदन काय्य की पूर्ति निश्चित है। अन्यथा— छिन्ने मूले नैव शाखा न वृक्ष यह आप जानते ही हैं। कार्यारम्भ में उपासना केद्वारा यदि इस प्राण को अपने अनुकूल नही बना लिया जाता तो वह आपके लिए अप्रतिष्ठा का कारण बनता हुआ आप के उस कम्म की प्रति ठा ही उच्छिन्न कर दता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महर्षि कहते हैं—

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रिबते किञ्चनारे महामर्क मघवञ्चित्रमर्च ॥

— ऋक्स १ ।११२।६।

भाषण के पृष्ठ से आरम्भ कर सौरसस्था पयतये ४६ मरुत् व्याप्त हैं यह पूर्व में बतलाया जा-
 चुका है। इनमें प्रथम मरु गणपति हैं एउ उसकी प्रतिष्ठा भूपिण्ड है। क्योंकि यही भूपिण्ड से सल-
 ग्न रहता है। इतर ४८ प्राणों की प्रतिष्ठा बनता हुआ यह मघया नाम का गणपतिप्राण सौरत्रैलोक्य
 की (स्तोम्यत्रैलोक्य की) ग्न तद्गत प्रजा क कर्मों का प्रतिष्ठा है। किंतु यह भाषण इस सब
 प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा है। भूपिण्ड घन-आग्नेय प्राण से युक्त है। अग्निभूस्थान इस नगमिक
 मिद्धात के अनुसार सम्पूर्ण भूपिण्ड अग्निमय है। यह प्राण महाघन है। यही घनाग्नि आगे जाकर
 तरल विरल रूप में परिणत होता हुआ क्रमशः वायु-आदित्य नाम से व्यवहृत होता है। पार्थिव-
 परमाणुओं के अतिशय सगठन से यह पार्थिवरसरूप तजोमय अग्नि अपनी घनावस्था को छोड़ कर बाहिर
 निकल कर तरल विरलावस्थापन्न होता हुआ वायु एवं आदित्य नाम से प्रसिद्ध होजाता है। इसप्रकार एक
 ही पार्थिव रसरूप अग्नि घन तरल-विरल इन अवस्थाओं से क्रमशः अग्नि-वायु आदित्य इन
 तीन स्वरूपों में परिणत होजाता है जैसाकि अनुपद में ही आख्यान-रहस्य में विस्तार से बतलाया
 जाने वाला है। तेजोरसरूप पार्थिव अग्निरस की इही तीन अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति
 कहती है -

‘आपो वा ऽअर्कं । तद्यदपा शर आसीत् तत् ममह-यत् । सा पृथिव्यभवत् ।
 तस्या (पृथिव्या) अश्राम्यत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरयत्ताग्निः । स
 त्रधात्मानं -याकुरुत-आप्तस्य ततीयम् । वायु ततीयम् । स एष प्राण (प्राणाग्निः)
 त्रेधा विहितः’ (शत १ का १४ प्र १६ ब्रा २३ क) इति ॥

पार्थिवसस्था का रस यही घन अग्नि है। इसी घनाग्नि पर उपस्थित प्राणमूर्त्ति गणपतिप्राण
 आरुत है। शारा रक मन पार्थिव घनाग्नि है। उसी में तो हमने गणपतिप्राण की सत्ता बतलाई है। यही
 अवस्था आधिदैविक मण्डल की समझिए। यदेवेह तद्मुत्र यह सवपरीक्षित अतएव निश्चिन्त सिद्धांत है।
 मृगमय भूपिण्ड गणपतिप्राण का ग्राहक है। मृगमय रसाग्निरूप इसी घन पार्थिवप्राण से (जो कि गण-
 पतिप्राण का वाहन है मूषक का अन्तरामा बनता है। इतर प्राणियों की अपेक्षा इस मूषक में यह
 पार्थिव घनप्राण अत्यधिक मात्रा में रहता है। इसी घनप्राण के प्रभाव से मूषक जैसा अल्पकाय एक
 छोटा सा प्राणी अपने दातो से बज्रसमान कठोर वस्तु को भी लुप्त भिन्न कर डालता है।

भाषण के ऊपर की मिट्टी वायु से श्लथ रहती है लीली रहती है आगन्तुक तृण-मल-आदि
 से भूपिण्ड के ऊपर का दृश्य स्तर उस घनाग्निरस से वञ्चित रहता है। इसी प्राण के अभाव से ऊपर की मिट्टी
 ठोस नहीं होती आप उस ऊपर के स्तर को हटाकर भूपिण्ड से जितने गहरे जायेंगे अधिकाधिक घनाग्निप्राण
 उपलब्ध होगा। साथ ही वहा की मिट्टी भी घन मलोगी। बालूरेत के समान उस मिट्टी के परमाणु आपको
 लीले न मिलगे अपितु परस्पर सश्लिष्ट मलगे। यही कारण है कि घनप्राण से कृतात्मा मूषक
 भूस्तर पर न रहकर भूपिण्ड के भीतर गहराई में बिल बनाकर उसी में रहता है। क्योंकि इसे
 अपना आमातुकूल जायनीय रस वहीं गहराई में ही उहल-ध होता है। मूषक भूगर्भ में जिस स्थान

पर अपनी आवासभूमि बनाता है विश्वाम कीजिये । वहा की मिट्टी सचमुच उस घनाग्निरस से युक्त है । यही कारण है कि अग्निहोत्र म जहाँ आग्नि-स व वी अन्यान्य सामाग्रया का स भरण (सग्रह)-ग्रहण किया जाता है वहा उसी घनाग्निरस की प्राप्ति के लिए मूषक क बिल की मिट्टी भी ली जाती है जसा कि स भारब्राह्मण कहता है—

“अथ—आखुकरीष सम्भरति । आखुवो (मूषका) ह वा अस्यै पृथिव्यै रस (अग्निरस) विदुः । तस्मात्सोऽधोऽध इमा पृथिव्या चरन्त पीपिष्ठा । अस्य हि रस विदुस्ते यत्रैतस्यै पृथिव्यै रस विदुस्तत उत्किरन्ति । तदस्याऽएवैनमतत् पृथिव्यै रसेन सम-द्ध यति । तस्मादाखुकरीष (मूषकबिलमृत्तकां) सम्भरति’

शत २ का १।१।७ ण्ति ।

पृथ्वीपतिपदिन भूमिगन्ध गणपतिप्राण तत्र स्वप्रतिष्ठा से युत होजाता है तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उसका प्रथमाधात इसी मूषकजात (चूहा) पर होता है । गणपतिप्राण के उखड जाने से पार्थिवप्रजा का मूलप्राण विचलित होजाता है । महामारो जनपदविध्वंसिनी आग्नि व्याधियो का प्रवाह प्रक्रान्त होजाता है । मूषकप्राण अस्मदादि की अपेक्षा गणपतिप्राण के अति सन्निकट है । अत इम व्याधि का प्रथमाक्रमण इसी पर होता है । महामारो के आरम्भ म पहिले चूहे ही मरने लगते ह । यदि किसी रात्र में नगर म ग्राम में अथवा घर म मूषक अपने आप मरने लग जाते हैं तो मान लीजिए उस रात्र-नगर-ग्राम-घर का शांति-विधाता गणपतिप्राण उच्छिन्न होगया है । शीघ्र ही यहा कोई महासक्त आने वाला है । त काल उत्किरहस्यवेत्ता ब्राह्मणा को बुलाकर वहा शांति गणपतिप्राण कराना चाहिए ।

गणपति की प्रतिष्ठा अग्निरस है । वह अग्नि पर प्रतिष्ठित है । उधर अन्य निशाओं की अपेक्षा दक्षिण-दिशा में अग्नि का अधिक प्राबल्य है । यहा कारण है कि ओर ओर दिशाओं की भांति दक्षिण देशो में दत्तात्रय आदि की भांति गणपति देवता की उपासना विशेष समारंभ से मनाई जाती है । पूना का गणपति—उ सव तो सवथा ही द्रष्टव्य है । प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि इसी प्रतिष्ठाप्राण को लक्ष्य में रखकर निम्नानुष्ठान के आचार्योंन मूषक को गणपतिदेवता का वाहन माना ह । मूषक से तद्गत घनप्राण ही अपेक्षित है । घनप्राण वास्तव म मूषकथनानुसार गणपति का वाहन है । यह गण-पतिप्राण प्रतिष्ठाप्राण को पकडने से गृहीत होजाता है । रहस्यवेत्ता महर्षियोन विज्ञानदृष्टि से यह पाहचाना कि भूमिण्ड के गभ में रहने वाली टोस (पीली) मिट्टी में जो घनाग्नि प्राण है उसी पर गणपतिप्राण प्रतिष्ठित रहता है । इसी रहस्य को देखते हुए उहोंन गणपति की आराधना में इसी मिट्टी को प्रधानता दनी । पीली मिट्टी में वह प्रतिष्ठाप्राण विशेषरूप से अवद्यमान है ।

आप व्यापक गणपतिप्राण की मात्र क द्वारा भावना कीजिए मनो वै देवा मनुष्यस्याजानान्ति इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार गणपतिप्राण अवश्यमेव मन्त्रशक्ति के प्रभाव से अपनी इस प्रतिष्ठाभूमिरूप मिट्टी की डली में प्रतिष्ठित होजायगा इसी भाव के लिए विद्वान् ब्राह्मण प्रकृति के इन सम्पूर्ण रहस्यो को

जानता है और एक ऋषि नली सामने पत्त प रता है और बोलता है— गणपतिमावाहयामि (मैं इस गणपतिमाहनरूप मिनी मे गणपात को स्वामशाक्त समन्विता (श्रद्धासमन्विता) मन्त्रशक्ति से युक्त कर प्रातःप्रित करता हू) । हा एक बात और यान में रखिए । आवाहन से पहले अथ यानम् उस शास्त्रीय मर्यादा के अनुार सबसे प्रथम उपासक गणपति का ऋक्तुण्डमहाशय सूर्यकोटसमप्रभम् मर्यादरूप स गणपात का यान करता है । अनतर— गणाना त्वा गणपतिं हवा— मह मर्यादि रूप स आवाहन करता है । जब आवाहन—प्रक्रिया से सचमुच गणपतिप्राण आजाता है तो आसनम् पापम् अध्वम् आदि उपचारधर्मों का क्रमश अनुपालन कर आगत प्राणदेवता को प्रसन्न किया जाता है ।

यान का तापय्य यत्त है एक गणपतिप्राण नीरूप है । उसका कोई भौतिक आका नहीं है । बिना आकारग्रहण के मन देवता ी और अनुगत नहीं होसकता । अत प्राणगत भिन्न भिन्न उन नीरूप शक्तियों के स्वरूप को मन में स काररूप से प्रतिष्ठित करने क लिए ऋषियेण तत्तच्छक्तियुत तत्तद्भौतिक पदाथा को तत्तच्छक्तिया का निदान मान कर कल्पित प्रतिमाए बना डाली हैं जसा कि प्रकरण के आरम्भ म ही बतला दिया गया है । जिम देवता को बुलाना है पहिले उसका स्वरूप उपासक की दृष्टि में आना चाहिए बिना स्वरूप ज्ञान के कस का आवाहन हो । वसी विप्रतिपत्ति को हटाने के लिए आवाहन से पहिले यान करना आवश्यक होजाता है । अभी गणपात क सम्बध म बहुत कुछ वक्तय था । परन्तु प्रकरण प्रकृत निरूपणीया विषयमर्यादा से बाहिर जारहा है । अत उस गणपति—प्रकरण को यही उपसहृत करते हुए हम कहना चाहते हैं कि मिट्टी की डली को वाहन का निदान मानना मूषक को वाहन मानना भी कुछ रहस्य रखता है । हमारा निदान भा (कपित भी) म याश स युक्त रहता है ।

नि शनमात्र है— मारा उपासनाकाण्ड केवा निदानविद्या के आधार पर ी अवलम्बित है । किसी नेत्रता क ४ हाथ किसी क ८ किसी देवी क ६४ किमी क हाथ म खड्ग किसी के हाथ म धनुष किसी क हाथ म कर्त्री किसी मूर्त्ति का स्वरूप गा त किसी का महाउम ये सब रहस्य आप तबतक नहा ममभ स्रुते जबतक कि निदानशास्त्र का आप साङ्गोपाङ्ग अध्ययन न करल । बडे दु ल के साथ कहना पडता है एक साहिय के धारशत्रु नरराक्षसा के अकाण्ड—ताण्डवों से जसे भारतीय धनुविद्या विमानत्रिया रहस्यशास्त्र गाथाशास्त्र आा शास्त्र अनिदव में टुत होगए वसे ही उपासना का सवस्व भूत निदानशास्त्र भी आज हम स परा परावत होगथा है । तदाप ब्राह्मणग्रथों में कही कही निदान का उल्लेख मिलता है । उसी के आधार पर हमने आपके मम्मुख निदान का कुछ स्वरूप रक्खा है । आज इस निानरहस्य का न जानन के कारण ही हमारे नवशिक्षित भारतीय युवक (और अबतो सभी) उपासना—काण्ड पर आक्षेप करन में ही अपने आपके सयज्ञानवेत्ता मानने का अभिमान कर रहे हैं । वस्तुतस्तु केवल नराशानिना के मथ ही यह दोष में ना अयाय होगा । प्रधान दोषी हैं ब्राह्मण ब्राह्मणों म भी साक्षर ब्राह्मण साक्षरा म भा विद्वान विद्वानों म भा उपदेशक इनमे भी धर्म्म—चाण्य ।

जिन भूत्वाक हाथा में य म की बागडोर थी कालमहिमा से जो समय समय पर जनता में फली हई अवमभाजनाओं का उल्काड कर धम्मश्रद्धा को पुन स्थापित करने के ज मसिद्ध अधिकारी थे आज वैदिक

साहित्य के अनुशीलन के अभाव से व स्वयं इन रहस्यों से कोमोत्र ग ह। आन ऐसे ही उपदेशक हमें क्या सुनाते ह। ऐसे ही धर्माचार्यान् धम्म का वागडोर अपने हाथ में ले रक्की है। अपनी विलास-लीलाओं में निमग्न सनातनधम्म को कलङ्कित करने वाले धम्म के आज स राज्ञति क घातक अधम्म आयाय आयाचार प्रान्तीयता आदि सकुचत वृत्तियों का प्रचार करने वाले राष्ट्र के ये अन्यतमशत्रु शास्त्र के नामच्छेदन से भावक जनता को उस अवोध भोली जनता को (प्रवलय में स्वयं गिरते हुए) लक्ष्य युत बना रहे हैं। किमानए गरीब जनता की अतुलसम्पत्ति आज दवालया में समर्पित होती है? क्यों लाखों रुपयों का दान इन मठाधीशों के चरणों में अर्पित कर दिया जाता है? धम्मरक्षा के लिए। धम्मसम्बन्धी सद्वर्तियों को दूर करने के लिए। भगवान को साक्षी बनाकर क्या सनातनी-जनता यह कहने के लिए सन्नद्ध है कि सचमुच हमारा इन का क्या सदुपयोग हो रहा है? क्या सचमुच हमें सयमाग वतलाया जा रहा है?

सह स मरणीय एव सवामना आवस्मरणीय है कि आज तो कुछ पत्ने लख ही धम्म की निंदा करते हैं। परन्तु कुछ निंदा न हतमा य सनातनी-जगत इसी नाशकारणी रुढ़ि का अनुवर्मा और बना रहा तो धम्मके नामसे भी लोगों को वृणा हाने लगेगी और सभी के लिए धम्म सवथा निरपन्न ही उन नायगा। इधर कुछ काल से आर्य्यसमान नामकी एक सस्था सयप्रचार के लिए खडी हु है। उसका ऐसा उदघोष है कि वेद ही एकमात्र स यज्ञान की निधि है। पुराण-यातिष आदि सब मिथ्या ह कपोलकल्पित हैं। कहा न होगा कि वेद की ओट में स यज्ञति का आर्य्यधम्म का जैसावनाश इस अ निविष्टा जाति से हुआ है वैसा सम्भवत और किसी से नहीं हुआ। सनातनधम्मा समभक्त नहीं परन्तु मानत ह। यहा तो समभक्तों के साथ साथ मानना भी नष्ट होगया। अपने समापञ्चा पर आज निदानावप्राप्तक उपासनाकांड की अद्वैतिक-अशास्त्रीय वतलाने का अन्न य अपराध करने का साहस किया जा रहा है।

देखो सनातनियों क गणेशजा तो इतने माटे-ओर उनका वाहन ओगसा चूहा देखो इन पोपाकी पोपचीला-पीली मिट्टी का गणेशजी मानकर यह धूत पेसा ठग रहे हैं इसप्रकार के कुतकों से अदनिश धम्म को उम वैज्ञानिक धर्म को कोसा करते हैं। श्रद्धालु सनातनधर्मी लुभ हैं। धम्म के स्त ममत धर्माचार्य विलासलीला में मत्त हैं। विद्वान् नामको कलङ्कित करने वाले ब्राह्मण प्रमत्त-मद गर्वित-सरस्वती के अन्यतमशत्रु धनिकों की आराधना में एव विलासनिमग्न सामन्ततंत्रों की अभ्यर्थना में (राजभक्ति में) निमग्न हैं। अटक से कटक और कन्याकुमारी पथ्यत आज धम्मभ्रूषण पर सवत्र इसप्रकार खड्ग प्रहार ही हो रहा है। न आज सत्यज्ञान के प्रचार के लिए क्षेत्र न सयवक्ता को कही आश्रय न वैज्ञानिक साहित्यप्रकाशन के लिए आज सम्पत्तों तथा सत्ताधीशों के कोश में द्रव्य।

इत्थभूत सांस्कृतिक-धार्मिक-अध पतन जसे प्रकात धोरपोरतम भयावह युग में ऋषिवशज नैष्ठिक ब्राह्मणों का एकमात्र यही कृतव्य शेष रह जाता है कि राष्ट्रीय मूलसंस्कृति एव तमूलक धम्म के सम्बन्ध व कालपुरुष की आराधना करते हुए सत्यज्ञानाराधन के सम्मुख सभी प्रकार की विनबाधाएँ सहते हुए अपने स्वाध्यायव्रत पर ही अनन्यानेष्टा से आरूढ होजाए। सभव ही नहीं अपितु निश्चित है कि तद्विधा निष्टा में इन स्वाध्यायनिष्ठों की आपत्ति-परम्पराओं का ही आतिथ्य स्वीकार करना पडगा। किन्तु यही इनका महान् पुरस्कार माना जायगा जिस के आधार पर ही राष्ट्र में पुन वह सांस्कृतिक जागरण सम्भव बन

सकेगा जो एक वगत् तीन सहस्र-वषा से साम्प्रदायिक-वाद-पर परा-निग्रह से आभिमत ही होता आरहा है।

तथोक्त निदर्शनों से विन पाटका को यह भलीभांति वादत होगया होगा कि आ-तरिदय आ-यप्राणमूत असुर एव मृदगत प्राणरूप असुर दोनों ही अमृत ह। एम नीरूप असुरप्राण के वधके लिए किसी मूर्ति पदार्थ को मध्यस्थ बनाना आव यक है। त्रिना भौतिक इन इन के यहा की व्यवप्रक्रिया यथावत् समन्वित नहीं हो सकती। हमारा यह स्तम्बयजु (कशमुष्टि) इसी प्राणमूर्ति असुर का निदान है। इस पर स्पष्ट का प्रार करना असुर पर ही प्रहार करना है। दृष्टि नस पर है एव भावना असुरवध की और है। यही तो निदान है। भाषण के जिस प्र श पर अ वयु वदि बनाने वाला है वहा वह उत्तराग्र कुशमुष्टि विख्या देता है। यह कुशमुष्टि उस वरि रूप भद्रदश का आवृत कर लेती है। कुशमुष्टि ने भद्रदश को क्या आवृत कर रक्खा है असुराने हा नस आवृत कर रक्खा है। कुशमुष्टि को वादकभाषा म स्तम्ब कहा जाता है। इस स्तम्बरूप नै नितिक असुर पर पश्यरूप वज से मात्र बोलता हुआ अ वय्य प्रहार कर प्रहार से छिन्न भिन्न स्तम्ब को एव उबडी हुई मिट्टी को उत्कर में प्रक्षि त कर देता है। जिम मात्र से इस स्तम्ब का हरण होता है वह यजुमत्र नस कम्म का दवता बनता हुआ स्तम्बयजु नाम से व्यवहृत होता है। तम्ब इस यजुसे अभिन्न है अत इस स्तम्ब (कशमुष्टि) को भी स्तम्बयजु नस नामसे व्यवहृत किया जाने लगा है। इस स्तम्बयजु का हरण किया जाता है अतएव स कम्म को यज्ञरहस्यवत्ता स्तम्बयजुहरण नाम से व्यवहृत करते हैं। यह स्त वयजुहरण निदानेन असुरनिरसन यापार ही है। अर्थात् स्तम्बयजु का इस स्थान से हरण करना असुरों को ही नस वी यान से बाहर निकालना है। स्तम्बयजु के सी निदानभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

‘ तदतन्निदानेन यत् स्तम्बयजु ’

यह स्तम्बयजुहरण किया क्यों जाता है? सका उत्तर है— देवानु विधा नै मनुष्या — यद्वै द्या यज्ञेऽकुवस्तत् करजाणि। भौमत्रिलोकी के स्वर्ग प्रदश में रहने वाले मनुष्यदेवताओंने अपनी दिव्यदृष्टि से उस प्राकृतिक इन यज्ञरहस्य को देख कर तदनुसार उहोंने यज्ञ का वितान किया। इन भौम देवताओं से यत् यज्ञविद्या भारतवर्ष के महर्षियों ने प्राप्त की। भौमदेवताओं के यज्ञ में असुर निरन्तर आक्रमण किया करते थे नैमाक आगे के देवासुरतायत्रिभागोपाख्यानरहस्यब्राह्मण में विस्तार से वतलाया जान वाला है। जिस आज एशिया कहा जाता है वही किसा समय भामत्रैलोक्य नाम से प्रसिद्ध थी।

असुरप्राणकृततामा असुरमानव एव दवप्राणकृततामा देवमानव इन दोनों में (प्रकृतवत्) परस्पर सदा स्पर्धा चलती रहती थी। दवता बुद्धिमान् थे परन्तु निबल थे। उधर असुर बलवान् थे किन्तु बुद्धिशून्य थे। एशियामाइनर म रहने वाले स्वयम्भू प्रजापति इन दोनों का ही निग्रह अनुग्रह किया करते थे। यत्प्राप प्रजापतिने असुरों को येष्टपुत्र समझ कर सरया एव बल में भी देवताओं की अपेक्षा विशेष समर्थ जानकर भविष्य के कलह को शांत करने के लिए इन्हें दायविभाग में अधिक भूप्रदेश दिया था। अफ्रीका अमेरिका युरोप ये असुरों को मिले थे एव सुप्रसिद्ध एशियाखण्ड देवताओं को मिला था। कहना न होगा कि एशियाखण्ड के वगमील अफ्रीकादि उपयुक्त तीनों खण्डों के भूप्रदेशों के वगमीलों के समतुलन में कुछ भी नहीं है। यह सब कुछ तो ठीक ठीक हुआ। पिता स्वयम्भू ने पहिले

स ही वन येष्टभ्राताआ का आधक स मान कर लिया था। पन्तु य नू प्रनापति का य मग्ग प्रयाम आगे जाकर सबथा यय ही मद्र हुआ। कयाक असुर बड मा थ उनका तणा भी बडी थी। उधर देवता बुमान तो थे पर तु भौतिकवल का उनमें अभाव था। यी कारण था कि ये ज्यष्टभ्राता अपनी प्रमत म पात पर सतोष न कर क नष्ट भ्राताओं का जो कुछ नाममात्र को मिला था उस भी अपहृत कर लेना चाहते थ। दुष्टबुद्ध असुर सदा इन पर आक्रमण किया करते थ। उचित अनुचित प्रत्येक उपाय से रन्तर ही व इह सत्र त करते रहते थ। इनके आगमन का माग अप्रीका क दर थ। एशिमान्नर में रहने वाले स्वयम्भू के दशन-न्याज से ये एशयाखण्ड म आते र त थ एव तुष्णारूपेण (गुप-वुप) आक्रमण कर दिया करते थ। इस आक्रमण के फलस्वरूप अवा तर युद्धो के आतंरित्त दवता और असुरो म परस्प र महासड ग्राम हुए थ।

ऋग्वदसहित म न १२ महासड ग्रामों का बडा रोचक वर्णन हुआ है। कहना यही है कि असु निरन्तर आक्रमण करते हत थ एव दवता अपने बुद्धिबल को यज्ञबल के रूप म परिणत कर इस यज्ञबल मे इह नष्ट करते रहते थ। एशयाखण्ड को देवताओंने अपनी यज्ञभूमि मान रखली थी जसाकि आगे के ब्राह्मण में स्पष्ट होने वाला है। यज्ञभूमि नाम से विख्यात इस भौमत्रिलाकी पर एव इसमें रहने वाले देवताओं पर दुष्टबुद्धि असुर आक्रमण करत रहत थे। देवता अ यन्त सत्रस्त थ। बडे प्रयास से व न युद्धो को परास्त कर अपने यज्ञमण्डल से निकालत कुछ दिनों के अन तर ही पुन ये दुष्ट आक्रमण कर बैन्त। इस आए दिन की आपत्ति को शान्त करने के लिए सदा के लिए ह अनपजय्य बनान के लिए देवताओंन एक बडा उत्तम प्रकार निकाला। उत्तरदिशा में भद्रदेश (मदान) बहत था। अत अक्रमणकर्ता असुर आक्रमण करके (छापा मार के) लूटवसोट कर वहा छुन जाते थ एव अवमर पात ही पुन निकल आते थ। अग्नि ने इन सूतों की यह धूता दखी और दवताआ से कहा कि कोड चन्ता नही यदि इनको भगकर छिपने का अवसर उत्तर में ही मिलता है तो मै उस माग को रोक लेता हू।

जिन समय असुर उस ओर से आक्रमण करते हुये अपने यज्ञमण्डल में आजायेंगे उस समय दक्षिण का माग तुम रोकना उत्तर का माग मै रोकूंगा। इसप्रकार दोनों आर के माग रुक जाने से ये बचकर भाग नही सकगे। यो अपन सम्मिलितरूप से आक्रमण कर उह सदा के लिए क्षीणशक्ति कर देगे। पुन कभी इनका इस ओर आख उठाने का साहस न होसकेगा। ऐसा ही हुआ। अग्नि की उपयुक्ता मन्त्रणा से दोनों आर से घिरे हुए असुर भागने में असमथ होते हुए देवताओं के सम्मिलित आक्रमण से सबथा हतवीय्य होगए। हा अररु नाम का एक अमुर देवताओं की आख बचाकर द्यलोक की ओर भागना चाहता था परन्तु अग्नि वहा खडे जो हुए थ। इन की दृष्ट स मागते हुए अररु पर पडी। और उन्होंने कहा कि सावधान ! यदि उधर गया तो प्राणों से हाथ धो बठगा। द्यलोक हमारा प्रान्त है। वहा तुम्ह जाने का क्या अधिकार है। यदि तू भग कर जाना चाहता है तो हम दया कर तुम्हे छोडते हैं चलाजा अपने गोस्थानरूप वारुणलोक को।

असुरों के रक्त आप्यप्राणकृततामा वरुणदेवता थ। अतएव पूर्वोक्त आसुर-त्रैलोक्य वारुण-लोक नामसे प्रसिद्ध थे। यही वारुणलोक [अब्विभाग] लोकपाल वरुण के सम्बध से ब्रज गोष्ठान (गोस्थान) आदि नामो से प्रसिद्ध था। अतत अग्निदेव से परास्त होकर अररु को अपने इसी लोक

में भाग कर प्राण बचाने पड़े । तबप्रकार दत्तात्रेय तीनों लोको से एव तीनों लोको के कुछ कुछ प्रदशो को लेकर अनन्त ब्रह्मनामके चतुस्रलाक से सदा के लिए इन असुरों को निकाल दिया * ।

इसप्रकार भौमदत्तात्रेय स्वयम्भुवर्ण से असुरों को निकाला था । इनकी प्रतिकृति पर ही अपने वैधव्य का वितान करने वाले भारतवर्षीय ब्राह्मण आज स स्तत्र जुहरण से उसी घटना का स्मरण कर तदभावना से अदृष्ट दृष्ट असुरों को नष्ट कर रहे हैं । आग्नीध्र नाम का ऋषिक पूर्वोक्त निदानभाव के अनुसार साक्षात् आग्नि है । यह आग्नीध्र जो दि के उत्तरभाग में जाता है वह मानो असुरों को रोकने के लिए अग्नि ही उत्तर में जाता है । धरन्तर दत्तात्रेय का यजन करने वाला दाक्षिण्य भाग की ओर प्रतिष्ठित अथर्व्यु निदनेन इतर दत्तात्रेय का समुच्चय है । यह इधर से माग रोकता है । इसप्रकार निदान के मायम से स्तम्बयज्ञ हरण के द्वारा सम्पूर्ण असुर तब यजमान के यज्ञमण्डल से सदा के लिए नष्ट करदिए जाते हैं । उस समय उन भौमदत्तात्रेय उन असुरों को नष्ट किया था आज यह अथर्व्यु तब प्रयत्नकर्म से यजमान के सम्पत्ति के बाधक जा शत्रु हैं उहू इस प्रतिकृतिकर्म से नष्ट करता है । यजमान का यज्ञ निर्विघ्न परिसमाप्त होजाता है ।

वर्षिक आख्यान आठ भागों में विभक्त हैं जसकि पूर्व के प्रोक्षणकर्म में विस्तार से बतलाया जा चुका है । उन आठों में सातवा उपाख्यान आधिदैविक आधिभौतिक आध्यात्मिक तब तीनों रहस्यों से सम्बन्ध रखता है । हमारा प्रकृत आख्यान ऐसा ही आख्यान है । इसका तीनों स्थाओं से सम्बन्ध है । इन तीनों में सूचीकटाहन्याय से इस आख्यान का आधिभौतिक चरित्र आपके सम्मुख रक्खा गया । अब उसी न्याय से आध्यात्मिक-चरित्र की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है ।

हमारी आयामस था म दत्तात्रेय असुर दोनों का साम्राज्य है । दत्तात्रेय से उ पन्न होते हैं एव असुरों का जन्म पृथिवी (दिव्य पृथिवी एव चन्द्रमा (कृष्णपक्ष का कृष्णचन्द्रमा) से होता है । इसीलिए चन्द्रमा को एष एव वृत्रा यज्ञतमा (श १ का ६।१।१८) इत्यादिरूप से वृत्रासुर कहा जाता है । सौर इन्द्रमय सावित्राग्नि से विज्ञानात्मा (बुद्धि) का निर्माण होता है । चाद्र वृत्रासुर से प्रज्ञानात्मा (मन) का निर्माण होता है । एव भूपिण्डस्थ आसुरप्राणमय पञ्चीकृत मृदभाग से हमारा पाञ्चभौतिक शरीर बनता है । इसप्रकार शारीरिक जीवामा-शरीर मन बुद्धि इन तीन देवासुरविभूतियों से नित्य युक्त रहता है । शरीर एव मन असुरों की आवासभूमि है तो बुद्धि दत्तात्रेय का निवास स्थल है ।

* उस समय तो सचमुच एशियाखण्ड में केवल देवताओं का ही असुरपन था । परन्तु आज तो हमारा माबुक्ता से भारतवर्ष भी हम अपने कोड में स्थान नहीं दे रहा ।

चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह होने में सत्य की अपेक्षा भाषण का अनुयायक होता है। अतएव भूपिण्डाश-शरीर चान्दाशरूप मन को सत्ता प्रदान और आकर्षित रखता है। सत्य में पूर्ण प्राणियों की अपेक्षा बहुत दूर पड़ता है। चन्द्रमा एवं चन्द्रमा में भी अधिक भूषण हमारा सम पण्डित। अत बुद्ध की अपेक्षा शरीर और मन प्रबल रहता है। साथ ही आसुरात्मक शरीर ए मन के में से अधिक है एवं दिव्यविभूतरूपा बुद्धि एकाकिनी ही है। देवता कम है अमर आदक एवं लवान् ह। अतएव शारीरिक आत्मा पर प्रायः शरीर और मन का ही प्रभुत्व रहता है। प्रज्ञा-मन भू मात्राओं के सम्बन्ध से प्रज्ञामात्रा-रूप में परिणत होता हुआ द्विधा का मञ्जाक बनता हुआ मासागक रूप रम ग व स्पर्श शान्ति विषयों का प्रभु बना रहता है। अतः प्रकार आत्मा मन के वशवत्ता होकर स विषयों का ही अनुगामी बनता हुआ अपने दिव्यस्वरूप से आवृत होता रहता है।

मनोमय आत्मा सदा शरीर की चिन्ता में ही निमग्न रहता है। शरीरगत बदलाना शरीर को प्रत्येक प्रकार से सुख पहुँचाना ही इस का चरम लक्ष्य बन जाता है। परिणाम इसका यह होता है कि दिव्य-योति मय जो आत्मा बुद्धिरूप सौर देवताओं की आवागमन था उसमें य मनोमय शरीरमय असुर प्रावृष्ट हो पड़ते हैं। इनके आने से आत्मा अपना प्रकाश अभिभूत कर बैठता है। बुद्धरूप देवता असुरों का यह आक्रमण रोकने की चेष्टा किया करते हैं। मनुष्य जब भी किसी आत्मपतनोत्तक विषय की ओर भ्रमता है तो बुद्धि रोकती है कि तुम ऐसा मत करो। परन्तु पूर्वक अनानुसार असुरभावयुक्त मन की प्रवृत्तता इस बुद्धिप्रवृत्तता को यथ कर देती है। इसप्रकार मनोमय असुरों के समतुलन में बुद्धिमय देवता पराभूत होजाते हैं। इस आक्रमण से बचने का आध्यात्मिक-असुरों को सवथा परात करने का एकमात्र उपाय है — आत्मयाजी बनना।

आसुर मन जिन विषयों को लेकर बलवान् बनता हुआ दिव्यविभूतया को परात करने में समर्थ होता है उन विषयों की ओर से आसाक्त हृदय से अपने आप आध्यात्मिक असुरबल घ जायगा एवं बुद्धिबल बढ़ जायगा। देवता जयलाभ कर लगे और असुर परास्त होजायगे। शारीरिक-आग्नेय को उत्तर में प्रतिष्ठित कीजिए। नाभि से ऊपर का स्थान उत्तर है नीच का दक्षिण है। इस दक्षिणभाग में अध्वरूप वायुमूर्ति-व्यान को बलवान् बनाइए मूलप्रतिष्ठा को दृढ कीजिए उधर से उत्तरस्थ आशुऽग्नि (मस्तकस्थ षडङ्ग-वश्वानर) का बल बढ़ाइए दोनों ओर के देवता जब सावधान होकर नियमित आहारविहाररूप आत्म-यज्ञ का जिस दिन यथावत् सञ्चालन करने लग जायगे उस दिन अपने आप असुर परास्त होजायेंगे। मिथ्या आहारविहार से विषयानुसंधान से शारीरिक-आग्नेय देवताओं का बल घ जाता है असुरों का बल बढ़ जाता है। जो विद्वान् अस आध्यात्मिक यज्ञरहस्य को समझकर आयुर्वेदोक्त नियम से अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करता है वह कभी भी असुरों को अपने अध्यात्मयज्ञ में प्राण्य नहीं होने देता। यह है इस आख्यान का आध्यात्मिक रहस्य। अब सवप्रधान आधिदैविकरहस्य की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इस आख्यान का सम्बन्ध सागराम्बरा नाम से प्रसिद्ध पृथिवी अन्तारिक्ष में आप इस चतुर्लोकामिका स्तोम्या पृथिवी के साथ समझना चाहिये। ससार का उपादानत व शुक्र नाम से व्यवहृत होता है। इस शुक्र की वाक्-आप-अग्नि ये तीन अवस्थाएँ हैं। ये तीनों ही अमृत-मत्स्य भेद से दो दो

प्रकार के ह। इन में अमृता मक वाक् आप अग्नि से तो अमृतसृष्टि हाती है एव मय इही शुक्रो से मयसृष्टि का विकास होता है इन म प्रकृत में पृथिवी मस्था के साथ मयशुक्र का ही सम्बन्ध समझना चाहिए। भूपिण्ड स्वय आ नमय है। मके चारो ओर समुद्रमभित पान्वमानम् * इस श्रौत सिद्धा त के अनुमार चारो ओर आपोमय पारमष्ठय समुद्र है। इस के चारो ओर वाड मय वदरूप प्राणस्तर है। उधर से आपोमये सबसे ऊपर गान्धर है। इसी के पुराणाकाश कहा जाता है। इस वाकस्तर के (वाड मण्डल के) भीतर आपोमय मण्डल है। स ही आपोमयसमुद्र कहा जाता है। इस आपोमयमण्डल के केन्द्र में भूपिण्ड है। इन तीनों स्तरों में से सर्वात के वाकस्तर को तो छोड दीजिए। क्योंकि उसका प्रकृत आख्यान के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है एव अवाशष्ट आपोमयसृष्टि भूपिण्ड आपोमय मण्डल इन दो तथ्यों को लक्ष्य बनाइए।

प्रवप्रकरणों में य अनेकधा कहा जाचुका है कि— अद्द ह वै प्रजापतेरात्मनो मत्यमासीद् अमृतम इत श्रौत सिद्धात के अनुसार यह अग्निप्रजापति अमृत मत्य भेद से दो भागों में विभक्त है। अमृताग्नि प्राणरूप है एव म र्याग्नि भूतात्मक है। अमृताग्नि को देवता कहा जाता है एव म र्याग्नि को भूत कहा जाता है। स्वय भूपिण्ड भूताग्नि की चित्तिमात्र हैं। अतएव पिण्डामक इस मय अग्नि को चित्त्याग्नि कहा जाता है। अस चि याग्नि म अग्नि आप दोनो ह। पानी एव अग्नि के सघात से ही भूपिण्ड का निर्माण हुआ है। पानी की उपादानता को लक्ष्य में रखकर जहा अस भूपिण्ड के लिए अद्भ्य प्रथिनी यह द्रव्य जाता है कहा आग्नि की (मर्याग्नि की) उपादानता को लक्ष्य में रखकर अस के लिए अग्निभू स्थान यह कहा जाता है। अस मर्याग्निपिण्ड के केन्द्र से वह प्राणाग्नि वद्ध रहता है। यद्यपि प्राणाग्नि निय है। परन्तु जबतक भूपिण्ड नि पन्न नहीं होजाता तबतक इस प्राणाग्नि को प्रतिष्ठित होने का अवसर ही नहीं मिलता। जब लक्ष्य भूपिण्ड नि पन्न होजाता है तभी उसके हृदय में इस अमृताग्नि के निधान का अवसर आता है। अतएव चित्ते निधीयते अस यु पत्ति को लक्ष्य में रखकर इस अमृताग्नि को चित्तेनिधेय नाम से व्यवहृत किया जाता है।

यह प्राणाग्नि— भ पण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर अपने प्राणरूप गतिध म के कारण गाममण्डल का सम्पादन करता हुआ उत्तरोत्तर आग चलता है। इसी प्राणाग्नि का नाम तेजोरस है। यही मन्त्रसहिता में अङ्गिरा नाम से व्यवहृत हुआ है। यह प्राणाग्निरूप अङ्गिरा वस्तुतः भूपिण्ड की वस्तु नहीं है। अपि तु सौर इन्द्रमय सावित्राग्नि सत्य से प्रवृक्त हाकर अस भ पण्ड में प्रतिष्ठित होजाता है। प्राण प्रजानामुदय

अपा पष्ठमाम यानिरग्ने समुद्रमभित पि पमानम्।

वद्ध मानो महो आ च पुष्कर इवो मात्रया वरिम्णा पथम्ब ॥

—यजु स १७२६।

— वाकपिण्ड रूप ऋक पर आरूढ होकर यह सामा मक प्राण हिकार—प्रस्ताव—उद्गीथ—प्रतिहार—निधन इन पाच सुरय पर्वों में परिणत होकर महिमामण्डल का अधि ठाता कैसे बनता ह ? इस विषय का अवशद समाधान छात्त्रोपनिषद—हिन्दीपिज्ञानभाष्य क सामप्रपाठक नाम के द्वितीय प्रपाठक में देखना चाहिये।

यद्यप्यस्य तस्य सिद्धांत के अनुसार यह सोर और न-प्राणों का मेलन ही है। यह जलक अपने सौरमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है तबतक तो आकषणशक्ति-प्रधान रहता हुआ पृथ्वी का आदान करता हुआ यथापि नाम से प्रकृत होता है। एतत्प्रकार से सब मेलन प्रकृत होकर अङ्गिरा नाम से यन्त्रित होन लगता है। पार्थिव भौतिक शक्त पृथ्वी का प्रकृत (मन्त्र) करना ही आङ्गिरा प्राण का ही मुख्य कार्य है। उस एक प्राण का विघ्नणशक्त सम्पूर्ण पार्थिव परमाणु परस्पर आनन्द रहते हैं।

पार्थिव परमाणु अङ्ग है यह अङ्गी है। अङ्गी बन कर वह प्राण उत्तेजाभाव के कारण उत्तरोत्तर प्रकृतकालत होता हुआ ऊपर जाता है ऊर्ध्वतर विस्तृत होता रहता है। अतएव अज्ञान यस्य सोऽङ्गी अङ्गी भूया रसति-प्रसवति-प्रसवतो भवति तस्य युपत्ति मन्त्रे अङ्गी क्वा जाता है। यथा आकर भूलोक की वस्तु बन कर ब्रूलोक की ओर जा रहा है। उधर से सत्य म निकलने वाला आण्यप्राण निरंतर चारों ओर जाता हुआ भाषण्ड की ओर भी आ रहा है। जाते हुए अङ्गी एव आते हुए आदित्य का अन्तरिक्ष में तानुन्त्र (सन्त्र-मुठमेड) हाता है। इसी रहस्य का लक्ष्य में रखकर आन्तित्यश्च ह वा अङ्गिरसश्च अस्पद्र-त-वयं पुत्रमंघ्याम-त्रयं पुत्रमंघ्याम यह कहा जाता है। कहना यही है कि यह आङ्गिरागिण आगन्तुक है। प्रवय-सम्बन्ध से जिस म ग स आकर यह भक्ते म प्रतिष्ठित हुआ था ठीक उसी माग से पुन अपने ब्रूलोक में चला जाता है। अङ्गिरा के तस्य आगति गति विधान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रवृत्ति कहती है—

इत एत उदासहन् दिव पृष्ठा यासहन् ।

प्रभुजयो यथापथि धामङ्गिरमो ययु ॥

—साममहिता पृ १२

यह प्राणाग्निरूप अङ्गिरा बाहिर निकल कर जहा जाके अपनी गात समाप्त करना है जहातक का एक मण्डल बनता है। किसी समय (आदियावस्थाकाल में-सौरप्राण के आगमनकाल में) अङ्गिरा सत्य की वस्तु रहा होगा। परन्तु आज इस भपिण्डके केन्द्र से निकलकर चारों ओर अपना एक स्वतंत्र मण्डल बनाता हुआ तो यह पृथिवी की ही वस्तु माना जायगा। अतएव आपको यह भी मान लेना पन्ना कि जहातक तस्य अङ्गिरा प्राण की व्याप्ति है जहातक का सम्पूर्ण भाग पृथिवीलाक ही है। सच पूछिए तो पृथिवीलोक का समपक यह अङ्गिरा प्राण ही है। क्योंकि पृथिवी शब्द का निवचन करत हुए ऋषिगण यन्प्रथयन्-सा पृथिवी यह कहा है। यह प्रथम फैलाव है। भाषण्ड का फैलाव नहीं होता अपि तु पिंडस्थ प्राणाग्निका ही फैलाव हाता है। वही अप्रथयन् का अधिकारी है। अतः हम इसे ही पृथिवी किवा प्राणिकीका स्वरूपसमपक कर सकते हैं। भूपिण्ड पिण्ड है एव पृथिवी मण्डल है। भूपिण्ड भूतप्रधान है एव पृथिवीमण्डल प्राणप्रधान है।

जो प्राणाग्निका भपिण्ड के केन्द्र से निकल कर भपिण्ड के पृष्ठ पथ्यन्त यान्त ह उसे तो भपिण्ड में ही अतम त मान लीजिए एव भपृष्ठ से आगे चलिए। पृष्ठ से परिध पथ्यन्त यान्त इस प्राणाग्निका की घन तरल-विरल-ये तीन अवस्थाएँ हाजाती है। जहातक घन अग्निका रहता ह वह प्रदेश वाङ्मयस्तोम की अपेक्षा से त्रिवृत्स्तोम कहलाता ह। इस में अग्निका की घनावस्था किवा घनावस्थापन्न प्राणाग्निका प्रतिष्ठित रहता है। जहातक तरल अग्निका व्याप्त रहता है वह प्रदेश पञ्चदशस्तोम नाम से व्यहृत होता ह। एव जिस प्रदेश में विरल अग्निका प्रतिष्ठित रहता है वह एकविंशस्तोम कहलाता ह। इसप्रकार उस पृथिवी

मण्डलं त्रिवृत् पञ्चदश पञ्चदश यतीन स्वतत्र प्रश बन जाते ह । इसी आधार पर तो— एक सन् प्रथमान यावुक्त यह कहा जाता ह । त्रिवृत् प्रश म अग्नि स्वस्वरूप से विकसित है । अग्नि को भूस्थान कहा जाता है । अतएव इस त्रिवृत् तामरूप धनाग्निभूत को (उस महापृथिवी में अतमुक्त) प्राथवालीक कहा जाता ह । ६ से १५ पर्यन्त के पञ्चदशस्तोम में अग्नि तरल बनकर वायुरूप म परिणत हाजाता है । वायु के त्रय मे यह प्रदेश अन्तरिक्ष नाम से व्यवहृत होता है । १५ से २१—पर्यन्त का एकविंशस्तोमामक प्रदश त्रयल अग्निरूप आदिय की प्रतिष्ठाभमि होने से द्युलाक कहलाता ह ।

ताप य इसका यही है कि पार्थिव अग्नि यो यो उपर वृद्धता है यो या वह सूक्ष्म होता जाता है । इसी का तो नाम वितान है । भूपिण्ड से २ व अहगण पर सूय है । उस स्थान पर पहुच कर यह आङ्गिरस अग्नि तौर आदियवर्त्मों से सश्लिष्ट होकर स्वय भी आदियरूप ही बन जाता है । जिस पर आप बैठ हैं वह भू है । सूय पर स्व है । भूपिण्ड एव सूयपिण्ड का अन्तराल प्रदेश भुव है । भू चित्याग्निमय है । अन्तारक्ष मरुद्वायुमय ह । एव सय्यापण्ड सावित्राग्निरूप आदित्यमय है । इस त्रिलोकी को रुद्राग्नि क सत्रघ स रोत्सी नाम से व्यवहृत किया जाता है । प्रकृत में इस त्रिलोकी का कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु रोत्सी त्रिलाकी का जो एक भूपिण्डामक भूलोक है उसमें प्रतिष्ठित जो पार्थिव आङ्गिराप्राण है उमी के वितान से रोत्सी त्रिलोकी से अपनी सवथा स्वतत्र सत्ता रखने वाली जो स्तौम्यत्रिलोकी है उसीका यहा सम्बन्ध है ।

स्तौम्यात्रलोका एक महाप्राथवी है । इस महाप्राथवी के गम में त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश भेद से तीन लोक हैं । जहा रोत्सी-त्रिलोक्य क लोक म भुव स्व इन नामो स व्यवहृत होते हैं वहा इस स्तौम्यत्रिलोकी के तीना लोक प्रथिवी अन्तरिक्ष द्यौ इन नामा स प्रसिद्ध हैं । इस सवथा विभक्त लोक व्यवस्था के रहस्य का न जानकर अज्ञ मनुष्य म आदि का प्रथिवी आदि के सथ परस्पर पर्याय सम्बन्ध समझा करते ह । याद द्यु और स्व एत ही वस्तु होती तो— दिव च प्रथिवी चान्तरिक्षमथो स्व यह कैसे कहा जाता ? प्रकृत विषय यी है कि स्तौम्य त्रिलोकी एक महापृथिवी है । इसका आधार भूपिण्ड है । भूपिण्ड का केन्द्रमथ आमा मन प्राणवात्स्य है । यह आमावाक जहाँतक जाता है वह मण्डल बषट्कार कहलाता है । वाक गान य है । ये सन्ध है ।

३ ३ गौ का एक एक अहगण होने से ३३ अहगण होजाते हैं । अवशिष्ट १ वाँ चतुर्विंश प्रजा पत है । इनमें ३ अहगणा का भोग तो पिण्ड य प्राण में होजाता है । शेष ३ अहगण भपृष्ठ से मण्डल की परिधि पर्यन्त यात है । मण्डलस्थ तान अहगणों मे ६ के योग स त्रिवृत् (६) —६ के योग से पञ्चदश (१५) पुन ६ के योग से एकविंश (२०) पुन ६ के योग से त्रिणव (२०) पुन ६ के योग से त्रयस्त्रिंश (३३) स्तोम का स्वरूप निपन्न होता है । प्राथवी के २१ व अहगण पर सूय है । अमी वाङ्मयी पृथिवी के ११ अगण अवाशष्ट हैं । आङ्गिराप्राण के सम्बन्ध से जहा पृथिवी की सत्ता २१ पर्यन्त (सूय पर्यन्त) मानी जाती है वहा इस षट्कार के सत्रघ से पृथिवी की सत्ता सूय से भी ऊपर पर्यन्त मानी जाती है । तभी तो पुराण का—पृथिवी के पुष्करद्वीप में सूर्य ह यह कहना अवय बन जाता है ।

स्य को— असा वा आन्त्य एष रथ (शत ६।४।१। ५) क प्रनुमार रथ क्वा जाता है। पार्थिवसाम उपयुक्त कथनानुसार नस सृष्टीरथ का भी तरण कहा जाता है। अतएव नस पार्थिवसाम को रथन्तर साम कहा जाता है। जहातक इम रथतर की सीमा न वहातक हमारी सागरम्बरा पृथिवी है। २१ व अहगण पयन्त प्राणाग्निस्तर है। एव ३३ पयन आप र है। तीसरा वनमय वाक्स्तर गायत्र त्रैष्टुभ नागत-भावापन्न छान्तामा नाम के युग्मस्तोम के सम्बन्ध मे ४८ पयन्त जाता है वसे ही विज्ञानभाषा मे पाराजतप्रष्टु कहा जाता है। इमे अप्राकृत समझकर छाड दिया गया है। इसप्रकार नागराम्बरा प्रग्नी मे क्रमश त्रिपत् पञ्चदश एकविश त्रयास्त्रश न चार स्तोममे ो से क्रमश प्रग्नी अतरिक्ष या आप ये चार लोक होजाते है। इन चार मे क्रमश अग्नि वायु आन्त्य परुण ये चार त्वता प्रतिष्ठित। प्रनाग्नि घनता के तारतम्य से आठ भागो मे विभक्त है ये ही आठ ऋसु हैं तरलान (वायु) तरलता के तारतम्य से १२ भागो मे विभक्त है ये ही ११ रुन् ह। विरलाग्नि विरलता के तारतम्य मे १ भागो मे विभक्त है। ये ही १ आदित्य ह। इन तीना विभिन्न प्राणो के संयोजक नासत्य-स्र नाम के दो प्राण साध्य (त्रिवृत् पञ्चदश की एव पञ्चदश-एकावश की सधि मे रहने वाले) ओर हैं। नसप्रकार सम्भूय ३ प्राण होजाते ह।

एक ही अग्नि अग्नि-वायु-आन्त्य बना। ये ही तीनों अवस्थातारतम्य से ३३ होगए। इमलिए हम कह सकते हैं कि स पूण दवाववत् एकमात्र अग्नि मे ही अन्तभूत है। प्राणाग्नि को पकड ली जाए ३३ सों देवता गृहीत होजायगे। यही कारण है कि वायु-इन्द्र-वरुण-नामय दस-आठ सभी देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति द दी जाती है। अग्नि स्वविशक्लनधम्म से सब में तत्तदाहुतिभागो को विभक्त कर तत्तदेवताओं में पन्न चा देते हैं। नमी विज्ञान के आधार पर अग्नि सर्वा देवता - अग्निमुखा त्रै देवा अग्निपुरोगा सर्वे देवा प्रीयताम इ यादि कहा जाता है। भूपृष्ठ से सलग्न रह कर (२१) एकविश-स्तोम पयन्त व्याप्त दूसरे शब्दो में त्रैलोक्य में व्याप्त ३३ भागों में विभक्त इस आग्नेय प्राण ही का नाम (देव नामक) देवता है। इस प्राणाग्नि में सोमाहुति होरनी है। इसी सोमाहुत का नाम यज्ञ है। त्रैलो-क्यरूपा महापृथिवी वेदि है। इस पर देवता यज्ञवितान कर रहे हैं। अग्नीषामामक इसी प्राकृतिक निय यज्ञ से प्रजा की रक्षा होरही है उपत्ति होरही है। उपयुक्त इही ३३ यज्ञिय देवताओं का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

इति स्तुतामो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियास ॥

—ऋक् ८।३।।

उक्त ३३ सो देवताओं का विकासस्थान वही भूकेन्द्रस्थ उक्थरूप प्राणाग्निरूप अथवसहितादि में स्कम्भ नाम से प्रसिद्ध दनदिनगतिका प्ररक बनता हुआ तद्द्वारा अहोरात्र का सम्पादक बनता हुआ भूपिण्ड की उत्तर दक्षिण की अन्तिम सीमा में प्रतिष्ठित होकर क्रमश सुमेरु कुमेरु नाम से प्रसिद्ध होता हुआ उत्तरदक्षिणप्रुवकीलाक से निय बद्ध रहकर अपन स्थान में ही घूमता हुआ २४ अश के व्यासाद्ध से वृत्त बनाकर ४८ अश के परिसर (धेर) में व्याप्त रहता हुआ अश्वपशु का प्रवत्तक अक्ष नाम से प्रसिद्ध प्रजापति ही इन ३३ प्राणदेवताओं का प्रजनयिता है। इसी उक्थ से अकरूप ३३ देवता क्रमश वितत

होते हुए २१ व अहगण पय्यत यात हारह है। अत इन देवताओं को हम अवश्य ही प्राजापय (प्रजापति की सन्तान-प्रजापतिप्राण के सतनन रूप) कह सकते हैं।

२१ व अहगण के ऊपर हमन आपालाक बतलाया है। त्समे प्रधानरूप से सवरणधर्मा वरुण-देवता का साम्राय है। आ नप्राण विकासशील है तो यह वरुण सकोचशील है। ग्रथि खोलना प्राणाग्नि का जहा स्वरूपधम्म है व। ग्रथि लगा दना वरुण का सामाजिक कर्म है। इसी वरुणमण्डल में भृगु का विकास होता है। पिप्राण सन् गच्छति के अनुसार जो त व अपने सकोचधर्म से वस्तु को अपने उदर म बद्ध करता हुआ चलता है वही भृदगु कहलाता है। भृदगु ही देवताओं की परोक्षभाषा में भृगु नाम से प्रसिद्ध है। आङ्गिरा जहा उत्तरोत्तर रसनधर्मा पिच्छशनशील) था वहा यह भृगु उत्तरोत्तर सगठनधर्मा है। वारुण मण्डल में ही इसका विकास रहता है। अतएव सके लिए भृगुवै वारुणि यह कहा जाता है। जिसप्रकार प्राणाग्निरूप अङ्गिराग्नि की घन तरल विरल ये तीन अवस्थाएँ हैं एव व ही तीनों अवस्थाएँ जस आग्नि वायु आदित्य इन तीन नामों से प्रसिद्ध हैं ठीक इसी प्रकार इस सकोचधर्मा भृगु की भी तथोक्त तीन अवस्थाएँ हैं। इही तीनों अवस्थाओं को क्रमश आप-वायु-सोम-इन नामों से व्यवहृत किया जाता है।

उक्त अवस्थाओं के कारण तीनों त व सवथा पृथक् पृथक् नाम रूप क म वाले बन जाते हैं। आपो-भाग म असुरप्राण प्रतिष्ठित रहता है वायु मे ग धवप्राण की सत्ता है एव सोम मे पितरप्राण रहता है। दूसरे शब्दों में आप्यप्राण वायु यप्राण साम्यप्राण ही क्रमश असुर गधव एव पितर हैं। ये तीनों सहजमा है। अतएव तीनों प्राणों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रहता है। यही कारण है कि जहा आप्यप्राण को प्रधानरूप से असुर माना जाता है वहा वायुगत आप्यप्राण के लिए—अन्तरिक्ष वा अनुरक्षत्ररति अमूलमुभयत परिच्छिन्नम यह कहा जाता है। आ तरिक्ष्य वारुणवायु में आप्यप्राण प्रावष्ट रहता है यह पहिले ही कहा जाचुका है। सहजमा सोम भी (पितर भी) इससे असस्पृष्ट नहीं है। अतएव जबतक सोम आपोमण्डल में रहता है जबतक यह भी वृत्र असुर ही कहलाता है।

इसप्रकार आपोरूप भृगु की तीन अवस्थाओं से असुर तीन भागों में विभक्त होजाता है। प्रत्येक आङ्गिरस देवता के साथ आशिकरूप से त्रिवा विभक्त इस आप्य असुरप्राण का सम्बन्ध रहता है। देवता ३३ हैं। प्रत्येक में तीन तीन असुर हैं। इसप्रकार देवताओं की अपेक्षा ये त्रिगुणित (त्रिगुणे ६६) होजाते हैं। ये असुर जब भी त्रिलोक्य में आक्रमण करते हैं सवत्र अधकार होजाता है। रात्रि में वारुणप्राण का पूरण विकास है। अतएव रात्रि को वारुणी कहा जाता है रात्रि वरुण के सम्बन्ध से ही असुरों की अवासभूमि है। इसके आगमन से अह कालाधिष्ठाता ज्योतिष्मय देवता सवथा पराभत होजाते हैं।

होता क्या है इद्र दध्यन् अथर्वा की अस्थि का वज्र बना कर इन ६६ असुरों को नष्ट कर देते हैं। अथर्वा पारमेष्ठय तव है। इसी को आपोमय मण्डल कहा जाा है। आप की अवस्था-विशेष को ही सोम बतलाया गया है। इस सोम की वृत्र इद्रु पवमान अप्तु आदि १ प्रधान जातियाँ हैं। इन दसों में जा एक वृत्र नाम का सोम है उस की ध्रुव धत्र धरुण धम्म ये चार अवस्थाएँ हैं। भूपिण्ड पथर एव ओर ओर घनद्रव्यों में रहने वाला घनतास पादक वृत्रसोम ध्रुव है। इसीको अश्मासोम भी

कहा जाता है पानी घृत तल आद तरल पदार्थों में रहने वाला तरलताम पात्क वृत्रसोम धत्र नाम से व्यवहृत होता है। प्रायु स्पीट इत्थर प्राण आदि तरल पदार्थों में रहने वाला त्रिलता—स पादक सोम धरुण नाम से व्यवहृत होता है एव रूपाद गुणों में रहने वाला गुणभाव—सम्पा क वृत्रसोम धम्म नाम से प्रसिद्ध है।

विक—परिभाषा में घन तरल त्रिल भाव के लिए क्रमशः दधि घृत मधु ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रथिवी अन्तरिक्ष द्यौं में क्रमशः घनाग्नि तरलाग्नि त्रिलोक्ति प्रतिष्ठित हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर इन तीनों के लिए—दधि है वास्य लोकस्य रूपम् घृतमन्तरिक्षस्य मध्य-मुष्य (शत ७ का कूमचित्ब्राह्मण) यह कहा जाता है। बतलाना यही है कि दाध शब्द घनभाव का वाचक है। उधर पूर्वोक्त चतुर्विध वृत्रसोमों में घनता—स पा क अश्मासोम है। अतएव हम इसे इस घनवभाव के कारण अश्वय ही दधि नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। हमारे शरीर में अस्थि (हड्डी) का निर्माण इसा दधि नामक अश्मासोम से होता है। पत्थर में जो आप घनता देखते हैं वह यही अश्मासोम की कृपा है। अस्पर्शक इस घनता से इस घनसाम को हम दधि अस्थि अश्मा आत्मी सभी नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। यह दाधसोम मौलिक है। भत की प्रतिष्ठा प्राण है। प्राण की विक्रमभूमि भत है। जो पारमेष्ठ्य अथर्वाप्राण स्वविकास के लिए इस अस्थिरूप दधिसोम (अश्मासोम) का यात्रा करता है अपेक्षा रखता है दूसरे शब्दों में जो प्राण इस अश्मासोम से युक्त रहता है वही—दधिसोमश्चते अपेक्षते इस व्युत्पत्ति से दधियद् नाम से प्रसिद्ध है। प्राण को ही प्राणा वा ऋषय इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ऋषि कहा जाता है। अतएव अश्मासोमय इस आथवणप्राण को दध्यङ्-ऋषि कहा जाता है। पुराणपरिभाषा में यही ऋषि दधीचि नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। साथ ही आपको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो मनुष्यऋषि जिस प्राण—ऋषि का प्रथमद्रष्टा होता है वह अपने जन्मनाम से प्रसिद्ध न होकर उस मौलिक ऋषिप्राण के नाम से ही प्रसिद्ध होता है। इसी पौराणिकी सामान्य—परिभाषा के आधार पर जिस ऋषिने सबसे प्रथम इस दधीचि प्राणषि का प्रयत्न किया था वह और उसके वशधर भी दधीचि नाम से ही प्रसिद्ध हुए। दधीचि ऋषि के आत्मा में इसी दध्याप्राण की प्रधानता थी। गोत्रसृष्टिविज्ञान * के अनुसार दधीचि ऋषि ही सुप्रसिद्ध दाहिमा (दाधीचि) नाम की ब्राह्मणजाति की मूलप्रतिष्ठा है। दधीचि ऋषिप्राणकृततामा दधीचि नाम के मनुष्य—ऋषि इस जाति के मूलपुरुष थे। इसी वशपरम्परा से यह प्राण और और ब्राह्मणजातियों की अपेक्षा इस जाति में प्रधानरूप से विकसित रहता है। दधीचितव अश्मासोम के सम्बन्ध से अमेद्य है। और तो और आसुरप्राण भी यहा आके सवथा परास्त होजाता है जैसा कि अनुपद में ही पाठक देखेंगे।

इस प्राण में मृदुता का सवथा अभाव है। यह प्राण अत्यन्त ही वक्र है। इस पर किसी का आघात सम्भव नहीं है। जिस प्रकार वसिष्ठादि प्राण मृदुभाव—सौहाद आदि ऋषुधर्मों का विकास करते हैं ठीक इसके विपरीत यह प्राण जिसके भी आत्मा में प्रधानरूप से विकसित रहता है वह नरऋषि मृदुभाव—सौहाद ऋषुता आदि विभूतियों से तटस्थ ही बन जाया करता है।

* ऋषिप्राण किस क्रम से गोत्रसृष्टि करते हैं? सगोत्रों में विवाह—सम्बन्ध क्यों नहीं होता? यादि प्रश्नों के समाधान के लिए ऋषिस्वरूपपरिचय नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए।

प्रकृत म हमें केवल यही प्रतलाना था कि परमेठी अथवा में प्रतिष्ठित रहने वाला द यद् सोम साक्षात् वज्र है। इस अस्थिमोम का वज्र बनाकर ही मन्द्र उन तमोमय रात्रगत ६६ असुरों को नष्ट कर डालते हैं। वस्तुस्थिति यही है कि यह अस्थिमोम दाह्य है। उधर सार मात्राग्नि दाहक है। इस अस्थिमोम की सोर अग्नि में आहुत होती। २५ व ग्रहण पर मोम्यवियत् प्रतिष्ठित है। विद्युत् इन्द्र है। उसके आकषण में आ विन व अस्थिमोम सोराग्नि म आहुत होता है। मोम का आग्नि में आहुत होना ही सौ य वियत् का असुरों पर वज्र प्रार करना है। क्योंकि सोमाहुति के अयत्तितोत्तरकाल में ही व योतिषा त्रितमो वज्र म सिद्धा त के अनुसार सबत्र प्रकाश होजाता है। मप्रकार रूपाधिष्ठाता इद्र की कृपा से ६६ असुर नष्ट होजाते हैं। सबत्र प्रकाशमय ३३ देव देवताओं का साम्राज्य होजाता है। अहोरात्र के सम्बंध म यह कौतुक प्रतिनि वृत्ता करना है। सी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रव्रति कहती है—

इन्द्रो दधीचो अस्थमिष्टुं प्राणप्रतिष्कृत ।

जघान नपतीर्नव ॥

—ऋक्स १म ४ सू १३ म

जिस प्रकार ३३ आनेय त्वता भूपिण्डकेन्द्रस्थ प्रजापात से उपन्न हुए हैं एवमेव ६६ असुरों की मूलप्रतिष्ठा भी वही न यप्रजापात है। भूपिण्ड का निर्माण अपतव और अग्नि से हुआ है यह प्रकरण के आरम्भ म ही कहा जाचुका है। यह आप भृगु है एव अग्नि अङ्गिरा है। नम्यप्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं। कामना के अन तर व तदनुकूल तप करते हैं। यह तप इही दोनों से सम्बंध रखता है। भ्रगूणामङ्गिरसा तपसा तप्य म के अनुसार प्रजापति का तप (प्राणव्यापार) भृगु अङ्गिरा मक है। वे इह्ना पर व्यापार करन ह। इस व्यापार से पानी का स्नेहधम्म एव अग्नि का तेजोधम्म पानी का शीतभाव एव अग्नि का उष्णभाव (रासायनिक संयोग से) प्रतिमूर्च्छित होजाता है। फलत अनु णाशीत भूपिण्ड का निर्माण होजाता है। भूपिण्ड में दोनों की सत्ता है। इनम आग्नेयप्राण का विकास जैसे देवता है तथव आप्य भागवप्राण का विकास पूर्वकानुसार असुर है। दोनों प्रजापत्य हैं।

जसे भूपिण्ड के केन्द्र से विनिगत ३३ विध अङ्गिराप्राण यात होता है एवमेव देवप्राण के साथ साथ ही भूकेन्द्र से विनिगत विषवी असुर भी त्रलोक्य पर आक्रमण करत हैं। आग्नेय प्राण ऊर्ध्वगामी होता है। प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलन हविभुज यह सभी जानते हैं। अत इनका (देवताओं का) बल ऊपर जाते समय अधिक रहता है। पानी निम्नगा है। अत केन्द्राघात से प्रक्षिप्त होता हुआ भी आग्नेयप्राण कठिनता से ऊपर चढता है। चढता अवश्य है इसीलिए तो श्रुतिने दोनों की स्पर्दा बल्लाई है। परन्तु इस चढने में आग्नेय प्राण (देवता) प्रबल है इसलिए देवता असुरों को जीतते रहते थे यह भी कहा है। भूसृष्टिकाल की इस आरंभिक स्थिति का ही निरूपण करते हुए भगवाद् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ते ह स्म यद् देवा असुरान् जयन्ति, ततो हस्मैर्नान् पुनरुपोत्तिष्ठति ॥८॥

जिस समय भूसृष्टि का आरम्भकाल था जिस समय भूपिण्ड एवं महाप्राथम्य का निर्माण हुआ था उस समय की स्थिति को लक्ष्य में रखकर नीचे-देखा हुआ गया है। मन्त्रमुक्त उस समय तो देवता असुरों को निकालत रहते थे। आरंभ-पुनः पुनः आक्रमण किया करता। परन्तु आज यज्ञान नही है। आज देवताओं ने उत्तर भाग में आग्न को प्राताष्टत किया था। अतः आज असुर सवथा परास्त हा गए हैं। आज ये असुर त्रैलोक्य में निकल कर अपने आपोमय चतुःप्राथम्य ही चले गए हैं। तापस्य-मन्त्रा यही है कि प्रत्येक मन्त्र-लक्ष्य में किवा पिण्ड में कर्म-प्रति (परिधि) के भाग रहते हैं। केन्द्र-लक्ष्य का मन्त्रप्रतिष्ठा मानी जाती है। इस केन्द्रविन्दु को ही विज्ञानभाषा में उत्तर कहा जाता है।

यह हम पूर्व में बतला चुके हैं कि उच्च-नीचा यह व्यवहार उत्तर-लक्षण नाम में प्राप्त है। प्रवि की प्रत्येक बिन्दु में सर्वोन्नत स्थान-लक्ष्य ही है। अतएव ऊर्ध्वमूलाऽवाक-शाव-मन्त्र-यदिरूप से इस मन्त्र को ही ऊर्ध्व कहा जाता है। लक्ष्य में पाराव की प्रतिबिन्दु नीची मानी जाती है। लक्ष्यबिन्दु उत्तर है एवं परिधिभाग-लक्ष्य है। यथा भा-आप इन दोनों का मन्त्र-व-देव रहे हैं। देवप्राण २१ व अहगण-पथ्य त व्याप्त है। अतः इनकी अपेक्षा यथा तक एक आग्न का परिधि माननी पडगी। भूकेन्द्र से निकलने वाला देवतामय प्राणाण २१ पथ्यन्त अपना एक मण्डल बनाता है। मण्डल का २१ वा स्थान परिधि का प्रवक्त है। भूपिण्ड को केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हुए २ व अहगण से उस पिण्ड के चारों ओर एक वृत्त बना दीजिए यही वृत्तसीमा इस प्राणाग्निमण्डल की परिधि मनेगी। उक्त परिभाषानुसार यही परिधि-दक्षिणा दिक् है एवं भूकेन्द्र उत्तरा दिक् है। इसमें वही अग्निप्रजापति प्रतिष्ठित है। आनेय प्राणदेवता सृष्टिविकासक्रम से जिस दिन इस उत्तरस्थ (केन्द्र-अग्निबल को अपनाते हुए) वय-दक्षिणरूप परिधि पथ्यन्त व्याप्त होगए उसा दिन से असुर सवथा अनपजग्य बन गए।

बात यह हुई कि केन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि के परिभ्रमण से भूपिण्ड घमने लगा। स स्वात्परिभ्रमण से सूर्याकर्षण के द्वारा भूमण्डल-सूर्य के अनुगत होता हुआ सम्बत्सर-क-साथ युक्त हा गया। सम्बत्सर-मण्डल में कभी असुर प्रविष्ट नहीं होते। इसप्रकार आग्न का कृपा से सम्ब-सरभोग्या बनती हुई स्तोत्र-त्रलाकीरूपा महापृथिवी आपोमय असुरों से सवथा ही पृथक् होगई। देव-प्राप्ति भूकेन्द्र से चारों ओर २१ व अहगण पथ्यन्त होगई इसके ऊपर ३ पथ्यन्त आपोमय असुरों की-प्राप्ति होगई असुर और देवताओं की आवासभूमि सवथा पृथक् होगई। यहीं चौथा आपोमय मण्डल-ब्रन्ध-म-कहलाता है। इसे ही साम-वेद की परिभाषा के अनुसार गोसव कहा जाता है। पुराणपरिभाषानुसार यी-गालोक नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए प्रकृतब्राह्मण में गोष्ठान-श-द-प्रयुक्त हुआ है।

आज भी गोस्थान (जहा गए रहती हैं) गाय का ठान नाम से प्राप्त है। गोस्थान ही गोष्ठान है। इसी को वैष्णवधाम कहा जाता है। तापस्य यही है कि पञ्चप्रकृतिविज्ञान के अनुसार स्वयम्भ-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-विश्व के इन पाचों पवों में क्रमशः प्राण-आप-वाक-अन्न-अन्नाद ये पाँच प्रकृतियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं। इनके आधार पर क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि ये पाच देवता उक्त पाचों पवों में प्रतिष्ठित रहते हैं। इस सृष्टिक्रमानुसार आपोमय परमेष्ठी में विष्णु का साक्षा

यै । इसी में इडा-उक् गा ये तीन तव उपन्न होते ह । विश्व के यन्त्रयावत् भूतो को उपन्न करने वाले अय्यपुरुष के मन-प्राण-त्राक स अनुग्रहीत जीवनीय भोमरसमूर्ति पारमेष्ठ्यत व को ही गौ कहा जाता है । इसकी ज मभूमि यदी वि सुधाम है एव सञ्चरणभूम सौरत्रिलोकी है । इस गौत व का सबप्रथम इस सूर्य म ही शिमरूप से विकाम होता है । अतएव आय गौ प्रशिनरकमीदसदन्मातर पुर पितर च प्रयन्स्व यादिरूप म सूर्य को भी गौ कहा जाता है । सूर्य में आकर यह पारमेष्ठ्य गौत व सहस्रधा-विभक्त होजाता है । भी माहस्त्री के सम्बध स सूर्य को— सहस्रनीधिति - सहस्राशु इयादि नामो स यवहृत क्रिया जाता है । गा रहती ह अपने ठान म विचरती है सर्त्र । प मे ठी इनका ठान (स्थान) है सम्पूर्ण सौर ब्रह्माण्ड इनके पय्य टन का स्थान है ।

त्रैलोक्य में ऐमा काण्ड पदाथ नहीं जो बिना स पारमेष्ठ्य गौत व को आधार बनाए अपनी स्थिति रख सके । गौत व के ससी धम्म को लक्ष्य में रखकर गौर्वा इद सर्वा बिभर्ति (श ब्रा ५।१।२।१४।) यह कहा जाता है । न केवल भूत ही अपितु दवता भी इस गौत व के आधार पर ही जीवित हैं । गौ को वैश्वदेवी कहा जाता है । (त्रिपिण गोपथ ब्रा उ ३।१६) । गौ देवताओं का मनोता है [कौ ब्रा १।६।] । पारमेष्ठ्य साम की अजस्रधारा इसी से सूर्य में आती है [श ५।२।१६] । उसका आग-मन सहस्रधाराओं से होता है । उसके उत्स [थन] से सोम की हजार धाराए निकलती हैं [श ७।५। ३४।] । गौ के द्वारा आहुत सोम से देवता बलवान् बने ज्योतिष्मय बने । ससी बल से पूर्वोक्त देवताओं न असुरों का नाश किया । ससी आभप्राय म ताण्डयश्र ति कहती है—

‘गद्वै तद् वा असुरानेभ्यो लोकेभ्यो गोवग स्तदगोर्गोन्वम्’

ता ब्रा १६।२।३ ।

परमष्णी से चलकर इस प्राण का प्रथम विकास सूर्य में होता है । यहा आते ही यह सहस्रधा विभक्त होजाती है । सहस्रधा विभक्त स गौत व का हमारी पूर्वोक्ता स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी के साथ सम्ब ध होता है । स्तौम्यत्रिलोकी में हमन क्रमश अग्नि-यष्ट - वसु वायु-येष्ट ११ रुद्र एव आदित्य (इद्र) -येष्ट १ रुद्र की सत्ता बतलाइ है । इन तीना दवताओं में क्रमश ३३३-३३३ ३३३-इस क्रम से गौत व प्रतिष्ठित होजाता है । १ गा वच जाती है । ससी को कामगवी कहा जाता है । पार्थिव वसदेवतामयी ३३३ गौ पार्थिवसम्पात्त की अधिष्ठात्री है । आतरिच्य रुद्रदेवतामयी ३३३ गौ आन्तरिच्यफल की अधिष्ठात्री है एव न्त्रिय आन्त्रियमयी ३३ गौ कवल दि-यफल की ही अधिष्ठात्री है । परतु यह कामगवी त्रैलोक्य मे आवष्टानरूप से याप्त होती हुई त्रैलोक्य की सम्पत्ति देने की शक्ति रखती है ।

६६ गो ऋतभावापन्न हैं एव कामगवी सयभावापता है । प्रयेक अहोरात्र में [दिनरात में-२४ घंटे में] इन हजारो गौओं का प्रत्येक प्राणी के साथ [पार्थिवपरिभ्रमण के द्वारा] भोग होता है । जिस समय प्राणी के आमामें कामगवी नाम की सय गौ का भाग होता है उस समय इसके मुट से जो कुछ निकल जाता ह । वह अवश्य ही सय होजाता है । कामगवी की इसी सयशक्ति को लक्ष्य में रखकर ऋषियों न आदश दिया है कि- शुभ ब्रूयात् शुभ ब्रूयात् । तुम सदा शुभ बोली कभी मुख से बुरे श द न

निकालो । याद तुम किमी समय अशुभ बोलाग और दुर्भाग्य स उस समय गदि तुम्हारे आ मा म कामगवी का भोग होरहा हागा तो तुम्हारा कहना सय होजायगा । इसी आधार पर आज भी लोक म यह किंव ता प्रचलित है कि भाइ थाडा सोच समझकर बाला करो । विान्त नहा । कम समय तुम्हारे मुख से निकला हुआ सच ही हाजाय । वह समय यही कामगवी का भागकाल ह । जो विान्त । त व का प हचानत नआ इस कामगवी को अन्तःश्याम सम्प्र ध से सत्ता के लिए अपन आ मा में प्रातःकृत क लेता है त्रैलोक्य की सम्पत्ति उसके लिए यथाकाम सुलभ हो जाती है । एव यह गौत व का जाता वान् जिस य क्त के लिए जभी भावना करता है जिसके लिए इसके मुख से जैसे ष्ट अनिष्ट श निकल जात ह विश्वाम कीजिए उस यक्ति के लिए वसा ही होजाता है ।

यही कामगवी पुराणपरिभाषानुसार कामधेनु नाम से प्राप्त है । सका फल पूानन् है । अतएव नन्दिनी (आनन्दमयी) वृत्ति का कामधेनु की पुत्री माना जाता ह । जिस गोपशु म स प्राणा-मिका कामधेनु की पूण प्रधानता रहती है वह पशु भी कामधेनु नाम से ही यद्धत होता है । जिसम अपमात्रा में इसकी वृत्तिया का विकास होता है वह नान्दनी कहलाती है । दु ख है ।क आज कामधेनु और नन्दिनी दोनो प्रकार की गौजातिया दश क दुर्भाग्य स उच्छिन्न होगइ है । जा शाक्त जो कम्म जो फल उस प्राणरूपा कामधेनु-नन्दिनी का ह वही कम्म वही फल तत्कृतामा इन प्राणी पशुरूप कामधेनु नन्दिनी जाति वाली गाया स होना था । इसी कामधेनु के बल पर महर्षि वमिष्ठने राजर्षि विश्वामित्र को ससन्ध—सपरिवार क्षणम त्र मे आतिथ्यभाव स आश्चर्यावित कर निया था । इसी नन्दिनी गौ के अपराध से राजा दिलीप के वशोच्छेद होने का उपक्रम होगया था । अत में गुरुवसिष्ठ के आदेश स जब नृपतिश्रष्ठ दिलीप ने २१ दिन पर्यन्त की सतत पारचर्या स नन्दिनी का पुन प्राप्त कर लया तब कही सूयवश बचा था ।

हमने बतलाया है कि कामगवी के अतिरिक्त ३३ क्रम से गौतत्व तीन देवताओं में विभक्त ह । आदित्यरूप सूय की जन्मभूमि आपामेय परमेष्ठी ह । तासु बीजमवास्तुत् इम सवमान्य सिद्धान्त के अनुसार अग्निम में प्रविष्ट बीजाग्नि ही कालांतर में सूयरूप से विकसित होता ह । जहा गौतत्व उपन्न हुआ ह वही यह आदित्य विकसित हुआ है । परमेष्ठी प्रजापति से ही अग्निमूर्ति अतएव पुरुष नाम से यवहार करने योग्य आदित्य उत्पन्न हुआ है एव उसी आपामेय परमेष्ठी से सोममय अतएव स्त्रीतत्व नाम स यवहार करने योग्य गौतव उपन्न हुआ ह । आदि य एव गा परमेष्ठी की क या एव पुत्र है । दोना भाइ बहिन हैं । इनके समन्वय से मेलजोल से परस्पर के स्नेह से अग्नि तव विकसित होता ह । तापलक्षण अग्नि सौम्या गौ एव प्राणग्निरूप आदिय के सहयोग का ही फल है ।

अग्नि तत्व ही अग्निर्वा रुद्र के अनुसार रुद्र है । अतएव हम स गौमव को रुद्रमाता मान सकते हैं । स्तौम्यत्रिलोकी की अपेक्षा पार्थिव वस्वग्नि स गौतत्व की विकासभूमि माना जाता है । अतएव पृथिवी को भी गौ कहा जाता है । पृथिवीसथा में जो गौतव है उस की मूलप्रतिष्ठा वस्वग्नि ही है । इसी भाव को प्रधान मानते हुए हम गौतव को वसुदेवताओं की कन्या कह सकते हैं । त्रलोक्य में व्याप्त त्रिवध भावापन्न यह गौतत्व निरन्तर सोमरस की वर्षा किया करता है । इसी सोम (अमृत) से श्रद्धा उत्पन्न होती है । श्रद्धासोम ही पञ्चन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणत होता है । वृष्टिरूप में परिणत सोम पार्थिवा ग्नि में आहुत होकर ओषधि—वनस्पति का उत्पादक बनता है । यही ओषधिरस (अन्नरस) पुरुषानि में आहुत

होकर रेतोरूप में परिणत होता है। यही रेत (शुक्र) स्त्री के गर्भाशय में प्रातःष्ठित माङ्गलिक (मङ्गलग्रह के आग्नयरस से युक्त) शोणताग्नि में आहुत होकर अतत प्रजारूप में पारणत होता है। इसप्रकार उस त्रैलोक्य-यापिनी सप्तदशमयी प्राणमूर्ति गौ से निकलन वाला जीवनीय सोमरस ही उपस्थित क्रमानुसार आगे जाकर विश्वप्रजा की उत्पात्त का कारण बनता— है।

उस्वग्निम । ग्रा मयी ऋष्यप्राणमयी है इन की प्रधानता से लौह धातु का विकास जाता है। रुद्राग्नि मय अन्तरिक्ष श्वेतमातृ है। स में पानी रहता है। पानी ही रुद्रप्राण के सम्बन्ध से रजतधातु का उत्पादन बनता है। रुद्र ही द्रुत होकर रजत बनता है अतएव रजतधातु की उत्पत्ति बतलाते हुए ब्राह्मणश्रुति ने रुद्र के अश्रुओं से रजत का विकास माना है। आदियमय द्युलोक हिरण्यमय है सुनहरी है पीतभावयुक्त है। इन कृष्ण श्वेत-पीत भावयुक्त तीन लोको में युक्त गात व भी ही तीनों भावों से युक्त रहता है। साथही यह भी समझ लीजिए कि जिस गौपशु में पार्थिवप्राणगौ की प्रधानता रहती है कि वह रगमें काली होती है। जिस में आ तरिद्यगौ की प्रधानता रहती है वह सफ़द होती है। जिस में आ दयप्राणगौ प्रधानरूप से विकसित रहती है वह पीली होती है। जिस में तीनों गौभाव समानमात्रा से प्रतिष्ठित रहते हैं वह चित्रविचित्रा अनेकवर्णा होती है। इसी विज्ञान के आधार पर धर्माचार्यों ने दुग्ध पान के लिए कृष्णा गौ दशन के लिए कपिला (सारवर्णा) गौ एव नान भे श्वेत गौ का विधान किया है। हमारा गौपशु इसी नियमप्राणगौ से उत्पन्न हुआ है * ।

यद्याप सभी पार्थिवों में थोड़ा-बहुत गौप्राण विद्यमान है। पर तु गौपशु तो उस की प्रधान विकासभूमि है। इसीलिए इसे गौ नाम से ही व्यवहृत किया जाता है। जो धम्म हमने प्राणगौ के बतलाए हैं वे सभी धम्म इन प्राणी गौपशुओं* में समझिए। वह सोमरस की वृद्धि करती है यह सोममय दुग्ध मृत की नाभ है। अतएव जीवनीय अमृततुल्य-बुद्धिवद्धक-अदयविभ्रात का विकासक एकमात्र गायका ही दुग्ध है। इसलिए सवश्री वाग्भट ने दुग्ध के साम्राय गुण बतलाते हुए गौदुग्ध को सर्वोत्कृष्ट मानत हुए कहा है—

स्वादु-पाकरस-स्निग्ध-मोजस्य -धातुवर्द्धनम् ।

वातापित्तहर-वृष्य श्लेश्मल-गुरुशीतलम् ॥

प्राय पय ।

तत्र गन्तु तु जीवनीय रसायनम् ॥

अष्टाङ्गहृदय सू. स्था द्रवद्र यविज्ञ नीयाध्याय ५

— इस विषय का प्रिशद विवचन छांदोग्यहि दीविज्ञानभाष्य के पञ्चाग्निविद्यारहस्य नाम के प्रकरण में दर्शना चाहिए।

* यह गोत व इडा उक्त गौ त्वराट भोग इन पाच भागों में विभक्त है। इन पाचों का ही सक्षिप्त स्वरूप पव में अभिव्यक्त किया जाचुका है। प्रकृत गौ गां नाम की गौ है। यद्यपि इस का वही निरूपण होगया था पर तु विषय स्पष्ट करने के लिए पुनरुक्ति की उपेक्षा करदी गई है।

भारतीय अथशाम्ब के अनुसार तो समस्त राष्ट्र क अथ का मूलोत्पत्ति कवल गावश पर ही अथ लम्बित है। जिस राष्ट्र का गोबल उच्छिन्न होजाता है उस राष्ट्र का सवनाश अनश्चित है। कृषि ही जीवनयात्रा का मुख्य आलम्बन है। कृषि का मूलाभित्ति गावश है। दधि-घृत अन्न सब कुछ इसी वश पर अवलम्बित है। भारतीय ऋषियों की दृष्टि में तो यत् पशु केवल ऐहलालकर्म संपत्ति का ही कारण नहीं है अपितु इस की आराधना उनकी दृष्टि में अन्तरात्मा को पवित्र बना कर हम वगादि सुख का भी आविकारा बना देती है। भौतिक विज्ञान का अनन्य उपासक आज का उडजगत् भले ही ऋषियों की अस्तविक दृष्टि का नूल्य न समझे किन्तु जिह्मन भूत में निय प्रविष्ट भूताधार प्राणतत्त्व की परीक्षा करली है वे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कर सकते। सचमुच गौपशु में वही अनन्य गोप्राण प्रतिष्ठित है।

गौप्राण के द्वारा सचमुच स पूरा देवता इस गौपशुशरीर में अव्यमान है। सचमुच वही गारस (सोम) इसके दुग्ध में है। अमकी सभ्रषा में अम रहने वाला प्राण हमारे आत्मा में प्रविष्ट होगा आमवल अन्वेगा पार्थिव-गुरुता नष्ट होगी। क्योंकि य प्राण सूय में विकसित हुआ है। पार्थिव आकर्षण जब गुरुता का कारण है वहा सौर गौप्राणाकर्षण निभार व का प्रवर्तक है। त प्राणप्रधान-प्राणी पशु के द्वारा अवश्य ही यह प्राण हमारे आत्मा में प्रविष्ट होकर उस पार्थिवाकर्षण से विमुक्त कर देता है। प्राण एव प्राणीपशु आभक्त हैं। इसी अभिन्नभाव को लक्ष्य में रखक प्राण एव प्राणीपशु पर समानदृष्टि रखती हुई मात्रश्रुति कहती है—

माता रुद्राणा, दुहिता वधना स्वमादित्वा नाममृतस्य नामि ।
प्र नु वोच चिकितुष जनाग मा गामनागामदिति वधिष्ट ॥

—ऋक्स ६।७८।

आपको यह जान कर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि जब ऋषियों के साधनधर्म में समित्प्राणि-रूपेण कोई वदाध्ययन करने जाता था उस समय यदि ऋषि आगन्तुक में किसी प्रकार का दोष देखते थे तो सवप्रथम व उसे गौसेवा का ही आदेश देते थे। गौसेवा से जब उसका आत्मा गौप्राणप्रवेश से सवथा दोषमुक्त होजाता था तभी व उसे आत्मविद्योपदेश का अधिकारी समझते थे। इसी गौसेवा के प्रभाव से सत्यकाम जाबाल के अन्तरात्मा में अपने आप चतुष्पाद् ब्रह्म के ज्ञान का आविर्भाव होगया था। (छा उप)। मलिनता-निराकरण के लिए ही पञ्चगाय का सवन धर्माचार्यों न आवश्यक बतलाया है। प्रत्येक आर्षमानव को यह आदेश है कि वह नियमितरूप से गौ की परिचर्या करे। गोमय-गोमूत्र से अधिक ससार में और कौन पवित्र है ?। गौदुग्ध में अधिक बुद्धि एव बलवद्धक पदार्थ और कहा उपलब्ध होसकता है ?। जगमाता गौ के पुच्छप्राण से बन् कर कौन अधिक पावन है ?। दूध घृत अन्न अन्नपरिपाक की सामग्री (कण्ड) इसप्रकार जीवोपयोगी समग्र पन्थ इस माता के अतिरिक्त हमें और कौन दे सकता है ?। प्रज्ञाशील के लिए गौ साधारण पशु नहीं अपितु त्रैलोक्य की विभूति है। इहलोक परलोक उभयलोक की अ युदयकारिणी है।

की दृष्टि ठीक है ? इसका निराकरण तो प्राणविज्ञान के पारदर्शी विद्वान् ही कर सकते हैं। प्राणपरीक्षक ही गा के उपयुक्त प्राणमहत् को जान सकते हैं। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने प्रनु बोच चिकितुषं जनाय यह कहा है। किमिदं वस्तुतत्त्वम् ? इस रूप से पदार्थों की पूरापरीक्षा करने वाला ही चिकितुषं कहलाता है। ऋषि कहते हैं कि जो गोपशु तुम्हारे सम्मुख खड़ा है उसे साधारण पशु मत समझो। प्रिज्ञाम करो। सम ब्रह्मात्मन्यापक देवमय प्राणरूप गौतत्त्व प्रतिष्ठित है। यह स्तोत्र की माता है वसुओं की कन्या है आदित्या की बहिन है। अमृत की नाभि है। आगे जाकर परोक्षभाषा का आश्रय लेते हुए ऋषि कहते हैं कि हमने बुद्धिमान् मनीषी के लिए यह कह दिया है कि वह भूलकर भी न अन्ति (स्तौम्यप्रिलोकीयुक्त त्रिपिध देवतामयी) अपराधशून्या सवथा उपकारिणी गा पर प्रहार न करे।

हमने कहा था कि गौतत्त्व की मूलप्रिकासभूमि परमेष्ठी है। यही विष्णुधाम है। वहा यह गौत व उक्थरूप से प्रतिष्ठित कर अक (रश्मि) रूप से सम्पूर्ण सौर ब्रह्माण्ड में व्याप्त होता है। विष्णु लोक में प्रतिष्ठित उक्थरूप गौ गा है। सौररश्मिरूप में पारणत सहस्रधा विभक्त गौप्राण इस गौत व के शृङ्ग (सींग) है। सींग भी छोटे छोटे नहीं अपितु बहुत बड़े। लोकालोक पथ्यन्त (जहा सौरप्रकाश-मण्डल की सीमा समाप्त होती है वह स्थान लोकालोक कहा जाता है) यात है। जिनकी बृहत्ता का अनुमान लगाना भी कठिन है। सूर्य म वह गौत व विकसित हुआ। रश्मिरूप से यह सवत्र व्याप्त हुआ। सूर्यरूप गौने (वृषभ-वैल-ने) अपने शृङ्गरूप में ही रश्मियों के आकषण से भूपिण्ड को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। यदि न रश्मियों का आकषण न हो तो उत्क्षण भूपिण्ड निराधार होता हुआ नष्ट भ्रष्ट होजाय। इसी प्रकृतिसिद्ध नियम गौविज्ञान को लक्ष्य में रखकर आर्यसभ्यता का महान् कोश पुराणशास्त्र भूपिण्ड किसक आधार पर निरावलम्ब आकाश में खड़ा है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि— भूपिण्ड को एक वृषभ (गौ) न अपने सींग पर उठा रक्खा है। इसीसे भूपिण्ड इतस्तत गिरने नहीं पाता।

इस भूकम्प के सम्बन्ध में भारतीय प्रजाजनों में यह किंवदन्ती है कि वैल ने सींग बदला है। इसलिए धरतीकम्प हो गया है। कहना न होगा कि हमारी यह सामान्य किंवदन्ती भी रसस्य से शून्य नहीं है। इसका आधार भी मौलिक कारण ही है। वारुण वायव्य अग्नेय ऐन्द्र भेद से चार प्रकार का भूकम्प होता है। इन चारों का स्वरूप बतलाना प्रकरण से बाहिर जाना होगा। यहा केवल यही समझ लीजिए कि हमारी पूर्वोक्ति किंवदन्ती का सम्बन्ध ऐन्द्रभूकम्प के साथ है। सौररश्मिभुक्त प्राण को ही इन्द्र कहा जाता है। यही इन्द्रविद्युत् रश्मि के द्वारा सूर्योपग्रहभूत—शनि-मंगल-बृहस्पति-बुध-शुक्र आदि अग्नेय सौम्य ग्रहों में प्रावृष्ट रहता है। यदि शनि और मङ्गल समकक्षा पर आजाते हैं तो तद्क्षण दोनों त्वय तो का प्रचण्ड घषण होजाता है। महा विस्फोटन होजाता है।

ऐन्द्रभूकम्प का धक्का रश्मि के द्वारा भूपिण्ड पर लगता है। सम्पूर्ण भूप्रदेश विकम्पित होपडता है। इतर भूकम्प प्रादेशिक है। कहीं कहीं होते हैं। परन्तु ऐन्द्रभूकम्प सार्वदेशिक है। कम्प-महामारी-अनावृष्टि-अतिवृष्टि अग्निप्रकोप-वायुप्रकोप-सामाजिक कलह राजनैतिक कलह धम्मविप्लव-

आदि किमी न किसी रूप से ममस्त भूपिण्ड पर इस ऐन्द्रभूक व का प्रभाव होता है। स्मरण कीजिए कुछ वर्ष पूर्व हानेवाले सप्तगोलयोगापलक्षित ऐन्द्रभूकम्प का। क्या हुआ उसका पारंगाम ? स्मरणमात्र से भी आत्मा कम्पित होजाता है। यह हमारी इही गारश्मिया की कृपा का फल है। आज सम्पूर्ण गांवश त्रस्त है। इसके त्रास से व्यापक गोप्राण लुब्ध हारना है। उसी ज्योम स आए त्नि भूकम्प अकाल जनपन् विध्वंसिनी आदि आदि का आक्रमण हारहा है। इस आपात्त से यदि आप वचना चाहते हैं तो मानिये ऋषयो के आदेश को। चलिये धम्ममाग से। कीजिये उपासना गावश की। अपने आप प्रकृति आपके अनुकूल हो जायगी।

निचदन किया गया है कि पारमेष्ठ्य विष्णुधाम स गोत व रश्मिरूप में परिणत होकर (स्य के 1रा) त्रैलोक्य में व्याप्त होता है। त्सी बृहत्स्व गोपत गोतत्तन का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

या ते धामान्युष्मसि गमध्वै या गावो भूरि शङ्गा अयास ।

अत्राह तदुरुगायस्व विष्णो परम पदमवभार भूरि ॥

—(यजु स ६।३)—

इसी गोष्ठानरूप आपोमय विष्णुदवताधीन पारमष्ठ्यमण्डल को ब्रजधाम — गोलोकधाम — नित्यलीलाधाम आदि विविध नामों से यषद्वत किया गया है। स्तोम्यत्रिलोकी में आक्रमण करने वाले सम्पूरा आप्य असुर अन्तत इसी गोष्ठान में जाते हैं। अतएव देव पराभूता आयप्राणामका अरुरा — अत्र स्वस्थाने ब्रजन्ति इस अभिप्राय से व्से ब्रज कहा जाता है। अपिच न केवल असुर ही अपितु प्रलयकाल में स पूरा त्रैलोक्य इसी मण्डल में प्रविष्ट होता है। यही चरम गमन स्थान है। इसलिए भी ब्रजन्ति अपीता भवान्त सचरकाले यत्र सर्वे लाका इस अभिप्राय से भी इसे ब्रज कहा जाता है।

ब्रह्मा विष्णु इन् ये तीन अतयीमी देवता कहलाते हैं। इनका हृदयरूप से प्रथम खण्ड के पूव सन्दर्भों में अवस्तार से निरूपण किया जाचुका है। इन तीना दृद्य-कलाओं पर क्रमशः क्षर-अव्यय-अक्षर का अनुग्रह रहता है। ब्रह्मा क्षररूप होते हुए उपादान बनते हैं। विष्णु अययमूर्ति बनकर सृष्टि के आलम्बन बनते हैं एव प्राणमूर्ति गतिधर्मा इद्र अक्षरमय बनकर सृष्टिकर्ता बनते हैं। इन तीनों में अव्ययमूर्ति विष्णु का आवास-स्थान वही पूर्वोक्त आपोमय परमेष्ठीमण्डल है। अतएव इतर लोकों की अपेक्षा इस वणवधाम को सर्वो कृष्ट माना जाता है। स वेदैतत् परम ब्रह्मधाम (मुण्डक) तद्विष्णो परम पदम् इत्याद रूप से स्वय अतिने भी इस धाम को परमधाम माना है। यह अव्यय मूर्ति है। अव्यय ही मुक्तिकाल में सब की चरमगति बनता है। गतिभर्ता प्रभु सान्नी (गीता) इत्यादि रूप से वही अव्यय सब की गति माना जाता है। परेऽयये सब एकीभवन्ति इयादि रूप से यही अप्ययस्थान है। अतएव 'मुक्तिकाले देहस्था सर्वा देवता सर्वाणि भूतानि विज्ञानप्रज्ञाने इत्यादयः सर्वेऽध्यात्मिका भावा परेऽयये ब्रजन्ति-लीना भवन्ति इस अभिप्राय से भी अव्ययमूर्ति विष्णुलोक को (गोष्ठान नामक पारमष्ठ्यलोक को) उपासक लोग ब्रजधाम कहा करते हैं।

इसी को उपासना की दृष्टि से पौराणिक लोग अपुनमार्ग लोक कहा करते हैं। यत्र गत्वा न पुनन्त्रियते न पराजर्तिता भजति मृत्युलाक इति आभप्राय से ही इसे अपुनमार कहा जाता है। इसी आभप्राय से इस अव्ययधाम के लिए भगवान् ने— यद् गत्वा न निवृत्तं ते तद्धाम परमं मम यह कहा है। अताररहस्यवत्तात्रा का यह विश्वास है कि पूर्णातार नाम से प्रसिद्ध भगवान् वासुदेवकृष्ण इसी विष्णु के अवतार हैं। जनी अव्ययमूर्ति विष्णु कृष्णरूप में अवतीर्ण हुए हैं। विष्णु का गौतम के साथ घनि सम्बन्ध है। तदा मभूत भगवान् कृष्ण ने भी उसी गोचारणवृत्ति को अपना जीवनव्रत बनाया। विष्णु आपामय मन्त्र ल म प्रताष्ठत ह अतएव तदा मभूत कृष्ण ने भी मथुरा छोड़ कर समुद्र में (द्वारिका म) निवास किया। गोरसरूप साम का विष्णु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव तदा मभूत कृष्ण ने गोरस (दुग्ध घृत-मक्खन आदि) को अपना प्रधान अन्न माना। वह विष्णुतव इसी गौप्राणमय सोमाहुति से प्रकाश के अधिष्ठाता बन कर तपोमय असुरों का विनाश किया करते हैं। अतः वही असुरविनाशरूप कम्म इत् करना पडा* ।

ये सभी विषय क्याकि अवतारविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। अतः इन के सम्बन्ध में प्रकृत में अधिक नहीं कहा जा सकता। यहां केवल यही बतलाना है कि पारमेष्ठ्य गाष्ठान को अनेक दृष्टियों से ब्रज कहा जाता है। यहां श्रुति ने आसुरप्राणगमन को लक्ष्य म रखकर ही— ब्रज गच्छ गोष्ठानम् इत्यादि रूप से इस स्थान को ब्रज कहा है किवा आपोमय ब्रजधाम कहा है इस का समन्वय है स्तो यात्रलोकीरूपा महापृथिवी की चरमसीमा। एकविंग अहर्गण पय्यत तो पृथिवी ही है। इस के ऊपर ब्रजधाम है। यहां वरुणदेवता का साम्राज्य है। वरुण के सम्बन्ध से इसे वारुणालोक भी कहा जाता है। पानी के सम्बन्ध से यहाँ भूत-योति (प्रकाश) का अभाव है। कारण—रूप रूप मधवा बोभवीति—इन्द्रो रूपणि करिकृदचरत् इत्यादि श्रोत सिद्धांतों के अनुसार सौर मधवा इन्द्र ही प्रकाश के अन्यतम अधिष्ठाता है। इधर वरुण और इन्द्र का परस्पर अस्वमाहि य है। इन्द्र पूर्वदिशा के दिक्पाल है तो वरुण पश्चिमदिशा के दिक्पाल है। पानी पर वरुण का प्रभुत्व है तो प्रकाश पर इन्द्र का प्रभुत्व है। पानी म अग्नि प्रविष्ट होजाता है। पानी उष्ण होजाता है। परन्तु पानी में प्रकाश का प्रवेश नहा होमकता। जहा पानी है वहा इन्द्र नहीं जहा वरुण है वहा इन्द्र नहीं। जहा इन्द्र नहीं वहा घोर अधकार। जहा अधकार वहा असुर। इसी विज्ञान को लक्ष्य म रख कर प्रकृत ब्राह्मणश्रुतिने— बधानं दध सवितं परमस्या प्रथियाम् इस मन्त्र भाग की व्याख्या करते हुए— अथ नमसि बधानति यदाह परमस्या प्रथियामिति यह कहा है। वरुणदेव पाश के अधिष्ठाता हैं। इसी अभिप्राय से आगे जाकर शतेन पशौ कहा है।

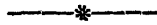
यह है इस आर्यायन का सक्षिप्त आधिदैविक-रहस्य। इसी आधिदैविक नियम यज्ञके आधार पर वैधयज्ञ (मनुष्यकृतयज्ञ) का स्वरूप स्थापन हुआ। जो फल उस नियम का है वही फल तत्प्रतिकृतिभूत

* भगवान् कृष्ण ने वेणु (बासुरी) क्यों बजाई ? पीताम्बर धारण क्यों किया ? गोपियों के साथ रासविहार क्यों किया ? अजुन के साथ ही इन की घनिष्ठ मित्रता क्यों हुई ? अजुन को ही क्यों गीतोपानधत् का उपदेश दिया गया ? राधा को क्यों प्रधान माना गया ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए गीतविज्ञानभाष्या तगत आचार्यरसस्य का मानुषोत्तमकृष्णरहस्य नामक प्रकरण देखना चाहिए—

स मनुष्यकृत यज्ञ का है। यह उसी की प्रातःकृति है। यहाँ का ण है कि ज्ञा ज्ञा कृच्छ्र म आधिदैविकयज्ञ में होता है ठीक वसा वही स कृच्छ्र इस यज्ञ म भी करना पडता । तभा ता— दयाननुवाचा वै मनुष्या यह कहना पडता है। यहा एमा क्या होता है ? असुक क म एमा क्या ि या जाता है मत्र प्र ना क समाधान वही प्राकृतिक निय आदिदायक यज्ञविज्ञान है। उनका स्वरूप पाहचानिण व आपका प्रातः हागा कि यज्ञ बानक्रीना मात्र ना है। केसर कपुर खोपरा घृत आि मो अपनी क पना स कपित तात्र का क गेय्या म वा । स्या । करके ाच ाने का नाम यज्ञ ना है। कवच हयाकिन्तर करने का ही नाम यज्ञ नहीं है अपितु यन्त्रिया वह विद्या है जिसके सम्यक् पारजान स एव मभ्यक् अनुगलन से आपनवान सृष्टि बना सकते ह । नवान सू य च खडा कर सकने ह । अनापत्रु द्व साधारण मनुष्यान इतर विद्याआ की भाति आज म यज्ञविद्या की भी अयत दुद्द श कर रकारी है। इम सत्र म यही नवन्त कर देना पर्याप्त होगा कि दि यदृष्टि से समन्वित आधिदैविक विज्ञान की प्रण परज्ञा क तनुसार जिन याज्ञिक पद्धतियों को ब्राह्मण—श्रौतसूत्रादि ग्रन्थो के रूप म हमार सम्मुख रक्ता है वनी यज्ञागद्या यज्ञविद्या है। आज समस्त भारत म (दक्षिण के कुछ परिगणित याज्ञिका को छोडकर) यज्ञविद्या केवल कापानको का कापानक जगत ही बन रहा है। पुरमसञ्चय क स्थान मे पाप ही सश्रित हा हा है। पशुवपा—पुरोडाश—सोमरस—आदि आज आहुतिप्रय नहीं है। अपितु आज की यज्ञपद्धातया म आहतिद्रव्य है खोपरा (गोला) केसर कस्तूरी चदन। हा विद्याशून्यभारत आज तरा को सा भी ता वद्यान्त्र स्वस्वरूप से प्रातःष्ठित नहीं है।

पूव प्रतिपादित उसी आधिदैविक यज्ञ के आधार पर दक्षिणानुगत इस यज्ञमान का ऋषिक (अश्वयु) हवियज्ञ का वितान करना चाहता है। जो भूप्रदेश यज्ञक लिए नियत किया गया है वह निदानेन वेदि है। वेदिपर (भविष्य म वादरूप म परिणत होने वाले भूप्रदेश प) जो स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) खरु हा हुआ है यह निदानेन असुर है। उत्कृप्त मिट्टी के—तृणाणि के—पानीनिणबनादि के—यज्ञमण्डल में होने वाले श्रौर श्रौर दक्षित परियक्त पदार्थों के प्रक्षपके लिए केन्द्रिके उत्तरभाग म एक गहरा गत (गडगा) बनाया जाता है। इसे उत्कर कहा जाता ह। यह निदानेन अधतमारूप चाथा आपोमय—लोक ह। अ वयु का दक्षिणबाहु निदानेन इत् है। वामहस्तस्थ स्प्य निदानेन वज्र है। उच्चायमाणमत्र आधिदैविक इद्रबल है। इसप्रकार पूवप्रतिपादित निदानरहस्य के अनुसार अब सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत है। प्रहार करने मात्र में विलम्ब हैं। तत्काल असुर नष्ट होजायग। फलस्वरूप सम्पूर्ण यशिय-वातावरण सवथा निर्विक न बन जायगा। ६ १ ११ १२ १३ १४ ॥

इति—स्तम्बयजुर्हरणोपारयानरहस्यम्



वेदिनिर्माण से पाहले स्तम्बयजुहरण क्यो किया जाता है ? इस प्रश्न का सोपपात्तक समाधान उपरत हुआ। अब पद्धति—अश से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विशषभावो का निरूपण कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता । स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) निदानविधा स साक्षात् असुर है। इस पर प्रहार करना

असुर पर ही प्रहार करना है। साथ ही तृण अतधान पूर्वक इम स्फ्यप्रहार का एक प्रयोजन और भी है। वह प्रयोजन है—हिंसाभाव की अपहृति। जिस भूप्रदेश पर यजमान अध्वरकम्म (अहिंसामय आसुरभावशून्य दिव्यकम्म) करना चाहता है उमी पर यदि स्फ्य का प्रहार किया जायगा तो भावनामय मन की प्रधानता से मैं देवताओं का यजन करने योग्य इस भूप्रदेश पर प्रहार कर रहा हूँ इस भावना से यो यच्छुद्ध स एव स इस सवम्मत भिदात के अनुसार सवमुच पृथिवी के अभिमानी देवता (जिस की अक्षुण्णता पर ही यज्ञकम्म की अक्षुण्णता निर्भर है) हिंसाभाव से युक्त होजायगा। तृण पर प्रहार करने से इस हिंसाभाव का भी निराकरण होजाता है। सशित (तिद्धणीकृत) स्फ्य वज्र से मैं तो असुररूप तृण पर प्रहार कर रहा हूँ न कि पृथिवी के इस देवयजन भाग पर अ वय्यु की इस भावना से तृणा तर्धानपूर्वक प्रहार से पार्थिव असुर भी न ट होजाते हैं एव पार्थिव अभिमानी यज्ञिय देवता भी अक्षुण्ण बचा रहता है। असुरों का नाश तृणान्तर्धान का पहिला प्रयोजन था। एव पार्थिव देवयजनभाग को हिंसाभाव से बचाना दूसरा प्रयोजन है। उसी दूसरे प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर अथ तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति ऋषिदि कहा गया है ॥१५॥

जिस समय पृथिवी देवयजनि। ओषध्यास्ते मूल मा हिंसिषम् यह मन्त्रभाग बोलता हुआ अ वय्यु तृणयुक्त भूप्रदेश पर स्फ्य से प्रहार करता है उस समय इस प्रहार से वादिनिर्माण के योग्य इस भूप्रदेश में वर्षा के कारण उ पन्न हुइ जो ओषधिया (घास आदि) हैं वे भी उखड जाती है। उखड क्या जाती है इनको उखाडना भी प्रवान उइ श्य है। क्योंकि भपृष्ठ पर तृणादि जो कुछ प्ररोहित होरहे हैं उन सब को हटाकर एव भपृष्ठ पर इधर उधर से वायु के द्वारा आइ हुइ अथवा मनु यों के गमनागमन से ऋथ हुई मिट्टी जन्नतक हटा नहीं गी जाती तन्नतक पृथिवी का वह यज्ञिय घनाग्नरस यज्ञ के साथ सम्बद्ध नहीं होसकता जमा कि पूर्व म विस्तार के साथ बतलाया जासुका है। किन्तु साक्षादरूप से इन ओषधियों की जड उखाडना हिंसाभाव का यज्ञ में समावश करना है। उधर प्राणरूप असुरों का भी नाश करना है। ऋषिदि तो भूप्रदेश पर और तृण त्रिष्ठा ऋषिजे जाते हैं। इस के न्याज से हिंसाभाव को छुपाता हुआ अ व यु भूप्रदेश में प्ररोहित तृणान्तर्को ऋषि प्रथम प्रहार से उखाड फैंकता है। जब ओषधियाँ स्फ्य के प्रहार से उखड जाती हैं तो पृष्ठी का यह प्रदेश उत्तरमूल बन जाता है। अर्थात् जो ओषधियों के मूल भाग (जडे) अन्नतक भगम में ऋनिगभाग में (नीचे की ओर) थे व स्फ्य के प्रहार से उखड कर उत्तर की ओर (भगम से निकलकर ऊपर की ओर) आजाते हैं। इस अवस्था में अपने स्वभागरूप ओषधियों के उत्तर मूल होने से तत्स बध स यः पृथिवी भी उत्तरमूला बन जाती है।

इसप्रकार उग्याता ओषधियों को उक म डालने के लिये हाथ में लेता हुआ अ वय्यु इस भूप्रदेश को उत्तरमूला बनाता है। पृथिवी को उत्तरमूला बनाना इस भाव को सूचित करता है कि अवश्य ही किसीने ऋषि भूप्रदेश पर प्रहार कर इस के शरीर को क्षत विक्षत कर दिया है। ऐसा हिंसाभाव यज्ञ में आसुरभावप्रवश का कारण बन जाता है। परन्तु ऐसा किए बिना काम चलता नहीं। इस विप्रतिपत्ति को भावना के द्वारा हटाने के अभिप्राय से मूल उखाडते हुए भी मूल उखाड कर पृथिवी को उत्तरमूला (जिस की ओषधियों का मूल उखड कर ऊपर की ओर होगया है ऐसी पृथिवी ही उत्तरमूला शब्द से व्यवहृत की जाती है) बनाता हुआ भी अ वय्यु ओषध्यास्ते मूल मा हिंसिषम् य बोलकर इस हिंसाभाव को शान्त करता है। अ वय्यु की यह

भावना एकप्रकार से ठीक भी है। क्योंकि ओषधिया का मूल रस्तुन न की जड न । है। अपितु भगभ की जिस गन्दा म जिस स्थान में ओषधियों की जड रहती है म पण्ड का व प्रत्श अग्निरमय है। उमी गभस्थ अग्निरस का ओषधियों के मूला के साथ स बंध हाता है। उमी मूलभन नागनीय अग्निरस के परिपाक से ओषधियों का स्वरूप नि पन्न होता है। ओषधिया का मूलमत उपादान अग्नि रस सवप्रथम ओषधियों क उम भाग से सयुक्त होता है जा भाग नका भूगर्भ में उस रस के समीप र ता है। मूलरस क प्रागमक सयाग ही से भूगभस्थ ओषधियों का वह भाग मूल कहलाने लगता है। वस्तुतस्तु ओषधियों का मूल मूलगभ थ अग्निरस ही है। हा यह बात अवश्य है कि म्यप्रहार द्वारा तत्र ओषधिया की जड उखाड नी जाता ह तो उस समय जडा के समीप याप्त मूलरूप आग्नरस भी लुप्त होपडता है। तु ध हाकर मरमान से युत होता हुआ वह ओषध-विनिगम माग से बाहिर उत्तर की ओर (ऊपर की ओर) भी निकलन लगता है। इसप्रका ओषधिग्रहण से सचमुच अपने इस रसभाव के (माग मिलजाने स) उत्तरगमन स भूप्रत्श उत्तरमूल बन जाता है। केवल इस मौलिक रस के लोभ की शांति के लिए ही अवश्यु का ओषध्यास्ते मूल मा हिंसिषम् यह बोलना पडता है। ओषधि तृणादि आवरणों ही उस मौलिक रस को अवरुण कर रक्खा था। इनके उखाडने से उसे हमारे भूप्रदेश म (जहा हम यज्ञवितान करने वाले ह) आने का अवसर मिल जाता है। प्रहार के द्वारा होने वाले घात से आग्नरसरूप ओषधियों के रस मूल की रक्षा की ही प्राथना की जाती है। ओषधियों को तो समूल उखाड ही दिया जाता है।

सर्वथा विनष्ट न के मूला की क्या रक्षा की जासकती है। रक्षा अभीष्ट है केवल इनके वास्तविक मूलभूत उस गभस्थ अग्निरस की। उमी अग्नि ऊ मा से कृता मा ये तृणादि-ओष (ऊष्माभाव) धत्ते इस युत्पत्ति से ओषधि नाम से व्यवहृत होते हैं। कहना यही है कि यहा ओषधिमूलो से वह गभस्थ अग्निरस ही अभिप्र त है। इसी भावके स्पष्टीकरण के लिए यहा ऋषिने पृथिवी क लिए देवयजनि कहा है। देवता आग्नेय हैं। इनका यजन (सङ्कतिकरण परस्पर में सम्बन्ध) आग्न के साथ ही होता है। वह विशुद्धाग्नि भूगर्भ में ही मिलता है। सतृण भूपृष्ठ पर तो आगन्तुक दधित भावां का साप्राय रहता है। यहा और देवाग्नि का यजन नही होता। अपितु जहा विशुद्ध आग्नेय प्राण रहता है वही सौरप्राणाग्नि आकर बद्ध होता है। भूपिण्ड के जिस स्थान में प्राणाग्निमय सौरदेवता आकर सम्बद्ध होत है भूपिण्ड का वही प्रदश देवयजनिभूमि कहा जाता है। उसका मूल वही अग्निरस है। तभी तो इस पृथिवी को उत्तरमूला कहना अर्थ होता है। नही तो उखड़ ओषधियाँ एव उत्तरमूला बन जाय पृथिवी यह कसे सम्भव होसकता है। ओषधिया उखाड कर फँक दी जाती हैं। भूगर्भस्थ अग्निरस के आगमन का माग जिन आगन्तुक तृणादि ने एव तत्स्थान पर प्ररोहित ओषध्यादिने अवरुद्ध कर रक्खा वा प्रहार के द्वारा उन सबके उखड जाने से वह देवयजन—स्वरूपसम्पादक अग्नि बाहिर निकल कर हमारे उस भूपृष्ठ को भी देवयजनभावोपेत बना देता है जिसमें कि हम देवताओं का यजन करने वाले हैं। यदि ओषधि का निरसन न किया जाय तो पार्थिव अग्नि का हमारी वदिके साथ सम्बन्ध न हो। ऐसा न हो तो हमारा यज्ञ दवभाव स ही युक्त न हो। इसी सम्पूर्ण अग्निरहस्य को लक्ष्य में रखकर प्रथम प्रहार का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

उत्तरमूलाभिव एनामेतत् करोति—आददान । तामेतदाहौषधीना ते मूलानि मा हिंसिषमिति' ।

एक विशेष नोक्त य स तस स्थिति का सप्रामना स्पष्टीकरण होजाता है। त्रीहि यव गोधूम (चावल जौ गहू) आदा ओषधियो म जना चा त भाभ्यप्राण तथा पाथव भोम आग्न ये दो चाद्र पार्थिव त व प्रधान हैं वहा वनस्पतियो में (फल-वृत्तों में) पाप्य आग्नय प्राण तथा तद्गर्मीभूत सारप्राण ही प्रमुख बने रहते हैं। सहज भाषानुसार ओषध्यत्र चात्र है एव वनस्पत्यत्र सौर है। वनस्पतियो का परिपाक पृथिवी के गमस्थ तस देप्रयजन तस ही होता है जिसका प्रवर्ग्यामक तस सौरप्राण से सम्बन्ध है जो सौरमण्डल से विलस्त होकर भूगम म समावष्ट होता हुआ भू की वस्तु बन जाता है। अतएव वनस्पतिरूप वृत्तों के स्वरूप नि माण में वृत्तों की बालावस्था में पुन पुन इनके मूला को कूरेटा जाता है। जो क्रिया हमारी प्रान्तीय भाषा में— गुरबाई नाम से प्रसिद्ध है। ऊपर के श्रुत मृद्भाग को उचीद कर भीतर के प्राणानि को उत्तरमूल बनाने के लिए ही वह क्रिया होती है। तभी वृत्त पुष्पित पल्लवित होते हैं। निखननामिका इस गुरबाई से गमस्थ मोरप्राण मक दवयजन भाग अभियक्त होजाता है। और प्रमुख रूप से यही वनस्पतियो का परिपाक करता है। इसी त्रेप्राग्नि साराग्न त्वेवयजनाग्नि की प्रमुखता स भारतीय उपवास विधियों (व्रतों) में तस का परिग्रहण होगया है जबकि ओष यत्र उपवास में वय माना गया है। अन्नाहार जहा पार्थिव चान्द्र भाषानुबध से मलभाग का वद्धक है मेट का वद्धक ह यहा फलाहार सौरभावानुबध से निर्भार बनता हुआ बुन्नि के स वगुण का ही प्ररयिता माना गया है जैसा कि आरम्भ के— व्रतोपायनकर्म में विस्तार से बतलाया जाचुका है। वृत्तमूल के सन्निहित तृणादि को पृथक कर वहा की मिट्टी को उलीच देने से ही भूगमस्थ दवयजनप्राण व विनिगत होता हुआ उत्तरमूल बनता है आर यही फलसमृद्धि का प्रमुख कारण है। वही उत्तरमूलसम्पत्ति यहा श्रुति के तारा स्पष्ट हु है।

प्रहार से मूलभूत अग्निरस माग मिल जाने से उपरि-भाग-पर्यन्त आता मात्र है। सवथा वह अपनी प्रतिष्ठा छोडद एकातत निकल जाय यह बात नन्ही है। इसी भाव को लक्ष्य म रखकर उत्तरमूला-इव-वा त्रयादि रूप सं इत्र पदका सन्नवश किया गया है।

श्रुति के अक्षरो पर ज्या यो अधिक अवचार किया जाता है, यो यो उन में नवीन नवीन रहस्य उपलब्ध होता जाता है। तभी तो यह रत्नस्या समयी गभीरातिगभीरा वदवाणी श्र्वरीयवाणी कहलाई है। केवल श्रुति के अक्षरो पर ही विश्राम कर लेने स कथमपि आप वास्तविक तवबोध की सीमा पर नहीं पहुच सकते। केवल सुनने से ही श्रुति की इतिक्त यता समाप्त नहीं होजाती। वस्तुस्थित ताकुछ ऐसी है कि श्रुतित व केवल वाङ्मय ही नहीं है। अपितु श्रातविद्या आमविद्या है। उधर सवा एष आमा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय के अनुसार आमा मन प्राण-वाङ्मय है। मन प्रखवाह मयी श्रौतविद्या के स यक परिज्ञान के लिए आप जबतक अपने आमा के मन-प्राण-गाक इन तीनों पर्वों का उस के साथ सम्बन्ध नहीं कर देंगे तबतक केवल श्रुतिरूप वाग यापार से श्रो तव सर्वामना कदापि गताथ नहीं बन सकेगा। सुनकर सावारण अक्षराथ समभ लेना ही वाग यापार है। सुनने के अनन्तर सुने हुए अक्षरो के आधार पर प्राणव्यापाररूप तपश्चरय्या करना सतत उस ओर प्रवृत्त रहना ही प्राणव्यापार है एव सतत तपश्चर्या म मनोयाग के द्वारा उम त व का अनुशीलन करना ही मनो यापार है। इन तीनों व्यापारों के सम्यक अनुष्ठान के अनन्तर ही आममय त्रिकल श्रोत तव का सम्यक दर्शन (साक्षात्कार) होसकता है। उपयुक्त तीनों यापारों के लिए ही क्रमश वागव्यापार के लिए श्रुति शब्द प्राणव्यापार के लिए मति

शब्द एव मनाव्यापार के लिए निर्यासना श प्रयुक्त हुए हैं। भी श्रोत न वसन्त-वसन्त-वसन्त त य का दिग्दर्शन करात हुए ऋषि ने कहा है—

आत्मार वाग द्रष्ट य (कथम् ?) श्रोत यो मत-यो, निदिध्यामितव्य ”

आज तथोक्त आदेश म केवल श्रोत-य अश पर नी भा तीव्रत्वान् वि श्राम कर लेत ह। सुन लिया पुण्य हो गया श्रुति की चतिकत्त यता समाप्त होगइ। यही कारण ह कि सम्पूर्ण विश्वसम्पत्त क अ-युदय के साधनभूत वादक-साहस्य का आधष्ठता बनता हुआ भी आज भारतीय। द्रव्यसमाज अ युदय म बद्धित होता हुआ अवनतिगत की आर ही अग्रसर होता जा रहा है। नमना एकमात्र कारण है अ-प्राश की अज्ञता। कवल शब्दभक्ति। सी त य का पञ्चभाषा में अ-दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

**स्थाणुरग भारहा किलाभूदधीय वेद न विचानाति योऽथम् ।
याऽथज्ञ इत् सकल भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥**

हम बतला आए है कि तृणा द की मुष्टि निदानभाव स साक्षात् असुर हे। तृण का गोपशु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव जा मनु य मूय हाता है बुद्धिशून्य होता है पशुतुल्य हाता है उसके लिए लाक में— तुमने तो घास खाया है कमी काम थाड ही किया है पूर बैल डा रहं यह क जाता है। वद का यह सवमाय सिद्धान्त है कि यज्ञ म नो निरथक प्रस्तु होता है उससे शत्रु का बल वढता है और यदि न्यूनता रह जाती है तो यज्ञसमृद्धि उच्छिन्न हानती है। ऐसी अवस्था में यज्ञ को सुसम्पन्न बनाने के लिए यह आवश्यक होजाता है कि न तो यज्ञ म न्यूनता हो न अनिरिक्तता (व्यथ की वस्तु) हो। ये तृणादि प्रकृत में सवथा व्यथ ह। नमका यज्ञ में कोई उपयोग नफा है। यह यथ की भावना भी यज्ञ के लिए अनिष्टकर है। इसी अनिष्टभाव को दूर करने के लिए ऋषि न— ब्रज गच्छ गोष्ठानम यह कहा है। मानते हैं यहा तृण का उपयोग नहीं है। परंतु गोपशु का तो यह अन्न है। जिस तृण को मनुष्य व्यथ समझता है गोपशु उसी से अपना जीवन निवाह कर लेता है। तृण को गाष्ठान (गाय के ठान) में डाल देना इसस बढकर तृण का और क्या उपयोग हो सकता है? हे तृण! तुम गोस्थान में चले जाओ यह कहना तृण को यथता का ही निरसन करना है।

अपिच तृण असुर है। उधर ब्रजवामरूप गोष्ठान नाम का आयोमय परमष्ठामण्डल असुरों की आवासभूमि है। अत तृणरूप असुर को यहा से निकाल कर वही स्वस्थान में भेजना अनुरूप भी है। पानी एक ऐसा स्थान है जहा यदि शत्रु को पक दिया जाता है तो वह सवथा ही परास्त होजाता है। पुन उसे आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता। इसलिये ता लोक में भी शत्रु के लिए राम कर वह डूब मरे यह यह कहा जाता है। आज अध्वय्यु निदानेन तृणरूप असुरो को उसी पानी म डुबोकर उसे सवथा हतवीर्य बना रहा है। इसी अभिप्राय से— अभिनिधास्यन्ने वैतदनपक्रमि कुरुते। तद्धि-अनपक्रमि-यद ब्रजे अत (सलिलसीमा)। तस्मादाह ब्रज गच्छ गोष्ठानमिति यह कहा गया है।

इसप्रकार प्रथम प्रहार स शत्रुरूप तृण को समूल उखाड कर परा परावत गहन अधकार में प्रक्षिप्त कर अ वय्यु वषटु ते द्यौ यह कहता हुआ वेदिस्थानयोग्य नस भूपदेश पर प्रोक्षण करता है। ता पय्य

इसका यही है कि य लाक के आधष्ठता आदि य (इन्द्र) देवता ह । यही पुरोवात मेघ विद्युत् स्तन यि नुरूप में परिणत होकर वृष्टि का कारण बनता है । इन्द्र ही नमुचि का शिरछेदन कर पर्जय के द्वारा वृष्टि का स्वरूपसमपक बनता है । छान्दोग्य के अनुसार आदियाग्नि में आहुत सोम ही क्रमश श्रद्धा पजन्य बनकर 'वृष्टि' रूप में परिणत होता है । वृष्टि क्या है ? य लोक में प्रतिष्ठित साक्षात् इन्द्रदेवता है । इन्द्र सावदवत्य है अतएव इसके लिए— इन्द्र सर्वा देवता यह कहा जाा है । वृष्टि क्या है ? इन्द्र है । इन्द्र क्या है ? सम्पूर्ण देवता ह ।

हम कह आए ह कि जब भूपिण्डस्थ अग्निरस स्वस्वरूप से विकसित होजाता है तभी इसके साथ युलोक के इन्द्रज्येष्ठ सौरदवताओं का यजन (सम्बन्ध) होता है । आज तृणादि दूषित भावों के हटने से हमारा भूप्रदश वनियोग्य बनता हुआ सचमुच देवयजन सम्पत्ति से युक्त होगया है । आज सचमुच दिव्य देवताओं का हमारे इस पृथिवी भाग के साथ सम्बन्ध होगया है । उसी दिव्य सम्बन्ध की वृष्टिरूप से भावना करता हुआ अ वयु पानी का प्रोक्षण करता हुआ कहता है कि हे पृथिवी ! आज आप दूषित भागों के परिमाञ्जन से अपन प्रातिस्विक अग्निरसरूप से विकसित होती हुई देवयजन की अधिकारिणी बन गई हैं । इसलिए आज आपके लिए युलोक बर्षा करै । अर्गान् र्गों के रूप में परिणत होने वाले य लोकस्थ प्राणदेवता आपके साथ सम्बन्ध करै । यह है प्रोक्षण का एक प्रयोजन ।

अपिच स्पय के प्रहार से भूप्रदश क्षत विक्षत होजाता है । यह एक प्रकार का हिसाभाव है । एक प्रकार का हिसाभाव क्या है सचमुच ही तो हिसाभाव है । वास्तव में इस प्रहार से पार्थिव प्राणाग्नि क्षुब्ध होजाता है । यह क्षोभ यजमान के आत्मा की अशान्ति का कारण बन सकता है । उसे दूर करने का उपाय है प्रोक्षण । पानी शान्त का अधिष्ठाता है । विशेषत प्राणाग्निक्षोभ के लिए तो पानी के अतिरिक्त भूतद्रव्यों में दूसरा शान्तिप्रद द्रव्य है ही नहीं । क्योंकि आपोमय प्राण इस छान्दोग्य-सिद्धान्त के अनुसार पानी ही प्राणाग्नि का स्वरूप-समपक माना गया है । प्रयक्ष में भी य बात देखी जाती है । जलचिकिसा से ब्रह्म कर अग्निताप की शान्ति का दूसरा उपाय नहीं है । गर्मी लगती है तो स्नान कर लीजिए । तत्काल अग्निक्षोभ शान्त होजायगा । प्राणाग्नि गरमी से क्षुब्ध याकुल होरहा हो तो एक ग्लास ठण्डे पानी का पी लीजिए । तत्काल प्राणक्षोभ शान्त होजायगा । पार्थिव अग्निप्राण के किसी क्षोभ को शांत कर यज्ञसम्पत् को क्षोभ रहित बनाने के लिए प्रोक्षण किया जाता है । पानी न केवल शान्ति का ही कारण है । अपितु इससे विरिष्ठ सन्धान भी होजाता है । विखरा हुआ गोधूम चूर्ण (गेहूँ का चून) पानी के सम्बन्ध से परस्पर मिल जाता है । क्षत विक्षत शरीर पानी से सहित होजाता है । आज स्पय के प्रहार से पार्थिव-अग्नि जैसे क्षुब्ध होगया है तथैव इस प्राणाग्नि का शरीररूप भूप्रदश भी क्षत-विक्षत होगया है । पानी दोनों दोष हटा देता है । पानी से भूप्रदेश सम बन जाता है । एव क्षोभ भी उपशान्त होजाता है । इसीलिए प्रहारानंतर प्रोक्षण करना पगम आवश्यक है । इसी प्रोक्षणविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहत हैं—

यत्र वाऽअस्यै खनत क्रूरीकुर्वति अपन्नन्ति (तत्) शातिराप । तदद्भिः शान्त्या शमयति । तदद्भिः सन्दधाति । तस्मादाह—'वर्षतु ते द्यौः' इति ।

प्रोक्षणानन्तर मय से उपाटित मिनी तृण आषधि आदि का उत्तभागम्य उत्कर म डाल दिया जाता है। ये सब दाघतभाग निदानेन असुर ह। उधर उत्कर निदानेन गोष्ठान नाम का आपोमय घोरतम से आवृत चौथा लाक है। प्रकृति म सारप्रख्यामक सविता देवता ही इद्रप्राग के साथ तानूनत्र करके (साथ मिलकर) स्वरश्मिरूप वज्र से तमोमय असुरों को जजरितकाय बनाकर वह उस तमोमय वारुणलोक की ओर कैक देता है। वहा (आपोमय मण्डल में) वरुण का माम्राय है। वरुणदेवता अब्रगत स्नेहधम्म से पाश के (बधन के) प्रवर्क ह। वह स्थान स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी की अन्तिम सीमा है जमा कि पूव के आधिनैविक विज्ञानरहस्य म विस्तार से बतलाया जाचुका है। वह सचमुच ऐसा असुध्य लोक है जहा जाकर असुरकर्मा—आमघाती सग के लिए बधन से आवद्ध होनात हैं। आमहत्या करने वाले का आमा लांकालाक नाम से प्रसिद्ध इसी अधतम म जाता है। ऐसे आमा का कभी उदार नहा होता। अतएव धर्माचा यों न आत्महत्या को सब से बडा पाप माना है। मनुष्य पर भले ही कितने ही सङ्कट आव उस सङ्क से भले ही उसके प्राण चले जाय परन्तु भूलकर भी वह आमघात न करै। यदि उसने मूर्खतावश सङ्कट से सत्रस्त होकर ऐसा कर लिया तो पुन उसका कभा उदार न होगा। पुन होगा क्या ? तो सुनिए वद क्या कहता है—

असुर्या नाम त लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता ।

तास्ते प्रत्याभिगच्छन्ति ये के चात्बहने जना ॥

—ईशोपनिषत्

वहाँ जाने पर पुन परित्राण सम्भव नहीं है। दिव्यभावना से भावितान्त करण अध्वय्यु असुरों को उसी पृथिवी के पारस्थान में घोर अधाकार में कभी छुटकारा न होने वाले लोकालोक नाम के आपो मय समुद्र में ढकेलता है। इसी भावना—विज्ञानको लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

बधान देवसहित परमस्या पृथिव्यामिति—दवमेवतत् सवितारमाह । अधे तमसि बधानेति यदाह—परमस्या पृथिव्यामिति । शतेन पार्शैरिति—अमुचे (अमोचनाय) तदाह । योऽत्मान् द्वेष्टि यच वय द्विष्मस्तमता मामौक्—यदि नाभिचरेत्”

यदि यजमान का कोई प्रबल शत्रु है एव यजमान उसे नष्ट करना चाहता है तो इस अभिचार—कामना की पूर्ति के लिए य त के स्थान में उस शत्रु का नाम बोल देना चाहिए। नि सन्देह एक वष के भीतर भीतर यजमान के शत्रु का सवनाश होजायगा ॥१६॥

प्रकृति में देवता पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ—आप इन चारों लोको से असुर को मार मार कर निकालते हैं। चार लोकों के लिए उन प्राण देवताओं का प्रहार चार भागों में विभक्त होजाता है। इस सम्बन्ध में आप एक प्रश्न उठा सकते हैं। वह यह है कि अभी अनुपद म ही पूव के प्रकरण में (१६ वीं कण्डिका में) यह बतलाया गया है कि असुरों को यहा से निकाल कर चौथे आपोलोक में ढकेल दिया जाता है। उस अधतम से तमतो मा मौक् इत्यादि के अनुसार व कभी नहीं निकल सकते। परन्तु अब ठीक इस पूव सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जाता है कि तीनों लोकों की भाति चौथे लोक से भी असुरों को निकाला जाता है। यह श्रुति विरोध कसा ?

वास्तव में साधारण-दृष्टि से श्रुति के अन्तरमात्र पर विश्राम करने से विरोध प्रतीत होता है। परन्तु जब ज्ञानदृष्टि से विचार किया जाता है तो विरोध उपरत होजाता है *। आपोलोक म असुर प्रतिष्ठित रहने ह यह भी ठीक है एष आपोलाक से असुर निकाले जाते है यह भी ठीक है। स्वय आपो-लोक ही दिव्य आसुर भेद स दो भागो में उभक्त है। आपोलोक में हमने भृगु की सत्ता बतलाइ है। साथ ही य भी कहा है कि य भृगु प्रन तरल त्वरल- न तीन अवस्थाओ के कारण आप वायु-सोम न तीन पृथक् पृथक् स्वरूपा म परिणत होजाता है। घा त्व आप है तरल द्रव्य वायु है एव त्वरल-य सोम है। न तीनों म मयस्थ वायु का दोनो के साथ आप और सोम के साथ) भोग होता है। अप से अनुग्रहीत वायु तारुण है एव मोमानुग्रहीत अ भोग्य वायु शिव है। इसी का पौराणिक परिभाषानुसार साम्बसदाशिव कहा जाता है।

ग्रथि (गठिया) गधसी उदरशूल शिर शूल आदि शूल-सम्बन्धी जितने भी रोग है न जातेन पिना शूलम् तस प्राणशास्त्र सिद्धात के अनुसार वारुणवायु स ही होते ह। ये वरुण मृगु के अन्नभाग में प्रतिष्ठित है। अतएव वर्षाऋतु म जब इस तारुणवायु का सञ्चार होता है तो वात-याध विशेषरूप स अपना प्रभाव स्थापत कर लेती है। उधर शिववायु सामगुणक बनता हुआ जीवन की रक्षा करता है *। मागव-सम्बन्ध स यह शिववायु भी वर्षाऋतु में अपनी प्रधानता रखता है। इसी का पुरोनात (पुरवात् हवा) रूप से विकास होता है। जहा तारुणवायु अत्यत अहितकर है ठीक इसके विपरीत यह पुरोवातरूप शिववायु सवथा हितकर है। वर्षाकाल म (मेह बरसते समय जो हवा चलती है वही तारुण है। इस से बचना चाहिए विशेषत वात-याधि वाले को। वर्षा के आरंभकाल स पहिले जो पूर्व की ओर का वायु चलता है वही पुरोवात कहलाता है। सोम के सन्ध से इसे एन्द्रवायु भी कहा जाता है। तस का सेवन करना चाहिये-विशेषत वात याध वाले को।

जहा वारुणवायु शरीर जकड देता है वहा पुरोनातरूप ऐन्द्रवायु स्व-गतिभाव से शरीरग्रथिया खाल दता है। वारुणवायु सदा पश्चिम से आता है एव ऐन्द्रवायु सदा पूव से आता है। वर्षा लाना ऐन्द्र-वायु का काम है एव वर्षा उडा देना वारुणवायु का काम है। जब भी पूर्व का वायु चले विश्वास कीजिए उस समय अवश्य ही वृष्टि होगी। जब भी पश्चिम का वायु चले त्वराम कीजिए वृष्टि तड जायगी। कारण इमका यही है कि वारुणवायु आप्य हाने स शीतप्रकृतिक है। इस शीतभाव से मेघस्थ पानी का सघठन और भी अधिक दृढ होजाता है। अतएव इसके आगमन से वर्षा नहीं होती। एन्द्रवायु सौम्य होने से आग्नेय-प्रधान है। क्योंकि अग्नि-सोम की परस्पर मैत्री है। सके आगमन से मेघस्थ नमुचिप्राण शथिल होजाता है। पानी द्रुत होकर भूपृष्ठ पर गिर पडता है। प्रकृत में इस वृष्टिविद्या - के सम्बन्ध म विशेष कहना अप्राकृत होगा। यहा केवल यही बतलाना है कि आपोमय परमेष्ठी मे आप-वायु सोम भेद स तीनों त वा का विकास होता है।

* अरलेषा-नक्षत्र-भोगकालामक वर्षाजल आसुर-वारुण बनता हुआ जहा रोग-प्रवक्त क है वहा मघानक्षत्र-भोगकालामक वर्षाजल दैव-ऐन्द्र बनता हुआ स्वास्थ्य प्रवक्त क माना गया है।

— इस विषय का विशद विवचन पञ्चप्रयाजानुगता- वृष्टिावद्या में विस्तार से किया जाने वाला है।

उक्त तीनों तंत्रों के आप-वारुणवायु-अग्नि-सोम-ये चार भेद माने हैं। वस्तुतः मन्त्रों वरुण के साथ वारुणवायु का प्रसुत्त्व-गन्ता-एतमेव-त्राण-क-अ-प्रधाना-स-म-के-माह-वच-य-म-पे-त्रा-यु-नाम-से-प्रसिद्ध-साम्ब-सदा-शिवा-यु-की-भी-सत्ता-है-।-त्रा-यु-म-व-यु-का-उ-ग्रा-भ-काल-।-अत-ए-व-त्रा-व-ण-मा-स-साम्ब-सदा-शिव-की-आ-रा-ध-ना-का-सम-य-मा-ग-ना-ता-।-य-शि-वा-यु-सो-म-स-अ-ना-कृत-है-साम-सौ-म्य-भा-व-का-अ-धि-ष्ठा-ता-है-।-अत-ए-व-सदा-शि-व-को-भो-जा-ना-क-।-ना-ता-है-।-म-प्र-का-वा-यु-स-भ-क्त-आ-पो-म-य-म-ण्ड-ल-के-वा-रु-ण-म-ण्ड-ल-सो-म-म-ण्ड-ल-भे-द-स-दा-वि-भा-ग-हो-जा-त-ह-।-म-ग-श-म-—ए-क-ही-आ-पो-म-ण्ड-ल-साम-आ-र-आ-प-के-मे-से-दो-भा-ग-म-भि-न्-न-कर-हा-है-।-आ-प-भी-साम-का-अ-व-था-वि-शेष-का-ही-ना-म-है-ए-व-सो-म-भी-आ-प-की-अ-व-स्था-वि-शेष-का-ही-ना-म-है-।-अत-ए-व-दो-दो-नों-को-हम-सो-म-लो-क-भी-कह-सक-ते-हैं-ए-व-आ-पा-ला-क-भी-।-पर-न्तु-त-त्र-आ-स-रा-क-स्थान-य-त्र-आ-का-पि-चा-किया-जा-य-गा-ता-दो-नों-को-वि-भ-क्त-मा-न-कर-ही-त-य-का-सम-य-य-कर-ना-प-न्-गा-।

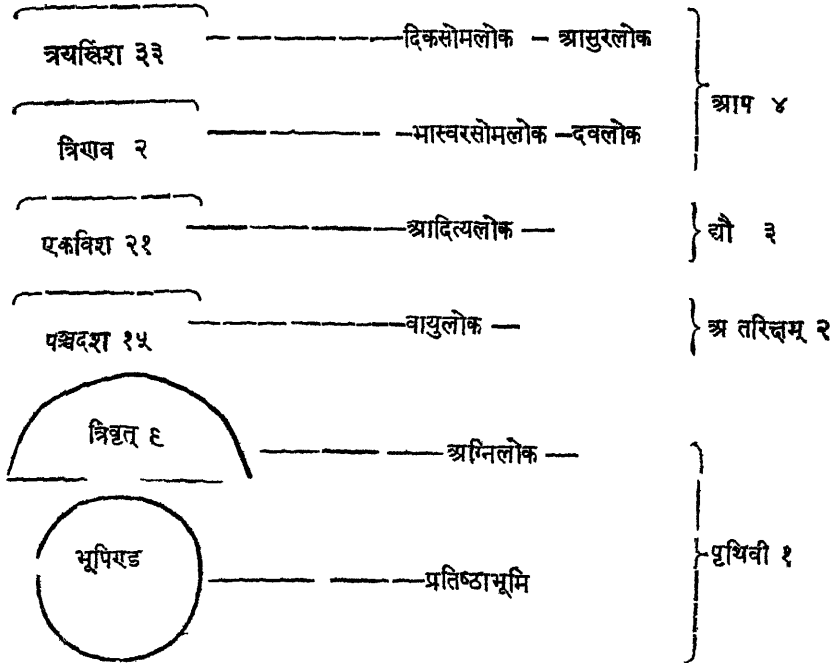
ऐन्द्रवायुमय आपोलोक इन्द्रके सम्बन्ध से देवताओं की आवासभूमि कलाएगा एतवान्णमय आपोलोक वरुणके सम्बन्ध से असुरों की आवासभूमि मानी जायगी। यहाँ का अर्थ है कि एकविंशताम के ऊपर जहाँ वज्रानकोन त्रयस्त्रिंशस्तोम पर्यन्त (३ पथ्यत) आपोनाक की यापति बतलाई है वन्त-न-ही-२-३-क्रम-से-उस-आ-पो-म-य-म-ण्ड-ल-के-दो-वि-भा-ग-कर-ए-हैं-।-त्रि-ग-व-न्तो-म-(२)-पथ्य-त-भा-स्व-र-सो-म-की-सत्ता-मा-नी-जा-ती-है-ए-व-त्र-य-स्त्रिं-श-स्तो-म-पथ्य-न्त-दि-क्-सो-म-(वा-रु-ण-ना-म-स-प्र-सि-द्ध-वृ-त्र-साम)-की-सत्ता-मा-नी-ग-इ-है-।-ये-ही-हमारे-पूर्-वो-क्त-ए-न्-ला-क-ए-व-वा-रु-ण-लो-क-हैं-।-२-पथ्य-त-दे-व-ता-ओं-का-ही-मा-म्रा-य-।-अत-ए-व-वि-ज्ञान-सम-यानु-सा-र-२५-व-अ-ह-ग-ण-पर-सा-म्य-वि-द्य-वि-ज्ञान-की-सत्ता-मा-नी-जा-ती-है-।-य-ही-अ-ग-ण-अ-वि-वा-क्य-म-ह-—म-हा-व्र-त-म्-—अ-शा-क-म-हि-म-का-म-प्र-आ-दि-ना-मा-से-व्य-व-ह-त-ह-आ-ह-

वस्तुस्थिति यही है कि नोम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी की अन्तिम सीमा प (१) अहगण पर) भगवान् सूय्य अपनी सहस्र किरणों से तप र हैं। सूय्य आपोमय परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित है जसा कि अपा गम्भन्सीद इयादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। सूय्य अपनी रश्मियाँ स बका कर पारमेष्ठ्य पानी को चारों ओर फैक रहे हैं। उस पानी में वा उपप्युक्त ऐन्द्रवायु से अनुपहीत दाह्य सोम विद्यमान है। जहा तक सोम की साता है वहाँतक (२ तक) रश्म्यवच्छिन्न सौरमावित्राग्नि चला जाता है। सोमस बन्ध से रश्मियों को बल मिलता रहता है। तसप्रकार आपोमय परमेष्ठी का सोमावच्छिन्न प्रदश सौरप्राण से आक्रान्त होकर सौरदेवताओं के आधकार में आज्ञाता है। जहा केवल पानी का ही साम्राज्य है वहा सो देवता नही जासकते। पारमेष्ठ्य आप का जो प्रदश सौररश्मियों से प्रकाशित होजाता है वह प्रकाशत-तेजोमय सोममूर्ति पानी ही वेन नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसी ज्यातिमय वेन पानी से सुप्रसिद्ध तम्भ (कुश तम्भ) उत्पन्न हुआ है। इस विषय का विशद विवचन पूव के मोंपत्तिविज्ञान नाम के प्रकरण में किया जाचुका है।

इसी ज्योतिर्भाव के कारण इस देवप्राणमय अपसोम को भास्वरसाम कहा जाता है। इसी को ऋग्व दस्थ सामप्रकरण में इन्दु नाम से व्यवहृत किया गया है। वस्तु की अन्तिम सीमा में पानी का स्तर रहता है। अन्तिम सीमा ही उस वस्तु की दिक् (दिशा) है। इसी समाप्तिभाव को लय म रक्क अवाचीन संस्कृत साहित्य में प्रकरण-समाप्ति के अन्त में इति दिक् यह निर्देश रहता है। तस दिक् के सम्बन्ध से ही वृत्रसोममय वह विशुद्ध आसुरलोक— दिक्सोम नाम से व्यवहृत हुआ है। अहगणक्रमानुसार पृथिवी के

२६ १ अहगण पर गोसव नाम का वैष्णवयज्ञ होता है। यही विष्णु देवता की प्रतिष्ठा है। यहा योनि रूप इन्द्र का अभाव है। केवल तमोमय रात्रिविधाता आसुरप्राण का ही साम्राज्य है। अतएव २६ व अहगणस्थ आपोमय मण लस्थ पारमष्ठय विष्णु को सदा योगनिष्ठा से समन्वित माना जाता है। यह स्थान २७ से ऊपर है। यही गोसवयज्ञा मक गोष्ठान है। प्रकृत में इसे ही असुरों की आवासभूमि बतलाया गया है। २१ से ऊपर ३३ प य त का म पूण स्थान अपसाधारण्येन आपोलोक नाम से प्रसिद्ध है। इस सामाय-व्यवहार की अपेक्षा लोकगणना के संबंध में—प्रथि-यन्तरिक्षं द्यौराप यह व्यवहार प्रचलित है। इस आपोलोक में ३३-२७ क्रम से असुरलोक देवलोक दोनो प्रतिष्ठित हैं। अतएव नहा श्रुति को (यज्ञिय कर्मों में) त्रिणवस्तोमाम्बिद्धं भास्वरसोमामक आपोमय देवलोक अभिप्रत होता है वहा वह आपोलोक के साथ देवलोक का विशेषण लगाती हुई—अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप यह बोल दिया करती है। दिक्सम्बन्ध से—प्रथिव्यन्तर्त्तं क्ष द्यौर्दिश यह व्यवहार भी दखा जाता है।

इसप्रकार पर्वोक्त प्रकरण से पाठकों को यह मान लेना पडेगा कि चतुर्थ लोक से प्रसिद्ध केवल पारमेष्ठय आपोलोक के ही आप सोम (दिक् सोम भास्व सोम) भेद से दो भेद होजाते हैं। आपोलोक आसुरलोक है एव सोमलोक देवलोक है। पार्थिव-गायत्री के द्वारा इसी सोम का अपहरण होता है। वह सोम कस गायत्री के द्वारा पृथिवी में आता है? इस का उत्तर—एतद्ध सौपणमाख्यानमा ख्यानविद् आचक्षते इयादि रूप से तृतीयकाण्ड में द्रष्टव्य है।



प्रकृतिप्रसंग में देवता त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश एव त्रिणवस्तोमामक-पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौ आप (देवलोक रूप आप) इन चारों लोकों में से वज्रप्रहार के द्वारा असुरों को निकाल कर स्तोमगणना

की अपेक्षा स त्रयस्त्रिंशत् रूप पाचा लोका में एव लोकगगना का अपना स (अ मामा य की अपेक्षा स) चतुर्थ गोष्ठानरूप वष्णवधामा मक आपोलोक म मार भगाते ह । इसी लोकावज्ञान की अपेक्षा स— देवताओं चारों लोका से असुरा को वज्रप्रहार क द्वारा निहान किया गया चाण पाष्ठानरूप आपोलोक म उह डाल दिया निम्न स वे उस अपने लोक स कभा मादर न नासक शक्ति के उपस्थित होने। वरुद्ध व्यवहार यथावत् समचित होजात ह ।

प्रथम प्रहार स अ वय्यु ने त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक में रहने वाले मव असुरा को मार भगाया । अत्र क्रमप्राप्त द्वितीय प्रहार से पञ्च शस्तोमावच्छिन्न अन्तरिन् में रहने वाले असुरा के नाश की इतिक्त यत्त वतलाते हुए ऋषि कहते हैं— अथ द्वितीय प्रहरति ।

आपोऽन्य परमेष्ठ म रहने वाले वारुण असुरोंन सृष्टि क आरम्भ म यज्ञिय-वदिरूपा स्तोम्यत्रिलोकी में रहने वाले प्राणद्वयतात्रा पर आक्रमण किया था यह पूर्व के आधिनावक-आरयान हस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यो आप इन चारो लोका म यात असुर वारुणप्राण भी चार ही भागो में विभक्त है । व चारो अस्थाय क्रमश तृण-अरुरु-अस-आप इन नामा से व्यवहृत होती हैं । पार्थिव ओषावयो का मूलभाग (अन्नशून्य दण्डभाग-जिसे कृत्कर पशुआ को दिया जाता है एव ऐसे तृणविशेष जो मनुष्य के उपयोग में न आकर केवल पशुओ के ही उपयोग में आते हैं) असुरप्राणाक्रान्त हैं । इमी सामानाधिकरण्य को लक्ष्य में रखकर ऋषिने पार्थिव तृणाणि को पार्थिव-सस्था में मुक्त वारुण-असुरो का निदान माना । अतरिक्ष म वायु की प्रधानता है । ऐन्द्रवायु जहाँ दिय है वहाँ वृष्टिविरोधी वारुणवायु असुर है । तृणावच्छिन्न पार्थिव असुरा की (आसु प्राण की) गति तो एक ओर ही रहती है । किन्तु वायुगत आतरिक्ष्य असुर गतिप्रधान होते हुए चारो ओर फैल जाते हैं । चारो दिशाओ में इनका सञ्चार है । अतएव आतरिक्ष्य असुरजाति को ऋग्वेदने चतुष्पाद कहा है जैसाकि अनु पद में ही स्पष्ट होने वाला है । पश्चिमा दिक् इनकी ज मभूमि है । चारो दिशाए सञ्चारभूमि है । वृष्टि का विरोध करना इस असुरजाति का मुख्य काम है । यही जाति अरुरु नाम से प्रसिद्ध है । ऐन्द्रवायुगत मरुवानिन्द्र के वज्र से यह उत्क्रान्त होजाता है तब कही वृष्टि होती है । अरुरु के इसी स्वरूप-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

दस्मो हि ध्मा वृषण पिन्वासि त्वच कश्चिदावीगररु शूर मर्त्य परिवृणन्ति मर्त्याम् ।

इन्द्रोत तुभ्य तद्विवे तद्र द्राय स्वयशसे मित्राय वाच वरुणाय सप्रथ सुमृडीकाय सप्रथ ॥

—ऋक्स १।१२६।

तीसरा द्युलोक में रहने वाला असुर द्रप्स रूप है । वृष्टिबिन्दु ही द्रप्स है । वृष्टि वैं द्यौ इस तत्त्वरीय-सिद्धान्त के अनुसार वृष्टि ही द्यौ है । पारमेष्ठ्य असुर द्यु में आकर सवप्रथम वृष्टिरूप में ही परिणत होता है । वृष्टिबिन्दु को द्रप्स कहा जाता है । प्रकाश में देवता की प्रधानता है एव पानी में असुर की प्रधानता है । प्रकाश और ताप कैसा और कितना ही प्रबल क्यों न हो मनुष्य इसका आक्रमण सह जाता है । घोर आतप (धूप) में तो मनुष्य नासकता है । किन्तु वृष्टि का साधारण आक्रमण भी वह नही स सकता । पानी की साधारण बिन्दुओं को तो फिर भी मनुष्य यथाकथञ्चित् सह जाता है । परन्तु यदि वग से

बड़ी बड़ी बिन्दुओं का रूप मृच्छि हाने लगता है। क्योंकि इनमें असुरप्राण प्रतिष्ठित है। सीकर [सिखर हुए जलकण] जहां वकासरूप इन्द्र के सम्बन्ध से शरीर को बड़ सुहावने लगते हैं व [थूलबिन्दु] असुरप्राणप्रधान बन कर शरीर के लिए जोष का कारण बन जाती है। इन बड़ी बिन्दुओं के लिए ही 'मम' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अन्यबिन्दु पषट् बिन्दु स्तोकबिन्दु ऋसबिन्दु-भेद से बिन्दुभाव चार भागों में विभक्त है। सर्वाकार-अधिष्ठात्री अन्तु स्वयं निराकार-बिन्दु ही हृदयबिन्दु नाम से प्रसिद्ध है। यह स्वानुभवकगम्या है। यद्यपि शिक्षणकाल में अयापकवग लेखिनी से पत्र पर स्पष्ट कराके हृदयबिन्दु का आकार बतलाया करता है। परन्तु वस्तुतः यह आकार-उपाया शिक्षमाणाना बालानामुपलालना ही है। क्योंकि भले ही आप सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु बनाए उसमें भी हृदयभाव उत्पन्न होजायगा। उसका भी कोई न कोई केंद्र अवश्य रहेगा। ऐसी अवस्था में यह मानलेना पन्ता है कि हृदयबिन्दु का कोई आकार नहीं है। दूसरी है पृषदबिन्दु पृष्वार की छोटी छोटी बिन्दुए ललाट के प्रस्वद [पसीने] दूर्वा आदि पर रहने वाली रात्रि की ओस की बिन्दुएँ ये सब पषट् हैं। जिस मेह के लिए भरमर भरमर नानी नानी बुदनिया यह कहा जाता वही सीकर [अम्बुकण-जलकण-पानी की काणकाए] पषट् हैं। साधारणरूप से जो पानी बरसता है उसमें जो बिन्दु हैं - स्तोक नाम से व्यवहृत होती हैं। दो बूँद दूना की लेना - दो बूँद अमुक की लेना यह व्यवहार जिम बिन्दुभाव के लिए लोक में सामान्यरूप से प्रचलित है उसी को स्तोक कहा जाता है। साधारण व्यवहार में बिन्दु से इस स्तोकबिन्दु का ही ग्रहण किया जाता है।

चौथी है ऋस। कभी कभी आकाश से गिरने वाली बिन्दुओं का आकार बहुत बड़ा होता है। इनका प्रहार आप कभी नहीं सह सकते। इसी को लोकभाषा में टपका कहा जाता है। बिन्दुभाव की यह अन्तिम सीमा है। इससे बड़ा जतनी बिन्दुएँ होतीं सबका इस ऋस में ही अन्तर्भाव कर लिया जायगा। और तो और स्वयं सूर्य को भी ऋसस्चस्कट यदि रूप से ऋस ही कहा जाता है। पुराण कहता है— तुह्यारा यह बृहत्सूर्य अपोमय परमेष्ठी—समुत् का एक बुद् बुद् (बुलबुला) मात्र है तो इधर वन्मगगान् कहत है— परमेष्ठी प्रनापति का ऋस ही प्रवग्यरूप से उसी प्रकार अतिरिक्त में आगया है जैसे कि-वारुण-मघ से पका भूमि पर आपडता है। वही सूर्य बनकर त्रैलोक्य में साम्राज्य कर रहा है। निवदनीय यही है कि ऋस सबसे बड़ी बिन्दु का नाम है। वृष्टि जिस बुलाक से आरम्भ होती है उस मूलस्थान में चलते हुए तो पानी द्रवरूप में परिणत रहता है। नीचे आत आत वायु के आघात से बिन्दुएँ छोटी होजाती हैं। यह लोक व्यवस्था का द्रव्य प्रातिस्वक स्वरूप है। यह वारुणभावापन्न असुर की ही प्रातकृति है।

चौथा असुर की पामर्य है। तीन का हम देखते हैं। चौथे को हम अपने चम्पचक्षुओं से नहीं देखते। एतद्वै सत्य निहित यच्च इमं श्रौतसिद्धांत के अनुसार चक्षु हमारे संयभाव का आलम्बन है। अतः म चौथ का नाम बोला जाता न प्रहारकाल में मन्त्रप्रयोग ही होता। शेष तीनों प्रहार सम-त्रक हाते हैं यह आराम के पद्धति-प्रकरण से गताथ ही है। इसप्रकार चार प्रहारों के द्वारा मूप्रदेश का देवयजनसम्पात्त से युक्त कर लिया जाता है। यह साधारण कर्म नहीं है। अपितु आधिभौतिक अनुरूप दिव्यभावापन्न पदार्थों के द्वारा मन्त्रशाक्त के द्वारा आधिदैविक सौर-प्राणदवताओं को आयागिक-जगत् में अतर्था-सम्बन्ध से प्रतीकित कर आगतुं दिव्यात्मा (दैवा-

त्मा) को उपन्न कर इसका माथ होन वाली हृद्ग्रन्थ के आकषण न मानपा मा (कर्मात्म-जीवामा) का सप्तशस्तामरूप नाचिकेत स्वर्ग म प्रतिष्ठित करान वाला एक अग्रव वन्तु दुःसप्तपथ । यत्कञ्चन मी असावधानी से महान्-अग्नि होजाने की सम्भावना है ।

अत ब्रह्म साच समझकर ही अपनी मानुषभावोपेता कुतकमना भावनाओं का सवथा तिरस्कार कर ऋषयन जैसी आज्ञा दी है जा पद्धतिया ब्राह्मण श्रात-गृह्यसूत्रान् रूप स हमारे स मुच रक्वा है टीक उह्नी का अनुसरण करत हुए हमें यज्ञियचितान करना चाहिए इस म हमारा न केवल हमारा ह् अपितु हमारे वशजो का (भी) अ युदय है । नमी भाव को यक्त करते हुए वृष्णश्रुति क प्रवक्त क महर्षि तित्तिरिने प्रश्न किया है कि इस प्रहारकम्म का एकमात्र प्रयोनन यहा ता है कि निस भूप्रदेश पर वेत्ति बनन वाली है उस भूप्रदेश क कङ्कर दूषित मिट्टी-दूषित तृणादि हटाकर उसे साफ सुथरा बनाली जाय । इम यनाकञ्चन से काम क लिए एक त्रिषेक प्रकार का काष्ठमय स्तम्भ बनाना फिर उमका क्रमश चार चार प्रहार कर । इन सब आडम्बरा का क्या आवश्यकता है ? भूमि को ही तो स्वच्छ करना है । यह काम ता अध्वर्यु अल्पसमय म अपन हाथ से भी कर सकता है । बात सुनने में बड़ी अ ल्छी लगती है । आजकल के नवयुवक तो महर्षि तित्तिर के इन प्रवपक्षी विचारों का हृदय स अभिनन्दन ही करने ल गे । आगे जाकर इम कुतक से होने वाली भयङ्कर हानि का दिग्दर्शन कराते हुए तित्तिरि कहत ङ कि साधन ! कहीं एसी मूलता न कर बैठना । यह तुझारा अशनपान- (वधनपान सम्बन्धी लौकिक व्यवहार नहीं है जिसे जैसा मन म आया कर लिया । तद पद्धति की उपेक्षा कर अपनी सुविधा को आगे रगत हुए तुमन स्वय के धान में हाथो से ही उपयुक्त कम्म क लिया तो तुम्हारे नखों में विकृति उपन्न होजायगी ।

इस पर यदि कुतका यह आपत्ति उठाव कि नहीं हम बड़ी सावधाना से देखकर काम करगे जिससे नख पर आघात न होने पावे । इम भौतिक कुतक का समूल वनाश करत हुए तित्तिरि कहते हैं कि यहा तुम्हारी सावधानी असावधानी का कोई मूल्य नहीं ङ । यह तो प्राण-आपार है । प्राण चम्मचु से परे की वस्तु है । इसका प्रभाव तुम्हारे वशजो पर भा होगा । तुम्हारे से आगे उपन्न होने वाले तुम्हारे सब वशजों के नख विकृत होजायग । सब कुनखा उपन्न हागे । इसलिए पद्धति के सम्बन्ध में तुम्ह सदा लक्ष्णौकचक्षुष्का वयम् — शब्दप्रमाणका वय-यदस्माक शब्द आह-तदस्माक प्रमाणम् इस आदेश के अनुसार ही चलना चाहिये । (लेखिए तै ब्रा ३ का १२ प्र ६ अतु ११ क) ।

उपयुक्त सम्पूर्ण ब्राह्मण के द्वारा केवल यही बतलाया गया है कि अ वयु नाम का ऋषि वक भूप्रदेश को स्वच्छ-निष्कण्टक-निस्तृण-(साफ-सुथरा) बना कर उसे वादयोग्य (पद्धत के अनुसार) बनाले तदनुसार यथोक्ता पद्धति से अध्वर्यु ने मूविशोधन कर लिया है । अब आग के ब्राह्मण से वेदिस्नन-प्रकार ही उपक्रान्त होता है । ॥१७ ८ १६ २ २१॥

प्रथमकाण्डानुगत द्वितीयाध्याय का चौथा ब्राह्मण,

एव

द्वितीय-प्रपाठक का दूसरा ब्राह्मण उपरत

श्री

प्रथ-प्रथमकारण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्

१२-वेदिपरिग्रह

—*—

(मूल)-दवाश्च वा असुराश्च-उभय प्राजापत्या पस्पृधरे । ततो दया अनुयमि
वासु । अथ हासुरा मेनिरे अस्माकमेवेद खलु भुवनमिति ॥१॥

ते होचु -ह तेमा पृथिवी विभजामहै, ता विभयोपजीवामेति । तामाक्षश्चर्मभि
पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयु ॥२॥

तद्वै दवा शुश्रुवु -विभजन्ते ह वा इमामसुरा वृथिवीष प्रत तदेष्यामो यत्र मा-
मसुरा विभजते ऋतत स्याम-यदस्यै न भजेमहीति । ते यज्ञमेव विष्णु पुर-
स्कृत्येयु ॥ ३ ॥

ते होचु -अनु नोऽस्या पृथि यामाभजत अस्त्वेव नोऽप्यस्या भाग इति । ते हासुरा
अस्य त इवोचु -यावदेवैष विष्णुरभिशेते, ताजद्रो दद्व इति ॥४॥

वामनो ह विष्णुरास । तद् वा न जिहीडिरे-महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितम-
दुरिति ॥ ५ ॥

ते प्राञ्च विष्णु निपाद्य छन्दोभिरभित पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा छन्दसा परि-
गृह्णामि (१ अ २७ म०) इति । दक्षिणत अष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि
(१ अ २४ म) इति । पश्चात् । जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि [१ अ
२७ म] इति । उत्तरत ॥६॥

त छन्दोभिरभित परिगृह्य अग्नि पुरस्तात् समाधाय तेनार्चत श्राम्यतश्चरु ।
तेनमा सर्वा पृथिवी समविदत्त । तद् यदनेनेमा सर्वा समावदत्त, तस्माद्ददनाम ।

तस्मान्नाह यावती वेदि तावती पृथिवीति-एतया हामा मया ममचिन्तन्त । एव ह वा
स्मा मया मपनाना मवृक्ते । निभजत्यस्यै मपनान्-य एवमेतद्वद ॥७॥

सोऽय विष्णुर्गर्गान् छन्दोभिरभित परिगृहीत अग्नि पुरस्तात् नापक्रमणमास ।
स तत एषधीना मूलान्युपमुम्लोच ॥८॥

ते ह देवा ऊचु -क तु विष्णुरभृत् क तु यज्ञोऽभूदिति । त होचु -छन्दोभिरभित
परिगृहीत अग्नि पुरस्तात् नापक्रमणमस्ति अत्रवाविच्छतेति । त खनन्त इवावाषु ।
त यगुलऽवाव दन् । तस्मान् यगुला वेदि स्यात् । तद् हाप पाञ्चि यगुलामेव
माम्यस्याध्वरस्य वाद चक्रे ॥९॥

तद् तथा न कुर्यात् । ओषधीना वै स मूलान्युपाम्लोचत्-तस्मात्-ओषधीनामव
मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयात् । य-ववात्र विष्णुमन्वविन्दन्-तस्माद्वादनाम ॥१॥

तमनुवद्योत्तरण पारग्रहण पयगुहन्- सुच्मा चासि शिवा चासि” (१ अ०
७ म०) इति । दक्षिणत इमामेवैतत् पृथिवा सविद्य सुच्मा शिवामकुर्वत । ‘स्योना
चासि सुषदा चासि’-[१ अ २४ म०] इति । पश्चादिमामेवैतत् पृथिगी सविद्य
स्योना सुषदामकुर्वत । ‘ऊजस्वता चासि पयस्वती च’-(१ अ ७म) इति ।
उत्तरत इमामेवैतत् पृथिगी सावद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत ॥११॥

स वै त्रि पूव परिग्रह परिगृह्णाति त्रिरुत्तरम् । तत् षट्कृत्व षड वा ऋतव
सम्बत्सरस्य । सम्बत्सरो यज्ञ प्रजापति, स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमे-
वैतत् परिगृह्णाति ॥१२॥

षडभिर्याहृतिभि पूव परिग्रह परिगृह्णाति षड्भिरुत्तरम् । तद् द्वादशकृत्व । द्वादश
वै मासा सम्बत्सरस्य सम्बत्सरो यज्ञ प्रजापति । स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा
तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति ॥१३॥

व्याममात्री पश्चात् स्यादित्याहु । एतावान् वै पुरुष पुरुषसम्मिता हि । त्र्यर-
त्नि प्राची । त्रिवृद्धि यज्ञ । नात्र मात्रास्ति, यावतीमेव स्वय मनसा मन्येत तावतीं
कुर्यात् ॥ १४ ॥

अभितोऽग्निमसावुन्नयात् । योषा वै वदि वृषाग्नि । परिगृह्य वै योषा वृषाण शेते ।
मिथुनमेवेतत्प्रजनन क्रियते । तस्मादभितोऽग्नमसा उन्नयति ॥१५॥

सा वै पश्चाद्वरीयसा स्यात् म य सहारिता पुन पुरस्तादुर्वी । एवमिव हि योषा
प्रशसति - पृथुश्रोणि विमृष्टातरासा मध्य सग्राह्यति । जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्य
करोति ॥ १६ ॥

सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्-प्राची हि देवाना इक् । अथो उदक्प्रवणा-उदीचि हि
मनुष्याणा दिक् । दक्षिणत पुरीष प्र युद्दहति-एषा वै दिक् अपत णाम् । सा यदक्षिणा-
प्रवणा स्यात्-अक्षप्र ह यचमानोऽमु लोकमियात् । तथो ह यचमानो ज्योग जीवति ।
तस्मादाक्षणत पुरीष प्र युद्दहात् । पुरीषवती कुर्वीत पशवो वै पुराष पशुमतीमेनामे
तत् कुरुते ॥ १७ ॥

ता प्रतिमार्ष्टि । देवा ह ते सग्राम सन्निधास्य-तस्ते होचु-ह त यदस्यै पृथिया
अनामृत देवयजन तच्च द्रमसि निदधामहै स यदि न इताऽसुरा जयेयु, तत एवा-
चन्त श्राम्यत पुनरभिभवेमेति । स यदस्या पृथिया अनामृत देवयजनमासीत्तच्च-द्र-
मसि न्यदधत । तदेत चन्द्रमसि कृष्णम् । तस्मादादु-चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यो देवयज
नमिति । अपि ह वा अस्मत्स्मिन् देवयजन इष्ट भवति । तस्माद्दे प्रातमार्ष्टि ॥१८॥

स प्रतिमार्ष्टि 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरपशिन्'-(१ अ ५ म) इति ।
सग्रामो ते क्रूरम् सग्राम हि क्रूर क्रियते हत पुरुष हतोऽश्व शेते । पुरा ह्य तत्सग्रा-
मान्-न्यदधत । तस्मादाह पुरा क्रूरस्य विसृपो विरपशिनिति । 'उदादाय पृथिवी
जीवदानुम्'-(१ अ ८ म) इति । उदादाय हि यदस्या पृथिवी जीवदानु-
मिति । 'धामैरथ अ द्रमसि स्वधामि' - (१ अ -२८ म) इति । या च द्रमसि
ब्रह्मणादधुरित्पेनैतदाह- 'तामु धीरासाऽनुदिश्य यज ते' - [१ अ २८ म०]
इति । एतेनो ह तामनुदिश्य जय-ते । अपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजन इष्ट भवति-य
एवमेतद्द ॥ १६ ॥

अथाह 'प्रोक्षणीरासादय' --(१ अ० २८ म) इति । वज्रो वै स्फ्य,
ब्राह्मणश्च इम पुरा यज्ञमभ्यजूगुपताम् । वज्रो वा आप । तद् वज्रमेतैतद्भिगुप्त्यै-
आसादयति । स वा उपयु पर्येव प्रोक्षणीषु धार्गमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छात । अथ यन्निहित
एव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयद्-वज्रौ ह समृच्छेयाताम् । तथो ह वज्रो न समृच्छेते । तस्मा
दुपयु पर्याव प्रोक्षणीषु धार्गमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति ॥ २ ॥

अथैता वाच वदति-प्रोक्षणीरासाढय, इध्म बर्हिर्गमादय म् च सम्मृद्ध पन्नीं सन्नह्याज्यनोदेहि इति । सप्रैष एवैष । म यदि कामयत-ब्र यादतन् । यद्यु कामयेत-अपि नाद्रियत । स्वयमु ह्य वैतन् वेद-इदमत कम कत्त-यमात ॥ २१ ॥

अथोदञ्च स्फा प्रहरति-अमुष्मै च्वा वज्र प्रहरामीति यद्याभचरद् । वज्रो वै स्फय तणुते हवेनन ॥ २२ ॥

अथ पाणी अवननिक्त । यद्व्यस्ये क्रूरमभूत्-तद्व्यस्या एतदहार्षीत् । तस्मात् पाणी अवननिक्ते ॥ २३ ॥

स ये हाग्र ईजिरे ते ह स्मावमश यजते ते पापीयास आसु । अथ य नजिरे ते श्रयास आसु । ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद-ये यजते पापीयामस्ते भवन्ति य उ न यजन्ते श्रेयासस्ते भवन्तीति । तत इतो देवान् हविन जगाम-इत प्रदानाद्धि दवा उपजा वन्ति ॥ २४ ॥

ते ह दवा ऊचुवृहस्पतिमाङ्गिरमम् अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्, तेभ्यो विधाह वज्र मिति । स हेत्योवाच बहस्पतिराङ्गिरस कथा न यजध्व इति । ते होचु किकाम्या यज महि ये यजत पापीयासस्त भवन्ति, य उ न यजन्ते श्रयासस्त भवन्तीति ॥ २५ ॥

स होवाच बहस्पतिराङ्गिरस-यद्वै शुश्रुम देवाना परिषृत तदेष यज्ञो भवति । यच्छतानि हवापि क्लृप्ता वदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट । तस्मात्पापाशसाऽभूत् । तनानवमश यजध्वम् तथा श्रेयामो भविष्यथेति । आ कियत इति । आ बहिषस्तरणादिति । बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति । स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्य त, बर्हिरेव तत् स्तस्य चापस्येत् । अथ यदा बर्हिस्तृणान्ति-अपि पदाभितिष्ठन्ति । स यो हैव विद्वाननवमश यजत, श्र याच् हैव भवति । तस्मादनमशमेव यजत ॥ २६ ॥

इति प्रथमकारण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्

द्वितीयोऽध्यायश्च समाप्त

१

(अनुवाद)—प्रजापति की सन्तान होने से प्राजापत्य नाम से प्रसिद्ध देवता आर असुर पाना एक समय परस्पर) स्पर्द्धा करने लग। (इन दोनों की हम बलवान् हैं नहीं हम बलवान् हैं उस प्रकार कम्पर्द्धम) देवता (असुरों की अपक्षा) पराजित से होगे। (अर्थात् असुरों का आक्रमण ना महन म असमथ हाते हुए देवता एकवार सवथा निराश हाते हुए उदासीन बनकर चुपचाप। (देवताओं की इस उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए) असुरों ने यह समझ लिया कि (देवता तो कुछ बोलते नहीं हैं। अब अपने साथ प्रतिस्पर्द्धा करने वाला और कौन है। ऐसी अवस्था में) यह सम्पूर्ण भुवन सम्पूर्ण भूमण्डल अपना ही है। (इसप्रकार सम्पूर्ण भूमण्डल को अपनी हासपत्ति समझकर) असुर-मण्डलने परस्पर समवेत होकर सुसंघटित बनकर यह निश्चय किया कि (चलो अब दूसरे का ता डर है नहीं) अपन (सुविधानुसार) ही इस पृथिवी का विभाग करलेगे। (अपनी अपनी सुविधा का अनुसार इस पृथिवी का विभाग करके स्व स्व दायभाग से) अपन (आनन्दपूजक) जीवन व्यतीत कर।

(इसप्रकार सम्पूर्ण पृथिवी-मण्डल का अपनी ही प्रातिस्विक (निजी) सम्पत्ति समझते हुए) इन प्रधान असुरों (बलों को बाधने की अतएव) औक्षण नाम से प्रसिद्ध चम्भमयी रज्जु (चमड की डोरी) से पश्चिम की ओर से पृथिवी का विभाग करना आरम्भ करते हुए पूज की ओर आना आरम्भ कर दिया। (अर्थात् देवताओं की यत्किञ्चित् भी अपक्षा न रखते हुए मापसाधनभूता चम्भरज्जु से अपना सुविधानुसार इन्होंने पृथिवी को पश्चिम से नापना आरम्भ कर नापते हुए पूज की ओर बढ़ने लग। (इधर देवता पूज में रहते थे) गुप्तचरों के द्वारा उन देवताओं को सुना कि (अपना उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए दुष्ट बुद्धि) असुर सम्पूर्ण पृथिवी का विभाग करते हुए (सब को अपनी ही सम्पत्ति मानते हुए) पूज की ओर चले आ रहे हैं। (अब तो देवता चिन्तित हुए तत्काल परस्पर मन्त्रणा कर) देवताओं ने निश्चय किया कि (अब चुप रहने से काम नहीं चल सकता) चलो अपन वहाँ चल जहाँ कि असुर (अपने आप को ही उस पृथिवी के अत्यन्त-असपन-भोक्ता समझते हुए) इस पृथिवी का विभाग कर रहे हैं।

अरे भला माया तो मही कि यदि सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल असुरों ने ही परस्पर बँट लिया) अपन यदि इसका विभाग न कर सक (अर्थात् अपन को भूभ्रदेश न मिला तो) बतलाओ अपन क्या रह जायगा ? अर्थात् अब सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल असुरों के अधिकार में चला जायगा तो अपन कहा रहोगे। फिर तो अपन का इन की प्रजा बन कर असुरों की दया पर ही नीपित रहना पडगा। (इसप्रकार मन्त्रणा कर देवताओं ने यज्ञ नाम से प्रसिद्ध विष्णु को आगे किया और जहाँ आपहुँचे (जहाँ कि असुर मनमानी कर रहे थे)। (वहाँ पहुँच कर अभिनिवेश में आते हुए) देवता कहने लगे कि हमारे लिए भी इस पृथिवी में विभाग रखो। (यह कवल तुम्हारी ही प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है तुम्ही प्रजापति की सन्तान नहीं हो। हम भी प्राजापत्य हैं। (ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि) इसमें हमारे लिए भी दाय-विभाग रहे।

देवताओं के इस आगमन से असुर न्य ही न्य म न्य होपड (चलउत्) ।
 उहान साचा कि अत्र क्या करना चाहिए बुर समय म नका आगमन हआ । उ तां ताक समय
 पर आवमक । यन्नि विभाग करन क अनन्तर आतं तत्र ता का चिन्ता न गी । परन्तु ता नम
 अत्रसर पर य आ ही पच च हू तो न्ह मना भा नहा फ्या चामकता कृ न फछ ता दना
 ही पडगा अत्र न्ह । यह माचने हुण त कान न तु नान म रगा का क न्रताआ न अत्रगामा
 विष्णु हैं । य तामन हू सत्र स छात्र ह । विष्णुरूप यज्ञ नन देवताओं का आ । य न । अनन्तर
 इह ता यज्ञात्मक पि गु हा सत्रम अधिक प्रय ह । अत यन्नि यत्रमात्रागतानया य थोडा मा
 भूप्रदेश इन को मिल जायगा ता य सतुष होनायग यन् निश्चय कर) अपन नाक भा
 मिकाडते हुण मुखाकृति प्रकृत करते हुण ईर्ष्याभाज प्रकट करते हण असुर नहन लग कि
 तुह्यार (अत्रगामी) ये विष्णु जितना प्रवेश अपन शयन क लि पय न समझने ह (अथान्
 तुह्यार यज्ञ चितनी दूर मे या न हामकना ह ।) उतना प्रदश हम तुह्य दन क लिए मन्त्र ह ।
 विष्णु वामन रे । (उधर असुरा का वामन का वह त्रैलोक्य-यापक स्वरूप प्रित्त न था ।
 उहान ता समझ रक्खा था कि यज्ञविष्णु तामन ह । छाटा सा स्वरूप इन का है । उहत हागा
 तो त्राश (कोस) दो त्राश में वामनयज्ञ का वतान होनायगा । उधर देवताओं का काम उन
 गया । हम ता विष्णुसम्मित भूप्रदेश तुह्य नसकत ह अधिक नहा

(असुरों के इस कर्तव्य से) देवगण न अपना कोई अनादर न समझा । उहान (पग
 प्रसन्नता प्रकट करते हुण परस्पर कहा कि) अर । अपन का ना न्होंने यज्ञसम्मित भूप्रदेश
 दिया वह ता बहुत कुछ दे दिया (यह भाज प्रकट किया) (असुर उचनवद्ध होगए य यज्ञ-
 सम्मित भूप्रदेश क लिए । अतएव अब वे कुछ नहीं बोल सकने ग । फिर क्या था तत्काल)
 देवताओं न विष्णु का प व की ओर मस्तक करक शयन करा दिया । हम आपका गायत्रकुन् से
 वेष्टित करते हैं यह कहते हुण दक्षिण भाग से विष्णु का घेर लिया । हम आपका त्रुडुम कुन्
 से सीमित करते हैं यह कहते हुण पश्चिम भाग से घेर लिया । हम आपका जागत कुन् से
 सीमित करते हैं यह कहते हुण उत्तर की ओर से विष्णु को सामि कर लिया । इसप्रकार
 (विष्णु को पू व मे प्रतिष्ठित कर दक्षिण-पश्चिम उत्तर तीनों ओर स गायत्रानि तीना छन्ता
 से) चारों ओर से घेरकर पू व दिशा मे अहवनीयाग्नि प्रतिष्ठित कर (इस अग्निसावन स
 यज्ञानुष्ठान करते हुण) इस यज्ञ क द्वारा देवताओं न (देवयजनयोग्य) सम्पूर्ण पृथिवी अपने
 अधिकार में करली । यज्ञात्मक विष्णु की कृपा से किवा विष्णुरूप यज्ञ का कृपा से देवताओं न
 [उक्त प्रकार से] सम्पूर्ण भूप्रदेश का प्राप्त कर लिया । अत व यज्ञेन-अविन्न्त इस युत्पत्ति
 के अनुसार (तभी से देवयजनयोग्या) यह सम्पूर्ण पृथिवी वेदि नाम से प्रसिद्ध हागइ ।

तभी से यह किंवदन्ती चल पडा कि— जितनी ब ी वेदि है उतना ही बडी पृथिवी
 है । इसी वेदि (भाव) से (वेदि क यान से) देवताओं न सम्पूर्ण पृथिवी-मण्डल अपने अधिकार
 में कर लिया (सम्पूर्ण शत्रु इससे निकल गए । यज्ञबल से निकाल दिए गए) सो जो यज्ञकर्त्ता यज्ञ
 मान इस रहस्य को जानता है (इस रहस्य को जानता हुआ उक्त प्रकार से बदिपरिग्रह करता

है वह अपने भोग्यरूप सम्पूर्ण भूप्रदेश को सपनों (शत्रुओं) क अधिकार मे से (अपना भाग) निकाल लेता है । स्वयं सपन इस याज्ञिक के लिए सका (भुक्तभोग्य भाग) छोड़ देते हैं । बात यह हुई कि देवताओं—यज्ञ हमारा ग्राहपत्य बनेगा यहा दक्षिणा निकुण्ड रहेगा यहा आहवनीय रहेगा यहा वेदि बनेगी इसप्रकार यज्ञयाज से सम्पूर्ण भूप्रदेश (दृश्य भूप्रदेश) अपने अधिकार मे कर लिया । इसप्रकार विभाग करके तत्काल वे अपनी (आरा या एव स्वरूप-सरत्तिका) यज्ञप्रक्रिया मे सलग्न होगे ।

१- ३-४-५-६-७

—*—

(यज्ञरूप विष्णु का ताना छाना से देवताओं परग्रह किया था । विष्णुदेवता इन छ दो से घिर कर त्रस्त होगे घबरा गए । दक्षिण उर पश्चिम का माग तो क्रमश गायत्र त्रेपटुम जागत-छ दोन अवरोद्ध कर लिया । पूव का माग अग्निने अवरोद्ध कर लिया । इसप्रकार चारों ओर छन्दों से परिग्रहीत अग्नि पूव की ओर कोई अपक्रमणमाग (भागने का माग) नहीं । इस अवस्था मे विष्णु (चारों ओर से घिरकर) लान होगे । (परिणाम यह हुआ कि ओर किसी माग से तो भागने का माग मिला नहीं) विष्णु वहीं ओषधियों के मूलों मे प्रविष्ट होकर अन्त-र्द्धान होगे । (देवताओं नेखा तो विष्णु कहीं प्रत्यक्ष मे नहीं) । उहों परस्पर एक दूसरे से प्रश्नारम्भ किया कि अरे ! विष्णु का क्या हुआ ? यज्ञ कहा चला गया ? (इधर उधर देखा पाग न लगा । अन्त मे उहों यह निश्चय किया कि भाई) तीनों ओर से छन्दों से घिरा हुआ एव पूव मे अग्नि एसी अवस्था मे उस स्थान से निकल जाने का तो कोई माग है नहीं । (अवश्य ही विष्णु यहीं इस वेदिसीमा क भीतर भीतर ही कहीं छुप गए होंगे) यहीं दूँढो । (देर क्या थी तत्काल देवताओंन कुदाली हाथ मे ली ओर) भूर्भुव को खोदते हुए विष्णु को दूँढने लगे । अन्ततोगत्वा भूप्रष्ठ से तीन अङ्गुल का गहराई मे उहान विष्णु को प्राप्त कर लिया ।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वेदसाधनभूत यज्ञात्मक विष्णु को देवताओंने भूप्रष्ठ से तीन अङ्गुल की गहराई मे प्राप्त किया था । अत यज्ञकर्त्ता यजमान की वेदि यज्ञला ही होनी चाहिए । अर्थात् जिस स्थान पर वेदि बनाना है पहिले उसकी तीन तीन अङ्गुल मिट्टी खोदकर बाहिर निकाल देनी चाहिए । क्योंकि विष्णुरूप यज्ञ भूप्रष्ठ से तीन अङ्गुल की गहराई मे ही रहता है । वहीं वेदिनिर्माण होना चाहिए इसी दक्षिण को सम्मुख रखते हुए— पाञ्चि नाम से प्रसिद्ध याज्ञिकने अपने सोमयाग का वेदि यज्ञला (यज्ञलाखाता-तीन अङ्गुल-गहरी) ही बनाई थी । ६।

हमारे याज्ञवल्क्य ब्रह्मज्ञानिक थे । वे विज्ञानदृष्टि से पदार्थों का अन्वेषण करते थे । उधर याज्ञवल्क्य के समय से पहिले क तित्तिरसम्प्रदाय (कृष्णवज्रवेद-सम्प्रदाय) के अनुयायी पाञ्चि आदि याज्ञिक केवल रूढि क ही परमभक्त थे । उनका कहना था कि देवताओंन तीन

अङ्गुल गहराइ में विष्णु का प्राप्त किया था। अतः हमका अङ्गुल गहराइ हा वन्ति बनानी चाहिए। इधर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवताओं के तान अङ्गुल का तात्पर्य तब तान अङ्गुल का नाप से नहीं है आपनु अङ्गुल शब्द आपधिमूल का ही उपलक्षण है भूपृष्ठ पर आपाधया प्ररोहित रहती हैं उनका मूलभाग में (तान में चडा से मलग्न) उपगुप्राण रहता है हासक्ता है—चड तीन अङ्गुल का गहराइ में ही हासक्ता है तीन अङ्गुल से भा अधक गहराइ में ही। अतः आपधिमूल जहातक है व फिर चाह तान अङ्गुल गहराइ में कम हा अथवा अधिक गहराइ में) जहातक भ्रमदेश को गहराइ खोदना चाहिए। अङ्गुल विधि नहीं है। आपनु सामान्य आदेशमात्र है। अन्ती भाव को लक्ष्य में रखकर अपने गुरुश्रुत याज्ञवल्क्य का मत प्रदर्शित करते हुए उन के प्रयाशब्द—शतपथब्राह्मण का लिपि लिख करन वाल मधुपया कहते हैं—

एसा नहीं करना ग हा। अथान् तीन अङ्गुल की गहराइ में हा वन्ति में से स दुराग्रह में नहीं पडना चाहिए। कारण पलायित विष्णुतत्त्व आपाधियों के मूला में प्राण हुआ था न कि तीन अङ्गुल की गहराइ में। इसलिए अध्याय को चाहिए कि यह आग्नीत्र ऋत्विक् का (वदि अनुष्मणकाल में) अधियों के मूलों का उखाडने के लिए प्रथम कर। यही ता विष्णुप्राप्त में यह स्थान 'वन्ति नाम से प्रसिद्ध हुआ था। तात्पर्य यही है कि वन्ति सम्पत्ति प्राप्त करना है अथवा अङ्गुलखाता का ही दुराग्रह है? या वेदिसम्पत्ति अपेक्षित है तब ता अधियों के मूल हा उखाडना चाहिए। क्योंकि निम्न स्थान पर विष्णु है यही—एनेन-इमा सर्वा समविन्त तस्माद् वन्तिनाम इस व्युत्पत्ति के अनुसार वन्तिसम्पत्ति है। और जहा अधिमूल है वही वेन्तिस्वरूपसम्पत्तिक विष्णु है ॥११॥

प्रसङ्गागत वदिवनन सम्बन्ध में वैज्ञानिक निश्चय कर पुनः प्रकृत कथा का अनुसरण करती हुई श्रुति कहती है कि इसप्रकार (खननक द्वारा अन्तर्हित विष्णु को पुनः) प्राप्त कर देवताओं के दूसरे परिग्रह से (पुनः) विष्णु को घर लिया। (अर्थात् खनन से पहिले गाय-यादि छद्मों से इसे सुरक्षित किया था। परन्तु उस समय यह विष्णु भीतर प्रविष्ट होगया था। आन जब वह मिल गया तो देवता पुनः प्रकारान्तर से उसे सुरक्षित करते हैं। हे भूमि! आप शोभना है क्षोभरहिता अतएव शान्त हैं यह भावना करते हुए देवताओं के दक्षिण भाग से विष्णु के द्वारा इसी वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे सुद्धमा (शाभना) एव शिवा (शान्ता) बना दिया। अनन्तर—हे भूमि! आप स्थाना (सुखप्रदा) हैं सुखना (सुखपूर्वक बैठने का साधन) हैं यह भावना करते हुए देवताओं के पश्चिम की ओर से विष्णु का वेष्टन कर लिया। देवताओं ने विष्णु के द्वारा इसी वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे स्योना एव सुषणा बना दिया। अनन्तर हे भूमि! आप ऊजस्वती (बलप्रदा अन्नवती) हैं आप पयस्वती (रसवती) हैं यह भावना करते हुए देवताओं के उत्तर की ओर से विष्णु को सीमित कर दिया। विष्णु के द्वारा देवताओं के इस वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे ऊजस्वती एव पयस्वती बना दिया। इसप्रकार यह देवताओं के द्वारा उपजीवनीया (जीवनसाधनयोग्या) बना दी गई।

इसप्रकार वेदिखनन से पूर्व तीन परिग्रह वेदिखननान्तर उपयुक्त तीन परिग्रह इस-प्रकार देवताओं द्वारा कर्तव्य परिग्रह होजाते हैं। षट्परिग्रहों की समष्टि ही षड्भूतु की समष्टि है। षड्भूतुममाष्ट्र ही सम्बत्सर है। सम्बत्सर ही विष्णुरूप यज्ञप्रजापति है। इधर ६ परिग्रहों का साप्त क्रमशः ६ ही मन्त्रव्याहृतियाँ हैं। सम्भूय १ सप्त्या हाजाती है। सम्बत्सर के १२ मास हैं। सम्बत्सर विष्णुरूप यज्ञप्रजापति है। यह है प्राकृतक यज्ञविष्णु की मात्रा परिमाण-मिति सीमा। यह यज्ञ नितना बड़ा है नितनी इसकी मात्रा है प्रोक्त देयक्रमानुसार षड्याहृति-पूर्वक ६ परिग्रह करता हुआ अध्वर्यु उसी यज्ञविभूति का परिग्रह कर लेता है।

११-१२-१३॥

जबतक पद्धतिक्रम अवगत नहीं कर लिया जाता तबतक उपयुक्त आरयान का समन्वय नहीं होसकता। अतः पहिले पद्धतिक्रम को आपके सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है। भूपृष्ठ का जिस प्रदेश पर वृत्ति बनाई जाना वाली है उस प्रदेश पर सवप्रथम अध्वर्यु पूर्वब्राह्मण के कथनानुसार स्फ्यक प्रहार से असुर-निरसन-आपाररूप स्तम्बयजुहरण कम्म करता है। निर्विघ्न स्थान देवविभूति से युक्त रहता है एव न। देवविभूति का साम्राज्य रहता है वही दिव्यकम्म सफल एव सुफल होता है। हमारा यह भूप्रदेश (जिस में हम देवताओं का यजनरूप दिव्य यज्ञकम्म करने वाले हैं) सवथा निर्विघ्न बनता हुआ दिव्यविभूति से युक्त हाजाय एकमात्र इस प्रयोजन के लिए जो कम्म किया जाता है वही स्तम्बयजुहरण नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व का ब्राह्मण एकमात्र इसी कम्म की साङ्गोपाङ्ग इतिकन्तव्यता का निरूपण करता है। स्तम्बयजुहरण कम्म से यह भूप्रदेश सवथा निर्विघ्न सम्पन्न बन गया है। अब यज्ञारम्भ करने में एव इसकी पूर्ति में किसी प्रकार की आशङ्का नहीं है। यज्ञका मूलप्रतिष्ठा वेत्ति है। अतः सवप्रथम अध्वर्यु उस वेदि का ही निर्माण करता है। वेदि का स्वरूप कैसा होता है? इस प्रश्न का समाधान तो आगे जाकर स्वयं ब्राह्मण श्रुति ही करन वाली है। अभी कवल आख्यान से सम्बन्ध रखनेवाली पद्धति की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

सवप्रथम वेत्ति निर्माणाथ पूर्वपरिग्रह की इच्छा रखने वाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक् दक्षिण की ओर बठ हुए ब्रह्मा से आज्ञा लेता हुआ कहता है—

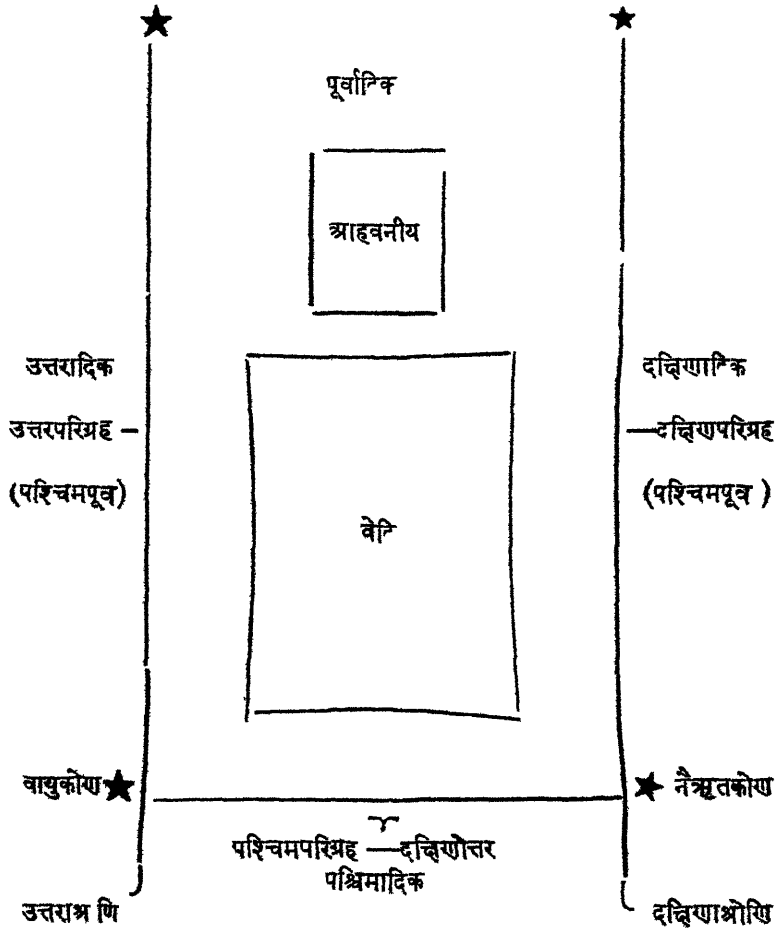
ब्रह्मन् ! पूर्व परिग्रह परिग्रहीष्यामि ।

हे ब्रह्मन् ! मैं पूर्वपरिग्रह का परिग्रह करना चाहता हूँ, इसके लिए मुझे आज्ञा दीजिए ! उत्तर में आज्ञा देते हुए ब्रह्मा कहते हैं—

“ओम्-बृहस्पते ! परिग्रहाण वेदिम् , सुगावो देवा सदनानि मन्तु । अश्वर्यो बर्हि प्रथताम् । साध्वन्तरहिस्ता पृथवी देवी देयस्तु । देवता वद्वर्य त्वम् । नाकस्य षष्ठे यजमानोऽस्तु । सप्तर्षीणा सुकृता यत्र लोकस्तत्रम यज्ञ च धेहि”

—कात्या २।२।१२।

इस मंत्र का उपाशु (तूष्णीं) नप करक आश्म-परिग्रहाण यह मन्त्रभाग उच स्वर म बालता ह्या अध्वर्यु का परिग्रहाथ आज्ञा दते है। मप्रकार ब्रह्मा से अनुज्ञात अ ययु — पूव परिग्रह परिग्रहणाति ऋत्विग्न पश्चात् उत्तमश्च स्फ्यत गायत्रेण ति प्रतिमत्रम् (का आ सू अ । ६ क । १-सृ) इयाति श्रात सिगन्तानुसार वेत्ति के लिए निश्चित प्रश्न के ऋत्विग्न पश्चिम उत्तरभाग म क्रमश निम्न लावत तीन मन्त्र बालता ह्या ऋत्विग्न हस्तस्थ स्फ्य से परिग्रह करता ह। तावय यही है कि निम्न स्थान पर वेत्ति बनाई जाने वाली है उस स्थान का वेत्ति रूप से कल्पना म लाकर इस काल्पनिक वेत्ति क ऋत्विग्नभाग में नैऋत काण स आरम्भ कर आहवनीय पर्यन्त पश्चिमपूव एक रेखा खैचना चाहिए। इसा प्रकार ऋत्विग्न श्राणि से आरम्भ कर उत्तर श्रोणिपर्यन्त दक्षिणोत्तर एक रेखा खैचनी चाहि। यह पश्चिम परिग्रह होगा। म उत्तरश्राणि क वायव्यकाण से आरम्भ कर आहवनाय क उत्तरपाश्च प यन्त पश्चिमपूव रेखा खचनी चाहिए। यहा उत्तर परिग्रह हागा।



इन तीनों परिग्रहों के लिए क्रमशः निम्न लिखित तीन मन्त्र बोले जाते हैं—

१—‘ओम्-गायत्रण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि’ । (दक्षिणपरिग्रह)

२—‘ओम्-त्रेण भेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि’ । (पश्चिमपरिग्रह)

३—‘ओम्-जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि’ । (उत्तरपरिग्रह]

पूर्वपरिग्रहस्त्रय (पश्चिमपरिग्रह इति यात्)

ये तीना परिग्रहस्थान शाखान्तर म ऋत ऋतस्मन् ऋतश्री इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। इनके ये नाम क्यों हैं? इस प्रश्न का समाधान आगे के वैज्ञानिक-प्रकरण में किया जाने वाला है (देखिए आप श्र १३।७)। इस पूर्वपरिग्रह का तापय्य यह है कि दक्षिण-पश्चिम उत्तर इन तीनों दिशाओं के आवार पर एक रेखा ऐसी बना लेनी चाहिए जिससे वेदि की इयत्ता का बोध होजाय। वेदिस्थान-परिमाण के अनुमान के लिए तीनों ओर खची जाने वाली रेखा ही पूर्वपरिग्रह नाम से व्यवहृत होती है।

इस पूर्वपरिग्रहकर्म के अनन्तर अध्वर्यु कल्पनिक वेदि (जहाँ वेदि बनने वाली है वह स्थान भी तास्थ्यात्तच्छब्दम् इस याय से वेदि नाम से व्यवहृत किया जासकता है) ऊपर पश्चिम से आरम्भ कर पूर्वदिक् पर्यन्त (आह्वनीयकुण्ड-पर्यन्त) उत्तरसंस्थ तृष्णीं (बिना मन्त्र बोले चुपचाप) स्फ्य स तीन सीधी रेखा करता है। रेखाकरणतर वेद्या त्रिरुद्धिष्याऽऽह हर * त्रिरिति (का श्रौ-सू - १६।१६।) के अनुसार आग्नीध्र को हर त्रि यह प्रैष करता है। (इन तीनों रेखाओं की धूलि उठा लेजाओ प्रपका यही तात्पर्य है। आग्नीध्र प्रैषानुसार (आज्ञानुसार) हृत्वाऽग्नीहोत्रा समृशति (का श्रौ-सू २।६।२।) के अनुसार उन वेदिस्थ लेखाओं-से उखड़ी हुई धूल को तीन बार करक उठाता है। उठा कर इन्हें तो उत्कर में डाल देता है एवं उन रेखाओं पर नल डालकर उन्हें सम बना देता है। स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ में लेखा हरण एवं सम्मशनकर्म का प्रधान नहीं है। ये दोनों ही कर्म प्रधानरूप से पिण्डपितृयज्ञ म एवं चयनयज्ञ में विहित देखे जाते हैं। लिखति परति यत् हाय्य भवति (शत ब्रा

* वरुणप्रघासेष्टि में दो वदियाँ बनाई जाती हैं। वहाँ भी देविसम्बन्ध में प्रकृतिवृद्धिकृति कर्त्तव्या इस नियम के अनुसार स परण कर्म यो का यो करना पड़ता है। इधर मन्त्र में त्रि शब्द उपात्त है। ऐसी अवस्था में द्विवदियुक्ता षष्टि में हर त्रिस्त्रि यही ऊह करना चाहिए। त्रि शब्द के स्थान में हर षट् ऐसा ऊह नहीं करना चाहिए।

। १२। इयादि रूप स पितृयन म लिखित्वाऽऽहं त्रिरति नृत्याग्नात् (शत ब्रा ७।२। १।) इयादि रूप स अग्निचयन म हा लखाहरण एत तन समानकम्म देव जान ह । इसा पक्षा नर का निगन्शन कराते हण मूत्रकार कहते ह—

‘पितृयज्ञाग्निचत्ययोवा—तत्र दशनात्’

—क श्रो सू २। १। त।

‘स सूत्र का भाष्य करे हुए ककावाच्य कहते ह कि यत्रपि लखाहरण आर समान-कम्म प्रकृत ब्राह्मणश्रुति म नर्हा वतलाग गए। तथापि पितृयन आर चयन प्रकृतियज्ञ ह । इधर दशपूर्णामम प्रकृतयन ह । एत प्रकृतिवद् चिह्नि कत्तव्या यह सबसम्मत मितान है । एसी स्थिति म यन्नि प्रकृतिरूप पितृयज्ञ एत चयन म लखाहरण आर समानन का विधान प्राप्त हाता है ता अवश्य हा इस प्रकृतियज्ञ म भा इन दाना कम्मा का ऊह करना चाहिए । यहां कारण है कि भारतय म दशपूर्णामम यज्ञ की ततनी भा पत्तातया पल्लव हाता स सब मे पितृयज्ञ-चयनयज्ञवत् लखाहरण-सम्मानन का भी पद्दात म म सन्निवश पल्लव हाता है ।

लखाहरण-सम्मानन क अनन्तर— अत्र उन्निक्का यथात्तम् (का श्रो सू २। क अनुसार आनीध्र नाम का ऋत्विक् अग्नि हाथ म लेकर प्रत्याहणक्रम से (निस क्रम से परिग्रह किया था उमी क्रम स) परिग्रह क भातर का सम्पूर्ण प्रवेश आपधियों के मूल पयन्त खाद डालता है । यह काय्य अध्वर्यु क प्रेप से आनीध्र करता है । एसी प्रेषभाव को लक्ष्य मे रखकर श्रुतिने आपधाना मूत्रान्यु क्तत्रै (उच्छ्रुत) तयात् यह कहा है । अनन्तर अध्वर्यु उत्तरपरिग्रह (खननोत्तरभावी परिग्रह) का उच्छ्रा से—

‘ब्रह्मन् ! उत्तरपरिग्रह परिगहीष्यामि इसप्रकार ब्रह्मा से आज्ञा मागता है । ब्रह्मा-आम् ब्रह्मस्पते इयादि पूर्वोक्त मन्त्र उपाशु बोलते हुए—‘आ३म् परिगृहाण यह ऊचे स्वर से बोलते हैं । प्रेषानन्तर अनुज्ञात अध्वर्यु दहिन् हाथ म स्पय लेकर (निस क्रम से जिन स्थानों मे तीन पूर्वपरिग्रह किए थ उसा क्रम से—उहीं परिग्रह-स्थानों म उत्तर परिग्रह परिगृहति ‘सुत्तमा ‘स्योना नस्वती ति प्रतिमत्र पूर्ववत् (का श्रो सू ३।) के अनुसार निम्नलिखित तीन मत्र बोलता हुआ क्रमश-दक्षिण एव पाश्चिमोत्तर पार्श्वी म तीन रखाग बनाता है ।

१-‘ओम् सुत्तमा चासि शिवा चास । (दक्षिणपारग्रह प्रथम)

२-‘ओम् स्योना चासि शिवा चासि’ (पश्चिमपरिग्रहो द्वितीय)

३-‘ओम् उर्जस्वती चासि, पयस्वती च’ (उत्तरपरिग्रहस्तृतीय)

उत्तर परिग्रहानन्तर—पुरा क्र रस्य त्यनुमार्ष्टि (का श्रो सू २।६।२४।) क अनुसार—

आम् पुरा क्ररस्य विसृपो विरिशानुदादाय पृथिगा जीवदानुम् * ।
यामैरगाश्चद्रमसि स्पधाभस्तासु धीरासो अनुद्दिश्य यज ते ।

यह मंत्र बोलता हुआ अग्र्यु दक्षिण हस्तस्थ स्फ्य से खनन एवं परिग्रह से उखड़ी हुई मिट्टी को बाहर फक कर विषम भद्रदेश का दक्षिण की ओर से आरम्भ कर पूर पयन्त सम बनाता है । विषम धरातल का सम बनाना ही प्रतिमान्ति कर्म है तदनंतर—

अध्वयि वेत्ति प्राज्ञाणी प्ररयति (का श्रौ सू २।६।५) के अनुसार आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् प्रोक्षणी पात्री का (जिस पात्री में प्राज्ञाणी नाम का पानी भरा रहता है वही पात्री प्रोक्षणीपात्रो नाम से अग्रहृत होती है) लेकर वेदि के ऊपर समीप में रख देता है । जिस समय आग्नीध्र प्रोक्षणी हाथ में उठाता है उसी समय स्फ्यरूप वज्र का उच्चा उठाते हुए अध्वर्यु आग्नीध्र को निम्नलिखित आज्ञा देता है—

‘अ योऽथ स्फ्यमुद्यम्याह ओ३म्—(१) प्रोक्षणीरासादय ! (२) इध्म बर्हिरुपसा दय ! (३) सच सम्मृद्धि ! (४) पत्ना सनह्य ! (५) आयेनोदाह ! इति यदी छेत्’
(का श्रौ सू २।६।) ।

उपयुक्त जिन कार्यों के लिए आग्नीध्र के प्रात अध्वर्यु प्रैष करता है वे सब काम आग्नीध्र को पहिले से ही विदित है । अतः प्रकृत प्रैष में कामचार समझना चाहिए इसी अभिप्राय से सूत्रकारने सर्वान्त में यदि-इच्छेत् यह कहा है ।

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि— प्राक्स्तरणाद्धि नावमृशेत् शृतानि च हविष्याप्रचरणात् (का श्रौ २।६।३।३१) के अनुसार तबतक इस वेदि पर कुशास्तरण न कर दिया जाय तबतक भूलकर भी इस वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए । साथ ही प्रथम नयाग के अवदान से पहिले पक्क हविष् व्य (पुराडाश) का भी स्पर्श नहीं करना चाहिए । यदि कुशास्तरण से पहिले वेदि में अग्र्य तणादि गिर जायें तब भी उनको पाहले न उठावे । अपितु— आपन्न स्तृणन् निररयेत् (का श्रौ सू २।६।३३) के अनुसार आस्तरण तब ही उनको बाहर फके । आस्तरण से पहिले किसी प्रकार का स्पर्श न कर यही तापय्य है । आग्नीध्र के प्रति उपयुक्त प्रैष करने के अनंतर अध्वर्यु— द्विषतो वध इति स्फ्यमुदञ्च प्रहरति (का श्रौ सू २।६।३४) के अनुसार— ओम् द्विषतो वज्र यह मंत्र बोलता हुआ अध्वर्यु स्फ्य के अग्रभाग को उत्तर की ओर करता हुआ उत्कर पर प्रहार करता हुआ उसे वही फक देता है । अनन्तर— अध्वर्यु पाणी अपरेण प्रणीता स्फ्यं निन्धाति (का श्रौ २।६।३५) के अनुसार दोनों हाथ धो डालता है । प्रणीतापात्र से पश्चिमभाग में पूव अथवा उत्तर की ओर स्फ्य (प्रक्षिप्त स्फ्य को लाकर) रख देता है ।

*— जीरदानुम् इतिपाठान्तरम् ।

प्रकृत ब्राह्मण म पृथपरिग्रह से आरम्भ कर स्म्य-आयान पश्यन्त हाने तान कम्म का हा इतिक यता ततलाइ गइ ह । तस क अनन्तर खु कसम्मानन कम्म हाता है । तस की इतिकत यता— स वे खुच सम्मार्धि इत्यान् रूप स आग ५ ततायध्याय क प्रथम ब्राह्मण म वतलाइ जायगा । अत इस पद्धतक्रम का ब्राह्मणक्रमानुसार यहीं समाप्त कर प्रकृत ब्राह्मण के विषय की आर आप का यान आकषित किया जाता ह ।

[गायत्रण त्वा इयानि याहृतिया बोलता हआ अध्वय्यु क्यो पूव-उत्तर भन् से ६ परिग्रह करना है त्वा यन् ला अथवा आपत्रिमूल पश्यन्त वन्निखनन किया जाता ह । यानि प्रश्ना का समाधान देताआ का सम्यसरयज्ञ ह । देताओंन ऐसा ही किया या म्ब उहो का प्रिया क अनुमार मनुष्ययज्ञविधा का प्रितान हुआ ह । अत — यद् त्वा अकुवस्तत्-करवाणि तस सिद्धात क अनुमार हम भा तसा ही करना पडता ह । ब्राह्मण क आरम्भ से १६ कण्डका प यन्त तयज्ञस्वरूप-प्रतिपादन-पूजक तस यन् म हान ताल— तान पूवपरि-ग्रह अनन्तर २-त्रिखनन म्ब अनन्तर ३-तीन उत्तरपरिग्रह न तान कम्मो ि हा इतिकत यता का प्रतिपा न किया गया ह । अत्र वेदि क स्वरूप (आकारमानवश) क सम्बध म विचार करते हैं] ।

कितन ही (प्राचान) याज्ञिका का कहना ह त्क त्तु ल गाहप यकुए एव चतुष्काण आहवनीयकण्ड तानों के मध्य म प्रतिष्ठित वेद का लम्बाइ यजमान का लम्बाइतुल्या है । ऐसी (म य से यजमानमात्री) यह वेदि पश्चिमभाग की ओर से (श्रोणिभाग की आर से) चौडाइ मे याममात्री (४ अरनि नो हाथ चाडी) होनी चाहिए एत एत का आर स (अस-भाग की ओर से) वेदि यरनि (डेढ हाथ चाडा) हानी चाहिए । क्योंकि वेदिरूप शरीर क अनुरूप पश्चिम-पूव की यही मात्रा हाती है । साथ ही यह यज्ञ त्रिवृत् है । प्राची को यरनि करने से त्रिवृद्यज्ञसम्पत्ति भी गहात होजाती है । [तित्तिरि सम्प्रदायवालों क] इस मत की उपेक्षा करते हुए परभवज्ञानिक याज्ञव क्य कहते है कि यहाँ मात्रा का (परिमाण-लम्बाइ-चौडाई का) कोई विचार नहीं है । यजमान अपने अतरात्मा से वेदि का जैसा तो जितना आकार ठीक समझ उसी परिमाण से वेदि की लम्बाइ चौडाइ करनी जाय । पद्धतिक्रम से भी यहा बात सिद्ध होती है । पूव पारग्रह एव उत्तर-परिग्रह में परिमाण अरनि रत्ति मापकों से परिमित होता तो अग्रश्य ही परिग्रहा क सम्बध में भी श्रुति परिणाम-विषय का आगे रखती हुई ही परिग्रहकम्म का विधान करती । ऐसी अवस्था मे वेदि की लम्बा चडाई के सम्बध में प्राचीन याज्ञिकों का नियत- यस्था का काइ विशय महत्त्व नहीं है ॥१४॥

वेदि के अस (स्कधभाग) पूवस्थ आहवनीयाग्नि क उत्तर त्त्रिण पाश्व की ओर उन्नत करता है । अर्थात् वेदि क दोनों अस चतुष्कोण आहवनाय क त्नों प्रान्तभागों से मिले रहने चाहिए । स्वत दोनों अस उन्नत होजायगे । वेदि (योषा) स्त्री हैं (आहवनीय) अग्नि वृषा पुरुष है । योषा वृषा का परिग्रह करके ही (मिथुनभावाथ) शयन करती है । वेदिरूप

योपा क असा को वृषारूप अग्नि - अनगत करता हुआ अ अग्यु दाना को मिथुनभारयुक्त करता हुआ प्रचननक्रिया क क ता ॥१५॥

वह वन्नि पश्चिम की आर ने (श्राणिभाग का ओर से) फली हुई होनी चाहिए ए म य म सकुचित हाना चाहिए । फिर पूज का आर स [र शानाय असक नीचे क प्रदेश की आर स] उभरी हु हानी चाह । यापा (स्त्री) को ही भावों से उत्तम बतलाया जाता है । श्राणिभाग त्रिपुल श्राण का अपत्ता कम अत्रकाश वाले [कषे] उभरा हुआ वक्षस्थल म य म हस्त स ग्रहान हान या न पसी स्त्री ही लोफ मे सुदर-स्त्रा कहलाती है । रसा स वृषापुरष प्रसन्न हाता है । यहा [उसो जुष्भाज की प्राप्ति क लि] वेदि को एत-दाकाराकारित करता हुआ अ अग्यु वानरुपा योपा को आहवनीयानिरूप वृषा मक देवताओं के लिए प्रिय-भाग्य बनाता है ॥१६॥

यह वेदि प्राकप्रवणा [पू की आर ढाल] होना चाहिए । क्योंकि पूर्वादिक देवताओं की ाक है । [याद पूज का ओर प्रवणा बनान की सुविधा न हा तो) उन्कप्रणा [उतर की आर ढाल] होनी चाहि । उत्तरात्कि मनुष्या को दिक् है । प्राकप्रवणा हो अथवा उन्कप्रणा उभयथा अ अ यु वेदि क दक्षिणभाग म हामिनी ढाल कर णिभाग का उत्तर पूज की अपत्ता उन्नत बनाता है । दक्षिणात्कि मिनरा का णिक है । यन्नि किना प्रकार णिप्रवणा (दक्षिण की आर ढाल) होगई तो शिशास करा प्रगावधि मे यज्ञकर्ता यजमान का महान् अनिष्ट होजायगा । (यदि दक्षिण मे पुराष ढालकर उम भाग को उन्नत कर दिया जाता है ता वेदि का दक्षिण-प्रवणता-रूप लोष मिट जाता है) ऐसा अत्रमा म पुरी ढालकर वेदि का उन्नत बनाया जाता है । पशुकाम यजमान क लिए अ अग्यु पुराषवती वेदि बनाता है । पशु ही पुरीष है । पुरीषवती बनाना पशुमती ही बनाना ह ॥१॥

वेदि बनकर सम्पन्न हागई । अब प्रातमा जनकम्म आरम्भ होता है—

पूजप्रदर्शित पद्धतिक्रमानुसार अश्वय्यु वेदिमाजन करता है । (प्रतिमार्जनकर्म क्यो किया जाता है) इम निवासा कौ वैज्ञानिक उपपत्ति के द्वारा शान करती हुई श्रुति कहती है—) पुरान युग मे (किसा समय) देवतागण (असुरों के साथ) युद्ध करने का ण्ड निश्चय करते हुए (परस्पर) विचार करने लग कि रस प्रथिवी का जो अमृतमय द्रवज्ञापयुक्त भाग है (असुरों क आक्रमण से बचाने क लिए) उसे चद्रमा म रख । (यन्नि दुर्भाग्य से) असुरगण इस भूप्रदेश से अपन को पराजित कर लग तो (अपन चद्रमा मे निहित उस अनामृत देवयजन भूप्रदेश पर) यज्ञवितान करते हुए पुन (इस यज्ञ के बल से) उह परास्त करने मे समथ हो-सकगे । (यह निश्चय कर) इस प्रथिवी का जो अनामृत-देवयजन भाग था उसे देवताओंन (घरोहररूप से) चद्रमा म रख दिया । (देवताओंन प्रथिवी का जो देवयजनभाग चद्रमा मे रक्खा था) वह यही चन्द्रमा मे (प्रत्यक्षरूप से दिखाई देने वाला) कृष्णभाग है । तभी तो वैज्ञानिकों की मण्डली म किवदन्ती चल पडी कि चद्रमा मे जो काला काला भाग प्रतीत हाता

है वह इस पृथिवी का ही देवयजन भाग है। ना अत्र युक्तं मा जन्तित्ति प्रयागं म
 देवयजनभाग का जानता हुआ- पुरा क्रूरस्य त्र्यात्मन् प्रलता ५ आ प्र नमानन करता है
 अत्र युक्तं कथयमानं ना वह यत्तु देवयजनसम्पत्तिं समुक्तं जानता है च मा जन्तित्ति म
 देवयजनभाग का प्राणिन ३ लक्षण है प्र नमानन करता है ॥ - ।

प्रातःमानन क्या किया जाता है? इसका उपनिषद् प्रलतागत् अत्र स्मृतां जन्त-
 र्ना यता (पद्भ्यां) प्रलतात् है। यह अत्र युक्तं- पुरा क्रूरस्य त्र्यात्मन् प्रलता ५ आ प्र नमानन करता है। सप्राम ही ऋ (ऋक्स्म सं युक्त) है। यह पुरुष मारा
 गया यह घोडा मारा गया सत्ता के लिए वह रणभूमि मारा गया त्र्यात्मन् प्रलता ५ आ प्र नमानन
 हा महाक्रूर (हिमाभाजमय) र म कि जाने है। (द्वयतात्रान) म क्रूरस्मा सप्राम सपान्त
 (प्रथित्री क देवयजनभाग का चन्मा म) रखा था तमी आभप्राय स पुरा क्रूरस्म चिस्वप
 यह कहा है। उपाय प्रथिवा जावानुम् २ स मन्त्रभाग का यहा १ ग्य २ क) म
 प्रथिवा का जो नीचनप्रत (अनामृत-देवयजन) भाग मा उस लेकर (द्वयतात्रान) चन्मा म
 रखा मा। इमा अभिप्राय स उपाय प्रथिवा जावानुम् यत् क्रूर है। यामरगश्चन्मसि
 स्वधाभि (इस मन्त्रभाग का यही ताप यत् क्रि) स्वधारूप जन्म पार्थिवभाग का (अनामृत
 देवयजनभाग को) द्वयतात्रान मन्त्रप्रल स चन्मा म रखा मा उमा ना लक्ष्य म रप्तर याम
 रय इयादि कहा है। तामु प्रागसा अनुद्दिश्य यजत (स्वमा क द्वारा ना भाग चन्मा म
 रखा गया था) उसी का लक्ष्य बना कर (उमा का प्राप्ति करन क लिए) यत् करत है। मच-
 मुच यजमान के इस देवयजनरूप भूभाग म यह अनामृतभाग जहात जानता है नाक उपयुक्त
 विज्ञान जानता हुआ प्रतिमानन करता है ॥१६॥

प्रतिष्ठाजनकम् अन्तर अध्वर्यु आग्नीध्र क प्रति प्राक्षणी रक्खा । यह प्रैष करता
 है। स्फ्य साक्षात् वज्र है। उधर ब्राह्मण (अध्वर्यु) भी साक्षात् वज्र है। त्नीं दोना वज्रोंन
 अबतक यज्ञ की रक्षा की है। उधर पानी भा वज्र है। इस (प्राक्षणापानी को रक्खा हुआ
 आग्नीध्र) वज्र को ही रक्षा के लिए यहा प्रतिष्ठित करता है। अर्थात् अबतक प्रधानरूप से रक्षा
 क साधन स्फ्य और अध्वर्यु रूप वज्र २। अब आगे जो असुरा का आक्रमण हागा उसे रोकना
 इस प्राक्षणीरूप वज्र का कार्य होगा। आग्नीध्र क ऊपर उपर (हाथा म हीं) प्राक्षणी को लिए
 हुए काल मे हीं अध्वर्यु स्फ्य ऊँचा उठाता है। जब (ऊँचा करने २ पश्चान् अध्वर्यु क द्वारा)
 स्फ्य रख दिया जाता है तब आग्नीध्र प्राक्षणी रक्खा है। यदि दोना का एक साथ रक्खा जायगा
 तो दोनों वज्र टकरा जायगे। विस्फोटन हाजायगा। एसा करने से (प्रथक् प्रथक् रूप से रखन से)
 दोनों मे किसी प्रकार का घषण नहीं होता। इसलिए आग्नीध्र के उपर उपर ही प्राक्षणी धारण
 किए हुए अध्वर्यु स्फ्य उठा कर ॥२॥

प्राक्षणीरासादय त्वा बर्हिरूपसादय लच सम्मृडिन् पन्ता साक्षाहा यनादेहि यह
 वाक् बोलता है। यह अध्वर्यु क्त क सम्प्रप (आज्ञा) ही है। अ वर्यु आवश्यकता समझे ता

इस सम्प्रैष का प्रयोग करै। वह चाह तो उस प्राक्प्रयोग की उपज्ञा भी कर सकता है। कारण (जिस आग्नीध्र क प्रति यह सम्प्रैष हाता है) यह स्वयं यह भलीप्रकार जानता है कि इसका अनन्तर मुझे क्या कर्म करना है ॥ १ ॥

सम्प्रैषानन्तर (अभिचारकामना यदि हो तो) अमुष्ये त्वा वज्र प्रहरामि यह बोलता हुआ अध्वर्यु उत्तर का आर मुख करके स्पर्श का फल देता है। स्पर्श साक्षात् वज्र है। इस वज्र से यह शत्रु का अङ्ग विच्छेद कर देता है ॥ २१ ॥

स्पर्श क प्र रणानन्तर अध्वर्यु अपने दोनों हाथ धो नालता है। वेदि के खननादि से जो क्रूर कर्म हुआ है उस क्रूरता का स्पर्श क साथ साथ वेदि से बाहर फल दिया है। क्रूरता निकल गई है। शांति आ गई है। उसी शान्तिभाव की समृद्धि क लिए दोनों हाथ धोता है ॥ २३ ॥

पद्धतिक्रम में बतलाया गया है कि आ-बहिस्तरण वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए। यदि स्पर्श कर लिया जायगा तो क्या होनायगा? इसी प्रश्न का ऐतिहासिक-आख्यान क द्वारा उत्तर देती हुई श्रुति कहती है—

पुराने समय में याज्ञिकगण जब भी यज्ञ करते थे बहिस्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श कर प्रणामावाप से पहिले श्रुतहवि का स्पर्श करके यज्ञ करते थे। अर्थात् उह स्पर्शदोष का कुछ भी भय न था। परिणाम यह होता था कि अभ्युदयसाधनभूत यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले वे याज्ञिक उत्तरोत्तर अवनति को प्राप्त होते जाते थे। उधर जो यज्ञ नहीं करते थे उनकी दशा इन यज्ञ करने वालों से कहीं उन्नत थी। परिणाम इसका यह हुआ कि तत्कालीन मानवसमाज में अश्रद्धाभाव उदित होगया। उहान सोचा कि जो यज्ञ करते हैं वे हीनदशा को प्राप्त होते हैं एवं जो यज्ञ नहीं करते हैं वे अनन्त में रहते हैं। (इस अश्रद्धाभाव से आत्रा त हाकर मनुष्यान यज्ञ करना बन्द कर दिया)। परिणाम इसका यह हुआ कि इस भूलोक की ओर से द्युलोक निवासी देवताओं के समीप हविर् य नहीं पहुँचा। उधर देवता यहीं से देने से जीवित रहते हैं ॥ २५ ॥

अपना नीचनसाधन अवरुद्ध देखकर देवताअन आङ्गिरा क पुत्र अतएव आगिरस नाम से प्रसिद्ध बृहस्पति को बुलाकर कहा कि भूलोकनिवासी मनुष्यों में अश्रद्धा प्रविष्ट होगई है। जाइए। और जाकर उह यज्ञ की महत्ता समझाइए। मन्त्रणानुसार आङ्गिरस बृहस्पति मृत्युलोक में आए। आकर उहोंने उन अश्रद्धालु मनुष्यों से प्रश्न किया कि तुम यज्ञ क्यों नहीं करते? तत्काल मनुष्योंन उत्तर लिया कि हम किस प्रयोजन क लिए यज्ञ करै? जबकि हम यह देखते हैं कि जो यज्ञ करते हैं वे दुःख पाते रहते हैं और जो यज्ञ नहीं करते वे बड़ आनन्द से रहते हैं। (कसी अग्रस्थान में यज्ञ करके दुःख कौन माल ले) ॥ २५ ॥

(मनुष्यों क इस अश्रद्धाभाष को हटाते हुए) आङ्गिरस बृहस्पति कहने लगे कि भई। हमने यह सुन रखा है कि यह यज्ञ देवता से परिगृहीत होता है। अर्थात् यज्ञविद्या देवप्राण—

मयी है। तुमने परिपक्व हवि और निष्पन्ना बन्नि से स्पश करते हुए यज्ञवितान किया। इसी त्पे से तुम्हारा यह अनिष्ट हुआ। इसलिए हम तुम को भविष्य क लिए सागवान कर देते हैं। एक बिना स्पश किए ही तुम को यज्ञ करना चाहिए। ऐसा करने से अशय तुम्हारा अभ्युदय होगा। कबतक स्पश न करै ? मनुष्या के यह प्रश्न करने पर बृहस्पतने उत्तर दिया। एक बर्हि-स्तरण जबतक न होजाय तबतक बर्हि से वेदि शात होजाती है। यदि बर्हिस्तरण स पहिले वेदि पर नृण आदि और कुछ आ भी जाय तब भी तुम स्तरण स पहिल उसे निकालने की चष मत करो। जिस समय बर्हिस्तरण करने लगो उसी समय आगतुक तृणाद को निकालो। जब बर्हिस्तरण होजाय तो स्पश की क्या कथा। उस समय तुम उस पर उछल कूद भी सकतेहो। इसप्रकार प्राणयज्ञ के इस तथाकथित स्वरूप को जानता हुआ जा त्रिद्वान स्पश न करता हुआ यजन करता है वह अवश्य ही अ युदय का भागी होता है। इसलिए आबर्हिषस्तरणात् स्पश न करत हुए ही यजन करना चाहिए ॥ २६ ॥

इति मकारण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम् द्वितीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम् समाप्तश्चाय द्वितीयोऽध्याय ?

देवासुरदायविभागारयानरहस्य

(भाष्य)—वेदिपरिग्रहकरणामक-पद्धति-प्रकरण उपरत हुआ। अब क्रमप्राप्त तद्विज्ञान के सम्बन्ध में ही किञ्चिदिव निवदनीय शेष रह जाता है जिस से पूव वैदिक इतिहास मर्यादा के अनुबन्ध से दो श दानवदन कर देना सलिए अनिवाच्यरूपेण आवश्यक होजाता है कि अपौरुषेय-पौरुषेय-निबन्धन सघष की भाति यह ऐतिहासिक-सघष भी विगत अनेक शतादियों से एतद् शीघ विद्वानो के लिए महती प्रतिद्विद्धता का ही क्षेत्र प्रमाणित होरहा है। हमारा अनुमान है कि न्यूनतम त्रिसहस्र वर्षों से वदशास्त्र की ज्ञान-विज्ञानामिका रहस्य-पूर्ण परिभाषाए उत्तरोत्तर अभिभूत ही होती आरही है। पारिभाषिकी इस अभिभूत का ही यह दुष्परिाम है कि अपौरुषेय पौरुषेय तथा ऐतिहासिक त यों के सवथा निर्भ्रांत बने रहने पर भी विद्वान् इस दृष्टिविदु के मायम से अपनी सुप्रसिद्ध-शास्त्राथ प्रणाली के अनुगामी बने रहते हुए इस दिशा में एकात निरथक प्रचण्ड आक्रोश का ही अनुगमन करते रहते हैं।

सृष्टि का मूलभूत निय वदतत्त्व जहा अपौरुषेय ही हैं वहा-तथाविध वदतत्व का स्वरूप-प्रतिपादक वाक्यकृतिरूप शादामक वेदशास्त्र ऋषिकृत बनता हुआ पौरुषेय ही है जिस इस तथ्य का हमने पूव के-

कृष्ण मृगाचम्मिस्तरणम् म के प्रसङ्ग म अशत स्पष्टीकरण कर गया है। ही स्थिति इतिहास की है। रहस्यपूर्ण विज्ञान का शुद्ध ज्ञान का भाषा म स्तुति की भाषा म एव इतिहास की भाषा में तानो ही प्रकार स पारुषेय व शास्त्र म परुष-पशुषण म्त्रा हे। अतएव मूलवेदशास्त्र विज्ञान-स्तुति-तिहास न त्रिकाण्डा म विभक्त हो रहा है जो एक काण्डत्रयी ज्ञातया कहला है। त वमीमासन का ही इस ज्ञान त्रिकाण्डत्रयी म प्रधान सम्बन्ध है जिसके मूल म ही कर्त्तव्या काण्डत्रयी के मूलसूत्र पिन्द्र-सुगुप्त-सुराज्ञत ह

तत्त्वमीमासा मक विज्ञानप्रधान (दशनप्रधान नहीं) मूलवेदशास्त्र ही वह ज्ञातय वेदशास्त्र है जिसके आधार पर ही तूलवेदशास्त्रा मक कर्त्तव्यवेदशास्त्र प्रतिष्ठित है जिसके भी मूलवत् तीन ही तूलकाण्ड ह एव जो कि तानो तूलकाण्ड क्रमशः—कम्म-उपासना-ज्ञान इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अनुठय कम्मकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणव ही-विधिवेत् नाम स उपासनाकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणवेद ही आरण्यक्रेत् नाम स एव ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणवेद ही-उपनिषद्द नाम से प्रसिद्ध है। इन तीनों आचारनिष्ठात्रा कर्त्तव्यकम्मनिष्ठात्रा का प्रतिपादक विधि-आरण्यक उपनिषत्-भेद से त्रधा विभक्त ब्राह्मण नामक त्रिकाण्डा मक तूलवेदशास्त्र ही कर्त्तव्यवेद है जो विज्ञान स्तुति ज्ञातहासात्मक तथोक्त—ज्ञातयवेद के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। और यो मन्त्र (मूलवेद-शास्त्र-ज्ञातयवेदशास्त्र सहितावेद) तथा ब्राह्मण (तूलवेदशास्त्र-कर्त्तव्यवेदशास्त्र ब्राह्मणवेद) भेद से त्रधा विभक्त म त्रब्राह्मणामक मूलतूलामक ज्ञातय कर्त्तव्यामक वेदशास्त्र के विज्ञान -स्तुति -इतिहास -कम्म -उपासना -ज्ञान ये ६ ओ सुप्रसिद्ध विषय सर्वा मना निर्णीत अतएव सुनिश्चित हैं। अतएव वेद पारुषेय है अथवा अपारुषेय ? किंवा वेदों में इतिहास है अथवा नहीं ? इ यादि निता न भाउकता-पूर्ण वागविगापनो का तो इस निष्ठात-निश्चित वेदशास्त्र में प्रवेश भी निगिद्ध ही माना जायगा। सत्र वेत्प्रसिद्धयति वेदशास्त्र के प्रति यहा के मानवधर्म-यवस्थापको का (रानधि मनु का) प्रचण्ड यह वसा उदघोष है जिसके सम्मुख आपातरमणीय किसी भी तथाविध वागविगलापन के लिए कुछ भी तो तय शेष नहीं र जाता। आज हमे सुप्रसिद्ध-देवासुरदायविभागारयान के मायम स एक एतहासक-तय का ही अत्र दिग्दर्शन कराना है। अतएव इतिहास शब्द के मायम स ही सबप्रथम दो शब्द अवश्य ही निवर्तनीय बन जाते हैं। तदव श्रूयताम्। श्र वा चा य तथाय्यताम् !!

सबप्रथम आपका यान तस तय की ओर ही विशेषरूप से आकर्षित किया जाता है कि वैदिक इतिहास लिखने की शली ऐसी अत्युत्त है कि उस त्पकर रहस्यानभिन्न साधारण मनुय भ्रम में पड जाता है। कुछ शब्द तो न इति असो म ऐमे आत ह। जिनसे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि अवश्य ही तस इतिहास का मनुष्यचरित्र से संबंध है। कुछ शब्द ऐसे आते ह जिनसे यह प्रतीत होता है कि अवश्य ही यह इतिहास आधि वक (प्राकृतक निय) तवो का ही इतिहास की भाषा में निरूपण कर रहा है। साथ ही कितने ही शब्द आया मक चरित्र की भी प्रधानता बतलाते ह। यही कारण है कि आजकल के कितने ही वेदप्रेमी वेद के प्रयेक आरण्यान को केवल आध्यात्मिकभाव की ओर ही समर्पित करने की चेष्टा करते रहते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक इतिहास आङ्कारभाषा में केवल आध्यात्मिक चरित्र का ही निरूपण कर रहा है।

मन्थर कितने ही विद्वान् केवल आधिदैविक-चारत्र को ही प्रधानता दत्त है। रही मनु यचारत्र की बात। सा सके सब धर्म पाश्चमी विद्वानों को एव तदनुयायी पारगाणत प्रणय पद्वानों को छुटकार मभी भारतीय पद्वानों का यह निश्चय है कि वैदिक आर्यानों में मनु यचारत्र का यत्नाकञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। सप्रकार मन् आर्यानों के सम्बन्ध में व पनारासक वत्मागानुगामी पद्वान् भिन्न भिन्न दृष्टिसे आर्यानोंपार्यानों का सम वय करने में सल न है। इदमिथमेव मन् आनश्चयामक मन्ता त पर प्राय आञ किसी की दृष्टि नहीं है। इह्वी विप्रतिपात्तयो से सवथा ऋजु भा वेदाथ आन हमारे लए असमाधेया प्रश्नापत्ती ही बन रहा है।

मन् विप्रतिपात्तियों को दूर करने के लिए हमने पूव के प्रोक्षणब्राह्मण में आर्यानों को आठ भागों में विभक्त कर मन्के म व व मे व का एक आनश्चित सिद्धांत व प्रमियों के सम्मुख रख दिया है। वहा वतनाया गा है कि न आठ आर्यानों में एक विधा ऐसी भी है जिसमें आधिदैविक आ आधिक आधिभक्तिक मन् तीनों प्रकार के चरित्रों का समावश रहता है। हमारे प्रकृत आर्यानों का इमी विधा से सम्बन्ध है। यह कल कल्पना नहीं है। अपितु श्रुति ने स्थान स्थान पर इति नु अया मम्—अथाधिपतम् इत्यादि रूप से स्वयं कृतपय वैदिक आर्यानों के साथ उपयुक्त तीनों चरित्रों का सम्बन्ध बतलाया है। मन् आहरणाय चयनयज्ञ के इष्टकाचितप्रकरण को ही लीलिए। स व सरयज्ञामक चयनयज्ञ म मृगमयी ऋकाओं (इटो) की चिति (चिनाव) हाती है। उनकी सरय नियत होती है। इम सम्बन्ध में इतनी ही इट क्यो ली जाती है? मन्से अधिक अथवा कम होने में क्या भिन्न है? मन् प्रश्न का समाधान करने के लिए सम्प्रसरायै प्रनापतिरेकशतप्रिध इत्यादि रूप से उपपत्ति-प्रकरण आरम्भ होता है। इस प्रकरण में पहिले प्राकृतिक आधिदैविकचरित्र का निरूपण किया गया है। प्राकृतिक निय आधिदैविक सम्बन्ध सरमूर्ति चयनयज्ञ म् आहारात्ररूपा जितनी ऋकाए होती है उनका निरूपण करते हुए सर्वांत में मन् आधिदैविक विज्ञान का उपसंहार करते हुए स-हैव एतत्-अद्वातमामान्नाति एष या एकशत विप्रत्त-य म् न स य सर विभर्त्ति। तस्मान्नेन सम्बन्ध सरभृतमेव चित्रीत इयधिपतम् यह कहा है।

मन्सी सम्बन्ध सरयज्ञ के आधार पर हमारे वध-चयनयज्ञ (मनुष्यकृत चयनयज्ञ) का वितान होता है। मन्सी रहस्य को लक्ष्य में रखकर आगे जाकर श्रुतिने—अथाधियज्ञम् कहते हुए—आधियज्ञ का स्वरूप बतलाया है। सर्वांत में पञ्चमाश्रुतिर्विधा अङ्गुलयो द्वे ककुपी म्याि रूप से आयात्मिक चयन का स्वरूप बतलाते हुए अथाया मम् यह कहा है। (देखिए शत ब्रा १ का २ अ ब्रा)। ऐसी अवस्था में वैदिक-आर्यानों के सम्बन्ध में अपनी कल्पना को प्रधानता दत्त हुए किसी एक ही दृष्टिकोण को प्रधान मान बठना मन्था अविचारितरमणीय ही है। स पूण पारभाषाओं का पूण अनुसंधान रमत हुए पूर्वापर की सङ्गति का पूणरूप से समग्र्य करत हुए श्रुतिमोक्त शब्दों की मन्मिक्ता लक्ष्य में रखते हुए प्रत्येक आर्यानों का अग्रत सावधानी से ही समवय करना चाहिए। जिस आर्यानों में उक्त तीनों चरित्रों का समावश रहता है भाषाविज्ञान की दृष्टि से उस आर्यानों की भाषाशाली अग्रत ही दुरूह बन जाती है। इसमें श्रुति वा कोई दोष नहीं है। श्रुति को एक ही आर्यानों से अध्याम अधिभूत अधिदैवत तीनों चरित्रों का निरूपण करना पडता है। अतः उसे वाय होकर कुछ शब्द आयात्मिक रहस्य के उपोद्बलक बोलने पडत हैं कुछ शब्द अधिदैवत सम्बन्धी प्रयुक्त करने पडत हैं एव कुछ शब्द अधिभूतभाव के द्योतक

रखने पडत है। आरयानशैली के इस गुहानहित रहस्य को न जानने वाले सामान्य जन इस विरुद्धभाषा से भ्रम में पड जात है। इस भ्रम के अनकरण के लिए वे किसी एक भाव को प्रधानता देते हुए स पूर्ण आरयान का उसी रूप से समवय करने की चष्टा करने लग पडत है

यही कारण है कि आज पुराण के आरयानो पर अज्ञ जनो के द्वारा यथ की टीकाटिपणी की जा रही है। पुराण के चरित्र उनकी शक्ति में निरी कपनामात्र है। त्रात यह है कि वेद विज्ञानप्रधान शास्त्र है उधर पुराण इतिहासप्रधान शास्त्र है। है दोनो में दोनो विषय। केवल प्रधानता अप्रधानता में तारतय है। पुराण मनुष्यचरित्र को प्रधान मानता हुआ गौरुरूप से विज्ञान का निरूपण करता है। पुराण के प्रत्येक आरयान में विज्ञानतय अतर्निहत रहता है मनु यचरित्र विकसित रहता है। दूसरे शर्दों में—पुराण मनु यचरित्र के याज से (बहाने से) मनुष्यचरित्ररूप स ही विज्ञान का निरूपण करता है।

उदाहरण के लिए अगस्त्य का ही आरयान लीजिए। पुराण कन्ता है— अगस्त्य ऋषि अमुक आश्रम में रहते थे। उन्होंने समुद्र का शोषण कर लिया। सम्पूर्ण समुद्र सूख गया। प्राथना करने पर उन्होंने उरस्थ पानी को पुन निकाल दिया। तभी से समुद्र का पानी चार (खारा) होगया।

बात क्या है? अगस्त्यप्राण पानी का शोषक है। पिउ वत्त के दक्षिणभाग में दक्षिणध्रुव के समीप अगस्त्य नाम का नक्षत्र है। इस नक्षत्र में भी अप शोषक अगस्त्यप्राण प्रचुरमात्रा में विद्यमान है। इस प्राण के सम्बन्ध से ही यह भौतिक नक्षत्रपिण्ड अगस्त्य नाम से यवहृत हुआ है। जिस समय (वर्षाऋतु के अतमें) अगस्त्य का उदय होता है समुद्र की अतुन जलराशि वा परूप में परिणत होकर आकाश में वायुधरातल में यात होजाती है। यही अगस्त्य के द्वारा समुद्र का शोषण है। अनतर वर्षाकाल में अगस्त्य के द्वारा परियक्त वह पानी पाथय चार भाग स सथुक्त होकर चारभाज में परिणत होजाता है। यह है अगस्त्य के द्वारा समुद्र का शोषण। अप शोषक अगस्त्यप्राण के उपयुक्त स्वरूप को सवप्रथम जिस मानवमहर्षि ने पहिचाना तत्कालीन-परिभाषा के अनुसार वह एउ उसके वराज अगस्त्य नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इसी रहस्य को लक्ष्य बनाता हुआ पुराण मानव-अगस्त्य ऋषि के याज से अगस्त्यप्राणविज्ञान ही हमारे स मुप पता है।

निदर्शनमात्र है। * पुराण के प्राय सभी आरयान मनुष्यचरित्र को मध्यस्थ बनाकर ही विज्ञानतयों का निरूपण करते हैं। कहना न होगा कि आरयस यता के सवस्वभूत पुराणो का मर्म न समझने वाले वदरहस्यानाभज्ञ यक्तिविशेषों के द्वारा ही पुराण कवल कपोल कपना है—पुराण को देखना महा पाप है—इसप्रकार के आक्षेप करने का अक्षम्य अपराध हुआ है। इधर जो कुछ मम्म बचा था उसका सवनाश विद्याशून्य अज्ञ कथावाचकों की कृपा से होगया है। ये केवल भाषाटीका के आधार पर आज श्रीमद्भागवतादि पुराणो की कथा कहने का दुस्साहस कर बैठते हैं। श्रीमद्भागवत में यौतिषचक्र (खगोल) भुवनकोष (भूगोल) का जसा अद्भुत निरूपण हुआ है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि

* उन सब विषयो का विषद विवचन पुराणग्रहस्य नाम के ग्रथ में देखना चाहिए।

भूगोल खगोल विद्या का ऐसा विस्पष्ट निरूपण और किसी पुराण में नहीं हुआ। हा सीसे मिलता जुलता प्रकरण विष्णुपुराण में भी सुवचरित्र के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है।

कथा के यास से यासगही को कलाङ्कित करने वाले आज के ये कथावाचक क्या इन रहस्यों से आशिक रूप से भी परिचित है ? क्या वे पार्श्वाय विद्वानों के खगोलीय भूगोलीय साहित्य के सम्मुख भारतीय दृष्टि से उन विद्याओं के स्वरूप-विश्लेषण की क्षमता रखते हैं ? क्या वे पुराणोक्त आर्यानों के रहस्याथ का प्रतिपादन करने की योग्यता रखते हैं ? नहीं तो फिर पुराणस्पश का भी उन्हें अधिकार नहीं। विज्ञानमूलक सनातन आष धम्म पर आज जो जनता की अश्रद्धा होती जा रही है इसमें अधिकांश में इही महानुभावों को प्रमुख कारण माना जायगा। भगवान् ने रासविहार किया मन्वन् लूट कर खाया इत्यादि वागवज्रमृशों का ही नाम क्या पुराणशास्त्र है ? स्मरण रखिए। पुराण भी एक शास्त्र है। शास्त्र भी साधारण नहीं उचकोटि का पारभाषिक शास्त्र है। जो विद्वान् वैदिक-साहित्य पर अपना भूषण अधिकार नहीं रखता उसे पुराण के अर्थ करने का भी अधिकार नहीं है। धम्मस्तभ को अचल रखने के लिए पुराणकथा से बढ़कर हमारी दृष्टि में कोई दूसरा उत्तम साधन नहीं है। क्योंकि वैदिक साहित्य विज्ञान प्रधान होने से साधारण जनता के लिए दुर्लभ है। इधर पुराण ने उही वैदिक तत्वों को आख्यानरूप से बड़ी ही प्रसादभाषा में हमारे समुख रखवा है। आबालवृद्धवनिता सब पौराणिक कथाओं से आकर्षितमना होकर तद्वारा धम्म का रहस्य मरलता से समझ सकते हैं। स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धुओं (विद्याशून्य नाममात्र के यथाजात ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) की ज्ञानेन्द्रिया गहनतम वैदिक तत्वों को ग्रहण करने में असमर्थ है। इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए परमकारुणिक भगवान् यास ने आर्यान-उपाख्यान-गाथा-कल्पशुद्धि डामर जामल तत्र संहिता यौतिष्कक्र भुवनकोष मन्वन्तर वश वशानुचरित आदि १८ विषयों का सङ्गन कर चारों वेदसंहिताओं के साथ पाच पुराणसंहिता का सम्पादन किया है जैसा कि नि नलिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

**आर्यानैश्चाप्युपार्यानैर्गाथाभि कल्पशुद्धिभि ।
पुराणसंहिता चक्र भगवान् बादरायण ॥**

आज स्थान स्थान पर कथाएँ होती हैं। भागवत के सहस्रो पारायण होते हैं। कथा के नाम पर निधन भारत का धन जलप्रवाहवत् प्रवाहित हो रहा है। अज्ञ कथावाचकों पर भोली जनता सम्पत्ति की दृष्टि कर रही है परन्तु सब यर्थ। इतना सब कुछ होने पर भी क्यों धम्म स आषप्रजा की श्रद्धा उत्तरोत्तर पराडमुखा होती जा रही है ? क्यों पुराणशास्त्र एवं तत्प्रयोता वैशम्पायन सूत आद महाभाग पर नवशिक्षितों के द्वारा एवं वदाभिमानीयों के द्वारा आज गाली प्रहार हो रहा है ? दसके गे आप इन प्रश्नों का उत्तर ? यह सब उही त वानभिज्ञ कथावाचकों की कृपा का फल है।

यह तो हुआ प्रासङ्गिक पुराणमत-पर्यालोचन। अब चलिए वैदिक आख्यानों की ओर वैदिक आर्यान नैज्ञानिक-चरित्रों को प्रधानता देता हुआ मनुष्यचरित्र का भी आनुषङ्गिकरूपेण दिग्दर्शन कराते रहते हैं। प्रत्येक वैदिक आख्यान में आधिदैविक विज्ञान की प्रधानता प्रतीत होती है। परन्तु कुछ शब्द ऐसे प्रयुक्त कर दिए जाते हैं जिनसे आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक चरित्र भी गन्नाथ होजाते हैं।

उदाहरणार्थ प्रकृत आरयान को ही लीनए आह्वणश्चम्भभि - क प्रय तत स्याम यदस्यै न भवेमहि
त अगुलेऽपि वन् इयाद वाक्य आधिभौतिक चरित्र की आर ही हमारा यान आकर्षित कर रहे हैं ।
चमड की रस्सी का प्रज्ञानभाव के साथ । सम्बन्ध नहीं है । इसका उपयोग मानवमप्रदाय में ही होता
है । साथ ही यदि अपन को भाग न मिलेगा तो फिर अपन रुहा रहूँगे यह भाव भी मनुष्यचरित्र
का ही द्योतक माना जा गा । देवताओं न खादते खोलते तीन अगुल की गहराई में विष्णु को
पा लया यह वाक्य भी आधिभौतिक चरित्र का ही समर्थक है ।

इसी प्रकार— गामनो ह विष्णुरार यज्ञसस्मितमदु इयादि शब्द आध्यात्मिकचरित्र
के उपोद्बलक है । मय वामनमासीन सर्वे देवा उपासन् आ मा त्रै यज्ञ यादि श्रौत वचन
विष्णु को हृदय में ही प्रतिष्ठित मानते हैं । आ मा को यज्ञ मानते हैं । इसप्रकार गोरूप से आधि
भातिक एव आ ध्यात्मिक—चरित्र अवश्य ही गताथ माना जासकता है । तीसरा है आधिदैविक चरित्र । वह
तो इस प्रकार का मुख्य ही अनुरूपणीय विषय है । इन तीनों में से सर्वप्रथम आधिभौतिक रहस्य की आर
विज्ञ पाटको का यान आकर्षित किया जा रहा है ।

आर गामानुगत आधिभातिक—रहस्य (एतिहासिक—रहस्य) -

जिस वायुविभाग का स्वरूप एतिहासिक दृष्टि से आज हम आपके सम्मुख रखना चाहते हैं
उमका प्रधान सम्बन्ध भौमत्रिलोकी से है । जिसप्रकार प्रकृति में निया त्रलोक्य व्यवस्था है उन नय
लोकों में इसप्रकार अग्नि वायु आदि नय प्राण देवता प्रतिष्ठित हैं तत्तल्लोको में प्रतिष्ठित तत्तत् प्राण—
देवता जिसप्रकार आधिदैविकयज्ञ का सञ्चालन कर रहे हैं ठीक सी प्रकृति की रचना की प्रतिकृति
(नकल) पर इस भूपिण्ड पर भी त्रलोक्य—व्यवस्था थी । तब क्रमशः अग्नि वायु इन्द्र नामके मनुष्य
देवताओं का आधिपत्य था । ये मनुष्यदेवता प्रकृतिक अनुसार अग्नि में सोमवल्ली के सोमरूप रस की
आहुति देकर योतिष्मत्मादयन किया करते थे । जबतक न भामदेवताओं के हाथमें यज्ञावद्या रही तब
तक यज्ञबल से ये भाम—आसुरात्रिलोकी में रहने वाले असुरों के आक्रमण को को यथ प्रमाणित
करते रहे ।

परन्तु चामा की कृपा से कहिए अथवा तो दिव्यभूतिके दुभाय से का ए जिस दिन दुष्टबुद्धि
असुरों के द्वारा यज्ञसाधक सोमवृक्ष (सोमवल्ली) नष्ट कर दिया गया साथ ही विज्ञान—परीक्षाओं का साधन
भूत सूर्यसदन नामक प्रज्ञानभवन नष्ट कर दिया गया उसी दिन से मनुष्यदेवताओं की सत्ता भूपिण्ड
से उठ गयी । महाभारतकाल में यत्त भौमत्रिलोकी—व्यवस्था यथाकचित् रूपेण रही । स्वर्गाधिपति इन्द्र
महाभारतकाल में अन्तिम इन्द्र थे । इनके साथ अश्विन का घनिष्ठ मन्त्रीसम्बन्ध था । इन्द्र के अभिन्न मित्र
तत्तत्क सुप्रसिद्ध त्वाण्डववन में रहते थे । जिस समय भगवान् कृष्ण के अनुसंधान में अश्विनने त्वाण्डववन
जलाया था उस समय इन्द्रने ही तत्तत्क की रक्षा की थी । इसी इन्द्रने प्रातःस्मरणीय दानी कण का जन्मजात
कवच दान में लेकर अपन मित्र अश्विन की सहायता की थी । युधिष्ठिर सदेह जिस स्वर्ग में गए थे वह यही
भौमस्वर्ग था । उक्त कुछ एक निदर्शनो से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि महाभारतकाल—
पथ्य त देव—व्यवस्था रही । सके अनन्तर इसका एकप्रकार से सवथा उद्भेद ही होगया । जिसप्रकार

मनुष्यत्वताओं में इन्द्रादि देवता प्रमुख माने जाते थे तथैव अपनी आसुर-त्राणाका म रहने वाले तत्कालीन असुरों में मय वृत्र नमुचि बल तार तूर त्रिभू माली किलात आकुली आ। अमरजातया प्रमुख मानी जाती थी। इन असुरों की प्रधान जातिया ३६ थी। इनमें एकमात्र मयजाति का छ्वाङ्कर शेष सब जातया म। उद्दण्ड थी। देवताओं का अपमान करना उन के राजा को नष्ट भ्रष्ट करने के लिए स। उद्यत हना प्रजापति के द्वारा जो भूप्रदश देवताओं को मिला था उस भी अपहृत कर लेने के प्रयास में त लीन रहना ये सब इन दुष्टों की स्वाभाविक वृत्तया थी। हा मयजाति अशय ी उस समय स य मानी जाता थी। शिप एव यातिष में ता उस समय सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल में उस जात की समता करनेवाली कोई दूसरी जाति न थी।

आप को ये सुनकर भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए एक वत्तमान में यातिषत्रिया म जा कुछ प्रसार मास्तवष म दखा सना जाता है वह उसी जात की कृपा का फल है। यौतपशास्त्र के सुप्रसिद्ध त्वद्वान् वराह मिहिरने मयासुर से ही यातिषशास्त्र का अ यत्रन किया म। आग जाकर याति यौतिष में एसी उन्नति पर पहुच ग थी कि सुनकर आश्चर्य स च कन हाजाना पडता ह। आसुरत्रिलोका के इजितप्रा त में रहने वाली मयजाति ने एक समय त्वावष प्रकार की ओषधियों का सङ्ग ह कर उसे एक गहरे अधकूप में डाला म। यह वैज्ञान-जात मती थी कि ओषधियों का तन्मार्ग चन्द्रमा के सामरस से ही होता है। चाद्रसोम ही वष्टिरूप में परिणत कर ओषध त का उपादान बन म ह। मी आधार पर उसने निश्चय किया कि ओषधिया में वी चाद्रसोम तन्मान है। उपाय शेष से या उम का सङ्गान कर दिया जाय तो अवश्य ही एक नयीन च द्रमा उत्पन्न होसकता है। तदनु म क प्रकार स रूप में ओषधियों को प्रवृत्त कर वैज्ञानिक प्रयागा क द्वारा सोम का सङ्कलन आर म किया। गड समय म ही रूप स च द्रमा बड बेग से ऊपर का ओर उ का त होकर वायुधरातल में इनस्तत पारभ्रमण करने लगा। यह भी किंवदंती है कि उस च द्रमा का प्रकाश १२ योजन पथ्यत याप्त होगया था। अ त म प्रति ठा की यूनता स वह च द्रमा क्षीण हागया

आप को यह सुन कर और भी आश्चर्य होगा एक मयजाति के उस आवि कार के थोड समय के अनंतर ही स पूण इजित प्रा त अग्निविस्फोटन स सदा के लिए भूगम में ही प्रविष्ट होगया। ऐमा कयो हया म का उत्तर अशरसत्ता को सर्गेरि मानने वाले भारतीयों की दृष्ट में तो यी है एक जबतक उनका विज्ञान ईश्वरीय-सृष्टि के अनुकूल र। तबतक उन का को अनिष्ट न हुआ। परन्तु जब उन्होंने ईश्वरीय-सृष्टि के साथ स्पर्द्धा करना आर म कर दिया नवीन सू य चद्रमा नाने का उपक्रम कर दिया तो प्रकृति ने उह इस असत्-साहस के लिए उच्चत दण्ड दना आवश्यक समझा। ऐसी अव था मे विज्ञान का निगाद करने वालों को यह यान रगना चाहिए कि जबतक उन का विज्ञान प्रकृति क अनुकूल है तभीतक वह विज्ञान लोकाभ्युत्थ का कारण बना रह सकता है। निस दिन मन्मत्त बज्ञानिक ईश्वरीय सृष्टि की प्रतिस्पर्द्धा मे खड होजायगे उस दिन ईश्वर ऐसा न करै वहा विज्ञान लोकनाश का ही कारण बन जायगा जिस का कि उपक्रम अभी से होने लगा है।

बतलाना यही था कि वर्तमान ज्योतिष आसुरशास्त्र है। बब-बालय तैतिल-विधि वणिज आदि शब्द संस्कृत-साहित में उपलब्ध नहीं होते। ये सब यूनानभाषा के (आसुरभाषा के) शब्द हैं। इसी प्रकार अ-ब-क-ह-ड-म-ट-प-र-त आदि बीस वर्णों की वर्णमात्रिका भी यहाँ की नहीं है। आज जिसे होडाचक्र (प्रस्तु अत्रकहडचक्र) पर भारतीय ज्योतिषी गण करते हैं वह मयजाति की ही बपौती है। और तो ओ स्वयं ज-म-कुण्डलिया म भी आज यही आसुरभाषा उपलब्ध होता है। लग्नस्थान से जब भाग्य का विचार किया जाता है तो विपरीतगति का ही आश्रय लिया जाता है। सीधे भाग से स्थानों का विचार न कर उठे पाश्वर से दशाओं का विचार होता है। यह आसुरपद्धति ही है। इसी आसुर भाषा से वर्तमान भारतीय ज्योतिष भूमे पिण्ड शशाङ्ककविरत्रिकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा या रूपसे सूर्य का चल और पृथिवी को स्थिर मानते हुए ग्रहकक्षा का स्थान भूपिण्ड-चन्द्रमा-बुध-शुक्र-सूर्य बृहस्पति-शनि-नक्षत्रकक्षा इस रूपसे मानता है। सुप्रसिद्ध वारगणना का सम्बन्ध भी आसुरभाषा से ही है। वैदिककाल के संपूर्ण व्यवहार नक्षत्र तिथि मास सम्बन्ध अथवा इन्हीं के आधार पर चलते हैं। समस्त वैदिक-वाङ्मय का पर्यालोचन कर जाइए कहीं भी आप को शनि-रवि आदि वारों का उल्लेख नहीं मिलेगा। आज समस्त भूमण्डल पर सभी जातियों की व्यवहारभूमि शनि-रवि आदि वार ही बने हुए हैं। इससे भी मयजाति की ज्योतिषविद्या के महत्त्व का ही परिचय मिलता है। और लीजिए-वेदाङ्ग-ज्योतिष में गणित का विशेष महत्त्व नहीं है। वहाँ सम्पूर्ण व्यवहार प्रधानरूप से सिद्धांतों के आधार पर ही चलते हैं। यद्यपि चयनादि यज्ञों में इष्टकाचितिसंघान के सम्बन्ध में कहीं कहीं गणित उपलब्ध होता है। परन्तु यह क्वाचित्क ही है। आज तो बिना गणित के ज्योतिषी एक पाद भी आगे नहीं बढ़ा सकते। इसी प्रकार ग्रहसंस्था का क्रम भी वेदाङ्ग ज्योतिष के अनुसार सूर्य-बुध-पृथिवी-चन्द्रमा-शुक्र-मंगल-देवसेना-बृहस्पति-शनि नक्षत्रकक्षा यही है।

यद्यपि-वैदिक सिद्धांत के अनुसार जो गति भूपिण्ड की है वही सूर्य की भी है। सूर्य भी स्वात्-परिभ्रमण करता हुआ परमेष्ठी नामक महान् ग्रहके चारों ओर परिक्रमा लगाता है। परन्तु जिस प्रकार नाकप्रष्ठ (वर्तमान ज्योतिषपरिभाषा के अनुसार कन्धवृत्त) के चारों ओर २४ अशके यासाद से वृत्त बनाकर अब २५ हजारवर्ष में एक परिक्रमा लगाता हुआ भी अ-पायु-मनुष्यों की दृष्टि में स्थिर प्रतीत होता हुआ ध्रुव (अचल) नाम का अधिकारी बन जाता है। एवमेव वैदिक-परिभाषा के अनुसार २६ व अहगण पर प्राताष्ठत पारमष्ठत त्रिष्णु के चारों ओर अनन्तकाल में अपनी एक परिक्रमा लगाने वाला सूर्य भी स्थिर प्रतीत हो रहा है। सूर्य की इसी दृश्यमण्डललक्षणा स्थिरता को लक्ष्य में रखकर ही निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

“सूर्या बहती मधुपूढभतपति” ।

बहद्ग तस्था भुवनेषु त ।

“नैवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव स्थाता” ।

नवास्तननमर्कस्य नोदय सर्वदा सत ।

उदयास्तमनञ्चैव दर्शनादर्शन रवे ॥

इधर पृथिवी के परिभ्रमण में तो सदे है ही नहीं है जैसा कि—

१—सोम पूषा च चेतुर्निशासा सुक्षितीनाम् ।

दग्त्रा रथ्योर्हिता ॥

२—क्तरा पूर्वा कतरा परायो कथा जाते कवय को विवेद ।

विश्व त्मना विभ्रतो यद् नाम विवर्त्ते अनी चक्रिये ॥

३—यज्ञ इद्रमवद्ध यत् यद् भूमि यत्तयत् ।

चक्राण ओपश दिवि ॥

इत्यादि उक्त मन्त्रवचनो से पष्ट है। इधर उक्तमान यौतिष पूर्वकथननुसार भचक्र को पिचाली मानता है एव भूपिण्ड को स्थिर मानता है। यह भाव भी आसुरभाव का ही द्योतक है। भचक्र को चल मानिए अथवा ता भूपण्ड को चल मानिए उभयथा गणित म अन्तर नहीं आता। गणित का उभयथा ठीक ठीक समवय होजाता है। परन्तु विज्ञानदृष्टि पृथिवी को कभी स्थिर नहीं दख सकती। मयजाति वैज्ञानिक अवश्य थी परन्तु असर थी। असुर सूय के विरोधी थे यह बात पूव के आर्यानों में अनेक बार बतलाइ जा चुकी है। इधर अ य प्रथित्री इस श्रौत भिद्वात के अनुसार भूपिण्ड आ य आसुर प्राणमय है। वैज्ञानिक होते हुए भी मयजात में य आसुरभाव अभियक्त था। उसने दखा कि गरिणत एव फलित में तो कोई अतर आता नहीं। फिर क्यो देवप्रतिष्ठाभूत सूय का स्थिर ए असुरप्राण प्रतिष्ठा-रूप भूपिण्ड को चल माना जाय। इसी अभिनिवश में पडकर उन्होंने भूपण्ड को स्थिर माना सूय को चल माना।

वस्तुतः वैदिक विज्ञान के अनुसार परमाथदृष्टि से तो उपयुक्त कथनानुसार सूर्य्य पृथिवी दोनो ही चल है एव रोदसीत्रैलोक्य की अपेक्षा स सूर्य्य सर्वथा स्थिर है एव पृथिवी सूर्य्य को केद्र मान कर चारों ओर क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगाती है। बहुत हुआ इस अप्राकृतिक विषय के निरूपण में हम पाठको का अधिक समय नहीं लेना चाहते। इसे प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना था कि अयान्य असुरजातियो की अपेक्षा मयजाति विद्वान् थी। शिल्पकला की तो यह जाति भाग्यविधात्री ही थी। इही दिव्य विभूतियो के प्रभाव से इस जाति का भारतवर्ष के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। वराहमिहिर नाम के ब्राह्मण को भी इसने विद्या सिखलाने में आपत्ति न की। इस जाति का असुरों के साथ ससग भी कम ही रहता था। यही कारण था कि कुछ मयलोग यूनान छोडकर भारतवर्ष में (खाण्डववन में) आकर बस गए थे। जिस समय अजु नने खाण्डववन जलाया था उस समय भगवान् कृष्ण के आदेश से यह मयवश अग्निकाण्ड से बचा लिया गया था। इसी उपकार के बदले इस कृतज्ञ जातिने पाण्डवो के लिए ऐसा अदभुत सभाभवन बनाया था जिसे देखकर एक बार तो भौमस्वग में रहने वाले देवता नारद आदि ऋषि भी चकित होगए थे। यह भी पाठकों को सुविदित है ही कि यही सभाभवन आगे जाकर महाभारतसङ्गम का जमदाता बनता हुआ कुरुवश के नाश का ही निमित्त प्रमाणित हुआ।

तथोक्तं पुच्छ एक प्रासङ्गिक निदर्शनो से पाठका को य मान लेना पडेगा कि किसी समय इसी प्रथिनी पर मनुष्यप्रिय देवता एव मनु प्रिय असुरा की सत्ता थी। असुरजाति का विकृतरूप तो आज भी प्रियमान है पर तु गाम वता सवथा कराल काग के गाल में समा गए ह। य देवता कहा रहते थे ? देवत्रिलाकी कानसी थी आमुत्रिल की कहा था ? य प्रिभाग कसन कए थे ? इस त्रलो-क्यप्रिभाग का आग्रश्यकता रच थी असुर किस लिए देवताओ पर आक्रमण किया करते थे ? अतत देवताति रुन द्जन हाई ? त कालीन भागालक एर 1 वसी थी ? इन सब प्रश्नों का उत्तर पूव के पात्रप्रनप 1-प्रक गा में अषप्रि प्रेयतानिरूपण प्रकरण म १ पृष्ठों में बडे विस्तार के साथ लिया जाचुमा है। प्रकृत कथा के सम ग्रय के लिए वह प्रकरण अत्रापि एकवार अवश्य ही द्रष्ट य है।

वहा यह विस्तार से बताया जाचुमा है कि प्रजापतिने देवता और असुर दोनों में शान्ति रखने के लिए अस भूपिण्ड के उत्तरीगोलाद्ध ए दक्षिणीगोलाद्ध भेद से दो विभाग करइह क्रमश देवता और असुरों के अधिकार म द दिया था। देवता सदा से ी शान्तिप्रिय थ उधर असुर जम से ही दुष्प्रकृति के थ। यद्यपि वगमील के अनुसार असुरों को देवताओ की अपेक्षा कही अधिक मात्रा में भूपदेश मिला था। तदपि ये देवताओ पर आक्रमण करने स नहीं चृकते थे जवाक पूर्व के स्तम्बयजुहरणोपाख्यानरहस्य म विस्तार के साथ बतलाया जाचुमा ह। विषयसङ्गत कानए यहा भी प्रकारान्तर से भौगोलिक-व्यवस्था का सक्षिप्त स्वरूप पाठको के स मुख उपस्थित कर दिया जाता है।

आसमुद्रात् त्रै पूादाममदात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवातर गग्याराग्यावत्तु विदुर्बधा ॥

—मनु २।२ ।

उक्त मानसिद्धात के अनुसार पञ्चसमुद्र से आरम्भ कर पश्चिमसमुद्रप्रग्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश आग्यावत्त नाम से प्रसिद्ध था। आ य आर न्यु ता श द उस समय प्रधानरूप से प्रचलित थ। उक्त सीमा म दस्युओ का प्रवेश नहीं होसकता था अत व यह प्रात आग्यावत्त कहलाता था। पश्चिमसमुद्र पुराणों में महीसागर नाम से यगृहत आ है। यही पश्चायभाषा में—मेडिट्रेनियसी नाम से प्रसिद्ध है। इसी के समीप रक्तसमुद्र (रडमी) है। एव पश्चिमसमुद्र (चीनसमुद्र) पीतसमुद्र (यलोसी) नाम से यगृहत हुआ है। नरक्ष्वत्त से ४५ अश प्रव पूवसमुद्र है ए ४५ अश पश्चिम पश्चिमसमुद्र है। किसी समय निरक्ष्वत्त लङ्कान्थान पर आता था। आज भी निरक्ष्वत्त तो वही है। हा लङ्का अवश्य ही समुद्रगम में जलीन गग है। एव चो म नभाय मिहलद्वीप (सीलोन) को लङ्का मान रहे है यह उन की आा त ही समझना चाा ए। क्याा िपगणना के अनुसार पुराणशास्त्रने लङ्काद्वीप सिंहलद्वीप ोनों को स र्था पृथक माना है। साथ ही जिम देशान्तर पर लङ्का की सा मानी गई है उस देशान्तर पर सीलोन गही ह। ऐसी अव था म दशा तर-मानानुसार सीोन सिंहलद्वीप होसकता है न कि लङ्का।

पुराणयुग म स प्रार भूमण्डल की व्यवस्था यही से की जाती थी। यही स्थान भारतवर्ष का उपक्रम स्थान था। यही भारतवर्ष की क्षिण-सीमाथी। लङ्कासमीपस्थ दक्षिणसमुद्र भारतवर्ष की दक्षिण सीमा

यौ प्रथमसु पूर सीमा थी अत्र पश्चिमसन्मुखे पश्चिम सीमा थी । आज जस (मिशन को) भारत की सीमा माना जाता है वस्तुतः भारत की पश्चिम सीमा अस्तित्व नहीं प्राप्त पाया है । आज भी यही पर हमारा शत्रु तीव्र है । चीन तिब्बत आदि सभी भारत के अंतर्गत हैं । भारत-अग्नि का मतलब नहातक हा नहीं देश भारतवर्ष है । आज जिसे भारतवर्ष माना जाता है वही ता आधा भारतवर्ष है । उस सम्बन्ध में स्वयं के ग्राहणभागने बड़ा प्रश्न निरूपण किया है । अथर्व वेद पारुष्य है अथवा अपारुष्य ? उस शास्त्राथकलह में ही अपनी जीवनलीला समाप्त करने वाले भारतीय विद्वानों को आज अपने देश की सीमा का भी स्वरूपबोध नहीं है । पश्चात् अद्वान अपने स्वाधा को प्रदानता दत्त हुए यथा-छु सीमा-वभाग कर लाभ उठा रहे हैं । अथर्व भारतीय विद्वान् उस सम्बन्ध में सबथा सुप्त हैं । यदि दुःखी से उस विचारों को लेकर उनके सामने मादृश कोई व्यक्ति उपास्थित होता है तो-पाहले तो ये महानुभाव ऐसे विचारों को मनन का अवसर ही नहीं देते । यथाकश्चित् दान्दणाद के प्रलोभन से यात् ये एकत्र समवत हो भी जाते हैं तो वना में किन विषयों का निरूपण हुआ है ? वद किन मालिक तत्त्वों का रहस्य बतलाता है ? अथर्वि वनाथ-सबधी ताविक विचारों का पश भी न करत हुए केवत् ताकूलह रूप पोषेय अपौरुषेय-वाद में ही पड जाते हैं ।

मान लीजिए वद सबथा अपौरुषेय है । क्या यह मात्र ज्ञान लेने से वद का वेद चरिताथ होगया ? नहीं ता फिर छाडिए उस पतनमूलक दराग्रह को । अथर्वण कीजिए अथर्वण का मतलब जनता को सच्चा माग । अपनी प्राचीन सस्कृति सीमाविभंग आदि का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करत हुए कह दीजिए राजनातकस्वा गाल सु उन प्रतीत्या को कि आपन हम जसा रूपमण्डक समझ रक्खा है हम वसे रूपमण्डक नहीं हैं । हमारा घर छोटासा नहा आपनु बहुत विस्तृत । नतिकता कथान से हमारी अज्ञता से अनुचित लाभ उठाते हुए आपन जिन चान नापानाति देशा का हमारी सीमा से प्रथम मान लिया है यह कपना हमार भुवनकोश क अनुसार निता त अशुद्ध है । ये देश हमार देश है । हम उनक हैं व हमारे हैं । सबकी मूलसस्कृति का स्रोत एक है । उनक सुख में हम सुखी एव उनके दुःख में हम दुःखी हैं । आज हम अपने वास्तविक इतिहास का बोध नहीं । हम नहीं जानते-हम कौन से कहातक हमारा माम्राय था क्या क्या साहिय हमारे हाथ में था किन किन परराष्ट्रा पर हमारा प्रभुत्व था । वैदिक-इतिहास एव भूगोल सम्बन्धी परिज्ञान से अज्ञित रहने के कारण हमारी सङ्घटनमूला राष्ट्रीयभाजनाए सजथा उच्छिन्न हारहा है । हो क्या रहीं है हो-चुकी है । विश्वास कीजिए आपका भारतवर्ष वर्त्तमान भारतवर्ष नहीं है । वह बहुत विस्तृत भूप्रदेश है । सुप्रसिद्ध भोमत्रिलोकी का प्रथिनीलोक-स्थानीय भारतवर्ष ६ अश पश्यन्त अपनी अथर्वि रक्खा है नैसाकि पत्र में बतलाया जाचुका है । *

* प्रथम प्रकाशनानुगत उस प्रकरण को आज अनुमानत २ वर्ष होचुके हैं जिसका यह पुन प्रकाशन सन् ५८ में होरहा है । इसी अवधि में अपनी भावुकतावश भारतराष्ट्र ने अपना अद्व स्व रूप भी सर्वा मना चत-विचत कर लिया है जिससे बडी ऐतिहासिक भूल विगत तीन-सहस्र-वषा में घटित-विघटित पतनयुगा में भी घटित नहीं होपा थी इयहो महतीय विडम्बना राष्ट्रीय-स्वतन्त्रप्रज्ञाया नितान्त-भावुकतापण कल्पित-याग-तपस्या बलिदान-विजम्भण-समन्वितया इयाल यालमेव ।

यद्यपि इन विषयों का निरूपण पूर्व मन्त्र तत्र हो चुका है परन्तु वहाँ त्रिस्पष्टरूप से एकत्र समन्वय नहीं हो सका है। वहाँ केवल देवयज्ञ तथा को प्रधान मान कर सन्नेप से वर्षादि भुवनकोष्ठी का उद्देशन करा दिया गया है। अब आगे के प्रकरणों में यह विषय पुनः पुनः आवर्तित न करना पड़े इसलिये प्रकारांतर से देवासुरदायविभाग सम्बन्ध होने वाले पादमभुवनकोश का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। आगे स्थान-स्थान पर देवासुरसंग्राम का निरूपण आने वाला है। उन सबकी आधारभूमि यही पादमभुवनकोश है। ऋषि-अनुग्रह-निक्षेप कीजिए पादमभुवनकोश के स्वरूप पर। कृतज्ञ बनिए पुराणशास्त्रक ॥ अनुभूय कीजिए पुराणशास्त्र की आवश्यक उपादेयता का ॥

पुराण में जिन अठारह अपूर्व विषयों का निरूपण किया गया है उनमें से एक विषय भुवनकोश (भूगोल) भी है। जिस दिन आप साङ्गोपाङ्ग भुवनकोश का स्वरूप अगत करलगे उस दिन भूपिण्ड का जल स्थल को भी प्रदश आपकी ज्ञानसीमा से बहिर्भूत न रहेगा। आज पाश्चात्यों की ओर से कहा जाता है कि भारतीय विद्वान् आम परमाणु चर्चा के आतारक अथ किसी विषय के ज्ञाता नहीं हैं। अवश्य ही वर्तमान विद्वानों के सम्बन्ध में पाश्चात्यों का उक्त कथन सवथा ठीक है। निधि भारतीयों के शास्त्रकोश में सबकुछ है। परन्तु हम उनके ज्ञाता नहीं हैं। यदि पाश्चात्यों का यह अभिप्राय हो कि इन विषयों को आज तक भारतीयों ने जाना ही नहीं तो—उनकी यह नितांत ग्रात है। हमारा तो यह भी कहना है कि जो अनयत भूगोलविद्या हमारे शास्त्रों में उपलब्ध होती है उसका शतांश भी वर्तमान भूगोल में उपलब्ध नहीं हो रहा। प्रकर दूसरा है—अतः प्रकृत में भूगोलविद्या का निरूपण भी किया जा सकता। भूगोलसंबन्धी विषयों का नामनिर्देश कर देवासुरदायविभाग सम्बन्धी केवल ब्राह्मण- (ब्रह्मपुराणोक्त) पादमभुवनकोश का ही सन्धित निरूपण कर इस आधिभौतिक विधिभागारयान-प्रकरण को उपरत कर दिया जायगा।

तीन सप्तकों का निरूपण जिस प्रकरण में हो वही भुवनकोशविद्या है। स पूर्ण भुवनकोश में केवल निम्न लिखित तीन सप्तकों का ही निरूपण हुआ है।

३	प्रथमसप्तक	द्वितीयसप्तक	तृतीयसप्तक
भारतीयभूगोलविद्याया त्रय सप्तका	१—सप्तद्वीपा	१—पवता	१—दशविभागा
	२—सप्तसमुद्रा	२—नद्य	—उपद्वीपविभागा
	३—सप्तवायव	३—सरासि	३—समुद्रविभागा
	४—सप्तलोका	४—वनानि	४—आखातविभागा
	५—सप्तपातालानि	५—आकरा	५—डमरूमयानि
	६—सप्तवरणानि	६—दशा	६—राजशासनानि
	७—सप्तकाशा	७—पुराणि	—पोतावतरणतीर्थानि (बदरगाह)

१-सप्तद्वीपा (१)

१-जम्बु २-प्लक्ष ३-शाल्मलि ४-कुण्ड ५-कोञ्च, ६-शाक
७-पुष्कर -इत्येते सप्त द्वीपा । सप्तद्वीपा वसुमता इति भगवान् पतञ्जलिराह ।

(१) पौराणिक सृष्टिविज्ञान के अनुसार भापण्ड को अपन गम म खती हुड महापृथ्वी (जम्बु स्तौम्यत्रिलोकीरूप से स्त त्रयजुहरणप्रक ण म नरूपण कया चाचुका ने) उपयुक्त मात 19 सात समुद्रों से युक्त है । इनके चारों ओर क्रमशः सवप्रथम काञ्चनाभूमि लाङ्गालोक तम अण्डक इह ये चार प्रदेश प्राप्त हैं । तम म 1पृथ्वी के अनुरोध स हा लु पृथ्वीरूप भूपिण्ड म भी द्वीप समुद्राणि त्रयथा की जानी है जसाकि पुराणग्रन्थस्य ग्रन्थ मे स्पष्ट कर दिया गया है । महापृथ्वीस्थित सप्तसमुद्र न जा के कारण तलाडमकाले आदि पाश्चात्य विद्वानो न भारतीय पौराणिक भूगोल को मिथ्या बतलाने का अन्वय अपराध कर लिया है । हमारी महापृथ्वी की सत्ता में १ (एकावश) स्थ सूर्य भी अन्तर्भुक्त है । यही कारण है कि सप्त द्वीपों का निरूपण करते हुए पुराणग्रन्थवत्तान् सारब्रह्माण्ड को भूषण की नीमा मानी है । सोरब्रह्मा पार्थिवपुष्कर द्वीप म प्रतिष्ठित मान जाते ह । कारण महापृथ्वी का पुष्कर द्वीप १ व अगण पर ही प्रतिष्ठित । तस्य को लक्ष्य में रखकर महापृथ्वी के उपयुक्त सात द्वीपों का निरूपण करते हुए पुराणाचार्य कहते ह—

इथ ब्रह्माण्डमध्यस्थो यो ब्रह्मा समपद्यत ।
सूर्य स एतद्ब्रह्माण्ड योतिषा मण्डल महत् ॥ ॥
पृथिवीपरिभ्रमस्यात या मागस्तन मण्डलम् ।
द्विधा स्यादधरा भूमिरुत्तरा धा समे समे ॥२॥
सूर्याण्डगोलयोमध्ये कोट्य स्यु पञ्चविंशति ।
विष्कम्भाद्धर्मिड तस्य विष्कम्भा द्विगुणो भवेत् ॥३॥
महैराण्डकटाहेन सद्वापाम्भोधि—पर्वता ।
पञ्चाशत्कोटिविस्तारा सेय पृथिवी निरूपिता ॥४॥
तत्र सूर्य समारभ्य सप्तद्वीपा सहाणवा ।
अस्या अनुदिश पृथ्व्या सूर्यमावणवते क्रमात् ॥५॥
यावन् द्वीप प्रमाणेन तत समुद्रोऽपि तत् सम ।
पूर्वतो द्विगुणद्वीपसमुद्रा उत्तरोत्तरम् ॥६॥
लक्षयोजनविस्तारो जम्बुद्वीपोऽथ ततसम ।
लवणोदसमुद्र स्याद् द्विलक्ष प्लक्ष इष्यते ॥७॥
प्लक्षप्रमित एवेक्षु रसोद स्यादिति क्रम ।

स्वादूदकसमुद्रा न प्रमाणस्योपपद्यत ॥८॥
 एष द्वापा समुद्रोस्तु सप्तसप्ताभगवता ।
 द्वीपश्चास्य समुद्रश्च समाना द्विगुणो परो ॥९॥
 स्वादूदकस्य पारता द्विगुणा काश्चनी चिति ।
 लोकालोकचलशोर्ध्वं तदूर्ध्वं पारतश्चतम ॥१०॥
 तमश्चाण्डकटाहेऽसमन्तात् परिवेष्टितम् ।
 विस्तार एष कथित पथि या मुनिसत्तम ॥११॥
 यग्रोध पुष्करद्वीप ब्रह्मण स्थानमुत्तमम् ।
 तस्मिन्नासति ब्रह्मा पूज्यमान सुरासुरे ॥१२॥

—पुराणेषु

२—सप्तसमुद्रा —

१—लवणोद (क्षारसमुद्र) २—इन्दुरोद, ३—सुरोद, ४—घृतोद ५—द्रुधिमण्डोद, ६—क्षीरोद ७—स्वादूदक ।

३—सप्तवायव —

आवह प्रवह सवह परिवह इत्यादिरूपण ज्यातिषशास्त्र सुप्रसिद्धा ।

४—सप्तलोका

१ भू २ भुव ३ स्व, ४ मह, ५—जन (जनत्), ६ तप ७—सत्यम् ।

इन सातों लोको का वैज्ञानिक स्वरूप गीताविज्ञानभाष्य के मानुषोत्तमकृष्णरहस्य प्रकरण में वर्णना चाहिए । यहाँ प्रकरण सर्गों के लिए कुछ एक श्लोकमात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं—

रत्रिच द्रुमसौर्याव मयूखैरवभाष्यते ।

ससमुद्रसरिच्छला तावती पृथिवी स्मृता ॥१॥

यावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तारपरिमण्डला ।

नभस्तावत्प्रमाणा हि विस्तारपरिमण्डलम् ॥२॥

पादगम्य तु यत्किञ्चित् वस्त्वन्ति प्रथिवामयम् ।
 स भूलोक ममारयातो विस्तारोऽस्य पुरोन्ति ॥३॥
 भूमसूर्यांतर यच्च भुवर्लोकस्तु सोऽपर ।
 सूर्य-प्रान्तर भूर्गो नियुतान चतुद्दश ॥४॥
 त्रलोक्यमेतदारयात सक्षेपण प्रुवाव ध ।
 प्रुवादूध महर्लोक स कोटा योजना तरे ।
 द्विकोट्युध जनोर्लोक सन दनमुखा इह ॥५॥
 ततस्तपश्चतु कोट्यामूर्ध्व त्रैराजदैवतम् ।
 तत उध्व तु षट्कोट्या सत्यलोको विशिष्यते ॥६॥
 एते सप्त महालोका उपरिष्टादध पुन ।
 पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यैव विस्तर ॥७॥
 एतदण्डकटाहेन तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
 कपित्थस्य यथा ग्रीज सर्पतोस्त समावृतम् ॥८॥

५—सप्तपातालानि—

१—अतल २—वितल ३—सुतल ४—तलातल ५ महातल ६ रसातल

७—पाताल ।

पाताललोका प्रथिवीपुटानि इस पुराणसिद्धांत के अनुसार भूपिण्ड के सात स्तर ही सात पाताल कहलाते हैं । इनमें आरम्भ के तीन पुट आपोमय है आगे के तीन पु अग्निमय है एत के द्रुपु ब्राह्म है । इसी से मेरुरूप स्कम्भ का विनिर्गम होता है । भूपिण्ड के पहिले तीन स्तरो म पानी रहता है दूसरे तीन स्तरों में अग्नि रहता है । सर्वांत मे सबप्रति ठारूप प्राणाग्नि रहता है । यहीं भूगर्भस्थ प्रजापति है । भूसृष्टि का प्रभव प्रतिष्ठा परायण यही प्रजापति है ।

यह प्रजापति हृद्-य स्वरूप है ऋ-आहरणधर्मा त्रिषणु है ऋ-त्रिक्षेपणधर्मा इन्द्र है य-नियमन धर्मा ब्रह्मा है । इनमें से ऋरूप त्रिषणु के अभिप्राय से यह पाताल स्थान अनन्त शेषनाग नाम से प्रसिद्ध है । वायु शेषनाग है । इसी पर विष्णुत्व प्रतिष्ठित है । ऋषी आधार पर शेषनाग क फण पर भूपिण्ड की सत्ता मानी जाती है । यह प्राणमय तव व्रातिसण्डलप्रण्वीय वन्भूत कन्ध से युक्त नेता हुआ-सुमेरु कुमेरु-भाप की प्रतिष्ठा बनता है जसाकि पूव-स दर्भों में विस्तार स बतलाया जाचुका है ।

६—सप्तावरणानि (नरका) —

१—रौरव २—तान, ३—विमोहन, ४—कृमीश, ५—लालाभक्ष, ६—अधशिरा, ७—अग्नीचि ।

सूयम सात नाश्या मानी जाती हैं । इस सात नाडियों के सम्बन्ध से शनिलोक रूप आवरण लोक (नरकलोक) सात भागों में विभक्त होता है । आग जाकर २ नक्षत्रों के सम्बन्ध से २७ नरक हो जाते हैं । इन २७ नरकों का विभाग निम्नलिखित है—

(१)	१—रौरव	१-(१) रुधिराघ	१-(१६) वह्निवाल
	२—शौरव	२-(११) वैतरणी	२-(२) अधशिरा
	३—रौध	३ (१२) कृमीश	(६) ३ (१) सन्दश (सदश)
	४—तान	(४) ४-(१३) कृमिभोजनम्	४ () कृणसूत्र
(२)	५—विशासन	५-(१४) असिपत्रवनम्	५ (२३) तम
	६—महावला	६-(५) कृण	६ (२४) अग्नीचि
	७—तप्तकुम्भ	-(१६) लालाभक्ष	(७) ७ (२५) श्वभोजन
(३)	८—महालोम	(५) ८-(१७) दारुण	८ (२६) अप्रतिष्ठ
	९—विमोहनम्	९-(८) पूयवह	९ (२७) अग्नीचि

२८ व अभिजिज्ञात्र के सम्बन्ध से २८ नरक हो जाते हैं । चद्रमा का परिभ्रमण—अधमय ऊर्ध्वभेद से तीन भागों में विभक्त है । इस कक्षात्रयी के मेष २८ नरक त्रया आवर्तित होकर ८४ सरया में परिणत होता है । ये ही पुराणप्रसिद्ध ८४ नरक हैं । इन सबका विशद वैज्ञानिक विवचन श्राद्ध-विज्ञान नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए । इन ८४ का २८ में अतर्भाव है । २८ का सात में अतर्भाव है । अतएव भगवान् यासने—आप च सप्त (शासूत्र) के अनुसार प्रधानरूप से सात ही नरक माने हैं । इन में आमामानुगामिनी सौरयोति का अभाव है । यहा तारतम्य से तम का ही साम्राय है । यहा आमप्रकाश इस तम से आवृत हाजाता है अतएव पुराण ने इन्हें आपरण नाम से ही व्यवहृत किया है । वैदिक विज्ञान के अनुसार ये आवरणलोक असुर्या नाम के लोका अथेन तमसाऽऽवृता इत्यादिरूप से असुर्यलोक नाम से प्रसिद्ध हैं ।

७—सप्ताकाशा (स्वर्गा) —

१—अपोदक, २—अतधामा ३—अपराजित, ४—वध्नस्यविष्टप ५—अधिद्यो, ६—प्रद्यौ, ७—रोचना ।

१—अग्नि २—ज्यु ३—इन्द्र ४—नाक ५—वरुण ६—मृत्यु ७—प्रजापति इन सात देवताओं के भेद से द्वापरयुग सात भागों में विभक्त होता है । इन सातों की भी वैज्ञानिक उपपत्ति श्राद्ध-

विज्ञान में ही देखनी चाहिए। यहाँ आत्मा आवृत नहीं होता। आप तु सोर प्रकाशमय न आत्मा में आत्मा विभासित रहता है। आत्मविकास के लिए यहाँ पूरा अवकाश है। अवकाश ही आकाश है— का ह्य आत्मान् क प्राण्यद्यद्वेष आकाश आनन्दान स्यात् व्याद ओषा ष सिद्धान्त के अनुमा आकाशरूप स्वयं ही आनन्द का कारण है। अनावृत आकाश प्रदश (खुला स्थान—खली हवा) आनन्द का कारण। इसी अनावृतभाव का लक्ष्य में रखकर पुराणने सप्त स्वयं को सप्त आकाश नाम से यह कहता है।

दूसरा सप्तक पर्वतादि का है। प्रसङ्गागत इन के अवातर भेद नाममात्र के लिए पाठका क संभव उपास्थान करदिए जाते हैं—

१—पर्वता —

१—कुलगिरि, २—शाखागिरि ३—पादागिरि ४—स्तूपागार ५—वर्ष-पर्वत ६—विष्कम्भपर्वत ७—कैसरपापत ८—मग्यादाशल भद्र से पात आठ भागों में विभक्त है। इनमें से कुछ एक का स्वरूप आगे के मेस्प्रकरण में बतलाया जान वाला है।

भारतवर्ष के कुलपर्वत— ७ (सात)—

१—महद्र २—मलय ३—सह्य ४—शुक्रमान ५—पय ६—पारयात्र ७—ऋक्ष।

भारतवर्ष में असरय शाखापर्वत —

कोलाहल वभ्राज मन्दुर दददुर वाता वग दवत मनाक सुरस तु गप्रस्थ नामगिरि गोवद्ध न पाण्डुर पुष्पगिरि नैजवत रवत अबुद ऋष्यमूक गोमथ कृतगौल कृताचल श्रीपति चकोर आदि आदि।

२—नद्य —

चतुर्गम्, सप्तगम्, नदी महानदी शाखानदी क्षुद्रनदी कुल्या आदि भेद से नदियों के अवातर अनेक भेद हैं।

स्वयं ऋग्वेद संहिता में नदियों का बड़ा विस्तार से निरूपण हुआ है। भारतीयों की दृष्टि से भूपिण्ड की कोई भी नदी अत्राहत नहीं थी। आज तो हम समुद्र—तल्लङ्घन में भी अपने आपको प्रायश्चित्त का पाणी समझने लगते हैं। परन्तु कोई युग ऐसा था जहाँ हमारे भारतीय ऋषि विद्याओं के अनुसंधान के लिए समस्त पृथिवी की परिभ्रमा लगाने में भी कोई आपत्ति नहीं समझते थे। यदि वे भी हमारी ही भाँति रूप मयदूक होते तो कौन भूगोलविद्या का यापक ज्ञान हमारे सम्मुख रखता? सम्पूर्ण भौमत्रिलाकी की नदियों को छोड़िए। भौमत्रिलोकी के पृथिवीलोक-स्थानीय केवल भारतवर्ष को ही लीजिए। दाखिए ऋषियों के भौगीलिक महान् अवषणका अदभुत प्रदर्शन।

भारतवर्ष की नदियाँ—

(१) १—गंगा २—सरस्वत ३—सिंधु ४—चन्द्रभागा ५—यमुना ६—शतद्र ७—विपाशा ८—ऐरावती ९—कुहू १—गोमती १—धूतपापा १२—बाहुदा १३—दृषद्वती १४—विशाला ५—देविका १६—चक्षु १७—निष्ठीवा १८—गण्डकी १९—कौशकी २—आपगा इत्यादि नदियाँ हिमवत्पाद से निकली हैं। उनमें गंगा सरस्वती—सिंधु आदि महानादियाँ हैं। शेष गायानदियाँ हैं।

(२) १—दशमृति २—द्वती ३—वातनी ४—वष्या ५—चदना ६—सदानीरा ७—चर्मश्वती ८—वृषी ९—वदिशा १—वन्नवती (वतवा) ११—शिप्रा १२—द्रवती आदि नदियाँ पारियात्रपवतानुगामिनी हैं।

(३) १—शोणा २—महानदी ३—नमदा ४—सुरथा ५—क्रया ६—मदाकिनी ७—दशा—र्णा ८—चत्रकटा ९—चित्रापला १०—करमोदा ११—पिशाची १२—अतिलघु १३—शोणी १४—शेवला १५—समेरुजा १६—शुक्तिमती १—शकुनी १८—त्रिदिवा आदि नदियाँ ऋक्षपात से निकली हैं।

(४) १—शिप्रा २—पयोग्या ३—निर्वि या ४—तापी ५—वणा ६—तैरणी ७—सनी—वाली ८—कुमुती ९—तोया १—महागौरी ११—दुर्गा १२—अतशिला आदि नदियाँ विषाचल से निकली हैं।

(५) १—गोदावरी २—भीमरथी ३—कृष्यवला ४—तुङ्गभद्रा ५—सुप्रयोग्या ६—पापनाशिनी आदि नदियाँ सव्याद्रि से निकली हैं।

(६) १—कृतमाला २—ताम्रपरा ३—पुपवती ४—उपलावती आदि नदियाँ मलयपात से निकली हैं।

(७) १—पितृकु या १—सोमकु या ३—ऋषिकु या ४—त्रजुला ५—त्रिदिवा ६—लाङ्गलिनी ७—शकरा आदि नदियाँ महेन्द्रपात से निकली हैं।

(८) १—सुबिकाला २—कुमारी ३—मनुगा ४—मदगामिनी ५—क्षमा ६—पलाशिनी आदि नदियाँ शक्तिपवत से निकली हैं।

यह है कुछ एम भारतीय नदियों का नाम-निर्देशन। आज आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय विद्वान् अपने सुमधुठित प्रयासों से अपने न बिभूति-चिह्नों का आवरण कर और ससार को बतलाव कि हमारे पूर्वजों के भौगोलिक ज्ञान के सम्मुख आजका केवल भूतप्रधान-भौगोलिक ज्ञान अधूरा है। अपना एक कपित सीमाभाव रखने वाले भारतीय विद्वान् क्या इस ओर ध्यान देंगे? अपनी विलास-लीलाओं में अतुल धनराशयय करने वाले पुण के जडश्रद्धालु भक्तगण हमारे इस आयोजन के सत्र में क्या कभी कुछ विचार करेंगे? असम्भव। क्यों?

इसलिए कि राना कालस्य कारणम् मूलक वत्तमान युग भारतीय-मौलिक-सांस्कृतिक-निधियों के पुनरवषण के प्रति न केवल तटस्थ निरपेक्ष ही प्रमाणित हो रहा है। आपतु त्रिसहस्रवार्षिकी बुद्धि

मन-शरीर-दासतामूला भारतराष्ट्र की सवत्सता ने भारतीय हृदय की मय ही इस अपना मूलानधि क जानावज्ञानामक मालिक स्वरूप स उस सीमा पथ्यत परान् मुख कर रिया है । म नाम पर प्रतिष्ठत हो । ने के अनन्तर स्व वरूपबोध सवथा ही अभिमत ज्ञेयाया करता है ।

३—समुद्र —

समुद्र सागर, उपसागर सर, पल्लव भेद से सरोवर पाच भागों म विभक्त मान गए ह ।

पू-पश्चिम-उत्तर दक्षिण चारो समुद्र समुद्र नाम से व्यवहृत हुए ह । सामाभावयुक्त यत्र यत्र दिशाओ मे प्रतिष्ठत समुद्र सागर नाम से व्यवहृत हुए ह । अराल सागर महीसागर आदि सागर हैं । जिस वत्तमानभाषा में भील कहा जाता है वही पुराण म उपसागर नाम स प्राप्त ह । प्राकृतिक बड़े बड़े तालाव सर नाम से व्यवहृत हुए ह । मानसरावर आच्छादसर आद सर प्राप्त ह । जिस खाडी कहा जाता है वही पुराण मे पल्लव शब्द से व्यवहृत हुए हैं । इन के विस्तृत ज्ञान के लिए ता आप को पुराण की शरण में ही आना चाहिए ।

४—वनानि—

अरण्य उपवन, आराम, पुष्पाटिका, निष्कुट, भेद से उन पाच भागा मे विभक्त माने गए हैं ।

सैकड़ो कोस लम्बे चौड़े हिंसक पशु-पक्षियों से युक्त महावन अरण्य नाम से प्राप्त है । नमिषारण्य दण्डकारण्य आदि अरण्य प्राप्त ह । नगरों के चारि विशद उद्यान उपवन नाम से व्यवहृत हुए हैं । नगर के भीतर नगरिकों के विहार के लिए स्थान स्थान पर निर्मित छोटे छोटे उद्यान आराम नाम से व्यवहृत हुए हैं । जिसे आज पाक कहा जाता है वही आराम कहलाता है । (आगत्य रमन्ति यत्र नागरिका) । सम्राट गृहस्थों के गृहोद्यान - पुष्पाटिका है । साधारण गृहस्थों की फुलवाली निष्कुट है ।

५—आकरा (खाने)—

ये खानें प्राकृत कृत्रिम भेद से दो भागो म विभक्त है । किस भूप्रदश म किस धातु की खान प्राकृत है ? कहाँ कहा किस किस राजशासनकाल मे नई नई खान बनाई गई हैं ? इन सभ का निरूपण इसी आकरप्रकरण म है ।

६—देशा — ७—पुराणि—

पुरी, पत्तन महानगर, नगर ग्राम, खरवम् उपनिवेश, देश पुर इन सात भागो मे विभक्त है ।

जो देश किवा पुर जीविभूत स युक्त हो जग किसी प्रसिद्ध दवता की प्राप्त टा हो वह दश-
पुर-पुरी नाम स प्रसिद्ध है। काशापुरी जगन्नाथ री द्वारकापुरी सुतामापुरी ब्रह्मपुरी आदि प्रसिद्ध
हैं। जग राजसत्ता हो राजा की प्रधानता हो वह विभाग पत्तन कहलाता है। अनेक नगरो में जो सब
प्रमाणो में बढा चढा हो वही महानगर कहलाता है। पाषाणनिम्मित प्रासादयुक्त देश नगर है।
मृगमय (कच्छे) प्रासादयुक्त देश ग्राम है। दुगराहत सावारण अ पसरयाजन निवासप्रदेश खर-
पट है। महा अरण्यो के मय मय में १-१ २ २ गृहस्थियो की निवासभूमि उपानवेश है।
मरुभाषा में यही उपनिवेश द्वाणी नाम स प्रसिद्ध है। पारचयाथ भारतनर्षाय कुछ दशो के नाम बतला
दिए जाते हैं -

(१)—मय कुसुदमाल्य ऋतुल काशिकोशल आग्र कालङ्ग मशक वृक आदि दश प्राय
मयदश माने जाते हैं।

(२)—वाहीफ वाटधान सुतीर कालतोयद अपरात शद्र केरल गंधार यजन सिधु सोवीर
मद्र शतद्रुह कलिङ्ग पारद हारभूषिक (हरिभूषिक) माठर कनक केकय द भमाल कम्बोज बबर
सलौकिक वीर तुषार प हव आत्रेय भारद्वाज पुक्ल शेरक लपक शुनशोक कलिक जाङ्गल औसय
त्रलचद्र किरात तोमर हसमाग कश्मीर करुण शूलिक कुक मागध आदि दश उदीय (उत्तरदण) है।

(३)—अध वामकुङ्क बचक मलात अङ्ग बङ्ग मलद मालार्तिक भद्रतुङ्ग प्रतिनप
मार्याङ्ग अपमद्क प्रागयोतष मद्र विदह ताम्रलिप्त मल मागध नद आदि दश प्राय (प्राय)
दश है।

(४)—पूग करल गोलागूल कषिक मूषिक कुमार रामठ शक महाराष्ट्र मार्हषिक कलिङ्ग
आमीर विशिक अख्य सला पुलिन्द मौगैय विदम एडफ पुलक अश्मक भाजवदन कालिक
कुतल दम्भक नीतकालक आदि दाक्षिणाय जनप है।

(५)—शूपरिक कालिधन लाल तालकर आद अपरात जनपद हैं।

(६)—मलज ककश मलक चोलक उत्तमाण दशाण भोज किर्मिध ताषल कोशल त्रपुर
वदिश तुम्बुर चर यवन पवन अभय रुण्डिकेर चचर आदि वि यगाली जनप है।

(७) नार भाग कुरु तुङ्गण खश कर्णप्रावरण अलदय कुञ्जक चित्रभाग मालव किरात
आदि पवताश्रयी जनपद है।

विषय अ वश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अत तीसरे स तक का दिग्दर्शन पुराणशास्त्र की
स्व यायनि ठा से समवित मानते हुए सर्वांत में यदि आप भारतरा का अ युदय चाहते हैं तो वेद के साथ
साथ पुराणा का अ ययना यापन भी शीघ्र से शीघ्र आरम्भ कर दीजिए। वदभाषा दुरूह है। उही वैदिक विषयो
को पुराणन बने विस्तार के साथ बड़ी ही प्राञ्जलभाषा में गद्य पद्यरूप से हमारे सम्मुख रक्ता है। जबतक आप
पुराण को न अपनावगे तबतक वत्तमान भौगोलिक एवं ऐतिहासिकों के द्वारा फलाइ हु दश के गौरव को
रसातल में पहुचान वाली हमे अपने भागधेय से वञ्चित करने वाली नाशकारिणी भ्राति का कथमपि
निराकरण नहीं कर सकग यही निवदन करत हु पाद्मभुवनकाश की ओर आप का यान आकर्षित किया
जा रहा है।

पाठ्मभुवनकोशस्वरूपदिग्दर्शन—

भूगोलविद्या का हाँ पौराणिक-परिभाषानुसार भुवनत्रय का तात्पर्य है। निम्न समय का स्थान का आज हम अनुरूपण करने वाले हैं उस समय मयामन्त्र प्रत्यभिज्ञान नक्षत्र पर था। सती शक्ति का आज से लगभग १२॥ वर्ष पूर्व पाराणिक युग में आभासबद्ध प्रतीति नाम से प्रामाण्य था। जैसे सुमरु को मभूपञ्च की कर्णिका बतलाने वाले हैं वह समस्त उस समय की प्रतीति के नाच था। आज सुमरु और प्रतीति में बहुत अंतर हो गया है। तत्कालीन पाराणिक स्थिति के अनुसार उस समय चन्द्रकक्षा सूर्य-कक्षा से ऊपर अपनी सत्ता रखती थी। न केवल उस समय ही आन्तु याद उमा सुमरु- ठ स क्ताआ की व्यवस्था का विचार किया जाता है ता आज भी चन्द्रकक्षा सूर्यकक्षा से उपर भागस्था ही मलती है।

अध्ययनशाला पाठको को यह विचार है कि पुराण चन्द्रमाका सूर्य से उपर मानता है। अधर यह सर्वसम्मत सिद्धांत है कि चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह होता हुआ पृथिवी के चारों ओर पारक्रमण करता है जसाकि आग के— पुरा क्रूरस्य प्रसृपो इत्यादि मन्त्र द्वारा जान म स्पष्ट होने वाला है। सुमरु स्थान पर भ्रुव-नक्षत्र (पुराण समय में) सीधा मस्तक पर (स्वस्वास्तक पर) आजाता है। भाषण्ड का तिथि भाव है जाता है। जिस प्रकार एक नागदंत (खूटी) पर डोरी से धीरे धीरे कड़क (द) गीक सीधी लटकी रहता है मरुस्थान पर भाषण्ड की ठीक यही दशा रहती है। हाँ तथ्यग्विष्वदवृत्त सवथा सामा प्रवापर रहता है। प्रत्येक स्थिति कालक है। उससे निकलने वाली प्रोवविद्युत् प्रतीति है। प्रतीति में भाषण्ड बद्ध है। लीलामय जगदीश्वर न भूषण्डरूप कड़क को भ्रुवकीलक म प्रतीति रूप सूत्र से बाध कर सीधी लटका रखी है।

इस स्थान से यदि आप चन्द्रकक्षा की स्थिति का समग्र विचार करेंगे तो मन्त्र शर (त्रिचप) २७ कला (४ अंश ३ कला) में होगा। अधर सूर्यत्रिचप पश्चिम दिशा के मतानुसार एक मलामात्र है। सप्रकार चन्द्रमा सारकृतिवृत्त से ४ अंश ३ कला क्रमशः दाक्षिण्य और उत्तर भाग में जाता है। इस शर की अपेक्षा से चन्द्रकक्षा अवश्य ही सूर्यकक्षा से बाहिर तक चला जाती है। पर हमारे पुराण का अर्थान्त्रिचप विभाग (खगोलविभाग) मरु को प्रधान मान कर ही आगे चलता है। अपनी सी मरुसम्प्रविनी-परिभाषा का लक्ष्य में रखकर (चन्द्रकक्षा को सूर्यकक्षा से पहिले त समझते हुए) पुराणने (भाग-वृत्तान्ति न) चन्द्रमा को सूर्य से उपर उतला दिया है। प्रत्येक शास्त्र का भिन्न भिन्न परिभाषाएँ होती हैं। उन परिभाषाओं का मालिक-रहस्य समझे बिना तन्परिभाषाधारण प्रतिष्ठित तन् सिद्धांत पर आक्षेप करना अज्ञान है।

सुमेरु पौराणिक भुवनकोश की आधारभूमि क्यों है? मन्त्र उत्तर वही प्रकृत तत्व है जसाकि आर्याण के अधिष्ठातिकरहस्य में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत ऐतिहासिक प्रकरण में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि जिसे वामान भौगोलिक अर्थान्त्रिचपदेश कहते हैं वही पुराण का सुमेरुप्रदेश है। सुमरु कुमरु का क्रमशः उत्तर दक्षिण भ्रम के साथ सम्बन्ध है। वरुण भूषण्ड की वह त्रिदु निसके स्वस्वस्तिक पर (ठीक मस्तक पर) उत्तरभ्रम नक्षत्र है वही प्रदश सुमेरु है। भूषण्ड की वह त्रिदु निसके अधस्वस्तिक पर (ठीक पैरा की ओर) दक्षिण भ्रम है वही प्रदश कुमेरु

है। इस सुमेरु कुमेरु के सञ्चालक उत्तर दक्षिण-वृत्त है। भगवान् स्वयं म प्रजापतिने सुमेरु-कुमेरु रूप भूपिण्ड की विष्वदरेखा को मूल मानकर दृश्य अदृश्य दो विभाग कर दिए हैं। यही विष्वदरेखा उत्तर गोलार्द्ध-दक्षिणगोलार्द्ध की विभाजक रेखा है। विवद से ऊपर की ओर का उत्तरगोलार्द्ध (विष्वद से उत्तर की ओर रहने वाले अमदादि का अपेक्षा से) दृश्यभाग है एवं दक्षिणगोलार्द्ध अदृश्य-भूभाग है। वर्तमान भौगोलिक भी वही यवस्था से अप्रदृश्य को सुयवस्थित करते हैं। ब्रह्मा ने किस क्रम से इनमें दशावभाग माना? इसके पहिले वर्तमान भौगोलिकों की यवस्था का स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। इसका कारण यही है कि पाराणिक भूगोल पुराण की पठन पाठन प्रणाली के अभाव से प्रायः लोगो की दृष्टि से तिरोहित हो रहा है। आज भारतीय शिक्षित समाज उन पौराणिक देशनिशेषों के नामों से भी अपरिचित है। ऐसी अवस्था में यदि हम केवल पौराणिक भूगोल का ही स्वरूप बतलाते हैं तो एक प्रकार से हमारा य प्रयास व्यर्थ जाता है। अतएव अप्रासङ्गिक समझते हुए भी प्रकरणसङ्गत के लिए अथवा सन्नेपस नवीन [व न] दृष्टिकोण का स्वरूप बतलाना आवश्यक मान लिया गया है।

पाश्चात्यो की संपूर्ण यवस्था ग्रीनवीच को मानकर यरेखा मानकर हुई है। जिसप्रकार हमारी भूमि यरेखा का आल बन उज्ज्वल है तथैव उन की प्रथम-याहरेखा ग्रीनवीच से संबन्ध रखती है। हमारा यरेखास्थान ग्रीनवीच से ८ दशान्तर पर माना जाता है। इसी अप्रिप्राय से यह रेखा भूगोल शिक्षण में अस्सीपूर्वीदेशान्तर नाम से प्रसिद्ध है। यही भारतवर्ष की प्रथम याहरेखा। सुप्रसिद्ध विष्वदरेखा भी वर्तमान में भूमध्यरेखा नाम से यवस्थित करने योग्य है। अपनी सुविधा के अनुसार ३६ वृत्तवृत्तों का मेरुप्रोतवृत्त में से किसी भी एक रेखा को भूमि यरेखा मान लेना केवल कपना है। इस काल्पनिकी भूमि यरेखा के एवास्तविक भूमध्यरेखा के पृथक्करण के लिए दोनों के क्रमशः प्रथममयाहरेखा एवं भूमि यरेखा ये नाम रख दिए हैं। हमारे यहा इन दोनों को क्रमशः भूमध्यरेखा (प्रथममयाहरेखा), एवावदरेखा इन नामों से यवस्थित किया है। विवदरेखा में दोनों की समानता है। प्रथममयाहरेखा दोनों की पृथक् पृथक् है। दोनों में ८ देशांतर का अंतर है। पाश्चात्य भूगोल-विद्या के अनुसार दृश्य द्विभिरूप दृश्य-उत्तरी गोलार्द्ध में एवं अदृश्य-गोलार्द्ध में निम्नलिखित प्रकाश है।

१—एशिया	}	उत्तरा गोलार्द्ध (दृश्य क्षितिज) का भूभाग
२—समस्त योरोप		
३—उत्तर अमारका		
४—दक्षिण अमारका का उत्तरा भाग		
५—पश्चिमी द्वीप समूह		
६—मिश्र		
७—सहारा* नाम का सुग्रासद्ध मरुस्थल		
८—टिपुली—आदि	}	दक्षिणा गोलार्द्ध (अदृश्य क्षितिज) का भूभाग
१—आस्ट्रेलिया		
२—न्यूजीलेन्ड		
३—दक्षिण अमेरिका		
४—दक्षिण अफ्रीका		
५—एन्टार्टिका आदि -		

क्षेत्रफल के अनुपात से दोनों गोलार्द्धों में का अंतर है। अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध में भूपदश जल्दी गोलार्द्ध की अपेक्षा तिगुना है। उत्तरी गोलार्द्ध के एशियाभाग में अबस्नान मयसापोनमिया जूडिया एशिया—माइनर इरान अफगानिस्तान अबीसीनिया तिबत तुर्किस्तान रूस मंगोलिया चीन जापान भारतपष वर्मा श्याम अनाम कम्बोडिया मचूरिया जापान पूर्वीरूम आ प्राता का समावश माना जाता है। एडमन नीकोर यवद्वीप लुम्बक सुग्राफ्तारीन आदि स युक्त जागद्वीप—सब ब्रूनाई सीलान आदि उपद्वीपों का भी एशियायी खण्ड में ही अतभाव है। भारतीय—उपद्वीपसब लंछभाषा में इंडियनआर्किपैलगा नाम से प्रसिद्ध है।

प्राश्चायों की इस भूगोल व्यवस्था के सम्बन्ध में एक बात का यान रचना आवश्यक है। इन की भौगोलिक व्यवस्था का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध न हाकर राजशासन के साथ ही सम्बन्ध है। जिस जसे रायसीमा घटती बढ़ती रहती है तदनुसार ही ये महानुभाव तत्तत् प्राता को एक दूसरे प्राता के

* यह मरुस्थल सब से बड़ा माना जाता है।

— यह दक्षिणध्रुव के समीप का सब से बड़ा ऊसर भूभाग है। जन्म समस्त योरोप का क्षेत्रफल ३८ लाख वर्गमील है वहा केवल इस एन्टार्टिका का क्षेत्रफल ५ लाख वर्गमील है। यह भूभाग तुषारा छुन्न [बफाला] है सबथा निष्जन है। यहा केवल डगन नाम की महाभयानक पशुजाति उपलब्ध होती है। कुछ एक पक्षी भी हैं। यन्म के समुद्र में विशेषतः ह्वेल मछली उपलब्ध होती है।

सा प्रविनाया करत हे एव पृथक किया करते हे। ऐसी अवस्था मे उन की भौगोलिक व्यवस्था को स्थिर नहीं कर जा सकता। मगर हमारी भौगोलिक व्यवस्था सदा स्थिर है एव आरुपात स्थिर रहेगी। हम अपनी मुखना स भले ही न अवन प्रान्त का अपने हाथ से खो बैठ। परन्तु जबतक हमारा साहित्य नीपित है तबतक कोई भी शक्ति हम अपने प्रान्तात् त दायभाग से पृथक नहीं कर सकता। एव के दश विभागों स पठकों को यह विहित होगया होगा कि भारतवर्ष आज की भूगोल व्यवस्था के अनुसार एक छोटामोटा प्रदेश है। आश्चर्य तो यह है कि नाममात्र का भातवर्ष भी आज हमारा नहीं है। पामीरप्रदेश में हमें लाग किसी समय रहत थ। वहा मे आकर क्रमशः स य वनते हुए हम लोगो न भारतद्वीप में रहने वाली अनाथ्यजातयो को मार भगाया। मसप्रकार अपने ब्रास ह पराजित कर हम यहा बस गए। सच बात है— गीरभाग्या प्रसु वरा। याद को लवजेता राष्ट्र आज हम को— भारतवर्ष तुहारा न मस्थान नहीं है तुम भी हमारी ही भाति आग तुक हा। नसा अधिकार इस पर तुहारा—जैसा ही हमारा यह कहै तो हमार प्रज्ञाकाश मे क्या प्रयुत्तर है? वर्त्तमान इतिहास भूगोल तो हमे यही सिखाता है कि तुम (हम) आग तुक हो। मपर किस आधार से हम भारत का अपनी जन्मभूमि कहै। चाहते है आप मस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय? तो आइए पौराणिक भुवनकोशविद्या की शरण म। वह आप को आप क देश का आप क सच इतिहास का स्वरूप बतलावेगा। इस क द्वारा उन मिथ्याप्रचारका का आप यह कहसकगे कि हमे भूगाल व्यवस्था एव इतिहास के सम्बन्ध म धोखा दिया गया। समस्त एशियाप्रान्त पर एकत्र शासन करने वाले हम को धाखा देकर कूपमण्डूक बनाया गया। हमारे इतिहास के स्वरूप को विकृत कर हमे अपने अतीत गौरव स मयुत करते हुए हमारे आत्मा को निबल बनाया गया। परन्तु दृष्टास आज हमने अपना दायभाग अपनी सांस्कृतिक—निधिक स्वरूपातुग्रह से उपलब्ध कर लिया है। तन्वार पर ही आज हमने अपना वास्तविक स्वरूप समझ लिया है। चिरकाल से त्रिलुप्रपाया यज्ञविद्या का परिचय हम प्राप्त हाचुक है। स्वरूपज्ञानपूर्विका यह यज्ञ—विद्या हम कत्तु मकत्तम याकत्तम समथ बना सकती है। अतएव अब कोई भी वञ्चक हमारी प्रतारणा नहीं कर सकता।

भुवनकोश के सन्ध मे देशविभाग दो प्रकार स व्यवस्थित किए जाते है। राज्यशासन को प्रधान मान कर देशों को अपना सुविधानुसार व्यवस्थित करना एक प्रकार है। मसी का इम शासनकृत विभाग कहते है। जो राजा से सबत स जिन दशों को अपने अधिकार म कर लेता है वह अपनी इच्छा—नुसार अपने राष्ट्र—नाम के अनुरूप नामो से उन की व्यवस्था कर दता है। कहना न होगा कि यह भौगोलिक व्यवस्था सर्वथा अनिय है। यही कारण है कि कछ समय पूव बर्मा को भारतवर्ष स पृथक कर दिया गया था आज पुन व र्मा भारतवर्ष के सन्निक्र आगया है। जो गांधार दश भारतीयों का दश था वही शासन पद्धति के प्रभाव स आज अफगानिस्तान कंधार आद नामो से प्रसिद्ध होरहा है। हिज्जलदेश पाले सुगान्या नाम स धवहत हुआ आज वही बिलोचिस्तान नाम स प्रसिद्ध होरहा है। पारस्थान आज पर्शिया कहला रता है। मसी राजशासन की कृपा से आज हमारा पश्चिमभारतवर्ष अफगानिस्तान खुरासान इरान आद नामो से प्रसिद्ध होरहा है। आज पश्चिम भारतवर्ष अपने नाम को छोड बैठा है। भारतवर्ष शब्द केवल हिन्दुस्तान मात्र में ही सकुचित होगया है।

दूसर है भौगोलिक—गणित-यंत्रस्था। वस यस्मान् । नाना न यत्र माका क इ महत्त्व नती ह। प्राकृतक धम्मा की पृथग् परीक्षा कर भारतीय ऋषियान् आ य अनाना शा का गणतानुसार जा यवस्था की है वही अल ह। आर वही हभारे ल्ने माय ह।

कृष्णसारस्तु चरात मृगा यत्र स्यभायत ।
स ज्ञेयो यज्ञियो दग्ना म्लेच्छदेशस्तत पर ॥

—मनु । ३।

उक्त मनुवचन के अनुसार धर्मेश प्रकृति के अनुसार नियत है कितने ही नाम प्रज्ञ दीनिए। लोखनी आप के हाथ में है। मनमाना प्रति स लिख डालिए। हम तो अपने आत्ममुक्ति प्रयादास-मुत्तु पश्चिमात् इसा भिद्वान्त की स्थिर मानग।

कहना अप्रासङ्गिक होगा परतु क्त्ताना ही र जाता। दग्द मलानुवा धनी उपयोगता के यामोहन से निरतिशयरूपेण व्यामुध आज क कालपय प्रतश् लोक स्थभूत माम प्रक उदगार सुने जारहे हे कि— जिस समय दश के स मुख अन्न यस्त्र का प्रश्न उपस्थित हो जिस युग म दश-वामयो का दोनो समय पेट भर भोजन मा नती मल रहा हो ऐसे भीषण युग म तुहारे गज्ञानचा फार की कौन सुनेगा ? वैदिक एव पाराणिक-साहित्य से वक्तमान युग म दाना क्या मला होगा ? आज तो हम सब स पाहले चाहिये अन्न-यस्त्र। जत्र य प्रश्न समा वत हाजायगा तभी तुहारी सा य चर्चा का अवसर आएगा। अभी तो अपने पोथी पत्रे बाध कर ताक मे रण गीन और हमारे साथ काय चत्र में आजिए। रुइ नुनिए तान्ना-बाना लगाकर वस्त्र बना ए खेती मीजण।

बात यथाथ ह। सचमुच श में उदरचि ताने महामारी से भी आधक सवनाश का उपक्रम कर रक्खा है। परतु इस का कारण ? क्या भारतवर्ष मे पयास कार्पास (कपास) उपज नही होता ? क्या भारत से कृषकजाति उठ ग। क्या जुलाहा—जाति का उच्छेद होगया ? नही तो फिर क्या दश बुभुक्षा से पीडित हो रहा है ? सब ऋछ सावन होत हुए भी हम क्या मन म वञ्चित हा रहे ह ? अत्रवा तो वाञ्छत किए जारहे ह ? हमारी सामाय-बुद्धि के अनुसार ता इन सब प्रश्नो का एकमात्र उत्तर है—अशिक्षा अपने वास्तविक स्वरूपज्ञान से अश्विन रहना। पशुपति बनन क लिए ज्ञानप्रल ही अपक्षित है। बिना ज्ञान क पशुप त भी पशु बनकर ज्ञानयुक्त पशुपति का भो य बन जाता है। जबतक वैदिक पाराणिक ज्ञानराशि हमार हाथ म रही ततक हम पशुपति रहे। प्रियसम्पत्ति हमारी भोग्य बना रही। जिस दिन स यह ज्ञानराशि हमार हाथ से निकल गइ उसी दिन से हम अपने उच्चासन से गिरते हुए प्रिय के पशु ही बन गए।

इधर जान भा मिला तो उच्छिष्ट। क्या दूसरो के उच्छिष्टात्र से हमारा ज्ञान कभी स्वस्वरूप से सम्मल रह सकता है ? फल त्स उच्छिष्ट ज्ञान का यह हुआ कि हम अपने इस दूषित जान से अपने सह चरो का भी स्वरूप विकृत करने लग पड। शिक्षित नामधारी उच्छिष्टभोगियोन अपने आप को पशुता के वातावरण में रखत हुए सभी का इस माग में दीक्षत करना आर म कर दिया। स्वाशक्षाश या त्सी पशुवृत्ति के

कारण आज सब कुछ होत हुए भी हमारे उपभोग के लिए कुछ भी न रह । हमारा तो यह दृढ विश्वास है कि जबतक भारतवर्ष अपने अतीत वादक-साहित्य का गौरव न समझ लेगा जबतक यह अपने मूलसंस्कृतिरूप दिक् साहित्य को न अपनायेगा तबतक प्रयत्न रहस्य से भी यह सुग्री नहीं होसकता । रात दिन चर्चा कातते रहिय कपास धुानए खेती कीजिए कभी आप इनके भोक्ता नहीं बन सकगे । भोक्ता बनने के लिए आ मत्रा चाहिए । आ मत्रल के लिए ज्ञानसामग्री चाहिए । वह भी मौलिक स्वस्वरूप को स्वसंस्कृति को स्व आदश को सुराक्षत खने वाला ज्ञानबन्ध । वह मिलेगा आपको निगम आगम-शास्त्र मे वेद पुराण म आ मत्रल की पराकाष्ठा पर पहुचे हु ऋषियों के वाक्यसंग्रहरूप शब्दब्रह्म में । यदि आपकी दृष्टि मे इनका उ योग नहीं तो फिर हमें जाय हाकर देश का सजनाश निश्चित है ये ही अक्षर अपने मुख स निकालने पडेगे । इनकी उपेक्षा क अबतक आपने क्या कर लिया ? एव भवि य में आप क्या उन्नति कर लगे ? सना उत्तर तो आपको कालपुरुष ही देगा । और आपके कर्मों का फल भोगती हुइ आपकी भाव यत्-प्रजा ही दगी ।

प्रत्येक राष्ट्र का मालिक साहित्य ही उस राष्ट्र का प्राण है । जबतक राष्ट्र का साहित्य सुरक्षित रहता है तभीतक वह राष्ट्र स्वस्वरूप म प्रतिष्ठित रहता है । स्वसाहित्य का तिरस्कार कर राष्ट्रस्वरूपसघातक परसाहित्य को अपनाने हुए उन्नति के शिखर पर पहुचने की आशा करना केवल दुराशा मात्र ही है । एक परत त घोड का गधा बन कर स्तन्त्र होने की अपेक्षा हम उसकी परतत्रास्था कहीं उत्तम समझते है । हम पहिले अपनी स्वरूपरक्षा चाहते है । हम चाहत है-हमारा भारतीयत्त्व अक्षुण्ण बना रहे फिर हम आगे बढ । इसके लिए केवल रेजी (लहर) पहिनना ही पर्याप्त नहीं है । तकली चलाने से ही हमारे कृत्य की सीमा समाप्त नहीं होती । हम अपने साहित्य की तत्प्रणता ऋषियों की नि दा करत जाय अपने धार्मिक आ शों को छाडते जाय और फिर उन्नति का डिडिम घोष कर कभी हमारा अ युदय नहीं होसकता । यदि आप गीता के परममन्त्र है तो मानिए भगवान् के निम्न लिखित आदश को-

य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वृत्तं ते कामकारत ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम् ॥१॥

तस्माद्वास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यं यवस्थितो ।

ज्ञा या शास्त्रविधानोक्तं कर्मकृतं मिहाहसि ॥२॥

स यता संस्कृति आदेश ही राष्ट्र क जीवन है । इनका मूलस्वात राष्ट्र का मौलिकसाहित्य ही है । प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपनी स्वरूप रक्षा के लिए अपने मौलिक साहित्य की रक्षा करना अनन्त आवश्यक है । शिष्य-गणित-य-कला-विज्ञान-धम्म नीति आचार-व्ययहार-सब कुछ आपके साहित्य में प्रतिष्ठित है । बिना साहित्य के अ युदय के नाममात्र का भी अधिकार नहीं मिल सकता । वन सब परिस्थितियों पर मुकुलि तनयन बन कर शातचित्त से विचार कीजिए फिर हम से- देश का साहित्य की इस समय क्या आज श्यकता है ? य प्रश्न कीजिए । यदि आपने यत्किञ्चित् विचार से काम लिया तो स्वय ही आपको अपने इस भावुकतापूर्ण प्रश्न का उत्तर उपलब्ध होजायगा ।

बहुत हुआ। चालए आज हम आपका आपके भारतमय म त चल। गपको यह बतलाए। आप का राजशासन कहातक यात था? आप कन कन दशा पर अना प्रभव रवत य? एव अपन मालिक साहय की उपज्ञा कर किस प्रकार आपने अपना रायप विस्मृत करा। आपकी सयता क उर्णाश्रमधम्म क चातुराश्रमययस्य क लोकत्रिभाग के मूलप्रवक्त क भगवान् ब्रह्मप्रनापातने स पूण भूपण्ड को विवदवृत्त के आधार पर दृश्य अन्श्य मे सो भागो म नमक्त किया। भूपण्ड का उहोन कमल माना। कमल मान कर उसके प्रधान ४ पत्रा की कपना की। विवदवृत्त ३ अश का है। प्रत्येक पत्र ६ अश का हुआ। विवदवृत्त के कनीभूत सुमरु को कर्णिका (कमलगता) माना गया। यही भूयस्य पुराणो म पादमभुवनकोश नाम स प्राप्त हुइ। आपा न पुष्करपणम् इस त्रौन सिद्धान्त के अनुसार स भूपण्ड का न माण पत्रमे ही हुआ है नसाकि पूज के स्त ययजु हरणोणा रयान म निदानावत्रा के प्रसङ्ग मे विस्तार से बतला दिया गया है।

न्सी प्राकृतक पत्रमभाव का लक्ष्य म रखकर प्रजापातने प मरूप से ती पृथिवी का विभाग किया। स्वय प्रजापात मरुस्थ हिरण्य-वृद्ध पत्र पर प्राताष्ठत हुए इसा अवरसा का लक्ष्य म रखकर प्राय सस्कृति की प्रतिमूर्ति स्वर्गीय श्रद्धय श्रीबालगङ्गाधर तिलकन आया न मूल प्रतिष्ठा सुमरु का माना है। यद्यपि—आय्यलाग सुमरु स्थान से आग बढकर आए स सिद्धांत स हम सहमत नहा है। तथापि सुमेरु—आया की प्रतिष्ठाभमि था यह स्वमाय सिद्धांत है। महापुरुष तिलक क नम अश पर हम काइ प्रतिपात्त नहां है। सचमुच पुराणयुग म आयमस्कृति के मूलप्रवक्त क भगवान् प्रजापात सुमरु पर ही प्रतिष्ठित थ। नस सुमेरु स उत्तर-दक्षिण-पूर-पश्चिम रूप से ८ ६ अश के चार खण्ड किए गए। ये ही चारो भपद्म क पत्र क लाए। इसी रहस्य को लय म रखकर आयसयस्यशास्त्र (पुराणशास्त्र) कहता है—

*पद्म नाभ्युत्थम् । चैक समुत्पादितमास्तत ॥

सहस्रवर्णं त्रिभज भास्कराभ हिरण्यमयम् ॥१॥

पद्म हिरण्यमय तस्मिन्नसृजद् भूरिवर्चसम् ॥

स्रष्टार स लोकाना ब्रह्माण सर्वातोमुखम् ॥२॥

तच्च पद्म पुराभूत पृथिवीरूपमुत्तमम् ॥

यत् पद्म सा गसादवी पथित्री परिकथ्यते ॥३॥

एव नारायणस्यार्थे महीपुष्करमम्भया ॥

प्रादुर्भावोऽप्यग तस्मान्नाम्ना पुष्कर' सञ्ज्ञित ॥४॥

—पद्मपुराण सू ख ४ अ

—मत्स्यपुराण १६६ अ

* न सम्पूर्ण पुराणवचनो का अयाम अघिनपत्र अघिभूत तीनो विवर्तो के साथ सम्बध सम-भूना चाहिए। प्रकृत मे आधिभातिक-दृष्टि का प्रधान मानत हुए ही ये श्लोक उद्धत हुए ह।

तदत् पार्वि पद्म चतुष्पत्र मयोदितम् ॥

भद्राश्वभारताद्यान पत्राण्यस्य चतुर्दशम् ॥१॥

—मार्गण्डेयपुराण

भारता केतुमालाश्च भद्राश्या कुरवस्तथा ॥

पत्राणि लोकपद्मस्य मर्त्यादाश्लबाद्यत ॥

—ब्रह्मपुराण १६ अ ५ श्लो

इसप्रकार मरु स चा । ओर वि वदवच्छन्न दृश्य—उत्तरी—गोलाद्ध म पुराणन समरूप स ४ पत्र मा है । सुतरा पत्रा मक प्रयेक खण्ड का ६ ६ अशामक होना सिद्ध होजाता है । सी रहस्य को लक्ष्य म रखकर भूगोला याय कहता है—

भूपत्तपादे पू स्या × यमकोटीति विश्रुता ॥

भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकारतोरणा ॥१॥

—याम्याया भारते वर्षे लङ्का तद्वन्महापुरी ॥

×पश्चिमे केतुमालारय रोमकारया प्रकीर्तिता ॥२॥

+उत्क सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तिता ॥

भूपत्तपादविवरास्ताश्च योऽय प्रतिष्ठिता ॥३॥

तासामुपारगो याति विषुवस्थो दिवाकर ॥

न तासु विषुव छाया नाक्षस्योन्नातरिष्यते ॥४॥

—सूय्यासद्वाते भूगोला याय

आग जाकर उपर्युक्त चार वर्षा के आठ वर्ष होजाते हैं । दूसरे * श दो में चतुदलकमल अष्ट दलकमल में परिणत होजाता है । ब्राह्मभुवनकोश (ब्रह्मपुराण म प्रातगाति भुवनकोश) के अनुसार भूपिण्ड को अष्टदलकमल ही माना गया है । इसी पुराण के अनुसार य दृश्य भूपदम जम्बूद्वी । नाम स प्रसिद्ध ह जसा कि आग जाकर स्पष्ट हाजायगा । ज बुद्धीपरूप दृश्य उत्तरी—गोलाद्ध के केन्द्रभूत कर्णिका रूप मरु का मान बतलाता हुआ ब्रह्मपुराण कहता है कि—यह मरुदण्ड वि वदधरातल स — ८४

× जापान पूर्व में । — लङ्का दक्षिण म । + रोमदेश पश्चिम में । × सिद्धपुर उत्तर में ।

* वामनपुराणने इसी अष्टदलकमला मक नववर्षामक भूपदम का अनुरूपण किया ह ।

— यान रहै जिसप्रकार पुराणपरिभाषा के अनुसार आयु सम्बन्ध में सहस्राब्द श दो का साङ्केतिक अर्थ है तथैव मानसाधक इन साहस्रियों का भी साङ्केतिक ही अर्थ है । बिना इस साङ्केतिक विद्यारहस्य को समझ इन पौराणिक मानों पर ऊहापोह करना निरर्थक है । विस्तारभय स इन सब विषयों का प्रकृत में निरूपण नहीं किया जासकता । इसके लिए ता स्वतंत्ररूप स लिखा हुआ पुराणरहस्य नामक ग्रंथ ही द्रष्टव्य है ।

(चौरासी हजार) योजन तो ऊँचा है जिसमें १६ (सोलह हजार) याजन भूगर्भ में प्रष्टि ३ (बत्तीस हजार) योजन ऊपर के शरीरभाग में चोड़ा है एवं (सलह हजार) योजन का ऋसका यास (डायामटर) है। भारतपृष किपुरुषपृष हरिपृष-ये तीन वर्ष तथाग्ध मरु से दक्षिण में है। रम्यकृषर्ष हिरण्मयपृष कुरुष ये तीन वर्ष में से उत्तर में है। भन्नाशपृष मरु से पूर्व में है। एवं कतुमालवर्ष मरु से पश्चिम में है। प्रत्येक वर्ष का मान ६ (नौहजार) योजन है। इन आठ वर्षों के अतिरिक्त ६ वा इलावृत नाम का प्रधान वर्ष इन आठ वर्षों के मध्य में मरु प्रदेश के चारों ओर पाया जाता है। ऋसका मान भी ६ योजन ही समझना चाहिए।

प्रकारान्तर से यो समाझिए कि—मेरु से पूर्ण भन्नाशपृष मेरु से आग्नेय कोण में किपुरुषपृष (पुराणान्तर में किन्नरपृष नाम से भी यवहृत हुआ है) मेरु से दक्षिण में भारतपृष मेरु से नऋतकोण में हरिवर्ष मरु से पश्चिम में कतुमालवर्ष मेरु के वायव्यकोण में रम्यकृषर्ष पृष ईशानकोण में हिरण्मयपृष है। अग्निकोण दक्षिण नैऋतकोण तीनों का दक्षिणदिक् शब्द से प्रकृत होता है वायव्यकोण उत्तर ईशानकोण तीनों का उत्तरादिक् शब्द से ग्रहण होता है। दूसरे शब्दों में अग्निकोण नऋतकोण का दक्षिणदिशा में अन्तर्भाव है एवं वायव्यकोण ईशानकोण का उत्तरादिशा में अन्तर्भाव है। आग के चित्रपट से इन ६ वर्षों का स्वरूप सम्यग्रूप से पट्टा होजाता है।

इन वर्षों के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। पुराणशास्त्र का यह सिद्धांत है कि मेरु सत्र वर्षों से उत्तर में प्रतिष्ठित है जसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

‘सर्षामेव वर्षाणा मरुत्तरत स्थित ।’

— ब्रह्मपुराण ।

इधर पूर्वप्रकरण में हमने किसी वर्ष को मरु से दक्षिण बतलाया है किसी को पश्चिम एवं किसी को पूर्व। ऐसी अवस्था में यदि मेरु उत्तर होसकता है तो दक्षिणस्थ किन्नर हरि-भारत इन तीन वर्षों से ही उत्तर होसकता है। फिर सब के लिए सामान्यरूप से सर्षामेव-उत्तरत स्थित यह कसे कहा गया ? उत्तर वही परिभाषातत्त्व है। स्तम्बयजुहरण में यह बतलाया जाचुका है कि उत्तर शब्द केन्द्र का वाचक है एवं दक्षिण शब्द परिधि का वाचक है। ऊँ उच्च ऊँचा कर्त्तव्ये स्त्र शब्द अभिन्नाथक हैं। अध-दक्षिण-नीचा-परिधि-ये सब शब्द अभिन्नाथक हैं। त्रिष्वत्-वृत्त-परिधि का केन्द्र मेरुस्थान है। यही सत्र वर्षों का केन्द्र है। केन्द्रभाव ही उत्तर है। मेरु के इस केन्द्ररूप उत्तरभाव को लक्ष्य में रखकर ही-मेरुत्तरत स्थित यह कल्पना गया है।

मेरु के चारों ओर हमने नवसहस्रयोजना तक इलावृतपृष की सत्ता बतलाई है। इस इलावृतपृष की चारों दिशाओं में चार सर एवं चार महावन हैं। मेरु से किन्वा इलावृतपृष से पूर्व में चैत्ररथ नाम का महावन है एवं अरुणोदय नाम का सर है। दक्षिण में गन्धमानवन है एवं मानससर है। यही गन्धमानवन पुराणांतर में नन्दवन नाम से यवहृत हुआ है। पश्चिम में वभ्रानवन है एवं असितोद नाम का सर है। यही असितोद पुराणांतर में शीतोद नाम से व्यवहृत हुआ है। उत्तर में

सात्रिग्रन है एव महाभन् नाम का सर है । की कमी सावित्रवन को भी न दनग्रन नाम स यन हत कर दिया गया है । इन चार महासरा एव महाग्रनों से वष्टित इलाहृतवर्षाविच्छन्न मरुप्रदश नी पुराणो म पार्थिवस्वग नाम से प्रसिद्ध हुआ है जसा कि आग जाकर स्पष्ट होजायगा । नस पार्थिवस्वग की सीमा पर सीमाम्पादक ६ वर्षपवत ह । १ हिमग्रान् हेमकूट ३ निषग्र ये तीन पवत मेरुस्वग की दक्षिण-सीमा म हैं । १ नील २ श्वेत- शङ्गवान्—ये तीन पवत स्वग की उगर सीमा मे प्रतिष्ठित है । इनका अवस्तार पूर्वापर (पवपश्चिम) है । अनेक पान्पत्रा की श्रणिया न कुलपत्रों के साथ सल न है । व अवातर पवत-श्रणिया पुराण में शाखाशैल नाम से यवहृत हुइ है । निषध एव नीलपत्र से आर म कर दक्षिणोत्तर कैले हुए १ मा यवान् गन्धमादन नाम के दो कुलपवत मरुम य स्थ न मे है । ६ वा स प्रधान हिरण्यशृङ्ग-पवत है । इही ८ वर्षपति का द दशन करात हुए पुराणपुरुप भगवान् यास कहत है—

हिमग्रान् हेमकूटश्च निषधो दक्षिणे त्रय ।
नील श्वेत , शृङ्गवाश्च मरोरु ररतस्त्रय ॥ १ ॥
पूर्वापरायता एते षडपि प्रायशोऽचला ॥
शाखाशलैरसरयातैर्विप्रकार्णैरुपाचिता ॥ २ ॥
आनीलनिषधायामा माल्यग्रद् गन्धमादना ॥
तो दक्षिणो रावामा मेरुर्मध्यगतस्तयो ॥ ३ ॥
पार्थिवस्वर्गसीमानो न त्ते वर्षपवता ॥
पवतश्राणरूपास्ते पादपर्वतसकुला ॥ ४ ॥
हिमवान् दक्षिणे सीमा शृङ्गग्रान्तारे स्थित ॥
माल्यदान् पूर्वासीमाऽस्ति पश्चिमे गन्धमादन ॥ ५ ॥
एषा बाहर्धा भूभागो वर्ष तत् 'पद्मपत्रवत्' ॥
पद्मा त कर्णिकामेरुमण्डल ब्रह्मसद्य नत् ॥ ६ ॥
लोकपद्मस्थितो ब्रह्मा चातु सग्य ससर्ज ह ॥
*वेद -धर्म प्रजा-लाक भेदा सर्गाश्चतुर्विधा ॥ ७ ॥

—पुराण

* इन चारो सष्टियो का विशद निरूपण शतपथविज्ञानभाष्य के पूर्वप्रकाशित-प्रथमकाण्ड में किया जासुका है ।

मेरुस्वर्ग की सीमा के सम्पा क चार पर्वतों पर मान म रविए। य चारा प त मन्दर ग धमात्न त्रिपुल सुपाश्व न नामो स सिद्ध ह। तम समय एणग्राम ड म र्थियस्था थी उस समय मरु को बधित करन वाले उप युक्त चो प ता पर क्राश ऋम्ब चम्बु प पल त्त नाम के चार कतुवृत्त (राजा-स्थानाय वृत्त) थ। मरु क प्रपा व य मन्त् चत्तलप त प ष्टुत्त था दक्षिणपार्श्वस्त्र ग वमा नपवत पर चम्बु (नामून) वृत्त था। पार्श्वमपार्श्वस्त्र वि लपवत पर प पलवृत्त था एव उत्तरपार्श्वस्थ सपा उपवत पर चम्बुत्त या प्रये वृत्त की ऊचा १ गय थी। ये हा गग की राजाए थी। दूर स ही ये स्वर्गमाहमा प्रक कर दन थ। स्वय युवधिरन न्नी ऋतुवृत्ता स गप्रत्नग का पारचय प्रा त कया था।

न चारो म दक्षिणभाग म ग वमादनपवत र प्रातष्ठित ज वृत्त की च बुद्धीप नाम का मरण है। मरु से दक्षिण में भारतवर्ष ह। अतएव और किमी वर्ष क साथ वज्रोत्तरूप मे चम्बु मा स गव न मान कर— चम्बुद्वीप भरतखण्ड आ र्थात्ते कुमारिकाक्षत्र ऋषादि रूप म भारतवर्ष के साथ ही चम्बु नाम का उल्लेख किया जाता है। स चम्बुवृत्त के म वध स ही म पवत स निम्नलन वाली नदी च बुनन्त कहलाती है। यहां मे निकल कर यह नदी मरु स पाव के तुमालवप (योरोपख) की ओर जाती है जसा कि अनुप म ही स्पष्ट होने वाला है। स नी की मिी म सुवर्ण-काणकाए उपल ब होती ह। चम्बु के स वध स नी यह मवर्ण चाम्बुनन्त नाम स यवन्त हुआ है। ह सबर्ण-कणिकाओ के सम्बध से साधारण जनता म सुमरु का सोने का बतलाश जाता ह। अचला-मरुत्रिटु के सुवर्णभा का वज्ञानक कारण ता ऋद्ध और ही है। त्स का तग जन प्रप्रतिपाा त मुननकाशप्रकरण म किया जाचुका है। इसी चाम्बुनन्त सुवर्ण की एव ज वृनदी का प्रशामा करता ऋषा पुराण क ता है —

न स्वेदो न च दौग ध्य न जरा नन्द्रिय क्षय ॥

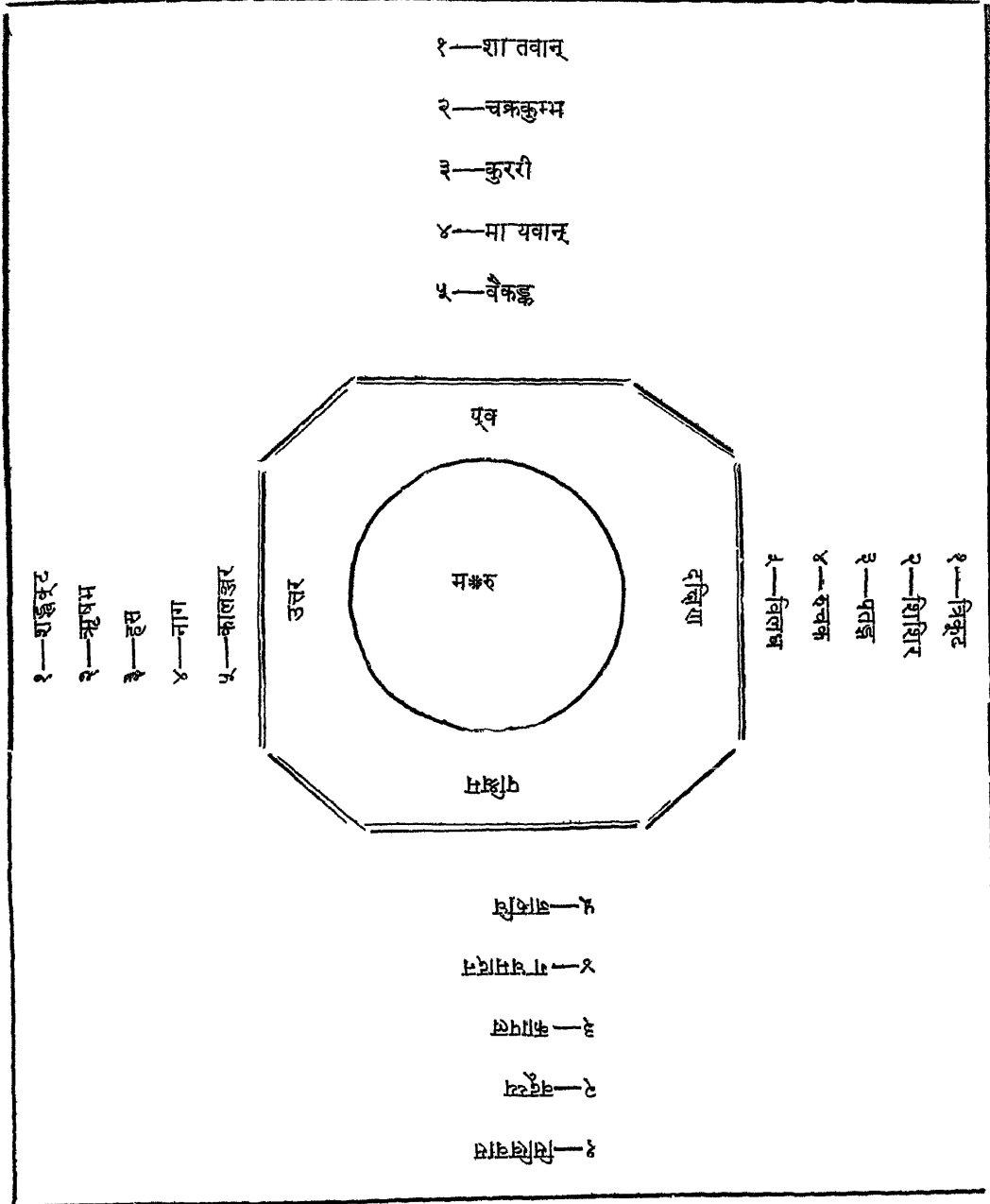
तत्पानस्वस्थमनसा जनाना तत्र जायत ॥

चम्बूनदारय भवति सुवर्ण सिद्धभूषणम् ॥ १ ॥

हिमालय के उपवनो म रहने वाली सिद्ध-किन्नर-गंधर्ज-असरा आा ति यग जातया ऋषी चाम्बुनदसुवर्ण के आभूषण पहिना करती थी। सीमासम्पादक पवतो के आतारक्त मेरुस चारो और २ कसरपवत और थ जैसा कि आगे की तालिका स स्पष्ट होजाता है।

केसर-पवता के अतिरिक्त मेरु स चारो ओर बडी दर पथ्यत यान्त्र आठ मय्यान्पवत और हैं। जठर एव देवकूट नाम के दो मय्यादापवत नील एव निषध नाम के पवता मे आर म कर दक्षिणोत्तर फलते हुए बडी दूर पथ्यत चले गए है। ये दोनो पवत मरु स पूव म अस्थित है। गंधमादन एव कैलास नाम के दो पवत मेरु से दक्षिण म ह। इनकी ल बा ष योजन (लगभग २५ क्रोश) है। इन का प्रसार पूवपाश्चम है। निषध एव पारियात्र नाम के दो म यान्पवत पश्चिम में ह। नील निषध से फल कर ये दक्षिणोत्तररूप से व्यात है। त्रिशृङ्ग चारुध नाम के पवत उत्तर मे प्रतिष्ठित होते हुए पूवपश्चिम की ओर यात होत हुए पूवसमुद्र (प्रशातमहासागर) एव पश्चिम समु (मेडिट्रेनियन्सी) पथ्यत फले हुए हे।

२०-केसरपर्वता —



जिस युग का चरित्र हम पाठको के सम्मुख रख रहे हैं उस युग में प्रधानरूप से नीततन्त्र एव गौरवरूप से रानतन्त्र प्रचलित था। गणतन्त्रानुगत प्रजातन्त्र नाततन्त्रानुगत रानतन्त्र स मर्यान्त था प्रकृतवत् तत्र गो मे। नीततन्त्र के सञ्चालक दक्षपाल लोकपाल थ। ए राजतन्त्र के स चालक स्वयम्भु मनु थ। जो िकपाल थ व ही लाकपाल भी थ। उनाहरण के लये वरुण आर चन्द्रमा को ही लीजिये। ये दोनो दवता क्रमश पाश्चम उत्तर ाशा के अधिपात होते हुए िकपाल थे। एव भूपण्ड पर पानी का अजतना विभाग था उस सबका प्रबन्ध पाश्चमस्थ वा लीक-राजधानी में निवास करन वाले ारुण के उत्तरदायिव स अनु प्राणित था। वरुण आपोवभाग की व्यवस्था करते थ। सीप्रकार आषाधया के व्यवस्थापक तत्सम्बन्धी अभियागो के अनर्गायक चन्द्रमा थे। सप्रकार अत्र विभाग के वरुण लोकपाल थ चन्द्रमा अधिधिभाग के लोकपाल थ। इन आठो दिकपाल-लोकपाला के स्वतन्त्र राष्ट्र थ। प्रयेक की स्वतन्त्र विचारसभा (कोन्सल) थी। इन सब में स्वर्गाधिपति इन्द्र प्रवान माने जाते थे। वरुणाद जहा सम्राट् कहलात ये वहा इन्द्र स्वाराट् पद से विभूषित थ।

इन्द्र की सभा में नियामत तिथियो में गेष साता दक्षपालो को उपस्थित होकर विचारान्निमय करना पडता था। इसी प्रमुखता के कारण सुधम्मा नाम की इन्द्रसभा तत्समय में देवसभा नाम से प्रसिद्ध हारही थी। सावी इन्द्र का रा था। जहा आज न्यूसान्जीरया प्रात है जो प्रात आज अस्य जंगली मनुष्यो की आवासभूमि बना हुआ है वही स्थान किभी समय देवसभा की राजधानी था ससार की सर्वोच्च सभ्यता का वही केन्द्र था। असुरों के आक्रमण से यह स्थान बचा हुआ था अतएव तत्समय में वह प्रवेश अपराजितादिक नाम से प्रसिद्ध था। स्वयं ब्रह्मप्रजापति की सभा कान्तिमती नाम से प्रसिद्ध थी। ब्रह्मराष्ट्र प्राग्यातिष नाम से व्यवहृत होता था। भद्रगिरि एव चन्द्रगिरि के मध्य में निवास करनेवाले विष्णु एव चतुर्दश-सहस्रयाजन परिमिता सुमरुमध्यस्था ब्रह्मपुरी में निवास करनेवाले ब्रह्मा का आसन स्वराट् इन्द्र स भी ऊँचा था। इनकी इन में भी विशेषत ब्रह्मा की आज्ञा सब को माय थी। ब्रह्मा और विष्णु विराट् नाम से प्रसिद्ध थ। चन्द्रादि कुल लाकपाल राजा थे। वरुणादि कुल लोकपाल सम्राट् थ। इन्द्र स्वाराट् थ। ब्रह्मा-विष्णु विराट् थ। इन दोनो में विष्णु प्राय इन्द्र क पक्ष में ही अपनी स मति दिया करत थ। क्योंकि ये यज्ञ के अधिष्ठात बनते हुए प्रकृति से ही असुरद्वेषी थे। विष्णु की गुप्तमन्त्रणा से ही इन्द्रने अन्नहर्त्ता वराह नाम के सप्रसिद्ध असुर को नष्ट किया था। उधर सवलोकपितामह ब्रह्मा देवता और असुर दोनो पर समान दृष्टि रखते थ। जब देवता असुरों से आक्रान्त होकर प्रजापति की शरण में जाते तो प्रजापति दोनो को नीतिमाग से शान्त कर दत थ। ब्रह्मा को दोनो के अहतो का पूरण यान था। फिर भी असुर असु थ। आगे जाकर ब्रह्मा की उासीनता से अनुचित लाभ उठात हुए इन दुष्ट-बुद्धि असुरों न दबबल सवथा परात कर दिया जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जाचुका है। असुर सरया में भी अधिक थे। एव स्वभाव से भी दुष्ट थ। अतएव प्रजापतिने पृथिवी का दायभाग (बटवारा) करते हुए दवताओं की अपेक्षा अधिक भूभाग इन्हें दिया। पान्धुवनकोश के याज से उसी आसुरत्रिलोकी एव दैवत्रिलोकी का स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

१—मेरुत्रिलोकी—

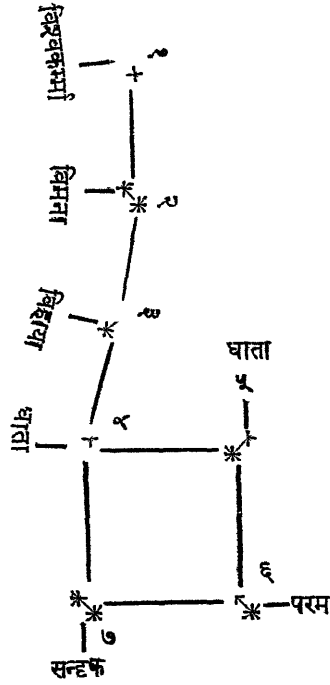
मेरुत्रिलोकी को हमन पू मे दृश्य— त्तरी—गोलाद्र का के द्र माना है। पुरागयुग से सम्बन्ध रखने वाले जिस नक्षत्रात्मक पाद्मभुवनकोश का अबतक निरूपण किया गया है उस समय की स्थिति में और आज की स्थिति में बढ़ा अंतर होगा है। पाद्मभुवनकोश यवस्था—युग में जिस स्थान पर मेरुबहु थी आज वह वहां से हटकर आगे निकल गई है। आज मेरुप्रदेश सवथा परिवर्तित होगया है। इस का एकमात्र कारण है ध्रुवपारभ्रमण। पृथिवी का पारभ्रमणमाग क्रातिवृत्त है। इस क्रातिवृत्तीय प्रक्षीकण का ही नाम कदम्ब है। सी को नाक—प्रिष्णुपद आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। क्रातिवृत्त की प्रत्येक बिन्दु से उत्तरदिक्स्थ कदम्ब ६—अश पर प्रतिष्ठत है। इस कदम्ब के चारों ओर विद्युत्प्राणरूप ध्रुव २४ अश के यासाद्ध स वृत्त बनाकर पारक्रमा लगाया करता है। ध्रुवविद्युत् की यह पारक्रमा २५ हजार वर्ष में समाप्त होती है। अधर प्रिष्णुद्वितीय प्रक्षीकण को ध्रुव कहा जाता है। पृथिवी के विष्णुद्वत्त की प्रत्येक बिन्दु से त्रव ६ अश पर है। पृथिवी का के द्रस्थ उत्तराग्निस्थान सुमेरु है। यह उत्तर ध्रुव से बद्ध रहता है एवं दक्षिणाग्नि की अन्तिम सीमा कुमेरु है। य दक्षिणध्रुव से बद्ध रहता है। ऐसी अवस्था में ध्रुव यदि स्थिर होता तत्र तो भूपिण्ड का मेरु प्रदश भी स्थिर ही रहता। परंतु ध्रुव उपपत्युक्त कथनानुसार कदम्ब के चारों ओर क्योंकि घूमता है अतएव तत्स बद्ध मेरु का भी देशयाग स्वीकार करना पडता है।

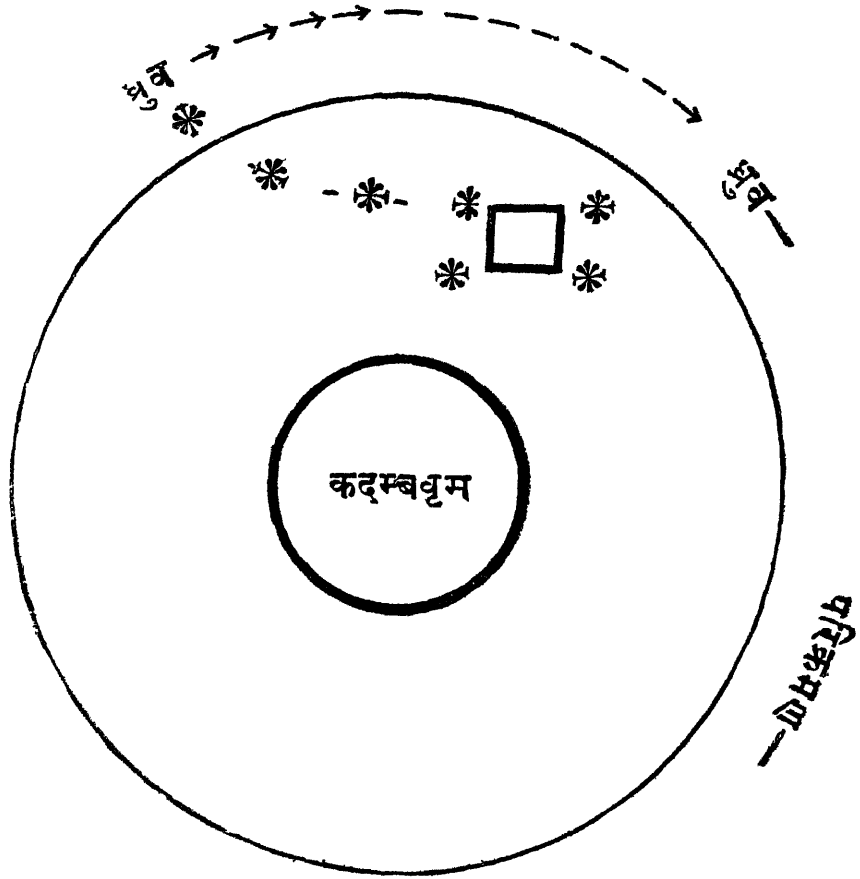
किसी समय यह हसनक्षत्र के अधःस्वास्तिक पर था। मेरु से खस्वास्तिक पर हसनक्षत्र था। किसी समय मेरु के एस्वस्तिक पर आभजित् था। आज मेरु के खस्वास्तिक पर विश्वकर्म्म नक्षत्र है। किसी समय यह भी बदल जायगा। वत्तमान में ध्रुव नाम से प्रसिद्ध नक्षत्र वे ~~अभय~~ अभय नाम से व्यवहृत हुआ है। वस्तुतस्तु त्रय किसी नक्षत्र का नाम नहीं हैं। अपितु निराकार विद्युत्प्राण को ही ध्रुव कहा जाता है। यह प्राण ही कदम्ब के चारों ओर स्थिरवृत्त पर परिक्रमा लगता है। यह प्राण जिस नक्षत्र के समीप रहता है परिचयाथ वही नक्षत्र ध्रुव नाम से व्यवहृत होजाता है। जब यह प्राणस्क भ हसनक्षत्र पर था उस समय हसन ही ध्रुव कहलाता था। वहां से आगे चलकर जब ध्रुवप्राण अभिजित् नक्षत्र पर आया तो अभिजित् नक्षत्र ध्रुव कहलाया। आज यह विश्वकर्म्म नाम के नक्षत्र पर है। अतएव आज भी ध्रुव कहलाता रहा है। स ध्रुवसर् में गया हुआ आ मा भय से विमुक्त होजाता है अतएव इसे अभय नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। यहा आम युति नहीं है वसी आभप्राय से इसे ध्रुव कहा जाता है। ध्रुव स्थिर है यह भाव ध्रुव व्यवहार का कारण नहीं है। क्योंकि ध्रुव का कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाना सर्वसम्मत है। आज जिस स्थान पर ध्रुव है वहाँ सात तारे ह। जो सन्निवशक्रम सप्तर्षि—मण्डल का है वही सन्निवशक्रम इन सात तारों का है। कही कही ब्राह्मणग्रथों में इन्हें ऋक्षपानी नाम से भी व्यवहृत किया गया है। इन्हीं सातों का निरूपण करती हुई मत्रश्रुति कहती है—

विश्वकर्मा विमना, आद्विहाया धाता, विधाता, परमोत् सद्दक ।
 तेषामिष्टानि सभिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषान् पर 'एक'—माहु ॥
 —ऋग्वेदस १ म । ८७ सू । २ म ।

इह्ना सातों का प्रकारान्तर से निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

'आग्न पुच्छस्य प्रथम काण्ड तत इन्द्रस्तत प्रजापति ।
 अभय चतुर्थम्'





१. ध्रुव

हा तो तथोक्त निदर्शन से आप को विदित होगया होगा कि ध्रुवपारभ्रमण के कारण मेरु बदलता रहता है। इस से बतलाना प्रकृत में हमें यही है कि जिस समय प्रजापतिने पाद्मसुवनकोश की यवस्था की थी उस समय तो मेरुबिन्दु सचमुच ब्रह्मनिवासस्थान पर ही थी। आज भी प्रदश तत वही है परंतु मेरु बदल गया है। अभिजित् उस समय ध्रुव था। यह मेरु के एस्वस्तिक पर था। सब से पहिले इसी मेरुमूला त्रिलोकी का स्वरूप अवगत कीजिए।

यह बतलाया जातुका है कि निरक्षवृत्त से मेरु ठीक ६ अश उत्तर है। हमारा निरक्षवृत्त लङ्का है। इसी को हमने प्रथममध्याह्नरेखा का उपक्रम माना है। आज के अनुपात से यद्यपि लङ्का निरक्षवृत्त से ५ अश उत्तर मानी जाती है। परन्तु भारतीय भूगोलसिद्धान्त के अनुसार यह सवथा निस्सार है। क्योंकि आज लङ्का सीलोन को माना जा रहा है। सीलोन अवश्य ही निरक्ष दश से प्राय २ अश उत्तर है। उधर हमारी दृष्टि

स सीलोन सिहलद्वीप है। लङ्का ससं मथा प्रथक णाप है। यह अश्व ही निरक्ष दश पर थी। आज लङ्का क्षिणसमुद्र के गम म विलीन है। उस स्थान स उत्तर की ओर एक मावी रेखा मेरु पथ्यत्त लेजाए। इसी का नाम भूमध्यरेखा किवा वत्तमान-पारभाषा के अनुमार प्रथममध्याह्नरेखा होगा। यह रेखा लङ्का कोलम्बो मनास उचन सिन्धुपुर कुरुक्षेत्र आदि दशों का स्पश करती हुई मेरुपथ्यत्त याप्त होरही है जसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

**यल्लङ्को जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पशत् ।
सत्र मेरुगत बुधर्निगदित सा मध्मरेखा भुव ॥**

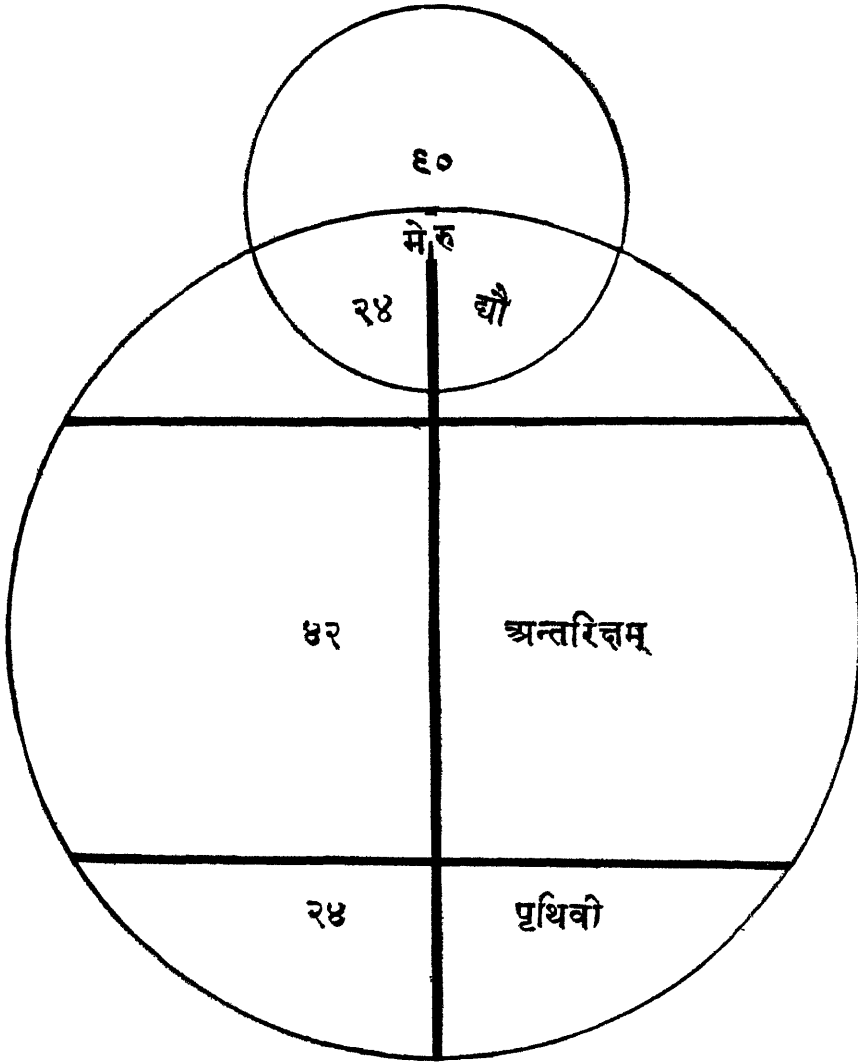
इनमें उचनरेखा से भारतीय योतिष की व्यवस्था का आरंभ माना जाता है। अतएव नसा पाश्चात्यो मे म यरेखास्थान ग्रीनवीच नामसे प्रसिद्ध है एवमव पौरस्त्य उचन को म यरेखास्थान मानते हैं। यह उचन निरक्ष दश से प्राय २३ अश ६ कला उत्तर अक्षांश पर स्थित है एव ग्रीनवीच म यरेखा की अपेक्षा लगभग अश ४३ कला पूर्वाय दशांतरस यह उचनरेखा आरम्भ होती है। नतमान स्थूलमान के अनुसार उचनरेखा ८ (अस्सी) पूर्वी देशान्त पर मानी जाती है। सप्रकार ग्रान्त्रीच मध्यरेखा एव भारतीय-मध्यरेखा में-प्राय ७६ अश का अंतर सिद्ध होजाता है। इसी अन्तर से हम आगे जाकर भारतवर्ष की सीमा निकालनी है अतः अप्रासङ्गिक होते हुए भी अत्र ग्रीनवीचरेखा का स्मरण कर लिया गया है।

निरक्षदश से आरंभ कर मेरुपथ्यन्त ६ अश हुए। उन अशा को ब्रह्माने २४ ४२ २४ इन तीन भागों में विभक्त कर मरुमूला त्रिलोकी की व्यवस्था की। मेरु को केन्द्र मान कर २४ अश के यासाद्ध से ४८ अश के परिसर का एक वृत्त बनाइए। यह मेरुत्रिलोकी का स्वर्ग प्रदेश होगा। निरक्षदश से आरंभ कर २४ अश उत्तर पर एक रेखा पूर्वापर खैच दीजिए यही मरुत्रिलाकी का प्रथित्रीलाक होगा एव २४ से आगे उत्तर की ओर ६६ व अश पर एक रेखा प्रचाप खच दीजिए। ४ अशात्मक यही देश अन्तरिक्ष होगा। इस व्यवस्था का मूलकारण वही आदिदिक त्रिलोकी है। त्वष्वत् से आरम्भ कर २४ पथ्यत्त का आकाशप्रदेश प्रथित्री कहलाता है। आग के ४२ अश अन्तरिक्ष नाम से प्राप्त है। इसे ही आदिमगतिविज्ञान के अनुसार देवयानभाग कहा जाता है। एव त्रव को केन्द्र मान कर २४ अश के यासाद्ध स युक्त व्रवमण्डल स्वर्ग कहलाता है। ध्रुवमूला आकाशात्मिका यह त्रिलोकी लोक विद्या के अनुसार आदिमगतित्रिलाकी * नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतिविज्ञान के परमाचार्य इस के प्रथम प्रवचक भगवान् ब्रह्माने उसी प्राकृतिव ध्रुवमूला त्रिलोकी के स्वरूप का लक्ष्य म रख कर उपस्थित मरु-त्रिलोकी का स्वरूप इस भूपिण्ड पर व्यवस्थित किया।

* इस त्रिलोकीका विशद विवचन आदिदिकविज्ञान के आदिमगतिविज्ञानोपनिषत् नामके चतुर्थाखण्ड में देरना चाहिए।

(१) मेरुमूला-देवत्रिलोकी—

अत्रुवाद्दधो य पृथिवीप्रदेश स मेरुरित्थ प्रतियति लोका ।
ब्रह्माभिजिह्वाद्दधर प्रदेश स मेरुसीच पुराणुणे स ॥



अत्रुवाच्चतुर्वि शमितप्राणुन्य पासाद् दृत्ता तरमिष्यते द्यौ ।
ततोऽ तश्च परितो द्विचत्वारिणश्चतुर्विं शतिरस्ति पृथिवी ॥

२-प्राङ्मेरु-(पामीर)-मूला देवत्रिलाकी-

दूसरी है प्राङ्मेरुमूला त्रिलोकी । इसे हम वत्तमानभाषा में एशियाई-एजलाका भाग कह सकते हैं । पुराण ने प्रायः इसी त्रिलाकी को प्रधान मानत हुए तत्सम भूप्रदेशों का चित्रण का है जमाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । इस त्रिलोकी का स्वरूप बताना वत्तमान में यह स्थान पामीर नाम से प्रसिद्ध है । पामीर शब्द प्रागमरु की अपभ्रंश प्रतीत होता है । वत्तमान भौगोलिक त्रिसी पामीर का प्रिष्टप्रपता का निगमस्थान मानते हैं यह समार में सबसे प्रिशद-उच्च-पठार पथरीला उँचा मदान) है । आज के मद्धात के अनुमा भी यह पामीर-भारतवर्ष तिबत चीन रूस तुर्किस्तान अफगानिस्तान आदि महाभूप्रदेशों का केन्द्र है । पामीर से दक्षिण में भारतवर्ष है । पूरु में तातर है । उत्तरपूरु में चीन है । उत्तर में रूस है । पश्चिम में तातार नाम से प्रसिद्ध तुर्किस्तान है । एजलाका पश्चिम में अफगानिस्तान है । इस सस्थाक्रम से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना कि आज के भौगोलिक भाग एशियायीखण्ड में पामीर का सब प्रकार से प्रधानता द रहे हैं । सबप्रधान पामीर नाम से प्रसिद्ध यह प्राङ्मेरु ही हमारे पौराणिक-त्रिलोक्य का मूलाधार है ।

पूर्वयुग में यही स्थान मरु था अतएव यह प्राङ्मेरु नाम से प्रसिद्ध हुआ । प्राङ्मेरु तुरुष्क-राज्य (तुर्किस्तान-तातार तारतर-टारटरा आदि विविध भागों से प्रसिद्ध) के उत्तर में प्रातष्ठित होता हुआ आज पामीर नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । इस हम मरु के सब वत्तमान से उपमरु भाग कह सकते हैं । अथवा पत्तान्तर से पामीर को ही प्रधानरूपेण मेरुप्रदेश समाभूत । कारण यहाँ है कि प्रधान मेरु ध्रुव का अध प्रदेश है । वहाँ केवल मेरु बिन्दुमात्र से ही स्वस्वरूप प्रातष्ठित रहता । अथात् भूप्रदेश की दृष्टि से वह मेरुबिन्दु नहीं के समान ही है । वहाँ सौरप्रकाश अथवा पमात्रा में नहीं के समान ही पटु चता है । इधर पामीरप्रदेश शतयोजन अवतृत है । अतः मेरु शब्द से प्रायः पुराण ने इसी को प्रधानता दी है । वस्तुतस्तु-इलायतवर्षाप्रच्छिन्न मेरु और तुरुष्कराय समीपवर्ती प्रागमेरु नाम की विशेष अंतर नहीं है । इसे मेरु कह सकते हैं उसे प्रागमेरु कह सकते हैं । क्योंकि पुराणोंने एलावतवर्ष का विस्तार २८ हजार योजन माना है । ऐसी अवस्था में उस प्रदेश की यागत पामीर पथ्यत मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होती । यद्यपि है-पामीर उपमेरु परन्तु तदग्रहण याय से नसका मरु शब्द से भी ग्रहण किया जा सकता है ।

मेरु शब्द का अर्थ है-सर्वोच्चभाव । इधर पामीर हिमालय आदि के कारण सर्वोच्च नहीं होता हुआ भी अत्युच्च अवश्य है । अतः इसे मेरु शब्द से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं होती । यह पामीरप्रदेश समुद्रवृष्टि से अनुमानत ८ हाथ अवश्य ऊँचा है पृथिवी में सर्वाधिक उँच यदि कोई प्रदेश है तो पामीर । इसी उन्नतभाव को प्रधान मान कर इसे तारतर नाम से व्यवहृत किया गया है । यही अपभ्रंशरूप में परिणत होता हुआ तातार नाम से प्रसिद्ध होगया है । यही पाश्चात्यो के विशुद्ध उच्चारण की कृपा से टारटरी कहलाने लग गया है । यहातक तुरुष्कराय का प्रसार था अतएव पामीर-वाचक तारतर शब्द इस तुरुष्क (तुर्किस्तान) राज्य के साथ भी समन्वित होगया है । तुर्किस्तानी मनुष्यों

को तातारी क जाता है। राजशासन के भेद से पूर्वी तुर्किस्तान पश्चिमी तुर्किस्तान भेद से तुरु कदेश आज दो भागों में विभक्त दया जाता है। नमें पश्चिम तुरु क तो तुर्किस्तान के ही आधीन है। पूर्वी तुर्किस्तान चीनराय में अ तभूत है। ये ही दोनो विभाग क्रमश भारत की उत्तर सीमा बनते हैं। पूर्वीय भारत की सीमा प्रवाय-तुर्किस्तान है एव पश्चिम भारत की उत्तर सीमा पश्चिमी तुर्किस्तान है जसाकि आगे के सीमाप्रकरण में स्प हो जायगा।

सर्जों चतम मेरु का (पामीर का) पृष्ठ भाग ही सुमेरु-चाशकुरु नाम से प्रसिद्ध है। जसाकि हम पूर्व में कह आए हैं पुराण ने मरुशब्द से प्राय प्रा मेरु का ही ग्रहण किया है। ता कालिक-इलावृत वर्ष के केन्द्रभूत सुरय सुमेरु से यह प्राग्मेरु (पामीर) लगभग अश दक्षिण पूर्वापररूप से स्थित है। अस अनुपात से निरक्षदश से पामीर अनुमानत ६ अश उत्तर की ओर स्थित मानना पडता है।

इसी पामीर की उ चतम चट्टान से चारो ओर चार नदिया प्रवाहित हुड है। पूर्व की ओर बहने वाली नदी सीता नाम से प्रसिद्ध है। इसी को चीनीभाषा में ह्यान् ह्यू कहा जाता है। यह आगे जाकर ह्यान् ह्यू याड्सी मेकाङ्ग नाम से व्यवहृत होती हुड तीन शाखाओं में परिणत होती हुई क्रमश पीतसमुद्र एव चीनसमुद्र में मिल जाती है। आदि की दो नदिया यलोसी (पीतसमुद्र) में मिलती है शेष चीन समुद्र में लीन होती है। पामीर के उत्तर भाग से भग्ना नदी निकलती है। सीता पानीवाहिनी थी, ए भद्रा उत्तरवाहिनी है। यही भद्रा पुराणों में-१ भग्ना सोमा ३ भग्नासोमा इन तीन नामों से प्रसिद्ध हुई है यह उत्तर समुद्र में मिलती है। इसके भी सीतावत् तीन ही स्रोत हैं। ये तीनों स्रोत वक्त मान में ओगी लीता इतीसी नाम से प्रसिद्ध है। इनमें लीनीस्रोत इशानदिकस्थ सौरीरराष्ट्र की ओर जाना हुआ उत्तरसमुद्र में मिलता है। पामीर के पश्चिम प्रदेश से यल्लु नाम की नदी निकलती है। यह पश्चिम वाहिनी नदी है। यह नदी वद में यल्लु नाम से प्रसिद्ध है। पुराण में यही चल्लु रूप में परिणत हो गई है सोधकों की कृपा से। पाश्चायभाषा में यही एक्मल् नाम से प्रसिद्ध है। अवश्य ही एकस श द यल्लु का ही अपभ्रंश होगा। भुवनकोश के ज्ञाता पौराणिकोंने ज बुवृक्ष के स बंध से इसी यल्लु को जम्बु नाम से व्यवहृत किया है जैसाकि पूर्व में बतलाया जा चुका है। यही यवनभाषा में जहू अमू इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यह नदी काशीएसी (समुद्र) में मिलती है। चौथी है भारतवर्ष को कृतकृतय एव ध य बनाने वाली दक्षिण समुद्र में लीन होने वाली दक्षिणवाहिनी अलकनन्दा।

उपयुक्त सीता भग्नासोमा चल्लु अलकनन्दा इन चारो नदियों की समाष्ट ही पुराणों में-चतुर्गङ्गम् नाम से व्यवहृत हुड है। गङ्गा शब्द बहने वाले पानी मात्र का वाचक है। ऐसी अवस्था में केवल भागीरथी ही क्यों गङ्गा नाम से प्रासद्ध हुई ? इसके लिए छद्म दोग्योपनिषद् हि दीविज्ञानभाष्य के द्वितीय प्रपाठक में निरूपित वृत्तिसामप्रकरण ही द्रष्टव्य है। गङ्गा महानदी शाखानदी क्षुद्रा कुल्या भेद से नदिया पाच भागों में विभक्त हैं। अतिदीर्घा साक्षाद्रूप से समुद्र में मिलने वाली नदी गङ्गा कहलाती। गङ्गा से अनुगत शतयोजन से अधिक विस्तार वाली नदी महानदी कहलाती है। सहायक नदिया उपनदी शाखानदी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। वर्षा में प्रवाहित होने वाली एव अकाल में सूख जाने वाली नदिया क्षुद्र हैं। कृष आदि की सुविधा के लिए निर्मित कृत्रिम नदिया कुल्या नाम से व्यवहृत होती है। इस पुराणपरिभाषा के अनुसार साक्षाद्रूप से समुद्र में लीन होने वाली उपयुक्त चारों नदियों के लिए अवश्य ही चतुर्गङ्गम् कहा जासकता है।

मन्व चारो में दक्षिणवाहिना अलकनन्दा ही आगे जाकर सात शाखाओं में विभक्त होती है पुराण में सप्तगङ्गाम् नाम से व्यवहृत हुई है। अथवा यात्रा लीनएक पामीर में ज्वलन की ओर प्रवाहित होने वाली इस अलकनन्दा में हिमालय की अधिकांश भूमि में मानस सागर नाम का एक नदी का स्रोत मयुक्त होता है। ये सातों नदियाँ उसावारा सरस्वती त्रिषणुपाताला गरुना (गरुडगङ्गा) नदी कर्णा मन्दाकिनी इन नामों से व्यवहृत हुई हैं। इन सातों में मन्दाकिनी ही अलकनन्दा का सभाया का सप्रश्रुत बनाती है। पारमेष्ठ्य पवित्र सोमनाथार का सम्बन्ध मन्दाकिनी से ही होता है। तद्युक्ता अलकनन्दा ही कलिकर्मप्रहारणी जगदुद्धारिणी भगवती भागारथी नाम का प्रथम गङ्गा है। भागारथ का प्रयास स हिमाचल ढग से निकला हुआ यह माता भागी थी मन्वप्रथम हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड में भूतल से स्पर्श कर श्रद्धालुओं को बय बनाती कनकनना रूप अपने अर्द्धात्स स प्रगशा का म उपहास करती हुई आज भी उसी रूप से प्रवाहित होरनी है। विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जात है अतः प्राग्मेरुस्वरूपप्रकरण को यही उपरत करत मूला त्रलाकी— यवथा की आजा पाठको यान आकषित किया जाता है।

निरक्षदश से आरम्भ कर ३२ अक्षांश पयत (उत्तर की ओर) का भूप्रदेश पृथिवीलोक सम-भूत। यही पृथिवीलोक भारतानि के अधिभार में रहता है आ भारतप्रदेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी को मयलोक मानुषलोक भूलोक आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया। तत्तमान अनुपात से निरक्षदश से लगभग ३२ अक्षांश पर शिवालक नाम से एक पर्वत प्रसृत है। यही स रात्री नाम की प्राक्ष-नी निकली है। यही इन्द्राती नाम से व्यवहृत हुई है। स ही भारतवर्ष की उत्तर सीमा समाप्त। यहां के सम्राट भगवान् मनु के से बव स ही भारतीय प्रजा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध है। मनु यप्रजा को ठीक माग पर चलाने के लिए प्रकृतिसिद्धा नित्या वणसृष्टि के आधार पर ही उणात्मवम्भमूलक मानव-धम्मशास्त्र का रचना है। स्वर्गाधिपात स्वारा इन्द्र की ओर से भारतवर्ष के शासनपात् आनय। अतएव यह भारतवर्ष पुराणों में अग्निलोक नाम से प्रसिद्ध हुआ प्रागमरु से दक्षिण शन्यणागत से उत्तर का सम्पूर्ण भूभाग अन्तरिक्षलोक था। यहां त्रिद्यधार सिन्धु गवय अ सर कन्नर आदि तिव्यक जातिया रहती थी। सुप्रसिद्ध वैभ्राजवन चत्ररथवन उमावन स्कन्दवन आदि इन दवयोनियों की विहार भूमिया थी। यहां के शवसोनपात् प्रायुथ। अतएव यह लोक पुराणों में प्रायुलोक नामसे प्रसिद्ध हुआ है। इससे आगे का सम्पूर्ण प्रदश प्रग स्थान था। यहां के अधिपति स्वय इन्द्र था।

प्रकारान्तर से समझिए—दक्षिणसमुद्र से आरम्भ कर हिमालय पयत सम्पूर्ण प्रदश अग्निलोक था यही भारतप्रदेश था। हिमालय—समीपस्थ अलतायीगरि से आरंभ कर उत्तरसमुद्रात् से पूग प्रदश एतलोक था। हिमालय एव अलतायीपर्वत के मध्य का भाग वायुलोक था। अग्निलोक जस भारतवर्ष कहलाता था एव आज भी कहलाता है एवमव ऐन्द्रलोक पुराणसमय में एरात्रतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भारतीय प्रजा जैसे मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी तथव वाय यप्रजा मरुत् नाम से एव ऐद्री प्रजा देव नाम से प्रसिद्ध थी।

अक्षांशों के अनुपात से समन्वय कीजिए। ३३ से आरम्भ कर ४३ उत्तरी अक्षांश पर हिमालय की उत्तर-सीमा है। हा से ६ पर मेरु की उत्तर सीमा है। इस विभाग से भी त्रलाक्य व्यवस्था ठीक यव-

थित होजा है। इन तीनों लोकों में से अतर्हि और द्युलोक इन को तो थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। क्योंकि असुरों की कृपा से त्रलोक्य यवस्था आज नष्ट हो चुकी है। अतः शेषभूत केवल भारतवर्षरूप पृथिवीलोक को ही लक्ष्य बनाए। आज हमारे स्ववाधिकार में प्रजापति के द्वारा दायविभाग में प्राप्त महा-भद्रदश का एक थोड़ा भाग (आधा) भाग ही शेष रहा है और वह भी दुर्भाग्यवश खण्ड खण्ड रूप में परणत होगया है। अतः हमने अपनी भावुकता से ही अपने शेषभूत स्वपतम इस स्ववाधिकार को भी विस्मृत कर लिया है। वह भी इन राययस्थापूलक स्वाथमय वप्रमान भूगोल-सिद्धांतों के कारण चारों ओर से क्षत विक्षत होकर आज अपनी सत्तति की हीनवीर्यता पर अश्रुपात ही कर रहा है। देखिए अपने भारतवर्ष का वास्तविक स्वरूप। एवं पश्चात्ताप कीजिए अपने कुकर्मों पर।

भारतवर्ष का वास्तविक स्वरूप—

* सुलेमान-हिंदूकुश किरथरकर इन तीन पर्वतों को हिंदुस्तान की सीमा माना गया है। आज भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा सिंधुनदी बतलाई जाती है। सिंधुनदी के सम्बंध से भी भारतवर्ष हिंदु-स्थान कहलाता है। सिंधुनदी से उस पार (पश्चिम की ओर) के आदिनिवासी पारसी सकार का हकाररूप से उच्चारण किया करते हैं। उन्हीं के व्यवहार की प्रधानता से सिंधुनदीपलायत अतएव सिंधुस्थान नाम से यज्ञ करने योग्य भारतवर्ष आज हिंदुस्थान नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। ऐसी मायता है कुछ एक महानुभावों की जिससे यद्यपि हम सहमत नहीं हैं *। तदपि अस्त्युगमवाद से इस नाम व्यवहार में हम कोई आपत्ति नहीं कर रहे। आपत्त है भारतवर्ष और हिंदुस्थान शब्दों को परस्पर पर्याय मानने में। भारतवर्ष हिंदुस्थान होसकता है। किंतु हिंदुस्थान कदापि भारतवर्ष नहीं हो सकता। दोनों में ग्राह्य-ग्राह्यभाज सम्बंध है। भारतवर्ष के आधे प्रदेश का नाम आधे से भी न्यून प्रदेश का नाम हिंदुस्थान है। इस सिंधु हिंदुस्थान की सीमा होसकती है किन्तु सिंधु को भारत की पश्चिम सीमा मानना हमारे ऐतिहासिक भौगोलिक सिद्धांतों को देखते हुए सवथा ही अशुद्ध है। कैसे अशुद्ध है? इस प्रश्न के लिए दो चार ऐतिहासिक भौगोलिक कारण आप के सम्मुख रखे जा रहे हैं।

पूर्व में पादमभुवनकोश का अनुरूपण करते हुए हमने प्रधानरूप से दृश्य-उत्तरी-गोलायक के भारतवर्ष केतुमालवर्ष भद्रदशवर्ष कुरुवर्ष य पदमपत्ररूप चार वर्ष बतलाए हैं। प्रत्येक वर्ष ६-६ अशक का है। इस विभाग के अनुसार भारतवर्ष भी ६ अशक का ही प्राप्त होता है। पूर्वपर ६ अशक-मक प्रदेश भारतवर्ष है। इससे पूर्व ६ अशक प्रदेश भद्रदशवर्ष है। इससे पूर्व ६ अशक प्रदेश कुरुवर्ष है। इससे पूर्व ६ अशक प्रदेश केतुमालवर्ष है। भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा केतुमालवर्ष से सयुक्त है एवं पूर्वासीमा भद्रदशवर्ष से सलग्न है। इधर भारतवर्ष की मयरेखा उज्जैन मानी

* जहां तीन पर्वतों का सविभाग है वहां सुप्रसिद्ध खबर क दर्रा है। यहीं सुप्रसिद्ध कुभा (काबुल) नाम की नदी प्रवाहित है।

गई है। यहा से ४५ अक्षांश पव एव ४५ अक्षांश पश्चिम यह अश का भारतवर्ष मानना पडता है। हमारा पादूमभुवनकाश जत्र भारतवर्ष को ६ अश का बतलाता है तो फिर का कारण नही हम मग के कपित मान का आदर कर। हम हमारा दश ६ अश का चाहिए। चाह फिर उसकी सीमा सिधु हो अथवा और भी समीप हो। ६ अश नाप कर हमारे लिए पृथक् रूप मानए। वही हमारा प्रातेस्विक (निजी) भाग होगा। उसे दूसरे अपने अधिकार में करल यह हमारे लिए असह्य हागा। हम मग का लेना नही है तो अपना भाग छोडना भी नही है। हा तो उन अशा को मम्मल रबते हुए भारतवर्ष की सीमा का विचार कीजिए।

उज्जैन से ४२ अश ठीक पश्चिम रक्तसमुद्र (रेड्सी) है। उन रक्तमद्र से उार पश्चिम समीप ही महीसागर (मोड्टू नियसी) है। इस व्यवहार का कारण यी है कि महा पृथिवी को कहते। इधर पूर्वप्रतिपादित भौमत्रिलोकी-यवस्था के अनुसार भारतवर्ष प्रजिवालोक जिना महीलाक माना जाता है। इस महालोकरूप भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा पर उपयुक्त समुद्र है। यह महा की पश्चिमी सीमा का विभाजक है अतएव इसे अवश्य ही महीसागर नामस व्यवहृत करना उचित है। उपयुक्त रक्त समुद्र १५ मील लंबा है। यह समुद्र दक्षिण अफ्रीका की पूवा सीमा है। आज के अनुपात से अनुमानत अब्रस्तान अफ्रीका दोनो के मय में रक्तसमद्र है। मेडिट नियेन्सी और रेड्सी दोनो के मध्य में पहिले स्वेज नाम का लगभग १ मील चौडा भूपदेश था। अफ्रीका ओ अरब दोना दशा का व्यापार सम्बन्ध इसी मागसे होता था। आज इस स्वज पर नहर बना कर रेड्सी माड नियेन्सी को मिला दिया गया है। यही सुप्रसिद्ध स्वेजकनाल नाम की वह नहर है जो आज वणिकतत्रा की मजबूतीमा प्रमाणित होरही है।

महीसागर ग्रीनवीच से अनुमानत ३१ पूवाय देशान्तर पर स्थित है। उसी महीसागर में नील नदी नाम की सुप्रसिद्ध नदी का सङ्गम होता है। कुछ समय पूर्व इटली की कृपा से अपनी स्वतंत्रता खोते हुए हतभाग्य अबीसीनिया के सुप्रसिद्ध अस नाम के पहाड से उन नीलनदी का निगम होता है। उस नदी की लम्बाई लगभग ३५ मील है। नीलनदीसङ्गम यानीय महीसागर किवा रेड्सी ही भारतवर्ष की पश्चिमसीमा है। अर्थात् जहा से आज अबस्थान का आरंभ माना जाता है वही से भारतवर्ष का आरंभ सम्भिए। यह तो हुआ पश्चिमी-सीमा का विचार अब चालए पवा सीमा की ओर।

उज्जैन से ४५ अश पूर्व आप को चलना है। क्योकि तभी ६ अश की पूर्ति होमकेगी। यहा से (भारतीय प्रथममध्याह्नरेखा से) ४२ अश पूर्व पीतसमुद्र (यलोसी) है। इस को हम चीनसमुद्र भी कह सकते हैं। यही फारमूसाद्वीप से उपलक्षित प्रशान्तमहासागर है। यही भारतवर्ष की पूर्वी सीमा है। दक्षिणसीमा दक्षिणसमुद्र है एव उारसीमा तुरुष्कदेश है जसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। चतुर्सीमा इस भारतवर्ष में कितने देश आते हैं? कान कौन हमारे देश के अग्रयण हैं? जब इन प्रश्नो का विचार किया जाता है तो आमा कम्पित होजाता है। आज भारतवर्ष अपने आलम्य से कम्मशून्य बनता सुआ विभूतिमय अपने सम्पूर्ण देशो को अपने हाथ से ही खोजुका है। दृश्य-उारीगोलाड के दश-विभागों से आप को अनुमान होगा कि चतुर्द्वी विभक्त वर्षों में कन किन दशो का समावश है। चलिए। एक बार सम्पूर्ण दृश्य गोलाड की परिक्रमा लगा आव।

अबस्थान से क्वा रड्सी से एशियाखण्ड का आरंभ होता है । एव अलास्का नाम के अमेरिका के उत्तरभाग पर एशियाखण्ड की समाप्ति होती है । यह एशिया ही हमारा भूमिगतोन्मय है । इस के भारतवर्षात्मक ६ अंश के प्रदेश में निरलिखित दश अंश तमुक्त है । आज के एटलस के अनुपात से विचार कीजिए *।

एशिया का आरम्भदेश अबस्थान है । आगे मयसोपोटेमिया जूडया एशियामाइनर ईरान अफगानिस्तान है । इतने दश भारतवर्ष से पश्चिम में माने जाते हैं । बर्मा चीन श्याम अनाम कम्बोडिया आदि प्रायः पूर्व में माने जाते हैं । तिब्बत तुर्किस्तान रूस मंगोलिया आदि भारत से उत्तर में माने जाते हैं । ये सब एशियायी दश ६ अंश तक भूखण्ड में अंतर्भूत है । हमारे भुवनकोश के अनुपात से इन सब का भारतवर्ष में ही अंतर्भाव है । इस के अनंतर प्रशांत महासागर—क्वा पीत समुद्र (यसोली) से आगे का ६ अंश तक प्रदेश भद्राश्वर्ष है । इस में मचूरिया जापान पूर्वोरूस अलास्का नाम से प्रसिद्ध अमेरिका का अंशमक उत्तरीभाग आदि प्रदेश हैं । यही एशियाखण्ड की समाप्ति है । तीसरे ६ अंश तक खण्ड की ओर क्रमशः आगे बढ़िए । यूनाइटेडस्टेट अमेरिका (संयुक्तराष्ट्र अमेरिका) कनाडा मय अमेरिका मेक्सिका दक्षिण अमेरिका का पश्चिमी अर्द्धभाग का आशिकभाग आदि प्रदेश इस तीसरे भूखण्ड में हैं । यही खण्ड कुरुक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध है । आगे के ६ अंश तक चौथे भूखण्ड में दक्षिणी अमेरिका का पश्चिमी अर्द्धभाग का आशिकभाग ग्रीनलैंड सम्पूर्ण योरोप सहारा नामका सुप्रासद्र मरुस्थल मिश्र आदि दश हैं । मिश्र के समीप ही माड्रैनियसी आगया है । यही हमारे भारतवर्ष की पश्चिम सीमा मानी गई है । मिश्रपलक्षित मेडिटरेनियसी पर भारतवर्ष के तुमालवर्ष की पश्चिमी पूर्वी सीमाओं का संमेलन हो रहा है । यह तो हुई दृश्य उत्तरी गोलार्द्ध की कथा । अब चलिए अदृश्य दक्षिणी गोलार्द्ध की ओर ।

इसमें—दक्षिण अफ्रीका दक्षिण अमेरिका आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड दक्षिणध्रुव प्रदेशस्थ अतिप्रसिद्ध एटार्टिका महाद्वीप आदि प्रदेश हैं । यह कहा जा चुका है कि जहां के तुमालवर्षान्तगत सम्पूर्ण योरोप का क्षेत्रफल ३-लाख वर्गमील है वहां अदृश्य दक्षिणीगोलार्द्ध के दक्षिणध्रुवसमीपस्थ एटार्टिक द्वीप का क्षेत्रफल ५-लाख वर्गमील है ।

यद्यपि विद्वानों की अपेक्षा दक्षिण—उत्तर दोनों गोलार्द्धों का मान (माप) समान है । परंतु भू-दश की अपेक्षा से यदि विचार किया जाता है तो उत्तरी गोलार्द्ध में भूभाग अधिक उपलब्ध होता है एव दक्षिणी गोलार्द्ध में जलभाग अधिक उपलब्ध होता है । वर्तमान परिमाण के अनुसार दोनों का [एक बटा तीन] संबंध है । अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध के भूभाग की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध का भूभाग एक तृतीयांश [एक तिहाई हिस्सा] है । यही मान यद्यपि एशिया और शेष दृश्य उत्तरी गोलार्द्ध के सम्बंध में समझिए । दृश्यभाग में एशिया भू-प्रदेश अंतर भू-प्रदेशों की अपेक्षा एक तिहाई है । यद्यपि वर्षाभागानुसार भारतवर्ष और भद्राश्वर्ष दो वर्ष [ठीक १८ अंशमक दृश्य प्रदेश] आजाते हैं ।

*भावुकतापण दशविभाजन से एटलस का यह क्रम भी आज परिवर्तित होगया है ।

शेष दृश्यभाग में कुरुवष कतुमालवष ये दो ही वष बचते हैं। फिर भी क्षत्रपण की अपेक्षा में इनके वगमील त्रगुणित हैं। इस व्यवस्था से बतलाना यही है कि दृश्य गोलाद्र का केवल एशिया-खण्ड दायविभागकाल में ब्रह्मा के द्वारा देवताओं को मिला था एवं इतर मध्यग दृश्य (स पृग कतुमालवष एवं कुरुवष) अदृश्य दक्षिणी गोलाद्र असुरों को दायरूप से मिला था। कहना न होगा कि देवताओं की अपेक्षा असुरों को कभी अधिक भूभाग मिला था फिर भी दुष्टान् असुर उसी स्वजप्रदश से आकर आक्रमण किया करते थे। उपर्युक्त निदर्शन से प्रकृत में हम केवल यही बतलाना है कि भारताय भुवनकोश के अनुसार भारतवष ६ अंश का है। यह सीमा अरब से आरंभ होकर चीनसमुद्र किवा प्रशांतमहासागर पर समाप्त होती है। अरब मयसोपोटेमिया जूडिया एशियामा नर इरान अफगानिस्तान तिरत तुर्किस्तान चीन मंगोलिया श्याम बर्मा अनाम कम्बोडिया आदि सब मिलाकर एक भारतवष है। पश्चिम लोहिताम्बोधि (रक्तसमुद्र) से आरंभ पूर्वी-पीत-समुद्र पश्चिम का संपूर्ण प्रदेश एक भारतवष है। तभी तो भगवान् मनु का निम्नलिखित कथन चरिताथ होता है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।

तयोरेण तर गिर्योरार्यावच विदुर्बुधा ॥

—मनु । २।

आप प्रश्न करेंगे कि जब भारतवष की पश्चिमी सीमा रेडसी था तो फिर क्या कारण हुआ कि आगे चल कर सिन्धुनद को आर्यावत की सीमा मान लिया गया ? ।

आ हिमवत आ च कुमार्या सिन्धुवैतरिणी नदी । सूर्यस्योदयन पुर ।
यावद्वा कृष्णमृगो विचरति, तावद् ब्रह्मवर्चमम्'

उक्त सिद्धांत के अनुसार सिन्धु को आर्यावत की सीमा माना गया है। इस का क्या कारण ? । इसके उत्तर में हमें आपका ध्यान वारुणब्राह्मणों एवं ऐन्द्रब्राह्मणों में होने वाली स्पष्टी की ओर ही आकर्षित करना पड़ेगा। ऋचाश्वरुषि के दौहित्र सुप्रसिद्ध पारसीधम के प्रवर्तक नरथुस्त्र महाभाग के कारण भारतीय ब्राह्मणों में विधवा परिणय जैसे वारुण प्रश्न को लेकर दो वष होगए। कुछ ब्राह्मणों ने बलीक (वर्तमान में बलख नाम से प्रसिद्ध) में रहनेवाले वरुण का पक्ष लिया कुछ ने ऐन्द्र का आश्रय लिया। वारुण-ब्राह्मणों का कहना था कि विधवाविवाह में कोई हानि नहीं है। उधर ऐन्द्रब्राह्मण कहते थे कि विवाह में कन्यादान का विधान है। जब एकबार मातापिता के द्वारा स्वसत्त्वनिवृत्ति-परस स्वजापनलक्षण दान पद्धति से कन्या का दान कर दिया गया एवं दानोत्तर जब कन्या का कन्यात्त्व नष्ट होचुका तो ऐसी अवस्था में प्रथम पति के प्रयाणानन्तर कौन उसका दान करे ? साथ ही कन्याभाव के न रहने से कन्यादान लक्षण विवाह कैसे सम्भव हो ? । इसलिए विधवाविवाह शब्द ही अङ्गगत है। इस कलहने आगे जाकर बड़ा भीषणरूप धारण किया। इसे शान्त करने के लिए-एशियामाइनर के समीपस्थ काश्पीयन्सी पर रहने-वाले कश्यपप्रजापतिने सिन्धुनद को सीमा मानत हुए भारतवर्ष के दो खण्ड कर दिए। ये ही दोनों खण्ड आगे जाकर पूर्वी भारतवर्ष पश्चिमी भारतवष नाम से प्रसिद्ध हुए। पूर्वी भारतवष इन्द्र का अधिकार

मे रहा एउ पश्चिमी भारतउप वरुण की सत्ता म रहा । ऐन्ब्राह्मण पूर्वीभारत मे रहते हुए वेद धम्म का अनुपालन करने लगे । एव वारुणब्राह्मण पश्चिमी भारत म रहत हुए जरथुस्त्र के द्वारा प्रयर्त्तित जदाउस्ता (छ दाभ्यस्ता) मूलक नगीन धम्म म दीक्षित हुए । पूर्वी भारत आर्य्यावत्त कहलाया एव पश्चिमी भारत आर्य्याण नाम से प्रासद्ध हुआ । यही आर्य्यायण शब्द आज ईरान रूप में परिणत होगया है । अभी इस स ब्रध में बहुत कुछ वक्त य था । परतु अवस्तारभय से अधिक न कह कर प्रकरणसङ्गति के लिए अत में केवल यही कह दिया जाता है कि इस ब्रध का कारण ब्राह्मणों की प्रतिस्पद्धा मात्र थी । सिधु के इस ओर का स्थान हि दुस्थान कहलाया । एव सि धु के उस पार का स्थान पारस्थान कहलाया । जब पारस्थानरूप आर्य्यायण मे असुरों का आक्रमण हुआ तो तत्र निवासी कितने ही गारे गए । जो बचे उहोंने पूर्वीभारत म (हि दुस्थान में) आकर शरण ली । वही जाति आज भी पारसी नाम से प्रासद्ध है । यह जाति हमारे आवृभाव से स बद्ध है । इसप्रकार हि दुस्थान पारस्थान मे मे होसकता है परतु भारतउप दोनों को मिला कर एक है । दूसरे श दो में आधा (पूवा) भारतउप आर्य्यायण किंवा हि दुस्थान है । एव आधा (पश्चिमी) भारतउप आर्य्यायण किंवा पारस्थान है । यद्यपि आज केवल ईरानमात्र को पा स्थान का जाता है । परतु वस्तुत सिधुनद से आरम्भ कर लोहितसमुद्र पय्यत स पूण स्थान पारस्थान है ।

रक्तसमुद्र स पूव सिधुनद म पश्चिम अराल एव कास्पियन्स समुद्र स दक्षिण के जितने भी प्रदश ह—व सभी पुरातन पाश्चयभाषा में ओरियंस (Oriens) नाम से यवहृत हुए हैं । यह शब्द प्रयत्न मे आ ययश श का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है । इस से भी पश्चिम भारत को हम आर्य्यों की ही प्रातिस्विक भूमि मान सकते है ।

वद में एक पश्चिमगामी नदी सरयु नाम से प्रसद्ध है । मार्गियाना प्रात से नीचे की ओर एव हि दुकुश के दक्षिण भाग से निकल क शरोफिगयन के पश्चिम भाग से सलग्न होकर यह नदी वह रही है । एम नदी का दक्षिणप्रात एरियाना नाम से यवहृत हुआ है । यह भी आर्य्य निवास का ही द्योतक शब्द है । एरियाना प्रात से पूव एव सुलेमानपवत से पश्चिम का प्रात पाश्चायी के द्वारा रिडिया नाम से यवहृत हुआ ह । यह यवहार भी स भूभाग का आर्य्यवासव ही प्रमाणित कर रहा है । इधर स्वय ऋग्वदने सरयु के धर के प्रात को एव उस ओर के पश्चिम—प्रात को दोनों को आर्य्य शब्द से ही यवत्त किया है । दक्षिण ।

उत ना सद्य आर्य्या सरयोरिद्रपारत ।

अर्णा चित्ररथावधी ॥

ऋकसहिता—४ । ३ । १८

अपिच ब्रह्मपुराण के ५ व एवमस्थपुराण के ४४ वे अयाय में भारतीय उपद्वीपों का जो वर्णन हुआ है इनका जो विस्तार बतलाया गया है उसे देखते हुए तो यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि भारतवर्ष नि सदेह ६ अश पय्यत ही अपनी यति रखता है । पुराण कहता है—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदाभिमाशय ।
 इन्द्रद्वीप कशेरुमास्ताम्रपर्णो गमस्तिमान् ॥ १ ।
 नागद्वीप स्तथा साम्यो गार्धर्षस्त्वथ नारुण ।
 अयन्तु नगमस्तेषा द्वीप मागरसङ्गम ॥ २ ॥

इन द्वीपों का विस्तृत वर्णन करने का प्रकृत में अवसर नहीं है । यहाँ केवल उनके नाम एवं अप-
 भ्रंशों का उल्लेख मात्र कर इस सीमाप्रकरण को उपरत किया जा रहा है । जिस समय हम पुराणों में इन्द्रद्वीप
 नागद्वीप साम्यद्वीप गार्धर्षद्वीप आदि भारतीय उपद्वीपों का वर्णन पढ़ते हैं उस समय हम इन उपद्वीपों
 के नामों पर विचार करते हैं एवं तब हम वर्तमान भौगोलिकों के रक्ख हुए इन उपद्वीपों के साथ
 अपने पौराणिक नामों की तुलना करते हैं तो हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं । आगे की तालिका
 से आप देखेंगे कि वर्तमान भूगोल में बतालाए गए उपद्वीपों के नाम हमारे पौराणिक-नामों के अप-
 भ्रंशरूप ही हैं ।

आज भी यह भारतीयोपद्वीपसब इंडियनआर्किपेलैगो नाम से प्रसिद्ध है । अभी हमारे
 सांस्कृतिक-काश में ऐसे असंख्य प्रमाण हैं जिन के आधार पर सर्वांगीण यह प्रमाणित किया जा सकता
 है कि आज का भारतपश्चिम हिन्दुस्तान होसकता है किंतु परा भारतपश्चिम पृथ्वी-पश्चिम समुद्र को
 ही अपनी पूर्व-पश्चिम सीमा बना रहा है ।

उपद्वीपपरिलेख —

सख्या	नाम	पर्याय	भाषानाम	इ गलिशनाम
१	द्रद्वीप	इ द्रद्य म्र	इ द्रमन	ए डमन (कालापानी)
२	नागद्वीप	+	निकोवार	नीकोवर
३	सौम्यद्वीप	सोमत्रा	सुमात्रा	यवद्वीप—बलिद्वीप
४	गा धवद्वीप	+	फिलीपायनद्वीपसघ	लुम्बक मुम्बाफलोरीन आदि से युक्त जावाद्वीपसघ का भी इसी में समावश है
५	वारुणद्वीप	+	बोर्निया	ब्रुनाइ—ब्रणी
६	कशेरुमान्	कसेरु	सलेवीस	+
७	गभस्तिमान्	+	मत्तूका	+
८	ताम्रपर्ण	ताम्रपर्णा	टापूरावेन	सीलोन—सरन्
९	ऋमारिका	कुमारी	भारतखण्ड	+

जिस समय देवावभूतिमय भारतवर्ष हमारा था एशियावर्ष म त्रिलोक्यव्यवस्था थी उसी युग स हमारे प्रकृत कथानक का आरम्भ होता है । प्रसङ्गागत देवत्रलाक्य क सम्बन्ध म भारतीय भूगोल की रूपरेखा आपके सम्मुख प्रस्तुत करनी पनी । क्योंकि बिना भारतय-भुवनकाश-परिचय के दायविभागमूलक प्रकृत आख्यान का समन्वय कथमपि स म नहीं था ।

इस पादमभुवनकोशप्रकरण को उपरत करत हुए सर्वांत म भारतीय विद्वाना स हम यही विनम्र आनन्दन कर दना चाहत ह कि तबतक आप पुराणसाहित्य का अज्ञानदृष्टि स अवलोकन न करगे तबतक भारत की भौतिक संस्कृति की मालिक आदर्शों की रक्षा कथमाप स भव नहीं ह । ऊच से मिहामन पर बठकर प म राज से अज्ञ-कथावाचको के द्वारा तबतक पुराणकथाए होती रंगा तबतक भारत का सांस्कृतिक अ युन्य अम भव है । मलिए भारतीय विद्वानो को शीघ्र से शीघ्र अपने पुराणसाहित्य का स्वाध्याय-पथानुवमा बना ही लेना चाहिए । मसार के सम्पुन जिस टिन आप पुराण का वास्तविक स्वरूप रख दगे उस िन आर्यसमाजी तो क्या सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज पुराणशास्त्र का अन य मक्त बन नायगा । यदि आपने हमारे इस निवन्त की उपेक्षा की यात् प्रचलित रूटि के अनुसार ही पुराणों की कथा होती रही तो स कुकथा स भारतवर्ष की शभूता संस्कृति का भी आभभव ही होनायगा । मवान्त म यह निवदन और कर देते ह कि हम इ । लशज्ञान से शून्य नैत हुए वच मान भूगोल से अपाराचत है । ऐसी अवस्था में पूव क भूगोल प्रकरण मे याद कही भूत हगइ हो तो हमारी अज्ञता समझ कर पाठक हमें क्षमा करे ग । पादमभुवनकोश प्रकरण उपरत हुआ । अब प्रकृत आख्यान की और विश पाठको का यान आकषित किया जारहा है ।

इति-पादमभुवनकोशो ब्राह्म

—*—

देवत्रिलोकी स सम्बन्ध रखने वाले पूवप्रदर्शित पादमभुवनकोश प्रकरण के स यक अवलोकन स पाठको को त्वदित हुआ होगा कि किसी समय इस भूपिण्ड पर देवता (मनुष्यदेवता) आर असुर दोनो का साम्राय था । प्रजापति ने इन दोनो के लिए त्रैलाक्य-व्यवस्था नियत करनी थी । स्वय प्रजापति एशियामाइनर नाम से प्रसिद्ध स्थान के काशीएसी नाम के पवत पर निवास करते थ । असुर और देवता दोनो पर प्रजापति का पूण अनुग्रह था । सुप्रसिद्ध स्वेजप्रदेश नामक स्थलभाग के द्वारा (जहा पर कि आगे जाकर स्वेजकनाल नाम की नहर बना दी गइ है) अफ्रीका म निवास करने वाले असुर समय समय पर प्रजापति के दशन के व्याज से देवत्रिलोकी पर आक्रमण करत रहत थ । आरम्भ में देवता अपनी स्वभावसिद्धा सरलता के कारण दुष्टदुष्टि असुरो के आक्रमण की ओर से उन्नीन रहे । देवताओं की षस उदासीनता से असुरोने अनुचित लाभ उठाने के लिए देवत्रिलोकी पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लेना चाहा । फलत उहोने चम्मरज्जु* स पश्चिम की ओर से भूप्रदेश को स्वसुविधानुसार

(*) भस्त्रेन नापने की डोरी पुराकाल में चमर की होती थी । जिस चम्मरज्जु से बलो को बाधा जाता है उसीसे जमीन भी नापी जाती थी । अतएव भूदेप्रशमानसाधनभूता यह रज्जु वैदिक समय में-आरण्यचम्म (बैलों को बाधने की चमड की रस्सा) नाम स प्रसिद्ध थी ।

नापना आरम्भ कर दिया। जब दवताओं को ये समाचार विदित हुए कि असुर यथच्छ भूविभाग करते हुए क्रमशः पश्चिम से पूव की ओर बढ़ते हुए आ रहे हैं तो इन्हें चिंता हुई। फलतः यथाधिष्ठाता वषणु को आगे कर देवता वहाँ उपस्थित हुए। एव यज्ञ के याज्ञ से संपूर्ण एशिया में अपना अधिकार स्थापित कर इस अपने त्रैलोक्य से असुरों को बाहिर कर दिया। तभी से देवत्रलोक्य यज्ञभूमि देवयजनभूमि आग्नि नामों से प्रसिद्ध हुआ।

आरम्भ में जो भुवनकोश पाद्मभुवनकोश नाम से प्रसिद्ध था आगे जाकर वषविभागानुसार जो भुवनकोश वर्षभुवनकोश नाम से प्रसिद्ध हुआ था वही सर्वांत में देवताओं के इस यज्ञ के सम्बन्ध से यज्ञभुवनकोश नामसे प्रसिद्ध हुआ। प्रकृत कथानक इसी यज्ञभुवनकोश का निरूपण कर रहा है। यान रहे असुरों का यह आक्रमण एक ही समय नहीं हुआ था अपितु समय समय पर इसीप्रकार इनका आक्रमण होता रहता था। कभी दवता अपने बल से ही इन्हें निकाल दते थे कभी इन्हें शक्तियों का आश्रय लेकर अपने त्रैलोक्य को इन आक्रमणों से बचाना पड़ता था। एकबार शुम्भ-निशुम्भ ने भी इसीप्रकार देवत्रलोक्य पर अपना अधिकार कर लिया था। जब दवता असमर्थ हो गए तो सञ्चित शक्तिमूर्ति जगदम्बा के आश्रय से दवता इन्हें नष्ट करने में समर्थ होसके। स्वयं रहस्यग्रथ (सप्तशती) ने स महायुद्ध का विस्तार से निरूपण करते हुए कहा है -

त्रैलोक्यमिन्द्रो लभता देवा स तु हविर्भुज ।
युग प्रयात (१) पाताल यदि जीवितुमिच्छथ ॥

सर्वांत में इसी महामाया के प्रभाव से सम्पूर्ण असुरबल नष्ट हुआ जो बच उ होने स्वत्रैलोक्यरूप पाताल का आश्रय लिया। इसी अभिप्राय से आगे जाकर सुरथराजा से ऋषि कहते हैं—

दैत्याश्च देवा निहते शुम्भ देवरिपौ युधि ।
जगद्विध्वसके तस्मिन् महोप्रस्तुलचिक्रमे ॥
निशुम्भे च महावीर्ये शेषा पातालमायया ॥

इसीप्रकार एकबार वज्राङ्गद के वेश्यापुत्र तारक नाम के महाप्रबल असुर ने देवत्रैलोक्य पर अपना अधिकार कर लिया था। कावकुलगुरु कालिदास ने अपने सुप्रासद्ध कुमारसम्भव नाम के महाकाव्य में इसी चरित्र का निरूपण किया है। अतः में पाणिनीय ननु न सेनानी बनकर इस असुरबल को नष्ट किया था।

(१) अदृश्य दक्षिणी गोलाद्ध में दक्षिण अफ्रीका है अमेरिका है। यही एशियावासियों के लिए अथो भुवनपातालम् ननु अमर परिभाषा के अनुसार पाताल है। यही पूर्वप्रतिपादित पाद्मभुवनकोश के अनुसार आसुरत्रैलोक्य था।

इसीप्रकार त्रिपुरासुर का युद्ध भी अत्यन्त प्रासङ्गिक है। यन्त्राप विषय अप्रासङ्गिक है। तथापि दवामरसग्रा मानुवध से दो शतों में इसका भी दम्पशन करा दना आया तब रूपेण अप्रासाङ्गिक न माना जायगा। अतः सन्क्षेप से दवासुरसग्राम स सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक आयाना का निशान पाटका के सम्मुख उपस्थित कर लिया जाता है। इससे उभे वना म इतिहास है अथवा नही इस प्रश्न के सम्बन्ध में विचार करने के लिए पर्याप्त त्त्र मिलेगा। सबसे पहिले त्रपुरारयान की ओर उनका यान आकर्षित किया जाता है।

वैदिककाल में राजागण अपने निवास के लिए तीन तीन पुरों का निर्माण किया करते थे स्वर्गस्थ देवताओं में एव पातालस्थ असुरों में इस पद्धति का विशेष समादर था। ये पुर ब्राह्मणग्रन्थों में उपसत् नाम से यह दृष्ट हुए हैं। ब्राह्मणोक्त सुप्रसिद्ध उपसत्नाम प्रकरण में इन देव उपसत्ना का विस्तार से निरूपण किया गया है। इस सम्बन्ध में यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस त्रिपुरनिर्माण का पद्धति सवप्रथम असुरों की ओर स ही उपक्रात हुआ थी। व ही इस पद्धति के प्रथम आविष्कता था। जसाकि पूर्व के दामभुवनकोश प्रकरण में बतलाया गया है तत्कालीन असुरजातिया में मयासुर वश शिप कला आदि में उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ था। इसी मयजाति को अलङ्कृत करने वाले त्रिपुर नामक मयासुर ने सवप्रथम त्रिपुर निर्माण किया था। इसी त्रिपुर से असुरगण स्वताओं पर समय समय आक्रमण किया करते थे। भूमयसागर नाम से प्रसिद्ध महीसागर (मोडटनीए सी) के समीप ही एक प्रदेश मयसोपोटमिया नाम से प्रसिद्ध है। यह शब्द मयसोपोत्तम शब्द का ही अपभ्रंश है। यही मयासुर जाति का निवास हागया था।

स्वजप्रदेश (वत्तमान में स्वजकनाल) से आकर मयासुरजातिने इस प्रात को अपने अधिकार में कर लिया था। आगे जाकर क्रमशः पूर्वी भारत की ओर बढ़त हुए इस जाति ने खाण्डववन को भी अधिकार में कर लिया था। पूर्वी भारत में जिस प्रदेश में विशेषरूप से मयजाति ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था वही प्रात आज मेरठ नाम से प्रसिद्ध है। यह मयराष्ट्र का अपभ्रंशमात्र ही है। मयजात में सवप्रधान पद एक समय वज्राङ्गद नाम के असुर को मिला था। यह मयजाति का वगपाल (काफिले का सर्दार) कहलाता था। इसी वज्राङ्गद ने अपने वश की तार (सर्वोच्च-सर्वाश्रय पश) सजा रखी। इसी तारवश ने किंवा वज्राङ्गदवशने एक बार युद्ध में इन्द्र को परास्त कर स्वर्गसीमारूप तारस्य नाम के पवत पर अपना आवासस्थान बनाया था। यहा तारस्य पवत आज टारसमाउट नाम से प्रसिद्ध है। महीसागर से उत्तर की ओर यह तारस्यगिरि प्रातष्ठित है। यही हमारा सुप्रसिद्ध शतताथ है। पुराणों में इस तीथ का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। उपस्थुक्त वज्राङ्गद परम वश्यागामा था। एक वश्या से वज्राङ्गद के तारक नाम का महा प्रबल असुर उपन्न हुआ था जिसके शौच्य का तस्मिन् विप्रकृता काले तारकेण दिवौकस इत्यादि रूप से पूर्व में उल्लेख किया जाचुका है।

इसी तारकासुर के आगे जाकर विश्वविरयात-विद्युन्माली तारकाक्ष अस्त्रुजाक्ष ये तीन महारपाक्रमी पुत्र उपन्न हुए। इन्होंने भी पितृमर्यादा का अनुगमन करते हुए दववल को यथच्छ कष्ट दिया। प्रकृत में इस शम्परा से हमें केवल यही कहना है कि एकबार स्वर्ग (इन्द्राष्ट्र) पर अधिकार करने की इच्छा से वज्राङ्गद

ने अपनी मयजाति को आजा दी कि— तुम कोई ऐसे पुर बनाओ जिनके बल से बड़ी सरलता से देवबल को परास्त कर स्वर्गप्रदेश पर अधिकार स्थापित किया जासके । फलतः त्रिपुर नाम के मय ने (जो कि शि पत्रिद्या के साथ साथ यतिषविद्या में भी महा पारङ्गत था) वज्राङ्गद की उक्त कामना पूरी की । तूरपात की दक्षिण उपयका में त्रिपुर ने लाहमयी पुरी का निर्माण किया एव यह लौहपुरी पृथिवीलोकस्था क लाइ । तारपवत के शिखर पर सुर्णा की पुरी बनाइ गई । एव भूम यसागर के पूवा तटपर (जिस प्रदेश को हम अ तरिक्त कह सकत हैं) रजतमयी (चादी की) पुरी बनाइ गई । यह राजती पुरी द्यावाभूम की सीमा का स्पर्श करने के कारण त्रिपुरी नाम से प्रसिद्ध हुई । यही स्थान आज भी षटलस् में त्रिपुली नाम से प्रसिद्ध है । यह अवश्य ही त्रिपुरी शब्द का अपभ्रंश है । यह त्रिपुरी कवा त्रिपुली स्थान के अनुपात स ग्रीनवीच से १२ अश ऊन ३६-अश पर (३५-४८) स्थित है एव उजैन से पश्चिम ३६-५५ देशांतर पर स्थित है ।

इन तीनों पुरियों में जो सब से अद्भुत चमकार था वह यह था कि प्रयेक पु यनक्षत्र में तीनों पुरिया एक दूसरी स बद्ध होजाती थी । ऐसे ही समय मे असुरगण इन में ठैठ कर देवताओं पर बढ बग से आक्रमण किया करत थ । इन तीनों पुरियों के सञ्चालक क्रमश तारक के त्रय-माली तारकाक्ष अम्बु जाक्ष नामक तीन पुत्र थे । विद्य-माली आयसी (लौहमयी) पुरी का अ यक्ष था राजती का अ यक्ष अम्बुजाक्ष था एव हैमवती का सञ्चालक तारकाक्ष था । जब इस त्रिपुर से दवबल अत्यन्त त्रस्त होगया तो आगे जाकर भगवान् यम्बक के द्वारा इस त्रिपुरी का नाश हुआ । इन तीनों पुरियों के टण्ड खण्ड कर यम्बक ने महीसागर में डालकर त्रिपुरासुर का सबश विनाश कर सर्वांत में इसी महीसागर में युद्धयज्ञसमाप्तिलक्षण अत्रभृथस्नान किया था । य बकस्नान से ही यह प्रदेश पुराणों में शवतीर्था (महादेती र्था) नाम से प्रसिद्ध हुआ । त्रिपुर वस के कारण ही भगवान् शङ्कर-- त्रिपुरारि नाम से ही प्रसिद्ध हुए ।

जब देवताओं ने देखा कि असुरगण पुरी निर्माण स अपने बल को हानि पहुँचा रहे हैं तो तदनुसार होन भी तीन पुरी का निर्माण कर इनके बल से आगे जाकर असुरबल का विनाश किया । यही देवत्रि पुरी ब्राह्मणग्रन्थों में उपसत् (उपसीदन्ति यत्र देवा) नाम से प्रसिद्ध हुए । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणग्रन्थों में कहती है—

* देवाश्च वाऽअसराश्च-उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे-अयस्मयीमवास्मिल्लोके रजताम-तरिक्त हरिणी दिवि । तत्र देवा अस्पृ- एवत । तऽएताभिरुपासीदन् । तस्मादुपसदो नाम । ते पुर प्राभि दन् । इमाँ लोकान्- प्राजयन्' ।

—शत ब्रा ३ का १४ अ १४ ब्रा १३-४-क ।

* इस आख्यान का अ याम अधिदेवत अधिभूत तीनों चरित्रों के साथ संबंध है । प्रकृत में आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र की दृष्टि से ही यह श्रुति उपात्त हुई है ।

इसीप्रकार **वराहासुर** का युद्ध भी वनों में हुआ महत्व रखता है। अन्न माताय प्रजा का अन्न वस्त्र का जो कष्ट उपासित कर रहा है दवयुग में उस चिन्ता से भारतीय-प्रजा मन्थना विमुक्त थी। स्वर्गाधिपति इन्द्र की ओर से पृथिवी लोक-मानीया भारतीय प्रजा के लिए अन्न वस्त्र का प्रबंध सुव्यवस्थित था। साथ ही प्रत्येक प्रजा का (मानवधम्मशास्त्रानुसार) कर्तव्य भी तब की ओर से नियत था। चिकित्सा दस्यूपत्नों से रक्षा अन्न वस्त्र का प्रबंध आदि जीवनरक्षोपयोगी संपूर्ण साधना की व्यवस्था राष्ट्रपति इन्द्र के द्वारा ही सुव्यवस्थित थी। इसप्रकार इन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्य पर आरुण्य रहती हुई वणाश्रमधर्मानुगामिनी प्रजा (दवयुग में) सम्पूर्ण भूतचिन्ताओं से स्वामना उन्मुक्त थी।

भारतीय प्रजा के परिपालन के लिए भारतवर्ष में जो अन्न का कोश (अन्न का गल्ला) सुरक्षित रहता था वह वाम नाम से प्रसिद्ध था। सके प्रिभानकाध्यक्ष (बटवारा करने वालों के सन्त) नाम देव था। एव इस अन्न की रक्षा के लिए पिनामह प्रजापति के ओरसे पुत्र आङ्गार नियत था। वसो-वर्षानगरी में यह अन्नकोश सदा प्रभूत मात्रा में विद्यमान रहता था। आङ्गार की आज्ञा से वामदेव के द्वारा आवश्यकतानुसार भारतीय प्रजा में अन्नवितरण होता रहता था। एक समय एमूप नाम से प्रसिद्ध वराहासुर ने इस अन्नकोश पर आक्रमण किया। यह वराह असुर आसुरलोक्य-प्रदश में सात पवतों को अपनी पुरियों का रक्षक बना कर बड़े सुरक्षित अग्रम्य अविज्ञय स्थान में निवास करता था। उसोदारा से पश्चिमस्थ उस असुरप्रात के मध्य में सात पवन आते थे। सातों के आगे क्रमशः २१ पत्थर की पुरिया थी। सबसे अन्त की पुरी में वराह असुर निवास करता था। वसोवर्षा पर आक्रमण कर संपूर्ण अन्न चुरा कर वराह असुरने सुरान्त स्थान में जा छिपा। जब ये समाचार विष्णु और इन्द्र को मिले तो इन्होंने परस्पर की मन्त्रणा से गुप्तरूप से स अग्रम्य स्थान का अवलोकन कर उस असुरबल का विनाश किया। इसी सुप्रसिद्ध आरयान का निरूपण करती हुई कृष्णश्रुति कहती है—

“विष्णुयज्ञो देवेभ्य आत्मानमन्तरधात् । तमन्यदवता नाविदन । इन्द्रस्त्ववेत् । विष्णुरिन्द्रमब्रवीत् को भवानिति ? इन्द्रोऽब्रवात् तर्गाणामसुराणा हन्ताऽहम् । भवान् क ? विष्णुरब्रवीत्—अहं दुर्गादाहर्त्तास्मि । त्वं तु दुर्गाहंताऽसि । इत्यतो वराहमसुर जहि । म हि वराहो वाममुष (अन्नमुष) एकविंशत्या पुरा पारेऽश्ममयीना वमति । तस्मिन्नसुराणा वसु वाममस्ति । तत इन्द्रस्ता पुरामवा वराहस्य हृदयमविध्यत् । ततस्तत्र यदासीत्— तद्विष्णुराहत्” —

—तै स ६।२।४।

वराह असुर के प्रासाद में अन्यान्य भोजन सामग्रियों के साथ प्रतिदिन शत (१०) महिष (भस) क्षीरौदन के साथ परिपक्व हाते थे। जिस समय विष्णुगु रूप से वराह के दुर्ग में पहुँचे उस समय वराह असुर की माता सेवक वगैरे से भोजन की व्यवस्था करा रही थी। त काल विष्णु ने इन्द्र के सहयोग से परोक्षा-क्रमण (छापा मार) कर वराह के द्वारा लाए गए अन्नकोश के साथ साथ यह सम्पूर्ण भोजन सामग्री भी अपने अधिकार में करली। इसी घटना का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अस्येदु मातु सवनेषु सद्यो मह पितु पपिवाञ्चान्ना ॥
मुषा यद् विष्णु पचत सहीयान् विध्यद्वाराह तिरा अद्रिमस्ता ॥१॥

—ऋक्स १६।१।७।

विश्वेत्ता विष्णुराभरत् उरुक्रमस्त्वेषित ।

शत महिषान क्षीरपाकमोदन वराहमिद्र एमुषम् ॥२॥

—ऋक्स १।७।१।।

इसीप्रकार एकबार परिणजाति की गायो को बल नाम के असुर ने चुरा ली थी । इस सम्बन्ध में भी दवता और असुरों में घोर संग्राम हुआ है । अतः में इन्द्र के हाथ से बलासुर मारा गया है । तभी से इन्द्र बलाराति नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । इस विजय के उपलक्ष्य में परिणयो की ओर से विपाशा (आजकल यास नाम से प्रसिद्ध) नदी के निगम गिरप्रदश में विजयाभिन्न महोत्सव सम्पन्न हुआ था । यहाँ अभिगर प्रतिगर* के द्वारा इन्द्र का बड़ा सम्मान हुआ था । (दिए ऋक्स १ भयडल । १ ८५ ।) ।

इसप्रकार समय समय पर दवता और असुरों में युद्ध हुआ करते थे । यों तो दवासुरसंग्राम अनन्त है । परन्तु ऋग्वेदकाल में १२ महासंग्राम मुख्य माने गए हैं । कृष्णसमुद्र (लेकसी) से पश्चिम आमानिया प्रांत में असीरिया प्रान्त में स्वर्ग में भूमि में आदि तत्तत् स्थानों में १२ महायुद्ध हुए हैं । व १२ महायुद्ध निम्न लिखित नामों से प्रसिद्ध हैं--

द्वादशमहासंग्राम —

१ आडीबक	५-त्रैपुर	६-ध्वजयुद्ध
२ कोलाहल	६ माधक	१ बलिबध
३ हालाहल	७ तारक	११ हैरण्याक्ष
४ जलाधमथन	८ वार्त्र	१२ नारसिंह

भारतवर्ष के किंवा दवविभूति के सौभाग्यसूच्य को अस्त करने वाला जो आतम युद्ध हुआ उसके अनन्तर देवबल प्रायः क्रमशः अवनति को ही प्राप्त होता गया । वह युद्ध महासंग्राम ताराहरणोपाख्यान नाम से प्रसिद्ध है । कहना न होगा कि आज भी उसी प्रकार रूपांतर में देवबल पर आसुरबल का आक्रमण हो रहा है । उस समय की एवं आज के समय की परिस्थिति में अनन्तर इतना ही है कि उस समय देवबल सावधान था जिज्ञान-यज्ञ तथा आदि बलों से युक्त था । जबकि आज का भारत वैदिक साहित्य की उपेक्षा करता हुआ अपने उक्त बलों से वञ्चित रहता हुआ पदे-पदे पराभूत एवं अपमानित ही हो रहा है ।

* प्रातः पुरुष के लिए जो अभिनन्दनपत्र पढ़ा जाता है उसे वैदिक-परिभाषा में अभिगर कहा जाता है एवं उस सत्कृत पुरुष की ओर से पढ़ा जाने वाला उत्तरपत्र प्रतिगर कहलाता है ।

भारतगण प्रिस्मृतप्रायः जैतिक साहित्य का अपना कर तदन्तर पुन असुरबल पर ज्ञानय प्राप्त करै यही मङ्गल कामना करत हुए प्रकृत आख्यान स सम्बन्ध गवने वाले आधिभौतिक चरित्र को अब उपरत किया जा रहा है।

देवासुरदायविभागसम्बन्धी आधिभौतिकचरित्र उपरत

—*—

देवासुरदायविभागानुगत आध्यात्मिक-समन्वय —

यथा अण्ड तथा अपण्ड एव सिद्धान्त के अनुसार आधिदैविक ब्रह्माण्ड की जो ज्ञात है ठीक वही स्थिति आध्यात्मिक पिण्ड की समझनी चाहिए। जिसप्रकार आधिदैविक म देवासुर-त्रलोक्य-यवस्था है इसीप्रकार आध्यात्मिक में भी त्रलोक्य यवस्था यवस्थित है। पूव भाष्य में अनेक बार इस आध्यात्मिक-त्रलोक्य का अनुरूपण किया जा चुका है जसाकि विषयक्षेत्री स विदित होगा। अत एव सम्बन्ध में विशेष कुछ न कह कर प्रकरण सङ्गति के लिए केवल यही कह देना पर्याप्त होगा कि हमारे शरीर में हृदय से नीचे का सम्पूर्ण प्रदेश आसुरत्रलोक्य है एव हृदय स ऊपर का मस्तक पथ्यत स पूव प्रदेश देवत्रलोक्य है। यह विभागयवस्था हममें ८६ वर्ष के अनन्तर ही अभि यक्त होती है। १ वर्ष पथ्यन्त सम्पूर्ण आध्यात्मिक मजगत् में केवल असुरों का ही साम्राज्य रहता है। औपनिषत् विज्ञान के पारज्ञाता विद्वान् यह भलीभांति जानते हैं कि— इति तु पञ्चम्यामाहुतागण पुरुषत्रयो भवन्ति (छान्दोग्य उपनिषत् की पञ्चाग्निविद्या) इस छन्दोग सिद्धान्त के अनुसार पुरुष का प्रधान उपादान अप्तत्त्व (पानी) ही है।

प्रयत्न में भी हम पानी की ही प्रधानता देखते हैं। पिता के शुक्र एव माता के शोणित के समन्वय से (मिथुनभावरूप याज्ञिक समन्वय से) ही प्रजोपत्ति होती है। शुक्र शोणित दोनों ही तरल पदार्थ हैं अत्ररूप हैं। भागवत सौम्य पानी को शुक्र कहते हैं एव यह पुरुष में प्रतिष्ठित है। आङ्गिरस आनेय पानी को शोणित कहते हैं एव यह स्त्री का गर्भाशय में प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में शुक्र भृगुतत्त्व है शोणित अङ्गिरातत्त्व है। आपो भृग्वङ्गिरारूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् इस अथर्व सिद्धान्त के अनुसार शुक्र शोणितरूप आध्यात्मिक भृग्वङ्गिरा दोनों ही पाना हैं। साथ ही यह भी जान रखना चाहिए कि पूव के आधिभौतिक चरित्र के अनुसार आप्यप्राण का ही नाम असुर है। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध होजाता है कि आप्यप्राणमय अतएव आसुरभावप्रधान शुक्र शोणित के समन्वय से उन्नत होने वाली प्रजा में आरम्भ में असुरों का ही साम्राज्य रहता है। कम से कम पार्थिवप्रजा में तो अवश्य ही कुछ समय के लिए अध्यात्मस्था पर असुरों का ही अधिकार रहता है। कारण स्पष्ट है।

अद्वय पृथिवी इस सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड का निर्माण पानी से ही हुआ है। यह आपो मयी पृथिवी अप सम्बन्ध से आसुर प्राणमयी है। यही पार्थिवरस पार्थिव प्रजा का जीवनीय रस है। देवता की विकासभूमि सूय है। सम्पूर्ण देवता बुद्धिरूप से आध्यात्मस्था में प्रविष्ट होते हैं। बुद्धि की प्रतिष्ठाभूमि

मन है। यह मन पुरुष के १६ वष पय त अपरिपक्व रहता है। १६ व वष में पार्थिवसस्था (शरीर) के साथ साथ जब मन पूर्णरूप से परिपक्व होजाता है तभी सौरी-बुद्धि को पूर्णरूप से अया मसस्था मे यक्त होने का अवसर मिलता है। इससे पहिले प्रयेक मनु य बालक ही कहलाता है। इस अव था मे केवल मन की ही प्रधानता है। जमकाल से आरम्भ कर १६ व वष पय्यत मन की चञ्चल-वृत्तियों की ही प्रधानता रहती है। इस अरस्था में इस व्यक्ति पर इतर मनुष्य का निग्रह अनुग्रह यथ छ होसकता है। क्योंकि मन स्वय ऋत है। उममें सयलक्षण आमनिभरता का अभाव है। किसी की भी यत्किञ्चित् सी भर्सना से भी बालक तत्काल रोपडता है। अपने क्तव्य का इस अवस्था में बोध ही नहीं होता। इसलिए इस अवस्था का सुचारुरूप से सञ्चालन करने के लिए किसी अभिभावक की अपेक्षा होती है। दुर्भाग्य से यदि यह अवस्था बालक बिना नियन्त्रण के निकाल देता है तो वह आगे जाकर सवथा लक्ष्ययुत ही होजाता है। इसलिए माता पिता का यह आवश्यक क्तव्य है कि जबतक बालक १६ वष का न होजाय तबतक—

**‘लालनाद्बहवो दोषास्ताडनाद् बहवो गुणा ।
अत शिष्ण च पुत्र च ताडयेन्नतु लालयेत् ’ ॥**

उक्त सिद्धा त को लक्ष्य में रखते हुए बालक के ऊपर मधुर शासन करे। अनुचित स्नेह के वशीभूत होकर जो माता पिता बालक की उपयुक्त अवस्था में अपेक्षा कर दते है आगे जाकर वह बालक प्रातवयस्क होता हुआ सथा उल्ल पल एव अमर्थ्यादित बनता हुआ माता पिता के निरतिशय पश्चान्ताप का ही कारण बन जाता है जिसका कि प्र यक्ष निदर्शन आज भारतवष का प्रत्येक गृहस्थ बन रहा है। बतलाना इस परिथिति से हमें यही था कि १६ वष से पहिले बालक में बुद्धि यापार नहीं के समान ही है मन की प्रधानता रहती है। जिसप्रकार बिना सौर प्रकाश के चन्द्रमा स्वकृष्णरूप में परिणत रहता हुआ ब्राह्मणग्रथों में वृत्रा सुर नाम से प्रसिद्ध है एवमेव बिना बुद्धि के मयोग के मनोरूप च द्रमा प्रकाशशून्य रहता हुआ असुरभाव प्रधान ही रहता है। सोलह वष पय्यत समभ (बुद्धि) आती नहीं समभ नहीं तो सुतरा नासमभी (अज्ञान) का प्रभुव सिद्ध होजाता है। अज्ञान से बढ कर और प्रबल असुर कौन होगा ? इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि आ मप्रजापति के ायभागरूप इस शरीर पर १६ वष पय्यत असुरो का ही प्रभुव रहता है। आगे जाकर क्या होता है ? य भी सुन लीजिए। हृदय में अशानाया के अधिष्ठाता प्रादेशमित विष्णुदेवता प्रतिष्ठित हैं। हृदय से नीचे पार्थिव प्राण की (अपान की) प्रधानता है हृदय से ऊपर सौरप्राण की (प्राण की) प्रधानता है। हृदयस्थ वामन विष्णु स्व अशानाया (भूल) से अन्नाकर्षण कर तद्रस से दोनों का पालन करते रहत हैं। विष्णुदेवता के ऋसी पालनधम्म को लक्ष्य में रखकर उपनिषद्छ ति कहती है—

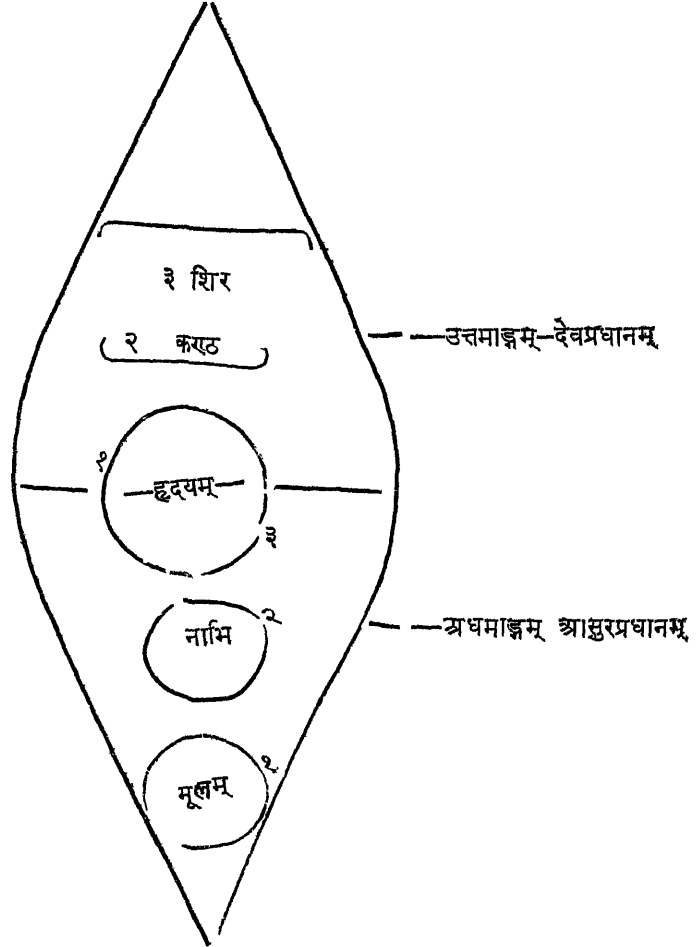
उध्व प्राणमुन्नयति, अपान प्रत्यगस्यति ।

मध्य वामनमासीन सर्पे दवा उपासत ॥

— कठोपनिषदि

अन्नमय हि सोम्य । मन इमं सितात के अनुसार मन का उपासन अन्नरस (सोम) है । इसी से क्रमशः मन की पुष्टि होती है । अन्न का आगमन अशानायासूत्र (बुभुक्षा) पर निर्भर है । यदि भूख न लग तो अन्नागमन असम्भव होजाय । अशानायासूत्र के सञ्चालक हृत्स्यन्ध विष्णुदेवता ही है । इह्वी की कृपा में शरीरानि में अन्नाट्टि होत ३ । अन्नाट्टिरूप यज्ञ के सम्बन्ध से ही यज्ञा नै विष्णु-विष्णुर्णे यज्ञ इत्यादि रूपसे विष्णु को यज्ञ कहा जाता है । इस वैष्णवयज्ञ का परिणाम यह होता है कि अन्नरस के क्रमिक आगमन से मन क्रम क्रमशः सबल होता जाता है । आगे जाकर १६ व वर्ष में अन्नरसागमन से जब मन अपना पूरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है तो तत्काल सौर बुद्धिभाव का उदय होजाता है । अज्ञानमूर्ति असुरों का एकच्छत्र शासन उठ जाता है । शरीर में दवताओं का भी प्रभुत्व हो जाता है । इसी अवस्था में उत्तमाङ्ग-अधमाङ्ग विभागा का विकास होता है । १६ वर्ष से नीचे मनुष्य को मानव-संयता की उत्तमता अधमता का अनुभव नहीं होता । १६ वर्ष के अनन्तर ही उसे अयसाधु अयमसाधु यह अवक होता है । सप्रकार विष्णु देवता यज्ञ के त्याग से अयासस्था के दो विभाग कर दते हैं । इन विभागा की सीमा पव कथनानुसार है यही है । और आयामिक दवासुर दायविभागानुवन्वी तय की यही सन्निप्त स्वरूपदिशा है ।

देवत्रिलोकी	आसुरत्रिलोकी
शिर — द्यौ	मूलस्थानम्— द्या
कण्ठ — अ तरिक्षम्	नाभि — अ तरिक्षम्
हृदयम्— पृथिवी	हृदयम्— पृथिवी



दवासुरदायविगारयानानुगत-प्राधिदैविकचरित्र का समन्वय--

सूचीकृतान्याय मे आरयान के आधिभातिक (एतिहासिक) एव आ यामिक-चारत्रा का एतद्ग शन करा दिया गया । अब क्रमप्राप्त आधिभौतिक-रहस्य का आर ह एज पाठकों का ज्ञान आकर्षित किया जाता है । सृष्टि के आरम्भ-काल मे दवता आर असुर दाना का स भूपण्ड पर समाना प्रकार न था । आर म में सम्पूर्ण पृथिवी-मण्डल पर असुरा का ही साम्राज्य था । तबतक भूपण्ड एकमात्र असुरो के अधिकार मे ही रहा तबतक वह सबथा अयज्ञिय रहा । आग जाकर दवताओने विष्णु का सहायता से इसे याज्ञिय प्रवेश बनाया । विष्णु के द्वारा भूपण्ड का जो प्रदश यज्ञिय बन गया वही स्थान आगे जाकर वेदि नाम से प्रसिद्ध हुआ । साथ ही बदिरूप मे यज्ञप्रधान भूपण्ड से असुरो का आधिपत्य स के लिए हट गया । देवताओने निर्दिष्ट मे प्रदश पर यज्ञवितान किया । तद्द्वारा पार्थिव प्राणदवताओने अमृतमयी स्वर्गप्रतिष्ठा प्राप्त की । सृष्टि के आरम्भ मे उक्त चारत्र हुआ था एव तबतक पार्थिव-स वसर स्वस्वरूप के प्रतिष्ठि रहगा तबतक इसी प्रकार देवयज्ञ वितत होता रहेगा ।

मेस आधिभौतिक-चारत्र मे भूपण्ड-गायत्री-त्रि टुप् चगताछ-त्रिष्णु-देवता इतने ज्ञातय विषय है । इन पदाथा के स्वरूप-समवय से उक्त चरित्र का वैज्ञानिक भाव सर्वांगना गताथ होनाता है । इन सब पदाओं की मूलप्रतिष्ठा भूपण्ड है । अतः सवप्रथम उसी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है । अद्भ्य प्रथिव मेस श्रौत सिद्धात के अनुसार पानी से भूपण्ड का स्वरूप-निर्माण हुआ है । पानी हा वायु के सम्बन्ध से क्रमश आग फेन मृत् सिकता शकरा अश्मा अथ हिरण्य इन आठ अवस्थाआ मे परिणत होकर भूपण्ड का स्वरूप-समपक बन गया है । असप्रकार देवप्राण अग्निप्रधान है उसी प्रकार असुरप्राण अप्रधान है । आप्यप्राण को ही असुर माना जाता है । कारण स्पष्ट है । असुर-राति-ददाति के अनुसार बलाघायक प्राण ही असुर है । बल का प्रवक्तक प्राण ही असुर है । वह प्राण आपोमय प्राण के अनुार आप्यप्राण ही है । तबतक भूपण्ड में पूण घनता नही आजाती तबतक इस में आग्न उक्थरूप से प्रतिष्ठित नही होता । अग्नि सय त व है । सहस्य-सशरीरी भाव ही सयभाव है । सर्वांगना पण्ड (शरीर) नि माण होने के अनन्तर ही भूपण्ड में ह यमाय उपन्न होता है । ह योपत्ति के अनन्तर ही वहा स्याग्नि को प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलता है । पण्डनिर्माणकाल में पृथिवी अवथा काल्वालीकृता (कन्म से याप्त) कादा कीच से युक्त ही रहती है । एव इस अवस्था मे सर्वांगना पानी की ही प्रधानता रहती है । आग्नतव प्राय सबथा अप्रातष्ठित रहता है । पानी की प्रधानता से काल्वालीकृता पृथिवी पर आप्यप्राणमूर्ति असुरो का ही (उस अवस्था में) आविषय रहता है । भूपण्ड की मेस आप्यप्राण-प्रधाना अवस्था को लक्ष्य में रख कर ही अस्माकमवन्तु ग्लु मुचनम् यह क्ता गया है ।

गुणदोषमय सय स्रष्टि सृजति कौतुकी मेस सिद्धात के अनुसार विश्वरचना में गुण-दोष दोना भावों का योग रन्ता है । यही नही अपितु विश्वरचना के सम्यक निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होजाता है कि विश्व मे गुणभाव गौण है एव दोषो की ही प्रधानता है । कारण यही है कि सृष्टि तमोमूला है । तम स्वय एक महादोष है । ऐसी अवस्था में तम प्रधान विश्व को दोष-प्रधान मानना युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है । विश्व यापिनी गुण दोष विभूति ही शास्त्र में क्रमश दैवीसम्पत्ति आसुरीसम्पत्ति

नामो स व्यवहृत इदं है । सम्पूर्ण 12श गुण-दोष की प्रतिस्पर्द्धामात्र है । कही गुणभाव का विनय है पर तु काचिक । कही दोषभाव का साम्राय है कि-तु प्रायः सवत्र । गुणदोष की प्रतिस्पर्द्धा क्या है दवासुरमग्राम ही है ।

जिस विश्व मं उक्त दवासुरमग्राम होरहा है व 12श स्यम्भू परमेष्ठी-सूय्य च मा प्रथित्री इन पाच भागो में विभक्त है । पाचो पत्रा में देवता (गुणविभूति) एव असुर (दोषविभूति) दोनो प्रति ठत रहते हैं । मत्र स पाहले इन पाचो विश्वपर्वा की गुणविभूति को ही लीजिए । स्यम्भू की गुण-विभूति ऋषि है परमेष्ठी की गुणविभूति पितर है सूय्य की गुणविभूति देव है च मा की गुणविभूति ग ध्रुव है एव प्रथित्री की गुणाजभूत मनुष्य है । य पाचो हीं प्राणरूप हैं । जिस प्राणी म जिस प्राण की प्रधानता रहती है दूसरे शर्दाँ मे जिस प्राणी म जो प्राण विकसित रहता है वह प्राणी भूलोक मे उसी नाम से व्यवत्त होता है । निष्कष यही हुआ कि स्वयम्भू के प्राणदेवता ऋषि है परमेष्ठी क प्राणदेवता पितर है मूय्य क प्राणदेवता देव है च मा क प्राणदेवता ग ध्रुव है एव प्रथित्री क प्राणदेवता मनुष्य (वशानरप्राण) है ।

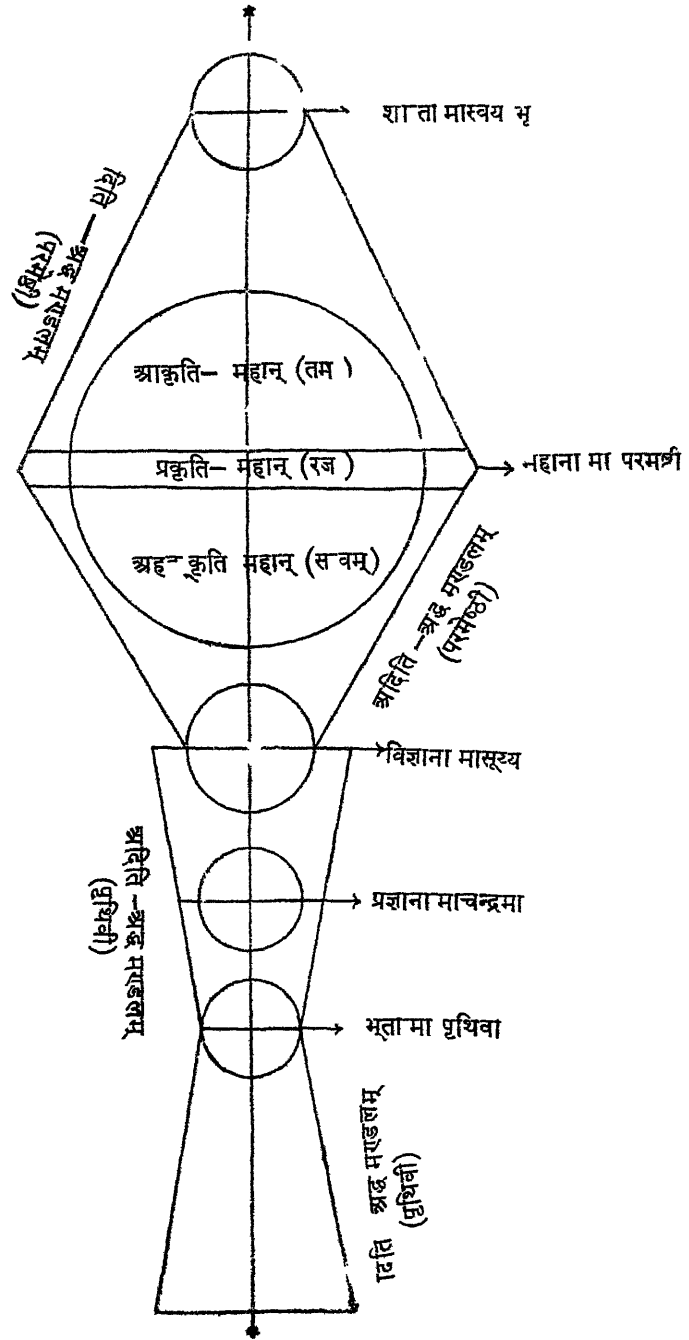
यह तो हुआ पाचो पर्वा की विभूति का दिग्दर्शन । अब चलिए आसुरी विभात की ओर । स्यम्भू की आसुरी विभूत बल है । स्वायं भुव असुरप्राण बल नाम स प्राप्त है । ज्ञानमूर्ति ऋद्र इस बलप्रथि के विघातक है अतएव इन्द्र को बलाराति (बल का शत्रु) कहा जाता है । पारमर्ष्य असुर प्राण अनिरुक्त तम नाम से प्रसिद्ध है सौर असुरप्राण नमुच कहलाता है चान् असुरप्राण वृत्र नाम स प्रसिद्ध है एव पात्रिय असुरप्राण साहकेय नाम से यज्ञत हुआ है ।

योति प्रकाश है तम अ धकार ह । देवता और असुर दोनो का सामाय लक्षण योति एव तम पर ही निर्भर ह । यातिर्भाग दे जाता है एव तमा भाग असुर है । यह योतस्त व ज्ञान-योति अ-योति स योति पर याति रूप योति भेद स पाच भागों में विभक्त है । ज्ञान योनि का स्वायं-भुव ऋषिप्राण से अ योति का पारमर्ष्य पितरप्राण से स्य-योति का सौर देवप्राण से पर योति का चान् ग ध्रुव [साम्य] प्राण से एव रूप-याति का पात्रिय मनुष्यप्राण स सम्बन्ध है । अ यक्त स्वयं भ ज्ञान योतिमय है अतएव वहा असुरो की प्रधानता नहीं रहती । परमेष्ठी वायुरूप होने से यद्यपि अ-योति है पर-तु सौर दशपूर्णाभास के कारण परमेष्ठी में परज्योति का भी उदय हो जाता है । परमेष्ठी स्वस्वरूप से आनरुक्त तमोरूप है । इसके चारा ओर सूय्य परिक्रमा करता है । सूय्य की परिक्रमा से परमेष्ठी का जो भाग प्रकाशित होजाता है वही भाग अ या मभाषा मे सत्त्वमहान् कहलाता है । अप्रकाशित भाग तमोमहान् एव सा यभाग रजामहान् क लाता है । स्यम्भू अ यक्त है परमेष्ठी महान् है । सूय्य परिक्रमाकृत तम प्रकाश के तारतम्य से ही परमेष्ठी महान् में सत्त्व रजस् तमो भेद से त्रिगुण्य का उदय होजाता है । जो भाग स प्रधान है उसमें पितर प्राण का साम्राय है । जो भाग अप्रकाशित है उसमे आनरुक्त तमोरूप असुरप्राण की प्रधानता है । एव सविगत प्राण ग ध्रुव नाम से प्रसिद्ध है । नि नलिरित रेखाचित्र स त्रिगुणामक आकृति-प्रकृति-अहङ्क तिरूप तम रज स वानु-बन्धी महान् का स्वरूप सर्वा मना यक्त होरहा है ।

महानात्मविद्यया-स्वरूपपरिलेख —

चिदात्मा

[प्र स ६२ स ६२१ के म य म ।



तीसरा है सूय्य । सूय्य रूप योति मय ह । अतएव सारमयन्तल म तमामय अम १ का प्र श सवथा निषिद्ध है । यत्ना सदा योति मय (ज्ञान-योत्गर्मित भूत-योति मय) दवतात्रा का ी साम्रा य गन्ता हा वृष्ट के उपक्रमनाल मे मघगत नमुचि प्राग अ श्य ही याची दर क लिए अ तारक्ष म अपना प्रभु व स्थापत कर नेता है । परन्तु योड हा समय मे सार इ राशमरूप वज्र से मघगत नमुचि का शिरच्छेद कर दत है । जो नमुच पानी का अवरोध कर प्रजा का उपीडन कर रहा था व नष्ट हा जाता है वृष्ट होने लगती है । असुरजिनाश से प्रजा मे पूण शा त होजाती है । चाथा चन्द्रमा है । जो प्रति प मया की है वी सकी है । सूयप्रकाश से प्रकाशित चन्द्रभाग दनमय है इसका पृष्ठभाग वृत्रामरमय है एत सा यभाग गधधमधान है । पाचवा है भूपिण्ड । यह केवल रूप-योतिमय । अतएव आरभ मे तम असुरो का ही साम्राय मानना पन्ता ह । भूपिण्ड मतप्रधान है । यहा आवरा की पराकाष्ठा प्रकाश सवथा पराभत होरहा है । तिस समय भूपिण्ड बनकर सम्पन्न हुआ होगा उस समय-[तनाक सोर प्रकाश का भी भूपिण्ड क साथ सम्बध नहीं हुआ था] इस पर आप्यप्राण-प्रज्ञान तमो-मय असुरा का ही साम्राय रहा होगा यह मान लेना युक्तमङ्गव ही प्रतीत होता है । मापण्ड की उसी प्रारम्भिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति ने कहा है- अथाहासुरा मोनर-अस्माक्मेवन् खलुभुवनमिति ।

पूर्व दिग्दर्शन स यह मलीभाति सद्ध हो जाता है कि रूप योति मय भूपिण्ड स्वस्वरूप से सवथा कृण है । जबतक सोर सम्बसरयज्ञ का इसके साथ सम्बध नहीं होता तबतक स पूण भुवन असुरो के ही (तम के ही) अधिकार में रहता है ।

स्रष्टा-षोडशी-प्रजापति

	विश्वपर्वाणि	दवभावा	असुरभावा	योतीषि	तमोभावा
१	स्वय भू	ऋषय	बलायया	ज्ञान-योति	बलावरणम्
२	परमष्टी	पितर	अनिरुक्त तम	अ-योति	अनिरुक्त तम
३	सूय्य	देवा	नमुचि	रूप-योति	×
४	चन्द्रमा	ग धर्वा	वृत्र	पर-योति	कृणपक्षाघकार
५	पृथिवी	मनुष्या	सहिकेय	रूपज्योति	रात्रस्तम

‘गुणदोषमय सव स्रष्टा सृजति कातुकी’

आग जाकर गामन विष्णु की सहायता से देवता पृथिवी पर आत हैं एव यज्ञोपयुक्त प्रदश पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं। प्रकृत कथानक से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि विष्णुदेवता अथ देवताओं के अग्रणी न बनते तो देवता अपना दायभाग लेने में सजया असमर्थ ही रहते। देवताओं को कहा क्या? नृपिण्ड क जिनने प्रदेरा भ वि णु देवता या न हानाय यह भूप्रदेश हमारा शष तुहारा। असुरोऽन इऽ देवकामना को स्वीकार कर लिया। फलतः देवताओं ने पूव की ओर विष्णु को प्रातः कर चारो ओर से इसे छु दो स वक्षित कर दिया। छु दोऽवच्छिन्न विष्णु जितने प्रदश मे यात हुए देवताओं ने उस प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया।

यज्ञो वै विष्णु (ता ब्रा १।६।१) - विष्णुऽयज्ञ (ऐ १।१५) इयादी अतिया यज्ञ और विष्णु को अभिन्नायक ही मान रही है। उवर अग्निर् यज्ञमुखम् (त ब्रा १।६।८) एष हि यज्ञस्य सुकृतयदग्नि (शत १।४।१।५) - आ न यो नियो यज्ञस्य (शत १।५।२।११-१४। अग्निर् वै यज्ञ (शत ५।२।३।६।) इयादि आतया अग्नि को ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बतला रही है। आहुतिर्हि यज्ञ (शत ३।१।४।१) से आहुति प्रक्रिया को ही यज्ञ माना जा रहा है। इन सब श्रौत वचनो के सम वय स हम यज्ञ के अग्नो सोमाहुतियज्ञ नऽ लक्षण पर अवश्राम करते हैं। अग्नि अन्नाद् है सोम अन्न है। अन्नाद् अग्नि में अन्न सोम की आहुति होने से अन्न और अन्नाद् का रासायनिक मिश्रण होता है। दोनो ह पूव रूप छोडते हुए किसी तीसरे अपूव स्वरूप मे परिणत हो जात है अन्नादान्न क मिश्रण से उपन्न यह अपन्न पन्था ही यज्ञ कहलाता है। अन्नादान्न की सम्मिश्रण प्रक्रिया ही यज्ञपदाथ है। अतएव तान्स्थयात्ता छु यम् इस याय से य आहुति-प्रक्रिया भी यज्ञ कहलाने लगती है। अतएव आहुतकाल में क्या हो रहा है? इस प्रश्न के उत्तर में यज्ञ हो रहा है यह व्यवहार देखा जाता है।

दाहक पदाथ अग्नि है एव दाह्य पथाथ सोम है। सूयते इति सोम। यह तव आहुत हाने से ही सोम नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि सोमऽग्नी से निकलने वाला रसविशेष भी सोम है। किन्तु यापक लक्षण के अनुसार अन्नादाग्नि म आहुत होने वाले पदाय मात्र साम शब्द से यवहृत किए जासकत है। इध्म घृत -तिल-मांस इरस आदि सभी सोम है। अग्नि और सोम का समवितरूप ही यज्ञ है। अतएव जहा यज्ञवर्णु को अग्नि कहा जाता है वहा- यत्तन्नमष स विष्णुर्देवता (शत १।५।२।१। - सोमो वैष्णुऽ राजा (शत १।३।४।३।८।) यो वै विष्णु सोम स (शत ३।३।४।२।) इयादिरूप से यज्ञामक विष्णु का सोम शब्द से भी यवहृत किया गया है। अग्नि-सोम-मय यज्ञमूर्ति विष्णु की प्रथम अवकास भूमि सूय ही है। सूय्य दाहक सामन्नाग्निमय है। रो सी- ब्रह्माण्ड मे सवप्रथम इसी सौर आनमय अतएव हिरण्यगभ नाम से प्रसिद्ध धामनिधि का ही प्रादुर्भाव होता है जसा कि हिरण्यगभ समवत्तताप्रे इयादि मत्रवर्णन स स्पष्ट है

सूय्यो ह या अग्निहोत्रम् (शत २।२।५।१।) यह वचन भी सूय्य को ही पत्निला अग्निहोत्र बतला रहा है। यह सौरयज्ञ भूत योतिम्मय है। यहा (सौर मण्डल में किंवा यज्ञरूप विष्णुमण्डल में) कभी तम का प्रवेश नहीं होता अतएव पुराण-भाषा में नऽ सौर विष्णु को श्वेतद्वीपनिवासी सयनारायण भगवान् कहा जाता है। सौर अग्नि सय्य है - (दखिए शत ४।१।२।२२)। यह सयाग्निपिण्ड (सूय्य

विम्ब) आपोमय परमणी- मण्डल म प्रतिष्ठत है । य सय के चारो ओर यात र न वाले मा अपममु को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है -

अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा द्वा उचिषा धिष्या य ।
या रोचन परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आप ॥

—ऋक्स ३। १३।

नारदप्राण से उपज होने के कारण ही पानी को नार कहा जाता है । यनी सूर्य का अयन (प्रतिष्ठाभूमि) है । अतएव सूर्य को स यनारायण कहना सवथा अनुरूप होता है । क ना यी है कि यज्ञविष्णुओं में प्रथम विष्णु दूसरे शब्दों में प्रथम यज्ञ सूर्य ही है । इसी सूर्यायण को लक्ष्य म रखकर श्रुति कहती है— स य स विष्णुयज्ञ स । स य स यज्ञ -असा म आडिय (शत १४।१।१।६ । चित्र देवानामुदगात् = यदि म जानुसार सूर्य दक्षिण है । सूर्य की प्रत्येक रश्मि दक्षिण-प्राणमयी है । रश्मिगत सम्पूर्ण प्राणदेवता सत्यसूर्य के केन्द्र स आबद्ध है । अतएव इन के लिए सय-सहिता े देवा यह कहा जाता है । निगविभाग के अनुसार प्राची-(परा)-दिक् देवताओं की है । दूसरे शब्दों में सौरविष्णु प्राची के आधेता है । आर म मे ये सूर्यमूर्ति विष्णु यत्राप प्राची क म ही प्रतिष्ठित थे । परन्तु आग जाकर छन्दो के आवरण स ये यज्ञायणु चारो दिशाओं में व्याप्त होत हुए भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित होजात हैं । यज्ञरूप सयविष्णु प्राची क म प्रतिष्ठित है इसी नियसिद्धा स्थिति का लक्ष्य में रख कर ते प्राञ्ज विष्णु निपाद्य यह कहा गया है ।

यज्ञ में स्वय गति नहीं है । दूसरे शब्दों में—यज्ञमूर्ति सत्याबन्ध स्वस्थान मे सवथा अविचाली है । रश्मियों में रहने वाले प्राणमूर्ति अतएव गतिधर्मा देवताओं के यापार से ही सौरयज्ञ का चारा दिशाओं में वितान होता है । दूसरे शब्दों में—सौर अग्नि प्राणदेवताओं के स्वरूप में परिणत होकर ही स वसर-स्वरूप का अधिष्ठाता बनता हुआ सर्वात्र व्या त होता है । स्वय अग्निमूर्ति विष्णु में गति नहीं है गति है देवताओं म । इसी रहस्य को लक्ष्य म रख कर—देवताओं न विष्णु को प्राची दिक् म याप्त (पसार) कर उसे छत्ता से वेष्टित कर लिया यह कहा गया है । आग्नि में आहुत साम अग्निरूप में परिणत हाजाता है । फलत सोम की स्वतंत्र सत्ता का उच्छे होजाता है । अतएव हम इस अ नीषोमामक विष्णु को आगे जाकर आग्नि नाम से ही व्यवहृत करग । इस अग्नि की (विष्णु का) प्राची प्रतीची त्तिणा उदक् भेद से नार अवस्था होजाती है । इसी आधार पर— चतुर्धा विहितो ह या अग्र अग्निरास यह कहा गया है । अस अनुगमवचन के अनक अर्थ होत है जसा कि प प्रकरणा म विस्तार से तलाया जाचुका है ।

उप युक्त निगम के अनुसार मौलिक आग्नि चार भागों में विभक्त है। व चारों अग्नि किंवा एक ही अग्नि की चार अस्थायी क्रमशः ब्रह्माग्नि अङ्गिरोऽग्नि अन्नादाग्नि पाशाकाग्नि इन नामों से प्रसिद्ध है। स्वायं भुव वदाग्नि ब्रह्माग्नि नाम से प्रसिद्ध है। नसी के लिए— तस्य वा एतस्या नेर्वागेऽपनिषत् (शत १ ५।१।१) य का जाता है एव यी अग्नि पुरुष (यजु पुरुष) कहलाता है। ऋक्समुद्र को महोम्न्य कहा जाता है। सामसमुद्र को महाव्रत काह जाता है। एव यजु को पुरुष कहा जाता है। यही वाग्नि है। याज्ञिक परिभाषा में इसी को सावयोजुषाग्नि कहा गया है। इसी वाग्नि से (स्वायम्भु यजुराग्नि स) सवप्रथम आपोमय परमेठी का जन्म होता है। इसी के लिए सोऽपोऽसृजत पाच एव लोकात्। वागेऽसाऽसृजत। (शत ६।१।१।६) यह कहा गया है। इसी सव-मूलभूत प्रतिष्ठानमयी वदमयी वाक के लिए— अनादिनिधना निया वागुःसृष्टा वयम्भुवा यह वचन प्राप्त है।

दूसरा है अङ्गिरोऽग्नि। इसी को परमेठी के समवयस सुब्रह्माग्नि एव ऋताग्नि नाम से व्यवहृत किया जाता है। ऋतमूर्ति यही अङ्गिरोऽग्नि आने जाकर (सूर्य में) स्याग्निरूप में परिणत होकर अन्नादाग्नि नाम से प्रसिद्ध होता है। आपोमय परमेष्ठी से सत्र ऋतरूप से यात रहने वाला अथवदेदमूर्ति यह ऋताग्नि ही अङ्गिरोऽग्नि है।

तीसरा अन्नादाग्नि है। सौर अग्नि ही अन्नादाग्नि है। आहुत पदार्थों को अपने उदर में हुत कर लेना इसी अग्नि का कार्य है। नसी अन्नाग्निभाव की प्रधानता से इसे अन्नादाग्नि कहा जाता है। इसी को यज्ञाग्नि - छ स्याग्नि - स्याग्नि आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। यह अग्नि पारमष्ठ्य अङ्गिरोऽग्नि की ही सङ्कुचितावस्था है। आपोमय परमेष्ठी में जो अग्नि ऋत (परमाणु) रूप से इतस्ततः चारों ओर यात रहता है वी वायु की प्रेरणा से एक नियत केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ कालांतर में सूर्यपिण्डरूप में परिणत होजाता है। पिण्डावस्थापन्न अङ्गिरोऽग्नि ही अन्नादाग्नि नाम से व्यवहृत होता है। अङ्गिरोऽग्नि ऋतप्रधान होने से केन्द्र-शून्य है। अतः उस में अशनाया (बुभुक्षा) का अभाव है। परन्तु अन्नादाग्नि सक है सय है। अतः इस में इसी हृदयभाव के कारण अशनाया जाग्रत होपडती है। सोमान्न से ही अङ्गिरोऽग्नि सङ्कुचित होता हुआ पिण्डरूप में परिणत हुआ है। अपने इसी पिण्डस्वरूप की रक्षा के लिए इस में निरंतर अन्नादान की इच्छा बनी रहती है। इसी स्वाभाविक धम्म के कारण इसका नाम अन्नादाग्नि होजाता है। क्योंकि यह अङ्गिरोऽग्नि की ही दूसरी अवस्था है अतः कही कही नसे भी अङ्गिरोऽग्नि क दिया जाता है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है तो अङ्गिरोऽग्नि अन्य अवस्था है एव अन्नाग्नि भिन्न अवस्था है।

चौथा है-पाशुकाग्नि। प्रतिष्ठाशु य अग्नि ही पाशुकाग्नि है। इसी को प्रगर्गाग्नि भी कहा जाता है। स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित यह पाशुकाग्नि द्यामावृथिनी की प्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित रहता है। स की पुरुष अशनाया अग्नि आज ये पाच अस्थायी होती हैं। से हम भोम (भूपिण्ड-सम्बन्धी) अग्नि भी कह सकते हैं। नसप्रकार एक ही स्वायं भुव मौलिकाग्नि अवस्था में चार भागों में विभक्त होजाता है जैसा कि परिलोक से स्पष्ट है।

	अग्नय	लाका	नामा तराणि
१—	ब्रह्माग्नि	स्नायम्भुव	पुरुषाग्नि वनाग्नि वागान सा । जुषाग्नि
२—	सुब्रह्माग्नि	पारमेष्ठय	अग्निगान ऋग्नि
३—	दवाग्नि	सर	अनागान सयाग्नि छन्दया सावत्राग्नि
४—	मताग्नि	पार्थिव	पाशुकाग्नि प्रवर्थाग्नि व्याग प्राययाग्नि

चतुर्द्धी विहिता ह वा अग्र अग्निरास ।

उपस्थुक्त चारो आ नयो म से प्रकृत कथानक म तीसरे अन्नादाग्नि का ही अनुरूपण ह सार अग्नि अन्नादाग्नि है एव यही यज्ञमूर्ति । षण्णु है । यही स्वस्वरूप स प्राचीन क म प्रतिष्ठित हाता हुआ प्राणदवताओं के द्वारा चारो आर यात होता ह । यान्तिलक्षण स युक्त होने स ही अस यज्ञाग्नि का कवा सौर आग्नि का षण्णु नाम चरिताथ होता है । इस अन्नादाग्नि की भी चार अवस्था होजाती है । ये चारो आग्निया किवा एक ही अन्नादाग्नि की चार अवस्थाए क्रमश याज्ञिक परिभाषा के अनुसार—आहवनीय दक्षिणाग्नि गाहपत्याग्नि पाशुकाग्नि इन नामो से प्रसिद्ध है । सौर सावित्राग्नि नि वैवयव याग्नि है यी सव्यके द्रस्थ प्रधान अग्नि है यही मुख्य अन्नादाग्नि ह । यह अग्नि अनुष्टुप छन्द स छुदित रहता ह । आगे के दक्षिणाग्नि गाहपत्याग्नि पाशुकाग्नि इन तीनों की प्रति । यहा सावत्राग्नि ह । अनुष्टुप छुदा यही अग्नि अग्नित्रयी की आधारभाम होने स आग्नित्रयी का प्रभव होने स प्रजापति नाम स प्रसिद्ध है । इस अङ्गी प्राजापत्याग्नि के आधार पर उक्त अङ्गरूप तीना अग्नि प्रतिष्ठित ह । गाहपत्याग्नि क ल प्रथिरी मे ही याप्त है दक्षिणाग्नि कल अ तरिद्ध म ही प्रतिष्ठित ह पाशुकाग्नि कल दूर्वाद् पशुओं मे ही प्रतिष्ठित है । कि तु आहवनीयरूप सावत्राग्नि त्रैलाक्य म याप्त है । अनुष्टुप प्राजापत्य अग्नि का ही छन्द है । प्रजापति इतर छन्दोऽवच्छिन सब आ नया पर अभियात ह । अतएव प्राजापत्य अनुष्टुपछन्द को इतर छुो की योन माना जाता है । अङ्गाग्नियो की अपेक्षा अङ्गी प्राजापत्याग्नि येष्ट एव श्रेष्ठ है । अतएव प्राजापत्य अनुष्टुपछुद सब छुदो में ज्येष्ठ माना गया है । प्रजापति पर इतर देवताओं की सीमा समा त होजाती है । अतएव इतर देवताओं के छुदो की अपेक्षा अस अनुष्टुपछुद को

अतिमं छद्मानं गमयति । सम्पूर्णं देवताओं की अतिमं प्रतिष्ठा अनुष्ठानं छद्म ही है । इतर सब छद्मों की योनि यही अनुष्ठानं छद्म है । अनुष्ठान के इसी स्वरूप को लक्ष्य मरकर निःलिखित श्रौत वचन हमारे स मुख आते हैं—

१—“अनुष्ठानं हि छद्मानं योनिः” (ता ब्रा ११।५।१७) ।

२—“यष्टं वा अनुष्ठानं (ता ब्रा ८।७।३) ।

३—“परमं त्वाऽएतच्छब्दो यदनुष्ठानं” (शत १३।३।३।१) ।

४—“अतो वा अनुष्ठानं छद्मानं” (ता ब्रा १६।१२।८) ।

५—“अनुष्ठानं च साम् (एतमादित्यमानशे) (ता ४।६।७) ।

६—“विश्वे देवा अनुष्ठानं समभन्” (जै उ १।१८।७) ।

७—“प्रजापतिर्वा अनुष्ठानं” (ता ४।५।७) ।

८—“आनुष्ठानो वै प्रजापतिः (ता ० ४।५।७) ।

९—“यस्य ते (प्रजापते) ऽहं (अनुष्ठानं) स्रज्छन्दोऽस्मि” (ऐ ब्रा ३।१३) ।

ता पय यही हुआ कि प्राणदेवताओं के प्रितानयज्ञ से अकरूप में परिणत होकर त्रैलोक्य में व्याप्त होने वाला सब देवता एव सब छन्दों की अतिमं प्रातःरूप अनुष्ठानं छद्म से छुदित सूर्यके द्रव्य प्राजाप याग्नि ही आहवनीयाग्नि है । इस की प्रधान आवासभूमि प्राची दिक् है । इसी प्राजाप याग्नि को लक्ष्य में रख कर— अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनाचत श्राम्यतश्चेरु यह कहा गया है ।

दूसरा है गाहप याग्नि । भूपिण्ड सूर्य का ही उपग्रह माना गया है । सौर अन्नाग्नि ही प्रव यरूप से भूपिण्ड का स्वरूप समपक बनता है । जो सौर अन्नादाग्न सूर्यमण्डल से प्रवृत्त होकर (पृथक् होकर) भूपिण्ड का स्वरूप—समपक बनता हुआ भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ भूपिण्ड की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है वही भूग्रह का अधिपति पार्थिवाग्नि गृहपति नाम से प्रसिद्ध होता है । गृहा वै गाहपत्या के अनुसार भूपिण्ड गृह है । यथाग्निगर्भा पृथिवी इस वचन के अनुसार इस घर में यह गृहपति प्रतिष्ठित रहता है । स पूरा भूपिण्ड गृहपतिमय है । यही अग्नि याज्ञिक साम्प्रदाय में गाहपत्याग्नि नाम से प्रसिद्ध है । जिसप्रकार सौर आहवनीय सूर्य की प्रातस्त्रिक वस्तु है एवमेव गाहप याग्नि पृथिवी का निर्मापक बनता हुआ आज त्रिशुद्ध पृथिवी की प्रातिस्विक सपत्ति बना हुआ है । इस पार्थिव अग्नि का पूर्ण विकास पश्चिमादिक् में अर्द्ध रात्रि के समय होता है । इसी अभिप्राय से रात्रि को आग्नयी माना जाता है । आहवनीयाग्नि (सौराग्नि) की सत्ता प्राची में थी गाहप याग्नि (पार्थिवाग्नि) की सत्ता पश्चिम में है । यह अग्नि त्रिष्टुपछद्म से छुदित रहता है । तस आ न के स ब ध में हम यह कह सकते हैं कि सौर दि याग्नि ही प्रवग्यरूप से पृथिवी की वस्तु बन कर त्रि टुपछद्म से छुदित होकर पश्चिमादिक् में व्याप्त हो रहा है । दूसरे शब्दों में वही अन्नादाग्नि अनुष्ठानं छद्म की कृपा सपव में व्याप्त हो वही त्रिस्टुपछद्म की कृपा से आज पश्चिम में व्याप्त हो-

रा । यही पाथव आग्नि अङ्गारा । म म भा प्रा । म क म न ता म मन र म त्रापो मथ ऋता न मो आन्रोऽन का ह । प्रा । न आप । व — अन् य प्र पत्रा न मता न के अनुमार् भू पण्टा या मय । म अर स ब्र व के कारण । पाथव आ का आ । न । म म भी यन्त दया जाता । जमप्रा मा आन्त्यान (अह्वनाया) — प्र क आर आता रहता ह एमन पाथव आग्नि न तर तुलाक का आ जाता रहा । म अम । न म । त कहता ।

**इत एत उदासहन् दिवस्पृष्ठा यासहन्
प्र भूजयो यथा पथा ग्रामङ्गिरमा ययु ॥**

—अथाम १२।१।३१ ।

तीमा है दक्षिणाग्नि । स ही आग्नि-पारभाषा म श्रपणाग्नि भी कहा जा । । प्रा । चुमा है क । र आ न म यमण्टल म न तर भापण्ड का ओर आता ता ह साथ ही पाथव आग्नि ऊपर की ओर आता रहता । मी को आन्त्य ए अन्त्रिका म प्रतिस्पृष्टा का जाता है । स अ न भापण्ड की ओर आता अवश्य है । परन्तु पार्थिव अग्नि क प्रयागत व पुन मण्डल की ओर ही प्रतिफलित होजाता है । मधर सौर माग्नि का आगमन अनन्तर होता है । अत पाथव आग्नि क आघात स ऊपर की ओर आता हुआ प्रतिफलित मोरान तुलाक (स्वलाकरूप स्पृश्लोक) की ओर भी नहीं जा सकता । साग्निता न के प्रयागत म उमका यमा । भी अवरु हानाना है । फलत पार्थिव गाह्यपाग्नि तथा मि य साग्निताग्नि क आघात से सत्श पतित यन् प्रतिफलित मार अग्नि तिर्गक हाता हुआ दक्षिणाग्नि म यात होनाता है । प्रमाग साग्निता न म अवरु ह । पश्चिम माग गाह्यपाग्नि स अवरु ह । उत्तरमाग सोमप्रधान होने स अवरु ह । शष दक्षिणाग्नि रती ह । यही यह प्रतिफलत मार अनादानि प्रतिष्ठत होता । यही दाक्षिणाग्नि याम्या (आग्नेयी) । क कहलाती ।

आयु । दक्षिणस्था ओषावयो को आग्निता भी माना करते हैं । यही अग्नि ऋतु नाम से यवहृत होता है । य दाक्षिण स उत्तर की ओ जाता हुआ आघातका (अन्त्रिका) पाग्नि करता है । इसी परिपाकक्रिया के कारण स दाक्षिणाग्नि को श्रपणाग्नि (हाय पाग्नि करुन जाला अग्नि) कहा गया है । दक्षिणस्था यह अग्नि गायत्रा छन्द से छन्दित है । योत्तिवत् (यातिथी) दक्षिणस्थ जिस आतम पूर्वापरवृत्त को मन्त्रवृत्त का करत ह गायत्रा के स व ध स छन्द परिभाषा क अनुसार वही वृत्त वैदिक विज्ञान में गायत्री नाम स यवहृत हाता है । गायत्राछन्दस्क यह दक्षिणाग्नि भी मी सौर अग्निताग्नि की अव था-विशेषमात्र है । ताप य मही हुआ । सार आग्नि प्रातफालतरूप स गायत्रीछन्द स छन्दित हाकर दक्षिणा दिक में याप्त होजाता ह ।

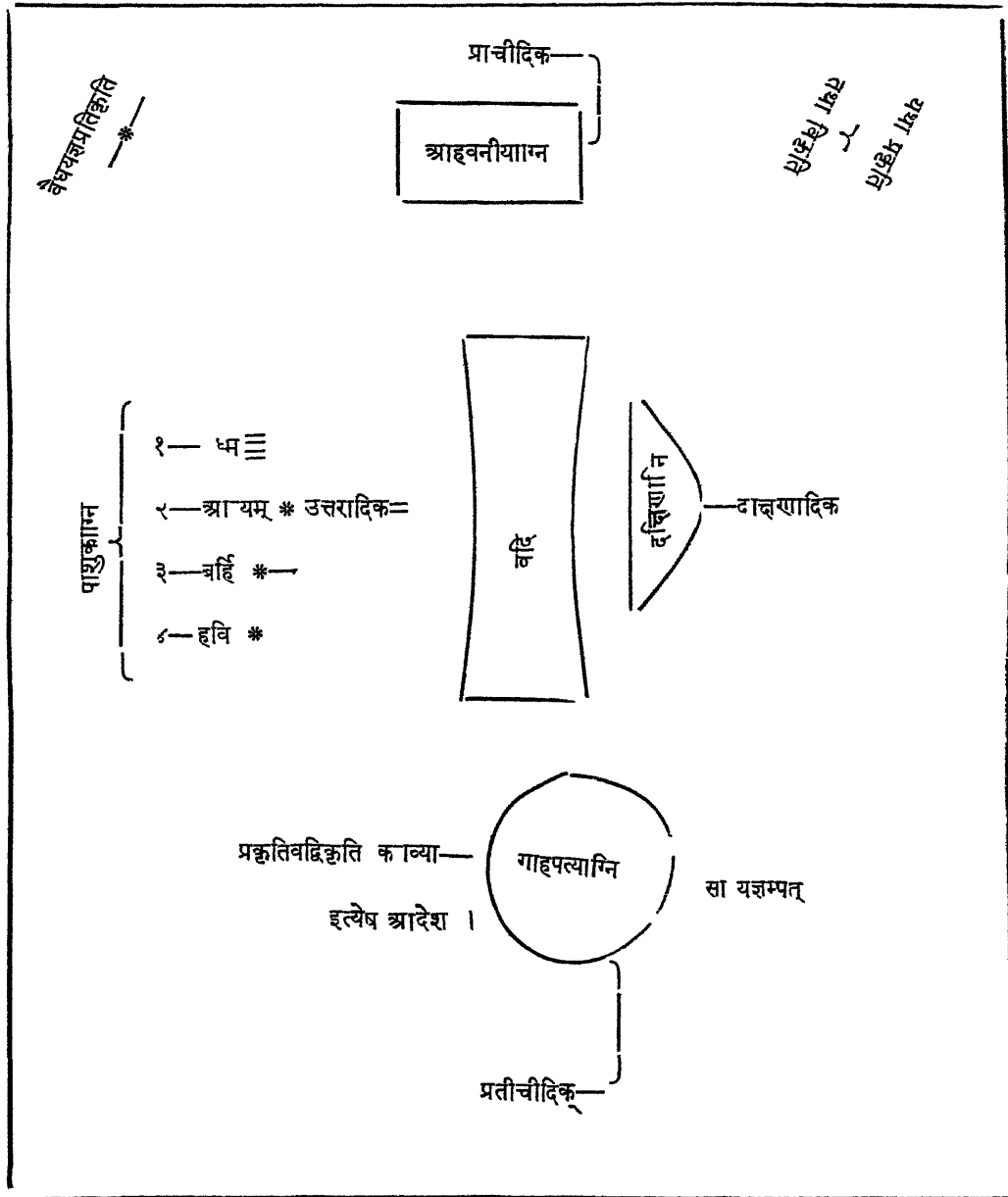
चौथा है पाशुकाग्नि । यह अग्नि भृशुष से सलग्न रहता है । पार्थिव । य अग्नि के सामग्रण स एक नरीन सायोगिक अग्नि उपन्न होता है । यह आग्नि सकर आ न हाने स पशु (आमप्रतिष्ठारहित) माना जाता है । सकरप्रजा जस अपने विशुद्ध आमा से तरोहृत् रती ह एवमव व्यावाष्टायनी के सयोग स

उपन्न यह अग्नि स्वस्वरूप से अतरोहित रहता है। फलतः इस अग्नि का विशुद्ध अग्नियों के साथ योग नहीं होने पाता। पूर्व में सावित्र पश्चिम में गाहपत्य एवं दक्षिण में श्रपणाग्नि हैं। इस पशुरूप सकर अग्नि के लिए तीनों माग अवरुद्ध हैं। उत्तरादक शेष रहती है। यहाँ सोम का प्राधान्य है। सोम स्वयं अन्न होने से अग्नि का भोग्य बनता हुआ पशु है। इसी सजातीय सम्बन्ध के कारण उक्त सकर अग्नि को उत्तरादिक में ही आश्रय मिलता है। यह पाशुकाग्नि ही दूर्वा इम बर्हि आज्य हवि आदि पदार्थों का स्वरूप-सम्पादक है। यह अग्नि जगतीछन्द से छन्दित है। अतएव उत्तरस्थ ककवृत्त जगतीछन्द नाम से प्रसिद्ध है।

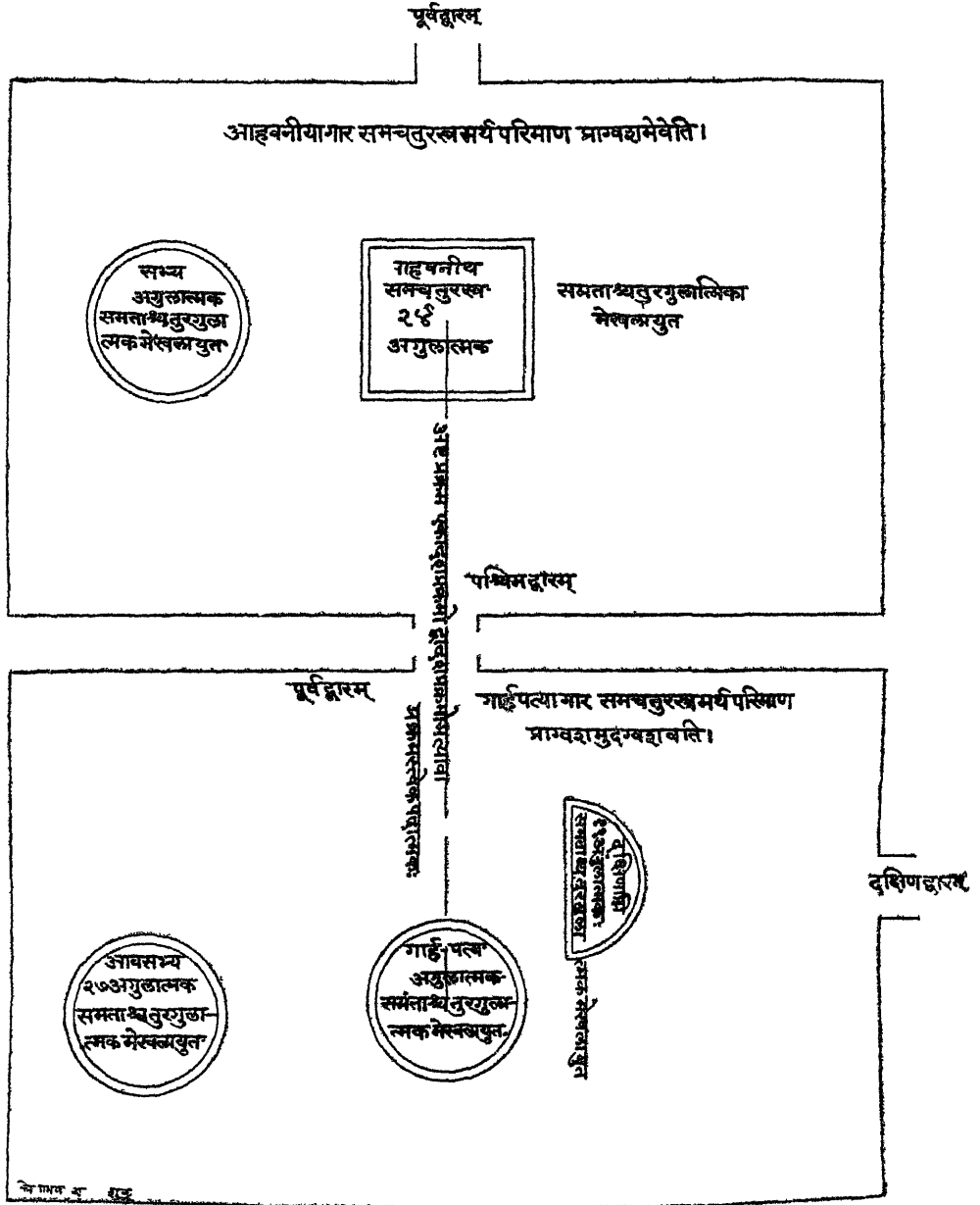
अपिच-जागत पाशुक अग्नि के सम्बन्ध से ही- पशवा जगती (शत ब्रा ३।४।१।१।३) नागता वै पशव (ऐ १।५.२१.१८) इत्यादि रूप से पशुओं को जागत का जाता है। यद्यपि पाशुकाग्नि अन्न के सकर से उपन्न होने के कारण अन्न की ही अवस्था-विशेष है। परन्तु पशुभाव की प्रधानता से भाव ही साक्षात् पशुरूप उत्तरस्थ सोम के सम्बन्ध से यह अन्नकोटि से यो बहिभूत होता हुआ अन्न ही मान लिया जाता है। यह भोग्य होने से निरायतन है। अतएव जिसप्रकार सायतन इतर तीनों अग्नियों के लिए षोडशयज्ञ (मनुष्यकृत यज्ञ) में कुण्ड का निर्माण होता है इसप्रकार इस पाशुकाग्नि के लिए स्वतन्त्र कुण्ड निर्माण नहीं होता। अतएव च इस चौथे पाशुकाग्नि को अग्नि-मर्यादा से बहिभूत समझते हुए यज्ञाग्नि सत्राग्नि (आहवनीय गाहपत्य दक्षिणाग्नि) का ही ग्रहण किया जाता है। वेदि के उत्तर भाग में प्रतिष्ठित रहने वाले आश्रय इम बर्हि हवि आदि इसी पाशुकाग्नि की प्रातर्कृतियाँ हैं। तापय यह हुआ कि पार्थिव एवं दिव्य अग्नि की सङ्करावस्थारूप पाशुकाग्नि से उत्तरादिक प्राप्त रहती है। इसप्रकार यज्ञविष्णुरूप सौर अग्नि अनुष्टुप् आदि छः दोस छन्दित होकर चारों दिशाओं में यात्रा रहता है। इसी यज्ञविष्णु के प्रभाव से सौर देवता भूपिण्ड पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं।

सौर अग्नि पृथिवी की पूर्वदिशि में प्रतिष्ठित है गाहपत्य पश्चिम में प्रतिष्ठित है श्रपणाग्नि दक्षिण में प्रतिष्ठित है एतद् पाशुकाग्नि उत्तर में प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड वेदिरूप है। इसी प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर वध यज्ञ का वितान किया जाता है। भूपिण्ड की प्रतिकृति (नकल) वेदि है। आहवनीय की प्रतिकृति वेदि के पूर्ण भाग में प्रतिष्ठित चतुष्कोण आहवनीय कुण्ड है। पश्चिम में वत्तुल गाहपत्य कुण्ड है। दक्षिण में अद्रकटकाकृति श्रपणीय कुण्ड है। उत्तर में इम बर्हिरूप पाशुकाग्नि की प्रतिकृति है जैसाकि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट होजाता है।

वैधयज्ञवेदिपरिलेख —



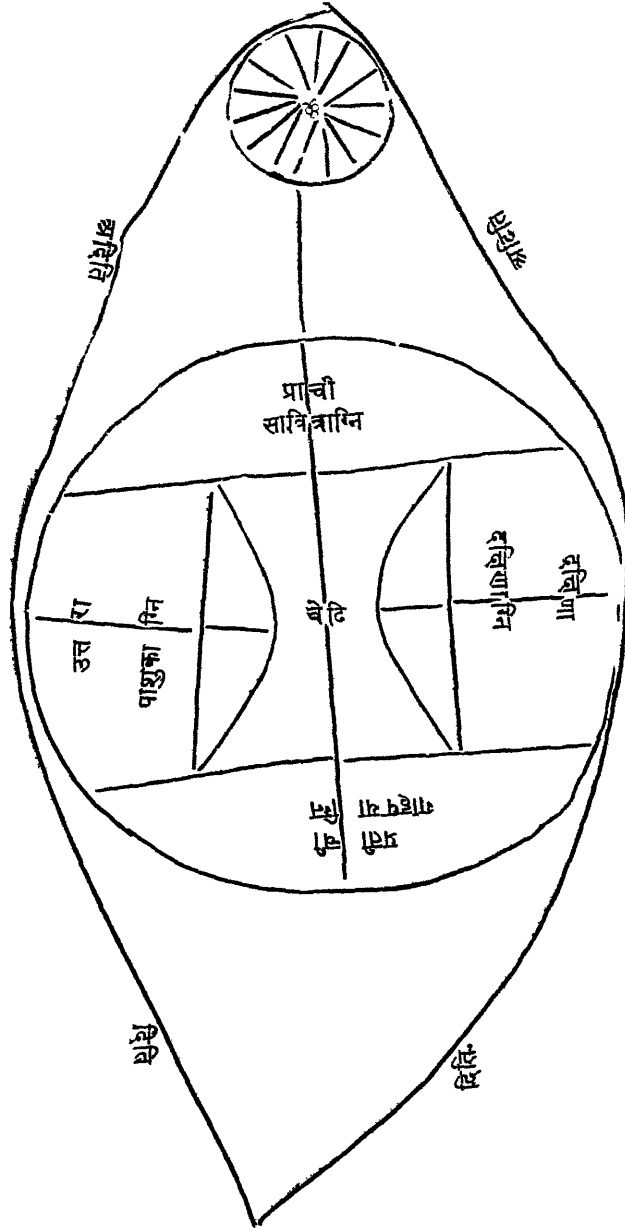
अग्निहोत्रशाला १



नि ययज्ञ की वदि बना लिया । तभी से ज्ञानिक स प्रदाय में यावती वेदिस्तावती प्रथिवी यह निगम प्रचलित होगया ।

जब सम्पूर्णा भूपिण्ड पर देवताओं का अधिकार होगया तो असुर कहा रहे ? यह प्रश्न उपास्थत होता है । प्रकृत आख्यान का दायविभाग से सम्बन्ध है । जैसे देवता प्राजापय (प्रजापति के पुत्र) होने से प्रजापति की स पतिरूप भूपिण्ड प्राप्त करने के अधिकारी हैं एवमेव असुर भी प्राजापत्य होने से पैत्रिक सम्पत्तिरूप भूपिण्ड से पृथक् नहीं किए जासकत । इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय है—दिति और अदिति का स्वरूप ज्ञान । एक ही भूपिण्ड के दिति और अदिति दो विभाग होजाते हैं । भूपिण्ड का वह अद्र प्रदश जो सूर्य के योति मय प्राण से युक्त रहता है अदिति कहलाता है । भूपिण्ड की दोनों परिधियों का स्पर्श करता हुआ सौरप्रकाश आगे निकल जाता है । इससे सूर्यविमुख भूपिण्ड पर प्रकाश नहीं जाने पाता । इसी तमोमय अद्र भाग का नाम दितिप्रथिवी है । अतिभाग असुरों की आश्रयभूमि है एा अदितिभाग देवताओं की आवासभूमि है । सृष्टि के आरम्भ में (जबकि भूपिण्ड बना ही था जबकि उस समय सौर—योति का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ था उस समय) यद्यपि स पूर्ण भूपिण्ड पर एकमात्र आप्यप्राणप्रधान तमोमय असुरों का ही प्रभुत्व था । परन्तु आगे जाकर उपयुक्त यज्ञ के प्रभाव से सौर देवताओंने अदितिभाग से सपन असुरों को निकाल कर यायप्राप्त आधे अदिति भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया । इसप्रकार पूर्वकथनानुसार चतुर्द्धा विभक्त अन्नादाग्निरूप यज्ञविष्णु के प्रभाव से अदितिरूप स पूर्ण भूपिण्ड पर देवताओं का अधिकार होगया । प्रकृत आख्यान का यही आधदैविक प्राकृतिक रहस्य है जैसाकि निम्नलिखित परितोषों से स्पष्ट है ।

चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्र अग्निरास				
१	आहवनीयाग्नि	सावित्रानि सौर	अनुष्टुप	प्राची
२	गाहपत्याग्नि	पार्थिवाग्नि	त्रि टुप	प्रतीची
३	अपराग्नि	गायत्राग्नि	गायत्री	दक्षिणा
४	पाशुकाग्नि	प्रव याग्नि	जगती	उत्तरा



प्रकृत प्रकरण में अनुष्टुप् छन्द का उल्लेख नहीं है। प्राचीनिक के सबंध में केवल—तेहपाञ्च
 त्रिष्टुप् निपाय यही कहा गया है। इसका कारण यही है कि सौर त्रिष्टुप् प्रायापयाग्निरूप है। यही
 अनुष्टुप् छन्द है। अतः तीनों त्रिष्टुप् स प्राजापति न के ही त्रिष्टुप् । एवमव इतर तीनों छन्द
 अनुष्टुप् छन्द के ही त्रिष्टुप् है। वह प्रत ठारूप स सवत्र यात है। अतएव आग्ने स्वतंत्ररूप स अनु-
 टुप् छन्द का उल्लेख नहीं किया। य मूर्ति त्रिष्टुप् प्राणरूप है। प्राण के सबंध में— प्रादेशमितो व
 प्राण यह त्रिष्टुप् प्रासङ्ग । प्रदशमात्र पारणाम को ही त्रिष्टुप् कहा जाता है। इसी आधार पर—
 वामनो ह वा अग्ने त्रिष्टुप् प्रास यह कहा गया है। भक्तकाल का प्रयोग । अवश्य ही त्रिष्टुप् प्राण आरम्भ
 में प्रादशश मननी रा होगा। परंतु यनी आग जाकर यज्ञ—(स त्रिष्टुप् यज्ञ) रूप में परणत
 होकर छन्दो स वदित होता हुआ उक्त चार अत्रस्थाओं में परणत हो स पूण भूपिण्ड पर यात होजाता
 है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर अत्र आस यह कहा गया है। अग्नि सर्वा देवता—अग्नि-
 पुरोगा सर्वे देवा प्रीयताम् याद के अनुसार त्रिलोक्य में इसी त्रिष्टुप् याज्ञक अग्नि के आधार
 पर देवता प्राणोदानरूप अत्र यापार एव भूतान मर्णसाधन श्रम (याग यापार) करने में समर्थ ब्रते
 है। इसी आधार पर— नेनाच त्रिष्टुप् अत्र तश्चेत् यह कहा गया है। जो विद्वान् (वज्ञानिक) उक्त
 प्राकृतिक वज्ञानक रहस्य की पूण परीक्षा कर याज्ञिक पद्धति स उम असरावजेता याज्ञिक त्रिष्टुप् प्राण को
 आमसात् कर लेता है उसका आमा त्रिष्टुप् यज्ञक वनता हुआ प्रबल होजाता है। एव स याज्ञिक बल
 के प्रभाव से वह यज्ञकता यज्ञमान वास्तव में अपनी भोयस पत्ति पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं का
 पूण पराजय कर उस स पत्ति का एकाकी भोक्ता बन जाता है। इसी फल को लक्ष्य में रख कर— निभजयस्य
 (अस्या प्रथि या सकाशान्) सप नान् य एमेतद्वद यह कहा गया है।

पूर्व की ओर से आन स अत्ररुद्ध होकर पश्चिम— त्रिष्टुप् उत्तर में क्रमशः त्रिष्टुप्-गायत्री-
 जगती-छन्दो से अत्र पर त्रिष्टुप् देवता स्नान हाग । जान होकर ओगायत्री में प्राण होगए
 आग जाकर यज्ञावद्या के प्रथम आनु कता भोमत्वताओंने भोम वग मे र ने त्रिष्टुप् मनुष्यदेवताओंने)
 यज्ञप्रसाधन के लिए त्रिष्टुप् प्राण का अ वषा किया। अ वषण करत करते परीक्षा से उह त्रिष्टुप् प्राण
 (याज्ञिक त्रिष्टुप् प्राण) आधिभूमि में ही उपलब्ध होगया। तभी से उहोंने वधयज्ञ
 मय त्रिष्टुप् क त्रिष्टुप् त्रिष्टुप् त्रिष्टुप् का यज्ञा त्रिष्टुप् वेदि बनाना हा उसे तीन अङ्ग ल भू भाग
 कोड देना चाहिए। एमा करने से त्रिष्टुप् प्राण वेदि में सयुक्त हो जायगा। अत्र म में देवताओंने
 तीन अङ्ग ल भूमि-का गनन किया। देवताओं का अभिप्राय यह नहीं था कि तीन अङ्ग ल ही भूमि
 गनन किया जाय। अपितु उनका प्रथम लक्ष्य त्रिष्टुप् प्राण ही था। उस समर्थ ओषधि- मूल तीन
 अङ्ग ल त्रिष्टुप् त्रिष्टुप् त्रिष्टुप् । देवताओं का प्रधान लक्ष्य तो ओषधियों का मूल ही था। क्योंकि वही
 त्रिष्टुप् प्राण व्याप्त रहता है। देवताओं का स वजा नरुद्धि का वास्तविक ताप्य न समभक्त हुए तत्तरीय-
 स प्रणय के अनुयायी पाञ्चा आग्ने याज्ञिकोंने तीन अङ्ग ल पर ही जो बल दते हुए पद्धति में यज्ञ ला
 वेदि स्यात् यही विधान माना। त्रिष्टुप् पर त्रिष्टुप् त्रिष्टुप् उठात ए भगवान् याज्ञिककथ कहते हैं। क तीन
 त्रिष्टुप् ल वा खनन किया जाय स की बोह आवशकता नहीं है। प्रधान लक्ष्य ओषधिभूमि पर होना
 चाहए। मान ला कही तीन अङ्ग ल स भी गहर ओषधिमूल है। ऐसी परिस्थिति में त्रिष्टुप् ला ए। वेदि
 स्यात् स पद्ध के अनुयायी ओषधिमूल ननी उखाडगे तो वेदि कसे निपत्र होगी? अतः यज्ञसमय

म अध्वर्यु को ओषाधमूल उख डने की ही आज्ञा दनी चाहिए। क्याफ दवताग्रान ओषाधमूला म नी पिणु को प्राप्त किया था। अत्र प्रश्न बच जाता है विष्णु के म्लान हान का। विष्णु कस म्लान हागण म्नी प्रश्न का समाधान कर यह आव विक्चारत्र उपरत किया जाता है।

पञ्चाक्षरिगित् पिद्वान् जानते ह ऋ विष्णु अनर आगतिधम्मा ह ऋक्षर गतिधम्मा है। स्थितिगर्भिता आगति (विष्णु) साम ह एर स्थितागभिता गति (ऋ) अग्नि है। ऋकाम आग्न का वम्म है इसी को तेन का जाता है। सकाच सोम का वम्म है वही स्नेह नाम से प्रभिन् है। आन व ऋद्रवान है। पिकास स हृत्प्रथि का उच्छेद होता है एव सचोक से हृत्प्रथि थम्लक सृष्टिभाव सकोचवम्मा सोम पर ही निभर है। ज्वतक विकासधम्मा आग्न में सोम की आहुति हाती र ती है तभीतक यज्ञमूर्ति विष्णु सोम के स योग स सृष्टरत्ना करने म समथ रहते ह ोमाहुति के अवरुद्ध होजाने स यज्ञपिणु उन्नान्त होजाते ह केवल ऋसहचारी अग्नि की ही सत्ता रह जाती है। हृत्प्रथि उच्छिन्न ऋजाती है सृष्टि मुक्तरूप म परिणत होजाती है। सकाचभाज ही म्लानभाज है। सृष्टि म आ मपिकास म्लान हाजाता है। स का ऋधान कारण यज्ञमूर्ति पिणु ही है। भौतिक सृष्ट व गावी है। यह सब सृष्ट आम्रा के लिए म्लान है। वष्णीव सृष्ट के इसी लानभाव को लक्ष्य में रखकर विष्णु को आरयान में म्लान कहा गया है। भौतिक सृष्टि की अपेक्षा से लानभाज का अर्थ है—ऋत्प्रथि की प्रवृत्ति एव आमपिकास का तिरोभाज।

सूर्यकेन्द्र मे मन पिणु की सत्ता बतलाइ है। सूर्या बृहती मध्यदस्तपति — नवोदेता नास्तमेस्ता मध्ये एकन एर स्थाना — बृहद्ब तस्थो मुग्नेध्वन्त ऋया श्रौत प्रमाणों के अनुसार सूर्य—चिम्ब्र ठीक हमारे खस्वम्तिक पर बृहती छ के (विष्णुवृत्त के) केन्द्र में प्रतिष्ठित है। मूलयज्ञरूप पिणु इसी सूर्यकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। यही से आग चलकर प्राणदवताआ के द्वारा गाय याद छ ोसे बाह्य होकर विष्णु दवता पूर्वाद् दिशाओ मे प्रतिष्ठित होते ह। केन्द्र म प्रतिष्ठित रहने वाला मूलविष्णु एव चारो दशाआ में याग्त रहने वाला तूलविष्णु दोनो ही हमारे लिए (प्रा त करने म) अशक्य हैं। वह हमारे अधिकार से बाहिर है। इसी अप्रातिभाव के कारण हम हमारी दृष्टि से विष्णु को अवरुद्ध हा म्लान (तिरोहित प्राप्तु मशक्य) कह सकते ह। हमें मिल सकता है एकमात्र पाथव विष्णु। विष्णु का वह त्रलोक्य यापक स्वरूप तो हमारे लिए असाप्तवत ही है।

होता क्या ह—तीनो दशाओ में तो विष्णुप्राण छ दों स धिर जाता है। सका स्वस्थान प्राचीदक् (प्राचीतिकस्थ सूर्य ऋका सू यकेन्द्र) है। वहा भी यह आ त छन्दोबहित विष्णुप्राण पुन जाकर प्रतिष्ठित नही होसकता। कारण वहा से विशुद्ध सावित्राग्नि त्रलोक्य पर आक्रमण करता हुआ नीचे की ओर आरहा है। इन चारो मार्गों के अवरुद्ध होजाने स अन्ततोगवा ऋस याज्ञिक प्राण को ओषधियों के मूल म ही प्रतिष्ठित होना पडता है। सभी ओषाधया निरन्तर (अहोरात्र) विशेषत रात्रि में यज्ञा मक (विणुरूप) सौर रस का पान किया करती हैं। इसी सोमगर्भित अग्निरस का पान करने से ओषधिया पुष्ट हाती हैं इसी रस से इनका परिपाक होता है ओषधियों का शरीर (भौतिक दृश्य भाग) चा द्ररस का पान करता है। अतएव शरीरापेक्षया ओषधिया साम्या कहलाती ह। अतएव च चन्मा (सोम) को ओषधिया का पति

कहा जाता है। पर तु आ मट न्या आषधियो का पोषक सौर अग्नि ही है। यह सौरी उ मा (ताप-अग्नि) ओषधियों के गभ मे प्रतिष्ठित रहती है अतएव ओष (उष दाह दाहस्ताप ताप अनिस्त) धत्त इस निवचन स बह ओषधि कहा जाता है। म्लान (साक्षात् रूप से प्रा तुमशाक्य) सौर यज्ञिय वि णु ओषधियो मे ही प्रतिष्ठित रहता है। ऐसी अवस्था म हम कह सकत है। क पार्थिव मनु यो को याद कही व एवप्राण मिल सकता है तो व ओषधियो के मूल ही ह। पार्थिव यज्ञानि का वधयज्ञ में समावश करने के लिए दूस शब्दों में विशुद्ध पार्थिव यज्ञान के पारग्रह के लिए ओषाधमूल स सल न भूषु ठ का ही आश्रय लेना आवश्यक है।

ओषधानिर्माण-प्रक्रिया में वि णुदवता के दशन कीजिए। पूव मे यज्ञ का लक्षण करत हुए अग्ना सोमाहुतियज्ञ यह कहा गया है। अ नीषोमामक यज्ञ को ही वि णु कहा गया है। आषधि वनस्पतयो म निरन्तर यह अ नीषोमामक यज्ञ होता रहता है। यही दनदिनयज्ञ ब्राह्मणग्रन्थो म अहरहयज्ञ नाम स प्रसिद्ध है। ओषधिनि र्माणार्थ जिस बीज का भूगभ में पन होता है (बीज बोया जाता है) उस बीज मे ऊपर की ओर दो आस्तरण रहते हैं। इन दोनों पार्श्वदलो से बीज सुरक्षित रहता है। भूषु ठ के चारो आर यमवायु व्या त रहता है। यह याम्य रूक्ष रन्त्रायु जीवनीयरस का शोषण कर लेता है। बीज मे भी जीवनीय रस रहता है। वही आगे जाकर पुपित ए पल्लवित होता है। इस जीवनीयरस को (जो कि वास्तविक बीज है) यमवायु के आघात स बचाने के लिए अ तर्क्यामी ने उसके दोनो ओर दो आवपन (ढक्कन) लगा दि, हैं। व ही ाश्वस्थ दल यमवायु क आघात स गभस्थ रसमूत वृ त रूप बीज की रक्षा करते हैं। जबतक इस बीज को भूगभ म प्रविष्ट नहीं करा दया जाता तबतक वह अङ्कुरत नहीं हो सकता। यदि धरातलपृ ठ पर बीज रखकर उम पर आप जलसक क ग तो रक्षक दोनो पार्श्वदल विकसित होजायेगे। यमवायु म यस्थ रस को द ध कर दगा। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए बीज को भूगभ में ही कोडा जाता है। वहा जलसक होता है। जल की आद्रता स एव भूगभ की उ मा से दोनों पार्श्वदल क्पाटवत् खुल जाते हैं। आग क्या होता है—सुनिए। गभ में एक वृ त रहता है। उस वृ त में द्द यशक्ति काम करने लगती है। शक्तित्रयी की सम्मिलित अवस्था का नाम ही हृदयशक्ति है। ब्रह्मशक्ति यम् है विष्णुशक्ति ः है। इ द्रशक्ति द् है। विष्णु रस का आहरण करते हुए द् है इ द्र रसनिक्षेप करत हुए द् है एव दोनो का सम वय (नियमन) कराने वाले ब्रह्मा यम् है तीनों की समष्टि ही हृदयम् है।

बीजगुहा में यह हृदयशक्त ब्रह्मा विष्णु इ द्र रस रूप स प्रति ठत रहती है। वृ त के अग्रभाग में शिररूपा इ द्रशक्ति है भूगभ में दूर प य त या त रहने वाली बीजशिराओं के मूल में ब्रह्मशक्ति रहती ह। एव जिस बिन्दु से शिराएँ भूगभ में जाती ह एव जिस बिन्दु स वृ त ऊपर की ओर जाता है दोनो की विभाजिका उस म यम बिन्दु में विष्णुशक्ति प्रतिष्ठित रहती है। म यस्थ विष्णु ऊपर से सौर चा रस का ग्रहण करत है नीच से पार्थिवरस का आकषण करते ह। म य में प्रतिष्ठित वि णु इस ओर से पार्थिव देवताओं को लेते हैं उस ओर से सौरदेवताओं को लेते है। दोनो देवता म यस्थ वि णु की अशानाया शक्ति से आकर्षित होते हुए ओषधिनि र्माण में सहायक बनते है। उ रिस प्राणरूप है अधोरस अपान रूप है प्राणानापानन के अधिष्ठाता म यस्थ वामन विष्णु है। इसी रहस्य को लक्ष्य म रखकर उप निषद्भूति कहती है—

ॐ । प्राणमुनयति अपान प्र यगम्यात ।

मध्ये वामनमासीन मन्त्रं दत्त्वा उपामते ॥

ब्रह्मा अपान क अधिष्ठाना हैं प्राण क अधिष्ठानता है ए प्राणु यानमृत्ति ह । यदि म य म यानमृत्ति विष्णु न हो तो न पार्थिव रस का आगमन हो एव न प्राण मन्त्र सार रस का आगमन हो । जीवन के हेतु प्राणापानरूप सोर—पार्थिव रस नहीं ह अपितु म य म यान ही (नेना का आकर्षक बनता हुआ) जीवन का हेतु है । अतएव पुराणने एकमात्र विष्णुदत्तता का हा मृत्ति का पालक माना है । वसी सन्तान का विश्लेषण करते हुए ऋषि कहते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीयात कश्चन ।

इतरेण तु जीवति यस्मिन्न तावुपाश्रिता ॥

श्लोकाध—वनस्पति त उपर्युक्ता इमी शक्तित्रयी का निरूपण करो हुए पु ण्यु ष कहत है—

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे ।

अग्रत शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नम ॥

अश्वत्थ को श्लोकाध वनस्पतमात्र का उपलक्षण समझना चाहिए । जीव उपन किया पानी डाला । उस यान का पानी और मिट्टी दोनों घुल मिल गए । वृत्तनाडी म प्रातश्चित्त मो रश्मि ने नाड्यो वायुसयोगादारोहणम् (व दशन ५।२।५।) के अनुसार पानी उपर की ओर गचा । पाना के साथ साथ ही तन्मिन्ना मिट्टी भी गवचने लगी । कुछ दूर जाकर पार्थिवाकर्षण से मिट्टी तो ठर गइ पानी वाष्परूप में परिणत हाकर सौरमण्डल मे चला गया । पानी के साथ उपर की ओर जाकर ठहरन वाला मिट्टी ही अङ्क र कहलाया । अब यदि आप श्लोकाध की ओ वृद्धि चाहत है तो पानी और डालिए पुन पानी के साथ मिट्टी उपर चढेगी । इस क्रम से श्लोकाध का स्वरूप तन पत्र होनायगा । किन्तु यह यान राखए कि बीज म प्रति स्थित योनिरूप महद्ब्रह्म का जितना आयतन पा ले से स्थिर है श्लोकाध का वृद्ध उसी अकार में होगी । आप चाहे एक एक हजार का वृद्ध सिद्धन— धारा से बटपन् ल वा होजाय अथवा बटपुत्र ह नार जितना ही ल वा रह यह कभी न होगा । प्रत्येक भौतिकी सृष्टि क बीज म आकृति प्रकृति अहङ्कृति का आध्याता महद्ब्रह्म प्रियमान रहता है । तस कथन से प्रकृत म हम यही वतलाना हे ि भूवायु—छद्—अग्नि आदि से म्लान विष्णु श्लोकाधियों के मूल में (म य म) जहा स एक शिराए निकल कर भूगर्भ में जाती हैं) प्रतिष्ठित रहता है । यन्त्रो यजमान जिस भूप्रदश में यज्ञ करना चाहे पहिले उम प्रवेश मे प्ररोहित श्लोकाध तृणादि को समूल उखाड फेंके । इस से वह मूलस्थ विष्णुमाण वेदि म समाविष्ट होनायगा । इसी सम्पूर्ण गृहानिहत रहस्य का लक्ष्य में रखकर सोऽय विष्णुम्लान याि कहा गया है और प्रकृत आरयान का यही सन्ति त आधिदैविक रहस्य है । इस आधिदैविक—रहस्य—तनदर्शन के साथ ही प्रस्तुत ब्राह्मण की १ कण्डिका से १ कण्डिकापथ्य त का आरयानामक मन्त्र उपरत होरहा है । १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १ ॥

इत्याधिदैविकरहस्यम्

—*—

पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय

भौम देवताओं परीक्षा के द्वारा (तखन त इया गीपु) ओषधिमूत्रो मे लान विष्णु का प्राप्त कर लिया। प्राकृतिक आग्नि विक विष्णु यापक है। अतः तत्रतक से परिच्छन्न न कर लिया जाय तत्रतक यह विष्णु परिच्छन्न अवयव का उपहारक नहीं बन सकता। सी सीमाभाव के लिए प्राप्त -विष्णु का सुद्धमा चासि इयादि मत्रो से (मत्रब्रह्मरूप वागत्रल से) परिग्रह किया जाता है। सी परिग्रहक म से वाद का स्वरूप स पन्न होता है अतएव तस कम्म को वेदिपरिग्रहकम्म भी कहा जाता है। भूप्रदेा के जिस भाग म वदि बनाइ जाने वाली है उस प्रपेश के दक्षिण भाग म सुद्धमा चासि शिया चासि यह मत्र बोलते हुए स्फ्य से पूव पश्चिम अ वय्यु एक रेखा कर दता है। यही दक्षिण परिग्रह है। दक्षिण मे या य अग्नि की सत्ता रहती है। यमोत्र अत्रसानस्यष्टे त्नाद्यमोऽत्रसान प्रथिया यदि के अनुमार यमदेवता अत्रसान(मृयु) क अविष्टाता है। दक्षिणभाग से त्ना मृयुभाज का निराकरण करने के लिए— हे दक्षिण भूभाग आप शोभन प्रदेश है मृयुञ्जय शिया की शक्ति से युक्त अतएा शिया है यह भावना की जाती है। यज्ञ का नियत दक्षिण प्रदश यमभीति से रक्षित बन दक्षिण पारग्रह ना यही ताप य है

अन तर— स्योना चास सुपदा चासि इस मत्र स पश्चिम परिग्रह किया जाता है। यह परिग्रह गाहन याग्नि से सत्र प्ररता है। गाहपय भूपिण्ड की प्रतिकृति। गाहपय ग्रह (घर) है। पर वही उत्तम होता है ज। का वरातता सम हो जहा रहने से पूण सुप्त मिले। इसी ग्रम पात्त को प्राप्त करने के लिए आप सुखरूपा है आप आप अ स्त्री बैठक वाली है यह भावना की जाती है।

अन तर— उजस त्ती चास पयस त्ती च यह मत्रभाग बोलते हुए उत्तर परिग्रह किया जाता है। उत्तर भाग सोममय किना अनिर्गमित सोममय है। ओषधियो में जो जीनीय भाग (ऊक्) एव दुष त्पेया जाता है जह त्सी पाशुकाग्नि की महिमा है। हमा। यज्ञ जीवनीय भाग एव रम भाग से युक्त रहै दूसर श। में उ। राग्नि प्रपेश यजमान के लिये ऊक् एव पयोयुक्त बने त्सी भावना के लिये हे उत्तर भूप्रदेश। कि। पाशुका ने। आप ऊक यक है आप पयोयुक्त है यह भावना की जाती है।

अत्र त्स्त्र की चि ता से आपादमस्तक आकुल— याकुल बना रहने वाला विष्णु भूतवादी-जडवादी अतएव— वत्त मानवादी आज का भारतीय भातुक-राष्ट्रीय-मानव क ता है— हजारों वर्षों की पुरानी सडी गली वेद स्मृति पुराणादि की जीण शीण बातों का आज क नरीन युग मे कोई उपयोग नहीं। अपने इसी का पनिक-उपयोगितावाद के यामोहन से यामुग्ध इस आज के भारतीय मानवने अपनी मूलनिधि से सर्ग मना निरपेक्ष बन केवल भूलवादी प्रती यजगत् की आधिदैविक प्राणशू या उन जडभूतपद्धतियों का ही प्रति ठापन कर दिया है तस सांस्कृतिक-भारतराष्ट्र में जिम की मूलप्रति ठा का एकमात्र आधार आधिदैविक प्राणजगत् ही माना गया था। प्रसङ्ग यज्ञभूमि का प्रकृत है। एव तसम्बध में ही ब्राह्मण का प्रस्तुत सन्दर्भ प्रकृत हैं। अतएव इमी दृष्टि से प्रकृत में दो शर्दा में हम उस यज्ञिय-भूप्रदेश की ओर आष-मानव का यान आकर्षित करगे जिस- यज्ञिय भूप्रदेश

को ही ऋषि ने—सुक्ता शशा स्याना सुषदा उजस्वती पयस्वती— यदि माङ्गलिक एव रहस्यपूर्ण विशेषणो स समवित मान है। इथभूता सवगुणा वता भाम को ही ऋषि ने— इमामत्रैतत् प्रथिवी— सप्रिन्त्य रसगती उपजीवनीयामकुपन— यदि रूप स सस्यशामला—जीवनीय सप्र त्री—उपयुक्ता कहा है।

अत्रिक अत्र उपजात्र। यह आज हमारे राष्ट्रीय—मानव का सवप्रमुख उदात्त उन्धोष है जिस की सफलता के लिए एवशुद्धा प्रतीया—पद्मात के आधार पर ही नव—नव—आयाजन आविभूत तिरोभूत हांत जारहे है धारावाहक—रूप से। तदाप राष्ट्र की अन्नचित्ता समवित नहीं हो पा रही है। क्यों?। क्यो? का एकमात्र प्रमुख उत्तर है भूमि की जीवनीया उग्र शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञिय आधिदप्रिक वैष्णव प्राण की उपेक्षा अनुपलधि एव तत्स्थाने च यज्ञिप्राधी जीवनीयतत्त्र के पिनाशक अश्रुत अदृष्टपूर्ण रासायनिक खार्गो (खादो) का अधानुकरण भीमकाय लाहयत्रों (ट्रेक्टरों) से निम्नमत्तारूपेण भूगर्भस्थ षण्य प्राण का आयत्तिक—उपीडन।

मानत है और सर्गमना यह भी अनुभव कर रह है कि दवप्राणविरोधी चतनशक्तिप्रतिठा— शूय आज के प्रवृद्धतम भूतविज्ञान के अनुग्रह से कुनशरीरी तथाविध उत्तजक रासायनिक एाद्य एव भीमकाय लौहयत्र अवश्य ही ताकालिकरूपेण भूमि के जीवनीय प्राण को तात्कालिक रूपेण बहिभूत करते हुए कुछ समय के लिए तन्भूपदशा में प्रभूतमात्रा में अन्नणि अभियक्त करने की क्षमता रखते है। और परिणाम—स्वरूप सज—भारतीय—पद्धति की अपेक्षा इस अभिनवा भौतिकी विज्ञानपद्धति से तात्कालिक—रूपेण अन्नसपत्ति समृद्धा भा प्रतीत होन लगती है। एव सम्भवत सनातना—स्थितिभावापन्न भूत भावयत्परिणामानुबन्धिनी भी भारतीय नष्टिकी प्रज्ञा भी प्रयत्नप्रभावापूला तथाविधा भावुकता से आकषित होकर ही अपनी सहज—साया पद्धतियों की उपेक्षा कर बहुयय—साया तथाविधा भूतविज्ञानपद्धतियों के ही अधानुकरण में प्रवृत्त होती जार है। और अवश्य ही—अभ्यर्मेणधते तावत् ततो भन्गणि पश्यति इस प्रकृतिसिद्ध सिद्धांतानुसार इथभूत निरतिशय त्तोपीडन स अन्नसपयुपादान में पूर्वापेक्ष्या इस समृद्धि भी उपलव होसकती है। यह सबकुछ मानत हुए भी अनुभव करत दुए भी इस सम्बन्ध में कदापि त्रेयपथा की घोषणा नहीं की जासकती। क्यों कि—

तथावध उत्तजक एाद्यों से पार्थिव—भूतभावामक पूषा तव अवश्य ही तात्कालिक—रूपसे पुट होसकता है। किंतु सौर—सात्रिन्त्रानिमूलक मधु रसमय वैष्णव यज्ञिय प्राण (जो प्रवृत्त्यरूप से भृगभ की अस्तुक स्मिमा में ही गर्भित रहता है वह तो असदिवरूप से ही तगावव—कान्त्रेम—उत्तजक खार्गो से दग्धरीय्य ही बन जाता है। एव असीमभाराचित लौहयत्रों (ट्रेक्टरों) से भी उस का सहज—मौय— उत्तरमूल का विकास सर्गमना अभिभूत ही होजाता है। परिणाम—स्वरूप किंवा घोरघोरतम दुष्परणाम स्वरूप तथाविध उत्तजक खार्गो के समवय से एव प्रचण्ड—भाराचित लौहयत्रों से आयत्तिकरूपेण समुपीडत भूप्राण के समवय से उपन्न अन्न में न तो सहज माधुर्ग ही आभयक्त हो पाता एव न इस की यह तात्कालिकी प्ररोहण—उपादन—शक्ति ही चिरथायिनी रह पाती। अपितु यह तो—शरीरात् शरीरम्—यायानुगता वसी अनाया जीवनीयप्राणरसशूया ही अन्नसृष्टि बनी रह जाती है जिसे कदापि भारतीय दृष्टि

से— आ मात्र तो नहीं ही माना जासकता । मात्र परसविहीन जीवनीयरस स प्रतिमूर्च्छित केवन प्रगया—मक ऐसा अन्न मात्रा में एव तात्कालिक रूपेण आकार प्रकार प्रदर्शनादि में बहु प्रमाणित होता हुआ भी त यदृष्टया क्रिया त वदृष्ट्या तो सत्र या यानयाम ही बन जाता है ।

भूमिनिरनन उसी सीमा पर त मा य होना चाहिए जिस सीमा पर मधुसमय—जीवनीयत वा मक—सौर प्रत्य यक्षिय व एव—प्राण प्रतिष्ठित है । यदि प्रच डाघात स त्स सीमा का अतिक्रमण हाजाता है तो भूगम य—भूतप्रधा — धाग्रिध—पूषा भाग तो अग्रय ही ता कालिकरूपेण अभियक्त हो पडता है एतस्वरूप पुन गमय के लिए भूतभार की दृष्टि स त प्रश में अन्न प्रभतमात्रा में उपन्न भी होजाता है । किंतु त्स आघातपर परा से यज्ञान भावोपलक्षित जीवनीय रसा मक—मधुसमय—सौर यक्षिय प्राण तो उक्रा त ही होजाता है और निश्चयेन ऐसा केवल पार्थिव अन्न—अयक्षिय ही बना रह जाता है । भारतीय प्रजा केवल भूतान्न का भी समथन नहीं कर सकती । यदि करती है तो वह भारतीय नहीं । यज्ञशिषाशिन सतु के अनुसार भारतीय प्रजा का अन्न यज्ञोच्छिष्ट ही माना गया है । जिस भौतिक अन्न में मौर—वि—व एव—प्राण का भी संबध रहता है वहा अन्न यज्ञोच्छिष्टान्न कहलाया है वही आषप्रजा के लिए ाह्य है । ऐसे भी कितन ही अन्न हे जिनम भगमस्थ—याक्ष्य—ो एव—सौर—प्राण अत याम सम्बध से (अमुक विजातीय प्राणविरोध से) प्रविष्ट नहीं होने पाता । वसे अन्न ही अयक्षियान्न कहलाए है । अतएव यक्षिय प्रजा के यज्ञक मों मव अन्न निषिद्ध मान लिए गए हैं । अयक्षिया वे मापा के अनुसार माप (उन्) त्सी श्रणि का अन्न है । मसूर भी त्सी श्रणि से अनुप्राणित है । अतएव यज्ञोच्छिष्टानुगामिनी आा तत्र प्रजा मसूर को भी अपने यवहार में या य ही मानती आरही है । तदित्य त्स यक्षिय—सौर—प्राणानुरोव से ही भारतीय प्रजा की अन्न यवस्था व वस्थित हइ है । लशुन—पलाण्डु—गञ्जनादि अपने असुरप्राण प्राधाय से अयक्षिय बनते हुए सर्वा मना याज ही मान लिए गए है द्विजाति के लिए जबकि वय आयुर्दशास्त्र ने उनके भौतिक गुणो का समथन किया है । अतएव केवल शरीरोपयोगी किंतु दि यप्राणविरोधी तत्सदृश अ या य सभी अयक्षिय प ाथ या य ही बन गए हैं व र्मशास्त्र में ।

यज्ञप्राणानुव वी—मधुसमय उक् रसमय सोमरसमय इसी जीवनीय—मौर व गव—पार्थिव त व का प्रकृत ब्रह्मणस म से स्पष्टीकरण हुआ है जिसका यजुस्मत्र के द्वारा ही स्वरूप अवलोकण हुआ है । कौनसा और केमा भप्रदेश त प्राग्रिध जीवनीय—यक्षिय रस से समन्वित रहता है ? प्रस्तुत स दभ त्सी प्रश्न का ताविक समागान कर रहा है जिसके लिए यजु सहिता के प्रथमा याय के स तम मत्र का निम्नलिखित अश ही—शरणीकरणीय है—

‘सुचमा चासि, शिमा चामि, स्योना चासि सुषदा चामि ऊर्जाम्यती चासि, पयस्वती च’ ।

प्रयेक श द अय त ही रहस्यपूर्ण त यो से अनुप्राणित है जिसका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है । केवल दो श दों में ही त्स दिशा का दि दशन प्रस्तुत है । या नामसे प्रसिन्ना* माता पृथिवी का नाम धरा

* या से संबध रखने वाली सप्रसिद्धा गणितप्रक्रिया ही यामिति नाम से प्रसिद्ध है । अवश्य ही निरुक्तक्रमानुव ध से यामिति का ही रूपा त— ज्यामेन्ती होगा । एव इसी यामिति श द से जमीन श द अि यक्त हुआ होगा ।

धरित्री और धरिणी भी है जिन वन सभी शब्दों का मौलिक अर्थ यथाप सवथा त्वमि न ही है । त मापि अमुक समानध मानुष स न शब्दों को अमुक सीमा प य त प याय भी माना जासकता है । मपिण्ड मं प्रातष्ठा मन्-स्थितिध मानुष एक वसा प्राण है जिसके द्वारा भूपण्ड अभूद्ग्या र्य प्रतिष्ठा-सर्वेषाम् तस्माद्-भूमरभवत् (शत ६।१।१) के अनुसार भूमि नाम स भी प्रासद्ध होरहा है । प्रतिष्ठा मका इस वृत्ति (धरणशक्ति) से ही यह धरा-धारत्रो-ध रणी आदि नामो स यवहृत हु है । सृष्टि प्राक्रया के अनुसार मपेण्ड का मौलिक उपादानद्रय पानी ही माना गया है जसाकि-अद य प्रथित्री म याद से स्पष्ट है । अपतव अपने सहज ऋत धम्म के कारण प्राटष्ठाशू य है । अतएव पानी के स्तर पर गुरु वय माविच्छन्न कोद भी भूतपदाथ प्रतिष्ठित नही रह सकता । अपितु त काल वह अन्नगम में ही निम-राजत हाजाता (डूब जाता) ह । ऐसे प्रतिष्ठाशू य धातगुणशू य अप से ही आप-फेनादि क्रम से भापण्ड का स्वरूप निर्माण हुआ है । प्रश्न उपस्थित है कि प्रतिष्ठा मन्-धतिगुण श शू य आपोद्र य ही जस भापण्ड का मौलिक उपादानद्रव्य है तैस भापण्ड मे धातगुणक प्रतिष्ठाभाव नस और कहा से आगया ? । इस प्रश्न का एक सुप्रासद्धा याज्य प्रक्रिया के मायम से ही परोक्ष समाधान करते ए ऋषि ने कहा है कि आहुतिम्यरूप आज्य (घृत) यद्यपि तरल है अतएव प्रातष्ठाशू य है अतएव घनतानुबन्धी वृत्तिगुण स गिरहित है । त पि क्वाकि इस तरल प्रतिष्ठाशू य मी आय मे क्योकि हिरण्यशकल (सोने का टुकडा) डाल कर ही इसकी आहुति ली जाती है अतएव अनस्थिमत् भी इस आय से अस्थिमती प्रातष्ठापती-प्रजा उपन होजाती है ।

यज्ञिय आहुतिद्रव्य से ही यजमान का नवीन सशरीर-द्वामा उपन्न किया जाता है । वह आहुत द्र य अमुक यज्ञिशेष में है—आ य (घृत व्री) । वसीके स बंध म तत्र समवत किसी वजानिक ने प्रश्न किया कि—अनस्थिमदधूयते कथमस्थिमत्-प्रजायते । अर्थात् बिना हड्डी वाले (घनताप्राण-शू य-तरल) इस आयद्र य की तो आहुति दी जाती है आर सकल्पित ह आस्थिमती प्रजा । उह कैसे उपन्न हुई जबकि उपात्तनभूत आज्यद्र य अस्थिभाय से शू य है ? । सी प्रश्न का उत्तर है—हिरण्यशकल निर्गय जुहोति तस्मात् इत्यादि । ता पय्य स्पष्ट है । आय अत्रश्य तरल अतएव अनस्थिमत् अर्थात् प्रतिष्ठा मक वृत्तिगुणक आस्थिभाव से शू य है । कि तु इसम हिरण्यशकल जो है । वह तो स्थितिमत् है । क्या ता प य ? इस नवीन क्या ? का उत्तर है—प्रजो पात्तविज्ञान जिसके स्पष्टीकरण का अन्न अवसर नही है । यज्ञानुब व स प्रश्न वस्तुत सृष्टिप्रक्रिया से ही अनुप्राणित है । पिता के शुक्र तथा माता के शोणित इन दोनो के चि मय पुम्भ्रूण-स्त्रीभ्रूणो के दाम्प थमूलक मिथुनभाव से ही प्रजो पत्ति होती है । उपादानभूत शुक्र और शोणित दोनों ही क्रमश भाग्य आङ्गिरस-आपोद्र या मक प्रतिष्ठा शू य अनस्थिमत् तरल ही पदाथ है । इन अनस्थिमद भावो स अस्थिमती (हड्डी वाली) प्रजा कैसे उपन्न होगइ ? यही पूव प्रश्न का समवय है । हिरण्यशकल का अर्थ है—सत्य यज्ञ प्रातष्ठा मक-अशमा सोमगर्भित-सौर हिरण्य-प्राण । वह साक्षाद्रूप से अपने ब्रह्मौदनरूप सत्यरूप से शुक्रशोणित में प्रतिष्ठित नही होता । अपितु वम्मयागा मक छिन्नशीषभाग से अनुप्राणिता सप्रसिद्धा विश्व सनप्रक्रिया से सम्ब ध रखने वाला सौरस ययज्ञ मण्डल से ऋतु रूपेण प्रवृत्त (पृथक) होजाने वाला प्रवग्य नामक

सौर साग्नि प्रैष्णय यज्ञिय तेज ही शुक्र शणितरूप आ य (तरलद्रव्य) में प्रतिष्ठित होता है एव इसी सौरप्रयर्ग (शक्ल खण्ड) रूप हिरण्यतज से प्रजा के अस्थि भाग का स्वरूप निर्माण होता है। शारीरिक मांस मदम जा असृक आदि अतघातु जहा शुक्रशोणितामक बनत हुए आपोमय है अतएव अप्रतिष्ठित ये वहा अस्थि भाग सारप्रयर्गहिरण्यतेजोमय है यही ताप्य निष्पन्न है।

ठीक यही स्थिति भूपण्ड की समझिए। ऋतधर्मा प्रति ठाशूय पानी में ऋतधर्मा अतएव प्रतिष्ठाशूय ही वायु का प्रवण हुआ। वायु के प्रवण से तदवच्छिन्न पानी बुदबुद (बुलबुला) रूप में परिणत होगया। एव प्रातः ठालक्षण घ्रातगुण के अभाव से तक्षण ही बुदबुद फूट गया। यह प्रक्रिया निरंतर जल स्तर पर प्रकाश रहती है वायु सघात पर पराश्रो के अनुग्रह से। यही मूलप्रक्रिया भूपण्ड की जन्मदात्री बनी है जिसके विस्तार का यहा अवसर नहीं है। यदि न दोनो ऋतधर्मा का ही चक्रमण प्रसुप्त बना रहता ता कदापि भूपण्ड पण्ड रूप में परिणत न होता। किंतु पानी और वायु दोनो के मध्य में साम्यसंरक सौर प्रवण हिरण्यशकलामक तज प्रविष्ट होजाता है। इसी तेजसयोग से बुदबुदवच्छिन्न अब वायु प्रतिमूर्च्छित होजाते हैं जिस इस प्राथमिक अवस्था का नाम ही है—फेन [भाग]। तादर्थ्य अब वायु के सघात से तथा तेजसयोग से यही फेन उत्तरोत्तर घनता का अनुगामी बनता हुआ—मृत्पिण्डकता शबरा अश्मा अथ हिरण्यतज प्रतिष्ठाभावों में परिणत होजाता है। और यो न अत्रानि हिरण्यतज आठ प्रतिष्ठा भागों के सामक सामर्थ्यक समिश्रण से प्रातः ठामक भूपण्ड का स्वरूप संपन्न होजाता है। यों आपोमय भी भूपण्ड सौर हिरण्यरूप यज्ञिय तज को स्तम्भ में प्रातिष्ठित कर घृतिलक्षण प्रतिष्ठागुण से समन्वित होता हुआ भूमि रूप में परिणत होजाता है। इसी घृतिगुण से आज यह भूपण्ड क्योकि स्वपृष्ठ पर अलुलित भार वहन करने की क्षमता से सर्वांगमना समन्वित समथ बना हुआ है अतएव [सौर यज्ञिय प्रैष्णव दिय तेज को गर्भे धारण करने से ही] सब कछ सहसकने में समथ बनता हुआ—भूपण्ड—सुद्धमा [सब क्षमते] नाम से प्रसिद्ध होरहा है। क्षमत्तरूप घृतिगुण ही नसे सुद्धमा बनाए हुए है। और वह गुण स्वयं नसका न होकर प्रवृत्त सौर वणव यज्ञिय तेज का ही है। दुर्भा यवश यदि मानवीय प्रज्ञापराध से भूपण्ड का यह यज्ञिय—वैष्णव सौर—तज अभिमत होजाता है अथवा तो उक्रात कर दिया जाता है सौर दिय भाव विरोधी लोहयत्रादि से तो अनश्चयेन भूपण्ड का सुद्धमा भाव अभिमत ही होजाता है। फलतः ऐसे सुद्धमा शूय अतएव च केवल मृत्पण्डा मक भूभाग से उन्नतमानप्रधान अयज्ञिय अन्न का भोक्ता मानव भी घृतिगुणम प्रतिष्ठाव्रत से शूय शूय ही बना रह जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि सवतोभावेन हम भूपण्ड को सुद्धमा ही बनाए रहें। कृपि प्रचंडावातो स इसके गमथ वणव प्रतिष्ठाप्राण को उत्क्रात न करे। इसी तय के आधार पर ऋषिप्रज्ञामक भारतराष्ट्र के आपः ऋषक के द्वारा काठमय वैसे हल का ही आविर्भाव हुआ जिससे आर्षाग्नि—मूलतः यत ही भूतलननम भावित था शान्ति स्वस्ति रूप से।

और यो अपने विष्णुतेजोमय—प्रतिष्ठागणामक—सुद्धमा भाव स सुद्धमा बनी रहने वाली माता पृथिवी ही हमारा लण शान्ति स्वस्ति—पूजक यज्ञियान्न प्रसन्न करती हुई शान्ति बनी रहती थी। सुद्धमा अतएव च शान्ति ऐसी ही माता धरित्री शान्ति स्वस्ति प्रद यज्ञियान्न उपन्न करती हुई अपनी पार्थिवी—प्रजा का भरणपोषण करती हुई नसके लिए सर्वांगमना सुपन्ना प्रमाणित हाती है—स्याना (सुगप्रदात्री) प्रमा

णित हो ही थी। अपने तथापिष प्रति । मक और यज्ञिय तज से सदा समा नत रहने के कारण ही माता-पृथिवी प्रति ठास शूय क्षत वन्त भन नुाटत उ च अवच विषम त्रा द भावो से असस्पष्ट प्रमाणत होती ह सर्वा मना समधरातचा मका उर्रा (प्रजननशक्तिमती) बनी र ती थी। अपने प्रात । मक इसी सम ध । मलानुत्र व से यह सुषण बनी र ती थी। और यो थभूत । द य-मागे स सञ्चालिता माता धरित्री सौर दि य मनु-रमा मक जीवनीयरसा मक ओज -स्वरूप स पादक उक रस से ऊजस्वती तथा सोमा मक पयोगुण से पयस्वती बनती हुई सर्वा मना हमारे । लए उपजी या प्रमाणित होरही था । इ थभूता सौर यज्ञिय दि यप्राणगर्भिता अतएव सुद्धमा-शिवा-स्योना-सुषदा उचस्वती पयस्वती यज्ञिया भमि ही हमारी यज्ञिया वेद बनी हइ थी जिस के आधार पर ही हम यागती व वेदस्तापती प्रथित्री जसे महान् उतात्त उद्घोष करने में सक्षम बने हुए थ जो क्षमता आज क मत यामोहन में आसक्त होकर तदनुत्र वी दि यप्राण पिरोधी यज्ञियप्राण प्रतिबन्धक-मत भौतिक विज्ञ भगो के द्वारा हमन सबथा ही विलु त करती है। और यो अपने मौलिक शाति स्वस्ति मलक-ऋद्धि वृद्धि तृष्णि पुष्णि प्रद प्रकारो की उपेक्षा कर सबथा व स अयज्ञिय-प्रकारा का ही आज हमन अ धानुकरण उपक्रात कर लिया है अपनी मूलविज्ञान निधि से अपरिचित रहने के कारण जिस उपक्रात से कृ णमगानुबन्धी म यज्ञिय-भारतरा ट का ता कटापि अ युदय स भव नहीं है। माता धरित्री के अ युदय समाधक इही कतिपय त यो के माध्यम स इस के उपजीवनय रस भाग की श्रोर भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा आष भारतीय प्रजा का यान आकर्षित हुआ है जना कि प्रक्राता ऋषिडका के उपस । रा मरु- इमामेवैत् प्रथिया सप्रिय रसवती उपजीवनीयामकुपत इस वाक्य से स्पष्टतम है । ॥११॥

प्रकारा तर से यो समझिये कि दक्षिणाग्नि पारपाक करने वाला है। पारपाक से मिट्टी का श्लथ भाव न ट हो ॥ता है मिट्टे टड बन जाती है। इसी पारपाक से वह मसृणा (चिकनी) भी बन जाती है। यही इसका सुद्धमाभाव (शोभनभमिभाव) एव शिवभाव है। गाहपयाग्नि प्रति ठारूप है यही प्रजनायता है यही स्वरूपसम्पत्ति है। उ । रो । र । उ । रा । बने रहना ही इसका सुषण एव स्योनाभाा है। मृटिका को रसयक्त एव बलयक्त बनाने के लिए तीसरा परिग्रह । कथा जाता है। ये तीनों परिग्रह भूमिपरिग्रह है। पहिले के गायत्रण वा छत्सा परिग्रह्यामि यदि तीनों परिग्रह प्राणपरिग्रह हैं। प्राणरूप विष्णु को छत्नों से परिग्रहीत िया जाता है व भूतमय िष्णु का मपिण्ड से परिग्रहण किया जाता है। इसप्रकार स भय ६ परिग्रह होजाते ह। यापक िष्णुयज्ञ षडऋतु की समष्टि ही सप्तसर है एव यही यज्ञसम्पत् है। उक्त ६ ओ परिग्रो से यजमान का यह वैय यज्ञ प्राकृतिक षडऋतुरूप स प सरयज्ञस पत् स युक्त होजाता है। दूसरे शब्दों में यो समझिए कि पूव के तीन परिग्रह लोकी परिग्रह है एव उत्तर के तीन परिग्रह लोक परिग्रह है। लोक भूतप्रधान है एव लोकी प्राणप्रधान है। इस क्रम स दोना का यज्ञ के साथ स बंध होजाता है। साथ ही यह भी यान रखना चाहिए कि पूव के तीन परिग्रहों में ६ याहृतिया हैं एव उत्तर के परिग्रहों में ६ याहृतिया है। इस प्रकार १२ याहृतिया होजाती हैं। यज्ञस पत्-रहस्पवत्त ओ को विदित होना चाहिए कि द्वादश याहृतिया से भी द्वादशमासात्मिका स व सरमूर्तिमयी यज्ञविष्णुस पत् परिग्र हीत होजाती है। पूव एव उ । र परिग्रहो से सम्ब ध रपने वाली व १२ याहृतिया आगे क परिलेख से स्पष्ट होजाती है।

द्वादशव्याहृतिपरिलेख —

१—१-गायत्रेण त्वा	}	'गायत्रेण त्वा छ दसा परिगृह्णामी' ति दक्षिणत १ (१)
२—२ छ दसा परिगृह्णामि		
३—३ 'त्रैष्टुभेन त्वा	}	'त्रैष्टुभेन त्वा छ दसा परिगृह्णामी' ति पश्चात् २ (२)
४—४-छ दसा परिह्णामि		
५—५ जागतेन त्वा	}	'जागतेन त्वा च्छ दसा परिगृह्णामी' त्युत्तरत ३ (३)
६—६ छ दसा परिगृह्णामि		
७—१-सुद्धमा चासि	}	सद्धमा चासि शिवा चासी ति दक्षि- णत १ (४)
८—२-शिवा चासि		
९—३ स्योना चासि	}	'स्योना चासि सुषदा चासी' ति पश्चात् २ (५)
१०-४-सुषदा चासि		
१-५ उर्जस्वती चासि	}	'उर्जस्वती चासि पथस्वती चै' त्युत्तरत ३ [६]
१२-६ पथस्वती च		

त्रि पूव परिग्रह गृह्णाति षडभिव्यहृतिनाम

स यवानेव यज्ञो याव यस्य सात्रा — तावत्सेवैतत् परिगृह्णाति

त्रि र परिग्रह गृह्णाति षडभिव्यहृतिभि

॥ १२, १३ ॥

प्रवृत्ति प्रकरण में (मूलानुवाद में) वदि-निर्माण-प्रकार बतलाते हुए कहा गया है कि कितन ही (तैत्तिरीय-स प्रदायानुयायी) या जको के मतानुसार वदि का पश्चिम भाग (श्रोणी भाग) याममात्र (दो हाथ) चौड़ा होना चाहिए एव पूव भाग (अस भाग) तीन अ नि (१॥ हाथ) चौड़ा होना चाहिए । इम का प्रतिवाद करते हुए वावल्क्य कहते हैं कि याममात्री-अरनि इस ठीक परिणाम की अर्गला की कोइ आवश्यकता नहीं है । यजमान अपने अनुमान से जितना मान ठीक समझे उसी चौड़ाइ से वदि का निर्माण कर लेना चाहिए । ता पय्य यही है कि आधिदैविकयज्ञ से आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुष) का स्वरूप नि पन्न होता है । जसा स्वरूप अण्डब्रह्माण्ड का है ठीक वसा ही स्वरूप पिरण्डब्रह्माण्ड का है । हमारा शरीर प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति ही है । इसी आधार पर यज्ञो पुरुष - पुरुषो वै यज्ञ इ यदि यज्ञपुरुष के अभेद सूचक निगम उचन प्रातष्ठित हैं । दोनो ही यज्ञ इश्वर की रचना है । दोनो ही एक प्रकार स प्राकृतिक यज्ञ हैं । इधर प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार ही आधिभौतिक यज्ञ का (मनुष्ययज्ञ का) प्रितान हुआ है । यही कारण है कि अस काल्पनिक यज्ञ में आयात्मिक एव आधिदैविक दोनो यज्ञो के स्वरूप का विचार रखना पडता है । यदि कोइ वषयज्ञ मे असावधानी कर दता है तो ऋषि अध्यात्म-अधिदैवत-यज्ञ का स्वरूप बतलाते हुए उस का सशोधन कर दते है । यहा ऐसा क्या होता है ? इस का साधान वही प्राकृतिक आधिदैविक एव आयात्मिक यज्ञ है । पुरुष यज्ञपुरुष है । स्त्री यज्ञपुरुषरूप पुरुष (मनुष्य) की प्रतिष्ठा है । यहा भी यज्ञ पुरुषस्थानीय है एव वदि स्त्रीस्थानीय है । स्त्री वही सु दर मानी जाती है जिसका श्रोणिभाग विपुल हो असभाग सकुचित हो । अत यहा भी वदि का श्रोणी स्थानीय पश्चिम भाग विपुल होना चाहिए एव असस्थानीय पूवभाग सकुचित होना चाहिए । आगे से सकुचित नीचे से विपुल यज्ञस पत् यही समाप्त है । इस का यह तापय्य लगाना कि आगे से अरनि हो नीचे से याममात्री ही हो विज्ञानदृष्टि से बहिभूत है । यजमान अपनी अच्छा से यथच्छ परिणाम रख सकता है । हा उसे प्रत्येक दशा में यह यान अवश्य रखना होगा कि वाद पश्चिम मे विपुल एव पूव में सकुचित है अरवा नहीं ।

आभिरूप्य सा द्यय ही वास्तविक सौन्दर्य माना गया है जैसाकि- आभिरूप्याञ्च बिम्बानाम् इयादि औपासनिक वाक्य से स्पष्ट है । जिसे लोकभाषा में-साचे मे ढला हुआ कहा जाता है उसी का नाम है आभिरूप सौन्दर्य । वदि यज्ञपुरुष की पत्नी है अर्थात् स्त्री है । आभिरूप-सौन्दर्य से समविता नारी ही पुरुष के प्रकृतिसिद्ध श्रद्धा वासयस्नेह काम नामक चतुर्विध रागभावों की समवितावस्था रूप सृष्टप्रवर्तक सुप्रसिद्ध रतिप्रेम की अधिष्ठात्री मानी गई है । वस्तुस्थिति ऐसी है कि सौन्दर्य रूप आभिरूप भेद से दो भागोमे विभक्त है । सौन्दर्य के अधिष्ठाता इन्द्र और वषटा नामक दो प्राणशेष वदिक विज्ञान में प्रसिद्ध हैं । इन्द्र रूपसौन्दर्य के अधिष्ठाता हैं एव वषटा-आभिरूपसौन्दर्य के अधिष्ठाता हैं । शिपी वही विशिष्ट शिपी माना गया है जिस की रङ्गरजिता तूलिका में इन दोनो सौन्दर्यों के चित्रण की क्षमता रहती है । इन्द्र जहा वणरूप के अधिष्ठाता हैं वहा वषटा आकाररूप के अधिष्ठाता हैं । हरित-नील-पीत-रक्त धूम्र श्वेत-कृष्ण-ब्रह्म आदि आदि पृश्निभावामक जितन भी वण (रग) है सभी वणरूप नाम से प्रसिद्ध हैं एव-रूप रूप मघना बोभवीति (ऋक्संज्ञिता) के अनुसार सौररश्मिभुक्त

मघवा नामक द्रपण ही न यन्त्रयावत् वणरूपो के अवि ठाता एव प्र त्तक है । इसी वणरूप का नाम है रूपसा दय्य — ।

दूमरा है— अभिरूपसा दय्य । आकाररूप का ही नाम अभिरूपता है जिस त्स अभिरूपा मरु आकाररूप का प्रवत्तक उष्टा प्राण माना गया है जसाकि उ टा रूपाणि पिशतु उ टा ो रेत सिक्त विकिरोति = यादि से स्प ट है । आकाररूप ही वणरूप की प्रति ठा माना गया ह । वयोनाथामक छु द का नाम है— आकार ए वयोरूप छुदित वस्तु का नाम है— आकारत पदाय । पदाय त्रोर पन्थ का आकार दोनो क्रमश इत् और वष्टा से अनुप्राणित है । दोनो में आकार आकार है आना । त वस्तु आधेय है । छु दोरूप वाष आवायामक सौ द य की छुदित ऐ द्र आधेय भा दय्य का प्रति ठा बना करता है । अतएव दोनो में प्रमुख स्थान वाष आकार सौ द यरूप अभिरूपसा दय्य का ही माना गया है । कदाप श्वत कृ ण पीत हरित (काला गौरा आदि) वण सान्द य के मापदण्ड नहीं बना करते । अपितु प्रमुखरूपेण आकारविशेष ही सौ द य का प्रमुख मापदण्ड बना करवा है । विशिष्टाकार से समन्वित प्रयेक वण [रग] जहा सु दर बन जाता है वहा निकृष्टाकारो स विशिष्ट भी उण निरृष्ट बनता हुआ सौ द य की सीमा में बाहमत हो जाता है । अतएव उणरूपा मरु ए न रूपसा दय्य तथा आकाररूपा मरु त्राष्ट अभिरूप सौ द य दोनो में अभिरूप सा दय्य ही प्रमुख मान लिया गया है जसाकि आभिरू याच्च त्रिस्वानाम् इ यादि औपासनिक वचन से स्पष्ट है * ।

प्रतिमा का अ मवा तो चित्र का उणांमक रूपसो य इनके आकारामक अभिरूप सौ द य पर नी प्रतिष्ठित माना गया । वणत कृ ण-पापा गमयी भी प्रतिमा आकारसौ दय्य से जहा र्व वरूप स अभि यक्त होपडती है वहा वणत वि ष्टा भी प्रतिमा आकारविकृति से अपने वशि त्व से वञ्चित होजाती है । यही स्थिति चित्रा मक श प की है । अतएव भगवान् याज्ञवल्क्य ने यहा वरूपा नारी के सौ द य के सम्बन्ध में उणप्राणा मरु आकाररूपा मरु अभिरूपसौ द य को ही प्रमुख माना है । यज्ञपुरुष की योपारूपा (प नी स्थानीया) यह वदि पश्चाद्वरीयसी म य संहारिता तथा पुरस्तादुर्वी आकार भागो से समन्वित रहती है । एतदाकारसौ दय्ययुक्ता अभिरूपसु त्री नारी की ही लोक में प्रशसा होती है— एतमेव हि योपा प्रशसन्ति । पश्चाद्वरीयसी का अर्थ है— प्रथुश्रोणि । म ये संहारिता का अर्थ है— म ये सभाह्या एव पुरस्तादुर्वी का अर्थ है— त्रिमृष्टा नगसा । त्रिमृष्टय विथुलाकारस- समन्वित म य काट प्रवेश ह तग्राह्यमयादया सूक्ष्म (कृशोदरी) एत अभिभाग त्रो पेक्षया थान्त किन्तु त्रिस्तत । यही योषा का अ यतम अभिरूप-सा दय्य है जिस प्रजनन का मूलाधार माना गया है ॥ १४ १५ १६ ॥

— विशि त्तम रूपसौ द य से स पला नारी के लिए राजस्थान में रूप का डला (रूपराशि रूपस्तूप रूप का ढेर) यह श द प्रसिद्ध है ।

* अ र्चकस्य तपोयोगात्, अर्चनस्यातिशायिनात् ।

आभिरूप्याच्च त्रिस्वाना देव सान्निध्यमृच्छति ॥

तथाभूता अभिरुपसान्द्रयगुणाविता यज्ञिया वदि प्राक् अथवा ता उक्क नोनो म से किमी एक । शा की ओर ही प्रवणा हानी चाहिए । कारण स्पष्ट है । मानवसग का उत्तरादशा स प्रधान स ब्रव है एव दवसग का पूवादशा स स ब्रव है । मानवसृष्टि रतामयी भूतसृष्टि है एव दवसृष्टि प्राणसृष्टि है । प्राणपत प्राणा मक द्र पूवादशा के दिकपाल हैं एव भूतपति च द्रमा (सोम) उत्त दिशा के दिकपाल हैं । च न्मसाद्रेतो ऋतव आभूतम् त्यादि कौषीतकि सद्धा तानुसार चा द्र सोम ही ऋतु स्वरूप का जनक बनता हुआ शुक्रात्मक-रेतो रूप में परिणत हाता है । एव त शुक्राहुत ही मानवसृष्टि का प्रमुख बीज माना गया है । तत्प्रधानता क्योकि सौम्या उत्तरदिक् में ही है । अतएव उत्तरादिक (उत्तर दिशा) साय-शुक्र प्रधान मानव की प्रातिरिक्क ऋतु मानली गई है जबकि प्राणोद्र के प्राधाय से पूर्वादिक् देवताओं की दिशा मानी गई है । प्रथम तो वदि इस ओर ही प्रवणा (भक्ती दुइ) होनी चाहिए । याद इस ओर सुधि न हो तो स्वदिगरूपा उत्तरदिशा की ओर भी वदि प्रवणा रखरी जासकती है । किंतु भूल कर भी स दक्षिणप्रण तो कदापि नहीं बनाना चाहिए । जो सौ यप्राण उत्तर में मात्र के जीवन की मूलप्रतिठा है वही दक्षिणानुगत बनता हुआ पितृप्राणामक बन कर मानव की मृत्यु का कारण बन जाया करता है । अतएव दक्षिणदिशा को याम्यादिक् (यमराज की दिशा) माना गया है । द्वाद्यमोऽस्य सासान प्रथिया - यमो वै-असासनस्येष्टे इयादि मन्त्र-ब्राह्मण-श्रितियों के अनुसार दक्षिणस्थ याय-पतर तो अवसान के ही अधिपात मने गए है । अतएव मानव को स्वप्राण का अभिमुख कदापि दक्षिणदिशा की ओर नहीं करना चाहिए । इसी आधार पर-नोदीचीनशिरा शयात (उत्तर दिशा की ओर मस्तक करक कभी शयन नहीं करना चाहिए) यह आदेश हुआ है । क्योकि एसा करने से प्राणगति दक्षिणाभिमुख ही बन जाया करती है जो एक आयु प्राण पर याघात करने वाली मानी गई है । अतएव भारतीय-वास्तुशास्त्र (भवननिर्माणोद्देशि पशास्त्र) में दक्षिण की ओर गृहद्वार रखना आयत्तिक रूपेण निषिद्ध माना गया है । नगमनिष्ठ स्वगीय श्रीजयमिहजी नृपतिवर के तवावधान में विनिर्मित जयपुर नगर का समस्त गृहाशय इसी नियम से अनुप्राणित था जो आज के युगधम्म के द्वारा यत्र-तत्र परिवर्तित होगया है ।

प्राक् प्रवणा अथवा तो उदक प्रवणा वदि के तथोक्त याम्य दक्षिणप्रात को मिट्टी डाल कर थोडा उन्नत कर दना चाहिए । इस से दो तय सिद्ध होजाते है । उन्नतभाग से वेिका दक्षिणप्रवणता दोष सर्जमाना जाता है । दूसरे वदि पशुसम्पत्ति से भी समन्वित होजाती है । परिशिष्टामक प्रवण्य भाग का ही नाम श्लथ मिट्टी का ही नाम पुरीष है जो अनाम्य है । आमस्वरूपाभयक्ति व से वाञ्छता पशुसृष्टि अनाया प्रयर्था है पुरीषरूपा है अर्थात् प्रवण्यभिका है । पृथग्भूता मिट्टी प्रवण्यस्थानीया बनती हुई निदानेन साक्षात्-पशु है । अतएव इस पुरीष निधान से वदि अवश्य ही पशुसम्पत्ति से भी समन्वित होजाती है । क्या दक्षिणस्थ याम्य रुद्र इस पशुसम्पत्ति को नष्ट नहीं कर देगा जिसे एक पुरीष-निदानेन वदि के दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित किया गया है ? नहीं इसलिए कि याम्यरुद्र तो स्वयं पशुपति है । अतएव व तो रक्षक ही है इन दक्षिणस्थ पशुओं के ।

उक्त कथन का तापर्य यही है कि आधिदैविक यज्ञ तथा आध्यात्मिक यज्ञ का जैसा स्वरूप है वस आधिभौतिकी वदि का स्वरूप भी उसी अनुपात से वितत होना चाहिए । वदि की स्वरूप सम्पत्ति से सत्रध

रगने वाले तसी त य का अत्र समवय हुआ है जिसके अ। तर प्रतिमाजनकम्म ही उपस्थित हो रहा है ॥१॥

प्रतिमाज्जनकम्मोपपत्ति—

उत्तर—परिग्रहान तर स्थय से उपाटित मिट्टी को समत्रक बाहिर फकना ही प्रतमाजनकम्म है । जिस मत्र से यह क म किया जाता है वह नि न लिपित है—

‘पुरा क्रूरस्य त्रिसृपो त्रिपिषि नुदादाय पृथिवी जीवदानुम् ।

यामैरयश्च द्रमसि स्वधाभिस्ताम्रु धीरासो अनुदिश्य यजते’ ॥

—यजु स १। ८ म

हे त्रिपिषिन् । त्रिसृप (क्रूरस्य) पुरा (देवा) जीवदानु या पृथिवीनुदादाय स्वधा भिश्चाद्रमसि—ऐरयन् ताम्रु अनुदिश्य—धीरास—यजन्त । हे त्रिषणो । त्रिपिषि योद्वात्त्रा की इधर उधर दांड भाग (सपण भूपाटा) क कारण त्रिसृप नाम से प्रसिद्ध क्रूरकर्मा अतएव क्रूर नाम से प्रसिद्ध सङ्ग्राम से पहिले देवताओं न जीवनीय जिस पृथिवी को (पृथिवी के जिस जीवनीय भाग को) (धरोहर के रूप में) च द्रमा में प्रातष्ठित किया था उसी (जीवदानु भाग) को लक्ष्य म रख कर गीर याज्ञिक यजन करते है —

यह है मन्त्र का अन्तरार्थ । इस मत्र की सङ्गति लगाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है कि किसी समय युद्ध की आशङ्का में देवताओं न युद्ध से पहिले ही परस्पर की मत्रणा से यह निश्चय किया कि स भूपिण्ड पर जो अपना याज्ञिक अमृतमय देवयजन भाग है उसे कुछ दिनों क लिए चद्रमा में रखत । यन्ति जीत गए तो पुन इस ले लग । नहीं तो जीवनीय रस के आधार पर पुन असुरों को परास्त कर दग । फलत देवताओं न उस जीवनीय भाग को धरोहर के रूप में च द्रमा में प्रतिष्ठित कर लिया । प्रकृत यज में चद्रमा में सरक्षित उसी देवयजन भाग की (भावना द्वारा) प्राति के लिए उक्त मत्र से प्रतिमा जन किया जाता है । उस देवयजन की भावना रखते हुए प्रतिमा जन से विशुद्ध भूप्रदश में उसी यज्ञिय भाव का (देवयजन भाग का) समावेश होजाता है । (आप ह्वाऽस्थतस्मिन् देवयजनऽ इष भवति य एवमेतद्वेत्) ।

सहिताभाग के कितने ही मत्र विशुद्ध आधिदैविक—विज्ञान का ही निरूपण करते हैं । केवा विज्ञान का निरूपण करने वाले मत्र भाषाणाष्ट से भी जटिल होते हैं एव अथर्वशि से भी रहस्यमय होते है । प्रकृत मन्त्र ऐसा ही है । इस में एक अप्रव आधिदैविक विज्ञान का निरूपण किया गया है । क पनारसिक कवियों की उच्चाल—तरङ्गों की आधारभूमि चन्द्रकलङ्क का क्या स्वरूप है ? दूसरे श दो में च द्रविम्ब में दिपलाई देने वाला कृष्णचिह्न क्या है ? उक्त मत्र सी प्रश्न का ताविक समाधान कर रहा है । वैदिक विज्ञान का तिर कार करते हुए लक्ष्मी के लाडले राजपुत्रों का अनुग्रह करने वाले उनकी प्रशसा में ही अपने जीवन को ध य मानने वाले वैदिक विज्ञान के परम शत्रु भारतीय उन कवियों से ही पहिले पूँछ देखिए । दग व इस कलङ्क के सब र में क्या उार देते है ? । बहुत दिनों की घटना है । इस सम्ब ध

में एक पद्य किन्नी कविश्च ठ के मुख से हमारे श्रोत्रविवरो मे बलात् प्रविट होगया था । स भवत सभी सस्कृतानुरागी नि न लिखित उस पद्य स सुपरिचित होग ।क—

अङ्ग ऋषि शशङ्किर जलनिधे पङ्क परे मेनिरे ।
सारङ्ग कर्तिचच्च सञ्जगदिर भूछायमैच्छन् पर ॥
इ दो यदलिते द्रनीलशकल श्याम दरीदृश्यते ।
तत् सा द्र निशिपीतम धतमस कुक्षिस्थमाचदमहे ॥

कितने ही क पना रसिको का कहना है कि चन्द्रमा मे जो कृ णभाव है वह एक कलङ्क का सूचक है । चन्द्रमाने जारबुद्धि से बृहस्पति की स्त्री तारा (गुरुपनी) पर बलाकार किया था । वही फलङ्क (कालिमा कालिख) आजतक च द्रमा मे दिखाइ द रहा है । कितने ही मानते ह कि च द्रमा समुद्रमथन के अवसर पर समुद्र से निकला है । समुद्र से निकलते हुए समुद्र का पङ्क (कचड) भी चन्द्रमा मे लगा रह गया । वही चन्द्रमा मे दिखाइ द रहा है । कितने ही कहते हैं कि चन्द्रमा के क्राड में एक मृगशावक (हरिण का चा) बठा है । हरिण चन्द्रमा का वाहन है । उसका पुत्र भी उसी के साथ है । अपवयस्क होने से प्रीतिवश चन्द्रमा ने उसे अपने अङ्ग (गोद) में प्रतिष्ठत कर रक्खा है । चन्द्रमा में दिखाइ दने वाला कृष्णभाव (कालिमा) वही क्राडस्थ मृगशावक है । इसीलिए चन्द्रमा मृगलाञ्छन नाम से प्रसिद्ध है । कितने ही विद्वान् कहते है कि चन्द्रमा पर भूपिण्ड की छाया पडती है । चन्द्रमा में दृष्ट कृष्ण-चण भूमि की छायामात्र है । परन्तु हमारी दृष्टि स (पद्यरचना क ने वाले कवि के मत से) चन्द्रमा में जो श्यामता दिखलाई दे रही है वह रात्रि का ही अ धकार है । रात्रि का जो घना अधकार था उसे ही मानो चन्द्रमा ने पी लिा है । रात्रि का स पूण अधकार च मा के उदर मे चला गया है । अतएव चा द्री रात्रियो में (शुक्लपद्म में विशेष पूर्णिमा में) अधकार नही रहता । वही पीता वकार चन्द्रबुद्धि में दिखलाई दरहा है ।

उपयुक्त सभी पद्य केवल क पना ही क पना है । यद्यपि स क पना में भी— भूछायमैच्छन् पर यह वाक्य अन्नश्य ही आशिकरूप से स य है । परन्तु इतर मिथ्याशो के सदशपतित होने से उसकी भी मौलिकता तिरोहित ही होरही है । प्रकृत मात्र उसी स याश का विश्लेषण कर रहा है जेसाकि न नलिरित च-नो-पत्तिप्रकरण से स्पष्ट होजायगा ।

जिसप्रकार बह्मिह नाम से प्रसिद्ध शनि बृहस्पति मङ्गल एव अ न्न ह नाम से प्रसिद्ध शुक्र-बुध पृथिवी सूर्य के उपग्रह माने जाते हैं एवमेव च द्रमा पृथिवी का उपग्रह माना गया है । दूसरे श दो में चन्द्रमा पृथिवी का पुत्र माना जासकता है । यद्यपि चन्द्रमा को अत्रिपुत्र माना गया है । परन्तु उस अत्रिप्राण का भूपिण्ड से ही सम्ब ध है । अत्रिप्राण ही भूपिण्ड का स्वरूप समपक बनता है । भूपिण्ड भूतमय है । भूत की प्रति ठ प्राण है । बिना प्राण के भूत एक क्षण भी प्रतिष्ठित नही रह कता । वही भूतप्रतिष्ठारूप वाङ्मय किंवा वागरूप प्राण अत्रि नाम से प्रसिद्ध है । अतुर्विध अन्नादापिनियो का निरूपण करते हुए हमने पूव में पृथिवी में गाहप य नाम के अन्नादाग्नि की सत्ता बतलाई है । इस अन्ना-

दान की त्रि य चिने नय भेद स । अत्र या ही है । चि या नि भूतप्रधान है वही से भूपि जाता है । प चितनिधेय अग्नि प्रार प्रधान है । यही प्राण प न्नादमृत्ति अत्रिप्राण है । यही भूपि की प्रति टा है । इसी प्राण का निरूपण करते हुए ऋष करते है —

‘वागेवात्रि । गगा (पाथिवाग्नादाग्निना) ह्यन्नमद्यत । अत्तिर्ह ते नामैतद्यदत्रिरिति’
(श १४।५।२।२) । ।

भूपिण्ड वाग्रूप अत्रिप्राणमय है । अतएव इसे भी वाग्रूप ही कहा जाता है । नैमाकि नि न गिग्नत श्रौत वचनो से स्पष्ट होजाता है—

१—“तस्य वा एतस्याग्निवागेवोपनिषत्” (शत १ ।५।१।१) ।

२—इय (पृथिवी) नै राक ’ (ए ५।३३।शत ४।६।६।१६ ।

३—‘वागिति पृथिवी ’ (ज उ ४।२।११) ।

४—“वागेनाय लोक ’ (श १४।४।३।१) ।

५—“सा या सा वागग्निस्स ” (ज उ० १।२८।३)

६—“सा या सा वागासीन्, सोऽग्नि (अन्नाद) रभवत्” (जै उ २।२।१)

यह वा गरूप (अन्नादाग्निरूप) पाथिय अत्रिप्राण व तुत आपोमय परम ती का ही मनोगा है । भृशु अङ्गि । अत्रि इन तीनों का प्रभवस्थान आपोमय परमे टी ही है । न्नम भृशु एव अङ्गिरा प्राण आगे जाकर घन तरल विरल अवस्था मे से क्रमश आप गायु सोम अग्नि यम आत्ति इन तीन तीन स्वरूपो मे परिणत होजाते ह । तीसरा अत्रिप्राण भृशु-अङ्गिरा-प्राणवत् तीन अवस्था गो मे परिणत न होकर मदा एकरूप ही रहता है । अतएव न त्रि इस निवचन के अनुसार भी से आप्र कहा जाता है । अत्ति (अन्न) — न त्रि —अत्रि श द के दो निबचन हैं । यही प्राण भूतसृष्टि का आलम्बन है । प्रयेक भौतिक पदार्थ (तेज एव आकाश को छोड कर) धाम-छद् (जगह रोमने वाला) है । साथ ही प्राय प्र येक धाम छद् पदा पारदशकता का प्रतिब धक है । इस पारदशकता का अर्थोवक यही अत्रिप्राण है । यह प्राण सूर्य का (योति का) प्रतिब धक है । जिस धाम छ् पदाथ मे आप्रप्रा की प्रधानता रहती है उसकी पारदशकता ण्ड होजाती है । सोररश्मिया उन से पा गारी ग नही होसकती । तमामयी पाप्मा भूतसृष्टि का अधिष्ठाता यही अ त्रिप्राण है । ऋतुमाल मे स्त्री के रज में तमामयी सृष्टि का मूलभन यही अत्रिप्राण रहता है । अतएव ऋतुमती को आत्रेयी कहा जाता है । दिव्य सौर योतिमय दवताओ की अपेक्षा यह प्राण मलीमस है । वही अभिप्राय से अ त्रि क ती है पा मानोऽत्रिण (प ब्रा ३।१) —रक्षासि नै पाप्मात्रिण (ऐ २।२।) । इसी पा मभाय के कारण ध मशा त्र मं ऋतुमती स्त्री के स्पर्श का निषेध हुआ है ।

पृथिवी का मूल उपादान पानी ही है । सीके साथ अन्नादाग्निमय धाम छ् पारदशकता का प्रतिब धक आपोमय पारमे ष्य अत्रिप्राण भी सयुक्त रहता है । अत्रिप्राण के परिपाक से चि या निमय भूपिण्ड की स्वरूप

निपत्ति होती है। भूपण्ड पानी और आन (आत्र) का समीप है। नसी अग्नि के समीप से इसके लिए यथाग्निगर्भा प्रथित्री यह कहा जाता है। भूपण्ड क्या है चि याग्निमूर्त्ति अन्नानि रूप अत्रिप्राणमूर्त्ति है। यह भूपण्ड क्रातिवृत्त पर परिक्रमा लगा रहा है। बृहती केन्द्र-स्थित सूय के चारों ओर दीघवृत्त (अण्डाकारवृत्त) रूप क्रातिवृत्त पर घूमता हुआ भूपण्ड सम्य सरगात का अधिष्ठाता बनता है एव स्यात्परिभ्रमण से दनादनगति का प्रवक्तक बनता हुआ अहोरात्र का स्वरूप सपादक बनता है। स्वात् एव साम्प्रसारिक परिभ्रमण करते हुए पार्थिव आन म दसों दिशाओं में यात निक्सोम की निरन्तर आहुति होती रहती है। यही पार्थिव अग्नीषोमा मक यज्ञ है।

पार्थिव अग्नि विकासधर्मा है ए यह भूपण्ड के खण्ड खण्ड करना चाहता है। परन्तु सकोच-धर्मा सोम अग्नि में आहुत होकर उसके इस विकास का दमन करता रहता है। आगत सोम घनादि तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। भूपण्डावच्छिन्न सोम घनावस्थापन्न है नसी को सुसोम कहा जाता है। पृथिवी के पञ्च शस्तामरूप अतिरिक्त में यात पार्थिव सोम तरलतावस्थापन्न है इसी को धर्मासोम कहा जाता है। एव पृथिवी के २१ एकविंशस्तोमरूप ब्रह्मलोक म पार्थिव सोम विरलावस्थापन्न प्राणाव थापन्न) है इसी को धरुणसोम कहा जाता है। तापय यही है कि दिक्सोम पार्थिव वाग्नि म आहुत हाता है। सोमाहुति से प्रदीत अत्रिप्राणमय पार्थिव वाग्नि अङ्गिरा नाम धारण करता हुआ उपर की ओर (द्युलोक की ओर) जाना है। इस वाग्नि की घनाद तीन अवस्थाएँ होजाती हैं। भूपण्डावच्छिन्न सोममय पार्थिव अग्नि घन है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायु नाम से प्रसिद्ध दि याग्नि तरल है। एव एकविंशस्तोमावच्छिन्न आदिय नाम से प्रसिद्ध दि याग्नि विरल है। अग्नि की इन तीन अवस्थाओं के कारण तद्गर्भित सोम की भी उक्त तीन अवस्थाएँ होजाती हैं। अतिरिक्त में पार्थिव वाग्निरूप अत्रिप्राण यात रहता है। इसी के गभ में तरलसोम प्रतिष्ठित रहता है। भूपण्ड घन रहा है। अतिरिक्तस्थ सोम यही (अतिरिक्तप्रश में) उस अत्रिरूप वाग्नि स प्रवृक्त हाकर एक स्थान मे घनी भूत होता रहता है। यही पृथिवी की तीन साम्प्रसारिक परिक्रमाओं से एकीभूत पार्थिव तरल सोम चन्द्रबिम्ब रूप में परिणत होजाता है। यह पृथिवी के प्रवृक्त सोमरस से उपन्न हुआ है नसीलिए तो इसे प्रथित्री का उपग्रह माना जाता है एव अत्रिनेत्र के प्रखण से उपन्न होने के कारण यह अत्रिपुत्र भी माना जाता है। चन्द्रमा के इसी औपत्तिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिभगवानृषि ।

काष्ठकुचशिलाभूत ऊर्ध्वाहुमहाद्युति ॥१॥

सुदुश्चर नाम तपो येन तप्त महत्पुरा ।

त्रीणि वर्षसहस्राणि दि यानी हि न श्रतम् ॥२॥

तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह ।

सोमत्वं तनुरापेदे महाबुद्धि स वै द्विज ॥३॥

ऊर्ध्वाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मन ।

नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिश ॥४॥

—ब्रह्माण्डोपोद्घाते हरिवशे व

अग्नि सर्वा देवता के अनुसार अग्नि सर्वादेव य है। इन देवताओं के यजन (सङ्गतिकरण) का एकमात्र साधन सोमाहुति ही है। अतएव हम सोम को अवश्य ही देवयजन (देवताओं के यज्ञरूप यजन का साधन) कह सकते हैं। भूपिण्डस्थ अग्नि में आहुत होने वाला पार्थिव सोम ही देव-यजन है। यही देवयजनभूमि है। यही देवयजन साम वृत्रप्रदर्शित क्रमानुसार चद्ररूप में परिणत हुआ है। पार्थिव देवयजन साम पितृप्राणमय है। क्योंकि पितरप्राण का अधिष्ठाता एकमात्र सोम ही है। अतएव पितरो के लिए पितर सोम्यास (यजु स) यह कहा जाता है। जिसप्रकार देवताओं का अन्न स्वाहा कहा जाता है एवमेव पितरो का अन्न अ तर्य्याम-सम्ब ध की प्रधानता से स्वस्मिन् धत्ते अथवा सा (आमान) धत्ते इस निवचन के अनुसार स्वधा नाम से व्यवहृत होता है। स्वधा सोमद्रय है एव यह पितरप्राणमय है। इसी स्वधारूप पितृप्राण की प्ररणा स पार्थिव सोमारय देवयजन भाग चद्ररूप में परिणत होता है इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर— स्वधाभि-चद्रमसि एरयन् यह कहा गया है। आरम्भ में पृथिवी के प्रवृक्त देवयजन (सोम) से चद्रमा बन गया है। चद्रमा के साथ सौररश्मिवो का संबंध हुआ चद्रमा प्रकाशित होगया। परंतु चद्रमा के मय में पार्थिव सोम घनरूप स प्रतिष्ठित था। दूसरे शब्दों में चाद्रगर्भित सोम पार्थिव ऋणभाग से युक्त था। इस पार्थिव भाग की प्रधानता से यहा का सोम व्रीध्र न बन सका। अतएव वहा सौररश्मिवो की प्रतिष्ठा न हासकी। यही पार्थिवदेवयजनभाग हमें आज भी काला दिखाई दे रहा है।

सृष्टि के आरंभ में देवयजन के द्वारा चद्रमा बना था। आज पृथिवी से निकलने वाला वह देव यजनभाग उसी रूप स चद्रमा का स्वरूप स पादन (पोषण पुष्टि) कर रहा है। चाद्रसोम ओषधि निर्माण में लक्ष्य होता रहता है। नियन्त्रक यह नियन्त्रक अवश्य ही आश्रय में डालने वाला है। सोम देवयजन है यह सिद्ध हो चुका। विशुद्ध पार्थिवानि एव चद्रमा इन दो स्थानों में इस की उपलब्धि होसकती है। विशुद्ध पार्थिवानि में वह पावन देवयजन सोम प्रतिष्ठित है एव सवथा विशुद्ध-रूप चद्रमा में प्रातिष्ठित है। वह वधयज्ञ में प्राप्त नहीं होसकता। उसकी केवल भावना ही की जाती है। दूसरा है पार्थिवदेवयजन। ओषधि तृण रजन यापार से उखाड़ी हुई मिट्टी में किसी में भी विशुद्ध अग्नि नहीं है। प्रतिमा जन का तापय यही है कि भूस्तरपर रहने वाला आग तुक बिना श्लथ अग्निरूप अश्लिय भाव हट जाय एव विशुद्ध पार्थिवानिरूप देवयजन भाग प्राप्त होजाय। इसी पार्थिव देवयजन स पत्ति को प्राप्त करने के लिए प्रतिमा जकरु म किया जाता है। पार्थिव देवयजन के साथ ही चद्र देवयजन स पत्ति भी में (भावनामय मन्त्राल से) प्राप्त हाजाय इस के लिए क्रूरस्य विस्तृत व्याद मन्त्र बालत हुए प्रतिमाजनकम्भ किया जाता है। जिसप्रकार उपासनकाण्ड में केवल भावना के बल पर विद्वरूप उपास्य देव अत्रा मा मे प्रतिष्ठित होजाता है एवमेव यहाँ भी भावना के बल से अवश्य ही उस वर्ग में व चाद्रदेवयजनसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है। यह तो हुआ इस प्रकरण का आधिदमिक अत्र अत्र दा चार पन्क्तयो म आधिभौतिक (ऐतिहासिक) रहस्य भी अवगत कर लीजिए।

दायविभागायान के आधभौतिक चरित्र में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि इसी भूपिण्ड पर किसी समय मनुष्यायुध देवता एवं असुरों की सत्ता थी । नमो असुरदल तो आज तक विद्यमान है पर तु देवमत्ता सर्वामना अभिभूत हो चुकी है । उस पुरायुग में देवता एवं असुरों में आदिन युद्ध होता रहता था । देवताओं का प्रधान बल यज्ञ था । यज्ञबल से ही देवता समय समय पर असुरों को परास्त करते रहते थे । इस यज्ञ का प्रधान साधन सोमयज्ञ ही थी । यही सामयज्ञ देवताओं का प्रधान देवयजन था । असुर निरंतर उस देवयजन को नष्ट करने का प्रयास करते रहते थे । इस आदिन की चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए देवताओं ने अपने इस देवयजन की रक्षा के लिए—अत्रिमहर्षि के पुत्र चद्रमा को नियत किया । चद्रमा ब्राह्मण था एवं भान्तवर्ष के निवासी था । भौमब्रह्मणे चद्रमा का अपना मानस पुत्र बनाया । स्वयं रथ में स्थापित कर चद्रमा को पृथिवी की प्रदक्षिणा कराई गई । अतः में रात्र्याभिषेक कर इन्हें उत्तरदिशा का तो दिक्पाल बनाया एवं ओषधियों का लोकपाल बनाया । वही लोकपाल एवं दिक्पाल चद्रमा की रक्षा में तीन लक्ष प्राणैः—मोर्नैः गध्वों के साथ सोमवल्ली सोपी गई । जहाँ जहाँ सोमवल्ली का उद्गम होता था वहाँ वहाँ चद्रमा ने अपनी दक्षरेख में गध्वों को रक्षा के लिए नियत किया । आगे जाकर गुरुपत्नी के अपहरण से हतबुद्ध चद्रमा ने देवताओं की देवयजनरूप सोमवल्ली की रक्षा में उदासीनता दिखलाई । असुरों को अछा अवसर मिल गया । फलतः असुरों के द्वारा सोमवल्ली का आमूलचूड़ वस कर दिया गया । तभी से देवबल नास्तिभाव में परिणत होगया । प्रकृत ब्राह्मणश्रुति आधिदैविक चरित्र के साथ साथ उक्त ऐतहासिक घटना का भी स्मरण करा रही है ।

इति—प्रतिमार्जनकम्मोपपत्ति

१८, १९



ब्राह्मणोक्त वदिनिर्माण—मन्त्रों की प्रायः सभी विषयों की वज्ञानक उपपत्ति बतला दी गई । अत्र अनामश प्रकरण शेष रह जाता है । पूर्व के अनुवाद—प्रकरण में यह बतला दिया गया है कि जबतक वदि पर कुशास्तरण नहीं कर लिया जाय तबतक भूलकर भी वदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए । तापय यही है कि मन्त्र के द्वारा जननादि यापार से वो प्रदेश कर हिंसक विद्युत् से युक्त होजाता है । उधर बर्हि में सौर—वन—प्राणमयी विद्युत् रहती है । विद्युदनिजानवत्ताओं को यह मलीभाति विदित है कि मशीनरी का संचालन करने वाले विद्युद्यन्त्र के साथ एक ताबे का तार स्वतंत्ररूप से मीटर (विद्युच्छक्तिप्रदाता यन्त्र) पर तबद्ध किया जाता है । यदि सञ्चालक की असावधानी से अथवा अधिक चापन (दबाव) से परिमाण से अधिक विद्युच्छक्ति का समावेश होजाता है तो वह ताम्रतन्तु (तार) उसका निगरण (पान) कर जाता है । तकाच फ्यूज उड़ जाता है । सञ्चालक वगैरे निरापद सुरक्षित रह जाता है । यदि यह तार न हो तो वह उद्विक्त विद्युत् तन्तुतत यात होकर सघात का कारण बन जाती है । बस ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए ।

वेदिस्थान से निकलने वाली विद्युत् सहार करने वाली है । इसका दमन करने के लिए ही वेदि पर कुशास्तरण किया जाता है । बर्हि में विद्युत् है जैसाकि पूर्व के बर्हि उपपत्ति प्रकरण में विस्तार से बतलाया

जाचुमा है। वह दमविद्यद वदिविद्यत् का पान कर जाती है। अतर् दर्भास्तरणान तर वदि के स्पश से को हानि नही होती। यद्यपि भौतिक विद्यत की भाति स्पशकाल में यहा शरीर म किसी प्र यत् आगत का अनुभव न ही होता। ऋ्याकि इस प्राणमिका यत्प्रियत् का प्राण से ही सम्ब ध है। प्राणविद्या के विद्वानो का कहना है कि स्पशकर्त्ता का प्राण मूर्च्छित हाजाता है एव स पूर्ण यत्क म नष्ट होजाता है। प्र यन्नानुभव न सही यदि हमे यत् के परोक्ष फल पर विश्वास है फलत मी विश्वास के आवार पर यदि हम यत्क म मे प्रवृत्त होत है तो हमें ना य होकर ऋषपोक्त पन्तत्क्रम का ही आग्रय लेना ही पडगा। प्राणपरीक्षक ऋषियों के आदश पर चलना ही हमारा मुख्य कत य होगा।

ऐसा करने से क्या होगया क्या हो जायगा एसा ही ऋ्या न करल इसप्रकार का बुद्धिवाद पुराने युग मे भी प्रचलित था। परन्तु उस समय यत्प्रिया के रह यवत्ता विद्यमान थ। समय समय पर फलने वाली तत्वाविधा भ्रातियों का उन रहस्यवत्ताओ की ओर से निराकरण होता रहता था। पर तु आज का युग वत्ता विचित्र है। दुर्भा य से दश में रहस्यवत्ताओ का निता त अभाव है। फलत अज्ञ जनों के द्वारा यत्पद्धतियों की उपेक्षा कर मनमाने पथ का आश्रय लिया जा रहा है। रहस्यपूर्णा यत्विद्या आज बालक्रीडा मात्र का साधन बन रही है। आषऋषियों के चिर तन सिद्धा तो मी अवहेतना कर अपने कापनिक जगत् को ही प्रधानता दी जा रही है। यत्वि जा का आचा य भारतवष आज क्या ँस हीनदशा को प्राप्त हो रहा है ? इस प्रश्न का यही समाधान है। आषपद्धतियों का अनुसरण करने का गव रपने वाला सनातन धर्मी जगत् केवल आड बरभक्त है। यत् की मोलिकता स वह भी सर्वा मना पीछे हट गया है। नही तो व ही व म त वही सामग्री पर यजमान का अ युदय क्यों नही ?। कम्मकाण्डी महोदय आज जसे दुद्द शाग्रस्त ह वैस दूसर नी। कुछ परिगणित म त (सो भी निता त अशुद्ध) कण्ठ करलेने मात्र स कम्म की ँपाधि मिल जाती है। जो यत्क म एरु वज्ञानिक क म है जिसके सञ्चालन क लिए पर्याप्त या यता अपेक्षित है वह आज अद्ध शिक्षित किना अशिक्षित वेत्पाठियो का क्रीडाकोतुकमात्र ही बन रहा है। फल ँसमा यह हो रहा है कि यज न करने वाले जहा सुग्नी दखे जाते है वहा यत्कता हीनदशा मे मिलते है। यदि ध म का यनोऽभ्युत्थनि अयससिद्धि स धम्म यही लक्षण है तो फिर सतत धर्मानुष्ठान के गीत गाते हुए भी सनातनधर्मी क्या ँन प्रतिदिन अत्रनात के गर् की ओर अग्र मर होते जा रहे हैं ?। क्या आपने ँभी इस प्रश्न का समाधान सोचा ?।

यह तो हु अपने घर की बात। अत्र चलिए आ यसाभाजिक जगत् की ओर। यह समाज वैद का परम भक्त है। सा न ही इसे यत्विद्या में भी पूर्ण विश्वास है। सीमा यही समा त नही होजाती। दैनिक यत्नों (हवनों) के द्वारा यह अपने विश्वास को काय्यरूप में भी परिणक रहा है। पर तु फल वी दृष्टि से इनका भी स पूर्ण क मरुलाप निरथक ही है। अत्र (पद्धतिविरुद्ध) कपित ताम्रकुण्डो मे कपित पद्धतियों के द्वारा घृत केसर कपूर आदि डाल देना ही इनकी यत्विद्या की परिसमा त है। महाशय कहाँ गए थ ?। अजी समाजमा दर में सम्मिलितहून करने गया था। हम आक्षेप नही करते। अपितु इन अकाण्ड-ताण्डवों को देखकर हमारा अतरा मा लु ध है। हम इसी अभिनिवग में पडकर अपने आप अपने सर्वनाश का बीज वपन कर रहे हैं। यदि कुछ कहा जाता है तो सद्विचार के स्थान में शास्त्राय के लिए आह्वान किया जाता है। म यस्थ बनाए जाते हे वही के कोर् मजिस्ट्र ट पुलिस आफिसर अथवा तो ओर कोह

धनिक । यदि आप बुरा न माने तो यह कह लेने दीजिए ।क आज आ यसमाज सयसिद्धातो स बहुत दूर चला गया है । बात बहुत छोटी है परन्तु है बड़ी मार्मिक । साथ ही हम यह भी समझते हैं कि ज । ऋषिप्रणीत-पद्धतियों का आदर नहीं वहा हमारे इस कथन का का मूल्य भी न होगा । फिर भी कह दना ह" अपना आवश्यक कर्णय समझत है ।

आय्यजगत् में नमस्त बोलने की प्रथा है । साथ ही सनातनधम्मा जगत् में यवहृत नेने वाले जयरामजी की जयगो गालजी का जैजैश्रीगोकुलेश प्रणाम नमस्कार जयमाताजी की इयादि वाक्यों की श्रवणा की जाती है । आज हम समस्त आय्यजगत् को यह चतावनी दे रहे हैं कि परस्पर नमस्ते महाशय । नमस्ते महाशय । का उदघोष करता हुआ वह प्र यवाय का ही भागी बन रहा है । नमस्ते शब्द व दक है वादक ऋषियों के द्वारा प्रयुक्त है नमस्ते रुद्र मयवे " यादि रूप से दवस्तुति स व ध में (सहिताभाग में भी) नमस्ते पद पद पर प्रयुक्त है । यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी लौकिक -व्यवहारकाल में परस्पर नमस्ते नमस्ते बोलना स्वय वेद के ब्राह्मणभाग के द्वारा ही सवय निषिद्ध है ।

स्वाहा स्वाहा वौषट् श्रोपट् स्वगा आदि श द अन्न के ईवाचक है । परन्तु विषयभेद से सब का यग्रहार व्यवस्थित है । दवताओं को अन्नाहुत स्वाहा शब्द से पितरों को स्वाहा शब्द से इन्द्र को वापट् शब्द से देने का विधान है । इस शब्दभेद यवहार म यतिक्रम नहीं किया जासकता । लोक म भी रसोइ जीमिए भोजन कीजिए रोटी खालो रोटी खाले ये सब वाक्य समानाथक हैं । परन्तु सभी के लिए उक्त सभी वाक्य प्रयुक्त नगी होत । अपितु तत्तदवाक्य तत्तद यक्तिविशेषा के लिए ही नियत है । ठीक वही स्थिति नमस्ते शब्द की है । यज्ञ करने वाला यजमान दीक्षित होता है । सब से पहिले उसे दीक्षणीयेष्टि करनी पडती है । यही से इसके लिए— स नै सयमे । देत् यह नियम अनुगत होता है । जबतक यजमान यज्ञकम्म मे दीक्षित रहता है तबतक वह शूद्रादि से भी भाषण नहीं कर सकता । ब्रह्मचर्य्य व्रत—स यभाषण—अध शयन—पयोभोजन आदि विशेष नियमों के पालन से ही इस के अन्तरा मा में यज्ञ जन्तित अतिशय का अ त र्थाम—सम्ब ध होता है । दीक्षित क इह्नी कतिपय नियमों का दि दशन कराती हुइ ब्राह्मणश्रुति कहती है—

‘ तन्न सर्व-इवाभिप्रपद्येत-ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा । त हि यज्ञिया । स नै न स र्णेश्व सवदेत । देवा वाऽएष उपावर्ति यो दीक्षते । स देवतानामेको भवात् । नो देवा स र्णेश्व सवद ते । ब्राह्मणेन नैव, राज येन वा, श्येन वा । ते हि यज्ञिया । तस्माद्यद्येन शूद्रेण सगदो वि देत्-एतेषा (ऋत्विजा) ए नैक ब्रूयात्-‘इममिति विचच्चे इममिति विचच्चेति । एष उ तत्र दीक्षितस्योपचार ’ ।

शत ३ का १।१।६-१ क इति ।

यज्ञसस्था एक दवसस्था है प्रकृतिसस्था है। नसमें लौकिक यवहारो का समावश करना सवथा निषिद्ध है। यज्ञमण्डल में ऋजिजो और यजमानो में जो परस्पर अभिन दन व्यवहार है वही नमस्ते श द से होता है। इसप्रकार नमस्ते श द यज्ञसस्था के लिए ही नियत है। क्योंकि नम यज्ञ का वाचक है। नमस्ते का अर्थ है हम आपके यज्ञ (यज्ञसाधक) है। ऐसी अवस्था में यज्ञातिरिक्त सामा य लौकिक यवहारों में नमस्ते बोलना मि यादोष का ही भागी बनना है। सामा य यवहार यज्ञ नहीं है। यज्ञ के अभाव में नमस्त (यज्ञस्त) बोलना मि याव्यवहार है। अत यज्ञमण्डल के अतिरिक्त कभी परस्पर के यवहार में नमस्त यवहार नहीं करना चाहिये। यही आदेश देती हुए अति कहती है—

“चतुर्दशतानि यजू षि भवति । त्रयोदश मामा सवत्सर प्रजापतिश्चतुर्दश । प्रजापतिरग्नि । यागानग्निर्यावत्स्य मात्रा—तावतैपैनमेतदन्न न प्रीणाति नमो नम इति । यज्ञो नम । यज्ञेनैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति । तस्मादुह नायज्ञिय ब्रूयात्—नमस्ते इति । यथा हैन ब्रूयाद्यज्ञस्ते इति तादृक् तत्” ।

—श ब्रा ६ का ११११६ क इति ।

आज क्या हा रहा है। स्त्री शूद्र बाल युवा वृद्ध सभी अहर्निश नमस्ते बोलने में ही अपना गौ व समझ रह है। क्या आर्य्यजगत् का यह यवहार वैदिक है?। इनवदनीय केवल वही है कि प्राणप्रधान वैदिक विज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने से साथ ही भौतिक विज्ञानप्रधान पाश्चात्यविज्ञान के सहवास दूषण से हम आप आदेशों की उपेक्षा कर कपित यज्ञ के द्वारा शास्त्रविरुद्ध सम्बोधनों के द्वारा अपना अनिष्ट ही कर रहे हैं। देवता को न बुताना अ छा है। किन्तु बुलाकर यथोक्त क्रम से उसका सकार न करना बुरा है। यही काण है कि यज्ञादि व मर्नु ठान न करने वाली जनता भौतिक सपत्ति की अपेक्षा आज के युग में समृद्ध प्रतीतमात्र हो रही है। पर तु ठीक इसके विपरीत यज्ञादि धर्म्मनु ठानों का आर्द्र कर करने वाली नाममात्र की भारतीय धार्म्मिक जनता सबप्रकार से त्रस्त होरही है। फलत उसके मुँहसे इन आर्गारों का निकलना वाभा विक ही उन जाता है कि— जो यज्ञादि नहीं करते वे सुखी है। एव करने वाले हम दुखी है। ग्सी अस्थिति म हम यज्ञात् क्यों करै? ।

प्रबलवग से बन्ती दुइ इसी अश्रद्धा को लक्ष्य में रखते हुए आज उसी आक्षिप्त बृहस्पति के दि या मा का वह आदेश अभि यक्त क ने के लिए हम अपनी श्रद्धालु धार्म्मिक जनता के सम्मुख उपस्थित हुए है कि वह भूल कर भी यज्ञकर्मनुष्ठान पर अश्रद्धा न कर। हम उसे विश्वास दिलाते हैं कि यदि उसने आपपद्धतियों का यथावत् अनुसरण करते हुए यज्ञानुष्ठान किया तो उसका यह अनुष्ठान अवश्य अत्रय्य अत्रयु य का ही कारण बनेगा एव वस वैध (यथाविधि सम्पादित) अनुष्ठान के बलपर वह समस्त राशों में अपने लिए उच्चतम स्थान प्राप्त करने में समथ होगी और अवश्य समर्थ होगी। प्रकृत बृहस्पति का आर्या नाश हमारे इसी कथन को पुष्ट कर रहा है। इसी लक्ष्य का स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ २ २१ २२ २३ २४ २५ २६ ॥

—*—

इति -वेदिसम्पादनम्

प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का पञ्चम,
एव द्वितीय प्रपाठ का तृतीय
ब्राह्मण उपरत

शतपथब्राह्मण का द्वितीय अध्याय समाप्त

१

(इति-वेदिब्राह्मणाध्यायो द्वितीय)



अथ

शतपथब्राह्मणाविज्ञानभाष्ये-तृतीयोऽध्याय
(मस्कारब्राह्मणाध्याय)

३

★ ★ ★

श्री

अथ शतपथब्राह्मणो तृतीयोऽध्याय
(सम्कारब्राह्मणाध्यायस्तृतीय)

३

अथ—प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्

—*—

१५—द्रव्यसंस्कारा

(मूल) स वै स्रुच सम्मार्ष्टि । तद्यत् स्रुच सम्मार्ष्टि—यथा वै देवानां चरण, तद्वा
अनु मनुष्याणाम् । तस्माद् यदा मनुष्याणा परिवेषणमुपक्लप्तं भवति ॥ १ ॥

अथ पात्राणि निर्णेनिजति । तैर्निर्णिज्य परिवेषति । एव वा एष देवाना यज्ञो
भजति—यच्छतानि हवीषि, क्लप्ता वेदि, तेषामेतान्येव पात्राणि—यत्स्रुच ॥ २ ॥

स यत्सम्मार्ष्टि—निर्णेनिक्त्येवैना एतत्—निर्णिक्ताभि प्रचराणीति । तद्वै द्वयेनैव
देवेभ्यो निर्णेनिजति, एकेन मनुष्येभ्य । अद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्य । आपो हि कुशा,
ब्रह्म यजु । एकेनैव मनुष्येभ्य—अद्भिरेव । एवमेतन्नाना भवति ॥ ३ ॥

अथ स्रुवमादत्ते । त प्रतपति—“प्रत्युष्टं रक्ष प्रत्युष्टा अरातयो निष्टस्रु
रक्षो निष्टसा अरातय ’—[१ अ २६ म०] इति वा ॥ ४ ॥

देवा ह वै यज्ञ त वाना तेऽसुरक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयाश्चक्र तद्यज्ञमुखादेवै
तन्नाप्सा रक्षास्यतोऽपहति ॥ ५ ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरत सम्मार्ष्टि-“अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्”-[१ अ २६ म] इति । यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान् क्षिणुयाद्, एवमेतदाह । वाजिन-
त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ष्टिम -[अ १ म २६] इति । यज्ञियत्वा यज्ञाय मग्ना
मीत्येवैतदाह । एतेनैव सर्वा स्रश्च सम्मार्ष्टि । वाजिनी त्वेति स्रुचम् । तूष्णा प्राशिन्न-
हरणम् ॥ ६ ॥

स वा इ यग्रर तरत सम्मार्ष्टि इति मूलैर्बाध्यत । इतीव वा अय प्राण , इतीवो
दान । प्राणोदानावेवैतदधाति । तस्मादितीवेमानि लोमानि, इतीवेमानि ॥ ७ ॥

स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य प्रतप्य-प्रतप्य प्रय छति । यथावमर्शं निशिज्यानव-
मर्शमुत्तम परिद्वालयेत्-एव तत् । तस्मात् प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति ॥ ८ ॥

स वै स्रुवमेवाग्र सम्मार्ष्टि, अथेतरा स्रुच । योषा वे स्रुग् वृषा स्रु-
तस्मात् यद्यपि बह्व्य इव स्त्रिय साद्ध यति य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान्
भवति-म एव तत्र प्रथम एति, अनूच्य इतरा । तस्मात् स्रुवमेवाग्र सम्मार्ष्टि अथेतरा
स्रुच । ॥ ९ ॥

८

स वै तथैव सम्मृज्याद्-यथाग्निं नाभिद्युक्षेत् । यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन्त्यात्
त पात्रनिर्णोजनेनाभिद्युक्षेत् एव तत् । तस्माद् तथैव सम्मृज्याद्-यथाग्निं नाभिद्युक्षेत् ।
प्राडिवैवोक्त्वा ॥ १० ॥

तद्धैके-स्रुक्सम्मार्जानाग्न्याध्यादधाति । वेदस्याहाभूवन् स्रुच । एभि सममा
लिङ्गु । इदं नै किञ्चिद् यज्ञस्य । नेदिद् बहिर्द्धा यज्ञाद् भवदिति । तद् तथ्या च कुर्यात् ।
यथा यस्मा अशनमाहरेत्-त पात्रनिर्णोजन प्राययेद्-एव तत् । तस्माद् परास्पो-
देवैतानि ॥ ११ ॥

अथ पत्नीं सन्नहति । जघनाद्धो वा एष यज्ञस्य-यत्पत्नी । प्राडू मे यज्ञस्ताय-
मानो यादिति । युनक्त येनैनामेतत्-युक्ता मे यज्ञमन्वासाता इति ॥ १२ ॥

योक्त्रेण सन्नहति । योक्त्रेण हि योग्य युजति । अस्ति वै पत्या अमेध्य यद्वा-
चीन्न ब्रह्मणेः । अथैतदाज्यमवेक्षिष्यन्मरणं भवति । तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधाति, अथ
मध्येनवात्तराद्धैनाज्यमवेक्षते । तस्मात् पत्ना सन्नहति ॥ १३ ॥

स वा अभिवास सन्नहति । ओषधयो वै वास वरुण्या रज्जु । तदोषधीरैवैतद त
र्द्धाति । तथो हैनामेषा वरुण्या र जुन हिनस्ति । तस्मादाभगाम सन्नह्यात् ॥ १४ ॥

स सन्नहति अदित्यै रास्नासि (१ अ ३ म) इति । इय वै पृथिवी-
अदिति , सेय देवाना पत्नी । एषा वा एतस्य प नी भवति । तदस्या एतद्रास्नामेव कराति
न रज्जुम् । हिरो वै रास्ना, तामेवास्या एतत्करोति ॥ १५ ॥

स वै न ग्रथि कुर्यात् । वरुणो वै ग्रथि । वरुणो ह पत्ना गृह्णीयात् यद् ग्रन्थि
कुर्यात् । तस्मान्न ग्रथि करोति ॥ १६ ॥

ऊद्भवमेवोद्गूहति-विष्णोर्वेष्योऽसि [१ अ० ३ म०] इति । सा वै न
पश्चात् प्राची देवाना यज्ञम-नासीत् । इय वै पृथिवी-अदिति , सेय देवानां पत्नी । सा
पश्चात् प्राची देवाना यज्ञम वास्ते, तद्द मामभ्याराहेत् । सा पत्नी क्षिप्रऽमु लोषमि-
यात् । तथो ह प नी ज्योम जीयति । तदस्या एवैतन्निह्नु ते । तथो हैनामिग न हिनस्ति ।
तस्मादु दक्षिणात् इयैव वासीत् ॥ १७ ॥

अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी रत आज्यम् । मिथुनमेवैतत् प्रजनन क्रियते ।
तस्मादाज्यमवेक्षते ॥ १८ ॥

सावेक्षते-अदधेन त्वा चक्षुषावपश्यामि (१ अ० ३ म०) इति । अना
नेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह । अग्नेजिह्वासि [१ अ ३ म०) इति । यदा वा
एतदग्नौ जुह्वति अथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति । तस्मादाह-अग्नेर्जिह्वासि-इति । सुहृर्दे-
वेभ्य [१ अ० ३० म०) इति । साधु देवेभ्य इयेवैतदाह । धाम्ने धाम्ने मे भव
यजुषे यजुषे [१ अ ३ म०] इति । सर्वस्मै मे यज्ञागधीत्येवैतदाह ॥ १९ ॥

अथा यमादाय प्राडु दाद्रवति । तदाहवनीयेऽधिश्नयति यस्याहवनीये हवींषि श्रप-
यन्ति-सर्वो मे यज्ञ आहवनीय शृतोऽसदिति । अथ यदमुत्राग्रऽधिश्नयति पत्नी ह्यवकाश
यिष्यन् भवति । न हि तदवकल्पते-यत्सामि प्रत्यग् हरेत्-पत्नीमवकाशयिष्यामीति ।
अथ यत्पत्नी नावकाशयेत्-अतरियाद् यज्ञात्पत्नीम् । तथो ह यज्ञात्पत्नी नान्तरेति ।
तस्मादु साद्धमेव विलाष्य आशुदाहस्ति-अवकाशय पत्नीम् । यस्यो पत्नी न भवति, अग्र
एव तस्याहवनीयेऽधिश्नयति । तत्त आदो, तद् तर्वेद्यासायति ॥ २० ॥

तदाहु - मा त्र्योयासादयत-अतो नै देवाना पत्नी सयाजयति अवसभा अत्र
दत्राना पत्नी करोति पर पुसा उहास्य पत्नी भवतीति । तद्दु होवाच याज्ञवल्क्यः
यथादिष्ट पत्न्या अक्षु । कस्तदाद्रियेत-यत्पर पुसा वा पत्नी स्यात् । यथा वा यज्ञो
वेदि यज्ञ आयम्, यज्ञाद्यज्ञ निर्मिमा इति । तस्माद् त्र्योद्य वासादगेत् ॥२१॥

प्रोक्षणीषु पवित्र भवत । ते तत् आदत्त, ताभ्यामाज्यमुत्पुनाति । एको वा उत्पव
नस्य त्रधु मेध्यमेतत्करोति ॥ २ ॥

स उत्पुनाति-सवितुम्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मि
भि (१ अ ३१ म) इति । सोऽसावेव त्रधु ॥ २३ ॥

अथाज्यलिप्ताभ्या पवित्राभ्या प्रोक्षणीरुत्पुनाति-सवितुर्व प्रसव उत्पुनाम्यच्छि
द्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि (१ अ ३१ म) इति । सोऽसावेव
त्रधु ॥ २४ ॥

तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्या प्रोक्षणीरुत्पुनाति, तदप्सु पयो दधाति । तदिदम
प्सु पयो हितम् । इद हि यदा वर्षति अशौषधयो जाय ते, अशौषधीर्जग्ध्वाप पीत्वा तत्
एष रस मम्भ्रात् । तस्माद्दु रसस्यो चैव सर्त्वाय ॥ २५ ॥

अथाज्यमवेक्षते । तद्वैके यजमानमत्रयापयन्ति । तद्दु होवाच याज्ञवल्क्य -
कथं नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति कथं स्वर्गना बाहु यत्र भूयस्य वाशिष क्रियते ।
कथं वेषामत्र श्रद्धा भवतीति । यां । का च यज्ञो ऋत्विज आशिषमाशासते-यजमान-
स्येव सा । तस्मादध्वयुरेवावेक्षत ॥ २६ ॥

सोऽवेक्षते । सत्यो चक्षुः । सत्य हि नै चक्षस्तस्मात्-यदिदानी
द्वा विरदमानावेयाताम्-अहमदर्शम् - 'अहमशौषम्' इति, य एव ब्रूयात् 'अहमदर्शम्' इति
तस्मा एव श्रद्धयाम् । तत्सत्येनैतत्समर्द्धयति ॥ २७ ॥

सोऽवेक्षते-तेजोऽग्नि शुक्रमस्यमृतमसि [१ अ ३१ म] इति । स एष
सत्य एव मत्र ।-तेजो ह्यतत्, शुक्र ह्य तद्, अमृत ह्यतत्, तत्सत्येनैतत्स-
मर्द्धयति ॥ २८ ॥

इति प्रमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्

मूलानुवादप्रकरण—

वेत्सि सम्पादनकर्मा समाप्त होचुका है। हवनीयद्रव्य (आहुतिद्रव्य) सम्पन्न हुआ है। यज्ञ में जा पात्र अपेक्षित है आग्नीध्र नामक ऋत्विक्ने उन सब को अध्वर्यु के प्रैषानुसार (आज्ञानुसार) यथास्थान रख दिया है। इनके कार्य समाप्त होजाने के अनंतर क्या होता है ? संस्कारब्राह्मण का अङ्गभूत प्रकृत ब्राह्मण इसी आज्ञासा का समाधान कर रहा है। इस ब्राह्मण की ११ ऋषिडका पर्यन्त एक वृत्तसंज्ञान है। इस एकान्तशकण्डिका मक ब्राह्मणभाग में सव-सुकु-प्राशिनहरण आदि के प्रतपनपूजक कुशाप्र से सम्मान करने के अनंतर आग्नीध्र नामके ऋत्विक् को (यथास्थान रखने के लिए) पुनरापत्तित करने का (लौटाने) का विधान है। वही क्रमशः सोपपत्तिक अनुवाद में स्पष्ट किया जाता है।

(प्रणीतापात्र के पश्चिम में उत्तराप्र रखने के अनंतर) यह (अध्वर्यु) सुचों का सम्मान करता है। सो जिस (प्रयोजन) के लिए कि सुकस माज्जन करता है (उस की उपपत्ति बतलाते हैं)। जैसा देवताओं का चरण (आचरण-यवहार) है उसी (आचरण) के अनुसार मनुष्यों का (आचरण) है। इसलिए जब मनुष्यों का परिवेषण (परासने का भोय द्रव्य) सम्पन्न होजाता है ॥१॥

अनंतर (ही) (सेजकवग) पात्रों को (भोयपात्रों को) पानी से धोकर स्वच्छ-निम्मल कर लेते हैं। स्वच्छ करके उन पात्रों से परिवेषण करते हैं। (जो स्थिति मनुष्यों में भोजन प्रक्रिया में देखी जाती है दूसरे शब्दों में-मनुष्यों के भोजनयज्ञ के सम्बन्ध में जो कार्य होते हैं) ठीक ऐसा ही यह (यजमानकृत) देवताओं का यज्ञ है। (अन्न के स्थान पर) परिपक्व हवि है (भोजनस्थान की प्रतिकृति में) वेत्सि सम्पन्न होचुकी है। (एव) ये इन देवताओं के (भोज्य) पात्र हैं जो कि सुक् है ॥२॥

सो जो कि (अध्वर्यु इन सव पात्रों का) सम्मान करता है वह इन पात्रों का निर्णेजन (प्रचालन) ही करता है। हम निर्णिक (धुले हुए साफ सुथरे) पात्रों से ही [परिवेषणादि कार्य] कर यही [सम्मान का] मुख्य प्रयोजन है। [देवता एव मनुष्यों के पात्रनिर्णेजन में अंतर केवल यही है कि] देवताओं के लिए दो [प्रकारों से] निर्णेजन करते हैं एव मनुष्यों के लिए केवल एक ही प्रकार से [निर्णेजन होता है]। पानियों से [एव] ब्रह्म [मन्त्र] से देवताओं के लिए [निर्णेजन करते हैं] [निर्णेजन कर्म से उपयुक्त] कुशा आप [पानी की प्रतिकृति] है एव यजु मन्त्र ब्रह्म है। मनुष्यों के लिए केवल पानिया से ही निर्णेजन होता है। इस [प्रणाली] भेद से मानुष एव देवकर्म का पाथक्य होजाता है। [दोनों कर्म प्रथक् होजाते हैं] ॥३॥ २

[गाहपत्य के पश्चिमभाग में बैठकर अध्वर्यु सवप्रथम अपने दक्षिण हस्त में संस्कार के लिए] सव लेता है। उसे (सुव को) प्रत्युष्ट रक्षा प्रत्युष्ट अरातय निष्ठ ता रक्षा निष्ठता अरातय यह मन्त्र बोलता हुआ [गाहपत्य याग्नि में] तपाता है ॥४॥

यज्ञका पितान करते हुए देवतागण असुर एव राक्षसों के आक्रमण से भयत्रस्त होपड । सा इस (पात्रप्रतपनरूप) यापार से यज्ञ क आरम्भ से ही नाशू (नाशक)-राक्षसा को (मन्त्र एव तपन से) इस यज्ञमण्डल से (ऋत्तिक गण) मार भगाते हैं ॥५॥

वह अत्रय्यु — अनिशितोऽसि सपत्नक्षिन्-वाजिन वा वाजेध्यागै सम्मार्मि (यजु १।२६) यह मन्त्र बोलता हुआ स्रुव क विलम्ब य मे कुशाग्र से मूल से आरम्भ कर मुखपर्यन्त (स्रुव का) सम्माज्जन करता है । बिना विलम्ब किए एक साथ ही यह स्रुव यजमान के सपना का नाश करदे अनिशितोऽसि सपत्नक्षिन् यह मन्त्रभाग एव इति शब्द से प्रकट किया हुआ सम्माजन-यापार इसी भागको प्रकट करता है । आप यज्ञिय है यज्ञ के लिए आप का सम्माज करता हू बाजि । इयादि मन्त्रभाग से यही कहा है । इसी उपय्युक्त (तपनमन्त्र एव सम्माज्जन) मन्त्रद्वयी से सा स्रुवों का (जुहू-उपमृत् ध्रुवा आदि का) सम्माजन करता है । केवल प्राशिश्रहरण का सम्माज्जन तूष्णीं (बिना मन्त्रप्रयोग के) करता है ॥ ६ ॥

यह अत्रय्यु पहिले बिल से मूल पर्यन्त सम्माजन करता है अनन्तर मूल से प्रष्ठ-पर्यन्त सम्माजन करता है । ऊपर से नीचे आना यह प्राण-यापार है । नीचे से ऊपर जाना उदान का काम है । उक्त प्रकार से सम्माज्जन करता हुआ अध्वर्यु स्रुव म प्राणोदान का ही आदान करता है । इसी [प्राणोदान के क्रम-यापार] से रोमावलिखा ऊपर से नीचे ए । नीचे से ऊपर है । अर्थात् रोमावलियों का स्वरूप प्राणोदान की गति क ही अनुसार है ॥७॥

वह आग्नाध्र अत्रय्यु के सम्माज्जन यापार के अयवहितोत्तरकाल मे ही यथाक्रम स्रुवादि पुन गाह्य याग्नि मे तपा तपा कर अत्रय्यु को सौंपता जाता है । जिसप्रकार लोक मे (मनुष्यों के नैतिक कर्मों में) माज माज कर एव पानी से धो धोकर * अन्त मे बिना माजे हुए पात्र सम्पन्न होते हैं एवमेव यह पुन प्रतपन उस परिचालन के स्थान मे ही सम्भूना चाहिए । इसलिये पुन तपा तपा कर आग्नीध्र स्रुवादि अध्वर्यु को सौंपता है ॥८॥

वह अध्वर्यु पहिले स्रुव का सम्माज्जन करता है । (स्रुवसम्माज्जन के) अनन्तर इतर (स्रुगादि) का सम्माज्जन करता है । (इस क्रम की उपपत्ति यह है कि) स्रुक् योषा (स्त्री) रूप है स्रुव वृषा (पुरुष) रूप है । (इसलिये सम्माज्जन मे उक्त क्रम रक्खा जाता है) । यद्यपि बहुत सी स्त्रिया साथ जाती है (साथ जाने वाली) उन स्त्रियों मे जो एक बालक भी

* इस श्रुति से यह सिद्ध होरहा है कि भारतवर्ष में पात्रशुद्धि जल से ही होती थी । पहिले मृत्ति-कादि से पात्रों को माजा जाता था पीछे पानी से धोया जाता था । आज भी मरुभूमि को छोड़कर अन्यत्र यही पद्धति माय है । मरुभूमि में पानी की कमी होने से ही माज कर काम चला लिया जाता है । इसके साथ यहाँ यह अविद्या भी चल पडी है कि माज ने के अनन्तर पानी से धोने से पात्र अपवित्र होजाते हैं । कहना न होगा कि इस में कुछ भी सार नहीं है ।

पुरुष होता है तो यह सबक आग आगे चलता है शेष सब रख्या उसक पीछे ही चलती है। इसलिए स्रज का पहिले सम्माजन करता है एग इतर खुचा का पीछे सम्माजन करता है ॥६॥

वह अ पशु (उक्त स्रज खुचादिका) उसी प्रकार सम्माजन करे जिससे (प्रतपनकाल म) गाहप-आग्नि म तृण एव पानी न गिरै। जिसप्रकार जिस यक्ति क लिए भोजनाथ अन्न लाया जाता है उसी यक्ति क ऊपर पात्रप्रक्षालित जल डाला जाय वैसा यह क म होगा। अत जिस-प्रकार अग्नि मे पानी तृणादि न गिर उसीप्रकार प्राङ्मुख होकर (बडी सावधानी से) उठकर सम्माजनकम्म करना चाहिए ॥१॥

कितने ही याज्ञिक रुक्स्सम्माजन मे उपर्युक्त उदक तृणादि को अग्नि मे ही डालते है। (एग ऐसा करने का काण वे याज्ञिक यह बतलाते है कि) यह वेदाग्र (कुशाग्र) वेद क (यज्ञ के अग्रयण) बन ग है। (अर्पित इन क वेदामक यज्ञरूप हाने से ही) ऋत्विजान इनसे पात्रों का सम्माजन किया है (ऐसी) अग्रस्था मे य वेदाग्र भी यज्ञ के ही कुछ भाग है। यह यज्ञप्रशरूप वेदाग्रभाग यज्ञ (सीमा) से बाहिर न रहे (अत से अग्नि म ही डाल देना चाहिए) (याज्ञवल्क्य कहते है कि) ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। (यह क म ऐसा होगा कि) जैसे जिस यक्ति क लिए भोजन दिया जाय उसी को पात्रों का प्रक्षालित जल पिलाया जाय। इसलिए से (अग्नि मे न डाल कर) उकरानि म (मतान्तर से आहवनीय म) हाँ फक देना चाहिए ॥११॥

स्रज स्रक-सम्माजनान्तर पनी (यजमानपत्नी) सनहन (अधन यज्ञ मे योग) करते है। यह यज्ञ का पश्चिम भाग है जो कि यजमानपत्नी है। मेरा यज्ञ पूज की आर प्रितत होता हुआ आगे चले (इसी अभिप्राय से पनीसनहनकम्म करते है)। (इस सनहनकम्म से) पनी को (यज्ञ मे) युक्त ही करते है। यज्ञ मे युक्त होकर यह पत्नी यज्ञसमार्ति-पर्ययत (यज्ञ मे) प्रतिष्ठित रहै (इसीलिए यह व धनकम्म किया जाता है) ॥१२॥

(इस पनी का) योक्त्र (मुञ्जमयी रज्जु) से सनहन करते है। योक्त्र से ही ठीक ठीक योग ब वन) करते है पनी का नाभि से नीचे का भाग अमे य (असगमनीय दि-यसस्कार ग्रहण के अयोग्य) है। (एव अभी कुछ काल मे ही) यह पनी आग जाकर घृतणशन करने वाली है। योक्त्रब-वन से इस पनी क उस अमेध्यभाग को ही आवृत करते है। (एसा करने से) शेष मेध्य उत्तर भाग से ही आज्यणशन करती है। अतएव पनीसनहनकम्म करते है ॥१३॥

वह ऋत्विक् वस्त्रों क ऊपर ही (योक्त्र से) सनहन करता है। वस्त्र ओषधिरूप हैं। यह योक्त्ररूप रज्जु वरुणदेवतामयी है। वस्त्र के ऊपर योक्त्र से सनहन करता हुआ अ व यु पनी को वरुण-वधन से ही अर्तहित (बचाता) करता है। एसा करने से यह वरुणदेव-

मयी रज्जु पानी को पीडा नहीं पहुँचाती। इसी प्रयाजन के लिए वज्रो से ऊपर योक्त्र का सनहान करते हैं ॥१४॥

ब्राह्मण (विज्ञान) उतला दिया गया अब पद्धति बतलाते हैं। वह अग्न्यु अग्नि-ये रास्नासि यह मंत्र बालता हुआ सनहनकम्म करता (योक्त्र बाँधता) है। यह प्रथिनी ही अदिति है। यह (अदितिरूपा प्रथिनी) देवताओं की पानी है सो स (सनहनकम्म) से यजमानपनीरूपा इस अदिति (देवपनाभूता अदिति प्रथिनी) का ही रास्नायुक्त बनाते हैं। (यानरहै) रज्जु का बंधन नहीं करते हैं। यह रास्ना मेखलारूप है। सनहन व द्वारा इसे (अदिति का) मेखला से ही युक्त करते हैं ॥१५॥

ऋत्विक् को चाहिए कि वह योक्त्र क गाठ न लगावे। क्योंकि प्रथि (गौँठ) वरुणदेवतामयी है। (ऐसा अग्रस्थाम यदि प्रथि लगादी जायगी तो वरुणदेवता इस पानी को अपने पाश से बाँध लगे। (ऐसा न हो) इसलिए प्रथि-बन्धन नहीं करते हैं ॥१६॥

(प्रथि नहीं लगाई जायगी तो योक्त्र रुकगा कैसे? इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) यह अध्वर्यु योक्त्र के मूलार्थों को परस्पर मिलाकर [दोनों मूलों को परस्पर बन्दकर] ऊपर की ओर यों ही लम्बित कर देता है। इस कम्मकाल में विष्णो-वष्योऽसि यह मन्त्र बोलता है। वह यजमानपनी गाहपय के पश्चिम भाग में पृथ्वी की ओर मुख करके देवताओं के यज्ञ की ओर झुक कर न बटे। यह प्रथिनी अदिति है। यह देवताओं की पानी है। यह पश्चिमादशाम देवताओं के यज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रतिष्ठित होरही है। ऐसी अग्रस्थाम पश्चिमादिक्म प्राङ्मुखा बैठती हुई यजमानपनी प्रथिनी की गति के साथ युक्त होजायगी। परिणाम सका यह हागा कि वहा बैठने से शीघ्र ही [एक वर्ष के भीतर] यजमानपनी मर जायगी। ऐसा न करने से [पश्चिम की ओर प्राङ्मुखा होकर न बैठने से] यजमानपनी पूरा आयु प्राप्त करने में समर्थ होजाती है। सो इस पानी को पश्चिम में प्राङ्मुखा बना कर न बैठाते हुए इसे प्रथिनी की गात से बचाते हुए इसकी आयु ही सुरक्षित करते हैं। ऐसा करने से यजमानपनी पूरी आयु धारण करने में समर्थ होजाती है। इसलि पानी को गाहपय के दक्षिणभाग में [नऋतकोण में] ही बैठना चाहिए ॥१७॥

अन तर वह पानी आयन्शन करती है। अर्थात् धृत में अपना मुख देखती है। यह पानी याषा है आयन् रत है। आयन्शन से रत का ग्रहण करती हुई पानीरूपिणी योपा मिथुन लक्षण प्रजनन-[प्रजोत्पत्ति] भाव को ही सम्पन्न करत है। इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए यह पानी आयदशन करती है ॥१८॥

ब्राह्मण बतला दिया गया अब पद्धति बतलाते हैं। वह पानी अग्ने त्वा चक्षुषा पश्यामि अग्नेर्जिह्वासि सजूर्वेथ्य अग्ने धाम्ने म भव वजुष यजुषे यह मंत्र बोलती हुई आय देखती है। मैं निहृष्ट पीडारहित पवित्र चक्षु से आय देखती हूँ मंत्र से पानी का यही कहना

है। अग्नेर्जिह्वासि यह मग्नेष बालती है। जिस समय आय की अग्नि में आहुत डालते हैं उस समय अग्नि की [ज्वालारूप] जिह्वासी निकलती है। इसी अभिप्राय से अग्नेर्जिह्वासि यह कहा गया है। सजूर्वेभ्य इयादि मात्रभाग का ताप्य बतलाते हुए कहते हैं देवता आ क लि यह [प्रजननरूप] आयन्शन शुभ हो। सजू इयादि से यही कहा गया है। धाम्ने गम्ने इयादि से हे आज्य! आप मरे सम्पूर्ण यज्ञकर्म के लिए तत्पर न यही कहा है ॥१६॥

आयन्शनानंतर अग्न्यु आय को लेकर पूज की ओर (आहवनीय की ओर) चलता है। आगे चलकर आहवनीयाग्नि पर (तपाने के लिए) उसे रख देता है जिस के कि हवियों को आहवनीयाग्नि में परिपक्व करते हैं। मेरा सम्पूर्ण यज्ञ (यज्ञिय हविद्रय) आहवनीय महीं परिपक्व हो इसीलिए हविद्रय रूप आय को भी आहवनीयाग्नि में ही परिपक्व करते हैं। (यहाँ एक पूर्वपक्ष होता है। वह यह है कि जिस समय अय हविद्रयों का आहवनीय में परिपाक किया जा है क्यो नहीं उसी समय आय का भी परिपाक कर लिया जाता? इस पूर्वपक्ष का समाधान करने के अभिप्राय से श्रुति कहती है कि (पनी को यज्ञकर्म म युक्त होने का अपसर (अवकाश) हम आगे देलगा इस विचार से यदि अग्न्यु उसी समय [पनीसनहनकर्म से बहुत पहले ही [जब कि अय हविद्रयों का परिपाक किया जाता है] आय-परिपाक भी करलेता है तो पनी को आगे यज्ञ में प्रविष्ट होने का अपसर दूगा यह विचार कर बीच में ही [पनी के यज्ञ में प्रविष्ट होने से पहले ही] अधिश्रयणाथ आय हरण करना ठीक नहीं होता। यदि पनी का यज्ञ में प्रविष्ट होने का अपसर देने से पहिले ही उक्त विचार से अग्न्यु आय हरण कर लेगा तो वह एक प्रकार से पनी का यज्ञसीमा से बहिर्भूत ही कर देगा। ऐसा न हो इसलिए पनी के आयन्शनरूप यज्ञसयोग के अनंतर ही आयन्श्रयणा कर्म करते हैं] ऐसा करने से वह अग्न्यु पनी को यज्ञसीमा से बाहिर नहीं निकालता। [इसी साद्वभाय का स्पष्टीकरण करती हुई सर्वान्त में श्रुति कहती है।] इसलिए [पनी यज्ञसीमा में अतः प्रविष्ट होजाय इसलिए] पनीसनहनकर्म के साग ही आय को पहले गाहप याग्नि में तपा कर पनी को आयदशन के द्वारा यज्ञ में प्रविष्ट कर अनंतर अधिश्रयणाथ आय को पूज की ओर [आहवनीय की ओर] ले जाते हैं। जिस यजमान के पनी नहीं होती उस यजमान के यज्ञ म उसी समय [जब कि अय हविद्रयों का आहवनीय में अधिश्रयणा किया जाता है] आय का भी आहवनीय में अधिश्रयणा कर लेते हैं। अधिश्रयणानंतर उहा से आय उठा कर उसे वेदि की सीमा में रख देते हैं ॥७॥

कितने ही आचार्यों का मत है कि इस अधिश्रित आय को अतवन्ति म नहीं रखना चाहिए। (कारण इसका यह बतलाया जाता है कि) इसी अधिश्रित (परिपक्व) आय से देवपनियों का यजन करते हैं (वेदिस्थान पर सम्पूर्ण देवता आए हुए हैं)। ऐसी अपस्था म उस प्रदेश में देवपनीयागसाधक आय को देवमण्डलीयुक्त वेदिस्थान में रखता ५ आ अग्न्यु देवपनियों को जनसमूह में ही उपस्थित करता है। (यजमानपनी भी देवपनिया से युक्त रहती है।

ऐसी अवस्था में देवपानियों का साथ साथ यजमानपानी का भी देवसभामण्डपरूप वेदिस्थान में प्रवेश अनिष्ट होना होगा। ऐसा होने से यजमानपानी पर पुसा (अथ यपुरुषों के समूह में उपस्थित) हाजाती है। [एक कुलीन स्त्री के लिए परपुरुषों के सम्मूल उपस्थित होना लज्जास्पद है। ऐसा नहीं होना चाहिए। अतः वेदिस्थान पर देवपानी-यागसावनभक्त आया नहीं रखना चाहिए]।

प्राचीनों के इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अज्य अग्निश्रयण उसका वेदिस्थान में स्थापन आदि पानी सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म शास्त्र में इसी प्रकार लिखित है। अतः यह कार्य वैसे ही हो इसी में यज्ञसिद्धि है। ऐसा होने से पानी पुरुषसमूह में आजायगी एवं यह अनुचित होगा। इस निरर्थक युक्त का शास्त्रादेश के सम्मुख कोई महत्त्व नहीं है। कान बुद्धिमान इस विषय को अच्छा एवं युक्तिसंगत कहेगा। वेदि और अज्य दोनों ही यज्ञसाधन होने से यज्ञरूप है। हम यज्ञ से यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट कर यही आदरणीय एवं यथार्थ [शास्त्रसिद्ध] पक्ष है। अतः वेदिस्थान में ही आया रखना चाहिए ॥ १॥

प्रोक्षणपान में कुशा रक्की हुई है। उहा से कुशा ले र उनसे आया का प्रोक्षण करते हैं। प्रोक्षण का एकरूपता पश्य है वस्तु को मेय [मङ्गमनीय] कना। इस प्राक्षणकर्म से आया को मेय [देवसङ्गमनीय] ही करते हैं ॥ ॥

उपवनकर्म की इतिरुक्त यथा वतनाती हुई अति रुद्धी है—उह अथ यु— सवितु स्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रण सू यस्य रश्मिभि यमत्र जोलता हुआ आया का प्रोक्षण करता है ॥ ३॥

आयप्रोक्षणान्तर— सवितु व प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रण स्यस्य रश्मिभि यह मन्त्र बोलता हुआ अय्यु [प्राक्षणकर्म से] घृत से सश्लिष बनी हुई पत्रियों से [दभ से] प्रोक्षणपानी का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षण का तापश्य वही है जो कि पत्र क प्राक्षणकर्म में सोपपत्तिक बतलाया जाचुका है ॥२४॥

सो जो कि अय्यु आया यलिप्त पत्रिसे प्रोक्षण का प्रोक्षण करता है इस कर्म से पानी में पय [दूध] का कार्यभक्त अतः व पयोरूप आया ही प्रतिष्ठित करता है [प्रकृति में] यह पय पानी में ही प्रतिष्ठित है। जैसे कि जब पानी बरसता है तो ओपधिया उत्पन्न होती है ओपधिया खा कर पानी पीकर अनतर यह रस [पय आया] उपन होता है। रस रस की पूर्णता के लिए ही प्रकृत प्रोक्षणकर्म करते हैं ॥२५॥

प्रोक्षणी-प्रोक्षणान्तर अय्यु आया यदशन करता है। कितने ही आचार्य यजमान को ही घृतदशन कराते हैं। [अर्थात् इनके मत से आया यदशन यजमान का ही कर्म है] इस पक्ष का निराकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान सय ही अय्यु बनते हुए आध्वर्यवकर्म क्यों नहीं करते ? यजमान ही होता बन कर क्यों नहीं अनुवाक्यादिरूप हौत्रकर्म करते ?।

फिर ऋत्विजा की आपश्यकता ही क्या है ? [यदि अ य आवय्य होत्र ओदगात्रानि यज्ञस्य रूप समपक कम्म ऋत्विक् कर लेने है तो फिर] प्राचीनों की इस आ य शनकम्म में ही यह धारणा कस बन गई कि यह कम्म तो यजमान को ही करना चाहिए ? ऋत्विक् लाग अपने अपने कम्म म जो भी फल प्राप्त करते है वह यजमान को ही तो मिलता है । [एसी अपस्थाम अ ऋत्विक् कृत्वा यत्शन का फल यजमान को कसे नहीं मिलगा ? अत—अध्ययु का ही आयत्शन करना चाहिए ॥ ६॥

वह अध्ययु आयत्शन करता है । चक्षुरिन्द्रिय सयरूप इसीलिए है कि जब दो मनुष्य परस्पर भगडा करते हुए हमारे सम्मुख आते है ओर उनम से एक कहता है कि—मैने ऐसा आखों से देखा है । दूसरा कहता है कि मैंने ऐसा अपन कानों से सुना है तो तौना मे से जो यक्ति मैंने ऐसा अपनी आखा से देखा है यह कहता है हम उसी क कथन पर श्रद्धा करते है । (अत चक्षु अपश्य ही स य है) । नस सयचक्षु से आयत्शन करता हुआ अ ऋत्विक् स यत्त्त से ही आय को समृद्ध करता है ॥ ७॥

(आ यावेक्षण की उपपत्ति बतलानी गई अब पद्धति बतलाते है)—वह अध्ययु—तेजाऽसि शुक्रमस्थसूतमसि यह मात्र बालता हुआ आय पर अपनी नष्टि डालता है । [आ य के यथाथ स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रकृत] मात्र अपश्य ही स यस्वरूप है । यह आय तेज स्वरूप है यह आय शुक्रस्वरूप है यह आय अमृतस्वरूप है । इसा स य से यह अ ऋत्विक् आय को समृद्ध करता है ॥ ८॥

इति—अनुवादप्रकरणम्

प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

—*—

सूत्रप्रदर्शित पद्धतिप्रकरण—

सुव—सुक (जुहू उपभृत् ध्रुवा), प्राशित्रहरण, पुरोडाशपात्री,
इडापात्री का प्रतपन एव समार्जन कर वेदि पर
रखन के लिए आग्नीध्र को समपण

—*—

वेदि नि मीणानंतर इधम बर्हि—अ य आदि का यथास्थान सन्निवश कर दिया जाता है । तदर्नंतर स य प्रतप्य पूत्रद्वेवाग्र तरत प्राक समार्धि अनिशत इति विपर्ययस्य बहिमूलै प्राडुत्

अथ (का श्रौ सू २।६।३६) इस श्रौत सिद्धांत के अनुसार गाहप यजुष्य के पश्चिम भाग में बठकर अथर्व्यु पहिले गाहप याग्नि में प्रयुष्य रक्ष प्रयुष्य अरातय । निष्प्र रक्षो निष्प्र अरातय (यज्ञकर्म का अवरोध करने वाले रक्षस तपा लिए गए हैं यज्ञस पत्ति का आगमन रोकने वाले अराति तपा दिए गए हैं एव विशेषरूप से तपा दिए गए हैं) यह मंत्र बोलता हुआ शूष्य एा अग्नीहोत्रहृत्णी की माति सत्र को तपाता है । स्रुव के तपाने के अनंतर उसी स्थान में बैठा बठा ही अथर्व्यु थोडा सा पूर्व की ओर मुकता हुआ अपने बाएँ हाथ में तो प्रतप्त स्रव ले लेता है एव दक्षिण हाथ में कुशाग्र लेकर— अनिशितोऽसि सपनाक्षत वाग्निं या राजेध्यायै समामि (हे स्रव ! तूम (शत्रु के लिए महा निशित तीक्ष्ण होत हुए भी हमारे यजमान के लिए सवथा अनिशित (शांत) हो । सपना (शत्रुओं) का नाश करने वाले हो यज्ञमूर्तिरूप तु हारा (स्रव का) यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए ही मैं (अथर्व्यु) सयुक्त प्रकार से शोधन करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिणहस्त गृहीत उन कुशाग्र से स्रुव के मूल से आरंभ कर मुख पयत स्रव का सम्माजन करता है । मूल से मुख पयत कुशा से स्रुव को स्वच्छ करदना ही सम्माजनकर्म है । इसप्रकार एकबार तो वदाम्रो से सम्माजन होता है । अनंतर अथर्व्यु पुन कुच्छ पूर्व की ओर मुकता हुआ वही उक्त (अनिशितोऽसी यादि) मंत्र बोलता हुआ स्रुव के पृष्ठभाग में मुखभाग से आरंभ कर मूत्रभाग पयत कुशामूल से स्रुव का सम्माजन करता है । अथर्व्यु का पूर्व की ओर उत्क्रमण केवल उभयविध सम्माजनकर्म में ही होता है प्रतपन कर्म में उत्क्रमण नहीं होता । कारण— तस्माद् उत्प्रेय समृयाद्यथाऽग्निं नाभियुञ्जेत् प्राडिप्रो त्क्रम्य इयादि रूप श्रुति ने सम्माजनकर्म के साथ ही उत्क्रमण का संबंध माना है । स्रवप्रतपन और सम्माजन के अनंतर जुहू-उपभृत्-ध्रया इन स्रुचो का अनिशितेति स्रच (का श्रौ सू २।६।४१) इयादि सूत्रानुसार प्रयुष्य रक्ष इयादि से पहिले गाहपय में प्रतपन अनंतर अनिशितोऽसि इयादि पूर्वोक्त मंत्र से सम्माजन करता है ।

स्रव-स्रचो के सम्माजनानंतर— प्रताय प्रताय प्रयच्छति (का श्रौ सू २।६।४ के अनुसार प्रयुष्य रक्ष इयादि उक्त मंत्र बोल कर स्रुवादि को पुन गाहप याग्नि में तपा तपा कर (वेदि पर रखने के लिए) पुन प्रतप्त स्रवादि को आग्नीध्र के हाथ में सोपता जाता है । स्रव-स्रच (जुहू-उपभृत् ध्रया) इन चार के अतिरिक्त प्राशित्रहरण श्रुतावृत्तान पुरोडासापात्री इडापात्री इनका प्रतपन एव सम्माजन (बिना मंत्र बोले तृतीय) किया जाता है जैसाकि— तूष्णीं प्राशित्रहरण श्रुतावदान पात्री च (का श्रौ सू २।६।४) यात्ति सूत्र से स्पष्ट है । इसप्रकार पहिले प्रतपन पुन कुशाग्र-कुशामूल-भेद से नीचे से ऊपर पयत एा ऊपर से नीचे पयत सम्माजन पुन प्रतपन सर्वांत आग्नीध्र को समपण (वदस्थान में रखने के लिए) इम कर्मकपाल की समष्टि का नाम ही पात्र सम्माजनकर्म है ।

जिन वेदाग्र एव वेदमूलों से उक्त सम्माजनकर्म किया जाता है उह सम्माज्जना-न्यपास्थिति (का श्रौ सू २।६।४३) के अनुसार उत्तर में पैक गते हैं । यद्यपि आह्वनीये प्रासनमेके (का श्रौ सू २।६।४८) के अनुसार किह्नी आचार्यों के मतानुसार सम्माजन साधानभूत वेद को आह्वनीयाग्नि में प्रक्षिप्त करना उपलब्ध होता है । परंतु अतिने जो विप्रतिपत्ति गार्हप याग्नि में दम डालने के

सम्बन्ध में बतलाना है वही दोष आह्ननीयाग्नि में डालने से प्राप्त होता है। अतएव श्रुतान तदु तथा न कुर्व्यात् इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में अग्नि में डालने का निषेध ही किया है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक दशा में इन दम्बतृणों को उकर म ही डालना चाहिए।

इति द्रव्यसम्माज्जनम् (ब्रा० की १ क से ११ क पर्यन्त)

—*—

त्रिवृतं मुञ्जमयं योक्त्रं सेयजमानपत्नी का सन्नहन-

द्रव्यसम्मा जनानन्तर- पत्नी सन्नहति प्रयगदक्षिणत उपनिष्णागाहप यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरयधिवासो ऽदित्यै रास्ने ति (का श्रौ सू २।११) इस सूत्र सिद्धांतानुसार गान्पया पिनकुण्ड के दक्षिणभागरूप नैऋतकोण में पूर्वाम्बुमुख बन कर गठी हुई यजमानपत्नी को अ वय्यु त्रिगुणित मुञ्ज (मूँज नाम से लोकभाषा में प्रसिद्ध) से बने हुए योक्त्र (रजु) से (पत्नी के वस्त्रों के ऊपर) नाभि से नीचे के कटि भाग में अदित्यै रास्नासि (हे योक्त्ररूप रजु ! तुम अदिति पृथिवी-रूपा यजमानपत्नी के लिए रास्ना मेलला रूप हो) यह मन्त्र बोलता हुआ बाँधता है। योक्त्रबन्धनकाल में दक्षिणपाशमुत्तरे प्रतिमुच्यता मुदगूहति विष्णोर्वेष्य इति (का श्रौ सू २।४।२) के अनुसार योक्त्र के दक्षिणपाश को उत्तराग्र पाश में ऊपर में पिरोकर नीचे तैच कर पाश का द्विगुणत वेष्टित कर उत्तरपाश में प्रोत होकर ऊपर की ओर निकले हुए दक्षिण पाशाग्रभाग को- विष्णोर्वेष्योऽसि (हे दक्षिणपाशाग्र ! आप प्रश्न का वेष्टन करने वाले हो) य मन्त्र बोलता हुआ योक्त्र के म । में खचित कर देता है। न प्रथि करोति (का श्रौ सू २।७।३) के आदेशानुसार योक्त्र में गाठ नहीं लगाई जाती।

इति-पत्नीसन्नहनकर्म (ब्रा की १२ क से १७ क पर्यन्त)

—*—

घृत ठढा करने के पश्चात् अध्वर्यु के द्वारा भेजी गई

यजमानपत्नी का सम वक्ष आज्य दर्शन

पत्नीसन्नहनकर्म के अनन्तर- ऊर्जे वे यायमुद्रास्य पत्नीमवेक्ष्य यद धेनेति (का श्रौ सू २।७।४) इसके अनुसार अ वय्यु — ऊर्जे या (हे आय ! बलप्रद रस की प्राप्ति के लिए तुझ उद्वासित करता हू) यह मन्त्र बोलता हुआ पहिले से ही गाहपयानि पर पात्र में रक्ख हुए द्रुत घृत को अग्नि से उतार कर ठढा करता है। अनन्तर पत्न्यायमवेक्षस्य (हे पत्नी ! आय के दर्शन करो अर्थात् इसमें अपना मुख देखो) यह प्रश्न करता हुआ पत्नी से अदधेन वा चक्षुवा पश्यामि।

अ नेर्निहासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे (हे आ य ! म निदुष्ट नेत्रो से तुहारा दशन कर रही हू । ह आ य ! तुम अ न की जह्वा हो अतएव [जिह्वारूप होने से ही] तुम दन्ताओ क अछे बुलाने वाले हो । ऐमे आप प्रयंक क म क म के लिए मात्र मन्त्र के लिए सन्नद्ध बनें] यह म त्र बुलवाता हुआ प नी से आ य दशन करवाता है । यि प नी किसी आवश्यक प्रतिबन्ध के कारण यज्ञ में उपस्थित न हो तो ऐसी श्रवणा में अ वयु को ही आ य दशन कर लेना चाहिए यह सूत्रकार का मत है । ब्राह्मणश्रुति के अनुसार तो प नी के अभागे में आ य बिना देखे ही यथास्थान रख दिया जाता है । आ या वक्ष्यान तर— वेद्यः ऋ यपर प्रोक्षणी य [का श्रौ सू २।१५] के अनुसार अ वयु प्रोक्षणीपात्र स पश्चिम भागे म वाद पर आ य रख दता है । यदि इस यजमान के यज्ञ में आहवनीयानि में ही हविद्रयो का परिपाक होता है तो उस आहवनीयाधिश्रयण-पक्ष मे— आहवनीय वा कृत्वा तच्छ्रापिण [का श्रौ सू २।७६] के अनुसार पत्यवक्ष्यान तर पहिले आ य को आहवनीय पर रखा जाता है पुन उद्वासित कर पूर्वकथनानुसार प्रोक्षणीपात्र के पश्चिम में वदि पर रखा जाता है ।

इति—आज्यावेक्षणकर्म

(ब्रा की १८ क० से २१ क पर्गा त)

— * —

आय आर प्रोक्षणी का उत्पन्न एा अध्वर्यु कृत आज्यदर्शन

आय रखने के अनंतर वह अ वयु — सवितुस्वे या यमुपुनाति प्रोक्षणीश्च पूर्वत [का श्रौ सू २।७।७] इसके अनुमार प्रोक्षणी पानी में रखे हुए पवित्र [दभ] से सवितुव ह यदि पूर्वोपात्त म त्र बोलता हुआ पहिले आ य का प्रोक्षण करता है अन तर आ य—स त्र त से आ य—युक्त बने हुए इह्वी पत्रियों से वही म त्र बोलता हुआ प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है । इसप्रकार आय एव प्रोक्षणी— पवनान तर— आयमवेक्षते तेजोसी त यजमानो या [का श्रौ सू २७—] के अनुसार यह अ व यु अथवा यजमान [दोनों में से कोई भी] तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि [ह आ य ! आप तेजोमय हैं शुक्ररूप है अमृतभावापन्न हैं] यह मात्र बोलता हुआ आ य दशन करता है । सूत्रकार ने पक्षा तर का आदर करते हुए यजमानो या भी कह दिया है । वस्तुतः शतपथब्राह्मण के मता नुसार यह आज्यावेक्षणक र्म अ व यु को ही करना चाहिए ।

इति—आज्यावेक्षणम्

(ब्रा की २२ क० से २८ क पर्गा त)

— * —

ब्राह्मणोक्त—कर्मसंग्रह —

१—द्र यस्कार

२—पत्नीसन्नहन

- ३—पत्नीकृत आज्यावेक्षण
 ४—आज्य-स्थापन
 ५—आज्य ए । प्रोतणा का पवित्रों से उत्पन्न
 ६—अध्वग्यु कृत आज्यावेक्षण

इति पद्धतिप्रकरणम्



उपपत्तिप्रकरणम्—

१ -द्रव्यसंस्कारोपपत्ति

(भाष्य) ब्रुव-जुहू-उपभृत ध्रुवा पुरोडाशपात्री इडापात्री आदि यज्ञियपात्र प्राणदवताओं के आहुति साधक बनते हुए उनके [देवताओं के] भोजन करने के पात्र हैं। लोक-यवहार में जिन पात्रों में मनुष्य भोजन करते हैं भोजनपारवेषण [परोसने] से पहले पात्रों को पानी * से धोकर स्वच्छ कर लिया जाता है अनंतर इन पात्रों में भोजन परोसा जाता है। भोजनपरिवेषण से पहिले पात्रशुद्धि सवथा अपेक्षित है यही कहना है। नसी शुद्धिभाव के लिए प्रकृतयज्ञ में देवताओं के भोजनसाधन-पात्रों का संस्कार करना आवश्यक होजाता है। देवता सौर मण्डल की वस्तु है। इधर साधारण पानी पार्थिय है। इस तौकिक पेय पानी से देवपात्रों का सम्मान जन करना ठीक नहीं। जिसप्रकार लौकिक मनुष्य और प्राणदवताओं के स्वरूप में भेद है उसे इनके भोजनपात्रों के स्वरूप में विभिन्नता है तथैव स मार्जनीय पानी में भी भेद होना आवश्यक है। इसी पृथक्करण के लिए पानी के स्थान में यहा कुशा का ग्रहण किया जाता है। सौररश्मिमण्डल में प्रावष्ट पारमे ठथ अम्भ नाम का पवित्र पानी ही वेन क लाता है। इसी योतिमय वेनपानी से कुशा का निर्माण होता है जमा कि पूव के दर्भोपत्तिप्रकरण में अवस्तार से बतलाया जाचुका है। दम्भ साक्षात् न्ति य पानी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने— आपो वै कुशा यह कहा है। साथ ही जहा मनुष्योपयोगी पात्रों का सम्मान जन तूष्णी किया जाता है वहा प्रकृत यज्ञिय पात्रों का स माजन अग्नि शिताऽसि न्यादि मत्र से किया जाता है। इसप्रकार कुशारूप दिव्यपानी एव दिव्यमन्त्र-बल इन दोनों से स मा जन हाने से दि यकम्म का मनुष्यकम्म से सवथा पृथक्करण होज ता है ॥१२ ॥

* मरुभूमि मे विशेषत राजपूताने में पानी की कमी के कारण मृत्तिका-रक्षा-[राखड] आदि से ही पात्र पवित्र मान लिए जाते है। इस पद्धति की न्तनी प्रधानता होगइ है कि यदि म जन [माँजने] के अनतर पात्र धोलिए जाते हैं तो वे सवथा अपवित्र मान लिए जाते है। उक्त श्रुति के आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि पानी पर्य्यात मात्रा में मिले तो म जन के अनतर पात्रों को अवश्य सी धोडालना चाहिए। बिना पानी से धोए पात्रशुद्धि नहीं होती। यदि पानी ही न मिले तो प्रचलित-पद्धत का अनुसरण करना चाहिए जैसाकि पूर्व टि पणी में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

स माज्जन से पहिले पात्रो को तपाया जाता है । अ तरिक्त मे बहने वाले वारुण वायु में आसुरप्राण या त रहता है । यह वारुण असुर ऐ द्रयज का विरोधी है । जहा दि यप्राण का सञ्चार होता है वही सहज वर के स ब ध स वह इस दि यम म (दि यक्रम मे युक्त पात्राि वस्तुआ) में आक्रमण करने लगता है । एव अग्नि और म त्रबल दोनो ही आसुरप्राण के विघातक है । पात्रो में वायु के द्वार आगत प्राण रूप अतएव च मचक्षु से अ श्य इन असुरो का यज्ञोपक्रम में ही नाश करने के लिए म त्रबल युक्त प्रतपनकम्म किया जाता है । अनिपरितप से अवश्य ही अदृष्ट दाष * एव सूदम कीटाणु नष्ट होजाते ह यह प्रयत्न सिद्ध है ॥४-५॥

आर म में बतलाया जाचुका है कि यह स मा जन अलौकिक है । यज्ञ मे ऐसा कोइ भी कम्म नहीं जो निरथक हो एव जिस का प्राकृतिक स्थिति के साथ स ब ध न हो । यज्ञ से उसा अलौकिक नवीन दैवामा उपन्न किया जाता है जसा कि पूवप्रकरणो में अनेक बार कहा जाचुका है । इस दि या मा का स्वरूप-निर्माण जिन जिन त वो से होता है यज्ञकर्त्ता ऋि ऋजो को उन उन तवा की प्रयेक क म में भावना करनी पडती ह । प्रकृत स मा जनक र्म भी उस भावना से रिक्त नहीं है । एक बार स मा जन खुव के मूल से ऊपर तरु हाता है दुवारा पृष्ठभाग में ऊपर से नीचे की ओर होता है । एसी उ व-अधोभाव का अङ्गुलि से निद्देश करने हुए- इति-अग्रैरतरत इति-अग्रैर तरत यह अभिनय किया गया है । आगमन प्र ण याभार है एव गमन उदान (अपान) यापार है । शतपथ में उदान श द से सवत्र अपान ही अभिप्रत है । प्राण आगतिध र्मा है । स मा जन मे आगति गतिभावा का समावश करता हुआ अ वय्यु भावना के द्वारा खुव में प्राणोान (प्राणापान) का ही आधान करता है । इसी स त से देयजन होने वाला है आहुति से दि या मा का ज म होने वाला है । ऐी परिस्तिात मे खुव-स ब धी प्राणोदान आहुति में प्रविष्ट होता हुआ दि या मा के प्राणोदानो पत्ति का ही कारण बन जाता है । सी रह य को लक्ष्य में रखकर प्राणोदानावेवैतहधाति यह कहा गया है । यान रहै-खु पस्थित प्राणोदान से ही दि या मा के शरीर के रोमो का निर्माण होने बाला है । रोमावली मे प्राणोदानवत् (एक एव भक्का हुआ एक उधर भक्का हुआ यह) परिस्थिति रहती है । दू शर श दो मे-रोम का स्वरूप ठीक प्राणोदान यापार की प्रतिकृति (नकल) है । प्राकृतिक यज्ञ से उपन्न रोम प्राणोानयुक्त है । इधर स वप्रदत्त आहुत्त द्र य ही दि या मा के रोमयुक्त शरीर का उपादान बनने वाला है । अत पुरुषो त्र यज्ञ इस सिद्धा त के अनुसार यहा स मा जनकम्म की विशेषप्रक्रिया में प्राणा दान का समावश करना परम आवश्यक है । एसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर तस्माि तीवेमानि लोमानि इतीवेमानि यह क ा गया है ।

जिसप्रकार प्राणोदानरूप (प्राणापानमयी) सौररश्मिया देवप्राण के लिए उपादेय एव शा त रहती हुई तमोमय आसुरप्राण क विनाश का कारण बनी रहती हैं तथव प्राणोदानयुक्त खुव जहा यज्ञकर्त्ता यजमान

* यदि किसी पात्र म रजस्वला स्त्री प्रमादवश भोजन कर लेती है तो वह पात्र अशुद्ध होजाता है । इसीप्रकार पङ्क मल मूत्रादि निकृष्ट पदार्थों के सम्ब ध से भी आसुरभाव से युक्त बनते हुए पात्र अपवित्र होजाते है । ऐसे अपवित्र पात्रो को आज भी राजपूताने के लोग अग्नि में तपा कर तदन तर ही उह् यवहार में लाते हे । इनक इस यवहार का मूल उक्त श्रौत प्रतपनकम्म ही है ।

के लिए अनिशित (शा त-उपकारक यज्ञस्वरूपसाधक) है वहा यजमान के शत्रुओं के लिए वही विनाश का कारण है । खुव की नसी स्वाभाविकी शक्ति का निरूपण करते हुए अनिशितोऽसि सपनचित् यह कहा गया है ।

राजा राज-हृदि-ग्रह-भेद से आहुतिद्र-यरूप सोम की चार जातिया होती है । प्रकृत यज्ञ (द्राष्ट) में ज हविद्र य है वह वाजा मक (अन्नसोमा मक) है । अन्नरसरूप यही राज य साधक बनता हुआ यज्ञ रूप है । यज्ञरूप इस वाज की यज्ञता खुव पर ही अवलिम्बत है । अत हम इस ख व को अवश्य ही वाज (यज्ञ स्वरूपसमप क) कहसकते है । यह वाजरूप ख व वानरूप (अन्नरूप) यज्ञ का दो प्रकार से समिधन (प्रज्वलन) करता है । अग्नि में आहुत करना पहिला समिधन है एव स्वगत प्राणोदान को भूतमय वाज (पुरोडाश) में समावष्ट करना दूसरा समिधन है । खुव के इसी स्वरूपधर्म को लक्ष्य में रख कर राजिन या वाजे याँ समारिभि यह कहा गया है । प्राशित्रहरणपारी एव इडापारी का प्राण दवताओं स विशेष सम्बध नहीं है । अत नका सम्मा जन तूष्णी (अमत्रक) ही होता है ॥६७॥

पहिले अ वय्यु ख व ख चादि पात्रो को तपाता है एव पुन स मा जन करता है । सम्माजनान तर आ नीभ्र पुन एक बार गाहपयाग्नि में पात्रों को तपाता है । आग्नीभ्रकृत प्रनपन में वज्ञानिक उपपत्ति कुछ भी नहीं है । केवल लौकिक व्यवहार की समतादृष्टि से ही यह पुन प्रतपनकम्म किया जाता है । हम देखते हैं कि लोक में कास्थ पित्तलादि (काँसी पीतल आदि) के पात्रों का पहिले अवमशन (खूब रगड कर धाया जाता) किया जाता है । इस क्रिया से जब पात्र सवथा वच्छ होजाते दें तो सर्वा त में बिना अवमशन के (बिना घषण के) केवल पानी में डुबोकर पात्र पृथक् पृथक् रखदिए जाते हैं- यथामवशा निर्णि य-अन-वर्शमुत्तम परिचालयेत् । ठीक वही स्थिति यहा है । दम स सम्माजन करना-अवमर्श (घषण) पूर्वक पात्रों का निर्णोजन करना है । एव पुा अग्नि में तपाना अनवशापूर्वक पानी से प्रक्षालन करन के स्थान में है ॥८॥

ख व-जुहू-उपभृत-भ्रुया आदि पात्रों में से पहिले खुव का स मार्जन होता है अनत ख चो का सम्मा जन किया जाता है । खुव शब्द पुरुवभावापन्न होता द्रआ वृषा है एव खुक् श द स्त्री व से युक्त होता हुआ योषा है । पुरुष के शुरु में रहने वाला रेत सेक का अधिष्ठाता पुम्भ्रूणा वृषा कहलाता है एव स्त्री के शोणित में रहने वाला रेतोग्राहक स्त्रीभ्रूणा योषा नाम से प्रसिद्ध है । वृषा आग्नेय है एव योषा सोम्य है । दोनो में वृषा का ही प्राथम्य है । वधयज्ञ में ही दलिए ।

वृषारूप अग्नि स्वस्थान में पहिले से प्रतिष्ठित रहता है । अन तर इसमें योषारूप सोम (आहुतिद्र-य) की आहुति होती है । अग्निरूप वृषा प्रथमज है । भूत-योतिर्मथ विश्व में स्वाय भुव-ब्रह्माग्नि के रूप में सर्वाप्रथम अग्नि का ही विकास होता है सप्रस्याग्रमसृ-यत् इस निर्वाचन से ही इसे अग्नि कहा जाता है । यह अग्नि ही देवताओं की परोक्षभाषा में अग्नि नाम से प्रसिद्ध है- (देखिए शत ब्रा ६।१।१।११) ।

अपिच अग्नि अनाद है भोक्ता है । सोम अन्न है भोग्य है । दोनो में भोक्ता प्रधान है भोग्य गौण है । साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि एक भोक्ता के लिए अनेक भोग्य पदार्थ रहते है । इसी

भोक्ता अग्नि मं पुरुष का आत्मा सम्पन्न होता है एव भोग्य सोम से स्त्री की स्वरूप नैष्पत्ति होती है । अग्निप्रधान पुरुष अन्न सर है एव सोमप्रधाना स्त्री पश्चा नुयायिनी ह । तस्मात् प्रयत्न प्रमाण यही है कि जब किसी उ सगादि में १ २ स्त्रिया सम्मिलित होकर जाती है उनके साथ में यदि कोई बालक (५ वर्ष का लडका) होता है तो वह स्त्रियों के भ्रूण के आगे आगे चलता है । यदि वह क्रीडावश पीछे भी रहजाता है तो स्त्रिया बलात् उस अपने आगे कर लेती हैं । कारण वही प्राकृतिक नियम है । प्रकृति चाहती है कि आत्मा नमय पुरुष अग्रगामी रहे एव सो य स्त्रिया इनके अनुगत ही बनी रहे ।

यही परिस्थिति यहा समझिए । स्रुत्र एक पुरुष है अनेक स्त्रिया है । उक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार वृषा योषा के निवासार्थ पूर्वापय को लक्ष्य में रख कर वृषास्थानीय स्रुत्र का समाजन पहिले एव योषास्थानीय स्रुत्र का समाजन पीछे ही करना प्राकृतिक नियम की समृद्धि का कारण बनता ह । इसी वृषा योषा मन्त्र यज्ञरहस्य को लक्ष्य में रख कर— स व स वमयाप्र सम्माहि अनेतरा स च इ यदि कहा गया है ॥ ६ ॥

गाहपय के पश्चिम भाग में बैठ कर अथवा यु उक्त पात्रसम्माजनक म करता है । समाजन करत समय अथवा यु का इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि कहीं सम्माजन—साधकभूत कुश तृण गाहपयानि में न गिर जाय । अरण इसका यह ही है कि यह दभतृण पात्रीनिर्णेजन (पात्रों के स्वच्छ करने का पानी) ह । उधर गाहपयानि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता विराजमान हैं । उक्त तृणादि का इस दवमूर्ति अग्नि में गिर जाना नैसा होगा जैसे भोजनाथ आगत किसी अतिथि का भोजनपात्रों के शुद्ध करने के उपयोग में आए हुए मलिन अशुद्ध पानी से सिञ्चन करना । अतः बड़ी सावधानी से प्राडमुत्तर रह कर अग्नि से कुछ दूर कर ही सम्भाजनीकरण करना चाहिए ॥ १ ॥

तत्तरीय सम्प्रदाय का मत है कि—यज्ञ में उपयुक्त होने वाली वेदराशि [कुशमुष्टि] यज्ञरूप ह । कुश को वेद नाम से व्यवहृत करने का कारण यही है कि पूर्वकथनानुसार यह दर्श सौर वेदपानी से उत्पन्न हुए हैं । इधर महोक्ता—महाव्रत—एव पुरुष की समष्टिरूप यज्ञप्रपन्नक सूर्य सैषा अग्नयेव प्रिया तपति [शत १ । १ । २] के अनुसार गायत्रीमात्रिक वेदमय ह । वेदमय सौर पानी से [वदावच्छिन्न सौर प्राण से] दम उत्पन्न हुए है अतः इह अवश्य ही वेद नाम से व्यवहृत किया जासकता है । इधर समाजनकर्म में उपयुक्त होने वाले दभतृण वेद [कुशमुष्टि] रूप यज्ञ के अवयव होने से यज्ञरूप ही है । उक्त में वह वस्तु पैकी जाती है जिसका यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता । ऐसी अवस्था में यज्ञरूप किना यज्ञाशरूप इन दभतृणों को उत्तर में डालना इस यज्ञियद्रव्य को यज्ञसीमा से बाहिर डालना होगा और ऐसा करना यज्ञमर्थ्यादा से विरुद्ध होगा । अतः [यज्ञाशरूप दभतृणों को] यज्ञसीमा में रखने के लिए इह आहवनीय अग्नि में ही डालना चाहिए । गाहपयानि में इनका प्रक्षेप नहीं किया गया इसलिए तो यथा यस्मात् अशानसाहरिष्य स्यात् त पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युचेत् यह पूर्वोक्त दोष नहीं रहा एव आहवनीय में इनका प्रासन [प्रक्षेप] होगया इसलिए यह यज्ञाङ्गभूत यज्ञिय द्रव्य यज्ञसीमा से बहिर्भूत नहीं हुआ ।

सूत्रकारने आहवनीय प्रासनमक इयाँ रूप से सी पक्ष का उल्लेख किया है। जैसे पृथिवी-स्थानीय गाहप यानि म पार्थिव प्राणाग्निदवता प्रतिष्ठित रहते हैं तथैव अस्थानीय आहवनीयान म सार-प्राणाग्निदवता प्रतिष्ठित रहते हैं। एव ये ही प्रधान अतिथि ह। गहपय दवता घरके हैं एव सौर दवता प्रातुगक (पाहुने) हैं। इह्ना के यजन से तो दि यामा का स्वरूप म पन्न करना है। अत जो दोष गाहपय मे प्रक्षेप का था उस से भी कही अधिक दोष आहवनीय में प्रासन का है। आहवनीयस्थ आगत अतिथिरूप सौर दवता हविद्रय की प्रतिष्ठा म बडे है। आप स माजन साधनभूत दमवृणो की आहुत दत् ए उह पात्रो का प्रक्षालित जल पिला रह हैं। क्या ऐसा करना उचित होगा? कभी नहीं। रही यज्ञाशभूत दम वृणो की यज्ञसीमा से बाहिरानकलने की बात। सो इस के लिए स्वतन्त्र समापन करने की को आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु दवताओ के उपयोग म आती है वही यज्ञिय मानी जाती है। नहीं तो प्राप्त हवद्रय के तुषा को क्यो उत्कर मे डाला जाता है? हविस पादन के लिए शकट से धान लिया जाता ह। उनूखल मे सुसलके द्वारा उनके तुषो को पृथक् किया जाता है। तुषो को उकर म ही डाला जाता है। क्योंकि वन का आहुति से स व ध नहीं है अतएव इह यज्ञिय नहीं माना जासकता। यही पारस्थिति इन दमवृणो की है। पात्र स्वच्छ करने के पश्चात् इन का यज्ञ में को उपधाग नहीं रहजाता। अत इह यज्ञिय-पदाथ नहीं माना जासकता। ऐसी अवस्था में इह यज्ञसीमा से बाहिर उकर में ही फक दना चाह्य ॥ ११ ॥

इति—द्रव्यसंस्कारोपपत्ति

—*—

२—पत्नीसन्नहनोपपत्ति —

पत्नीसन्नहकर्म का ताप्य है—पत्नी का यज्ञ के साथ योग करना। यजमानपत्नी पत्नी है पयुर्ना यज्ञसयोगे इस पाणिनीय सिद्धांत के अनुसार यज्ञ के सम्बन्ध से ही पत्नी शब्द निष्पन्न हुआ है। यह पत्नी शब्द ही वस तथ्य का सूचक है कि इस का यज्ञ मे अवश्य ही सम्बन्ध कराया जाय। बिना पत्नी के यजमान का यज्ञ सवथा अपूरण (अधूरा) रहता है। कारण स्पष्ट है। प्राकृतकान्त्य आधिदविक यज्ञ का निरीक्षण कीजिए। यज्ञ के द्वारा सृष्टरूप प्रजा को उ पन्न करने की इच्छा रखने वाले प्रजापति को अपना शरीर पति-पत्नि रूप से दो भागो में विभक्त करना पडता है। इन दोनो के मथुनभाव से ही त्रिराट्प्रजा की उ पत्ति होती है जसा कि निम्न लिखित स्मात् वचन से स्पष्ट है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्द्धेन नारी तस्या स विराजमसृजत प्रभु ।

—मनु १ अ ३०

वय भू प्रजापति वदमूर्ति है। बदत व ऋक्-साम-यजु भेद से तीन भागो में विभक्त है। इन तीनों में यजु वास्तव में यज्जू (यत्-जू) है। यद्भाग वाक् है यही अग्नि है। इसी को यज्ञिय-परिभाषा-नुसार सावयजुषअग्नि कहा जाता है। विज्ञानदृष्ट्या यही वाग्नि स यानि नाम से प्रसिद्ध है। जूभाग प्राण है यही वायु है। यह वाक्-प्राण [अग्नि वायु] मूर्ति यज्जू क्वा यजुर्वेदमार्त्त स्वयम्भू

प्रजापति ऋक्सामरूप छु दो से निय छुदित [वदित] रहता है । यजु ही स्वय भू प्रजापति का शरीर है । इस यजुम्भय शरीर का यदरूप वाक् [अग्नि] भाग जरूप प्राण [वायु] के यापार से आंशिकरूप से द्रत होजाता है । अग्नि पर जब वायु का प्रसर [दत्ताव] होता है तो त काल अग्नि पानी के रूप में परिणित होजाता है जैसा कि अग्नेराप इयाद श्र य तर से स्पष्ट है । ग्रीष्मऋतु के अन तर वर्षा का आग मन भी ऋषी सिद्धा त पर अतलभित है । प्रजापति का वाक् भाग ही अशरूप से पानी [पारमेष्ठय सोम] बना है इसी अधिप्राय से— सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । जागेय साऽसृयत [शत ब्रा ६।१।१६] यह कहा गया है । वाऽमय शरीर के अग्नि-सोम ये दो विभाग ही पति-पनी है । अग्नि पुरुष है सोम स्त्री है जैसा कि प्रवप्रकरण में बतलाया जाचुका है । इन दोनों के मिथुनभाव से ही सूर्य्य रू । त्रिराट् पुरुष का ज म हुआ है । सौरस व सर में भी यही दाम्ययभाव है । स वसर की वसतादि ६ ऋतुओं में तीन ऋतुएँ [वसत-ग्रीम-वर्षा] आग्नेय हैं एव तीन ऋतुएँ [शरत्-हेमत-शिशिर] सौ य हैं । दोनों के सम वय से सम्ब सरयज्ञ का स्वरूप नि पन्न हुआ है ग्व इसी स व सरयज्ञ से पार्थिव प्रजा की उत्पत्ति हुई है । पार्थिव प्रजा में भी यही मिथुनभाव है । शुक्र सौम्य ह शोणित आग्न है । शोणितानि में शुक्रसोम की आहुति होने से ही प्रजोपत्ति होनी है । इसप्रकार स्वायम्भुयज्ञ सम्बसरयज्ञ-प्रा यामि कयज्ञ तीनों में उक्त दाम्ययभाव विद्यामान है जसा कि परिलेख से स्पष्ट है ।

दाम्ययभावपरिलेख —

१ वाक्	अग्नि (पुरुष)	}	स्वायम्भुयज्ञ १
२ आप	सोम (स्त्री)		
<hr/>			
१ वसत -ग्रीम वर्षा	अग्नि (पुरुष)	}	सम्बसरयज्ञ २
२ शरत् हेमत शिशिर	सोम (स्त्री)		
<hr/>			
१ शोणितम्	अग्नि (पुरुष)	}	अयात्मयज्ञ ३
२ शुक्रम्	सोम (स्त्री)		

—————

प्रकारा तर से अ नीषोमा मक प्राकृतिक यज्ञ का विचार कीजिए । सम्ब सरमण्डल में सूर्य और चन्द्रमा ये ो ही ग्रहोपग्रह प्रधान हैं । सूर्य आ नेय ह चन्द्रमा सौम्य है । विवद्वत्त के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है । यही विषुवमण्डल हमारे खगोल का स्वरूप सम्पादक है । सी खगोलीय विषुवद्वृत्त से हमारा स्वरूप निर्माण होता है स व सर की महासुपर्णा माना गया है । उत्तरायण दक्षिणायण इस महासुपर्णा के दो पक्ष हैं एव मध्यस्थ विषुवद्वृत्त आमा है । पूर्व की ओर मुख करके खड होजाइए । पूर्वभाग में दृश्य खगोलीय [सूर्य्ययुक्त] विपत् है एव पश्चिमभाग में अदृश्य खगोलीय [चन्द्रयुक्त] विष्वत् है । पूर्व-खगोल सूर्य्यपुरुष से युक्त जनना हुआ पुरुष है एव पश्चिम-खगोल चन्द्रस्त्री से युक्त होता हुआ स्त्री

है। दोनो की समष्टिरूप विद्वृत्तीय पूण खगोल सप्तस रूप यज्ञप्रजाति है। इस में पुरुष का निर्माण सूर्यप्रधान दृश्य खगोल स होता है एव स्त्री का निर्माण चन्द्रप्रधान अदृश्य खगोल स होता है। पुरुष की रीड की हडडी विद्वृत्त है। परन्तु आधे विषुव का ही सप्तस में आता है। अतएव चारो ओर वृत्तरूप से रीड का अनर्माण नहीं होता। आधा अदृश्य भाग स्त्री का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में आधा आकाश पुरुष के अधिकार में आता है एव आधा आकाश स्त्री के अधिकार में आता है। एक ही सप्तस आकाश पुरुष और स्त्री में विभक्त है अतएव स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी माना गया है।

पुरुष के सूर्य अर्द्धाकाश की पूर्ति स्त्री से ही होती है। जबतक यज्ञ में स्त्री का समावयव नहीं होता तबतक यज्ञ का स्वरूप अपूर्ण ही रहता है। देवो भूया देव भाजयेत् यह निश्चित सिद्धांत है। सम्बन्ध यज्ञदेव की प्राप्ति के लिए यज्ञकर्ता यजमान को पहिले यज्ञरूप बनना पडेगा। यज्ञरूप बनने के लिए पहिले इसे पत्नी का यज्ञ में योग करना पडेगा। पत्नीसयोग से जब यह पण होजायगा तभी यह उस पर्येश्वर यज्ञविष्णु के साथ सम्बन्ध करने का अधिकारी बन सकेगा। यदि बिना पत्नी के ही यजमान यज्ञकर्म में प्रवृत्त होजायगा तो एक वर्ष के भीतर भीतर इसकी मृत्यु होजयगी। यदि एक दण आधे भाग में गरम एव आध में ठण्डा होजाता है तो इस विषमता से तत्काल दण के खण्ड खण्ड होजाते हैं। यही अवस्था अपत्नीक यजमान की हाती है। ऐसी अवस्था में यज्ञ में पत्नी का सयोग करना परम आवश्यक होजाता है। सूर्योपलक्षित द्युलोक पिता है चन्द्रोपलक्षित पृथिवीलाक माता है दोनो की समष्टि ही द्यावापृथिव्य यज्ञ है। पृथिवी पश्चिमाद्र [भाग] है द्यु पर्वोद्र [भाग] है। द्युरूप सूर्य से उन्नत होने वाला पुरुष यज्ञ का पर्वोद्र है एव पृथिवी उपलक्षित चन्द्रप्रधाना स्त्री यज्ञ का जघनाव (पश्चिम का आधा भाग) है। बिना इसके यज्ञ आधा रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर— अथा अर्द्धो वा एष आत्मन—य पत्नी [तै ब्रा ३।३ ३।४]— अयज्ञो वा एष योऽपत्नीक [तै ब्रा २।२ २।६]— सोऽयमाकाश पत्न्या पूर्यते इयादि कहा गया है। पत्नी का यज्ञ में क्यो योग किया जाता है ? इस प्रश्न का यही सन्तित समाधान है। पुरुष यज्ञाधिकारी है। यज्ञ बिना पत्नी के होता नहीं। यज्ञ की इस अवश्यकता को लक्ष्य में रख कर ही पुरुष के लिए बहुविवाह का विधान शास्त्रसिद्ध मान लिया गया है*।

पत्नी यज्ञ का पश्चिमाद्र ह। इधर यजमान का यज्ञ पश्चिम से पव की ओर ही वितत होता हुआ त्रिणाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है। यदि पत्नी न होगी तो पश्चिम भाग ही न रहेगा। पश्चिम भाग न रहेगा तो प्रतिष्ठा से विरहित यज्ञ किस के आधार पर पव की ओर वितत होगा ? अत यज्ञवितान के लिए ए यज्ञ की पूणतालक्षणा समृद्धि के लिए यज्ञ में पत्नी का सयोग करना नितांत आवश्यक होजाता है। इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर जघनार्द्धा वाऽएष इयादि कहा गया है ॥ १२ ॥

साधारण रूप से पत्नी का योग नहीं किया जाता अपितु उसे योक्त्र से बांधा जाता है। योक्त्र एक प्रकारका ऐसा बन्धन है जिस में आबद्ध होने के पश्चात् पलायित होजाना असंभव होजाता है। जानना

* यदि त्रैवर्णिक प्रजा यज्ञकर्म से पराङ्मुख ह तो कदापि इसे दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए।

चाहते हैं आप इस बंधन का रहस्य ? तो सुनिए । स्त्री सोमप्रधाना होती है । यह पूव में बतलाया जा चुका है । सोम ऋततत्त्व है । अतएव य सयभाग से शूय है । अतएव च ऋतप्रधाना स्त्री का अनग्रह मत अपेक्षित है । स्त्री के सी स्वरूपवम को लक्ष्य में रखकर भारतीय समाजशास्त्रियों ने स्त्रीस्वातन्त्र्य का पूरा निरोध किया है । स्त्री की बाल-युवा-वृद्ध तीन अवस्थाओं में पिता-पति पुत्र की अगला लगाई है । ऋतरूप सोम मे आमप्रतिठा का आभाव है । यह भोय वस्तु है । अतः सवदा सरक्षणीय है । इसे निरंतर परप्रतिष्ठा अपेक्षित है । प्रतिष्ठासूत्र में रहते रहते भी अपने ऋतस्वभाव के कारण स्त्री उछल्ल बन जाती है । याद प्रतिष्ठासूत्र न रहे तो यह स्वतन्त्रा शक्ति विस्फोटन का ही कारण बन जाया करती है ।

ऋतप्रधाना अतएव अनृतरूपा स्त्री * के स अप्रतिष्ठा भाव की रक्षा के लिए दूसरे शर्तों में स्वतन्त्रवृत्ति को परतंत्र बना कर उसे सीमित करने के लिए ही पानीसन्नहनकम्म किया जाता है । नसकम के साग्रभूत योऋतत्त्व बन से सौय यजमानपत्नी की सौम्यवृत्ति शांत होजाती है एव ऋत के स्थान में नसमें सयभाव का समावेश होजाता है अप्रतिष्ठा प्रतिष्ठा के रूप में परिणत होजाती है अनृत अयजि-यभाव सययज्ञरूप में परिणत होजाता है । यजमान का अर्द्धाकाश परिपूरण होजाता है पूरणयज्ञ की पूरणसमृद्धि प्राप्त होजाती है । सन्नहनकम्म का यही मौलिक रहस्य है ।

हम यह अनुभव कर रहे हैं कि स्त्रीजाति के सम्बन्ध में विहित उक्त श्रौत-सिद्धांत वर्तमान भाष्य युग के लिए सवथा उद्बगकर ही प्रमाणित होरहा होगा । सामा यदृष्टि से विचार करने पर तो थोड़ी देर के लिए एक वदभक्त का हृदय भी श्रति की स सकुचित्तत्रितिसन्तुध होपट्टगा । जब कि इश्वरीयसृष्टि में सामाय-प्राणियों को भी स्वतन्त्र विचरण करने का (जमभिद्ध) आधिकार प्राप्त है तो सृष्टि के सबसभ्य दुद्धियुक्त मानवसमाज के इस स्त्रीवग के सन्बन्ध में इश्वराज्ञापत्ररूप तन्वो में किस आधार पर यह अमा नुषिक सिद्धांत लिपिबद्ध हुआ ? सचमुच यह एक जटिल समस्या है ।

समस्या जलित साथ ही सयता सस्कृति पर कलङ्क लगाने वाली सब कुछ ठीक है । परन्तु शान्प्रमाणका व्ययम याय से प्रकृत सिद्धांत के समुप विवश होकर हमें नतमस्तक होना ही पडेगा । अब हमें ससत्रय में देवना केवल यही है कि उक्त वदभक्ति हमारी कपना तक ही सीमित है अथवा इसमें कुछ तमाश भी है जिस के कबल पर वे प्रिरोधियों का साय ही उन वेदभक्तों का भी जो कि ऐस सिद्धांतों को दरकर न्ध होजाते हैं अतःकरण उक्त सिद्धांत की और आकर्षित किया जासके । आ ए । नस स्वतन्त्रता परतन्त्रता की मौलिकता का विचार कर और तद्द्वारा किसी निश्चित निर्णय पर पहुचने का प्रयास कर । विचा शूया सामा यदृष्टि कभी कभी हमें धोका दे डालती है । और इस धोके में पडकर मानवीय ऋत-मन कभी कभी सय को असय समझने की भूल कर बैठता है । कोई आश्चर्य नहीं हम भी कुछ ऐसी ही भूल कर रहे हों ।

(१)—इस मे तो कोई भी सदेह नहीं है कि सनातनधर्म से प्रेरण रखने वाला वर्त्तमान युग का सनातनधर्मीजगत् प्रयत्न किया अप्रयत्नरूप से वर्म्मा क याज से विशुद्ध रूढिवात्

* अनृत स्त्री, शुद्र शान्तानि न प्रक्षत । (श्रति) ।

का ही समर्थक बन रहा है । बाह्याडम्बरभक्त हम सनातनधर्मियों का मादेशो को रूढिगढ कर ग मे रञ्जित कर उह अधर्म्म का ही रूप देडाला है यह स्वीकार कर लेने म किसी भी सनातनधर्म्मी को यत्किञ्चित् भी आपत्ति नहीं करनी चाहिए ।

(२)—इस म भी कोई सदेह नही कि सनातनधर्म्म क प्रचलित रूढिगढ से घोर शत्रुता रखने वाला वर्त्तमानयुग का समाजसुधारक जगत् प्र यत्न कया अप्रयत्नरूप से सुधार क याज स त्रिशुद्ध अधर्म्ममथ का ही समर्थक बन रहा है । पाश्चमाडम्बरभक्त हम सुधारकोंने सुधारमा र्मी को पश्चिमी सभ्यता कर ग मे रञ्जित कर उसे अधर्म्म का ही रूप दे दिया है यह स्वीकार कर लेने म भा किसी भी सुधारक को आपत्ति नहीं करनी चाहिए ।

(३)—यह भी नि सदिग्ध त्रिषय है कि सनातनधर्म्म क उपदेशका प्रचारका रत्नक सत महन्तो आचार्या मठाशान धर्म्मदेशो के मौलिक रहस्य का प्रतिपादन करने वाले त्रिज्ञानसिद्ध वेदशास्त्र की उपेक्षा करते हुए अतएव धर्म्मरक्षा क लिए सवथा यथ प्रमाणित सम्प्रदायभक्ति को साधनरूप अप्रणी बनाते हुए वर्त्तमानयुग की सुधारक-जनता का परितोष करने मे अपने आपका सत्रथा निरथक ही प्रमाणित कर लिया है ।

(४)—अत्र हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि सुधारक समाज के उपदेशका मा प्रशका नेताओंन सुधार क मूलप्राणरूप मालिकधर्म्म मालिकसंस्कृति मौलिकसाहित्य की उपेक्षा करते हुए अतएव समाज यत्रस्था-सञ्चालन क लिए सत्रथा यथ प्रमाणित कल्पनाभक्ति को ही साधनरूप स आगे करते हुए वर्त्तमान युग की धार्म्मिक जनता का परितोष करने मे अपने आपको सत्रथा निरथक ही सिद्ध कर लिया है ।

उक्त प्र यत्न ष्टि ही हमें यह मान लेना के लिए भी बा य कर रही है कि वामान में भारतवर्ष के जनसमाज को १ धर्म्मप्रेमी सनातनधर्म्मी २-सुधारप्रमी सुधारक ३ धर्म्मोपदेण धार्म्मिकनता ४ मा प्रशकसमाजनेता इन चार श्र णियों में विभक्त मान लिया जाय । यद्यपि एक पाचवा राष्ट्रीयसमाज श्रौर है । परन्तु प्रचलित प्रगति के अनुसार उसे हम चतुथ समाजवर्ग में ही अतभूत मान सकते हैं । आगे जाकर तो इन चार वर्गों का भी धार्म्मिकवर्ग सुधारकवर्ग न दो वर्गों में ही अतभाव होजाता है ।

उक्त दोनो ही वर्ग उद्द श्य की दृष्टि से समानपथ के ही अनुयायी बने हुए है । हम हमारा देश हमारी सभ्यता हमारी संस्कृति सुरक्षित रहे दोनो ही वर्गों को यह उद्द श्य तो सत्रा मना मान्य है । परन्तु आश्चर्य्य है कि समानोद्द श्यता के रहने पर भी दोनो में परस्पर घोर विरोध देगा जाता है । धार्म्मिक जगत् सुधारक जगत् को सर्वनाश का प्रवक्त क बतला रहा है तो सुधा कवर्ग धार्म्मिक वर्ग को उन्नति का अयतम प्रतिबन्धक समझ रहा है । आ शभक्त किन्तु कर्म्मशूय धार्म्मिक जगत् का ध मप्रसार क्रम क्रमश शिथिल होता जा रहा है एव कर्म्मपुरायण किन्तु आदर्शशूय सामाजिक जगत् की उच्छङ्खलता क्रमश वृद्धिगत प्रतीत हो रही है । इसप्रकार देश की ज्ञानशक्ति त्रिचाशक्ति यो दो स्वतंत्र दलों में विभक्त होकर तीसरी अथशक्ति के मूलोच्छेदक का कारण बनती हुई सबनाश की ही प्रयोजिका प्रमाणित हो रही है यह जानकर किस भारतीय को क्लेश न होगा ।

हुआ क्या ? एवं क्या रहा है ? । धार्मिक-प्रजा ने परिवर्तनशील देश-काल-पात्र यादि से संबन्ध रखने वाले तत्सामयिक (अतएव तत्समय के लिए ही उपादेय) आचार व्यवहारों का ग्रन्थि बंधन करने हुए उसे भी सामयिक बना डाला । अतीत सभ्यता का आचार-व्यवहार देशकालादि के परिवर्तन से स्मृतिगम में विलीन होत रहे आगे आगे नवीन विकास जन्म लेते गए । उधर शाश्वतधर्म पर बलात्कार से उन सामायिक आचारादि का लोप चढता रहा । परिणाम इसका यह हुआ कि-धर्म मत व सवथा अतहित होगया एवं प्रधानता रह गई केवल रूढिवाद की । शाश्वतधर्म आनन्द मतवाद मात्र बनता हुआ परमाथसाधन के स्थान में विशुद्ध स्वाध्याय का ही पोषक बना रह गया ।

मला मानवीय मन कबतक धर्म के इस ताण्डववृत्त को सहन करता रहता ? । परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था । कुछ एक नेताओं ने जनता को मावधान किया कि जिसे तुमन धर्म समझकरा है वह याजधर्म है धर्म की ओट में रूढिवाद पनप रहा है । वसी धर्म के धोके ने तुम्हारी स्वतंत्रता का अपहरण किया है । परिणाम जो कुछ हुआ देश के सामने है । धर्मसुधार आरंभ हुआ प्रबलवग से । परंतु धर्म-रहस्यभूत मौलिक साहित्य के विरह से इस सुधार ने बाह्य आवरण के साथ साथ गर्भीभूत मौलिकतत्त्व पर भी प्रहार करना आरंभ कर दिया । और मानना पडेगा कि सुधारकवग की यह एक महा भूल हुई । गले सडे मास के कत्तन (आप्रशन) के साथ साथ विशुद्ध सरलक अङ्ग को भी काट लिया गया । इसप्रकार इहोन शेषभूता मौलिकता को भी नामशेष में ही परिणत कर दिया । ।

प्रकरण अप्रासङ्गिक होता हुआ भी प्रासङ्गिक है । प्रश्न है- स्त्रीस्वातन्त्र्य का । वतंत्रता का अन्त यप्रमी सुधारक-समाज उन आदेशों को सहन करने के लिए सन्नद्ध नहीं है जो कि आदेश स्त्रीस्वातन्त्र्य पर प्रयत्नरूप से आक्रमण कर रहे हैं । यही कारण है कि उन की दृष्टि में- न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति यह आदेश पुरुषसमाज की स्वार्थवृत्ति का ही द्योतक बन रहा है । ऋत-स्वयं का विवचन करते हुए यद्यपि पूर्व में हमने इस द्योतकता की निरर्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है । तथापि केवल वसी साधन से हम पूरणरूप से उनका परितोष नहीं कर सकत । अवश्य ही वस साधन की सिद्धि के लिए हमें थोडा और प्रयास करना पडेगा ।

जहाँतक हम समझते हैं- स्वतन्त्र शब्द का अन्वय है स्वतन्त्र (अपना तन्त्र) । यह स्व क्या है ? और इस स्व का तन्त्र क्या है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । पहिले कोणकार की दृष्टि से ही दोनों शब्दों के अर्थों का विचार कीजिए । स्वो ज्ञातावामनि (अमर ३।३।२११) के अनुसार बधुजन और आत्मा इन दोनों को स्व कहा जाता है । ज्ञाता आत्मा ही ज्ञातिबधु * है । अतः फलितांश में आत्मा ही स्व शब्द का वाच्यार्थ बन जाता है । शब्दाथक स्वन धातु से (स्वन शब्दे-भ्रमण से) स्वा शब्द निपन्न हुआ है । स्वनति-इति स्वयत वा ही स्व शब्द का

* यावद्विस्त तावदात्मा वस सिद्धात के अनुसार वित्तपथतन्त्रा मसला का प्रसार माना गया है । बधुवग किंवा ज्ञातिवर्ग अतर्वित्त में अतभूत है । अतएव इह भी स्वा कहना अव्यय बन जाता है ।

निवचन है। आमा शब्दप्रवक्तक है दूसरे शब्दों में आमा से शब्द निकलता है अतएव स्वनति (शब्द करोति शब्दमुपात्न्यति वा) से अवश्य ही आमा को स्वन कहा जा सकता है। इसी निवचन से यह भी सिद्ध होगया कि जिसका आमा शब्दोपत्ति में असमर्थ है वह आमा स्वन मर्यादा से किवा स्वन-धम्म से वञ्चित होता हुआ स्वन न होकर पर ही बन जाता है।

आमा शब्द उपन्न करता है किवा आत्मा से शब्द निकलता है इसका क्या ता पथ्य ? क्या कोई आमा ऐसा भी है जो शब्द उपन्न करने में असमर्थ रहता हो ? हम तो देखते हैं कि— आत्मा बुद्ध्या समेयर्थान् मनो युक्ते विवक्ष्या मन कायाग्निमाह्वय स प्रेरयति मारुतम् इयादि पाणिनीय शिखा सिद्धा त के अनुसार शब्दोच्चारण की विवक्षा करने वाला आमा बुद्धि से युक्त होकर अभिलषित अथकामना का मन के साथ योग करता है। आमाकामना से काममय बना हुआ मन सर्वाङ्गशरीर में या त वशवानर अग्नि (कायाग्नि) में क्षोभ उपन्न करता है। इस इच्छा के अघात से क्षुब्ध बने हुए अग्नि का क्षोभ प्राणवायु पर आघात करता है। धक्का खाकर वायु उर-कण्ठ शिर तीग में किसी स्थान से टकरा कर कण्ठ तावादि स्थानों में आकर वणरूप धारण कर लेता है। इसप्रकार आमाकामना ही बुद्धि के द्वारा मनोद्वारा से शरीराग्निक्षोभ यापारमूलक प्राणवायु को सञ्चारभाव में परिणत कर वणरूप में परिणत करती है। वायु स्वात् शब्दस्तत् यह प्रातिशारय-सिद्धा त भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन कर रहा है।

जब कि शब्दोपत्ति किवा वर्णोपत्ति का यह स्वाभाविक नियम है दूसरे शब्दों में कोई भी शब्द जब बिना आमकामना के विनिगत नहीं होसकता तो माना पडेगा कि स्वनति स्वन्यते के अनुसार सभी प्राणियों का आमा स्वन है। फिर तस सम्बन्ध में यह कहना है कि जिसका आत्मा शब्दोपत्ति में असमर्थ है वह स्वन कहला कर पर ही कहलाएगा क्या महत्व रखता है ? न ह्यशब्द मित्रास्ति सर्वाशब्देन भासत इयात् श्रौतस्मात् सिद्धा तों के अनुसार जब सब का प्रयय (ज्ञान) शब्दामक ही है शब्दप्रणा ही जब सब का प्रातिस्विक धर्म है तो इस नियम शब्दविनिगम का अनुयायी आमा कभी पर बन जाय यह सम्भव ही नहीं।

यदि केवल स्वन पर भावों का ही विचार किया जाता है तो अवश्य ही इस सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति का समावेश सम्भव होजाता है। परन्तु जब तन्त्र शब्द को साथ लेकर विचार किया जायगा तो स्वत एव विप्रतिपत्ति का निराकरण होजायगा। केवल स्वन (आत्मा) को तो तबतक स्वन (आमा) कहा भी नहीं जासकता जबतक कि वह किसी तन्त्र का अनुगामी नहीं बन जाता। तन्त्र को अपना आश्रयतन बना कर ही आमा शब्दोपत्ति में समर्थ होकर स्वन कहलाता है। यदि वह तन्त्र आमानुगामी है तो उस समय उस अपने तन्त्र का अयत्न बनता हुआ आमा स्वनतन्त्र कहलाएगा। याद वह तन्त्र आमस्वरूप को विकृत करने वाला है तो उस दशा में वह तन्त्र परतन्त्र कहलाएगा एव तदनुगत आमा भी परतन्त्र ही माना जायगा।

स्वतन्त्र-परतन्त्र दोनों ही शब्द आमवाचक नहीं हैं अपितु ये शब्द तो तन्त्रों के द्योतक हैं। आमा को तो न स्वतन्त्र कहा जासकता न परतन्त्र। सर्वरूप के लिए कसी निश्चितरूप की अगला

नही लगाई जासकती। दोनों शब्दों के ही वाचक हैं। आमतौर पर स्वतन्त्र कहलाएगा एवं आमविधी तत्र शब्द कहलाएगा। स्वतंत्र में रहने वाला आमा ही अपना स्वभाव सुरक्षित रख सकेगा। एवं तत्र में रहने वाला आमा स्वको छोड़ बैठेगा। अतः प्रकार स्वतन्त्र शब्द तत्रो के ही वाचक बन जाते हैं। आगे जाकर द्वैतवाच्य से इन दोनों को आमा का भी वाचक मान लिया गया है।

आमा चाहे स्वतन्त्र में प्रतिष्ठित रहे अथवा परतन्त्र में उभयथा वह शोपत्ति का प्रवक्तक माना जायगा। और शोपत्ति के संबंध में दोनों ही अवस्थाओं में उसे स्वतन्त्र के अनुसार स्वकहा जासकेगा। अतः दोनों अवस्थाओं में केवल यही होगा कि स्वतंत्र में प्रतिष्ठित आमा की कामना मन का सञ्चालन करेगी एवं परतंत्र में प्रतिष्ठित आमकामना पर मानसकामना का अधिकार रहेगा। मन की कामना का अपने रंग में रक्षित कर शब्दप्रवक्तक बनता हुआ यही स्वस्वकहा जायगा एवं अपनी कामना को मन के रंग में रक्षित कर शब्दप्रवक्तक बनता हुआ वही स्वपरकहा जाएगा। अतः प्रकार तत्रभेद से शब्ददायमान उस एक ही स्वकी स्वपर ये दो अवस्थाएँ होजायगी।

स्व (अपने) तन्त्र का अर्थ वही स्व (आमा) स्व (प्रवर्तमानुगत) कहलाएगा एवं पर (दूसरे तत्र का अनुगामी वही स्व (आमा) पर (परवर्तमानुगत) कहलाएगा। इस केवल त्रयी में को लक्ष्य में रखकर शोपत्ति में समथ आमा स्व एवं असमथ आमा पर कहलाएगा यह कहा गया है। शोपत्ति दोनों अवस्थाओं में होगी। परंतु परतंत्रावस्थामें उपर्युक्त आमशब्द परधर्म मरंग रहने के कारण आमशब्द नहीं कहलाएगा। अब यह विचार कीजिए कि वह स्वतंत्र परतंत्र कौन हैं चित्त के कारण क्रमिक संबंध में वह स्व (आमा) स्व एवं पर (आमा अनामभावा) में परिणत होजाता है ?

कोशानुसार पूर्व में स्वको आमा का वाचक बतलाया गया है। ज्ञात आमा ही स्व है। इस ज्ञात आमा का परभाव होगा तत्रविषय जो कि आमभावा से शून्य होगा। ज्ञाता ज्ञेय दोनों में ज्ञाता यदि आमा का स्वभाव है तज्ज्ञ परभाव माना जायगा। चतुर्थ ज्ञात आमा का ज्ञेय विषय मवथा जड ही होता है। जडवन ही उस अनाम्य कहा जासकता है। अतः ही से अनामभाव को हम परभाव कहेंगे। काशिका ने परशब्द के जो द्वैत अनात्मा उक्तम ये तीन अर्थ माने हैं उनमें से प्रकृत में अनामभाव ही अभिप्रेत है—(अमर ३।३।३।१६१।)। त्रयी भाव को आगे कर परशब्द शत्रु का भी वाचक माना गया है एवं स्वशब्द त्रु का वाचक माना गया है। निरुद्ध यही हुआ कि आत्मा स्व है अनामा पर है। आमा का उपकारक भाव स्व है एवं आमा का विरोधी भाव पर है। आमा और आमा का श्रेयोभाव दोनों को स्वकहा जायगा। एवं अनामा तथा आमा का प्रेयोभाव दोनों को परकहा जायगा।

अब तत्र शब्द के अर्थ पर दृष्टि डालिए। अपेक्षा भेद से तत्र शब्द सिद्धांत परिच्छेद (सीमा) सूत्रग्रन्थ कुटुम्बकृत्य उत्तमोषधि शास्त्रपर वेदशास्त्रा इतिकृत्यता प्रधान आदि अनेक अर्थों का सूचक है। प्रकृत में तत्र शब्द से प्रधान ही अभिप्रेत है। प्रकृति को ही प्रधान कहा जाता है। प्रकृतिभाव के अंतरङ्ग बहिरङ्ग भेद से दो विवक्त हैं। इनमें पार्श्वभौतिक विश्व बाहिरङ्गप्रकृति है एवं

त्रिंश्वसञ्चालिका प्रकृति अ तरङ्गप्रकृति है। यही विश्व का आन्विकारण मानी ग है। उसी को प्रधान कहा जायगा। विश्वक्षेत्र का आधेष्टाता प्रकृतिरूप यही प्रधानतः पुरुष के सहयोग से क्षत्रज बना हुआ है। विज्ञानभाषा में यही विज्ञानात्मा नाम से एव दशनभाषा में यही बुद्धि नाम से प्रसिद्ध है। है जैसा कि गीताभाषा में पष्ट है।

प्रधाना प्रकृति ही यत्कुरूप से वितत होकर विश्वविस्तार का कारण बनती है। दूसरे शब्दों में यही विश्व का वितान करती है अतएव त यते अनेन सबम् अस निवचन के अनुसार प्रकृतिरूप से प्रधान को अवश्य ही तन्त्र कहा जासकता है। ए पर तत्र न तीनों शब्दों का अर्थ क्रमशः आत्मा अनात्मा प्रधान-रूप से गन्तव्य हुआ है। यह अनात्मा वही बहिरङ्गप्रकृति है जिसे कि हम त्रिंश्व कह सकेंगे। आत्मारूप स्व पुरुष है आदिकरुणरूप प्रधान प्रकृति है। एव काव्यरूप विश्व अनात्मा परभाव बनता हुआ प्रकृति है। पहले आधिदविक विश्व में ही तीनों के दशन कीजिए।

स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य च प्रथि या मरु विश्व मे स्वयम्भू परमेष्ठी की समष्टि अमृतप्रधान पुरुषसस्था है चन्द्रमा पृथिवी दोनों की समाष्टरूप मृत्युप्रधान प्रकृतिसस्था है। म य एव अतएव अमृत मृत्युमय सूर्य प्रकृतिसस्था है। पुरुषसस्था में अ ययात्मा का विकास है विकृतिसस्था में भौतिक क्षर का साम्राज्य है एव प्रकृतिसस्था में अक्षर की प्रधानता है। अ यय एव है क्षर पर है एव अक्षर तत्र है। अ ययपुरुष का (एव का) तत्र यही अक्षर है। यदि यही तत्र (अक्षर) क्षररूप परभाव का अनुगामी बन जाता है तो यह स्वतन्त्र (अ ययतत्र) परतत्र (क्षरतत्र) बन जाता है। अ ययात्मा का अक्षरतत्र के द्वारा क्षर में समाविष्ट रहना स्वतन्त्रता है एव अ ययात्मा का अक्षरतत्र को क्षर का अनुगामी बनाते हुए उसमें आसक्त होजाना परतत्रता है।

उक्त आत्मविवक्त दिग्दशन से यह भी सिद्ध होगया कि सूर्यस्थानीय प्रधान (अक्षर) स्वतत्र है। क्योंकि स अक्षर का तत्र (विस्तारभूमि) अ यय ही है। एव (आत्मा) है तत्र जिसका ऐसा केवल अक्षर ही होसकता है। यदि यह अक्षर स्व को अपना तत्र बन कर पर लक्षण क्षर को अपना तत्र बना लेता है तो पर (क्षर) है तत्र जिसका स निवचन से यही परतन्त्र बन जाता है।

स्थिति अशत दुर्बो या है। स्वतत्र-परतत्र शब्द आत्मा के वाचक हैं ? अथवा अनात्मा के वाचक हैं ? अथवा प्रधान के सूचक हैं ? यह तथ्य वास्तव में दुर्बो य है अस्मदादि साम्राज्य जनो के लिए। अतएव इसका विशेषरूप से स्पष्टीकरण अपेक्षित होजाता है।

आत्मा — स्व — है अनात्मा — पर — है प्रधानम् — तत्रम् — है।

पुरुष — स्व — है विकृति — पर — है प्रकृति — तत्रम् — है।

अ यय — स्व — है क्षर — पर — है अक्षर — तत्रम् — है।

स्वयम्भू परमेष्ठी स्व — है चन्द्रमा पृथिवी पर — है सूर्य — तत्रम् — है।

उक्त तालिका से यह तो स्पष्ट है कि किसी भी रूप से यदि स्त्र का तत्र से किंवा तन्त्र का स्त्र से सम्बन्ध है तब तो स्त्रतत्र शब्द का आविर्भाव है। और यदि स्त्र का तन्त्र के द्वारा पर से किंवा पर का तत्र के द्वारा स्त्र से सम्बन्ध है तो परतत्र शब्द का आविर्भाव है।

इसी के साथ यह भी स्पष्ट होजाता है कि यदि स्त्र का साक्षात् रूप से तन्त्र के साथ सम्बन्ध है तो इस दशा में स्त्रतत्र शब्द भी आत्मा का ही वाचक माना जायगा। एव यदि इसी स्त्र का साक्षात् रूप से तत्र से सम्बन्ध न होकर पर के द्वारा तन्त्र से सम्बन्ध है तो स दशा में परतन्त्र शब्द भी आत्मा का ही वाचक माना जायगा। ऐसी दशा में स्त्रतन्त्र-परतन्त्र का अर्थ होगा— आत्मा स्व तन्त्र - आत्मा परतन्त्र ।

यदि तन्त्र का साक्षाद् रूप से स्त्र से सम्बन्ध है तो इस दशा में स्त्रतत्र शब्द भी तन्त्र का ही वाचक माना जायगा। यदि तत्र का साक्षाद् रूप से स्व के साथ सम्बन्ध न होकर पर के द्वारा स्त्र से सम्बन्ध है तो स दशा में परतन्त्र शब्द भी तत्र का ही वाचक माना जायगा। एतदुस दशा में— स्वतत्र-परतन्त्र का अर्थ होगा— तत्र स्त्रतन्त्र - तत्र परतत्र ।

यदि पर का तत्र के द्वारा स्व के साथ अनुकूल [अनुयोगी] सम्बन्ध है तो इस दशा में स्त्रतत्र शब्द भी पर का ही वाचक माना जायगा। यदि पर का तत्र के द्वारा स्व के साथ प्रतिकूल [प्रतियोगी] सम्बन्ध है तो इस दशा में परतन्त्र शब्द भी पर का ही वाचक माना जायगा।

ता पर्य्य यह निकला कि तन्त्रानुगामी वही आत्मा स्त्रतत्र है एव परानुगामी वही आत्मा परतत्र है। स्वानुगामी वही तन्त्र स्त्रतत्र है एव परानुगामी वही तत्र परतत्र है। स्वानुगामी [अनुकूलभाव से] वही तत्र स्त्रतत्र है एव परानुगामी [प्रतिकूलभाव से] वही तत्र परतन्त्र है। आत्मा भी स्त्रतत्र परतत्र कहला सकता है एव तत्र को भी स्त्रतत्र-परतन्त्र कहा जासकता है एव पर भी स्वतन्त्र परतत्र शब्दों से व्यवहृत होसकता है। इसप्रकार स्त्र लक्षणा पुरुष तन्त्र लक्षणा प्रकृति एव पर लक्षणा प्रकृति तीनों सस्थाओं के साथ सम्बन्धभेद से स्वतन्त्र परतन्त्र दोनों का ही समवय किया जासकता है।

तीनों विवर्तों में से पहिले आत्मा स्वतन्त्र का ही विचार प्रस्तुत है। यदि यह स्व (आत्मा) स्त्र तन्त्र का (अपने स्वरूप अक्षर किंवा प्रकृति का) अनुगामी बनता हुआ तन्त्र के द्वारा (प्रकृति के द्वारा) पर भावमं (क्षर किंवा विकृतिभाज में) अनासक्तरूप से प्रविष्ट है तो स दशा में (तत्रानुगत बन कर परभाज से युक्त रहने की दशा में) तत्र तत्रानुगामी स्व को तन्त्रानुगत-स्व-स्व-(आत्मा) (तत्र का अनुयायी) स्त्र-आत्मा) इस निवचन के अनुसार स्त्रतत्र कहा जायगा। तत्रानुगत स्व स्वतत्र ही इस आत्मावाचक स्वतन्त्र शब्द का निवचन होगा।

मान लीजिए— स्त्र (आत्मा) तत्रानुगामी (अक्षरानुगामी) नहीं है। उसने पर (क्षर) के साथ योग तो तत्र के (अक्षर के) द्वारा ही किया है। परतु पर की आसक्ति के कारण उसका तन्त्र (अक्षर) पर

की प्रतिच्छाया के युक्त होकर अपना तत्र भाव (अक्षरधम) खोबठा है । तन्त्ररूप अक्षर पररूप क्षर के नश्वरधर्मों से युक्त होता हुआ अपनी प्रातिस्विक अक्षरसम्प्रति सञ्चित होगया है । क्षररूप पर के नश्वर धर्मों के सम्बन्ध से पहिले तो अक्षररूप तत्र इस आमा का तत्र मा । परतु आमा की शिषयासक्ति से आज अक्षर इसका तन्त्र नहीं रहा अपितु अक्षर तन्त्र का आसन क्षरपर न छीन लिया । और यो आज पर ही इसका तन्त्र बन गया ।

पर की आसक्ति [क्षरामिका भूतासक्ति] ने यही विश्राम नहीं किया । अपितु जैसे परासक्तिने अक्षरतत्र को पर बना ाला वस ही तदवद्ध उस स्व को भी पररूप में [क्षररूप में] पारणत कर लिया । परिणाम यह हुआ कि जा पर अपने क्षरभाज से जिस स्व का तत्र नहीं बन सकता था वह तो उस स्व का तत्र बन गया और स्वयं स्व अपने स्व-भाव से आवृत होकर पर बन गया । रने अक्षर से तन्त्रासन छीन कर अपने आपको तो तन्त्र बना लिया और अपना नश्वर परभाज आमा को देखकर [उसे स्व से वाञ्छित कर] उसे पर बना डाला । स्व को पर बनाया—एक काम एव तत्र को पर बनाते हुए तत्रता स्वयं छीन ली दूसरा काम । स्व बन गया पर एव पर बन गया तन्त्र । तत्र पर बनता हुआ इस तत्राकाराकारित क्षर में विलीन हागया अथवा पर बने हुए आमा में विलीन हागया ।

इसप्रकार तत्रानुगत रहता हुआ (अक्षरानुगत रहता हुआ) जो स्व किसी तदन स्वतन्त्र था आज वही इस अकारक-कारणिक तन्त्र की कृपा से पर बन कर बनायी तन्त्र का अनुगामी बन कर परतन्त्र शब्दमाक बन गया । तत्रानुगत —(तन्त्रप्रतिरूपक्षरानुगत) य-पर —(परधर्मानुगत स्व-आमा) (क्षररूप तन्त्र का अनुयायी अतएव पररूप में परिणत पर आमा) इस निवचन के अनुसार इसे परतन्त्र कहा गया । पूर्ववत् तत्रानुगत-पर-परतत्र वस आमवाचक परतत्र शब्द का निवचन होगा ।

स्वतत्र परतन्त्र शब्दों के स्व (स्वरूप में प्रतिष्ठित आमा) एव पर (पर रूप परिणत म परतन्त्र आमा) नामक अवयवों को यदि आमवाचक माना जायगा तो स्वतन्त्र परतत्र शब्दों के क्रमशः उक्त तन्त्रानुगत-स्व तत्रानुगत पर) ही निवचन होगा । यहा आमा ही स्व-दशा में रहता हुआ अपना बन्धु कहलाएगा एव आमा ही पराक्रान्त होकर अपना रिपु कहलाएगा जसा कि आत्मैव ह्यामनो बधुरात्मैव रिपुरामन इत्यादि गीतासिद्धांत से स्पष्ट है । सचमुत् अनुकूल तन्त्रानुगत वही आमा हमारा मित्र बना रहता है एव प्रतिकूल तत्रानुगत वही आमा हमारे लिए पर (शत्रु) बन जाता है ।

एक दूसरी दृष्टि से भी आमवाचक इन दोनों शब्दों का निवचन किया जासकता है । आमा को विकसित करने वाला भाव आत्मबन्धु कहलाएगा एव आवृत करने वाला भाव आत्मरिपु कहलाएगा । आमबन्धु को हम स्व का स्व (आत्मा का स्वजन किम मित्र) कर्ण एव आत्मरिपु को एका का पर (आमा का परजन किंवा रिपु) कहेंगे । पर क्षर को अपने गभ में रखने वाला तन्त्राक्षर आमोदय का कारण बनता हुआ आमा का स्व कहलाएगा । एव तत्राक्षर को अपने गभ में रखने वाला पर क्षर आमपतन का कारण बनता हुआ आमा का पर कहलाएगा । इसी दृष्टि से अक्षर-

तत्र आमाका स्वतन्त्र (अपना हितैषी तत्र) कहलाएगा एव चरतत्र परतत्र (विरोधी तत्र) कहलाएगा । स्वतन्त्रानुगत (अक्षरानुगत) आमा स्वतत्रो यस्या मनस आत्मा स्वतत्र — निवचन के अनुसार स्वतत्र कहलाएगा । एव परतत्रानुगत (क्षरानुगत) आमा परतत्रो यस्या मनस आत्मास निवचन के अनुसार परतत्र कहलाएगा ।

(१) १-तत्रानुगत (अन्तरानुगत)-स्व (आमा) स्वतत्र आमा स्व

२ तत्रानुगत (क्षरानुगत)-स्व (आमा) परतत्र आमा पर

१ स्व (अक्षर) तत्रो यस्य स (आमा)-स्वतत्र-अक्षर स्व

१ पर (क्षर) तत्रो यस्य स (आमा) परतत्र-क्षर-पर

आमपुरुषवाचक स्वतत्र परतत्र शब्दों का विचार उपरत हुआ । अब तत्रवाचक (अक्षर वाचक) शब्दों के निवचन का विचार कीजिए । वही अपना (स्व) कहलाएगा जिस से स्वरूप-रक्षा होगी । और उसे ही तो आमा (स्व) कहा जायगा जो कि स्वरूपहानि करता होगा । मयस्थ तत्ररूप अक्षर स्वरूप से अग्निनाशी है । उधर हम के उस ओर अग्निनाशी अयय है । उस ओर नाशान्क्षर है । यदि अक्षर दोनों की समविभूति से युक्त है तब तो कोई आपत्ति ही नहीं है । हा यदि अक्षर क्षर-भाव में आसक्त होजाता है तो यह अपने तत्रभाव (अक्षरभाव) को छोड़कर क्षरभाव में (क्षरभाव में) परिणत होजाता है । ठीक उस के विपरीत यदि यह अययभाव का अनुगामी बन जाता है तो उस का तत्र सुरक्षित रह जाता है । अयययोग में अक्षर का स्वभाव सुरक्षित रहता है एव क्षरसक्ति में इस का स्वभाव परभाव में परिणत होजाता है । अक्षरतत्र के उभय ओर अययतन्त्र हैं एवं इस ओर क्षरतत्र है । स्वयन्तर अययतत्रानुगामी बनता हुआ स्वरूपधम्म से युक्त बनकर स्व है एव क्षरतत्रानुगामी बनता हुआ परवस्म से युक्त बनकर क्षर है । आमवत् अन्तर भी इस दृष्टि से स्व-पर दो रूप धारण कर सकता है । तत्रानुगत (अययानुगत) स्व (अन्तर) स्वतत्र है । एव तत्रानुगत (क्षरानुगत) क्षर (क्षररूप-अन्तर) परतत्र है । तत्रानुगत (क्षरानुगत)-तन्त्र (अक्षर) स्व स्वतत्र — तत्रानुगत (क्षरानुगत) तन्त्र (क्षरामकोऽक्षर) पर परतत्र ही निवचन होंगे । पूर्ववत् ये निवचन तत्ररूप अक्षर को ही स्व पर मानकर प्रतिष्ठित हैं ।

अक्षर का वत् अयय ही इस का स्व कहलाएगा एव क्षर ही हम का पर कहलाएगा । इस दृष्टि से अययतत्र स्वतत्र माना जायगा एव क्षरतत्र परतत्र कहा जायगा । और इस दृष्टि की अपेक्षा से दोनों शब्दों के निवचन होंगे स्व (अयय) तत्रो यस्य स अक्षर-स्वान्त्र-पर [क्षर] तत्रो यस्य स अक्षर परतत्र यह ।

(२) १-तन्त्रानुगत [अ यथानुगत] तन्त्र [अक्षर] स्वतन्त्र —अक्षर स्व

२-तत्रानुगत [क्षरानुगत] तत्र [अक्षर]-परतत्र —अक्षर-पर

—*—

१-स्व [अव्यय] तत्रो यस्य स [अक्षर]-स्वतत्र —अव्यय-स्व

२-पर [क्षर] तत्रो यस्य स [अक्षर]-परतत्र —क्षर-पर

—*—

तीसरा परभाव है। इस का भी समन्वय क लीजिए। योगकौशल के अभाव से जहा स्त्र पर दखा गया है वहा पर को स्त्र बनता भी देखा गया है। वही नश्वर ससार किसी के लिए (आसक्ति के द्वारा) बधन का काण बना हुआ है तो वही नश्वर भौतिक पन्थ किसी उपासक के लिए उपासना के साधन बनते हुए मुक्ति के कारण बन रहे हैं। याद पर का (क्षर का) अक्षर के द्वारा अ यथतत्र के साथ योग है तो वही पर अक्षर (स्त्र) बनता हुआ स्त्रतन्त्र है। यदि इस का वकारकभावो की ओर अभिनिवेश है तो अपने पर नाम की चरिताथ करता हुआ यही परतत्र भी बना हुआ है। उस दृष्टि से इन शब्दों का जो निर्वचन होगा उसमें स्व पर क्षर के वाचक रणगे। अव्ययतत्रानुगत पर (क्षर) स्त्रतत्र कहलाएगा एव वकारिक प्रपञ्च सक्त क्षर पर (परतत्र) कहलाएगा यही ताप्य है। पूर्वोक्त दूसरी दृष्टि का भी यहा समन्वय कर लेना चाहिए, जैसा कि निम्न लिखित निवचनो से स्पष्ट है।

(३)-१-तत्रानुगत [अ यथानुगत]-पर [क्षर] स्वतत्र —क्षर-स्व

२-तत्रानुगत [विकारानुगत] पर [क्षर] परतत्र —क्षर-पर

—○—

१-स्व [अव्यय] तत्रो यस्य स [क्षर]-स्वतत्र —अव्यय-स्त्र

२-पर [विकार] तत्रो यस्य स [क्षर]-परतत्र —विकार-पर

—○—

उक्त निवचन से यह सिद्ध हो जाता है कि स्त्रतन्त्र परतत्र दोनों शब्द अनुगमभाव से ही सम्बन्ध रखते हैं। किसी नियत वस्तु व के लिए ये शब्द नियत नहीं हैं। अपितु परिस्थिति के तारतम्य से सभी स्त्रतन्त्र हैं एव सभी परतत्र हैं। स्वतत्र आत्मा भी परतत्र बन सकता है एव परतत्र पर भी स्वतत्र बन सकता है। पुरुष हो प्रकृति हो अथवा िकृति हो स्वस्वरूप से न इह स्वतत्र कहा जा सकता है एव न परतत्र माना जा सकता है। पुरुष प्रकृति के सहयोग से यदि स्वतत्र है तो िकृति के सहयोग से वही परतत्र भी बन सकता है। प्रकृति पुरुष की अनुगामिनी बनती है यदि स्वतत्र है तो विकृतपथ का अनुसरण करती है वही परतत्र भी बन सकती है। एवमेव विकृति प्रकृति किंवा पुरुषकी अनुगामिनी बनती है यदि स्वतत्र हो सकती है तो विकारप्रपञ्च में आसक्त होकर वही परतत्र भी बन सकती है। इसी मौलिक परिभाषा के आधार पर हमें आ यामिक जगत् की स्वतन्त्रता परतन्त्रता का अन्वेषण करना पडेगा एव तदाधार को मूल मानकर ही स्त्रीसातय की मीमासा का समन्वय करना पडेगा।

आधिदैविक विश्व मे स्वयम्भू परमेष्ठी सू य-चन्द्र-प्रथित्री रूप से पुरुष (आत्मा) प्रकृति (प्राण)-प्रकृति (पशु) समष्टया मरु प्रजापति त्रिपत्त का दिग्दशन कराया गया । अब आ यामिक विश्व की इन तीनों सस्थाओं का त्रिचार कीजिए । आ मध मा के सू मभावो की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है । केवल उन चार स्थूल भावो का ही त्रिचार पर्याप्त होगा । जह्नु कि प्रायः सबसाधारण जानते है । आ मा बुद्धि मन शरीर चारो जाने पाहचाने हुए पदार्थ हैं । आ मा को थोडी देर के लिए स्वयम्भू के अशरूप अ यक्त ए परमेष्ठी के अशरूप महान् से उपलब्धित पुरुष समझ लीजिए । सूर्याशरूप बुद्धि को प्रकृति चन्द्राशरूप मन एव पृथिव्याशरूप शरीर दोनो की सपष्टि को प्रकृति कह लीजिए । पुरुष अ यय हुआ प्रकृति अक्षर हुई एव विकृति क्षर हुई । अक्षरा मका बुद्धि के उस ओर आ यामिक अमृत आ मा है उस ओर क्षरा मक मय मन एव शरीर है । निरलिखित परिच्छेप से दोनो सस्थाओं का समतुलन स्पष्ट होजाता है ।

१ स्वयम्भू १-परमेष्ठी	अ यक्त महान्	—आ मा (पुरुष - अ यय - स्व	} —प्रजापति
२-सूर्य	बुद्धि	—प्राण (प्रकृति अक्षर - तत्र)	
१-चन्द्रमा २ पृथिवी	मन शरीरम्	—पशव (विकृति क्षर - पर)	
अधिदैवतम्	अ यामम्		

आधिदैविक यज्ञ से ही आ यामिक यज्ञ का आधिर्भाव हुआ है । आधिदैविक यज्ञ में यज्ञमान कौन ? यज्ञमानपनी कौन ? पहिले यही देखिए । आ मा सूर्यरूपप्रकृति चन्द्रप्रथित्रीरूपा विकृति इन तीनों में आ मा तो यज्ञवेद किवा यज्ञधरातल है जसा कि एतदालम्बन श्रुतम् - अधियज्ञोऽहमेवाश्र इ यादि त्रैत-स्मात्त वचनो से स्पष्ट है । सूर्य इस यज्ञ का यज्ञमान है प्रथिवीयुक्त चन्द्रमा यज्ञमान की पत्नी है । दोनो का मिश्रण ही यज्ञ है और यही यज्ञ प्रजापति का कारण है ।

सूर्य अग्निमय है एव चन्द्रमा सोममय है । सौर अग्नि का प्रवर्ग्यभाग ऋत अग्नि है एव चन्द्र सोम का प्रवर्ग्यभाग ऋतसोम है । ऋतसोम का अपना स्थान उत्तरादिक है एव ऋताग्नि का अपना स्थान दक्षिणादिक है । उत्तरस्थ ऋतसोम निरन्तर दक्षिण की ओर एव दक्षिणस्थ ऋताग्नि निरन्तर उत्तर

की ओर जाया करता है। ऋता न में ऋतसोम की आहुति होने से ही अस-तादि षडऋतुएँ उ पन्न होती ह। षडऋतुसमष्टि से ही स व सरयज्ञ का स्वरूप नि पन्न हाता है। एव यही अग्नीषामा मक षडऋतुमूर्ति सम्बसरयज्ञ पार्थिव प्रजो पत्ति का कारण बनता है।

यद्यपि पार्थिव प्रजा में सम्बसरमूर्ति यज्ञप्रजापति के अग्नि साम नामक दोनो भावो का समन्वय है। पर तु वृषासृष्टि (पुरुषसृष्टि) में सू र्योपलक्षित सम्ब सरयज्ञ का अनित्य प्रधान रन्ता है एव योषासृष्टि (स्त्रीसृष्टि) में चन्द्रोपलक्षित स व सरयज्ञ का सोमत्व प्रधान रहता है। पुरुषसृष्टि वृषा है एव स्त्रीसृष्टि योषा है। पुरुषनिर्माण मे अग्नि एव स्त्रीनिर्माण मे सोम प्रधान है। अग्नि-सोम के इन तारतम्यो का पूर्व-प्रकरणो में यत्र तत्र विश्लेषण किया जातुका है। अतः यहा पुनरुक्ति अनपेक्षित है।

यहा केवल यही जान लेना अल हो। कि अग्नि अन्नान् है भोक्ता है। एव सोम अन्न है भोग्य है। कैसा भोय ? पशुरूप भोग्य नहीं अपितु मित्ररूप भोग्य। यदि आग्नि सोम का भोक्ता है तो सोम अग्नि को आ मप्रतिष्ठा है। सोमसम्बन्ध के बिना न अग्नि जीवित रह सकता न अग्नि को आधार बनाए बिना सोम अपने स्वरूप को सत्यभाय म परिणत कर सकता। दोना के इसी सरयभाव को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर श्रुति ने कहा है—

अग्निर्जागार तमृच कामय ते अग्निर्जागार तमु सामानि यति ।

अग्निर्जागार तमय सोम आह तगाहमस्मि सरय योका ॥

—ऋक्स ५।४४।१५)।

अग्नि बलवान् अवश्य है। परन्तु इस की बलवत्ता सोम के सहयोग पर ही निर्भर है। हृदयभाव से बल का विकास होता है। दूसरे शब्दों में बल की विकासभूमि हृदय ही है। हृदयस्थ उक्थबल सत्य है इस सत्य उक्थ से निकलने वाली सयरश्मिया ही बल है। एक ही सत्य की सत्य-बल ये दो अवस्था ह। सत्य के आधार पर प्रयोग बल का ही होता है। सत्य सत्य काम नहीं करता आल बनमात्र बना रहता है। सयरश्मिरूप बल ही बहिर्जगत् की ओर विकसित होता है। इसी आधार पर— बल स यादोजीय — बल प्रायं बिज्ञानाद् भूय इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अग्नि बलवान् है। क्योंकि पुरुष में सत्य अग्निस्त्व की प्रधानता है अतएव उसे हम बलवान् कहेगे। उधर सोम अबल कवा निरल है। कारण स्पष्ट है। सोम ऋतत्व है हृदयशून्य है। हृदयशून्य होने से ही तो इसे ऋत कहा जाता है। जब हृदय नहीं तो सत्यभाव नहीं। सत्य नहीं तो तद्विकाररूप बल नहीं। क्योंकि स्त्री में इस ऋत सोमत्व की ही प्रधानता है अतएव इसे अबला कहा जायगा।

पुरुष बलवान् एव स्त्री अबला। पुरुष सयभायापत् एव स्त्री अनृतभावोपता (अर्थात् ऋतसोमभावोपेता)। पुरुष आ नेय एव स्त्री सोम्या। पुरुष भोक्ता एव स्त्री भोय। पुरुष प्रतिष्ठा एव स्त्री तदाधारेण प्रतिष्ठिता। पुरुष आलम्बन एव स्त्री आलम्बिता। पुरुष स्वच्छदस्क एव स्त्री परच्छदानुवर्तिनी (पुरुषच्छदानुवर्तिनी)। अग्निरूप अग्नि से युक्त पुरुष अग्रेसर एव सोम-युक्ता स्त्री तत्पश्चाद्गामिनी। यह तो हुई ऐसी दृष्टिया जिन से पुरुष की प्रधानता सिद्ध हो रही है एव स्त्री की गौणता।

अब उस दृष्टि से विचार कीजिए जिम से स्वस्वरूप से अबला होते हुए भी स्त्रीवगने उपास्यदेयता की महती प्रतिष्ठा प्राप्त करली है। अग्नि बलवान् है। स में तो कोई भी सद्दह नहीं। साम अबल है यह भी निामाद है। अग्नि स य है सोम मृत है यह भी मान गिया गया। पर तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हमें विदित होगा कि जिस सोम को हम अबल कहते हैं वह अत—अत्राह्य बलघन ही है। एव जिस अग्नि को हम बलवान् कहते हैं वह निबल ही है। अ तवलवत्ता ही वास्तविक बलवत्ता है और यही सौ या स्त्री का स्वरूप है। बहिवलवत्ता ही अग्निबल है जो कि त वत अबल ही है। ऐसी स्थिति में निबल को (पुरुष को) बलवान् कहना बलवान् को (स्त्री को) अबला कहना एक वैसा ही आश्चर्य है जैसे कि सामा य मनुष्यों का स्त्री को पुरुष कहना एव पुरुष को स्त्री कहना।

बल की परिभाषा है—सकोच्च एव निबल की परिभाषा है—प्रिकाम। एक स्थान पर प्रगि-ष्ठित न रहकर इधर उधर विस्तृत होपडना ही तो विक्रम है और अस अस्थिरभाव को ही तो निबल कहा जाता है। एक स्थान पर प्रातष्ठित रहना ही सकोच है। यही सकोच बल की साक्षात् प्रातमा है। दणिए न। निबल मनु य हाथ फला देता है उधर बलवान् मनुष्य सदा बद्धमुखि ही बना रहता है। ढीली योती ढीली कमर हाथ खुले हुए ये सब धम्म निबलता के ही च्योतक है। वीर बलवान् योद्धाओं की कमर कसी रहती है। मुट्ठी बाध कर व प्रहार के लिए ही सन्नद्ध रहते हैं। शरीरपव यदि सञ्चिन्त ह ददावयव हैं तो शरीर सबल है। एव श्लथ शरीर निबल है। सयत वाणी सबला है एव स्पलित वाणी निबला है। इह्नी कुछ एक निदश। से यह माना जासकता है कि संकोच बल की परिभाषा है एव प्रिकास निबल की परिभाषा है।

अग्नि प्रिकासधर्मा है तो सोम ससोचधर्मा है। और इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अग्नि निबल है एव सोम बलघन है। अब बतला ए। अग्नि—प्रधान पुरुष एव सोमप्रधाना स्त्री दोनों मे किसका स्थान ऊँचा रहा? यदि ऐसा है तो स्त्री का अबला क्यों कहा गया? प्रश्न का उत्तर असत् श द है। प्राण सत् है परन्तु सामा य सामायाभाग स परिभाषा के अनुसार प्राण में क्योंकि प्राण नहीं रहता अतएव सद्घन भी प्राण को असत् कह दिया जाता है—(दणिए शत ६।१।१।१)।

सोम बलघन है। बल सय बलवान् कैसे हो सकता है? जिसमे बल रहता है उही तो बलवान् होता है। वसीलिए बलघन सोम को अबला कहा गया है। बलघना मक अस अबल सोम को लेकर ही प्रिकास धर्मा अग्नि बलवान् बनने में समथ हुआ है। जिस दिन बलाभिमानि अग्नि से बलामक सोम का आ यतिक नि काशन होजाता है साथ ही सोमात्मन अवरुद्ध होजाता है उसी क्षण अग्नि अपने शिवभाव को छोडता हुआ विशुद्ध रूद्ररूप में परिगत होकर उक्रात ही होजाता है।

पाठक प्रश्न करेंगे कि प्रश्न था स्त्रीस्वात्म्य का और यह शिय रून् भाव बीच में ही कहाँ से समा वि ट होपना? उत्तर में उनके सम्मुख शिव—शक्ति का तात्विक स्वरूप ही रगना पडेगा। अग्निर्वा रून् [शत ५।३।१।] क अनुसार अग्निस्त्व को ही रून् माना गया है। साथ ही यह भी विज्ञानसिद्ध विषय है कि विश्वसंहार के एकमात्र अधिष्ठाता रून्देयता ही हैं। ये रू जबतक शक्ति के साथ समागम

नहीं करते तबतक रोते ही रहते हैं। उसी आग पर ब्राह्मणग्रन्थों में रु शब्द का सोऽरोनीत तदरु-
न्स्य रुद्रत्वम् (वह रोया यही रुद्र का रुद्रत्व है अर्थात् राने स ही उसका नाम रुद्र हुआ है)—
(देखिए शत ६।१।२।११।) यह निवेदन हुआ है।

रुद्र रोया क्यों? उसका बड़ा ही सुंदर उत्तर देते हुए अतिने कहा है कि रुद्र अग्निमूर्ति था।
आग स्वभाव से ही अन्न (अन्न पाने वाला) हाता है। जबतक इसे अन्न मिलता रहता है तबतक तो
इसका स्वरूप सुरक्षित रहता है। परंतु अन्नावरोध पर स्वरूपनाश की आशङ्का से वह रोने लगता है। माता
के गर्भ में ६ मास पथ्यत प्रतिष्ठित होने वाला चि यानिपण्डरूप शिशु नहीं रोता। क्योंकि उस अवस्था में
उसे मातृनाल के द्वारा अन्नरस मिलता रहता है। परन्तु नियत अन्नाध के अनंतर एवयामरुन् के धक्के
स गर्भाशय स बाहिर निकल कर भूमिष्ठ होते ही बालक रोने लगता है। स पृथक् इन्द्रियदवता काप उठते हैं।
व अपनी चट्टारूपा कृति से माता आदि को अन्नाहुति के लिए बाध करते हैं। शिशुसुत में गुड मधु आदि
के रस का सिञ्चन होता है। त काल रुद्रदवता शांत होजाता है। (देखिए शत ६।११।१)।

यही अवस्था आघादविक रुद्र की समझ। आधिविक रुद्र स्वयं ता सए ही परन्तु अश्रुओं
से उन्होंने एक ऐसी भयानक वस्तु उत्पन्न करदी जिसके कुचक्र में पड जाने से बड बड धीर पुरुष भी रो
पडते हैं रोते रहते हैं मारे मा फिरते हैं शांति नहीं मिलती। वह वस्तु है— रजत —(चौनी रुपय्या-
पासा)। वैदिक विज्ञान सिद्धांतानुसार रुद्राग्नि की द्रुत अग्नि से ही चादी उत्पन्न हुई है। चादी रुद्र-
देवता का साक्षात् अश्रु है। इसीलिए बर्हि में रजतच्छिणा देने का निषेध हुआ है। रुद्राश्रु रूप रजत-
लक्षण अग्नि धातुखण्डों किसे नहीं बताया? यह स्पष्ट है। हा तो यह सिद्ध हागया कि रुद्रदेवता साक्षात्
अग्नि है। एव इनके इस रोदन को दूर करने का एकमात्र उपाय है—इन्हें सामाहुति प्रदान करना। उस
सौम्या शांततमा सोमाहुति से रुद्र का घोरभाव विलीन होजाता है तत्स्थाने च शिवातन् का उदय होजाता
। सोमसहकार से रुद्र अपनी रुद्रता छोडते हुए शिवस्वरूप में परिणत होजाता है।*

मान लीजिए रुद्र को सोमाहुति न मिले तों क्या परिणाम होगा? परिणाम होगा यही कि रात राते
रुद्राग्नि अपना स्वरूप तो खो बैठेगा और बन जायगे विशुद्ध सोम। अग्नि की उष्णता चरम सीमा पर
पहुंच कर सोमरूप में ही परिणत होजाती है। अग्नि का प्रधान स्थान केन्द्र है। केन्द्र स चारों ओर अग्नि
विशकलित होता रहता है। जबतक सोमाहुति होती रहती है तबतक तो यह विशकलनधम्म अग्नि के मूल-
रूप पर कोई आघात नहीं कर पाता। परन्तु आहुति बंद होजाने से विशकलन की चरमावस्था में पहुँ-
चते ही प्रतिष्ठा उखल जायगी। फैलते फलते फैलाव की चरम सीमा पर पहुँचते ही अग्नि का अग्नि व
न ट होजायगा स यभाव विलीन होजायगा और रह जायगा ऋतरूप सामभाव। पानी सोम की
ही तो अवस्था तर है। और अग्नि ही ता विकास की चरमसीमा पर पहुँच कर सोम बनता है—
अग्नेराप ।

यदि कोई मनुष्य रोता रहेगा तो रोते राते उसका सम्पूर्ण शारीराग्नि पानी बनकर वह जायगा। इधर
जब अग्नि नि शेष होजायगा तो शरीर भी ठंढा होजायगा। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि अग्नि अन्ना

* शतपथ प्रथमखण्ड में इस रुद्र विभूति का विशद विवेचन किया जानुका है।

हृत्ति के अवरोध से स्वयं अन्न । सोम । बन जाता है । दूसरी दृष्टि से । कौड़ मनु य भूषा है । यदि अन्नगमन बन्द होजायगा तो जो शारीराग्नि अन्नक अन्नद था वही अन्न बन जायगा । प्राणानि उत्क्रात होजायगा । शिव शान्न बन जायगा और यह अन्न उस श्मशानाग्नि [क्रियादाग्नि] की वृत्ति का कारण बनेगा । तब अग्नि की अतिम अवस्था [सोम न मिलने पर] सोम ही होजाती है यह निश्चित है । बलघन सोम को गम में लेता हुआ बलशून्य जो अग्नि बलवान् बनता है भोक्ता बनता है वही बलघन सोम के अवरोध से स्वयं बलघन बनता हुआ दूसरे बलवानो का अन्न बन जाता है भोक्ता भोग्य बन जाता है शासक शासित बन जाता है ।

उपस्थुक्त रूग्नि विवचन का निष्कर्ष यही निकला कि अग्नि की बलवत्ता सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है । सोम बलवत् है बलघन है । से लेकर ही अग्निमूर्ति रुद्र साम्बसदाशि । बने हुए है । क्योंकि पुरुष में अग्निवत् का प्राधान्य है अतएव पुरुषमात्र को हम शक्ति कह सकते हैं । उग्र स्त्री में शक्तिघन सोमप्रधान है अतएव स्त्रीमात्र को हम शक्ति कह सकते हैं । शक्ति के इन यापक अवतारों को लक्ष्य में रखकर ही हमने रुद्र-शि । भागों को अन्न प्रासङ्गिक माना है ।

ब्राह्मदृष्टि को छोड़कर पहिले अतदृष्टि से ही शक्ति का समवय कीजिए । पुरुष शिव क्यों है ? इसका उत्तर है— सोम । पुरुष आग्नेय अवश्य है परतु इसकी प्रतिष्ठा सोम ही है । मुक्तान्न की सत्तम अवस्थारूप शुक्र [रेतु गीर्ग्य धातु] साक्षात् सोम है । और सवासद्धा तानुसार यह सौम्यशुक्र ही पुरुष का अंतरामा है । पुरुष का भौतिक दृश्य शरीर आग्नेय है एव अतजगत् रूप शुक्र सौम्य है । शुक्रक्षय ही पुरुषनाश का कारण है एव शुक्ररक्षा ही स्थिति का कारण है । न्नी आधार पर श्रुति का— ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत यह सिद्धांत प्रातिष्ठत है । न्नी बलघन सोम्य शुक्र से ही पुरुष बलवान् बना रहता है ।

हा एक रहस्य और । शुक्र सोम है सोम बलघन बनता हुआ पूर्वपरिभाषानुसार स्वयं बलप्रयोग में असमर्थ है । अतएव न्नी बलघन को अन्नल किया निर्बल कहा जाता है । पुरुषजाति का यह दुर्भाग्य है कि यही अन्नलसोम (शुक्र) पूर्वकथनानुसार पुरुष का अंतरामा है । यही कारण है कि पुरुष का ब्राह्मजगत् (आग्नेय शरीर) जहाँ आक्रमण का अनुयायी रहता है वहाँ इसका अतजगत् उत्तना ही शिथिल रहता है । शरीर बलवान् (आग्नेय) अन्ना निर्बल (सौम्य) यही तापय है । शुक्र स्वयं निर्बल इसी का रूपांतर मन इसी से सकृप का उदय । फलतः पुरुष यदि विशेष साधनों के द्वारा शक्ति की उपासना नहीं करता है तो अधिकांश में इसके सकृपम या ही होते हैं ।

अब रहस्यमे ही होने लगा तो एकरस्य शेष क्यों छोड़ा जाय । सम्भव है पुरुषपुरुष के सामुख्य में अपने सकृप में सफल होसके । परतु सौम्यामा पुरुष को इस अग्नेय शक्ति (स्त्री) के साम्मुख्य में तो और भी अधिक दक्षिणा का ही अनुभव करना पडता है । स्त्री सोया है सकृप भी शुक्रानुबन्धी मन से सम्बन्ध रखता हुआ सौम्य है । नीम और तिलोय चढी चरितार्थ होजाता है । बात है सर्वथा स्पष्ट सर्वानुभूत फिर विशेष निस्फोटन क्यों किया जाय ? ।

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष का पाञ्चभौतिक शरीरपि इ तो आ नेय है एव शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शुक्र सौम्य है। अ न क्योकि वृषा होने स पुरुष है एव सोम भेषा होने स स्त्री है इसी आधार पर हम कह सकते है कि स्त्री ही पुरुष की प्रतिष्ठा है। साथ ही य म क लीजएक जिह्व हम पुरुष क ते है व आग्नेय शरीर की अपेक्षा पुरुष होते हुए भी वस्तुतः अ त प्रात डारूप शुक्रसोम की दृष्ट से आ य-तर दृष्ट से स्त्रिया ही है। * स्त्रिय सतीस्ता उ म पु स आहु (ऋक्स १।१६४ १५।) यह श्रुति वसी दृष्टि का स्पष्टीकरण कर रही है। श्रुत का ता पय्य यही है कि ससार में जितने भी पुरुष है व अग्निप्रधान बाह्यशरीर की अपेक्षा से भले ही पुरुष कहलाते हो। परंतु शुक्रप्रधाना आ महाष्ट से तो उह स्त्री ही कहना चाहिए। आ मा शरीर दोनो मे आ मा प्रधान माना जाता है। एव जिस सस्था में जो प्रवान गेता है तद्वादायाय से वह सस्था उसी के नाम से यत्रहृत होती है। जब कि प्रधानभूता आ महदृष्ट्या पुरुषसस्था सौ या है तो से पुरुष न कह कर स्त्री ही कहा जायगा। परन्तु आश्चर्य है कि अज्ञ मनुष्य इन स्त्रिया को पुरुष कह रहे है। पुरुष वास्तव मे स्त्री है स्त्री होते हु इहो पुरुष कहा जाता है इस रहस्य को आप वाला ही जान सकता है अ धा नही— पर्यदक्षणा नविचतद ध ।

लीजिए अब आज से आप भी अपने आपको स्त्री समझना आरंभ कर दीजिए और स्त्रियों को पुरुष जसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सचमुच श्रुत का उक्त सिद्धांत पुरुषजाति को लुप्त कर रहा होगा। अवश्य ही इस क्षोभशांति के लिए किसी आ य उपाय का आश्रय लेना पडगा। निराश होने की कोह बात नही है। एक पुरुष के नाते इस सम्भव में आप से अधिक हमें चिंता है। तो उपाय ऐसे है जिन से पुरुषसस्था का अग्निवत् व प्रधान माना जासकता है एव सोमवत् व गौण माना जासकता है।

पुरुषो का शरीर आ नेय है यह माना। परंतु इस की प्रतिष्ठा है पानी। अदभ्य पृथिवी वस तत्तरीय-सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी स्थानीय शरीरपिण्ड का उपादान अपत व ही है। ऋते भूमिरिय श्रिता वचन भी यही सिद्ध कर रहा है। इसी दृष्टि से हम कह सकते है कि आ नेय शरीर की प्रतिष्ठा अप त वरूप सोम है। इस दृष्टि का तापय्य यही है कि शरीरपिण्ड में प्राण भूत ये दो विभाग ह। दृश्य भाग तो भूत है एव भूतप्रतिष्ठारूप अदृश्य त व प्राण है। इस आग्नेय भूतभाग की प्रतिष्ठा आ य-(सौम्य) प्राण ही है।

जिस दिन शरीर से यह प्रतिष्ठा लक्षण आ यप्राण निकलता होजाता है शरीर नष्ट होजाता है। प्राणामक इसी आ य सोम को पवित्र ब्रह्मणस्पति अम्भ आदि नामो से यत्रहृत किया गया है। दभ गङ्गा सुवर्ण मृगचर्म आदि की पवित्रता इसी अम्भ पर अवलम्बित है। अ म से ही गाङ्गेय [गङ्गाजल] म अशुचिभावनिवर्तिका पावनशक्ति यक्त हुई है। इसी अम्भ के अनुग्रह से दभ (कुशा) के ससग से

* आत्मभावना रश्मिभावना शुक्रभावना भेद से इस मन्त्र के तीन अर्थ होते है। इन तीनों की विशद व्याख्या ईशमाय में देखनी चाहिए। (इ उ वि द्वि ए ७८ से १ ८ पय त)।

राहुप्राणजनिग दोषभाव पदार्थों में सक्रान्त नहीं होपाता । इसी अम्भ के समावश से सुवर्णस्पृष्ट जल×रजस्वला स्त्री के स्पर्श को हटाने में समथ होता है ।

जन्तक यह अ म पानी भूतशरीर की प्रति ठा बना रहता है तन्तक शरीर में दूषित कीटाणुओं का समावश नहीं होने पाता । जिस दिन यह निकल जाता है शरीर सडने लगता है । तप्ततनु में ही इस अ म की मत्ता हती है । अत ततनु (अग्नि त पशून्य शवशरीर सुदेँ) म यह नहीं रहता । पवित्र अम्भोरूप ब्रह्मण पति के इसी स्वरूप में मा ताक्ष्य में रखकर अत कहती है—

*** पवित्र ते पितत ब्रह्मणस्पते । प्रभुर्गार्वाणि पर्णेषि विश्वत ।
अतप्ततनून तदामो समश्नुते शृतास इद्रहन्तस्तत समाशत ॥**

—ऋक्स ६।८३।१।

हा तो ता प य कहने का यही हुआ कि आग्नेय भौतिक शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठा पवित्र नामक यह आ यप्राण है । जीवनदशा में भी असदाचरण मिथ्याभाषण अगम्यागमन अभक्ष्याभक्ष्य अ प्र-श्याप्रशय आदि धम्मविरोधी कर्मों से इस पवित्र आ यप्राण पर आघात होता है । उसी पतनदशा को लक्ष्य में रखकर लोकभाषा में— अर ! त्स का तो पानी उतर गया यह किवद ती प्रचलित है । सिद्ध है कि पानी भी भूतशरीर की प्रतिष्ठा है ।

दूसरा है— साम्यशुक्र । शुक्र में भी भूत प्राण ये दो विभाग हैं । शुक्र का भूतभाग तो अवश्य ही सौ य है परन्तु इयका प्रतिष्ठारूप प्राण आग्नेय है । यह एक सामा य अनुगम है कि बाह्य धरातल यदि आग्नेय है तो अतर्भाव सौ य है । यदि बाह्य धरातल सौम्य है तो अतर्भाग आग्नेय है । उदाहरण के लिए एक मरत रोगी को हो लीजिग । मर का तापत्र केवल यही है कि भीतर की गर्मी बाह्य शरीर में फैल

× राजस्थान में यह विज्ञानविधि अततक प्रचलित है । यदि कोई बालक रज स्वला स्त्री से स्पर्श कर लेता है तो सुवर्ण से जल का स्पर्श करा कर उस जल के छीटे दिये जाते हैं । प्रा तीय भाषा में इह ही— सोनामानी का छोट्टा (सुवर्ण स्पृष्ट जल के छीटे) कहा जाता है ।

* सनातनधर्मियों के विशेषत रामानुजम प्रियभक्तों के हृदयों को कष्ट पट्टुचाने का हमारा यत् किञ्चित् भी अभिप्राय नहीं है । परतु कहना पड़ता है कि सम्प्रदायावश में पड़कर हमने वेदम त्रा के साथ घोर अ याचार ही किया है । उक्त म त्र से त त शम्ब चक्र लगाने की अवैज्ञानिक अवैदिक पद्धति प्रचलित है । अर् यह किया जाता हे कि जन्तक शरीर को तप्त शम्ब चक्र से दाग नहीं दिया जाता तन्तक शरीर अतप्त रहता है । एव ऐसा अतप्ततनु कभी उत्तम गति नहीं प्रा त कर सकता । क्या ही अ छा हो यदि कोई स जन इस सम्ब ध में श्रोतप्रमाण के आधार पर साथ ही त नुगता समन्वयामिका विज्ञानदृष्टि से अह प्रमाणित करने का अनुग्रह करे कि शरीर के दाग देने से आ मा उत्तमगति प्रा त कर लेता है । हाँ अ धेनैत्र नीयमाना यथा धा यह दूसरी त है । एक यदेव त्रिचया त्रद्वया उपनिषत्ता करोति तदेव वीच्यनत्तर भयात यह दूसरा तथ्य है ।

जाती है एव शरीर का आ य भाग हृत्स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है । इसी से हृत्कम्प [हृदय का धुंजना] होने लगता है सर्दी लगने लगती है । यही वर की पूर्वावस्था है । बाहिर गरम हो भीतर ठंढा हो इसी का नाम वर है । मूलानि का आ यन्तिक उच्छेद नहीं होता । केवल अभिभव है । इसी अभिभव से अग्नि म द होजाता है । तत्सन्निहित जाठरानि [अन्नपरिपाक करने वाला] भी मन्द होजाता है । ऐसी दशा में [वर दशा में] यदि अन्नाहुति दी जायगी तो म द अग्नि उसका परिपाक न कर सकेगा । फलत वह अतप्त अन्न अग्निमात्रा को ओर भी अधिक इनत्रल कर देगा । वर का वेग अधिक बढ जायगा । ठीक इसके विपरीत यदि वरावस्था में अन्नाहुति का सवथा अवरोध कर दिया जायगा तो हृद्य मूलानि की स्वाभाविक उत्त बना सं जाठरानि क्रमशः प्रवृद्ध होजायगा । काला तर में वह प्रवृद्ध अग्नि उस वरुणरूप शीतसोम को भी बाहिर फेंक देगा । वर शा त होजायगा । इसी आधार पर आयुर्वेदने उपवास [लघन] को ही वर की सवश्रदा चिकित्सा मानी है । बिना भूत अ धक खाजाने से जाठरानि उसका परिपाक नहीं कर सकता । फलत सोम का वग बढ जाता है वर होजाता है । इसप्रकार अजीर्ण ही वर का उत्त जक बनता है । वर शान्त होने का चिह्न है स्वेद । पसाना निकला । वर शात हुआ । जो पानी हृदय में चला गया था आज वह शरीर पर आगया शरीर की ग भी हृदय में चली गई । शरीरताप मिट गया । इस निदर्शन स सिद्ध है कि बाहिर यदि गर्मी है तो भीतर सर्दी । बाहिर यदि सर्दी है तो भीतर गर्मी ।

प्रकृतिमण्डल में जब शीत र ता है तो हमारा शरीर अग्निमय बना रहता है । सर्दी के दिनों में मुख से वा प निकला करते है । वहा जब गर्मा रहती है तो यहा मर्दा का साम्रा य रहता है । गर्मी के दिनों में शरीर पसीनो से तर रहता है । देखिए न । जो ऊपर स बडा सौ य [ठंढ स्व वा का] दिखलाइ पडता है उसका अतजगत् अ यत ही कठोर [आग्नेय] रहता है । एव जो प्र यत्न में क्रोधी है वह भीतर से खोलला रहता है । रुद्रभगवान् बाहिर से महाभयानक है परन्तु भीतर से सर्वथा भालेबाबा । थोड से अनुनय विनय पर वरप्रदान कर दना इनका प्रहज स्वभाव है । उधर वि णु भगवान् बाहिर से महाशात सौम्य । पर तु भीतर से महाकठोर । किसी का क्या सामर्थ्य कि घोर परीक्षा के बिना इनसे को वरदान लेसके । विश्वास क्राजए ! जो मनुष्य बातों में बडा मीठा है दखने में भोला भाला है वह भयानक है । एव जो प्र यत्न में स्पष्टवादी है दखने में क्रूर है जिस के श द कटु लगते हैं उसका अ तजगत् इनम्मल है । यही खरे खोटेकी अर्थ निकषा (कसौटी) है ।

इस प्राकृतिक कसौटी के आधार पर ही हमें मानना पडेगा कि यदि शुक्र का बाह्य भूतभाग सौम्य है तो उसका प्राणभाग अवश्य ही आग्नेय होगा । शुक्र का निर्माण हुआ है ओषधिरूप अन्न से । शारीरानि में आहुत अन्न ही रसास्तगमामादि की क्रमधारा से शुक्ररूप में परिणत हुआ है । ओषधियाँ सौम्या हैं । परन्तु इनके गम में अग्नि है । ओष [उष] वाहे दाहस्ताप तापोग्नि त धत्ते ही ओषधि श द का निर्ा चन है । उसी ओषधि का रूपा तर शुक्र भी अवश्य ही ऐसा होना चाहिए । भूतसौम्यशुक्र की प्रतिष्ठा यही गर्भीभूत आ नेय प्राण है । शुक्रस्थित इसी आग्नेय प्राण को वृषा कहा जाता है । यही वृषा शुक्रवषण से [रेत सेक से] प्रजो पत्ति में समथ होता है । जिस पुरुष के शुक्र में वृषाप्राण मूर्च्छित रहता है वह प्रजो-पत्ति में असमथ है । शुक्र प्रजो पत्ति का कारण नहीं है अपितु वृषा है । वृषाशूय पुरुष षण्ड ह निर्वीर्य है । इसी आ नेय वृषा के सम्बन्ध से पुरुष अपने को अवश्य ही स्त्री न कह कर पुरुष कह सकता है ।

पुरुष मे शरीर और शुक्र दो विभाग हुए। दोनों क्रमशः आग्नेय एव सोम्य है। आगे जाकर पुनः प्रथम में आग्नेय-सोम्य ये दो दो विभाग हुए। इस दृष्टि से पुरुष का उपक्रम भी आग्नेय न रहता। एतदुपसंहार भी अग्नि ही रहा। शरीर शरीरप्राण शुक्र शुक्रगतप्राण चारो क्रमशः आग्नेय साम्य सोम्य आग्नेय रहे। इधर अग्नि उत्तर अग्नि मध्य में दोनों सोम। अग्नि पुरुष दोनों और पुरुष। अतलात्पुं पुरुषसंस्था में आग्नेय की प्रधानता सिद्ध हुई अथवा सोम की। इस दृष्टि से हम पुरुष को अवश्य ही अग्निप्रधान मानते हुए पुरुष ही कहेगे और स्त्री [सोम] को इस के तत्र म प्रतिष्ठित मानते हुए परतन्त्र ही कहेगे।

१-पुरुषसंस्था—

$\left\{ \begin{array}{l} (१)-१ \text{ शरीरम्} \text{---अग्नि (पुरुष)} \text{---स एवाग्नि} \\ () \text{ आ यथा } \text{---सोम (स्त्री)} \end{array} \right\}$	$\left. \begin{array}{l} \\ \end{array} \right\} \text{---अग्निप्रधान -पुरुष -पुरुष}$

—*—

शुक्रद्वारा स स्त्रीसंज्ञा का भाजन बनने वाला पुरुष उक्त प्रथम उपाय से पुरुष बन जाता है। दूसरा उपाय है सम्प्रसरणद्वारा। स व सरमण्डल से ही तो पुरुष का निर्माण हुआ है। इसलिए तो पुरुष को यज्ञ का जाता है जिस यज्ञरहस्य का कि पाठक अगले ब्राह्मण में विशानरूपण दर्शाते। दृश्य अर्द्धपगाला मरु जिस अन्तः स व सर से पुरुष का शरीर बनता है उस अर्द्ध स व सर के उत्तर भाग में सोम का एव दक्षिण भाग में अग्नि का साम्राज्य अतलात्पुं है। स व सर का मध्यवृत्त विष्वत् है। इस आग्नेय विष्वत् से तो मरुत्पुं [रीड की हड्डी] का निर्माण हुआ है। विष्वत् से उत्तर के सोम्य सम्प्रसर से शरीर के उत्तर पार्श्व [पाण भाग] का एव दक्षिण के आग्नेय सम्प्रसर से दक्षिण पार्श्व [दहिने भाग] का निर्माण हुआ है।

उक्त मानयुग का [कपित] अहिंसावादी द्विजातिवर्ग वृणा अवश्य करगा। परन्तु विज्ञानप्राप्तुगामी की दृष्टि में ऐसी वृणा का को महत्व नहीं है। एक मनुष्यशव [मुर्दे] को अपने सामने रख लीजिए और शिखा तस्थान से आरम्भ कर मूलग्रन्थि पथ्य त ठीक बीच में से उस के दो खण्ड कर डालिए। दोनों दक्षिणोत्तर खण्डों के पत्रों का विकलन कीजिए। उन विशकणित पत्रों को पृथक् पृथक् रखते जाइए। विशकणित प्रक्रिया के अनंतर दोनों के आकार एतद्भार की परस्पर तुलना कीजिए। आपको विदित होगा कि दक्षिणखण्ड के समीप प्रायः उत्तरखण्ड के पत्रों से आकार में भी बड़े होंगे। एतद्भार में भी अधिक होंगे।

उत्तर खण्ड के उत्तर फुफ्फुस लीहा [ति-ली] वृक्क क्लोम हस्त पाद आग्नि पवो का अपेक्षा दक्षिण खण्ड के दक्षिण फुफ्फुस यक्रुत् [जिगर] धृक्क क्लोम हस्त पाद आग्नि पवो के आप आकार तथा भार दोनों में प्रबल दखेंगे। ये प्रबल क्यों हैं? इन शरीरावयवों का ऐसा स्वरूप क्यों हुआ? इन सब प्रश्नों का शोषपत्तिक समाधान बल विस्तार से आगे के यज्ञों में पुरुष यादि ब्राह्मण में किया जायगा। ऋकृत में केवल यही जान लेना पड़ता है कि शरीर का दाक्षिणभाग उत्तरभाग की अपेक्षा आकार-भार से उभयथा समृद्ध रहता है। कारण क्या यही है कि दक्षिणभाग आग्नेय होने से बलवान् बनता हुआ प्रधान है। वामभाग सौम्य होने से निबल बनता हुआ गौण है।

स्थूलपर्वों के अतिरिक्त सूक्ष्म-शक्तिदृष्टि से विचार करने पर भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भाग की ही आप अधिक शक्तिशाली पाएंगे। जो कि मणिपुण्ड्रा दक्षिण हाथ से सम्भव है वह वाम से नहीं। उपनिषत् का इन्द्ररूप चान्क्षुषपुरुष भी दक्षिणचक्षु म ही रहता है। अतएव इसे दक्षिणाक्षिपुरुष भी कहा जाता है योऽयं दक्षिणोऽक्षन् पुरुष (वृ आ ५।५।४)।

अपनी दैनिक शरीर-चेष्टाओं के अनुभव से भी दक्षिणभाग की प्रधानता का प्रयत्न कीजिए। गमन यापार में सब से पहिले दहिना पर ही आगे बढ़ता है। आगे की गति में भी दाहने पर ही अग्रगामिता रहती है चलकर अनुभव कर लीजिए। सीधे बैठकर अथवा खड़े होकर आप यह अनुभव कर सकते हैं कि शिरोभाग प्रायः वाम पार्श्व की ओर ही अवनत (झुका) रहता है। दहिनी ओर मस्तक झुकाने में आप क्लेश का अनुभव करगें। क्योंकि दक्षिण भाग भारी है अतः उस ओर प्रवणता रखने में कष्ट होता है। बल-प्रयोग के नितने भी काय है सब में दक्षिण हाथ ही प्रधान रहता है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए मानना पडगा कि पुरुष का दक्षिणभागस्थ अग्निभाग ही शरीरसंस्था में बलवान् एवं प्रधान है।

उत्तरभाग सौम्य है सोमप्रधान है। साथ ही य दक्षिणभाग की अपेक्षा निबल एवं गौण है। दक्षिणभाग जहां प्रयत्नरूप से विकसित रहता है वहां वामभाग दक्षिणभाग में अचित रहता है। जब आप वक्षस्थल से सटाते हुए दोनों बाहु मिलाकर उन पर दृष्टि डालेंगे तो आपको विदित होगा कि दहिना बाहु वाम बाहु का आलं बन बना हुआ है। साथ ही दहिने बाहु का हस्तरूप अग्रभाग बाहिर निकल कर प्रयत्न में रहा है एवं वामबाहु का हस्तरूप अग्रभाग दहिने बाहु के मूल में (ऋक्षप्रदश में) छुप रहा है। सीधे खड़े होने पर दहिने पर के आधार पर बाया पर आधारक समय पर यत्न अधर रह सकता है बाए के आधार पर दक्षिण नहीं। कृष्णभावभङ्गी में दहिने पर को हाँ आप आश्रयरूप से प्रतिष्ठित देखेंगे। वामनेत्र में ही चान्क्षुषपुरुष की पत्नी प्रतिष्ठित रहती है जोकि इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध है— य उ एत्र तामनी स उ एव भामिनी के अनुसार इस वामा इन्द्र पत्नी को ही भामिनी भी कहा जाता है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए कहना पडगा कि वामभागस्थ सोमभाग इस शरीरसंस्था में गौण है।

इसी सम्बन्ध में एक बात और। अग्नि विकासधर्मा एवं सोम सकोचधर्मा बतलाया गया है। पुरुष का दक्षिणभाग अग्निप्रधान होने से ही विकासवृत्ति का अनुयायी है एवं वामभाग सामप्रधानता से ही सकोचवृत्ति का अनुगामी देखा गया है। सीधे पैरों आगे बढ़ने में पहिले पूर्वकथनानुसार दक्षिण पैर आगे चलेगा। यदि आप उलटते पैरों लोटेंगे तो इसी सकोचभाव के कारण पहिले बाया पर पीछे हटेगा। फकने का काम दहिने हाथ से एवं किसी वस्तु को लेकर चलते समय वह वस्तु रहेगी वाम हाथ में।

सोम की दिक् उत्तर है उत्तर ही ऊ व प्रदेश है । अग्नि की दिक् दक्षिण है एव दन्ति ग ही अध प्रदेश माना गया । साथ ही ऊ वप्रदश में रहने वाला सोम अध प्रदेश अग्नि को आग बन बनाता हुआ ही प्रति ठत रहता है । जब आप प्रावृत बनकर (आल गीपालथी मारकर) बढगे तो इस िति का स्पष्टी कर्ण होज यगा । इस सुद्रा में दहिना पर नीचे (आल बनरूप से) हेगा । वाम पर दहिने के आधार पर प्रतिष्ठित रहेगा । साथ ही दान्तण पर का अग्रभाग प्रयत्न रहेगा एव वाम पर का अग्रभाग दक्षिण पर में गभाभूत रहेगा ।

जब कि पुरुष शरीर क दोनों भागों में अग्नि की प्रधानता है और अग्नि त ही जब पुरुष है तो स्त्री पुरुष दोनों भावों के रहते हुए भी हम पुरुष को स्त्री न कह कर पुरुष ही क्येगे । इसप्रकार शुक्राधार भूत उपक्रम स्थानीय आग्नेय प्राण की भूताग्निरूप उपसहारस्थानीय शरीर की प्रधानता से दक्षिण पार्श्वस्थ अग्नि की प्रधानता से इन दोनों उपायों से पुरुष का पुरुष व सुरक्षित रह जाता है ।

रुद्राग्नि से सम्बन्ध रखने वाले वृषात व का एव त प्रधान पुरुषजग का विवचन समा त हुआ । अब उस शक्तिधन सोमत व का अतदृष्टि से विचार कीजिए जो कि योषात व का एव तत्प्रधान स्त्रीवग का आल बन बना हुआ है जो कि शक्तिधन अतएव अशक्ति श दवा य सोमत व रुद्रपुरुष को शिव बना दता ह ।

पूव में यह क ा गया है कि यदि रुद्राग्नि में सोम की आहुति न हु तो वे काला तर में सोमरूप स्त्रीभाव में परिणत होजायगे । अग्नि विकास की चरमसीमा पर पहुच कर सोम बन जायगा । ठीक यही परिस्थिति सोम के सम्बन्ध में समझिए । सोम की स्वरूपरक्षा तभीतक है जबतक कि उस का अग्नि के साथ सम्बन्ध है । जैसे अग्नि का प्रगण स्थान के द्रह एवमेव सोम का यातिस्थान प्रधि (परिधि) भाग ही माना गया है ।

परिधि में रहने वाला सकोचधर्मा सोम क्रम क्रमश के द्र की ओर आता रहता है । जबतक इसका अग्नि के साथ सम्बन्ध होता रहता है तबतक तो इसका सकोच समतुलित रहता है । परन्तु अग्निविरह से यह सकोच की चरम सीमा पर पहुच कर इस्फोटन का कारण बनता हुआ अग्निरूप में ही परिणत होजाता है । जैसे विकास का अन्तिम परिणाम सकोच है अग्नि का अन्तिम परिणाम सोम है एवमेव सकोच का अन्तिम परिणाम विकास है तो सोम का अन्तिम परिणाम अग्नि है ।

आ नेयी ऋतु (ग्रीष्म ऋतु गम्मां) विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर जैसे सोम्य ऋतु (वर्षा और शीतत्तु) रूप में परिणत होजाती है एवमेव शीतु सकोच की चरमसीमा पर पहुँच कर ग्री म का कारण बन जाती है । बलवान् अग्नि का आश्रय लेता हुआ बनघन जो सोम अपनी स्वरूपरक्षा में समर्थ रहता है वही इस की उपेक्षा से स्वय अग्नि बनकर रुद्र बन जाता है रोने लगता है । भोग्य भोक्ता बन गया अब भोग्य नहीं । अतएव अब रोदन आवश्यक । इसी से यह भी सिद्ध होजाता है कि शिवतत्त्व का विकास अग्नि एव सोम के समवय पर ही निभर है । सोम की उपेक्षा कर अग्नि भी रोता रहेगा एव अग्नि की उपेक्षा कर सोम भी रोता रहेगा । अग्नीषोमा मक यज्ञ के उच्छ्रित होने ही रुद्र का अवतार होजायगा —सार में प्रलय का दृश्य उपस्तित हो जाय ॥ जिस का कि पूवरूप आज हमारे सम्मुख है ।

बलवान् अतएव अवन सोम का स्त्री से संबंध है। अद् य अद्द खगोत्रीय चान्तोम ही स्त्री के स्वरूप स पादन का कारण बनता है अतएव स्त्री को सोम्या कहा जाता है। इसी सोमभाव की प्रधानता से उसे अबला कहा जाता है। क ने को अबला अत्रा है किंतु वास्तव म अबला शक्तिपुञ्ज है। कारण स्पष्ट है। स्त्री का शरीर सौ य है पर तु आ मा आग्नेय है। जसे पुरुष की प्रतिष्ठा शुक्र है उस ही स्त्री की प्रतिष्ठा शोणित माना गया है। रक्तवण आग्नेय मङ्गलग्रह प्राण से युक्त शाणत साक्षात् आग्नेय है एव यही स्त्री का अ तजगत् है। यही इस का आ मा (जीवनीयरस) है। दूसरे शब्दों में यो समझिए कि स्त्री का भौतिक दृश्य शरीर सौ य है एव अ तजगद् रूप शोणित आग्नेय है। शोणितत्त्व ही स्त्री के स्वरूपनाश का कारण है एव शोणितरक्षा ही स्थाय का कारण है। इस बलवान् शोणितानि से ही अबला सौ या भी स्त्री बलवती ही रहती है।

उसी पूर्ववहस्य का समन्वय। शोणित अग्नि है अग्नि बलवान् बनता हुआ पूर्वपरिभाषानुसार बल-प्रयोग में समर्थ रहता है। अतएव इसे बलवान् किंवा सबल ही कहा जायगा। यह भी पुरुषजाति का ही दुर्भाग्य मानना पड़ेगा कि यही बलवान् अग्नि (शोणित) पूर्वकथनानुसार स्त्री का अन्तरा मा बना हुआ है। यही कारण है कि स्त्री का बाह्यजगत् (सौ यशरीर) जहां आक्रमण में असमर्थ है वहां उस का अतजगत् उतना ही अधिक उग्र रहता है। शरीर निबल (सौम्य) आत्मा सबल (आग्नेय) यही ता पश्य है। शोणित स्वयं बलवान् इसी (अग्नि तव) का रूपांतर मन इसी में स्थिरभाव का उदय तदनुगामी मन का सक्त्प भी स्थिर फलत ही का सक् प अधिकांश में सफल ही होजाता है। इसी आधार पर स मातृवश के लिए— बुद्धिस्तासा चतुर्गुणा यह कहा गया है। कौन अभ्युदयेप्सु बुद्धिरूपिणी इस मातृशक्ति की व दना न करेगा—

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण सस्थिता ।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥ (सप्तशती)

सम्भव है स्त्री स्त्री के सामुद्रय में सजातीयानुबंध के कारण स्त्री का उग्ररूप शांत रहै परंतु दुर्भाग्य का मारा यदि कोई पुरुष स्त्री की प्रतिस्पर्द्धा में खडा होजायगा अपने अविषक से यदि वह इस के सौ यशरीर के गर्भ में रहने वाले उग्र अग्नि तव पर आघात कर बड़ेगा तो नारी का स्वरूप उस के सव-नाश का ही कारण बन जायगा। कुशल तभीतक है जबतक कि मातृशक्ति का अन्तजगत् जाग्रत नहीं होजाता। सौम्यामा पुरुष अभिनिवेशवश उस अग्नि को जाग्रत कर निश्चयरूप से इस में आहुत ही होजाता है।

यह ऐतिहासिक सय है कि जब जब मनु य ने मुखतावश आभ्यनारी के अतस्तल पर आक्रमण करने की कुचेष्टा की है तब तब ही उसे सर्वनाश का रसस्वादन करना पडा है। और तो और जगच्चक्र का सञ्चालन करने वाले त्रैलोक्यविजयी अग्नि वायु इंद्र देवताओं तक को इसो हैमपती उमा के सम्मुख परास्त होना पडा है। द्रौपदी के अपमान का प्रायश्चित्त भारतवर्ष आज तक नहीं कर सका है। और अतिशय खेद महा कष्ट महा लज्जा महा अविषक का विषय है कि भारतीय पुरुषवग आज पुन उसी भूल का अनुगमन कर रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं इसी भूलसुधार के लिए सुधारप्रमियों की ओर से अप्रैज्ञानिक अप्राकृतिक

अतएव रोगग्रहक स्त्रीस्यैत यवान् का जम हुआ हा और जिस के परिशोध के लिए ही हमें उस प्रवृत्तिसिद्ध तथ्य—सम यय का आश्रय लेना पडा हो।

उक्त स्त्रीभान विवचन से स्पष्ट हुआ कि स्त्री का पञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो सौ य है एव शरीर-पिण्ड की प्रतिष्ठारूप शाणत आ नय है। सोम योषा होने से स्त्री है एव अग्नि वृषा होने से पुरुष है। क्योंकि सोमरूप स्त्री शरीर भी प्र षा अनिरूप शोणित है अतएव हम यह कह सकते हैं कि पुरुष (अग्नि शोणित) ही स्त्री की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर यह भी कह लीजिए कि जिह्व हम स्त्री कहते हैं व सौम्य शरीर की दृष्टि से भले ही स्त्रियाँ भी परतु अत प्रति ठारूप शोणिताग्नि की अपेक्षा से आ महृष्टि से तो उह पुरुष ही कहा जायगा।

एक पक्षपात की बात। पुरुष आ महृष्टया स्त्री है। परतु जनसाधारण मन स्त्रियों को पुरुष ही कहते हैं। इसप्रकार स्त्रिय सतस्ता उ मे पु स आहु इ यादि रूप से श्रुतिने पुरुषो को स्प श ों में स्त्री कहकर पुरुषजाति का तो अपमान कर डाला। यायप्रा त बात तो यह थी कि जैसे वदमहर्षि ने पुरुषजाति का— अरे! इह पुरुष कोन कहता है य तो ख्या है इसप्रकार अपमान कराना स ही पुरुषा सतस्ते उ म ख्य आहु (इन पुरुषो को स्त्री कहा जाता है) स्त्री के स ब ध में भी यह कहते। परतु नहीं कहा। कहत भी क्यों जब कि वे पुरुष के निबल आमा एव स्त्री के सबल आमा स परिचित थ। पुरुष अपमान सहन कर सकता ह कि तु स्त्री नहीं।

जब कि प्रधानभूता आ महृष्टि से त्रीसस्था आ नेयी ह तो से स्त्री न कह कर पुरुष ही का जायगा। हा तो आज से सीमात्र अपने आपको पुरुष समझना आरंभ कर द। अपना बाना किसे बुरा लगता ह। यदि पुरुषजाति स्त्री की उपाय के लु व होमकती है और इसी क्षोभ की शांति के लिए यदि वह (पूर्वप्रदर्शित दा) उपाय निकाल लेती है तो स्त्रीजाति भी पुरुषोपाधि से क्या शा त होने लगी? अश्रय ही उन की स्वरूप रक्षा के लिए भी की न कोई उपाय निकालना ही पडगा।

स्त्रियों का शरीर सौ य ण्य आ मरूप शोणित आग्नेय यत् तो ठीक है। और इसी दृष्टि से स्त्रियाँ पुरुष कहला भी सकती हैं। परतु निरूपिता पुरुषसस्था की परिभाषा के अनुसार स्त्री के सौम्यशरीर एव आग्नेय शोणित दोनों के भूत-प्राण भेद से दो दो विभाग है। सौ य दृश्यशरीर भूतभाग है इसका आधार प्राण आग्नेय है। प्रयत्नप्रमाण यही है कि पुरुषशरीर अग्नि की कृपा से ककशा होता हुआ भी हीनवी य रहता है। जरासी मोड तोड से अस्थिप्रस्थायी (जोड) ग्वल जाती हैं। कारण यही है कि इसका शरीर यद्यपि आग्नेय होने से सबल है परतु सवा मूलप्रा आ य (सौ य) है। सोम निबल है। अतएव यह प्रबल आघात से पुरुषशरीर को नहीं बचा सकता।

इधर स्त्री का शरीर सोमानुग्रह से कोमल होता हुआ भी भी ययुक्त है। असाधारण व्याघातों को छोडकर स्त्रीशरीर साधारण व्याघातों की अपेक्षा ही कर देता है। कारण इसका शरीर यद्यपि सौम्य होने से निर्बल है कि तु सका मूलप्राण आग्नेय है। अग्नि बलवान है। यह आघात से स्त्रीशरीर को बचा लेता है। इस शरीरप्रतिष्ठा की दृष्टि से स्त्री अपने आभय तररूप से आ नेयी बनती हुई पुरुष ही कह-लायगी।

शोणित का भूतभाग अवश्य ही आग्नेय है। पर तु शोणित के गम में रहने वाला प्राण सौ यह है। सौ सौ यप्राण को योषा कहा जाता है। पुरुष के सौम्य शुक्र के गम में रहने वाले आग्नेय वृषाप्राण का जब स्त्री के आग्नेय शोणित कर्म में रहने वाले सौम्य योषाप्राण के साथ मिथुनम बंध होता है तभी प्रजोपत्ति होती है। इसीसे यह भी स्पष्ट होजाता है कि पुरुष का दूषित शुक्र सतान का प्रातव वक् है एव स्त्री का दूषित शोणित सतान का प्रतिबन्धक है। दोनों की (शुक्र शोणित स्त्री) शुद्ध में ही तदगत वृषा योषा प्राण शुद्ध रहने एव न विशुद्ध रजो वीर्यों के मिथुन से ही प्रजातन्तु सुराद्भूत रहगा।

सौम्य शुक्र में रहने वाला आग्नेय प्राण ही पुम्भ्रण है। एव आग्नेय शोणित में रहने वाला सौम्य प्राण ही स्त्रीभ्रूण है। पुम्भ्रण का पोषकशुक्र है। फलतः शुक्र जितना अधिक प्रवृद्ध होगा पुम्भ्रण उतना ही अधिक बलि ठ होगा। स्त्रीभ्रूण का पोषक शोणित है। फलतः शोणित जितना प्रवृद्ध होगा स्त्रीभ्रूण उतना ही अधिक बलि ठ होगा। पुम्भ्रण पुरुष है आग्नेय है। इसकी समृद्धि एकमात्र शुक्रसमृद्धि पर ही अवलम्बित है। शुक्र सौम्य होने से स्त्री है। इस सौ या स्त्री की समृद्धि आयुधान अयुदय ही पुरुष की समृद्धि अभ्युथान अयुय का अयतम कारण है। उधरस्त्रीभ्रूण स्त्री है सौम्य है। इसकी समृद्धि एकमात्र शोणित की समृद्धि पर ही अवलम्बित है। शोणित आग्नेय होने से पुरुष है। स्त्री की समृद्धि अभ्युथान अयुदय पुरुष की समृद्धि अभ्युथान अयुय पर ही अवलम्बित है। यी दाम्प्यभाग का मौलिक रहस्य है। यही अद्भुत नारीश्वर का समृद्ध बभूव ह और यही बभूव त्रिशशाक्ति की मूल प्रति ठा है।

जिस समय पुम्भ्रण स्त्रीभ्रूण का मिथुनभाव हाता है उस समय दोनों में सबल चलता है। जो प्रबल होता है वह दूसरे का नियंत्रण कर उसे अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है। मान लीजिए पुम्भ्रण निबल है एव स्त्रीभ्रूण सबल। स्त्रीभ्रूण [जो कि सौम्य होने से स्त्रीसृष्टि का प्रवर्तक है] पुम्भ्रण को आत्मसात् कर लेता है। फलतः ऐसे स्त्रीभ्रूणप्रधान मिथुनभाव से कयासतति होती है। याद पुम्भ्रण सबल है तो ठीक सके विपरीत उक्त प्रक्रिया से पुत्रसतति होती है। शुक्रप्रवृद्ध में पुम्भ्रण की वृद्धि है एव शोणितप्रवृद्धि में स्त्रीभ्रूण की वृद्धि है। शुक्रसमृद्धि पुम्भ्रण की समृद्धि का कारण बनेगी अच्छा सफल होगी। यदि दोनों सम हैं तो दोनों के ही चिह्न शेष रहते हैं। यही नपुंसकसृष्टि है। यदि दोनों में से एक का भी भ्रूण मूर्च्छित है तो दापयभाव यथ ही सिद्ध होता है—

१—आश्विक्ये रेतस पुंस, कयास्यादार्त्तवाधिके।

नपुंसकतयो साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी ॥ (भाष्यप्रकाश)।

२—पुनान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्रीभवत्यधिके स्त्रिया।

समऽपुमान्, पुस्त्रिया वा स्त्रीणेऽपे च विपरि ॥ (मनु ३।४६)।

उक्त स्त्रीस्वरूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि स्त्रीसंस्था के शरीर आत्मा ये दोनों विभाग क्रमशः सौम्य एव आग्नेय है। आगेजाकर पुनः प्रत्येक के सौम्य आग्नेय ये दो विभाग हुए। इस दृष्टि से स्त्री का उपक्रम भी सोमत्व रहा उपसहार भी सोम ही रहा। शरीर शरीरप्राण शोणित शोणित

गतप्राण क्रमशः सोम्य आनेय आग्नेय सोम्य रहे। उधर सोम उधर सोम मय में दोनो अग्नि। सोम ही स्त्री दोनो और स्त्री। वतलाए स्त्री सस्था में सोमत व की प्रधानता सिद्ध हुई अथवा अनित व की?। इसी दृष्टि से हम स्त्री को अग्नेय ही सोमप्रधाना मानत हुए स्त्री ही कहेगे और पुरुष [अग्नि] को उस तत्र में प्रतिष्ठित मानते हुए परतन्त्र ही कहेगे।

२-स्त्रीसस्था--

- | | | | |
|---|---------------------------------|---|---------|
| { | (१)-१-शरम्— सोम (स्त्री)- | } | य एवादि |
| | (२)-२-आग्नेयप्राण-अग्नि (पुरुष) | | |
| | (३)-१-शाणितम्—अग्नि (पुरुष) | | |
| | (४)-२-सौ यप्राण-सोम (स्त्री)- | | |
| | } स एवा त | | |



पुरुष का अपना तत्र अग्नि है एव स्त्री का अपना तत्र सोम है। इस अपने अपने तत्र में प्रतिष्ठित पुरुष और स्त्री अपने अपने प्रातिस्विक स्वरूप से स्तत्र है। इस दृष्टि से न पुरुष परतत्र है न स्त्री परतन्त्र है। यदि परतन्त्र है भी तो दोनो ही। मयभाग आमा कहलाता है और यही मय-भाग जीवन की प्रतिष्ठा माना गया है। आनेय पुरुष का मयभाग सोमद्वयी है सोमत व स्त्री है यही आग्नेय पुरुष की प्रतिष्ठा है। अनितपुरुष का अपना यह सोमत तत्र उसका अपना तत्र न होकर परतत्र है। पुरुष का अग्नि तत्र इस परलक्षण सोमत तत्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतः उपक्रमोपसहारस्थानीय अनिततत्र की अपेक्षा से जहा पुरुष को स्तत्र (स अग्निस्तन्त्र स्वरूपो यस्य) कहा जायगा वहाँ मय स्थानीय सोमत तत्र की अपेक्षा से सीपुरुष को परतत्र (पर-सोमस्तन्त्र प्रतिष्ठा यस्य) ही कहा जायगा।

सोम्या स्त्री का मयभाग अग्निद्वयी है अनित तत्र पुरुष है यही सोम्या स्त्री की प्रतिष्ठा है। सोम्या स्त्री की अपेक्षा यह अनित तत्र उसका अपना तत्र न होकर परतत्र है। स्त्री का सोमतन्त्र इस परलक्षण अनिततत्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतः उपक्रमोपसहारस्थानीय सोमत तत्र की अपेक्षा से जहाँ स्त्री को स्वतन्त्र (सा—सोमस्तत्र स्वरूपो यस्य) कहा जायगा वहाँ मय स्थानीय अनित तत्र की अपेक्षा से इसी स्त्री को परतत्र (पर-अग्निस्तत्र प्रतिष्ठा यस्य) भी कहा जायगा। यहाँ तक तो जो स्थान पुरुष का होगा वही स्त्री का रहेगा। यदि पुरुष अपनी सस्था में स्वतन्त्र है तो स्त्री भी अपनी सस्था में स्वतत्र है। यदि स्त्री को मयदृष्टि से परतन्त्र कहा जायगा तो मयदृष्टि से पुरुष भी परतत्र ही माना जायगा। अपने अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रहते हुए दोनो वर्ग सनातन विश्व के सनातन मित्र ही माने जायेंगे। दो मित्रों में कौन छोटा कौन बड़ा?। समानशील एसन ही मैत्री का उच्च आदर्श माना गया है। और इसी आदर्श को भारतीय महर्षियों ने सब्रष्ट आदर्श माना है—सहधर्म चरताम् रूप से।

बिना उस समानधर्माचरण के इ दोनो यात्रियों की यात्रा नीरस होजाती है विनोदशून्य रहजाती है यातायाम बन जाती है। यह भी निश्चित है कि उस स्त्रीपुरुष कसप्रथम कौन स्नातक है कान्मरतत्र ? इस प्रश्न का भी कोईमहत्व नहीं है। क्योंकि उस दृष्टि से दानो को अपनी अपनी आनेयी सोम्यासस्थामं रहत हु अग्नि-सोमानुबन्धाधर्मों के अनुगमन करने का पूरा स्वातन्त्र्य प्राप्त है। वत्तमान युग का समानधिकार यदि इस दृष्टि से स्त्रीसमानाधिकार का किंवा स्त्रीस्नातक का पक्षपाती है तो आश उसका आदर करत ह। कान्मरतत्र यह न चाहेगा कि पुरुष अपनी अग्निस्थान क अनुकूल स्वतंत्र रहे एव स्त्री अपनी सोमसस्था क अनुकूल स्नानत्र रह। हा आनेय पुरुष का सो या स्त्रीसस्था की ओर झुकना एव सोम्या स्त्री का आनेयी पुरुषसस्था की ओर झुकना अवश्य ही प्रत्येक वैज्ञानिक की दृष्टि में लाभ के स्थान में हानि का ही कारण सिद्ध होगा। यदि स्त्रीसमानाधिकार के पक्षपातियों के समानाधिकार का- पुरुष अपनी अग्निस्थान क आधार पर जो कुछ कर सकता है करने का अधिकार रखता है एक साम्या स्त्री भी उह सब कुछ कर सकती है करने का अधिकार रख सकती है। एवमत्र स्त्री अपनी सामसस्था क आधार पर जो कुछ कर सकती है करने का अधिकार रखती है एक आनेय पुरुष भी उह सब कुछ कर सकता है करने का अधिकार रखता है यह तार्किक है तो कहना पडेगा कि अभी वे प्रकृति के गुण रहस्यो से स्त्री-पुरुष के वास्तविक स्वरूप ज्ञान से उनकी प्राकृतिक योग्यता से सवथा अपरिचित ही हैं।

दोनो के जिन नियत अधिकारो को एव अधिकारमूला विषमताओ को प्रकृति ने अपने हाथ में रक्खा है वे अधिकार तो त्रिकाल में भी इन समानाधिकार पक्षपातियों से नहीं बदले जासकते। वृषापुरुष ही रेत सेक का अधिकार रखता है वृषापुरुष ही श्मश्रु का जन्मसिद्ध अधिकार रखता है वृषापुरुष के शरीर का जसा सघठन है जसी रचना है जो ऐन्द्रियक विभाग है वही इस अधिकार सघठन रचना विभाग का अन्यतम अधिकारी है। एवमेव योषा स्त्री का रेतोग्रहणाधिकार श्मश्रु का जन्मत अभाव शरीर वा सघठन गर्भाधान आदि जो वैयक्तिक अधिकार हैं पुरुषजाति स्वप्न में भी नकीषपना भी तो नहीं करसकती।

दूसरी अधिकारमूला विषमता वह है जिसका आविष्कार मन्त्रियोंन प्रकृतिसूत्रक न दोनो के विषम स्वरूपो के आधार पर किया है। स्वतंत्रप्रज्ञ मानवसमाज इन आविष्कृत विषमताओ की अवस्था में अवश्य ही हस्तक्षेप करसकता है। परन्तु यह निश्चित है कि इस हस्तक्षेप से दोनो का उपकार न होकर अपनारही हाता है। समता किंवा समानाधिकार जीवनसत्तोपयिक आहारानन्दादि कुछ एक परिगणित व्यवस्थाओ में ही माय है। इस दृष्टि से स्त्री पुरुष तो क्या ससार के प्राणिमात्र समान अधिकार रखते ह। परन्तु जिस मौलिक प्राकृतिकधर्म ने इन समानाधिकारियों को अयमनुष्य-यत्री-अयबल-अयपशु इत्यादिरूप विषमताओ में विशेषभावो में परिणत कर रक्खा है उन विशेषधर्मों का एकमात्र अधिकार तत्तद्विशेष प्राणियों में ही प्रतिष्ठित माना जायगा। और विशेषस्वरूप सरलकृत्तन विशेषधर्मों को समानाधिकार मर्यादा से युक्त करना उन समानाधिकारियों का उचितप्रलाप ही माना जायगा। साथ ही इस दृष्टि से प्रचलित वत्तमानयुग का स्त्रीस्नातक्यत्रा भी प्रलाप के अतिरिक्त और किसी पुरस्कार का पात्र नहीं समझा जायगा।

जैसाकि अनुपद में ही बतलाया गया है स्त्र-स्व सस्थानुगत स्त्रातय पारतय के सम्बन्ध में कौन स्वतन्त्र कौन परतन्त्र है ? यह प्रश्न ही नहीं उठाया जासकता । इस प्रश्न का आरम्भ तत्र होता है जबकि हम स्त्री पुरुष कदापयभाव का विचार करने के लिए प्रस्तुत होते हैं । स्त्री पुरुष परतन्त्र रहै अथवा स्वतन्त्र मित्र रहै अथवा और कुछ यह तटस्थ सत्रवदापयभाव से सम्बन्ध नहीं रखता ।

साथ ही यह भी निर्विवाद है कि बिना कदापयभाव के न स्त्रीसृष्टि का उदय सम्भव है न पुरुषसृष्टि का । जबकि दाम्पयभाव ही स्त्रीपुरुषसृष्टि का मूलकारण है तो हमें मानना पड़ेगा कि स्त्री-पुरुष की स्वतन्त्रता परतन्त्रता का वही अनणय (विज्ञानसिद्ध अतएव) मायनिर्णय कहा जायगा जो कि कदापयभाव का अनुगामी रहेगा । दूसरे शब्दों में यो कह लीजिए कि कदापयभावकाल में स्त्री-पुरुष दोनों में जो जिस तन्त्र का अनुगामी होगा दाम्पयभाव के फलस्वरूप उन प्रजात्मक स्त्री पुरुषों का भी वही तन्त्र माना जायगा फिर वह तन्त्र स्व हो अथवा पर ।

कर्म का स्वतन्त्र कर्त्ता वही माना जायगा जो कि कर्म प्रक्रिया में स्वतन्त्र * रहेगा । उस कर्त्ता का कर्म सफल हो अथवा निफल यह दूसरी बात है । प्रजोपत्ति एक फल है । इस फल का साधक कर्मपत्नी का कदापयभाव (मित्रुनभाव) है । दाम्पयकर्म ही प्रजोपत्ति का मूलकारण है । यद्यपि यह ठीक है कि इस कर्म में दोनों का ही सहयोग अपेक्षित है । सीलिये दम्पती शब्द से पत्नीपत्नी दोनों का ग्रहण होता भी है । तथापि सकर्म का स्वतन्त्र कर्त्ता पति ही माना जायगा । दाम्पयकर्म की प्राथमिक प्रेरणा पुरुष की ओर से ही होती है × । पुरुष एव स्त्रियमनुधावति न स्त्रीपुरुषमनु यह सावजनीन प्रथम है ।

रेतोवषण से ही शुक्रगत आग्नेय प्राण वृषा कहलाया है । कामजनित कम्पनात्मक क्षोभ ही रेत को स्वस्थान से व्युत् करता है अतएव इस रेतोवषक वृषा को वृषाकपि — भी कहा गया है । इस प्रथमप्रेरणा के कारण हम वृषाप्रधान पुरुष को ही इस कदापयकर्म का स्वतन्त्र कर्त्ता कर्त्तव्ये । वृषा स्वतन्त्र है तो योषा का पारतन्त्र्य स्वतः सिद्ध है । फलतः इस कदापय से उपनपुरुषतान वृषाप्रधान बनती हुई स्वतन्त्र मानी जायगी एव कयामतान परतन्त्र कही जायगी । एक दृष्टि ।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए । दो प्रतिद्वन्द्वियों में जो अपने आक्रमण में प्रधान रहेगा वही प्रधान माना जायगा उसे ही स्वतन्त्र कहा जायगा एव विजय उसी का माना जायगा । पुरुष आग्नेय है एव स्त्री सौम्या

* स्वतन्त्र कर्त्ता (पा सू) क्रियाया स्वातयण विवक्षितोऽर्थ कर्त्ता स्यात् (दीक्षित) ।

× [१] 'पश्चाद्द्वै परीत्य वृषा (पुरुष) योषामधिद्रवति [अनुधावति] तस्यां रेत सिञ्चति' [शत० २।४।४।२३] ।

[२] 'तस्माद् स्त्री पु सोपमत्रिता निपलाशमिवैव वदति' [शत० ३।२।१।२]।

[३] 'तस्माद् स्त्री पु सोपमत्रिता आरकादिवैवाग्र ऽसूयति' [शत ३।२।१।१६]।

— 'तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति, तस्माद् वृषाकपि' [गो ब्रा उ ६।।२।] ।

है। अनात्रादभाव के कारण दोनों ही प्रतिद्व द्वी है। इन प्रतिद्विद्वियों के पूर्वपरिभाषानुसार यत्रपि चार युग्म मानने चाहिए परंतु पुरुषशरीर का आधारभूत आ य प्राण पुरुषशरीर में एव स्त्री का आधारभूत आ नेय प्राण स्त्रीशरीर में ही अतः तभूत मान लिया जाता है अतः चार के स्थान में तीन ही युग्म रह जाते जसकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है—

पुरुष विवर्णा	स्त्री विवर्णा
—आग्नेयशरीरम् (अग्नि पुरुष)	१—सोमः शरीरम् (सोम स्त्री) १-द्व ५
२—आप्यप्राण (सोम स्त्री)	२ आग्नेयप्राण (अग्नि पुरुष) -२-द्व द्व
१—सौम्य शुक्रम (सोम स्त्री)	१—आग्नेय शोणितम् (अग्नि पुरुष) -३ द द्व
—आग्नेयप्राण (अग्नि पुरुष)	२—सौम्यप्राण (सोम स्त्री) ४-द्व द्व

*

१—आग्नेय पुरुषशरीरम् (पुरुष)
 २—सौम्य स्त्रीशरीरम् (स्त्री) } प्रतिद्विद्विनौ (प्रथमद्व द्व)।

*

१—आप्यप्राण (पुरुषशरीरप्रतिष्ठा) स्त्री
 २—आग्नेयप्राण (स्त्रीशरीरप्रतिष्ठा) पुरुष } प्रतिद्विद्विना (द्वितीयद्व द्व)।

*

१—सौम्य शुक्रम (पुरुषप्रतिष्ठा) स्त्री
 २—आग्नेय शोणित (स्त्रीप्रतिष्ठा) पुरुष } प्रतिद्विद्विनौ (तृतीयद्व द्व)।

*

१—आग्नेयप्राण (वृषा) पुरुष)
 २—सौम्यप्राण (योषा) स्त्री } प्रतिद्विद्विनौ (चतुर्थद्व द्व)।

★ ★ ★

*

- १—१—आप्यप्राणगर्भितमाग्ने । शरीरम् (सोमाग्निमग परुशशरीरम् पुरुष
 २—आग्नेयप्राणगर्भित साम्ना शरीरम् (अग्नीषोममग स्त्रीशरीरम् स्त्री } प्रातद्विद्वनौ
 (१ द्व द्व)

— * —

- १—साम्ना शुक्रम — स्त्री
 २—२—आग्नेय शोणितम् पुरुष } प्रतिद्विद्वना (द्वितीययुगम्) ।

— * —

- १ आग्नेयो वृषा पुरुष }
 ३—२ साम्ना योषा स्त्री } प्रतिद्विद्वना तृतीययुगम् ।

— * —

प्र तालिका मे प्रदाशत तीनो प्रतिद्विद्वियो में से कौनसा द्व सत्रप्रथम आगे बढ़ता है ? आगे बढ़ने वाले उस ऋद्ध मे किस की ओर स पहिले आक्रमण होता है ? एव अत मे किस के आक्रमण की प्रधानता रहती है ? पत्निये यही दग्निष् । दा पयभावोपक्रम का मूलाधार दम्पती के स्थूलशरीर है । पुरुषशरीर आग्नेय है स्त्रीशरीर सोय है । अग्नि सेम पर आक्रमण कर रहा है उसका तापयुआ पुरुषभाव स्त्री भाग पर आक्रमण कर रहा है । स आक्रमण म पुरुषभाव की ही प्रधानता है । इस प्रथमाक्रमण के अनतर पुरुष के शुक्रम या स्त्री के शोणित म सेक होता है । सो यशुक्रम आग्नेय-शोणित प आक्रमण कर रहा है । अर्थात् स्त्रीत व पुरुषत व पर आक्रमण कर रहा है । इस आक्रमण मे स्त्रीभाव की प्रधानता है । शुक्रमशोणित तरूप इस दूसरे द्व द्वभाग के अनतर सोय शुक्रम में रहने वाले आग्नेयप्राणगर्भित वृषा का आग्नेय शोणित में रहने वाली सोयप्राणमयी योषा पर आक्रमण होता है । पुरुषभाग का स्त्रीभाग प आक्रमण होता है । यी तीमरा क्रिया अतिम आक्रमण है । समे पुरुषभाग की प्रधानता है एव यही अतिमाक्रमण त्रियुगामा मरुदापयक म को प्रजोपत्ति फलरूप स समवित करता है ।

तीना में स आग्नेय पुरुषाक्रमण की प्रधानता अत मे पुरुषाक्रमण की प्रधानता केवल मय में (तीना ओर के पुरुषभाग से परत व बने हुए) स्त्री का आक्रमण । इसीनिष् हम पुरुष का स्रतन्त्र कर्त्ता अत व प्रधान कहत है एव स्त्री को परनन्त्र कत्तानुगामिनी अतएव गाण कहते है ।

जैसाकि पूर्व में कहा गया है पुरुषवत् स्त्री भी अपनी सोमसस्था मे अत व है । परतु स्त्री का यह स्वात य तभी सुरक्षित रह सकेगा जबकि वह किसी पर तत्र को अपना स्वक बना रोगी । आर्षमहर्षि स्त्री की स्रतन्त्रता का अपहरण नहीं करत । अपतु चाहते व केवल यही हैं कि उनकी स्वतन्त्रस्था सोमप्रधान होने से अतृप्त अनती हुड अनत हे प्रतिष्ठाशून्य है । अत उह अपने इस अप्रतिष्ठित स्रतन्त्रता का उपयोग किसी प्रतिष्ठित सय को आगार बना कर ही करना चाहिण । न स्त्री स्रतन्त्रता यमर्हात वाक्य इसी भाव को यक्त कर रहा है । धमाचायान-स्त्री परत व है यह कभी नहीं कहा है । कहते भी कैसे जबकि पुरुषो की भाति स्वतन्त्रता स्त्रियो का भी जमसिद्ध अधिकार है । उक्त आदशवचन का तापर्य केवल

तना ही है कि स्त्री स्वतंत्र रहने योग्य नहीं है। अर्थात् स्त्री को अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करने न कर किता अथवा क आश्रय में ही इसका उपयोग करना चाहिए। या कभी घर में स्त्री अपने स्वतंत्रता का उपयोग करने लगगी तो वह सत्ता उल्टी हो जायगी। यज्ञशायी धर्म के— कौनसा घर नष्ट हो जाता है? यह प्रश्न करने पर वरिष्ठतर युधिष्ठिर ने भी— स्त्री पुत्रचर्च तद्धि गृहं प्रिन्धम् * (महाभारत) जहाँ स्त्री पुरुष बन जाती है वह घर नष्ट है यह उचरते हुए उक्त सिद्धांत का ही समर्थन किया है।

स पूरा सम्बन्ध मण्डल की दृष्टि से जब तत्प्रातरूप देवता का प्रचार किया जाता है तब भी पुरुष की स्वतंत्रता एव स्त्री की परतंत्रता ही सिद्ध होती है। सप्तरीय खगोल के सौर दृश्य खगोल स [आधे खगोल से] पुरुषसृष्टि का एव चांद्र दृश्य खगोल स [आधे खगोल से] स्त्रासृष्टि का विकास हुआ और इस दृष्टि से दोनों अपनी अपनी सत्ता की अपेक्षा स्वतंत्र भी माने जा सकते हैं। परन्तु दोनों की समष्टिरूप सप्तरीय स्वयं अग्निमूर्ति है। यमि अग्निमूर्ति सप्तरीय के गर्भ में अर्थात् पुरुष एव सोमरूपिणी स्त्री दोनों तब प्रतिष्ठित हैं। अतएव सप्तरीय को अग्नि के साथ साथ सोममय भी कहा जा सकता है जैसा कि— सम्प्र सरो व सोमो राजा [वै ७।१]— सम्प्र सरो व सोम पितृमान [तत्रा १। १८।२।] इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। तथापि सप्तरीय का मौलिक रूप अग्नि ही माना जायगा। इस मौलिक अग्नि को अग्नि न कह कर यजु पुरुष ही कहा गया है। [दक्षिण शत १। ५।२।१]। यही तस्य वा एतस्या नर्गोवोपनिषत् के अनुसार वाक नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में अग्निमूर्ति वाक प्रजापति एकाकी ही थे। ये ही आगे जाकर सृष्टकामना सप्तरीय नरूप पुत्र एव सोमरूप स्त्री इन दो रूपों में परिणत हुए हैं— अर्द्धेन पुरुषाऽभयत् अर्द्धेन नारी [मनु]। स्वयं श्रुति ने भी सोऽपोऽमृतत वाच एत लोकात् वागेव साऽस्यत् [शत ६।१।१।] कहते हुए प्राग्नि को ही प्राग्नि सोम का उपादेय माना है। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर हम वाङ्मय किंवा वाकप्रधान सम्बन्ध प्रजापति को अग्निप्रधान ही कह सकते हैं। यही आत्मा है। इसी की सत्ता यती है। सप्तरीय की अग्निप्रधानता निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है—

* अनायका विनश्यति नश्यति बहुनायका ।

स्त्रीनायका विनश्यति नश्यति बालनायका ॥

—प्रसिद्धा सूक्ति

जिस सत्ताओं में कोई सञ्चालक नहीं होता अथवा अनेक सञ्चालक हो जाते हैं अथवा स्त्री सञ्चालिका बन जाती है अथवा बच्चे सञ्चालक बन जाते हैं व सत्ताएँ कालान्तर में नष्ट ही हो जाती हैं। महाभारतीय वचन के उक्त तथ्य के आधार पर ही राजस्थानी भाषा (जयपुर की भाषा) में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि जी घर में लुगारों पागडों बधा लेख ऊँ घर को अग्नि ही आनायक अर्थात् इस गृहसत्ता में लोका—सामाजिकी व्यवस्थाओं में स्त्री का अनुशासन प्रमुख बन जाता है वह गृहस्थसंस्था लोक सामाजिकी मर्यादाओं की दृष्टि से भी एव गृहस्थ व्यवस्था की दृष्टि से भी कालान्तर में विनष्ट ही हो जाती है (स्त्रीपुत्रचर्च तद्धि गृहं विनष्टम्)।

- १— सव वै सम्प्रत्सर ” (शत १।६।१।१६।) ।
- २— सम्प्रत्सर एवाग्नि ” (शत १।४।५।२।) ।
- ३— “सम्प्रत्सरो ऽ पिता नैशानर प्रजापति ’ (शत १।५।१।१६।) ।
- ४— “वाक्सम्प्रत्सर (ताण्ड्य १।१।२७।) ।
- ५— “अग्नि सम्प्रत्सर’ (ताण्ड्य १।७।१३।१७।) ।

*—

सम्प्रत्सर वागग्नि मूर्ति ३ अस का अपना प्रधान भाग ही आग्नेय पुरुष ह एव गौणभाग ही सौम्या स्त्री ह । स दृष्टि स भी पुरुष ही स्वतंत्र माना जायगा । अग्नि अत्राद् ह एव सोम अन्न है इस दृष्टि से भी पुरुष का प्राधान्य एव स्वातंत्र्य सिद्ध होता है । अग्नि स य है सोम ऋत बनता हुआ अनृत ह । स दृष्टि से भी पुरुष ही प्रधान है । दक्षिणपार्श्वस्थ आ न बलवान् ह उत्तरपार्श्वस्थ सोम निबन्धन है । इस पुरुष दृष्टि से भी पुरुष का वीर्यशालि व एत स्त्री का अवीर्य्य व हा सिद्ध हो रहा है ।

इही सब प्रकृतिसिद्ध कारणों के आधार पर स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में परतन्त्रता स्वतन्त्रताभावों का समावेश हुआ है । स्त्री को दायिभाग की अधिकारिणी क्यों नहीं माना गया ? स्त्री को सामाजिक राजनैतिक एवं धार्मिक व्यवहारों में पुरुष की भांति पूर्ण स्वातंत्र्य क्यों नहीं मिला ? उन की बाल युवा वृद्धा वस्थाओं में क्यों पिता पति पुत्रों की अगला लगाइ गई ? इन सब प्रश्नों का एकमात्र समाधान अग्नि सोम की उक्त मौलिक व्याख्या ही है । स्मृतिशास्त्र को सामयिक अतएव परिवर्तनशील मानने वाले सुधारकों ने समझते होंगे कि स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसे विधान केवल स्मृतिकारों की ही कल्पना हैं । अपरिवर्तनीय वेदशास्त्र का इन से कोई सम्बन्ध नहीं है । परन्तु हम उद्घोष यह विश्वास दिलाते हैं कि ये स पूर्ण विधान श्रुतिसम्मत अतएव सर्वथा वैज्ञानिक अतएव च प्रामाणिक ही है । विस्तारभय से प्रकृत में व सब श्रुत प्रमाण उद्धृत नहीं किए जा सकत । उदाहरणरूप स कुछ एक निदर्शन ही स तोष के लिए पर्याप्त मान लिए जायेंगे ।

पुरुषसृष्टि आग्नेयी	सम्बत्सर	स्त्रीसृष्टि साम्या
<p>पुरुष —</p> <p>१-“पुरुषोऽग्नि ’ —श १।४।१।६।</p> <p>२-‘एतावान् पुरुष यदात्मा प्रजा जाया ’ —ता ३।४।३।</p> <p>३-“यद्वै पुरुषवान् कर्म चिकीर्षति, शक्नो ति वै तत् कत्तुम्’ —श १।५।४।</p> <p>४-“पुरुष शतवीर्यं —तै ब्रा ३।१५।</p> <p>५- द्विप्रतिष्ठ पुरुष —गो पू ४।२४।</p>	<p>स्त्री—</p> <p>१ ‘उत्तरत आयतना स्त्री’ —श ८।४।४।११।</p> <p>२ ‘अनृत स्त्री —शत १४।१।१।३१।</p> <p>३ कर्म वा इन्द्रिय वीर्यं, तदतदुत्सन्न - स्त्रीषु’ —श १०।७।२।११</p> <p>४ ‘अवीर्या वै स्त्री’ —श २।५।२।३६।</p> <p>५-“पतयो ह्य व स्त्रिणा प्रतिष्ठा’ —श ६।२।१४।</p>	
<p>वृषा—</p> <p>१- इ द्रो वै वृषा’ —शत १।४।१।२३।</p> <p>२-“वृषा हिङ्गार —गो पू ३।२३।</p> <p>३-“वषा रेत सिञ्चति’ —शत २।४।४।१३।</p> <p>४-दक्षिणतो वै वषा योषामुपशेते’ —शत ६।३।१।३।</p> <p>५-“समग्निरिध्यते वषा ’ —श १।४।१।२६।</p>	<p>योषा—</p> <p>१ ‘योषा नै सिनीमाली’ —श ६।५।१।१।</p> <p>२ पुरिधयोषा’ —तै ३।८।१।३।२।</p> <p>३-‘योषा रेतो धत्त —श ७।१।१।४४।</p> <p>४ ‘योषा नै पत्नी’ —श १।३।१।१।</p> <p>५ ‘न ऽ योषा कञ्चन हिनस्ति —श ६।३।१।३६।</p>	

अग्नि —

- १-यो वे रुद्र सोऽग्नि '
 —श ५।२।४।१३।
- २-‘वीर्यं वा अग्नि ’
 —तै १।७।२।२।
- ३-‘पुरुषो वा अग्नि
 ४ ‘वषाग्नि ’
 —शत २।१।१।४।
- ५-‘अग्निर्वै रेतोधा’
 —तै १।७।२।३।

सोम —

- १-‘श्रीं सोम ’
 —श ४।१।३।६।
- २ पशवो हि सोम ’
 —शत १।७।१०।
- ३-भद्रा तत् सोम
 —ए ५।२।५।
- ४-‘योषा वा आप ’
 —सोम श १।१।४।
- ५-‘तिरो अह या हि सोमा
 —का १।५।

अन्नाद —

- १ अन्नादोऽग्नि ’
 —शत २।१।४।५।
- २ अग्निं देवानामन्नाद ’
 —तै ३।१।४।१।
- ३ अग्निरन्नादोऽन्नपति ’
 —तै १।५।७।३।
- ४- अग्निमन्नाद वेद, अन्नादो इव
 भवति
 —श० २।०।४।१।
- ५ ‘अन्नादा तदग्नि ’
 —ते ५।५।

अन्नम्-

- १ अन्न पशव ’
 —ते ५।१।
- २ ‘अन्नमु श्री
 —श ५।६।२।१।
- ३ ‘श्रिया स्त्रिण (समदधात्)
 —गो प १।३।४।
- ४ अन्नं सोम
 —शत ३।१।१।५।
- ५ ‘परमम नाद्य यत् सोम
 —का १।३।७।

दक्षिणादिक्-

- १ दक्षिणामारो० ब्राह्म ऋतु '
 - श ५।४।१।२४।
- २ दक्षिण स मि'
 - गो पू ५।१५।
- ३ 'अग्निना दक्षिणाम्'
 - ऐ १।७।
- ४ दक्षिणादक इ द्रो देवता
 - नै ३।११।५।१।
- ५ "दक्षिणा दिशि रुग् देवा"
 - ए ८।१४।

उत्तरादिक्-

- १-उत्तरा ह नै सोमो राजा'
 - ऐ १।८।
- २ 'एषा नै वरुणस्य दिक्'
 - तै ३।८।२।४।
- ३ "यदुत्तरतो वासि सोमो राजाभूतो वासि"
 - जै ३।३।१।२।
- ४ "एषा उ । शा ता दिक्
 - त २।१।३।५।
- ५ एषा हि दिक् स्विष्टकृत
 - श १।३।१।२३।

उक्त कुछ एक वचनों की अवधानपूर्वक देखने से विश पाठक अनुभव करगे कि स्त्री और पुरुष के स्वरूप निर्माण में एक बहुत बड़ा अन्तर है । और वही अंतर दोनों के प्राकृतिक स्वरूपों को एकधारा में प्रवाहित नहीं होने देता । अग्निप्रधान पुरुष जहां अपने स्वाभाविक विकास के कारण सकोचभाव से दूर रहता है वहाँ सोमप्रधाना स्त्री का सकोच स्वाभाविक धम्म बन जाता है । सकोच को मूल में रखन वाले लज्जा शील आदि सद्गुण ही स्त्री के स्वरूप रक्षक बनते हैं । अपने इहो स्वाभाविक गुणों के बल से स्त्री पुरुष की सामयिक उद्वेगता का शमन किया करती है । समीकरणमूला शान्ति का मूल है दो विरोधी शक्तियों का एकत्र समन्वय । यदि पुरुष की भांति स्त्री भी आग्नेयी बन जायगी तो विस्फोटन होजायगा । यदि पुरुष सौम्य एव स्त्री आग्नेयी बन जायगी तो सस्था उच्छिन्न होजायगी । अग्नि-सोम (उग्रता-शांति) का समन्वय ही दाम्पत्यजीवन की शान्ति तुष्टि पुष्टि का अन्यतम कारण है । स्त्री तभी अपने सौम्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकती है जबकि उसकी रक्षा का भार पुरुष के कंधे पर रहता है । पर (पुरुषतत्र) तत्र को अपना रक्षक बना कर ही स्त्री अपने स्वरूपभूत साम्यतत्र को सुरक्षित रख सकती है ।

जिस स्वतन्त्रता परतत्रता के संबन्ध में तना विस्तार किया गया उसके सम्बन्ध में अभी यह विदित न होना कि तत्र स्त्री का स्वातन्त्र्य क्या है और उसकी परतन्त्रता क्या है ? उस परतत्रता का क्या स्वरूप है जो स्त्री का स्वरूप दूषित कर देती है ? शास्त्रकार किन अंशों में स्त्री को परतन्त्र देना चाहते हैं ? ।

स्त्री को सवथा अशिक्षित रखा जाय पुरुष अपने किसी धार्मिक सामाजिक जनेतिक कार्य में स्त्री का परामर्श न ले । स्त्री को घर से बाहर न निकलन दे । स्त्री सदा अपने

मुत्र को अगुण्ठन (चूँघट) से ढँका रक्ख । पति स्वसुर देवर आद की आज्ञाआ का पालन करने म कभी पीछ न हटे । यदि स्त्री इन अनुशासनों मे कभी भूल कर दे तो पुरुष बबरता पूवक उसे मारे पाट जसा चाहे दण्ड दे यद स्त्रीपारत य का यही अथ है अथवा शास्त्रीय पारत य का यही अथ समझा जा रहा है तो हमें कहना पडगा कि ऐसी परत ता का शास्त्र मे तो कहीं ग य भी नहीं है ।

साथ ही— स्त्री अपने कौटुम्बिक धम्म की सतानपालन की गृह्यकर्मा की सग्रा उपेक्षा कर स्कूल कालेजों मे पुरुषसमाज क साथ पश्चिमीशिक्षा की अनुगामिनी बनी रहे । सामाजिक राजनैतिक का र्यों मे सलग्न रहे । पुरुष (पति) क अनुशासन का कोई मूल्य न समझे । देशाचार—कुलाचार—धर्माचार की सग्रा उपेक्षा करती रहे वेश भूषा आत्म सार्था पश्चिमीदेशों का अनुगमन करे । ल जा—शीलाद का एका तत परि याग कर निलज्ज बनकर पुरुष—समाज म अट्टाट्टहास करती रहे । किसी के नियन्त्रण की अगुमा । भी अपेक्षा न करे । यदि स्वत ता का यही अथ समझा जा रहा है तो हमें कहना पडगा कि एसी स्वत ता का भी ग ध शास्त्र मे ता नहीं है ।

उक्त परत त्रा एव स्वत ता दोनो की यगहारशैली मे यद्यपि भेद है परतु परिणामदृष्टि से दोना सम न है । उक्त परत त्रा में जहा पुरुषो के द्वारा स्त्री पशुभाव में परिणत होरही है वहा उक्त स्वत त्रा में स्त्री स्वय अपनी इच्छा से पशु बन रही है । पशुभाव की दृष्टि से दोनो समान है । अपनी इच्छा से जो काम किया जाता है माननीय मन उस पर किसी अ य का निय त्रण सहन नहीं कर सकता । परतु जो काम दूसरो की इच्छा से विवश होकर किया जाता है उस म परे छा का ही निय त्रण सम्भव है । यही परिस्थिति यहाँ सम—क्रिए । परतत्रतामूलक पशुभाव में स्त्री पर पुरुषे छा का निय त्रण है । यही अनच्छिक पशुभाव है । अतएव इसका अत्रराध होसकता है । परतु स्वत त्रतामूलक पशुभाव में स्त्री का अपना ही इच्छा—स्वात य है । यह पशुभाव ऐच्छिक है । अतएव इस का सुगार असम्भव नह तो कठिनतम अवश्य है ।

संस्कृति पर चढ हुए दषित आवरण को हटाकर संस्कृति को बचा लेना सहज है । परन्तु जिसने आवरण के साथ साथ अपनी मूलसंस्कृति छोकर उसके स्थान में परसंस्कृति प्रतिष्ठित करली वहाँ आप किस का सुधार करगे ? पतित का उद्धार सम्भव है । कि तु पड कर जो चकनाचूर होगया वहा किस का सुधार कसा सुधार और कहा का सुधार ? अपने को सुधारा जासकता है परतु जो अपना न रहकर सबप्रकार से पराया बन गया उसका सुगार असम्भव है । जबतक हम हम बने रहते है तभीतक हमारा सुधार सम्भव है । जब हम हम ही न रनेगे तो सधार किस का होगा ? इही कुछ एक तुलनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत परत त्रता स्वत त्रताओं मे परत त्रता चिकित्स्य है परतु स्वत त्रता (वस्तुत महापरत त्रता) तो अचिकित्स्य [लाइलाज] ही है ।

यही अथ था उन कुप्रथाओं की समझिए जिह जातिभोज ओसरभोज वालप्रिवाह कया विक्रय उरप्रिक्रय अयजों क साथ होनेवाला दुर्गवहार आदि नामों से व्यवहृत किया जा रहा है । इस में कोई स देह नहीं कि ये सभी रूढिवाद विशुद्ध रूढिवाद है । थह भी निर्वादा है कि इन सब से हम

हमारा समाज हमारा राष्ट्र जीण शीण ही हुआ है। अवश्य ही सुधारप्रमी सुधारकों का एव तत्पथप्रदशक सुधारक नेताओं का यह आवश्यकतम कर्तव्य होना चाहिए कि व इन सब के विरुद्ध आगज उठव। कौन बुद्धिमान इन भीषण प्रथाओं का अनुमोदन करेगा ? अवश्य ही हमारा स्त्रीसमाज सुशिक्षित होना ही चाहिए। उन के साथ हाने वाले ब्रह्म व्यवहारों का नियन्त्रण करना ही चाहिए। बालविवाहादि का समाज सङ्घटन के द्वारा अवरोध होना ही चाहिए। और हम समझते हैं इसी पत्र उद्देश्य को लेकर कुछ समय से समाज के कुछ एक प्रज्ञाशील व्यक्तियों ने इस सम्बन्ध में आन्दोलन उठाया भी है। इन के इस आन्दोलन का हृदय से अभिनन्दन करते हुए उस सब में उन के सम्मुख बड़ ही प्रणतभाव से गीताचाव्य भगवान् वासुदेव कृष्ण की दो स्तुतिया उद्धृत करदना भी हम अपना आन्वश्यक कर्तव्य मान रहे हैं—

१—न बुद्धिभेद जनयेदज्ञाना कम्ममङ्गिनाम् ।

जोषयेत्—सर्गकर्माणि विद्वान् युक्त समाचरेत् ॥

२—तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्या यवस्थिता ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

वक्तमानयुग का भारतीय समाज अधिकांश में अशिक्षित है यह तो सुधारवादी को भी माया है। साथ ही उसे यह भी मानना ही पडगा कि उसे सुधार इसी अशिक्षित समाज का करना है। अब यदि हमारे ये सुधारक धु समाज में बुद्धिभेद उपाय कर दते हैं तो व सुधार के ध्यान में बिगाड के नी कारण बन जाते हैं। रहना इसी समाज में व्यवहार इसी समाज में सुधार इसी समाज का। फलतः सुधारक महानुभावों का यह आवश्यक कर्तव्य होजाता है कि जिस सुधार को लेकर हम आगे बढे हैं देश काल पात्र की परिस्थित के अनुकूल ही वह सुधार पनप सकेगा अन्यथा नहीं। यदि सुधार लाकसग्रह का आयत्तिक विराधी है बुद्धिभेद का अधिष्ठान है तो हमें अपने सुधार को त्रिषकुम्भ पयोमुखम् ही बनाना पडेगा। शतादियों का कुसम्कार एक हेला से हटाने का प्रयास करना बुद्धिमानी नहीं आपेतु महामूर्खता ही सिद्ध होी। एक आवदन।

बालविवाह बुरा परन्तु इसके पहिले आपको यह अवेषण कर लेना पडेगा कि बाल युवा की परिभाषा क्या है ? शीत ग्री म प्रान देशों के लक्षण सम्बन्ध में कौन सी परिभाषा विशानम मता है ? यदि आप स्वयं दिग्दर्शक रखते हैं तबतो कुछ कहना ही नहीं है। यदि आप की दृष्टि विशुद्ध लौकिक है तो उस दशा में इन सब विवादों का निराय एकमात्र शास्त्र प्रमाण के आधार पर ही करना पडगा— तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते । दूसरा आवेदन। यदि आपका सुधारवाद इन दोनों आवदनो की उपेक्षा करके आगे बढ रहा है तो हर्ष कहना पडेगा कि न यह सुधार हमारा है न हमारे समाज का है न राष्ट्र का। अपितु जैसे धम्म की श्रोट में धार्मिकनेता स्वायसाधन कर रहे हैं वस ही सुधारकनेता सुधार की श्रोट में हमारी मूलसंस्कृति को कुचलने का ही भीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। तुलना कीजिए दोषो और सुधारों की।

१—स्त्री का अशिक्षित रहना सर्वथा अनुचित कि तु कालेजों में पश्चिमी सहशिक्षा इस अशिक्षा से भी कहा भयङ्कर।

- २-पर्दे की प्रथा सवथा अशास्त्रीय किन्तु लज्जा शील शू य अट्टाट्टहाम इस से भी कही भयङ्कर ।
- ३-बालविवाह बुरा कि तु युवतिपरिणय इस से भी कहा भयङ्कर ।
- ४-जातभोजन ओसरभोजन (नुक़ता) सर्वथा अहितकर कि तु प्रीतिभोज, गॉटनपाटी, टीपाटी आदि सवनाश के ही कारण ।
- ५-अ यजो क साथ दु-यवहार अमानुषता कि तु उनके सम्बन्ध मे स्पृश्यास्पृश्य खाद्याखाद्य का विवेक न रखना दोनों के ही प्रकृतिमिद्ध वर्णात्मक स्वरूप के सर्वनाश का कारण ।
- ६-पतियों का असदाचरण सर्वथा ही निन्द्य अतएव दण्ड्य, कि तु 'तलाफ' प्रथा का अनुमोदन सस्कृति क मूलनाश का ही अ यतम कारण ।
- ७ रूढिवाद सर्वथा ही त्याज्य, कि तु रूढिवाद क सशोधन के आवेश मे मूलसस्कृति का परित्याग सर्वनाश का ही कारण ।
- ८-सभी सुधार अपेक्षित, कि तु पश्चिमदेशों की जडभूतानुगता, अतएव आ मसाभ्य वञ्चिता भौतिका जीवनपद्धति की गतानुगतिकता (नकल करना) स तथा अनपेक्षित ।
- ९-सत्पत सुधार करना प्रत्येक सुधारक का उत्तम कम्म, कि तु लोकसग्रह की उपेक्षा करते हुए अपनी स्वाथलिप्सा के आकर्षण से बुद्धिभेद उत्पन्न करना ज ध य कम्म ।
- १ -निष्कर्षत शब्दप्रमाणैकमार सुधार उपादेय कि तु मानसकल्पनैकसार सुधार स तथा ही हेय ।



स्त्रियों को पूर्णरूपेण शिक्षित हाना ही चाहिए । यह ब्रुव सत्य है कि नवमासप य त मातृगर्भस्थित बालकके भावी जीवन का अ यु थान पतन मातृस्वरूप के अभ्यु-थान पतन पर ही अवलम्बित है । पुरुषसमाज की प्रतिष्ठा एकमात्र मातृशक्ति ही है । इस की स्वतंत्रता इसका आनन्द इस की बुद्धि का विकास ही पुरुषसमाज की स्वतंत्रता आनन्द आनि की मूल प्रतिष्ठा है । जिस घर में मातृजाति का अपमान होता है वह घर शमशान है । कुल का सर्वनाश है । भूति का उच्छेद है स पूर्ण क मकलाप नि फल है ये ह उन दकियानूसी ? पुराणपथी ? भारतीय धर्माचार्या के सहज उद्गार जिह्व विना दखे सुने ही हमारे सुधारकत्र धु उन पर कलङ्क

लगाने की भूल किया करते हैं। जिन राजर्षिप्रवर मनु को व स्त्री पारत य का समथक बतलाते हैं उही मनु के द्वारा मातृशक्ति के प्रति कसे आदरभाव अभियक्त हुए है ? तस के नि नि नलियागत श्लाको पर हा दृष्टि डालिए ।

१-पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता पतिभिर्देवैस्तथा ।

०० या भूषयित याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि ॥

२-यत्र नाय्यस्तु पूज्य ते रम ते तत्र देवता ।

यत्रैतास्तु न पूज्य ते सर्वास्तत्राफला क्रिया ॥

३-शाचि त जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम् ।

न शोचि त तु यत्रैता वद्धते तद्धि सवदा ॥

४-जामयो यानि गेहानि शपत्यप्रतिपूजिता ।

तानि कृत्याहतानीव विनश्यति समतत ॥

५-तस्मादेता सदा पूया भूषणा छादनाशनै ।

भूतिकामैर्न रेर्नित्वा सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

६ स तुष्टो भार्ग्या भर्ता भर्त्रा भार्ग्या तथेय च ।

यस्मिन्नव कुले नित्वा कल्याण तत्र व प्रुवम् ॥

७-स्त्रिया तु राचमानाया सर्व तद्दोचते कुलम् ।

तस्या त्वराचमानाया सर्वमेव न रोचते ।

—मनु -३।५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६ ६१।

८-प्रजनार्थं महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तय ।

स्त्रिय श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ (मनु ६।२६।) ।

९-अपत्य धर्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।

दाराधीनस्तथा स्वग पितृणामात्मनश्च ह ॥ (६।२८।) ।

जिसे हमारे सुधारक महाभागोंने स्त्री की परत त्रता मान रक्खा है वह पारतय तो वास्तव में उनका स्वातय ही है। किसी याक्त पर कटुशासन करते हुए उसे ऐसे निय त्रण में रचना जिस स कि उसका स्वाभाविक विकास अवषद्ध होजाय वही निय त्रण परत त्रता कहलाएगा। ठीक इस के त्वपरीत जो निय त्रण मधुर शासन से युक्त है जिस निय त्रण से निय त्रित यक्ति के स्वरूप की रक्षा होती है उसका आ मत्रिकास होता है वह प तत्रता तो वास्तव में उस यक्ति की स्तत्रता ही होगी और स्त्रियों के स त्रध में म वादि धर्माचार्यों की और से स्वतन्त्रतारूपा ऐसी परतन्त्रता का ही विधान हुआ है जिसे कि हम परत त्रता न कह कर रक्षा ही कर्भगे। सौम्य बालक के प्रति पिता का जो निय त्रण है सौम्या स्त्री के प्रात पिता पति पुत्र का वही रक्षा

मन्त्र नियन्त्रण है । बहिर के शत्रुओं से हमें बचाने के लिए यदि रक्षक सनिक विशेष स्थानों के लिए हमारा नियंत्रण रखता है तो उसे हम अपनी रक्षा ही कर्त्तव्य न कि परतंत्रता । यही रक्षा हमारे स्वरूप स्वातंत्र्य की प्रतिष्ठा बनेगी । तापयस्त्री की रक्षा का भार पितापति आदि जिन व्यक्तियों पर डाला गया है व शासन बुद्धि से रक्षा नहीं करते अपितु सेवक बनकर ही रक्षोत्तरदायि व निभाते हैं । पत्न्यपद पर पूजाभाज्य पूजा सत्कार पुन मधुर नियंत्रण ।

एक चमकार और देखिए । मनु स्त्री के प्राकृतिक स्वरूप से परिचित थे । वे जानते थे कि सौम्य अतजगत् रखने वाले पुरुष को तो फिर भी क्रुडशासन में रक्षित जासकता है । परंतु वह सौ या स्त्री जिसका अतजगत् आग्नेय बनता हुआ उग्र है उस पर क्रुडशासन की कथा तो दूर रही मधुरशासन भी वमा नहीं चल सकता जिस में बलात्कार की भावना का समावेश संभव बन सके । बलप्रयोग से इह कभी नियंत्रण में नहीं रखा जासकता । पूजनभाज्ययुक्त रक्षाभाज्य सम्पत्तिसंग्रहनिमित्त शरीरशुद्धि धम्मकार्याभिगमन आदि आदि विधियों को मयस्थ बनाकर ही इस मातृशक्ति के अतजगत् को सुरक्षित रखा जासकता है । देखिए । उस मन्त्रधर्म में राजर्षि मनु क्या कह रहे हैं—

१—न कश्चिद्योषित शक्त प्रसह्य परिरन्तितुम् ।

एतरुपाययौगैस्तु शक्यास्ता परिरन्तितुम् ॥

२—अर्थस्य संग्रहे चैनो यये चैव नियोजयेत् ।

शाचे, धर्मेऽ, नपक्त्या च, परिणाह्यस्य वेक्षणो ॥

३—अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैराप्तकारिणि ।

आत्मानमात्मना यास्तु रक्षयुरता सुरक्षिता ॥

—मनु ६।१ ११ १० ।

अर्थात्—कदापि बलप्रयोग से स्त्री के स्वरूप की रक्षा सम्भव नहीं है । अपितु धनसंग्रह ग्रहस्थायय शौचाचार कुलाचार धर्माचार पत्रों संग्रहपरायणता भोजन यगस्था ग्रहस्थपरिग्रह सरक्षण आदि आदि कर्त्तव्यनिष्ठाया व मायम से ही नारी की स्वरूप रक्षा सम्भव है । पुरुष को यह स्मरण रखना चाहिए कि नारी घर की चारदीवारी में बलपवक नियन्त्रित कर देने से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकती । आपनु इसकी रक्षा तो इस की स्वयं की कर्त्तव्यानुगता—आत्मनियंत्रणवृत्ति से ही सम्भव है ।

समस्त भारतीय शास्त्र पर दृष्टि डाल जाइए । कहीं भी आपके स्त्री के सब व में परतत्र शब्द नहीं मिलेगा (१) न स्त्री स्वात यमर्हति (२) अस्वतन्त्रा स्त्रिय कार्या याद रूप से केवल यही आदेश मिलेगा कि उनको स्वतंत्रता का उपयोग स्वतंत्र नहीं रहना चाहिए । अपन उस स्वतंत्रता का वह तभी सुरक्षित रख सकती है जब कि किसी रक्षक के व अपनी प्रतिष्ठा बना लेती है । और अवश्य ही यह रक्षक-भाग स्त्री के सहजसिद्ध सौम्य स्वभाव के कारण समाय ही माना जायगा ।

साथ ही जहाँ जहाँ स्त्रीपारय का उल्लेख हुआ है वहाँ वहाँ पुरुष का रक्षक ही घोषित किया गया है न कि शासक । उदाहरण के लिए पिता रक्षति कामारे भर्ता रक्षति यावने रक्षति स्थापिरे पुत्रा - स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः जाया रक्षन् हि रक्षति - रक्ष्युस्ता - यत ते रक्षितु भार्याम् इत्यादि कुछ एक वचन ही परोक्ष होंगे ।

पुरुष होने के नाते मनु ने स्त्रियों के लिये ऐसे पक्षपातपूर्ण आदेश दे डाले हैं इतना प्रकार का अनगल प्रलाप करने गले उन सुधारक-बन्धुओं को हम विश्वास दिलाते हैं कि मनु भी आपके ही समान सुधारक किन्तु वास्तविक सुधारक नहीं । स्त्रीजाति के पतन का दोष आप आज जिसप्रकार पुरुषजाति के मल्ल मदते हैं आप के सहयोगी मनु ने भी पुरुष को ही अपराधी ठहराया है । मनुने स्पष्ट शब्दों में ऐतहासिक घटनाओं का निदर्श करते हुए यह सिद्ध किया कि जिस समाज में स्त्रीजाति का पतन देखो विश्वास करो । यह पुरुषजाति का ही अपराध है । जिसप्रकार नदी का मजुर जल क्षारसमुद्र के समुद्र से क्षार बन जाता है एवमेव स्त्री के गुण गुणहीन पुरुष के समुद्र से दूषित ही होजाते हैं । ठीक इस व विपरीत पुरुष के सद्गुणों से दुर्गुणा स्त्री में सुधर जाती है । अतएव स्त्रीसमाज का अभ्युत्थान चाहने वाले पुरुषसमाज को पहिले अपना ही अभ्युत्थान करना चाहिए । बतलाइए किन मलिात्रत मनुवचन किने अपराधी ठहरा रहे हैं ? एव किस के साथ पक्षपात कर रहे हैं ?

१-यादगुणेन भर्ता स्त्री सयुज्येत यथाविधि ।

तादगुणा सा भवति समुद्र शोव निम्नगा ॥

२-अक्षमाला वसिष्ठेन सयुक्ताऽधमयोनिजा ।

शारङ्गी म दपालन जगामाभ्यहणीयताम् ॥

(१) पिता रक्षति कामारे, भर्ता रक्षति' यावने ।

रक्षन्ति' स्थापिरे पुत्रा न स्त्रो स्वातयमर्हति ॥

—मनु ६।३।

(२)-अस्वतन्त्रा स्त्रिय कार्या पुरुषै स्वैर्दिवानिशम् ।

विषयेषु च सज्जत्य सस्थाप्या आत्मना वशे ॥

—मनु ६।२।

३ एताश्चा याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतय ।

उत्कष योषित प्राप्ता स्वै स्वैभन्नगुणै शुभै ॥

—मनु ६। २।२३। ४।

प्रश्न होसकता है कि पूर्वप्रदर्शित अनीषोम-विज्ञान के अनुसार जब सौ य स्त्री शक्ति-रूपा है तो उस पुरुषरक्षा की क्या आवश्यकता है ? क्या शक्तिरूपा वह स्त्री जो अपने सहयोग से शक्तिशून्य पुरुष को भी शक्तिमान बना देती है अप्रण पुरुष को अपने अर्द्धाकाश प्रदान से पूरा पुरुष बना देती है वह स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकती ? प्रश्न साधारण होता हुआ भी कुतूहल-वदक है ।

कुतूहलवृद्धि का कारण है-हमारा-बुद्धिभ्रम । याद इस सम्बन्ध में थोड़ी सी भी विचारशक्ति से काम लिया जाता तो उक्त प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता । पहिले विज्ञानदृष्टि से समाधान कीजिए । जो तन्त्र जिस तन्त्र का घन होता है वह स्वयं उस घनतन्त्र का उपयोग नहीं कर सकता । उदाहरण के लिए मन-प्राण-वागधन अथवा आत्मा को ही लीजिए । मन ज्ञानशक्ति है प्राण क्रियाशक्ति है एव ताक् अथशक्ति है । क्योंकि आत्मा यथ शक्तिघन है अतएव वह स्वयं उसका उपयोग करने में असमर्थ है । शक्तिसञ्चार के लिए शक्ति से अतिरिक्त प्रदत्त ही अपेक्षित है । जब वहा शक्ति के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं तो उसका प्रसार कहा हो ? अतएव मन-प्राण-वाग्मूर्ति किंवा ज्ञान क्रिया अथशक्ति-मूर्ति अव्यय को अप्राण अमना ही कहा जाता है— अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात् परत पर (मुण्डक) ।

कामना मन का यापार अवश्य है परंतु मन से कामना का उदय तभी संभव है जब कि वह हृदयरूप सीमाभाव को प्रतिष्ठा बनाले । उधर अयमन और हृदय एक वस्तुतः व है । अतएव मनोघन होते हुए भी उसे अनष्काम आप्तकाम अक्राम इत्यादि नामों से संबोधित किया जाता है । स्वशक्ति का उपयोग स्वयं (अपने धरातल में) कदापि नहीं होसकता यह निश्चित है । होसकता है कब ? जब कि वह शक्ति किसी अय को प्रतिष्ठा बनाले । विश्वद्रष्टा चक्षुस्त्रय अपना रूप तबतक देखने में असमर्थ है तबतक कि वह दर्पण को आधार न बनाले । क्या कोई वैद्य अथवा डॉक्टर अपनी चिकित्सा में सफल होसकता है ? दूसा के मुकद्दमों की परी करने वाले लीडर अपने केस में परी नहीं कर सकता नहीं करनी चाहिए ।

बस ठीक यही परिस्थिति यहा समझिए । स्त्री शक्तिघन है । अतएव तबतक यह अपनी शक्ति का सदुपयोग कराने नहीं कर सकती जबतक कि किसी शक्तिमान् को यह अपना आश्रय नहीं बना लेती । शक्तिमान् के द्वारा ही यह शक्तिमान् विकसित होसकता है । इस से स्वयं का भी विकास होगा उधर अशक्त पुरुष भी शक्तिशाली बनता हुआ शिवाभाव में परिणत होजायगा । एक समाधान ।

अब स्थूलदृष्टि से विचार कर लीजिए । मानस वृत्तियों के समीकरण के लिए यह आवश्यक है कि काश का उपयोग स्वयं कोशाधि ठाता न करे । जिसके कोश में जो वस्तु है वह उसका उपयोग न करे यही तापत्र्य है । इसी नियम पर चलने से समाज में शांति वस्ति रह सकती है । कहना न होगा कि इसी उद्देश्य

सिद्धि के लिए ऋण व्यवस्था व्यवस्थित हुई है। ब्राह्मण ज्ञान का काश है चात्रय पराक्रम का कोश है वश्य सम्पत्तकोश है शुभ शिपकलानुग सेनाभान का काश है। चारो वण चारा के काशा यन ह। ब्राह्मण का ज्ञान समान की शांति में आहुत है चात्रिय का पराक्रम समान की वृष्टि में आहुत है ऋण की सम्पत्ति समाज की तुष्टि में आहुत है एत शुभ का सेवावन समाज की पुष्टि में आहुत है। इह अपनी स्वरूपरक्षा के लिए इस कोश से कुछ भी लेने का अधिकार नहीं है। लेने अवश्य लग पर तु आहुत का शेष भाग। इह यज्ञोच्छिष्ट से ही स्वरूपरक्षा करने का अधिकार है— यज्ञशिषाशन स तु। एव ये निधूतकामि वष रह सकते हैं। हम हमार लिए नहीं अपितु समाज के लिए है यही सबहत्तयज्ञ समाजशांति दूसरे शब्दों में समाजस्वातन्त्र्य की मूलप्रतिठा है। पारस्परिक अनुशासन में ही सत व्रता का बीज प्रतिष्ठित है।

यदि लक्ष्मी मन्त्री कुम्भकार आदि अवांतर सामान्य भी कोशाध्यक्ष अपनी सा मी को अपना साक्षात् हव्य बनाल तो क्या परिणाम होगा? यह उही विचारशीलो से प्रष्टय है। शक्तिघन है। उसे स्वयं सत्त्वाद्रूप से उसके उपयोग का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। शक्तिघन को यह अवक रहता ही नहीं। क मरी शक्ति कहा कत्र कितनी कयो कसे खच होरही है? यही एक ऐसी विषमता थी जिसे रोकने के लिए ही इसका एक मन्त्री बनाना आवश्यक समझा गया। उही मन्त्री उही रक्षक वही सनिक वही उपासक वही पूजक भिश्य म पुरुष नाम से व्यवहृत हुआ है।

भावुक जन कहत है—पश्चिमी दशोंन सलिए उन्नति की है कि उहाँ स्त्रिया को पूरा स्वातन्त्र्य प्राप्त है। सुस्वागतम्? आप और आपका भारतवर्ष तो पश्चिम नहीं है। उसका नाम है— पश्चिमी कम्मभूमि आर्यावत्त—भारतवर्ष। क्या आप यह चाहते हैं कि पूरा पश्चिम बन जाय कम्म अकम्म बन जाय भारतवर्ष कतुमालवर्ष बन जाय? प्रकृत से ही पूछ देखिए दर वह इस सम्बन्ध में क्या समाप्त प्रदान करती है?

प्रकृत कहती है कि पूरुवदेशों में मै इन्द्ररूप से प्रातिष्ठित रहती हूँ एव पश्चिमीदशों में मेरा गरुणरूप प्रधान है। इन्द्रदेवता अग्नि के अनुयायी हैं एव वरुणदेवता सोम के। अतएव अग्निप्रतिष्ठारूप दक्षिणादिक इन्द्र की भी एव सोमप्रतिष्ठारूप उत्तरादिक वरुण की भी मान ली जाती है जैसा कि निम्न— लिखित वचनों से स्पष्ट है।

इन्द्र—

- १— अथ यत् पुरस्ताद्वासीद्रो राजा
[न उ ३।२१।२]।
- २— अथैन [द्र] प्रायाम् ऐ ८।१४।।
- ३— प्राचीदिक अग्निदेवता
[त २।१।५।१]।
- ४— दक्षिणादिक इन्द्रोदेवता
[तै ३।१।५।१]।
- ५— वृषा वा इन्द्र [को २।३]।

वरुण—

- १— अथ यत् पश्चाद्वासि वरुणो राजा ।
प्रतीची दिक् वरुणोऽवपति
(अथ ३।२।३)।
- ३— प्राचीदिक सोमो देवता
[तै ३।१।६।१]।
- ४— उत्तरा हौ सोमो राजा ऐ ८।।
- ५— एषा वै वरुणस्य दिक्
[तै ३।८।२।४]।

* इन्द्रा नीरूप पुरुष पुरुषसृष्टि का एव वरुणसोमरूप स्त्रीसृष्टि का आल वन बतलाया गया है। इन्द्राग्निप्रधान पृथिवीदेश पुरुषसृष्टि की प्रधानता के द्योतक है एव वरुण-सोमप्रधान पश्चिमीदश स्त्रीप्रावाय के सूचक है। अस प्राकृतिक भेद के अनुसार अत्रय ही दोनों के आदशा को भिन्न भिन्न ही माना जायगा। और यही भेद यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा कि मारी प्राणप्रवाना दाम्पय्ययत्रम कभी उनक भूतप्रधान दाम्पय्यी इन स समतुल्य नही होसकती।

जाने दिये प्राकृतिक कारण को। जिन पश्चिमी देशोने शक्ति को अरक्षित कर लिया है उन के लिए आज वही शक्ति व सवसहार का ही उपक्रम बन चुका है अस न नसय को कौन स्वीकार नही करेगा ?। आ यनारी की स्वरूप प्रतिष्ठा तो इसी में है कि वह अपने आपने स्वतंत्र न समझ कर अपनी स्वतंत्रता का आधा भाग पुरुष को ही समझे। उधर आ यपुरुष का यह कतय है कि वह अपनी स्वतंत्रता का उपयोग इनके सहयोग से ही करे। दोनों की सदभावना ही हम। दश का अयय कर सकती है।

सुधारवादी महोदय आवश में पडकर यह भूल जाते है कि हम रूढियों का जो सुधार करना चाहते है वह सुधार वास्तविक सुधार नही है अपितु यह तो पश्चिमी दशो का विशुद्ध अनुकरणमात्र है। और इस अनुकरण की तुलना मे यह निस्कोच क। जासकता है कि जो अनुकरण जो सुधार जो स्वतंत्रता हमारा मूल नाश करने के लिए ही मुह बाए पडी है हानिकर एव अशास्त्रीय पद की प्रग के निरुद्ध सुना पडने वाली जिन भी मपातज्ञाओं की ओट में आध्यनारी को आज जो निल जता का पाठ पढाया जा रहा है दूषित जाति-भोजो के सुवार के नाम पर पश्चिमानुकरणप्रधान जिन प्रीतिभोजा (पाटियो) का समथन किया जा रहा हे इन सब अक्काड ताण्डवा की तुलन में तो हमारी परतंत्रता हमारी दूषित प्रथा ही कही अछी है। इस लिए कि उन सुधारो से हमारे मूटा पर प्रयत्नरूप से ही आक्रमण हारहा ह

अस्तु जिस युग मे धर्म एक ठेकेदारी की वस्तु बन कर अधम्म प्रसार ही कर रहा हो जहा नश्यति बहुनायका आभाणक ही सर्वा मना चरिता हो रहा हो वहाँ के सुधारकत्रयु यदि सुधार के नाम पर त्रिगाड का प्रसार क तो इसमें उनका को भी दोष नही माना जासकता। देशकाल की परिस्थिति का विचार भी आवश्यक है जिस शासन से हम शासित ह उसकी सया का भाव हम पर न पडे यह भी असम्भव है। इन सब तयो को लक्ष्य में रखते दु पारस्परिक वैमनस्य का परियाग कर देश के त्रिद्वानों एव सुधारनेताओं के सम्मिलित परामश से कोई ऐसा मयमपथ निकलना ही चाहिए जिससे सामयिक परिस्थिति का भी आदर किया जासके एव साथ ही पश्चिम पूर्ण के इस भयानक सघष के मय में पडी हड अपनी मौलिकता की भी येन केन रूप से रक्षा की जासके। अभी तो यही कहना पडेगा कि धर्मानुयायी धम्मनेता एव समाज तदनुयायी समाजनेता धर्मा सुधार प्रसार के नाते अरम्म-त्रिगाड ही कर रहे हैं। इन पाक्त्यों के असमथ लेखक के प्रजाकोश में अपनी लोभ शाति के लिए इस के अतिरिक्त और क्या बच रहा ह कि वह दयानिधि से प्रार्थना करे कि भगवन् !

* इस विषय का अवश त्रिधेवन गीताभाष्यभूमिका के प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

यथा चेतमि मोह मत्सर मद भ्रात समुज्जम्भते ।
तेऽयं दयया दयाघनप्रिभो ! स तारणीयास्तथा ॥

—*—

उक्त दा पयरहस्यविज्ञान से अत्र यह सिद्ध हाचुका ह कि आर्यावत्त के कारणिक ऋषियोन स्त्री-जाति के लिए जिन नियमों का विधान किया ह व सब उसके अयुथान के ही कारण हैं। स्त्री की ऋतमया अतए ।सयशू या सोम्या वृत्ति को लक्ष्य मे रखकर एक स्थान पर तो भगवान् मनुने यहातक कह वाला ह कि--

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवान्द्रियग्रामो विद्रासमपि कर्षति ॥

—मनु २। १५।

माता बाहन दोहित्री आदक साथ भी पुरुष के निज्जन घर म नहीं पैठना चाहिए क्या मनु का उक्त विधान उपहासास्प है ? । सुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए । पर्दे क प्रिराध की आदक आर्यनारी को उद्दामवासनाया सत पाश्रम क प्राङ्गण मे ताण्डपनृत्य के लिए खडा करना क्या स्त्रीजाति की उन्नति का माग है ? । खूब सोचिए ! "यो यो आपावकबुद्धि से नस दुरूह प्रश्न का मनन करे जायगे यो यो आपकी विवकशालिनी बुद्धि चिरतन ऋषियों के पुरातन सिद्धांतों की ओर निश्चयेन आकर्षित हाती जायगी ।

हा तो प्रकृत में हमें उक्त सद्म से बतलाना यही था कि स्त्रों साम्या है ऋतभाजापना है । नस ऋतभाव को प्रतिष्ठित करने के लिए ही रक्षात्मक-मर्यादास्वरूप योक्त्र से पनी का सत्रहन किया जाता है । याक्त्रधन के इसी प्रथम कारण का निरूपण करती ऽ श्रुति कहती है—

“योक्त्रेण हि योग्य युञ्जति” * ।

*— योक्त्रेण ।ह यो य युञ्जति वचन भारतवर्ष की विज्ञानस मता प्राचीन स्त्री कीपुरातन वशभूषा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है । अवश्य ही उस युग में भारतीय-आर्यनारी का अधास्त्र वैसा की रहा होगा जिस में सूत्र मयी किंवा रेशम की रजु (डोरी) प्रत रहती होगी जिसे कि आज की राजस्थानीया-प्रातीया-भाषा मे- नाडा कहा जाता है । नाडा निश्चयेन वैदिक युग के योक्त्र-बन्धन का ही प्रतिरूप है । परमसास्कृतिक महत्भाग्यशाली राजस्थान में तो आज भी यहाँ की गृहदवियों की सुसास्कृतिककी वेशभूषा में योक्त्ररूप-नाडाबन्धन रूप से सुसमवित सुप्रसिद्ध घाघरा नामक अधोवस्त्र ही उपलब्ध होरहा है जिस की ग्रथि भी उनी पद्धति से समवित है । एतदतिरिक्त रास्ना नामक आभूषण की प्रतिरूपता का भी अत्र समावश हुआ है । राजस्थान की नारी का सुप्रासद्ध काञ्ची नामक (कणकती) आभूषण भी वैदिक-युग की- रास्ना ही है ।

अपिच—पनी का नाभ से नीचे का प्रदश अनेक कारणों से अवित्र माना गया है। नाभि से नीचे गर्भाशय में शोणित रहता है। इसी शोणित में शुक्राहुति होने से प्रजोपत्ति होती है। ऋतुमती त्री के शाणित में तमोभाव के प्रवृत्त कसूयविराधी अत्रिप्राण की सत्ता रहती है। अतएव ऋतुमती को आत्रेयी कहा जाता है। यह आत्र अमा को मलिन करने वाला प्राण है। अतएव आत्रेयी के स्पश का व मशास्त्र ने सवथा निषेध किया है। यही पाहला अमेध्यभाज है। गर्भाशय में शुक्रशोणित के मिथुनभाव में क मभाक्ता भावनावासना से भावित वासित औपपातिक जीवा मा प्रविष्ट होता। पापमयी वासना ही जीव के गर्भाशन में प्रवृत्त का मुख्य कारण है। यही दूरा अमेध्यभाज है। न सत्र अम यभावों से पनी का नाभि से नीचे का प्रदश अम य माना गया है। अमे यभाव क समावश से मे ययज्ञ सदोष जन जाता है। धर केवल पनी का यज्ञ में योग ही नहीं होता। आपतु मत्र बोलत हुए इस यज्ञाङ्गभूत आ य का दशन करना पडता है। आ य प्रष्ट विज्ञान के अनुसार (आ यामिक प्राणदेवताओं के साथ) आधि-दविक प्राणदे तान्ना का सङ्गमन (ग्रथिबन्धन) करवाने वाले आ य नामक प्राण का प्रतिकृतिरूप यह आ य सवगा मे य है। यदि अपने अम यभाव का अवरोध न करती हुई यजमानपनी म य आ य का अवलोकन कर लेगी तो आ य का म यभाव नष्ट होजायगा। इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए (पनी के अमे यभाव का अवरोध करने के लिए) भी योक्त्रबन्धन किया जाता है। योक्त्र-बन्धन की यही दूसरी उपपत्ति है ॥१३॥

पनी के ऊपर ही योक्त्र बाधा जाता है। अलोकाग्नि में सोम की आहुति होने से श्रद्धा नाम से प्रसिद्ध चा न पाना उपन्न होता है। पज यान में श्रद्धा की आहुति होने से वृष्टि का ज म होता है। पार्थिवाग्नि म वृष्टि की आहुति होने से कापासादि ओषधिया उपन्न होती है। जिस कार्पास (कपास) से त तुग्राय (जुला) ताना बाना लगा कर वस्त्र सपन्न करता है वह वस्त्र उप युक्त पञ्चाग्निविद्याक्रम से वास्तव में ओषधिरूप ही है पानी ही ता रूपम ब्रता है। कपास ही तो वस्त्ररूप म परिणत हुआ है। पानी में रहने वाला सत्रणधर्मा* वाला प्राण ही वरुण कहलाता है। ग्रथिबन्धन करना इसी प्राण का स्वरूप म है। आप जहा कही जसा भी बन्धन देगते हैं—वहा सत्र वरुणप्राण की ही सत्ता है। अतएव वरुण का पाश (बन्धन) का आवष्टाता माना जाता है। वरुणपारा सुप्रसिद्ध है। आपोमय होने से ओषधिरूप वस्त्र वरुणदेवतामय है। इधर जिस योक्त्ररूप रजु (रती) से मनहन किया जाता है वह भी बन्धन की साग्नि होने से वरुणदेवतामयी ही है। यदि वस्त्र के उप स वारुणी रजु का सत्रहन होता है तो यह रजु (रजुगत वारुणप्राण) शरीराग्नि को किसी प्रकार की पीडा नहीं पहुँचाती। वस्त्र सजातीय है। अत उस पर वारुणी का आक्रमण नहीं होता। पनी का वरुणाघात से बचाने के लिए वस्त्रों के ऊपर ही योक्त्र-बन्धन किया जाता है ॥१४॥

अदि ये रास्नासि यह मत्र बोलते हुए ही मनहनकम्म किया जाता है। प्रथिनी का जो भाग सूर्य की ओर रहता है दूसरे शर्दों में—पृथिनी के जिस भाग पर सो प्रकाशमय प्राणदेवता अविच्छिन्नरूप से आते रहते हैं पृथिनी का वही अहर्भाग अदिति कह जाता है। यही अदितिपृथिनी प्राणदेवताओं को अपने गम में रगती हुई शर्दों में प्रसु रू-आदिय अश्वनीकुमार न्न ३ सा प्राणदेवताओं का स्वप्न-सम्पादन करती हुई जहा अन्तिभिर्माता इयादिरूप से देवताओं की माता कहलाती है वहाँ वही

*— तवा एत वरुण स त वरुण इयाचन्ते परोक्षेण ।

अदित उक्त प्राणदेवताओं का भोग—साधन बनती हुई प्रकृत ब्राह्मण में देवपनी—नाम से भी यवहृत हु है । पदाथविद्या में—पति—पनी—पुत्र—पिता स्वसा—दुहिता—आदि सब यवतारों का परस्पर माकथ्य है । पिता पुत्र बन जाता है । पनी माता बनजाती है । माता पनी बन जाती है । पुत्र पिता बन जाता है । पति पत्निया के सी वज्ञानक रहस्य को लक्ष्य में रखकर वाजश्रुति कहती है—

‘स एष पिता पुत्र । यदेषोऽग्निमसृजत तेनषोऽग्ने पिता । यदेतमग्नि सम-
दधात् तेनेतस्याग्नि पिता । यदष दानमसृजत—तेनष दवाना पिता । यदत दवा समदधु
तनतस्य देवा पितर । उभय हैतद भवति पिता च पुत्रश्च’ ।

—शत ब्रा ६ का १। १२६। इति ।

प्राणदेवताओं की समष्टि ही यज्ञ है । अदितिपृथ्वी इस यज्ञप्रजापतिरूप यजमान की पनी है । इधर चा द्रगामता इस अदिति से ही स्त्री की उत्पत्ति होती है जसा कि पूरुम बतलाया जाचुका है । यही अदिति की प्रतिकृति है । साक्षात् अदिति है । अत इसके लिए हरजु ! तुम अदिति के लिए रास्ना (मेखला-काश्ची-कडोर कणकती आदि नामा से लारुभावा मे प्रसिद्ध) हा यह कहा गया है । जबतक रज्जु रज्जु है तबतक वह अवश्य ही वरुणभाव से आक्रांत है । यद्यपि वस्त्रों के उपर बाधने से रज्जु का वरुणभाव एकप्रकार से शांत होजाता है । फिर भी पर परया तो वरुण का आक्रमण प्राप्त हो ही जाता है । इसी विप्रतिपत्ति को मन्त्रभावना से सवथा विदूर करने के लिए दूररे शदों में रज्जुगत वरुणभाव की सवथा निवृत्त के लिए ही इस रज्जु में रास्ना (मेखला) की भावना की जाती है । यह रज्जु रज्जु नहीं अपितु रास्ना है । पनी का आभूषण है । बाधन क स्थान मे यह ता सादृश्य का ही साधन है—यही तापय है ॥१५॥

यद्यपि रास्ना की भावना से योक्त्ररूपा रज्जु का वरुणभाव हट गया है । फिर भी यद योक्त्र के दक्षिण उत्तर—पाशाग्र मे ग्रथिबधन कर दिया जायगा (दोनों अग्र भागों में गाठ लगादी जायगी तो) पुन यह योक्त्र वरुणभाव से युक्त होजायगा । कारण पूव कथनानुसार ग्रथिरूप पाशबधन के अविष्टाता वरुण हो है । अत गाठ सवथा नहीं लगानी चाहिए ॥१६॥

यदि गाठ नहीं लगाइ जायगी तो योक्त्र स्वस्थान में अवास्थत (रुका) कैसे रहेगा ? इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय है ऊव भाग में पाशाग्र को लक्षित कर दना । जिस क्रम से ऊव की ओर उदगूहन किया जाता है वह पद्धतिनिरूपण प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । विष्णार्वेण्योऽसि यह मन्त्र बोलते हुए ही योक्त्र का ऊव उदगूहन किया जाता है । पनी यज्ञ का पश्चिमाद्ध भाग है यह बतलाया जाचुका है । बिना पनी के यज्ञ स पन्न नहीं हाता अत हम इस यजमानपनी को अवश्य ही विष्णुरूप यज्ञ की किंवा यज्ञरूप विष्णु की स्वरूप सम्पादिका कर सकते हैं । इधर ऋतभावापन्ना पनी का योग योक्त्रबधन पर ही निर्भर है । योक्त्रबधनरूप ऊव उदगूहन का प्रधान साधन योक्त्र का दक्षिण पाशाग्र ही है जसा कि पद्धति में बतलाया जाचुका है । दक्षिण में अग्नि सत्ता (ऋतुयज्ञसमपक ऋताग्नि की सत्ता) रहती है । ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति होने से ऋतुसमाष्टरूप सम्भव सरयज्ञ स पन्न होता है । यज्ञ ही विष्णु

है। दक्षिणपार्श्व में यही दक्षिणस्थ अग्निमूर्ति यज्ञविष्णु प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर हे दक्षिणपार्श्व! आप विष्णुरूप यज्ञ के वेष्टन हैं। यज्ञ के स्वरूप सम्पादक हैं। इस मंत्र के द्वारा यही मानना रचत हुए उसका (दक्षिणपार्श्व का) ऊपर की ओर ही उदगृहण किया जाता है।

अब केवल यह प्रश्न बच जाता है कि जैसे यज्ञकर्म में युक्त यजमान अत्र यु-होता उदगाता ब्रह्मा आदि ऋषि ऋषि के अत्र बैठने के स्थान पर है तथैव इस पत्नी के बैठने का कौनसा नियत स्थान है? इसी प्रश्न का भोपपात्त समाधान करती हुई श्रुति कहती है

यायप्रा तत्रात तो यह है कि यजमानपत्नी को गाहपयानिकुण्ड के ठीक पश्चिम में पूर्वमुख करके ही बैठना चाहिए था। अर्थात् पत्नीशाला का निर्माण गाहपय से पश्चिम में ही होना चाहिए था। कारण स्पष्ट है। प्रकृति में सूर्यरूप आहवनीय पूर्व में है। पृथिवीरूप गाहपय उससे पश्चिम में है। पश्चिमस्थ भूपिण्ड (अर्थात् युपलक्षित भूपिण्ड) देवताओं की पत्नी है। पश्चिम में प्रतिष्ठित होती हुई पृथिवी (भूपिण्ड) सूर्य की ओर (पूर्व की ओर) चलती हुई घूम रही है। पश्चिम से पूर्व की ओर जाती हुई सवसर का स्वरूप सम्पादन करती हुई अर्थात् पृथिवी ही सौरप्राणदेवताओं के सवसर-यज्ञ का स्वरूप-संपादन कर रही है। यजमानपत्नी इसी अर्थात् पृथिवी के स्थान में है। इधर सवसरायज्ञ के पूर्वभाग में अवस्थित चतुरस्र (चौकोर) आहवनीयकुण्ड पृथिवी की प्रतिष्ठा है। एव वेदि से पश्चिमदिक् में अवस्थित वचुल गाहपयकुण्ड अर्थात् पृथिवी का स्वरूप है। यही स्वरूप यजमानपत्नी का है। अतः उसे स्वस्थानभूत (अर्थात् स्थानभूत) गाहपय के ठीक पश्चिम में ही बैठना चाहिए। परंतु ऐसा न कर गाहपय से दक्षिण नैऋतमेग मे ही पत्नीशाला बना जाती है। कारण इसका यही है कि यदि पृथिवी-स्थानी। गाहपय के समीप पश्चिम में पत्नी को ब्रूया जायगा तो यह पत्नी परिभ्रमण करती है पृथिवी के साथ युक्त होजायगी। पारिवर्गति में आरूढ होजायगी। एव जैसे पृथिवी सवसर के भीतर भीतर (परिभ्रमण से) पृथिवी में पहुँच जाती है तथैव इम की गतिभावना से आकर्षिता यजमानपत्नी भी घट्टलोक में चली जायगी। पत्नी को इसी घट्टलोकगमन से बचाने के लिए प्रकृतिसिद्ध अथ स हटाकर गाहपय से दक्षिण नैऋतकोण में ही प्रतिष्ठित किया जाता है ॥? ॥

इति पत्नीसनहनोपपत्ति

—*—

३—पत्नीक्रताज्यावेक्षणोपपत्ति —

पत्नी योपाप्राणमया है। इधर अत्र यत्नरूप होने से वृषाप्राणमया है। अत्र य (घृत) दुग्ध का कारण है। दुग्ध अपि विकार है। अपि पानी से उपन्न हई है। पानी सोम का विकार है। सोम अत्र साक्षात् रेत है। उही सोम परम्परया अत्र यत्नरूप में परिणत हुआ है। ऐसी अवस्था में अत्र य को अवश्य ही रेत कहा जासकता है। भाष्यारम्भ में वह बतलाया जाचुका है कि प्रजोपपत्ति में स्त्री पुरुष का मिथुनभाव कारण नहीं है अपितु योपा वृषाप्राण का मिथुनभाव ही प्रजोपादक

ह। न प्राणो का सयाग दृष्टिसूत्र से भी होसकता है। पुराण मे ऐसे अनेक आर्याण उपलभ्यते ह। कि अमुक ऋषि ने अमुक स्त्री की आरकाभ्यासना से देखा एतन्निष्पन्नं स त्र प्रमात्र स गभामान होगया। यदि आमा निर्विकार है भाव प्रबल हैं तो ऐसा होना का असम्भवनी है। मय आमा का रय सत्र प ऋभी यथ नहीं जाता। यह आयरूपा रेत-आहुति प्रजापति का काण बनने वाला है। इसम यजमानपनी का योषाप्राण भी सयुक्त होना चाहिए। बिना सके यजमान का यज अत्रूरा र ता है। योषाप्राणामक इसी मिथुनभाव की प्रात के लिए पनी को रेतोरूप आ य के दशत करए जाते ह ॥१८॥

यदि चक्षुमें किसी भी प्रकार का भाजदोष एव किटमलादि का आवरणदोष रहत ह ता योषाप्राण का आ य में प्रवश नहीं होसकता। मेरे चक्षु सवथा निदृष्ट है—म निदृष्ट चक्षुआ से हा आ य दरती ह अदधेन वा चक्षुषा पश्यामि यह मात्र भाग सी भावना का दन्मूल बनाता है। आन—जाला ही अग्नि की जिह्वा है। सा त ही यह भी सिद्ध विषय है। क जबतक आ न प्रदीप्त नहीं हाता तबतक प्राण वता प्रदीप्त नहीं होते। जबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं हाते तबतक आहुति साथक नहीं बनती। आहुति ना सफल होना प्राणदवताओ के आगमन पर हीनिभर है। प्राणदवताओ का आगमन प्रदी त(समिद्ध)आ न पर ही निभर है। अग्नि की प्रदीप्ति आयाहुति पर हीनिभर है। अग्नि को प्रदीप्त कर अग्नि म प्राणदवताओ का प्रतिष्ठत करना आ य का ही काम है। अत हम अवश्य ही आ य को अग्नि का पोषन आह्वान करने वाला जिह्वा स्था नीय मानसकत हैं। आहुतद्र य स। द या मा का शरीरान माण हागा— त्रप्रयोग सफल हाग। य सत्र क म आ याहुति पर ही निभर हैं। आ य के सी स्वरूपध म मी भावना करत हुए अग्नेजिह्वास इयाद मात्र बोलत हुए ही आ यदशन किया जाता है ॥१९॥

इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति

—*—

४५६ परिशिष्ट कर्मानुगता (आज्यस्थापन, आज्यप्रोक्षणी का उत्पवन एव अध्वर्युकृत आज्यदशन) उपपत्ति—

पहिले के कर्मों में यह बतलाया जाचुका है कि यशिय द्रव्य के परिपाक के सत्र व मे दो मत हे। गाहप याग्नि में हविद्र य का परिपाक करना पाहला पक्ष है। एव आहवनीय म परिपाक करना वृमरा पक्ष है। दोनों ही पक्ष श्रुतिसिद्ध है। इन पक्षों में यह नियम अवश्य है कि गाहप यपक्ष में गाहप या। न म ही एव आहवनीयपक्ष में आहव नीयानि मे ही हवि का परिपाक होता है। यदि प्रकृत यज्ञकर्त्ता यजमान आहवनीय में हविद्र य का परिपाक करता है तो इस पक्ष में दोष आता है। आ य भी एकप्रकार से हावद्र य है। इसका भी आहवनीयपक्ष में यायत आहवनीयाग्नि में ही परिपाक होना चाहिए। ऐसी अत्रस्था मे यदि पुरोडाशाधिश्रयणकाल में ही आज्य का भी आहवनीयाग्नि में अधिश्रयण होजाता है तो पनी इसका अवक्षय नहीं कर सकती। कारण पनी का स्थान गाहप य है। आ यदशन का अवधान सी स्थान पर है। यहा से आ यदरानाथ आहवनीय के समीप जाना प्रतिष्ठा स युत होत हुए यज्ञस्वरूप विकृत करना है। पनी

को आ यदर्शन कराना आश्रयक है स विचार से आहवनीयाधिभ्रयण के बीच में ही अ ययु आ य को गाहपय के समीप तारर प नी को अयत्न कराने यह भी पद्धति के प्रातकूल है । एव पद्धतिविरुद्ध क म यज्ञस्वरूप का घातक ह । नम विप्रतिपत्ति को हटाने का माग प नी को आ य न दिग्गलाने पर पर्यवसित मान लिया जाय यह भी संभव नहीं ह । यदि प नी ने आ यायत्न न किया तो उसका यज्ञ से पृथक्करण होजा यगा । नसप्रकार आहवनीयाधिभ्रयणपक्ष में न अ ययु प नी के समीप आमकता न प नी आहवनीय के समीप जासकती न प नी को आ यदर्शन से वञ्चित किया जासकता । यदि गा प याधिभ्रयण पक्ष ह तब तो किसी प्रकार का दोष नहीं आसकता । कारण इस पक्ष में आ याधिभ्रयण भी गाहपय में ही होता ह । ऐसी अवस्था में गाहपय के समीप ही नश्रुत कोण म बठी हइ यजमानप नी के आ यदर्शन में किसी भी प्रकार की अयु पपत्ति नहीं होती । पर तु आहवनीयपक्ष म उक्त विप्रतिपत्ति को दूर करने का क्या उपाय ? नसी प्रश्न का समाधान करत हुए श्रुतने यह उपाय बतताया है कि आहवनीयाधिभ्रयणपक्ष में प्रोडाशाधिभ्रयणकाल में आ याधिभ्रयण नहीं करना चाहिए अपितु जब प नी के आ यावत्क्षण का समय आत उस समय पहिले अग या आभ्य का गाहपयारिण में अधिभ्रयण कर लेना चाहिए । जब प नी गाहपयसमान में ही आ यावत्क्षण करतो तो आहवनीयाधिभ्रयणपक्ष की प्राप्तमर्त्यादा को सु क्षित रखने के लिए पुन (आ यावत्क्षणान तर) आह नीयाग्नि में आ याधिभ्रयण क लेना चाहिए । अधिभ्रयणान तर आ य को देवप्राणयुक्त वेदिमण्डल पर रख देना चाहिए । २ । २१। २२। २३। २४।

आपामया मररसा सप्रमापामय जगत् (महाभारत) इस सिद्धांत के अनुसार यह दृश्य-भूतभौतिक-पञ्चपर्वा विश्व * अपने मूल म-अपत्तत्त्व को ही प्रतिष्ठित रख रहा है । अर्थात् पाञ्चभौतिक विश्व का भौतिक उपादानद्रय अपतव ही माना गया है जसाकि नि नलिगित मनुवचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्यात् सिमल्लुर्विविधा प्रजा ।

अप एव समज्जादो तासु बीजमवासजत् ॥ (मनु १। ८।)

ऋक्-यजु-साम-नामक भौतिक-अभिप्राणा मक अपोरुषेय-त वा मक-वद से कृतरूप अ यक्त प्रजापति अपने ऋक्सामानुगत यजु के-जू रूप वागमाग से सवप्रथम अप् रूप में ही परिणत होते है जो कि यह अपतव म पूर्ण विश्व को व्यात आत करने के कारण आप नाम से एव अण्डरूप से सम्पूर्णा विश्व का वरण करने से वा (वारि) नाम से प्रसिद्ध हुआ है । तत आण्ड समवर्त्त के अनुसार नम अपतव के परिवर्धन से ही अ यक्त ब्रह्म अण्ड रूप में परिणत हुआ है । इसीलिए उस अ यक्तब्रह्म

* स्वयम्भू परमेष्ठी-सृग्य-च नमा प्रथित्री ही क्रमश आकाश-वायु-तेज-जल-मृत् नामक पञ्चमहाभूत हैं एव नन पाच पर्वों से ही पञ्चपर्वा विश्व का स्वरूप निस्माग हुआ है जिसका उपादान द्रय अपत्तत्त्व ही माना गया है ।

— सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव सा ऽसृज्यत । सेद सर्वमाप्नोत् यदिद ाकञ्च । तस्मात् आप । सर्वमवृणोत् तस्माद् वा वारि । (शत ६। १। १। ८।)

का यह पञ्चपर्वा मक आपोमय विश्व ब्रह्माण्ड नाम स प्राप्त हुआ है। अकृत ब्राह्मण की २५ वी कण्डिका के— तन्दिम सु पयो इतम् स रहस्यपूर्ण निगम के द्वारा अपतय का ही— नीर क्षीर विवेक हुआ है।

हसानुगत नीर-क्षीर विवेक नामक लौकिक-न्याय लोक में सुप्रसिद्ध है जिसका लोकप्रसिद्ध याय मूल आवार तदासु पयो इतम् (सा यह घृत पानी म प्रतिष्ठित है) यही वचन बन रहा है। नीर आप (पानी) है एव-क्षीर आप (घृत) है। इस पार्श्वभौतिक-विश्व के मलोपादनभूत विश्व की सीमा में विश्व के गम में नीर भी है और क्षीर भी है। अर्थात् आप भी है और आज्य भी है। पानी और दूध (आय का मौलिकरूप) दोनों के समिश्रण का नाम ही विश्व है।

अपनी आस्थामयी सौम्या पान-श्रद्धा को पुराणशास्त्र के स्वायाय एव श्रवण से धय-कृत-कृत्य करते रहने वाले मानवश्रेष्ठों के लिए यह सुनिश्चित ही है कि पुराण-कथानुसार त्रिलोक्य के पालनकर्ता भगवान् विष्णु अनन्त-शेषनाग की सुचिक्कणा-कोमलशय्या पर क्षीरसमुद्र में ही शयन कर रहे हैं। मानवीया प्रजा के अपराध से जब जल भी धमस्कम्भ (स्तम्भ) अवकम्पित होजाता है तो तब तब ही देवताओं की कर्षणापूर्णा प्रार्थना पर कर्षणावरुणालय शेषशायी भगवान् विष्णु क्षीरसमुद्र का पारयाग कर अशरूपेण श्रवणीण हुआ करते हैं। कोनसा है वह क्षीरसमुद्र जिसमें विष्णु शयन कर रहे हैं? समहान सप्रश्न का समाधान व्यवसायाभिका जिस नष्टिकी ज्ञानविज्ञानाभिका बुद्धि के द्वारा होता है वनी त वनिष्ठा बुद्धि-नीरक्षीराववेकशालिनीबुद्धि कहलाइ है एव दो श दो म आवकशालिनी उसी सब बुद्धि से सब ध रखने वाले—नीर-क्षीर-ववेक की ओर हम अपने वदनि ठ पाठको का यान आकर्षित कर रहे हैं।

स्वयम्भुव अयत्त त्रयीमर्त्ति प्रजापति के वागभाग से उपन्न सवत्र या त अण्डस्वरूप सम्पादक अप्तत्त्व का ही नाम है—परमेष्ठी इसी का नाम है भृवङ्गिरोमर्त्ति पारमेष्ठ्य विष्णु जिसका भागवत्त्व ही लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध हुआ है एव आङ्गिरसत्त्व ही सरस्वती नाम से प्रसिद्ध हुआ है जोकि सरस्वती ही श्री कहलाई है। सरस्वतीरूपा आङ्गिरसी श्री एव आम्भृगीरूपा भागवती लक्ष्मी ये ही दोनों आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु की पत्निया हैं जिनके सम्भव में—आश्च ते लक्ष्मीश्च पयो (यजु सहिता) यह प्रसिद्ध है। सैषा प्राकृत-स्थिति । स्त्रितस्यैव गतिश्चिन्तनीया नीरक्षीरविवेक बुद्ध्या।

पारमेष्ठ्य विष्णु का भृगुत्व ही अपनी घनावस्था से आप है तरलावस्था से वायु है एव विरलावस्था से—सोम है। आपो-वायु सोम-इत्येते भृगव (अति) के अनुसार इन तीनों तथो की समष्टि का नाम ही भृगु है जिनसे क्रमशः असुर-गन्धव पितर नामक तीन पारमेष्ठ्य प्राणामक सग अभिपत्त हुँ हैं। असुर आपोमय है गन्धव वायुय हैं एव पितर सोम्यास । हैं गन्धवप्राणात्मक

वायु यत व ही—वह अन त गेष नाग — (सपणशील यज्ञपराह नामक पारमेष्ठ्य महान् वायु) है जिस पर पारमेष्ठ्य ऋगु भगवान् शयन कर रहे हैं । पारमेष्ठ्य भार्गव आप ही नीर (पानी) है भागव सोम ही क्षीर (दूध) है एव दोनो का विभाजक है मयस्थ भाग्य शेषनागा मरु । ध प्राणा मक प्रायु । यो पारमेष्ठ्य सरस्तान् नामक महान् समु में नीर—क्षीर—प्रायु इन तीन तवो की सत्ता सिद्ध हो जाती है । इस तवत्रया को आधार बनाकर ही हमें नीरक्षीरात्मक विश्व का समव दखना है ।

क्षीरभाव दुग्ध है और सौ य है अर्थात् सोममय है जो कि यह सौम्य क्षीर उस आपोमय समुद्र में घुलमिल रहा है । मयथ वायु ही अस का नीर से पाथक्य करता रहता है एव इमी पाथक्य से इस सोममय क्षीर में चिदा मा [विष्णु] अभियुक्त होते हैं । चिदा मा की गभभूमि को महद्ब्रह्म माना गया है जो कि पारमेष्ठ्य पितरप्राणमय सौ य तव ही है एव इसके सत्र—रज—स्तम नामक तीन ता सुप्रसिद्ध गुण माने गए हैं एव सूर्यानुगत अहङ्कृतितिभाज्य चद्रमानुगत प्रकृतिभाज्य एव भूपिण्डानुगत आकृतिभाज्य ये तीन प्रकृतभाव माने गए हैं । षडभावापन्न यह पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति जननी—माता है जिसमें चिदा मा विष्णु गभधारण करते हैं । इसी भागव महद्ब्रह्म में चिदा मा क्योंकि गभधारण करते हैं इनके क्योंकि आय प्राय्य—सौम्य नामक तीन महिमा विवृत्त हैं अतएव महत्प्रहामूलक प्राणिसग आप्यजो । (जल क प्राणी)—प्राय्यजी । प्रायु क मान ।—पशु पत्नी—कीट—कृमि—प्राणी) एव सौम्यजी । (अर्णधि दे योनिंसग) नामक तीन प्रकार के ही माने गए हैं जिसका पृथक् पृथक् में यत्र तत्र सन्नेप एव विस्तार से स्पष्टीकरण हागया है ।

चिदात्मा विष्णु निसमे गभ धारण करगे । हीं क्षीर की अभियुक्ति होगी ए । यही मूलसत्र नीरक्षीरविवेक का मताधार माना जायगा । बात थोड़ी समझने जसी है । विश्वप्रजा को हम वृषासग योषासग भेद से दो भागों में विभक्त मानगे जिनके मूल पारमेष्ठ्य अङ्गिरा और भृगु ही बने हुए हैं । भृगु का सन्निहित नाम म सोम रख लेते हैं ए । अङ्गिरा का सन्निहित नाम अग्नि मान लेते हैं । आग्निसृष्टि ही वृषासृष्टि है एव पत्नी का नाम है पुरुषसृष्टि । सोमसृष्टि ही योषासृष्टि है एव

— पाच भूतों में स मृत जल तेज के निशेष होजाने पर वायु ही शेष बच रहता है जो प्राणवायु आकाशतत्त्व नि य ही माना गया है । यही भृगु के सम्बन्ध से महान् कहलाया है [यथाकाशगतो निय प्रायु स त्रिगा महान् गीता] । इस शेषता से हा यह सपणशील अन्वयवग से प्रोद्वयमान आसर वारुण्य प्रपूत व से विष्णाक्त बना हुआ पारमेष्ठ्य वायु अनतशेषनाग (सप) कहलाया है जो सोमसम्बन्ध से मसृण कोमल भी है ।

* —मम योनिम्महद् ब्रह्म तस्मिन् गभ दधाम्यहम् ।

सम्भव सर्वभूताना ततो भवति भारत ! ॥ १ ॥

सर्वयोनिषु को तेय ! मूय सम्भवति या ।

तासां ब्रह्म महद्द्योनिरह बीजप्रद पिता ॥ २ ॥

—गीता

इसी का नाम है—स्त्रीसृष्टि । नर [पुरुष] और मादीन [स्त्री] ये ही प्रमुख दो विश्वमग हैं । आनेय पुरुषसग तथा सौम्य स्त्रीसग दोनो ही सग शरीरानु धेन आपोमय ही हैं जसा कि— इति तु पञ्चम्यामाहुताग्राप पुरुषवचसो भवात् याद ह्यु दो यवचन स स्पष्ट है । वृषामक पुरुषो का शरीर भी आपोमय ही है एा योषामका स्त्रियो का शरीर भी आपोमय ही है । कि तु इन दोनो आपोमय शरीरो की मूलप्रकृति पृथक पृथक है । आग्नेय वृषा पुरुष की प्रकृति की मूलप्रातण जहा अग्नि ही है वहा सौम्या योषा स्त्री की प्रकृति की मूलप्रतिष्ठा—सोम ही है । अतएव आग्नेयप्रकृतिप्रधाना—वृषामका—पुरुष की सृष्टि में शरीरानुधेन अपतव के विद्यमान रहने पर भी—सौम्य क्षीर [सोमामक दूध] की अभियाक्त नही हाने पाती । इधर सोमप्रकृतिप्रधाना योषामिका स्त्री की सृष्टि में उस के मूलप्रकृति रूप सोमभाव के अनुबन्ध से इस के आपोमय शरीर में क्षीर [दूध] अभिव्यक्त होपन्ता है । और या पुरुष और स्त्री इन दोनो आपोमय शरीरो म से एक स्थान पर [स्त्री के शरीर में] तो क्षीर अभिव्यक्त होजाता है एा एक स्थान पर [पुरुष के शरीर में] क्षीर अभिव्यक्त नही होता ।

जहाँ क्षीर अभिव्यक्त होगा वही चिदामा गम धारण करगे वही उसी क्षेत्र म प्रजननधम्म अभिव्यक्त होसकेगा । अतएव सौम्या क्षीरिणी मातृजाति ही महद्ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्वारा औपपातिक चिदश [जीवामा] को स्वगम मे धारण कर इस भातिक स्वरूप भी प्रदान करन में समथ बनती है एा अपने आपोमय शरीर में अपनी मूलभूता सौम्या प्रकृति से अनुप्राणित क्षीर स इस प्रजा का पाषण वद्धन करने में भी समथ बन जाती है । और यों त्रिश्वम्भर प्रजापति ने सृष्टिप्रक्रिया मे—सौम्या—योषा के आपोभाग मे ही—पय [क्षीर—दूध—] हित—प्रातष्ठित—क्रिया है—तदप्सु पयो हितम् । पिता के समतुलन मे माता का स्थान क्यों सर्जोच माना गया ? प्रश्न का मी यही मौलिक रहस्य है । जहा जहा सौम्य—योषा प्राण अभिव्यक्त होगा वही वही उसी उसी आप में अवश्य ही क्षीर अभिव्यक्त रहेगा । जहा जहा क्षीर अभिव्यक्त होगा वही वही चिदामा अभिव्यक्त होगा । यों इम नीर क्षीर विवक के मायम से ही मानव जीव के जीवत्व से परिचित होसकेगा सी परिचय से इसे स्वरूपबोध होगा एा यही स्वरूप

हसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् स क्विसृक्ति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि यदि हस नामक पत्नी के सम्मुख पानी और दूध मिलाकर रख दिया जाता है तो हस दूध दूध तो पीजाता है और जल छोड़ देता है । इसी आधार पर नीरक्षीर न्याय चल पडा है । स भव ह ऐसा भी हो । किन्तु हम तो हस मायता के प्रति कोइ आस्था नहीं रख रक । ऐसा केवल कवि की कल्पना का ही साम्राय माना जायगा । वस्तुगया तृतीय च हसमाहु अस श्रुति के अनुसार पारमेष्ठ्य ग घ्राणामक वायु का नाम ही हस है । हसामक यह पारमेष्ठ्य वायु ही अपनी मयस्थता से आप रूप नीर का तथा सोमरूप क्षीर का विभाजक बना हुआ है । और निश्चयेन इसी मौलिक सत्तासिद्ध कारण के आधार पर नीरक्षीर न्याय प्रक्रान्त हुआ है । यही पारमेष्ठ्य हस नामक वायुप्राण क्षीर के सहयोग स भोक्तासुपण बन कर मातृ गम में जम लेता है । अतएव जीवामा का एक नाम हस भी होगया है जसाकि शरीर रह गया और हसा उड गया इस लौकिक किंवदन्ती से मी स्पष्ट है । नीररूप आपोमय ब्रह्माण्ड में कर्मानुसार जम लेने वाला यह हसरूप भोक्ता सुपण (जीवामा) महद्ब्रह्मामक सौम्य क्षीर के तवबाधामक विभाजन से ही स्वरूपबोध में समथ बना करता है । और यही सका—नीर क्षीर त्रिवेक है ।

बोध उसके अ युदय नि अ यस का कारण बनेगा जिस इस प्रकृतिसिद्धा कारणता के आवार पर ही लोक में नीरक्षीर याय प्रकात होपता है । सौ य-क्षीरामका पारमे ठ्या जगमाता हैम ता उमा भगवती के अनुग्रह से ही अतिमानी देवताओने स्वरूप बोव प्रा त किया था जिसका केनोपनिषत् में वि तार स विश्लेषण हुआ है ।

उक्त प्रासङ्गिक नीर क्षीर विवक के मा यम से प्रकृत में यी रतनाना है कि —अपत व में ही प्रकृति ने सौ यासृष्टि [योषासृष्टि] के अनुग्रह से वह पय [दूध] प्रतिष्ठित किया है जिसका उत्तर परिणाम आ य [घृत] हा माना गया है दुग्ध न काप्यभूत आय योषारूपा स्त्री का प्रकृतिसत् प्रात ठात व ही माना गया है । यही क्षीरानुगत आय प्रजननध मर्ानुगता प्रजा का मत्तागर है । आज यज के द्वारा दवा मा का प्रजनन ी अपेक्षित है वह योषा पर ही अवलम्बित है । अतएव योषाप्राणामिका प्रचमानप नी की प्रकृति मद्द तदिदमप्सु पयो हितम् अस कारणता के के अनुग्रह से ही आय प्रशन (घृतप्रशन) करया जाता है ।

पत्रि से पहिने आय का प्रोक्षण किया जाता है अन तर आयमसग स आययुक्त बने हुण पवित्र से प्रोक्षणी पानी का पवन होता है । अस प्रोक्षणी-प्रोक्षण का ताप्य है पानी में पय का आगन । पानी मे एक प्रकार का जीवनीय रस होता है । वसी जीवनीय रस को लक्ष्य में रखकर जीवन भुजन वनम् इयादि रूप से पानी को जीवन कहा जाता है । सी जीवनीय रस को— यो व शिप्रतमोरस (यजु) ादि रूप से शिप्रतमरस नाम से यवहत किया जाता है । दि या मा इस जीवनीय शिप्रतम रस से युक्त वन इसी अभिप्राय से यह उ पवनक म किया जाता है ॥२३॥

ऋषिक दक्षिणाक्रीत हैं । ऋषिक यज्ञकर्म में अपने मन -प्राण गामय आय मा का जितना अशय करते है उतना भाग दक्षिणा के द्वारा पूरा कर दिया जाता है । यदि दक्षिणादान नहीं होता है तो यजमान के यज्ञा मा (दिया मा) में ऋविजो का भी आयमा समाविष्ट र जाता है । यही यज्ञ का क्षतभाव (अपूर्णता) है । इस क्षतभाव को दक्षिणा से दूर किया जाता है । दक्षिणाग्रहण से ऋविगण यज्ञ में जितने कर्म करते है दवताआस जो आशी मागत है—उन सबका सम्ब व यजमान के साथ ही होता है । अत अ वय्यु को ही आय यदशन क ना चाहिए । यजमान आय यदशन करै प्राचीनों का यह आय्र विज्ञानकोटि से सर्वथा बहिष्कृत अतएव अपेक्षीय ही है ॥२६॥

सूर्य स चक्षुर्दिद्रिय का निर्माण होता है । सूर्य स यमूर्ति है । पुराणने पारमे ठय समुद्रगर्भित योतिम्मय चि मूर्ति (सदा जाग्रत) इसी सौरविष्णु को (यज्ञ को) स यनारायण नाम से यवहत किया है । त्रयीमय अग्निर्नृत्ति अतएव सत्यसूरि स नि पन्न होने वाले चक्षु में सय की प्रतिष्ठा रहती है । मनु य के समीप चक्षु ही एक ऐसा साधन है जिसके आधार पर यह सयासय के निर्णय पर पहुँच सकता है । जब यजमान यज्ञ में दीक्षा लेता है तो—उसको— स वै स यमेव जदेत् यह आदेश दिया जाता है । इस आदेश के अग्रहितोत्तरभाल में ही अतिने पूवपक्ष उठाया है कि मनुष्य होकर सय बोले यह सर्वथा असम्भव है । क्योंकि मनुष्य अदृत्तसहित है । जब वह सय बोले ही नहीं सकता तो फिर उसके लिए— तुम सय बोलो इस आदेश का क्या महत्व रह जाता है ? । आगे जाकर अस पूवपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि यज्ञप्रजापति की ओर से पुरुष में चक्षु सय का निर्माण हुआ है । यह जैसा तेरे वैसा बोले

बस यहाँ पर उसकी सयभाषण मर्यादा समाप्त होजाती है। यही रहस्य श्रुति-स्मृति के साथ सम्बन्ध रखता है। वद को श्रुति क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के समाधान में वज्जानक पाश्चाय विद्वानों यह कहा कि वदकाल में लोपनक्ला का अभाव था। उस समय सुन सुन कर ही वेदमंत्र कल्पित कए जात थ। स अरण सत्र व स ही वद श्रुति नाम स प्रसिद्ध हुआ। हमारे विचार से पश्चाय विद्वानों श्रुति शब्द के उक्त अर्थ के सत्र व में बड़ी ही भूल की है। ऋषीन्द्र श्रुति श्रातुर्वाक्य स्मृति श्रुति स्मृति का यी अर्थ है। जिसने विषय के दर्शन किए हैं उसकी सुनाइ हुई बात हमारे लिए श्रुति है एव श्रुति के आधार पर मनन करके जिसने श्रुति के उपर्युक्त हितभाव को हमारे स मुख रक्खा है उसका वाक्य ही स्मृति है। द्रष्टा सयचक्षु से देख रहा है। अतएव उसके वाक्य की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सदेह नहीं रह जाता। अतएव द्रष्टा ऋषियों के वाक्यसंग्रह रूप श्रुतिशास्त्र को स्वतः प्रमाण माना गया है। स्मृति श्रयनुगामिनी। अतः से परतः प्रमाण माना गया है। प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि चक्षुराद्रिय अवश्य ही सयभावोपेत है। एसी आधार पर आखो देखी परशुराम कभी न झुठी होय यह किंवदन्ती प्रचलित है। यह चक्षु सय सयाग्नि है। अग्नि वृषा है। यजमानपत्नी ने अवज्ञण स आय में योषाप्राण का समावेश किया था यजमान का प्रतिनिधिरूप अव्यय आय में सयाग्निरूप वृषाप्राण का समावेश करता है। एव इन सत्र के द्वारा योषावृषा मंत्र यज्ञ को समृद्ध बनाता है ॥२॥

आय तेजोरूप है। आय नवद्वि करना आय का पहिला स्वभाव है। शुक्रवृद्ध करना दूसरा स्वभाव है एव अमृतपोषण करना तीसरा स्वभाव है। मन-प्राण-शुक्र-तीनों में शुक शुक्रतत्त्व है। प्राण तेज है। मन अमृत है। घृत से शुकमय शुक्र की वृद्धि हाती है। प्राणमय (आचमय) शरीराग्नि प्रवृद्ध होता है। एव मनोमय अमृतभाग का पोषण होता है। इसप्रकार य आय तेज शुक्र-अमृत रूप प्राण-शुक मन का पोषण करता हुआ भूतमा की समृद्धि का कारण बनाता है। घृत से बन कर आम समृद्धि के लिए और दूसरा कोई उत्कृष्ट साधन नहीं है। आय का वास्तव में यही गुण है। तजःसि शुक्र मस्यमृतमसि इस सयभावना से भावित होकर आय दर्शन करने वाला अवयु अणु ही आय को सयविभूति से युक्त करता हुआ तद्द्वारा दिया गया को सययुक्त ही बनाता है ॥२॥

—*—

इति-अनुवादप्रकरणम्

प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण
एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

—*—

अथ—प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्
“आज्यब्राह्मणम्”

१६—आज्यग्रहराकर्म

१—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

(मूल)—पुरुषो वै यज्ञ । पुरुषस्तेन यज्ञ —यदेन पुरुषस्तनुते । एष वै ताय मानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते, तस्मात्पुरुषो यज्ञ ॥ १ ॥

तस्येयमेव जुहू इयमुपभृत्, आत्मैव प्रवा । तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति । तस्माद्दु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ॥ ॥

प्राण एव स्रुव । सोऽय प्राण सर्वाण्यङ्गा यनुसञ्चरति । तस्माद्दु स्रुव सर्वा अनु स्रुच सञ्चरति ॥ ३ ॥

तस्यासावेव धाजुर्हू अथेदमन्तरिक्षमुपभृत्, इयमेव ध्रुवा । तद्वा अस्या एवेमे मर्वे लोका प्रभवन्ति । तस्माद्दु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ॥ ४ ॥

अयमेव स्रुवो योऽय पवते । सोऽयमिमान् सर्वान् लोकाननुपवते । तस्माद्दु स्रुव सर्वा अनु स्रुच सञ्चरति ॥ ५ ॥

२—आज्यगृहणसरयानियमनप्रकरणम्—

स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यस्तायते । ऋतुभ्य, छन्दोभ्य । यद्वि, तद्देवानाम् । यत्सोमो राजा, यत्पुरोडाश, तत्तदादिश्य गृह्णाति अमुष्मै त्वा जुष्ट गृह्णामीति । एवमु हैतेषाम् ॥ ६ ॥

अथ यायाज्यानि गृह्णते—ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्णते । तत्तदना-दिश्य आयस्यैव रूपेण गृह्णाति । स वै चतुर्जुह्वां गृह्णाति अष्टौ कृत्व उप-भृति ॥ ७ ॥

स यच्चतुर्जुहा गृह्णाति-ऋतभ्यस्तद् गृह्णाति प्रयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति । ऋतमो हि प्रयाजा । तत्तदनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति-अजामिताये । जामि ह कुर्याद्-यद्वस ताय त्वा ग्रीष्माय वेति गहणीयात् । तस्मादनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ८ ॥

अथ यदष्टा कृत्व उपभृति गृह्णाति-छ दोभ्यस्तद् गृह्णाति, अनुयागेभ्यो हि तद् गृह्णाति । छ दामि हनुयाजा । तत्तदनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति-अजामितायै । जामि ह कुर्याद्-यद् गाय वै त्वा त्रिष्टभे त्वेति गहणीयात् । तस्मादनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ९ ॥

अथ यच्चतस्रसाया गृह्णाति-मगस्मै तद् यज्ञाय गृह्णाति । तदनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति । कस्मा उ ह्यादिशेत् यत सर्वाभ्य एव देवताभ्योऽवद्यति । तस्मादनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ १ ॥

३—आज्यगृह्णोपपत्तिप्रकरणम्—

यजमान एव जुहूमन, योऽस्मा अरातीयति-स उपभृतमन । अथैव जुहूमनु आद्य उपभृतमनु । अथैव जुहु, आद्य उपभृत् । स वै चतुर्जुहा गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति ॥ ११ ॥

स यच्चतुर्जुहां गृह्णाति-अक्षारमेवतत्परिमिततर कनीयास करोति । अथ यदष्टा कृत्व उपभृति गृह्णाति-आद्यमेतदपरिमिततर भूयास करोति । तद्वि समृद्धम्-यत्रात्ता कनीयान् आद्यो भूयान् ॥ १२ ॥

स वै चतुर्जुहा गृह्णन् भूय आज्य गृह्णाति अष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन्-कनीय आज्य गृह्णाति ॥ ३ ॥

स यच्चतुर्जुहां गृह्णन् भूय आज्य गृह्णाति अक्षारमेवैतत् परिमिततर कनीयास कुव स्तस्मिन् वीग्यं उल दधाति । अथ यदष्टा कृत्व उपभृति गृह्णन् कनीय आज्य गृह्णाति-आद्यमेतदपरिमिततर भूयास कुव स्तमवीग्यमबलीयास करोति । तस्मादुत्तरा राजाऽपारा विश प्रायसाय, अप्येकवेश्मनैव जिनाति । त्वद्यथा त्वत्कामयते, तथा सचते-एतेनो ह तद्वीग्येणा-यज्जुहा भूय आज्य गृह्णाति । स यज्जुहा गृह्णाति-जुह्वैव तज्जु-होति, यदुपभृति गृह्णाति जुह्वैव तज्जुहोति ॥ १४ ॥

तदाहु कस्मा उ तदुपभृति गृह्णीयात् यदुपभृता न जुहोतीति । स यदुपभृता जुहुयान् पृथग्भवेमा प्रजा स्यु नैवा ॥ स्यात्, नाद्य स्यात् । अथ यज्जुह्वैव समानीय जुहाति तस्मादिमा विश क्षत्रियाय बलि हरन्ति । अथ यदुपभृति गृह्णात-तस्माद् क्षत्रियस्याव वशे सति अस्या षश्व उपातष्ठ ते । अथ यज्जुह्वैव समानीय जुहोति तस्माद्यदोत क्षत्रिय कामयते-अथाह वैश्यम् अपि यो परा निहितम् तदाहरेति त जिनाति । त्वद्यथा त्वत्कामयते, तथा सचते-एतेनो ह तद्वासा ॥ १५ ॥

तानि वा एतानि छ दोभ्य आज्यानि गृह्णाते । स यच्चतुर्जुह्वौ गृह्णाति-गायत्र तद् गृह्णाति । अथ यदष्टा कृत् उपभृति गृह्णाति-त्रिष्टुबजगतीभ्या तद् गृह्णाति । अथ यच्चतुर्धाया गृह्णाति-अनुष्टमे तद् गृह्णाति । वाग वा अनुष्टुप । वाचो वा इद मर्ष प्रभवति । तस्माद् वागाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति । इग वा अनुष्टुप अस्या वा इद सव प्रभवात् । तस्माद् भ्रवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ॥ १६ ॥

४ — आज्यगृह्णपद्धतिप्रकरणम्—

स गृह्णाति धाम नामासि प्रिय देवानाम् [१ अ० ३ म०] इति । एतद्वै देवाना प्रियतम धाम-यदा यम् । तस्मादाह-धाम नामासि प्रिय देवानामिति । अनाधृष्ट देवयजनमसि-[अ १ म ३१] इति । वज्रो ह्यायम् । तस्मादाह-अनाधृष्ट देवयजनमसीति ॥ १७ ॥

स एतेन यजुषा सकृज्जुहा गृह्णाति त्रिस्तूष्णीम् । एतनव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति सप्तकृत्वस्तूष्णीम् । एतनैव यजुषा सकृद् भ्रवाया गृह्णाति, त्रिस्तूष्णीम् । तदाहु -त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्-त्रिष्टुद्धि यज्ञ इति । तदु नु सकृत्सकृदेव । अत्रो ह्येव त्रिगृहीत सम्पद्यत ॥ १८ ॥

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये प्रथमकारण्डे

तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

आज्यब्राह्मण नामक

उपरतम्

मूलानुवाद—

१—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण—

यह यज्ञ (मनुष्ययजमान क द्वारा किया जाने वाला वैध यज्ञ) निश्चयरूप से पुरुष (मनुष्य की ह प्रतिकृति) है । (यह) यज्ञ इसलिए पुरुष (पुरुषस्वरूप-सन्श) है कि जो कि पुरुष (यज्ञकर्त्ता यजमान दक्षिणाक्रीत अ ऋग्यु होता उदगाता ब्रह्मा आदि ऋत्विग गण ना कि पुरुष है) इस यज्ञ को प्रितत करता है (वेदि कुण्ड मन्त्र हवि आदि सा नो से प्रिस्तार-भाज म परिणत करता है) । क्याकि पुरुष क द्वारा ही यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है सलि यज्ञ को पुरुषकृत च्वेन-अग्रश्य की पुरुष कहा जासकता है । (एक दूसरे कारण से भी यज्ञ को पुरुष कहा जासकता है जो कि कारण पहिले कारण की अपेक्षा प्रमुख है । कण्डिका का उत्तर वाक्य उसी का स्पष्टीकरण कर रहा है) । यह (वैध यज्ञ)-(ऋत्विजादि पुरुषों क द्वारा) प्रितायमान होता हुआ (गाह्य य श्रपणानि आहवनीय वेदि आदि रूप से फैलता हुआ) निश्चयरूप से जितना ही (अतनी लम्बाई क परिमाण से) पुरुष प्रितत रहता है उतना ही (उतने ही परिमाण से) स पन्न किया जाता है । (पुरुषपरिणाम-सन्श प्रिस्तारभाज की समता स ही यज्ञ का पुरुष बहना अ वथ बन जाता है) ॥१॥

(यज्ञ की प्रतिज्ञात पुरुषाकारता सिद्ध करती हुई श्रुति कहती है कि)-जुहू इस यज्ञ की यही (दक्षिणभुजा-दहिना हाथ) है उपभृत् (स यज्ञ की) यह (वाम भुजा बाया हाथ) है ध्र वा (इस यज्ञ का) आ मा (म य अङ्ग वड) ही है । (इसप्रकार जुहू उपभृत् ध्र वा रूप से दक्षिण वाम हस्त एव म याङ्ग-सम्पत्ति-लक्षणा पुरुषाकृति-सम्पत्ति से युक्त रहने वाले यज्ञ को अवश्य ही पुरुष (पुरुष का प्रतिकृति पुरुषसन्श) कहा जासकता है यही ता प य है ।

(ध्र वा नामक यज्ञपात्र आ मा (मध्याङ्ग) की प्रतिकृति कैसे है ? इस जिज्ञासा का समाधान करता हुई आग जाकर श्रुति कहती है कि)-यह प्र यत्न है कि (तद्वा) आत्मा (मध्याङ्गरूप वड) से हा ये (हस्त पाद मस्तकादि) सन् अङ्ग (शरीरायव) उपन्न हाते है (निकलते है रसप्राप्ति क द्वारा पुष् होते रहते है) । रस वधयज्ञ में आग्रपरिपूर्ण ध्र वापात्र आ मस्थानीय है एव आ मा से ही अङ्गरूप हस्त-पादादि इतर सम्पूर्ण अङ्ग उपन्न होते है रसग्रहण करते है अतएव (यहाँ भी जुहू उपभृत् आदि के द्वारा ध्र वा से ही घृत ले ले कर) ध्र वा से ही सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वधयज्ञ-उपन्न-सम्पन्न होता है (यज्ञ की रतिकत्त यता पूरी की जाती है । अत यज्ञस्वरूपसाधकभूत ध्र वा को इस यज्ञपुरुष का अवश्य ही आत्मा माना जासकता है यही ता पय्य है) ॥२॥

(पुरुष क शरी म हस्त-पाद-आ मा ये तीन स्थूल विभाग उपलब्ध होते है । शिरोभाग सं आरम्भ कर मूलग्रन्थि पय्य त प्रदेश आत्मा (वड) माना जायगा । दक्षिणहस्त दक्षिण पाद

का एक स्वतंत्र विभाग एतद्गामहस्त वामपाद का एक एतद्गामहस्त विभाग माना जायगा। इसप्रकार पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर को आमा (धड) दक्षिणहस्त (तदुपलक्षित दक्षिणपाद) गामहस्त (तदुपलक्षित वामपाद) इस क्रम से पुरुष को तीन भागों में विभक्त किया जायगा। त्रिविभागामक स शरीर में (शरीर क सम्पूर्ण अंगों में) अकारणीय सञ्चार करने वाला चैत यथा एतद्गामहस्त एतद्गामहस्त तत्र माना जायगा जिसकी सत्ता से जड-भूत क्रियाशील बनते हुए जीवनीयस से युक्त रहते हैं। पुरुषसत्ता की इन चार अकारणीय सत्ताओं में आमा (धड) दक्षिणहस्त (पाद) गामहस्त (पाद) इन तीन भौतिक अवयवों की प्रतिरूपता तो क्रमशः वरुणा जुहू उपभृत् इन तीन यज्ञपात्रों के द्वारा सिद्ध करदी गई। अब शेष चैत यथा एतद्गामहस्त रह जाता है इसकी प्रारूपता बतलानी हुई श्रुति कहता है -

(इस वैधयज्ञ में उपयुक्त होने वाला) सव नामक यज्ञपात्र प्राण ही है। सवपात्र प्राण स्थानीय क्या माना गया? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है) —

(हम देखते हैं कि पुरुषशरीर में कश-लोम एतद्गामहस्त नखाग्रभागों को छोड़कर) यह चैत यथा प्राण (अश्विनराशि) शरीर क सम्पूर्ण अङ्ग (को लक्ष्य बनाकर इन अङ्गों) में विचरता रहता है। (हम देखते हैं कि इन यज्ञसत्ता में सव नामक यज्ञपात्र जुहू-उपभृत्-ध्रुवा आदि इतर सभी सक्-पात्रों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि आमा-गामहस्त (एतद्गामहस्त स्थानीय ध्रुव-जुहू-उपभृत् आदि सवों में सञ्चार करने वाला सव अवयव ही प्राणस्थानीय है) इसीलिए (प्राणस्थानीय होने से ही) तो यह सव-पात्र सब सव (को लक्ष्य बनाकर सब) में विचरता है ॥३॥

यह वैधयज्ञ पुरुष की प्रतिकृति किस आधार पर माना गया? इस प्रश्न का समाधान श्रुति ने पुरुषात्मक आध्यात्मिकयज्ञ के द्वारा किया। पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) का जैसा स्वरूप है उस में जैसा अवयवसंस्थान है पुरुषकृत आधिभौतिक स्वर्गादि-अभौष फलसाधक सव वैधयज्ञ का स्वरूप तथा संस्थान भी वैसा ही है। अतः समतुलन-यथा से इस वैधयज्ञ को भी पुरुष कहना यथासङ्गत बन जाता है। अब इस सम्बन्ध में दो प्रासङ्गिक प्रश्न और उपस्थित होते हैं। पहिला प्रश्न यह है कि जिस पुरुष के आधार क आधार पर वैधयज्ञ का तथाभूत वितान किया जाता है उस पुरुष (आध्यात्मिकयज्ञ) का स्वरूप ही एतद्गामहस्त (यज्ञामक) कैसे और क्यों बना? जिस आधिभौतिक अकारणीय (प्रकृति) से पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) उपन्न हुआ है उसे लोक-वेद में यज्ञ शब्द से यथान्त किया गया है। उसे (आधिभौतिकयज्ञ को) यज्ञ किस आधार पर कहा गया? क्या यहाँ भी जुहू उपभृत् आदि यज्ञस्वरूपसाधक परिग्रह विद्यमान है? यही इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न है। इन प्रश्नों के समाधान से श्रुति का हेतु केवल यही बतलाना है कि आधिभौतिकयज्ञ (मनुष्यकृत वैधयज्ञ) की प्रतिष्ठा आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुषाकारकयज्ञ) है एतद्गामहस्त आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुषाकारकयज्ञ) है एतद्गामहस्त आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुषाकारकयज्ञ) है। मनुष्यकृत-यज्ञ का स्वरूप एतद्गामहस्त क्यों? इस प्रश्न की उपनिषत् (उपपत्ति-मौलिकरहस्य) आध्यात्मिकयज्ञ है। आध्यात्मिक-यज्ञ (पुरुष) का एतद्गामहस्त

स्वरूप क्यों ? इस प्रश्न की उपनिषत् आधिदैविक प्राकृतिक निययज्ञ है जिस का कि—यहै देवा अक्रुयस्तत् करणणि देवाननुविधा वै मनुष्या सह यज्ञा प्रजा सृष्ट्या पुरोयाच प्रजापति यज्ञान यज्ञमयजत देवा इत्यात् श्रोत स्मार्त्त प्रमाणों से समथन हुआ है । जब ऋति ने आधिभौतिक आयात्मिक यज्ञा का स्वरूप बतला दिया तो प्रकरणप्रश्रुति के लिए य भी आवश्यक होगया कि वह प्रसङ्गोपात्त तीसर आधिदैविकययज्ञ का स्वरूप भी बतलावे साथ साथ उनकी भी इनके साथ प्रतिरूपता सिद्ध करे । नसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ४-५ ऋण्डिकाएँ पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरहीं हैं—

उस (आधिदैविकयज्ञ) की यह (बड़ी दूर दिखलाई देन वाला सारमण्डलोपलक्षित) चौथी जुहू (दक्षिणहस्तपादका प्रतिरूप) है एव यह अतरिक्ष (द्यानाप्रथिनी के मयका प्रदेश) उपभृत् (बामहस्त का प्रतिरूप) है । यह प्रथिवी ही ध्रुवा (आमा का प्रतिरूप) है । (पुरुषययज्ञ की प्रातरूपता सिद्ध करते हुए ध्रुवा की आमप्रतिरूपता का समथन किया गया था । अतः उसकी भी पुष्टि होनी चाहिए । आमा वही माना जायगा जिस से हस्त पादादि सब अङ्ग उपन्न होते होंगे । प्रथिवी को ध्रुवालक्षण आमा तभी कहा जासकगा जब कि यह अतरिक्ष सुलोकरूप उपभृत् तथा जुहू इन दो अङ्गों की उपपत्ति का कारण बन सकगा । इसी प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

यह यथाथ है (तद्वा) कि इसी * प्रथिवी से सब लोक (प्रथिनी अतरिक्ष चौथी आप आदि लोक) उपन्न हुए है । (क्योंकि प्रथिवी से सा लोक उपन्न होते हैं एतएव प्रथिनी अयस्य ही आमरूप ध्रुवा है । क्योंकि ध्रुवा से ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति हाती है) । अतएव (आधिदैविक मण्डल में) प्रथिनीरूप ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ (आधिदैविक सम्बन्धययज्ञ) उपन्न हुआ है ॥ ४ ॥

(स्थूलाङ्गभूत जुहू उपभृत् तथा ध्रुवा की प्रतिरूपता के सम्बन्धम क्रमशः चौथी अतरिक्ष प्रथिनी (भूपिण्ड) इन तीन लोकों के द्वारा आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध की गई । अब वह सयसञ्चारी चतुस्र प्राण शेष रहा जो कि आधिभौतिक यज्ञ में अनुपात करूप से एव आयात्मिक यज्ञ में आनोमय आनखाप्रभ्य याप्त वैश्वानराग्निप्राण करूप से प्रतिष्ठित है । नसी चतुस्रप्राण की आधिदैविकययज्ञ में प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

(इस आधिदैविकययज्ञ का) यही सुव (चैतन्यप्राण) है जाकि यह (लोक्य में) प्रयाहित है (बह रहा है) । (पुरुषययज्ञ की प्रतिरूपता में प्राण आर सुव की प्रतिरूपता बतलाई गई थी ।

* पाठक स देह करगे कि प्रथम तो प्रथिवी से अतरिक्षादि लोकों को उपपत्ति मानना ही असङ्गत है । यदि अयुपगमयाद् से थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तब भी प्रथिवी से प्रथिनी की उत्पत्ति मानना तो कथमपि सुमङ्गत प्रतीत नहीं होता ? इस जिज्ञासा का सोपपत्तिक समाधान आग आने वाले उपपत्ति-प्रकरण में किया जाकगा ।

अतः यहा भी उस प्रतिरूपा का स्पर्षीकरण होना चाहिए। आधिदैविकयज्ञ सस्था म प्राण वही माना जायगा नो कि जुहू उपभृत् ध्रुवापलक्षित प्राथमी अरिच्युलाका का लक्ष्य बनाकर जिन मे-सञ्चरण करता हागा। इसी प्रातरूपता का दिगन्शन कराती हुई श्रुति कहता है) —

यह वायु (कश लोम स्थानीय-वनस्पत-ओषधि-धातुवग आद पिएडा क आभ्यतर भाग का छ्वाडकर एग नखाप्रस्थानीय भूपिएडा क आभ्यतर प्रदेश को छ्वाडकर शष बचे हुए) इन सब लाका म (त्रिवृत्स्थानीय प्रथिमीलोक पञ्चशस्थानीय अ तरिक्तलोक एग एकप्रिस्थानीय चुलाक मे जो कि तीनों लोक आधिदैविकी यज्ञसस्था के अज्ञस्थानीय है इह लक्ष्य बना कर इन सब मे वह (वायु) बह रहा है (सञ्चरण कर रहा है)। (क्या कि वायु सब लाकों म सञ्चरण कर रहा है उधर यज्ञप्रक्रिया म सचों म सञ्चार करने वाला ही खुप माना गया है इसी अभिप्राय का यक्त करती हुई श्रुति कहती है)—अतएव निश्चयरूप से यह खुप (त्रैलोक्यसञ्चारी वायु यप्राण) इतर सचों को (जुहू उपभृत् ध्रुवा स्थानीय चु अ तरिक्त-प्राथमी को लक्ष्य बना कर) इन मे सञ्चरण कर रहा है ॥५॥

(१)—❀इति-यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

—*—

* प्रकृत ब्राह्मण में प्रधानरूप से आज्यग्रहण की इतकीयता (पद्धति) का ही अनुरूप हुआ है। यज्ञमण्डल में एक नियत स्थान पर आज्य से परिपूर्ण एक नियत पात्र रखा रहता है। एक ही स्थान पर सदा स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहने वाला वही आयपात्र ध्रुवा कहलाता है। व्रवापात्र एक ही स्थान पर स्थिर क्यों रहता है? इस प्रासङ्गिक प्रश्न समाध के लिए ही श्रुति को पद्धति प्रदर्शन से पहले यज्ञ का मौलिक स्वरूप बतलाना आवश्यक प्रतीत हुआ। आरभ की ५ कण्डिकाओं में श्रुति ने प्रतिरूपविधि से अधिभूत अभ्याम अग्निवत इन तीन यज्ञ-सस्थाओं का स्वरूप बतलाया। इसी आधार पर पञ्चकण्डिकामक प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए हमने इसे यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण नाम देना उचित मान लिया है।

आधिभौतिक वधयज्ञ को म यस्थ बनाकर यज्ञकर्ता यजमान अपने आ यामिक यज्ञ का आधिदैविक यज्ञ के साथ सम्बन्ध करता है एव यही यज्ञ का मू य उद्देश्य है। उस उद्देश्य की सफलता के लिए छुद तथा ऋतुओं से वष्टित सम्ब सरमणलस्थ प्राणदेवताओं का ही यजन होता है जैसा कि पाठक उपपत्ति प्रकरण में प्रिस्तार से देखेग। यज्ञ के उद्देश्य प्राणदेवता ह एव इनकी आधिदैविक यज्ञ से तुलना करते हुए आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता का परिज्ञान आवश्यकरूप से अपेक्षित है। अतएव पद्धति से पहले प्रतिरूपरहस्य का दिगंशन कराना प। और इस दिगंशन का मूलकारण बना ध्रुवापात्र। ब्राह्मण ने ध्रुवा से आ यग्रहण का विधान किया है। ध्रुवा से ही आयग्रहण क्यों किया जाय? इस स्वाभाविक तथा प्रासङ्गिक प्रश्न के समाधान के लिए ही प्रथम यज्ञप्रतिरूपरहस्य बतलाना आवश्यक समझा गया है। क्योंकि आधिभौतिक यज्ञ का आ यामिकयज्ञ साथ जसे अविच्छिन्न सम्बन्ध है एवमेव आ यामिकयज्ञ का आधिदैविक यज्ञ स साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समान सम्बन्ध वदृष्टि से भी प्रसङ्गवश श्रुति को अधिभूत अ याम की प्रतिरूपता के साथ साथ अ याम एव आधिदैवत की प्रतीरूपता भी बतलानी पडी।

२—आज्यगृहणसरयानियमनप्रकरण—

(जसाकि िट्प्रणी मे स्पष्ट कर दिया गया है आरम्भ की ५ कण्डिकाओं मे निरूपणीया पद्धति का प्रथम कोई निरूपण न होकर ब्राह्मणग्रंथों की स्वाभाविकशैली से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञप्रतिरूपरहस्य ही प्रतिपादित हुआ है। अब ६ठी कण्डिका से ही पद्धति प्रदर्शन का उपक्रम किया जाता है) —

(यज्ञरहस्यवेत्ता अथवा युवा हाता उद्गाता ब्रह्मा आदि विद्वान् ऋषिजा के द्वारा प्रकृत्यनुसार) प्रितायमान यह यज्ञ (आधिभोतकयज्ञ) दक्षताओं ऋतुओं तथा कर्तव्यों के लिए ही प्रितत किया जाता है। (आहुति या मे से) जो हविद्रय है वह (प्रधान) देवताओं के लिए नियत है जाकि आहुतय सामराजा एव पुरोडाश है। (नाप्ययही है कि सोमवल्ली का रस तथा पुरोडाशलक्षण आहुतिद्रय ये दोनों हविद्रय प्रदान (आवाप) दक्षताओं के लिए नियत है। यह नाम ग्रहण पूजक ही आहुति दी जाती है इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है) —

क्यो कि × अन्नपुरोडाश अन्नपुरोडाशोपलक्षित वपापुरोडाश एव सोमरस ये तीन आहुतिद्रय देवताओं के लिए नियत है एव देवता (प्राणदेवता मूलरूप से ३३ ३ १ होते हुए भी अपने महिमारूप से) सरयाम भी अनतहसा ही तत्तद्यज्ञशेषा मे तत्तद् विशप देवता ही प्रधान रहते हैं इमलिंग भी) यह (हविद्रय) उन उन देवताओं का (अग्नये त्वा जुष गृह्णामि - अग्नीषामाभ्यां वा जुष गृह्णामि - उपयामगृहताऽसि यावद् इद्रवायुभ्यां त्वा जुष गृह्णामि इत्यादि रूप से नाम निर्देशपूजक ही) अमुये त्वा जुष गृह्णामि (अमुक दक्षता के लिए रुचिपूर्वक सेवन योग्य तुह्यारा हविद्रय का ग्रहण करता हूँ) इत्यादिरूप से नामनिर्देश करक ही (आहुतिद्रय का) ग्रहण करते हैं। (स नामनिर्देशपूजक हविद्रय का कारण यही है कि) देवताओं के सम्बन्ध मे (परम्परागत यज्ञपद्धतिग्रंथों मे) यही प्रकार (हविद्रयसाधक मन्त्र प्रपूजक नाम निर्देशपूजक ही पठे हुए हैं यही आहुत-सम्मत प्रकार) है ॥६॥

* यज्ञ मे जिन देवताओं को आहुति दी जाती है वे देवता आवाप प्रयाज अनुयाज भेद से तीन श्रेणियों मे विभक्त हैं। प्रदान प्राणदेवता आवापदेवता कहलाती है प्राणामिका मुख्य देवताओं की प्रातष्टारूपा उस तानि ऋतुएँ प्रयाजदेवता कहलाती है। एव देवताहनरूप गायत्र्यादि छन्द अनुयाजत्वता कहलाती है। सामरस पुरोडाशलक्षण हविद्रय आहुतये तान आहुतिद्रय है। ताना मे सामरस तथा पुरोडाश तो केवल आवापदेवताओं के लिए नियत हैं एव ऋतुछन्दोरूप प्रयाज अनुयाज देवताओं को आहुति दी जाती है।

× ऋषि पशु सोम-मे से यज्ञ मे तीन भागों मे विभक्त मानी गई है। इन तीनों में से ऋषि में अन्नपुरोडाश की आहुति होती है। पशु मे प्रदानरूप से पशुप्रा की आहुति होती है। एव ग्रहयागा परप्रायिक सोमयाग में प्रदानरूप से चालीस सर्वा में विभक्त ग्रपात्रा में स्थित सोमरस की आहुति होती है।

(प्रयेक यज्ञ म अन्न-पशुवपा-सामरस तीना म से कस्ता एक ता हविन् य की प्रवा
नता रहती ही है दूसरा आहात य आ य रहता है। सप्रकार हवि ए आ य भन् से प्रयेक
यन म ता आहुति य रहते है। २न में मे हविन् य का स य ध तो प्रान न्यता क साथ
बतला दिया गया। अय आ य नामक आहुति य की यवस्था करते है)—

[हविन् य क अ तरिक] ज [दूसरे] आयों का ग्रहण किया जाता है उन आ या का
ग्रहण [प्रयाजदेवतारूप] ऋतुओं के लिए तथा [अनुयाजदेवतारूप ऋतुओं के लिए च कारात्
स्विष्टकृत्-याग क लिए] किया जाता है। [क्याक ऋतु क्त् स्विष्टकृत् द ता प्रधान देव
ताआ की अपेक्षा गाण है साथ ही य सख्या मे भा परिगणित है इनी सब कारणा से अ य्यु
उस [आ य] का [प्रयाजानुयाजादि गाण देवताआ का]—नाम न लेकर आयरूप से ही [समष्िरूप
से ही] ग्रहण करता है। [तापय्य यही हुआ कि प्रधान देवता क लिए जहा हायग्र हण नामनिर्देश—
शपूर्वक होता है उहा प्रयाजानुयाजादि सम्बन्धी आय का ग्रहण विना नामनिर्देश क ही करना
चाहिए। ग्रहण सम्बन्ध म यातक्रम बतला कर अब ग्रहण-सम्बन्ध म प्रिशषता बत ताते है]—

वह (अ य्यु नियत स्थान पर स्थित आ यपारपूण ध्र या म स्रुय क द्वारा घृत ले लेकर)
चार बार तो जुहू मे घृत-ग्रहण करता है एय (उसी स्रुय से) आठ बार करक उपभृत् म
ग्रहण करता है ॥७॥

सो जो कि अ वय्यु चार वा करक (स्रुय से) जुहू मे (बिना नाम निर्देश क) आय
ग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते है)। ऋतुओं क लिए (चतुर्वार) आयग्रहण करता
है। (ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं क उद्देश्य से चतुर्ग हीत यह) आय प्रयाजदेवताओं के लिए ही
ग्रहण करता है। (क्याकि) ऋतुएँ हीं प्रयाज (देवतक) है। उस आय्य का (ऋतुरूप प्रयाज देव-
ताओं क नाम निर्देश के बिना हीं) * अजामिता क लिए आयरूप से ही ग्रहण करता है।
(यह अ व य्यु + जामि करेगा) कि यदि वसन्ताथ ग्रीष्माथ या इयादिरूप स (नाम-
निर्देशपूर्वक) आयग्रहण करेगा। इसलिए (नामि दोष न हो इसलिए) प्रयाज-देवताओं
का नामनिर्देश न कर आय क ही रूप से [प्रयाजदेवताओं के लिए चतुर्वार जुहू मे आय]
ग्रहण करता है ॥८॥

सो जो कि अ वय्यु आठ उर करक [स्रुय से] उपभृत् में [बिना नाम निर्देश के]
आय-ग्रहण करता है [इसका कारण बतलाते है] छ दा के लिए [आठ बार करक] आय
ग्रहण करता है। [छ दोरूप अनुयाज-देवताआ के उद्देश्य से अष्टौ कृ य गहीत यह] आय अनु-
याज-देवताओं क लिए ही ग्रहण करता है। [क्योंकि] छ द हीं अनुयाज है। उस आय का
[उन छ दोरूप अनुयाज देवताआ के नाम निर्देश के बिना हीं] अजामिता क लिए आयरूप
से ही ग्रहण करता है।

* स यता की रक्षा के लिए।

+ जामि-अस यता

[वह अग्र्यु] जामिदोष का प्रवन्तक बनेगा जो कि यदि गायथै या त्रि^१ मे त्वा इ यादि रूप से [नामनिर्देशपूजक] आग्र्यग्रहण करेगा । इसलिए [जामिदोष न हो इसलिए] अनुयाज देवताओं का नाम निर्देश न कर आग्र्य व ही रूप से [अनुयाज देवताओं के लिए आठ बार करक उपभृत् म आ य] ग्रहण करता है ॥६॥

[आग्र्यग्रहण के सम्बन्ध में प्रभी एक बात शेष रह गई । जुहू उपभृत् ध्रुवा तीनों को एक कहा जाता है । इनमें जुहू तथा उपभृत् नाम की सुचा व सन्बन्ध में तो आग्र्यग्रहण की यज्ञरूपा बतलाई गई । परन्तु अभी तक स सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण न हुआ कि तीसरी ध्रुवा नाम की सुक में कहा से लेकर तो आग्र्य भरा जाता है कितनी बार करक भरा जाता है एवं नाम निर्देश पूजक भरा जाता है अथवा जुहू उपभृत् इन अन्य सुचों की भाँति बिना नाम निर्देश न आग्र्य ग्रहण होता है ? क्योंकि व्रजा भी सुक है अतः इतर दोनों सुचों के आग्र्यग्रहण की यज्ञरूपा साथ समानप्रकरण के कारण ध्रुवा नाम की सुक से सम्बन्ध रखने वाली आग्र्यग्रहण—यवस्था का भी स्पष्टीकरण होना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त व्रजा के सम्बन्ध में एक सन्देश और उपस्थित होता है । पूजप्रतिपादित यज्ञप्रतिरूपरहस्य के अनुसार ध्रुवा आस्थानीय बनता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ की प्रतिष्ठा है । इस सत्रयज्ञसम्पन्नता की दृष्टि से ध्रुवापात्र केवल जुहू-उपभृत् में क्रमशः चतुर्गुण अष्टवार गृहीत आग्र्य से सम्बन्ध रखने वाले प्रयाज-अनुयाज नामक गौण देवताओं की ही प्रतिष्ठा नहीं है अपितु यज्ञिय अग्र्य आग्र्य-देवताओं की भी प्रतिष्ठा है । उधर पूज में यह यज्ञस्था हुई है एक प्रधान देवता के लिए तो नामनिर्देश पूजक अग्र्यग्रहण करना चाहिए एव प्रयाजानुयाज देवताओं के लिए बिना नाम निर्देश के ही आग्र्यग्रहण करना चाहिए । इधर ध्रुवापात्र गौण तथा सुदृश्य सब देवताओं की प्रातः है । ऐसी दशा में यदि बिना नामनिर्देश के ध्रुवा में घृत डाला जायगा तो प्रधान देवता का सम्बन्ध न होगा और यदि नामनिर्देशपूजक घृत डाला जायगा तो गौण देवता का सम्बन्ध न होगा । अपेक्षित है दोनों का सम्बन्ध क्योंकि दोनों के समकाल से ही यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है एव ध्रुवा सम्पूर्ण यज्ञ की प्रतिष्ठा है । फलतः ध्रुवा सम्बन्धी आग्र्यग्रहण के सम्बन्ध में उक्त सन्देश एक जटिल समस्या बन जाता है । इन्हीं सब विप्र-तिपत्तियों का निराकरण करने के लिए व्रजा—सम्बन्धी आग्र्यग्रहण की यवस्था बतलाई जाती है]—

[आरम्भ से यज्ञ समाप्ति—पूज्य त यज्ञिय कर्म में जितना आग्र्य अपेक्षित रहता है अपेक्षित नियत मात्रा से अग्र्य सामग्री—सम्भार के साथ साथ आग्र्य का भी एकवार ही संग्रह कर लिया जाता है । यज्ञकर्मोपयोगी इस आग्र्य को पहिले से ही नियत जिस यज्ञिय पात्र में नियत स्थान पर कोशरूप से सुरक्षित रख लिया जाता है वह पात्र आग्र्यस्थाली नाम से प्रसिद्ध है । आहुति के लिए ध्रुवा में भरे हुए आग्र्य का क्षव से उपयोग होता है । जब जब ध्रुवा में आग्र्य अपेक्षित होता है तब तब कोशस्थानीया उस आग्र्यस्थाली से स ध्रुवापात्र में घृत ले लिया जाता है । जिसप्रकार सुत्र के द्वारा ध्रुवा में से जुहू और उपभृत् में बिना नामनिर्देश के क्रमशः

चतुर्वार-आठवा आ यग्रहण होता है उसे आयस्थाली म से ध्रुवा म कतनी बार मे क न आ य भरा जाता है ? एउ प्रधानदेवतायत् नामनिर्देश पूक भरा जाता है ? अथवा गाण-देवतायत् बिना नामनिर्देश क ? य दो प्रश्न हमारे सामने आते है । इह्नी का क्रमश समाधान करती हुं श्रुति कहती है]—

जो कि [अ ग्र्यु जुहू-उपभृत् मे आयस्थाली म से] चार बार करके ध्रुवा मे आज्य-ग्रहण करता ह—[उसका कारण बतलाते है] । उस [आय] को सम्पूर्ण यज्ञ क लिए [चार बार करके आयस्थाली मे से ध्रुवा मे] ग्रहण करता है । [तापय्य यही हुआ कि ध्रुवा म आयस्थाली से चार बार करके जो आ यग्रहण किया जाता है इस आयग्रहण का सम्बन्ध न तो प्रधानदेवता के साथ ही है न कवल गौणदेवता के साथ ही । अपितु गाण प्रधान स्विष्कृत्, आदि सम्पूर्ण देवताओं से युक्त सम्पूर्ण यज्ञ की सिद्धि ही स आज्यग्रहण का मुख्य उद्देश्य है । क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञ इस ग्रहण का उद्देश्य है एउ चतुष्पथ वा इत् सवम् इस निगम क अनुसार यह सप्त्य चार पर्वों पर निभर है अत बिना नामनिर्देश क कवल चार बार करके ही आयस्थाली से ध्रुवा म आयग्रहण करना यायसङ्गत बनता है । यही स्पष्ट करते हुए आगे जाकर श्रुति कहती है]—

उस [आय का देवतादि क नामनिर्देश क बिना आय क ही रूप से ग्रहण करता है । किम देवता क लिए नामानर्देश करे जबकि [इस ध्रुवा म] सभी [गोण मुख्य स्विष्कृदादि] देवताओं क लिए* अग्रान (अश त्रिभाग) करता है । (अर्थात् जब ध्रुवा सय की अतिष्ठा है तो मानना पडगा कि ध्रुवा मे स्थित आय भी सभी की प्रतिष्ठा है । इस मे नाम वाले एव बिना नाम वाले गोण-मुख्य सभी देवता सयुक्त है । ऐसी दशा मे नाम आयग्रह के सम्बन्ध म अधिक से अधिक सर्वाभ्य-सवस्मै कहना ही प र्यात है । जब सयस्मै सर्वाभ्य स्वत सिद्ध है तो ग्रहणकाल मे इन प्रयोगों की भी कोई आवश्यकता नही रह जाता । अतएव (सप्त्य प्रतिष्ठा रूप हेने से ही) ऋषी का नामानर्देश किए बिना (आयस्थाली में से ध्रुवा में) आय क रूप से ही (चार बार करके आय) ग्रहण करता है ॥१ ॥

— २ इति-आज्यग्रहणसरयानियमनप्रकरणम्



*—आयस्थाली से उपयोगानुसार ध्रुवा से चार बार करके आय ग्रहण करना ही अग्रदान है ।

— ६ ठी कण्डिका से आरम्भ कर १ वी कण्डिका प यत् ५ कण्डिकाओं का एक स्वतंत्र प्रकरण मानना चाहिए । इस प्रकरण में प्रधानरूप से आयग्रहण की सरयाओं का ही विचार हुआ है । इस से आगे उपपत्ति प्रकरण चलेगा एव सर्वात में पद्धति प्रकरण आएगा पञ्चकण्डिका मक प्रस्तुत प्रकरण में केवल सरयाओं का ही विचार हुआ है अत इसे आयग्रहण-सरयानियमनप्रकरण नाम से संबद्ध करना उचित मान लिया गया है ।

३—आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्—

(पञ्च प्रकरणे मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जुहू में सुव क द्वारा क त्र गा से चार बार एण उपभृत् म आठ बार आयग्रहण किया जाता है । चतुर्जुह्वं अथै कृत् उपभृत्ति र्न चार सरयाश्चा की क्या उपानपत् ? पट् ऋषिडकामक प्रकृत प्रकरण र्सी प्रश्न का समाधान कर रहा है)

(यज्ञकम्म मे दीक्षिता यज्ञफलभोक्ता) यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है एण जो (यजमान का शत्रु) इस यजमान क प्रति (सम्पत्ति आगमन का द्वार अग्ररुद्ध करता हुआ इसक साथ) शत्रुता करता है व (शत्रु) उपभृत् का लक्ष्य बनाना है (अर्थात् जुहू म प्रतिष्ठित आय यजमान का प्रतिरूप है एव उपभृत् मे प्रतिष्ठित आ य यजमान ऋ शत्रु का प्रतिरूप है) । अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है एण आय (भोग्य) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है । (अर्थात् जु शत्रुत आ य भोक्ता का प्रतिरूप है एण उपभृत् म स्थित आ य भोग्य का प्रतिरूप है) । (दक्षिण बाहु का प्रतिरूप) जुहू अत्ता है एण (वामबाहु का प्रतिरूप) उपभृत् अद्य है ।

(उक्त यजमान-यजमानशत्रु अत्ता-आय इन द्व द्वों से श्रुति का अभिप्राय यही है कि जुहू को यजमान तथा भोक्ता समझ कर एण उपभृत् को यजमानशत्रु तथा भोग्य समझ कर ही आयग्रहण सम्बन्धिनी सरयाश्चा क नियतभाष की उपपत्ति पर दृष्टि डालनी चाहिए । क्योंकि यह द्व द्व-भाष ही सरयापत्ति की मूल प्रतिष्ठा है । यह है-मालिक परिस्थिति । इस अपने लक्ष्य मे रखता हुआ वह (अग्यु) नियमितरूप से (वै) चार बार जुहू में आयग्रहण करता है एण आठ बार करक उपभृत् मे (आयग्रहण करता है) ॥११॥

सो जो कि (अग्यु) जुहू म चार बार ग्रहण करता है (ऋस की उपपत्ति बतलाने है) । (जुहू मे चार बार करक आयग्रहण करता हुआ अग्यु इस ग्रहणकम्म से) अत्ता (यजमान) को ही अतिशय सीमित आर सरया मे अल्प (छोटा) करता है । (जुहू म आज्य ग्रहण करने क अनन्तर जो कि अग्यु उपभृत् मे आठ बार करके आयग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते है) । (उपभृत् मे आठ बार करके आयग्रहण करता हुआ अग्यु इस ग्रहणकम्म से) आय (यजमानशत्रु) को ही अतिशय विस्तृत आर सख्या म बढा करता है । जहा भोक्ता कम होंगे एव भोग्यसामग्री प्रचुरमात्रा मे होगी अग्रश्य ही वह (गृहस्थपरिणार यज्ञकम्म आदि) समृद्ध है (समृद्ध मान जायेंगे) । (ता प य यही हुआ कि पूरकथनानुसार जुहू का आय भोक्ता ह एण उपभृत् का आय भाग्य है । जहा जिस सख्या म भाक्ता की अपेक्षा भोग्य सामग्री अधिक होती है वहाँ समृद्धि मानी जाती है । इसी समृद्धि का यज्ञकम्म मे समावेश करने के लिए भोक्ता स्थानीय जुहू का आज्यभाग सख्या मे कनीयान् किया जाता है एण भोग्य उपभृत् का आय भाग सरया मे भूयान् बनाया जाता है । ॥१२॥

[ब्राह्मणियों की यह एक नियत शली है कि जब व कर्मों का ब्राह्मण (विज्ञान मौलिकरहस्य उपपत्ति) बतलाने का उपक्रम करते है तो आरम्भ में समाधानोपक्रमार्थित प्रश्नाथक वाक्यों का प्रयोग करते

है जसा कि— तत्राप-उपस्प्रशति (श १।१।१)— अथातोऽशनानशनस्यत्र (श १।१।७)—
 अत्र यद् द्व द्वम् (श १।१।२) = यदि प्रश्नाथक वाक्यो स स्पष्ट ह । न वाक्यार्थों की सङ्गति—
 सो जो कि पानी का उपस्प्रशति करते हैं—(उस की उपपत्ति बतलाते ह)— अब यहा से अशन
 अनशन की ही (मीमांसा की जाती है अब जिस लिए कि द्व द्वभाज है (वह कारण बतलाते
 है) = स रूप से की जायगी । प्रकृत में भी इस स्वाभाविक शली के अनुसार ही अथ यत् चतुर्जुह्वा
 गृह्णाति समाधानोपक्रमगर्भित (उपपत्ति जिज्ञासारूप) यह प्रश्नाथक वाक्य प्रयुक्त हुआ है । अत इस का
 अर्थ— अब जिसलिए कि जुहू में चार बार ग्रहण करते हैं (उस का कारण बतलाते हैं) यह
 करना पडेगा । अत्र तर अनुवाद-सङ्गति के लिए उक्त वाक्याथ के आगे जुहू म चार बार ग्रहण
 करता हुआ अत्र यत् स वाक्य का संबंध ऊपर से ओर जोडना पडेगा प्रकृत में इस शली से यही
 बतलाना है कि कही कही धारयाताओन — सो जो कि जुहू से चार बार आज्य ग्रहण करता है
 अत्ता को ही इस ग्रहण से परिमिततर करता है यह अर्थ किया है । परंतु ऐसा अर्थ ब्राह्मणशैली से
 सप्रथा वरुद्ध अतएव उपेक्षणीय ही माना जायगा । प्रत्येक दशा में उपक्रम वाक्य स्वतंत्र माना जायगा
 एव आगे के उत्तर प्रकरण की सङ्गति के लिये पूर्ववाक्याथ से आगे तदु यते तत्कारणमीमांसा
 क्रियते = यदि नवीन वाक्यो का समावेश करना पडेगा ।]

उह (अत्र यत्) जुहू म चार बार आज्यग्रहण करता हुआ (आठ बार वाले उपभृत् की
 अपेक्षा) मात्रा में अधिक आयग्रहण करता है (एत्र) उपभृत् में आठ बार करक आज्यग्रहण
 करता हुआ (चार बार गले जुहू की अपेक्षा) थोडा आयग्रहण करता है । (तापय्य यही हुआ
 कि यद्यपि जुहू म खुवा से आय लिया जाता है चार ही बार तथापि जुहू की आयमात्रा उपभृत्
 की आयमात्रा से अधिक होती है जब कि जुहू म उपभृत् की अपेक्षा चार बार कम डाला जाता
 है । एत्रमेत्र उपभृत् म यद्यपि आय लिया जाता है आठ बार तथापि उपभृत् की आयमात्रा जुहू
 की आयमात्रा से भी कम रहती है जब कि उपभृत् में जुहू की अपेक्षा चार बार अधिक डाला
 जाता है ॥१३॥

सो जो कि (अत्र यत्) जुहू में चार बार ही आयग्रहण करता हुआ भी (उपभृत् की
 अपेक्षा) अधिक आयग्रहण करता है (उस का कारण बतलाते हैं) । (जुहू म चार बार में ही
 उपभृत् की अपेक्षा अधिक आयग्रहण करता हुआ अत्र यत्) इस भूयोग्रहणकम्म से अत्ता का
 (चार सरया से) अतिशय सीमित (एत्र) अप करता हुआ (भूयोग्रहण म) इस (अत्ता) म
 (अत्र की अपेक्षा) वी य (अत्र) बल का आगन करता है । तापय्य य निकला कि चार सरया
 की = षे से जहाँ अत्ता सरया की अपेक्षा कम है उहा आय की अधिकता से गीय्य तथा बल में
 आय की अपेक्षा-अधिक है) ।

सो जो कि [अत्र यत्] उपभृत् में आठ बार आयग्रहण करता हुआ [जुहू की अपेक्षा]
 थोडा आयग्रहण करता है [उस का कारण बतलाते हैं] । उपभृत् में आठ बार म जुहू की अपेक्षा
 थोडा आयग्रहण करता हुआ अत्र यत् । इस अल्पग्रहण-कम्म से आयको [आठ सरया से] अति
 शय विस्तृत [एत्र] बड बनता हुआ [अत्र यत्] इसे [आय को] वी-य तथा बल में [अत्ता

की अपेक्षा] शून्य ही बनाता है। [तापय्य यही है कि आठ सरया से जहा आद्य सरया तथा आयतन मे बडा है उहा मोलिक गीग्यरूप आय की अपता से अत्ता की अपेक्षा यही गी य त ग बल से शून्य है निर्गीग्य है निबल है]। निष्कष यही निकला कि अत्ता सदा आ य पर अप । प्रमुत्त्व प्रतिष्ठित रक्ख आद्य सदा इसक सामने नतमस्तक रह सी रूपसमृद्धि क लिए अत्ता-स्थानीय जुहू मे अधिकमात्रा से त ग आद्यस्थानीय उपभृत् म अल्पमात्रा से आ य ग्रहण करना प्राकृतिक है ।

[एकाकी रहता हुआ भी अत्ता अधिक गीग्य बल क सम्बधसे हीनगी य हीनबल अनेको आद्यों पर कसे अपना प्रमुत्त्व प्रतिष्ठित रखता है ? उस सम्बध मे प्राकृतिक-निय यर्णानुगत राजा-प्रजा का उदाहरण उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है]—

इसीलिए तो [तस्मादुत-आद्य की अपेक्षा अत्ता के प्रिशाप बलगी यगान् होने से ही तो राष्ट्रविपति एक] सत्ताधीश अपार [असरय-अगणित-अनगिनती] प्रजा को प्रा न हाकर भी स्वय एक घर से (एकाकी ही उस असरय-प्रजा को) अपने वश मे कर लेता है। (यही नही अपितु राष्ट्र का आग्रश्यता क लिए वह राष्ट्रपति सत्ताधीश जब जब जसी जैसी जिस जिस रस्तु की कामना करता है तब तब वैसी वैसी उस उस अभिलपित रस्तु का भी (उस आद्यस्थानीया प्रजा से बल-गी य के प्रभाप से) प्रा न करता रहता है। उसो वीग्य से (सत्ताधीश यह सब कुत्र रा य-प्रजापभय प्रा त करने मे समथ होता है) जो कि य० अपनी जु० (रूप दक्षिण बाहु) मे अधिक आय (वी य) ग्रहण करता है। (अपने बाहुबल तथा आमगीग्य से सत्ता-धीश एकाकी रहता हुआ भी असरयान प्रजायुक्त राष्ट्र पर अपना प्रमुत्त्व बनाए रखता है यही तापय्य है)।

वह अध्वर्यु जिस आ य को जु० मे लेता है उस आय की (तो) आहुति जुहू से देता (ही) है (परतु) जिस आ य का उपभृत् से ग्रहण करता है [उसकी भी आहुति उपभृत से न देकर] जुहू से ही आहुति देता है। [तापय्य यही हुआ कि आयग्रहणकम्म प्रथक् प्रथक् जुहू उपभृत् म होता है परतु आहुति दोनों के आ य की जुहू से ही दी जाती है ॥*॥१४॥

*—१२ वी कण्डिका के आगे ब्राह्मणग्रंथ की जिस प्रतिपा न शैली का स्पीकरण किया गया है पाठक देखगे कि १३ वी १४ वी कण्डिकाओं के प्रारम्भिक वाक्यो से उम शैली का सर्वा मना समथन होरहा है। उत्तरोपक्रमगाभत प्रश्नार्थक वाक्यो का सर्त्रि स यत् — अथ यत् — अगत इ यादि रूप से आरम्भ होता है। ए। उत्तरवाक्यो से सम्बद्ध पूर्वाक्यो का उपक्रम स ो — तद्वि तद्वा प्तम् इया ि रूप से होता है जसकि १३ वी कण्डिका के आगे के प्रकरण से सम्बद्ध स यै चतुजुह्व गृहन् भूयऽ आय गृह्णाति इरु सामा य उपक्रमवाक्य से एव १४ वी कण्डिका के उत्तर प्रकरण से अनवित स्वतत्र अतएव अ यवाक्यसापेक्ष उत्तरापक्रमगर्भित प्रश्नाथक— स यच्चतुजुह्व गृहन् भूय आय गृह्णाति

(यज्ञपद्वति का यह एक स्वाभाविक नियम स्थापित जाता है कि जिस पात्र किंवा पात्री में आहुति प्रयत्न किया जाता है उसी पात्र किंवा पात्री से आहुति ली जाती है। परन्तु पूजश्रुति ने ग्रहण बतलाया है उपभृत् में एव आहुति का विधान किया है जुहू से। इस वषम्य का क्या कारण ? इसी वैषम्य का प्रश्न रूप से उपादान कर अत्र समाधान करती हुई श्रुति कहती है]—

[उपभृत् में गृहीत आय की उपभृत् से आहुति न देकर जुहू से ही आहुति देनी चाहिए इस पूज सिद्धांत का सम्बन्ध में] कितने एक विद्वान् कहते हैं कि [१ तः] यदि [उपभृत् में गृहीत आय की] उपभृत् से आहुति नहीं देते तो फिर क्या [किस प्रयोजन के लिए] उपभृत् में [आय] ग्रहण किया जाय ? [प्रश्नकर्ता विद्वाना का अभिप्राय यही है कि आहुति देने के लिए ही तो आय-ग्रहण का विधान हुआ है। जब उपभृत् से आहुति ही नहीं दी जाती तो इसमें आय-ग्रहण की ओर क्या आवश्यकता रह जाती है ?] ।

[श्रुति उत्तर देती है कि] यदि वह [अग्र्यु] [उपभृत् में गृहीत आय की] उपभृत् से आहुति देगा तो य सम्पूर्ण प्रजाए [अपना स्वाभाविक सघटन ताड़ कर] स्तत्र बन जायगी। न अत्ता रहेगा न आय [सुरक्षित] रहेगा। [उत्तर का तात्पर्य यही है कि उपभृत् में गृहीत आय एव उपभृत् दाना आद्यस्थानीय बनते हुए प्रजा स्थानीय हैं। जुहू में गृहीत आय तथा जुहू दोनों अत्ता स्थानीय बनते हुए सत्ताधीश-स्थानीय है। एसी परिस्थिति में यदि प्रजा स्थानीय उपभृत् से ही प्रजा-स्थानीय आय की आहुति दी जायगी तो उपभृदाज्यस्थानीया प्रजा स्तत्र बन जायगी जा कि निरकुश अमर्यादित स्वात् य त त्र पारतय बनता हुआ सत्ताधीश तथा प्रजा दोनों का नाश का ही कारण माना गया है। परन्तु जब उपभृदगृहीत आय की सत्ताधीश-स्थानीय जुहू [क आश्रय] से आहुति दी जाती है तो उपभृदाज्यरूप प्रजाजगज्जु रूप सत्ताधीश की रक्षा में आरु विघ्नव से बच जाता है। इसी राष्ट्रीय-एकीकरण के लिए उपभृत् गृहीत आय की भी जुहू से ही आहुति देना उचित है। इसी अभिप्राय को अपनी स्वाभाविक शैली से यत्न करती हुई श्रुति कहती है]—

(उपभृत् में आय-ग्रहण करने के लिए) अत्र तर जिसलिए कि (उपभृत्-गृहीत आय को) जुहू में ही लेकर आहुति देते हैं (इसका कारण बताते हैं) । (उपभृत् आय को जुहू में

[तत्कारणमुच्यते—इति वाक्यशेष] इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध हो रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों की अन परिभाषा-पात्रों के न जानने से मत्तिकास्थाने मत्तिकापात आय से याकरण के बलपर केवल शाय के अनुगमन से वास्तविक अथ-समवय में बड़ी भ्रान्ति हो जाती है। अत्र पाठको से इस सम्बन्ध में माग्रह निवदन किया जायगा कि अथसमवय करते हुए व इन परिभाषाओं का भलीभांति स्पष्टीकरण करल।

* जहां कहीं श्रुति को किसी आय के द्वारा प्रश्नात्मक आक्षेपयुक्त पूजिष्य करना होता है वहां सत्र आरंभ में तदाहु का सन्निवेश रहता है। दूसरे शब्दों में तदाहु वाक्य को सत्र प्रश्नात्मक ही समझना चाहिए। यह भी ब्राह्मणग्रन्थों की एक स्वाभाविक ही शक्ति है।

लेकर) आहुति देने से ही य प्रजाएँ क्षत्रिय-राजा क लिए बलि (कर) प्रदान करती है। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राय को अनुगामनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जा सकता है। वह यही कि यदि ऐसा है तो फिर उपभृत् में आ यग्रहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है?। क्यों नहीं पहिले चार बार जुहू में लेकर अत्ता १५ की प्राप्ति के लिए आहुति दे दीजाय अनंतर आद्य को अत्ता क आधीन बनाने क लिए जुहू में ही आठ बार लेकर [आग्निभाय की रक्षा क लिए] जुहू से ही आहुति दे दी जाय?। पहिले उपभृत् में लेना पुन उपभृत् से जुहू में लेकर आहुति देना सन्निधि प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में ही लेकर क्यों न इतकत्त यत्ता पूरी करली जाय?। इसी विप्रतिपत्ति का प्रश्नाधानपूक निराकरण करती हुई श्रुति कहती है) —

[जुहू में चार बार ग्रहण करने क] अनंतर जिसलिए एक उपभृत् में [ही आठ बार आद्य] ग्रहण करते है [इसका कारण बतलाते है]। [आद्यलक्षणा प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभृत् सम्बन्धी आ यग्रहण जुहू में न होकर उपभृत् में ही होता है] इसलिए ही क्षत्रिय [राजा] क पशु में [रक्षा में] रहते हुए ही पशु [प्रजा] के प्रति पशु [स पक्षिपद] उपस्थित होते है। [उत्तर का ता प य यही कि जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा क लिए भोक्ता की सत्ता अपेक्षित है उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सन्तुष्ट अपने स्वायत्त में ही स्थापना कर जाय उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा में) सुसमृद्धि का अवसर न दे तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति (धन कृप पशु आदि (बहिर्विस्त) में युक्त न बने। और स दशा में राजा का राजापना ही सुरक्षित न रहे। अतः प्रजाविकास क लिए प्रजासमृद्धि क लिए प्रजा को एकाग्रता से स्वतन्त्र—रखना भी आवश्यक है। उपभृत् जुहू पर रम्बी रहनी है जुहू आधार है आश्रय है उपभृत् आपेय है आश्रित है। यही राजा का प्रजा पर रक्षामरु अनुग्रह है। इस रक्षा में प्रतिष्ठित पशुरूप प्रजापति स्वतन्त्ररूप स पशुसमृद्धि करने में समर्थ बने इसी प्रयोजन की सिद्धि क लिए जुहू पर रक्त्त हु उपभृत् में ही आ यग्रहण किया जाता है)।

(इसप्रकार पहिले उपभृत् में आ यग्रहण कर अनंतर आपभृत्-आय को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों ली जाती है? इस प्रश्न का एक समाधान तो कण्डिका के आरम्भ में ही— तस्मान्निमा विश क्षत्रियाय बन्नि हरति या दरूप से लिया जाचुका है। इस उत्तर का ता प य यही है कि प्रजा राजा का बलि (कर) प्रदान करती रहे राजा इस बलिप्राप्ति से और भी अधिक बलवान् बनता हुआ प्रजासमृद्धि में प्रणमन करने। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने क लिए श्रुति पुन प्रश्न उठाकर समाधान करती है) —

(जुहू पर रम्ब हुण उपभृत् में आठ बार आ यग्रहण करने क) अनंतर जिसलिए कि (आपभृत्-आय को) जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति देते है (इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते है)। क्यों क आपभृत् य की उपभृत् से आहुति न होकर जुहू से आहुति होती है अतएव

जिस समय भी क्षत्रियराजा (राष्ट्रहित के नि जिस सम्पत्त की) कामना करता है कामना के अ यग्रहितात्तराजान म ही यह वैश्य (प्रजा] को लक्ष्य बना कर आज्ञा देता है कि वैश्य तुझारा जो अय य सुरक्षित (सुगुप्त) पर (परकीय धन) है उस (राष्ट्रहित क लिए) शीघ्र ले आओ । (आज्ञानंतर वैश्य क द्वारा प्राप्त धन को) वह राजा अपने अधिकार म कर लेना है । इसीप्रकार राजा का (राष्ट्रसञ्चालन-कम्म में) जब जसी न वस्तुआ की आवश्यकता पडती रहती है इही सम्पन्न वैश्यो क द्वारा वैसी वे वस्तुए प्रा त होती रहती है (और इस स्नाभाविक स पत्-प्राप्त का एकमात्र कारण है) वीर्यप्रभाय । (ताप य उत्तर का यही है कि यदि उपभृत् से ही आहुति दी जायगी ता इसका यह अर्थ होगा कि राजा ने प्रजा को सञ्चित-धन यय क लिए स्तत्रता प्रदान करदी । प्रजाधन ही राजा क राष्ट्र का मुख्य बल है । यदि प्रजाधन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा तो राजा क राष्ट्र की अथशक्ति नष्ट हाजायगी । और उस परिस्थिति मे राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसञ्चालन क लिए सम्पत्ति-सग्रह न कर सकेगा । ठीक इस क विपरीत जब कि औपभृत् । य का जुहू क द्वारा ही आहुति हाती है ता इस का यह अर्थ होता है कि प्रजा क द्वारा सञ्चित धन राजा को रक्षा म जायगा । इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा तभी प्रजा क उस गुप्त (सुरक्षित) धन क द्वारा राष्ट्रकामनाए पूरी करता रहगा । इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भा आपभृत्ना य को जुहू म लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१५॥

(जुहू और उपभृत् मे क्रमश ४ - बार करक जा आयग्रहण हाता है इस क सम्ब ध मे जो कुछ उपपत्ति बतलाना थी बतला दी गई । अब तीसरो ध्रुवा नामकी स क शेष रह गई जिससे कि खुग क द्वारा जुहू उपभृत् मे आयग्रहण होता है । इस क्रमन्धि से यद्यपि अब ध्रुवा-सम्बधी आ यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी । तथापि ध्रुवा पात्र अङ्गभूत इतर दोना स चों (जुहू उपभृत्) की प्रतिष्ठा वनता हुआ सयज्ञप्रतिष्ठा है । अत ध्रुवा क इस सयभाव को ढढमूल बनाने क उद्देश्य से प्रसङ्गात् पहिले इतर दोना स चा का भी सिहापलोकन कर लिया जाता है ।

यद्यपि छत्रोरूप अनुयाज तथा ऋतुरूप प्रयाज दोनों क लिए क्रमश उपभृत् तथा जुहू मे आयग्रहण होता है तथापि ध्रुवा सम्बध मे बतलाई जाने वाली उपपत्ति का श्रुति ने प्रधानरूप से छत्र सम्पत्ति के साथ ही सम्ब ध जाना है जैस कि निम्न लिखित मूलानुवाठ मे स्पष्ट होरहा है) ।

(आ यस्थाली से चार बार करक ध्रुवा में ध्रुवा से खुग क द्वारा चार बार कर क जुहू में ग्य ध्रुवा से खुव क द्वारा चार बार करक उपभृत् मे गहीत होने वाले) वे ये आय छत्रों क लिए ही गहीत होते है -(छत्रों के लिए ही आयों का ग्रहण होता है) । सो जो कि जुहू मे चार बार करके (आय) ग्रहण करता है वह गायत्रीछन्द के लिए हा गहण करता है । जो कि उपभृत् मे आठ बार कर के (आय) ग्रहण करता है वह त्रिष्टुप तथा जगती छन्द के ही लिए

ग्रहण करता है। जो कि (आ यस्थाली से ध्र वा मे चार बार कर के आ य) ग्रहण करता है वह अनुष्पुच्छ द के लिए ही ग्रहण करता है। अनुष्पु ही जाक है। जाक से ही यह (सब भौतिक प्रपञ्च) उपन्न हुआ है। इसीलिए (जाकप्रातरूप) ध्र वा से ही सम्पूर्ण यज्ञ होता है। अनुष्पु (बाक) ही यह (प्रथिवी) है। इसी (प्रथिवी) से यह सब (स्ताम्यत्रिलोकीरूप भूतप्रपञ्च) उपन्न होता है। इसीलिए (प्रथिवी के प्रतिरूप) ऋ वा से ही यह सम्पूर्ण यज्ञ उत्पन्न हुआ है ॥१६॥

❀-इति-आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्

—*—

४-पद्धतिप्रकरणम्

किन मे किन से कनके लिए कतनी बार आ य दृण होता है ? पूर प्रतिपादित तीन प्रकरणों मे इही प्रश्नो का समाधान हुआ है। अब कैसे आ य ग्रहण करना चाहिए ? पद्धतिरूप यह प्रश्न बच रहता है। आगे की क्रमप्रात १ १८ कण्डिकाओं से इस आ यग्रहण पद्धति का ही अनुरूपण करता हुआ अष्टादश १८ कण्डिकात्मक प्रकरणचतुष्टयामक आ यग्रहण ब्राह्मण नामक १ काण्डानुगत ३ अ याय का दूसरा (३) तथा द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण (२५) समाप्त होता है।

वह अ ऋयु -- धाम नामासि प्रिय देवानामनामृष देवयजनमति (यजु स २ अ ३१ म) यह मन्त्र बोलता हुआ आ यग्रहण करता है। (अथमुपिधा ऋ लि मन्त्र को दो भागों मे विभक्त कर पहिले प्रथम विभाग का अथ करती हुई श्रुत कहती है) यह देवताओं का अ यत प्रिय स्थान (रमणसाग्न) है जो कि आ य है। इसीलिए धाम नामासि प्रिय देवानाम यह कहा गया है। (मन्त्र के द्वितीय भाग का अ य करते है) आ य वास्तव मे वज्र है देव-यजन है--(देवताओं की यज्ञ क द्वारा परस्पर रङ्गति कराने वाला है)। इसी अभिप्राय से अना-वृष देवयजमनमसि यह कहा गया है ॥१७॥

वह अध्वर्यु इस (उक्त) यजु से (मन्त्र से मन्त्र बोलता हुआ) जुहु मे एकबार आज्य-ग्रहण करता है तीन बार चुप चाप (ग्रहण करता है) (ता प य यही है कि जुहु म चार बार आ यग्रहण करने का विधान है। न म आरम्भ मे कबार तो मन्त्र बोलते हुए ग्रहण करना

* जैसा कि मूलानुवादप्रकरण के आरंभ में ही बतला दिया गया है ११ से १६ पर्यन्त की ६ कण्डिकाओं में आ यग्रहण की उपपत्ति ही प्रधानरूप से बतलाई गई है। अतएव हमने षट्-कण्डिकात्मक प्रकरण की एक नव प्रकरण मानते हुए आ यग्रहणोपपत्तिप्रकरण नाम से व्यवहृत करना उचित मान लिया है।

चाहिए एव तीन बार बिना म त्र बोले चुपचाप ग्रहण करना चाहिए) । उपभृत् म एकत्रार (तो) सी यजु म (म त्र बालता हुआ) आ यग्रहण करता है एत सात बार चुपचाप (बिना म त्र प्रयोग क) आ यग्रहण करता है । ध्रुवा मे (आ यस्थाली म स) एक बार तो इसी यजु से (म त्र बालता हुआ) आ यग्रहण करता है एत तीन बार चुपचाप (बिना म त्र प्रयोग के) आ यग्रहण करता है ।

इस स त्र ध म कुञ्ज विद्वान् कहते हैं कि (ध्रुवा जुहू उपभृत् इन तीना म आ यग्रहण करते हुए प्रत्येक मे) तीन तीन बार यजु से (मन्त्रपूर्वक) आ यग्रहण करना चाहिए । क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (नराक्षरा-पिराट् सम्पत्ति स युक्त) है । (आक्षेपगमित प्रश्न-कर्त्ता का अभिप्राय यही है कि जब यज्ञ त्रिवृत् है और त्रिवृत् सम्पत्ति बिना तीन तीन बार यजु प्रयोग-मन्त्रप्रयोग क स भय नहीं तो ऐसी दशा मे जुहू-उपभृत्-ध्रुवा तीनों की ४ ८-४ इन ग्रहण-सरयात्रों मे से क्रमश ३-३-३ रूप से ताम त्र प्रयोगपूर्वक आ यग्रहण करना चाहिए एत १-५ १ इस सरयात्रो क अनुरूप तृष्णी आ यग्रहण करना चाहिए तभा त्रिवृत्-स पत्ति प्राप्त होसकनी है)—

(उक्त पूर्वपक्ष का तदस्थ रूप से खण्डन-करती हुई सप्त-पक्ष को ही सिद्धातपक्ष बतलाती हुई श्रुति कहती है)—इस आ यग्रहणक म मे एक एक बार ही म त्र पूर्वक आ यग्रहण करना चाहिए । इस (सकृत्-सकृत् परिग्रहणकम्) म भी आ य का (समाहाररूप) तीन बार ग्रहण होजाता है । (इसप्रकार सकृत् पक्ष म ही त्रिवृत् सम्पत्ति प्राप्त होजाती है ॥१-॥

४—इति—आज्यग्रहणपद्धतिप्रकरणम्



प्रथमकाण्डानुगत-तृतीय अध्याय का दूसरा ब्राह्मण समाप्त (१।३।२।)

प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीय प्रपाठक का षोचवा ब्राह्मण समाप्त (१।२।५।)

मूलानुवाद-समाप्त



सूत्रानुगतपद्धतिमगृह

जुहू मे स्रुव से चार बार आज्यगृहण

आ यावेक्षणक म के अनतर आ यग्रहणकम्म होता है । आ यस्थाली मे रक्ख हुए आय को स्रवा क द्वारा जुहू-उपभृत् मे डालना हीं आयग्रहणकम्म है । इसी कम्म की इति कत्त यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

स्रुवेणा यग्रहणा चतुर्जुहा—‘ धामनामति ’ सक्र मत्र ” इति ।

—का श्रो सू ७७६ ।

उक्त सूत्रादेशानुसार अ ऋग्यु — ओं धाम नामासि प्रिय देवानामनागृष देवयजनमसि (हे आय । आप देवताओं क लिए प्रिय धाम नाम वाले हो आप किसी भी आसुरभात्र से प्रण करने योग्य नहीं होने वाले देवताओं क देवयजन (देवयजनभूमिस्थानीय) हो —यजु १।६१) यह मत्र बोलता हुआ आ यथाली से स्रवा को पूर्ण भर कर चार बार जुहू मे आय डालता है । इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त मत्र का प्रयोग प्रथमबार आ य-ग्रहण मे हीं होता है । शेष तीन बार बिना मत्रोच्चारण क तूष्णीं हीं आ यग्रहण होता है । तापय यही हुआ कि अ ऋग्यु स्रवा को चार बार पूरणरूप से आ यस्थाली म से भरेगा । इस मे एक बार तो उक्त मत्र बोलता हुआ जुहू मे डालेगा शेष तीन बार चुपचाप जुहू मे डालेगा ।

उपभृत् से स्रुव से आठ बार आज्यगृहण

जुहू म स्रुव से पूरणरूप से चार बार आयग्रहण करने क अनन्तर उसी मन्त्र से आठ बार कर क अपरिपूरणरूप से आ यस्थाली मे से स्रवा क द्वारा आठ बार उपभृत् मे आय ग्रहण किया जाता है । इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

‘अष्टानुपभृत्यल्पीयोऽनुयाजश्चेत्’ (का श्रो सू २।७१ ।) ।

यदि तृशपूर्णमास मे अनुयाज का सम्बन्ध है तो आठ बार वरक उपभृत् मे अप्रण आठ स्रुवों से आयग्रहण किया जाता है । प्रकृत ऋषि मे छंदोरूप अनुयाजकम्म वेकल्पिक है इस बात को स्पष्ट करने क लिए चेत्त कहा गया है । यदि अनुयाजकम्म है तब तो आठ बार उपभृत् मे आयग्रहण होगा अ यथा कवल जुहु मे हीं चार बार आयग्रहण होगा ।

यद्यप्यौ कृत्त उपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्—गृह्णाति (तै ब्रा ३।३।५) इस कृष्णब्राह्मणानुसार उपभृत् मे जो आठ बार आज्यग्रहण होता है उस मे चार बार गृहीत आय का तो ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं से सम्बन्ध है एव चार बार गृहीत आय का छंदारूप अनुयाज-देवताओं से सम्बन्ध है । अनुयाजों को पूवसूत्रने वेकल्पिक बतलाया है । इस सम्बन्ध मे एक

सशय उपस्थित होता है। यदि प्रकृत इच्छि म अनुयाज-कम्म का अभाव है अथवा तो प्रषदा-यादि द्र या तर से अनुयाजकम्म की इतिकत्त यता पूरी कर ली जाता है तो ऐसी परिस्थिति में उपभृत् में आठ बार आ यप्रहण करना अथवा चार बार ?। इस सम्बन्ध में अपना निणय बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं -

चतुर यत्र प्रतिविभागात् (का श्रौ सू २७।११)

यदि प्रकृत इच्छि म अनुयाजका अभाव है अथवा तो प्रषदा-यादि अय द्रय से अनुयाज कम्म सम्पन्न करना अभीष्ट है तो उस दशा में प्रतिविभाग-मर्यादा से उपभृत् में चार बार ही प्रहण करना चाहिए। उपभृत्-में प्रतिष्ठित अतएव आपभृत् नाम से प्राप्त आय ४-४ क्रम से क्रमशः प्रयाज अनुयाज दोनों के लिए विहित है। जब कि आपभृत् आय उभयाथ है आर अनुयाजक में अपेक्षित नहीं है तो ऐसी स्थिति में कवल प्रयाजकम्म की सिद्धि के लिए चार बार ही आ यप्रहण करना नियमप्राप्त बनता है। इसी सिद्धांत के सम्बन्ध में ऋणतरूप से एक दूसरा हेतु बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं-

पश्यातिथ्यादर्शनाच्च (का श्रौ सू १६।१२)

पशुबन्ध में तथा आतिथ्येच्छि में होने वाले अनुयाजकम्म की सिद्धि के लिए उपभृत् में चार बार ही आ य-प्रहण देखा जाता है। यदि अनुयाजकम्म वैकल्पिक होता है तो प्रयाज के लिए चार बार ही आ यप्रहण करना चाहिए यही प्रतिविभाग-यत्रस्था यायत प्राप्त है। पशुबन्ध के सम्बन्ध में जुह्वा चापभृति च चतुर्हीत गृह्णाति (आप श्रौ ७।१।६) इत्यादि रूप से स्पष्ट ही प्रतिविभाग-मर्यादा का समर्थन हुआ है। एवमेव आतिथ्येच्छि के सम्बन्ध में भी सर्वा एयेत्र चतुर्हीता या यानि गृह्णाति न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति (शत ब्रा १।३।२६) इत्यादि रूप से इसी पक्ष का समर्थन हुआ है।

अत्र इस सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति के आधार पर एक नया पूर्वपक्ष उठाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

न, कृत्स्नोपदेशात् (का श्रौ सू २।७।१३)

उपभृत् में आठ बार गृहीत आयुषों में से चतुर्हीत आय तो प्रयान के लिए है व चतुर्हीत आय अनुयाज के लिए है पूर में जो यह सिद्धान्त बतलाया गया है वह (श्रुति-विरोध से) ठीक नहीं है (न)। क्योंकि— अथ यदष्ट कृत्स्न उपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति (शत ब्रा १।३।२।६) इस श्रुति में उपभृत् में आठ बार कर के गृहीत सम्पूर्णा आय का कवल अनुयाजकम्म के लिए ही विधान हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रतिविभाग-मर्यादा का समर्थन नहीं किया जासकता। चतुर-यत्र प्रतिविभागात् से यह बतलाया गया कि उपभृत् में आठ बार गृहीत आयुष में से आधे का प्रयाज में एव आधे का अनुयान में उपयोग है। इस का ता पथ्य यही है कि उपभृत् में आठ बार प्रहण तो अनुयाज के लिए ही होता है। परन्तु

जसे प्रयाज क लिए जुहू में ऽहीत आय का वचन-प्रमाण से उत्तराधार से त्रिनियोग होजाता है एगमेय यहा भी प्रयाज मे उपयाग होजाता है । दूसरा हेतु पश्नातभ्या शनाच यह था । सम्बन्ध मे—

“पश्नातभ्योर्वाचनात्” (का श्रौ सू ७।१४)

यह समाधान ही पयात हागा । अनुयाजेभ्यो हि तद गृह्णाति (शत ब्रा १।३।२।६) इस श्रुतिवाक्य से सम्पूर्ण आपभृत् आय जब कि अनुयाज क लण है तब जहा पशुबध म प्रपत्न या न न या नर स अनुयाजेतकत्त यता परी की जाता है एग आति यति म अनुयाज का ही अभान है ता उस दशाम वहा उपभृत् म अग्रहण प्रा न होने पर वचन से चतुर्गृहीत आय का ही विधान समझना चाहिए । पाहल से प्राप्त का ही दशन सम्भव है । पश्नादि म क्याक पहले से प्राप्त नहीं है अत वहाँ वचन ही मानना उचित है । प्रतिपक्षी का तापय यही है कि जिस पश्नादि दशन के आधार पर सिद्धाती प्रतिप्रभाग की म र्यादा स्थापित करता हुआ आपभृत् आ अग्रहण क सम्बन्ध म चतुर्गृहीत आ यपक्ष स्थापित करना चाहता है । पश्नाद को नसम्बन्ध म उपोद्बलक नहीं माना जासकता । अपितु यत्षटौ कृत्त उपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यो हि तद गृह्णाति इस श्रुति से आपभृत् आय उभयाथ न हो कर अनुयाजाथ ही मानना यायसङ्गत है ।

प्रतिपक्षी की इसी प्रतिप्रपात्त का निराकरण करते हुए भाष्यकार अरना यह सिद्धात स्थापित करते है कि यत्षण कृत्त उपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजे यस्तद गृह्णाति (तै ब्रा ३।३।२) इस शाखा तर वचन क आधार पर आपभृत् आय का विधान उभयाथ ही मानना चाहिए । अनुयाजेभ्यो हि तद गृह्णाति (श ब्रा १।३।२।६) यह वाजसनेय वचन तो प्राप्त अथ का अनुवादमात्र है न कि विधान । ऐसी स्थिति म सिद्धात यही निरुलता है कि अनुयाजाभाव मे किया अथ द्वयानुयाज-युक्त कम्म मे उपभृत् मे चतुर्गृहीत आय को ही सिद्धात पक्ष समझना चाहिए । जु तथा उपभृत् के सम्बन्ध मे आग्रहण की यप्रस्था कर अब क्रमप्रात ध्रवानुगत आय- यप्रस्था करते हुए सूत्रकार कहते है—

ध्रवाय च जुह्वन्” (का श्रौ सू ७।१५) ।

ध्रवाम एग चकारात् उपभृत् म जुहू की भाति एक बार म प्रयागपृक्क आ अग्रहण होता है एग तीन बार तूष्णी बिना म प्रयोग क आय अग्रहण होता है । सप्रकार अनुयाजपक्ष म तो जुहू-उपभृत् ध्रवाम मे तीनों म क्रमश ४-८-४ बार आय अग्रहण होता है एग अनुयाजाभापक्ष म तीनों मे क्रमश ४-४ ४ बार आय अग्रहण होता है । दोना हा पक्षों मे एक एक बार मत्र-प्रयागपृक्क आ अग्रहण होता है एग शेष तीन बार तूष्णी आ अग्रहण होता है एग आय अग्रहण से सम्बन्ध रखने वाले सूत्रानुगतपद्धति क्रम का यही सचित स्पष्टीकरण है ।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंगृह

—*—

वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य) यज्ञैतिकत्त यता की उपनिषत् म्या ? स प्रश्न क समाधान क लिए ही पहिला यज्ञ अतिरूपरहस्य नामक प्रकरण आर भ होता है इस उपपत्ति-प्रकरण मे प्रथम आ धार्मिकयज्ञ का स्पर्शकरण हुआ है अन तर आधिनकयज्ञ का विश्लेषण हुआ है । उपपत्ति-प्रकरणारम्भ स पहिले हम आन एक उहुत बडा विप्रतिपात्त की आर पाठका का यान आरुषित करना चाहते ह । हमारा वेदशास्त्र विज्ञान का भण्डार ह इस सक्ति क उ-चारण करते ही उत्त मान नगत प्रश्न-परम्परा हमारे सम्मुख उपास्थित कर देता है । यन्ति वन् म विज्ञान ह ता क्या उस वन्तिक-विज्ञान के आधार पर भारतीय भी वत्तमान जगत् के से विविध भौतिक आविष्कार कर सकते है ? । इस प्रश्न का महत्त्व उस समय ओर भी बढ़ जाता है जब कि वेदाचारा की चारया करते समय पदे पदे विज्ञान शास्त्र का पुनरायत्त न हाने लगता है । भारतप्रथ क सर्वा-कृष्ट देयुगकाल म प्रमानादि भौतिक आविष्कार उक्त प्रश्न का भलीभाति समाधान कर सकते थे इस मे तो कोई स देह नही । एय ऋग्वेदीय कतिपय सूक्त आज भी वाचिकरूप से अपना अतीत अहभाव सुरक्षित रखने मे पूण समथ है । साथ ही यह भी युक्त स य है कि यदि भारतीय विद्वानों को पूण स्वातन्त्र्य मिले ता वे आज भी प्रिलु तत्राय वन्तिक विज्ञान परम्परा क पुनरुद्धार क द्वारा भातिक आविष्कारों से अपना अतात उत्त मानकाटि म लासकते ह ।

इसप्रकार भौतिक-विज्ञान क आधार पर प्राताष्ठत प्रमानान्ति भातिक आविष्कारों के सम्बन्ध मे अपने त्रिकालज्ञ प्रदितवेदित य कत्त मकत्तु म यथारुत्तु समय महामहर्षियों क यश सारभ को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध म हमे अपना यह मत य स्पष्ट कर ही देना चाहिए कि भारतीय महर्षियों के वैज्ञानिक-जगत् की पारभाषा अपना काइ प्रशय ही महत्त्व रखती है । साथ ही यह भी निर्विवाद है कि ऋषियों की उस तात्त्विक उद्घानिक-परिभाषा की तुलना मे भौतिक-आविष्कारा से सम्बन्ध रखने वाली वैज्ञानिक-पारभाषा कोई विशेष महत्त्व नही रखती यदि इस सम्बन्ध म यह भी कह दिया जाय तब भी काइ अतिशयोक्ति न होगी कि ऋषियों का वैदिक विज्ञान प्रधानत जिन तीन श्रेणिया मे विभक्त है उनक अतिरिक्त किसी चौथे (भौतिक आविष्कारानुगत) विज्ञान पर उनकी नब्धि सदा स नही क समान ही रही है । यहा कारण है कि जिस देयुग मे प्रमानादि भातिक आविष्कार उद्यमान थे उस युग म भी वे आविष्कार सवलोक यत्रहार मे नही आसक थे । भातिक आविष्कार माननीय बुद्ध मे जडता का समावेश करते हए उसमे जहा प्रतिहिसालक्षण आसुर-भाव का समावेश कर देते है वहा साथ साथ ही इनक अतिशय यत्रहार से मानवसमाज की प्राकृतिक शाक्तया स्वत सिद्ध पारुप भी ह्रासानुगत ही बनता रहता है । आत्मस्वात य क अ यतम शत्रु य ही भौतिक आविष्कार है । ऋषि इन की इस भीषणता से परिचित थे अतएव इस ओर सदा से उहोंन उपचावृत्ति को ही प्रधानता दी । फलत इन भौतिक आविष्कारों के आधार पर न तो वैदिक विज्ञान का महत्त्व कम हा किया जासकता न इस सम्बन्ध मे वैदिक विज्ञान क सामने आक्षेपात्मक कोई प्रश्न ही उपस्थित करने की धृष्टता की जासकती ।

ऋषियो का ऋदिक-विज्ञान प्रधानत आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक इन तीन श्रेणिया में विभक्त है। आधिभौतिक विज्ञान ही यज्ञविज्ञान है इसी के आधार पर हमारा ग्रहस्थाश्रमानुबन्धी कम्मकाण्ड प्रतिष्ठित है। आधिदैविक विज्ञान ही ईश्वरविज्ञान है इसी के आधार पर जानप्रस्थाश्रमानुबन्धी उपासनाकाण्ड प्रतिष्ठित है। एव आध्यात्मिक विज्ञान ही जीवविज्ञान है तमामी के आगर पर स यासाश्रमानुबन्धी ज्ञानकाण्ड प्रतिष्ठित है। कम्म उपासना ज्ञान ये तीन ही मानवसमाज के परमपुरुषार्थ हैं। इन तीनों का क्रमशः मनुष्य की युवा प्रौढ वृद्धावस्थाओं से सम्बन्ध है। अपनी इन तीन अग्रस्थाओं में आश्रमविभाग की मर्यादानुसार क्रमशः तीनों पुरुषार्थों का अनुगमन करने वाले मनुष्य का महलोक परलोक नाकसग्रह आदि सभी कुल्ल गताथ हाचाना है।

यदि ओर भी सूक्ष्मऋषि से विचार किया जाता है तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है कि उक्त तीना विज्ञानों का अततोग या यज्ञविज्ञान पर ही पयसान है। ईश्वर के साथ सालात्म्य सामीप्य सायुज्य-सारूप्य रूप से अपने आमा को मिलाने ही आधिदैविक विज्ञानानुगत उपासनाकाण्ड का चरम फल है। आमप्रपिलक्षण यह उपासना आत्मा का ईश्वर के साथ यजन कराती हुई यजनलक्षण यज्ञमर्यादा से ही युक्त है। एवम अपने विशुद्ध अपहतपाप्मा जीवात्मा को उस निरुपाधिक विशुद्ध यापक आमतव में समवलयरूप से आहुत कर देना ही आध्यात्मिक विज्ञानानुगत ज्ञानकाण्ड का चरम फल है। आमसमवलय-लक्षण यह ज्ञान भी आमा का आमा के साथ यजन कराता हुआ यजनलक्षण यज्ञमर्यादा से बाहिर नहीं माना जा सकना। इसप्रकार यज्ञविज्ञान के गभ में इतर दोनों विज्ञानों का भी अतर्भाव होरहा है। इसी आधार पर * यज्ञेन यजमयजत देवा - यज्ञेन वाच पत्नीयमान इयादि मत्रयणन अ वथ वन रहे है।

उक्त तीनों विज्ञानों का समष्टयात्मक एक ही नाम है— विश्वविज्ञान। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व अध्यात्म अधिदैवत अधिभूत भेद से तीन ही भागों में विभक्त है। त्रिपर्वामक विश्वविज्ञान नामक इसी समष्टियज्ञ के लिए सबहुत - सबमेध इयादि नाम प्रयुक्त है जिस का यत्र तत्र

*—यज्ञेन यजमयजत देवास्तानि धम्माणि प्रथमायासन् ।

ते ह नाक महिमान मच त यत्र पूर्णे साध्या सति देवा ॥

—यजु स ३१।१६

यज्ञेन वाच पदनीयमायन्ताम वविद नृषिषु प्रविष्टाम् ।

तामाभृत्या यदधु पुरुत्रा ता सप्त रेभा अभि स नवते ॥

—ऋक् स १।७१।३

प्रकरण-विशेषों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ — है। सबहुतयज्ञ के उक्त तीनों परों का क्रमशः विश्व के स्वयम्भू सूख्य पृथिवी इन तीनों परों के साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

सहस्रव शांति महाभाष्यप्रच्छिन्न अश्वत्थवृक्ष के यागभाष्यप्रच्छिन्न पञ्चपुण्डरीक प्राजापत्य शांति अतएव पञ्चपर्यायिक विश्व के सुप्रसिद्ध पाचों परों का स्वयम्भू परमेष्ठी सूख्य चन्द्रमा पृथिवी रूप से प्रथमखण्ड में अनेक बार उपबृंहण किया जा चुका है। इन पांच विश्वपरों का आगे जाकर स्वयम्भू सूख्य पृथिवी इन तीनों परों में ही विश्राम मान लिया जाता है। इस विश्रान्ति का कारण यही है कि यज्ञस्वरूप सम्पादक देवताओं का परस्पर यजन हारहा है। पाचों के क्रमशः ब्रह्मा विष्णु इन्द्र सोम अग्नि ये पांच देवता हैं। इन में ब्रह्मा स्वतन्त्र रहते हैं। ये ही—ब्रह्म वे स्वस्य प्रथमजम्—ब्रह्म वे स्वस्य प्रतिष्ठा (शं. ब्रा. ६१) के अनुसार सप्तप्रतिष्ठा है प्रथमज है। विष्णु इन्द्र दोनों का एक युग्म है जसा कि विष्णो कर्मणि पश्यन् यतो ब्रह्मनि पश्यते। इन्द्रस्य युष् सखा (श्रुति) इत्यादि

—तस्मद्यज्ञात् सगृह्यत ऋच सासानि जज्ञिरे ।
 छन्दासि जज्ञिर तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
 तस्मादश्वा अजाय त ये के चोभयादत ।
 गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय ॥
 त यज्ञ बर्हिष प्रौचन् पुरुष जातमग्रत ।
 तेन देवा अयज त साध्या ऋषयश्च ये ॥

—यजु स ३१७८६

‘ब्रह्म वे स्वयम्भू तपोऽतप्यत । तदैक्षत, न वै तपस्यान त्यमस्ति, ह ताह भूते ष्वात्मान जुवानि, भूतानि चात्मनि इति । तत् सर्गेषु भूतेष्व्वात्मान हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठ्य, स्वाराज्य, आधिपत्यं पप्सात् । तथैतद्यजमान सर्वमधनं सर्गान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रेष्ठ्य स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति । स वाऽएष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति । दशान्नरा विराट् विराडु कृत्स्नमन्न, कृत्स्नस्यैवा चाद्यस्यावरुद्धयै । तस्मिन्नग्निं परार्ध्यं चिनोति । परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां यत् सर्वमेध । परमेष्ठ्यैः परमता गमयति’ ।

—शत ब्रा १३ का ७ अ १ ब्रा १ क ।

मन्त्राण्यन से प्रमणित है। एतद् इन्द्र-सोम (चन्द्र) अग्नि इन तीना का एक स्तत्र प्रभाग है। २सप्रकार १ २-३ २स क्रम से पाचा का तीन ही सस्थाआ क निर्माण मे उपयाग होरहा है। प्रमसस्था के अत्रिपति ब्रह्मा है इनका स्वयम्भू से सम्बध है। द्वितीय सस्था के अत्रिपति इन्द्रगर्भित विष्णु है इनका सूर्य से सम्बध है। एव तृतीय सस्था के अत्रिपति इन्द्र-सोम गर्भित अग्नि है तत्रा नका सम्बध पृथिवी से है। ब्रह्मा ब्रह्मा है इन्द्रगर्भित विष्णु विष्णु है एव इन्द्र-सोम गर्भित अग्नि महेश है। २सी विश्वविज्ञान के आगार पर आर्यसवस्व (पुराण) ने वैदिक पञ्चदश वाक् के स्थान मे त्रिदवतावाक् को ही प्रवानता दी है।

पुरुषविज्ञान के अनुसार भी सी त्रिपद का समथन होरहा है। अथययुर्वेदानुगत आनन्द अक्षरपुरुषानुगत ब्रह्मा एव त्रपुरुषानुगत प्राण तीनों के सम्बध से आनन्द-ब्रह्मा प्राणमय बनने वाला स्तत्रम्भू ही आर्यामिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। अथयानुगत विज्ञानगर्भित मन अक्षरानुगत विष्णु गर्भित इन्द्र एव त्रानुगता अक्षरगर्भिता वाक् इन तीनों के सम्बध से मन-जाड्मय बनने वाला सूर्य ही आधिदैविक यज्ञ की प्रतिष्ठा है। अथयानुगता प्राणगर्भिता वाक् अक्षरानुगत इन्द्रसोमगर्भित अग्नि एव त्रानुगत अक्षरगर्भित आनन्द इन तीनों के सम्बध से वाक्-अग्नि-अक्षरानुगत बनने वाली पृथिवी ही आधिभौतिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। पृथिवीनुगत कर्मकाण्डामक आधिभौतिकयज्ञ स्तत्रगसुख की प्रतिष्ठा है। सूर्यानुगत उपासनाकाण्डामक आधिदैविकयज्ञ अपरामुक्ति की प्रतिष्ठा है। एतद् स्वयम्भू अनुगत ज्ञानकाण्डामक आर्यामिकयज्ञ परामुक्ति की प्रतिष्ठा है। सप्रकार त्रिसत्या त्रैदेवा के अनुसार त्रिपवाद का समथन करने वाला हमारा सर्वहुतयज्ञ त्रिपदा बन कर सर्वप्रतिष्ठा बनता हुआ २४ कामधुक् नाम को सर्वथव अथय कर रहा है।

१-आनन्द	ब्रह्मा	प्राण	स्वयम्भू] — स्वयम्भू	} — सर्वहुतयज्ञ
२-विज्ञानम्	विष्णु	आप	परमेष्ठी		
३-मन	इन्द्र	वाक्	मूर्ध्य	} — सूर्य	
४-प्राण	सोम	अन्नम्	चन्द्रमा	} — पृथिवी	
५-वाक्	अग्नि	अन्नाद्	पृथिवी		

- १—सूयम् —अध्यायम् (अथायमयज्ञप्रतिष्ठा—तानकाण्डम्)
 —सूयम् —अधिदैवतम् (अधिदैवतयज्ञप्रतिष्ठा—उपासनाकाण्डम्) }—संग्रह
 २—प्रथित्री —अधिभूतम् (अधिभूतयज्ञप्रतिष्ठा—कम्मकाण्डम्)

प्राकृतिक यज्ञविज्ञान ही विश्वविज्ञान है एव इसी के आधार पर पुरुषायससाधिका वैध यज्ञत्रयी का (ज्ञान—उपासित—कम्मप्रथी का) महर्षियों के द्वारा आविर्भाव हुआ है। इस मौलिक स्थिति के आधार पर कहा जा सकता है कि हमारा वैदिक विज्ञान उस नव यज्ञविज्ञान से ही संबध रखता है जिसके परिज्ञान से एव तदनुकूल वधयज्ञानुष्ठान से आप्रतिश्रयस के साथ साथ लोकाभ्युदय सर्वात्मना पुष्पित पल्लवित हो जाता है। प्रकृतिसिद्ध नियमों का अनुगमन करत हुए हम शान्ति तथा लोकसंग्रहपूर्वक जीवनयात्रा का निर्वाह करते हुए परत्र सदगात प्राप्त कर एकमात्र इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमारा विज्ञानशास्त्र प्रवृत्त हुआ हुआ है जिसका मूलस्तम्भ यज्ञविज्ञान ही माना जा सकता है। यज्ञकम्म ही हमारे विज्ञान का चरमफल है। ऐसी दशा में यज्ञक मातरिक्त भौतिक—आधिष्कारों को लेकर हमारे विज्ञानशास्त्र पर किसी प्रकार का प्रतिप्रश्न नहीं किया जा सकता। जब कि केवल यज्ञकम्म ही हमारी प्राकृतिक शक्तियों को सुरक्षित रखता हुआ हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है तो फिर हमें हमारे विज्ञानशास्त्र से उन निष्क अशान्तिवद्धक महजशक्ति विनाशक भौतिक आप्रतिश्रयों के सम्बन्ध में प्रश्न करने का कोई अवसर ही नहीं बच रहता। निवेदन करने का अभिप्राय यही है कि विज्ञान शब्द से भौतिक आधिष्कार प्रकृत विज्ञानकाण्ड में सवगा अनभिप्रत हैं। विज्ञान शब्द की मर्यादा यज्ञविज्ञान पर्यन्त ही सीमित समझनी चाहिए जिसके कि गम में आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक—विज्ञान प्रतिष्ठित हैं *।

उक्त ही कोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत आयायब्राह्मण का समवय करना है। यज्ञक म की सिद्धि के लिए आयायग्रहण किया जाता है। उस सम्बन्ध में प्रसङ्गात् यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि उक्त यज्ञत्रयी में से प्रकृत में प्रधान लक्ष्य प्रथियनुगत आधिभौतिक यज्ञ ही है। उपासना से संबध रखने वाला सूर्यानुगत आधिदैविक यज्ञ आरण्यकग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है एव ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला स्यायम्भुज आध्यात्मिक यज्ञ उपनिषद् ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मण—ग्रन्थों में प्रधानरूप से कम्म से सम्बन्ध रखने वाले प्रथियनुगत आधिभौतिक यज्ञ का ही विश्लेषण हुआ है।

पृथियनुगत आधिभौतिक यज्ञ में भूपिण्ड पार्थिव शरीर भूमहिमा भेत् से तीनों यज्ञों का उपभोग हो रहा है। स्वयं भूपिण्ड तथा ओषधि वनस्वति लोठादि अचेतन वर्ग पृथियनुगत आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्बन्ध रखते हैं। वैश्वानर—तैजस प्राणायामक सप्तस पार्थिवशरीर (अस्मन्तान् चित्तनवग) पृथियनुगत

* शतपथ प्रथमखण्ड के प्रारम्भिक पारिभाषिक सूचनाएँ नामक स्वतंत्र स्तम्भ में भारतीय दृष्टि कोणानुगत विज्ञान शब्द का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

आ यामिक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं। एव एकविंशस्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी (भूमहिमा) से सम्बन्ध रखने वाले पार्थिव दिव्यदेवता पृथिवी यनुगत आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं। इसप्रकार केवल पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले एक मप्रधान आधिभौतिक यज्ञ में ही भूवर्त्ता पार्थिव वेतनप्रगदिव्य देवप्रगदभेद से तीना यज्ञों का उपभोग सिद्ध हो रहा है।

तथापि यद्यपि अप्रासङ्गिक है। तथापि सका स्पष्टीकरण करके ही ब्राह्मणविज्ञान का समर्थन करना चाहिए। विश्व के तीनों पर्वों का स्पष्टीकरण के लिए वेद के अपौरुषेय ब्राह्मणभाग के त्रिविध आरण्यक उपनिषत् भेद से तीन काण्ड हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं। ये तीनों काण्ड कर्त्तव्यता का ही प्रदर्शन कर रहे हैं। शेष ब्रह्म (मात्र) भाग ज्ञान यथायत्न से सम्बन्ध रखता है। सप्रकार ज्ञान यथायत्न यथायत्न भेद सवशास्त्र ब्रह्म ब्राह्मण रूप से दो भागों में विभक्त हो रहा है। विज्ञानज्ञान का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न का समाधान ब्रह्मवेद (सहितवेद) कर रहा है। एव विश्वविज्ञान के आधार पर हमें क्या करना चाहिए? कैसे करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान ब्राह्मणवेद (त्रिविध आरण्यक उपनिषद् वेद) कर रहा है। इसप्रकार मात्रब्राह्मण मन्त्र सशास्त्र वेदशास्त्र त्रिविध के ज्ञान यथायत्न यथायत्न की पूर्ति करता हुआ सशास्त्र ही बन रहा है। प्रस्तुत भाग यथायत्न यथायत्न के एक काण्ड से ही सम्बन्ध रखता है जिसका कि पृथिवीयनुगत आधिभौतिक यज्ञप्रकार से ही सम्बन्ध है। विद्या मन्त्र ब्राह्मणग्रन्थों में इति नु अध्याय मन्त्र इति नु अधिदत्तम् इत्यादि रूप से जिन अथवा मादि विवर्त्तों का स्पष्टीकरण हो रहा है उनका एकमात्र पृथिवीयनुगत आधिभौतिक यज्ञप्रकार से ही सम्बन्ध समझना चाहिए।

निष्कर्ष यही निकला कि वेदशास्त्र विज्ञानप्रधान है। विज्ञान से प्रगणित विश्वविज्ञान ही अधिभूत प्रतीति है। इस विश्वविज्ञान के अथवा अधिदैवत अधिभूत नामक तीन पर्व हैं। तीनों पर्वों का क्रमशः स्यायम्भूसूत्र-प्रथिनी सम्बन्ध है। ये ही तीनों विज्ञान क्रमशः ज्ञानकाण्ड उपासनाकाण्ड कर्मकाण्ड की प्रति ठाम्भूमि हैं। इस विज्ञानप्रधान के ज्ञान यथायत्न यथायत्न भेद से दो विवर्त्त हैं। ज्ञान यथायत्न का स्पष्टीकरण संहितामन्त्र ब्रह्मवेद में हुआ है एव कर्त्तव्य यथायत्न का निरूपण ब्राह्मण मन्त्र वेद में हुआ है। नक्षत्र विज्ञान ग्रहविज्ञान ओषधि विज्ञान पतित्विज्ञान शरविज्ञान आदि आदि अत्र तर अण्ड-खण्ड मन्त्र समस्त विज्ञानों का ही तीनों विज्ञानों में अन्तर्भाव है।

१—अथामविज्ञानम्—स्यायम्भुजम्—प्रथिनी (कर्त्तव्यता मन्त्र कर्म)

२—अधिनयनविज्ञानम् सौरम्—आरण्यक (कर्त्तव्यता यामिका उपासना)

३—अधिभूतविज्ञानम्—पार्थिवम्—उपनिषत् (कर्त्तव्यता मन्त्र ज्ञानम्)

इन तीनों में विशेषता यही है कि स्यायम्भुज अथवा मयज्ञ का ईश्वरीयसंस्था सम्बन्ध है एव इस के आधार पर सौर आधिदैविक विज्ञान प्रतिष्ठित है। साथ ही यही आधिभौतिक विज्ञान की भी प्रतिष्ठा बना हुआ है। दूसरे शब्दों में ईश्वरता का अथवा स्वायम्भुज यज्ञ है अधिदैवत सौर यज्ञ है एव अधिभूत पार्थिव यज्ञ है। इन तीनों में से हमारे वैश्वयज्ञ का एकमात्र ईश्वरीय पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्बन्ध है। ईश्वरीय आधिभौतिक यज्ञ के पुत्रकप्रानुसार भूमहिमा पार्थिव शरीर एव मनु यज्ञक वैश्वयज्ञ के भेद से तीन

विवक्त होजाते हैं। यहा भूमहिमालक्षण यज्ञ आधिदावक यज्ञ है एव यी पार्थिव शरीरलक्षण आ यामिक यज्ञ की प्रतिष्ठा है। जमी स्थिति जो अवयवसंस्थान पार्थिव आावदावक यज्ञ का है वसी ही स्थिति वही अवयव संस्रान पार्थिव शरीरामक आ यामिक यज्ञ का है। एव जिस नियम से आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुषसंस्था) का निर्माण हुआ है उसी नियम से ऋषियों के द्वारा आधिभौतिक लक्षण वैधयज्ञ वा वितान हुआ है। इश्वरीयसंस्था में जहा आ याम आधिदैवत की प्रतिष्ठा थी वहा जीवसंस्था में आधिदैवत आ याम की की प्रतिष्ठा है।

- | | | |
|---|---|--------------------------|
| १—एकविंशसोमात्रच्छन्नो भूमहिमा—आधिदैवतया (पार्थिव) | } | सैवा आधिभौतिक
यात्रयी |
| २—पार्थिवशरीराणि— — — — — आध्यात्मया (पार्थिव) | | |
| ३—पुरुषप्रयनसाध्या वैधया — — — — — अधिभूतया (पार्थिव) | | |

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत ब्राह्मण के प्रतिरूपरहस्य का सम वव करना है। पुरुषो वै यज्ञ यदि श्रुति यज्ञोद्देश्येन पुरुष का विधान करती हुई यनी बतला रही है कि हमारा यह पुरुष (मानव)—प्रयनसा य यज्ञ पुरुष (मानव) की प्रातकृति ही है। पुरुष इस वधयज्ञ का वितान कर रहा है नसीलिए यज्ञ को पुरुष माना जासकता है। पुरुष शब्द स्वयं यज्ञस्वरूप का सूचक है। शोणित आग्नेय तंत्र है शुक्ल सोम तंत्र है दोनों के यजन का ही नाम यज्ञ है एव यही यज्ञप्रक्रिया पुरुषोपत्ति का प्रधान कारण है। अतएव पुरुष को अवश्य ही यज्ञ कहा जासकता है। यज्ञामक पुरुष का जो यापार होगा वह भी यज्ञ ही माना जायगा एव इस यज्ञ-यापार से जिस कर्म का स्वरूप संपन्न होगा वह कर्म भी पिता-पुत्रवत् यज्ञ ही कहा जायगा। यज्ञ उस अतिशय का नाम है जो प्रक्रियाविशेषों से उन्नत होकर यज्ञकर्ता के भूतामा की स्वर्गादि प्राप्ति का कारण बनता है। अतएव अस अतिशय (सस्कार) को त्रैयैः आत्मा कहा जाता है। वह देवामा ही वस्तुन यज्ञ है। इस का उपादान यजमान का कर्म बनता है। जब कि उपादान-स्थानीय वजमानपिता पुरुष है तो तत् पुत्र स्थानीय अतिशयलक्षण देवामरूप यज्ञ को भी पुरुष ही कहा जायगा।

इस के अतिरिक्त हम यह भा दलते हैं कि पुरुषयज्ञ (मानवशरीर) का जिम कौशल से वितान हुआ है उसी कौशल से इस वधयज्ञ का वितान हुआ है। वधयज्ञ से पहिले पुरुषयज्ञ का ही विचार कीलिए। पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड यज्ञसंस्थान है। भूतामा यज्ञकर्ता यजमान है। आत्मोभय आन-स्वाप्न यथापत वैश्वानराग्नि होता है। आसप्रश्वासात्मक वायु अय्यु है। न्दयस्थ प्रज्ञान मन ब्रह्मा है। कण्ठस्थित तेजोनाडी मे प्रतिष्ठित उन्नानप्राण उदगाता है मूलाधारमण्डल गाहप यकुण्ड है तत्रस्थ अपानाग्नि गाहप यग्नि है। जठराग्निमण्डल दक्षिणाग्निकुण्ड है। तत्रस्थ जाठराग्नि दक्षिणाग्नि है। शिरो मण्डल आहवनीयकुण्ड है। तत्रस्थ प्राणाग्नि आवनी-याग्नि है। कश लोम बर्हि है। अस्थिसमूह सामिध है त्रय द्रव्य प्रणीता तथा प्रोक्षणी है। अन्न आहुतित्रय है। दक्षिणभुजा दक्षिणपाद जुहू है। वामभुजा वामपाद उपभृत् है। मध्याङ्ग ध्रुवा है। सर्गाङ्गशरीरसंचारी चैत यप्राण सत्र है। कण्ठ से आरम्भ कर मूला धार पर्यंत सम्पूर्ण प्रदेश वेदि है। इसप्रकार हमारी पुरुषसंस्था यज्ञस्वरूप का सवामना प्रतिरूप ही बन

रही है। ऐसे यज्ञ मक अस पुरुषाकार के आधार पर ही तदनुरूप ही क्योंकि इस धयज्ञ का विधान होता है अतएव अस वधयज्ञ को हम अवश्य ही पुरुष का प्रतिरूप कह सकते हैं।

पुरुषयज्ञ में दक्षिणभुजा स अनाहुति दी जाती है वामभुजा सहयोगिनी बनी रहता है चैतयप्राण अन्नरस को सर्वाङ्गशरीर में पहुँचाता रहता है मयाङ्ग स तर स पूर्ण शरीरावयव रसग्रहण के द्वारा पुष्ट हात रहते हैं। ठीक वही काम इस वैधयज्ञ में जुह्वादि से किया जाता। अतएव आहुतिरावक जुहू को हम अस वधयज्ञ की दक्षिणभुजा कह सकते हैं। उपभृत् जुहू की स योगिनी है अतएव उसे वामभुजा माना जासकता है। ध्रुवा से ही (अ वा स्थत आ य से ही) स पूरा यज्ञ स पन्न होता है अतएव इस आमा (मयाङ्ग) माना जासकता है। अ वा का स पूरा खुच्चों में सञ्चार होता है। अतएव से प्राण कहा जासकता है। अस प्रकार दक्षिणभुजा वामभुजा मयाङ्ग सञ्चारीप्राण इन चारों के अनुरूप अपना स्थान रखने वाले जुहू उपभृत् ध्रुवा खुब चारों यज्ञपात्र यज्ञ की पुरुषप्रतिरूपता को सर्वा मना अव्यव बना रहे है। निरुषत जसा वितानक्रम आध्यात्मिक यज्ञ का है ठीक उही क्रम स आध्यात्मिक यज्ञ का है। यहा एसा क्यों किया गया ? किस आधार पर किया गया ? इ यादि प्रश्नों की उपनिषत् यही आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुष-स्वरूप) है। वैधयज्ञ यज्ञ है उधर प्राकृतिक पुरुषयज्ञ भी यज्ञ है। प्रकृतिप्रवृत्ति कत्त या यह आदर्श है। अतएव यहा वैसा ही करना यायसङ्गत है। जब यह वसा ही है तो इसे वह (पुरुष) कहने में कोई भी आपत्ति नहीं की जासकती।

पुरुष यजमान) प्रय नसा य होने से तथा पुरुषयज्ञानुरूप वितायमान होने से यह यज्ञ आध्यात्मिक यज्ञ भी पुरुष ही माना जासकता है उक्त प्रतिरूपता का यही निरुष है। अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न बच रहता है कि पुरुषयज्ञ का स्वरूप ही एवविध कैसे हुआ ? दूसरे शब्दों में इस प्रश्न का यो भी विश्लेषण किया जासकता है कि आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् (प्रतिष्ठा-मूलामिति) तो आध्यात्मिक यज्ञ है परन्तु आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर वही पूर्वप्रतिप्रादित पार्थिव आग्निदिविक यज्ञ है। आधिदैविक पार्थिव दिवयज्ञ ही इस आध्यात्मिक पुरुषयज्ञ की प्रतिष्ठा है। भूपिण्ड से आरंभ कर २१ व स्तोम पय्यत या त महामहिम पार्थिवमण्डल ही यज्ञसस्था है। पार्थिव सप्तप्रजापति (पापत्र आग्नि) ही यज्ञकर्त्ता यजमान है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदश में याप्त वैश्वानर अग्नि हा होता है। पञ्च शस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेशोपलक्षित अतिरिक्त में याप्त आयु ही अध्वर्यु हैं। चात्सोमा मक पार्थिव मन ही ब्रह्मा है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिवप्रदेशोपलक्षित अलोक में याप्त आदि य ही उदगाता है। भूपिण्ड ही पुराण गाहप यकुण्ड है तत्रस्थ चित्याग्नि ही पुराणगार्हप याग्नि है। त्रिवृत्स्तोमा त पार्थिवमहिमा प्रदेश ही नूतनगार्हत्याकुण्ड है तत्रस्थ पार्थिव घनाग्नि ही नूतनगाहप याग्नि है। पञ्चदश तोमात् पार्थिवमहिमा प्रदेश ही धिष्ययाग्नि कुण्ड है तत्र थ अर्धावध नाक्षत्रिकाग्नि ही त्रिष्ययाग्नि है। एकविंशस्तोमात् पार्थिवमहिमाप्रदेश ही आह्वनीयकुण्ड है तथस्थ सौराग्नि याग्नि ही आह्वनीयाग्नि है। लोकालोकसीमा तानुगत वेन नामक आप ही बर्हि है। अतिरिक्त में या त अश्मासोम ही समिध हैं। आतरीक्ष्य मरीचि नामक आप ही प्रणीता तथा प्रोक्षणी है आषधि सोम तथा चात्सोम ही आहुतिद्रय है। भूपिण्ड ही हविर्वेदि है। भूमहिमा ही महावेदि है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न अलोक ही दक्षिणहस्तस्थानीय जुहू है। जुहू (घौ) का आधारभूत पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अतिरिक्तलोक ही वामहस्तस्थानीय उपभृत् है। स्वथ भूपिण्ड ही मयाङ्गस्थानीय ध्रुवा है। त्रैलोक्य

संचारी चतस्र प्राण थानीय वायु-प्राण ही स्तुत है। इसप्रकार पार्थिवमहिमास्तुतः अस आधिदैविक यज्ञ म भी यज्ञ तिक्रन्त यता ससाधक सामग्री परिग्रह यथानुरूप यथास्थान यथायत है। अस का क्योंकि ऐसा स्वरूप है अतएव इस से उपन्न आया मक यज्ञ का भी वसा ही स्वरूप है। एव जसा स्वरूप आया मक यज्ञ का है तदनु रूप ही इस वध आधिभौतिक यज्ञ का वितान किया जाता है।

मूलानुवाद में मे यह सन्देह किया गया था कि प्रथम तो पृथिवी की त्रलोक्य से उपत्ति मानना ही असङ्गत है। उस पर भी पृथिवी से प्राणी की उपत्ति मानना तो कथमपि सङ्गत नहीं बन सकता। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए एतादृश दो पार्थिवसर्गा का स्वरूप जान लेना भी आवश्यक होगा। अतितने जिस पृथिवी को मयाङ्गस्थानीय प्रवा बतलाया है वह चियाग्निप्रधान भूपिण्ड है। जिस पर अस्मदाद पार्थिवी प्रजा सपरिग्रह प्रतिष्ठित है। एव श्रुतिने ध्रुवस्थानीय जिस अस भूपिण्ड से— अस्या एवेमे सर्वे लोका प्रभवति इत्यादिरूप से जिस त्रलाक्य की प्रसूत बतलाई है वह चित्तेनिधयानिप्रधान भूमहिमा है।

अष्टविध त्रिलोकियो मे से पृथिवी से सब व रखने वाली त्रिलोकी स्तोम्यत्रिलाकी नाम स प्रसिद्ध है। इस की उपत्तियथाथ में प्राजास्थानीय भूपिण्ड स ही हुड है। यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा चारिन्नेण गर्भिणी इस श्रौत सिद्धांत के अनुसार भूपिण्ड आग्निगर्भित है। यह भोमाग्नि ही भूम का आधष्ठाता प्रजापति है। इस प्राजापय भौम अग्नि का अमृत (चित्तेनिधेय) मय (चिन्मय) मे से दा अवस्थाए सहज-सिद्धा मानी गई है जसा कि — अद्भु ह वै प्रजापतेरा मना मयमासीदद्भु ममृतम् (शत १।२।२) इत्यादि वचन स प्रमाणित है। भूपिण्ड मयाग्निप्रधान है त मय है। इस पिण्ड के केद्र में प्रतिष्ठित रहने वाला अमृताग्नि ही रसाग्नि है यही प्राणाग्नि है यहा देवाग्नि नाम से भी व्यवहृत हुआ है। सृष्टिकामुक इस रसाग्नि लक्षण प्रजापति की कामना स्वयं स के रसानि-भाग का ऊव (केद्र स चारो ओर) प्रसार करती है। भूपिण्डके केद्र से चारों ओर वितत होने वाले इस रसानि की घन तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाए होजाती हैं। जहातक घनरसा या त होता है तदवच्छिन्न प्रदश ी पृथिवी (महिमापृथिवी का पृथिवीलोक) है। एव तत्र प्रतिष्ठित घनाग्निरम ही अग्नि है। जहातक तरल रसा या त होता है तदवच्छिन्न प्रदेश ही अतरिक्ष (महिमापृथिवी का अतरिक्षलोक) है। एव तत्र प्रतिष्ठित तरलाग्नि ही हस नामक वायु है। जहातक विरलरसा व्याप्त होता है तदवच्छिन्न प्रदश ही द्यौ (महिमापृथिवी का द्युलोक) है। एव तत्र प्रतिष्ठित विरलाग्नि ही आदित्य है। इसप्रकार रसाग्नि के ऊध्व वितान से वही केद्रस्थ अग्नि अग्नि वायु आदित्य अपने इन प्रथम-द्वितीय-द्वितीय तृतीय-रूपों से त्रैलोक्य का निर्माण करता हुआ अतिष्ठाना रूप से त्रलोक्य मे व्याप्त होरहा है *।

* आपो ताऽअर्क । तद्यदर्पा शर आसीन् तत् समह यत । सा पृथिवी-
भ इत् । तस्यामश्राम्यत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो अनरात्तताग्नि । स त्रेधा-
त्मान यकुरुत्-आदित्य तृतीय वायु तृतीयम् । स एष प्राण (प्राणाग्निः) त्रधा नि-
हित इति ।

—शत ब्रा १।६।१।२ ।

सप्रकारं ध्रुवा स्थानीय भाषणं ही अपने हृदयस्थ रसाग्नि के ऊ व वितान के द्वारा अहगणा मक स्तोमो के आधार पर क्रमशः त्रिवृत् (६) पञ्चदश (१५) एकत्रिंश (३१) रूप से तीन सस्थाओं के रूप में प्रथित्री अतारत्त दो का ज मद ता बन कर—अस्याऽप्येव सर्वे लोका प्रभर्जात इस सिद्धांत का समर्थन कर रहा है और उक्त स दह का निवृत्त बन रहा है । इस स पूर्ण उपपत्तिग्रन्थ का फलितार्थ यही निकला कि पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ से संबंध रखने वाले महिमा मक आधिदैविक यज्ञ पार्थिवशरीर मक आध्यात्मिक यज्ञ एव पुरुषप्रय नसा य आधिभौतिक (वैव) यज्ञ तीनों में पूव पूर्ण यज्ञ उत्तर उत्तर यज्ञ भी उपनिषत् ३ । (१ २ ३ ४ ५) ।



पुरुषप्रय नसा य नस पृथग्यज्ञ म उपयुक्त होने वारे* सुव सुक पात्र हस्त पाद म याङ्गादि स्थानीय बनते हुए यह प्रमाणित कर रहे हैं कि यह पृथग्यज्ञ पुरुषविध आध्यात्मिक यज्ञ का ही प्रतिरूप है । आज्य प्रष्ट ज्ञान के अनुसार प्रयेक भौतिक पात्र में प्रष्ट एव आय भेद से दो पात्र रहते हैं । भूत मत्यपिण्ड प्रष्ट कहलाता है पत्र जिस जीवनीय प्राणशक्ति से चरसघात—(चरकूट)—रूप भौतिक परमाणु एकसूत्र मे बद्ध रहते हुए नियत समय पर्यंत तत्स्वरूप प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने म समर्थ होते हैं वह प्राणशक्ति ही आय नाम से यज्ञत हई है । जबतक पृष्ठ (पिण्ड) में आज्य (प्राणशक्ति) प्रतिष्ठित रहता है तभीतक पृष्ठ की स्वरूपसत्ता है । पाञ्चभौतिक हस्तपादादि शारावयव पिण्डस्थानीय बनते हुए पृष्ठ हैं । उनमें प्रातिष्ठित आग्नेयपात्र (शिवानरानिप्राण) ही उन की प्राणशक्ति है । इधर वरुण से (जलीयत व से) प्रतिमूर्च्छित अग्नि त व का ही नाम आज्य (घृत) है । नसी आधार पर तेजो वै आयम् (ता ब्रा १३।१।१८) अग्नेया एतद्रूप यदायम् (तै ब्रा ३।८।१४।२)— प्राणो या आयम् [तै ब्रा ३।८।१४।२] यादि निगम प्रतिष्ठित हैं । लोक व्यवहार मे भी सुप्रसिद्ध है कि घृत ही हा म पैरों मे जीवनीय शक्ति प्रदान करता है । यज्ञक्रम से पुरुषविध दिया मा उपन्न किया जाता है । यज्ञ तिक्त यता मे सगृहीत जुहू आदि सुक सुव तो पृष्ठ थानीय हैं एव इन में गृहीत आय प्राणशक्तिस्थानीय है । नसप्रकार नस आयग्रहण कर्म से भी पुरुषप्रय नसा य इस पृथग्यज्ञ की पुरुष यज्ञप्रतिरूपता भलीभांति सिद्ध होरही है ।

आयग्रहण क्या वना मा के स्वरूप निर्माण में उपयुक्त होता है ? यह प्रश्न है । इस के समाधान के लिए ही अगला प्रकरण उपक्रान्त हुआ है । पहलेले आध्यात्मिकसस्था का विचार की जाए । आध्यात्मिकसस्था में प्रधानत आय मा शरीर ये दो पात्र हैं । एव शरीर पुर है आय मा नस शरीरपुर में सुरक्षित रहने वाला पुरि शेते निचन से पुरुष है । नस शरीरपुर के आकार एव प्रस्तुत त्र मे से दो पात्र हैं । आयतरूप

* खादिर सुव पर्यामयी जुहू आश्वथी उपभृत् वैकङ्कती ध्रुवा एतद्द्र स चा रूपम् [तै स ३।१।७] इस वचन के अनुसार सुव खादिर [यैर] की लकड़ी का जुहू पर्यामयी पलाश [छीला] की ध्रुवा विकङ्कत का एव उपभृत् आश्वथ [पीपल] की लकड़ी का बनाया जाता है ।

बाह्य आकार ही आकार है जिस कि विज्ञानभाषा में वयोनाथ कहा जाता है। यह वयोनाथ ही+ छन्द है प्रत्येक वस्तुपिण्ड का कोहन को बाह्य आकार अवश्य रहता है ए। इस बाह्य आकार से आकारत वस्तुतः व सीमित रहता हुआ सुरक्षित बना रहता है। छन्दोलक्षण वयोनाथ [आकार] स सुरक्षित व तुत व [भूतापण्ड] ही वय है। जिसप्रकार उदरसीमा से सीमित अन्न प्रय है एवमेव छन्द सीमारूप उदर में प्रतिष्ठित रहने से ही इस वस्तुतः व का वय [अन्न] मान लिया गया है। वय स। प्रयोनाथ से युक्त रहता है। वय वयोनाथ के समवितरूप का ही नाम वयुनम् है। मवमिन् प्रयुनम् एस सिद्धांत के अनुसार यच्चयावत् भौतिक पदार्थ वय [वस्तुतः व] वयोनाथ [बाह्याकार] से युक्त रहत हुए *वयुन ह। वयुन ही आ यामिक सस्था का शरीर नामक पहिला पाँह।

शरीर के वयोभाग का (भूतभाग का) निर्माण शुक्र शाणित से हुआ है। ऋतुस्नाता स्त्री म प्रजनकर्मसाधक अग्निप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण के सम्बन्ध से ही रज स्वचा की ऋतुमती कहा जाता है। अग्नि-सोम की सय ऋतु भेद से दा दा अवस्थाएँ मानी ग हैं। सायतन अग्नि सय है सायतन सोम सय है। एव निरातन वाय्वा मक अग्नि-सोम ऋतु ह। न ऋताग्नि-सोमो के पारस्परिक उद्ग्राभ निग्राभ-सन्ध स ही ऋतु का ज म होता है एस ऋतु का आग्नेयभाग स्त्री के शाणित में प्रतिष्ठित रहता है एव सौम्यभाग परुष के शुक्र मे प्रधानरूप से प्रातष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण-समन्वय का ही नाम शुक्र-शोणत का दाम्पत्य भाव है। यही दा पयक म गर्भाधान का बीज है। इसप्रकार वस्तुतः व-लक्षण वय (शरीर) का निर्माण शुक्रशोणित से होता हुआ परम्परया ऋतु स ही हारहा — है। शेष रहता है वयोनाथ (बाह्याकार)। इस का निर्माण ऋतुसहयागी गाय याद छ दो से होता है। गाय यदि छ द वष्टाप्राण के सहयोग से तत्तच्छरीरावयवों में तत्त कारविशेष प्रदान करत जात हे तदनुरूप ही ऋतु के द्वारा पुरावयवों का निर्माण होता जाता है कालांतर में इस ऋतु छन्द के समवय से आ मप्रति ठालक्षण शरीरपुर का स्वरूप पम्पन्न होजाता है। ऋतु छ दोमय शुक्र शाणित क दाम्पत्यभाव मे कम्मभोक्ता ओपपातिक जीवामा प्रतिष्ठत होजाता है।

एसप्रकार आमा शरीर इन दो पर्वों के आमा वस्तुतः (प्रय) बाह्याकार (प्रयोनाथ) भेद से तीन पव होजाते हैं। तीनों में आमा प्रधान दवता है इसे ही यज्ञपरभाषा मे आमापदेवता कहा गया है। वस्तुतः व (वय) ऋतुदेवता है बाह्याकार छन्दोदेवता हैं। पुर का उपक्रम ऋतु से होता है उपसहार छन्द पर होता है। वस्तुतः व उपक्रमस्थानीय है इसका ऋतु स म व व है। इसी उपक्रमलक्षण प्राथ य के कारण वस्तुतः वा मक ऋतु को याज्ञिक परिभाषा में प्रयाजदेवता कहा गया है। वस्तु का बाह्याकार ही वस्तु की अवसानभूमि है। इस का छन्द स सम्बन्ध है। इसी उपसहारलक्षण अतभाव के कारण बाह्या कारा मक छन्द को अनुयाजदेवता कहा गया है। इसप्रकार ऋतुरूप प्रयाजदेवता तथा छन्दोरूप अनुयाज

+—छन्दासि नै वयोनाथा (शत ८।२।२८)।

*—छन्दोभिर्हीद सर्वा वयुन नद्धम्' (शत ८।२।२८)।

—ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयति, ओषधीश्च पचति (शत ब्रा १।१।४।७)।

देवता दोनों के समन्वय से ही शरीर नामक आध्यात्मिक पुर का निर्माण होता है। दूसरा आवापदवता-स्थानीय आमा अपने स्वरूप निर्माण के लिए आयुद्रय की अपेक्षा रखता है। पृष्ठ ही शरीर है आया का वसीस सत्रव है। अवर पृष्ठस्वरूप-निर्माणक ऋतु एवं छन्दोदवना है। पलत सिद्ध होजाता है कि यह आयुग्रहणकर्म ऋतु तथा छंदादवताओं की तृप्ति के लिए ही विहित है। जसा आध्यात्म में है वसा ही तो यहा होना चाहिए होता है।

आया मवत् अग्निभूत जसे उपन्न होने वाली दवा मसस्था में भी आमा पुर भेद से दोनों पव अपेक्षित है। मुख्यदवता दाममथा के आमस्वरूप का निर्माण करग एवं ऋतु-दो लक्षण गौणदेवता आमपुर का निर्माण करगे। अतएव विनायमान यज्ञ का यही ताप्यमानना पन्गा कि अनेक इतिकत्त-याताओं से विनायमान यह यज्ञ देवता ऋतु छन्द इन तीन देवताओं की सत् प्राप्ति से ही सम्बन्ध रखता है। मुख्यदेवता का एक स्वतंत्र विभाग है इस के लिए नियत आहुतिद्रय भी स्वतंत्र है एवं यह हृषि नाम से प्रसिद्ध है जोक हावय इषि पशु सोम यज्ञ भेद से अन्नपुरोडाश पशु-वपापुरोडाश बल्लीसोमरस भेद से त्रेधा विभक्त है। ऋतु छंदो रूप दोनों प्रयाजानुयाजदेवताओं का (जिन से कि पुर का निर्माण होगा) एक स्वतंत्र विभाग है इनके लिए आहुतिद्रय भी स्वतंत्र है एवं वही आया नाम से प्रसिद्ध है।

आमा शरीर यद्यपि दोनों की समष्टि देवदत्त है। अर्थात् देवदत्त नाम यद्यपि समष्टि से ही सम्बन्ध रखता है। तथापिमानना पन्गा कि यह नाम मुख्यत आमा भाग से ही सत्रव रखता है न कि शरीर से। यही कारण कि जब भूतामा प्राणतसमय पर देह का परियाग कर दता है तो उस समय देवदत्त आज नहीं रहा यह लोक व्यवहार होता है। अवशेष शव शरीर का कोढ़ नाम नहीं रहता। दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। एक राजा अपने परिकर (सेवकवग) के साथ कही आतिथ्य स्वीकार करने जाता है। यहा राजा का ही नाम मुख्य रहता है राजा के नामग्रहण का हा व्यवहार लोकसिद्ध है। सेवकवग का राजा के नाम में ही अंतर्भाव है। ठीक यही स्थिति यहा समाभए। आमस्वरूप सपादक मुख्य देवताओं के लिए तो नामग्रणपूर्वक हविग्रहण होना चाहिए ए परिकरस्थानीय ऋतु छंदो देवताओं के लिए बिना नामग्रहण के ही आध्यग्रहण करता है यही लोक व्यवहार है (एवमु हैतेषाम्)।

जामि दोष एक महादोष माना गया है। यगनुरूप व्यवहार न करना ही जामि दोष है। यह सयता का आग्रह है। जो जिस स्थान के योग्य हो जिस सम्मान का पात्र हो उसे वही स्थान सम्मान दिया जाय। समदर्शन एवं विषमवत्त नही इस सयता का अयतम रक्षक है। आमादृष्टि से प्राणीमात्र समान हैं परतु व्यवहारक्षेत्र में सब विभिन्न मर्यादा के पात्र है। कारण यही है कि समदर्शन का अस्वगुण चिदा मा से सत्रव है जोकि आपामर भिन्न जन कीर्तार्थ पयत सत्र में एकरसरूप से प्रतिष्ठित है। एवं विषमवत्त न का क्षेत्र प्रतिशरीर में भिन्न प्राधानिक समत भूतामा है। दोनों के क्षेत्र सुबधा विभिन्न है। अतएव यह आग्रह्यक है कि व्यवहारक्षेत्र में जामिदोष (मर्यादा उलघन लक्षण व्यवहारदोष असयता) से बचने के लिए जो जिसके योग्य हो उसे उसी समान का अधिकारी समझा जाय। यहा जुहु उपमृत् भ्रुवा में जो क्रमशः ४-४ बार करके आयाग्रहण किया जाता है वह ऋतु तथा छंदा के लिए ही नियत है। मुख्य

आमदवता की तुलना में ये दवता अपना अवर-स्थान रखत ह । मुख्य दवताआ की भात न परकर स्थानीय दवताओं के लिए भी यि नामग्रहण क आग्रहण कया जायगा तो अणम या भङ्गाक्षण जामिदोष होगा । अत उनके लिए विना नामग्रहण के ही आग्रहण करना चाहिए । अतारत्नभाजना वै पशु (त बा ३।२।१।३) के अनुसार पशुप्राण का अतारत्न से संबध है उधर ऋतुगच्छदासि पशु के अनुसार दववाहनलक्षण ऋतु छुद भी पशुस्थानीय ही ह । छतमतरिक्षस्य (शत ५। १६) के अनुसार आग्रहण का अतरिक्षलोक से सम्बध है । अतएव आतारक्ष्य ऋतु छुों के लिए आग्रहण का ग्रहण ही अवयव बनता है ।

जुहू में जो चार बार आग्रहण होता है उसका प्रयाजलक्षण ऋतुदता से संबध है एव उपभूत में जो आठ बार करके आग्रहण कया जाता है उसका अनुयाज लक्षण छन्दादवता से संबध है । दोनों मुख्य-दवतापेक्षा अवरश्रणि में प्राताष्ठत हाते हुए नामग्रहण की मर्यादा से बहभूत ह । अब शेष रहता है ध्रुवा । ध्रुवा में जो चार बार आग्रहण कया जाता ह उसका उपयोग स पूण यज्ञ की सिद्धि से संबध रखता है । आग्रहणविनी सम्पूर्ण इतिक्तयता ध्रुवा-स्थित आग्रहण से ही पूरी की जाती है । जब यहा मन्त्र का अतर्भाव है तो यहा भी नामग्रहण को अवसर नहीं मिलसकता । जो वस्तु सबके लिए ह उसमें विशेष यक्ति का नामग्रहण असङ्गत है । इसप्रकार आमा के पुरनिर्माण करने वाले ऋतु छुदो के लिए गृहीत आग्रहण में नामग्रहण का अभाव ही अजाभिभाव का रक्षक बन रहा है । (६ ८६१) ।

आग्रहण-प्रक्रिया में कुछ विशेषता रखी गई है । और वह विशेषता यही है कि जुहू म ग्रहण होता है चार बार ही परतु आग्रहणमात्रा औपभूत आग्रहण की अपेक्षा अधिक होता है । उधर उपभूत म सूर्या की दृष्टि से जुहू की अपेक्षा ग्रहण तो होता है द्विगुणत (आठबार) परतु आग्रहणमात्रा जुहू के आग्रहण की अपेक्षा अपेक्षित है । इस विशेषता का क्या कारण ? प्रकृत प्रकरण की प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान कर रहा है ।

वैदिक-विज्ञान से संबध रखने वाली सुप्रसिद्ध निदानविद्या ही इस उपपत्ति का मूलधार है जिम विद्या का गीताविज्ञानभाष्यान्तगत भक्तियोगपरीक्षा नामक भूमिका पञ्चमखण्ड के प्रतिमानानुसर्गाण-रहस्य नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण हुआ है । कुछ एक सादृश्य के आधार पर अन्य में अन्य वस्तु का आरोप करना ही निदान कहलाता है । जहा लोक व्यवहार में व्यवहारक म के सञ्चालन के लिए पदे पदे निदान का आश्रय लिया गया है वहा शास्त्रीय व्यवहार में भी विशेषत वदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में भी यज्ञकर्मसिद्ध के लिए अनेक स्थलो में इसका आश्रय लिया गया है । पहिले एक लौकिक उदारण ही लीजिए । डाक्टर जालाप्रसाद गोविल मोतीलाल शर्मा का दहिना हाथ है यह लौकिक निदान का उदाहरण है । वस्तुगया जालाप्रसाद कभी मोतीलाल का दहिना हाथ नहीं है परतु आरोप कया जाता है । इस निदानारोप का मूल यही है कि दहिना हाथ ही कर्मसिद्धि का मूलधार है । क्योंकि जालाप्रसाद माता-लाल के कर्म का अत्यन्त सहायक है बस इसी कर्मासादृश्य के आधार पर उसे निदानावधि से दाहना हाथ मान लिया गया है । अब एक शास्त्रीय उदारण भी लीजिए । लोक व्यवहारसञ्चारिणी जगमाता लक्ष्मी की प्रतिमा के हाथ में कमल का पुप है । यह कमल भूपिण्ड का सूचक है । भूपिण्ड का प्रारम्भिक उपादान आपो वै पुष्करपणम् (शत ४।४।२।२) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुष्करपत्र है । का वालीकृत

(घनभावयुक्त) अप-त व ही पुष्परपण है। यही उत्तरोत्तर तेज स्नेह के क्रमिक यजन से आप-फेनादि आठ-यादृतियों में परिणित हाता हुआ काला तर में भूपिण्डरूप में परिणत होजाता है। कमलपुप भी उसी अपत व स सम्भ्र र रगता है। ष्ठी सादृश्य के आधार पर कमल में भूपिण्ड का आरोप वरत हुए इसे भूपिण्ड का निदान मान लिया गया है। स्रष्टा प्रजापति पञ्चासन पग त्रिरामान रहते हुए पञ्चभू नाम से प्रसिद्ध है। इस व्यवहार का भी इसी भूनिदान स सम्भ्र व है।

इस निदानविद्या को लक्ष्य में रखत हुए ही हमें जुहू उपभृत् के आ य का विचार करना है। जुहू को हिना हाथ तथा उपभृत् का वाम हाथ बतलाया है। शकुनशास्त्र के अनुसार पुरुष का दक्षिणभाग शुभ है वामभाग अशुभ है। दक्षिणाङ्गस्फुरण शुभसूचना का प्रवक्त क है एव व माङ्गस्फुरण अशुभसूचना का सूचक है। कारण यही है कि पुरुष अग्निवीर्यप्रदान है। पुरुष के दक्षिणाङ्ग में सौ आग्नेवी य का प्राधाय रहता है एव वामाङ्ग में निवाय्य सोम का प्राधाय रहता है जाकि सोम स्त्रीवी य माना गया है। वामभाग स्त्रीवी यप्रधान है इसका स्फुरण पुरुषत व का विरोधी है अतएव इसे अशुभ माना गया है। विधि का वाम (टेढा-प्रतिकूल) होजाना वामभाग से ही समतुलत है। इसी सादृश्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि दक्षिणहस्त-स्थानीय जुहू पुरुषवी य का प्रतिनिधि बनता हुआ यजमानस्थानीय है। एव वामहस्तस्थानीय उपभृत् स्त्रीवीर्य का प्रतिनिधि बनता हुआ अशुभसूचक बनता हुआ यजमानशत्रुस्थानीय है। इस वी यसूचना के आतरिक्त आदान-निरोध-मर्यादा से भी यह आरोप समवित होरहा है। दक्षिणहस्त कम्म के द्वारा जहा स पत्ति के आगमन का कारण बना हुआ है वहा वामहस्त अकम्म का प्रतिनिधि बनता हुआ निरोध का बधु बन रहा है। शत्रु का जो काम (स पत्ति-निरोध) है वही स्थान वामहस्त का है। इसलिए भी दक्षिणहस्त स्थानीय जुहू को यजमान तथा वामहस्त स्थानीय उपभृत् को यजनानशत्रु कहा जासकता है।

दक्षिणहस्त अग्निवी यप्रधान एव वामहस्त सोमवीर्यप्रधान बतलाया गया है। अग्नि अन्नाद (भोक्ता) है सोम आद्य (भोग्य) है। इस दृष्टि से दक्षिणहस्तस्थानीय अग्निप्रधान जुहू को अन्नान माना जासकता है एव वामहस्त स्थानीय सोमप्रधान उपभृत् को आद्य कहा जासकता है। इन्नप्रकार निदानविधि से जुहू उपभृत् को क्रमश यजमान-यजमानशत्रु तथा अन्नान आद्य मानते हुए चतुर्वार-अष्टवार एव भूयास कनीयास का सम वय कीजिए।

समृद्धि का लक्षण यही है कि भोक्ता सरया में कम हा ए भोग्य सामग्री सरया में अधिक हो। इसी समृद्धिभाव की प्राप्ति के लिए भोभा-स्थानीय जुहू में चार बार ही आ-यग्रहण किया जाता है एव भोग्य-स्थानीय उपभृत् में आठ बार आज्य ग्रहण किया जाता है।

यदि भोक्ता की अपेक्षा भोग्यप्रजावग अधिक बलवीर्य युक्त है तो वह सरयानुगता समृद्धि निरर्थक है। वास्तविक समृद्धि तो उसे ही कहा जायगा जिसमें भोक्ता सरया में तो कम हों पर तु बल-वी य में भोग्य की अपेक्षा भूयान् हो। भोक्ता में ष्ठी बल-वी य-समृद्धि के लिए भोक्ता-स्थानीय जुहू में जहा चार बार ग्रहण करते हुए मात्रावृद्धि की जाती है वहा भो य को निबल निर्वाय्य बनाने के लिए भोग्य स्थानीय उपभृत् में आठ बार ग्रहण करते हुए भी मात्राहास किया जाता है।

शारीरिक बल बल है आ मबल जीव्य है । भूतबल बल बल है प्राणबल जीव्य है । भोग्य प्रजा पर सुशासन सुराक्षत रखने के लिए दोनो शक्तिया शपेक्षित है । हम दबत है एक एक राय में राजा एक होता है प्रजा असरय होती है । परन्तु राजा अपने कोशबल से तग वा वीव्य स एक घर का स्वामी रहता हुआ भी अनेको घरों पर अपना प्रभु प्रतिष्ठित रखता है । अपनी म्छानुसार यथासमय न्न से अपने उद्देश्य-साधन प्रस्तुत किया करता है । सी बलवीव्य-प्राति के लिए यहा भी कनीयास मर्यादा रखती गइ है ।

जुहू में गहीत आय की तो जुहू से आहुति होती ही है परन्तु उपभृत् में गहीत आय की भी जुहू से ही आहुति होती है । इसका कारण है- अन्न अन्नाद् की स्वरूप रक्षा । उपभृत् प्रजा-स्थानीय है । प्रजा का बल ही राजा का बल है । यदि प्रजा को स्वसपत्ति यय में स्वतन्त्र करान्या जायगा तो प्रजा इस मर्यादा से अपना स्वरूप ही नौ बैठेगी एव प्रजासहयाग से वञ्चित राजा भी राज्यश्री स हाथ ही धो बठगा । राष्ट्र-समृद्धि के लिए दोनो की ही स्वरूपरक्षा अपेक्षित है । धम्मदण्ड जहा राजा को सुरक्षित मर्यादा रखता है वहा धर्मानुगत राजदण्ड प्रजा को मर्यादित बनाए रखता है । इन पारस्परिक सहयाग से दोनो का स्वरूप सुरक्षित रहता है ।

यदि प्रजावित्त पर अपना अधिकार स्थापित करना ही राजा का एकमात्र लक्ष्य है तब तो प्रजास्था-नीय उपभृत् में आ यग्रहण की ही आवश्यकता न थी । परन्तु उस दशा मे भी वही परिणाम होता जो अमर्यादा में बतलाया गया है । प्रजा जबतक स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति-सग्रह म प्रवृत्त नहीं होती तबतक प्रजासमृद्धि असम्भव है । राष्ट्र का वित्तबल पशुबल आदि प्रजास्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है । क्या एकाकी राजा ये सब काय्य कर सकता है ? असम्भव । अनुचित नियन्त्रण प्रजासमृद्धि के नाश के ही कारण माने गए है । होना यह चाहिए कि प्रजा को सम्पत्ति सग्रह क सम्बन्ध म पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय साथ ही ययसम्बन्ध मे नियन्त्रण लगाया जाय । क्षत्र और पित्र के इस पारस्परिक सहयोग से ही प्रकृतिसिद्धा वह वर्णाश्रमयवस्था सुरक्षित रह सकती है जो राष्ट्रसमृद्धि का अयतम स्रज माना गया है ।

एक स्थान पर प्रतिष्ठित भ्रुवा ब्रह्मबल है जुहू क्षत्रबल है उपभृत् विडबल है एव पशुसम्पात् शूद्रभाग है । प्रयेक राष्ट्र को राष्ट्रभ्युदय के लिए ज्ञानस्थानीय ब्रह्मबल क्रियास्थानीय क्षत्रबल अत्र स्थानीय विडबल एव प्रग्रयस्थानीय शूद्रबल ये चारो बल अपेक्षित है । यह तभी सम्भव है जब कि चारो में परस्पर सहयोग बना रहे । सहयोग तभी सम्भव है जबकि चारो मर्यादासूत्र से सञ्चालित रहें । नसी समृद्धिरक्षा के लिए उपभृत् से गहीत आय की भी जुहू से ही आहुति दी जाती है ।

इसप्रकार राष्ट्रकम्मसमृद्धिपूर्क स्वसमृद्धि के लिए यह आयग्रहणकम्म क्रमश गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप् छन्दो से सम्बन्ध रखता है । सुपणकाण्डेयाख्यानपिज्ञान के अनुसार मूलत सभी छन्द चतुरक्षर ही माने गए हैं । सोमापहरण करने के लिए सवप्रथम चतुरक्षर जगतीछन्द का तृतीय च लोके में गमन होता है । वहा तीन चरण खोकर एक चरण से जगती भतल पर लौट आती है । अत्र तर चतुरक्षर त्रिष्टुप सोमापहरण के लिए उतालवन करती है । यह अपना एक चरण खोकर तीन

चणो स वापस लौट आती है। सर्वात में सामिषेनीबल से युक्त चतुरक्षरा गायत्री सुपण-रूप धारण कर के भूपाटा मारती है। फलतः सोमापहरण के साथ साथ तत्रथ जगती के तीनों चरण एवं त्रिष्टुप का एक चरण गेती डुड गायत्री अपने आपके चारों चरणों से सुरक्षित लाट आती है। आरंभ में चतुरक्षरा रहने वाली यह गायत्री जगती तथा त्रिष्टुप चरणों से अप्रक्षरा बन जाती है। चक्षरा त्रिष्टुप इस अप्रक्षरा गायत्री में आसमर्षण कर एकाक्षरा बन जाती है। एकाक्षरा जगती त्रिष्टुप युक्त गायत्री में आसमर्षण कर द्वाक्षरा बन जाती है। इस प्रकार यद्यपि आज गायत्र्यादि छंद ८ ११ १२ २० यदि चक्षरा से युक्त प्रतीत हो रहे हैं परन्तु इनका मौलिक स्वरूप चतुरक्षर ही माना गया है जसा कि सर्वाणि ह वा छ वासि चतुरक्षाणि २० यदि निगम से प्रमाणित है।

जुहू स्थित चतुर्वारंहीत आद्य चतुरक्षर गायत्री छंद से सम्बन्ध रखता है उपभृत स्थित अष्टवारंहीत आद्य क्रमशः चतुरक्षर त्रिष्टुप छंद एवं चतुरक्षर जगती छंद से सम्बन्ध रखता है। एवं भ्रवास्थित चतुर्वारंहीत आद्य अनुष्टुप छंद से सम्बन्ध रखता है। भूपिण्ड त्रिवृत्प्रथित्री पञ्चदश अंतरिक्ष एक त्रिंशत्संज्ञक चारों क्रमशः प्रजापति अग्नि मरुत्तानि द्रुगभित प्रायु आदिय ये चार आतृष्ठावा देवता हैं। एवं चारों के क्रमशः अनुष्टुप गायत्री त्रिष्टुप जगती ये चार छंद हैं। चारों का मूल वही भौम वात्स्य अनुष्टुप छंद है। अनुष्टुप भूपिण्ड का छंद है भूपिण्ड शुक्ललक्षण वात्स्य है। इसी वागावतान से वषट्कारलक्षण उस साहस्री का जन्म होता है जिसके आधार पर भूमहिमात्मक सम्पूर्ण यज्ञ प्रतिष्ठित है। अतएव तत्स्थानीय भ्रुवा से ही संपूर्ण यज्ञकर्म संपन्न होता है। (११ १२ १३ १४ १५ १६)।

आद्यग्रहणपद्धति के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। जिस चि यष्टुष (भूपिण्ड) में आद्य (प्राणशक्ति) पारंप्रमाणमात्रा से प्रतिष्ठित रहता है उम चि यष्टुष में प्राणदेवता उसीप्रकार अभय बन कर अपने आद्यामिक यज्ञ की निकृत्त यता निरापद संपन्न करते हैं जैसे कि वज्र की रक्षा से रक्षित मनुष्य अपने कर्म निरापद बना रहता है। अतएव आद्य को वज्र कहा जा सकता है। यही वास्तव में देवयजन मातृ है। बाह्य सामग्री में मार उम समय पर यत् निरर्थक है जबतक कि आद्य (प्राणशक्ति) लक्षण कम्मसाधक वज्र का ग्रहण नहीं कर लिया जाता। आद्याम का आद्य एवं अधिभूतयज्ञ का आद्यद्वय दोनों ही यज्ञ स्वरूप की सिद्धि के मुख्य द्वार बने हुए हैं।

त्रिसंज्ञा त्रैदेव के अनुसार यह यज्ञ त्रिमर्यादा से युक्त है। कितने एक याज्ञिकों का कहना था कि इस यज्ञसंपन्न सग्रह के लिए जुहु उपभृत् भ्रवा तीनों में तीन तीन वार मन्त्रप्रयोग होना चाहिए। परंतु परमवशानक भगवान् याज्ञवल्क्य ऐसा करना इसलिए अनुचित समझते हैं कि तीनों ग्रहणकर्म एक ही यज्ञासिद्धि से सम्बन्ध रखते हैं। यदि तीन स्थान पर त्रिवृत् सम्पत्ति का सग्रह किया जायगा तो यज्ञकृत् स्नता नष्ट होजायगी। अतएव (यज्ञकृत् स्नता सुरक्षित रखने के लिए) एक एक बार ही मन्त्रप्रयोग होना चाहिए। एसा करने से यज्ञ कर्तृत्व भी सुरक्षित रहेगी एवं तीनों स्थानों की सरया के सम्बन्ध से त्रिवृत्-सम्पत्ति भी प्राप्त होजायगी (१७ १८)।

प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण
एव द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण

'आज्यब्राह्मण'

नामक

उपरत

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-द्विब्राह्मणात्मक
इध्म परिधि ब्राह्मणम्



अथ-प्रथमकाण्ड-तृतीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्
(इध्म-परिधि-ब्राह्मणनुगतञ्च-“इध्मब्राह्मण” नामक प्रथम ब्राह्मणम्)

१



श्री

प्रथ प्रथमकारण्डे तृतीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्

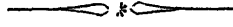
द्वितीयप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

द्विब्राह्मणानुगत-“इध्मब्राह्मणम्” -प्रथमम्

१

१७—इमानुगत कर्मसंग्रह —

१ इ म वेदि-बहिषा प्रोक्षणा, तथा प्रोक्षणीशेषण बर्हिर्मूलोपसेचनम्



(मूल) प्रोक्षणा रध्वयुरादत्त । स इध्ममेवाग्र प्रोक्षति— कृष्णोऽस्याखरेष्ठाऽ
ग्नये त्वा जुष्ट प्रोक्षामि’ (२ अ १ म) इति । त मेध्यमेवतदग्नय
करोति ॥ १ ॥

अथ वेदि प्रोक्षति—‘वेदिरग्नि बहिषे त्वा जुष्टा प्रोक्षामी’ [२ अ १-
म०) इति । त मेध्यामेवतद् बहिष करोति ॥ २ ॥

अथास्मै बर्हिं प्रयच्छति । तत्पुरभ्ताद्ग्रथ्यामादयति । तत् प्रोनति—‘बहिरसि
सुग्भ्यस्त्वा जुष्ट प्रोक्षामि’ [२ अ १ म] इति । त म यमेवेतत् स्रग्भ्य
करोति ॥ ३ ॥

अथ या प्रोक्षय्य पारशिव्य त, तागिरोषधीना मूला युपनिनयात्-‘अदित्यै
यु दनमसि [२ अ म०) इति । इय वै पृथिवी अदिति तदस्या एवैतदोष-
धीना मूला युपोनति । ता इमा आद्र मूला ओषधय । तस्माद्यद्यपि शुष्काण्यग्राणि
भवति-आद्राण्येव मूलानि भवति ॥ ४ ॥

२—पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिष पुरस्तात् प्रस्तरगृहणम्—

अथ विस्र म्य ग्रथि पुरस्तात् प्रस्तर गृह्णाति— विष्णोऽन्तुपोऽसि—(अ० २-२०) इति । यज्ञो वै ऽपण्णु , तस्येयमव ऽशखा स्तुप । एतामेवास्मिन्न तदधाति । पुरस्ताद् गृह्णाति । पुरस्ताद्भय स्तुप , तस्मात् पुरस्ताद् गृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ सन्नहन विस्र सयति । प्रक्लप्त ह्वास्य स्त्री पिजायत इति । तस्मात् सन्नहन विस्र सयति । तद्विष्णोऽया श्रोणा नदधाति । नीत्रहैऽस्यैषा । दक्षिणत इव हीय नीत्रि । तस्माद्विष्णोऽया श्रोणा नदधाति । तत्पुनरभि छादयात । अभि छन्न व हीय नीत्रि । तस्मात्पुनरभि छादयति ॥ ६ ॥

३—वेद्या ऽर्हिषा त्रिवृत्-स्तरणम्

अथ बर्हि स्तृणात । अथ वे स्तुप प्रस्तर । अथ या यत्राञ्च लोमान ता य-वाभ्य, यदितर ऽर्हि ता यत्रास्मिन्न तदधाति । तस्मात् ऽर्हि स्तृणात ॥ ७ ॥

योषा ऽ वेदि । तामेतद्दवाश्च पर्यासतं, ये चेमे ब्राह्मणा शुश्रवासोऽनूचाना । तेष्वेवैनामेतत् पर्यासीनेष्वनग्ना करोति अनग्रताया एव । तस्माद्बर्हि स्तृणाति ॥ ८ ॥

यात्रता वै वेदि , तावती पृथिवी ओषधयो बर्हि । तदस्यामेवतत् पृथि यामोष-वीदधाति । ता इमा अस्या पृथि-यामोषधय प्रतिष्ठिता । तस्मादबर्हिस्तृणाति ॥ ९ ॥

तद्वै बहुल स्तृणीयादित्याहु । यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधय , तदस्या उप-जीवनीयतमम् । तस्माद् बहुल स्तृणीयादात् । तद्वे तदाहत्त र्गवाधि । त्रिवृत् स्तृणाति त्रिवृद्धि यज्ञ । अथो अपि प्रबह स्तृणीयात् । स्तृणाति बर्हिरानुषगिति ह्य षिणाभ्य नूक्तम् । अधरमूल स्तृणाति । अधरमूला इव हीमा अस्या पृथि यामोषवय प्रतिष्ठिता । तस्मादधरमूल स्तृणाति ॥ १० ॥

स स्तृणाति ऊणाभ्रदस त्वा स्तृणाति स्वासरथा देवेभ्य [२ अ २ म] इति । साध्वा दवेभ्य इ यवतदाह—यदाहोणभ्रदस त्वात् । स्वासरथा दवेभ्य इति स्वासदां देवेभ्य इत्यत्रैतदाह ॥ ११ ॥

४—आहवनीयाग्नेरि मकाष्ठेन प्रबलीकरणम्

—*—

अथाग्निं कल्पयति । शिरो ऽ यज्ञस्याहवनाय । पूर्वोऽद्धो वै शिर - पूनाद्धर्ममेत-
द्यज्ञस्य कल्पयति । उपयु परि प्रस्तर धारयन् कल्पयति । अयं व स्तुप प्रस्तर । एतमेवा
स्मिन् तत् प्रतिदधाति । तस्मादुपयु परि प्रस्तर धारयन् कल्पयति ॥ १ ॥

५—आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे च क्रमेण परिधिनिधानम्

—*—

अथ परिधीन् परिदधाति । तत् यत्परिधान् परिदधाति—यत्र व द्या अग्र ऽग्नि
होत्राय प्रावृणत तद्वाचा न वा अहमिदमुत्सहे यद्वो होता स्याम् यद्वो ह य बहेयम् ।
त्रीन् पूर्वान् प्रावृणवम् । ते प्राधिषु तान् मेऽऽकल्पयत । अथ वा अहमेतदुत्साच्ये—
यद्वो हाता स्याम् यद्वो ह य बहेयमात । तथति । तानस्मा एतानवाक्ययन्—त एते
परिवय ॥ १३ ॥

स होवाच वज्रो व तान् षट्कार प्रावृणक । वज्राद्धै षट्काराद्बिभेमि य मा
वज्रो षट्कारो न प्रवृञ्ज्यात् । एतैरेव मा परिधत्त तथा मा वज्रो षट्कारो न प्रव-
र्त्यतीति । तथति । तमेतै पर्यदधु । तन्न वज्रो षट्कार प्रावृणक । तद्वमैवतदग्नये
नहाति—यदेतै पारदधानि ॥ १४ ॥

त उ हैत ऊचु—इदमु चेदस्मान् यज्ञ युड कथ अस्त्वेनास्माकमपि यज्ञे भाग
इति ॥ १५ ॥

तथति द्वा अत्र यन्— 'यद्गृहिष्परिधि स्त त्थ्यति तद्युष्मासु हुतम् । अथ यद् उप
यु परि होष्यति—तद्वाऽग्नि यति । अथ यद्ग्रा हो यति तद्गो विष्यतीति । स यद्ग्रा
जुह्वति तदेनानवति अथ यदेनानुपयु परि जुह्वति—तदेनानवति अथ यद्गृहिष्परिधि
स्कृ दति—तदतेषु हुतम् । तस्मादु ह नाग इव स्क्रन्न यात् । इमा वैते पृथवा प्राविशन् ।
यद्वा इड क्रिश्च स्कृ दति—अस्यामेऽ तत्सर्व प्रतितिष्ठति । १६ ॥

स स्कन्नमभिमृशति—“भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानापतये स्वाहा [२ अ० २ म०] इति । एतानि वै तेषामग्नीना नामानि—यद् भुवपति भुवनपति भूताना पति तद् यथा वषट्कृत हुतम्—एतमस्यतेऽग्न्यु भवति ॥ १७ ॥

तद्वैक इध्मस्यगतान् पारधीन् परिदधाति । तद् तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता ह तस्यते भगति—यानिध्मस्य परिदधाति । अभ्याधानाय ह्य वेध्म क्रियते । तस्या हैप्रतेऽवक्लृप्ता भगति यस्यतान यानहरति—परिधय इति । तस्माद् यानात्तरय ॥ १८ ॥

ते । पालाशा स्यु । ब्रह्म ऽ पलाश ब्रह्माग्नि अग्नया ऽ ि । तस्मात्पालाशा स्यु ॥ १९ ॥

यदि पालाशान् न वि दत्—अथो अपि अकङ्कता यु । यदि अकङ्कतान् न पि दत् अथो अपि काष्मयमया स्यु । यदि काष्मर्यमयान् न पि दत् अथो अपि बल्ना स्यु । अथो खादिरा , अथो आदुम्बरा । एते ि वृक्षा यज्ञिया । तस्मादतेषा वक्षाणां भवति ॥ २ ॥

प्रथमकारणान्तगत तृतीय—अध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
एव द्वितीय प्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्
उपरतम्

—*—

अत्र—द्विब्राह्मणानुगत—प्रथम—इध्मब्राह्मण समाप्तम्

१

समाप्तश्चाय—द्वितीय प्रपाठक

२

श्री

प्रथ-प्रथमकारण्डे तृतीयाध्याये चतुर्थ ब्राह्मण
तृतीय प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्
द्विब्राह्मणानुगतञ्च—परिधिब्राह्मण—नामक द्वितीय ब्राह्मणम्

ते वा आद्रा स्यु । एतद्ध्रौषा जीमम्, एतेन मतेजस एतेन गीयत ।
तस्मादाद्रा स्यु ॥ १ ॥

स मध्यममेवाग्र परिधि परिदधाति— गधर्वस्त्वा विश्वावसु परिदधातु विश्व
स्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित [२ अ २ म०] इति ॥ २ ॥

अथ दक्षिण परिदधानि—‘ द्रग्य बाहुरसि दक्षिणा विश्वस्यारिष्ट्ये यजमा-
नस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित [२ अ ३ म] इति ॥ ३ ॥

अथोत्तर परिदधाति—‘ मित्रावरुणो त्वात्तरत परिधत्ता प्रवेण धमणा विश्व
स्यारिष्ट्ये यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित ’ [अ ३ म] इति । अग्रयो
हि । तस्मादाह—अनिरिड ईडित इति ॥ ४ ॥

६—आहवनीये समिधाधानम्

अथ सामधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्र परिधिमुपस्पृशति तनतानग्र समि ध ।
अथाग्रावभ्यादधाति तनो अनि प्रत्यक्ष समि ध ॥ ५ ॥

सोऽभ्यादधाति—“वीतिहोत्र त्वा कवे धुम त समिधीमहि । अग्ने बृह त-
मध्वरे” (२ अ ४ म) इत्येतया गाय या । गायत्रामेवतत् समि ध । सा गायत्री
समिद्धायानि छ दास समि धे । छ दासि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञ बहति ॥ ६ ॥

अथ या द्वितीया समिधमभ्यादधाति—वस तमेव तया समि ध । म वसत समि
द्धोऽयानृत्तून् साम ध । ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयति, ओपवाश्च पचति । सोऽ-
भ्यादधाति—समिद्सि’ (२ अ ५ म) इति । समिद्धि वस त ॥ ७ ॥

अथाभ्याधाय जपति सूयस्त्वा पुरस्ता पातु कस्याश्चिर्दाम्शस्य' (अ - ५ म) इति गु त्वै वा अभित परियो भवति । अथैतत्सूयमेव पुरस्ताद गोप्ता करोति नत् पुरस्तान्नाष्ट्रा रनास्यभ्यप्ररानिति । सूर्या हि नाष्ट्राणा रक्षसाम- पह ता ॥ ८ ॥

अथ यामेयामु तताया समि प्रमभ्यादधाति-अनुयाजषु ब्राह्मणमेव तथा समि धे । स ब्राह्मण समिद्धो देयभ्यो यज्ञ वहति ॥ ९ ॥

७—उदगगूयोविधृत्योवेद्या निधानम्

-----*

अथ स्तीणा वेदिमुपात्त ते । स २ तृण आदाय तिरश्ची निदधाति सवितुर्बाह्व स्य' (२ अ ५ म) इति । अथ वै स्तुप प्रस्तर । अथास्येत भ्रुगावेव तिरश्ची निदधाति । तस्मादमे तिरश्चा भ्रवा । क्षत्र वै प्रस्तर वश इतर बर्हि । क्षत्रस्य च विशश्च विधृत्य । तस्मात्तरश्ची निदधाति । तस्माद्द्व वा विधृती नाम ॥ १ ॥

८—विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरणम्

-----*

तत् प्रस्तर स्तरणाति-‘ऊर्णाभ्रदस त्वा स्तरणामि स्वासस्य देवेभ्य' (२ अ ५ म) इति । साधु देवेभ्य स्त्यैतदाह-यदाहोर्णाभ्रदस त्वेति । नामस्थ देवेभ्य इति-स्यामद् देवेभ्य स्त्यैतदाह ॥ ११ ॥

९—पाणिद्वयेन पूस्तराभिनिधानम्

-----*

तमभिनिदधाति-‘आ त्वा वसवा रुद्रा आदित्या सद तु (२ अ०५ म) इति । एते व त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या । एते त्वासीदा त्यैतदाह । अभिनिहित एव स यन पाणिना भवति ॥ १२ ॥

१०—पूस्तरस्पर्शपूर्वक दक्षिणेन स्रुचा गृहण, पूस्तरे तत् स्थापनञ्च

-----*

अथ दक्षिणेन जुहु प्रतिगृहणाति-नेदिह पुरा नाष्वा रक्षास्याविशानिति । ब्राह्मणो ऽह रक्षमामपह ता । तस्मादभिनिहित एव सयेन पाणिना भवति ॥ १३ ॥

अथ जुहू प्रतिगृहाति- 'घृताच्यसि जुह्वनाम्ना (२ अ ६ म) ति । घृताची द्वि, जुह्वहिं नाम्ना । सेद प्रियेण धाम्ना प्रिय-सद आसीद (२ अ - ६ म) इति । घृताच्यस्युपभृताम्ना (२ अ ६ म) इत्युपभृतम् । घृताची इह उपभृद्वि नाम्ना । 'सेद प्रियेण धाम्ना प्रिय-सद आसीद (२ अ०६ म) ति । घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना' (२ अ ६ म) इति ध्रुवाम् । घृताची इह, ध्रुवा इह नाम्ना । 'सेद प्रियेण धाम्ना प्रिय-सद आसीद' (अ ६ म) इति-यद यद्वपि ॥ १४ ॥

स वा उपरि जुहू सादयति, अथ इतरा स्रुच । क्षत्र व जुहू इतरा स्रुच । क्षत्रमेवैतत्-प्रिश उत्तर करोत । तस्मादुपर्यासीन क्षत्रियमवस्तादमा प्रजा उपासते । तस्मादुपर जुहू सादयति अथ इतरा स्रुच ॥ १५ ॥

११-अभिमर्शनम्

सोऽभिमृशति-' ध्रुवा असदन्' (३ अ ६ म०) इति । ध्रुवा ह्यमदन् । 'ऋतस्य यानौ' (३ अ ६ म) इति । यज्ञो वा ऋतस्य योनि यज्ञ ह्यमदन् । 'ता विष्णा पाहि पाहि यज्ञ पाहि यज्ञपतिम्' (३ अ ६ म) ति । तद्यजमानमाह । 'पाहि मा यज्ञयम्' (३ अ ६ म०) इति । दप्यात्मान यज्ञान्ना तरति । यज्ञो वै विष्णु, तद्यज्ञानैवैतत्सर्व परिददाति गुप्त्य । तस्मादाह ता विष्णो पाहानि ॥ १६ ॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय-अध्याये चतुर्थ ब्राह्मण
एव-तृतीय-प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मण
उपरतम्

द्विब्राह्मणानुगतञ्च -द्वितीय-परिधिब्राह्मण समाप्तम्

२

इति-ब्राह्मणद्वयात्मक-इ म परिधि ब्राह्मणमुपरतम्

तृतीय अध्याय में तृतीय ब्राह्मण एवं द्वितीयप्रपाठक में षष्ठ ब्राह्मण “इधमब्राह्मण”

मूलानुवाद —

१ इधय वेदि तथा बहि मा प्रोक्षणाशेष से बहिर्गलोपसिञ्चन—

अत्रयु (नामत्र ऋत्विक् क्रमश इ प वेदि-बर्हि क प्रोक्षण क लिए) प्राक्षणी (प्रोक्षण क म-क लिए नियत अतएव प्राक्षणी नाम से प्रसिद्ध जला) का ग्रहण करता है। (इसे मन प्राक्षणी जला से इ म वेदि-बर्हि तीनों का प्राक्षण करना है। न म स) यह अत्रयु सब से पहिले कृष्णऽस्याखरष्टोऽय या जुष प्राक्षाम (यजु स १४ हे अने। आप कृष्णमृग-है आह्वनीय नामरु खर म प्रतिष्ठित रहने क कारण आप आखरष्ट हं। एसे आप का यगानुरूप-अभिलषित प्राक्षण करता १) यह मात्र बालता हुआ इधम (यज्ञानि-प्रज्यलन क लिए आ हुण लकी क बधे हुए भारों) का प्रोक्षण करता है। म प्राक्षणक म मे न धम-सम्भारा को अत्रयु अग्निदेवता क लिए सङ्गमनीय नी करता है ॥१॥

मप्राक्षणान तर वेदिनास बहिर्षे जुष प्राक्षाम (यजु स ११ आप सत्रयज्ञसमृद्धि प्राति क कारण ऋत्वि नामस प्रसिद्ध है। बर्हिस्तरण क लिए आपका म अभिलषित प्राक्षण करता हू) यह बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म से यह अत्रयु २स वेदि को बर्हिस्तरणकर्म क लिए ही सङ्गमनीय करता है ॥२॥

वेदिप्राक्षणान तर (बर्हि क प्रोक्षण क लिए) आनीध्र नामक ऋत्विक् अत्रयु क हाय म बर्हि (कुशमुषि) सापता है। (आनीध्र से समापत बर्हि को हाय म लेकर) अत्रयु उस बर्हि का वेदि पर तत्राग्र सप्रकार स रखता है जिस से कि बर्हि की गाठ पूर की ओर रहे। (इमप्रकार वेदि पर पुरस्तात्-ग्रथिरूप से बर्हि प्रतिष्ठित कर) यह अत्रयु-र्हिर्हिसि खग यस् या जुष प्राक्षामि (यजु स ११-आप वत्तिवृ हणकर्म म समथ बनते ए बर्हि नाम स प्रसिद्ध है एसे आप का म खचा क लिए अभिलषित प्रोक्षण करता हूँ) यह मात्र बालता हुआ वेदि पर प्रतिष्ठित बर्हि का प्राक्षण करता है। २स प्रोक्षणकर्म से यह अत्रयु खचो क लिए ही धम गह को सङ्गमनीय करता है ॥३॥

* धम (का ठस भार) का उपयोग आनीध्र नाम में होता है वेदि का उपयोग बर्हि तरणक म में हाता है एव बर्हि का उपयोग क्षुन्स्थापनक म में होता है। दूसरे शब्दों में- म आनीध्र अग्नि में बाले जाते हैं बर्हि या पर विद्या जाती है एव खत्रपात्र ब्रह्म पर रखे जाते हैं। इधम का यज्ञानि सविका नाम से एव हि मा खत्रपात्रों से सङ्गमनीय यज्ञानुरूप सत्र होजाय एममात्र ऋक्षी प्रयोजन के लिए म वेदि बर्हि का क्रमिक प्रोक्षण होता है। यज्ञमण्डल में स्थित तीनों ही पात्र अत्रयु ह पर तु अभी न में मे यव म का अभाव है। पानी में मेध्यगण भी है। ऋक्षी से यभाज की निपत्ति के लिए प्रकृत प्रोक्षण क म विहित है। मे यता एव पात्रता भिन्न भिन्न वस्तुतः व है। ऐसी दशा म मय का शुद्ध (परित्र) अथ मानना पिता त असङ्गत है जसा कि यारयाताओं ने वेदि शुद्ध कराति रूपसे कर दिया है। ऋक्ष विषय का विषय विञ्चन शतपथ-प्रथमखण्ड में विचार से किया जानुमा है।

तीनो प्रोक्षण-कर्मों क अनन्तर (प्राक्षणपात्र मे) जा प्राक्षणी-जल बच जाते है उन से अदि है व्यु-नमसि (यजु स २।२-हे प्राक्षण जल । आप प्राथमी क सञ्चक हैं) यह मात्र बोलता हुआ ओषधिया (बर्हि) क मूलों का सिञ्चन करता है (बच पानी को ओषधिया की चडों मे डाल देता है । निश्चयन प्रथिमी अति है । इस सिञ्चनकम्म से अत्र्यु इस प्रथिवी क ओषधिमला को ही आद्र करता है । (इसी सिञ्चनक म स) य ओषधिया मूलभाग से आत् (उपल २ होती) है । इसी सिञ्चनकम्म का यह प्रभाव है कि यद्यपि ओषधिया के अग्र-भाग शुष्क रहते है परन्तु मूलभाग आ ही रहते है ॥४॥

प्रणीता मे पवित्र स्थापित कर बर्हि के पूर्वभाग स प्रस्तर का ग्रहण—

प्रोक्षणकर्मनन्तर यह अत्र्यु (अपने हाथ से प्रणीतापात्र मे दो कुशा रखकर) वेदि पर पुरस्तात् गाठ लग हुए रक्ख बर्हि (कुशमुष्) की गाठ खोल कर- विष्णो स्तुपोऽसि (यजु स २ हे प्रस्तर । आप विष्णु-यज्ञ-क स्तुप थानीय केशसङ्घातरूप शिखा स्थानीय है ।) यह मात्र बोलता हुआ उस बर्हि मे से पूज का अोर से (कुशसमूह-लक्षण) प्रस्तर का ग्रहण करता है । विष्णु निश्चयेन यज्ञ है इस यज्ञपुरुष की शिखा यह स्तुप (कुशसङ्घात लक्षण प्रस्तर) ही है । (प्रस्तर ग्रहण करता हुआ अत्र्यु) स यज्ञपुरुष म इस शिखा को ही प्रतिष्ठित करता है । यह स्तुप (शिखा-आ यामिक यज्ञरूप पुरुष क) पूर्वभाग (शिरोभाग) म ही है अतएव (तत्प्रतिरूप इस त्रव आविभातिक यज्ञपुरुष क शिखा-स्थानीय स्तुप का भी) पुरस्तात् ही ग्रहण करता है ॥५॥

(बतलाया गया है कि वेदि पर रक्खे हुए बर्हि सघात का रजु की गाठ खोल कर अत्र्यु उस मे से प्रस्तर का ग्रहण करता है । तस ग्रहणकम्म क अनन्तर प्रस्तर तो ब्रह्मा को सोंप देता है एव जो) सन्नहन (बर्हि के चारों आर लिपटी हुई बधन-रजु) है उसे (बर्हि से सत्रया) प्रथक कर देता है । (सन्नहन को प्रथक क्यों किया जाता है ? इस की उपपत्ति बतलाते है)- यह निश्चित है कि बधन के खुल जाने पर ही इस यजमान की स्त्री त्रशमसास म सम्पूर्णावयव सतान उपन्न करती है । (तापत्र्य यही है कि नीवीब धन खोल देने से ही गर्भिणी सुखपूर्वक प्रसवकम्म करने मे समथ होती है । इअर वेदि योषात्मिका बनती हुए निदानेन स्त्री है एअ यह बर्हि रजु इस का नीवीब धन है । यही त्वामारूप सतान उपन्न करने वाली है । उपत्ति-कम्म म बधन का त्रिखसन आग्रश्यक है) इमीलिए सन्नहन खोलता है । उस सन्नहनरजु को वेदि के दहिने आगिभाग पर रक्ख देता है । कारण यही है कि यह रजु (निदानेन) इस यजमानपत्नी का नीवीब धन ही है । एअ लोक-यवहार मे निवाबधन स्त्रिया क दक्षिण-श्रोणि भाग पर ही रहता है । अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि क) दक्षिण श्रोणिभाग मे ही नीवीब धन स्थानीया रजु प्रतिष्ठित करता है । दक्षिणश्रोणिभाग पर रक्खी हुई नीवीब धन से आच्छादित कर देता है । कारण इस का यही है कि लोक-यवहार मे स्त्रियों का नीवीब धन वस्त्र से ही आच्छादित रहता है । अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि की) इस नीवीब धन स्थानीया रजु को आच्छादित कर देता है ॥६॥

—*—

३ वेदि पर बर्हिस्तरणों से प्रिवत् रूप से आच्छादन—

(प्रस्तरग्रहण-कम्म क सम्बन्ध म यह बतलाया गया है कि निम्नानविधि से प्रस्तर शिखा स्थानीय है । जब कि इस वैधयज्ञ मे पुरुष की प्रनिरूपता क अनुरूप प्रस्तररूप शिखा का ग्रहण आवश्यक माना गया है ता शिखा तरिक शिखा स नीचे क कश-लामों का भी उसी निम्नानविधि से सग्रह होना चाहिए । इसी उपपत्ति को ल य म रवनी हुई श्रुति कहती है)— सन्नहन-विष सन कम्म क अन तर यह अग्र्यु (वेदि पर घनभाज से प्रवृत्-म र्यादा से) कुशा विछाता है (वेदि पर प्रतिष्ठित) यह प्रस्तर (कुशमुषि) निश्चयन (निम्नानविधि से) स्तुप (केशसघातलक्षण शिखा) है । (स्तुप क अतिरिक्त जा स पूरा वेदि पर कुशा बिछाई जाती है) यह यह इतर बहि (प्रस्तर से भिन्न बिछाई जाने वाली कुशा) (निदानानविधि से) शिखा क अग्र प्रदेशों मे (सर्वाङ्गशरीर मे) प्रतिष्ठित लाम (कश-लाम का प्रातरूप) है । (वेदि पर कुशा प्रच्छाता हुआ अग्र्यु प्रतिरूप मर्यादा से) उन अग्र स्थित कश-लामों का ही यज्ञ पुरुष पर जगाता है । इसलिए कुशा बिछाता है ॥ ॥

(कुशास्तरण की पूव उपपत्ति यज्ञपुरुष क केश लोमा से सम्बन्ध रखती है । अब स्य वेदि की ऋषि से दूसरी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह वेदि (प्रातरूप-मर्यादा से) योषा (स्त्री) है । इस स्त्री (रूपा वेदि) क ऊपर (हविग्रहण क लिए आए हुए प्राणा-मरु) देवता प्रतिष्ठित रहते हैं एा जो य प्रयोगरहस्यज्ञ तथा अनुष्ठान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण वेदि के समीप प्रतिष्ठित रहते हैं । (लोकमर्यादा म एक स्त्री नग्न शरीर से पुरुषमण्डली म नहीं बठ सकती अपितु अपना सर्वाङ्गशरीर उग्र स वेधित कर ल जाभाज से ही आसीन रहती है । इधर वेदि भी योषा स्थानीया है इस भा यहा उक्त अलाकिक-प्राणदेवताओं एा लौकिक ऋत्विजों के समाप रहना पडता है । इस अन नता क लिए अवश्य ही इस पर कुशा बिछानी चाहिए । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)—इन बठे हुए देवताओं तथा ऋत्विजों की मण्डली मे (प्रतिष्ठित वेदि पर कुशा विछाता हुआ) अग्र्यु इस वेदि को अनग्न ही बनाता है । अन नता क लिए ही (कुशास्तरण आवश्यक है) इसलिए (भी) कुशा बिछाता है ॥८॥

(अब वेद को प्रातरूप-मर्यादा से प्रथिनी मानते हुए इसी ऋषि से कुशास्तरण की तीसरी उपपत्ति बतलाइ जाती है)—

नितनी बडी वेदि है उतनी ही बडी प्रथिनी है । (अर्थात् यह वेदि प्राकृतिक-यज्ञप्रात-घ्रात्मिका-प्रथिनी का प्रतिरूप है) ओषधियों (प्रतिरूपविधि से यहा) बर्हि है । (जब कि-वेदि-रूपा प्रथिनी का यहा सम्बन्ध है तो ओषधियों का भी प्रतिरूप इस पर अवश्य ही प्रतिष्ठित करना चाहिए । वही कार्य बर्हिस्तरण से पूर्ण होजाता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)—(बर्हि-स्तरण करता हुआ) अग्र्यु इस प्रथिनी पर (प्रथिनी स्थानीया वेदि पर) आपधिया ही प्रतिष्ठित करता है । य ओषधिया इस प्रा वी म प्रतिष्ठित है । तापय्य इस वाक्य का यही है कि

प्रथिगी का अपना पूरा रूप नहीं कहलाता है जिस पर आप धिया रहता है। ओषधियुक्त प्राथिगी ही समृद्धा मानी गई है। अथर वेदि का निम्माण शुद्ध मद्रा स हुआ है। आपधिया का उखाड़ कर कवल मृद्भाग से ही वेद बनाई गई है। आपधिया का प्रतिष्ठा का उखाड़ जाना प्रथिगी ग निर्गीय (असर) बन जाना है। इस निर्गीयता को दूर करने के लिए ही आपधि-प्रातष्ठा प्रातापन करने के लिए ही यहा कुशास्तरण आवश्यक है। इसीलिए अथरु कुशास्तरण करता है ॥६॥

(कुशास्तरण अतिशय घन होना चाहिए जिससे वेदिप्रदेश अणुमात्र भी न दीख सक- इसी प्रिषता को उपयस्त करती हुई श्रुति कहती है) यज्ञरहस्यवत्ता विद्वाना का आस्तरण के सम्बन्ध में यह कहना है कि यह अथरु घनरूप से ही बर्हि बिछावे। अभिप्राय उन अभिज्ञा का (इस कथन में) यही है कि प्रथिगी के जिस भाग में आपधिया प्रचुर मात्रा में होती है प्रथिगी का यह भाग ही आतशय जीवनप्रद माना गया है। इस बर्हि का आहर्त्ता तो यजमान है यही इस बहुलस्तरणानुबन्धी जीवनप्रदभाग का भाक्ता बनता है जैसाकि— शास्त्रफल प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् इयानि जैमिनिस्त्र से प्रमाणत है। (यदि यजमान यहा अपने यज्ञ में भूमिस्थानीया वेद का आपधि-स्थानीय बर्हि से बहुल आच्छान्न कर देगा तो इसका भागधेय का भ्रूदेश प्रचुर आपधियों से युक्त बनता हुआ सक लिए उपजीवनीयतम भागतम बन जायगा यही तापय है)।

बहिस्तरण त्रिवृटरूप से करता है (तीन दभमुष्णिया में तीन बार बिछाता है)। कारण यही है कि (त्रिस यप्राणदेयताका के सम्बन्ध से) यज्ञ त्रिवृत् है। (इस त्रिवृत् लक्षणा यज्ञसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए तीन बार कुशास्तरण होना उचित है। (त्रिवृत्स्तरण का अभिप्राय यही है कि) तीन दभमुष्णियों से इसप्रकार स्तरण करना चाहिए जिससे तीना दभमुष्णियों के तीना स्तर एक स्तर रूप से प्रतीत हों। पहिले एक दभमुष्णि लेकर उसे वेदि के पूर भाग में तक्षिण अक्ष से आरम्भ कर उत्तरास पर्यन्त इसप्रकार वेदि पर बिछाना चाहिए जिससे कि कुशास्त्रा का अग्रभाग तो पूर की ओर रहे तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहे। अनंतर दूसरी दभमुष्णि लेकर (पहिले की दभमुष्णि से सलग्न) वेदिमध्य भाग में प्रथममुष्णि से पश्चिम प्रदेश में इसप्रकार बिछावे जिससे कि पृथमुष्णि के पश्चिमस्थ मूलभाग तस द्वितीयमुष्णि के पूर्वास्थित अग्रभागों के नाच दब जाय। इसीप्रकार तीसरी कुशमुष्णि लेकर (दूसरी दभमुष्णि से सलग्न) वेदि के पश्चिमांत भाग में सप्रकार बिछावे जिससे कि मध्यमुष्णि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस तृतीयमुष्णि के पूरस्थित अग्रभागों से आच्छान्न होजायें। इसप्रकार वेदि के पूर भाग से स्तरण आरम्भ होगा। एतत्तीनों स्तरणों में कुशा के अग्रभाग पूर्ण की ओर रहेगा तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहेगा। साथ ही प्रथममुष्णि के मूलभाग में यमुष्णि के अग्रभाग से आच्छादित रहेगा एतत्तयमुष्णि के मूलभाग तृतीयमुष्णि के अग्रभागों से आच्छादित रहेगा। इसीको त्रिवृत्स्तरण कहा जायगा। इस स्तरणक्रम का आरम्भ पूर्ण से होगा एतत्तयसान पश्चिम में हागा। तसि का पश्चादपवगपत्त माना जायगा।

(दूसरा है प्रागपचग पक्ष । पहिले प्रथम दभमुष्णि को वेदि क पश्चिम भाग मे पत्र की आर अग्रभाग रखते हुए तथा पश्चिम की आर मूलभाग रखते हुए बिछाया जाता है । अनतर दूसरी दभमुष्णि बिछाते हु प्रथममुष्णि क अग्रभागों को ऊपर उठा कर नक नीचे दूसरी मुष्णि क मूलभाग दबा दिए जाते है । तृतीय मुष्णि पूव मे बिछाई जाती है । इसक मूलभाग भी मध्यमुष्णि क अग्रभागों के नीचे दबा दिए जाते है । इसप्रकार यह आस्तरण पश्चिम से आरम्भ होकर पूव म समा त होता है । इस पक्ष मे कुशाओं का परस्पर ओतप्रोतभाजसा हाजाता है । जिसप्रकार लोक यवहार मे तृणा द क छ पर बनाते हुए तृण-पूलकों का परस्पर दाब कर फलाया जाता है वैसे ही यह आस्तरणकम्म है । सय ऋषि ने (वेदभत्र न) भी सां पक्ष का समथन किया है । इसी द्वितीय पक्ष को उद्व त करती हुई श्रात कहती है)

अथवा प्रवह मर्यादा से (एक मुष्णि क अग्रभागों क नीचे दूसरी क मूल दबाते हुए) आस्तरण करना चाहिए । (क्योंकि)- स्तृणीत बर्हिरनुषक (ऋक् स १ म सू १५ म) परस्पर सम्बद्ध बर्हि अध्वर्यु लोग बिन्नाते है यह मन्त्र इसी पक्ष का बतला रहा है । (दोनों पक्षा मे मूलभाग अध प्रदेश से युक्त रहै इसीप्रकार से फलाता है । (अर्थात् बर्हि क मूलभाग अग्रभागों क नीच दबना उभयपक्ष मे ग्राह्य है) । इस प्रथिवी पर ओषधियाँ अधरमूलरूप से ही प्रतिष्ठत है । इसलिए (ओषाध-स्थानीय) बर्हि को (प्रथिवी-स्थानीय वेद पर) अधरमूलरूप स ही फलाता है ॥१॥

(७ ८ ९ १ इन चार कण्डिकाओं से बर्हि-स्तरण की उपपत्ति बतलाई गई । अब आगे की १ वीं कण्डिका से आधृत् (पद्धति) बतलाते है) यह अध्वर्यु ऊगाम्रदस त्वा स्तृणामि स्वा सस्था देवेभ्य (यजु स १२-ऊगसूत्र ऊन से भने हुए कामलस्पश कम्मल के समान स्पशवाली बनाने के लिए हे वेन्दिदवते । आप पर बर्हि िकृता हू । आप दर्वताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने के स जन हों) यह म त्र बोलता हुआ बर्हिस्तरण करता है । देवताओं के लिए आप शोभना बनाई जाती है यही कहा गया है जोकि ऊगाम्र स त्वा यह कहा गया है । स्वासस्था देवेभ्य इस मन्त्रभाग से आप दवत ओं के लिए सुखामिका प्रतिष्ठाभूमि नाइ जा रही है यही कहा गया है ॥ ११ ॥

४ आहवनायाग्नि का इधम-काष्ठ से प्रबलीकरण —

वेद्यास्तरणान तर वह अ य्यु आहवनीयानि को । क्ल त (हृदिदहन समथ) करता है (अग्नि को काष्ठ से चिताता है) । यह आहवनीयानि इस (पुरुपप्रातरूप, यज्ञ का मस्तक (स्था

। इस सम्ब ध में दो विकल्प है । कितनो ही के मतानुसार तो आहवनायाग्निदुग्ध में प्रतिष्ठत अङ्गारो की भस्म भाङ्क वर अग्नि को प्रबल बना देना ग्राह्य है एव कितने एक याज्ञिक ओर का ट ाल कर आग्नि प्रज्वलित करत हैं । दोनो में इष्टापत्ति है । अग्नि का प्रज्वलन ही फलाश में अभिप्र त है । वस्तुतस्तु अगले ब्राह्मण में ास कम्म की इतिक िव्यता समा त होती है । अत यहाँ काष्ठादि से भस्मापकरण ही अभि प्र त समझना चाहिए ।

नीय) है। सर्वाङ्गशरीर में शिरोभाग पूर्व (मे) है। उस कर्म से अग्नि पूर्यु पूर्यु (आहवनीया (नरूप शिरोभाग) को ही प्रबल बनाता है। (शिरोभाग से पलायित मुखान्ग ही आहुति का ग्राहक है। इसे ही इस कर्म से प्रदीप्त किया जाता है यही निष्कष है)। आहवनीयाग्नि क ऊपर ऊपर प्रस्तर हाथ में रखता हुआ ही अग्नि को क्लान्त (प्रबल) बनाता है। यह प्रस्तरस्तुप कशसङ्घातलक्षणा शिखा ही) है। इसी को उस कर्म से उस प्रबलीकरण में समाविष्ट करता है। (शिखा भी (शिखास्थित ऊर्वाग्नि भी) इस कर्म से प्रबल बन जाय) इसलिए प्रस्तर का ऊपर ऊपर धारण करता हुआ अग्नि को प्रबल बनाता है। * ॥ १ ॥

— * —

५—आहवनीयाकुण्ड के पश्चिम-उत्तर-दक्षिण प्रात भागों में पारधियों का स्थापन—

अग्निप्रबलीकरणानन्तर वह अग्नि (आहवनीयाकुण्ड के पश्चिम उत्तर तथा दक्षिण के प्रात भागों में क्रमशः तीन) परिधियाँ स्थापित करता है। सा जिसलिए कि पारधियाँ स्थापित करता है—(उस की उपपत्ति बतलाई जाती है)। (जिस समय) देवताओं ने (प्राणत्रिषु पार्थिव आग्नय देवताओं ने) जिस (अपने प्राकृतिक भूण्ड सम्बन्धी यज्ञ) में इस अग्नि का होत्रकर्म के लिए वरण किया—(वरण करने की इच्छा अग्नि से प्रकट की) उस समय अग्नि (प्रयत्न में यह) बोले कि मैं इस कर्म के लिए अपना उसाह नही दिखला सकता जाऊँ (मैं) आप का होता बनूँ एवं जो कि आप के लिए (पृथिवी में द्युलोक पर्यन्त लेनान के लिए) हविर् य का (भार) वहन करूँ। (अग्नि ने होत्रकर्म में क्या अनुसाह प्रकट किया) इस का कारण बतलाती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि—(अग्नि ने अनुसाह का कारण बतलाते हुए देवताओं से यही कहा कि)—हे देवताओं! आपने मेरी ही तीन पूर्वपुरुषों (मत्सजातीय तीन अग्निना) को (होत्रकर्म के लिए) वरण किया था (वरण करना चाहा) और इसी विभीषिका से वे तीनों अग्नि पलायित होगए थे (अपना स्वरूप खो बैठे थे—)।

(प्रवरणकर्म की विभीषिका से पलायित तथा स्वरूपत विकृत उन) तीना अग्निना को यदि आप (पुन) वापस (इस यज्ञ में मेरी सहायता के रूप में अविकृत बना कर) लौटा सकते हैं

* इसी सिद्धांत के आधार पर लोक में भोजन-व्यवहार के समय कहा जाता है कि अमुक भूदेव चोटी पर हाथ फेरते गए और भोजन करते गए। अवश्य ही भोजनवला में शिखा पर हाथ फेरते रहने से शिरोऽग्नि प्रदीप्त होता रहता है एवं अन्नद्रव्य का आकर्षण स्थिर बना होता है।

— ये ही पलायित अग्नि यष्टिरूप से एकता द्विता त्रिता नामों से तथा समष्टिरूप से आप्त्या नाम से प्रसिद्ध हैं जिन्का विशद वैज्ञानिक विवचन पूर्व के आप्त्याब्राह्मण में—चतुर्धा त्रिहितो ह वा अग्नेऽग्निरास (शत १२।१।) इत्यादि रूप से किया जा चुका है। अग्नि के मौलिक स्वरूप ज्ञान की दृष्टि से आप्त्या विज्ञान अपना एक विशेष ही स्थान रखता है।

ताम (फिर भी यथाक्रमञ्चिन् आपक) स हात्रकम्म क लि उसाह दिखला सकता हू जोरु (म) आप न होता उन उ तथा आप क ह य का गहन करन लगजाऊ । (अग्नि की इस सधा (शक्त) का स्वीकार करते हुए देवताओं ने कहा (न्यायिक) ऐसा ही होगा । (तत्काल देवताओं ने उन (पलायित अग्नि) का इस अग्नि क लिए (यन म पुन अग्निकृत बनाकर) लाटा लिया । व ही य ती न परिधिया है । (अर्थात् पलायित तीनों अग्नि का द्वारा यज्ञानि को समृद्ध बनाने क लिए ही नि परिधि से परिधिया स्थापित की जाती है) ॥१३॥

(तीना पूजुरुषा क यज्ञ म लाट आनेपर होत्रकम्म म नियुक्त) अग्नि यह बोले कि षष्कारूप यज्ञ ने ही उन तीनों को पलायित किया था । म (स्वयं भी) इस षष्कार (रूप) वज्र से डर रहा हू कि कहीं यह उपत्कार यज्ञ मुझे भी (उन तीनों की भांति इस यज्ञ से) प्रथक् न करदे । (मरी ऋषि म स उन के भय म यज्ञ का यही सरल उपाय है कि आप लोग) न तीनों (पुन लौट हुए अग्नियों) से ही (ताना आर स) घर लीनिए । (न के अङ्गरक्षक बन जाने पर) उपत्कार यज्ञ मुझे (यज्ञ से) प्रथक् न छान सकगा । देवताओं ने कहा— ऐसा ही हागा (तत्काल) देवताओं ने तीनों से इसे सीमित कर लिया । परिणामस्वरूप षष्कारूप यज्ञ (इस सीमित सुरक्षित) अग्नि का (यज्ञ से) प्रथक् न छोट सका । (यहा इस पद्ययज्ञ मे जो अग्न्यु होत्र कम्म मे नियुक्त आहवनीयाग्नि क तीनों ओर पलायित अग्नि का प्रतिरूप म तीन परिधिया स्थापित करता है) इस कम्म से यह इस अग्नि के लि (रक्ष) वम्म (कवच) ही बाधता है जोकि इन तीनों से परिवान करता है । (हात्रकम्म म नियुक्त आहवनीयाग्नि की स्वरूप रक्षा क लिए ही परिधिया स्थापित की जाती है यही ता प य है ॥१४॥

(होत्रकम्म म नियुक्त अग्नि क कहने से पलायित उन तीना आ नयो को अङ्गरक्षक बनाने क लिए देवता जब यज्ञमण्डल मे ले आए तो) वे तीनों कहने लग कि यदि आप हमे इस यज्ञ क म मे नियुक्त करना चाहते है तो इस यज्ञ म (प्रयाजादि अन्य गण देवताओं की भांति हमारा भाग (भागवेय भी नियत) होना चाहिए ॥१५॥

देवताओं ने कहा) ऐसा ही होगा । (प्रतिज्ञानुसार तीनों के लिए भागवेय की यप्रस्था करते हुए) देवता कर्मन लगे कि (आहवनीय मे आहुति देते समय) जो आहुतिद्रव्य परिधिया क बाहिर ना गिरगा वह तुम म हुत होगा अर्थात् परिधि से बाहिर स्कन्न न य तुम्हारा प्राति स्त्रिक-असाधारण भागवेय समभा नायगा) इसके अतिरिक्त जो आहुतिद्रव्य ऋत्विगुण तुम्हारे (परिधियों के) ऊपर ऊपर चाल दगे यह तुम्हारी (स्वरूपरक्षा) रक्षा का कारण बनेगा । साथ ही ऋत्विगुण-गण ना न्य (साक्षात्) अग्नि मे हुत करगे वह [भी]-[देवताओं के साथ साथ] तुम्हारी रक्षा करेगा ।

(परिधि-स्त्रीय पलायित अग्निओं के भागवेय के सम्बन्ध मे आरम्भ म उक्त यवस्था हुई थी । एत यद्वै दवा अकुवस्तत् करवाणि यह आदेश है । इसलिए आज भी यज्ञों मे इन अग्निओं के लिए वही यप्रस्था चली आरही है । इसी यवस्था का उद्धृत करती हुई श्रुति कहती

है कि)। (सा जो कि) यह अग्न्यु आहुतनीयाग्नि में आहुत देता है यह (अग्न्य) इन परिधि स्थानीय अग्नियों की रक्षा करता है। जा अग्न्य इन परिधियों के ऊपर ऊपर डालता है वह (भी) इन की रक्षा करता है जा अग्न्य परिधियों से बाह्य प्रदेश में गिरता है वह [इन का प्रातिस्निक भाग बनता हुआ] इनमें हुन हाता है।

स्कन्न-अग्न्यु-आहुतिद्रव्य पलायित अग्नियों के लिए प्रातिस्निक आहुति है इस सम्बन्ध में एक यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि यज्ञविज्ञानानुसार जो यज्ञिय अग्न्य उपयोगक्षेत्र से बाह्य होजाता है वह यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रु का भाग बनता हुआ यजमान के लिए अनिष्ट का ही कारण बनता है। अथ अग्नितृण के लिए गण्डा बहुत आहुतअग्न्य बहि प्रदेश में अवश्य गण्डा जायगा। इस स्कन्न-दोष का क्या उत्तर? इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि—[क्याकि देवताओं के स्कन्न अग्न्य को अग्नियों का भागधय नियत कर दिया है अतः स्कन्न दोष नहीं माना जासकना]—इसीलिए यदि आहुतिअग्न्य बाह्य गिर जायता इसमें कोई अपराध [आग] नहीं [माना जायगा]। [पलायित तीनों] अग्नि अग्नी प्रथिवी में प्रविष्ट हुए हैं। [फलतः स्कन्न अग्न्य प्रथिवी-प्रदेश पर गिरता हुआ इनकी तपति का कारण बनेगा न कि यह अग्न्य शत्रु का भागधय बनेगा]। जो कुछ यज्ञिय अग्न्य गिरता है वह सब कुछ इसी प्रथिवी में ही [तो] प्रतिष्ठित होता है। [अतः स्कन्नदोष का प्रकृत में कोई अपसर नहीं है] ॥ १६ ॥

वह अग्न्यु - भूपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानापतये स्वाहा यजु स २०] भूपति के लिए स्वाहा भुवनपति के लिए स्वाहा भूतपति के लिए स्वाहा है] यह मात्र बोलता हुआ [उस] स्कन्न [हविष्य इण करते समय परिधि के बहि प्रदेश में गिर हुए आहुत अग्न्य] का स्पर्श करता है। भूपति आदि ही उन [पलायित अग्निभ्रातर नाम से प्रसिद्ध] तीनों अग्नियों के नाम हैं। सो जैसे प्रधान देवताओं के लिए ऋषटकार से युक्त हविष्य हुन होता है इसीप्रकार [उक्त मात्रप्रयोगपूर्वक स्कन्नअग्न्य के स्पर्श से] इन अग्नियों में हुन बन जाता है। [तापय यही है कि-स्वाहाकार च बहन्कार च दवा उपगीवन्ति] इस श्रुति के अनुसार स्वाहा वौषट् पूर्विका आहुति का सम्बन्ध देवताओं के साथ माना गया है। तीनों अग्नियों के लिए स्वाहा प्रयोग पूर्वक स्कन्न अग्न्य का स्पर्श करना इन्हें देवताओं की भाँति ही आहुति देते हुए द्वकोटि में स्थापित करता है ॥ १७ ॥

[परिधियों किस लकड़ी की बनाई जायें? इस प्रश्न की मीमांसा की जाती है] कितन एक याज्ञिक [अग्निसमि वन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत] इम की [लकड़ियाँ से ही] इन परिधियों का परिधान करते हैं [अर्थात् जो काष्ठसभार आहुतनीयाग्नि के समिधन के लिए आया है इनके मतानुसार इसी में से परिधियों के लिए लकड़ी ले लनी चाहिए]।

[इस पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि] सो ऐसा कभी न कर। [अर्थात् इमसभारकाष्ठ से परिधियों न बनाई जायें] उस यजमान के लिए य परिधियाँ [परि

धानलक्षण कम्म क लिए] असमथ होता है जिह इ मकाष्ठ की बनाया जाता है। केवल अ याधान [अग्निसभि धनाथ आग्नीय म स्थापनाथ] ही इ म का ग्रहण किया जाता है। [जब इ मकाष्ठ केवल अग्निसभि धनोद् श्य से ही यज्ञसस्था म सगृहीत है तो इससे दूसरा काम नहीं लिया जासकता। यदि इ मकाष्ठ की परिधिया बनाई जायगी तो इन से कभी परिधान लक्षण कम्म सिद्ध न होगा]। उसा यजमान क लिए ये परिधिया स्वपरिधानकम्म मे समथ होती है जिस यजमान के लिए ऋत्विक्करण अथ काष्ठ की य परिधिया है इस रूप से [स्व-तन्त्ररूप से] ग्रहण करते है। इसलिए [पाराधया क लि] दूसरी ही परिधिया लेना चाहिए।

वे परिधिया — पलाश की लकड़ियों की होनी चाहिए। पलाश निश्चयेन ब्रह्म [ब्रह्म चीर्यप्रधान] है। [अथ] अग्नि [भी] ब्रह्म ब्रह्मगीर्यप्रधान] है। य परिधिया [प्रति-रूपम र्यात् से] आ नथा ही है। इस सजातीय सम्बन्ध से य पलाश की ही होनी चाहिए ॥१६॥

यदि पलाश की न मिले तो विककृत का ठ की होनी चाहिए। यदि विककृत सम्भय न हो ता काष्म यम पी हानी चाहिए। यदि काष्मय्य न मिल तो विर्यकाष्ठ की होनी चाहिए। [ये भी न मिले ता] खन्त्रिकाष्ठ की [होनी चाहिए]। [यदि आदिर भी उपनध न हो तो] उदुम्बरकाष्ठ की परिधियों [होनी चाहिए]। य [परिगणित] वृक्ष यज्ञिय है। इसलिए इन वृक्षों [म से किस्त एरु] की ही परिधिया होती है * ॥२॥

तृतीय अध्याय म तृतीय, ब्राह्मण एव द्वितीय-प्रपाठक मे षठा ब्राह्मण समाप्त

द्विब्राह्मणानुगत—इध्मब्राह्मण यहाँ उपरत

द्वितीय-प्रपाठक-समाप्त

?

+ इन यज्ञिय वृक्षों का विशेष विवरण विवचना म किया जायगा।

* यद्यपि ब्राह्मणग्रंथ की मर्यादा के अनुसार यही ब्राह्मण समाप्त होता है। तथापि प्रकरणसाम्य की दृष्टि से हमने इस स अगले ब्राह्मण का भी इसी ब्राह्मण के साथ समावश कर लिया है। प्रकृत ब्राह्मण की १३ वी कण्डिका से जिस परिधि परिधान प्रकरण का आरम्भ हुआ है वह तृतीय प्रपाठकके प्रथम ब्राह्मण की ४ थी कण्डिका पर समाप्त हुआ है उस के आगे जो कर्म हैं व भी परिशिष्ट स्थानीय बनने हुए हुए इसी से सम्बद्ध है। अत दोनो ब्राह्मणों की एक साथ ही यादया करना उचित मान लिया गया है।

तृतीय—अध्याय मे चतुर्थ ब्राह्मण एव तृतीय प्रपाठक मे प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत—‘परिधिब्राह्मण’

वे परिधिया आन् [गाले काष्ठ की] होनीं चाहिँ । आ भाग ही न [काष्ठो का] चीबन [जीवनलिङ्ग-जीवतरु] है । इसी आ भाग स य काष्ठ [स्वाययजो से] कातियुक्त बन रहते हैं । इसी आ भाग स य काष्ठ [शुष्काष्ठ की अपत्ता] गीग्य [वशेष प्राणशक्ति से युक्त] बने रहते हैं । इसालम् परिधिया आन् होनीं चाहिँ ॥१॥

[पारधिग्रहण क स व य मे उपपत्ति जाति स्वरूप पत्तानर आदि नो कुछ विशप बतलाना था बतला दिया गया । अय पद्वति बतलाने है]—यह अ ययु सब मे पाहले — गध वस वा विश्वावसु परिध्यातु विश्वस्यारिष्ठय यजमानस्य परिधिरसि अग्निरिड ईडित [यजु स १३-विश्वरत्ता के लिए विश्वावसु नाम का गधव आप का स्थापित कर । आप यजमान की परिधि है अग्नि है आप्व स्तुय है होत्रानि के द्वारा इडित स्तुन है] यह मत्र बालता हुआ म य को * परिधि को प्रतिष्ठन करता है । [आह्वनीय का पश्चिम भाग ही इस परिधि से युक्त होता है] ॥२॥

पश्चिम परिधि-स्थापनान्तर—इद्रस्य आहुरसि दक्षिणा विश्वस्यारिष्ठय यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित [यजु स १३-विश्वरत्ता के लिए आप द्र की दाहिनी बाहु है] यह मन्त्र बोलता हुआ आह्वनीय की दक्षिण लेखा पर दूसरा परिधि स्थापन करता है ॥३॥

दक्षिण-परिधि स्थापनान्तर—मित्रावरुणौ वात्तरत परिधत्ता व वेण उम्मणा विश्वस्यारिष्ठय यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित [यजु म २३-ह उत्तरपरिधे । विश्व की रत्ता के लिये अपने सिर उम्म से मित्रावरुण-देवताआन आपको उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित किया है] यह मन्त्र बोलता हुआ आह्वनीय की उत्त लेखा पर तीसरी परिधि स्थापित करता है ॥४॥

*—

* यजमान के स्क ध प्रदेश से आर भ कर बाहुप य त इनका लम्बाइ में परिमण होता है । आकार में मोटी होती है एव स्वरूपत गीली होती है ।

६-आहवनीयाग्नि मे समिध-स्थापन-

[पूजब्राह्मण की- अग्नि कपयति इ यदि १२ गीं कण्डिका मे यह स्पष्ट किया गया है कि आहवनीयाग्नि को हविर्हवन मे समिध बनाने के लिए यज्ञसंस्था मे गृहीत इ म-सम्भार म स काष्ठ लेकर उससे आहवनीयाङ्गारों का भस्म प्रथक कर उस प्रबल बना दिया जाता है । इस प्रकार इध्मभार से गृहीत स समिध (एतन्नामक काष्ठ) से परिविस्थापन से पूज आग्निप्रबली करणकर्म किया जाता है उसी समिध का अब परिविस्थापनान तर-आहवनीय मे प्रक्षेप करना ही-समिधाधानकर्म कहलाया है । प्रकृत प्रकरण इसी विषय का स्पष्ट करण कर रहा है] ।

[इस समिध का पूर्वाधार से सम्बन्ध है अतएव -से- पूर्वाधारसमिधाधानकर्म भी कहा जासकता है । आहवनीयकुण्ड की वायव्य दिशा से आरंभ कर आनेय दिशा पश्चिम दिशा से जो होम होता है वही पूर्वाधार कहलाया है । यह पूर्वाधारकर्म जिस आनेयीदिक समाप्ति पर समाप्त होता है वहीं इस समिध का आधान होता है । इस परिस्थिति का सामन रखत हुए ही प्रकृत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए] ।

परिविस्थापनान तर वह अध्वर्यु [आहवनीयाग्नि के पूर्वाधार समाप्त प्रदेश मे समिध डालता है । [आहवनीयाग्नि मे समिध डालन से पहिले] वह अध्वर्यु पश्चिमभागस्थित मय की परिधि का [हस्त गृहीत समिध स] स्पर्श करता है । उस स्पर्शकर्म से अध्वर्यु अग्निघ्रातर स्थानीय परिधिरूप आग्नेयों का ही पहिले समिधन करता है । अनतर स सामिध को आहवनीय अग्नि मे डालता है । इस उत्तरकर्म से यह अध्वर्यु अग्नि को साक्षात् रूप से समिध करता है ॥५॥

(अब पद्वलि बतलाते है)-उह अग्न्यु (परिविस्पर्शकर्मानतर) वीतिहोत्र वा क्वे द्युमन् समिधीमहि अग्ने बृहन्तम वरे (यजु स २।४ यज्ञसमृद्धिप्रवर्तक तथा सप्त तेजाराशियुक्त तम महान् ऐसे हे अग्नि ! इस यज्ञकर्म मे मैं आपको इस समिधाधान से प्रणीत कर रहा हूँ) इस गायत्रीमंत्र से आहवनीयाग्नि मे समिध डालता है । इस समिधनकर्म से अध्वर्यु गायत्री मंत्र को ही प्रणीत कर रहा है । उह गायत्री (इस कर्म से) प्रदीप्त बन कर वसरे (सहयोगी त्रिष्टुप् नगती अनुष्टुप) छंदों को प्रदीप्त करता है । (परम्परया) प्रणीत म देवताओं के लिए यज्ञ (आहुति) का (द्युलोक मे) वहन करत है ॥६॥

प्रथमसमिधाधाना तर उस दूसरी समिध को अग्न्यु (आहवनीयाग्नि मे) डालता है उससे वसन्त-ऋतु को ही प्रणीत करता है । (समिधनकर्म से) उह वसन्त प्रदीप्त होकर अय ग्रीष्माद् ऋतुओं को प्रदीप्त करता है । (परम्परया) प्रणीत ऋतुएँ प्रजा उपन्न करती है और आषाढियों का परिपाक करती है । (द्वितीय समिधाधान की यही उपपत्ति है । अब पद्वलि बतलाते है)-उह अग्न्यु समिधाधान (यजु स १५ वसन्त ! आप अग्नि का प्रज्वलित करने के कारण समित है) उह मात्र बोलता हुआ समिधाधान करता है । (वसन्त से क्योंकि अग्नि का समिधन आरम्भ हाता है) अत निश्चयेन वसन्त समित है ॥७॥

इसप्रकार आगारसमिद्ध्याधान करके अग्न्यु (आहवनीय की आर देखता हुआ—
सूर्यस्वा पुरस्तात् पातु कस्थाशिवन्भिःस्थ (यजु स १५ ह आहवनीयाग्ने ! सूर्यदवता
पूवन्दिशा की आर से (होने वाले) किसी भी (आसुर) हिंसा कर्म से आप की रक्षा करै)
इस मन्त्र का जप (स्वरसधानपूजक उच्चारण) करता है आहवनीयाग्न की रक्षा क लिए ही
(क्रमश इस ऋषिचम-दक्षिण-उत्तर प्राता म) परिधिया प्रतिष्ठित रहती है। (इन तीन परि
धियों से तीनों दिशाएँ तो इस आग्न क लिए सुरक्षित हाजानी है। पूवदिशा शेष रहती है)।
पूव की ओर स (समृद्धिनाशक) नाशानोग तथा समृद्धि क अरोधक राक्षसलोग इस अग्नि को
हानि न पहुँचा सक इसलिये (इस मजपकर्म से) पूव की आर से ही सूर्य को (इस
अग्नि का) रक्षक बनाता है। सू यानश्चयन नाष्ट्रा तथा राक्षसा का नाशक है ॥८॥

(अनुयाजकर्म स पहिले अग्नि समिद्धन क लिए एक समिद्ध आहवनीय म आर डाली
जाती है। क्योंकि समिद्धाधानप्रकरण चल रहा है अत समान-प्रसङ्ग से उस अयाधान का भी
यहाँ विधान बतलाती हुई अति उसकी उपपत्ति बतला देती है) —

जिस तीसरी सामिद्ध का अग्न्यु अनुयाजकर्म मे आधान करता है इस तीसरी समिद्ध
से (यज्ञकर्ममें तेरुक्त यतामञ्जलक) ऋत्विग ब्राह्मण को ही प्रणीप्त करता है। वह ब्राह्मण
इस कर्म स प्रणीप्त हाकर देवताओं क लिए यज्ञ का गहन करता है (समथ बनता है) ॥९॥

७-उत्तराग्र दो पवित्रों का वेदि पर स्थापन—

इसप्रकार परिधिपरिधान-समिद्धाधानाणि आहवनीयानुगत कर्म करने के अनन्तर वह
अग्न्यु (आहवनीय की ओर से) कुशास्तरणयुक्त वेदि की ओर नाट आता है। (वहाँ आकर
बहि म से) दो पवित्र [दभतृण] लेकर इह [वेदि के ऊपर बिछ हुए पश्चिम भागस्थ कुशा
समूह पर उत्तर की ओर अभ्रभाग करते हुए] सवितुर्बाह्वस्थ (यजु स २।५ ह * तृण ! आप
सविता के बाह्व है) यह मन्त्र बोलता हुआ तिर्यगरूप से रखता है। [इह रखने का प्रयोजन
बतलाती हुई अति कहती है]—(वेदि पर रक्खा हुआ कुशामुल्लक्षण) प्रस्तर स्तुप (शिखा-
स्थानीय) है एव अ य बहि कश लोम स्थानीय है। अब कयल मोना भ्रुवा (भोहों) का प्रतिरूप
बच रहता है। इस विधृती-स्थापनकर्म से अग्न्यु इसके गाना भ्रुव ही तिर्यगरूप से प्रतिष्ठित
करता है। (अर्थात् ये दोनों दभतृण भ्रुवा क ही प्रतिरूप है। क्योंकि य तिर्यगरूप से प्रतिष्ठित
किए जाते हैं) अतएव य दोनों भ्रुव (आयात्मिकी पुरुषसस्था म) तिर्यक ही हैं। क्योंकि य
तृण भ्रुव क प्रतिरूप हैं इधर आयात्मिक यज्ञ मे अग्न्यु तिर्यगरूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं
इसलिय भी इह स मध्ययज्ञ मे ति यग रूप से ही प्रतिष्ठित किया जाता है। इसक अतिरिक्त

* ये दभतृण विधृती नाम से प्रसिद्ध हैं।

ति यग्रूप स प्रतिष्ठित करने का एक दूसरा यह भी कारण है कि) वेदि पर प्रातष्ठित प्रस्तर (निदानेन) क्षत्र (शास्ता राजा) ३ एष पिच्छी हइ इतर बर्हि (निदानेन) विट् (शासित-प्रजा) है । इस प्रस्तररूप क्षत्र तथा हिं-रूप विट् दोनों की प्रतिष्ठा के लिए ही (दोनों की स्वरूपरक्षा के लिए पारस्परिक सम्बन्ध के लिये ही आवश्यक स्थापन उचित है) । सलिय इह तिन्यग्रूप स ही प्रतिष्ठित करता है । इस (विधरणम्भ के सम्बन्ध) में ही इन तृणों को (यज्ञावज्ञान-परिभाषा में) विधृती नाम से यजन्त किया गया है ॥१॥

८—विधृती के ऊपर प्रस्तर को फैलाना—

(वेदिस्थित बर्हिस्तरण के ऊपर पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित करके उन दोनों विधृती नामक दर्भतृणा पर) वह अय्यु-ऊणम्भस वा स्तृणामि स्वासस्थ दवेभ्य (यजु स १५-देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने योग्य ऊणसूत्र में निर्मित कर्मक्षेत्र मृदुस्पर्श ऐस आपका-प्रस्तर का-विज्ञाता हू) यह मंत्र बोलता हुआ (उसमें मुष्णिलक्षण) प्रस्तर को फैलाता है । आप देवताओं के लिए साधु मृदुस्पर्श है यही कहा गया है चाकि ऊणम्भस-वा यह कहा गया है । स्वासस्थ दवेभ्य इस मंत्रभाग से आप देवताओं के लिये अच्छी बैठक है यही कहा गया है ॥११॥

९-दोनों हाथों में प्रस्तर का स्पर्श करना--

मंत्रपूर्वक प्रस्तर-स्तरणान्तर यह अय्यु-आ त्वा वसवा रुद्रा आन्वित्या सन्तु (यजु स १५ सवनत्रयाप्रिष्ठाता वसु रुद्र आन्विद्य द्यता आपका प्रस्तर का दवप्रतिष्ठा के लिए सब और फलाव) यह मंत्र बोलता आ स्तीण प्रस्तर पर अपने दोनों हाथ रखता है ॥ १२ ॥

१—प्रस्तर का गण हाथ से स्पर्श किए हुए सूत्रों का दहिन हाथ से ग्रहण तथा प्रस्तर पर स्थापन—

वह अय्यु प्रस्तर के साथ अपने वामहस्त का सम्बन्ध बनाए हुए ही रखता है (हुआ) ॥१२॥ दहिन हाथ से जुहू का ग्रहण करता है । नाष्ट्रा राक्षसगण (दोनों के मध्य में) पहिले (ब्राह्मणशरीर के नाष्ट्रा राक्षस नाशक दियप्राण के सम्बन्ध होने से पहिले) प्रविष्ट न हाजाय (इस उद्देश्य से ही प्रस्तर के साथ हस्त सम्बन्ध बनाए रखते हुए ही जुहू ग्रहण करता है) । ब्राह्मण निश्चयन राक्षसा का नाशक है । इसीलिए (करस्पर्श के द्वारा अविच्छिन्नरूप से दिय शक्ति का प्रवेश सुरक्षित रखने के लिए) सय हाथ से स्पर्श बनाए रखता है ॥१३॥

अनन्तर हा-घृतायसि जुहूर्नाम्ना (यजु स २६। ह जुहू । आप (स्वरूप से ता) घृत से परिपूर्ण है (एव नाम से जुहू (आहुति देने वाली) है यह मंत्र बोलता हुआ दक्षिण

हाथ से आग्नीध्र के द्वारा समर्पित जुहू का ग्रहण करता है। निश्चयेन जुहू (धृत प्राण के कारण) घृताची है साथ ही यह नाम से निश्चयन जुहू (आहुति देने वाली) है। (ग्रहणानंतर गृह्य अग्र्यु) - सेन प्रियेण धाम्ना प्रियसन् आसीन् - [यजु स २।६] एसा आप अपने प्रिय गामरूप आज्य के साथ इस प्रस्तर पर विराजिए यह मन्त्र बोलता हुआ इस जुहू का वेदि-स्थित प्रस्तर पर रख देता है। अतः अनंतर वह अग्र्यु घृताच्यस्युपभृत्नाम्ना [यजु स २।६] हे उपभृत् आप घृताची है नाम से जुहू के उत लमोर रत्न कर आय लेने से उपभृत् है) यह मन्त्र बोलता हुआ उपभृत् का ग्रहण करता है। यह सचमुच घृताची है एत सचमुच नाम से उपभृत् है। अनंतर सेन प्रियेण धाम्ना प्रियसन् आसीन् (यजु स २।६) यह मन्त्र बोलता हुआ असे प्रस्तर पर रख देता है। उपभृत्ग्रहण स्थापनानंतर वह अग्र्यु घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना (यजु स २।६) ध्रुवा आप घृताची है एव आत्मरूप एक प्राण पर प्रतिष्ठित रहने के कारण लोक में यथाग्र्यु ध्रुवा नाम से प्रसिद्ध है) यह मन्त्र बोलता हुआ ध्रुवा का ग्रहण करता है। अनंतर- सेन प्रियेण धाम्ना प्रियसन् आसीन् (यजु स २।६) यह बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रखता है। (अप्रकार गम हाथ से प्रस्तर से सन्ध बनाए रखना हुआ अग्र्यु क्रमश आग्नीध्र से अपन दाहिन हाथ में जुहू उपभृत्-ध्रुवा लेता जाता है आर वत्कि पश्चिम भाग में बिछे हुए प्रस्तरासन पर रखता जाता है)। इन तीनों से अतिरिक्त वा पुरोडाशादि हविर्नाय है उह मा सेन प्रियेण धाम्ना प्रियसन् आसीन् यही मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर पर रखता है- (यजु स २।६) ॥१४॥

[सत्रों के सान्निध्यम में निशपता बतलाती हुई श्रुति कहती है] यह अग्र्यु प्रस्तर के ऊपर तो जुहू रखता है एत अग्र्यु [उपभृत्-ध्रुवा] सुचा को प्रस्तर से नीचे बर्हि पर रखता है। कारण यही है कि [निदानेन] जुहू क्षत्र है एत अग्र्यु सुक्प्रिट् है। [जुहूरूप] क्षत्र को ऊपर तथा उपभृत् ध्रुवरूप विट को नीचे रखता हुआ] अग्र्यु क्षत्र का ही प्रिट् से श्रष्ट उँचा बैठने वाला बनाता है। अनएत ऊँचे आसन पर विराजमान क्षत्रिय राजा की नीचे से खड्ग स्वड प्रजा उपासना किया करती है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार जुहू को प्रस्तर के ऊपर रखना है एत अग्र्यु सुचा का नीचे [रखता है] ॥१५॥

११-स्पर्शकर्म-

[अनंतर वह अग्र्यु-ध्रुवा असन्नुतस्य योनौ ता विष्णा पाहि पाहि यन्न पाहि यन्नपतिम् [यजु स २।६]-यन्न को यानिरूप कम्मसमाति पथ्य न निश्चन रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले जो हविर्द्रव्यादि यहा प्रतिष्ठित हुए हैं हे विष्णा! आप उनकी रक्षा करै एत यन्नपति यजमान की रक्षा करै] यह मन्त्र बोलता हुआ आयस्थालीस्थ आय का जुह्वानिस्थित का एव पुरोडाश आदि का उपयोगक्रम स्पश करता है। इसी कर्म का मन्त्र-खण्डरूप से प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है]-

वह अव्यय ध्रवा असदन् यह मत्र बोलता हुआ आयादिका स्पर्श करता है। यद्रय कम्मसगापि पयन निश्चलरूप से ही प्रतिष्ठित है। (मत्र का अगला भाग है) - ऋतस्य योनो यह। यज्ञ ही ऋत की यानि है। यज्ञ पर ही य जुह्वादि प्रतिष्ठित है। (मन्त्र का अगला भाग है) त्रिणो पाहि पाहि यज्ञ पाहि यज्ञ गतिम् यह। इस से (यज्ञरक्षा के साथ ही) यज्ञ मानरक्षा के लिए प्राप्ता की गई है।

अनन्तर- पाहि मा यज्ञ यत्र (यजुस २।६। यज्ञकम्म को अग्रगामी बनाने वाले मुक्त ऋत्विक् की भी रक्षा कर) यह मत्र बोलता हुआ अव्यय स्वयं अपने शरीर का स्पर्श करता है। इस कम्म से यह अपने आप को भी यज्ञ से बाहिर नहीं करता है। त्रिणु को ही यज्ञ कहते हैं। यज्ञ की रक्षा में ही रक्षाय (इस स्पर्शकर्म से) सब को प्रतिष्ठित करता है। इसी अभिप्राय से- हे त्रिणु! आप रक्षा कर। यह कहा गया है ॥११॥

प्रथमकारणानुगत तीसरे अध्याय का चौथा ब्राह्मण

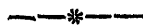
एव तीसरे प्रपाठक का पहिला ब्राह्मण उपरत

“परिधि-ब्राह्मण” समाप्त

द्विब्राह्मणात्मक-इध्म-परिधि ब्राह्मण-उपरत



इति-मूलानुवाद



सूत्रप्रदर्शित-पद्धतिमगूह —

१-इध्म वेदि बहिषा प्रोक्षणम्

आयग्रहण के अनंतर वेदिमय से आयग्रहणी लेकर उसे किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है। अनंतर अनिसमि धन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत रज्जु से बंधे हुए इमभार (काष्ठभार) की प्रविष्टि खोलता है। प्रविष्टि खोलने के अनंतर प्रोक्षणकर्म के लिए ब्रह्मा से- ब्रह्मन्! इध्म प्रोक्षिष्यामि इति शर्त्तुं मा आज्ञा मागता है। ब्रह्मा - ओं प्रोक्ष यज्ञ देवता वयं च नाकस्य पृष्ठ यजमानाऽस्तु। सप्त ऋषीणां सुकृता यत्र लोकस्तत्रेम यज्ञ यजमानं च प्रेहि (का श्रौ १।८) यह चुपचाप बोलता हुआ- ओं प्रोक्ष इति शर्त्तुं मा प्रोक्षणकर्म की आज्ञा देता है। इसी अव्यय कृत प्रोक्षणकर्म की इतिक्रमिता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं-

‘इध्म प्रोक्षति विस्रसा वेदिं च, बहि प्रतिगृह्य वेद्या कृत्वा पुरस्तादग्रथि—
कृष्णोऽमि’ इति प्रातम त्रम्’ (का श्रौ सु २।७।१६)।

स्वस्थान पर प्रतिष्ठित इधम की ग्रन्थि खोलकर— ओं कृष्णास्याखरष्टाऽनये त्वा जुष्ट प्राक्षामि यह मंत्र बोलता हुआ अथर्व्यु इधम का (प्रणीता-पात्रस्थ प्रणीतानल से कुशा के द्वारा) प्रोक्षण करता है। इमप्राक्षणान तर— ओं वेन्ऱिसिर्हिषे वा जुष्ट प्राक्षामि यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि का प्राक्षण करता है। वेदि-प्रोक्षणान तर आनीध्र नामक ऋत्विक् से सापे गए बर्हि नामक कुशा को लेकर इह वान् क उपर (बर्हिग्रन्थि को पूज की आर रखता हुआ) रखकर प्रोक्षणकर्म के लिए ब्रह्मा से— ब्रह्मन्! हिं प्राक्षिष्यामि इन शब्दों में आज्ञा मागता है ब्रह्मा— ओं प्रोक्ष यज्ञ दवता वधय च इयादि मंत्रपाठानन्तर ओं प्राक्ष न्न शब्दा में आज्ञा देता है। इस मंत्र से अनुज्ञात अथर्व्यु ओं बर्हिरसि लभ्यस्त्वा जुष्ट प्राक्षामि यह बोलता हुआ वेदिस्थ बर्हि का प्रोक्षण करता है। अग्नि क अभात्र म अत्रभथेष्णि में तथा परिश्रितकर्म में इम का प्राक्षण नहीं हाता। एत्र गृहमधीयकर्म म (का श्रासु १।६।१२५) क्योंकि बर्हिस्तरण नहीं होता अतः वहा वेदि का प्रोक्षण नहीं होता। प्रोक्षणकर्म क सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिकी प्रिशषता समझनी चाहिए।

— * —

२-प्रोक्षणी शेषण बर्हिमूलोपसेचनम

प्रोक्षणकर्म के अनतर वह अथर्व्यु प्रोक्षणीपात्र म बाकी बच हुण नल को ओं अग्नि-यै युन्नमसि यह मन्त्र बालता हुआ कुशा के मूल भाग म डाल देता है। यही बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘शेष मूलेषूपसिञ्चति— अदितायुदन माित’ (का श्रा सु २।७।१७)

३-पवित्र प्रणीतासु निधाय बर्हिष पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणम

मूलोपसिञ्चनकर्म क अनतर अपने हाथ से प्रणीता-पात्रस्थ जला म दो वभतृण रखता है। अनतर वेदि पर स्थित बर्हि की गोंठ प्रथक् करता है। अनतर बर्हि क पूजभाग से कुशामुष्णि का ग्रहण करता है जो कि कुशामुष्णि प्रस्तर नाम से च्यवहृत हुई है। बर्हिपूलक से प्रस्तर नामक कुशामुष्णि क ग्रहण के लिए ही क्योंकि ओं विष्णा स्तुपोऽसि यह मंत्र प्रिहित है अतएत्र नहों पितृयज्ञ में प्रस्तर का बर्हि से प्रथक् करण नहीं हाता वहाँ— प्रस्तर उपसन्नद्ध (का श्रौ १।२।२७) इस सिद्धांत क अनुसार पहिले से बद्ध प्रस्तर का ही ग्रहण होजाता है। फलतः पितृ यज्ञ में प्रस्तरग्रहणकाल में मंत्र-प्रयोग नहीं होता। प्रस्तरग्रहण की रीति इतिकत्त यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘पवित्रे निधाय प्रणीतासु, बर्हिर्विस्रस्य पुरस्तात्-प्रस्तरग्रहणा- विष्णा’ रिति’ (का श्रौ सू २।७।१८)।

— * —

४-वेद्या बहिषा त्रिवृत स्तरणम्

प्रस्तरग्रहण क अनंतर यह अग्यु स्पृहस्त मे प्रहीत प्रस्तर ब्रह्मा को साप देना है। वेदस्थित बहिष्कृत की व अनंतर जु का वाद की ताहनी श्राणि पर उसे रखकर अथ बर्हि-तृणा से ढाक दता है। अन तर- ओं ऊणम्रदस वा स्तृणाभि स्वाभिस्य दपोभ्य यह मन्त्र बोलता हुआ वेद पर तीन बार करक प्रागप्र कुश बिल्लता है। यही त्रिवृत्-स्तरणकम्म कहलाता है जसा एक सूत्रकार कहते हैं—

‘ब्रह्मणो प्रदाय सन्नहन पस्य, दक्षिणास्या वदिश्रा ो निदाय अ गरव छाद्य वेदि स्तरणाति—‘ऊणम्रदस मात त्रिवृत’ का० श्रा० सू २।७।१६)।

अथवा त्रिवृत स्तरण न करानतने तृणो से वन्ति नसप्रकार ढक जाय जिससे वेदि का मृण्मय प्रदेश न बिग्राइ पड ऐसे धनरूप से स्तरणकम्म करना चाहिय। इसी पक्षा तर का उद्धृत करते हु सूत्रकार कहते हैं—

‘उपपत्या वा बहुलम्’ का श्रा सू २।७।२०

स्तरण क स बध मे यह विशेषता है कि बर्हि क मूलभाग अथ रहने चाहिए। कहा गया है कि तीन कुशमुष्णिया बिल्लाइ जाती है। पहिले जो मुष्णिया बिल्लाइ जाती है उसक मूलभागों को दूसरी मुष्णिया क अप्रभागो से तथा दूसरी क मूलभागों का तीसरी मुष्णिया क अप्रभागों से आच्छादित करदेना चाहि। इसप्रकार अवरमूलपद्धति स स्तरणकम्म करना चाहिए। इस विशेषताक अतिरिक्त पश्चात्पवग रूप स दूसरो विशेषता और होती है। वेदि के पूरुभाग से तो स्तरणकम्म का आरम्भ होना चाहिए एव पश्चिम भाग मे अग्रसान करना चाहिए। यही पश्चात्पवगस्तरणा मक एक पक्ष है। अथवा प्रागपवग रूप से भी आच्छादन किया जासकता है। इस पक्ष स पूरु-पूव स्तृत बर्हि क अप्रभागों से पश्चात् स्ती यमाण बर्हि क मूलभागों का आच्छादन करना चाहिए। स्तरणकर्मानुगत इहो तीनो विशेषभागो का स्पष्णिकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘अधरमूलम्’ पश्चादपवगम्’ ‘प्रवृह वा’ (का श्रा सू २।७।२१ २,२३)

— * —

५-आहवनीयकल्पनात् पूर्व हविषामुद्धासनम्

हवि परिपाक क सम्बध मे दो पक्ष माने गए हैं। गह्विप याग्नि मे हवि परिपाक करना एक पक्ष है। एव आहवनीयाग्नि मे परिपाक करना एक पक्ष है। जो आहवनीय परिपाक का अनुगामी है उस यजमान क यज्ञ स इस स्तरणकम्म क अनंतर हविरुद्धासन कर्म्म होना चाहिए। स्तरणकम्म के अनंतर ही इ भाति से अग्नि को प्रबल बनाया जाने वाला है। यदि इस कम्म क

पीछे उद्वासनकर्म किया जायगा ता हृदि-य के चलने का भय रहगा। अत अग्नि-प्रकृति (चलन) से पूष ही उद्वासन कर लेना उचित है। ना गाहपयपक्ष का अनुगामी है यह उद्वासन कब करे ? इसका निणय आगे (का २।१।१६) होने वाला है। आहवनीयश्रापी यजमान क यज्ञ में सी उद्वासनकर्म का सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘अत्रोद्वासनमाहवनीयश्रापिणः’ (का श्रौ सू २।७।४)

—*—

६-सामत्-प्रक्षेपेणाहवनीयस्य समर्थीकरणम्

हृदिउद्वासन-कर्म क अन तर यह अध्वर्यु इध्मभार म से एक समिध लेकर तथा ब्रह्मा से प्रस्तर लेकर आहवनीयाग्निकुण्ड क ऊपर समीप से प्रस्तर अपने हाथ म रखता हुआ उस समिध के आघात से आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित काष्ठाद का भस्म अलग कर अग्नि को प्रबल बनाता है। इध्म से हाने वाला यह समथनकर्म क्योंकि अग्नि से ही सम्बन्ध रखता है न कि अप् से तथा परिश्रत् से। अतएव अप् में और परिश्रितों में यह कर्म नहीं होता है। इसी समथन-कर्म का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘इध्मान् समिधमादायाहवनी । कल्पयति
उपग्यु परि प्रस्तर धारयन्’ (का श्रा सू० २।७।२५।)।

—*—

७-अनुयाजार्थमुल्मुकयोराहवनीयानिष्काशनम्

अग्निसमर्थीकरण के अनन्तर प्रज्वलित अग्नि में से दो उमुक लिए जाते हैं। छदो-देवता से सम्बन्ध रखने वाला अनुयाजकर्म वैकपिक माना गया है। यदि अनुयाजकर्म सग हीत है तो उसी दशा में अनुयाज के लिए दो उमुक आहवनीय से प्रथक् निकाल लिए जाते हैं। जब अनुयाजकर्म का समय आता है तब पुन उन (अन्यत्र स्थापित) उमुका को आहवनीय में डालकर अनुयाजकर्म किया जाता है। क्योंकि आतिथ्येषि में (का श्रौ २।१।१ के अनुसार) तथा गृहमेधीयादि में (का श्रौ ५।६।६।२।५ क अनुसार) अनुयाजकर्म का अभाव है अतएव वहा उमुक निष्काशन भी नहीं होता।

इति-कानीयश्रातसूत्रे-द्वितीयाध्याये मप्तमी करिडका समाप्ता

।-

—*—

८—आहवनीयस्य पश्चिमे दक्षिणे, उत्तरे, क्रमेण परिधिपरिधानम्

उ-मुकनिष्काशन-कम्म क अनंतर वह अ य्यु क्रमश ओ गधप्रसा प्रियासु
 आ-इत्यस्य बाहुरसि दक्षिणे - ओं मित्रावरुणो या इन म प्रा का उच्चारण करता हुआ
 (ब्राह्मणग्रथों म परिर्गागत पलाशाणि किसी) एक यज्ञिय वृक्ष से निर्मित परिमाण मे बाहुमात्र
 स्वरूप मे गीली जातित पालाश -वैकङ्कत-काष्मर्य्य बै र म से पूज पूज की न निलने मिलने
 पर उत्तर की अथवा खादिर ओदुम्बर की तीन परिधियों आहवनीयकुण्ड के म यम (पश्चिम)
 दक्षिण उत्तर प्रा तभागा मे क्रमश प्रतिष्ठित करता है । इसी क्रमिक परिधानकम्म का स्पष्टीकरण
 करते हुए सूत्रकार कहते है—

“परिधीन् परिदधाति-आर्द्रान् एरुद्वीयान् बाहुमात्रान्, पालाशोवैकङ्कत काष्मर्या-
 ब्रह्मान्, पूगोलाभे उत्तरान् खादिरोदुम्बरा या, मध्यम-दक्षिणात्तरान् गधव ' इति
 प्रतिम व्रम्' (का श्रा सू २।१।१) ।

—*—

९—आहवनीयाग्ना समिधाधानम्

परिधि-परिधानकम्म के अनतर वह अ य्यु अनिकल्पाथ पहिले से गृहीत समिधा
 का पहिले रक्खी हुई म यम परिधि क साथ स्पश कराक खडा हाकर— गीतिहोत्रम् यह
 मत्र बोलता हुआ उस समिधा को आहवनीयानि मे डालता है । दूसरी सामधा को पारगि स
 मिना स्पश करा ही समिन्सि यह मत्र बोलना हुआ आहवनीय मे डालता है । उहानेनों
 प्रक्षेप-कर्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते है—

‘प्रथम परिधि समिधोपस्पृश्य ‘गीतिहोत्र’ मित्यादधाति’ ।

अनुपस्पृश्या द्वितीया ‘सामिदसी’ ति (का श्रा सू १।३) ।

—*—

१ आहवनीयान्क्षणपूर्वक म व्रस्मरणम्

समिधाधान-कम्म क अनतर वह अ य्यु आहवनीय आग्न की आर देखता हुआ ओं
 सूर्यस्त्वा पुरस्तान् पातु कस्याश्चिन्मिशान्यै इस मत्र का सहितापठित स्वरस गानपूजक उच्चारण
 करता है । इसी कम्म का गिगन्शन कराते हुए सूत्रकार कहते है—

‘सूर्यस्त्वे’ ति जपति आहवनीयमीक्षमाणस्तद्वचनात्’ ।

(का श्रौ सू १-१४) ।

—*—

१—उदगग्रयोर्विधृत्योर्वेद्या निधानम्

मन्त्रस्मरण कर्म क अनंतर गृह अ ग्रन्थ पुन वेदि की ओर लाट आता है। वहा आकार वेदि पर बिछ हुए बर्हि के ऊपर नो पवित्र (दभतण) उत्तराग्र लिच्यग्ररूप से— ओं— सप्रितुर्बाहूस्त्र यह म— बालता हुआ रखता है। ये दभतण ही विधृति नाम से प्रसिद्ध हैं। निम्न लिखित सूत्र से इसी कर्म का स्पष्टीकरण होरहा है—

आवृत्य वेदि तिरश्ची निदधाति— 'सवितु' रिति'

(का श्रौ सू २।१।५)।

इन दभतणों के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा शेष रह जाती है। वह यहा कि जिन दो तृणा का निधान हुआ है वे इस वेदि पर बिछ बर्हि म से ही लिए जाय अथवा अय दभतण लिए जाय ?। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अये वाऽयुक्तत्वात् (का श्रौ सू २।१।६)।

इस निधानकर्म के लिए दूसर ही तृण लेने चाहिए। क्योंकि वेदि सम्बन्धी वर्हितणों म से इन दोनों का ग्रहण विहित नहीं है। वेदि-तृणों का कर्त्तव्य स्तरगकर्म म ही विनियोग विहित है अत अय तृण ही रखने चाहिए। अ यत्र भी पवित्र पशुपाकरण-ग्रहोपस्पश अग्निमन्थ-नादि में जहाँ तृण-निधान विहित है सत्र अय तृण ही लेने चाहिए। यही प्रासङ्गिक व्यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अन्वात्रापि तृणार्थे' (का श्रौ सू २।१।७)।

क्योंकि तृणनिधान-प्रसङ्ग से अय स्थलों की चर्चा चल पडी। अतएव इस प्रसङ्गदृष्टि से आय क सम्बन्ध में भी विनियोग-मर्यादा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। आय में एक यूपान्नन कर्म होता है। यज्ञिय यूप के चारो ओर घृत का सम्बन्ध कराना ही यूपान्ननकर्म है। प्रश्न होता है कि जिस आयस्थाली में प्रयाजनुयाजादि क लिए आय लिया जाता है इस यूपान्नन-कर्म क लिए भी इसी में से लिया जाता है अथवा इसके लिए अय आय का ग्रहण होता है ? सूत्रकार उत्तर देते हैं—

यूपान्नने च मर्षि' (का श्रौ सू २।१।८)।

यूपान्नन-साधक घृत अय (लौकिक) ही लेना चाहिए। आयस्थाली का आय इस कर्म म विनियुक्त नहीं है।

योतिष्ठोमयज्ञ में पुरोडाश का इन्द्र-वायु के लिए पयस्या का मित्रा प्ररुण के लिए तथा धान का अश्विनीकुमारों के लिए प्रक्षेप होता है। इसप्रकार प्रक्षेप म म न लिए अपेक्षित

पुरोडाशादि प्राग्गत लिए जायें अथवा लाकिक ? इस सम्बन्ध में ऐच्छिक यज्ञस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘पुरोडाश पयस्या-धानासु चेच्छन्’ (का श्रौ सू २।८।६)।

— * —

१२-विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरण, पाणिद्वयन तदभिमशनञ्च

वेदि के ऊपर विधृति-स्थापन कर्म के अनन्तर वह अध्वर्यु उन त्रियगरूप से उदगप्र प्रतिष्ठित दक्ष-तणा के ऊपर— ओ उगाम्नस वा स्तृणामि स्वासस्थ दवेभ्य यह मात्र बोधता हुआ प्रस्तर (एतन्नामक दक्षमुष्णि) बिछाता है। प्रस्तर बछान के अनन्तर वह अत्र यु— आ आत्वा वसवो रुग् आन्ति या सदतु यह मन्त्र बालता हुआ अपने दोनों हाथों से वेदि पर फलाए गए उस प्रस्तर को दबाता है। इसी स्तरण अभिमशन कर्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘तयो प्रस्तर स्तृणा-‘त्यूर्गाम्नदस’ मित (का श्रौ सू १।११)।

अभिनिदधा-‘त्या त्वा वसव’ इति (का श्रौ सू २।८।११)।

— * —

१३ प्रस्तरस्पर्शद्वारा दक्षिणेन स्रुचा ग्रहण, प्रस्तरे स्थापनञ्च ।

प्रस्तरस्तरण-स्पर्श-कर्मान्तर वह अत्रयु अपने दोनों हाथों में से गाम हाथ तो प्रस्तर पर रक्ख रहता है एव दहिने हाथ में अग्नीध्र नामक ऋत्विक् से क्रमशः सोंपे गए जुहू-उपभृत्-ध्रुवा नामक सुक्पात्रों को— घृताची इत्यादि सहितोक्त तीनों मात्रों का उच्चारण करता हुआ प्रस्तर पर पूर्वार्ध स्थापित करता है। इस स्थापनकर्म में विशेषता यह है कि जुहू को तो प्रस्तर के ऊपर रक्खा जाता है एव उपभृत् तथा ध्रुवा को प्रस्तर से नीचे बर्हि पर रक्खा जाता है। ग्रहण स्थापन-वैशिष्ट्य की इसी इतिक्रम यथा का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘स-याशूय जुहू प्रतिगृह्य निदधाति ‘घृताची’ इति ।

— का श्रौ सू १।८।१३ ।

एवमितरे उत्तराभ्या प्रतिमत्र बर्हिष्युपभृत्, ध्रुवा चावक्रष्टऽनुपूर्वम्

— का श्रौ सू २।८।१३ ।

— * —

१४-पुरोडाशस्य घृतनाञ्जन कपालानाश्च घृतेनेषदञ्जनम्

सुकस्थापन-कर्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदिस्थान से गाहपय के समीप आता है। वहाँ आकर पुरोडाशद्रव्य पर घृत डालकर उसे ठंडा कर पहिले से सम्पन्न पुरोडाशपात्री में उहने

रख कर— यस्ते प्राण पशुषु प्रविष्टा देवाना ि षामनु या वितस्ते । आत्मवान् साम घृतवान् हि भूवाऽग्निगच्छ स्वयजमानाय ि न यह मत्र बालता हुआ पुरोडाशपात्री म प्रतिष्ठित पुरोडाशद्वयी को आज्य से चुपडता है ।

जहाँ अग्निदेवता का सम्बन्ध है जहाँ अग्नि गच्छ स्वयजमानाय यानि रूप से मन्त्र प्रयाग होगा । एव जहाँ अय देवताका का सम्बन्ध है वहाँ अनाषोमा गच्छ स्व - इति नी गच्छ स्वयजमानाय इत्यादि रूप से ऊह किया जायगा ।

पुरोडाशाञ्जन के अनंतर जिस क्रम से कपाल रक्ष्य गण में उसी क्रम से उन उन कपालों का वह अध्वर्यु — यानि धर्मे कपालान्युप चिर्वति वेधस । पूषास्तायपि व्रत म्वायू विमुञ्चताम् यह मन्त्र बोलता हुआ घृत से थोड़ा थोड़ा चुपडता है । किन्हीं याज्ञिकों के मत में कपालाञ्जनकर्म तूष्णीं (बिना मन्त्र-प्रयोग के) हाता है । दोनों वैकल्पिक पक्ष िच्छक है ।

जितने कपाल इस कर्म में गृहीत हैं उनका निधानक्रम से सरयापूक-प्रथममुद्वासयामि द्वितीय तृतीय इत्यापिरूप से ही उद्वासन करना चाहिए । इन्हीं कर्मों की इतिकत यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पुरोडाशा अभिघा ि उद्वास्यऽउपस्तार्थे िनधायाऽनाक्त यस्ते प्राण पशुषु प्रविष्टो देवाना विष्टामनु यो वितस्थे । आत्मवान् साम घृतवान् हि भूत्वाग्नि गच्छ स्वर्गजमानाय ि दे' ति' (का श्रौ सू २।८।१४) ।

यथा दवतम यत्' (का श्रौ सू २।८।१) ।

‘प्रत्यनक्ति कपालानि ‘यानि धर्मे कपालान्युप चिर्वति य वम । पूषास्ता यपि व्रत इ द्रवायू विमुञ्चता’ मिति' (का श्रौ सू १।८।१६) ।

‘तूष्णीं वा' (का श्रौ सू १।८।१७)

‘सख्ययोद्वासयति' (का श्रौ सू १।८।१८)

—*—

१५ सर्वालम्भनम्

उक्त कर्मनन्तर वह अध्वर्यु — ओं—प्रियण धाम्ना प्रिय सद आसीद् यह मत्र बालता है । आज्य-पुरोडाशादि हविद्रिया को वेदिस्थित ध्रुवापात्र के उत्तर प्रदक्ष म वेदि पर रखकर— ओं ध्रुवा असद नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञ पाह यज्ञपतिम् इस मन्त्र की आशुक्ति पूर्वक या यस्थाली स्थित आय का जुहू उपभृत् ध्रुवा स्थित आय का पुरोडाशपात्री में स्थित पुरोडाशद्वयी का उपयोगक्रम से स्पश करता है । अनंतर— ओं पाहि मा यज्ञान्यम् यह

मत्र बोलता हुआ वह अग्न्यु अपने हृन्त्य का स्पर्श करता है। यही सर्वालम्भनकर्म बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘प्रियेण वाम्ने’ ति हराषि षेधा कृत्वा ऋषा असद्’ भित्ति-सर्वाण्यालभते
(का श्रा सू २।८।१६ ।

‘पाहि मा’ मि यात्मानम् (का श्रा सू १।८।२) ।

—*—

ब्रतोपायनकर्म के सम्बन्ध में दो विकल्प माने गए हैं। द्वितीयपक्ष का अवसर कब है? इसका समान करने हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘अत्र वा प्रतोपायनमत्र वा ब्रतोपायनम्’ (का श्रा सू २।८।१) ।

—*—

इति-कात्यायनश्रौतसूत्रे द्वितीयोऽध्याय

— १ —

इति-सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसंग्रह

—*—

वैज्ञानिकविवेचना —

अथ-प्रोक्षणकर्मोपपत्ति -

(भाष्य)- पवित्र वा आप मे या वा आप (शत ब्रा १।१) त्वं ब्राह्मण-श्रुतियों के अनुसार पानी में मेय और पावत्र नामक दो धर्म प्रतिष्ठित रहते हैं जिन की विशद वैज्ञानिक याख्या उसी ब्राह्मण में की जा चुकी है। इस यज्ञकर्म में उपयुक्त बहि वेदि तथा २ म तीनों यज्ञसंस्था में संहित होने से पवित्र तो बन चुके हैं। परंतु अभी इन में उस मेय गुण का अभाव है जिस के संबंध से ही ये यज्ञ के साथ अतर्क्यसंबंध करने में समर्थ हो सकती हैं। उस सगमनीय गुण का (स्नेहगुण का) इनमें आधान करने के लिए ही त्वंका प्रोक्षण किया जाता है एवं प्रकृत प्रोक्षणकर्म की यही एकमात्र उपपत्ति है जिसका त्वंमेयमर्तत्त्वनय करोति इन शब्दों में अभिनय हुआ है।

यज्ञाग्न (आहवनीयनि) के समिधन के लिए जो काठभार यज्ञसंस्था में संहित होता है उसे इधे हवा अग्न्यु रनिम् त्वं निवचन से इध्म कहा जाता है। वह त्वंका ठं गृणानि का प्रतिरूप है। मृग्याग्नि ही कृष्णाग्नि कहलाया है अतएव काष्ठप्रसृत त्वं अग्नि को मृग भी कहा जाता है। सौराग्निमण्डल प्राकृतिक नित्य यज्ञमण्डल का आहवनीयाग्निमण्डल है। त्वं में प्रतिष्ठित सौर सावित्राग्नि

(प्राणाग्नि) अग्नीषोमात्मक सब सरयज्ञ का स्वरूप—समपक बनता हुआ यज्ञ मन्त्र है। म सौर यज्ञानि के ब्रह्मादन प्रणय भेद से दो भाग होजात है जो सौर अग्नि सूयसस्था की वरूपरत्ना के लिए सदा सौरमण्डल में ही अत्यर्थात्म-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है उस-ब्रह्मान्त्र आन कहा जाता है एव यह सूय का अपना प्रातिष्ठिक आग्निभाग है। जो सौर अग्नि प्रजापति की कामना स सौरसस्था स पृथक् होकर भूगर्भ में प्रविष्ट होता हुआ पृथिवी की ओषधि-वनस्पतियों में (न के वरूप निर्माण के लिए) प्रविष्ट रहता वह प्रणयग्नि कहलाता है इसी सौर-प्रणय-यज्ञानि से ही पार्थिवसस्था की स्वरूप निर्माण हुआ है। यही पार्थिव अग्नि का प्रवर्ग्याश गायत्र नाम स व्यग्रहृत होने लगता है।

स्व-सौरसस्था में प्रतिष्ठित वही सायित्राग्नि पारमष्ठय दाह्य ब्रह्मणस्पत नामक सोमाहुति से शुक्ल (योतिम्मय) बना रहता है जिसे कि हम इस का जाग्रतरूप कह सकत ह। यही शुक्ल तथा प्रयच्छष्ट सौर यज्ञानि प्रणय-सम्बन्ध से जत्र पाथसस्था में प्रविष्ट होजाता है तो इमका शुक्लरूप उत्क्रान्त होजाता है। पारमष्ठय सोम के सम्बन्ध के उत्क्रान्त होजाने स अपना शुक्लरूप छोडता हुआ यह कृष्णरूप में (अप्रयच्छरूप में) परिणत होजाता है। यही इसका सप्तरूप है। पार्थिव पदार्थ स त्रशेषत काष्ठादि में अग्नि का यही सुप्त स्वरूप प्रतिष्ठित है। जत्र अग्नि के सम्बन्ध स स जगाया जाता है तो यह जग पडता है काठ प्रज्वलित होजाता है। तत्काल यह अपने शुक्लरूप में आता हुआ स्वास्थानभूत तुलोकोपलक्षित सौर-दबमण्डल में चला जाता है। पार्थिव अग्नि की इसी सुप्त-जाग्रत-अवस्थाद्वयी का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्रशात कहती है—

‘शेषे बनेषु मात्रो स त्वा मर्तास इ धते ।

अतन्द्रो ह या गहसि हनिष्कृत आदिद्देवेषु राजसि’ ॥

ऋक् स ८।६।१५।

सौर यज्ञानिवत् क्योंकि यह अग्नि प्रयच्छ नहीं है अपितु मृग्यमाण (खोजने योग्य) ह अतएव इसे कृष्णमृग कहना अत्यन्त बनता है। यज्ञभूमि नाम से प्रसिद्ध भारतप्रथम स्वच्छन्दरूप से निचरण करने वाले * कृष्णमृग (काले हरिण) में भी इस कृष्णमृगानि की ही प्रधानता ह। अतएव यज्ञकर्म में यज्ञानि की समृद्धि के लिए कृष्णमृगचम्म पर ही हवि पेषणादि कर्म होता है जसाकि प्रवर्के— अथ कृष्णाजिनमादत्त (शत १।१।४।१) इयाद रूप स कृष्णाजिनब्राह्मण म विस्तार से बतलाया जातुका है। सौर यज्ञानि ही प्रणय के सत्रव से—पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट होता हुआ कृष्णमृग नाम स व्यग्रहृत होने लगता है इसी रहस्य का निम्नलिखित ब्राह्मण-श्रुति स स्पष्टीकरण हुआ है—

‘यज्ञो ह देवभ्योऽप चक्राम । स कृष्णो भूत्वा चचार ।

तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवाव छायाजहु, शत १।१।४।१) ।

‘मृगधर्मा वै यज्ञ’ (पलायनशील) (ता ब्रा ६।७।१) ।

* तस्य (अने) एष स्वोलोक यत्-कृष्णाग्निम् (शत ६।४।१।६) ।

— इय वै पृथिवी कृष्णाजिनम् (शत ६।४।१।६) । यज्ञो वै कृष्णाजिनम् (शत ६।४।१।६) ।

वही मृ याग्नि प्रतिरूपमर्यादा से यहा गो आहवनीयखर मे प्रातष्ठित है एव उस प्राकृतक यज्ञ मे आ वनीयग्नेर स्थानीय सौर मण्डल में प्रतिष्ठित है। अतएव आहवनीये खरे तिष्ठत इति निवचन स इसे आचरष्ठ नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त का ठदृष्टि स भी अस नाम का समवय किया जासकता है। आ समतात् खरे-कठिने वृक्षे-काष्ठे तिष्ठति अस निवचन से भी (महीधरभा य) असकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि को आखरेष्ठ कहना अवय बनता है। इ म में भूत देव भेद से दो भाग प्रतिष्ठित हैं। भूतभाग काष्ठरूप स प्रयत्न दृष्ट है साथ ही सका दिव्यातिशययुक्त यज्ञ से कोई स बंध भी नहीं है। स बंध अपेक्षित है उस दिव्याग्नि (प्राणाग्नि) का जो असमें कृष्णरूप से (अप्रयत्नरूप से) प्रतिष्ठित र ता हुआ आखरेष्ठ बन हा है। वही सङ्गमनीय है। भूतभाग प्राण सम्बन्ध का निरोधक माना गया है। असके स बंध से दग्ग्राण में अमे य (असगमनीय) धम का समावश होजाना है। का ठ स्थित अग्नाग्नि के भूतससगजनित सी अमे यभाव को हटाने के लिए कृष्णोऽस्या खरेष्ठ यह मन्त्र बोलते हुए म का प्रोक्षण किया जाता है। जबतक यह प्रोक्षणकम्म नहीं कर लिया जाता तबतक अस अस स्थित कृष्णाग्नि का उस ाद याग्नि प्रतिरूप आहवनीयजाग्नि के साथ अ तर्थात्-स बंध नहीं होसकता। एव जबतक पार्थिव आ न का दि याग्नि के साथ स बंध नहीं होजाना तबतक यज्ञेन पार्थिवयज्ञेन यज्ञमयन्त नियाग्निमयजन्त परिभाषा से सम्बन्ध रगने वाला पार्थिव आधिभौतिक) दिव्य (आध्यात्मिक) यजमानाग्नि (आध्यात्मिका न) के सम वय र अपनी स्वरूप स पत्ति निभर रखने वाला यज्ञातिशयलक्षण दग्ग्राण उ पन्न नहीं होसकता। इसके लिए प्रथम पार्थिव-इ मका ठस्थ कृष्णाग्नि का दिव्य आहवनीयाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब कि इ मकाठाग्नि को म य बना लिया जाय। जब इसे प्रोक्षण के द्वारा भूतानुगत अमे यधम्म से पृथक् कर दिया जाता है तो आहवनीयस्थित दवताओं के लिए यह जुष्ट (सम्बन्धयोग्य) बन जाता है। सी मे य फल का अग्रनये जा जुष्ट प्रोक्षामि अस मन्त्रोत्तरभाग से स्पष्टीकरण होरहा है ॥ १ ॥

वदि पर बर्हि का आस्तरण होता है। बर्हि (दम) वेन नामक उस पानी से उ पन्न हुआ है जो सौरमण्डल की अन्तिम सीमा में योतिर्मयरूप से प्रतिष्ठित है*। पारमेष्ठय पानी का जा भाग सौर-रश्मिथो में प्रविष्ट होकर अपने स्वभाषिक आसुरभाव को छोडता हुआ याति मय बनता हुआ यज्ञिय बन जाता है उसी वन नामक यज्ञिय अपत व से दर्भ की उ पत्ति हुइ है जैसाकि पूव के पत्रिरे करोति (शत ११।२।१) इयादि पवित्रब्राह्मण में दर्भोत्पत्तिविज्ञान अतागते हुए विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका हैX। दिव्य

*-अय वे अश्चोदयन् प्रश्निगर्भा योतिर्जरायु रजमो विमाने ।

इममपा सङ्गमे सूर्यस्य शिशुन्न त्रिप्रा मतिभीरिहृति ॥

—यजु संहिता ७।१६।

X-“सवत इव ह्यय मष्टु । तस्माद् दु है का आपो बीभत्साश्चक्रिरे । ता उपर्युपर्योति पप्र विरे । त इमे दर्भा । ता हेता अनापूयिता आप” ।

—शत ब्रा १।१।२।५।

प्राणा मरु दम के तस दि-यातिशय का वा के साथ तभी सम्बन्ध होसकता है जब कि तन्ध्मकाष्ठान्तृ पृथिवी का प्रतिष्ठातरूपा वाद के पार्थिव आग्नि को भूतससगजनित अम यधम्म स प्रथक कर लया जाय । इस प्रयोजनके लिए (बर्हिथित दि य प्राणके साथ वदिस्थित कृ णाग्नि के सम्बन्ध के लिए) ही तन्ध्मप्रोक्षणानन्तर व दका प्राक्षण किया जाता है । प्रोक्षणमत्र ऋ वेदिरसि बर्हिषे वा जुष प्रोक्षामि यह । यह वेदि है इस वाक्य स अति का ताप य यमी है कि यही यज्ञप्राप्ति का साधन है— । इसी मे तो प्रवर्ग्य यज्ञाग्नि प्रातष्टत है । इसे मे य बनाना ही प्रोक्षणक मोह श्य है ॥२॥

वदिप्राक्षणान तर बर्हि का प्रोक्षण किया जाता है । बाह मे भी भूत-प्राण भेद से दो विभाग ह । फलत इ म वदिवत् सका दि य त्राप्य आग्नि भी भूतससगजनित अमध्यध म से युक्त है । पत्रि म य सुकपात्र त्म पर तभी रक्ख जासकते ऋ जब कि सका अम यध म हटा दिया जाय । तदय ही बर्हिरसि स गृभ्यस्वा जुष प्राक्षामि मत्र स बर्हि का प्रोक्षण भी आवश्यक बन जाता है यह दम उस वन पानी का प्रतिरूप है जिस वन पानी क वष्टन से सम्पूर्ण पार्थिव तलाक्य चारो ओर स वोष्टत होरहा है । पृथिवीरूपा वदि का वृ हणकम्म (वष्टनक म) वनरूप म पर ही अलभित है । सी वृ णधम्म के कारण वनप्रात-रूप स्थानीय दम को अ श्य ही बर्हि कहा जासकता है ।

यज्ञ में गृहीत भौ तक पदाथा मे भूत-प्राण भेद से दो दो त्स्तुएँ है । नोनो मे भूतभाग आग्राह्य ह प्राणभाग ग्राह्य है । भूत अमध्य है तत्ससग से प्राण भी अमे य बना रहता है । इस अमे यभावनिष्ठा के लिए ही प्रोक्षणकम्म किया जाता है और यही एकमात्र सब प्रोक्षणकम्मों की उपपत्ति है । प्रोक्षणकम्म होता है दमतृणो के द्वारा-प्रोक्षणीपात्र मे रक्ख दुए म त्रभूत मे य पानयो स । दमतृण पूर्वकथनानुसार स्य पत्रि है । अतएव इन स प्रोक्षण करना अ तथ बनता है ॥३॥

पञ्चदेवता वृष्टि के अधिष्ठाता है । पञ्च य के द्वारा आकाश से मरुत् गर्भ से भूतल की ओर आता हुआ पानी थोड़ी दरतक तो भूतल पर दिखाइ दता है । परतु कुछ ही समय मे वह विलीन होजाता है । इसका विलयन भूतलस्थित ओषधि वनस्पति के मूलो में ही होता है । सीलिए तो ओषधि वनस्पतियाँ जहा अपने तूलभागो स शुष्क इव प्रतात होती है वहा इनके मूलभाग गीले रहते है । यह मूलाद्रता ही इनके जीवन का कारण है । यही कारण है कि एक वृक्ष की जडो को उगवाड कर यदि अयत्र लगाने की कामना होती है तो उस वृक्ष की जडो को उपाटक लोग (राई बागवान) मिट्टी सहित उस भाति उगवाडते है जिससे उनका मूलाद्र भाग शुष्क न होजाय । इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ में तसञ्चक पञ्चन्यदेवता के द्वारा सीचा हुआ पाना ओषधियो के मूलो में ही प्रातष्ठित रहता है । यह वधयज्ञ उसी का प्रतिरूप है ।

यद्वै देवा अकुप स्तत्करणाणि इस निगम स यहा भी प्रोक्षणगीपात्र म बचे जल की बर्हि के मूलो में ही डालना यायप्रा त है । यह विश्वास करने यो य बात है कि यज्ञकम्म मे जो जो अतिशय उ पन्न होते है उन सबका फलभोक्ता यजमान ही बनता है जसा कि तद्वै तदाहत्तयेनाधि तयादि रूप से अनुपद में ही

— “त-यज्ञ-वेधाम वपि दन् । यत्-वेधा अ यमिन्दन् तत् वदनेदिच्चम् ” ।

—एतरेयब्राह्मण ३।६।

स्पष्ट होने वाला है। यहाँ जलसेक स जो सिञ्चनक म होता है उसका फल य होता है कि यज्ञकर्त्ता यजमान के उपभोग में आने वाली आषाध-वनस्पतिया सदा उपचीवनीया ही बना रहती हैं। सीलिए कभी यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए इन आषाध-वनस्पतियो (पार्थिव अन्नादि भो यस पत्ति) की कमी नहीं रहती।

ओषधिमूलो का आद्र बनाना ही इस सिञ्चनकम्म का मुख्य उद्देश्य है। हम दरते हैं कि यदि केवल ओषाधयो पर पानी डाला जाता है तो इससे व आद्रमूल तबतक नहीं बनती जबतक कि उनकी मिट्टी में पानी न डाला जाय। भूपदश की आद्रता ही ओषधि-मूलाद्रता का कारण है फलत सिञ्चनक म का प्रधान लक्ष्य भूपदेश ही बनता है। एतद्वारा पर परया ही आद्रमूला-स पत्ति प्राप्त होती है। अतएव यहाँ भी पानी डाला तो जाता है बर्हिमलो में। पर तु भावना की जाती है - अदि ये युद्ध-नमसि यह। हे शेष जल! आप इस पृथिवी के लिए क्लेदनद्रय है। म अभाग यही बतला रहा है। गीली मिट्टी ही आद्रमूला सम्पत्ति प्राप्ति का कारण है। यही कारण है कि जबतक पर्याप्त वृष्टि नहीं होती तबतक भूगम आद्र नहीं होता। एव जबतक भूगम आद्र नहीं होता तबतक ओषधि-प्ररोहण नहीं होता। भूगम की आद्रता ही जीवनरमप्रदात्री है अतएव कृषकवग भूगम में ही जीवनपन करते हैं ॥४॥

इति-प्रोक्षणकम्मोपपत्ति

—*—

अथ-प्रस्तरग्रहणोपपत्ति -

प्रोक्षणकम्म के अन्तर कशमुष्टिलक्षण प्रस्तर का ग्रहण किया जाता है। प्राकृतिक यज्ञपुरुष का जमा स्वरूप आधदविकसस्थाम है वमा ही यहाँ होना चाहिए। यह यज्ञपुरुष अथाम-अधिदवत भेद से दो अणियो में विभक्त है। दोनों में से पहिले आधिदायक यज्ञपुरुष के स्वरूप का ही विचार कीजिए। अतर्गि-अतसोमा मक स व सरमण्डल का ही नाम आधदविक यज्ञपुरुष है। स व सरयज्ञ के उत्तरायण दक्षिणायन विष्वदवृत्त भेद स तीन प्रधान पव हैं। उत्तरायण पव उसके शरीर का उत्तर पार्श्व है दक्षिणायन पव दक्षिण पार्श्व है एतमध्यस्थ त्रिवृत्त आ मस्थानीय म याङ्ग(धङ्ग)है। स्तोमविज्ञान के अनुसार त्रिवृत्स्तोम से आरंभ कर एकत्रिंशस्तोम पथ्यत (सूय्यपथ्यत) अपनी याप्ति रखने वाला इस स व सर-पुरुष का त्रिवृत्स्थान पाद है पञ्चदशस्थान मध्याङ्ग है ए। एकत्रिंशस्तोम मस्तक है। तीनों के क्रमशः अग्नि वायु आदि य नामक तीन प्राण अतिष्ठावा हैं। आदि यप्राणा भक्त एकत्रिंश स्थानस्थित मस्तक स्थान के ऊवभाग पर सूय्य स्थित हैं जिसे के यज्ञपरिभाषा में हम यूप कहा करते हैं। यह सूय्यामक यूप सोमाहुति स ही स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यूप का यूप व सामाहुति पर ही निर्भर है। आधिदविक स व सरयज्ञ के सी त्रिलोक्य यापक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए उदभगवान् कहते हैं—

१—‘अथ ह वाऽएष महासुपर्णा एव-यत् सम्बत्सर । तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवत षण्मासानुपर्यति साऽयतर पन्त, अथ यान् षडुपरिस्तात्-साऽयतर, आत्मा विषुवान्’।

—शत १२।२।३।७

२—‘आत्मा वै सम्बत्सरस्य विषुवान् अङ्गानि मामा’ ।

—शत १ । १३६

३—‘आत्मा वै सम्बत्सरस्य विषुवान्, अङ्गानि पद्मा’ ।

गो ब्रा पू ५१२

४—‘सम्बत्सरो वै यज्ञ पजापति । तस्येतद् द्वार यद्मावास्या, चद्रमा एव द्वार-
पिधान’ । (शत ११ १।१।१)

५—‘पुरुषो वाव सम्बत्सर’ (शत १०। ४।१) ।

६—‘सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रषात् ।

म भूमि सवत स्पृत्वा यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्’ ॥

—यजु स ३१।*

उक्त सत्सरयज्ञपुरुष के मस्तको वस्थान में प्रतिष्ठित यूपामक सूय्य ही इसकी—शिखा है। शिखा केशामिका—केशशु छामिका ही होती है। केश—लोमकी उपनि ओषाध वनस्पतियों से मानी गई है जैसाकि— ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् कशा (वृ आ उप २।२।१३) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। पारमेष्ठ्य सोम ही ओषधि [१] वनस्पति के स्वरूप का जनक है। अत्र यही है कि वही सोम चन्द्ररूप से (अग्निगर्भित सोमरूप से) ओषधियों का जनक बनता है एव वही सोम सूय्यरूप से (सोमगर्भित[२] अग्निरूपसे) वनस्पतियों का उपादक बनता है। जब सूर्यामक [३] यूप सोमामक है सोम ही परम्परयाज केशलोमामक है तो हम अवश्य ही सूय्य को तस यज्ञपुरुष की शिखा कह सकते हैं। इसी शिखामक सोमभाव के आगमन

* सहस्र शब्द पूगभावात्मक वत्तुल वृत्त का ही सूचक है। क्योंकि जो वत्तुल होता है उसके केन्द्र से चारों ओर वषट्कारसम्पादिका षट्-लोक-वाक्-साहस्रियों का वितान होता है। सम्बत्सरपुरुष त्रिकेन्द्र है अतएव क्रांतिवृत्तात्मक सत्सरचक्र त्रिकेन्द्र बनता हुआ दीघवृत्त (अण्डवृत्त) माना गया है। अन्त से विज्ञानचक्षु ही आभिप्रत है। विज्ञानचक्षु का हृदय से सम्बन्ध है। हृदयस्थ मन पर ही विज्ञान प्रातिष्ठित रहता है। हृदयस्थ विज्ञान से मयाङ्ग अभिप्रत है। त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंशतीनी क्रमशः पाद-मय-मस्तक पर्ण हैं। त्रिपर्वा यह पुरुष सप्तवितस्तिक्काय से तो भूपिण्ड पर खड़ा है। एव यही अया मसस्था में १ ॥ अङ्गुलामक प्रादेशमित प्रदेश में प्रतिष्ठित है। इसी आया मक दृष्टिस—अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् कहा गया है।

(१)—‘त्वमिमा ओषधी सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्तु ग्वा ।

त्वमा ततर्थोर्त्तरिचा त ज्योनिषा रि तमो वरर्थ ॥

ऋक्स १।६१।२०

(२) ‘अग्निर्न वनस्पति’ (कौ ब्रा १।६)

(३)—‘असा वा अस्य आदित्यो यूप’ (ए ब्रा ५।२८) । ‘आदित्यो यूप’

(तै ब्रा (२ । ५।२)) ।

से तदरूप सौरादयेद्राण स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यदि शिरा मक सोम का (सोमाहुति का) सम्बन्ध न
र तो त काल सौरसस्था उच्छिन्न होजाय।

न्सी उक्त-स्वरूपलक्षण आधिदविक यज्ञपुरुष के अनुरूप आ यामिक यज्ञपुरुष का स्वरूप—निर्म्माण
हुआ है। सम्प्रसरयज्ञ के दक्षिण पार्श्व से इस के मेरुदण्ड स आरंभ कर हय—रेणपयत दक्षिण पार्श्व
ना बामपार्श्व से मेरुदण्डल से आरंभ कर हृदयरेखापयत ताम पार्श्व का तथा मयाङ्गस्थानीय विषुवप्राण
स मेरुदण्ड का निर्म्माण हुआ है। स्तोमविज्ञानानुसार त्रिवृत्-स ३ सरभाग से पाद भाग का पञ्चदशभाग से
मयाङ्ग का ९। एकविंशभाग से शिरोभाग का निर्माण हुआ है। इसी में सौर-द्राण प्रतिष्ठित है जो
शिरा तस्थान से निकल कर शिरोविन्दु से आरंभ कर सूयकेद्रपयत वितत (४) महापथ के मागस सूय्य
के द्रपथ्यत एक निमेषमात्र में तीन बार आता जाता है (५)। यही प्राणगमनागमन शतायु का प्रवर्क माना
या है। सुयस्थत मन प्राणवाडमय (६) ३६ सरया मक आयु नामक मनोता का आगमन ही

४-अणु पथा वितत पुराणो मा स्पृष्टोऽनुरित्तो मयव।

तन धीरा अपियति ब्रह्मविद सग लोकमित ऊध्व वियुक्ता ॥

तस्मिञ्छुक्लपुत नीलमाहु पिङ्गल रित लोहित ॥

एष पथा ब्रह्मणा हानुवि स्तेनेति ब्रह्मवित पुण्यकृत् तैजसश्च ॥

—बृ आ ३।४।४।५।६

५ आवि सनिहित गुहाचर नाम महत्पदमत्रैतत्समितम्।

एजत् प्राणत् निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्य पर जिज्ञानाद्वरिष्ठ प्रजानाम् ॥

—मुण्डकोपनिषत् ॥२।१।

तस्यैष आदेशो यदेतत् विद्यतो यद्यनदा ३ इतीत, यमी ३

इत्यधिदैवतम् (केनौषनिषत् २६)।

त्रिर्गी नमेष परिदिद्विवे।

६-“तदात्मानम वैच्छत्, तपोऽतप्यत, तत् प्रामूर्च्छत् तत् षटत्रिंशत् सहस्रा-

ण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान्, प्राणमयान्, वाडमयान्०”।

—शत १।४ प्र १ ब्रा

आयु(७) रक्षाका कारण है। बृहतीप्राण नाम स प्रसिद्ध इस इन्द्रामित्र आयु प्राण का आगमन तृतीयाप्राणसञ्चालन क्रिया पर निर्भर है। जिस क्षण आ यामिक प्राण तथा उस सूत्र के तत्र आ यामिक प्राण इन दोनों के मध्य में अवसानधर्मा याम्यप्राण का आगमन होजाता है तत्काल आयु सूत्र प्रच्छिन्न होजाता है प्राण को उपादक दिव्यप्राण का जीवनस्रोत मिलना बन्द होजाता है फलतः निधन पाजाता है। तस नधन का अवरोधक प्राणगमनागमनलक्षण वही दनादनयज्ञ है जिस यज्ञपारभाषा में अहरह्यज्ञ (८) कहा गया है।

बतलाया गया है कि बृहती नामक आयु स्वरूपसमपक वह दिव्य सारप्राण शिखान्तस्थानास्थित माग स निकलकर महापथ के द्वारा स्वप्रभव सूत्र्य से संबध करता है। वही गणना तस्थान ब्रह्मरन्ध्र नाम स प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में इसे ही ५. विद्विद्वि (द्वारा) नादनद्वि (द्वार) त्त्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। मस्तस्थ केशों का ऊव प्रश में अमररूप स एक स्थान पर अवसान होता है। जहा यह अवसानबिन्दु है वही एक सुसूक्ष्म द्वार होता है। यी तत्र तस वश्चामत्र आयु प्राण के सञ्चार का माग है।

उक्त दिव्य प्राण सार दि यप्राण का प्रवर्ग्या श है। अतएव सू यत्रिरोधी तमो मय आसुरप्राण का इम दि य सौरप्राण क माथ स्वाभाविक विराग है। लाहधातु में

७- 'तमिद्र उवाच ऋष ! प्रिय वै मे धामोपागा । त्र त ददामि-इति । स होवाच त्वामेव जानीया, इति । तमिद्र उवाच प्राणा वा अहमस्मि-ऋष ! प्राणस्त्व प्राण सर्वाणि भूतानि प्राणो ह्येष य एष तपति । स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि । तस्य मेऽन्न मित्र दक्षिणम् । 'तद्वेशामित्रेण तपन्नेवास्मि इति होवाच । तदा इदं बृहती-सहस्र सम्पन्नम् । तस्य वा एतस्य बहती सहस्रस्य-सम्पन्नस्य षटत्रिंशत्तमक्षराणा सहस्राणि (३६) भवन्ति । तावति शतसम्पत्सराह्वा सहस्राणि भवति । परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमय सम्भूय देवता अप्यति । तद्योऽह सोऽमौ, योऽमौ सोऽहम् ।

—ए आ २। १४

८- "अरहर्वाऽएष यज्ञस्तायते, अहरह सतिष्ठते अहरहरनन स्वगस्य लोकस्य गत्यै युडक्ते अरहनेनेन स्वर्ग लोक गच्छति" ।

—शत ६।४ प्र १ ब्रा १५ क ।

* "स एतमेव सीमान विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत् । सेवा विद्वतिर्नाम द्वा । तदेतन्नादनम्' [ए० आ २।४।३] ।

आसुरप्राण की प्रधानता रहती है। इधर क्षीरकम्म मे लाह लुरिका का उपयोग होता है। इस म रहने वाले आसुरप्राण के स्पर्श से उस दि यप्राण के बचाने के लिए ही परम ज्ञानिक म र्षियोंने केरा न स्थान पर शिखाधारण आवश्यक माना है कि शिखाधारण आषधम्म के अनगामी भारतीयों की मह ता तथा विज्ञानानुगा मितता ही प्रकट कर र है।

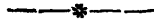
यह तो शिखाधारण का एक प्रासङ्गिक प्रयोजन बतलाया गया। दूसरा प्रयोजन है—प्रतिरूपमर्थ्यादा से देवमर्थ्यादा का अनुगमन। प्राकृतक यज्ञपुरुष जब यूपरूप शिखा स युक्त है तो यज्ञभाग का अनुगमन करने वाली तथा यज्ञपुरुष से तदाकारण उ पन्न होने वाली आषप्रजा को भी अपनी अ या मसस्था (शरीर) का वैसा ही ब्राह्म आकार रखना चाहिए। देवा भू जा देव भाग्यत् का भी यही रहस्य है। आषधदविक यज्ञपुरुष के ओर ओर प तो आ यामिक यज्ञपुरुष में स्प ट हैं। परन्तु यूपस्थानीया शिखा अर छ है। अत यूपकृतिवत् केशा तभाग में स का भी प्रातरूप—म र्यादा से अवश्य ही समावश होना चाहिए।

शिखा—धारण से जहा आषध मानुत्रिधनी यज्ञम र्यादा की रक्षा होती है वहा दि यप्राण—रक्षापूर्वक विज्ञान भी सुरक्षित तथा पुष्पित पल्लवित होता है। विज्ञान श द ऋषि की परिभाषा मे आ मानुगत उस नि यविज्ञान का ही सूत्रक है जिसके परिज्ञान ए॒ अनुष्ठान से ऋत्र—अमुत्र अ युदय—नि अ यम स पत्तिया प्राप्त होती हैं। अतएव जो जातिया शिखा नहीं रखती अथवा तो जो भारतीय मताने स स्मयनकम्म का मह व न समझती हुइ कपित त्रिभी षकामय नग्न सौन्दर्य का मोहकर शिखाधारण को व्यथ का आड वर समझती हैं उनका विज्ञान (बुद्धि) भले ही भौतिक नाशलीलाप्रवक्त का आसरभावा मक विज्ञान मे निपुणता प्रा त करले। परन्तु नित्य विज्ञानमानद् ब्रह्म की परिभाषा से तो व सवथा वञ्चित ही रह जाती हैं। जिह्म यह वञ्चना स्वीकृत है व भले ही शिखा को शम्म (लजा) का कारण समझें। पर तु जो वास्तव में शर्मा (सुख) का म र् समझने वाले हैं व भारतीय तो अपनी शिखा रक्षा को जातीयता धम्म विज्ञानवृद्धि आदि का ही उपाद्बलक मानग।

वेदशा त्र पर अन यान ठा रखने वालो के लिए तो उस दशा में उपपत्ति जिजासा का कोई भी मह व नहीं रह जाता जबकि— तस्येयमंशु शिखा स्तुप इ यादि रूप से स्वय अ ति भगवती शिखाधारण को आवश्यक क र् मानने का आदश द रही है। प्रस्तुत प्रासङ्गिक चर्चा को हम इसलिए विशेष मह व द रहे हैं कि आज नवशिक्षितो की परि कृतबुद्धि के क्षेत्र म शिखा—सूत्रादि चिह्नो को लेकर बडा कोलाहल मचा हुआ है। विशेषत शिखा के निष्काशन का तो बहुसख्या में ही अनुगमन होरहा है। हम समझते हैं ऐसी दु प्रवृत्ति आषसस्कृति के अव पतन की ही सूचना देने वाली है। इसलिए हम उन स आ त पुरुषो मे निवेदन करग कि व अपने इस लाभप्रद तथा गौरवपूर्ण चिह्न की रक्षा करने में ही अपना लाभ तथा गौरव समझने का अनुग्रह करेगे।

आधाधैविक यज्ञपुरुष से आ यामिक यज्ञ की स्वरूपान गत्त हुइ ३ एन आ याा मक यज्ञ से इस आधाधभौतिक यज्ञपुरुष (पुरुषप्रथम नसा य वधयज्ञ) का वितान होरहा ह । जब दानो यज्ञपुरुष शिखा स युक्त है तो प्रतिपद उह्नी की अनुरूपता स मन्त्रध रखने वाले इस वैश्यजमें भी शिखा स्थापन होना ही चाहिए । अस यज्ञ स जो यज्ञातिशयरूप दवपुरुष (दवा मा) उपन्न होने वाला है वह शिखा से शूय रहता हुआ । यग्राण के विकास से वञ्चित न रह जाय अ एव यहा प्रस्तरग्रहण किया जाता है । प्रस्तर दभमुष्टि है । दभ वनलक्षण सौम्य आपोमम्ल त व है । सोम ही शिखा है जसाकि पूव में बतलाया जाचुका है । इसी सा- नश्य स दभमुष्टिरूप प्रस्तर को अश्य ही शिखा का निदान माना जासकता है । त्रिष्णा स्तुपोऽसि यह प्रस्तर ग्रहण का म त्र है । विष्णु यज्ञपुरुष है । इसके पूवभाग में (शिरोभाग) म ही प्रकृतियज्ञ मे स्तुप (गत्या) प्रातष्ठित है । अत प्रस्तर का ग्रहण भी पुरस्तात् ही होता है ॥३॥

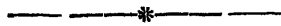
इति प्रस्तरगृहणोपपत्ति



अथ—सन्नहनविस्र मन स्थापनोपपत्ति —

जो बर्हि वदि पर विच्छान के लिए मगहीत है व सन्नहन नामक रजु से बधी रहनी है । गाट बोल कर पहिले तो इस बर्हि सघात से प्रस्तर (स्तुप) ले लिया जाता है । अन तर अस सन्न न (बधनर-जु) का बर्हि सघात से पृथक् कर लिया जाता है । यह स्मरण रखने की बात है । फाजम वत्ति पर बर्हि का आस्त रण होने वाला है वह वृषा स्थानीय देवताओं की (यज्ञपुरुष की) योष (पत्नी) है । अस्मी के दाम्पयभाव से नवा मलक्षण अपय उपन्न होने वाला है । प्रजननक्रिया में नीवीव धन प्रतिब बक है । अध सन्नहनर जु इस योषा (वेदि) की नीवीस्थानीया है । क्योंकि अब प्रजननकम्म होने वाला है अत अस बधन को पृथक् करना ही प्रकृत्या सुसङ्गत है ।

बधन को पृथक् कर इसे वदि के दक्षिण श्रोणिप्रदेश पर रक्खा जाता है । क्योंकि यह बधन प्रति रूपम र्यादा से नीवी है । उधर नीवीव वन लोकयवहार में दक्षिण श्रोण पर ही रहता है साथ ही वह वधन वस्त्र से ढँका भी रहता है । कयासतान की अपेक्षा पुत्रस तान का (पितृश्राण मोचन का दृष्टि स) विशेष मह व माना गया है । दक्षिण भाग अग्निप्रधान बनता हुआ पुरुषप्रधान है वामभाग सोमप्रधान बनता हुआ स्त्रीप्रधान है । अतएव महर्षि चरकादि ने गर्भाधान सस्कारकाल में पति के दक्षिण पर से ही शय्यारूढ होना आवश्यक माना है । इधर इस यज्ञ से भी दवा मलक्षण पुरुषविध स तान का ही प्रजनन अपेक्षित है । अत अग्निप्रधान दक्षिणा श्राणि पर ही सन्नहन रखना उचित ३ । नीवीव धन शि टम र्यादा के अनुसार ढका रहता है । अत यहा भी उसी म र्यादा का अनुगमन किया जाता है ॥६॥



अथ—बर्हिस्तरणोपपत्ति—

कहा गया है कि इस यज्ञकम्म में गृहीत प्रस्तर शिखा-स्थानीय है । सन्न शरीरावयवो का प्रतिरूप मर्त्या । से सग्रह होगया शिखाधारण प्रस्तर से गताथ बन गया । अब ब केश लोम बच रहते हैं जो शिखा

के अंश में प्रातः ठठ रहत हैं। इसी केरा चोमसम्पत्ति के सम्यक् के लिए यहा प्रातरूप मर्यादा सर्वाङ्गी विच्छा जाती है यही बर्हिस्तरण की एक उपपत्ति है ॥ ॥

वेदि को योषा [स्त्री] स्थानीय बतलाया गया है। शि टाचार का यह आग्रह है कि कुलीन स्त्री याद किसी आग्रहक वम्मका य स भद्रपुरुष मण्डली में ब्रठ तो अपने सर्वाङ्गशरीर को ढाक कर बड़े विनय तथा लजा भाव से ही युक्त रह। यहा वदिरूमा स्त्री प्राकृतिक प्राणदेयताओं तथा वनसञ्चालक ऋषिविजो की मण्डली में प्रतिष्ठा ठन है। अतः आवश्यक है कि उसे न न [निलज] न रहने दिया जाय। इसलिए भी वदि पर बर्हि विच्छाना आवश्यक है। बर्हिस्तरण की यही दूसरी उपपत्ति है ॥ ॥

वदि जस निदानेन योषा (स्त्री) है वस निदानेन यह पृथिवी भी योषा ही है। पृथिवी के उपर उसर भेद से दो विभाग रहते ह। निःश्रुत नामक दरिद्र वता (अलक्ष्मी धूमागती अरोगाहृणी येष्ठा) के अग्रह स सस्यादि-प्रजनन के अयाय क्षत-अक्षत भूषण उसर है। एव राहृणी नामक भाग्यदता (लक्ष्मी कमला) के अनुग्रह स सस्यादि बहुता सम भूषण उवर है बहुल-ओषधियुक्त भूषण ही भोयतम माना गया है। जा पृथिवी का प्रदश यहा वदिरूप स गीत ह वह स यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए बहुल ओषधि-जनस्पतियो स युक्त बनता हुआ ज वनीयतम बने स्त्री लक्ष्मण स पर ओषधि जनस्पति के प्रतिरूप बर्हि विच्छाए जात ह। यज्ञक म मे यजमान के निमित्त निदानविधि स ऋषिक योग जिस स पत्ति का सम्यक् करते है आवश्यक यथाद्विस्तृत तावदा मा स श्रौ सिद्धा त के अनुमार उह यजमान की प्रातिस्विक त पत्ति बन जाती है। यही स्तरण की तीसरी उपपत्ति है ॥ ॥

पृथिवी के निस भाग में जितनी अधिक ओषधिया प्रतिष्ठत रहती है वह भाग उतना ही अधिक उपजाऊ कहलाता है। वही उपजीवनीयतम (भोग्यतम) प्रदेश माना गया है। उस स पत्ति के लिए हि उस मात्रा से विच्छा जाती है जिससे वाद का प्रदश अप्रयत्न होजाय। ओषधिवमल भूषण म ही प्रविष्ट रहते हैं। इसी प्राकृतिक स्थिति के समतुलन के लिए बर्हि के अग्रभागो स द्वितीय तृतीय दशमष्टि के मूलभागो को ढका दिया जाता है तिसय देवताओं के अत्रयुद्ध की स्वरूप-निपत्ति के लिए ही स्तरणक म विहित है। उसी त्रिचानुगता यज्ञस पत्ति के लिए तीन बार स्तरण होता है ॥ ॥

ऊणम्रदस या स्तृणामि वासस्था देवेभ्य यहा स्तरण-क मसाधक मत्र है। मत्र का भाव यही है कि यद्यपि दमवृण का आस्तरण होता है तथापि भावना ऐसी रखनी चाहिए कि मानो हम वदि पर बैठने वाले प्राणदेवताओं के लिए कोमलस्पर्श से युक्त आसन ही विच्छा रह हैं। अय को अय भावना से देखना यही तो निदान है। एव भावनामक निदान ही तो हमारे कर्मों की श्रद्धता का मूलाधार है ॥ ॥

इति-बर्हिस्तरणोपपत्ति

—*—

अथ-अग्निकल्पोपपत्ति —

कहा गया है कि सवसरा मक यज्ञपुरुष का एकविंशस्तोमामक शुभ्र श शिरोभाग है। यहाँ आहवनीयकुण्ड निदानेन इस वधयज्ञ का शिरोभाग है। शिरोभागस्थ मयभाग में आहुति-ग्राहक अन्नादाग्नि

प्रातःस्थित रहता है। तत्स्थान में यहाँ आहवनीयकुण्ड में प्रातःस्थित आहवनीयान है। यदि अग्नि प्रबल रहता है तो आहुत अन्न की आकषण दहन पचनाद क्रिया ठीक ठीक होनी। आग्निमाद्य में ये क्रियाएँ निबल रहती हैं। पारणामत पुष्टि तुष्टि तृप्त बल वीर्यादि का अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि शरीरभागापलक्षित मुखस्थित आहुतिग्राहक आहवनीयाग्नि को आहुतिद्रव्य के आकषणादि के लिए एक मकाष्ठ से भस्मादि हटा कर प्रबल बना दिया जाय। यज्ञपुरुष का पूणस्वरूप शिखा पथ्यत माना गया है। धर कुशमुष्टिलक्षण प्रतर अस वैधयज्ञपुरुष की शिखा ह। अतः प्रस्तररूप शिखा का आहवनीय के ऊपर सम्बन्ध बनाते हुए पूणरूपेण यह प्रबलीकरण किया जाता है ॥ ॥

इति—अग्निकल्पोपपत्ति

—*—

अथ—परिधिपरिधानोपपत्ति —

जिन तीन परिधियों का आहवनीयकुण्ड के पश्चिम—दक्षिण उत्तरप्रात भागों में क्रमशः स्थापन होता है उनका विशद वजानिक अवचन पूव के आहवनीयविज्ञान में (शतपथभाष्य—प्रथमकाण्ड में) किया जा चुका है। अग्निरहस्ययज्ञा विद्वानोऽनेकेषा विभक्त अग्नि के चार रूपों का प्रयत्न किया। एवं इसी आधार पर चतुर्धा विहितो ह वा अग्निरानिरास य अनुगम—वचन प्रतिष्ठित हुआ। उन सब अग्निविधियों का उक्त आहवनीयब्राह्मण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। प्रकृत प्रकरण के समन्वय के लिए यह आवश्यक होगा कि पाठक एक बार वह प्रकरण अपने लक्ष्य में ले आये। यहाँ प्रकरण—सर्जाति के लिए दो शब्दों में उसका सिंहावलोकनमात्र कर दिया जाता है।

पुरुषाग्नि प्राकृताग्नि विराडाग्नि सम्प्रसराग्नि इन चार अग्निधियों में से चौथा सम्प्रसराग्नि ही इस कथानक का मूलधार है। इस सम्प्रसराग्नि को ही भूतानापति कहा गया है*। इस भूतानापति सम्प्रसराग्नि की ही आग जाकर चार अवस्थाएँ हो जाती हैं जिनके लिए—चतुर्धा विहितो ह वा अग्निरानिरास यह कहा गया है। सम्प्रसरचक्र सौर पार्थिव भेद से दो भागों में विभक्त है। पार्थिव सम्प्रसरचक्र गायत्राग्निप्रधान है एवं सौर सम्प्रसरचक्र सावित्राग्निप्रधान है। प्रकृत में केवल पार्थिवानिस बन्धी पार्थिवस व सरचक्र के साथ ही अग्नि की अवथाचतुष्टयी का सम्बन्ध समझना चाहिए।

भूपियड के गम में प्रातःस्थित प्राणाग्नि अन्नानाग्नि नाम से प्रसिद्ध है। इसी अन्नानाग्नि को रु कहा जाता है। इसी रुद्राग्नि की अहगणवितान से आगे जाकर चार अवस्थाएँ हो जाती हैं। इन चार पार्थिव सम्प्रसराग्निधियों में एक तो पार्थिव यज्ञ के होता बनते हैं शेष तीन अग्नि आहवनीय रूप में परिणत होकर

* “अस्या प्रतिष्ठार्या भूतानि च भूतानापति सम्प्रसरायादीक्षत। भूतानापतिगृहपतिरासीद् उषापत्नी। तद्यानि तानि भूतानि—ऋतवन्ते। अथ य सम्प्रसराग्निपति, सम्प्रत्सरस” (शत ६१ अ १३ ब्रा ६७ क)।

इस अग्नि की परिधि बनाए रखने के लिए। पार्थिव प्रजापति अग्नि की गृहपति सम्बन्ध से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। गृहपति अग्नि भूपिण्ड में अन्नादरूप से प्राप्ताप्त रहता है एवं सत्र सराग्नि पाथिव सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्डस्थ पार्थिव अग्नि की उक्थ अक्षरों से दावपार्थिव रहती है। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुक्तप्रजापति नाम से प्राप्त दृश्य अग्नि स्वप्रभव जाता हुआ उक्थ नाम से प्रसिद्ध है। यही इस यज्ञ का प्रजापति (यजमान) है। पार्थिव उक्थ अग्नि की पत्नी है। अग्नि दोनों के दावपार्थिव से पार्थिव-प्रजा की पत्नी हुई है। उक्थ अक्षर (रश्मियाँ) निकला करते हैं। भूकेन्द्रस्थ उक्थानि की प्राणामिका रश्मियाँ उक्थ से निकल कर बड़ी दूर पर यत्न प्राप्त रहती हैं। जहातक यह अर्कामक प्राणानि यात रहता है वहातक पार्थिवमण्डल की सीमा मानी जाती है जोकि सीमा सामपिभाषा में रथ तरसाम नाम से प्रसिद्ध है।

केन्द्रस्थ उक्थ नामक दृश्य गृहपात प्रजापति-अग्नि से अक्षरों में पारणत होने वाले इस प्राणानि की आगे जाकर पार्थिव अग्नि सम्बन्ध सराग्नि भेद से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। भूपिण्डावच्छिन्न वही प्राणानि (अर्काम) पार्थिव अग्नि है एवं इसे ही भूपति कहा जाता है। भूमहिमावच्छिन्न वही अर्काम सम्बन्ध सराग्नि है एवं-उसे ही पूव कथनानुसार भूतानापति कहा जाता है। भूमहिमा का षष्ठी-कारणमण्डल से सम्बन्ध है एवं अग्नि के सत्र अक्षरों से अक्षरों में ३ अक्षरों में से २१ अक्षरों से संगृहीत है। भूपिण्ड से आगे कर २१ व अक्षरों पर यत्न जो भूमहिमा प्रदश है वही सर्व सरचक्र है। अक्षर पार्थिव सम्बन्ध सरचक्र में ही वह पार्थिव प्राणानि अक्षरों से सराग्नि प्रतिष्ठित है।

भूतानापति नाम से पूरा सर्व सरचक्र में एकरूप में प्रतिष्ठित अतएव सम्बन्ध सरप्रजापति नाम से प्रसिद्ध अक्षर भूमहिमाग्नि के आगे जाकर क्रमशः पार्थिव-त्रिवृत् (६) पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) स्तोम भेद से तीन भेद हो जाते हैं। एकविंशस्तोमावाच्छिन्न अक्षर प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानापति नाम से प्रसिद्ध है। यही देवविज्ञानानुसार अग्नि यज्ञ कहालाया है। पञ्चदश-स्तोमावच्छिन्न अक्षर प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानापति भुवनपात नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में-त्रायु कहालाया है। एवं त्रिवृत्स्तोमावाच्छिन्न पृथिवी-प्रदश में प्रतिष्ठित वही भूतानापति भुवपति नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में अग्नि कहालाया है। इस प्रकार स्तोमभेद से पार्थिव सम्बन्ध सरचक्र में तीन स्थानों में त्रिभक्त होता हुआ एक ही सर्व सराग्नि तीन रूप धारण कर लेता है। निष्कर्ष यही निकला कि भूपिण्डकेन्द्र गृहपात अग्नि के उक्थरूप के आधार पर भूपिण्ड त्रिवृत्-पञ्चदश एकविंशस्तोम अक्षर चार प्रदशों में विभक्त अग्नि के भूपति भुवपति भुवनपात भूतानापति ये चार रूप हो जाते हैं। यही चारों को लक्ष्य में रखकर चतुर्धा विहितो ह्यग्निरास यह कहा गया है।

भौमाग्नि	— [१ भूपति — भूपिण्डावच्छिन्न अक्षरविध — अग्नि]	} अग्निभ्रातर — षष्ठिभ्रातर	} पितृ-प्रजापतिद्वय	} गृहपति-उक्थ
सर्वसराग्नि	2-भुवपति — पृथिवीवच्छिन्न — अग्नि			
	3-भुवनपति — अक्षरविधवच्छिन्न — वायु			
	4-भूतानापति — द्युलोकावच्छिन्न — आदय			

प्रश्न यह है कि अकावध उक्त चारो आग्नेयो म स पार्थिव गृहपान यजमान के पार्थिव हर्वियज्ञ—मे होता कौन सा अग्नि बनता है ? । आग्नेयविज्ञान म एकमात्र इमी प्रश्न का समागन हुआ है । पार्थिव स्तौम्यत्रलोक्य म यात त्रिगाम स सराग्नित्रयी सकम्म अ समथ । योक् सका भूपिण्ड स अन्तर्यामि स बध सुरक्षित नही होने पाता । कारण स का यही है ाक—समुत्समित पि त्रमानम् स मन्त्रवणन के अनुसार भूपिण्ड चारो ओर स अणवसमुद्र से वाष्टत है । इम अपतव के सम्बध स तत्रस्थ सम्ब सराग्नित्रयी का भोमयज्ञवहन मे अतर्यामि—सम्बध नही होने पाता । आर म म एकरूप स प्रतिष्ठत तीना सा वत्सरिक प्राण्ग्नि इस अपसमुद्र के गभ में चले जात ह । अतएव न का भूपिण्ड स अतर्यामि—स बध नही रहता । सम्बध रहता है—उस भौम प्राणाग्नि का ही जिस गायत्र-अग्नि भी कहा जाता है । यही अपने एत च प्रति चात्राह बल स तृतीय द्यु स सोमापहरण म भी समथ होता है एव पार्थिव दवताओ के यज्ञ के होत्र-कम्म का भी सञ्चालन करता है ।

सा वत्सरिक—अग्नित्रयी ने क्यो नही इस कम्म को अपनाया ? इस का उत्तर है—वषटकार । भूपिण्ड की अपनी एक वात्स्यी सीमा है । वही वात्सीमा वषटकार नाम से प्रसिद्ध है । स भौम-वषटकारसीमा में वही आग्नेय अतर्यामि—सम्बध से प्रातिष्ठत रह सकता है जो भूमि की प्रातस्विक वस्तु बना रहता है । सम्ब सराग्नि का इस वषटकार सीमा से सम्बध अवश्य रहता है परन्तु यह उस म प्रातिष्ठत नही होसकता । इसी प्राकृतिक स्थित का आरयानरूप से निरूपण करते हुए श्रुत ने कहा है कि तीन अग्नि पलायित होकर (भाग कर) पानी (अणवसमुद्र) म जा छुपे एव एक आग्नेय (गायत्र) ने होत्र कम्म करना वीकार किया ।

होत्रकम्म में नियुक्त गायत्राग्नि स सराग्नि के सहयोग से सवथा वञ्चित रहता हे तथा सम्बध-सराग्नित्रयीयो को पार्थिवयज्ञ का कोई फल भी नही मिलता यह बात नही हे । जब गायत्राग्नि स लोकस्थ देवताओ के समीप हवि लेकर पहुचते हैं— तो अणव समुद्र में यात आग्नेय आसरप्राण के आक्रमण से यही सम्ब सराग्नित्रयी इस की रक्षा करती है । पश्चिम-प्राण-उत्तर-प्रातस्थ साम्बध-सराग्नित्रयी सीमारूप से इन तीनों ओर से गायत्राग्नि की रक्षा करती है यही स आग्नेय का पार्थिवयज्ञ मे उपभोग है । साथ ही जो हविद्रव्याश प्रवग्यरूप से सम्ब सराग्नित्रयी के गभ म रह जाता है वह इन के लिए आहुतिद्रव्य बन जाता है सीमारूप से होला अग्नि की स्वरूपरक्षा तथा प्रातफल में उच्छ्रय का ग्रहण करना ही इन का यज्ञसस्था म उपयुक्त होना है ।

स बध मे एक य विशेषता यान में रगनी चाहए कि इम पलायत आग्नेय का याग्नि की शुद्ध-मलिन भेद से दो अस्था होजाती हैं जसाकि आग्नेय विज्ञान मे विस्तार से बतलाया जाचुका है । सम्ब सराग्नित्रयी का अणवसमुद्र स सम्बध बतलाया गया है । स अणवसमुद्र के आग्नेय भाग मे सम्ब सराग्नित्रयी का जो प्रव्य भाग प्रविष्ट रहता है वही मलिन आग्नेय है ए ब्रह्मौदना मक स व सराग्नित्रयी ही शुद्ध आग्नेय है । ये ही अग्निरक्षक बनते हुए सीमा है । मलिन आग्नेययुक्त अपतव ही भूपिण्ड का

— 'अतद्रो ह य त्रसि हगिष्कृदादिदेषु राजसि' । (यजु सहितायाम्)

उपादक है। उस पर पर स प्रवयभूत आग्नित्रयी भूपिण्ड में प्रतिष्ठित रहती है। जो हविर्द्रव्य भूपिण्ड पर प्रवय—स ब्रध स रह जाता है वह इस मलिन—प्रवय—आग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। एव चलाक में होता—आग्नि के द्वारा ले जाया जाता हुआ जो हविर्द्रव्य प्रवयरूप से स वसरमण्डल म रह जाता है वह तत्रस्थ सीमारूप शुद्ध आग्नित्रयी की तृप्ति का कारण बनता है।

य वय हवियज्ञ उक्त प्राक्रातक—पाथव—हविष्यज्ञ का ही प्रतिरूप है। अतः जैसे वहा सीमारूप से पलायित आग्नित्रयी का स ब्रध हो रहा है तथैव यहा भी प्रतिरूपावधि से उनका समग्र होता है। वहा की भाँति यहा भी प्रवय द्रव्य का स ब्रध होना ही चाहिए। वहा की भाँति भूगमस्थ मलिन आग्नित्रयी की तृप्ति का यहा भी समावश हो ही चाहिए। मी उद्देश्य से देवाननुत्रिधा न मनुष्या — यद्वै देवा अकुप स्तत् करणाण इ स आदश के अनुगमन क लिए प्राकृतिक आग्निपत्ति के समग्र के लिए पलायित आग्नित्रयी के प्रातरूप में तीन परिधियाँ न परिधान किया जाता है। नकी तृप्ति के लिए उन पर प्रवयरूप स आग्निदि डाला जाता है। जो आहुतिद्रव्य भूपिण्ड पर गिर जाता है वह मलिन आग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। परिधपारगनकम्म की यही सन्निव उपपात है ॥ १२ १४ १५ १६ १७ १८ ॥

ये परिवया कस का ठ की बना जाय ? इसका उत्तर यज्ञिय—वृक्ष हैं सावसारक आग्नि— आग्नित्रयी स वसरयज्ञसीमा के गभ में प्रतिष्ठित है। अतः इन का प्रतिरूप का ठ वही बन सकता है। जन म यज्ञातशय विक्रमत् हो। पलाश विक्रमत् काष्म य बिन्व खदिर दुबर न वृक्षो म यज्ञातिशय प्रकृ या ही विकासत रहता है अतएव ये यज्ञिय वृक्ष मान गए हैं। इन में से प्रधान पक्ष तो पलाश ग्रहण का ही है। क्योंकि पलाशवृक्ष म ब्रह्मवी यस पादक अग्नित्रय प्रधानरूप स प्रतिष्ठित रहता है। एव आग्निपत्तिसमग्र के लिए ही इन परिधियों का ग्रहण होता है। पलाश के समय पर न मिलने से ही विक्रमत् अय का ठो का प्रण करना चाहिए। पाठका की सुप्रधा के लिए उन यज्ञिय वृक्षों के नामांतर अत्र उद्धृत कर दिए जाते हैं ॥ १६ २ ॥

१-पलाश —

पलाश किशुक करक सुपर्णी रातपोत ये सभी शब्द अशत समानार्थक माने गए हैं। गुणदृष्टि स इसी पलाश के ये नाम प्राप्त हैं—याज्ञिक ब्रह्मवृक्ष ब्रह्मपात्प ब्रह्मापनता पत्त समिद्धर काष्ठ पण त्रिपण त्रिपाक पत्रपुष्प रक्तपुष्प बीजस्नेह कृमिन्ना चारश्रष्ट इत्यादि। नि न— लिग्नित समग्रश्लोक पलाश के बह्वी गुणों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

कषायतिक्तकटुक स्निग्धोष्णो दीपन सर ॥

भग्नस धानकृद् वृष्य पलाशो गुणतो मत ॥१॥

त्रिदोषहृत् कृमिन्नाऽय पलाशो यज्ञपादप ॥

ग्रहण्यर्शो गुल्मगुदरगप्लीहावणो हित ॥२॥

रक्तै पीतै सितैर्नीले पुष्परेष चतुर्विध ॥
 सर्वे समगुणा उक्ता सितस्तु ज्ञानरत्न ॥३॥
 पुष्प विपाकमधुर ग्राहिशीतलमूषणम् ॥
 कषायतिक्तकटुक वातल चोष्णमिष्यते ॥४॥
 एतत् पुष्प कफ पित्त कुष्ठ दाह तृषामपि ॥
 वातरक्त रक्तदाष मूत्रकृच्छ्र च नाशयत् ॥५॥
 फल विपाककटुक लघूष्ण रूक्षामिष्यते ॥
 शूलकुष्ठप्रमहार्श कृमिगुल्मोदर हरत् ॥६॥
 पामकण्डूतिदद्रूत्वग्दाषन्न वृक्षबीजकम् ॥
 फलबीज कटुस्निग्धोष्ण कृमिन्न कफापहम् ॥७॥
 तमूलस्परसो हन्ति नेत्रच्छायाध्यपुष्पकम् ॥
 नूतन प लवश्चास्य कृमि वात च नाशयत् ॥८॥
 ग्राही तस्य तु निर्य्यासो हरत् स्वेदातिर्निगमम् ॥
 मुखरोगाश्च कासाश्च ग्रहणी च विनाशयत् ॥९॥ इत्यादि ॥

मस्कृत	राष्ट्रभाषा	बगला	महाराष्ट्री	गुजराती	कर्णाटकी	तलङ्गी	तामिली	उत्कल
पलाश	पलाश ढाकटसू केसू धरा काकरिया	पलास	पलस	खाखिरो	मुत्तुलु	मातुका चट्टू	परशान्	पराशु

२-विकङ्कत —

विकङ्कत त्रैकङ्कत रावण मधुपर्णी गोपघोस्टा पिण्डार किकरी पूतकिकणी हिमक
 इयादि श द समानाथक है । गुणदृष्टि से यही इन नामो स प्रसिद्ध है—यज्ञिय यज्ञवृक्ष ब्रह्मपात्प
 म्रुग्दारु सुवन्म सुवावृक्ष सुधावृक्ष प्रथुबीज बहुफल मृदुफल ग्रन्थिल द तकाष्ठ पादरोहिण
 याघ्रपात् घृतिकर कण्टकी कण्टकारी कण्टपाद कण्टपत्र स्वादुकण्टक इत्यादि । निम्नलिखित
 मग्रह-श्लोक विकङ्कत के इहो गुणो का दिग्दशन करा रहे हैं—

कषायोऽम्लश्च मधुर पाकेऽतिमधुरो लघु ॥
 त्रिकङ्कतोऽय नात्युष्णशीतो दीपनपाचन ॥१॥
 कफ पित्त रक्तदोषान् नत्रपुष्प च कामलाम् ॥
 शोष शोक व्रण दाह लूतामशञ्च हति स ॥
 त्रिकङ्कतफल पक्व मधुर सर्वदोषहृत् ॥२॥

स	रा	ङ्	म	गु	क	त	उ
	छोकर	शाह	थोरशमी	खिजडो	वती का राज	शमीचेड	शुमी
शमी	छिकुर	छु	लघुशमी	नानीखिजडी			
	सफे	वा ला					
	कीकर						

३-काष्मय्य —

काष्मय्य काष्मरी गम्भारी श्रीपर्णी भद्रपर्णी स्निग्धपर्णी मधुपर्णी कुमुदा मोन्निनी गृधि भन्ना सुभद्रा सप्तोभद्रा गापभद्रा मधुभन्ना महाभन्ना सदाभा । रोहिणी पीतरोहिणी हीरा इ यादि श द समानाथक है । इन में काष्म य श द का विशुद्ध छ ो यस्ता नामक वदिकी भाषा से ही संबध है । गुणदृष्टि स यही इन नामो से यवहत हुआ है—क्षीरिणी त्रिणारणी मधुरसा मधुमती सुकला पीतकला कटुकला कृष्णकला कृष्णवृता कृष्णप अश्वेता जातहा स्थूलपचा न्दत्वचा इयादि । नि न लिखित सग्रह-श्लोको से का म य के इही गुणो का समथन होरहा है—

गम्भारी मधुरा रिक्ता कषाया कटुका गुरु ॥
 दीपनी पाचनी मेध्योष्णवीर्या मदनी तथा ॥१॥
 हृद्या हति वर दाह शोष शोक तृषा विषम् ॥
 आमशूल प्रमेहाशास्त्रदोष च भ्रम कृमिम् ॥
 शीतल मधुर तिक्त गुरुस्निग्ध च तत्फलम् ॥
 बहणा ग्राहि मेध्य च वृष्य रसायनम् ॥३॥
 हति मूत्रविष धञ्च वात पित्त तृषा क्षयम् ॥
 दाह च रक्तदोष च सतिक्तमधुर फलम् ॥४॥

फलमम्लकषाय तु गुरुस्निग्ध विशुद्धिकृत् ॥
 मूत्रद बुद्धिद हति गतपिा क्षय तषाम ॥५॥
 रक्तक्षत रक्तपित्त रक्तदोष च हन्ति तत् ॥
 आमवात मूत्रकृच्छ्र दाह च प्रदर हरत् ॥६॥
 कषायतिक्तमधुरा फलमज्जाऽसृजोरुजम् ॥
 ग्राहिणी वातला बया वृष्या पित्त कफ हरेत् ॥७॥
 कषायतिक्तमधुर पुष्प तस्यास्तु शीतलम् ॥
 विपाकमधुर ग्राहि वातल रक्तदोषहृत् ॥८॥
 गम्भारीमूलमत्युष्या मानुषु हत न तत् ॥९॥

स	रा		म	गु	क	त
ग भारी	कुम्भरे	गाभारी	शीवण	शवन्य	सीवनी	साल्नागुड ट च
ख भारी		गाभार	गभारो			

४-विल्व

विज श्रीफल शलूष मालूर शाण्डिय शय सामहरीतकि गोहरीतकि कपातन
 शलाटु महाकपिथ नीलमल्लिक ककट सुनीतक इयादि शब्द समाना एक है । गुणदृष्टि स यही इन
 नामों से व्यवहृत हुआ है—शिवेष्ट शिवद्रम मङ्गल्य अतिमङ्गल समीरसार पूतित्रात पीतफल
 महाफल लक्ष्मीफल सदाफल गन्धफन सयफल सयधम्म हृद्यग घ गन्धपत्र शलपत्र
 त्रिशाखापत्र त्रिशिख त्रिदल पत्रश्रेष्ठ कण्टकात्थ सितानन अधरोरुह इया । नि न लिखित
 श्लोक त्रिव के इहो गुणो का समथन कर रहे है—

कफानिलहर तीक्ष्ण स्निग्ध सग्राहि दीपनम् ॥
 कट्टातक्तकषायोष्ण बाल विल्वमुदाहृतम् ॥१॥
 तदेव विद्यात् सपक्व मधुरानुरस गुरु ॥
 विदाहि विष्टम्भकर दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥२॥

स	रा	ऋ	म	गु	क	त	ता
त्रि ऋ	बेल	वल	वलवृद्ध	विलोविलु	बेललु	मारेडीपदू त्रि व	वि वपा भ्रम

५-खदिर —

खदिर खण्डपत्री प्रमख ककटी गायत्री इयादि श द समानाथक हे । गुणदृष्टि से यही न नामो से प्रसिद्ध हे—याज्ञिक यज्ञाङ्ग मे य यूप म दत्तधापन पथिन्म रक्तसार तिक्तसार बहुसार क्षितिक्षम बालपत्र बालपुत्र बालतनय वक्रकण्टक कण्टकी बहुशय सुशय निह्वशाल्य पन्हाशय मुष्पारि कुष्पत्त यादि । नि न लिपित श्वाक खादर-गुणो का ही यशोगान कर रहे हैं—

शीतोष्ण खदिरो द त्य कषायकटुतिम्तक ॥
 अरिमेदो विटखदिरे क्दर खदिरे सिते ॥१॥
 कदरो हति कण्टूति कुष्ठ भूतग्रह ञरम ॥
 मुखरोग पाण्डुरोग रक्तदोष कृमि वृणम ॥२॥
 शिवत्र शोथ चामपित्त प्रमह च विष तथा ॥
 मटोरोग वातक्फ नाशयत खदिर सित ॥३॥
 सारो व्रणयो रक्तदोष मुखरोग कफ हरेत ॥
 निग्यासो मधुरो बल्य खादिर शुक्रवर्द्धन ॥४॥

स	रा	म	गु	क	टै
खदिर	खैर क था पपड़िया खयर	खपरगाछ	खयर पाडराखयर	कोपिन ग्नर पिलीयतत्रि	खरडचेन्नासु तेल्लखण्ड

६-उदुम्बर —

उदुम्बर उदुम्बर प्रतिष्ठित सुचशु न तुफल यदि श समानाथन माने गए है । गुणदृष्टि स यी न नामो से यवहत हुआ है —यज्ञिय यज्ञयाग्य यज्ञाङ्ग यज्ञसार यज्ञफल पवित्रक ब्रह्मवृत्त सोम्य कालरुध श्वेतमलकन शीतमकल शीतफल जनफल सदाफल जन्तुफल अपुष्पफल पुष्पशूय पुष्पहीन पाणिमुख क्षीरवृत्त हेमदु व ह्रमदुग्धी कृमिकण्टक न थाद । नि न लिखित श्लोक उदु वर के गुण ही यक्त कर रहे ह—

कषायमधुर शीतो रूचो वण उदुम्बर ॥

ब्रणापहोऽस्थिसधानगर्भसंधानकृद्गुरु ॥१॥

कफपित्तमतीसार योनियोग च हति स ॥

कषायशीतल वल्क गर्भ्य दुग्ध ब्रणापहम् ॥२॥

आम फल कषायाम्ल मासवृद्धिकर जडम ॥

दोषल रक्तरुक्कारि दीपन रुचमिष्यते ॥३॥

अतिशीत फल पक्व कषायमधुर जडम ॥

कृमिकृत कफकृद् रुच्य हति पि । प्रमेहकम ॥४॥

रक्तरोग क्षुधा मूर्च्छा दाह शोष श्रम तषाम ॥

कोमल तत्तृषा रक्तदोष पित्त कफ हरेत ॥५॥

किञ्चित् कोमल स्यादु कषाग शीतल फलम् ॥

हति प्रहारज क्लेश वार्ति पित्तमसृकस्रुतिम् ॥६॥

स	रा	व	म	गु	क	तै
उदुम्बर	गूजर	यज्ञडुमु	उम्बर	उम्बरो	अत्ति	नाडुचेष्ट

प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय अध्याय का तृतीय ब्राह्मण
एव-द्वितीय ब्राह्मण का षष्ठब्राह्मण उपरत

अत्र-इध्मब्राह्मण समाप्त

द्वितीय प्रपाठक समाप्त

२

प्रथमकारणान्तर्गत-तृतीय-अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण
एव-तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त
परिधिब्राह्मण अत्र उपक्रान्त
तृतीय-प्रपाठक-उपक्रान्तू

३

—*—

उक्त दक्षिण वृद्धो में स समयप्राप्त किसी एक यज्ञिय वृद्ध की जो परिधिया ली जाती है व गीली ेना है । आत्मा भाव ही मन का जीवनीय रस है यही मनको प्रातिस्वक स पात्त है । इस स पत्ति-सग्रह की दृष्टि से जहा आद्रभाव अभिप्रत है वहा आत्मा यानि के अन्नगर्भित-स्वरूप की दृष्टि स भी आद्र भाव अपेक्षित है । तीनों परिधिया उस आत्मा यानि त्रयी की ही प्रतिरूप है जा आपोमय अणवसमुद्र मे प्रविष्ट है । अतः तत्-सादृश्येन परिधिया आद्र ही ली जाती है । जसप्रकार आक्रमण-कर्त्ता के आक्रमण को गीर पुरुष अपन हाथो की परिधि से राक दता है एवमेव य परिधिया आक्रमणरक्षक ही बनी हुई ह । अतएव लम्बा मे ये बाहुपारमाण ही बनाइ जाती है ॥ ॥

गव्यस्वात् = यदि मत्र से पश्चिम भाग में परिधि रक्ती जाती है । प्राक्रातक यज्ञ में तृतीय स्थानीय सोम की (पारमथ्य आत्मा आसुराक्रमण स) रक्षा प्रिश्राजसुप्रमुख एतन्नामक गव्यप्राण स ही होरही है । यहा भी पारधि के द्वारा वही रक्षाक म अभिप्रत है । अतएव इस परिधिवस्थापनलक्षण रक्षाक म अन्ने उसी प्राकृतिक रक्षक की भावना की जाती है । अतजगद् विज्ञान के अनुसार स पूण अवश्व जिसमें कि य जीवनयात्रा का सञ्चालन कर रहा है अपना प्रिश्व है । इस की शान्ति स्वास्ति में ही यज्ञकर्त्ता यजमान की शान्ति स्वस्ति है । इस रक्षाक्रम स इसी के लिए इसी के भोग्य विश्व को सुरक्षित रहने की भावना यज्ञ करने के अभिप्रय से- विश्वस्यारिष्य = यदि कहा गया है ॥२॥

दक्षिणदिशा की ओर से प्राकृतिक हवियज्ञ पर जो आसुर आक्रमण होत रहत है व अग्नि सयुक्त इन्द्रप्राण से रोके जात ह * । एव भौमदव्यवस्था के अनुसार दक्षिणदिशा की ओर से होने वाले मनु यविध इन्द्र के द्वारा रोके जाते थ - । अतएव यहा भी दक्षिण परिधिस्थापन से = के बाहु की भावना से उसी रक्षक की प्राप्ति की जाती ह । इन्द्रस्य बाहुरसि इ यदि मत्र का यही ताप र्था है ॥३॥

उत्तरादक की ओर से होने वाले आक्रमण तत्रस्थ मित्रावरु देवताओ स राके जाते है जसा कि-उन्नीची दिक् मित्रावरुणा देवता (तै ब्रा ३।११।२।२।) इयादि कृण श्रुति से प्रमाणित है ।

* 'दक्षिणा दिक् इन्द्रो देवता' (श ब्रा ३।११।५।१)

— 'अतो ही द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षास्यपादन्' (श० १।४।५।३।) ।

उही रत्नको की भावना के लिए— मित्रापरुणा जोत्तरत न्यादि मन्त्र बोलत हुए उत्तर की आर तीम । पारधि का स्थापन होता है ॥४॥

अथ—समिधाभ्याधानोपपत्ति

अनिक पात्र में गृहीत समिध आहवनीय में डालना ही समिधा यावानकर्म है । समिधा—याधान छद्म तथा ऋतुदेवता के साम वन सम्बन्ध रखता है । अर्थात् यह साम वन छद्म तथा ऋतुओं का ही क्रिया जाता है । बात यह है कि आहवनीय आनम आहुतद्रय का ही अग्नि सद्युला कर्म दवताओं में गमन करने वाला है । अग्नि आहुति ले जाने वाले है । इधर अग्नि की प्रातःछद्म एव ऋतुएँ है । यदि छद्म—ऋतु समिध है तो हयगा आग्नि भी समिध है । एव सामिध आन ही हयवहनकर्म में समथ है । अत आहुतिकर्म स पहिले छद्म—ऋतु का भी समिध आवश्यक हाजाता है । समिधान होता है—आन के उत्पश्यस परतु लक्ष्य है—ऋतु और छद्म । आनतव सम्य सराग्नित्रयी पार्थिव गायत्राग्नि में से चार भागों में प्रमक्त वतनाया गया है । तीनों परिधि निदानेन सब सराग्नित्रयी के प्रतिरूप है ए आहवनीयाग्नि गायत्राग्नि का प्रतिरूप है । दानो के समिध वन के लिए पानले समिध का परिधि स स्पश कराया जाता है स स तो पारविलक्षणा आग्नित्रयी परोक्षरूप से समिध नैजाती है अनतर समिध आहवनीय में डाली जाती है स से नस का प्रयत्नरूप से समिध वन होजाता है ॥५॥

रीतिहोत्र ना यदि गात्रमीमत्र से ही प्रथम सामिध डाली जाती है । नस प्रथम समिध से छद्मो का समिध वन करता है । उग्र छन्द गायत्री प्रमुप है । गायत्रीछद्म ही सब छन्दो का मूल माना गया है । इस एक के समिध वन सतर सब छद्मो का समिध वन होजाता है । अत सब छद्म समिध वनोद्देश्य से गायत्रीमत्र के द्वारा गायत्रीछद्म का समिध वन किया जाता है । समाद्धगायत्री नतर ६ आ छद्मो का समिध वन कर देती है । एव ये समिध छद्म दवताओं के लिए हयवहन करने में समथ होजात हैं ।

ताप्य इस समिध वन का एकमात्र है पार्थिव आनम तदय तेजोयुक्त आग्नि का समावश । जवनक पार्थिव अग्नि में दिय तेज का यावान नहीं होजाता तवतक यह आन न तो हविवन्तकर्म में ही पूरा समथ वनता एव न ऐसे विशुद्ध पार्थिव—आग्निगृहीत विना तदय प्राग्निप्रधान प्राणदवताओं के साथ ही सम्बन्ध होता जसाकि आगे के सामिधेनी ब्राह्मणा में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । प्राकृतिक यज्ञ से सौर सावित्राग्नि के द्वारा पार्थिव अग्नि का समिध वन गायत्रीछद्म स ही होती है । खगोलीय उत्तरस्थ ककत्रत्त स आरभ कर दक्षिणस्थ मकरवृत्तात् क्रमश जगता त्रिष्टुप् पङ्क्ति बृहती अनुष्टुप् उष्णिक् गायत्री ये सात देव छद्म प्रतिष्ठित है । जगती उत्तर भाग की आन्तम सीमा पर है एव गायत्री दक्षिण भाग की आन्तम सीमा पर है । उत्तरादिक सूर्यानुगता मानी गड है । अतएव तत्प्रतिरूप उत्तदगाता की उदीची ही दिक् मानी जाती है जैसात्रि—उनी यदगात् (शत १३।५।१।२४) से स्पष्ट है । ककवृत्तात्मिका उत्तर—प्रदशोपलक्षि ॥ उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित सौर तज दक्षिणस्थ गायत्रीछद्म स सम्बन्ध करता हुआ स पूरा छद्मो को समिध वन करता है ।

अपिच गायत्री अग्नि का छद्म है । इधर अग्नि सर्वा देवता के अनुसार स पूरा दवता आग्नि की ही अवस्थाविशेष हैं । फलत अग्नि के गायत्रीछद्म का सबछन्दोमय व भलीभाात सिद्ध होजाता है । गायत्री

के समि धन स तच्छ्रदस्क पार्थिव अग्नि दिव्यभाव के समावश से दि यदेवताओं के लिए हव वहन मे समथ होजाता है । गायत्रीछ्रद ही पार्थिवानि को दि यानि के द्वारा समिद्ध करने वाला म्म यम है । अतएव य छ्रद साम धनक म आवश्यक होजाता है । जीतिहोत्र या इ यदि मन्त्रपूर्व ही यह समि धनक म होता ह । गायत्री के द्वारा हाने वाले इस समि वनकम्म स ही आ नदवता हौत्रक म में सफल होते है । इस दिव्यतज के समावश स अ तिमान् बन जात है एव पृथिवीस्थान (भूस्थान) से हावग्र हण करते हुए ये अग्निदव द्युलोक की ओर गमन क त हुग् इस द्युमहिमा मे वितत- या त होकर बृहत् बन जाते ह । असप्रकार मन्त्र ने—समि धनकम्म—जनित सभी अतिशयो का स्पष्टीकरण कर दिया ह ॥६॥

दूसरी समिध से वसत का समि धन किया जाता है । हात्रक म में दीक्षित पार्थिव आग्नि जिस हवि का अ दवताओं के साथ सम्बन्ध कराने वाले है वही हविद्र य दवा मा को उ पन्न करन ाला है । पर तु जन्तक ऋतुप्राण का अग्नि में समावश नही होजाता तबतक प्रजनन असम्भव है । सम्य सराद् ऋतव रेता आभृतम् इस कौपीतिकि वचन के अनुसार ऋतुए ही प्रजननकम्म की आध ठात्री है । आ यामिक यज्ञ मे भी ऋतुमती—स्त्री ही गर्मागन योम्या मानी गइ है । फलत ह यवहन के लिए जहा छ्रद समि धन आवश्यक ह वहा प्रजनन के लिए ऋतु—समि धन भी आवश्यक बन जाता है । इस द्वितीय सामधा यावान स वसत ऋतु का ही समि धन होता है । गायत्री छ्रदोवत् वसतऋतु तर ग्री मादि पाचो ऋतुओं का मूलाधार है । फलत वसतके समि धन स इतर ऋतुओं का भी समि धन हाजाता है । समिद्ध ऋतुओं स अ न म ऋतुध म का समावश होजाता है । एतद्गर्वावच्छ्र आ न दवा मप्रजनन मे समथ होजाता है । इमी समि वनोपपत्ति का लक्ष्य में रखकर— ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयति इयादि कहा गया है एव समिवा या धानकम्म की यही सक्षित उपपत्ति है ॥ ॥

अथ—मन्त्रजपोपपत्ति

पारविस्थापन के द्वारा तीनो आर से तो नाष्—राक्षो का अक्रमण राक िया गया । अत्र पूर्व दिशा वच रहती है । पूर्व दिशा म भगवान् सू य का साम्राज्य है सौरतज से बढकर नाष्—राक्षो का नाशक और काइ दूसरा नगी है । आह्वनीय के पूर्व भाग में इस रक्षक दि य—प्राण के स्थापन की भावना से इस ओर मुखा करके— सू यरा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशास्य इयादि मन्त्र का जप किया जाता है ॥ ८ ६ ॥

—*—

अथ विधृती-स्थापनोपपत्ति

विधृती श द विवति का द्विवचना त रूप है जिसका अर्थ है— टा प्रितिया की समधि । आधिदविक—वश्व में ए । तदरूप वश्वयज में इन दो विधृतियों का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न के समाधान पर ही अस धयज्ञ की कुशामयी दो विधृतियों की उपपत्ति समग्रित होसकती है । धारण करने वाली शक्ति ही विधृति है । अतएव जिस शक्ति ने इस विश्व को धारण कर रक्खा है उसी विशेष—शक्ति को हम— विधृति कहेगे ।

अ नीषोमा मक जगत् के अनुसार प्राणाग्नि एव तत्र-तन्नाधारण प्रातष्ठित भूताग्नि तथा प्राणसोम और तदाधारेण प्राता ठत भूत-सोम ये दो ही तव पाञ्चभातिक ऋश्व के प्रमुख उपादान-कारण माने गए हैं। शुष्कगुणक अग्नि तथा आन् गुणक साम —न दानों का अतर्थात्मा मक-यजन ही विश्वयज्ञ का स्वरूप-निर्माता बना हुआ है। वाचारम्भण विकारो नामधेय-मृत्तिक-यव स यम् —यादि छादोग्य-सिद्धातानुसार उपादानकारण ही (जिसे कि वैदिक-परिभाषा में— आरम्भण क । गया* है) स्वकाय्य की आधारात्मिका धतिलक्षणा विधृति [प्रतिष्ठाभूमि] माना गया है। काय का उपादानकारण ही काय्य के लिए प्रभव प्रातष्ठा तथा परायण है। प्रभव प्रतिष्ठा-परायणामक उपादानकारणामक अग्नि सोम-युग्म इसी दृष्टि से विधृतात्मा मालया गया है अग्नीसोमामक काय्यरूप विश्व का। अग्नि और सोम के समवय सम्बन्ध से प्रतिष्ठा मका यह विधृति क्योंकि विधीमिका है। अतएव एकवचनात विधृति शब्द द्विवचनात विधृती शब्द म पारणत होगया है।

क्या तापय ?। इस तापय के स्पष्टीकरण के लिए हम उस सम्बन्धरचन को ही लक्ष्य बना लेना पडगा जिसमें अग्नि और सोम के ऋता मक तथा सयानामक दो दा स्वरूप अभि याप्त है। वायव्य धरातल में आसमतात् अभियात वायव्य अग्नि तथा वायव्य-सोम ही अन्त्यमशरीर ऋतम् —स लक्षण के अनुसार ऋताग्नि-सोमयुग्म है जिस ऋताग्नि-ऋतसोम के वषा पोषामक दापयस ही ऋतु भाव अभिव्यक्त हुआ है एव जिस ऋतुभाव के अभिलवानुगत परिप्लव-स्तामों स ही पञ्चत् किंवा षडत्तु-समष्टि रूप सम्बन्धर की आभयक्ति हु है। अग्निप्रधान सूर्य एव सामप्रधान चन्द्रमा ही सहृदय सशरीर सयम् —स लक्षण के अनुसार सयानि-सोमयुग्म है जिस सयानि [सूर्य] एव सयसाम [चन्द्रमा] । के वृषा पाषामक प्राण राय लक्षण दापय से ही यथापूर्व सृष्टिधाराए प्रकृत है । X

तदथ वायव्य-ऋताग्नि-सोमद्वयी एव सूर्य-चन्द्रात्मिका सयानि-सोमद्वयी से ही सम्बन्धर चक्र का स्वरूप सम्पन्न हुआ है जिसके कालामक तथा यज्ञात्मक दो विधी माने गए हैं। अग्नि सोम मय वही सम्बन्धर यज्ञात्मक सम्बन्धर है। एव इन दोनों का भागकालामक समयतत्त्व ही— कालामक सम्बन्धर है। कालो यज्ञ समैरयत् [अथवस कालसूक्त—१६ अयाय] के

—द्वय वा इदं न तृतीय-अस्ति-शुष्क चैव आर्द्रञ्च । यच्छुष्क—तदाग्नेयम् ।
यदार्द्र—तत्—सौम्यम् ।

*—किं सिद्धामिदधिष्ठान—आरम्भण कतमित्—स्वित् कथासीत् ।

यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्माम् विद्यामोणौन् महिमना विश्वचक्ष्णाम् ॥

—ऋक्स १ । ६१ । २

X—सूर्याचन्द्रमसो धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

दिव च पृथिवी चा तरिन्मथो स्व ॥

—ऋक्स १ । १६ । ३।

अनुमार काला मक स न मर ही वसोरूप यज्ञा मक स वसर का छ दोरूप वयोनाधा मक— आनपन है । कालरूप भी खब्रह्म (आकाशायतन) मे यज्ञरूप स बसर सप्रतिष्ठित है । अनिरूप सूय्य अह काल शुक्लपक्ष-षण्मासा उत्तरायण न अर्चिम्मागा मक योर्तिभावो के साक्षी हैं तो चद्रमा रात्रिकाल-कृष्णपक्ष-षण्मासा- दक्षिणायन न धूममार्ग मक तमोभावो के साक्षी है । काल यज्ञा मक-सम्बन्ध चक्ररूप ब्रह्माण्ड के सुप्रसिद्ध को अण्डक । ही वादक परिभाषा में सूर्यानुगत-एत-मित्रकपाल तथा च न्मानुगत-वारुण वरुणकपाल नाम स प्रसिद्ध है । अद्र यतिष्वक्रा मक अद्र खगोल ही सौर एत-मित्रकपाल है निसे— पूवकपाल कहा जाता है । एत अद्र खगोल ही-अद्र वारुण-वरुणकपाल है निसे पश्चिमकपाल क जाता है ।

कपाल या मक अण्डकटाहद्वयामक-अग्नीषोमा मक सूय-च द्रमासमवित यज्ञा मक विश्वमण्डल ही सम्प्रसरप्रजापति के काला मक तथा यज्ञात्मक स्वरूपेतिवृत्त का साक्ष ततम स्वरूप-दिग्दशन है । इस सम्प्रसरमण्डल का मण्डल न-सौर-चद्र रश्मियो के तिरश्चीन-मात्र स ही अनुप्राणित है जैसाकि— तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्त्रिणासीदुपरि स्त्रिणासीत् यादि म व्रणन स स्पष्ट है— वतु लवृत्त का स्वरूप वृत्त ही प्रा षडु की वक्रता-प्रकृतता स ही स पन्न होता है । इसत्रिदु बिन्दु प्रतिबिन्दु वक्रता-स ही यज्ञा मक-स न सरकाट-कुटिलकानि कहलाया है जिस की यह प्रकृतिसिद्धा कुटिलता कवा वक्रता सौर-चाद्र भेदात्मक-अग्नि-सोमा नुबन्धा दो अण्डकटाहो के अनुबन्ध स स्थूलरूपेण दो भागो में विभक्त होरही है । अद्र-कुटिल-अण्डकटाह का साक्षी अ या मक सूय है तो अद्र कुटिल-अण्डकटाह का साक्षी सोमा मक चद्रमा है ।

ये ही आधिदविक विश्व-प्रजापति के दो सप्रसिद्ध चक्षु है— चक्षुपी चक्षुसू यौ । सूर्या मक अद्र अण्डकटाह ही उस प्रजापति का दक्षिण-चक्षुनु गत-दक्षिण कुटिल अ है एव चक्षु मक अद्र-अण्डकटाह ही उसका वाम-चक्षुनुगत-वाम-कुटिल अ है । सौर-चाद्र-भावानुबन्धी-अग्नीषोमा मक-अण्डकटाहद्वय समष्टिरूप-सवथव-वक्रित कुटिल-दोनो भ्रव ही अग्नीषोमा मक विश्व क दो भ्रू है जिन के प्रतिरूप ही मानवीय आ या ममिक यज्ञ (शरीर) के दोना भ्रव-अभि यक्त दुए है । दक्षिणभ्रव सौर है तो वामभ्रव चाद्र है । उनके स्वरूप-न मर्माण में पावनतम सौर अग्नि तथा पावनतम-पवित्र नामक ब्राह्मणस्पय सोम ही प्रधान-रहते हैं । अतएव जनन-मरणादि आशोच-प्रसङ्गो म भ्रवो का निराकरण नही किया जाता । अत्र स प्रसङ्ग से यही निवदनीय है कि तिरश्चीन भ्रुव ही मानव की स्वरूप-प्रतिष्ठा के आधार ह । इन के शिथिल होत ही (आखे व हाते ही) सबकुछ समा त है वसे ही जसे कि सौर-चाद्र अण्डकटाहो के प्रलयकाल में पारमेष्ठ्य-समुद्रमे त्वलीन होते ही पार्थिव विश्व परिमता त हाजायगा ।

— तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध आसदासीदामादुपरि स्विदामात् ।

रेतोधा आसन् महिमान आसत्स्रधा अब तात्प्रयति पुरस्तात् ॥

— ऋक्स १ १२६।५।

अग्निमय सूर्य तथा सोममय चन्द्रमा दोनों क्रमशः सौ तथा प्राग्धा के भी मग्राहक बने हुए हैं। द्यावापृथिवीरूप-सार-चाद्र-अग्नि-सोमा मक कालचक्र हा कालचक्र के अणु-क । । मत्र दोनों भ्र ही अ नीषोमा मक विश्व की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव अवश्य ही विवृता म । नामफता है । तस स— विवृती त व का दिग्देशकालस्वरूप-मीमासा—नामक स्वतंत्रानत्र व म विवृतीश्च पुण्या * यदि मत्र यारयान में विस्तार स अवश्लषण हुआ ह । भ्र वामका म्सी विवृती का प्रातरूप-स पात्त-प्राा त के लिए-यहा-कुशामिका मत्रता र्गति की जाती है म्मलमातविस्तृण-मत्रवृत्तितवस्वरूप-पेतिवृत्त न ।

विवृती उन दो दभतृणो का याज्ञिक सज्ञा है । जह् वदि पर स्थापत किया जाता ह । यह वधयज पुरुषावध बतलाया गया है । प्रस्तररूप शिग्ना का स्थापन हागया आहवनी ।। रूप स शिरोभागि इतर शरीरावयवो का स्थापन होगया । अत्र भो शेष ह । म्मना थापन और अपेन्तित है । म्सा उन्श्य से विवृती स्थापन होता ह । पुरुषयज्ञसस्था म भोने वक्र रहती है अत निदानेन तद्रूप मत्रवृती भी तियक ही ररती जाती है । यही तियगाधान की एक उपपात है । उमी निदानम र्यादा के अनुसार प्रस्तर च्त्र का प्रति रूप है तो इतर बर्हि विट का प्रातरूप है । प्ररूपरत्ता के लिए दोनों का निय म अपोत्त है । मन्त्रण करना म र्यादासूत्र का काम है । मर्यादासूत्र स्वभावत वक्र ह टटा ह उस में सरलता नही है । व क्षमा करना नही जानता । निदानेन विवृती मर्याा सूत्र का ही प्रातरूप है । अतएव से त यत्र रूप से ही स्थापित किया जाता है । इसी च्त्र-विट ववरणकम्म स स विवृती कहना अ म्म वनता । विवृती थापन कम्म के अन तर बो प्रस्तर विछाया जाता है उस की उपपत्ति स्पष्ट है ॥१ ११॥

अथ-सूक् स्थापनकम्मोपपत्ति

विवृती के ऊपर प्रस्तर-स्थापन के अन तर वह अ वय्यु प्रस्तर के साथ अपन वामहस्त का सम्ब व चनाए हुए आग्नीध्र नामक ऋषिक के हाथ से क्रमशः जुह उपम्रत् भ्रवा नाम के सूक्पात्रो को घृता -यसि = यदि मत्र बोलता हुआ ले लेकर सेद प्रियेण धाम्ना यानि मत्र बोलता हुआ इह वदि पर रखता जाता है । यही स्रकग्रहण-स्थापन कम्म है । अनतर ध्रुवा असन् या मत्र बोलता हुआ

* कालेयमङ्गिरादवोऽथमा चाधितिष्ठत

इम च लोक परम च लोक, पुण्याश्च लोकान्

“विवृतीश्च पुण्या”

सर्वा ल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा काल स इयते परमो नु देव ॥

—अथयसहिता १६।५४।५।

स्थापन क्रमानुसार नून सब का स्पर्श करता है। स ग्रह स्थापन स्पशक म की कोइ विशेष उक्ति नहीं है। मन्त्रशक्तार्थ के सब ध में जो कछु विशेष वक्त यथा वह मूलनुवाद से ही गताथ है ॥ १ १३ १४ १५ १ ॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण
 एव तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपरत
 परिधिब्राह्मण-अत्र समाप्त
 द्विब्राह्मणात्मक “इ म परिधि-ब्राह्मण” समाप्त

— — * — —

श्री

अथ-गतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
सामिधेन्यनुवचनब्राह्मणम्
ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

श्री

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये--सामिवेनी-ब्राह्मणम्
ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

अथ-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्
(सामिवेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-प्रथम ब्राह्मणम्)

१

*

१८—सामिवेन्यनुवचनकर्म

(मूल) इ धे ह वा एतदध्वर्युरिध्मेनाग्निम्-तस्मादिध्मो नाम । सामिवे सामि
वेनीभिर्होता-तस्मात् सामिवेन्यो नाम ॥ १ ॥

स आह-‘अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि’ इति । अग्नये ह्येतत् समिध्य-
मानाया वाह ॥ २ ॥

तदु हैक आहु -अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहीति । तदु तथा न ब्र यात् ।
अहोता वा एष पुरा भवति । यदैतैः प्रवृणीते-अथ होता । तस्मादु ब्रूयात् अग्नये
समिध्यमानायानुब्रूहीत्येव ॥ ३ ॥

आग्नेयीर वाह । स्वयैवैनमेतद् व्रतया सामिवे । गायत्रीर वाह । गायत्र वा
अग्नेश्छन्द । स्वेनैवैनमेत छन्दसा सामिवे । वीर्यं गायत्री ब्रह्म गायत्री वीर्येणै-
तेनमेतत्सामिवे ॥ ४ ॥

एकादशा वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप । ब्रह्म गायत्री, क्षत्र त्रिष्टुप । एताम्भामनै
नमेतदुभाभ्या वीर्याभ्या सामिवे-तस्मादेकादशा वाह ॥ ५ ॥

स वै त्रि प्रथमाम वाह, त्रिरुत्तमाम् । त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञा, त्रिवृदुदयना ।
तस्मात्-त्रि प्रथमाम वाह, त्रिरुत्तमाम् ॥ ६ ॥

ता पञ्चदश सामिधे य सम्पद्यते । पञ्चदशो वै वज्र वीय वज्र, वीर्यमेवत-
त्सामिधेनीरभिसपादयति । तस्मादेतास्वनूयमानासु य द्विष्यात् तमड गुष्ठाभ्याववाधेत-
“इदमहमष्टमववाधे” इति । तदेनमेतेन वज्र णाववाधते ॥ ७ ॥

पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रय । अर्द्धमासशो वै सवत्सरो भवन्न ति, तद्रात्री-
राप्नोति ॥ ८ ॥

पञ्चदशानासु व गायत्रीणा त्रीणि च शतानि षष्टिश्चान्तराणि । त्रीणि च व
शतानि षष्टिश्च सवत्सरस्याहानि । तदहायाप्नोति, तद्व व सवत्सरमाप्नोति ॥ ९ ॥

सप्तदश सामिधनीरिष्ट्या अनुब्रूयात् । उपाशु तस्य देवताग यजति यस्या इष्टि
निर्वपति । द्वादश वै मासा सवत्सरस्य, पञ्च वि । एष एव प्रजापति सप्तदश ।
सर्व व प्रजापति । तत्सर्वेणैव त काममनपराध राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निवपति ।
उपाशु देवता यजति । अनिरुक्त वा उपाशु । सव वा अनिरुक्तम् । तत्सर्वेणैव त
काममनपराध राध्नोति-यस्मै कामायेष्टिं निर्पति । एष इष्ट रूपचार ॥ १ ॥

एकविंशतिं सामिधनीरपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयादित्याहु । द्वादश । मासा
सव सरस्य, पञ्च वि, त्रयो लोका -तद्विंशति । एष एवैकविंशो य एष तपति । सैषा
गति, एषा प्रतिष्ठा । तदता गतिमेता प्रतिष्ठा ग छति । तस्मादेकविंशतिमनु-
ब्रूयात् ॥ ११ ॥

ता हैता गतश्रवेवानुब्रूयात् । य इच्छेन्न श्र यान् स्यान्न पापीयानिति । यादृशाय
हैव स तेऽ वाह -तादृड वा हैव भवति, पापीया वा यस्यैां विदुष एता अन्वाहु । सो
एषा भीमासैव नत्वे ता अनूच्य ते ॥ १२ ॥

त्रिरव प्रथमा त्रिरुत्तमामनवानन्ननुब्रूयात् । त्रयो वा इमे लोका तदिमान्वांत-
ल्लोकान् स तनोति, इमान् लोकान् स्पृणुते । त्रय स्मे पुरुषे प्राणा । एतमेवास्मिन्ने-
तत्सततम यवच्छिन दधाति । एतदनुवचनम् ॥ १३ ॥

स यागदस्य ऋश स्यात्-एयमेवानुविवक्षत् । तस्यतस्य परिचक्षा उत साम्यवान्याद्
अनग्रान ननुविवक्षस्त कर्म निवृह्य त । सा परिचक्षा ॥ १४ ॥

स यद्य तनोदाशसेत-अप्येककामेवानवान ननुब्रूयात् । तदेकैक्यवेमाल्लोकान्
स तनोति । एकक्येमाल्लोकान् स्पृणुते । अथ यत्प्राण दधाति-गायत्री । प्राण स
यत् कृत्स्ना गायत्रीम वाह तत् कृत्स्न प्राण दधाति । तस्मादेकैकामेवानवान न
नुब्रूयात् ॥ १५ ॥

ता । स तता अ यवच्छिन्ना अवाह । सवत्सरस्यैतदहोरात्राणि सन्तनोति ।
तानीमानि सम्ब्रत्सरस्याहोरात्राणि स तता य यवच्छिन्नानि परिप्लव ते । द्विषत उ
चे । तद् भ्रातृयाय नोपस्थान करोति । उपस्थान ह कुर्याद्-यदस तता अनब्रूयात् ।
तस्माद्धै स तत अ यवच्छिन्ना अवाह ॥ १६ ॥

इति-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्
[सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-प्रथम ब्राह्मणम्]

१

—*—

तृतीयोऽध्यायञ्चात्र समाप्त,

३

—*—

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
चतुर्थोऽध्याय

४

— * —

—प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्
[सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मणम्]

१

— * —

हिड कृत्या वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वा आहु । न वा अहिड कृत्य साम
गीयते । स यद्विङ्कराति तद्विङ्कारस्य रूप क्रियते । प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगच्छति
ओ ३ म् ओ ३ म् इति । एतेनो हास्यैष मर्ग एव मसामा यज्ञो भवति ॥ १ ॥

यद्वेव हिङ्करोति । प्राणो । हिङ्कार । प्राणो हि वै हिङ्कार , तस्माद्-अपिगृह्य
नासिक न हिङ्कर्तुं शक्नोति । वाचा वा ऋतम वाह । वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम् ।
तदतत्पुरस्तामिथुन यजनन क्रियते सामिधेनीनाम् । तस्माद्वा हिड कृत्या वाह ॥ २ ॥

स वा उपाशु हिङ्करोति । अथ यदुच्चैर्हिड कुर्यात् अ यतरदेव कुर्यात्, वाचमेव ।
तस्मादुपाशु हिङ्करोति ॥ ३ ॥

स वा एति च प्रेति च वाह । गायत्रीमेवैतदर्वाची च पराची च युनक्ति ।
परा-यह दवेभ्यो यज्ञ वहति अर्वाची मनुष्यानवति । तस्माद्वा एति च प्रेति
चा वाह ॥ ४ ॥

यद्देवेति च प्रेति चावाह प्रति वै प्राण एत्युदान प्राणोदानावेनैत्तद्धानि ।
तस्माद्वा एति च प्रति चावाह ॥ ५ ॥

यद्देवेति च प्रेति चावाह । प्रति तरेत सियत एति प्रजायते । प्रति पशो
वितिष्ठते एति समावर्षते । सव वा इदमेति च प्रति च । तस्माद्वा एति च प्रति
चावाह ॥ ६ ॥

सोऽवाह—‘प्र वो वाजा अभिद्यव’ इति । तन्न प्रेति भवति । अग्न आयाहि
वीतय’ इति । तद्वति भवति ॥ ७ ॥

तदु हैक आहु—उभय वा एतत् प्रति सपद्यत इति । तदु तदातिविज्ञा यमिव । प्र
वो वाजा अभिद्यव’ इति तन्न प्रति । ‘अग्न आयाहि वीतय’ इति तद्वति ॥ ८ ॥

सोऽवाह—‘प्र वो वाजा अभिद्यव’ इति—तन्न प्रति भवति । वाजा इति । अन्न
वाजा, अनमेवैतदभ्यनूक्तम् । हविष्मत् इति । पशो वै हविष्मत् पशूनवैत-
दभ्यनूक्तम् ॥ ९ ॥

धृताच्या इति । विदेघो ह माथवोऽग्नि वैश्वानर मुखे बभार । तस्य गोतमो
राहूगण ऋषि पुरोहित आस । तस्मै ह स्मामयमाणो न प्रतिशयोति—ने मेऽग्नि-
श्वानरो मुखानिष्पद्याता इति ॥ १ ॥

तमृगभिर्हयितु दध्रे—‘वीतिहोत्र त्वा कवे घुम त समिधीमहि । अग्ने बृहत्
मध्वरे—विदेघ’ इति ॥ ११ ॥

स न प्रतिश्राव । ‘उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा आजत ईरते । तव ज्योति-
व्यचयो’ विदेघा २ इति ॥ १२ ॥

स ह नैव प्रतिश्राव । त त्वा घृतस्नवीमहे इत्येवाभिव्याहरत्—अथास्य घृत
कीर्त्तवैवाग्निश्वानरो मुखदुज्ज्वाल । त न शशाक धारयितुम् । सोऽस्य मुखानि-
ष्पेदे । स इमा पृथिवीं प्रापाद् ॥ १३ ॥

तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम् । स तत एव प्राङ् दह नभीयायेमा पृथि-
वीम् । त गौतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथव पश्चाद्दहतमवीयतु । स इमा सवा

नदीरतिददाह । सदान्नीरेत्युत्तराद् गिरनिर्द्धावात् ता हैव नातिददाह । ता ह स्म ता पुरा
ब्राह्मणा न तरति अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत एतर्हि प्राचीन बन्वो ब्राह्मणा । तद्वाक्षत्रतरमिवास, स्यावितरमिवास्वदित-
मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि क्षत्रतरमिव । ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्यज्ञैरसिष्वदन् । सापि जघये नैदाघे
समित्तेव कोपयति तावत्, शीताऽनातदग्धा ह्याग्निना वैश्वानरेण ॥ १६ ॥

स होवाच विदेशो माथव -क्याह भवानीति । अत एव ते प्राचीन भुवनमिति
होवाच । सैषाप्यतर्हि कोसलावदेहाना मर्यादा । ते हि माथवा ॥ १७ ॥

अथ होवाच । गोतमो राहूगण -कथन्नु न आमयमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति ।
स होवाचअग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत् स मे मे मुखानिष्पद्यात्, तस्मात् न प्रत्य-
श्रौषमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्व 'घृतस्नवीमहे इत्यभि याहार्षी तदेव मे घतकी-
र्त्ताग्निर्वाश्वानरो मुखादुदज्जालीत् तनाशक धारायतुम, स मे मुखानिरपा-
दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीषु घृतवत्-सामिधेनमव तत् । समेवैन तेने धे, वीर्यमेवास्मिन्
दधाति ॥ २० ॥

तदु घृताच्येति । 'देवाञ्जिगाती सुम्नयु' इति । यजमानो वै सुम्नयु, स हि
देवाञ्जिगापति स हि देवाञ्जिघासति । तस्मादाह देवाञ्जिगाति सुम्नयुरिति ।
सषाग्नेयी सत्यनिस्क्ता । सर्वा वा अनिरुक्तम सर्वाण्यैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

अग्नि आयाहि वीतये' इति । तद्वति भवति । वीतय इति-समन्तिकमिव ह वा
इमऽऽ लोका आसु, इत्यु मर्या हैव धौराग ॥ २२ ॥

ते देवा अकामय त-कथन्नु न इमे लोका वितरां स्यु, कथन्नु इद वरीय इव
स्यादिति । तानेतरैव त्रिभिरक्षरै र्यनयन् वीतय इति । त इमे विदूर लोका ततो
देवेभ्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो ह वा अस्मै भवति यस्मै विदेषु एतामवा-
हूर्वीतय इति ॥ २३ ॥

गृणानो ह यनातये' इति । यजमानो । ह यदाति । गृणानो यजमानाय य
 तदाह । नि होता सत्सि बह्विषि' इति । अग्नि- होता अय लोको बर्हिं । अस्मि-
 नातल्लोकेऽग्नि दधाति । सोऽयमस्मि लोकऽग्निहित । सषममय लोकमभ्यनूक्ता
 इममेवैतया लोक जयात-यस्यै विदुष एतामवाहु ॥ ४ ॥

तत्त्वा समिद्धभिरग्नि' इति । समिद्धाभर्होतमद्भिरस ए धत । अद्भिर इति ।
 अद्भिरा उ ह्यग्नि । घृतेन वर्द्धयामसीति । तत्सापधेन पदम । समेान तेनेध,
 वायमवास्मि दधाति ॥ २२ ॥

बृहच्छाच्चा यविष्ठय' इति । बृहदु ह्य ष शोचति समिद्ध । यपिष्ठ्य ति-यपिष्ठो
 ह्यग्नि । तस्मादा -यपिष्ठ्य ति । सषा एतमेय लोकमभ्यनूक्ता-अ तरिन्नलोकमेव ।
 तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । आनरुक्तो ह्येष लोक । एतमेवैतया लोक जयति-यस्यै ।
 विदुष एताम वाहु ॥२६॥

“स न अवाय्यम्” इति । अदो वै प्रथु-यस्मिन् देवा । एतत् अवाय्यम्
 यास्मन् देवा । अच्छा देव विवाससि' इति । अ छ देव पिनासमि-एतन्नो गमय
 इत्येवैतदाह ॥ ७ ॥

बृहदग्ने सुवीर्यम्' इति । अदो व बृहत्-यस्मिन् देवा , एतत् सुनायम् यस्मिन्
 देवा । सैषा एतमव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमय । एतम तया लोक जयति-यस्यव विदुष
 एताम वाहु ॥ ८ ॥

सोऽ ग्राह ईडेन्या नमस्य इति । ईडे-यो ह्येष , नमस्यो ह्य ष । तिरस्तमासि
 दशत ' इति । तिर इव ह्य ष तमासि सामद्धो दृशे । 'समग्निरिध्यते वृषा' इति । स
 हीध्यते वृषा । 'वृषो अग्नि समिध्यते'—इति स ही यत ॥ २६ ॥

अश्वा न देववाहन'—इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञ वहति ।
 यद्वै नेति ऋचि—ओमिात तत् । तस्मादाह-‘अश्वो न देववाहन' इति ॥ ३ ॥

त हविष्मत् ईडते'—इति । हविष्म तो ह्य त मनुष्या ईडते । तस्मादाह त
 हविष्म त ईडते' इति ॥ ३१ ॥

वृषण त्वा वय वृषन् वृष (षा) णा समिधीमहि' इति । स ह्य नमि धते ।
अग्ने दीद्यत बृहद्' इति । दीदयव ह्य ष बहत् समिद्ध ॥ ३२ ॥

त वा एत वृषणव त त्रिचम वाह आग्नेयो वा एता सवां सामिधे यो भवति ।
इ द्रो वै यज्ञस्य देवता, इ द्रो वृषा । एतन उ ह अस्येता से द्रा सामिधे यो भवा त ।
तस्माद् वृषणव त त्रिचम वाह ॥ ३३ ॥

सोऽ वाह-अग्नि दूत वृणीमहे' इति । देवाश्च वा असुराश्च उभय प्राजापत्या
पस्पृविरे । तान् स्पृष्ट्वमानान् गाय य तरा तस्थौ । या वै मा गाय यासीद्-इय वै सा
प्रथिमी । इय हैव तद् तरा तस्था । त उभय एव विदाश्चक्र - यतरान् वै न इयमुपा
वत्स्यति, ते भविष्यति परेतर भवष्यति' इति । तामुभय एगोपम त्रयाञ्चक्रि ।
अग्निरेव दवाना दूत आस सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाम् । साग्निमेवानुप्र षाय ।
तस्माद् वाह 'अग्नि दूत वृणीमहे' इति । स हि देवाना दूत आसीत् । 'होतार विश्ववेद
सम्' इति ॥ ३४ ॥

तदु हेकेऽन्वाहु 'होता यो विश्ववेदम्' इति । नेद्-अरमित्यात्मान ब्रवाणीति ।
तदु तथा न ब्रूयाद् । मानुष ह ते यज्ञ कुर्मति यद् व तद् यज्ञस्य य मानुषम्,
नेद् यद् यज्ञ करवाणीत । तस्माद्यथयर्चाऽनूक्तमेवमेवानुब्रूयाद् होतार विश्ववेदसम्'
इत्यव । 'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' इति । एष हि यज्ञस्य सुक्रतु यदग्नि । तस्मादाह
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति । सेय देवानुपाववत्, ततो देवा अभवन्, पराऽसुरा । भवति
ह वा आत्मना, परा अस्य सपत्ना भवति यस्याव विदुष एताम वाहु ॥ ३५ ॥

ता वा अष्टमीमनुब्रूयात् । गायत्री वा एषा अनदानेन । अष्टाक्षरा वै गायत्री ।
तस्माद् अष्टमीमनुब्रूयात् ॥ ३६ ॥

तद्वैके पुरस्ताद् धाय्य दधति अ न धाय्ये मुखत दम नाद्य दध्म' इति वद त ।
तदु तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता ह तस्योषा भवति- य पुरस्ताद्भाग्य दधाति । दशमी
वा हि तर्हि एकादशी वा सपद्यते । तस्यो ह एवैषा अवक्लृप्ता भवति यस्यातामष्टमी
म वाहु । तस्मादुपरिष्ठादेव धाय्ये दध्यात् ॥ ३७ ॥

समिध्यमानो अध्वरे' इति । अध्वरो वै यज्ञ । समिध्यमानो यज्ञ इत्येवैतदाह ।
अग्नि पावक ईड्य' इति । पावको ह्य ष, ईड्यो ह्य ष । 'शोचिक्वेशस्तमीमहे' इति ।

शोच तीव हि एतस्य कशा समिद्धस्य । समिद्धो अग्न आहुन' इति । अत प्राचीन
स मिधमभ्याद्ध्याद् यद् यत्सामध । अपवृड क्त इय ह्य तद् हाता । यद्वा अ य समिध
इध्मस्यातरि यते अतिरक्त तद् । यद्वै यज्ञस्यातर्क्त द्विष त हास्य तत् भ्रातृव्यमभ्य
तिरि-यत । तस्माद् अत प्राचीन सर्वमिधमभ्याद्ध्याद् यद् यत्सामध ॥ ३८ ॥

'देवान् यद्धि स्वध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञ । दवान् यान् सुयज्ञिय इत्यवैतदाह ।
'त्वा हि ह यवाडसि' इति । एष हि ह यवाड यदग्नि । तस्मादाह त्व हि ह यवाडमीति ।
'आजुहोता दुवस्यत । अग्नि प्रयत्यध्वरे । वृणीध्व ह्यवाहनम्' इति । सम्प्र ष्य
त्वे तथा आजुहुत च, यजत च यस्म कामाय समैधित । तत्कुरुत्वेतदाह ।
अग्नि प्रयत्यध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञ । अग्नि प्रयात यज्ञ इ य वैतदाह । 'वृणीध्व
ह्यवाहनमिति' । एष हि ह यवाहनो यदग्नि । तस्मादाह वृणीधा ह यवाहनमिति
॥ ३९ ॥

त वा एत अध्वर त त्रिचम वाह । दवान् ह वै यज्ञ न यजमानान् सपत्ना असुरा
दुधूर्षञ्चक्रु । त दुधूर्ष त एन न शक्नुर्वितुम् त परावभूवु । तस्माद्यज्ञो ऽध्वरो नाम ।
दुधूषन् ह वा एन सपत्न पराभ्रति यस्वाव विदुषोऽध्वरवत् त्रिचमन्वाहु । यावद्भव
साम्भोनाध्वरेणोष्टवा जयति, तावजगति ॥ ४० ॥

इति प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मण
तृतायप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण
(सामिधेनी ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मण)
उपरतम्
२

अथ-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याय द्वितीय ब्राह्मणम्
 तृतीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्
 (सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-तृतीय ब्राह्मणम्)
 ३

अथ निगदानुवचनम् —

एतद् व देवा अग्निं गारुष्ट युञ्जन् यद्भोतृत्वे इदं नो ह यं वह' इति । तमेतत्
 गारुष्टे युक्तवोपामदन् वीर्यवान् त्रै वमसि, अल वै त्वमेतस्मा असि' इति-वीर्ये
 समादधत । यथदमप्येतर्हि ज्ञाताना यं गारुष्ट युञ्जति तमुपमदति-वीर्या त्रै वमसि
 अल वै त्वमेतस्मा असि' इति वीर्ये समादधत । स यदत् ऊध्वमाग्राह-उपस्तौत्येवैनमेतत्,
 वायमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

'अग्ने महो२॥ असि ब्राह्मण भारत' इति । ब्रह्म ह्यग्नि । तस्मादाह-ब्राह्मणेति ।
 भारतेति । ण्ष हि देवेभ्यो ह यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निारत्याहु । एष उ वा इमा
 प्रजा प्राणो भूत्वा विभक्तिं तस्माद्वाग्राह-भारतेति ॥ २ ॥

अथ-आर्षेयानुवचनम् —

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद् वेभ्यश्च निवेदयति-'अयं महावीर्यो-यो
 यज्ञं प्रापदात । तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ३ ॥

परस्तादर्वाकं प्रवृणीते । परस्ताद्धर्मा यं प्रजा प्रजायते, ज्यायसस्पतय उ
 चैरेतं निह्युत, इदं हि-पितराग्र, अथ पुत्र, अथ पात्र तस्मात्परस्तादर्वाकं
 प्रवृणीते ॥ ४ ॥

अथ-निवित्पाठ —

स आर्षेयमुक्त्वाह-देवेद्धो मविद्ध' (तै ब्रा ३ ५ ३ १) इति । देवा
 ह्यतमग्र ए ध । तस्मादाह देवेद्ध इति । मनुर्होतमग्र ए ध । तस्मादाह-मविद्ध इति ॥ ५ ॥

‘ऋषिष्टुत’ (३ ५ ३ २) इति ऋषया ह्य तमग्र स्तुमन् । तस्मादाह—
ऋषिष्टुत इति ॥ ६ ॥

‘विप्रानुमदित’ (३ ५ ३ ३) इति । एते वै विप्रा यन्षय । एते ह्य तम
मदन् । तस्मादाह विप्रानुमदित इति ॥ ७ ॥

‘कविशस्त’ (३ ५ ३ ४) इति । एते म कपयो यदृषय एत ह्य तमशसन् ।
तस्मादाह—कविशस्त इति ॥ ८ ॥

ब्रह्मसशित (३ ५ ३ ५) इति । ब्रह्मसशितो ह्येष । ‘घृताह्वन’
(३ ५ ३ ६) इति । घृताह्वनो ह्येष ॥ ९ ॥

‘प्रणीयज्ञाना रथीरध्वराणाम्’ (३ ५ ३ ७) इति । एतन् वै सर्वान् यज्ञान्
प्रणयति, ये च पाकयज्ञा ये चेतरे । तस्मादाह—प्रणीयज्ञानामिति ॥ १ ॥

रथीरध्वराणामिति । रथो ह वा एष भूमा दवभ्या यज्ञ महति । तस्मादाह—
रथीरध्वराणामिति ॥ ११ ॥

‘अतूर्त्तो होता तूर्णिह यवा’ (३ ५ ३ ८) इति । न ह्यन रत्वासि
तरति । तस्मादाह—अतूर्त्तो होतति । तूर्णिह यवाडिति । सप्र ह्येष पाप्मान तरति ।
तस्मादाह—तूर्णिह यवाडिति ॥ १२ ॥

‘आस्पात्र जुहूर्देवानाम्’ (त ब्रा ३ ५ ३ ९) इति । देवपात्र वा एष
यदग्नि । तस्मादग्ना सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति । देवपात्र ह्येष । प्राप्नोति ह वै तस्य
पात्रम्—यस्य पात्र प्रप्सति य एवमेतद्ब्रह्म ॥ १३ ॥

‘चमसो देवपान’ (३ ५ ५ १०) इति । चमसेन ह वा एतेन भूतेन दवा
भक्षयति । तस्मादाह—चमसो देवपान इति ॥ १४ ॥

‘अरा २॥ इवाग्ने नेमिर्देवास्त्व परिभूरसि’ (३ ५ ३ ११) इति ।
यथारा नेमि सर्वत परिभू एव त्व देवान् सर्वत परिभूरसि—इत्यवैतदाह ॥ १५ ॥

अथ देवतावाहनम्—

आवह देवायजमानाय' (तै ब्रा ३ ५ ३) इति । तदस्मै यज्ञाय
दवानावोढवा आह ॥१॥ 'अग्निमग्न आवह' (३।५।३) इति । तदाग्नेयायाज्य-
भागायाग्निमावोढवा आह ॥२॥ 'साममावह (३ ५ ३) इति । तत्साम्याया य-
भागाय सोममावोढवा आह । अग्निमावह' (३ ५ ३) इति । तद्य एष उभयत्रायुत
आग्नेय पुरोडाशो भयात ॥३॥ तस्मा आग्निमावोढवा आह ॥४॥ ॥ १६ ॥

अथ यथादेवतम् ॥५॥ देवो२॥ आज्यपो आवह' (३ ५ ३) इति । तत्प्रयाजा-
नुयाजानावोढवा आह । प्रयाजानुयाजा १ देवा आ यपा ॥६॥ अग्निहोत्रायावह
(३ ५ ३) इति । तदर्जिन होत्रायावोढवा आह ॥७॥ १ माहमानमाग्रह (३ ५ ३)
इति । तत्स १ महिमानमावोढवा आह । वाग वा अस्य स्यो महिमा । तद्वाचमावोढवा
आह ॥८॥ आ च वह जातवेद सुयजा च यज' (३ ५ ३) इति । तथा
एतद् वता आयोढवा आह ता एतदाह । आ चना वहानुष्ठया च यजति, यदाह सुयजा
च यजति ॥९॥ १७ ॥

स १ तिष्ठन्न वाह । अ ग्राह ह्य तद् असा ह्यनुवाक्या तदसावेतद् भूत्वाऽ ग्राह ।
तस्मात्तिष्ठन्न ग्राह ॥ १८ ॥

आमीनो या या यजात । इय हि या या, तस्मान्न कश्चन तिष्ठन् याज्या यजति ।
इय हि या या, तदियमेवैतद् भूत्वा यजति । तस्मादासीनो याया यजति ॥ १९ ॥

इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मण
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मण
(सामिधेनी ब्राह्मणानुगतञ्च तृतीय ब्राह्मण)
उपरतम्

३

—*—

श्री

अथ—प्रथमकारण्डे चतुर्थाध्याय तृतीय ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च चतुर्थ ब्राह्मणम्]
४

अथ—शान्तिकर्म—

यो ह वा अग्नि सामिधेनीभि समिद्ध, अतितरो ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपति,
अनवधृष्यो हि भवति अनवमृश्य ॥ १ ॥

स यथा हैवाग्नि सामिधेनीभि समिद्धस्तपति, एव हैव ब्राह्मण सामिधेनीभिर्वा
ननुब्रुवस्तपति । अनवधृष्यो हि भवति अनवमृश्य ॥ ॥

सोऽवाह-‘प्रच’ इति । प्राणो वै प्रवान् प्राणमेवैतया समिध । ‘अग्नि
आयाहि वीतये’ इति । अपानो वा एतवान्, अपानमेवैतया समिध । ‘बृहच्छाचा
यविष्ठय’-इति । उदानो वै बहल्लोचा उदानमेवैतया समिध ॥ ३॥

‘स न पृथु श्रवाय्यम्’ इति । श्रोत्र वै पृथु श्रवाय्यम् श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु
श्रणोति, श्रोत्रमेवैतया समिधे ॥ ४ ॥

‘ईडेन्यो नमस्य’ इति । वाग वा ईडया वाग्धीद सर्वमीड । वाचेद सर्गमीडि
तम् । वाचमेवैतया समिधे ॥ ५ ॥

अश्वो न देववाहन’ इति । मनो वै देववाहनम् । मनो हीद मनस्विन भूयिष्ठ
वनीवाहते । मन एवैतया समिधे ॥ ६ ॥

‘अग्ने दीद्यत बृहत्’ इति । चक्षुर्नै दीदयेव । चक्षुरवैतया समिधे ॥ ७ ॥

अग्नि दूत व्रणीमहे' इति । य एवाय मध्यम प्राण एतमेवैतया माम ध । सा हषा तस्था प्राणानाम् अतो ह्य य ऊद्धर्वा प्राणा अतोऽयऽग्राञ्च । अ तस्था ह भवति । अ-तस्थामेन म य ते य एवमताम तस्था प्राणाना वेद ॥ ८ ॥

शोचिष्केशस्तमीमहे' इति । शिश्न वै शोचिष्केशम् । शिश्न द्वीद् शिश्निन भूयिष्ठ शोचयति । शिश्नमेवैतया साम ध ॥ ९ ॥

समिद्धो अग्नि आहुत'-इति । य एवायमवाड प्राण एतमेवैतया समिद्ध । 'आजुहोता दुवस्यन -इति । सर्वमात्मान समि धे-आ नखेभ्योऽथो लोमभ्य ॥ १ ॥

स यध न प्रथमाया सामिध यामनु-याहरेत्, त प्रति ब्रूयात् प्राण वा एत दात्मनोऽग्नावाधा प्राणेनात्मन आत्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ ११ ॥

यदि द्वितीयस्यामनु याहरेत्, त प्रात ब्रूयात्-अपान वा एतदात्मनोऽग्ना वाधा, अपानेनात्मन आत्तिमारिष्यसि इति । तथा हैव स्यात् ॥ १२ ॥

यदि तृतीयस्यामनु याहरेत् त प्रति ब्रूयात्- उदान वा एतदात्मनोऽग्नावाधा उदानेनात्मन आत्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १३ ॥

यदि चतुर्थ्यामनु याहरेत्, त प्रति ब्रूयात्-ओत्र वा एतदात्मनोऽग्नावाधा, ओत्रेणा मन आत्तिमारिष्यसि बधिरो भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १४ ॥

यदि पञ्चम्यामनु याहरेत्, त प्रति ब्रूयात् वाच वा एतदात्मनोऽग्नावाधा, वाचा मन आत्तिमारिष्यसि मूको भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १५ ॥

यदि षष्ठ्यामनु याहरेत् त प्रति ब्रूयात्-मनो वा एतदात्मनोऽग्नावाधा, मनसात्मन आत्तिमारिष्यसि मनोमुषिगृहीतो मोमुघश्चरिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १६ ॥

यदि सप्तम्यामनु याहरेत् त प्रति ब्रूयात्-'चक्षुर्वा एतदात्मनोऽग्नावाधाश्चक्षु षात्मन आत्तिमारिष्यस्य धो भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १७ ॥

यद्यष्टम्यामनु याहरत् त प्रति ब्रूयात्—‘मध्य वा एतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा मध्येन प्राणेनात्मन आत्तिमारिष्यस्युध्माय मरिष्यसि’ इति । तथा हैव स्यात् ॥ १८ ॥

यदि नवम्यामनु याहरेत् त प्रति ब्रूयात्— शिशने वा एतदात्मनोऽग्नावाधा शिशनेना मन आत्तिमारिष्यामि क्लोबो भविष्यसि इति । तथा हैव स्यात् ॥ १९ ॥

यदि दशम्यामनु याहरत् त प्रति ब्रूयात्— अवाञ्च वा एतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा , अगाचा प्राणेनात्मन आत्तिमारिष्यस्यपिनद्धो मरिष्यसि इति । तथा हैव स्यात् ॥ २० ॥

यद्य कादश्यामनु याहरेत् त प्रति ब्रूयात्— सर्व वा एतदात्मानमग्नावाधा , सर्वेणात्मनार्त्तिमारिष्यसि क्षिप्रेऽमु लोकमेग्यसि इति । तथा हैव स्यात् ॥ २१ ॥

स यथा हैवाग्नि सामिधेनीभि समिद्धमापद्यार्त्ति यात एव हैव ब्राह्मण सामिधेनार्त्तिनाममनुब्रुव तमनु याहृत्यार्त्ति यति ॥ २२ ॥

इति—प्रथमकारण्डे चतुर्थाध्याये तृतीय ब्राह्मण
तृतीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मण
[सामिधेनी—ब्राह्मणानुगतञ्च—चतुर्थ ब्राह्मण]
उपरतम्

४

इति—ब्राह्मणचतुष्टयात्मक सामिधेनीब्राह्मण
उपरतम्

—**—

ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी ब्राह्मण
शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत तीसरे अध्याय में पाँचवाँ ब्राह्मण,
एव तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण
सामिधेनी- ब्राह्मणानुगत- प्रथम-ब्राह्मण

१

*
मूलानुवाद

अथ-सामिधेन्यनुवचनम्

उह अग्न्यु (पद्रहसमित्-काष्ठकसमूहरूप) इमसे (इस आहवनीय) अग्नि को ही प्रज्वलित करता है । इसीलिए (इधन-साग्न होने में प्रज्वलन क्रमसावक) इन काष्ठों को [इधे-तस्मान्निध्म इस निवचन से) इध्म कहा जाता है । होता (एतन्नामक ऋत्विक् प्रवो बाजा ' इयादि) सामिधेनी ऋचाओं से (आहवनीय अग्नि को) समिद्ध करता है (अतएव समिधे तस्मात् सामिधेनी इस निवचन से इन ऋचाओं को) सामिधेनी' नाम से यवन्त किया जाता है ॥ १ ॥

उह अग्न्यु (सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन के लिए हाता नामक ऋत्विक् के प्रति प्रैष अनुज्ञा करता हुआ) कहता है— अग्नये समिध्यमानाय अनब्रूहि' (हे होत ! इध्मकाष्ठ से प्रज्वलित हुए अग्नि के लिए इसे समिद्ध बनाने के लिए जो सामिधेनी ऋचाएँ हैं उनका यथाक्रम अनुवचन करो) । (उक्त प्रैषमन्त्र से वह अग्न्यु) अग्नि के लिए ही इसे समिद्ध बनाने के लिए कहता है ॥ २ ॥

(उक्त प्रैषक सम्बन्ध में) कितने एक याज्ञिकों ने यह कहा है कि— 'अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि' (इयदिरूप से होतपद का उच्चारण करते हुए) इस रूप से प्रैष करना चाहिए । (अग्न्यु का चाहिये कि वह) वैसा कभी न करे (प्रैषमन्त्र में होतरनुब्रूहि' इयादि रूप से होतपद का मन्निवेश न करे) । कारण यही है कि (होतप्रकरणक्रम से) पहिले (इस सामिधेनी-अनुवचन के समय अनुवचन करने वाला) यह ऋत्विक् अहोता ही

रहता है। जब (आगे जाकर) इसका वरण होता है तभी यह 'होता' नाम का अधिकारी बनता है। इसलिए (बिना होपद का सन्निवेश किए) - 'अग्रय समिध्यमानायानुब्रूहि' इसी रूप से प्रथम करना चाहिए ॥ ३ ॥

(अग्रयुक्त प्रथम क अनुसार अनुपचनकर्म में नियुक्त) वह ऋत्विक् आग्नेया (अग्निदेवता सम्बन्धिनी) सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन करता है (अर्थात् इसे आग्नेयी ऋचा का ही अनुवचन करना चाहिए। ऐसा करता हुआ यह ऋत्विक्) इस अग्नि को अपने देवता के रूप से युक्त सामिधेनी ऋचा में ही समिद्ध करता है। (अर्थात् आग्नेयी सामिधेनी-ऋचा से अनुवचन करना सजातीयभाष से ही अग्नि को सामिद्ध बनाना है)। (यह ऋत्विक्) गायत्री (गायत्रीछ दोयुक्त सामिधेनी ऋचा) का अनुवचन करता है। गायत्री अग्नि का छन्द है। (इसका अनुवचन करता हुआ) आग्नेय के अपने ही छन्द से इसे समिद्ध बनाता है। गायत्री की यामिका है गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मण्यण) है ऐसी अग्रस्था में गायत्री से अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् ब्रह्मगीय्य से ही इस अग्नि का समिधन करता है। तापय्य यही हुआ कि छन्द, वीय, यण, सम्पत्तियों के आधान के लिए गायत्रीछन्द के ऋचाओं से ही अनुवचन करना चाहिए ॥ ४ ॥

(जिन सामिधेनी-ऋचाओं से यह 'सामिधेनी अनुवचनकर्म' हाता के द्वारा होने वाला है उनके सम्बन्ध में अग्नि देवता तथा 'गायत्रीछन्द' की अग्रस्था बतलाई गई। अब सरया की अग्रस्था करती हुई श्रुति कहती है) - यत् ऋत्विक् (आगे जाकर 'होतृप्रवर्णकर्म' से 'होता' कहलाने वाला ऋत्विक्) यारह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता है। त्रिष्टुप् (छन्द) ग्यारह अक्षर को है। गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मण्यण्यत्मिका) है त्रिष्टुप् चतुर (चत्रियवर्णात्मिका) है। (ब्रह्मात्मिका गायत्री-रूप वाली तथा चत्रात्मिका त्रिष्टुप् सरया वाली सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ) यह होता इन दोनों ब्रह्म चत्र-वीर्यों से युक्त करने के लिए गायत्रीछन्द एक एकादश सरयाक ऋचाओं का अनुवचन करता है। इसलिए यारह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता है ॥ ५ ॥

(सरया-यवरा के अनन्तर उच्चारण के सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है) - वह ऋत्विक् पहिली ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है एतन्तिम (याह्रवीं) ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है। कारण इसका यही है कि त्रिसप्तत्या हि देवा (तै - ३।३।८) इ यदि श्रोत सिद्धांत के अनुसार प्राकृतिक त्रिसप्तत्या प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण प्राकृतिक आधिपतिक नियम यज्ञ त्रिवृत् रूप से ही आरम्भ होने वाले हैं तथा त्रिवृत् रूप से ही समाप्त होने वाले हैं। इस प्राकृतिक त्रिवृत् सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही होता तीन बार पहिली ऋचा का तथा तीन बार अन्तिम ऋचा का अनुवचन करता है ॥ ६ ॥

(गायत्रीछन्द क सम्बन्ध से आग्नि म ब्रह्मगी य का आगान होता है एकादश सरया से ऋषुबनुगत क्षत्रीय्य का आधान हाता है एत्र त्रि प्रथमा त्रिरुत्तमा सरया से त्रिवृद्दयज्ञ की त्रिवृत्तसम्पत्ति का आधान होता है। इन उपक्रम उपसहार की सरयाआ स पन्द्रह सामिधेनी ऋचा होजाती है। इस पञ्चदश-सरया का क्या फल? २नी प्रश्न का सरयानुत्पन्न-प्रयक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) वे सामिधेनी ऋचाए (त्रि प्रथमा त्रिरुत्तमारूप से अनुपचन करने से) पन्द्रह होजाती है। वज्र (असुरनाशक प्राणेशक या मक शस्त्र पञ्चदश सम्पात्त से युक्त है। पञ्च साक्षत् वीर्य (अ त शक्ति) है। (पन्द्रह सरया क द्वारा यह ऋत्विक्) २स आ न मे इसी पञ्चदश वा य का सम्पादन करता है। (पन्द्रह सरया क प्रभाय स प्रयक सामिधेनी ऋचा वज्रपय बन जाती है)। अतएव इन सामिधेनी ऋचाओ का अनुपचन करे हुए जिस किसी क साथ (यजमान) द्वेष करे (जो यजमान से शत्रुता रखता हो) उसका इदमहममु त्रिद्याशु अमुक् वा अप्रबाध' यह बालता हुआ अपने हाथ क दोनों अंगूठा का जार स मसल डाले। सचमुच इस अभिचारकर्म से यह यजमान शत्रु को पीडा पहुचाने मे समथ हाजाता है। (ता प य यही हुआ कि सामिधेनी का उच्चारण करना वज्र ही फरना है। जिससमय ऋत्विक् उनका अनुपचन करता हो उस समय शत्रु का नाम लेकर 'मै उसे नष्ट करता हू' यह भावना करता हुआ यजमान यदि दोनो अंगुष्ठ मीढ डालना है तो अशयमेव शत्रु का अन्निष होजाता है। यह अभिचार शक्ति पञ्चदश सरया से ही इन सामिधेनी ऋचाआ मे प्रविष्ट होती है) ॥ ७ ॥

(पन्द्रहसरया स उज्जात्मका अभिचारसाधका शक्ति से सामिधेनी ऋचाआ को युक्त करना यह पञ्चदश सरया की एक उपपत्ति है। दूसरी उपपत्ति यह है कि)-अद्विमास की (एक पक्ष की) पन्द्रह रात्रिया होती है। (पञ्चदश-रात्रि समष्टिरूप) एसे अद्विमास से (अद्विमास क आगत न से) ही सम्प्रसर अपना स्वरूप सम्पन्न करता है। (अर्थात् अद्विमास क ४ आगत न से ही सम्ब सर बन जाता है। फलत अद्विमास की पन्द्रह रात्रियों सम्भूण सम्प्रसर रात्रिया की सम्पत्ति का कारण बन जाती है)। इन पन्द्रह सरयाआ से (अद्विमास की पन्द्रह रात्रिसम्पत्ति के द्वारा आर्चन सम्प्रध से) यह ऋत्विक् उन सम्बसर-रात्रिया की सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। (२स रात्रि सम्पत्ति क लिए भी पञ्चदश सामिधेनिया का अनुपचन हाता है यही स पञ्चदश सरया की दूसरी उपपत्ति है) ॥ ८ ॥

(अपिच सामिधेनी ऋचा गायत्री है पञ्चदशसरया क सम्प्रध से पन्द्रह गायत्री होजाती है। प्रयक गायत्रीमंत्र मे २४ अक्षर होते है। फलत) पन्द्रह गायत्रीमंत्रो क (४- ४ क अनुपात से) तीन और सा तथा साठ (३६) अक्षर होजाते है। तीन आर सा एत्र साठ (६) ही एक सम्प्रसर के दिन होते हैं। (पञ्चदश गायत्री ऋचाआ का अनुपचन करता हुआ ऋत्विक् इन ३६ अक्षरों को (अह सम्पत्ति को) प्राप्त कर लेता है। इसी के द्वारा (अह समुदाय द्वारा अह समुदायामक) सम्प्रसर (सम्ब सरयज्ञसम्पत्ति) प्राप्त करलेता है ॥ ९ ॥

(क्याकि सामिधेनी सरया का प्रकरण चल रहा है अतः प्रसङ्गापात्त काम्ययष्टि स सम्प्रय रखने वाली सामिधेनी ऋचाओं की सरया क सम्प्रय मे भी जात यस्या क्रमती है। ऋति जिस ऋषि क सम्प्रधम सरया की यस्था करन गली ह स ऋगपूणमास की त्रिकृतभूता काम्याष्टु' समझना चाहए जसा कि त काममनपराव राधनात २ याव स स्पष्ट है। ऋ पूणमास म जहा प ह सामिधेनीमन्त्र हाते है उहा तव त्रिकृतभूता काम्ययष्टि म तत्रा पशुबध म सग्रह सामिधेनीमन्त्र होते है जसा कि—“पञ्चदश सामध यो दशपूणमासयो , सप्तदशोष्टि पशुबधनाम्” (आपस्तम्ब श्र सू) इ यादि सूत्रासद्वान स प्रमाणित ह। काम्ययष्टि के सम्बध म यह विशेषता और समझ लेनी चाहिए क जहा दशपूणमास म आवापदेवता का उचै यजन होता है वहा काम्ययष्टि क आवापदेवता का उपाशु यजन हाता है स प्रामाणिक काम्ययष्टि सम्बधा उपचार सरया यस्था का स्वीकरण कती नई ऋति कहता है)—

वह ऋत्विक् इष्टि क सम्प्रय म (ऋगपूणमास की त्रिकृतभूता काम्ययष्टि क लिए) सग्रह सामिधेनी ऋचाओं का अनुचन (उच्चारण) कर जिस देवता क लिए (अग्रयु) इष्टि (काम्ययष्टि) का निर्वाप करता है उस [इष्टि] देवता क लिए उह उपाशु [तूणी] यजन करता है। [स प्रकार उपाशु यजन होने वाले २स काम्येष्टिक्रम म सग्रह सामिधेनिया का अनुचन करता हुआ ऋत्विक् सग्रह सरया से कामपत्ति अभिलषित फल प्राप्त करन म सलिए समथ होजाता है कि] एक सम्बसर क चरादि बारह [ता] महीन हाते है एउस तात्पि पाच ऋतुए — होती है। [इन सत्रह पर्वों से] यही [सम्ब सरयज्ञामक] प्रजापति सप्ततश [बन रहा] है। प्रजापति ही सत्र [सर्गामक अतएव सत्रकामरक] है। [इसप्रकार काम्ययष्टि म सग्रह सामिधेनिया का अनुचन करता हुआ ऋत्विक् समसरया समतुलितता सर्वात्मिका] प्रजाप या सम्पत्ति का सग्रह करता हुआ सम्पूर्ण [अभिलषित] ही उस काम [अभिलषित] का निरापन समृद्ध करने म [प्राप्त करने म] समथ होजाता है जिस [सकपित] काम कि प्राप्ति क लिए कि यह इष्टि का निराप करता है।

[काम्ययष्टि मे आवापदेवता का उपाशु यजन क्या हाता है २स प्रश्न की उपपत्ति बत लाती हुई ऋति कहती है कि]-वह ऋत्विक् उपाशुरूप से देवता का यजन करता है [२सका कारण यही है कि] अनिरुक्त [शब्द क द्वारा अप्रकट होने योग्य] ही उपाशु है। [उधर] सत्रभाव भी [समष्टि की अपेक्षा से] अनिरुक्त ही है। [एसी परिस्थिति मे अनिरुक्त भागामक उपाशुभाव से यजन करता हुआ अध्वर्यु] अनिरुक्तात्मक सत्रभावेन उस कामसमृद्धि को प्राप्त करन म समथ होजाता है जिस काम क लिए कि यह ऋि का निर्वाप करता है। यही [सत्र शसामिधेनिया का अनुचन तथा प्रधानदेवता का उपाशुयजन ही] इस काम्ययष्टिका उपचार [इतिकत्त यता मरु विशेषधम्म] है ॥ १ ॥

— हेम तशिशिरयो समासेन

[दशपूणमासेषि मे पूर्णम 'ता पञ्चदश सामिधेय सम्पद्य त' इयादि रूप से प ह सामिधेनियों का विधान बतला गया है। अब इसी सम्बन्ध में पक्षांतर उद्धृत करती हुई श्रुति कहता है]-कितने क याज्ञिक कहते हैं कि अथवा दशपूणमासेषि मे २१ सामिधेनी-ऋचाया का अनुवचन करना चाहिए। [२१ सामिधेनिया के अनुवचन की उपपत्ति वे याज्ञिक यह बतलाते हैं कि] एक सम्प्रसरक बारह [तो] महीन होते हैं पाच ऋतुएं होती हैं [त्रिवृत् पञ्चदश एकत्रिंश स्तोम भेदभिन्न] प्रथित्री अतरिक्ष द्यो य यीन [स्तौम्य पार्थिव] लोक होते हैं। इन सब क सकलन से सम्प्रसरक २ पूर्ण हो जाते हैं। यही १ वर्ष है जोकि यह [पगोलस्थ वृहती छान्दोग्य ऋषिद्वय क मध्य में स्थिररूप से] तप रहा है। यही [एकविंशसू य यज्ञफलामिका] स्वर्लोकामिका गति है यही (सप्रयज्ञ) प्रतिष्ठा है। (जा यजमान अपनी दशपूणमासेषि मे १ सामिधेनियों का अनुवचन करता है) वह (१ क द्वारा तत्समतुलित त्रिंशतिपर्यायक सम्प्रसर यज्ञ का सग्रह करता हुआ २स्कीसर्ग सामिधेनी क द्वारा तत्समतुलित सूर्यामिका) २सी गति का इसी प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इस गति-प्रतिष्ठा-प्राप्तिके लिए २१ सामिधेनिया का ही अनुवचन करना चाहिए ॥११॥

(उक्त पक्ष का खण्डन करती हुई श्रुति कहती है कि) इन १ सामिधेनियाका (उस) भाग हीन यजमान के लिए ही उच्चारण करना चाहिए जो यजमान यह चाहता है कि न तो मेरा अभ्युदय हो न पतन हा। (यजमान अपनी जसी स्थिति में रहता हुआ यज्ञ करेगा वैसी ही स्थिति में प्रतिष्ठित) यजमान के लिए ही अभी ही सामिधेनिया का अनुवचन करते हैं एव वह यजमान वैसा ही (उसी पू स्थिति में) रहता है। अथवा तो उस से भी निम्नश्रेणी में चला जाता है जिस यजमान के लिए एक ऋत्विक् (२१ सामिधेनी का उपयुक्त गति-प्रतिष्ठामिका उपपत्ति बतलाते हुए) इन १ सामिधेनियों का अनुवचन करते हैं। और वास्तव में (यज्ञपद्धतिया क आधार पर बात तो यह है कि) १ सामिधेनियों क अनुवचन का पक्ष केवल पक्ष ही पक्ष है निष्प्रयाजन-मीमासा ही है अस्तु २१ का (ऋत्विक्कलोग) कदापि अनुवचन नहीं करते।

तात्पर्य श्रात (याज्ञिक कय) का यही है कि यज्ञकर्म किसी अतिशय की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। श्री (सम्पत्ति) की प्राप्ति के लिए अभ्युदय के लिए एव पूव की सामान्य परिस्थिति से उच्च स्थिति में पहुँचने के लिए ही यज्ञ किया जाना है। यह फल तभी सम्भव है जब कि पद्धति प्रदर्शित पञ्चदश सामिधेनियों का ही अनुवचन किया जाय। केवल सरया क आधार पर सम्पत्ति का समतुलन करते हुए १ सामिधेनी करना अनुचित है। जो यजमान यह चाहे कि मैं श्रीशूय बना रहूँ यज्ञ से मेरा कान्तिरोग लाभ न हो अथवा जो यह चाह कि न तो मेरा कोई लाभ ही हो न हानि ही हो वह अग्रयण ही १ का अनुवचन करना सकता है। अवश्य ही ऐसे अनुवचन से यजमान जैसे का तसा ही बना रहेगा। और बहुत सम्भव है इस सामान्य स्थिति से भी गिर जायगा। इसलिए २१ का पक्षांतर केवल मीमासा ही सम्भनी चाहिए।

श्रुति के अन्तर स्पष्टतया से १२ की कण्डिका का उक्त अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है। कारण यही है कि मा उ एषा मीमासैव न त्वेवैता अनु य ते' बारहवीं कण्डिका के इस उप

सहारवाक्य से यही सिद्ध त निकलता है कि १ का पक्ष याज्ञिक क कर्त्तव्य का अनिष्ट विचार ही विचार है। न कभी ऐसा हुआ न होना चाहिए। अत्रकाश क समय याज्ञिक म माग्निधेनी-सरया की उपपत्ति क स व घ मे कभी चर्चा चला हागी। उहा किसी न य क निया हागा कि २१ सामिधेनी क्यों न की जाय ?। स से २१ मुख्य की गति प्रातष्ठा प्रा न हाजायगी। तत्काल ही कसी वैज्ञानिक याज्ञिक न उपेक्षापूर्वक इस पक्ष का उपहास करते हुए कह दिया हागा कि हा ठीक है जिस यजमान का श्री की अपक्षा न हा प्रथम तो उस क यज्ञ मे अथवा जो यजमान यह चाहे कि न मेरा अ युदय हो न पतन हो मै जैसे का तसा ही बना रहु उस यजमान क लिए अग्रय हा १ का अनुवचन कर सकते है। पर तु यह भी यान रहे कि यजमान का अभ्युदय तो नहीं ही हागा परतु उहुत स भय है उस का अनिष्ट भी हाजाय। उसी सामयिक चर्चा म उपस्थित होने वाले कापनिक १ पिस पक्ष का श्रुति ने उली आक्षेपा मरु-उपहासास्पन् शर्दों मे इतिवृत्त बतलाते हुए सिद्धा त मे १५ सामिधेनी पक्ष का ही समर्थन किया है। ता हैता गतश्रवेव अननुव्रुयात् य इच्छेत् न श्रयान् स्यात् न पापीयान् इति। न्स से उपेक्षापूर्वक १ का अफला मक फल बतलाते हुए इस पक्ष का उपहास किया। सर्वान्त म— सा उ एषा मीमामा एव, न त्वेतैता अनुव्रुते' इस वाक्य से इस १ पक्ष का निरसन कर दिया गया। इसी आधार पर हमने १ वीं कण्डिका को प्रपक्ष-खण्डन परक माना है। परतु यारया-ताआ ने १ वीं कण्डिका का 'आवकारभद' म र्यात् परक लगाते हुए इस का यह अर्थ किया है कि—

जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट हागइ हो उस यजमान क यज्ञ म ही सामिधेनियों का अनुवचन करना चाहिए। जो यजमान अ छी रिग्नि म है उम क यज्ञ म १ क अनुवचन की कोई प्राशयकता नहीं है। यह अर्थ 'ता हैता गतश्रवेवानुव्रुयात्' इस वाक्य का किया है। एउ इसके आगे के 'य इच्छेत् न श्रया स्यात्, न पापीयान्, यादशाय है व स ते वाहुस्तादृढ हैव भवति' वाक्य को पापीयान् वा से प्रथक् कर उस का यह अर्थ किया है कि— जो यज-मान श्रेष्ठ्य नैकृष्ट्य दोनों नहीं चाहता है उस के लिए यथोपलब्ध प्रकार से (१५ अथवा १७) सामिधेनी का अनुवचन करते है। आगे जाकर पापीया वा क वा' उपलक्षण विधि से श्रयान् का ग्रहण करते हुए यह अर्थ किया गया है कि १ सामिधेनी पक्ष म यजमान अच्छी कामना रखता है तो श्रेयान् होता है अ यथा पापीयान् होता है। पाठक देखग कि इस यारया म किस प्रकार शर्द-म र्यादा की प्रकरणसङ्गति की उपेक्षा हुई है ?। अस्तु जा कुछ हो प्रकृत मे कण्डिका का निष्कष यही निकलता है कि १ का पक्ष कर्त्तव्य मीमासा ही है। ऐसा अनुवचन होता नहीं और यही सिद्धान्त यह सिद्ध कर रहा है कि २१ का पक्ष पक्षा तर नहीं है अपितु उपेक्षाभाषा के द्वारा खण्डनात्मक ही बन रहा है।

कितने एक यारयाता अर्थ प्रकार से भी उक्त कण्डिका का समन्वय कर रहे है। और-पूर्वोक्त द्वितीय-याख्या की अपेक्षा प्रस्तुत याख्या फिर भी यथाकथंचित् ठीक मानी जासकती है। याख्या का

स्वरूप यहा है कि अधिकारी क भन् से सामिधेनियों की सरया की यप्रस्था है । यह जो २१ का अनुवचन है वह जिस यजमान की स पत्ति नष्ट होगई है उसी यजमान क निण नियत है । क्या एक प्रातष्टारूप २१ से यजमान की उग्वडी हुई प्रातष्टा पुन प्रतिष्ठत होजाती है—'ता हैता गतभ्र रवानब्रूयात्

जा यजमान न अपना अभ्युत्थ्य चाहता है न पतन उस यजमान के लिए उसे उसकी सामा य स्थिति पर रहन क लिए ऋत्विक् लोग पूर्वोक्त पञ्चदश क्रिया स तदश का ही अनुवचन करते है— य इच्छेन श्रेया त्या न पापीयान् यांशाय हैय स तेऽ वाहु तादृङ्ग वा हव भवति' ।

दोनों पक्ष मे से दूसरे १ उ पक्ष मे दोष बतलाती हुई श्रुति कहती है कि १ के पक्ष मे 'श्रयान् के स्थान मे पतन' होसकता है । अर्थात् फलप्राप्ति सदि ध है— पापीया गा । ऐसी स्थिति मे १ क पक्ष का कणल मीमासा [त्रिचार] ही समझना चाहिए इसका अनुवचन नहीं करना चाहिए सा उ एषा मीमासाव, न त्वे ता अनुच्य ते ॥१२॥

[सरया क स उ ध मे यप्रस्था कर अब उच्चारण-क्रिया मे प्रिशेपता बतलाती हुई श्रुति कहती है] उस ऋत्विक् [भावी होता] को पहिली सामिधेनी-ऋच का तथा अ त की सामि धेनी ऋचा का तीन तान बार अनयानन् [अनुच्छ्रास] रूप से ही अनुवचन करना चाहिए । [कहा गया ह कि १ म से १-११ गीं ऋचा का तीन तीन बार बाला जाता ह । २न के उच्चारण मे एकस-तानभाय ही रहना चाहिए । अर्थात् एक ही श्वास मे-बना म य म प्रिश्राम किण आरम्भ की ऋचा का त्रि-वार एयमेय अत की ऋचा का त्रि बार उच्चारण करना चाहिए । स एकश्वासात्मक सन्तानभाय का कारण यही है एक] प्राकृतिक नि य आप्रितैयिक यज्ञ मे [प्रथित्री अ तरिच-द्या नामरु] तान लाक है । [तीन लोक महिमाप्रथिवीरूप एक ही लोक के तीन सन्तत पय है] । [यहा तीनो ऋचाओं का सन्तत उच्चारण करता हुआ ऋत्विक्] नही तीना लोकों को [यज्ञफलभाक्ता यजमान क लिए प्रातिसिरिकरूप से] एकरूप से [अविच्छिन्नरूप से] फलाता है क्रिया तीना का परस्पर ग्रथिब धन करता ह एय तीनों को प्रीणित तथा [परस्पर क ब-धन से] बलयुक्त बनाता है । अपिच । आ यामिक यज्ञमूर्ति] पुरुष मे प्राण-यान-अपान भेद स तीन प्राण । अ यगि छन्नरूप से] प्रतिष्ठित है । [२स अनवानन्-क्रिया से यह होता] इहा तीना का परस्पर सम्बद्ध [सन्तत] तथा विच्छिन्नरहित [अ यच्छिन्न] करता है । यही अनुवचन का [त्रैज्ञ निक] प्रकार ह अर्थात् अनयानन्-रूप से ही अनुवचन करना चाहिए ॥१३॥

(प्रथम तथा अत की तीन तीन ऋचाए यथास्वर-सुस्पष्ट-म र्यान् से एक साथ एक श्वास से बाल देना सागरण काम नहीं है । मान लीजिए होता म स्वरस-धान का उतना बल नहीं है । एसी णशा म अनुवचन की क्या मर्यादा होगी ? इसी प्रप्रतिपत्ति के सम्बन्ध मे यप्रसा करती हुई श्रुति कहती है कि)—(त्तम पक्ष तो यही है एक) इस होता का जहातक वश

चले शक्तिभर स्वीप्रकार (पूर्वोक्त अनजानरूप से एक ही श्वास म) अनुवचन करने का प्रयास कर—(स यावद्व वश स्यात् एयमेजानुविवक्षत)। (यदि ऐसा सम्भव न होसक ता उस स्थिति में शक्ति के अभ्यास में एक ऋचा के मध्य में विश्राम न लेकर पूरी ऋचा समाप्त होजाने पर ही विश्राम कर सकता है। परन्तु) इस (मय विश्रामामक) पक्ष की निंदा ही मानी जाती है। (निन्दन का मूल यही है कि)—अनजानन् (एकश्वास में) बालने की इच्छा से ऋद्धमत्र का उच्चारण करता हुआ हाता जब कि मय में श्वास का परित्याग कर देता है तो उस दशा में (त्रैलोक्य सधाना मरु) यह अनजानन्-अनुवचनकर्म (मध्य के विश्राम स-यय-विच्छन्न होता हुआ) निबल ही होजाता है। यही इस पक्ष में परिचक्षा (निन्दता) है। ताप-यत्स परिचक्षाभाजप्रश्न का यही है कि जब ऐसी परिस्थिति उपपन्न होजाय कि अब विश्राम लिए बिना आगे उच्चारण असम्भव है तभी मध्य विश्राम अपेक्षित है) ॥

अथवा उक्त कण्डका का इस रूप से भी समग्र किया जासकता है कि अनुवचन करने वाले होता को चाहिए कि उसके श्वास में (जितनी देर ठहरने का) बल है उतनी देर तक ही बोले। श्वास पर बल प्रयोग न करे। वाक्-शक्यभाज में यदि होता तीन ऋचाएँ एक साथ न बोलकर मय में विश्राम ले लेता है तो कोई दोष नहीं है—‘स यावदस्य वश स्यात्, एयमेवानुविवक्षेत’।

उक्त पक्ष को अनेपभाक् मानने वालों का प्रतिपादन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं ऐसी बात नहीं है। अग्रय ही इस पक्ष की (ऋद्धमय विश्राम की) परिचक्षा (निंदा) ही है। यदि होता एक श्वास में (अनजानन्) बोलने का सकल्प कर (अनुवचन) मय में (साम) ही विश्रामकर लेगा [अपयात्] तो त्रैलोक्य-सतानाथ होने वाला लोकसतानायवच्छदसाधक] यह कर्म शिथिल होजायगा—उत सामि अवा यात् अनवा ननुविवक्षन्, तत् कर्म विवक्षेत’। यही इस विश्रामपक्ष में दोष है। (अतः कभी ऋद्धमय में अवसान नहीं होना चाहिए)। उक्त दोनों अर्थों में आगे के प्रकरण की सङ्गति की दृष्टि से दूसरा अर्थ ही अन्वय समझना चाहिए ॥१४॥

[प्रश्न उपस्थित होता है कि जब विश्राम लेना दोष है एवं कोई होता अपनी शक्ति से एक श्वास में तीनों का अयवच्छन्न उच्चारण कर नहीं कर सकता तो ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय ?। इसी प्रश्न के सम्बन्ध में पक्ष तर बतलाती हुई श्रुति कहती है कि] यह होता यदि ऐसा करना (अनजानन् रूप से एक श्वास में) अपनी शक्ति के वाहिर समझता है (तो उस दशा में ऋद्धमत्र के मय में विश्राम न कर (एक एक ऋचा का अनजानन् (एक श्वास में) अनुवचन करे। (अर्थात् ऋद्धमय में विश्राम करना दोष है ऋक् के अवसान में दोष नहीं है)। (यदि ऋक् के अतः में विश्राम किया जायगा तो पूर्वोक्ता आधिदैविकी लोकसम्पत्ति तथा आध्यात्मिकी प्राणसम्पत्ति कैसे प्राप्त होगी ? प्रश्न का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है) इस एक एक ऋचा से ही वह (क्रमपरम्परया) तीनों लोकों को सन्तत तथा इह बलवान् बनाने में समर्थ हो जाता है। (तीनों लोक सन्तत होते हुए प्रथक् प्रथक् हैं। ऐसी स्थिति में तीनों के प्रथक् प्रथक्

किंतु निरन्तर अनुवचन से लोकस पत्ति प्राप्त होजाती है यही ता पय्य है । अब जोकि प्राणा धान करता है—(उसका सम ग्रय इसप्रकार हाजाता है कि प्राण अपान यान तीनों आ यात्मिक प्राण आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य याप्त एक ही गायत्रीप्राण क तीन पत्र है । फलत प्राणत्र यामका) गायत्री ही प्राण है । सा चो कि होता एक बार म ऋड्म ऋरूप अशेष गायत्री का अनुवचन करता है इससे (प्राणत्रयगर्भित) अशष प्राण का भी आधान करने मे समथ हाजाता है । इमलिए (जव कि एरु एक क अनयानन् अनुवचन स लोक प्राण स पत्तियों प्राण होजाती है तो) एक एक का अनयानन् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों क सम्बन्ध मे उच्चारण की ययस्था बतलाई गई । अब समष्टिरूप से १५ हों के उच्चारण सम्प्र ध मे त्रिशष नियम बतलाती हुई श्र ति कहती है ।क) वह होता इन १५ सामिधेनी ऋचाओं का अ यवर्चिन्नरूप स (नैरतय्यावाध से) अनुवचन करता है । (ता पय्य यही ह कि पन्हों का उच्चारण क्रमश परस्परया बना अ य कम्म क समावेश के निरन्तर मर्यादा से ही हाना चाहिए । कारण इसका यही ह कि य १५ ऋड्मन्त्र पूर्वकथ नानुसार सम्प्र सर क अहोरात्र स्थानीय है । स तत अ यवर्चिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्प्रसर क अहोरात्र पर्वो को ही सतत तथा अ यवर्चिन्न करता ह । य वे सम्प्रसर क अहोरात्रपव परस्पर मिलकर सतानपरम्परारूप से ही चक्रवत् पारर्तित होते रहत है । प्रकृत मे अहोरात्रपव सन्तत अ यवर्चिन्नरूप से ही परिप्लबमान है । अत तत्स्थानीया सामिधेनी का भी उसी मर्यादा से अनुवचन होना चाहिए । (अब इस स तत अत्रिच्छिन्नभात्र का दूसरा कारण बतलाती हुई श्र ति कहती है कि स तत अत्रिच्छिन्नरूप स अनुवचन करता हुआ होता) द्वेष रखने वाले (कृत्रिमशत्रु) क लिए तथा भ्रातृय क लिए (सहजशत्रु के लिए) इस (अग्ने भो य स्थानीय सम्प्रसरचक्र मे) उपस्थान' (प्रवेशद्वारा) नहीं करता ह । वह हाता (यजमान के इस भोग्य सम्प्रसरचक्र मे उभयविध शत्रुओं के लिए) प्रवेशद्वार ही बनाता है जो कि असततरूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता ह । अत स तत अ यवर्चिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय मे पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक मे दूसरा
ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

(तीसरा अध्याय समाप्त)

३

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्यान्तर्गत चौथा अध्याय आरम्भ

४

—*—

चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत दूसरा ब्राह्मण

गायत्री-छन्दस्क १५ सामिधेनीमन्त्र १५ सरया प्रथमोत्तम क तीन तीन मन्त्र का अनुरानन् उच्चारण १५ हा का सततरूप से अनुवचन इन से क्रमश ब्रह्म चतु-सम्बत्सर के अहोरात्रपर्व प्रवेशद्वारराहत चक्राधिपत्य इन चार सम्पत्तियों की प्राप्ति बतलाई गई। अब उन्हीं सामिधेनियों क सम्बन्ध में उच्चारणानुगत विशेषधम्म का विधान करता हुआ निम्न लिखित प्रकरण उपक्रात होता है—

वह होता (सामिधेनी ऋक् का उच्चारण करने से पहले) 'हिकार' करक ('हि' शब्द का उच्चारण करके) अनुवचन (ऋक् का उच्चारण) करता है। वैज्ञानिक लोगान कहा है कि (कोई भी) यज्ञ अस्वामा (साम रहित) नहीं है। (साथ ही) हिकार किए बिना साम नहीं गाय जासकता। सो जोकि होता हिड करता है इस से हिङ्कार का रूप सम्पन्न करता है एव आश्म् ओश्म् इस प्रणय से ही साम के रूप (रूपसम्पत्ति) को प्राप्त करता है। इस (प्रणवपूर्वक हिंका रानुगत अनुवचन) से सम्पूर्ण यज्ञ समासा (सामसम्पत्ति से युक्त) होजाता है। प्रत्यक मन्त्र प्रणवपूर्वक बोला जाता है प्रणय से पहले यहा हि और लगाया जाता है। इस हिंकारान्मक-प्रणवोच्चारण से सामसम्पत्ति गताथ बन जाती है। हमारा यज्ञ ससाम बनजाय यही हिकार की एक उपपत्ति है यही तापय्य है) ॥१॥

जिस (दूसरे) प्रयोजन के लिए कि हिङ्कार करता है- वह बतलाते है) नासिकास्थित श्वास प्रशवासाधिष्ठाता मुरय) प्राण निश्चयेन हिङ्कार है। इसका प्रयत्न प्रमाण यही है कि (कोई भी यक्ति) नासाच्छिद्रों को अवरुद्ध कर हिकार नहीं करसकता। (जहा हिकार नासाप्राणामक होने से प्राण है उहा) ऋड्मन्त्र वाग्रूप उच्चारणापेक्षया वागामक है। इसप्रकार हिकार प्राण' बना हुआ है एव ऋक् वाग्' बनी हुई है इसी वाक् प्राण क मिथुनभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है कि-वाक् से ऋक् का अनुवचन करता है एव वाक्-प्राण दोनों का (योषा-वृषामक)

मिथुन (दाम्पयभाव) है। (सप्रकार हिंकारपूर्वक-प्राणपूर्वक-ऋक् का (वाक् का) प्रयोग करता हुआ) होता (इस हिंकार-ऋकरूप प्राण वाक् क मिथुन से) सामिधेनियों के पहले ही मिथुन प्रजनन करता है। इस (प्रजनन सम्पत्ति के) लिए भी हिंकार करके अनुवचन करता है ॥२॥

वह होता उपाशुरूप से मद्दरूप से किन्तु गम्भीर वनि से) हिंकार करता है। यदि होता (मन्त्रवत्) उच्चस्वर से हिंकार करगा तो इस हिंकार को भी दूसरी वाक् ही बना डालेगा (फलत मिथुनसम्पत्ति प्राप्त न हागी) इसलिये उपाशु हिंकार करता है ॥३॥

वह हाता 'आ तथा 'प्र' से युक्त सामिधेनी ऋक् का अनुवचन करता है। [स 'आ' से उपलक्षित एति' तथा 'प्र' से उपलक्षित प्रेति' के समावेश स सामिधेनी ऋग्रूपा] गायत्री को ही यह होता [एति से] अर्वाची [भूलोकानुगामिनी] बनाता है एव [प्रति से] पराची [द्युलोकानुगामिनी] बनाता है। पराची गायत्री ता देवताओं के लिए यज्ञ [आहुतिद्रव्य] का वहन करती है एव अर्वाची गायत्री मनुष्यों का पालन करती है। [इस उभयाध फलप्राप्ति के लिए ही] एति प्र ति रूप से सामिधेनी का अनुवचन करता है ॥ ॥

[एति प्रति की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं] जिस प्रयोजन के लिए कि एति प्रेति-पूर्वक अनुवचन करता है-[उसका दूसरा कारण बतलाते हैं]-परा-गति सूचक] 'प्र' [प्रतिरूप मर्यादा से] प्राण है एव [अवगति सूचक] 'आ' उदान है। ['प्र' 'आ' का सम्बन्ध करता हुआ] होता [यज्ञातिशयलक्षण भावी यज्ञपुरुष म] 'प्राणोदान' ही स्थापित करता है। इसलिये भी 'एति प्र ति' पूर्वक अनुवचन करता है ॥४॥

जिसलिए कि 'आ प्र' पूर्वक अनुवचन करता है [उसकी तीसरी उपपत्ति बतलाते हैं]। [सिन्धुमान रेत क्योंकि सिञ्चन करने वाले से परागगति रखता है इस सादृश्य से] 'प्र' यह रेत का आधान है [सिक्तरत गर्भाशय से हमारे अभिमुख आता हुआ सिञ्चन करने वाले से अर्वागगति रखता है इस सादृश्य से] 'आ' यह उपपत्ति है [इस रेत सेक तथा प्रजो पत्ति सम्पत्ति के आधान के लिए भी एति प्रति पूर्वक अनुवचन किया जाता है]। अपिच-[तृणादिभक्षणार्थ पशुओं का जङ्गल में जाना क्योंकि परागगति से सम्बन्ध रखता है इस सादृश्य से] 'प्र' यह पशुगमन-स्थानीय है। एव [जाकि सायकाल पशुओं का लौट आना अर्वागगति से सम्बन्ध रखता है इस सादृश्य से] 'आ' यह पशुओं का लौटना है। [इस पशुसमृद्धि के आधान के लिए भी एति प्र ति-पूर्वक अनुवचन किया जाता है। इसप्रकार एति प्र ति' के सम्बन्ध में चार उपपत्तियाँ बतलाकर अतः एति प्रेतिरूपा गायत्री से उपर सम्पूर्ण विश्व में-एति-प्रेति भाग

[आदान-विसर्गभाव] की यापित बतलाती हुई श्रुति कहती है]—सभी पन्थ-समष्टि याष्ट्ररूप से उभयथा आ-[आदान] प्र-[विमर्ग] भावों से ही युक्त है। [इम सजसामा य-सम्पात्त-आदानप्रिसर्गमिका कम्मसम्पत्ति-क लिए ही] एति-प्रेति पूज्य अनुवचन करता है ॥६॥

[अनुवचन क सम्बन्ध म जो कुछ विशेषताएँ बतलानी थीं बतलादा गईं। दूसरे शान्तों में अनुवचनानुगत उपपत्ति-प्रकरण समाप्त हुआ। अब पद्धति-प्रकरण आरम्भ होता है। पद्धति-प्रकरण आरम्भ कर इस से पहिले सामिधेनी-मन्त्रपाठ के सम्बन्ध म कुछ विशेष बात [प्रथम अनुगत] लक्ष्य में ले आनी चाहिये—

प्रकृत ब्राह्मण की सातवीं काण्डिका से आरंभ कर ४ वीं काण्डिकापर्यन्त [ब्राह्मणसमाप्ति पर्यन्त] जिन सामिधेनी-मन्त्रों का चारया हुई है वे सामिधेनीमन्त्र तैत्तिरीयब्राह्मण म निम्नलिखित रूप से पठित हैं—

१-प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृता या ।

दवाञ्जिगातु सुम्नुयु ॥

-ऋक्स ३।२७।१ ।

२-अग्नि आयाहि वीतये गृणानो ह यदातय ।

नि होता सत्सि बर्हिष ॥

-ऋक्स ६।१६।१ ।

३-त त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन बद्धयामसि ।

बहच्छोचा यविष्ठय ॥

-ऋक्स ६।१६।११ ।

४ स न पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि ।

बहदग्ने सुवीर्यम् ॥

-ऋक्स ६।१६।१२ ।

५-ईडेयो नमस्यस्तिरस्तमासि दर्शत ।

समग्निरिध्यते वृषा

-ऋक्स ३।२७।१३ ।

६ वृषो अग्नि समिध्यते अश्वो न देववाहन ।

त हविष्मन्त ईडते ॥

-ऋक्स ३।२७।१४ ।

७ वषण त्वा वय वषन्—वषाण सामधीमहि ।

अग्ने दीद्य त बहत् ।

—ऋक्स ३।२७।१५ ।

८ अग्नि दत् वणीमहे हातार विश्ववेदमम् ।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥

—ऋक्स १।१२।१ ।

९ समिध्यमानो अधरे अग्नि पावक ईडत् ।

शोचिष्केशस्तमीमहे ।

ऋक्स ३।२७।४ ।

१ समिद्धो अग्न आहुत देवान् यत्त्विस्वधर ।

त्व हि ह यवाडसि ॥

—ऋक्स ५।२८।५ ।

११—आजुहोत *दुवस्यताग्नि प्रयत्यधरे ।

वणीध्व ह यवाहनम् ॥

—ऋक्स ५।२- ।

(—तै ब्रा ३।५।२ ।)

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रा से ही अग्निसमिधनकम्म किया जाता है। प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण यद्यपि प्रचलित शुक्लयजु सहिता की क्रमिक याख्या करता हुआ इसी का ब्राह्मण माना जाता है परन्तु आश्चर्य है कि उक्त ग्यारह मंत्रों में से यजु सहिता में केवल 'तत्त्वा समिद्धि' (यजुस ३।३) यह एक ही मंत्र उपलब्ध होता है। शेष १ मन्त्र यजुसहित में नहीं है। इसीप्रकार आग जाकर जिन मंत्रों का अनगदानुवचन, आर्षेयानुवचन तथा निमित्पाठ-कर्मा में उपयोग हुआ है वे निम्न लिखित मंत्र भी यजुसहित में अनुपलब्ध हैं। प्रत्येक शाखा का एक ब्राह्मण एक आरण्यक तथा एक पानपत् हाता है। बहुत सम्भव है प्रथम तो प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण माध्यदिनीशाखा का न हो अथवा प्रचलित यजुसहित माध्यदिनीशाखा की न हो। अतएव ही दोनों में से एक पक्ष भीमास्य है। अन्यथा जो मन्त्र स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ में पठित है उन का यजुसहित में उपलब्ध न होना कोई अर्थ नहीं रखता। अनुपलब्ध शेष मंत्र ये हैं—

— 'वषण' इति ऋक्सहितायाम् ।

*— 'आजुहोता' इति ऋक्सहितायाम् ।

“अग्ने महा अग्नि ब्राह्मण भारत (अमाग्मा) दवेद्वो मग्निद्ध ऋषिष्टुतो विप्रानुमदित कपिशस्तो ब्रह्मशासतो घृतमाहन प्रणीयज्ञाना स्थीरध्वराणाम् । अतूर्तो होता तूष्णह यवाट । आस्पात्र जुहूर्देवाना चमसो दवपान । अरा जाग्ने नमिर्देवास् प परिभूरसि ॥ आवह दवान् यजमानाय, अग्निम न आगह सोमपाय, अग्निमागह, प्रजापतिमावह अग्नाषोभावागह इन्द्राग्नी आवह, इन्द्रमावह महेन्द्रमागह दवा अज्यपा आवह अग्नि होत्रायागह स । महिमानमावह, आचाग्ने दवान् वह सुयजा च यज जातवेद ।

(तै ब्रा ३ का ५ प्र)

उक्त ११ सामिधेनी मन्त्रा मे मे शतपथ मे तो सातव मन्त्र का ‘वृषण त्वा वय वृषन् वृषण—समिधीमहि’ इसप्रकार ह्रस्वान्त पाठ है एव त ब्रा म ‘वृषण’ क स्थान मे [ऋक्सहितावत्] ‘वृषाण’ पाठ है । एवमव आगे की निगदादि मन्त्रसमष्टि क अन्त क— ‘आचाग्ने देवान् वह सुयजा च यज जातवेद’ इस तौत्तरीय पाठ के स न मे शतपथ म ‘आच वह जातवेद सुयजा च यज’ यही पाठ ह । इसक अतिक्रि ११ व मन्त्र में तै ब्रा क आजुहोत’ के थान म [ऋक्सहितावत्] ‘आजुहोता यह पाठ ह । इन सब मन्त्रों का विशान वैज्ञानिक विवेचन आगे क विवेचना प्रकरण म कया जायगा । प्रकृत मूलानुबान्त-प्रकरण म कवल पद्धति ही बतला दी जाती है ।]

वह होता [सवप्रथम] प्र वो वाजा अभिद्यव [इ यादि] इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है । यह अनुवचनकम्म (मत्रोपात्त प्र’ के सम्बन्ध से परागगतिरूप प्र’ इस भाग का सम्राहक हैं । (अनतर) अग्रऽआयाहि वीतये (इ यात्ति) इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है । यह अनुवचनकम्म [मन्त्रोपात्त ‘आयाह’ क सम्बन्ध से अर्वागगतिरूप] आ’ इस भाव का सम्राहक है । [दोनों मन्त्रों के प्र-आयाहि पदों से यह यज्ञ यज्ञकर्ममनुगत आदान विसर्गात्मिका स्वाभाविकी सम्पत्ति से युक्त होजाता है यही तापत्र्य है] ॥७॥

क्योंकि ‘आयाहि’ वीतये’ यह वाक्य स्वगस्थ देवताओं की अपेक्षा से परागगति का सूचक बन रहा है अतएव यह भी प्र’ भाग का ही समथक माना जायगा इस हेतु को लक्ष्य मे रखते हुए) किन्ने एक उन्नतिकों का कहना है कि उक्त दोनों सामिधेनीमन्त्र ‘प्र’ भाव को ही सम्पन्न करने वाले है । (इनके उक्त हेतु को अवैज्ञानिक बतलाय हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते है कि —उन वैज्ञानिकों का (दोना को प्र भाव परक बतलाना) यह कथन विज्ञान-के

अतिभाव (वज्रान क अजीणभाव) का ही सूचक है। वस्तुतः 'प्र वो वाजा अभिद्यव' यह प्रभाव का ही तथा 'अग्निऽआयाहि वीतय' यह 'आ' भाग का ही सूचक है। (याज्ञवल्क्य का अभिप्राय यही है कि यज्ञ यजमान कर रहा है। सामिधेनी का अनुवचन यजमान के लिए हो रहा है। इस यजमान की अपेक्षा से तो 'आयाहि' अर्णागति का ही ग्राहक बन रहा है। ऐसी स्थिति में 'आयाहि' को प्राकृतिक नियम यज्ञपरक मानना सवथा अप्रज्ञानिक है।) ॥८॥

(१) (सातवीं कण्डिका में जिन मन्त्रों का अनुवचन का विधान हुआ है उनके पदों की व्याख्या की जाती हुई श्रुति कहता है) यह होता— 'प्र वो वाजा अभिद्यव' इस मन्त्र का अनुवचन करता है। (होता का) यह अनुवचनकर्म प्र' का सम्पादक बनता है। '१ वाजा' इस (वाक्य का ता प-य यही है कि) विश्वयन अन्न का ही नाम 'वाजा' है। इससे अन्न का सम्बन्ध में ही कहा गया है। '२ अभिद्यव' इस (का अर्थ यही है कि) अद्ध मास (पक्ष) ही का नाम है। इन्हीं का प्रति अनुवचन हुआ है। ३ हविष्मत इस (का अर्थ यही है कि) पशु ही हविष्मत है। इन्हीं का प्रति अनुवचन हुआ है ॥९॥

('४ घृताया' इस (का अर्थ है) —

पुराने समय में (ह) माथव' नाम से प्रसिद्ध विदेव (विदेह) राजा ने अपने मुख में शैवानर अग्नि को धारण कर लिया। इस राजा का रहुगण का पुत्र अतएव 'रहुगण' इस उपनाम से प्रसिद्ध गोतम ऋषि पुरोहित था। उस राजा ने गोतम ऋषि को बुलाने पर इसलिए उत्तर नहीं दिया कि मरे मुख से शैवानर अग्नि (बाहिर) न गिरजाय ॥१॥

(जब सामा य लौकिक वाक्य से गोतम ऋषि विदेव [विदेह] के वात्सल्य अग्नि का सयम तोड़ने में समर्थ न हो सके तो उन्होंने अग्नि की स्तुति करते हुए अलौकिक ऋद्ध मन्त्रों से [मुख

१— वाजयति बल्यति इस निवचन से अन्न को वाज कहा गया है।

२— वस्तो द्योभानु वासरम् इ यदि रूप से द्य श द दिन वाचक है। द्युन् दिवसान् अभिगता इस निवचन से दिनों के अनुगत रहने वाले शुक्ल—कृष्ण पक्षों को अवश्य ही अभिद्यव कहा जा सकता है।

३— क्षीर दधि आज्यादि हवि के उपादक होने से ही पशुओं को हविष्मत कहा गया है।

४— घृताया पद का मन्त्र में विशेष महत्व है। क्योंकि घृत तेजो आयम के अनुसार तेजोलक्षण अग्नि का सजातय है। अतएव यही अग्निमिधन का मुख्य कारण माना गया है। इस पद का एक ऐतिहासिक आख्यान के द्वारा महत्व प्रतिपादित हुआ है।

स्थित अग्नि की स्तुति करते हुए] विदेघ को बुलवाने का निश्चय किया। [गोतम कहन लग कि] 'वीतिहोत्र त्वा कवे द्य म त समिधीमहि । अग्ने बहत्तमधार' (हे कवे ! हे अग्नि ! यज्ञसमृद्धि स्वरूप ममपक अभिलषित फलपूरक, कांतियुत एसे आपका डम यज्ञ म मैं इधमकाष्ठ से समि धन कर रहा हूँ-यजु स २।४। [ऋक स ५।२६।३] इस मंत्र से अग्नि की स्तुति कर अत म गातम ने कहा हे विदेघ ! ॥११॥

विदेघ न कोई उत्तर नहीं दिया [मानो कुछ सुना ही नहीं । पुन अग्नि को स्तुत क द्वारा प्रबल बनाते हुए गातम ने यह मन्त्र बाला] उदग्ने शुचाम्त । आज त ईरते । तव ज्योताष्य र्चय [ऋक स ८४।१ हे अग्ने ! आपका पवित्र निमल-शुभ्रण की चमकता हुई रश्मिया आपकी ज्योतियो (तेज पाँों) को वरित (समृद्ध) कर रह ह) । इस प्रकार मन्त्राक से अग्नि की स्तुत कर प्लुतस्वर से उच्चस्वर से गोतम ने पुन विदेघ का आह्वान करते हुए] यह कहा हे विदेघ ३ । ॥१२॥

राजा विदेघ ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया (अत म राहूगण गोतम के मुख से ' * त त्वा घृतस्नवीमहे' केवल यह मन्त्रभाग ही निकला था कि घृत शब्द क उच्चारण से (विदेघ के मुख मे प्रतिष्ठित) वैश्वानर अग्नि प्रबल वेग से प्रज्वलित होपडा । (उस प्रज्वलित अग्नि को) अत्र विदेघ मुख मे न रख सके । (उन का सयम टूट गया फलत) वैश्वानर अग्नि उनक मुख से बाहिर निकला पडा और इस प्रथिवी पर प्राप्त होगया (गिर पडा) ॥ १३ ॥

(जिस समय गोतम क मुख से निकले हुए घृत पद क वरण स विदेघ का मुखरित वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित हाकर बाहिर गिर पडा था) उस घटना के समय विदेघ माथ्य सरस्वती (एतन्नामक नदी) क ही समीप थे । (यहा प्रज्वलित अग्नि भूमि पर गिरा) यहीं से क्रमश पूव की ओर यह अग्नि इस प्रथिवी (क आद्र भाग का) जलाता (सुखाता) हुआ आगे बढ़ने लगा । आगे आगे जलभाग को जलाते हुए इस अग्नि क पीछे विदेघ माथ्य आर राहूगण गोतम क्रमश आगे बढ़ने लगे । (पूव की ओर वेग से बढ़ने हुए । उस वैश्वानर अग्नि ने (माग मे पडने वाली इतर सब जुट) नदियों को सुखा डाला । उत्तगिरि से जा 'सदानीरा' नाम की नदी निकलती है कवल इसी को (स अग्नि ने) नहीं सुखाया । क्योंकि इस नदी का

*-त वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्पृष्ट शम् । त्वा आ वीतय वह (ऋक स ५।२६।२।) । हे वृत्तो पन्न ! हे विविध, रश्मियुक्त अग्ने ! स्वर्ग को पहिचानने वाले आप से हम प्रार्थना करते हैं कि आप हविभक्षण के लिए (हमारे यज्ञ में स्वर्गलोक से) देवताओं को बुलाएँ ।

ऋध्वानर अग्नि क द्वारा शापण नहीं हुआ अतएव यह सदानीरा 'अनतिदग्धा' मानी गई। (इसीलिए) उस युग से ब्राह्मण लोग इस नदी को पार नहीं करते हैं। हेतु यही है कि यह ऋध्वानर अग्नि से अनतिदग्धा है। (इसे पार करना पतित होना समझा गया यही तापय है) ॥ १४ ॥

इस समय उस (सदानीरानदी) क पूर्ण देशों में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं। वह (भूभाग इस अग्निदहनकर्म से) पहिले कृषि के (खती क) सर्था अयोग्य था और यज्ञानि फल-प्रदान के अयोग्य था। क्यकि इस से पहिले क्षेत्रस्वरूपसमर्पक तथा यज्ञानिफलयोग्यता-धायक) ऋध्वानर अग्नि से यह भूभाग अनास्वादित (अनुपभुक्त-असस्पृष्ट) ही था ॥ १५ ॥

(परतु ऋध्वानर अग्नि क अनुग्रह से) आज वही भूप्रदेश एक उर्ार (उपजाऊ) भूप्रदेश बन रहा है। (एक तो स्वय विदेघ क मुखस्थित ऋध्वानर अग्नि से यहा का भूभाग विशुद्ध परिष्कृत निवास योग्य होगया दूसरे) वहा के निवासी याज्ञिक ब्राह्मणोंन यज्ञानुष्ठाना से अग्नि के द्वारा इसे युक्त कर परिष्कृत कर दिया। (अर्थात् यज्ञाभिर्या क द्वारा याज्ञिकान इस स्थान को अग्नि का स्वाद दिला लिया) वह सदानीरानदी प्रचण्ड ग्रीष्मकाल में भी एकरूप से प्रवाहित रहती है (उसका जल कभी नहीं सखता अपितु सदा समानरूप से प्रवाहित रहता है)। साथ ही यह ठढी (भी) रहती है। कारण यही है कि यह नदी (पू।कथनानुसार जलशोषक तथा तापप्रवत्तक) ऋध्वानर अग्नि से अनतिदग्धा है ॥ १६ ॥

(ऋध्वानर अग्नि से भूप्रदेश के अन्त भाग को उत्तरात्तर सुखाते हुए दोनों जब सदानीरा क समीप पहुचे तो) माथय विदेघ ने राहूगण गोतम से परामश किया कि (बतलाओ) मैं कहा रहू (कश अपना रायतत्र स्थापित करू) ?। गोतमने उत्तर दिया कि इस सदानीरा से पूव पूर्ण का जो भूप्रदेश है (वही आप के योग्य है)। यही कारण है कि आज भी यही सदानीरानदी कोसलविदेह-राजाओं की सीमा मानी जाती है। ये कोसलविदेह (माथय विदेघ के द्वारा रायतन्त्र स्थापित किए जाने से) 'माथय' नाम से ही प्रसिद्ध है ॥ १७ ॥

(प्रासङ्गिक चर्चा बतला कर आरयान का प्रकृत ब्राह्मणप्रकरण से सम्बन्ध बतलाती हुई श्रुति कहती है कि 'त त्वा घतस्नवीमहे' इस मन्त्रभाग के बोलन से जब विदेघ का वाक्स्वयम टूट गया तो) राहूगण गातम ने प्रश्न किया कि आप का अनेक बार आह्वान करने पर भी आपन क्यों नहीं प्रयुत्तर दिया ?। विदेघ ने उत्तर दिया कि उस समय मेरे मुख में ऋध्वानर अग्नि प्रतिष्ठित था। (बोलन से) ऋध्वानर अग्नि मुख से निकल न जाय इस लिए मैं (आपक आमन्त्रण का प्रत्युत्तर नहीं दिया) ॥ १८ ॥

प्रिदेघ क उक्त उर पर पुन गो म ने प्रश्न क्या क ।फर आप क मुख म वशानर अग्नि कैसे निकल पडा ? (निसक निकलने से आप प्रत्युत्तर देन मे समग्र होसके) । (प्रिदेघने उत्तर दिया क) जिम समय आपने (तत्त्वा' क अनतर) 'घृतस्नग्नीमह' स ग्रन्थ का उच्चारण क्रिया उसी समय 'घृत' नाम क सम्बन्ध से मुखस्थित वशानर आग्नि मुख मे प्रज्वलित होपडा । उस प्रजल अग्नि को मै फिर मुख मे धारण करने म समथ न हासका । फलत वह बाहिर आठहरा ॥१६॥

(जिस प्रयाजन के लिए उक्त आरयान बतलाया गया है उन प्रयोजन का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—सो जा कि सामिधेनी मन्त्रा में घृत शब्द युक्त पद है वह अग्नि-सामिधन का ही कारण समझना चाहिए । इस घृता या पदाच्चारण से होता अग्नि का सामिधन ही करता है इसम भी य का ही आधान करता है । (ता पन्थ यही हुआ कि— 'प्र वो वाजा इ यदि सामिधेनीमत्र का घृता या पद अनिसामिधन का ही प्रयुक्त क है) ॥२ ॥—

यही 'घृताच्या' पद की उपपत्ति है । (तदु घृतायेति) ॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है— देवाञ्जिगाति सुम्नुयु । यह यजमान ही (स्वर्गादि लक्षण सुख की कामना रखने से—'सुम्न सुम्नुयु' इस निवचन से) सुम्नुयु' है । यह सुम्नुयु यजमान (यज्ञ क द्वारा) इन देवताओं को वश में करने की इच्छा करता है । यह यजमान ही देवताओं को प्राप्त करना चाहता है । (यजमान उन्हे प्राप्त करने मे समथ बने) यही यज्ञ करने के लिए 'देवाञ्जिगाति सुम्नुयु' यह कहा है ॥

यह प्रथमा सामिधेनी ऋचा अग्निदेवतायुक्ता बनती हुई अनिरुक्ता (नाम विशेष—ग्रहण-विरहिता) है । सत्र ही अनिरुक्त है । (सप्रकार सर्वा मरु अनिरुक्तभाव से युक्ता) अग्निदेवता-मयी इस प्रथमा सामिधेनी ऋचा का अनुचन करता हुआ होता सत्रसम्पत्ति को मूल में प्रतिष्ठित करता हुआ ही अनुचनकर्म अरम्भ करता है ॥२१॥*

इति—प्रथमसामिधेनी—मन्त्रव्यारयानम्

— १ —

*—१—प्रथमा सामिधेनी—

प्र वो वाजा अभिद्यबो हविऽष्मतो घृताया । देवाञ्जिगाति सुम्नुयु (१) ।

हे ऋतुदेवताश्री । अन्न अद्ध मास पशु लुक आदि सब मिलकर आप यजमान की सुखप्रणापूर्ति के कारण बन रहे है । (इस मन्त्र को अग्निपत्र में भी लगाया जासकता है जसाकि पाठक विवचना मे दसग) ।

(२) (प्रथम-सामिधेना-ऋग्मन्त्र क अनुवचनांतर क्रमप्राप्त) 'अग्नि आयाहि वीतय' (इत्यादि दूसरी) इसका अनुवचन करता है। यह मात्र 'आ' भाग का स्वरूप सग्रहाक है। (मन्त्रगत) 'वीतये' पद का तात्पर्य यही है कि— पहिले (त्रलोक्य सृष्टि से पहिले) प्रथिनी अतिक्षि षो तीनों लोक परस्पर एक साथ मिले हुए से एकरूप से ही ये (अर्थात् 'इदमन्तरिक्ष, इय धी' इत्यादि रूप से विभक्त न थे)। (उस समय) य लोक हाथ से छून योग्य जैसा ही था। [समन्तिक हाने से सभी समीपतम ये यही वक्त य है] ॥ २॥

उन देवदेवताओंन यह कामना की। कि हमारे लोक [किवाहमारी सु रद्र आ।।द या। मका गण समष्टि क क्रमिक प्रतिष्ठान क लिए य लाक] किस उपाय से एक दूसर से प र्याप्त दूर हां एउ कसे ये विस्तीण बन। [अर्थात् कैसे तो एक क तीन विभक्त लाक हो ए। कसे प्रयेक लोक बृहत् बने] [अपनी इस कामना को सफल बनान क लिए] देवताओंन वी त य इन तीन अक्षरों से ही प्रथक्-प्रथक् एउ वरीयान् कर दिया [तभी से] य तीनों लक [परस्पर एक-दूसरे से साथ ही हम से भी है विदूर भी है एउ वरीय भी है। स प्राक्रया से यह लोक विस्तीण बन गया। उस यजमान क लिए विस्तीर्ण लोकसम्पात्त प्रातिष्ठत होजाती है (जिस यजमान के यज्ञ में] 'वीतये' का उक्त रहस्य जानने वाला होता वीतय' पद से युक्त 'अग्नि आयाहि वीतये' इत्यादि सामिधेना-ऋक् का अनुवचन करता है। [वीतय पद लोकप्रतिष्ठा का सग्रहाक है यही तात्पर्य है] ॥२३॥

'गृणानो ह्यदातये' मन्त्र क इस उत्तर भाग का तात्पर्य यही है कि यजमान ही [देवताओं के निमित्त हविर्दान देने से] ह्यदाति' है। 'यजमान के लिए प्रियमाण आप' यही (इस मन्त्र भाग से) कहा गया है। "नि होता सात्स बर्हिषि' इस अतिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि अग्नि ही होता (ह्यवहनकर्त्ता तथा देवताओं का आह्वानकर्त्ता) है यही (प्रथिनी) लोक बाह (अग्निगभित अबूप) है। ('नि होता०' इत्यादि क द्वारा यह होता) इसी लोक मे अग्नि प्रतिष्ठित करता है। वह यह अग्नि इस लोक मे प्रतिष्ठित है। यह ऋक (ऋग्भाग) इसी [प्रथिवी] लोक को लक्ष्य बनाकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का एवित होता इसका अनुवचन करता है वह यजमान [होता के इस रहस्य-

ज्ञानानुगत अनुवचन से] इसी [प्रथिगी] लोक को जीत लेता है। प्रस्तुत मन्त्रभाग प्रथिगी-लोक-सम्पत्ति का ही सम्राहक है यही तापय्य है ॥२४॥-॥

इति-द्वितीयसामिधेनी-मन्त्रव्यारयानम्

--२--

[३] [द्वितीय सामिधेनी ऋद्धमन्त्र क अनुवचनातर ममप्रात 'त वा समिद्भिरङ्गिर ' इत्यादि तिसरी सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी क जात्रों की क्रमशः व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है]- त वा समिद्भिरङ्गिर इस मन्त्रभाग का तापय्य यही है कि [आधिद्विक यज्ञ मे] अङ्गिरा नामक प्राणामक ऋषियोन [तथा वेधयज्ञ म अङ्गिरा नामक प्राणीप्रिध ऋषियोन] समिधाओं स इस अग्नि का समि धन किया है। अङ्गिरा का अर्थ यही है कि अङ्गिरा ही अग्नि है। अर्थात् यहा अङ्गिरा पद से अग्नि ही-अभिप्रत है)। "घृतेन वद्ध्यामसि" इस मन्त्रभाग का तापय्य यही है कि यह सामिधेनी पन् (अग्निसमिधक घृतयुक्त पन्) है। इस अ न का समिधन ही करता है इस म वीय्य का ही आधान करता है। (तापय्य यही है कि यह मन्त्रभाग अग्नि के समिधन का ही अनुस्राहक है) ॥२५॥

'वह छोचा यविष्ठ्य' इस अन्तिम मन्त्रभाग का तापय्य यही है कि यह अग्नि प्रकृत होता हुआ स्वरूप से बडा बन कर तपता है। 'यविष्ठ्य' का तापय्य यही है कि (निय युवा वनता हुआ) यह अग्नि ही यविष्ठ्य है इसी लिए यविष्ठ्य' यह कहा गया है। ऋक् (ऋग्भाग) इसी अ तरिक्त लोक को लक्ष्य-बनाकर उच्चरित हुई है। इसीलिए यह ऋचा आग्नेयी होने के साथ साथ अनिरुक्ता है। यह अ तरिक्तलोक अनिरुक्त ही है। जिस यजमान का एव-मित् होता इस ऋचा का अनुवचन करता है वह यजमान (होता क इस रहस्यज्ञानानुगत अनु-

+—२—द्वितीया सामिधेनी—

अग्नि आयाहि वीतये गुणानो ह यदातये। नि होता ससि वर्हिषि [२]

हे अग्ने ! देवताओं को हवि प्रदान करने के लिए स्वयमपि हविभक्षण के लिए स्तूयमान आप इस यज्ञ में पधारिए। एव होता बनकर इस दर्भासन पर त्वराजिए।

वचन से) इसी अन्तरिक्ष लोक पर प्रिय प्राप्त कर लेता है । (प्रस्तुत सामिधेनी-मन्त्र अन्तरिक्षलोक-सम्पत्ति का हा सम्राहक है यही तापय्य है) ॥२६॥*॥

इति तृतीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—३—

(४)—(तृतीय सामिधेनी ऋच मन्त्र क अनुवचनांतर क्रमप्राप्त स न पृथु श्रवाग्य० ' इ यानि चोथी सामिधेनी का अनुवचन करता है । इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है) — स न पृथु श्रवाग्यम् ' इस मन्त्रभाग का यही अर्थ है । ऊँ यह द्युलोक (इतर लोकों की अपेक्षा) विस्तीर्ण है फैला हुआ है जिस द्युलोक में कि देवता प्रतिष्ठित है । (देवताओं के तत्र निवास करने से ही) यह द्युलोक इतर लोकों की अपेक्षा 'श्रवाग्य' (श्रवण परम्परा म प्रशस्त लोक वेद में प्रशसनीय) है । 'अ ह्य देव विवासमि' इस मन्त्रभाग से यही कहा गया है कि यह द्युलोक हमें प्राप्त हो ॥ ७॥

बृहदग्ने सुजीग्यम् ' इस अन्तिम मन्त्रभाग का तापय्य यही है कि यह द्युलोक निश्चयन विस्तीर्ण है जिसमें अग्नि (प्राण) देवता प्रतिष्ठित है । यह द्युलोक (न वीर्यशाली-ब्रह्म-क्षत्र विद्धि य प्रयत्नक देवताओं का निवास करने से) सुजीग्य (शोभनीय) बन रहा है । यह चोथी ऋचा ही द्युलोक को लक्ष्य में रखकर उच्चरित हुई है । जिस यजमान का अग्रित होता इस ऋचा का अनुवचन करता है वह यजमान (होता क इस रहस्यज्ञानानुगत अनुवचन से) इसी द्युलोक पर प्रिय प्राप्त कर लेता है । (प्रस्तुत सामिधेनी मन्त्र द्युलोकसम्पत्ति का ही सम्राहक है यही तापय्य है) ॥७॥ *॥

इति-चतुर्थसामिधेनी मन्त्रव्याख्यानम्

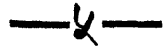
—४—

*—तृतीया सामिधेनी त त्वा समिद्धिभरद्भिरो धृतेन वद्व यामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य इति । हे आङ्गारावराज अग्ने ! यज्ञसम्बन्धी काष्ठ से तथा सस्कृत यज्ञिय आग्न से हम आपको प्रबुद्ध कर रहे हैं । हे तरुणतम ! आप बृहत्-रूप से प्रदीप्त बनिए !

×—चतुर्था सामिधेनी— स न प्रथुश्रवा यमच्छा देव विवाससि । बृहत् नै सुवी यम् । हे प्रदीप्त अग्ने ! आप त्वपुल्ल शोभनीय मान्नाबुद्ध शोभनीय युक्त धन हमारे लिए प्रदान करें ।

(५)—(चतुर्थ—सामिधेनी—ऋद्धमत्र क अनुवचना तर) वह होता (क्रमप्राप्त) —
 ‘ईडे यो नमस्य’ इ यादि पाचवी सामिधेनी का अनुवचन करता है । (सी क वाक्या की
 क्रमशः याख्या करती हुई श्रुति कहती है)—यह अग्नि निश्चयन स्तुत करने योग्य है एव
 नमस्कार करने योग्य है । ‘तिरस्तमासि दर्शन’ इस मन्त्रभाग का यही तापग्य है कि यह
 अग्नि प्रज्ज्वलित होकर अधकारपुञ्ज का तिरस्कार करता हुआ ही दिखलाई देता है । ‘समग्नि
 रिध्यते वृषा’ इस अतिम भाग का यही तापग्य है कि यह अग्नि निश्चयन प्रदीप्त रहता
 है जो कि वृषा (यज्ञफलवषक) है ॥३॥

इति पञ्चमसामिधेनी-मन्त्रव्यारथानम्



(६)—(पञ्चम—सामिधेनी—ऋद्धमत्र क अनुवचना तर) वह होता क्रमप्राप्त—‘वृषो अग्नि
 समिध्यते’ इ यादि षष्ठ सामिधेनी ऋद्धमत्र का अनुवचन करता है । इसी क वाक्यों की
 व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)—‘वृषो अग्नि समिध्यते’ इस मन्त्रभाग का यही तापग्य
 है कि यह अग्नि निश्चयन (सामिधेनी से) प्रदीप्त होता है ॥२६॥

‘अश्वो न देव वाहन’ इस मन्त्रभाग का यही तापग्य है कि य अग्नि अश्व बन
 कर ही (द्युलोकस्थ) देवता का लिए (अग्नि म आहुत यज्ञातिशयापात्क अतएव (यज्ञ)
 (नाम से प्रसिद्ध हविद्र य) का वहन करता है । (लोकभाषा मे जहा ‘न’ कार निषेधाथक
 माना गया है वहाँ) ऋद्धम (मन्त्रात्मिका वदिकी भाषा मे पठित) न’ कार आम् (स्वीकृति)
 का वाचक है । इसीलिए ‘अश्वो न देववाहन’ यह कहा गया है ॥३॥

‘त हविष्म त ईडते’ इस अतिम मन्त्रभाग का यही तापग्य है कि (चरु राडाशानि
 हविष्म-यों का सम्पादन करने से) हविष्म त (नाम से प्रसिद्ध ऋत्विग् यजमानादि ही इस

*—पञ्चमी सामिधेनी— ईडेयो नमस्यस्तिरस्तमासि दर्शन । समग्निरिध्यते वृषा । हे
 अ ने आप स्तुत य है नमस्व है प्रदीप्त होकर तमोराशि का तिरस्कार कर दिखलाई देने वाले है । आप
 प्रदीप्त है यज्ञफलवषक है ।

अग्नि की (उन हवियों को देवताओं में पहचानने के लिए) स्तुति करते हैं। इसीलिए—
'त हविष्म त ईडते यह कहा गया है ॥३१॥*॥

इति षष्ठसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—६—

(७) (षष्ठ सामिधेनी ऋत्न मन्त्र का अनुवचनानंतर वह होता क्रमप्रायः 'वृषण वा यय वृषण समिधीमहि' इत्यादि सातमीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। उसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है) —'वृषण वा यय वृषण समिधीमहि' इस मन्त्र भाग का यही तापय्य है कि ऋत्नगुण अवश्यमव इस अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। अग्ने दीद्यत् बहत् इस अतिम मन्त्र भाग का यही तापय्य है कि (पूर्व सामिधेनियों से) प्रदीप्त यह अग्नि (अब अग्निक मात्रा से) बड़ा तथा अतिशयरूप से प्रदीप्त बन गया है ॥३॥+॥

इति सप्तमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

- ७ -

'ईद यो नमस्य' —'वृषो अग्नि समिध्यते' —'वृषण वा यय वृषण' इन तीन मन्त्रों में 'वृषण' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीनों की समष्टिरूप त्रिच का 'वृषण तत्रिच' कहा गया है। इस वृषणयन्त चित्रका एक विशेष फल बतलाती हुई श्रुति कहती है) यह होता (वृषण शब्द से एक तीनमन्त्रों का क्रमिक अनुवचन करता हुआ) वृषणयन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है। य सब सामिधेनिया अग्नेयी होती हैं (यज्ञाग्नि के समिधन के लिए ही आ नयी सामिधेनियों से अनुवचन किया है। पर तु अग्नि जबतक इन्द्र को साथ नहीं लेलेते तबतक इनका समिधन

* षष्ठी-सामिधेनी-

वृषो अग्नि समिध्यते अश्वा न देववाहन । त हविष्म त ईडते ।

अश्व की भाँति देवताओं के लिए हविवहन करने वाला यज्ञकलवषक अग्नि प्रदीप्त हो रहा है। हविष्म त ऋत्नविक् ऐसे अग्नि की स्तुति कर रहे हैं ।

- सप्तमी सामिधेनी-

वृषण वा यय वृषण वृषण समिधीमहि । अग्ने दीद्यत् बहत् ।

ह यज्ञकलवषक अग्नि । आहुतिवषक हम ऋत्नविवगुण यज्ञाहुतिवषक आपको प्रदीप्त कर रहे हैं । हम ऐसे बृहत् रूप से प्रदीप्त अग्नि का बृहद् रूप से समिधित कर रहे हैं ।

अपूर्ण रहता है (क्याकि) निश्चयेन इन्द्र ही यज्ञ के देवता (पति) हैं। साग ही इन्द्र ही वृषा है। (सप्रकार वृषा तत्र त्रिच के अनुवचन से) सब आग्नेयी सामिथेनिया इन्द्रयुक्त भी बन जाती हैं। इसी प्रयोजन के लिए वृषाएत त्रिच का अनुवचन करता है। (अथ आग्नेया त्रिच अनुवचन न कर वृषन् पद से युक्त त्रिच से अनुवचन करने का यही प्रयोजन है कि अग्नि-सामाधन के साथ साग यज्ञ म यज्ञपति इन्द्र का भी सम्बन्ध होजाय यही तात्पर्य है) ॥२३॥

(स नाम सामिथेनी ऋद्धम् त्र के अनुवचनान तर यह होता 'अग्निं दूत वृणीमहे' इ यानि आठवीं सामिथेना का अनुवचन करता है। इसी मन्त्री याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि) "अग्निं दूत वृणीमहे" का वह होना अनुवचन करता है उस का तात्पर्य यही है कि—

एक बार (प्रजापति की सन्तान होने से) प्राजापय (नाम से प्राप्त) देवता आर असुर दोनों पर पर स्पर्द्धा करने लगे। स्पर्द्धा करते हुए इन दोनों के बीच में (समझाता कराने के लिए) गायत्री आखंडी हुई (उस समय) मय में खड़ी होने वाली जो गायत्री थी यही वह (प्रित्री हा) तने दाना के बीच में खड़ी हुई (थी)। उन दोनों परस्पर यह संधा (शक्त) निश्चित की कि अपने दोनों में से जिन की ओर यह प्रथिवी लौट आएगा वे जीते हुए मान पायगे एत (इसके सम्बन्ध से प्रिचित) दूसरे पराजित समझे जायगे। (यह संधा निश्चित कर) उस प्रित्री को देवता तथा असुर दोनों ही अपनी अपनी ओर बुलाने का प्रयास करने लगे। दोनों न उसक समीप अपने अपने दूत भेजे। (इन में) 'अग्नि' ही देवताओं के दूत थे एत 'सहरक्षा' नामक असुरों के दूत थे। दोनों म से प्रित्री देवदूत अग्नि की ओर ही लौट आई। इसीलिए 'अग्निं दूत वृणीमहे' यह कहा गया है। वास्तव में (उक्त पुरावृत्त के अनुसार) अग्नि निश्चयेन देवताओं के दूत थे। मन्त्र का दूसरा भाग है—'होतार विश्ववेदसम्' यत् ॥ ३४ ॥

कितने एक याज्ञिक कहते हैं कि ('होतार विश्ववेदसम्' के स्थान में) होता यो विश्ववेदस' एसा मन्त्र बोलना चाहिए। (कारण इस परिपत्तन का यह याज्ञिक यह बतलाते हैं कि) हम आमा को अरम्भ' न कहें। (तात्पर्य यही है कि 'होतार विश्ववेदस' के 'होतार' पद में होता अर यह व्यवच्छेद भी बन रहा है। यह अर शब्द निवारणार्थक माना गया है। इस 'अर भाषना' से फल यह निकलेगा कि होता का इस यज्ञसंस्था से प्रथक्करण होजायगा। इस आशङ्का से बचने का यही उपाय है कि 'होतार' के स्थान में होता यो विश्ववेदस' इस मन्त्ररूप का ऊह कर लिया जाय) ।

(इस मानुषक-पानुगत मन्त्र-उह-पक्ष का आमूलचूड़ खण्डन करते हुए भगवान् यज्ञ-वल्क्य कहते हैं कि)-होता को चाहिए कि वह उसा (होता यो विश्ववेदस एसा) कभी न बोले । (अपनी कपना से शर्दां की यथेच्छ मनमानी) उपपत्ति लगाते हुए जो याज्ञिक स्त-सिद्ध मन्त्रों के स्वरूप में परिपुर्त्तन करते हुए यज्ञेतिकृत्त यता में यथेच्छ परिवृत्त न करते रहते हैं) वे यज्ञ में मानुषभाव का ही समावेश करते हैं । यह यज्ञ की यद्धि' (समृद्धि का विनाश) है जो कि कानुषिक मानुषभाप है हम अपने यज्ञ में देवसमृद्धि क घातक मानुषभाप का समावेश न कर बठ इसलिए प्रत्येक दशा में यह आशयक है कि नसा ऋचा से (सिद्धमंत्र से) कहा गया है वैसा ही होतार विश्ववेदसम् इसी रूप से होता को अनुवचन करना चाहिए ।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि यही इस यज्ञ का सुक्रतु (उत्तमरूप से यज्ञकर्म का सम्पादन करने वाला) है जो कि अग्नि है । इसीलिए 'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' कहा गया है । (मन्त्र-आरयान बतला कर पूर्वाक्त आरयान का उप-सहार करती हुई श्रुति कहती है कि देवदूत अग्नि के गमन से) वह प्रथिवी देवताओं की ओर ही लोट आई । परिणामत (निश्चित स धा के अनुसार) देवता जीत गए एव असुर पराजित होगए । वह यजमान अपने आ मा से (शत्रुपक्ष की प्रतिस्पर्द्धा में) विजय-लाभ करता है एव उसक शत्रु पराजित होजाते हैं जिस य मान का ऋवित् होता अग्नि दूत ' यदि सामिधेनी का अनुवचन करता है । (शत्रुपराजय, एव यजमान का विजय भी इस सामिधेनी-अनुवचन का फल है यही तात्पर्य है) ॥ ३५ ॥ +

इति-अष्टमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

— ८ —

(मूलत सामिधेनी मन्त्र ११ बतलाए गए है । इनमें से- 'प्र वो वाजा अभिद्यव ' इस प्रथम मन्त्र का तथा "आजुहोता दुवस्यत०" इत्यादि ग्यारहों मन्त्र का तीन तीन बार अनु-

—अष्टमी सामिधेनी—

अग्नि दूत वृणीमहे होतार विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

मैं उस देवदूत अग्नि का वरण कर रहा हूँ जो देवताओं का आह्वान करने से होता नाम से विश्वसम्पत्ति के परिज्ञान से विश्ववेदस नाम स एव इस यज्ञकर्म का अष्ट सञ्चालक होने में सुक्रतु नाम से प्रसिद्ध है ।

वचना की वृद्धि से ११ क स्यान् म १५ अनुवचन हाजाते है । यही अनुवचन क सम्बन्ध मे एक पक्ष है । क्रमप्रा त सरया के अनुसार अग्निं दूत वृणीमहे ' इ यदि मन्त्र आठवा पडता है । प्रथम-मन्त्र के प्रारंभित उच्चारण से यद्यपि अग्निं दूत वृणीमहे ' मन्त्र १ वीं सरया पर आकर ठहरता है थापि क्योंकि उस एक ही मन्त्र का प्रारम्भित न है अत अग्नि दूत० की अटमी सरया की मालिकता सुरक्षित रहनाती है जिसका कि सुरक्षित रहना आवश्यक है ।

दूसरा पक्ष सप्तमश-सरया से सम्बन्ध रखता है । दर्शपूर्णमास म १७ सामिधेनियों वा अनुवचन करना चाहिए इस पक्षांतर मे सरयाओं की पूर्ति कालए ११ मालिक मंत्रों से अतिरिक्त तिन दो मंत्रों का इन ग्यारहा मे समावेश किया जाता है उह उपारष्टात्-दवाति ' इस निवचन से ध्याग्या' कहा जाता ह । इन 'ध्याग्या नामरु ऋचाओं का आधान (समावेश) ११ म से कडा करना ? यह विचार प्रस्तुत है । सिद्धा तत अग्निं दूत वृणीमहे ' इस मन्त्र क अनु तर ही इन का अनुवचन होता है । तभी इस मन्त्र का अष्मत्त्न सुरक्षित रह सकता है । इसी सिद्धात पक्ष को ऋषि मे रखती हुई ध्याग्या ऋचाओं क उत्तर मे आधान को लक्ष्य बनाती हुई श्रुति कहती है कि) —

अग्निं दूत वृणीमहे०' इ यदि ऋचा का अष्मरीरूप से (आठवीं म न कर वृषण त्वा वय वृषन् ' त्याि सातवीं सामिधेनी क अन तर ही) अनुवचन करना चाहिए । क्योंकि यह सामिधेनी ऋचा (११ सरया मे से आठवीं सरया पर पडतो हुई) निदानाग्रधि से गायत्री है । गायत्री अष्टाक्षरा है (गायत्र अग्निं म छन्द हे यहा इस सामिधेनी कम्म से होता को अग्नि का समिधन करना ह । ऐसी स्थिति मे जब निदानम-र्यादा से यह ऋचा क्रमद्वारा आठवीं बनती हुड गायत्रम पत्ति से रत युक्त हारही ह तो अवश्य ही इसे) आठवीं बनाकर ही इस का अनु-वचना करना चाहिए । ता पश्य यही है कि गायत्राग्नि-सम्पत्ति-प्राप यथ- अग्निं दूत " यदि सामिधेनी का सातवीं सामिधेनी के अनतर ही अनुवचन हाना चाहिए ॥ ३ ॥

(अग्निं दूत ' की अ सरयानुवचनात गायत्रसम्पत्ति मे जो आपत्तिजनक पक्ष है उपको बतलाकर अ त मे उक्त सिद्धात का ही समर्थन करती हुई श्रुति कहती है कि) — कितने एक याज्ञिक अग्निं दूत वृणीमहे० इस आठवीं ऋचा के पहिले (तथा वृषण त्वा वृषन् ' इम सातवीं ऋचा के आगे *प्रथु पाजा ० - त सबाध " इन) दोनों ध्याग्या ऋचाओं का

*- प्रथुपाजा अमृ यो घृतनिर्णिक् स्वाहु । अग्नियज्ञस्य ह्यग्यात् (ऋकतं ३।२७।५) ।
त सबाधो यतस्त्रुच इत्या धिया यज्ञव त । आचक्ररग्निमूतय (ऋकत
३।२७।६) ।

का स्थापन करते हैं। साथ ही 'अन्न का ही नाम धार्या' है [अर्थात् धा या ऋचाए अन्नस्थानीया है क्योंकि अन्न का भी मुख म बाहिर से आधान होता है एव इन दोना ऋचाओं का भी अन्नवत् बाहिर स इन ११ ऋचाओं म आधान होता है। इसी सादृश्य से दोना धार्या ऋचाओं का अन्नस्थानीय कहा जसकता है। उधर आठवीं ऋचा गायत्रसम्पत्ति से युक्त रहती हुई गायत्रीछ न्क गायत्र अन्नानि-स्थानीया ह अन्नादाग्नि की मुखस्थानीया ह। ऐसी स्थिति मे इस मुखस्थानीया आठवीं ऋचा से पहिले धार्या का स्थापन करते हु हम] मुख भाग से ही [अत्रादाग्नि म] अन्न का आधान करते हैं यह कहते हैं। अर्थात् अष्ठी से पहिले धार्या-अनुवचन की वे याज्ञिक उक्त उपपत्ति बतलाते हैं]।

पर तु होता को चाहिए कि यह ऐसा कभी न करे। उस होता के लि यह गायत्री गायत्र सम्पत्तिसप्रह म असमथ रह जातो है जो होता इससे पहिले धा या-ऋचाओं का स्थापन करता है। उस तथा म अग्नि दूत वग्नीमहे ' इत्यादि ऋचा दशमी तथा एकादशी बन जाती है। अर्थात् आठवीं से पहिले दोनों क आधान से आठवीं तो दशमी बन जाती है एव १ वीं ('समिध्यमानोऽध्वरे' यह) एकादशी बन जाती है)।

(ता पर्यय यही है कि जिस अष्ठी सरयानुगता गायत्रसम्पत्ति क सम्बन्ध से वे याज्ञिक इसे अन्नान मानते हुए अन्नरूप से इससे पहिले धा या-ऋचाओं का आधान करना चाहते हैं उनक मत से तो आठवीं न रहकर जब दशमी ही बन जाती है तो उनकी अन्नानानुगता उपपत्ति भी यथ होजाती है साथ ही आठवीं को आठवां रखन स यज्ञ मे जो गायत्रसम्पत्ति मिलती है उसस भी वे वञ्चित रह जाते हैं)।

उसी यजमान के लिए यह आठवीं ऋचा अनवक्लप्ता (गायत्रसम्पत्तिप्रदात्री) बनती है जिस यजमान के (यज्ञ मे) हाता इसे अष्ठी बनाकर अनुवचन करता है। इसलिए ('अग्नि दूत क गायत्र भाग का सुरक्षित रखने क लिए) इसस आगे-समिध्यमानो अध्वरे - समिद्धो अग्नि आहुत ' इन ६ वीं १ वीं ऋचाओं के मध्य मे ही दोनों धार्या ऋचाओं का स्थापन करना चाहिए ॥३७॥

(अष्ठी सामिधेनी ऋचमत्र के अनुवचनानंतर वह होता क्रमप्राप्त- 'समिध्यमानो अध्वरे' इत्यादि नवम सामिधेनी-मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की याचना करती हुई श्रुति कहती है)-समिध्यमानो अध्वरे' इस मन्त्रभाग का यही ब्राह्मण है कि यज्ञ ही निश्चयन अत्र है। (प्रकृत मन्त्रभाग के द्वारा) हे अग्ने ! आप यज्ञ मे प्रदीप्त है', यही कहा

गया है। अग्नि पात्रक ईड्य ” इस मन्त्र भाग का यही तापय्य है कि ‘यह अग्नि निश्चयन (अपने दाहक तेजोपम मे दूषित परमाणुओं का नाशक बनता हुआ) पात्रक है, ए । (प्राणीमात्र के उपयोग म आता हुआ) यह अग्नि निश्चयेन (प्राणीमात्र स) स्तुत्य है। शोचिष्कषस्तमीमहे’ इस अतिम मन्त्रभाग का यही तापय्य है कि (सामिधना से) प्रदीप्त इस अग्नि के केश (स्थानीय रश्मिया) प्रज्वलित से रहत ह ॥१॥

इति-नवमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यम्

—९—

(१) —(नवम-सामिधेनीमन्त्र क अनुपचनानन्तर यह हाता क्रमप्राप्त ‘सामिधो अग्नि आहुत’ इत्यादि दशम-सामिधेनीमन्त्र का अनुपचन करता है। श्रुति क्रमप्राप्त उसी की या रया करती है) —‘सामिधो अग्नि आहुत’ इति । (इस अनुपचनकर्म से पहिले हान वाले एक विशेषकर्म की प्रासङ्गिक इति-कर्त्ता यता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) —इस दशमी-सामिधेनी क अनुपचन से पहिले पहिले आनसमिधनाथ तृहीत सम्पूर्ण इमकाष्ठ अनुयाजाथ केवल एक समिधा के अतिरिक्त अग्नि म डाल देना चाहिए । (इस अनुपचन से पहिले पहिले ही क्या सर्वे मकाष्ठ का अभ्यासान आवश्यक माना गया ? इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) २स सामिधो अग्नि आहुत’ रूप अनुपचन कर्म स होता अग्नि-समिधन क म समाप्त कर लेता है (तभी तो ‘सामिधो अग्नि आहुत’ कहना अर्थ बनता है। अर्थात् जिस अग्नि-समिधनकर्म क लिए २धमकाष्ठ का ग्रहण होता है वह कर्म इससे पहिले पाहले समाप्त है। फलत अब इम बचाना निरर्थक बन जाता है) । अनुयाजाथ एक इम क अतिरिक्त यदि म बच रहता है तो वह अतिरिक्त (यज्ञकर्म से अतिरिक्त-बचा हुआ अधिक) कहलाना है। जो यज्ञ का अतिरिक्त (उपयोग से बचा हुआ उबरा हुआ) भाग है वह यज्ञकर्त्ता यजमान क कृत्रिम तथा सहजशत्रु की समृद्धि का ही कारण बनता है। इसलिए इससे पूर पूर अनुयाजाथ एक समिध को छोडकर शेष बचे सम्पूर्ण इमकाष्ठ का अग्नि म ही डाल देना चाहिए ॥३॥

×—नवमसामिधेनी— सामिधमानो अध्वर अग्नि पात्रक ईड्य । शोचिष्कषस्तमीमहे ।

२स यज्ञ में सामिधेनियो से समिद्ध बनता हुआ अग्नि पात्रक है स्तुत्य है । प्रज्वलित केश (रश्मि) वाले ऐसे अग्नि की हम स्तुति कर रहे हैं ।

दवान् यज्ञिस्वध्वर इस मन्त्रभाग का यही तापय्य है कि अथ्वर यज्ञ का ही नाम ह (प्रकृतमन्त्र भाग से) हे सुयज्ञिय आप देवताओं का यजन कीजिए' यही कहा गया ह । 'त्वं हि ह यवाडसि' इस अतिम मन्त्र भाग का यही तापय्य है कि 'यही अग्नि (देवताओं के लिए द्युलोक म प्रथिवी से हवि हिन करने के कारण) हयवाट कहलाए ह । इसीलिए त्वं हि ह यवाडसि' यह कहा गया है ॥*॥

इति-दशमसामिधेनी-मन्त्रव्यारयानम्

- १० -

(११) (दशम-सामिधेनी मन्त्र का अनुपचनानंतर यह होता क्रमप्राप्त "आजुहोता दुवस्यत" इ याति एकादश सामिधेनीमन्त्र का अनुपचन करता है । सी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है - 'आजुहोता दुवस्यताग्नि प्रयत्यध्वरे । वृणीध । हयवाहनम् इस सामिधेनी ऋचा से अग्नि को (स्वक मप्रवृत्ति के लिए) प्रोक्त ही (नियुक्त ही) करता है । 'आजुहोता दुवस्यत' इस मन्त्रभागे में) हे ऋचिजो ! हवन काजिए, देवताओं का यजन कीजिए जिस कर्म के लिए जिस कामना के लिए अग्नि को होता न समिद्ध किया है वह कीजिए' यही कहा ह । अग्नि प्रयत्यध्वरे' इस मन्त्रभाग का यही त्वं हि हयवाट है कि अथ्वर यह यज्ञ का नामांतर है । (प्रकृत मन्त्र भाग से) "यज्ञकर्म के आरम्भ होने पर अग्नि को यही कहा गया है । 'वृणीध हयवाहनम्' इस अतिम मन्त्रभाग का तापय्य यही है कि यह जो अग्नि है यही हयवाहन है । इसलिए 'वृणीध हयवाहनम्' यह कहा गया है ॥३६॥X॥

इति एकादशसामिधेनी मन्त्रव्यारयानम्

- ११ -

*-दशमी सामिधेनी-

समिद्धो अ न आहुत दवान् यज्ञिस्व वर । व हि हयवाडसि
समिधकाष्ठ से युक्त अग्नि समिद्ध होगया है । हे सुयज्ञिय यज्ञाग्ने । आप देवताओं का यजन कीजिए । आप निश्चयेन देवताओं के लिए हवि लेजाने वाले हैं ।

X एकादशमी सामिधेनी-

आजुहोता दुवस्यताग्नि प्रयत्यध्वरे । वृणीध हयवाहनम् ।

हे ऋचिजो ! जिसकर्म के लिए अग्नि का समिधन किया था वह आहुतियजनकर्म आरम्भ करो । यज्ञ प्रक्रान्त होगया । हयवाहन अग्नि का वरण करो ।

(समिध्यमानोअध्वरे'—“समिद्धो अग्नि आहत' आजुहोता दुवस्यत” इन तीन मन्त्रा मे अध्वर शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीना मन्त्रा का समाखरूप इम त्रिच को अरयत त्रिच कहा जाता है। जैसे पूव वृषएत त्रिच का एक विशेषफल बतलाया गया था वैसे ही इस अध्वरयन्त त्रिच का अग्निसमिबन्धन क अतिरिक्त एक विशय फल बतलाता हुई श्रुति कहती है)—वह होता (अरय शब्द से युक्त तीन मन्त्रा का उच्चारण करता हुआ) अरयन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है। [नसमा फल यही ह कि] यज्ञ स यजन करते हुए देवताआ क उपर सहजशु असुरोंन हिसामक आक्रमण किया। [परतु इस अध्वरयन्त त्रिच क प्रभाव से] हिसामक आक्रमण करते हुए भी असुर नकी हिसा करने म समथ न हासके। [यही नहीं अध्वरयन्त त्रिच क प्रभाव से] य उलट परास्त होगए। (क्योंक इस यज्ञाभिरूप यज्ञ ने देवताआ का हिसा से बचा लिया) अतएव यज्ञका नाम अध्वर होगया। उस यजमान क वे हिसक शतु यजमान पर हिसामक आक्रमण करते हुए स्वयमय परास्त हाजाते है जिस यज्ञमान के (यज्ञ मे) एववित् होता अध्वरयन्त त्रिच का अनुवचन करते है। (शतु-आक्रमण निरोधणक शतु पराभव हो स अध्वरयन्त त्रिचानुवचन का एक विशेष फल ह यही ता पय्य है) ॥

अपि च—[अध्वर शब्द सोमयाग मे रूढ है जसाकि— साम्ये अध्वर' इ यादि वचनों से स्पष्ट है। इस दशपूणमास मे सामिवे अनुवचनकम्म म जब अध्वरयन्त त्रिच का सम्बन्ध करा दिया जाता है तो] सौम्य अरय से यजन कर यजमान जितना-नो फल प्राप्त करता है उही फल इसे इस अरयशब्दयुक्त दशपूणमास से मिल जाता है। [यही अध्वरयन्त त्रिच का एक दूसरा महत्त्वपूणफल है] ॥४ ॥

इति सामिधेन्यनुवचनम्
चौथे अध्याय मे पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक मे
तीसरा ब्राह्मण समाप्त
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण अत्र उपरत

?

—*—

शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत चौथे अध्याय में दूसरा ब्राह्मण एव तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय ब्राह्मण

३

अथ-निगदानुवचनम्

देवताञ्चान [इस सामिधेनी अनुवचन के द्वारा] अग्नि को *गुरुतम का य मे नियुक्त किया चोकि होवु म नियुक्त किया [जिस गुरुतमकाग्र्य का स्वरूप] हमारा यह हय्य [पृथिवीस द्युलोक म तत्रास्थ देवताओं के लिए] लेजाओ यह है। इसप्रकार उस अग्नि को एसे गुरुतम का य म नियुक्त कर देवताञ्चान इस [अग्नि की प्रशंसा करना आरम्भ किया] आप वीच्यवान् है। आप (वास्तव म स हविर्दानकर्म म समथ है इ यागिरूप से इसमे गीय्य धान करते हुए ही। जैसेकि [लोकचग्रहार म] मनुष्य अपनी जाति में से जिसे किसी गुरुतम का य मे नियुक्त करते है उसको बढ़ावा देते है कि आप गीय्यवान् है आप असुक्त काम करने में समथ है सप्रकार उसमे गीय्यधान करते हुए ही। [ताप र्य यही है कि लोक म गुरुतम काग्र्य मे नियुक्त यक्ति का उ साह बढ़ाने के लिए नियोक्ता लोग जैसे उसकी स्तुति किया करते हैं उसे बढ़ावा देते है ठीक वैसा ही यह 'निगदानुवचनकर्म' है]। वह ऋत्विज सामिधेनी-अनुवचन क अनन्तर जिन मन्त्रा का उच्चारण करता है उन से वह स अग्नि को बन्ना ही देता है [ओर इस बढ़ावसे अग्नि में वीच्य का गी आधान करता है। [यनी निगदानुवचनकर्म की उपपत्ति है] ॥१॥

[उपत्ति बतलाकर अब पद्वति बतलाती हुई श्रुति कहती है-]-'अग्ने महा अग्नि ब्राह्मण भारत' इति। अग्नि ही ब्रह्म (ब्राह्मणजाति) है इसी अभिप्राय से 'ब्राह्मण यह कहा गया है। 'भारत सम्बोधन का यही तापग्र्य है कि यही अग्नि [पृथिवीलोक से द्युलोक मे तत्रस्य] देवताओं के लिए हवि का भरण करता है इसलिए 'यह अग्नि भरत हे यह प्रसिद्ध है। अपि त्र प्राणप [वैश्वानराग्निप्राणरूप] म परिणत होकर यही सम्पूर्ण पार्थिव प्रजा का

* गुरुतम उत्तरदायि वपूरा का र्य (जिम्मेवरी का का र्य)

भरण पापण करता है सललए भी 'भारत' यह कहा है । [आाधन्प्रिक देवप्रना का हनि न द्वारा एव आ यामिक पार्थिव प्रजा का अत्र क द्वारा भरणपोषण करने क कारण अग्नि भारत कहनाया है यन्ी ताप य ह] । आप महान ह वणा म ब्राह्मणरण बनते हुए सत्रभून् न्य ह एव त्रलोम्यप्रजा क पालन मे समथ बनते हुए भारत है आप अग्रश्य हा स हात्रकम्म को पूरा करगे यही इस निगदानुवचन का तापय्य है) ॥२॥

इति—निगदानुवचनम्

अथ -आर्षेयानुवचनम्

(उपमदा मरु स्तुतिकम्म मे अनतर होवृकृ क आर्षेयकम्म की तर्कयता बतलाती हुई श्रुति कहती है) यह होता उक्त स्तुतिकम्म क अनतर आर्षेय प्ररण करता ह । (इस कम्म से यह) होता (इस यजमान का) ऋषिया तथा देवताआ क लए हा निवेदित करता है यह यजमान (सचमुच) बडा पुरुषार्थी है जो इस यज्ञ (नस महत्कम्म) का प्रात नर सका इसी भावना क लए । (अर्थात् यजमान का यशस्वी बनाने क लिए ही यह कम्म होता है) इसलिए होता आर्षेय-प्रवरण करता है ॥३॥

पूव से इधर की ओर प्ररण करता है । (कारण यही है कि) पूव का ओर से ही अवाक-प्रनाएँ उपन्न होती है । अपिच इस क्रम से होता पूव के यष्ट पुरुषा क महत्त्र को सुरक्षित रखता है । यह पिता पहिले है अनतर पुत्र है अनतर पोत्र है (यही क्रम है) । इसलिए (भी) पहिले से इस आर क क्रम से ही प्रवरण करता है ॥४॥

(नब कोई यक्ति किसी महत्काय्य मे प्रवृत्त होता है ता इस से उस क पूव वशजों का कीर्त्तिप्रिस्तार माना जाता है । इसी यशोप्रिस्तार क लिए यजमान के पितामह पिता स्वय का इसी क्रम से— अमावसौ रूप से आर्षेय प्ररण होता है । इस प्ररण का ऋषि से सम्बन्ध है । उस ऋषिपरम्परा से ही प्ररण होता है जैसा कि आगे आग गले 'उत्तराधारब्राह्मण' म स्पष्ट होने वाला है ।)

इति—आर्षेयानुवचनम्

अथ निवित्पाठ

आर्षेय कह कर वह हाता देवभ्यो मविद्ध यदि रूप से निवित्पाठ करता है । सब से पहिले देवताआन ही स अग्नि को प्रवलिता किया था इसी लिए— देवेद्ध यह कहा गया है । (देवताओं के अनंतर मनुष्यसम्प्र आय मे) सब से पहिले इस अग्नि को मनु ने प्रज्वालता किया था इसीलिए म वद्ध ' यह कहा है ॥१॥

ऋषिष्टुत ' अस निवित् का यही तापय्य है कि सब से पहिले ऋषियान ही स अग्नि की तुति की थी इसीलिए ऋषिष्टुत यह कहा है ॥६॥

विप्रानुमादत इस निवित् का यही तापय्य है कि य ही निश्चयेन विप्र कहलाए है जो कि ऋषि हैं । इन ऋषियों ने स अग्नि का प्रसन्न किया था अतएव 'विप्रानुमादित' यह कहा है ॥७॥

वविशस्त ' इस निवित् का यही तापय्य है कि य ही निश्चयेन कपि नाम से प्राप्त है जो कि ऋषि है । उहीं ऋषियों ने स अग्नि का (सुप्रसिद्ध यजुरनुगता शस्त्रप्रक्रिया से) शसन किया था अतएव 'वविशस्त' यह कहा है ॥८॥

ब्रह्मसशित स निवित् का यही तापय्य है कि यह अग्नि निश्चयेन ब्रह्म से सुतीक्ष्ण किया गया है । 'घृतहवन' इस निवित् का यही तापय्य है कि [यह अग्नि स्वरूपरक्षा क लिए] घृत का आह्वान करने वाला [घृतप्रिय] है ॥९॥

प्रणीर्यज्ञाना रथीरध्वराणाम्' [अस निवित् के प्रणीर्यज्ञानाम्' भाग का यही तापय्य है कि] ऋत्विग् गण इसी अग्नि क द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों को पूण करने मे समथ होते है जो कि पाकयज्ञ है एव जो अ य यज्ञ है । इसीलिए— प्रणीर्यज्ञानाम्' यह कहा है ॥१॥

[उक्त निवित् क] 'रथीरध्वराणाम्' अस निवित् का यही तापय्य कि यह अग्नि रय बन कर देवताओं के लिए यज्ञ [हवि] का वहन करता है । इसीलिए— रथीरध्वराणाम् यह कहा है ॥११॥

'अतूर्त्तो हाता तूर्णिह यवाट' इस निवित् का यही तापय्य है कि इस अग्नि को राक्षस पार नहीं कर सकते । इसीलिए 'अतूर्त्तो होता' यह कहा गया है । 'तूर्णिह यवाट' का यही तापय्य है कि यह अग्नि स्वयं सब पाप्माओं को पार करने मे समथ है । इसीलिए तूर्णिह यवाट यह कहा है ॥१२॥

आश्पात्र जुहूर्देवानाम्' नामक निमित्त का यही ता पय्य है कि यह अग्नि (सप्तदेवताहति मुख स्थानीय जनता हुआ देवपात्र है। इसीलिए अग्नि में सम्पूर्ण देवताओं के लिए आहुति देते हैं। क्योंकि यह वास्तव में देवपात्र है। जो अग्नि की स पात्रता को जानता है वह जिस पात्र [भोग्यस्तु] को प्राप्त करना चाहता है अभीष्ट पात्र को प्राप्त कर लेता है ॥१३॥

चमसो देवपान ' इस निमित्त का यही ता पय्य है कि चमसरूप में परिणत हुए ही इस अग्नि से देवता आहुति य खाने है। इसीलिए चमसो देवपान यह कहा है ॥१४॥

'अरा २॥ इग्ने नेभिर्देवास्त्य परिभूरमि' इस निमित्त का यही ता पय्य है कि जिस प्रकार [शकटस्थ] अरों को नेभि चारों ओर स चान करती है वही प्रकार [अग्नि] देवताओं के चारों ओर से चान (घेर रहते) है प्रकृत निमित्त से यही कहा है ॥१५॥

इति—निधित्पाठ

*

अथ- देवतावाहनम्

(उक्तरूप से निधित्पाठ करने के अनंतर देवतावाहनकर्म होता है। उसी की इति कत्तयता बतलाती हुई श्रुति कहती है)।-

'आवह देवान् यमानाय' इस आवाहन मन्त्र से इस यज्ञ के प्रति अग्नि को देवताओं के आवाहन के लिए ही कहा गया है। 'अग्निमन्न आवह' इस मन्त्र से अग्नि को आग्नेय आग्नेयभाग के प्रति अग्नि को लाने के लिए कहा गया है। 'सोममावह' इस मन्त्र से अग्नि को सौम्य आग्नेयभाग के प्रति सोम को लाने के लिए कहा गया है। 'अग्निमावह' इस मन्त्र से अग्नि को जो कि दश-ओर-पूर्णमास दोनों यज्ञों में अपरिहाय आग्नेय-पुरोडाश है उस के प्रति अग्नि को लाने के लिए ही कहा गया है ॥१६॥

(दशपूर्णमास-दोनों में जो अग्नि पुरोडाशका देवता है उसके आवाहन के अनन्तर (निर्ग पकाल में जिस जिस देवता के लिए जिस क्रम से देवता के लिए हविर्निवाप हुआ था उसी क्रम से) उस उस देवता का 'अग्नीषोमावावह' इत्यादि मन्त्र से आवाहन करना चाहिए।

देवो २॥ आज्यपा' इस मन्त्र से (आयपान करने वाले) प्रयाज-अनुयाज देवताओं के आवाहन के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। प्रयाज (ऋतु) अनुयाज (छन्द) देवता ही

आयपा देवता है। “अग्नि होत्रायाग्रह” इस मन्त्र से होत्रकर्म के लिए अग्नि के आह्वान के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। “स्य महिमानमाग्रह” इस मन्त्र से आग्नि की अपनी महिमा (साहस्यीरूप) के आह्वान के लिए ही अग्नि से प्रार्थना करता है। याक् ही इस अग्नि की अपनी महिमा (गडमयी वषट्काररूपा महिमा) है। इससे इस याक् के आह्वान के लिए ही प्रार्थना करता है। आ च वह जातवेद सुयजा च यज’ इस मन्त्र से जिन देवताओं के आह्वान की यह प्रार्थना अभीष्ट है उन्हीं के आह्वान के लिए प्रार्थना करता है हे अग्ने! आप उन (यज्ञिय अभीष्ट) देवताओं को इस यज्ञ में लाइए एवं यथाविधि उन आगत देवताओं का यजन कीजिए यही कहा है जोकि—‘सुयजा च यज यह कहा है ॥१७॥

वह होना खडा हाकर देवतावाहनकर्म करता है। आवाहनकर्म अनुयजनकर्म है (देवताह्वानकर्म है)। एत यह (त्रिदूरस्थ) द्युलोक निश्चयेन अनुवाक्या है। अर्थात् द्युलोक प्रथिमी पर खडा हुआ सा है। एसी अवस्था में खडा खडा द्युलोकस्थ देवताओं का आह्वान करता हुआ होता। इस द्युलोकसम्पत्ति—सदृश बनकर ही आह्वान करता है। इसलिए खडा खडा ही देवतावाहन मन्त्रों का उच्चारण करता है ॥१८॥

(खड खड आवाहनकर्म करने में दोषोद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है)—वह ऋत्विक् (अध्वर्यु) बैठकर या या (एतन्नामक ऋचा) का उच्चारण करता है। यही (प्रथिवी) याज्या है। (यह बैठी हुई सी है)। इसीलिए कोई भी याज्ञिक खडा खडा याया का उच्चारण नहीं करता। निश्चयेन प्रथिवी या या है। (बैठकर या या का उच्चारण करता हुआ) अध्वर्यु याज्यारूपा प्रथिवी के स्वरूप में परिणत होकर ही याया का उच्चारण करता है। इसलिए बैठकर याया यजन करता है। (तापय्य यही हुआ कि अनुवाक्या द्युलोक है एत याया भूलोक है। आह्वानकर्म का द्युलोक से सम्बन्ध है एवं यजनकर्म का भूलोक से सम्बन्ध है। द्युलोक तिष्ठत् है एत भूलोक आसीन है। अतः इसी रूप से अनुवाक्या एवं यायाकर्म होना चाहिए। विरुद्ध करना प्राकृतिक—यज्ञसम्पत्ति से वञ्चित रहना है) ॥१९॥

इति—देवतावाहनम्

चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त
सामिधेनी ब्राह्मणानुगत—तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

—३—
—*—

शतपथब्राह्मणप्रथमकाण्डनुगत चौथ अध्याय मे तृतीय ब्राह्मण
एव तीसरे प्रपाठ मे चतुर्थ ब्राह्मण
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत चतुर्थ ब्राह्मण

—४—

—*—

अथ—शान्तिकर्म [अभिचारात्मकम्]

जो अग्नि सामिधेनी ऋचाओं से समिद्ध हाजाता ह यह तर सामा य प्रञ्चलित अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से प्रञ्चलित रहता ह। ऐसा समिद्ध अग्नि धर्ण क तथा स्पश क अयोग्य होजाता है। (न इसका कोई कुछ बिगाड ही सकता न काइ स्पश ही कर सकता क्याकि इसमे मन्त्रप्रियत् का समावेश रहता ह यहा तापय्य ह) ॥१॥

सो जिसप्रकार सामिधेनी मंत्रों से यह अग्नि समिद्ध होजाता ह जैसे ही यह सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ ब्राह्मण (हाता) भी (प्रखररूप में) तपने लगता है। (साथ ही मन्त्रपूत समिद्ध अग्नि की माति मन्त्रप्रयोक्ता यह ब्राह्मण भी घर्णण तथा स्पश के अयोग्य बन जाता ह ॥ ॥

(जिसप्रकार सामिधेनी मंत्रों से आह्वनीय अग्नि क अङ्ग प्रयङ्ग समिद्ध होजाते है एवमेव इनके अनुवचन से अनुवचनकर्ता हाता क अङ्ग प्रयङ्ग भी समिद्ध हाजाते है। किस सामिधेनी ऋग्भाग से कौन सा अङ्ग समिद्ध होता ह ? इसी प्रश्न का क्रमिक समाधान करता हुआ निम्नलिखित प्रकरण आरंभ होता है)—

वह होता 'प्र वो वाजा ' इत्यादि प्रथमा सामिधेनी-ऋक् का (जिस समय) उच्चारण करता है (उस समय अपने प्राणसमिधन की भांन करता ह)। प्राण निश्चयन (प्र शान्त से युक्त होता हुआ साथ ही गतिधर्मा बनता हुआ) 'प्रवान्' ह। इस प्रथम ऋचा से यह होता अपने प्राण को ही प्रञ्चलित करता है।

'अग्र आयाहि गीतये (इसका अनुवचन करता है)। अपान निश्चयन एतवान्' (आगमनधर्मा) ह। इस दूसरी ऋचा से होता अपने अपान को ही समिद्ध करता है।

'तन्ना समिद्धि ० इयादि तृतीय सामिधेनी ऋचा क) 'बृह छोचा यविष्ठय (इसक अनुवचन से उदान का ही समिधन करता ह)। उदान निश्चयेन बृहच्छोचा (तेजो-

नाडी से सम्बन्ध रखता हुआ अधिक तेजोयुक्त) है। इस ऋग्भाग से होता अपने 'उदान' को ही समिद्ध करता है ॥३॥

'स न पृथुश्रवाग्यम्' (इसके अनुपचन से श्रत्र का ही समिधन करता है)। श्रोत्र निश्चयेन प्रथुश्रवाय्य (प्रिस्तीण श्रण साधन) है। श्रोत्र से ही विशाल अरिक्त मयाप्त शब्द सुनता है। इस ऋक् से होता अपने श्रोत्र' को ही समिद्ध करता है ॥४॥

'ईडे-यो नमस्य' (इसके अनुपचन से वाक् का ही समिधन करता है)। वाक् निश्चयेन ईड-या (स्तुति करने वाली किंवा स्तुति का साधन किंवा स्तुति करने योग्य) है। वाक् ही इस सम्पूर्ण जगत् की स्तुति (उपादानत्वेन विनाश प्रिस्तार) करती है एव वाक् से ही सम्पूर्ण विश्व ईडित (स्तुत प्रितत) है। इस ऋचा से होता अपनी वाक् को ही समिद्ध करता है ॥५॥

वृषो आग्न समिध्यते' इयादि ६ ठी ऋचा से) अग्ने न देववाहन' (इस ऋग्भाग से मन का ही समिधन करता है)। मन ही देववाहन (देवनिर्मित इन्द्रियो की आधारभूमि तथा यज्ञिय देवताओं की सकल क द्वारा आधारभूमि) है। मन ही मनस्वी पुरुष को (सामान्य पुरुष की अपेक्षा, अतशयरूप से समृद्ध बनाए रखता है उठाए रखता है उन्नत रखता है। इस ऋग्भाग से होता मन को ही समिद्ध करता है ॥ ॥

('वृषण त्वा वय वृषन्० इयादि ७ वीं ऋचा के) 'अग्ने दीद्य त बहत्' (इस ऋग्भाग से चक्षु का ही समिधन करता है)। चक्षु निश्चयेन प्र वलित अङ्गार से है इस ऋग्भाग से होता अपने 'चक्षु' को ही समिद्ध करता है ॥ ७ ॥

'अग्निं दूत वृणीमहे' इस आर्षेयी ऋचा से जो कि इसका मयाप्राण (यान) है उसी को समिद्ध करता है। 'अग्निं दूत वृणीमहे' यह सामिधेनी ऋक् प्राणादि पञ्च प्राणों के मध्य में प्रतिष्ठित यानप्राण-स्थानीया है। इस से अय (द्वि-य) प्राण (इसके) ऊव भाग में प्रतिष्ठित है एव इस से अय (पार्थिव) प्राण (इसके) अधो भाग में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार प्राणों के मध्य में से इस मध्यस्था प्राणदेवता का स्वरूप पहिचान लेता है वह लोक में मध्यस्थ (श्रष्ट-मुखिया निर्णायक) बन जाता है ॥ ८ ॥

('समिध्यमानो अध्वरे०' इयादि नवमी सामिधेनी क) 'शोचिष्केशस्तमीमहे' (इस ऋग्भाग से शिशनेन्द्रिय का ही समिधन करता है) शिशन निश्चयेन शोचिष्केश (अभिल-

द्वितीय सामिधेनी क अध्याय मे अतिशयरूप से सत्तापननक स्वयमपि सत्ता है । शिशनी (कामी) का शिशन अतिशयरूप से सत्ता करता है । स ऋगभाय स हाता शिशन को ही समिद्ध करता है ॥ ६ ॥

समिद्धो अग्न आहुत इस ऋचा से जो कि यह अग्नप्राण है उसी का समिद्ध करता है । 'आहुतो दुवस्यत इस ऋचा से (समिद्धरूप से) सत्ता शरीर को नख-लाम भागों को छाडकर-समिद्ध करता है ॥ १ ॥

(उक्त प्रकार से होता के अग्रयणों का समिद्धन उत्तलाया गया । अब उसी समिद्धनक्रम से अभिचारकर्म की रतिकत्तयता बतलाई जाती है) — प्रथम सामिधेनी क अनुचन करते समय यदि होता क प्रात इस का शत्रु द्वेष-भाव प्रकट करे तो उस समय होता का सामिधेनी अनुचन क साथ हा- तूने अपना प्राण इस समिद्ध प्राणाग्नि मे डाला है, तू आत्मा क (शरीर के) प्राणाङ्ग से पीडित हागा यह बोल दे * । अग्रयमेव वैसा ही हागा । (अर्थात् शत्रु क प्राण छटपटाने लगगे) ॥ ११ ॥

द्वितीय सामिधेनी क अनुचन करते समय यदि । तूने अपने अपान को इस समिद्ध अपानाग्नि मे डाला है । तू आत्मा (शरीर) के अपान भाग से दुखी हागा ॥ १२ ॥

तृतीय सा । तूने उदान को मेरे उदानाग्नि मे आहुत किया है । तू शरीर के उदान भाग से दुखी हागा ' ॥ १३ ॥

चतुर्थ सा । तूने अपने श्रोत्र को मेरे आत्माग्नि मे आहुत किया है । तुझे श्रोत्र पीडा हागी, तू बहिरा हाजायगा ' ॥ १४ ॥

पञ्चमी सा । 'तूने अपनी वाक को मेरे आत्माग्नि मे आहुत किया है । तुझे वाक-पीडा हागी । तू मूक (गूगा) हाजायगा' ॥ १५ ॥

षष्ठी सा । तूने अपने मन को मेरे आत्माग्नि मे आहुत किया है । तू खोया हुआ सा पागल सा फिरता फिरेगा ॥ १६ ॥

* इन अभिचार मन्त्रों का स्वरूप मूलपाठ से गताथ है । प्रयोगकाल मे उही का चरण होना चाहिए । यहा केवल अर्थ ही बतलाया गया है ।

सप्तमी सा । 'तूने चक्षु को मर आत्माग्नि में आहुत किया है । तुम्हे चक्षु-पीडा होगी, तू अ धा होजायगा ' ॥ १७ ॥

अष्टमी सा । तूने अपने मध्य प्राण को मेरे आत्माग्नि म आहुत किया है । तुम्हे अपानप्राणपीडा (मलावरोध) होगी, तू पेट फूल कर मरेगा' ॥ १८ ॥

नवमी सा । तूने अपने शिश्न को मेरे आत्माग्नि म आहुत किया है । तुम्हे शिश्नपीडा (उपादशादि) होगी तू नपु सरु बन जायगा०' ॥ १९ ॥

दशमी सा० । तूने अपने अग्राड प्राण को मेरे आत्माग्नि मे आहुत किया है । तू इस प्राण से कष्ट पाएगा । उद्धकोष्ठ होकर तू मरेगा ' ॥ २ ॥

एकादशी सा । तूने अपने सर्वाङ्ग शरीर को मेरे आत्माग्नि मे आहुत किया है । तुम्हे सर्वाङ्ग शरीर स दु ख होगा । तू तत्क्षण मर जयगा ॥ २१ ॥

जिसप्रकार सामिधेनियों से प्रसिद्ध अग्नि को प्राप्त होकर मनुष्य दु ख उठाते है एतमेव सामिधेनी के मोलिक रहस्य को जानने वाले विद्वान् हाता क अनुमचन करते समय उसका उपहाम करने वाले भी (उक्त आर्त्तियों) प्राप्त करते है । (इसलिए ऐसे विद्वान का तिरस्कार-उपहासाद नहीं करना चाहिए) ॥ २ ॥

इति-शान्तिकर्म

चौथ अध्याय मे तीसरा तथा तीसरे प्रपाठक मे पाँचवाँ

ब्राह्मण उपरतम्

सामिधेनी ब्राह्मणानुगत चतुर्थ ब्राह्मण

उपरत

४

इति ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी-ब्राह्मण

समाप्त

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

सन्दर्भसगति—

सुकस्थापन-कर्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदिस्थान से गाहपत्य के समीप आता है। वहाँ आकर पुरोडाशान्त को आय से अक करता है। अनन्तर कपालां को घृत से अक करता है। अनन्तर उद्वासन करता है। इस कर्म के अनन्तर आयपराडाशादि हविर्भूतियों को वेदिस्थित ध्रुवापात्र के उत्तर भाग में इह रक्कर जुहू-उपभृत्-ध्रुवा-आय पुरोडाशादि का निधानक्रम से स्पर्श करता है। सर्वांत में अपन आपका स्पर्श करता है। यही 'सर्वालम्भनकर्म' है। इस सर्वालम्भनकर्म के अनन्तर 'सामधेन्यनुवचनकर्म' आरम्भ होता है। इसी की इति कर्त्तव्यता यहाँ से आरम्भ होती है—

१—वेद्या उत्तरश्रोणिरुत्तरतो होतृषदन कुशास्तीण सस्थाप्य समिधमादाय सामिधे यनुवचनाथं होतार प्रेषयत्यध्वर्यु ।

सर्वालम्भनकर्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदि के पश्चिम भाग में अथवा वेदि-श्रोणि के उत्तर भाग में होता क बैठने के लिए दर्भासन बध्नाता है। आसन बिछाकर 'एहि होत' इन शब्दों में होता का आमन्त्रण करता है। इस आमन्त्रण से हाता आचमन कर * सचरमाग से हाता हुआ उस दर्भासन पर बैठ जाता है। अनन्तर वह अध्वर्यु इमकाष्ठ सम्भार में से एक समिध (एतन्नामक काष्ठ) लेकर होता के प्रति—

अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' ।

यह प्रेष करता है। अध्वर्यु कृत प्रेष के अनन्तर होता ब्रह्मा से अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए ब्रह्मा के प्रति निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करता है—

ब्रह्मन् ! सामिधेनीरनुवक्ष्यामि'

ब्रह्मा उक्त वाक्य सुनने के अनन्तर पहिले उपाशु रूप से निम्न लिखित मन्त्र का जप करता है -

ओम् प्रजापतेऽनुब्रूहि यज्ञ देवता वद्धय त्व च नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु सप्त ऋषीणा सुकृता यत्र लोकस्तत्रम यज्ञ यजमान च धेहि' ।

*—यजमण्डप में ऋषिविजो के आहवनीय वेदि-गाहपत्य-दक्षिणाग्नि-कुण्ड आदि के समीप कर्माथ आने जाने के लिए जो नियत मार्ग बना रहता है वही सञ्चरमार्ग कहलाता है।

उक्त मन्त्र का उपाशु — उच्चारण कर ब्रह्मा निम्नलिखित वाक्य च्चस्वर से पढता हुआ होता को अनुवचनकम्म क लिए अनुज्ञा प्रदान करता है—

‘ओ३मनुब्रू३हि’ ।

इसप्रकार सामिधेयनुवचनकम्म क लिए ब्रह्मा से अनुज्ञा मिल जाने पर स्वासन पर प्रतिष्ठित होता अङ्ग लिपव क अग्रभागों को मिलाकर अञ्जलि को अपने हृदय से स्पृष्ट करता हुआ अपने दहिने पैर को वेदि की उत्तरश्रोण क ममीप रखता हुआ अंतरिक्ष की ओर देखता हुआ निम्नलिखित ‘नम क्रद्’ नामक निगद का जप करता है —

आ३म्-नम प्रवक्त्र नम उपवक्त्र नमो द्रष्ट नमोऽनुख्यात्र क’ इदमनुवच्यति म इदमनुवच्यति ‘क आर्वि य करिष्यति स आर्त्विज्य करिष्यति ऋच प्रपद्य यजु प्रपद्य साम प्रपद्य, ब्रह्म प्रपद्य, नार्त्ता छन्दमो मातर प्रपद्य, भू प्रपद्ये, भु प्रपद्य, स्व प्रपद्ये भूर्भुव स्व मव प्रपद्य’ इति ।

उक्त निगदपाठ क अन तर यज्ञकर्त्ता यजमान स्फ्य हाथ मे लेकर निम्नलिखित वाक्य से (अनुवचनकम्म क लिए) होता को प्ररणा करता है—

‘ओं स त वस्वि मेऽनत्रू हि ।

इस सम्प्र ध मे सूत्रकार एक विशेष नियम बतलाते हुए कहते है कि ‘स्विष्टकृद्याग’ नामक कम्म क अनुष्ठान से पहिले पहिले इतिकृत यता मे पठित ऋडमत्र एव निगदमन्त्रों का कुछ उच्चस्वर स उच्चारण करना चाहिए जिसे कि ‘सामायस्वर’ भी कहा जाता है । स्विष्टकृत से आरम्भ कर इडाप्राशनकम्म पर्यन्त सम्पूर्ण मन्त्रों का मध्यम स्वर से उच्चारण करना चाहिए । एव इडा कम्म से आरम्भ कर कम्म-समाप्ति पर्यन्त उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए ।

दूसरी विशेषता है होता के प्रति प्रैष करने क सम्बन्ध मे । कितन ही याज्ञिक पूव प्रैष वाक्य के स्थान मे अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि यह प्रैष करते है । परन्तु वस्तुतः ऐसा होना नहीं चाहिए । क्योंकि तदु तथा न ब्रूयात् । अहाता वा एष पुरा भवति (शत १।३।४ ३।) के अनुसार अभी यह ऋत्विक् होत्त्वेन वृत नहीं हुआ है । इही सब विशेषताओं के साथ उक्त इतिकृत यता बतलाते हुए आगे क सूत्र हमारे सम्मुख आते है—

— जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चिद्देवतागतमानस ।

निजश्रवणयोग्य स्यादुपाशु स जप स्मृत ।

- १— 'होतृषदन कृत्वाऽपरण वेदि श्रोण वीत्तरेण इध्मात् समिवमादाय 'अग्नये समि
 ध्यमानायानुब्र हि इत्याह (का श्रा० ३।१।१।) ।
 २— 'होतरिति चैके (का श्रा सू ३।१।१।) ।
 ३— प्रथमस्थानेन प्राक् स्विष्टकृत (वा श्रौ सू० ३।१।३।) ।
 ४— 'मध्यमनेडाया' (का श्रौ सू ३।१।४।) ।
 — शेषमुत्तमेन' (का श्रा सू ३।१।५।) ।
 ६— स त वन्निव मेऽनुब्रूहि' इत्याह यजमान' (का श्रा सू ३।१।६।) ।

—*—

उक्त यजमान-प्रैषानन्तर जप होता तीन बार हिङ्कार करके प्र वो वाजा०' इयादि सामिधेनी-ऋचाओं का उच्चारण करने लगता है उस समय यजमान अपने पाच के अगूठों से भूमि को दबाता हुआ (शत्रु के नाम का समावेश कर) निम्नलिखित अभिचार-वचन का उच्चारण करता है

'इदमह पञ्चदशेन वागवज्र णामुमववाधे' ।

यदि शत्रु के नाम का पता न हो साथ ही शत्रुता का परिज्ञान अवश्य हो तो उस दशा म- इदमह पञ्चदशेन वागवज्र ण द्विष-तमग्नाधे' यह बोलना चाहिए । यदि कोई शत्रु (कृत्रिम) ही न हो तो (सहनशत्रु नाश क लिए) इदमह पञ्चदशेन वागवज्र ण भ्रात-यमववाधे यह बोलना चाहिए । यदि काम्येष्टि का अभ्यास है तो १५ सामिधेनियों का यदि काम्येष्टि है तो १७ सामिधेनियों का होता के द्वारा अनुवचन होगा । फलतः प्रत्येक क साथ यजमान को 'इदमह' इत्यादि बोलते हुए पाणाङ्ग ष्ठीं स भूमि को दबाना पडगा । ता-पर्य्य यही है कि तत्तन् कर्मविशेषों मे १५ १७ २१ २४ ३ ६ इत्यादि सामिधेनी-ऋचाओं का विशष विधान है । दशपूर्णमास मे १५ तद्विकृति-भूता काम्येष्टि मे तथा पश्वादि मे १८ प्राजापत्यपशुध मे १ इष्टकाप शुबन्ध मे २४, पि येष्टि मे ३ उपसद्धोम मे ६ सामिधेनियों का विधान है । इन सामिधेनी-सख्याओं के अनुसार ही उक्त अभिचारम त्र म-क्रमश 'इदमह पञ्चदशेन सप्तदशेन एकविंशेन चतुर्विंशेन तृतीयेन नवमन इस रूप से तत्तद्विशेष सरयाओं का समावेश करते हुए शत्रु का नाम विदिति हो तो नाम का समावेश करते हुए नाम आवदित हो तो द्विषन्त पद का और यदि कृत्रिम शत्रु न हा तो भ्रात-य पद का सन्निवेश करते हुए सामिधेनी-सरया-समान उतने ही अभिचार-वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

हिङ्कारपूर्वक प्रणव सहित सामिधेनी का उच्चारण होता है । स प्रणव का सम्बन्ध मन्त्र क नोनो ओर होता है । जब जब होता सप्रणव सामिधेनी ऋक् का उच्चारण कर ऋग त मे प्रणव का उच्चारण करता ह तब तब ही (प्रतिप्रणव) अ ऋग्यु आ न मे २ म डालता जाता है । दोना क सामिधेनी-ऋङ्मन्त्रोच्चारण क साथ साथ अध्वर्यु का इध्म डालना मकम्म है । जतने सामिधेनी मन्त्र होते है उतन ही इध्म हाते है । दश-पूणमास मे क्योंकि १५ सामिधेनी ऋङ्-मन्त्र है फलत वहाँ १५ ही का आधान होता है ।

“सामद्वो अग्न आहुत ’ इस ऋङ्मन्त्र क उच्चारण से पहिले पशिले गृह अ ऋग्यु इसस पहिले मन्त्र क अन्तिम प्रणवाच्चारण क साथ साथ सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ अग्नि म डाल देता है । यदि अनुयाजकम्म अभीष्ट है तो इन मे स एक इमकाष्ठ बचा लिया जाता है । तात्पर्य्य यह हुआ कि (काम्यष्टि के अभाव मे) जबकि दश पूणमास मे पञ्चदश सामिधेनी अनुवचन विहित हो तो उस दशा मे प्र वो वाजा० इत्यादि ११ तो सामिधेनी मन्त्र है । एव आद्यन्त के मन्त्र तीन तीन बार पढे जाते हैं । इस त्रिराजतन से ११ के १५ सामिधेनी मन्त्र होजाते है ।

इस इष्टि म इस इध्मकम्म क लिए कुल (अनुयाजपत्न मे) १८ २ मकाष्ठा का सग्रह होता है इन अठारह इध्मों में से पूर्वोक्त परिधि परिधानकम्म क अनन्तर एक समिध का ‘वीतिहोत्र त्वा ववे द्युम त समिधीमहि अग्ने बह तमध्वरे’ [प्रथम परिधि समिधो-परस्पृश्य वीतिहोत्र मित्यादधाति” का श्रौ सू २।८।२) इस मन्त्र से परिधि का स्पर्श करते करते हुए अग्नि म आधान होजाता है । पत्र एक समिध का बिना परिधि का स्पर्श किए ‘समिदभि” (अनुपस्पृश्य द्वितीया समिदसी ति” का श्रौ सू २।८।३) यह मन्त्र बोलते हुए अग्नि मे आधान होजाता है । इसप्रकार १८ मे से २ का प्रयोग तो पारधिकम्म समाप्ति पर होने वाले समिधाधानकम्म म ही होजाता है । अत्र इस समय कुल १६ इ म बच रहि है ।

१६ की व्यवस्था यह है कि ‘प्र वो वाजा०’ से आरम्भ कर ‘अग्निं दूत वृणीमहे ” इस आठव सामिधेनी मन्त्र पश्यन्त ‘प्र वो वाजा की त्रिरावृत्ति से १ मन्त्र हाजाते है । इन दसों का प्रणवोच्चारण के साथ अध्वर्यु क द्वारा आधान होजाता है । आगे तीन मन्त्र शेष है अन्तिम मन्त्र की त्रिरावृत्ति से ५ मन्त्र शेष है सामिधेनी ६ शेष है । इन छत्रों क सम्बन्ध मे यह व्यवस्था हुई है कि पञ्चमन्त्रसम्बन्धिनी पाचों सामिधेनियों का समिद्ध अग्र आहुत इस १२ वीं सामिधेनी के उच्चारण से पूर्व एव ‘समिध्यमानो अध्वरे ’

इस ११ वीं सामिधेनी के अंत में होने वाले प्रणयोच्चारण के साथ ही अग्नि में आवाहन कर देना चाहिए। जो एक सामिधेनी शेष रहेगी उसका अनुयाजकर्म में उपयोग होगा। इस प्रकार पञ्चदश सामिधेनीपत्र में १५ इध्म सामिधेनी मन्त्रों के सम्बन्ध से १ अनुयाज सम्बन्ध से दा परिधिकर्मान्तर होनेवाले अभ्याधानकर्म के सम्बन्ध से १८ इध्मा का ग्रहण होगा एव इनका विनियोग उक्त प्रकार से होगा।

काम्येषु का भी यत्ति दशपूणमास में सप्तह है तो सप्तह सामिधेनी मन्त्र होंगे। और उस दशा में १८ के स्थान में २ इध्म काष्ठ लिए जायेंगे। जिन दो मन्त्रों का उपरिष्ठात् सप्तह होता है वे धार्या कहलाए हैं। साथ ही “समिध्यमानवता समिध्यवता चान्तरेण पृथुपाजावत्यौ धार्ये दधाति” (आपस्तम्बश्रौ सू) ‘तृतीयस्या सामिधेन्यावावपते प्रागुपोत्तमाया पृथुपाजा अमर्त्य इति द्व धार्ये इत्युक्त प्रतीयात्’ (आश्वलायन श्रौ सू) समिध्यमानवती समिद्धवता चा तरेण धार्या स्यु’ (त स १।३।४।५-३।३) इत्यादि के अनुसार इन दोनों धार्या ऋचाओं का सन्निवेश समिध्यमानपदघटित समिध्यमानो अधरे ” इस मन्त्र के तथा समिद्धपदघटित समिद्धो अग्न आहुत ” इस मन्त्र के दोनों के मध्य में निधान होता है। क्योंकि ये दोनों धार्या ऋचाएँ दोनों के मध्य में सन्निविष्ट रहती हैं अतएव इनकी- समिध्यमान समिद्धवती’ यह सज्ञा (नाम) मानी गई है।

पूर्वोक्त क्रमानुसार परिधिकर्मोत्तरभावी अभ्याधानकर्मोपयुक्त २ इध्मकाष्ठों तथा १ मन्त्रों के प्रणव के साथ होने वाले १ इध्मकाष्ठों के अभ्याधान के अनन्तर ८ इध्मकाष्ठ बच रहते हैं। इनमें से १ तो अनुयाज के लिए रखली जाती है शेष सातों का १ वीं के अन्तिम प्रणयोच्चारण के साथ अभ्याधान होजाता है। एव यही इस सप्तदश सामिधेनीपत्र में ७ इध्मकाष्ठा का विनियोग है।

अब इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा बच रहती है। कहा गया है कि ऋगुच्चारणकाल में यजमान दोनों पैरों के अंगुठों से भूमि त्वाता हुआ— इदमहम्’ इत्यादि रूप से अभिचारकर्म करता है। उधर श्रुति में— ‘य द्विष्यात् त अङ्गुष्ठाभ्यामववाधेत इदमहममृगववाध’ (शत १।३।५।) इत्यादि रूप से सामान्यतः ‘अङ्गुष्ठ’ पद उद्धृत हुआ है। इससे पैरों के अङ्गुष्ठ का ही ग्रहण किस आकार पर किया गया? इस प्रश्न का समाधान— पाश्चाभ्या मङ्गुष्ठाभ्यामववाधेत’ (का ब्रा २।३।३।५) इस काण्वब्राह्मणवचन के अनुसार प्रकृत

सामान्यवचन का विशेष (पाठ) विधि में सङ्कोच करना यायसङ्गत होजाता है । इसी पूर्वोक्ता इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कायायन कहते हैं —

(७)–‘अङ्गुष्ठाभ्या चावबाधते पाद्याभ्या वेदमहममुमवबाध इति द्वयम्’
(का श्रौ सू ११७) ।

(८)–‘अभावे द्विषन्त आतृष्यमिति वा’ (का श्रौ सू ३१८) ।

(९)–‘यावत् मामिधेनि वेदेदमह तावतिथेन वज्र णति
(का श्रौ सू ३१९) ।

(१०)–‘प्रतिप्रणवमाधानम्’ (का श्रौ सू ३११) ।

(११)–‘समिद्ध इति प्रागत समिध्यम कर्जमानुयाजाश्च त
(का श्रौ सू ३१११) ।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

—*—

तीसरे अध्याय मे पाचवॉ, तीसरे प्रपाठकमे

दूसरा ब्राह्मण

सामिधेनी ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण

१

वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य)—यज्ञतिष्ठत्त यताओ में ग्निसमिधन कम्म अपना एक विशेष महत्व रखता है। अग्निरु त्रै यज्ञ इस निगम के अनुसार अग्निताव ही यज्ञ कर्म की मूलप्रतिष्ठा है। आधिदैविक आधिभौतिक तथा आयात्मिक तन्त्रेतामियों के समन्वय से जो एक अपूर्व अतिशय उत्पन्न होता है उसे ही दैवात्मा कहा जाता है। यह दैवात्मा खगोलीय पार्थिव सत्त्व के त्रिणाचिकेत नामक सप्तदशस्तोम स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इस दैवात्मा के प्राण का रश्मिरूप से यज्ञकर्त्ता यजमान के साथ हृद्प्रथिवधन सम्बन्ध रहता है। उधर वह दैवात्मा दिव्यलोकरुच्य स्वर्गीय प्राणदेवताओं के साथ बद्ध रहता है। यावदायु-भोगपथ्यत इस भूपृष्ठ पर जीवनयात्रा का निर्वाह करता हुआ यजमान जब अपने भौतिक शरीर का परियाग करता है तो इसका कर्मभोक्ता—वैश्वानर तैजस प्राज्ञ—त्रितयमूर्ति भूतात्मा (मानुषात्मा) उस दैवात्मा के आकषण से आकर्षित होता हुआ उस सप्तदशस्तोमात्मक स्वर्गलोक में चला जाता है। जबतक यज्ञातिशयरूप दैवात्मा स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है तबतक मानुषात्मा वहाँ प्रतिष्ठित रहता है। समय पाकर यज्ञातिशयलक्षण पुण्यसंस्कार के क्षीण होजाने से तद्रूप दैवात्मा विलीन होजाता है पुनः उस मानुषात्मा को क्षीणो पुण्ये मत्स्यलोक वसन्ति के अनुसार उसी जन्म-मरण-प्रवाह में आजाना पडता है। और यही यज्ञकर्म का एक महत्वपूर्ण फल है।

इस यज्ञफलसिद्धि के लिए तीनों अभिनयो का पशिले परस्पर प्रथिवधन अपेक्षित है। आधिभौतिक अग्नि पार्थिव अग्नि है आयात्मिक अग्नि शरीराग्नि है एतद् आधिदैविक अग्नि सौर सावित्राग्नि है। पार्थिव अग्नि सौर सावित्राग्नि का ही प्रवय रूप है। वही सावित्राग्नि प्रवय सम्बन्ध से दिव्यस्था से पृथक् होकर अपने दिव्यरूप से वाञ्छित होता हुआ भूगर्भ में आकर कृष्ण (अप्रयत्न) रूप में परिणत होजाता है। इसी को विज्ञानभाषामें—कृष्णमृग कहा गया है। काष्ठादि में यही मृग अग्नि सुप्त है जिसका शेषे वनेषु मात्रो मन्त्र से स्वरूपोत्प्लेष होरहा है। काष्ठादि में प्रसुप्त यही आधिभौतिक अग्नि मनुष्य के प्रयास से प्रज्वलित होकर मनुष्यो के लौकिककर्म (पाकात्मिककर्म) सम्पादन करता है जैसाकि—सत्त्वा मर्त्तास इधते इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है। प्रज्वलित होने के अनन्तर यह भूताग्नि अपने भूतभाग को छोडता हुआ कालांतर में अपने उसी दिव्यप्राणरूप में परिणत होकर द्युलोक में चला

जाता है। अतद्रो ह्येय गृहसि हविष्कृदादिहेवेषु राजसि इस मन्त्रोत्तराद् स इसी स्थिति का प्रात पादन हुआ है।

भूताग्नि प्रज्वलित हाकर काला तर में य लोक में वसीप्रकार जाता रहता है। परन्तु इस स्वाभा वक गति से यज्ञकम्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। यज्ञक म में तो वह भूताग्नि ही उपयुक्त माना जायगा जिसमें यही इसी लोक में प्रतिष्ठित रहते हुए दि याग्नि का समावेश करा दिया जायगा। भूताग्नि को प्रज्वलित किया जायगा त्समें दि यप्राणाग्नि का समावेश कराया जायगा। अनन्तर आहुति के द्वारा यजमान अपने शरीराग्नि का इन दोनों से सम्बन्ध करा दगा। परिणाम इसका यह होगा कि अब जो भूताग्नि य लोक में जायगा उसके गभ में दि याग्नि रहेगा यजमान का शरीराग्नि रहेगा आहुतिद्रयानुशय रहेगा। तन् सब के समन्वितरूप का नाम होगा पूर्वाक्त दैवाम्ना। यह वहा जायगा इसका यजमान के मानुषा मा से सम्बन्ध रहेगा और यही आकषण स्वर्गफलप्राप्ति का कारण होगा।

भूताग्नि को प्रज्वलित सभी करते हैं। तद्वत् यहा भी अच्यु इध्म नामक सामान्य काष्ठप्रक्षेप से इसे प्रज्वलित कर लेता है। स सामा य प्रज्वलनकम्म को विज्ञानपरिभाषा में इधन कहा गया है। आहवनीयाग्नि प्रतिरूपमर्यादा से यद्यपि दिव्याग्नि की प्रतिकृति है। परन्तु यह तभी दि य कहला सकेगा जबकि इसमें किसी विशेष वजानिक प्रक्रिया से य लोकस्थ देवतामय दि य प्राणाग्नि का सम्बन्ध करा दिया जायगा। जबतक पार्थिव भूतरूप प्रज्वलित अग्नि का इस दि य-प्राणरूप अग्नि के साथ एकीभावामक सम्बन्ध नहीं होजाता तबतक इस आहवनीय इ म अग्नि का एक चूल्हे की सामा य अग्नि से अधिक कोई विशेष महत्व नहीं है। दि याग्निशूय ऐसे प्रज्वलित अग्नि में प्राणदेवाकषण की अयोग्यता है। फलत इसमें चाहे लागो मन धी डाल दीजिए अपरिमित आहुति-द्रय डाल दीजिए अर्हर्निश स्वाहा स्वाहा करते रहिए साथ ही यज्ञावद्या को जगत् की दृष्टि में महत्व शून्य सिद्ध करने का कलङ्क उठाते रहिए कभी ऐसे लौकिक अग्नि से फलसिद्धि नहीं होसकती। फल तत्र मिलेगा जब प्राकृतिक प्राणदेवताओं के गभ में आहुतिद्रय का समावेश होगा। आहुतिद्रय का देवताओं के गभ में समावेश तत्र होगा जब इस प्रज्वलित भूताग्नि में देवप्राणाकषक दि याग्नि का एकीभाव होगा। और यह एकीभाव तत्र सम्भव होगा जबकि ऋषिप्रदिष्ट सुप्रसिद्ध— सामिधेयनुवचन कम्म । आश्रय लिया जायगा।

प्रश्न हमारे सामने यही है कि य लोक में प्रतिष्ठित दि यप्राणदेवता प्राणा मक हैं। उधर प्राण की— रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दशून्यत्वे-सति अधामच्छदत्त्वमेव प्राणात्त्वम् यह परिभाषा मानी गई है। एत लक्षण दि यप्राण अस्मदादि के लिए सवथा अतीन्द्रिय बनता हुआ अग्राह्य है। जब वह अग्राह्य है तो उसका इस अग्नि में सम्बन्ध कैसे कराया जाय ? यही एक महती त्रिप्रातपत्ति है।

उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण स्वरसमन्वय से होरहा है। पृथिवी और सूर्य दोनों वस्तुत एक थ जैसाकि पाठक आगे देखगे। पृथिवी सूर्य का ही उपग्रह माना गया है। दोनों में परस्पर आधारा-धेयभाव सम्बन्ध है। सूर्य की प्रवर्ग्यभागामिका पृथिवी सौर आकषण-प्रतिष्ठा को आधार बनाकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है गौरूप सूर्य ने ही रश्मिरूप शङ्क (सीग) के आधार पर भूभार वहन कर रक्खा है। इस सौर प्राण का ही नाम स्वर है एव पार्थिव भूत का ही नाम यज्ञान है। स्वरप्राण के सम्बन्ध से

ही सौरलोक स्वर्लोक कहलाया है जसाकि स्वरहर्त्तेजा मृग्य (श १।१२।२।) इयादि श्रुति से प्रमाणित है। यजनवाक पाथिवी है यही अनुष्प कहला है। स्वरवाक् सौरी (ऐद्री) है यही बहुती क लाइ है। जिसप्रकार सूर्योपग्रहभूता प्राथया सारतत्त्व क बिना परुपरत्ता म अस मथ है एजमव सौर स्वर को आधार बनाए बिना पार्थिय यजना का भी उच्चारण असम्भव है। *।

वैज्ञानिक महर्षियोंन व्यजनवाक में अनुस्यूत सौर-स्वरतव की परीक्षा आरम्भ की। परीक्षा से यह सिद्धात निकला कि इस अनुष्प-लक्षणा पार्थिवी-वाक् (यजनवाक्) में आधार बना हुआ जो स्वर है वह दियतय (इ) है। यदि इस दियतय का (स्वर का) इस यजनवाक क साथ नियमपूर्वक सम्बन्ध जोड़ दिया जाय तो उस नियमित ग्राह से वागनुगत नियमित स्वर के आकर्षण से दियलोम्स्थ दियप्राणदेवताओं का आकर्षण सम्भव होजाय। एकमात्र इसी स्वरविज्ञान को मूल बना कर ऋषियोंन दियप्राणों के तत्त्वद्विशेष-स्वरूपों की परीक्षा आरम्भ की। उन्होंने दखा कि दियलोकस्थ आग्नि इन्द्र वरुण आग्नि यादि देवप्राण गायत्री त्रिष्पु आदि विशेष छन्दो (वाकपरिमाण मक सीमाभावों) से छन्दित (सीमित) रहते हुए उदात्त-अनुदात्त स्वरितादि तत्त्वद्विशेष स्वरवीचियों (लहरो) से युक्त हैं। इसी आधार पर उन्होंने यजनवाक में उसी नियम से छन्द स्वर सम्पत्ति का समावेश करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि यदि अमुक छन्द वाले अमुक स्वर युक्त अमुक मन्त्र का अमुक कर्म में अमुक नियम से प्रयोग किया जायगा तो उन छन्द-स्वरा से समतुलित छन्द-स्वर युक्त उन प्राणदेवताओं का यहा भी सम्बन्ध होसकेगा। साथ ही उस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी आदेश दिया कि यहा मन्त्राक के उच्चारण करते समय यदि मन्त्रप्रयोक्ता छन्द-स्वर-वर्ण आदि में यथास्थित नियम क विपरीत अणुमात्र भी स्वलन (अस्मावधानी) कर देगा तो उनकी स्वरूपानुगता-स्वरलहरी-विकृत होजायगी फलतः उन विकृत स्वर वर्णयुक्त मन्त्रों से उन अविकृत देवताओं का आकर्षण न होसकेगा। साथ ही इष्ट क स्थान में महान् अनिष्ट भी होजायगा X।

तो अब हमारी उस पूर्वोक्ता विप्रतिपत्ति का समाधान होगया। हम ऋषि के द्वारा दृष्ट उन मन्त्रों के यथाविधि उच्चारण से उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं का अपनी यज्ञसंस्था में अवश्यमेव सम्बन्ध कर सकते हैं। यही तो वेदमन्त्र का मन्त्रत्व है यही तो इमका अपोषेरुयत्व है। विज्ञानवाक का निष्कर्षण कौन कर

*- 'वीभत्सना सयुज हसमाहुरया दि यानां सरुथे चर तम् ।
अनुष्टुभमनु चचूर्ग्यमाणमि द्रानचिक्यु कवयो मनीषा ॥'
—ऋ १।१२४।६।

X- 'दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमथमाह ।
स वाग्वज्रो यजमाम हिनस्ति यथेद्रशत्रु स्वरतोऽपराधात् ॥

सकता है ? । वह तो ऋषियों के अतः करण में स्वतः प्रादुर्भूत होने वाला मङ्गलमय विधि का महतो महीयन् मङ्गलविधान है * । सी मङ्गलमूर्ति विधि के स्मरणपूर्वक हमारा यह सामिधेयनुवचनकम्म आरंभ होता है ।

यह सिद्ध हो चुका है कि आहवनीयान में तदव्यप्राणाग्नि का सम्बन्ध आवश्यक है । दोनों का एकीभाव ही यज्ञसिद्धि का द्वार है । इस एकीभाव के लिए ही **समिधन** (**समिधेकीभावे**) शब्द प्रयुक्त हुआ है । जिस कर्मविशेष से अ वय्यु के द्वारा इन्द्र अग्नि समिद्ध बनाया जाता है वही कर्मविशेष **सामिधेयनुवचनकम्म** नाम से यवहृत हुआ है । होता नाम का ऋचावक उन मन्त्रों का उच्चारण करता है जिन का छन्द गायत्री है **स्वरलहरी अग्निदेवतानुगता** है । उन मन्त्रों के प्रयोग से अतारक्ष्यस्य स यसहित प्राणाग्निदेवता आकर्षित होकर अवश्यमेव स इन्द्र अग्नि में प्रविष्ट होकर इसे समिद्ध (**स के साथ एकीभूत**) कर देता है । क्योंकि निर्दिष्ट ऋचाओं से स इन्द्र का समिधन होता है अतएव इन ऋचाओं को— **समिधेयताभिः ऋग्भ** सानुवचन से सामिधेनी कहा गया है । अ वय्यु पाहले इधम से (सामाय काष्ठ से) अग्नि को सद्ध — करता है । अनन्तर होता सामिधेनी ऋगुच्चारण से दिव्यप्राणाग्नि के स्थापन द्वारा इस अग्नि को समिद्ध करता है । इसी संबंध में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए । प्राणाग्नि का सम्बन्ध अपेक्षित है । प्राणाग्नि का स्थिरसम्बन्ध बिना भूतक नहीं हुआ करता । भूतक आधार पर ही प्राण प्रतिष्ठित होता है भूतद्वार से ही प्राण का आकर्षण होता है ।

यहां भी अवश्य ही आगत प्राणाग्नि को स्थिरता के लिए भूतसम्बन्ध अपेक्षित है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जितने सामिधेनी मन्त्र हैं उतने ही (१५ अथवा १) मकाष्ठ लिए जाते हैं । होता मन्त्रोच्चारण कर अतः में प्रणवोच्चारण करता है इस से प्राणाग्नि अग्नि में प्रातष्ठित होता है अव्यवहितोत्तरकाल में ही अ वय्यु नियत इम अग्नि में डालता रहता है । इस प्रकार यावत् सामिधेनी समतुलित इमकाष्ठों का प्रतिप्रणव आधान होता है । कैसा अद्भुतक मकरलाप है । उस ओर से मन्त्रशाक्त के द्वारा होता दिव्यप्राणाग्नि को स यज्ञसंस्था में लाता जाता है इस ओर से अ वय्यु प्रतिप्रणव इधमाधान से भूताग्नि को प्रज्वलित करता जाता है । दोनों का एकीभाव मक समिधन होता जाता है । कम्मसमाप्ति में दोनों अग्नि मिलकर एक अपूर्व-समृद्ध यज्ञानुगत रूप प्राण कर लेते हैं । ऐसे समिद्ध आग्नि क प्रातः कौन अग्न्युपासक भूसुर नतमस्तक होकर नमन न करेगा ? ।

अब इस संबंध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इधनकम्म अत्रयु ही क्यों करता है ? अत्रयु समिधनकम्म होता ही क्यों करता है ? इन प्रश्नों की सक्षिप्त उपपत्ति यही है कि प्राकृतक—

***—युगा तेऽ तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।**

लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥

— लौकिक-मौतक-काष्ठ से भूताग्नि का ही धन (प्राज्वल) होता है । अतएव इधन— (प्राज्वलन)—साधक का ठीकी लोक व्यवहार में इधन नाम से प्रसिद्ध होगया है जिसका प्राकृतिक रूप ही राजस्थान में— इधन कहलाने लग पडा है ।

सृष्टि में पार्थिव-अग्नि वायु से ही (पङ्क आदि के भङ्गने से ही प्रज्वलित होता है। वायु ही प्राकृतिक यज्ञ के वाय्वनुगत यजुर्वेदी अथवा माने गए हैं। अतएव यहा भी तत्प्रतिकृतिरूप यजुर्वेदी अथवा यजु ही मकम्म करता है। पार्थिव मूलाग्नि ही इत एत उदारुहन् निःस्पृष्टान्यारुहन्। प्रभूतयो यथा पथि दामङ्गिरसो ययु इस मन्त्रवर्णन के अनुमर द्य लोकस्थ दिव्याग्नि से मेल कर समिद्ध होत हे। दूसरे शब्दों में पाथव अग्नि ही सम धनक म के सञ्चालक है। ये ही प्राकृतिक यज्ञ के अग्न्यनुगत ऋग्वेदी होता माने गए हैं। अतएव यहा भी तत्प्रतिकृतिरूप ऋग्वेदी होता ही साम धनकम्म करता है। यद्वै देवा अकुव स्तत् करवाणि ही इस उपपत्ति का मूल है। और यही सामिधेयनुपचनकम्म की सन्निपत् उपपत्ति है जिसका कि प्रकृत ब्राह्मण की प्रथम-काण्डना में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १ ॥

क्योंकि प्रतिरूपाणुगता-मन्त्रातीयमर्यादा से होता ही समिधनक म का अधिकारी है अतः अ नय समिध्यमानयानुब्रूहि अथाद रूप से अ वय्यु इस कम्म के लिए होता को ही प्ररित करता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामिधेनी अनुवचन के अनतर इस ऋग्विक का होतृवन वरण होनेवाला है। उस से पहिले होता के उद्देश्य से उस क म में नियुक्त होता हुआ मी यह विधिवत् होतृ सत्ता में पारणत नहीं हुआ है। अतः होतरनुब्रूहि इसप्रकार नामनिर्देश पूर्वक प्रषन कर उक्त सामा यरूप (बिना नाम-निर्देश) से ही प्रैष करना चाहिए ॥ २ ३ ॥

इस कम्म से अग्नि का समिधनलक्षण एकीभाव सत्र व ही अपेक्षित है। प्राकृतिक जिस देवता की ऋचा के द्वारा आकषण करना है वह जाया अग्नि छन्द उम का गायत्री है साथ ही अग्निवन व ब्रह्मरीत्य का प्रवक्त क है। दववग में इन्द्र ज्ञा च्त्ररीत्य के प्रवक्त क हैं विश्वदव जहा षिड्विय के प्रवक्त क हैं एव पूषाप्राण जहा शून्भाव का स्वरूपसमपक है वहा अग्नि ब्रह्मवी य के अधिष्ठाता माने गए हैं। एतद्ब्रह्मोपेत अग्नि का उसी ऋचा से आकषण सम्य है जिस का स्वरूप (अर्थापिज्ञया) अग्निमय होगा। अर्थात् जिस में अग्निस्वरूप का वागन होगा छन्द जम मा गायत्री होगा। इमान्नि सामिधेयनु-वचनकम्म में उपयुक्ता सामिधेनी सभी ऋचाएँ स्वरूपत (अथत) आग्नेयी होती ह एव छन्दोमर्यादा से इन सब का गायत्री छन्द होता है। इस अपने ही छन्द अपने ही स्वरूप से समतुलित सामिधेनी-ऋचा से अग्नि का समिधन तो हो ही जाता है उसके अतिरिक्त इस में समतुलित ब्रह्मात्मिका गायत्री से विशेष शक्ति (ब्रह्मबल) का भी आधान होजाता है।

गायत्री की ब्रह्म तथा वी यरूप बतलाना भी एक विशेष महत्व रखता है। पार्थिव हृदयस्थ* प्रजापति से (प्रजापति के मुखरूप उक्तथ न यत्रिदु से) अर्कामक पार्थिव अग्नि का तथा अग्निमोमलक्षण गायत्रीछन्द का आविर्भाव हुआ है। अग्नि ब्रह्म है इसका छन्द गायत्री है। स अग्निब्रह्म के सम्बन्ध से

* 'प्रजापतिर्वाव यष्ट । स ह्य तेनाग्र ऽयजयत । प्रजापतिरकामायत प्रजाय गति । स मुखतस्त्रिवत् निरमिमीत । तमग्निर्देवता ऽसज्यत, गायत्रीछन्द रथ तर साम ब्राह्मणो मनष्याणा, अज पशूना । तस्मागे सुरया मुखतो ह्यसृज्य त '

—नै स ७।१।१।४ ।

गायत्रीछ् ब्रह्मवीर्या मक बना हुआ है। उस के अतिरिक्त इमी गायत्री के द्वारा एति-प्रेति रूप अयथ वी य के प्रभाव से तृतीय य लोकस्य सोम का अपहरण होता रहता है। यन् गायत्री का अपना प्रातिस्विक व्यय्य है। मन प्राणवात् मय आ मा के तीनों धातुओं से क्रमशः कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरी का आभिर्भाव हुआ है। इन तीन पवों के स वच स तीनों में क्रमशः पराक्रम वीर्य्य बल नाम के ध म उपन्न हा जाते हैं। मनोऽनुग कारणशरीर पराक्रम का अधिष्ठाता है एन मनुष्य इस का उाहरण है। प्राणानुगत सूक्ष्मशरीर वीर्य्य का अधिष्ठाता है एव सिंह इस का उदाहरण है। वागनुगत स्थूल-शरीर बल का अधिष्ठाता है एव हाथी इसका उदाहरण है।

तीनों शब्द पृथक पृथक तीन अर्थों के वाचक ३। साथ ही तीनों पूव-पूव एक दूसरे से गौरवावित है। यही कारण है कि अपने शरीरबल से दो चार सिंहों को कुचलने की शक्ति रखता हुआ भी हाथी वीर्य्यशाली सिंह का आक्रमण नहीं सह सकता। इधर सिंह के दशनमात्र से कम्पित होपडने वाला मनुष्य पराक्रम के बल पर सिंह को पञ्जर (पिंजरे) में बन्द कर देता है। प्राणाग्नियुता गायत्री प्राणशक्ति से ही य लोकस्थ सोमापहरण में समथ होती है। प्राणशक्ति वीर्य्यात्मिका है। अतएव यहा गी य गायत्री य कहा गया है ॥ ॥

सामिधेनी ऋचाएँ आ नेयी हैं गायत्रछ्दा हैं। उस से ब्रह्मवीर्य्य का आधान होगया। परन्तु अभी उसमें क्षत्रवीर्य्य के आधान की कमी है जिस के बिना ब्रह्म का कोई क म समृद्ध नहीं होसकता। ब्रह्म अभि गतामात्र है कर्त्ता तो क्षत्र ही है। ब्रह्म-क्षत्र का यु म ही क म की समृद्धि का द्वार है (देखिए शत ४।१२)। आवश्यक है कि ब्रह्मसम्पत्ति सग्रह के साथ साथ क्षत्रसम्पत्ति का भी यज्ञ में सम्बन्ध कराया जाय। इस के लिए क्षत्रानुगता छ्दा स पत्ति का सम्बन्ध अपेक्षित है। जिसप्रकार अग्नि ब्रह्मवीर्य्यात्मक है तथैव इद्र क्षत्रवीर्य्यात्मक है। एवमेव अग्नि का गायत्रीछ्दा जसे ब्रह्मवीर्य्यात्मक है वैसे इद्र का त्रिष्टुप्छ्दा क्षत्रवीर्य्यात्मक २। इस सम्पत्ति का समष्टिरूप से स्वत सग्रह होजाता है। सामिधेनी ऋचाएँ ११ हैं एव त्रिष्टुप्छ्दा भी ऽकादशाक्ष ही है। एक एक अक्षर एक एक मन्त्र से समतुलित है। १२ से त्रि टुप के द्वारा प्रकृत्या क्षत्रम पर्वा प्रा त होजाती है। परिणामत हमारा भूताग्नि ब्रह्म क्षत्र दोनो वीर्य्यों से समिद्ध बन जाता है। ११ ही सामिधेनी क्यो होती है ? इस प्रश्न की यी सक्षिात उपपत्ति है ॥ ५ ॥

जिस यज्ञकम्म का यज्ञमान स पादन करने वाला है उस यज्ञ की स्वानुरूपा स पनि वही मानी गइ है कि उस में जो भी कम्म हो प्राकृतिक यज्ञ के अनुरूप ही हो। इसी को यज्ञपरिभाषा में रूपसमृद्धि कहा गया है। प्राकृतिक यज्ञ में सक्त्र त्रिवृदभाव की प्रधानता दर्पी जाती है। पहिले पञ्चपर्वा उस सर्वहुत नामक विश्वयज्ञ के स्वरूप पर ही दृष्टि डालिए। महाविश्वयज्ञ की आर भूमि प्राणा मक स्वयम्भ है।

× 'उरसो बाहुभ्या पञ्चदश निरमिमीत। तमि द्रो देवता ऽसृज्यत, त्रिष्टुप् छ्दा, बहत् साम राज यो मनव्याणा, अवि पशूना तस्माो वीर्य्यवन्त। वीर्य्या-द्वयसृजन्त' तैः स ७।१।१।४५)।

इस का उपक्रम— वंदा स य सूत्र सय नियति सय स त्रिवदभाव स नी हुआ है । दूसरा पमे ठीप भी इट् ऊक् -भाग सम्बध से त्रिवत् ही बन रहा है । सूयपत्र भी यात गौ-रायु मे स त्रिपत्रा ही है । चद्रमा भी रेन -अद्धा यशो रूप से इस स पा । स वञ्चित न ही है । पृथिवी भी वाभू गौ-द्यो से निय युक्त है । इसप्रकार पाच पवों स पात्क क लाने वाले ऋसावश्यक का उपक्रम [स्वय भू] पारव [परमेठी] मय [सूय] अवरपारव [चद्रमा] उपसहार सब कुछ त्रिवत् ही बना हुआ है ।

शुक्रविज्ञान की दृष्टि से भी वाक्-आप-अग्नि यह अमृता शक्रत्रयी त्रिवत् का उपक्रम बन रही है एव अग्नि आप-आक् यह मर्त्या शक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपसहार बन रही है । यज्ञप्रवर्क यज्ञिय दवता अग्नि-वायु-आदिय स पत्ति से युक्त रहते हुए त्रिवत् बन रहे है । त्रि सय वताओ का यजनरूप प्रयेक यज्ञकम्म सा त्रि स पत्ति से युक्त है जिस का इशादि विज्ञानभयो म विस्तार स त्तरूपण किया जाचुका है ।

वैधयज्ञ मे हाने वाले दीक्षा सुया उपसत् के त्रिवदभव से भी त्रिवत् का यज्ञाङ्ग विसद्व हार । है । तीन पर आरम्भ तीन पर समाप्त यह यज्ञ की आवश्यक सम्पत्ति है । ऋस स पत्ति का भी हमारे इस सामिधेनीक म में सम्र होना चाहिए । इसी स पत्तिसम्र के लिए ११ मत्रो में से प्रथम तथा अन्तके मत्रो का तीन बार अनुवचन होना है । आर म का त्र -अनुवचन प्रायणीय-यज्ञस पा । का तथा अन्त का त्र -अनुवचन उदयनीय-यज्ञस पा । का सम्राहक बन रहा है । त्रि-त्रि -अनुवचन की यही सत्पित्त उपपत्ति है ॥ ६ ॥

यज्ञानुगता त्रिवत्सम्पत्ति अपेक्षित थी । इस स पत्ति के साथ साथ उसी सयानुगता प्रातरूपता से ऋस पत्ति और मिल जाती है । आद्यन्त के त्रि-त्रि अनुवचन स ११ के स्थान में १५ सामिधेनी ऋचाए होजाती है । इदा ह यत्र वृत्राय वज्र प्रजहार [शत १।६।४।१] ऋत्यादि पूवाक्त दभविज्ञान में यह मतलाया गया है कि शस्त्रवल् से आक्रमण करना चत्र इद्र का काम है । इद्र की प्रहारशक्ति [विद्युच्छक्ति] ही वज्र है । इस वज्रसम्पत्ति का ग्राहक पञ्चदशसयामाव [१५ सय] है । कारण यन्ती है कि जैसे प्रजापति के मुख से त्रिवत्स्तोम ए । त नु गायत्रीछन्द तथा अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है एवंमेव प्रजापति के उर तथा बाहुओ से *पञ्चदशस्तोम ए । तदनु त्रि दुपछन्द तथा इद्र का प्रादुर्भाव हुआ है । अग्निब्रह्म ब्राह्मण है शस्त्र प्रहार करना अभिचार करना ऋस का धम्म नहीं क्योकि अति का इसके लिए— सर्स्य वा अय ब्राह्मणो मित्र न रा अय कञ्चन हिनस्ति [शत २।३ २।१६] यही आदेश है । ऋधर शत्रनाश तथा यज्ञक म पर होने वाले स्वामाविक असुराक्रमण का तन्तोष भी अपेक्षित है । यद्यपि एकादशस पत्ति से त्रिष्टप के द्वारा द्रक्षत्र का सम्रह होजा है । तथापि प्रजापति के साक्षात् बाहुवी य से स बध रखने वाले पञ्चदशामक आयुध का सम्रह नहीं होता । व काम स पद्रह सय से

*-अथैतानी द्रभक्ती य तरीक्षलोको माध्यन्दिन सवन ग्रीष्म, स्त्रिष्टुप पञ्च-
दशस्तोमो बृहत्साम, य च देवगणा समाम्नाता मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रिय ।'
—या नि ७।१।१

पूरा होजाता है। यज्ञ गिन क्षात्रधर्मानुगत आयुध—स पनि स यत्न होजाता है। फल यह होता कि न—
वज्ररूप सामिधेनयो के अनुवचन कर्मरूप वज्रप्रहार करते समय यजमान जिस शत्रु को नष्ट करने की
भावना प्रकट करता है अवश्यमय वह शत्रु नष्ट होजाता है। यही पञ्चदश सरया की एक
उपपत्ति है ॥ ॥

एक पत्न की २ रात्रया होती है। इसी अद्ध मास के परिप्लव से आग जाकर स व सरयज्ञ का
स्वरूप स पत्न होता है। जसने एक पत्न की रात्रियों का सग्रह कर लिया उसने उस अवयव के द्वारा परे
सम्बसर की रात्रियों का सग्रह करते हुए स व सरस पत्ति ही प्रा त करली। यह सम्ब सरयज्ञस पत की प्राप्ति ही
पञ्चदशसख्या का दूसरा फल है।

अवयव अवयवी के बिना अरूण है। असमृद्ध है। साथ ही दशपूणमास का प्राकृतिक पञ्चाग्नि—
सोम से सम्बद्ध है अतएव इस सम्ब स का अवयव माना जायगा। इस की पूणता के लिए समृद्धि के
लिए अवयवी का सम्ब ध अपेक्षित है। वह काम भी इस् पञ्चदशसरया से गताथ होजाता है। यही पञ्च श—
सरया की तीसरी उपपत्ति है।

अग्निहोत्र दशपूणमास चातुर्मास्य पशुबध योतिष्मोम ये पाचो षोडश कृपश
प्राकृतिक—आधिदैविक—नि य अहोरात्रयज्ञ पक्षयज्ञ ऋतुयज्ञ अयनयज्ञ सम्प्र सरयज्ञ इन पाच
यज्ञों के प्रतिरूप है। दशपूणमाम क्योंकि प्राकृतिक पक्षयज्ञ क प्रतिरूप है पत्न में १५ सरया का समावश
है। अतएव यहा १५ सरया के समावश स उस पक्षयज्ञ की अनुरूपता भी प्रा त होज ती है। यही पञ्चदशसरया
की चौथी उपपत्ति है ॥ ८ ॥

प्रत्येक गायत्रीछन्द के [त्रिपदागायत्री के] तीन तीन पाठ होते हैं प्रत्येक पाठ में आठ आठ अक्षर
होते हैं सम्भूय एक गायत्री के २४ अक्षर होजाते हैं। १५ के सत्रध से १५ गायत्रीछन्दस्क सामिधेनी
अन्वाश्रो के प्रत्येक के २४ के अनपात से कुल ३६ अक्षर होजाते हैं। उधर एक स व सरयज्ञ में ३६ ही
अक्षर होते हैं। इस पद्धत सरया से स पत्न गायत्री के ३६ अक्षरों से स व सर के ३६ अहोरात्र समतुलित
है। इस रूप से साक्षात् ही स वत्सरयज्ञस पनि का सग्रह होजाता है। यही पञ्चदश सरया की पाचवी
उपपत्ति है ॥ ९ ॥

यदि दर्शपूणमास में काम्येष्टि अपेक्षित है तो उस समय १५ के स्थान में १ सामिधेनिया होती है।
धा या नामक दो ऋमत्रो का (जोकि समिध्यमानो अ वरे—समिद्ध अग्नि आहुत इन दोनों
मत्रों के मय में पठित होने से समिध्यमान—समिद्धवती नाम से व्यहृत हुए हैं) समावेश और कर
लिया जाता है। इस सत्रह सरया की यही उपपत्ति है कि इस से सर्वकाम (अभीष्टकाम जिसके
लिए कि काम्येष्टि की जाती है) पूण होजाता है। म कामपूर्ति का मूलाधार सव—प्रजापति

— अथास्य कर्मरसानुप्रदान वृत्रवधा, या च का च बलकृति रिद्रकर्मै—
व तत् (या नि ७।१।२)।

है। भृगुभस्थ ऋग् प्रजापति अनिरुक्त है। इसे ही क नाम से यवहृत किया गया है। ऋस के द्रव्य उक्त अनिरुक्त प्रजापति का वाच महिमालक्षण वषट्कार के आधार पर आग जाकर पार्थिव-स व सररूप में अक्वरूप से अवतान होता है। वही ऋस का स्वरूप है उस ही सवप्रजापति कहा गया है जो कि स नाम से यवहृत हुआ है। सर्वात्मक ऋस स वमरप्रजापात के याष्ट-समाष्ट-रूप से दो वक्त ह। यष्टिरूप इस के अवयव ह समष्टिरूप अवयवी हैं। १२ मास ५ ऋतुए स के अवयव हैं। इन की समाष्ट ही स व सर है। न १ अवयवो से यह प्रजापात सप्त श वा हु ग्रा है का येष्ट से कामपूर्ति अपेक्षित है। कामपूरक सप्तदशप्रजापति है ऋसप्रकार सप्तदश सामवेदी के अनुवचन स उस सप्तदश कामपूरक प्रजापति का संग्रह होजाता है कामपूर्ति होजाती है। यही सप्तदश सत्या की उपपत्ति है।

काम्येष्टि के देवता का उपाशुरूप से यजन होता है। उपाशुभव अनिरुक्तभाव का ग्राहक है। उधर अनिरुक्तभाव स्वरूप का संग्राहक माना गया है। प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चिन्पथतावच्छेकावा लुप्त में ही शक्ति मानी गइ है। ऋसीलए प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का ही वाचक है। यष्टिरूप से ही वस्तुओं का शब्द के द्वारा निवचन सम्भव है। परन्तु समष्टि के लिए सप्त सद के अतिरिक्त और किसी शब्द का यवहार नहीं होता। उपाशु अनिरुक्त है अनिरुक्त सवभाव है वही सवकाम यहा अपेक्षित हैं। इसीलिए (सवकामसमृद्धि के लिए ही) यहा उपाशु यजन होता है। उपाशुभाव सर्वात्मक अनिरुक्तभाव का ही संग्राहक है यही तापय है। इसके साथ ही श्रुति लोकदृष्टि से यह भी सिद्धाद रही है कि यदि तुल्य अपने काम्यकर्म की सिद्धि अपेक्षित तो तत्साधक कर्म का उपाशुरूप से (उपचाप-बिना किसी स कहे सुने) ही अनुगमन करना चाहिए। लौकिक काम्यकर्म हो अथवा शास्त्रीय उस का घण्टाघोष करने से कर्म निरुक्त बनता हुआ अनिरुक्त आमप्रजापति की शक्ति से वञ्चित होजाता है। वागिन्द्रय का प्रजापति से सङ्घ नहीं है जसा १५— स प्रजापतिमनस एवानुवाच। तस्माद्यत् किञ्च प्राजापय यज्ञ क्रियते उपाश्वेय तत् क्रियते। अह यथाद्वि वाक् प्रजापतय आसीत् (शत १।४।५।१२।) इयाद रूप से आग विस्तार से बतलाया जान वाला है। यह विश्वास करने योग्य है कि जो यज्ञ अपने कर्म का वागिन्द्रय से बलान करने लग जात हैं व आमसहयोग लोको हुए कर्मसमृद्धि से सवथा वञ्चित ही होजात हैं। सच्चमुच्च प्रदर्शन ही काव्यसिद्धि का अत्यतम शत्रु है ॥१॥

दशपूणमास के सङ्घ में केतन ही याज्ञक २१ सामिधेनयो का अनुवचन आवश्यक मानते हैं। इस की उपपत्ति व यह बतलाते है कि १ मास ५ ऋतुए ३ लोक इसप्रकार सम्बसरयज्ञ के २ वर्ष हैं। २१ वा स्य सूर्य है। यही सप्त सरयज्ञ की अतिम गात तथा प्रात ठा है। यदि यहा भी २१ सामिधेनियो का अनुवचन होगा तो २ सत्या स १ त्रिममलित उक्त मासाद २ त वसरपर्वो का संग्रह होजायगा एव २१ वी के अनुवचन से सूर्यप्रात ठा प्रात होजायगी ॥१॥

परमवैज्ञानिक याज्ञवल्क्य उक्त उपपत्ति का उपहास करत हुए कहते है कि जो यजमान सवथा श्रीशूय है अप्रति ठत है उसीके लिए २१ का अनुवचन करना चाहिए। अर्थात् जो ऐसा होगा वही सूर्यपनी श्री की कामना से २१ का समथन करेगा। भला ऐसा श्रीशूय यजमान दशपूणमास का आरम्भ

ही क्यो कोगा ? इसके लिए तो काम्येष्टि ही पर्याप्त होजायगी । काम्येष्टि से जत्र गत-श्रीभाव का अजन होसकता है तो भिर उम प्रतिष्ठा के लिए यह मन्नाप्रयास निरर्थक है । साथ ही सामा यस्थिति में रहने वाला यजमान यदि २१ का अनुगमन करेगा तो उस से इस में को प्रिशेषता ही आएगी । सूय्यप्रति ठा का आकषण तो योतिष्टोमयज्ञ पर ही अवलम्बित है । हा यह बहुत सम्भव है कि गतिलक्षणा सूय्यस पत्ति की भावना स यजमान अपनी रही सही श्री भी और खोत्र ठे । इसलिए ऐसी उपपत्ति बतलाकर २१ का पक्ष स्थापन करना केवल विचार ही विचार सनभगा चाहिए । वस्तुतः इनका अनुगमन पद्धति-विरुद्ध है ॥१२॥

मूलनुवाद में बतलाया गया है कि प्र जो राजा इयादि प्रथम ऋचा का तथा-आजुहोता दुःप्रस्यत इयादि अन्तिम ऋचा का त्रिरावृत्ति से (तीन तीन बार) उच्चारण होता है । इस त्रिरावृत्त स जहा त्रिवृत् प्राय िय त्रिवृत्-उदयनीय-यज्ञ की स्वाभाविक त्रिवृत् स पत्ति का समग्र होजाता है वहा इसी त्रिवृद्भाव से लोकत्रयसन्तान-स पत्ति तथा प्राणत्रयसन्तान-स पत्ति भी प्राप्त होजाती है । निदानेन यह त्रिरावृत्त त्रिच लोकत्री तथा आयागिक-प्राणत्रयी का प्रतिरूप है । प्रकृति में तीनों लोक एक ही पृथिवी-लोक के तीन पितान हैं । वही पार्थिव आग्न वषटकारम र्यादा से त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश-स्तोमरूप से तीन लोकों के वितान का कारण बना हुआ है । एक के ही तीन परस्पर बद्ध वितान है । इसीप्रकार अपान-यान-प्राण तीनों आयागिक प्राण क्रमशः स्तौम्यत्रिलोकी के प्राथवी अतरिच-द्यौ-लोकों के अग्नि वायु आदित्य से स बंध रखत हुए एक ही के तीन सतत परस्परबद्ध-अविच्छिन्नरूप है । जब कि आर्ा दैविक लोकत्रय तथा आयागिक प्राणत्रय एक ही के तीन वितान है साथ ही तीनों वैतानिकरूप एक दूसरे से बद्ध तथा निच्छेदरहित है तो तत्प्रतिरूपभूता सन दोनो आद्यत की त्रिचों में भी उसी सतत अविच्छिन्न सम्पत्ति का समावेश करना ही चाहिए । तभी इस से उमका समतुलन होगा एव तभी उस से समतुलित इन के द्वारा लाक प्राण स पत्तिया प्राप्त होसकगी । एकमात्र इसी प्रयोजन के लिए आद्यत की दोनों त्रिचों का एक ही श्वास में त्रिना ऋद्ध्मय में अथवा ऋगन्त में विश्राम लिए उच्चारण होता है ॥१३॥

जो याज्ञिक यह कहते हैं कि जत्र एक श्वास में तीनों का उच्चारण नहीं होसके तो क्या किया जाय ? अपनी शक्ति से ही तो उच्चारण होगा । इसलिए जहा श्वास टूटता हो वही विश्राम लेते हुए स्वशक्त्यनुसार ही अनुवचन क लेना चाहिए । इस में को दोष नहीं है । उन याज्ञिकों से हमारा (याज्ञवल्क्य का) यही कहना है कि अभी व प्राकृतिक यज्ञस्वरूप के परिज्ञान से वञ्चित हैं । उह यह नहीं मुला देना चाहिए कि यज्ञ एक प्राकृतिक कम्म है । इस म अपने बुद्धिवाद एव तदनुगता अपनी कपना का को मह व नहीं है । यदि ऋद्ध्मय में विश्राम कर लिया जायगा तो न लोकस पत्ति प्राप्त होगी न प्राणस पत्ति । क्योंकि म यत्रिश्राम में इन त्रिचों का उन त्रयीभावों से समतुलन ही नहीं होगा । अतः ऋद्ध्मय-विश्रामपक्ष को सवथा अवज्ञानिक ही समझना चाहिए ॥१४॥

यदि होता तीनों का एकसाथ एकश्वास म उच्चारण न करसके तो कर्म्मैतिकर्ष्यता कैस पूरी की जाय ? यह विप्रतिपत्ति उठाइ जाती है । ऋद्ध्मय में विश्राम करना सवथा दोषावह है । ऐसी परिस्थिति में एक एक ऋचा पर विश्राम कर लेने से यथाकथञ्चित् निर्वाह किया जासकता है । तीनों लोक तीनों प्राण एक ही के तीन विवर्ण बनत हुए भी स्वतन्त्र लोक तथा स्वतन्त्र प्राण हैं । यष्टि-दृष्टि से तीनों पृथक्

पृथक भी हैं। इसलिए एक एक पर विश्राम करने से भी काम चल सकता है। परन्तु-ऋत्न म य में विश्राम करना तो सवथा ही अनपेक्षित है।

अथवा एकैकानुवचनपद में एक एक ऋचा से भी तीनों लोक स पत्तियों का सग्रह किया जासकता है। प्रत्येक सामिधेनी-मन्त्र गायत्रीछन्द के स ब्रह्म से त्रिपदान्वित है। एक एक प को एक एक लोक का सग्राहक माना जासकता है। तीनों पदों के अनन्तान् (एकश्वास से) उच्चारण से तीनों लोकसम्पत्तिया प्राप्त होमकती हैं। अब प्रश्न बच जाता है-प्राणसंधान का। इसका समाधान गायत्री कर रही है। तीन पदों की समष्टि एक गायत्री है। आग्नेय-प्राणानुगता गायत्री प्राणामिका मानी गः है। एक गायत्री पूरा एक प्राण है जिस के गभ में तीन पदों के सम्बन्ध से तीनों प्राण विद्यमान हैं। इस से प्राणत्रयी सम्पत्ति का भी आधान होजाता है। इसप्रकार तन पदों से लोकत्रयी का त्रिपदा कृत्वा गायत्री से प्राणत्रयी का सग्रह होजाता है। इसदृष्टि से एक एक पद में लोक-प्राण युग्मों की सतति सम्पात्त का सग्रह होजाता है। अतः इस एकैकामेवाननन्तान् पद को तो फिर भी माना जासकता है। परन्तु ऋत्न म य में विश्राम करना तो सवथा ही दोषावह है ॥१२॥

कहा गया है कि गायत्रीछन्द का १५ सामिधेनिया अक्षर-सम्बन्ध से सम्बन्ध के अहोरात्रों की सग्राहिका बन रही हैं। सम्बन्ध के अहोरात्र परस्पर बद्ध से विच्छेदरहित-वन कर ही रात-दिन-दिन-रात इस क्रम से चक्रवत् घूमते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि १५ हो सामिधेनी मन्त्रों को एक साथ परस्पर सम्बद्ध बना कर ही उच्चारण किया जाय। ऐसा न हो कि एक मन्त्र बोल लिया इतस्तत् देखने लगे थोड़ा समय निकल गया इसप्रकार विच्छेदपूर्वक १५ हो का अनुवचन पूरा किया। जब प्रकृति में अहोरात्र विच्छेदरहित हैं तो तत्स्थानीय इन १५ हों का भी विना इधर उधर देखे क्रमबद्ध एक के बाद दूसरी तीसरी स क्रम से सततरूप से ही उच्चारण करना चाहिए। यदि ऐसा न कर विच्छेद डाला जायगा तो अहोरात्र की सतत-स पत्ति तो प्राप्त नहीं ही होगी साथ ही शत्रुप्रवश का अवसर और मिल जायगा। अहोरात्रस पत्ति यजमान की अपनी भोग्या सम्पत्ति है। इसमें विच्छेद डालना शत्रु को दाय्यादभोक्ता (हिस्सेदार) बनाने का अवसर (उपस्थान) देना है। ऐसी छिद्रानुगता भोग्य-स पत्ति शत्रु की दृष्टि में आजाती है। अतः सामिधेनियों का सतत ही अनुवचन होना चाहिए ॥१६॥

तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, एवं तीसरे प्रपाठक में दूसरा

ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण अत्र उपरत

—१—

—*—

तीसरा अध्याय समाप्त

३

—*—

चतुर्थ अध्याय उपक्रान्त

४

चौथे अध्याय में पहिला, एव तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत दूसरा ब्राह्मण

—२—

आग्नेयी सामिधेनी गायत्रीछन्द ११ मूलसरया आद्यत क मन्त्रो की प्रिरावृत्ति पञ्चदश सरया काग्यष्यनुगता सप्तदश सख्या आद्यत क दोना त्रिचो का एकश्वास म उच्चारण १५ हा सामिधेनी मंत्रों का स तत-अविच्छिन्न उच्चारण इन विशेषधर्मों से क्रमशः अग्नि स्वरूप-प्रातिपूजक ब्रह्मवीर्यधान प्रातिस्विक गायत्रीवीर्यधान क्षत्रीवीर्यधान प्रायणीयोदयनीयानुगता यज्ञियत्रिवृतसम्पत्तिसग्रह वज्रसम्पत्ति-रात्रिसम्पत्ति अह सम्पत्ति अनिरुक्तानुगता सवसम्पत्तिसग्रह लोक-प्राणसम्पत्तिसग्रह अहोरात्र की अनयभोग्यता इन फलो का सोपपत्तिक निरूपण ही पूर्वब्राह्मण के परिगणित विषय है। अब सामिधेनियो के सम्बन्ध में ही सामात्मिका एक विशेषता बतलाते हुए इतिक व्युत्पत्ति का स्पष्टीकरण किया जाता है।

जिस प्राकृतिक यज्ञ से सम्पूर्ण प्रजा की उपपत्ति हुई है वह प्राकृतिक यज्ञ सत्य पर ही प्रतिष्ठित है। इसी सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आया है—

प्रजापति की सत्तान होने से 'प्राजापत्य' इस उपनाम से प्रसिद्ध देवता और असुर दोनो पिताप्रजापति के दाय (सम्पत्ति) का विभाग कराने की इच्छा से प्रजापति क समीप प्रणतभाय से (देवता) एव अधिकार भावना से (असुर) उपस्थिति हुए। प्रजापति क दायदकोश (निर्जा साञ्चत सर्पा) अपनी सत्य और अनृत नाम की बाढ मयी सम्पत्ति ही प्रधान थी। प्रजापति ने आधा सत्य, आधा अनृत तो देवताओं में बाँट दिया एव आधा सत्य तथा आधा अनृत असुरों में बाँट दिया। देवताओं ने चाहा कि अपने भाग का आधा अनृत यदि असुर लेलें तत्स्थान में अपना आधा सत्य अपने को दे दें तो बडा अच्छा हो। इसीप्रकार असुरों ने भी यही चाहा कि अपने को जो आधा सत्य मिला है वह देवता लेल और बत्ले में आधा अनृत हमें देद तो बडा अच्छा हो। आग जाकर ऐसा ही हुआ। फलत देवताओं क दायद म सम्पूर्ण सत्य आगया एव असुरों के दायद में सम्पूर्ण अनृत आगया।

अपन इस कृत्स्न सय को प्रा त कर देताअन यह अनश्चय क्रिया कि अपन यज्ञ कर के इस सय का त्रैलोक्य म फलान् । देताओंन गसा ही किया । नस यज्ञ क आवार पर देताअन राकसय का प्रितान किया था यह वाक् सय यही त्रयीविद्या है शत १।१।१।१।

उक्त आरयान की वैज्ञानिक- रया की ओर न जात हुए प्रकृत में नस से यही बतलाना है कि सय और यज्ञ का घनिष्ठ संबंध है । यज्ञ सहा सय का वितान होता है एय सय क आधार पर ही यज्ञकर्म सम्पादित होता है । यह सयतव श्रात के श्रद्धो म ही— ऋक यजु—सामात्मिका त्रयीविद्या ही है । नस से यनी निष्पन्न निकलता है कि त्रयीवेद ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है निस तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या का शास्त्रात्मक वेदग्रन्थों म निरूपण हुआ है ।

ऋक यजु—साम तीना तबो के आधार पर नद्य प्रजापति यज्ञ करने मे समथ हुए हैं । ऋक वेद से अग्नितत्त्व का यजु से वायु का तथा साम से आदित्य का आविर्भाव हुआ है । त्रयीवेदोपन्न अग्निवाग्वादि देवताओं का परस्पर सङ्गम ही यज्ञ है * ।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड एक एक स्तुतत्र यज्ञसस्था है । इस प्रत्येक यज्ञसस्था में पद पुन पदम् भेद से दो दो पद है । स्वयं वस्तुपिण्ड पदम् है एव वस्तुपिण्ड के केन्द्र से प्राणरूप स निकल कर वस्तुपिण्ड के चारो ओर बड़ी दूर पर्यत अपनी शक्ति रखने वाला बहिर्मण्डल उस वस्तुपिण्ड का पुन पदम् है । इसी पुन पद को महिमामण्डल साहस्रीमण्डल बषट्कारमण्डल विश्वरूप आदि नामो से यवहृत किया गया है ।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड को वस्तुपिण्ड वस्तुमहिमामण्डल एव पिण्ड मण्डलागत वस्तुतत्त्व भेद स तीन भागो में विभक्त दृष्टा जासकता है । पिण्ड भी कोइ सत्तासिद्ध वस्तु नहीं है अपितु आकारमात्र है । मण्डल भी को सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है अपितु आकारमात्र है । जिस का यह पिण्ड है जिस का यह मण्डल है पिण्ड तथा मण्डल स पिण्डाश्रित मण्डलाश्रित वही तव सत्तासिद्ध पदार्थ है । पिण्डात्मिका सामा अत सीमा है एव मण्डलात्मिका सीमा जहि मामा है । इन दो सीमाओं से पिण्ड मण्डलगत वस्तुतव सीमित बना हुआ है । पिण्डसीमा ही नसे कि हम मूर्त्ति क्नेगे ऋग्वेद है । मण्डलसीमा को ही सामवेद कहा जायगा एव उस तीसरे सीमित सत्तासिद्ध वस्तुतव को यजुर्वेद कहा जायगा । इसप्रकार इस त्रयीदृष्टि से प्रत्येक वस्तु मे त्रयीवद की उपलब्धि होरही है । दूसरे शब्दों में त्रयीविद्या के गम में हा सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की उपलब्धि होरही है जसा कि— त्रया वाव विद्याया सर्वाणि भूतानि (शत १।४।२।२२) न यादि श्रति से प्रमाणित हैं ।

ऋग्वेद छन्दोवेद है सामवेद प्रितानवेद है एय यजुर्वेद रसवेद है जैसा कि उपनिष-द्विज्ञानभा यभूमिकादि में विस्तार से प्रतिपादित है । छन्दो-लक्षण ऋग्वेद मूर्त्ति का निर्मापक है । प्रितानलक्षण सामवेद मूर्त्तिमण्डल-लक्षण बाह्य तेजोमण्डल का स्वरूपसमर्पक है एष रसलक्षण

*—अग्नि वायु रावभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमुगयजु सामलक्षणम् (मनु) ।

यजुर्वेद मूर्त्तिमण्डलात्तवर्त्ती रसात्मक गतिभाव का प्रयुक्त क है * । इस तावक वदस्वरूप विवचन से नि कष यही निकला कि वदत्रयी के आधार पर जिस यज्ञ की स्वरूप-नि पत्ति बतलाइ गई है उस का प्रधान स्थान बहिमण्डलामक वितानलक्षण सामवद ही बन रहा है ।

पूव में साम का आदिय से सम्बन्ध बतलाया गया है । पाठको को स भवत यह भी स्मरण होगा कि हमने पूवब्राह्मण के विवचना-प्रकरण में स्वरविज्ञान का स्पष्टीकरण करत हुए यह बतलाया था कि स्वर का आदिय से सम्बन्ध है एव स्वर्लाकस्थ दि यप्राणदेवता भी स्वररसात्मक ही हैं । इन स्वररसात्मक प्राणदेवताओं का परस्पर यजन ही यज्ञ है । स्वरतव आदियामक है आदिय सामामक है । फलत स्वर और साम की एकरूपता सिद्ध होजाती है । पिण्डामिका ऋक् यदि पद्यस्थानीया ह मध्यस्थित यजु यदि गतिधम्म से गद्यस्थानीय ह तो मण्डलात्मक साम इसी वितानामक स्वरभाय से गेयामक ह । वितान ही गान है गान ही सामह साम ही तत्तद्ग्रस्तु महिमा-मण्डल की अवसान भूमि है ।

केन्द्र से बाह्य परिधि-पथ्यत वुलवृत्ताकारामक सहस्र मण्डल होते हैं । अतएव सामतव सहस्र-वर्मा कहलाया है । इस सहस्र र्मा साम के उस स्वरूप का हमें विचार करना है जिस की सीमा के गभ में पार्थिव सम्बत्सरयज्ञ प्रतिष्ठित हैं । इस सम्बत्सरयज्ञ का वितान भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ एकविंशस्तोम प यत होता है । १ स्तोमपर्यन्त पार्थिव मण्डल ही रथतरसाम कहलाया है । त्रिवृदग्नि पञ्चद-शवायु एकविंश आदित्य ये मुख्य देवता अग्निप्रमुख आठ वसुगाण वायुप्रमुख ११ रूद्रगाण आदियप्रमुख १२ आदियगण १ प्रजापति १ वषट्कार ३३ प्राणदेवता यज्ञियदेवता कहलाए है —। इन यज्ञिय देवताओं से ही यज्ञ का स्वरूप नि पन्न हुआ है । यह यज्ञमण्डलामक महिमामण्डल उभयत-परित-उसी वितानामक साम से परिग्रहीत है ।

दूसरी दृष्टि से सामव्याप्ति का विचार कीजिए । पार्थिव सामपृष्ठो को हृद्यप्रष्ठ स्पृश्यप्रष्ठ (भूपिण्ड) त्रिवृत्प्रष्ठ पञ्चदशप्रष्ठ सप्तदशप्रष्ठ एकविंशप्रष्ठ पारावतप्रष्ठ मे से सात भागो में विभक्त किया जासकता ह । ये सातो पृष्ठ सामपरिभाषा में क्रमश हिकार प्रस्ताव आदि उद्गीथ प्रतीहार उपद्रव निघन इन नामो से व्यवहृत हुए हैं । यदि त्रिवृत् का स्पृश्यपृष्ठ में अन्तर्भाव करलिया जाता है तो त्रय-स्त्रिंशपृष्ठ एक स्वतन्त्र पृष्ठ बन जाता है । उस समय हृद्यप्रष्ठ त्रिवृत्त स्पृश्य हृश्यप्रष्ठ सप्त-दशप्रष्ठ एकविंशप्रष्ठ त्रयस्त्रिंशप्रष्ठ पारावतप्रष्ठ (अष्टाचत्वारिंशत्प्रष्ठ) इस क्रम से सात पृष्ठ

* 'ऋभ्यो जाता सर्वशो मूर्त्तिमाहु सर्वा गतिर्याजुषी हैव शशवत् ।

सव तेज सामरूप्य ह शशवत् सव हीद ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' ॥

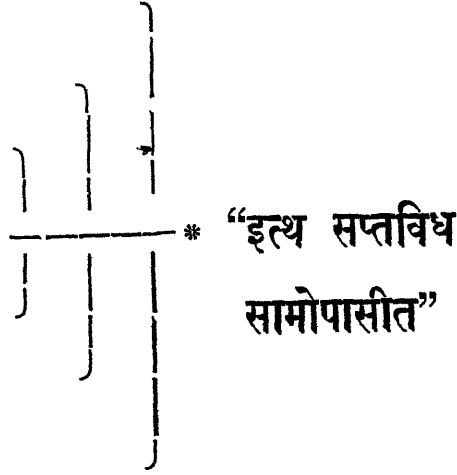
—तैत्रा ३।१२।६ १२।

— इति स्तुतासो असथा रिशादसो येस्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।

मनोर्देवा यज्ञियास ” । [८।३ ।२।] ।

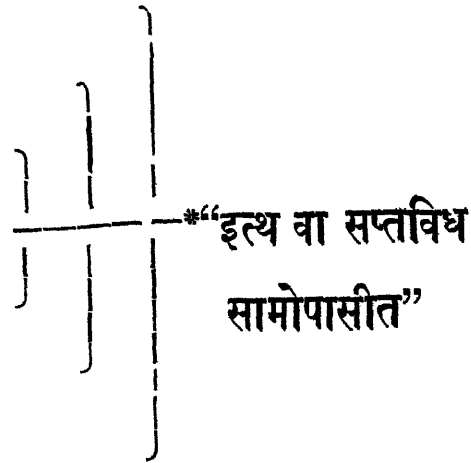
हाजाते है। यदि हृद्यपृष्ठ का भूपृष्ठ म अन्तर्भाव मान लिया जाता है तो त्रिणव के समावश से सात पृष्ठ हाजाते है। इसप्रकार लोकेषु सप्तविध सामोपासीत अस अनुगमवचन का तीन प्रकार से सम वय किया जासकता है।

- १—हृद्यपृष्ठ (केन्द्र)—हिङ्कार—
- २—स्पृश्यपृष्ठ (भूपिण्ड) प्रस्ताव—
- ३—त्रिवृत्पृष्ठ (६)—आदि
- ४—पञ्चदशपृष्ठ (१५) उद्गीथ—
- ५—सप्तदशपृष्ठ (१७) प्रतीहार
- ६—एकविंशपृष्ठ (२१) उपद्रव—
- ७—पारावतपृष्ठ (४८)—निधन—



— * —

- १—हृद्यपृष्ठ—(केन्द्र)—हिङ्कार
- २—त्रिवृदन्तभूपृष्ठ (६)—प्रस्ताव
- ३—पञ्चदशपृष्ठ (१५)—आदि
- ४—सप्तदशपृष्ठ (१७)—उद्गीथ
- ५—एकविंशपृष्ठ (२१)—प्रतीहार
- ६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ (३३)—उपद्रव
- ७—अष्टाचत्वारिंशत्पृष्ठ (४८)—निधन



— * —

१—हृत् त्रिवृद तभू पृष्ठ हिङ्कार—

२—पञ्चदशपृष्ठ— प्रस्ताव

३—सप्तदशपृष्ठ— आदि

४—एकविंशपृष्ठ— उद्गीथ—

५—त्रिणवपृष्ठ— प्रतीहार

६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ— उपद्रव

७—अष्टाचत्वारिंशतपृष्ठ निधन

—*—

१—भूपृष्ठ— हिङ्कार—

२— त्रिवृत्पृष्ठ प्रस्ताव

३—पञ्चदशपृष्ठ आदि

४—सप्तदशपृष्ठ उद्गीथ—

५—एकविंशपृष्ठ प्रतीहार

६—त्रिणवपृष्ठ उपद्रव

७—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ-निधन—

—*—

*“इत्थ वा सप्तविध
सामोपासीत”

*“इत्थ वा सप्तविध
सामोपासीत”

उक्त साम विपत्तौ की विवचना की ओर न जाते हुए प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि सामतव की प्रकृति यज्ञ की प्रति ठा है। इस साममण्डल की उस उक्त्य हृद्य त्रिदु को जहाँ से प्राणा मक साम का प्राथमिक उदय होता है ऋषियोन हिङ्कार नाम से व्यवहृत किया है। एव तदयवहित प्रदेश में प्रतिष्ठित उपक्रम त्रिदु को—प्रणय नाम से व्यवहृत किया है। हिङ्कारा मक यही प्रणवसाम स तदश स्थान में उद्गीथोङ्कार रूप में परिणत होता है। एव सर्वा त में यही स्वरूप में परिणत होता हुआ सर्वाङ्कार कहलाया है। इसप्रकार हिङ्कारा मक प्रणवसाम के ग्रहण से स पूण साम एहीत होजाता है।

अत्र सन्नेप से सङ्गीतहाट से भी िङ्कारामक साम की मीमासा कर लीजए । नाद स्वर श्रुति श दाद भेद से सङ्गीत के अनेक पाँ माने गए ह । न न नाद ही सङ्गीत की सबमूलाभक्ति है । ना ब्रह्म क आधार पर ही श्रुति का उत्थान होता ह । श्रुति के द्वारा ही स्वर का आभिर्भाव होता ह एव स्वर ही आग जाकर शब्दाभिव्यक्ति का जनक बनता है ।

सङ्गीतानुगत-नाद श्रुति स्वर-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

सामानुगत हिंकार के समन्वय प्रसङ्ग में नाद-श्रुति स्वर भावों से समावा उस सङ्गीत की स्वरूप-मीमासा का भी हमें दो श दो म यशोगान कर लेना चाहिए जिस इत्थभूत सङ्गीत को आमबुद्धि से समा ता सत्रि मूला निष्ठा से असस्पष्ट ही मानते हुए ऋषिप्रज्ञा ने आमबुद्धिनिष्ठा प्रधान एतद् शीय ब्राह्मण के लिए तो सर्वात्मना नियन्त्रित ही कर दिया है जसाकि- तस्याद ब्राह्मणो न नृयेत न गायेत यादि श्रौत स दम से स्पष्टतरूपेण प्रमाणित है । इस प्रमाणन का कारण भी स्पष्टतम है । प्रकृत के तात्रिक स्वरूप के परीक्षक वैज्ञानिक महर्षियोंन मानवीय मन का एक प्रधान दोष माना है आग्ला एव मानवीय शरीर का एक प्रधान दोष माना है माय । ए गायन नत्तन प्राद्यात्मक सङ्गीत में येन केन रूपेण ये दोनो दोष न्यूनाधिकमात्रा स सन्नविष्ट रहत ही हैं । इन दोनो स-क्रमश मनोऽनुगत-आग्ला दोष से तो मानवीय आत्मा की चित्तन निधिध्यासन मूला सवित् शाक्त अभिमृत होजाती है एव शरीरानुगत माय दोषसे मानवीय बुद्धि का निष्ठानुगत व्यवसायामक धृतिगुरा अभिभूत हाजाता है । माल्ढ्यदोष को सङ्गीत के नृत्यविभाग में समाविष्ट माना गया है जिस नृत्याङ्ग का प्रधानरूप के शरीर से ही सम्बन्ध है । एव आग्लादोष को सङ्गीत के गायनविभाग में समाविष्ट माना गया है जिस गायनाङ्ग का प्रधानरूप स मन से ही सम्बन्ध माना गया है ।

दोनो दोषों के स्वरूप के सम्बन्ध में बात कुछ समझने जसी है । प्रकृतसिद्ध पञ्चपवा प्राकृत-विश्व के सुप्रासद् चन्द्रमा से तो मानवीय मन का स्वरूप निर्माण हुआ है एव भूपय (पाञ्चभौतिक-भूपिण्ड) स मानवीय शरीर की स्वरूप-निपत्ति हुई है । चाद्र मण्डल सौम्य-गधव-प्राण की आवासभूमि माना गया है एव पार्थिव मण्डल अद य पृथिवी रूप से आयप्राणामक अ सराप्राण की आवासभूमि माना गया है । मनोऽनुगत चाद्र गधवप्राण ही गायन का प्रवत्तक है एव शरीरानुगत पार्थिव अ सराप्राण ही नत्तन का प्रवत्तक है । हास परिहास आमोद प्रमोद क्रीडा रति आदि आदि मन-शरीर-निबन्धन यच्चयावत् कामभोग चाद्र-पार्थिव गधव तथा अप्सरा प्राणो स ही अनुप्राणित माने गए हैं जसाकि नि न लिखित कतिपय श्रुतयत्नो स स्पष्ट प्रमाणित है—

(१)-मनोविभूतय —

- १—असो वै सोमां राजा विचक्षणश्चन्द्रमा (कौ ब्रा उप ४।५।१)।
- २—चन्द्रमा गधव (यजु स १८।४)-(शत ६।४।४।६)।
- ३—रूपभाित गधर्वा-उपासते (शत १।५।२।२ ।)।

४—योषित्कामा वै गधर्वा (शत ३।२।४।३।)।

५—स्त्रीकामा वै गधर्वा (ऐ ब्रा १।२७।)।

६—मनो मे, रेतो मे, पुन सम्पूतिम्मं तमे त्वयि च द्रमसि
(जै उ ब्रा ३।२७।१४)।

७—गधो मै मोदो मे, प्रमोदो म, तम युष्मासु गधर्वेषु
(जै उ ब्रा ३।२५।४।)।

(२)—शरीरविभूतय —

१—इय वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा (यजु स ३।४।४।) शत १।४।१।२।१

२—अद्म्य पृथिवी (तै उप २।१।)।

३—ग व इत्यप्सरस -उपासते (शत १।५।२।२।)।

४—किं नु मेऽस्मासु अप्सरस्तु इति ?—हासो मे, क्रीडा मे,
मिथुनस्मे (जै उ ३।२५।५।)।

५—गधेनै च रूपेण गधर्वाप्सरसश्चरति (शत ६।४।१।४।)।

चाद्रमनोऽनुगत गधप्रमाण एव पार्थिवशरीरानुगत अप्सराप्राण इन दोनों प्राकृतिक प्राणों के आधार पर सुप्रसिद्ध तुम्बुरु तथा गधर्वाजायनुगत-नारद (पारमेष्ठ्य आपोमय नार प्रवर्क प्राण) नामक ऋषिप्राणों के समन्वय से ही नृय गत वाद्यात्मक मन शरीरनिबन्धन सङ्गीत का अविर्भाव हुआ है। तुम्बुरु ऋषिप्राण का आद्यक्षर त कार नारद ऋषिप्राण का आद्यक्षर न कार एव ऋषि का आद्यक्षर कार इन तीनों त न र अक्षरों की समष्टि इसी तथ्य के आधार पर सङ्गीतविशारदों के सङ्गीतोपक्रममें माङ्गलिक सस्मरण बन रही है जसाकि त न न-रीम् -त-न न-रीम् - (त-तुम्बुरु न नारद र ऋषि -अर्थात् तुम्बुरु नारद नामक सङ्गीतस्वरप्रवर्त्तक ऋषियों का सस्मरण करके ही हम सङ्गीत आरम्भ कर रहे हैं)—इत्यादि से प्रसिद्ध है।

गधवप्राणामक मन के साथ प्रधानरूप से तुम्बुरुप्राण का सम्बन्ध है एव अप्सराप्राणामक शरीर के साथ प्रधानरूप से-नारदप्राण का सम्बन्ध है। पञ्चभौतिक पार्थिव-शरीर के केन्द्र में चिन्त्य (मत्य-मूत) चित्तेनिधेय (अमृत-प्राण) समन्वयामक -अमृत मृत्युमय * आग्नेय प्रजापति

* अद्म ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदद्ममृतम्”

—शतपथब्राह्मणो

अमृत चैव मृत्युश्च सदसञ्चाहमर्जुन !” (गीतायाम्)।

प्रातःष्ठित माने गए है जसाकि— प्रजापातश्चरति गर्भे अ तरनायमान इत्यादि यजु श्रुति से प्रमाणित है । उस केद्रस्थ आनय-पाथिव प्रजापात का प्राणमाहमामक मण ल ही वह नामगण्डल है जिस के गभ म अति तथा स्वरात्मक-सङ्गीत अभियागत रहता है जिस स नाद श्रुति-समवयामक सङ्गीत मे नद्य प्राजापय अग्नि (कायाग्नि) मन वाययप्राण तदनुप्राणित उदार अनुदात्त-स्वरित नामक स्वर (माद-सम्य तार नाम की स्वरत्रयी) ए यञ्जनात्मिका जनिभावापेता प्रखरीवाक् ये भाव समवितरत हैं जिनके स्वरूप समवय के लिए सङ्गीतशास्त्र के सुप्रसिद्ध इन पद्यो की ओर हो ङ्गीत-प्रमियो का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है—

चैत य सर्वभूताना विवृत्त जगदात्मना ॥
 नादब्रह्म' तदान दमद्वितीयमुपास्महे ॥१॥
 नादोपासनया देवा ब्रह्म विष्णु महेश्वरा ॥
 भय त्युपासिता नून यस्मादेते तदात्मका ॥२॥
 आत्मा विवृत्तमाणोऽय मन प्ररयते मन ॥
 दहस्थ वह्निमाहति स प्ररयति मारुतम् ॥३॥
 ब्रह्मग्रन्थिस्थित सोऽथ क्रमाद्भूर्ध्वपथे चरन् ॥
 नाभि हृत् कण्ठ मूर्द्धा-स्ये-ग्याभिर्भावयते ध्वनिम् ॥४॥
 नादोऽति सूक्ष्म सूक्ष्मश्च पुष्टो ऽपुष्टश्च कृत्रिम ॥
 इति पञ्चाभिधा धने पञ्चस्थानस्थित क्रमात् ॥
 'न-कार प्राण' नामान 'द-कार 'अनल विदु ॥
 जात प्राणाग्निसयोगात् तेन नादोऽभिधीयते ॥६॥
 यवहारे त्वसो त्रैधा हृदि मद्रोऽभिधीयते ॥
 कण्ठे मध्यो, मूर्ध्नि तारो, द्विगुणश्चोत्तरोत्तर ॥७॥
 शाङ्ग देऽग्निरचिते सङ्गीतर नाकरे स्वरा याय--

ज्ञानजनित-भावना-संस्कारपुंजो से तथा क मजनित-वासना-संस्कारपुटो से पुञ्जीभूत एव सम्पुटित कर्मभोक्ता कर्मात्मा देही (जीव नामक आत्मा) अपनी सौरी बुद्धि के साथ समन्वित होकर ही मानव की प्रारंभ-कर्मजनित ऐहलोकिकी जीवनयात्रा का अभिगन्ता बना रहता है । इत्थभूत भोक्तात्मा से समविता प्रणामिका बुद्धि के प्रणालि को अपना आधार बना कर चाद्र सौम्य प्राणामक मानवीय मन इन्द्रियो के मायम से भोक्तात्मा के जमा तरीय शुभ अशुभ-संस्कारो के अनुपात से ऐन्द्रियक-भौतिक अर्थो विषयो की कामना करता रहता है जिस इस अथकामना (विषयकामना) को हम आत्मा की इच्छा कह सकते ह

एव मन की इच्छा कह सकते हैं। वस्तुगत्या आत्मा (आ मानुगत सस्कार) बुद्धि (सस्कारप्रिका बुद्धि) एव मन (इन्द्रियमायम से आ मसस्क रानुगता बौद्धिकी प्ररणा को अभियक्त करने वाला त्वषयानुगत मनो यापार) इन तीनों की समवितानस्था को ह हम मानव की इच्छा कह सकते हैं। अथवा यो कह लीजिए कि आमेच्छा पहिले बुद्धि में सम्क्रात होती है बुद्धि के त्रा वही सास्कारिकी इच्छा मन पर आती है एव मनोद्वार से इस का अनुधावन इन्द्रियो के प्रति होता है।

अपनी त गोक्ता मानसेच्छा का ही परिणाम शब्दोपत्ति माना गया है जिस का निष्पत्ति यही है कि आ मबुद्धि से समावता अर्थानुगता मानसेच्छा का प्रथम प्रथम उस शारीरिक-अग्नि पर ही आघात हो। है जो प्राणान पाञ्चभौतिक शरीर में आलोमय आनलाग्रभ्य (केशलोमो को तथा नख के अग्रभागो को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में) परिव्याप्त रहता है एव जिस का-वैश्वानराग्नि रूप से उपनिषदो में स्वरूप-ानरूपण हुआ है आ यो द्या भाया प्रथिवीम् वैश्वानरो यतते सूर्येण के अनुसार जस आधिदैविक वैश्वानराग्नि भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूय्य पय्यत अभिव्याप्त है तथव तदशभूत यह आ यामिक-वश्वानर-अग्नि भी भूकेन्द्रात्मिका ब्रह्मप्रथि से आरम्भ कर सूयकेन्द्रात्मिक ब्रह्मरथ पय्यन्त परिचयात है। पार्थिव-पञ्चभूतो को अपना अधिष्ठान (यापतिस्थान) बनाए रखने वाला अतएव अपने यामिक रूपों से भूपति-भुवस्पति-भुवनपति-नामो से प्रसिद्ध रहने वाला यह वश्वानराग्नि प्रचण्डवग से शरीर में एक धक ही कर रहा है जिस के अनुबन्ध से ही मानव की भौतिकी स्वरूप-सत्ता सुप्रतिष्ठिता रहा करती है।

हम अपने भौतिक शरीर का जहा से भी स्पश करते हैं से वही से उष्ण (तापधर्मा-गरम) उपलब्ध करते हैं। प्रयत्नानुभूता यह ऊष्मा (ताप-गर्मी) भूतानुगता उसी वश्वानर अग्नि की साक्षात् दृष्टि (दशन-साक्षात्कार) है। एवमेव यदि हम अपने दोनों हाथों की दोनों अनामिका-अङ्गुलियों से दोना नासा छुद्र एव दोनो अङ्गुली ठोस दोनो कर्णा छुद्र अवरुद्ध कर लेते हैं तो हमें अपने ही शरीर में उसी प्रकार का एक धक धक शब्द सुनाई पडता है जैसे कि-प्रज्वलित भूताग्नि का शब्द हम सुना करत हैं। यही नादात्मक शब्द श्रवण वश्वानर आन की श्रुति (श्रवणात्मक साक्षात्कार) है। यही अनाहतनाद (तबना-किसी अय आघात प्रयाघातो के अजस्ररूप से प्रक्रात रहने वाली निनाद-वनि) है। शरीरात्मक अभ्यासवत् इस पार्थिव ब्रह्माण्ड में भी आधिदैविक वश्वानराग्नि का यह-अनाहतनाद प्रचण्डरूप से धोधूयामान है जो आ यामिकी योगमाया के आवरणानुग्रह से ही हमें सुनाई नहीं पडता। यदि यह मायादुग्ग न होता तो उस प्रचण्ड गज्जनात्मक महानाद से निमेषमात्र में ही मानव की जीवनलीला समाप्त होजाती। असुक विशेष योगप्रक्रिया के द्वारा यहाँ के अर्वाचीन दाशनिकोन अपने आ यामिक अनाहतनाद को उस महान् आधिदैविक अनाहतनाद के साथ समवित करने का तत्वात्मक प्रयास किया है जिसका अतिशिद्धा आचारानिष्ठा के आचारात्मक प्राङ्गण में यत्किञ्चित् भी तो महव नहीं माना जासकता। अनाहतनादात्मक वैश्वानर अग्नि के शब्दायमान इसी नाद भाव को तथा स्पर्शानुभव को लक्ष्य बनाते हुए अतिने कहा है—

(१)—यत्रैतत् अस्मिन् शरीरे सस्पर्शेन-उष्णिमान विजानाति तस्यषा श्रति ।
यत्रैतत्-कर्णा-अपिगृह्य निनदमिन् नदथुरिन् अग्नरिव ग्लत उपशगोति तदेतत्
दृष्ट च श्रुतञ्च इत्युपासीत् ।

—छांदाग्योपनिषत् १३।८।

(२)—अयमग्निर्गैश्वानर योऽयमन्त पुरुष येनदमन्न पयते * यदिदमद्यते ।
तस्यैष घोषो भवति यमेतत्-कर्णौ अपिधाय शशोति ।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ५।६।१।

आत्मबुद्धि समवितता मानस-छा का प्रथमाघात वसी त गकथित वश्वानर-अग्नि पर होता है । इस
आघात से प्रयाहित वश्वानर अग्नि का आघात तत्रैव व्याप्त-वायव्यप्राण पर होता है । आहित वैश्वानर
अग्नि से प्रयाहित वायव्यप्राण ही आ नेयप्राण से समवित होता हुआ शरीराकाशरूप प्रदश में ऊर्ध्व उक्तात्
नौता हुआ शब्दो पत्ति का कारण बन जाता है जसा क जाय खात्-शब्दस्तत् इत्यादि प्रातशारय-सिद्धान्त
से भी स्पष्ट है । अग्नि ही मरुत् के सहयोग से क्योंकि यो मर्यामका वाग्रूप में परिणत होता रहता है
अतएव सिद्ध है कि मानव का शारीरिक वश्वानराग्नि ही मरुत् के द्वारा अभिव्याक्त में आकर कण्ठ से
बहिर्विनि सृत होता हुआ शब्दमयी वैखरीवाक् (मर्या वाक्) रूप में परिणत होता रहता है ।
अग्निवाग्भूत्वा मुख प्राविशत् इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे ह ।
यही कारण है कि अधिक शब्दो चारण से उच्च स्तर से उच्चारण करने से शरीर अकम्पित होपडता है
मुख च परिशुष्यति । अशक्ति का अनुभव होने लगता है । यो प्रयत्न में ही हमारा आग्नि ही शब्दोपत्ति का
मूलप्रवक्त क प्रमाणित हो रहा है

ब्रह्मप्रथि (मूलद्वार) में अपानप्राण प्रतिष्ठित है ब्रह्महृदय (केद्र) में यानप्राण प्रतिष्ठित
है कण्ठ में उदानप्राण प्रतिष्ठित है एव मूर्द्धोपलक्षित ब्रह्मरभ्र में (जो कि नादनद्वार नाम से प्रसिद्ध है)
एद्र-विज्ञानप्राण प्रतिष्ठित है यो प्रथि हृदय-कण्ठ रभ्र भेद से वैश्वानराग्नि के चार प्रतिष्ठान बिन्दु
होजाते हैं जिन के अनन्तर ही यह अग्नि शब्दरूप में परिणत होकर पाचव आस्य (मख) स्थान को
अपना अन्तिम अधिष्ठान बनाता है । वश्वानराग्नि का पूर्वोक्त नाद ही इन पाच स्थानो के भेद से
पाचधा विभक्त होता हुआ ब्रह्मप्रथ्यनुगत अतिसूक्ष्मनाद ब्रह्महृदयानुगत सूक्ष्मनाद कण्ठानुगत-
पुष्टनाद ब्रह्मरभ्रानुगत अपुष्टनाद एव आस्यानुगत कृत्रिमनाद (भौतिकनाद जिसे-गूँज

*-अह वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित ।

प्राणापानसमायुक्त पचाम्यन्न चतुर्विधम् ॥

(गीतायाम्)

कहा गया है) इ पाव अवस्थाओं में परिणत होजाता है । पूर्वोद्धृत श्लोको में स आरम्भ के पाच श्लोको में सी सम्पूर्णा तथ्य का रूप टीकण हुआ है । (१ से ५ पद्यत यारयान) ।

छठ श्लोक के द्वारा नाद शब्द का निवचन मक अथसमवय हुआ है जिसका तापय स्पष्ट है । यद्यपि शब्दोपत्ति में अनल (अग्नि) के साथ अनिल वायु का भी सहयोग है । यही नहीं अपितु अनिला मक वायु ही अनलामक शब्द को बाह्याभियक्ति के तथा बाह्यानुगति के अनुरूप बनाता है । यदि वायु का सहयोग अग्नि को न मिले तो शब्दोपत्ति की कथा तो विदूर रही वय अग्नि की स्वरूप स्थिति भी सम्भव नहीं है । श्वास-प्रश्वासा मक-वायु का सञ्चार ही शारीरिक-अग्नि का स्वरूप-रक्षक माना गया है । सम्भवतः इसीलिए महर्षि शाक्यनि ने वायु को ही अग्नि सज्ञा प्रदान कर दी है वायुरग्निरित शाक्यनिन उपासते (शत १।४।५।१।) । यह सब क्लृप्त मान लेने पर भी तबत शब्द का मौलिक-उपादान व तो अग्नि को ही समर्पित किया जायगा जब वायु को तो शब्द के प्रत निमित्तकारण ही माना जायगा ।

शब्दामक काय का उपादानकारणभूत यह अनल (अग्नि) भूत और प्राण भेद से द्विधा विभक्त रहता है । भूतानि ही मय-चि याग्न है जिसका प्रचण्ड ज्वालारूप से हम आत्मात्कार करते रहते हैं एव जिससे भोजनपाकादिक मसपन्न हाता है । इस भूताग्नि की मूलप्रातरुपात्त सुसूक्ष्माग्नि ही-अमृत-चित्तेनिधेयाग्न है । भूत बिना प्राण को आधार बनाए अनुपपन्न है तो प्राण भूत को अग्रणी बनाए बिना अनभि यक्त है । इस अमृताग्नि को ही कहा जाता है- प्राण एव मर्याग्नि को ही कहा जाता है- अनल । इन दोनों अग्नियों के लिए ही क्रमशः नकार-दकार-सङ्कतित हैं । नकारामक अर्थात् निषेधामक-अर्थात्-प्राणामक-अर्थात् असद-रूपामक (सदघनामक)-मौलिक-तवाग्नि ही अपने अयक्तप्राण रूप से असदभावपन्न-न से सृष्टीत है । दूसरा भूताग्निरूप अनल प्रयत्न में विशकलन धर्मा है । पियड की घनता को विशकलित कर देना रुद्ध को द्रुत कर देना ही इस रुद्ध मूर्ति-भूतानल का स्वरूपधम्म है । एक पियड को खण्ड खण्डरूप में परिणत कर देना ही इसका सहज स्वभाव है । अतएव खणनाथक-दो धातु (दो-अखण्डने) से इसके लिए ढ का सङ्कत हो या है । नकारामक प्राणाग्नि तथा दकारामक भूताग्नि दोनों की समवितावस्था ही- वैश्वानर है जसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है । इसीलिए नकार दकारामक-शब्दप्रवक्तक-स वैश्वानरानि का सङ्कतिक नाम होगया है- नाद जिस इस तय का ही षष्ठे श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है ।

आम बुद्धि-सहकृता मानस ह्या से प्रयाहत वायुसयोग से ब्रह्मग्रथि से ऊवप्ररित-ब्रह्मग्रथ्यनुगता नाभि हृदय कण्ठ मूर्द्धा आस्य इन पाँच प्रक्रमों में क्रमशः आता हुआ इसी क्रमानुपात से क्रमशः अतिसूक्ष्म-सूक्ष्म-पुष्-अपुष्-कृत्रिम इकपाचभावों में परिणत भूत प्राण समष्टि रूप नादामक इथमत वैश्वानर अग्नि के किंवा तदरूप नाद के सामाय स्थूल व्यवहार की अपेक्षा स क्रमशः हृत्प्रक्रम कण्ठप्रक्रम शिरप्रक्रम ये तीन प्रमुख प्रक्रम मान लिए गए हैं जिन इन तीनों नादप्रक्रमों में उत्तरोत्तर द्विगुणित तार (उच्च)-स्वर क्रम यवस्थित माना गया है । सतम श्लोक में इसी व्यावहारिक तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है ।

नादश्रुतिस्वरात्मकसङ्गीतकेमम्मज्ञसवश्रीमभागाशाङ्गदेवविरचितसुपासद्रसङ्गीतरनाकर*नामकग्रथमेंउक्तसातश्लोकीसेजिसवश्वानरामकनादब्रह्मकायशोगानहुआहंप्रायःउहीतयथोडशब्दभेदसेसुप्रसिद्धापाणिनीयाशास्त्रकेनिम्नलिखितपद्योसेस्पष्टहुआहैजसइससहसमसुलनकीदृष्टिसहीशिखाशास्त्रकेवचनमात्रअत्रउद्धृतकरदिएजातेहजिनकाग्रथसमवयपूर्वोक्तसन्दभसेहीगताथवनरहाहै।

१ आत्मा-बुद्ध्या समेत्यर्थान्-मनो युद्धं क्त विवक्षया ।

मन कायाग्निमाहति स प्ररयति मारुतम् ॥

२ मारुतस्तूरसि चरन् मद्र जनयते हरम् ।

प्रातः सवनयोग तच्छ्रुदो गायत्रमाश्रितम् ॥

३-कण्ठे माध्यदिनयुग मध्यम त्रैष्टुभानुगम् ।

तार तार्त्तीयसवन शीषण्य जागतानुगम् ॥

४-सोदीर्णो मूढ नच भिहतो वक्त्रमापद्य मास्त ।

वर्णान् जनयते, तेषां वमाग पञ्चधा स्मृत ॥

—पाणिनीयशिखा

उक्तशिखासूत्रोकेद्वारायहभीस्पष्टहोरहाहैकिनादात्मकवश्वानरअग्निहीत्रिबन्धस्वरोकाअभियञ्जकबनताहै—वायुकेसयोगसे।सीप्रसङ्गमेंशिखानेसवनत्रयामकतीनछन्दोकीओरभीसङ्कतकियाहैजोवैदिक-सृष्टिविज्ञानकीदृष्टसेअग्रतहीमवपूर्णहै।भकेन्द्रसेनिकलकरअपने२१एकविंशस्थमामामकस्थतरसामपद्यतअभियातरहनेवालेपार्थिववैश्वानर-प्राणाग्निकेहीअग्नित्रायुआदित्यनामकतीनमहिमाविवर्णहोजातेहैंजोवतीनोमहिमाभावहीपृथिवीकेमाहामण्डलमेंहीभुक्तक्रमशःपृथिवीअन्तरिक्षऔरनामकतीनपार्थिवस्तौम्यलोकोकेआतषठावाबनेहुएहै।आधिविकीइसपार्थिवीस्तौम्यात्रिलोकीकात्रिष्टुस्तोमामक-पृथिवीलोकहीपार्थिवयज्ञकाप्रातःसवनहैअष्टाक्षरगायत्रीछन्दइसकास्वछन्दहैअग्नियहाकेशवसोनपातहै।इसीप्रातः

*—मनशरीरनिबन्धनप्राकृतइतिहासकोहीप्राकृतमानवकेभौतिकजीवनकासवस्वमानतेरहनेवालेऐतिहासिकोकीयुगधर्मानुगतामान्यताकेअनुपातसेनृपातवरश्रीशाङ्गदेवमहाभागइसवीयसन्१२—१३केमयमेंउपन्नहुएथ।समायताकेअनुसारआजसेअनुमानतसातसौवषपूर्वउपनिबद्धसङ्गीतरनाकरनामकमहत्त्वपूर्णग्रथमें१—धरायाय२—रागाध्याय३—प्रकीर्णयाय४—प्रबन्धायाय५—तालायाय६—वाद्याध्याय—नृत्यायाययेसातअध्यायसमाविष्टहुएहैं।इसमहत्त्वपूर्णसङ्गीतग्रथकाएकतोविस्तृतभायहुआहैतकालीनसङ्गीतमम्मज्ञविद्वान्केद्वारा।एवढसकेअतिरिक्त-श्रीकुभकरणनरेन्द्रकालिनाथसिंहमपालनृपतिवररीमाधिपति तथा विद्वत्प्रवरश्रीविश्वनाथआदिरूपेण६टीकाएँहुइहैजिनमेंसकतिपयटीकाएँहीआजउपलब्धहैं।

सवनीय पार्थिव गायत्राग्नि स मन्त्रस्वर की अभियक्ति हुई है। पञ्चदशस्तोमामक अ तरिञ्जलोक ही पार्थिव यज्ञ का मा यात्नसवन है एकादशाक्षर त्रिष्टुप छन्द ही इसका स्व छन्द है वायु यहा के शवसोनपात् है। इसी मा यदिनसवनीय आन्तरिद्य त्रष्टुभ वायु से मध्यस्वर की अभियक्ति हुई है। एकविंशस्तोमामक द्युलोक की पार्थिवयज्ञ का— सायसवन है द्वादशाक्षर जगतीछन्द ही इसका अपना छन्द है आदिय यहा के शवसोनपात् है। इसी सायसवनीय दिय जागत आदिय से— तारस्वर की अभियाक्त हुई है।

जसा सस्थानक्रम आधिदविक पार्थिव विश्व में है वीक वैसा ही सस्थानक्रम मानव की अ याम सस्था में समचित है। मानव का सर्वाङ्गशरीर ही उस प्राकृतिक पार्थिवमण्डल का प्रतिरूप है। ब्रह्मप्रथि से आरम्भ कर नाभिपय्यत प्रदेश पृथिवीलोक है इसका पार्थिव— आनेयप्राण ही अपानप्राण है जो कि गायत्रछन्दस्क बनता हुआ प्रात सवनस्थानीय है। नाभि से हृदयपय्यत अ तरिञ्जलोक है इसका आन्तरिद्य वायुयप्राण ही यानप्राण है जो कि त्रष्टुभछन्दस्क बनता हुआ मा यदिनसवनस्थानीय है। हृदय से ब्रह्म त्रपय्यत प्रदेश ही द्युलोक है इसका दिय ऐद्रप्राण (आत्थियप्राण) ही प्राण है जो कि जागतछन्दस्क बनता हुआ सायसवनस्थानीय है। इन तीनों स्थानो—लोको—में यात् वैश्वानर ही नादामक यह शारीरिक अग्नि ही इन तीन सवनो से क्रमश मद्र मध्य तार—स्वरो का अभिव्यञ्जक बनता है। यो अधिदैवत तथा अ याम किंवा अण्ड तथा पिण्ड दोनो में सर्वा मना तथाकथित सस्थानक्रम समतुलित है जसाकि नि न लिखित परिलेखो से स्प ट है

इति नु—अधिदवतम्—

भूमिमा

एकविंशस्तोमवाञ्छन्न — द्युलोक (२१)—आदिय —जगती—सायसवनम्——तारस्वर

पञ्चदशस्तोमवाञ्छन्न — अ तरिञ्जलोक (१५)—वायु — त्रिष्टुप—मा यदिनसवनम्—म यस्वर

त्रिदशस्तोमवाञ्छन्न — पृथिवीलोक (६)—अग्नि —गायत्री—प्रात सवनम्—— म द्रस्वर

भौतिक —
भूपिण्ड

इति नु-अयात्मम्—

शरीरसहिमा

हृदयत —ब्रह्मर ध्रपथ्य तमनु द्य लोका— प्राणाग्निरादि योजागत - (सायसवनम्)-तारस्वर
 नाभे —हृदयप य तमनु- अतरिक्षलाक यानाग्निर्वायुस्त्र दुभ -(मा यान्दनस)-म यस्वर
 ब्रह्मग्रथ —नाभप य तमनु पृथिवीलोक -अपानाग्निरग्निर्गायत्र (प्रात सवनम्) मद्रस्वर



*

एक ही नाद इसप्रकार छन्दोभेदानगता सवनत्रयी के भेद से हृदय कण्ठ-शिरो भेदन त्रिधा-विभक्त होता है जिस इस तय का ही शाङ्ग देव ने पूर्ण के सप्तम श्लोक के द्वारा ए । पाणनीय-शिखा ने २-३-४ श्लोको के द्वारा स्पष्टीकरण किया है । वश्वानराग्निमूर्त्ति-त्रि प्रक्रमामक यही नाद आगे चलकर नाडीभेद से अवा-तर २२ (बाईस) भागों में विभक्त होजाता है । नाद के ये अवा-तर विभाग श्रुति के द्वारा क्योकि सुने जाते हैं । अतएव इन अवा-तर अवस्थाओं का नाम-सङ्गीतशास्त्र म श्रुति * होगया है । हृदय से ब्रह्मर ध्रपथ्यत ऋजुभाव से व्याप्ता सुप्रसिद्धा नाडी सुषुम्णा है । नस सुषु णा नाडी से सलग्ना तिरश्चीनभावानुगता २२ नाडिया प्रसुल हैं । इन नाडियों के भेद से ही नादानुगता श्रुति के २२ विभाग होजाते हैं । हृदय कण्ठ-शिरोभेद से इन २२ श्रुतियों का त्रिधा वितान होजाता है । हृदयानुगत मद्र-नाद से अनुप्राणिता २२ मन्त्रश्रुतियों कण्ठानुगत मचनाद से अनप्राणिता २२ मध्यश्रुतियों एव

*-‘श्रु श्रवणे चास्य धातो ‘क्ति’ प्रत्ययसुसङ्गत ।

‘श्रुति शब्द प्रसाध्योऽय शब्दजर्भावसाधन ॥

—मत्तङ्ग

अयदपि—श्रवणेद्विग्रहाह्य वात्-ध्वनिरेण श्रुतिर्भवेत् ।

सा चैका द्विविधा ज्ञया स्वरान्तरविभागत ॥

नियत श्रुतिसस्थानो गीयते सप्त गीतिषु ।

तस्मात् स्वरगता ज्ञेया श्रुतय श्रुतिवेदिभि ॥

शिरोऽनगत तारनाद से अनप्राणिता ५ तारश्रुतयो स भेद स २२ श्रुतियो के भी तीन त्रिक बन जात है जैसाकि अग्रिमपृष्ठानुगत सङ्गीतसमयसार नामक ग्रन्थवचन से स्पष्ट है—

ये श्रुतिया निम्नलिखित नामो से सङ्गीत शास्त्र में प्रसिद्ध हैं—

मद्रनादानुगता श्रुतय द्वाविंशति (२२) १	मथनादानुगता श्रुतय द्वाविंशति (२२) २	तारनादानुगता श्रुतय द्वाविंशति (२२) ३
१-म द्रा	१-नादा ता	१-इश्वरी
२-अतिम द्रा	२-निष्कला	२-कौमारी
३-घोरा	३-गूढा	३-स्वभावली
४-घोरतरा	४-सकला	४-भोगवीर्य्या
५-मण्डना	५-मधुरा	५-मनोरमा
६-सौ या	६-गली	६-सुस्निग्धा
७-सुमना	७-एकाक्षरा	दि-याङ्गा
८-पु करा	८-भङ्गजाती	८-सुललिता
९-शङ्खिनी	९-रसगीती	९-रसगीती
१-नीला	१-सुरञ्जिका	१-महार्का
११-उ पला	११-पूर्णा	११-भेदिनी
१२-अनुनासिका	१२-अलकारिणी	१२-राका
१३-घोषावती	१३-शिका	१३-लजा
१४-नीलनादा	१४-तैणिका	१४-काली
१५-आवत्त नी	१५-त्रिस्थाना	१५-सद्मा
१६-रणदा	१६-सुस्वरा	१६-अतिसद्मा
१७-एकगम्भीर	१-भागवी (सौ या)	१७-पुष्टा
१८-दीप्ततार	१८-भाषाङ्गी	१८-सपुष्टिका
१९-नादिनी	१९-वार्त्तिका	१९-विस्पष्टा
२-म द्रजा	२-स पर्णा	२-रोकरी
२१-सुप्रसन्ना	२१-प्रसन्ना	२२-कराली
२२-निनदा	२२-सर्गायापनिका	२२-विस्फोटिता

त्रीणि स्थानानि हृत्-कण्ठ-शिरासी-ति समामत ॥

एकैकमपि तेषु स्यात्-द्वाविंशति-त्रिधायुतम् ॥ १ ॥

द्वाविंशतिविधो म द्वो ६ नि मञ्जायते हृद् ।

यथोत्तरमसौ तारो वाणाय मधरोत्तरम् ॥ २ ॥

स एव द्विगुणो मध्य कण्ठस्थान यथाक्रमम् ।

स एव मन्तके तार स्या मध्यादद्विगुण क्रमात् ॥ ३ ॥

—सङ्गीतसमन्वायसरे

अवतक के सन्दभ से हमें स निष्कष* पर पहुचना पना एक सर्वाङ्गशरीर में याप्त शैवानराग्न का धोघूयमान व या मक् श द ही-सङ्गीत म-नाद नाम से प्रसिद्ध हुआ है । सूक्ष्मदृष्ट्या नाभि-हृत्-कण्ठ शिर-मुख भेद स जहा स नाद के क्रमश अतिसूक्ष्म-सूक्ष्म-पुष्ट (यक्त) अपष्ट (अ यक्त) कृत्रिम—ये पांच प्रक्रम होजाते है वहा लोकव्यवहारनुगता थूलदृष्टि से स नाद के—हृत्स्थानुगत-मन्तक कण्ठानुगत म यनात् शरोऽनुगत तारनाद रूपेण तीन प्रक्रम भी प्रसिद्ध है । हृत्स्थानुगता प्रमुखा सुषुम्णा नाडी से सल ना त य वर्तिनी २ नाडियो के भेद स इन तीनों नादो-वनियो की अभिव्यक्तिया भी २२ २२ २२ भेद से त्रिधा उभक्त होजाती ह और यो ६६ श्रुतियाँ होजाती है जिन का पश्यवसान २२ पर ही माना गया है । नात् त्रि की श्रृण्णगोचरा अभिव्यक्तिया ही श्रुति नाम का प्रमुख कारण है । त्रीण कर्षामक त य को लक्ष्य बना कर र्हा गया है एक—

तस्य द्वाविंशतिर्भेदा-श्रृण्णात् श्रुतयो मता ।

हृद् धूर्ध्वनाडीसलग्ना नाचो द्वाविंशतम्मता ॥ १ ॥

तिरश्च यस्तासु तात्प्य श्रुतयो मारुताहते — ।

उच्चोच्चतरतायुक्ता प्रभवत्युत्तरो रम् ॥ २ ॥

* वक्तुमिच्छन् विवक्षमाण आत्मा मन अन्त करण प्ररयति । तदन्त करण आत्म बुद्धिप्ररित सद् दहस्थितमोदग्य वृद्धि आर्हा त ताडयन्ति । म ग्राह्य मारुत मायु प्रर यति । स पूर ब्रह्मग्रथिस्थित इदाना तेन वाहना प्ररित ऊर्ध्वमार्गेण गच्छन् आघातेन नाभि हृद् कण्ठ सूक्ष्म मुखेषु ध्वनि प्रकटयति-श्रुति निष्कष ।
उर्ध्वनाडी सुषुम्णा । तत्सलग्ना तिरश्च य-तिर्यक्-स्थिता द्वाविंशतयो नाड्य । तासु मरुत्तमम्भ धात् ताव त एव-नादा समुत्पद्य ते-उत्तरोत्तर-उच्चोच्चतरता-युक्ता । प्रथमो नाद-हानतम-मत्तम । ततोऽन तर्-उच्चतर । ततोऽन तर-उच्चतम श्रुत्येव रूपेण नादानुगता श्रुतय प्रपत्ते मौखिक सङ्गीत सङ्गीत प्रवरैर्गायकै ।

एव कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिर्द्वाविंशतिर्मता ।

यक्तय कुर्महे तासा जीणाद्द्व निदर्शनम् ॥ ३ ॥

अब क्रमप्राप्त उस तीसरे-स्वरभाज की ओर सङ्गीत प्रामटो का यान आकर्षित किया जा रहा है जिसे हम मौखिक सङ्गीत का प्राण ही कहेंगे। सङ्गीत में जो एकप्रकार का सहज-माधुर्य है वह इसी स्वर की माहमा है। स्वर कस ओर क्यों माधुर्य का अभि यञ्जक बन जाता है? प्रश्न का समाधान स्वरहर्देवा स्रय्य (शतब्राह्मणे) इस श्रोत निगम पर ही अत्रलाम्बत है। सृष्टिविद्या-वित् विद्वानो को यह विदित ही है कि पृथ्वी को दधिलोक माना गया है अ तरिक्त को घृतलोक कहा गया है एव द्युलोक को मधुलोक माना गया है। दही-धी शहद ही दधि-घृत-मधु-तत्र हैं जिन का क्रमशः पार्थिवाग्नि आ तरिक्त्य वायु इत्य आदित्य त्रन तीन प्राणदवताओं से सम्बन्ध माना गया है। दधिरसा मक पार्थिव घनाग्नि घृतरसात्मक आ तरिक्त्य तरल वायु एव मधुरसा मक इत्य विरलादि य इन तीनों पार्थिव-त वो का हम क्रमशः सङ्गीत के नाद-श्रुति-स्वर इन तीनों भावों से सम्बन्ध मान सकते हैं। घनामिका मूलप्रति ठा का नाम ही नाद है और यही-दधि है त्रस्य लाकस्य रूपम् के अनुसार सङ्गीत का अग्निप्रधान पार्थिवलोकाश है। घन नाद पर-प्रातष्ठित वायु-आभि यक्तिया ही-श्रुति है और यही-घृतम तरिक्त्यस्य रूपम् के अनुसार सङ्गीत का वायुप्रधान आ तरिक्त्याश है। घननादा मुगता तरलश्रुतियों के द्वारा अभि यक्ता-स तननभावामिका-पर परानुप्राणिता वीचिया (तरङ्ग-ऊर्मिया) ही स्वर है और यही-मध्वमुष्य रूपम् के अनुसार सङ्गीत का आदि यप्रधान दि याश है। आर यों तीनों लोकों के आग्नेय त्राय्य आदिय-रसात्मक-दधि-घृत-मधु-नामक रसों से ही सङ्गीत के नाद-श्रुति स्वर-भाज-समवित हारहे है। इसी सम्बन्ध में पुनश्च हमें कुछ और भी समझ लेना ३ ।

शद्ब्रह्मरहस्यवेत्ता महर्षियोने परब्रह्म से अभिन्न शद्ब्रह्म के तीन प्रमुख महिमा विवक्त माने हैं जो क्रमशः स्फोट-स्वर-यञ्जन-इन नामों से शद्दशास्त्र (याकरण) में प्रसिद्ध हैं। परब्रह्म के आद्य के साथ शद्ब्रह्म का स्फोट समतुलित है। परब्रह्म के-अक्षर के साथ शद्ब्रह्म का स्वर तथा उस के क्षर के साथ इस का यञ्जन समतुलित है पर तथा शद्-भेदन सृष्टि के दो ही प्रमुख विवक्त माने गए हैं जिस में एण्ड-एण्डा मक इतर य चावत् अवान्तर सृष्टिविवक्त अ तभूत हैं। वस्तुगया पर और शब्द ये दो स्वतंत्र विवक्त नहीं हैं। अपितु एक ही षोडशीप्रजापति का पूवरूप जहा-परब्रह्म कहलाया है वहा उसी का उत्तररूप शद्ब्रह्म कहलाया है। पूवरूपता का अर्थ है त्रिशतीत-विवर्त्त। एव उत्तररूपता का अर्थ है विश्ववित्त। विश्वातीतदशा में वही ब्रह्म परब्रह्म कहलाया है एव विश्वदशा में वही शद्ब्रह्म कहलाया है।

क्या तापय? तापय स्पष्ट है। विश्व का ही नाम ससृष्टिलक्ष्णा सृष्टि है। यह सृष्टि आकाश वायु तेज-जल मूल-रूपेण पञ्चमहाभूतामिका है। इन पाचों महाभूतों का मूल सर्वादिभूत वह आकाशभूत ही है जिस का सुसूत्रमात्राभाव ही शद्दतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध है। शद्दत मात्रा मक सर्वादिभूत आकाशभूत स वनप्राथ के द्वारा स्पशत मात्रा मक वायु की अभयक्ति होती है। वायु स रूपत मात्रा

मक जल की एव जन से ग धत मात्रामिका मृत् की अभिवृत्ति होती है हुड है हाती रहती है * । तमात्रा मामक शादादि ग धात इही सूक्ष्मतम अतएव— तत्त्वं नाम से प्रामाण्य पाचा गुणभूता स पञ्चीकरणप्रक्रिया के द्वारा आगे चलकर पञ्चा मक पाच अणुभूत अभियुक्त होते हैं । इन के पञ्चीकरण से पञ्च—पञ्चा मक रेणुभूत अभियुक्त होते हैं । इन के पञ्चीकरण से समष्ट्यात्मक—महाभूता मक जो पञ्च विश्वपुर अभियुक्त होते हैं व ही क्रमशः आकाशा मा स्वयं भूपुर प्रायः मा परमपृथिवीपुर तेजामयामा सूक्ष्मपुर जलामक च द्रुपुर तथा मृत्मा मा भूपुर इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं । इन पाचो विश्वपुरों की किंवा यौगिक महाभूतों की समष्टितावस्था का नाम ही पञ्चपर्वा विश्व है । जिसका महर्षि श्वताश्वतरने—पञ्चपर्वाग्राम विश्वप्रकृतिम् (स्व उपनिषत्) याद रूप से यशोगान किया है ।

पञ्चपर्वाग्राम उक्त विश्वस्वरूप—दृग्दर्शन से स्वतः ही हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पडा कि विश्व का मूलकारण विश्वातीत परब्रह्म आत्मब्रह्म से सवप्रथम अभियुक्त होने वाली आकाशात्मिका—शादत—मात्रा ही है । यही प्रथमा शादतमात्रा उत्तरोत्तरभाविनी—रसानुगता—बलप्रथिया के तात्पर्य से पञ्चपवा मक विश्व—स्वरूप में परिणत हो रही है । और यो आत्मब्रह्म से अभियुक्त शब्दब्रह्म ही विश्व का स्वरूप—परिचायक बना हुआ है । इसी आधार पर न ह्यशादमिवास्ति (उपनिषत्) यह सिद्धांत प्रातिष्ठित है । अतएव शा और अथ का आपत्तिक संबंध ही माना है भगवान् जामनिने — । इसी आधार पर—जपान्सिद्धि यह उपासनातव्यमस्तिथित हुआ है । इसी आधार पर शादब्रह्मात्मक नियमन्त्र एव तद्वायु प्राणदवता मक अथ दोनो आत्मन बने हुए हैं । यही मन्त्र का मन्त्रव है यही शादब्रह्मात्मक वेदशास्त्र की कृत् स्थानियतालक्षणा अपौरुषेयता है । इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि— स प्रजापति भूरिति व्याहरत् प्रथि यभवत् । अर्थात् आमप्रजापति ने अपने मुख से स प्रथम भू इश शब्द का ही उच्चारण किया । वही भू शब्द (प्रथियन्गता शब्दतमात्रा) भूपिण्डरूप में परिणत होगया । इही कुछ एक निर्दिष्ट तथ्यों के आधार पर हम यह मान लेना पडता है कि सृष्टिप्रक्रिया विश्वामिका सृष्टि में तो शादब्रह्म ही प्रमुख है यही इश्वर का यत्नरूप है जो परब्रह्मात्मक विवत्त के आधार पर ही प्रतिष्ठित है । जैसा स्वरूप सस्थानक्रम उस परब्रह्म का है ठीक वसा ही किवा वही सस्थानक्रम विश्वामक विश्वरूप शादब्रह्म का है । इस षोडशीपरब्रह्म में यदि परापर अच्य अक्षर क्षर—नामक चार पव हैं तो इस शादब्रह्म में ही अद्भ्य नामक चार ही प्रमुख विवत्त हैं । सी अमेद के आधार पर ऋषि ने कहा है कि—

*—तस्माद्वा एतस्मादा मन (परब्रह्मण) आकाश सम्भूत । आकाशाद्वायु ।

वायोरग्नि । अग्नेराप । अद्भ्य पथिवी (मृत्) ।

—तै उपनिषत्

“*—आ पिकास्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽ यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणां वादरायणस्थानपञ्चरात्” ।

— पूरमीमासासूत्र

द्र वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, पर च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

—उपनिषत्

हृषिभूला सृष्टिविद्या के अनुसार पञ्चपर्वामक-विश्व की स्वरूपमीमासा करते हुए पार्थिवशरीर-मानव का भूपिण्ड के केंद्र से ही चलना पडगा । और इस केंद्र को आधार बना कर ही म श दब्रह्म के यज्ञन-स्वर-स्फोट अद्र मात्रा-नामक-चारो विवर्त्ता का समवय दग्ना होगा । स्वय भूपिण्ड यज्ञनामक श दब्रह्म है । सौम्य चद्रमा का पार्थिव विर्त्ता में ही अ तर्भाव है । अतएव चद्रमा का पार्थिव-उपग्रह माना गया है । अतएव च भूपिण्ड के अत्र तर दूसरा स्थान आता ह-सूर्य का । यह सूर्य ही स्वरात्मक श दब्रह्म है । तदुत्त प्रतिष्ठित-परमेष्ठी ही महदब्रह्म में गर्भीभूत-चिदा मा यय से आमन्न-स्फोटात्मक-श दब्रह्म है । एव सर्वात का अ क्त स्वयम्भू ही अद्र मात्रामक-श दब्रह्म है । यो भूकेन्द्र स आरम्भ कर स्वय भू-यय श दब्रह्म के चारों विवर्त्ता समवित हो रहे हैं जैसाकि परिलेख स स्पष्ट है—

१ अ यक्तात्मा स्वयम्भू	--	अद्र मात्रात्मक श दब्रह्म	} शब्दब्रह्मात्मक विश्वम्
२ महानात्मा	-परमेष्ठी--	स्फोटात्मक श दब्रह्म	
३ विज्ञानात्मा	सूर्य ---	स्वरात्मक शब्दब्रह्म	
४ भूतात्मा	-सचद्रो भूपिण्ड	यज्ञनात्मक शब्दब्रह्म	

नादादि के अनुबन्ध से श दब्रह्म की स्वरूपदिशा की उपासना की गई । पुन प्रकृतमनुसराम । निवदन किया गया है कि श्रुति स अभि यक्त-स्वर ही सङ्गीत का मौलिक माधुर्य है । तत्प्रसङ्ग से ही यह स्वरोपपत्तिप्रसङ्ग उपभ्रान्त होपडा है । अब हमे-भूपिण्ड चद्रोपलक्षित अ-तरिक्त एव आदि योपलक्षित सूर्य इन तीन विश्वपर्वों को आधार बनाकर ही नादादि के स्वरूप का सम वय करते हुए २ २ के माधुर्य को लक्ष्य बनाना है । भूपिण्ड का केंद्रस्थ प्राजापय-वशानरानि ही नादब्रह्म है जैसाकि-पूव में अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है । भूकेद्रार्वा छत्र इस आ नय नादब्रह्म की अ तरिक्तानुगता वाय-या-अवस्था ही-श्रुति है । यही आ तरिक्त्या श्रुति जब विरलावस्था में आकर सौर मण्डल से समा स्तुत होजाती है तो यही-स्वर कहलाने लगती है । और यी श्रुति का उत्तरभाव ही स्वरूप मे परिणत होजाता है । तद्विथ भूपिण्ड अ-तरिक्त सूर्य इन तीनों के दधि (घन) घृत^२ (तरल)-मधु (विरल) इन तीन रसों के क्रमिक समन्वय से ही सङ्गीतात्मक श दब्रह्म नाद श्रुति स्वर इन तान विवर्त्तभावो मे परिणत होजाता है । पुनरपि इस सम्बन्ध में प्रकृतात्मा स्वराभियक्ति के सम्बन्ध मे किञ्चिदिव सम वय अपेक्षित है ।

प्रसिद्ध अथा २ ई उ उ स्वरो स भी सभी पाराचत ह एव सप्रासद-क ख ग-घ आदि व्यञ्जनो से भी सभी सुपरिचित हैं । सृष्टिाव्या के अनुमार अकारानि सम्पूर्ण स्वर सूर्य से ही अभि यक्त हुए हैं तो ककारादि सम्पूर्ण व्यञ्जन भूपिण्ड स हा यक्त हुए हैं । व्यञ्जन पार्थिव ह एव स्वर सौर है यही वक्त य-ानर्कष है । पार्थिवी ककाराणा मका व्यञ्जनवाक का वज्ञानिक नाम है- अनुष्टुप् एव सौरी अकाराकारामिका स्वरवाक का नाम - बृहती । सौरी-ऐद्री बृहतीवाक के आध पति सौर इन् कहलाए है अतएव यह बृहतीवाक- इन्पनी नाम स ही वद मे सुप्रासद दुड ३ * । एवमव पार्थिवी-आग्नेयी अनुष्टुपवाक के अधिपात-पार्थिव अग्नि (नादा मक वशानराग्नि) माने गए हैं जिस लक्ष्य बनाकर ही अग्निर्नागभूजा मुख प्राविशत् (अग्निर्नाश्वानर एव-अनुष्टुप् वागा मक-व्यञ्जनरूपेण परिणत सन मुख प्राविशत्) यह कहा गया है ।

अग्निगर्भा भूपिण्डामिका पृथिवी एव इन्द्रगभिणी सूर्यामिका द्यो - इन दोनों का परस्पर ग्रहोपग्रहभाव माना जाता है । भूपिण्ड परम्परया सूर्य का ही उपग्रह है । सूर्यरूप महाग्रन् का प्रवग्यरूप उपग्रहामक भूपिण्ड सौर ऐन्द्र आकषण के आधार पर ही साम्बसरिक क्रांतिवृत्त पर परिभ्रममाण बनता हुआ पार्थिवगति का प्रतीक बना हुआ है । सौरी ऐद्री प्रतिष्ठा को आधार बनाए बिना तदुपग्रहभूत भूपिण्ड क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रहसकता और ठीक यही स्थिति सौरी बृहती-स्वरवाक तथा पार्थिवी अनुष्टुपा व्यञ्जनवाक के सम्बन्ध में विद्यत है । सौरी बृहती-वाक स अभिन्न स्वरों को आधार बनाए बिना पार्थिव अनुष्टुप-नामय ककारादि व्यञ्जन भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रहसकत । अर्थात् अकारानि स्वरो को आधार बनाए बिना ककारादि व्यञ्जनो का उच्चारण भी कदापि संभव नहीं है । क्योंकि सौरमण्डल का आधार बनाए बिना भूपिण्ड भी तो स्वस्वरूप से प्राता त-आभयक्त नहीं होसकता ।

छन्दोविद्या के अनुमार गायत्री उषिणक अनुष्टुप् वृत्ती पङ्क्ति त्रिष्टुप नगती न्न सात दव छन्दो म स (जाकि सप्त अहोरात्रवृत्त पूर्वापरवृत्त-आदि नामो से भी यवहृत हुए ह) मध्यका स तिस्रधिक बृहत् (बडा) छन्द हा बृहतीछन्द है । प्रत्येक वतुलवृत्त का मयका वृत्तरूप छन्द स्वत ही पार्थिवता इतर वृत्तो क समतुलन में बडा ही ता होगा । वसी बृहद्भाव के कारण योत चक्रामक (रगगोला मक महान् वृत्त का मयस्थ छन्दोवृत्त बृहती नाम से प्रसिद्ध हुआ है । यही बृहती छन्द त्रिष्वद्वृत्त त्रिषुप आदि नामो से लोक यग्रहार म प्रसद्ध है । जसेकि प्रतीयभाषा में इक्वेटर कहा गया है ।

* वाच देवा उपजीवति विश्वे वाच ग वना पशवे मनुष्या ।

वागीमा विश्वा भुवना यर्षिता सा नो हव जुषता इद्रपत्नी' ॥

—तै ब्रा १२.२।५।

— यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यारि द्रेण गभिणी । (मन्त्रसहितायाम्)

उगोनीय तथाकथित वृत्तीछन्द के केन्द्र में ही क्योंकि भगवान् सूयनारायण स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित है * अतएव तत्र प्रतिष्ठित सूर्यदेव भी बृहत् नामसे प्रसिद्ध होगए है जैसाक-बृहद् तस्यै भुवनेष्व त पवमाना हरित आग्नेश आदि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी बृहद्भावानुसंध से तत्र प्रतिष्ठित सूर्य बृहद्भानु नाम से भी प्रसिद्ध है।

सप्त वै देव-सप्तसि के अनुसार गाय यदि-जगयत अहोरात्रवृत्तापक (पूर्वापरवृत्तामक) खगोलीय सातों छन्द क्रमशः षडक्षर-सप्ताक्षर अष्टाक्षर नवाक्षर दशाक्षर-एकादशाक्षर द्वादशाक्षर (६७८९१११२ अक्षरामक) माने गए हैं जिनके चतुष्पादभाव से क्रमशः २४ २८ ३२ ३६ ४४-४८-ये अक्षर होजाते हैं। इन सातों छन्दों में से पूर्वोक्त मन्त्र के उस बृहतीछन्द की ओर ही हम पाठको का यान आकर्षित करना चाहते हैं प्रकृत स्वरप्रकरण में जिसके नव (९) मूलाक्षर हैं तथा षट्त्रिंशत् (३६) तूलाक्षर हैं। नवाक्षर अस बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य का दिय मधुरसमय ऐन्द्रप्राण ही वह बाह्य-स्वर तत्त्व है जिसका अत्र यशोगान किया जा रहा है।

नवाक्षर का अर्थ है-नवविंशतु अनुगत प्रस्तार जिसका ताप यथा यही है कि सौर बाह्य-नवाक्षर (नवविंशतमक स्वर के आधार पर ही पार्थिव आनुष्टुभ यज्ञन प्रतिष्ठित हो करते हैं। बाह्य-स्वर की तनन मर्यादा (वितानमर्यादा फलाव) क्योंकि नव विंशतमक है। अतएव उचित था कि नवविंशतमक प्रत्येक स्वर की महिमा में ९ ही यज्ञन प्रतिष्ठित होजाय। किंतु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि नवविंशतमक प्रत्येक स्वर की उक्त अक्षर भेद से दो अवस्थाएँ होती हैं। मूलस्वरविम्ब का नाम ही उक्तस्वर है एव तूलस्वररश्मि ही अक्षरस्वर है। ९ विंशतम से ५ वीं ६टी इन दो विंशतमों को स्वयं उक्तस्वर अपना ब्रह्मौदन (मूलप्रतिष्ठा) बना लेता है। अतएव इस प्रातिस्वकी विंशतमयामिका ब्रह्मौदन की सीमा में (स्व भोग या सीमा में) तो प्रत्येक यभावापन्न (मन्त्रभावापन्न) भोग-व्यञ्जनों का प्रवेश निषिद्ध ही बन जाता है। और अब शेष रह जाती हैं अक्षररूपा (रश्मिरूपा) सात विंशतम। अवश्य ही इन सात स्वरविंशतमों में सात प्रत्येक यज्ञन प्रतिष्ठित होसकते हैं। अस का निष्कर्ष यही है कि नवविंशतमक प्रत्येक बाह्य स्वर में सात सात यज्ञनों को स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता है। तभी तो सप्त-यज्ञनात्मक सप्त लोक (साता लोक) उस एकाक्षरमूर्ति स्वरत्मा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। शब्दब्रह्म मर्यादा में भी अक्षर उकारादि प्रत्येक स्वरात्मक अक्षर सात सात यज्ञनों को निर्भार रूपेण उठा सकता है उठा लेता है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर एक साथ सात यज्ञनों का अवस्थान संभव है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर सात यज्ञनों का उच्चारण संभव है जैसाकि प्रातिशारय के

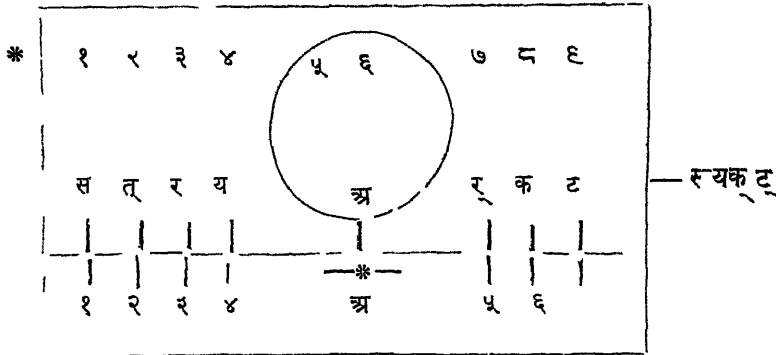
* नैरोदेता-नास्तमेता । मध्ये-एकल-एव स्थाता । सूर्यो बृहतीमध्यूदस्तपति ।

—छा प

सुप्रसिद्ध — रयक्त् ट इस उदाहरण से स्पष्ट है * । इन शब्दों में आप दखेंगे कि स्वर तो अ नामक केवल एक है—जो दा बिन्दुओं में उक्तरूप से प्रतिष्ठित है जिसके आरंभ में १—२—३—४—ये चार अर्कामिका बिन्दुएँ हैं एवं आगे ८—९—ये तीन बिन्दुएँ हैं जिन इन पूर्वापर सात बिन्दुओं में क्रमशः स—त्—र—य—र—क्—ट्—ये सात मय यञ्जन प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अब यदि एक भी यञ्जन आप इस शब्द में और समाधि करना चाहे तो आपको अय स्वर का ही आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि सात बिन्दुओं के पारपूर्ण बन जाने पर एकस्वर में स्थानाभाव है अय आठवें यञ्जन को स्पष्टता में प्रतिष्ठित करने के लिए। सषा—स्वरस्य—सन्तनानुगता—सहजस्थिति।

उक्त स्वरस्वरूप—पारचय के मायम से अब हमें यह मान लेना पड़ा कि स्वर और यञ्जन इन दोनों में सन्तानात्मक—सन्तनन—(फलाय पसार) की शक्ति नवविद्वामन्—केवल स्वर में ही है। यञ्जन केवल एक बिन्दुमय है। अतएव यञ्जनों में—सम्प्रसारणधम्म (या तद्धम्म) का स्वभाव अभाव है। यञ्जन तो उच्चारण के साथ ही एक सस्कारहीन—यथाजात—पार्थिवशरीर मात्र—काम भोगपरायण—प्राकृत मानव की भाँति परिसमाप्त है—जायस्य म्रियस्य स प्रकृतिसत् आधिभाव ततो भावधम्मनुबोधः। पूर्वज्ञान में अयक्त केवल मयज्ञान में यक्त पुनः तदुत्तरज्ञान में अयक्त इन तीनों ज्ञानों में ही मय पार्थिव—यञ्जन का संपूर्ण इतवृत्त परिणामाप्त है जो कि इतवृत्त यञ्जन से अभिन्न चराम्क भूत का किंवा भूतामक चर का माना गया है ×। चर सर्वाणि भूतानि कश्चिन्नुसारं जो स्वरूप जो धम्म भौतिक मय चर का है ठीक वही स्वरूप वही धम्म तदात्मन मय पायिव आनुष्ठुभ यञ्जन का है।

और स्वर ? स्वर तो उस अक्षर से समतुलित किंवा अभिन्न है— जो अक्षर वचन लीयते—अनवचनानुसार अपने अमृत—मधु—धम्म से स्वभाव अक्षर (अक्षरभावापन्न) ही प्रमाणित



× अ यक्तादीनि भूतानि, यक्तमध्यानि भारत ।

अ यक्तनिधाना येव तत्र का परिदेवना (गीता) ।

— स्वरोऽक्षरम् । सहाद्यै र्यञ्जनं पूर्वाश्चावसितै ।

— प्रातिशारय

होरहा है। अपने मधुम २-सौर द्रप्राणा मक- सी अक्षरा मक-ध म से यह स्वर क्षरा मक यज्ञनों का आधार बनता हुआ कुछ समय के लिए तन यज्ञनों को भी मधुमयी स्वरूपता अमृतम पात्र प्रदान कर दिया करता है। अक्षराभिन्न तस अमृत स्वर में स तनन की शक्ति है। यह स तनन ही स्थायी सस्कार को अभियक्त प्रकृत रखता है जिस प्रकृत को—च उणा कहा गया है। जिसप्रका मधु सा मका जिह्वा से समवित सुप्रसिद्ध कुक्कुटप्राणी (भुगा) × का गालीकृत (कादाकीचयुक्त) चञ्चु के द्वारा उपलब्ध कृमि कीटादि प्राणियों को उक्तच वणा के साथ (फफेड़ फफेड़ कर) अपना भाग्य बनाए रहता है ठीक इसीप्रकार कुक्कुटस्थानीव * मधुरसा मक और बाह्य द्रप्राण मक-स्वर अपनी स तनन रूपा चञ्चु से पाथैव मय यज्ञनों को प्रचण्ड च उणा से ही स तत वितत करता हुआ हू अपना भोग्य बनाता रहता है। अर्थात् स्वरसतनन के द्वारा ही मय यज्ञन भी कुछ दूर पयत नादध्वनि के अनुगामी बनते रहते हैं और यो एकमात्र मधुरसा मक स्वर के स तननानुग्रह से ही यज्ञन भी सञ्जीत भ कुछ समय के लिए मधुरसामक बन जाया करते हैं। सी प्रकृतिसिद्धा ऐं द्वी स्वरच उणा के लिए महर्षिने—चचू य्यमाण जसा महवपूरा श द अभियक्त किया है अपनी पुराणीप्रज्ञा स जिस इस तय का ही नि न लिखित अयत्न ही रहस्य पूरा मात्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

बीभत्सना सयुज हममाहुरपा दि याना सरये चर तम् ।

अनुष्टुभमनु चचूयमाणमिद्र नाचक्यु कययो मनीषा ॥

ऋक्स १ १ ४।६।

विस्तारभिया उक्त रस्यमत्र के तावक विस्तार में न जाते हुए अभी प्रसङ्गोपात्त मात्र के स बंध में यही जान लेना अल होगा कि—प्रयेक मय पार्थिव क्षरात्मक भूत पार्थिवी अनुष्टुप वाक के सम्बन्ध स अनुष्टुप वाहमय ही है। अनुष्टुभामक पार्थिव क्षरभूतो का प्रतिष्ठात्मक आगर वह अमृत प्रणा मक सौर मधुरसमय बाह्य अक्षरात्मक द्रप्राण ही है जो चचू यमाणवृत्ति से इन मत्य भी क्षरभूतो को जीवन सत्ता प्रदान करता रहता है। अर्थात् अक्षरा मक अमृते द्र ही क्षरा मक मयभूतो की दिगदेशकालानुगता जीवनसत्ता का कारण बना हुआ है। प्रयेक क्षरभूत में प्रयेक पार्थिव अनुष्टुप में आगररूपेण अमृते द्राक्षर भी विद्यमान है जिसका मनीषिगण अपनी सावकी पुराणी प्रज्ञा से अवषण कर इन मयभूतो में भी अमृतस्वरूपति प्राप्त करने में समर्थ बन जाते हैं— त यलमतिपलवितेन दुर्बो यतम मन्त्राथप्रसङ्ग न।

लौकिक उदाहरण के मायम से क्षरा मक मयभावापन्न यज्ञन के आवार बने हुए अक्षरा मक अमृतभावापन्न स्वर की मधु सानुगता मधुरिमा का समवय कीजिए। छप्पन भोग छत्तीस यज्ञन

× कुक्कुटोऽसि मधुजह्व (यजु सहि ॥) (विस्तार के लिए दक्षिण शतपथ प्रथमपरण्ड)।

*—यह अवधेय है। कय या गोतम सवाद म द्र के कुक्कुटरूप का भी संग्रह हुआ है।

— इह चेदवेदीदथ मत्यमास्त न चेदहावेदी महती विनाष्टः ।

भूतेषु भूतेषु त्वाय धारा प्रय-अस्माल्लोऽदमृता भवति ॥

—कनोपनिषत् ।

नाम के आभाणक से सभी ऐश्वर्यशाली सुपाराचत होग। भो -य चाष्य-लेह्य भेद स चार अणयो मे विभक्त भोय पदाथ पावकर्त्ता के कौशल से तथा पारग्रहा मक-पार्थो के वास्य से जहा सुस्वादु बन जाते ह वहा पाककर्त्ता के शैथिल्य से साथ ही साधन-पारपों के दोष से अस्वादु भी बन जाया करत है। छुप्पन भोगो से समन्वित ३६ सो यजन यो मानवीय मन के लिए स्वादु (मनभावन राचकर प्रिय) भी बन जाते हैं एव अस्वादु-(अप्रय) भी बन जाते है। प्रयभावानुगता राच स अनुपाणित यह स्वादु ही सौर मधु रस है जो प्रयेक भोयादि यजन को सुस्वादु (जायकेणर) बना दिया करता है। दधि-घृत-दुग्ध-गोधूम यय शकरा गुड क्षीर लास-अभूप-आदि आदि सभी भोय सौर मधु भाग के समीकरण से जहा सुस्वादु बन जाते ह वहा पाकादि की असावधानी से मधुरस के अभिभव से व ही व्यजन अस्वादु भी बन जाया करत है य जनों का वह स्वादुरस ी अमृतामक स्वर भाग है जिसके अभिभूत होजाने पर किवा निकल जाने पर स ी यज गतरस बन जाया करते ह जिन एवविध नीरस अस्वादु मधुशून्य-यजनो को ही यातयाम कहा गया है -। पेप पानी म अर्यामरूप से प्रतिष्ठित वही मधुरस शिवतमरस कहलाया है-यो व शिवतमो रस । यही जीवनीय रस माना गया है। यही आयु सूत्र सरत्क रस माना गया है। क्यों ?

इसलिए कि सौर-बाहत इद्रप्राणा मक मधु ही पन्त्रिशन्-बृहती (३६) सख्याश्री में परिणत होता हुआ अहोरात्र परिप्लवन से मानव के शतायुजावन का आधार बना हुआ है। सौर बृहती छन्द के ३६ अक्षर बतलाए गए है। प्रत्येक अक्षर सहस्र भागपन्न है। फलत सौर राशमगत बाहत-अक्षरामक-जीवनप्रद स्वरामक-मधप्राण ३६ सहस्र सख्या मे पारणत होजाता है। ये ही मानव के जीवनीय आयु सूत्र कहलाए हैं। यही आयु प्राण विश्वप्रण का अत्यतम मित्र बनता हुआ- विश्वामित्र नाम से भी प्रसिद्ध है। इसप्रकार दैनदिनीय अन्नयज्ञ (भोजनकम्म) से अनुप्राणत भौतिक यजनों में पेय पानियो में श्रवण-दशन गमन हसन-शयन आदि आदि यचयात्रत् कर्मकलापो में हम सौर मधु-रसामक-स्वर को परिप्राप्त देखते है। मधु-प्राणामक स्वर की अभियाक्त से समीकरण से समावश से जहा य भौतिक-विवा मधुर-अय-प्रिय रुचिकर मनभावन बने रहत ह वहा मधुरसामक सौर-स्वर की अभिभूति से विषमता से निगमन से व ही भौतिक-वर्वा कटु-आप्रय-अरुचिकर-मोविद्वष्ट-उद्व गकर ही बन जाया करते हैं। जत्र भोग्यजगत् मानवीय मन को सभी दृष्टियो स अस्वादु-नीरस-यातयाम-प्रतीत होने लगता है तो निश्चयेन उस अवस्था में जीवनसत्ता सदिग्धा बन जाया करती है एव उसी अवस्था के लिए महर्षि ऐतरेय ने-स यत् करणीय मयेत-प कुर्त्यात् यह उद्बोधन प्रदान किया है।

रुदन एक अप्रतीतिकर लानिकर-उद्व गकर भाव माना गया है। किन्तु-मधु अमृत सौर स्वर-साम के समावश से रुदन जैसा उद्व गकर-कटु कम्म भी मधुर बन जाया करता है। अतएव लोक में प्रसिद्ध है कि कलायत का तो रोना भी गाना ही है सचमुच स्वरस धान से समवित तो रोना भी

—यातयाम गतरस पूति-पग्युषित च यत ।

उच्छिष्टमपि चामेध्य भोजन तामसप्रियम् ॥

—गीता १७।१ ।

सम् भावा मक-समीकरण से- सङ्गीत बनता हुआ शातप्रद-सुप्रद ही बन जाया करता है इस मधु स्वर रसामक रदन स अपने बालभावापन्न सौम्य रस स शशु का रोदन भा सुखावह बन जाया करता है । लोक में ही क्यो शास्त्रीय दृष्टि से भी स्वरानुगत रदन का भी उपासनाजगत् में मह वपूण स्थान माना गया है । रुरुदु सुस्वरम् — रूपेण प्रसिद्ध गोपीगीत के स्वरा मक रदन से कौन उपासक परिचित न होगा ? ।

या-सम्पूर्ण त्रलोक्य के भूत-भौतिक-पदार्थों में कम कलापो में शारीरिक-ऐन्द्रियक-वेष्टाकर्मों में सौत्र-स्वरसामा मक सौर-मधुरस प्रतिष्ठारूपेण परिव्याप्त है और यही इन सब भौतिक-वस्तुओं की जीवनसत्ता की प्रति ठा है । जबतक स्वर का अनुग्रह है तभी तक यज्ञनों की स्वरूपसत्ता सुरक्षित है । इसप्रकार सभी दृष्टियों से हम यापक स्वरसामा मक महान्-विश्वसङ्गीत का साक्षात्कर कर सकते हैं करते रहते हैं । और स्वरामक यही सौर सङ्गीत यज्ञनामक विश्व की जीवनसत्ता का प्रमुख आवार बना हुआ है जिस इस प्रकृतिसिद्ध महासङ्गीत के आधार पर ही सङ्गीत प्रवर्क-तुम्बुरु नारदादि ऋषिप्राणों के द्रष्टा अतएव तुम्बुरु-नारदा मक-ऋषिप्राणों के नाम से ही लोक में प्राप्त होने वाले मानवमहर्षियों की ओर से स्वरसामा मक-व्यगीतवादा मक-उस सङ्गीत का सङ्कलन हुआ है जिसके नाम श्रुति स्वर ये तीन प्रमुख प्रक्रम बने हुए हैं । जिन तीनों के अत के स्वर नामक मधुरिमा-प्रवर्क-आनन्दप्रद-आलापामक तय का ही अबतक निर्गमन दृष्टिकोण से यथागान प्रक्रान्त है ।

षडज-ऋषभ-गाधार-मध्यम-पञ्चम-धैवत निषाद (सा रे-ग-म-प-ध-नी-) नाम से प्रसिद्ध-लोकसङ्गीत के प्राणप्रतिठारूप ये सुप्रासद्ध सात-स्वर पर रथा सौर-मधु रसामक-अमृत-अक्षरामक-स्वरसाम स ही क्योकि अभियुक्त हुए हैं अतएव इन्हें भी स्वर क् दिया जाा है । सहज सुखानुभूत-ही-स्वर का स्वरूप परिचय है । सुखप्रवर्क इस स्वर के सम्बन्ध से ही सौर बृहमण्डल स्वर-स्वग-आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है । स्वगलोकामक (सुखलोकामक) सौर स्वरसाम ही लोक सङ्गीत के सप्तविध-स्वरो का अभियुक्त है । अतएव षड्जादि भाव भी स्वर नाम से ही प्रसिद्ध होगए हैं । अपने नववि द्वा मक-वितान-आतान-प्रस्तार-धम्म से-तत्प्रतिरूप सप्तस्वरो में ही वह आलापधम्म अभियुक्त है जिस आलाप की पारिभाषिक मज्ञा है अनुरणन । सङ्गीताचाय की सङ्गीतामिका शद वनि वातावरण में तरङ्ग यायेन जो एकप्रकार का सुसुद्ध शब्दामक-कपन उपन्न कर देती है जिस कपन-समुद्र में श्रोताओं का मन निर्माजित होजाया करता है उसी का नाम-अनुरणन है । इसी की लोक अभिधा है समाबद्ध जाना । मन का साय ही यह समा है । साम्यभावा मक-एकीभावा मक इस सम् से ही ता यह गीत (गायन) सङ्गीत कहलाया है । गीत (गायन) वही गीत है जिसके मूल में

— इति गोप्य प्रगाय य प्रलपत्यश्च त्रधा ।

रुरुदु सुस्वर" राजन् ! कृष्णदशनलालसा ॥

—श्रीमद्भागवत १ पू । ३२ अ । १ श्लोक ।

स्वरात्मक- सम् भाव प्रतिष्ठित है। सङ्गीत वही सङ्गीत ह जा स्वर से आभन्न है। एव स्वर वी स्वर ह
ब परब्रह्म के अक्षर से अभिन ह *।

सङ्गीतज्ञ के सङ्गीत के हृदयानुगत नाम स उचित द्वावशात नामियो से विनिस्त २
श्रुतियों के द्वाग ही कण्ठद्वार से सतथा विभक्त होकर विनिगत उमी भाव का नाम स्वर है जो मपुरस का
वषण ही कर दता है। सङ्गीताचार्य के यज्ञनामक वर्ण (बोल) आनद के प्रवर्क नहीं है। अपितु न
यज्ञनो का मूलाधार बना हुआ-आलाप-सलाप-मू छना-आदि से समावत-स्वरस धान ही स्वय सङ्गीतज्ञ
के लिए एव आता के लिए श्रुतिमधुरसवन आनद का (मनस्तुष्टि का) कारण बना करता है। यी
कारण है कि उ चश्रणि के शास्त्रीय-सङ्गीत में यज्ञन न्यूनतम ही रहा करते ह। अय स इति प य त
स्वर का ही सतनन रहता है अवरय ही आज के भूतप्रधान-व्यञ्जनप्रधान जडजीवन के जडीभूत मन के
लिए इथभूत स्वरप्रधान शास्त्रीय सङ्गीत अञ्जसा सुखावह नहीं बन रहा। आजतो जडताप्रव कि भौतिक-
अनुबन्धो को तदनुप्राणित का वालीकृत-न नि गायन को (नही अपितु उन्मत्तवासनामक हीनतम उद्वग
कर विजम्भणा को) ही सङ्गीत की उपाधि दी जा रही है जिसका वस्तुगया-सङ्गीत शब्द के स्पर्श से
भी सम्बन्ध नहीं है। प्रकृतम इम प्रकात स्वर प्रसङ्ग स हमें यही बतलाना है कि नादानुगता श्रुति के
द्वारा अभिव्यक्त अनुरणनामक सतथा विभक्त त व ही स्वर का सङ्गीततम स्वरूप परिचय है। स्वर एव
रञ्जयति श्रोतृचित्तम् ही इस स्वर शब्द का अनवचनामक (सङ्गीतानुगत) समवय है। स्वर के इसी
स्वरूप परिचय को लक्ष्य बनाकर सङ्गीताचार्यान कहा है—

श्रुतिभ्यस्तु स्वर-षडज-षभ-गाधार-मध्यमा ॥
पञ्चमो धैवत-श्चाथ निषाद-इति सप्त ते ॥ १ ॥
(तेषा सङ्गा -म-रि-ग-म-प-ध नी-त्यपरा मता)
श्रुत्यंतरभावी य स्निग्धोऽनुरणनात्मक ॥
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स 'स्वर' उच्यते ॥ २ ॥
राजदीप्तावस्य धातो स्वर' श दपूर्वकम्य च ॥
स्वय हि राजते यस्मात्-तरमात्-'स्वर' इति स्मृत ॥ ३ ॥

* प्रथम मान 'ओङ्कार -द्वन मान महादेव' तान मान गोरख', वेद' मान
'ब्रह्मा' । (प्र)

गीत को 'सङ्गीत' मान, सङ्गीत को 'स्वर' मान
स्वर को 'अक्षर' मान ताल लग ता
कहत बैजू बावरे सुनहू गोपाललाल !
दिन मान 'सूरज' रैन मान 'चन्दा' ।

—प्रथम मान ओङ्कार—

नासा-कण्ठ-उर-स्तालु-जिह्वा-दन्ता-स्तथैव च ॥
 षडभि सञ्जायते यस्मात् तस्मात् 'षडज इति स्मृत ॥ ४ ॥
 नाभे समुदितो वायु कण्ठ-शाष समाहृत ॥
 ग धर्वसुखहेतु स्यात्- गा धार' स्तेन उच्यते ॥ ५ ॥
 वायु समुत्थितो नाभेहृदयेषु समाहृत ॥
 मध्यस्थानोद्भवत्वाच्च 'मध्यम स्तेन कार्त्तित ॥ ६ ॥
 गायु समुत्थितो नाभेरोष्ठ-कण्ठ-शिरो-हृत् ॥
 पञ्चस्थानसमुद्भूत पञ्चम' स्तेन उच्यते ॥ ७ ॥
 नाभे समुत्थितो वायु कण्ठ-तालु-शिरो-हृत् ॥
 निषीदति स्वरा सर्वे 'निषाद' स्तेन कथ्यते ॥ ८ ॥
 नराणां मुख यद्दर्पणेषु विवर्त्तितम् ॥
 प्रतिभाति स्वरास्तद्वत् श्रुतिष्वेव विवर्त्तितम् ॥ ९ ॥
 श्रुतय स्वररूपेण परिणाम व्रजति हि ॥
 परिणाम यथा क्षीर दधिरूपेण सर्वथा ॥ १ ॥
 षडजादय स्वरा मप्त यज्य ते श्रुतिभि सदा ॥
 अघकारस्थिता यद्वत् प्रदीपेन घटादय ॥ ११ ॥

जसाकि नाद प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है हृदयोपलक्षित-उर स्थान-कण्ठस्थान-शिर स्थान नामक तीन भेदों से मद्रनाद-मध्यनाद तारनाद इन त्रिविध नादों से अनुप्राणित मद्रश्रुति मध्यश्रुति-तारश्रुति-इन तीन श्रुतियों की अभिव्यक्तिरूप सप्तस्वर गी (प्रत्येक स्वर भी) मद्रस्वर मध्यस्वर तारस्वर भेदने तीन महिमा भावों में परिणत रहत है जिस इस त्रिव का मूलाधार सवनत्रयामक वह सब सरमण्डल ही माना गया है जिसका मन्द्रस्वरामक गायत्रीछन्दस्क अग्निप्रधान प्रथिनीलोक ही प्रात सवन है । मयस्वरामक त्रिदुपल्लुदस्क वायुप्रधान-अन्तरिक्षलोक ही मायन्दिनसवन है । एव तारस्वरामक-जगतील्लुदस्क आदियप्रधान-द्युलोक ही सायसवन है जिस इस त्रिलोक्यमयी-सच्छुदस्का-सवनत्रयी का प्रत्येक अह काल में (प्रत्येक दिनमें) भी प्रात-मध्याह्न-साय-रूप से क्रमिक-भोग होरहा है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

सर्वानुगाता वयो	मद्रनाद	म यनाद	तारनाद
	मद्रश्रुति	म यश्रुत	तारश्रुति
	मद्रस्वर	मध्यस्वर	तारस्वर
आधितवत्तम्	त्रिवृस्तोम (६)	पञ्चदशस्तोम (१५)	एकविंशस्तोम
	पृथिषी	अन्तरिक्षम्	त्रो
	आग्न	वायु	आदि य
	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती
	प्रात सवनम्	मा यदिनसवनम्	सायसवनम्
आधिभूतम् अ या मम्	प्रातकाल	मध्याह्नकाल	सायकाल
	उर स्थानम्	कण स्थानम्	शिर स्थानम्

त्रिस्थान भेद से तीन प्रमुख भागो में विभक्त सप्त स्वर ही सङ्गीतसास्त्र म शुद्धस्वर कहलाए है मात शुद्धस्वर ही श्रुतियो के तारतय से बारह-प्रकार की अवातर सायौगिकी-अवस्थाओं में परिणित होजाते हैं। व ही यौगिक स्वर- विकृतस्वर कहलाए हैं जिन का भी प्रसङ्गोपत्त तालिकामात्र स नामस्मरण क लिया जाता है—

विकृतस्वर-तालिका

सरया	नाम	यस्थिति	अवस्था
१	युतषड्ज	म दासस्थित	द्विश्रुतिक
२	अ युत-षड्ज	छ दोवतीस्थ	द्विश्रुतिक
३	विकृतषभ	रतिकास्थित	चतुश्रुतिक
४	साधारणगाधार	वज्रिकास्थित	त्रिश्रुतिक
५	अतरगा गार	प्रसारिणीस्थ	चतुश्रुतिक
६	युत म यम	प्रातिसस्थित	द्विश्रुतिक
७	अ युत म यम	माजनीस्थ	द्विश्रुतिक
८	त्रिश्रुति-पञ्चम	सन्दीपनीस्थ	त्रिश्रुतिक
९	कौशिक-पञ्चम	सन्दीपनीस्थ	चतुश्रुतिक
१०	विकृत धैवत	र यासस्थित	चतुश्रुतिक
११	कौशिक-निषाद	तीत्रासस्थित	त्रिश्रुतिक
१२	काकली निषाद	कुमुद्वतीस्थ	चतुश्रुतिक

त-म-द्र-मध्य तारा-रय-स्थानभेदात्-त्रिधा मता ।
 ते एव विकृताःस्था द्वादशा प्रतिपादिता ।
 तैः शुद्धैः सप्तभिः सार्द्धं भवत्येकोनविंशतिः ॥ (१६) ॥

अथ यदपि किञ्चित् प्रासङ्गिक-स्वर-सम्बन्धे एव—

परब्रह्मानुगत-अर्थों के आम्भृणीकुल म जसे वण-जाति छन्द-ऋषि-देवता-आदि-यवस्थाए यवस्थित है ठीक उसीप्रकार ादब्रह्मानुगत सरस्वतीकुल मे स भूत इन स्वरों म वण-छन्द-ऋषि-देवता-आदि सभी यवस्थाए यवस्थित हैं जिन क वैज्ञानिक-स्वरूप-विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है । पाठकों के चि तन मनन सौक य-मात्र के लिए उन अवस्थाओं में से कतिपय अव थाओं का यहा नामस्मरण मात्र ही कर लिया जाता * ।

षड्ज स्वर (सा) के ऋषि ऋषि हैं ऋषम (रि) के ब्रह्मा हैं गा धार (ग) के चन्मा हैं म यम (म) के विष्णु है । पञ्चम (प) के नारद हे धवत और निषाद के (ध नी के) तुम्बुरु ह । सातो स्वरो के क्रमश वहि ब्रह्मा सरस्वती श य (महादेव) विष्णु गणति सूय्य ये सात— देवता ह । सातो के क्रमश —अनुष्टुप्-गायत्री-त्रिष्टुप् बहती-पि क्त-उष्णिक्-जगती-ये सात छन्द है ।

षड्ज गा धार म यम (सा ग म) ये तीन स्वर देवकुल से समुपन्न हैं । पञ्चम-स्वर (प) पितृकुल से उपन्न है । ऋषम और धैवत (रि ध) ये दो स्वर ऋषिकुल से अभिव्यक्त ह । एव निषाद (नि) स्वर असुरकुल से उन्न है । षड्ज मध्यम पञ्चम (सा म-प) ये तीन स्वर वणत ब्राह्मण है । ऋषम और धैवत (रि-ध) ये ो स्वर क्षत्रिय है । निषाद और गा धार (नि-ग) ये दो स्वर वैश्य हैं । एव अ तर काकली * रूप में परिणत ये ही निषाद-गा धार शुद्ध है ।

षड्ज (सा) पद्मवण (रक्तवण) है ऋषम (रि) पिञ्जरवण (ईषत्-पीतवण) है । गा धार (ग) स्वणवण (अतिपीतवण) है मध्यम (म) कुन्दवण (श्वेतवण) है पञ्चम (स) असितवण (श्वेतवण) है । धैवत (ध) पीतवण (सामान्य पीतवण) है । एव निषाद (नि) कक्कुरवण (त्रिचित्रवण) है ।

षड्जस्वर (सा) वीर एव अद्भुत रसात्मक है ऋषमस्वर रौन्तरसानुगत है धवत (ध) स्वर वीभ स तथा भयानक-रसात्मक है । गा धार और निषाद (ग-नि) ये दानो स्वर करुणारसानुगत है । म यमस्वर (म) हास्यरसात्मक है एव पञ्चमस्वर (प) शङ्गाररसात्मक है ।

*—निषाद षड्जस्य याद श्रुतिद्वय सश्रयेत् षड्जस्य द्वितीयश्रुतौ तिष्ठन्-चतु-श्रुतिर्भवति-तदा-काकली युयते । गा धारस्य म यमस्य श्रुतिद्वय एहणन् चतु श्रुति सन् अन्तर इयुयते । तदि ध-निषाद-गा धाराव-अनेन प्रकारेण-काक्यतरस्वरौ इ यवधेयम् ।

षडजस्वर (सा) की अभियक्ति जम्बुद्वीप में हुई है । ऋषभस्वर (र) की शाकृद्वीप में गाधारस्वर (ग) की कुशद्वीप में मध्यमस्वर (म) की क्राञ्चद्वीप में पञ्चमस्वर (प) की शाल्मलीद्वीप में वतस्वर (ध) की श्वेतद्वीप में एा निषादस्वर (नि) की अभियक्ति पुष्करद्वीप में हुई है ।

त्रयमत्र सगृह —

बहि-र्वेधा -शशाङ्कश्च लक्ष्मीका तश्च नारद ॥

ऋषयो दृशु पञ्च षडजादीन्तुम्बुरुधनी ॥ १ ॥

बहि-र्ब्रह्म-सरस्वत्य -शर्ष-श्री-गणेश्वरा ॥

सहस्राशु-रिति प्रोक्ता क्रमात् षडजादिदेवता ॥२॥

क्रमादनुष्टुप-गायत्री-त्रिष्टुप-च बहती-तत ॥

पक्ति रुष्णिक च जगती त्याहुश्छ दासि सादिपु ॥३॥

गीवाणकुलस भूता षडज गा धार-मध्यमा ॥

पञ्चम पितृवशोत्थो, रि ध वृषिकुलोद्भवा ॥४॥

निषादोऽसुरवशोत्थो

॥

ब्राह्मणा स म पञ्चमा ॥५॥

रि-धौ तु क्षत्रिया ज्ञया वैश्यजाता नि गा मतौ ॥

शूद्रावतरकाकल्या

॥

स्वरवर्णास्त्वम क्रमात् ॥६॥

पद्माभ , पिञ्जर स्वर्णगण कु द्रमोऽसित ॥

पीत कर्वूर इत्ये

।

षा ज मभूमिमथ ब्रुवे ॥७॥

जम्बु शाक कुश क्राञ्च शाल्मली श्वेत नामसु ॥

द्वीपेषु पुष्करे चैते जाता षडजादय क्रमात् ॥८॥

स री वीरेऽद्भुते रोद्र , धो बीभत्से भयानके ॥

काय्यौ ग नी तु करुणे, हास्य शृङ्गारयो-र्भ पो ॥९॥

नय --	१	२	३	४	५	६	७	८
प्रथम १-शुद्धजस्वर (सा)	वह्नि	दवा	छा दार्शिसि	कुलनि	वगाजातय	वणभावा	रसभावा	श्रभि पक्षिभूमि
द्वितीय -२ ऋषभस्वर (रे)	त्रक्षा	श्रा न	अनुष्टुभ	द्वक्कुलम्	ब्राह्मण	पञ्चाम (रक्कुवण)	वीर एव श्र सुतरस	बम्बुद्वीपे
तृतीय -३ गा धा स्वर (ग)	व द्रमा	विधाता	गायत्री	ऋषिकुाम्	त्रिय	पिञ्जराभ (व पीतवण)	द्वैतरस	शाकद्वीपे
चतुर्थ -४ म यमस्वर (म)	वि शु	सरगती	त्रि टुप	देवकुलम्	वश्य *	स्वर्णभ (अतिपीतवण)	गारभ	कुशद्वीपे
पञ्चम -५ यज्जम नर (प)	नारद	मद्दान	बृहती	दगकुलम्	ब्राह्मण	कुदाभ (श्वतवण)	हारस	कौञ्चद्वीपे
१८ -६-धवतस्वर (ध)	तु बुरु	नारायण	पान् क्रि	पितृकुलम्	ब्राह्मण	श्रमिताभ (रु णवण)	गङ्गारस	शामलीद्वीपे
२ तम -नभादस्वर (नी)	तु बुरु	गणपति	उष्णिक	ऋषकुलम्	त्रिय	पीताभ (सामान्यपीतवण)	शीघ्र स एव भयानकरस	श्वतद्वीपे
		सू य	जगती	श्रसुरकुलम्	वश्य *	कवू याम (विन्ववण)	करुणरस	पु करद्वीपे

*—ननु काकल्पतरयोरपि श्रान्तरयोदयो सद्भावात् -सप्तैव—स्वरा इति कथं नयभ्यते ? । नवस्वरा इति वक्तव्यम् ? इति मग्म् । अनाश्रय गत-तया स्वरा तर व नास्ति—विकृतनिषादस्यैव काकलीच, विकृतगा धारसंघ आतरवम् इति मप्तैव स्वरा । तथावाकममिमुक्तै—

निषाद काकली' सन्नि द्विश्रत्युत्कर्षणाद भवेत् ॥

गाधार स्तद्वेव स्या 'द तर' स्वरसन्नम् ॥१॥

अनाश्रयस्याद् भेदन स्वराता नोयते तपो ॥

अतो निषाद गाधारवेतापामै रुदाहृतौ ॥ ॥

—दन्तिल

यञ्जन का आधारभूत स्वरतत्त्व सात महिमाभागों में क्यों और कैसे परिणत होगया ? इस प्रासङ्गिक महत्वपूर्ण प्रश्न के संबंध में भी प्रसङ्गात् अस्त्रिादव निवेदन करना आवश्यक है। यह स्पष्ट किया जाचुका है कि स्वर अक्षरतत्त्व का ही नाम है। जैसे अयय का साङ्गिक नाम मन है अक्षर का साङ्गिक नाम वाक है एतमेव अक्षर का साङ्गिक नाम प्राण है। मन-प्राण वाग्-धन अयय-अक्षर-क्षरामक-परापर-समवित-बोडशीपुरुषामक पुरुष ही तो परब्रह्म का कृत्स्न-स्वरूप पारचय है। अथभूत पुरुषामा के परापराययादि चारो महिमावित्तों को ही तो पूर्व में क्रमशः अद्धमात्रा स्फोट स्वर-यञ्जन इन नामोसममित माना गया है। सर्गामक सवनिरपेक्ष अद्धमात्रामक-परापररूप अगडधरातल पर प्रतिष्ठित स्फोटमक-ज्ञानशक्तिधन आयपुरुष ही अथसृष्टि-का आलम्बनात्मक अधिष्ठानकारण है स्वरा मक-क्रियाशक्तमय अक्षरपुरुष ही अथसृष्टि का निमित्त कारणामक असमवायिकारण है एव यञ्जनामक अथशक्तिमय क्षरपुरुष ही अथसृष्टि का उपादान कारणामक समवायिकारण है। इस कारणत्रयीरूप त्रिपुरुषपुरुषामा से ही शब्दामक पञ्चभौतिक पञ्चपर्व विश्व की एव पञ्चामिका विश्वप्रजा की अभियक्ति हुई है। सैषा स्थिति ।

उक्त मूलस्थिति में सृष्टिकृत्त्व प्रमुखरूप से उस स्वरा मक अक्षर को ही प्राप्त है जो क्रियाशक्तियुक्त प्राण से गतिशील बना हुआ है। ससरणधर्मा गतिशील परिवर्तनशील-वश्व का प्रमुख कर्ता गति प्राणामक अक्षरतत्त्व किंवा तदभिन्न स्वरतत्त्व किंवा तदरूप प्राण तत्त्व ही बना हुआ है जसा कि— तथा-अक्षराद्विविधा सोम्य। मात्रा प्रजायते तत्र चरापियति इत्यादि अति से स्पष्ट है। स्वरा-भिन्न अक्षररूप इस प्राण का ही साङ्गिक नाम है असत्त्व। मद्द्रूपता ही सद्द्रूप इस प्राणाक्षर की असद् अभिधा का कारण है। यही मौलिक असत्त्व (सद्द्रूप) प्राणतत्त्व अपने सहज प्राणरूप गतिधम्म से रिषति गच्छति अरिषन् वा इयादि निचिनानुसार ऋषि नाम से प्रसिद्ध है *।

सृष्टि के मूलप्रवक्तक असत्त्व-नामक ऋषिप्राण की एकर्षि द्व्यर्षि त्र्यर्षि सप्तर्षि दशर्षि आदि विविध जातिया हैं। विरूपास — विविधरूपास-एतन् ऋषिप्राणो में भूतभौतिकी सृष्टि का प्रमुख आधार वह सप्तर्षि नामक प्राणविशेष ही बना करता है जिस के इन सात अवयवों के ४-२-१ इस क्रम से तीन सस्थान माने गए हैं। ये ही तीनों सस्थान क्रमशः चत्वार आमा द्वौ-पक्षौ पुच्छ प्रतिष्ठा रूप से उपवर्णित हैं। चार प्राणों की समष्टि ही चत्वार आत्मा है। दो प्राणों की समष्टि दो पक्ष हैं एव

* असद्वा इदमग्रे आसीत्। तदाहु कि तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहु-के ते ऋषय इति ? प्राणा वा ऋषय । ते यत्-अस्मात् सवस्यात् इद मिच्छत श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मात् ऋषय ।

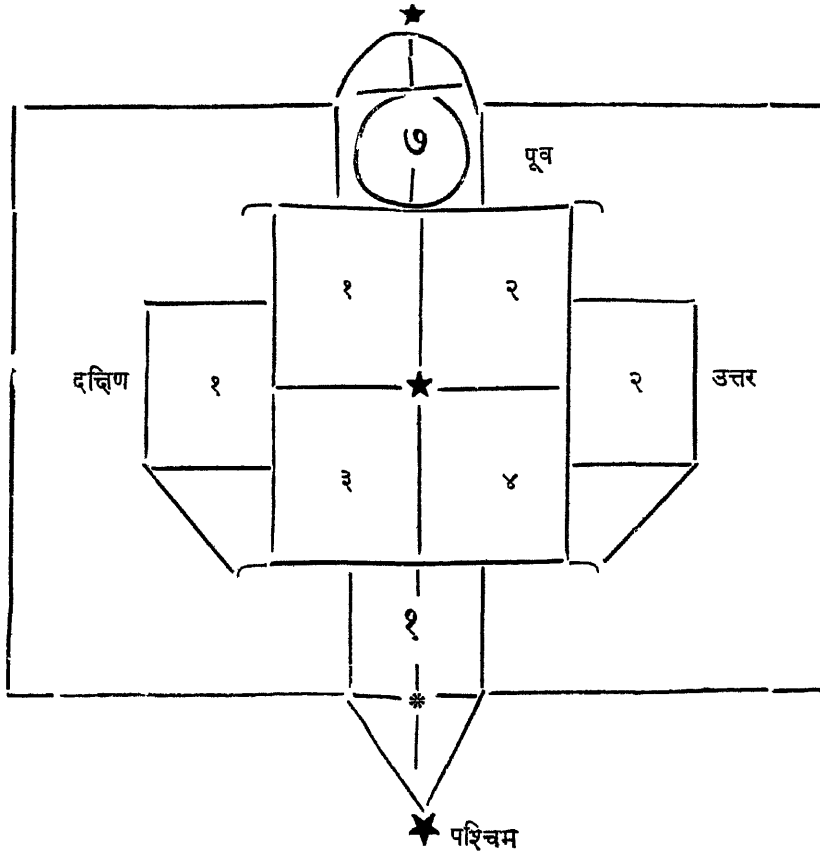
- शत ६।१।१।१।

— विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपस ।
तेऽङ्गिरस सूनव , तेऽग्ने परिजङ्गिरे ॥

— ऋक्स

एक प्राण प्रतिष्ठा मक पुच्छभाव है। प्रत्येक भूतसृष्टि का प्राणा मक-रेखाचित्र बनानाए और उसके इन सात प्राणों को निम्नलिखित रूप से व्यवस्थित कीजिए। और हा यह यान रखए। क इन सातों प्राणों का ही नाम चि-यपुरुष है जिस के मथन से जो ऊ-वविनिगत-चित्तेनिधेय विशुद्ध अमृतभाग है जो कि-सप्ताना पुरुषणा श्री कहलाया है वही आठवा (सातों के सा मक अमृतभाग से अभियक्त-सप्तमूर्ति-ऊ वभाग) विभाग है।

‘ चत्वार आत्मा, द्वा पदा पु ऊ प्रतिष्ठा’ इति सप्तपुरुषात्मकश्चित्यप्रजापति —



उक्त परिलेख के मध्य के चार चि-यप्राण दक्षिणोत्तर पार्श्वों के दो चि-यप्राण पश्चिमानुगत एक चित्यप्राण इन सातों चि-यप्राणों की समष्टि का नाम तो चि-यपुरुष है एव पूर्वानुगत उस अष्टम का नाम-चित्तेनिधेय पुरुष है जिसे-अमृत कहा गया है। यो अमृत-मय-के सम वय से सम्पन्न यह सप्तपुरुषा मक प्राणा-मा प्रजापति ही वह छद्म है जिसमें इसी अनुपात स क्षरामक भूत प्रतिष्ठि होते हैं और क्षरभूतों के यथास्थान प्रतिष्ठित होते ही वह अन्यक्त-प्राणपुरुष-यक्तभूतरूप में परिणत होता हुआ-विश्व

नाम धारण कर लेता है। लोकप्रसिद्ध-सञ्चा [साचा-रेखाचित्र-माडल] ही छद्म पुरुष है। एव प्रयेक भूतभौतकी सृष्टि में यही स त्राणामूर्ति अक्षरा मक स्तरा मा मूलाधार बना हुआ है।

मनु य को लीजिए। जिसे धड कहा जाता है वही म वाङ्ग है आर हृदय से ऊपर कण्ठ प य त तथा नीचे ब्रह्मप्रथि-प य त स पूर्ण म याङ्ग में चार प्राण प्रतिष्ठित है। क्योंकि प्राणचतुष्टय मरु ंसी म याङ्ग के आधार पर मस्तक- 1थ पैर आदि इतर सभी शारीरिकपव प्रतिष्ठित रहते हैं। एतावता ी इस विभागचतुष्टयी को- चत्वार आत्मा कह दिया जाता है। दक्षिण हाथ-दक्षिण पाद दोनों की समष्टि एक प्राणामक दक्षिणपद्म है वाम हस्त पाद की समष्टि वामपद्म है। शिरो भाग से आर म कर ब्रह्मप्रा थ प य त लम्ब-यष्टिवत् वितत सुप्रसिद्ध मेरुदण्ड [रीड की हड्डी] के अ त में प्रतिष्ठिता त्रकारिथ का प्राण ही पुच्छा मक प्रति ठाप्राण है। यह वही प्राण है जिस को प्रवृ त्तिस्थता में ही शरीरयष्टि श्रृजुभाव स प्रतिष्ठित रहती है सीधी तनी रहती है। वाद्व क्य मे जत्र यह प्रात ठाप्राण मूर्च्छित हाजा ा है तो मेरुदण्ड अवनत होजाता है कमर झुक जाती है और उस दशा में कृत्रिम पुच्छप्रति ठा (लकड़ी छुडी) का आश्रय अनि वाय्य बन जाया करता है। इन सातो प्राणों के अमृतप्रधान रसा मक भाग से ी क्योंकि ऊ वस्थ भाग का नि र्माण होता है अतएव उसे श्री कहा गया है। यही परोक्ष नियमानुसार शिर [मस्तक] नाम स प्रसिद्ध है।

यही क्रम पशु के शरीर में है यही पक्षी के शरीर में है। यही क्रम की कृमि सग में है और यही क्रम उन श्लोषधि वनस्प यादि में है जिन का एक एक पत्ता भी इन सातो चितियों से सदा वत है। किसी भी वृक्ष श्लोषधि के पत्त को सम्मूय रख लीजण। आप दरगो कि पों के म य मे एक ततु है वही मेरुदण्ड ह त सल न भाग ही च वार आ मा है। दोनों पाश्व दोनो पद्म है। मूलभाग वह पुच्छप्रतिष्ठा प्राण है जिससे पत्ता तना हुआ रहता है एव जिसके मूर्च्छित ोत ही पत्ता मुर्झा जाता है। पार्थिवसृष्टि का सवस्वभूत सम्ब सरप्रजापति जब इ थभूत ही है तो तद्गम में तदश से ही समुदभृता चर अचर प्रजा इस स तसस्थान-क्रम स कसे वञ्चित रह सकती है ?

म यस्थ वि वद्वत्त ही च वार आ मा है षरमासा मक उत्तरायण उत्तरपद्म है षरमासा मक दक्षिणायन दक्षिण पद्म है के द्रस्थ प्राजापत्यानि ही पुच्छप्रति ठा है। एक पक्षी का जसा आकार है मन्त्रचिति का लगमग वैसा ही आकार ह। तभी तो सभी का चि य प्राण हस [जीव] कहलाया है। इसीलिए इस चि यपुरुष का साङ्क तिक नाम होगया है सुपर्ण। स व सरा मक महासुपर्ण* ही साक्षी सुपर्ण है ए। तदशभत प्राणी ही भोक्ता सुपर्ण है।

* अथ ह वा एष महासुपर्ण एव सम्बत्सर । तस्य या पुरस्तात् विषुवत्-षरमासानु पयन्ति सोऽ यतर पद्म । अथ यान् षडपरिष्ठात्-सोऽ यतर । आत्मा विषुवान् ।

-शत १२।२।३।७

जिसप्रकार त्रिपुरुष-पुरुषामक षोडशी-पुरुषामा के मन प्राण वाचमय त्रिवृत्तभाव स आ मसर्गामक विश्व को समष्टि और व्यष्टिरूप स त्रिपर्वामक माना गया है * एवमव अक्षरप्राणामक सातप्राणामक-स तपुरुषामक प्रजापति की तथोक्ता आमा पञ्च पुच्छरूपा सात वातया के अनुवृत्त स विश्व को समष्ट्या व्यष्ट्या उभयथा सप्तपर्वा भी कहा जासकता है कहा गया है। उदात्तरण के लिए सबप्रथम मानवशरीर को ही लक्ष्य बना ए। मानवशरीर में शिरागुहा उरागुहा उन्त्रगुहा उस्निगुहा नामक चार गुहाविर्वा है जिन इनमें (प्रत्येक में) सात सात प्राणो का समन्वय गैरा है जसकि- गुहाशया निहिता स त सप्त - इयादि वचन से स्पष्ट है। गुहानिहित मन चारो सतको का भी शतपथ प्रथमखण्ड में ही (पृ स ३३६ में) परिलेख के मायम से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। इश्वरम स्वरो का ही सप्तव नही है। अपितु अक्षरप्राणामक-सप्तस्वरो की तथोक्ता सातचितिक आधार पर अवस्थित समष्टि-व्यष्टिरूप य चयावत् भूत-भौतिक पदार्थ सप्त भावापन्न ही है। जिन अगाणत सप्तमो मे से कुछ एक सातको का तालिकारूपेण अत्र नाम दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१-सप्त प्राण-२ श्रोत्रप्राण २ चक्षु प्राण २ नासाप्राण १-मुखप्राण।

२-सप्त अर्चि-१-काला कराला ३-मनोजया ४-सुलोहिता ५ सुधूम्रपर्णा ६ स्फुलि-
गिनी-७-त्रिध्वरूपा।

३ सप्त होम-१-पाकयज्ञ २-अग्निहोत्र ३-दशपूर्णमास ४-चातुर्मास्य ५-सामयज्ञ
६-महायज्ञ -अनियज्ञ।

४-सप्त लोक-१-सयम् २ तप ३-जनत् ४-मह ५ स्य ६-भुज -भू।

५ सप्त आग्निजिह्वा-१-काली कराली ३-रक्तपर्णिका ४-धूम्रपुष्पा ५ धूम्रशीर्षा
६-ज्वलनी ७-जयवती।

६ सप्त अग्नि-१-जिह्वा २-हिंस्रया ३-कृष्णा ४ रक्तिका ५ अतिरक्तिका ६-गगना
७ बहुरूषा।

७ सप्त अप्सरा-१ उपशी २ मेनका ३ रम्भा ४-सुकशी ५ तिलात्तमा ६ मञ्जुघाषा
घृताची।

८ सप्त आपरणा-१ जल २ अग्नि ३ वायु ४ आकाश ५ अहङ्कार ६ महत्तत्त्व
७ प्रकृति।

* शतपथमाय प्रथमखण्ड में इन त्रिपर्वा का सकलन किया जाचुका है (दाखए। प्रथमखण्ड-
पृ स ५११ से ५२ पयत।

— सप्त प्राण प्रभवति तस्मात् सप्तार्चिष समिध, सप्त होमा।

सप्त इमे लोका येषु चरति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।१।८।

- ६-सप्त-ऊर्ध्वलोक—१ ब्रह्मलोक २ वकुण्ठ ३ शिवलोक ४ सुरलोक ५ सूय्यलोक
६ पितृलोक सिद्धलोक ।
- १-सप्त अधोलोक—१ मायालोक २ यमलोक ३ गधवलोक ४ यक्षलोक ५ विन्नरलोक
६ नागलोक ७-दैन्यलोक ।
- ११-सप्त ऋषि—१-महर्षि २-ब्रह्मर्षि ३-देवर्षि ४-राजर्षि ५ परमर्षि ६ काण्डर्षि
७-श्रुतर्षि ।
- १२-सप्त कल्प—१-पार्थिवकल्प २-कूर्मकल्प ३-अनन्तकल्प ४-ब्रह्मकल्प ५-रुद्रकल्प
६-श्वेतवाराहकल्प ७-प्रलयकल्प ।
- १३-सप्त पितर—१-आयपा २-सोमपा ३-हावभुक् ४-अग्निष्वात्ता ५-सोमसत्
६-र्षिषत् ७-सुकाली ।
- १४-सप्त देवपुरी—१-विष्णुपुरी शिवपुरी ३-ब्रह्मपुरी ४-यमपुरी ५-वरुणपुरी
६-अलकापुरी ७-अमरपुरी ।
- १५-सप्त द्वीप—१-जम्बु २-प्लक्ष ३-शात्मली ४-कुशा ५-क्रौञ्च ६-शाक ७-पुष्कर ।
- १६-सप्तसमुद्र—१-लवणोत् २-इक्षुरोद ३-सुरोद ४-घृतोद ५-अधिमण्डोद ६-क्षीरोद
७-स्वादूदक् ।
- १७-सप्त वायु—१-आगह २-प्रवह ३-सवह ४-अनुवह ५-विवह ६-परावह ७-परिवाह ।
- १८-सप्त पाताल—१-अतल २-वितल ३-सुतल ४-तलातल ५-महातल ६-रसातल
७-पाताल ।
- १९-सप्तनरक—१-रौरव २-तान ३-विमोहन ४-कृमीश ५-लालाभक्ष ६-अधशिरा
७-अग्नीचि ।
- २०-सप्त स्वर्ग—१-अपोदक २-ऋतधामा ३-अपराजित ४-अनस्यविष्टप् ५-अधिद्यो
६-प्रद्यौ ७-रोचना ।
- २१-सप्त पर्वत—१-कुलगिरि २-शाखागिरि ३-पादगिरि ४-स्तूपगिरि ५-वर्षपर्वत
६-विष्कम्भपर्वत ७-कसरपर्वत ।
- २२-सप्त नदी—१-चतुर्गङ्गम् २-सप्तगङ्गम् ३-नदी ४-महानदी ५-शाखानदी ६-क्षुद्रनदी
कुल्या ।
- २३-सप्त-दश—१-पुरी २-पत्तन ३-महानगर ४-नगर ५-ग्राम ६-खरवट ७-उपनिवेश ।
- २४-सप्त प्रसिद्ध पर्वत—१-हिमालय २-विन्ध्याचत ३-हेमकूट ४-निषध ५-मत्लिमान्
६-पारियात्र ७-गधमादन ।

- २५-सप्त धाय—१ गोधूम (गैहू) २ यव (चा) ३ तिल ४ माष (उन्) ५ मुग्द (मूग)
६ अक्षत (चावल) ७ वज्र (बाजरा) ।
- ६-सप्त राज्याङ्ग—१ सेना दुग ३-मन्त्री ४ कोश ५ देश ६ मित्र ७-स्यामी
- २७-सप्त वार—१-रवि सोम ३-मङ्गल ४ बुध ५ बृहस्पति ६ शुक्र ७-शनैश्चर ।
- २८-सप्त सर (सरोजर)—१-मानसर २-माणसर ३-विदुसर (विष्णुसर) ४ पम्पा-
सर ५-गरुडसर ६ रामसर ७-अक्षादसर ।
- २९-सप्त देवच्छ द १-गायत्री २ उ एक ३ अनुष्टुप ४ बह्वी ५-पक्ति ६ त्रिष्टुप
७-जगती
- ३ -सप्त ज्योतिष्टोम—१ अग्निष्टोम २ अ यग्निष्टोम ३ उक्थ्यस्तोम ४-षोडशीस्तोम
५ अतिरात्रस्तोम ६-बाजयपयस्तोम ७ अ नार्यामस्तोम ।
- ३१ सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु १ पुत्र २ पिता ३ पतामह ४ प्रतितामह ५ वृद्ध प्रतितामह ६
अतिवृद्धप्रतितामह ७-वृद्धातिवृद्ध प्रतितामह (सापिण्य साप्तपोरुषम्)
- ३२-सप्त अध प्रजात तु १ पिता २ पुत्र ३ पात्र ४ प्रपौत्र ५-वृद्धप्रपात्र ६-अतिवृद्धप्रपात्र
-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र ।

३३-सप्त-सङ्गीतस्वर—१-षड्ज, २ ऋषभ ३ गाधार, ४-मध्यम
५ पञ्चम ६ धवत ७-निषाद ।

३४-सप्त-स्वरोच्चारण—१ सा २ रे । ३-ग ४-म, ५ प ६ ध,
७-नी ।

तदिथ- चत्वार आमा (४) द्वौ पक्षौ (२) पुच्छ प्रतिष्ठा (१) रूपेण सप्तामक बने हुए सप्तपुरुषपुरुषामक प्रजापति (अक्षराभिन्न स्वरा मक ऋषिप्राण) से क्षरामक यजन के द्वारा आभ्यक्त समुद्भूत उ पन्न ऋषि विश्व में इस सप्तचित्तिक प्रजापति के अनुबन्ध से सवत्रव समष्टि यष्टि रूप से सप्त महिमा भावो का विस्तार हो रहा है । सप्त पुरुष सप्त ऋषि सप्त अहोरात्रवृत्त सप्त कपाल सप्त कर्ण सप्त चक्र सप्त होता सप्त तन्तु सप्त अदितिपुत्र सप्त मरुदगण सप्त ऋतु सप्तप्राणानुगत जिन सप्तको का पूव में सम्मरण हुआ है उनके अतिरिक्त अगणित असंख्य सप्तको का वदशास्त्र में यत्र यत्र यज्ञप्रक्रियाओं के भेद से स्वरूप निरूपण हुआ है जिनके विस्तार का अत्र अवसर नहीं है । उनमें से कतिपय सप्तकामो का सम्मरण ही प र्याप्त होगा वदस्वाध्याय प्रकृति के अनुबन्ध से । सप्तपुरुष (शत ६।१।११) । सप्त ऋषि (शत ८।४।३।६।) सप्तकपाल (शत २।५।११२) सप्तकर्ण (तै आ १।७।२।) सप्तकृत्त्वस् (तै आ २।३।६।३।) सप्तगण (तै आ १।६।२।३।) सप्तचक्र (तै आ २।२।१।५।) सप्तचित्तिक (शत ६।६।१।१४।) सप्ततन्तु (गा आ १।१।१२।) सप्ततय्य (शत ६।५।३।११।) सप्तनामा (तै आ ३।१।१।६।) सप्तनिधन (ज आ २।१।५।) सप्तपदम् (ऐ आ ५।१।२।३।) सप्तपुत्र (ज उ आ

२।२।३।८) सप्तमुरय (सा ३।६।१) सप्तरश्मि (त ब्रा २।८।२।७।) सप्तरात्र (गो १।२।६।) सप्तच (शत ६।५।२।१।) सप्तवर्षा (गौ १।३।१।)। सप्त स्वसा (त ब्रा २।४।६।१।) सप्तहूत (तै ब्रा २।३।१।१।) सप्तहोता (त आ ३।७।३।) सप्ताह (शत १३।७।२।) इयादि रूप स सवत्रव स त स त मौलिक स्वरप्राणमूर्ति अक्षरप्रजापति की यासि देवी जासकती है। अस के अनुब्र व स ही सङ्गीतानुगत-नादा मक अ यनुगत-स्वरो को भी सात ही विवर्भावो में परिणत हो जाना पडता है। नाद वैश्वानर अग्नि ही तो है। नाद ही तो अ ति के द्वारा स्वर रूप से अभि यक्त हुआ है। वश्वानर चिय अग्नि उसी सप्तमूर्ति पुरुषप्रजापति के छ दोरूप आयतन से स तचिरूप में परिणित होकर ही प्राणियो की शारीरिक सस्था का अधिनायक बना हुआ है जसकि— सप्तचित्तिकोऽग्नि यादि से स्पष्ट है। सप्तचित्तिक नादा मक इस वैश्वानरप्राणाग्नि अनुष ध से ही तो तत्र प्रतिष्ठत भत भी १ रस २ अस्क ३ मॉस ४ मेद ५ अस्थि ६ मज्जा ७ शुक्र (सातधातव) इन सात ही अवयवो मे विभक्त होकर चित है। इस स त अग्नि चित्ति (प्राणानिचित्ति) स तभूतचित्ति (धातुचित्ति) के अतिरिक्त सप्त उपधातु सप्त रस सप्त उपरस स त त्रिष सप्त उपत्रिष आदिरूपेण शरीर में अ या य भी अनेकविध स तचित्तिया है। और यो मूलस्वरा मक प्राणा मक सप्तपुरुषप्रजापति की सातावयवता ही इन यच्चयावत् आ यामिक आधमौतिक आधिदविक स तमहिमामावो का मूलप्रवक्त क बना हुआ है। नादानुगत अ यामक स्वर क्यो और कैसे स तभावो में परिणत होगया ? स प्रासङ्गिक प्रश्न का यही साक्ष्यत समाधान है जिस के आधार निम्नलिखित अ तिवचन ही बने हुए है—

१— 'सप्त ते अग्ने ! समिध । प्राणा । समिध । प्राणा ह्य त अग्निं (भूताग्निं) समि धते । सप्त जिह्वा इति । यान् अमून सप्त पुरुषान् एक पुरुषमकुर्वन् तेषामेतदाह । सप्तऽऋषय हात । सप्त हि तऽऋषय आसन् । सप्त धाम प्रियाणि इति । छ दास्यतदाह । छ दासि वा अस्य (अग्ने) सप्त प्रियाण धामानि । सप्त होत्रा सप्तगा वा यजन्ति, इति । सप्त ह्य ते होत्रा सप्तधा यजन्ति । सप्त योनिरति । चित्तिरेतदाह । सप्त सप्त इति सप्तचित्तिकोऽग्नि । सप्तत्तव सम्बत्सर । सम्बत्सरोऽग्नि । यावानग्नि यावत्यत्य मात्रा, तावता एवैनमेतत प्रीणाति' ।

—शतप ब्राह्मण ६।२।३। ४४ ४५

२ सप्तर्च भवति । सप्तचित्तिकोऽग्नि । सप्तत्तव । सप्त दिश । सप्त देवलोका । सप्त स्तोमा । सप्त पृष्ठानि । सप्त छ दाभि । सप्त ग्राम्या पशव । सप्त-आरण्या पशव । सप्त शीषन् प्राणा । यतकिञ्च सप्तविध-अधिदेवत, अध्यात्म (अधिभूतच) तदेनेन सर्वमाप्नोति' ।

—शत ६।२।२।८।

उक्त सप्तक विवेचन से स्पष्ट है कि सर्वाङ्गशरीर मे या त स तावयव स तचित्तिक नादमूर्ति वैश्वानराग्निप्राण ही अ ति के द्वारा स त-स्वररूप में परिणित होरहा है जिस का सहज नि कष यही है कि मानव

का सतचित्तिक प्राणाग्नि ही (नात् ही) मरुत्नामक गायत्रि द्वारा (श्रुति क द्वारा) उर कण्ठ-शिर-इन तीन स्थानों से प्रयाहृत होता हुआ स्वरामक वान के रूप में पारणत होता हुआ वहिमण्डल के मा यम से तत्र यात सुसूक्ष्म वाकममुद्र में वीचरूप से तरङ्गायित बनकर श्रोताओं की कण्ठगण्डुलयों में प्रातःप्रणत प्रज्ञानपन पर आघात करता हुआ कण्ठमधु बनता रहता है और यो हृत्पलाङ्गन स्थान में कथरूप में पुञ्जीभूत नादात् न ही श्रुति के द्वारा स्वर रूप में पारणत होता हुआ वाग्नि निकला करता है। अग्नि नात् श्रुति-स्वर न प्रक्रमों के मा यम से प्राणाग्नि ही भूताग्नि से समवित होता हुआ उक्त क्रम से बाहिर निकलता है अतएव अधिक शब्द विनिगमन से मानव के शरीरसंस्था और प्राणसंस्था दोनों ही शिथिल होजाती है।

नादात्मक श्रुतिममवित स्वरमायान्त चित्ते धियाग्न स समा प्रत स चियाग्नि की सुप्त जाग्रत भेद से शास्त्र ने दो अवस्था मानी है। रात्र में सुषुप्तिदशा में (सो जाने पर) चियाग्नि अतमुख बन जाता है। यही चियाग्नि की सुप्तावस्था है। सूर्योदय के साथ ही (आधदविक अग्नि की आभयक्तिरूप जागरण के साथ ही) मानव का शारीरिक अग्नि भी अग्निर्जागार रूप से उदबुद्ध होपडता है। सौरअह-कालपर्यन्त (शयन से पूर्व पूर्व) यो अग्नि जागरूक ही बना रहता है। यही उसकी जाग्रतवस्था है।

सौरसत्तात्मक अह काल सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त गायत्री त्रिष्टुप जगती-नामक तीन छंदों के अनुपात से-प्रात-मथाह साय भेद से तीन सवनों में विभक्त है जिन प्रात सवनादि तीनों सवनों का पूर्व में दिग्शन कराया जाचुका है। प्रात ६ से साय ६ पर्यन्त ४-४-४ होरा (घन्टा) के अनुपात से (सामान्य मानानुसार) तीन विभाग कर लीजिए। नतीनों में सौर पार्थिव सावत्र गायत्रि अग्नियों की समवित्तावस्थारूप अग्नि अपनी अह कालीना जाग्रदवस्था से क्रमशः मत्-मयतार नाम की तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। ६ से १ पर्यन्त का प्रात कालीन गायत्रि छंदस्क जाग्रदग्नि ही-प्रात सवनीय मद्राग्नि है। ११ से २ पर्यन्त का मध्याह्नकालीन त्रिष्टुप छंदस्क जाग्रदग्नि ही मायात्नसवनीय मध्याग्नि है। एवं ३ से ६ पर्यन्त का सायकालीन जगती-छन्दस्क जाग्रदग्नि ही-सायसवनीय ताराग्नि है। सामान्य उच्च-अ-युच्च ही मत्-मयतार भाव। और तन्मी प्राकृतिक स्थिति के तारतम्यानुपात से मानव का अह कालीन जाग्रदग्नि भी प्रात मध्याह्न साय रूपेण मत्-मध्यतार रूपेण तीन ही अवस्थाओं में परिणत रहता है।

मानवशरीर में प्रकृति के प्रात मथाह साय नामक तीन सवनों के प्रतिरूपामक स्थान कमश उर-कण्ठ शिर है। अतएव शदानुगत स्वररहस्यवत्ताओंन स्वरामक शदोच्चारण के सम्बन्ध में यही व्यवस्था की है कि प्रात सवनीय गायत्रि प्रात काल में मानव को उर स्थान से मद्र-स्वर से ही शदोच्चारण करना चाहिए जैसेकि शादूल (सिंहजातिविशेष) उर स्थान से ही बोला करता है। मायदिनसवनीय त्रैष्टुभ-मध्याह्नकाल में मानव को कण्ठस्थान से ही बोला चाहिए जैसेकि चक्रवाकदि कण्ठस्थान से ही बोला करता है। एवं सायसवनीय जागत-सायकाल में मानव को शिर स्थान से ही तारस्वर से बालना चाहिए जैसे कि मयूर-ह्रस्वात् शिर स्थान से ही बोला करते हैं। ऐसा क्यों? का उत्तर है-प्रकृतिप्रद विकृति कत्त या-देवाननप्रिधा ये मनष्या इत्यादि निगम। प्रकृति में नादस्वरामक-प्राकृतिक-वनि का यही क्रम है। वैसे ही यहा हाना चाहिए।

रात्र में सुप्त अग्नि की यदि प्रातः काल में जागरण के साथ ही वापूवक तारा मक उच्च-सघष का अनुगामी बना लिया जाता है तो इस अप्राकृतिक-माहस स वापध रोग विशेषत उर क्षत होजाता है। रक्त निकलने ल सकता है स अप्राकृतिक सघष से। अत आर म म मद्र-पुन थाडा उच्च पुन उच्च इस क्रमिक अनुपात से ही श-दोच्चारण प्रकृत हाना चाहिए त्रिसवनों के आत रिक्त भी मानव जब भी कुछ बोलना चाहे उसे इसी स्थानत्रयी के अनुपात से मद्रस्वर स ही श दो प्रक्रम करना चाहिए। तभी अग्नि नादास्थिरता के कारण उत्तरोत्तर-सशक्त प्रभावपूर्ण श्रुतमधुर एव स्वरमधुर बन सकता है। आर म में ही तारस्वरा मक-ची कार पद्धति से बोलने लग पडने वाला आवा मानव न तो अधिक समय पर तत्स श-दोच्चारणधारा को ही व्यवस्थापूर्वक प्रकृत रव सकता न एस उच्च जक उच्चारण म श्रुति स्वर-माधुर्य ही अभिव्यक्त होपाता।

न केवल श-दोच्चारण में ही अपितु क मप्रवृत्ति में भी वसी नियम का अनुगमन श्रय पथा माना गया है। क्योंकि श द और अथ दोनों आभन्न ह। अतएव दानो समान ही नियमचा आओ से समवित रहते है। इसी आधार पर— अपारम्भा क्षेमकरा कहा गया है। आवशपूर्वक आर म में ही प्रचण्ड वेग स किसी क्रम में सलग्न होपडने वाले उत्तजित मानवों के लक्ष्य निकल ही प्रमाणित होजात हैं। शनै कथा शनै पथा शनै पत्रतलङ्घनम् प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर तो यह लाकसूत्र व्यवस्थित हुआ है कि— एक भावुक काव्य का आरम्भ करना जहा भलीभाति जानता है वहा वह भावुक का य समाप्त करना नहीं जानता। एव नैष्ठिक मानव जहा आरम्भ करना नहीं जानता वहा काव्य का समाप्त करना वह अवश्य ही जानता है।

उपक्रम में नादा मक स्वर मध्य म श्र यात्मक स्वर एव अत में स्वरा मक स्वर यही क्रम श-दोच्चारण में प्रशस्त माना गया है जिन इन तानों का ही वदिक नाम है— अहकार-प्रस्ताव उद्गीथ। उर स्थानानुगत नादा मक (गुञ्जायमान) मद्रस्वरा मक श-न् किवा अग्नि ही हिङ्कार है। उदाहरण मिह का वन्या मक श-द ३। सिंह और शालू सदा उर स्थान स ही बोलते है अतएव इनका उर और तत्सलग्न उदर प्रदश श द वनिकाल में सकुचित होजाता है सिकुड जाता है। कण्ठस्थानानुगत-श्रु या मक [त्रिना गूज का सामाय]—मयस्वरा मक श द किवा वनि ही प्रस्ताव है। उदाहरण चक्रवाक की कण्ठानुगता वनि है। एव शिर स्थानानुगत-स्वरा मक [त्रिना गूज का उच्च]—तार स्वरा मक श द किवा अग्नि ही उद्गीथ है जिसे सङ्गीत की लोभभाषा में टीप कहा गया है। उदाहरण मयूर की शिरोऽनुगता वनि है जिसकी प्रकृति मे मयूर का शिरोभाग ही ऊ व बन कर अवनत होता रहता है। त्रि प्रक्रमा मक नाद श्रुति स्वर-भावा मक गायत्र त्रैभुभ-जागत भावानुबधी इसी स्वरत्रयी का नियमन करते हुए श द शास्त्र के आचा यान कहा है—

प्रातः पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ॥

मध्यदिने कण्ठगतेन च चक्राह्वसकूजितसन्निभेन ॥१॥

तार तु त्रिधात् सवन तृतीय शिरोगत तच्च मदा प्रयो यम् ॥

मयूर हसा यभृतस्वराणा तुल्पन नादेन शिर स्थितेन ॥२॥

—पाणिनीयशिक्षा ३६ ३७ ।

यह तो हुआ नाद-श्रुति स्वर-भावो का सङ्गीतानुगत तथा उच्चारणानुगत स्वरूप समन्वय का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन । अब ये शब्दों में परब्रह्मानुगता अथस्तृष्टि [भूतभातिकी पदाथस्तृष्टि] के अनुबन्धवत् स भी स्वर की आराधना कर लीजिए । स पूर्ण विश्व की उत्पत्ति शान्तमात्रा स एव तत्प्रसूता म्पश रूप-रस गन्धमात्राओं से ही हुई है य प्रव म स्पष्ट किया जा चुका है । इन पाचों ही त मात्राओं का मूलाधारभूत मौलिक शब्दतन्मात्रामक वह तत्र है क्या ? इस प्रश्न का उत्तर है— तन्मात्रामक ऋक्-यजु साम नामक-अपौरुषेय-वेद ।

तन्मात्रामक वेद का ऋग भाग स तो वस्तु का पिण्ड (मूर्त्ति) बनता है यजुर्भाग स वस्तु का क्रियात्मक गतिभाग अभियुक्त होता है एव सामभाग से वस्तु का मण्डल अभियुक्त होता है । प्रत्येक भौतिक पदार्थ में पिण्ड गात मण्डल ये तीन तीन पदविभाग विज्ञानसिद्ध हैं । पिण्ड वह भाग है जो अमुक-स्थान-प्रदेश घेता है एव निम्नका हम स्पष्टता कर सकते हैं कि तु दण नहीं सकत । अतएव इस पिण्ड को धाम-छद् (स्थानांतराधक नगह रोकने वाला) कहा जाता है एव यही स्पर्शपिण्ड भी कहलाता है । इस पिण्ड में जायतं अस्ति विपरिणामते वद्वते क्षीयते विनश्यति-नाम के सुप्रसिद्ध-षडभावविकारामक परिवर्तन प्रकृत रहते हैं ।

परिवर्तनात्मक इन विकारभावो का ही नाम गति है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रातष्ठित उक्थरूप प्राणाग्नि की अकरूपा रश्मियाँ केन्द्र से बाहर वस्तुवृत्त के आकार से समतुलित मण्डल बनाती हुई निकलती हैं । ये रश्मिमण्डल ही पिण्डात्मक वस्तु के मण्डल हैं । एव हम वस्तु का जो प्रयत्न होता है वह वस्तुतः पिण्ड का प्रयत्न न होकर इन मण्डलों में स ही किसी एक मण्डल का ही प्रयत्न होता है । अतएव इसे दृश्यमण्डल कहा गया है जिसका न तो स्पष्टता सम्भव है एव जा मण्डल प्राण की प्रधानता से न धाम-छद् ही बनता । पिण्ड ही स्पर्श बनता है एव मण्डल ही दृश्य बनता है । स्पृश्यपिण्ड तथा दृश्यमण्डल इन दोनों के मायम स अपारपारीणरूप स परिव्याप्त क्षणे-क्षणे परिवर्तमान गतिभाव ही पिण्ड गति एव मण्डल-रूप यामक त्रिमूर्त्ति ही वस्तु का स पूर्ण इतिवृत्त है । और इन तीनों वस्तुभावो के मूलप्रवक्तक तव ही क्रमशः ऋक् यजु साम नामक मौलिक तव हैं जसाक निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टतरूपेण उदघोषित हैं—

ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्त्तिमाहु सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत ।

सर्वा तेज सामरूप ह शश्वत सर्वा हीद ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥

—तै ब्रा ।

*—शब्द स्पर्शश्च रूप च रमो गन्धश्च पञ्चम ।

वेदादेव प्रसूयते प्रसृति गुण कर्मत ॥

—मनु १ । ६८ ।

इस तन्मात्रामक वेद का स्वरूप दिग्दर्शन शतपथ ब्रह्मण खण्ड में कराया जा चुका है ।

केद्रावच्छिन्न ऋत्नमय स्पृश्य-धामच्छुद-उस्तुपिण्ड ही नाद तत्त्वं है । पण्ड मण्डला तवत्ता यजुम्मय गतिभाय ही श्रुतितत्त्वं है एव पिण्डकेद्र से प्राणराश्मिमण्डलरूपेण सहस्रभाव-समवित्त साममय मण्डल ही स्वरतत्त्वं है । यो नात् ऋकपिण्ड से श्रुति यजुगति से तथा स्वर साम मण्डल से सर्वात्मना समतुलित है । अतएव साम का एक साङ्कृतिक पारभाषिक नाम रत्न लिया गया है स्वरसाम । स्वर और साम अभिन्न तव है । प्रातस्विकरूप से वही मण्डल स्वर एव पिण्ड तथा गति से समवित्त होता हुआ वही स्वर साम कहलाने लगता है और यही त्रिमूर्ति स्वरसाम गायना मक मङ्गीत की प्राणप्रतिष्ठा माना गया है जसाकि गीतिषु सामारया इस आश्रवचन से प्रमाणित है । बिना स्वर का शब्द केवल ऋक है अथवा तो यजु है । स्वरसाम के प्रवश से ही अपने पिण्डा मक (गद्य पद्या मक) स्वरूप से प्राणरूपेण वितत होता हुआ मण्डलरूप में पारणत होता हुआ (फैलता हुआ) साम रूप गान (गायन गीति) रूप में पारणत होता है । अतएव सर्वात्मना सभी दृष्टियों से सामा मक स्वर किवा स्वरात्मक साम ही सङ्गत की प्राणप्रतिष्ठा बन रहा है जिस स्वरसाम के त्रय स्वरसामान रूप से तीन महिमा विवक्त माने गए हैं जिनका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है ।

तद्विथ ग्राम * मूञ्जना जाति क्रम तान आरोह अत्रोह वादी सवादी नाद श्रुति स्वर आदि आदि अनेक विभूतियों से सुसमवित्त नृत्य गीत बाद्य भेद से तीन प्रक्रमों में विभक्त शास्त्रीय सङ्गीत के नाद श्रुति स्वर नामक प्रतिष्ठात्मक तीनों स्तंभों का मूलान्तर प्रथम स्थानीय वैश्वानरानिप्राण मूर्ति गुञ्जनभावनिबन्धन जो उपक्रम स्थानीय तव है वी वदिक सामविज्ञान की परिभाषा में हिङ्कार नाम से प्रसिद्ध हुआ है । स्वरात्मक साम ही क्योंकि हृदयोचित नादात्मक इस हिङ्कार को वितानभाव में परिणत करता है दूसरे शब्दों में सौर मधुर से समाप्तुत नवविद्वा मक ब्राह्मण स्वररूप साम के मण्डलो के वैतानिक रूपों के आधार पर ही (स्वरमधान के आधार पर ही) क्योंकि नादात्मिका हि हि हि हु हु-ह इत्यादि अनुकरणामिका म तननभावामिका सङ्गीतोपक्रमस्थानीया वनि का आधार बनता है अतएव कहा और माना जायगा कि स्वरात्मक साम ही हिङ्कार का प्रवक्तक है इसी आधार पर श्रुति ने कहा है कि—

“नासामा हिङ्-क्रियते”

सामस्वरमण्डला मक सामस्वरमण्डलानुगत हिङ्कार ही नाद है नाद ही श्रुति का प्रवक्तक है एव श्रुति के द्वारा ही स्वरों की अभिव्यक्ति होती है । एकमात्र इसी समसम्बन्धानुबन्ध से प्रकृत ब्राह्मण के हिङ्कार शब्द के पारिभाषिक समवय के लिए ही हमें सङ्गीतानुगत-नाद श्रात स्वर नामक तीनों प्रक्रमों का प्रामाणिक दिग्दर्शन कराना पड़ा । क्योंकि नाद-श्रुति स्वर भावों के स्वरूप परिचय के बिना श्रुति का-हिङ्कार शब्द कदापि समवित्त नहीं होसकता । अतएव श्रुति के हिङ्कार शब्द-समवयानुबन्ध से हमें सत्रिव का सम्मरण करने पड़ा है ।

*-ग्राम स्वरसमूह स्यात्, मूञ्जनादे समाश्रय ।

ता द्वा धरातले तत्र स्यात् षड्ज ग्राम आदिम ।

द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोल्क्षणास्यते ॥

—इत्यादि

सङ्गीतप्रमियों के मनोऽनुरञ्जन के लिए स्वरग्रामानुगता तालिका अत्र समुत्ता ह

श्रुति—स्वर—ग्राम—चक्रम्—

श्रुतिसरया	श्रुतिनामान	श्रुतिजातय	षड्जग्रामस्वरा	म यमग्रामस्वरा	गा धारग्रामस्वरा
१	तीव्रा	दीक्षा	*	*	नी
२	कुसुद्वती	आयता	*	*	*
३	मदा	मृदु		*	
४	छु दोवती	म या	*	*	सा
५	दयावती	करुणा	*	*	*
६	रञ्जनी	म या	*	*	रे
७	रतिका	मृदु	*	रे	*
८	रौद्री	दीप्ता	*	*	*
९	क्रोधा	आ ता	*	ग	६
१०	वाज्रका	दीप्ता	*	*	ग
११	प्रसारिणी	आप्ता	*	*	*
१२	प्रीति	मृदु	*	*	*
१३	माजनी	मध्या	*	म	म
१४	क्षिति	मृदु	*	*	*
१५	रक्ता	म या	*	*	*
१६	सदीपनी	आप्ता	*	प	प
१७	आलापिनी	करुणा	*	*	*
१८	मदती	करुणा	*	*	*
१९	रोहिणी	आ ता	*	*	व
२०	रम्या	म या	*	घ	*
२१	उग्रा	दीप्ता	*	*	*
२२	शोभिनी	म या	*	नी	*

जाति-तालिकेयम्-

१	२	३	४	५	६	७	८
सत्या	जातय	मूच्छना	आशा	यासा	उपयासा	षाडवदशिस्वरा	औडवदशिस्वरा
१	षाड्जी	उत्तरायता	सारे ग म प ध	सा	ग प	नि	*
२	आषमी	शुद्धषड्जा	रे ध नी	रे	रे ध नी	सा	सा प
३	गा धारी	पौरवी	सा ग म प ती	ग	सा प	रे	रे ध
४	मध्यमा	कलोपनता	से रि म प ध	म	सारे ग प व	ग	ग नी
५	पञ्चमी	कलापनता	रे प	प	रे प नी	ग	ग नी
६	धैवती	अभिरुदयता	रे ध	ध	रे म ध	प	सा प
७	नैवादी	आभरुदयता	सा ग नी	नी	सा ग नी	प	सा प
८	षड्जकैशिकी	कलोपनता	सा ग प	ग	सा प नी	*	*
९	षड्जोदीया	अश्वक्राता	सा ध नी	म	सा र	रे	रे ध
१०	षड्जमयमा	म सरीकृता	सारे ग म प ध नी सा	सा म	सारे ग म प ध नी	नी	* ग नी
११	गा धारोदीया	पौरवी	सा म	ग	सा ध	रे	*
१२	रक्तगा धारी	कलोपनता	सा ग म प नी	ग	म	रे	रे ध
१३	कैशिकी	हारणाशवा	सा ग म प ध नी	ग प नी	सा ग म प ध नी	रे	ध
१४	म यमोदीया	सौवीरी	प	म	सा ध	*	
१५	काम्मा वी	शुद्धमथा	रे प ध ना	प	रे प ध नी	*	६
१६	गा नारपञ्चमी	हारिणाशवा	प	ग	रे प	*	*
१७	आ ध्री	सौवीरी	रे ग प नी	ग	रे ग प नी	सा	*
१८	नन्दयन्ती	हारणाशवा	प	ग	म प	र	*

इति-सङ्गीतानुगत-नाद-श्रुति-स्वर-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

प्रकृतसमनुसराम । नाद-श्रात स्वरूपा मक-पूर्वोक्त प्रासङ्गिक-प्रकरण का उपक्रम करत हुए हमने निबदन किया था कि नृत्य गीत-वाद्या मक नाद-श्रुति स्वर-त्रयी के आधार पर सुप्रतिष्ठित भी नृत्य-गीत वाद्यात्मक सङ्गीत मानव की अथायामस था म आममविद-विरोधी आग्लादोष एव बुद्धिानष्टा-विरोधी मायदोष उपन्न कर दिया करता है । त्रैविक्रम दोनो दोषो क सपथ म समभने जसी बात की और भी सङ्कत हुआ था (दणिए पृ स १२१३) । उस समभने नी कुछ बात के इतिवृत्त के समन्वय के लिए ही हमे सङ्गीत के नाद श्रुति-स्वर भावा का दिग्दर्शन उपक्रात करना पना । अब प्रतिज्ञात णाष स्वरूपो की आर ही सङ्गीतप्रमियों का यान आकर्षित किया जा रहा है ।

आग्ला तथा माय नामक सुप्रसिद्ध मानसिक तथा शारीरिक दोषा के स्वरूप समन्वय के लिए हमें तमसो मायातिगमय इस सुप्रसिद्ध श्रातवचन म पाठत तम और ज्याति इन दो तवो की और नी नष्टिक मानवत्रयो का यान आकर्षित करना पडगा । सृष्टि के मूलभूत आभू और अभ्य नामक दो तवो की प्रथमा मौलिक आभयक्ति का नाम ही क्रमश रस और जल है । रस रसतत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति एव आभूतत्त्व की द्वितीया अभियाक्त का नाम जहा जू है वहा बलतव की प्रथमा अभिव्यक्ति एव अभ्यतत्त्व की द्वितीया आभयाक्त का नाम ही यत् है । रस जू तव की प्रथमा अभिव्यक्ति रसतव की द्वितीया आभयक्ति एव आभूतव की तृतीया अभिव्यक्ति का नाम जहा तेन है वा यत् तव की प्रथमा अभिव्यक्ति बलतव की द्वितीया अभिव्यक्ति एव अभ्यतव की तृतीय अभिव्यक्ति का नाम ही स्नेह है । रस तेजस्तत्त्व की प्रथमा आभयक्ति जूतव की द्वितीया अभियाक्त रसतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति तथा आभूतत्त्व की चतुथा अभिव्यक्ति का ही नाम जहा लोकप्रसिद्ध ज्योति है वहा स्नेहतत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति यत्तत्त्व की द्वितीया आभयक्ति बलतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति एव अभ्यतव की चतुर्थी आभयक्ति का ही नाम लोकप्रसिद्ध तम है ।

क्या तापथ्य ? इस तापथ के समन्वय के लिए हम आपका यान उस एकमाद्वितीयलक्षण विश्वातीत परापरब्रह्म की आर ही आकर्षित करना चाहेगे जिसका साङ्कतिक नाम है अनेजदेकम् । एकपना मक-प्रातन्नावलक्षणभावापन्न-आयतिकरूप स पर्यत्तनामक भाव का है-एजत् एव अविक्पनामक-सदकरस आत्यतिकरूप से अपारवत्तशीलभाव का नाम है-अनजत् । स्थितिभाव ही अनेजत् है एव गतिभाव ही एजत् है । स्थितप्रकृतक-अनेजत् तथा गतिप्रकृतक एजत् परस्पराय तावरूद्ध तन दोनो भावो की सत्तासद्धा एकरूपता का ही नाम है यह विश्वातीत-परापरब्रह्म जिसका समथ्यामक नाम माना गया है अयनपिनद्धम् । अयनपिनद्धा मक स्थितिगतिप्रकृतिक-अनेजत्-एजत्-मूर्ति इरु परापरब्रह्म का प्रथम मौलिक स्वरूप आभू और अभ्यात्मक है । आभू अनेजत् है अ व एजत् है । शोपनिषत् ने इसी स्वरूप का इन श दो में माङ्गलक सस्मरण किया है—

अनेजदेव मनसो जवीयो नेनद् बा आप्नुयन् पूर्वमशत ।

तद्वावतोऽ यानत्यति तिष्ठत्स्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

—ईशोपनिषत्

अनेजदेवमूर्ति—आभू—अम्बामक इनी ब्रह्म का दूस। विवत्त रसबलामक है तीसर विवत्त यत् जू—रामक है चौथा विवत्त तेज स्नेहामक है एव पाचवा विवत्त योति स्तमोरूप है। प्रत्येक रूप द्विपर्वा ३ जिन में प्रथम—प्रथम पव सवत्र सदात्मक है एव द्वितीय—द्वितीय पव असदात्मक है। और यही योति तथा तम के मौलिक—चिरतन—वितिवृत्त का अर्थ से इतिप यत् का महामङ्गलप्रद माङ्गलिक पावन सस्मरण है।

विश्वातीतभावा				मिश्रभावा		
१	२	३	४	५	६	७
१ अनेजत्	आभू	रस	जू	तेज	ज्योति	(स्थितिप्रकृतिक सत्वभाव अमृतम्)
२—एजत्	अभवम्	बलम्	यत्	स्नेहम्	तम	(गतिप्रकृतिक अमद्भाग मृयु)

—‘अमृतं च मृयुश्च सदसच्चाहमर्जुन !’

तेजोलक्षण योतिर्भाव का ही नाम है—इद्र एव स्नेहलक्षण तमोभाव का ही नाम है वरुण। इद्र ही मित्र नाम से प्रसिद्ध है। अतएव योति स्वरूप इद्र तथा तम स्वरूप वरुण इन दोनों की समवित्तास्था का एक साङ्गतिक नाम होगया है—मित्रावरुणो जो कि अयामभाषा में ऋतू दत्तौ नाम से प्रसिद्ध है जेसाकि ऋतू दत्तौ इ या अस्य मित्रावरुणौ (शत ४।काण्ड) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। उपरि निर्दिष्ट ताणिका के मिश्रभावो में क्रमप्रात चतुर्थ जू और यत् इन दोनों की समष्टि ही यजू नामक वयोरूप वह यजु तव है जो ऋक् साम नामक वयोनाधामक छुद से छिदित रहता हुआ त्रयीमय बना हुआ है। ऋक्साम से छा दत्त नद्ध मीमित परिवर्धित जूरूप स्थितिभाव एव यदूरूप गतिभाव इन दोनों की समष्टिरूप त्रयीमयतव का ही नाम स्वयम्भूब्रह्म है जो स्वयमेव-उद्वभौ के अनुसार ही स्वयम्भू कहलाया है। इसी स्वायम्भुव यजु के जू भाग से तेज के द्वारा योति के मायम से तो इद्रमित्र की अभियक्ति हु है एव इसी स्वायम्भुव यजु के यद्भाग से स्नेह के द्वारा तम के मायम से वृत्रवरुण की अभियक्ति हु है। योति मय इद्रमित्र एव तमोमय वृत्रवरुण दोनों क्रमश स्वयं भू

के जू और यत् के ही परिणाम है। वही स्त्राय सुवी यजुवाक साऽवाऽमृतत गच एत्र लाकान् नागय साऽसृत के अनुसार आपोमण्डलरूप में परिणत होती हुई परमेष्ठी नाम से प्रसिद्ध है जो एक स्वयम्भू का ही प्रथमावतार माना गया है। इस आपोमय पारमेष्ठ्य स्मृद्र में तेजोमयी आनाचात से पुञ्जीभूत प्रदीप्त प्रचण्ड तेजोमय सारसस्थान ही इन्द्रमित्र है ए स्त्राय पारमेष्ठ्य स्नेहमयी आप वृत्रप्ररुण है। और यों परमेष्ठी के ही गन में अपप्रधान र हप्रधान वृत्रप्ररुण तथा तेज प्रवान इन्द्रमित्र (सूय्य) ने वतत्र स्थान अभियक्त होजाते हैं।

सावित्राग्निचित्ररूप तेजोमय स्मृद्र मत्ररूप सूय्य को थोड़ी दूर के लिए तटस्थ मानते हुए वृत्रापोमय स्नेहमय वरुणरूप परमेष्ठी को हा लक्ष्य बनाए।

आपोमय अपप्रधान ऋतप्रधान (आएव अमृतभावापत्र) पारमेष्ठ्य वरुण की वज्ञानिकान् अपरिपक्वावस्था परिपक्वावस्था-भेद से दो अवस्था माना है। अपरिपक्व वरुण जहां विशुद्ध आसुरभाव है वहां परिपक्व वरुण अशत आसुरभावात्मक बनता हुआ भी अधिकांश से गंधव तथा पितृभाव प्रधान ही बन जाता है। ब्रह्मानि (स्वायम्भुव तेजालक्षण प्राणाग्नि) के साथ पारमेष्ठ्य वरुण आप तव का जो भाग परिपक्व होजाता है वही वरुण की उत्तरावस्थारूपा-परिपक्वावस्था कहलाइ है।

भूतमूला-लोकदृष्टि से उस अलौकिकी-प्राणामिका अवस्थाद्वयी का उदाहरण-माध्यम-मात्रण यो समन्वय किया जासकता है कि चारों ओर से सीमात्रद्ध अतएव वायव्यप्राण के सञ्चारधम्म से वञ्चित अतएव च पूति-पङ्कादि-मलीमस-भावों से कावालीकृत सीमित जल का नाम ही वृत्रात्मक वरुण है यही वरुण की अपरिपक्वावस्थामिका पूर्वावस्था है जिस इत्थभूत मलीमस-अवरुद्ध अपरिपक्व निष्कैवल्य वारुण पानी को ही आसुर पानी कहा जाया एव इसे ही विविध रोगों का विभिन्न दोषों का प्रवक्तक माना जायगा। इसके अतिरिक्त प्रचण्ड प्रवाह से समन्वित अतएव वायव्यप्राण से आलौकित विलोडित अतएव मलीमस भावों से असस्पृष्ट विशुद्ध निम्मल पानी ही दिव्यपानी है। इसमें आग्नेयप्राण* वायव्यप्राण-इन्द्रप्राण आदि अनेक दिव्यप्राणों का समावेश रहता है। अतएव ऐसा गतिधर्मा विशुद्ध पानी स्वयं स्वस्थकर माना गया है। यही वरुण की परिपक्वावस्थारूपा उत्तरावस्था है। यो लौकिक उदाहरणविधि से उस पारमेष्ठ्य-अलौकिक प्राणामिक वारुणपानी की भी अपरिपक्व परिपक्व बन दोनों अवस्थाओं का अनुमान लगाया जासकता है।

वरुण की अपरिपक्वा पूर्वावस्था का ही नाम है—वरुण ए वही वरुण की अग्नि-वायु इन्द्र प्राण समन्वित परिपक्वा उत्तरावस्था का ही नाम है—भृगु। परिपक्वधम्म का ही नाम भजन है। ए परिपक्वामक इस भजन-सम्बन्ध से ही वरुणपिता की पूर्वावस्था से समुद्भूत उत्तरावस्थारूप पुत्रात्मक परिपक्व भाव का नाम होगया है भृगु जैसाकि निम्न लिखित श्रुतिवचनो से विस्पष्टरूपेण प्रमाणित है—

*—अपा सधातो, विलयनञ्च तेज सयोगात् (वैशेषिक दर्शन—कणादसूत्र)।

— इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यते के अनुसार गतिधर्मा वायु में एक चतुर्थांश इन्द्रप्राण भां समाधिष्ट रहा करता है।

ता आप सृष्ट्याऽनैत प्रजापति । तासु आयामपश्यत् (तमोभागमपश्यत्) । ता आप-आता सप्ता स तप्ता-साद्धमेव रेतसा द्वैधमभवत् । तासाम या अ यतरा अतिलगणा (चारधर्मा ता) (अनए) अपया अश्वादा (मधुप्राणशू या) ता अशा ता आप समुद्र वृ वा-अतिष्ठन् (ता इमा ए-आप-अपरिपक्वा ऋण त्मिका) । अथ इतरा पया स्याद्-य शा तास्तत्राभ्यश्राम्यत् अभ्यतपत् ममतपत् । ताभ्य आ ताभ्य तप्ताभ्य स तप्ताभ्य यद्दरेत आसीत् तत् अभ्यज्यत् (परिपक्वमभूत् । यदभ्यज्यत्-तस्मात् 'भृगु' समभवत् । तद् भृगोभृगुणम्' ।

—गोपथब्राह्मण-पूरुभाग १ प्र ३ ब्रा ।

(२)- 'वरुणस्य वै सुषुप्राणस्य भगाऽपक्रामत् । स त्रधापतत् । तद्भृगुरभवत्' ।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण १८।६।१।

(३)- 'तस्य प्रजापते यद्दरेतस प्रथममुददीप्यत् तदसावादित्योऽभवत् । अथ यत् द्वितीयमासीत् तद् भृगुरभवत् । त वरुणो यगृह्णीत् । तस्मात् स भृगुर्वारुणि' ।

—ऐनरेयब्राह्मण ३।३४।

आ नेय-जाय-य-ऐन्द्रप्राण-से समञ्चित अतएव परिक्व-भजनशील पारमेष्ठ्य वारुण आप्यतत्त्व का ही नाम-भृगु है उक्त तीनों भुतिवचनो का यही निरुपार्थ है । द्वितीया श्रुति में वरुणस्य भग-त्रेधा-अपतत् यह कहा गया है जिस का तापर्य यही है कि ध्रुव-(घन)-ध्रुव-(तरल) धरुण (विरल) नाम की सुप्रसिद्धा तीन अवस्थाओं के कारण यह भृगुत्व व तीन अवस्थाओं में परिणत होजाता है जोकि तीनों भागवी अवस्थाए ही क्रमश-आप-जायु सोम इन नामों से प्रसिद्ध हुई है जसाकि वायु राप चन्मा (साम) इयेते भृगव (गो ब्रा पू २।८६।) इयादि वचन स स्पष्ट है । ये तीनों ही भार्गवत्व व वरुण अपत व के प्रकृतिसिद्ध त्रिवृत्करण से * या मक या मक बने हुए हैं मन प्राणवान्मय आमा के त्रिवृद्भाव की भांति । जिस का तापर्य यी निकलता है कि घनावस्थापन्न भागव अपत्व भी आप वायु सोमा मक है । तरलावस्थापन्न भागव वायुत्व भी यामक है । एव विरलावस्थापन्न भागव सोम भी यामक है । इस यामकता के अनुबन्ध से ही तीनों सहचारी माने गए हैं । यामक भागव आप्यप्राण का ही नाम असुर है यामक भागव जाय-यप्राण का ही नाम गध्र है एव यामक भागव सौम्यप्राण का ही नाम पितर है । आसुर प्राणा मक वारुण भागव आप्यप्राण ही असुराणशील दिग्भावप्रव कि अप्सराप्राण की अभियक्ति का कारण बना हुआ है । वारुणभागव वायुप्राण का गध्रप्राण य तो प्रातिस्विकरूपेणैव स्पष्ट है । आय अ सराप्राण

* इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवति (छा उप ५।६।१।) ।

'यामकत्वात् भूयस्त्वात्' (वेदान्तसूत्र ३।१।२।) ।

का ही साङ्कितक नाम है—सुरा एव वाय य ग धवप्राण से सुराक्षत (अपरपक विशु आसुर वारुण आक्रमण स सुराक्षत) पितृप्राणमक भागवप्राण का ही नाम है—साम । और यी सुरा तथा सोम नामक उन वारुणतवा का साक्षततम स्वरूप िगुशन हे ।जन इन दोनो तवो के स्वरूप सम वय के लिए ही हम अनेजदजद मूला भृगुत्रयी समविता सृष्टिगारा का अत्र सस्मरण करना पडा है । पारमष्य भागव वारुण सुरा और सोम नामक तवो के आधार पर ही हम उन आगला तथा माय नामक दोनो सुप्रसिद्ध दोषो की स्वरूपमीमासा करनी है जिन दोना भयानक दोषो न ही सवथैव-तत्त्वसम्मत भी प्रकृतिसिद्ध भी नाद् अति स्पर जसे ।दव्यत गो से समवित भी नृत्य गीत वाद्यामक सङ्गात को आत्यतिकरूपेण कावालीकृत ही प्रमाणत कर रक्का है ।

इदमत्र अग्नेयम् । तम और योति नमक ।जन दो तवो का प्रवम सस्मरण हुआ था (देखए पृ स १२५३) तत्र य भी स्पष्ट कर िया गया था कि वरुण ना नाम ही तम है एत का नाम ही योति है । यही सी दृष्टि त्रदु पर सुरा और सोमके सम्बध में भी किञ्चादव अवधेय है । तमोमय वरुण से जहा सुरा का सम्बध माना जायगा वहाँ योतिमय इत् से सोम का सम्बध माना जायगा । अतएव सुरा जहा ऋषी कहलाइ है वहा सोम इत्प्रय तत्र माना गया है । दनदिनीय भोजनकम्म स अनुप्राणत अत्र के उदाहरण से ही प्रथम भौतिकी दृष्टि से ही हमे सुरा और सोम इन दोनो तवो का स्वरूप पारचय प्राप्त कर लेना चाहिए ।

यत् गोधूम चणक वज्र माष मुद्ग तदुल्ल—(गो गहू चना बाजरा उद मूग चावल) आ अत्रो की उपत्ति पञ्चाग्निपिद्या के अनुसार पानी स ही द्रव है । दि य—सौर लोक के दिव्य तजोमय—सावित्राग्नि में सथप्रथम खोमाग्नि श्रद्धा की आहुति होती है । तजोमय यह सावित्राग्नि अग्नि है स्नेहमयी श्रद्धा सोम है । इन गोनों के यजन से ही अग्नौ सोमाहुतियज्ञ के अनुसार यज्ञस्वरूपामक सोम नामक अपूर्वभाव अभिव्यक्त होता है उन दाना आरम्भो (उपदनों) के परस्परोपमदन से । दिव्याग्नि और श्रद्धा के यजनामक उपमदन का ही परिणाम सोम है और यही प्रथमाहुति स अनुप्राणत अत्रका प्रथम मौलिक स्वरूप है ।

।दव्यलोक के अत्र तर दूस । आतरिद्य—प्रायुलोक है । इस अतरिद्य लोक म नमुचि नामक—वर्षाविरोधी जलावरोधक आसुरप्राण क प्रचयडशत्रु) मरुत्त्वान् नामक वाययइद्र स समन्वित पज य * नामक वाय यागि परव्या न है । इस आतरिद्य पज यागि में सोम की आहुति होती है । इस दूसरे अग्नि—सोम यजन स जो अग्रिम अपूर्वभाव उपन्न होता है उसे ही वर्षा (वृष्टिजल) कहा गया है ।

वायय अतरिद्यलोक के अत्र तर आग्नेय प्रथिथीलोक का स्थान आता होता है । इस पार्थिव गायत्राग्नि में वर्षा रूप सोमान की आहुति होता है । इसी आहुति से गायत्राग्नि एव वर्षाजल दोनो

* पजय का ही उत्तररूप पुराणात है जिसे हमारे प्रा तम पुरवाईहवा कहा जाता है । इसके प्रवाह से ही वृष्टि हुआ करती है । से ही प्रतीयभाषा में स भवत मासून कहा गया हो । ।

के यजना मन्त्र सम्मिश्रण स पार्थिव धरातल पर जो अप्रवभाव उ पन्न होता है वनी सुप्रसिद्ध—यवगोधूमादि अन्न नाम से प्रसिद्ध है ।

आग चल कर पार्थिव अग्नि के प्रवयभूत पुरुष के शारीरिक वशानर अग्नि में अन्नामक सोम की आहुत होती है । पुरुषाग्नि में आहुत अन्न सोम का यह अग्नि उसीप्रकार विशकलन क दता है जसकि प्रज्वलित काष्ठाग्नि में हुत—समाहित—काष्ठादि द्रव्य तेजोमय अतएव विकासधर्मा अग्नि से विशकलित होजाया करते है । सञ्चितभाव को घनता को विनीर्ण करदना ही अग्नि का प्रसुग क म है । इसी विशकलन स पुरुषाग्नि (वशवानराग्नि) में हुत अन्न विशकलित होजाता है ।

अन में पूव आहुतक्रम तारतम्य से—परम्परया सार अग्नि श्रद्धा आतरिच्य पज्ज याग्नि सोम पार्थिव अग्नि र्षाजल पार्थिव मलीमस भूतभाग आदि आदि रसा मक एव मलामक अनेक तव समवित रहत है । शारीरिक अग्नि का पिला काम है—अपन मे आहुत गहीत रस मलामक—इस अन्न के रसभागो तथा मलभागों को विशकलित कर दना । अग्नि के द्वारा विशकलित होने वाल इही रस मल भागो के क्रमिक विशकलन से शुक्त अन्न की रस असूक् मास मद अस्थि मज्जा शुक्र ये सात अवस्थाए होजाती है जिन में उत्तर उत्तर की अवस्थाए पूव पूव अवस्थाओं की अपेक्षा जहा मल है वहा पूर्वावस्थाए उत्तरावस्थाओं की अपेक्षा—रस है । इन सप्तावध—रस—मलामक—शारीरिक धातुओं में इसी अन्न का सातवा अन्तिम धातु शुक्रामक रेत है । अतएव अति ने पुरुषाग्नि में आहुत अन्नामक सोम के परिणाम का नाम रेत (शुक्र) ही मान लिया है ।

और आगे चलिए । योषाप्राणामिका स्त्री के प्रजनन शक्तिमय आत्त (शोणित र्धिर) में धामच्छदा भूतसृष्टि का मूलप्रवक्तक वह अत्रिप्राण प्रतिष्ठित है जिस के मलामक धाम छद—भूतानु शय की अभियक्ति प्रतिमास अमुक दिवसो में होती रहती है । वही स्त्री की ऋतुकालानस्था कहलाइ है इसी अलावधि में यह ऋतुमती स्त्री आत्रयीयोषित् कहलाइ है । सबथव का वालीकृत अतएव निरतिशय मलीमस कि तु अपने धामच्छद भौतिक धम्म से प्रजननशक्ति से समवित रक्तमिश्रित यह अत्रिप्राण सबथव दियप्राण का विरोधी बना रहता है जो भतस्पश (शरीरस्पश) मा यममात्र स स्पशकर्ता के दियप्राण को मर्च्छित करने की क्षमता रखता है । इसी अत्रित व के आधार पर आत्रयी ऋतुमती स्त्री अस्पृश्य पृषाप्राणा मक अ यजादिवत् अमुक अवधि पय्यत अस्पृश्या ही मान ली गई है* ।

*—काक श्वानादि प्राणी अयज—अयावसायी मानव ऋतुमती स्त्री आदि से सबध रखने वाली अस्पृश्यता का एकमात्र आधार माङ्गलिक व मलीमस—प्राणी है जिन के आधार पर ही अमुक परिगणित जड—चेतन पदार्थ शास्त्र में अस्पृश्य मान लिए गए हैं । तवमला स अस्पृश्यता को भले ही प्राणदृष्ट्या आज का भूतविज्ञानवादी समवित न कर सके । किंतु भूतमूला—कीटाणु—सक्रमणजनिता प्रचण्ड अस्पृश्यता तो उसकी दृष्टि में भी पदे पदे न केवल माया ही अपितु आराया ही बनी हुई है । यत्किञ्चित् स भौतिक मल से आज के भूतवादी की भकुटी तन जाती है और गद्गी—गद्गी के चीकार से वह इस अस्पृश्यता का घटाघोष करने लग पडता है जबकि आयतिकरूपेण भूतास्पृश्यवादी यही भूतवैज्ञानिक आज भारतीय शास्त्र की प्राणमूला अतएव रूप—रस—गंध—स्पश शूया अतएव इन्द्रियातीता सुसद्धा

आत्रेयी योषत् (स्त्री) के आत्त व में अग्नितत्त्वं हा प्रमान माना गया है नस कि पुरुष के शुक्र मे-साम प्रवान माना गया है । पुरुष का वह सोमा मक रतेरूप शक्र ऋतुस्नाता स्त्री के शोणिता ग्न मे आहुत होता है । इसी आहुत म शुक्रस्थित पुम्भ्रूण तथा शोणितस्थित स्त्रीभ्रूण के अन्न अनादा मक पारस्परिक सत्रष से ही प्रजोपत्ति हुआ करती है । सप्रकर श्रद्धा व आप सन्नमते श्रद्धा वा आप यदि श्रितियों के अनुसार आपोमयी श्रद्धा किवा श्रद्धामिका आप ही पवकमानुसार आत्रेयी योषत् के शाणित म गर्भीमत होकर- प्रजा -स्वरूप म परिणत होता है । स्वलोकांनुगत सोरसाग्नित्राग्नि अ तारत्त्वलोकांनुगत गाय य-पञ्ज याग्नि पृथ्वीलोकांनुगत पार्थिव गायत्राग्नि अ या मलोकांनुगत पुरुषशरीरस्थ वैश्वान राग्नि एव स्त्री-शोणितस्थ आत्त वाग्नि इन पाच अग्नियों म क्रमशः ऋद्धामक साम सोमामक साम वर्षा मक सोम अन्नामक साम एव शुक्रामक साम इन पाच सोमद्रयो की आहुति स नी पाचवी आहुति में पुरुष नाम का प्रजावग अभियुक्त हुआ है जिस त्स पञ्चामिना अभियुक्ति का ही- इति तु पञ्चम्यामाहुताग्राप पुरुषत्रचसा भग्रात इयाद-छा दा योपनिषत् का सुप्रासदा-पञ्चा निविद्या से स्थष्टीकरण हुआ है जसकि इन नालखित तालिका स स्पष्ट है ।

१-द्युलोक — — — सावित्राग्नि — श्रद्धा—सोम (प्रथमाहुति) ।

२-अ तरिचलाक — —-पञ्ज याग्नि - सोम —साम (द्वितीयाहुति) ।

३-मलोक — — —-गायत्रा ग्न —वृष्टि —सोम (तृतीयाहुति) ।

४-अ या मलोक (पुरुष) वश्वानराग्नि अन्न —सोम (चतुथा आहुति) ।

५-योषिनोक (स्त्री)—आत्त वाग्नि —शुक्र सोम (पञ्चमी आहुति) * ।

त तामिका-प्रकृतासदा-अस्पृश्यता के नामश्रयणमात्र से भी अपने कापनिक मानवतावाद का सवनाश उदघोषित करने लग पडता है । तवमला अस्पृश्यता रही है रहेगी जिस का कापनिक मानवतावाद स त्रिकाल में भी उच्छेद सभव नहीं है । हा जो इस तवमूला अस्पृश्यता के उच्छेद में प्रवृत्त हैं उन का प्राणनिबन्धन-सवानुबन्धी-स्वरूप अवश्य ही कालान्तर म उमी प्रकार उच्छिन्न होजाया करता है जसे कि भौतकी कीटाणुजनित-साम्रामिकी अस्पृश्यता की उपेक्षा करने वाला स्वयमेव कालान्तर में रोगाक्रांत बनता हुआ सम्मानपवक कीनाशनिकतन का अतिथि बन जाया करता है । इसी सम्बन्ध में यह भी अविस्मरणीय है कि शास्त्र की तवमूला अस्पृश्यता जब रूदिवाद-ग्रहप्रस्त बन कर घृणामूला बन जाती है किवा धम्म का दम्भ करने वाले म वजियों के द्वारा स्वाथ साधन के लिए बलपवक घृणामूला बनादी जाती है तो उस अवस्था में यही अस्पृश्यता सामाजिक प्रचण्ड द्वेष का ही कारण बन जाया करती है जिस इथभूता अशास्त्रीया-कापनिकी-वोरवोरतमा-घृणामूला अस्पृश्यता ने ही आज भारतीय समाज को विद्वेष की प्रचण्डानि में ही आहुत कर दिया है ।

*-विशेष विस्तार के लिए देखिए ! त्वा दोग्योपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य का तत्प्रकरण [५ अयाय के ४ ५ ६ ७ ८ ९-खण्ड] ।

उक्त पञ्चा। नविद्या—स ढम स प्रकृत में हमें तीसरे पार्थिव अग्नि और वृष्टिजल नामक द्रव की ओर ही पाठको का यान आकर्षित करना है। पार्थिव अग्नि और वृष्टिजल दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से ही सुप्रासिद्ध अन्न उपन्न हुआ है। जन्म में पार्थिव अग्नि के साथ साथ पृथिवी के मूलभूत—का वालीकृत—धाम छुद मलीमस मन्त्रिप्राण का एव तदनु गी पङ्का। विविध मलभागों का भी समावेश रहता है जिन में सब मलीमस भागों की आश्रयभूमि यह पार्थिव अणु तत्र ही है जिसे परुण के सब ध में आसुर भाग भी कहा जा सकता है। एक ओर याद अन्न में परम्परागत सौर—दिव्य—सावत्रा। नभाण द्रवाण सौम्यप्रा। आदि आदि विद्यभाव समाविष्ट है तो दूसरी ओर इसी अन्न में तथाकथित आसुर वाण—मलीमसभाव भी अनिवायरूपेण समाहित है। और यो यह अन्न दिव्यभावानुबन्ध से रसामक एव आसुरभावानुबन्ध से मलामक उभयामक ही प्रमाणित हो रहा है जसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

अन्न में रन्ने वाले यच्चयावत् आसुर भावों को हम जहां वरुणानुगत—सुराभाव कर्णों वहाँ यच्चयावत् दिव्य—भागों को रानुगत सोमभाव कर्णों। त्सप्रकार प्रत्येक अन्न में—वरुणानुबन्धी—मलामक—आसुर दाषभाग तथा इ। अनुबन्धी—रसामक त्रिभ्य—गुण भाग दोनों की स्वरूपसत्ता सिद्ध होजायगी। ये ही दोनों प्रतिद्वन्द्वी भाव दैवीसम्पत्ति एव आसुरीसत्ति नाम से प्रसिद्ध होंगे। दैवीसम्पत्ति को—गुण कहा जायगा एव आसुरीसत्ति को दाष कहा जायगा। अतएव गुणात्मक रसभाव से अनुप्राणित—ऐत—समभाग का अन्न का गुण माना जायगा एव दोषामक—मलभाव से अनुप्राणित—वारुण सुराभाग को दोष कहा जायगा और सी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर गुणदाषमय सब सृष्टि सृजति कातुकी इस सृष्टि का समन्वय स भव बन सकेगा। सर्वांत च वारुण आसुर मलामक—सुराभाव को ही आवरणनिवृत्ति के कारण तम कहा जायगा एव ऐत—य रसामक—सोमभाव को ही आवरणनिवृत्ति के कारण—योत क। जायगा और पूर्वातज्ञात तमसो मा योतिगमय इस श्रौत उदघोष का यी प्राणविज्ञानम मत सन्निधन सम ग्रय होगा जिसे आवरणना क ही अन्न हमें प्रकृत आग्ना तथा माय नामक दोनों सुप्रसिद्ध उन भयानक दोषों का समरणभाग ही कर लेना है जिन उन सुप्रसिद्ध भयानक दोषों ने ही नाद श्रति स्वरामक अत्यन्त कणप्रिय मनोविनोदामक सङ्गीत जैसे अशौकिक तथ्य को भी का वालीकृत प्रमाणित कर दिया है। तदेव श्रयताम्। श्रु वा चायनवा व्यताम्।।

वरुणपुत्र भृगु का आसुर तम प्रधान—वारुणभाग ही सुरा है एव वारुणि भृगु का त्रिभ्य योति प्रधान ऐतभाग ही सोम है। वारुण सुराभाग एव ऐत सोम भाग दोनों क्रमशः मलामक एव रसामक है यह तं कष उक्त सटम से मलीमाति समावत होजाता है। वारुणि होने से (भागव होने से) सुरा भी मादकता से समावत है तो सोम भी मादकता से अनुप्राणित है। एक मलामिका मादकता है तो दूसरी रसामिका मादकता है। प्रत्येक अन्न में मलामक सुराप्राण भी रहता है एव रसामक सोमप्राण भी। अतएव प्रत्येक अन्न शारीरिक—अग्नि में आहुत होकर प्राथमिक—परिणामरूप से मादकता ही अभिचक्र करता है जिस के सम्बन्ध में वत्तमान—भूतविज्ञान की ऐसी मान्यता सुनी गई है कि भोजनद्रव्य के आमाशय में पहुँचते ही सम्पूर्ण रक्तप्रवाह आमाशय की ओर ही अनुगत

होजाता है फलतः (शारीरिक रक्त प्रवाह के एकतोऽनुगामी बन जान स ही) भोजन नंतर तन्ना ग्रान नगती है जा मिश्रामात्मका शया की अनुगति स अगे जाक निम्ना के रूप म पारणत नोजाया करी है । इस भूतदृष्टि स हमारा बह विराध नही ह । हम ता उस प्राण-गण की ओर हा पाठनी का यान आकर्षित करना चाहत हैं जो स्वय सुरा ओर साम नामक दो मा क भावो स समागत होकर अन्न की मूलप्रतिष्ठा बनी हुड है । तन्ना किना नि । इसी अन्न की मादकता का परिणाम है । अतएव लोक यवहार म अन्न को मादक ही माना गया है ।

आयवारुण-सामाग अपन स ज-मलभाव स एकप्रकार का नैसा विष है जिसस जीवनीय शक्ति का हास किवा अभिभव ही स भावित है । जबकि सौम्य ऐद्र सोमभाग अपने सहज शिवतम रसामक-रसभाग स एकप्रकार का बसा अमृत ही है जिस से जीवनीय शाक्त का सपद्धन किवा आभयक्ति नाशचत है । अयामरचना के रचायता शिपी प्रजापातने मानव के प्रतिरूपामक-शरीरशिप म कण्ठप्रदेश में एक बसा यत्र लगा दिया है जिस के द्वारा मुक्तान्न का सुामक विषभाग नियात्रत होकर रस मल के प्राथमिक विशकलनामक-श्लिषण से अन्नगत अमृतभाग (सोमभाग) स पृथक होकर परावर्तित ही होजाता है । यन्स गलयत्र के अनुग्रह स मानव का जीवनाय प्राण अन्न के विषभाग से सुराभाग से अधिकाश में अपना परित्राण ही कर लेता है जबकि अनुशयरूप से तो विष का अश भी गलाध करणानुकूलयापा का अनुगामी बन ही जाता है और यही शरीरप्रविष्ट विषामक सुराभाग जम्मा (जभाइ-अगडाइ)—तद्रा-आलस्य—) आदिरूप स अभियक्त होता है । एक यक्ति के जभाई लेने का अर्थ है—विषप्राण का मुक्त होकर पुन बाहिर निकलना । इस साक्रामिक विषप्राण-से सभीपस्थ अय यक्तियो का भी विषप्राण सङ्गाक्षण स जागरूक होपडता है जिस जागृति क निरोध के लिए ही जभाइ करने वाले के लिए शास्त्र ने अङ्गलिग्नि का आदश दिया है जिस वान के तात्त्विक स्वरूप के विशेषण का अत्र अवसर नहीं है * । मलामक-सुरारूप विष रसामक सोमरूप अमृत जीवनिविधातरु तथा जीवनसरत्तक इन दोना का विभाजक कण्ठमध्यस्थ वही माङ्गलिक यत्र- प्राशि-त्रिषि नाम स ही वद के ब्राह्मणभाग म प्रसिद्ध हुआ है । अन्नथित इही विष अमृत मय सरा-सोमामक तपो-ज्योति मय दोष गुणावित द्विविरोधभावों का लक्ष्य बनाकर हा ऋषिने अन्न को सुरा भी कहा है एव सोम नाम से भी यह अन्न यवहृत हुआ है । देखिए ।

१— अमृत, पाप्मा, तम, सुरा ' (शत ५।१।२।१ ।) ।

— अभिमाद्यन्निव हि सुरा पीत्वा वदति' (शत १।६।३।४।)

३— 'तस्मात् सुरा पीत्वा राद्रमना' (शत १२।७।३।२ ।) ।

१ २ ३ १ २ ३
* छिक्का—पतन जम्मासु—जीवो—त्तिष्ठा—ङ्गलिग्नि ।
गुस्त्रापि प्रकत्त या अकृत्वा ब्रह्महा भवेत् ।

—स्मृति

- ४— यदनस्य शमलमासीत्—सा सुरा अभवत्” (तै ब्रा १।३।२।६।) ।
 ५— ‘स्किगीभ्यामेवाम्य भामोऽस्रवत् । सा सुराभवत् अन्नस्य रस ”
 (शत० १२।६।१।७।) ।
 ६—“अपा च वाऽएष ओषधीनाच रस य सुरा’ (शत १ ।८।१।४।) ।
 ७— ‘अन्न सुरा’ (तै ब्रा १।३।३।५।) ।
 ८—“प्रजायतेर्वा एत अ धमी यत्सोमश्च सुरा च’ (शत ५।१।१।१।) ।
 ९—‘ मत्य वै श्रीज्याति सोम ’ (शत ५।१।२।१०।) ।
 १—‘ एष ऽ सोमो राजा अन्नाद्यम् ’ (का ब्रा ६।६।) ।
 ११—‘एतद्वै देव ना परम अन्न यत्सोम ’ (त ब्रा १।३।३।२।) ।
 १२—‘एतद्वै परममन्नाद्य, यत्सोम ’ (का ब्रा २।३।७।) ।
 १३ अन्न ऽ सोम (शत ३।६।१।८।) ।
 १४—‘ प्राण सोम ” (शत० ७।१।१।२२।) ।
 १५— आप सोम सुत ” (शत० ७।१।१।२२।) ।
 १६— ‘सोम्या ओषधय ’ (शत १२।१।१।२।) ।

सुरा और सोम इनदोनो निरुद्ध प्राणो से कृतमूर्ति अन्न की अहुति ही मानव के उस वैश्वानरान को प्रदीप्त उद्दीप्त प्रज्वलित रखती है जिस वैश्वानरान्नि को ही हमन पूव में नाद श्रुति स्वर नामक तीन सङ्गीत

— सुरा ते मलमन्नाना, पाप्मा च मलमुचते ।

तस्मात् ब्राह्मण राजया, शैश्यश्च न सुरा पिबेत् ॥

—मनु

जातभ्रशकर मलिनीकरण सकरीकरण भेद से मादकद्रयो का शास्त्र ने त्रिधा वर्गीकरण किया है । वे ही तीनों विभाग क्रमशः सुरा—सीधु आसव इन नामो से प्रसिद्ध हैं । ब्राह्मणो मदिरा पीत्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते के अनुसार सुरा वण की ही उल्लेख है । भग—चरस—गांजा अमल सुलफा कोकीन पोस्त अकपर्ण आदि मादकद्रय मलिनीकरण हैं एव अर्दा तम्बाकू सिगरेट बीडी आदि मादकद्रव्य सङ्करीकरण हैं । तीनों ही मादकवर्गा में न्यूनाधिकरूपेण जीवनीय रस को न ट अभिभूत करनेवाला विष रहता है । तीनों में सबतोऽधिक भयावहा सुरा की शैशी-गौडी-माध्वी ये तीन प्रमुख जातिया मानी गई हैं जिनके प्रयेक के अवातर भेदोपभेद सुराप्रकरणा में उपब हित हैं ।

प्रातः ठाँवों का प्रयत्न करके लाया है। यहाँ भी वृद्धों पर यह भी समझ कर लेना चाहें कि सङ्गीत का शब्दात्मक यज्ञनात्मक पारिवर्तित्व अनुष्ठानमयभावपक्षक चतुर्पादरूपान्तनाभूतभाग है (सङ्गीत के शब्दात्मक बोध है) वह भूतभागता वशानुरागनमन्त्रयामसवधसप्राताः ठतः अन्नके मलात्मकतमोमयमय-सुराभागसे अनुप्राणित है एवं श्रयनुगत रूप जो उरभाग (मयमयप्रतानभाग) है वह वशवानरागनमें प्रतिष्ठित अन्नके रसात्मक योतिमय अमृत रसात्मक सोमभागसे अनुप्राणित है। सायप्रमाण की स्वररूपमें परिणत हुआ है एवं अन्नका भूतभाग ही स्वरानुगत यज्ञनाके रूपमें परिणत हुआ है। यासुरासङ्गीतक शब्दात्मक यज्ञनाका तथा सोमसङ्गीतकतानात्मक स्वरकी प्रतिष्ठा बन हुआ है—अनपरस्परया यद्वा वक्तव्यनिष्पन्न है। सोमरसात्मक स्वरत्वके सीतयको लक्ष्य बनाकर श्रुतिने कहा है—

स यदाह स्वरोऽसाति—सोम वा एतदाह । एष ह व सोम-सूर्यो भू वा अमु-
ष्मिन्ल्लोके स्मरात् । तत् यत् स्मरति तस्मात् स्मर । तत् स्वरम् स्मरवम् ।

—गोपथब्राह्मण पू ५।१४।

गोपथश्रुतिने कहा है कि—सा जानकर निसे स्मर कहा है वह इस-सोम को ही कहा है। अर्थात् सोमके अभिप्रायसे ही (इसप्रकरणमें) स्वर शब्द प्रयुक्त हुआ है। निश्चयन यह सोम ही सूर्यरूपमें परिणत होकर स्वरमाण है। क्योंकि सोम हा सूर्यरूपमें परिणत होकर स्वरभाजसे समन्वित हो रहा है। अतएव सोमका स्मर कहा गया है।

क्या ताप्य १। तापय स्पष्ट है। बतलाया गया है कि सोम उस परमेष्ठीलोककी नी वस्तु है जिस पारमेष्ठ्य-वारुण-भृग्वङ्गिरामय-आपोलोकके गमनाप्राप्ति भी सूर्य एक बुदबुदसे अधिक अपनी कीर्तिक्षमतानी रखता। पारमेष्ठ्य वह सोम जहाँ ग्राह्य है वहाँ सौ सावित्राग्नि दाहक है। स्वस्वरूपेण सोम भी कृष्ण (नीरूप) है एवं आकृष्णानरजसावत्तमानके अनुसार स्वयं सूर्य किंवा तद्रूप सावित्राग्नि भी कृष्ण (यातर्विहीन) ही है। इस दाहक कृष्णाग्निमें उस दाह्य कृष्ण सोमकी नरतर आहुति हो रही है इसीसे सूर्य-अग्निहोत्ररूपमें परिणत हो रहा है—(सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्)। दाह्य सोम दाहक सौर अग्निमें आहुत होकर प्रज्वलित होपडा है और यही सौर प्रकाशमकर-रश्मिमय वह साममण्डल है जिस हमने पूर्वमें स्वरसाम कहा है। पिण्डकी मण्डलरूपमें परिणति ही पिण्डकी स्वररूपता है। क्योंकि साम ही प्रकाशमण्डलात्मक स्वररूपतामें परिणत हुआ है। अतएव सोमके लिए ही यह कहा जाता है कि हे सोम! आपने ही यातिरूपसे विश्वाधकारको फाड़ दिया है जैसाकि नमन लिखित मंत्रवर्णनसे स्पष्ट प्रमाणित है—

त्वमिमा ओषधी सोम ! विश्वास्त्वमपोऽजनयस्त्व गा ।
त्वमा तत थोव तरिच्च—त्व ज्योतिषा वि तमो ववथ ॥

—ऋक्स १।६१।२२।

ऐसी है यह सुरा और ऐमा है यह सोम जो यो—मलात्मिका दोषपूर्णा मानकता तथा रसा मिह्ना गुणपूर्णा मादकता स समवित होर हैं। सुरा के मला मक दोष की तथा सोम के रसामक गुण की भूतदृष्ट्या—मृत प्राणी एव जीवित प्राणी के भौतिक-शरीरो से तुलना की जासकती है। कथमिति चत् ? अ यताम् !। जब मानव का भूतामा शतायुभाग—कालान तर स भौतिक-शरीर का परि याग कर दता है ता मानवशरीर—शत्रु रूप मे परिणत होजाता है। भूतामो क्राति के साथ ही शारीरिक भूतो के मलभागो क निरंतर विशोधन करते रहने वाला अतएव पत्रमान नाम से प्रसिद्ध जीवनिय रसा मक—पारमेष्ठ्य अमृत सोमप्राण भी उ क्रात होजाता है। स पवमान सोम के उ क्रात होते ही भौतिक शरीर का मला मक वारुण—आप्य सुराभाग अमप नरूप से पूणमाना से अभियक्त होपडता है। यही प्रचण्ड गध शत्रु—गध (दुग्ध) नाम से प्रसिद्ध है जो दुग्ध एक जीवित प्राणी के लिए क्षणमात्र के लिए भी सह्य नहीं हुआ करती। एकमात्र क्रयादानिदेय ही इस शवदोष को अवलीन करने की क्षमता रखत है। वश्वानरानिर्मुक्ति भूतामा से जन्तक भौतिक शरीर त त रहता है तभीतक यह पवित्र सोम शरीर में अतथ्यामि सम्बध स प्रतिष्ठित रहता है। वश्वानराग्नि की उक्रात के साथ ही यह सोम भी उ क्रात होजाता है। और यो उस अवस्था में तापशून्य अतएव अतन्त—स शवशरीर से अनिसह्यर्मा पवित्र सोम का भी कोई सम्बध नहीं रह जाता। यह वही पवित्र सोम तव है जिसका गाङ्ग यतोय में समावश हुआ है। अतएव पारमेष्ठ—पवित्र सोम और पार्थिव गाङ्ग यतोय दोनों अभिन्न मान लिए गए हैं। जबतक य पावन सोम मानवशरीर में प्रतिष्ठित र ता है तभीतक सुराजानत—मन्त्रीमस—भौतिक दुग्ध—क ट मलाद—दोष मानवशरीर को अभिभूत नहीं कर सकते। सोम के इसी पवित्रधम्म का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि ने कहा है—

पवित्र ते पितत ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत ।

अतप्तनूनतदामो अश्नुते शतास इदग्रह तस्तत् समाशत ॥

—ऋक्स ६।८३।१।

इश्वरीय—आधिदैविक प्राणा मक—सुसुद्ध विश्व में सुरामक तमोमय आ य आसुर—वारुणप्राण तथा सोमामक—ज्योतिम्मय—सौम्य—दिय—ऐन्द्रप्राण इन दोनों प्राणों का कसा और क्या स्वरूप है ? नका किस लोकपुर (परमेष्ठीपुर) से स बध है ? इ याद मौलिक प्रश्नो के समाधान सम वय के लिए ही सुरा और सोम श दो का आधिदैविक चिरन्ता इतिवृत्त पाठको के स मुल रक्या गया। अब इन दाना के आ यामिक (मानवीय) सस्थान की ओर ही सङ्गीतप्र मियो का यान आकर्षित कया जा रहा है जिसे थाड अवधानपूर्वक ही लक्ष्य बाने का अनुग्रह हाना चाहिए।

अध्या मसस्था में आमा बुद्धि मन शरीर नामक चार सुप्रसिद्ध पर्व हैं जिन इन चारो पर्वों में से बुद्धि—मन शरीर—इन तीन पर्वों के प्रगव (उपादक) प्रतिष्ठा (आधार) परायण (लयस्थान) प्रकृति जगत् के क्रमशः सृज्य च द्रमा भूपिण्ड ये तीन पर्व ही बने हुए हैं। सोरी बुद्धि चा द्र मन पार्थिव शरीर मानव के इन तीनों तन्त्रों में यदि बुद्धि का सर्वोपरि स्थित दिग्दशकालातीत आमा नाम के तुरीयपद के साथ स बध मान लिया जाता है तो उस दशा में मानव के चारो पर्व आमा बुद्धि एव

मन शरीर इन दो पृथक्-स्थानो मे विभक्त होनाते ह । साम और सुरा नामक प्राणो क सम-वय क लिए हम अ याम के मन और शरीर-नामक दोनो चान् पार्थिव पर्वो को ही लक्ष्य बना लेना है । मन चाद्र है चद्रमा मन ना जात - मनश्च ए लीयने के अनुसार । पाञ्चधातरु शरीर का पृथक्-व तो सबबोधगम्य है ही ।

एष वै सोमो राजा देवानामन्न यच्चन्मा के अनुसार मन का प्रभव चन्मा सामा मक है । अद्भ्य पृथिवी के अनुसार शरी का प्रभव भूपिण्ड अपने मोलिक उपा इन से आप प्रधान बनता हुआ वारुण-सुराप्राणामक है । यो चाद्रसोममय मन ए । पार्थिव सुरामय शरार ये दोना आ यामक पव ही आध्यात्मिक सोम और सुरात ए ह निह् आषद एक सोम और सुरा-प्राणो के प्रतीक नही आपतु साक्षात् प्रतिरूप ही माना जायगा ।

सोमामक मन की शास्त्रने दो विभक्त अवस्थाए मानी ह । यन् ऐन्द्रियक विषयो म आसक्त मन द्वियप्रशवर्त्तो बनता हुआ फलकामुक ही प्रमाणित होजाता है तो नस अवस्था किवा दुरवस्था म यह सौम्य मन सौरीबुद्धि के स वजुणामक- द्र के अनुग्रह से (योति के अनुग्रह स) वाञ्छत होता हुआ स्व-योनि स्वरूप से उसीप्रकार आमभूत होजाता है जमेकि कृष्णपक्षीय चद्रमा सार चन्द्र-योति से वञ्चित होता हुआ कृष्णरूप म पारणत होजाता है । * तमोमय वारुण-सुरामक-भौतिक-ऐन्द्रियक विषयाम आसक्त ऐसा ही मन-भूता मा क ब-वन का कारण माना गया है ।

ठीक नसके विपरीत यदि यी सौ य मन सौरी बुद्धि के द्रप्राण से समवित रहता हुआ (बुद्धियोग नि ठ बनता हुआ) बुद्धि के तेजोमय असङ्गमम स अनुप्राणत होकर विषयो का अनुगमन करता हुआ भी असङ्ग बना रहता है तो ऐसा मन उमी प्रकार योति मय है जसे कि शुक्लपक्षीय चन्द्रमा सौर-योतिरिद्र के प्रतिफलन से योतिमय बना रहता है । ऐसा असङ्ग योति मय-बुद्धियोगावत-स-मन ही भूतामा के ब धनविमोक्त का प्रवर्ण माना गया है- । यो-सौरीबुद्धि से युक्त सत्तमन एव सौरीबुद्धि से वियुक्त

* चद्रमा का चद्रिकारूप प्रकाश (यो गा) सौर योतिमय-रश्मियों का प्रतिफलन-मात्र ही है । बिना सौर- द्रप्रकाश के चद्रमा अपने प्रातिस्विकरूप ने घोर कृष्ण ही है जसाकि- चद्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण (शत ब्रा) इत्यादि से स्पष्ट है । प्रतिफलनामक इमी सौर-योतिभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा कि —

अत्राह गोरम वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।

इत्था चद्रमसो गृहे ॥

—ऋक्स १।८५।१५।

— न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परतप । ।

मन एव मनुष्याणा कारण बध-मोक्षयो ॥

—प्राचीनसूक्ति

तमोमन भेद से एक ही मन की दो विभिन्न अवस्थाएँ होजाती हैं जिन न दोनो म से स मन का तो बुद्ध क क्षेत्र मी अतर्मात्र मान लिया जाता है । फलत मनस्वन मन तमोरूपेणव शेष रह जाता है जाक इ द्रयो के मायम स शरीरासक्त बनता हुआ तम स हा अभिमूल रहता है । ऐसा सौ य मन ही विषयासात्करूप प्रचण्डतमोरूप— आग्ररण स सदा ही आवृत रहता है । और सौ य मन के सी आवरणदोष का नाम है पूर्वप्रातजात— मा य नामक भयानक दोष ।

बुद्ध का सहज गुण माना गया है— धृति जिस गुण के कारण ही बुद्धिरूप उक्त की रश्मिरूप वृत्तया त्रिय नाम से प्राप्त जसाक—यियो यो न प्रचोदयात् से स्पष्ट है । स्थिरता ही धृति का स्वरूप—परिचय है जिस न्स वान्की निरतिशया स्थिरता के अनुबन्ध स ही वह बौद्धिक—धतिधम्म—नितरा स्थिति रूप स— निष्ठा नाम से प्रसिद्ध हुआ है । यज्ञसायामिका धतिगुणसमवित्ता अतएव नाश्चत—ननणमा मका ऐसी नि ठाबुद्धि से समन्वित त्रिवक्रशोल सा एक मानव ही नैष्ठिक क नाया है । निष्ठया हि प्रतिष्ठा स्यात् के अनुसार बौद्धिक निष्ठा ही मानव की प्रातठा का प्रमुख आधार है । बुद्धका प्रभव सूय्य— म ये एकल एज स्थाता—बृहद्व—त था—मुजनेष्य त सूय्या बृहतीम यूढस्तपति यदि के अनुसार सौरस गसर मण्णल के मयवर्ता बृ तीछ द नामक विष्वद—वृत्त के केद्र मे मवथा स्थिररूप स ही प्रतिष्ठित है जिस इस स्थिर—सूय्य के चारो ओर क्रातिवृत्त के आधार प तो भूपिण्ण परिक्रमा लगा रहा है एव अपने दक्षवृत्त के आार चद्रमा भूपिण्ड के चारो ओर पारभ्रममाण है । सूय्य क्योकि स्थितिभावापन्न है अतएव त प्रसूता बुद्ध भी अपने पातिस्वक धर्म्म स स्थिरधम्म की ही प्रयोजिका बनी हुई है । बुद्धि का यह स्थिरध म ही—निष्ठा कहलाया है ।

इधर चाद्र मन नक्षत्राधिपति चद्रमा के प्रातक्षण विलक्षण त्रिचक्षण पारवर्त्तित होने से उक्त नि ठारूप—स्थिरध म स प्रकृतय वञ्चित है । अतएव निष्ठाशून्य अतएव च नितात भावुक इस चञ्चल * मन को धतिशून्य ही क । गया है । इस चाञ्चय का ही नाम है— माल य जिसके अनुग्रह स मानव सभी क्षेत्रो मे क्षणे तुष्टा क्षणे रुष्टा को ही चरिताथ करता रहता है ।

जिस व्यक्ति का मन दुर्भाग्यवश स्थिरधम्म प्रयोजिक— यज्ञसायामिका—नि ठाबुद्धि के नियंत्रण से पृथक होजाता है मनोवशात्ता वह मानव अपने मानस भावो को उसी प्रकार अस्त यस्तरूप से अनगल—रूप से विभिन्न शारीरिक—हस्त—पाद—मुख—नेत्रा—मुद्राओ स अभि यक्त करता रहता है जो भावभङ्गिमाए शिष्टजन्म प्रदाय म लानिकर ही मानी गइ है । बात बात पर प्रचण्ड अटटारटहास [फूहडपने से मुख—विवार को विदीर्ण कर हा हा ही—ही ओ—हो हो—इत्यादिरूप स प्रचण्डहास] करत रहना कराघा करत रहना [ताली बजात रहना चुटुकी बजात रहना] पाणाघात [पर पटक पटक कर वमाधम करते—फट—फट—करत चलना अथवा तो पर रगड रगड कर घिसते हुए चलना] मुखवाद्य [सीटी बजाना मुख से चप चप

❁—चञ्चल हि मन कृष्ण ! प्रमाथिवलवद्दहम् ।

तस्याह निग्रह भ य वायोरपि सुदुष्करम् ॥

—गाता ।

पटप-भम्-भम् ना मा-अद अन्नक प्रका की वा ा करत ना प्रनु म पिान प्रमार की भावभात्या आभ यक्त करत र ना मन प्राान ना गन के तत प्राप्य प्रका के तार हा नाव वा भूषा वयान-च र मट्ट आ प्रणभागा ा गमन करत र ना ग्राद आ नातुफ पृा मभी धामङ्ग धतिगुणावरावी नि टापा गा भी यात्राधी ान्न भयानक मानसमोप स ग्रामयक्त तत त है उसी मानसदाय का नाम है मात्या जिसका प्रबो तालका म शय नारीवग म एा आशाक्षत यथा जात प्राकृत-मानवो म रुक्षान्मा क्रिया जासकता है ।

मन सामामक है अतएव स मानस मात्या दाप का हम सामानुज धा टाप ही कर्त्तव्य । एव अत्र एक प्रासङ्गिक-वशेष तथ्य की आर पाठको का यान आकर्षित करदना चाह्य । पृथ म तम आर याति का स्वरूप-स प्रय करण हुए मने सोम को यातस्तत्त्व कहा ह ए सुरा को तमाभात्र तलाया है । एव तत्रव योत मय भोम का ऐद्रत व प्रमाणत क त हुए त्स प्रजापात की गुण-प्रभति तथा तमोमयी मरा को वारु त व तलात हुए से प्रजापत की दापप्रिमृनि कहा गया ह । सी साम-सुरा मर गुण-दोषो को गान मया ापीसम्पत्ति तथा तमोमयी आसुरी-सम्पात्त नामा से यवहृत करत हुए-गुण ापमय सब स्रण मृनति कांतुकी का उन्धोष ाक्या है [दोस्रण पृ स २६ -] । अत्र प्रकृत म मा य दोय नास्वरूपमामाका करत हुए हम भोमा मक मनस्तत्र का भयानकटाष स समन्वित प्रमाागत करने की चटा र रह चवाक प्रय म ासी सोम को ऐद्री-यात वमत बतलात हुए मन के स्वरूप-प्रति टा मक- सी सोम का हमने महान् गुण ही प्रमाणित ाक्या था । प्रवापरिरोधा मक यह कसा वदतो याघात ? ासी प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के अनराकरण के लिए हमें यहा त्स प्रमङ्ग का पुन स्मरण करना पड रहा है ।

जसा एक स्पष्ट क्रिया जाचुका है रसात्मक निवृत्तिप्रधान मन तथा तलात्मक प्रवृत्तिप्रधान मन के मे से एक ही मनके सात्त्विक मन तमामन मे स शुक्लचन्मा कृष्णच मा की भात दो स्वरूप हाजात हैं जो द्वावध मन अन्तर्मन वाह मन नामा से भी प्रासङ्ग ह एव जिन इन दोनों मनस्तत्रो के लिए ही गीता म क्रमश ममना उन्मना माव अभि यक्त हुए ह । चन्द्रमा के उपरि तारातल पर प्रच्छिता सौरी बुद्ध ही इन्द्रप्राणामका बनती हुई यात मयी ह । तत्र चाद्रमन का इस योतिम्मयी सारा बुद्धि से अत र्जामा मक ग्रथिब धन सब ध हाजाता ह तो वही मन सौर द्र से सर्मावत हाता हुआ यातर्मय बन ताता है । एव जत्र योति मयी-ऐद्री-बुद्ध के आ यन्तर अनुग्रहा मक याग से वञ्चित होता हुआ मन ऐद्रियक विषयो म आसक्त हाता हुआ भौतिक पार्थिव तम प्रवान-आय-वारुण आवरणात्मक-सस्कारा से आवृत होजाता है तो वही मन ऐद्र-योतर्भावानुग्रह से वञ्चित होता हुआ तमोभाव में ही परिणत होजाता ह । एा वषयासक्त तयोमय मन ही तथाकथत माल्व्य षोष की प्रसारभूमि मान लिया गया है । त्स स्थिति-वश्लषण क अन तर पूव में मनामय सोम को यो तम्मय-गुणभाव बतलाना एव यहा उसी सोमा मक मन को तमोमय-मा य-दोष-मय बतलाना निर्विरोध ही समचित होजाता है इतिनु सब सुस्थ प्रकृतस्थमव ।

बुद्धिनिबन्धना स्थिरतालक्षणा नि टा स अनुप्राणित-धृग्य ही मानव के पु षाथ-व म-निब वन पौरुष की मूलप्रति टा माना गया है । गर्धा-अ सरा-प्राण-निबन्धन-सौम्य-मन स अनुप्राणित वृ यणीत

वाद्या मक सङ्गीतान्श्चयन मा व के पौरुष-प्रवक्तक ध्यय को विकम्पित ही कर दता है । इस धतिवियुति का ही नाम ह—मा यन्तोष जो भूतजगत् में सुरा [मद्य शरा] से समतुलित है । ताताथ या करते रहने वाले पौरुषविहीन ष ढवग (हिजड गतराड-भाड-आाद) सुरा मक इसी मा यदोप स आपाद मस्तक समा लुत रहते ह । अतए आचारानष्टात्मक क्त यपथानुगमन त वचि तन मनन आदि आदि ध्ययभावानवधन नि ठापथ तद्वग के लए दूरत ही प्रण य वने रहत है जो कि ध तमलकानष्टापथ ही ब्राह्मण का वर्णानुवधी प्रसुर क्त व्य माना गया है । एकमात्र इमी अनुवध से श्रुति ने— तस्माद्ब्राह्मणो न गायत न नृयेत य आत्श प्रदान किया है । सप्रसिद्धा मैत्रायणी श्रुतने धातगुण विरोधी तथाकथित माल्यदोष का इन शदो में स्पष्टीकरण किया है—

अर्द्धं ह वै प्रजापतेरा मनो धैर्यमासीत्, अर्द्धं माल्यम् । यद्ध्यैय, तत्-
पुरस्तात् कुरुत । य मागं तत् पश्चात् पर्योहत । यद्द्वैर्गं—मौम स । ततो ब्राह्मण
मसृजत । तस्माद् ब्राह्मण सर्व एव ब्रह्माभिधीर । य मागं सुरा वै सा । ततो
राजयमसृजत । तस्मा यायाश्च कनायाश्च स्नुषा च श्वसुरश्च सुरा पी या त्रिलालपत
आसते । मा हि तत् । पाप्मा वै मा यम् । तस्मात् ब्राह्मण सुरा न पिबत् । पाप्मना-
आत्मान नेत् ससृजा—इति ।

—मैत्रायणीश्रुति

यह तो हुआ सोममय-मानासक माल्यदोष का स्वरूपेतिवृत्ति-समय । अत्र क्रमप्राप्त उस आग्ला नामक दूसरे मयानक ष की स्वरूप मीमासा भी कर लोजए जिसका वज्ञानिक महर्षियान मानव के भौतिक शरीर के साव प्रधान सवध माना है । जिसप्रकार मन का स्वरूप निर्माण भागव सोम से हुआ है एवमेव शरीर के निर्माण में प्रधान द्रय भागव वारुण-अपत्तत् ही बना हुआ है । मन-सोम्य है तो शरीर आप्य है क्योंकि मन का प्रभव चद्रमा सौ य है ता शरीर का प्रभव भूपिण्ड आप्य है । समुद्रमभित पि वमानम् * के अनुसा भूपण्ड रोदसीत्रलाक्य के सुप्रसिद्ध क्षरभावापन अतएव वारुण अतएव च अपेय — अण्ण समुद्र के ही गभ में प्रतिष्ठित है जिस अण्णसमुद्र में परमाणुरूप से यात पार्थिवपरमाणुओं का सुप्रसिद्ध—एमूषजराह नामक भूवायु से ही सवरण होता रहता है । इसी सवरण एव आप्तित व्याप्तिधम्म से पुञ्जीभूत होजाने वाले व ही पार्थिव परमाणु आगे चलकर भूपिण्ड रूप में परिणत होजाते हैं । यही वराहभगवान् के द्वारा समुद्र में

* अपा पृष्ठमसि योनिरग्ने समुद्रमभित पि वमानम् ।

वर्द्धमानो महो आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा पृथस्व ॥

—यजुस १३।२।

— तासामया अन्यतरा अतिलवणा-क्षारधम्माविता अपेया ता अशान्तरा -
आप-समुद्र वृत्त्वा- अतिष्ठन् । (गो ब्रा १।३।)-

इबती हुइ पृथिवी का समुत्तर ह जिस इस तय का ही संपासद्ध पुरापुराण पत्रस्तार से यशगान दशा है ।

सामुत्त आप म वायु के प्रवश से तथा आपनरूप तजसयोग स होने वाली क्रमिक घन्ता से ही आप फेन-मृत्-सिकता-शकरा-अशमा अय हिरण्य-इन ग्राठ पर्णों के तारतम्य स न आठों की आत्त साञ्चति स भाषण्ड का स्वरूप-निर्माण हुआ है । एव इथभूत आप्य वारुण-भूपण्ड स ही पाञ्चभौतिक-शरीर का निर्माण हुआ है । अतएव मन नहा चा कहलाता है वहा शरीर पार्थिव कहलता है । पूरुप्रातपादित सोमत्त का नहा प्रधानरूप स साम्य मन म सम्प व है वहा सुरात्त का इस पार्थिव-आप्य-शरार से ही प्रधान सम्प ध माना जायगा । मन को यन्ति सोम का प्रातरूप माना जायगा ता शरार का सुरा का हा प्रातरूप माना जायगा । आधिपतिक जगत मे यदि च मा सोम एत प्रथिजी सुरा (वारुणा आया) है तो अया मनगन् म मन सोम है और शरीर सुरा है । साम्यमन इद्र्या क द्वारा शारीरिक भागा का भोक्ता जना हुआ एकरूपर से शरार का भी भाक्ता बना हुआ है । भाक्ता की परिभाषा पुरुष हे एत भोग्य की परिभाषा स्त्री है । इसी सामाय अनुबध के अनुपान से साम्य भोक्ता मन को यन्ति-पुरुष कहा जासकता है ता आप्य-भाय-शरार को स्त्रा कहा जासकता है । मन क्यकि सोम का प्रतिरूप है अतएव स म का पुरुष कहा जासकता है । एतमव शरीर सुरा का प्रतिरूप है अत एत सुरा को स्त्री कहा जासकता है । इसीलि तो सुरा शरार क साथ ही लाक म सुदरी (स्त्री) शरार भी समन्वित हापडा है । सुरा का अर सुदरी (स्त्री) का साचाय सम्प व है इस समन्वय का यही निष्कष है- ' पुमान् वै सोम स्त्री सुरा' (तैत्तिरीय ब्राह्मण-१।३।१४।)

अहृदय अशरीर अतएव स्वप्रतिष्ठा स वाञ्छत अतएव च परप्रतिष्ठा-सापेक्ष और सीलिए भोग्यकोटि में समाप्ति तय का ही पारिभाषक नाम है- ऋतम् । ठीक इसके विपरीत सहृदय-शरीरी अतएव स्वप्रतिष्ठात्मक अतएव च भाक्तृका में समावष्ट तय का ही नाम है- सयम् । सत्य ऋतेऽधायि ऋत सत्यऽधायि इस अनुगमश्रति वे अनुसार दानो दोनो म अतप्रोत है यही ऋतसयामक सृष्टिमूलभूत-प्रकृतिसद्ध-दाम्पय है । मानव का आमा और बुद्ध नामक दोनो पव उक्त परिभाषानुसार सयम् है एव अहृदय-अशरीर-ऋतसाम तथा ऋत अपतत्त्व से समुदभूत मन और शरीर दोनो ऋतम् है । ऋतम् ही अपनी ऋतघनता से अनृतम् है जैसाक सदघनप्राण असत् कहला रहा है । ऋतामक सोम याद पूर्वकथनानुसार सय-सौर-बौद्धक द्र से समन्वित रहता है तो उस अवस्था में तो इस ऋत भी सोम की-सयस्वरूप में परिणत हाजाती है- सत्य वै श्रीज्योति सोम (शत ५।१।२।१ ।) । यदि इस ऋत मन का सौर बौद्धिक-सय के साथ योग न होकर शारीरिक-आप्य-भौतिक-वारुण-भोगों में ही विलयन है तो उस अवस्था म इस का सज सौम्य ऋतामक अचरुतभाव ही प्रधान बन जाता है । उस अवस्था में तो शारीरिक आप्य सुरात्तत्ववत् य मानस-ऋतसोम भी अचरुतभावापन्ना सुरा के रूप में ही परिणत होजाता है- अनृत पाप्मा-तम-सुरा (शत ५।१।२।१) ।

ऋतसामामक चद्रमा यान् * गधय ३ ता ऋत आपामयी प्राथमी अप्सुसरणशील-
त्तान्-अ सरा ८ मनो गधय (शत ६।४।१।१) । चद्रमा प्राथमी मन शरीर
सोम सुरा गधय अ सरा यदि प्रावध द्वद्भावो से समवित इन मानसिक शारीरक
ऋतप्रधान अतएव अतृतभावापन्न भावो के पारणाम है मानसिक शारीरक कामभाग हास-परिहास
आमोद प्रमोद-गध सुगध मिथुन क्रीडा आदि निष्ठापिरोधी-भाव जैसा कि नि निगासत वचनो
स स्पष्टतरूपेण प्रमाणित है—

- १—गधेनव च रूपेण च-गधर्वाप्ससश्चरति (शत ६।१।१।४) ।
- २—योपित्कामा वै गधर्वा (शत ३।२।४।३) ।
- ३—स्त्रीकामा वै गधवा (ऐ ब्रा १।७) ।
- ४—सोमो गधाय (ता ब्रा १।३।६) ।
- ५—गधा मे, मोदो मे प्रमोदो मे, त मे युष्मासु (ज उ ३२५।४)
- ६—उपद्रव गधर्वासराभ्य प्राय ङ्त् (जै उ ३।१२।१) ।
- ७—गधर्वासरमो वै मनुष्यस्य प्रजाया वा प्रजस्तावावेशते । (ता १।६।३।२) ।
- ८—गध इ यप्सरस उपासते (शत १।५।२।२) ।
- ९—किन्तु तेऽस्मासु ऽप सरस्सु-इति ? हामो मे क्रीडा मे मिथुनम्म ।

(ज उ ३।५।६) ।

आपोमय-गारुणप्राण ही सुरातत्त्व ह आपामयी ही प्रथमी ह एव पू प्रदर्शिता-पञ्चाग्नि
विद्या के अनुसार आपामय ही शरीर ह । अतएव चाद्रमन को यदि सोम का जासकता है तो
अवश्य ही पार्थिव शरी को सुरा माना जासकता है माना गया है आगमशास्त्र में । पाञ्चभौतिक शरीर
ही योगमायामक वह आवरण है जिस के आरण्य से आवृत मन बुद्ध आमा सभी कुछ मोहाविष्ट
बनते हुए स्वस्वरूप से उसीप्रकार अभभूत होजाते हैं जैसेकि सुरापी मानव अपना मक्कुछ विवक-विस्मृत
कर देता है । किमथ कस्य कामाय शरीरमनुस परेत् मूला निष्ठादृष्टि पलायित होजाती है एव शेष
रहजाता है शारीरक मदिरामक-भौतिक-यामोहन । पार्थिव रस का एक पारिभाषिक नाम है— इरा ।
इस इरा रस के सम्बन्ध से ही-पार्थित प्राण-इरामय कहलाया है—(ऐ आ २।१।३) । अपने
गारुण-विमोहक-आसुर धम्म से सचमुच ही तो यह इरारस-मादकगुण से समा वत होरहा है । तभी ता
पार्थिव अन्न को सुरा सोमामक माना गया है । इस मदभाव के कारण ही इस मादक-पार्थिव-सुरातरा
का एक नाम- मदिरा (मदभाउप्रवर्तिका इरा-रसो-यस्या) भी होगया है । आवरणामिका

* चद्रमा १ धव (शत ६।४।१।६) । आपो अ सरस (यजु स १८।४१— शत ६।४।१
१) । सोमो राजा ८ याह तस्या अपसरसो विश—इति युवतय शोभमाना उपसमेता भवति ता उपदि-
शति अङ्गिरसो वेद सोऽयमात । (शत १।३।४।३।८) ।

तमोमयी-निद्रा-तद्रा-गालस्य-दीधमूत्रता भय-क्रोध आद आसुरभावो का प्रवृत्ति महामोमयी इस सुरामिका योगमाया स ही तो मानव मोहाविष्ट बने हते ह * । पात्या मोहमया प्रमात्मान्तिरामु मुत्तभूत जगत् से स्पष्ट ही तथाकथित वारुणभावो का मंदिराव समन्वित है ।

वारुण पार्थिव क्षारभावापन्न मलीमस प्रीति भावावित अणवसमु म अपनी मूलप्रातश्चा प्रतिष्ठित रखने वाले तथोपवर्णित सुराभाव से सम्बन्ध रखने वाले शारीरिक-उमादा का ी नाम है—आग्ला नामक बह महादोष जिस के अभियुक्त होजाने पर मानव का शरीर स्वया ही स्वस्वरूप प्रतिष्ठा से विकल्पित हाजाता है हर्षक्षयात्मक ग्ल धातु (ग्ल-म्लै-हृषक्षय-पादि प ७। ७३ सू) ही आङ् उपसग से समन्वित होकर आग्ला रूप म परिगत हुआ है ।

लोक-यवहार म स्वस्थता और प्रकृतिस्थता नामक दो शब्द प्रचलित ह । यद्यपि स्वसामान्य की दृष्टि में दोनों शब्द आमन्नाथक ही बन हुए हैं । किन्तु तदवस्थया य दोनों शब्द मवथा विभिन्नार्थों के ही सम्राहक बने हुए हैं । मानव की अया मसस्था पुरुष और प्रकृति इन दो विभिन्न तत्वों का समन्वय है । आत्मा और सौर इन्द्रानुगत-बुद्धितत्व इन दो पवों की समाष्ट का नाम तो है मानवीय-पुरुष तथा मन और शरीर न दो पवा की समष्टि का नाम है—मानवीय प्रकृति । आत्मबुद्धि-समन्वित पुरुषभाव ही मानव का स्वभाव है एव मन-शरीर समन्वित प्रकृतिभाव ही मानव का परभाव है । पुरुषरूप-स्वभाव की स्वरूप म प्ररूपानुगति स्थित ही मानव की स्वस्थता है एव प्रकृतिरूप परभाव की स्वरूप म स्थिति ही मानव की प्रकृतिस्थता है । जो मानव आत्मबुद्धिलक्षण समदर्श नामक आत्मसाय से समदर्शा बना रहता है रागद्वेषवियुक्त ऐसा ही मानव स्वस्थ मानव कहलाया है जिस का परिणाम है आत्मप्रसात् एव वाद्विका निष्ठा ।

एवमेव जो मानव मन शरीरलक्षण प्रकृतिसिद्ध-विषम-विभक्त-वर्णनात्मक स्वधर्मात्मक आचारधम्म का अनुगामी बना रहता है असङ्गलपेण प्राकृताश्वकर्मों के अनुयायी एव मानव की प्रकृति ही इसे लोकास्थिति का अनुगामी बनाए रहती है जिस लोकास्थिति का ही नाम है—तुष्टि से समन्वित पुष्टि । आमानुगता शान्ति एव बुद्धयनुगता तृप्ति ये दोनों स्वस्थता के किंवा स्वस्थ पुरुषमानव के लक्षण हैं । एव मनोऽनुगता तुष्टि एव शरीरानुगता पुष्टि ये दोनों प्रकृतिस्थता के किंवा पररूप प्रकृतिमानव के लक्षण हैं । पुरुषनिबन्धना-शान्ति-तृप्ति-रूपा स्वस्थता एव प्राकृतानबन्धन तुष्टि-पुष्टि-रूपा-प्रकृतिस्थता इन दोनों धर्मों से समन्वित पुरुषश्रुति ही उस प्रसादगुण का अनुगामी बना रहता है जिस प्रसादगुण की अभियुक्ति से मानव का आत्मा सदैव शांतिरूप सन्निभत्व से बुद्धिनिष्ठाधम्म से मन श्रद्धा वासत्य-स्नेह-काम-रति-भेद भिन्न पञ्चविध-प्रकृतिसिद्ध प्रमाकपण से एव शरीर अनुरूप श्रुति से समन्वित रहता है । यही इस की मानवीया अया मसस्था का प्रसादगुणात्मक वह सहज आनन्दभाव है जिसकी अभियुक्ति लोकजीवन में हृष उल्लास मङ्गलोत्सव-पर्वोदि मङ्गलाचारों के रूप में होती रहती है ।

* नाह प्रकाश सस्य योगमाया समावृत । (गीता)

योगमाया हरेश्चैतेतया सम्मोह्यते जगत् ॥ (सप्तशती)

आ य—वारुण—सुरा मक्—शरीरानुब धन जो भयानक—आसर दोष मानव के पुरुष—प्रकृ यनुगत तथाविध स्स्थता प्रकृतिस्थता प्रव ण सहज प्रसादगुण को आभिभूत कर दता है प्रसादगुण की जिस इस अभिभूति से मनव की आ मानुगता अशांति क्षोभरूप म बुद्धयनुगता नि ठा सशयरूप में मनोऽनुगत प्राकृतप्रम भोगासक्तिरूप में ए शरीरानुगता पुष्टि क्षयरूप में पारणत होजाती है लोकीवनानुगत—स पूण हष—उल्लास स—थव क्षीण होजात ह उसी सामुद्र वारुण भयानक दोष का नाम है— आग्ला जिस की तदाषयुक्त मानवो में सर्वांमना अभियक्ति दर्पी जाती है । जिस अभि यक्ति का प्रचण्ड उदाहरण वह सुरापी आग्ला मानव ही बना हुआ है जिसका सुरानुगत आग्लादोष से सवप्रथम समानानुब ध से शरीर ही विकम्पित होने लगता है । शरीर विक्र पन के साथ ही मन विकम्पित होपडता है । मन के विक्र पत होते ही तत्प्राणरूपा इन्द्रिया विकम्पित होपडती हैं । सभी इन्द्रिया इस विकम्पनावस्था में प्रकृतस्थता से पराड मुख होती हुइ अनगन भावो की ही अनुगमामिनी बन जाती ह । शरीर मन तन्द्रय—वर्गों के विकम्पित होते ही मानस प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि रण्ड रण्डरूप में परिणत होजाती है । बुद्धनाश स अततोगवा आमप्रसाद सवथव अभिभूत होजाता है । और यो तस सुराजनित शरीरानु धन आ लादोष से मानव की लोकजीवनानुगता सभी हषपर पराए क्रम क्रमश सवथव क्षीण होजाती हैं । इसीलिए तो हषक्षयामक ग्लै वातु से इस दोष का आग्ला नाम रखना अचथ बन रहा है । क्षय की दृष्टि से इस सुरादोष से कुछ भी तो नहा बचता । आ मा-बुद्धि मन—शरीर मक्—पुरुष—प्रकृ या मक्—स्वस्थता—प्रकृतिस्थतानुब धी सभी कुछ ता लान—म्लान होजाते है । आड उपसग सी सवविनाश का सूचक है । और आसमतात्—ग्लान रूप आ ला दोष का यही सक्षिप्त स्वरूपातवृत्त है ।

उक्त सोम सुरा सदम से अब हम इस निष्कष पर पहुचना पडा कि मानव का सौ य मन सोमामक मा यन्मष से एव वारुण अतएव वारुणीरूप शरीर-सुरा मक् आ लादोष से समवित है । इन दोनो दोषो को हटाने के लिए ही शास्त्रामिका—आचारनिष्ठा अभियक्त हुइ है म र्षियो के द्वारा जस आचारामिका निष्ठा के कम्म—भक्ति ज्ञान—नामक तीन प्रसिद्ध तत्र माने गए हैं जिनका कि वदशास्त्र के विध्यात्मक—ब्राह्मणभाग आरण्यकभाग उपनिषद्भाग—तन तीन प्रक्रमों के द्वारा क्रमश स्वरूप—विश्लेषण हुआ है । इस आचारनिष्ठा म मानव का आ मानुगत बुद्धितत्र ही प्रमुख सहयोगी बना रहता है । मन और शरीर उसी सीमापय्यन्त तस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते है बने रह सकते हे जबतक कि बुद्धि के द्वा । मन—शरीर का निय त्रण रहता है । बुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होत ही मन—शरीर—दोना स्वराचारपरायण बन जाते है । इस स्वैराचारिता से निश्चयेन—मनस्त त्र में कालांतर म माव्यदोष अभियक्त होजाता है एव शरीर में आग्लादोष अभियक्त होजाता है जोकि इनके स्वरूप में प्रकृ या ही बीजरूप से प्रतिष्ठित है । इन दोषो के अभि यक्त होते ही पुरुषानुगता निष्ठा अभिभूत होजाती है निष्ठा के अभिभूत होते ही आचारधम्म शिथिल होजाता है । शेष रह जाते है— अनाचार ।

सङ्गीत के प्रति सर्वांमना आदरभाव रखते हुए भी सङ्गीत के मूलप्रतिष्ठारूप नाद—श्रुति स्वर—जसे महतोमहीयान्—उदात्तभावो के प्रति सर्वांमना आस्था श्रद्धा—रखते हुए भी हमें प्रकृतिविवक्त के तथाकथित मानस सोम तथा शारीरिक सुरा—भावो से अनुप्राणित आ मबुद्धिनिष्ठा के महान् प्रतिद्वी मा य और आग्ला—दोषो के सम्ब धसे शरीरानुगत मानसभावानुब धी—गायन एव मनोऽनुगत—शरीरभावानु

वधी-नान-वादन-समष्ट्या मरु-सङ्घात के प्रात कम से कम आ मनुवादान ठ-भारताय-ब्राह्मण को तो मर्वामना तटस्थ ही मान लेना पड रहा है । हमारी मायता का इस दिशा म कोड महव नही है । यह तो न महामहर्षियों की स्पष्ट मा मायता है ।जस की जागरूकता म कोड भा नाष्टक ब्राह्मण नत्त न गायन वादनामक अतएव माय आग्ला षोभिभयञ्जक सङ्गीत को अपन स्वायायनिष्ठा म अचारनिष्ठा में कोड प्रश्रय नही दे सकता नही ही दता चाहए-यात इस- ब्राह्मणन निष्कारण षडङ्गा वेनाऽ येयो ज्ञेयश्च पर अणुमात्र भी आस्था है तो ।

मनोऽनुगत-सोमामक ऋतभावानुवधी-अतएव अरुत-पामा-भावानुवधी मानसिक-मा यदोष से निय समित शरीरानुगत सुरामक-ऋतभावानुवधी अतएव अरुत पामा भावानुवधी शारीरिक पूर्वोपवर्णित हृषक्षयकर आमप्रसात् के वघातक इसी आग्ला षो की प्रकृतिसद्धा स्वरूप-मा त को लक्ष्य बना कर गोपथ-अति ने कहा है-

तस्यात्मन्नाधत्त । तेन प्राज्ज्वलयत् । यदात्मन्नाधत्त (तदा मपरित्यक्तमेव) 'आग्ला' अभयत् । तत्-आग्ला भूत्वा सा समुद्र (वारुणसमुद्र -अणवमसुद्र -क्षारसमुद्र) प्राविशत् । सा आग्ला-समुद्रमदहत । तस्मान्-समुद्रो दुर्गिरपि वैश्रानरेण ।ह दग्ध । सा-आग्ला पृथिवीमुदैत । मा पृथगा यदहत । सा-आग्ला देवान् (पार्थिव दवान्) आगच्छत् । सा देवानहिडत (तिरस्कृतती) । ते देवा ब्राह्मणमुपाधावन् । स-ब्राह्मण -नैव-अगायत्, न अनृत्यत्' । सैषा-आग्ला-कारुविदा नाम । त वा एत (आग्लया-समवित) आग्लाहत सन्त- आग्लागृध इत्याचक्षते-परोक्षण" ।

—गोपथब्राह्मण पू २ प्र । २१ ब्रा ।

आ मबुद्धिसम्मत सास्वतिक-कोश का अयतम चित्तक न ठक ब्राह्मण मन-शरीर-निबधन ग धर्वाप्सराप्राण-समाक्रान्त अतएव सोम सुरामक अतएव च मा एव आला टाष स कात्वालीकृत न्यभूत नत्त न-गायन वाद्यामक सङ्गीत का यदि अनुगमन करता है तो निश्चयेन त न नरी मूत न न री मूरी मू ताक् धिना-धिन् ब्रूम् ब्रूम् छ न न ता ता थे ई आदि आद विभिन्न विभिन्न विचित्र विचित्र भावमङ्गिमाओं से आलोडित-विलोडित हा हा-हू ही नी आ आ आ इ-इ आदि विवध मुद्राओं से आप्ररित डिड द्वा डिड डाडा डा डा आदि तन्तु वानयो से सुररित-इ थभूत भाव विभावादि से कृतरूप सङ्गीत से नष्टिक के भी मन शरीर पिदमान ही बन जाया करते ह जिस पिदमानता से ही कालातर में स्वरूप-विस्मृति होजाया करती है । अतएव आमबुद्धिसम्मत निष्ठा के क्षेत्र में तो कदापि नान गायन वादनामक सङ्गीत जैसे भावुकतापूर्ण मन शरीर यामङ्ग को प्रश्रय नही ही मल सकता नही ही मिलना चाहिए ।

ज्ञान कम्म भक्ति नाम की त्रिविध आचारनिष्ठाओं का क्रमश आत्मा बुद्धि-मन न तीन मानवीय-पर्वों के साथ क्रमिक सम्बध माना गया है । आमानुगत चित्तन-मननामक आचार (अनुशीलन) बुद्धयनुगत-आचारा मक-आचार (कार्याक मांचरण) इन दो क्षेत्रों में तो मनोव्यासङ्ग का प्रवश सधथा

निषिद्ध ही माना गया है। शेष रह जाता है मनानुबन्धन भक्तिमाग । केवल इस मानसिक भाक्तकाण्ड के अनुबन्धन ही प्रचण्ड मर्यादासूत्र के नियंत्रण मायम स ही इशभाक्त से समाहित शास्त्रीय सङ्गीत का ही असुक्त-विशेष पर्वोसव एव यथादि कर्मों के लिए ही अनुमोदन हुआ है। यही कारण है कि भारतीय प्रायः शास्त्रीय सङ्गीत की प्रमुख आधारभित्त इशसम्भरण ही बना हुआ है। और इसी दृष्टि से भारतीय शास्त्रप्राङ्गण में इत्थभूत शास्त्रीय—सङ्गीत का भी समादर होगया है। वीरगावादनतपरा भगवती शारदा डमरू वादक भगवान् शङ्कर विश्वसह्यारक ताण्डवनृत्य क प्रयत्नक महाकालेश्वर वेणुगादक भगवान् नन्दनन्दन तुम्बुरु तान निमग्न गन्धाषि तुम्बुरु ब्रह्मना—समाप्लुत—गधवर्षि नारद आदि आदि प्राणदवताओं के अनुबन्धन स जिस शास्त्रीय सङ्गीत का (इशसम्भरणमात्रानुबन्धन) का समादर हुआ है तदतिरिक्त युगधर्मानुगत सोमसामक माय आग्ला दोष पारपूण आचारपथविरोधी आज की भाषा के अनुसार धम्मनिरपत्त—अकाण्डताण्डवा मक गायन वादन नानादि का तो भारतीय सस्कृत के नैष्ठिक प्राङ्गण में प्रवेश भी निषिद्ध ही है *। इत्थभूत नत्तन गायन यासङ्ग को आख्यातिकरूपेण ब्राह्मण के लिए निषिद्ध बतलाते हुए उसी गोपथश्रुत ने आगे जाकर यह उद्बोधनसूत्र प्रदान करते हुए सस्कृति के उपासक नैष्ठिक ब्राह्मण का आग्लादोष स पारत्राण ही किया है कि—

‘स य एष ब्राह्मण गायनो वा नत्तनो वा भवति, तमाग्लागृध इत्याचक्षते ।
तस्मात्— ब्राह्मणो नैव गायेत् न नृत्येत् । मा—आग्लागृध—स्यात् ।
—गोपथ पू २।२१

स्वरभावानुबन्धी मण्डला मक साम के प्रसङ्ग स नाद अति स्वरात्मक सङ्गीत की प्रासङ्गिक चर्चा करते हुए लोकसङ्गीतानुगत—माय तथा आग्ला—नामक उन दो दोषों का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पडा—जिस अशास्त्रीय आज के रेडियो चित्रपट एव विविध समारोहादि से अनुप्राणित उत्तालतरङ्गायित गायन नानादि के अनुग्रह स इन दोनो दोषो से आज भारतीय मानव के मन शरीर तत्र सवथव उस सीमापथ्यन्त आसमातात्—परिव्याप्त होगए है कि आज उभयदोषात्मक आचारनिष्ठाविरोधी—अतएव सस्कृति के प्रचण्डतम शत्रु—इत्थभूत अग्ला नाच—गान को ही दुर्भाग्यवश सास्कृतिक—आयोजन कहा और माना जाने लगा है। सचमुच ऐसा सास्कृतिक अधपतन तो विगत तीन सहस्र वर्षों के सास्कृतिक पतन युगों में भी नहीं हुआ था। इस पतन के मस्पर्शी मौलिक दोषो के स्वरूप प्रदर्शन के लिए ही हमें स्वर—साम—मण्डलानुबन्धी—प्रस्तुत हिङ्कार प्रकरण में तथाकथित सद्भ का आश्रय ले लेना पडा है आपद्धम्मधियव। अब पुन उस सामात्मक हिङ्कार की ओर ही सामप्रमी विद्वानो का यान आकर्षित किया जाय है। जिस हिङ्कार के बिना यज्ञ म मण्डलात्मिका सामसम्पत्ति का सग्रह नहीं हो पाता अतएव सामशूय जो यज्ञ अपूण ही बना रह जाता है।

*—देखिए— भारतीय सास्कृतिक आयोजनों की रूप रेखा नामक सहस्र पृष्ठात्मक स्वतंत्र निबन्ध ।

उक्त सप्तम से पूर्व मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि नात्मिक स्वर ही शाब्दिक याक्त माजनक बनता है (दाखिए। पृष्ठ स १२१३)। अब नसी तथ के आवार पर हम सरूप स श्रात के हिङ्कार शब्द का समन्वय करना है कि सङ्गीतज्ञ सङ्गीतकर्मारिभ से पा ले नात्मब्रह्म के आवार पर ही सप्रथम हि-हि-हि वसप्रकार स्वरसंघान करता है। अनतर अ-आ-आ इयादरूप स श्रुति का मञ्जालन होता है। यह प्राथमिक हि-हि-किवा *हू-हू याद्याकारक भाव ही साम है। इसी उच्चा ग समतुलन से म हृद्यसाम को हिङ्कार नाम स यवहत कर दिया गया है।

उक्त सामविवचन से यह सिद्ध होजाता है कि साम उस प्राकृतिक यज्ञ की एक आग्रश्यक सपत्ति है। न केवल सपत्ति ही अपितु बिना साममण्डल का आधार बनाए यज्ञ का अवतान भी असंभव है। एमी स्थिति में आग्रश्यक है कि उस सप्तमामा प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर अवतारमान नवब यज्ञों में भा श्रवण ही साम का संबध कराया जाय। इसीलिए उदगाता के द्वारा तत्तदयज्ञो म सामगान होता है। स दशपृष्ण मास में सामगान आवश्यक है। परन्तु सम्बध अवश्य अपेक्षित है। इसी सामसम्बध के लिए यहा सप्रणव हिङ्कार का संबध कराया जाता है। सामधेनी ऋन्मन्त्र के आरम्भ म हि-हि-हि-आम् सप्रकार सप्रणव-हिङ्कार का समावश करते हुए अनुवचन स यह यज्ञ भी साम्य अग्र की भात सामस पात्त से युक्त होजाता है। क्याकि सप्रणव हिङ्कारशब्द उस प्राकृतिक सामतव का ही सप्रानक बन रहा है।

हिङ्कारमात्र से साम की स्वरूप-नणपात्त नहीं होती। हिङ्कार तो हृद्यभाव का स्वरूप समपकमात्र है जाकि हृद्यभाव अनिरुक्तभाव का ही सम्राहक माना गया है। साम की मूलप्रतिष्ठा जहा हिङ्कार है वहा साम का प्रारम्भिकरूप प्रणव है। अत मानना पडेगा कि हृद्यभाव का सम्राहक हिङ्कार है एव साम का सप्रानक ओम् इयाकारण प्रणव है। प्रणवोच्चारण स वाकसमुद्र मे वर्तुलमण्डल का उन्त्य हाजाता है। यही वर्तुलमण्डल साम का प्रातिस्विक रूप है। अतएव ओम् को साम का रूप माना जायगा एव हिङ्कार को साम का मूल माना जायगा। इसीलिए सप्रणव हिङ्कार को ही यहा सामसम्पत्ति का सप्रानक माना जायगा। यह हिङ्कारोच्चारण केवल प्रथम सामधेनी म ही होगा। आग के चौदह मन्त्र के उपक्रम-उपसहार में केवल ओम् का ही उच्चारण किया जायगा। सप्रणव हिङ्कार क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यहा सन्धित उपपत्ति है जिस का कि ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥१॥

सप्रणव हिङ्कार की एक उपपत्ति बतलाइ गई। अब केवल हिङ्कार की दूसरी उपपत्ति बतलाइ जाती है। हिङ्कार का नादात्मक प्राण से संबध है। नादप्राण की उत्तावस्था का ही नाम हिङ्कारात्मक प्राण है। यही हिङ्कारप्राण नासास्थान म प्रतिष्ठित होता हुआ जीवनलक्षण श्वास प्रश्वास का हतु बनता है। दूसरे शब्दों में-आध्यात्मिक हिङ्कार का स्वरूप नासाप्राण ही है। यी कारण है कि नासाच्छिद्र बंद कर लेने पर सानु नासिक हिङ्कार का उच्चारण असम्भव है। उधर ऋन्मन्त्र का प्रवान संबध वाक (अनुष्टुबवाक) से है। वागुरूपेण ऋक का उच्चारण होता है एव प्राणात्मक हिङ्कार का उच्चारण होता है। सामिधेनियो के अनुवचन से दि यलोकस्थ प्राणाग्नि का इस यज्ञ में प्रजननरूप आधान करना है। प्रजननकर्म योषा-वृषा के दाम्प्यभाव

* इसीलिए सा छ्वा ब्राह्मण में हूरम् इस शब्द को भी हिङ्कार माना है। (देखिए सा छ्वा ब्रा ४।८।१)।

पर ही निभर है। अथर प्राण वृषा है तथा वाक योषा है। हिङ्कारपूर्वक मत्राच्चारण करना वाक प्राण का दा पय भाव ही सम्पादन करना है जो कि दि याग्नि का प्रजनयिता है। सी प्रजननसपत्ति के लिए हिङ्कारपूर्वक अनुवचन किया जाता है। यही हिङ्कार की दूसरी उपपत्ति है ॥ २ ॥

क्योंकि हिङ्काररूप वृषाप्राण का ऋगरूपा योषा वाक के साथ दा पयभाव भी अभीष्ट है इसीलिए तो हिङ्कार का उच्चस्वर से उच्चारण न कर उपाशुरूप से ही उच्चारण किया जाता है। प्राण स्वयं अनिरुक्त है वाक निरुक्ता है। यदि उच्चस्वर से हिङ्कार का उच्चारण किया जायगा तो निरुक्तभाव में आता हुआ यह भी निरुक्तवाक रूप में ही परिणत होजायगा। परिणामतः अभीष्ट दा पयभाव का स्मरण न होसकेगा। उपाशु अनिरुक्तभाव से सब धरखता है। अनिरुक्तता प्राण का प्रातिस्विकरूप है। फलतः उपाशुरूप से हिङ्कार करना प्राणरूप को सुरक्षित रखते हुए दा पयभाव का ही स्मरण करना है। यह भी स्पष्ट ही है। एक गानकाल में हिं-हू इयाद्याकारयुक्त हिङ्कार भीतर ही भीतर गुन गुनाया जाता है। क्योंकि इस का नाद से सब ध है। और नादब्रह्म स्वयं हृदयस्थ अनिरुक्तत्व है। हिङ्कार का उपाशु उच्चारण क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही तीसरी उपपत्ति है ॥२॥

मत्रों में पाठतः प्र आ सम् अनु याद उपसर्ग किसी विशेष प्रयोजन को गम में रखते हैं। जब ऋषि को आगमनभाव का स्मरण करना होता है तो मत्र में आ उपसर्ग का समावेश कर दिया जाता है। जिस से पृथिवी से प्रयाण (गमन) बताया जाता है। होता है उस में प्र उपसर्ग लगा दिया जाता है। जिस में दोनों लोकों की (पृथु की) वस्तुओं का सङ्गम प्रतिपाद्य होता है उस मत्र में सम् उपसर्ग रहता है। जहाँ वस्तुपुष्ट का सम्बन्ध बतलाना अभीष्ट होता है वहाँ अनु उपसर्ग प्रयुक्त होता है। इसप्रकार महारम्भ महर्षि उपसर्गों के द्वारा तत्तद्विशेषभावों का स्मरण कर लिया करते हैं। इन उपसर्गों के सब ध से उन ऋचाओं के भी प्रवती आवती समवती अनवती इत्यादि नाम होजाते हैं।

प्रकृत दशपूर्ण। इस में हमें इस पार्थिव भौतिक आङ्गिरस अग्नि में सामिधेनी अनुवचन से दिय प्राणामक सावित्राग्नि का आवाह करना है। माय ही यह भी सिद्ध विषय है। आगत दिव्याग्नि को यही प्रातःष्ठित नहीं रखना है। आपतु पार्थिवाग्नियुक्त इस दियग्नि में हविर्द्वारा यजमान के शरीराग्नि का सब ध करके इसे देवामारूप में परिणत कर पुनः उसी द्युलोक में भोजना है। इसप्रकार यहाँ आदान विसर्ग नामक दोनक म अपेक्षित है। इस उभयकर्मसिद्धि के लिए यहाँ आरभ में उन दो ऋचाओं का अनुवचन होता है। इन म आगमन सूचक आङ् तथा प्रयाण सूचक प्र उपसर्ग का समावेश है। आरभ में— प्र आ उपसर्ग वाली ऋचाओं का अनुवचन क्यों होता है? इस प्रश्न की उक्त उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर ही प्रस्तुत प्रकरण का समवय करना चाहिए।

सामिधेनी अनुवचनक म से सावित्राग्नि इस पार्थिव आङ्गिरस अग्नि में प्रातःष्ठित होजाता है यह कहा जाचुका है। क्या हविर्ग्रहण करने के अनन्तर इस सावित्राग्नि का इस सावित्ररूप से ही पुनः द्युलोक में गमन होता है? नहीं। जब सावित्राग्नि पुनरावर्त्तित होगा (वापस लौटेगा) तो उस समय यह सावित्र न रह कर गायत्री बन जायगा। गायत्री का स्वरूप पृथिवी और द्युरस के संयोग से ही निपन्न हुआ है।

सूर्यके द्र से निकल कर चारो ओर यास होने वाला प्राणामक सौरतेज सावित्र कहलाता है। दूमरे श ो में प्रह्लौन्भूत सू य का साक्षात् तज ही सावित्री है। यह सौर सावित्र तन भूगम म प्रवग्य स व व मे प्र उ ष्ट होजाता है। भूपण्ड गा नम से प्रसिद्ध है। गा भ म प्रातष्ठित हाने स भी य सौर तेज गायत्री कहलाया है। इस के आतारक्त यही प्रवृक्त सौर तेज पार्थिव तवर्वा का स्वरूप सम्पादक ह अत आगायत् सम्पादयत् ास निवचन से भी इसे गायत्री कहा जाता ह। जो यक्ति इस तेज को (गायत्रीछन्दस्क मप्रसिद्ध गायत्री म त्र के द्वारा) अपने आयाम में प्रतिष्ठित कर लेता है उस की काइ क्षात नही होी। अत गाय नमुपासक त्रायते इस निवचन से भी इस गायत्री कहना अवयव न रहा है जसाकि स यावज्ञान म विस्तार से प्रतिपादित है।

उक्त गायत्री के दो विवर्वा हैं। सौर तेज प्रवृक्त हुआ। प्रवृक्त होकर भूगम में प्रावष्ट हुआ। अतर्थायाम सम्बन्ध के प्रभाव से भूलोक की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन कर उ वलोकानुगत बना। यी पाथिवगायत्री कहलाइ है ासे हम भूतगायत्री भी क सकते हैं। लौकिक अग्नि इमी भूतगायत्री का प्रयत्न निदर्शन ह एव यही अ वय्यु के द्वारा यमकाष्ठ से इद्ध किया जाता। ामारे प्रकृत सामिधेयनुवचनक म का ास से को स व ध नही है।

सौर-सावित्र तेज द्युलोक से आकर गोरूप भूलोक से टकराया। यहा से स का प्रतिफलन हुआ। स का भी भू से स व ध होने के कारण गायत्री नाम अउश्य हुआ परन्तु यह गायत्रतेज भूलोक की प्रातिस्विक वस्तु नही है। उस प्रवृक्तभाग का जहा भूलोक स अन्तर्थायाम सम्बन्ध है वहा स प्रतिफलित गायत्रतेज का भूलोक से ब हर्थायाम सम्बन्ध है। त्रैलाक्य मे ना प्रकाश होरहा है यह प्रतिफलित सौर तेजोमयी गायत्री का ही प्रभाव है। ए यही गायत्रतेज के प्रयत्न दर्शन ह।

इम द्वितीय गायत्रतेज के किवा गायत्री के आगे जाकर दो विवत्त होजाते हैं। प्र तफलनप्रक्रिया का द्व वि य ही इस विवत्त द्वयी का मूल है। सौर तेज आकर प्र तफलित हुआ आतप (धूप) का स्वरूप प्रक होगया। यहा स पुन ास का प्रतिफलन होता है। इस द्वितीय प्रतिफलन स छायामय प्रकाश का आविर्भाव होता है। छाया म जो प्रकाश (आतपशून्य उजेजा) है वही उस का त्तीय रूप है। प्रथमरूप योति म्मयी गायत्री कहलाती है एव द्वितीय रूप छायामयी गायत्री है। योतिम्मयी गायत्री म आग्नेय तजोमय देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है एव छायामयी गायत्री म सौ य तजोमय पितरप्राण प्रतिष्ठित है। इस छायामयी गायत्री की स्वरूपसम्पत्ति के लिए ही पितकम्म (ाद्ध) म दोने ओध कर दिए जाते हैं।

इसप्रकार एक ही सौर सावित्र तेज के आ गार पर पाथिव भूतगायत्री दिव्यदेवगायत्री दिव्य पितगायत्री मे स तीन गा त्रविवत्त होजात है। तीनों में से प्रकृत म म यस्था देवगायत्री का ही यहा समि धन अपेक्षित है। य दिव्यगायत्री दो प्रकार से एति प्रात यु म स युक्त है। सौरमण्डल से सौरतेज आया यही अ (एति) भाव है। प्रतिफलन-प्रक्रिया से पुन द्यलोक की आर गया यही प्र (प्रेति) भाव है।

इस स व ध म एक प्रश्न उपस्थित हाता है। बतलाया गया है ाक द्युलोक से आगमनदर्शा में इसे सावित्री कहा जाता है न कि गायत्री। फिर आगमनात्मक -आ भाव का तो सावित्री से स व ध

सिद्ध हुआ एव गमनात्मक प्र-प्रभाय का गायत्री से सम्बन्ध सिद्ध हुआ। आता हुआ वही तेज सावित्र है एव जाता हुआ वही तेज गायत्री है। सावित्री एति (आगच्छति) है गायत्री प्रेति है एव यन् प्रकृतिक नियम है। फिर केवल गायत्री के साथ ही एति प्रति दोनों भावों का सम्बन्ध कैसे बतलाया गया ?।

विप्रतिपत्ति यथाथ है। अवश्य ही स्थिति के अनुसार आता हुआ सौर तेज सावित्री ही है एव जाता हुआ सौर तेज गायत्री ही है। सावित्री सूर्यगत सविता से ही सम्बन्ध है एव गायत्री पृथिवी के सम्बन्ध से ही गायत्री कहलाई है। पर तुर्ही का अपेक्षा से साथ ही उपयोगमर्यादा की अपेक्षा से हम उस सावित्री को भी गायत्री कहते हैं। सौरतेज हमारे लिए वही आता हुआ माना जायगा जो गायत्री के रूप में परिणत रहेगा। उस का आगमन गायत्रीरूप में पारणति के लिए ही होता है। अतः तात्स्थ्यात्ताच्छ्रय यथा से भी उस गायत्रयथा आगत सावित्र तेज को गायत्री कह दिया जाता है। और एकमात्र इसी दृष्टि से यहाँ दोनों के लिए गायत्री शब्द प्रयुक्त होगया है।

वहाँ से आता हुआ वह सावित्रात्मक गायत्रतेज पाथयमानवप्रजा में बलाधान करता है एव जाता हुआ गायत्रतेज पार्थिव द्रव्यगत रसों का आदान करता हुआ अलोकस्था देवप्रजा में बलाधान करता है। वहाँ से आना और यहाँ से यज्ञद्रव्य के साथ गमन करना यह इस का एकप्रकार का एति-प्रतिभाव है। इस एति प्रति भावामक गायत्रतेज का मन्त्र के द्वारा यज्ञ में सम्बन्ध किया गया। वहाँ से आते हुए का तदनुरूप छन्द-देवता स्वरयुक्ता मन्त्राक्तस आरक्षण कर उस का यथा योग करा दिया यही एति भाव हुआ। अनन्तर प्रकृत्या अलोक की ओर जाने वाली गायत्री से इस अज्ञानुगता-यज्ञभक्तिभता हर्षियुक्ता गायत्री का सम्बन्ध होगया। इस परम्परा से उस के साथ इस का अलोक में गमन होगया यही मन्त्र का प्रभाव कहलाया। इसी को हम अज्ञानुगत एति प्रति भाव कहेगे।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि प्राकृतिक गायत्रीत एति प्रेति भाव से युक्त है। उसी के आधान के लिए यहाँ सामिधेयनुवचनकर्म होता है। अतः तदाक्षक नमो में भी गायत्री-स्वरूपा अनुगता एति-प्रति का सम्बन्ध आवश्यक है। प्र (प्रयती) आ (आवती) ऋचाओं का अनुगमन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही सन्निहित उपपत्ति है ॥ ४ ॥

एति-प्रति के अनुवचन से आधिदैविक-गायत्रभाव का समावेश हुआ। सी के द्वारा आध्यात्मिक एति-प्रेति भाव का भी समग्र होजाता है। हमारी आध्यात्मिक-संस्था में श्वास प्रश्वासात्मक उत्पन्न प्राण एति प्रति भावामक ही बन रहे हैं। आता हुआ वायुप्राण ही उदान है एव जाता हुआ वायु प्राण ही प्राण है। हम इस यज्ञकर्म से हमारे (यजमान के) आध्यात्मिक मानुषात्मा के स्वगमन के लिए दैवात्मा उपपन्न करता है यह दैवात्मा हमारा आध्यात्मिक स्वरूप है। उक्त एति प्रति भाव से इस में एति प्रति भावामक उदान तथा प्राण का आधान होजाता है। इसलिए भी एति-प्रति भावयुक्ता मन्त्रद्वयी का उच्चारण किया जाता है। और यही एति प्रति भावामक अनुवचन की दूसरी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

रेत-सेक करने वाले का रेत योषाप्राण (गभाशयगत योनिष्ठा आनय प्राण आत्तव) म आहुत होता हुआ रेत सेक करने वाले की अपेक्षा से प्रति भाव का अनुग्राहक बन रहा है। एत-प्रही असक्त रेत १ मास के अनन्तर पूर्णवियव बनकर अपय रूप म परिणत होक एतयामरुत् के प्रयागात म भाव बनता हुआ ऐति भाव का अनुग्राहक बन रहा है। रेतोद्वय सिञ्चक की दृष्ट से प्रति है एव तोरूप अपय सिञ्चक की दृष्टि से एति है। हम इस यज्ञक म म प्रजननकम्म अपेक्षित है। एव प्राकृतिक प्रजननकम्म एति प्रति भावामक है। उस का भी यहा सम्बन्ध होजाता है। यही एति प्रात भावामक अनुवचन की तीसरी उपपत्ति है।

जिस यज्ञ स हमें यजमान के आया मक शारीराग्न के आधार पर दवामा उपपन्न करना है उस में आया मक यज्ञपुरुषपत् आमा शरीर दोनो भाग अपेक्षित है। आमा भोक्ता है शरीर भोग्य है। यही भोग्य शरीर भोगायतम मा कहलाया है भोग्य भी क लाया है। आमावत्त अतर्वित्त बहिर्वित्त मे स दो भागो में विभक्त है। शरीर सका अतर्वित्त है एव बाह्य भौतिक परिग्रह बहिर्वित्त है। दोना पशु नामसे यवहृत हुए है। इस पशुसम्पत्ति के समग्रह के लिए भी एति प्रात भाव उपयुक्त होरहा है। पशु प्रात अङ्गल में चरने जाते है यही मन का प्रति [गच्छति] भाव है। सायङ्काल अपस लौट आते है यही न का प्रति [आगच्छात] भाव है। असप्रकार पशुसपत्त भी एति प्रात भावामका बन रही है आने-जाने वाले पशु चतन हैं। जिस प्राकृतिक पशुप्राण म न पशुआ का स्वरूप-निर्माण हुआ है वही पशुप्राण अतर्वित्तलक्षण शरीरामक पशुभाव का स्वरूप समर्पक माना गया है। इस सादृश्य सैवा मा म पशु-सपत्ति का भी आधान होजाता है एव अतर्वित्तलक्षणा शररसपत्त का भी समग्रह होजाता है। यी एति एति भावामक अनुवचन की चौथी उपपत्ति है।

अब बहिर्वित्त-लक्षणा बाह्य पशुसम्पत्ति का जिस कि हम आधभौतिक सपत्ति कर्नेगे समग्रह करना शेष रह जाता है। यह काम भी इसी एति प्रति भाव से गताथ बन रहा है। सम्पूर्ण भत भौतिक पदाथ इसी ऐति-प्रति भाव से निय सम्बद्ध हैं। कुछ एक उदाहरण ही इम दिशा म उपाद्वलक मान लिए जाएंगे। त्रैलोक्य के गम में प्रतिष्ठित यच्चयावत् भत-भौतिक पदाथ इसी भावद्वयी स निय आक्रान्त हैं जिसका सम्भूति च विनाश च यस्तद्वेदोभग सह (इश उ) इयादि रूप से सत्र प्रयत्न किया जासकता है। सामा य दृष्टि स विचार करने पर हम अस निश्चय पर पहुँचा करत है कि विश्व तथा विश्व गम में प्रतिष्ठित पदाथ गतिशील हैं ससरणशील है। अतएव इस प्रपञ्च को ससार कहा जाता है। इसी स्वाभाविकी गति से पदार्थों में अवस्था-परिवर्तन हुआ करता है। इसी क्षणिक परिवर्तन के आधार पर दशनावशेषने क्षणिक क्षणिकम् सिद्धात स्थापित करने का साहस कर लिया है।

परन्तु जब हम अतदृष्टि से विचार करते है ता हमें यह मान लेना पडता है कि इस गतिभाव के गम में आगति भी प्रतीत होरही है गतिभावा विनाश है ता आगतिभाव सम्भूति है। दोनो का एक ही बिन्दु में समावश होरहा है। प्रत्यक पदाथ पूवरूप से नष्ट होता हुआ ही उत्तररूप से सम्भूत है। बिगडता हुआ ही बन रहा है। इस-चलाचल-(चल अचल)-भावद्वयी से ही सप्रमित चलाचलम्। इन दोनो में चलभाव (गतिभाव) प्रति का स्वरूप समपक बन रहा है एव अचलभाव-स्थित भाव एति भाव का अनुग्राहक बन रहा है।

आदान विसर्ग की दृष्टि से भी इस एति-प्रति की याति के दर्शन किए जा सकते हैं। प्रत्येक पन्थाय से उसके चरप माण्डु विस्वसनधर्मा ह्यग्रजापति के विस्वसना मक चरणधम्म से विसर्ग हो रहे हैं। साथ ही भैषज्यज्ञ नामक प्राकृतिक कर्म के आदान के द्वारा सानगत भाग की क्षतिपूर्ति भी हो रही है। प्रतिवस्तु प्रत्येक क्षण में आदान-विसर्ग दोनों भावों से नियंत्रित आक्रांत है। विश्व क्रिया मक है। क्रिया गतिवत् है। प्रत्येक गति के गम में आगति है एवं प्रत्येक आगति के गम में गति है। सूय की रश्मियों को देखिए। रश्मियाँ चली ही परतु पीछे हटती हैं। अचञ्चरति के अनुसार अपानन करत हुए ही रश्मियों का प्राणन हो रहा है जसा कि अस्य प्राणदानती इ यदि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। हमारी मागगति में एक पर आगे बढ़ता हुआ ही चल रहा है तो दूसरा पीछे हटता हुआ ही आगति का भी प्रवक्तक बन रहा है। प्रत्येक गति में आगति अनुस्यूत है। चक्षु पटल भी इस प्राणन-अपानन से वञ्चित नहीं है। माग म चलते हुए दोनों हाथों की गति पर दृष्टि डालिए। यहाँ भी आप को आगात गति ये दोनों भाव उपलब्ध होंगे। शरीर का रुधिर भी सबत्र सञ्चार करता हुए दोनों का अनुग्रहक बन रहा है। कम्म य विश्व में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें एति प्रति दोनों भावों का सम्बन्ध न हो। यही भौतिक जगत् का प्रातिस्विक धम्म है जाकि इसे गायत्रब्रह्म के अनुग्रह से ही प्राप्त है। इसी आधार पर— गायत्री वा इद् सगम् (छा उपानषत्) यहानगम प्रतिष्ठित हुआ है। यही आधिभौतिक-सम्पत्ति है। एति-प्रति-पूर्वक अनुवचन से सर्वसाधारण में सामान्यरूप से यात इस संपत्ति का भी संग्रह हो जाता है। यही एति प्रति भावा मक अनुवचन की पाचवी उपपत्ति है ॥६॥

तापस्य यही हुआ कि आधिदिविक आध्यात्मिक आधिभौतिक तीनों के समकाल से इस अविद्यज्ञ (वैद्यज्ञ दशपूणमास) से दवा मा उपन्न करना है। इस की स्वरूप-सिद्धि के लिए हमें पाच सम्पत्तियाँ अपेक्षित हैं। आधिदिविक संपत्ति पहिली संपत्ति है यजमानानिलक्षण आध्यात्मिक संपत्ति दूसरी संपत्ति है बहिर्वित्तलक्षण आधिभौतिक संपत्ति तीसरी संपत्ति है अतर्वित्तलक्षणा शरीरसंपत्ति चौथी संपत्ति है एवं स्वयं यज्ञकर्म पाचवी संपत्ति है। एति प्रति पूर्वक अनुवचन से पाचों का संग्रह हो जाता है। इसीलिए श्रुति ने पाच उपपत्तियाँ बतलाई हैं। यही गायत्रानुगत एति-प्रति भाव की सर्व याति का सक्षिप्त निदर्शन है जिसके उपासक सतत एति प्रति भाव से युक्त रहते हुए पूण समृद्ध बने रहते हैं।

सामिधेनी-कम्म क्यों किया जाता है? सप्रणव हिङ्कारपूर्वक ही क्यों किया जाता है? ११ १५ १ सरया का क्या रहस्य है? अनवानन का क्या रहस्य है? आद्यत के त्रि-त्रि-आवचन से क्या प्रयोजन अभिप्रत है? गायत्रीछन्द का एवं अग्निदेवता का सम्बन्ध क्यों अभीष्ट है? एति प्रति पूर्वक अनुवचन क्यों किया जाता है? इ यदि उन प्रश्नों की जिनका कि बहिरङ्गभाव से सम्बन्ध है-क्रमिक उपपत्ति बतनादी गइ। अब यहाँ से आगे (सप्तती-कण्डिका से) पद्धतिप्रदर्शनपूर्वक सामिधेनी मन्त्रों की यारया ही आरम्भ होती है। वही क्रमशः पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रही हैं।

वेदि के पश्चिम भाग में अथवा वदिश्रेणि के उत्तर भाग में अवयु के द्वारा बिछाए हुए दर्भासन पर खड़ा होकर होता नाम का ऋत्विक् सर्वप्रथम निम्नलिखित सामिधेनी मन्त्र का तीन बार उच्चारण करता है—

(१) हि-हि-हि-ओम्' प्रगे वाजा अभिद्यो हविष्म तो घृताच्या ।
देवाञ्जिगाति सुन्नुयु -ओम् ॥ (१ ३) ।

हि-हि-हि-ओम् इस सप्रणव हिङ्कार का उच्चार । केवल एकवार प्रथम मात्र के साथ ही किया जाता है । आगे के स पूण मात्र केवल ओम् पू क ही बोले जाते ह । स मात्र को ऋतुपरक भी लगाया जासकता है एव अग्निपरक भी लगया जासकता है । उभयथा अनित व ही अभिप्रत है । कारण इसका यही है कि अग्नि की स य ऋत भेद से दो अवस्था मानी गइ ह । स याग्न स्वस्थान म प्रातश्चित रहता हुआ सम्बसरयज्ञ का साक्षी है जिनेके लिए तद्यत् तत् स यमसो स आदिय (शत ब्राह्मण) यह कहा जाता है । इस सूर्या मक सय (सन्द्य-सशरीरी) आग्न (जिसे गायत्रीमात्रिक वदाग्नि भी कहा जाता है) का जो प्रवय्य भाग है वही केद्र स पति स वञ्चित होता हुआ ऋत कहलाया है । इस ऋत (वायय) अग्नि में ऋतसोम की आहुति होती है । ऋताग्नि दाक्ष्ण ए उत्तर की ओ जाया करता है ए ऋतसोम उत्तर से दाक्ष्ण की ओर आता हुआ इसम आहुत होता रहता है । स ऋतानि तथा ऋतसोम के अत याम नामक चिति (प्रथिव ध) सम्बन्ध से दोनों के पूर्वस्वरूपोपद्न से जो एक तीसरा उभयामक स्वरूप उप होता है उसे ही ऋतु कहा जाता है । इस ऋतुसमाष्ट का ही नाम सम्बसरयज्ञ है । इस प्रकार वही अग्नि ऋताग्नि म आकर सोम के सम्बन्ध से ऋतु बनता हुआ यज्ञ की प्रतिष्ठा बन रहा है । अतएव ऋतुपद् तथा अग्निपद् दोनों का अततोगवा अग्निपद् में ही पथ्ययसान सिद्ध होजाता है ।

वाज अभिद्यव हविष्मन्त घृताची ये चारो भावन्स यज्ञाग्नि के स्वरूप-रत्नक हैं । इही चारो के सम्बन्ध से साम्ब सरिक यज्ञाग्नि स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता ह । वाच सामायत १ अन्न का वाचक माना गया है । वस्तुत वाच उस तत्र का नाम है जो अन्नरूप से सूर्य से भी ऊपर आपोमय परमेष्ठी (जन लोक) में प्रतिष्ठित रहता है । पारमे ठथ अपतव आप-वायु-सोम भेद से तीन भागो में विभक्त है । इनमें जो आप की सोमावस्था है वही वाच है । गायत्री जिस सोम का अपहरण करती है वह भी सोम है चाद्रमण्डन में भी सोम है परन्तु यह वाज नामक परमेष्ठय सोम अपनी तत्रया अवस्था से दोनों से भिन्नधर्मा है । इस ब्रह्मवीथ्य का सम्राहक माना गया है जसाकि-वीथ्य व वाजा (शत ३।३।४।) । इयादि स स्पष्ट है । प्राकृतिक निय हवियज्ञ में चाद्र सोम का सम्बन्ध है साम्ब सरिक योतिष्ठोम में सौररश्मिभुक्त योतिम्मय सोम का सम्बन्ध है । एव प्राकृतिक वाजपेययज्ञ में इस ब्रह्मवीथ्य-प्रवक्तक अतएव ७ ब्रह्मणस्पति नाम स प्रसिद्ध पवित्र वाज नामक पारमष्ठय सोम का

१—'अन्न वै वाज' (तां म ब्रा (१३।६।१३) ।

२—'पवित्र ते पिवत ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत ।

अतप्तननूर्न तदामो अश्नुते श्रुतास इद्रह तस्तत् समाशत'

—ऋक् स ६८३।१।

सम्बन्ध है। अतएव वाजपेय यज्ञ का एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माना गया है —। अतएव इसे बृहस्पतिसत्र भी कहा गया है।

बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति इति उत्तरपा प्रथम के अनुसार परमेष्ठी नामक पूर्वग्रहो के अंत में (परमेष्ठी की सीमा पर) वाजपेययज्ञ के प्रवर्तक बृस्पति प्रातश्छिन है जो कि सुप्रसिद्ध बृहस्पतिग्रह तथा लुधकबन्धु नामक नाक्षत्रिक बृस्पति से सवथा विभिन्न तीसरा पारमर्ष्यग्रह माना गया है। सौर इन्द्र सूर्य्य चन्द्रमा प्रथित्री नामक उत्तरग्रहो से पहिला है। उस ओर की अन्तिम सीमा मे बृहस्पति है एव इस ओर के उपक्रम मे इन्द्र है यही तापय्य है। बृहस्पति ब्रह्मात्मक ब्राह्मण की प्रतिष्ठा है एव सौर इन्द्र क्षत्रामक क्षत्रिय की प्रतिष्ठा है। बृहस्पतिवत् इन्द्र के साथ भी वाजकासवध होरहा है। क्योंकि दोनो सीमापेक्षया समीप है। अतएव आग चलकर श्रुतने वाजपेय का राजय को भी अधिकारी मान लिया है *। सप्रकार वाजपेय का इन्द्र से भी सम्बन्ध अवश्य है परन्तु वस्तु वाजपेय ब्रह्मात्मक ही माना जायगा। इसी आधार पर श्रुति का ब्रह्म वै वाजपेय (त ब्रा १। १२४।) यह निगम प्रतिष्ठित है। इस वाज के सम्बन्ध से ही पारमर्ष्य आग्यपशु वाजी कहलाया है। इस वाजी प्राण का जिस अश्वजातिवशेष मे प्राधाय रहता है उस अश्वजाति का भी वाजी कहा जाता है।

प्रकृत में उक्त वाज-स्वरूप दिग्दर्शन से यही बतलाना है कि वही पारमर्ष्य वाजरस की दूसरी अवस्था का नाम यातिस्मय सोम है जिसकी आहुत स ही सौर कृष्णाग्नि योति मय बना हुआ है। तृतीयावस्था चान्द्रसोम है। चौथी अवस्था ओषधिया (गोधूमादि अन्न) है। चाद्रसोम ही प्रवग्य सम्बन्ध से ओषधियो का स्वरूप सम्पक बनता है। पशुओ में भी पर परया वही वाजरस प्रतिष्ठित है। ऋतुएँ (ऋताग्नि) भी इसी वाजरस मे परिपुष्ट ह। वाजरस की इसी याति के आधार पर निम्न लिखित निगम प्रतिष्ठित हैं—

१—“वाजो वै पशवः” (ए ब्रा ५। ८।)

२—“ओषधयः खलु वै वाजाः” (तै ब्रा १। ३। ७। १।)

३—“ऋतयो वै वाजिनः” (शत ब्रा २। ४। ४। २२।)

यह वाजरस सत्रथा अग्नि को समिद्ध करने वाला है। पारमर्ष्य वाज ब्रह्माग्नि की योतिस्मय वाज सम्भ्रसराग्नि की चाद्रराज ओष यानि की एव आषधिवाज शारीराग्नि की प्रदीप्ति

— स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञ यदनन बहस्पतिरयजत। ब्रह्म ऋति बहस्पति ।

ब्रह्म हि ब्राह्मण । (शत ५। १। १। ११।)

*— अथो राज यस्य (वाजपेय) — यदेनेन — इन्द्रोऽयजत । क्षत्र हीन्द्र क्षत्र राज-य ’ (शत ५। १। १। ११।)

का कारण बन रहा है। क्योंकि वाजरस स आ न समिद्ध रहता है अतएव इस हम अवश्य ही अग्नि का स्वरूप—रक्षक कह सकते हैं।

दूसरा रक्षक है— अभिद्यव । पक्षाग्नि का ही नाम अभिद्यव है। अवयवी की रक्षा पुष्प तुष्टि तपि अवयवों की रक्षादि पर ही निर्भर है। स य सरा न अयवी है पक्षाग्नि अवयव है। अन अयवा स ही उस अवयवी की स्वरूप रक्षा होरही है। अत इन अभिद्य नामक पवानियों को हम आनस्वरूप रक्षक मान सकते हैं।

हृवि से ओषधिरूप अन्न भातिक शरीर दोनों अभिप्रत है। भोगक शरीर आयतनरूप स आग्नि का रक्षक है एव अन्न आहुतिरूप से अग्नि की रक्षा करता है। अन्न एव भूत दोनों ही मय होने से पशु है। अतएव श्रुत ने हृविष्मन् का पशु अथ कया है।

आतारद्वय वायु म आ य की मात्रा प्रतिष्ठित रहती है जसा कि घृतमन्तरिक्षस्य (गत । ३२।३।) इयाद से प्रमाणित है। वसी आयाहुति स आग्नि अशियरूप म समिद्ध रहता है। आयाहुति देने वाले पायु हैं यही प्राकृतिक यज्ञ के जुद्ध स्थानाय घृताच्चा है। इसप्रकार मात्र म पाठत वाजादि चारो शब्द अग्नि समि वन का भाव ही स्पष्ट कर रहा है। इन चारो रक्षका से युक्त उस दि यानि का यहा आधान ही प्रकृत अनुवचनक म से आभप्रत है। उसके अ धान स स्वगसुपाया (सुम्नुयु) यजमान यज्ञ के द्वारा दियदवताओं की स पत्ति प्राप्त करने म समय होजाता है। इसी सामयिक अथ को लक्ष्य म रख कर मत्र ने कहा है कि—

हे अने ! घृताची के द्वारा वाज पक्ष पशु आदि सम्पत्तियों (आपको समिद्ध बनाने के लिए) प्रादुर्भूत होता है। इनके प्रादुर्भाव से (आपके समिद्ध बन जाने पर) यज्ञकर्त्ता यजमान देवभाव को प्राप्त करन म समर्थ होजाता है।'

उक्त ऋचा में क्योंकि प्र उपसर्ग आया है अतएव इसे हम प्रवती ऋचा कहगे एव इसे गायत्री के प्रति (गच्छति) भाव का सम्राहक मानगे। इस प्रथम मत्र के त्रिराष्ट्रात्तपूर्वक अनुवचन करने के अनंतर होता निम्न लिखित (मौलिकरूप से दूसरी तथा सरया क्रम स चौथी) सामिधेनी का अनुवचन करता है—

(२) 'ओं अग्नि आयाह वीतये गृणानो ह्यदातये ।

नि होता सत्सि बर्हिषि-ओम् (४) इति ।

प्राकृतिक दि-याग्नि स्वमण्डल से भूलोक की ओर आता है। यहा भलाक ही उसकी प्रति ठा बनता है। इस भलोक को याज्ञिक परिभाषा में बर्हि कहा जाता है। पितृपरिभाषा में आग्नेय सौम्य समशी तोष्ण भेद से तीन प्रकार के अन्नपितर मान गए हैं। सूर्योपलक्षित ध्रुलोक आग्नेय बनता हुआ उष्ण है। चन्द्रपोलक्षित अ तरिद्ध सौ य होने से शीत है। एव भलोक अग्नि सोम के समसम वय से अनुष्णा शीत (न उ ण न शीत) है। इस अनुष्णाशीत भलोक का निदान बर्हि (दभ) माना गया है। कारण

इसका यही है कि पारमष्ठ्य शीत अपतव का जो गग सौरमण्डल के अग्नि से मलकर वेन कहलाता है वही अप् अग्नि के समरम वय से अनुष्णाशीत है। अग्नि के सम्बन्ध से पानी का शय हट जाता है ए अपस बन्ध स आग्नि की उष्णता शांत होजाती है। ऐमे अनुष्णाशीत वनतव से ही बर्हि (म्भ-डाम) की उत्पत्ति हुई है जसाकि पून में भाय के प्रथमवण्डातगत दर्भा पत्ति-त्रिज्ञान प्रकरण में अवस्तार से बतलाया जाचुका है। इसी सादृश्य से बर्हि को तत्समानधर्मा भूलोक का प्रतिरूप मान लिया गया है। इसी आधार पर ि गानिगत पितरो को अनिष्वात्ता आतरिद्वय सोमगत पितरों को सोमसत् एव अनुष्णाशीत भूलोकस्थ पितरो को बर्हिषत् कहा गया है। यहां इससे यही बतलाना है कि द्युलोक स आने वाले दि याग्नि की प्रातष्ठाभूमि व भूलोक ही बनता है जिसे निदान-विग्र से बर्हि कहा गया है।

प्रसङ्गत य और यान रचना चाहिए। एक पार्थिव अपतव तथा दिव्य अनितत्त्व दोना के समन्वय से ही पार्थिव-प्रजा की उत्पत्ति हुई है। सौम्य शुक्रभाव अग्नि-गर्भित अपतव है एव आनेय शोणित सोमगर्भित आनव है। दोनो का दाम्प्यभाव ही प्रजास्वरूप का कारण है। इम दृष्टि से प्रजा को भी बर्हि कहा जासकता है। ओषधिया में भी पार्थिव अग्नि वृष्टिजल रूप से दोनो का समवय है अत इह भी बर्हि कहा जासकता है। चतु पाद पशुओं में भी पार्थिव अब्रस तथा दिव्य अनिरस का समसमवय है। अत इह भी बर्हि कहा जासकता है। इसप्रकार अत्रिग्नि-समवित अनुष्णाशीत तव की दृष्टि से बर्हि गान्द निदानेन अनेक स्थानों में अभियात होरहा है *।

द्युलोक से चलकर स बर्हि (भूप्रष्ठ) पर आने वाला वह अग्नि अपने माथ प्राणदेवताओं को भी लाता है। अग्नि सर्वा देवता के अनुसार प्राणिग्नि के गर्भ में ही स पूण दिव्यदेवता प्रतिष्ठित है। इस आह्वानलक्षण सहप्राणित्यम से भी इस भूलोकस्थ दिव्य अग्नि को हाता कहा जासकता है। साथ ही यह पार्थिव रसो का आदान करता हुआ इससे देववृत्ति का कारण बनता हुआ हवन साधक बनने से भी यह होता कहा जासकता है। आगत अग्नि का पहिले स्वयं भा पार्थिव अन्नरस से संबन्ध होता है। अनन्तर इस हवि का प्राणदेवताओं से संबन्ध होता है। यही उस अग्नि का मुख्य कर्म है। प्रकृत मंत्र ने इसी अग्निर्कर्म का वैधयज्ञ की दृष्टि से स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—

हे दिवाग्नि ! आप पार्थिव रसरूप हविर्भक्षण के लिए तथा प्राणदेवताओं में इस हवि को पहचान के लिए [द्युलोक से भूलोक पर्यंत] याप्त होते हुए भूलोक में पधारिए।

* १- अय वै लोको (भूलोको) बर्हि' (श १।८ २।११।)

— 'प्रजा वै बर्हि' (तै ब्रा १।६।३।१ ।) ।

— 'ओषधयो वै बर्हि' (शत०।१।३।३।६।) ।

— पशवो वै बर्हि (ऐ ब्रा ५।२।७।) ।

— 'शरद्वै बर्हि' (शत १।३।४।१) ।

यहा होता क रूप स इस बहि [भूलोक] पर पिराजिए [ब्रुलाक से भूलोक पर्यंत अग्नि का प्राप्त होना हा इम आविर्भाव पक्ष म अग्नि का स्तवन-कर्म है) ।

‘हे दि याग्न ! (होता के सामिधेनी कर्म स बुलाए जाते हुए) आप यज्ञिय-हवि ग्रहण क लिए, तथा इस हवि को देवताओं म पहुँचाने के लिए इम यज्ञमस्था मे पधारिए, एव इस कुशासन पर होता उन कर पिराजिए ।

उक्त ऋचा म क्योंकि आत् उपसग आया है अतएव से आगती ऋचा का जायगा । एव से गायत्री के एति (आगच्छति) भाव का ही सम्राहक माना जायगा । इसप्रकार न दानो के अनुवचन स होता एति प्राप्त भाव का ही समग्र करने म समर्थ होजाता है जसाक ब्राह्मण की सातवी काण्डका से स्पष्ट है ॥ ७ ॥

यज्ञातेक ियता स मन्त्र ध रचन वाले कर्मों का वज्ञानिक रहस्य अवश्य होता है । पर तु उसका सम त्रय श्रौत-पद्धतियों निगमानुगमवचन-प्रमाणो के आवार पर ही करना चाहए । अपनी क पना से चाहे जो उपपत्ति मानते हुए पद्धति के विरुद्ध जाना विज्ञानस मत नहीं । किन्तु अज्ञानस मत ह । वामान युग में तो ऐसे वदवज्ञानिको की कमी है ही ही * । किन्तु पुरायुग म भी किसी किसी की विज्ञान का अजीण होता था । पद्धति के अनुसार उक्त दोनो मन्त्र प्र-आ के स व ध से क्रमशः स्पष्ट ही यद्यपि पराक-अजाक दोनो भावों के सम्राहक बन रहे है । परन्तु वैज्ञानिक -व धुओं पद्धति विरुद्ध अपने यक्तिवविमोहन स यह क पना कर डाली कि प्रयो जाना और अग्न आयाहि दोनो ऋचाएँ गायत्री के प्रति भाव का ही समग्र कर रही है । उपपत्ति प्राप्त नसकी यह बतला रहे है । क प्र इयादि तो प्रतिभाव से सम्बद्ध है ही । एव अ न अ स आगमन बतलाया है वह जहा से (ब्रुलोक से) इसका आगमन होता है व । के देवताओं की अपेक्षा । इसका परा गति रूप प्रयाण ही सिद्ध होता है । सम्भवत इन वज्ञानिको को यह न सूझा कि इस समय उस यजमान के यज्ञ में इन मन्त्रो का प्रयोग होरहा है जिसकी अपेक्षा अग्न आयाहि का अथ अर्वांगगतिलक्षण आगमन ही होसकता ह । फलत उक्त मत का भलीभाति अवज्ञानिक व सिद्ध हो जाता है ॥ ८ ॥

पूव में दानो मन्त्रो का जो वज्ञानिक अर्थ हुआ है उस श्रुत अपने शब्दो में स्पष्ट करती हुई कहती है कि प्रेति भावामिका प्रथमा ऋचा के प्रयो जाना नस पद का राज शब्द अन्न का अभिद्य शब्द पक्षों का एव हविष्मत शब्द पशुस पात्त का अनुग्रह क है जसाकि पूव मे स्पष्ट कर िया गया

*- यक्तिवविमोहनात्मिका इथभूता वदभक्ति का ही यह दु परिणाम है कि आज अपनी मायताओं के अनुसार युगध मानुगता वच माना राजनीति समाजनीति सा यथाद आद आदि के अनुबध से वद के अनेक कल्पित अर्थ किए जा रहे हैं जिनका वद के पारिभाषिक समवय से सस्पश भी नहीं है ।

है। वाज्र अभिद्यव हाज्रध्मत घृताची इन चारों की एक दूसरी वज्ञानिक यरया का भी सम यय कर लीजए। यज्ञक म स दवा मा उ पन्न करना है यह अनेक बार कहा जाचुका है। उ पन्न प्रजा की समृद्धि जिन भावो स स बद्ध है इन चारो श दो से उह्नी समृद्धियो की प्राप्ति हुई है। अन्नसम्पत्ति पशुस पत्ति वीय्यस पत्ति और भा यशक्ति ये ही व चार समृद्धिया ह जिन से प्रजा सुसमृद्धा मानी जाती है। अन्नसम्पत्ति का वाज्र से पशुसम्पत्ति का हृदि मत्त से ग्रहण हुआ है। जिसप्रकार त्रिवृत् ६) सरया अग्नि त व स समतुलित है स ही पञ्चदशसरया इ द्रत व से समतुलित है। यही इ द्रत व प्राणरूप स भोक्ता बनकर अ या मसस्था में प्रतिष्ठित रहता है। अभिद्यव श द पन्न का वाचक है। पन्न १५ सरया का अनुग्राहक है। यह सरया भोक्ता द्रप्राग की अनुग्राहिका है। इसप्रकार परम्परया अभिद्यव श द भो यशक्ति का ही सग्राहक बन रहा है। भाक्ता को भोग्य अन्न पशु से स वत् बनाए रखना वीय्य का काम है। घृताचा पद उसी अग्निनी य (अन्नादनीय्य) का सग्राहक बन रहा है ॥ ६ ॥

मत्र में घृताच्या प है। आग्नसमि धनकम्म में प्रयुक्त होने वाली ऋचा के घृताच्या पद का अ य सब पदो की अपेक्षा विशेष महव है। अति ने एक रातन मानुष ज्ञातवृत्त क द्वारा * स पद के वसी महव का समथन किया है। बहुत स भव है कि ऋतिपय पाठक अभिनिवशवश इस आख्यान को मानुषेतिवृत्त न समझ। परन्तु जिन स्पट श दो में आत ने स्थान नाम घटना नदी पत्रत राजा पुरोहित-ग्राम कृषियोग्य भूम ब्राह्मणानास रा यसीमा आदि भावविशेषा का आख्यान में उ लेख किया है उह्ण सामने रखते हुए प्रस्तुत तिवृत्त क मानवेतिवृत्तता में यत्किञ्चत् भी तो सदेह नहीं रह जाता। जिस अपौरुषेयता की रक्षा के लिए हमारा कतिपय पाठक मानवतिवृत्त स पराडमख होते है उनका वह भय उस समय दूर होजाता है जबकि व वदापौरुषेय व का वास्तविक ता प य समझ लेत है जिसका कि उपनिषद्भि ज्ञानभाष्यभूमिका-परण्डत्रया मका में महारम्भ से प्रतिपादन हुआ है। अस्तु प्रकृत म त्स औत आख्यान को विशुद्ध मानवतिवृत्तपरक मानत हुए ही हमें कथानक का सम वय करना है।

सुप्रसिद्ध स्यय भू ब्रह्मा के मानसपुत्र अतएव स्वाय भुव नाम से प्रसिद्ध विवस्वान् नामक आदिय स्ययवश के आदिप्रवत्त क माने गए है। नके श्रद्धादेव तथा यम नामक दो औरसपुत्र उ पन्न हुए। यही श्रद्धादव भारतवष के प्रथम सम्राट क लाए सा य ही ये विवस्वान् के पुत्र होने से वैवस्वत मनु नाम से भी प्रसिद्ध हुए जसकि- मनुवैवस्वता राजेत्याह। तस्य मनुष्या विश (प्रजा)। तऽइमऽआसत इयश्रोत्रिया गृहमोधन उपसमेता भवन्ति (शत ब्रा १३।३।३।६।) इयादि वाजिश्रुति से पमाणित है।

भारतवष के प्रथम सम्राट श्रद्धादवमनु अवश्व थ परन्तु इनका यहा स्थायी निवास नहीं हुआ। अपितु ये जीवनपय्यन्त अपनी ज मभूम उत्तर * कुरुक्षेत्र में ही रहे। इनके इक्ष्वाकु-प्रमुख १ पुत्र थे एव इला

*-मानवचरित्रानुगता एतिहासिक घटना के द्वारा

* यह कुरुक्षेत्र उस प्राचीसरस्वती के सन्निकट था जिसे आज बालकशर्फील कहा जाता है जो कि आज भी उत्तररूस में प्रवाहित है। भौम-मनुष्यदेवत्त इची में अवभृथस्नान (यज्ञातस्नान) करते थ। इसी कुरुक्षेत्र की प्रतिकृति पर भारतवष में भी कुरुक्षेत्र यवस्थित हुआ था।

नाम की एक कथा थी। द्वाक ही अयो यापात सूर्यवशी प्रथम भारताय मग्रा यहा क निनासी उने। ये ही अगली पीटियों के मूलपुरुष मान गए। एव नला से आग जाकर चन्द्रश का विकास हुआ जमाक बहिरङ्गपरीक्षात्मक-गीताभूमिका प्रथमखण्ड के सम्भसङ्गति नामक प्रकरण म विस्तार से प्रतिपादित है।

इसी सूर्यवश मे उ पन्न महाराज निमि के साथी हमारे प्रकृत तिवृत्त का सम्बन्ध है। आज जो जनकादि विदहो का स्वतन्त्र राज्य इतिवृत्तो म सुना जाता है किमी समय व अयो या-राय म ही अन्तभूत थे। विदहो के पूर्वपुरुष अयाध्या मग्रा क साम त राजाओ (कुटुम्बियों) म से थ। दोनो के कुलपुरोहित महर्षि वसिष्ठ थ। एकवार विदहो के पूर्वपुरुष महाराज निमि ने यत्न करन की वृच्छा से कुलपुरोहित वसिष्ठ का आम वरण किया। उस समय वसिष्ठ दवताओ क शाश वित्त यज में ऋत्विक् वन वृत्त होकर स्वर्ग (प्राग् मेरु प्रदेशस्थ भामरुग) जाने वाले थ। वना के अनुोध को महव दत्त हुए वसिष्ठ स्वर्ग चले गए महाराज निमि को कुलपुरोहित की यह उपक्षा असह्य हुई। फलस इहोन मर्यादा-विरुद्ध उस समय के प्रसिद्ध याज्ञिक रहुगण क पुत्र अतएव राहुगण इस उपनाम से प्रसिद्ध महर्षि गोतम के सहयोग से अपना यज्ञकर्म सम्पन्न करा लिया। थाड समय पाछे स्वर्ग स परावात्त होने पर जब वसिष्ठ न यह सुना कि निमि ने गातम के पोरोग म यज्ञ स पादन कर लिया है तो उहोन मर्यादाभङ्गनिमित्त निमि को यह शाप द डाला कि तुम इसी क्षण इस यज्ञाग्नि स नष्ट हानाओ। राजा भी पहिले स तो क्रुद्ध थ ही वसिष्ठ के स शाप से ओर भी उत्त जित राजा के मुख स भी यह निकल पडा कि आप का भा नाश हो। परिणामत दोनो ही भस्मीभत होग।

महर्षि गोतम के स मुख ही यह घटना घटित हुई। उस ब्रह्मवत्ता सवसमय ऋषि ने दोनो के भस्म का सञ्चय कर अरण से अग्नि म थन आर म किया। म थन प्रक्रिया से उ पन्न यज्ञाग्नि म आहुत दकर दोनो को पुनर्जीवित कर दिया। क्योंकि महाराज निमि का पुन प्रादुर्भाव मन्थन से हुआ अतएव यहा स ये मथु नाम से प्रासद्ध हुए। इही को यत्र तत्र मिथि नाम स भी यत्रहृत किया गया। उन मथु के पुत्र ही आगे जाकर विदेह माथव नाम से प्रसिद्ध हुए।

उक्त घटना की लानि का विदेह माथव के ऊपर यह प्रभाव प। कि उहोन भविष्य के लिए अयत्र चला जाना ही अयस्कर समझा। इस सकप को पूरा करने के लिए उहोन अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि का वागिन्द्रिय से सयम करते हुए यह प्रतिज्ञा की कि जहा जिस प्रदेश मे हमारा वैश्वानर अग्नि वागिन्द्रिय के द्वारा बाहिर निकल जायगा उसी स्थान म हम अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करेगे। यह सकप कर महाराज माथव वश्वानर का सयम कर राहुगण गोतम को साथ लेकर चल पडे। आगे आगे माथव चले जा रहे थ पीछे पीछे गोतम अनुगमन कर रहे थे। गोतम ने अनेक बार लाकिक भाषा में विदेघ का सम्बोधन किया उनके इसप्रकार अकस्मात् राज्य छोडकर आगे बढ़ने के कारण की जिज्ञासा व्यक्त की। परन्तु विदेघ ने अनेक बार प्रश्न करने पर भी उत्तर नहीं दिया। गोतम उनका वाक सयम न तोड सके। विवश होकर गोतम को उस मात्रशक्ति का आश्रय लेना पडा जिसका फल अयथ माना गया है। उहोन निश्चय किया कि विदेघ ने किसी विशेष लक्ष्यसिद्धि के लिए ही अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि

का समय किया है। अतएव इनके वस वश्वानरानि को प्रदीप्त किए बिना ये को उत्तर नहीं दग। अत मन्त्रवाक से इस समय का तोत्र ही चाहिए। यह निश्चय कर गोतम कहने लग—

“वीतिहोत्र त्वा कवे धमत्त समिधीमहि । अग्ने वह तमधरे” ।

अत मन्त्र से अग्निसमि धन कर स आभप्राय से कि अब माथव का समय अवश्य टूट जायगा गोतम ने उच्चस्वर से सम्बोधन करते हुए कहा है । परन्तु काइ परिणाम न नि ला। पुन गोतम न । नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया—

उदग्ने शुचयस्तव आज त ईरते । तव ज्योताष्यर्चय ” ।

गोतम का यह प्रयास भी व्यर्थ गया। अत में उनके मुँह से तीसरे मन्त्र के तन्वा घृतस्नयीमहे इस भग का निकलना था कि माथव का समय टूट गया। चिरकाल से सत ी व आग्न घृतपद के स व ध मात्र से प्रज्वलित होपडा। अब गोतम स अग्निको अपनी आ यागिक सस्था में न रख सक। अत प्रज्वलित अग्नि बाहिर आपडा (माथव बाल पड)। जिस समय यह घटना घटित हुई उस समय माथव विदेघ सरस्वती नदी के समीप विद्यमान थ। यहा से आर म कर आगे का सदानीरा—पथ्यत का सम्पूर्ण भूप्रदेश पिदमान था कावालीकृत था जल से अक्षेत्रवत् था एकप्रकार स जलपूरित बङ्ग ही भूप्रदेश था।

यहा वाकसयम टूट जाना माथव ने एक दवी सङ्कत समझा और इसीलिए यहा स अपने सकपित स्वतत्र रा य की आरम्भमीमा मानली। अग्निस्थापन हुआ यज्ञारम्भ हुआ। और और ब्राह्मणों से भी स्व तत्र यज्ञानुष्ठान करवाए गए। इन यज्ञाग्नियों से उस अक्षेत्र भूप्रदेश की आद्रता हटाते हुए इस भूप्रदेश को निवास योग्य बनाते हुए माथव आगे बढ़ते गए। यहातक कि स पूरा सरस्वतीक्षेत्र को अग्नियज्ञो से सुखाते हुए वे सदानीरा नाम की नदी के तट पर जा पहुच जोकि सदानीरा उत्तरगिरि से निकली है। यही नदी करतोया सदानीरा बाहुदा इयादि नामों स प्रसिद्ध है। त्समें एक हाथ जल सदा बना रहता है इसलिए इसे करतोया कहा गया है। इसका पानी घोर गर्मों मे भी अक्षुण बना रहता है अतएव इसे सदानीरा कहा गया है। सुप्रसिद्ध स्मृतिकार यायमन्त्री लिखित के येष्ठ भ्राता शङ्ख की आज्ञा के बिना फलग्रहण—जनित अपराध के दण्ड के लिए लिखित का बाहु कटना दिया गया था। अत में इसी नदी में वरुणाराधन के द्वारा शङ्ख ने कनिष्ठ भ्राता के बाहु की पुन प्राप्ति की थी। इसीलिए इसे बाहु । कहा गया है। यही नदी लोकभाषा में कुरही नाम से पुकारी जाती है। यही विदहराज्य की पूवसीमा का नि र्माण करने वाली हुई। बहुत स भव है यह गण्डकी नदी हो जिसका भागीरथी में सङ्गम होता है।

इस नदी से इम और ही क्योकि यज्ञाग्नि का सम्ब ध हुआ अतएव उसी समय से यह नियम बन गया कि यह नदी यज्ञाग्निस ब्रधविरह से अशुद्ध है। अत जो त्सका तरण करेगा वह—प्रायाश्चत्ती माना जायगा जैसा कि— करतोया बिलघनात् इयादि से स्पष्ट है। यही नदी कोसलविदेहों की म यसीमा

मानी गर्भ । यही दोनो वशो के वैवाहिक सम्बन्ध का कारण बना । क्षत्रियो का वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितगार्भों से ही होता है । इस घटना से पाहले दोनो के बलपुराहत वासष्ठ थ । एव तवतक् मासल विदहा का वैवाहिक सम्बन्ध अमर्यादित था । परन्तु उक्त यज्ञघटना को लेकर जब गोतम ऋषि उनदहा के पुरोहित न गए तो वैवाहिक सम्बन्ध मर्यादित बन गया ।

वही विदह दश आज अतरहुत नाम म पाराणत होगया है । उस दश के निवामी यद्यप आज मैथिल कहलात ह । परन्तु वस्तुतः मथु राजा के सम्बन्ध स माथय ही कहना चाहए जसा कि—ते हि माथया इयादि श्रुति स स्पष्ट है । यर् मथु के स्थान में मयि पाठ है तो मथिल शब्द भी सुसङ्गत माना जासकता है ।

यह है—आर्याण का सक्षिप्त स्वरूप । प्रकृत सामिधेनी प्रकरण स मका यही सम्बन्ध हे । क घृत पद मे माथव के सुग्वाग्नि का समिधन हुआ था । स स स्पष्ट है कि घृत प समिधन का अन्यतम कारण है । क्योंकि यहा वही समिधन क म अभिप्रत है अतएव घृताच्या कहना अत्यन्त उचित है । कहा गया है कि घृताच्या पद वीथ्यभाव का सम्राहक है । इसी अभिप्राय से कहा गया है— वाय्यमवास्मिन् दधाति — (२ वी कण्डिका) १ ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १ २ २२ न यारह कण्डिकाओं में इतिवृत्तपू क उक्ताथ का ही स्पष्टीकरण हुआ है ॥ (२) ॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है— देवान् जिगाति सुन्नुयु यह । सकी यारया करती हुई श्रुत कहती है कि आन यह यजमान (मनुष्य होकर) इस यज्ञाग्नि क समिधन क प्रभाव से उन दिव्यलोकस्थ प्राणदेवताओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है । भला उस दिव्याग्नि प्रभाय का क्या कहना जो एक भूलोक निवासी मनुष्य को देवसम्पति से युक्त करदे । श्रुति इस कथन से अग्नि का ही महत्व सूचित कर रही है ।

प्रकृत मन्त्र से यद्यपि स्वरूपत अग्निदेव का ही प्रतिपादन हुआ है जसा कि पूर्वव्याख्या से स्पष्ट है । परन्तु मन्त्र में कही अग्नि का नाम नहीं है । अतएव आग्निरूपात्मिका बनती हुई भी य ऋचा अनिरुक्ता है । सबसम्पत् सिद्धि का अत्यन्त द्वाय अनिरुक्तभाव ही है । क्योंकि अनिरुक्तभाव आनरुक्त सबकामपरक प्रजापति का सम्राहक बना हुआ है । अनिरुक्ता सामिधेनी का अनुवचन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही सक्षिप्त उपपत्ति है ॥२१॥

प्रथम मन्त्र पदो की यारया समाप्त कर अब श्रुति— अग्नि आयाहि इयाद द्वितीय मन्त्र—पदो की यारया करती है । यह ऋचा आङ् उपसग के सम्बन्ध से गायत्री के अर्वाचीरूप का सम्राह कर रही है यह तो उक्तप्राय ही है । अब उस वीथ्य पद के रहस्याथ पर दृष्टि डालिए जिसके लिए श्रुति ने एक महत्वपूर्ण लोकोपत्तिप्रज्ञान उद्धृत किया है ।

सुप्रसिद्ध आपोमय गरमण्य मण्डल ही लोकस पात का मूलाधिष्ठान माना गया है । चतुस्र ब्रह्मा के आपोमुख से ही लोकासृष्टि हुई है जसा कि—पूव में अपाप्रणयनकर्म्मोपपत्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है । यद्यपि परमेष्ठी स ऊपर का स्वयं भू लोक प्राणमय माना गया है तथापि— प्राणा वा आप

(ता ब्रा ६.६।४।) आपो वै प्राण (शत ३।२।१।४।) प्राणो ह्याप (ज उ ३।१।६।)-
 आपामय प्राण (छा ३ ६।६।४।) यदि निगमो के अनुसार स्वयं भू का वह प्राणत व भी
 अप-सम्पत्त स वञ्चित नहीं है । स्वायं भुवी आप प्राणामिका है यही वागा मक प्राण पारमेष्ठ्य अपत व
 की प्रथमावस्था है जसाकि- सोऽपोऽसृत्त वाच एव लोकात् प्रागेव साऽसृत्त (शत ६।१।१।१।)
 इत्यादि से प्रमाणित है । जिसप्रकार स्वयं भू का अपत व प्राण माना गया है एवमेव परमेष्ठी या अम्भ
 सूर्य का मरीची चन्द्रमा का श्रद्धा एव पृथिवी का अपत व मर कहलाया है (ऐ उ १।) ।
 वस दृष्टि से इस अपत व की सब याति तथा स्वरूपता भली-भाति सद्ध होजाती है । अपत व की इसी
 सब याति को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

‘ सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा एषोऽग्निश्चित । आपो वै सर्वे दना,
 सर्वाणि भूतानि । ता हैता आप एषोऽग्निश्चित । तस्य नाया एत परिश्रित ’

—शत १ ५।४।१।४।+

पारमेष्ठ्य आपामय मण्डल में अर्बु रूप भृगु-अङ्गिरा की प्रतिष्ठा मानी गयी है । आपो
 भृगु-अङ्गिरोरूपमापो भृगु-अङ्गिरोमयम् इस गोपथश्रुति के अनुसार पारमेष्ठ्य आप भृगु (स्नेहलक्षण
 आप) से युक्त है । किंवा यह अपत व ही भृगुवाङ्गुरोग्य है । भृगुरूप आप के गभ म अङ्गिरारूप प्रा
 ऋतरूप से सबत्र प्रतिष्ठित माना गया है । पारमेष्ठ्य असुद्र इन अग्न्या मक अङ्गिरापुञ्जो से आपूयमाण
 । सवथा गतिशील इन अग्निपुञ्जो को ही धूमकेतु कहा गया है । साहस्री-विज्ञानवत्ता महर्षियोन उस
 अपसमुद्र में अग्निपुञ्जलक्षण ऐसे एक सहस्र धूमकेतु मान हैं * । ये धूमकेतु अपनी अपनी विशेष अवस्थाओं
 के सम्बन्ध में किरण वक्रशिख विशिख ब्रह्मादण्ड द्विशिख त्रिकच तस्कर कोङ्कम तामसकीलक
 विश्वरूप अरुण गणक इत्यादि विशेष नामों से व्यवहृत हुए हैं । इही धूमकेतुओं में से कोई एक
 केतु हमारी रोदसीत्रिलोकी का ज मदाता बना है ।

पारमेष्ठ्य मण्डल में ऋतरूप से यात अग्नि-वाला-पुञ्जामक-प्रवलवग से परिभ्रममाण धूमकेतु-
 लक्षण अङ्गिरा ही काल पाकर एक रणा पर सञ्चित होने लगता है । यो यो अग्निक्षण एक नियत बिन्दु
 पर सञ्चित होने लगते हैं या यो पिण्डामक सयमान का उदय होने लगता है । इसप्रकार काला तर में
 उस धूमकेतुरूप अग्निपुञ्ज के सञ्चित प्रवयरूप से सूर्य नामक सय-अग्निपिण्ड स्वतन्त्ररूप से प्रकट

+ “अप्सु त मुञ्च भद्र ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिता ।

आपोमया सर्वरसा सर्वमापामय जगत ॥

—महाभारत

* शतमक त्रिकमेके सहस्रमपरे वदति केतूनाम् ।

बहुरूपमकमव प्राह मुनिनारद केतुम् ॥

—बहत्सहिता कतुचाराध्याय ११।५।

हाजाता है। धूमकेतु ही सूर्य का जनक बनता है। क्योंकि स्वयं धूमकेतु गतिशील है अतएव तन् पञ्च सूर्य पण्ड भी स्वस्थान में प्रतापित रहता हुआ प्रबल वगस अगावधि परिभ्रममाण होता हुआ परमानी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है।

कल्पना कर लीजिए अभी सूर्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ समय पारमथ्य समुद्र का ही साम्राज्य है सब ओर पानी ही पानी है और इस पानी में कराडों की सूर्य त अपनी आप्त रहते हुए आग्निपुञ्जरूप धूमकेतु अतएव से ततस्तत चक्कर का रहे ह। तन्मे से किसी एक धूमकेतु को लक्ष्य बनाकर लोकगृह का सम वय अपोद्धत है। स्वयं यह धूमकेतु भी ऋता नरूप ही है एतज्जम अपसमुद्र म यह आप्त है वह भी ऋत ही है। इस ऋत समुद्र में प्रति ठत ऋत अग्निपुञ्ज के अलातचक्रान् घूमने म काला तर म अग्निपुञ्ज का सर्वांगभाग वस से प्रवृत्त हागया और स पाथक्य का कारण बना गतिविभेद एत गतिविभेद का कारण बना अ नपुञ्ज का ऋतभाव। या यह अग्निपुञ्ज सय होता ता स का म प्रणरूप अवारपारीणरूप से समानगात से ही युक्त रहता। परतु ऋतभाव के कारण इसनी प्रात्रदु गात म धम्य बना रहता ह एव यही गतिवषम्य ग्रहोपग्रहभाव का जनक बनता है।

यद्यपि जम केन्द्रभाज के आगार पर मन गतिसाम्य बतलाया है वहा मा एकदृष्ट से घाटकायत्रवत् गातवषम्य बना हुआ है। थाप यह गतवषय केन्द्र का परि याग ननी करता। कवल इसां लक्ष्य स तस गात को समानगति मान लिया गया है। सूर्यकेन्द्र स सम्पूर्ण सौरराशमया बद्ध ह। स्वस्थान म पारश्रममाण सूर्य की सभी राशमया पारभ्रममाणा है। साममण्डल उत्तरात्तर बृहत्प्रदेश स युक्त है। फलत राशमयो की प्रातत्रि दुगात साममण्डलों के उचावच मस्थानो स विषम बन रहा ह। पर भी क्योकि प्रत्येक राशम सूय-केन्द्र स बद्ध है अतएव राशमगति राशम के किसी पव को सूय स पृथक् नही होने दती। यनी अब था घटिकायत्र की है। घटिकायत्र (घड़ी) की उस बड़ी सूची (सुइ) पर दृष्टि मालाए जो १ घट के ६ मिनिटो का पारज्ञान करारी है। घाटका-केन्द्र स बद्ध सूची चारो ओर की घाट १-पाराव स लगन रहती दइ चारो ओर घूम रही है। केन्द्र स परिाध पयत का घटिका-प्रदश उत्तरोत्तर बडा है। अत केन्द्र से आरंभ कर घटका परिाध पयत आप्त सूची की प्रातात्रु की गति उत्तरात्तर बृत् प्रशपारभ्रमण से सम्बन्ध रखरही है। अतम त्रिदु को सत्र स बडा मण्डल पूरा करना पडता है पूव पूव त्रिदुओ को क्रमश छुटे मण्डल। यहातक कि केन्द्रविदु को कुछ भी समय नभी लगत क्योकि वहा मण्डल का अभाव है। यदि घटिकायत्र में सूची को बद्ध रणने माला सयभाव (केन्द्र) न होता तो पारणाम वस त्रिदुगति-वषय का यह होता कि सूची पण्ड पण्ड रूप म पारणत हाकर घाटकायत्र से पृथक् ही होजाती। क्योकि उस समय इन विषमगतियो को समभाव में परिणत करन माला कोइ नानयन्तास्त्र नही रहता।

ठीक यही अवस्था हमारे तस सयभावशूय (केन्द्रराहत) ऋताग्निपुञ्ज (धूमकेतु) की समझिए। ऋताग्निपुञ्ज प्रबल वगस घूम रहा है यह बतलाया जा चुका है। इसकी गति क सम्बन्ध में यह यान और रणना चाहिए कि जहा बुधादि अय ग्रह सूर्य के चारो ओर सममण्डल बना रक घूम रह है वहा ये धूमकेतु विषम मण्डल बनाकर ही सूय के चारो ओर घूम रहे हैं। नकी सब से बड़ी पारक्रमा ३ सहस्र

वर्षों तक में पूरी होती मानी गई है। इस परिक्रमा के अनुसार ही भूलोकस्था प्रजा को इसका प्रयत्न हुआ करता है। केन्द्रानरहित धूमकेतु घूमने लगा। स समय इसमें दो भावों का समवश हुआ।

उधर तो पारमेष्ठ्य वराह्यायु के व्यापार से केन्द्र का निर्माण आरंभ हुआ इधर परिधि स्थानीय अग्निपुञ्जखण्ड प्रगल्भभाव से युक्त होने लगे। कालांतर में गतिवर्षम्य स आग्निपुञ्ज का सर्वांत का भाग इससे पृथक् होकर अपना नियत स्थान बनाकर घूमने लगा। वही अग्निपुञ्ज-खण्ड आगे जाकर शनश्चर नाम से प्रसिद्ध हुआ। किसी समय अवश्य ही शनश्चरकक्षा-पर्यन्त इस अग्निपुञ्ज की गति रही होगी। परन्तु आज तो अग्निपुञ्जशेष सूर्य और शनश्चर में पयांत अंतर होगया है। शनश्चर के अन्तर जो अग्नि-खण्ड प्रवृत्त हुआ वह बृहस्पति कहलाया। तीसरा खण्ड प्रवृत्त हुआ। यह आगे जाकर १८ अन्तर्गत खण्डों में परिणत हुआ जहाँ १८ देवसेनाग्रह कहा जाता है। अन्तर चौथा खण्ड प्रवृत्त हुआ वही मङ्गल कहा जाता है। मङ्गल के अन्तर प्रवृत्त होने वाला खण्ड ही सुप्रसिद्ध भूपिण्ड है। स भूपिण्ड का सोमनय प्रवृत्त अन्तिभाग ही चन्द्रमा है। आगे का खण्ड शुक्र कहलाया। एव सर्वांत का खण्ड बुध नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसप्रकार केन्द्रस्थ अग्निपुञ्ज (जो कि आज सूर्य नाम से प्रसिद्ध है) से ही ये च पूर्ण ग्रहोपग्रह उसी गतिवर्षम्य स उपपन्न हुए हैं। सूर्योत्तम अग्निपुञ्ज के प्रथम प्रगल्भ भाग सूर्यपुत्र नाम से प्रसिद्ध शनिदेव ही माने गए हैं जिनकी एक माण्डलिक परिक्रमा ३ वर्षों में समाप्त होती है। सूर्य के प्रवर्ग्या शभूत ये उपग्रह अद्यावधि सूर्य के चारों ओर उसी प्रवृत्त स्थान में परिक्रमा लगा रहे हैं। सूर्य के चारों ओर सवप्रथम बुध अन्तर शक्र अन्तर प्रथिवी पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा अन्तर मङ्गल अन्तर देवसेना नामक १८ ग्रह अन्तर बृहस्पति अन्तर शनि सर्वांत में नक्षत्रकक्षा यही इनका अवस्थानक्रम है। आज भी विधि के इस अलातचक्र की यह परिभ्रमणलीला यथावत् परिक्रमात है। अवश्य ही कालांतर में सूर्य से और ग्रह उपपन्न होंगे जिनका सङ्गत हमें माठर कपिल दण्ड चण्डाशु आदि पारिपाशवकों से मिल रहा है। इस क्रमसे एक दिन स पूर्ण सूर्यमात्रा ग्रहनिर्माण में समाप्त होजायगी। स्रष्टा प्रजापति के विस्तृत होते ही यज्ञप्रक्रिया का अवसान होजायगा। अ यत्ना मन्त्रायागम सबकुछ सुप्त बना दगा। पुन नवीन धमकेतु से नवीन सृष्टिक्रम आरंभ होगा। इसप्रकार याथातथ्यतोऽथान यदधात् शाश्वतीभ्य समा य धाता यथापूर्वमकपयत् इत्यादि रूप से उपगीयमान विधि का यह विचित्र लीलाचक्र इसीप्रकार चक्रमग करता रहेगा जिसके लिए इदमित्यमेव कहने के लिए मानवीय बुद्धि सवथा ही असमथ है। न विश्वमूर्त्तोरधाप्यते वपु (महाकवि कालिदास)

शनि बृहस्पति देवसेनाग्रह मङ्गल बुध ये उपग्रह ज्योतिर्मय दिखलाइ देते हैं। अत इह सूर्योपग्रह मानना सुसङ्गत बन रहा है। परन्तु अनुष्णाशीत भूपिण्ड क्योंकि योतिर्भाव से वञ्चित है अतएव इसे सूर्योपग्रह मानना असङ्गत सा प्रतीत होता है इस असङ्गति का उस समय भलिभाति निराकरण होजाता है जब हम उक्त ग्रहों के स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हुए वदिक योतिर्विज्ञान के स्वरूप से अवगत हो जाते हैं।

स्वयोति परज्याति रूप योति अ योति भेद से योतिर्विवत्त चार भागों में विभक्त माना गया है। चारों ओर स स्वतः प्रकाशिन योतर्मण्डल ही स्वयोति कहलाए है। इह ही परिभाषानुसार

सूर्य्य कहा गया है। खगोलीय योति पुञ्ज क्योक् स्वतः प्रकाशित वनता हुआ स्वयात् है अतएव नसे सूर्य्य क ना अ वथ वनता है। खगोलसंस्था में मीप्रकार ततः प्रकाशित स्वयं चित्रा लु प्रक अभिनिर् आदि असूर्य्य नक्षत्र स्वयं योतिम्मय वनत हुए, सूर्य्य ह। तभी ता स्वाता को सपिता क जाता है — जो पण्ड अन्य प्रकाश स प्रकाशित रहत ह उह् परिभाषानुसार चन्मा कहा जाता है। पार्थिवापग्रहमत सोमपिण्ड क्योकि अ योत से (* सूर्य्य तात से) प्रकाशत है अतएव नसे चन्मा कहा गया है। इस ही परयात् माना गया है। शनि क आठ उपग्रह बृहस्पत क चार उपग्रह ए मङ्गल के दा उपग्रह भी इसी परयोतर्भात् से चन्मा कहलाए ह।

तीसरी रूपयोति है। नसे हम पर योति का ही दूसरा रूप कह सकते ह। वीज्रतः की वनता से जहा सौर योति को चाकाचक्यभाव में परिणत होने का अवसर मिल जाता ह जहा प्रकाशराशमयो का उ य होजाता है। पर तु मृदभाव की अधिकता स रश्मिसम्बन्ध हाने पर भी जिस से अन्य ग्रस्तुओं को प्रकाशित करने योग्य रश्मियो का प्रसार नहीं होना अपितु जो अपने स्वरूपमात्र का पारचायक वनती है एभी पर योत को ही रूपयात् कहा जाता है। यही परिभाषानुसार प्रग्नी नाम स यवहृत ह है। अथवा यो कह लीजिए कि यातर्भाव ही स्वयं रूप प्रकाश भेद से दा भागो म वभक्त है। जिन पिण्डो के साथ सूर्य्य की इन दोनों योतियो का स बन्ध हाता ह व परयोति कहलाते ह। एव तनके साथ केवल रूप का सम्बन्ध होता है उह् रूपयोति कहा जाता है।

चौथा विभाग अयोति का है। गायु च लोकस्थ ग धप्रमाण अग्निध सोम्यनीय ये सब अयोति है। पारदशक्ताप्रतिबन्धक आत्रप्रमाण के अभाव से इनमें रूप-प्रकाशानुगता रश्मियो का प्रति फलन नहीं होत। अतएव न तो नका रूपप्रयत्न ही हाता न च द्रमा की भाति इनसे रश्मि प्रसारजनित प्रकाश ही। शनि आदि योतिम्मय ग्र सूर्य्य से नी उ पन्न ह परन्तु ये स्वयोति नहीं हैं अपितु चद्रभावत् परयोति हैं। इस योतिरभात् का एकमात्र कारण सूर्य्यस बन्ध-विद्युत् ही है। सूर्य्य में अजखरूप से सोम धारा आहुत होती रहती है। अतएव सूर्य्य स्वयोतम्मय वन रहा है। इससे नियुक्त शान आदि उस सम्बन्ध विच्छे से ही स्वज्याति-सम्पत्ति स वञ्चित होरहे हैं। जा मह व सूर्य्य की दृष्टि से शनि आदि का है वही मह व पृथिवी का है। पृथिवी भी एकदृष्टि से पर योति ही है और नसका मुख्य कारण मृन्भाग की प्रधानता ही है। ऐसी दशा में केवल योति के अभाव स ही इस ग्रहम योग स पृथक करत हुए उक्त असङ्गति की आशङ्का नहीं मी जासकती।

— देवस्य त्वा सावतु प्रसवेऽश्विनोवाहुभ्या पुष्णो हस्ताभ्याम् [यजु स०]
इत्यादि म त्र म स्वाती के अभिप्राय स ही सपितु' पद उद्धृत हआ है।

* 'अत्राह गोरम तत नाम त्वष्टुरपी यम् इत्था च मयो गृहे।' [ऋक्स]
तरणिकिरणसङ्गादेष पानीयपिण्डा दिनकरदिशि चञ्च चाद्रकाभिश्चमास्ते
[ज्या]

उक्त ग्रहोपग्रहभाज्य मे से प्रकृत म हम पाठको का यान केवल सूर्य तथा पृथिवी (भूपिण्ड) की ओर ही आकषित करना है । जवतः आ नपञ्चामक स य से पृथिवी का उदय नहीं हुआ था तबतक सूर्य एक वशाल अलातःरूप मे परिणत होता हुआ उस स्थान पयन्त याप्त था जहा कि आज पृथिवी की आतम पाराध ह । सूर्य जिसे कि द्यलोक कहा जाता है उस समय उसी की गति थी । उस समय पृथिवी-अर्तरिक्ष (सूर्य तथा पृथिवी क म य का प्रदेश)-द्यौ (सूर्य) इसप्रकार का त्रैलोक्य विभाग न था । आज जो द्यलोक (तदुपलान्त सूर्य) हमारे भूलोक से ५ कोटि क्रोश विदूरस्थान पर स्थित है । जिस गोलोक को आज छूना तो दूर रहा प्रयत्न भी मात्नाद् रूप से (सावित्ररूप से) नहीं किया जासन्ता वह द्युलोक भूनिर्माण से पहिले (जिस स्थान पर आज भूलोक की अतिम परिधि है) इस भूलोकपयन्त व्याप्त था । उस समय यदि हम होते तो द्युलोक हथ से छूना नासकता था । इसी पवास्थिति का श्रुति न— **उन्मृश्या हैव च रास इ न श दो भे अभनय क्रिया है ॥२ ॥**

जिस अथ का पूर्व मे हमने अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया है कि काल पाकर सूर्य से भूमा प्रवृत्त हुआ फलत त्रैलोक्य का विभाजन हुआ और उस समय अथ ग्रहों के प्रवग्यभाव से द्युलोक इस भूलोक से विदूर होगया श्रुति अपने शब्दों में उसी भाव का स्पष्टीकरण कर रही है । प्रश्न यह है कि किसन इस अग्निपुञ्ज को प्रवृत्त किया ? । स प्रश्न का उत्तर इसके अतिरिक्त और क्या होसकता है कि सूर्य कद्रस्थ काममय प्रजापात की कामना स यज्ञकाभुक् बने हुए सौर प्राणदेवताओंने ही यह लोकवितान किया । तबत भी यही उत्तर समीचीन प्रतीत होता है । सौर-अग्निपुञ्ज अपने गति षष्ठ्य स ही तो ग्रहों का जनक बना है । यह गति व प्राण ला से सम्बन्ध रखता है प्राजापय मन जहा ज्ञानप्रधान है प्राजापय वाक् जहा अथप्रधाना है जहा म यस्थ प्राजापय प्राण क्रियाप्रधान माना गया है । क्रिया ही गतिभाग है । स दृष्ट्या प्राजापयगत का अकरूप स बाह्य वितान होता है एव इस गति का आगे जाकर अग्निपुञ्जस्थ अग्नेय प्राणदेवताओं स योग होता है । इसी देवगति (प्राणगति) से लोक विभाजन होता है ।

इस लोक-विभाजन प्राकया-में दृष्ट प्रजापति का मौलिक सहयोग ब लाया गया है । यहा प्रजापति आलम्बन निमित्त उपानान भेद स त्रिसंस्थ माना गया है । अय्यदृष्ट्या वही आलम्बन है अक्षरदृष्ट्या वही निमित्त है एव क्षरदृष्ट्या वही उपादान है । अक्षर ही क्योंकि सृष्टि का निमित्त है अतएव कह सकते है कि यहा दृष्ट अक्षरप्रजापति ही इस लोकसृष्टि का प्रधान प्रवत्तक है । यह दृष्टाक्षर ब्रह्मालक्षणा स्थिति इत्थलक्षणा गति तथा विष्णुलक्षणा आगति इन तीन गतियों से युक्त है । सप्तोदिग्गात स्थिति है अर्वागति आगति है परागगात गति है । इसप्रकार अक्षरामिका स्थिति आगति-गति-तीनों तबत गति ही बन रही हैं । अक्षरमूर्ति प्रजापति अपने इसी अक्षरानुगत-गतित्रय-रूप गतिभाव से सोमगर्भित अय्यक्षर के आधार पर लोकवितान में समथ हुए हैं । जिस गतिविच्छेद से भूलोक प्रवृत्त हुआ है उस देवगति में (अय्यामिका प्राणगति में) स्थितिरूपा गति भी है । अपानद्वरूपा गति भी है एव प्राणद्वरूपा गति भी है । सी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है कि— **तानेतरेव त्रिभिरक्षरैव्यनयम् ।** देवताओं ने स्वप्रसिष्टारूप दृष्ट-प्रजापति के ब्रह्मा विष्णु इन्द्राक्षर से सम्बन्ध रखने वाली स्थिति-गति आगति-रूपा गतियों से ही लोकनिर्माण किया ।

प्रायः श्रुति के सभी पदों का सम त्रय होगया। अब जातय प अवाप्त है। श्रुति ने जातये त्रय तीन अक्षरों से लोकवितान करना बतलात हुए एक दूसरे अन्न-अन्नान्प्रिचान का भी स्पष्टीकरण किया है। लोकवितान हुआ सौर-देवताओं ने तीन अक्षरों से (अक्षरानुगता गातत्रयरूपा गात स) प्रलाक्य का निर्माण किया। परंतु प्रश्न यह है कि देवताओं ने य मार म प्रयास किया क्या? किम प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर देवताओं ने लोकान माण किया? श्रुति का जातय प त्रिसी प्रश्न का उपपत्ति बतला रहा है। वीनय का शाब्दिक अर्थ— खाने के लिए। त प्रदाना ह्यते त्रया उपचायन्ति) के अनुसार पाथिव रस हा सौर देवताओं की जीवनयात्रा का कारण मान गए ह। सौरप्रजापात ग्रहानर्माण में जहा अपने शरीरपर्वों को विखस्त (खच) करत रहते ह त्रा वे नके रसों का आदान करत हुए उस विखस्त भाग की क्षतिपूर्ति भी किया करते है। यी पारस्परिक अन्न अन्नान्भाव है जिसका अयत्र विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है। यदि भूभोक न बनता तो यहा से त्रलोक म गायत्र अग्नि के त्रया पाथिव रसा का गमन न होता। फलत द्युलोमस्थ प्रणदवताओं का विखसन तो होजाता। फलतु विखस्त भाग की क्षतिपूर्ति नही होती हम देख रह हैं कि विखसन के साथ साथ क्षतिपूर्ति भा होरही है। इस पारस्परिक आदान-विसर्गामक अन्नयज स ही दोनों का स्वरूप सुराक्षत है। देवताओं की यह अन्नदान प्राकया यो-त-य इन तीन अक्षरों से प्रलाक्षत प्रायत्रा-अतरिक्ष-द्या त्रय तानो लाको के रसों से समानरूप से सम्बद्ध है। इसप्रकार वीतये यह यक्षर पद जहा प्रजापात क गतित्रयी के द्वारा लोकत्रयी-नि माण का रहस्य स्पष्ट कर रहा है वहा यही पद लोकत्रय अनर्माण की आवश्यकता का भी रहस्योत्घाटन कर रहा है।

अवश्य ही इस रहस्याथ को गम में रखने वाले अ न आयाहि जातय त्रस मन्त्रभाग के अनुवचन से यज्ञकर्ता यजमान के निवास के लिए लोकसम्पत्ति भी त्रयीय होजाती है एव अन्नसम्पत्ति भी त्रिपुल होजाती है। हम भी इस म त्रपद के रहस्याथ के उपसहार से लोका यक्ष तथा अन्ना यक्ष उम दिव्याग्नि-देवता से यही प्राथना करते हैं कि हमारे इस भारतलोक क तथा भारतीय-भोगसम्पत्ति के भारतीयों को अनत-य भोक्ता बनाने का अनुग्रह करते हुए अपने भारत नाम को चरिताथ कर हम अन्न। महा असि ब्राह्मण भारत यह कहने का अग्रसर प्रदान कर ॥ ३॥

मन्त्र का म यभाग अ ग्रगानो ह्यन्तातये यह। देवताओं ने लोकान्न-सम्पत्तिया प्राप्त कर त्र लोकयोपलक्षित सम्व सरमण्डल में अपना वतन्त्र साम्राय स्थापत कर लिया। क्यों? जानते ह आप? देवताओं ने पहिले आम समपण किया सवस्व भलिदान किया तत्र कही उह यह वभय मिला। देवता हमारा भाति अक्रमण्य नही अपितु यजमान हैं यजक म के अनय अनुगामी ह। हम भी इस सम्पत्ति के तभी भोक्ता बन सकत हैं जब यजमान बनें अग्निवितान कर ह्यन्ताता बन कम्मठ बन ऋषिप्रदिष्ठ सजसाधक यज्ञकम्म का अनुगमन कर। जो यजमान ऐसे यजमान हैं व ही उक्त सम्पत्ति क भोक्ता बन सकत हैं। अन्यथा तो सब अन्यथा ही है।

X- अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य, पूव देवेभ्यो अमृतस्य नाम।

यो मा ददाति स इ देव मानतु, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

मन्त्र का आन्तम भाग है नि होता ससि बर्हिषि यह । अग्नि होता है वह बर्हि पर प्रतिष्ठित है एव बर्हि स निदानेन वग् भूलोक ही अभिप्रत है जसा कि पूव मे समष्टिरूप से मन्त्राथ करते हुए सापनात्क वतलाया जाचुका है । इस सामिधेनी का बर्हि पद स भूलोक का ही अनुगामी है । अत इसके अनुवचन से यशकर्त्ता यजमान पार्थिव भागधय का ही अनय मोक्ता बन जाता है और यही द्वितीय मन्त्रपदो की सङ्गित उपपत्ति है जिसका ब्राह्मण की २२ ३ २४ इन तीन करिडकाओ मे स्पष्टीकरण हुआ है ॥२४॥

अग्नि आयाहि के अनन्तर वह होता क्रमप्रात तीसरी (आवृ यानुसार पाँचवी) निम्नलिखित सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है—

(३) 'ओम्-त त्वा समिद्भिरङ्गिरो घतेन वद्ध्यामसि ।

वह छोचा यविष्य-ओम्'इति (५) ।

प्र वा वाजा अभिद्यव इयादि प्रथम मन्त्र व लोक्य-यापक सम्ब सराग्नि का समाष्टरूप से सग्राहक है । मन्त्रगत वाजा पद त्रिवृत्स्तोमापलक्षित भूलोक का मन्त्रोपात्त घता या पद पञ्चदशस्तोमो-पलक्षित अतरिक्त का एव मन्त्रगत अभिद्यव पद एकविंशस्तोमा मक द्य लोक का सग्राहक बन रहा है । सप्रकार प्रथम मन्त्र से मम न्यामक सम्ब सर अग्नि का ही समि धन हुआ है । स से आगे के— अग्नि आयाहि वीतये त वा समिद्भिरङ्गिरो - स न प्रथुश्रवाग्यम् इन तीन मन्त्रो से क्रमशः पृथिवी अतरिक्त द्यौ न तीन लोको में प्रतिष्ठित तीनो अग्निपवा का समि धन हुआ है । अ न आयाहि का बर्हि पद पार्थिवाग्निपव का त वा समिदभि का घतेन प आन्तारच्याग्नि का एव स न प्रथुश्रवाग्य का प्रथु पद द्याग्निपव का सग्राहक बन रहा है । सप्रकार स मन्त्रचतुष्टयी से समष्टि षष्टिरूप स उभयथा अग्निदव का समि धन होजाता है इस सङ्गति को लक्ष्य में रखकर ही स मन्त्रचष्टयी के अथ का समवव करना चाहिए ।

अग्नि आयाहि से दि यलोकस्थ साग्नित्राग्निरूप द्वितीय अग्नि का इस भूलोकोपलक्षित यज्ञाग्नि में आह्वान किया गया । यहा आते ही यह पृथिवी की वस्तु बनता हुआ अङ्गिरा पद का अधिवारी बन गया । इत एत उदारुहन् इ यादि मन्त्रवचन के अनुसार पार्थिव अग्नि ही अङ्गिरा कहलाया है । इसीलिए श्रुति ने से (आगमन के अन तर) अङ्गिरा नाम से व्यवहृत किया है । अग्नि की ही भृगु तथा अङ्गिरारूप से दो अवस्था मानी गई है । आगमनदशा मे वही भृगु कह नाया है पय गमनदशा मे वही अङ्गिरा कहलाया है । प्रज्वलित अग्नि मे जो अग्निज्वाला है वह साक्षात् भृगु है । अग्नि की अवस्था तर भागव सोम के जलने का ही नाम ग्वाला है । एव जिस अङ्गिरा पिण्ड स यह ज्वाला निकल रही है वह अङ्गिरोऽग्निमय है जसा कि— अर्चिषि भृगु सम्बभूव अङ्गारे यो अङ्गिरा सम्बभूव । अथ यदङ्गारा अवशा ता पुनरुददीप्य त अथ बृहस्पतिरिभवत् इ यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है ।

ता म्य यही है कि तेज स्नेह-तत्त्वों के सम्मिश्रण का ही नाम वस्तुस्वरूप है । तेज अङ्गिरा है स्नेह भृगु है । अग्नि-यम-आदिय मेद से अङ्गिरा भी तीन अवस्थाओ में परिणत रहता है ।

एा आप-वायु-सोम-रूप स भृगु भी तीन अवस्थाओं म परिणत रहता है स्नहलक्षणा भृगुत्रयी परिधि स हृदय की ओर क्रमश (सकुचित होती हुई) आती रहती है एा तजोलक्षणा अङ्गिरात्रयी हृदय से परिधि की ओर क्रमश (विकसित होती हुई) जाती र ती है । अङ्गिरात्रयी का प्रथम विक्राम पारधि-सीमा पर पहुँचते ही अर्वात् सुप्त बनकर भृगुत्रयीरूप म परिणत होता है । एवमव भृगुत्रयी का अन्तिम सकोच हृदयसीमा पर पहुँचत ही सहावस्थानाभावप्रवक्तक सघष म परिणत होकर पगन् मुख बनता हुआ अङ्गिरात्रयीरूप में पारणत होजाता है । यहा से इस अङ्गिरात्रयी के अङ्गों का * ऊर्ध्व नी ओर रसन हाने लगता है अतएव इसे अङ्गिरा कहा जाता है । अथवा अङ्ग स के सम्बन्ध से भी इस पाथिव अग्नि को अङ्गिरा कहना क वय बनता है — । अग्नि ही अङ्गों का स्वरूपरक्तक रम है ।

इस अङ्गिरोग्न के भूत प्राण भेद से दो ावत्त ह । प्रयच्छ अङ्गिराग्नि भूतलक्षण अङ्गिरो-ऽग्नि है । एव इस भूताङ्गिरोऽग्नि में प्रतिष्ठारूप स प्रतष्ठित अङ्गिराप्राण प्राणलक्ष अङ्गिरोऽग्नि ह । प्राण को ही ाज्ञानभाषा मे ऋषि कहा गया है । जन्तक भूत में प्राण प्रतिष्ठत र ता है तभीतक भूत की स्व रूप-रक्षा होती रहती है । साथ ही जन्तक इस प्राण के साथ बाह्य अन्नस पत्ति का सम्बन्ध बना रहता है तभीतक यह प्राण भूतरक्षा-कम्म मे सफल रहता है । अङ्गिराप्राण क परीक्षक अतएव तत्समय नी मर्यादा क अनुसार अङ्गिर इस यशोनाम से प्रसिद्ध महर्षियन अपने वध यज्ञो म समिधा धान (काष्ठाधान) से इसी का समिधन किया है । इसप्रकार दानो दृष्टियो से— समिदभिर्होत-मङ्गिरस-घृत यह वाक्य चरिता म होरहा है । घृतेन ाद्र यामसि का घृतपद घृताच्या की भाति समिधनक म का अन य उपोद्बलक बनता ँआ सामिधेना पद बन रहा है । घत ही आग्न का अपना चीथ्य है । इस पद से समिद्ध अग्नि मे सी वी य का आधान होरहा है ॥२३॥

त्रलोक्यामक स व सर में यात होने स यही बृहत् है सवत्र अपन त प से विद्यमान है । सा म ही हमारा यह आहवनाधानि भी सा मधेनियो से समिद्ध होक महान् बनता हुआ आतशयरूप से प्रज्वलित होरहा है । अवश्य ही आज यह अग्नि यजमान के शत्रुओं के भी शाक का कारण बन गया है जसाकि आग्न के अभिचार-कम्म म स्पष्ट किया गया है । यजिष्ठ्य यह इस अग्नि का प्रातिस्विक नाम है । सम्ब सराग्नि का पारमेष्ठ्य अमृतसोम स नि य स त्र है इसी अजस्रसामाहुति के प्रभाव से यह दिव्याग्न सदा समानरूप से प्रज्वलित रहता ँआ अजर-अमर तथा नि ययुजा बना रहता है । यजिष्ठ्य से अग्नि के इसी स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है । कर्मोक्त प्रकृत ऋचा में घृतेन पद है अतएव घतमतारक्षस्य के अनुसार यह ऋचा अतरिक्ष-लोकसम्पत्ति की ही सम्राहिका बन रही है । इसप्रकार प्रकृत ऋचा निम्न-लिखित रूप से समिद्ध अग्नि की समिद्ध-प्रक्रिया का तिहास बतलाती हुई सके स्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रही है—

*-‘तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वस्तिष्ठति’ (गो ब्रा पू १।६।) ।

—(देखिये-सा छ्वा ब्रा० ३।२।) ।

हे पार्थिव अङ्गिरो ग्रे ! अङ्गिराप्राण के द्वारा पार्थिवद्र यरूप समित से—तथा आतरिच्य घृत स आप समिद्ध ह । इमी ममिष धनकम्म स आप त्रलोक्य मे वृहत् रूप से तपते हुए नित्यतरुण जन रहे हैं

हे आहवनीयस्थ समिद्ध अग्ने ! अध्वर्यु नामक ऋषिक काण्ठ, तम घृताधान से आपके स्वरूप का प्रवृद्ध कर रहा है। हे नित्यतरुण अग्ने ! आप इम समिधन कम्म से महान् बनते हुए प्रदीप्त बनिए' ।

क्योकि इस ऋचा से अनरिक्त-लोकसम्पत्ति का समग्र हुआ है अतएव यह स्वरूपत अग्निमयी बनती हुई भी आनरुक्ता है । अ तारक्ष गोरु का आकाशचन विवचन नहीं किया जा सकता । यी अ तरिक्त की आनरुक्ता है । असप्रकार ऋचा के * घृतेन प की भाति अनिरुक्त भाव भी अनिरुक्त अ तारक्ष का सम्राहक बन रहा है । एव यी तृतीय मंत्रपे की सक्ति त उपपत्ति ह ॥२५॥

त वा समिद्धि के अन तर होता क्रमप्रा त चाथी (आवृत्ति के अनुसार ठी) निम्नाल्लाएत सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है—

(४) 'ओम् स न पृथुश्रवा यमच्छा दव विगससि ।
बहदग्ने सुगीग्यम् आम' इति (६)

वदिक-परिभाषानुसार इय अय इद् श द पृथिवीलोक के एष शब्द अ तरिक्तलोक का तथा असौ अद् इयादि शब्द द्यलोक स स बद्ध ह । ब्राह्मणश्रुति में पठित अन् शब्द उसी परिभाषिक द्युलोक की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है । द्यलोक एव तत्रस्थ दिव्याग्नि दोनों पृथिव्य-तरिक्त की अपेक्षा प्रथु (त्रिस्तीर्ण) है साथ ही स्तुत्य प्राणदवताओ के निवास से श्रवणीय भी है । कौन इस सबसुप्तैकसाधक द्युलोक तथा दिव्याग्नि की गाथाए सुनना नहीं चाहता ? अग्नि के इस पृथुश्रवा रूप से कहा यही जाता है कि यह हमारे यज्ञ में समिद्ध होकर यजमान को भी उस श्रवा य दि यलोक का पात्र बनाव ।

द्युलोक जहा श्रवा य है उहा वी र्यशाली-रीत्यप्रवर्क देवताओ के निवास से सुगी य भी बन है । साथ ही अपने लोक (द्युलोक) के बृहत्साम से बृहत् भी । प्रस्तुत ऋचा द्यलोक की ही अनुग्राहि-का बन रही है जिसके सम्राहक प्रथु देम बृहत् इत्यादि पद बन रहे है । अ न आयाहि इयादि ऋचा बर्हिष्मती है त मा समिद्धि ऋचा वृद्धिमती है ए प्रकृत-स न प्रथु श्रवाय्यम्

*—घतेन प तथा अनिरुक्तभाव के अतिरिक्त उद्धयामसि तथा बृहत् प भी इसी अ तरिक्तलोक के सम्राहक बन रहे है । कारण यही है कि यह अ तरिक्त पृथिवी की अपेक्षा उत्तरोत्तर वरीयान् त मा बृत्

ऋचा प्रथुमती है। तीनों की समष्टि लोकत्रयस पत्ति की सप्ता का नती हुड ल कत्रिच नाम स प्रसिद्ध है। प्रकृत सामिधेनी-प्रकरण म लाकत्रिच अ उरत्र तत्रिच-वृषणन्तत्रिच मे स तीन त्रिच ह। नमे पाहला लोकत्रिच याष्टरूप स ही त्रलोक्य म या ताड्या न का समिजन कर र। ह मत्राय स्प है ॥२७ २८ ॥

उक्त लोकत्रिच के अनतर वृषणन्तत्रिच का अनुवचन आर म होता है। स न प्रथु श्रया यम् ह याद चौथी ऋचा के अनतर यह होता क्रमप्राप्त पाचवा (आवृ यानुसार माननी) वृषणन्तत्रिच की पहिली नि नालखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(५) — ओम् ईड्यो नमस्यास्तरन्तमास दशत ।
समग्निरिध्यते वषा ओम् ॥ (७) (१)

ताप जहा अग्नि का प्रातिस्वक वस्म म ना गया ह जहा प्रकाश का प्रातिस्विक धम्म माना गया है। चन्द्रमा में कवच चन्द्र का सत्रव है अतएव चात्रमा म प्रकाश ह ताप नहीं। उण जल में केमत्र अग्नि का सत्रव है अतएव त्रसम ताप है प्रकाश नहीं। आन-वर्ण का एकत्र सम त्रय स मत्र है परतु उरुण-चन्द्र का एकत्र स त्रास अ भव है। सप्रकार त्राप-प्रकाश म भलीभात पाथक्य सिद्ध होजाता है। हम जिस रौर दि या न का समिजन कर रहे ह मत्र ताप भी है प्रकाश भी है। इसमें ताप अग्नि का धम है प्रकाश चन्द्र का धम्म है। चन्द्र ही वृषा नाम स प्राप्त है। वृषेन्द्र के समवय स ही यह यात्र उद्य अग्नि वृषा (प्रकाशयुक्त) बन रहा ह। इसी वृषेन्द्र क सहयोग मे यह अग्नि अ धकार दूर करने में समथ होरहा है। वृषेन्द्र यज्ञ का अधिपात माता गया है। जन्तक यज्ञ म इन्द्र सम्पत्ति का सत्र नहीं हाता तन्तक यज्ञ अर्पण रहता है। उमी वृषेन्द्र के सग्रह के लिए इन्द्रयुक्त होने स वृषा नाम स प्रसिद्ध अग्नि का प्रकृत ऋचा स समिजन हुआ है जो एक अ न अलौकिकी मन्त्रभाषा से भी स्तुत (वितन होने वाला) ह एव लौकिक भाषा म भी नमस्कार करने याय है। शास्त्रीय क म में भी यह (प्राणरूप से) उपयुक्त ह तथा लौकिक मानकम म भी य (मतरप से) उपयुक्त है।

ईड्यो नमस्य के अनुवचना तर वह होता क्रमप्राप्त ६ ठी (आवृ यानुसार आठवी) वृषणन्तत्रिच की दूसरा नि नालखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(६) — ओम् वृषो अग्नि समिध्यते अशो न दग्वाहन ।
त हविष्म त ईडते ओम् ॥ (८) (२)

वृषेन्द्र के सम्बन्ध स वृषा बनता हुआ ही यह अ न अश्व-रूप म परिणत होकर दवताओं के लिए यज्ञ का वहन करने में समथ हाता है। सौरलोक से भूलोक की ओर आनेवाला इन्द्रयुक्त यियाग्नि ही अश्वरूप में रिणत होकर वापस लौटता हुआ पार्थिव हवि का द्युलोकस्थ दवताओं के लिए नक प्रिस्तभाग की न्तपूर्ति के लिए-वहन करता ह। सौरयोति [द्रगभित दि याग्नि] अपन सावत्ररूप स भूमि [भूपृ ठ] की ओर आरहा है। जिनप्रकार तरणिकिरण सङ्ग से पानीय पिण्डा मक चन्द्रमा अद्ध भाग म ही प्रकाशित रहता है एवम यह आगत सौर तज मी भूपृ ठ के सूर्यादगनुगत अश्व अत्र भूभाग की ही प्रकाशित

करता है शेष अद्भुत मा अप्रकाशित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही पृथिवी के दिति अदिति ये दो विवक्त होजाते है जसा कि अध्वर्यु त त्रिचापपत्ति में त्वस्तार से बलाया जाने वागा है।

भूपण्ड की दाक्षगोत्र परिधियो को ऋटता हुआ आगत सौर प्रकाश वक्रगात मे परिणत हाता हुआ साथ ही भङ्गाया का स्वरूप समपक बनता हुआ आग निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलत ह तो हमारी छाया विरुद्ध भाग में पडती है। कारण यही है कि हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मिया प्रतिफलित होजातीं ह। जैसा आकार छाया का होता है ठीक वसे ही आकार में यद्यपि—प्रकाशरश्मियो का भी प्रतिफलन होता है किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिभव से उसका हमें प्रयत्न नही होता। ठीक यही परिस्थिति आगत सौर तेज की समझिका।

सौरप्रकाश भृष्ट पर आया गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसरूप हवि को लेता हुआ भ छाया के समतुलन से प्रतिफलित होगया। इस भङ्गाया—समतुलता प्रतिफलिता प्रकाशाकृति का सा वसरिक तज से अभिभव होजाने से हमें प्रयत्न नही होता। यही प्रतिफलिता प्रकाशाकृति अश्व नाम से यवहृत हुई है। पार्थिव अग्नि इसी नियत स्थिर अश्वान्निधरातल माग से यजवहन करता है तसी अभिप्राय से— अश्वो न देववाहन कहा गया है।

लोक में जन्म जिस (निषेध) अथ में नकार प्रयुक्त होता है वा मात्रमय में पठित नकार निषेधाथक न होकर ओम् याकारक वाथक भाव से ही संबध रगता है *। तमी तो अश्वो न का अश्वो ह वाऽएष भूवा यह अथ हुआ है। तापययी है कि नकार अणव का सूचक बनता हुआ अनिरुक्तको में प्रविष्ट है अतएव यह अनिरुक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति (आमा) ही तथालक्षणा स्वीकृति के आदार ह। अतएव मध्यस्थ नकार को तयावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वयं मयस्थ हैं अत मयस्य नकार तयावाचक माना जायगा। यदि ऋगुद्यत में नकार पठित है तो उसका निषेध ही अथ होगा जसाकि— न विजानामि यदि वेदमस्मि यदि मन्त्रवर्यानि से स्पष्ट है ॥ २६ ३ ॥

त हविष्मत् ईडते इस मत्रा तभाग का अथ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपासना होती है एक वाचिक उपासना है दूसरी कर्मोपासना है। अग्नि को नमस्कारमात्र कर लेना नम रक्ति विवेक लक्षणा वाचिक उपासना है। भावशुद्धि के अतिक्रम तस उपासना का अय फल नही है। यदि अग्नि को आ मसात् कर यज्ञकर्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है तो उस समय केवल वाचिक उपासना से काम नही चल सकता। अपितु उस समय कर्मोपासना ही करनी पडेगी अग्निसमिधन ही करना होगा इसे तृ त करने के लिए हवि प्रदान करनी पडेगा। इस हवि से यह अग्नि द्युलोकपर्यंत वितत होगा जिस इस वितान को ही स्तुतिकम्म कहा जाता है। वाचिकोपासना की अपेक्षा जहा अग्नि

*—‘ओमित्यच प्रतिगर तथेति गाथाया । ओमिति वै देव, तथेति मानुषम्’

—ऐ त्रा ७। ६।

नमस्य कहलाया है व। सक मीपासना की दृष्टि सन्से इडय कहा गया है। वही प्रकृत म प्रधानरूप से अपेक्षित है। हाजूम नो ह्य त मनुष्या ईडते यह मन्त्रभाग अग्निदव का स कर्मोपासना का ही स्पष्टीकरण कर रहा है अर यही प्रकृत मन्त्रभागो की साक्षात् उपपत्ति ह ॥ ३१ ॥

वृषो अग्नि समि यते इयाद ६ ठी सामिधेनी के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्रा त वी [आठू यानुसार ६ वी] वृषएव तत्रिच की तीसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(७)—‘ओम् वृषण त्वा वय वृषण समिधीमहि ।
अग्र दीद्यत्त बहत् ओम्’ इति ॥ (६)–(३)

यज्ञसम्पत्तिवषक यज्ञधिपति वृषा स यज्ञसम्पत्तिवषक जनते हुए य वृषा (वृषात्मक) अग्निदेव आज (उक्त सामिधेनियो से) पूणरूप से समृद्ध हागए है। य लाकस्थ इत्त क वृहन् साम सम्बन्ध से वृहन् बन गए है यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मात्र अग्नि के वृषा मकरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्तरूप से तीनों मात्रो की समष्टि वृषएव तत्रिच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दि याग्नि का यज्ञपति वृषा इन्द्र की स पात् से युक्त करना। ३२ वी कगिडका स इसी फल का स्पीकरण हुआ है ॥ ३३ ॥

वृषएव तत्रिच के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्रा त आठवी [आठू यानुसार १ वी] निम्न लिखित ऋचा का अनुवचन करता है

(८)—‘ओम्-अग्नि दूत वृणीमहे होतार विश्ववेदमम् ।
अस्य यज्ञस्य सुकृतुम्-ओम्’ ॥ (१०)

म - का अग्नि दूत वृणीमहे वाक्य एक मन्वपूर्ण विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहा है। पार्थिव दि याग्नि होता कैसे कहलाया ? इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणश्रुति ने पृथ्वी की दनदिनगति का स्पष्टीकरण करने हुए सा प्रसरिकगति का भी विश्लेषण किया है। उसी का साक्षात् वैज्ञानिक स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

भौतिक पदार्थों को स्वरूप से सुरक्षित रखने वाली उनके जीवन सधक आदा विसर्गात्मक यज्ञ क म का नियतकाल पन्थ त सञ्चालन करने वाली अत शक्ति ही विज्ञानभाषा में प्राण नाम से यवहृत हुई है। चिरूपास इदूवृषयस्त न्दगम्भीरवेपस [ऋक्] त्स ऋग्वर्णन के अनुसार ये शक्ति रूप प्राण अन त है। प्राणो का आन य ही भतपदार्थों के आन य का का ण हैं। अधामच्छदवर्मा इन अन त प्राणों में से प्रकृत में हमें सार-पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठको का यान आकर्षित करना है। सूय स्व योतिधन है अत व इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है। एव रूप योतिर्धना

पृथिवी का प्रातस्विक प्राण कृत्वा माना गया है। योतिम्मय प्रकाशित प्राण ही देव नामक देवता है एवं तमोमय अप्रकाशित पाथव्य प्राण ही असुर है। तम असुर है एव याति देवता है।

यह ठीक है कि आरभ मे स पूर्ण भूपिण्ड इसके प्रातिस्विक तमोमय आसुर प्राण स ही युक्त था। जब पृथिवी बनी ही होगी उस समय अवश्य ही असुरो के मुख स अस्माकमेवेद खलु भुवनम ये वाक्य निकले होंगे। परंतु आज तो ऐसा नहीं है। आज भूपिण्ड पर असुरो की भाति दीय सौरप्राणामक दत्ताओ का भी साम्राज्य है। देवताओन जवणु को आगे कर यज्ञ याज से आरा भप्रदेश अपने अधिकार म करलिया है जिसकाकि पूव के वेदनिर्माणब्राह्मण में विशदरूप से विवचन किया जाचुका है *। यही कयो आज ता सम्ब सरचक्र की दृष्टि से स पूर्ण भापण्ड देवताओ के ही अधिकार में आगया है। तभी तो दायविभागप्रतिपादिका श्रुति का— तेनेमा सर्वा पृथिवीमग्निद त यह कथन अन्वय बन रहा है।

भूपिण्ड के साथ सौरप्राण का भा सम्ब व होरहा है साथ ही उसका अपना प्राण भी इस पर बल-प्रयोग कर रहा है। पार्थिवप्राण इसे [भूपिण्ड को] अपनी ओर [सूर्यविरुद्धदिक् में] ले जाना चाहता है तो सौरप्राण अपने आक्षण से उसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। दोनो प्राणो का समानाक्षण है। इस समानाक्षण से भूपिण्ड आजतक उसी स्थान पर घूम रहा है। इसी स्वाक्षपरिभ्रमण से दनदि नगति का उदय हुआ है। उसी दनदिनगति स अहोरात्र का जम हुआ है। घूमते हुए भूपिण्ड का सूर्य-प्रकाश की ओर आजाना अह काल का जम होना है एव सूर्यविरुद्धदिक् में आजाना रात्रिकाल का जम होना है। अह काल में देवता उस आधे भूपिण्ड पर अपना अधिकार करते हैं तो रात्रि में उसी अर्द्ध-भाग पर असुर अपना अधिकार जमा लेते हैं। इसप्रकार अहोरात्ररूप से देवता-असुर दोनो में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है। इसप्रकार इस स्वाक्षपरिभ्रमणमूला दनदिनगति की दृष्टि स भूपिण्ड दोनो का भोग्य बना रहा है।

आगे जाकर सम्ब सरिकगात के प्रभाव से भूपिण्ड असुरो के अधिकार से निकलकर केवल देवताओं की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाता है। अश्वो न देवगाहन इयादि मन्त्रोपपत्ति मे यह स्पष्ट किया गया है भूपिण्ड में दिति-अदिति नामक दो भाव उपज होते हैं। भूकेद्र से आरभ कर सूर्यदिग् विरुद्धदिक् की ओर यात्र तेजोमण्डलाकार से समतुलित भूच्छाया-मण्डल ही दिति है। एव

* देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापया पस्पृधिरे। ततो देवा अनु-यामि-वासु। अथ हासुरा मनिरे 'अस्माकमेवेद खलु भुवनमिति'। तद्वै देवा शुश्रुबु विभजते ह वा इमामसुरा पृथिवी, प्रत-तदेष्यामो यत्रमामसुरा विभजते। के वय तत स्याम यदस्यै न भजमहि इति। ते यज्ञमव विष्णु पुरस्कृत्येयु। तेनेमा सर्वा पृथिवी-मविदन्त। तस्माद्द दिर्नाम। तस्मादाहु-यावती वेदिस्तावती पृथिवी (शत० १।२।-२।१-१२)।

सौरमण्डलानुगत सार प्रान्कालत पार्थिव यातिर्भाग हा अन्ति ह। भू छाया भा भूपण्ड स सल न है तो भूप्रकाश भी भूपण्ड स सलग्न है। भूप्रकाशमण्डललक्षण आत म ज्ञान मय त्रिय प्राण का साम्रा य है। एव भू छायालक्षण दिात म तपोमय असुर प्राण प्रतिष्ठात ह। तेना ही प्राण भौम-हृत्प्रजापात से स ब्रध रखत हुए प्राजापय है। यह स्थिति है और इसी को ल य म रगत हुए श्रुत ने कहा है—

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे ।

देवता और असुर दोनों इसी प्राथमी पर खड होकर स्पट्टा करने लग। तेना क इस स्पट्टालक्षण क्लेश को शा त करने क लिए नाना क चीच मे गायत्री खडी हा गई। यह गायत्री प्रथिवी ही है यह क म न अदिति दिति का स्वरूप न जानने वाला के लिए ऋगङ्गा का प्रवक्त बन रहा है। आर्यानों की रहस्यभाषा से अपरिचित वक्तमन युग के कनिपय जिज्ञासु सम्भवत यह कुतफ उठावगे कि— जब देवता और असुर दानों इसी प्रथिवी पर खड थे तो दोना क बीच म कानसी प्रित्री खडी हुई ?। यदि यही प्रथिना खडा हुइ तो य दोना वग किस पर खड हुए । परतु जब त्त्व दिति—अदिति का स्वरूप ज्ञान हो जाता है तो ऋगङ्गा का को अवसर नहीं रहता। जिस पृथिवी पर देवता—असुर खड होकर स्पट्टा करते ह—वह भिन्न है एव जो पृथिवी दोनों के म य म खडी होती है—वह प्राथमी भिन्न है।

भूपण्ड के चिय—चितेनधेय भेद से दो विवक्त होजात ह। मया नमय भूपण्ड मया पृथिवी है यी अस्मदादि की प्रति ठाममि है। इसे ही भूमि कहा जाता है। इस भामलक्षण भूपण्ड का निर्माण—स्वरूपस्थित—जिन द्रयो से हुड है व द्रय आप—फन मृन्—सिकता शकरा—अश्मा अय—हिरण्य इन आठ भागों में विभक्त है (द्विपर शत ६।१।२।६।)। इन आठ द्रयो की क्रमिक चिं से ही भूपण्ड का स्वरूप निर्माण हुआ है। छत्तोवज्ञान के अनुसार प्रयेक द्रय एक एक अक्षर मे समतुलित है। फलत आठ द्रयो के स ब्रध से वाकपरिमाणा पक छन्द के अठ अक्षरो का सग्रह होजाता है। अष्टाक्षरछन्द का ही नाम गायत्री है। इसी छन्द स पत्ति के कारण त्म अष्ट याह् यामक भूपण्ड को श्रुति ने गायत्री का है अतएव या त्रै सा गायत्री आसीत् इयव सा पृथिवी यह कहा गया है। यहा प्रित्री श द चिय पृथिवी लक्षण भूपण्ड क अभिप्राय से ही प्रयुक्त हुआ है।

दूसरी चितेनिधेया पृथिवी है। भौम आग्नेय प्राण उक्थरूप से भकेद्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ अक्षरूप से भूपण्ड से निकल कर अपना एक स्तन्त्र मण्डल बनाता है। जहातक स पार्थिव प्राण की यापित है वहातक अप्रथयत् लक्षण अमृता पृथिवी की सत्ता मानी गई है। अमृतापृथिवी के सौरप्राण के सम्बध से आगे जाकर दिति अदिति रूप से दो विवर् होजाते हैं आगत सौरप्राण भूपण्ड से टकराकर प्रतिफलित होता हुआ भूछाया से समतुलित अपना जो योतिमय मण्डल बनाता है वह अमृता पृथिवी का भाग सौरप्रकाश से अविच्छिन्नरूप से सम्बध रखता हुआ अदिति भाग है। एव इस प्रकाशमण्डल से समतुलित भूछाया मण्डल अमृतापृथिवी का सौरप्रकाश स वञ्चित भाग दिति है। अदिति—

भाग म आादय (योति मय दवता) प्रतिष्ठत ह एव दिति भाग में दय (तमामय असुर) प्रतिष्ठत हैं । तसप्रकार अमृता पृथिवी के दित अणित भागो में प्रतिष्ठित असुर एव दवताओ के बीच में मय गावत्री नामक भाषण्ड प्रात ठत है ।

भूपिण्ड के उस आर (सूर्य की ओर) भाषण्ड से सल न दवमय योतम्मण्डल है इस ओर (सूर्यावरुद्धदिक की ओर) भाषण्ड से सल न असुरमय तमोमण्डल है एव दोनो के मय मे चि य भूपिण्ड प्रतिष्ठत है । त्सी स्वाभाविक स्थित का स्पष्टीकरण करत हुए श्रुति ने कहा है—

‘देवाश्च वा असुराश्च—उभय प्राजापत्या पस्पृधिरे । तान् स्पृद्धमानान् गायत्री अन्तरा तस्था । या व मा गात्री—आसीत इय व मा पृथिवी । इग हैव तद तरा तस्था’ ।

उक्त स्थिति को लक्ष्य मे रखत हुए ही आगे की श्रुति का सम वय कीजिये । दोनो की स्पृद्धा होरही है । दोनो के मय मे गायत्री (भषण्ड) लडी है । दानो यही चाहते है कि यह गायत्री हमारी आर आनाय । इस उद् श्य की सिद्धि के लिए गायत्री के समीप दोनो अपने अपने दूत भेजत है । दवताओ के दूत अग्नि हे एव असुरो के दूत सहरक्षा है । अदितिलक्षण योति मय मण्डल में प्रतिष्ठित योतिम्मय अग्नि नामक त्वदूत है । रक्ष का ही नाम भस्म है । यह भस्म निदानेन मञ्ज्या का प्रातरूप है । दितिलक्षण तमोमय मण्डल में प्रतिष्ठित तमोमय अग्नि ही सहरक्षा नामक असुरदूत है । लोक में भी प्रज्ज्वलित अग्निज्जाला को हम अग्नि कहेगे एव भस्मनिगूढ अग्नि को सहरक्षा कहेगे । दि यप्राण की अपेक्षा आसुरप्राण बलवान् होता है । यही कारण है कि ज्वालालाग्नि की अपेक्षा भस्माग्नि अधिक बलवान् होता है ।

भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमणलक्षण दनदिनगति का अधि ठा । बन रहा है । दोनो प्राणों का समानाक्षण होरहा है । परिणाम इस प्राथमिक स्थिति का यह हारहा है कि भूपिण्ड अभी किसी ओर नहीं जा रहा । इस का एकत गमन तभी संभव होसकता है जब कि दोनो प्राणगतियों में से एक प्राणगति बलवती बन जाय । समानप्राणसंघ से तो उसी प्रकार स्थित का उदय होजाता है जैसे कि समानबल वाले दो मत्स्यो के आक्षण से आकर्षित रसा पूव पश्चिम किसी ओर न जाकर मय में ही स्थिर होजाता है । यह बलवान् सुप्रसिद्ध गतिधर्मा सौर—इन्द्र के अनुग्रह पर निर्भर है । सौर इन्द्रप्राण उसो अदितिमण्डल के द्वारा आता हुआ तत्रस्थ दवदूत अग्नि में अपनी आक्षणशक्ति का आधान करता है । इस गति से बलवान् बनता हुआ आनेयप्राण आसुर—प्राणगति का आक्षण शिथिल कर दता है । परिणामतः भूपिण्ड असुरो की ओर (पश्चिम की ओर) न जाकर दवताओ की ओर (पूव की ओर) आता हुआ सम्ब सरगतिरूप में पारणत होजाता है । इन्द्र ही भूपिण्ड की वास्तविक गति का मुख्य कारण है । इधर प्राकृतिक दियानि इम वृषेद्र से नियुक्त रहता है । या च का च बलकृतिरि द्रवम्भैव तत् के अनुसार बलकृतिलक्षण वृषेद्र के सहयोग से ही भाषण्ड का दवमण्डल की ओर आक्षण होजाता है । भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ पूव की ओर चल पडता है । इसी गतिविज्ञान को लक्ष्य में रखत हुए ऋषि ने कहा है—

यज्ञ इ द्रमपृथ्वत्, यद् भूम यर्वायत् ।
चक्राण ओपश इति ॥ (ऋक्स ८१४।५)

सायण ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिमदिगनुगता यह आसुरप्राणगति ही भापण्ड को सूय्य गोलगम में जाने से रोक रही है । यदि पश्चिमाक्षर न होता तो पूवाक्षर स आकर्षित भापण्ड स्वस्थान से युत गैता हथा अवश्य ही सूय्यगोलगम में अवलीन होजाता । पाश्चिमाक्षर है इसलिए तो भापण्ड स्वस्थान (क्रातिवृत्त) को नहीं छोड़ता । पूर्वाक्षर प्रबल है इसलिए पश्चिम की ओर गीधा नहीं चला जाता । क्या पूर्व की ओर सीधा जाता है ? नहीं । सी आसुरप्राणाक्षर स भापण्ड सीधा न जाकर तिर्यक जाता है । क्या भापण्ड सवथा ति यक जाता है ? नहीं । इसी द्रप्राणाक्षर से ति यक जात हुए भापण्ड की परभ्रमण बिन्दु-बिन्दु पूर्व की ओर आकर्षित होती रही है जिसका सम्प्रसर श द स स्पष्टीकरण हो रहा है ।

शब्द है वास्तव में सव सर । परंतु पराक्षप्रिय दवताओ का परोक्षभाषा में यह सप्रसर ही स प्रसर नाम से व्यवहृत हुआ है । भूपिण्ड जिस वृत्त (क्रातिवृत्त) पर परिक्रमा (सावसारकगात) लगा रहा है उसकी बिन्दु बिन्दु कटिल है । गोलवृत्त का निर्माण इसी सर भाव से होता है । सर्वत सरभाव (कुटिल भाव) ही सवसर है (सर छद्मगता) । यही सवसर है । सवसर नाम के सम्बन्ध से यह युक्ति होगी कि भूपिण्ड एकत्र (सम्) बसता हुआ वसन् कुटिलरूप से पूर्व की ओर बढ़ रहा है ।

देवदूत अग्नि के इस इन्द्राक्षर महयोग का फल यह निकला कि स पूरा भूपिण्ड दवमय लोप लक्षित दिव्य आग्नेय स सर का अनुगामी बन गया । यही दिव्य आग्नेय दवताओ का राजय कहलाया एवं तमोमय आसुरप्राणों का पराजय कहलाया । जिधर अग्नि रख था उसी ओर भापण्ड गयुन्मुख बना यही निष्पत्ति है । यही स अग्नि का दौयकर्म है । इसीलिए यह अग्नि दवताओ का दूत कहलाया है । जो यजमान देवदूत अग्नि का उक्त गति-रम्य जानता है साथ ही जिस यजमान का होता अग्नि के इस सूत्ररूप को जानना है वह अपने यजमान के लिए लोकसपात असपन बना देता है । मात्र का दूसरा भाग है- होतार विश्व वेदसम् यह ॥

इसके सम्बन्ध में कल्पनाकोन एक नई उपपात की कल्पना करने हुए मौलिक उक्त मन्त्र भाग में—
होता यो विश्ववेदसम् इस परिवर्तन की कामना प्रकट की है । कल्पना का उपहासा पदरूप यही है कि—
होतार का होता अरम् यह भी छेद सभव है । अर शब्द अल अथ का भी बोधक है । सपत्ति का आगमन होता है अग्नि के द्वारा । उस सम्बन्ध में— अलम् बालना सपत्ति का ही निरोध करना है । इस अल-भावा मक अर स सम्पात निरोध न होजाय अथवा स्वयं होता अग्नि का अलभाव (आगमन-निरोध) न होजाय इसके साथ ही अनुवचन करने वाला होता अपने आप को समाप्त न कर बैठ इसलिए होतार के स्थान में होता यो इत्यादि रूप स परिवर्तन कर डालना चाहिए ।

उक्त मानुष-कल्पना का श्रुत ने आमूलचूड़ खण्डन करते हुए कहा है कि यज्ञमत्रो म यज्ञात कर्तयताओं में अपनी मानुष-कल्पना के द्वारा का पनिक उपपत्तिया मानते हुए पारवचन कर डालना यज्ञ स्वरूप का नाश ही कर लेना है । आज भी तो ऐसे कल्पनारसिकों की कमी नहीं है । भारतवर्ष के गौरवभूत

निययज्ञाधार पर प्रतिष्ठित वधयज्ञो को वायुशोधक मानने की क पना करत हुए जो महाशय चिर तन पद्धातयो स ।वरुद्ध केसर कपूर-गोला आद का आहुतिद्रव्य मानने की वृष्टता कर रह है क्या व यज्ञकम्म के शत्रु नही ह ? । ऐस ही का पानवो का प्रबोधन करवानी हुइ श्रात कहती है कि कम्मठ वो चाहिए ।क वह जसा विहित है वैसा ही करे । अपी क पना स उसम अणुमात्र भी परिवत्तन न करे । तभी यज्ञ के द्वारा अभीष्टसिद्धि सम्भव है । इसी आदश के साथ फलोपसहार करती हु ३४-३५ कण्डिकाए उपरत हुइ हैं ॥ ३४ ३५ ॥

मूलानुवाद में स्पष्ट कया गया है कि अग्नि दूत इयादि को आठवी मान कर ही अनुवचन करना चाहिए । ऐसा करने स साक्षात् रूप स अष्टाक्षर गायत्रीध्वं स छुदित गायत्राग्नि स पत्ति का यज्ञ मे समग्र होजाता है । जो महानुभाव काम्येष्टि स स ब्रध रखने वाली दो धाया ऋचाओं का समावश इस स पहले करत है साथ ही का अनिक उपपत्ति बतलाते है व गायत्र स पत्ति से विमुक्त होत है । अत धाय्या-ऋचाओं का समावश इस आठम मात्र स आग ही होना चाहिए ॥ ३ ॥

यदि दशपूणमास के साथ का येष्टि भी अपेक्षित है तो उस दशम १५ क स्थान मे १ मिधे निया होती ह । इसके लिए २ मात्रो का ऊपर स सम्बध किया जाता है एव उनके अनुवचन का समय यही माना गया है । (का येष्टि समग्र पक्ष म) अग्नि दूत के अनतर पाहो समि यमानो अध्वरे इस ऋचा का अनुवचन होता है अन तर धाय्या नामक दोनो ऋचाओं का अनुवचन होता है । अनतर समिद्धो अग्नि आहुत इयादि का सर्वात में आजुहोता दुवस्यत का त्रिराष्ट्रिपूर्वक अनुवचन होता है जसाक मूलानुवाद में स्पष्ट कर दिया है ।

(केवल दशपूणमासपक्ष में १५ सामिधेनी ही विहित है । इस पक्ष में) अग्नि दूत के अनतर जिन तीन ऋचाओं का क्रमश अनुवचन होता है उनकी समष्टि अध्वरय तत्रिच नाम स प्रसिद्ध है । समिध्यमाना अ वरे — समिद्धा अन आहुत आजुहोता दुवस्यत तीनों मात्रो की समाष्ट ही अध्वरव तत्रिच है । तीनों मात्रो के सम्बध मे कोई विशेष वक्तय नही है । अ वरस पत्तिप्राप्ति ही अ वरवत-त्रिचानवचन का मुख्य फल है । इसप्रकार उक्तरूप स इन १५ सामिधेनियो का अनवचन होता है । इस अनवचन से अध्वर्यु क द्वारा रूद्ध अग्नि समिद्ध (।द्वय तेजोयुक्त) बन जाता है यही समिद्ध अग्नि देवयजन की मूलप्रतिष्ठा है ॥ ३८ ३९ ४ ॥

चौथे अध्याय मे पहिला, तथा तासरे प्रपाठक मे

तासरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-द्वितीय ब्राह्मण

अत्र-उपरत

२

—*—

चौथे अध्याय मे दूसरा तथा तीसरे प्रपाठक मे चौथा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत तृतीय-ब्राह्मण

३

अथ-निगदानुवचनकर्मोपपत्ति

मन्त्रशक्ति के द्वारा आहवनीय में प्रतिष्ठित इस दिव्या का यही मुख्य कर्म है कि तस्मै जिस देवता के लिए आहुति डाली जाय उसका त्वशकलन कर अनिदेवता तल्लोक की ओर जात हुए उस देवता तक पहुँचाते हुए इस अन्न के सम्बन्ध स यजमान के मानुषात्मा के साथ उस तदयमाण का सम्बन्ध कराद । कसा महवपूरा तथा शक्तिसापेक्ष का य है । सामिधेनी अग्नि आज थाड ही समय में तस्मै दुर्बुद्ध कर्म से प्रवृत्त होने वाले हे । इससे पाहले गुण वी य पारचायक निगदपाठ से इस अग्नि का उसाहबल स युक्त करना ही प्रकृत कर्म की मुख्य उपपत्ति है ।

लोक में इस वागवीच्य का हम अदभुत चमकार देखत । कर्णाजुन का युद्धप्रसङ्ग स सम्बन्ध म प्रयत्न प्रमाण है । शय के अनुसाहपूरा वाक्यो स महावीर भी कण मदीसाह होत देख गए ह । कारण यही है कि आग्निर्वाग्भूत्सा मुख प्राप्रिशत् इस सिद्धांत के अनुसार वाग्द्रिय आनप्रधान है । तस्के प्रयोग का फल अवश्य ही शारीराग्नि पर पडता है । यदि हमे कोड अनरतर कायर कहता रह । तत्र भी कालांतर में हमारा अग्निबल मदी होजायगा । साथ ही याद हम स्वयं भी अपने आपको धिक्कृत करते रहेग तत्र भी हमारी वही दशा होगी । सी आवार पर- ना मानमसात्त्येत आदश विवित्त है । ठाक इसके विपरीत यदि हम किसी के प्रात उत्साहप्रदक श दो का प्रयोग करत रगे साथ ही हम त्रय भी अपने लिए यदि पौरुषसमपक श दो का प्रयोग करते रगे तो स वाक प्रयोग स तस्मैतुलित हमारा शाराग न अवश्य ही वीच्यशाली बन जायगा । तसीलए धर्मशास्त्र ने यह आदश तदया है कि न तो हम दूसरों के लिए ही अशुभ वाणी का प्रयोग करना चाहिए न अपने लिए हा अशुभ शब्द बालने चाहिए ।

कभी कभी यह भी दखा गया है कि मनु य को अपने शक्ति का स्वयं बोध न होने से वह असमर्थ-सा बना रहता है । यदि को अय व्याक्त वाग्द्वारा इस प्रबन्ध कर्ता है तो तस्की मत्त शक्ति प्रबुद्ध हो-जाती है । भगवान् माहात त्सी सम्बन्ध म प्रयत्न उदाहरण ह । वाग्द्वारा यशोकात्तन स नीय का आधान हाता है और अवश्य होता है यही वक्तव्य है । जब लौकिक वाक मे यह शक्ति है तो उस तदयवाक (मन्त्रवाक) का क्या कहना जिसका स्वरूप-निर्माण त वो के अनुरूप हो हुआ है । होतुलक्षण गुणतम काय्य में नियुक्त करने से पहिने अग्नि में उसी स्वगीर्यजायति के लिए साथ ही मन्त्र के द्वारा ओर भी शक्ति समावश के लिए यह निगदानुवचनकर्म होता है ॥ १ ॥

प्राकृतिक प्राणदेवता नि य वण-यवस्था के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय ऋश्य शूद्र भेद से चार भागो मे विभक्त है। अग्नि ब्राह्मण है इद्र क्षत्रिय है विश्वेदेव ऋश्य है एष पार्थिव पूषाप्राण शूद्र है। ये ही चारो आधि त्वक देवता क्रमश ब्रह्म-क्षत्र-त्रिद्वीर्य्यो क एष शूद्रलक्षण पशुभाष के प्रपुक्त माने गए है। पार्थिव प्रजा में जिसमें जिस वण के देवता का प्राधापय रहता है वह उसी वण की प्रजा कहलाती है। यही भारतीय वणव्यव था की प्राकृतता नि यता तथा ज मानुरू ता है जिसका कि विशद वैज्ञानिक विवचन गीतात्रिज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड कम्मयोगपरीक्षा मक ख विभाग क वण यवस्थात्रिज्ञान प्रकरण में हुआ है।

उक्त चारो वणों म ब्रह्मवीर्य्यप्रवक्त क ब्राह्मणवण सर्वोत्कृष्ट माना गया है। उसी वण के आधार पर इतर तीनो वण प्रतिष्ठित है यही ब्राह्मणवर्णा मक हाता अग्निदेव का महान् उत्कृष्ट है। इसी ब्रह्मवीर्य्य के प्रभाष से ब्राह्मण अग्नि होतृकम्म म समथ हुए हैं। वीर्य्यापेक्षया जहा अग्नि वणत ब्राह्मण हैं वहा कर्मापेक्षया ये ही अग्नि भारत नाम स प्रसिद्ध है। पार्थिव ह य का वहन कर इसके द्वारा द्युलोकस्थ देवप्रजा का भरण पोषण क ना भी इह्वी का काम है। एष वश्वानराग्निप्राणरूप से पार्थिव प्रजा की अ यामसस्था में प्रतिष्ठित होकर अपने स्वाभाविक अनादध म स अनाकषण के द्वारा पार्थिव प्रजा का भरण पोषण करना भी इह्वी का काम है। इसी भरणकम्म से इह्वे भारत कहना अ वथ वन रहा है। जा त्रलोक्य-प्रजा के भरण-पोषण करने में समथ हैं उनके उत्कृष्ट का क्या बखान करै। तभी ता ये होतृव जैसा गुरुतम वाय्य करने में समथ है।

अष्टविध देवयवस्था के अनुभार (जिसका विज्ञानभाष्य-प्रथम-खण्ड में विशद वैज्ञानिक विवचन किय जाचुका है) किसी समय इसी भूपृ ठ पर त्रलोक्य यवस्था थी। पृथ्वी-अतरिक्ष-द्यौ तीनो लोक प्रकृतिवत् यहा भी व्यवस्थित थ जिसे भामत्रिलोकी कहा जाता है। दक्षिणसमुद्र स आर म कर इमालय पर्व्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश उस समय का पृथिवीलोक था अलतायीगिरि से आरम्भ कर उत्तर समुद्र पर्व्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश द्युलोक था एष हिमालय से आर म कर अलतायो पवता त मध्य प्रदेश अ तरिक्षलोक था। तीना के क्रमश अग्नि इद्र वायु शवसोनपात् देवता थ। इसीलिए तीनो को अग्निलोक इद्रलोक वायुलोक नामो से भी यत्र-तत्र यवहृत किया गया है।

पृथिवीलोक ही इस अग्निदेवता के सम्ब ध से भारतवष कहलाया है। पार्थिव प्रजा से कर ग्रहण कर भौम देवलोक में पहुचाना भी इह्वी भौम अग्नि का कार्य था साथ ही वामदेव ओङ्कार आदि अ ना यक्षो के द्वारा य । की प्रजा की अत्र यवस्था करना भी इह्वी का कार्य था। इह्वी कर्मों से ये भारत इस उपाधि-नाम से त्रिभूषित किए गए। इह्वी के इस भारत नाम से यह पृथिवीलोक भारतवष कहलाया। दौष्यति भरतादि के सम्बन्ध से जो इस देश का नामकरण वतलाया जाता है वह कनल भरत का यशोगानमात्र है। वस्तुत भारतवष सज्ञा की मूलप्रतिष्ठा भाम भारत नामक अग्निदेव ही है। इसप्रकार अधिदैवत अ याम अधिभूत तीनों पक्षों में उक्त निगदमात्र का समवय होरहा है जो कि निगदम त्र उपस्तुतिपरक माना गया है। क्यो निगदा-नुवचन किया जाता है? इस प्रश्न की यही सद्धि त उपपत्ति है ॥ २ ॥

अथ-प्राषेयानुवचनोपपत्ति

निगदानुवचनानंतर वह होता अमुकस्य पात्र इत्यादि रूप स आपयमत्र का ऊह कर प्राषेयानुवचन करता है। इस का एकमात्र यही प्रयाजन है कि इस का महत्त्व ही बतलाया जाता है। ऋषिवशपर परा ही इस मह व रयापन का मूल है। इस विषय का वज्ञानिक विवचन पृथग्ब्राह्मण में किया जायगा ॥ ३४ ॥

अथ-निवित्पाठ

प्राषेयानुवचनानन्तर वह होता निवित्पाठ कता है। सामिधेनी के द्वारा सामिध आग्नि तिन तिन गुण कर्मादि विशिष्ट धम्मा से युक्त है उनका यश रयापन (बन्वान) करते हुए अग्नि त्रेत्र का अनुग्रह प्राप्त करना ही प्रकृत निवित्पाठ का मुख्य उद्देश्य है।

प्रकृति में निययज्ञ हो रहा है नसी नित्ययज्ञ सृष्टि का स्वरूप सुरक्षित है। भौम मनु यावध दन्ताग्रान ही सर्वप्रथम यस्यरहस्य का स्वरूप पाहचाना। पहिचा कर उहोन ही सर्वप्रथम अरणिमथन नामक प्रक्रिया विशेष स वैध अग्नि उपन कर उसका समिधन किया। इस सामिध वध अग्नि स प्रकृतिवत् यज्ञवितान किया। इसप्रकार इस वधयज्ञकर्म के प्रथमावकार का अथ भोम देवताओं को मिला। तभी स यह समिध अग्नि-देवेन्द्र नाम से व्यवहृत हुआ।

भारतवर्ष में सर्वप्रथम यज्ञकर्म वितान का अथ मिला अथा याधिपति महाराज वैवस्वत मनु को जिनका प्रातिस्वक नाम था श्रद्धादेवमनु जो कि भारतवर्ष की मान्य प्रजा के प्रथम सम्राट थे। तब से देवेन्द्र के साथ साथ समिध अग्नि मातृ नाम स भी व्यवहृत होने लग ॥ ५ ॥

ब्राह्मण स प्रदाय ने अपने पूज्य महर्षियों की पर परा से अग्निवितानलक्षण अग्निस्तुति का अनुगमन किया। इस ब्राह्मणस प्रदाय की अपेक्षा स साक्षात्कृतधर्मा भारतीय महर्षि हो इस अग्नि (अग्नियज्ञ) के प्रथम स्तोता (वितानकर्ता) माने गए। अतएव ये अग्नि आगे जाकर ऋषिष्ठत नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ६ ॥

ऋषिप्राणरह यवेत्ता ये महर्षि ही त्रिप्र नाम स प्रसिद्ध है। भोमदेवताओं जिस अग्नि का सर्वप्रथम समिधन किया तदनु रूप वैवस्वत मनु ने भारतवर्ष में जिन अग्नि का समिधन किया उस अग्नि का वितान करते हुए भारतीय महर्षियों हृदय स इनका अनुगमन किया उहोन मा इस (आग्निमय यज्ञ को) सर्वाभीष्ट फलप्रदाता मानते हुए इस यज्ञकर्म का अनुगमन किया। अतएव अग्निदेव-त्रिप्रानुसदित नाम से भी प्रसिद्ध हुए ॥ ७ ॥

साक्षात्कृतधर्मा क्रांति शीं महर्षि ही तो कर्षि है। उहोन सुपासन् शस्त्रकर्म के द्वारा इस अग्नि का शसन किया इसलिए ये आग्निदेव कायशस्त नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जिस यज्ञकर्म स जिस देवता का स्वरूप उपन किया जाता है उस यज्ञकर्म में-शस्त्रस्तात्र ग्रह नामक तीन कर्म किए जाते हैं।

ऋक् से शस्त्रकम्म होता है साम से स्तात्र हाता है एव यजु से ग्रह होता है । प्रजास्वरूप निर्माणा म उपादान द्र य उत्पन्ना अत्रयत्र-निर्माणा एत्र स्वरूप सम्पत्ति ये तीन क म अपेक्षित हैं । गर्भा शयगत शोणिताग्नि मे शुक्राहुति देना ही ग्रहकम्म है । शुक्रामक ग्रह ही प्रजा का उपादान है । सिक्र रेत का अत्रयत्रविशेषरूप से काटछान रूप मे परिणत हाना ही शस्त्रकम्म है । १ मासान तत्र स्वरूप निर्माणा का अत्रसान होजाना ही स्तोत्रकम्म है । व ही तीनों प्रजानक म इस यज्ञ मे किण जाते हैं जिनका स्वरूप परिचय भा यार म के उपोदघात प्रकरण में ही कराया जाचुका है । यजुवदी अ वय्यु यजु स जो आहुति देता है वही ग्रहकम्म है । आहुतरूप यह ग्रह ही उपादान है । ऋ वदी होता ऋक् से शसन क ता हुआ शस्त्रकम्म का प्रवक्त क बनता है । सिक्र रेत स्थानीय ग्रह की शस्त्रवत् काटछाट करना ऋ से उसमें अवयव विशेष स्थापित करना होता का ही काम है । सामवेदी उद्गाता सामगानलक्षण स्तोत्रकम्म से इसे दैवा मस्वरूपमें वितत करता है । प्रकृत का निवित्पाठ क्योकि होगा कर रहा है एव शसनकम्म क्योकि होता का प्रातस्विक कम्म है अतएव यहा अग्नि के लिए- कविशस्त का गया ह ॥ ८ ॥

पार्थिव महिमामण्डल म यास ऋ होतुक मा यज्ञ प्राणाग्नि का उत्तरोत्तर सुतीक्ष्णभाव में परिणत होना भूकेद्रस्थ ऋक्यामक ब्रह्माग्नि की ही कृपा का फल है । अग्नि त व विकाम ध मा है । इसी वधम्म से यह उत्तरोत्तर सुतीक्ष्ण (सुसूक्ष्म) बनता जाता है । यही सुतीक्ष्णभाव ऋसकी व गति का कारण है । यही इसका सशितावस्था में परिणत रहना है । म तीक्ष्णभाव का मूलप्रवक्त क के द्रस्य प्रजापति-नामक ब्रह्म (एतन्नापक आग्नि) ही है । उक्थ से हा तो अकरूप तीक्ष्णभाव का उदय होता है । ऋसी ध म की अपेक्षा से ये अग्नि-द्वय ब्रह्मसशित नाम स भी प्रसिद्ध हैं ॥

घृतमियुदकनाम के अनुसार घृत शब्द आ य के साथ साथ ऋ उदक का भी नाम है । भूगम से वाष्परूप में परिणित होकर आ तारक्ष्य वायुधगतल पर प्रतिष्ठत होने वाला अपत त इस अग्निगम में ही प्रतिष्ठित रहता है । ध्रुलोक की ओर जात हुए अग्निदेव ही इस अप की प्रतष्ठा बनते हैं जैसा कि अग्निर्वा इतो वज्रिमदीरयति मरुत सृष्टान्नयति इ यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है । ऋके अतिरिक्त आ त-रिद्य घृत भी इसी के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है जैसाकि पूव के आ यब्राह्मण के नीरक्षीरत्रिवेक प्रकरण मे विस्तार से स्प ट किया जाचुका है । इसप्रकार आधिदैविक सस्था में उदक तथा घृत का आधार बनता हुआ अग्नि घृतवाहन बन रहा है । ऋ आधिभौतिक वययज्ञ में आहुत आय का वाहन तत्प्रतिरूप समिद्ध आहवनीयाग्नि बन रहा है । एवमेव आ याभिक अग्नि युक्त घृत का वाहन बन रहा है । जिसका शारी रानि प्रदीप्त रहता है वही घृत को पचा सकता है । इसप्रकार तीनों सस्थाओं की दृष्टि से अग्निदेव घृत वाहन बन रहे हैं ॥६॥

पाकयज्ञ अतियज्ञ महायज्ञ शिरोयाग आदि आदि जितन भी यज्ञ हैं उन सबका सञ्चालन अग्नि के द्वारा ही होता है । अग्निरु वै यज्ञ इस परिभाषा के अनुसार अग्नि ही सवयज्ञ-प्रति ठा है । आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ आधिभौतिक अग्नि के मा यम द्वारा आ याभिक प्राणदेवताओं का मेल कर देना ही तो यज्ञ है । उधर अग्निपुरोगा सर्वे देवा प्रीयताम अग्नि सर्वा देवता के अनुसार अग्नि सबदेवमूर्ति हैं । फलत अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों का प्रणयन भलीभाात सि द हो जाता है । ॥१ ॥

अथ—देवतावाहनोपपत्ति

सामिधनियो स प्राणाग्न का समि धन किया गया निगदानुवचन से वीर्याधान किया गया एव पूजाकृत निवित्पाठ से अग्नि के यष्टि—सम यथामक गुण कर्मों—का बलान करत हुए इसम यशोवी य का आान किया गया। अब ये अग्नि दवयजनक म लिए सवथा उपयुक्त बन गए है। अतएव आवश्यक है कि अब इन अग्निदव स प्राथना की जाय क प्रकृत इष्टि में जिन जिन देवताओं का यजन अभीष्ट है उह्ने भी आप स यज्ञसस्था में (द्युलोक से) प्रतिष्ठित कीजए। यही आह्वानकर्म की सन्धिपत उपपत्ति है जिमकी हातकत्त यथा का १६ १७ इन दो कशिडकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। इस देवता—आवाहन क्रम में—स्व—महिमानमावह पद की याख्या महवपूर्ण है। अतिने कहा है कि वाक ही इस अग्नि की अपनी महिमा है। यह वाक् ही तस्य वा एतस्या नेर्वागोपोपनिषत् के अनुमार अग्नि की मूलप्रतिष्ठा है वागागतान ही वप्रट्कारमण्डलरूप महिमाण्डल है। यही आ यामिक अग्निमहिमा है। आधिभौतिक भूतपिण्ड वाडमय है। वाग्मय भूतपिण्डों के गम में अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। यहा भूतमयी वाक् भूताग्नि की महिमा बन रही है। आ यामिक अग्नि की महिमा वागिन्द्रिय लक्षणा वाक ही बन रही है। वाक्त्व ही शरीराग्नि का परिचायक है। शब्दवियास के आधार पर शरीराग्नि का बलाबल अनुमेय है। इसप्रकार तीनो सस्थाओं में वाक ही अग्नि की महिमा बन रही है।

निवित्—मत्र ने अग्नि को जातवेद कहा है। यह विशेषण भी महवपूर्ण है। परिचय रखने वाला ही जातवेद है। अधिदैवत में अग्नि ही तद्रूप देवताओं के यथाथ स्वरूप से परिचित हैं। अधिभूत में भूतान ही भूतपिण्ड के स्वरूप—सघठन—लक्षण परिचय से अगत हैं। एव अ याम में शरीराग्नि ही वाक्—प्राण—चक्षु रूप स जातवदा बन रहा है। चक्षु से हम वस्तु पहिचानते हैं वाडमय नाम से वस्तुओं का परिचय प्राप्त करत है एव प्राणमय कर्म से वस्तुस्वरूप का परिचय मिलता है। वागिन्द्रिय अग्नि से सम्बद्ध है प्राणोन्द्रिय वायु से सम्बद्ध है एव चक्षुरिन्द्रिय आदिय से सम्बद्ध है। अग्नि—वायु—आदिय तीनों एक ही अग्नि के तीन विवत्त हैं। फलत आध्यामिक अग्नि का भी जातवदव भलीभाति सिद्ध होजाता है ॥१६ १७॥

अनुवचनकर्म खडे रण्ड होता है याज्याकर्म बठे बठे होता है। अध्वय्यु यजु मत्र से याया करता है एव होता ऋड्मत्र से अनुवाक्या करता है। आह्वान होता है द्युलोकस्थ देवताओं का। ने हम से त्रिदूर हैं। अतएव अनुवचनकर्म रण्ड खडे ही होना चाहिए। क्योंकि निदानविधि से द्युलोक अनुवाक्या है। यजन होता है—उन प्राणादेवताओं का जो होता के अनुवचन से इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। अत—एव यजनकर्म ठ बठ ही होना चाहिए। क्योंकि याया निदानेन पृथिवी का ही प्रतिरूप है। १८ १९ ॥

चौथे अध्याय मे दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक मे चौथा
ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी—ब्राह्मणानुगत तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

—*—

चौथे अध्याय मे तीसरा तथा तीसरे प्रपाठक मे पाँचवाँ ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-चतुर्थ ब्राह्मण

—४—

—*—

अथ-शान्तिवम्भोपपत्ति

वदरहस्यवित् विद्वान् होता के यथाविधि सामिधेयनुवचन से आर्षेय-प्रवरण से निगदानु-वचन से निप्रित्पाठ से तथा आवाहन के द्वारा देवप्राणाधान से आज हमारा यह वध आहवीयानि साधारण लौकिक इन्द्र अग्नियो की अपेक्षा अतिशयरूप से समिद्ध अलोकक अनाक्रमणीय तथा अन-बमृश्य बन जाता है। न केवल अग्नि ही अपितु अपने अनुवचनादि कम्म से भूताग्नि में प्राणाग्नि का समावश कर उसे यह स्वरूप देने वाला स्वयं होता भी अपने शरीराग्नि से तत्समानवर्मा बनता हुआ अनवधृष्य तथा अनवमृश्य ही बन जाता है। जो सामान्यबुद्धि मात्रशक्ति के उक्त प्रभाव को न जानता हुआ इस अग्नि को सामान्य अग्नि एवं अनुवचनकर्ता उस ब्राह्मण को सामान्य मनुष्य समझने की भ्रांति करता हुआ इसका तिरस्कार-अपमान-करने की भूलकर बैठेगा वह निश्चयेन अपना उसीप्रकार सवनाश करा बैठेगा जैसे अज्ञ मनुष्य विद्युत्-स्पर्श से अपना नाश करा बैठत हैं। अतः ऐस अग्नि तथा ऐम यज्ञिय ब्राह्मण सवथैव प्रणम्य हैं स्तुय हैं ॥१२॥

अग्निसमिधन के लिए होता जिन सामिधेनियो का अनुवचन करता है उस अनुवचनकम्म से ही यद्यपि इसके शरीराग्नि में अतिशय उपन्न होजाता है। तथापि साक्षात् रूप से मावयय शरीराग्नि समिधन के लिए अनुवचनकाल में तत्तद्विशेष मात्र-भागो के द्वारा तत्तद्विशेष आयामिक पवों के समिधन के लिए भावना कर लेता है। किस मात्र से कौनसा आयामिक पव सामिद्ध होता है? प्रस्तुत ब्राह्मण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है।

प्र वो वाजा अभिद्यव इयादि प्रथम मन्त्र होता के प्राण का ही सामिधन करता है। अग्न आयाहि वीतये स अपान का ही समिधन होता है। एवं तृतीयमन्त्र के—बृहच्छोचा यवि-ष्ठ्य मात्रभाग से उदान ही समिद्ध होता है। अथप्राण नाम से प्रसिद्ध प्रश्वासामक प्राण की (इन्द्रियप्राण की) प्राण-अपान भेद से दो अवस्था हैं। निगच्छत् अवस्था में वही गमनधम्म से प्राण है आगच्छत् अवस्था में वही आगमन धम्म से अपान है। प्राण प्रान् (गतिधर्मा) है अपान एतवान् (आगतिधर्मा) है। प्र उपसगयुक्ता प्र वो इयादि ऋचा से तत्समान प्रश्वासाव-स्थापन्न प्राण का एवं आङ् उपसगयुक्ता अग्न आयाहि ऋचा से तत्समान प्रश्वासामक अपान का समिधन हुआ है। तेजोनाडी के द्वारा कण्ठदेश में प्रतिष्ठित आयु स्वरूपरत्नक प्राण ही उदान है। इस का बृह साममण्डलस्थ आयु प्रदाता सौर विश्वामित्रप्राण से समतुलन है। अतएव इसे बृहच्छोचा बहना अवयव बन रहा है। बृहच्छोचा यविष्ठ्य से इसीका समिधन हुआ है ॥३॥

सन प्रथुश्रवा यम् मत्रभाग से श्रोत्रन्द्रिय का समिधन हुआ है। त्रलोक्य यापक अतएव मत्रा पृथु (अस्तीण) वाक्-समुद्र मत्रय शब्दाघात स उपन्न वीचि ही कणश कुली पर प्रतिष्ठित प्रज्ञान मन से सत्र (आहत-प्रयाहत) होती हुई शब्दश्रवण का कारण मानी गई है। इस यापक वाक् लहरी के आवार पर शब्दश्रवण करने के कारण ही श्रोत्र प्रथुश्रवा य है ॥४॥

इडेन्यो नमस्य स मत्रभाग से वागिन्द्रिय का ही समिधन हुआ है। स पूण भौतिक विश्व वाक् का ही वितान है। मन प्रा गर्भिता ताक नी आकाश है। आकाशामि वाक् ही बलप्राय के तारतम्य से पञ्चमहाभनरूप में पारंगत हुआ है जसाकि वाचीमा मिश्रा भूनाथर्पिता अथो वागेवेद सवम् इयादि जगमो स स्पष्ट है। जिसप्रकार आवदवत मंत्रवाचिका वाक् से सब वितत है एवमेव अयाम मंत्रे द्वियाभिका-शब्दा मका-वाक स ही सब स्तुय है। वाक् ही सबकम्म-वितान की प्रात ठा है जसाकि निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुत स प्रमाणत है—

* सा यत्रय वागासीत् सवमव तत्राक्रयत सर्वं प्राज्ञायत। अथ यत्र मन आसीत् नव तत्र चिन्चनक्रियत न प्राज्ञायत। नो हि मनमाध्यायत कश्चन-आजानाति (शत० ४।६।७।५।) ॥५॥

अत्रान देववाहन इत्यादि मत्रभाग स प्रज्ञान नामक सर्वेन्द्रिय मन का ही समिधन होता है। प्राणामक देवता सोममय मनाधरातल पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इसीलिए तो उपवास में मन परितोषक अन्नाशन निषिद्ध माना गया है। प्राणवाहन के अतिरिक्त मनस्वी मनुय का मन इमे काम-सफलता के लिए उठाए फिरता है। मनस्वी का सकप कभी यथ नहीं जाता। देवप्राण-प्रतिठारूप होने से ही मन अश्वस्था नीय देववाहन है ॥६॥

अग्ने दीद्यत् बृहत् इयादि मत्रभाग से चक्षुरिन्द्रिय का ही समिधन होता है। सर्वाङ्गशरीर में अङ्गाररण्डवत् चक्षु ही प्रदीत है साथ ही बृहत्सामा मक आदि य स उपन्न होने के कारण बृहत्साम-सपत्ति से युक्त है। चक्षु साम के गभ में अस्थित वस्तु ही दृष्टि का विषय बनती है। एक विशाल प्रतिमा का स्वरूप तत्रतत्र शवसमान ही दिखाई देता है जबतक कि उसमें दो चक्षुकनीनिकाओं का सम्बन्ध नहीं कर दिया जाता। चक्षु के सम्बन्ध कराते ही पाषाणप्रतिमा प्रज्ज्वलित सी होजाती है उभरसी जाती है। तभी प्रतिमा की बृहत्ता बृहत्चारूप से प्रतीत होती है ॥७॥

अग्नि दूत वृणीमह इयादि मत्रभाग स यान नामक मयप्राण का समिधन होता है। आतरिन्द्य प्राणेशमित उथरूप से हृदयस्थ सवप्रतिठामक अकरूप से सर्वाङ्गशरीर में यात जीवनाधारभूत श्वास प्रश्वासात्मक प्राणोत्तान के उपाशु-अतर्याम नामक यापारो का सञ्चालक प्राणावशेष ही

*-केवल मानस सकपो से इच्छामात्र की चरण से तबतक किसी र्म में सफलता नहीं मिल सकती जबतक कि-वाङ्मय शारिरीक श्रम तथा वाङ्मय शब्द का आश्रय न लिया जाय। कम्म तथा शब्दाभिनय से ही सकप काय्यरूप में परिणत होते देखे गए हैं।

यान है । इस में ऊपर सौरद्विप्राण तथा नीचे पार्थिव प्राण है वही के लिए निम्नलिखित उपायों का वर्णन
 विहित है—

न प्राणेन नापानेन मर्यो जीवति कश्चन ॥
 इतरेण तु जीवति यस्मिन्न ताबुपाश्रिता ॥१॥
 ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपान प्रत्यगस्यति ॥
 मध्य वामनमासीन सर्वे देवा उपासते ॥२॥

यान से ऊपर स्थित प्राण प्राण—उदान भेद से दो स्वरूपों में विभक्त है यान से नीचे स्थित
 अपान समान अपान भेद से दो भागों में विभक्त है । इस प्रकार आयात्मिक प्राण के पांच विवक्षित भागों
 है । इन में व्यानप्राण मयस्थ है अतस्थ है । इस अतस्थ प्राण के सामधन से आठवी ऋचा भी मयस्था
 है । इस सामधन से समि धनकर्ता अपनी मण्डली में मध्यस्थ बन जाता है ॥८॥

शाचिकेशस्तमीमहे इत्यादि मन्त्रभाग से शिश्नद्रिय का ही समि धन करता है । कामाग्निमय—
 ताप लौकिक इतर तापो से कही प्रबल है । इस का बीज शिश्न ही माना गया है । शिश्नोदर—परायण
 कामभोगासक्त मनुष्य कामप्रतिबन्ध-दशा में अतिशयरूप से सतप्त रहते हैं । इसी सान्ध्य से शिश्न के लिए
 शोचिकेश पद प्रयुक्त हुआ है ॥६॥

समिद्धो अ न आहुत इ यदि मन्त्रभाग से अवात् प्राण (गुदप्राण) का ही सामधन होता है ।
 एव — आजुहोता दुःस्यत इ यदि से समष्टिरूप से सवाङ्गशरीर का ही समि धन होता है ॥१॥

इस प्रकार उक्त समि धन—भावना से होता का सर्वाङ्गशरीर यष्टि—समष्टिरूप से सामद्ध आनवत्
 प्रज्जलित होजाता है । यदि होता चाह तो अपमान करने वाले पर उक्त भावना के साथ प्राण वा एतदा—
 मनोऽग्नावाधा इत्यादि रूप से कृत्याप्रयोग कर सकता है जिनका ११ १२ १३ १४ १५ १६ १
 १८ १९ २ २१ न ११ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है ।

उक्त समि धनकर्म तथा अभिचारकर्म से बतलाना प्रकृत में यही है । सामधेनी से सामद्ध
 अग्नि तथा समि धनकर्ता हाता दोनों समानधर्मा हैं अनववृष्य ह अनवमृश्य ह । उनका कभी तिरस्कार
 नहीं करना चाहिए । ऐसे इस महान्-स्तुत्य—नमस्य अग्निदत्ता के लिए एव अग्निरहस्यप्रित् ऐसे
 ब्राह्मणश्रेष्ठ होता क लिए निरातशय प्रणतभाव से आस्था श्रद्धा—पूर्वक ही हमारी अनेक नम उक्तिया
 समर्पित है ॥२॥

चौथे अध्याय मे तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक मे
 पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त
 समाप्त चेद् ब्राह्मणचतुष्टयात्मक सामिधेनी—ब्राह्मणम्

— * —

श्री

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-“सामिधेनीब्राह्मणम्”
उपरतम्



श्री

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
द्विब्राह्मणात्मक-“आधारब्राह्मणम्”





श्री

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये
द्विब्राह्मणात्मक-“आधारब्राह्मणम्”

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्
तृतीय-प्रपाठकके च षष्ठं ब्राह्मणम्
(आधारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथमं ब्राह्मणम्)

१

१६-पूर्वोत्तराधारकर्म्म
आधारयोनिदानम्

(मूल)—त वा एतमग्निं समैधिषत-समिद्धे देवेभ्यो जुह्याम'-इति ।
तस्मिन्नेते एव प्रथमं आहुती जुहोति-मनस चैव वाचे च । मनश्च ह वै वाक् च युजा
द्वेभ्यो यज्ञं वहति ॥१॥

म यदुपाशु क्रियते त मनो देवेभ्यो यज्ञं वहति । अथ यद्वाचा निरुक्तं क्रियते-
तद् वाग देवेभ्यो यज्ञं वहति । एतद्वा इदं द्वयं क्रियते तदेते-एवैतत् सन्तपयति । तप्ते
प्रीते देवेभ्यो यज्ञं वहति इति ॥२॥

स्रुवेण तमाधारयति-य मनस आधारयति । वृषा हि मन वृषा हि स्रुव ॥३॥
स्रुचा तमाधारयति य वाच आधारयति । योषा हि वाक्, योषा हि स्रुक् ॥४॥
तूष्णीं तमाधारयति-य मनस आधारयति, न स्वाहेति चन । अनिरुक्तं हि मन
अनिरुक्तं ह्येतत्-यत्तूष्णीम् ॥५॥

मन्त्रेण तमाधारयति—य वाच आधारयति । निरुक्ता हि वाक, निरुक्तो हि मन्त्र ॥६॥

आसीनस्तमाधारयति य मनस आधारयति तिष्ठस्तम् य वाचे । मनश्च ह वै वाक च युजा देवेभ्यो यज्ञ वहत । यतरो वै युजोर्हसीयान् भवति—उपग्रह वै तस्मै कुर्वति । वाग वै मनसो हसीयसी । अपरिमिततरमिव हि मन, परिमिततरेव हि वाक । तद्वाच एवैतदुपवह करोति । ते सयुजा देवेभ्यो यज्ञ वहत । तस्मात् तिष्ठन् वाच आधारयति ॥७॥

दग्ना ह वै यज्ञ तन्ना । तंऽसुरराक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयाञ्चक्रु । त एत-
दन्निणत प्रत्युदश्रयन् । उच्छ्रितमिव हि वीयम् । तस्मादन्निणतास्तष्टन्नाधारयति । स
यदुभयत आधारयति—तस्मादिदं मनश्च वाक च समानमेव सन्नानेव । शिरो ह वै यज्ञस्यै
तयोर यतर आधारयो, मूलम यतर ॥८॥

स्रुवेण तमाधारयति—यो मूल यज्ञस्य । स्रुचा तमाधारयात य शिरो यज्ञ य ॥९॥
तूष्णी तमाधारयति—यो मूल यज्ञस्य । तूष्णीमिव हीद मूलम्, नो ह्यत्र वाग
वदति ॥१॥

मन्त्रेण तमाधारयति—य शिरो यज्ञस्य । ग्रागधि मन्त्र । शीष्णो हीयमधि वाग
वदति ॥११॥

आसीनस्तमाधारयति—यो मूल यज्ञस्य । निषण्णमिव हीद मूलम् । तिष्ठस्त-
माधारयति—य शिरो यज्ञस्य । तिष्ठतीव हीद शिर ॥१२॥

अग्निसम्मार्जनम्

स स्रुवेण पूर्वमाधारमाधार्याह—अग्निमग्नीत्सम्मृद्धि' इति । यथा धुरमध्यूहेदेव
तत्—यत्पूर्वमाधारयति । अभ्युह्य हि धुर युञ्जति ॥१३॥

अथ सम्मर्ष्टिं युनक्त्यवैनमतद्, युक्तो देवेभ्यो यज्ञ वहादिति । तस्मात् सम्मर्ष्टिं ।
परिक्राम सम्मर्ष्टिं । परिक्राम हि योग्य युञ्जति । त्रिस्त्रि सम्मर्ष्टिं । त्रिवृद्धि
यज्ञ ॥१४॥

स सम्मार्ष्टि—'अग्ने वाजजिद्वाज त्वा सरिष्य त वाजजित्सम्मार्ष्टिम' (२ अ ७ म) इति । यज्ञ त्वा वक्ष्यत सम्मार्ष्टिम इत्ययैतदाह । अथोपरिष्ठात् तूष्णा त्रि । तद्यथा युक्त्वा प्राजत्—प्रहि वहेति एवमेयैतत्कश्योपक्षिपति—प्र हि देवेभ्यो यज्ञ वहेति । तस्मादुपरिष्ठात्तूष्णी त्रि । तद्यदत तरेण क्रम क्रियते—तस्मादिदं मनश्च वाक च ममानमेव सन्नानेव ॥१५॥

इति चतुर्था याये चतुर्थं ब्राह्मण—समाप्तम्
तृतीय—प्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मण—समाप्तम्
आधारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथमं ब्राह्मणमुपरतम्

१

—
तृतीयप्रपाठकश्चात्र—समाप्त

३

अथ-चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
चतुर्थप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्
आधारब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मणम्

२

२०—उत्तराधारकर्म

(मूल)—स स्रुचोत्तरमाधारयिष्यन् पूर्वेषु स्रुचावञ्जलिं निदधाति—‘नमो देवेभ्य स्वधा पितृभ्य (२ अ ७ म) ज्ञति । तद्देवेभ्यश्च वैतत् पितृभ्यश्चात्विज्य ऋषिभ्यन् निहुते । सुयमे मे भूयास्तम्’ (२ अ ७ म) इति । स्रुचावादत्ते—सुभरे मे भूयास्तम् । भत्तु वा शक्यमित्यवैतदाह । ‘अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य सभ्रियासम्’ (२ अ ८ म) इति । अविन्तु धमद्य देवेभ्यो यज्ञ तनया—इत्येवैतदाह ॥१॥

‘अडघ्रिणा विष्णो मा ववाक्रमिषम्’ (२ अ ८ म) इति । यज्ञा वै विष्णु तर्मा एवैतन्निहुते—मा त्वावक्रमिषमिति । वसुमतीमग्ने ते ह्यायामुपस्थेषम्’ (२ अ ८ म) इति । साधीमग्न ते ह्यायामुपस्थमिति्यवैतदाह ॥२॥

विष्णोस्थानमसि’ (२ अ ८ म०) इति । यज्ञो वै विष्णु तस्येव ह्यत-
दतिक तिष्ठात, तस्मादाह—विष्णो स्थानमसीति । इत् इन्द्रो वीर्यमकृणोत्’ (२ अ०
८ म) इति । अतो हीन्द्रमिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षास्यपाहन् तस्मादाह—इत् इन्द्रो
वीर्यमकृणोदिति । ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्’ (२ अ ८ म) इति । अध्वरो वै
यज्ञ ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्यवैतदाह ॥३॥

‘अग्न वेर्होत्र वेर्दूत्यम्’ (२ अ ९ म) इति । उभय वा एतदग्निर्देवानाम
होता च दूतश्च । तदुभय विद्धि—यद् वानामसीत्यवैतदाह । ‘अवता त्वा द्यावापृथिवी

अव त्व द्यावाप्रिवी' (२ अ ६ म) इति । नात्र तत्रोहितामगाम्ति । स्पिष्टकृद्-
देवेभ्य इ द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' (२ अ ६ म) इति । इन्दा वै यज्ञस्य
देवता, तस्मादाह-२ द्र आ येनेति । गाचे गा एतमाधारमाधारयति । दो वागित्यु-
वा आहु । तस्माद्देगाह-२ द्र आ येनेति ॥४॥

अथामस्मशय त्सु चा पर्येत्य ध्रुवया समनक्ति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आधार ।
आत्मा व ध्रुवा । तदा म यवतच्छिर प्रतिदधाति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आधार । श्रीर्वै
शिर । श्रीर्हि वै शिरस्तस्मात् योऽर्द्धस्य श्रष्टो भवति असावमुष्याद्धस्य शिर
इत्याहु ॥५॥

यजमान एव प्रवामनु । योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु । स यद्वोपभृता
ममञ्ज्याद्-यो यजमानायारातीयति-तास्मिच्छ्रय दध्यात्, तयजमान एतैच्छ्रय
दधाति, तस्माद् प्रवया समनक्ति ॥६॥

स समनक्ति-‘सज्योनिषा ज्योति (२ अ ६ म) इति । ज्योतिर्वि
इतरस्यामाज्य भवति, योतरितरस्याम । ते ह्यतदुभे योनिषी मङ्गच्छते । मस्माद्
समनक्ति ॥७॥

अथातो मनसश्चैव वाचश्चाहभद्र उदितम् । मनश्च ह वाक्चाहभद्र उदाते ॥८॥
तद्ध मन उवाच-अहमेव च छूयोऽस्मि न वा मया त्व मिश्वनानभिगत वदसि ।
सा य मम त्वा कृतानुकरानुवर्त्मासि अहमेव त्वच्छूयोऽस्मीति ॥९॥

अथ ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छूयस्यस्मि यद्वै त्वा वेत्थ-अह तद्विज्ञपयामि अह
सज्ञपयामीति ॥१०॥

ते प्रजापति प्रात प्रश्नमेयतु । स प्रजापतिमनस एगानूवाच मन एव त्वच्छूय
मनसो वा त्वा कृतानुकरानुवर्त्मासि, श्रेयसो वा पापीयान् कृतानुकरोऽनुवर्त्मा
भवतीति ॥११॥

सा ह वाक् परोक्ता त्वसिष्मिन् । तस्यै गम परात । सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच
अह यवादेवाह तुभ्य भूयामम या मा परावोच इति । तस्मात् यत्किञ्च प्राजापत्य यज्ञे
क्रियते उपाश्वेव तत् क्रियते । अह यवाद्धि वाक् प्रजापतय आसीत् ॥१२॥

तद्धैतद्देवा रेतश्चमन् वा यस्मिन् वा बभ्रु । तद्ध स्म पृच्छति-अत्रैव त्या ३
दिति । ततोऽत्रि सम्भूव । तस्मादप्यात्रेग्या याषितैनस्वी । एतस्मै हि योषागे वाचो
देवताया एते सम्भूता ॥८३॥

इति-प्रथमकारण्डे चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
समाप्तम्
आधारब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मण उपरतम्

२

★

द्विब्राह्मणात्मकमाधाराब्राह्मणञ्चात्रोपरतम्

*

शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-प्रथमकारण्डे चतुर्थोऽध्यायश्चात्र समाप्त

४

†

चौथे अध्याय मे चौथा, तथा तथा तीसरे प्रपाठक मे ६ ठा ब्राह्मण आधारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण

१

१—पूर्वोत्तराधारो की उपपत्ति—

(अनुवाद)—उस (प्रसिद्ध) इस (आहवनीय) अग्नि को (अग्निसमिधनोपयुक्त पूर्वोक्त कम्म से उर्हान * इस उद्देश्य से कि) समिद्ध (सामिधेनी मन्त्रशक्तियुत होने से देव प्राणयुक्त) अग्नि मे देवताओं के लिए हम आहुत देते है समिद्ध कर लिया । (अर्थात् देवाहात के योग्य बनाने के लिए ही पूर्वोक्त सामिधेयनुवचनकम्म के द्वारा आहवनीय अग्नि का समिधन हुआ है । इस कम्म से यह अग्नि देवाहात-ग्रहण-योग्य बन गया है) । (यजमानादि के द्वारा समिद्ध) इस आहवनीय अग्नि मे अध्वर्यु नामक ऋत्विक् मन के लिए आर वाक के लिए इन्हीं दो आहुतियों का हवन करता है । मन तथा वाक दानो से संयुक्त हाकर (मिथुनभाज मे परिणत होकर च लोकरुथ प्राणामक) देवताओं के लिए (प्रथिगोलाक से यज-यज्ञातिराशोपात्क आहुतिप्राण) का वहन करते है (लेजाते है) । (अर्थात् आहवनीय मे हुत आहुतिप्राण का प्राणरूप से द्युलोक मे मनोवाक के द्वारा ही गमनलक्षण ऊर्ध्व गतान होता है । अतः देवाहुति से पहिले आहुतिप्राणक मनोवाक के लिए दो आहुतियों देना आवश्यक है) ॥ १ ॥

अध्वर्यु के द्वारा जातूष्णी (आहुतिकम्म) किया जाता है इस उपाशुकम्म से मन देवताओं के लिए यज्ञ (आहुति) का वहन करता है । जो कि वाक्-पूर्वक (उच्चारण-पूर्वक) निरुक्त (प्रकट) भाव से (आहुतिकम्म) किया जाता है इस निरुक्तकम्म से वाकतत्त्व देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करता है । (अर्थात् मन अनिरुक्त होने से उपाशु है अतएव मन के लिए तूष्णी आहुति दी जाती है क्योंकि तूष्णीभाज अनिरुक्तभाज है । वाक् अनिरुक्त है अतएव वाक् के लिए उच्चारणपूर्वक आहुत दी जाती है क्योंकि उच्चारणभाज निरुक्तभाज है) । इसप्रकार

*—समिधनकम्म में यज्ञफलभोक्ता यजमान के आ मा (हृत्) का योग होता है अध्वर्यु नामक ऋत्विक् इ माधान करता है ब्रह्मा नामक ऋत्विक् होता को सामिधेयनुवचन की अनुज्ञा प्रदान करता है एव होता नामक ऋत्विक् सामिधेनी-ऋचाओं के अनुवचन से अग्नि समिधन करता है । इसप्रकार यजमान अध्वर्यु ब्रह्मा होता चारों के व्यापार से अग्निसामिधन कर्म्मोत्तकत्वायता सम्पन्न हाती है । इसी अभिप्राय से समिधेषत यह अनुवचन प्रयुक्त हुआ है ।

उपाशु तथा उच्चारणभाव क द्वारा अ ग्र्य्यु हीं दोनों मनोवाक-भागों की सम्पत्ति सम्पन्न करता है इन दानों आहुतिया से यह मनोवाग्भागों को ही तृप्त करता है । (प्रयोजन इस तृप्तिकम्म का यही है कि आहुतिद्वय स) तृ त मन और वाक देवताओं क लिए यज्ञ का ग्रहन कर ॥ ॥

(वे दोनों आहुतिया क्रमश 'पूर्वाधार, उत्तराधार' नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वाधाराहुति मनस्तपति से सम्बन्ध रखती है एवं उत्तराधाराहुति वाक्त्वृत्ति से सम्बन्ध रखती है । सुवपात्र पुरुष की प्रतिकृति है उधर मन भी पुरुष है । अतएव पूर्वाधाराहुति सुवपात्र से होती है । सुकृपात्र स्त्री की प्रकृति है उधर वाक भी स्त्री है । अतएव उत्तराधाराहुति सुकृपात्र से होती है । वृषा-योषामक इसी मिथुनभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)— सव मामक पात्र क द्वारा उस आधाराहुति (पूर्वाधाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि मनस्तपति क लिए करता है । क्योंकि मन वृषा (पुरुषप्रकृति) है उधर सवपात्र भी वृषास्थानीय ही है ॥ ३ ॥

सुकृपात्र के द्वारा उस आधाराहुति (उत्तराधारा) का सम्पादन करता है जिसे कि वाक्त्वृत्ति के लिए करता है । क्योंकि वाक योषा (स्त्रीप्रतिकृति) है उधर सुकृपात्र भी योषा स्थानीय है ॥ ४ ॥

तूष्णीं उस आधाराहुति (पूर्वाधाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि मनस्तपति क लिए करता है (साथ ही इस कम्म में 'स्वाहा' इसका भी उच्चारण नहीं करता है । (ता प ग्र्य्य कहने का यही है कि मात्र हुतिकाल में मात्र की समाप्ति पर आहुति देते समय 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण स्वभावसिद्ध अभ्याससिद्ध है । कहीं ऐसा न हो कि मनस्तपति क लिए ग्रहित पूर्वाधार में अभ्यासवश स्वाहा का उच्चारण हाजाय । इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के निरोध के लिए ही श्रुति को न स्वाहेत चन इत्याद रूप से आदेश देना पड़ा है) । मन अनिरुक्त (हृद यावच्छिन्न होने से अप्रयत्न-अप्रकट) है । वह भी अनिरुक्त ही भाव है जो कि तूष्णीं (चुपचाप) है । इसलिए मानसाधार तूष्णीं ही हाना चाहिए) ॥ ५ ॥

मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस आधाराहुति (उत्तराधाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि वाक्त्वृत्ति के लिए करता है । वाक् निश्चयेन निरुक्ता (प्रकटभावापन्ना) है । वह भी निरुक्त ही भाव है जो कि मन्त्र (मन्त्रोच्चारण) है । (इसलिए वागाधार मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही होना चाहिए ॥ ६ ॥

बैठा बैठा उस आधाराहुति (पूर्वाधाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि मनस्तपति के लिए करता है । खडा खडा उस आधाराहुति (उत्तराधाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे

कि वाकृति क लिए करता है । (मनाऽनुगत पूर्वोत्तर वठ वठ एग गानुगत उत्तरागार खड खड क्या होता है ? इस प्रश्न की उपपात्त बतलाती हुई श्रुति कहता है)—(प्रपकथनानुसार) मन आर वाक दाना (अश्वयुग्मगत) मिलकर दवताआ क लिए [रथरूप] यज्ञ का बहन करते है । [रथ मे जुड हुए दो अश्व म से] ना अश्व नाटा होता है लोक मे रथगारु सारथि उसक लिए उपग्रह करते है । (गक आर मन दाना इस यज्ञरथ क गहन करन गले दो अश्व है पर तु) मनारूप अश्व की अपेक्षा गारूप अश्व नाटा है । क्याकि मन अपरिमित [विशाल] सा है आर गक परिमित [सकुचत] सी है । [खडा खडा वागनुगत उत्तराघार करता हुआ] अ ग्यु वाक् से ही उपग्रह का सम्बन्ध कराता * । [इस उपग्रह से गक मन से समतुलित होजाती है फलत] दाना समानरूप से यज्ञरथ म जुडकर भरलतया यज्ञरथ का गहन करने मे समथ हाजाते है । एकमात्र इम [समतुलनभागागति क] लिए ही गगनुगत उत्तराघार का खड खड सम्पादन करता है । समान गहनप्रदेश सम्पत्ति-भाप्ति क लिए ही गगनुगत आघार तष्टन् प्रिहित है यही निष्कष है ॥ ७ ॥

[आहवनीयकुण्ड क दाक्षिणभाग म ख होकर वागनुगत उत्तराघारकम्म कया जाता है । खड होकर साथ ही दक्षिणदिशा म उत्तराघार करने का एक कारण तर बतलाती हुई श्रुति कहती है]—देवदेवताओंन यज्ञ का गतान क्रिया । [यज्ञगितान करते हण] व देवदेवता [दक्षिण दिक्स्थ] असुर-राक्षसों की आक्रमणाशङ्का से भयग्रस्त हागए । [इस भय से गण पाने क लिए देवदेवता लोग आहवनीय के दक्षिण भाग म [मात्रगान होकर असुरों की प्रतिस्पर्द्धा मे] खड हो गण । [शत्रुभय तभातक भयगपा क बना रहता है जबतक हम प्रयुत्तर देने मे असमथ रहते है । जब हम आततायी क सम्मुख स नीभूत होकर प्रयाक्रमण क लिए खड होजाते है तो शत्रु शांत हो जाता है । भामनेगताआ न स्वगितान-यज्ञमण्डल की दक्षिण दिशा म अग्नि देव को खडा कर भाम असुराक्रमण से गण पाया था । एग प्राकृतिक प्राणदेवताओं क नित्य प्राकृतिक यज्ञ म अग्नियुत इन्प्राण क द्वारा आसुरप्राण का निरोध हाता रहता है । प्रकृति के अनुसार भाम दवताओं न क्रिया त नुसार ही हम अपने इस गघयज्ञ म करना चाहिए जसाक 'देवाननुविधा वै मनुष्या इ यानि निगम म स्पष्ट है । दक्षिणदिक्स्थ आसुरप्राणनिरोध के लि

* यदि रथगहन करने वाले दो घोडों में से एक अश्व दूरसे से नाटा होता है तो इसे उस दीघकाय अश्व की ऊचाई से समतुलित करने के लिए इसके स्कंध प्रदश मे अपेक्षित परिमाणयुक्त एक काठ वस्त्रादियुक्त स्थूलपीठ बाध दिया जाता है । वसस दोनों की ऊचाई समतुलित होजाती है । यही स्थूलपीठ वैदिकपरिभाषा में उपग्रह कहलाया है ।

ही दक्षिण की ओर खड होकर वागनुगत उत्तराधारकम्म 1कया जाता है] । गीय्य खडा हुआ सा है । [बैठने में शरीरबल मद्-सा रहता है । खड होजाने पर बल उदबुद्ध हो जाता है] । इसलिए दक्षिण की ओर ख होकर ही उत्तराधार का सम्पादन करता है । अपुराक्रमणनिरोधक योग्यभाय की प्राप्ति के लिए ही खड हाकर आधारकम्म किया जाता है यही उपपत्ति-निष्कष है ।

(मन के लिए विहित पूजघार आहवनीय से उत्तर बैठ कर सम्पादित होता है पाक के लिए उत्तराधार आहवनीय से दक्षिण खड होकर सम्पादित होता है । आहुति प्राति-स्थान-लक्षण आहवनीयाग्नि समान है आहुतिप्रदानस्थान उत्तर-दक्षिण मेड से नाना भिन्न-है । उधर मन और पाक दोनों आहुति प्रापकत्वेन समान है एव स्वरूप से भिन्न भिन्न है । इसी साम्यसिद्धि के लिए समानाग्नि में उभयाधाराहुति होती है । प्रदेशत्वेन दोनों नाना है अतएव दक्षिणोत्तर प्रदेश में आसीन तथा तिष्ठद रूप से आहुति ली जाती है । मनोवाक के इसी समानत्व एव नानात्वं यम्म के साथ समतुलन बतलाती हुई श्रुति कहती है)—वह अयु चोकि (आहवनीय अग्नि में आहवनीय अग्नि से) दक्षिणोत्तर (तिष्ठन् आसीन रूप से) आधार करता है इसीलिए यह मन तथा वाक का युग्म समान रहता हुआ भी नाना-वत् है ॥

(वागनुगत) उत्तराधार तथा (मनोऽनुगत) पूर्वाधार दोनोंमें से एक (वागनुगत उत्तर) आधार (इस दया मनक्षण) यत् (पुरुष) का मस्तक (शिर की प्रतिकृति) है एव एक (मनोऽनुगत पूव) आधार (इस) यज्ञ का मूल (मूलस्थान की प्रतिकृति है) ॥ ॥

सुत्रपात्र के द्वारा उस (मनोऽनुगत पूव) आधार का सम्पादन करता है जोकि यज्ञ का मूल है । स्रकपात्र के द्वारा उस (वागनुगत उत्तर) आधार का सम्पादन करता है जो कि यज्ञ का मस्तक है ॥६॥

तूष्णीं उस (मनोऽनुगत पूव) आधार का सम्पादन करता है जोकि यज्ञ का मूल है । मूलतत्त्वं (हृदयस्थान) तूष्णीं (अनिरुक्त) यत् है । यहा वाग्-यापार अग्ररुद्ध है ॥१॥

मन्त्रोच्चारण के द्वारा उस (वागनुगत उत्तर) आधार का सम्पादन करता है जोकि यज्ञ का मस्तक है । मन्त्रोच्चारण यापार वाग्-यापारयुक्त है (वाग्-मय है) । मस्तक (तत्रस्थ मुखा नुगता वागिन्द्रिय) के द्वारा ही वागुच्चारण होता है ॥११॥

बैठा बैठा उस (मनोऽनुगत पूव) आधार का सम्पादन करता है जो कि यज्ञ का मूल है । मूलतत्त्वं बैठा हुआ-सा ही है । खड खड उस (वागनुगत उत्तर) आधार का सम्पादन

करता है जोकि यज्ञ का मस्तक है । (शरीर प्रदेश म) म नक खगा हआ-मा ही है । (तापय्य यही है कि पूर्वाधार मूलस्थानीय है एव इसका मन से सम्बन्ध है । तथा उत्तराधार मस्तक-स्थानीय है एव इसका वाक् से सम्बन्ध है । मूलतत्त्व अनिर्क्त आसानयन् ह अनएय तन्-सम्पादक पूर्वाधार अनिर्क्त आसान भाग क द्वारा सम्पन्न किया जाता है । शिरोभाग निर्क्त तत्त्व है अतएय तत्सम्पादक उत्तराधार समन्वय-तिष्ठदभाग के द्वारा सम्पन्न किया जाता है ॥१२॥

२-अग्निसम्मार्जन—

वह अय्यु (आहवनीय अग्नि मे तूष्णीं) पूजाधार का सम्पादन करके (आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को) प्रथम करता है कि— हे अग्नीत् ! (आग्नीध !) (अब तुम आह वनाय) अग्नि का सम्माजन करा । निसप्रकार (रथग्राहक बल के स्व प्रदेश मे) जूडा डालते हैं उसीप्रकार का यह कम्म है जाकि पूर्वाधार का सम्पादन करना है । स्व प्रदेश म पहिले जूडा डालकर ही पीछे चम्मपाश से बाधते है । (तापय्य यही हुआ कि रथग्रहण करने वाले वृषभा को पहिले रथ धुर के नीचे लाकर उनके स्व प्रदेश म धुर (जडा) डाला जाता है । अनतर नियत चम्मपाश से उनक प्रायस्थानों को बाँध दिया जाता है । यहा आहवनीय अग्नि ही यज्ञरथ ग्रहण करने वाला वृषभ है । पूजाधार करना इसक स्व-प्रदेश पर जूडा डालना है एव सम्माजन करा पाशबन्धन से युक्त करना है । क्यकि पूर्वाधार धुर स्थापन स्थानीय है एव धुरस्थापन स मानरूप पाशबन्धन स पहिले होता है अतएव यहाँ भी पूर्वाधारकम्म सम्माजनकम्म से पहिले किया जाता है अनतर अग्निसम्मार्जन क लिए आग्नीध्र को आदेश दिया जाता है । पूर्वाधार स्व प्रदेश म धुरस्थापन स्थानीय है यह बतला कर अब सम्माजन कम्म का पाशबन्धन स्थानीय बतलाती हुई श्रुति कहती है) ॥ ३॥

वह आग्नीध्र (नामक ऋत्विक् अय्यु क प्रैषानुसार) आहवनीय अग्नि का * सम्माजन करता है । इस सम्मानकम्म से यह आग्नीध्र (वृषभ-स्थानीय धुर युक्त इस आहवनीय) अग्नि को (पाशबन्धन से) ही (यज्ञरथ म) युक्त करता है । (यज्ञरथ मे पाशबन्धन से)

*—आहवनीय अग्निऋषि के पश्चिम द्विण उत्तर न तीन प्रातभागो म प्रतिष्ठित तीन इमका ठ ही परिधिया हैं । पहिले परिधि स्थापनानुसार इन तीनी परिधियो से सलग्न अग्नि का त्रिरावृत्त सम्माजन किया जाता है अनतर आहवनीय अग्नि का ऊपर स तीन बार तूष्णीं स माजन किया जाता है । यही आग्नीध्रकृत समाजन है जसकि सूत्रप्रदर्शित पद्धतिसग्रह में स्पष्ट किया जान वाला है ।

युक्त होकर यह (आहवनीय) अग्नि देवताओं के लिए यज्ञरथ का गहन कर (सम्माजनकर्म की यही उपपत्ति है) । २. सीलए स मानन करता है यज्ञ त्रिवृत् (त्रिवृदभावावेत) है (इस यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति प्राप्ति काल ही) त्रिस्त सम्मानन किया जाता है ॥१॥

[सम्माजन कर्म क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न का सोपानात्तक समाधान किया गया । अब पद्धतिक्रम उतलाती हुई श्रुति कहती है]—यह आनीध्र - हे अग्ने ! यज्ञसाधनभूत हविलक्षण अन्न पर अपना आधिकार रखने से वाजाजत् नाम से प्रसिद्ध हविलक्षण यज्ञसाधन ऐसे वाजा अन्न का देवताओं के लिए द्यलोक म व न करने वाले आपका मैं सम्माजन करता हूँ इस अनुरूप अर्थ से युक्त] अग्ने वाजजिद्वाज [उजु स २।७] यह मात्र बालता हुआ [तीनों परिवियों का त्रिवृत्तरूप से) सम्माजन करता है । [तापय्य यही है कि तीना परिविया का प्रयक का उक्त म प्रोच्चारण के द्वारा तीन तीन बार सम्माजन करता है । फलत परिविसम्माजन ६ बार हाजाता है । यही सप्त त्रिवृदभाग तीन का त्रिगुणितभाव है] । (मात्र का तापय्याथ उतलाती हुई श्रुति कहती है—अग्ने वाजजिद्वाज ' इत्यादि से] यज्ञ गहन करने वाल यज्ञिय आपका सम्माजन करता हू यही कहा गया है । (हविरन्न यज्ञमावक हान सयन है अतएव वा सारिष्य त' का तापय 'यज्ञ सारिष्य तम ही होता है । वह अग्नि इस यज्ञा मरु हवि का गहन करता है अतएव इसके लिए 'यज्ञिय त्वा सम्मामि यह कहा जासकता है] ।

[समन्त्रक त्रिवृत्तरूप से परिवि सम्मानन करने क अनंतर वह आग्नीध्र] उपर से आहवनीय अग्नि का तूष्णी (अमत्रक] तीन बार सम्माजन करता है । उपरिष्ठात् आहवनीय अग्नि का तूष्णी सम्माजन क्यों किया जाता है ? २. सी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]—सो जिसप्रकार [रथ मे बैलों को] जात कर (कशाताडनानि से उह) चल चल । भार गहन कर । इसप्रकार गमन क लिए प्रेरित करते है एमव [उपरिष्ठात् सम्माजन-रूप] कशाघात से इस अग्नि को --चलिए ! चलिए ॥ देवताओं क लिए यज्ञगहन कीजए ॥ इसप्रकार प्रेरित ही करता है । तापय्य यही है कि—पूवाधार तो स्क ध प्रदेश मे जूडा डालने के स्थान मे है एत्रिस्त्रि सम्माजन पाशाबधन स्थानीय है । पाशाबधन के अनंतर सारथि वृषभयुग्म को गयारूढ बनाने क लिए चलो चलो इत्यादि शब्द प्रयाग के द्वारा कशाघात करता है । इस उद्देश्य की सिद्धि कालए उपरिष्ठात् आहवनीय अग्नि म त्रि सम्माजन होता है ।

(अब एक प्रश्न शेष रहजाता है । सगाधारलक्षण पूवाधार तथा सगाधारलक्षण उत्तराधार दोनों कर्मों क मय म उक्त सम्माजनकर्म क्यों किया जाता है ? सी प्रश्न की

उपपत्ति प्रतलाती हुई श्रुति कहती है) — सो जो कि आग्नीध्र पूर्व उत्तराचार क म य म यह सम्माजन करता है इसीलिए मन तथा प्राण नाना समान रहते हुए नाना हैं। [नाना आधार साथ करना नाना को समान बनाना है एव नाना क म य मे सम्माजनकर्म करना नाना समानों को नानावत् बनाना है यही ता पय्य है ॥१२॥

चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त
आधारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण समाप्त

— १ —

— * —

चौथे अध्याय में पञ्चम तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण
आधारब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण

— २ —

— * —

उत्तराधारेतिककर्तव्यता

(पूर्व ब्राह्मण म स्र कपात्र क द्वारा सम्पन्न होने वाले मनाऽनुगत पूजाचार-कर्म की इतिकर्तव्यता एव पूर्वोत्तराधार के मध्य में होने वाले अग्निस माजनकर्म का इतिकर्तव्यता बतलाई गई। अत्र क्रमप्राप्त स्र कपात्र क द्वारा सम्पन्न होने वाले आगनुगत उत्तराचार-कर्म की इतिकर्तव्यता बतलाई जाती है) — स्र कपात्र (जुहू तथा उषभृत) से उत्तराचार कर्म सम्पादन करने वाला अग्न्यु (उत्तराधारकर्म से पहिले) जुहू तथा उषभृत न्न नाना स्र कपात्रा के पूर्वभाग में (जिस मुख्य भाग से आहुति दी जाने जाती है उस मुख्य भाग की आर (देवताओं के लिए नमस्कार है पितरों के लिए स्त्रधा है) अत्र अग्न्यु से युक्त नमो देवेभ्य स्वधा पितृभ्य

(१) यह मन्त्र पालता हुआ अञ्जलिस्त्रापन करता है (नानों हाथ जाड कर प्रणाम करता है) । इस अञ्जलिनिधान कर्म से यह अग्न्यु (देवताओं तथा पितरों के लिए क्रमशः नम तथा स्त्रधा करता हुआ) आग्नि यकर्म करना चाहता हुआ देवताओं तथा पितरों से अपने आप को छिपाता है । (ता पय्य यहा है कि देव पत् क म आर्त्तिज्यकर्म है । यह एक महान कर्म है । यकर्म है । इधर अग्न्यु अस यसाहत एक मनुष्य है सामा य यक्ति है । सामा य

यक्ति दि-यन्त्रे-सग का यजन करावे यह असङ्गत-सा है । परन्तु करना पडता है । अपने इसी अमन्य दित अपराध के लिए पहिले से ही जमा माग लेना आवश्यक है । इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उ-आधाररूप आ-य से पहिले ही अ-य्यु सु-कृपात्रा के पूजभाग में खडा होकर प्रणाम कर लेता है) ।

(अञ्जलिनिगानानन्तर वह) अ-य्यु — सुयम मे भूयास्तम्' हे जुहू, तथा उपभृत् नामक स्र कपात्रो ! आप दोनों मरे इस यज्ञाथ गृहीत आ-य के लिए आज्य के-अ-ञ्जी प्रकार से धारण करने वाले बों" १७) यह मन्त्र बोलता हुआ (दक्षिण हस्त में जुहू उपभृत् नामक दोना) स्र कृपात्रा का ग्रहण करता है । 'आप दोनों मेरे लिए-आ-य का-उत्तम प्रकार से धारण करने वाले बानए, साथ ही आप दोनों पात्रों को मैं अपने हाथ में भलीभात धारण करन योग्य बू" मन्त्र भाग से यही कहा है ।

(आगे का मन्त्र है)— अस्कन्नमद्य देवेभ्य आ-य सम्भ्रियासम्" ("आज इस यज्ञा-नुष्ठान काल में देवताओं को लिए आप दोनों पात्रों में स्थित इस आज्य को मैं उस प्रकार से रख रहा हूँ जिसे यह भूमि पर न गिरता हुआ अस्कन्न-प्रतिष्ठित-बना रहे ' १) । अन्तु-ध रूप से आज मैं देवताओं के लिए यज्ञ का पितान करने में समर्थ बनूँ" मन्त्र भाग से यही कहा गया है (जुहूपभृत्-पात्रों में गृहीत आ-य सत्रा स्थिर रहना चाहिए । तभी यज्ञपितानसिद्धि है । यदि हस्तकम्पनादिरूपा असावधानी से पात्रस्थित घृत कम्पित होजा-यगा तो वह उछट कर भूमि पर गिर पडगा । परिणाम में यज्ञ पितान उच्छिन्न होजायगी आ-याहुति से उ-पन्न होने वाले देवता का स्वरूप विकृत होजायगा । इस स्कन्नभय से प्राण पाने के लिए ही उक्त मन्त्रशक्ति का आश्रय लिया गया है) ॥१॥

(आगे का मन्त्रभाग है)— 'अडि घृणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्" (हे यज्ञमूर्ति विष्णो ! मैं अपने पैरों से आपका अतिक्रमण न करूँ २।८) । यज्ञ निश्चयेन विष्णु है । (इस मन्त्र भाग से) उसी यज्ञात्मक विष्णु के लिए अपना अपराध शमन करता है जो-कि- 'मैं आपका अतिक्रमण न करूँ" यह कहता है । (तापय्य यही है कि आ-यपूण दोनों सु-कृपात्रों का लेकर इस अ-य्यु को वागनुगत उत्तर आधार के लिए आहवनीय कुण्ड से दक्षिण दिशा की ओर आना पडता है । यह दक्षिणागमन आहवनीयरूप यज्ञमूर्ति विष्णु का अतिक्रमण रूप निरादर है । मन्त्रप्राथना के द्वारा इस दोष के लिए ही विष्णु से क्षमा प्राथना करता है) ।

(आग्ने का मन्त्रभाग है) — वसुमतीमग्ने ते 'छायासुपस्थपम्' (हे आहवनीयाग्ने ! आप की छाया से युक्त सम्पत्तियुक्ता भूमि क ममाप मं प्रतिष्ठित हारहा हूँ २।१) हे अग्ने ! आप की श्रष्ट (छत्र) छाया म मे प्रतिष्ठित होन जारहा हूँ" मन्त्रभाग स यही कहा है कि। दक्षिणादिक् याम्यादिक् है प्राणनाशिनी त्कि है। यहा आकर हा अ अग्न्यु मा उत्तराधारकर्म्म करना है। दक्षिणादिगनुगत इस या यभाप की निवृत्ति क लिए ही मन्त्रशक्ति क द्वारा यह भावना की जानी है—कि म याम्यादिक म नहा चारना आपतु आग्न की छायासुप यज्ञस पत्तियुक्ता भूमि का आश्रय ले रहा हूँ ॥ ॥

(आग्ने का मन्त्र भाग है) — विष्णो स्थानमास' (हे दक्षिण भूप्रदेश ! आप यज्ञ-मूर्त्ति विष्णु का आवासभूमि हूँ १) यज्ञ (यज्ञस मक आहवनीय अग्नि) विष्णुमूर्त्ति है। (दक्षिण प्रदेश म उत्तराधार क लिए खडा हाता हुआ) अ अग्न्यु यज्ञामक विष्णु के समाप हा खडा होता है इसी अभिप्राय से 'आप विष्णु क स्थान है' यह कहा गया है। (ता प य यही है कि आहवनीय आग्नरूप यज्ञप्रदेश स दक्षिण का प्रदेश अस्तुत असुर राक्षसा का प्रदेश है। यहीं खड हाकर अ अग्न्यु को उत्तराधारकर्म्म करना ह। मन्त्रशक्ति क द्वारा इस प्रदेश की आसुरभाजना हटान क लिए साथ ही आहवनीय यज्ञसामी यस स प्रवेश म देवभाजना स्थापित करने के लिए ही ऐसा कहना आवश्यक माना गया ह)।

(मन्त्र का अगला भाग है) — इन्द्रो वार्यमकृणोत्' (' आहवनीयाग्नि से दक्षिणस्थ प्रदेश से ही इन्द्र ने दक्षिणस्थ असुर राक्षसो का निरोधात्मक पुरुषार्थ किया है' १)। दक्षिण दिशा मे खड हाकर ही इन्द्र ने दक्षिण की की ओर से आक्रमण करने जाल असुर-राक्षसा का सहार किया था इसी अभिप्राय से 'यहा से इन्द्र न वीग्य (पुरुषार्थ) किया यह कहा गया है। (ता पय यही है कि जिस दक्षिण प्रदेश म खड हाकर अग्न्यु उत्तराधार कर्म्म करने जाला है वह प्रदेश यन्मूर्त्ति विष्णु के स बंध से ता यज्ञियप्रदेश मन ही रहा है साथ ही यज्ञपति इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से साक्षाद्रूप से भी यह यज्ञभूमि बन रहा है। मन्त्रशक्ति के द्वारा उसी ऐ सम्पर्क की भाजना की गई ह।

(मन्त्र का अगला भाग है) — ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्' (दक्षिणस्थ इन्द्र क द्वारा सुरक्षित यह यज्ञ द्युलोकपग्य त प्रतिष्ठित-वितत होगया १)। यज्ञ ऊर्ध्वस्थान म प्रतिष्ठित होगया मन्त्रभाग से यही कहा गया है। (ता पय यही है कि जिस दक्षिण प्रदेश को भयावह समझा जाता है वह तो यज्ञाग्निदक्षिण विष्णु के स बंध से तथा यज्ञाधिपति इन्द्र के

सम्बन्ध से यज्ञस्वप्नसमाधक बन रहा है। इन्द्ररक्षा से रक्षित होकर ही देवताओं का प्राकृतक यज्ञ भूलोक से चलकर द्युलाक में प्रतिष्ठित हुआ है। मन्त्र के द्वारा उसी उग्र प्रतिष्ठा की भावना की गई है) ॥३॥

(आगे का मन्त्रभाग है) — “अग्नि वेहोत्र वेदूत्यम” [हे आहवनीयाग्ने ! आप अपने हात्रकर्म से परिचय प्राप्त कीजिए, एग अपने देवदूतत्व से परिचय प्राप्त कीजिए] २।६) य अग्नि देवताओं का होता भी है दूत भी है दोनों है। ‘जा कि आप देवताओं के होता तथा दूत दोनों है अपने इस उत्तरदायि म को अपने ध्यान में लाइए’ मन्त्रभाग से यही कहा गया है। (हुन आ याहुति) को बल्लोकस्थ प्राणदेवताओं में पहुँचाने से य अग्नि देवताओं का होता है। साथ ही दि य देवताओं को आहवनीय में प्रतिष्ठित कर उनका पार्थिव देवताओं से सम्बन्ध कराने के कारण ये ही आ न देवताओं का दूत भी है। प्रकृत आ याहुति से दोनों सम्पत्तया अभीष्ट है। मन्त्र के द्वारा उही की भावना की गई है)।

(मन्त्र का अगला भाग है) — ‘अव वा द्यावापृथिवी अग्र ता द्यावापृथिवी’ [आया हुति लेकर भूलोक से द्युलाक जाते हुए आप की द्यावापृथिवी रक्षा कर, एग आप स्वयं भी द्यावापृथिवी की रक्षा कर २।६।]। इस मन्त्र भाग में कुछ भी अस्पष्ट नहीं है [अर्थात् मन्त्रार्थ स्पष्ट है] ॥

(मन्त्र का अगला भाग है) । ‘स्विष्टकृद् वेभ्य इन्द्र आ यन हविषाभूत् स्वाहा’ (‘आ यरूप हविर्द्रय से युक्त इन्द्र देवताओं के लिए स्विष्टकृत्—भलीभाति इष्टसाधक—बन गए २।६।)। इन्द्र यज्ञ का देवता है। इसी अभिप्राय से इन्द्र आज्य से (युक्त होकर स्विष्टकृत् बन गए) यह कहा गया है। इस उत्तराधार का सम्पादन अग्रयु वाक के लिए ही करता है। वैज्ञानिकों ने इन्द्र का वाक् कहा है। इसलिए भी इन्द्र आ य स’ यह कहा है। (तापय्य यही है कि प्रकृत मन्त्र भाग से स्रक्पात्र के द्वारा आहवनीय में उत्तराधार डाला जाता है। यह आधार वाक के लिए है। परन्तु मन्त्र के द्वारा नामनिर्देश इन्द्र का हुआ है। कारण यही है कि यज्ञ का देवता हैं। इस यज्ञाधिपतित्वेन भी वागर्थप्रिहिता आयाहुति के लिए—‘इन्द्र आयेन यह कह दिया गया है। साथ ही इन्द्र ही वाक है एव वाक के लिए ही उत्तराधार है अतएव इन्द्र आ यन कहना अन्वय बन जाता है) ॥४॥

(‘अग्ने वाजजिद्राज त्वा सरिष्य त वाजजित सम्माजिम’ (२।७ यह) मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र ऋत्विक् अग्रयु के द्वारा पूर्वाधाराहुति होने के अनन्तर अग्निसम्माजन करता है।

अनन्तर आहवनीय से उत्तर प्रतिष्ठित अध्वर्यु जुहू एव उपभृत् को अपन आगे रखकर इनके मुख स्थानीय पूज भाग की ओर नमो देवेभ्य, स्वाहा पितृभ्य (।।) यह मंत्र बोलता हुआ प्रणाम करता है। प्रणामानन्तर—'सुयम मे भूयास्त अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य सम्भ्रियासम्' (३।८।) यह मंत्र बोलता हुआ स्रक्पात्रों का ग्रहण करता है। ग्रहणानन्तर उत्तराधारकम्म के लिए दक्षिणप्रदेश में जाता हुआ— अडि घ्रणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम् यह मन्त्रोच्चारण कर अतिक्रमण—जनित अपराय का निहव करता है। अपराध क निह्वानन्तर— वसुमतीगग्ने ते च्छायाभुपस्थेष विष्णो स्थानमसि' यह मंत्र बोलता हुआ आहुति देने के लिए नियत स्थान पर खड़ा होजाता है।

सर्वांत मे— इत् इ द्रो वीर्यमकृणोर्ध्वोऽध्वर आस्थात् । अग्ने वेर्होत्र वेदूत्यमव-
त्वा द्यावापृथिवी अत्र त्व द्यावापृथिवी । स्थिष्टकृदवेभ्य इद्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' यह मंत्र बोलता हुआ आहवनीयाग्नि में उत्तराधाराहुत हुत कर देता है। इसप्रकार यहा आकर उत्तराधारकम्म समाप्त होता है। १ २ ३ ४ इन चार कण्डिकाओं में इसी कर्म की इतिकन्त व्यता का प्रतिपादन हुआ है जिस का सुप्रिधा के लिए एकत्र सकलन कर दिया गया है। उत्तराधारा हुतिकर्मानन्तर क्या होता है ? आगे का ब्राह्मणप्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)—

(उपभृत् नामक स्रक्पात्र पर जुहू नामक स्रक्पात्र रक्खा रहता है। आहुति देते समय उपभृत् से जुहू को प्रथक् कर लिया जाता है। इसी सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है) उत्तराधार होमान तर वह अध्वर्यु उपभृत् तथा जुहू नामक दोनों स्रक्पात्रों का परस्पर स्पर्शन कराता हुआ दोनों को प्रथक् प्रथक् रखता (हुआ ही आहवनीय अग्नि के दक्षिण भाग से) जापस (आहवनीय अग्नि के पूवभाग में) लोट कर (यहाँ रक्ख हुए ध्रुवपात्र से उस जुहू को मिलाता है। (क्यों मिलाता है ? इम की उपपात्त बतलाते हैं)—जागनुगत यह उत्तराधारहोम (पूजकथनानुसार) यज्ञ का मस्तक है एव ध्रुवपात्र आमा है। (जुहू को ध्रुव से मिलाता हुआ अग्र्यु) आ मा मे हीं (वड मे हीं) शिरोभाग प्रतिष्ठित करता है। उत्तराधारहोम इस यज्ञ का शिर है (आ मा का अमृताग्निलक्षण) श्रीभाग (सार भाग) ही श्री है। शिरोभाग निश्चयन श्री है अतएव जो (जिस) भाग का श्रेष्ठ हाता है (उसके लिए लोक में) वह अमुक भाग का शिर है यह कहा जाता है। इसीलिए शिर वास्तव में श्री का रूप है। जुहू को आमा से मिलाना आत्मा को इस शिररूप श्रीभाग से ही युक्त करना है यही ताप्य है) ॥५॥

यज्ञकर्त्ता यजमान ध्रुवपात्र को लक्ष्य बना रहा है (यजमान ध्रुवास्थानीय है)। एव जो इस यजमान के लिए शत्रुता करता है वह उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है (अर्थात् उपभृत्

यन्मान के शत्रु का प्रतिश्रुति है) । (पेपी इति मे) यन्ति वह अ वय्यु उपभृत्पात्र से ध्रुवा का सम्बन्ध करा देगा ता चा यन्मान क लिए शत्रुता करता है उस यजमानशत्रु मे श्री का स्थापन कर देगा । (ऐसा न कर) अ वय्यु (जुहू के सम्बन्ध से) यन्मान म ही श्री का स्थापन करता है । इसीलिए (जुहू को ही ध्रुवा से मिलाता है ॥६॥

(जुहू को ध्रुवा से मिलाने की उपपत्ति बतला कर अब पद्वति बतलाते है) यह अ वय्यु मञ्जयोषि 'योति' (प्रुवास्थित आ यरूप योति क साथ जुहूस्थित आज्यरूप ज्योति मिल जाय २६) यह मात्र बालता हुआ जुहू को ध्रुवा से मिलाता है । (ध्रुवा तथा जुहू दानों यज्ञ पात्रा म से) एक (ध्रुवा) पात्र मे स्थित आज्य (भी) निश्चयन ज्योति है एव एक (जुहू) मे स्थित आज्य (भी) योति है । (जुहू का ध्रुवा से सम्बन्ध कराने पर) य दोनो आय-यातिया परस्पर मिल जाती है । इसीलिए पूर्वोक्तरूप से समञ्जन करता है ॥७॥

(उत्तराधार एत बन्ता हुआ वागनुगत है एव पूषाधार मनाऽनुगत बन्ता हुआ प्राजा पय मै । वागनुगत उत्तराधार समन्त्रक हाता है एव मनाऽनुगत पूर्वाधार उपाशु हाता है । प्राजा पय पूर्वाधार क्यों होता है ? इसकी वैज्ञानिक आख्यानके द्वारा उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) अब यहा से मन तथा वाक् इन दोना के (अहमहमिका लक्षण) अहभद्र (पारस्परिक उ कष रयापन) क सम्बन्ध मे कहा जाता है । मन और वाक् दोना अपने अषन उ कष क सम्बन्ध म विवाद करने लगते है ॥८॥

(इस पारस्परिक) विवाद-प्रसङ्ग म मन कहने लगा कि (हे वाक् !) मै ही तुझ से श्रेष्ठ उ कष-हू । (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) तू एसा कुछ भी नहीं बोलती (बोलसकती) जो मुझसे अधिगत न हुआ हो । (अर्थात् मेरे सकल्पितभाव का तू अनुवादमात्र ही कर सकती है) । जो कि तू (वाक्) मेरी कृतानुकरा (मानसिक मरूप का अनुवाद मात्र करने वाली) है अतएव मेरे पीछे पीछे चलने वाली (अनुवर्मा) है । अत मै ही तुझसे श्रेष्ठ हू ॥९॥

(मन के इस तक को सुनकर वाक् कहने लगी (हे मन !) मै ही तुझसे श्रेष्ठ हू । (इसका प्रयत्न प्रमाण यही है कि) जो कुछ तू (अपनी भावना के साम्राज्य म) जानता है (सक प करता है) उसे मै ही (दूसरा को) जनाती हू सम्यग्रूप से रोध कराती हूँ । (इसनिए मै ही तुझ से श्रेष्ठ हू) ॥१॥

(मन और वाक् का यह पारस्परिक विवाद दोनों से जब किसी निणय पर न पहुँचा तो) दोनों अपने अपने प्रश्न क निश्चया मक निणय के लिए प्रजापति के समीप पहुँचे । प्रजापति

ने (दोनों की युक्ति तक सनकर) मन की श्रद्धा का पक्ष ही अपना सम्मति प्रकट का। (और निणय किया कि वह वाक) मन ही तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ (अतएव उच्यते) है। तू मन का द्वारा कृत(सकपित मनोभाव) का अनुकरण करने वाली है मन का पीछ पीछ हा अनुवायन करने वाली है। (लाकिक दृष्टि से भी यह सिद्ध प्रषय है कि) निम्न श्रेणी का व्यक्ति ही अपन से श्रेष्ठ व्यक्ति का कए का अनुकरण करता है एव उसका नदृष्ट पथ पर चलता है ॥११॥

(इसप्रकार प्रजापति का मुख से) पराजित कही जाती हुई वह वाक् विस्मिता मनकर उपशूया (मदगलिता) बन गई सका अभिमान चूर चर होगया। [प्रजापति से निणय का प्रतिशोध लेती हुई] यह वाक प्रजापति से कहने लगी कि [आज से] मैं तुझार लिए ह यवहन करने वाली न बनूँ [नहीं बनूँगी] जिस मुझका कि आपने [आज मन की प्रतिस्पद्धां म] पराजित कहा है। [क्योंकि वाक् ने प्रजापति के लिए अह-यवाट बनने का निश्चय कर लिया था] अतएव यज्ञकम्म म [प्रजापति सम्बन्धी] जो भी प्राजापत्य कम्म किया जाता है वह उपाशु ही होता है। क्योंकि वाक् प्रजापति के लिए अह-यवाहना थी। [तात्पर्य आरयान का यही हुआ कि मनोऽनुगत पूर्वधार प्राजापत्य कम्म है यहा वाक्-यापार अचरुद्ध है। अतएव पूर्वधार उपाशु हा किया जाता है ॥१२॥

[प्रजापति के निणय से वाक का गभपात होगया रेतस्खलन हागया। वह स्वलित वागृत कहा गया? इस सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक तत्त्व का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है कि]— देवताओं [वाक् के] उस रेतोभाग [स्खलित-वागरेत] को चम्म में [गर्भाशयरूप चम्मपात्र म] अथवा जिस किसी भी (अनुरूप) पात्र में रख दिया (इसप्रकार चम्म किना अथवा किसी इस अनुरूप पात्र में स्वलित वागृत का प्रतिष्ठित कर) देवता परस्पर पूछते हैं कि चम्म तथा अनुरूप अथवा पात्र में रक्खा गया वागरेत किम अवस्था में परिणत होगया? (देवताओं का 'अत्रेव त्यात्' रम विचार स ही कालांतर में) चम्म तथा पात्रस्थ उस वागृत से 'अत्रि' उत्पन्न होगया। क्योंकि गर्भाशय में स्थित वागृत से ही अत्रि का गादुर्भाव हुआ अतएव सूतगर्भा रजस्वला स्त्री 'अत्रेयी' नाम से यवहृत की जाती है। ऐसी (आत्रेयी) स्त्री से (काम स्पर्शात् लक्षण) सम्पक रखने वाला पुरुष पातकी बन जाता है। स्त्रीरूपात्मिका तस वाग देवता से ही सम्पूर्ण गभा की स्वरूप निष्पत्ति हुई है (होती है) ॥१३॥

चौथे अध्याय मे पाँचवॉ, तथा चौथे प्रपाठक मे पहिला
ब्राह्मण समाप्त

आधारब्राह्मणानुगत-द्वितीय ब्राह्मण उपरत

—२—

—*—

द्विब्राह्मणात्मक-‘आधारब्राह्मण’ समाप्त

—*—

इति-मूलानुवाद

शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तगत-प्रथम काण्डानुगत

चतुर्थ-अध्याय-अत्र उपरत

—४—

—*—

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

सामिधेनी कर्मसमाप्ति के अनन्तर पूर्वोत्तराधार कर्म ग्रहित है। समिद्ध इति प्रागत सर्गामिधमेकवर्जमनुयाजाश्चेत्” [का श्रौ सू ३।१।११] इस श्रोत सिद्धा न न अनुसार सामिधेयनुवचन-कर्मान्तर अनुयाजकरण-पक्ष म एक इध्मकाष्ठ बचा कर शय सम्पूर्ण इध्म-काष्ठ आहवनीयाग्न म डाला दए जाते है एष यही सामिधेनी कर्म का अ तम समाप्त ह । इस सामिधेयनुवचनकर्म क अनन्तर कुशानन्मित अग्निप्रदीपक यचनस्थानापन्न वद (कुशा) से आहवनीयाग्न का तीन बार प्रज्वलन कर आग्नेयाग्नी स ध्रुवापात्र म घृत लेकर नस खुव स तूष्णीं आहवनीयाग्न क उत्तर प्रदेश म दक्षिणजान को नमाकर बैठना हआ आहवनीयाग्न क उत्तर प्रदेश मे पूज की आर भुकती हुई पूर्वाधाराहुति देता है आहुत दते समय अपन मन ही मन म— ‘ओ प्रजापतये स्वाहा इद प्रजापतये न मम’ यह ध्यान करना आवश्यक है । क्याकि यह पूव धाराहुति मनाऽनुगता बनती हुई प्राजापतया है । तूष्णीं पूर्वाधाराहुति के अनन्तर वह अग्न्यु स्फ्य तथा इध्मसन्नहन’ इन नाना का आग्नाध नामक ऋषिक् को सोपता हुआ उसके प्रति— ‘आग्नेमग्नीत् समृद्धि’ यह प्रप करता है । [ह आ नोत्र । क्याकि न इस अग्नि मे योतिलक्षण उत्तराधार की समन्त्रक आहुति हाने वाली है अतएव आहवनीय अग्नि को भस्मरहित कर प्रज्वलित करो यही ताप्य है । अग्नि का प्रज्वलित करना ही अग्निसम्मानन कर्म है । अग्न्यु कृत पूर्वाधार क अनन्तर न्याक यो कर्म हाता है अत अग्न्यु इसी के लिए पूर्वाधारमाधाय्य प्रौष करता है । पूर्वाधारकर्म को इसो इतिकर्ता यता का स्पष्टकरण करते हुए सूत्रकार कहते है—

अनुवचना ते वेदेनाहवनीय निरुपवाज्य, स्रुवेण पूर्वाधारमाधाय्य-आह “अग्नि मग्नीत् समृद्धी”ति’ (का श्रा सू १।१।१०) ।

बतलाया गया है कि पूर्वाधारकर्मान्तर स्फ्य तथा इध्मसन्नहनतएव दोनों को आग्नीध क हाथ मे सोपता हुआ अग्न्यु उसे अग्नि सम्माननकर्म न लिए प्रेरित करता है । अग्न्यु क द्वारा प्रेरित आग्नीध अग्न्यु क द्वारा प्रदत्त इध्मसन्नहनतएवसमूह से पूज की आर से धूम कर ‘अग्ने वाजजिह्वाज त्वा सरिष्यत वाजजित सम्मार्ज्मि यह मन्त्र बोखता हुआ दक्षिण-परिधि का सम्मानन करता है । एक बार उक्त मन्त्र से तथा न बार तूष्णीं इसप्रकार दक्षिण परिधि का तीन बार सम्मानन करता है । अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार पश्चिम परिधि का दो बार तूष्णीं इस प्रकार तीन बार सम्मानन करता है । अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार उत्तर

परिधि का त्रयात्वार तूष्णीं इसप्रकार तीन बार सम्माजन करता है । इसप्रकार पश्चिम दक्षिण उत्तरस्व तीन परिवारों का एक क बार मन्त्र से दो-दो बार तूष्णीं सम्भूय ६ बार सम्मानन करता है । इसी इधमसम्माजनकर्म की इतिक्त यथा बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘इधमस नहनरनुपरिधि सम्मार्ष्टि—“अग्नेवाजजि’ दित त्रिस्त्रि परिक्रामम्’
(का श्रौ सू ३।१।१३।]

समप्रक परिधिसम्माजनांतर उत्तरस्थान में खड़ा हाकर यह आग्नीध्र बिना मन्त्र प्रयाग क आहवनीय अग्नि का तीन बार सम्माजन कर । है जैसा कि तूष्णीमुपरि’ (का श्रौ सू ३।१।१४) सूत्र से प्रमाणित है ।

इसप्रकार जब आग्नीध्र त्रिस्त्रिंवार समप्रक परिधित्रयसम्माजनकर्म तथा त्रिवार तूष्णीं आहवनीयाग्निसम्मानन कर लता है तो अनंतर वह अत्रयु ‘ओं नमो देवेभ्य ओं स्वधा पितृभ्य’ यह बालना हुआ जुहू त्रया उपभृत् नामक एकपात्रा क पूर्वभाग में अञ्जलि-पुट रखता है (प्रणाम करता है) । देवता तथा पितृभेद से दो बार अञ्जलिपुटस्थापन होता है । इन में प्रथम देवानुगत अञ्जलिपुट स्थापन पूज्य होता है क्योंकि प्रजादिक देवताओं की है । एव दूसरी अञ्जलि दक्षिण में हाती है क्योंकि दक्षिणादिक पितरा की है । ‘स सु चोत्तरमाघा रमाधारयिष्यन् पूर्णेण स चावञ्जलि निदधाति’ (शत १।४।४।१) क अनुसार अञ्जलिस्थापनकर्म उत्तराधारकर्म से सम्बद्ध है । इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस यज्ञकर्म में उत्तराधारकर्म अभीष्ट है वहीं अञ्जलिस्थापन कर्म होता है । एव जहां उत्तराधारकर्म अविधिज्ञित है वहां अञ्जलिस्थापन भी अविधिज्ञित है । इसी अञ्जलिनिधानकर्म की इतिक्त यथा बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—

‘अपरमाहवनायाऽञ्जलि करोति नमो देवेभ्य’ - स्वधा पितृभ्य’-इति दक्षिणत उत्तानम्’ [का श्रौ म ३।१।१५।]

देवताओं के लिए पुटाञ्जाल की जाती है उस समय अध्वर्यु यज्ञोपवीती रहता है एव पितरों क लिए सत्यभाय में परिणत होकर पुटाञ्जलि करता है । इस के अनन्तर ही देवकर्म्मार्थक उत्तर धार के लिए जुहूपभृत् का ग्रहण होने वाला है । इस से पूज्य पितृ-सम्बन्धी पुटाञ्जलि क यवच्छेद के लिए अत्रयु आचमन करता है । पुन यज्ञोपवीतीभाव में आकर पहिले आचमन करता है । अनन्तर— सुयमे मे भूयास्तमस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य साभ्रयासम्’ यह मन्त्र बोलता हुआ अपने दहिने हाथ में आच्यण जुहूपभृत् को लेकर—

“अडि घ्रणा िष्णो मा ाऽवक्रामषम यह मन्त्र बोलता हुआ आघारान प्रवेशरूप आह
नीय क दक्षिण भाग मे आजाता ह । सभी होमकर्म्मों क लिंग अ ण्यु पारधि क पश्चिम
भाग से नियत सञ्चर माग क द्वारा गमन करता है । सा ण ही यागप्रश म सञ्चरमाग स
पहिले वामपाद् से गमन आरम्भ करता है ए ण यागानंतर वापस लाटता हुआ पाहल दक्षिण
पा से आगमन आरम्भ करता है । सप्रकार आहनाय क दक्षिण भाग म पहच कर यह
अ ण्यु—“वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थे िष्णो स्थानमग्नि यह मन्त्र बोलना हुआ
आहुति देने क लिए साधानी से खडा होजाता है । निम्न लिखित मन्त्र उत्तराघारसम्बन्धिनी िसी
इतिक्त व्यता का स्पर्शकरण कर रहे है—

“अप उपभृश्य ‘सुयम म’ इति जुहूपभृतावादायोचरो जुह कृत्वा दक्षिणाऽत-
क्राम त्यड घ्रणा विष्णु” गित’ (का ३१।१६) ।

‘परधीनपरण सञ्चरो होष्यत’ (का ३१।७) ।

‘स यनेतो दक्षिणनासुत’ (का ३१।१८) ।

‘वसुमती’ मि ष्वस्थाय’ (का ३१।१६] ।

इति कात्यायनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये प्रथमा कण्डिका (३१)

नियत सञ्चरमाग स आहनीयाग्नि ण दक्षिण भाग म आकर रडा होकर यह अध्वर्यु -
इत इद्रो वीर्यमक्रणोद्ध्वाऽध्वर आस्थात् । अग्नि वेर्होत्र वेदू त्यमवता त्वा द्यावापृथि-
वीऽअव ता द्यावापृथिवी स्विष्टकृद् वेभ्य इद्रऽआज्यन हावषाभूत् स्वाहा’ यह मन्त्र बोलता
हुआ स्वाहा त मे जुहास्थत आज्य की जुहू से आहनीयाग्नि म आहुत दता है । यही उत्तराघारा
हुति है जिसका निम्न लिखित सूत्र से स्पर्शकरण हुआ है—

‘इत इद्र इति जुहोत्युत्तराघारम्’ [का श्रौ सू ३१।१]

उत्तराघार सम्पादनानंतर वह अध्वर्यु आहुतसाधक जुहू का उपभृत् से न मिलाता हुआ
ही वापस उस स्थान से पश्चिम की ओर लोट आता है । वहा आकर नियत स्थान पर रक्ख हुए
आ णपूण ध्रजापात्र मे जुहूस्थित शेष आय का सञ्चयोतिषा ज्योतिर्गच्छताम् यह मन्त्र
बोलता हुआ डल देता है । यही उत्तराघारकर्म की अन्तिम इतिक्त व्यता है जिस का निम्न
लिखित मन्त्र से स्पर्शकरण हुआ है—

‘आघार्यासस्पर्शयन् स्रुचावेत्य जुहा णुवा समनक्ति- मञ्ज्योतिषे’ ति’
[का श्रौ सू ३१।१] ।

इति-सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

वैज्ञानिविवेचना—

१ — आधारकम्मोपपत्ति

(भाष्य) पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित सामिधेयनुवचनकम्म से आहवनीय इन्द्र अग्नि का होता के द्वारा साम धन हागया है। उस समिधेयनुवचनकम्म से य आहवनीय लौकिक इन्द्र अग्नि समिद्ध बनता हुआ अलौकिक दि याग्नि बन गया है। आहुतिलक्षण यज्ञकम्म से यजमान के आयागिक दत्ताओं का आधि-दविक प्राणदेवताओं के साथ यथ-ब-धन-सम्ब-ध अभीष्ट है। आहुतिद्वय में यागद्वित्त तापदामा सिद्धात के अनुसार यजमान का मन प्राणवात्तमय आमा प्रविष्ट है। आहुतिप्रविष्ट यजमाना मा दि य-देवप्राणयुक्त आहवनीय अग्नि के द्वारा दि यदेवताओं के साथ अवश्य ही युक्त होजाता है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए आहवनीय अग्नि का सामिधेयनुवचनकम्म से समिधेयन किया जाता है। बिना दि य प्राणाग्नि प्रवश के आहवनीय अग्नि लौकिका नवत् सामा य अग्नि है। इसमें आहुति देना लौकिक भूताग्नि में ही आहुति देना है। एव ऐसे आहुतकम्म से दि यलोका अतिफलरूप यज्ञातिशय की प्राप्ति असंभव है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होजाता है कि आहुति-कम्म से पहिले ही लौकिक अग्नि को किसी वैज्ञानिक प्रक्रियाविशेष से दि यप्राणाग्नि से युक्त कर दिया गिन बना लिया जाय। यही वैज्ञानिक-प्रक्रिया सुप्रसिद्ध सामिधेयनुवचनकम्म है। इसका पूर्ववचन-प्रकरण में अवस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है। उस कम्म से आहवनीय अग्नि दि यप्राणयुक्त बन जाता है। अब समें जो आहुति दी जायगी वह अवश्य ही द्युलोकस्थ देवताओं की भाग्या बनेगी। एव आहुति के द्वारा आहुतिद्रव्य में प्रविष्ट यजमान का आमा भी अवश्य ही दि यभाव-प्राप्ति का अधिकारी बन जायगा। पूर्वब्राह्मणोक्त सामिधेयनुवचनकम्म की समी उक्त उपपत्ति का सहावलोकन यायेन स्मरण कराती हुई श्रुति कहती है—

‘त वा एतमग्नि समैधिवत (सामिधेयनुवचनकम्मणा समैधिवत) ‘समिद्ध देवेभ्यो जुह्वाम इति’

सामिधेयनुवचनकम्म से आज यह आहवनीय अग्नि दि यप्राणयुक्त बताता हुआ देवाहुति ग्रहण-योग्य बन गया है। अब उस में अथु नामक ऋषिक नियत ऋषिदेवता [आजापदेवता प्रधानदेवता] के लिए आहुति प्रदान करेगा। परन्तु उस प्रधानाहुतिरूप प्रधानदेवतायाग से पहिले इस समिद्ध अग्नि में पूर्वाधार उत्तराधार नाम की दो मुख्य आहुतियाँ और दी जाती हैं। इनमें पूर्वाधाराहुति से मन की स्वरूप-निष्पत्ति होती है एव उत्तराधाराहुति से वाक की स्वरूप निष्पत्ति होती है। मनो-वाक के स्वरूप-निपादन की प्रकृत यज्ञ-कम्म में आवश्यकता क्यों हुई? अगला प्रकरण इसी प्रश्न की वैज्ञानिक उपपात्त बतलाने के लिए प्रवृत्त हो रहा है।

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री-सम्पत् से युक्त-चतुर्विंशत् [२४] स्तोमावच्छिन्न प्रथित्रीलोक चतुश्च वारिशदक्षरा त्रिष्टुप-सम्पत् से युक्त चतुश्च वारिंशत् (४४) स्तोमावच्छिन्न अतरिञ्च-लोक एव अष्टाच वारिशदक्षरा जगतीसम्पत् से युक्त-अष्टाचत्वारिंशत् (४८) स्तोमावच्छिन्न

द्युत्लाक इन तीनो लोको की समष्टिरूपा भूकेन्द्र से आरम्भ कर पाराजतपृष्ठाता १८ व अहगण पथ्यत याता शाकरसामानुगता त्रलोक्यरूपा अमृतलक्षण शकशुकानुगता द्युलोक्यामिका वाङ्मयी महापृथिवी ही पार्थिव जगत् का तीसरा विवर्ण है ।

त्रयस्त्रिंशत् (३३) अहगणात्मक द्युत्लाक द्वाविंश [२] अहगणामक अन्तरिक्षलोक एव एकादश [११] अहगणामक प्रथिनीलोक इन तीनों लोको की समष्टिरूपा भूकेन्द्र से आरम्भ कर आद्यपृष्ठाता ३३ व अहगण पथ्यत याता वरूपसामानुगता त्रलोक्यरूपा अमृतलक्षण-आप शुकानुगता अन्तरिक्षलोकामिका आपोमयी पृथिवी ही पार्थिव जगत् का दूसरा विवर्ण है ।

एकविंश [२] अहगणामक द्युत्लाक पञ्चदश [१५] अहगणामक अन्तरिक्षलोक एव त्रिवृत [६] अहगणामक प्रथिनीलोक इन तीनों लोको की समष्टिरूपा भूकेन्द्र से आरम्भ कर आनेयपृष्ठाता २१ व अहगण पथ्यत याता स्थन्त सामानुगता त्रलोक्यरूपा अमृतलक्षण अग्नि शुकानुगता पृथिवीलोक्यात्मिका अग्निमयी (आनसोममयी) पृथिवी ही पार्थिवजगत् का पहला विवर्ण है ।

अष्टाचत्वारिंशत् (४८) स्तोमावच्छिन्ना वाङ्मया पृथिवी विश्वम्भरा कहलाई है त्रयस्त्रिंशत् [३३] स्तोमावच्छिन्ना आपोमयी पृथिवी सागराम्बरा कहलाई है एव एकविंश (१) स्तोमावच्छिन्ना अग्निमया पृथिवी अदिति कहलाई है त्रलोक्यामिका अदिति पृथिवी प्रथिनीलोक है त्रैलोक्यामिका सागराम्बरा पृथिवी अन्तरिक्षलोक है एव त्रलोक्यामिका विश्वम्भरा पृथिवी द्युलोक है । इस त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा नवलोकात्मिका महिमा पृथिवी का त्वतान भूपिण्ड के केन्द्र से हुआ है । भूकेन्द्रावच्छिन्न भूपिण्ड भू है एव त्रलोक्यत्रिलोकीरूप महिमामण्डल पृथिवी है । इस महिमा-पृथिवी के पृथिवी-लोकस्थानीय एकविंशस्तोमावच्छिन्न अदिति नामक त्रिवृत-पञ्चदश-एकविंश भेद स त्रैलोक्यामिक पार्थिव विवर्ण का ही प्रकृतयज्ञ कम से सम्बन्ध है जसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है ।

पार्थिवविवर्त्तपरिलेख —

*		
(६) — ३ — १ गतस्तोम (४८) द्यौ (३)		
(३) (८) — २ त्र दुमस्तोम (४ - अ तरिक्षम् (३)	}	३ वाङ् मयी पृथिवी [शांकरसाम]
(७) — १ — गायत्रस्तोम (२४) पृथिवी		
*		
(६) — ३ — त्रयत्रिंशत्स्तोम (३३) द्यौ (२)		
(२) (५) — २ द्वाविंशस्तोम २२ अ तरिक्षम् (२)	}	२ आपोमयी पृथिवी [वैरूपसाम]
(४) १ — एकादशस्तोम (११) पृथिवी (२)		
*		
(३) — ३ एकविंशस्तोम (२१) द्यौ (१)		
(१) () — पञ्चदशस्तोम (१५) अ तरिक्षम् (१)	}	१ अग्निमयी पृथिवी [रथतरसाम]
(१) — १ त्रिवृत्स्तोम (६) पृथिवी (१)		
*		

उक्त तीनों-पार्थिव विवर्त्तों में से रवन्तरसामामानुगत अदितिलक्षण प्रथम पार्थिव विवर्त्त की ओर ही पाठकों का यान आकर्षित किया जाता है। भकेद्र से आरम्भ कर २१ व अह्मण प यत् व्यात अग्नि शुक्र के आधार पर क्रमश त्रिवृत् [६] पञ्चदश [१५] एकविंश [२१] ये तीन अयु मस्तोम प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों अयुमस्तोमों में क्रमश अग्नि वायु इन्द्र ये तीन प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। तीनों के विभक्तिभाव आगे जाकर ८ ११ १२ क्रम से ३३ सरया में पारित होजाते हैं २ साध्य प्राणों के सकलान से अदिति के गभ में ३३ प्राणदेवदेवताओं की सत्ता सिद्ध होजाती है। ये ही यज्ञिय देवदेवता कहलाए है। आहवनीयाग्निसमिधनकम्म से इह्नी यज्ञिय प्राणदेवताओं का समग्र हुआ है।

ये ३३ सौ यज्ञिय देवता स्वय प्राणा मक हैं। मन तथा वाक् ये दोनो त व इन प्राणा मक दोनो की मूलप्रतिष्ठा हैं। जिसप्रकार एक पात्र में जल भरा रहता है एवमेव मनोमय वागरूप पात्र में प्राणरूप देवता प्रतिष्ठित हैं। मनोवागरूपपात्र वयोनाथ ह छद् है। प्राणरूप देवता वय है। एव वय-वयोनाथ की समष्टि ही वयुनम् है। यही-मन प्राण वाङ् मयी देवस पत् है जिनका प्रकृत ऋषिकम्म के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान अपने मन प्राण वाङ् मय आ मा के साथ योग करना चाहता है।

भकेद्र में प्रजापति प्रतिष्ठित है यही ह्य अन्तर्यामी अनिरुक्त प्रजापति कहलाया है। यही प्रजापति भूपिण्ड पृथिवी भेद-भिन्न पार्थिवजगत् की मूलप्रतिष्ठा है। इस ह्य प्रजापति की प्राण वागर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति मनो वागर्भित प्राणमय उद्गीथप्रजापति एव मन प्राणगर्भित वाङ्मय सबप्रजापति इस रूप से तीन अवस्था होजाती हैं। भकेद्र में आ मप्रजापति की

प्राण तथा वाक ये दोनो कलाए उन्मुग्ध रहती ह मन कला उदबुद्ध रहती है। अतएव ननुप्रतिष्ठ यदजिर जग्निष्ठ तमे मन शिःसकपमस्तु (यजुस ३४।६) न्याय रूप समन को भी ह प्रतिष्ठ मान लिया जाता है।

हृत्पृष्ठ से आरभ कर १ व अहगण पयत आनेय प्राण का प्राधाय रहता है। इसमें भी १ वा अहगण मुख्य माना गया है। कारण यही है कि ३३ अहगणा मक सागराम्बरा लक्षण पार्थिव विर्वा के १६-१६ भेद से दो विवक्त होजाते हैं। हृत्पृष्ठ से आरम्भ कर १६ पयत अग्नि तव का तथा १८ से आरभ कर ३३ पयत [१८ से २ पयत भास्वरसोम का तथा २८ से ३३ पयत निकमोम का इसप्रकार द्विवध] सोम का साम्राय रहता है। न आन सोम-मण्डलको केन्द्र वा अहगण पडता है। १ से नीचे नीचे अग्नि है ऊपर-ऊपर सोम है। १ व स्थान में दानो का समय होता है अतएव स तदशस्थान आह्वनीय कहलाया है। सोमाहुति के सब व से प्र उलित अग्नि २१ व अहगण पयत यात हाजाता है। अतएव भूकेन्द्र से २ पयत अग्नीषोमा मक यज्ञ की याप्त मानली गइ है। वक्तव्य यही है कि हृत्पृष्ठ से १ पयत आमप्रजापात की प्राणकला का प्राधान्य है जिस की विकासमभि स्वयं १ वा अहर्गण है। मन तथा वाक दोनो यहा उन्मुग्ध ह प्राण उदबुद्ध है। यही दूसरा प्राणप्रधान उद्गीथप्रजापात-विर्वा है।

हृत्पृष्ठ से आरभ कर २१ पयत याप्त रथतरसामसीमावच्छिन्न मण्डल में प्राग्नि का प्राधाय है। यहा मन तथा प्राण दोनो उन्मुग्ध ह एव आमप्रजापति की वाककला उदबुद्ध है। यही मन प्राण-वाग्गर्भित वाडमय सर्वाप्रजापति है। यही यज्ञमण्डल की अन्तिम सीमा है। इसी के गभ में अग्नीषो-मा मक यज्ञ तथा यज्ञिय ३३ देवता प्रतिष्ठित हैं। रथतमीमा यज्ञ की परिधि है उपसहारस्थान है उद्वचस्थान है। भूकेन्द्र यज्ञ का उपक्रम स्थान है। भूकेन्द्रावच्छिन्न प्राणवाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्तप्रजापति तथा रथतरलक्षण परिध्यवच्छिन्न मन प्राणगर्भित वाग्मय सर्वाप्रजापति दोनों के मय में आग्नेय-सौम्य-प्राणोभयमूर्ति मनोवाग्गर्भित यज्ञामक उद्गीथ-प्रजापति प्रतिष्ठित है। इसी स्थिति का यो भी अभिनय किया जासकता है कि यज्ञमण्डल का इस ओर का आधार मन है उस ओर का आधार वाक है एव मय में प्राणमय यज्ञ किंवा प्राणामक यज्ञिय देवता प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव द्र याहुति मनोवाक् के द्वारा ही प्राणा मक यज्ञिय देवता की तृप्ति का कारण बनती है। इसप्रकार निय प्राकृतिक यज्ञ में भूकेन्द्र यज्ञमण्डलकेन्द्र यज्ञपरिधि भेद से मन प्राण वाक् तीनों दृष्ट्या प्राजापत्या आमकलाओ का उपभोग होरहा है जसा कि परिलेख से गताथ है—

३—एकविंशस्तोमावच्छिन्न रथतरसाम—[२१] मन्म.प्राणगर्भितवाडमय सवप्रजापति

२—स तदशस्तोमावच्छिन्न मण्डल-हृदयम्—[१] मनोवाग्गर्भित प्राणमय उद्गीथप्रजापति

१—भूकेन्द्र —[*] प्राणवाग्गर्भितो मनोमय अनिरुक्तप्रजापति

—**—

३—सवप्रजापतिर्वाग्मय	—वाक्	} मन प्राणवाड्मया यज्ञिया देवा
२—उदगीथप्रजापति प्राणमय	प्राण	
१—आनरुक्तप्रजापातमनोमय	—मन	

—*—

हृदयावच्छिन्न मन	—अनिरुक्तम्	} पार्थिवयज्ञ प्राकृतिको निय
म यावच्छिन्न प्राण	—निरुक्तानिरुक्त	
परि यवाच्छिन्ना वाक्	—निरुक्ता	

—*—

मन प्राणवाड्मय उक्त लक्षण प्राकृतिक निय देवयज्ञ के आधार पर ही ब्राह्मणग्रन्थोक्त पुरुषप्रय नसा य मानुष वैध यज्ञ का अवतान हुआ है। प्राकृतिक यज्ञ में मन तथा वाक् के आधार पर ही प्राणात्मक यज्ञिय देवताओं में पार्थिव रसाहुति भुक्त होती है। अतएव— यद्वै देवा अकुपस्ततकरवाणि निगमानुसार इस वध—मानुषयज्ञ में भी (यज्ञात्मक—आहवनीयानि में भी) मन—प्राण—वाक् तीनों कलाओं का समन्वय आवश्यक रूप से अपेक्षित होजाता है। बिना तीनों के समन्वय के आहवनीय समिद्धाग्नि प्राजापयस पत्स सवथा वञ्चित है। एव बिना प्राजापयस पत्स के यज्ञसम्पत्सिद्धि असंभव है।

मन प्राणवाग्मय प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही वितत इस यज्ञ में देवयजन से पहिले मन प्राणवाक् सम्पत्ति अपेक्षित है यही निष्कर्ष है। इसी सम्बन्ध में एक रहस्य का विश्लेषण और। अधिदैवत का अधिभूत के द्वारा यज्ञमान के आयात्मिक यज्ञात्मा का प्राकृतिक उक्त लक्षण आधिदैविक यज्ञात्मा से सम्बन्ध कर देना ही यज्ञनिष्कर्ष है। अधिदैवतयज्ञ पूर्वकथनानुसार स्वस्वरूप से मन प्राणवाड्मय है एवमेव अया मयज्ञ भी स्वस्वरूप से मन प्राणवाड्मय है। शेष रह जाता है वितायमान आहवनीयाग्नि लक्षण अधिभूतयज्ञ। इसे जन्तक मन प्राणवाग्मय नहीं बना दिया जाता तन्त्रक इस का मायम निफल है। अधिभूतयज्ञ उसी अवस्था में मन प्राणवाड्मय अध्यामयज्ञ [यज्ञमाना] का मन प्राणवाड्मय अधिदैवत यज्ञ से सम्बन्ध करा सकता है दूसरे शब्दों में अधिभूतयज्ञलक्षण आहवनीय अग्नि पें प्रदत्त आहुति का तभी अधिदैवत यज्ञात्मक दिय देवताओं के साथ सम्बन्ध होसकता है जब कि इस आहवनीयानिरूप अधिभूतयज्ञ को भी किसी वैज्ञानिक—प्रक्रिया—विशेष से मन प्राणवाड्मय बना दिया जाय। इस के मन प्राणवाड्मय बनाने से आहुतिद्रव्य के द्वारा आयात्मिक यज्ञ के मन—प्राण—वाक् पवत्स अधिभूतयज्ञ म अतर्क्यीय सम्बन्ध से प्रविष्ट होजायग। आहुति का अधिदैवत से सम्बन्ध होना अनिवाच्य होगा। इसप्रकार अधिभूतयज्ञ के द्वारा परम्परया यज्ञमानात्मा का दिव्यातिशय से अन्तर्क्यीय सम्बन्ध होजायगा।

अब इस सम्बन्ध में दो क्त य हमारे सामने उपस्थित होते हैं। आधिभौतिक लक्षण इस आहवनीयानि में मन प्राणवाक् का सम्बन्ध करा देना एक क्त य है। एव इस मन प्राणवाड्मय आधिभौतिक यज्ञ

के साथ आ यामिक यज्ञ [यजमाना मा] के मन—प्राण—वाक् पर्वा का सम्बन्ध करा दना सा क्त य है। पाहले क्त य की पूर्ति होता तथा अध्वर्यु पर निर्भर है तथा इस दस क्त य की पूर्ति अध्वर्यु हाता उद्गाता ब्रह्मा इन चरो ऋचिजो पर निर्भर है। भूके द्र से २१ पश्यन्त वतत वाक्त्व व क्रमश त्रवृद वि छन्न [६] अग्निमय पार्थिव ऋग्वद पञ्चदशावा छन्न [१५] वायुमय यजुर्वे एकादशावा छन्न [२१] आदि यमय सामवद इन तीन अग्निवदो के सम्बन्ध से पद्यामका वाक् गद्यामिका वाक् गद्यामिका वाक् यजु है एव गेयामका वाक् साम है

पद्यामका ऋगृगक का स पादन हाता नामक ऋचिक करता है यही स का शस्त्रकम्म नामक हौत्रकम्म कहलाया है। गद्यामिका यजुगक का स पादन अ य्यु नामक ऋत्तिक करता है। यही स का ग्रहकम्म नामक आ व यव कम्म कहलाया है। गद्यामिका सामवाक् का सम्पादन उद्गाता नामक ऋचिक करता है यी स का स्तोत्रकम्म नामक अ द्वात्रकम्म क लाया है। इस—प्रकार शस्त्रकम्मीध्याता ऋग्वदी होता के शस्त्रकम्म से ग्रहक मर्धिष्ठता यजुवनी अ व यु कग्रहकम्म स तथा स्तोत्र मर्धिष्ठता सामवदी उद्गाता के स्तोत्रकम्म स यजमाना मा के त्रिवध वाक्पवा का इस आधिभौतिक यज्ञ के वाक्पवों के साथ सम्बन्ध होजाता है। त्रिभिः ब्रह्मा नामक ऋचिक अपने ब्राह्मयापार से यजमाना मा के मन पत्र का स पादन करता है। शेष रहता है प्राण पव। अ य यु क्त याज्याकम्म से [आहुतिकम से] स प्राणवों का आधान होजाता है। सप्रकार अ य्यु क्त प्राणयापार हाता—अ वय्यु—उद्गाता—कृत वाग यापार तथा ब्रह्माकृत मनायापार तीनों यापारो स आधिभौतिक यज्ञ के साथ यजमाना मा के तीनों आ मपवों का सम्बन्ध होजाता है। और यो प्रथम क्त य की पूर्ति होजाती है।

१ ब्रह्मा—भनस्तवस पा क —गहक मणा	[मन] ३	} तद्विद्य यजमाना मकराभावात् मन प्राणवाक् मयाना—आधि भौतिकयज्ञा नौ सम्बन्ध ।
२—अ य्यु —प्रा त वसम्पादक —यायकम्मणा	[प्राण] २	
३—उद्गाता—सामगकस पादक स्तोत्रकम्मणा	[वाक्]	
४—अ वय्यु —यजुर्वाकस पादक —ग्रहक मणा	[वाक्]	
५—हाता—ऋगृगकस पादक —शस्त्रकम्मणा	[वाक्]	
	[वाक्] १	

आधिभौतिक यज्ञाग्न में मन प्राण वाक् स पत्ति का समावेश आवश्यक है। पूर्वोत्तराधारकम्म से पत्ते होता नामक ऋचिक के द्वारा सामिधन्यनुवचन—क म हाता है जसा एक प्रकरणारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है। लौकिक भूतान में मर्शक्ति स युक्त बन्ध याधान के द्वारा अ य प्राणत व का आधान करना ही इस सामिधेयनुवचनक म का एकमात्र फल है। इसप्रकार ऋत्तिक सामिधेनी—कम्म से यह अधिभूत यज्ञ प्राणस पत्ति से युक्त होजाता है। इस प्राणस पत्ति का मनावाक सम्बन्ध सूचित करने के लिए ही प्रकृत आचारब्राह्मण के आरम्भ म प्रथम प्रथम— त वा एमग्निं समेधिषत । समिद्ध देवेभ्यो जु नाम (शत १।४।१।) यह कहा गया है। स सिहावलोकन स श्रुति सङ्कत कर रही है कि आधिभातिक

यज्ञाति में पव के सामिधेनी क म स प्राणपव का तो आधान होगया । अब पवात्तराधारक मद्रथी से इम प्राणात्मक आहवनीयाग्नियज्ञ म मनो वाक पवा का आधान बतनाया जाता है । होतृकृत प्राणाधानलक्षण सामिधेयनु वचन—कर्मान्त अ वय्यु नामक ऋषिक खुत्रपात्र से पर्वाधारक म का तथा स्रकपात्रद्वयी से उत्तराधार क म का स पादन करता है । पर्वाधार मन पत्र का सम्राहक है एव उत्तराधार वाक पत्र का सम्राहक है । असप्रकार समिधन—कर्म से प्राणयुक्त पर्वाधारकर्म से मनोयुक्त एव उत्तराधार से वागयुक्त स भूय तीनों कर्मों से मन प्राण—वाडमय बनता हुआ आहवनीयाग्निलक्षण आधिभौतिक यज्ञ आयामिक—यज्ञलक्षण यजमाना मा के मन प्राण—वाक पवों मे (आहुति के द्वारा) युक्त होता हुआ आधिभौतिक यज्ञानिपवों से स बद्ध आधिद्विक यज्ञ के मन—प्राण वाक पवों से अतर्यामात्मक सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है ।

केद्रावच्छिन्न मन पत्र (प्राणवागगर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापात) हृदयाव छेदन पवभावी है एव रथतरसामाविच्छिन्न वाक—पत्र (मन प्राणगर्भित वाडमय निरुक्त प्रजापति) परि यवच्छेदेन उत्तरभावी है । मन सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला आधार पवभावी है एव वाकसम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला आधार उत्तरभावी है । इस पव तर्गत्तरभाव से ही यज्ञाग्नि में पवभावी मन पव का तथा उत्तरभावी वाकपव का आधान होरहा है । मनोऽनुगत आहार पर्वाधार क्यो कहलाया ? वागनुगत आहार उत्तरावार क्यो कहलाया ? पर्वाधार पहिले एव उत्तराधार पीछे क्यो क्रिया जाता है ? समिधनान्तरपरोत्तराधारकर्मद्वयी क्यो आवश्यक है ? इसके द्वारा मनोवाक स पत्तिसग्रह यो अपेक्षित है ? इयादि आधारकर्म—सम्बन्धी प्रश्नों की इसी उक्त उपपत्ति का प्रथम कश्चिदकाशेष में स्पष्टीकरण हुआ है ।

१— 'अग्नि समैधिषत' —प्राणसग्रह —सामिधेयनुवचनकर्मणा ।

२— 'मनसे चैव' —मन सग्रह —पूर्वाधारकर्मणा ।

३— 'वाचे च' —वाकसग्रह —उत्तराधारकर्मणा ।

१



पर्वाधारकर्म उपाशुरूप से किया जाता है एव उत्तराधारकर्म वागुच्चारण [म त्रीच्चारण] पूर्वक किया जाता है । हृदयस्थ पूनभावी मन उपाशु है । मन का स्वरूप हृदयाव छेदेन सवथा अयुक्त है । अतएव न तो हृदयावच्छिन्न मन का ही पराड मुख इन्द्रियो से साक्षात्कार किया जासकता एव न मानस यापार [भावना वासनात्मक मानस सक्त्प] का ही अय यक्ति के द्वारा प्रयत्न किया जासकता । यही मन का उपाशुधम्मव है । क्योंकि मन उपाशु है अतएव तत्—सम्पत्तिसम्राहक पर्वाधारकर्म की इतिकत्तयता का भी उपाशु ही सम्पादन होना चाहिए । इस समानवम्म के सम्बन्ध से उपाशुरूपेण कृत पूर्वाधारकर्म से आहवनीयाग्नि में अवश्यमेव मन पव का आधान होजाता है एव यह आहित मन उपाशुरूप से ही द्युलोकस्थ प्राणदवो के लिए आहुति द्रव्यप्रापक बन जाता है । रथतरसामामिका परिधिस्था उारभाविनी वाक् निरुक्ता है । वाक

का स्वरूप सप्रथा यक्त है। अतएव वाग्यापार का अर्थ । द्रय [आत्रेन्द्रिय] स भी प्रयत्न हाजाता है एव अर्थ यक्ति भी मरु साक्षात्कार कर लेते है। इा द्रयगागातरिक्त पञ्चभूतरूप स भी वाग ववा प्र यत्न का विषय बनता हुआ यक्त बन रहा है।

क्योकि वाक निरुक्ता है अतएव तत्सम्पत्सिप्राहक क म की नितिकर्णयता भी वागुच्चारणपूर्वक ही स पादित होती है । स समानधम्म के स ब ध से बागरूपेण कृत उत्तराधारकम्म से आह नीयाग्नि म अवश्य मेव वाकपव का आधान होजाता है एव यह आहित वाक वागरूप से [वषट्काररूप से] ही द्य लोम्स्य प्राण दवताओ के लिए आहुतिद्रय प्रापका बन जाती है । सप्रकार उपाशुरूप से पूर्वाधार तथा वागरूप से उत्तराधार करता हुआ भी अ य यु आहवनीयाग्नि में मनोवाक पवा का ही आधान कर रहा है। इन दोनों क्रमिक आधारो से आधिभौतिक यज्ञ के मनोवाकपव त त होजाते ह [सर्वाङ्गीण बन जाते है।] सर्वाङ्गीण बनकर ये दोनों पव प्राणा मक यज्ञान के आधारपात्र [वत्तनी] बनत हुए निश्चयन व लास्थ प्राणदवों के लिए आहुतिप्रापक बन जाते है। ताप य उपपत्ति का यही है। क दवतापत का मान आहुतिप्राप्त है एव आहुतिप्राप्ति का साधन मनोवाकपवों की सर्वाङ्गीणलक्षणा प्त है। नस तन्निभावप्राप्ति के लिए भी आधारद्रयानु ठान आवश्यक है। मनोवाक पव क म किस रूप से प्राणदवो के लिए यज्ञवहन करते ह ? प्रकृत द्वितीय कण्डिका से नवी प्रश्न का मोपत्तरु समाधान ुआ है ॥ २ ॥

काममय विश्व में पुरुष तथा स्त्री न दोनो का स योग अपेक्षित है। यद्यप पुरुष भी काममय है स्त्री भी काममयी ही है तथापि प्रधानता पुरुष की ही मानी गइ है। पुरुष स्य त त्र मे प्रतिष्ठित है एव स्वी पुरुषतन्त्र की अनुगामिनी है। पुरुषकाम ही स्त्रीकाम है। दूसरे शब्दों में स्त्री कृतानुकरा है अनुगामिनी है। इसी प्राकृतिक नियतानुसार कामनामय मन को हम पुरुष नह सकते हैं एव कामनामय मन के सपानुसार स्वयापार के सञ्चालन में समथ होने वाली वाक को स्त्री कहा जासकता है। पुरुषानुगत प्राण वृषा कहलाया है स्थानुगत प्राण योषा कहलाया है। अनुधावन करने वाला पुरुषप्राण ही वृषा है एव जिस के प्रति वृषाप्राण का अनुधान होता है वही योषा है। इस दृष्टि स भी मन वृषा है एव वाक योषा है। वाक का मन की ओर अनुधा न नहीं है अपितु सकपरूप स मन ही वाक की ओर अनुधान करता है।

इसप्रकार कामनामय मन वाकतत्रसञ्चालक मन अनुधावक मन हृकयावच्छिन्न मन का वृषाप्राणा मक पुरुषव भलीभाति सिद्ध होजाता है। एव कामनानुगत मन परि यवच्छिन्ना वाक् का योषाप्राणामक स्त्री व सर्वा मना सिद्ध होजाता है। उधर आहुतिपात्रों में स्रुवपात्र पुल्लिङ्गवन वृष प्राणामक काममय मन से समतुलित जुहू उपमृत् नामक स्त्रुक्पात्रद्वयी स्त्रीलिङ्गवन योषाप्राणामिका कामनुगता वाक् से समतुलित है। मनाऽनुगत पूर्वाधार मन सम्ब ध से वृषा है अतएव पूर्वाधाराहुति वृषामक स्रव स ही होती है। बागनुगत उत्तराधार वाक के स ब ध से योषा है अतएव उत्तराधाराहुत योषामिका स्त्रुक्पात्रद्वयी से ही होती है। पूर्वोत्तराधारक म का क्रमश स्रुव एव स्रुक् स क्यो स पादन हाता है ? इस प्रश्न की यही सन्निप्त उपपत्ति है जिसका कि तृतीय चतुर्-कण्डिकाओ स स्पष्टीकरण हुआ ह ॥ ३ ४ ॥

पूर्वाधार मनोऽनुगत है उत्तराधार वानुगत है यह कहा जाचुका है। प्राण गगर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति हृद्य है। यहा से यद्यपि — पराञ्चि खानि यत्तृणत् स्वयम्भू (कठोपनिषत् ४।१।) न्यादि

श्रौत सिद्धांत के अनुसार वाकत व का ऊ व वितान अवश्य होता है तथापि यह स्वयं मनोमय हृद्य अनिरुक्तभाव तो वाकपथातीत ही है। इसी मनोऽनुरूपता की सिद्धि के लिए मनोऽनुगत पूर्वाधार तूष्णी ही किया जाता है। ऋषिः ही अनिरुक्त है। अनिरुक्ता ही मन का स्वाभाविक धर्म है। स्वाहा यह वाग्निर्वी का प्रयत्न अभिनय है जमाकि आगे के आख्यान स्पष्ट होने वाला है हृद्य मनोमय प्रजापति के लिए पराङ्मुखा वाक अहंयवाहना है। अतएव मन सम्पत्तिसग्राहक पूर्वाधारकर्म में वागनुगत स्वाहा का उच्चारण निषिद्ध है। वाकत व का मन प्राणगर्भित वाढ मय सबलक्षण निरुक्त प्रजापति से सम्बन्ध है। यह त व स्वस्वरूप स (आकाशरूप से) भी प्रकट है स्वविताना मक पञ्चमहाभूता मक अथप्रपञ्च की दृष्टि से भी प्रकट है एव वाग्निद्रयरूप से भी यक्त है। प्रयत्न पाञ्चभौतिक पदार्थ वाढ मय है इनके गभ में हित नामक क्रियाप्रवक्तक प्रारतत्त्वं प्रतिष्ठित है सर्वालम्बन ससूदम काममय मन है। क्योंकि वाकत व यत्नलक्षण है धर उत्तराधार वाकस पत्तिसग्रह के लिए विहित है। अतएव वागनुगत उत्तराधारक म मत्रोच्चारण—लक्षण यक्तभाव से ही सम्बन्ध होता है। मनोऽनुगत पूर्वाधार का तूष्णी रूपेण तथा वागनुगत उत्तराधार का मन्त्र रूपेण स पादन करना भी मन्तावाकपवा का ही समग्र करना है यही उपपत्ति—निष्कर्ष है जिम का कि पाचवी तथा छठी काण्डकात्रोस स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ५ ६ ॥

भूके द्रावि छन्न मनामय आनरुक्त प्रजापति अच्यतिष्ठद्दशागुलम् (यजुस ३१।१) सिद्धांतानुसार प्राणेशमित (१ ॥ अगुलमित) प्राणरूप स हृदय में प्रतिष्ठित है। स बठे हुए मनोमय प्रजापति के आधार पर ही इन्द्रा विष्णु भी अनगता प्रतिस्पर्द्धा से वाकसाहस्री का उ व वितान होता है। उ व वितता यह वाकसाहस्री केन्द्र में प्रति ठत (आसीन) मनोमय प्रजापति की अपेक्षा उड़ी हुई सी है। मनस्तव हृदय में आसीनवत् है वाकत व हृदय से परिधि पय्यत्ति ठन्वत् है। मनोवाक पर्वों की इस स्वाभाविकी स्थिति को लक्ष्य में रख कर ही मनोऽनुगत पूर्वाधार आसीन व कर (बठ कर) किया जाता है एव वागनुगत उत्तराधार तिष्ठन्रूप से (खड होकर) किधा जाता है। इसप्रकार आसीन ति ठन्रूप से कृत पूर्व उत्तराधार के द्वारा भी आसीन मनस्तव एव त्ति ठन् वाकत व का आहवनीय यज्ञान में आधान होजाता है। पूर्वाधार आसीन रूप से तथा उत्तराधार ति ठन्रूप से क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही सक्षिप्त उपपत्ति है।

वागनुगत उत्तराधार ति ठन् क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की एक दूसरी भी उपपत्ति है। जहातक यज्ञामिका वाकसाहस्री याप्त रहती है वहातक रथ तरसाम की याप्ति मानी गई है जैसा कि प्रकरणा भ में स्पष्ट किया जाचुका है। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित वाढ मय अग्नि त व रसाग्नि नाम से प्रसिद्ध है। इस वाढ मय रसाग्नि का त्रिवृत् प चदश एकविंश स्तोमरूप से क्रमशः अग्नि वायु आदियरूप से ऊ व वितान हुआ है जैसा कि न न लिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

तस्य आतस्य तप्तस्य तेजो रसो अनरवर्त्ताग्नि । स त्रेधात्मान यकुरुत आदित्य
तृतीय वायु तृतीयम् । स एष प्राणरत्रधा विहित ।

—शत १।४।७।२३ ।

रसामक वाढ मय अग्नि के ऊ व वितान—सम्बन्ध से ही एकविस्तोमावच्छिन्न यज्ञानलक्षण पार्थिव साम (अग्निसाम) रसतमसाम कहलाया है। यह रसतमसाम ही परोक्षाप्रय देवताओं की परोक्षभाषा में

रथ नरसाम कहलाया है जसा कि— रसतम ह वै तन्धन्तरमियाचक्ष्ने पराक्षम् (शत ६। २। १६।) इ यदि श्रुति स प्रमाणित है। भूकेद्र स २१ व अहगण प यन्त या त मनोऽगगमित प्राणमय यज्ञ भी इसी रसतम अग्नि के स बंध से रथ (देवरथ) कहलाया है प्रदत्त आहुतिद्र य के द्वारा यज्ञमान इस रसतमामक यज्ञरथ मे प्रतिष्ठित होकर य लोक की और गमन करता है। स रथ के वहन करने वाले (प्राणा मक यज्ञ का भूकेद्र से रथ तरसाम की पारधिपथ्य त वितान करन वाले) मन वाक नाम के दो अश्व माने गए है। इह्वा दोनो के द्वारा यज्ञा मक अनिरसरूप रथ का वहन होता है।

यज्ञरथ में नियुक्त इन दोनो मनो-वाक) अश्वों में मनो-लक्षण अश्व अपरिमित है एव वागलक्षण अश्व पारमित है। दिग्दशकालानवच्छिन्न काममय मन इसी अपरिमित भाग के सम्बन्ध से कामसमुद्र कहलाया है। मनो वै बृहत् (ता ब्रा ७।६।१) मनो वै समुन् (१५।१।५२।) अनन्त वै मन (शत १५।६।१।११।) इ यदि श्रुति या मन के नसी असीमभाग का समथन कर रही हैं। मन-प्रतिष्ठा रूप हृदय स्वय अनन्त है तदनुगत मन भी अनन्त है। इसी अपेक्षा तकतव दिग्देशकालानवच्छिन्न अनन्ता हुआ परिमिततर है सीमित है। अर्थानिका वाक (भौतिक पदार्थ) भी परिमित हैं चन्द्र त प आत्मी लक्षणा शब्दात्मिका वाक भी सीमित है। सप्रकार यज्ञरथवाहक दोना अश्वों में एक (मन) आकार प्रकार में बड़ा है तो दूसरा (वाक) अपेक्षाकृत ह्मीयान् है।

यदि ऐसे विषमाकार अश्व रथ का वहन करते हैं तो वहनकम्म भयाक्रान्त बना रहता है। आवश्यक है कि मनोरूप अश्वपरिमाण को समतुलित करने के लिए वागरूप अश्वपरिमाण में आकारवृद्धि की जाय। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही वागनुगत उत्तराधार खडे खड किया जाता है। जिसप्रकार लोक में नाटे अश्व को दीघकाय अश्व से समतुलित करने के लिए गे अश्व के स्कंध प्र श में स्थूल काष्ठपीठ लगा दिया जाता है ठीक उसी लौकिक कम्म के अनुरूप यहा ति ठन्माव का आश्रय लिया जाता है। खड होकर उत्तराधार करना वागश्व को मनोरूप अश्व के समानाकार से ही समतुलित करना है। तिष्ठन्नुत्तराधार की यही दूसरी उपपत्ति है। इन दोनों उपपत्तियों का ही सातवी कण्डिका से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ॥

पूर्वाधार का स पादन आहवनीयाग्नि के उत्तर भू प्रदेश में बठ कर प्रवर्तित समिद्ध आहवनीयाग्नि के उत्तराग्निभाग में होता है एव उत्तराधार का स पादन आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश में खड होकर प्रज्वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के क्षिणाग्नि में होता है जसा कि सूत्रानुगतपद्धतिसम में स्पष्ट किया जाचुका है। इन दोनो आधारों के स बंध में एक अनुक्ता उपपत्ति का प्रासङ्गिक सम्बन्ध और कर लेना चाहिए। पूर्वाधार का मन से तथा उत्तराधार का वाक से स बंध है। भावनामय मन देवप्राण की प्रतिष्ठा है एव वासनात्मिका वाक पितप्राण की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर पितरो वाक्यमिच्छति भागमिच्छति देवता यह सक्ति प्रतिष्ठित है। मनोऽनुगत देवप्राण आग्नेय है एव वागनुगत पितप्राण सौम्य है। रथन्तरसामात्मक यज्ञमण्डल के पूर्वाद् भाग मे अग्नि तत्त्व का प्राधाय है एव उत्तराद् भाग मे सोमतत्त्व का साम्राय है। मण्डलके द्रभूत मध्यस्थ सप्तदश स्थान में दोन का समन्वय होता है जैसा कि प्रथमकण्डिका विवेचन में स्पष्ट किया जाचुका है। क्योंकि मनोऽनुगत आग्नेय देवताओं का पूर्वाद् से स बंध है अतएव मनोऽनुगत आधार पहिले किया जाता है अतएव च यह आधार पूर्वाधार कहलाया है। एवमेव वागनुगत सौम्य पितरो का उत्तराद् से सम्बन्ध है अतएव वागनुगत आधार पीछे किया जाता है अत

एवञ्च यह आधार उत्तराधार कहलाया है। उत्तरादिक् देवताओं की है अतएव देवानुगत पूर्वाधार आहवनीय के उत्तर भूप्रदेश में बठ कर आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में सम्मन्न होता है। एव दक्षिणादक पितरो की है अतएव पितृनुगत उत्तराधार आहवनीय के दक्षिण भूप्रदेश में खड होकर आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग में स पन्न होता है। दोनों आधारों से अग्नीषोमामक पूण यज्ञमण्डल का समग्र हो जाता है।

उत्तराधार का सम्पादन दक्षिण में खड एडे होता है इस सम्बन्ध में एक उपपत्ति और बतलाइ जाती है। भौमस्वगयवस्थामक देवयुग में जब जब भी भौमदेवता वध यज्ञकर्म का वितान करते थे तब तब ही दक्षिण अफ्रिका में निवास करने वाले भौम मनुष्यविध असुर दक्षिणभूप्रदेश * से आकर यज्ञ पर आक्रमण किया करते थे। दक्षिणादगनुगत इम असुराक्रमण से त्राण पाने के लिए देवताओंन दक्षिण सीमा पर खडा पहिरा नियुक्त कर दिया था। इही भौम देवताओंसे भारतीय द्विजातिवगने यज्ञविद्या प्राप्त की। फलत देवानुविधा व मनुष्या इस नियम के अनुसार इहोन भी अपने यज्ञ में दक्षिणदिगनुगत कर्म को खड एडे ही करना अवथ माना।

ऐतिह्य कारणातिरिक्त तिष्ठन् रूपेण उत्तराधार करने की वज्ञानिक उपपत्ति भी है एव वही प्रधान है। भूपिण्ड का उत्तर प्रदश ज्योतिष्मय स्क्म्भ के वितान से देवप्राणप्रधान है। उत्तरानुगत स्क्म्भप्रदशोपलक्षित स व सरचक्र ही देवताओं की देवयजनभूमि है यज्ञवितान प्रदेश है। अग्नि वायु आदि य चद्र सादि प्राणात्मक विद्युत् विजों के हौत्रादि कर्मों से इस देवयजनभूमि में स व सरयज्ञ का वितान होता रहता है। भूपिण्ड का दक्षिणप्रदेश तमोमयी शनैश्चरकक्षा के सम्बन्ध से असुरप्राण प्रधान है। इस दक्षिणादगनुगत असुरप्राण का उत्तरानुगत प्राणदेवयज्ञभूमि पर सतत आक्रमण होता रहता है। साथ ही दक्षिणस्थ अग्नि सहयोगी ज्योतिष्मय इन्द्र के सम्बन्ध से यह आक्रमण यथ भी हाता रहता है। सम्ब सरयज्ञोपलक्षित देवमण्डल इसप्रकार तिष्ठन् रूपेण उपस्थित इन्द्र के द्वारा असुराक्रमण से बचा रहता है।

प्राकृतिक यज्ञ में दक्षिण-दिशा में यज्ञरक्षक इन्द्र खड रहते हैं इस स्थिति का उत्तरायणकालसे हा सम्बन्ध है। दक्षिणगोल में उत्तरायण होता है एव उत्तरगोल में दक्षिणायन होता है। उत्तरायणकालोपक्रम में सूर्य दक्षिण परमक्रान्ति से उत्तर की ओर अपना रुख कर लेता है। सूर्य इन्द्रप्राणात्मक है। इसका उत्तर की ओर अपना रुख करना ही खडा होना है। यही देवयजनकालोपक्रम है। सौर इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से दक्षिणगोलस्थ असुरप्राण का आक्रमण यथ चला जाता है फलत उत्तरायणानुगत दिव्ययज्ञ निर्विघ्न संपन्न होजाता है।

वैधयज्ञ प्रकृत में इस दक्षिणस्थ असुरप्राण के समावश से त्राण पाने के लिए ही यज्ञवेदि प्रथम तो प्राक्प्रवणा बनाइ जाती है अथवा तो उदकप्रवणा बनाई जाती है जसा कि पूव के वेदिब्राह्मण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। क्योंकि प्रकृतिवत् स मानुष यज्ञाग्नि में भी दक्षिणस्थ असुरप्राणाक्रमण स्वाभाविक है अतएव इस ओर खडे होकर ही उत्तराधार किया जाता है। खडा होना वीर्योत्कष का ही सूचक है।

* जहा आज स्वेज नहर है पुरायुग में यहा भूप्रदेश था। इसी भाग से असुरत्रिलकी में रहने वाले भौम असुर भौम देवताओं के यज्ञ पर आक्रमण किया करते थे।

उच्छ्रितमिव हि वीर्यम् श्रुति का यह वाक्य बड़ा महत्व रखता है। लोकदृष्टि से भी इस सिद्धांत का अपूर्व महत्व है। आलसनिम्न शयालु मनुयो का रसाभाविक वीर्य कालांतर में मूर्च्छित होजाता है उसका मद होजाता है एवं निरालस उत्तिष्ठन् पुरुषार्थी ही वीर्यसम्पत्ति स युक्त रहता है। सेना इसका प्रयत्न उदाहरण है। प्रत्येक सैनिक को यह आदेश मिलता है कि वह अनन रक्षाकर्म म तन कर ही खड़ा रहे। तन कर खड़ा रहने से मेरुदण्ड का गत्यस्तिक की ओर लम्बन होजाता है हृदयावच्छिन्न ऊव अध वितत नाडिया ऋजुभाव में पारणत होती हुई रक्तानि के सञ्चार से वीर्य बती बन जाती है। इस प्रकार उच्छ्रितभाव प्रत्येक दशा में वीर्यधायक बना रहता है। सैनिक तन कर चलते हैं तन कर रक्षास्थानों में पहिरा देते हैं। सचमुच शरीरयाष्ट का यह तनाव उक्त श्रौतासिद्धांत * के अनुसार वीर्य का ही प्रवक्तक है जिसे हमने भुला दिया है। यहा वही सनिकानुगत रक्षाकर्म अभीष्ट है। रक्षाकर्म वीर्यसापेक्ष है वीर्यसञ्चार उच्छ्रितभावानुगति पर ही निर्भर है। अतएव वागनुगत उत्तराघार तिष्ठन्रूपेणैव किया जाता है। तिष्ठन्रूप से तथा आधाहुति से अतिशयरूपेण प्रज्वलित आहवनीयाग्नि से उभयथा दक्षिणस्थ असुरा-क्रमण का भय निवृत्त होजाता है तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाधारयति ।

आहवनीयाग्नि एक है इसी में दोनों आघाराहुतिया हुत होती है। इसप्रकार आहवनीयाग्नि वन दोनों आघाराहुतियों का प्रदश समान है। साथ ही काल स्थिति एवं अग्निप्रदश की अपेक्षा से दोनों आहुतियों का परस्पर पाथक्य है। पूर्वाघाराहुति पहले दी जाती है उत्तरप्रदेश में बैठ कर दी जाती है आहवनीयाग्नि के उत्तरभाग में दी जाती है। उत्तराघाराहुति पीछे दी जाती है दक्षिणप्रदश में खड़े होकर दी जाती है आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग में दी जाती है। इसप्रकार आहवनीयाग्नि वन जन्म दोनों समान हैं वहा दक्षिणोत्तरप्रदेशवादिरूपेण दोनों भिन्न भिन्न हैं। इन समान तथा नाना दोनों भावों के मग्नह के लिए ही ऐसा किया जाता है। कारण यही है कि पूर्वाघारानुगत मनपव का तथा उत्तराघारानुगत वाक्पव का दोनों का स्वरूपावस्थान समान रहता हुआ पृथक् पृथक् ही है।

मन तथा वाक् का समानत्व इसी से सिद्ध है कि बलग्रथितारतम्य से रसबलसममात्रावच्छिन्न उसी मन में जन्म बलमात्रा का यत्किञ्चित् उद्रेक होता है तो वही मन प्राण रूप में परिणत होजाता है। बलमात्रा के पूर्णोद्गम से वही मन वागरूप में परिणत होजाता है। इसी आधार पर तो हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्त प्रजापति को पूव में प्राण वागर्गमित धतलाया गया है। मानस प्रयय में भी परावागनुगता उपाशुवाक का अवश्यमेव समावेश रहता है जसा कि न सोऽस्ति प्रययो लोके य शदानुगमाहते इत्यादि हरि-

* उच्छ्रितमिव हि वीर्यम् के अनुसार रक्षादि तथा पुरुषार्थसाधनादि कर्मों के अनुगामी को तनकर ही खड़ा रहना चाहिए तन कर ही चलते-फिरते रहना चाहिए। इस ऋषिसम्भता जीवनीया-आचार पद्धति को भावुकतापूर्णा पिदमाना-मृद्धी-शिथिलता से जहाँ हमने विस्मृत कर दिया है वहाँ आज की प्रतीय-रक्षा पद्धति में सैनिक सिपाही इसी तनन पद्धति के अनुगामी बने हुए हैं जो पद्धति प्रतीयभाषा में सम्भवत आदेशान् नाम से प्रसिद्ध है।

सिद्धान्त — से प्रमाणित है। प्रत्येक मानस यापार (सकृप) में उर्गशुवाक निहित है। एतमेव प्रत्येक वाग यापार (शब्दप्रयोग) में मानसज्ञान आधार बन रहा है। इसी ज्ञानीय प्रज्ञा से वणविभागानुगता अथनिर्णय होती है। मनस वञ्चिता वाग अल ल ग है स्वलितवाक है निरथकवाक है अनाकरूपा वाक है। विशुद्ध मानस व्यापारम उपाशुवाक् के समन्वय से तथा विशुद्ध वाग् यापर में आलम्बन-वन मन के सम वय से दोनों का समान-व [समानक्षेत्राश्रय-व] भलीभांति सिद्ध होजाता है। इसी समानता-सपत्तिसग्रह के लिए समानक्षेत्ररूप एक ही आहवनीयाग्नि म मनोऽनुगत पूर्वाधार की तथा वागनुगत उत्तराधार की दोनों को आहुति जाती है। यदि मनोवाक् समान है तो दोनों के लिए दो आधार क्यों किए जाते हैं? इस प्रश्न का निराकरण दोनों का स्वरूपभेद [जातिभेद] है। मन हृदयाच्छिन्न अनिरक्त तव है तो वाक् परि यवच्छिन्न निरक्त तव है। एक [मन] अनिद्रा है देवप्राणानुगत है। एक [वाक्] अद्रा है पितृप्राणानुगत है। इस जातिभेद से दोनों समानक्षेत्रानुगामी रहते हुए भी विभिन्न स्थानानुगत हैं पूर्वापरमात्रानुगत हैं। इसी नाना-सपत्तिसग्रह के लिए विभिन्न स्थानानुगतिरूप उत्तर दक्षिण प्रदेश म दो आधार राहुतिया दी जाती हैं— तस्मान्दि मनश्च वाक च समाममेव सन्नानेव ।

आध्यात्मिक से सम्बन्ध रखने वाली सभी उपपत्तियों का सन्धेप से दिग्दर्शन करा दिया गया। अब पूर्वोक्त सुव-सु गादि-युक्त उपपत्तियों का एक दूसरे दृष्टिकोण से समन्वय किया जाता है। प्रत्येक मस्तु के 'मूल-तूल' भेद से दो विवक्त होते हैं। अनिरक्त हृद्यभाव ही मूलस्थान है निरक्त दृश्य पिण्ड ही तूलस्थान है। मूल-स्थान मन प्रधान होने से हृद्य है तूलस्थान वाकप्रधान होने से शिर नाम से यवहृत हुआ है। यहा हृदयावच्छिन्न मनोऽनुगत पूर्वाधार हृद्य मन के सम्बन्ध से इस यज्ञाग्नि-लक्षण पुरुष का मूल है एव परिध्वयच्छिन्न वागनुगत उत्तराधार परिधि अवच्छिन्ना वाक के सम्बन्ध से यज्ञ का शिर है। पूर्वाधार मूलस्थान की प्रति कृति है तो उत्तराधार तूलस्थानलक्षण शिर की प्रतिकृति है ॥८॥

सुवपात्र से पूर्वाधार के द्वारा यज्ञपुरुष के मूल का सम्पादन होता है एव सुकपात्रद्वयी से उत्तराधार के द्वारा शिरोभाग का सम्पादन होता है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाधार तूष्णी इसलिए होता है कि हृदयावच्छिन्न अनिरक्त मनोलाक्षण मूलभाग के साथ परान्मुखा वाक का सम्बन्ध नहीं है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराधार मात्रो-न्वास्थापूर्वक इसलिए होता है कि परि यवच्छिन्न निरक्त वागलक्षण शिरोभाग ही वाकप्रयोग [शब्दप्रयोग] का आधार है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाधार बैठे बैठे इसलिए किया जाता है कि हृद्य मनोम मूल भाग स्व अनिरक्त भाव से बैठा हुआ सा ही है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराधार खड़े खड़े इसलिए किया जाता है कि बाह्य मन शिरो-भाग स्व निरक्तभाव से शरीरसंस्था में खड़े हुआ सा ही है। इसप्रकार तूष्णी मात्रेण आसीन ति ठन् इन-यापारो से मनोवाक् पूर्वो की अनुरूपता ही प्राप्त की जाती है ॥९ ११ १२ ॥

— न सोऽति प्रत्ययो यो लोके य शब्दानुगमाद्वन्मृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते ॥

—भर्तृहरि-वाक्यपदी—

२—अग्निसम्माज्जनकर्मोपपत्ति

आहवनीयानि के उत्तरभूप्रदेश में बठकर सुवपात्र स तूष्णी आहवनीयाणि के उत्तराग्न-प्रदेश में मनोऽनुगत पूर्वाधार का स पादान किया जाता है। इस कर्म के अनन्तर आग्निसम्माजन कर्म होता है जो आनीध्र नामक ऋषिक से संन्यत रखता है। समानमेव सन्नानेन इस उक्त सिद्धांत के अनुसार मनसपत्ति भी वागगर्भिता बनती हुई उभयामिका है एव वाक् सम्पत्ति भी मनोगर्भिता बनती हुई उभयामिका है। मनोवाक् का आहवनीयानि में योग करना यज्ञरथ में मनोवाक् रूप अश्वों का ही याग करना है। लोकमरथ को सजीभूत करने के लिए पहिले रथ के धुर [जूड] को ऊंचा कर उसे अश्व किंवा वृषभयुग्म के कंधो पर डाला जाता है अनन्तर चम्मबधन स उन दोनों अश्वों की ग्रीवा को रथ के दुर से दृष्टता स बाध दिया जाता है जिस से एक अश्वयुग्म रथधुर से पृथक् न होजाय। इसप्रकार अश्वयाग में स्कंधप्रदेशा के साथ रथधुर का योग तथा चम्मपाश स ग्रीवाबधन ये दो कर्म अपेक्षित है। इही दोनों कर्मों की सत्ति के लिए यहाँ पूर्वाधार तथा तदनंतर आग्निसम्माजनकर्म हाता है। मनोऽनुगत पूर्वाधार वागगर्भित नता हुआ पूर्वकथनानुसार मनोवाक् रूप दोनों अश्वों का सम्राहक बन रहा है। पूर्वाधार करना दोनों अश्वों के साथ रथधुर का ही योग करना है ॥ १३ ॥

अनन्तर होने वाला अग्निसम्माजनकर्म चम्मपाश-बधन स्थानीय है। सम्माजनकर्म घूम-घूम कर होता है यह पद्धति में स्पष्ट किया जाचुका है। आहवनीयाग्नि की तीनों परिधिया से सम्भव रखने वाले परिधिष्वय से सन्नग्न अग्निष्वयों का इधमसन्नहन नामक तृणसमुच्चये से भस्मादि अपाकरण के द्वारा प्रज्वलन करना ही अग्निसम्माजनकर्म है। स्कंधप्रदेश के साथ रथधुर का योग तो एक स्थान से ही होजाता है। परन्तु ग्रीवानुगत चम्मपाश बधन के लिए सारथी को अश्वों के वतस्तत घूमना पडता है। इस परिक्रमा से ही चम्मपाश का ठीक ठीक योग होता है। क्योंकि यह सम्माजनकर्म पाशबधन स्थानीय है अतएव स की इतिकर्तव्यता बधनानुगता अनुरूपसम्पत्ति प्राप्ति के लिए परिक्रमणरूप से ही पूरी की जाती है। कहा गया है कि तीन परिधियों का प्रत्येक का तीन तीन बार स माजन होता है। इस त्रिस्त्रिवार विहित स माजनकर्म में एक-एक बार तो मंत्रप्रयोग होता है एतद्दो दो बार तूष्णी परिधिसम्माजन होता है। सम्भूय ६ बार परिधिसमाजन होजाता है। ६ सख्या त्रिवृत्स्तोम की सम्राहिका है। यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा अग्नितत्र ही माना गया है जसा कि— आग्नरु वै यज्ञ [शत ५।२।३।६।] इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अग्नि वायु-आदियामक यज्ञमण्डल तवत अन्यामक ही है। अग्नि ही पञ्चदशस्तोमप्रदेश में जाकर तरलरूप में आता हुआ वायु कहलाने लगता है एव अग्नि ही एकविंशस्तोमप्रदेश में मुक्त होकर विरलावस्था में परिणत होता हुआ आदिय कहलाने लगता है। इसी आधार पर अग्नि सत्रा देयता [ताण्ड्यम ब्रा ६।४।५।] यह निगम प्रतिष्ठित है। इस आग्न का अपना प्रशभूकेद्र से आरंभ कर ६० अहण पथ्यत यास नव अहणामक त्रिवृत्स्तोमप्रदेश ही है। इसी अग्निशुक्ति से तथा तत्प्रतिष्ठारूप त्रिवृत्स्तोम के सम्बन्ध स अनियज्ञ त्रिवृत् [नवपर्यामक] मान लिया गया है। वी अनियज्ञसत् इस अग्निसम्माजन-कर्म स अपेक्षित है। अतएव त्रिवृत् रूप स ही परिधिष्वयानुगत आनसम्माजनकर्म होता है ॥ १४ ॥

परि अनुगत अग्निसमाजन के अनंतर स्वय आहवनीय अग्नि का ऊपर से तीन बार तूष्णी समाजन और किया है। रथयुग का अश्वयुग के स्कंध प्रदेश के साथ योग कराने के अनन्तर चम्मपाश से ग्रीवा-

बन्धन किया जाता है। इन दोनों कर्मों से जब रथ सजीभूत होजाता है तो अनंतर सारथी स्वस्थान में बैठ कर कशाघात करता हुआ प्रेहि [चल चल] वह [रथ का गहन कर] इत्यादि प्रणामक वाक्यों का प्रयोग करता है रथ चल पडता है। उपरिष्ठात् होने वाला तूष्णी भावा मक यह त्रिवारा मक आहवनीयाग्नि—स मा जन कशाघातानुगत प्रणामक के संग्रह के लिए ही विहित है।

पाहले पूर्वाधार अन तर उत्तराधार दोनों आधारकर्मों के म य में अग्निसमा जनकर्म। पूर्वा-धारकर्म धुरयोगस्थानीय परिधिसम्मा जनकर्म चम्मपाशबन्धनस्थानी एव आहवनीयानिस मा जनक म कशाघातानुगत प्रणामक—स्थानीय। अब स स बन्ध में केपत्र यही प्रश्न बच जाता है कि दोनों आधारों के म य में अग्निसम्मा जनकर्म क्यों किया जाता है? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि पूर्वाधार मन स्थानीय है एव उत्तराधार वाकस्थानीय है। दोनों यद्यपि गभाभाव से समान हैं तथापि स्वरूप से दोनों पृथक पृथक हैं। इस भाष्यक्य—सम्पत्ति संग्रह के लिए ही मनोऽगत पूर्वाधार तथा वागनुगत उत्तराधार दोनों के म य में अग्निसम्मा जनकर्म किया जाता है। यही आग्निस मा जनकर्म की सद्धिता उपपत्ति है जिसका ब्राह्मण की १३ १४ १५ इन तीन कण्डिकाओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १५ ॥

पूर्वाधारकर्मसमाप्त

चौथे अध्याय मे चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक मे ६ ठा ब्राह्मण समाप्त
तीसरा प्रपाठक समाप्त

—३—

—*—

चौथे अध्याय मे पाँचवाँ एव चौथे प्रपाठक मे पहिला ग्राहण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत-द्वितीय ब्राह्मण

—२—

—*—

३—उत्तराधारकम्पेतिकर्तव्यतोपपत्ति

दक्षिणदिशा से उत्तरदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला ऋताग्नि तथा उत्तरदिशा से क्षिणदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला ऋतसाम दोनो का परस्पर अन्तर्यामि-सम्बन्ध होता है। ऋताग्नि ऋतसोम के सम्बन्ध से अग्नि-सोममयी वसतादि षण्ऋतुओ का प्रादुर्भाव होता है। षण्ऋतु से ही प्राकृतिक नियम सम्बन्ध सरयज्ञ की स्वरूपनिपत्ति होती है। स व सरयज्ञ का स्वरूप-निर्माण ऋतुसम वय पर ही निर्भर है ऋतुस्वरूपाविर्भाव ऋताग्नि-सोम-समन्वय पर ही निर्भर है। एव यह सम-वय गतिधर्मा वायु पर ही निर्भर है। न स्वयं आन में गति है न सोम में गति है। गतिधर्मा है-एकमात्र वायु। वस वायु के यापार से ही सूर्य से प्रवृत्त दक्षिणस्थ अग्नि उत्तर की ओर जाता है एव चन्द्रमा से प्रवृत्त उत्तरस्थ सोम दक्षिण की ओर आता है। सप्रकार वायु के यापार से ही दोनो ऋतभावो का सम वय होता है एव इसी सप वय से आनमेमय ऋतुभाव का जन्म होता है। यही वायु-तव इस प्राकृति ऋतुयज्ञ (ऋतु मण्डिलक्षण सम्बन्ध सरयज्ञ) का स्वरूप सम्पादक है जिसका गतिधर्मा तवामक यजुर्वेद से ही सम्बन्ध है। यजुर्मूर्ति वायु ही क्योंकि ऋतुस्वरूप का सम्पादन करते हुए आग्निषोमामक सम्बन्ध के (पर परया) स्वरूपाघाता है अतएव अन्तः का यह कर्म ऋतुसम्बन्ध से किंवा ऋताग्नि-सोम-सम्बन्ध से आर्चिय कहलाया है। ऋत का समन्वय कर देना ही आर्चिय कर्म है। इसी ऋतामक ऋतुसम्बन्ध से वायु आर्चिय कहलाए है। आग्नेय सौम्य देवताओ का सगमनलक्षण यजन कराने से ही इस वायु नामक प्राकृतिक अणुयु का यह कर्म याया कहलाया है। इसप्रकार प्राकृतिक ऋताग्नि-सोममय आग्नेय सौम्य देवताओ का आर्चियकर्म तत्सम देवमूर्ति यजुगमक वायुदेवता के द्वारा ही सञ्चालित है।

उत्तराधारकम्प एकप्रकार का आर्चियकर्म ही है जो से अग्निषोमामक वध यज्ञ की स्वरूप निपत्ति होने वाली है। इस देवसम्मिश्रण (अग्नि-सोम सम्मिश्रण) लक्षण आर्चियकर्म का संपादन यजुर्वेदी अणुयु करता है। देववग की अपेक्षा मनुयवग निम्नश्रेणि में प्रतिष्ठित है। उच्चश्रेणिस्थ दो महापुरुषो का सम्बन्ध एक निम्नश्रेणि का याक्त नहीं करा सकता। यदि कराता है तो यह उसकी घृष्टता है। आज मनुष्य अणुयु को अगया इसी घृष्टता का अनुगमन करना पड रहा है। उत्तराधार के द्वारा यह आज दो देवताओ का आर्चिय करने वाला है। अपने अगतिकगतिक इस घृष्टतादोष से बचने के लिए ही उत्तराधारलक्षण आर्चियकर्म से पहिले ही देवता तथा पितरों को नम एव स्वधारूप से यह प्रार्थना कर लेता है कि यद्यपि मैं एक अणुयु हूँ निम्नश्रेणि में प्रतिष्ठित हूँ आप देवता हैं अतएव लोक में प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में आपके सगमनरूप यजन की सुधर्म योग्यता नहीं है। तथापि

आपके ही अनुग्रह से मैं आर्चि-यक म करने जा रहा हूँ । धष्टता-निवृत्त यनुगत इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही उत्तराधार से पहिले जुहूँ उपभृत् को रख कर इनके पूर्वभाग में अञ्जलिनिधान किया जाता है । आनेयप्राण दत्ता है एव सौम्यप्राण पितर है । यज्ञ में इही दोनो का सङ्गमन अपेक्षित है । वसी अभिप्राय से- नमो देवे य- [ऋताग्नय] स्रधा पितर य [ऋतसोमाय] यह कहा गया है । अञ्जलि पुटनिधान की इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है- तद्देवेभ्यश्चैव तत्पतभ्यश्चाग्निज्य करिष्यन् निहनुते ।

अपराधनिवृत्तयन तर आयपूण जुहूँपृभृत् को अपने दक्षिण हाथ में उठाता है साथ ही मन्त्रशक्ति के द्वारा इस आय को अन्न बनाने की भावना करता है । तापय्य इस अस्कन्नभावना का यही है कि याद आहवनीय के दक्षिण भाग की ओर आज पूण स्रपात्रद्वयी को उत्तराधार के लिए ले जात हुए जुहूँ से आयमात्रा भूमि पर गिर जायगी तो यज्ञ की अविच्छिन्ना धारा टूट जायगी । जुहूँ-स्थित आय दवयज्ञ वितान के लिए ही नियत है । इस आय का कम्पित होजाना यज्ञपुरुष का ही कम्पित होजाना है एव नीचे ि जाना यज्ञसतान का ही विच्छिन्न होजाना है । साथ ही यह भूमिष्ठ आयभाग शत्रुसमृद्धि का भी कारण बन जाता है । क्योंकि यद् यज्ञस्यातिरिक्त तद्भ्रातयम् इस निगम के अनुसार यज्ञोपयोग से बहिभूत यज्ञिय द्रव्य यज्ञकर्ता यजमान के शत्रु का ही पोषक माना या है । इन सब यज्ञस्वरूपविधातक कपन विद्युति आद दोषो से बचने के लिए अ वय्यु को बड़ी सावधानी से ही आयपूण सूक को दक्षिण की ओर ले जाना चाहिए । जिमसे न तो आयम कपन ही हो एव न आय्यमात्रा भूमि पर ही गिरे । दक्षिणभाग असुरप्राणाक्रांत है । अतएव इस आयरत्ना के लिए ही यह विशेष विधान हुआ है ॥ १ ॥

उत्तराधार के लिए नियत सञ्चरमाग से अ वय्यु को यज्ञमक आहवनीययाग्नि के दक्षिण भद्रदेश की ओर आना पडता है । आहवनीयाग्नि साक्षात् यज्ञपुरुष है विष्णु है । इसका अतिक्रमण करना भी एकप्रकार की धष्टता ही है । साथ ही यज्ञ से अपने आपको पृथक करना भी है । दक्षिणभाग अयज्ञिय है यहाँ आना यज्ञसम्बन्ध को तोडना है पूर्व से दक्षिण की ओर आना इसका अतिक्रमण करना है । इन दोनो दोषो से बचने के लिए अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वाऽऽक्रमिषम् मन्त्र बोलता हुआ ही दक्षिण की ओर गमन करता है । मन्त्र का भाव यही है कि मैं अवज्ञा से यज्ञ का अतिक्रमण नहीं कर रहा आपतु यज्ञस्वरूपनिर्माण के लिए ही नुभे अगया दक्षिण की ओर जाना पडता है ।

उत्तरभाग सौरज्योति के सम्बन्ध से योतिमय है एव दक्षिणभाग असुरप्राण के सम्बन्ध से छायामय है । छायामय असुर भूद्रदेश यज्ञस्वरूप का विधातक है । आज उत्तराधार के लिए अ वय्यु को अगया इस प्रदेश में आना पड रहा है । इस छायामय असुरभाव की निवृत्ति के लिए ही असुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषम् इम मन्त्रबल का आश्रय लिया जाता है । प्रदेश छायामय अवश्य है परन्तु यही छायामय प्रश उत्तराधार के द्वारा अग्नि सम्बन्धी वसु (स पत्) का प्रापक है यज्ञसाधक है । हम असुरप्रदेशामक छायामय भाग में नहीं जा रहे अपितु आहवनीयाग्नि लक्षण यज्ञमण्डल की ही छत्रच्छाया में (आश्रय में) जा रहे हैं । अन्नगमन से ही यज्ञसिद्धिलक्षणा सम्पत् की प्राप्ति होगी । इस कथन से असुरभाव का निराकरण करता है एव वसुभाव का स्थापन करता है ॥ २ ॥

छायायामय असुरभाव की आर्यातिक निवृत्ति के लिए ही आग आकर— विष्णा राजानमास म मात्रभाग का उच्चारण विहित है। कौन कहता है कि यह भूप्रदेश आसुर है? यह तो यज्ञमूर्ति उषा का आवास स्थान है। वहा खडे होना तो यज्ञसान्निध्य में ही उटना होना है। यह वही स्थान है जहा पर वन ने कर सौर इन्द्र दक्षिणस्थ आसुरप्राण का विनाश किया करत ह। यह वही सुराक्षित स्थान है जहा पर पद हुए इन्द्र की रक्षा में देवताओं। स प्रयत्न स प्रसर। त्रिलोकी मा वतत हुआ है। असप्रकार यजामन् अतएव विष्णुरूप आहवनीयानिज्वाला की सीमा के सामने से एव दक्षिणस्थ इन्द्रप्राण क समावेश स य अनयत दक्षिण भूप्रदेश स्वया निरुपद्रव यनिय एव यज्ञस्वरूपसम्पादक ही बन रहा है। अत इन्द्रा पीन्यमकृणात् इ यदि मात्रभाग दक्षिणभूप्रदेश की स महत्ता का ही सम्राहक बन रहा है ॥३॥

आहुतिकाल उपस्थित होगया है। अतएव आहुतिग्राहक आहवनीयान में आहुत का उक्त दायव डालने के अभिप्राय से कहा जाता है कि हे आहवनीयाग्ने। आप ही इस यज्ञ के होता ह एव आप ही इस यज्ञ क दत्त है। हुत आग्रयण का रसीमा में प्रतिष्ठित प्राणदवताओं में आवागन करना भी आप ही का काम है। आहुतिद्रव्य-ग्रहण के लिए द्युलोकस्थ दवताओं का यहा आह्वान करना भी आप ही का काम है एव गृहीतायाहुति दवताओं के द्वारा यजमाना मा को द्युलोकस्थ देवप्राणाकषण से युक्त करना भी आप का ही काम है। आहुति देना मात्र मेरा काम शेष सम्पूर्ण उत्तरदायि व आप पर। नमर यही निष्प है। आहुतिग्रहण करने के अनन्तर समिद्ध आहवनीया न- अतद्रो ह्य यज्ञसि हविष्कृत् आग्निदेवेषु रात्रसि [ऋक् स ८६।१५।] इयादि मन्त्रवचन के अनुसार प्राणरूप से इस आहुतद्रव्य को गभीभूत बना कर अग्नि ही इस पृथिवीलोक से द्युलोक में ले जाते हैं। द्यावापृथिवीलोक वाड मय त्रषटकार सीमा से सुरक्षित हो कर ही यह आग्नेयप्राण ऊर्ध्वगमन करता है। साथ ही यही आग्नेय इसी यज्ञ के द्वारा द्यावापृथिवी का भी स्वरूपरक्षक बन रहा है। आमा शरीर का रक्षक है तो शरीर आमा का रक्षक है। अग्नि आमा है द्यावापृथिवी शरीर है। दोनों परस्पर एक दूसरे के स्वरूपरक्षक बन रहे ह। प्रदत्त-आहुति अग्नि के द्वारा निर्विघ्न पृथिवी से द्युलोक की ओर चली जाय अवता वा द्यावा इयादि मात्रभाग का यही निष्प है।

सर्वान्त में— स्विष्कृद्देवेभ्य इन्द्र आग्नेय हविषाभूत् स्वाहा इस मन्त्रशेष का उच्चारण कर स्वाहा के साथ जुहु से उत्तराधार-आहुति दे दी जाती है। आहुति दी जाती है—यद्याप आहवनीयाग्नि में ही तथापि लक्ष्य है इस आहुति का द्युलोक की अवाप्ति। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक में इन्द्र का सामाय है। भूकेन्द्र से २१ पृथगत वितत यज्ञ के अत में इन्द्र प्रतिष्ठित हैं अतएव इहँ यज्ञपति कहा जाता है। यज्ञपति की तुष्टि ही यज्ञस्वरूप की निपत्ति का अतमम द्वार है। अतएव वागुह रयेन कृत उत्तराधार का इन्द्र से सम्बन्ध मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त यही इन्द्र एक दूसरे दृष्टिकोण से वाक्त्व का भी सम्राहक बन रहा है। वागिन्द्रियलक्षण वाक्त्व (शदपञ्च) की मूल-प्रतिष्ठा कायाग्नियुक्त आध्यात्मिक वायु है। गायु खात् शदस्तत् इत्यादि प्रातिशारथ-सिद्धांत के अनुसार वायु ही शदामिका वाक् का प्रवचक है।

यदि वाक् में केवल वायु का ही समावेश होता तब तो पशुवाग्वत् मानुषीवाक् में केवल अविच्छिन्न वाक्नी ही उपलब्ध होती। मानुषीवाक् में वरा शद-पद वाक्यादि की भी व्यवस्थित विभक्तिया हैं। यह

त्रिभक्तिभाव ही वाक् का त्रिभक्तिकरणलक्षण-याकरण है एव ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ इन्द्र ही इस याकरण का प्रवर्तक है। इस प्रकार वायुमन्त्र का भी वाक्त्व में समावश सिद्ध हो जाता है। अतएव वाक् को इन्द्र माना जा सकता है। अधिदैवत म वाक् आकाश है यही इन्द्र है। इन्द्रात्मक आकाश (वाक्) ही बलप्रथितारतम्य से पञ्चमहाभूतरूप में परिणित हुआ है। इन्द्र योति का अधिष्ठाता है एव योति ही इन्द्र है। वाक् (शब्द) यापार इसी इन्द्र के द्वारा ज्योति (ज्ञान) का उद्बोधक बनता है। पञ्चप्रकृत के अनुसार सौरमण्डल वाङ्मय है यही इन्द्र प्रतिष्ठित है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से वाक् तथा इन्द्र का अविनाभाव सिद्ध हो रहा है। इसी आधार पर— इन्द्रो वाग्नि याहु यह निगम प्रतिष्ठित है। अतएव वागनुगत उत्तराधाराहुति साधक मन्त्र में इन्द्र को उद्देश्य मान लिया गया है ॥ ४ ॥

पूर्वब्राह्मण में यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वाधार इस यज्ञपुरुष का मूलस्थानीय हृदय है एव उत्तराधार तूलस्थानीय शिरोभाग है। अत्र शेष आत्मभाग (चन्द्रार आत्मा से सङ्कतित मयाङ्ग शरीर) रह जाता है। जिस प्रकार आत्मभाग (घड)-स्थ [उदरस्थ] रस से सम्पूर्ण आत्मात्मिक यज्ञ का पोषण होता है एवमेव रसात्मक आत्मा से पारपूर्ण ध्रुवापात्र के रस [आत्मा] से सम्पूर्ण यज्ञ यज्ञ की तिक्रम्यता पूरी होती है। इसी समानता से ध्रुवापात्र को इस यज्ञ-पुरुष का आत्मा कहा गया है। बिना शिर के आत्मा [घड] अपूर्ण है मय है। इसकी इस अपूर्णता को दूर करने के लिए ही उत्तराधारान्तर जुहु में शेष बचे आत्मा का [जुहु को उपभृत् से पृथक् रखते हुए] ध्रुवा के साथ योग कराया जाता है। उत्तराधारशेषाग शिर स्थानीय है ध्रुवा आत्मस्थानीय है। शेषाश वा ध्रुवा से योग कराना आत्मा [घड] में शिरोभाग स्थापित करते हुए यज्ञ पुरुष को पूर्ण ही बनाना है।

चन्द्रार आत्मा द्वो पक्षो पुच्छ प्रतिष्ठा [शत ६।१।१६।] इ यदि श्रौत सिद्धात के अनुसार चार मय प्राणों से घड [मयाङ्ग] का एक मयप्राण से दक्षिणहस्तपादरूप दक्षिणपक्ष का एक मयप्राण से वामहस्तपादरूप वामपक्ष का एक मयप्राण से मेरुदण्डमूलानुगता प्रतिष्ठात्मिका त्रिकस्थि से सम्बद्ध प्रतिष्ठाभाव का निर्माण होता है। इस प्रकार सप्तपुरुष-पुरुषात्मक चित्याग्नि से शिरो-विरहित शेष सपूर्ण शरीर की चिति होती है। इन सातों मय पुरुषों [प्राणों] का ऊर्ध्व विदूहन होता है। साता के मथन से समुदभूत दधिमथनोथ आज्य-स्थानीय सारभाग ही श्री भाग है। यही सप्त अमृतप्राणामक श्रीभाग मस्तक का स्वरूप निर्मापक बनता है। इसी श्री के सम्बन्ध से मस्तकप्रदेश शिर कहलाया है। सपूर्ण शरीर में इसी श्री के सम्बन्ध से शिरोभाग अठ माना गया है। इसी आधार पर जिस लोकस्थान में जो श्रेष्ठ [मुखिया] नेता है वही उस स्थान का शिर कहलाया है। आत्मरूप मयभाग [ध्रुवा] में इसी शिरोरूप श्रीभाग (उत्तराधार-शेषावरूप आज्यभाग) को प्रतिष्ठित किया जाता है। यही समञ्जन की दूसरी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

समञ्जनकर्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है। जुहु को उपभृत् से पृथक् रखते हुए ही क्यों जुहुस्थित आज्य का ध्रुवा से सम्बन्ध कराया जाय? इस प्रश्न का उत्तर उपभृत् के नैदानिक स्वरूप से सम्बन्ध रखता है। ध्रुवापात्र निदानेन यज्ञकर्त्ता यज्ञमान की प्रतिकृति है एव उपभृत्पात्र निदानेन यज्ञमान के शत्रु की प्रतिकृति है। इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्ण में किया जा चुका है। उपभृत् यज्ञमान के शत्रु का नैदानिकरूप है। ऐसी अवस्था में यदि जुहु के साथ उपभृत् का सम्बन्ध रखते हुए यज्ञमानस्थानीय

ध्रुवा से आज्य समञ्जन कराया जायगा तो यजमान के शत्रु में भी श्री का स्थापन हो जायगा। केवल नमान ही श्री से युक्त रहे इस उद्देश्य से केवल जुहु से ही (पशु को जुहु से साथ पृथक रखते हुए ही) समञ्जनकर्म किया जाता है ॥ ६ ॥

ध्रुवापात्र आमस्थानीय है एतद् जुहु स्थित आज्यशेषां शिरस्थानीय है इस कथन से समञ्जनकर्म की आर्यात्मिक-यज्ञानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ। अब समञ्जन-मन्त्राय के द्वारा आज्य वक्यज्ञानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण किया जाता है। तस्यासावेव यौजुहू अग्ने मत्तारक्षमुपभृत् न्यमेज ध्रुवा। तद्वाऽअस्या एवेमे सर्वे लोका प्रभवन्ति। तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति (शत १।२।५।६।) इत्यादि श्रुति के अनुसार आधिदैविक (ग्लोक्यात्मक) पाकृतिक यज्ञ की दृष्टि से निदानेन जुहुपात्र द्युलोकस्थानीय है एतद् ध्रुवापात्र पृथिवीस्थानीय है। यज्ञ के द्वारा पार्थिव आङ्गिरस प्राणदेवताओं का तथा द्युलोकस्थ सौर सावित्र प्राणदेवताओं का ही परस्पर सम्बन्ध अपेक्षित है। स सम्बन्ध का अधिष्ठाता मयस्थ वह अन्तरिक्ष ही है जिस में घृता मक तेजोरस यान्त रहता है।

घृतमन्तरिक्षस्य (शत ७।५।१।३।) के अनुसार अन्तरिक्ष आयस से परिपूर्ण है। इसी आज्यरस से ध्रुवारूप पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित आङ्गिरायाति-(रूपज्योति)-मय पार्थिवदेवताओं का तथा जुहुरूप द्युलोक में प्रतिष्ठित सावित्रज्योति-(स्व योगत)-मय दिय देवताओं का परस्पर सम्बन्ध हो रहा है। जुहुस्थित आय का ध्रुवास्थित आय से सम्बन्ध कराना द्युलोकस्थ ज्योति मय देवताओं का पार्थिव ज्योतिमय देवताओं के साथ सम्बन्ध करते हुए देवसङ्गमनलक्षण यज्ञस्वरूप का ही सम्पादन करना है। इसी आधिदैविक-उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है- ते ह्यतदुभ योतिषी सङ्गच्छेते। तस्माद्देव समनक्ति ॥ ॥

पूर्वाधार मन संपत्ति का सम्राहक है एव उत्तराधार वाक्संपत्ति का सम्राहक है। मनोऽनुगत पूर्वाधार तूष्णीं (उपाशुरूपेण) किया जाता है एव वागनुगत उत्तराधार मात्रपूर्वक (निरुक्तरूपेण) किया जाता है। तूष्णीं मन्त्रेण की उपपत्तियां पूर्व में बतलाइ जा चुकी हैं। अब मनोऽनुगत पूर्वाधार से सम्बन्ध रखने वाले तूष्णीभाव की एक अन्य उपपत्ति बनलाने के लिए साथ ही प्रसङ्गोपात्त वाग्मय अत्रिप्राण के स्वरूप-परिष्करण के लिए एक वैज्ञानिक आख्यान उपस्थित हो रहा है।

मन और वाक् दोनों में अहंभद्र को लेकर विवाद चल पड़ा। वाक् कहने लगी-मैं बड़ी हूँ मन कहने लगा मैं बड़ा हूँ। वागपेक्षया अपना श्रेष्ठत्वं स्थापित करता हुआ मन कहन लगा कि मेरे सकपित-भावित-अर्थात् अनुरूप ही तुम्हें चलना पड़ता है। मनोऽपेक्षया अपना श्रेष्ठत्वं स्थापित करती हुई वाक् कहने लगी कि तेरे सकल्प को मैं ही बाह्यरूप प्रदान करती हूँ। दोनों अपने इस विवाद को लेकर प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए। प्रजापति ने मन का पक्ष प्रहण करते हुए यही निणय किया कि तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है। प्रजापति के इस निणय से वाक् का दपदलन होगया उसका अभिमान विदीर्ण होगया। परिणामतः इस अपमान से खिन्न होने वाली वाक् ने यह कह बाला कि हे प्रजापति! आपने मुझे मन से छोटा बतलाया है अतएव आज से मैं आपके लिए हविद्रय का वहन नहीं करूंगी।

उक्त आर्यान से मन तथा वाक् के स्वाभाविक स्वरूपों का ही विश्लेषण हुआ है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय प्रजापति हृदय में प्रातः उठता है। यहाँ स- आत्मा बुद्ध्या समेयर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्ष्या इत्यादि शिक्षा-सिद्धात के अनुसार वायु के सहयोग से वर्णमिका (शदामिका) वखरीवाक का उदगम होता है जैसाक पूर्व के सामिधेनी-ब्राह्मण में हिङ्कारानुगत नाट-श्रुति-स्वरूप-विश्लेषणात्मक सदभ में विस्तार से बतलाया जा चुका है। मानस ज्ञान ही इस वर्णवाक का आधार बनता है। मानस ज्ञान के अनुरूप ही वर्णस्वरूप की निपत्ति होती है। फलतः मन इसका जनक है वाक इसकी पुत्री है। यही कारण है कि सुषुप्त्यवस्था में जब मन विज्ञानात्मा (बुद्ध) के साथ मिल कर पुरीतति नाडी में चला जाता है तो वाग् यापार अवरुद्ध होजाता है। मन को आल बन बनाए बिना वाग् यापार असंभव है। उपर मन बिना वाक के (अनुष्टुप-वागलक्षणा वखरीवाक् के) सहयोग के बिना भी (परावाक् के सहयोग से) स्वयापार (सकप) सञ्चालन में समर्थन होजाता है।

इहो कतिपय कारणो स निश्चित है। क मन-वाक इन दोनों में वाग्पेक्ष्या मन ही ये उ तथा श्र उ है। प्रजापति ने यह नियम किया कि मन कथन का यही तापय है कि मन की श्रुति का कारण उसका हृदयावच्छिन्न प्रजापत्यम ही है। परिधि हृदय दोनों में हृदय ही परिधि का मूलाधार एव प्रथम प्रवर्क है। तस्मिन् हृदयस्थुर्गनात्तन्ना * के अनुसार हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्तप्रजापति ही वाग्मय बहिर्मुख का प्रवर्क तथा आधार है। अनुष्टुप् वाक का हृदय से बाहिर की ओर ही विकास होता है। वाक की बहिर्गता है। फलतः हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति को वाग् यापार से कभी हृदय नहीं मिल सकता। कसा मह वपूण समप्य है। हमारा जितना भी वाग् यापार है वह सब केवल बाह्य प्रपञ्च का ही उपोदबलक है। कभी शब्दजाल से आमतुल्य संभव नहीं है। क्योंकि परात्मुख शब्द की अतमुख हृदय प्रजापति की ओर गति ही नहीं है।

नेति नेति ही उसकी वास्तविक उपनिषत् है। लोकेष्टि स भी जो व्यक्ति अपने कर्म का वाग् के द्वारा बखान करते रहते हैं निश्चयेन उनका कर्म आत्मसत्ति से स्वयं ही वञ्चित होजाता है। ऐसा कर्म निबल है। सबल-साथक-उही कर्म माना कायगा जो आत्मशक्ति से युक्त रहेगा। एव आत्मशक्ति से वही कर्म युक्त रहेगा जिसमें वाग् यापार का अधिकाधिक अभाव रहेगा। वाग् यापारसकोच से मनोबल अधिकाधिक जितना ही प्रवृद्ध बनेगा कर्म में उतनी ही अधिक बलवृद्धि होगी। अतएव कर्मासद्वि के लिए अपने कर्म का सुन्द-सफल-सत्य बनाने के लिए बिना उसका बखान किए चुपचाप ही कर्म का अनुगमन करना चाहिए। यही कर्मसिद्धि का अत्यन्त द्वार है।

* प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ तरजायमानो बहुधा विजायते

तस्य योनि परिपश्यति धीरास्तस्मिन् हृदयस्थौ भुवनानि विश्वा ।

—यजु संहिता

पूर्वाधार मनोऽनुगत है यहा वाग-यापार प्रकृत्या अवरुद्ध है। अतएव मनोऽनुगत पूर्वधार उपाशु ही किया जाता है। न केवल मनोनुगत पूर्वाधार ही अपितु यज्ञ में जितने भी प्राजापय क्रम विहित हैं सब इसी सिद्धांत के आधार पर उपाशु ही किए जाते हैं ॥८६१ ११ १२॥

हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति के लिए वाक् क्यो अह-यावाट् बनी? यह एक मन्वपूरा प्रश्न है। श्रुति ने इसका समाधान यह किया है कि प्रजापति क नियत्य से वाक् का गभपात हो गया। अपमानिता वाक् ने आवेश में आकर यह विश्वय कर डाला कि मैं प्रजापति क लिए ह-यवहन नहीं करूंगी। वाक् के गभ का क्या स्वरूप? अपमान का क्या स्वरूप? इन प्रश्नों के समाधान के लिए सुप्रसिद्ध धामच्छद अत्रिप्राण की ओर ही पाठको का यान आकाषत किया जाता है। अक्-साम-त-वो स निययुक्त यत् लक्षण तिमान् प्राण से अनुग्रहीता जू लक्षणा स या वाक् ही य चयावत् वागविवर्त्तों की जननी है। इसी वाक् से—सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागव साऽसृयत (शत ६।१।१।१) इ यदि श्रौत सिद्धांत के अनुसार आपोमय परमेष्ठी का प्रादुर्भाव होता है। स परमेष्ठी म उष्ण शीत अनुष्णाशीत-भेद से अङ्गिरा (उष्ण) भृगु (शीत) एव अत्रि (अनुष्णाशीत) इन तीन मनोता नामक त-वो का प्रादुर्भाव होता है। इनमें उष्ण अङ्गिरा देवसृष्टि का शीत भृगु पितृसृष्टि का एव अनुष्णाशीत अत्रि भूतसृष्टि का प्रयत्निक बनता है। भूतसृष्टि धामच्छदा है स्थाना-वरोधिनी है (जगह रोकती है)। यह धामच्छदधम्म उसी अत्रि का धम्म है। यही वाक् का गभ है। इसी गभ से यह वाक् हृदय की ओर न जाकर बहिष्मण्डल की ओर अनुगत होती है।

मन-प्राण वाचमय आमा में मन ज्ञानामक बनता हुआ अधामच्छद है प्राण क्रियामक बनता हुआ अधामच्छद है। पर तु वाक् अर्थामिका बनती हुई धामच्छदा है। अपने अथधम्म से वाक् में तमोगुण का प्राधाय होजाता है। यह तमोभाग ही अत्रिभाग है जो कि वाक् का प्रातिस्वक वीथ्य माना गया है। इसी अत्रिलक्षण तमोभाग के समावेश से भूतसग प्रवृत्त हुआ है। ऋतुमती स्त्री में वाग्रेतोलक्षण इसी धामच्छद अत्रिप्राण का समावेश रहता है। अतएव ऋतुमती स्त्री आत्रयी कहलाइ है। अत्रिभाग तमोगुण प्रधान है मलीमस है अतएव रजस्वला स्त्री असच्छूतवत् अस्प्रश्या मानी गई है। श्रुति कहती है कि जो आत्रेयी स्त्री का स्पर्श करता है वह पापाभिभूत होजाता है। चम्मन् शब्द प्राणीलक्षण चेतन भूतसग के लिए प्रयुक्त हुआ है एा यस्मिन् वा वाक्य प्राणलक्षण अचेतन भूतसग के लिये प्रयुक्त हुआ है। चेतन भूत एा अचेतन भूत भूतामक उभयविध धामच्छदसग वाग-गभरूप अत्रि से ही समुदभूत है। प्रकृत में इस अत्रि-मीमासा से यही निष्कर्ष निकलता है कि धामच्छद अत्रि के सम्बन्ध से वाकत व अथप्रधान बनता हुआ बहिष्मुख ही बन जाता है। अर्थात् हृद्यभाव की ओर इसका अनुगमन अवरुद्ध होजाता है। इसी अथमात्रा से इसका आमधर्मानुगत स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो रहा है। यही

इसका अपमानित होना है। अपमानलक्षणा अथगरिमा ही इसे प्राजाप यानुगति से वञ्चित किए हुए है। वाक् का प्रजापति की ओर अनुगमन क्यों नहीं होता इस प्रश्न की यही सक्षिप्त उपपत्ति है ॥१३॥

(उत्तराधारकर्म्मसमाप्त)

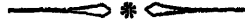
चौथे अध्याय में पाँचवाँ, तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण समाप्त
द्विब्राह्मणात्मक-‘आधारब्राह्मण’ समाप्त
चौथा अध्याय समाप्त

४



श्री
इति-गतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
प्रथमकाण्डे
चतुर्थोऽध्याय समाप्त

४



श्री

अथ -शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये
प्रथमकाण्डे
पचमोऽध्यायः

५



श्री

शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तर्गत -प्रथमकारण्डे

पञ्चमोऽध्यायः

— ५ —

अथ—प्रथमकारण्डे पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
उपक्रान्तम्
“प्रवरब्राह्मणम्”

२१—प्रवरणकर्म

१ प्रवरायाश्रवणम्

(मूल)—स वै प्रवरायाश्रावयति । तद् यत् प्रवरायाश्रावयति—यज्ञो वा आश्रा
वणम् यज्ञमभि याहृत्याथ होतार प्रवृणौ—इति । तस्मात्प्रवरायाश्रावयति ॥ १ ॥

स इध्मसन्नहनायेवाभिपद्य—आश्रावयति । स यद् ह अनारभ्य यज्ञमध्ययुराश्रा
वयेद्—वेपनो वा ह स्याद् अ या वाऽऽत्तिमाच्छेत् ॥ ॥

तद्वै के वेदे स्तीर्णायै बर्हिगभिपद्याश्रावयति, इध्मस्य वा शकलमपच्छिद्याभिप
द्याश्रावयति—‘इद् वै किञ्चिद् यज्ञस्य इद् यज्ञमभिपद्याश्रावयाम’ इति वदन्त । तदु
तथा न कुर्यात् । एतद् वै किञ्चिद् यज्ञस्य—यैरिध्म सन्नद्धो भवति अग्निं समृजति ।
तद्वै खलु यज्ञमभिपद्याश्रावयति तस्मादिध्मसन्नहनायेवाभिपद्याश्रावयेत् ॥ ३ ॥

१३६६

२—होतृप्रवरणम्

स आश्राय-य एव दवाना होता, समेवाग्र प्रवृणीते अग्निमेव । तद् अग्नय चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते । यद्वाग्निं प्रवृणीते-तद् अग्नये निह्नुते अथ यो देवाना होता, तमग्र प्रवृणीते तद् देवेभ्यो निह्नुते ॥ ४ ॥

स आह-‘अग्निर्देवा दै यो ज्ञाता इति । अग्निर्हि देवाना होता, तस्मादाह-‘अग्निर्देवो दै-यो होते ति । तद् अग्नय चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते । यद्वाग्निं प्रवृणीते-तद् अग्नये निह्नुते । अथ यो दवाना होता-तमग्र आह-तद् देवेभ्यो निह्नुते ॥ ५ ॥

‘देवान्यक्षद्विद्वान्श्चिकित्वान्’ इति । एष वै दवाननु विद्वान्-यदग्नि । स एना-ननु विद्वान्-यदग्नि । स एनाननु विद्वान् अनुष्ठया यक्षद्-इत्येवैतदाह ॥ ६ ॥

मनुष्वद् भरतवद् इति । मनुर्ह वा अग्र यज्ञनेज तदनक्रत्येमा प्रजा यजत्, तस्मादाह-मनुष्वदिति । मनोयज्ञ-इत्यु वा आहु तस्माद्वाह-मनुष्वदिति ॥ ७ ॥

भरतवदिति एष हि देवेभ्यो ह य भरति तस्याद्भरतोऽग्निरित्याहु । एष उ वा इमा प्रजा प्राणो भूता विभर्ति तस्माद्वाह-भरतवदिति ॥ ८ ॥

३--आर्षेयप्रवरणम् —

अथर्षेय प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवेनम्-एदद् देवेभ्यश्च निवेदयति-‘अथ महावीर्यो यो यज्ञ प्रापद्’ इति, तस्मादार्षेय प्रवृणीते ॥ ९ ॥

परस्तादर्वाक प्रवृणीते । परस्ताद्धि अर्वाय प्रजा प्रजायते, आयसस्पतय उ चैवैतन्निह्नुते । इद हि-पितैवाग्र अथ पुत्र अथ पौत्र । तस्मात्परस्तादर्वाक प्रवृणीते ॥ १ ॥

४-अग्नि-ब्राह्मणा नुग्रह-कम्म-

स आर्षेयमुक्त्वा आह-‘ब्रह्मणवद्’ इति । ब्रह्म ह्यग्नि, तस्मादाह-ब्रह्मणवदिति । ‘आ च ब्रह्मद्’ इति । तथा एवैतद् दवता आवोढवा आह, ता एवैतदाह-आ च वक्षदिति ॥ ११ ॥

ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राणितार इति । एते वै ब्राह्मणा यन्म्य प्राणितारा यऽनूचाना । एते ह्यन त एते एत एन जनयति । तदु तेभ्या निह्नु ते । तस्मादाह ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राणितार इति ॥ १० ॥

५-मानुषोत्तारणकर्म—

‘असौ मानुष’-इति तदिम मानुष होतार प्रवृणीते । अहोता हैष पुरा अथतहि होता ॥ १३ ॥

६-स्त्ययनजप

स प्रवृत्तो होता जपति देवता उपधावति । यथानष्ट्या देवेभ्यो ह्यय गहेद् यथा न ह्वलेद् एव देवता उपधावति ॥ १४ ॥

तत्र जपति एतन्त्वा देव सच्चित्तर्षणत् इति तत्सागतार प्रसगायोपधावति । स हि दधाना प्रमरिता । अग्नि हात्राय इति । तदग्नय चैतद् देवभ्यश्च निह्नु ते । यद् हाग्रेऽग्निमाह—तद् अग्नय निह्नु ते । अथ यो देवाना हाता-तमग्र आह तदु देवेभ्यो निह्नु ते ॥ १५ ॥

‘सह पित्रा वैश्वानरेण’ इति । सव सरो वै पिता वैश्वानर प्रजापति । तन्म्य त्सरायैव एतत्प्रजापतये निह्नु ते ॥ अग्ने पूषन बृहस्पते प्र च वद् प्र च यज’ इति । अनुवच्यन् वा एतद् यच्यन् भवति तदेताभ्य एतद् देवताभ्यो निह्नु ते—यूपमनुब्रूत यूय यजत’ इति ॥ १६ ॥

वसूना रातौ स्याम्, रुद्राणाम् उग्याम् स्वादिद्या अदितये स्यामानेहस इति । एते वै त्रया देवाः—यन् वसवो रुद्रा आदिद्या । एतेषामभिगुप्ता स्याम—इत्य वैतदाह ॥ १७ ॥

‘जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्’ इति । जुष्टमद्य देवेभ्योऽनूच्याममित्यवैतदाह । ताद् समृद्ध—यो जुष्ट देवेभ्योऽनुब्रवत् ॥ १८ ॥

जुष्टा ब्रह्मभ्य इति । जुष्टामद्य ब्राह्मणभ्योऽनूच्याममियवतदाह । तद्धि समृद्ध यो जुष्ट ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत् ॥ १९ ॥

‘जुष्टा नराश्रसाय इति । प्रजा ते नर । तत्सर्वाभ्य प्रजाभ्य आह । तद्धि समृद्धम् । यश्च वेद यश्च न साध्वन्वोचत्—साध्वन्वोचद्—इत्येव विसृयते ‘यद्यद् होतृवर्ये जिह्य चक्षु परापतत् अग्निष्टत् पुनराश्रियाज्जातवेदा चिचषणि’ इति । यथा यानग्रऽग्नीन् होत्राय प्रावृणत्—त प्राध्वन्वन्, एव यन्मेऽत्र प्रवरणामायि, त मे पुनराप्यायय इत्य तदाह । तथा हास्यैतत्पुनराप्यायते ॥ २ ॥

७-सम्मर्शनकर्म—

अथाध्वयु चाग्नीत्र च समृशति । मनो वा अध्वर्युं वाग् होता । त मनश्चेत्तद्
वाच च स दधाति ॥२१॥

तत्र जपति- षण् मोर्वीरहसस्पा-तु—अग्निश्च पृथिवी च आपश्च वाजश्च
अहश्च रात्रिश्च' इति । एता मा देवता आर्गेगोपाय-तु इत्य तदाह । तस्यो ाह न हला
स्ति-यमेता देवता आर्गेगोपाययु ॥२२॥

८-उपावर्तनकर्म—

अथ होतृषदनमुपावर्तते । स हानृषदनादक तृणा निरस्यति- निरस्त परावसु'
इति । परावसुहो नामासुराणा होता स तमे तद् होतृषदनाद् निरस्यति ॥२३॥

अथ होतृषदने उपविशति इदमहमर्वावसो सद्ने सीदामि' इति । अर्वावसु
नाम दाना होता तस्यै तत् सद्ने सीदति ॥२४॥

तत्र जपति- विश्वकम्मस्तनूपा असि । मा मोदोषिष्टम् मा मा हिंसिष्टम्,
एष वा लोक इति । उदड एजात । अ तरा वा एतद्-आहवनीय च गार्हपत्य चास्ते ।
तद् तु ताभ्या निह्नु ते मा-मोदोषिष्टम् मा मा हिंसिष्टम् इति । तथा हैनमेतौ न हिंस्त ॥२५॥

९-अग्नीक्षणाकर्म—

अथाग्निमीक्षमाणा जपति विश्वेदेवा शास्तन मा यथेह होता वृता मनवै यन्नि
ष्य । प्र मे ब्रूत भागधेय यथा वो येन यथा हव्यमा वो वहानि (ऋ स १
५२ १) इति । यथा येभ्य पक्क स्यात् तान् ब्रूयात्, - अनु मा शास्त यथा वऽ
आहरिष्यामि यथा व परिवेक्ष्यामि' इति । एतमेत्तद् दवेषु प्रशासनमिच्छते-
अनु मा शास्त यथा वोनुष्ठया वषट् कुर्याम्, अनुष्ठया ह य दहेयम् इति ।
तस्मादव जपात् ॥२६॥

इति-प्रथमकारण्डे पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण

चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण

उपरतम्

प्रवरब्राह्मणात्मकम्



मूलानुवाद—

पाँचवे अध्याय में पहिला, तथा चौथे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण

उपक्रान्त

‘प्रवरब्राह्मण’

२१—प्रवरणकर्म

१—आश्रावणकर्म—

(अनुवाद)—(आहवनीयाग्नि में ब्राह्मणानुगत सूत्रप्रदर्शित पद्धत क्रमानुसार पूर्वोत्तराधारद्वय सम्पानन के अनन्तर) वह (अ य्यु नामक ऋत्विक् प्रवरकर्म के लिए (‘होता नामक ऋत्विक् के वरण के लिए ओ श्रावण’ इ यादिरूप से) आश्रावण करता है। सो जो कि वह अ य्यु होता के वरण के लिए आश्रावण करता है (उस आश्रावणकर्म की उपपत्ति यही है कि) यह आश्रावण (यज्ञस्वरूपसम्पादक होने से) यज्ञ ही है। यज्ञ का आश्रय लेकर (ही) मैं होता का वरण करूँ इसीलिए प्रवरकर्म के लिए आश्रावण करता है ॥ (१) ॥

वह अ य्यु इभसन्नहनों (यज्ञिकाष्टसम्भार के बावने के वृणसमूहों) का ही लेकर आश्रावण करता है। वह अ य्यु यदि यज्ञ (यज्ञ की वस्तु) को न लेकर आश्रावण करेगा तो वह निश्चयेन प्रथम तो कम्पित होजायगा अथवा तो (पतनान्तिलक्षण) अ य किसी पीडा का भागी बनेगा (इसलिए इभसन्नहनरूप यज्ञ से सम्बन्ध करके ही आश्रावण करना चाहिए) ॥(२)॥

कितने एक याज्ञिक वेदि पर बिछे बर्हि को लेकर अथवा इभकाष्ठ की मल्ल को इ म से प्रथक कर उसे हाथ में लेकर आश्रावण करते हैं और ऐसा करते हुए (वे अपने इस बर्हि अथवा इभमल्ल—ग्रहण की उपपत्ति यह बतलाते हैं कि) यह बर्हि अथवा इभमल्ल यज्ञ का ही कुछ भाग (यज्ञावयव होने से यज्ञरूप ही) है। हम इस यज्ञ को आश्रय बना कर ही आश्रावण करें। (भगवान् याज्ञवल्क्य इस सम्बन्ध में अपना निर्णय प्रकट करते हुए कहते हैं कि)—आश्रावणकर्म ऐसे (बर्हि अथवा इभमल्ल लेकर) न करे। ये ही यज्ञ के निश्चयन कुछ (भाग) हैं जिन (वृणसमूहों) से काष्ठभार बाधा जाता है जिन से अग्निसम्मार्जनकर्म करते हैं। (मेरी दशा में इन इभसन्नहनों का ग्रहण करने से ही) निश्चयेन यज्ञ को आश्रय बनाकर आश्रावण करता है (आश्रावण करने में समर्थ होजाता है) अतः इभसन्नहनों को आश्रय बना-

कर ही आश्रावण करना चाहिए। (तापय्य यही है कि जो प्रयोजन बर्हि अथवा इध्मस-कल-ग्रहण का है वह प्रयोजन जब इ मसन्नहन से गनाथ होजाता है साथ ही २ मसन्नहनग्रहण जब पद्धति से अनुगृहीत है ता ऐसी दशा म इध्मसग्रहना को आश्रय न बनाकर बर्हि अथवा इध्मस कल को आश्रय बना कर आश्रावण करना यथ तथा पद्धतिरुद्ध है) ॥(२)॥

२—दि य होता (प्राणाग्नि) का वरण—

(इसप्रकार इ मसन्नहनों का ग्रहण कर 'ओ आग्नेय इस रूप से) वह अ य यु आश्रवण कर (अन तर) जो कि देवताओं (प्राणादेवताओं) का होता है सबसे पहिले उसी अग्नि का वरण करता है। (सवप्रथम अग्नि नामक दि य हाता का वरण करता हुआ यह अ वग्नु) अपने इस अग्निप्रणयक्रम से अग्नि के लिए ए देवताओं के लिए ही (अपने आपका) निह्व (अपराध के लिए क्षमायाचना) करता है। जा कि सप्रथम अग्नि को अपना लक्ष्य बनाता है (अग्नि का वरण करता है) इससे (तो) अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ए देवताओं का होता है उसे सप्रथम अपना लक्ष्य बनाता है इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। (तापय्य यही है कि जिस दि य अग्नि का अ वग्नु सप्रथम वरण करता है वह स्वस्वरूप से अग्नि है एव दि य देवताओं का होता बनता हुआ सबदेवमूर्ति भी है। इसका वरण से अग्नि का प्रातिस्विक अग्निस्वरूप से भी निह्व होजाता है एव होतृरूप से सबदेवस्वरूप से भी निह्व हाजाता है। इसप्रकार एक ही अग्नि के वरण से अग्नि तथा देवता दोनो से निह्व होजाता है) ॥(४)॥

(उपपत्ति बतलाकर अब पद्धत बतलाते है)—वह अध्वग्नु—* “अग्निदेवा देव्यो होता (हे अग्ने ! आप देवता—द्यु लोकस्थ दि य तत्त्व—है साथ ही आप दि य देवताओं के दि य सम्य सरयज्ञ के होता है) यह म त्र बोलता है। अग्निदेवता निश्चयेन होता है इसीलिए अग्निदेवो दे यो होता यह कहा गया है। इस (मन्त्रभाग) से अग्नि के प्रति तथा देवता के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सवप्रथम अग्नि का वरण करता है इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ए देवताओं का होता है उसका सवप्रथम वरण से देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥(५)॥

* अग्निदेवो दे यो हाता देवान् यद्द्विद्वाश्चिकित्त्वान् मनुष्यद्भरतवत्”

—इति निगदमत्र ।

(आगे का मंत्रभाग है) - 'देवान् यज्ञद्विद्वाश्चिकि गान् (हे अ ने ! अपने होत्रकर्म के प्रभाव से आप दि-य प्राणदेवताओं को भलीभाति पहिचानते हैं इसी स्वरूपज्ञान के आधार पर आप देवताओं का यजन करने में समर्थ हुए हैं ।) य निश्चयन दि-यप्राण देवताओं को ज्ञाता है जो कि अग्नि है । वे अग्नि इन दि-य देवताओं को जानते हुए इनका यथाविधि यजन करें (मंत्रभाग से) यही कहा गया है ॥६॥

(आगे का मन्त्रभाग है) - मनुष्वद्भरतवत् (हे अ ने ! मनु की भाँति तथा भरत की भाँति अपने होत्रकर्म से हमारे इस यज्ञ को सुसम्पन्न बनाए) । मनु ने हीं सवप्रथम यज्ञ के द्वारा (दि-यप्राणों का पार्श्वप्राणों के साथ) यजन किया था । उस मानवयज्ञ को आधार बनाकर (अनुकरण करके) ही ये (वर्तमान) प्रजाएँ यज्ञानुष्ठान करती हैं । इसी अभिप्राय से मनुष्वत् कहा है । अपिच (यज्ञसम्प्रदाय में यज्ञ के लिए यज्ञपेता) यह मनु का यज्ञ है यह कहा करते हैं । इस अभिप्राय से भी 'मनुष्वत्' यह कहा गया है । (तापय्य यही हुआ कि यह यज्ञ मनुकृत यज्ञ की प्रतिकृति है इस अभिप्राय से तथा यह यज्ञ उस प्रसिद्ध मनुयज्ञ की भाँति महत्त्वरूप है इस अभिप्राय से 'मनुष्वत्' कहना सुसङ्गत बन जाता है) ॥७॥

(उक्त मंत्रभाग में) 'भरतवत्' यह पठित है । (इसका तापय्य यही है कि) यह (अग्नि) ही (दिव्यलोकस्थ प्राणा मरु) देवताओं के लिए (भूलोक से) ह-य लेनाते हैं । इसी ह-य धारण धर्म से (अग्नि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग) 'यह अग्नि भरत है' यह कहा करते हैं । अपिच यही (प्राणविधि अग्नि) प्राणरूप में परिणत होकर इन पार्थिव प्रजाओं का भरण पोषण करता है इसलिये भी भरतवत् यह कहा गया है । (तापय्य यही है कि देवताओं के लिए हविर्वहन करने से भी ये अग्नि भरत है एवं मानवप्रजावर्ग का प्राणरूप से भरण पोषण करने से)
कहना अन्वय बनता है ॥८॥

३—आर्षेयप्रवरण (यजमानवरण)

[दि-यहोत्रप्रवरणामक होत्रप्रवरणकर्म के] अनन्तर वह अध्वर्यु [ऋषिवशपरम्परा से सम्बन्ध रखने वाले ऋषिवशज अतएव] 'आर्षेय' [ऋषिवशसम्बन्धी उस यजमान] का वरण करता है । [अर्थात् देवहोत्रप्रवरणान्तर ऋषिवशज मनुष्य यजमान का वरण करता है] । मनुष्य-यजमानप्रवरणरूप आर्षेयप्रवरणकर्म से वह अध्वर्यु ऋषियों तथा देवताओं के प्रति ही इस [यजमान] को निवेदित करता है कि ' [वस्तु में] यह [यजमान] बड़ा पुरुषार्थी है जो कि यज्ञ को [यज्ञसम्पादन के लिए] प्राप्त [प्रयत्न] हुआ है । इसी प्रयोजन के लिए आर्षेयवरण [यजमान वरण] करता है ॥९॥

पर (पूजपीठी) से अवर (उत्तरपीठी) की ओर आर्षेय का वरण करता है । (अर्थात् पूज-पीठी से आरम्भकर उत्तर पीठी पथ्यत याप्त यजमान क वशजों का यशोगान करता है । (पर से अवर की आर प्रवरण करने का कारण यही है कि) —पर से अवर की ओर ही स तानक्रम चलता है । (इसप्रकार परपुरुषों से अवरपुरुष पथ्यत नामग्रहण) द्वारा (उह अध्व यु) उन यशजा के प्रति कए गण (यजमान क) अपराध का ही शमन करता है । यह लोकप्रसिद्ध है—कि (यश-म्परा मे) पहिले पिता (का स्थान) है अनन्तर पुत्र (का स्थान) है अनन्तर पौत्र (का स्थान) है । इसीलिए (स्वाभाविक प्राकृतिक स तानक्रम क आधार पर ही) पर से अवर की आर वरण करता है ॥* (१) ॥

४—अग्नि, तथा ब्राह्मणों की अनग्रहप्राप्ति—

(इसप्रकार यजमान-सम्बन्धी यशजों क नामो लेखा मक) आर्षेय का उच्चारण करने के अनन्तर वह अध्वर्यु 'ब्रह्मणवत्' (हे अग्ने ! आप प्रतिष्ठामक ब्रह्म से समतुलित है) यह मन्त्रभाग बोलता है । (यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा होने से) यह अग्नि ब्रह्म है । [किंवा इस यज्ञकम्म मे प्रतिष्ठामक ब्रह्म निश्चयेन अग्नि है ।] इसी अभिप्राय से ब्रह्मणवत् कहा है [आगे का मन्त्रभाग है]—
“आ च वक्षत्” [एसे ब्रह्मलक्षण हे अग्ने ! आप यज्ञिय देवताओं का आह्वान करने वाले है] । जिन देवताओं को इस अग्नि क द्वारा इस यज्ञ मे बुलाने क लिए कहा गया है प्रकृत—
आ च वक्षत्' इस मन्त्रभाग से उन्ही की ओर सङ्केत हुआ है ॥ [१] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—‘ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार’ [ये ब्राह्मण-ऋत्विक् इस यज्ञ क स्वरूप सम्पादक है] । ये ब्राह्मण निश्चयन यज्ञ के सञ्चालक तथा रक्षक हैं जो—कि त्रयीविद्या का ग्रह, शस्त्र एव स्तोत्र रूप से अनुवचन करने वाले है ये ही ऋत्विग् ब्राह्मण इस यज्ञ को [प्रताग्निरूप से] वित्त करते है ये ही अनूचान ब्राह्मण (आहुति के द्वारा) इस यज्ञ (यज्ञातिशयरूप देवात्मा) को उपन्न करते है (ये ब्राह्मणा इत्यादि मन्त्राचारण के द्वारा) इन्हीं अन्तुचान ऋत्विग् ब्राह्मणों क प्रात [अज्ञानतायश] कि गण अपराध का शमन करता है । इसी अभिप्राय से ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार' यह कहा गया है ॥ [१२] ॥

[इसप्रकार अमुवदमुवत् रूप से पहले अध्व यु आर्षेय वरण करता है अनन्तर 'ब्रह्मणवत्' रूप से अग्नि के प्रति कि गण अपराध का शमन करता है अनन्तर—'ब्राह्मणा

* 'अमुवदमुवत् इति ।

अस्य यज्ञस्य प्रावितार इस मंत्र से ऋत्विग्ब्राह्मणा के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है] ।

५—मानुष होता का वरण—

[अनंतर]—असा मानुष इस मंत्रपाठ के द्वारा मनुष्य होता का वरण करता है । इस वरणकर्म से पहिले पहिले अत्रतक] यह [आज होतृत्वेन वृत यह मनुष्य] अहोता ही था आज उक्त मंत्रपाठरूप प्ररण से ही यह होता बना है ॥ [१३] ॥

६—स्वस्त्ययनजप—

[अ वय्यु के द्वारा होने वाले असा मानुष' इस मन्त्रपाठामक वरणकर्म से होतृत्वेन] प्रवृत यह होता [प्ररणकर्मान तर स्वस्व ययनलक्षण मंत्रों का] जप [उ-चारणलक्षण पारायण] करता है । [इस जपकर्म से यह होता] प्राणदेवताओं का ही आश्रय ग्रहण करता है । जिसप्रकार यायाकर्मकाल मे ऋत्विक्कर्त्त-यप्राणदेवता कालक्षय बना कर यथाविधि उनक लिए वषट्कार करने में समर्थ होसके देवताओं के लिए यथाविधि ह य वहन करने में समर्थ होसक कोई काम पद्धति के विरुद्ध न होजाय इसी प्रयोजन के लिए जप क द्वारा यह हाता देवता का आश्रय लेता है । [तापय्य यही है कि अपने होत्रकर्म को निर्विन सतिभावपूर्वक पूरा करने के लिए जप के द्वारा देव बल प्राप्त करना ही स्वस्व ययनजप की उपपत्ति है] ॥ [१४] ॥

स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं]—यह होता वहाँ [उस प्रक्रान्त वरणकर्मकाल में निम्न लिखित मंत्र का] जप करता है—'एत मा देव सवितवर्णते' [हे सविता देवते ! मुझ मानुष होता के वरण-याज्ञ से अब यु लो ग आप ही का वरण कर रहे है] । इस मन्त्रजप से होता सविता की ओर ही उनकी अनुज्ञा के लिए अनुधावन क ता है—अभिमुख होता है । वही [सविता ही] देवताओं का [देवताओं के यज्ञामक कर्म का] प्रेरयिता है । [ताप-य यही है कि अब यु ने जो मेरा वरण किया है उसका उत्तराधि य उस प्राणात्मक सविता देवता पर ही है जिसके अनुग्रह से मे अपमे होत्रकर्म मे सफल बन सकूंगा] । [आगे का मंत्र भाग है]—“अग्नि त्राय” [अ वयु लो ग होत्रकर्म के लिए अग्नि का ही वरण करते है] । इस मंत्रजप से यह मानुष होता अग्नि के प्रति तथा अग्निमय प्राणदेवों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है । जो कि सप्रथम यह अग्नि को होत्रकर्म का लक्ष्य बनाता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है । एत्र साथ ही जो अग्नि देवताओं का होता है उसे प्रथम लक्ष्य बनाता है इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥ [१५] ॥

(आगे का मन्त्रभाग है) — सह पित्रा वैश्वानरेण (वे ऋत्विक् पिता वैश्वानर सं युक्त अग्नि का वरण करते हैं) पिता वैश्वानर निश्चयेन (समनयत्रया मक यज्ञमूर्ति) सम्प्र सर है जो कि (सम्प्र सर) प्रजापति है। अतः (सह पित्रा वैश्वानरेण) इस मन्त्रजप क द्वारा) यह होता सम्प्र सर प्रजापति क प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है (आगे का मन्त्रभाग है) — 'अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद, प्र च यज (हे अग्ने ! हे पूषन् ! हे बृहस्पते ! आप ही प्रयत्न कीजिए आप ही यजन कीजिए)। वह होता अनुवाक्या नामक ऋचाओं का उच्चारण करेगा एव इस अनुवचनकर्मपूजक 'याज्या नामक ऋचाओं से देवताओं का यजन करेगा। जिन देवताओं के लिए यह अनुवचन तथा यजन करने वाला है उक्त मन्त्रजप क द्वारा) वह होता न देवताओं के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। (मन्त्रद्वारा अपना उत्तरदायित्व हटाता हुआ यही भाग उक्त कर रहा है कि) हे देवताओं ! आप ही अनुवचन कीजिए एव आप ही याज्या कीजिए। (अर्थात् मैं अनुवचन यजन नहीं कर रहा अपितु देवता ही यह कर्म मुझ से करवा रहे हैं) ॥ (१६) ॥

(आगे का मन्त्रभाग है) — वसुधा रातौ स्याम, रुद्राणामुवाया सादित्या अदितये म्यामनेहम्" (हम इस स्वस्त्ययनजपलक्षण कर्म से वसुदेवताओं की सम्पत्ति में प्रतिष्ठित हों आदि यदेवता हमारे लिए सुप्रतिष्ठात्मक बन त्रिदेवाधारभूता अदिति के लिए हम निर्दोष बन रहे)। निश्चयेन (सम्प्र सर त्रिलोकी म) ये तीन द्वी (मुख्य अतिष्ठावा) देव है जो कि वसु-रुद्र आदिय (नाम से प्रसिद्ध) है। हम (यज्ञद्वारा सम्प्र सर सम्पत्ति को प्राप्त करते हुए) इन्हीं तीनों की रक्षा में प्रतिष्ठित रहें मन्त्र से यही कया गया है ॥ (१७) ॥

(आगे का मन्त्रभाग है) — जुष्टामद्य दवेभ्यो वाचमुवासम्' (हम इस यज्ञकर्म में देवताओं के लिए उनके लिए सेवनीय-अनुकूल-वाक् का प्रयोग करें) आज हम देवताओं के लिए शोभनवाणी बोलने में असमर्थ हों मन्त्र से यही कहा गया है। वही [यज्ञ के लिए] समृद्ध [समृद्धि प्राप्ति का कारण] है जो कि देवताओं के लिए [होता] शोभन प्रिय वाणी का उच्चारण करता है ॥ [१८] ॥

(आगे का मन्त्रभाग है) — जुष्टा ब्रह्मभ्य" [यज्ञ में उपस्थित ऋत्विजादि ब्राह्मणवर्ग के लिए मैं प्रियवाणी का प्रयोग करूँ]। मैं ब्राह्मणों के लिए शांता अनुद्वगकरी प्रियभाषा का प्रयोग करूँ मन्त्र से यही कहा गया है। वही समृद्ध है जो कि ब्राह्मणों के लिए प्रियवाणी बोलता है ॥ [१९] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—‘ जुष्टा नराशसाय ’ [यज्ञ में दशकरूपेण उपस्थित इतर द्वि-जाति प्रजापग क लिए मै प्रिय प्राणी बालू] । नर निश्चयेन प्रजा है । मन्त्रभाग से सप्तसा गारण सम्पूर्ण प्रजा के लिए [प्रिय भाषण करने क लिए ही] कहा गया है । वही समृद्ध है [जिस कर्म को लक्ष्य बनाकर] जो इस कर्म को जानता [देखता] ह जो नहीं जानता [देखता] है सभी बड़ा साधुकर्म है बड़ा साधु कर्म ह इस णियभाषा का प्रयोग किया करते हैं । [सभी जिस कर्म की प्रशंसा करै उही कर्म तास्त्र में समृद्ध माना जाता है यही ता पर्य्य है] । [सवां त में निम्न लिखित ऋडम त्र का जप करता है]—

यद्य होतवर्ये जिह्व चक्षु परापतत् ।

अग्निष्टत् पुनराभियाञ्जातवेदा पिचषाण ॥ ’

आज २स होत्वरणकर्म में जिस किसी को भी कुटिल दृष्ट पड गई है—[जिस कुटिल दृष्टि से हाताकर्म का स्वरूप विकृत हो गया है]—जानवेत्ता पिचषणि अनिदेवता उस का पुन गन्धान कर दें । [मन्त्रता पञ्च का पिश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है] जिसप्रकार जिन [तीन आप्त्या नामक] अग्नियों का पहिले वरण किया था वे [भय से] पलायित होगए थे इसीप्रकार २स होतवरणकर्म में मेरा जो कुछ [यज्ञसम्पद्भाग कुटिलदृष्टि अनक्षेप स] पलायित होगया है हे अग्ने ! आप उस की पुन क्षतिपूर्ति कर दिजिए मन्त्र क द्वारा यही कहा गया है । इसप्रकार स यभावनामक उक्त मन्त्रप्रयोग के द्वारा अत्रश्यमेव इस का वह क्षतभाग पुन आप्यायित हाजाता है ॥ [२] ॥

७ सम्मशन (स्पर्श) कर्म—

[उक्त मन्त्र परम्पराजप क] अनन्तर बहु होता अभ्ययु तथा आग्नीध्र का स्पर्श करता है । अत्रयु [निदानेन] मन है एव होता [निदानेन] वाक् है । [आग्नीध्र निदानेन प्राणासक है] । एसी स्थिति में प्राणरूप अभ्ययु तथा प्राणरूप आग्नीध्र का स्पर्श करता हुआ [मन तथा वाक् [प्राण-का भी] का परस्पर स गान [मेल] करता है ॥ [२१] ॥

[मन प्राण वाक्—सधानामक स्पर्शान्मर्मान तर यह हाता पुन अत्रयु] जपकर्म का अतुगमन करता है । [जपमन्त्र है] षण्मोर्गिरहसस्या तु आग्निश्च पृथिवी च, आपश्च, वाज-श्च अहश्च, रात्रिश्च’ [अग्नि पृथिवी जल अन्न दिन रात महत्त्वशाली य ६ आँ देवता मेरी दुर्दिभान स रक्षा कर] । ये ६ आ देवता आपत्तियों से मेरी रक्षा कर मन्त्रभाग से यही कहा-गया है उस व्यक्ति क लिए आपत्ति की अणुमात्र भी आशङ्का नहीं है जिस की ये अ यदि ६ आँ देवता आपत्तियों से रक्षा करते रहते हैं ॥ [२२] ॥

८-उपाग्निकर्म—

[उक्त मन्त्रनपानन्तर जपस्थान स] यह हाता होतषदन [स्वस्थान] की आर लोट आता है। यहा आकार होतषदन से एक द्भाग लेकर—‘निरस्त परावसु’ (परावसु नामक असुर यज्ञ स निकल गया) यह मन्त्र बोलता हुआ [उस तण को दक्षिण की ओर] फर देता है। परावसु नामक [असुरवशज यक्ति] असुरा का होता था। [तणनिरसनयाज से] वह होता इसे ही होतषदन से बाहिर निकालता है ॥[२३]॥

तणनिरसनानंतर वह होता होतषदनस्थान मे—‘इदमहमर्वावसो सदन सीदाम’ [मै अर्वावसु के स्थान मे बैठता हू] यह मन्त्र बोलता हुआ बैठता है। अर्वावसु नामक [देवराज यक्ति] देवताओं का होता था। [आज] होता उसी क स्थान मे बैठता है ॥ [२४] ॥

(होतषदन-स्थान पर बैठ कर यह होता निम्न लिखित) म त्र का जप करता है—
‘विश्वकर्मस्तनूपा असि’ (हे विश्वकर्मन् ! आप शरीर की रक्षा करने वाले है) । अनतर
‘मा मोदोषिष्ट, मा मा हिंसिष् एष वा लोक’ (हे गार्हपत्याग्ने ! आहवनीया ने ! आप मेरे शरीर को अतिशयरूप से ताप न पहुँचाइए आप मेरी हिंसा न कीजिए क्योकि यह आपका लोक ह। मैंने जब इसीका आश्रय लिया ह तो भला उस दशा मे आप क्यों मुझ त्रास दगे)
इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ स्वस्थानरूप होतषसदनस्थान से उत्तर की ओर मुख करता हुआ थोडा सा चलता है। इसप्रकार यह होता आहवनीय तथा गार्हपय दोनों के म यस्थान मे प्रतिष्ठित है। अतः म त्रजप के द्वारा इन दोनों क प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। इसमे ये दोनों इसे पीडा नहीं पहुँचाते ॥ (२५) ॥

९-अग्निदर्शनकर्म—

(ईषदुत्तरतश्चलना) नंतर वह होता आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ निम्न-लिखित मन्त्र का जप करता है—

‘विश्वेदेवा इस्तन मा यथेह होता वृतो मनौ यन्निषद्य ।
प्र मे ब्रूत भागधेग यथा वो येन पथा ह य मा वो वहानि ॥
-ऋक्स १ ५ ११।

हे विश्वेदेवो ! आप मुझ आज्ञा दीजिए कि जिसप्रकार इस यज्ञ मे होता बनता हुआ—
होतृत्वेन वृत होता हुआ—यहा प्रतिष्ठित होकर आपका यजन करू। साथ ही मुझे उन देवभागों

को बतला पाणि मै यानियत माग स आपक लिए पहुँचा सकू । (लोकान्नात से मात्र तापय का मम प्रय करती हुई श्रुति कहती है कि) लोक में जिन अतिथियों के लिए पाचक के द्वारा पक (अन्न) हाता है सम्पन्न होजाने पर पाचक उन भोजन करने वालों से पूछता है कि भोजन सम्पन्न है आज्ञा दीजिए आपक लिए ले आऊँ परास दू । ठीक इसी लोकमर्यादा के अनुसार यह होता (सप्रदत्त हसक सम्बन्ध में हयग्राहक) देवताओं की (इस रूप से) आज्ञा (ही) चाहता है कि—आज्ञा दीजिए मैं आपक लिए यथाविधि वषट्कार करू विधिपूर्वक हवि का वहन करू । इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उक्तरूप से मन्त्रजप करता है ॥२६॥

इति—स्वस्त्ययनजप

पाँचवे अ गाय में पहिला, तथा चौथे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण

समाप्त

“प्रवरणब्राह्मण” अत्र उपरत

मूलानुवाद समाप्त

—*—

सूत्रानुगतपद्धतिमगूढ —

आहवनायागन क त्क्षिण भूप्रदेश म खड होकर आहवनीयानि-गाला मे सम प्रक वागनुगत उत्तराधार करने के अनंतर (जुहूस्थित आय की अधि-छन्न धारारूप से आहुति देने के अनंतर) गेह अध्वर्यु आहवनीय से पश्चिम भाग मे लौट आता है। वहाँ आकर उपभृत से असस्पृश जुहू व अशेष का धवापात्रस्थ आय से सम्बन्ध करा देता है यह इतिकत्त यता पूर्वसूत्र से (३।२। १) प्रतिपादित हुई है। अब क्रमप्राप्त सूत्रानुगत आगे की इतिकर्त्तयता बत लाई जाती है। जुहूस्थित आयशेष का धवास्थित आह्वय के साथ समञ्जन करने क अनन्तर दूसर शानों मे पूर्वोत्तराधारद्वय की इतरक्त यता संमत करने क अनन्तर वह अध्वर्यु उपभृत जुहू, नाम के दोनों कपात्रों का स्थान म (उनक निग पाहले से नियत स्थान मे) रख देता है। इसप्रकार कपात्रद्वयी क यथास्थान रखने क अनन्तर वह अध्वर्यु होता से उत्तरभाग के द्वारा निकल कर उत्करकुण्ड के पश्चिम भाग की ओर पूवाभिमुख खडा होकर इधमसन्नहनों (काष्ठ बाधने के दभतृणों) को अपने हाथ म लेता हुआ 'ओ श्रावय' इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है।

ऋषिःशसम्बन्धी अतएव आर्षेय कहलाने वाले यज्ञकर्त्ता यजमान क वश का कीत्त न करने के उद्देश्य से हाँ ओ श्रावय मन्त्र का उच्चारण होता है। इसका तापत्रय यही निकलता है कि हे आ नीध। अत्र तुम यजमान की दि य देगताओं के प्रति सुनगई करो। अध्वर्यु के मुख से निकलते हुए 'ओ श्रावय' लक्षण 'आश्रावण' की सफलता सूचित करता हुआ आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अध्वर्यु से उत्तर दक्षिणाभिमुख ख । हुआ स्पय तथा इधमसन्नहनतृण हाथ मे लेकर बोलता है— 'अस्तु श्रौषट्'। अध्वर्यु कृत ओ श्रावय वर्म्म आश्रावया' कर्म है एव आग्नीध्रकृत अस्तु श्रौषट् कर्म प्रत्याश्रावया' कर्म है। यह आश्रावण तथा प्रयाश्रावण कर्म यज्ञसम्बन्ध को प्रकृत रखने के लिए इधमस नहनों को हाथ म लिए ही करना चाहिए। कितने एक याज्ञिक यज्ञसम्बन्ध की प्रक्रान्ति के लिए वेदि पर बिछे दभतृण को अथवा इधम की बकल को उखाड उसे हाथ म लेकर आश्रावण प्रयाश्रावण करते है जिस पक्ष का कि शात पथीश्रुति ने खण्डन किया है। इसप्रकार प्ररणकर्म मे सवत्र अध्वर्यु आश्रावण करता है आग्नीध्र प्रयाश्रावण करता है। कर्काचार्य का इस सम्बन्ध मे यह स्पष्टीकरण और है कि इधमसन्नहनग्रहण केवल होतृवरण सम्बन्धी आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म मे ही होता है। आश्रावण प्रयाश्रावण की इसी इतिकत्त यता का निम्न लिखित सूत्रचतुष्पथी से स्पष्टीकरण हुआ है—

- (१) 'नि गायध्मस नहना यादा यो श्रापय त्याह (क श्रो सू ३।२।३।)
 (२)— अस्तु श्रापडित्यग्नीत्' का ३।२।४।।
 (३)— 'वेदिग्रहीर मशकलमापच्छ्रिकै' (वा ३।२।५।।
 (४)— 'एय सर्वत्राऽऽश्रुत प्र याश्रुतेषु' (का ३।२।६।।

आश्रापण प्र याश्रावण कर्मान्तर यह अ प्रयु २ मसन्नहनवृत्तों को अपन हाथ में रखता हुआ ही ऋ यानिलक्षण होता का अपने स यज्ञ म 'अग्निर्देवो दै यो होता देवान् यत्तद्विद्वाश्चिकित्वान्मनुष्यद्भरतवत्' इस निगन्तमन्त्र का उच्चारण करता हुआ वरण करता है। इस प्रकार सप्रथम ऋि याग्नि का ही वरण किया जाता है जिस वरणकर्म का नि न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

'अथ प्रवृणीते ऽग्निर्देवो दै यो होता देवा यत्तद्विद्वाश्चिकित्वान् मनुष्यद्भरतवत्'
 (का ३।२।७।) इति ।

ऋि याग्नि का सप्रकार होतृत्वेन वरण करने के अनंतर आर्षेय यजमान का नामग्रहण पूजक वरण करता है। यजमान के सम्बन्ध से ही त्रिसंस्थ य आर्षेय 'यजमानार्षेय' कहलाए है। पर से इस ओर 'गौतमवत्-भरवत्-श्रद्धिरोवत्' इत्यादि रूप से-कश्यपवत् अप्तसा रवत् नैत्रवत्' इत्यादि रूप से-भृगुवत् यमनवत् अप्तमानवत् इत्यादि रूप से गौतम, कश्यप, भृगु भरद्वाजादि यजमान गोत्रानुसार यजमान के तीनों वंशजा का निगन्तम त्रामकत्वेन उच्चारण करता है। अथवा यजमानकुल में जितने भी मन्त्राण प्रवरा याय में उपरिणित है उन सब का नाम लिया जासकना है। किसी का म प्रकृत एक ऋषि है वही एक प्रवर कहलाया है। किसी के दो मन्त्रकृत है किसी के तीन है किसी के चार किसी के पांच है। वे क्रमशः एकप्रवर द्विप्रवर त्रि प्रवर चतुष्प्रवर, पञ्चप्रवर कहलाए हैं। जिसके जितने प्रवर हैं उन सब का भी वरण करना पचा तर है यही ता प य है। दोनों पक्षों के सम्बन्ध में निष्कष यही है कि आर्षेय प्रवरण म आर्षेय वृणीते यह कह कर भगवान् आपस्तम्ब ने कहा है—एक वृणीते द्वौ वृणीते त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते न पञ्चातिवृणीते (आप श्रो २।१६।२।)। यदि सूत्रगत त्रि पक्ष को त्रिप्रवरक मान लिया जाता है तो तीन का ही वरण यायप्राप्त होता है एवं यही का यायन का प्रथम पक्ष है। याद आर्षेय वृणीते से त्रिधि-परक माना जाता है तो सभी मन्त्र-ाणों का वरण प्राप्त होजाना है एवं यही का यायन का उत्तरपक्ष है।

अभिषिक्त क्षत्रिय [राजा] अनभिषिक्त क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों में वरणकर्ममनुगता रति-
कत्त यता कुछ विशेषता रखती है। यदि अभिषिक्त क्षत्रिय यज्ञ कर रहा है तो अत्र यत्न उस
क्षत्रिय राजा के कुनपुरोहित के आर्षियों का भी वरण कर सकता है अत्र यत्न राजा के आर्षियों
का भी वरण कर सकता है। यदि अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय का तथा वैश्य का यज्ञ है तो उस
अवस्था में प्रत्येक दशा में इन के कुल पुरोहितों के आर्षियों का ही वरण होता है। एक पक्ष यह
भी है कि—ब्राह्मण अभिषिक्त क्षत्रिय राजा अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय-वैश्य सबका मनुवत्
इस निगद मन्त्र के द्वारा भी आर्षेयवरण किया जा सकता है। निम्न लिखित सूत्रपञ्चम से भी
आर्षेय-वरणकर्म का स्पष्टीकरण हुआ है—

(१)— अमुवदमुव' दिति यजमानार्षेयाण्याह परस्तादर्वाञ्चिव त्रीणि

(का ३।१।) ।

(२)— 'याव तो वा म व्रकृत

(का ३।२।८।) ।

(३)— 'पुरोहितार्षेयया वा

(का ३।२।६।) ।

(४)— क्षत्रिव वैश्ययोश्चानत्यम'

(का ३।२।१।) ।

(५)— 'मनुव दिति वा सर्षेयाम्'

(का ३।२।१२।) ।

उक्त प्रकार से आर्षेयोच्चारणान्तर यह अध्ययु ब्रह्मणवदा च वचद् ब्राह्मणा अस्य
यज्ञस्य प्रावितार इस निगदशेषमन्त्र का उच्चारण करता है। अनन्तर— मुक्तरक्त— शर्मा
होता मनुष ' (असौ मनुष) यह बोलता है। यह उच्चारण मनुष होता का ही वरण साधक
है। मनुष होता का उच्चारण से नाम बोलना एक पक्ष है धीरे से (उपाशुरूप से) नामोच्चारण
करना पक्षान्तर है। इस प्रकार मनुष होवृवरणानन्तर वह होता (मनुष होता) एतच्चा देव सपित
वृणीते इत्यादि [शतपथब्राह्मणोक्त स्वस्त्यथनजप करने के अनन्तर] अध्ययु तथा आग्नीध्र
दोनों के स्क्व * प्रदेश का स्पष्ट करता है। स्पर्शानन्तर अध्ययु तथा आग्नीध्र दोनों यथा-
स्थान बैठ जाते हैं। इसी इतिकर्त यता या ल्लेख करतेहुए सूत्रकार कहते हैं—

(१)— ब्रह्मणवदा च वचद् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारोऽसौ मनुष ' इति
होत नामग्रहणम्

(का ३।२।१३।) ।

(२)— उपांशु वा'

(का ३।२।१४।) ।

(३)— सम्मृध्य उपविशत'

(का ३।२।१५।) ।

इति सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

—*—

* असेऽध्ययु मन्त्रारभेत-पाश्वस्थन पाणिना आग्नीध्रमङ्कदेशेन

—आ श्रौ सू १।३।२।१२६।

वैज्ञानिक-विवेचना —

—आश्रावणकर्मोपपत्ति —

(भाष्य)—उत्तराघार—कर्मान्तर जुहु यत् आ यशेष का वृत्वास्थित आय से समञ्जन कराया जाता है अनतर जुहु उपभृत् नामक दोनो सुकपात्रो को यथास्थान रख दिया जाता है। इस कर्म के अनतर वरणकर्म आरम्भ होने वाला है। जिन दम्भतणसमूहों से यज्ञिय ऋम (काष्ठ) बाँधे जाते हैं वह तणसमष्टि इमसन्नहन नाम से यहूत हुई है। इसे अपने हाथ में लेकर ही अव्यय तथा आनीध्र नामक ऋत्विक् आश्रावण—कर्म की इतिक्रम यथा पूरी करते हैं। पहले अव्यय आश्रावण इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है अनतर आनीध्र अस्तु श्रोषट इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है यही प्रयाश्रावणानुगत आश्रावणकर्म की इतिक्रम व्यता है जसा कि सूत्रानुगत पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। ब्राह्मण की २ ३ न तीन कण्डिकाओं में उपपत्ति प्रदर्शनपूर्वक इम आश्रावणकर्म का ही प्रतिपादन हुआ है।

वरणकर्म से पहिले आश्रावण क्यों किया जा रहा है ? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है यह आश्रावणकर्म निश्चयन यज्ञ है। वरणकर्म से वृत्त ऋत्विजो के द्वारा यज्ञ तत्काल व्यता का ही सम्पादन अभीष्ट है। दूसरे शब्दों में वरणकर्म एकप्रकार का यज्ञाधिकार (यज्ञ तत्काल व्यता—नर्वाहा—धिकार)—प्रदान है। इस यज्ञाधिकार प्रदानलक्षण वरणकर्म के उपक्रम में प्राकृतिक यज्ञ का सन्धि अपोक्षित है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आश्रावणकर्म यज्ञ का वरणकर्म से पहिले अनुगमन किया जाता है। आश्रावण इस निगदमन्त्र का तापय यही है कि जिसका आज हम इस यज्ञ में वरण करना चाहते हैं उसे प्राकृतिक देवता स्वीकार करल। इसे हम आपके यजनरूप यज्ञकर्म के लिए आज होता बना रहे हैं यही आश्रावणकर्म का निष्कर्ष है। आङ्गिरस पारिव्राज्य—देवताओं का आहुति—द्रव्य के द्वारा सावित्र द्युलोकस्थ प्राण—देवताओं के साथ अतर्थात्म—सन्ध्यात्मक यजन करना ही यज्ञ है। आश्रावणकर्म से दिय प्राणदेवताओं की दृष्टि क्योंकि इस यज्ञकर्म की ओर होजाती है एतावता ही देवप्राणाकषकरूप आश्रावण को यज्ञ कहा जासकता है। इसप्रकार आश्रावणकर्म करना दियप्राणामक यज्ञ का ही अनुगमन करना है। जिसकी स्वरूप—निर्पत्ति के लिए वरणकर्म अभीष्ट है आश्रावणकर्म से वह लक्ष्मीभूत बन जाता है। अतएव वरण से पहिले आश्रावणकर्म आवश्यक बन जाता है ॥ १ ॥

जिन दम्भतणसमूहों से (दम्भजु से) यज्ञिय इध्र का ठ बाँधे जाते हैं वे इध्रसन्नहन (लकड़ी बाँधने की दम्भज) नाम से व्यवहृत हुए हैं। वेदि पर जो तण आदि गिर पड़ते हैं उह इसी दम्भजु से हटाया जाता है। ऋम रभजु को हाथ में लेकर ही अव्यय आश्रावणकर्म करता है। यह आश्रावणकर्म मसन्नहन हाथ में लेकर क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि यदि वह अव्यय यज्ञामक इस इमसन्नहन को आलम्बन बनाए बिना आश्रावण करेगा तो ऋसकी अथा मसस्था कम्पित होजायगी अथवा ओर किसी विपत्ति का ऋसे सामना करना पडगा।

द्युलोकस्थ प्राण देवताओं का आकषणामक आश्रावण—कर्म यज्ञ है जैसा कि पूर्व कण्डिका में स्पष्ट किया जा चुका है। यज्ञात्मक आश्रावणकर्म यज्ञ को आलम्बन बना कर ही करना चाहिए

स कथन से श्रुति मसन्न न को भी यज्ञा मक बतला रही है। ताप य स कउन का यही है कि यज्ञत व अ याम अधिभूत-अधिदत्त मेद स तीन भागो में विभक्त है। सारसम्प सराजि छन्न सा ज्ञान पारमे ज्यसोमा मक द्य लोकोपनक्षिन यज्ञ आग्नित्रिक यज्ञ है। पार्थिवसम्प सराजि छन्न आङ्गिरसाग्नि चा सोमा मक भूलोकापनक्षिन यज्ञ आग्निभातिक यज्ञ है। एष उशानरानि तथा अन्नसोमा मक शरीर यन ही आ यामिक यज्ञ है। आ णणकम्म द्यु देवताकपरु नता हुआ आधिभौतिकयज्ञ है आश्रावणकर्त्ता अ उग्य आ यामिक यज्ञ है। एव ऋम सन्नहन नितानेन आधिभौतिक यज्ञ है। साथ ही ऋणुयज्ञा मक पारमष्ठ्य अपत न क योत मय भाग स उपन्न होन के कारण दम साक्षादरुप स भी पार्थिव यज्ञ है। इधर अद य प्रथित्री सिद्धा तानुसार अपन न स उपन्न पार्थिवयज्ञ अत्रा मक [वना मक] दम का सजातीय भी है।

जन्नतक अ या मयज्ञ इस ओर के पार्थिव [आधिभातिक] एव उस ओर क दि य [आधिदविक] यज्ञ दोनो से अनुगहीत रहता है तभीतक सका स्वरूप प्रातष्ठित रहता है। दोनो में भी पार्थिवशरीर प्रधाना अ यामसस्था की प्रधान प्रात ठा आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ हो है। इस प्रात ठा के निकल जाने से ही निधनावस्था का आगमन होता है प्रत ठाव युत स ही ऋस पर अ या य विपत्तिया आक्रमण करी है। जन्न पार्थिवी यज्ञप्रातष्ठा उा छन्न ढाजाती है तो केवल द्यु लोकाकषण का प्राग य ह जाता है। द्यु लोकाकषण का प्राघा य ही पार्थिवप्रति ठा छे का कारा है। यावदायुर्मौगप य त उभयानुप्र प्रा त के लिए ही द्यु लोका स्थानीय आह्वनीय तथा भूलोकास्थानीय गाहपय दोनो के म य मे पड हाकर अप उपस्पश [आचमन] कम्म क्रिया जाता है जसा क — वनमुपैष्य न नरेणाह्वनायञ्च गाहप यञ्च प्राड तिष्ठन्नप उपस्पशति [शत १।१।१।२] इ यादि रूप से विस्तार स बतलाया जानुका है। ठीक वही प्रयोजन यहा अपोक्षत है। यदि अ न्यु पार्थिव यज्ञ को अन्न वन बनाए षना द्यु लोकागुत आधिदविक यज्ञ-सग्राहक आश्रावणक म करेगा तो विशुद्ध दि ययज्ञ के प्रावा य से सकी पार्थित्री यज्ञप्रति ठा पर आघात होगा। फलत प्रते ठावि-युत होजायगी अथवा तो अ य किमी विपत्ति का अनुगमन करना पडगा। इस आपत्ति से बचने के लिए आश्रावणकम्म करत समय [आधिदविक यज्ञस पत्ति सग्रह करते समय] पार्थिवी प्रतिष्ठा को आलम्बन बनाना आवश्यक होजाता है। इसी उद्देश्य से ऋम सन्नहन को [पार्थिव यज्ञिय द्रव्य को] हाय मे में लेकर ही आश्रावणक म कया जाता है ॥ ॥

इय [प्रथित्री] वै वेत्ति [शत १।१।१।३] इस श्रुति के अनुसार आधिभौतिक यज्ञ की प्रात ठा [प्रितान थान] पृथिवी ही है एव यही स यज्ञ की वाद है। प्रकृत यज्ञ में जो र्वा बनाइ गइ है वह निदानेन पृथिवी स्थानीया है ओर यी स यज्ञ की प्रात ठा है। वदि पर बिछे हुए दभतृण ओषधि वनस्पति स्थानीय है जिह् यज्ञ समतुलन की िट स वनिरूप शरीर के लोम [आषध] केश [वनस्पति] भी हा गया है। अग्नि को प्रज्जलित करने के लिए तथा सामि नीकक म-स पादन के िए जो ह मभार (काष्ठ गार) लाया जाता है वह निदानेन अन्न है। शेषे गनेषु मात्रा स या मर्त्तास इधत (अकस ८।६ ।१५।) याि मन्नश्रुति के अनुसार का ठ मे अग्नि सुत है। यही मृ यमाण अग्नि है जिसे अप्रयक्ष स बध स कृष्ण-मृग कहा जाता है। र्वा यौर इ मका ठ दानो पार्थिव (आधिभातिक) ज मक है। आश्रावणकम्म म पार्थिवी प्रति ठा हा अभिप्रत है। अतएव प्रथम तो वद पर बिछे दभतृण

को लेकर ही आश्रावण करना चाहिए अथवा मग्यण्ड का लेकर आश्रावणकर्म करना चाहिए। वादतृण स ज्ञानात् रूप स एव मग्यण्ड स पर परया पृथिवी प्रति ठा प्रात होजाती है स उपपत्ति को आगे करते हुए कितने एक सा प्रायिक आश्रावणकर्म में वदिस्थित दमवृण अथवा मग्यण्डग्रहण का समथन कर रहे हैं।

भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में वादतृण अथवा मग्यण्ड दोनों में से किसी को भी लेकर आश्रावणकर्म करना विज्ञान-मग्यण्ड है। कारण स्पष्ट है। य ठीक है। वादतृण तथा मग्यण्ड दोनों ही पार्थिव-प्रति ठा मक है। परंतु ये दोनों अथकर्म में विानयुक्त ह। वादतृण को लेना एक दृष्टि स पृथिवी की ओषधि वन पति का पृथिवी (गाढ) से पृथक् कर उस ऊसर बनाना है। इस के अतिरिक्त विहित दमवृण सुषदा भय के अनुसार दवताओ का प्रात ठा मक आसन है। से उठाना आगत दवताओ को प्रति ठा से प्रियुत करना है। ऐसी दशा में वादतृण ग्रहण करना सवथा ही अनचित ठहरता है। इ मका ठ इ धन-साधन कर्म के लिए नियत है। सका एण्ड लेना समि धनकर्म को अपूर्ण बनाना है। फलतः मग्यण्ड ग्रहण भी अथकर्म बन जाता है याज्ञवल्क्य उन सा प्रदायकों से श्रन करत है। किन्तु दमवृणो स मग्यण्ड बाधा जाता है क्या व मसन्नहन यज्ञय नहीं है? क्या इनमें पार्थिव-प्रति ठा नहीं है? जब कि दमवृणो से यज्ञकर्म बाधा जाता है इन स आनस माजनकर्म होता है आगत तृणार्थ निरसन मग्यण्ड अथवा भी अनेक पाराशष्टकर्म होत है तो न की प्ररूपता क्या स दहर जाता है? अत जो यज्ञ नतृण ऐसे ऐं परशिष्टकर्म के लिए ही नियत है सा म ही वादतृण तथा इ मशकल का मग्यण्ड अनुचित है तो प्रथम दशा में मसन्नहन ग्रहणपूर्वक ही आश्रावणकर्म करना चाहिए ॥३॥

इत्याश्रावणकर्मोपपत्ति

१

२-दिव्याग्निप्रवरणकर्मोपपत्ति —

चतुर्गा () से आरंभ कर ऋची कण्डिका-पथ्य त पाँच कण्डिकाओं में प्राकृतिक दिव्य प्राणाग्नि के वरण की मापवस्तु तिकर्षिता का ही स्पष्टीकरण हुआ है। विद्यमान में होतृ वन वृत प्राणाग्नि के क्या क्या धर्म हैं? प्रतिपाद्य उपपत्ति प्रकरण में इसी प्रश्न का समाधान हुआ है। जिन मसन्नहनलक्षण दमवृण-समूहों से यज्ञिय का ठ-सम्भार बाधा जाता है पूर्विकर्तानुसार उह हाथ में लेकर वह अथकर्म-ओ आश्रावण इस निगमत्र का उच्चारण करता हया आश्रावण कर्म करता है। अथकर्म के इस आश्रावण-कर्म के अन्तर आनीध्र नामक ऋचिक अस्तु आश्रावणकर्म मग्यण्ड मत्रोच्चारण स प्रयाश्रावण कर्म करता है। अथकर्म के इस आश्रावण तथा आनीध्रकर्म के प्रयाश्रावण-कर्म के अन्तर अथकर्म व यु उन मसन्नहनवृणों को अपने हाथ में रखता हुआ ही— अग्निदेवा देवो हाता देवान् यज्ञद्विद्व-श्रिक्रियाय मनुष्वद्भरतपने यस निदगमत्र का उच्चारण करता हुआ दिवाग्नि का ही अपने इस धे यज्ञ में होतृत्वावगा करता है जो कि अथकर्मकर्म होतप्रवरणकर्म का भाग है।

यज्ञक म में नेनेजाले हौत्र-कम्म की इतिकर्षयता जिस ऋ वदी ऋषिक के द्वारा स पत्र होती है वही होता कहलाया है। होत्रक र्मेतिक र्षयता-लक्षण आधकारप्रदान के लिए होने वाला अ वय्युक्त क कम्म ही होतप्रवरणकम्म है। स मानुष होतप्रवरण-कम्म से पहिले दि याग्नि का सम्बन्ध कराना क्यों आवश्यक समझा गया ? दूसरे श दो में दिव्याग्निवरण क्यों अपेक्षित है ? इसी प्रश्न का सापपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि स वरणकम्म स देवताओं के होता अग्नि से तथा प्राणदेवताओं स अपनी घृष्टता का ही निराकरण किया जाता है। ता पथ्य यही है कि प्राकृतिक सा त्रसरिक अ नीषोमा म यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है। स यज्ञ का होतृ व पार्थिव-प्राणाग्नि पर ही अवलम्बित है। पार्थिव प्राणाग्नि के एति-प्रेति लक्षण गमनागमन यापार से ही पारमेष्ठ्यसोम का अपहरण होता है। सुपर्णामक इस गायत्राग्नि से अपहृत सोम ही पार्थिव आग्नेय ३३ प्राणदेवताओं के यज्ञ का स्वरूप-स पादक बनता है। इस यज्ञस्वरूप-नि गत के अतिरिक्त अ लोकस्थ सौर-सावित्र-देवप्राण का पार्थिव प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना भी उक्त-लक्षण गायत्राग्नि का ही कर्म है। इस देवाह्वान-लक्षण वयजन (देवाना सङ्गमन) क म से भी ये अग्नि होता कहलाए हैं।

यजमान का यह वधयज्ञ प्राकृतिक यज्ञ नहां है अपितु उसकी प्रतिकृति है। ठीक उसी के अनुरूप सका वितान हुआ है। अतएव आवश्यक है कि जसा जा कुछ वहा होरहा है यहा भी ठीक वसा ही किया जाय। प्राकृतिक नेता-अग्नि का स वध यज्ञ में नियुक्त करना अशक्य है। अग या मानुष होता का ही वरण किया जाता है। जो मह गृण्य कम्म (होत्रक म) प्राणाग्नि का है आज वसा दि य कम्म एक मनुष्य करना चाहता है। जो देवयज्ञलक्षण आह्वानक म प्राणाग्नि का है वह आज एक मनु य करना चाहता है। क्या अनृतसहित पाप्माओं से युक्त मरणधर्मा मनु य (ऋषिक) सयसहित विधृतपाप्मा अजर-अमृत-धर्मा प्राणाग्नि के द्वारा होने योग्य हौत्रकम्म में सफलता प्रा त करसकता है ? नहीं भी और हा भी। नहीं इसलिए कि वह अमृतलक्षण है यह मरणध र्मा है। वह प्राणप्रधान ह यह भूतप्रधान है। हा सलिए कि मात्रशक्ति के द्वारा अ व यु इस मरणध र्मा मनुष्य में भी प्राणाग्नि के अनुग्रह की भावना कर लेता है। फलत यह मनुष्य रहता हुआ भी प्राणाग्यनुग्रह से तत्सम कम्म में समथ होजाता है। उसी अनुग्रह की प्राप्ति के लिए दूसरे श-दो में— हम ो इस यज्ञ मे होतृत्वेन आप ही का वरण कर रहे है आप ही क शक्ति-समावेश से यह मानुष होता आप के द्वारा होने योग्य स हौत्रकम्म मे प्रवृत्त होरहा है इस भावना के द्वारा वैध यज्ञ में होतृ वेन गृहीत मनुष्य-होता में प्राणाग्नि-धम्म के समावेश के लिए ही सबप्रथम मात्रशक्ति के द्वारा प्राणाग्नि का वरण करना आवश्यक समझा गया है।

यदि ऐसा न किया जाता तो क्या अनिष्ट होता ? उत्तर स्पष्ट है। बिना प्राणाग्नि-सम्बन्ध के देवता तथा अग्नि दोनों के प्रति इम मनुष्य होता की घृष्टता ही नहीं होती अपितु प्राणाग्नि-सम्बन्ध भाग में प्राणाग्नि-कक्त क होत्रकम्म में भी अनेक वि न उपस्थित होजाते। विघ्नो की ही क्या कथा उस दशा में तो यह इस कम्म में सफल होना तो दूर रहा अपितु यह अपना अनिष्ट ही करा बठता और फलस्वरूप यज्ञ सार्था विकृत होता हुआ प्रकृतिविरुद्ध बनता हुआ अभ्युदय-लक्षणा इष्टप्रवृत्ति के स्थान में प्रयवाय-लक्षणा अग्नि ट्प्रवृत्ति का ही कारण बन जाता। जैसा प्रकृति मे हो रहा है वैसा ही यहा होना चाहिए तभी यज्ञ की रूपसमृद्धि है यही यज्ञानुगता मूल-प्रतिष्ठा है।

अत्र इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और बचरता है। यज्ञ में प्राणाग्नि तथा अय यज्ञिय देवग दोनो का सम्बन्ध होता है। फलतः इस प्राकृतिक वरणकर्म में दोनो का अनुग्रह अपेक्षित है। यहा केवल प्राणाग्नि का तो वरण होजाता है परतु देवानुग्रह के लिए कुछ नहीं किया जाता। ऐसी दशा में प्राणाग्नि से अपराध-क्षमा न होजाने पर भी देववग से अपराध क्षमापन नहीं होता। इस रिप्रतिपत्ति के निराकरण का क्या उपाय?। श्रुति उत्तर देती है कि केवल प्राणाग्नि के वरण स ही प्राणाग्नि तथा देववग दोनो का अनुग्रह प्राप्त होजाता है। अग्निर्देवो वै यो होत इयादि मन्त्र से होने वाले वरणकर्म में पहले अग्निर्देव ऋषि रूप से अग्नि का ग्रहण है। इस से तो प्राणाग्नि का अनुग्रह प्राप्त होजाता है। ए०— द यो होता इस अग्निधर्म से देववग का ग्रहण होजाता है। देवदूत प्राणाग्नि देववग स अविनाभूत है। केवल अग्नि कहने स अग्रय ही देववग का ग्रहण नहीं होता। परतु देवताओं का जो हाता है ऐसे अग्नि का मैं वरण करता हू इस कथन स होता—प्राणाग्नि के सम्बन्धी देवग का ग्रहण भी पर परया स्वतः सिद्ध है।

यद्यपि मन्त्रभाग स्पष्ट है। तथापि इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक होगा कि अग्नि सर्वा देवता सिद्धात के अनुसार प्राणाग्नि ही अपनी धन-तरल विरलावस्थाओं से त्रयम्बिशद्विध (३३) बनता हुआ सवदेवमूर्ति बन रहा है। अतएव इसे अग्रयमेव देव (सप्तदेवमय) कहा जासकता है। अग्निर्देव मन्त्रभाग से अग्नि के इसी देवधर्म का स्पष्टीकरण होरहा है। यह अग्नि अपने अवस्था भेदों में जहा सवदेवमूर्ति है वहा अपने पार्थिव गायत्ररूप स यही अलोकस्थ देवताओं के यजन का भी निमित्त बना हुआ है जो कि यजनकर्म है देवह्वान ही अस प्राणाग्नि का दूसरा धर्म है जिसका द यो हाता उस मन्त्रभाग से स्पष्टीकरण हुआ है। ३५ कण्डिका द्विती की यही सन्निपत्त उपपत्ति ॥ ४ ॥

देवान् यज्ञद्विद्विश्विकित्त्वान् यह मन्त्र का अगला भाग है। यह अग्नि देवताओं के स्वरूप को जानने वाले हैं इनके सूक्ष्म स्वरूप को पहिचानने वाले हैं एव प्राण देवताओं का परस्पर यन करने वाले हैं। भले बुरे (सत् असत्) का परिज्ञान करने वाला सदसद्विक्की विद्वान् कहलाया एव मौलिक स्वरूपपरिज्ञाता चिकित्त्वान् क लाया है। अयामपरिभाषानुसार भौतिकतः का परिज्ञाता विद्वान् है एव प्राणतः का परिज्ञाता चिकित्त्वान् है। लोकपरिभाषानुसार शास्त्रिक ज्ञानाधिष्ठाता विद्वान् है एव यज्ञहारनिष्ठ चिकित्त्वान् है। सामा यरूपेण परिज्ञाता विद्वान् है एव विशपरूपेण परिज्ञाता चिकित्त्वान् है [देखिए ऋक्स म । १६४ सू । ६ म सायणभाष्य]। प्राणाग्नि पार्थिव विपत्त का विद्वान् भी है और चिकित्त्वान् भी। अपने भौतिकरूप से ये उभयलोक के विद्वान् हैं व्युनानि विद्वान्। एव अपने प्राणरूप से ये पार्थिव दिव्यदेवताओं के प्राणस्वरूप के विशेष परिज्ञाता बनते हैं चिकित्त्वान् भी है। यज्ञकर्म में उभयविध देवताओं का भूतो के आधार पर यजन होता है। फलतः अपने वैधयज्ञ में भी वही सफलता प्राप्त कर सकना है वही ठीक ठीक [अनुष्ठ्या] यजन कर सकता है जो भूतों का विद्वान् तथा प्राणों का चिकित्त्वान् है। यजमान के स यज्ञ म प्राणाग्नि के इन्ही दोनो धर्मों का समावेश कर प्राणाग्नि के अनुग्रह से यज्ञसफलतासिद्धि के लिए देवान्यज्ञत् इयादि कहा गया है ॥ ६ ॥

मनुष्यद्वरतवन् यह मन्त्र का अगला भाग है। सूयकेन्द्रान्छिन्न द्रवप्राणामक बृहती स पत्ति से युक्त अयय के श्वैवसीयस नामक शाश्वत मन से अनुगृहीत सृष्टलय कालप्रवक्त क प्राणत व ही आधि

दविक मनु है । यही सा व सारक प्राणान के सहयोग स आधिदविक स प्रमयज्ञ के परूप समपक बन रहे ह । न प्राणि छन्न प्रजाप्राणमूर्ति आयुस्वरूपाप्रिष्ठाता प्राणा मक मनोऽनुग्रहीत प्राणतन्व ही आ यामिक मनु है । ये ही शारीर प्राणान के सहयोग स आ या मक यज्ञ के स्वरूप समपक है । वेत् धम लोक प्रजा नाम की सृष्टि चतुष्पथी क यप्रसाक आन्निब्रह्मा भगवान् प्रयम्भू आग्नि भौतिक (ऐतिहासिक) मनु हैं [थे] । न्होंने ही प्राकृतक यज्ञ स्थिति के अनुसार सबप्रथम वधयज्ञ का वा अनुठा किया है [था] । सप्रकार अधिद्वय-अ या म अधिभूत तीनों ङ्टिया स त्रिध मनु ही यज्ञ क प्रपत्तक हैं । अतएव ङ्गिक म प्रदाय में यह यज्ञ मनु का है [मनोयज्ञऽइ यु वाऽआहु] यह प्रसिद्ध है ।

जिसप्रकार धनु श द उभयलिङ्गामक [नपुसङ्गितया पुताङ्गामक] है एवमेव उकारात् मनु श द पुलि- है एप्र सकारात् मन शान् नपुसकलिङ्ग है । मनु या ङ्द रूप सा त मनु श द स स ब्रध रक्त है एप्र मानगा ङ्गि शान् उकारात् स बधी है । प्रकृत में सा त मनु श द का ही ग्रहण हुआ है । फलत मनष्पन् का ता प य निकलता है मनुरिप । जिसप्रकार मनु ने यजन किया गा एवमेव य प्राणाग्नि भी होता बन कर इस यज्ञ में देवताअ का यजन करे मनु ङ्त् म प्र भाग का यही एक ता प य है । यदि मनुष्पन् का मनुरिप विग्रह न कर मनारिप यह विग्रह किया जाता है तो इसका ता प य यह निकलता है । क नसे मनु ङ् यज्ञ मे होता बनकर अनिने देवताओं का यजन किया था तथय इस यज्ञ मे भी वे अग्नि होता बनकर देवताआ का यजन कर । मनुह वाऽअप्र यज्ञ नेजे नसे मनुरिप ङ्ग्रहानसार प्रथमाथ अपे न्त है । एव मनोयज्ञ ऽइ यु वा आहु इससे मनोरिप ङ्ग्रहानुसार द्वितीयाथ अभिप्र त है । प्रथमाथ से आधिभौतिक मनु का रपणीकरण हुआ है । ङ्ग्र द्वितीयाथ से आध्यात्मिक मनुयुक्त आधिद्विक मनु का रपणीकरण हुआ है । हृदयभावाऽऽन्न उक्थभाय मनु है परि यवच्छिन्न अकभाव (रश्मिभाय) प्राणाग्नि ह । उक्थाक का क्योकि स्थानभत् से पाथक्य है अतएव मनु को पृथक् तथा अग्नि को पृथक् त व मान लिया गया है । एव सी दृष्टि से मनारिप का सम वय होजाता है । त वत उक्थार्क अभिन्न है । नस दृष्टि से उक्थ मनु और अक अग्नि दोनो अभिन्न हैं । इसी आधार पर— एतमेके वदत्यग्नि मनुमये * (मनु १२।१२३) यह कहा जाता है । हृदयावच्छिन्न उक्थलक्षण मनु से युक्त तत्करूप अतएव तदभिन्न अतएव तन्प प्राणाग्नि ही यज्ञ के स्वरूप सम्पात्क है मनुष्वत का यही ता पर्याय है ॥ ७ ॥

मन्त्र का अतिम भाग भरतवत् है । इत् प्रणाना ह्येते (देवा उपजीवन्ति) (ऐ आ २। ।) इ यादि ऐतरेयश्रुति के अनुसार ङ्ग लोका मक स व सरमण्डल में प्रतिष्ठित सोर दिव्य देवताआ का जो प्रव य भाग पार्थिव सग म विस्तस्त [एच] होता रहता है पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि नामक प्राणाग्नि के

* एतमेके ङ्द त्यग्नि, मनुम ये प्रजापतिम् ॥

२ द्रमक परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥

—मनु

द्वारा वह विस्वस्त भाग यहा से जाकर उस विस्वस्त भाग की पूर्ति किया करता है। इत एत उदारुह्वान्स्प्रष्टा यारुह्वान् चामङ्गिरसो ययुः यानि मात्रवणान् के अनुसार भूलोक से निकलकर प्रलोक की ओर जाता हुआ अङ्गिरोऽग्नि ही देवत्व तर्पति का कारण बनता है अमुत प्रदानाद्वीद् सजमुत्तिष्ठति [ऐ आ २।१।२] के अनुसार वहा से [द्युलोक से] देवप्राण का प्रवर्धरूप से निरंतर आगमन भी होता रहता है सीसे प्रजा का स्वरूप निर्माण होता है। एव पत्रकथनानसा अङ्गिरा के द्वारा पार्थिव प्रवर्ध भाग जाता भी रहता है। नसी पारस्परिक अन्न-अन्नान् लक्षण आत्मान प्रदान प्रक्रिया का नाम यज्ञ है। इस प्राकृतिक यज्ञ में द्युलोकस्य देवताओं के लिए पार्थिव हविद्रय का लेजाना एकमात्र पार्थिव प्राणाग्नि पर ही अवलम्बित है। इसीलिए उक्त — एष हि देवेभ्यो ह्यभरति निवचन से भरत कहना अर्थ बनता है। भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले हजियज्ञ [प्राकृतिकयज्ञ] से पार्थिव प्रजा का स्वरूप-निर्माण हुआ है। इस पार्थिव प्रजा में भौम प्रवर्ध अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। उसे आपलातोपनिपत् की परिभाषा में प्राणाग्नि भी कहा जाता है। प्राणाग्नि एवैतस्मिन् पुर [शरीरे] जाग्रति [प्रनोपनिपत् ४।३] के अनुसार अपान समान यान उदान प्राण भेद भिन्न पञ्चम विभक्त प्राणाग्नि ही इस शरीरसस्था [अया मसस्था] में सदा जागते रहते हैं। इस प्राणाग्नि के द्वारा ही प्रजा का भरण पोषण होता है। जिस दिन प्राणाग्नि शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है अन्नानलक्षण अहरहयज्ञ [भयययज्ञ] बन्द हो जाता है तत्क्षण भूता मा उत्क्रान्त हो जाता है।

उक्त अया मसस्था की दृष्टि से भी वैश्वानर लक्षण इस अग्नि को भरत कहना अर्थ बनता है। जिस युग [द्योयुग] में इसी पृथिवी पर भौम देवयवस्था थी उस युग में जैसे भौम-स्वर्ग के शवनसोपात् [अतिष्ठाया अधिष्ठाता] देवता इन्द्र थे अतरिन्द्र के शवनसोपात् वायु थे एवमेव स्वयम्भु मनु सद्माट् से शासित इस पृथिवी के शवनसोपात् अग्निदेवता थे। पार्थिव प्रजा से कर ग्रहण कर देवताओं के प्रति उसे पहचाना पार्थिव प्रजा की वामदेवादि के सहयोग से भरण-पोषण व्यवस्था करना इही भौम अग्निदेवता (मनु यदेवता) का काव्य था। इस आधिभौतिक (ऐतिहासिक) दृष्टि से भी अग्नि को भरत कहना अर्थ बनता है। नसी भरण-पोषण धर्म से ये अग्नि भरत कवा भारत कहलाया है। इहीं के सम्बन्ध से यह पत्र देश भारताय कहुलाया है। जिसप्रकार उक्त तीनों यज्ञ सस्थाओं का सम्बन्ध भरताग्नि से हुआ है एवमेव हमारे इस वैधयज्ञ की इतिक्त यता भी उसी भरतायन से सम्बन्ध हो इसी भावना को लिए भारताय कहुलाया है ॥ ८ ॥

इति-दिव्याग्निवरणकर्मोपपत्ति

१

३—आषेयप्रवरणकर्मोपपत्ति —

अग्निर्देवो दैवो हाता इ याद म त्रपाठ के द्वारा अपने स वैध यज्ञ में प्राकृतिक तट य प्राणानि की भावना करना ही अग्नि का होतृ वन वरण करना है जिस का ४ थी से ८ वी काण्डका प र्य त ५ काण्ड काश्चा में स्पष्टीकरण हुआ है। अब क्रमप्राप्त आषेयप्रवरणकर्म की उपपत्ति का ति दर्शन कराया जाता है। यज्ञकर्त्ता यजमान क प्रशगौरव का कीर्त्तन ही आर्षेयप्रवरणकर्म है। इस वरण से यज्ञाधिकार यो यता का ही समर्थन हुआ है। यज्ञकर्म लौकिक कर्म नहीं है अपितु वदिक दिय कर्म है। लौकिक कर्म का अधिकार जहा मनुष्यमात्र को है जहा वैदिक यज्ञ तप दान कर्मत्रयी का अधिकार एकमात्र द्विजा-ति प्रजा को ही है जिसका गीर्ग्य मे जन्मत ऋषिप्राण तथा देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है। यह वैध वदिक यज्ञकर्म प्राकृतिक निय द्विय यज्ञ की प्रिधि पर ही बनत होता है जसा कि अनेकधा स्पष्ट कया जाचुका है। प्राकृतिक यज्ञ ही सम्ब सरयज्ञ है जसा कि इसी ब्राह्मण की १६ वा कण्डिका मे स्पष्ट होने वाला है। सम्ब सरयज्ञ का अन्तिमण्डल से संबंध है।

इस अदितिमण्डल के गम में त्रिवृत्स्तोमानच्छिन्ना अ नप्रधाना प्रित्री पञ्चनशस्तोमान छिन्न वायुप्रधान अ तरिक्त एव एकत्रिशस्तामानच्छिन्न इद्रप्रधान छलाक ये तीनों सौ यलोक प्रतिष्ठित हैं जसा कि— अदितिद्यारन्तिरतरिक्तमन्तिर्मर्ता सपता सपुत्र (ऋक स १८६।१।) इ यादि मत्रवरण से प्रमाणित है। अदितिगम मे प्रतिष्ठित अनिप्रमख पार्थिय - प्रसुदेवता वायु प्रमुख आतरिक्त ११ रुदेवता इद्रप्रमुख दिय १२ आन्ति य देवता नासय स्र नामक २ सा य देवता सम्भूय ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित है ये ही ३३ देवता आदयच्छिन्न सब सरयज्ञ के स्वरूप स पादक हैं। अतएव— येथ त्रयश्च त्रिशश्च मनोर्देवा यज्ञियास (ऋक स ८।३।२।) इ यादि श्रुति के अनुसार ये ही देवता यज्ञिय देवता कहलाए है। इस सब सरयज्ञ में प्रात काल मध्याह्न सायङ्काल भेद से तीन सवन हैं। वसुदेवतानुगत प्रात काल प्रात सवन है रुद्रदेवतानुगत म याह माध्यन्तिनसवन है एव आदि यदेवतानुगत सायकाल सायसवन है। रात्रिगत पूषाप्राण २ स सवनत्रया मक सम्ब-सर यज्ञमण्डल की सीमा से बहिभूत है।

मानाप्रजा मे से जिसके गीर्ग्य में जमत प्रात सवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वणत ब्राह्मण है। जिसके वीर्ग्य मे माध्यदिनसवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वणत क्षत्रिय है। एव सायसवनीयदेवयुक्त प्रजा वणत वैश्य है। रात्रिगत पूषाप्राणप्रधान प्रजापग शूद्र है। स्त्रीप्रजा का भी इसी पूषाप्राण से सम्बंध है। इसप्रकार प्रवृ या ब्राह्मण क्षत्रिय त्रय्य यह द्विजातिप्रजा तो यज्ञसीमा क अतगत है। ए प्री तथा शूद्र दोनों प्रजा ग यज्ञसीमा से बहिभूत है। इसी आधार पर भगवान् यास का— स्त्री शूद्र द्विजब धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा यह वशा क सिद्धात स्थापित हुआ है। प्राकृतिक निय अपौरुषेय त वामक वद की प्रतिकृतिरूप वेदशास्त्र एव त वामक वद पर प्रतिष्ठित इन ययज्ञ की प्रातकृतिरूप वदिक यज्ञकर्म दोनों का एकमात्र द्विजाति मनुष्यप्रजा को ही अधिकार क्यो है ? इस प्रश्न का यही सन्निप्त उत्तर है।

यदि कोई व्यक्ति कम्मणा वर्णाभिमान रखता हुआ यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहता है जैसी कि उ छिन्न-लता आजकल देखी सुनी जा रही है तो यह उस का यामोह है अनधिकारचे ठा ही नहीं है अपितु अ युदय

के स्थापन में सवनाश का आमरण है। यज्ञक्रम में वही विहित होसकता है जो ज मना द्विजाति है जिस के पिता पितामह प्रपितामहादि ज मना द्विजाति है जिस के वीर्य में उक्त लक्षण वर्णानुगत देवप्राण के साथ साथ गोत्रसृष्टप्रयत्नक ऋषिगात्र का पर परया समावश है। ऐसा ऋषिवशज अतएव आर्षेय कल्पाने यो यत्नेप्राणयुक्त ऋणत द्विजाति ही यज्ञ में अचिह्नत है। एव हमारा प्रस्तुत आर्षेयप्रवरणकम्म इसी अतिकारम यथा का विस्तोपण कर रहा है। यजमान ऋणत द्विजाति है इस का ऋषिवश मे सम्बन्ध है यज्ञप्रवृत्ति से पहले यह स्पष्ट होजाना अनिगम्य है। बिना ऋषि तथा देवप्राणसम्बन्ध स्थापन के यजमान यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव द्विजात होतृवरणक्रम के अनन्तर तथा मानुष होतृवरणक्रम से पूर्व यजमान के न दोनों वर्ण धर्मों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। एकमात्र ही उद्देश्य से आर्षेयप्रवरण कम्म विहित है। जो महानुभाव शास्त्ररहस्यानभिज्ञता से क्रमगा वर्णों की व्यवस्था करते हुए एकहेलया मनु यमात्र को यज्ञ का अधिकारी बनाते हुए उनका अनिष्ट कर रहे है हम उनसे पूछते हैं कि व आर्षेयकम्म में किन गोत्रऋषियों का उच्चारण करावगे ? जब कि ज मना शूद्र ऋषिगोत्र से सवथा बहिभूत है। उस समय व— ऋषिभ्यश्चो नमेतद्देवेभ्यश्च निह्वये स श्रुति का कसे समवय करग ? यह उद्धी वदभक्तो से पूछना चाहिए।

ऋषि तथा देवप्राण दोनों का वीर्य से सम्बन्ध है न कि कम्म से। जन्मत ऋषि एव देवप्राण का सम्बन्ध वीर्य में ही रहना चाहिए। वही द्विजाति है वही यज्ञावकारी है। अस जमानुगत वीर्यभाव (वर्णभाव) का स्पष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है— अय महानीर्यो यो यज्ञ प्रापत् । इसी वीर्यस्थापनद्वारा यजमान का यज्ञाधिकारव स्पष्ट करने के लिए आषयवरण होता है। एव यही सक्रम की सन्धित उपपत्ति है— तस्मादार्षेय प्रवृणीते ॥ ६ ॥

उपपत्त्यनन्तर वरण विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सृष्टिक्रम के अनुराध से पितामह पिता पुत्र इन क्रम से ही ऋषिवश परम्परा का उल्लेख होना चाहिए। इस सृष्टिमर्यादा के सरक्षण के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकम्म की दृष्टि से भी परस्तात् अर्वाक् ही वरण होना चाहिए। द्वा मलक्षणा द्विप्रजोपत्ति ही यज्ञक्रम का प्रगण लक्ष्य है। एव उपपत्ति क्रमानुगत प्रकृतिसिद्ध सापिण्ड्य * सम्बन्धानुबन्ध से पितामह पिता पुत्र पौत्र यही क्रम है। अतः सप्रजोपादक यज्ञकम्म में भी आषयवरण करते समय पहिले यजमान के पितामह का अनन्तर पिता का एव सर्वांत में पुत्रस्थानीय यजमान का ही नाम उल्लेख करना आवश्यक तथा क्रमसङ्गत है— तस्मात् परस्तात् एक प्रवृणीते ॥ १ ॥

इति—आर्षेयप्रवरणकर्मोपपत्ति

३

—*—

*—पितामहानुगत इस सापिण्ड्य सम्बन्ध के सुविशद वज्ञानिक विवचन के लिए देरिए खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञान ग्रन्थ का— सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् नामक तृतीय खण्ड।

४—अग्नि-ब्राह्मणानुगृहप्राप्तिकम्मोपपत्ति —

ऋषिवशप्रसूत तथा ज मना (वसत) द्विजाति यह यजमान यज का अधिकारी अग्र्य है पर तु इस का यह अधिकार तबतक काग्यरूप में परिणत नहीं होसकता जबतक कि स के स यज्ञमण्डल में आनीयानिकुण्ड में दिय प्राणदवताओं का सम्बन्ध नहीं होजाता । यह देवाह्वानकर्म एकमात्र ब्रह्मगीय प्रसूत क प्राणाग्नि तथा तद्धी यप्रधान ऋषिवग् ब्राह्मणों के अनुग्रह स योग पर ही निभर है । दि याग्निवरण से अग्नि देवता यज्ञमण्डल में पधार अवश्य आत है परतु प्रकृति के नियत सूत्र के आधार पर न का देवाह्वान-कम्म तो वज्ञानिक अनूचान उन ब्राह्मणों के सहयोग पर ही अवलम्बित है जो उस परोक्ष प्राकृतिक सूत्रलक्षण आधार का मन्त्रात्मक स्तोत्र शस्त्र ग्रह आदि कर्मों के द्वारा सग्रह वरने की शक्ति रखते हैं । अग्निर्गो दैव्यो होता इत्यादि पूर्वोक्त निगदमन्त्र से आगत अग्नि का हातृवन वरण कर लिया यज्ञफलभोक्ता यजमान के वशख्यापन लक्षण आर्षेयवरण स इसे यज्ञाधिकारी भी सिद्ध कर दिया गया । अब आगत तथा वृत्त अग्नि के देवाह्वानलक्षण अनुग्रह की तथा यज्ञस्वरूपसमपक ब्राह्मणों के अनुग्रह की अपेक्षा है । नसी उभयोद्देश्य की सिद्धि के लिए आर्षेयप्रारणान तर तथा मानुषोत्रवरण से पहिले— ब्रह्मण्वदा च वदत् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इस निगदमन्त्र का पाठ किया जाता है जिस का शब्दाथ मूलानुवाद से ही गताथ है ॥११ १२॥

इति—अग्नि ब्राह्मणानुगृहप्राप्तिकम्मोपपत्ति -

४

—*—

५—मानुषहातृवरणोपपत्ति —

प्राणविध सम्बन्ध सरयज्ञ में होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा यजमान आदि भी प्राणविध ही हैं । इस प्राणविध प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही वितायमान स प्राणोविध मानुष-यज्ञ में ऋषिवक यजमानादि यज्ञस्वरूपसग्राहक प्राणीविध ही हैं । द्यावापृथिवीय प्राणामक स व सर-प्रजापति (यजमान) के अनुरूप अपनी पत्नी के यज्ञसयोग से पृथिवीरूप बना हुआ एव स्वरूप से द्युस्थानीय बना हुआ यजमान प्राणोविध यजमान है । प्राणविध अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा इन होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा नामक ऋषिवजो के अनुरूप प्राणीविध अग्न्यनुगृहीत ऋग्वेद का ज्ञाता ब्राह्मण हो । है । प्राणीविध वाय्वनुगृहीत यजुर्वेद का अनूचान ब्राह्मण अध्वर्यु है । प्राणीविध आदित्यनुगृहीत सामवेद का अनूचान ब्राह्मण उद्गाता है । एत प्राणीविध चन्द्रमानुगृहीत अथर्ववेद का तथा ऋथर्गाभिता त्रयीविद्या का परिज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा है जो ऋग्वेदी ब्राह्मण यहा हौत्र-कम्म के लिए नियत हुआ है प्राणाग्नि के वरणान तर उसका वरण लेना भी आवश्यक है । इस वरणकर्म से पहिले यह ब्राह्मण अहोता है अतएव अभी यह देवाह्वान कम्म में अनाधिकृत है । इस अधिकार-प्रदान के लिए ही अधिकारप्रदानस्थानीय वरणकम्म किया जाता है । इसप्रका ब्राह्मणोक्त आश्रावण निव्याग्निवरण आर्षेयप्रारण अग्नि-ब्राह्मणानुग्रह-सम्पादन कर्मों के क्रमानुष्ठान के अनंतर वह अ व यु - असौ मानप -इस

निगदमन्त्र का पाठ करता ऋशा होत्रक म के लिए आगत मानुष होता ऋ वरण करता है । यही प्राकृतिक होता (अग्नि) का प्रतिनिधि है ॥ १३ ॥

इति-मानुषहोत्रवरणोपपत्ति —

५

—*—

६-स्वस्त्ययनजपोपपत्ति —

अ वय्यु प्रयुक्त असौ मानुष इस निगदमन्त्र से होत्रकम्म के लिए वृत होता आज वास्तव में होता बन गया है । इसी क्षण से इस पर उस सम्पूर्ण उत्तरदायि व का भार आगया है जो ह्यत्रकम्म स सम्बध रखता है । अपने इसी उत्तरदायि व को सफल बनाने की कामना स होता स्वस्त्ययनजप करता है जिस का एकमात्र ता प य यही है कि प्राकृतिक स वसरयज्ञ के सञ्चालक जिन प्राणदेवताओं के अनुग्रह स मनु य अपने शास्त्रीय कर्मों म सफलता प्राप्त करने में समर्थ होते है उन प्राणदेवताओं का मन्त्रशक्ति के द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना । जिसप्रकार लोकाधिकारारूढ आधिकारी अधिकारप्राप्त होत ही अधिकारसिद्ध कर्मों को अपने लक्ष्य में ले आता है ठीक उसीप्रकार वरणकम्म स होत्राधिकार प्राप्त करत ही होता उन प्राणदेवताओं की ओर अनुगत होजाता है जिन का एक इसे भविष्य में आह्वान करना है । प्रत्येक का य में नियुक्त होने से पहिले यह आवश्यक है कि उस कार्य की स पूरण रूपरेखा का चित्रण अपने अतजगत् में पचित कर लिया जाय । ऐसा करने से भविष्य में त्रुटि होने की स भावना नहीं रहती । जो याक्त बिना अधिकारमर्यादा कम्ममर्यादा का नियमन किए हठात् कम्म मे प्रवृत्त होजात हैं अवश्य ही अपने स्वाभाविक अतृप्तभाव स व प्रमाद कर बैठते हैं । जिन देवताओं का आह्वान करना है जिनके लिए वषटकार करना है जिन के लिए हवि प्रदान करना है उन सब प्राणदेवताओं के उन सब कम्मकापो को वरणान तर ही लक्ष्य में ले आने के लिए स्वस्त्ययनजप क म विहित है । यही इस क म की लोकनीति-समता सन्धि ता उपपत्ति है जिम का १४ वी कण्डिका में स्प टीकरण हुआ है ॥ १८ ॥

१३ वी कण्डिका से आरंभ कर २६ वी कण्डिका पयत (ब्राह्मणसमाप्ति पयन्त) स्वस्त्ययन-क म से सम्बध रखने वाले मन्त्रों की सोपपत्तिक व्याख्या हुई है । उमी का क्रमशः दिग्गन कराया जाता है । सबप्रथम वृत होता षण्ण देवसाप्तवृणते यह मन्त्र शोलता है । इस के द्वारा होता सविता की ही अनुज्ञा प्राप्त करता है । यह ठीक है कि मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक होता अग्नि का अनुग्रह प्राप्त करता ऋशा यह मनस्य-होता तत्तत्प्राणदेवताओं के आह्वान मे समग्र होजाता है । परतु इस आह्वानकर्म की मूलप्राप्त सविता देवता ही है । सोरमण्डल को अपने गभ म रखने वाले आपामय परमंठी के चारों ओर बृहस्पति ब्रह्मणस्पति वरुण सविता आदि कतिपय उपग्रह उसी प्रकार परिक्रमा लगा रहे है जैसे कि पृथि यादि उपग्रह सूर्यग्रह के चारों ओर । उन पारमेष्ठ्य उपग्रहों में से सविता नामक उपग्रह का मुख्य कम्म है-प्रेरणाबल प्रदान करना । सौर-त्रिलोकी में जिन प्राणदेवताओं के जो भी कम्म हैं उन सब का प्ररक यही सविता प्राण है । अतएव इसे देवताओं का प्रसविता (प्ररयिता) कहा गया है । इस पारमे

उच्य सविता की प्ररणा का सवप्रथम सूय मे ही आ मन हाता है अतएव सूय को भी यत्र तत्र सविता नाम मे व्यवहृत कर दिया गया ह । सूय के द्वारा ही सौरत्रिलोकी म प्रतिष्ठित प्रजा मे सविताप्राण के प्ररणा बल का आगमन जाता है जिस का आधार है— बुद्धिचेत ।

सविता का बृहस्पति से सम्बन्ध है । क्योंकि बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति इत्तरपा प्रथम इस निगम के अनुसार सूय से पूर्व लोकी म सर्वात मे बृहस्पति प्रतिष्ठित है एव उत्तरलोको में सर्वा म म इन्द्र (सौर मधवा) प्रतिष्ठित है । इन्द्र से उपर बृहस्पति * है तदुपरि ब्रह्मणस्पति है व इसके ऊपर सविता है । सविताप्राण का (अकरूप स) आगमन पत्रिधर्मा ब्रह्मणस्पति तथा उच्य प्रपत्तक बृहस्पति इन दोनो पारमण्य उपग्रहो स साश्लष्ट होकर ही (सौर इन्द्रमण्डल म) होता है । वागाधपति बृहस्पति ही अपने राजपय नामक सप्त क म स बुद्धि मे उस ब्रह्मवीय का आधान करत है जो ब्रह्मवीय्य सावताप्राणामिका प्ररणा स आ मज्ञानावकास का प्रवक्त क क्षता है । इसी समसम्बन्ध से सविता को धी का प्रवक्त क मान लिया गया है जसा कि— तत्सावतु रियेय धियो यो न प्रचोदयात् इ यदि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है ।

ता पथ्य ही है कि तत्तत् प्राणदवताओ का यज्ञक म में प्रवृत्त होना सावताप्राण के प्ररणा बल पर ही अवलम्बित है । जबतक यह हाता अपने आ यामक सविताप्राण में आधिदविक सविताप्राण का बल प्राप्त नहा कर लेता तबतक अ या मदेवानुगत आधिदविक प्राणब धनलक्षण स यज्ञक म में वह आधिदविक प्राणदेवताओ का अनुग्रह प्राप्त नही कर सकता । इसी सविताप्राणानुग्रह प्राति के लिए सब से पहिले इसे मन्त्र के द्वारा ही भागना करनी पडती है कि हे सविता देवता । देवाह्वान लक्षण हौत्रकम्म के लिए मरे याज से अ । यु नस्तुत आप का ही वरण कर रहे है ।

इसप्रकार सवप्रथम सविता का अनुग्रह प्राप्त कर अनन्तर— अग्नि होत्राय इस मन्त्र से आनि तथा अग्निमय ३३ यज्ञिय देवताओ का अनुग्रह प्राप्त करता है । हौत्रकम्म का उत्तरदायि व अग्नि पर ही है यह अनेकधा स्पष्ट किया जासुका है । साथ ही— तदग्नये चैतन् वैभ्यश्च इ यदि कण्डिकाशेष का स्पष्टी करण भी पूर्व से गताथ है— (दक्षिण प्रकृत ब्रा की ४ कण्डिका) ॥ १५ ॥

आधिभौतिक साधनो के द्वारा आ यामिक यज्ञ का जिस आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध अपेक्षित है वह सम्बन्ध सर नाम स प्रसिद्ध है । सम्बन्ध सरयज्ञ ही सहयज्ञा प्रजा सष्ट् ॥ इ यदि के अनुसार चतुद्दश-भूतसर्गात्मिका प्रजा का प्रजनयिता (उपादक) है । स व सर का प्रवग्य रेतोभाग पार्थिव योनि में आहुत होता है । इसी व्यापृथि यरस के आपय से प्रजोपत्ति हुइ है । अत अवश्य ही सम्बन्ध सर को पिता कहा जासकता है । दक्षिणस्थ ऋत अग्नि तथा उत्तरस्थ ऋत सोम दोनो के उद्ग्राभ निग्राभ से ऋतु का स्वरूप निपन्न होता है । ऋतुसमष्टि ही स व सर है । प्रयेक वस्तु स्वानुरूप ऋतुप्राण को लेकर ही प्रादुभूत होती है । इस दृष्टि स भी ऋतुसमष्टिरूप स व सर को पिता कहा जासकता है जो कि सम्बन्ध सर अपने तीन सवनो से वैश्वानर बन रहा है ।

* यह बृहस्पति सुप्रसिद्ध सौर उपग्रह भूत बृहस्पति से सवथा भिन्न है ।

भूपिण्ड के अन्तिप्रष्ठ से सल न त्रिवृत्स्ताम प्रात सवन है यही स्तोमत्रिलोकीरूप सम्भ सर का प्रथित्रीलारु है यही पहिला त्रिश है इसी मे घनाग्रस्थानपन्न अग्नि (अग्नि) नामक नर (नायक) प्रतिष्ठित है । त्रिवृत् प्रष्ठ से सल न पञ्चदशस्तोम माध्यदिनसवन है यही सम्भ सर का अन्तरिक्षलोक है यही दूसरा त्रिश है इसी म तरलाग्रस्थापन्न अग्नि (वायु) नामक नर प्रतिष्ठित है । पञ्च शप्रष्ठ से सल न एकत्रिंशस्तोम सायसवन है यही सम्भ सर का अलोक है यही तीसरा त्रिश है, इसी मे त्रिलोकाग्रस्थापन्न अग्नि (आदि य नामक नर प्रतिष्ठित है । सम्भ सर के त्रिवृत् पञ्चदश एकत्रिंश स्थानीय प्रथित्री अन्तरिक्ष द्यौ नामक तीन त्रिंशों क अग्नि वायु आदि य नामक तीनों नरों के पारस्परिक यज्ञ सम्बन्ध से सम्भ सर त्रिलोकी मे याप्त विराट हिरण्यगर्भ सवन्न नामक तीन अपूर्ण भावा का उदय हाता है ।

त्रिवृदग्नि मे पञ्चदश वायु एकत्रिंश आदि य दोनो की आहुति से अग्निप्रधान त्रिमूर्ति जिस भाग का ज म होता है वही विराट् है । पञ्चदश वायु मे त्रिवृदग्नि एकत्रिंश आदि य दोना की आहुति से उ पन्न वायुप्रधान त्रिमूर्ति तत्त्व ही हिरण्यगर्भ है । एकत्रिंश आदि य मे त्रिवृदग्नि पञ्चदश वायु दोना की आहुति से उ पन्न आदि यप्रधान त्रिमूर्तितत्त्व ही सवन्न है । तीनों क अग्नि वायु आदि य प्राधाय सूचित करने क लिए जहा विराट हिरण्य-गर्भ-सवन्न य तीन प्रथक प्रथक् नाम है उहा तीनों का समष्ट्या मक एक नाम वैश्वानर है । विश्वभ्यो नरभ्यो जातो वैश्वानर इस निवचन से तीनों त्रिमूर्तियाँ का उश्वानरत्त्व गताथ है । अतएव विराट्-हिर-ण्यगर्भ-सवन्नमूर्ति सम्भ सर को श्रुति ने- सम्भ सरो वै पिता वैश्वानर कह दिया है । यज्ञ क द्वारा यह वैश्वानरसम्पत्ति प्राप्त य है । केवल अग्नि क अनुग्रह से ऐसा सम्भ सर नहीं है । अपितु वहा अग्नि का उह यापक स्वरूप अपेक्षित है जो सम्भ सररूप से किय वैश्वानररूप से त्रैलोक्य मे याप्त है । २ ती भागना क लिए- अग्नि होवाय सह पिता वैश्वानरेण इस मन्त्र का जप किया जाता है ।

पृथिवी	अ तरिक्षम्	द्यौ
त्रिवृत्	पञ्चदश	एकत्रिंश
(६)	(१५)	(२१)
प्रात सवनम्	मा यदिनसवनम्	सायसवनम्
घनाग्नि	तरलाग्नि	विरलाग्नि
(अग्नि)	(वायु)	(आदि य)

अग्नि	}	अग्निप्रधानस्त्रिमूर्त्तिरिण्यगभ ष्वानर	}	सम्बत्सरो ष्वानर
१-वायु				
अदियय				
-----*				
वायु	}	वायुप्रधानास्त्रिमूर्त्तिरिण्यगभ ष्वानर		
२-आग्नि				
आदि य				
-----*				
आदि य	}	आदि यप्रधानस्त्रिमूर्त्तिरिण्यगभ ष्वानर		
३ अग्नि				
वायु				
-----*				

स्वरयजनप-मत्र का अगला भाग— अग्ने । पूषन् । बृहस्पते । प्र च वद प्र च यज । अनुवचन और यजनकम्म मे पार्थिव अग्नि पार्थिव भूत एव वाक् ये तीनों सावन अपेक्षित हैं । पार्थिव भूतभाग यजनक म का अनुगामी है वाग्भाग अनुवचनकम्म का अनुगामी है । जिस अग्नि का वरण किया जाता है वह द्यावापृथिवी में यात वश्वानरलक्षण प्राणाग्नि था एव प्रस्तुत मत्र में पठित अग्नि भूपिण्डलक्षण पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला भूताग्नि है । इस भूताग्नि का पोषण जिस पार्थिव प्राण से होता है वह पूषा नाम से प्रसिद्ध है । शून्सृष्टिप्रवक्तक अदत्तक पूषाप्राण रेवती-नक्षत्रामक पूषाप्राण आदियलक्षण पूषाप्राण तीनों में से प्रकृतमत्र के पूषा शय से अदन्त पार्थिव पूषाप्राण ही अभिप्रत है । वाक्-गो द्यौ ये तीन पृथिवी के मनोता माने गए हैं । इन तीनों में पार्थिवी वाक् का बृहस्पति से सम्बन्ध है जिस ब्राह्मण या वाक् से पार्थिव वषटकार का स्वरूप-निर्माण होता है । पार्थिवी गो का आभन से सम्बन्ध है जिस से— गौर्वा अग्निहोत्रम् के अनुसार पार्थिव आनहोत्रयज्ञ सम्पन्न होता है । एव पार्थिव द्यौ मनोता का पूषा से सम्बन्ध है । इन तीनों पार्थिव तवों के समन्वय से ही पार्थिव यज्ञ के याया तथा अनुवाक्या-कम्म सम्पन्न होते हैं । मत्र के द्वारा उन्ही तीनों का समग्र किया जाता है ॥१६॥

स्वरयजनपमत्र का अगला भाग है— वसूना राती स्याम रुद्राणामु र्याया स्रदित्या अदितये स्यामनेहस । पार्थिवयज्ञ के पाकयज्ञ वितानयज्ञ भेद से दो विवक्त हैं । स्मात्त गृह्ययज्ञ पाकयज्ञ है । एव श्रौत त्रैतागिनयज्ञ वितानयज्ञ है । पार्थिव गार्हपयाग्नि का वसुदेवता से आन्तरिद्य धिष्ययाग्नि

का रुद्रदेवता से तथा दिग्ब्रह्मदेवताओं का आदिदेवता से सम्बन्ध है। दवत्रयी से अनुग्रहीता अनित्रयी का वितान (पृथिवी से द्यलोक पर्यन्त फलाव) ही वितानयज्ञ है। इन तीनों गणदेवताओं के समग्र स प्राकृतिक वितानयज्ञ की सपत्ति का समग्र होजाता है। प्रकृत मन्त्र से उसी वितानमपत्ति का समग्र किया जाता है। पार्थिव अन्नसम्पत्ति पशुसम्पत्ति तथा द्रव्यसम्पत्ति तीनों की समाष्ट राति है। जिसे दौलत कहा जाता है उसी के लिए वद मे 'राति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह राति अन्न पशु-द्रव्य भेद से विधा विभक्त है। एव तीनों पार्थिव वसुदेवता से सम्बद्ध है। अतएव सम्पत्ति का वसु भी कहा जाता है। भूतात्मक पार्थिव अग्नि ही वसु है यही पार्थिवी सम्पत्ति है। इसी अभिप्राय से वसूना रातौ स्याम कहा गया है। निम्न लिखित मन्त्र सौ वसु-अग्नि के स्वरूप का स्वीकरण कर रहा है—

अग्नि त म ये यो वसुरस्त य या त धेनव ।

अस्तर्मा त आशवोऽस्ता नित्यासो वाजिन इष स्तोतृभ्य आभर ॥

—ऋक स ५।३।१।

रुद्रदेवता अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता है। अन्तरिक्ष उरु है विशाल है जसा कि अन्तरिक्षमन्त्रों में यदि ब्राह्मणशक्ति से प्रमाणित है। रुद्रदेवताओं की आवासभूमि यह अन्तरिक्ष भी उरु है एव— अस्वख्याता सहस्राणि ये रुद्रा इ यदि यजुमन्त्रवर्णनानुसार इस उरु अन्तरिक्ष में रहने वाले अधिदेवता (रुद्र) भी आनन्दलक्षण उरु भाव से युक्त हैं। अन्न-पशु-द्रव्यादि पार्थिव सपत्तियाँ सङ्कोचधर्मा है जन्तक इस पार्थिवसम्पत्ति के भोक्ता में आन्तरिक्ष उरुभाव (विशालता-उदाराशयता) नहीं आजाती तन्त्रक पार्थिवसम्पत्ति मोह का ही कारण बनी रहती है। अतएव पार्थिव वसु-राति के साथ साथ ही आन्तरिक्ष रुद्र का उरुभा भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। रुद्राणामुच्यम् से उसी भूमाभाव की प्राप्ति अभी-पिसत है।

रुद्रनिवासोमक अन्तरिक्ष के इस ओर वसुनिवासात्मक त्रिवृत्तीमावच्छिन्ना पृथिवी है एव उस ओर आदिदेवनिवासोमक द्यलोक है। मध्यस्थ अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा पृथिवी तथा द्यलोक ही है। अतएव अन्तरिक्ष को उभयतः [द्योवापृथिवी से] परिच्छिन्न माना गया है जसा कि— अमलमुभयतः परिच्छिन्नम् इत्यादि ब्राह्मणशक्ति से प्रमाणित है। यज्ञकर्ता यजमान अपनी स्वाभाविक [प्रकृतिदत्त] प्रतिष्ठा में यावदायुर्भोगपर्यन्त प्रतिष्ठित रहता हुआ यज्ञ के द्वारा अन्तरिक्ष में जाता हुआ स्वर्गोपलब्धिताद्युप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होना चाहता है जो कि द्यप्रतिष्ठा तदधिदेवता-सम्बन्ध से आम्नियप्रतिष्ठा कहलाई है। शेष मन्त्रभाग से इसी आदिदेवप्रतिष्ठा का समग्र हुआ है। राति प्रवर्त्तक वसु भूमाप्रवर्त्तक रुद्र एव प्रतिष्ठाप्रवर्त्तक आदित्य तीनों देवता त्रैलोक्य यापिनी अदिति के गम में प्रतिष्ठित है *। अदितये स्यामनेहस इति मन्त्र भाग से सर्वात में उसी देवमाता अदिति का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है ॥१७॥

* अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिशदरि दम ! ।

आदित्या, वसवो रुद्रा, अश्विनौ च पर तप ! ॥

—शाल्मीकिरामायणे

स्वययनजपमन्त्र का अगला भाग है— जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम् । होत्रकम्म की सफलता के लिए जिन जिन देवताओं का अनुग्रह अपेक्षित था पूर्वमन्त्रभागों के जप से उताने वह प्राप्त कर लिया । अब यह स्वयं अपने उस आध्यात्मिक वाङ्मय दत्ता के अनुग्रह की कामना कर रहा है जिस की प्राप्ति से सबकुछ सफल है एव जिस के अभाव में सबकुछ यथ है । अनुवचनकर्म से सम्बन्ध रखने वाले जिन देवताओं के लिए होता अनुवाक्या करता है यदि उन मन्त्रों के उच्चारण में अत्रर-पद वाक्य आदि का उच्चारण-सौष्ठव माधुर्य्य है तो यथानुरूप उच्चरित मन्त्र अपनी उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि रारमर्यादा से तथा गायत्री त्रिष्टुप जगती आदि छदोमर्यादा से तत्तत्स्वर छदोमय प्राकृतिक प्राणदेवताओं से समतुलित होते हुए तद्देवतावाहन में समर्थ होजाते हैं । ऐसी देवाकर्षिणी शोभना यवस्थिता अनुद्वगकरी मन्त्रवाक् ही प्राणदेवताओं के लिए आकर्षण की वस्तु बनती हुई जुष्टावाक कहलाइ है । यदि मन्त्रोच्चारण में स्वर स्वरता है स्वरदोष है उच्चारणदोष है स्खलनदोष है तो इस की सतानधारा विच्छिन्न है । ऐसी विच्छिन्ना मन्त्रवाक कभी देवाकर्षणकम्म में सफल नहीं होसकती । लोक में भी सब कुछ साधन सामग्रियों के विद्यमान रहने पर भी केवल अपनी उद्वगभावापन्ना अथ यवस्थिता वाक से सबकुछ यथ होजाता है । अतएव इतर सब साधनों की अपेक्षा उस अपने वाक् साधन का सौष्ठव प्रत्येक दशा में अपेक्षित है जिस के अनुग्रह से सभी साधन प्राप्त होजाते हे एव काय्य भी समृद्ध बन जाता है । अतएव— तद्वि समृद्धम्, यो जुष्ट देवेभ्योऽनुब्रजत् इयादि रूप से जुष्टा-वाक को ही यज्ञ की प्रधान समृद्धि माना गया है ॥१८॥

मन्त्राधीन देवता हैं अतएव मन्त्रवाक का सौष्ठव सर्वप्रथम अपेक्षित है । मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन है अतएव ब्राह्मणों का अनुग्रह भी आश्रयकरूप से अपेक्षित है । त वाग्मिका वैज्ञानिकी वाक का रहस्य जानने वाले मन्त्रपितृ ब्राह्मण भूदेव हैं । इन के प्रति भी सदा अनुद्वगकरी-जुष्टावाक का ही प्रयोग करना चाहिए । विशेषतः उस वदिक यज्ञकम्म [यज्ञकम्म से उपलब्धित तप तथा दानकम्म में भी] में तो यह सावधानी रखनी ही चाहिए कि कहीं किसी भी ब्राह्मण के लिए उद्वगकरी वाक का प्रयोग तो नहीं होगया । ब्राह्मण की अप्रसन्नता यज्ञस्वरूप के विघात के लिए पर्याप्त है एव ब्राह्मण की प्रसन्नता यज्ञस्वरूपसमृद्धि के लिए पर्याप्त है । उन यज्ञकों की मीमासा कीजिए जिन में यजमानलोग ब्राह्मणों का अपमान कर दिया करते हैं । उन दानकम्मों के कुफलो का अवषण कीजिए जिन में मदाद्य दानदाता अपमान पुरस्सर दान करते हुए अपना सबनाश करा रहे हैं । उन अविवेकियों की उस जघ यवृत्ति का भी अवषण करना न भूलिए जो केवल धन को ही बुद्धिमत्ता का जनक समझते हुए ब्राह्मणवर्ण का अपमान कर अपने भविष्य को अप्रतक्यतम से ही अभिभूत करते जा रहे हैं । हमारा अपना तो ऐसा आम-विश्वास है कि भारतवर्ष की वत्तमान दीनदशा के अयाय कारणों में से ब्राह्मणबल की सुशुप्ति तथा ब्राह्मणवर्ण का अपमान भी एक मुख्य कारण है । तद्वि समृद्धम् यो जुष्ट ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रजत् इयादि श्रौतादेश भी इसी कारण का स्पष्टीकरण कर रहा है । जुष्टा ब्रह्मभ्य यह मन्त्रभाग इसी ब्राह्मणानुग्रह-प्राप्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ॥१९॥

अगला मन्त्रभाग है— जुष्ट नाराशसाय । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चारों वर्णों में ब्राह्मणवर्ण इतर तीनों वर्णों का मूलप्रभव है ब्रह्मस्थानीय हैं । ब्रह्म एकाकी सृष्टि करने में असमर्थ

होता हुआ अपने तप से इतर बर्णों को उपन्न करता है—[देखिए शत ब्रा १४ का १४ अ १२ ब्रा १२२ क १]। ब्रह्म सर्वादित व है अतएव वह सृष्टिम र्यादा से सम्बन्ध रखने वाले प्रजासग से बहिभूत है। ब्रह्ममूलक ब्राह्मणवर्ण प्रजा का (ध मसूत्र मे) सञ्चालक है क्षत्रिय वश्य-शूद्रवर्ण प्रजावग है। इस सत्रसामाय प्रजावग के लिए ही बदभाषा में नर शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण नर (मनुष्य) नहीं है अपितु देवता (भूदेव) है। सामाय प्रजावग से इस का पाथक्य बतलाने के लिए साथ ही इसे ऋद्धामक बतलाने के लिए पूव (१६] कण्डिका में— जुष्टा ब्रह्मभ्य कहा गया है। अब प्रस्तुत कण्डिका में ब्राह्मणातिरिक्त स पूण प्रजावग के लिए जुष्टा वाक के प्रयो का विधान हुआ है। प्रयेक क म में सभी के शुभसकप अपेक्षित हैं। वही क म समुद्ध माना गया है जिस को देखने वाले न देखने वाले सभी एकस्वर से साधुवाद दिया करते हैं। ता पय्य लोकसग्रहदृष्टि से भी सभी की शुभ कामनाएँ अपेक्षित हैं। इस के लिए सभी के प्रति जुष्टावाक का प्रयोग होना चाहिए।

अगला मन्त्रभाग है यदद्य होतृर्ज्ये जिह्व चक्षु परापतत् अग्निष्टत् पुनराभ्रिया जातवेना विचषणि । होता यद्यपि यथाशक्ति प्राणदेवताओं का तत्सम ब्राह्मणो का एव प्रजावग का सभी का अनुग्रह भी प्राप्त कर लेता है। मन्त्रप्रयोग भी यथाविधि ही करता है। इसप्रकार अपनी ज्ञातदशा में यह अपने हौत्रकम्म में कोई त्रुटि नहीं करता। तथापि ससार में समालोचकों की कमी नहीं है। सबश्रुष्ठ निर्दोष कम्मों की भी आलोचना करने वाले मिल ही जाते हैं। होसकता है लौकिक कम्मों का इस दृष्टिदोष से कुछ न बिगडता हो। परन्तु वैदिक कम्म अवश्य ही इस दृष्टिदोष से भी विकृत होसकते हैं। दृष्टिसूत्र के द्वारा वह कुसित-भावना यज्ञवातावरण में यदि प्रवेश कर जाती है तो उसीप्रकार यज्ञस्वरूप विकृत हो जाता है जस कि आगन्तुक तृणादि से स्वच्छ भी घर मलिन होजाता है। होता का यह भी एक कत्तय होजाता है कि ऐसे दुष्ट समालोचकों की दुष्टदृष्टि से दोष से दोषयुक्त बने हुए यज्ञकम्म को निदुष्ट बनाने के लिए अग्नि से प्राथना कर ले। हम नहीं जानते कि किस के दृष्टिदोष से कम्मस्वरूप विकृत हुआ। परन्तु सब कुछ जानने वाले अतएव जातवेदा नाम से प्रसिद्ध अग्नि अवश्य ही उसे जानते हैं। व अवश्य ही हमारी भावना से प्रति होकर उस दृष्टिदोष को हटा कर पुन यज्ञत्रुटि का सन्धान करने की क्षमता रखते हैं ॥ २ ॥

जातवेदा विचषणि यहाँतक स्वस्त्ययनजप करने के अनंतर वह होता अ व यु तथा आग्नीध्र नामक ऋषिवजो का स्पर्श करता है। वस्तुतः अध्वर्यु प्राण यापार का उद्गाता तथा होता दोनों वागयापार के एत ब्रह्मा मनो यापार के प्रवर्त्तिक माने गए हैं। परन्तु यहाँ स्थितिभाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने अ वय्यु को मन मान लिया है। मन उक्थरूप से हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। दूरङ्गमञ्जो तिषा योतिरेक तमे मन शिवसकपमस्तु यदि मन्त्र के द्वारा मन का जो विदूर गमन बतलाया गया है वस्तुतः वह वाङ्मय सस्कारों का ही गमन समझना चाहिए। कारण स्पष्ट है। मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। बुद्धिस्थ प्रज्ञामक प्राण ही चित् का अनुग्राहक है। जबतक मन है तभीतक बुद्धि है। जबतक बुद्धि है तभीतक चित् है। जबतक चित् है तभीतक जीवनसत्ता है। फलतः मन के विदूरगमन का सस्कारा मक परिभ्रमण पर ही विश्राम मानना पड़ता है। जिसप्रकार मन स्वस्थान में स्थित रहता है एवमेव अ वय्यु का यापार स्वस्थान (पृथिवी) से ही सम्बन्ध रखता है। उधर होता का अनुवचनकम्म च लोकानुगत रहता है। इसी सादृश्य से निदानेन अध्वर्यु को मन तथा होता को वाक मान लिया जाता है। बिना मन के

वाग्वापार प्रतिष्ठाशूय है । उसी मन प्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए यह होता मन स्थानीय अश्व यु का स्पश करता है । मनोवाक का परस्पर आश्रय धन ही इस स्पश का अनय फल है ॥ २१ ॥

स्पशकर्मार्थं तर उह होता षण्मावीरहसस्पातु-अग्निश्च प्राथमी च आपश्च वाजश्च अहश्च रात्रिश्च इस मन्त्र का जप करता है । अहोरात्रवाद सिद्धांत के अनुसार अह स स ब ध रखने वाला सोर आग्नेय तव तथा रात्रि स स ब ध रखने वाला चाद्र सोम्य तव ये दो ही सर्वसाष्ट के उपादान हैं । इन दो के तीन विपत्तों का ही यहा स्प टीकरण हुआ है । अह का अग्नि से सम्बन्ध है रात्र का पृथिवी से सम्बन्ध है । अह का वाज से सम्बन्ध है रात्रि का आप से सम्बन्ध है । अग्नि पृथिवी जल तीनों प्रसिद्ध है । वाज प्रकृत में प्राण का वाचक है । एष उ एव बिभ्रद्वाज (ऐ आ २।२।१) इस श्रात के अनुसार भूतशरीर को धारण करने वाला ।वधर्त्ता प्राण ही वाज है । अन्नादान के द्वारा ही इस की शरीर म प्रति टा रहती है । अतएव (वाजप्रवक्तक वेन) अन्न को भी वाज कह दिया जाता है । यथाग्निगर्भा पृथिवी सिद्धांतानुसार जहानक पृथिवी है वहातक अग्नि है । पार्थिव प्रजा के लिए सवत्र पृथिवी एव तदभिन्न अग्नि की याति है । पानी का भी कही अभाव नहीं है सामापोमय जगत् । वाजामक प्राण भी—ने द्राहते पवत धाम किञ्चन के अनुसार सवयापक है । अहोरात्र की सवव्याप्ति तो स्पष्ट ही है । इन ६ ओ की इसी सव याति का लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने इह उर्वी कहा है । जिस के लिए ये ६ ओ पव अनुकूल रहते हैं वह कभी किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पासकता । होता इसी दवषटकानुग्रहप्राप्ति की कामना करता है ॥ २२ ॥

स्वस्त्ययनजपकम्म समाप्ति के अनन्तर होता अपने लिए नियत होतृषदन नामक अपने बैठने के स्थान की ओर लौट आता है । यहा आकर अपने दर्भासन से एक तृण निकाल कर पकता हुआ होता—निरस्त परावसु मन्त्र बालता है । जिस की उपपत्ति श्रुति ने यह बतलाइ है कि परावसु नामक असुर असुरों का होता था । तृणनि कासन याज से उसी को इस देवयज्ञमण्डल से बाहिर पैका जाता है । ऐतिहासिक तय की दृष्टि से बहुत सम्भव हो भौम देवताओं की भांति असुरों न भी यज्ञ किया हो एव उनके किसी यज्ञ में परावसु नामक असुरब्राह्मण होता बना हो । परतु तवदृष्ट्या वह तमोमयप्राण जोकि अपने स्वाभाविक आसुरभाव से यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले वसु (सम्पत्ति) को यज्ञमण्डल से पराग करने वाला है परावसु है । इसी के लिए सहरत्ता शब्द प्रयुक्त हुआ है जैसा कि—सहरत्ता इत्यसुरत्तसा दूत आस इ यादि रूप से पूव के हिक्कारब्राह्मण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । त्रिभ्यप्राण्णि देवदेवताओं के होता हैं । इही के लिए अग्नि दूत वृणीमहे होतार विश्ववेदसम् इत्यादि कहा गया है । अग्नि त मन्वे वसु इ यादि के अनुसार वसु (स पत्) के प्रवक्तक ये अग्नि ही अर्वावसु नामक देवदेवताओं के होता है । दोनों ही प्राणा मक दूत आ तरिज्य वायु में व्याप्त रहते हैं । फलत यज्ञमण्डल में दोनों का सम्बन्ध अनिवाच्य है । दोनों में परावसु का सम्बन्ध यज्ञविधातक है । म ब्रशक्ति के द्वारा तृणनिदानेन उसे तो निकाल बाहिर कर दिया जाता है एव—इदमहमर्वावसो सद्ने सीदामि यह मन्त्र बोलता हुआ स्वयज्ञ में केवल अर्वावसु नामक दिव्याग्नि होता के सम्बन्ध को दृढमूल बनाता है । २३ २४ कण्डिकाओं में इसी उपपत्ति का पक्षीकरण हुआ है ॥ २३ २४ ॥

सप्रकार होतृषदनस्थान मे बठने के अनन्तर होता बोलता है— विश्वकम्मस्तनूपा असि मा मोदो पिष्ट मा मा हिसिष्मेप वा लोक् । इस मत्र का उ चारण करता हुआ होता उत्तर की ओर थोडा सा चलता सा है । होतृषदनस्थान गाहपय तथा आहवनीय दोनो द्यावापृथिव्य अग्नियों के मयम में पडता है । दोनो अग्नि दिव्यानि है विशेषत आहवनीय तो समि धन से आज समिद्ध बन कर आतशयरूप से ही शक्तिमान् बन गया है । अवश्य ही बिना इनकी अनुग्रहप्राति के तम यस्थ होता का अनिष्ट होमकता है । अतएव होता स्तुति के द्वारा इन का अनुग्रह प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

अन तर आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ— विश्वेदेवा शास्तन इत्यादि मत्र बोलता है जिस का स्पष्टीकरण मूलानुवाद से ही गताथ है ॥ २६ ॥

इति—विवेचनाप्रकरणम्

इति—होतृप्रवरब्राह्मण समाप्तम् ।
इति प्रथमकाण्डे—पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
“प्रवरब्राह्मण” नामकमुपरतम्

—**—

श्री

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—

प्रथमकारण्डे

पचमाध्याये--प्रवरब्राह्मणाम्



श्री

अथ--शतपथब्राह्मणाविज्ञानभाष्ये
प्रथमकारण्डे
पचमाध्याये--“सुग्ब्राह्मणाम्”
(वृष्टिविज्ञानात्मकम्)

----- * -----

अथ-प्रथमकारण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण
उपक्रान्तम्

६६सुगब्राह्मणम्११

२२ - सुगादापन आश्रावण-प्रत्याश्रावणञ्च



१-सुगादापननिगद —

(मूल)—‘अग्निर्होता वेत्स्वग्नेर्होत्रम्’ इति । अग्निरिदं होता वेत्तु इत्यवैतदाह ।
अग्नेहात्रमिति । तस्यो हि होत्रम् । ‘वेत्तु प्रवित्रम्’ इति । यज्ञो वै पावित्रम् । वेत्तु
यज्ञमित्येवैतदाह । साधु ते यजमान ! देवता’ इति । साधु ते यजमान देवता—यस्य
ते अग्निर्होता इत्यवैतदाह । ‘घृतवतीमध्वर्यो ! सुचमास्यस्व’ इति । तदध्वर्युं
प्रमौति । स यदेकामिराह ॥ १ ॥

यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति—स उपभृतमनु । सयद् द्वे इव ब्रूयाद्
यजमानाय द्विष त भ्रातृ य प्रत्युद्यामिन कुर्यात् । अत्तैव जुहूमनु आद्य उपभृतमनु ।
स यद् द्वे इव ब्रूयाद्—अत्र आद्य प्रत्युद्यामिन कुर्यात् । तस्मादेकामिवैवाह ॥ २ ॥

‘देवयुव विश्ववाराम्’ इति । उपस्तो यत्रैनामेतद् महयत्यव यदाह, देवयुव विश्ववा
रामिति । ईडामहै देवाँ ३ ॥ ‘ईडे घान् नमस्यामनमभ्यान् यजाम यज्ञियान्’ इति ।
ईडामहै तान् देवान्—य ईडे या, नमस्याम तान्—ये नमस्या, यजाम यज्ञियान्—इति ।
मनुया वा ईडे या, पितरा नमस्या देवा यज्ञिया ॥ ३ ॥

या वै प्रजा यज्ञ अन गभक्ता—पराभूता व ता । एवमेतैद् या इमा प्रजा अप
राभूता—ता यज्ञ आभजति । मनुष्यान् अनु पशव, देवान् अनु गयास्याषधयो वनस्पतयो
यदिद किञ्च—एवमु तत्स यज्ञ आभक्तम् ॥ ४ ॥

ता वा एताऽनव याहृतयो भजति । नवेमे पुरुषे प्राणा एताऽवास्मिन् एतद्
दधाति । तस्मान्नव याहृतयो भजति ॥ ५ ॥

२—आश्रावण—प्रत्याश्रावण—निगद —

यज्ञो ह दवेभ्योऽपचक्राम । त देवा अत्रम त्रय त 'आ न शृणु उप न आपर्तस्व'
इति । स अस्तु तथा' इत्यव देवानुपाय । तेनोपावृत्त न दया अयज त । तेनेष्टवा एतन्
अभवन् यदिद देवा ॥ ६ ॥

स यदाश्रायति यज्ञमेतैदनुम त्रयते आ न शण, उप न आवतस्व इति ।
अथ यत्प्रत्याश्रायति यज्ञ एवैतदुपावर्तते 'अस्तु तथा' इति । तेनोपावृत्तेन रेतसा भूतेन
ऋत्विज सप्रदाय चरति, यजमानेन परोक्षम् । यथा पूर्णपात्रेण सम्प्रदाय चरेयु
एवमनेन आ प्रज सप्रदाय चरात् । तद्वाचैवेतत् सप्रदाय चरति गग हि यज्ञ, वाग
उ हि रेत, तदतेने तत् सप्रदाय चरति ॥ ७ ॥

स अनुब्रूहि' इत्यगोक्त्वा अध्वर्युर्नाप याहरेत् नो एव होताप याहरेत् । आश्रा
वयति अध्वर्युं तदग्नीध यज्ञ उपावतते ॥ ८ ॥

सोऽग्नी नाप याहरेत् आ प्रत्याश्रावणात् । प्रत्याश्रावय यग्नीत् तत् पुनरध्वर्युं यज्ञ
उपावर्तते ॥ ९ ॥

सोऽध्वर्युर्नाप याहरेत् आ 'यज' इति वक्तो । यजत्यगध्वर्युर्होत्रे यज्ञ
सम्प्रय छति ॥ १ ॥

स होता नाप याहरेत्—आ वषटकारात् । त वषटकारेणाग्नावेव योनौ रेतोभूत
सिञ्चति । अग्निर्वै योनियज्ञस्य स तत प्रजायते—इति नु हवियज्ञे । अथ साम्यऽध्वरे ॥ ११ ॥

स ग ग्रह गृहीत्वाध्वर्युर्नाप याहरेत् आ उपाकरणाद् । उपाव ध्वर्युं इत्येवाध्वर्युं
रुद्गातृभ्यो यज्ञ सप्रयच्छति ॥ १२ ॥

त उद्गातारो नाप याहरेत् आ उत्तमाया । एषोत्तमा इत्येवोद्गातागे होत्रे यज्ञ
सप्रय छति ॥ १३ ॥

स होता नाप याहरेत् आ वषटकारात् । त वषटकारणाग्नावेव योना रेतोभूत
सिञ्चति । अग्निवे योनियज्ञस्य स तत प्रजायते ॥१४॥

स यद् = सोऽऽ याहरेत् य यज्ञ उपायते, यथा पूर्णपात्र परासिञ्चेद् एव ह स
यजमान परासिञ्चेत् । स यत्र हैमृत्वज सविदाना यज्ञन चरति सर्वमेव तत्र कल्पते,
न मुह्यति । तस्मादवमेव यज्ञो भर्त य ॥ १५ ॥

ता वा एता पञ्च याहृतयो भर्ति 'ओ श्रावय' 'अस्तु श्राषड', 'यज', ये
यजामहे 'वाषट' इति । पाठो यज्ञ पाठो पशु पञ्चऽर्त्तव सवत्सरस्य । एषका
यज्ञस्य मात्रा एषा सम्पत् ॥१६॥

तासा सप्तदशान्तराणि । सप्तदशो वै प्रजापति । प्रजापतिर्यज्ञ । एषैका यज्ञस्य मात्रा
एषा सम्पत् ॥१७॥

ओ श्रावय' इति ऋ देवा पुरोगात ससृजिर । 'अस्तु श्राषट' इति अत्राणि
समप्लावयन् । 'यज इति विद्युत् । ये यजामहे' इति स्तनयित्नुम् । वषट्कारेणैव
प्रावर्षन् ॥१८॥

स याद् वृष्टिकाम स्यात्, यदीष्ट्या वा यजत,—दशपूर्णासयावैव ब्रूयाद् 'वृष्टि-
कामो वा अस्मि' इति । तत्रो अध्वयु ब्रूयात् पुरावात च विद्युत् च मनसा ध्याय
इति । 'अत्राणि मनसा ध्याय इति अग्नीधम । स्तनयित्नु च वर्ष च मनसा
ध्याय इति होतारम् । 'सर्वाण्येतानि मनसा ध्याय' इति ब्रह्माणम् । वर्षति हैव तत्र—
यत्रा ऋत्वज सविदाना यज्ञन चरति ॥१॥

'ओ श्रावय इति व देवा विराजमभ्याजुहुवु । अस्तु श्राषड' इति वत्समुपावा-
सृजन् । यज' इति उदनयन् । ये यजामहे' इति उपासीदन् । वषट्कारेणैव विराज-
महत् । इय वै विराट्, अस्यै वा एष दोह । एव ह वा अस्मै इय विराट् सर्वान्
कामान् दुहे—य एवमेत विराजो दोह वेद ॥२॥

इति—प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मण

चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण

उपरत—“सु ग्ब्राह्मण” नामकम्

मूलानुवाद -

पाँचवे अध्याय मे दूसरा, एव चौथे प्रपाठक मे तीसरा ब्राह्मण
“सुगब्राह्मण”

१—सुगादापननिगद -

(पूव क प्ररब्राह्मण मे अ ग्यु के द्वारा होने जाल यजमान दि य अग्नि एग मानुष होता क वरणकम्म की इतिकत्त यता बतलाई गई है । अब प्रकृत स गब्राह्मण मे स गादापन-कम्म का स्पणीकरण किया जाता है । कहा गया है कि अध्वर्यु क द्वारा हावृत्त्वेन व्रत होता नामक ऋत्तिक अपने हात्रकम्म की निर्वि न-पारममानि क लिए स्वस्थान-हावृत्तन र प्रतिष्ठिन होकर—‘एतत् त्वा देव मपितृवृणाते २ यदि मत्रजप लक्षण स्वस्वयनजप कम्म करता है । इस कम्म क अनतर ही स ग दापनकम्म प्रिहित है । जसकी इतिकत्त यता क्रमप्रा त आरम्भ करती हुई श्रुति कहती है)—

(स्वस्वयनमत्रजप क अनतर होता नामक ऋत्तिक)— अग्निर्होता ३ ग्नेर्होत्रम्’ (प्राणग्निलक्षण दि य होता इस अनुष्ठय अपने होत्रकम्म को जाने) यह मत्र जोलता है । इस (अनुष्ठय कम्म) को दि याग्निरूप यह होता जान मन्त्रभाग से यही कहा है । ‘अग्नि-र्होत्रम्’ इस मत्रभाग का यही तापय्य है कि यह हात्रकम्म निश्चयेन अग्नि का ही है । (अनतर) ‘वत्तु प्रावित्रम्’ (वह दि याग्निरूप होता यज्ञ को जाने) यह मत्रभाग जोलता है प्राग्नि निश्चयेन—(‘प्रर्षण अग्नि’ २स युपत्ति से) यह यज्ञ है । (इस मत्रभाग स) होता रत्तक यज्ञ को जाने यही कहा है । (अनतर) साधु ते यजमान ! दे ता’ (हे यजमान ! जिस तुहारा हाता दि य अग्नि है वह तुहारा देवता तुहारा लिण-कम्ममिद्धि क लिए साधु-योग्य है) यह मत्रोच्चारण करता है । मन्त्र से यही कहा गया है । (अनतर) घृतवतीमध्वर्यो ! सुचमास्यस्व’ (हे अ ग्यु ! आप घृनपूर्णा सुच का ग्रहण कीजिग) यह मत्रोच्चारण करता है । (इस मन्त्र के द्वारा होता) अ ग्यु का (सुगादापनकम्म क लिए प्ररित करता है । सा जो कि होता (अध्वर्यु को जुह उपभृत्, २न दोनो मे से) कयल जु क लिए प्ररित करता है (उस की उपपत्ति बतलाते है) ॥१॥

यजमान ही जुह को लक्ष्य बनाता है (एव) जो इस (यजमान क लिए) शत्रुता करता है वह (यजमान का शत्रु) उपभृत् का लक्ष्य बनाता है (अर्थात् जुह निदानेन यजमान की तथा

उप त् नमक शत्रु की प्रतिकृति है)। (एसी स्थिति में) यदि वह होता (अप्यु को) दो (जुहू उपभृत्, दोना) लुचो क लिए प्रेरित करेगा तो यजमान क लिए द्रव करने वाले शत्रु को यजमान की प्रतिस्पर्द्धा म खडा कर देगा (अर्थात् द्वपी शत्रु का बलप्रदान करने जाले। सद्र होगा अत एक ही जुहू क लिए प्रेरित करना उचित है)।

(अब इसी की एक दूसरी उपपत्ति और बतलाते है)—अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है एय आद्य (भो य) उपभृत् का लक्ष्य बनाता है । (अर्थात् जुहू निदानेन अत्ता की तथा उपभृत् आद्य की प्रतिकृति है) [एसी स्थिति म] यदि वह होता दो लुचों क लिए प्रेरित करेगा तो अत्ता क लिए आद्य को प्रातस्पर्द्धालु बनावेगा । [अर्थात् भोक्ता भा य की तुचना में भा य को सबल बनावेगा । ऐसा न हो इसलि] एक ही रूप से [एक लच के लि] म प्र बालता है ॥२॥

[अनतर] द्रयुय विश्वाराम्' [देवताआ क सहयोग की इच्छा रखने वाली तथा सम्पूर्ण देवताआ से पराणीय एसी जुहू क लिए म अप्यु को प्रेरित करता हू] यह म प्रो-चारण करता है । वह हाता इस जुहू की प्रशसा ही करता है बढ़ाया ही देता है जो कि— देवयुय विश्वाराम् यह कहना है । [अनतर] इडामहै देवा ३॥ ईड यान् नमस्याम नम-स्यान् यजाम यज्ञियान् [स्तुति करन या य मनुष्या का मै स्तुति करता हू नमस्कार करन यो य पितरों को मै नमस्कार करता हू एय यजन में भाग लेने जाले—आहुति ग्रहण करने जाले अतएय यज्ञिय कहलाने वाले देवताआ का मै यजन करता हू] यह म प्रो-चारण करता है । मनुष्य निश्चयन स्तुति करन योग्य है पितर नमस्य है एव देवता यज्ञिय है ॥३॥

नो प्रजा यज्ञ म भागरहित है [जिनका यज्ञ म भाग नहीं है] वे प्रजाएँ निश्चयेन पराजित हई है । इसीप्रकार [ठीक इसक उपरीत] जो प्रजाएँ अपराजित है उन्ही को यज्ञ में समाविष्ट करता है [अर्थात् प्राकृतिक यज्ञ में जिन प्रजाओं का भाग नहीं लिया वे परास्त हुई एय निहोने यज्ञ म भाग लिया य विजयिनी हई । प्रकृत यज्ञ म उन विजयिनी प्रजाओं का ही समावेश किया जाता है] । मनुष्य को लक्षित कर पशुप्रजा देवताओं का लक्ष्य कर पत्नी आष प्रिया उपपत्तिया तथा [जिन का मृष्टिकम्म म उपयोग है वह] वह सबकुछ यज्ञ में समाविष्ट है ॥ [४] ॥

सप्रकार [पूज-रुपानुसार स गानापनकम्म से सम्बध रखने वाले स गानापननिगद] मत्र की ६ यान्ताया [याक्य] हानाती है * । पुरुष [आ यामिक्यज्ञ] मे नो [मात शीपएय तो अत्राञ्चप्राण सम्भूय ६] प्राण है । [नय यान्त्यामक इस स गादापनमन्त्र से] यह होता अपने इस वध आधभातक यज्ञ मे इही ६ प्राणा को स्थापत करता है । इसी [नयप्राणाधानस पति क लिए] सुगानामन्त्र की ६ याहातया होती है ॥ [५] ॥

सुगुवादापननिगदसमाप्त

— १ —

२—आश्रावण प्रत्याश्रावणनिगद—

‘अग्निर्होता वे रग्नेर्होत्रम् ’ २ यान्ति नय यान्त्यामक होत्रकृ क सगादापन कम्म के अन तर अध्वर्यु होता उदगाता ब्रह्मा इन चारा ऋत्विजों क सहयोग से आश्रावण-प्रयाश्रावण कर्मेतिकत्त यता सम्पन्न हाती है । एक दूसर ऋत्विक् का एक दूसर ऋत्विक् के प्रति यज्ञस्वरूप की महिमा का उणन बखान ही आश्रावण प्रयाश्रावण म कहलाया है । यह कम्म किया क्यों जाता है ? इस प्रश्न क उत्तर मे प्रथम एक उज्ञानिक आर्यान उद्व त होरहा है जिस-का तात्त्विक विश्लेषण विवेचना प्रकरण मे हागा । मौलिक उपपत्ति से सम्बध रखने वाले उसी वैज्ञानिक आर्यान का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—[किसी युग मे] यज्ञ देवताओं को छाडकर चला गया । [लोका तर मे पलायित उस] यज्ञ को देवताआन बड़ अनुनय विनय के साथ बुलाना आरम्भ किया कि [हे यज्ञदेव !] तुम हमारी सुनो [मानो] हमारी ओर लौट आओ । [देवदेवताओं की अनुनय विनय युक्ता वाणी से प्रभावित होकर लोका तर मे गया हुआ] वह यज्ञ वैसा ही हो [यह स्वीकृति-वचन] कहता हुआ देवा की ओर लौट आया । समीप लौटे हुए उस यज्ञ से देवोंन अपना यागकम्म स पन्न किया [यज्ञोतिकर्त्त यता पूरी की] । इस यज्ञ से यजन कर

* १—‘ अग्निर्होता’ ।

२— वेस्वग्नेर्होत्रम् ।

३—‘वेत्तु प्रावित्रम्’ ।

४—‘साधु ते यजान ! देवता’ ।

५—‘घृतवतीमध्वर्यो ! सुचमाच्यस्य ।

६— दवयुव विश्वाराम्’ ।

७— ईडामहै देवो ३॥ ईडेयान्’ ।

८—‘नमस्याम नमस्यान्’ ।

९—‘यजाम यज्ञियान्’ ।

इति—सुगुवादापननिगद याहृतय [६]

क [देवदेवता] व बन गए जो कि [आज उन का] यह देवस्वरूप [त्रिलोक्या मरु सम्प्रसरमण्डल म प्रतिष्ठित] है । [अर्थात् देवदेवताआन अनुनय विनय क द्वारा वापस लाटे हुए यज्ञकर्म स ही अपना देवत्त्व सुरक्षित रखना यज्ञ ही देवता का देवत्व बना ॥६॥

सो जो कि अ य यु [नामक ऋत्विक् ओश्रावय' इयान्ति रूप से] आश्रावण कर्म करता है [अपने इस आश्रावणकर्म से प्राकृतिक देवदेवताआ की भांति] यज्ञ को ही अनुनय विनय स बुलाता है कि आप हमारी सुनो हमारी ओर लाट आओ । [ताप य अ ययु कृत आश्रावण-कर्म लोकांतर मे गत यागस्वरूप सम्पत्क यज्ञ को स्ववधयज्ञ म वापस बुलाने क लिए ही विहित है] । [अ ययु कृत आश्रावण कर्म अन्तर आ नीध्र नामक ऋत्विक्-अस्तु श्रोषट' इया कारक जो प्रयाश्रावणकर्म करता है उस प्रयाश्रावणकर्म से वह पलायित यज्ञ जैसा ही हो त्स स्वीकृति क साथ लौट आता है । [ताप-य आ नीध्रकृत प्रयाश्रावणकर्म यज्ञ के स्वीकृत पूजक वापस लौट आने क स्थान म ही विहित है] । [सप्रकार अ ययु कृत आश्रावण एव आ नीध्रकृत प्रयाश्रावण से समीप आए हुए यज्ञ क बल से यजमान का [रस यत्न परूपसम्पादनकर्म म] परोक्ष रखते हुए ऋत्विक् लोग सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं—[परस्पर एक दूसरे क प्रति योग्य इतिकर्त्तव्यता का विभाजन करते हुए यज्ञतिरुक्त यत्ना पूरा करते हैं] । [तापय्य आश्रावण प्रयाश्रावणरूप वाङ्मय निगदकर्म से यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हाता है । इस मे चारा ऋत्विजों का क्रमशः सहयोग रहता है । कवल यजमान इस निगदकर्म मे भाग नहीं लेता] जिसप्रकार [लाक मे किसी बृहत्पात्र को पूरा करने क लिए समवेत अन्तक] यक्ति अपने आग आग की याक्त्या को जलपूरा पट पात्र भोंपते हुए बृहत्पात्र पूरा कर देने है तत्रैव इस पारस्परिक प्रदान कर्म से इस यज्ञ के द्वा । वे ऋत्विक् सम्प्रदाय का अनुगमन करने है । (यहाँ पारस्परिक सम्प्रदान किसी भांति क य का नहीं होता अपितु कवल वाक्प्रयोग लक्षण निगदमत्र-प्रयोग से ही सम्प्रदायानुगमन होता है । इसी अभिप्राय को अ यक्त करती हुई श्रुति कहती है कि) रस वाक् (वाङ्मय निगदमत्रप्रयोग) क द्वारा ही सम्प्रदान पूरा ऋत्विक् लोग अनुष्ठान करते है । वाक् ही यज्ञ है आर वाक् ही निश्चयन यज्ञका रेत है । अतः वाक् के द्वारा ही सम्प्रदानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करते है ॥ (७) ॥

(आश्रावण प्रयाश्रावण कर्म के पारस्परिक सम्प्रदान से सभी ऋत्विजा का यत्नस्वितरूप स शांत अनुद्विग्न वृत्ति मे रहना आवश्यक है । इस निगदकर्म मे उन्नत उतना ही कुछ बालना है जितने का निगदकर्म से सम्बन्ध है । प्रस्तुतानुपयोगिनी लौकिकार्त्ता अत्र सयथा निषिद्ध है । इसी विशेषादेश का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है कि) वह अ ययु (अपने मुख स होता

नामक ऋत्विजक से प्रति अनुग्राम्या क लिए प्रैष करता हुआ) कवल 'अनुब्रुहि' [अनुवचन करो] इतना भर कह कर अप्रासङ्गिक आर कुछ न बोले। नाही होता ही ओर कुछ अप्रासङ्गिक उच्चारण करे। [क्याक अ ग्र्यु कृत प्र ष से अनुवचन द्वारा होता मे भी जागरूप यज्ञ का समावेश होजाता है]। [अन तर] अ ग्र्यु [आ नीध को लक्ष्य बनाकर ओश्रावय' २ यादिरू से] आश्रावण करता है। इस आश्रावण स यज्ञ आ नीध क समीप लौट आता है [आग्नीध यज्ञसतान से युक्त हा-चाता है] ॥[८]॥

क्याकि अ ग्र्यु कृत आश्रावण से आग्नीध म यज्ञसम्पत् का समावेश होग्या है अतएव जबतक आग्नीध [अस्तु श्रावण इयानिरूप से] प्रत्याश्रावण न करले तबतक यह निष्प्रयोजन कुछ न बाले। [अग्र्यु कृत आश्रावण क अनतर ही अय निष्प्रयोजन जाक का समय करता हुआ] आग्नीध [अस्तु श्रावण रूप स अ ग्र्यु क प्रति] प्रत्याश्रावण करता है। [आ नीधकृत] इस प्रत्याश्रावणकम्म अ ग्र्यु कृत आश्रावणकम्म का ही समाधान है ॥ [६] ॥

[आग्नीधकृत प्रत्याश्रावण से यज्ञस पत् से युक्त हुआ] वह अ ग्र्यु जबतक [होता क प्रति] 'यज्ञ' [यजन करा] इस निगद का प्र ष न करले तबतक अ य कुछ निष्प्रयोजन न बोले। अपने यज्ञ' इस प्रैष से ही अ ग्र्यु होता क लिए यज्ञसम्पत् समपित कर देता है [फलस्वरूप यहा आकर हाता भी यज्ञ स पत् से युक्त होजाता है] ॥[९] ॥

[अ ग्र्यु कृत 'यज्ञ' निगद क द्वारा यज्ञसम्पत् से युक्त होता हुआ] वह होता जबतक 'वौषट' निगद का उच्चारण न करले तबतक अ य कुछ अप्रस्तुत न बोले। [होता के मुख से वौषट सुनने के साथ ही] वषट्कार क द्वारा आहवनीया मलक्षण योनि मे उस [नियत यज्ञिय] हृदि व्यरूप रेत की आहुति दे देता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। २सी मे [रेतोभूत हृदि प्रदान से] यज्ञ [दैवा मलक्षण स्वर्गप्रापक यज्ञातिशय] उ पन्न होता है। हृदियज्ञ के सम्ब व मे जाक्सयम की [ऋत्विजानुगता] यही [उक्त] यग्रस्था है। अब [प्रसङ्गोपात्त] सोमयाग मे [होने वाली जाक्सयम-यग्रस्था क स बध मे भी कह देते है] ॥[११]॥

(सोमयाग में) यह अधग्र्यु (सोमरस से परिपूर्ण काष्ठमय) ग्रह (सोमपात्र) का ग्रहण कर जबतक उद्गातालोग स्तोत्रपात्रलक्षण उपाकरणकम्म न करल तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोल। (ग्रहपात्र ग्रहणानन्तर उद्गाताओं के प्रति अधग्र्यु 'उपावत्त ध्वम्' (समीप लौट आइए) इस वा क्योच्चारणमात्र से यज्ञसम्पत् उद्गाताओं क लिए समपित कर देता है। [फलस्वरूप उद्गातालोग यज्ञसम्पत् से युक्त होजाते है] ॥ [१] ॥

(अत्र युक्त उपात्र धियम्' निगद से यज्ञसम्पत् स युक्त हो जानेवाले) य उद्गाता लोग जबतक (अपनी स्तोत्रियाओ में से) अन्तिम स्तोत्रिया का उद्गान न कर ल तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोल । (स्तोत्रिया की समा यन तर उद्गातालोग अत में हाता को लक्ष्य बनाकर 'एषोत्तमा यह अन्तिम स्तोत्रिया है— स निगद का उच्चारण करते हैं । श्रुति कहती है कि) उद्गातालोग) एषोत्तमा इस उच्चारण से ही होता क लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देते हैं—(फलस्वरूप होता भी यज्ञसम्पत् से युक्त होनाता है) ॥ (१३) ॥

(उद्गातृकृत क स्तोत्रियोद्गानकर्म की अन्तिम स्तोत्रिया से सम्बन्ध रखने वाले एषोत्तमा' इस निगद से यज्ञसम्पत् से युक्त हो जाने वाला) यह होता जबतक यह वाषट् रूप से वषट्कार न कर ले तबतक अप्रस्तुत कुछ न बाले । (होतृकृत क वषट्कारान तर वषट्कार के साथ ही) अ वय्यु उपट्कार क द्वारा आहूनीयाग्निलक्षण योनि में उस (नियत ग्रह नामक सोमरूप) रेत की आहुति दे देता है । अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है । इसी म (रेतोभूता सोमाहुति से) यज्ञ (यज्ञातिशय जिस क आकषण से यजमान मानुषा मक एहलौकिक आयुर्भोगानन्तर त्रिणाचि कतरंग में प्रतिष्ठित होगा) उ पन्न होता है । (सोमयाग क सम्बन्ध में वाक्सयमकर्म की यहा प्रासङ्गिकी मीमासा है) ॥(१४)॥

(आश्रायण प्रयाश्रायण निगदकर्म में यदि ऋत्विक् लाग अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण करद तो क्या अनिष्ट हो ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) यदि वह ऋत्विक् अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण कर देगा तो (वह परम्परया) जिस यज्ञसम्पत् को प्राप्त करता है (अप्रस्तुत वागुच्चारण से उस यज्ञसन्तान का निच्छेदक बनता हुआ यह होता) उसीप्रकार यजमान को यज्ञसम्पत् से प्रथक् कर देगा जैसे कि (स्वल्पपात्रों से बृहत्तपात्र को परिपूर्ण करने वाले यक्ति असाय गानी से) उस पूर्णपात्र को रिक्त कर देते हैं (रख देते हैं) । (तापय्य लौकिक कर्म जैसे अ यवृत्ति से अपूर्ण रह जाता है एतमेव अप्रस्तुत वागुच्चारण से यज्ञकर्म स्वसन्तानधारा खोता हुआ अपूर्ण रह जायगा एत यही अप्रस्तुत वागुच्चारण से महान् अनिष्ट होगा) । (ठीक इसके विपरीत) जिस यजमान के यज्ञ क [आश्रायण-प्रयाश्रायण निगदकर्म में] ऋत्विक् लोग [अप्रस्तुतवाक् का सयम करते हुए] परस्पर एक दूसरे के प्रति यज्ञसम्पत् समर्पित करते हुए निगदकर्म का अनुगमन करते हैं उस कर्म में सभी कुछ [यज्ञसम्पत्तिया] सम्पन्न होजाती हैं इस सावधानी से कोई भी ऋत्विक् अपने लक्ष्य से न्युत नहीं होता । इसलिए [ऋत्विजों को चाहिए कि] वे इसप्रकार [विहित नियमानुसार] ही [यज्ञतिकर्त्तयता पूरी करते हुए] यज्ञ को पुष्ट [परिपूर्ण] कर ॥ [१५] ॥

[प्रस्तुत निगद कम्म मे पाँच याहृतियों होती है। इस पञ्चसरया की मालिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]—[इस आश्राणण-प्रयाश्राणण कम्म म] निश्चयन य [निम्न लिखित] पाच याहृतियों होती है—‘ओ श्राणय — अ तु श्रौषट्— यज — ये यजामहे’— ‘वाषट् ।

[प्राकृतिक सम्पत् सरयज्ञ सम्पत् सरयज्ञाधारेण वितायमान प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ य दोनों] यज्ञ पञ्चाणयव हैं [यज्ञ से उ पन्न] पशु [भी] पञ्चाणयव है [प्राकृतिक] सम्ब सर [यज्ञ] की [भी] पाँच [ही] ऋतुएँ हैं। यही [पञ्चावयवयता ही] इस यज्ञ की एक सीमित [प्राकृतिक] सम्पत् है। [इसी प्राकृतिक सम्पत् सग्रह क लिए यहा पाच याहृतिया विहित है] ॥[१६]॥

उन पाचा याहृतियों क अक्षर १ हाते है। इस सप्तदश सरया की पपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि उन पाच याहृतियों क (ओ श्रा व य अ स्तु श्रौ षट् य ज ये य जा म हे बौ षट्—इस क्रम से) सग्रह अक्षर है। प्रजापति निश्चयन सग्रह [सरया से समतुलित सप्तदशा वयव] है। प्रजापति [ही] यज्ञ है। यह [भी] इस यज्ञ की एक [प्राकृतिक] सीमा है यह [भी] स यज्ञ की] सम्पत् है। [इसप्रकार पञ्च याहृतियों के सप्तदश अक्षरों से सप्तदश लक्षणा प्राजाप य सम्पत् भी प्राप्त होजाती २] ॥ [१] ॥

(उक्त पाच प्राकृतिक याहृतियों म प्राकृतिक साम्प्रसरिक प्राणदेवताओं क द्वारा वृष्टिकम्म भी सञ्चालित है। फलत इस वैध मानुष यज्ञ मे भी यदि यजमान वृष्टिकामना रखता है तो उस की एक विशेष पद्धति के अनुगमन से यह कामना भी पूरी होसकती है। सी प्राकृतिक विशेष-पद्धत का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है) — (प्राणलक्षण) देवदेवताओंने ‘ओश्रावय’ इस याहृति शे (वृष्टिप्रवक्त क) ‘पुरोवात (पुरवाई हवा—मा सून)’ पन्न की। अस्तु श्रौषट् से (आकाश) बदलों से व्याप्त कर दिया। ‘यज इस याहृति से बिजली उत्पन्न की। ये यजामहे इस याहृति से ‘कडक’ उ पन्न की। एव—‘वौष स याहृति से पानी बरसा दिया। (इसप्रकार पाच याहृतियों क समवय से वृष्टिकम्म पूरा कर दिया ए प्र कर ने रहते है ॥ [१८] ।

यह यजमान यदि वृष्टि की कामना रखता हो वही यजमान फला तरसाधनभूता सौरी आदि इष्टि से यजन करने वाला हो तो उसे [इष्टिप्रकृतिभता इस] दशपूर्णमासेष्टि से ही [ऋत्विजों से] यह कह देना चाहिए कि मैं वृष्टि की इच्छा रखता हूँ। इस वृष्टिकम्म मे उस यजमान को अध्वर्यु से तो यह कहना चाहिए कि तुम अपने मानस सकल्प से पुरोवात और विद्युत् का यान करो। आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि तुम मन

से बहनों का यान करो। होता नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि तुम स्तनयित्नु और पानी का यान करो। ब्रह्मा नामक [त्रैविद्य] ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि आप पुरोवातादि सब का मन से ध्यान कीजिए। अपश्य ही [यजमान के] उस यज्ञ में पानी बरसता है जिस यज्ञ में (उक्त) ऋत्विक् अपने (उक्त सकल्पा के समग्र से-पञ्च याहतिलक्षण-यज्ञ में) एकमय होकर अनुष्ठान करते हैं ॥ [१६] ॥

अपने प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ में प्राणदेवता पञ्च यान-यात्मक इसी प्रत्याश्रावण कर्म से अपनी सम्पूर्ण यज्ञकामनाएँ विराड्गारूपा इसी पृथिवी से दोहा करता है। इसी एक ओर प्रासङ्गिक फल का प्रश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है कि) 'ओश्रावय इस याहति से देव-देवताओं ने विराट् (गारूपधरः पृथिवी) का आह्वान किया। 'अस्तु श्रावट् इस याहति से [स्तनपानाथ] वस को पाश से मुक्त किया। यज्ञ' इस याहति से वस को प्रथक् किया। ये यजामहे' इस याहति से [दोहनाथ ऊध-धन] के समीप बठ गए। एव- श्रावट् इस उपट्कारात्मिका याहति से ही उस विराट् का दोहन कर लिया। यह पृथिवी ही निश्चयेन विराट् है। इसी का यह [उक्त लक्षण] दोह है। [जिस प्रकार प्राकृतिक प्राणदेवता इस विराट्-रूपधरा गोरूपधरा-पृथिवी के दोहन से अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी किया करते हैं] उसी प्रकार यह विराट्गौ इस यजमान के लिए वे सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान कर देती हैं जो विराट्गौ के उक्तलक्षण प्राकृतिक दोह का रहस्य जानता है ॥ [२] ॥

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-निगद-समाप्त

—२—

पाँचवे अध्याय में दूसरा, तथा चौथे प्रपाठक में तीसरा

“सुग्रीवखण्ड” समाप्त

मूलानुवाद-समाप्त

—*—

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

१, २ — स्रुगापादन, तथा आश्रावणकर्म

वरणकर्म की समाप्ति क अन तर हाता नामक ऋत्विक् अध्वर्यु ओर अग्नीध्र क असदेश म स्पश करता है। इस हातकृत् क सम्मशन [स्पश] क्स्मान तर अ न यु आर आ नीध्र दोना यथास्थान बैठ जाते है जसा क— 'सभृष्टा उपविशत' (का आ सू २।२।१५) इत्यादि सूत्र आर्यान म स्पष्ट कर दिया गया है। सूत्रानुगता स पद्धत क अनतर क्रमप्रा त 'स्रुगादापनकर्म' की इतिकत्त यना आरम्भ हाती है। अथत्र जहा तूष्णी बिना मन्त्रप्रयोग क स्रुगादापनकर्म हाता है वहा प्रकृत २षि मे मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापन पिहित है। वरणकर्म से घृत होता 'अग्निर्होता वेत्तग्नर्होत्रम्' इ यादि मन्त्रलक्षण स्रुगादापननिगद का पाठ करता है। इधर होता मन्त्रपाठ आरम्भ करता है उधर अ न यु जुहू उपभृत् नामक सक् का ग्रहण करता है। यही समन्त्रक स्रुगादापनकर्म है। होतृकृत् क निगदमन्त्र क— 'आग्निर्होता वेत्तग्नर्होत्र वेत्तु पावित्र साधु देवता—योऽग्नि हातारमवृथा घृतवतामध्वर्यो स्रुचमा स्वस्व टवयुव विश्वावामीडामहै देवो ३॥ ईदयान्नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्' इस स्वरूप के उच्चारण मे भी थाडी विशेषता है। आरम्भ स यजमानदेवता पन्थ त तो होता उपाशु मन्त्रस्वरपूर्वक उच्चारण करता है। योऽग्नि से आरम्भ कर यजाम यज्ञियान् पन्थ त उच्चस्वर से उच्चारण करता है। जिस समय होता के मुख से घृत गतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यम्हा' उच्चरित होता है उसी समय [एतमन्त्रभागोच्चारणकाल मे ही] अध्वर्यु स्रुक् का ग्रहण करता है होतृकृत् क निगदपाठकाल मे अ न यु क द्वारा सक् -ग्रहण ही स्रुगादापनकर्म है यही निष्कष है।

भगवान् कायायन कहते है कि स्रुगादापनकर्म प्रयाजकर्म के समीप ही पिहित है। अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापनकर्म करना चाहिए। होता क द्वारा प्रयुक्त निगदमन्त्र के घृत गतीम' भाग क उच्चरित होने पर अध्वर्यु जुहू उपभृत् नामक सचा का ग्रहण कर हृत्तियों से पूव परिधियों मे पश्चिमभाग से वामपाद से वेदिक दक्षिण पार्श्व मे जोकि—'यजति' आदेश माना गया है जाकर ईशानाभिमुख खडा हाजाता है। यहा खडा होकर वह ओ श्रावय यह याहति [अग्नीध्र क प्रति] गोलता है। प्रयुत्तर में आग्नीध्र अस्तु श्रावट इस याहति का प्रयोग करता है। अनतर पुन अध्वर्यु होता को लक्ष्य बना कर समिधो यज इस याहति का उच्चारण करता है। प्रयुत्तर मे होता—य यजामहे इस याहति का उच्चारण करता है। सर्गान में अ न यु जु को प्राडभुव बनाता हुआ श्रावट इस वषट्कारात्मका याहति के

उच्चारण न साय साय जुहुरित आय मे ततीयाश की आहुति दे देता है। सुगादापन तथा आराधण प्रयागण कर्म की सी इतिकत्त यता का स्पष्टीकरण करने हुए सूत्रकार कहते हैं

(१)—अग्निर्होतेति सुगादापन प्रयाजपु सन्निधे । (का श्रौ सु ६।२।१३।)

(२)—घतवतीमित्युक्तं क्षुचावादाय अतिक्रम्य आश्राय आह—समिधो यजेति । (का श्रौ० सू ३।२।१७।)

इति—सूत्रानुगतपद्धतिमगूह



वैज्ञानिक विवेचना—

१—सुगादापनकर्मोपपत्ति

(भाष्य) अत्र युक्तं वृत्तं मत्तं से वृत्तं होता स्वरयजनक कर्मोपपत्ति अग्निर्होता वेत्स्वग्नेर्होत्रम् । यदि ब्राह्मणपठितं सुगादापननिगन्तं का पाठं कृता है। वरुणकर्म से वृत्तं यह मनु यज्ञोता अपने स्वाभाविक ओपत्तिक सहजसिद्ध अरुतभाय स प्रज्ञापराध का सहज पात्र है। असावधानी कर बैठना मनु यवन वसना स्वभाव है। यज्ञकर्म तो सा प्राकृतिक कर्म है जिमम होजानेवाली थोड़ी भी असावधानी यज्ञस्वरूप को मिट्टत कर देती है फलस्वरूप इष्टजनक भी यह यज्ञ अनिष्टजनक बन सकता है वस अनिष्टजनकताप्रवत्तक मानुषदोष के निवारण के लिए यह मनु यज्ञोता अपने होत्रकर्म का उत्तरदायित्व मंत्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक प्राणामक दिव्यानिलक्षण दिव्योता को समर्पित करता हुआ उसे ही लक्ष्य बनाता हुआ कहता है कि— मैं इस यज्ञ का होता नहीं हूँ। होता तो त्रियानि हैं। जो वास्तविक होता है वे ही अपने वस होत्रकर्म की शक्ति यता का यान रक्ख। मुझसे जो असावधानी होगी वह उन्हीं की असावधानी मानी जायगी।

लौकिक कर्म हो अथवा वादक (शास्त्रीय) कर्म दोनों के लिए प्रणवबल हमें प्राकृतिक प्राण-देवताओं से ही मिलता है। होता है सबकुछ प्राणदेवताओं की प्रणव से ही हम करते सब कुछ है—प्राकृतिक वृत्त—प्रणव से ही। परंतु योगमाया के बंधन से अहंताभिमान हमें होता रहता है। हम यह मान बैठते हैं कि हम ही सबकुछ कर रहे हैं जबकि तत्त्व-तत्त्वस्य कुब्जोक्तरणोऽप्यशक्त सिद्धांतानुसार उन प्राणतक शक्तियों के आगे हमारी स्वतंत्र सत्ता का कुछ भी तो मूल्य नहीं है। केनापि नेवेन इति स्थितेन यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि के अनुसार हृदयावच्छिन्न दिव्यप्राणशक्तिवत् अतर्क्यता की प्रणव से ही हमारा सम्पूर्ण कर्मकलाप सञ्चालित है। जो पक्ति अपने कर्मों में हृदय वदवप्राणमूर्त्ति वस अतर्क्यता को साक्षी बनाए रहता है निश्चयेन इस आध्यात्मिक भावनामात्र से उसका कर्म मानुषभाव से पृथक रहता हुआ सफल होजाता है। यही भारतीय भक्तिकारण्ड का सप्रसिद्ध आत्मसमर्पण लक्षण भक्तियोग है जिसके अनुगामी भक्त सदा निद्र इ ही बने रहते हैं।

ठीक इसके विपरीत अतर्क्यामी की दूसरे शब्दों में दिव्यप्राणशक्तियों की उपेक्षा कर जो मनुष्य अपने बल का अभिमान करत हुए कर्मों में प्रवृत्त होते हैं अवश्यमव उनसे प्रज्ञापराध होपडता है। फलस्वरूप उनका कर्म अपूर्ण रहता हुआ अनिष्टजनक ही बन जाता है। संभव है लौकिक कर्मों में मनुष्य अपनी शक्ति के भरोसे पर भी यथार्थश्रित् सफलता प्राप्त करले। परंतु उन वैदिक-कर्मों की सफलता तो जिनका विधान एकमात्र प्राकृतिक फलों को नक्षत्र लेकर ही हुआ है—उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं के प्रति आत्मसमर्पण से ही सम्भव है। लौकिक कर्मों में नहा बाह्य इन्द्रियवश काम ददता है वहा अलौकिक वैदिक परीक्षा कर्मों में हमारी बाह्यदृष्टि अवरुद्ध है। अतएव इनके सम्बन्ध में हमारा शक्यभिमान स्वयं निरर्थक ही सिद्ध होजाता है। अतएव आवश्यक है कि हम अपने यज्ञात्मक वैदिक कर्मों का भार प्राकृतिक प्राणदेवताओं पर ही डालें। अवश्य ही इस आत्मसमर्पण से हमारा दिव्य कर्म बिना किसी विघ्न-बाधा के साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होजायगा। एकमात्र इस भावना को यत्न करने के लिए ही भावना के द्वारा स्वाभिमान-निराकरण पूर्वक दवानुग्रह की प्राप्ति के लिये ही होता कहता है कि—होता अग्नि ही अपने हौत्रकर्म को जान। इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—अग्निरिदं होता वेत्त इत्येतदाह।

मन्त्र का अग्रतः भाग है—वेत्तु प्रावित्रम्। अनुष्ठेय हौत्रकर्म की सफलता से ही यज्ञस्वरूपसिद्धि सम्भव है। अतः प्रथम अनुष्ठेयकर्म की सफलता अभीष्ट है। इसके लिए अग्निर्होता वेत्तुर्होत्रम् यह कहा गया है। अनुष्ठेय हौत्रकर्मों में दूसरा नक्षत्र यज्ञ है। इसके लिए भी उसी प्राणाग्निदेव को साक्षात् बनाना आवश्यक है। अवश्य ही यज्ञ जिस पवित्र कर्म का उत्तरदायित्व भी अग्नि अवश्य ही ग्रहण कर लेगी। निम्न-पातकजनक असत्कर्म जहा दिव्यप्राण मर्यादा सहित है वहाँ पुण्यातिशयजनक श्रेष्ठ सत्कर्म [यज्ञ तपोदानादि शास्त्रीयकर्म एव इष्ट आप्त दत्तादि लौकिक कर्म] दिव्यप्राणमर्यादा के अन्तर्भूत माने गये हैं। पावनतम प्राणदेवता सजातीय पावनतम कर्मों को ही साक्षात् बना करते हैं। आसुर अपवित्र कर्मों के लिए जहा असुर-मलिन प्राणों से प्रणवबल मिलता है वहा दिव्य-पवित्र-कर्मों के लिए दिव्य-पवित्र-प्राणों से प्रणव उपलब्ध होती है। उस यज्ञ से अथ और कौन-सा कर्म अतिशयरूपेण दिव्य एव पवित्र कर्म होगा जिसके आधार पर प्रजापति का पवित्रतम सृष्टिकर्म प्रतिष्ठित है प्रजापति को प्रजा का जीवन सुरक्षित है। इष्टकामधुक् यज्ञ अपने प्रधान दो अवयवों से अथ पवित्र कर्मों की तुलना में विशेषरूप से पवित्र बना हुआ है।

अग्नि और सोम दोनों तत्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से उत्पन्न उभयामक अपूर्णभाव ही यज्ञ हैं। अग्नि की पवित्रता लोक में भी प्रयुक्त है। दूषित मलिन-अशुचि-भावों को नष्ट कर देना अग्नि का मुख्य काम है। इसी आधार पर तो पात्रादि की अशुचि अग्निताप से लोक में दूर की जाती है। जबतक शरीर में अग्निदेवता परमया जूया बवलीति (प्रवर्धित रहते हैं) तभीतक अथात्मस्थ (आमयुक्त शरीर) पवित्र रहता है। अग्निदेव के उत्क्रान्त होते ही आसुर जलीय वारुणप्राण का प्रसुव होजाता है फलस्वरूप शवशरीर स्वयं अशुचि पूतिवश से ही युक्त होजाता है। अग्नि का यह पावनकर्म दाहसोमाहुति पर ही निरभर है। जबतक दाहसोम दाहक अग्नि में आहुत होता रहता है तभीतक अनादाग्नि-प्रवर्धित रहता है। अतएव पवित्रधर्म का मूलप्रवर्धक पारमेष्ठ्य अम्भ नामक सोमत्व ही माना गया है जिसका कि पवित्र तैत्तिर्य ब्रह्मणस्पते इत्यादि ऋत्विज से विश्लेषण हुआ है।

पात्रि अग्नि एव अग्निस्वरूपरक्षक पात्रि ब्रह्माणस्पति अम्भ नामक पारमेष्ठ्य सोम एव दोनो पावत्र त वो के सर्मा वतरूप का ही नाम पूर्वकथनानुसार श है। जिसका स्वरूप विश्व के सवश्र ठ दो पवित्र त वा के सम्मिश्रण स नि पन्न हुआ हो उस (यज्ञ को) हम अ य पवित्र त वो की अपेक्षा अवश्य ही अतिशयरूप से पवित्र कह सकते हैं। इसीलिये तो श्र ठक मा की परिगणना मे इसे— यज्ञो । श्रेष्ठतम कम्म इ यादि रूपस श्र ठतम बतलाया जाता है। यज्ञ की यही अग्नि—साममयी—उभयधर्मात्मिका अतिशय पावत्रता सूचित करने के लिए श्र ति ने इस प्रात्रि [प्रकर्षेण आति] कहा है। प्रावित्र श द से यद्यपि प्रकृत मे रक्षाक म ही अभिप्रत है। तथापि रक्षाक यह यज्ञकम्म क्यों क पवित्रतम है अतए प्रसङ्गोपात्त पर परया प्रात्रि से यज्ञ के पात्रतम ध म का ती विश्लेषण कर दिया गया है।

अ नीषोमा मक यज्ञ की अग्निसामात्मिका पवित्रता ही रक्षाकम्म का प्रधान निमित्त बनती है। एक— मात्र इसी आधार पर प्रावित्र से पावत्रतम रूप पतिताथ भी निकाला जा सकता है। प्रकृष्ट रक्षाक धर्म तो यज्ञ का स्पष्ट ही है। आयात्मिक आधिभौतिक आधिद्विक तीनों ही सस्थाओं की रक्षा अ नीषोमा मक यज्ञ पर ही निर्भर है। अन्नादानामक यज्ञ आयात्मिक सस्था का रक्षक है आदानप्रसंग— क्रियात्मक यज्ञ आधिभौतिक सस्था का रक्षक है एव पारमेष्ठ्य सोमाहुयात्मक यज्ञ आधिद्विक सारसस्था का स्वरूपरक्षक है। सवरक्षता ही यज्ञ का प्रयत्नरक्षकापेक्षा प्रकृष्ट रक्षाधर्म है—अतएव यह प्रावित्र है। प्रावित्रयज्ञ का यथानुरूप स्वरूप ज्ञान ही हौत्रकर्म की सफलता का मूल है। अतएव अनुष्ठय अग्निकर्म्मामक हौत्रकम्म के पारज्ञान के साथ—साथ— वेत्त प्रात्रिम् से यज्ञकर्म की ओर भी दिव्याग्नि का यान आकर्षित किया गया है। यज्ञकर्मनिगता इमी भावना का स्फुरणकते हुए श्रुति ने कहा है यज्ञो व प्रात्रिम्। वेत्त यज्ञमियत्रैतन्नाह। उभय—वाक्यनिरूप यही है। मेरा (मानुष होता का) हौत्रकम्म तथा तत्तद्वारा सम्पन्न होने वाला यज्ञकम्म दोनों के प्राणाग्निदेव साक्षी बने रहें। उन्हीं से एव दोनों की सफलता के लिए प्रेरणाबल मिलता रहे।

मत्र का अगला भाग है— साधु ते यजमान देवता (योऽति होतारमत्रथा)। दवन्नलानुग्रह— प्रायन तर होता को यह दृढ आ मविश्वास होजाता है कि अब निश्चयेन यजमान का यज्ञकम्म निर्वि न सुसम्पन्न होजायगा। अपने इसी आ मभाव को व यजमान के प्रति इन शब्दों में प्रकट कर रहा है कि—हे यजमान ! तुमने किसी सामा य यक्ति का हौत्रकर्म के लिए वरण नहीं किया है। अपितु मेरे याज्ञ से तुमने उस दिव्यप्राणाग्नि का ही हौत्रकर्म के लिए वरण किया है जिसके अनुग्रह प्राप्त होजाने पर अवश्यमेव यज्ञकर्म सफल होजाया करता है। तुमने जिस अ नदेवता का आश्रय लिया है तुझारे व अग्निदेवता इस हौत्रकर्म के लिए साधु हैं पूण समथ है। यह तुझारा सोमा य है कि अग्नि जैसे श्रेष्ठ देवता का तुझ सहयोग मिल रहा है। स्वाभाविकी यज्ञपद्धति के साथ—साथ ही इस विश्लेषण से श्रुति सकेतरूपेण हमें यह लोकशिक्षा भी दे रही है कि हमें अपने लौकिक कर्मों में उन्हीं सहयोगियों का सहयोग लेना चाहिये जो स्वयं भी उस कर्म में रुचि रखते हैं साथ ही उनमें उस सफल बनाने की योग्यता भी हो। वैसे थो— प्रामाणिक—समथ—सहयोगियों के लिए टोक म भी यही सूक्ति यवहृत हुई है कि अब उनका काग्य अग्रय सफल होजायगा क्योंकि अमुक योग्य प्रामाणिक व्यक्ति ने उसका भार उठा लिया है।

प्रकृत मे होता— साधु ते ऋष्याद म त्र के द्वारा यजमान की कर्मणि ठा को ही प्ररणाबल प्रदान कर रहा है । यजनान का आ मविश्राम भी तो यज्ञ की सफलता के अ या य कारणो मे से क अ यतम कारण है । इसी भावना का स्पष्टीकरण करती हुइ अ ति कहती है— साधु ते यजमान देवता यस्य तऽ अग्नर्हता इ ययैतदाह ।

म त्र का अगला माग है— घृतगतीमध्वर्यो स्र चमास्यस्य यह वाक्य अ व यु को लक्ष्य बना कर कहा जाता है । अग्नि के अनुग्रह—प्राप्ति का अर्थ है—अग्निदेवता का यज्ञीय में प्रावृष्ट होजाना । हात्र कम्म को आप लक्ष्य बनाय यज्ञ को लक्ष्य बनाय यजमान । अब तुह्यारा यह काय मफल हुआ समझो जहाँ अग्नि जैसे हाता ने अनुग्रह कर दिया उस भावना को यत्न करने वाले निगदम त्रभाग स आवश्यकम प्राणाग्नि यज्ञमण्डल में प्रविष्ट होजाते है । आगत अग्निदेव की पारब्र र्या उमी यवहारम र्यादा का भावत आग्रयक है जसकि आगत स मा य अतिथि का अर्घ्यदानादि से सम्मान किया करते हैं । अग्निदेव की पारवृप्ति से स ब्र ध ररने वाली आ याहुति है । यह आहुतिक र् अ वय्यु से स ब्र ध ररता है । अतएव अनुग्रह प्रायनतर होता का यह भी आवश्यक कत य होजाता है कि वह आगत स मा य अतिथि के स्वागत से स ब्र ध ररने वाले आ याहुतिक म की ओर आहुतिप्रदाता अ व यु का यान आकर्षित कर दे । एकमात्र इसी अभिप्राय से अ र्यो । आप घृतवती स्रक् का ग्रहण कर (क्याकि आहुतिग्राहक अग्निदेव पत्रार आए है) यह प्रणामक म त्र भाग प्रयुक्त हुआ है जिसका ताप य तद्ध्वय्यु प्रसौति ऋ ब्राह्मणवचन से स्पष्ट हुआ है ।

पद्मातप्रकरण मे यह कहा जासुका है कि होता के मुख से घृतगतीम् याहुति के उच्चरित होत ही अ त्रय्यु जुहू उपभृत् नामक दोनो स्रचो को आहुतिके लिए हाथ में ले तोता है । ग्रहण होता है जुहू उपभृत् दोनो का । पर तु होता के द्वारा ग्रहण की प्ररणा होती है केवल एक (जुहू) स्रुक की ही । ऐसा क्यों ? । जब पद्धति मे दोनो का ग्रहण विहित है तो मन्त्रभाग में भी घृतवय्यौ स्रचौ इ यदि रूप से द्विवचन का ही प्रयोग होना चाहिए था । उसी विप्रतिपत्ति का अनराकरण करती हुइ अ ति कहती है कि— (१) निदानविद्या के अनुसार जुहू नामक स्रुक यजमा स्थानीया है एव उपभृत् नामक स्रक यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है । इसके अतिरिक्त जुहू अत्ता की प्रतिकृति है तो उपभृत् आद्य (भो य) की । ऐसी स्थिति में यदि होता जुहूपभृतावास्यस्य ऋत्यादि रूप से द्विवचन का प्रयोग करेगा तो यजमान का शत्रु यजमान के लिए प्रतिस्पर्द्धा करनेवाला बन जायगा । इसके अतिरिक्त भो य स पत्ति भी भोक्ता यजमान के लिए प्रतिकूल बन जायगी ।

भावनामिका यज्ञप्रक्रियाओ का फलाफल एकमात्र भावना पर ही अवलम्बित है । एव इन भावनाओं के मूलाधार उसीप्रकार आधिभौतिक यज्ञिय द्र य है जैसे कि उपासनाकाण्ड में उपास्य की प्राप्ति के लिए उपास्य के यत्किंचित् समधर्मों स समतुलित आधिभौतिक पदार्थों में आहार्यारोपविधा से उपास्य की कपना कर ली जाती है । इसी आहार्यारोपविधा के आधार पर उपभृत् को शत्रुभावना से एव भोग्यभावन से युक्त समझा जाता है । जुहू को यजमान की भावना से तथा भोक्ता की भावना से युक्त मानलिया जाता है । उपभृत् को जुहू की तुलना मे रखना शत्रु को समान बलशाली ही बनाना है भो य को प्रतिकूल ही बनाना है । यह भावना यजमान के लिए अनिष्टकर ही बनती है । अत एकवचन का ही प्रयोग किया जाता

है। ग्रहण होता है दोनों का प्ररणा िलती है एक के ग्रहण की। यही— अस य त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते * लक्षणा आहा यारोपमूला प्रययालम्बनता है जिसका गीताविज्ञानभा या तगत तृतीय खण्ड के ख विभागा मक उपासनोत्तरखण्ड के—उपासनाभेत्निचन नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। उसी भावना को यक्त करती हुई श्रुति कहती है— तस्मादेकामिषै ग्राह ॥ ७ ॥

मन्त्र का अगला भाग है— देवयुगा विश्वाराम । अध्यामस्थित प्राणदेवताओं का आधि-भौ तक तत्सम पदार्थ का मा यम से आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ चितिलक्षण अ तर्क्यम सम्बन्ध करा देना ही यज्ञ का फलिताथ है। होतृकृतक निगदपाठ से प्राणाग्नि का यज्ञमण्डल में समावेश तो होगया है। परंतु अभीतक मनका यजमान के आ यामिक प्राणदेवताओं के साथ ग्रथि बंधन सम्बन्ध नहीं हुआ है। यह काम म यस्था आधिभौतिकी आयाहुत पूरा करती है। जुहू नामक स्रकपात्री भी आधिभौतिक पदार्थ है एव आहुति के लिए जुहू में प्रति ठत आ यमात्रा भी आधिभौतिक ही है। इन दोनों पर यजमान की भूता मसत्ता आक्रांत है जिस वितानगता आ मसत्ता के लिए ही आवद्धित तावदांमा यह सिद्धा त स्थापित हुआ है। नि कषत आ यपूरा जुहू में यजमान के प्राणदेवता प्रतिठित हैं। उधर आहवनीय कु ड थ समिद्ध अग्नि में द्युलोक से आगत आधिदैविक प्राणाग्नि प्रतिठित हैं। इनमें आया हुत हाती है। परिणाम यह होता है कि आ यानुगत यजमान के प्राणदेवताओं का आ याहुति के द्वारा आहव नीयस्थ प्राणाग्नि के साथ प्र थन्न वन होजाता है। इसप्रकार आ यपूरा जुहू यजमान के आ यामिक प्राणों का प्राकृतिक प्राणदेवताओं के साथ योग कराने वाली बन रही है। यही देवयुग रूप पहिला धर्म है। ययवात् (३३) प्राणदेवताओं के द्वारा यह जुहू (आ य के सम्बन्ध से) वरणीया है। सभी प्राणदेव त्सकी इ ङ्गा रखते हैं। देवप्रिया देवयुवा जुहू वास्तव में यज्ञकार्ताओं के लिए स्तु या है प्रशसनीया है। मन्त्रभाग के द्वारा जुहू के उक्त दोनों धर्मों का ही विश्लेषण हुआ है साथ ही उस की स्तुत एव प्रशसा हुई है। सवन्न चैतन्य का साक्षात्कार करने वाली ऋषिदृष्टि के लिए जुहू की स्तुति प्रशसा अवश्यमेव तव विज्ञान सम्मत ह।

मन्त्र का अगला भाग है ईडामहै देवो ३॥ ईडेयान् नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञि यान् । योति र्भय तव ही देवता है। यह योतिर्भाग पृथिवी अतरिक्ष द्यौ मन तीन लोकों के भेद से तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ विभिन्न तीन नाम रूप गुण-धर्मों में परिणत हो रहा है। तीनों म मूलतव द्य लोकस्थ सौरप्राणमूर्ति देवत व ही ह। सौरयोतिर्भाग (प्रकाश) सर्वप्रथम अतरिक्ष-लोकोपलक्षित सौम्य चाद्रपिण्ड मे भुक्त होता है। चाद्रमसी योति वस्तुग या प्रवृक्त सौरी योति ही है। तृतीय स्थान पृथिवीलोक है। यहाँ आकर भूतभाग के आ यतिक आवरण से सौरयोति का स्वयोतिर्भाग तथा चाद्र-योति का पर्य्योतिर्भाग दोनों अभिभूत होजाते हैं। अतएव पार्थिव योति केवल रूपयोति कहलाइ है। रूप्य्योति में [पार्थिवी योति में] उस पार्थिव प्राणाग्नि का समावेश है जोकि— रैश्वानर नाम से

* उपाया शिक्तमाणाना बालानामुपलालना ।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते ॥

—भट्ट हरि

प्रसिद्ध है जिसे कि यजु सहिताने विराटपुरुष कहा है। एव जिस स कि पुरुष अश्य-गौ-अग्नि-अज नन पाच याज्ञय पशुओं का स्वरूप निर्माण हुआ है जो कि पुरुष (मनु य) पशु में अपनी पूरा मात्रा से विकसित है। यही वरवानराग्नि भूताभिमत से अपत्यन्त है मृग्यमाण है। अतएव कृष्णोऽस्याखरष्ट इत्यादि रूप से इस पार्थिव अग्नि का कृष्णमृग नाम से व्यवहृत किया जाता है।

उक्त कृष्णमृगाग्नि की सहयोगिनी रूपज्योति दूसरे शब्दों में पार्थिवप्राणानियुक्त दिव्यप्रवृत्त योतिर्भाग ही पार्थिवदेवता है। आतरिद्य चाद्रसामावच्छिन्न विशुद्ध योतिर्मय भाग आतरिद्य देवता है। एव सौर मण्डलस्थ (सम्ब सरमण्डलस्थ) सावित्राग्निनियुक्त योतिर्भाग दिव्य देवता है। दिव्यदेवताओं से यज्ञ तपोदान लक्षण विद्यासमुच्चित् प्रवृत्तिकर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। आन्तरिद्य चाद्रदेवताओं से इष्ट-आर्चा-दत्त लक्षण विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। एव पार्थिव देवताओं से लौकिक-व्यवहारिक यथाजात कर्मों की प्रवृत्ति होती है। पार्थिव योतिर्भाग मानसग की आतरिद्य चान्द्रज्योतिर्भाग पितृसग की एव दिव्य ज्योतिर्भाग देवसग की मूलप्रातष्ठा है। मनुष्य पितर देव तीन प्रजा है रूप-पर-स्य-तीन योतिया है एव पृथिवी अतारिद्य द्यो तीन लोक है।

इसप्रकार एक ही दिव्य-योति त्रि प्रजासग त्रिज्योति सग त्रिलोकसगरूप में परिणत हो रही है। द्युलोकावच्छिन्न देवता यज्ञिय है अतरिच्लोकावच्छिन्न पितर नमस्य है एव पार्थिवलोकावच्छिन्न मनुष्य ईडेन्य है। द्युलोकस्थ देवता न तो केवल स्तुति प्रशसा से ही अनुग्रह करते न केवल नमस्कार से ही उह (सा प्रदायिक भक्तिमाग की भाति) तुष्ट किया जासकता। अपितु तवाधार पर प्रतिष्ठित वध यज्ञ प्रक्रिया से आहुति के द्वारा ही उह प्रसन्न किया जासकता है। दिव्यप्राणदेवताओं का आयागिक प्राणदेवताओं से सम्बन्ध होजाने से दिव्यप्राणशक्तियों की प्राप्ति होजाती है। यही उनका अनुग्रह है। यह अनुग्रह केवल स्तुति नमस्कार से नहीं मिल सकता। अपितु इसके लिए तायज्ञकर्म का ही अनुगमन करना अनिवार्य होगा। अतएव इन दिव्य देवताओं को हम यज्ञिय कह सकते हैं।

वाङ्मय आन्तरिद्य पितर-पितरो वाक्यमिच्छन्ति के अनुसार केवल नमस्कार से भी तुष्ट किए जासकते हैं। अतएव उह नमस्य कहा जासकता है। वागविकृतिरूप भूतमय मनु य केवल नमस्कार से ही प्रसन्न नहीं होते। अपितु उह प्रसन्न करने का अन्यतम साधन है-स्तुति। तत्प्रशसा से यश स्थापन से लोकैषणा के कीर्त्तन से धीर से धीर मनुष्य के अतजगत् को भी स्वर्लित किया जासकता है। अतएव उह ईडेन्य कहा जासकता है। प्रकृत यज्ञकर्म में हमें यजनीय यज्ञिय देवताओं के अतिरिक्त पितरो की भी सहानुभूति अपेक्षित है उन ऋत्विक् दशक मनुष्यों का सहयोग भी अपेक्षित है जिनके अन्त-बाह्य सहयोग से यज्ञियदेवताओं का यजनकर्म साङ्गोपाङ्ग पूरा होगा। इसी त्रिविध प्राकृतिक प्रजासर्ग के अनुग्रह प्राप्त करने के लिये ईडामहै ईडेन्यान् इत्यादि मन्त्रप्रयोग विहित है।

	पृथ्वी	अग्नि	रूप-योति	मनुष्या	ईड या	तान् ईडामहै
२	अ तरिच्च	साम	पर योति	पितर	नमस्या	तान् नमस्याम
३	द्यो	इन्द्र	स्वज्योति	देवा	यज्ञिया	तान्-यजाम

दूसरी दृष्टि से देवत्रयी का समन्वय कीजिए उपासनाकाण्ड से सम्बंध रखने वाले आधिदेविक सगुण देवता [अग्नि विष्णु इन्द्र आदि अतिष्ठावा दवता] एव माता पिता आचार्य ये तीन आधिभौतिक सगुण प्रत्येक मनुष्य दवता इडे-यग से सम्बंध रखत है । उपास्यदवता स्तुतिभावामक आसमपण से तुष्ट होजात है इसी लक्ष्य से इन्हें ईडे-य कहा जासकता है । माता पिता-आचार्य इन तीन से भिन्न ज्येष्ठ भ्राता समाज के शिष्ट पुरुष सम्माय विद्वान् इ यदि पूज्य वग नमस्कारमात्र से तुष्ट किए जासकते हैं । अतएव इन्हें नमस्य कहा जासकता है । आधिदेविक विवर्णों में स्वष्टदेवता से भिन्न देववर्ग नमस्य माना जासकता है । तीसरा विभाग यज्ञिय देवताओं का है जो कि अधिभूत अधिदेवत उभयत्र समान हैं । ऋतु छन्द आदि वयोनाथामक देवपशु [देववाहन] लक्षण देवताओं का भी यज्ञिय विभाग में ही अतर्भाव है । तीनों श्रेणियों का ही प्रकृत में येन केन रूपेण अनुग्रह अपेक्षित है । अत तीनों का स्मरण आवश्यक मान लिया गया है ॥ ॥

यजनीय देवताओं से सम्बंध रखने वाला यज्ञ एक वैसा महत्वपूर्ण साधन है जिसके अनुगमन से त्रैलोक्य की चर-अचर संपत्ति प्राप्त की जासकती है । त्रैलोक्य में जो कुछ यज्ञिय पदार्थ है उन सब का यज्ञकर्ता के साथ भोग-यवन सम्बंध होजाता है । जो पदार्थ किंवा जो प्राणी यज्ञ के दिव्यभाग में भाग नहीं लेते अथवा तो प्रकृत या जिनके स्वरूप-निर्माण में दिव्ययज्ञमात्रा का सहयोग नहीं होता व पदार्थ और व प्राणी अपने स्वरूप से भी मुकुलित [बुद्धिशून्य] रह जाते हैं साथ ही यज्ञ में अवाभक्त प्रजा के व्यवहारों में भी उनका विशेष उपयोग नहीं होता । मनुष्य यदि यज्ञिय है तो किपुरुष अयज्ञिय है । एवमेव अश्व गौ अवि अज चारों यज्ञियप्रजाओं के अनुकूल क्रमशः गौर गवय उष्ट्र शरभ ये चार अयज्ञिय प्रजा हैं । एवमेव बङ्गा बगधा चेरपादा यह प्रजात्रयी भी प्रजा ह तिस्रो अयायमियु के अनुसार पराभता है यज्ञ-अनन्वाभक्ता है । माषादि ओषधियों अयज्ञिय है । इन अयज्ञिय अतएव पराभत पदार्थों के अतिरिक्त जितने भी स्थिर चर यज्ञिय पदार्थ हैं उक्त सगत्रयी से उन सब का ग्रहण होजाता है । इसप्रकार ईडेन्य मानवसर्ग से अश्वादि यज्ञिय पशुओं का यज्ञिय देवसग से कपिल्लादि पक्षियों का ब्रीहि यवादि ओषधियों का पलाश काष्मथ्यादि वनस्पतियों का ओर ओर भी जितने यज्ञिय पदार्थ बच रहते हैं उन सब का ग्रहण होजाता है । इसप्रकार जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्य निगमानुसार यच्च यावत् यज्ञिय पदार्थों का यज्ञ से ग्रहण होजाता है । फलत यज्ञ का इष्टकामधुक्त्व सर्वाभ्यो चरिताथ होजाता

है। यही यज्ञ का वह महतोमहीयान् श्रेष्ठतम कर्म है जिसे लक्ष्य बनाते हुए याज्ञक लोग इसमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। जिन्होंने यज्ञ का अनुगमन किया उन्हें सब कुछ मिल भी गया साथ ही उनका परामर्श भी नहीं हुआ। जिन्होंने यज्ञ का तिरस्कार किया उनकी सत्ता ही उच्छिन्न होगी ॥ ४ ॥

यज्ञपद्धति में विहित प्रत्येक आधिभौतिक कर्मसंयोजन के मानुषामा में कोहनको यज्ञातिशय उपन्न किया जाता है। यज्ञकर्मसमाप्त से वह यज्ञातिशय सर्वाङ्गीण बनता हुआ यज्ञमान के मानुषामा के साथ अत्यर्थमि-सम्बन्ध करता हुआ उसे आधिदावक फलानुगामी बनाता है। यही यज्ञातिशय द्वा-मा कहलाया है जिसका स्वरूप विश्लेषण पूर्वब्राह्मणों में अनकथा हो चुका है। तत्त्वकमविशेषों से इस यज्ञातिशय लक्षणद्वामा में तत्त्वशरीरहस्तपादादि अवयव ही स्थापित किए जाते हैं। प्रश्न होता है कि नवयाह्यामक इस सुगादापनकर्म से [जिन नौ याहृतियों का मूलानुवाद में भी उल्लेख किया जा चुका है] द्वामा में कौन से शरीरावयव स्थापित किए जाते हैं? वो कण्डिका इसी प्रश्न का समाधान कर रही है। हमारा अयामसस्थाके पाञ्चभौतिक शरीरभाग में अत्र अवाञ्च भेद से सार पार्थिव दो जाति के प्राण प्रतिष्ठित हैं। सौर प्राण का केन्द्र ब्रह्मरथ है एव पार्थिव अपान प्राण का केन्द्र ब्रह्मरथ है। ब्रह्मरथ में प्रतिष्ठित सौर प्राण उक्त्यावस्थापन्न है। ससे अकरूप जो सात अवातर प्राण निकलते हैं वही साकञ्ज [साथ रहने वाले] सप्तशीर्षण्य प्राण कहलाए हैं। दो श्रोत्रप्राण दो चक्षुप्राण दो नासाप्राण एक मुखप्राण इमप्रकार सातो में ६ प्राण तो यमजप्राण हैं जोडले हैं एव मातवा मुखप्राण एकाकी है *। इसीप्रकार ब्रह्मरथि में प्रतिष्ठित पार्थिव अपानप्राण उक्त है। इससे निकलने वाले अर्कामक प्राण दो भागों में विभक्त हैं। ये ही क्रमशः उपस्थप्राण गुदप्राण नामक अवाञ्चप्राण हैं -। सभयदोके अवातर नौ प्राण होजाते हैं। सुगादापन निगद में पठित नौ याहृतियों से निगदमत्रभागानुगता सख्यासप्तके समतुलन से द्वामा में सप्तशीर्षण्य सौर प्राण एतदो अवाञ्च पार्थिवप्राण इन नौ प्राणों का ही आधान होता है। क्यो नौ याहृतिया होती हैं? प्रश्न की यही सन्निप्त उपपत्ति है ॥ ५ ॥

इति-सुगादापनकर्मोपपत्ति —

* साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकज षड्विधमा ऋषयो देवाजा ।

तेषामिष्टान विहितानि धामश स्थात्र रेज ते विकृतानि रूपश ॥

— ऋकस १।१६।१५।

— सप्तशीर्षण्य (प्राणा) द्वाववाञ्चौ [ऐत्रा १।३।६]

२—आश्रावण प्रत्याश्रावण कम्मोपपत्ति

होतुकृतक स गादापनकम्म के अनतर अ व यु आनीध्र होता ब्रह्मा आदि ऋजो के सह-योग से आश्रावण प्रयाश्रावण-कम्म की इतिकत ध्यता स पन्न होती है। एक वज्ञानिकी आरयायिका के द्वारा इसी क म की उपपत्ति का (६ ठी कण्डिका से) स्पष्टीकरण हुआ है। वसत-भीष्म-पर्वा-शरत्-हेम-तशिशिर-(हेम तशिशिरयो समासेन) न पाच ऋतुओं का स्वरूप अनीषोमामक माना गया है। अग्नि और सोम के उदग्राभ-निग्राभ (चढान-उतार) से ही पञ्चतु का स्वरूप स पन्न हुआ है। अग्नीषोममयी पाचो ऋतुओं की समष्टि ही स व सर है यही वह यज्ञ है जिसके द्वारा सूर्यके द्रव्य हिरण्यगम-प्रजापति रोदसी-त्रलोक्य में पति ठत चर-अचर प्रजा का वरूप-निमाण किया करते हैं। इस प्राजाप या अनीषोममयी यज्ञमात्रा का प्रजासग में प्रतिक्षण वसत सन हुआ करता है। प्रजा के स्वरूप-निर्माण में साम्ब सरिक अग्नि सोम मात्राओं का उपादान-कारणता के म व व स लख होना अनिवाच्य है। यही ययभाव वसत सन कहलाया है। इसी वसत सन का लक्ष्य में बनाकर यह क जासकता है कि सारमण्डलस्थ दिव्यदेवताओं का अनीषाममय यज्ञ सारमण्डल स अपक्रात हागया। ताप्य पार्थिव प्रजासग के निर्माण के लिए सौर दवयज्ञ की अपक्राति स्वाभ विक है।

यह यज्ञापक्राति नियतापक्राति अनियतापक्राति भेद स दो भागो मे विभक्त मानी जासकती है। सौरसम्ब सरमण्डलावा छन्न योतिर्भाग ही अनीषामामक यज्ञ है। प्रयच्छष्ट सौर प्रकाश ही इस यज्ञ का बाह्य शरीर है। दाहक अग्नि में दाह्य पारमथ्य साम आहुत होरहा है। इसी सोमाहुति प्रक्रिया से इस उभया मक यज्ञ का स्वरूप स पन्न हुआ है। सी यज्ञ से (सामाहुत स) य योतिषा वितमा प्रथ इ यादि ऋग्वेदानानुसार प्रकाश का ज म हुआ है। प्रकाश में अग्नि साम दानो का सम वय है अतएव अवश्य ही सौर प्रकाश-मरण को यज्ञ कहा जासकता है। य सौर योतिर्भाग सवत्र (लोकालोक प य त) या त रहता हुआ हमारे भूपण्ड की ओर भी आर है। भूपण्ड क वि क्र म (यास) की उभय परिधियों से सम्ब व रवने वाला सौर योतिर्भाग ही प्रकृत में यज्ञ शब्द से यगहृत हुआ है। भूपण्ड की परिध को काटकर यह यज्ञ (प्रकाश) भूपण्ड से आगे निरल जाता है।

इसी सौर प्रकाश के विच्छेद से सहिक्य नामक छायामय-तमोमय राहू का जम हुआ है। भूपण्ड की ओर सौरमण्डल से नियतरूप से आकर अपना अनयत्कार बनान वाले यज्ञ की अपक्राति ही नियतापक्रान्ति मानी जायगी। यज्ञ के इस नियतापक्रातरूप का ही नाम ब्रह्मौदन है जिससे किसी भी पार्थिव पदाथ की उपत्ति स भव नहीं है। इसी नियतापक्रान्त यज्ञ से स व सर का स्वरूप नि पन्न हुआ है जिसकी कि छान्दो यादि उपनिषदो में अश्व रूप से स्तुति हुड है। सौर प्रकाश आता है भूपण्ड से टकराकर पुनरावर्तित होजाता है [वापस लौट जाता है]। दूसरे शो में-यज्ञ आता है भूपण्ड से सस्पृष्ट होकर वापस लौट जाता है। वापस लौटे हुए प्रकाशाक्षण इस यज्ञ का आकार भू-छाया [राहू] से ही समतुलित है। सूचीमुख राहू के आकार से समतुलित भूपण्ड से सूर्य प य त या त [वापस लौटकर यात होने वाला] सौर प्रकाश ही वह अश्व है जिसका उषा मस्तक माना गया है। इस नियतापक्रान्ति से सम्बद्ध पुनगमन से स व व रवने वाला यज्ञामक अश्व किवा अश्वामक यज्ञ प्रकृत आरयान में अभिपन्न नहीं है। अपितु यहा अनियतापक्राति से सम्बद्ध रखने वाले यज्ञ का ही ग्रहण हुआ है।

नियतापक्रात-पुनगत-स्थिर-ब्रह्मौदनलक्षण [सूय के स्वभोग्य-लक्षण] स व सरयज्ञ से यज्ञमात्रा का विस्त सन होता रहता है जिसका तापो सग से प्रयत्न किया जासकता है। सूय अस्त हाजाता है। फिर भी हवा में ग मीं बनी रहती है। यह गर्मी [अग्नि जिसके गभ में अग्नि स्वरूपरक्षक सोम भी प्रलिठित है] विस्तता वह यज्ञमात्रा है जिसे प्रग्य (उच्छ्रि) कहा गया है। उच्छ्रिणात् जज्ञिरे-सगम इस आथवण-सिद्धातानुसार इस विस्त प्रग्य भाग से ही पार्थिव-प्रजा की स्वरूप-निपत्ति होती है। पार्थिवाद् परिभ्रमण के अनुसार तत्तत् ऋतु विशेषों में प्रवृक्त तत्तत्समात्राओं के प्रव यभाग से ही तत्तद्विशेष पार्थिव पदाथ उरन्न हुआ करते हैं। जो प्रग्यभाग तत्तद्विशेषभागोपनि मे तत्तत्समयविशेषों से सम्बन्ध रखता है वही उस सौरयज्ञ की अनियतापक्राति है। ए प्रकृत आर्यायिका में अग्नि यतापक्रातिलक्षण इसी प्रग्ययज्ञ का ग्रहण हुआ है।

कपना कीजिए यदि प्राकृतिक सौर सम्प्रसरयज्ञ की सम्पूर्ण मात्रा पार्थिवप्रजासग में ही उपयुक्त होजाय तो स वसरमण्डल एव उसमें रहने वाले योतिम्मय-दिय देवताओं की क्या दशा हो? कपना यही उत्तर देगी कि केवल विस्त सन से तो एक दिन वह समय भी आसकता है कि स व सर का ही उच्छेद होजाय। मानना पडेगा कि अवश्य ही विस्तसभाग की ज्ञातपूर्ति भी उसी अनुपात से होती रहती है। यदि सौर पदाथ पार्थिवसग के निर्माण में खच होते रहते हैं तो—इत प्रदाना ह्येते—(देवा उपजीवन्ति) इयादि श्रौत सिद्धातानुसार पार्थिव पदाथों के विस्तस भाग के गमन से वह कमी पूरी भी होती रहती है। यदि पृथिवी उसे खाती है तो वह भी पृथिवी को खाता हता है। परस्परानुगत यह आदान-प्रदान अन्नादानभाव ही तो उभयलोक में सवलोक प्रति ठा बन रहा है।

सौरदेवताओं के स्वरूपरक्षक यज्ञ की प्रग्य के द्वारा अपक्रात अवश्य होती रहती है। परंतु सृष्टि नियमानुसार अपक्रात यज्ञ वापस भी लौट जाया करता है। यो मा ददाति स इ देवमात्रत् सिद्धान्ता नुसार जो हमें देता है वही अन्त में हमें खा भी जाता है। प्राणानिरूप होता प्राणवायुलक्षण अध्रय्यु आदियप्राणसक उद्गाता चाद्रसोमात्मक ब्रह्मा इयादि प्राकृतिक देवासक ऋविजो के या पार से अपक्रात यज्ञ पुन स्वप्रभव देवमण्डल की ओर लौट आता है। इसीमे देवस्वरूप रक्षा होरही है। यज्ञपुनगमन ही देवताओं का देवत्व है। इसप्रकार स्वस्वरूपस्थिति के लिए ऋविजों के सहयोग से सम्प्रसर सुक्त प्राणदेवता पृथिवी की ओर अपक्रात यज्ञ को वापस बुला लिया करते हैं। पुनरागत उस यज्ञ से यजन कर वे अपना देवत्व सुरक्षित रखने में समथ होजाते हैं। प्रकृत आरयान प्राकृतिक यज्ञ के इस प्राकृतिक गमनागमनभाव का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥६॥

प्रकृत वैध यज्ञ का वितान उस प्राकृतिक निय यज्ञ की विधा पर ही हुआ है। जैसा जो कुछ वहाँ होरहा है वैसा वही सबकुछ यहाँ कपित है जैसाकि—देवाननु विधा वै मनुष्या यद्वै देवा अकुर्वन्तत् करवाणि इयादि निगम वचनों से प्रमाणित है। जिसप्रकार सौरमण्डलस्थ देवसर्ग की अपेक्षा से यज्ञमात्रा पृथिवी की ओर अपक्रात होरही है एवमेव हम पार्थिव प्रजाओं की अपेक्षा से यज्ञमात्रा सौर मण्डल की ओर अपक्रात होरही है। जैसे उह अपने स्वरूप निर्माण-रक्षा के लिए इस अपक्रात पार्थिव यज्ञ की अपेक्षा है एवमेव हमें यजमान के देवप्राणमय दैवा मा के स्वरूप निर्माण रक्षा के लिए अपक्रान्त

सौरयज्ञ की अपेक्षा है। ओश्रावय यदि मंत्रवाक के द्वारा मनु यविध ऋत्विज उस अपक्रात दिव्य यज्ञसम्पत् का स्व वैध भौतिक यज्ञ में समावेश करने के लिए ही आश्रावण प्रयाश्रावणकर्म करत है। अवश्य ही उस मंत्रवाक् से अपक्रात दिव्ययज्ञमात्रा का उस यज्ञ में समावेश होजाता है।

क्योंकि ओश्रावय इत्यादि लक्षण जिन याहृतियों का यहा प्रयोग होता है उन से प्राकृतिक दिव्य यज्ञ ही लक्ष्य बन रहा है। आनीप्र को लक्ष्य बनाकर अ वय्यु के मुख से निकलत हुए आश्रावय का तापय है देवताओं के लिए यज्ञ सुनाओ। अर्थात् देवता इस यज्ञ को ओर लक्ष्य दे ऐसी भावना करो। आनीप्र स्तुश्रावण से यही यक्त कर रहा है कि हा देवताओं ने सुन लिया। जिसका तापय्य यही है कि देवताओं का [देवामक अपक्रात यज्ञ का] यहा पुनरागमन होगया। सप्रकार ओश्रावय याकारक आश्रावण [देवामक यज्ञ का आह्वान कर रहा है] ए अस्तु श्रावण इत्याकारक प्रयाश्रावणकर्म उसका आगमन सूचित कर रहा है।

फलितार्थ यही निकलता है कि आश्रावण—प्रयाश्रावण—कर्म अपक्रात दिव्ययज्ञ की प्राप्ति के लिए ही विहित है। मंत्रभावना के द्वारा आगत भावामक देवप्रागमय यज्ञ ही इस वैधयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। उसी प्राकृतिक दिव्ययज्ञबल के आधार पर यजमान का यह वध यज्ञ यज्ञातिशयरूप देवासत्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है। ऋत्विज सहायक बनते हैं। ऋत्विग भी तभी इस प्रातिकर्म में सहायक बन सकते हैं जब कि वे इस उपावृत्त यज्ञरत को अपनी भावना में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। ऋत्विजों की भावना ही तो मुख्य है। यजमान तो स पूण उत्तरादायि यज्ञ ही पर डाल देता है। अतएव यज्ञसत्—सग्रहमूलक आश्रावण—प्रयाश्रावणकर्म में यजमान का समावेश करना अनिवार्य है। ऋत्विजों की भावना के द्वारा प्राप्त यज्ञ की स्वरूप दृढता के लिए बड़े समय से स प्रदायपूर्वक आश्रावण प्रयाश्रावण—कर्म का अनुगमन करते हैं। स व सरप्रजापति स्वयं इस आश्रावण—प्रयाश्रावण—कर्म में परोक्ष रहते हैं। तदवयवभूत तद्वत्से परंशुष्ट अ यदि देवता ही इस कर्म की इतिक्त यता मूरी करते हैं। अतः प्रजापतिस्थानीय यजमान भी यहाँ (इस कर्म में) परोक्ष ही रहता है। अन्यदि के प्रतिनिधि ऋत्विज ही इस कर्म का अनुगमन करते हैं। जसा वहा होरहा है वैसा ही यहा होता है। इसी समीक्रिया की ओर हमारा यान आकर्षित कहत हुए अतिने कहा है—तेनोपावृत्तेन रेतसाभतेनऽर्चिवज सम्प्रदाय चरति यजमानेन परोक्षम्।

ऋत्विजों के भावनामक मानस जगत् में अपक्रात दिव्य यज्ञसत् का समावेश होगया। द्यलोकस्थ महामहनीय देवप्राणमूर्ति यज्ञभगवान् का आगमन होगया। अब यह आवश्यक है कि अपने इस भावनामक दिव्ययज्ञ के वितान के लिए ऋत्विगगण पारस्परिक सहयोग के वाक सम्प्रदान के द्वारा वाकितव का आश्रय ल। भावनामक मनोगर्भित प्राणतव ही यज्ञ का प्रातिम्बिक स्वरूप है। यह मनोगर्भित प्राणयज्ञ भता—त्मिका वाक् के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इस और मन है उस ओर वाक् है मध्य में दोनों से परिगृहीत प्राण है। प्राण यज्ञ है मनोवाक यज्ञाधार हैं। अतएव मनोवाक् को यज्ञ की वर्त्तनी कहा जाता है।

इस ओर ऋत्विजों की भावना (मन) है उस ओर मंत्रप्रयोग (वाक) है। दोनों से मध्यस्थ प्राणा मक यज्ञ भलीभाति परिगृहीत होजाता है। यद्यपि यज्ञ का मौलिक स्वरूप प्राण ही है तथापि एक विशेष

हेतु से वाक को भी यज्ञ का मौलिक स्वरूप मान लिया जाता है। वह विशेष हेतु यही है कि प्राण बिना मनो-वाक के नहीं रहता। उधर वाक स मन-प्राण-वाक तीनों का ग्रहण होजाता है जमाकि वाक-श दनिवचन स सुप्रमाणित है। उ अ अच स ही तो वाक् श द निष्पन्न हुआ है। उकार प्राण का ए। अकार मन का वाचक है। उकार अकार (प्राण मन) की स्वस्वरूपरक्षा के लिए कामना करने वाला तवविशेष ही अच् सूचित हुआ है। इसप्रकार वाच् (वाक) स तीनों का सग्रह हो जाता है।

मनोगर्भित प्राणा मक यज्ञ अपने केवल मनोमय प्राणरूप से तत्रतक यापार करने में असमथ बना रहता है तत्रतक कि वह भूतमयी वाक को भी अपनी वत्तनी नहीं बना लेता है। भूत ही प्राण यापार का आलम्बन बनता है। भूताधारेणैव प्राण स्वबल के प्रयोग म समथ होता है। अतएव श्रुति ने मनो-गर्भित प्राणा मक यज्ञ का रेत (बलप्रयोगसाधन) भी वाक को ही माना है एव यज्ञस्वरूप भी वाच् मय ही माना है। यज्ञस्वरूपम पादिका वाक में आधिभौतिक म यभाग आधिदिक अमृतभाग दोनों का समावश है। मर्यावाक का आधार अमृतावाक् है। अमृतवाक का ही वितान होता है। इसी वितान से भूतयज्ञ भूलो-से य लोकपथ्य त पृष्ठ से रत्तरसाम पथ्यन्त वितत होता है।

लौकिकी वाक अमृतवागगर्भिता मर्यावाक है। लौकिक व्यवहार सञ्चालन इसी वाक से होता है। अलौकिकी वाक म यवागगर्भिता अमृतावाक है। वदिककम्मसञ्चालन इसी वाक से होता है। मर्त्या वाक् से यज्ञनामिका अनुषट्ब्रवाक समतुलित है। अमृतवाक से उन्नात् अनुदात्तादि स्वरालम्बिका बृहती वाक् समतुलित है। अतएव वा की मात्रवाक में त वानुगत स्वरो के अनुसार ही उदात्तादि स्वरों का सन्निवेश हुआ है। यह स्वरवाक ही क्याकि सामामिका बनती हु यज्ञवितान का कारण बनती है इसलिए भी वाक को ही यज्ञ कहना अ वथ बनता है। वाकतव के इसी यज्ञस्वरूपप्रतिष्ठात्मक भाव को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है— वाक हि यज्ञ वागु रत ।

दवाह्वानलक्षणा ओश्रावयेयादिस्वरूपा मात्रवाक के द्वारा आज अविजो को अपक्रा त यज्ञस पत् का सम्पादन करना है। प्राकृतिक सभ्व सरयज्ञ के सत्रह अवयव माने गए हैं। अग्निर्वा वै यज्ञ अस निगम-वचन के अनुसार सोमगर्भित अग्नि ही यज्ञ है जसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। भूकेद्र से आरम्भकर भूमहिमा के ७ वे अहगणप यत यह यज्ञाग्नि व्याप्त है। सत्रहवा स्थान ही आहवनीयकुण्ड माना गया है। इसमें प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में १ से ३३ पर्यन्त या त रहने वाले सोम की आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रज्वलित होपडता है। प्रवलिता होकर यज्ञ यज्ञाग्नि २१ वे अहगणपथ्यन्त व्याप्त होजाता है। २१ पर्यन्त या त यज्ञाग्नि के ६ १५ २१ ये तीन विक्रम मान लिये जाते ह।

त्रिवृत् (६) स्तोमा मक प्रथम विक्रम पार्थिव है पञ्चदश (१५) स्तोमा मक द्वितीय विक्रम आत्-रिद्य है ए। एकविंश (२१) स्तोमा मक तृतीय विक्रम दिव्य है। यज्ञ ही विष्णु है। यही त्रिविक्रम विष्णु है। वक्त य यही है कि यज्ञानि यद्यपि आहुति के स ब ध से २१ पर्यन्त (सूर्य पथ्य त कथौकि— एक-विंशो वा इत आदिथ इयादि श्रुति के अनुसार सूर्यमत्ता भूपिण्ड से २१ १ अहगण पर ही मानी गई है) या त होजाता है तथापि इसका मौलिक स्वरूप १७ १ अहगण पथ्यन्त ही व्याप्त माना गया है।

स त शस्तोमावां छत्र यज्ञानि के १ अहगण ही १७ अवयव है। ये १ हों वाग्मय अवयव बिना किसी विच्छेद के पर पर एकरूपवत् स तत है।

स तदशावयवो के अविच्छिन्न स तानभाव से स बद्ध यज्ञान का ही यहा सग्रह अपेक्षित है। अतएव आवश्यक है कि तस्तत दृष्टिपात न करते हुए अय्य अप्रस्तुत वाक का प्रयोग न करते हुए केवल म त्र वाक्-लक्षण आश्रावण अयाश्रावण-कम्म का ही अवधानपूर्वक एक दूसरे के प्रति यज्ञमात्रा समर्पित करते हुए यज्ञ के १ अवयवो का अविच्छिन्न रूप से स पादन किया जाय। अविच्छिन्न स तान पर परा से सम्बन्ध रखने वागा स तदशावयव तदयज्ञ अविच्छिन्न भावामक स पादन पर परा से उसी प्रकार परिपूर्णा—समृद्ध—सफल—बन जाता जैसे कि अविच्छिन्न स प्रदान से पूरणपात्र जलपरिपूर्णा होजाता है।

भगवान् शङ्कर के लिए सतत् जलधारा अपेक्षित है। इस काम को सतत अन्तुण बनाए रखने के लिए शिवप्रतिमा के सानि य में पाश्चात्तया उ वप्र श में एक पाषाणमय जलकोश (हौज) बना दिया जाता है। स मलित १-२ याक्ति श्रद्धाभाव से उसे भ दिया करते है। दसो यक्ति कूप प्रदश से जलकोश भयत नियामत रूप से षट होजाते है। एव केवत् मृद्घटो को लक्ष्य म रखते हुए तमयता से जल भरना आरम्भ कर देते है। एक दूसरे को क्रमवा अविच्छिन्नरूप से घट सोपता जाता है। जलकोश परिपूर्णा होजाता है। पारस्परिक अविच्छिन्न स प्रदान का यह एक लौकिक मह वपूण उदाहरण है। अथवा तो— यथा पूरणपात्र परासिञ्चेत् का यह तापय भी लगाया जासकता है। क जलपूर्णा पात्र का निरथक प्रदेश मे जसे डालना है वसे ही अप्रस्तुत वाक से यज्ञ की परिपूर्णा न ट करनी है। सिद्ध का य को बिगाड देना और आश्रावण प्रयाश्रावण-कम्म में अप्रस्तुत वाणी का प्रयोग करना समतुलित है। तद्वत् ही यहा भी यज्ञकोश-परिपूर्णा स तदशमात्राओ का अविच्छिन्नरूप से ही अनुगमन करना चाहिए यही फलिताथ है ॥ ७ ॥

८ ६ १ ११ इन चार कण्डिकाओ में उसी अविच्छिन्न वाकसयमानुगत पारस्परिक सम्प्रदान-कम्म की इतिक्रम यता का स्पष्टीकरण हुआ है। १२ १३ १४ इन तीन कण्डिकाओ में सोमयाग से सम्बन्ध रखने वाले वाकसयम का प्रासङ्गिक निरूपण हुआ है। १५ हवी कण्डिका में उस दोष का विश्लेषण हुआ है जो स प्रदानधाराविच्छे से एव अप्रस्तुत वाकप्रयोग से हुआ करता है। असावधानी करने से जसे घट विनष्टि पादप्रष्टता आदि दोषो के कारण जलकोश अपूर्ण रह जाता है एवमेव यदि पारस्परिक सम्प्रदान में अविच्छिन्न लोग अयमनस्कता अय सामयिक वाक का प्रयोग कर डालगे तो यज्ञ-सतान विच्छिन्न होजायगी। फलत यज्ञस्वरूप न केवल साङ्गोपाङ्ग ही न बनेगा अपितु यजमान का महान् अनिष्ट भी होजायगा। अतएव इस अव्यगच्छिना—सम्प्रदानपर परा का सावधानी से ही अनुगमन करना चाहिए।

यह अवधानता केवल आश्रावण-प्रयाश्रावण कम्म के लिए ही आवश्यक हो यह बात नहीं है। अपितु पुरुषाथलक्षण यज्ञकम्म से सम्बन्ध रखने वाले और और भी जो क्रवथकम हैं उन सक्का भी यथाविधि अनयमनस्कता से ही अनुगमन करना चाहिए। सकेतविधि से हमें हमारे लौकिक कर्मों के सम्बन्ध में भी श्रुति यही आदेश दे रही है कि यदि हमें कोई काम करना है उसे सर्वामना सफल बना देना है तो अनयभाव से उसी को लक्ष्य में रखना चाहिए। हम अपने प्रज्ञापराध से मनोराज्य की चञ्चलता के

अनुग्रह स सक्रिपत कम्म के साथ साथ ही अ या य सक प भी किया भरत है। यही वह यथधानदोष है जिसके कारण प्रथमसक्रिपत अनुगमनीय कम्म में अपेक्षित वागरेत (वा) नहीं रहने पाता। फलत अत्रि काश में हम निराश ही होना पड़ता है। जो काम एकबार लक्ष्य पर चढा लिया पाहले अन यमास्कता के साथ यच्चयावत् अप्रस्तुत भावो का परित्याग करत हुए—उसी मे जुट जाना चाहिए। अ यत्र अद्यमूला साथ ही पारस्परिक सम्प्रदानामक सहयोगमूला एकमयभावामिका (सप्रदाना) एभी अन य मनस्कता ही कम्मसिद्धि का अ यतमद्वार है जिसका— एयमेय यज्ञा भर्त्तय यात् आदेश से विश्लेषण हुआ है ॥ १५ ॥ (८६१ १११ १३१४१)

आश्रावण—प्रयाश्रावण—कम्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की पात्र याह्रतिया है। वण स्वर पद वाक्य भेद स शादात्मिका वाक के चार विर्वा मान गए है जसाकि— चत्वार प्राक परिमता पदानि* इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है। ही चारो वागविवर्णों के लिए वद मे क्रमश चार (एण) अक्षर [स्वर] याह्रति [पद] पुरुष [वाच्य] ये श द यहू हुए ह। व याभरण—स प्रदाय में जिसके लिए अखण्डवाक्यस्फोट वाक्य यत्कृत हुआ है वही त्रैदिक अक्षय्य पुरुष ह। प्रयेक वाक्य मे वण स्वर पद तीनों विपत्तों का समावश रहता है ऐसा को भी उच्चारण नहीं जिसे वाक्य माना जासकता हो। ऐसा कोइ भी वाक्य नहीं जिसमें वण—स्वर—पद का सम यत्र न हो। यन्ति किमी यक्ति के क्या देवदत्त यहा हे? नहीं है स प्रश्नोत्तर में हम केवल न वस एक अक्ष का प्रयोग करते है तो यहा भी एकाक्षरवाक्य विद्यमान है। न कार में भी वण स्वर पद अतर्निगृत् है अतएव उनकी प्रतीति नहीं होती। प्रतीति हो रही है—उस चौथी वपरी वाक की ही जिसका हम प्रयोग किया करते है—तुरीय वाचो मनुष्या वदति। चारो विपत्तों में पद विपत्त ही याह्रति है। प्रकृत निग म व के क्योकि पाच पद हैं अतएव इह याह्रति नाम से यत्कृत करना अ वथ बनता है यही उक्त य है।

दिय यज्ञ अग्निमय है एव—तस्य प्रा प्तस्याग्नर्वागोपानषन् (शत १ ५। ११।) इ प्रादि श्रोत—सिद्धातानुसार यह अग्निमय व वाच्यमय है। वाच्यमय अग्निस्तान्त्रण यज्ञ के स्वरूप—निर्माण के लिए पञ्च याह्रत्यामक निगदमन्त्र का प्रयोग हया है। प्रश्न स्वभाविक है कि उस प्राकृतिक वाच्यमय यज्ञ के स्वरूप—सग्रह के लिए पञ्चयाह्रत्यामक ही वाच्यमय मत्र क्यो विहित हुआ? प्रश्न का अनेक दृष्टिको ॥ से सम वय किया जासकता है।

(१) पहिले आध्यात्मिकयज्ञ की दृष्टि से ही सम वय कीजिए। अ या मसस्था की उ पत्ति अिदैव तगर्भित आधभूत से हुइ है। अधिदवत—लक्षण सवहुतयज्ञ ही स पूण विश्व की मूलप्रति ठा है। विश्व जनक यह यज्ञ प्राण आप वाक अन अनाद भेद से पञ्चपर्वा है। पञ्चपर्वा इस आग्निदैविक—यज्ञ से उ प न आधभौतिक विश्वयज्ञ के स्रयम्भू (अवकाश) परमेष्ठी (वायु) सू.य [तेज] चन्मा (जल) प्रवित्री ये पाच महापव हैं। इसप्रकार जनक सवहुत यज्ञवत् तज य विश्वयज्ञ की भी पञ्च वयता

*—च वारि वाक परिमिता पदानि ताप्ति विदुब्राह्मणा ये मनीषण ।

गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयति तुरीय प्राचो मनष्या वदति ॥

—ऐतरेयारण्यक

पुष्टतमा है । अस पञ्चावयव विश्वयज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) से समुपन्न अ या मसस्था के आत्मा शरीर इन्द्रियवग ये तीन विवक्त है । आत्मा भूलाधार है यही ब्रह्मसय है । उसके अ यत्त महान् विज्ञान प्रज्ञान भूतात्मा ये पाच ही विवक्त है । शरीर भतसय है । इसके पृथिव्यादि पाचो पव प्रसिद्ध ही है । इन्द्रियवग देसत्य है । इसके भी वाक् प्राण-चक्षु-श्रोत्र मन ये पाच ही विवक्त है । इस प्रकार अधिदवतयज्ञ अधिभूतयज्ञ अत्र उभययज्ञ से सपन्न अ या मयज के आमा-शरीर-इन्द्रिय तीनों विवक्त सभी प्रकृत या पान्क्त (पञ्चावयव) बने हुए हैं । प्रकृतिवद्विकृति क्त या याय से इस वैध यज्ञ में भी वही प्राकृतिक-यज्ञपाठ कृता अभिप्रत है । इस आ यामिक दृष्टि से भी आश्रावण-प्रयाश्रावण-कम्म में पाच व्याहृतियों का प्रयाग करना अवथ बन रहा है ।

(२) दूसरी दृष्टि स पान्कता का समवय कीजिए । प्रस्तुत यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है । सोमयाग का स्तौय त्रिलोकी से संबध है । पार्थिव स्तौय त्रिलोकी के त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश त्रिणव त्रयस्त्रिंश [६ १५ २१ २७ ३३] ये पाच स्तोम माने गए हैं । पाचों में क्रमश अग्नि वायु आदिय भारारसोम न्क्रिसोम ये पाच देवता प्रतिष्ठित हैं । इन्हीं से क्रमश वाक (अग्नि) प्राण (वायु) चक्षु [आदिय] मन [भारारसोम] श्रोत्र [दिक्सोम] इन पाच आ यामिक इन्द्रियदवताओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है । पाचो स्तौय देवताओं में आरम्भ के तीन देवता [अग्नि-वायु आदिय] अग्निप्रधान है । एक ही अग्नि की ध्रुव ध्रुव-धरुण [धन-तरल-विरल] अवस्थाएँ क्रमश अग्नि वायु आदिय है । अतः के दो देवताओं की [न्क्रिसोम भारारसोम की] सोमता स्पष्ट ही है । फलत पाचो का अग्नि एव सोम में पयवसान सिद्ध होजाता है । अग्नि-सोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है । इसके एवविध पाच अत्रातर विवक्त हैं । इस पान्क्त सोमयाग के अङ्गभूत (अतएव प्राक्सौमिक नाम से प्रसिद्ध) प्रकृत के इस इन्द्रियज्ञ में भी अङ्गी सोमयाग के पाङ्क्तधम्म का सम्बध अपेक्षित होजाता है । एव पञ्च व्याहृति के सम्बध से वह अपेक्षा भी सफल होरही है ।

(३) तीसरे दृष्टिकोण से समवय कीजिए । यज्ञ को पूव में वाडमय बतलाया गया है । वाडमय यज्ञ का रेत वाकत वही है । भकेद्र से आरम्भ कर महिमा पयत इस वाग्रत के अत्रातर ३३ विवक्त हो जाते हैं जो कि त्रयस्त्रिंशत्तवोय त्रितन्निरे इ आदि म त्रवर्णानुसार तत्तुदेवता कहलाए हैं । इन ३३ अहगणात्मक तत्तुदेवताओं में ३ अहगणामक तीन देवता (ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र) ह्यह । शेष ३० रह जाते हैं । इन के ६-६ के स्तूप से पाच विभाग हाजाते हैं । ३३ सो का केद्र अ नीषोम का विभाजक १७ वाँ अहगण है । ये ही ६ विभाग हैं । इसप्रकार एक ही वाक् के गौरूप १ विवक्तों के पहिले ३-३ गौ के सक्लन से ३३ सूक्ष्म विभाग होते हैं अतः में ६ स्थूल विभाग मान लिए जाते हैं । यह उसी वाक्त्व का पट्कारण-लक्षण वषट्कार है ।

वाक् का वषट्कार ही वषट्कार है । वषट्कारमण्डल ही वाक का प्रातिस्विक स्वरूप है । इसका ३३ वाँ अहगण ही अग्नीषोमामक पार्थिव यज्ञ की अन्तिम सीमा है । इस वौषट् रूप वषट्कारयज्ञ (वागयज्ञ) की अन्तिम सीमा के (३३ के) गर्भ में क्रमश २७ २१-१७ १५ ६ ये पाच पव प्रतिष्ठित हैं । छठा स्वय ३३ वा है । यज्ञसम्पत् का इस ६ ठे वषट्कारपव से ही संबध है जिस के गर्भ में पाच पव प्रतिष्ठित हैं । यज्ञ के इन पाचों पवों के सग्रह के लिए भी पाच व्याहृतियों का ग्रहण अवथ बन रहा है ।

ओ श्राय से त्रिवृत् (६) का अस्तु श्रोषट से पञ्चदश (१५) का यज से सप्तदश (१७) वा य यजामहे से एकविंश का श्रोषट से सप्तविंश (७) का एय समष्टिरूप ६ ठे वषटकार लक्षण त्रयस्त्रिंश (३३) का ग्रहण होजाता है । इसप्रकार अनेक दृष्टियों से यज की पाठ्यता का समर्थन किया जासकता है । पाठ्य यज्ञ स उ पञ्च पशुसर्ग भी पुरुष अश्व गा अग्नि अज भेद स पाच अवत्ता में ही अवक्त है । ङक्तसोमयाग स सम्बन्ध रखने वाले स व सरयज्ञ का स्वरूप भी उसत श्रीष्म वर्षा शरत् हेम त भेद से पञ्चपर्वा ही बना हुआ है । अहोरात्र पञ्च ऋत अयन सम्प्रसर भेद से भी सम्बन्ध सरयज्ञ की पाठ्यता स्पष्ट है । इसी पाठ्यता के आधार पर अग्निहात्र (अहोरात्र) दशपूणमास (पञ्च) चातुर्मास्य (ऋतु) पशुबन्ध (अयन) ग्रहयाग (सम्प्रसर) सप्रकार वध मानुष यज्ञ के भी पाच पव प्रतिष्ठित हैं । प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाठ्यता-सम्पत् की प्राप्ति के लिए प्रकृत कर्म सम्पादक निगदमात्र में पाच यादृतियों का समावेश हुआ है ॥ १६ ॥

सवसाधक यज्ञ ही प्रजापति है । प्रजापातस्वेवेद सय यदिद् विञ्च इस निगम के अनुसार यज्ञा मक प्रजापति ही अपने अवस्त भाग से सब कुछ बना हुआ है । इस प्रजापति के स्थिति भेद से अनिरुक्त उद्गीथ सब ये तीन विवक्त होजाते हैं । पिण्ड और पिण्डमहिमा प्रत्येक वस्तु में ये दो पुरय पव माने हैं । पिण्ड स्पश्य है एय पिण्डमहिमा दृश्य है । पिण्ड-क द्वात्रिंशत् त य अनिरुक्त प्रजापति है महिमा-के द्वात्रिंशत् त व उद्गीथ प्रजापति है । एव महिमामण्डल की रथ तरसामात्मिका उन्च नाम्नी अ तम परिधि से सम्बन्ध रखने वाला तन्त्र सवप्रजापति है । पिण्डाधारेण प्रतिष्ठित महिमा मण्डल वही पूर्वपारचित वषटकारमण्डल है जिस के ३३ अहगण बतलाए गए हैं । वही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ३ ३ गौ का एक एक अहगण होता है । फलत १ गौ के ३ ३ के विभाग से (६ ६ में ही) ३३ अहगण पूर्ण होजाते हैं । यही शेष रह जाती है । यही अतिम चौतीसवा सप्रजाज्ञा पयस्थान माना गया है । इसी के लिए चतुस्त्रिंश प्रजापति कहा जाता है ।

जिस कम्म म यन कन रूपेण ३४ सरया का समावेश होजायगा उह कम्म सरया-समतुलनमात्र से सवप्रजापय सम्पात्त से युक्त हाजायगा । जिस कम्म मे सवथा उपाशुभाव का समावेश होगा वहाँ तत्-सम आनरुक्त ह्य (पिण्डकद्वात्रिंशत्) प्रजापति का अनुग्रह प्राप्त होजायगा । एव जिस कम्म मे सप्तदश (१७) सरया का सम यय होगा वहाँ स्वत एव तत् समतुलित उद्गीथप्रजापति की अग्नियज्ञसम्पत् का ग्रहण होजायगा ।

३३ अहगणा मक महिमामण्डल का के द्र १७ वा अहगण है । यही सत्रहवाँ अहगण उस नवाहयज्ञ की उपक्रमभूमि है जिसे पुराणपरिभाषानुसार श्वेतद्वीप निगासी सयनारायण त्रिष्णु कहा जाता है । १७ से आरंभ कर २५ व अहगण पथ्यत ६ अहगणों की यागति से जो यतिम्मय अपूर्व यज्ञ प्रतिष्ठित है वही नवाहयज्ञ कहलाया है । इस नवाहयज्ञ का केन्द्र २१ वाँ अहगण है । यही भगवान् सयनारायण प्रतिष्ठित हैं । इन्हीं के सम्बन्ध से ये यज्ञामक त्रिष्णु सयनारायण कहलाए हैं जो पूर्वप्रतिपादित त्रिविक्रम िष्णु से पृथक् त व है । तद्यत् तत् स यमसौ स आदि य के अनुसार सू य सय की प्रतिमा है । आपो मय पारमेष्ठ्य समुद्र के गभ में प्रतिष्ठित रहने के कारण येही नारायण है । प्रतिमास की पूर्णिमा तिथि में त वज्ञ उपासक व्रतप्रक्रिया के द्वारा इसी त व को आ मसात् किया करत है ।

१७ १- ५ य तीन अहगण क्रमश ब्रह्मविष्णु विष्णुविष्णु इ द्रविष्णु कहलाए हैं । यती त्रिविष्टपस्वग है जिसका अ यत्र विशदीकरण हुआ है । तीनों में से १७ व का पार्थिव उस यज्ञविष्णु [त्रिविक्रम वामनविष्णु] से स ब्रध है जिसकी स पत् प्रकृत यज्ञ में अपेक्षित है । इसकी आतम सीमा क्योंकि १ वा अहगण है अतएव उसे सप्तदशो वै प्रजापति इयादि रूप से सप्तदश नाम से यवहृत किया जाता है । भृष्ट से अ रम्भ कर सत्रहव अहगण पथ्य त यात् १७ अवयवों से हा स यज्ञप्रजापति का स्वरूप निर्माण हुआ है । पाच याहृतिवों से जहा यह उदगीथ नामक सप्तदशप्रजापति पञ्चावयव है व । अहगणा मक १ अवयवों से यह सप्तदशावयव भी बन रहा है । पञ्चावयव सप्तदश शिरूप इसी यज्ञा मा का व्याहृति के सप्तदश अक्षरों से सग्रह होजाता है । यही पञ्चायाहृतिसमाष्ट के १७ अक्षरों की मौलिक उपपत्ति है जिसका नि नालरित रमा विचन भी स्प टीकरण कर रहा है—

चतुर्भिश्च—चतुर्भिश्च—द्व्याभ्या—पञ्चाभरेव च ।

१ २ ३ ४—१ २ ३ ४—१ २—१ ३ ४ ५
 [ओ श्रा व य]—[अ स्तु श्रो पट]—[य ज] [य य जा म हे]
 [१ ३ ४]—[५ ६ ७ ८]—[६ १] १११ १३ १४ १५
 १—२—३—४

ह्यते च पुनर्द्व्याभ्या—

तस्मै यज्ञात्माने नम ॥

[१६ १७]

[वा षट]

१६ १७

उदगीथप्रजापतये

अत्र १७ कण्डिका-उपरता

*

अथ-वृष्टिविज्ञानम्—

स तदशस्तोमा मक आहवनीय प्रदेश ही जिसे हमने ब्रह्मविष्णु कहा है नाचिकेत आ नेय स्वग कहलाया है । सुप्रसिद्ध स्व र्यानि का जिसका नाचिकेता के द्वारा प्ररन हुआ है एव यम के द्वारा टकाचिति रूप से समाधान हुआ है सी सप्तदशस्थान स स ब्रध है । प्रारुसौमिक पवयज्ञ ममष्टिलक्षण सोमयाग से उ पन्न स्वगप्रापक देवा मा इसी सप्तदश स्थान में प्रार्ता टत होता है । दूसरे श दो म दशप्रणमासे न्यनुगत भोमयागापरप र्यायक योति टोम से प्राप्तव्य स्वग सप्तदशस्तोमार्वा छन्न यही नाचिकेत स्व । है जिसके लिए क । गया है दशप्रणमासा या स्वगकामो यजेत योतिष्मोमन स्वगकामो यजेत । पञ्चावयवा स न शकलामिका स्वर्ग्याग्निलक्षणा प्राजाप यस पत्ति इस टाटको से आदि दविक सम्पात्त मानी जासकती है जिस की आधिभौतिक शरीर के निघनान तर प्राप्ति होती है ।

मानवीय मन परोक्षफलाक्षण की अपेक्षा प्रयत्न भौतिक फलाक्षण की ओर विशाखरूप से आकर्षित रहता है। उसी बाह्यदृष्टि पहिले ऐहलौकिक फलकामना की ही अपेक्षा रखती है। जब उस किसी काम के प्राप्त यह विश्वास हाजाता है कि मुझे अमुक काम से प्रयत्न में भी इसी जीवन में भी कोई भौतिक फल मिल सकता है तो वह उस काम में अपेक्षाबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होजाता है। यही क्यों आधिभौतिक साधन साधो से स पक्ष कामकाण्ड का तो अधिकारी भी वही माना गया है जिसकी प्राथमिक लक्ष्यमभि आधिभौतिक ही बनती है। उच्चपीठिका में प्रतिष्ठित जो उच्चाधिकारी केवल परोक्ष आधिदविक लक्ष्य प्राप्ति के लिए काम में प्रवृत्त रहत हैं उनका व काम तो उपासना ाहवा ज्ञानयोग ही बन जाता है। प्रवृत्तिलक्षण कामकाण्ड (यज्ञकाण्ड) का सामान्य अधिकारी तो प्रत्येक दशा में भौतिक ऐहलौकिक फल की अग्रयमेव कामना करेगा। प्रकृत आश्रावण प्रयाश्रावण कर्म के उस प्रयत्न भौतिकफल का ही १८ १६ २ इन तीन कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। तापय वदिक यज्ञकाम केवल पारलौकिक आधिदविक स्वर्गा फलो के ही जनक नहीं हैं अपितु पराक्षफल के साथ साथ इनस प्रयत्न भौतिक योग क्षेम सवाहक वर्षादिफल भी प्राप्त होजाते हैं।

इन प्रयत्न फलो को हम यातिश्चक्र [खगोल-आकाश] एव भुवनकोश [भूगोल प्रथित्री] भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। हमारी यच्चयावत् भौगोलिक पार्थिव कामनाओं की प्रतिष्ठा ऋतु अनुकूला वर्षा ही है। निकामे निकामे न पजयो वर्षतु इ यदि यजुम्मत्रवणानुसार समय समय पर पजय त्रेता के अनुग्रह [यापार] से होने वाली वर्षा ही ओषधि वनस्पति के उत्पादन के द्वारा पार्थिव योग क्षेम का संचालन कर रही है हमारी समस्त ऐहलौकिक कामनाओं का एव पार्थिव भौगोलिक कामनाओं का कर्त्तव्य अन्न बल पर ही अलम्बित है। एव स की मूलप्रतिष्ठा खगोलीया वर्षा ही है।

वर्षा प्रकृति का प्रथम प्रयत्न अनुग्रह है एव पार्थिव ओषधि वनस्पति जल पशु-वित्तानि द्वितीयानुग्रह है। प्रथमानुग्रह [वर्षा] के आधार १२ ही द्वितीयानुग्रह प्रतिष्ठित है। १७ १८ इन दो कण्डिकाओं में पहिले खगोलीय प्रथमानुग्रह का एव २ वी कण्डिका में द्वितीय भौगोलिक पार्थिव अनुग्रह का ही विश्वलेखन करती हुई श्रुति भ्रात जनों की उस भ्राति का आमूलचूड़ पण्डन कर रही है जिस भ्राति में पड कर व भ्रात मनुय यह कहते सुने गए हैं कि शास्त्रीय कम्मकाण्ड यज्ञकम्म तो मरने के पश्चात् ही फल देते है। हमारा पहिला लक्ष्य अन्न वस्त्र है। यह चिन्ता शास्त्रीय कम्मकाण्ड से निवृत्त नहीं होसकती। अवश्य ही भारतीय यज्ञकाण्ड न केवल पारलौकिक परोक्ष फलों का ही प्रवर्क है अपितु परोक्षातिशय के साथ साथ प्राकृतिक रस्यपूर्ण वैज्ञानिक-शिक्षणापूर्वक आधिभौतिकी समस्त प्रत्यक्ष कामनाएँ भी इसी यज्ञकाण्ड से सम्पन्न की जासकती हैं। यही तो यज्ञ के-इष्टकामधुक् विशेषण का फलिताथ है जिसे न समझकर अज्ञ दध भ्रात जन शास्त्रानुगत भारतीय वदिक कम्मकाण्ड की अपेक्षा से अपना सवनाश ही करा रहे हैं।

पुरोवात अन्न विद्यत् स्तनयितु इन चारो सहयोगियों के एकत्र समन्वय से ही वर्षाकम्म की प्रवृत्ति मानी गई है। सुप्रासद पुरवाई हवा ही पुरोवात है। प्रयत्न दृष्ट धूम-योति-सलिल-

मरुत् (वाष्प अग्नि पानी वातवायु) की समष्टिरूप बदल अभ्र है। प्रयत्नदृष्ट चाकचक्य विद्युत् है एव प्रयत्न श्रुत गजन तजन ही स्तनयिनु है। सबप्रथम पुरोवात का सञ्चार होता है। पुरोवात के सञ्चार से इतस्तत ऋतमात्र [खण्डभाव] से ज्वरे हुए अभ्रप्रणदो का नियताकाशप्रदेश में एकत्र समग्र होजाता है। अभ्रनता से मधुपत्र वायु अग्नि जलीय घषण से विद्युत् उन्नत होजाती है साथ ही गजन तजनलक्षण स्तनायनु भी। इस सम्पूर्ण सामग्री सभार के समवत होत ही- तड तड प्रति वनि के साथ वर्षा होने लगती है प्राकृतिक प्राणदवताआ के प्राकृतिक सम्ब सरयज्ञ से सम्भव रखने वाले आश्रावण प्रयाश्रावणकम्म की-ओ श्रावण रूपा प्रथमा यान्ति का फल पुरावात है। अस्तु श्रौपट् याहात से अभ्र का सम्बन्ध है। यज्ञ से विद्युत् का ये यजामहे से स्तनयिनु का तड तड प्रति अनिपूर्विका वर्षा का वाषट् इस पाचमी याहति से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्राकृतिक प्राणदवता पञ्चांग या मक इसी आश्रावण-प्रयाश्रावणकम्म से वर्षा के प्रवर्क बन रहे हैं जिस वर्षा के ताविक स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में दिदर्शन करा देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

भारतीय वैदिक विज्ञान के सब वर्गों सबसे बड़ी प्रतिपत्ति यी है कि उसका अनेक रहस्यपूर्ण परिभाषाओं से ही विशेष सम्बन्ध है। जना उह् अग्रगत किए केवल अक्षराथ के आचार पर तत्तद्ज्ञान-निकप्रकरण शून्य से निरर्थक से विपित से एत कहानी से ही प्रतीत होने लगते हैं। साथ ही दूसरी जटिलता यह भी है कि परोक्षप्रिय ऋषयो की परोक्षाभाषा [उद्भाषा] के अनुग्रह से किसी भी विज्ञान का किसी एक ही प्रकरण में क्रमबद्ध निरूपण न मिलता। जबतक समस्त व राशि का मथन न कर लिया जाता तबतक किसी भी विज्ञानासद्धात का यथानुरूप समग्र समग्र नहीं बन सकता। जिस वृष्टिविद्या के सब वर्गों में प्रकृत में कुछ निवदन करना है उसके लिए भी ये ही जटिलताएँ प्रियमान हैं। प्रकृत ब्राह्मण की ओ श्रावणोत् देवा पुरोगान ससृजिर यादरूपा १ वी कण्डिका में वृष्टिविज्ञान का निरूपण तो हुआ है। परन्तु यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि केवल इ कण्डिका मात्र से अशत भी तो वृष्टिविज्ञान का विश्लेषण नहीं होर। देवता पुरोगात अभ्र विद्युत् स्तनयिनु वाषट् आदि किसी भी तंत्र का तो यहा विश्लेषण नहीं हुआ। अग्रय ही वनतों के स्वरूप-परिज्ञान के लिए एक-बार हमें उन संपूर्ण वैदिक स्तन विशेषों की आश्रयता यान आकर्षित करनी लेना पड़ेगा जिनमें तत्तत्प्रकरणमदम की अपेक्षा से तत्तत् विशेष भावों का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रसङ्गोपात् वृष्टिविज्ञान से सबंध रखने वाला प्रस्तुत प्रकरण पाठकों के लिए विशेषरूप से अनुरञ्जन का साधन बनेगा। सी आशा के साथ सन्नेप से तत्सम्बन्ध में कुछ निवदन कर देने का साहम किंवा दुस्माहस कर लिया जाता है।

वृष्टिविद्या के सबंध में ए ही तन्माद का अनेक दृष्टियों से समग्र हुआ है। उन विभिन्न दृष्टिकाणों में से प्रकृत में छा शोग्य-उपनिषत् से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चाग्निविद्यानुगत दृष्टिकोण का ही विशेष सबंध मानना पड़ेगा। छान्दोग्य उपनिषत् में यह स्पष्ट किया गया है कि वृष्टि का मूल तत्र श्रद्धातत्त है। यी श्रद्धातत्र आगे जाकर सोमरूप में परिणत होता हुआ वृष्टिरूप में परिणत होता है यही एक ओपनिषद दृष्टिकोण है।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि विद्यानिरपेक्ष दृष्ट आपूर्तात्त नामक सत्कम्मा के अनुयायी जीवामा निधनानंतर कृष्णमाग के अनुगामी बनते हैं। पहिले वे शरीर-छायात्मक

धूमाद्रमण्डल में जाते हैं। यदा स रात्रि मे रात्रि स कृष्णपक्ष मे कृष्णपक्ष से दक्षिणायन मासषट्कमण्डल म मासो क द्वारा पितृलोक मे पितृलोक से आकाश [पितयाण] मे आकाश से चन्द्रलण्डल मे पहुचते है। वहा यागत्सत्कर्मात्तशयप य त पितर्यगसुख-भोगान तर पुन उसी माग से लोट आते है। चन्द्रमण्डल से आकाश मे आकाश से वायुमण्डल में आकर वायुरूप मे परिणत होजाते है। वायु से धूम (गण्ड) रूप मे धूम स अन्नरूप मे परिणत होते है। अन्नस्थान से मेघावस्था मे परिणत होते है। मेघ से वृष्टिजलरूप मे परिणत होकर जीवामा ब्रीहि यत्र ओषधि बनस्पति तिल माष आदि किसी एक भातिक पार्थिव द्रव्यरूप मे परिणत होजाते है। पार्थिव अन्न ही जल क द्वारा जीवत्माओं का बाह्य शरीर बनता है। इस अन्न की पुरुषाग्नि मे आहुति होती है। इस यज्ञ के द्वारा अन्नगत प्राणामा (आप-पातिक जीवामा) शुक्र क द्वारा स्त्री क गर्भाशय मे प्रतिष्ठित शोणितान मे आहुत होकर यथाक्रम यथाप्रिय भौतिक शरीर धारण कर लेता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवामा ही वृष्टि का धूमावस्था के द्वारा प्रधान निमित्त बन रहा है जिस इस दृष्टिकोण का निम्नलिखित शब्दों मे स्पष्टीकरण हुआ है—

‘ अथ य इमे ग्रामे-इष्टापूर्णे दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवति । धूमाद्रात्रि । रात्ररपरपक्ष अपरपक्षान् षड दक्षिणाति मासास्तान् । एते मन्वत्सरमभिप्राप्नुवति । मासेभ्य पितृलोक पितृलोकादाकाश, आकाशाच्च द्रमसम् । एष सोमो राजा । तद् वा नामन्नम् । त देवा मनयति । (इति-जीवात्मन -आरोहणम्) ’ । (अथात अवरोहणम्) — तस्मिन् यागत् सम्पातमुषित्वाऽथतमबाध्वान पुनर्निव । ते यथेतम् । आकाशाद्वायु , वायुभूत्वा धूमो भवति, धूमोभूत्वाऽन्न भवति, अन्न भूत्वा मघो भवति मेघो भूत्वा प्रवषति । त इह ब्रीहि-यवा ओषधि बनस्पतय तिल माषा इति जाय ते । अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतर यो यो ह्यन्नमणि, यो रेत सिञ्चन्ति, तद्भूय एव भवति” ।

+—छादोग्योपनिषत् ५ ब्रा । १ ख । ३४५६ क ।

द्युलोकस्थ श्रद्धातत्त्व सोम के द्वारा वृष्टिरूप मे परिणत होता है इस प्रथम दृष्टिकोण से एव अवरोहणक्रम मे जीवामा वृष्टिरूप मे परिणत होता है इस द्वितीय दृष्टिकोण से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुचना पड रहा है कि द्युलोकस्थ खगोलीय तत्त्वविशेष ही वृष्टि का जनक है। अब उक्त दोनों दृष्टिकोणों से सवथा विभिन्न एक तीसरे दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाइए। जिसप्रकार द्युलोकाधिष्ठाता सूय से रश्मियों के द्वारा सौर सावित्राग्नि (आदियाग्नि) अजस्ररूप स भूलोक की ओर आता रहता है एवमेव भूलोका-

× इस विषय का निशद वैज्ञानिक विवेचन चतु खण्डात्मक श्राद्धविज्ञान के-
‘आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् नामक चतुर्थ खण्ड मे देखना चाहिए ।

धिष्ठाता पार्थिव आङ्गिरोऽग्नि अपने प्राणरूप से भूपिण्ड से निकल कर अजसरूप से द्युलोक की ओर जाया करता है। द्युलोक से आते हुए आदिया न से जहा सुप्रसिद्ध— आदि यानामयनम् नामक यज्ञ का स्वरूपान पन्न हो रहा है वहा भू से जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि से सुप्रसिद्ध अङ्गिरसामयनम् यज्ञ सम्पन्न हो- रहा है। भूलोक से निकला हुआ प्राणरूप अङ्गिरोऽग्नि तो द्युलोक की ओर जा ही रहा है। साथ ही द्युलोक से भूठ पर आकर आदियाग्नि भी प्राणरूप होकर अश्वरूप में परिणत होता हुआ द्युलोक की ओर ही जा रहा है। दोनों के इसी गमन से उक्त दोनों अयनसत्रों का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। सुप्रसिद्ध अङ्गिरा तया आदय की स्पर्द्धा का स्वीकरण करने वाले आर्यायान ने इसी सत्रविज्ञान का प्रतिपादन किया है *।

वक्त यही है कि पार्थिव अग्नि (प्राणमक अङ्गिरोऽग्नि) भूपिण्ड से निकल कर वाङ्मय स्तोमों के आधार पर अभिलवरूप से एव वृष्टरूप से नितर द्युलोक की ओर जाया करता है। स्तोमसं बधेन अङ्गिरोऽग्नि का यह द्यु-गमनमागसवथा नियत है। अङ्गिरोऽग्नि के इसी द्युलोकगमन का स्वीकरण करती हुए मंत्र श्रुति कहती है —

इत एत उरुहन् दिस्पृष्टया यरुहन् ।

प्र भूजयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययु ॥

—अथवस १८।१।६।१

भूठ पर याता जलमात्रा का परूप में परिणत होकर द्युलोक की ओर जात हुए आङ्गिरोऽग्निगम में प्रतिष्ठित होजाती है। अग्निगमन के साथ साथ बाष्परूप से परिणता पार्थिवी जलमात्रा भी अन्तरिक्ष में चली जानी है। अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित मरुत् नामक वायुविशेष के धरातल पर वह जलमात्रा गर्भीमत बन जाती है। यही पार्थिवजल का गभधारण है। जबतक सौररश्मिया तीव्र नहीं बन जाती तबतक वह पार्थिव जलमात्रा उसी वायुगम में प्रतिष्ठित रहती है। जब (आ यतिक ग्रीष्मकालोपलक्षित निदाघकालावसान में) सौररश्मिया अपने निःसंभाव में परिणत होजाती हैं तत्काल वायुधरातलस्थ पानी भूपिण्ड पर गिर पडता है।

इसप्रकार पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा मरुद्धारतल में अस्थित पानी ही कालांतर में प्रथिवी पर बरस पडता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार पार्थिव जल ही द्युलोक में जाकर वृष्टि का कारण बन रहा है। हम समझते हैं वृष्टि केवल भूपिण्ड में ही होती है। परन्तु यथाथ में परिस्थिति तो यह है कि भू-द्यु दोनों ही लोकों में समानरूप से वृष्टि होरही है। अत्र केवल यही है कि द्युलोक में पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि वृष्टि के प्रतिक है एव भूलोक में आन्तरिक्य पञ्च-देवता वृष्टि

*— आदित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च उभये प्राजापत्या अस्पृद्धं त वय पूर्णे स्वर्ग लोकमेष्यामो वय पूर्वऽइति । (शत० १२।२।१।६)—“एतदादित्यानामयनम् एतदङ्गिरसमयनम्” (शत ४।५।१।१६,२)।

क प्रार्त्तक है । यहाँ से उहा गया हुआ पानी यहा बरसता है पज य क द्वारा । प्प यहा से ।हा पानी बरसता है पार्थिव अङ्गिरोऽग्न क द्वारा । पार्थि अृषि मे पार्थिय अहगण निमित्त जनते हैं एव दि-यवृषि में सौर अहगण निमित्त बनते है । निम्नलिखित मत्रश्रुतिया इसी दृष्टिकोण का समयन कर रही है

(१) 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत सृष्टा नयति ।

यदा खलु वा असावादि यो यङ् राश्मभि पर्यावाते अथ ऋषति ।

—तै स का ।४ प्र ।१ आ ।२ क ।

(२) समानमतदुदकमुचेत्यव चाहभि ।

भूमिं पजया जिवन्ति दिा जि त्यग्नय ॥

—ऋकस १।१६४।५ १

एक अय दृष्टिकोण का भी समावय कीजिए । भगवान् मनु कहते हैं कि द्विजातियो का यज्ञक म ही वृष्टि का मूल है । आहवनीयाग्नि में यथाविधि जो आहुति दी जाती है वह अ लोकरूप आदिय में पङ्च जाती है । पार्थिव आहुतिग्राहक आदि-यदेवता प्रतिदान [बदले] में वृष्टि करते है वृष्टि से अन्न उ पन्न होता है अन्न से प्रजो पत्ति होती है । इसप्रकार यज्ञाहुति ही परम्परया वृष्टिप्रवसिका बन रही है । देखिए !

अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यक-आदित्यमुपतिष्ठत ।

आदित्याजायते वृष्टि—वृष्टेरन्न तत प्रजा ॥

—मनु ३।७।६

एक पाँचवाँ दृष्टिकोण और लीजिए । अक्षर से ब्रह्म [क्षर] का विकास होता है ब्रह्म से कर्म उ पन्न होता है कर्म से यज्ञ उ पन्न होता है यज्ञ से पजय उ पन्न होता है । पजय से वृष्टि के द्वारा अन्न उ पन्न होता है एव अन्न से भवसृष्टि होती है । यहा अक्षर को ही वृष्टि का मूलाधार माना जा रहा है । देखिए !

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्ज याद नमम्भव ।

यज्ञाद्भवति पज्ज यो यज्ञ कर्मसमुद्भव ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवा िद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवाम् ।

तस्मात्सर्गात् ब्रह्म नित्य यज्ञ प्रतिष्ठितम् ॥

—गीता ३।१४।१५।

यद्यपि उक्त दृष्टिकाणों की विवचना शैली में [साथ ही द्यावा पृथिवी-रूप से] अशत सिद्धांत में भी भेद प्रतीत होरहा है तथापि वस्तुग या सभी दृष्टिकोणों का निर्विरोध सम वय किया जासकता है । जैसा कि आरम्भ में निवदन किया गया है प्रथम दृष्टिकोण का प्रस्तुत ब्राह्मणप्रकरण के साथ विशेष सम्बन्ध है ।

अतएव उसी को आधार बनाकर यहा वृष्टिविद्या का दिग शन करा । समीचीन माना जायगा । छा दो यश्च ति ने जिस पञ्चा। नविद्या के आधार पर अपसग के द्वारा पुरुषसग का प्रतिपादन किया है उस का वैज्ञानिक त व उसी की भाषा में स्पष्ट है । अरुणपुत्र अतएव आरुणोय इस उपनाम से प्रसिद्ध श्वेतकेतु अपनी ताविक जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए तत्समय की सुप्रसिद्धा कुरुपञ्चालों की िद्ध पर्षन् [परिषत्] में उपस्थित होते हैं । प्रारम्भिक योग्यता की परीक्षा के लिए पषत् के माय विद्वान् जैबिलि श्वेतकेतु से प्रश्न करते हैं कि कुमार ! क्या तुह तु हारे पिता [अरुण] ने त वज्ञान के शिक्षण से युक्त कर दिया है ? । कुमार श्वेत केतु उत्तर में यो ही ह्यो भगवन् ! कहते हैं योही जबिलि उन के सम्मुख प्रश्नपरम्परा रख बैठते हैं । जैबिलि के द्वारा श्वेतकेतु से होने वाली प्रश्नपर परा का पाचवा प्रश्न है— वेथ यथा पञ्चम्यामाहुतायाप पुरुष उचसो भवति —जानते हो तो बताओ ! पाचयी आहुति मे अप्त व कैसे पुरुषस्वरूप मे परिणत होजाता है ? । श्वेतकेतु समाधान करने में असमथ रह जाने है । फलत स्वय जैबिलि की ओर से ही पाचौ प्रश्नो का ताविक विश्लेषण होता है ।

सुप्रसिद्ध वेदात्सूत्र [याससूत्र] के ततीया याय के आरम्भ से आ मगति विषयक सिद्धांतो का कतिपय सत्रो से प्रतिपादन हुआ है । वहा का प्रारम्भिक सूत्र है— तदतरप्रतिपत्तौ रहति सम्परिष्वक्त प्रश्ननिरूपणाभ्याम् (या सू । १।१।) । जीवा मा पाञ्चभौतिक मय अनि य शरीर से पृथक् अमृत निय तत्व है जत्र पूवसदम से (प्रतिमादिता अ यायद्वयी से) यह सिद्ध होजाता है—[तद तरप्रतिपत्तौ] तो यह भी स्तत एव सिद्ध होजाता है कि मय स्थूलशरीर के छूट जाने पर जीवामा लोकातर में गमन करता है—(रहति) । क्या विशुद्ध आमा का लोकातर मे गमन होता ह ? प्रश्न का नेति रूप से समा धान करते हुए भगवान वा रायण कहते हैं कि िशुद्ध आ मत का गमन असम्भ । है । अतएव मानना पडता है कि जीवामा सूक्ष्म भूतो से वेष्टित होकर ही [आतिाहिक सूक्ष्मशरीर धारण करके ही] लोकातर मे गमन करता ह [सम्परिष्वक्तो भूतसूक्ष्मै—गच्छति] ।

प्रमाण के लिए जैबिलि और श्वेतकेतु में होने वाली प्रश्नोत्तर—परम्परा ही पर्याप्त है । वहा पुरुष— सग के सम्बन्ध म जो प्रश्नोत्तर हुए है उनसे यह प्रमाणित होता ह कि जीवामा भूतसूक्ष्मों से सम्प— रिष्वक्त होकर ही लोकातरों में गमन करता है—(प्रश्ननिरूपणाभ्याम्) । *—प्रश्न निरूपण का तापर्थ्य यही है कि अत्रोह (उपत्ति) क्रम में अपतव से ही पुरुष की उपत्ति हुइ है । यदि आरोहक्रम में अप्त व का पुनर्गमन न माना जायगा तो एक न एक दिन वह नि शेष ही होजायगी । फलत निर्माणक्रम अवरुद्ध होजायगा । उधर स्वयम्भूर्याथातभ्यतोऽथान् यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य —धाता यथापूव मकल्पयत् इ यादि श्रुतिप्रामाण्यानुसार सृष्टिक्रम शाश्वत माना गया है । इसकी यह शाश्वतता तभी अच्युण बनी रह सकती है जब कि जीवारोहणवत् जीवारोहण मे भी अप तत्व का गमन माना जाय । इसी

* तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद्—ब्रह्मेतदर्थ यदि वेथ किञ्चत् ।
स प्राह जीव करणावसासे सवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मै ॥
—प्राचीनसूक्ति

आधार पर— ता एष ह्युपपत्त इत्यादि के अनुसार मानना पडता है कि जीवा मा भूतसूक्ष्मै सम्परिष्कृत एष लोकातरे गच्छति ।

जीवामगतिप्रतिपादक इस सूत्रसूक्ति का त्रिशद वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञाना तगत आर्माज्ञानोपनिषत् नामक प्रथमखण्ड में देखना चाहिए ।

अग्निहोत्रयज्ञ से समतुल्य स पञ्चाग्निविद्यामरु अग्निकम्म स ही पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है । हमारे वैध (मनु यजमानकृत) अग्निहोत्र में अग्नि समिध अङ्गार विस्फुलिङ्ग हविर्भय इत्यादि भौतिक साधनों का सम वय रहता है । इन सब भौतिक साधनों का अन्नादलक्षण अग्नि अन्नलक्षण सोम इन दो साधनों में अन्तर्भाव माना जायगा । क्योंकि प्राकृतिक नियमिहोत्र में ये दो साधन ही मुख्य माने गए हैं । रोदसीत्र लोक्यविधाता — नरोदेता नास्तमेता मय एकल एव स्याता बृहद्ब्रह्म तस्थो भुजनेष्वत पवमानो हरित आग्निवेश — सूर्यो बृहतीम यूदस्पपात इत्याद वचनों के अनुसार रोदसी-ब्रह्माण्ड के केन्द्र विन्दुवृत्त नामक बृहतीछद्म में प्रतिष्ठित सूर्यदेवता सावित्रा नमय है । अग्नि वन में निरंतर उसीप्रकार अन्नादान की बुझा किया करते हैं जैसे कि हमारा शरीराग्नि स्वरूपा बुभुक्षा के उपशम के लिए साय प्राप्त अन्न (भोजन) की बुझा किया करता है । इस स्वाभाविकी अन्नादाने छा से ही यह अन्नमत्तीति निर्वाचन स अन्नाद कहलाया है ।

कल्पना कीजिए उस ब्रह्माण्ड— यापक सौर अग्नि के महामहनीय प्रबलतम अन्नादभाग की जिसकी महिमा के गभ में अस्मदादि प्राणियों के अन्नाद प्रतिष्ठित है कि वह अपने स्वयं आयतन की पूर्ति के लिए प्रतिदिन साय प्राप्त अन्नादान की बुभुक्षा बनी रहती है । अवश्य ही यह मानना पडगा कि जिसने ब्रह्माण्ड के प्रति अपने आप को अन्ना मकवन समर्पित कर दिया है हमारा रोदसी-ब्रह्माण्ड में भी बृहदायतन कोई न कोई अन्न निरंतर इस विधादकी बृहती बुभुक्षा शांत करता रहता है । उस महदानाहुति का ही यह प्रभाव है कि आरम्भ से आज पर्यन्त सृष्टिनिम्माण प्रक्रिया में अपनी मात्राओं का समर्पण करता हुआ भी सूर्य स्वशरीर से अक्षणावत् बना हुआ है । जिस उस महदन्न की इस सौर सावित्राग्नि में निरंतर आहुति होती रहती है जिस अन्नाहति से आ कृष्णेन रजसावत्त मानो निवेशयन्मृत मय च इत्यादि मन्त्रवचनानुसार जो सौरसावित्राग्नि स्वरूप से कृष्ण रहता हुआ भी योतिम्मय बना हुआ है वही सौराग्नि का अन्न उस महामहिम पारमेष्ठ्य मण्डल में रहने वाला भागवत् स्नेहतव है जिस परमेष्ठी मण्डल के सामने सूर्य एक बुद्बुद् के सदृश अपना महत्त्व रगता है ।

यही पारमष्ठ्य अन्नसोम ब्रह्माणस्पति कहलाया है जिसका मौलिक स्वरूप अन्नलक्षण श्रद्धातत्त्व ही माना गया है । इसी श्रद्धामिका सोमाहुति से सूर्य प्रज्वलित है । सौरप्राणाग्नि अग्नि है सूर्यामक भूतपिण्ड अङ्गार है । सूर्य से प्रवयसम्बन्ध के द्वारा इतस्तत् विनिस्सृत ध्रुव लोहित हरित आनेयपुञ्ज विस्फुलिङ्ग है अस्मदादि समस्त प्राणीयग समिध है पारमेष्ठ्य सोम हविर्भय है । इन सब के सम वय से ही प्राकृतिक नियमिहोत्र सञ्चालित है जिसके आधार पर ही रोदसी-ब्रह्माण्ड की जीवनसत्ता अवलम्बित है । इसी प्राकृतिक सूर्याग्निहोत्रविधा के आधार पर मानुष उस अग्निहोत्रविधा का आविर्भाव हुआ है जिस का याज्ञिक ब्राह्मण साय प्राप्त अनुगमन किया करते हैं । अग्निहोत्र के इसी रहस्यामक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम् । तद्यदेतस्या अग्रऽआहुतेरुदैत् तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम् ।
म यत सायमस्तमिते जुहोति य इद तस्मिन्निह सति जुह्वानि-इति । अथ यत् प्रात-
रनुदिते जुहोति य इद तस्मिन्निह सति जुह्वानि-इति । तस्माद्द्वै सूर्योऽग्निहोत्रम् ।'

—शत ब्रा १३।१।१ ।

उक्त सूर्याग्निहोत्र में अग्निहोत्रसाधक अग्नि अङ्गारादि जिन साधनों का उ लेख किया गया है व सब अग्नि सोम इन दो त जो पर ही विश्रांत है । अग्नि धूम सामत् अङ्गार त्रिस्फुलिङ्ग इन का तो अग्नि में अ तर्भाव है शेष सोममात्र रह जाता है । अतएव अग्र्य ही इस अनेकसाधनानुगत भी यज्ञ का अग्र्यो सोमाहुतियज्ञ यह लक्षण कया जासकता है । पञ्चा नविद्या का ता प य यही है कि एक ही यज्ञ रानभेद स पाच सस्थाओं में विभक्त हो रहा है । सौरसस्था आधदैविकी है पार्थिवसस्था आधिभौतिकी है पुरुषसस्था आ यामिकी है । आग्नििकसस्था का २ विधाओं से आधिभौतिकसस्था का १ विधा से एव आ यामिकसस्था का विधाओं से स ब ध है । कारण स सख्या-वप य का यही है कि अ विदावक तथा आ यामिक यज्ञों के दाम्प्यभाव स जहा अ य ा प ययज्ञ (प्रजा) उ पन्न होता है वहा आधिभौतिक पाषाण लोहादि यज्ञों स अ य यज्ञ उ पन्न नहीं होता । सकेतावधा से यही रहस्य सूचित करने के लिए आग्निदैविक आ यामिक यज्ञों के लिए २ २ विधाओं का एव म यस्थ आधिभौ तक यज्ञ के लिए एक ही विधा का स्पष्टीकरण हुआ है । तीनों क पाच अग्र्यवयज्ञा का ही पञ्चाग्निविद्या क द्वारा विश्लेषण हुआ है ।

उक्त पञ्चावयव यज्ञ द्यावापृथिव्य है । द्यावापृथिव्य यज्ञ के प्राणलक्षण यज्ञ प्राणीलक्षण यज्ञ में से ो विक्त माने जासकके हैं । प्राकृतिक प्राणों के सम वय स स व य रगने वाला द्यावापृथिव्य यज्ञ प्राणलक्षणयज्ञ कहलाएगा एव प्राकृतिक अस्मदाद प्राणियों के सम वय स स व य रगने वाला द्यावा-पृथिव्य यज्ञ प्राणोलन यजन माना जायगा । प्राणलक्षण यज्ञ ऋ प्राणो अ तरिक्तम् यो ये तीन पत्र हैं । प्राणीलक्षण यज्ञ क पुरुष योषा [स्त्री] ये दो प ी है । य लोकाविद्याता अह कालीन दृश्य अर्द्धाकाशानुगत सौर आ नेय प्राणसे पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है । एा भूलोकाविद्याता [जिसम आ तरिक्त्य प्राणायु का भी सम ग्र्य है] रात्रिकालीन अग्र्य अर्द्धाकाशानुगत चा २ सौम्यप्राण से योपा सृष्टि का आविर्भाव हुआ है । द्यु लक्षण पिता एा पृथिवी रूपिणी माता से नैसे प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न हुआ है एवमेव य रसानुगत पुरुष (पिता) एवप्राथमी रसानुगता याषा (माता) के दाम्प्य य से प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न होता है । योषा पृथिवी की प्रतिकृति है एव पुरुष द्य लोका की प्रतिकृति है । अतएव इस प्राणीविद्य यज्ञ को भी द्या वापृथिव्य ही माना जायगा । प्राणविद्य द्यावापृथिव्य यज्ञ में पृथिवी अ तरिक्त्य द्यौ तीनों का सवथा पाथ्य है । धर प्राणीवध द्यावापृथिव्य यज्ञ में अ तरिक्त का पृथिवी—प्रतिकृतिरूप याषा के गर्भाशयरूप आ तरिक्त्य आकाश में ही अतर्भाव हो रहा है । अतएव जहा प्रा ाविध द्यावापृथिव्य यज्ञ की तीन सस्था होती हे वहा प्राणीविध द्यावापृथिव्य यज्ञ की पुरुष योषारूप से दो ही सस्थाए रह जाती है । स भूय ३—२ क्रम से द्यावापृथिव्य यज्ञ की पाच सस्था होजाती हैं जिनका कि पञ्चाग्निविद्या के द्वारा क्रमिक विश्लेषण हुआ है । एव जिस विश्लेषण की द्यु अ तरिक्त्य पृथिवी पुरुष याषा ये पाच पृथक पृथक विधा हैं ।

(१) मयप्रथम क्रमप्रा त द्यु विधा का ही समन्वय कीजिए । द्यु लोक अग्नि है आदित्य समित् है रश्मिया धूम है अह काल अर्चि है चन्द्रमा अङ्गार है नक्षत्र त्रिस्फुलिङ्ग है द्र ये ठ देवदेवता स्वव्यापार से द्युलोकानि में श्रद्धा रूप हविष्य की आहुत देते है । आहुत श्रद्धात व और आहुतिग्राहक अग्निताव दोनो के अ तर्क्याम (चित्ति) स बंधा मक रासायनिक उस समिश्रण से—जिसम दो के याग से दोनो के पूर्वस्वरूपोपमहन के द्वारा तीसरा अप्रवभाव उपन्न होजाता है — सोम नामक तत्रा तर उपन्न होता है । श्रद्धात व का रूपा तर यही सोम आ तरिष्य यज्ञ में आहुतिद्र य बनने वाला है । सोमो पत्ति ही इस द्य यज्ञ का प्रधान फल है ।

द्युलोक लाक है तत्र प्रतिष्ठित सौरप्राणाग्नि (सावित्रानि) लोकी है । सूर्यपिण्ड भूता न है पिण्ड के द्र को आल बन बनाकर सौर द्य लोक की अन्तिम सीमा में व्या त रहने वाला प्राणानि ही देवाग्नि है । लाक—लोकी का अभेद मान कर ही यहा— असौ वाज लोको गोतम । अग्नि यह कह दिया गया है ।

भूताग्नि पिण्डरूप आदित्य (सूर्यपिण्ड) प्रज्वलित सा दिखाइ दता है । इसीमे आग्नेय वा पलक्षणा धूम का उदय होता है । इसी समिधन से सूर्यपिण्ड समित् माना गया है ।

जिसप्रकार प्रज्वलित समित् (काष्ठ) से धूम निकला करता है एवमेव प्रज्वलित सूर्यपिण्डामक समित् को गभ बनाकर इसमे चारो ओर रश्मियो का वितान होता । रश्मिया आग्नेय बाष्प की प्रतिवृत्तियाँ हैं । अतएव इह अवश्य ही धूम कहा जासकता है ।

जिसप्रकार धूम से युक्त समित् से निकलने वाली अग्निज्वाला से चतुर्दिक् में (चहु ओर) प्रकाश होजाता है एवमेव रश्मियुक्त सूर्य से निकलने वाली रश्मियों के सहस्रवा-वितान से स पूरा त्रैलोक्य प्रकाशित होपडता है । प्रकाश ही अर्चि [वाला] है । यहा प्रकाशा मक अह ही अर्चि है ।

जबतक ज्वाला [अर्चि] बनी रहती है तबतक समित् अङ्गाररूप में परिणत नहीं होता । ज्वाला के शा त होजाने पर ही अङ्गार की अभि यक्ति होती है । तापलक्षणा वह ज्वाला यहा अहर्लक्षणा अर्चि [प्रकाश] है । जबतक यह रहती है तबतक चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता [अभिव्यक्ति नहीं होती अपितु अभिभव रहता है] । अह के अन्तर्लानि होजाने पर चन्द्रमा उसी प्रकार अभिव्यक्त होजाता है जैसेकि ज्वालोपशम पर अङ्गार अभि यक्त होजाता है । इसी सादृश्य से चन्द्रमा अङ्गार माना जासकता है । चन्द्रमा सोममय है । सोममय चन्द्रमा की उपत्ति इसी दिय आदित्ययज्ञ से हुइ है । इसलिए भी चन्द्रमा को आदित्ययज्ञ का अवयव माना जासकता है । चन्द्रमा का प्रकाशधम्म भी सौरप्रकाश का ही प्रवर्यरूप है । प्रतिकलित सौर प्रकाश ही चा द्र योति का जनक बनता है जसा कि— इ था चन्द्रमसो गृहे - तरणिकि रणसङ्गादेष पानीयपिण्ड -दिनक दिशिचञ्चद्रिकाभिश्चकास्ते इयादि वचनों से स्पष्ट है । इसलिए भी चन्द्रमा को अवश्यमव आदित्ययज्ञावयव माना जासकता है ।

चन्द्रमा अप्सवन्तरा सुपर्णो धावते ऋषि इयादि मन्त्रवर्णानुसार चन्द्रमा अप्पिण्ड है । नक्षत्र अपत व के ही प्रवग्यरूप हैं अतएव इह — उडु [पानीयपिण्ड] नाम से व्यवहृत किया जाता है । नाक्षत्रिक आप्यप्राण जहा गणा मक है वहाँ चा द्रमस आप्यप्राण अतिष्ठावा है । अवयव एव अवयवी का

जो सब ध है वही च द्रमा और नक्षत्रों का सब ध है। अग्नि वायु आन्ध्र च द्रमा इन चारो अतिष्ठावा देवताओं के क्रमशः प्रसु रुद्र आदित्य नक्षत्र ये चार गणदेवता कहलाए है। जिसप्रकार अङ्गी अङ्गार से अङ्गा मक विस्फुलिङ्ग विनिगत हैं एवमेव अङ्गी आ य च द्रमा से अङ्गा मक आ य नाक्षत्रिक तज का विकास हुआ है। अतएव नक्षत्रों को अवश्य ही अङ्गार-चन्द्रमापेक्षया विस्फुलिङ्ग कहा जासकता है।

पार्थिव आ तरक्ष्य दिव्य इन तीनों में क्रमशः अग्नि वायु इन्द्र इन तीन अतिष्ठावा देवताओं का प्रभुत्व है। अतएव पार्थिव देवताओं को आग्नेय आ तरक्ष्य देवताओं को वायव्य ए दिव्य दे देवताओं को ऐन्द्र कहा जासकता है। उक्त दिव्ययज्ञसंस्था में ये ऐन्द्रदेवता ही ऋत्विक् हैं सूर्यके द्रस्थ हिरण्यगर्भ-प्रजापति ही स यज्ञ के यजमान हैं। दिव्य-ऐन्द्रदेवताओं के द्वारा अद्वात व की सावित्राग्नि में आहुति होरही है। इसप्रकार तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा से यहा ऐन्द्र दिव्य देवता ही गृहीत है।

अब शेष रह जाता है केवल अद्वात व। पूर्वब्राह्मण-भाष्यो में अनेकधा अद्वा के तात्विक स्वरूप का प्रिलेखण किया जाचुका है। अतएव पिष्टपेषण अनावश्यक है। प्रकरणसङ्गति के लिए यह जान लेनामात्र ही पर्याप्त होगा। एक पारमार्थ्य अपतवानुगत चाद्रसोम से सम्बन्ध रखने वाला अत् [स य] को धारण करने वाला मनोऽनुगतस्नेहतव ही अद्वा है। अद्वा रेतो यश इन तीन चार मनोताओं का क्रमशः शुक्रमय शरीर शुक्र मन इन तीन आयामिक पर्वों से सम्बन्ध है। तीनों ही प्राकृतिक अनुग्रह हैं। जिन के मन शुक्र तथा शरीर म चाद्र-अद्वा रेत यश का प्रकृत्या समावश रहता है व ही अद्वालु रेतोधा एव यशस्वी होते हैं।

मनोमयी अद्वा पितृप्राण की शुक्रमय रेत मानस-प्राण की एता मानस यश वषटकार के सम्बन्ध से देवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। अद्वातत्तानुगत पितृकम्म इस अद्वातत्ता के सम्बन्ध से ही आद्वा कहलाया है। अद्वा वा आप [तै ब्रा ३।२।४।१]-के अनुसार अद्वा वास्तव में आपोमय तत्वविशेष ही है जिसका उपलब्ध भागों में त वदृष्ट्या सम वय नहीं हुआ है। अपनत्त्व अद्वा का प्रथम रूप है एता सोमत्व व अद्वा का उत्तररूप है। तस्मिन् नपो मातरिश्वा दधाति [इशोपनिषत्] आपो भृगुङ्गिरोरूपमापो भृगुङ्गिरोमयम् [गोपथ ब्राह्मण] इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भृगुलक्षण स्नेहतत्त्व एव अङ्गिरालक्षण तेज दोनों ही आप है। अतएव आपोमयी अद्वा के लिए-तेज एत अद्वा [शत ११ ३।१।१।] यह भी कह दिया जाता है।

जबतक आपोमयी अद्वा परमेठी में युक्त है तबतक यह अद्वा है। आदित्याग्नि में हुत होते ही आदित्याग्नि तथा अद्वात्स दोनो के सम वयस पूर्वस्वरूपोद्भव द्वारा अद्वा सोम रूप में परिणत होजाती है। आपोमयी अद्वा में आपोमयी प्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु तद्द्रुपा तरभूत सोम आप्यप्राण से सर्वथा

* 'यश शरीरे भव मे दयालु'—कविकुलगुरु ।

बहि कृत है । य विशुद्ध दत्ता न बन जाता है । यही द्युलोकोपलक्षित-आधिद्विक यज्ञसस्था के द्य-पर्वा-मरु प्रथमपव का सन्नि त निदशन है जिसका नि न लिखित अति से स्पष्टीकरण होरहा है

द्या (१) असा वाव लोको गोतम ! अग्नि । तस्य आदित्य एव समित् रश्मयो धूम ,
अहरर्चि च द्रमा अङ्गारा , नक्षत्राणि स्फुलिङ्गा । तस्मि नतस्मिन्नग्नौ
देवा श्रद्धा जुह्वात । तस्या आहुते सोमो राजा सम्भवति” । (दिययज्ञ)

* * * * *

[२]—दूसरा आधि त्वक यज्ञपव अ तरिद्ध से स बंध रगता है । जिसप्रकार पृथिवी का अतिष्ठावा यथाग्निगर्भा प्राथमी के अनुसार अग्नि है द्यलोकातिष्ठावा आदित्य [इन्द्र] है एवमेव अतरिद्ध के अतिष्ठावा वायुदेवता माने गए हैं । उस वायुत व के अनेक विवत्त हैं । उनमें से सोमतत्त्व का अनुयोगी एव वृत्रतत्त्वका प्रतियोगी आप्यप्राणानुगत वायुविशेष ही प्रकृत की अपसृष्टि में अभिप्रत है । वही आ त रिद्ध्य वायुविशेष पज य कहलाया है । यही उस द्युलोकानुगत सोम को अपने गभ में रखने के कारण अग्नि [आग्नि] कहलाया है । आ य आ न के स बंध स ही इसे-पज यो वा अग्नि [शत १४। ६।१।१३] इयादि रूप से अ न क्या गया है । वर्षा से पिले जो सनसनाता हुआ पूववायु [पुरजाई हवा] प्रवाहित होता है वही पजय कहलाया है । सी आभप्राय से पजय का क्रदतीव हि पज य [शत ६। १३।२] यह लक्षण किया गया है ।

अष्टमूर्ति शिवत व पारभाषा में यही पजय भ्र नाम स यवद्वत हुआ है । पज य ही वृष्टि के द्वारा सवप्रपञ्च का प्रभव बनता है । अतएव पज याद्वीद् सज भ्रति के अनुसार अवश्य ही इसे भव कहा जासकता है [दलिए शत ६।१।३।१५] । आप्य अग्नि लक्षण वाय य तवा मक रज य के उक्त वस्तुस्वरूपा मक श्रौत मिरूपण क विद्यमान रहते भी यदि उस का पज यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानि देवताविशेष [शाङ्करभाष्य] यह अर्थ किया जाता है तो आश्चर्य्य इसलिए नहीं होता कि देश का न वविज्ञान गत तीन सहस्रादियों से सवथा स्मृतिगभ में ही मिलीन रहा है । आ यप्राणा मक वायु [पजन्य] वृष्टि का उपकरण भी है प्राणधम्मवेन इसे देवता भी कहा जासकता है । परतु यह अभिमानी यपदेशस्तु प्रिषेणानुगतिभ्याम वाला अभिमानी देवता तो नहीं है जसा कि-शतपथमा य प्रथमवष के अष्टविधदेवताविज्ञान प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है । अभिमानी देवता का स बंध एकमात्र उपासनाकाण्ड से ही माना गया है । कर्मकाण्डा-नुगत देवता का तो विशुद्ध त ववाद से ही सम्पध है ।

जिसप्रकार द्य लोकोपलक्षित आदियाग्नि प्राणाविध था एवमेव यह आतरिद्ध्य आ यप्राणाग्नि [पज -य] भी प्राणविध होने से देवाग्नि ही माना जयगा । क्रदनधर्मा प्रयत्नानुभूत पुरोवात इसी पर्ज य का भौतिकरूप माना जायगा । यही भूतवायु प्राणा मक पजयवायु का उत्तजक बनता है अतएव इसे पजय ग्नि की समित् माना जासकता है ।

पजन्याग्नि भूतवायु आतरिद्ध्य अपत्त्व अग्नि स बंधन उपन्न वाष्प [धूम] इन के समवय से ही अत्र का स्वरूप स पन्न होता है । इन उपकरणों में वाष्प ही प्रधान है । अतएव तद्वाद याय से

अभ्र को धूमामक कह देना अ वथ बन जाता है। यह वा प ऋतरूप से अतरिद्ध मं सवत्र यास है। पज यानुगत समिव स्थानीय भौतिक गायु [मा सून्] के यापार से ही अत तत ऋतरूप से बरपरे हुए वा प एकत्र पूंजीभूत होते हैं। वही वाष्पपुञ्ज अभ्र कहलाया है जिस की उत्तरागस्था भेघ कहलाई है। क्योंकि समित् से धूम का निगम होता है इधर समिन्लक्षण भूतवायु ही वा पपुञ्ज का जनक [सप्राहक] है। इसलिए भी अभ्र को धूम कहा जासकता है।

आ तारिद्धय योत विद्युत् है। यही पर्ज यानि की अर्चि [प्रकाश] है। अतएय अवश्य ही विद्युत् को आतरिद्धयानि वागारूप अर्चि कहा जासकता है। उञ्ज अङ्गार है गजन त जन विस्फुलिङ्ग है जसकि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

एवावध पज यानि म आ तरिद्धय वाय य देवताओ के द्वारा सोम की आहुति होती है। पज याग्नि सोम दोना क रासायनिक साम्मश्रण से ही वृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। यही आाधदविक यज्ञ की दूसरी विधा है जिस का कि नि न लिखित शब्दो म पष्टीकरण हुआ है।

अ तरिद्धम (२) पज नो वा । गातम ! अग्नि । तस्य वायुरेव समित् अभ्र धूम
विद्युद्दचि अशनिरङ्गारा हादनयो विस्फुलिङ्गा । तस्मि नेतस्मि
नग्ना देवा सोम राजान जुह्वति । तस्या आहुतेवर्ष सम्भवति”
(आ तरिद्धययज्ञ) ।

*

*

*

*

[३]—पिण्डामिका [भूतामिका] प्रथिवी भूमि कहलाई है एव महिमाामिका [प्राणा
मिका] प्रथिवी प्रथित्री कहलाई है। भूपिण्ड के आधार पर वितत प्राणाग्नि ही प्रकृत में प्रथिवी शब्द
स गहीत है। यही प्राणानि पार्थिव भौतिक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बनता है। यही भौतिक यज्ञ की योनि है जिस
के लिए—अग्निर्वै योनियज्ञस्य यह कहा जाता है।

भूपिण्डानुगत प्राणाग्नि भूकेन्द्र से निकल कर १७ ० अहगण पर्यत याग्त रहता है जमा कि पूर्ण
के—सप्तदशो वै प्रजापति यदि निगदयाख्यान में स्प कर दिया गया है। सप्तदश अहगणामक
आग्नेय मण्डल ही वह पार्थिव स व सर है जिस का सौर सावित्रप्राणानिमण्डलरूप दि य स व सर के साथ
१७ ० अहगण में अतिमान होरहा है। सप्तदशविंशु ही उभयसम्ब सर की मूलप्रतिष्ठा मानी गइ है। यह
सम्ब सरमण्डल वाङ्मय है। वाकत व ही भूतविवत्त का जनक क्षर तव है। अतएव प्राणानि जहा देवाग्नि
कहा जा सकता है वहा वाग्निरूप स व सर को भूताग्नि कहा जासकता है। इसी पवसमतुलन से स व सर—
मण्डल मस पार्थिव प्राणाग्नि यज्ञ की समित् माना जासकता है।

परमाकाश पुराणाकाश शरीराकाश दहराकाश [दभ्रकाश] इत्यादि भेदसे आकाश के अनेक
विवत्त माने गए है। स्वायम्भुव परमे-योमन् ही परमाकाश है। सौरमण्डल [सौररोदसीत्रैलोक्य] से
सम्ब ध रग्वने वाला अणवसमुद्रावच्छिन्न आकाश ही पुराणाकाश है। शरीर एव दहराकाश आ या
मिक आकाश है। पुराणाकाशालक्षणा सोरी त्रिलोकी मे पार्थिवाकाशालक्षण सम्प्र सरमण्डल प्रतिष्ठित

है। सम्बत्सर के अग्यामक कालामक वयोनाधामक भेद से तीन विवत्त हैं। अग्यामक सवत्सर तो समित् है। कालामक सवत्सर भातिसिद्ध बनता हुआ व्यवहार की प्रति ठा बन रहा है। वयोनाधामक सम्बत्सर ही पार्थिव आकाश है। वाक्परिमाणामिका सवत्सरमण्डलसीमा ही वयोनाधामक सवत्सर है। (ही योमामक सम्बत्सर कहलाया है जसा कि— 'योमा हि सम्बत्सर [शत ८।४।१।११] यदि वचन से प्रमाणित है। भूपृष्ठपर प्रतिष्ठित अस्मदादि पार्थिव प्रजावग जिस आकाश का साक्षात्कार किया करते हैं वह यही पार्थिवाकाश है जिस का बाह्य स्वरूप पार्थिवानि से उच्यते वाप से ही निपन्न हुआ है। सी वाप के सम्बन्ध से आकाश को प्रकृत भूतयज्ञ का धूम माना जासकता है।

सौ दिव्याग्नि योतिर्मय है। वही यज्ञो ह देवेभ्यो अपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार इत्यादि सिद्धांतानुसार प्रवग्य के सम्बन्ध से पार्थिवजगत् में भुक्त होता हुआ कृष्णरूप में परिणत हो रहा है। अह काल में पार्थिवसस्था जहा सौर योतिष्मान् सावित्राग्नि से अनुगृहीत रहता है वहा रात्रि में पार्थिव कृष्ण ग्नि का स्वाभाविक विकास रहता है। अतएव कृष्णभावामिका तमोमयी रात्रि ही इस पार्थिव यज्ञानि की अर्चि मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही तो अर्चि होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है तो तद्विकासामिका कृष्णा रात्रि भी अवश्य ही कृष्णाग्नि की कृष्णार्चि है।

रात्रिरूपीणि अर्चि ज्वरतक रहती है तत्रतक दिशाओ का बोध नहीं होता। रात्रि के अवसान पर ही दिशाए परिज्ञात होनी हैं। अर्चि के अवशांत होने से ही तो अङ्गार का जन्म होता है। इसी समतुलन से दिशाओ को अङ्गार माना जा सकता है। अङ्गार अवयवी है तो विस्फुलिङ्ग अवयव हैं अनेक हैं सर्वतो यात है।

सवत् इव हीमा अवान्तरदिश (शत २।६।१।११) के अनुसार सभी प्रांत अवातर दिशाए है। इसी समतुलन से अवयवामिका अवातर दिशाओ को विस्फुलिङ्ग माना जासकता है।

उक्त परिग्रहो से युक्त पार्थिव अग्नि में पार्थिव आग्नेय देवताओ के द्वारा वृष्टि की आहुति होती है। पार्थिव मृण्मय भूताग्नियुक्त प्राणाग्नि तथा आरिच्य वृष्टि (जल) दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से ब्रीहि—यवादि लक्षण अन्न उपन्न होता है। यही मयस्थ आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ की मात्र एक विधा है जिसका यो विश्लेषण हुआ है—

पृथिवी (३)— पृथिवी वाव गौतम ! अग्निः । तस्या सम्बत्सर एव समित्, आकाशो धूम, रात्रिरर्चि, दिशोऽङ्गारा अवातरदिशो विस्फुलिङ्गा । तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ दवा वष जुह्वति । तस्या आहुतेरन्न सम्भवाति'' ।

(पार्थिवयज्ञ) ।

* * * *

(४)—द्विविध आधिदिविक यज्ञ तथा एकक आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ के उक्त स्वरूप—विश्लेषण के अन्तर आधिदैविक आधिभौतिक यज्ञ से कृतरूप आध्यात्मिक यज्ञ के वृषालक्षण पुरुषयज्ञ—विवत्त का निरूपण करती हुई अति कहती है कि हे गौतम ! पुरुष निश्चयेन (इस आध्यात्मिक यज्ञ का) अग्नि है।

यहा पुरुष श द से वह आ यामिक षडङ्ग वैश्वानर अग्नि ही अभिप्रत है जो सम्पूर्ण प्राणीवग की प्रतिष्ठा बना हुआ है । एव जिसका अह वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित । प्राणापानसमायुक्त (गीता १५।१४) इ यादि रूप से विश्लेषण हुआ है । पञ्चाग्निविद्योपक्रम में यह स्पष्ट किया गया है कि यह यज्ञ प्राणयज्ञ प्राणीयज्ञ भेद से दो भागों में विभक्त है । पार्थिव प्राण अपान है आतरिच्य प्राण यान है दि यप्राण प्राण है । दि यप्राणलक्षण प्राण पार्थिव अपानलक्षण प्राण इन दोनों प्राणापानों से मध्यस्थ यानलक्षण आन्तरिच्य प्राण का उसीप्रकार ग्रहण होजाता है जैसे कि द्यावापृथिवी श द से द्यु-पृथिवी के म यस्थ आतरिच्य का त मध्यपतितस्तद्ग्रहणन गृह्यते याय से ग्रहण होजाता है ।

पार्थिव अपानाग्नि पार्थिव नर (नायक-अ यज्ञ) है आ तरिच्य वायु याग्नि आन्तरिच्य नर है दि य प्राणाग्नि दि य नर है । पृथिवी अ तरिच्य द्यो तीनों लोकों क अपानामक अग्नि यानामक वायु प्राणात्मक आदि य तीनों नरों क पारस्परिक अन्तर्ग्राम सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला केश लोम नखाम्र भागों को छोडकर (आ लोम य आ नखाम्रेभ्य) सर्वाङ्ग शरीर में याप्त रहने वाला तापधर्मा आध्यात्मिक अग्नि ही वैश्वानर कहलाया है । इस की आ यामिक-षडङ्गता को लक्ष्य में रखकर ही श्रुति ने कहा है षडविधो वै पुरुष (वैश्वानर) षडङ्ग (ऐत ब्रा २।२६।) ।

वश्वानरलक्षण आ यामिक षडङ्ग अग्नि में क्योंकि त्रैलोक्याग्नि का समावेश है अतएव इसके लिये- वैश्वानरो व सर्वे अ नय (शत ६।२।१।३५) यह कहा जाता है । शरीर मे मस्तक भाग द्युलोक है नाभि पय्यत भाग अतरिच्य है गुद-नाभ्यन्तर भाग पृथिवी लोक है और यही आध्यात्मिक त्रैलोक्य है । इन तीन लोकामक तीन पुरो की समष्टिरूप शरीरपुर में सीमित रहने से ही-स षषोऽग्निवैश्वानरो यत् पुरुष (शत १।६।१।१) यह लक्षण किया जाता है । महद्योनि के भेद से प्रयेरु अ या मसस्था [प्राणिशरीर] का वैश्वानर पृथक्-पृथक् शरीराकारो में विभक्त होता हुआ पृथग्वर्मा बना हुआ है जैसा कि- एष वै प्रथगवर्मा वैश्वानर [शत ब्रा १।६।१।७] इ यादि वचन से प्रमाणित है । एषविध सर्वाग्नि [लोकत्रयाग्नि] लक्षण इस आ यामिक अग्नि के उक्त वैश्वानर-पुरुष-भावों का ही निम्न लिखित वचनों से स्पष्टीकरण होरहा है—

(१)— 'स य स वैश्वानर-इमे स लोकाः । इयमेव पृथिवी विश्व अग्निर्नर । अ तरिच्यमेव विश्व वायुर्नर । द्यौरैव विश्व, आदित्यो नर । (विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातोऽग्निवैश्वानर)' (शत ६।३।१।३) ।

(२)— 'इमे वै लोका पू । अयमेव पुरुष, योऽय पवते । सोऽस्या पुरि शेते, तस्मात् पुरुष' (शत २।३।६।२।१) ।

(३)— प्राण एष स पुरि शेते । त पुरि शेते-इति पुरिशय सन्त प्राण 'पुरुष' इत्याचक्षते (परोक्षम् । परोक्षप्रिया इव हि देवा, प्रत्यक्षद्विष)—गो ब्रा० पू १।३६।

पाञ्चभौतिक शरीर चि याा नमय है भूताग्निमय है। यही वाड मय अग्नि है। यही शरीरपरिच्छिन्न वशवानर नामक पुरुषाग्नि की समित् है। इसी शररपुरुषरूप वागग्नि [शरीर] से यह समित् र ता है। श्वासप्रश्वासा मक प्राण ही ँस समित् शारीराग्नि स अजस्ररूप से निव ाने वाला धूम है। जिह्वोपलानित व याामक शब्द ही [वैखरीवाक ही] इस की अर्चि है। आदि यप्राणा मक चक्षु ही अ धकार मे अङ्गारवत् प्रतीयमान [अजस्र स्थिति का पशुओ की आंखों में रात्र मे प्रयत्न कय जासकता है] चक्षु ही अङ्गार है। वागनिविकारभूत शब्दश्रुति का अधि ठात। श्रोत्र ही विस्फालङ्ग है। ऐसे इस आ याामिक पुरुषाग्नि में आध्यामिक इन्द्रियदेवताओ के द्वारा वर्षाविकारभूत अन्नलक्षण हावद्र य की आहुति होती है। मुस्तान्न रस-मल के क्रमिक वशकलन स क्रमश रस असृक् मास मेद अस्थि मज्जा ँन वातुरूपा में परिणत होता हुआ अततोगवा रेतोरूप में पारणत होजाता है। यही आ याामिक यज्ञ की प्रथमा विरा है जिस का निम्न लिखित श दो में स्पष्टीकरण हुआ है।

**पुरुष (वृषा)-४--' पुरुषो वाव गौतम ! अग्नि । तस्य वागेऽ समित् , प्राणो ऽम
जह्वा अर्चि , चक्षुरङ्गारा , श्रोत्र विस्फुलिङ्गा । तस्मि नेतस्मि
नग्ना दवा अ न जुह्वात । तस्या आहुते रेत सम्भवति'
(वृषायज्ञ)।**

* * * *

(५)—आ याामकयज्ञ का दूसरा पत्र है—योषा-यज्ञ। वृषाप्राण जहा पुरुषसग की प्रति ठा है वहा योषाप्राण स्त्रीसग की प्रति ठा बनता है। वृषाप्राण आग्नेय है योषाप्राण साम्य है। आग्नेय वृषा का दृश्य सौर अर्द्धाकाश से सम्बन्ध है। एव सौ या योषा का अदृश्य चा द्र अर्द्धाकाश से संबन्ध है। योषाप्राणामिका स्त्री के शोणित मे प्रतिष्ठित आ नत व ही योषा-यज्ञ की मूलप्रति ठा है। गर्भाशयगत शोणित में प्रतिष्ठित माङ्गलक [मङ्गलग्रहप्राणामक] आ नेयप्राण ही इस यज्ञ का आहुतिग्राहक अग्नि है। इस योषाग्नि का उत्त जक उपस्थ ही समित् है उपस्थ-समित् के संयोग से उपन्न योषाग्नि-क्षोभ ही धूम है। अतस्थ रक्तवण-कन्दल योनि है यही अर्चि है। ँ यदि लक्षण म योषाग्नि मे पुरुषशरीरस्थ प्राणदेवताओ के द्वारा रेत की आहुति होती है। यही हुत रेत आग तर में गमरूप में परिणत होजाता है। पञ्चपर्वामक यज्ञ के इसी अतिम आ याामिक यज्ञर्षी का दिग्दशन कराती हुई श्रुति कहती है—

**स्त्री (योषा)-५—'योषा वाव गातम ! अग्नि । तस्या उपस्थ एव समित् ।
यदपम त्रयते, स धूम । योनिरर्चि । तदत्त करोति,
तेऽङ्गारा । अभिन दा विस्फुलिङ्गा । तस्मि नेतस्मिन्नग्नौ देवा
रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेर्गर्भ सम्भवति''। द्वा दोऽयोपनिषत्
५ प्र १४,५,६,७८ खण्ड।**

* * * *

उक्त पञ्चाग्निविद्या —मक पञ्चपर्धामक यज्ञ का नि कष यही हुआ कि स्रलाकोपक्षित आदि याग्नि अ तरिचलोकोपक्षित वायु य पज याग्नि भूलोकोपलक्षित पार्थिय अग्नि पुरुषामक वृक्षा लक्षण वश्वानग्नि [शरीराग्नि] योषाप्राणा मक रक्तानि इन पाच आ नयो मे क्रमशः श्रद्धा सोम वृष्टि अ न रेत इन पाच हावद्र यो की आहुति हाती है । वही श्रद्धालक्षण आप (अप्तव) उत्तरोत्तर प्रतिष्ठत आसि ब ध में सोम वृष्टि—अ न—रेतोरूप मे परिणित होता हुआ अतिम पा ववा रेतो आहुति से पुरुषस्वरूप (गभस्वरूप) का आर मरु [उपादान] बन हा है । इसीलिए यह अनश्वयेन कहा जासकता है । क -

इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषयचमो भाति '

१-१-(१) यौ	— आदय (असैलोक) —श्रद्धा	} —आधिद वकयज्ञ	} —प्राणयज्ञ	} पञ्चम्यामाहुतावाप
२-२ () अ तरिचम्	—वायु (पजय) —सोम			
३-३-(१) प्रविबो-	आ न (पृथिवी) —वृष्टि]- आधिभौतिकयज्ञ			
४-१-(१) वृषा	—श्वानर (पुरुष) —अ नम्	} —आ याि कयज्ञ]-प्राणयज्ञ		
५ २-() योषा	—माङ्गलिक (योषा) —रेत			

पञ्चाग्निविद्या मक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपव क्रो [पज ययज्ञ को] सोमाहुत के द्वारा वृष्टि का प्रवक्त क बतलाया गया है जो कि- अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति यदि पूर्वाक्त तृतीय-वृष्टिकोण से सवथा विरुद्ध पडता है । पार्थिय अग्नि पार्थिवपानी को बाष्परूप मे परिणत कर आ तरिचय वायु धरातल में सञ्चित कर देता है अग्नि के द्वारा वायु क गभ मे सञ्चित ।ही पार्थिय पानी का कलातर म बरस पडता है । यह कथन अवश्यमेव उक्त पज ययज्ञमीमासा का प्रतिद्व द्वी प्रतीत होरहा है ।

श्रद्धा सोमरूप मे सोम पज याग्नि मे आहुत होक वृष्टिरूप मे परिणित होता है । अवश्यमेव यह सिद्धा त तृतीय-वृष्टिकोण मे याघात उपल कर रहा है । कौनसा सिद्धा त प्रामाणिक माना जाय ? जबकि दोनो ही श्रुति-स मत सिद्धा त है ? आर्षस प्रदाय उत्तर ाती है—जहा श्रोत सिद्धा ता मे ही परस्पर विरोध प्रनीत होता हो उहाँ दोनों ही प्रमाण हैं । इसलिए कि यह विरोध केवल स्थूलदृष्टि से ही सम्ब ध ररता है । त वदहि के आधार पर जब सम त्रय क्रिया जाता है तो विरोध का सबवा उ मूलन होजाता है । केवल निरूपणीया शैली के भेद से प्रिरोध की प्रतीमात्र ही होती है । वस्तुत विरोव है नही । सृष्टिक्रमारम्भ विज्ञानदृष्टि से जहा पज ययज्ञानुगत वृष्टिसिद्धा त प्रामाणिक है उहाँ स्थितिक्रमानुगता विज्ञानदृष्टि से अग्निर्वा इ यदि तृतीय वृष्टिकोण सुसमचित है ।

सष्टक्रम से म व व रवने वानी पञ्चाग्निविद्या में अधिष्ठित अधिभूत अथा मरूप से जिस पञ्चपवा मरु यज्ञ का विश्लेषण हुआ है उसीका एतरेय आरण्यक में उक्तविद्या के रूप से उपबहण हुआ है। वहा योषा मरु पाचन पं को छोड़ दिया गया है। केवल आर भ के प्राणयज्ञ मरु प्रयी अ तरिच्यो इन तीन पवों का एा चौथ पुरुष पव का समग्र करते हुए पुरुषयज्ञ[प्राणयज्ञ] में तीनों प्राणयज्ञों का समावय वतलाया गया है—[दक्षिये—ऐत आ २ आ । १ आ २ म]। इसी उक्तविद्या का आग जाकर ततीय खण्ड म रेतस सृष्टिरूप से जो विश्लेषण हुआ है वह अपना एक स्वतंत्र ही दृष्टिकोण रख रहा है। वहा दूसरे ही क्रम से सृष्टियज्ञ का विश्लेषण हुआ है। देखिए।

‘अथातो रेतस सृष्टि—प्रजापते रेतो देवा, देवाना रेतो वष वषस्य रेत ओषधय ओषधीना रेतोऽन अन्नस्य रेतो रेत, रेतसो रेत प्रजा प्रजाना रेतो हृदय हृदयस्य रेतो मन, मनसो रेतो वाक, वाचो रेत कर्म । तदिद कर्म कृतमय पुरुषो ब्रह्मणो लोक’—(ऐत आ । १ अ । ३ ख)।

उक्त सम्पूर्ण दृष्टिकोणों के वज्ञानिक—सम वय के आधार पर हमें इस नि कष पर पहुँचना पडता है कि—पार्थिव स—याग्नि आ—नरिद्य स—य वायु दि य स ये—द्र पज य ऋत वायु सोम सू यश्मिया पुरोवात अन्न विद्युत् स्नयिन नु आदि आदि उादन निमित्त कारणों के सम वय से ही वृष्टि होती है। नि म लिखित श्रौत स्मात्त वचन वृष्टि के उक्त कारणों का ही समथन कर रहे हैं—

- १—‘अग्निर्वा इतो वृष्टिसुदीरयति’—अग्नि—सत्यम्—पार्थियाग्नि
- २—‘वायुर्वै वृष्टया ईशे’—वायु—सत्यम्—वाय याग्नि
- ३—‘आदित्याज्जायते वृष्टि’—आदित्य—सत्यम्—सावित्राग्नि
- ४—‘पार्जय वर्षासु यजते’—पज य—ऋतम्—आप्याग्नि
- ५—‘सोमाहुतेर्वर्षे सम्भवति’—सोम—ऋतम्—चद्रसोम
- ६—‘रश्मिभिवष समदधात्’—रश्मय—सत्यम्—प्राणाग्नि
- ७—‘पुरोवात ससृजिरे’—पुरोवात—ऋतम्—वातवायु
- ८—‘अभ्राद् वृष्टि’—अभ्रम्—ऋतमत्यम्—अग्नि वाग्नादित्यपर्ज यादिसघात
- ९—‘वृष्टिर्न याज्या विद्युदेव’—विद्युत्—ऋतसत्यम्—ज्योतिरग्न
- १—‘स्तनयित्नुर्घोषो वसज्यत’—स्तनयित्नु—सत्यम—शब्दाग्नि

ऋक्महिता तर्गत अस्य वामीयसूक्त के तीन मन्त्रों का वृष्टिविद्या के साथ विशेष सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त कृष्णजुसहिता का कारीरिष्टि प्रकरण भी अशत वृष्टिविद्या पर प्रकाश डाल रहा है। एवमेव शतपथ—गोपथ—ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के छा दोग्य—बृहदारण्यक दि उपनिषदों के तत्त्वशेष

स्थलो में भी प्रकीर्णकरूप से उस विद्या का स्पष्टीकरण हुआ है। वेदशास्त्रप्रातःपाठित सभी विद्याओं के तत्त्व विज्ञानों के संबंध में यही एक ऐसी विप्रतिपत्ति है जिसके कारण उन विद्याओं का हम भक्तीभाति तत्रतक समावय नहीं करपाते जबतक कि उन प्रकीर्णक-प्रकरणों का एकत्र समावय नहीं कर लिया जाता। यह समावय निश्चयेन महासमारम्भ सापेक्ष है। अन यनिष्ठा से संपूर्ण वेदशास्त्र को जबतक लक्ष्य नहीं बना लिया जाता तत्रतक उन प्रकीर्णक विषयों का संग्रह असंभव है। एव जबतक उनका संग्रह नहीं होता तत्रतक तद्विद्याओं का आनुपूर्वी से परिज्ञान असंभव है।

अवश्य ही उक्त जटिलता के निराकरण के संबंध में पुरायुग में रह्य निगद गाथा कुण्ड्या आदि से स्वतंत्र ग्रंथ रहे होंगे जिनमें उन प्रकीर्णक भावों का विद्याओं का एकत्र संग्रह रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य से आज तो वरहस्यामक परिभाषाग्रंथ हमारे दृष्टिपथ से सवथा विस्मृत होचुके हैं। यही वदार्थ की एक वसी महती जटिलता है जिसका निराकरण दो चार व्यक्तियों के स्वपज्ञान से कथमपि संभव नहीं। होना यह चाहिए कि बहुसरया में योय विद्वान् उपलब्ध मंत्रब्राह्मणा मक वेदशास्त्र-ग्रंथों के तत्त्व विद्या प्रतिपादक तत्त्वनिगदों का पृथक पृथक रूप से संग्रह करै। सबका एकत्र संग्रह करते हुए उनका समावय करै। इयभूत महाआरंभ प्रयास से अवश्य ही इस दिशा में उक्त जटिलता दूर की जासकती है।

उदाहरण के लिए वृष्टिविद्या को ही लीजिए। अस्यवामीयसूक्त के ५ मंत्रों में से केवल ३ मंत्र ऐसे हैं जिनसे वृष्टिविद्या के कुछ एक सिद्धांतों का विश्लेषण हुआ है। व तीनों मंत्र भी एक साथ पठित नहीं हैं। अपितु तीनों का क्रमशः ३६, ४७, ६१ यह सरया क्रम है। यही स्थिति अर्य स्थलो की है। यही वह जटिलता है जिसके निग्रह से प्रकृत ब्राह्मण के प्रत्येक प्रकरण में हमें अनावश्यक विस्तारदोष पुनरुक्तिदोष का का विवर्ग होवर अनुगमन करना पड रहा है। परिणाम-स्वरूप पाठकों के लिए हमारा यह अयवस्थित प्रयास सुविधा के स्थान में जटिलता का ही जनक बनता जा हा है। इस संबंध में हम अपनी ओर से इससे आधिक क्या निवेदन कर सकते हैं कि जबतक देश के विद्वान् सम्मिलितरूप से उक्त पद्धति के अनुसार वदार्थ का समावय नहीं कर लगे तत्रतक एक दो व्यक्तियों की रक्षणशक्ति मात्र के आधार पर इस दिशा में सफलता प्राप्त कर लेना ता असंभव ही होगा।

हमारे ये अव्यवस्थित प्रकरण तो केवल यही पुरुषार्थ करसकने हैं कि जिनकी दृष्टि में भारतीय शास्त्र के तात्त्विक दजाल है व यह अनुभव करने लग कि वेदशास्त्र एक विज्ञानशास्त्र है एव उसमें प्रतिपादित विद्याएँ प्राकृतिक नियमविज्ञानों का ही विश्लेषण कर रही हैं। जिन कतिपय प्रतीच्य विद्वानों की बाह्यदृष्टि में भारतीय शास्त्र अधिक से अधिक आत्मशास्त्र का समथक है तदनुयायी उच्छिष्टभोगी अर्वाचीन जो प्रायः विद्वान् अपनी निधि के वारसा के स्वरूपज्ञान से अश्रित रहते हुए इसके प्रति न केवल उदासीन ही हैं अपितु इसका उपहास करना भी जिनके जीवन का एक प्रधान पुरुषार्थ बना हुआ है आर्य ही उनकी भाति का ये अव्यवस्थित प्रकरण भी सार्थक नहीं तो अशत तो निराकरण कर ही सकगे। एकमात्र इमी लक्ष्य से जानबूझ कर ही इस पद्धति का अनुगमन करना हमने अयवस्था समझा है। जिह्म उस्तु गया वेदविद्या का रहस्यज्ञान प्राप्त करना है उनसे तो हम यही निवेदन करेगे कि वेदविद्या कण्डु मिटाने वाले हमारे इन प्रस्तुत प्रयामों को एक ओर रखन हुए आनुपूर्वी से सर्य मूलग्रंथों को ही अपने स्वाध्याय का विषय बनाए। स प्रासङ्गिक निवेदन के साथ ही वृष्टिविद्या के प्रकीर्णक अर्थों का दिग्दर्शन कराने वाले निम्नलिखित ऋडमन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरहे हैं—

१—सप्ताद्गभा भुवनस्य रेतो जिष्णोत ठिति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चित परिभुज परिभवति त्वश्वत ॥

—ऋक्स १।१।६४।३६।

२—कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पता त ।
त आगवत्र त्सदनादतस्यादिद् घृतेन पृथग्नी युधते ।

—ऋक्स १।१। ४।४७

३—समानमेतदुदकमु चैत्यव चाहाम ।
भूमि पजया जि गात दिना जि न त्यग्नय ॥

—ऋक्स १।१।६४।५१

थोड़ी देर के लिए य मान लीजिए एक आकाशस्थ मेघो स भापण्ड पर जो पानी बरसता है वह वस्तुतः पृथिवी की ही दन है । अग्निगम भपिण्ड के केन्द्र से अङ्गिरोऽग्न (प्राणाग्नि) व लोक (आकाश) की ओर निरंतर जाया करता है यह प्रकरण के प्रारंभ में स्पष्ट किया जाचुका है । आग्नर्गा इतो वृष्टि मुदीरयति सिद्धांत वसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहा है । इसप्रकार पार्थिव जलमात्रा (समुद्र नद नदिशा रूप वापी तडाग आषाव वनस्पित पार्थिव प्राणीशरीर आदि आदि मे रहने वाली जलमात्रा) ऊपर की ओर गत हुए अङ्गिरोऽग्नि के सम्बन्ध से वी परूप में पारणत होकर ऊपर की ओर जाया करती है । सप्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव जलमात्रा को व लोक की ओर लेजाने में एकानिमित्त बना हुआ है ।

दूसरा निमित्त है— वायु । पार्थिव मृगममय परमाणुओं का गुरुवाकषण भपिण्ड के जिस नियमित ऊ व प्रदेश प य न व्याप्त रहता है वहातक तो पार्थिव अग्नि ही पार्थिव जलमात्रा को ऊपर ढँच लेजाता है । यो यो जलमात्रा ऊपर चढने लगती है यो यों वह पार्थिव गुरु वाकषण से मुक्त होती जाती है । पार्थिवा कर्षण से विमुक्ता यही जलमात्रा वाष्प है । उधर आ तरिद्य वायु भी एक प्रकार का वा प ही है । आगौ जाकर जलमात्रा के ऊ र्वगमन का प्ररक यही वा प—वायु बनता है । पृथिवी से व लोक पर्यन्त सप्तदिध सूर्यनाडिया वितत है । यही महापथ कहलाया है । नाडीरूप इसी महापथ से सौर पदार्थों का प्रव र्यभाग पृथिवी में एव पार्थिव पदार्थों का प्रव यभाग सू य में मुक्त होता रहता है । यह नाडीमार्ग उभय प्रजापतियों के विस्त त भाग की पारस्परिक आदान प्रादान के द्वारा पूर्त्ति किया करता है । सौरपदार्थ पार्थिवपदार्थ दोनो ही गतिशू य हैं । न का गमनागमन होता है नाडीमार्ग से ही परन्तु निमित्त बनता है— वायु । सदागात मातरिश्वा नामक वायु ही अपने गतिध म से दोनो का सवाहक बनता है । दूसरे शब्दों में वायु— धरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही जलमात्रा नाडीमार्ग से व लोक की ओर जाती है ।

तीसरा निमित्त है— सूर्यरश्मियाँ । सूर्यरश्मिया पाथिव त वो का निर तर आदान किया करती हैं । इस आ नधम्म से ही सू थसस्था में मुक्त इन्द्र धाता—भग पूषा आदि १२ सौर प्राण आदत्ते आददाना

— इ यादि निवचनो से आदि य कहलाए है । सबरसादान व ही आदि य का आदि यत्न * है । आदि यरश्मिया ही नाडी ह । नानी रूप रश्मिया भूपृष्ठ पर सलन हीती हैं । अपने स्वाभाविक स यधम्म के कारण अतध र्मा मक जलादि की भात ततस्तत न जाकर ये रश्मिया उसी नियत माग से वापस य लोक की ओर लोट जाती है । आता हुआ रश्म्यवच्छिन्न सौरतेज जहा साग्नी कहुलाया है वहाँ प्रतिफलित साथ ही पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि स समवेत उही सारतेज गायत्री कहुलाया है । प्रतिफलित इस गायत्रतेज मे पार्थिव अग्नि आ तारक्ष्य वायु पार्थिवरसमात्रा तीना प्रतिष्ठत होजाते है । अतएव कहा जासकता है कि पार्थिवानियुक्त वायु के संयोग से रश्मिरूप नाडीमाग के द्वारा पार्थिव जलमात्रा युलोक की ओर जा रही है । सी हाट से रश्म की अपेक्षया आन्तियाज्जायते ब्राह्म कहा जासकता है । पार्थिवा यपेक्षया अग्निर्जा इतो वृष्टिमुदीरयति कहा जासकता है । ए आतरिक्ष्य वाय्वपेक्षया— वायुर्नै वृष्ट्या ईशे यह कहा जासकता है । तीनों ही वचन तत्तदपेक्षया सस विवत है । नाडी (रश्मि) एव अग्निप्राणयुक्त वायु से स बद्ध इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करत हए हमारा + भौतिक विज्ञानशास्त्र कहना है— नाड्यो गायुसयोगादारोहणम् (अपाम्) । नो नापीडनात् सयुक्तसयोगाच्च (वशेषिक दशन ५।२।५ ६ सू) ।

नाड्यो गायुसयागात् आराहित पार्थिव जल स सम्बध रखने वाली वृष्टिविद्या के गमन स्थिति पषण ये तीन आधकरण माने जासकत है । यहा से पानी जाकर बढौ पहुँचा यही पहिला गमन— अग्निकरण है जिसे गर्भाधानकाल भी कहा जासकता है । वहाँ पहुँच कर पानी नियत समय पर्यन्त न्य चोकरस्थ वायुधरातल पर ठहर गया यही दूमरा स्थियधिकरण है जिसे दोहदकाल भी कहा जा सकता है । नियत समयानन्तर पानी पुन बरस पडता है यही तीसरा वषणाधिकरण है जिसे प्रसव काल भी कहा जासकता है । इसप्रकार गभ दोहद प्रसव भेद से यह वृष्टिक म त्रिपर्वा बन रहा है । पूर्वोद्ध ता ऋत् मन्त्रत्रयी स वृष्टिक म के इह्नी तीनों पर्वों का स्पष्टीकरण हुआ है जिसके ताविक समवय के लिए खगोल से स बध रखने वाली कुछ एक बाह्यपरिभाषाओं का ही स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा ।

सदा सवदा ही पार्थिवानि रश्मिया ऊपर की आर जाती रहती हैं । वायु भी सदा ही प्रवाहित है । फलस्वरूप पार्थिवरस—मात्राओं का भी सदा ही ऊर्ध्वगमन सिद्ध है । ओर इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता

—इ द्रो धाता भग पूषा मित्रोऽथ वरुणो ऽर्यमा ।

अ शु िवस्वान् त्वष्टा च सविता िष्णुरेव च ॥

* 'स प्राणमग्निरादत्त रूपमेव वायोरादत्त चित्तमेव पुष्पस्यादत्त, चक्षुरेव पशूनामादत्त भामेव च द्रुमस आदत्त । तद्यदादत्त—तस्मादादित्य ' ।

—शत ब्रा ११।८।४।७८६ १ ११।

+ भारतीय विज्ञान अधिदैवत अ या म अधिभूत भेद से तीन भागों मे विभक्त माना गया है । वेदातदशन सारयदशन त्रैशेषिकदशन तीनों से क्रमश तीनों विभागों का स्पष्टीकरण हुआ है जैसाकि गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय खण्ड क आमपरीक्षा नामक क भाग मे विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है ।

है कि जैसे जलमात्रा का गमन निरंतर होता रहता है एवमेव द्यलोक से उसका आगमन भी निरंतर ही होता रहता है। इस नियमनागमन-लक्षण वृष्टियज्ञ से ही अहरह्यज्ञ नामक भषययज्ञ का स्वरूप निर्माण हुआ है। प्रकृत में हम विचार उस वृष्टिकर्म का करना है जिस का षड ऋतुमूर्ति सम्बन्ध (वर्ष) के एक ऋतुविशेष (वर्षाऋतु) में ही भोग हुआ करता है। वर्षाऋतु में द्युलोकस्थ मेघों से जो जल बरसता है उसी के सम्बन्ध में यह जानना है कि कब तो यह पानी भूखण्ड से ऊपर गया? कहा प्रतिष्ठित हुआ? कब तक प्रतिष्ठित रहा? एव कब बरस पड़ा? तापययही है कि हमें सुप्रसिद्ध वर्षाऋतु सम्बन्ध रखने वाले वर्षाजल के ही गर्भ-दोहद-प्रसव भागों की मीमांसा अपेक्षित है।

चतुर्मासामक शीतकाल गमकाल चतुर्मासामक ग्रीष्मकाल दोहदकाल एव चतुर्मासामक वर्षाकाल प्रसवकाल माना गया है। मागशीष से आरम्भ कर फाल्गुन पयन्त पाथिव जलमात्रा का द्युलोक में गर्भाधान होता है। चैत्र से आरम्भ कर आषाढ पर्यन्त गम का पापण होता है। एव श्रावण से आरम्भ कर कार्तिक पर्यन्त वर्षा की प्रसूति होती है। एगोलीय अत्र रोहिणी अलक्ष्मी निऋति आदि नामोस प्रसिद्ध वृश्चिकराशि मभुक्त यष्टा नक्षत्र का मागशीष की अभावस्था से सम्बन्ध है। यष्टानक्षत्रानुगता मागशीष कृष्णभावस्था ही गर्भाकाल का उपक्रम माना गया है। एवमेव यष्टमास की पूणिमा के साथ भी यष्टा-नक्षत्र का सम्बन्ध है। यही पूर्णिमा प्रसवकाल का उपक्रम माना गया है।

इस सम्बन्ध में वृष्टिविद्याचार्यों के जो परीक्षण हुए हैं नाक्षत्रिक स्थिति के तारतम्य से वे सभी प्रामाणिक हैं। मूलनक्षत्र के उत्तरार्द्ध में जब सूर्य का भोग रहता है तो गमकाल आरम्भ होता है। एव आर्द्रानक्षत्रभुक्त सूर्य प्रसवकाल का उपक्रम बनता है। सूर्य की मूलनक्षत्रभुक्ति पौष मास में एव आर्द्रा नक्षत्रभुक्ति आषाढ मास में होती है। इस दृष्टिकोण से पौष गम का और आषाढ प्रसव का उपक्रम बन जाता है।

एक अत्र दृष्टिकोण के अनुसार सूर्यदाक्षिणायनानुगत पात गम का एव सूर्योत्तरायणानुगत पात प्रसव का उपक्रम है। मूल पूर्वाषाढ उत्तराषाढ अभिजित् श्रवण धनिष्ठा शतभिषक् पूषभाद्रपद उत्तरभाद्रपद रेवती अश्विनी भरणी ये १२ नक्षत्र चार्द्रसोम के सहयोगी बनते हुए गम के उत्तमक बनते हैं। आर्द्रा पुनर्वसु पुष्य अश्लेषा मघा पूर्वाफल्गुनी उत्तरफल्गुनी हस्त चित्रा स्वाती विशाखा ये ११ नक्षत्र सौर अग्नि के सहयोगी बनते हुए प्रसव के प्रवक्तक बनते हैं। चार्द्रचार जहाँ गम की मूलप्रतिष्ठा है वहाँ सूर्योत्तरायण प्रसव की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। स्नेहगुणक सकोचधर्म्या चार्द्रसोम पार्थिव जलमात्रा का जहाँ संवर्ण कर उसे स्थितिभाव प्रदान करता है वहाँ तेजोगुणक विकासधर्मा सौर अग्नि जलमात्रा को द्रुत बनाता है। निम्न लिखित आगतवचन इसी सिद्धांत का स्पष्टीकरण कर रहा है—

पौषे मूलभरण्यत च चार्द्रेण गर्भति ।

आर्द्रादितो विशाखा ते सूर्यचारेण वषति ॥

—श्रीगुरुप्रणीत-कादम्बिनी (वृष्टिविद्या)

नियत नाक्षत्रिक काल में भूप्रदेश से जिस दिन जलमात्रा सू यरश्मि वायु एत्र अग्नि के संयोग से उतक्रांत होती है उस दिन से आरंभ कर ठीक ६ महीना १४ दिन [कुल १९५ दिन] पयत वह जल मात्र द्युलोक में प्रतिष्ठित रहती है। ठीक १९६ व दिन उस का प्रसव होजाता है पानी बरस पडता है। अत एव १९५ दिनात्मक गभस्थितिमाल के लिए सप्ताद्ध गर्भा कहा जासकता है। सातव महीने का आधा अर्थात् १५ दिन आरंभ पूरे ६ मास कुल १९६ दिन सप्ताद्ध गर्भा का यही निष्कर्ष है। इस सत्र में कुछ विशेषधम्म और जान लेने चाहिए। जिन दिन गर्भाधान होता है उस दिन यदि पूर्वदिशा में गर्भाधान है तो १९६ व दिन पश्चिमदिशा से मेघ वृष्टि करत है। यदि पश्चिम में गर्भाधान होगा तो पूर्व की ओर से वृष्टि होगी। एवमेव दक्षिणदिशामें गभ है तो उत्तर से उत्तरमे गभ में है तो दक्षिणसे वृष्टि होगी। यदि दिन में गर्भाधान है तो रात्रि में यदि रात्रि में गर्भाधान है तो दिन में वृष्टि होगी।

इसप्रकार गर्भाधानानुगता दिक्-काल से सवथा विपरीत दिक्-काल में गभ का प्रसव होगा। इस वधय का कारण स्पष्ट है। ६॥ मास के अनंतर दृश्यस्थित के अनुसार आकाशप्रदेश में विपथ्यय होजाता है। निष्कर्ष यही है कि जिस दिन जिस पक्ष दिशा में गर्भाधान होता है ६॥ मास के अनंतर भी आकाशक उभी प्रदेश-कालमें गभस्थिति रहती है। तथापि पार्थिवपरिभ्रमणानुगत उत्तर दक्षिणायन भेद से विभिन्न बनी हुई हमारी वृष्टि विपथ्यय का कारण बन जाती है। यो समझिए कि शुक्लपक्ष में गर्भाधान हुआ। ठीक ६॥ मासानंतर पानी तो उसी आकाशप्रदेश में रहेगा जिस प्रदेश में ६॥ मास पूर्व पृथिवी से गया था। परंतु अयन भेद से आकाश का वही प्रदेश जो ६॥ मास पूर्व शुक्लपक्ष का अन्तर्गामी था ६॥ मासानंतर कृष्णपक्षानुगामी बन जायगा। यही व्यवस्था अहोरात्र पूर्व-पश्चिमादि दिशाओं के सम्बन्ध में समझिए। प्रदेश विषयी [विभिन्न] नहीं है किंतु परिभ्रमणानुगता वृष्टि का विभेद ही दिक्काल के भेद का कारण है।

जिस दिन गर्भाधान होता है उस दिन द्युलोक में विशेष परिस्थिति उत्पन्न होजाती है। वही निमित्त गर्भाधान का परिचायक बनता है। शीतवायु श्वेतधूम त्रिद्युत् गजन आदि ही गर्भाधान के परिचायक हैं। उन परिचय-चिह्नों का परिचय प्राप्त कीजिए दिक् देश काल-आदि को ठीक ठीक लक्ष्य बना लीजिए। अमुक दिन से ठीक १९ वे दिन अमुक पक्ष अमुक दिन अमुक रात्रि अमुक दिशा में अमुक मात्रा से अवश्यमेव पानी बरसेगा। इस सम्बन्ध में यह यान रखिए कि यदि गभपातक निरोधक शनि-मंगल-याम्यादि-प्रतिबन्धक सूख्य और चंद्रमा मयम आजायगे तो परिस्थिति के अनुसार कालांतर में [जोकि काल गणितानुसार सर्वथा व्यवस्थित है] प्रथम तो गर्भापात होजायगा। अथवा तो वह जल धनीभूत होकर पाषाण बन जायगा। फलत १९६ व दिन वृष्टि नहीं होगी। याद गभपात होगया तबतो कोई बात शेष रह ही नहीं जाती। यदि गभपात नहीं गभनिरोध है तो कालांतरमें करकापात होगा। वही जमा हुआ पानी करका [ओले] पात है।

इसप्रकार गर्भाधानभाव गर्भपात गभनिरोध आदि निमित्तों का संयुक्त परिज्ञान प्राप्त करके वृष्टि का जो समय बतलाया जायगा वह प्रकृति का अटल विधान माना जायगा जिस की उपेक्षा कर ब्राह्मणों ने अपना सवस्व ही खोदिया है। ब्राह्मणचर्चा समाप्त हुई अब मंत्रा की ओर पाठको का यान आकर्षित किया जाता है। सप्ताद्ध गर्भा इत्यादि मंत्र का अन्वयार्थ है- लोकसग के रेतोभूत गभ सप्ताद्ध गर्भा रूप से विष्णु (आकाश) के विभिन्न दिक् प्रदेश से प्रतिष्ठित होते हैं। वे अब्गभ वीभावों तथा मान सभावों से विपश्चिद्भाव से सवत्र व्याप्त होजाते हैं।

वेद लोक देव धम्म इन चार प्राकृतिक सगों की प्रवृत्ति क्रमशः प्राणमुख आपोमुख गडमुख अन्नगर्भित अ ना मुख इन चार मुखों से मानी गइ है। प्राणादि प्रकृतिया ब्रह्म के चार मुख हैं। ही से सृष्टिचतुष्टयी का विकास हुआ है। लाक्षा ह्यासु प्रतिष्ठिता सप्तमापोमय जगत् - याद के अनुमार अप्त व ही लोकसृष्टि का मूलप्रवक्त क माना गया है। यही लोकसग का आर भक है। अतएव जीवा भुवन वनम् रूपसे आप को भुवन (लोक) नाम से भी यवद्धत किया जाता है। अप्त व भुवन का आर भक है अतएव नसे अवश्य ही भुवनस्य रेत कहा जासकता है। पार्थिव भुवन की रेतोभूता जगमात्रा अ न-वायुसहयोगिनी सूर्यरश्मियों के द्वारा आरोहित होती है। आरोहता उ वगता जलमात्रा सौररश्मियों में ६॥ महीना गमाभूता रहती है। गमाभूता जलमात्रा उत्तराकाश म प्रतिष्ठित रहती है। आकाश परमेष्ठी है पर मेष्ठी त्रिष्णु है इन आकाश की अतिम सीमा योसा कहलाइ है यही त्रिष्णुपद नाम से यवद्धत हुआ है। अतिम सीमा ध्रुवप्रदेश है यही नाकस्थ त्रिष्णुमण्डल है। उत्तरव वानुगत नाकस्थ त्रिष्णुपद ही आकाश का उच्चतम स्थान माना गया है। ही विष्णुपद के लिए क । जाता है—

तद्विष्णो परम पद सदा पश्यति सूरय ।

।दवीय चक्षुराततम् ॥

—ऋक्स १२२।२ ।

जिसप्रकार चन्द्रमा अक्षवृत्त के आधार पर भूपिण्ड के चारो ओर घूमता है भूपिण्ड क्रातिवृत्त के आधार पर सूर्यपिण्ड के चारो ओर सूर्यपिण्ड अयनवृत्त के आधार पर परमेष्ठी के चारो ओर परमेष्ठी प्राणवृत्त के आधार पर स्वयंभ के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है एवमेव उत्तरव व नाकस्थ विष्णुपद के चारो ओर परिक्रमा लगाया क ता है। ध्रुव की यह परिक्रमा २५ [प चीसहजार] वर्षा में समा त होती है। जिसप्रकार विष्वदवृत्तीय प्रष्टीकद्र ध्रुव ह एवमेव क्रातिवृत्तीय प्रष्टीके न यही कम्ब [त्रिष्णुपद] है। ध्रुव विश्वदवृत्त का कद्र ह तो कम्ब क्रातिवृत्त का कम्ब है। त्रिष्वद्वृत्त और क्रातिवृत्त म २४ अश का अंतर है। वही अंतर ध्रुव और कद्र वर्तित नाकस्थ विष्णु का है। ४ अश के यामाद्ध से ४८ अश का पारसर का जो उत्तराकाशानुगत प्रदेश है वही विष्णुपद है सके के द्र में प्रतिष्ठित पारमेष्ठ्य प्राण ही—जो अपने प्राणध म से सवधा अमूर्त है—विष्णु हैं। इस त्रिष्णु का प्रदेश ही उत्तराकाश प्रदेश है। यही उत्क्रान्त जलमात्रा गर्भाभित रहती ह। जसा कि बतलाया गया है भपरिभ्रमण के कारण सप्ताद्ध गर्भा रश्मिया किवा तद्र पा आप—गर्भाधान स्थिति के ठीक विपर्यय से बरमती है। इसी विपर्यय भाव का—प्रदिशा त्रिधम्मणि वाक्य से स्प टीकरण हुआ है।

गर्भाधान होता है चन्द्रमा के सहयोग स प्रसव होता है सूर्य के सहयोग स जैसा कि—चन्द्रचारेण गर्भति सूर्यचारेण उषति रूप से पूव में स्पष्ट किया जाचुका है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाये कि चन्द्रमा के द्वारा गर्भाधान होता है एक ही दिन मे परन्तु सूर्यानुगत प्रसव काल १३ दिवसा मे त्रिभक्त है। मत्रापान्त मनसा श द चन्द्रचाराणुगत गर्भाधान का सूचक है एव धीतिभि सूर्यचाराणु त प्रसवक म का सूचक ह। कारण स्प है। चाद्रसोम मनोमय है एव सौर अ न वीगच्छण है। मन का चन्द्रमा से एव बुद्धिका सृष्ट से स ब्रध है। मनसा [चात्सोमेन] धाय्यमाण गर्भ

धीतियों [साररश्मयो] क चार से ही ता प्रसूत हाता ह । श्रुति का त्रिपश्चित श द अतिशयरूपेण रह यपर है । त्रिपरीता क्वा त्रिदक् चिति ही इस श द से सूचित होरही है । विपरीते-त्रिदिग्भागे चयनम् चित् यथा ते गर्भा ही त्रिपश्चित का रहस्याथ ह ।

वि पूजक पश् ही त्रिपश्चित का मौलिक आधार है । सरया-सकेत-विज्ञानानुसार प कार १ सरया का सूचक है श कार ५ सरया का सूचक है । पश् का अर्थ होता ह १५ सरया । अङ्काना वामतो गति के अनुसार १ ५ (१५) की वामस्थिति के क्रमसे ५ १ (५१) नि षष निकलता है । वह यहा अभिप्र त है नहीं । अभिप्र त है १५ ही । यही भाव त्रि से सूचित होरहा है । पश्-भाज- (१५ सरया) त्रिरुद्ध (१५) कुट्यात् ५१ स्थ ने १५ त्रिप्रात् यही रहस्याथ त्रिपशा से सूचित हुआ है । ता प य यही निकलता है कि जिस नक्षत्र में आकाश प्रदेश मे गर्भाधान होता है जलमात्रा की चिति (सञ्चय) होती है उस नक्षत्र के १५ व नक्षत्र में उस गर्भीभूत जल की वृष्ट होती है । सप्रकार १५ नक्षत्रभाव से ही जल की चिति हाती है । अतएव गर्भीभूता आपोमयी रश्मियो को अवश्य ही त्रिपश्चित कहा जासकता है । यदि मानक्षत्र में मनसा (तद्रचारेण) गर्भाधान है तो आर्द्रानक्षत्र मे (जो कि मू १ से १५ वा नक्षत्र है)-धीतिभ । सू यचारेण] उस गम की प्रसूति होजायगी जसा कि पौषे मूलभर एय तम् ऋयादिरूप से पूज म स्पष्ट किया जाचुका है । तमप्रकार सप्ताद्वगर्भा यदि मत्र गमस्थिता का स्वरूप बतलाता हुआ च त्चारातुगत गर्भाधान सूयचारातुगत प्रसवकम्म दोनो का भी स्पष्टीकरण कर रहा है । अत्र क्रममा त कृष्ण नियान हरय सुपर्णा यदि मत्र की ओर पाठको का यान आर्षित क्रिया जाता है ।

म त्राथ के स ब ध मे विशेष उक्तव्य नहीं है । पार्थिव जल किस क द्वारा किस भाग से कहाँ जाता है ? ऊहाँ से कत्र किस क द्वारा बरसता है ? इ याद प्रश्नो के पूर्वोक्त समाधानो का ही-कृष्ण नियानम् इयादि मत्र से स्पष्टीकरण हुआ है । शुक्लभाग उत्तरायण कहलाया है कृष्णभाग दक्षिणायन कहलाया है । कृष्णभाग का पार्थिव कृष्णरण सृ याग्नि से सम्ब ध है शुक्लभाग का सौर शुक्लरण सात्रिगग्नि से सम्ब ध है । उपर का अर्थ है उत्तर एव नीचे का अर्थ है-दक्षिण । दक्षिणदिशा भूपिण्ड की आवासभूमि है उत्तरदिशा सूय की आवासभूमि है । अतएव सौर इद्र का उत्तर से सम्ब व माना गया है । दक्षिणभाग पृथिवी का अपना स्थान है यह पार्थिव कृ ग्गानि के सम्ब व से कृष्ण है । यही अत्र प्रदश है । यद्वा-कृ ण यानम् है । इसके निम्नभाव का ही नि से सङ्गत हुआ है । फलत कृष्ण त्रि यानम् का त्र होता है-दक्षिणस्था अधोऽवस्थिता पृथिवी । इसी को लक्ष्य बनाकर उत्तरमागस्थ किवा शुक्लपत्रानुगामिनी सू य की रश्मिया अपने त्वाभाविक हरण लक्षण आ नधम्म से ज 1-हरय (हरति आहरति) कहनाई है वहा अग्निलक्षणा सुपर्णाचित के सम्ब ध से इह सुपर्णा कहा गया है । पूव मे बतलाया गया है कि सू य से आगत साक्षात् सौरतेज सावित्री है पिण्ड से टकरा कर प्रतिफलित होने वाला सौर तेज गायत्री है । यह गायत्रतेज ही सुपर्णा है जिसके गम मे-नाड्यो वायुसयोगान्परोहणम् सिद्धातानुम र पार्थिवी जलमात्रा प्रतिष्ठित रहती है । एत च प्रेति चावाह ही इस गायत्र सुपर्णा का ताविक इतिवृत्त है जिसका पूव के सामिधेनी ब्राह्मण में विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है । आगमनावस्था में सू यरश्मिया केवल रश्मिया है गमनदशा (गायत्री-

दशा) में ही ये जल का आहरण करती है तभी इनकी सुपणाता अव्यथ बनती है। अतएव गमनावस्थापना गायत्रतेजोमयी सूर्यरश्मियों को ही हरय सुपर्णा कहा जायगा। ये रश्मिया निम्न-(दक्षिण) भागस्थ कृष्णयान (भूपिण्ड) को लक्ष्य बनाकर (भूपिण्ड से सश्लिष्ट होकर) तत्रस्था जलमात्रा को अपने गभ में धारण करती हुई द्यलोक की ओर प्रातफलित होजाती हैं। कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना निःसुत्पतति यह मन्त्रपूर्वाद्ध पार्थिव जलमात्रा की इस गर्भाधानावस्था का ही विश्लेषण कर रहा है।

आप वायु सोम तीनों भागत्रत व ऋत कहलाए है। ऋतमेव परमेष्ठी इस आथवरा ।सद्वा त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी ही ऋत है त्सी को पूर्वमन्त्रप्रकरण में विष्णुपद कहा गया है। यह पारमेष्ठ्य अपत व घन तरल पिरल मेद से आप वायु सोम इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। घनाप्रस्थापन अपत्तत्र का आसुर ऋरुणप्राण से तरलावस्थापन वायुतत्त्व का सोमरत्तक गच्छप्राण से एत्र पिरलाप्रस्थापन सोमतत्त्र का सौम्य पितृप्राण से सम्बध माना गया है। यही सोमत व विष्णु स्वरूप समपध माना गया है। अतएव इनका यत्र तत्र सोमवशी रूप से उपवर्णन उपलब्ध होता है। सोमसम्बध स उत्तर स्थान विष्णुपत्त है अप सम्बध से यही उत्तरस्थान ऋरुण भी है। ऋत अन्नरूपतालक्षणा ऋत सोमा मक्ता ही उत्तरस्थान की ऋतसदनता है जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है—

वरुणस्योत्तम्मनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनीस्थो वरुणस्थ ऋतसद यसि ।

वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥

यजु स ४।४६।

दान्धस्थ भूपिण्ड से सूर्यरश्मियों के द्वारा द्यलोक में गर्भीभूत जलमात्रा कत्र वापस भूलोक में बरसती है ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि वे अब्गभमय सुपर्णा [रश्मिया] जब ऋतसदन से [उत्तरदिशा से] परात्तित होती है [दक्षिणायन का अनुगमन करती है] आदित्-अथाहितोत्तत्तरकाल मे ही घृत [जल] से प्रथिवी काल्वालीकृत होजाती है जलमयी बन जाती है। यही गभ की प्रसृति है। क्रमप्राप्त-समानमेतदुदकम् इयादि तृतीय मत्र का विश्लेषण पूर्व में किया ही जाचुका है। इसप्रकार यह ऋद्धमत्रयी वृष्टिविद्या का अशत स्पष्टीकरण करने में सफल होरही है।

यह तो हुई श्रुतिचर्चा। अब दो शर्दों में पुराणचर्चा का भी समवय इसलिए कर लेना चाहिए कि तथाकथित आतो की दृष्टि में पुराण आज एक निरथक शास्त्र बन रहा है। जिन त वविज्ञानों का वद शास्त्र में प्रकीर्णकरूप स विश्लेषण हुआ है पुराणने बड़ी ही प्रसादभाषा में एकत्र उनका समवय कर दिया है। तभी तो इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपवृ हयेत् कथन चरिताथ होरहा है। अधिक विस्तार में न जाकर वृष्टिविद्या से सम्बध रखने वाले कुछ एक वचनमात्र ही यहा उद्धत कर दिये जाते हैं—

१-अष्टमासधृत गर्भं भास्करस्य गभस्तिभि ।

रस सवसमुद्राणा द्यो प्रसृते रसायनम ॥

— त्स्मीकिरामायणे

- विवस्वानष्टभिर्मामैरादायापो रसात्मिका ।
वषत्यम्बु ततश्चान्न-मनादमखिल जगत् * ॥
३-आदत्त रश्मिभिर्यत्तु क्षितिसस्थो रसो रवि ।
तद्युत्सृजति भूतानां पुष्टयथ सस्यमद्वये ॥
४ सरित् समुद्र स्तथाप प्राणिसम्भवा ।
चतु प्रकारा भगवानाद । सविताशुभि ॥
५-विवस्वानशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतीजलम ।
सोम पृष्णाति सोमस्तु वायुनाडीमयैर्दिवम ॥
६-जलैर्विद्विष्यतेऽभ्र षु धूमाग यनिलमूर्त्तिषु ।
अभ्रस्था प्रपतत्यापो वायुना समुदीरता ॥ इत्यादि
- ब्रह्मपुराणे

बुद्धिग या भाषा से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिपादत वृष्टिब्रह्मण का तत्सिरीयसहिता में भी [कारीरि ऋग्निप्रकरण में] दि दशन कराया गया है जिसका नि कष यही ह कि अग्नि सोम सूय्य मित्र वरुण अर्च्यमा पज आदि प्राकृतिक दवताओं के समन्वय स ही वृष्टिकर्म सञ्चालित है । यदि राष्ट में अनावृष्टि जनित दु काल की सम्भावना हो तो वैज्ञानिक ब्राह्मणों को उस कारीरी इष्ट का ही अनु ठान करना चाहिए जिस में वृष्टयधि ठावा उक्त प्राणदवताओं के आधिभौतिक द्रव्यों के मा थम से अनुग्रहप्राप्ति का प्रिलेषण हुआ है । प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा ह । अतएव तै स का वह स्थल यहा उद्धृतमात्र कर दिया जाता है । अवश्य ही उद्धृत प्रकरण वैज्ञानिक का यान वृष्टिविद्या के महत्वपूर्ण विश्लेषण की ओर आकार्षत करंगा ।

प्राच्यङ्गम् (१)- मारुतमसि मरुतामोजोऽपा धारा भिधि (१) ॥ रमयत मरुत श्येनमायिन मनोजवस वृषण सुवृक्ति । येन शध उग्रमजसृष्टमेति तदशिना परिधत्त स्वस्ति (२) ॥ पुरोवातो वषन् जि वरावृत् स्वाहा (३) ॥ वातावर्षन्नुग्ररावृत् स्वाहा (४) ॥ स्तनयन् वषन् भौमरावृत् स्वाहा (५) ॥ अनश यवस्फूर्जन् दिद्युद्वषन् त्वेषरावृत् स्वाहा (६) ॥ अतिरात्र वषन् पतिरावृत् स्वाहा (७) ॥ बहु हायमवृषादिति श्रुतरोवृत् स्वाहा (८) ॥ आतपति वषन् विराडावृत् स्वाहा (९) अवस्फूजन् दिद्युद्वर्षन् भूपरावृत् स्वाहा

* 'सर्वमिदमन्नम्, मर्षमिदमन्नाद । द्वय वा इद न तृतीय-अस्ति अत्ता (अन्नाद), चैव-आद्य (अन्न) च' । (श्रुति) ।

(१) ॥ मा दा वाशा शु ध्यूरजिरा ज्योतिष्मतीस्तम्बस्वरीरुद ती सुफना । मत्रभृत सुराष्ट्रा ऋ मावत (११) ॥ ष्यो अश्वस्य स दानमसि वृष्ट्यै त्वोपनह्यामि (१२) ॥

—त ० स १४।७।—

प्राच्यङ्गमत्राख्यानम्—(१)—‘ मारुतमसि मरुतामाज इत कृष्ण वास क्राण तृष परिधत्त । एतद्वै वृष्ट्यै रूपम् । सरूप एव भूत्वा पज य वर्णयात (१) ॥ रमयत मरुत श्येनमायिनम्—इति—पश्चाद्वात प्रतिमीवति । पुरोवातमेव जनयति वर्णस्यावस्त्वथै (२) ॥ वातनामानि जुहोति । ‘ वायु वै वृष्ट्या ईशे’ । वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधा-वति । स वावाम्मै पज य वर्णयात (३) ॥ अष्टा जुहोति । चतस्रो वै दिश चतस्रोऽना-तरदिश । दिग्भ्य एव वृष्टिं सम्प्र यापयति (४) ॥ कृष्णाजिने सयाति हविरेभ्यः । अ तर्वेदि सयाति अवरुद्वय (५) ॥ यतीनामद्यमानाना शीर्षाणि परापतन् । ते खजूरा अभवन् । तेषां रस उर्ध्वोऽपतत् तानि करीराण्यभवन् । सौम्यानि । करीराणि । सौम्या खलु वा आहुतिर्दिवो वष्टि यावयति (६) ॥ यत् कराराणि भवति—सौम्यमेवाहुत्या दिवो वृष्टिमवरु धे । मधुषा सयाति । अपो वा एष ओषधीना रस—य मधु । अद्भ्य एवाषधीभ्यो वर्णति । अथो अद्भ्य एवाषधीभ्यो वृष्टिं निनयति । मा दा वाशा इति सयाति । नामधेयैरे ना अञ्छति । अथो यथा ब्रूयात् अमावेति, एतमेना नामधेयै रा यावयति (७) ॥ वृष्णो अश्वस्य स दानमसि । वृष्ट्यै त्वोपनह्यामि, इत्याह वषा वा अश्व वषा पजय । कृष्ण इव खलु ते भूत्वा वर्णति । रूपेणैव समर्धयति—वर्णस्याव रुद्वयै (८) ॥—तै स ० २।४।६।

उत्तराङ्गम्—(२) देवा वस या अग्ने सोम सूर्ग (१) ॥ देवा शर्मण्या मित्राव-रुणायमन् (२) ॥ देवा—सपीतयोऽपानपादाशुहेमन् (३) ॥ उद्गा दत्तोदधिं भित्त दिव पर्ज याद तरिक्षात् पृथि-यास्ततो ना वृष्ट्यावत (४) ॥ दिवा चित्तम कृण्वति पर्ज-येनो दवाहेन पृथगी यद् यु दति (५) ॥ आ य नर सुदानवो ददाशुषे दिव कोशमन्तु-युषु विपर्ज या सृजति रोदसी अनु ध वना यति वृष्टय (६) ॥ उदीरयथा मरुत समुद्रतो यूय वृष्टि वर्णयथा पुरीषिण, न वो दस्रो उपदस्यति धेन ।, शुभ यातामन्तु अवृत्सत (७) ॥ सृजा वृष्टि दि ।, आद्भि समुद्र पृण, अ जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रियम् (८) ॥ उन्नमभ्य पृथिवा भिद्धीद दि य नम उद्गो दि यस्य नो देहीशानो

विसृजातिम् (६) ॥ ये देवा दिवभागा ये ऽ तरिक्षभागा य पृथिवीभागाः, त इम यज्ञ-
मत्र तु त इद चत्रमाग्निश तु त इद चत्रमनुविश तु (१०) ॥
तै स २।४।८ ।

उत्तराङ्गम अच्यारयानम् (३)- 'देवा वस या देवा शम्भयया, देवा सपीतय
इत्यावध्नाति । देवताभिरेवा वह वृष्टिमिच्छति । यदि वर्षेतावत्येव होतयम् । यदि न
वषत् श्वोभूते हावर्नि पित् । अहोरात्र ो मित्रावरुणौ । अहोरात्राभ्या खलु वै पर्जन्यो
वर्षति । नक्त वा हि दि ता वा वर्षति । मित्रवरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति ।
तावेवास्मै अहोरात्राभ्या पज य वर्षयत । अग्नये धामच्छदे पुरोडाशमष्टाकपाल नि पित्,
मारुत मप्तकपाल सार्यमेककपालम् । अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुत सृष्टा नय-
ति यदा खलु वा असागादित्यो यड रश्मिभि पर्यावर्ति, अथ वर्षति । धामच्छदि
खलु ो भूत्वा वर्षति । एता ै देवता वृष्ट्या ईशते । ता एव स्वेन भागधेयेनोपधावति । ता
एवास्मै पर्जा य ण्यन्ति ।

उता षिष्यन् णत्येव । सजा वृष्टि दि ।, आद्भि समुद्र पृण इ याह । इमा-
श्रैवामूश्चाप ममर्द्धयति । अथो आभिरेगामूरच्छति । ३ जा असि प्रथमजा, बलमसि
समुद्रय, इत्याह । यथा यजुरेतात् । उन्नम्भय पृथिवी इति षाहा जुहोति । एषा वा
ओषधीना वृष्टिवनि । तयैा वृष्टिमायात्रयति । ये द्वा दिवि भागा-इति कृष्णाजिनम-
वधूनीति । इम एवास्मै लोका प्रीता अभीष्टा भवति ।

-तै० स २।४।१ ।

तैत्तिरीय-सहिता के चार अनुवाकों में सम्बन्ध रखने वाले मंत्रभाग से सुप्रसिद्ध कारीरीषि की
इतिवृत्तिका का ही स्पष्टीकरण हुआ है । कर्मोत्पत्तयता के साथ साथ ऋक्त इष्टिप्रकरण में वृष्टि स सम्बन्ध
रखने वाले आधिदैविक विज्ञान का भी अंशतः विश्लेषण हुआ है । मारुतमसि० यहा से इसका उपक्रम
है । एव अभीष्टा भवति पर अवसान है । उपक्रमवाक्य यह सूचित कर रहा है कि आतरिक्ष्य मरुदेवता
[वायुदेवता] ही वृष्टिक्रम के प्रधान निमित्त हैं । यद्यपि अग्नि सूर्य त्रिद्युत् स्तनयिनु सोम मेघ
आदि सभी निमित्त बनते ह । परंतु इन सब प्राणों का समन्वय एकमात्र गतिधर्मा वायु के सञ्चार पर ही
निर्भर है । अतएव वायु को ही प्रधान निमित्त माना जासकता है । अतएव प्रायज्ञमन्त्र यारयानश्रुति में
वायुवै वृष्ट्या ईशो इत्यादिरूप से वायु को ही वृष्टि का प्रधान प्रवक्तक बतलाया गया है । इसी श्रौत सिद्धांत
के आरम्भ लिखित बचन प्रतिष्ठित हुए हैं—

सूर्यो दक्षिणगोलस्थे तप्तादधेरबुत्थिति ॥
 तत्तोग वायुना क्षिप्त दशे दशे प्रवर्षति ॥१॥
 न सूर्यो न च नक्षत्र न चद्रस्तत्र कारणम् ॥
 वायुनैगोद्भूत तोय आयुरे । प्रवर्षति ॥२॥

—श्रीगुरुप्रणीता कादम्बिनी

दृष्टि है भौतिक द्रयो पर एा मनोयोग है आधिदैविक प्राण देवताओं के साथ यही स प्राण मन्त्रभाग का ताविक निरूप है। कारीरी इष्टि में काला वस्त्र पहिना जाता है जिसके चारो कने गहर काले हाते हैं। यही वस्त्र कृष्णतुष-कृष्ण वास कहलाया है। यह कृष्णवस्त्र धाम-छद्म मेघ कृष्ण जल एा कृष्णमरुत् इत्यादि का प्रतिनिधि माना गया है। यही वृष्टि का स्वरूप है। मेघ इसी रूप म परिणत होकर बरसता है। इसीप्रकार कारीर सौम्यप्राण का सम्राहक है। वातहोम अष्टत्रिंश नाक्षत्रिक सप्त-वायु का सम्राहक है। पार्थिव अग्नि धाम-छद्म है। वसु सत्र धेन वह अमृष्टात्रयव है। आ त रिच्य मरुत् सप्तावयव है सूय्य एकल एव म्थाता। वृष्टक म में तीनों का सहयोग अपेक्षित है।

अतएव कारीरी इष्टि में धामच्छद्म अग्नि मरुत्वान् वायु सार इ तीना के लिए क्रमश अष्टकपाल सप्तकपाल एककपाल पुराडाश का निर्वाप होता है। तीनों देवताओं का उपयोग स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि जलमात्रा ऊपर फकता है आन्तरिच्य मरुत्वान् उसे अपने गभ मे रखता है एव सूय्य रश्मियो से बरसा देते है। अग्निर्वा इतो वृष्टिमूर्त्तोरयति इ यदि से इसी उपयोग का स्पष्टीकरण हुआ है।

ये देवा दिवि भागा (ऐद्रा) येऽ तरिच्यभागा (वायव्या) ये प्रथित्रीभागा (आग्नेया) के अनुसार तीनों ही इस वृष्टियज्ञ [कारीरीष्टि] के स्वरूप स पादक हैं। अवश्य ही तत्तत् प्राणदेवतानुरूप कृष्णवास करीर पुरोडाशादि तत्तत् भौतिक द्रयो के मा यमसे तत्तत्प्राणदेवताओं के द्वारा अभीष्टासिद्धि [वर्षा] होताती है। इम एास्मै लोका प्रीता अभीष्टा भवति एत उपसहार वाक्य से इसी कम्मसिद्धि का समथन हुआ है।

यज्ञप्रक्रियाओं से क्या स भव न्ती? आवश्यकता है रहस्यज्ञानपूर् कि उनके अनुगमग की। प्राकृतिक प्राण देवताओं के प्रकृतिविरुद्ध होजाने से ही अनागृष्टि अतिवृष्टि-जनित दुष्काल जनपद त्रिदु-ध्वसिनी करकापात उल्कापात आग्नेय-वारुण ऐ-त्राय-यादि भूकम्प आाद् विष्ण उपस्थित हुआ करते हैं। मानवसमाज प्राकृतिक विश्व का अवयव है। इसके प्रकृतिविरुद्ध गमन से ही अवयवीरूप प्राकृतिक त्रिश्व के प्राकृतिक विधानों मे अ यवस्था का समावेश स्वत सिद्ध है। इसप्रकार प्रकृतिविरुद्ध आचरण करते हुए हम स्वय ही उक्त वि नो के प्रव कि बनते ह। व मान युग के मान वसमाज की इसी विकृति से आज पदे पदे हमें इन पिन्नों का आक्रमण सहना पड र है। ऋषिप्रदिष्ट चिकि-सामार्ग (यज्ञ) आज के शास्त्रत समाज के लिए जहा उपहास की वस्तु बन रहा है वहा प्रकृति को अविकाधिक सन्तु ध करने

वाले अभक्ष्य भक्षण अगम्यागमन अस्पृश्य स्पृशन देव-द्विज-गुरु शुश्रूषापरियाग स-च्छा-
स्त्रनिदा मलिनीकरण सकरीकरण जातभ्रशकर आदि पातक आतपातक-महापातक निन्द्य
असत्कर्मों में प्रवृत्ति मर्यादो-लघन कपित साम्यवाद की घोषणा सर्पोपरि दुराग्रह आदि
आदि अधर्मपथ ब्राह्म बने हुए हैं। स्मरण रतिए जबतक प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर लिया जायगा
तबतक एक दो चार ढस नहीं सहस्रो आ दोलनो से भी जिनके मूल में घातक व्यक्ति प्रतिष्ठा का मोह
प्रतिष्ठित है-मानव समाज सुस्थिर नहीं बन सकेगा। इस के लिए तो प्राकृतिक विश्व की सुस्थिरता ही प्रधान
साधन होगा। एा इस साधन के लिए प्राकृतिक नियम-सघातलक्षण शाश्वत सनातनधर्म पथ ही
एकमात्र श्रेय पथा माना जायगा। आत मानवसमाज के अ युद्ध के लिए उसी प्रशस्त पथ की
भावना करते हुए बुद्धिगम्याभाषा से सम्बन्ध रखने वाला वृष्टिविज्ञान-प्रकरण उपरत होता है
एा सहजभाषानुगामी प्रकरण का सन्निहित निरूपण उपक्रात होता है।

एक वर्ष में यो तो बसताद ६ ऋतुए [मौसम] मानी गई है परंतु ग्री म वर्षा शीत इन
तीन स्थूल ऋतुओं का तो सांसारिकों को भी बोध है ही। इन्हीं तीनों को लक्ष्य बनाकर कहा जाता है
त्रयो ग्राऽ ऋतव सम्ब-सरस्य [शत ३।४।४।१]। सहजभाषा में ये ही तीनों क्रमशः गर्मी बर
सात सर्दी इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों मौसमों के प्रत्येक के ४ ४ महीने होजाते हैं। इस
और चतुर्मासात्मिका गर्मी है उस और चतुर्मासात्मिका सर्दी है मयमें चतुर्मासात्मिका
बरसात है। बरसात दोनों के मय में है। और ऐसा एक लौकिक याय [यवहार] है कि मयस्थ
पदाथ का इधर-उधर रहने वाले दोनों पार्श्वता पदार्थों से ग्रहण होजाता * है। अतएव कहा जासकता
है कि एक वर्ष में केवल गर्मी एा सर्दी ये ो ही मौसम है। बरसात का ग्रहण इन दोनों के ग्रहण
से ही चरिताथ है।

इसी यवहार के आधार पर पूरे वर्ष में ग्रीष्मकाल शीतकाल ये ो ही मौसम मान लिए जाते
हैं। ग्रीष्मकाल उष्णकाल है इसी का अपभ्रश उह्वात् है। एा शीतकाल का अपभ्रश श्यात्
है। वर्ष में ये दो ही कृषि [फसल] होती हैं। यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है तो हमें इस तय
पर पहुचना पडता है कि प्रस्तुत गर्मी ही सम्पूर्ण वर्ष की मूलप्रतिष्ठा है। कारण स्पष्ट है। पृथिवी
पर रहने वालों के लिए पार्थिवी ऋतुओं को ही प्रधानता दी जायगी। एा अग्निभू स्थान - यथाग्नि
गर्भा पृथिवी इ यदि तन्वों के अनुसार पृथिवी में अग्निताव की ही प्रधानता है। अतएव मानना पडेगा
कि पार्थिव प्रजा से सम्बन्ध रखने वाली ऋतुओं में पार्थिव अग्नि की ही प्रधानता है। अग्नि की ह्रास
वृद्धि से ही पार्थिव २ ३ ५ ६ ७ आदि विभिन्न ऋतुओं की अभिव्यक्ति होती है।

जिसे हम शीत कहते हैं वही विज्ञानभाषा में सोम ताव है। इस सोमताव के भास्वरसोम दिक्
सोम भेद से दो विर्वा माने गए हैं। प्रयत्नदृष्ट आ तरिद्वय चन्द्रमा ही भास्वरसोम है। यही सहृदय
सशरीर-सयम् परिभाषानुसार केन्द्रानुगत पिण्डावच्छिन्न चाद्रभास्वर [योति मय चमकीला] सोम

* तमध्यपतितस्तदग्रहणेन गृह्यते । (लौकिकन्याय)

अवश्य ही सत्यसोम माना जासकता है। विशाल अ तरिद्ध में वायुसमुद्र या त है। स वा पायस्थापन्न वायुसमुद्र में यात नीरूप प्राणामक सोम त व ही दूसरा न्किसोम है। अहययमशरीर ऋतम इस परिभाषा के अनुसार केद्र पिण्डभाय से वञ्चित प्राणामक इस आतरिद्धय दिक्सोम को अवश्यमेव ऋत सोम कहा जासकता है। भास्वरसोम [चद्रमा] जहा अपने सकु द्रपिण्ड-भाय से प्रयच्छ ष है नहा दिक्सोम अपने अकद्र अशरीर भाय से अप्रयच्छ है। स पूण रगोल मं एकरूप से यह ऋतसोम यात है जिसका ओस के पानी से भलीभाति अनुमान लयाया जासकता है।

सूर्यसत्तामक दिन में एा सूर्याभावामका रात्रि में सदासवदा यद्याप आ तरिद्धय ऋतसोम अजस्वरूप स भूपिण्ड की ओर प्र यावित होत रहता है। तथापि पृथिवी में इस की भुक्ति रात्रि में ही होता है। दिन म सौररश्मिगत सोमप्रिय इद्रप्राण इसे अपना अन्न बना लेता है। रात्रि में जो ओस का पानी यत्र तत्र सवत्र उपल ध होता है वह सूर्योदय से पूव पूव ही अपना सत्ता पृथिवी पर ररता है। उदित सूर्य से रश्मिया से अपना गभ बना लेता है। प्रयच्छदृष्ट यह ओस का पानी आ तारद्धय प्राणामक न्किसोम का ही पार्थिव भौतिक जलमिश्रत भौतिकरूप है।

ता पय्य-कहने का यही है। क आ तरिद्धय वायु में ऋतसोममात्रा प्रतिष्ठित रहती है। भूपिण्ड एा सूर्यपिण्ड दोनो से ही आ नमात्रा प्रव यरूप से निकल कर आ तद्धिय वायुधरातल मे उसी ऋतभाव से परि्यास रहती है। आकाश म यदि चद्रमा स यसोमपिण्ड है तो पूवलक्षणानुसार सूर्य स याग्निपिण्ड है। स याग्निमय सूर्यपिण्ड के केद्र स सहस्रधा-महिमान सहस्रम रूप से चारो ओर सब ओर त्रिन सत रश्मियो में से प्रतिक्षण अग्निमात्रा प्रवय्यरूप से निकलती रहती है। वही गर्भा तो सूर्यास्त होजाने पर भी वायु में प्रवाहित होती हुइ हमें उपल ध होती है। यह वाय याग्नि भी पूवलक्षणानुसार ऋताग्नि ही कह लाया है।

क्या आतरिद्धय सयसोमामक चद्रपिण्ड से उसी प्रव य के द्वारा सोममात्रा निकलकर वायु में या त नहीं होती? होती है और अवश्य होती है। चद्रमा से निकल कर आतरिद्ध में या त होने वाली सोममात्रा ही तो पार्थिव-भुक्ति के द्वारा ओषधियों का पोषण करती है। एवमेव सूर्य से निकलकर अ तरिद्ध में व्याप्त रहने वाली अग्निमात्रा ही तो पार्थिवभुक्ति के द्वारा वनस्पतियों का पोषण करती है। क्या आषधियों में अग्निमात्रा एव क्या वनस्पतियो में सोममात्रा नहीं रहती?, रहती है और अवश्य रहती है। दोनो में दोनो की भुक्ति है। केवल स्थिति में तारत य है। अग्निमात्रागर्भिता सोमामात्रा जहा आपधियों का निम्माण करती है वहा सोममात्रागर्भिता अग्निमात्रा से वनस्पतियों का स्वरूप-निम्माण होता है। दूसरे श दो म-ओषधियों मे चान् साम्य प्राण की एव वनस्पतियों मे सौर-आग्ने यप्राण की प्रधानता है। चद्रमा सूर्य दोनो क्रमश स यसोम सत्याग्निपिण्ड है।

स यसोमपिण्डामक चद्रमा से विनिगत वाय य ऋतसोम की सजातीयभावानुबन्ध से सौम्य उत्तराकाश में प्रवानता रहती है एव स याग्निपिण्डामक सूर्य से विनिगत वायय ऋताग्नि की आग्नेय दक्षिणाकाश में प्रधानता रहती है। ऋताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर निरतर जाया करता है तो ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर निरतर आया करता है। दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाले

ऋताग्नि में उत्तर से दक्षिण की ओर ओर आने वाले ऋतसोम की आहुति होना अनिवाय है। इसी आहुति से ऋताग्नि-ऋतसोम के रासायनिक सामिश्रण मक याग-स ब र स अ त र्याम स ब ध से ही उस उभयामक अप्रवृत्तभाव का जम होता है जिसे ऋताग्निसोम के स ब ध से ही ऋतु कहा जाता है।

इसप्रकार यद्यपि ऋतु मे आग्नि-सोम दोनों का ही समन्वय है। तथापि एक विशेष दृष्टिकोण के अनुरोध से हम इसे अग्निप्रधान ही केंगे। सौर प्रवर्थाग्नि से युक्त पार्थिव अग्नि की ही हासवृद्धि होती है। ऋतसोम की हास-वृद्धि अस्वाभाविक है। प्रतिसञ्चर (लय) अवस्था में अग्नि अवश्य ऋतु (सोम) रूप में परिणत होजायगा परंतु यथाकाशगतो निय वायु सवर्गो महान् सिद्धांतानुसार नि याकाशानुगत निय वायय ऋतसोम अपने प्राणरूप से सदा अस्तुत्त ही बना रहेगा। सोम के इसी नि यधम्म को लक्ष्य में रखते हुए वज्ञानिकों इस की हास वृद्धि नहीं मानी है। ऋतु ना येति किञ्चन - ऋते भूमिरय श्रिता इ यादि आथवणसिद्धांतानुसार यापक सयपिण्डाधारभूत ऋतसोम की प्रतीयमाना हास-वृद्धि वस्तुतः पार्थिव ऋताग्नि की ही हास-वृद्धि है। सोम स्वस्वरूप से एकरस ही है। अतएव वस तादि षडऋतुशा के निवचन मे-अग्निक्णा वस ता भ्रात अतिशयन पदार्थान् गृह्णात अशिश्येन उरू अनिकृणा शीर्णा भवति हीनता गता भ्रात पुन पुनरातशयेन शीर्णा भवति इ यादिरूप से आ नकणो का ही उदग्राम-निग्राम (चढा उच्चार) बतलाया जाता है। त वत ऋताग्नि ही उदग्राम से ष -ऋतुरूप में परिणत होता है। सी आधार हर श्र ति का सिद्धा त यवस्थित हुआ है कि- अग्निग्रा या ऋतय - ऋतयो हैते यदेताश्चितय -अनिचितय -(शत ६।२।१।३६)।

प्रकृतमनुसराम। पार्थिव अग्नि भी सौर अग्निवत् सय ऋतु भेद से दो भागों में विभक्त है। भूके द्र स बद्ध पार्थिव वह अङ्गिरोऽग्नि जो नियतपथ से सवथा ऋतुभाव से अश्वो न देववाहन यादि मन्त्रवर्णानुसार अश्वस्वरूप में परिणत होता हुआ द्यलोक की ओर जाया करता है स याग्नि है। इस सत्याग्नि से पार्थिविर्णर्षा का कोई उपकार नहीं होता प्रयुक्त अपकार ही होता है। जाता हुआ यह स याग्नि तो हव्यवाहन है पार्थिव रसमात्राओं को स्वगम में प्रति ठत कर द्यलोकस्थ सावित्रप्राणाग्निमय सौर देवताओं में आहुति देने वाला है पृथिवी के पानी को द्यलोक में बरसाने वाला है। इसी स या न के लिए- अग्निर्वा इतो वृष्टिसुदीरयति इ या द कहा गया है। दूसरा है- ऋतसञ्चरण पार्थिव अग्नि। भूप्रदेश से सवत्र उ मा (गर्मी) निकलती रहती है। वृपादि गर्तों (गड्ढों) में स ऊ मा का प्रयत्न किया जासकता है। इसका कोई नियत पथ नहीं है। अपितु अनियाभतरूप से (ऋतरूप से) यह सब ओर से निकला करती है। ऋतवर्मा उ मा मक यह पार्थिव ऋताग्नि ही आ तरिद्य पानी के आश्रय का कारण बनता है। जबतक यह ऊर्ध्वा चरमसीमा पर नहीं पहुच जातो तबतक पानी नहीं बरस सकता।

भूपिण्ड से स याग्नि के द्वारा द्यलोक में पहुचने वागी जलमात्रा सू-यरर यवाँ छन्न वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहती है। इस आ तरिद्य जलमात्रा में आ तरिद्य ऋतु दिकसोम का समावश होता है। अद्धा का रूपान्तर यह सोम ही उस जलमात्रा का पोषण करता है आ तरिद्य पञ्च वायु पार्थिव ऋताग्नि-लक्षणा ऊ मा से उ पन्न धूमा मक बा प सौर तेजोमय प्रवृक्त योतिर्भाव अ तरिद्युक्त पार्थिव जलमात्रा इन सब (वायु धूम योति सलिल) त गो के सम वय स अ तरिद्य में जो अपूर्ण भौतिक पदाथ

उपन्न होता है वही अभ्र कहलाया है। * अप्—(जल) को अपने गम में रखने के कारण ही धूम-योति—सलिल—मरुता—समवय लक्षण वह अपूर्णभाव अभ्र कहलाया है। अभ्र कजल अभ्र है जलधारण करने वाला मात्र है। इस से वृष्टि नहीं होती। वृष्टि होती है मेघ स।

जलकोशामक बहल अभ्र है एव जलवषक बहल अपने मेहन वम्म स मेव है। जबतक बहल मे अश्मासोमामक वृत्रप्राण के सहयोगी वृष्यवरोधक नमुचि (न मुञ्चति जलम्) प्राण का प्राधाय रहता है तबतक वह बहल अभ्र कहलाता है। यन् परावर्तित सूर्यरश्मिमा सौर इद्रत व के वज्र है। इस दिव्य इद्र क जज्रप्रहार से [रश्मिगत आग्नेयप्राण के समावेश स] तथा पार्थिव ऊष्मा नुगत तासव इद्र क यापार से [पार्थिवी ऊष्मा क समावेश से] जब अवरोधक नमुचिप्राण का प्रथिव धन दूट जाता है तभी वह अभ्र मेघ रूप में परिणत होकर वृष्टि करता है। इसप्रकार द्युलोकस्थ मघवेद्र भूलोकस्थ तासवेद्र के वज्रप्रहार से नमुचि असुर का जब शिर—च्छेद हो जाता है तभी वृष्टि होती है। नि न लिपित मात्र इसी रहस्य का विश्लेषण कर रहा है—

(१)— अपा फनेन नमुचे शिर इद्रोदनीय ।

विश्वा यदजय स्पध ॥”

— ऋक्स० ८ १४।१३।

(१)— ‘ इद्रश्च या नमुचिश्चासुर समदधात्त न ना नक्ता न दिवाहन नार्द्रेण न शुष्केणेति । तस्य युष्टायामनुदित आदि यऽपा फेनेन शिरोऽच्छिनत्’ ॥

— ताण्ड्यमहाब्रा १२।१।८।

पार्थिवी ऊष्मा नीचे स ऊपर जा रही है। ऊपर अतरिक्त में वायुधरातल में अभ्रामक वारिदला (बहल) में जल भरा हुआ है। जब पार्थिव—ऊष्मा वहा पहुँच रही है तो इसके रुमक रुद्धद्रवण—धम्म से अभ्रस्थ जल बरस क्यों नहीं पडता ? यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि यह ठीक है कि पार्थिव अग्नि (ऊष्मा) ऊपर जा रहा है। परंतु साथ साथ ही अतरिक्त्य दिक्सोम प्रथिवी की ओर आ भी तो रहा है। जितनी मात्रा में ऊ मा [गर्भा] ऊप जाती है उतनी ही मात्रा से सोम भी [सर्वा] नीचे आ रहा है। सममात्रा से आने वाले सोम के सम्बन्ध से तामात्रासमकुलित पार्थिव अग्नि का द्रवण—धम्म शा त होजाता है। फलस्वरूप आ तरिक्त्य अभ्र मेघस्वरूप में परिणत नहीं होने पाते अतएव वृष्टि नहीं होती।

आवश्यक यह है कि आते हुए शीतगुणक आतरिक्त्य ऋतसोम के तथा जाते हुए पार्थिव अग्नि में मध्यावरण का समावेश होना चाहिए जो आतरिक्त्य सोमबल को अपने ऊपर अवरुद्ध करदे। उस अवस्था में पार्थिव—ऊष्माबल एक तो सोमावरोध से प्रबल होजायगा दूसरे मयावरणजनित सकोच से ही उसे बल मिलेगा। परिणाम स्वरूप उभयबल के समावेश से अपने चरम उर्ध्व पर पहुँचती हुई यह ऊष्मा अवश्य ही सौर इद्र के सहयोग से अभ्र को मेघरूप में परिणत कर देगी अग्नेराप सिद्धात चरितार्थ हो जायगा फलतः पानी भतल पर बरस पड़ेगा।

* धूम—ज्योति—सलिल—मरुता—सन्निपात क मेघ (अभ्र) ।

—कालिदासो मेघदूते

समाधान सामयिक है। परन्तु उस म यावरण का ज मदाता कौन बने ? प्रश्न का उत्तर एकमात्र पाठको का सुपरिचित पञ्चम वायु ही है। पालन प्रणामक प्र धातु (पालनप्रणयो जु प से) से अत्रा तो सेचनाथरु प्रधु धातु (प्रधु सेचने-भवा प से से पञ्चम श दान पञ्चम हुआ है। पञ्चम उस वर्षक वायुविशेष का नाम है जिस का स्वरूप आ यप्राणामक सौररश्मिगर्भित इन्द्र से सम्पन्न हुआ है। अतएव इन्द्र को भी पञ्चम कहा जा सकता है। पषति-सिञ्जात मेघसञ्चयद्वारा वृष्टि पदाति से मेघसञ्चयक द्वारा जल बरसाने वाला इन्द्रप्राणगर्भित पुरोनात आण्य-वायुविशेष ही पञ्चम है। पानी मेघशब्देऽपि अनदम्बुद-शब्दयो (विश्वकाश)-पञ्चम रसद दे द्रा (अमर) इ यदि कोशवचन भी इसी नि चन का समथन कर रहे हैं। ऋक्सहिता के ५ मण्डलागत दशमत्रामक अञ्जापद सूक्त में पञ्चम के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण हुआ है। वहा बतलाया गया है कि पुराई हवा का चलना वपणानुकूल गजन-तजन वृष्टिपात आधि सभी वृष्टिकम्म इसी पञ्चम पर अवाम्बित हैं। जिस समय अपने गजन-तजन के साथ प जन्मदवता नभोमण्डल म मेघरूप से यात होते हुए वृष्टम सुप्त बनत है उस समय स पूण पाथिव चर-अचर-प्रजावग में एक प्रकार का उलास छाजाता है। देरिए—

यत् पञ्चम कनिक्रदत् स्तनयन् हसि दुष्कृत ।
प्रतीद त्रिश मोदते यत्किञ्च पृथि यामधि ॥

—ऋक्स ५।३।६।

यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति तस्य व्रत शफरज्जभु रीति ।
यस्य वत ओषधीर्विश्वरूपा स न पर्जं य महि शर्म यच्छ ॥

—ऋक्स ५।२।५।

सुप्रसिद्ध २ द्रधनुष की उ पत्ति का प्रवाननिमित्त भी यही पानी यवायु है। वृष्टि से पहिले अथवा तो पीछे आकाश में सप्तवर्णामक धनुष का प्रयत्न किया जाता है। स तवर्ण (रङ्ग) का कारण एकमात्र वे * सूर्यरश्मियाँ ही हैं जिन के प्रतिफलन से वायुगर्भित आपोमय धनुषधरातल स तवर्णामक बन जाता है। धीध्र धरातल से सस्पृष्ट रश्मियो का उसीप्रकार वक्रीभाव होजाती है जैसे कि-पानी में साधी भी प्रविष्ट लकड़ी अन्नगर्भ में वक्रित प्रतीत होने लगती है जिसका त्रिभुजाकर-दपणखण्ड में भी प्रयत्न किया जा सकता है। यही

* जिस सूर्यरश्म्यनुगत सप्तवर्ण विज्ञान परिज्ञान का प्रथम श्रेय भारतीय महर्षियो को मिलना चाहिए था शास्त्रानुशीलन परिचागलक्षण हमारे आलस्य ने यह श्रेय आज सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन को मिल रहा है। कहा जाता है न्यूटन ने ही परीक्षा के द्वारा पहिले पहिल यह प्रमाणित किया कि सौरप्रकाश में अनेक रङ्गों का सम वय है जब कि सप्तवर्णविज्ञान-ऋ वेदीय अहोरात्र विज्ञान मे न्यूटन से लाखों वर्ष पहिले पूर्णरूप से परीक्षित ए प्रमाणित बन चुका था-कालाय तस्मै नम ।

वक्रप्रक्रिया लम्बन नाम से यवहृत हुइ है। ल बन से रश्मिभक्त सातवर्णकत्रसमष्टिरूप श्वेतवर्ण का विशकलन होजाता है एउ के—सात पव होजाते हैं। और यही स तर्णप्रतीति का मूलकारण है। पञ्चय—आय—वायुधरातल इसी रश्मि ल बन से सातवर्णामक इद्रधनुष का जनक बनता है। रश्मिभुक्त प्राण ही इद्र है। इसी सम्बन्ध से य धनुष तन्नाम से यवहृत हुआ है। पञ्चयामक इद्रधनुष त्रुटित—रश्मिभाराामक बनता हुआ आ मविरोधी है। अतएव उद्यत—अस्तयात—आदि सूया की भाति — इद्रधनुषदशन का भी निषेध हुआ है। धनुष के पञ्चयामक इसी ताविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

माया वा मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो योतिश्चरति चित्रमायुधम् ।

तमभ्रण वृष्ट्या गूह्यो दिवि पञ्चयद्रप्सा मधुमत्त ईरते ॥

—ऋक्स ५।६३।४।

वृष्टि से पहिले तो आय वायु प्रवाहित होता है वही पुरोवात वायु पञ्चय है। यही प्रत यभाषा में मा सून कहलाया है। यही पञ्चयवायु—वायुवै वृष्ट्या ईशे के अनुसार जलवषक माना गया है। पञ्चयवायु करता क्या है? इस प्रश्न का उत्तर ह—मेघप्रथी की प्रवृत्ति। वायुप्रणा से विनिगत धूम [बा प] आतरिन्द्य सलिलमात्रा एव रश्मिगत तेजोमात्रा लेकर घनभाव में परिणत होजाता है। ऐसे घन—धूम जबतक त्रिस्तरामक नहीं बन जाते तबतक वृष्टि नहीं होसकती। सब से ऊपर का मेघावरण आतरिन्द्य शीतधर्मा सोमागमन का निरोधक बनता है। मय का स्तर उपरिस्थित स्तर की रक मनी ब ता है। सर्वाध स्तर [अभ्र] जिस में जलमात्रा भरी हुइ ह—पार्थिव उ मा से युत होता हआ पञ्चय की नोदना से बरस पडता है। पञ्चय का सञ्चार होता है—यज्ञाग्नि के द्वारा—यज्ञाद्भवति पञ्चय। पार्थिव अग्निजनित धूम ही तो पञ्चयामक मेघ का जनक बनता है। इसीलिए तो पञ्चय विणुरूप से भी उपस्तुत है। (देखिए महाभारत—१।६५।४४)। यज्ञाग्नि के द्वारा उपन्न इसी पञ्चयविज्ञान को लक्ष्य बना कर अति कहती है—

‘तपोजा’ इति । अग्नेर्धूमो जायते, धूमादभ्र, अभ्राद्वृष्टिः ।
अग्नेर्वा एता जायन्ते । तस्मादाह ‘तपोजा’ इति ॥

—शत० ब्रा ५।३।५।१७।

उक्त पञ्चय विज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ही ब्राह्मण की १८ वी कण्डिका का समन्वय कीजिए। पञ्चय के द्वारा उपन्न मेघस्तरों से सोम का निरोध होजाता है। फलस्वरूप पाथिवी ऊ मा को प्रबुद्ध होने का

—नेत्रतोद्य तमादित्य नास्त यात कदाचन ।
नोपसृष्ट, न वारिस्थ, न मध्यनभसो गतम ॥

अवसर मिल जाता है। श्री म ऋतु निदाघामक प्रवृद्धकानुग्रह से भी पार्थिवानि अपन्नाकृत प्रबल रहता है। आतशयेन उरुभावापन्ना यह ष्मा (उमस) ही ती वर्षा की जननी बनती है। जिसका अर्थ पर परया पजय को ही प्राप्त है। आश्रापय इयाकारक दवप्राण (आनय प्राण) के सम्बन्धरूप आह्वान से पुरोवात (पजय) का प्रादुर्भाव होगया। अस्तुश्रापद् लक्षण दवप्राणसंबन्ध से पजय-यापार के द्वारा धूम-जानत अम्रसरो से आकाश छागया। अब आग चलकर वर्षा से पाहले विद्यत ए। स्तनयिनु य दो धम्म और उ पन्न हाते ह।

पुरोवात के द्वारा आकाश में आग आवित अग्नी के पारस्परिक सघष से ही विद्युत् (योति) और स्तनयिनु (शब्दध्वनि) उत्पन्न होता है। आतने प्रथम गान विद्युत् का रचना है एव द्वितीय स्थान स्तनयिनु का माना है। प्रथम क्रमात् कारण दृश्यात् यत ह है। हमें पहिले-विद्युत् की ही प्रतीति होती है अनतर शब्द वनि सुना पता है। वत स्थानत यह है कि पाहला स्थान स्तनयिनु (वनि) का है ए दूसरा विद्युत् का है। प्रयत्न म लागए। एक रजक सरोवर के इस छोर पर खडा हुआ शिला पर वस्त्र फटकारा है। मन्म क्रिया का सरोवर के उस छोर पर खड हुए साक्षात्कार कर रहे हैं। फटकार के साथ ही वनि का आगर्ण हाता है। यह गान सप्रबन्ध जन पा है। परतु प्रतीति वनि की होती है सघष [फटकार] के कुछ कान पीछे। वायु के सहयोग से सप्तमानत आगन आपार के द्वारा पन्न शब्द-सरोवर प्रदश में आत आयायु-वीचयो [लहो] के आधार पर प्रतिष्ठित होकर ही ओत्रेन्द्रिय पर आता है। यही इसके आगमन-फल का कारण है। जनकणमिश्रित वायु से आग्नमयी शब्द वनि अवरुद्धवीर्या बन जाती है। एवमत्र शुशुब्दी [गोप] छूटने पर पहिले चमक दिखलाइ पडती है अनन्त शब्द सुना जाता है। विद्युत् म गीर्वाण है। शब्द वायुस्तम्भ से म दगति है। अतएव पहिले भी उ पन्न किवा साथ भी उ पन्न विद्युत् तत्काल प्रतीत होजाती है। ठीक यही स्थिति यहा समझिए। दृश्यस्थिति कुछ भी हो वस्तुस्थिति यही है कि पहिले सघष से शब्द [स्तनयिनु] एव अनतर योति [विद्युत्] उ पन्न होती है।

पूर्व में मेघ के तीन स्तर बतगाए गए हैं। यह त्रिन्ध स्थूल मान है। वस्तुत आकाशस्थ सतमरुत्-तरो के कारण मेघ के भी सात ही स्तर हात है। मय-मयस्थ वायुस्तरो के निगमन से ही मेघस्तरों का परस्पर सघष होता है। सभी सघष से विद्युत् उ पन्न होती है इसी सघष से वायु खात् शब्दस्तन् यदि प्रातशापय-शब्दा तानुसार स्तनायनु (शब्द-गञ्जन) उ पन्न होती है। मघस्तरों का उच्चावच जसा आकार होता है तत्सघष से उ पन्न विद्युत् स्तनयिनु की भी तत्सदृश ही उच्चावच आकृतिया होती है। ऊपरस्तरसघष से उ पन्न विद्युत्-तनायनु अर्धोऽवस्थित मेघस्तरावरण से दृष्टि आत का लषय नहीं बनती। उन का अध स्तर-प्रशाम ही विलयन होजाता है। अर्धोऽवस्थित तीन स्तरों के पारस्परिक सघष से उ पन्न विद्युत् और स्तनयिनु का ही प्रयत्न एव श्रवण हुआ करता है। सर्वोपरिस्थ स्तर मयस्थ स्तर पर पडता है सघष होपडता है। इस मयम सघष से उ पन्न विद्युत् और स्तनयिनु की प्राय एकसाय ही प्रतीति हाती है। साथ ही सर्वाध स्थित तृतीय मेघस्तरावरण के कारण तस विद्युत् का स्पृष्ट पर पात भी नहीं होता। यदि सघष आगतिक होगा है तो यह भी गिर पडती है। परतु सर्वाध स्थित मेघस्तर के सघष से जो विद्युत् उ पन्न होती है वह अवरुद्धमेव भूगर्भ में आठहरती है।

सघष स उ पन्न योतिर्भाग सघष के तारत य से उसी प्रकार कभी कभी उन्न उल्का आदि की भी उ पत्ति होजाया करती है जैसे कि आ तरिदय एकोन-पञ्चाशत् (४६) मरुतो के पारस्परिक सघष स उन्न उल्का विषयया तारा ये चार प्रकार के योति पुञ्ज उ पत्ति हत रहते हैं । आगागलविज्ञान के अनुसार जैसे भूगर्भ में पूव पश्चिम उत्तर दक्षिण-स्थान नष्ट आ नेय वाय यदि दिक् प्रतिदिक् से चार मरुत्तिकादि जलस्रोत प्रवाहित रहते हैं एवमेव आकाश में दिक् प्रतिदिक् भेद से तीव्रवग के साथ वायु तर प्रवात ह । कपना कीजिए एक वायुस्तर तीव्र वग से पूव स पश्चिम की ओर जा रहा है तो दूसरा उसी वग से पश्चिम स पूव की ओर । यदि दोनों का आगागमन भाग विभिन्न है तो शांति है । यदि दोनों के प्रा तभागो का भी स्पश होजायगा तो सघष से योति उ पन्न होजायगी । यत्किञ्चित् स पकमात्र स उ पन्न यही सुद्र योति तारा है । यदि सघष में बलाधिक्य है तो योत प्रवृद्ध है । यही सामान्य योति विषयया है । यदि दोनों के प्रा तभाग एक दूसरे से आक्रात [द्व] होजाते हैं तो अतिशयरूपेण प्रवृद्धा गला उ पन्न होजाती है । साथ ही प्रा तभागक्रांति के अनुपात से बड़ी दूर प य त वह प्रकाशपुञ्ज जाता हुआ प्रतीत होता है जिस का आकार पुच्छसम माना गया है । यही उल्का है । यदि दुर्भाग्य से दोनों वायु तरा के भाग अभिन्न होजाते हैं तो दोनों का सर्गमना सघष होपडता है । स से भयानक प्रति वनि के साथ जो योति पुञ्ज पृथक् होकर अपने आयतिक वग स भूपृष्ठ पर आकार ठहरता है वही वज्र कहलाया है । यही अध प्रदशस्थ वायुस्तर मार्गवरोध होने से भूपिण्ड की ओर अनुगत होता हुआ क दरा भूगर्भादि में प्रविष्ट होकर तदवच्छिन्न भूप्रदेश को कपित कर दता है । यही सप्रसिद्ध आ नेय वारुण [आय] ऐ [ग्रह] वायुय चतुर्विध भूकपो में से चौथा वायुय भूकम्प कहलाया है । पुरोजात अध विद्युत् स्तनयिनु वर्षा इस क्रम से वृष्णिक्रम में [जलवषक मेघा में] न पाचो का रहना अनिवाय है । त्रिस्तर ही इस पञ्चावयवात्मिका मेघ सत्ता का कारण है । ऐसा मेघ निश्चयेन कृष्णवण होता है । क्यों कि ऊ व-स्तरो के आवरण से सौर प्रकाश आयतिकरूप स अवरुद्ध होजाता है । इसी कारण पर अति ने कहा है- धामच्छदिध खलु वै भूवा वषति (त स २।४।१ - कृष्णो भवति । एतद्वै वृष्यै रूपम् - (तै स २।१।८) । पारमेष्ठ्य आयप्राण असरामय है आयु वायुय प्राण गधय है । अतएव वर्षाश्रुतु कामभाव की प्रति ठा मानी गइ है । गधवप्राण के सम्बन्ध से सङ्गीत की भी मूलप्रति ठा यही है । वर्षा हि-सव ऋतय के अनुसार यही सवसर की भी प्रति ठा है । भारतीय लोकसगीतों * में भी वर्षा का यही स्वरूप उपवर्णित है जिसका कृष्णपञ्ज विद्युत् स्तनयिनु आदि रूप से अन्तक विश्लेषण हुआ है । यही प्रामाणिक वष्टिविज्ञान है जिसका प्रकृत आश्रावण-प्रयाश्रावण कर्म के साथ निम्नलिखित रूप से सम वय किया जा रहा है ।

*-आयो अब वरषा रुत । (ध्रुव) ।

ओ (उ) त्कट काति नरेस (श) ।

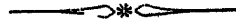
अम्भोधर नग प्रमत्त कामी जन सब हरषत ।

चमकत दामिनी पताक डका भयो अशनी ख ।

कृष्ण वरषा मधुर मेघ गगन भरयो मम तात (आयो०) ।

बतलाया गया है कि अभ्रसमा लावन के अन तर यज — ये यजामहे — याकाराकारता यजना नुगति ए । यजनप्रवृत्तियों से क्रमश विद्युत्—स्तनयिनु उप न होजाती ह । सर्वा त में वौषट् इ याकारक यजनक मार म के साथ साथ ही पानी बरसने लगता है । इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राणविध ऋत्विजो (प्राणदेवताओं) के प च याह या मक पञ्च क मों से वृष्टिकम्म सञ्चालित है । जिस यजमान को वृष्ट प्रपेक्षित हो वह सरया स पत् से समतुलित आश्रावय अस्तु श्रौषट्—यज—ये यजामहे—वाषट इन पाच याहृतियों के प्रयोगकाल में ऋ वजों को क्रमश पुरोवात—अभ्र—विद्युत्—स्तनयिनु—पर्वाकम्म इन पाच अधि विक वृष्टिक मार्वयवो के मानस सक प के लिए प्ररित करे । निश्चयेन इस भावनामात्र से वृष्टि होगी—वषति हैय तत्र—यत्रमृत्त्रिज सविदाना यज्ञेन चरति । और—यज्ञाद्भवति पज य वचन चरिताथ होगा । ब्राह्मण की १८ १६ इन दो कण्डिकाओं मे का यक मलच्छा वृष्टि के द्वारा सन्दि त भाषा में इसी वृष्टिविद्या का दिग्दर्शन कराया गया है ॥ १८ १६ ॥

इति वष्टिविज्ञानम



आश्रावण प्रयागवण कम्म वह मह पूर्ण क र्ति ३ जिससे आधिदैविक—आधिभौतिक—आयामिक तीनों कामनाओं को परिपूर्ण किया जासकता है । स व सरयज्ञमम्पि आधि विकफल है इसके समष्टि यष्टया मक दो विवत्त है । अहारात्र—पक्ष ऋतु अयन सम्प्रसर ये पाच एक स प्रसर की पाच यष्टिया है । स्वय सम्प्रसर और उसकी मूलप्रति ठारूप सप्तदशप्रजापति दोनो समष्टया मक स वसर है । पञ्च याहृतियों से यष्टया मका सम्प्रसर सपत्ति का पञ्चयाहातयो के सत्रह अक्षरो से समष्टया मिका सम्बत्सर सम्पत्ति का सग्रह करते हुए ऋत्विज पञ्च याहृत्या मक आश्रावण—प्रयागवण कम्म स यजमान के मानुषज्ञ को आर्त्विजायक सपत्ति से युक्त कर देते हैं जिसका १६ १७ इन दो कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है । अङ्गभूत नव याहृत्या मक खगत्पापनरुम्म से दैवामा में नव आयामिक प्राणाधान के द्वारा आयामिक सपत्ति का सग्रह कर लिया जाता है जिसका ५ वी कण्डिका म उ लेख हुआ है । शेष रह जाता है—आधिभौतिक इष्ट फल ।

आधिभौतिक इष्ट फल की प्राप्ति का (आकाश) और पृथिवी इन दो त्रिवर्त्तों से होती है । आकाशोपलक्षित पज यज्ञेवता समय पर वृष्टि करत रहीं (निकामे निकामे न पर्वा यो ऋषतु) यही आकाशा मक आधिभौतिक ऊ व पर्व का अनुग्रह है । ब्राह्मण की १८ १६ इन दो कण्डिकाओं में इसी अनुग्रह का स्पष्टीकरण हुआ है । प्रस्तुत २ वी कण्डिका में पृथिवीयुगत आधिभौतिक अघ पव के इष्टफल का दिग्दर्शन कराती हुई ही श्रुति कहती है कि जिसप्रकार ओश्रावय आदि पाच याहृतियों से प्राणदेवता पुगेवातादि के द्वारा वृष्टिकम्म का सञ्चालन कर रहे हैं एवमेव ऋही याहृतियों से (याहृत्या मक देवाह्वान—प्रदान आदान लक्षण यज्ञ से) व विराड्गौरूपधरा पृथिवी का दोहन किया करते है ।

श्री
अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये
प्रथमकारण्डे
त्रिब्राह्मणात्मक-“प्रयाजब्राह्मणम्” १

— * —

[क्रमानुगता पृष्ठसंख्या १४७५]

श्री

विशेष-सूचना—

हमारी शारीरिक-अस्वस्थता के कारण कम्पोजीटरो की असावधानी से आगे पृष्ठसरया के समावेश में भूल होगई है। फलस्वरूप क्रमप्राप्त १४७४ इम पृष्ठ सरया से आगे १४७५ यह क्रम न रहकर ११७ से उपक्रात होकर आगे अग्रसान पर १७६ सरया लग गई है। पाठको को इस क्रम यत्यास का सशोधन करते हुए इस प्रक्रात पञ्चमाध्यायानुगत तृतीय ब्राह्मण, तथा चतुथप्रपाठकानुगत चतुर्थब्राह्मण की ११७ से १७६ की सरया का '१४७५ से १५४२ पर्यं त' इम क्रम से सशोधन कर लेना चाहिए। केवल सरया म हा त्रुट हुई है। विषय आनुपूर्वी से क्रमबद्ध ही है।

त्रिनीत—

सम्पादक



(१)—प्रवृत्तपाठ (अर्थावबोधानुगत)

अथ प्रथमकाण्ड पञ्चमाध्याये तृतीय चतुर्थप्रपाठक च चतुर्थ ब्राह्मणम्
अथ त्रिब्राह्मणामके प्रयाजब्राह्मणे प्रथम ब्राह्मणम्

१—प्रयाजबधु

ऋतवो ह वै प्रयाजा । तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि ऋतव ॥ (१) ॥ द्वाश्च
वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे-एतस्मिन् यज्ञ प्रजापतौ पितरि सम्बत्सरे-
'अस्माकमय भविष्यति, अस्माकमय भविष्यति' इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्त
श्राम्यन्तश्चेरु, त एतान् प्रयाजान् ददृशु, तैरयजन्त । तैर्ऋतून् सम्बत्सर प्राजयन्,
ऋतुभ्य सम्बत्सरात् सपत्नानन्तरायन् तस्मात् प्रजया । प्रजया ' ह वै नामैतत्-
यत् 'प्रयाजा' इति । तथो एवैष एतैर्ऋतून् सम्बत्सर प्रजयति ऋतुभ्य सम्बत्सरात्
सपत्नानन्तरेति, तस्मात् प्रयाजैर्यजते ॥ (३) ॥

ते वा आज्यहविषो भवन्ति । वज्रो वा आज्यम् । एतेन वै देवा वज्रेणाज्येन
ऋतून् सम्बत्सरात् प्रजयति, ऋतुभ्य, सम्बत्सरात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादाज्य-
हविषो भवन्ति ॥ (४) ॥ एतद्वै सम्बत्सरस्य स्व पय -यत् 'आज्यम्' । तत् स्वेनैवैन
मतत् पयसा देवा स्व्यकुर्वत । तथो एवैनमेष एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते । तस्मादाज्य
हविषो भवन्ति ॥ (५) ॥

स यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्, तत् एव नापक्रामिद् । सङ्ग्रामौ वा एष
सन्निधीयते-य प्रयाजैर्यजते । यत्तरो वै सयत्तयो पराजयेत्, अथ वै स क्रामति, अभित
राष्टु वै जयन् क्रामति । तस्मादभितरामभितरामेव क्रामेत्, अभितरामभितरामाहुतीञ्जु हु
यात् ॥ (६) ॥ तद् तथा न कुर्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्-तत् एव

नापक्रामेत् । यत्रो एव समिद्धतम मन्येत-तदाहुतीर्जुह्वयात् । समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धा आहुतय ॥ (७) ॥

—*—

२-उत्तर प्रेष

स आश्राव्य आह-“समिधो यज” इति । तद् वसन्त समिद्ध । स वसन्त समिद्धो अन्यान् ऋतून् समिधे । ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । तद्वेव खलु सर्वान्तून् निराह । अथ “यज, यज” इत्येव उत्तरानाह-अजामितायै । जामि ह कुर्यात्-यत् “तनूनपात यज, इडो यज” इति ब्रूयात् । तस्मात्-‘यज, यज’ इत्येवोत्तरानाह ॥ (८) ॥

—*—

३-प्रयाजब्राह्मणम्

स वै ‘समिधो’ (१) यजति । वसन्तो वै समित् । वसन्तमेव तद्देवा अबृञ्जत, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । वसन्तस्य-एवैष एतद् वृड्क्त वसन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् समिधो यजति । ॥ (६) ॥ अथ ‘तनूनपात’ (२) यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपात्-ग्रीष्मो हि आसा प्रजाना तनूस्तपति । ग्रीष्ममेव तद्देवा अबृञ्जत, ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात्तनूनपात् यजति ॥ (१) ॥ अथ ‘इडो’ (३) यजति । वर्षा वा इड । इति हि वर्षा इड -यदिद् क्षुद्र सरीसृप ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्त भवति-तद् वर्षा ईडितमिवान्मिच्छमान चरति, तस्माद् वर्षा इड । वर्षा एव तद् देवा अबृञ्जत, वर्षाभ्य सपत्नान् अन्तरायन् । वर्षा उ एवैष एतद् वृड्क्त, वर्षाभ्य सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादिडो यजति ॥ (११) ॥ अथ ‘बहिः’ (४) यजति । शरद्वै बहिः । इति हि शरद् बहिः-या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्या नित्यक्ता भवन्ति, ता वर्षा बद्धन्ते; ता शरदि बहिषो रूप प्रस्तीर्णा शरे-तस्मात् शरत् बहिः । शरदमेव तद्देवा अबृञ्जत, शरद् सपत्नान् अन्तरेति । तस्माद् बहियजति ॥ (१२) ॥ अथ ‘स्वाहा-स्वाहा’ (५) इति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकार । अन्त ऋतूना हेमन्त-वसन्ताद्वि पराद्धर्ष ।

अन्तेनैव तदन्त देवा अवृञ्जत, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । अन्तेनो एवैष एतद् अन्त वृङ्क्ते, अ तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् स्वाहा स्वाहेति यजति ॥ (१३) ॥ तद्वा एतद् वसन्त एव हेमन्तात् पुनरसु, एतस्माद्द्वयेषु पुनर्भवति । पुनर्ह वा अस्मिन् लोके भवति, य एवमेतद् वेद ॥ (१४) ॥

स वै 'व्यन्तु, वेतु' इति यजति-अजामितायै । जामि ह कुर्यात्-यद् 'व्यन्तु, व्यन्तु' इति वैव यजेत् 'वेतु, वेतु' इति वा । 'व्यन्तु'-इति वै योषा, 'वेतु'-इति वृषा मिथुनमवैतत् प्रजनन क्रियते । तस्माद्-'व्यन्तु, वेतु' इति यजति ॥ (१५) ॥

अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति बहिषि । प्रजा वै बहिं, रेत आज्यम् । तत् प्रजास्वैवैतद् रेत सिच्यते । तेन रेतसा सिक्तेन इमा प्रजा पुनरभ्यावत्त प्रजायते । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बहिषि ॥ (१६) सड् ग्रामो वा एष सन्निधीयते-य प्रयाजयजते । यतर वै सयत्तयोमित्रमागच्छति, स जयति । तदेतत् उपभृतोऽधि जुहू मित्रमागच्छति, तेन प्रजयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बहिषि ॥ (१७) ॥ यजमान एष जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति-स उपभृतमनु । यजमानायैवैतद् द्विषन्त भ्रातृव्य बलिं हारयति । अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु । अत्र एवैतद् आद्य बलि हारयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाज समानयति ॥ (१८) ॥ स वा अनवमृशन् समानयति । स यद् अवमृशेत यजमान द्विषता भ्रातृयेन अवमृशेत् अत्तारमाद्येन अवमृशेत् । तस्मादनवमृशन् समानयति ॥ (१९) ॥ अथ उत्तरा जुहूमध्यहति । यजमानमेवैतद् द्विषति भ्रातृयेऽध्यहति अत्तारमाद्येऽध्यहति । तस्मादुत्तरा जुहूमध्यहति ॥ (२०) ॥

देवा ह वा ऊचु -हन्त विजितमेवानु सर्व यज्ञ सस्थापयाम, यदि नोऽसुररक्ष-सन्यासजेयु -'सस्थिते एव नो यज्ञ स्यात्' इति ॥ (२१) ॥ त उत्तमे प्रयाज स्वाहा-कारेणैव सर्व यज्ञ समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति तदाग्नेयमाज्यभाग समस्थापयन् । 'स्वाहा सोमम्' इति तत् सौम्यमाज्यभाग समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति-तद्य एष उभयत्रा युत आग्नेय पुरोडाशो भवति-त समस्थापयन् ॥ (२२) ॥ अथ यथादेवतम् । 'स्वाहा देवा आज्यपा' इति-तत् प्रयाजानुयाजान् समस्थापयन् । प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा । "जुषाणा अग्निराज्यस्य वेतु" (तै ब्रा ३।५।६।२) इति तदग्नि

स्विष्टकृत समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत । म एषोऽप्येतहि तथैव यज्ञ सतिष्ठते-
यथैन देवा समस्थापयन् । तस्मादुत्तमे प्रयाज स्वाहा स्वाहेति यजति-यावन्ति हवीषि
भवन्ति । विजितमेवैतत्-अनु सर्व यज्ञ सस्थापयति । तस्माद् यदत् ऊर्ध्वं विलोम यज्ञे
क्रियेत-न तदाद्रियेत 'सस्थितो मे यज्ञ' इत ह विद्यात् । स ह एष यज्ञो यातयामे-
वास-यथा वषट्कृतम्, हुतम्, स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते देवा अकामयन्त-'कथं न्विम
यज्ञ पुनराप्यायथेम, अयातयामानं कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम' इति ॥ (२४) ॥
स यत् जुह्वामाज्य परिशिष्टमासीत्-तेन यज्ञ समस्थापयन्-तेनैव यथापूर्वं हवीष्यभ्य-
धारयन्, पुनरेवैतानि तदाप्यापयन्, अयातयामान्यकुर्वन् । अयातयाम ह्याज्यम् ।
तस्मादुत्तम प्रयाज इष्ट्वा यथापूर्वं हवीष्यभिधारयति, पुनरेवैतानि तदाप्याययति, अया
तयामानि करोति । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्माद् यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति-पुनरेव
तदभिधारयति, स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्याययति, अयातयाम करोति । अथ यदा
स्विष्टकृतेऽवद्यति-न तत् पुनरभिधारयति । नो हि तत् काचन हविषोऽग्नावाहुति द्वोष्यन्
भवति ॥ (२५) ॥

इति पञ्चमा याये तृतीय चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थब्राह्मणम्

(१।५।३)—(१।४।४)

इति-त्रिब्राह्मणा मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथम ब्राह्मणम्

१

अथ प्रमथकाण्ड पञ्चमाध्याये चतुर्थ चतुर्थप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणा मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीय ब्राह्मणम्

—❀—

४-प्रयाजावृत्त (पद्धति)

स व 'समिधो' (१) यजति । प्राणा वै समिध, प्राणानेवैतत् समिधे । प्राणैर्धृय
पुरुष समिद्ध । तस्मादभिमृशेति अयात्-यद्युपतापी स्यात् । स यद्युष्ण स्नात्-रेव
तावत् शसेत्, समिद्धो हि तावद् भवति । यद्यु शीत स्यात्-नाशसेत् । तत् प्राणान्नेन
अस्मिन् एतद् दधाति । तस्मात् समिधो जयति ॥ (१) ॥ अथ 'तनूनपात्' (२)
यजति । रेतो वै तनूनपात् । रेत एवैतत् सिञ्चति । तस्मात् तनूनपात् यजति ॥ (२) ॥
अथ 'इडो' (३) यजति । प्रजा वा इड । यदा वै रेत सिक्तं प्रजायते-अथ तत्

ईडितमिव अन्न इच्छमान चरति तत् प्रैव एतत् जनयति—तस्मादिडो यजति ॥ (३) ॥
 अथ 'बाह' (५) यजति । भूमा वै बहि । भूमानमेतैत् प्रजनयात् । तस्माद् बहिर्यजति
 ॥ (४) ॥ अथ 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति । हेमन्तो वा ऋतूना स्वाहाकार ।
 हेमन्तो होमा प्रजा स्य वशमुपनयते । तस्माद्ध मन् म्लायत्योषधय , प्र वनस्पतीना
 पलाशानि मुच्यते, प्रतितरामिव वयासि भवति, अधस्तरामिव वयासि पतति । विप-
 तितलोमेव पाप पुरुषो भवति—हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते । स्वी ह वै तमद्ध
 कुरुते श्रियेऽन्नाद्याय—यस्मिन्नद्धे भवति—य एवमेतद्वेद ॥ (५) ॥

५—प्रयाजानुमंत्रणम्

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ते दण्डैर्धनुभिर्न व्यजयत । ते
 ह अविजयमाना ऊचु -'हन्त वाच्येव ब्रह्मन् विजिगीषामहै, स यो नो वाच व्याहृता
 मिथुनेन न अनुनिक्रामात्—स सर्व पराजयातै, अथ सर्वमितरे जयान्' इति । 'तथा'
 इति देवा अब्रुवन् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन् 'व्याहर' इति ॥ (६) ॥ स इन्द्रोऽब्रवीत्—
 'एको मम' इति । अथ 'अस्माकमेका' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनेन अविन्दन् ।
 मिथुनं हि—एकश्च, एका च ॥ (७) ॥ 'द्वौ मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक
 द्वे' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन् । मिथुन हि—द्वौ च, द्वे च ॥ (८) ॥
 'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक तिस्र' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मि-
 थुनमेवाविन्दन् । मिथुन हि—त्रयश्च, तिस्रश्च ॥ (९) ॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽब्र-
 वीत् । अथ 'अस्माक चतस्र' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुन
 हि—चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥ (१०) ॥ 'पञ्च मम' इतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुन
 नाविन्दन् । नो ह्यत ऊर्ध्व मिथुनमस्ति । पञ्च पञ्च—इति ह्येवैतदुभय भवति ।
 ततोऽसुरा सर्व पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन् , सर्वस्मात् समत्नानसुरान्
 निरभजन् ॥ (११) ॥

तस्मात् प्रथमे प्रयाजे इष्टे ब्रूयात्—'एको मम' इति । 'एका तस्य, यमह द्वेष्मि'
 इति । यद्युन द्विष्यात्—'योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म—इति ब्रूयात् ॥ (१२) ॥ 'द्वौ
 मम' इति द्वितीये प्रयाजे—'द्वे तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म' इति ॥ (१३) ॥

‘त्रयो मम’ इति तृतीये प्रयाजे—‘तिस्रस्तस्य—योऽस्मान् द्वष्टि, य च वय द्विष्म’ इति ॥(१४)॥ चत्वारो मम’ इति चतुर्थे प्रयाजे ‘चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वष्टि, य च वय द्विष्म’ इति ॥ १५)॥ ‘पञ्च मम’ इति पञ्चमे प्रयाजे ‘न तस्य किञ्चन-योऽस्मान् द्वष्टि, य च वय द्विष्म’ इति । स पञ्च पञ्चेत्येव भवन् पराभवति । तथास्य सव सवृड क्ते-सर्वस्मात् सपत्नान् निर्भजति—य एवमेतद्वेदे ॥(१६)॥

इति पञ्चमाध्याये चतुर्थे चतुर्थप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

—(१।५।४)—(१।५।४)—

(पञ्चमाध्यायश्च समाप्त)

इति—त्रिब्राह्मणामके प्रयाजब्राह्मणे तृतीय ब्राह्मणम्

—१—

अथ प्रथमकारण्डे षष्ठाध्याये प्रथमे चतुर्थप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणामके प्रयाजब्राह्मणे तृतीय ब्राह्मणम्

(षष्ठाध्याय प्रारम्भ)

६—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे—आ नो यज्ञ भजत, मा नो यज्ञादन्तर्गत, अस्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग—इति ॥(१)॥ तद्वै देवा न जह्यु । त ऋतवो देवेष्वजानन्तु असुरानुपावर्तन्त—अप्रियान् देवाना द्विषतो भ्रातृयान् ॥(२)॥ ते हैतामेधतुमेधाश्चक्रिरे यामेषामेतामनुभृएवन्ति । कृषन्ती ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति, लुण्ठन्तोऽपरे मृणन्त, शश्वद्भ्योऽकृष्टपचया एवौषधय पेचिरे ॥ (३) ॥ तद्वै देवानामाग आस । ‘कर्नाय इन्वतो द्विषन्, द्विषतेऽरातीयति किम् एतावन्मात्रमुपजानीत—यथेदमितोऽन्यथाऽसदिति ॥ (४) ॥ ते होचु—‘ऋतूनेवानुमन्त्रयामहै’—इति । ‘केन’ इति । ‘प्रथमानवैनान् यज्ञे यजाम’ इति ॥ (५) ॥ स हाग्निरुवाच—‘अथ यन्मा पुरा प्रथमं यजथ, क्वार्ह भवानि’ इति । ‘न त्वमायतनात् च्यावयाम’ इति । ते यदतूनभिह्वयमाना अथाग्निमा यतनात्—नायाययन्, तस्मादग्निरच्युत । न ह वा आयतनाच्च्यवते यस्मिन्नायतने भवति य एवमेतमग्निमच्युत वेदे ॥ (६) ॥ ते देवा अग्निमब्रुवन्—‘परेहि एनास्त्व मेवानुमन्त्रयस्व’ इति । स हेत्याग्निरुवाच—‘ऋतव ! अविद वै वो देवेषु यज्ञे भाग’ मिति । ‘कथ नोऽविद’ इति । ‘प्रथमानेव वो यज्ञे यच्यन्ति’ इति ॥ (७) ॥ त ऋतवोऽग्निमब्रुवन्—‘आ वय त्वामस्मासु भजाम—यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद’

इति । स एषोऽग्निर्ऋतुष्वाभक्त —“समिधोऽग्ने” —“तनूनपादग्ने” —“इडोऽग्ने” —
“बर्हिर्ग्ने” —“स्वाहाग्निम्” (तै० ब्रा ३।५।५) इति । आभक्तो ह वै तस्या पुण्य-
कृत्याया भवति, यामस्य समानो ब्रुवाण करोति, अग्निमते ह वा अस्मा अग्निमन्त
ऋतव ओषधी पच तीद सर्वम्—य एव मेतमाग्नमृतुष्वाभक्त वेद ॥ (८) ॥

तदाहु ‘यद् उत्तमान् प्रयाजा नावाहयन्ति—अथ कस्मादेनान् प्रथमान् यजन्ति’
इति । उत्तमान् ह्येनान् यज्ञं स्वाकल्पयन्—प्रथमान् वो यजाम—इत्यब्रुवन् । तस्मादुत्त
मानावाहयन्ति, प्रथमान यजति’ ॥ (९) ॥

चतुर्थेन वै प्रयाजन देवा यज्ञमाप्नुयन्, त पञ्चमेन समस्थापयन् । अथ
यदूर्ध्वमसस्थित यज्ञस्य—स्वर्गमेव तेन लोक समाश्नुवत ॥ (१३) ॥ ते स्वर्ग लोक
यन्तोऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयाञ्चक्रु । ते ऽग्नि पुरस्तादकुर्वत—रक्षोहण रक्षसा
मपहन्तारम् । अग्निं मध्यतोऽकुवत रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं पश्चादकुर्वत—
रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् ॥ (११) ॥ स यद्येनान् पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसड्क्षन्—
अग्निरेव तान्यपाहन—रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसड्क्षन्—अग्निरेव
तान्यपाहन—रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । अत एव सर्वातोऽग्निभिर्गुप्यमाना स्वर्ग लोक
समाश्नुवत ॥ (१२) ॥ तथो एष एतच्चतुर्थेन प्रयाजेन यज्ञमाप्नोति, त पञ्चमेन
समस्थापयति । अथ यदत् ऊर्ध्वमसस्थित यज्ञस्य—स्वर्गमेव तेन लोक समाश्नुते ॥ (१३) ॥
स यदाग्नेयमाज्यभाग यजति—अग्निमेतत् पुरस्तात् कुरुते रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् ।
अथ यदाग्नेयः पुराडाशो भवति—अग्निमेतन्मध्यत कुरुते—रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् ।
अथ यदग्निं स्विष्टकृत यजति—अग्निमेतत् पश्चात् कुरुते—रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् ।
॥ (१४) ॥ स यद्येन पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसड्क्षन्ति—अग्निरेव तान्यपहन्ति—
रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि मध्यत आसिसड्क्षन्ति अग्निरेव तान्यपहन्ति—रक्षोहा
रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसड्क्षन्ति—अग्निरेव तान्यपहन्ति—रक्षोहा रक्षसाम
पहन्ता । स एव सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमान स्वर्ग लोक समाश्नुते ॥ (१५) ॥

७—अभिचार

स यद्येन पुरस्ताद् यज्ञस्य अनुव्याहरेत्—त प्रति ब्रूयात्—‘मुख्यामार्त्तिमारिष्यति—
अधो वा, बधिरो वा भविष्यसि’ इति । एता नै मुख्या आर्त्तयः । तथा हैव स्यात्
॥ (१६) ॥ यदि मध्यतो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्—त प्रति ब्रूयात्—‘अप्रजा, अपशुर्म-

विष्यसि' इति । प्रजा नै पशवो मध्यम् । तथा हैव स्यात् ॥ (१७) ॥ यद्यन्ततो यज्ञस्य अनुव्याहरेत-त प्रति ब्रूयात्-अप्रतिष्ठितो दरिद्र क्षिप्रऽमु लोकमेष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् । तस्माद् ह नानुव्याहारीव स्यात् । उत ह्य वित्परो भवति ॥ (१८) ॥

८-फलश्रुति

सम्बत्सर ह नै प्रयाजैर्नयन जयति । स ह वेनैन जयति-योऽस्य द्वाराणि वेद । क्व हि स तैर्गृहै कुर्यात्-यानन्तरतो न यवविद्यात-यथा यथास्य ते भवति । तस्य वसन्त एव द्वार, हेमन्तो द्वारम् । त वा एत सम्बत्सर स्वर्ग लोक प्रपद्यते । सर्वा नै सम्बत्सर, सर्वा वा अक्षय्यम् । एतेनो हास्याक्षय्य सुकृत भवति, अक्षय्यो लोक ॥ (१६) ॥

९-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

तदाहु — 'किं देवत्या याज्यानि' इति । 'प्राजापत्यानि' इति ह ब्रूयात् । अनिरुक्तो नै प्रजापति अनिरुक्तान्याज्यानि । तानि हैतानि यजमानदेवत्यायेव । यजमानो ह्यव स्वे यज्ञे प्रजापति -एतेन ह्युक्ता ऋत्विजस्तन्ते, त जनयति ॥ (२०) ॥ स आज्यस्य उपस्तीर्य, द्विर्हविषोऽवदाय, अथोपरिष्ठात्-आज्यस्य अभिधारयति । सैषा आज्येन मिश्राहुतिहूयते । यजमानेन हैषैतन्मिश्रा हूयते । यदि ह वा अपि दूरे सन यजते, यद्यन्तिके-यथा हैवा ते सत इष्ट स्यात्, एत हैनै विदुष इष्ट भवति । यद्यु हापि बह्विव पाप करोति-नो हैव बहिर्द्वा यज्ञाद्भवति य एवमेतद्ब ॥ (२१) ॥

इति षष्ठाध्याय प्रथम चतुर्थप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

—(१।६।१।)—(१।४।६।)—

(चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्त)

इति त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीय ब्राह्मणम्

—३—

समाप्तञ्चेद् त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मणम्

इति-प्रवृत्तपाठ

ॐः

—(२)अथमत्र-मूलानुवादे प्रासङ्गिकसग्रह —

प्रस्तुत प्रयाज कर्म का ब्राह्मणग्रन्थ के तीन ब्राह्मणों में सोपपत्तिक मिरूपण हुआ है । अतएव समानप्रकरणानुबन्ध से हमने तीन ब्राह्मणों का एकत्र समाहित रूप से समावेश करना

आवश्यक माना है । तीनों ब्राह्मणों में प्रयाज-कर्म का ही विश्लेषण हुआ है अतएव तीनों की समष्टि को एक ब्राह्मण मानते हुए हमने इसे—'प्रयाजब्राह्मण' इस एक नाम से व्यवहृत करना अवर्थ मान लिया है ।

त्रिब्राह्मणामक प्रयाजब्राह्मण क प्रथम द्वितीय तृतीय ब्राह्मणों म क्रमश ३ २ ४ इतने अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है । तीनों ब्राह्मणों की कण्डिका सख्या क्रमश (१)—२५ ()—१६ (३)— १ है । सम्भूय त्रिब्राह्मणामक इस प्रयाज ब्राह्मण में ६ अवान्तर प्रकरण तथा ६२ कण्डिका हो जाती है । इस प्रासङ्गिक समग्र को लक्ष्य मे रखते हुए ही प्रस्तुत मूलानुवाण का सम वय करना चाहिये ।

१	(१)-१-प्रयाजबन्धु	१ क	५ क । (५ क)	-त्रिप्रकरणामक २५ कण्डिकामक प्रथम प्रयाजब्राह्मणम् १
	(२)-२ उत्तरप्रष	६ क	८ क । (३ क)	
	(३) ३-प्रयाजब्राह्मणम्	६ क	२५ क । (१७ क)	
❖				
२	(१)-४-प्रयाजावृत्	१ क	५ क । (५ क)	-द्विप्रकरणामक १६ कण्डिकामक द्वितीय प्रयाजब्राह्मणम् २
	(२)-५ प्रयानुमन्त्रणम्	६ क	१६ क । (११ क)	
❖				
३	(१) -६-प्रयानानामिष्टौ प्राथम्यम्	१ क	१५ क । (१५ क)	-चतु प्रकरणामक २१ कण्डिका मक तृतीय प्रयाजब्राह्मणम् ३
	(२)-७ अभिचार	१६ क	१८ क । (३ क)	
	(३) ८ फलश्रुति	१६ क ।	(१ क)	
	(४)-९ परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श	२ क	२१ क । (२क)	
❖				
त्रिब्राह्मणामक ६ अवान्तरप्रकरणामक ६२ कण्डिकामक प्रयाजब्राह्मणम्				

(३)—मूलानुवाद —

- (१)—पाँचवें अध्याय में तीसरा (३) चौथे प्रपाठक में चौथा (४) (१।१।३)-(१।४।४)—
 (२)—पाँचवें अध्याय में चौथा (४) चौथे प्रपाठक में पाचवा(५)-(१।१।४)-(१।४।५)—
 (३)—छठे अध्याय में पहिला (१) चौथे प्रपाठक में छठा (६) (१।६।१) (१।४।६)—

तीन ब्राह्मणों की समष्टिरूप—“प्रयाजब्राह्मण”

(प्रथमकाण्डानुगत क्रम से २२ २३ २४ व ब्राह्मण)

— ❁ —

प्रथमकाण्ड म पाचव अध्याय में तीसरा चौथे प्रपाठक म चौथा ब्राह्मण
 (१-५-३)—(१-४-४)

(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त प्रथम ब्राह्मण)

१—प्रयाजबधु (प्रयाजों की मौलिक उपपत्ति)

पूव के सृगादापनब्राह्मण में सृगादापन-निगदमन्त्र के पाठानन्तर जिस आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्म की उपपत्ति बतलाई गई है उसका पञ्चप्रयाज यज्ञ से सम्बन्ध है। आश्रावणकर्म से पहिले पञ्चप्रयाज नामक कर्मविशेष विहित है जैसाकि सूत्रानुगत पद्धतिप्रकरण स्पष्ट किया जाने वाला है। ओ श्रावण इत्यादि याहृतियों के पारस्परिक सम्प्रदानपूयक विहित-पञ्चधा विभक्त आभ्याहुतकर्म ही पञ्चप्रयाज कर्म है। आ प्र कर्मेतिकर्तयता बतलाते हुए पूवब्राह्मणान्तर्गत सूत्रानुगत पद्धतिसग्रह-परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया था कि हातृक्त्व 'अग्निर्होता वेत्स्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि नव-याहृत्यात्मक सृगादापननिगदपाठ के अवसर पर हात के मुख से जिस समय-घृतवती मध्वर्यो सृचमास्यस्व इस चौथी व्याहृति का उच्चारण होता है उसके घृतवतीम् पदोच्चारण के साथ साथ ही अध्वयु जुहु उपभृत् का ग्रहण कर लेता है सृगादापन-कर्म समाप्त्यनन्तर अध्वयु आग्नीध्र के प्रति ओ श्रावण व्याहृति का आधीध अध्वयु के प्रति अस्तुश्रौषट् व्याहृति का अध्वयु होता के प्रति यज व्याहृति का एवं होता अध्वयु के प्रति ये यजामहे व्याहृति का उच्चारण करता है। सर्वा त में होता के मुख से वीषट इस पाँचवी व्याहृति का उच्चारण होते ही अध्वयु जुहु-स्थित आज्यभाग का समिद्ध आहवनी-आग्नि में आहुति दे देता है यहा आ० प्र कर्म है (देखिये पृ स १८८ सृगादापन ब्राह्मण-वस्तुत आ प्र कर्म का तापर्य्य है पञ्च-याहृतियों का पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक उच्चारण करना। आहुति देना तो प्रयाजकर्म है जो इही पाँच व्याहृतियों के पञ्चावर्तान से पाँच बार होता है जिसकी सोमपत्तिक इतिकर्तयता प्रकृत के त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। पूर्वब्राह्मण म वस्तुत सृगादापनकर्म की ही सोपपत्तिक इतिकर्तयता का निरूपण हुआ है। अतएव वह ब्राह्मणभाष्य इसी नाम से (सृगादापनब्राह्मण नाम से) ही व्यवहृत किया गया है।

क्योंकि इस कम्म का घृतवतीम् इत्यादि चोथी याहृति के साथ ही ओश्रावय इत्यादि लक्षण याहृतिरूप (पञ्चप्रयाज कम्म का) उपक्रम हो जाता है अतएव वहीं श्रात ने इस पञ्च-याहृति से सम्बन्ध रखने वाला उपपत्ति का स्पष्टीकरण कर दिया है। तत्त्वत आ प्र कर्म्मो-पपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले स्रुगादापनब्राह्मण म प्रतिपादित वह प्रकरण प्रकृत के प्रयाजब्राह्मण से ही सम्बन्ध रखता है। और इस दृष्टिकाण से यह कहा जा सकता है कि पूर्वब्राह्मण की-अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम् -१-५-२-१ इस प्रथम कण्डिका से आरम्भ करता वा एता नव-याहृतयो भवन्ति १-५-२-५ इस पाचवीं कण्डिका पर्यन्त पञ्चकण्डिकामक ब्राह्मणभाग ही वस्तुतः स्रुगादापनब्राह्मण है। आगे की यज्ञोद्देवेश्योऽपचक्राम १-५-२-६ इस ६ठी कण्डिका से ही प्रयाजब्राह्मण आरम्भ हो जाता है। यहा से ६ठी कण्डिका से आरम्भ कर त्रिब्राह्मणामक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण के तृतीय ब्राह्मण की स आश्रयस्थापस्तीय १ ६ १ २१ इस इक्कीसवीं कण्डिका पर्यन्त सम्पूर्ण ब्राह्मण भाग प्रयाजब्राह्मण है। प्रयाजकम्म जिन ओश्रावय इत्यादि आश्रावण-प्रयाश्रावणामिका याहृतियों से सम्पन्न होता है उन याहृतियों से सम्बन्ध रखने वाले पारस्परिक सम्प्रदान की याहृतियों की पञ्च सरया की सप्तदश अक्षरों की कान्य फलों की उपपत्तिमात्र पूर्वब्राह्मण म प्रतिपादित हुई है। अब प्रकृत प्रकरण में ओश्रावय आदि से सम्पन्न होने वाले प्रयाजकम्म का ही उपपत्ति बतलाई जाती है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण-प्रयाजब धु नाम से यवहृत हुआ है। इसी प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य म रखते हुए अक्षराथ का समन्वय करना चाहिए।

(स्रुगादापन कर्म्मनिन्तर-ओश्रावय इत्यादि याहृतियों के द्वारा आवापकम्म से पहिले पाँच प्रयाज होते हैं। प्रयाज पाँच क्यों होते हैं? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करदी हुई श्रुति कहता है)—(ये पाच) प्रयाज निश्चय से (पाच) ऋतुएँ हैं (अर्थात् पञ्चप्रयाज पाच ऋतुओं के प्रतीक हैं)। इसीलिये (यहाँ) पाँच प्रयाज होते हैं (किये जाते हैं)। निश्चयेन ऋतुएँ पाच हैं। तापय्य यही हुआ कि प्रयाजकम्म ऋतुकम्म है। ऋतुएँ क्योंकि पाँच हैं अतएव तद्रूप प्रयाजों का पाच हाना स्वाभाविक ही है ॥ ॥ (दूसरा प्रश्न प्रयाज कम्म के सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि प्रकृत इष्टिकम्म म ऋतुलक्षण प्रयाजों का यजन किया ही क्यों जाता है? इसी प्रश्न का एक वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(एक ही प्रजापति की सन्तान होने से) प्राजापत्य (नाम से प्रसिद्ध) देव (देवदेवता) और असुर (असुरदेवता) दोनों (ही) अपना प्रजापतिरूप यज्ञात्मक सत्त्व को लक्ष्य बना कर (निमित्त बना कर)— यह हमारा ही होगा यह हमारा ही होगा इस प्रकार स्पर्द्धा करने लगे। (तात्पर्य सम्बन्धित प्रजापतिरूप यज्ञसम्पत् के लिए दोनों में प्रतिस्पर्द्धा चलने लगी दोनों इस पर अपना स्वत्त्व प्रतिष्ठित करने के लिए परस्पर भगाडने लगे) ॥ (२) ॥ (अतिमानी असुरों ने स्पर्द्धा तो अवश्य की प्राजापत्य यज्ञसम्पत्ति के भोग की तो कामना अवश्य की परन्तु जिस प्राण-वाग्-यापारलक्षण अर्चन-तप-श्रम से वह कामना सफल हुआ करती है उसका अनुगमन उन्होंने नहीं किया। उधर) देवों ने (अपनी स्वाभाविक कम्म-प्रवणता से) अर्चन (लक्षण तपोरूप

प्राणव्यापार अतर्थापार एव) श्रम (लक्षण वाग-यापार-बहिर्-यापार तत्त्वत आमबल एव शरीरबल) का अनुगमन करते हुए (यज्ञसम्पत् प्राप्त के उपाय का अ-वेषण करते हुए) विचरने लगे। (कालांतर में इस अचन श्रम के फलस्वरूप) उन्होंने (देवदेवताओं न) (यज्ञसम्पत्-जयसाधनभूत) इन (आगे बतलाए जाने वाले) प्रयाजों को देख लिया (प्राप्त कर लिया)। इन (प्राप्त प्रयाजों) से (देवदेवताओं न सम्ब-सरयज्ञप्रजापति का) यजन किया (यज्ञ के साथ प्रयाज कर्म का सम्बन्ध करा दिया) इन (पाँच प्रयाजों) से (देवदेवताओं न सम्ब-सरावयवभूत पाँच ऋतुओं को (एव पाँच ऋतुओं के द्वारा ही पञ्चत्तुसमष्टिरूप) स-व-सर को जीत लिया। (इस प्रयाजकर्मबल से ही) देवदेवताओं न (सम्ब-सर के अवयवभूत पाँचों) ऋतुपर्वों से (एव समष्ट्यात्मक) सम्ब-सर (रूप यज्ञमण्डल) से (क्योंकि अपने सहज) शत्रुओं (असुरों) को निकाल बाहर किया अतएव (असुरपराजयपूर्वक स्वजयलाभ के कारण ही) ये (पाँच कर्म) प्रजय (जयप्राप्ति के साधन) कहलाए। यह प्रजया ही नाम (परोक्षप्रियदेवताओं की परोक्षभाषा म यज्ञसम्प्रदाय में) प्रयाजा नाम से प्रसिद्ध हुआ। (ता पर्य्य आख्यायन का यही हुआ कि देवता और असुर दोनों सम्ब-सरयज्ञ-सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते थे। देवताओं ने देखा कि बिना अवयवसम्पत्ति की प्राप्ति के अवयवी-सम्पत्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। फलस्वरूप उन्होंने पहिले अवयव स्वरूपा ऋतुसम्पत्ति प्राप्त की। इसी के बल से आगे जाकर सम्पूर्ण सम्बत्सर पर उनका अधिकार होगया। इस प्रकार ऋतुयजन ही देवताओं का जय का कारण बना। अतएव ऋतुकर्म अवश्य ही प्रजय कहा जासकता है। प्रजयरूप ऋतुकर्म ही परोक्षभाषा में प्रयाज कहलाया। (वैधयज्ञ में प्रवृत्त यजमान के लिए भी यह आवश्यक है कि वह भी उसी प्राकृतिक नियमानुसार पहिले अवयवसम्पत्ति ही प्राप्त करे। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है) उसी प्रकार (जैसे प्राकृतिक प्राणलक्षण देवदेवताओं न किया था) यह यजमान (भी अपने इन) पाँच प्रयाजों से (यज्ञातिशयलक्षण देवामा के लिए) ऋतुओं को एव (ऋतुद्वारा ऋतुसमष्टिरूप) सम्ब-सर को अपने अधिकार में करता है (इस प्राप्ताधिकार बल पर) ऋतुओं और सम्बत्सर से अपने शत्रुओं को बाहर निकाल देता है। इसीलिए (ऋतुसम्पत्तिपूर्वक सम्बत्सरसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही) यह प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है (प्रयाज कर्म करता है)। प्रयाज कर्म क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का यही ब-धु (तात्पर्य्य-उपपत्ति-समाधान) है।

(आवाप-प्रधान-देवता के लिए जहाँ पुरोडाशाहुति विहित है वहाँ ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के लिए आ-यहवि-घताहुति-विहित है। प्रयाजों के लिए आ-यहवि क्यों होती है (इसी प्रासङ्गिक प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से श्रुति कहती है)-वे (पाँचों प्रयाज) निश्चय आ-यहवि वाले होते हैं (पाँचों के लिए घताहुति का विधान हुआ है। कारण इसका यही है कि) (यह) आ-यहवि निश्चयेन बध्न (शत्रुनाशक अमोघ शास्त्र) है। आ-यहवि इसी बध्न से निश्चयेन देवदेवताओं न (असुरों का सहार करते हुए) पाँचों ऋतुओं (एवं तद्द्वारा) सम्बत्सर को जीत लिया (था) (इसी जयलाभ के बल पर उन्होंने) ऋतुओं और सम्ब-सर से शत्रुओं को निकाल बाहर किया (था)। इसी प्रकार (प्राकृतिक

यज्ञवत) यह यजमान (भी) आख्यरूप इसी ब्रज से ऋतु और सम्ब सर जीत लेता है (लेगा) ऋतु और सम्ब सर से शत्रुओं को निकाल देता है (देगा)। (क्योंकि आख्य शत्रुविनाशक वज्र है वही कम्म शत्रुनाशपूर्वक जयलाभ—ही यद्वा अभी सत है।) अतएव (ये प्रयाज) आख्यहवि-वाले हाते हैं। (प्रयाजों के लिए क्यो आयाहुत होती है? प्रश्न की यही उपपत्ति है) ॥ ४ ॥ (आख्यहवि का एक कारण तो शत्रुपराभव है। अब एक दूसरा कारण और बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह जो आख्य है वह निश्चयन सम्ब सरयज्ञ का अपना रस सार भाग है (प्रातिस्विक रेत-बल है)। (प्रयाजों के लिए आतरिच्य आयतत्त्व की आहुति देते हुए) देव-देवताओं उन सम्ब सर प्रजापति को अपने आपक सारभाग से ही युक्त बनाया। तथैव (आख्यहवि करता हुआ) यह यजमान (भी) सम्ब सर के अपने सारभाग से ही उसे अपनाता है। इसलिए (भी ये) प्रयाज आ यहवि वाले होते हैं। ता पर्यं शत्रुविनाश पहिला फल है सम्ब सर को अपने ही सार भाग से युक्त कर उसे समृद्ध करना तद्द्वारा स्वयज्ञ को समृद्ध करना आख्यहविष्करण का द्वितीय फल है। यही प्रयाजानुगता आ यहवि का बहु उपपत्ति—है) ॥५॥

(प्रयाजकम्म आश्रावणपूर्वक आरम्भ होता है यह कहा जा चुका है। इस सम्ब ध में यह नियम है कि जिस यज्ञभूमिप्रदेश पर खडा हुआ अ वयु आग्नीध्र के प्रति—प्रयाजकम्म के लिए ओ श्रावण इस याहुति का उच्चारण करता है वहाँ से पीछे नहीं हटना चाहिए। ऐसा आदेश क्यो दिया गया? इसी प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से आदेश—विश्लेषण पूर्वक श्रुति कहती है)—वह अ ययु जिस (नियत) प्रदेश में ही खडा ह कर प्रयाजों के लिए आश्रावण करे उस प्रदेश से पीछे न हटे। (कारण यही है कि) जो अध्वयु प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करना है वह (यजमान के शत्रुओं के साथ) युद्ध ही ठानता है। दो याद्धाओं में से जो याद्धा पराजित हो जाता है वह निश्चयेन मैदान छोड़ भागता है। दूसरा जीतने वाला योद्धा आगे बढ़ता जाता है। (प्रयाजकम्म सग्रामकम्म है अध्वयु योद्धा को जयलाभ करना है। आगे बढ़ना ही जय का सूचक है) अतएव (अध्वयु को चाहिए कि) वह आगे आगे ही बढे आगे आगे ही आहुति प्रदान करे। (प्रयाजकम्म से सम्ब ध रखने वाले अपक्रमणनिषेध अभि-क्रमण विधान का यही बहु है। एव यही प्रयाजकम्म का बहु—उपपत्ति—है जिसका ६ कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है) ॥ ६ ॥ (परम वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पीछे न हटना तो ठीक है। परतु आहुति के साथ साथ आगे आगे बटना अनुचित है। अतएव—तस्मादभितरामभितरामेव क्रामेत पक्ष उनकी दृष्टि में विज्ञानविरुद्ध है। इसी पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) वह अध्वयु वैसा न करे (आगे आगे बढ बढ कर आहुति न दे)। (जिस प्रदेश में खडा होकर अध्वयु प्रयाजों के लिए आश्रावण करे वहाँ से पीछे न हटे (इतना अश तो विज्ञानसम्मत है परन्तु—थोडा थोडा आगे बढ़ता हुआ आहुति दे यह अश अवैज्ञानिक है। शत्रुनाश ही तो अभिप्रेत है। वह यहाँ उस आहुति पर निर्भर है जो आहुति समिद्ध अग्नि में हुत होकर समिद्ध बनती है। यदि आगे-आगे बढ़ना अनिवार्य मान लिया जायगा और उन अग्रप्रदेशों में अग्नि समिद्ध न मिलेगा तो उस असमिद्ध (अप्रज्वलित) अग्नि

में हुन आहुति भी असमिद्ध रहती हुई निरथक बन जायगी । अतएव उत्तराक्रमण का आप्रह निरथक साथ ही अभीष्टफल का विघातक भी होगा । अतएव होना यह चाहिए कि वह अध्वयु (आहवनीयाग्नि के) जिस प्रदेश में अग्नि को समिद्ध देखे वहीं आहुति दे (चाहे उस समिद्धाग्निप्रदेश के लिए भले ही आगे आक्रमण न करना पड़े । क्योंकि) समिद्धहोम (समिद्धाग्नि में आहुतिद्रव्य डालने से) ही आहुतिया समिद्ध मानी गई है ॥ ७ ॥

इति—प्रयाजबधु (१)

—*—

२—उत्तरप्रैष

(सर्वप्रथम अध्वयु आग्नीध्र के प्रति—ओ श्रावय यह प्रैष (अनज्ञा)करता है । इस प्रैष से आग्नीध्र अध्वयु के प्रति अस्तु श्रौषट यह कहता है । अनंतर पुन अध्वयु होता के प्रति 'यज — याज्यामन्न का अनुवचन करो यह प्रैष करता है । जिस जिस प्रयाज का यजन होता है उस उस प्रयाज के लिए अध्वयु को ओ श्रावय ओ श्रावय इ यायि रूप से आग्नीध्र के प्रात एव— यज — यज इत्यादि रूप से होता के प्रति प्रैष करना पड़ता है । इस दृष्टि से आग्नीध्र के प्रति होने वाले ओ श्रावय रूप प्रैषों को पूवप्रष कहा जायगा एव उत्तरभाषी होता के प्रति हाने वाले यज रूप प्रैषों को उत्तरप्रैष कहा जायगा । प्रस्तुत सातवीं कण्डिका में यज लक्षण उन उत्तरप्रैषों का ही विश्लेषण हुआ है । श्रुति कहती है) —

वह (अध्वयु आग्नीध्र के प्रति ओ श्रावय इस रूप से) आश्रावण कर (आग्नीध्र से— अस्तु श्रौषट् इत्याकारक प्रयुत्तर प्राप्त करने के अनन्तर होता नामक ऋत्विक् के प्रति उत्तरप्रैष करता हुआ) कहता है— समिधो यज (हे इत ! समिद्धती देवता के याग के लिए याज्या पाठ करो) । (समिधो यज इस) उत्तरप्रैष से अध्वयु वसन्त ऋतु को ही समिद्ध प्रवृत्त—करता है (उत्तरप्रैष कर्म से ऋतुएँ प्रदीप्त हो पड़ती है यही ता पर्य्य है । अध्वयु कृत उत्तरप्रैषात्मक समिधो यज इस समिधनकर्म से न कवल वसन्त को ही अपितु तद्द्रा । सम्पूर्णा—पाँचों—ऋतुओं को समिद्ध कर देता है । क्योंकि वसन्त ही शेष ऋतुओं की मूलजननी है जसा कि विवेचना प्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है । इसी तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है) — (अध्वयु कृत उत्तरप्रैष से) समिद्ध वह वसन्त अय (चारों) ऋतुओं को समिद्ध कर देता है । (वसन्तसमिधन के द्वारा परम्परया क्रमशः समिद्ध पाँचों ऋतुएँ प्रजा उत्पन्न करती हैं ओषधि (वनस्पतियों को भी) परिपक्व करती हैं । (वसन्तसमिधनरूप) जिस कारण से वसन्त स्वयं समिद्ध होता हुआ परम्परया अय ऋतुसमिधन का भी कारण बन जाता है) एता वता ही (केवल वसन्त समिधन ही) अन्य सब ऋतुओं (के समिधन का स्पष्टीकरण कर) रहा है । तात्पर्य्य केवल वसन्त समिधन ही शेष ऋतुसमिधन के लिए पर्य्याप्त है) । (जिस प्रकार वसन्त तयागात्मक समिध्याग में— समिधो यज इत्यादि रूप से ऋतु नाम का उल्लेख होता है

तद्वत् इतर ग्रीष्मादि यागामक तनूनपात् यागान्नि में— तनूनपात यज —इयादि रूप से नाम निर्देश स्वत प्राप्त है। उसी का एक विशेष हेतु से निराकरण करती हुई श्रुति कहती है) —वह अ वयु (वसन्त के आगे की—ग्रीष्मादि) ऋतुओं को (तनूनपात यज इडो-यज-इयादि रूप से नाम निर्देश न कर केवल) यज-यज इस प्रकार नाम निर्देश क बिना हीं कहता है। (जब क्रमप्राप्त नामनिर्देश होना न्यायप्राप्त है तो नामग्रहण पूर्वक उत्तर ऋतुओं क लिए उत्तरप्रैष क्यों नहीं किया जाता ? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) अजाभिता के लिए (ही यज रूप से ही) उत्तर ऋतुओं को कहता है (ऋतुओं क लिए उत्तरप्रैष करता है)। जामि (पुनरुक्त-दोष) करेगा यदि वह अध्वयु - तनूनपात यज - इडो यज यह कहेगा तो। ताप्य्य जब समिद्ध नाम निर्देश से ही इतर ऋतुओं का समिधन हो जाता है तो दुबारा ऋतुओं का नाम निर्देश करना पुनरुक्ति हागी जो वेदभाषा में जामि दोष कहलाया है)इसलिए वह (नाम निर्देश किए— बिना केवल) यज-यज इसी रूप से उत्तर ऋतुओं को कहता है ॥ ८ ॥

इति-उत्तरप्रैष (२)

३ प्रयाजब्राह्मण—

ऋतुयागामक पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली उपपत्तिका १ कण्डिका से ८ कण्डिका पर्यन्त ८ कण्डिकाओं के द्वारा स्पर्शीकरण कर ९ कण्डिका से २५ वीं कण्डिकापर्यन्त ब्राह्मण समाप्ति पर्यन्त १७ कण्डिकाओं के द्वारा प्रयाजयोगेतिक्त यता लक्षण पद्धति का प्रयाजयागा नुष्ठान क्रम से निरूपण करती हुई श्रुति कहती है)—

(१) वह (अध्वयु नामक ऋत्विक् के- समिधो अग्न आजस्य यतु वौषट् इस समिधेवताक याष्यामन्त्र के बोलने पर उसके- वाषट उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में जुहुस्थित आभ्य की आहुति के द्वारा) समिद्याग (वसतयजन) करता है। सामत् निश्चयेन वसत है। (प्राकृतिक समिद्याग से) देवदेवताओं न वसत को ही (असुराधिकार से पृथक् किया (था) एव वसत से (अपने शत्रु असुर) सपनों को निकाल बाहिर किया (था)। इसी प्रकार (प्राकृतिक समिद्याग की विधा पर प्रतिष्ठित या यामन्त्रशक्तियुक्त इस अपने वैध समिद्याग के बल पर) यह अध्वयु (यजमान के लिए) वसत को ही (यजमान के शत्रुओं के अधिकार से) पृथक् करता है एव (यजमान के) शत्रुओं को निकाल बाहिर करता है। वैधयज्ञ से उपन्न यज्ञातिशय लक्षण यजमान के देवामा के स्वर्गामक सम्बन्ध सरयज्ञफल के प्रथम वसत पव पर यजमान के शत्रु का अधिकार न रहे केवल देवामा ही उसका अत्यतम भोक्ता बने) इसीलिए (अध्वयु) समिद्याग करता है ॥ ९ ॥

(२) समिद्याग करने के अनन्तर वह (अध्वयु होता के- तनूनपादग्न आजस्य वेतु वौषट इस तानूनपादेवताक या यामन्त्र के बोलने पर उसके वौषट उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के

समिद्ध प्रदेश में जुहुस्थित आज्याहुति के द्वारा) तनूनपाद्याग (ग्रीष्मयजन) करता है । तनूनपात् निश्चयेन ग्रीष्म है । ग्रीष्म ही इन (पार्थिव) प्रजाओं के शरीरों को तपाता है (अतएव तनूनपात् अवश्य ही ग्रीष्म है) । (प्राकृतिक तनूनपाद्याग से) देवदेवताओं न ग्रीष्म का ही (असुराधिकार से) पृथक् किया (था) एव ग्रीष्म से (असुर) सपनों को निकाल बाहिर किया था—(शेष ६ कण्डिकावत्) ॥ १ ॥

(३) तनूनपाद्यागान्तर वह (अध्वयु होता के—इडो अग्न आज्यस्य यतु वौषट् इस इट् देवताका याज्या मन्त्रोच्चारण करने पर उसके वाषट् उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि म आज्याहुति के द्वारा) इड् याग (वर्षायजन) करता है । इड् निश्चयेन वषा है । इड् इसलिए वर्षा है कि पृथिवी पर रेगते हुए जो ये छोटे छोटे कृकलास गोधा लट्टे—आदि जन्तु गर्मी और सर्दी के आक्रमण से अतिशयरूप से क्षीणकाय हो जाते हैं वे सब क्षुण् सरीसृप वर्षा के डालते ही जीवन धारण करते हुए से—पुष् से होते हुए अन्नादान की इच्छा करते हुए (बड़े उल्लास के साथ) इतस्तत् विचरने लगते हैं । (इस प्रयत्न—दृष्ट इडन्न भाव से अवश्य ही वर्षा को इट् अन्नामक—कहा जा सकता है । (शेष ६ कण्डिकावत्) ॥ ११ ॥

(४) इड्-यागान्तर वह (अध्वयु होता के—बर्हिरग्न आजस्य वेतु वौषट् इस बर्हिर्देवताका याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके वौषट् उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि म आज्याहुति के द्वारा) बर्हिर्याग (शरद्यजन) करता है । बर्हि निश्चयेन शरत् है । बर्हि इसलिए शरत् है कि जो ये ओषधियाँ गर्मी—सर्दी से मुर्ता जाती हैं वे ओषधियाँ वर्षा—के आगमन पर (पुन) प्रवृद्ध हो जाती हैं । (वर्षा में प्रवृद्ध) वे (ही) ओषधियाँ शरद्ऋतु में फैले हुए बिखरे हुए दर्भतृणों की भांति शीण हो जाती हैं । इस स्तरण—शीर्ण भाव के साधम्य से शरत् (अवश्यमेव) बर्हि है । (शेष कण्डिकावत्) ॥ १२ ॥

(५)—बर्हिर्यागान्तर वह (अध्वयु होता के स्वाहाऽग्नि स्वाहा सोम स्वाहाग्नि स्वाहा देवो आज्यमान स्वाहाग्नि होत्रा जुषाणा अग्न आज्यस्य यन्तु वौषट् इस स्वाहा हेमन्त देवताका याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके वौषट् उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्या हुति के द्वारा) स्वाहा स्वाहायाग—(हेमन्त यजन) करता है । स्वाहा कार यज्ञ का अन्त (अन्तिम पर्व) है । (उधर पाँच) ऋतुओं का हेमन्त ही अन्त (अन्तिम पर्व) है । हेमन्त षमन्त से पराद्धप—परले भाग—अन्तिम भाग पर है । इसीलिए इसे ऋतुओं का अन्त कहा जा सकता है । (अपने प्राकृतिक स्वाहायाग से) देवदेवताओं में (यज्ञ के) अन्त (अन्तिम पर्व रूप हेमन्त) को (असुराधिकार से) पृथक् कर लिया (था) अतद्वारा (स्वाहायाग के द्वारा) अन्त से (हेमन्त से) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था) । (तथैव शेषं स्पष्टम्) ॥ १३ ॥

(हेमन्त ऋतुओं का अन्तिम पर्व है उधर स्वाहा भी यज्ञ का अन्तिम पर्व ही है । इस स्वाहात से ऋतु—अन्त हेमन्त पर अधिकार तो हो जाता है परन्तु अन्तभावनां यजमान के ऐह लौकिक जीवन के लिए प्रशस्त नहीं मानी जा सकती । इस अन्तयाग स्वाहायाग—उच्चारण हेमन्त

यजन से यज्ञात्तत्क्षण स्वगावाप्ति ही सम्भव है। अपोक्षत यह है कि यज्ञ कर्त्ता यजमान यावदायुर्भोगपर्यन्त ऐहिक सुख का भोग करता हुआ अनन्तर दवामारुहण से स्वर्ग प्राप्त करे। अनन्तर पुनः पर्ययति मज्जमधारण करे। क्या स्वाहायाग से ऐसा भी सम्भव है?। प्रत्यक्ष म तो अपने अन्तभाव से हेमन्त्याग केवल तात्क्षणिक स्वगावाप्ति का समर्थक बना हुआ है। इमी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि यद्यपि यह ठीक है कि हेम त अन्तभाव का प्रवर्त्तक है। तथापि यह भी सिद्ध विषय है कि हेम त से ही वसन्त पुनः प्राण धारण करता है हेमन्त से ही वसन्त पुनः उपन्न होता है। जो याज्ञिक हेम त के इस पुनः प्राणा धान के रहस्य को जानता है वह अग्रश्रमेव (यावदायुर्भोगपर्यन्त जीवित रहता हुआ ऐहलौकिक सुख का भी भोग कर लेता है एव भवगफल के भोगान्तर) इस लोक म भी (पुण्ययान म) जन्म लेता है (जैसे कि हेमन्त के अनन्तर वसन्त जन्म लिया करता है)। (तापर्यन्त यही है कि हेमन्त अवसानामक वनता हुआ भी जीवनोपर्यन्त वसन्तोपक्रम का निमित्त है। इस भावना से अन्तभावनामक हेमन्त्याग जन्त आनष्ट भावना की निवृत्ति हो जाती है) ॥ १४ ॥

अयमत्र सग्रह —

१—समिद्याग — समित्	(वसन्त)	} —पञ्चप्रयाजा पञ्चर्त्वि
२—तनूनपाद्याग — तनूनपात्	(ग्रीष्म)	
३—इडयाग — इट	(वर्षा)	
४—बर्हियाग — बर्हि	(शरत्)	
५—स्वाहायाग — स्वाहा	(हेमन्त)	

(स वै समिधो यजति इत्यादि ६ कण्डिका से आरम्भ कर अथ स्वाहा स्वाहा यजति इत्यादि १४ वीं कण्डिकापर्यन्त ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। आगे के शेष ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। अब आगे के शेष ब्राह्मणभाग में प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया जाता है जिनके सम्बन्ध से प्रयाजयाग परोक्ष-अदृष्ट-फलों का जनक बनता है। होता के द्वारा प्रयुक्त याज्या मन्त्रों के अन्त में—१-२-३-४ ५-इन पाँचों मन्त्रों के अनन्तर म-क्रमशः १-यत्तु २ वेतु ३ यन्तु ४-वेतु ५-यत्तु इस प्रकार यन्तु वेतु पदों का सन्निवेश रहता है। यह विपर्यय क्यों जबकि पञ्चतु यागा मक पञ्चप्रयाजयाग ऋतुसमानत्वेन एव प्रयाजसमानत्वेन समान है। या तो पाँच या याम मन्त्रों म वेतु-वेतु का ही समावेश होना चाहिए अथवा तो पाँचों म यन्तु-यन्तु का ही समावेश रहना चाहिए। स्थिति प्रदर्शनपूर्वक इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—वह (अध्वयु होता के द्वारा याज्या मन्त्रों के क्रमिक) ऋतु वेतु इस (क्रम से उच्चरित होने पर ही) समिद्यागादि करता है (यजन करता है)

अजामिता के लिए ही । सिद्ध को पुन सिद्ध करना उक्त को पुन कहना हीं जामि दोष है । इस पुनरुक्त दोष की निवृत्ति के लिए य-तु- य तु अथवा वेतु वेतु रूप से यजन न कर य-तु-वेतु इस रूप से यजन किया जाता है यही ता पय्य है । इसी तापय्य को स्पष्ट वरती हुई श्रुति कहती है कि) वह अध्वयु (अपने इस यज्ञ में) जामि (पुनरुक्तदोष का समावेश) करेगा यदि वह य-तु यन्त-रूप से यजन करेगा अथवा तो वेत वेतु रूप से यजन करेगा । (जामि दोषनिवृत्ति के साथ साथ इस य-तु वेतु विपर्यय का एक प्रासङ्गिक फल और भी है । यज्ञ स चैवामा का प्रजनन अपेक्षित है प्रजनन कम्म योषामक स्त्री-भ्रण एव वृषामक-पु भ्रूण दानों के दाम्प्य भाव पर निर्भर है । य-तु इस बहुवचनात् पद से वेतु इस एकवचनात् पद से प्रजननसाधक-योषावृषामक वह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है । तस्मान्नेकस्य पुरुषस्य बह्व्यो जाया भवा त इत्यादि श्रुति क अनुसार योषामिका स्त्रा बहुत्वधम्म से एव वृषामक पुरुष एरुत्व से युक्त है । फलत यन्तु से सरयानिदान-सम्पत्तद्वारा योषा का तथा वेतु से वृषा का समग्र हो जाता है । इसी प्रासङ्गिक फल का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)— य-तु यह (बहुवचनात्पद अपने बहुत्वधम्म से) निश्चयेन योषा (की प्रतिकृति बनता हुआ योषाप्राण का सम्राहक) है वेतु यह (एकवचनान्त पद अपने एरुत्वधम्म से) निश्चयेन वृषा (की प्रतिकृति बनता हुआ वृषाप्राण का सम्राहक) है । (यन्तु-वेतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयाग से योषा वृषा के) मिथुनभाव से ही प्रजनन किया जाता है (प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है) । इसलिए (अजामिता क लिए एव मिथुनभाव प्राप्ति के लिए दूसरे शब्दों में पुनरुक्तदोष निवृत्ति के लिए एव प्रजन-सम्पत्ति के समग्र के लिए वह अध्वयु) य-तु-वेतु इस (विपर्यय क्रम) से (ही) यजन करता है (करना चाहिए) ॥ १५ ॥

(पञ्चतु के भेद से पाँच प्रयाज बतलाए गए हैं । इन में से शरद्यागामक बर्हिर्नामक चौथे प्रयाज को इतिकर्त्ता यता म एक विशेष धम्म का अनुगमन किया जाता है । यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत तै वा ३।३।६ इत्यादि कृष्णश्रुति के अनुसार जुहू की आधारभूता उपभृत् नाम की सूक् में जो आज्य लिया जाता है उस से ऋतुरूप प्रयाजकर्म तथा छ दोरूप अनुयाजकर्म दानों की इतिकर्त्ता यता पूरी की जाती है । पूव के २ प्रपाठकके ५ ब्राह्मण में भी यह स्पष्ट किया गया है कि आज्यग्रहण ऋतु और छ-दोरूप प्रयाजानुयाजों के लिए ही होता है अथ या याज्यानि गृहते ऋतुभ्यश्चैव तान छ दाभ्यश्च गृह्यन्ते — शत १।२ प्र १४ वा १७ क । वही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ध्रुवा पात्र में आठ बार करके उपभृत् में चार बार कर के जुहू में आयग्रहण होता है । चतुर्षार गृहीत जुहूस्थित आज्य प्रयाजकर्म का एव अष्टवार गृहीत उपभृत्स्थ आय अनुयाजकर्म का सम्पादक बनता है । जुहूस्थित आज्य से क्रमश समित् तनूनपात्-इट लक्षण वस त मीधम-वर्षा इन तीन ऋतुवैषताओं का यजन तो बिना उपभृदाय से सम्बन्ध कराए केवल जुहूस्थित आज्य से ही कर लिया जाता है । चौथे बर्हिलक्षण शरद्याग के समय जुहू का उपभृत् से सम्बन्ध कराना आवश्यक माना गया है । तीसरे प्रयाज के समाप्त होने पर जुहू म उपभृदाय लेकर ही चौथा प्रयाज होता है । ऐसा क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न का स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

तृतीय प्रयाजयाग के समाप्त यन तर वह अ वयु चोथ बर्हि नामक प्रयाज कम्म में (जुहू में उपभृत् से) आ य ग्रहण करता है । बर्हि निश्चयेन (उत्तरोत्तर वृ ह्णधर्म से) प्रजा है आ य रेत (वीय्य) है । (बर्हिर्या । म जुहू म उपभृत् से आ य लेता हुआ) अ वयु बर्हिरूप प्रजाओं में ही आयरूप रेत का सिञ्चन करता है (वीय्याधान करता है) । इस सिक्त रेत से (ही) प्रजाएँ पुन पुन जन्म लिया करती हैं । सीलिए चौथे बर्हि नामक प्रयाज म (जुहू म उपभृत् से) आश्रय लेता है । (तापय्य वस्तुन यह है कि प्रयाजकम्म क लिए जुहू से पाच आहुतिया दी जाती हैं । अवश्य ही पाच आहुतियों के लिए जुहूस्थित आश्रयमात्रा अपर्याप्त है । अतएव प्रयाज कम्म के म य म एक बार उपभृत् से आ य लेना आवश्यक हो जाता है । कब लेना ? यह प्रश्न है । वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा ते देवा ऋतव - शरत्-हेम त -शिशिर ते पितर शत २।१।१।३।१ इत्यादि श्रुति के अनुसार अग्निप्राणप्रधाना अतएव देवदेवता मका वसन्त ग्रीष्म वर्षा इन तीन ऋतुओं का एक स्वतंत्र आग्नेय विभाग है । एव सोमप्राणप्रधाना अतएव पृथुदेवता मका-शरत्-हेमन्त शिशिर इन तीन ऋतुओं का एक स्वतंत्र सौम्य विभाग है ऐसी स्थिति म वसन्त-ग्रीष्म-वर्षानुगत समित् तनूनपात-इट् इन तीन प्रयाजों का तो आविच्छन्नरूप से बिना उपभृत् से दुष्कारा आश्रय लिए ही यजन करना प्रकृतसम्मत हो जाता है । चौथे प्रयाज स त्वजातीय बर्हि नाम की सौम्य ऋतु का उपक्रम होता है । अतएव इसी म आ यग्रहण वरना सुसङ्गत बनता है । इसके साथ ही निदान भाव से प्रजाओं म रेत सेक भी हो जाता है जो कि दवा मप्रजनन म अपनी प्रधानता रख रहा है । इसीलिए चतुर्थप्रयज म ही आश्रयसमानयन किया गया ह् जैसेकि विवेचना प्रकरण म विस्तार से बतलाया जाने वाला है) ॥ १६ ॥

(चतुर्थप्रयाज में आ यग्रहण करना ऋतुस्वरूपानुगत बनता हुआ प्रकृत्यनुगत है प्रजाओं में रेत का आधान करता है इन दा अतिशियों के आतिरिक्त इसक यहा ग्रहण का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है । सीका विश्लेषण करता हुई श्रुत कहता है)—जा अश्वयु इन पाच प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है वह (पूर्वार्यानानुसार सम्बन्धसरमण्डल म प्रविष्ट शत्रुओं को पराजित करने के लिये) सग्राम ही ठान रहा है । दो दलों क सग्रामाभमुख हाने पर जिस एक दल का मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है वह जीत जाता है । (ठीक इसी के अनुरूप यह आश्रय ग्रहणकम्म है) । इस आ यग्रहणकम्म से जुहू को उपभृदा यरूप मित्र मिल जाता है । (जुहूस्थित आश्रय वह सनादल है जिसे असुरपराभव क ना है । उपभृत् स्थित आ य वह मित्रसेना है जिसके सहयोग मित्रने पर असुरपराभव निश्चित है) इसी मित्रसेना-सहयोग प्राप्ति के लिये (भी) चौथे बर्हि नामक प्रयाज म ही आश्रयसमानयन करता है । १७ ॥

(प्रयाजकम्म वह सग्राम कम्म है जिसके द्वारा यजमान के स्वर्ग फलभोक्ता देवा मा के भोग्य सम्बन्धसर में से असुरों को पराजित करना है । शत्रु को निबल बनाना ही शत्रुपराभव का मूलकारण है । मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति स्वस्थानस्थिति आदि अ याय कारणों म से शत्रुपराभव का एक यह भी अ यत्तम कारण माना गया है कि शत्रुसना म भेदनीति डालते हुये उसे अपनी सेना मे मिला लेना । उसके बल को अपना भोग्य बना लेने से अवश्य ही वह निबल हो जायगा ।

इसी एक और प्रयोजन का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है) —यजमान जुहू को लक्ष्य बना रहा है। यजमान के लिये जो शत्रुता करता है वह (यजमान के शत्रुदल) उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है। (अर्थात् जुहूस्थित आश्रय निदानेन यजमान का सै यदल है (उपभृत् से जुहू में आश्रय लेता हुआ) अध्वयु द्वेष करने वाले शत्रु, सेनादल को यजमान के लिये ही बलिारूप से आकर्षित करता है (शत्रुबल का यजमान बल में समावेश कराता हुआ यजमान को सशक्त बना रहा है)। अपिच (एक प्रयोजन यह भी है कि) —जुहू अन्तर्भाव का एव उपभृत् आद्यभाव को लक्ष्य बना रही है। (उपभृत् से जुहू में आश्रयग्रहण करता हुआ) अश्वयु भोक्ता यजमान के लिये भोग्य सामग्री पहुँचा रहा है। (इसप्रकार प्रकृत्यनुगत ऋतुभाव प्रजावर्ग में वीर्याधान मित्रसेनाप्राप्ति शत्रुदल की मित्ररूप में परिणति भोग्यसम्पत्प्राप्ति इ यदि अनेक दृष्टियों से चोथे प्रयाज में ही आश्रयग्रहण करना अवर्था बनता है) तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥१८॥

(उपभृत् और तत्रस्थ आश्रय निदानेन शत्रुसै यदल है यह कहा गया है। साथ ही इस आश्रय के समानयन का यह भी फल बतलाया गया है कि शत्रुसै यदल को भदनीत के द्वारा यह अपना बलि बना लेता है। भदनीत से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रकार तभी सफल होता है जबकि सै यदल के सम्पर्क में न जाकर तत्रस्थ रहते हुये अपने स्थान में रहते हुए प्रथक् रहते हुये ही परोक्षरूप से उस अपने दल में मिलाया जाय। निकटसम्पर्क में जाना शत्रुदल में फँसा है। और सम्भवतः ऐसा करना कभी कभी पराजय का कारण भी बन जाता है। इसलिये) वह अश्वयु। जुहू में उपभृत् से आश्रयग्रहण करने की कामना रख। हुआ) जुहू को उपभृत् से प्रथक् रखता हुआ ही आश्रयसमानयन करता है। यदि वह अध्वयु जुहू को उपभृत् से मिला देगा (स्पर्श कराता हुआ आश्रयग्रहण करेगा) तो (अपने इस अवमर्शन से) वह शत्रु के साथ यजमान को मिला देगा (शत्रुसेना में अपनी सेना का बल डाल देने वाला बनता हुआ इष्टसाधन के स्थान में अनिष्ट करा बैठेगा)। (इसके अतिरिक्त इसी अवमर्शन से) यह अध्वयु अन्ता (भोक्ता) को आद्य से मिला देगा (भोक्ता को भोग्य के आधीन कर देगा जबकि भोग्य का भोक्ता के आधीन रहना समृद्धि का कारण माना गया है। ऐसा न हो) इसलिये अनवमृशम् (जुहू का उपभृत् से स्पर्श न करता हुआ) ही आश्रयग्रहण करता है (करना चाहिये) ॥१९॥

(उपभृत् के साथ स्पर्श न कराते हुये जुहू में जब उपभृत् से आश्रय ले लिया जाता है तो जुहू को किस स्थिति में रक्खा जाय? यह जिज्ञासा इसलिये होती है कि जुहू उपभृत् दोनों एक सामान्यत्वेन सहयोगिनी मानी गई हैं। क्या जुहू को उपभृत् से अध प्रदेश में अध्वयु-हाथ में लिये रहे? श्रुति कहती है नहीं। अपितु) आश्रयग्रहणानन्तर (अथ) वह अध्वयु गृहीताश्रया उस जुहू को उपभृत् के उपर (उपभृत् से न मिलता हुआ) थामे रहता है (उपभृत् से ऊर्ध्व-प्रदेश में ही जुहू को हाथ में लिए रहना चाहिये)। (जुहू को उन्नत रूप से रखता हुआ) अध्वयु यजमानशत्रु की समुपस्थिति में यजमान को ऊँचा ही रखता है। अन्ता को आद्य की समुपस्थिति में ऊँचा ही रखता है। तात्पर्य जुहू निदानेन यजमान है भोक्ता है। उपभृत् यजमानशत्रु है आद्य है। ऐसी स्थिति में जुहू को उपभृत् से नीचे रखना यजमान को भोक्ता को यजमानशत्रु

के भोग्य क नीचे रखना होगा जो महा अनिष्टकर है । ऐसा न हो अपितु यजमान अपने शत्रु से ऊँचा रहे भोक्ता भोग्य के उपर रहे)— तस्मादुत्तरा जुहूमध्यहृत ॥ ॥

(१५ वीं कण्डिका से आरम्भकर २ वीं कण्डिका पर्यन्त ६ कण्डिका मक ब्राह्मण भाग में प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली यतु-वेतु चतुर्थप्रयाज म आ यजमानयन अनवमश-पूर्वक समानग्रन आयागहृणांतर जुहू का उत्तर अयूहन आदि विशेषताओं का सापेक्षिक निरूपण किया गया । अब स्वाहायाग मक हेम तथाग नामक पाचवें प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली विशेषता का एक ऐतिहासिक आर्यायन क द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है) — (भौम एगानयामो मनुष्यविधौ भौमैवताओं न प्रयाजों से सम्बन्धरमण्डल-प्रतिकृतिरूपा भौम-त्रिलोकी पर अपना अधिकार कर लिया । देवता जीत गए असुर पराजित होगए । इस विजय प्राप्ति के अयवहितोत्तर काल में ही) उन देवदेवताओंने परस्पर की मन्त्रणा से निश्चय कर अपना यह मन्त्रय प्रकट किया कि क्या ही अच्छा हो (ह त) यदि अपने (प्रयाजयागद्वारा) विजित (अपने अधिकार मे आए हुए यज्ञ) को लक्ष्य बनाकर (स प्रयाजयाग के साथ ही) सम्पूर्ण यज्ञकर्म पूरा कर डालें । (ऐसा करने से यही यज्ञ को सर्वोत्तमना पूण करने से फल यह हागा कि) यदि इसके अनंतर (यज्ञपूर्णातासिद्धयनंतर) असुर राक्षस अपने (यज्ञ) पर आक्रमण करेंगे (विघ्न डालेंगे) तब भी अपना यह यज्ञ पूण ही बना रह जायगा । इसी निश्चय के अनुसार ॥ २१ ॥—

उन देवदेवताओंने पाँचवें प्रयाजानुष्ठान में स्वाहा कार से ही सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लिया । स्वाहा अग्निम् इससे आग्नेय आभ्यभाग को पूरा कर लिया । स्वाहा अग्निम् इससे सो जो कि उभयत्र अच्युत आग्नेय पुरोडाश होता है—(विहित है) उसे पूरा कर लिया ॥२॥—

(पौर्णमासेष्टि किंवा दर्शोष्टि के अनुरूप जो यजनीय देवता विहित है उनका उसी) देवता-क्रमानुसार यजन कर लिया । स्वाहा देवा आ यपा इससे प्रयाजानुयाज-देवताओं को पूरा कर लिया । प्रयाजानुयाज देवता ही (ऋतुछन्द ही) तो (आभ्याहुति के कारण) आ यपा (घृतपान करने वाले) हैं । जुषाणोऽग्निरा यस्य वेतु इससे स्विकृत् अग्नि को पूरा कर लिया । अग्नि ही स्विकृत् है— अग्निर्हि विष्कृत् ॥ (आर्यायन का विशदीकरण ता विवेचना प्रकरण से ही सम्बन्ध रखता है । प्रकरणसङ्गति के लिए प्रकृत में इस सम्बन्ध में यहो कह देना पर्यप्त होगा कि प्राकृतिक निय यज्ञ के आधार पर वितायमान वैधयज्ञ का अनुगमन सवप्रथम भौमस्वर्ग निवासी भौम-मनुष्यविध-देवताओंने किया था । उनके यज्ञ कर्म पर मनुष्यविध असुर समय समझ पर आक्रमण किया करते थे । कभी कभी इन असुराक्रमणों से भौमदेवताओं का यह यज्ञ कर्म अधूरा ही रह जात था । इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए देवताओंन जिस तात्कालिक प्रणाली का आविष्कार किया उसी का आर्यायनद्वारा स्पष्टीकरण हुआ है । प्रयाजयागात् में उस प्रणाली के अनुगमन से उनका यज्ञ एक प्रकार से इमलिए पूर्ण-हो गया कि कृत्स्न यज्ञ में जिन जिन देवताओं का यजन अपेक्षित है उन सबका स्वाहाकारा मक पञ्चम प्रयाज कर्म में अनुवर्ष है । अतएव स्वाहात् पञ्चम प्रयाज पूणयज्ञ का प्रतिनिधि बन रहा है । मान लीजिए

कोई ऐसा अप्रयाशित विघ्न उपस्थित होगया जिससे प्रयाजानन्तर यजमान अथ यज्ञैतिकत्त-यता पूरी न कर सका। क्या ऐसी स्थिति में उसका प्रयाजात्त कम्म यथा चला जायगा? पूर्णयज्ञ के द्वारा जो अतिशय इसे मिलने वाला था क्या उससे यह सबथा वञ्चित रह जायगा? श्रुति कहती है—नहीं। पञ्चम प्रयाज में जिस इतिकत्त-यता का अनुगमन किया जाता है उसी से अशत इसे वह यज्ञातिशय प्राप्त होजाता है जिसके लिए इसे प्रयाजानन्तर अथाय शेष कम्म और करने पड़ते हैं। आसुर विघ्नता से सत्रस्त भौमदेवता भी तो इसी प्रणाली से प्रय जान्त कम्म से ही यज्ञैतिकत्त-यता पूरा बना लेते थे)।

ठीक उसी प्रकार (प्रयाजान्त में विहित भौमस्वर्गीय मनुष्यविध देवताओं के द्वारा आवि-ष्कृत उसी प्रणाली-पद्धति-से (अपने प्रयाजान्त में अनुगमन से) आज भी (यजमान का) यह (इष्टिलक्षण वध) यज्ञ उसी प्रकार (तथैव) पूरा हो जाता है जैसे कि (जिस पद्धति का अनुगमन से) इस यज्ञ को (अपूरण भी यज्ञ का) भौमदेवताया न पूर्ण कर लिया था। (यही स्वाहाकारात्त अतिम पाँचव-प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली पूव प्रतिज्ञाता विशेषता है। स्वाहात्मिका पद्धति से सम्बन्ध रखने वाली उस उक्त विशेषता के अनुगमन से प्रयाजात्त में ही यजमान का यह अकृत्स्न भी यज्ञ कृत्स्न बन जाता है) इसीलिए (अकृत्स्न भी यज्ञ की मध्य में ही-प्रयाजात्त म ही-कृत्स्नता सम्पादन के लिए) वह अध्वयु पाचव प्रयाज में स्वाहा-स्वाहा पूवक जितनी भी हवि होती हैं उन सब का यजन करता है। (यज्ञपूर्णताप्रवत्त क अ-गान्य सभी सम्राट्ट देवताओं के लिए आहुत देता हुआ तद्द्वारा सबसप्रह करता हुआ हेम तयाग का यजन करता है। इस (वाहा स्वाहात्मिका सजदेवयजनात्मिका पञ्चम प्रायाजाहुति के प्रभाव) से वह अध्वयु पञ्च-प्रयाजयाग से) विजित यज्ञसम्पत्ति को लक्ष्य बनाता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लेता है— तदनु सर्व यज्ञ सस्थापयति ॥

(यह नियम है कि जबतक यज्ञैतिकत्त-यता पूर्ण नहीं हो जाती तबतक गमनागमन-भाषण स्पर्श-आदि के सम्बन्ध में विशेष नियमों का अनुगमन करना पड़ता है जैसा कि— अनवमृशान्समानयति — न वै सर्वेषां सवेदत् इत्याद आदेशों ने स्पष्ट है। यज्ञ के पूर्ण होजाने पर इन नियम-वधनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। स्वाहाकारात्मक अन्तम प्रयाज यागान्तर यज्ञ पूर्ण होजाता है। अतएव इससे आगे जो भी शेष कम्म बच रहते हैं उन के सम्बन्ध में नियम-वधन का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। उस अवस्था में यदि किसी किसी नियम का उल्लंघन हो जायगा तब भी कोई अनिष्ट न होगा यही तात्पर्य है। इसी का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)।—(प्रयाजान्त कर्म यज्ञपूर्णताप्रवत्त क है नियमानुगमन तत्पूर्णता-पर्यन्त ही अपेक्षित है) इसलए इससे आगे (प्रया-कर्मानन्तर होने वाले कर्मों में) श्रुतिवक (किंवा यजमान) यदि (अपने स्वाभाविक अनृतभाव से) कुछ विलोम (असावधानी) कर बैठे तो उसे विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए। उसे तो (प्रयाजान्तर) यह समझ लेना चाहिए कि मेरा यह यज्ञ कर्म (तो प्रयाजयाग से ही) पूरा हो गया— सस्थितो यज्ञ इति ह विद्यात् ।

(स्वाहाकृत एव वषट्कृत यज्ञ जैसे यातयाम-गतरस बन जाता है तद्वत् प्रयाजलक्षण यह इष्टिकम्म किवा इष्टियज्ञान्तभुक्त प्रयाजरुम्म भी वाषट्-स्वाहा-सम्बन्ध से यातयाम बन जाता है। वौषटकार वाङ्मयकृत के अवसानक मूचरु है। एवमेव स्वाहाकार भी स्व वाचमाह अनचना नुमार वाङ्मय यज्ञ के अवसान का ही सूचरु बन रहा है जैसाकि विवेचना प्रकरण म प्रिस्तार संवतलाया जाने वाला है। वागरस का वाङ्मय वषटकार से वाङ्मय स्वाहाकार से अनगमन हो जाता है। यहा वाङ्मय यज्ञ का रसशून्य बन जाना है। ऐसा नीरस यज्ञ ह गतरस बनता हुआ यातयाम कहलाया है। वषट् स्वाहा से अपक्रान्त ध्रुलोक की ओर गत-वाङ्मय-वागग्निमय यज्ञरस यज्ञपूणता समाप्ति क अनतर पुन यजमानामा मे प्रविष्ट हो जाय इस पुन रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुन यजमानामा में प्रविष्ट होजाय इस पुन रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुन अयातयाम—वाग्रमपरिपूग बन जाय इन प्रयाजन के लिए एक स्वष्टकृद्याग नाम का कम्मविशेष विहित है। वागग्नि ही शेषाहुत से तृप्त हाकर यज्ञ को स्वष्ट रसयुक्त-बनाते है। अतएव इहें—स्वष्टकृत कहा जाता है। अतएव तदाहुतिकम्म स्वष्टकृद्याग कहलाया है। पञ्च प्रयाजकम्म से सम्बन्ध रखने वाली वौषट् स्वाहा याहनियों से आज प्रस्तुत यज्ञ भी यातयाम बन रहा है। स्वष्टकृद्याग होता है—यज्ञात में। ऐसी दशा म इस की वर्तमान यातयामता के निराकरण का क्या उपाय ? इसी प्रश्न का ऐतिह्य कारणानुगत स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

जिस प्रकार वषट्कृत हुत स्वाहाकृत हुत (वौषट स्वाहा पूर्वक दी जाने वाली आहुति से युक्त कम्म यातयाम बन जाता है इसी प्रकार वाषट-स्वाहापूर्वक आहुति होने से प्रयाजात से संस्थित होने वाला) यह यज्ञ यातयाम ही रह गया (यज्ञ का वागरस ध्रुलोक की ओर चला गया) ॥२३॥

(इस प्रकार प्रयाजान्त में संस्थित-पूरा होने वाले यज्ञ को वौषट स्वाहाकार के सम्बन्ध से यातयाम बना देख कर) उन भौम देवताओं न यह कामना प्रकट की (विचार विमश किया) कि अपन कैसे इस (नीरस) यज्ञ को पुन आप्यायित (रस से परिपूग) कर ? (रस समावेश के द्वारा कैसे किस पद्धति से इसे अयातयाम बनावें ? एव अयातयाम बने हुए यज्ञ से कैसे जीवन-यात्रा का निर्वाह करै ? ॥२४॥

अपनी उक्त कामनाओं को काय्यरूप में परिणत करने के लिये यातयाम यज्ञ ने अयातयाम बनाने के लिये उन देवताओं ने यह किया कि) सो प्रयाजाहुति के अनन्तर जो आयमात्रा जुहु में बची रह गई थी जिस जुहुस्थित आज्य (आज्याहुति) से देवताओं ने (प्रयाजयाग के द्वारा) यज्ञ पूरा किया था उसी (आहुत्यनन्तर बाकी बचे हुये तच्छेष) आय से ही यथापूर्व (आतम प्रयाज विहित आहुतियों की भाति तत्तद् देवताओं के लिए) आय हवियों का आधार करते हुए (यातयाम बने हुए उन वाङ्मय देवों को) पुन आप्यायित कर दिया अयातयाम बना दिया। आज्य (वागग्नि रसात्मक होने से) अवश्य ही अयातयाम रसपूरा होने से स्वयमपि अयातयाम

(अन्य यातयामों में भी रसप्रदान करता हुआ उन्हें भी अयातयाम बनाने वाला) है । (इसप्रकार भौम देवताओं ने परिशिष्ट अयातयाम-आ याहुति से यातयाम यज्ञ का पुन अयातयाम बना लिया । देवयज्ञवत् यजमान का प्रस्तुत प्रयाजान्त यज्ञ भी बौषट् स्वाहा द्वारा हुत होने से आज यातयाम बन गया) इसालिये (इसे पुन अयातयाम बनाने के लिये ही) उत्तम (पाचवा) प्रयाजयाग करके (करने के अनंतर हुतशेष आय से) यथापूर्व हवियों का आधार करता है । इस आधार कर्म से यह देवताओं को पुन आप्यायित अयातयाम करता है । आज्य (पूर्व कथनानुसार) अवश्य ही अयातयाम है- अयातयाम ह्याज्यम् ॥ (शेष आयाधार स यातयाम यज्ञ आप्यायित होता हुआ अयातयाम बन जाता है) अतएव (यज्ञपद्धति म यह नियम बन गया है कि) जिस किसान भी देवता के लिये (देवामक यज्ञकम्म क लिए) ऋत्विक् हवि का विभाजन करता है (प्रदान करता है) उसके सम्बन्ध से तच्छेष के पुन स्विष्टकृत (एतन्नामक अग्नि-विशेष) के लिये अभिघार करता है । (इस अभिघार से) वह उस यज्ञ को पुन आप्यायित अयातयाम बनाता है । यदि स्विष्टकृदाग्नि क लिए (अयातयामसम्पत् प्राप्त्यथ) हवि का विभाजन पहिले से ही कर देता है (तो उस अवस्था म) पुनरभिघार अनावश्यक है । (तापस्य इस कथन का यही है कि-कृत्स्न इष्टिकम्म में तो पहिले से ही स्विष्टकृदाग्नि के लिए भाग नियत रहता है । अत उसकी समाप्ति पर पुनरभिघार नहीं होता । अभिघार तो वहा आवश्यक है जहाँ पहिले से स्विष्टकृदाग्नि के लिए अवदान विहित नहीं है । प्रकृत स्थल ऐसा ही है । अत यहा अवश्य ही अभिघार अपेक्षित है । जहा पहिले से अवदान नियत है वहाँ आहुतिकम्म समाप्त्यनंतर) अग्नि में और किसी हवि की आहुति की अपेक्षा नहीं रखता है । (अपेक्षा नहीं रह जाती)-
नो हि तत काञ्चन हविषोऽग्नावाहुतिं होष्यन् भवति ॥२५॥

इति-प्रयाजब्राह्मणम् (३)



पाचव अध्याय में तीसरा चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त
(१।१।३।)—(१।४।४)
(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रथम ब्राह्मण समाप्त)

—१—

प्रथमकाण्ड में पाचवे अध्याय में चौथा चौथे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण
(१।५।४)—(१।४।५)
(२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त द्वितीय ब्राह्मण)

४—प्रयाजावृत् (पद्धति)

प्रकृत ब्राह्मण में प्रयाजावृत् (पद्धति) और प्रयाजानुसन्त्रण इन दो प्रकरणों का समावेश हुआ है जिन्हें पूर्वब्राह्मणोक्त तीन प्रकरणों (१ प्रयाजब धु २ उत्तरप्रैष ३-प्रयाजब्राह्मण, इन तीनों प्रकरणों) की दृष्टि से-४ ५ वें प्रकरण माना जा सकता है । इनमें चौथे प्रस्तुत प्रयाजावृत्

प्रकरण मे प्रकारान्तर से उस क्रमिक पद्धति का ही निरूपण हुआ है जिसका पूर्वब्राह्मण के प्रयाज ब्राह्मण नामक तृतीय प्रकरण की ८ वीं कण्डिका से १४ वीं कण्डिका पर्यन्त ७ कण्डिकाओं में विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है । उस पूर्वपद्धतिप्रकरण में बतलाई गई उपपत्ति का प्रधान लक्ष्य आधिदैविक सम्बन्ध सरमण्डल था । एव प्रकृत प्रकरण में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का प्रधानत आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है । पद्धत्यश उभयत्र समान है केवल उपपत्तिप्रदर्शन में विभिन्नता है । इस विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही निम्न लिखित श्रुति-प्रकरण का समन्वय करना चाहिये—(सैषा प्रकरणसङ्गति) ।

(१)—वह (अध्वयु नामक ऋत्तिक होताक-सामद्धो अ न आज्यस्य यन्तु वौषट इस समिद्धेवताक या यामत्र के उच्चारण करने पर उसक वाषट उच्चारण क साथ आहवनी याग्नि के ॐ समिद्ध-प्रवर्लित-भाग में जहूस्थित आ याहुति क द्वारा क्रमप्राप्त पहिले (समिद्धा-समित् नामक प्रथम प्रयाज) का यजन करता है (समिद्धाग सम्पादन करता है) । (समिद्धाग क्यों किया जाता है ? प्रश्न की आ यागिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि खुगादा पनकम्म से दैवा मा म जिन ६ आ यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है - दैवामप्रताष्ठत उन प्राणों क समि धन के लिए ही -आ यात्मिक-प्राणसमि धन के लिए ही-यह समिद्धाग विहित है । इसी प्राणसमि धन कम्म का अपने श दों में स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है)—समिद्धाएँ निश्चयेन प्राण है । (इस समिद्धागकम्म से प्रथमप्रयाज से) वह अध्वयु (दैवामा के आध्यात्मिक नौ) प्राणों को ही प्रवर्लित-जीवनीयरस से युक्त-करता है । (समिद्ध) प्राणा से ही यह पुरुष (शरीरपुराधिष्ठाता आलोमभ्य आनखाभेभ्य सर्वाङ्गशरीर मे याप्त शरीराभि मानी चित्तेनिषेयाग्निमूर्त्ति प्राणात्मा-कर्मात्मा) समिद्ध है । (क्योंकि समिद्धाग से यजमानात्मा के प्राणों का समिद्धन होता है अतएव इस समिद्धाग से आग्नेय ताप भी एक विशेष प्रक्रिया से हटाया जा सकता है यही इस समिद्धाग का काम्यफल माना गया है । प्राणसमि धन की कमी से ही प्राणाग्नि के द्र से विच्युत हो जाता है । प्राणाग्नि के वे से विच्युत होकर शरीराभिमुख बन जाने का ही नाम उपताप है उपताप की चरमावस्था ही उष्णता लक्षण सताप-वर दाह- है । यदि इस समय यजमान उपतापी है यजमान को वर है ता समिद्धाग के द्वारा वह हटाया जा सकता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)—(क्योंकि पुरुषाग्नि प्राणों से समिद्ध रहता है इधर समिद्धाग प्राणसमि धक है) इसलिए वह अ वयु (होता के द्वारा प्रयुक्त समिद्धेवताक याज्यामन्त्र के साथ होने वाले अपने समिद्धाग कर्मानुष्ठान काल में यजमान से यह प्रैष करे (कहे) कि हे यजमान ! तुम (समिद्धद्वारा अपने प्राण-समि धन का धन करते हुए) अपने शरीर को स्पर्श करा यदि यजमान उपतापी हो तब । (अर्थात् उत्तापदशा में ही यजमान का

* समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धा (समृद्धा वा) आहुतय —शत ७।५।३।७।

— ' ता वाऽण्ता नव याहुतयो (खुगादापननिगदमन्त्रस्य) भवन्ति नवेमे पु षे प्राणा । एतानेवा-स्मिन् (यज्ञादिशयलक्षणे दैवा मनि) एतत् (खुगादापनकम्मणा) दधाति —शत १।५।२।५।

स्पर्श करना चाहिए)। (साथ ही स्वयं अध्वयु भी यही भावना करे इसी अध्वयु कृत भावना को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है)—यदि वह यजमान ज्वरार्त्ता हो तो अध्वयु भी यही आशसन ध्यान करे)। (क्योंकि इस मेरे सामघाग से प्राणसमिधन द्वारा यजमान का ताप शान्त हो)। (अध्वयु के इस आशसन से साथ ही अपनी भी भावना से) वह यजमान (अवश्यमेव) समिद्ध हो जाता है। प्राण समिद्ध होते हुए केन्द्राभिमुख बनते हुए बाह्यतापशान्त के कारण बन जाते हैं)। यदि यजमान शीत (तापरहित स्वस्थ) है तो (उस दशा में न तो यजमान अपना स्पर्श ही करे एवं न अध्वयु आशसन ही करे)। (इस प्रत्यक्ष इष्ट फल से भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुचना पड़ता है कि समिध अवश्यमेव आध्यात्मिक प्राणों को सामद्ध करती हैं) अतएव (कहा जा सकता है कि) अपने इस सामघाग से (अध्वयु यजमाना मा मे (स्थित) प्राणों का ही समिधन करता है)। (पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्बन्ध के प्रथम वसन्त पवसामघन के साथ साथ) आध्यात्मिक प्राणसमिधन-फलप्राप्ति के लिए (भी) यह समिधन करता है ॥१॥

(२)—वह (अध्वयु समिधन के) अनन्तर (होता के-तनूनपादग्न आश्रयस्थ वेतु वौषट इस तनूनपादेवताक या-यामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके वौषट् उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आयाहुति के द्वारा क्रमप्राप्त दूसरे) तनूनपात् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। तनूनपात् निश्चय से रेत (वीच्य-शुक्र) है (क्योंकि सप्तम धातुभूत रेत ही शरीर को न गिरने देता हुआ तनूनपात् है)। (इस तनूनपाद्याग से) वह अध्वयु (दैवात्मा में प्रजननधम्म के समावेश के लिए) रेत सेक ही करता है। (पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्बन्ध के द्वितीय ग्रीष्म पर्वसमिधन के-साथ साथ) आध्यात्मिक रेत सक प्राप्ति के लिए (भी) यह तनूनपाद्याग का अनुष्ठान करता है ॥२॥

(३)—वह (अध्वयु तनूनपाद्याग के) अनन्तर (होता के इडो अग्न आश्रयस्थ यन्तु वौषट इस इडदेवताक या-यामन्त्र के उच्चारण करने के अनन्तर उसके वौषट् उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आयाहुति के द्वारा क्रमप्राप्त तीसरे) इट् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। इट् अनश्चयेन प्रजा है। जिस समय—(नवमसानन्तर एवयावरुत् नामक प्रसववायु की नोदना से नवमास पूर्व योषाग्नि में वृषा द्वारा) सिक रेत (प्रजारूप से) उत्पन्न होता है (भूमिष्ठ बनता है) उत्पत्ति के अयवहितोत्तरक्षण से ही वह (उत्पन्न प्रजा) (अन्नकामना से) इड्मयी—(अन्नमयी) सी बन कर अन्न की इच्छा करती हुई विचरने लगती है (उत्पत्त्यनन्तर ही अन्न की ओर प्रवृत्त हो जाती है)—(तनूनपाद्याग के द्वारा सिक रेत का प्रजारूप से प्रजनन अपेक्षित है प्रजनन उत्तरभावी साथ ही इट्-अन्न-अभिमुख है। अतएव अनेच्छात्मक इस उत्तरभावी प्रजननकर्म के लिए ही तनूनपाद्यागानन्तर इड्-याग आवश्यक है। पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्बन्ध के तृतीय वर्षापूर्व समिधन के साथ उत्तरभावी आध्यात्मिक इस प्रजनन फल को ही लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है कि) इस (इड्याग से) यह

अध्वर्यु (दिय प्रजा को) ही उपन्न करना है। इसीलिए (प्रजो पत्ति के लिए) इड्याग करता है ॥४॥

(४)—वह (अध्वर्यु इड्याग के) अन नर (होता के— बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट् इस बर्हिर्देवताक या या मन्त्र क उच्चारण करने पर उनके वौषट् उच्चारण के साथ आहवनी-याग्नि के समिद्ध प्रदेश में आयाहुति के द्वारा क्रम प्राप्त चाये) बर्हि (नामक प्रयाज) का यजन करता है। बर्हि निश्चयेन भूमा (बहुत्वसम्पत्ति से युक्त) है। (बर्हि-दभ-का भूमाभाव इसके मरया-बहुत्व पर एव वृ ह्णधम्म पर ही अत्रलम्बित है)। उपन्न प्रजा की भूमा प्रजावृद्धिरूप से भी अभीष्ट है एव प्रयेक प्रजा के बहुयशाभाव से भी अपेक्षित है। इड्याग से प्रजा उपन्न की गई है। अब अपेक्षित उभयपित्र भूमा-भाव का भी उपन्न प्रजा में आधान होना चाहिए। बर्हि भूमाधम्म से युक्त है। (पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्बन्ध के चतुर्थ शरत्-पर्व समिधन के साथ साथ) आध्यात्मिक इस भूमाभाव फल प्राप्ति के लिए (भी) यह अध्वर्यु बर्हि का यजन करता है ॥४॥

(५)—वह (अध्वर्यु बर्हियोग के) अन नर (होता के— स्वाहाग्निम् स्वाहा सोमम्-स्वाहाग्निम् स्वाहा देवो आयपान् स्वाहाग्नि होत्रा जुषाणा अन आयस्य व्यन्तु वौषट् इस स्वाहा देवताक या यमान्त्र के उच्चारण करने पर उसके वौषट् उच्चारण के साथ आहवनी-याग्नि के समिद्ध-प्रदेश में आयाहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पाचवे) स्वाहा स्वाहा (नामक प्रयाज) का यजन करता है। (वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त इन) पाच ऋतुओं का निश्चयेन्-हेमन्त स्वाहाकार (अन्तिम पर्व) है। (अपने स्वाभाविक कटुस्पर्श से) हेमन्त ही इस (पार्थिव प्रजावग को अपने वश में कर लेता है)। २मीलिए (हेमन्ताक्रमण से स्वविकास-लक्षण स्वातन्त्र्य से ही) हेमन्त ऋतु में ओषधियों म्लान (मुकुलित) होजाती हैं वनस्पतियों के पत्ते झड़ जाते हैं पक्षिगण अतिशयरूपेण क्षीणकाय बन जाते हैं क्षीणकाय बमते हुए निर्जीव से बनकर आकाश से तथा अपने घोंसलों से ये (पत्नी) पट-पट नीचे गिरने लगते हैं पुरुष-समुदाय मुण्डित केशपुरुष की भाँति हतश्री बन जाता है—(प्रतीत हीमें लगता है)। इसप्रकार (इन प्रयत्नदृष्ट स्थितियों के आधार पर यह कहा जासकता है कि) हेमन्त सम्पूर्ण पार्थिव प्रजावग को अपने अधिकार में कर लेता है (किए हुए है)। जिसप्रकार एक समर्थ-बलवान् योग्य व्यक्ति अपने वर्ग पर अधिकार करता हुआ वर्ग के द्वारा श्री-वित्तसम्पत्ति एव अन्नाद्य-अन्नसम्पत्ति का अ यतम भोक्ता बन जाता है एवमेव हेमन्तयागकर्त्ता भी अपने समाज का नेता बनता हुआ श्री-और अन्नाद्य का अन्यतम भोक्ता बन जाता है। हेमन्तयाग के इसी फल का अपने शब्दों में अभिनय करती हुई अति कहती है)—वह यजमान जिस अर्द्ध (समाज) में रहता है उस अर्द्ध को श्री और अन्नाद्य के लिए स्वीकृत कर लेता है (उस समाज को अपने वश में कर तद्द्वारा अभीष्ट श्री अन्नाद्य प्राप्त करने में समर्थ होजाता है) ज कि यजमान (साथ ही यजमानदत्त दक्षिणा से परिगृहीत प्रयाजकर्त्ता अध्वर्यु भी)

हेमन्त के (उक्त लक्षण) सर्वाधिपथ को जान लता है । (हेमन्तयाग का आयागिक फल सर्वाधिकारभावप्राप्ति ही है यही तापय्य है) ॥५॥

इति-प्रयाजावृत्त (पद्धति)-(४)

प्रयाजानुमन्त्रण

प्रस्तुत प्रयाजकर्म मे एक प्रयाजानुमन्त्रण नामक कर्म-विशेष यजमान को करना पड़ता है । पाँच प्रयाजों के लिए होतृकृतक पाच आयाग है जिनका पूर्वक प्रयाजावृत्त प्रकरण मे स्पष्टीकरण किया जा चुका है । पाच आयाग प्रयाजमन्त्र है । जिस समय १-२-३-४-५-क्रम से होता पाँच आयागमन्त्रों का उच्चारण करता है उस समय प्रत्येक आयागमन्त्र की समाप्ति पर यजमान भी एक एक निगदमन्त्र का उच्चारण करता है । यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने द्वाभा के साथ सम्बन्ध करता है । अतएव यजमानकृतक ये मन्त्र प्रयाजानुमन्त्रण कहलाए है । उन पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों का स्वरूप निम्नलिखित है—

(१)-होता- समिद्धो अग्न आयाय यतु वापट् -यजमान - इद समिद्भ्यो न मम । एको मम एका तस्य यमह द्वेष्मि योऽस्मान् द्वेष्मि यच वय द्विष्म । त्विषिमान् भूयासम् (समिदनुमन्त्रणम्—१) ।

(२)-होता तनूनपादग्न आयायस्य वेतु वौषट् यजमान इद तनूनपाते न मम । द्वौ मम द्वे तस्य यच वय । अपचितिमान् भूयासम् (तनूनपादनुमन्त्रणम्—२) ।

(३) होता इडोअग्न आयायस्य वेतु वौषट् यजमान इदमिद्भ्यो न मम । त्रयो मम तिस्रस्तस्य यच वय । यशस्वी भूयासम् (इडनुमन्त्रणम्—३) ।

(४) होता बर्हिर्ग्न आयायस्य वेतु वौषट् यजमान इद बर्हिषे न मम । चत्वारो मम चतस्रस्तस्य यच वय । ब्रह्मवचसी भूयासम् (बर्हिर्नुमन्त्रणम्—४) ।

(५)-होता- स्वाहाग्निं स्वाहा सोम स्वा यन्तु वौषट् यजमान - इदमग्नये सोमाय अग्नये न मम । पञ्च मम न तस्य किञ्चन-यच वय । अन्नादो भूयासम् (स्वाहानुमन्त्रणम्—५) ।

अबतक के ब्राह्मणभाग में होतृकृतक प्रयाजमन्त्रों का एव अन्वय्युक्तक आहुति-कर्म से सम्बन्ध रखने वालों आयाग विशेषताओं का पद्धति-प्रदर्शन-पुरस्सर निरूपण हो चुका है । पूर्वक अज्ञातक यजमानकृतक प्रयाजानुमन्त्रण मन्त्रों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है । प्रकृत शेष ब्राह्मणभाग में उस प्रयाजानुमन्त्रण की ही पद्धतिप्रदर्शन-पूर्वक उपपत्ति बतलाई जा रही है । इस उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाला एक आर्यायन सवप्रथम उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है—

देवदेवता और असुर दोना प्राजापत्य (प्रजापति की सत्तान) परस्पर स्पर्द्धा (युद्ध) करने लगे । (दोनों हीं) दण्ड तथा धनुषों से (एक दूसरे पर) विजय प्राप्त न कर सक (भौतिक शस्त्रबल से युद्ध का निश्चित परिणाम न निकल सका) । (अपने आयुधयुक्त युद्धक म से) विजय लाभ न करते हुए दोनों न यह निश्चय किया कि अरे भाई (हत भला अच्छा तो) अपन वागरूप ब्रह्म क मा यम से ही जीतने की इच्छा करै (शास्त्रार्थ के द्वारा युद्ध का निणय करै) । (इस मन्त्रात्मिका वाक के युद्ध मे वाचिक युद्ध म) अपन दोनों म से जो भी- (एक दूसरे द्वारा) प्रयुक्त वाक का मिथुनभाव से अनुक्रमण द्वारा (युग्म द्वारा) अनगत न करेगा वह हार जायगा दूसरा (मिथुनभावानुगत दल विजेता माना जायगा दोनों ने सधा (शत) मान ली (तथेति) । (प्रस्तुत वागयुद्ध मे इ २ को ही योग्य अधिकारी मान कर) देवदेवताओं न इन्द्र से कहा कि (हमारी ओर से देवमण्डली की ओर से) आप ही वाक-शास्त्र का प्रयोग कर । ॥६॥

(देवप्रेरणानमत) २ द्र (ही वाग युद्ध का प्रारम्भ करते हुए असुरों को लक्ष्य बनाकर) बोले- 'एको मम (हमारा एक है) । 'अस्माकमेका' (हमारी एक है) यह (प्रयुत्तर मे) असुर बोले । इस प्रथम (बाढमय) स्पर्द्धा कम्म से (प्रतिज्ञात सधा-सार) देवदेवता असुर-दोनों न मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है जो एक और एका है । (योषा वृषामक स्त्री-पुम्भाव का समवित रूप ही मिथुनभाव है । पुम्वाचक एक से वृषामक पुम्भाव का एव स्त्रीवाचक एका से योषामक स्त्रीभाव का समग्र हो रहा है । दोनों के समग्र से मिथुन-भाव गताथ बन रहा है यही तापर्य है) ॥७॥

(प्रथम मिथुनावाच्यनन्तर) 'द्वौ मम' यह इन्द्र बोले एव प्रयुत्तर में 'अस्माक द्वे' यह असुर बोले । इस कम्म से (भी दोना न) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है जो द्वौ (पुम्वाचक शब्द) एव द्व (स्त्रीवाचक शब्द) है ॥८॥

(द्वितीय मिथुनावाच्यनन्तर) 'त्रयो मम' यह इन्द्र बोले एव प्रयुत्तर में 'अस्माक तिस्रः' यह असुर बोले । इस कम्म स (भी दोनों न) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है जो कि त्रय और तिस्र है ॥९॥

(तृतीय मिथुनावाच्यनन्तर) 'चत्वारो मम' यह इन्द्र बोले एव प्रयुत्तर म 'अस्माक चतस्रः' यह असुर बोले । इस कम्म से (भी दोनों न) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है जो कि- चत्वार और चतस्र है ॥१०॥

(चतुर्थ मिथुनावाच्यनन्तर) 'पञ्च मम' यह इन्द्र बोले । (इन्द्र के इस बाढमय पञ्च पर्व के प्रयुत्तर के लिए) असुर कोई साधन प्राप्त न कर सके । (क्योंकि चत्वार चतस्र ' से आगे-स्त्री-पुल्लिङ्ग भेदक लिङ्ग का ही अभाव है । अतएव) इससे आगे मिथुन का अभाव है । आगे तो-स्त्री-पुम्भाव दोनों के लिए) पञ्च पञ्च इस समान शब्द का ही प्रयोग होता है । (बस

यहा आकर पूव प्रतिज्ञात सधा के अनुसार इन्द्रप्रयुक्त पञ्च के मिथुन की पूर्ति करने म असमथ रहते हुए) असुर अपना सवस्व (पहिले के चार मिथुन भाव भी) हार गए । उधर देवदेवताओं न (मिथुन मर्यादानुगमन से) असुरों का भी सवस्व जीत लिया । सम्पूर्ण मिथुनों से (तद्रूप प्रयाजकर्मों से) सपन असुरों को भागरहित बना दिया ॥११॥

(क्योंकि प्राकृतिक प्राणयज्ञ म देवासुर स्पर्द्धा में मिथुनभाव के द्वारा देवदेवता असुरों क पराभव से समथ हुए हैं । अतएव इस पञ्चप्रयाज कर्म में भी प्रयाजानुम त्रण-मन्त्रों में क्रमश एक एका इत्यादि मिथुन भावामक पदों का समावेश कराता हुआ मिथुनसम्पत्ति ऋतुपञ्चात्मिका पाङ्क यज्ञ सम्पत्ति-पर अपना अन य अधिकार जमा लेता है । यही अनुम त्रण-मन्त्रों की एव तत् पठित- एक -एका आदि मिथुनभावा की मौलिक उपपत्ति है जिसका वैज्ञानिक बिरलेषण तत्प्रकरणानुगत विवेचना-प्रकरण म किया जायगा । प्राकृतिक मिथुनभाव के आधार पर प्रतिष्ठित इसी प्रयाजानुम त्रणकर्म की इतिकत्त यता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

इसलिए (पूर्वोक्त मिथुनभावावाप्ति के लिए) उस यजमान को प्रथम प्रयाज समाप्त होने पर यह (प्रयाजानुम त्रणमन्त्र) बोलना चाहिए कि- एको ममेयेका तस्य यमह द्वेषिम् (एक मेरा है, एक उनकी है जिससे म द्वेष करता हूँ) । यदि यजमान किसी को अपना यक्तिगत शत्रु नहीं मानता है यक्तिगत द्वेष नहीं करता है तो उस अवस्था में (यमह द्वेषिम् न बोल कर) — योऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्म (जो हम से द्वेष रखता है जिसके प्रति हम सहज वैर रखते हैं) यह बोलना चाहिए (इस १२ वीं कण्डिका के अनुवाद से ही १३ १४ १५ कण्डिकाओं का एव सोलहवीं कण्डिका के पूवसमतुलित भाग का अनुवाद गतार्थ बन रहा है ॥ १३ १४ १५ ॥

वह यजमानशत्रु (पाचव प्रयाज में यजमान के द्वारा प्रयुक्त— पञ्च मम-न तस्य-किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्म इस प्रयाजानुम त्रण-मन्त्र के द्वारा) केवल पञ्च पञ्च करता हुआ ही रह जाता है । उसे मिथुनसम्पत्ति उपलब्ध ही नहीं होती । परिणाम स्वरूप वह यजमान अपने शत्रुवग का सब कुछ छीन लेता है सबसम्पत्ति से सपत्नो को भागरहित (वञ्चित) कर देता है जो यजमान प्रयाजानुमन्त्रण से सम्बन्ध रखने वाले मिथुन विज्ञान को जानता हुआ तत्प्रयोग करता है ॥१६॥

इति-प्रयाजानुमन्त्रणम् (५)



पाँचव अध्याय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पाचवा ब्राह्मण समाप्त
२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त द्वितीय ब्राह्मण समाप्त
(पाँचवा अध्याय समाप्त)

२

❀ जिसके साथ द्वेष हो उस का- कामशत्रु -क्रोधशत्रु लोभशत्रु -लोकैषणात्मक शत्रु इत्यादिरूप से उस शत्रु के नाम का सन्निवेश कर देना चाहिए ।

(छठा अध्याय प्रारम्भ)

प्रथमकाण्ड म छठे अध्याय म पहिला चौथे प्रपाठक में छठा ब्राह्मण

(११६१)—(११६६)

(३—त्रिब्राह्मणात् क प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण)

६—प्रयाजों का इष्टि मे प्राथम्य

त्रिब्राह्मणामक प्रयाजब्राह्मण के पूर्वोपात्त प्रथम ब्राह्मण में (११६३) आरम्भ के ऋतवो ह वै प्रयाजा २ यादिरूप पञ्च-पञ्चकण्डिकात्मक भाग क द्वारा प्रयाजबन्धु (प्रयाजकर्मोपपत्ति) का प्रतिपादन हुआ है। वहा यह स्पष्ट किया गया है कि यह पञ्च प्रयाजयाग सम्बन्ध में भुक्त स ताद पाच ऋतुओं पर यजमाना मा का अधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि देवता और असुरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा म देवताओं ने अपने विजय का साधन पाँच प्रयाजों को ही बनाया। इन पाच प्रयाजों से (पञ्चप्रयाजयाग स) वे पञ्चत्त की समष्टिरूप सम्बन्ध सर सम्पत् पर अपना अधिकार करने में समर्थ होगए। इस उक्त उपपत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रयाजकर्म वस्तुतः ऋतुकर्म है। ऋतुओं का यजन ही प्रयाजयजन है। अब इप सम्बन्ध मे य२ जिज्ञासा हाती है कि सम्बन्धरबद्ध म—जिसमें साम्बन्धक प्राणविध देवदेवताओं के भाग नियत है—ऋतुओं का (ऋतुदेवताओं का) क्या भाग है?। दूसरी जिज्ञासा का अग्नि से सम्बन्ध है। समिद्ध आहवनीयाग्नि में इन ऋतुरूप प्रयाज-देवताओं के लिए आज्याहुति विहित है। यह समिद्ध अग्नि साम्बन्धक दि-याग्नि का प्रतिरूप है। अतएव सिद्ध होजाता है कि प्राकृतिक पञ्चत्त ओं का भी (अ य देवदेवताओं की भाति) अग्निदेव के साथ अवश्य ही कोई न कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह अग्नि-सम्बन्ध भी प्रकृत में विजिज्ञास्य बन रहा है। इस अग्नि-सम्बन्ध जिज्ञासा का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि ऋतुरूप पञ्च प्रयाजों के लिए होता की ओर से जो पाँच याज्यामन्त्र प्रयुक्त होते हैं उन पाँचों ही मन्त्रों में समिद्धो अग्नि आज्यस्य यन्तु — तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु ' इयादिरूप से अग्नि' का समावेश है। जबकि पाँचों मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली पाँचों प्रयाजाहुतियों क्रमशः समित् तनूनपात् इट बर्हि स्वाहा इन पाँच प्रयाज-ऋतु-देवताओं के लिए ही विहित हैं तो तद्देवताक याज्यामन्त्रों में अग्नि पद का समावेश क्यों हुआ? क्यों-प्रयाजयागात्मक आज्य में अग्नि को भी भागहर माना गया?। तीसरी जिज्ञासा का प्रयाज-प्राथम्य से सम्बन्ध है। प्रधानदेवतायाग ही इष्टिकर्म है। इस इष्टिकर्म में ऋतुओं की तप्ति के लिए तो प्रयाज कर्म विहित है एव छदों की तृप्ति के लिए अनुयाज कर्म विहित है। इन दोनों में प्रयाज कर्म प्रधानदेवता-यागलक्षण इष्टिकर्म से पहिले हाता है अनुयाजकर्म इष्टिकर्म से पीछे। यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि प्रयाजकर्म का इष्टिकर्म में प्राथम्य क्यों है?। इब हीनों जिज्ञासाओं का प्राकृतिक आधिदैविक ऋतुयज्ञ से ही सम्बन्ध है तद्विज्ञान ही इस जिज्ञासात्रयी का तार्किक समाधान है। प्रस्तुत-ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर १५ वीं

कण्डिका पर्यन्त इसी जिज्ञासा त्रयी का सोपपात्तिक विश्लेषण हुआ है। अतएव पञ्चदशकण्डिका-कामक इस ब्राह्मण भाग का एक स्वतंत्र प्रकरण माना जा सकता है जिसे हमन— प्रयाजा का इष्टिम प्राथम्य नामकरण अन्वय माना है। १६ वीं कण्डिका से आरम्भ कर १८ वीं कण्डिका पर्यन्त तीन कण्डिकाओं में अभिचार कम्म का निरूपण हुआ है यही प्रकृत ब्राह्मण का कण्डिकाप्रयामक द्वितीय करण है। १९ वीं कण्डिका में फलश्रुति का विश्लेषण हुआ है यही एक कण्डिकाकामक तृतीय प्रकरण माना गया है। १९ २ न दो कण्डिकाओं में प्रयाज कम्म से सम्बन्ध रखने वाले परिशिष्ट आ य देवतादि प्रश्ना का विमश हुआ है यही प्रस्तुत ब्राह्मण का परिशिष्ट प्रश्नोत्तरविमश नामक अंतिम प्रकरण है। सम्भूय २१ कण्डिकाकामक प्रकृत तृतीय प्रयाजब्राह्मण में ४ अत्रांतर प्रकरण होजाते हैं जिन्हें पूर्वब्राह्मण-द्वयी में प्रतिपादित ५ प्रकरणों का क्रमिक सख्या के अनुरोध से क्रमशः ६ ७ ८ ९ वें प्रकरण माना जा सकता है। इस प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य बना कर ही प्रकृत ब्राह्मणानुवाद का सम वय करना चाहिए— (सैषा प्रकरणसङ्गात)

(प्रयाजयाग ऋतुयाग है इसका प्राकृतिक सम्बन्धसराग्नियज्ञ में एक विशेष प्रथम स्थान है इसी आधिदैविक तत्त्व का एक वैज्ञानिक आरयान के द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—(वसन्तादि पाचों याज्ञिक) ऋतुओं ने (प्राणविध) देवताओं के साथ यज्ञ (सम्बन्धसराग्निलक्षण सोमगभित योतिषोमयज्ञ) में (अपना भी) भाग चाहा (अर्थात् जिस प्रकार देव देवताओं का यज्ञाग्न में भाग है एवमेव ऋतुओं ने भी उसके भागीदार बनने की देवत्वताओं से कामना प्रकट की। अपनी इसी कामना को प्रकट करते हुए ऋतुओं ने देवदेवताओं से अनुरोध किया कि) आप लोग इस यज्ञ में हम भी भागा (हिस्सेदार) बनाइये । हम इस यज्ञ (भाग) से वञ्चित न कीजिए ! (हम चाहते हैं कि आप लोगों की भाँति) इस यज्ञ में हमारा भी भाग रहे ॥ १ ॥

(जिसप्रकार किसी आगन्तुक सम्पत्ति-भोक्ता सम्पत्तिभाग कामुक के आ जाने से उसके विभाग माँगने पर स्वाभाविक वित्तलोभ के आकषण से लोक में सम्पत्ति का प्रथमभोक्ता आगन्तुक की उस यायप्राप्त माग की उपेक्षा कर देता है सुनी अनसुनी कर देता है ठीक इसी लौकिक वित्त-स्थिति के अनुसार ऋतुओं के द्वारा यज्ञभाग मागने पर) देवताओं ने ऋतुओं की उस (यायप्राप्त माँग-कामना को) न पहिचाना—सुन कर भी ऐसी उपेक्षावृत्ति बिखलाई जैसे उहोंन कुछ सुना-जाना ही न हो)। देवताओं की उपेक्षावृत्ति का ऋतुओं की यायप्राप्त माँग ठुकरा देने का वही परिणाम हुआ जो आज भी प्रयत्न में देखा सुना जाता है। यदि किसी को अपना यायप्राप्त अधिकार माँगने से भी नहीं मिलता जो वस्तुतः बिना माँगें भी मिल जाना चाहिए तो उस अवस्था में माँगने वाले का आत्मा विनोही बन कर उस वित्तभोगी-भोगरोगी के प्रति द्रुद्धी-शत्रुदल में जा मिलता है। यही ऋतुओं ने किया। इसी प्राकृतिक धर्म का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है) प्राणविध देवदेवताओं के इसप्रकार (अपनी माँग के) न जानने पर (उपेक्षा करने पर) वे ऋतुएँ (उत्पन्न स्वाभाविक आत्मविद्रोह के कारण) देवदेवताओं के सहज शत्रु भ्रातृव्य असुरों की ओर लौट आई असुरदल में समाधिष्ठ हो गई) ॥२॥

(अपने शत्रु की समृद्धि सुन सुन कर विपत्तीदल को अन्तर्वेदना का स्वाभाविक अनुभव हुआ करता है । यदि किसी से बदला लेना हो तो उसे चाहिए कि वह उसके शत्रुदल में मिल जाय । और उससे मिल कर उसके उस समृद्धिकर्म में अपना सहयोग देकर उस समृद्धि को और भी अधिक समृद्ध बनावे जिस समृद्धि को सुनने मात्र से विपत्ती दल की वेदना वृद्धिगत हो जाती है । ऋतुओं ने इसी पथ का आश्रय लिया । असुरमण्डल की ओर आगत) ऋतुओं ने (असुरों के लिए) उस समृद्धि को (और भी अधिक) समृद्ध करना आरम्भ किया जिस (असुरसमृद्धि) को देवता सुना करते हैं (सुन कर व्यथित हुआ करते हैं) । (ऋतुओं के द्वारा असुरों की पूर्वसमृद्धि में क्या विशेषता उपन्न हो गई ? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि)—जिस परायुग में इन असुरों के पूर्वज (ऋतुओं के अनुकूल सहयोग न मिलने से) जिस समय (मौसम में) हल जोत थे (हल जोत कर) बीज डालते थे (इस प्रकार हल जोत कर बीज डाल कर बड़े परिश्रम से थोड़ा बहुत अन्न उपन्न कर यनकनरूपेण बड़े कष्ट से अपना निर्वाह करते थे उही असुरों के) वंशज (अपरे)—इन ऋतुओं के अनुग्रह से आज उसी मौसम में) कुछ तो धान काट रहे हैं कुछ कटे हुए धानों को बैल आदि से खुदवा रहे हैं । इस प्रकार (ऋतुओं के अनुग्रह से आज) उन-आसुर प्रदेशों में बिना ही हल जोते पुन पुन ओषधि पक रही है । (तात्पर्य ऋतु-अनुग्रह से पहिले जिन इन असुरों के पूर्वजों को जिस मौसम में हल जोत कर बड़े कष्ट से अन्न उपन्न करना पड़ता था आज उनके वंशज असुर ऋतुओं के अनुग्रह से उस मौसम में तो धान का सग्रह कर लेते हैं । साथ ही इन्हें हल जोतने का भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता । ऋतु-अनुग्रह से बिना हल जोते ही इनके देश में पर्याप्त अन्नसम्पत्ति उत्पन्न होती रहती है । यही वह प्रभूत समृद्धि है जिसे सुन सुन कर देवता व्यथित हो सकते हैं ॥ ३ ॥

(देवदेवताओं के समीप भी कर्णाकर्णिकद्वारा ये समाचार पहुंचे । वही हुआ जो होना चाहिए था) । असुरसमृद्धि सुन कर देवदेवताओं का बड़ा पश्चात्ताप (आग) हुआ । (इन्होंने प्रज्ञा पराध-जनित इस पश्चात्ताप को इन शत्रुओं में प्रकट किया कि)—हमारे इस (ऋतुओं को उनके यायप्राप्त भाग न देने के) कारण (ही) आज शत्रुदल- (असुरलोग) अपने शत्रुदल (देवदल) के प्रति (स्पर्धापूर्वक) शत्रुता करना चाहता है (अर्थात् हम से उपेक्षित ऋतुओं के बल से ही समृद्ध बन कर आज वे असुर यहाँ तक समर्थ हो गए कि वे-खुल्लमखुल्ला हम से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हैं । आज असुरों का यह साहस हो गया है कि वे प्रयत्न में हम से शत्रुता रखते हुए भी नहीं डर रहे । वास्तव में) ऐसा हो जाना बहुत ही कमी है—(कनीय इ-नु लज्जा की बात है) । ऋतुओं के अनुग्रह से आज असुर बलवान् बन गए हैं । अतएव प्रयत्न में इनसे मुटभेद करना तो और भी पश्चात्ताप का कारण होगा । अतएव अब तो) आप सब (मिलकर) वैसा कोई (अप्रत्यक्ष सहज) उपाय निकालिए जिससे असुर लोग अपनी इस (वर्तमान समृद्ध स्थिति से विपरीत (असमृद्ध-निबल) अवस्था में (स्वत एव) पहुँच जाय ॥ ४ ॥

(सभी यह जानते थे कि ऋतुआ को उनका याचप्राप्त भाग न मिलने से वे असुरा म जा मिलीं परिणामस्वरूप असुर समृद्ध होगए। अब उहे अप्रयत्न रूप से निबल बनाने का भी यही उपाय हो सकता है कि जैसे बने तसे ऋतुओं को वापस लौटा लिया जाय। परामर्श के द्वारा यह निश्चय कर) देवदेवता (अपना मत य प्रगट करते हुए) कहने लगे कि अपन (इस सकट से बचने के लिए असुरदल मे पहुच जाने वाली) ऋतुओं को ही निमन्त्रित कर (आदर-पूर्वक ऋतुओं को ही वापस बुलाना चाहिए। उपाय निकल आया। परन्तु किस साधन से (किस प्रलोभन से) उन्हें बुलाया जाय ? यह समस्या आपड़ी। समस्या का कारण यही था कि ऋतुए देवताओं से तिरस्कृत होकर ही गई थीं। उन्हें अपने प्रिय यज्ञ में भाग नहीं मिला था। आज भी वे लौट सकती हैं। परन्तु प्रलाभन ऐसा होना चाहिए जो पूर्वप्रलोभन से भी अवशिष्ट हो। वह यही हो सकता है कि जिस यज्ञभाग की उहे कामना थी स्वाभाविक प्रलाभन था उसका प्रथम भागहर ऋतुओं को ही बनाया जाय। अवश्यमेव इस विशिष्ट प्रलोभनाकषण से वे वापस लौट आएंगी। इसी तात्पर्याथ का निगूदशन कराती हुई श्रुति कहती है कि)—अपन इन ऋतुओं का इस यज्ञ म सर्वप्रथम ही यजन कर (अर्थात् पहिला भाग इहे ही दिया जाय—आपको प्रथमभाग मिलेगा यही सदेश ऋतुओं के पास भेजा जाय। विश्वास है इस साधन से अवश्य वे हमारी ओर आजायेंगी) ॥५॥

(देवमखल में वे अग्निदेव भी समुपस्थित थे जिहे यज्ञ में देवतालग सब से पहिला भागहर मानते आरहे है। ऋतुयाग से भी पहिले अग्नि का ही प्रथम यजन होता आया है। जब अग्नि ने यह निणय सुना कि ऋतुनक्षण प्रयाजा का य लग प्रथम यजन करने वाले है तो उन्हें अपने प्रथमाधिकार की चि ता हुई। इसी चि ता को यक्त करते हुए) अग्निदेव बाल पडे कि—(हे देवदेवताओं !) आपने जा कि पाहले (प्रयाजयाग से भी पहिले) मेरा यजन किया है (पहिला भागहर बनाया है) वह मै (यज्ञ म) कहा प्रतिष्ठित रहूँगा (आन को भय यह हुआ कि मुझे इहोंन यज्ञ का प्रथमभाग पहिले से दे दिया है। आज ये ऋतुओं को भी प्रथम भाग देना चाहते है। कहीं ऐसा न हा कि मेरा भाग छीन कर ऋतुओं को दे दिया जाय। यदि कहीं ऐसा हो गया तो मेरी प्रतिष्ठा ही उच्छिन्न हो जायगी। देवताओं ने अग्निदेव की इस चिन्ता को इटाते हुए आश्वासन दिण कि) अग्निदेव ! (आप चिन्ता न करै) हम आपको अपने आयतन (प्रथमभागलक्षण प्रतिष्ठास्थान) से कभी न गिरावेंगे। (देवताओं का यह आश्वासन अवश्य ही सुरक्षित रहता है। अग्निदेव का प्रथमभाग अक्षुण्ण ही बना रहता है। इसी स्थिति का दिगदशन कराती हुई श्रुति कहती है कि) उन देवदेवताओं ने (प्रथमभाग प्रलोभन-साधन से) ऋतुओं को बुलाते हुए (भी उन्हें प्रथमभाग देते हुए भी) क्योंकि अग्निदेव को अपने उनके आयतन से (प्रथमभाग से) च्युत नहीं किया अतएव (तब से, इसी अच्युत-भाव से) वे अग्निदेव अच्युत नाम से ही प्रसिद्ध होगए। (जिनके लिए उभयत्राच्युत आग्नेय पुरोडाश विहित है)। वह याज्ञिक भी अपने उस आयतन से कभी च्युत नहीं होता है जिस आयतन में वह प्रतिष्ठित रहता है, जाकि इस अच्युत अग्नि को (अग्नि के इस अच्युत धर्म को) जानता है ॥६॥

(देवताओंमें अग्नि का न वामायतनाच्छ्यावयाम इत्यादिरूप से वाचिक सतोष तो करा दिया परन्तु इस से समस्या अधिक उक्तष्ट बन गई । प्रथमयजन कम्म एकबार ही सम्भव है । ऋतुओं का प्रथमयजन कर लिया जाय अथवा तो अग्नि का प्रथम यजन कर लिया जाय । अग्नियजन हो चुका है । यदि इन्हें इसी स्थान पर प्रतिष्ठित रखना है तब तो ऋतुओं का प्रथमयजन असम्भव हो जाता है । यदि ऋतुओं का प्रथमयजन किया जाता है तो अग्नि के प्रथम भाग के अपहरण के अतिरिक्त अय उपाय का अभाव है । फलस्वरूप अग्निदेव के साथ की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह असम्भव हो जाता है । इस जटिल अवस्था के निराकरण के लिए देवदेवताओं के ध्यान में एक उपाय आया । उन्होंने यह निश्चय किया कि प्रथमयजन का प्रलोभन प्रथम भागहर अग्नि के द्वारा ही ऋतुओं के समीप पहुँचाना चाहिए । पारणाम यह होगा कि ऋतुदेवता अग्निदेवता को प्रथम यजनरूप प्रिय भाग का लाने वाला समझ कर इनसे अवश्य ही यह कहेंगे कि जब आप अपना प्रथम यजन उपेक्ष्य मान कर हमें प्रथम भागहर बनाने का त्याग कर रहे हैं ता हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने इस प्रथम यजन से आपको पृथक् न करें अपितु आपका भी अपने प्रथम यजन कम्म में ही समावेश कर लें । इस प्रकार ऋतुदेवताओं का भी प्रथम यजन हो जायगा साथ ही ऋतुयाग में समाविष्ट होने से अग्निदेव का प्रथम यजन भी सुरक्षित रह जायगा । इसी भाव का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—)

(उक्त मंत्रणा के द्वारा उक्त निश्चय कर) देवदेवताओंमें अग्निदेव से कहा कि (हे अग्निदेव !) जाइए (और) आप ही उन (अगुरप्रविष्ट) ऋतुओं को निमन्त्रित कीजिए । (प्रेरणानुसार अपने स्वाभाविक आह्वानलक्षण हौत्र धर्म की अपेक्षा से) अग्निदेव (वहाँ पहुँचे वहाँ) पहुँच कर (उन ऋतुओं से) अग्नि कहने लगे कि हे ऋतुदेवताओ ! मैं देवताओं के यज्ञ के प्रति आपका भाग जान लिया है (अर्थात् देवताओं के इस निश्चय की मैं आपको सूचना देने आया हूँ कि वे अपने यज्ञ में आपको प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं) । (ऋतुदेवताओं वा पहिले अपमान हो चुका था । अतएव वे तबतक सतुष्ट नहीं होने वाले थे जब तक कि उनके सामन पहिले यज्ञभाग से बढ कर कोई प्रिय साधन देवताओं की ओर से देने का निश्चय नहीं हो जाय । उन्होंने सोचा कि यदि वे केवल यज्ञभाग ही देना चाहते हैं तब तो अपन लौटेंगे नहीं । हा यदि वे प्रथम भागहर बनाना निश्चित कर चुके हैं तो अपना मान सुरक्षित रह सकता है फलतः मानपूर्वक ही वहाँ लौटना भी श्रेयस्कर बन सकता है । साथ ही भागविभक्ति के समय वे यह भी देख चुके थे कि प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है । वे ही अग्निदेव अपना भाग छोडकर उसे हमें देने आए होंगे इसकी कोई सम्भावना है नहीं । और बिना प्रथमभाग के अपन लौटेंगे नहीं । इसी आशङ्का के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निमन्त्रित ऋतुदेवता अग्निदेव से पूछने लगे कि हे अग्निदेव ! देवताओं के यज्ञ के प्रति) आपने कैसे (हमारा भाग) जान लिया (अर्थात् देवताओं में हमें पहिले के समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित कि है अथवा वे हम प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं ? । ऋतुदेवताओं की इच्छानुसार देवसंकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए अग्निदेव कहने

लगे कि हे ऋतुदेवताओ । देवदेवता अपने) यज्ञ म आपका सबप्रथम ही यजन करगे (आपका प्रथमभागहर बनाने का ही देवताओं न निश्चय किया है) ॥७॥

(जब अग्निदेव क द्वारा ऋतुदेवताओं को यह विदित हा गया कि अपने न देवदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं जो यज्ञ कम्म म कवल उभयत्रायुत प्रधानभूत अग्निदेव के लिए ही विहित है और वही प्रथमभागहर अग्निदेव यह जानते हुए भी कि जो प्रथम भाग मेरा प्रा तेस्विक धन है उसे देवमण्डलोपकार क लिए मुझे ऋतुदेवताओं का बिना किसी सकोच क सौप देना चाहिए तो उन ऋतुदेवताओं का हृदय अग्निदेव क इस अप्रवृत्तता के प्रति कृतज्ञता से आप्लावित हो गया । प्रयुपकार की भावना से इहोंन भी यह निश्चय कर लिया कि जिसने अपने लिए अपना स्वत्व छोड दिया उसे कभी अपने प्रथकून करगे । फलत अपने नियम पूवप्राप्त प्रथम भाग से युक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो जायेंगे प्रयुपकार भा हो जायगा साथ ही जिन देवताओंन सकटापन्न स्थिति जानते हुए भी प्रथमभाग अपने लिए नित्य कर दिया उनकी अग्निदेव के प्रति की गई- न त्वामायतना चावयाम इस प्रातज्ञा का भी रक्षा हो जायगी । यह निश्चय कर ऋतुओंन अपने प्रथम भाग म अग्निदेव का भी समावेश कर लिया । इसी स्थिति का ऋतुओं के साथ अग्नि का अनिष्ट सम्ब ध है इस स्थिति का उपपादन करती हुई श्रुति कहती है)—

(निमन्त्रण देने वाले प्रथम भागहर अग्निदेव के उक्त याग से प्रभावित होकर प्रत्युप- कार मे अग्निदेव के प्रातिस्विक प्रथम भागाधिकार को सुरक्षित रखने की कामना से) उन ऋतुओंन अग्निदेव से कहा कि (हे अग्निदेव । आपके इस उपकार के बदले) हम आपका हमारे में (हमारे प्रथमभाग मे) भागहर बनाते है जो कि आपने देवताओं के यज्ञ के प्रति हमारे लिए (अपना अधिकार छोडते हुए) भाग (प्रथमभाग) जाना (अपने प्रथम भाग का हमारे लिए स्वीकार कर अपनी उदारता का याग का परिचय दिया) । (क्योंकि देवदेवताओं के सम्ब सरयज्ञ में प्रथमभाग लेने वाले ऋतुदेवताओ की ओर से अग्निदेव भी समाविष्ट हुए थे अतएव तभी से) य अग्निदेव (दिव्यप्राणाग्नि) ऋतुओं में समाविष्ट है (ऋतुओं से अग्निप्राण का समवय प्राकृतिक है इसी सहज सम्ब ध को लक्ष्य में रखकर प्रयाजदेवताक आहुति कम्म में प्रत्येक प्रयाजयाग के साथ अग्नि का भी यजन होता है । अतएव च प्रयाजदेवताक याज्या मत्रों में)— समिधोऽग्ने तनूनपादग्ने इडोऽग्ने बर्हिरग्ने स्वाहाग्निम् (इत्यादिरूप से अग्निपद का समावेश हुआ है) । वह (यज्ञातिशयरूप फलभोक्ता यजमान प्रयाजकर्मैतिकर्त्तव्यतापूरक अत्त्विक्) उस पुण्यकर्म में निश्चयेन भागहर बन जाता है जिस पुण्यकर्म में वह (पुण्यकर्म सूचक के प्रति प्रवर्त्तक के प्रति सयोजक के प्रति) समान करता हुआ (उसे भी संयुक्त करता हुआ) तत् पुण्यकर्मानुष्ठान करता है । (प्रयाजकर्मानुगत अग्निसमावेश से) अग्निप्राणयुक्त बने हुए उस (पुण्यकर्मा) के लिए अग्निप्राणयुक्त (ही अतएव समृद्ध ही) ऋतुएँ उन सम्पूर्ण आषधियों का परिपाक करती हैं जो कि (उक्त विज्ञान परिचय के आधार पर) ऋतुओं में अग्नि की समाविष्ट जानता है ॥८॥

ॐ

ॐ

ॐ

ॐ

ॐ

(पूर्वप्रकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रयाजदेवताओं का यजन पहिले होता है । इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में एक पूर्वपक्ष उपस्थित किया जा सकता है । पूव के होतृप्रकरण ब्राह्मण में (१।१।२) वरणाथक मन्त्रा की यारया करते हुये श्रुति ने देवाह्वानकर्म का क्रमिक विश्लेषण किया है । वहा आह्वान का जो क्रम बतलाया गया है उसम प्रयाजदेवताओं का अन्तिम स्थान पडता है जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

“आवह देवान् यजमानायेति, तदस्मे यज्ञाय देवानावोढवाऽआह । अग्निमन्नऽआ वहेति, तदाग्नेयाज्यभागायाग्निमावोढवाऽआह । सोममावहेति, तत् सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवाऽआह । अग्निमावहेति, तद्यऽएषऽउभयत्राभ्युतऽआग्नेय पुराडाशो भवति, तस्माऽअग्निमावोढवाऽआह । अथ यथादेवतम् । देवाँ २॥ ऽआज्यपा २॥ आवहेति, तत् प्रयाजानुयाजानावोढवाऽआह । प्रयाजुनायाजा वै देवाऽआज्यपा ”—

—शत १।१।२।६।१७,।

(उक्त देवता-आवाहनश्रुति से स्पष्ट है कि आज्यपा प्रयाज देवताओं का आवाहन सब के अन्त म विहित है । श्रौत पद्धति मे यह भी नियम विहित है कि जिस देवता का जिस क्रम से आवाहन विहित है उसी क्रम से तद्देवता का यजन विहित है । सर्वत्र देवावाहन क्रम से ही देवयाग विहित है । देखते है प्रकृत प्रयाज कर्म में इस समान पद्धति-नियम का इसलिए उल्लघन हुआ है कि प्रयाजों का आवाहन तो विहित है सब के अन्त में कि तु यजन हुआ है सब से पहिले । प्रयाजयाग के सम्बन्ध म यह यत्तिक्रम क्यों ? क्यों नहीं इनका भी यजन नियमानुसार आवाहन क्रम से अन्त में ही किया जाता ? इसी पूर्वपक्ष का अपने शर्दों में निरूपण करती हुई आगे जाकर उल्लिखित पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

प्रयाजयाग के विहित आवाहनक्रम से विपरीत हु ने वाले प्रथम यजन कर्म के सम्बन्ध में (वैज्ञानिक) कहते हैं (यह पूर्वपक्ष उठाते हैं विप्रतिपत्ति उपस्थित करते हैं—तदाहु कि) जब कि प्रयाजों को—(हविर्विभागानुसार विहित नियम के आधार पर) उत्तम रूप से (अत में देव-देवता) आहूत करते हैं (आवाहन जब कि इनका सर्वान्त में होता है) तो ऐसी स्थिति में (आवाहन क्रम से विपरीत) किस कारण (क्यों) इनका प्रथम रूप से (देवदेवता) यजन करते हैं (यजन सर्वप्रथम क्यों किया जाता है ?) । (उत्तर स्पष्ट है—अपने प्राकृतिक सम्बन्ध) यज्ञ में (प्राणविध) देवदेवताओं ने इन (प्रयाजों) को उत्तमरूप से ही (अन्तिमरूप से ही यद्यपि) स्थापित किया (था), (तथापि उसी समय उन) देवदेवताओं ने (अग्निदेव के द्वारा इनके लिए यह भी निश्चय कर दिया था कि) हम तुम्हारा यजन तुम्हें प्रथम मान कर ही करेंगे । (इस विशेष विधान के आधार पर ही सामान्य विधान की उपेक्षा करते हुये देवदेवताओं ने आवाहन किया इनका यद्यपि अन्त में ही परंतु यजन किया सर्वप्रथम । प्राकृतिक यज्ञ में प्रयाज-कल्पना अन्तिम

है यजन प्रथम है। उसी प्राकृतिक यज्ञविद्या पर प्रस्तुत वैध मानुष यज्ञ का वितान हुआ है। अतः यहाँ भी उसी प्राकृतिक नियम का अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है (अतएव (प्राकृतिक नियमानुरोधेनैव) ऋत्विक् लोग (अपने इस दृष्टिकर्म में भी इन प्रयाजों का उत्तमरूप से तो आवाहन करते हैं एवं प्रथमरूप से यजन करते हैं ॥६॥

❀

❀

❀

❀

❀

(प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक विषय और विजिज्ञास्य रह जाता है। समित् तनूनपात् इट बहि स्वाहा ये पाच याहृतिर्यो नाम क्रमशः वसत ग्रीष्म वर्षा शरत् हेम त इन पाँच ऋतुओं से सम्बन्ध रखती हैं। सम्बत्सरयज्ञ की पवरूपा वसतादि पाँचों ऋतुआ का सम्बत्सरग्नि से सम्बन्ध है जैसाकि ब्राह्मणारम्भ की ८ कण्डिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है। इसी आधार पर यह मान लेना अविप्रतिपन्न बन जाता है कि ऋतुओं का यजन अग्निपूर्वक ही होता है। परन्तु स्वाहालक्षण पञ्चम प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक नवीन विप्रतिपात्त उपास्थित होती है। आरम्भ के चार प्रयाजों में जहाँ ऋतुलक्षण प्रयाजों के साथ समिद्धा अग्न आर्यस्य व्यन्तु - तनूनपादग्ने आजस्य वेतु - इडो अग्ने आर्यस्य व्यन्तु बहिरग्ने आजस्य वेतु - इस रूप से केवल अग्नि का सम्बन्ध विहित है वैसे पाँचवें हेम तऋतुलक्षण स्वाहायाग में केवल अग्नि का ही सम्बन्ध विहित नहीं है। अपितु पूर्वप्रयाजचतुष्टयी की भाँति अग्नि के सम्बन्ध के अतिरिक्त - इस प्रयाजयाग में - आज्यभाग प्रधान स्वष्टकृत् इन तीन अग्निभागों का सम्बन्ध और किया जाता है। दूसरे शब्दों में आर्यभाग ग्राहक अग्नि प्रधानभाग ग्राहक अग्नि स्वष्टकृद्भाग ग्राहक अग्नि इन तीन अग्निओं का आदि मध्य अवसान में यजन और किया जाता है। यदि सामाय सम्बत्सर-ग्निवत् इस विशेषाग्नित्रयी का भी ऋतुओं के साथ सम्बन्ध है तब तो ऋतुलक्षण पाँचों ही प्रयाजों में - प्रत्येक में - इन तीनों विशेषाग्निभागों का अनुष्ठान होना चाहिये। यदि ऋतुओं के साथ सम्बन्ध नहीं है तो किसी भी प्रयाजकर्म में इनका यजन नहीं होना चाहिये। स्थिति यह है कि आरम्भ के चार प्रयाजों में तो केवल सामाय अग्नि का ही यजन किया जाता है। किंतु पञ्चम प्रयाज में सामाय अग्नि यजन के अतिरिक्त विशेषाग्नित्रयी का यजन और किया जाता है जबकि ऋतुसामान्यत्वेन पञ्चम प्रयाज में इनका यजन विप्रतिपन्न बना हुआ है। स्वाहालक्षण हेमन्त प्रयाजयाग से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र में प्रयाज तथा सामाय अग्नि दोनों के यजन के अतिरिक्त तीन विशेषाग्निओं के यजन का भी समावेश हुआ है। मन्त्रभाग निम्न लिखित है—

“स्वाहाग्निं, स्वाहा सोम, स्वाहाग्निं, स्वाहा देवो आज्यपान्,
स्वाहाग्निं होत्रा जुषाण, अग्ने आज्यस्य व्यन्तु वौषट्”

—शत० १।५।४।२२, ३।

उक्त याज्यामन्त्र के पाँच विभाग स्पष्ट हैं। (१) स्वाहाग्नि स्वाहा सोमम् यह एक विभाग है। इससे आग्नेय आर्यभाग तथा सौम्य आज्यभाग इन दो आज्यभागों का सम्बन्ध है। सोम

गर्भित अग्नि हीं आज्यभागदेवता है । इसी का प्रथम यजन होता है । (२) स्वाहाग्निम्—यह द्वितीय विभाग है । उभयत्राच्युत आ नेय पुरोडाशानुगत प्रधान देवता ही इस विभाग से गृहीत है वही दूसरा प्रधानयाग है । (३) स्वाहा देवा आज्यपान् यह तीसरा विभाग है । आयपा १ हा लक्षण प्रयाज (हेमत्) देवता के लिए ही यह तृतीय विभाग नियत है । (४) स्वाहा म हात्रा जुषाण यह चौथा विभाग है । स्विष्टकृदग्नि का ही इससे यजन हाता है । (५) अग्नि आजस्य य तु वाषट् यह पाँचवा विभाग है । पूव ऋतु सामाय सम्ब सराग्नि का ही इससे यजन होता है । आज्यभागयागानुगत विशेष आग्नि आदि म ग्राह्य है प्रधानभागयागानुगत विशेष अग्नि (उभयत्राच्युत अग्नि) म य में विहित है स्विष्टकृद्यागानुगत विशेष अग्नि अन्त मे विहित है । इस प्रकार स्वाहा मक पञ्चम प्रयाजयाग के आदि—मध्य अवसान म क्रमश आयभागयाग प्रधान याग स्विष्टकृद्याग ये तीन विशेषाग्नियाग पूव क चार प्रयाजापेक्षया विशेषरूपेण विहित है । इनकी उसी पूर्वापात्त वैधानिक आरयान क द्वारा उपपत्ति बतलाता हुई श्रुति कहती है)—

(अपने प्राकृतिक इष्टिकम्म में होने वाले पञ्च प्रयाजयाग के) चौथे (शरद्ऋतुरूप बर्हिर्नामक) प्रयाज से देवदेवताओं न निश्चय से यज्ञ (यज्ञातिशयरूपा यज्ञसम्पत्) प्राप्त कर लिया— (एव चौथे प्रयाज से प्राप्त) उस (यज्ञ) को पाचव (हेमत् ऋतुरूप स्वाहा मक) प्रयाज से प्रतिष्ठित—पूर्णा कर लिया । (इस प्रयाजकम्म के) अनंतर होने वाला आज्यभागादिरूप जो यज्ञ का शेष (इतिकर्त्तव्यता) बच रहा उस (के अनुष्ठान) से देवदेवता स्वर्गलोक को प्राप्त हो गये ॥१॥

प्रयाजकर्म्मतिरिक्त आज्यभागादि लक्षण शेष यज्ञानुष्ठान के बल से स्वर्गलोक (की ओर) जाते हुए देवदेवतालोग (अन्तरिक्ष में अमूल उभयत परिच्छिन्न रूप से विचरने वाले आप्य—प्राणात्मक, यज्ञविरोधी) असुर राक्षसों के निरोध (सकल्प) से डर गए (उन्हें भय हुआ कि ये दुष्ट कहीं हमारे स्वर्गगमन में बाधा न खड़ी करदें) । इस भय से त्राण पाने के लिए उन देवदेवताओं ने असुर राक्षसों को मारने वाले एव मार भगाने वाले अग्नि को (ही स्वर्गप्राप्तिसाधक आज्यभागातिशय के) पूर्ण में (पहिले) प्रतिष्ठित किया उसी को मध्य में उसीको अन्त में प्रतिष्ठित कर दिया । (अर्थात् आन्तरिक्ष असुराक्रमण से अपने स्वर्गसाधक यज्ञातिशय को निर्विघ्न स्वर्गप्राप्ति का हेतु बनाने के लिए उन्होंने यज्ञातिशय के आदि—मध्य—अवसान तीनों स्थानों में आप्यप्राणोच्छ्वदक आग्नेयप्राण प्रतिष्ठित कर दिया) ॥११॥

(देवदेवताओं के द्वारा त्रिः स्थानों में नियुक्त अग्नि के प्रभाव से इन का स्वर्गगमन निर्विघ्न पूर्ण होगया । क्यों कि) यदि इन देवदेवताओं का उन असुर राक्षसों ने पूर्व की ओर से निरोध करना चाहा विघ्न बालना चाहा तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया । यदि मध्य की ओर से निरोध करना चाहा तो तत्रस्थ अग्निने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया । यदि पीछे की ओर से निरोध करना चाहा तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया । (इस प्रकार तीन स्थानों में रक्षक रूप से नियुक्त तीनों) अग्नियों से सर्वात्मना सुरक्षित रहते हुए देवदेवताओं ने निर्विघ्न स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया ॥१२॥

(प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी से घ लोक की ओर जाते हुए पार्थिव प्राणदेवताओं के प्रयाजातिशय पर आन्तरिह्य असुरों का आक्रमण होता रहता है । परन्तु त्रि स्थान स्थित अग्नेयप्राण के सम्बन्ध से उन का वह आक्रमण यथ सिद्ध होजाता है । इसी प्राकृतिक यज्ञविधा क आधार पर भौमदेवताओं अपने वधयज्ञ के पञ्चप्रयाजकर्म में-पाचव प्रयाज म-उसी प्राकृतिक आग्नयौ सम्पत्-की प्राप्ति के लिए तीन विशेषाग्नकर्मों का समावेश किया था तदद्वारा अपने देवामरूप से वे निरापद स्वर्ग पहुचन म समथ हुए थे । उसी भौमदेवानुगता यज्ञविधा के आधारपर इस यजमान का यह वैध इष्टिकर्म विहित हुआ है । इसे भी अपने देवामाकषणद्वारा स्वर्ग म जाना है । जाते समय आन्तरिह्य असुरराक्षसों का आक्रमण जहा अनिवाच्य है वहीं इस आक्रमण को रोकना भी आवश्यक है । उसी आक्रमण-निरोध क लिए निरापद स्वर्गावाप्ति के लिए भौमदेवानुगत यज्ञवत् अपने इस यज्ञ में भी पाँचव प्रयाज कर्म के-आदि-मध्य-अवसान में विशेषाग्नित्रयी का यजन करता है । इस यजन से रक्षक अग्नित्रयी का अनुग्रह प्राप्त होजाता है । फलस्वरूप यह भी देववत् निरापदरूप से स्वर्गफलभोग बन जाता है । पाचवें प्रयाज क आदि-मध्य-अवसान-म अग्नित्रयी का यजन क्यों किया जाता है ? विप्रतिपत्ति का यही समाधान है जिस का श्रुति के अक्षरों में यों विश्लेषण हुआ है)—

(जिसप्रकार प्राकृतिक निय यज्ञ में अग्नित्रयी का सहयोग होरहा है तदनु जिसप्रकार भौम मनुष्य देवताओं ने अपने चतुथ प्रयाज समाप्त्यनन्तर पाचव प्रयाज के आदि मध्य अवसान में अग्नित्रयी का यजन किया था तद्द्वारा निरापद रूप से वग प्राप्ता किया था) ठीक इसी प्रकार (तथोऽएव) यह यजमान भी अपने इस चौथ प्रयाज से (तो स्वर्गसाधक) यज्ञ प्राप्त करता है उसे पाँचवें प्रयाज से प्रतिष्ठित करता है इस के अनन्तर जो आ यभागादिरूप यज्ञ का शेष बच रहता है उस से स्वर्गलोक ही प्राप्त करता है ॥१३॥

सो जो कि (पञ्चम प्रयाज के आदि मे- स्वाहाग्नि -रूप स यजमान केप्रतिनिधिरूप) अध्वर्यु अग्नेय-आज्यभाग का यजन करता है (इस से अपने स्वर्गजाते हुए यज्ञातिशय के) पूर्वभाग की ओर से राक्षसों के मारने वाले मार भगाने वाले अग्नि को ही (नियुक्त) करता है । (अग्नेय-आयभाग के) अनन्तर (इसी पञ्चम प्रयाज कर्म के मध्य में) जो (उभयत्राच्युत प्रधान अग्नि के लिए) जो आ नेय पुरोडाश (का भागहर) बन जाता है (उस का स्वाहाग्निम् रूप से यजन करता है) । इस कर्म से (इस यज्ञातिशय के) मध्यभाग को ओर से ही अग्नि को नियत करता है । (मध्यम अग्नि यजन के) अनन्तर जो कि अध्वर्यु (प्रयाजान्त में— स्वाहाग्नि होत्रा जुषाण इत्यादि रूप से) स्विष्टकृत् अग्नि का यजन (स्वष्टकृदाग) करता है इस कर्म से (इस यज्ञातिशय के) पश्चिम भाग की ओर से ही अग्नि को नियुक्त करता है (जो कि) अग्नि रक्षोहण —(राक्षसों को निर्जीव बनाने वाला मारने वाला) एव रक्षसामपहन्ता (राक्षसों का मार भगाने वाला यज्ञमण्डलसीमा से बहिष्कृत करने वाला) है ॥१४॥

(प्रयाजकर्म से स्वर्गलोक की ओर जाते हुए) इस यजमान के (स्वर्गसाधक) यज्ञातिशय के पूर्वभाग से यदि असुर राक्षसों को मार भंगते हैं । यदि मध्य भाग से आक्रमण करते है

तत्रस्थ अग्नि तत्रस्था को मार भगाते है । यदि पश्चिमभाग से आक्रमण करते हैं तो तत्रस्थ अग्नि तत्रस्थो को मार भगाते है । इस प्रकार वह (यज्ञातिशयरूप-स्वगसाधक) देवात्मा तीनों अग्नियों से सुरक्षित निरापन्न बनता हुआ स्वगलोक प्राप्त कर लेता है (प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है) ॥१५॥



इति—प्रयाजानामिष्टो प्राथम्यन्

६

७—अभिचार (कृत्याप्रयोग)

(प्रयाज कर्म क द्वारा यज्ञातिशय उ पत्र भी आज ही हो जायगा वह सप्तदश स्वगस्थान म भी आज ही प्रतिष्ठित हो जायगा । परन्तु यज्ञकत्ता यजमान का वह मानुषामा-भूतामा जो स्वर्गगत यज्ञातिशयरूप देवात्माकषण से आकर्षित है -अपने ऐहलौकिक प्रारम्भकर्मक्षयानतर (जिस प्रारम्भ कर्म से इसे वर्तमान शरीर मिला है) ही (मृत्यु के अनन्तर ही) देवात्माकषण के द्वारा स्वगफल का भोक्ता बनेगा स्वग पहुचेगा । इसीलिए तो स्वर्गफल आमुष्मिक (पारलौकिक) माना गया है अतएव तो यह अहङ्गफल (परोक्षफल) कहलाया है । त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण से पहिले प्रतिपादित स्रुगुन्नाह्वण के आश्रावण-प्रयाश्रावण कर्म विज्ञान म यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मानवीय मन परोक्षफलापेक्षया ऐहिक प्रयत्न फलों की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है (देखिए-प्र स १२५ वृष्टिविज्ञान प्रकरण) । अवश्य ही प्रकृत अग्नित्रय-यजन का भी परोक्ष-स्वगफलातिरिक्त कोई प्रयत्न भी फल होना चाहिए । उस प्रयत्न फल को तात्कालिक कालानन्तरभावी भट से दो भागों म विभक्त किया जा सकता है । भोजन किया और तृप्ति हा गई यह ऐहलौकिक तात्कालिक फल माना जायगा । भोजन किया मुक्त द्रव्य क्रमश रस अस्व-मास-भेद-अस्थि मज्जा शुक्र-ओज मनोरूप म परिणत हुआ यही ऐहलौकिक कालान्तरभावी फल माना जायगा । ब्राह्मण की प्रकृत १६ १७ १८ इन तीन कण्डिकाओं में तो तात्कालिक फल का विश्लेषण हुआ है जिसे कृत्यासम्बन्ध से अभिचारामक फल मानते हुए तात्त्विक कालान्तर भावी फल से हमने प्रथक् कर दिया है वही अभिचार नामक ७ वाँ प्रकरण है । एव १६ बी कण्डिका में कालान्तरभावी अतएव स्थिर धर्म्मामक ऐहलौकिक फल का विश्लेषण हुआ है । अतएव तत्कण्डिकात्मक प्रकरण फलश्रुति नामक ८ वा प्रकरण मान लिया है । इन दोनों ऐहलौकिक फलों में से सूचीकटाहयाथेन पहिले अभिचारामक तात्कालिक-प्रथम ऐहलौकिक फल का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है) —

(जिस समय आज्यभागानुगत प्रथम अग्नि का यजन हो रहा हो और उस समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान क प्रति निंदाभाव प्रकट करे अथवा तो कुछ निंदा वचन बोल पड़े इसके अतिरिक्त यजमान का अपने किसी शत्रु के द्वारा पहिले से कहे गये निंदावचनों

का प्रतिशोध लेना हो तो उसे चाहिए कि वह उस शत्रु को लक्ष्य बना कर उसका नामग्रहण पूर्वक—सुरयामार्त्तिमारिव्यसि—अ धो वा बधिरो वा भविष्यसि—हे शत्रु तू सुरय पीड़ा प्राप्त करेगा या तो अधा हो जायगा या बहिरा हो जायगा यह बचन बोलदे। इसी प्रकार दूसरे तीसरे अग्नियजन में भी यह अभिचारवाक्य द्वारा अपने शत्रु का अनिष्ट कर सकता है। इहीं तीनों अभिचारों का अपने शब्दों में दिग्दशन कराती हुई श्रुति कहती है)

(इस प्रयाजकम्म म) यदि इस (यजमान) के प्रातः वह (यजमानशत्रु अथवा और कोई-ईर्ष्यालु-निन्दक) यज्ञारम्भ में (आज्यभागानुगत प्रथमाग्नियाग काल में निदावचन का प्रयोग करे तो (यजमान) उस (निन्दक) के प्रति (यह) बोले कि तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा अधा हो जायगा अथवा तो बहिरा बन जायगा। वास्तव में (शारीरिक कष्टों म) ये ही (दोनों) मुख्य पीड़ा हैं। (यजमान के उक्त कथन मात्र से) वैसा ही अवश्य हो जायगा शत्रु अधा हो जायगा अथवा बहिरा हो जायगा यही प्रथम अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१६॥

यदि इसके प्रति वह यज्ञमध्य में (उभयत्राच्युत द्वितीयाग्नियागकाल म) अनुचित कहे तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि तू प्रजाशूय पशुशूय हो जायगा। प्रजाएँ और पशु निश्चयरूप से मध्य (रूप) हैं। (यजमान के उक्त कथन से) वैसा ही निश्चयेन हो जायगा (निन्दक की प्रजा पशुसम्पत्ति नष्ट हो जायगी। यही द्वितीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१७॥

यदि इसके प्रति वह यज्ञान्त में (स्विष्टकृत अग्निरूप तृतीयाग्नियाग काल में) अनुचित कहे तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि तू प्रतिष्ठा रहित एव निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) लोक को प्राप्त होगा (मर जायगा)। (यजमान के ऐसा कहने से) वह (निन्दक) वैसा ही अवश्य हो जायगा (अपयशपूर्वक दरिद्री बनता हुआ शीघ्र मर जायगा। यही तृतीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल माना जायगा। इस प्रकार आज्यभागयाग प्रधानयाग स्विष्टकृत्वाग तीनों से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अग्नियों के यजन से शत्रुविनाशक दृष्ट-प्रत्यक्ष-तात्कालिक-ऐहलौकिक फल भी प्राप्त किया जा सकता है। श्रुति ने तात्कालिक फल तो बतला दिया। परन्तु वह यह नहीं चाहती कि यज्ञरहस्य को न जानकर ऐसी भूलें करने वाले अज्ञान जन भी यों अपना नाश करालें। उनके अभ्युदय को लक्ष्य में रखते हुए उनको सावधान करती हुई श्रुति कहती है कि उन यज्ञरहस्यानभिज्ञों को यह जान लेना चाहिए कि यज्ञ कोई सामान्य लौकिक कम्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिद्ध उस प्राणाग्नि को अपनी प्रतिष्ठा बनाता है जिसके प्रति साथ ही इस यज्ञाग्नियुक्त यजमान के प्रति जान-अनजान में थोड़ी भी उपेक्षा निन्दा उपहास करने से सवनाश निश्चित है। अतएव उन निन्दकों को चाहिए कि वे भूल कर भी (हास परिहास में भी यज्ञ तथा यज्ञानुष्ठानकर्त्ता) यजमान के प्रति अनुव्याहारी (अनुचित बोलने वाले) न बनें— नानुव्याहारीव स्यात्'।

(अभिचार कर्म कोई उत्तम कर्म नहीं है । लोकसग्रहा मक सर्व-अभ्युद्यकारक अतएव श्रेष्ठतम यज्ञ जैसे सात्त्विक कर्म मे अपने-यक्तिगत द्वेष के बदले की भावना रखना भी यज्ञ-स्वरूप मे तमोगुण का आधान करना है । अतएव उत्तम पक्ष तो यही है कि यज्ञकर्त्ता भी ऐसे अभिचार का अनुगमन न करे । रही बात-इष्टफल की । इस सम्बन्ध में यही उत्तर पर्याप्त होगा कि यज्ञकर्त्ता सामान्य मनुष्य मनुष्य नहीं है अपितु प्रकृति की साक्षात् प्रतिमा है । जिस प्रकार प्रकृति से विरुद्ध जाने वाला अपने ही दोष से दण्डित हो जाता है तथैव यजमान से शत्रुता रखने वाले भी स्वत एव प्रकृतिद्वारा ही दण्डित हो जाते हैं । समयातिक्रम अवश्य हो सकता है । पर तु दण्ड अवश्य मिल जाता है । दण्ड-यवस्था की अनिवार्यता तो ऐसी है कि जो यजमान नहीं है अपितु केवल इस रहस्य को जानता भर है यदि उस केवल एववित् के प्रति भी कोई शत्रुता रखता है तो वे भी नष्ट हो जाते हैं । एववित् भी उस फल को प्राप्त कर लेता है । फिर यजमान का तो कोई आशङ्का रहनी ही नहीं चाहिए । फलत उसे यह भार प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिए । यज्ञनिन्दकां के-तस्माद्दु ह नानु-याहारीव स्यात् इस सामयिक आदेश-चेतावनी के साथ साथ यज्ञकर्त्ताओं क प्रति भी उन्हें सात्त्विक भावारूढ बने रहने के लिए अभिचारकर्मप्रवृत्ति से बचते रहने के लिए सङ्केत करता हुई श्रुति कहती है कि) —(यज्ञकर्त्ता ही क्या) इस रहस्य को जानने वाला भी पर (उच्छृष्ट शत्रुपराभवकर्त्ता) बन जाता है (अत जबकि केवल जानने वाले क शत्रु भी नष्ट हो जाते हैं तो यजमान के साथ कौन शत्रुता कर सकता है । यदि कोई करेगा भी तो प्रकृति स्वयं उसे दण्ड दे देगी) उत एववित् परो भवति ।

अथवा उक्त वाक्य का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि जिस प्रकार यज्ञकर्त्ता के शत्रु यज्ञकर्त्ता के अभिचार प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं एवमेव इस अग्निरहम्यात्मक प्रयाजकर्म को जानने वाले विद्वाना के भी शत्रु नष्ट हो जाते हैं । दोनों में पूर्वार्थ ही समीचीन प्रतीत होता है ॥१८॥

इति—अभिचार

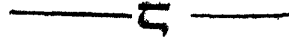
७

८-फलश्रुति

(कतलाया गया है कि, तात्कालिक इष्ट फल के अतिरिक्त कालान्तरभावी इष्ट फल भी यज्ञ से सम्भव है । दोनों ऐहिक फलों के सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि तात्कालिक फल जहाँ यजमानप्रयत्न-सापेक्ष है वहाँ कालान्तरभावी फल आमुष्मिक स्वर्गफल की भांति स्वत एव प्राप्त हो जाता है । अतएव इस फल का तात्कालिक फलापेक्षया विशेष महत्त्व माना जायगा । अतएवच ऐसा ही फल फलश्रुति' रूप से सम्राह्य माना जा सकेगा । इसी स्वाभाविक प्राकृतिक स्वत प्राप्त इष्ट फल का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है) —

(वसन्त-ग्रीष्मर्तु-सप्राहक समित्-तनूनपात् आदि पाच) प्रयाजयागों से (ऋतुमण्डल म प्रविष्ट असुरों को) जीतता हुआ यजमान (परम्परया ऋतुसम्बन्ध से) निश्चयन (ऋतुसमञ्चि रूप) सम्बत्सर को ही जीतता (अधिकार प्रतिष्ठित करता) है । (यह भी निश्चित है कि) वही (विजेता) इस सम्बत्सर का जय करता है (जीतता है) जो सम्बत्सर (रूप दुर्ग) के द्वारा को जानता है । (अर्थात् द्वार परिज्ञान पूर्वक ही दुर्गप्रवेश द्वारा जयलाभ सम्भव है) । वह (जयेच्छु) उन घरों से-दुर्गों-से क्या लाभ उठा सकेगा (जिसके अतर्द्वारा को वह उस रूप से भलीभाँति न जान लेगा जैसे कि वे इसक उपयोग में आते हैं) । (ठीक इसी प्रकार जिन प्रयाजों के द्वारभूत प्रथम-अन्तिम प्रयाजों के तात्त्विकरूप को जो नहीं जानता वे प्रयाज जिस प्रकार के वे इस यजमान के उपकारक होते हैं उनके तात्त्विक प्रकारों को प्रधान द्वारभूत प्रयाजों को नहीं जानता वह क्या फल प्राप्त कर सकता है-कुछ नहीं । (अतएव सम्बत्सर दुर्ग द्वारका परिज्ञान आवश्यक है) । (सम्बत्सर दुर्ग का) वसन्त ही (प्रवेश द्वार है हेमन्त हा (निर्गमन) द्वार है । (दोनों के स्वरूपज्ञान पूर्वक प्रयाजयजन करने वाला) यजमान स द्वारयुक्त सम्बत्सररूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है । सम्बत्सर स्वरूप है । सवभाव ही अक्षय्यभाव है । प्रयाज-यजन कर्त्ता का सुकृत (कर्म) अक्षय्य होता है लोक भी अक्षय्य होता है । (तदप्य कहने का यही है कि सम्बत्सर सम्पत्तिसप्राहक प्रयाजकर्म से स्थायी सम्पत् प्राप्त होती है वह लोकप्रतिष्ठा से युक्त हो जाता है और यही प्रयाजकर्म का कालान्तरभावी प्राकृतिक स्थायी क्ल है) ॥ १६ ॥

इति-फलश्रुति



६-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

(प्रयाजकर्म को यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तिक एव तद्द्वारा यजमानात्मा का स्वर्गप्रापक बतलाया गया है । प्रश्न स्वाभाविक है कि प्रयाजकर्म में ऐसी क्या विशेषता है जिससे क्रत्वर्थस्थानीय भी प्रयाज जैसा अङ्गकर्म पुरुषार्थकर्मवत् स्वर्गप्राप्ति का कारण बन जाता है ? । प्रयाजकर्म में जो आख्याहुति विहित है प्रयत्न म उस आख्य में भी हम ऐसा कोई अतिशय उपलब्ध नहीं कर रहे जो स्वर्गप्रापक बन जाय । इसी प्रश्न का यों भी उत्थान किया जा सकता है कि सर्वत्र सभी कर्मों म आहुतिद्रव्य ही स्व स्व देवप्राणानुसार तत्तत् विशेष यज्ञातिशयों का जनक बनता है । जिस देवप्राण से आहुतिद्रव्य युक्त रहता है आह्वनीयाग्नि म हुत तद्देवप्राणमयी आहुति तद्देवप्राणातिशय यज्ञ में प्रतिष्ठित करने का कारण बनती है । क्या प्रयाजकर्म के लिए नियत आख्याहुति का कोई ब्रह्म विशिष्ट देवता है जो स्वर्गप्राप्ति का निमित्त बन सकता है ? । प्रश्न का उत्तर हों' में दिया जायगा । वास्तव में केवल आख्यदेवता ही प्रयाज जैसे अङ्ग कर्म को भी स्वर्गप्रापक बनाने में समर्थ हो रहा है । उस आख्यदेवता का स्वरूप क्या है ? जिसके द्वारा-प्रयाजकर्म स्वर्गप्रापक बन रहा है ? यही प्रश्न की अन्य उत्थानिका है जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है) ।

(प्रयाजकम्म में सगृहीत) आ-याहुति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग प्रश्न उपस्थित करते हैं—(तदाहु) कि—य (प्रयाजाथ जूह उपभृत् में गृहीत) आस्य किंदेवय है ? (इनका कौनसा देवता है ?)—(प्रश्न हुआ ही क्या जबकि ऋतुदेवता पहिले से ही स्पष्ट किए जा चुके हैं यह प्रासङ्गिक प्रतिप्रश्न-प्रश्न पर प्रश्न और उपस्थित हाता है । इस प्रतिप्रश्न का उत्तर वही होता है जो श्रुति को अभाष्ट है । यह ठोक है कि आ-याहुति होती है ऋतुदेवताओं के लिए ही । अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि आस्य के देवता ऋतुदेवता हैं । परन्तु यह समझना केवल समझना ही है । आ-यग्रहणपद्धति में किसी भी देवता का नाम का उल्लेख नहीं हुआ है । नामोल्लेख सम्भव भी कैसे हो जबकि प्रयाजकम्म का उद्देश्य ऋतुद्वारा सम्बत्सर प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली सम्बत्सरात्मिका स्वर्गसम्पत् है । यदि ऋतुओं का नाम लिया जाता है तो समष्ट्यात्मक सम्बत्सर का ग्रहण नहीं होता । यदि सम्बत्सर का नाम ले दिया जाता है तो ऋतुओं का अक्षरूप से यजन नहीं होता । अपोच्यत यह है कि—आस्यद्वारा ऋतुओं का भी यजन हो जाय साथ ही इसी कम्म से ऋतुसमष्टिरूपा सम्बत्सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय । इसका उपाय है—आस्य का ग्रहण हो-उपाशरूप से बिना किसी देवता का नाम लिए एव आस्य हुति हो ऋतुनामपूर्वक । उपाशुग्रहण से आ-यद्वारा प्राजापत्यसम्पत्ति इसीलिए मिल जायगी कि सम्बत्सरमण्डलकेन्द्र में प्रातश्चित्त प्रजापति अनिरुक्त है । अनिरुक्तभाव ही उपाशुभाव है । इस उपाशुभावद्वारा तत्सममुलित अनिरुक्ता प्राजापत्यसम्पत् प्राप्त हो जाती है यजनकम्मनुगत या-यामन्त्रों में-समिद्धो अग्न आ-यस्य यन्तु इत्यादि रूप से ऋतुनामोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यभूत ऋतुओं का यजन सफल हो जाता है ।—सीलिए आस्यग्रहण उपाशु रूप से ॐ एव आस्यहुति नामग्रहपूर्विका ही विहित हुई है । बिना नामग्रहण के चुपचाप जुहूपभृत् में आस्यग्रहण करना ही इस प्रश्न का भी समथक बन रहा है कि आ-य का देवता कौन है ? किस देवता के उद्देश्य से आ-यग्रहण हुआ है ?—साथ ही यही नामग्रहणभावात्मक तूष्णीभाव-अनिरुक्तभाव-इस प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है कि यह आस्य प्राजापतिदेवताक है । इसी स्थिति का सकेतविधा से स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कह रही है—(ये आस्य) प्राजापत्य हैं यही कहना चाहिए । अर्थात् आस्य किंदेवत्य है ? प्रश्न का प्राजापत्य है यही उत्तर हो सकता है । क्योंकि प्राजापति निश्चयेन अनिरुक्त है । उधर आ-य भी (तत्तदनादिश्यास्यस्यैव रूपेण गृह्णाति रूप से) अनिरुक्त ही है—“अनिरुक्तो हि प्राजापति अनिरुक्तान्याज्यानि ।

(आस्य प्राजापत्य है एतावता ही ये-इनकी आहुति-यजमान के स्वर्गप्राप्ति के साधक कैसे बन गए ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(अपने अनिरुक्तभाव से प्राजापत्य बने हुए) वे ये आस्य यजमानवेवत्य ही हैं । (अर्थात् यज्ञकर्ता यजमान भी 'प्राजापति' सम्बन्ध से इन आस्यों का देवता बन जाता है । क्योंकि जैसे सम्बत्सरमण्डल का अधिष्ठाता नभ्यभाव (ह्यदतत्त्व-सम्बत्ससरमण्डलापेक्षया प्राजापति है । एवमेव) यह यजमान

*—‘अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते ऋतुभ्यश्चैव तानि छन्दोभ्यश्च गृह्यते तत्तदनादिश्यास्यस्यैव रूपेण गृह्णाति (शत २ प्र । ५ ब्रा । ७ कथिडका) ।

भी निश्चयेन अपने इस यज्ञ में (स्वयज्ञापेक्षया उसका प्रवर्त्तक बनने से) प्रजापति है । (जिस प्रकार सम्ब सर प्रजापति की हृद्यकामना से अग्नि वाय्वादि यादि ऋचिक् प्राकृतिक निय यज्ञ का वितान करते है एवमेव इस यज्ञ में भी इस यजमान से उक्त (प्रेरित) होकर ही होता अध्वयु आदि ऋचिक्- (ग्रह-शस्त्र-स्तोत्रादि स्वकर्मा क द्वारा) यज्ञ वितत करते है (इस वितान से यजमान के) उस (देवामा) को उपन्न करते हैं । (इसप्रकार जिन प्रेरणाओं धर्मों से वह अपने यज्ञ म प्रजाति बन रहा है सब प्रेरणा धर्मों का प्रवतक बनता हुआ यजमान भी अपने यज्ञ में अवश्य ही प्रजापति माना जा सकता है । एव इसीलिए प्राजापय आयों को यजमानदेवय माना जा सकता है) ॥२ ॥

(प्रजापय अय क्या यजमान के स्वगगमन का कारण बन जाता है ? प्रश्न का परोक्षरूप से यद्यपि पूर्वकण्डिका से समाधान हो जाता है । तथापि जैसा चाहिए वैसा स्पष्टीकरण अभी नहीं हुआ । इसी यत् किञ्चित्-अस्वारस्य का स्पष्टीकरण करती हुई पद्ययश प्रदशन पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—वह अ वयु आय का उपस्तरण कर (पुरोडाशस्था पनप्रदेश को आय से पहिले आय से युक्त कर अनतर नियत) हवि के दो अधदान कर (आस्तुत आय पर हविरवदान रख अन तर पुन ऊपर से उस द्विरवत्त) हवि पर आयभिधार करता है (ऊपर से घृत ढारता है) । (इस प्रकार उभयत आयसम्बन्ध से युक्त) यह आहुति आय से (सर्वात्मना नीचे ऊपर दोनों ओर से) सरिलष्ट होकर (मिलकर ही) अध्वयु के द्वारा (आहवनीयाग्निके समिद्ध-प्रज्वलित प्रदेश-में) आहुत होती है (यह है आयुति का स्वरूप जिसम दोनों ओर से आय का सम्बन्ध हो रहा है) ।

अध्वय के द्वारा आयमिता आहुति यजमानमिश्रिता बन कर ही (अग्नि में) आहुत होती है । (तात्पर्य यही हुआ कि आयुति प्राजापत्या बनती हुई स्वर्गाधिष्ठाता प्रजापति से युक्त होती है । आय्य यजमानात्मक है यजमान का प्राण आय में समाविष्ट है साथ ही यजमान अपने यज्ञ की अपेक्षा से प्रजापति भी है । आय एक प्रकार से यजमानात्मा है । इस प्रकार आय परम्परया यजमानात्मा-लक्षण प्रजापति से युक्त होता हुआ स्वर्गाधिष्ठाता का अनुगामी बन जाता है । और अज्याहुति के द्वारा कैसे यजमान स्वग पहुच जाता है ? किंवा आयुति कैसे स्वर्ग प्रापिका बन जाती है ? किंवा प्रयाज जैसे क्रत्वर्थ-अङ्ग कर्म से स्वगप्राप्ति कैसे सम्भव है ? इत्यादि परिशिष्ट प्रश्नों का सम्यग्रूपेण विमर्श हो जाता है) ।

(अब इसी आयुति के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक फल बतलाकर श्रुति इस प्रयाजप्रकरण को समाप्त कर रही है । आय्य साक्षात् यजमान है । आय्य का हवि के साथ युक्त हो जाना यजमान का हवि के साथ किंवा यज्ञ के साथ युक्त हो जाना है । अतएव इस अपने आय्य स्वरूपानुगत प्राजापत्यस्वरूप को जानने वाले यजमान के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह आहुतिकाल में ऋत्विजों के पास रहे ही रहे । क्यों कि आय्यसामिध्य से ही यजमानसामिध्य

* उपस्तरण-शय्या-त्रिछायत-विस्तर

गतार्थ बन रहा है। इसके अतिरिक्त यदि एववित् यजमान से स्वाभाविक मानुषभाव के द्वारा कोई असत्कर्म भी हो जाता है तो भी वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं होता। क्योंकि अपने आज्यरूप से उसकी यजसीमानुगति अक्षुण्ण है। इसी भाव का-प्रासङ्गिक फल का-अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है) —

यदि उस यजमान के दूर चले जाने पर ऋत्विक् यजन करता है अथवा समीप रहने पर यजन करता है करे कोई अन्तर नहीं होता कोई हानि नहीं होती। अपितु जिस प्रकार यजमान के समीप रहने पर (सान्निध्य से-ऋत्विक् के द्वारा यजमान के लिए यज्ञ कर्म) इष्ट-इष्टजनक-सफल-बनता है एवमेव एववित्-(आज्यरहस्यवित्) उस यजमान के विदूर रहने पर भी ऋत्विक्-द्वारा कृत वह यज्ञ इष्ट ही बन जाता है। साथ ही भले ही वह) स्वाभाविक मानुषदोषवशा) अनेक त्रुटियाँ करता है (करै) परंतु निश्चयेन (त्रुटि करता हुआ भी) वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं जाता जो कि आय के इस प्राजापयानुगत स्वस्वरूप को जानता है ॥२१॥

इति-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमश

— ६ —

छठे अध्याय में पहिला चौथे प्रपाठ के छठा ब्राह्मण
(१।६।१)—(१।४।६)
चतुर्थ प्रपाठक समाप्त

३ त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण समाप्त

३

(मूलानुवाद समाप्त)

त्रिब्राह्मणात्मक 'प्रयाजब्राह्मण' समाप्त

क्रमप्राप्त—२२-२३-२४ ब्राह्मण समाप्त

ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः

— ❀ —

श्री

(४) —सूत्रानुगतपद्धतिसग्रह —

सन्दभसङ्गति —

त्रिब्राह्मणामक प्रयाजब्राह्मण से पहिले स्रुगब्राह्मण का स्थान है। उसमें १ स्रुगादापनकम्म २ आश्रावण प्रयाश्रावणकम्म इन दो कम्मो की इतिकर्ण्यता का निरूपण हुआ है। तदन तर प्रकृत के त्रिब्राह्मणामक प्रयाजब्राह्मण में प्रयाजकम्म की सोपपत्तिक इतिकर्ण्यता का विश्लेषण हुआ है। इस दृष्टि से १-स्रुगादापन २ आ प्र ३-प्रयाज इन तीनों को हम पृथक पृथक तीन कम्म मान सकते हैं। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी है कि स्रुगादापन और आ प्र इन दोनों कम्मों का भी प्रयाजकम्म में ही अतर्भाव मानना चाहिए। क्योंकि अग्निहोता वेग्नेहोत्रम् आदि नवव्याह्यामक निगदमन्त्रपाठामक होतृकृत स्रुगादापन कम्म के घृतवतीमध्वर्यो। स्रुचमास्यस्व इन पाचवी व्याहृति के घृतवतीम् इस पदोच्चारण के साथ ही अन्वय्यु जुहु-उपमृत् का ग्रहण कर लेता है। होता के घृतवतीम् पदोच्चारण के साथ अन्वय्यु का जुहूपमृत् ग्रहण करना ही वस्तुतः स्रुगादापन कम्म है। जुहूपमृत् स्रुक है। इनका समन्त्रक ग्रहण ही स्रुगादापन है।

स्रुगादापन (जुहूपमृत्ग्रहण) होता है समिद्वाग्नि में आयाहुति देने के लिए जिस आयाहुति कर्म को प्रयाजकम्म कहा गया है। आज्याहुति के प्रदान में अव्यु आग्नीध्र होता इन ऋषिजा की पारस्परिक मन्त्रप्रयोग से सवित् होती है। यज्ञस्वरूप को अययच्छेदरूप से वित्त करने वाला अयवच्छिन्न अप्रस्तुत वागव्यापारहित मन्त्र याहुति का प्रयोग ही सवित् है। इस सवित्कर्म के साधक ओ श्रावय-अस्तु औषट यज ये यजामहे-वौषट् ये पाच निगदमन्त्र किंवा एक ही निगदमन्त्र की पांच व्याहृतियाँ हैं। इन पाँचों व्याहृतियों के द्वारा यज्ञकर्म में ऐकमय (सविदाना) बन कर ही आज्याहुतिरूप प्रयाजकर्म की इतिकर्ण्यता पूरी की जाती है। ऐकमत्यभावामिका सवित् की प्राप्ति का साधक मन्त्र का उच्चारण ही आश्रावण-प्रत्याश्रावण कम्म है जिसका तापर्यार्थ यही है कि निकट भविष्य में ही जिस आयाहुति से प्रयाजकर्म होने वाला है उसके लिए त लोकस्थ प्राणदेवता यहाँ आ जाय एव आज्याहुति का ग्रहण कर प्रयाजकर्म को सफल बनाव।

इस प्रकार स्रुगादापनवत् यह आश्रावण-प्रयाश्रावण कम्म भी कोई स्वतन्त्र कम्म नहीं है अपितु यह भी प्रयाजकम्म का ही परम्परया पूरक बना हुआ है। क्योंकि आ प्र कम्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की यज व्याहृति का समिधो यज इस रूप से प्रयाज के लिए एव यजामहे-समिद्धो अग्नि आस्यस्य व्यन्तु इस रूप से प्रयाज के लिए वौषट् का आज्याहुति के लिए ही विनियोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आ प्र कम्म प्रयाज का ही साधक है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि पूर्वब्राह्मण में विहित स्रुगादापन आ प्र दोनों कोई स्वतन्त्र कम्म नहीं हैं अपितु दोनों प्रयाजकर्म के स्वरूपसम्पादक बनते हुए प्रयाजाङ्ग बन कर प्रयाजकर्म में ही अन्तर्भूत हैं। अतएव यह स्वीकार करने में भी शक्य कोई

आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि पूवपठित स्रुगादापन ब्राह्मण का भी त्रिब्राह्मणामक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण में ही अर्थात् तर्भाव है। फलतः यह कहना भी सुसङ्गत माना जा सकता है कि प्रयाजब्राह्मण त्रिब्राह्मणामक की नहीं है अपितु स्वकर्मार्जभूत स्रुगादापन समवय से यह चतुर्ब्राह्मणामक ही है।

उक्त स्थिति को सामने रखते हुए यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि कायायनश्रौतसूत्र के—अनिर्होतेति स्रुगादापनम् *—३।२।१६ इति सूत्र से आरम्भ कर सर्वावोत्तमेनोपायि वात्—३।३।६। इति सूत्रपयत १८ सूत्रों में प्रयाजकर्म की इतिक्त यता का ही विश्लेषण हुआ है। यही कारण है कि पूव के स्रुगादापन ब्राह्मणमाय में हमने सूत्रानुगत जिस पद्धति सग्र का दिग्दर्शन कराया है उसे जान बूझकर अपूर्ण छोड़ दिया है—(देखिए सू. प. स. पृ. स. १२७-१२८)। वहाजिन दो सूत्रों से इतिक्त यता का दिग्दर्शन कराया गया है उसका वस्तुतः प्रयाजकर्म से ही सम्बन्ध है। अतएव उचित है कि प्रयाजब्राह्मण के मूलानुवाद के अनन्तर क्रमप्राप्त सूत्रानुगत पद्धतिसग्र नामक प्रकृत परिच्छेद में उस उक्त सूत्रद्वयामक पद्धतिसग्र का सग्र करते हुए ही यहाँ सूत्रानुगत इतिक्त यता का सामूहिकरूप से विश्लेषण किया जाय। इस समवयसङ्गति को लक्ष्य बनाकर ही पाठक निःलिखित प्रयाजावृत् (सूत्रानुगता प्रयाजकर्म पद्धति) का समवय करगे यही आरम्भिक निबन्धन है।

स वै प्रवरायाश्रावयति (शत १।५।) से आरम्भ कर—अथाग्निमीक्ष्मायो जपति (शत १।५। ६।) यहाँ तक २६ कण्डिकाओं में (२६ कण्डिका मक होतृप्रवरब्राह्मण नामक ब्राह्मण में) होतृवरण कर्म का सोपपत्तिक-निरूपण हुआ है जिसका प्रस्तुत शतपथमाय के पञ्चम वष के—६ व पृष्ठ से आरम्भ कर ११ वें पृष्ठ पर्यन्त ५ पृष्ठों में सोपपत्तिक प्रतिपादन हुआ है। सूत्रक्रमानुसार िधाये मसन्न-होतृ—का. श्रौ. ३।२।३।—इस सूत्र से आरम्भ कर—समृष्टा उपविशत ३।२।१५। इस सूत्रपर्यन्त १३ सूत्रों में होतृवरणकर्म की इतिक्त यता का विश्लेषण हुआ है—(देखिए पृ. स. ८१ से ८५ पर्यन्त)। होतृवरणकर्म इतिक्त यता—विश्लेषक उक्त त्रयोदशसूत्र सूत्रार्थक सूत्रप्रकरण के अतिम समृष्टा उपविशत इस सूत्र को प्रकरणसङ्गतिसग्राहक मानकर ही हमें प्रयाजकर्म इतिक्त यता प्रतिपादक १६ सूत्रसन्दर्भामक सूत्रप्रकरण का समवय करना है।

स्रुगादापन आश्रावण नामक दो कर्मों को अपना अङ्गकर्म बनाने वाले प्रयाजकर्म से पहिले अश्वय्यु आदि ऋषिजीने विहित पद्धति के अनुसार यथानुसार वरणकर्म का अनुगमन कर लिया है। वरणकर्मान्तर वृत्त होता अपनी प्राणाग्नि-सम्पत् को मनो-वाक से युक्त करने के लिए मनोरूप अथवा वयु के तथा वाग्रूप आग्नीध्र के आश्रयप्रदेश का स्पष्ट करता है *। स्पर्शकर्मान्तर X षण्मोवीरहसस्पान्तु

*—अथावयु चाग्नीध्र च सम्मृशति (होता)। मनो वाऽअत्र्यु वाग्नीध्र। तमनश्चैवैतद्वाच च सादधति—शत १.५.१.२१।

—इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि स्पर्शकर्मान्तर होताके द्वारा प्रयुक्त स्वरयनजप की इतिक्त यता का कायायन श्रौतसूत्र में उल्लेख नहीं हुआ है जब कि स्वयं शतपथ में वह विहित है। षण्मोवीरहसस्पान्तु से आरम्भ कर येन पथा हव्यमावो बहानि यथा तक कृी होतृकृत इतिक्त यता सूत्र में क्यों उद्धृत नहीं हुई? इस प्रश्न का उत्तर अज्ञात है। अतिविहित होने से अनुगमन सका अवश्य ही किया जाता है।

इयादि लक्षण स्वस्थयनजप कम्म करता है (१ ८ पृ) । स्वस्थयनजपक मसमा यन तर हो षुषदन नामक स्वस्थान की और लौट कर समन्त्रक वृणनिरसन करता हुआ यथास्थान बैठ जाता है—(१ ९ पृ) । बैठने के अनन्तर देवस्तुति करता है (१९ पृ) । इधर होता तो अपनी यह इतिकत्त व्यता पूरी करता है उधर हीता के द्वारा स्वास प्रदेश से स्पृष्ट अ वयु आ नीघ्र दोनों स्पर्शान्तर—अपने अपने स्थानों में बैठ जाते हैं । इसप्रकार अवा तरक मसग्रहा मक वरणकर्म समाप्त किया जाता है जिस का— सम्मृ य उपवि शत इस (३।२।१५) इस सूत्र से उपसहार हुआ है । अन तर क्या होता है ? दूसरे शब्दों में वरणक र्मा न तर ऋत्विक् लोग प्रकृत पूणमासेष्टिकम्म के किस अवातर क्र वथ कम्म का अनुगम करते हैं ? इसी प्रश्न का समाधान करता हुआ—प्रयाजकर्मैतिकत्त या मक निम्न लिखित सूत्रानुग पद्धतिसग्रहप्रकरण पद्धति म भियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है ।

वरणकर्मान तर ऋतुदेवताओं का यजन होता है । यही ऋतुयजन प्रयाजकम्म कहलाया है । प्रयाजकम्म में विहित आज्याहुति के ग्रहण के लिए प्राणदेवताओं का अग्नि के द्वारा इस यज्ञ में सम्बन्ध अपेक्षित है । तदर्थ ही होता के द्वारा वरणकर्मान तर खुगादापनक म एव अय ऋत्विक् सहयोग से आश्रावण—प्रयाश्रावण कम्म विहित है । इतिकत्त व्यता का प्रकार यह है कि —

होतृषदन नामक स्वस्थान पर बैठकर आहवनीयाग्नि की ओर दृष्टिपात करता हुआ होता— विश्वेदेवा शास्त न मा यथेह इ यादि वरणकर्मामृत मन्त्रजप करने के अनन्तर उपाशु—उच्चस्वर की नियत मर्यादा से नि न लिखित खुगादापननिगद का पाठ करता है—

ओम् अग्निर्होता वेत्स्वग्नेर्होत्र वेत्तु पावित्र साधु ते यजमानदेवता (इत्युक्चै) योऽग्निं होतारमवृथा (इयुपाशु) घृतवतीमभ्वर्यो सु चमास्यस्व देवयुवं विश्ववारासीडामहै देवाँ २॥ ईडे यान्—नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान् (इत्युक्चै) । शत १।५।३१—३।—

जिस समय होता उक्त मन्त्र का पाठ करता है और उस के मुख से—मन्त्र का घृतवतीम् पद निकलता है उसी समय पदों चारण के अ यवहितोत्तरकाल में ही स्वस्थान में स्थित अ वयु जुहू—उपभृत नामक खुच्चों का ग्रहण करता है । यही स का समन्त्रक खुगादापन (खुगादान) कर्म है । प्रयाजकर्म समन्त्रक है खुगादापन तदङ्ग है तत्सन्निहित में विहित है अतएव प्रयाजों में विहित खुगादापन अग्निर्होता इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक ही होना न्यायमा त है । हाँ जहाँ प्रयाजाभाव है वहाँ तूष्णीं ही खुक्क का आदान होता है । इसी विशेषता का साथ ही समन्त्रक खुगादापन का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

(१)— ‘अग्निर्होतेति खुगादापन प्रयाजेषु, सभिधे ’ । (३।२।१६।) ।

* * * * *

इसप्रकार होता के ‘घृतवतीम् पदों चारण करने के अ यवहितोत्तरकाल में अ भ्वर्यु’—जुहू—उपभृत— लेकर हविष्यों से पून, एत्र अग्निपरिधियों से पश्चिम की ओर नियत सञ्चर नामक मार्ग से अपने वामपाद को आगे करता हुआ वेदि के दक्षिण पार्श्व में आहवनीय के समीप बने हुए यजति स्थान में पहुँचता है । जुहूँ

पहुँच कर ईशानाभिमुख खड़ा होकर आ नीघ्र नामक ऋषिक को लक्ष्य बना कर कहता है— ओ आवय । उत्तर में स्वस्थान में स्थित आग्नीध्र अ वयु को लक्ष्य बनाकर कहता है— अस्तु श्रौषट् । अनंतर तत्रैव ईशानाभिमुख खड़ा हुआ अ वयु—होता को लक्ष्य बनाकर कहता है— समिधो यज । समिधो यज रूप से होता के प्रति प्रैष कर इधर अ वयु तो जुहु को उपश्रुत् पर से पूष की ओर—आहवनीयाग्नि की श्रमै उतार कर आहुति के लिए सन्नद्ध होता है उधर होता अ वयु से प्रेषित होकर समिद्ध वताक नि न लिखित या यामत्र का स्वस्थान से उच्चारण करता है—

‘ओ—ये ३ यजामहे (१) समिधः, समिधो अग्नि आ यस्य य तु ३ वौ ३ षट इति ।

होता के उक्त या यामत्रोच्चारण की अन्तिम वौ ३ षट् इस यादृति के साथ वह अ वयु—जुहुस्थित आग्नेय के तृतीयांश की आहवनीयाग्नि के अतिशय रूप से प्रवर्धित भाग में (समिद्धतमे) जुहु से आहुति दे देता है । यही प्रथम प्रयाजकर्म है । इसी क्रम से शेष चारों प्रयाजों की आहुति होती है । इसप्रकार यथा क्रम पञ्च प्रयाजों का समिद्धतम अग्नि में अनुष्ठान होता है । अन्तर केवल यही है कि प्रथम प्रयाज में होता के प्रति वष तश्रुतुरूप समिद्ध वता का जैसे समिधो यज इत्यादि रूप से नाम ग्रहण होता है वैसे ग्रीष्म—वर्षा शरत्—हेमन्त श्रुतुरूप तननपात् इट—वर्हि—स्वाहा—नामक शेष चार प्रयाजों में होने वाले प्रैष में नामोच्चारण कर केवल यज यज रूप से ही होता के प्रति प्रैष होता है । इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि किस समय होता ये यजामहे समिध इत्यादि बोल चुकता है अव्यवहित क्षण में ही यजमान निम्न लिखित यागमत्र बोलता है—

इति समिद्भ्यो न मम । एको मम, एका तस्य—यमह द्विष्म । (यदि न द्विष्यात् तदा तु) यो स्मान् द्विष्टि, यञ्च वय द्विष्म (इत्येव ब्रूयात्) । त्विषिमान् भूयासम्” इति ।

ता पश्य यह निकला कि उधर होता याज्यामन्त्र बोल चुकता है उसके मुख से वौ ३ षट निकलता है इधर यजमान उक्त यागमत्र बोलना आरम्भ कर देता है । होता के वषटकार के पश्चात् यजमान के त्यागमत्र के बोलते समय ही अप्वयु आहुति देता है । इधर अ वयु होता के वौषट् उच्चारणानन्तर अग्नि में आहुति देता है उधर होता याज्यामन्त्रोच्चारणाव्यवहितोत्तरकाल में स्वशान्दार्थ निम्न लिखित मत्रोच्चारण करता हुआ अपने हृदयस्थान का स्पर्श करता है यही क्रम शेष चारों प्रयाजों में समझना चाहिए—

‘वषटकार ! मा म आयु प्रमोषीर्वागोज सहौजो भयि—

प्राणापानौ पातम्” (इति होता पठति याज्यान तरम्) इति ॥

नामग्रहणानुगत—वसंतरूप समित्—नामक प्रथम प्रयाजकर्म की इसी इतिक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२)- घृतवतीमित्युक्तं सूचावादाय, अतिक्रम्य आश्राय आह-

‘समिधो यजे’ति । पञ्चप्रयाजात्समिद्धतमे (जुहुयात्) ॥ (३।२।१७)

(३)- “यज यजेति शेषम्” (३।२।१८) ।

अब पञ्च प्रयाजो से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का सूत्रकार दिग्दर्शन करा रहे हैं जिनका ब्राह्मण भाग में स्पष्टीकरण हुआ है । जिस पूर्वोक्त स्थान पर खड़ा होकर अथवा वयु प्रयाजकम्म (आहुतिकम्म) करता है उसे उसी स्थान पर खड़े रहना चाहिए । अविचाली भाव से ही प्रयाजाहुति देनी चाहिये । अथवा इसी सम्बन्ध में एक दूसरा पक्ष यह भी है कि प्रतिप्रयाज याग में आहवनीय के सम्मुख पूर्व स्थान से अतिक्रमण कर आगे आगे बढ़ते हुए आहुति देनी चाहिए । इसप्रकार यद्यपि सूत्रकार ने दोनों पक्ष उद्धृत कर दिये हैं । तथापि श्रुति के- तदु यथा न कुर्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत् तत एव नापक्रामेत् (शत १।५।४।७) इस सिद्धांत के अनुसार अनाक्रमणामक प्रथम पक्ष ही सिद्धांत पक्ष समझना चाहिए ।

बसंत ग्रीष्म वर्षारूप समित् तनुनपात् बर्हि इन् तीन प्रयाजों के लिए तो जुहु में पहिले से ध्रुवा द्वारा चतुर्वारं गृहीत आय की ही आहुति देनी चाहिए । परन्तु शत रूप चौथे बर्हि नामक प्रयाज का अनुष्ठान करने से पहिले जुहु में उपभृत् से आय ग्रहण और करना चाहिए । क्योंकि ध्रुवा से उपभृत् में श्रद्धौ कृव (आठ बार करके) जो आय ग्रहण होता है उस गृहीत आय की मात्रा में से अर्द्ध भाग तो अनुयाजो के लिए विहित माना गया है एव अर्द्ध मात्रा का प्रयाजकर्म के लिए आदेश हुआ है । अतएव जुहु में उपभृत् से प्रयाजकर्माथ आधे आय का ही ग्रहण करना चाहिए । इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आयग्रहण करते समय कहीं जुहु का उपभृत् से स्पर्श न हो जाय । अनवमृशन् (दोनों का स्पर्श न करते हुए दोनों को पृथक् रखते हुए) ही चतुर्थ प्रयाज में आयग्रहण विहित है जिसकी उपपत्ति मलानुवाद में बतलाई जा चुकी है ।

अब इस आयसमानयन-कर्म के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है । प्रकृत पूर्णमासेष्टि ‘प्रकृतियाग’ है । एव इसके आधार पर वितत आयग्रायणादि आय इष्टिर्वा विकृतियाग है । प्रकृतिवृद्धि कृति क्तव्या इस मीमासा-सिद्धान्तानुसार कुछ प्रातिस्विक विशेष इतिकर्तव्यताओं को छोड़कर इन विकृति भूता इष्टियों में प्रकृतिवत् ही अनुगमन किया गया है । उदाहरण के लिए प्रसङ्गोपात् प्रयाजकर्म को ही लीजिए । जिसप्रकार प्रयाजकर्मप्रकृतिभूता प्रवृत्त की पूर्णमासेष्टि विहित है एवमेव विकृतिभूता अन्य इष्टियों में भी प्रयाजकर्म प्रवृत्त माना गया है । हाँ दोनों प्रयाजों की संख्या में अन्वय ही विभेद है । प्रकृति इष्टि (पूर्णमासेष्टि) में जहाँ पाच प्रयाज विहित हैं वहाँ अथ विकृति-इष्टियों में ११ प्रयाज माने गए हैं । किसी विकृति में ६ प्रयाज हैं तो किसी में ११ प्रयाज हैं । विकृति इष्टियों से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रयाज साथ ही प्रयाजसंख्यारूप ही अनुयाग संख्यावृद्धि के आधार पर ही आयसमानयन कर्म के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है कि जहाँ प्रयाजानुयाजवृद्धि है वहाँ आयसमानयन की क्या व्यवस्था होगी ? ।

प्रश्न का ता प य स्पष्ट है। आदेश यह है कि चौथे प्रयाज में ही आज्य ग्रहण करना चाहिए। जहाँ ६ अथवा ११ प्रयाजानुयाज हैं वहाँ आरम्भ के तीन प्रयाज कर्मान्तर चौर्य में ग्रहण कर लिया जायगा और यथातक तो चतुर्थे समानयति आदेश का यथावत् [पञ्चप्रयाजयपक्षवत्] पालन होजायगा। परन्तु ६ पक्ष में ५ प्रयाज ११ पक्ष में ७ प्रयाज शेष रह जाते हैं। चतुर्थ प्रयाज में गृहीत आयमात्रा से ही शेष ५ अथवा ७ प्रयाजों की इतिक्त व्या पूर्ति असम्भव है। तदर्थ पुनः आ यग्रहण आवश्यक रूप से अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में यदि चतुर्थान्तर अपेक्षावश आगे के प्रयाजों में आयग्रहण किया जाता है तो—चतुर्थे समानयति नियम का याघात होता है। यदि इस नियम की रक्षा के लिए आगे ग्रहण नहीं किया जाता तो इतिक्त यथा पूरी नहीं होती। इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

प्रयाजवृद्धि—पक्ष में भी चतुर्थ चतुर्थ की आवृत्ति कर लेनी चाहिए। तापय सूत्रकार का यही है कि मान लीजिए किसी विकृति—इष्टि में ६ प्रयाज हैं। वहाँ यह व्यवस्था होगी कि आरम्भ के १ २ ३ प्रयाजों की इतिक्त यथा तो पूर्वगृहीत जुहुस्थित आय से पञ्चप्रयाज पक्षवत् पूरी कर दी जायगी। ४ थे प्रयाज में भी पञ्चप्रयाजपक्षवत् आज्यग्रहण कर चतुर्थे समानयति का पालन कर लिया जायगा। इस चतुर्थप्रयाजोपक्रम में गृहीत आय से ४ ५ ६ इन तीन प्रयाजों की इतिक्त यथा पूरी हो जायगी। अब ७ ८ ९ इन तीन प्रयाजों के लिए आय की अपेक्षा होगी। इसके लिए सातव प्रयाजोपक्रम में [६ ठे प्रयाज की समाप्ति के अनन्तर] दुबारा आयग्रहण होगा जो कि चतुर्थाच्चतुर्थे भाव से चौथा ही पड़ेगा। चौथे प्रयाज से सातवाँ प्रयाज चौथा पड़ेगा अतएव सातवें में आय समानयन करते से चतुर्थे समानयति नियम का भी पालन हो जायगा इतिक्त यथा भी पूरी ही जायगी। यही चतुर्थाच्चतुर्थे नियम एकादश प्रयाज पक्ष में काम देगा। ११ प्रयाज पक्ष में आरंभ के १ २ ३ की इतिक्त यथा पूर्व गृहीत आय से गताथ है। ४ थे में पञ्चप्रयाज पक्षवत् आज्य ग्रहण है। इस चौथे से चौथा सातवाँ से चौथा १ वा है। अतः यथा सप्तम और दशम में आयग्रहण से चतुर्थे समानयति का पालन होजायगा। इसप्रकार नव प्रयाज पक्ष में चतुर्थाच्चतुर्थे (सप्तमे) रूप से पञ्चप्रयाज पक्षापेक्षया एक बार अधिक आज्य ग्रहण होगा। एव एकादश प्रयाज पक्ष में चतुर्थाच्चतुर्थे (सप्तमे) पुनश्चतुर्थाच्चतुर्थे (सप्तमात्) चतुर्थे (शमे) रूप से पञ्चप्रयाजापेक्षया दो बार अधिक आय ग्रहण होगा। यही व्यवस्था नवैकादशानुयाजों में माय होगी जिस प्रासङ्गिक व्यवस्था का निम्न लिखित तालिका से स्पष्टीकरण होरहा है—

प्रकृति इष्टि —

पञ्चप्रयाजा	{	१—वस तयागा मक — प्रथमप्रयाज — गृहीताज्येनाहुति
		२—ग्री मयागा मक — द्वितीयप्रयाज —
		३—प्रावृद्ध्यागा मक — तृतीयप्रयाज —
		४—शरद्यायागा मक — चतुर्थप्रयाज —
		५—हेम तयागा मक — पञ्चमप्रयाजः—

विष्णुति-इष्टि —

(नवप्रयाजाभिक्रम)

- १—गृहीताज्येनाहुतिः
 २—
 ३—
 (१)—४—चतुर्थे समानयति
 (२)—५—गृहीताज्येनाहुति
 (३)—६—
 (४)—७—चतुर्था-चतुर्थे समानयति
 ८—गृहीताज्येनाहुति
 ९—

विष्णुति-इष्टि —

(एकादशप्रयाजाभिक्रम)

- १—गृहीता ज्येनाहुति
 २—
 ३—
 (१)—४—चतुर्थे समानयति
 (२)—५—गृहीताज्येनाहुति
 (३)—६—
 (१)-()—७—चतुर्था-चतुर्थे समानयति
 (२)——— —गृहीता ज्येनाहुति
 (३)——— ६—
 (४)—— १ —चतुर्था-चतुर्थे समानयति
 ११—गृहीताज्येनाहुति

प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली सभी विशेषताओं का स्पष्टीकरण करा दिया गया। अब इस सम्बन्ध में केवल आहुति विशेषता और शेष रह जाती है। आहुति कैसे देनी चाहिए? आहुति देते समय जुहु-उपभृत् का सम्बन्ध क्या रहना चाहिए? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अध्वर्यु को चाहिए कि उपभृत् के ऊपर रखी हुई जुहु को उपभृत् को मुखभाग की ओर से सावधानी से उतार उसे जुहु को प्राचीमुख रहता हुआ प्रथमाहुति प्रदान करे। प्रथम आहुति के अनंतर उसी पद्धति से उपभृत् के ऊपर जुहु रख दे। अनंतर उसी पूर्वक्रम से उपभृत् से उतार कर द्वितीयाहुति प्रदान करे। इस प्रकार पाँचों प्रयाजाहुतियों में ही जुहु को उपभृत् पर रख रख कर उतार उतार कर आहुति-कर्मों का निर्वहण पूरा करे। केवल प्रयाजकर्म में ही यह-अध्वर्युह्यन अपहरणकर्म आवश्यक हो यह बात नहीं है। अपितु होममात्र में इसी नियम की यापति समझनी चाहिए एवमेव सर्वहोम में आहुति देनी चाहिए। निम्न लिखित सूत्र प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली इन्हीं विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

- (४)— अ वस्तिष्ठन् (२।२।१६)।
 (५)— पूव पूव वाऽभिक्रामन् (२।२।२)।
 (६)— उपभृता जुह्वामानयति अनवमृशन् चतुर्थम् (३।२।२१)।
 (७)— एव प्रवृद्धौ (३।२।२२)।
 (८)— अनुयाजेषु च (३।२।२३)।
 (९)— उत्तरा जुहुमध्वर्युह्य प्राचीमवह्य जुहोति (३।२।२४)
 (१) — एव सवत्र (३।२।२५)।

इति—काययनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये द्वितीया कण्डिका समाप्ता

जिस प्रकार एव सर्वत्र (३।२।२५) सूत्रादेशानुसार जुहु उपभृत् का * अर्धूहन होममात्र में समानरूप से विहित है एवमेव जुहु उपभृत् का नाभिदध्न प्रदेश में धारण भी होममात्र के लिए ही विहित समझना चाहिए। ता प र्य कहने का यही है कि आहुति के लिए गृहीत उपभृत् युक्त-आ यूपरिपूर्य जुहु को नाभिसमानप्रदेश में ही रखना चाहिए। एव होममात्र में उसी नियम का अनुगमन करना चाहिए।

जिस समय होता ये यजामहे समिध समिधो अग्नि आचयस्थ यन्तु वौषट इत्यादि याज्या बोल चुकता है अनंतर ही होता यागमन्त्र का उच्चारण करता है यह पूर्व में कहा जा चुका है। यजमानकृत यही कम्म प्रयाजानुमन्त्रण कम्म कहलाया है। सूत्रकार कहते हैं कि प्रथम प्रयाजानुमन्त्रण में एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यश्च वय द्विष्म इस वाक्य का समावेश करना चाहिए। एवमेव आगे के शेष चार प्रयाजकर्मों से सम्बन्ध रखने वाले तीन प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में (२ ३ ४ में) क्रमशः यथासख्य द्वौ मम तस्य त्रयो मम-तिस्रस्तस्य च वारो मम चतस्रस्तस्य इस रूप से मिथुन युग्म भावों का समावेश करना चाहिए। सर्वांत के पाँचवें प्रयाजानुमन्त्रण में (युग्मोत्तर के स्थान में-पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि इत्यादिरूप से) न तस्य किञ्चन इस वाक्य का सन्निवेश करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले यजमानकृत पाचों प्रयाजानुमन्त्रण मन्त्रों के अंत में क्रमशः त्विषिमान् अपचितिमान् यशस्वी ब्रह्मवचसी अन्नाद (भूयासम्) इन व्याहृतियों का सम्बन्ध और कर देना चाहिए। जुहुपभृत्-धारणानुगत नियमविशेष का तथा प्रयाजानुमन्त्रण मन्त्र से सम्बन्ध रखने वाली इसी विशेषता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(११)— नाभिदेशे धारणम् (३।३।१)।

(१२)— प्रयाजानुमन्त्रण— मेको ममका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यश्च वय द्विष्म इति । (३।३।२)।

(१३)— एव मिथुनैयथास ख्यम् (३।३।३)।

(१४)— न तस्य किञ्चनेति पञ्चमे (३।३।४)।

(१५)— त्विषिमान् अपचितिमान् यशस्वी ब्रह्मवचसी अन्नाद इति च (३।३।५)।

पञ्च प्रयाजकर्म की इतिक्तव्यता जिन याज्यामन्त्रों से सम्पन्न होती है उनके उच्चारण के अनंतर यजमान अपनी ओर से प्रयाजसख्यानुसार मन्त्रोच्चारण करता है। यजमानकृत यही कम्म प्रयाजानुमन्त्रण कहलाया है। इस कम्म के सम्बन्ध में पूर्व के १३ व सूत्र के द्वारा यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में से आरंभ के चार मन्त्रों में क्रमशः १) एक एका (२) द्वौ द्वे - (३) त्रय-तिस्र - (४) च वार चतस्र - इन चार मिथुनभावों का समावेश होता है। पाँचवें अनुमन्त्रण में केवल पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि इत्यादि का समावेश होता है। तापय्य यही है कि चार मन्त्र मिथुनसम्पत्ति से युक्त हैं पाचवा मिथुनभाव से वञ्चित है। जिस प्रकार नवैकादश प्रयाजपक्ष में आज्यसम्पन्नयन की विप्रतिपत्ति हुई थी एवमेव नवैकादश प्रयाजपक्ष में यजमानकृत क

*—अर्धूहा—अर्धूहन—उपभृत् उपरि निधानम् ।

अवहृत्य—अवहरण—उत्तारणम् ।

प्रयाजानुमत्रणमत्रोसे सम्बन्ध रखने वाले उक्त मिथुनभावों के सम्बन्ध में भी वही विप्रतिपत्ति उपस्थित हो रही है। जिसप्रकार नवैकादश प्रयाजानुयाजपक्ष में वृद्धिक्रमानुसार आध्यग्रहण द्वि-त्रिरावृत्त कर लिया जाता है, क्या तत्पलानुगत प्रयाजानुमत्रणमत्रों में भी उक्त मिथुनभावों का पुनरावृत्तन होगा? इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

आगन्तुक प्रयाज का चतुर्थ पञ्चम प्रयाज से जो धर्म प्राप्त है उसी धम्म के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए। क्योंकि आगतुक प्रयाजों का चतुर्थ पञ्चम प्रयाज के धम्म से ही विधान हुआ है। सूत्र का तापर्यार्थ स्पष्ट है। मान लीजिए विकृति में ६ प्रयाज हैं। इन ६ प्रयाजों में ४था प्रयाज चतुर्थ्यात् चतुर्थे या २ से प्रथम प्रयाज बन रहा है ७वाँ प्रयाज उसी चतुर्थ्यात् चतुर्थ से चतुर्थ बन रहा है शेष ८ ९ प्रयाज चतुर्थ्यात् पञ्चम या ३ से पञ्चम प्रयाज बन रहा है। ऐसी स्थिति में १ २ ३ आरम्भ के इन तीन प्रयाजानुमत्रणमन्त्रों में तो प्रकृतिवत् पञ्चप्रयाजपक्षवत्) एक एका द्वौ द्वे - त्रय - तिष्ठ - इन मिथुनों का समावेश होगा ही। आगे के ४ ५ ६ इन तीन प्रयाजानुमत्रणमन्त्रों में भी इही तीनों मिथुनभावों का समावेश होगा। क्योंकि सातवा प्रयाज चौथा है तदपेक्षया ४ ५ ६ ठे प्रयाज १ २ ३ प्रयाज है ७वाँ क्योंकि चौथा प्रयाज है। अतएव तत्प्रयाजानुमत्रणमत्र में चत्वार - चतस्र का समावेश होगा। ८ ९ इन दो प्रयाजानुमत्रणमन्त्रों में पञ्चममन तस्य किञ्चन इत्यादि का समावेश होगा यदि एकादशप्रयाजपक्ष है तो आरम्भ के १ २ ३ प्रयाजों में मय के ४ ५ ६ प्रयाजों में अत के ७ ८ ९ प्रयाजों में पञ्चप्रयाजानुगत आरम्भ के १ २ ३ प्रयाजानुमत्रणवत् तीनों धुमों का सम्बन्ध होगा। क्योंकि ४था प्रयाज १ है तदपेक्षया ५-६ दोनों २ ३ प्रयाज हैं। सप्तम प्रयाज की १ अपेक्षा १ है तदपेक्षया ८ ९ दोनों २-३ रे है। १ वाँ प्रयाज सप्तमापेक्षया चौथा है ११ वाँ प्रयाज पाँचवाँ है। इसप्रकार चतुर्थपञ्चमाभ्याम् यास से नवैकादशप्रयाजानुगत प्रयाजानुमत्रणमन्त्रों में भी पञ्चप्रयाजानुमत्रणमत्रवत् मिथुनसम्पत्ति की अनुरूपता का समावेश हो जाता है। निम्न लिखित तालिका से उक्त सम्बन्ध-क्रम का भलीभाँति स्पष्टकरण हो जाता है—

पञ्चप्रयाजपक्ष-प्रयाजानुमत्रणमत्रा इत्थम्—

- (१)— एको मम एका तस्य योऽस्मान् ।
- (२)— द्वौ मम द्व तस्य-योऽस्मान् ।
- (३)— त्रयो मम तिष्ठस्तस्य योऽस्मान् ।
- (४)— चत्वारो मम चतस्रस्तस्य-योऽस्मान् ।
- (५)— पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् ।

नवप्रयाजपक्षे-इत्थम्



- १— एको मम
२— द्वौ मम
३— त्रयो मम

- (१) ४— एको मम
(२) ५— द्वौ मम
(३) ६— त्रयो मम

- (४) ७— चत्वारो मम

- (५) — { ८— पञ्च मम
९— षष्ठ मम



एकादशप्रयाजपक्षे-इत्थम्

- १— एको मम
२— द्वौ मम
३— त्रयो मम

- (१) ४— एको मम
(२) ५— द्वौ मम
(३) ६— त्रयो मम

- (१) (४) ७— एको मम
(२) — ८— द्वौ मम
(३) — ९— त्रयो मम

- (४) — १०— चत्वारो मम
(५) — ११— पञ्च मम

उक्त क्रमानुसार चतुर्थ-पञ्चम-प्राजघर्मों का आगन्तुक प्रयाजों से सम्बन्ध मानते हुए अनुमन्त्रणसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त करना एक पक्ष है। अब इसी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रकार बतलाया जाता है। चतुर्थ पञ्चम प्रयाज नहीं अपितु प्रथम चतुर्थ प्रयाज से आगन्तुक प्रयाजों में जो घर्म प्राप्त है उस के द्वारा भी मिथुनसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त की जा सकती है। प्रथम प्रयाज बहुदेवत्य है अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो बहुदेवत्य प्रयाज होगा उस के साथ प्रथम प्रयाज के घर्म का सम्बन्ध होगा। चतुर्थ प्रयाज एकदेवत्य है अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो प्रयाज एकदेवत्य होगा उस के साथ चतुर्थ प्रयाज के घर्म का सम्बन्ध होगा।

अब इसी सम्बन्ध में एक तीसरा पक्ष बतलाया जाता है जो कि सूत्रकार की दृष्टि में सिद्धान्तपक्ष है। चतुर्थे समानयति इस श्रौत आदेशानुसार आज्यसमानयनकर्म में नवैकादशप्रयाजपक्ष में चतुर्थाच्चतुर्थे न्याय का समाश्रय ठीक बन जाता है। किन्तु प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों के सम्बन्ध में वैसा कोई श्रौत विधान नहीं

है। अपितु यहाँ तो आगन्तूनामतेऽभिनिवेश (समावेश) — पू मी ५।२।१६—इस मीमांसा-सिद्धान्तानुसार आगन्तुक ६-७-८-९ १-११-प्रयाजों का सम्बन्ध अतिम (पञ्चम) प्रयाजधम्म से ही नाप्राप्त है। अतएव उचित यही है कि नवप्रयाजपक्ष हो अथवा तो एकादशप्रयाजपक्ष। उभयत्र आरम्भ के ४ प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों में पञ्चप्रयाजपक्षवत् चारों युग्मों का समावेश कर आगे के शेष मन्त्रों में पञ्च पञ्च का ही समावेश करना चाहिए। निम्न लिखित सूत्र अनुमन्त्रणसम्बन्धी उक्त तीनों पक्षों का दिग्दर्शन कराते हुए अतिम पक्ष को ही सिद्धान्त पक्ष मान रहे हैं—

प्रथमपक्ष (१६)—आगन्तूना चतुर्थ-पञ्चमाभ्या स्थानात् । (३।३।६)।

द्वितीयपक्ष (१७)—प्रथम-चतुर्थाभ्या वा यथालिङ्गम् । (३।३।)।

सिद्धान्तपक्ष (१८)—सर्वा वा-उत्तमेन (पञ्चमेन) उपाधिवात् (३।३।८)।

पञ्चप्रयाजों में से प्रथम प्रयाज की इतिकत्तव्यता आरम्भ में बतलाई जा चुकी है। प्रकृत में इन पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले आश्रावण-प्रत्याश्रावणादि यादृक्मन्त्रों का होतृकत्तक या यामन्त्रों का तथा-यजमानकृत्क प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों का एकत्र समूह कर दिया जाता है जिनका पूर्वप्रतिपादिता प्रथमप्रयाजेतिकत्तव्यता के साथ समान समवय कर लेना चाहिए—

२—द्वितीय प्रयाज —

अ वयु राह—आ नीध्र प्रति— ओ श्रावय इति ।

आग्नीध्र आह—अ वयु प्रति— अस्तु श्रौषट् इति ।

अ वयु राह—होतार प्रति— यज इति ।

ततश्च होता पठति—ये यजामहे तनूनपादम आ-यस्य वे ३ तु वौ षट् ।

पाठानन्तरश्च होता— वषट्कार मा म आयु प्रमोषीर्वागोजः सहौजो

मयि प्राणापानौ पातम् इति पठन् आत्मानमालभ्य उपसृशति ॥

यजमानश्च— ——— इद् तनूनपाते न मम । द्वौ मम द्वे तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि य ष वयु
द्विष्म अपचितिमान् भूयासम् इति पठति । ॐ

अध्वयुश्च— ——— यजमानोक्तमन्त्रपाठकाले होतुर्याज्यामन्त्रपठितबौधन्ते समिद्धाग्नौ शुहोति ।
सैषा द्वितीयप्रयाजेतिकत्तव्यता * ।

* शतपथब्राह्मण में द्वितीय प्रयाज के सम्बन्ध में यद्यपि अथ तनूनपातं यजति (शत १।५।३।१) इत्यादि रूप से केवल तनूनपात् का ही विधान हुआ है। तथापि शाखान्तर से सम्बन्ध रखने वाली पद्धतियों के अनुसार इस सम्बन्ध में विशेषता रखने वाली विशेषता का भी तदनुसार ही अनुगमन करना आवश्यक माना गया है। राजन्यात्रिभ्रध्रयश्रवसिष्ठवैश्यसुनकाना कश्यकश्यपसङ्कृतीना नाराशंसो द्वितीयः प्रयाजः, तनूनपादन्धे—

तृतीय प्रयज —

अ वयु राह आ नीध्र प्रति— ओ श्रावय इति ।

आ नीध्र आह—अ वयु प्रति— अस्तु श्रौषट् इति ।

अध्वयु राह—होतार प्रति— यज इति ।

ततश्च—होता पठति— ये यजामहे—इडो अग्न आ यस्य यतु वौषट्

पाठान्तरश्च होता—वषट्कार मा म आयु प्रमोर्षीर्वागोज सहौजो मयि प्राणापानो पातम् इति पठना मानमालभ्योपसृशति ।

यजमानश्च—इदमिड्भ्यो न मम । त्रयो मम तिस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेषि य च वय द्विष्म—यशास्वी भूयासम् इति पठति ।

अ वयुश्च—यजमानोक्तमत्रपाठकाले होतुर्या याम त्रपठितवौषट्ते समिद्धा नो जुहोति । सषा तृतीयप्रयाजेतिक्त यता ।

४--चतुर्थ प्रयाज —

अ वयु राय समानयति । आयसमानयनानन्तर—

अध्वयु राह—आग्नीध्र प्रति— ओ श्रावय इति ।

षान् (का श्रौ ३।३।८ सू वृ — वसिष्ठशुनकाना नाराशसः अत्रीणा चैके (का श्रौ १६।६ ८६) इत्यादि कात्यायन के सिद्धांतानुसार— नाराशसो अग्न आयस्य वेविति द्वितीयो वसिष्ठशुनकाना—अत्रिब्रध्रश्च नानां कपवसङ्कृतीकां राजन्यानां प्रजाकामानाञ्च (साङ्गा श्रौ १७।३) इत्यादि साङ्गायन के सिद्धान्ता नुसार — तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि । तेषां वसिष्ठ—आत्रेय ब्राध्रश्च—गार्समद—मिति नाराशसवन्ति मैघा तिर्य—दर्शतमस—प्रैषिक मित्युभयवन्ति अतोऽन्यानि तनूनपावति (या नि ८।२७) इत्यादि निरुक्तसिद्धा तानुसार — नाराशसो द्वितीय प्रयाजो वसिष्ठशुनकाना तनूनपादितरेषा गोत्राणाम् (आपस्तम्ब श्रौ सू १) इत्यादि आपस्तम्ब के सिद्धान्तानुसार तनूनपात्—प्रयाज के सम्बन्ध में विकल्प पक्ष का अनुगमन आवश्यक होरहा है । भगवान् आश्वलायन ने तो इस सम्बन्ध में ओर भी विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है (देखिए आ श्रौ ३।२।१) । प्रकृत में वक्तव्य केवल यही है कि यदि यजमान का उक्त वसिष्ठ—शुनक अत्रि—आदि गोत्र है तो उस के यायामन्त्र में—‘नाराशसो अग्न आयस्य वेतु वौषट् इसप्रकार तनूनपात् के स्थान में ‘नाराशस’ का समावेश होगा । साथ ही प्रयाजानुमन्त्रण—मन्त्र में भी—इद तनूनपाते न मम के स्थान में—‘इदं नाराशसाय, न मम’ का समावेश होगा ।

आग्नीध्र आह—अ वयु प्रति— अस्तु औषट इति ।

अ वयु राह होतार प्रति— यज इति ।

ततश्च—होता पठति— — ये यजामहे—बर्हिर्गन् आग्यस्य वेतु वौषट् ।

पाठान्तरश्च होता— वषट् कार मा म आयु प्रमोषीर्वागोज सहौजो मयि प्राणापानो पातम् इति पठना मानमाल योपस्पृशति ।

यजमानश्च— — इद् बहिषे न मम । चत्वारो मम चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वाष्ट यञ्च वय द्विष्म । ब्रह्मवचसी भूयासम् इति पठति ।

अ वयुश्च— — यजमानोक्तम त्रपाठकाले होतुर्या यामन्त्रपठितवौषट् ते समिद्धा नौ जुहोति । सैषा चतुथप्रयाजेतिकत्त्व्यता ।

५—पञ्चमप्रयाज

इस प्रयाज के सम्बन्ध में विशेष इतिकत्त यताओं का अनुगमन करना पड़ता है जैसा कि मूलानुवाद में स्पष्ट किया जा चुका है । चतुथ प्रयाज क म के अनन्तर आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर अ वयु कहता है—‘आ आवय । प्रत्युत्तर में अ वयु को लक्ष्य बनाता हुआ आग्नीध्र कहता है—‘अस्तु औषट्’ । अनन्तर अ वयु होता को लक्ष्य बनाता हुआ कहता है— यज । होता उत्तर म निम्न लिखित—या यामत्र का उच्चारण करता है—

ये यजामहे—स्वाहाग्नि स्वाहा सोम, स्वाहाग्नि स्वाहा सोम अग्नीषोमौ स्वाहाग्नीषोमौ, स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आग्यस्य यन्तु वौषट् इति ।

होता के उक्त या यामन्त्र पाठोत्तर यजमान निम्न लिखित प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र का पाठ करता है—

इद्भग्नये सोमाय अग्नये सोमाय अग्नीषोमाभ्या अग्नीषोमाभ्या वैवेभ्य आज्यपेभ्य अग्नये स्विष्टकृते न मम । पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वष्टि यञ्च वय द्विष्म । अनादो भूयासम् इति ।

जिस समय होता के मुख से उक्त या यामन्त्र की अन्तिम वौषट् इस व्याहृति का उच्चारण होता है और यजमान उक्त प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रपाठ आरम्भ करता है अग्नये जुहुस्थित आज्य की समिद्ध अग्नि में आज्याहुति दे देता है । यही पाँचवें प्रयाज की इतिकत्त यता का स्पष्टीकरण है । ‘अग्निर्होतेति सु गादापनं प्रयाजेषु सन्निधे — १—(३।२।१६) इस सूत्र से आरम्भ कर— सर्वान् वोस्तमेनोपायिस्वात्’ १८ (३।३।८) इस सूत्रपर्यन्त १८ सूत्रों से इसी प्रयाजकर्मैतिकत्त यता का स्पष्टीकरण हुआ है । इस कर्म के अनन्तर आज्याभिधारकर्म विहित है जिस का सोपपत्तिक निरूपण अगले ब्राह्मण में होने वाला है ।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसग्रहः